लोकवत्तु लीला कैवल्यम्

ईक्षणपूर्वक सृष्टि

विरोध

ब

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीवेदान्ताङ्क और परिशिष्टाङ्ककी विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

१–ब्रह्मस्तुति … … २

२–ईश्वर, जीव और संसारके सम्बन्धमें भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके विचार (श्रीगोवर्द्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री ११०८ श्रीभारतीकृष्ण तीर्थजी महाराज) … ३

३–जगत् सत्य है या मिथ्या ? (श्री १०८ भार्गव शिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्द स्वामीजीके उपदेश) … … २४

४–श्रीरामानुजाचार्य और उनका सम्प्रदाय (श्रीकाञ्ची-प्रतिवादिभयंकरमठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीश्रीभगवद्रामानुजसम्प्रदायाचार्य श्री ११०८ श्रीअनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज) … २७

५–पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश ३१

६–साधन-संग्रह (एक लोकसंग्रही महात्माका प्रसाद) … … ४५

७–अधिकारकी आवश्यकता (एक गङ्गातीर-निवासी विरक्त महात्माका प्रसाद) … ४८

८–अद्वैत-वेदान्तका सदुपदेश (श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी श्रीश्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराज मण्डलेश्वरजीके विचार, प्रे०—स्वामी श्रीवासुदेवानन्दजी) … ४९

९–माध्वसिद्धान्त (श्रीमन्मध्वसम्प्रदायाचार्य दार्शनिकसार्वभौम, साहित्यदर्शनाद्याचार्य, तर्करत्न, न्यायरत्न गोस्वामी श्रीदामोदरजी शास्त्री) … … ५१

१०–वेदान्तज्ञानकी प्रक्रियाएँ (श्रीअरविन्द) … ५३

११–वेदान्त (महामहोपाध्याय डा० श्रीगङ्गानाथजी झा, एम० ए०, डी० लिट्, एल-एल० डी०) ५७

१२–दर्शनोंमें वेदान्तदर्शनकी मुख्यता (वेदाचार्य पं० श्री १०८ श्रीमधुसूदनजी ओझा) … ५८

१३–देहतत्त्व और मुक्ति (महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम० ए०, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, काशी) … ६२

१४–भगवत्कृपा (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ६८

१५–मुमुक्षुओंके लिये उपयोगी वेदान्तका सरल साधन (श्रीशारदापीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्दजी तीर्थ) ७३

१६–वेदान्त और गीताधर्म (स्वामीजी श्रीविद्यानन्दजी महाराज) … … ८०

१७–वैराग्य (गंगोत्तरीनिवासी परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती) ८१

१८–कल्याण ('शिव') … … ८४

१९–दैवी विपत्तियाँ और उनसे बचनेका उपाय (हनुमानप्रसाद पोद्दार) … ८५

२०–ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य (बृहदारण्यकोपनिषद्के आधारपर) … … ८९

२१–इसीका नाम वेदान्त है (स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज) … … ९१

२२–वेदान्तका महान् वैलक्षण्य (स्वामी श्रीअभेदानन्दजी पी-एच० डी०) … ९५

२३–वेदान्तसाधन और उसका फल (स्वामीजी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती महाराज) … ९९

२४–वेदान्त-विद्याका स्वरूप और माहात्म्य (श्रीतपोवनस्वामीजी महाराज) … १०२

२५–ऋग्वेदमें अद्वैतवाद (वेददर्शनाचार्य श्रीस्वामीजी श्रीगंगेश्वरानन्दजी) … १०७

२६–शिष्योंको सदुपदेश (तैत्तिरीय उपनिषद्के आधारपर) … … ११४

२७–गीतान्तर्गत वेदान्तमार्ग (स्वामीजी श्रीअसंगानन्दजी) … … ११५

ख

पृष्ठ-संख्या

२८–ज्ञानका साधन (स्वामीजी श्रीप्रज्ञानाथजी महाराज) ··· ··· ११७
२९–शारीरकमीमांसादर्शनम् ··· १२१
३०–बादरायणका ब्रह्मसूत्र (पं० श्रीव्रजविहारीलालजी शास्त्री बी० ए०, एम० आर० ए० एस०, वेदान्तरत्न, साहित्यभूषण, विद्यासागर) ··· १२१
३१–वेदान्त-मीमांसा (श्रीप्रकाशचन्द्रसिंह राय, न्यायवागीश) ··· ··· १२७
३२–ब्रह्मज्ञानका अधिकारी ··· ··· १३८
३३–साधारण लोगोंके लिये वेदान्त (महामहोपाध्याय पं० श्रीहाथीभाईजी शास्त्री) ··· १४१
३४–ब्रह्मसूत्रके अनुसार मुक्तात्माका स्वरूप (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम० ए०, आचार्य, शास्त्री, वेदान्तविद्यार्णव) ··· १४४
३५–व्यवहारक्षेत्रमें अद्वैतज्ञानकी उपयोगिता (महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण) १४६
३६–ऐक्यका सिद्धान्त (श्रीरामस्वामीजी महाराज) १५३
३७–शाङ्करवेदान्तके जागरित और स्वप्नमय जगत् (पं० श्रीकोकिलेश्वर शास्त्री, विद्यारत्न, एम० ए०) ··· ··· १५८
३८–अश्विनीकुमारोंको उपदेश ··· १६२
३९–श्रीमच्छंकराचार्यका अनुभव-विश्लेषण (श्री एस० बी० दाण्डेकर एम० ए०) ··· १६३
४०–अवस्थात्रय अथवा वेदान्तकी अप्रतिम प्रक्रिया (श्री य० सुब्रह्मण्य शर्मा) ··· १६६
४१–वेदान्त या ब्रह्मसाक्षात्कार (श्रीरामचन्द्रलालजी) १७०
४२–ब्रह्मानुसन्धान (दीवानबहादुर के० एस० रामस्वामी शास्त्री बी० ए०, बी० एल०) ··· १७३
४३–वैदिक और वैदान्तिक साधना (श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम० ए०) ··· १७६
४४–भगवान् श्रीरामका श्रीलक्ष्मणको उपदेश ··· १८५
४५–वेदान्तका अर्थ और उसकी लोकमान्यता (श्री पी० के० आचार्य एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्, आई० ई० एस०) ··· १८७
४६–वेदान्तके सम्बन्धमें विपरीत धारणा (श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम० ए०) ··· १८९
४७–ईश्वर सब है (वेदान्तरत्न श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त एम० ए०, बी० एल०) ··· १९२
४८–साधन-चतुष्टय (स्वामीजी श्रीकृष्णप्रेमजी) ··· १९५

पृष्ठ-संख्या

४९–वेदान्त (पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी) ··· २०२
५०–वेदान्तसे मोक्ष-प्राप्ति (पं० श्रीगोविन्दनारायणजी आसोपा बी० ए०) ··· २०८
५१–श्रीशुकदेवमुनिके द्वारा परीक्षितको दिव्योपदेश २१२
५२–विद्या, अविद्या और सम्भूति, असम्भूतिका तत्त्व (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· २१
५३–अनिर्वचनीयवाद (वेदान्ताचार्य श्रीहरिदत्त शर्मा शास्त्री पञ्चतीर्थ) ··· ··· २२
५४–ब्रह्म-परिणामवाद (‘वेदान्तशिरोमणि’ श्रीरामप्रपन्न रामानुजदास ‘विद्यार्थी’) ··· २२४
५५–द्वैतवाद—श्रीमध्वाचार्य और महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव (आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी सा० र० भा० भू०) ··· २२७
५६–शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्तनिरूपण (पण्डितवर्य श्रीमान् वे० काशीनाथ शास्त्रीजी) ··· २२८
५७–तत्त्वमसि ··· ··· २३५
५८–निम्बार्क-दर्शन [द्वैताद्वैत-सिद्धान्त] (स्वामीजी श्रीपरमानन्ददासजी) ··· २३८
५९–वेदान्तका भेदाभेद-सम्प्रदाय (श्री श्रीधर मजुमदार, एम० ए०) ··· २४५
६०–पुष्टिमार्गके सिद्धान्त और उनका उद्गमस्थान (पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य) ··· ··· २४८
६१–श्रीशुद्धाद्वैतवाद और उसके प्रकाशक (देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री) ··· २५३
६२–गुरुभक्तिसे ब्रह्मज्ञान ··· ··· २५९
६३–वल्लभ-वेदान्त (दे० श्रीव्रजनाथजी शास्त्री, विशारद) ··· ··· २६०
६४–श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुका वेदान्त-सिद्धान्त (आचार्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी) ··· २६३
६५–अचिन्त्यभेदाभेदवाद (श्रीमहानामव्रत ब्रह्मचारी, फैलो शिकागो युनिवर्सिटी) ··· २६६
६६–शब्दाद्वैतवाद (श्री बी० कुटुम्ब शास्त्री) २७०
६७–श्रीरामानन्दाचार्यकृत श्रीआनन्दभाष्य (पं० श्रीवैष्णवदासजी त्रिवेदी, ‘न्यायरत्न’, ‘वेदान्ततीर्थ’) ··· ··· २७४
६८–तन्त्र और वेदान्त (श्रीचिन्ताहरण चक्रवर्ती, काव्यतीर्थ, एम० ए०) ··· २७७

पृष्ठ-संख्या
६९–वेदान्त-शिक्षाकी कुछ बातें (श्रीडाक्टर एम० एच० सय्यद, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्) … … २७९
७०–आपद्धर्म … … २८१
७१–अग्निदेवकी कृपा … … २८२
७२–ब्रह्म ज्ञानस्वरूप हैं (काशीनिवासी स्वामी श्रीविवेकानन्दजी) … … २८३
७३–ब्रह्मवेत्ता (ब्रह्मीभूत पूज्यपाद महात्मा श्री १०८ श्रीमन्नथुराम शर्मा आचार्य) … २८५
७४–अवतार-तत्त्व … … २९०
७५–गीता और वेदान्त (पं० श्रीजीवनशङ्करजी याज्ञिक, एम० ए०) … … २९९
७६–भगवान् शङ्कराचार्य और द्वारकापीठ (श्रीविनयतोष भट्टाचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०) … … ३०२
७७–आत्मज्ञानका अधिकारी नचिकेता … ३१३
७८–'द' 'द' 'द' … … ३२१
७९–मायावाद-वैजयन्ती (साधु श्रीशान्तिनाथजी) ३२२
८०–भर्तृप्रपञ्चका अद्वैत-सिद्धान्त (श्रीवीरमणिप्रसादजी उपाध्याय, एम० ए०, बी० एल०, साहित्याचार्य, न्यायशास्त्री) … ३३२
८१–पाञ्चरात्र और वेदान्त (पं० श्रीराजबलीजी पाण्डेय एम० ए०) … … ३३४
८२–सच्ची जिज्ञासा … … ३४०
८३–ब्रह्मज्ञानी रैक … … ३४१
८४–दर्शनोंका वैज्ञानिक समन्वय (श्रीदेवराजजी विद्यावाचस्पति) … ३४३
८५–गीतोक्त समग्र ब्रह्म या पुरुषोत्तम … ३५२
८६–परा और अपरा भक्ति (श्रीयदुनाथसिंहजी एम० ए०, पी-एच० डी०) … ३५९
८७–ज्ञानोत्तर भक्ति (पं० श्रीनरहर शास्त्री खरशीकर) … … ३६०.
८८–बालगोपाल सच्चिदानन्दकी स्तुति … ३६४
८९–अजातवाद और भक्तिका समन्वय (पं० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय, व्याकरण-साहित्यशास्त्री) … … ३६६
९०–प्रणव अथवा ओङ्कारका विज्ञान (पं० श्रीहरिदत्तजी शर्मा शास्त्री) … ३७३
पृष्ठ-संख्या
९१–व्यावहारिक वेदान्त (डा० श्रीदुर्गाशङ्करजी नागर) … ३७८
९२–असली और नकली वेदान्त (स्वामी श्रीसहजानन्दजी सरस्वती) … ३८२
९३–वेदका स्वरूपविचार (श्रीमोतीलालजी शर्मा गौड़) … … ३८४
९४–सच्चिदानन्दकी जय हो ! … ३९५
९५–देवयान-पितृयाण [शुक्लकृष्णगति] (पं० श्रीमल्लिनाथजी शर्मा) … … ३९६
९६–नादब्रह्म—मोहनकी मुरली … … ४०७
९७–हमारे ह्रासके कारणोंकी भ्रान्तिमूलक कल्पना (श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए०) … ४१०
९८–मण्डनमिश्रका ब्रह्माद्वैतवाद (श्री एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री, एम० ए०) … ४१३
९९–प्रत्यभिज्ञादर्शन और वेदान्तशास्त्र (वेदान्ताचार्य पं० श्रीहरिदत्तजी शर्मा शास्त्री) … ४१६
१००–सच्चिदानन्दके ज्योतिषी … … ४१७
१०१–वेदान्तकाव्य [विराट् शिव] (पं० श्रीब्रह्मदत्तजी शर्मा 'शिशु') … ४१८
१०२–संहारप्रक्रिया तथा चतुर्विध प्रलय (पं० श्रीसीतारामजी मिश्र, साहित्याचार्य, काव्य-व्याकरण-सांख्य-वेदान्त-तीर्थ) … ४१९
१०३–शिवाद्वैतानुसार 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (पं० श्रीवागीश शिवाचार्यजी) … ४२२
१०४–शक्ति-अद्वैतवादकी कुछ विशेषताएँ (श्रीयुत जी० एस० शर्मा) … … ४२३
१०५–विशेषाद्वैतसिद्धान्त (श्रीनिजसिंहासनाधीश्वर जगदाचार्य स्वामी विरूपाक्षजी) … ४२५
१०६–शिवाद्वैतके भाष्य (काव्यतीर्थ,साहित्यविशारद, पं० श्रीचन्द्रशेखरजी शर्मा) … ४२८
१०७–वेदान्त और शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्त (श्रीपञ्चाक्षरजी शास्त्री) … … ४२९
१०८–आधुनिक दृष्टिमें वेदान्तका तात्पर्य (श्री वी० सुब्रह्मण्य अय्यर) … … ४३०
१०९–आत्मसाक्षात्कार कैसे हो ? (स्वामी श्रीशिवानन्दजी) … … ४३६
११०–वास्तविक सत्ताका स्वरूप या ब्रह्मलक्षण (श्रीयुत टी० एम० पी० महादेवन् एम० ए०) ४३८

पृष्ठ-संख्या

१११–वेदान्तदर्पण (म० श्रीबालकरामजी विनायक) ४४०

११२–पाशुपत सिद्धान्त और वेदान्त (पं० श्रीराजबलीजी पाण्डेय, एम० ए०) ··· ··· ४४७

११३–कबीर साहब और वेदान्त (महंत श्रीरामस्वरूपदासजी गुरु श्रीशान्ति साहब) ··· ४५२

११४–स्वलीलाद्वैत-ब्रह्म (निजानन्दसम्प्रदायके आदिपीठस्थ आचार्य महाराज श्रीधनीदासजी) ४५४

११५–श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें विशिष्टाद्वैत-वेदान्त-रहस्य (श्रीमद्दार्शनिकपञ्चानन, षड्दर्शनाचार्य, सांख्ययोगतीर्थ, नव्यन्यायाचार्य, पं० श्रीकृष्णवल्लभाचार्यजी स्वामिनारायण) ४५६

११६–वेदान्त—श्रीकृष्णचन्द्र (पण्डित श्रीमाधव बालशास्त्री दातार) ··· ··· ४६१

११७–त्रिपुरागममें अद्वैततत्त्व (पं० श्रीललिताप्रसादजी डबराल) ··· ··· ४६३

११८–योगसे ही वेदान्तकी उत्पत्ति (श्रीयुत स्वामी मौक्तिकनाथजी) ··· ··· ४६८

११९–वेद और यज्ञ (पं० श्रीरामचन्द्रजी उपाध्याय 'रत्न', साहित्याचार्य, 'विशारद') ··· ४७१

१२०–पञ्चीकरण-त्रिवृत्करण (पं० श्रीसभापतिजी उपाध्याय) ··· ··· ४७५

१२१–वेदान्तदर्शनमें अधिकारिनिर्णय (श्रीप्राणगोपालजी गोस्वामी 'सिद्धान्तरत्न') ··· ४७६

१२२–तन्त्रोक्त ज्ञानयोग (श्रीश्यामानाथजी शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य) ··· ··· ४७९

१२३–त्रैतवाद (प्रो० श्रीमदनमोहनजी विद्याधर) ४८१

१२४–ज्ञानसे प्रारब्धक्षय होता है या नहीं ? (रायबहादुर पण्ड्या श्रीबैजनाथजी बी० ए०) ४९१

१२५–प्रारब्ध और पुरुषार्थका मेल (श्रीभगवानदासजी केला) ··· ··· ४९२

१२६–पाप विषयासक्तिसे होते हैं, प्रारब्धसे नहीं ··· ४९३

१२७–पापोंका दोष किसपर है ? (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ४९८

१२८–पाप क्या है ? (श्रीताराचन्दजी पण्ड्या) ५०१

१२९–आत्मसाक्षात्कारके लिये दुश्चरितको छोड़ो (श्री अ० वेंकट सुब्बय्या) ··· ५०७

१३०–पापका परिणाम (पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे) ५०९

१३१–'भक्ति' रस है या भावमात्र ? (श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार) ··· ५१२

पृष्ठ-संख्या

१३२–वेदान्त और भक्ति (श्रीभालचन्द्र पण्डित बहिरट, बी० ए०) ··· ··· ५१६

१३३–दिव्य मूर्तियोंका साक्षात्कार (श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए०) ··· ५१८

१३४–वेद और वेदान्त (श्रीसीताराम जयराम जोशी, एम० ए०, साहित्यशास्त्राचार्य) ··· ५२३

१३५–विविदिषा-संन्यास और विद्वत्संन्यास (विद्यावाचस्पति श्रीधर्मेन्द्रनाथ 'वसु' शास्त्री, काव्यतीर्थ) ··· ··· ५२६

१३६–अद्वैतवेदान्तपर एक दृष्टि (पं० श्रीगोपाल शास्त्रीजी 'दर्शनकेसरी') ··· ५२९

१३७–वेदान्तविद्या ही ईश्वरका सर्वोत्तम आशीर्वाद है (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा) ··· ५३८

१३८–गीताके अनुसार गुणातीत, भक्त और स्थितप्रज्ञके लक्षण तथा आचरण (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ५४१

१३९–वेदान्त-विचार (श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया) ··· ··· ५५०

१४०–कर्मतत्त्व (पं० श्रीझाबरमल्लजी शर्मा) ··· ५५४

१४१–श्रुतिप्रामाण्यविचार (स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज) ··· ··· ५५५

१४२–शून्यवाद और विज्ञानवाद (महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०) ··· ५६२

१४३–कृष्णकीर्तन ही शान्तिका एकमात्र उपाय है (श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) ··· ५६९

१४४–कर्म (श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव) ··· ५७३

१४५–अद्वैतवाद और सूरदास (रायबहादुर श्रीखड्गजीतजी मिश्र, एम० ए०, एल-एल० बी०) ५८

१४६–महात्मा सूरदास और वेदान्त (पं० श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयी, एम० ए०) ··· ५८६

१४७–गोस्वामी तुलसीदासजीके ग्रन्थोंमें वेदान्त (श्री बी० विश्वनाथ ऐयर, बी० ए०) ··· ५९५

१४८–गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी और अद्वैतवाद (श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी) ··· ६०१

१४९–विरागी राम (श्रीयमुनाप्रसादजी श्रीवास्तव) ६०६

१५०–प्राचीन अद्वैतवादके साथ शङ्करके अद्वैतवादका सम्बन्ध (महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०) ··· ६१

पृष्ठ-संख्या

१५१–वैदिक साधनामें वेदान्तका स्थान (स्वामीजी श्रीमित्रसेनजी) … … ६१२
१५२–सच्चा ज्ञानी और सच्चा भक्त (महात्मा श्रीबालकरामजी विनायक) … ६१३
१५३–गंजीफ़ा और भूलभुलैयाँ (श्रीबिन्दुजी ब्रह्मचारी) … … ६१८
१५४–शुनःशेप या मोक्षधर्मका एक वैदिक उपाख्यान (श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम० ए०) … … ६२१
१५५–शौनक-अङ्गिरा-संवाद (पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे) … … ६२३
१५६–मैत्रेयीको ज्ञानोपदेश (बृहदारण्यक-उपनिषद्के आधारपर) … … ६२५
१५७–अभेद (श्रीजैनेन्द्रकुमारजी) … ६२७

परिशिष्टाङ्क

१५८–वेदान्त क्या करता है ? (शिव) … ६३०
१५९–वेदान्तके प्राचीन आचार्य … ६३१
१६०–शङ्करसे पूर्वके आचार्य (महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०) … ६३३
१६१–अद्वैतसम्प्रदायके प्रधान-प्रधान आचार्योंका परिचय … … ६३९
१६२–श्रीविद्यार्णवनामक ग्रन्थके अनुसार शङ्कर-सम्प्रदायका विवरण (महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०) … ६६६
१६३–विशिष्टाद्वैतवाद (श्रीवैष्णव सम्प्रदाय) के प्रमुख आचार्योंका परिचय … ६६८
१६४–विशिष्टाद्वैतके तीन महाचार्य—बोधायन, ब्रह्मनन्दी और द्रमिडाचार्य (पं० श्रीलक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्यजी) … ६८३
१६५–विशिष्टाद्वैतवाद या शिवाद्वैतवादके प्रधान-प्रधान आचार्य … … ६८७
१६६–द्वैतवाद या स्वतन्त्रास्वतन्त्रवादके प्रमुख आचार्य … … ६८९
१६७–द्वैताद्वैतमतके प्रमुख आचार्योंका परिचय … ६९५
१६८–भेदाभेदवाद और उसके आचार्य … ६९८
१६९–शुद्धाद्वैतवादके प्रधान-प्रधान आचार्य … ७००
१७०–अचिन्त्यभेदाभेदवादके प्रधान-प्रधान आचार्य ७०३

पृष्ठ-संख्या

१७१–सिद्धान्त और जीवन (पण्डितप्रवर श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) … ७०७
१७२–प्रत्यभिज्ञावाद या स्पन्दवाद और उसके आचार्य … … ७११
१७३–समन्वयवादके आचार्य विज्ञानभिक्षु … ७१३
१७४–मनुष्यता बनाम वेदान्त (पं० श्रीकन्हैयालालजी मिश्र 'प्रभाकर' सम्पादक 'विश्वास') ७१४
१७५–भार्गवी वारुणी विद्या (पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे) … … ७१५
१७६–ब्रह्म ही विजयी है (केनोपनिषद्के आधारपर) ७१६
१७७–प्रभुकी माया (श्रीमनमोहनस्वरूपजी 'सदाशिव', एम० ए०) … … ७१७
१७८–जगत् और जीव (श्री डा० एम्० हिरियन्ना, एम० ए०) … … ७१९
१७९–रहस्यवाद (श्रीजयशंकरप्रसादजी) … ७२०
१८०–वेदान्तकी शिक्षा (श्रीमोतीलाल ज० मेहता) ७२९
१८१–व्यक्तित्व (श्रीब्रजमोहनजी मिहिर) … ७३३
१८२–वेदान्त और वेदान्तका अधिकारी (पं० श्रीरामप्रसादजी पाण्डेय, एम० ए०) … ७३५
१८३–वेदान्तप्रश्नोत्तरी (अनु० श्रीहनूमान्जी शर्मा) ७३८
१८४–क्षमायाचना (सम्पादक) … ७४०
१८५–चित्र-परिचय … … ७४२ से ७४४

पद्य

१–विनय (श्रीसुदर्शनदासीजी) … ३०
२–मेरा प्यारा (श्रीबिन्दुजी ब्रह्मचारी) … ७९
३–तू (अज्ञात कवि) … ८३
४–विभु (क० स० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध') … … ८८
५–आनन्द अनिर्वचनीय है (श्रीलक्ष्मीचन्द्रजी श्रोत्रिय) … … ११४
६–मेरा स्वप्न (सं० श्रीव्रजनाथजी गौड़) … १३७
७–छाया है माया है (श्री'सुदर्शन'जी) … १८६
८–नाममाहात्म्यम् (आचार्य पं० श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी) … … १८८
९–वेदान्तका गीत (श्रीनयनजी) … २०१
१०–कौन ? (श्रीरामप्रियाशरणसिंहजी 'रत्नेश') २५८
११–क्यों ? (पं० श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम') ३३१
१२–वेद-वाणी (म० पु० श्रीप्रतापनारायणजी) ३४२

पृष्ठ-संख्या

१३–पेचीली पहेलियाँ (पं० श्रीमहेशप्रसादजी मिश्र 'रसिकेश' मुख्तार) ··· ३५१
१४–वेद-मन्त्र (श्रीजगदीशजी झा 'विमल') ··· ३६३
१५–अतीतके पथपर (कुँवर श्रीव्रजेन्द्रसिंहजी 'साहित्यालंकार') ··· ··· ४७४
१६–प्रियमय जगत् (पं० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय शास्त्री) ··· ··· ७३७

संगृहीत

१–आत्मज्ञानका सौदा (स्व० सेठ श्रीअर्जुनदासजी केडिया) ··· ··· ८७

पृष्ठ-संख्या

२–आत्मविस्मरण (श्रीसूरदासजी) ··· २८४
३–ब्रह्म और ब्रजकुमार (श्रीनारायण स्वामीजी) ३५८
४–निरगुन सेज (श्रीचरनदासजी) ··· ३७२
५–स्वार्थकी प्रीति (गुरु नानकजी) ··· ३९४
६–घनश्यामकी लगन (श्रीनारायण स्वामीजी) ४१५
७–बिराना देश (श्रीकबीरदासजी) ··· ४१८
८–जीवनकी व्यर्थता (श्रीललितकिशोरीजी) ··· ४२१
९–गठरीके चोर (श्रीकबीरदासजी) ··· ४२४
१०–त्रिगुणमय जगत् (स्वर्गीय राजा श्रीअजितसिंहजी बहादुर खेतड़ी-नरेश) ··· ४७८
११–आज़ादी (स्वामी रामतीर्थ) टाइटलका चौथा पृष्ठ

* * *

चित्र-सूची

बहुरंगे

१–बालमुकुन्द (श्रीजगन्नाथ) मुखपृष्ठ
२–शिव (श्रीसत्येन्द्रनाथ बनर्जी) १
३–जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य (श्रीजगन्नाथ) ··· १७
४–जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य (,,) ··· २७
५–जगद्गुरु श्रीमध्वाचार्य (,,) ··· ५१
६–नन्दके आँगनमें वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मका नृत्य (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ६८
७–याज्ञवल्क्य और गार्गी (श्रीसोमालाल शाह) ··· ८९
८–शिष्योंको सदुपदेश (,,) ··· ११४
९–इन्द्र और विरोचनको उपदेश (,,) ··· १३८
१०–अश्विनीकुमारोंको उपदेश (,,) ··· १६२
११–भगवान् श्रीरामका लक्ष्मणको उपदेश (श्रीज्योतिरिन्द्र राय) ··· ··· १८५
१२–महात्मा श्रीशुकदेवजी (श्रीजगन्नाथ) ··· २१२
१३–तत्त्वमसि (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· २३५
१४–गुरुभक्तिसे ब्रह्मज्ञान (,,) ··· २३५
१५–जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य (श्रीजगन्नाथ) ··· २५०
१६–जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य (श्रीजगन्नाथ) ··· २६०
१७–अग्निदेवकी कृपा (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· २८१
१८–आपद्धर्म (,,) ··· २८१
१९–मूर्तिमान् वेदान्ततत्त्व ··· २९६
२०–'द' 'द' 'द' (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ३२१
२१–आत्मज्ञानका अधिकारी नचिकेता (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ··· ३२१
२२–ब्रह्मज्ञानी रैक्व (,,) ··· ··· ३४१
२३–सच्ची जिज्ञासा (,,) ··· ··· ३४१
२४–परब्रह्म प्रेमके बन्धनमें (श्रीजगन्नाथ) ··· ३५२
२५–ब्रह्मस्तुति (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ३६४
२६–सच्चिदानन्दकी जय हो (श्रीजगन्नाथ) ··· ३९५
२७–मुरलीका असर (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ४०८
२८–सच्चिदानन्दके ज्योतिष्मी (श्रीरामप्रसाद) ··· ४१७
२९–शिव-राम-संवाद (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ४४०
३०–नन्दके आँगनमें नारदजी (,,) ··· ४५६
३१–ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति (,,) ··· ४७२
३२–श्रीकृष्णका उद्धवको उपदेश (श्रीजगन्नाथ) ··· ४८८

पृष्ठ-संख्या

३३–जडभरत (श्रीज्योतिरिन्द्र राय) ··· ५०५
३४–रसखानकी मस्ती (श्रीविनयकुमार मित्र) ५१८
३५–चित्रकूटके घाटपर (श्रीजगन्नाथ) ··· ५१८
३६–कपिल-देवहूति (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ५४१
३७–कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म (श्रीजगन्नाथ) ··· ५५०
३८–प्रेमोन्माद (श्रीसत्येन्द्रनाथ बनर्जी) ··· ५६९
३९–जित देखौं तित स्याममयी है (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ··· ५८५
४०–सूरके श्याम ब्रह्म (श्रीजगन्नाथ) ··· ५९२
४१–भगवान् राम और सनकादि मुनि (श्रीप्रेमचन्द्र) ६०१
४२–पिप्पलादके आश्रममें सुकेशादि मुनि (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ··· ६२४
४३–अंगिरस और शौनकका संवाद (,,) ··· ६२४
४४–भगवान् वेदव्यास (श्रीदत्तात्रय दामोदर देवलालीकर) ··· भाद्रपदका मुखपृष्ठ
४५–स्तवन (श्रीजगन्नाथ) ··· ६२९
४६–अद्वैतसम्प्रदायके आद्याचार्य भगवान् नारायण (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ६३९
४७–श्रीशङ्कराचार्य और मण्डनमिश्र (श्रीशारदा उकील) ··· ··· ६४२
४८–विशिष्टाद्वैत श्रीवैष्णवसम्प्रदायकी प्रवर्तिका श्रीलक्ष्मीजी (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ६६८
४९–विषका पात्र हाथमें लिये श्रीरामानुजाचार्य (श्रीशारदा उकील) ··· ६७४

पृष्ठ-संख्या

५०–द्वैतसम्प्रदायके आद्याचार्य श्रीब्रह्माजी (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ··· ६८९
५१–दयामूर्ति आचार्य श्रीमध्व (श्रीशारदा उकील) ६९०
५२–शुद्धाद्वैतसम्प्रदायके आदिप्रवर्तक भगवान् शङ्कर (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ७००
५३–वरुण और भृगु (,,) ··· ७१६
५४–उमा और इन्द्र (श्रीद० देवलालीकर) ··· ७१६

दोरंगा

५५–ब्रह्म और उसकी शक्ति (श्रीकनू देसाई) ··· ४०७

इकरंगे

५६ से १८० तक संतदर्शनके १२५ चित्र ··· ३७६
१८१–सूरदास और भगवान् श्रीकृष्ण ··· ५२०
१८२–भक्त अंटोनियस ··· ··· ५२०
१८३–मीराके गिरधर नागर ··· ··· ५२२
१८४–श्रीशंकरमतानुसार पदार्थ-विभाग ··· ६४६
१८५–श्रीरङ्गम् मन्दिर ··· ··· ६७०
१८६–भगवान् रंगनाथ ··· ··· ६७१
१८७–वरदराज-मन्दिर, काञ्ची ··· ६७१
१८८–श्रीरामानुजके मतानुसार पदार्थविभाग ··· ६७६
१८९–श्रीतिरुपतिमन्दिरका भीतरी भाग ··· ६८०
१९०–पहाड़पर श्रीतिरुपतिमन्दिर ··· ६८०
१९१–भक्त हनुमानजीकी अनन्य निष्ठा ··· ७२६

गीताप्रेस, गोरखपुरमें मिलनेवाली अच्युतग्रन्थमाला काशीकी पुस्तकें—

१ भगवन्नामकौमुदी—संस्कृत टीकासहित ··· ॥=)
२ भक्तिरसायनम्—संस्कृत टीकासहित ··· ।॥)
३ शुल्बसूत्रम्—संस्कृत टीकासहित ··· ।)
४ कात्यायनश्रौतसूत्रम्—संस्कृत टीकासहित ··· ६)
५ प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणिः—(प्रथम भाग) संस्कृत टीकासहित ··· ··· २)
६ ,, —(दूसरा भाग) (संस्कृत टीकासहित) ··· ··· २।)
७ भक्तिरसामृतसिन्धुः—संस्कृत टीकासहित ··· ३)
८ तिथ्यर्कः—संस्कृत ··· ··· १॥)
९ परमार्थसारः—संस्कृत टीकासहित ··· ।=)
१० प्रेमपत्तनम्—संस्कृत ··· ··· १)
११ खण्डनखण्डखाद्यम्—भाषानुवादसहित ··· २।॥)
१२ काशी-केदार-माहात्म्यम्—भाषानुवादसहित ··· २॥)
१३ सिद्धान्तबिन्दुः—भाषानुवादसहित ··· १।=)
१४ प्रकरणपञ्चकम्—भाषानुवादसहित ··· ॥)

इन पुस्तकोंमें कमीशन नहीं दिया जाता ।

कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है ।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) हर महीनेकी किसी भी तिथिको प्रकाशित होता है ।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≡) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) नियत है । एक संख्याका मूल्य ।) है । बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता । नमूना ।) मिलनेपर भेजा जाता है ।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते । ग्राहक प्रथम अङ्कसे १२ वें अङ्कतकके ही बनाये जाते हैं । एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्क-तक नहीं बनाये जाते । कल्याणका वर्ष श्रावणसे आरम्भ होकर आषाढ़में समाप्त होता है ।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते ।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है । यदि किसी मासका 'कल्याण' न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये । वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये । डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी ।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण प्रतिपदाके पहले-पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये । **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये ।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोष्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये ।

लेख-सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेप-रहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें । लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है । अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते । **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं ।**

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये ।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है ।

(३) ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं । कभी-कभी तो डेढ़-दो महीनोंतक नहीं मिलते । इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं । रुपये न मिलनेतक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं । खर्च दोनोंमें एक ही है परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है । जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है ।

(४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये । कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये ।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजना चाहिये ।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये ।

(७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि '**व्यवस्थापक ''कल्याण'' गोरखपुर**' के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि '**सम्पादक ''कल्याण'' गोरखपुर**' के नामसे भेजने चाहिये ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

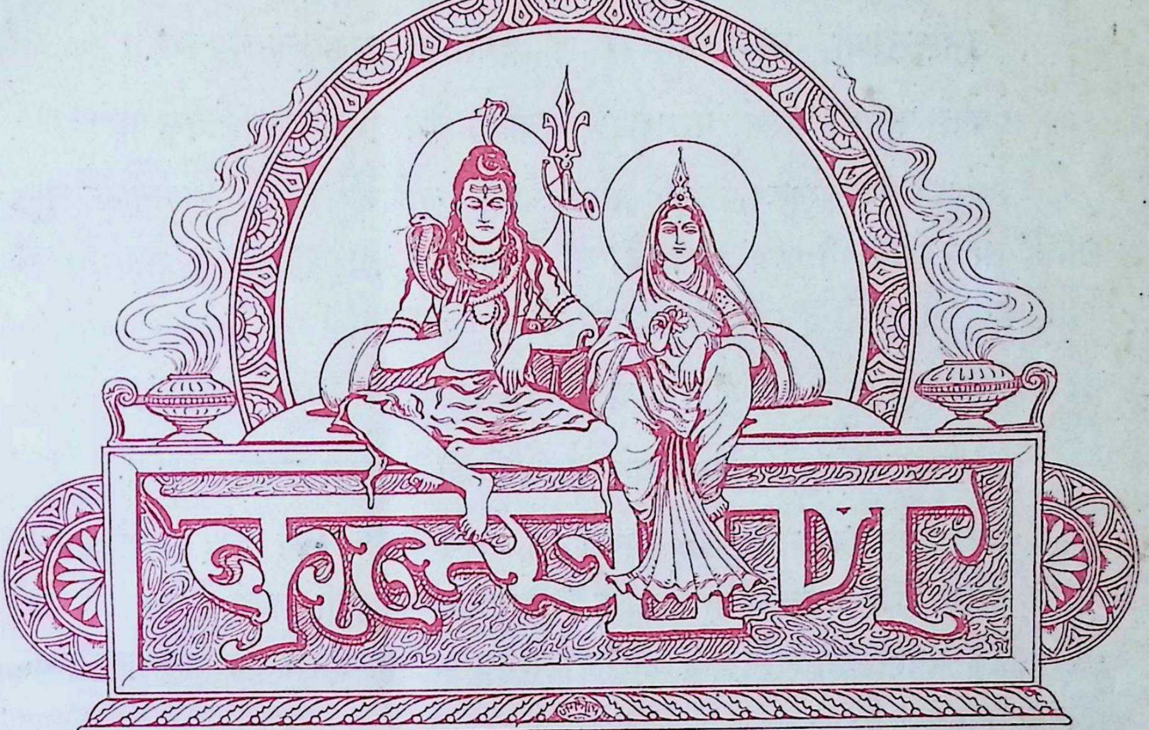

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

वर्ष ११ गोरखपुर, श्रावण १९९३, अगस्त १९३६ संख्या १ पूर्ण संख्या १२१

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तँ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

ब्रह्मस्तुति

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

हम उन प्रकाशस्वरूप, स्तुति करने योग्य, अखिललोकपति भगवान्‌को जान गये हैं जो ईश्वरोंके भी परम महेश्वर हैं, जो देवताओंके भी परमाराध्य देव हैं, जो स्वामियोंके भी स्वामी हैं और जो महान्‌से भी अति महान् हैं ।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

उस परमेश्वरका न तो कोई कार्य है, न करण ही है; न तो कोई उसके समान है, न बढ़कर ही है । उसकी परमा शक्ति विविध प्रकारकी सुनी जाती है, क्योंकि वह स्वाभाविक अर्थात् अनादिसिद्ध है और उस परमेश्वरके ज्ञान और बलके अनुसार उसकी क्रिया होती है ।

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥

उस परमेश्वरका इस संसारमें न तो कोई पति है, न नियामक है, और न कोई कारण अथवा अनुमापक ही है । वह स्वयं ही सबका कारण है, वह इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवताओंका भी अधिष्ठाता है, उसका न तो कोई उत्पादक है और न स्वामी ही है ।

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः ।
देव एकः स्वमावृणोति स नो दधातु ब्रह्माव्ययम् ॥

जिस प्रकार मकड़ी अपने ही शरीरमेंसे निकले हुए तन्तुओंसे अपने-आपको वेष्टित कर लेती है, उसी प्रकार वह अद्वितीय परमात्मा अपनी ही प्रकृतिसे इस सृष्टिको उत्पन्न करके उसके द्वारा अपनेको आवृत कर लेते हैं । वही परमेश्वर हमारा उस अक्षर ब्रह्मके साथ योग करें ।

ईश्वर, जीव और संसारके सम्बन्धमें भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके विचार

(लेखक—श्रीगोवर्द्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री १००८ श्रीभारतीकृष्ण तीर्थजी महाराज)

हौत्राग्निहोत्राग्निहविष्यहोतृ-
होमादिसर्वाकृतिभासमानम् ।
यद्ब्रह्म तद्बोधवितारिणीभ्यां
नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥

विशाल विश्वके एक छोरसे दूसरे छोरतक ऐसा कोई भी सचेतन मननशील व्यक्ति न हुआ, न है और न होगा, जिसके मनमें कठोपनिषद्का ('अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके') यह सब प्रश्नोंका एक प्रश्न न उठा हो और उत्तर पानेके लिये उसको बार-बार व्याकुल न किया हो कि जन्म लेनेसे पहले मैं था अथवा नहीं ? यदि था तो क्या, कहाँ और कैसे था ? मैं कहाँसे आया हूँ ? इस समय मैं क्या हूँ ? मैं कब मरूँगा और इसके बाद मेरा अस्तित्व रहेगा या नहीं ? यदि मेरा अस्तित्व रहेगा तो मैं क्या, कहाँ और किस प्रकार रहूँगा ? मैं कहाँ जाऊँगा ? मेरा अन्तिम लक्ष्य क्या है ? और उसे प्राप्त करनेका साधन क्या है ? बुद्धिमान् और मूर्खमें इतना ही अन्तर है कि बुद्धिमान् इस समस्यापर लगातार अध्ययन, ध्यान, विचार और विमर्श करता जाता है, जबतक इसका रहस्य उसके सामने प्रकट नहीं हो जाता; किन्तु मूर्ख, ऐसी समस्याओंको हल करनेके लिये आवश्यक मानसिक और बौद्धिक योग्यतासे रहित होनेके कारण, इनसे शीघ्र तंग आकर निराशावश इनको छोड़ बैठता है। परन्तु इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता कि चिन्तनशील और मूर्ख दोनों ही अपने हृदयमें अपने-आप उठनेवाले इस प्रश्नका अनुभव समान रूपसे करते आये हैं और सदा अनुभव करते रहेंगे। अन्तर केवल परिणाममें है।

आवश्यकता

किन्तु यह एक ऐसा विषय है, जिसपर सभी विचारशील पुरुषोंको गम्भीरतापूर्वक विचार, सावधानीसे जाँच और यथावत् निर्णय करना चाहिये। क्योंकि यह स्वयंसिद्ध है कि जबतक हमें अपने गन्तव्य स्थानका पता नहीं होगा तबतक सम्भवतः हम उस लक्ष्य तक पहुँचानेवाले मार्ग और साधनका विचार भी नहीं करेंगे। और कुछ नहीं तो अपनी साधारण मानसिक शान्तिके लिये भी इन समस्याओंका हल करना परम आवश्यक है कि हम क्या थे, क्या हैं और क्या होना चाहतें हैं और किस प्रकार अपनी वर्तमान स्थितिसे उस स्थितिपर पहुँच सकते हैं जहाँ हमें पहुँचना चाहिये अथवा जहाँ हम पहुँचना चाहते हैं। इन प्रश्नोंपर विचार करनेके लिये सर्वप्रथम हमें यह जान लेना चाहिये कि आत्माकी उपाधि, गुण और स्वरूप अथवा, वैज्ञानिक भाषामें, उसके लक्षण क्या हैं, इत्यादि, इत्यादि। इसलिये हम संक्षेपमें उन पहलुओंका विचार करेंगे जिन पहलुओंसे इस प्रश्नकी मीमांसा की जा सकती है, और यह निश्चय करेंगे कि इस प्रश्नपर गम्भीर विचार करनेपर उसका निश्चित और अन्तिम उत्तर क्या हो सकता है।

पद्धति

इस प्रयत्नमें हम श्रवण और मननकी भारतीय पद्धतिका अनुसरण करेंगे अर्थात् शास्त्रोंके अवलोकनसे प्रारम्भ करके इन प्रश्नोंपर विभिन्न तार्किक दृष्टियोंसे समालोचनात्मक और विश्लेषणात्मक विचार करते हुए यह निश्चय करेंगे कि शास्त्र और तर्क दोनोंका इस विषयपर कहाँतक अविरोध है।

सनातनधर्मके ग्रन्थ

अतएव हमें चाहिये कि हम इस पद्धतिका आश्रय लेकर सत्यके सच्चे और उद्योगी अन्वेषकोंकी भाँति अपनी बुद्धिको रागद्वेष और पक्षपातसे मुक्त कर लें (चाहे वे कितने ही स्वाभाविक हों अथवा उन्हें हम न जानते हों) और ईश्वर, जीव तथा संसारके पारस्परिक सम्बन्धका विचार करना प्रारम्भ कर दें। श्रवण अर्थात् एतद्विषयक शास्त्रीय सिद्धान्तके सम्बन्धमें सबसे आवश्यक ध्यान देनेकी बात यह है कि यदि कुछ क्षणके लिये हम इसके अतिरिक्त अन्य विषयोंका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंको अलग कर दें और केवल इसी विषयका विचार करनेवाले वेदादि शास्त्रोंको लें तो हमें उनके अन्दर इस बातमें आश्चर्यजनक समानता मिलेगी कि वे ईश्वर, जीव तथा जगत्की भिन्नताका प्रतिपादन नहीं करते, केवल इतनी ही बात नहीं है, अपितु इस प्रकारके

विचारोंका निषेध भी करते हैं। दूसरे शब्दोंमें वे शुद्ध अद्वैतवादका उपदेश करते हैं। इस प्रकारके हजारों वचन उद्धृत किये जा सकते हैं, किन्तु स्थानका विचार करके कुछ थोड़े-से चुने हुए वचन ही नीचे दिये जाते हैं—

१–'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।' (एक ही ईश्वर सब भूतोंमें छिपा हुआ है, वह सर्वत्र व्याप्त और सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है।)

२–'नेह नानास्ति किञ्चन।' (सम्पूर्ण विश्वके विभिन्न पदार्थोंमें परमार्थतः कुछ भी अन्तर नहीं है।)

३–'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।' (जो विश्वमें नानात्व देखता है वह जन्म-मरणके अनन्त चक्रमें पड़ता है।)

४–'द्वितीयाद्वै भयं भवति।' (द्वैतकी कल्पनासे ही भय, सन्देह, चिन्ता, संघर्ष, घृणा और संसारके अन्य दुःख उत्पन्न होते हैं।)

५–'उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति।' (जब कुछ भी द्वैतकी भावना मनुष्यको होती है तो उसे भय होना प्रारम्भ हो जाता है।)

६–'स यश्चायं पुरुषे, यश्चासावादित्ये, स एकः।' (इस पुरुषके भीतरका आत्मा और सूर्यके भीतरका आत्मा एक ही है।)

७–'सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।' (सच्चे ज्ञानीको सब पदार्थ आत्मरूप दिखायी पड़ते हैं।)

८–'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।' (जो सब पदार्थोंमें अभेद देखता है उसको न अज्ञान है और न शोक।)

९–'यस्मिन्नेकस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।' (जिस एकके जान लेनेसे संसारके सारे पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है।)

१०–'ईशावास्यमिदं सर्वम्।' (सारा संसार एकमात्र ईश्वरसे व्याप्त है, ऐसा समझना चाहिये।)

११–'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (यह सारा विश्व ईश्वररूप है।)

१२–'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।' (हे श्वेतकेतु! आत्मा ऐसा है और तुम वही हो।)

इन विस्तृत विभिन्न वचनोंके अतिरिक्त यह सारग
बात ध्यान देनेकी है कि मुक्तिकोपनिषद्में भगवान् श्रीराम
श्रीहनुमान्जीको १०८ उपनिषदोंकी विस्तृत नामावली
विवरण देते हुए कहते हैं कि इन सबका सार माण्डूक्योपनि
में मिलता है ('माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये।' अर्थ
भवबन्धनसे मोक्ष चाहनेवालोंके लिये केवल माण्डूक्य
पर्याप्त है)। माण्डूक्योपनिषद्का प्रारम्भ इन मन्त्रोंसे होता

१३-१४–'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव। सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म।'

(अर्थात् पवित्र ओंकार अक्षर (ईश्वर) का प्र
है; सब कुछ उसीकी अभिव्यक्ति है; जो कुछ था, है
होगा सब ओंकार है; और जो कुछ त्रिकालातीत है
भी ओंकार ही है; यह सारा विश्व ब्रह्म है; यह (व्या
आत्मा भी ब्रह्म है।) इसके पश्चात् माण्डूक्योपनिषद् जाग्र
स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओंमें जीवात्म
(भिन्न-भिन्न रूपोंमें अभिव्यक्त) सर्वशक्तिमान् विश्व
तथा ओंकारके साथ (जो दोनों मिलकर भगवान्के स्वरू
व्यक्त करते हैं) एकता दिखलाता है।

यह माण्डूक्योपनिषद्, जिसमें केवल बारह छोटे
मन्त्र हैं और जो इसीलिये अन्य सब उपनिषदोंसे छोटा
किन्तु भगवान् रामचन्द्रजीने जिसे योग्यतामें सबसे
बताया है, भगवान् आदि जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यके अ
सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। वास्तवमें माण्डूक्योपनि
और अद्वैत पर्यायवाची शब्द हैं। माण्डूक्योपनिषद्का मा
और अद्वैतसिद्धान्तको न मानना स्पष्ट ही परस्पर विरुद्ध

जो श्रुतियाँ ईश्वरद्वारा सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन क
हैं, वे भी इस विषयका स्पष्ट निर्देश करती हैं—

१५–'सच्च त्यच्चाभवत्' (वह स्वयं स्थूल और
जगत् बन गया।)

१६–'बहु स्यां प्रजायेय' (उसने इच्छा की–
अनेक बनूँगा, बहुत रूपोंमें व्यक्त होऊँगा, और
प्रकार विश्वकी उत्पत्ति हुई। उसने यह नहीं कहा–
बहुत-से पदार्थोंको रचूँगा' किन्तु केवल 'मैं बहुत-से
बनूँगा'। उसने यह नहीं कहा—'मैं बहुत-से पदा
व्यक्त करूँगा; किन्तु केवल 'मैं बहुत-से पदार्थोंमें

होऊँगा।' यदि हम यह मानते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है और वह उस अदक्ष—प्रमादी व्यक्तिकी तरह नहीं है जो विचार कुछ करता है और कार्य बिलकुल उससे भिन्न करता है, तब तो यह साधारण-से-साधारण बुद्धिवाले मनुष्यके लिये भी स्पष्ट है कि जब ईश्वरने बहुत हो जानेकी इच्छा की और इससे सारा विश्व उत्पन्न हुआ, इस दशामें या तो चुपचाप इस बातको स्वीकार करना चाहिये कि विश्व अनेक रूपोंमें उसीकी अभिव्यक्ति है अथवा उसकी सर्वशक्तिमत्ताको अस्वीकारकर उसको अदक्ष मानना चाहिये। तार्किक दृष्टिसे तीसरा कोई विकल्प नहीं है।

उन नवीन विचारवालोंके सन्तोषके लिये भी जो केवल संहिताभागको ही प्रमाण मानते हैं (किन्तु उपनिषदोंको नहीं), हम कह सकते हैं कि पुरुषसूक्त (कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेदसंहितामें) स्पष्ट घोषणा करता है—

१७–'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्त-
रजायमानो बहुधा विजायते।'

(सृष्टिकर्ता ईश्वर ही गर्भमें चलता है। वह अजन्मा ईश्वर ही अनेक रूपोंमें उत्पन्न होता है।) यहाँ हम यह भी कह सकते हैं कि आर्यसमाजके संस्थापक तथा संहिता-प्रामाण्यवादके प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती भी अपने 'शुक्लयजुर्वेदसंहिताभाष्य' में इस मन्त्रकी व्याख्या ठीक वैसे ही करते हैं जैसे हमने की है।

जिसके प्रामाण्यको हम सब लोग मानते हैं और जिसको पाश्चात्य दार्शनिक संसार (जैसे, कार्लाइल, इमर्सन प्रभृति) भी स्वीकार करता है तथा जिसके प्रति मौखिक श्रद्धा प्रदर्शित करना आधुनिक युगमें विद्याप्रेमका प्रतीक हो रहा है, वह गीता भी अद्वैतका ही उपदेश करती है। हम संक्षेपमें इसका निर्देश करेंगे। इसको स्पष्ट करनेके लिये दो उद्धरण पर्याप्त होंगे—

१८–ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

(यज्ञकी सामग्री ईश्वर है, उसका अर्पण करना ईश्वर है, यज्ञाग्नि ईश्वर है, होता ईश्वर है, यज्ञकर्मके पीछे रहनेवाला केन्द्रीभूत ध्यान ईश्वर है और इससे प्राप्त होनेवाला फल भी ईश्वर ही है।)

१९–इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

(यह शरीर क्षेत्र कहलाता है; जो इसका अनुभव करता है वह क्षेत्रज्ञ वा आत्मा कहलाता है; सब शरीरोंमें मुझीको आत्मा समझो; मेरे विचारमें शरीर और आत्माका ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है।)

यहाँ हम फिर यह सङ्केत कर देना चाहते हैं कि आर्यसमाजी भाष्यकार हरिप्रसाद 'वैदिक मुनि' ने अपनी 'स्वाध्याय-संहिता' में उपर्युक्त मन्त्रोंकी व्याख्या हमारी ही तरह की है।

अन्य धर्म

अब सनातनधर्मीय शास्त्रोंके श्रवण (अध्ययन) का संक्षिप्त विवरण दे चुकनेके बाद हमें मननका विवेचन करना चाहिये। सबसे पहले वेदों और अन्य शास्त्रोंसे प्रतिपादित इस अद्वैत-सिद्धान्तकी तुलना दूसरे धर्मोंके सिद्धान्तोंसे करेंगे और फिर स्वतन्त्र (तार्किक) रीतिसे इस समस्याका विचार इसके निजी स्वरूपको लेकर करेंगे।

प्रारम्भमें इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये कि बाइबलमें इस प्रश्नपर काफी विचार नहीं किया गया है; और वह अनुमानतः इसलिये कि बाइबलका उपदेश जिनको दिया गया था वे आध्यात्मिक उपदेशके अधिकारी नहीं थे, अपितु प्रारम्भिक नैतिक उपदेशोंके ही पात्र थे, और इसलिये उनको यही उपदेश दिये गये। किन्तु जिन वाक्योंमें बाइबलने आध्यात्मिक तत्त्वोंकी आलोचना की है, उनमें वास्तवमें अद्वैतसिद्धान्तका ही प्रतिपादन पाया जाता है। उदाहरणार्थ, महात्मा ईसा स्वयं कहते हैं—

२०–'ईश्वरका राज्य तुम्हारे भीतर है।'
२१–'स्वयं तुम देवता हो।'

विशेषकर सन्त जॉनके 'दिव्य सन्देश' में, उनके 'पत्रों' में और 'अनुभवों' में कई ऐसे वचन हैं जो प्रकट करते हैं, और बहुत-से ग्रीक और रोमन ऐतिहासिक लेख भी सिद्ध करते हैं, कि महात्मा ईसाने भारतीय अद्वैतवेदान्तको फिलस्तीनमें ले जाकर उसका प्रचार किया; किन्तु कट्टर द्वैतवादी (अर्थात् कहनेको एकेश्वरवादी और भीतरसे बहु-सत्तावादी) यहूदी लोग इन 'धर्मविरुद्ध' शिक्षाओंको सहन नहीं कर सके और उनके कट्टर शत्रु हो गये। इसका परिणाम

यह हुआ कि जब रोमन अदालतोंमें उनका चालान, पहले षड्यन्त्र और फिर धर्मनिन्दाके अपराधमें, हुआ तो उनको काँटोंका ताज पहनना और लज्जाजनक क्रास सहन करना पड़ा। यह ध्यान देनेकी बात है कि केवल उनके प्रिय शिष्य संत जॉन ही दार्शनिक विचारोंका समावेश अपने उपदेशोंमें कर सके और इस समय भी, थोड़े-से अपवादोंको छोड़कर, सारी ईसाई जनता संत जॉनके 'दिव्य सन्देश' तथा अन्य पुस्तकोंसे संकोच और उनको 'अत्यन्त रहस्यमय' समझकर परित्याग करके अपनेको संत मैथ्यू, मार्क तथा लूकके 'दिव्य सन्देशों' तक ही सीमित रखती है। इन तीनोंका स्वभाव अदार्शनिक था। कोई भी दुराग्रहरहित निष्पक्ष व्यक्ति, जो महात्मा ईसाको अपना 'प्रभु, स्वामी तथा त्राता' मानता है, न्यायतः द्वैतको (जिसके विरुद्ध वे लड़ते रहे) स्वीकार नहीं कर सकता और न अद्वैतको (जिसके प्रचारमें उन्होंने अपना बलिदान कर दिया) अस्वीकार कर सकता है।

इस्लामके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहनेकी आवश्यकता है कि मुसलमानोंमें केवल सूफ़ियोंने इन आध्यात्मिक प्रश्नोंपर विचार किया है और वे पूर्णतः अद्वैतवादी हैं।

पाश्चात्य दार्शनिक

अधिक विस्तारमें जानेकी आवश्यकता न समझकर, हम 'मनन'के इस तुलनात्मक विचारको, दार्शनिक इतिहासके एक प्रसिद्ध तथ्यका उल्लेख करते हुए, यहीं समाप्त करते हैं। प्राचीन यूनानके प्लेटोसे लेकर आधुनिक दार्शनिकोंमें स्वेडेनबर्ग, वर्ड्सवर्थ, ब्राउनिंग, कार्लाइल, इमर्सन, बिशप, बर्कले, हेगल, फिष्टे, इमैन्युअल, काण्ट, राल्फ वाल्डो ट्राइन, टॉमस हिल ग्रीन, विलियम वॉकर ऐटकिन्सन, एला व्हीलर विलकॉक्स, प्रोफेसर डायसनतक पाश्चात्य संसारके समस्त मनोविज्ञानी तथा अध्यात्मज्ञानी भी जडवादियोंके द्वैतवादके विरुद्ध, भगवान् श्रीशङ्करके आदर्शवादका ही समर्थन करते आये हैं। उनमें वास्तविक तथा ध्यान देने योग्य अन्तर केवल यही है कि जहाँ पाश्चात्य आदर्शवादी (शोककी बात है कि उन सबके शिरोमणि काण्टने भी अपने 'विशुद्ध बुद्धिका विवेचन' नामक ग्रन्थमें यही बात दरसायी है) अपने विचार और निष्पक्ष तर्कके अनिवार्य परिणामसे भयभीत हो गये, संसारके विद्वानों और तार्किकोंमें श्रेष्ठ भगवान् शङ्करने ही अपने निर्दोष युक्तिवाद और गम्भी मननके स्वाभाविक परिणाम अर्थात् विशुद्ध अद्वैतवादरू परम सिद्धान्तको अदम्य साहसके साथ स्वीकार किया।

इस सम्बन्धमें हमें याद रखना चाहिये कि यदि भारतवर्ष, और सब बातोंमें अधोगतिको प्राप्त होकर भी, प्रतिभाशाली पाश्चात्य दार्शनिकोंको अब भी मुग्ध कर सकता है तो केवल शङ्करके अद्वैत वेदान्तसिद्धान्तके द्वारा ही, जिसके सामने संसारके बड़े-से-बड़े विद्वान् विवश होकर श्रद्धाके साथ सिर झुकाते हैं; और भारतवर्षको इस अत्यन्त आश्चर्यकारी अथवा अतर्क्य ऐतिहासिक घटनाके लिये इस अद्वैतसिद्धान्तको ही धन्यवाद देना चाहिये।

युक्तिवाद

और इस प्रकार हम मननके दूसरे अंश अर्थात् इस समस्याके वास्तविक स्वरूपके आधारपर उसके स्वतन्त्र दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विचारपर पहुँचते हैं। क्योंकि हमारे तुलनात्मक विचारके परिणामस्वरूप, मनोवैज्ञानिक क्रमसे यह दूसरा प्रश्न सामने आता है कि हम इस विचित्र अनुभवकी व्याख्या कैसे करें कि पश्चिमके इन सभी बड़े-बड़े विचारकोंने, जिनमेंसे अधिकांशका वेदोंमें विश्वास नहीं है और कुछको तो वेदोंके नाम और अस्तित्वका भी पता नहीं है, अस्पष्ट और यथार्थ रीतिसे किन्तु अपने भिन्न और स्वतन्त्र युक्तिवादकी पद्धतिसे भगवान् शङ्करद्वारा प्रतिपादित अद्वैतसिद्धान्तको स्वीकार किया है। और इस प्रश्नका एकमात्र उत्तर, जिसे कोई भी यथार्थ विचार करनेवाला, न्यायप्रिय और पक्षपातरहित व्यक्ति दे सकता है, यह है कि केवल अद्वैतवेदान्त ही यथार्थ विचारकी कसौटीपर ठीक उतर सकता है, और इसलिये पाश्चात्य दार्शनिकोंने भी, प्राच्य अद्वैतवादके विरुद्ध अपने स्वभावगत आग्रहके होते हुए भी, सच्चे विचारककी हैसियतसे विवश होकर अद्वैतवेदान्तको स्वीकार किया है। दूसरे शब्दोंमें अद्वैत, और वेदान्तका अद्वैत ही, एक ऐसा सिद्धान्त है जिसका युक्तिवाद भी समर्थन करता है।

विधि

इस दृष्टिकोणसे मननपूर्वक तथा यथावत् इस समस्याका विचार करने और उसे हल करनेके लिये, अब हम लौटकर उन प्रश्नोंपर आते हैं जिनसे हमने यह विचार प्रारम्भ किया

था, अर्थात् हम कहाँसे आये हैं, हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है, इस समय हम क्या हैं, हम कहाँ जाना चाहते हैं ? इत्यादि। अध्यात्मशास्त्रमें यह सब प्रश्नोंका एक प्रश्न है जिसका यथार्थ उत्तर सबके लिये सच्चा आनन्द प्राप्त करानेमें बहुत सहायक होगा। किन्तु अभाग्यवश इसी परमावश्यक विषयको वाचिक अध्यात्मवादियोंने अपनी भ्रान्त पद्धतिसे साधारण जिज्ञासुके लिये हौआ बना दिया है। इस सम्बन्धमें एक विश्वविद्यालयके दर्शनशास्त्रके अध्यापककी बात याद आ गयी। उनसे उनके छोटे बालकने पूछा कि 'अध्यात्मचर्चा' किसे कहते हैं ? उन्होंने गम्भीरतासे कहा, 'यदि राम और श्याम बातचीत करें और उनमेंसे कोई किसीकी बात न समझे, तो तुम ऐसी बातचीतको 'दार्शनिक चर्चा' कह सकते हो।' इस प्रकारके नामधारी दार्शनिकोंकी इस प्रवृत्तिके कारण ही साधारण मनुष्य अध्यात्मशास्त्रके नामसे भय खाने लगे हैं। हम इस निबन्धके शेष भागमें यह सिद्ध करना चाहते हैं कि एक अदने मनुष्यके लिये भी मननकी पद्धतिविशेषका ग्रहण करना वास्तवमें कितना सरल है, जिसके द्वारा दर्शनशास्त्रके सूक्ष्म विषयोंपर गहन ग्रन्थोंके पारिभाषिक चक्करमें बिना पड़े ही, वह भी अपने लिये वेदान्तमें उपदिष्ट ईश्वर, जीवात्मा और विश्वके ऐक्यका अनुभव कर सकता है। इसीके लिये हम अब आगे बढ़ते हैं।

आत्मा

अब हम पीछे लौट चलें, और इस बातको स्पष्ट करते हुए कि 'आत्मा'-जैसी कोई वस्तु वास्तवमें है या नहीं, और इस शब्दका ठीक-ठीक अर्थ क्या है इत्यादि, प्रारम्भसे ही अपने विषयको शुरू करें। क्योंकि जबतक हम नास्तिकद्वारा किये गये आत्मसत्ताके निषेध और मध्यस्थानीय सन्देहवादीकी शङ्काका अतिक्रमण कर युक्तियुक्त अन्तरालोकनसे, आत्माके अस्तित्वके सम्बन्धमें बिलकुल निश्चय नहीं कर लेते तबतक प्रस्तुत विषयके आलोचनमें आगे नहीं बढ़ सकते।

आत्माका अस्तित्व और लक्षण

यदि हम आत्माके वेदान्तोक्त लक्षण 'अहंपदलक्ष्य' (वह जो 'मैं' शब्दसे व्यञ्जित होता है) को याद रक्खें तो इसका अस्तित्व बड़ी सुगमतासे समझमें आ जाता है—नहीं, नहीं, स्वयं सिद्ध हो जाता है। क्योंकि जब हम अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके सम्बन्धमें बातें करते हैं तो यह बात बिलकुल स्पष्ट रहती है कि इन पदार्थोंका सम्बन्ध किसी ऐसी सत्ता वा वस्तुसे है जो इन सबके पीछे परे और ऊपर है, और वह सम्बन्ध स्वस्वामिभावका है, जो षष्ठी विभक्ति (सम्बन्ध कारक) से प्रकट, है। अपोहक्रियाके द्वारा हम सरलतापूर्वक देख सकते हैं कि शरीर, इन्द्रिय, मन आदि आत्मा नहीं किन्तु इसके साथ सम्बद्ध हैं।

इसका स्वरूप

इस प्रक्रियासे आत्माके अस्तित्वका निर्णय करके और उसे शरीर, इन्द्रिय, मन आदिसे परे इन सबका स्वामी निश्चितकर अब इस बातका निश्चय करना चाहिये कि इसके स्वरूप और लक्षण क्या हैं। यदि हम इन्हें ढूँढ़ निकालें तो बड़ी आसानीसे उन प्रश्नोंका उत्तर दे सकते हैं जिन्हें हम प्रायः अपनेसे पूछते आये हैं, अर्थात् हम कहाँसे आये हैं, कहाँ जायँगे इत्यादि ? इस समस्याको सुलझानेके कई मार्ग हैं, किन्तु हम इस निबन्धमें मोटे तौरपर उन ध्यानकी प्रक्रियाओंको बतावेंगे जो स्वयं हमें लाभकारी सिद्ध हुई हैं, और सम्भव है कि वे इस मार्गपर उतना ही प्रकाश डालेंगी और उतनी ही सहायता उनसे दूसरोंको मिलेगी जो इस मार्गपर चलनेकी सदाकांक्षा रखते हैं।

उपाधि और उपलक्षण

जिज्ञासुके मार्गमें सबसे बड़ी बाधा यह होती है कि हमारे निकटवर्त्ती सब पदार्थोंमें बहुत-से गौण लक्षण होते हैं जो प्रधान लक्षणसे प्रतीत होते हैं किन्तु बहुधा बिलकुल मायिक और भ्रामक होते हैं। और उन्हींमें कुछ ऐसे लक्षण भी होते हैं जिनको हम क्षणिक संयोगके कारण भूलसे वास्तविक गुण समझ लेते हैं। संस्कृतमें इनको उपाधि और उपलक्षण कहते हैं, और इनसे सदा हमें सावधान रहना चाहिये।

आत्माके सम्बन्धमें सब-कुछ कैसे जाना जाय ?

आत्माके वास्तविक लक्षण मालूम करनेके कई मार्ग हैं, किन्तु इनमेंसे सबसे सरल दो मार्ग हैं जिन्हें हम विश्लेषणात्मक और समन्वयात्मक पद्धति कह सकते हैं। हम इन दोनों पद्धतियोंका उपयोग करके अपनी समस्याको हल करेंगे।

यह हुआ कि जब रोमन अदालतोंमें उनका चालान, पहले षड्यन्त्र और फिर धर्मनिन्दाके अपराधमें, हुआ तो उनको काँटोंका ताज पहनना और लज्जाजनक त्रास सहन करना पड़ा। यह ध्यान देनेकी बात है कि केवल उनके प्रिय शिष्य संत जॉन ही दार्शनिक विचारोंका समावेश अपने उपदेशोंमें कर सके और इस समय भी, थोड़े-से अपवादोंको छोड़कर, सारी ईसाई जनता संत जॉनके 'दिव्य सन्देश' तथा अन्य पुस्तकोंसे संकोच और उनको 'अत्यन्त रहस्यमय' समझकर परित्याग करके अपनेको संत मैथ्यू, मार्क तथा ल्यूकके 'दिव्य सन्देशों' तक ही सीमित रखती है। इन तीनोंका स्वभाव अदार्शनिक था। कोई भी दुराग्रहरहित निष्पक्ष व्यक्ति, जो महात्मा ईसाको अपना 'प्रभु, स्वामी तथा त्राता' मानता है, न्यायतः द्वैतको (जिसके विरुद्ध वे लड़ते रहे) स्वीकार नहीं कर सकता और न अद्वैतको (जिसके प्रचारमें उन्होंने अपना बलिदान कर दिया) अस्वीकार कर सकता है।

इस्लामके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहनेकी आवश्यकता है कि मुसलमानोंमें केवल सूफ़ियोंने इन आध्यात्मिक प्रश्नोंपर विचार किया है और वे पूर्णतः अद्वैतवादी हैं।

पाश्चात्य दार्शनिक

अधिक विस्तारमें जानेकी आवश्यकता न समझकर, हम 'मनन'के इस तुलनात्मक विचारको, दार्शनिक इतिहासके एक प्रसिद्ध तथ्यका उल्लेख करते हुए, यहीं समाप्त करते हैं। प्राचीन यूनानके प्लेटोसे लेकर आधुनिक दार्शनिकोंमें स्वेडेनबर्ग, वर्ड्सवर्थ, ब्राउनिंग, कार्लाइल, इमर्सन, बिशप, बर्कले, हेगल, फिष्टे, इमैन्युअल, काण्ट, राल्फ वाल्डो ट्राइन, टॉमस हिल ग्रीन, विलियम वॉकर ऐटकिन्सन, एला व्हीलर विलकॉक्स, प्रोफेसर डायसनतक पाश्चात्य संसारके समस्त मनोविज्ञानी तथा अध्यात्मज्ञानी भी जडवादियोंके द्वैतवादके विरुद्ध, भगवान् श्रीशङ्करके आदर्शवादका ही समर्थन करते आये हैं। उनमें वास्तविक तथा ध्यान देने योग्य अन्तर केवल यही है कि जहाँ पाश्चात्य आदर्शवादी (शोककी बात है कि उन सबके शिरोमणि काण्टने भी अपने 'विशुद्ध बुद्धिका विवेचन' नामक ग्रन्थमें यही बात दरसायी है) अपने विचार और निष्पक्ष तर्कके अनिवार्य परिणामसे भयभीत हो गये, संसारके विद्वानों और तार्किकोंमें श्रेष्ठ भगवान् शङ्करने ही अपने निर्दोष युक्तिवाद और गम्भी मननके स्वाभाविक परिणाम अर्थात् विशुद्ध अद्वैतवादरू परम सिद्धान्तको अदम्य साहसके साथ स्वीकार किया।

इस सम्बन्धमें हमें याद रखना चाहिये कि यदि भारतवर्ष, और सब बातोंमें अधोगतिको प्राप्त होकर भी प्रतिभाशाली पाश्चात्य दार्शनिकोंको अब भी मुग्ध क सकता है तो केवल शङ्करके अद्वैत वेदान्तसिद्धान्तके द्वार ही, जिसके सामने संसारके बड़े-से-बड़े विद्वान् विवश होक श्रद्धाके साथ सिर झुकाते हैं; और भारतवर्षको इस अत्यन्त आश्चर्यकारी अथवा अतर्क्य ऐतिहासिक घटनाके लिये इस अद्वैतसिद्धान्तको ही धन्यवाद देना चाहिये।

युक्तिवाद

और इस प्रकार हम मननके दूसरे अंश अर्थात् इस समस्याके वास्तविक स्वरूपके आधारपर उसके स्वतन्त्र दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विचारपर पहुँचते हैं। क्योंकि हमारे तुलनात्मक विचारके परिणामस्वरूप, मनोवैज्ञानिक क्रमसे, यह दूसरा प्रश्न सामने आता है कि हम इस विचित्र अनुभवकी व्याख्या कैसे करें कि पश्चिमके इन सभी बड़े-बड़े विचारकोंने, जिनमेंसे अधिकांशका वेदोंमें विश्वास नहीं है और कुछको तो वेदोंके नाम और अस्तित्वका भी पता नहीं है, अस्पष्ट और यथार्थ रीतिसे किन्तु अपने भिन्न और स्वतन्त्र युक्तिवादकी पद्धतिसे भगवान् शङ्कर-द्वारा प्रतिपादित अद्वैतसिद्धान्तको स्वीकार किया है। और इस प्रश्नका एकमात्र उत्तर, जिसे कोई भी यथार्थ विचार करनेवाला, न्यायप्रिय और पक्षपातरहित व्यक्ति दे सकता है, यह है कि केवल अद्वैतवेदान्त ही यथार्थ विचारकी कसौटीपर ठीक उतर सकता है, और इसलिये पाश्चात्य दार्शनिकोंने भी, प्राच्य अद्वैतवादके विरुद्ध अपने स्वभावगत आग्रहके होते हुए भी, सच्चे विचारककी हैसियतसे विवश होकर अद्वैतवेदान्तको स्वीकार किया है। दूसरे शब्दोंमें अद्वैत, और वेदान्तका अद्वैत ही, एक ऐसा सिद्धान्त है जिसका युक्तिवाद भी समर्थन करता है।

विधि

इस दृष्टिकोणसे मननपूर्वक तथा यथावत् इस समस्याका विचार करने और उसे हल करनेके लिये, अब हम लौटकर उन प्रश्नोंपर आते हैं जिनसे हमने यह विचार प्रारम्भ किया

था, अर्थात् हम कहाँसे आये हैं, हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है, इस समय हम क्या हैं, हम कहाँ जाना चाहते हैं ? इत्यादि । अध्यात्मशास्त्रमें यह सब प्रश्नोंका एक प्रश्न है जिसका यथार्थ उत्तर सबके लिये सच्चा आनन्द प्राप्त करानेमें बहुत सहायक होगा । किन्तु अभाग्यवश इसी परमावश्यक विषयको वाचिक अध्यात्मवादियोंने अपनी भ्रान्त पद्धतिसे साधारण जिज्ञासुके लिये हौआ बना दिया है । इस सम्बन्धमें एक विश्वविद्यालयके दर्शनशास्त्रके अध्यापककी बात याद आ गयी । उनसे उनके छोटे बालकने पूछा कि 'अध्यात्मचर्चा' किसे कहते हैं ? उन्होंने गम्भीरतासे कहा, 'यदि राम और श्याम बातचीत करें और उनमेंसे कोई किसीकी बात न समझे, तो तुम ऐसी बातचीतको 'दार्शनिक चर्चा' कह सकते हो ।' इस प्रकारके नामधारी दार्शनिकोंकी इस प्रवृत्तिके कारण ही साधारण मनुष्य अध्यात्मशास्त्रके नामसे भय खाने लगे हैं। हम इस निबन्धके शेष भागमें यह सिद्ध करना चाहते हैं कि एक अदने मनुष्यके लिये भी मननकी पद्धतिविशेषका ग्रहण करना वास्तवमें कितना सरल है, जिसके द्वारा दर्शनशास्त्रके सूक्ष्म विषयोंपर गहन ग्रन्थोंके पारिभाषिक चक्करमें बिना पड़े ही, वह भी अपने लिये वेदान्तमें उपदिष्ट ईश्वर, जीवात्मा और विश्वके ऐक्यका अनुभव कर सकता है । इसीके लिये हम अब आगे बढ़ते हैं ।

आत्मा

अब हम पीछे लौट चलें, और इस बातको स्पष्ट करते हुए कि 'आत्मा'-जैसी कोई वस्तु वास्तवमें है या नहीं, और इस शब्दका ठीक-ठीक अर्थ क्या है इत्यादि, प्रारम्भसे ही अपने विषयको शुरू करें । क्योंकि जबतक हम नास्तिकद्वारा किये गये आत्मसत्ताके निषेध और मध्यस्थानीय सन्देहवादीकी शङ्काका अतिक्रमण कर युक्तियुक्त अन्तरालोकनसे, आत्माके अस्तित्वके सम्बन्धमें बिलकुल निश्चय नहीं कर लेते तबतक प्रस्तुत विषयके आलोचनमें आगे नहीं बढ़ सकते ।

आत्माका अस्तित्व और लक्षण

यदि हम आत्माके वेदान्तोक्त लक्षण 'अहंपदलक्ष्य' (वह जो 'मैं' शब्दसे व्यञ्जित होता है) को याद रक्खें तो इसका अस्तित्व बड़ी सुगमतासे समझमें आ जाता है—नहीं, नहीं, स्वयं सिद्ध हो जाता है । क्योंकि जब हम अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके सम्बन्धमें बातें करते हैं तो यह बात बिलकुल स्पष्ट रहती है कि इन पदार्थोंका सम्बन्ध किसी ऐसी सत्ता वा वस्तुसे है जो इन सबके पीछे परे और ऊपर है, और वह सम्बन्ध स्वस्वामिभावका है, जो षष्ठी विभक्ति (सम्बन्ध कारक) से प्रकट, है । अपोहक्रियाके द्वारा हम सरलतापूर्वक देख सकते हैं कि शरीर, इन्द्रिय, मन आदि आत्मा नहीं किन्तु इसके साथ सम्बद्ध हैं ।

इसका स्वरूप

इस प्रक्रियासे आत्माके अस्तित्वका निर्णय करके और उसे शरीर, इन्द्रिय, मन आदिसे परे इन सबका स्वामी निश्चितकर अब इस बातका निश्चय करना चाहिये कि इसके स्वरूप और लक्षण क्या हैं । यदि हम इन्हें ढूँढ़ निकालें तो बड़ी आसानीसे उन प्रश्नोंका उत्तर दे सकते हैं जिन्हें हम प्रायः अपनेसे पूछते आये हैं, अर्थात् हम कहाँसे आये हैं, कहाँ जायँगे इत्यादि ? इस समस्याको सुलझानेके कई मार्ग हैं, किन्तु हम इस निबन्धमें मोटे तौरपर उन ध्यानकी प्रक्रियाओंको बतावेंगे जो स्वयं हमें लाभकारी सिद्ध हुई हैं, और सम्भव है कि वे इस मार्गपर उतना ही प्रकाश डालेंगी और उतनी ही सहायता उनसे दूसरोंको मिलेगी जो इस मार्गपर चलनेकी सदाकांक्षा रखते हैं ।

उपाधि और उपलक्षण

जिज्ञासुके मार्गमें सबसे बड़ी बाधा यह होती है कि हमारे निकटवर्त्ती सब पदार्थोंमें बहुत-से गौण लक्षण होते हैं जो प्रधान लक्षणसे प्रतीत होते हैं किन्तु बहुधा बिलकुल मायिक और भ्रामक होते हैं । और उन्हींमें कुछ ऐसे लक्षण भी होते हैं जिनको हम क्षणिक संयोगके कारण भूलसे वास्तविक गुण समझ लेते हैं । संस्कृतमें इनको उपाधि और उपलक्षण कहते हैं, और इनसे सदा हमें सावधान रहना चाहिये ।

आत्माके सम्बन्धमें सब-कुछ कैसे जाना जाय ?

आत्माके वास्तविक लक्षण मालूम करनेके कई मार्ग हैं, किन्तु इनमेंसे सबसे सरल दो मार्ग हैं जिन्हें हम विश्लेषणात्मक और समन्वयात्मक पद्धति कह सकते हैं । हम इन दोनों पद्धतियोंका उपयोग करके अपनी समस्याको हल करेंगे ।

विश्लेषणात्मक पद्धति

उपाधि और उपलक्षणोंको अलग करके वास्तविक लक्षण समझ लेनेका सुगम मार्ग ही विश्लेषणात्मक पद्धति है। उदाहरणार्थ, शीत और उष्ण दोनों प्रकारके जलका हम सबको अनुभव है, किन्तु शास्त्र बतलाते हैं कि जलका स्वाभाविक धर्म शीतलता ही है, उष्णता नहीं। क्योंकि जब हम किसी भी मात्रामें उष्ण जलको देखते हैं तब हमें मालूम होता है कि उष्णता जलका प्राकृतिक अथवा सहज गुण नहीं है, परन्तु अग्नि या सूर्यरश्मियोंद्वारा तपाये जानेसे अर्थात् किसी बाह्य आकस्मिक अथवा आगन्तुक कारणसे उत्पन्न हुई है। और जब हम गुजरातके वीरमगाँव नामक स्थानमें जाते हैं और वहाँ प्राकृतिक अत्यन्त उष्ण जलसे भरे हुए कुण्डको देखते हैं तो हम तुरन्त पूछ बैठते हैं, यह जल उष्ण क्यों है? यह 'क्यों' शब्द ही इस बातका निश्चित और पर्याप्त प्रमाण है कि जलके लिये उष्ण होना स्वाभाविक नहीं है। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि प्राकृतिक गन्धकके सोते इस उष्णताके कारण हैं। किन्तु उत्तरकी आवश्यकता ही इस बातको प्रकट करती है कि शीतलता जलका प्राकृतिक धर्म है और इसमें उष्णता बाह्य कारणोंसे आती है। जलके सम्बन्धमें एक खास विशेषता यह भी है कि उष्णता और उसकी अतिमात्राका जो कुछ भी कारण हो, उष्ण जल यदि थोड़े समयके लिये अलग रख दिया जाय तो वह उत्तरोत्तर कम गर्म और अन्तमें बिलकुल ठंडा हो जाता है; इस तरह उष्णताके आनेके लिये बाह्य कारणकी आवश्यकता है, किन्तु बाहर निकलनेके लिये नहीं। इसलिये जलमें उष्णता केवल उपलक्षण है। इसी प्रकार यदि आप ताँबेके बर्तनको किसी खटाई या तेजाब अथवा अन्य किसी पदार्थसे साफ करके अच्छी तरह चमका दें और धूल और गंदगीके सम्पर्कमें आनेकी सब सम्भावनाओंसे इसको सावधानीके साथ सुरक्षित रक्खें, तब भी कालक्रमसे यह धीरे-धीरे किन्तु स्वतः अपने मैले हरे रंगको प्राप्त हो जायगा। ऐसा क्यों? क्योंकि इसका प्राकृतिक लक्षण चमक नहीं किन्तु मैलापन है। ये सब दृष्टान्त प्रकट करते हैं कि किसी पदार्थके स्वाभाविक लक्षणको लेकर 'क्यों' का प्रश्न नहीं उठता और न इसके लिये किसी समाधानकी आवश्यकता होती है। यदि यह स्वाभाविक धर्म कुछ समयके लिये कृत्रिम अथवा प्राकृतिक कारणोंसे दब भी जाय, तब भी यह फूट निकलेगा और प्रकट हो जायगा। सावधानीके साथ छँटाई करनेसे हम इस प्रकार देख सकते हैं और देखेंगे कि आत्माका वास्तविक स्वरूप क्या है और इस प्रकार वेदान्तके भव्य और पवित्र सिद्धान्तोंकी पुनः प्रतिष्ठा करेंगे।

समन्वयात्मक पद्धति

यह पद्धति पहलीकी अपेक्षा अधिक सरल और सुगम है, अतएव साधारण लोगोंके लिये भी अधिक उपयुक्त है। यह वह पद्धति है जिसके द्वारा हम आत्माका स्वरूप ही नहीं, किन्तु यह भी जान सकते हैं कि यह कहाँसे आया है और कहाँ जायगा। तैत्तिरीयोपनिषद्में इस पद्धतिको समझाया गया है। वहाँ भृगु (जो पीछे बड़े महर्षि हो गये किन्तु उस समय बालक थे) अपने पिताके पास जाकर वही प्रश्न पूछते हैं जिसका हम विचार कर रहे हैं। वरुणदेवने इसका उत्तर स्वयं निकाल लेनेके लिये भृगुको एक बिलकुल साधारण संकेत बतलाया। यह संकेत यों था। जिससे सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिससे उनका धारण होता है और जिसमें वे अन्तमें समा जाते हैं—ये तीनों अलग-अलग नहीं किन्तु एक ही हैं और वह ईश्वर हैं।' वरुणके इस उपदेशके भीतर रहनेवाले तत्त्वकी व्यापकताको सिद्ध करनेके लिये बहुत-से उदाहरण अपने आसपासके भौतिक संसारसे दिये जा सकते हैं। दृष्टान्तके लिये, वृक्ष पृथ्वीसे उत्पन्न होता है, इसीके आधारपर खड़ा रहता है, और गिरकर इसीमें फिर मिल जाता है।

इससे कुछ मोटा किन्तु अधिक प्रचलित उदाहरण मछलियोंका है। साधारणतः सब लोग जानते हैं कि मछलियोंकी प्रकृतिके अनुकूल तत्त्व जल है। परन्तु हम ऐसे मनुष्यकी कल्पना करें जो इस तथ्यको नहीं जानता। दैवात् उसे किसी तालाब या नदीके किनारे बड़ी बेचैन और छटपटाती हुई एक मछली मिल जाती है। वह सोचता है कि जिस प्रकारका आराम वह स्वयं भोगता है उससे मछलीकी भी व्यथा दूर हो जायगी। वह उसे उठाकर ठंडी हवामें रख देता है, किन्तु देखता है कि फिर भी वह बेचैन है। तब उसे वह घर ले आता है, अपनी कोमल शय्यापर उसको लेटा देता है, किन्तु तब भी देखता है कि उसको बड़ी पीड़ा और बेचैनी हो रही है। इस प्रकार मछलीको आराम पहुँचानेके उसके सारे प्रयत्न विफल हो जाते हैं, और वह आदमी मछलीको तालाब या नदीमें वापिस ले जाता है। वह उसे लाभ पहुँचानेकी चेष्टामें पानीमें छोड़ देता है और देखता है कि उसकी सारी छटपटाहट बंद हो

जाती है और वह प्रसन्नतासे तैरने लगती है । इस मनुष्यका स्वाभाविक निर्णय क्या होगा और होना चाहिये ? निश्चित ही वह यही परिणाम निकालेगा, और यही निकालना चाहिये कि मछलीकी प्रकृतिके अनुकूल तत्त्व पानी है, और उसीमें जानेके लिये वह बराबर कूदती और छटपटाती रही, जिसके बाहर वह निकल आयी थी और जिससे उसका पालन होता था ।

इससे यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि जिसको हम सदा खोजते रहते हैं और जिसके बिना हम कभी वस्तुतः सुखी नहीं हो सकते वही हमारा वास्तविक स्वरूप अथवा प्राकृतिक तत्त्व है । संक्षेपमें, समन्वयात्मक पद्धतिका स्वरूप यही है । इस पद्धतिके द्वारा भी सम्पूर्ण अद्वैत-सिद्धान्तकी पुनः प्रतिष्ठा की जा सकती है । इन दोनों तथा अन्य सहायक पद्धतियोंका उपयोग करते हुए, हम आत्माके वास्तविक स्वरूप और लक्षणोंका विचार प्रारम्भ करते हैं ।

सनातन अस्तित्व

हमारे शास्त्रोंके अनुसार आत्माका प्रथम लक्षण सत् अथवा त्रिकालाबाध्य अस्तित्व (सनातन अस्तित्व) है । हम निम्नलिखित कई दृष्टियोंसे इसका मनन कर सकते हैं—

१–मनोवैज्ञानिक दृष्टि–हम सभी मृत्युकी चर्चा करते और कहते हैं, 'अमुक व्यक्ति मर गया है ।' किन्तु वास्तवमें हम मृत्युका अर्थ क्या समझते हैं ? हमें आत्माका लक्षण, जो हम पहले कर चुके हैं, याद कर लेना चाहिये कि 'आत्मा वह पदार्थ है जिसका संकेत हम सब लोग 'अहं' पदसे करते हैं । अब देखना चाहिये कि क्या 'अहं' पद और 'मर गया' क्रियामें वास्तविक उद्देश्य और विधेयके रूपमें सम्बद्ध होनेकी किञ्चिन्मात्र भी सम्भावना है ? कभी नहीं । डाक्टर अथवा सम्बन्धी रोगीकी नाड़ी देख कर कहते हैं कि वह मर गया, अथवा रोगी स्वयं शंका करता अथवा डरता है कि मैं मर जाऊँगा; किन्तु मरनेका वास्तविक मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक अनुभव कभी होता ही नहीं; यह बिलकुल असम्भव है । 'अहं' और 'मरना' दोनों शब्द साथ-साथ प्रयुक्त नहीं हो सकते । उस अवस्थामें भी जब मनुष्य कहता है कि 'मैं मर रहा हूँ' और अपूर्ण वर्तमान कालका प्रयोग करता हुआ मालूम पड़ता है, उसका मतलब भविष्यत् कालसे होता है और वह भविष्यत्कालके बारेमें ही संकेत या जिक्र करता है, भूत अथवा वर्तमानके विषयमें नहीं ।

इस सम्बन्धमें हम निद्राका उल्लेख करेंगे जिसे स्वल्प मृत्यु कह सकते हैं । वास्तवमें, मृत्युको बहुधा लंबी निद्रा कहा गया है । उदाहरणार्थ, कविवर कालिदास (रघुवंश—सर्ग १२) भगवान् रामचन्द्रके द्वारा निद्राप्रिय कुम्भकर्णके वधका वर्णन करते हुए कहते हैं—

अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथा भवान् ।
रामेषुभिरितीवासौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥

(अर्थात् ऐसा मालूम होता था, मानो श्रीरामके बाणोंने यह कहते हुए कि 'हे निद्राप्रिय, तुम्हारे भाईने तुमको असमयमें ही बिना प्रयोजन जगा दिया है' कुम्भकर्णको लंबी निद्रामें भेज दिया ।) निद्राके बारेमें मजेकी बात यह है कि आप कह सकते हैं—'मैं सो रहा था', 'मैं सोने जा रहा हूँ', 'मुझे बड़ी नींद लग रही है' इत्यादि; किन्तु आप यह कदापि नहीं कह सकते कि 'मैं सो रहा हूँ' । यदि आप ऐसा कहते हैं तो यही इस बातका सबसे बड़ा प्रमाण है कि आप सो नहीं रहे हैं । इस प्रकार 'निद्रा' शब्द भी 'मैं' (अहं) के साथ प्रयुक्त नहीं हो सकता; यह स्वभावसे ही असम्भव है । ऐसी दशामें 'मैं'के साथ 'मरने' शब्दका प्रयोग तो और भी असम्भव है । इससे स्वाभाविक परिणाम यही निकलता है कि आत्माके सम्बन्धमें मृत्युका कथन नहीं हो सकता ।

कभी-कभी ऐसा होता है कि मनके अद्भुत व्यापारसे आप स्वप्न देखते हैं कि आप मर गये हैं और लोग आपके लिये रो रहे हैं, इत्यादि; किन्तु इस सम्बन्धमें आश्चर्यजनक बात यह है कि इस कल्पित मरणावस्थामें भी आप लोगोंको रोते हुए देखते और सुनते हैं, इत्यादि । इससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि काल्पनिक मृत्युके अनन्तर भी जीवन बना रहता है । इन दृष्टान्तोंसे यही सिद्ध होता है कि अमरत्व आत्माका स्वाभाविक गुण है ।

२–वस्तुतत्त्वात्मक दृष्टिकोण—आइये, अब हमलोग उस बातको याद करें जो कुछ मिनट पहले मछली और उसके स्वभावानुकूल तत्त्व (जल) के सम्बन्धमें कही गयी है और उस गुरका प्रयोग यहाँ भी करें । यदि जीवन और मरण दोनों ही हमारे स्वाभाविक धर्म होते, अर्थात् यदि मृत्यु भी हमारे लिये स्वाभाविक होती, तो हम उसका निवारण करने और

उससे बचनेका प्रयत्न क्यों करते। जो हमारे लिये सहज और स्वाभाविक है उससे बचनेका प्रयत्न न हम करते हैं और न कर ही सकते हैं। एक दूसरा उदाहरण लीजिये। मान लीजिये कि आफिस जानेके लिये आपको खास तरहके कपड़े पहनने पड़ते हैं और उन्हें आप पहनते हैं; आप बहुत जल्दी उनसे तंग आ जाते हैं और बेचैनीका अनुभव करते हैं। आप सचमुच घबड़ा जाते हैं और सोचने लगते हैं कि कब घर पहुँचें और इन कपड़ोंको उतारकर अलग रख दें। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि यह आपके लिये स्वाभाविक नहीं हैं, किन्तु यह बलात् आपके ऊपर लाद दिये गये हैं और इसलिये शीघ्र ही आप इनसे घबरा जाते हैं। अर्थात् आप उस वस्तुसे तंग आ जाते हैं जो आपके लिये स्वाभाविक नहीं होती, किन्तु बराबर जीनेसे कोई नहीं घबराता! यहाँतक कि जब शरीर अत्यन्त दुर्बल हो जाता है, इन्द्रियाँ अपना काम ठीक तरहसे नहीं कर सकतीं और बुढ़ापा और रोग सताने लगते हैं, तब भी जीनेकी इच्छा बनी ही रहती है। इसका कारण यह है कि जीना हमारे लिये स्वाभाविक और मरना अस्वाभाविक है। यदि मृत्यु सचमुच हमारा धर्म होता, तो फिर एक बार कहते हैं कि हम मृत्युसे बचनेका प्रयत्न कभी नहीं करते। हम जीनेकी इच्छा करते हैं, यह इस बातका प्रमाण है कि जीवन हमारा स्वभाव है।

जीवन और मृत्युकी बात जाने दीजिये। हम लोग स्वास्थ्य और रोगका ही विचार करें। हम स्वास्थ्य क्यों चाहते हैं और रोगसे द्वेष क्यों करते हैं? क्या इसलिये नहीं कि स्वास्थ्य ही हमारे लिये स्वाभाविक और रोग अस्वाभाविक है? नहीं तो हम रोगके निवारणकी चेष्टा क्यों करते? इसके अतिरिक्ति यहाँ भी हम 'क्यों?' इस प्रश्नके द्वारा जाँच कर सकते हैं। जब कोई मनुष्य बीमार पड़ता है अथवा उसे पीड़ा होती है तो उससे हरेक आदमी 'क्यों' (कारण) पूछता है। यह प्रश्न और उसके उत्तरकी आवश्यकता ही इस बातको सिद्ध करती है कि रोग, पीड़ा और दुःख स्वाभाविक नहीं है, इसलिये उनका कारण ढूँढनेकी आवश्यकता पड़ती है। किन्तु जब मनुष्य पूर्ण स्वस्थ रहता है तो उससे कोई नहीं पूछता कि तुम स्वस्थ क्यों हो। यह दूसरा स्पष्ट प्रमाण है कि स्वास्थ्य हमारे लिये स्वाभाविक है और उसका कारण जाननेकी आवश्यकता नहीं। जब स्वास्थ्य और रोगकी यह बात है, तो जीवन और मृत्युके सम्बन्धमें तो यह बात और अधिक सत्य है, अर्थात् जीवन स्वाभाविक और मृत्यु अस्वाभाविक है। इसलिये इस दृष्टिकोणसे भी यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा सनातन है।

३-यन्त्रशास्त्रीय प्रमाण—प्रोफेसर रॉस्कोद्वारा रचित रसायनशास्त्रकी प्रारम्भिक पुस्तकके पहले अध्यायमें ही यह कहा गया है कि 'मोमबत्तीके जलनेसे कुछ भी नष्ट नहीं होता।' यह पढ़कर आपको उत्तर देनेकी इच्छा होगी कि अपना पैसा और मोमबत्ती खोकर हम उक्त विद्वान् प्रोफेसरसे सहमत नहीं हो सकते। किन्तु वे आपका इस प्रकार समाधान करेंगे कि जब मोमबत्ती जलती है तो उसके उपादानभूत हाइड्रोजन और कार्बन नामक द्रव्य बाहर निकलकर वायुमण्डलमें मिल जाते हैं और उसके आक्सिजनके साथ मिलकर क्रमशः जलीय बाष्प और कार्बन डायक्साइडके रूपमें बदल जाते हैं। दूसरे शब्दोंमें, द्रव्योंका विनाश नहीं होता। केवल उनके स्थान, रूप और नाममें परिवर्तन होता है। इसी प्रकार जब बढ़ई कुर्सी या बेंच बनाता है, तो वह कोई नया पदार्थ नहीं उत्पन्न करता, किन्तु बाजार अथवा जंगलसे ईश्वरनिर्मित काष्ठको लाता है, उपयुक्त टुकड़ोंमें उसको काटता है, उचित रीतिसे उनको रखता है और उनको वाञ्छित आकार देता है; इस प्रकार यहाँ भी कोई नयी चीज नहीं प्राप्त होती, किन्तु केवल स्थान और आकार, तथा फलतः नामका परिवर्तन होता है। जगत्में किसी भी पदार्थकी नवीन सृष्टि अथवा नाश नहीं होता। इस सिद्धान्तको आधुनिक पदार्थविज्ञानमें 'पदार्थकी अनश्वरता', 'पदार्थका अनुत्पाद्यत्व', 'शक्तिका नित्यत्व' इत्यादि बड़े लंबे-लंबे और गम्भीर शब्दोंमें व्यक्त किया गया है। और यह आधुनिक सिद्धान्त, जिसे विज्ञानके नामपर पदार्थविज्ञानमें सिखाया जाता है, प्राचीन भगवद्गीताके एक सुन्दर श्लोकार्द्धमें आ गया है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

'जो कभी नहीं था वह उत्पन्न नहीं होता और जो है उसका अभाव नहीं हो सकता।'

अब हम लोग पदार्थविद्या और रसायनशास्त्रके इस यान्त्रिक सिद्धान्तका प्रयोग उस समस्यापर करें जिसका विचार हम कर रहे हैं। जब कोई हमसे प्रश्न करता है—'जन्म लेनेके पूर्व मैं था अथवा नहीं? और मृत्युके बाद मैं रहूँगा या नहीं?' तो हम सदा उससे यही कहते हैं कि आपके इन प्रश्नोंका उत्तर देनेके पूर्व हम आपसे एक प्रारम्भिक प्रश्न

करना चाहते हैं—'आप इस समय विद्यमान हैं या नहीं ? —आपके प्रश्नोंका उत्तर हमारे इस प्रश्नके उत्तरपर अवलम्बित है।' कोई भी यह नहीं कहेगा और न कह सकता है कि 'मैं इस समय विद्यमान नहीं हूँ।' अतएव हमारा उत्तर है—यदि आप इस समय विद्यमान हैं, तो आप अवश्य ही पहले भी विद्यमान रहे होंगे, क्योंकि जो पहले नहीं था उसकी अब नवीन सृष्टि नहीं हो सकती। इसी प्रकार यदि आप इस समय वर्तमान हैं, तो आप निःसन्देह सदा वर्तमान रहेंगे; क्योंकि जो इस समय वर्तमान है उसका अभाव नहीं हो सकता। अवश्य ही जैसे मोमबत्तीके कार्बन एवं हाइड्रोजनमें और कुर्सी तथा मेजकी लकड़ीमें स्थान, आकार तथा नामका परिवर्तन होता है, वैसे ही आपके अन्दर भी परिवर्तन होता रहेगा, किन्तु आपका अभाव कभी नहीं हो सकता। इस विवेचनसे प्रायः समस्या हल हो जाती है और सच्चे जिज्ञासुओंका मननकी इस प्रक्रियासे प्रायः समाधान हो जाता है कि आत्मा सनातन है और होना ही चाहिये। इसके लिये किसीको दर्शन (अथवा भौतिक विज्ञान) पढ़नेकी आवश्यकता नहीं है।

४–भाषासम्बन्धी प्रमाण—इस निर्णयपर पहुँचनेके लिये केवल संस्कृत भाषाके शब्दोंका यौगिक अर्थ समझ लेना पर्याप्त है। संस्कृत भाषाको 'संस्कृत' इसीलिये कहते हैं कि हमारी दृष्टिमें केवल यही एक पूर्ण भाषा है। इसको हम देवभाषा भी मानते हैं, क्योंकि इसका कोई भी शब्द यदृच्छा-प्रयुक्त अथवा अनावश्यक नहीं है, किन्तु इसका प्रत्येक शब्द बहुत-से दिव्य दार्शनिक तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तोंको हमारे मन और हृदयपटलपर अङ्कित कर देता है जिनकी सत्यताके सम्बन्धमें अध्यातमशास्त्र और विज्ञानका जीवनभर अध्ययन करनेपर भी हमारा विश्वास नहीं हो सकता। यही कारण है कि हम बहुधा कहा करते हैं कि यदि संस्कृत वास्तवमें देवताओंकी भाषा नहीं है (जैसा कि हम विश्वास करते हैं) तो देवताओंके लिये उचित है कि वे इसे अपना लें, इसको छोड़कर किसी दूसरी भाषाको अपनाना उनके लिये लज्जाकी बात होती। अब देखना है कि बिना दर्शन, विज्ञान अथवा इस विशाल विश्वकी किसी अन्य वस्तुकी सहायताके केवल संस्कृत भाषा आत्माके बारेमें हमें क्या बतला सकती है।

सब प्रश्नोंका एक प्रश्न यह है कि जब हम जन्म और मृत्युकी बात करते हैं तो हमारा इन शब्दोंसे क्या तात्पर्य होता है ? जन्म क्या है और मृत्यु क्या है ? अंग्रेजीमें इनके पर्यायवाचक 'birth' और 'death' शब्दोंका प्रयोग उन दो विशिष्ट घटनाओंको निर्दिष्ट करनेके लिये यन्त्रवत् हुआ करता है जो प्रायः घटित होती हैं और जिनको समझानेके लिये विस्तृत परिभाषा और व्याख्याकी आवश्यकता होती है। परन्तु अंग्रेज़ी अथवा, देववाणी संस्कृतको छोड़कर, संसारकी किसी अन्य भाषाका कोई शब्द जन्म-मरणकी घटनाके भीतर छिपे हुए दार्शनिक या वैज्ञानिक तत्त्वका रहस्य नहीं बतलाता।

किन्तु संस्कृतके 'जन्म' शब्दको लीजिये। यह 'जनि प्रादुर्भावे' धातुसे बना है और इसका अर्थ 'आगे आना अथवा व्यक्त होना' है। अर्थात् जो अबतक हमसे छिपा हुआ था वह अब सामने आकर प्रत्यक्ष हो गया है। जन्मके लिये दूसरा शब्द 'उत्पत्ति' है, जो अंग्रेज़ीके 'Origin' शब्दका समानार्थी है; यह उत्पूर्वक 'पद' धातुसे बना है, जिसका अर्थ 'ऊपर आकर प्रकट होना' है। दूसरे शब्दोंमें, जो अबतक आवृत था वह अनावृत होकर ऊपर आ गया है। तीसरा संस्कृत शब्द 'सृष्टि' है, जो अंग्रेज़ीके 'Creation' शब्दका समानार्थी है; यह 'सृज विसर्गे' धातुसे बना है और इसका अर्थ अव्यक्तको व्यक्त कर देना है। अर्थात् जो भीतर छिपा हुआ था वह अब बाहर आ गया है। इन तीनों संस्कृतके शब्दोंका भीतरी भाव यह है—

हमारी इन्द्रियोंकी रचना इस प्रकारसे हुई है कि वे स्वभावतः अन्तरकी ओरसे बाहरकी ओर जाती हैं; उनकी वृत्ति अन्तर्मुखी नहीं है। इसको कठोपनिषद्ने इस प्रकार कहा है—

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः।'

'स्वयं विधाताने ही इन्द्रियोंको बहिर्मुखी बनाया है।'

इस प्रवृत्तिके अनुसार हम उन्हीं पदार्थोंको देख सकते हैं जो हमारे बाहर हैं, हम अपनी आँखोंको नहीं देख सकते; और जब हम उन्हें दर्पणके अन्दर देखते हुए प्रतीत भी

होते हैं, उस समय हम वास्तवमें अपनी आँखोंको नहीं देखते बल्कि उनके प्रतिबिम्बको ही देखते हैं। अतः जब हमारी आँखें स्वयं अपनेको ही नहीं देख सकतीं, तब उनके लिये अपने पीछे, नीचे और भीतर देखना तो और भी असम्भव है। अतएव हमारे लिये यह कठिनाई है कि हम अपने पीछे, नीचे और अन्दरके पदार्थोंको नहीं देख सकते। और जब ये चीज़ें हमारे नेत्रोंके सामने आती हैं, आवरणको हटाकर ऊपर आती हैं अथवा हमारे बाहर आ जाती हैं और इस तरह हमारे दृष्टिगोचर होती हैं, तब हम इस घटनाको व्यक्त करनेके लिये संस्कृतके 'जन्म', 'उत्पत्ति' और 'सृष्टि' शब्दोंका प्रयोग करते हैं, जिनका अर्थ यह होता है कि कोई वस्तु ऐसी नहीं उत्पन्न हुई जो पहले नहीं थी, किन्तु जो पहले अव्यक्त था वही अब व्यक्त हो गया। और इन तीनके अतिरिक्त संस्कृतमें कोई चौथा शब्द नहीं है जो इसके विपरीत संकेत करता हो।

अब हम इसीके दूसरे पहलू—मरणके सम्बन्धमें विचार करें। इसके लिये संस्कृत शब्द है 'नाश', जो 'नश् अदर्शने' धातुसे बना है और जिसका अर्थ 'अव्यक्त अथवा अदृश्य हो जाना' है। अतः इसका प्रयोग तीनों अवस्थाओंमें हो सकता है—जहाँ कोई व्यक्ति मर गया हो, विदेश चला गया हो अथवा कुछ क्षणके लिये वह (पीछे, नीचे अथवा भीतर जाकर) छिप गया हो। ये चारों शब्द यही सिद्ध करते हैं कि 'जन्म' और 'मृत्यु' जीवनके आदि और अन्त नहीं, किन्तु इसके अनादि और अनन्त पथकी मंज़िलें हैं। दूसरे शब्दोंमें, संस्कृतका शब्दकोष भी हमें आत्माके अमरत्वकी ही शिक्षा देता है।

ज्ञान

आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें दूसरी बात जिसका हमारे शास्त्रोंने विचार किया है, वह है चित् अथवा ज्ञान अर्थात् अनन्त और पूर्ण ज्ञान। हमें अपने दैनिक जीवनमें, अपने अज्ञान और अपनी भूलोंका तथा उनसे अपने और दूसरोंके लिये होनेवाले दुःखद परिणामोंका जो बार-बार और निरन्तर अनुभव होता है उसके कारण हमें इस बातपर विश्वास करनेमें बड़ी कठिनाई मालूम होती है, किन्तु थोड़ा मनन करनेसे यह सिद्ध हो जायगा कि यह बात सोलहों आने सत्य है। किन्तु छूटते ही अनन्त ज्ञानके झमेलेमें न पड़कर हम धीरे-धीरे आगे बढ़ें और देखें कि आत्माको हम सब प्रकारके ज्ञानसे सर्वथा अलग कर सकते हैं या नहीं और हमें अनुभव होगा कि किसी-न-किसी रूपमें, किसी-न-किसी परिमाणमें और किसी-न-किसी अंशमें थोड़ा-बहुत ज्ञान अवश्य रहता ही है। इस समय हमारे सामने यह प्रश्न नहीं है कि वह ज्ञान पूर्ण है वा अपूर्ण, यथार्थ है अथवा अयथार्थ, इत्यादि। इसपर हम आगे विचार करेंगे। किन्तु प्रारम्भमें ही हम यह देखते हैं कि कुछ-न-कुछ ज्ञान हमें सदा रहता है। इस सम्बन्धमें हमें वह विनोदपूर्ण कथा बहुधा याद आती है जिसमें एक स्त्रीने अपने पतिसे इस बातकी शिकायत की कि संसारमें कोई भी ऐसा विषय नहीं है जिसपर हम दोनोंकी राय एक हो। इसपर पतिने उत्तर दिया कि तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि एक बात ऐसी है जिसपर हम दोनोंकी एक राय है और वह यह है कि संसारमें ऐसा कोई विषय नहीं जिसपर हमारी-तुम्हारी राय मिलती हो। इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि जिस अवस्थामें मनुष्य इस बातका अनुभव करता है और कहता है कि मैं अमुक विषयमें कुछ भी नहीं जानता, वहाँ भी वह कम-से-कम इतना अवश्य जानता है कि मैं कुछ भी नहीं जानता, और यह भी एक प्रकारका ज्ञान ही है। इससे सिद्ध होता है कि आत्माका दूसरा लक्षण ज्ञान है, जिससे हम उसे कदापि पृथक् नहीं कर सकते।

केवल जाग्रत् अथवा केवल स्वप्नावस्थामें ही ऐसा होता हो सो बात नहीं है; सुषुप्तिके सम्बन्धमें भी यही बात है। क्योंकि वहाँ भी चेतना रहती ही है, अवश्य ही वह इतनी दबी रहती है कि ऊपर नहीं दिखलायी देती। किन्तु इसका निर्णय कैसे किया जाय? एक साधारण-से अनुभवसे यह बात सिद्ध हो जायगी। मान लीजिये कि आप गहरी नींदमें सोये हुए हैं और एक मच्छर आकर आपके तलवेमें काटता है। आप उस समय भी गाढ निद्रामें सोये रहते हैं, किन्तु आपके ज्ञानतन्तु किसी समय भी नहीं सोते। शरीरविज्ञान हमें बतलाता है कि ज्ञानतन्तु दो प्रकारके होते हैं—(१) संवेदक तन्तु, जो ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा बाहरी ज्ञानको मस्तिष्क-

तक पहुँचाते हैं, और (२) क्रियाशील तन्तु, जो मस्तिष्कके आदेशको हस्तपादादि कर्मेन्द्रियोंतक पहुँचाते हैं। ये सब तन्तु सदा काम करते रहते हैं, और स्वयं आपको भी पता नहीं रहता कि ये सर्वदा जागरूक रहकर अपना-अपना काम ठीक-ठिकानेसे करते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि यद्यपि आपके तलवेमें मच्छरके काटनेसे आपकी निद्रा भंग नहीं होती, तथापि उससे पैरमें जो पीड़ा होती है उसकी खबर तुरन्त आपके मस्तिष्कको पहुँचा दी जाती है। और मस्तिष्क आपके एक हाथको आज्ञा देता है कि तुम काटे हुए अङ्गको मलकर उसकी पीड़ा दूर कर दो और हाथ उसी क्षण आज्ञापालनमें लग जाता है। उस समय आपको नींदसे नहीं जगाया जाता, न उसके लिये कौंसिल अथवा कार्य-कारिणी समितिकी बैठक ही होती है और न आपको इस बातका रंचकमात्र इशारा ही किया जाता है कि आपके लिये एक विचारणीय समस्या उत्पन्न हो गयी है और उसका बड़े व्यावहारिक ढंगसे निपटारा भी कर दिया गया है। जब आप जागते हैं और अङ्गविशेषपर रक्त जमा हुआ देखते हैं, तब आप यह अनुमान करते हैं कि आपको वहाँपर मच्छरने काटा होगा और आपने उस जगहपर अपने नखका प्रयोग किया होगा। शरीरविज्ञानवेत्ता इसे 'अबोधपूर्वक क्रिया' (Reflex Action) कहकर टालनेकी चेष्टा करते हैं। किन्तु इस प्रक्रियाका नाम जो कुछ भी रक्खें, इस बातको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि सुषुप्तिमें भी पीड़ाकी खबर मस्तिष्कतक पहुँचायी जाती है और मस्तिष्क उस पीड़ाको दूर करनेकी यथासाध्य चेष्टा करता है। इससे सिद्ध होता है कि सुषुप्तिमें भी, किसी-न-किसी रूपमें, न्यूनाधिक मात्रामें ज्ञान निरन्तर बना रहता है। दूसरे शब्दोंमें, ज्ञान दूसरा लक्षण है जो स्वरूपभूत, सहज, नैसर्गिक और अयुतसिद्ध गुणके रूपमें आत्माके साथ अनुविद्ध है।

अब और भी गहरे पैठकर हमें निश्चय करना चाहिये कि आत्माका लक्षणभूत ज्ञान खण्ड है अथवा अखण्ड, परिच्छिन्न है वा अपरिच्छिन्न। हम कहते हैं कि हमने अमुक गलती की, अमुक भयानक भूल की, इत्यादि, किन्तु वेदान्त-शास्त्र कहता है कि आत्मा सदा चित्स्वरूप अर्थात् पूर्ण प्रकाशस्वरूप है। और यदि हम इस प्रसङ्गपर उचित विचार करें तो हम आसानीसे समझ सकेंगे कि हमारे भीतरका ज्ञान सीमित नहीं किन्तु निरपेक्ष, निःसीम, व्यापक और पूर्ण है। उदाहरणार्थ, यदि आप कमरेके सब दरवाज़ों और खिड़कियोंको बन्द कर दें और सूर्यकी एक क्षुद्र किरणको बड़ी कठिनाईसे किसी छोटे छिद्रमेंसे भीतर घुसने दें, तो क्या आपका यह कहना उचित होगा कि सारे संसारमें सूर्यका प्रकाश इतना ही है ? बात यह है कि यहाँ सूर्यका प्रकाश उस छिद्ररूप उपाधिमेंसे होकर आता है, इसलिये इतने प्रकाशसे आप सूर्यकी समस्त किरणोंके वास्तविक विस्तारका अनुभव नहीं कर सकते। इसी प्रकार यदि किसी घरके भीतर बहुत बड़ा प्रकाश हो, और उसकी थोड़ी-सी छोटी-छोटी किरणें किसी प्रकार कठिनतासे बाहर निकल पाती हों, तो जो लोग बाहरसे इसे देखेंगे उन्हें भीतरके सम्पूर्ण प्रकाशका अन्दाजा नहीं हो सकता, किन्तु बाहरके थोड़े-से प्रकाशका ही ज्ञान होगा जिसे वे देख पाते हैं। यही कारण है कि भगवान् आदि जगद्गुरु शङ्कराचार्य कहते हैं—

नानाच्छिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरम्।

(बहुत-से छिद्रवाले बर्तनके भीतर रक्खे हुए विशाल दीपकके प्रकाशके समान देदीप्यमान।)

अथवा अपनी साधारण बिजलीकी बत्तियोंका उदाहरण लीजिये। जब कि बिजलीघर अधिक-से-अधिक बिजली पैदा कर रहा हो, तब भी हम उतना ही प्रकाश पायेंगे जितनी तेज़ हमारी बत्ती होगी; और तो क्या, रंगीन बत्ती लगाकर प्रकाशका रंगतक बदला जा सकता है, यद्यपि बिजली स्वयं न तो हरी है न नीली है, न लाल है और न सफ़ेद ही है। वेदान्तका कथन है कि इसी प्रकार सम्पूर्ण ज्ञान जिसे हम बाहर खोजते हैं हमारे भीतर है; वह केवल अज्ञानके आवरणसे ढका हुआ है, और हमें सिर्फ उस आवरणको हटाना है। भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

'ज्ञान अज्ञानसे ढका हुआ है, इसीसे सब जीव मोहित हो रहे हैं।' अग्नि, बिजली, तक्षणकला, शिक्षा आदिके सम्बन्धमें जो हमारे अनुभव हैं उनपर गम्भीर विचार करने-

से हमें इस उपदेशकी सत्यताका बोध हो सकता है। हम अग्नि कैसे जलाते हैं ? हम अग्निको कहींसे लाते नहीं, वह पहलेहीसे अव्यक्त अथवा अप्रकटरूपमें विद्यमान रहती है। हम उस अव्यक्त अग्निको दो अरणियोंके मन्थनसे, चकमक पत्थरके दो टुकड़ोंके परस्पर आघातसे, दियासलाईको उसके बक्सपर लगे हुए मसालेपर रगड़कर अथवा और किसी प्रक्रियासे व्यक्त भर कर देते हैं। यही बात बिजलीके सम्बन्धमें भी है। बिजलीको भी हमलोग उत्पन्न नहीं करते; वह पहलेहीसे ईश्वरके द्वारा सृष्ट होकर सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हुई रहती है। हम केवल उस अव्यक्त बिजलीको व्यक्त करनेके लिये आवश्यक साधनमात्र करते हैं। इसी प्रकार, मूर्ति बनानेवाला जब संगमरमरकी मूर्ति बनाता है तो वह क्या करता है ? वह बाहरसे श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशिव अथवा और किसी देवताकी मूर्ति लेकर उस पत्थरमें नहीं डाल देता। जगत्‌में जितने आकारोंकी कल्पना की जा सकती है वे सब-के-सब संगमरमरके अन्दर पहलेहीसे रहते हैं; किन्तु मूर्ति बनानेवालेको उन सब रूपोंकी आवश्यकता नहीं होती, उसे तो केवल एक विशिष्ट आकारकी आवश्यकता होती है। वह केवल उस मूर्ति-विशेषपर अपने मनको एकाग्र करके उन सब बाह्य आवरणोंको रुखानीसे छीलकर अलग कर देता है जो उस मूर्तिको हमारी दृष्टिसे छिपाये हुए हैं। इस प्रकार जिस आकारकी मूर्ति हम बनाना चाहते हैं उस आकारको हम कहीं बाहरसे नहीं लाते, किन्तु वह भीतरसे ही बाहर आता है। वास्तवमें बाहरसे भीतर न लाकर भीतरसे बाहर ले आना यही एक प्रक्रिया है जिसका उपयोग हम कर सकते हैं।

इसी दृष्टिकोणसे शिक्षापर विचार करनेसे हम देखेंगे कि अंग्रेज़ीके 'Education' शब्दका, जो शिक्षाका पर्याय है, अर्थ ही 'बाहर खींचना' है, और इस दृष्टिसे वही पद्धति शिक्षा कहलानेके योग्य है जिससे हमारी सारी सहज, नैसर्गिक किन्तु गुप्त शक्तियाँ और योग्यता अधिक-से-अधिक व्यक्त हो सकें। दूसरी कोई भी पद्धति जिसमें बाहरसे ज्ञान ठूँसा जाता है अथवा जिसमें रटाईपर जोर दिया जाता है, शिक्षा नहीं कहला सकती, उसे हम Education न कहकर Injection (वह डाक्टरी क्रिया जिसमें सुईके द्वारा दवा शरीरकी नाडियोंके भीतर प्रवेश करायी जाती है) कह सकते हैं (और वह Injection भी डाक्टरकी बारीक सुईसे नहीं किन्तु वेत्रप्रहार अथवा अन्य प्रकारके शारीरिक दण्ड तथा परीक्षामें असफलतासे होनेवाले आर्थिक एवं मानसिक दण्डके भयरूप दो भोंड़े और मोटे शस्त्रोंसे दिया जाता है)।

इसके अतिरिक्त यदि थोड़ी देरके लिये 'तुष्यतु दुर्जनः' इस न्यायसे यह मान भी लिया जाय कि ज्ञानको बलपूर्वक बुद्धिके अन्दर ठूँसा जा सकता है, तो क्या ऐसा करना हमारे लिये वाञ्छनीय होगा ? हम ऊपर कह आये हैं कि गरम पानी अपनी आगन्तुक उष्णताका इसीलिये परित्याग कर देता है कि उष्णता उसका भीतरी लक्षण नहीं किन्तु बाहरसे आया हुआ उपलक्षण है। इसी सिद्धान्तके अनुसार हम सहजहीमें इस बातको समझ सकते हैं कि यदि ज्ञान वास्तवमें हमारा आन्तरिक लक्षण नहीं है किन्तु बाहरसे हमारे भीतर लाया जाता है, तो ऐसे ज्ञानसे हमें स्थायी लाभ नहीं हो सकता। क्योंकि यह सारी शिक्षा हमारे लिये तभी उपयोगी होगी जब हमको दिया जानेवाला ज्ञान पहलेसे ही हमारे भीतर छिपा हुआ हो और उसे केवल उद्बुद्ध करके क्रियाशील कर दिया गया हो। जो ज्ञान हमें प्रदान किया गया है वह यदि हमारे स्वरूप अथवा स्वभावका सहज और अभिन्न अंश नहीं है, तो वह सारा ज्ञान जो हमने बाहरसे ग्रहण किया है, थोड़े ही समयमें नष्ट हो जायगा, ठीक जिस प्रकार जल अपनी गर्मीको छोड़ देता है। इससे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि सारा ज्ञान पहलेहीसे हमारे अन्दर है, और सच्चा गुरु अथवा आचार्य वही है जो हमारे उस छिपे हुए ज्ञानको प्रकट करने तथा उसे व्यक्तकर सबको लाभ पहुँचानेकी योग्यता और अवसर प्रदान करनेके लिये उत्तम-उत्तम साधनोंका प्रयोग करता है, शिक्षकनामधारी तथा शिक्षकके बानेको धारण करनेवाले दूसरे लोग तो वास्तवमें अपने छात्रोंकी वञ्चना ही करते हैं ! यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

'तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।'

'सूर्यको छिपा देनेवाले बादलोंको जब हवा उड़ा ले

जाती है, तब हम पवनके द्वारा उत्पन्न हुए किसी नये सूर्यको नहीं देखते, किन्तु उसी पुराने सूर्यको, बादलरूपी आवरणको हटाकर पवन देवता फिर हमारे सामने ले आते हैं। दूसरे शब्दोंमें शिक्षा और संस्कारके द्वारा किसी नये ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती, अपितु वे हमारे भीतरके सहज ज्ञानको प्रस्फुटित कर उसे देखने, अनुभव करने, प्रयोगमें लाने, उसका आनन्द लूटने और उससे लाभ उठानेमें हमारी सहायता करते हैं। इसीको सूत्ररूपमें इस प्रकार कह सकते हैं कि शिक्षा अथवा संस्कारसे हमारी प्रकृति नहीं बदलती और न बदल ही सकती है, वे केवल उसे अभिव्यक्त कर विकासके लिये पूरा मौका और स्वतन्त्रता देते हैं। इसका सारांश यह निकला कि आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप है।

एक फ्रांसीसी लड़कीकी कथा

इस सम्बन्धमें हम एक विचित्र घटनाका उल्लेख करेंगे जो तीन वर्षसे कुछ पूर्व समाचारपत्रोंमें प्रकाशित हुई थी। एक फ्रांसीसी लड़की, जो केवल अपनी मातृभाषा ही जानती थी, एक भयानक रोगसे पीड़ित हुई। वह कई सप्ताहतक बेहोश रही और उसके जीवनकी आशा छोड़ दी गयी थी। किन्तु आश्चर्यकी बात है कि वह किसी प्रकार बच गयी। लोगोंने देखा कि इस बीचमें वह फ्रांसीसी भाषाको बिलकुल भूल गयी और लगभग दस-बारह भाषाओंका, जिनका नाम भी उसने पहले कभी नहीं सुना था, आश्चर्यजनक ज्ञान प्राप्त कर लिया। इस विस्मयजनक समाचारको सुनकर मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक एवं वैज्ञानिकगण स्वाभाविक ही बड़े चकित हुए और इस घटनाकी पूरी तौरसे जाँच करनेके लिये दौड़ पड़े। उन्हें यह दृढ़ निश्चय हो गया कि इसमें कोई फरेब नहीं है और पूरा समाचार ऐतिहासिक दृष्टिसे सोलहो आने सत्य था। उन्हें विवश होकर यह वक्तव्य प्रकाशित करना पड़ा कि इस घटनाका एक ही अर्थ हो सकता है कि स्पष्ट ही सारे पदार्थोंका पूर्ण ज्ञान (जिसमें भाषाओंका ज्ञान भी सम्मिलित है) हमारे मस्तिष्कमें सचमुच सञ्चित रहता है, किन्तु वह खास-खास कोठरियोंमें बन्द रहता है जिन्हें विशेष प्रकारकी कुंजियाँ ही खोल सकती हैं। संग, वातावरण और शिक्षाके प्रभावसे हमारी इनमेंसे कुछ कोठरियाँ खुल जाती हैं, किन्तु (असली कुंजीका अज्ञानवश प्रयोग न कर सकनेके कारण) हम दूसरी कोठरियोंको खोलनेमें असमर्थ रहते हैं। उस फ्रांसीसी लड़कीके साथ तो कोई ऐसी बात हुई होगी—जिसका वैज्ञानिक लोग अन्दाजा नहीं लगा सके—जिसके कारण फ्रांसीसी भाषाकी कोठरीका द्वार अपने-आप बन्द हो गया और लगभग एक दर्जन सर्वथा अपरिचित भाषाओंकी कोठरियोंके द्वार एक साथ ही खुल गये। आत्मामें अनन्त और पूर्ण ज्ञान है, इस वेदान्त-सिद्धान्तका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

हेतुविद्या और सत्यविद्याकी दृष्टिसे भी, जिस प्रकार हमारी सदा जीवित रहनेकी इच्छा इस बातको सिद्ध करती है कि अमरत्व हमारा स्वरूप ही है, उसी प्रकार पदार्थोंके सम्बन्धमें हमारी जिज्ञासा भी इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि ज्ञान (अज्ञान नहीं) आत्माका असली स्वरूप है।

अनन्त आनन्द

अमरत्व और अनन्त ज्ञान, आत्माके इन दो लक्षणोंका निश्चय करके अब हमें अगले लक्षणका विचार करना चाहिये। उपनिषद् हमें बतलाते हैं कि सत् और चित्के बाद आनन्द (नित्य, शुद्ध और पूर्ण आनन्द) भी आत्माका एक लक्षण है। शोक और दुःखका निरन्तर अनुभव करते रहनेके कारण इसमें भी हमारा विश्वास होना स्वाभाविक ही कठिन मालूम होता है। किन्तु ऊपर बताये हुए और उदाहरणोंद्वारा समझाये हुए ढंगसे इस विषयपर थोड़ा मनन करनेसे यह सिद्ध हो जायगा कि यहाँ भी वेदान्तका सिद्धान्त ही वास्तवमें ठीक है! वास्तवमें यह सिद्धान्त इतना सहज और सुगम है कि हमें इस बातको जानकर आश्चर्य होता है कि माया हमारी बुद्धिपर ऐसा पर्दा किस प्रकार डाल देती है कि जिससे हम इतने स्पष्ट एवं स्वतःसिद्ध सत्यको भी नहीं देख पाते।

यदि कोई मनुष्य रोता दिखायी पड़ता है तो लोग उसके पास जाते और पूछते हैं कि तुम क्यों रोते हो।

इसका कारण जाननेकी आवश्यकता होती है। किन्तु दूसरोंके पास जाकर कोई नहीं पूछता कि तुम क्यों नहीं रोते। इससे सिद्ध होता है कि दुःख हमारे लिये स्वाभाविक नहीं है किन्तु किसी तात्कालिक बाह्य कारणसे उत्पन्न होता है, अर्थात् वास्तवमें वह हमारा लक्षण नहीं, उपलक्षणमात्र है। और जब मनुष्य अपने दुःखका कारण बतला देता है (जैसे स्त्री-पुत्रादिका वियोग इत्यादि) और उस समय यह समझता है कि मेरे लिये सदाके लिये अँधेरा छा गया, नहीं, नहीं, प्रलय हो गया, उस हालतमें भी उसका शोक दिनोंदिन कम होता जाता है और कभी-कभी हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि वही आदमी कुछ ही दिनों बाद अपनी उस स्त्री अथवा सम्बन्धीको बिलकुल भूल गया है जिसके वियोगमें वह इतना दुखी था। तो क्या दुःख इस दृष्टिसे जलकी उष्णताके समान नहीं है कि इसकी प्राप्तिके लिये किसी बाहरी कारणकी अपेक्षा होती है, किन्तु इसके जानेमें कालके स्वाभाविक अतिक्रमणके अतिरिक्त और किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं होती। यदि ऐसा ही है तो क्या शोक उसी तरहसे हमारा उपलक्षण नहीं है जिस प्रकार उष्णता जलका, मुड़ेरेपर बैठा हुआ कौआ घरका, सड़कपर खड़ी हुई गाड़ी सड़कका और रास्तेमें एकत्रित हुए स्त्री-पुरुष उस रास्तेके उपलक्षण हैं? इससे यह सिद्ध होता है कि दुःख हमारे लिये स्वाभाविक नहीं, आनन्द ही हमारा वास्तविक स्वरूप है। क्योंकि जब हम किसी बाह्य कारणसे बलात् दुखी भी होते हैं उस समय भी वह आनन्द कहीं जाता नहीं किन्तु दबा हुआ पड़ा रहता है, जिससे वह क्रमशः अपना प्रभुत्व प्राप्तकर बाहरसे आकर अधिकार जमानेवाले दुःखको निकाल बाहर करता है और फिर पहलेकी भाँति व्यक्त रूपको धारण कर लेता है।

हेतुविद्या और सत्यज्ञानकी दृष्टिसे भी हम यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार हमारी जीवित रहने और पदार्थोंको जाननेकी इच्छा यह सिद्ध करती है कि अनन्त जीवन और निःसीम ज्ञान हमारा स्वरूप है, उसी प्रकार यह बात कि हम सभी आनन्दकी खोजमें रहते हैं, इसका निश्चित और पर्याप्त प्रमाण है कि आनन्द हमारे अन्तरात्माका स्वभाव है, और जितना ही हम उससे दूर होते ज
हैं उतना ही हमारा दुःख बढ़ता जाता है। जिस प्रक
मछली जलके बाहर आकर फिर जलमें जानेके लिये निरन्त
चेष्टा करती है, क्योंकि जल ही उसका स्वाभाविक स्थान है
उसी प्रकार हम भी आनन्दसे दूर जाकर फिर उसीक
प्राप्त करनेके लिये सतत उद्योग करते रहते हैं, क्यों
आनन्द ही (दुःख नहीं) हमारा प्राकृत तत्त्व, नहीं-नहीं
हमारा स्वरूप है। और जो कुछ हम करते हैं, आनन्द
प्राप्तिके लक्ष्यसे ही करते हैं। (यद्यपि हम आनन्दका ठी
ठीक निरूपण और उसकी प्राप्तिके लिये उचित साधनों
उपयोग करते हैं या नहीं, यह दूसरा प्रश्न है।) इ
दिशामें एक पग और आगे बढ़कर और इसी तर्क
थोड़ा और आगे बढ़ाकर हम देख सकते हैं कि जि
आनन्दकी हम खोज करते हैं वह देश, काल अथ
परिमाणसे बद्ध नहीं, किन्तु स्वतन्त्र, विशुद्ध (शोकरहित
और अनन्त है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उपर्यु
लक्षणोंसे युक्त आनन्द ही हमारा स्वरूप है।

स्वतन्त्रता

अब कल्पना कीजिये कि हमें अमर जीवन, सर्वविषय
ज्ञान और अनन्त आनन्द, यह सब कुछ प्राप्त है। कि
क्या हम इतनेसे सन्तुष्ट हैं? नहीं। क्योंकि, चाहे हम स
जीवित रहें, सब पदार्थोंको जान लें और मनोवाञ्छित आनन्द
का उपभोग करें; किन्तु यदि इन सब आनन्दोंको हम अप
जन्मसिद्ध अधिकारकी भाँति अपनी इच्छाके अनुसार न
भोगें, दूसरेकी दयासे भोगें, तो यह परावलम्बन ही हमारे लि
भाररूप और असह्य हो जायगा; और चाहे हम अपनी अक्षमत
के कारण अपने बन्धनोंको तोड़ न सकें और उन्हें स्वीका
कर लें, किन्तु ऐसा हम स्वेच्छासे नहीं, विवशतासे कर
हैं। और यदि ऐसा सम्भव हो तो विश्वके प्रत्येक प्राणी औ
पदार्थसे हम स्वतन्त्र होना चाहेंगे। अपने विवेक
अभिमान करनेवाले मनुष्यमें ही नहीं, संसारके प्रत्येक चेत
प्राणीमें स्वतन्त्रताकी उत्कट इच्छा अथवा (वेदान्त
भाषामें) मुमुक्षा रहती है। फिर हम मानवोंके लिये तो इस
दिनमें विचार करना और रात्रिमें स्वप्न देखना और जान

अथवा अनजानमें हर समय उसकी इच्छा करना और भी स्वाभाविक है। अस्तु, इस प्रकार हमारा स्वतन्त्रताके लिये निरन्तर लालायित रहना इस बातका प्रमाण है कि बन्धनोंसे मुक्त होना हमारा स्वभाव है। अतएव मोक्ष (अर्थात् सब प्रकारके बन्धनोंसे छुटकारा) आत्माका चौथा लक्षण है।

ऐश्वर्य

किन्तु इस चौथी आकांक्षासे भी हमारी आकांक्षाओंकी समाप्ति नहीं हो जाती। यदि हम ठीक-ठीक और ईमानदारीसे अपने भावों, इच्छाओं और क्रियाओंका विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि सत्, चित्, आनन्द और मोक्ष (अर्थात् शाश्वत जीवन, अनन्त ज्ञान, असीम आनन्द और सब प्रकारकी स्वतन्त्रता) ही हमारे लिये पर्याप्त नहीं हैं, इनके अतिरिक्त एक और पदार्थ है जिसे हम सब लोग चाहते हैं। यह पाँचवीं वस्तु बड़ी विचित्र है; हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति इसे हृदयसे चाहता है, और यह हमारी चौथी आकांक्षाके विरुद्ध भी है। किन्तु ऐसा होनेपर भी यह रहती सदा है और इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। यह हमारी पाँचवीं विचित्र आकांक्षा क्या है ? वह यह है कि एक ओर तो हम स्वतन्त्रता चाहते हैं अर्थात् दूसरोंकी इच्छासे सञ्चालित होना नहीं चाहते, किन्तु साथ-ही-साथ दूसरी ओर हम यह चाहते हैं कि दूसरे हमारी इच्छासे सञ्चालित हों और हमारी इच्छाका अनुसरण करें। सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि अबोध और अनुभवहीन बालक भी यही चाहते हैं कि उनके माता-पिता, जो उनकी अपेक्षा अधिक अनुभवी और बुद्धिमान् हैं, उनकी इच्छा और बुद्धिके अनुसार चलें। और यह नियम सर्वथा अपवादरहित है कि प्रत्येक मनुष्य अपने हृदयसे वास्तवमें केवल जीना, ज्ञान प्राप्त करना, सुखी होना और स्वतन्त्र होना ही नहीं चाहता, किन्तु दूसरोंपर शासन करनेकी भी इच्छा करता है। सच तो यों है कि हम केवल शासन अथवा राज्य ही नहीं चाहते, किन्तु यदि सम्भव हो तो, अखिल ब्रह्माण्डका स्वामित्व चाहते हैं। हेतुविद्या और सत्यज्ञानकी दृष्टिसे यह सिद्ध होता है कि ऐश्वर्य भी हमारे लिये स्वाभाविक अर्थात् आत्माका पञ्चम लक्षण है।

सारांश

बाह्य संसार और आन्तरिक भावोंका इस प्रकार विस्तारसे विश्लेषण करनेसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि सत्, चित्, आनन्द, मोक्ष और ईशान इन पाँच वस्तुओंको हम सब केवल चाहते ही नहीं; ये हमारे स्वाभाविक, नहीं-नहीं, सहज गुण हैं, जो गरम किये हुए जलकी स्वाभाविक शीतलताकी भाँति कुछ समयके लिये दब भले ही जायँ किन्तु सदाके लिये अभिभूत एवं निर्मूल नहीं किये जा सकते। इस प्रश्नपर गम्भीर एवं सूक्ष्म विचार करनेसे ये सब बातें जो हमें मालूम हुई हैं, उनका वास्तविक अर्थ, असली अभिप्राय, व्यावहारिक महत्त्व तथा अन्तिम सारांश क्या है ? कहाँसे प्रारम्भ करके हम कहाँ पहुँचे हैं ? अच्छा, हमने ईश्वर अथवा किसी अलौकिक पुरुषके नहीं, किन्तु अपने ही तथ्यों एवं मानसिक भावोंके विवेचन और विश्लेषणसे प्रारम्भ किया था। वास्तवमें हमने अबतक ईश्वरकी सत्ताके सम्बन्धमें भी कोई बात सिद्धान्तरूपसे नहीं कही, केवल जीवकी ही चर्चा करते रहे। हमारे सामने जो-जो प्रमाण आये उनके आधारपर हम इस अप्रत्याशित किन्तु अनिवार्य परिणामपर पहुँचे हैं कि हम लोग ईश्वरको जानें अथवा न जानें, उसकी सत्तामें विश्वास करें अथवा न करें, तथा उसके बारेमें हमने कुछ सुना अथवा विचार किया हो अथवा न किया हो, इतनी बात अवश्य सत्य है कि सत्स्वरूप, चित्स्वरूप, आनन्दस्वरूप, मुक्तस्वरूप और ईश्वरस्वरूप, जिन्हें संसारके सभी धर्मग्रन्थ ईश्वरके विशेषण बतलाते हैं, हमारे भी वास्तविक, स्वाभाविक, आन्तरिक, सहज एवं नैसर्गिक गुण हैं, और हमलोग जानमें अथवा अनजानमें, हृदयसे तथा अपनी पूरी शक्ति लगाकर उन्हीं गुणोंको प्राप्त करनेका अनवरत प्रयत्न करते रहते हैं जिनका सम्बन्ध सर्वशक्तिमान् ईश्वरसे है।

जीव और ईश्वर

इस प्रकार जब यह निश्चय हो गया कि जीवमें भी ईश्वरके समान ही गुण हैं, तो अब यह देखना चाहिये कि दोनोंमें सम्बन्ध क्या है ? यदि इसको हम ठीक तरहसे जान लें तो हमारे आत्माके विकासका प्रश्न बड़ी सुगमतासे, नहीं-नहीं, अपने-आप हल हो जाय; क्योंकि गन्तव्य स्थानका पता चल जानेपर वहाँतक पहुँचनेका सच्चा मार्ग आसानीसे

निश्चित किया जा सकता है। ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हो गया कि हम भगवद्रूप हैं अर्थात् नर और नारायणमें कोई अन्तर नहीं है, और उस नारायणपदसे च्युत अथवा स्खलित होनेके कारण ही हम शोकातुर और दुःखित हो रहे हैं, और ज्यों-ज्यों हम उस पदसे नीचे गिरते जायँगे त्यों-ही-त्यों हमारे सन्ताप और क्लेश बढ़ते जायँगे और इनसे छुटकारा पानेका एकमात्र उपाय है शीघ्र-से-शीघ्र ईश्वरत्वरूप अपने स्वरूपभूत लक्षणको पुनः प्राप्त कर लेना। क्योंकि नारायणसे ही हम उत्पन्न हुए हैं, नारायण ही हमारा धारण-पोषण करते हैं और नारायणहीमें हम लीन हो जायँगे।

एक या अनेक

'यह सब ठीक है, किन्तु इससे तो इतना ही सिद्ध होता है कि मनुष्य ईश्वरके समान है और इसमें उसकी ईश्वरके समान अथवा ईश्वर बननेको अभिलाषा ही कारण है। इससे बाइबलके उस सिद्धान्तकी सत्यता भी प्रमाणित होती है जिस सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर उसमें यह कहा गया है कि ईश्वरने मनुष्यको अपने ही अनुरूप बनाया। किन्तु इससे ईश्वरके साथ हमारी अभिन्नता कैसे सिद्ध होती है? क्योंकि उपर्युक्त पाँच लक्षणोंके आधारपर हम यहाँतक तो न्यायतः कल्पना कर सकते हैं कि हमारी ईश्वरके साथ मानसिक समता है, किन्तु उन लक्षणोंसे हम हमारी और ईश्वरकी रासायनिक एकताका अनुमान कैसे कर सकते हैं?' यह दूसरा प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। इस विषयमें हमारे शास्त्र कहते हैं कि विश्वके अनन्त नाम-रूपोंके पीछे वास्तविक एकता है, और परमात्मा, जीवात्मा और जगत्में केवल रासायनिक एकता ही नहीं किन्तु गणितशास्त्रीय एकता है। आइये, अपनी मननवाली पूर्वपरिचित पद्धतिसे इसको भी समझनेका प्रयत्न करें। इस प्रश्नपर भी हम कई तरहसे विचार कर सकते हैं।

सृष्टिकी कथा

सर्वप्रथम हम अपनेसे ही यह प्रश्न करें कि सृष्टि क्या है? इस विषयपर उपनिषदों और बाइबलके मतमें थोड़ा-सा ही अन्तर है, विरोध नहीं है। बाइबलके उत्पत्ति-प्रकरण (Genesis) नामक प्रथम खण्डके प्रथम अध्यायका पहला वाक्य इस आशयका है—

'आरम्भमें ईश्वरने स्वर्ग और मर्त्यलोकको रचा।' और सृष्टिकी प्रक्रियाका वर्णन करते हुए वहाँ यह दिखलाया गया है कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सत्यसंकल्प है; क्योंकि वहीं यह लिखा है कि ईश्वरने कहा—'प्रकाश हो जाय' और प्रकाश हो गया। किन्तु वहाँपर सृष्टिकर्ता ईश्वर और उसकी प्रकाशरूप सृष्टिमें परस्पर क्या सम्बन्ध है, इस विषयमें कुछ नहीं लिखा है। किन्तु उपनिषद् और भी आगे बढ़कर हमें उस संकल्पको बतलाते हैं जिसके द्वारा ईश्वरने सृष्टि उत्पन्न की, और उससे दोनोंका परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। संकल्प यह था—

'बहु स्यां प्रजायेय' (मैं अनेक बन जाऊँ, मैं अपनेको अनेक रूपोंमें व्यक्त करूँ)।

ईश्वरने यह नहीं कहा कि 'मैं उत्पन्न करूँ' किन्तु यह कहा कि 'मैं बन जाऊँ' और इस प्रकार उन्होंने इस विषयपर शङ्काके लिये स्थान ही नहीं रक्खा। यदि आप यह मान लेते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सत्यसंकल्प हैं तो आपको साथ-ही-साथ यह भी मानना पड़ेगा कि सारा दृश्यप्रपञ्च शरीर, इन्द्रिय, मन आदि विभिन्न उपाधियोंसे उपहित उसी परमात्माकी अभिव्यक्ति है। किन्तु यदि आप इस बातका आग्रह करते हैं कि ये सारे पदार्थ ईश्वरसे भिन्न हैं, तो आप अपनेको ईश्वरवादी कहते हुए भी, वास्तवमें ईश्वरकी सर्वसमर्थता और उसके सत्यसंकल्पको नहीं मानते।

उपनिषद्में स्पष्ट कहा है—'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्'—पहले केवल सत् (अर्थात् ईश्वर) ही था। और यद्यपि इस बातको स्पष्ट करनेके लिये 'एव' शब्द ही पर्याप्त था, किन्तु पढ़नेवालोंके मनमें किसी प्रकारका सन्देह अथवा भ्रम न रह जाय, इसलिये श्रुति भगवती उसीके आगे कहती है—'नान्यत्किंचन मिषत्' (दूसरा कुछ भी नहीं था)। तब सृष्टि प्रारम्भ हुई और उसके द्वारा वह अनेक बन गया। इस विषयमें शास्त्रोंका यह निश्चित मत है। और इसका अर्थ यह है कि उसके द्वारा रचित सभी पदार्थ वास्तवमें उसीके रूप हैं। ईश्वर, जीव और जगत्की एकताका निश्चय करनेका एक प्रकार यह है।

और फिर ईश्वरके सृष्टि-संकल्पके आधारपर कि

जानेवाले इस अनुमानके अतिरिक्त, एक श्रुति और है जो किसी प्रकारके अनुमान और तर्कके लिये गुंजाइश ही नहीं रखती, किन्तु स्पष्ट कहती है—'सच्च त्यच्चाभवत्' (वह स्वयं व्यक्त और अव्यक्त जगत् बन गया)। इसके बाद कोई इस बातसे इनकार नहीं कर सकता कि अद्वैत ही वेदान्तका वास्तविक सिद्धान्त है।

दूसरे, संस्कृतका 'सृष्टि' शब्द ही (जिसका विवेचन आत्माके अनन्त जीवनके सम्बन्धमें ऊपर किया जा चुका है) सृष्टिकी ईश्वरके साथ अभिन्नता सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है। सृष्टिका अर्थ है—'विसर्ग' अर्थात् भीतरकी वस्तुको प्रकट करना। और वेदान्तके 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' (जिस प्रकार मकड़ी अपना जाल फैलाकर फिर उसे समेट लेती है, उसी प्रकार परमात्मा भी सृष्टिके समय जगत्को व्यक्त करते हैं और सर्गके अन्तमें उसे फिर अपने अन्दर लीन कर लेते हैं) इस दृष्टान्तसे भी इसी सिद्धान्तकी पुष्टि होती है कि सृष्टिका अर्थ किसी नये पदार्थका उत्पन्न होना नहीं, किन्तु अव्यक्तका व्यक्त होना ही है।

बाइबलकी कथा

हमलोग फिर बाइबलके सृष्टिप्रकरणपर चलकर उसके पहले वाक्यका विचार करें, जो इस प्रकार है—'आरम्भमें ईश्वरने स्वर्ग और मर्त्यलोकको रचा।' इस वाक्यका भी सूक्ष्म विवेचन करनेसे हम उसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं जिसपर श्रुतियोंके मननसे पहुँचे थे।' 'ईश्वरने स्वर्ग और मर्त्यलोकको रचा' इस कथनका अर्थ ही यह है कि इनको रचनेके पूर्व केवल ईश्वर ही था, और कुछ नहीं था। यदि ऐसी बात है, तो जब उसने सृष्टिको रचा तो किस उपादानसे रचा? उदाहरणार्थ, जब कोई बर्तन बनाया जाता है तो केवल बनानेवाले कुम्हारकी ही आवश्यकता नहीं होती, अपितु मिट्टीकी भी आवश्यकता होती है जिससे बर्तन बनाया जायगा। इसी प्रकार जब कोई सोनेका आभूषण बनाया जाता है तो केवल बनानेवाले सोनारकी ही जरूरत नहीं पड़ती, किन्तु सोनेकी भी जरूरत होती है जिससे वह आभूषण बनाया जायगा। वास्तवमें तो कुम्हार और सोनारसे पहले ही मिट्टी और सोनेकी आवश्यकता होती है। इसी तर्कके आधारपर हम आसानीसे समझ सकते हैं कि विश्वनिर्माणके पूर्व उसे बनानेवाला ईश्वर ही नहीं, अपितु बनानेकी सामग्री भी अवश्य रही होगी। बर्तन और आभूषण बनानेके समय मिट्टी और सोना पहलेहीसे तैयार रहते हैं, कुम्भकार और सोनार आते हैं और इसके पश्चात् सब काम सरलतासे हो जाता है। परन्तु यदि सृष्टिके समय—जैसा कि वेद और बाइबल दोनों कहते हैं—केवल ईश्वर ही था, ईश्वरके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था, तो उसने यह सारी सृष्टि किस उपादानसे रची? मान लीजिये, संसारमें सोना-ही-सोना हो, कोई दूसरी धातु अथवा खनिज पदार्थ अथवा और कोई द्रव्य हो ही नहीं, तो आपको इस विषयमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं होगा कि सोनार जो आभूषण बनावेगा वह विशुद्ध सोनेका ही होगा। जो आभूषण या पात्र अथवा और कोई वस्तु वह बनावेगा, उसका आकार या माप कैसा ही हो, उसका उपादान सोना ही होगा। इसी प्रकार जब अकेला ईश्वर ही था, और कुछ नहीं था, और उसीने संसारको रचा, तो क्या यह स्पष्ट नहीं है कि उस समय जो चीज मौजूद रही होगी उसीसे उसने संसारको रचा होगा और वह चीज उसके सिवा कोई नहीं थी, क्योंकि उसको छोड़कर उस समय और कोई चीज वास्तवमें थी ही नहीं? दूसरे शब्दोंमें, सभी पुरुषों और पदार्थोंके भीतर रहनेवाला तत्त्व ईश्वर ही है और बाह्य पदार्थोंमें हम जो कुछ भी अन्तर देखते हैं वह केवल आकार-प्रकारमें अर्थात् बाह्यरूपमें ही है, वास्तविक पदार्थमें नहीं है। वेदान्तका वचन है—

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।'

घड़ा, करवा इत्यादि नाममात्र हैं जो केवल बाह्यरूपका अन्तर बतलाते हैं, किन्तु उन सबके भीतर उपादान मिट्टी ही है। इसी प्रकार मनुष्य, घोड़े, पत्थर, जल आदि नाममात्र हैं, जो केवल बाहरी रूपका अन्तर प्रकट करते हैं, किन्तु उन सबके भीतर रहनेवाला उपादान ईश्वर ही है।

भगवान् वेदव्यासने अपने ब्रह्मसूत्रमें इसी बातको इस प्रकार व्यक्त किया है—

'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः।'

(अर्थात् आरम्भण आदि श्रुतियोंमें ईश्वर और जगत्की एकताका स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है)।

और बाइबलकी कथा भी, जैसा कि हमने अभी

बताया है, इसी निष्कर्षपर पहुँचाती है। भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने भी अपने निम्नलिखित श्लोकमें यही मत प्रकट किया है—

सुवर्णाज्जायमानस्य सुवर्णत्वं हि निश्चितम्।
ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्वं च विनिश्चितम्॥

(जिस प्रकार सोनेसे बना हुआ आभूषण निःसन्देह सोना ही होता है, उसी प्रकार ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ जगत् निश्चय ही ब्रह्म है।) यह बिल्कुल युक्तियुक्त है कि जो वस्तु ईश्वरसे आविर्भूत हुई है वह ईश्वर ही है। और इसीसे यह अनोखी बात भी भलीभाँति समझमें आ जाती है (जिसके सम्बन्धमें हम ऊपर पर्याप्त विचार कर चुके हैं) कि हमारा आत्मा भी निरन्तर सत्, चित्, आनन्द, मोक्ष और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये छटपटाता रहता है, जो ईश्वरके गुण हैं। और ईश्वरस्वरूप होनेके कारण, हमारे लिये यह स्वाभाविक ही है कि हम तबतक पूर्ण सन्तुष्ट और शान्त नहीं हो सकते जबतक कि हम अपने ईश्वरत्वका पूर्णतया और सब प्रकारसे अनुभव न कर लें; और उस अज्ञानके निविड़ अन्धकारमें भी जो हमारे भीतर रहनेवाली दिव्य ईश्वरीय ज्योतिको आच्छादित किये हुए है हम अन्धोंकी तरह अपने उन पाँच लक्षणोंको ही ढूँढ़ते रहते हैं। यहाँ यह ध्यान देनेकी बात है कि हम केवल ईश्वरके साथ समानता अथवा दिव्यत्व ही नहीं चाहते किन्तु उसके साथ सर्वथा अभिन्न होना चाहते हैं। और जब कि दूसरे धर्मवाले इस बातको स्पष्ट रीतिसे इन शब्दोंमें कहते हैं—

१—'ईश्वरका राज्य तुम्हारे भीतर है,'
२—'तुम देवता हो,' इत्यादि,

केवल वेदान्तको ही यह अनुपम गौरव प्राप्त है कि वह इस सिद्धान्तको स्पष्ट शब्दोंमें प्रतिपादित करता है, इसी लक्ष्यको हमारे सामने रखता है और उसके लिये मार्ग बतलाता है। यह उपनिषद्-वाक्य कितना सुन्दर है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

(आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है; जिस प्रकार एक कुशल वेधकके द्वारा छोड़ा हुआ बाण सीधा निशानेको बेधकर उसमें समा जाता है, उसी प्रकार आत्माको भी सीधे ब्रह्ममें जाकर लीन हो जाना चाहिये।)

अद्वैतवाद और नास्तिकवाद

सभी आस्तिक दर्शन केवल ईश्वरका अस्तित्व ही न मानते किन्तु उसे सृष्टिकर्ता भी मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि ईश्वरवादी होनेपर हमें न्यायतः वेदान्त अद्वैतवादको, जिसे लार्ड टेनिसन नामक अंग्रेज क उच्च सर्वेश्वरवाद (Higher Pantheism) कहते मानना ही पड़ेगा। किन्तु प्राचीन धर्मोंमें जैन-ध और आधुनिक समाजोंमें आर्यसमाज ईश्वरको सृष्टिक न मानकर ही (ईश्वरने सृष्टिको किस उपादानसे रचा) इ कठिनाईको दूर करनेकी चेष्टा करते हैं, यद्यपि दोनोंका निराला है। इसलिये इनके सिद्धान्तोंपर भी हम संक्षे विचार करेंगे। जहाँतक इस प्रश्नके बौद्धिक और नैति स्वरूपका सम्बन्ध है, हम कह सकते हैं कि जैन-धर्मका दृ कोण आर्यसमाजके मतसे कहीं अच्छा है।

जैनाचार्योंका कहना है कि सर्वज्ञ और दयालु ईश्वर द्वारा ऐसे पापपूर्ण और दुःखमय संसारकी सृष्टि नहीं सकती जैसा कि हम इसे पाते हैं, और इसीलिये वे ईश्व को सृष्टिकर्ता नहीं मानते। इससे केवल यही प्र होता है कि उनकी बुद्धि पापके महान् प्रश्नको हल नहीं सकी, जो सभी अध्यात्मवादियोंके लिये हौआ बना हु है; किन्तु ईश्वरको सृष्टिकर्ता न माननेमें उनका हेतु नहीं है, यद्यपि उनकी युक्ति हमें ठीक नहीं जँचती। अ नैतिक दृष्टिसे भी उनकी यह मान्यता अनुचित नहीं है; क्यों आर्यसमाजियोंकी भाँति वे अपनेको वेदवादी विख्यात न करते बल्कि खुल्लमखुल्ला अपनेको अवैदिक स्वीकार क हैं। इसलिये उनके विषयमें हम यह नहीं कह सकते कि वे मान कुछ और हैं और कहते कुछ और हैं अथवा उनके सिद्धान्त में परस्पर विरोध आता हो सो भी बात नहीं है। हाँ, उन बुद्धिकी भूल अवश्य मालूम होती है। किन्तु आर्यसमाजि में ये दोनों ही बातें देखनेमें आती हैं। क्योंकि केव उपनिषद् ही नहीं किन्तु मन्त्रसंहिता भी, जिसपर वे विश्वा करनेका दम भरते हैं, कहती है—'अजायमानो बहुधा विजाय (अर्थात् वह अजन्मा अनेक रूपोंमें जन्म लेता है) अ इस तरह विशुद्ध अद्वैतका प्रतिपादन करती है। आर्यसमा के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती भी इस मन्त्रका अ वही करते हैं जो हमने किया है।

इस प्रकार जिस ग्रन्थपर वे विश्वास करनेका दावा करते हैं उसीके साथ उनका सिद्धान्ततः विरोध आता है। अब हम केवल तार्किक दृष्टिसे उनकी युक्तिकी आलोचना करें और देखें कि उसमें कितना दम है। आर्यसमाजी ईश्वरमें विश्वास करनेका दावा करते हैं और उसे सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् इत्यादि विशेषणोंसे विभूषित करते हैं, किन्तु साथ ही उसे सृष्टिकर्ता न मानकर यह भी घोषित करते हैं कि प्रकृति भी (सारे विश्वको अपने गर्भमें लेकर) ईश्वरके साथ अनादि कालसे विद्यमान थी, और इसलिये वह ईश्वरकी सृष्टि नहीं है, और सृष्टिकर्ताकी गौरवयुक्त उपाधि प्राप्त करनेका यदि उन्हें कोई अधिकार है तो वह केवल इस बातको लेकर कि वे प्रकृतिके उन पदार्थोंको जो उसके अन्दर पहलेहीसे मौजूद रहते हैं फिरसे केवल सजा भर देते हैं और उन्हें आधुनिक स्थान, रूप, आकार और नाम प्रदान करते हैं। इसके उत्तरमें हम इससे अधिक कुछ नहीं कहना चाहते कि यदि ईश्वर और प्रकृति दोनों ही अनादि होते और उनके अलग-अलग स्वतन्त्र गुण होते तो ईश्वरके कार्योंमें प्रकृतिके स्वतन्त्र गुणोंको लेकर परतन्त्रता आ जाती और फिर वे सर्वशक्तिमान् आदि कुछ भी नहीं रह जाते। और यदि वे वास्तवमें ऐसे ही सृष्टिकर्ता हैं जैसा कि आर्यसमाजी लोग उन्हें समझते हैं, तो उनका कर्तापन उसी कोटिका होगा जैसा कि कुम्हारका बर्तनके प्रति होता है, बल्कि एक दृष्टिसे उससे भी कम दर्जेका होगा। क्योंकि ईश्वरने जिस अर्थमें वनको उत्पन्न किया है, उसी अर्थमें मनुष्योंने नगरोंका निर्माण किया है। यहाँपर मुझे एक दृष्टान्त याद आ गया। किसी स्कूलकी एक छोटी बालिकासे इन्स्पेक्टरने पूछा कि तुमको किसने बनाया। उसने अपनी हथेलियोंको सटाकर एक छोटे शिशुका संकेत करते हुए उत्तर दिया—'महाशय, ईश्वरने मुझे इतना-सा बनाया, और इसके बाद मैं स्वयं बड़ी हो गयी।' उसी अबोध बालिकाकी भाँति हम भी यह कह सकते हैं कि दुनियाभरकी रद्दी चीजें ईश्वरने बनायीं और नगर, प्रासाद, रेलगाड़ी, बिजलीकी बत्तियाँ, वैज्ञानिक आविष्कार तथा सभ्यताकी अन्य आश्चर्यजनक एवं सुन्दर वस्तुएँ हमने बनायीं, इसलिये हम उनसे भी श्रेष्ठ कर्ता हैं। जो लोग ईश्वर और उनकी प्रकृतिको अलग-अलग एवं स्वतन्त्र मानते हैं उनके लिये हमें इतना ही कहना है। वास्तवमें ऐसा कोई भी दार्शनिक मत नहीं है जो ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करता हो किन्तु उन्हें सृष्टिकर्ता नहीं मानता। कारण, यदि ईश्वर है तो वह सृष्टिकर्ता भी अवश्य होगा। और यदि उन्हें सृष्टिकर्ता मानते हैं तो जिन युक्तियोंपर हमने विचार किया है वे हमें इस निष्कर्षपर पहुँचनेके लिये बाध्य करती हैं कि ईश्वरने सम्पूर्ण विश्वको अपने ही सङ्कल्पसे रचा, क्योंकि सृष्टिके पूर्व केवल वही थे और इसलिये उनके पास उनके अतिरिक्त ऐसी कोई सामग्री नहीं थी जिससे वे विश्वकी रचना करते।

इसके उत्तरमें कोई कह सकता है, जैसा कि द्वैतवादी प्रायः कहा करते हैं,—'हाँ, आपका कहना तो ठीक है; परन्तु ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं, इसलिये वे शून्यसे भी संसारकी रचना कर सकते हैं।' बहुत ठीक, परन्तु हमारा प्रश्न उनके ज्ञान अथवा सामर्थ्यके सम्बन्धमें नहीं है, किन्तु उस सामग्रीके सम्बन्धमें है। जिससे वे संसारको रचते हैं। यद्यपि कुम्हारमें ज्ञान, दक्षता, कौशल और योग्यता सब कुछ है, किन्तु वह केवल इनसे बर्तन नहीं बना सकता। इसी प्रकार हमारा प्रश्न ईश्वरकी योग्यताके सम्बन्धमें नहीं है, किन्तु सामग्रीके सम्बन्धमें है। और हमारा कहना यह है उसके पास उस समय अपने सिवा और कोई सामग्री नहीं थी, इसलिये उसने संसारको उसी सामग्रीसे जो उस समय उपलब्ध थी, अर्थात् अपने ही स्वरूपसे रचा होगा। भगवद्गीताके 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' इत्यादि श्लोकको, जिसे हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, पढ़नेसे इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता।

किन्तु यदि कोई फिर भी दुराग्रह करे कि ईश्वरने विश्वको 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' इत्यादि श्रुतिके अनुसार अपने स्वरूपसे नहीं, किन्तु शून्यसे रचा, तब भी इससे हमारे वेदान्तके सिद्धान्तमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि ऐसा माननेपर भी, जैसे मिट्टीका बना हुआ पात्र मिट्टीके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, वैसे ही शून्यसे बना हुआ विश्व भी शून्य अथवा असद्रूप ही हो सकता है! और यह वेदान्तके मायावाद नामक सिद्धान्तका ही रूपान्तरमात्र है (जिसका हम संक्षेपमें

दिग्दर्शन करा चुके हैं और जिसका विस्तारसे विवेचन आगे किया जायगा) और इससे प्रकारान्तरसे अद्वैतकी ही सिद्धि हो जाती है, क्योंकि इसका अर्थ यही हुआ कि 'एकमात्र ईश्वर ही सत् है, अन्य कुछ भी नहीं है।' अतः द्वैतीकी इस युक्तिसे तो अद्वैतसिद्धान्तकी ही पुष्टि होती है और वेदान्ती इससे अधिक और क्या चाहेगा ?

इसके सिवा, जब आप एक बार यह मान लेते हैं कि किसी समय केवल ईश्वर ही था, और कुछ नहीं था, तब गीताका यह अकाट्य सिद्धान्त–'नासतो विद्यते भावः' (जिसका तात्पर्य वही है जो पदार्थशास्त्रियोंके 'पदार्थोंकी अनुत्पाद्यता और अनश्वरता'के सिद्धान्तका है) एक दुर्भेद्य दीवारके रूपमें आपके सामने आ जायगा । असत् कभी सत् नहीं हो सकता और सत्का कभी अभाव नहीं हो सकता। अतः यदि केवल ईश्वर ही था, और कुछ नहीं, तो यह स्पष्ट ही है कि एकमात्र ईश्वर ही सत् है और वही हो सकता है। दूसरे शब्दोंमें, चाहे हम यह कहें कि 'ईश्वर और जगत् एक हैं' अथवा इसी बातको निषेधमुखेन इस प्रकार कहें कि 'केवल ईश्वर ही है, और कुछ भी नहीं है'; बात एक ही है।

पञ्च महाभूत

इसको और भी स्पष्ट करना हो तो हम आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इन पञ्च महाभूतोंका उदाहरण ले सकते हैं, जिनसे सृष्टिका आरम्भ हुआ। क्योंकि स्वयं ईश्वरने ही उनको बनाया है, इसलिये हमें विवश होकर यह अनुमान करना पड़ता है कि उसने इन्हें अपनेमेंसे ही बनाया होगा। 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (सच तो यह है कि मृत्तिका ही वास्तविक उपादान है) इस उपनिषत्-सिद्धान्तके अनुसार पृथ्वी जलसे उत्पन्न हुई है या जलका ही विकार है अतः जलरूप ही है, इसी प्रकार जल अग्निसे उत्पन्न हुआ अथवा जलका ही रूपान्तर है, अतः जलरूप ही है; अग्नि भी वायुसे उत्पन्न अथवा प्रकट हुई है, इसलिये वायुरूप ही है; वायु आकाशसे प्रादुर्भूत अथवा अभिव्यक्त हुआ अतः आकाशरूप है; और अन्तमें आकाश ईश्वरसे उत्पन्न हुआ अथवा ईश्वरकी ही अभिव्यक्ति है, अतः ईश्वरसे अभिन्न है। इस प्रकार सब पदार्थोंकी ईश्वरसे उत्पत्ति और ईश्वरके साथ एकता सिद्ध की जा सकती है।

अब हम शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-तन्मात्रा पर इसी शैलीसे विचार करें। आकाशमें एक ही गुण शब्द वायुमें शब्द और स्पर्श दो हैं; अग्निमें शब्द, स्पर्श और तीन हैं; जलमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार हैं, तथा पृथ् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, पाँचों गुण हैं। इन उत्पत्ति आदिको जाननेके लिये हमें इन गुणोंका विश्लेषण कर होगा। पृथ्वीसे प्रारम्भ करके हम देखेंगे कि इसका पाँच गुण गन्ध इसके पूर्ववर्ती भूत—जलमें नहीं था और बिल्कु नया है। किन्तु गीता कहती है–'नासतो विद्यते भावः' पदार्थविज्ञान भी यही कहता है कि 'जो पदार्थ पहले था, वह नये सिरेसे उत्पन्न नहीं हो सकता।' इसलिये या तो गन्धको मिथ्या मानकर निकाल बाहर करना हो अथवा उसकी जलमें भी सत्ता माननी पड़ेगी। प पक्षमें पृथ्वी स्वयं मिथ्या हो जायगी, क्यों गन्ध ही उसका अनन्यसाधारण लक्षण है (गन्धव पृथिवी), और उसका अस्तित्व जलमें भी मान लेनेपर पृ और जल (समानगुण होनेके कारण) एकरूप हो जायँ इसी प्रकार यदि हम चौथे गुण रसको लें, जो सर्वप्र जलमें दिखायी देता है, तो हमें इसी प्रक्रियाका अनुस करके या तो इसे मिथ्या समझकर निकाल देना पड़े अथवा अग्निमें पहलेसे विद्यमान मानना पड़ेगा। इस परिणाम यह होगा कि पृथ्वी और जल या तो मिथ्या म जाकर बहिष्कृत कर दिये जायँगे अथवा उन्हें अग्निरूप मान होगा। अब तीसरे गुण रूपको लीजिये; या तो इसे मिथ कहकर निकाल दीजिये अथवा इसका अस्तित्व वायुमें मानिये। इसी पद्धतिसे दूसरे गुण स्पर्शको या तो मिथ कहकर निकाल बाहर कीजिये अथवा आकाशमें इस अव्यक्तरूपसे सत्ता स्वीकार कीजिये। इस तरह या पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुको मिथ्या मानना पड़ेगा अथ आकाशरूप। और अन्तमें इसी तर्कका प्रयोग करके प्रथम गुण शब्दको या तो मिथ्या मानकर निकाल बा करना होगा अथवा उसकी ईश्वरमें पहलेहीसे अव्यक्तरू स्थिति माननी पड़ेगी। इस प्रकार पञ्च भूतोंको या मिथ्या मानकर हटाइये अथवा उन्हें ईश्वरका रूप मानि इस सारी प्रक्रियाको जिसे हमने ऊपर समझाया है रेख गणितके ढंगसे इस प्रकार संक्षेपमें रख सकते हैं—

पृथ्वी=जल; जल=अग्नि; अग्नि=वायु; वायु=आकाश; आकाश=ईश्वर।

∴ तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमः (यूक्लिडके प्रथम स्वयंसिद्ध नियम 'जो वस्तुएँ किसी एक वस्तुके बराबर होती हैं वे आपसमें भी बराबर होती हैं।') के अनुसार ईश्वर=विश्व; अर्थात् दोनों समान ही नहीं हैं किन्तु दोनों सर्व प्रकारसे एक हैं।

ईश्वरकी सर्वव्यापकता

सृष्टिकथा और उसपर उपनिषदों और बाइबलके वचनोंके आधारपर किये गये अनुमानके अतिरिक्त ईश्वरकी सर्वव्यापकता भी, जिसे सभी आस्तिक (जिनमें आर्यसमाजी भी सम्मिलित हैं) मानते हैं, अद्वैतसिद्धान्तकी सत्यताको सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त प्रमाण है (और यह सत्यता दो प्रकारसे सिद्ध की जा सकती है)। हम इस अद्वैतसिद्धान्तको सिद्धान्त न कहकर रेखागणितकी भाषामें साध्य (theorem) भी कह सकते हैं, क्योंकि यह गणितके किसी साध्यकी तरह सिद्ध किया जा सकता है, जैसे २+२=४।

जब हम यह कहते हैं कि ईश्वर सर्वव्यापी और विश्वमें ओतप्रोत है तो पहले हमें यह समझना चाहिये कि इसका अर्थ क्या है? यदि हम इन साधारण शब्दोंके अर्थ और पूर्ण आशयको भलीभाँति समझ जायँ, जिन्हें हम बिना विचार किये प्रतिदिन और प्रतिक्षण अपने मुँहसे निकालते रहते हैं, तो हम सम्पूर्ण वेदान्तसिद्धान्तको आसानीसे समझ सकते हैं। हम लोग बर्तन, कपड़े और सुनहले आभूषणका उदाहरण लेकर यह देखें कि उनमें कौन-सी वस्तु ओतप्रोत है। निश्चय ही इनमें कुम्हार, जुलाहा और सोनार ओतप्रोत नहीं हैं किन्तु मिट्टी, सूत और सोना क्रमशः तीनों पदार्थोंके ऊपर-नीचे, भीतर-बाहर, सर्वत्र समस्त पिण्डमें ओतप्रोत हैं। दूसरे शब्दोंमें, किसी पदार्थका बनानेवाला नहीं किन्तु जिस सामग्रीसे वह पदार्थ बना है, वही उसमें ओतप्रोत रहता है। इसलिये विश्वमें ईश्वरकी सर्वव्यापकता इस बातको निर्विवादरूपसे सिद्ध करती है कि ईश्वर ही इस संसारका उपादान कारण है। और यही बात हमें सिद्ध करनी थी।

यह बात बिल्कुल सत्य है कि जगत्का रचयिता भी ईश्वर ही है, क्योंकि उसके अतिरिक्त कोई दूसरा है ही नहीं जो उसे रच सकता हो। यही कारण है कि वेदान्त उसे जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण बतलाता है। इस प्रकार यद्यपि ईश्वरका सृष्टिकर्ता होना बिलकुल सत्य है, तथापि वे कर्ता होनेके कारण नहीं, किन्तु उपादान कारण होनेके नाते संसारमें ओतप्रोत हैं।

इस तरह ईश्वरकी सर्वव्यापकताका पूर्ण आशय समझ लेनेके बाद कि वह स्वयं संसारका उपादान कारण है, हमारे सामने दूसरा प्रश्न यह आता है कि वह सर्वव्यापक कैसे हो सकता है? भगवान् स्वयं भगवद्गीतामें कहते हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

(अर्थात् सब शरीरोंके भीतर रहनेवाला आत्मा मैं ही हूँ), और सभी आस्तिकोंका इस विषयपर एकमत है कि ईश्वर सर्वव्यापक हैं। किन्तु क्या एक ही स्थानमें दो भिन्न पदार्थ रह सकते हैं? क्या यह भौतिक दृष्टिसे असंभव नहीं है? क्योंकि पदार्थविज्ञानके 'विस्तार', 'भेद्यत्व' आदिके नियमोंके अनुसार एक ही कमरेके भिन्न-भिन्न भागोंमें दो व्यक्ति अथवा पदार्थ रह सकते हैं, किन्तु उसी कमरेके एक अंशमें रहनेवाले आकाशके उसी थोड़े-से भागमें नहीं। और यदि आपसे यह कहा जाय कि दो व्यक्ति एक साथ उसी छोटे-से स्थानमें रहते हैं, तो आपको विवश होकर यह अनुमान करना पड़ेगा कि वे दो भिन्न व्यक्ति नहीं किन्तु एक ही व्यक्तिके दो नाम हैं। यदि किसी ग्रन्थके एक वाक्यमें यह लिखा हो कि रामने रावणको मारा और उसी ग्रन्थके किसी दूसरे प्रसंगमें यह बात आती हो कि सीतापतिने रावणको मारा, तो क्या आप—चाहे आपने इस बातको पहले कभी न सुना हो—तुरन्त यह अनुमान नहीं कर लेंगे कि राम ही सीताके पति रहे होंगे? इसी प्रकार प्रत्येक छोटे-से पदार्थके साथ भी ईश्वरका एक ही स्थानमें युगपत् रहना, पदार्थविज्ञानके अनुसार, ईश्वरकी उस पदार्थके साथ—और फलतः सारे विश्वके साथ अभिन्नता सिद्ध करता है। और यही बात हमें सिद्ध करनी थी। (अपूर्ण)

* * *

जगत् सत्य है या मिथ्या?

(पूज्यपाद श्री१०८ भार्गव शिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्द स्वामीजीके उपदेश)

'जगत्' शब्दका अर्थ

परिवर्तन* या एक भावसे दूसरे भावमें जाना (Change) ही संसारका स्वरूप है—'नियत परिवर्तनशील वा परिणम्यमान भाव ही जगत् है†; प्रवृत्ति‡—आविर्भावादि विकार या परिणाम ही जगत्का स्वभाव है—जगत्का अव्यभिचारी धर्म है। एक मुहूर्तके लिये भी जगत् प्रवृत्ति-शून्य नहीं है, क्षणकालके लिये भी कोई जागतिक पदार्थ एक भावमें (परिवर्तित हुए बिना)—अपने स्वरूपमें नहीं रह सकता।

जगत् सदसदात्मक है

यह सत्तार्थक—भाववचन (विद्यमानार्थवाची) 'अस् भुवि' धातुके पीछे 'शतृ' प्रत्यय लगनेसे 'सत्' पद सिद्ध होता है। 'सत्' शब्दका अर्थ है—विद्यमान। असत्का (अभावका) जो विरोधी है—न रहनेका जो प्रतियोगी है, अविद्यमानताका जो प्रतिपक्षी है, अर्थात् जो अविनाशी—अपरिणामी (Unchangeable something) है, नाम-देश-कालादिका नाश होनेपर भी जो नष्ट नहीं होता, जिसका कभी ध्वंस नहीं है—जो तत्त्व सदा स्थिर है, वह सत् है; और जो सत् है, जो अव्यभिचारी है, वही सत्य है। पूज्यपाद भगवान् शङ्कराचार्य भी 'सत्य' का अर्थ समझा हुए यही कहते हैं—

'यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्।

जिस रूपसे जो निश्चित होता है, बुद्धिका विषयीभू होता है, यदि वह उस रूपको कदापि न त्यागे— वह रूप कभी अन्यथा न हो—व्यभिचरित न हो, उसे 'सत्य' कहते हैं।† सत्यका जो लक्षण हमें प्राप्त हुआ शास्त्रने 'सत्य' शब्दका जो अर्थ हमारे सामने रक्खा है, वह इस प्रतिक्षणपरिणामी, इस सदाचञ्चल, इस निय परिवर्तनशील संसारकी किसी भी वस्तुका वाचक नहीं सकता। परिवर्तन जिसका स्वभाव है, सदा एक अवस्था अवस्थान्तरमें जाना ही जिसका स्वरूप है, वह कि तरह अविनाशी और अपरिणामी हो सकता है। भा अभाव, सत्-असत्, हाँ-ना (Something-Nothin Existence-Non-existence, Affirmation-Ne gation)—ये एक पदार्थ नहीं हो सकते। यह वा प्रेक्षावान्-अप्रेक्षावान्, बालक-वृद्ध, पशु-पक्षी, कीट-पतं सभीको विदित है—यह तत्त्व जीवमात्रको अवगत है।

तो क्या जगत् मिथ्या है?

जगत्को एकबारगी मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि मिथ्या या असत्की उपलब्धि कैसे हो। दूसर बात, जगत् यदि मिथ्या भी हो तो भी उसे मिथ्यारूप सत्य कहना पड़ेगा, क्योंकि जगत्का मिथ्यात्व वा परिवर्तन शीलत्व अव्यभिचारी है; जगत् जगत् या सदा परिणामी है इसलिये वह सत्य है। जिस रूपमें जो निश्चित होता है बुद्धिका विषयीभूत होता है, यदि वह किसी भी कालमें उस रूपको न त्यागे तो वह सत्य है,—सत्यके इस लक्षणके

---

* 'परि' उपसर्गपूर्वक 'वृत्' धातुके पीछे भाव अर्थमें 'ल्युट्' प्रत्यय लगानेसे 'परिवर्तन' पद सिद्ध हुआ है। 'परि' उपसर्गका एक अर्थ है वर्जन—त्याग; अतः 'परिवर्तन' शब्दका व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ होता है—वर्जन वा त्यागपूर्वक वर्तन या अवस्थान, अर्थात् पूर्वभावका त्याग करके परभावमें संक्रमण।

† 'गम्लृ गमने' धातुके पीछे 'क्विप्' प्रत्यय लगानेसे 'जगत्' पद सिद्ध हुआ है ('द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च।'—वार्त्तिकसूत्र।) जो निरन्तर उत्पत्त्यादि भावविकारको प्राप्त होता है, उसे 'जगत्' कहते हैं।

'गच्छति उत्पत्तिस्थितिलयान् प्राप्नोतीति जगत्।'

—सारस्वत व्याकरण।

‡ 'प्रवृत्तिः खल्वपि नित्या। नहीह कश्चिदपि स्वस्मिन्नात्मनि मुहूर्त्तमप्यवतिष्ठते' (महाभाष्य ४।१।१)। 'स्त्रियाम्' (पा० ४।१।३) अथवा 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ।' (पा० १।२।६४) इस सूत्रका भाष्य देखना चाहिये।

* 'सत्यमविनाशि नामदेशकालवस्तुनिमित्तेषु विनश्यत यन्न विनश्यति तदविनाशि।' (सर्वोपनिषत्सार)

‡ तैत्तिरीयोपनिषद्के 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस वाक्यका भाष्य देखो।

"By reality we mean persistence in consciousness."

—H. Spencer.

अनुसार जगत्का सत्यत्व सिद्ध होता है, क्योंकि जगत् सदा ही जगत्, गतिशील वा परिणामात्मक निश्चित है। तो फिर जगत् असलमें क्या पदार्थ है ? जगत् सदसदात्मक है, जगत् नित्य और अनित्य दोनों है। कारणभावमें—सन्मात्रावस्थामें जगत् सत्य या नित्य है, और कार्यभावमें जगत् असत् या अनित्य है। जो विकारात्मक है, वह अनित्य है। अतः भावविकाररूपमें जगत् अनित्य है, आत्मभावमें—अपरिच्छिन्न, अखण्डैकरस सच्चिदानन्द ब्रह्मरूपमें नित्य है। जगत्के मूलमें अनन्त सत्ता निहित है, मूलमें अपरिच्छिन्नभाव न रहनेसे परिच्छिन्नभाव रह नहीं सकता*।

कारणात्मा और कार्यात्माके भेदसे भाव या सत्ता द्विविध है। शास्त्रका उपदेश है,—इन दोनों भावोंमें कारणात्मभाव ही नित्य है, यही सत् है; और कार्यात्मभाव अनित्य या असत् है, अर्थात् परिवर्तनशील है। यह कार्यात्मभाव ही जगत् या संसार है।

कारणात्मभावका स्वरूप

जो भाव अदृश्य है, बुद्धीन्द्रियके अगम्य है, जो आन्तर, ब्राह्य दोनों अवस्थाओंसे रहित है, जो भाव अग्राह्य—कर्मेन्द्रियोंका अविषय है, जो अगोत्र है (जिसका ऐसा मूल नहीं है जिसके द्वारा यह निर्णय किया जा सके कि वह ऐसा है या वैसा), जो अवर्ण है (द्रव्यके स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व और शुक्लत्वादि धर्मका नाम वर्ण है; जिसमें ये नहीं हैं वह अवर्ण है), जिसके चक्षुःकर्णादि इन्द्रिय नहीं हैं, जो अपाणिपाद है, जो नित्य—अविनाशी है, जो विभु है, अर्थात् जो ब्रह्मादि स्थावरान्त चेतनाचेतन विविध पदार्थोंके रूपमें प्रकाशित है, जो सर्वगत (आकाशवत् सर्वव्यापी) है, जो सूक्ष्म है, जो अव्यय (सर्वदा एकरूप) है और जो सर्वभूतयोनि—सर्व कार्यों-का कारण है, वह कारणात्मभाव है†।

कार्यात्मभावका स्वरूप

कार्यात्मभाव त्रिगुणमयी मायाका भाव है, जन्मस्थित्यादि छः भावविकार हैं। कारणात्मभाव अनन्त—अपरिच्छिन्न (Infinite) है। वह देशकालादिकी सीमामें बद्ध नहीं है। कार्यात्मभाव ससीम, परिच्छिन्न (Finite) है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।

(पुरुषसूक्त ऋग्वेद, यजुर्वेद)

कार्यात्मभावका सीमानिर्देश

ब्रह्मादि-स्थावरान्त भाव कार्यात्मभाव हैं। जो भाव सृष्टिस्थितिलयात्मक है, जो भाव वर्तमान, अतीत और अनागत, इन तीन अवस्थाओंसे विशिष्ट है, वह कार्यात्मभाव है। 'पुरुष एवेदं सर्वं' इत्यादि श्रुतिवचनका मर्म यह है कि वर्तमान, अतीत और भविष्यत्, ये त्रिविध जागतिक अवस्थाएँ ही पुरुषका या अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्दका मायापरिच्छिन्न भाव है। परमपुरुष या कारणात्मभावसे कार्यात्मभाव स्वरूपतः स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

(पुरुषसूक्त)

अभिप्राय यह कि अतीत, अनागत और वर्तमान—कालत्रयात्मक निखिल जगत् परब्रह्मकी ही एक महिमा—स्वकीय सामर्थ्य—स्वीय शक्तिविशेष है। तो क्या त्रिकालमय जगत्का रूप ही ब्रह्मका वास्तविक रूप है ? तो क्या वह अनित्य जगत् ही है ? नहीं—यह उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। परम पुरुष—परमात्मा अपनी इस जगद्रूप महिमा या सामर्थ्य (शक्ति) से ज्यायान्—अति बृहत्—अत्यन्त अधिक हैं। समस्त भूत—कालत्रयवर्ती प्राणिजात परम पुरुषका चतुर्थांशमात्र है; इसके शेष त्रिपाद अमृत—विनाशरहित हैं, सनातन हैं, नित्य हैं, द्योतनात्मक हैं, अर्थात् स्वप्रकाशस्वरूपमें अवस्थित हैं। 'पुरुष एवेदं' इस मन्त्रमें, त्रिकालवर्त्ती जगत् पुरुष ही है, यह बात कही गयी है। इससे यह प्रतीति हो सकती है कि जगत् ही पुरुषका स्वरूप है, इसलिये भगवान्‌ने उपर्युक्त मन्त्रद्वारा समझाया कि जगत् सत्य-ज्ञान-अनन्त ब्रह्मके स्वरूपकी अपेक्षा अल्पमात्र है। अब प्रश्न यह होता है कि अनन्त परब्रह्मको चार भागोंमें

---

* 'भवतेरात्मभावेनेदं जगन्नित्यं, इतरैस्तु भावविकारैः परमाण्वादिभिर्भावविकारात्मभिरनित्यम्। कस्मात्—विकारात्मकत्वादेव। विकारो ह्यनित्यः।' (निरुक्तभाष्य)

अर्थात् सन्मात्रात्मामें जगत् नित्य है, परमाण्वादि भावविकारोंके कारण वह अनित्य है, क्योंकि विकारमात्र ही अनित्य है।

† 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।'

(मुण्डकोपनिषद्)

विमक्त कैसे किया गया ? क्या अनन्त परब्रह्मकी इयत्ता की जा सकती है ? पूज्यपाद सायणाचार्यने इस प्रकारके संशयको मिटानेके लिये कहा है कि इसमें सन्देह नहीं कि परब्रह्मकी इयत्ता हो नहीं सकती; पर ऐसा करनेका तात्पर्य यह बतलाना है कि जगत् परब्रह्मकी स्वरूपावस्थासे बहुत क्षुद्र है, जगत् उसका एकांशमात्र है ।

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥

(पुरुषसूक्त)

अर्थात् अज्ञानकार्य (अविद्याप्रसूत) संसार या सृष्टिसंहारात्मक जगत्के बहिर्भूत, संसारस्पर्शरहित—जागतिक गुणदोषद्वारा अस्पृष्ट, चतुष्पाद् पुरुषका एकपादमात्र यह जगत् है । भगवान्ने गीतामें भी यही बात कही है, यथा—

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

परमपुरुष परमात्माका यही एक पाद मायाद्वारा पुनः-पुनः अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्थामें और व्यक्तावस्थासे पुनः अव्यक्तावस्थामें गमनागमन किया करता है* ।

परम पुरुषका यह एक पाद मायायुक्त है, शेष पादत्रय मायाविनिर्मुक्त हैं । सृष्टिकालमें परमेश्वर मायाद्वारा देवतिर्यगादि विविध रूपोंमें व्यक्त होते हैं । साशन अर्थात् भोजनादिव्यवहारोपेत चेतन प्राणिजात और अनशन–तद्रहित अचेतन गिरि, नदी, सागर प्रभृति, इन दोनों रूपोंमें स्वयं ही विविध होकर, विश्व-ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं । अतः समझमें आया, अखण्डैकरस सच्चिदानन्द परमपुरुषके नित्य और कार्य-भेदसे दो भाव हैं; इनमेंसे नित्यभाव–सनातन अवस्था परिदृश्यमान जन्मादिविकारमय संसारके बहिर्भूतावस्था है । यह संसारके ऊर्ध्वमें अवस्थित है । जनन, मरण, आधि, व्याधि, शोक, ताप इत्यादि सांसारिक दोष इस भावको स्पर्श नहीं कर सकते; यहाँपर कालका अधिकार नहीं है, यह सदानन्दमय भवन है; यहीं जानेके लिये आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सभी कोई (चाहे जानकर हो, या अनजान लालायित हैं; आरामके अभिलाषी जीवजगत्का यही स्थान है ।

कार्यात्मभाव क्रियामय—परिवर्तनका भाव है, मा अवस्था है; हमलोग जिस भावमें हैं, हमलोग जिस भा उपलब्धि कर सकते हैं, वही कार्यात्मभाव है । कारणा भाव परब्रह्मका स्वरूप है । कार्यात्मभाव ब्रह्मकी अपरा है, यह अपर ब्रह्म है ।

अतः सिद्धान्त हुआ, कार्यात्मभाव और कारणात्मभा ये द्विविध भाव ही 'भाव' वा 'सत्' हैं; इनमेंसे कारणा भाव नित्य है, कार्यात्मभाव अनित्य है—विकारात्मक है

तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते ।

(महाभाष्य, पस्पशाहि

द्विविध नित्यत्व

भगवान् पतञ्जलिदेवने द्विविध नित्यत्वकी बात समझा है । एक कूटस्थ नित्य, दूसरा प्रवाहरूपसे नित्य । वह नित्यपदवाच्य है जिसका तत्त्व—तद्भावत्व नष्ट नहीं हो जगत् कूटस्थ नित्यकी अपेक्षा अनित्य होनेपर भी प्र रूपसे नित्य है; क्योंकि सृष्टि, स्थिति और लय, वा आ र्भाव, स्थिति और तिरोभावात्मक जगत् अनादि का है और रहेगा भी अनन्त कालतक । जिन चन्द्र-सूर्यको आज देख रहे हैं, यही पहले भी थे और पीछे भी रहेंगे भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, जनोलोक, तपोलोक, सत्यल सभी अनादि कालसे हैं । कोई भी वस्तु एकबारगी ध्वंस विनाशको नहीं प्राप्त होती । जो नहीं है, जो वस्तुतः अ है, उसकी उत्पत्ति भी असम्भव है ।

'नावस्तुना वस्तुसिद्धिः' (सां० द० १ । ७

अर्थात् अवस्तु†–अभावसे वस्तुसिद्धि, भावोत्पत्ति नहीं सकती‡ ।

(अपूर्ण

---

* 'सोऽयमिह मायायां पुनरभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति ।' (सायणभाष्य)

† 'वस् निवासे' (to exist) धातुके पीछे 'तुन्' प्रत्यय लगानेसे 'वस्तु' पद सिद्ध हुआ है–'वसेस्तुन्' (उणादि १ । ७६)। बसता है—रहता है, जो सत् है, वह वस्तु है; न वस्तु=अवस्तु अर्थात् अभाव ।

‡ "The indestructibility of matter and the continuity of motion, we saw to be really corollaries from the impossibilit establishing in thought a relation between something and nothing."

—H. Spenc

"In all phenomena the more closely they are investigated, the more are we convinced that, humanly speaking, neit matter nor force can be created or annihilated, and that an essential cause is unattainable............................ Causation is the will, Creation the act, of God." *Correlation of Physical Forces, p. 218.*

क्या वैज्ञानिक पण्डित ग्रोभके उपर्युक्त वचनसे यह प्रमाणित नहीं होता कि सृष्टि प्रवाहरूपसे नित्य है ?

श्रीरामानुजाचार्य और उनका सम्प्रदाय

(लेखक—श्रीकाञ्ची-प्रतिवादिभयंकरमठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीश्रीभगवद्रामानुजसम्प्रदायाचार्य श्री ११०८
श्रीअनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज*)

सबसे पहला प्रश्न जो इस विषयकी चर्चा करते हुए सामने आता है यह है कि क्या श्रीरामानुजाचार्यने अपने दिमागसे यह कोई नया सम्प्रदाय निकाला और उसे संसारमें प्रचलित किया? इसका स्पष्ट उत्तर है—'नहीं'। उन्होंने कोई नया सम्प्रदाय प्रचलित नहीं किया, बल्कि उसी अद्वैतसिद्धान्तको विशद किया है जिसे पूर्वाचार्योंने, स्वयं श्रीशंकराचार्यसदृश पूर्वाचार्योंने भी स्वीकार किया था और जिसे इन पूर्वाचार्योंने भी पूर्वतर आचार्योंसे प्राप्त करके ही निरूपित किया था।

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' आदि श्रुतिवाक्य ब्रह्मके एकत्वका प्रतिपादन करते हैं। श्रीमच्छंकराचार्य और श्रीमद्रामानुजाचार्य दोनोंने ही अपने-अपने अद्वैतसिद्धान्त-सम्प्रदाय श्रुतिप्रामाण्यसे ही स्थापित किये, पर दोनोंकी प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न थीं। श्रीमच्छंकराचार्यके मतानुसार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि वेदान्तवाक्य ब्रह्मका स्वरूप ऐसा बतलाते हैं कि वह एक ही है और वह वही है, तदभिन्न और कुछ नहीं; परन्तु श्रीरामानुजाचार्यके मतानुसार 'बृह बृंहि वृद्धौ' इस धातुके साथ 'मनिन्' प्रत्यय होनेसे इस एकमें तीनका समावेश है और यह बात श्रुति और स्मृति दोनोंसे प्रमाणित है। 'बृहति बृंहयतीति तत्परं ब्रह्म', यह 'रहस्याम्नाय ब्राह्मण' का वचन है। विष्णुपुराणमें भी इसी अर्थका प्रतिपादक वाक्य है—

बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च तद् ब्रह्मेत्यभिधीयते।

ये दोनों वचन इस बातको स्पष्ट करते हैं कि वही एक ब्रह्म है जो स्वयं बृहत् होने और दूसरोंको बृहत् करनेमें समर्थ है। अर्थात् ब्रह्म वह है जिसमें एक और केवल एक ही पदार्थका होना असम्भव है, प्रत्युत जिसमें अन्य पदार्थ भी हैं जो उसीके द्वारा बृहत् किये जाते हैं। रामानुजाचार्य कहते हैं कि ब्रह्म एक है और उसमें तीन वस्तुएँ हैं। रामानुजाचार्यका अद्वैत परमात्माका दो अन्य वस्तुओंसे विशिष्ट एकत्व है। शास्त्र भी यही कहते और सिद्धान्ततः प्रमाणित करते हैं।

'यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद यः पृथिवीमन्तरो यमयति, यस्य आत्मा शरीरं यमात्मा न वेद य आत्मानमन्तरो यमयति' इत्यादि।

इन तथा अन्य वचनोंसे यह स्पष्ट होता है कि परमात्मा आत्मा और जड पदार्थ दोनोंमें है। श्रीमच्छंकराचार्य कहते हैं कि ब्रह्मका एकत्व अद्वितीय है, पर रामानुजाचार्य यह सिद्ध करते हैं कि वह एकत्व अद्वितीय नहीं है प्रत्युत दो अन्य पदार्थोंसे अर्थात् चिन्मय आत्मासे तथा जड प्रकृतिसे विशिष्ट है। इस प्रकारसे विशिष्ट ब्रह्मको श्रीरामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैत कहते हैं जिसमें सत्य, ज्ञान और आनन्द, ये ईश्वरके लक्षण हैं। श्रीशंकराचार्यकी यह मान्यता है कि ब्रह्म केवल एक ही वस्तु है और वह अद्वितीय है। इसलिये उनके लिये यह भी कहना आवश्यक हो गया कि यह अखिल विश्व जो हमारे नेत्रोंके सामने है, मिथ्या है। इसलिये उन्हें ब्रह्ममें अविद्याकी कल्पना करनी पड़ी, जिसके कारण ब्रह्म अपने अन्दर विविध नामरूपात्मक मिथ्या जगत्को देखता है। इस अविद्यारूप दोषके हट जानेपर ही इस ज्ञानका प्रकाश होता है कि ब्रह्म एक ही है और वह निर्विशेष है। परन्तु श्रीरामानुजाचार्यने अपना सम्प्रदाय जिस मूल सिद्धान्तपर खड़ा किया वह यह है कि ब्रह्म एक है और उसमें तीन पदार्थ हैं; इसलिये ब्रह्मका एकत्व सिद्ध करनेमें उन्हें इस बातकी आवश्यकता हुई कि वे इस विश्वको जिसे हम अपनी आँखोंसे देखते हैं, मिथ्या बताते। यह विश्व ब्रह्ममें लीन है और ईश्वर विश्वमें अन्तर्हित है, ('तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्' इत्यादि) और वह ब्रह्म एक है, इसलिये जगत्को मिथ्या बताये बिना ही ब्रह्मका एकत्व प्रमाणित किया जा सकता है।

किसी भी वस्तुके ज्ञानके लिये संसारमें तीन प्रमाण माने गये हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान और (३) शब्द

---

[*] स्वामीजी महाराज श्रीवैष्णव सम्प्रदायके महान् आचार्य थे और जीवनभर भगवान्की और धर्मकी सेवा करते रहे। 'कल्याण' और 'कल्याण'-परिवारपर आपकी बड़ी ही कृपा रहती थी। भारतवर्षके धर्मप्रेमियोंके लिये बड़े ही दुःखका विषय है कि कुछ ही दिनों पूर्व छपरामें आपका वैकुण्ठवास हो गया।

अर्थात् वेद। ये वेद सनातन हैं। प्रत्येक कल्पमें इनकी उसी पदक्रमसे आवृत्ति होती है। इनका रचयिता कोई नहीं है, इनकी उत्पत्ति किसी मनुष्यसे नहीं हुई है, ये अपौरुषेय हैं। मनुष्यकी मन-बुद्धिमें भ्रम-संशय-विपर्ययादि जो दोष हो सकते हैं उनकी वेदोंमें सम्भावना नहीं, क्योंकि वेद मनुष्यप्रणीत नहीं हैं। वेद स्वतःप्रमाण और अपौरुषेय हैं। इसलिये उनके ऊपर फैसला देने और उन्हें अप्रमाण बतानेका किसीको अधिकार नहीं है। यदि कभी वेदोंमें हमें कोई ऐसी बात मिलती है जो प्रत्यक्ष प्रमाणके विरुद्ध या परस्परविरुद्ध-सी मालूम होती है तो यह दोष वेदोंका नहीं, बल्कि वेदोंके समझनेमें ही हमारी गलती है। ऐसे अवसरोंपर हमलोगोंका कर्त्तव्य होता है कि हम वेदवाक्योंके भावको ठीक तरहसे समझें और उस विरोधाभासका निरास करें अर्थात् उन बातोंका ठीक तात्पर्य समझें जो हमें प्रत्यक्ष प्रमाणके विरुद्ध या परस्परविरुद्ध मालूम होती हैं। मीमांसाशास्त्र इसीलिये है कि कुछ स्थानोंमें जो विरोधाभास प्रतीत होता है उसका वास्तविक अभिप्राय हम मालूम कर सकें। वेदोंका प्रत्येक अक्षर और प्रत्येक शब्द प्रमाण है, और वेद तथा वेदान्त ही ब्रह्मकी सत्ता प्रमाणित करते हैं; और कोई प्रमाण ब्रह्मकी सत्ता प्रमाणित नहीं कर सकता।

वेदान्तशास्त्रसे ब्रह्ममें तीन पदार्थोंका होना स्पष्टतया प्रमाणित है—(१) जड पदार्थ अथवा जड प्रकृति, जिसके प्रधान, प्रकृति, माया और अविद्या नाम हैं, (२) चेतन आत्मा, जो अणुप्रमाण है, और (३) ईश्वर, जो विभु हैं, सर्वनियन्ता हैं और सत्य-ज्ञान-आनन्दरूप कल्याण-गुणोंसे विशिष्ट हैं। ब्रह्ममें ये तीनों पदार्थ एक साथ रहते हैं। वेदान्तशास्त्रमें यह स्पष्ट ही कहा गया है। प्रत्येक शरीरमें हम देखते हैं कि शरीरमें रहनेवाला एक चेतन आत्मा होता है; ठीक ऐसा ही सम्बन्ध ईश्वर और आत्माके बीच तथा ईश्वर और जड पदार्थके बीच भी होता है। अर्थात् जिसे हम ब्रह्म कहते हैं वह उस ईश्वरसे भिन्न नहीं है जो चेतन आत्मा और जड प्रकृति दोनोंमें रहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन तीनों पदार्थोंकी समष्टिका नाम ही ब्रह्मका अद्वैत है।

इस संसारमें हम दो प्रकारके जीव देखते हैं—(१) मनुष्य, पशु, पक्षी आदि, जिनमें अधिक प्राणशक्ति है, और (२) पाषाण, वृक्ष आदि, जिनमें अल्प प्राणशक्ति है। पहला वर्ग जंगम कहलाता है और दूसरा स्थावर; और प्रत्येक सत् वस्तु उसी त्रैतमें है। कोई जड पदार्थ आत्मा और ईश्व बिना नहीं रह सकता; कोई आत्मा प्रकृति और ईश्वरके बि नहीं रह सकता और ईश्वर भी प्रकृति और आत्मा बिना नहीं रहता। उदाहरणार्थ मनुष्यको ही लीजि मनुष्यका अर्थ आपाततः शरीर ही होता है। फिर अधि सूक्ष्म विचार करनेपर उसका अर्थ होता है उस शरीर रहनेवाला आत्मा और वेदोंका तो यह कहना है कि आत जिस तरह शरीरमें रहकर उसे चलाता है उसी प्रक आत्मामें ईश्वर रहता है और उसका नियन्त्रण करता है अर्थात् ईश्वर प्रत्येक पदार्थके अन्दर स्थित रहता है।

मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार अपनेको या तो (शरीर समझता है, या (२) शरीरमें रहकर उसका सञ्चाल करनेवाला चेतन आत्मा अनुमान करता है, अथवा (वेदान्तकी प्रक्रियाके अनुसार सत्यका अनुसन्धान क अपने आपको उस आत्माके अन्दर रहनेवाला ईश्व समझता है। मनुष्यका ज्ञान उसकी विवेकशक्तिकी गहराई अनुसार होता है। अतः सिद्धान्त यही है कि शरीर त उस शरीरको धारण-पोषण करनेवाला आत्मा और उ आत्माको भी धारण-पोषण करनेवाला तथा उसका नियन्त्र करनेवाला ईश्वर, इन तीनोंकी समष्टि ही यथार्थ अद्वैत है प्रत्येक वस्तुमें यह त्रैत रहता ही है। वेदोंमें इसके लि अनेक प्रमाण हैं और अनेक पूर्वाचार्योंने इस सिद्धान्तको एकमात्र सत्य माना है। इसलिये संसारका प्रत्येक पदा त्रैतात्मक है, किसी भी हालतमें अद्वितीय नहीं है। तात्पर्य वेदान्तसे परिणामवाद प्रमाणित होता है, विवर्त्तवाद नहीं

परिणामवादका स्वरूप यह है कि कारण ही कार्य ब जाता है। जैसे घटका कारण मृत्तिका है और घटरूप का मृत्तिका ही है, मृत्तिका ही घटरूपको प्राप्त हुई है। इसलि कार्य और कारण एक-से ही होने चाहिये। कारणके गुण ही कार्यके गुण हैं। इस संसाररूप कार्यमें यदि हमें तीन पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं तो इसके कारणमें भी उन तीन पदार्थोंका होना आवश्यक है। वेद कहते हैं कि ब्रह्म इस जगत्का कारण है, जिसका अर्थ यह हुआ कि एकके भीतर जो तीन छिपे हुए हैं वे ही एकके अन्तर्गत तीनके रूपमें प्रकट हो जाते हैं।

परिणामवाद वेदसम्मत है, यथा—

'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं भवति' इत्यादि।

संसारका कारण संसारके सदृश ही होना चाहिये, यह स्वतःसिद्ध है। कारणब्रह्म और कार्यब्रह्म समान हैं। कारण ही कार्य बन जाता है। अन्तर केवल इतना ही है कि कारणको हम योगजन्य ज्ञानसे ही देख सकते हैं और कार्यको हम इन चर्मचक्षुओंसे ही देख लेते हैं। अतः संसारका कारणरूप जो ब्रह्म है वह अव्यक्त जडप्रकृति, अव्यक्त चेतन और ईश्वर इन तीनोंकी समष्टि है। यही अगोचर ब्रह्म—सूक्ष्म ब्रह्म कार्यरूप स्थूल ब्रह्म बन जाता है। इस प्रकार कारण ही कार्यरूपमें परिणत हो जाता है और तत्त्वतः कारण और कार्यमें कोई भेद नहीं है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जड प्रकृति और आत्मा ही जिनका शरीर है उन ईश्वरमें भी क्या वैसे ही परिवर्तन होते हैं जो संसारके सभी पदार्थोंमें होते हैं—जैसे अस्ति, जायते, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते और नश्यति? वेद इसका उत्तर देते हैं—नहीं; वेदोंकी निर्विकारपरक श्रुतियाँ ब्रह्मको अविकार्य बतलाती हैं। निर्विकारका अर्थ है—जो विकारको प्राप्त न हो। बच्चा जनमता है, फिर धीरे-धीरे बड़ा होता है, और प्रौढ होकर फिर वृद्धावस्थाको प्राप्त होता है; पर वेद कहते हैं कि आत्मामें कभी विकार नहीं होता, शरीर ही केवल बदलता है। अतः कारणब्रह्म जब कार्यब्रह्म बनता है तब ईश्वरमें कोई विकार नहीं होता, जड प्रकृति एकदम बदल जाती है और आत्माका भी ज्ञानरूप बदल जाता है यद्यपि वह तत्त्वतः सदा एक-सा ही बना रहता है। ब्रह्म जब इस विविध नामरूपात्मक जगत्के रूपमें परिणत होता है तब उसमें यदि कोई परिवर्तन होता भी है तो वह भगवान्की समस्त स्थूल शरीरोंमें अनुप्रविष्ट होनेकी इच्छाके रूपमें ही हो सकता है। यह परिवर्तन किसी भी दृष्टिसे विकार नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार निर्विकारपरक श्रुतियाँ और सूक्ष्म ब्रह्मका स्थूल ब्रह्मके रूपमें परिणत होना—एतद्रूप जो परिणामवाद, ये दोनों ही तर्ककी कसौटीपर खरे उतरते हैं। अद्वैतरूप अथवा एकता ईश्वरका स्वरूप है और जड प्रकृति और चेतन आत्मा उसका शरीर है। इसलिये यह प्रमाणित करनेके लिये कि जड जगत् तथा ब्रह्मसे भिन्न कोई चेतन आत्मा है ही नहीं, माथा-पच्ची करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। जगत् सत्य है, जगत्में जितने पदार्थ हैं वे सब सत्य हैं और अद्वैत भी सत्य है। यदि कोई कहे कि काशीमें एक काशीनरेश रहते हैं और वे अद्वितीय हैं, तो क्या इसका यह मतलब होगा कि उनके राज्य, पुत्र, कलत्र आदि कुछ भी नहीं है? इसी प्रकार ब्रह्माद्वैतका अर्थ है एक ब्रह्म, जिसका शरीर आत्मा और प्रकृति है, और जिसकी बराबरीका और कोई नहीं है।

संसार ब्रह्मसे ओतप्रोत है और जब हम यह कहते हैं कि ब्रह्म एक है, तब इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं हो सकता कि जगत् है ही नहीं। हम पहले ही कह चुके हैं कि वेदोंका प्रत्येक अक्षर प्रमाण है और वेदोंमें ही अनेक स्थलोंमें इस आशयके वचन हैं कि आत्मा और ब्रह्म दो हैं और कई स्थलोंमें ऐसे भी वचन हैं कि आत्मा और ब्रह्म एक हैं। श्रीमच्छंकराचार्य यह कहते हैं कि अभेदप्रतिपादक श्रुतियाँ ही प्रमाण हैं और भेदप्रतिपादक वाक्य भेदकी कल्पनामात्र करते हैं और वह कल्पना सत्य नहीं है। इसलिये उनके मतमें अभेदप्रतिपादक वाक्य ही प्रमाण हैं और भेदप्रतिपादक वाक्य प्रमाण नहीं हैं।

परन्तु श्रीरामानुजाचार्यका कथन यह है कि दोनों ही प्रकारकी श्रुतियाँ प्रमाण हैं। वेदके किसी एक अंशको प्रमाण कहना और दूसरे अंशको अप्रमाण कहना ठीक नहीं। दोनों ही प्रकारके वाक्योंकी श्रीरामानुजाचार्यने इस प्रकारसे व्याख्या की है कि दोनोंमें कोई विरोध नहीं रह जाता, ठीक जिस प्रकार हम मनुष्यको एक कहते हुए भी उसके आत्मा और शरीरमें भेद पाते हैं। इसी प्रकार हमें यह अनुमान करना पड़ता है कि 'ब्रह्म एक है'—यह वाक्य ब्रह्मका जीवके साथ तादात्म्य सूचित करता है और साथ ही जीव और ईश्वरकी भिन्नताको भी कायम रखता है। अतः भेद और अभेदका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंमें परस्परविरोध नहीं है। अभेदप्रतिपादक वाक्य एकके अन्दर तीनका वर्णन करते हैं और भेदप्रतिपादक वाक्य उन तीनोंका अलग-अलग वर्णन करते हैं। इसलिये अभेद और भेदके प्रतिपादक वाक्योंका अभिप्राय भिन्न-भिन्न है, उनमें परस्पर विरोध नहीं हैं; और यह कहनेकी भी आवश्यकता नहीं है कि श्रुतियोंका एक भाग प्रमाण है और दूसरा प्रमाण नहीं।

इसी प्रकार वेदोंमें सगुण ब्रह्मके प्रतिपादक वाक्य भी मिलते हैं और निर्गुण ब्रह्मके प्रतिपादक भी। ये भी परस्परविरोधी प्रतीत होते हैं; पर बात इतनी ही है कि जहाँ निर्गुणका वर्णन है वहाँ यही अभिप्राय है कि ब्रह्ममें कोई प्राकृत गुण नहीं हैं और जहाँ सगुणका वर्णन है वहाँ यह अभिप्राय समझना चाहिये कि ब्रह्ममें ऐसे अलौकिक गुण हैं जो ब्रह्महीमें हैं, जड प्रकृति या जीवात्मामें नहीं—'अपहतपाप्मा सत्य-

कामः सत्यसङ्कल्पः' इत्यादि। यह विचार इस बातसे और भी पुष्ट होता है कि उन्हीं श्रुतियोंमें कहीं-कहीं यह कहा गया है कि ब्रह्ममें कोई अवगुण नहीं हैं और ईश्वरमें अनेक कल्याणगुण हैं। इसलिये जहाँ श्रुतियाँ ऐसे शब्दोंमें ब्रह्मका निरूपण करती हैं जो परस्परविरोधी-से प्रतीत होते हैं वहाँ 'निर्विकार' आदि शब्द जगत्के आदिकारणरूप ब्रह्मको सूचित करते हैं; और 'जीव और ब्रह्म भिन्न हैं', 'जीव और ब्रह्म एक हैं', 'ब्रह्म निर्गुण है', 'ब्रह्म सगुण है' इत्यादि वाक्योंका सन्दर्भानुसार अलग-अलग अर्थ है और इनमेंसे कोई वाक्य अप्रमाण नहीं है।

इस प्रकार श्रीरामानुजाचार्यने श्रीशंकराचार्यकी पद्धतिका अनुसरण नहीं किया, क्योंकि उन्हें अपने सिद्धान्तकी पुष्टिमें श्रुति-स्मृतिके अनेक प्रमाण मिल गये। वेदके प्रत्येक वाक्यकी प्रमाणता सिद्ध करना ही उनके सिद्धान्तका मुख्य उद्देश्य है। कितनी ही श्रुतियोंमें स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि जड प्रकृति और जीवात्मा ईश्वरके शरीर हैं और जिस प्रकार जीवात्मा शरीरका शरीरमें रहनेवाला सञ्चालक है वैसे ही ईश्वर जीवके अन्दर रहकर उसका सञ्चालन करता है। अतः जब हम कहते हैं कि मनुष्य एक है तो वहाँ हम शरीर और आत्माका भेद रखते हुए ही मनुष्यकी एकताका वर्णन करते हैं। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि ईश्वर एक है तो हमारा अभिप्राय यही होता है कि जीव और ब्र तथा जीव और प्रकृतिमें भेद है; ये प्रकृति और जीव ईश्व शरीरसे भिन्न और कुछ नहीं हैं और इस कथनमें को वदतोव्याघात दोष नहीं है। यह विचार हमारे प्रत्य अनुभवके भी विपरीत नहीं है और इसलिये यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि जगत् केवल भ्रम है।

यह श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त है, इस श्रुतियोंको तोड़-मरोड़कर अर्थका अनर्थ करने या वेदोंके श्रु भागको प्रमाण मानने और कुछको अप्रमाण माननेकी गुंजाइ नहीं है। श्रीरामानुजाचार्यने अपने इस विशिष्टाद्वैत सिद्धान् का ज्ञान बहुत कुछ पूर्वाचार्योंसे ही प्राप्त किया था औ ब्रह्मसूत्रोंपर किये हुए अपने श्रीभाष्य नामक महान् ग्रन्थ उन्होंने इन पूर्वाचार्योंका कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया है श्रीरामानुजाचार्यने इन्हीं पूर्वाचार्योंकी पद्धतिका अवलम्ब करके ही अपना सिद्धान्त कायम किया। 'विशिष्टाद्वैत' पदक अर्थ भी 'वास्तविक अद्वैत' के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इ नाम श्रीरामानुजाचार्यने स्पष्टतया इसी बातको सूचित करने लिये रक्खा कि ब्रह्माद्वैत ईश्वरकी एकताका ही नाम है औ वे ईश्वर सकल शुभगुणोंके आकर हैं और जीवात्मा और ज प्रकृति उनका शरीर है।

* * *

विनय

गोविंद राघव गोविन्दा। जय श्रीमाधव गोविन्दा।
गोविंद केशव गोविन्दा। शरणागत तव गोविन्दा॥

चौपाई

बहु बियोग हौं सह्यो मुरारी। केहि बिधि कहौं हृदैकी सारी॥
भ्रम्यो निरंतर भव-बन्धनमें। असत् स्वार्थके संबन्धनमें॥
मैं अजान सबही बिधि हीना। दीजै अभय जानि जन दीना॥
प्रभुचरननमें जीवन शेषा। राखौ सरन सदा अखिलेशा॥
आरत ह्वै नित बिनती करिहौं। तव अनुशासन सिरपर धरिहौं॥
जेहि बिधि राखौ तेहि बिधि रहिहौं। दुख-सुख रोग-बियोगहु सहिहौं॥
केवल राखौं तुव पद प्रीती। जातें मिटै जगतकी भीती॥
सरन छाड़ि कतहूँ नहिं जैहौं। आतुर ह्वै तव नाम जु लैहौं॥
नितही चरननमें चित राखौं। हरषित प्रेम-सुधा-रस चाखौं॥
जैसे बादलमें छिप्यौ रहत बारि घनघोर।
तैसेहि सबके हृदयमें बसत नन्दकिशोर॥

—सुदर्शनदासी

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश

प्रश्न–एक ओर तो भगवान्को सर्वव्यापक बतलाया जाता है और दूसरी ओर यह कहा जाता है कि वे वृन्दावनको छोड़कर एक पग भी कहीं अन्यत्र नहीं जाते; इन परस्पर विरुद्ध वाक्योंकी संगति किस प्रकार हो सकती है ?

उत्तर–भगवान् भक्तके अधीन हैं; भक्त यदि न चाहे तो वे वृन्दावनसे बाहर नहीं जा सकते । जिनकी दृष्टिमें सर्व है उनके लिये भगवान् सर्वव्यापक हैं । भगवान् भावग्राही हैं—वे भक्तानुग्रहविग्रह हैं, उन्हें भक्तोंकी भावनाके अनुसार ही व्यवहार करना पड़ता है ।

प्र०–उपासना और ज्ञानकी एकता किस प्रकार सम्भव है तथा ज्ञानी उपासना कर सकता है या नहीं ?

उ०–यदि ऐसा माना जाय कि ज्ञानीकी दृष्टिमें उपासक अन्य है तो वस्तुतः वह ज्ञानी ही नहीं, क्योंकि उसके लिये द्वैत बना हुआ है । और यदि वह उपासना करता है तो यह नहीं माना जा सकता कि उसकी दृष्टिमें जगत्का अत्यन्ताभाव हो गया है । अध्यारोप और अपवाद जिज्ञासुके ही लिये हैं । जगत् त्रिकालमें नहीं है—यह अपवादमात्र है, इसे सिद्धान्त नहीं कह सकते । अतः यह विचारना चाहिये कि सिद्धान्त क्या है ।

हमें तीन प्रकारके ज्ञानी दिखायी देते हैं–(१) वामदेवादि, जो निर्विकल्प समाधिमें संलग्न हैं; (२) नारदादि, जो भगवद्भक्तिपरायण हैं और (३) वसिष्ठादि, जो कर्मकाण्डमें तत्पर हैं । इस समय ज्ञानियोंके विषयमें दो प्रकारके मत प्रचलित हैं । कुछ लोगोंका तो कथन है कि तत्त्ववेत्ता लोकसंग्रहार्थ अपने वर्णाश्रमानुसार सब प्रकारके कर्म करता रहता है तथा कुछ लोगोंका मत है कि ज्ञानीके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है । यदि कहो कि वह स्वरूपदृष्टिसे कुछ भी नहीं करता किन्तु व्यवहारतः सब कुछ करता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि यह बात तो सभीके विषयमें कही जा सकती है । अपना शुद्ध स्वरूप तो सभीका अक्रिय है, उसमें ज्ञान अथवा अज्ञानसे कोई विशेषता थोड़े ही होती है । वस्तुतः ज्ञानीकी दृष्टिमें तो कोई अज्ञानी है ही नहीं, उसके लिये तो सब उसीके स्वरूप हैं ।

प्र०–तो क्या इसका यही तात्पर्य है कि—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥

—इस भगवदुक्तिके अनुसार वह प्रारब्धप्राप्त सभी परिस्थितियोंमें उदासीन रहता है ?

उ०–तुमने जिस उदासीनताकी बात कही है वह समष्टिदृष्टिसे है या व्यष्टिदृष्टिसे ? तत्त्ववेत्ताकी दृष्टिमें तो समष्टि-व्यष्टि भेद ही नहीं है । ऐसी स्थितिमें अन्तःकरण ही कहाँ है ? द्रष्टा तो सिद्ध वस्तु है और वह ज्ञानस्वरूप है । ज्ञानीकी स्थिति सर्वदा एकजीववादपर ही रहती है; उसके लिये अनेक कर्ता हैं ही नहीं ! अतः सारे संसारका व्यापार उसीका है ।

प्र०–किन्तु यह भी तो औपचारिक दृष्टि ही है ?

उ०–इसे औपचारिक क्यों कहते हो ? यह क्यों नहीं कहते कि यहाँ व्यतिरेक करके अन्वय किया गया है । आजकल वेदान्तियोंसे एक बहुत बड़ी भूल होती है । वे व्यतिरेक तो करते हैं, किन्तु अन्वय नहीं करते । यदि अन्वयदृष्टिसे सारा प्रपञ्च उसीका स्वरूप है; यदि निखिल प्रपञ्चरूपमें वही स्थित है, तो सब कुछ वही तो कर रहा है । वही उपासना करता है, वही कर्म करता है । लौकिक-अलौकिक, व्यावहारिक-पारमार्थिक सारी प्रवृत्तियाँ उसीकी तो हैं । सिद्धान्त यही है । सृष्टिका अत्यन्ताभाव तो जिज्ञासुके लिये ही उपदेश किया जाता है । सिद्धान्ततः तो 'अजोऽपि कल्पितसंवृत्या पारमार्थ्येन नाप्यजः' अर्थात् भगवान् अजन्मा हैं—यह कथन भी कल्पित व्यवहारदृष्टिसे ही है, वस्तुतः तो भगवान् अज भी नहीं हैं । भगवान् तो अज और जायमान दोनों ही हैं । यहाँ 'अज'का निषेध इसलिये किया गया है कि जन्म भी भगवान्से भिन्न नहीं है । वे स्वयं ही जन्मरूप भी हैं ।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

—इस श्लोकसे सब प्रकारके विकल्पोंका निषेध किया गया और ऊपरकी उक्तिसे वस्तुको लक्षित कराया गया है ।

एक बात मैं पूछता हूँ—तुम जो कहते हो कि 'परमार्थतः कुछ भी नहीं है' सो यह ज्ञान वृत्तिजन्य है या परमार्थ ? देखो, वृत्तिके बिना कोई भी ज्ञान नहीं होता । जिस प्रकार घटाकार वृत्ति हुए बिना घटज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार कोई भी ज्ञान हो वह वृत्तिसापेक्ष ही है । परन्तु परमार्थतः वृत्तिका भी अभाव है । जो ज्ञान वृत्तिको लेकर होगा वह

‘मत’ होगा, वह सिद्ध वस्तु नहीं हो सकता। इसलिये वस्तुतः तो अद्वैतवाद भी एक मत ही है।

प्र०—हम तो द्वैतकी अपेक्षासे ही अद्वैत स्थापित करते हैं, वस्तुतः तो अद्वैत भी नहीं है।

उ०—यह क्यों कहते हो कि अद्वैत भी नहीं है? यह क्यों नहीं कहते कि द्वैत और अद्वैत दोनों वही है। हमें सिद्धान्ततः यह कथन अभिमत नहीं है कि व्यवहारतः प्रपञ्च है, परमार्थतः नहीं। यह केवल प्रक्रियामात्र है; वस्तुतः तो भाव और अभाव दोनों ही परमार्थरूप हैं। प्रपञ्चाभावको तो जिज्ञासु ही परमार्थ मानता है।

यदि हम स्वप्नमें ऐसा विचार करने लगें कि स्वप्न क्या है और स्वप्नद्रष्टा क्या है तो उस अवस्थामें भी उनका विवेक हो ही सकता है तथा उसी समय यह भी सिद्ध हो सकता है कि जीव, प्रकृति और ईश्वर, ये तीन तत्त्व हैं। परन्तु विचार किया जाय तो क्या वे सब स्वप्नद्रष्टासे भिन्न हैं? स्वप्नद्रष्टा ही तो समग्र स्वप्नरूप है। अतः सिद्धान्त यही है कि यह सब कुछ द्रष्टा ही है।

आजकल जो अधिष्ठान-अध्यस्तक्रमसे विचार किया जाता है, उसमें एक बड़ा दोष यह रह जाता है कि जिज्ञासुजन इसीको सिद्धान्त मान बैठते हैं। वस्तुतः यह प्रक्रिया है। इसको सिद्धान्त मान बैठनेसे कर्म और उपासनासे द्वेष हो जाता है। हमें सोचना यह चाहिये कि यदि भगवान् निरुपाधिक हैं तो सोपाधिक कौन है? यदि वह लक्ष्यार्थ हैं तो वाच्यार्थ कौन है? यदि द्रष्टा ही सब कुछ है तो सोपाधिक वस्तु अथवा वाच्यार्थ क्या उससे भिन्न है?

परमार्थतत्त्वके विषयमें तीन पक्ष हैं—(१) मुझसे भिन्न कुछ नहीं है, (२) सब मैं ही हूँ और (३) सब कुछ वासुदेव ही है। इनमें पहला पक्ष व्यतिरेकज्ञान है, दूसरा पक्ष समन्वयबोध है और तीसरा भक्तिपक्ष है। विचारसे देखा जाय तो तीनों एक ही हैं।

मेरा कथन तो यह है कि जितना भी व्यवहार दिखायी देता है वह सब परमार्थ है; अज्ञान रहनेतक वह व्यवहार है परन्तु वस्तुतः वह परमार्थ ही है। बोध होनेसे वस्तुमें कोई अन्तर नहीं होता। वह ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। जिस प्रकार स्वप्नकी वस्तुएँ ज्यों-की-त्यों रहते हुए ही जाग पड़नेपर यह निश्चय होता है कि यह सब स्वप्न ही था, उसी प्रकार तत्त्वदृष्टिसे यह प्रपञ्च ज्यों-का-त्यों भगवत्सत्ता ही है। विवेकीकी दृष्टिमें यह प्रपञ्चसत्ता है, किन्तु वस्तुतः आत्मसत्ता ही है।

× × × ×

प्र०—यदि आवरण भङ्ग करके वृत्ति नष्ट हो जाती है ‘स्वरूपानुसन्धानेन वसेत्’ ‘निमिषार्द्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्मम विना’ इत्यादि वाक्य किस प्रकार चरितार्थ होंगे?

उ०—जिस समय द्रष्टा और दृश्यका विवेक करते-क दृश्यका अत्यन्ताभाव निश्चय होता है उस समय जो रह जाता है वह क्या है? उस समय जिस वृत्तिसे स त्याग किया जाता है वह सर्वाभावरूपा वृत्ति रहती है। घटाकार-पटाकाररूपा विशेष वृत्तियोंके समान नहीं होती वह समवृत्ति है; उसीको शुद्धा वृत्ति कहते हैं। ‘दृश त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः’ इस श्रुतिने सूक्ष्म बुद्धिका उल्लेख किया है वह यही है। किन्तु इस नाम साक्षात्कार नहीं है। उस समय जब ‘दशमस्त्वमसि इस न्यायसे गुरु महावाक्यका उपदेश करता है तब उस साक्षात्कार होता है। उसीको अभेदाकार वृत्ति या बोध कहते हैं और उसीका नाम वृत्तिव्याप्ति है। निषेधा वृत्ति समस्त उपाधिका निरासमात्र करती है; उससे नहीं होता, केवल बोधग्रहणकी योग्यतामात्र होती उसके पश्चात् जब वृत्तिव्याप्ति होती है तो उसके समस्त वृत्तियाँ जलतरङ्गवत् स्वरूपभूत हो जाती हैं, उ लिये सारा संसार ब्रह्ममय हो जाता है। इसीका नाम स्वरू नुसन्धान है। मरुभूमिका ज्ञान हो जानेपर फिर जल

---

* एक वार दस आदमी साथ-साथ विदेशको जा रहे मार्गमें उन्हें एक नदी पार करनी पड़ी। जब वे नदीके द तटपर पहुँचे तो, यह देखनेके लिये कि कोई वह तो नहीं ग अपनी गणना करने लगे। गिनते समय प्रत्येक पुरुष अपने अन्य नौ व्यक्तियोंको ही गिनता था। इस प्रकार एक मनुष्य क देखकर वे बड़े चिन्तित हुए। इतनेमें ही एक आप्त पुरुष आया उसने उनकी चिन्ताका कारण सुनकर उन्हें एक पंक्तिमें ख किया और पहलेके एक, दूसरेके दो—इस प्रकार डंडे लगाकर उ एक ओर करता गया। जब दसवाँ आदमी आया तो उसके द डंडे लगाकर कहा ‘दशमस्त्वमसि’—(दसवाँ तू है)। इस प्रका आप्त पुरुषकी उक्तिसे दशमका ज्ञान हो जानेपर वे सब शोकमु हो गये। इसी प्रकार जब समस्त अनात्मवर्गका बोध कर देने गुरुके द्वारा महावाक्यका उपदेश होता है उसी समय बोधका उद हो जानेसे जिज्ञासुका सारा शोक निवृत्त हो जाता है—प्रेषक

प्रतीति होनेपर भी उसकी दृष्टिमें वह मरुभूमि ही रहती है। मैं देहादि हूँ—ऐसा भ्रम उसे कभी नहीं होता। जीवन्मुक्तावस्थामें जो कार्य होता है उसमें समष्टि-व्यष्टिका भेद नहीं रहता और न द्रष्टा-दृश्यका ही भेद रहता है। जिसे विवेक हुआ है उसे यह बोध निरन्तर रहता है कि सारा प्रपञ्च मुझसे भिन्न नहीं है। उसके लिये केवल एक ही सत्ता रह जाती है। उसकी इस दृष्टिमें कभी अन्तर नहीं आता।

प्र०—हमें तो मालूम होता है कि सब कुछ परमात्मा ही है—यह अन्वयदृष्टि व्यतिरेकबोधसे नीची ही है।

उ०—यह बात नहीं है। अन्वयदृष्टि तो व्यतिरेकके पश्चात् प्राप्त होती है। 'नेति-नेति' इत्यादि वाक्योंसे सबका बाध हो जानेपर यह जो कुछ प्रतीत होता है उसके लिये वह आत्मसत्तासे भिन्न नहीं होता। प्रवृत्ति-निवृत्ति, साधन-साध्य और लौकिक व्यवहार—सभी उसे अपनेसे अभिन्न प्रतीत होता है। बोध हो जानेपर यदि वह आत्मसत्तासे भिन्न किसीकी भी सत्ता देखता है तो वस्तुतः वह बोधवान् ही नहीं है। मेरे विचारसे तो यह बोधके अनन्तर किया जानेवाला स्वरूपानुसन्धान और अभेदभक्ति एक ही हैं। किन्तु यह स्वरूपानुसन्धान साधनकालीन स्वरूपानुसन्धानके समान नहीं होता। उस समय तो केवल निषेध वृत्तिका ही अभ्यास किया जाता है, किन्तु इस समय तो निषेध करने योग्य कोई वस्तु ही नहीं रहती, बल्कि सारी वस्तुएँ अपना स्वरूप ही हो जाती हैं।

प्र०—समाधि और बोधमें क्या अन्तर है?

उ०—समाधि निर्विकल्पावस्था है और बोध निर्विकल्पस्वरूप है; समाधि कर्ताके अधीन है और बोध अकृत्रिम है; निर्विकल्पावस्थामें वृत्ति रहती है, भले ही वह लीन हुई रहे। किन्तु बोधमें ऐसा नहीं होता। वह तो निर्विकल्पस्वरूप, सब प्रकारके विकल्पोंसे रहित, समाधि आदिसे रहित तथा आदि, मध्य एवं अन्तसे रहित है।*

प्र०—'यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानं महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि' इस श्रुतिका क्या तात्पर्य है?

उ०—यह श्रुति जीवन्मुक्तिके अभ्यासका निरूपण करनेवाली है। इसका तात्पर्य यह है कि विवेकी पुरुष वाणीका मनमें निरोध करे। वाणीके निरोधका यह अर्थ नहीं है कि बोलना बन्द कर दे; इससे केवल यही समझना चाहिये कि आवश्यकताके अनुसार ही बोले, निरर्थक भाषण न करे। श्रीमधुसूदन स्वामीने कहा है—'गोपश्वादिवद्वाङ्निरोधः' अर्थात् गौ एवं अन्य पशुओंके समान निरर्थक भाषणका निरोध करना चाहिये। इस प्रकार वाणीका मनमें निरोध कर मनको ज्ञानात्मा यानी बुद्धिमें लीन करे। मनके द्वारा नानात्वदर्शन हुआ करता है। उस नानात्वमें एकत्वको देखना बुद्धिका कार्य है, और यही मनका बुद्धिमें निरोध करना है। फिर बुद्धिका महत्तत्त्वमें निरोध करे। 'महत्तत्त्व' समष्टि अहङ्कारका वाचक है; उस महत्तत्त्वको शान्तात्मामें लीन करे। यहाँ यह शङ्का होती है कि क्रमको देखते हुए तो महत्तत्त्वका लय अव्यक्तमें होना चाहिये था, उसे छोड़कर शान्तात्मामें उसका लय करनेके लिये क्यों कहा गया? इसका उत्तर यही है कि अव्यक्तमें लय करनेपर तो प्रकृतिलय हो जायगा और इससे जडता आ जायगी, जो किसी प्रकार भी अभीष्ट नहीं है। इसलिये उसमें लय न करके उसे शान्तात्मा अर्थात् अपने स्वरूपभूत प्रत्यगात्मामें ही लय करे।

प्र०—जो लोग बोध हो जानेपर वर्णाश्रमधर्मका त्याग कर देते हैं उनके विषयमें आपका क्या मत है?

उ०—यद्यपि ज्ञानीके लिये शास्त्रका कोई शासन नहीं है, तथापि यह तो नियम ही है कि बोधकी प्राप्ति अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ही होती है। एक बार दारागंज (बिजनौर) में श्रीमाधवानन्द सरस्वती आदि कई महात्माओंके सामने इस विषयमें विचार हुआ था। वहाँ अधिकांश महात्माओंका यही मत ज्ञात हुआ कि दैवी सम्पत्ति तो महात्माओंमें स्वभावसे ही रहा करती है, क्योंकि बिना निष्काम कर्मके चित्तशुद्धि नहीं होती और निष्काम कर्म दैवी सम्पत्तिवान् पुरुष ही कर सकता है। अतः स्वधर्मका यथावत् अनुष्ठान तो उसका स्वभाव ही बन जाता है। ज्ञानी तो चारों ही आश्रमोंमें होते हैं। जो पुरुष किसी आश्रमविशेषमें रहते हुए भी उसके नियमोंका उल्लङ्घन करते हैं उन्हें ज्ञानी कहा जाय या अज्ञानी! हाँ, जो लोग आश्रमातीत हो गये हैं उनकी बात दूसरी है। किसी भी आश्रममें रहते हुए उसके नियमोंकी अवहेलना करना तो तमोगुण ही है।

प्र०—किन्तु यह भी तो देखा गया है कि पूर्वकालमें दुर्वासा आदि कई महात्मा ऐसे भी हुए हैं जिनकी प्रकृतिमें

---

* निर्विकल्पस्वरूपात्मा सविकल्पविवर्जितः।
सदा समाधिशून्यात्मा आदिमध्यान्तवर्जितः॥

सदा आसुरी भाव रहता था तथा असुरोंमें भी कोई-कोई ज्ञानी हो गये हैं।

उ०—दुर्वासादि तो कारकपुरुष थे। उनमें जो क्रोधादि देखा जाता है वह तो उनकी लीलामात्र थी। तथा असुरोंमें जो ज्ञानी हुए हैं वे जन्मतः असुर थे, स्वभावतः नहीं। फिर भी यह कहा जाता है कि ये अपवादमात्र हैं, इन्हें आदर्श नहीं कह सकते। आदर्श तो ऋभु, निदाघ, वसिष्ठ और वामदेवादिके ही चरित्र हैं। मेरा तो यह सिद्धान्त है कि पूर्ण तत्त्ववेत्तामें दैवी सम्पत्तिकी ही प्रधानता होनी चाहिये; जैसा कि कहा है—

अक्रोधवैराग्यजितेन्द्रियत्वं
क्षमा दया सर्वजनप्रियत्वम्।
निर्लोभदानं भयशोकहानं
ज्ञानस्य चिह्नं दशलक्षणं च॥

हाँ, यह सम्भव है कि पूर्वसंस्कारवश किसी-किसीमें कोई स्वभावदोष भी रहता देखा गया है। परन्तु यह सिद्धान्त नहीं हो सकता। यदि अद्वेष आदि गुण बोधवान्‌में नहीं होंगे तो और किसमें होंगे? स्थितप्रज्ञ, भक्त और गुणातीतके लक्षण ज्ञानीमें स्वभावतः ही रहते हैं।

प्र०—ब्रह्मज्ञान क्या है? और ब्रह्माभ्यास किसे कहते हैं?

उ०—ज्ञान अद्वतावस्थानरूप है तथा ज्ञानाभ्यास अद्वैतभावना है। किन्तु यह भावना कर्तृजन्य नहीं होती। जो भावना द्वैतसम्बन्धिनी होती है वह कर्तृजन्य हुआ करती है, यह भावना अद्वैतसम्बन्धिनी होनेके कारण कर्तृजन्य नहीं होती। इस अद्वैतनिष्ठाकी उत्तरोत्तर वृद्धि करना ही ब्रह्माभ्यास है; जैसा कि कहा है—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥
दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे।
रतिर्बलोदिता यासौ ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥

अर्थात् अपने शुद्ध स्वरूपका चिन्तन करना, उसीका कथन करना, उसीको आपसमें समझाना, इस एक निष्ठाको ही बुधजन ब्रह्माभ्यास कहते हैं। दृश्यकी असम्भवताके ज्ञानसे राग-द्वेषादिके तनु हो जानेपर जो बलवती रति उदित होती है वह ब्रह्माभ्यास कहलाता है।

प्रश्न—

निमिषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना।
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्या नारदाद्याः शुकादयः॥

—इस श्लोकमें यथावत् बोध हो जानेके पश्चात् भी वृत्ति ब्रह्माकार करनेका आग्रह किया गया है। तथा—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित्कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

—इस श्लोकमें ज्ञानीके लिये कोई कर्त्तव्य ही नहीं बतल गया। इन दोनोंकी संगति किस प्रकार होगी?

उ०—यहाँ दूसरे श्लोकमें 'ज्ञानामृतेन तृप्तस्य' पाठ है। अतः इसके द्वारा अकर्त्तव्यका विधान उस लिये किया गया है जो ज्ञानामृतसे तृप्त है अर्थात् जो आ तृप्तिवान् है। जिज्ञासा क्यों होती है? इसीलिये न कि सांसारिक पदार्थोंसे तृप्ति नहीं होती? इस प्रकार अनात्मपदार्थोंसे तृप्ति नहीं होती वही आत्मानुसन्धा प्रवृत्त होता है। पीछे आत्मानुसन्धान करते-करते पूर्ण तृप्ति हो जाती है उसी समय वह कृतकार्य हो जाता तभी उसके लिये कोई कर्त्तव्य नहीं रहता। इससे पूर्व उसे ब्रह्माभ्यासमें ही तत्पर रहना चाहिये; जहाँतक सम्भ हो ब्रह्माकार वृत्तिको बढ़ानेका ही प्रयत्न करते रहना चाहि श्रीमद्भगवद्गीतामें भी उसीके लिये कर्त्तव्याभाव बतल है जो सब प्रकार केवल अपने आपमें ही तृप्त है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

अतः सारांश यह है कि जो आत्मरतिसे तृप्त हो ग हो उसीके लिये शास्त्र कर्त्तव्यका अभाव बतलाता है, के ज्ञानसे ही कर्त्तव्यकी निवृत्ति नहीं होती।

प्र०—तृप्ति क्या है और किसे होती है?

उ०—यहाँ 'तृप्ति' शब्दसे आसक्ति अभिप्रेत है यह आत्मतृप्ति उसीको होती है जिसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति पूर्व अज्ञान हुआ था; ये सब वृत्तिके ही व्यापार हैं, सि वस्तु तो ज्यों-की-त्यों अविकृत भावसे रहा करती है।

प्र०—कहते हैं, अज्ञान तो आत्माको ही हुआ है।

उ०—इस बातको कहता कौन है? अज्ञानको दे

किसने है ? और यदि उसे किसीने देखा नहीं है तो वह अमुकको हुआ है—ऐसा कहेगा कौन ?

प्र०—ज्ञान और भक्तिके अधिकारी, साधन और फलका पृथक्-पृथक् वर्णन कीजिये।

उ०—तीन प्रकारके अधिकारी हुआ करते हैं—(१) विषयी, (२) उपासक और (३) जिज्ञासु। विषयी उन्हें कहते हैं जो शास्त्रानुसार ऐहिक और पारलौकिक भोगोंकी इच्छा करते हैं; उन्हें न तो ज्ञानकी इच्छा होती है और न भक्तिकी। उनका तो चरम लक्ष्य स्वर्ग ही होता है। दूसरे अधिकारी भगवान्‌के सगुण या निर्गुण रूपमें प्रेम रखते हैं। किन्तु जिसकी प्रवृत्ति भगवत्प्रेममें न होकर भगवत्तत्त्वको जाननेकी ओर होती है उसे जिज्ञासु कहते हैं। भक्तको अपना और भगवान्‌का भेद, भक्तिके साधन, भक्तिके स्वरूप, भक्तिके फल और भक्तिके विघ्नोंका ज्ञान होना चाहिये। तथा जिज्ञासु वह होता है जिसे अपने, भगवान्‌के और संसारके स्वरूपको जाननेकी इच्छा रहती है। भक्तोंको यथाशक्ति निरन्तर भगवदाकार वृत्ति करते रहना चाहिये। इसके लिये उन्हें भगवत्स्मरण, भगवद्गुणानुवाद, भगवत्सेवा, भगवद्ध्यान और भक्तोंका संग करते रहना चाहिये। प्रेमयोगिनी व्रजांगनाओंकी दशाका वर्णन करते हुए श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्‍गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥

अर्थात् 'गोपांगनाओंके चित्त भगवान्‌में ही लगे रहते थे, वे उन्हींकी चर्चा करती रहती थीं, उन्हींके लिये उनकी सारी चेष्टाएँ थीं; इस प्रकार वे भगवन्मयी हो रही थीं तथा उनका गुणगान करते हुए उन्हें अपने घरोंकी भी सुधि नहीं रहती थी।' यह तो भक्तोंके साधनोंकी बात हुई। जिज्ञासुको साधनचतुष्टयसम्पन्न होकर, गुरुकी शरणमें जा विधिपूर्वक वेदान्तका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये। उसके लिये ये ही साधन हैं। भक्तिका फल भगवत्प्रेम है और ज्ञानका फल दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक परमानन्दकी प्राप्ति।

प्र०—ब्रह्माभ्यासका क्या स्वरूप है ?

उ०—**तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम् ।**
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥

यह श्लोक भक्त और जिज्ञासु दोनोंहीके लिये है। भगवान्‌के नाम, गुण और लीलाओंका कीर्तन एवं श्रवण करना भक्तका अभ्यास है तथा 'संसार क्या है और मैं क्या हूँ' इसका विचार ज्ञानमार्गीका अभ्यास है। उसकी दृष्टिमें वही सर्व है और वही सर्वातीत है। अन्तर्मुख दृष्टिसे वह सर्वातीत है और बहिर्वृत्ति होनेपर वही सर्वस्वरूप है। इसीको वेदान्तियोंका ब्रह्माभ्यास कहते हैं। किन्तु इनमें अन्वयरूप अभ्यास वही कर सकता है जिसे स्वरूपका बोध हो गया हो। जो अतत्त्वज्ञ है वह इस अभ्यासका अधिकारी नहीं है। जिस प्रकार कोई बहुत बड़ा धनी हो और उसकी जगह-जगह बहुत-सी कोठियाँ एवं अनन्त धन-धान्य हो तो वह किसी भी स्थानपर रहे, उसे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्तिका अभिमान बना ही रहता है, वह जानता है कि मेरी सम्पत्ति सर्वत्र है। इसकी आवश्यकता नहीं कि वह सारी सम्पत्ति उसके सामने ही रहे। इसी प्रकार जिसका यह दृढ निश्चय है कि सारा प्रपञ्च मेरा ही स्वरूप है, उसके लिये गोलोक, वैकुण्ठ, स्वर्ग, नरक सब उसीका स्वरूप है; उसीका नहीं, वस्तुतः वही है।

हाँ, साधकको तो निषेधका ही आश्रय लेना चाहिये; परन्तु उसीमें रह जाना बहुत बड़ी कमी है। इससे न तो पूर्णता ही होती है और न राग-द्वेषका अत्यन्ताभाव ही। इस प्रकारका अभ्यास करते-करते जब बोधकी दृढ़ता हो जाती है तो स्वयं ही उसकी दृष्टिमें सारा प्रपञ्च आत्मस्वरूप हो जाता है। गढ़मुक्तेश्वरमें मुझसे एक महात्माने कहा था कि एक बार जब वे हरिद्वारमें थे, श्रीपूर्णाश्रम स्वामी वहाँ आये। उन दिनों इतना कड़ा शीत था कि सब लोग बहुत-से कपड़े पहननेपर भी ठिठुरे जाते थे; परन्तु लोगोंने देखा कि स्वामीजी दिगम्बर होनेपर भी सर्वथा निश्चल थे, उनके शरीरमें रोमाञ्च भी नहीं देखा जाता था। कुछ महात्माओंने उनसे इसका कारण पूछा, तो स्वामीजीने कहा—

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च ।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रति गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥[*]

---

[*] तुम सूर्य हो, तुम चन्द्रमा हो, तुम पवन हो, तुम अग्नि हो, तुम जल हो, तुम आकाश हो, तुम भूमि हो और तुम्हीं आत्मा हो। इस प्रकार तुम्हारे प्रति इस परिच्छिन्न वाणीका प्रयोग करते हुए[हम ऐसा कोई तत्त्व नहीं जानते जो तुम नहीं हो।

मुझे इस बातकी भ्रान्ति त्रिकालमें भी नहीं होती कि शीत-उष्ण, सुख-दुःख, कोई भी द्वन्द्व मुझसे भिन्न हैं; मैं चिदाकाश हूँ—इस बातका मुझे निरन्तर अनुभव रहता है।

प्र०—इससे तो यह जान पड़ता है कि जिनमें तितिक्षाकी कमी देखी जाती है उनमें बोधकी कमी रहती है।

उ०—बोधमें कमी न भी हो तो भी बोधनिष्ठामें तो कमी माननी ही पड़ेगी। ब्रह्मनिष्ठमें तितिक्षाका होना स्वाभाविक है। देखो, जिस प्रकार यह शरीर मुझसे भिन्न है उसी प्रकार प्राण और मन भी तो हमसे भिन्न हैं। परन्तु जिस प्रकार हम अपने शरीरके अवयवोंको इच्छानुसार काममें ला सकते हैं उस प्रकार मन और प्राणपर हमारा शासन नहीं है। प्राण और बुद्धि स्वाधीन न होनेके कारण हम इनके अधिपति होनेपर भी उस आधिपत्यको खो चुके हैं। सनकादि और वर्तमान बोधवानोंके बोधमें कुछ भी अन्तर नहीं है, किन्तु सनकादि महर्षियोंको एक क्षणके लिये भी स्वरूप-विस्मृति नहीं होती; इसीसे उनकी यथेच्छ गति है। उनके दिव्य शरीर हैं। भगवान् श्रीकृष्णने जो रासलीला की थी वह क्या बिना मन और प्राणका आधिपत्य हुए होनी सम्भव थी! इसी प्रकार श्रीपूर्णाश्रमजीके समान जो कोई दिव्य देहधारी योगी उत्पन्न हो जाते हैं उनमें हम लोगोंकी अपेक्षा अधिक तितिक्षा देखी ही जाती है। किन्तु यदि हमें वस्तु लक्षित हो गयी है तो बोधमें तो हमारे और उनके बीच कोई अन्तर हो ही नहीं सकता। जो बोध वसिष्ठादिको था वही यदि हमें न हो तो वह बोध ही क्या हुआ! एक बार मैंने अच्युत मुनिजीसे पूछा था कि अज्ञान किसे कहते हैं? उन्होंने कहा—'लोग जो कहते हैं कि जो ज्ञान वसिष्ठादिको प्राप्त था वह क्या हमें हो सकता है—यही अज्ञानका प्रधान चिह्न है।' परन्तु यह कथन बोधके ही विषयमें है।

प्र०—जगत्‌का निमित्त और उपादान कारण ब्रह्म ही है। क्या लोकमें भी कोई ऐसी वस्तु है जो निमित्त और उपादान दोनों हो।

उ०—यदि तुम्हें ब्रह्मका बोध हो गया है तो निमित्त और उपादान ब्रह्म है ही, उसके विषयमें दृष्टान्त क्यों पूछते हो? और यदि बोध नहीं हुआ है तो या तो शास्त्रादेशानुसार श्रद्धा करो या स्वयं जगत्‌के मूलकी खोज करो। यदि दृष्टान्त ही पूछते हो तो मकड़ीको ऐसा कह सकते हैं। वह चेतनां से जालेका निमित्त कारण है और जडांशसे उपाद कारण है।

प्र०—विद्यारण्य स्वामीने जो बोधके पश्चात् मनोनाश वासनाक्षय करनेको कहा है, उसमें क्या कारण है?

उ०—कृतोपास्ति और अकृतोपास्तिकी अपेक्षासे ज्ञानके दो भेद हैं—दृढ़ और अदृढ़। पहले अदृढ होता है, उसकी दृढ़ताके लिये तथा जीवन्मुक्तिके विल आनन्दके लिये मनोनाश और वासनाक्षय करने आवश्यकता है। ज्ञानवान्‌के लिये किसी प्रकारके अभ्य की विधि नहीं देखी जाती। अतः जहाँ भी अभ्य की बात है वह अदृढ़बोधकी ही दृष्टिसे समझनी चाहि एक बार बोधवृत्ति हो जानेपर भी विक्षेपादि होने सम्भव हैं। उन विक्षेपादिकी शान्तिके लिये शान्तरसकी वृद्धि आवश्यकता है। इसीलिये उसे मनोनाश, वासनाक्षय आदि कर्त्तव्यता बतलायी गयी है।

प्र०—कहते हैं—'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पाप कर्मणः।' अर्थात् पापकर्मोंका क्षय होनेसे ही जीवोंको उत्पन्न होता है। इसका क्या आशय है?

उ०—स्थूल पापकी निवृत्ति तो निष्काम कर्म उपासनासे होती है, तथा जो बुद्धिदोषरूप* सूक्ष्म पाप रह है उसकी निवृत्ति निरन्तर विचारसे होती है।

प्र०—बोध हो जानेपर राग-द्वेषादि मनके विकार रहते या नहीं?

उ०—वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः ।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः ॥†

इस कारिकासे तो यह सिद्ध होता है कि बोध राग-द्वेष निवृत्ति होनेपर ही होता है। जिसे यह अनुभव होता है मेरे अन्दर राग-द्वेष हैं उसे कभी बोधवान् नहीं समझना चाहिये बोधवान्‌की दृष्टिमें तो राग-द्वेषका अत्यन्ताभाव हो जाता है।

---

* पञ्चदशीमें प्रज्ञामान्द्य, कुतर्क, विपर्यय और दुराग्रह, ये चा प्रकारके बुद्धिदोष बतलाये हैं।

† जिन विरक्त मुनियोंके राग, भय और क्रोध निवृत्त हो ग हैं उन्हींको ही इस प्रपञ्चशून्य अद्वितीय निर्विकल्प ब्रह्मका साक्षात्का होता है।

उसकी समष्टिदृष्टि हो गयी तो उसे राग-द्वेष हो कैसे सकते हैं ? राग-द्वेष तो मनके विचार हैं और उसके मनका तो विवेककालमें ही सर्वथा अभाव हो जाता है ।

प्रश्न—बोधवान्‌के लिये समाधिका मुख्य साधन क्या है ?

उ०—बोधवान्‌के विषयमें कहा है—

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ।
हृदयेनास्तसर्वास्थः मुक्त एवोत्तमाशयः ॥

अर्थात् 'ब्रह्मवेत्ता समाधि या कर्मोंका अनुष्ठान करे अथवा न करे । हृदयसे समस्त आस्थाओंके निवृत्त हो जानेके कारण वह शुद्धचित्त महात्मा मुक्त ही है ।' इससे सिद्ध होता है कि समाधिके लिये अभ्यास करना-न-करना बोधवान्‌की इच्छाके अधीन है । यदि समाधि करनी ही हो तो उसे निरन्तर दृश्यके अत्यन्ताभावका ही चिन्तन करना चाहिये । इस विषयमें यह प्रमाण भी है—

अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः ।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते तत्राभ्यासिनः स्थिताः ॥

अर्थात् ज्ञाताकी ज्ञेय वस्तुका अत्यन्ताभाव निष्पन्न हो जानेपर जो लोग शास्त्र और युक्तिपूर्वक निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं वे ही उस निष्ठामें अभ्यास करनेवाले हैं ।

प्र०—यदि मुक्त होनेके पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता तो एक-एक जीवके मुक्त होते रहनेसे अन्तमें एक दिन समस्त संसारका उच्छेद हो जायगा । किन्तु सृष्टिको अनादि और अनन्त माना है । ऐसी अवस्थामें इन दोनों मतोंकी संगति कैसे लगेगी ?

उ०—सांख्य, योग अथवा वेदान्त, इनमेंसे किसी दर्शनने भी मोक्षसे पुनरावर्तन स्वीकार नहीं किया । इसका कारण यह है कि उस अवस्थामें जन्म-मरणरूप संसारका अत्यन्ताभाव हो जाता है । अतः जीवभावकी निवृत्ति हो जानेके कारण उस समय पुनर्जन्मादिका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता । बोधवान्‌की दृष्टिमें जीव एक है । यह निखिल प्रपञ्च उस एकका ही दृष्टिविलास है । अतः उसके मुक्त हो जानेपर उसके लिये तो सृष्टिका अत्यन्ताभाव ही हो जाता है । किन्तु अज्ञानीकी दृष्टिमें जीव अनन्त हैं और अनन्त होनेके कारण ही उनका कभी अन्त नहीं हो सकता । वे सृष्टिको प्रवाहसे अनादि और अनन्त मानते हैं । इसलिये उनके सिद्धान्तानुसार यदि एक कल्पके अन्तमें सृष्टिका अन्त हो जाता है तो दूसरा कल्प आरम्भ होनेपर उसकी पुनः उत्पत्ति हो जायगी ।

प्र०—जड संसारका चेतन ब्रह्मसे उत्पन्न होना कैसे सम्भव है ?

उ०—जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म है—यह वेदान्तका मत है । किन्तु वेदान्तमें सृष्टिकी पारमार्थिकी सत्ता नहीं है; उसे ब्रह्ममें अध्यस्तमात्र माना है । स्वरूपतः तो वह ब्रह्मस्वरूप ही है । इसलिये उस सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्मसे इसकी उत्पत्ति माननेमें कोई विरोध नहीं है । अन्यमतावलम्बी ब्रह्मको केवल निमित्तकारण ही मानते हैं, उपादानकारण नहीं मानते; इसलिये उनके सिद्धान्तानुसार भी ऐसा कोई विरोध नहीं आता ।

प्र०—ब्रह्म अरूप है, उसमें जगत्‌का अध्यास कैसे हुआ ? भ्रम तो रूपवान् वस्तुमें हुआ करता है ।

उ०—वस्तुतः भ्रम हुआ नहीं है । जगत् भ्रमरूप है—गुरुका यह कथन तो शिष्यके समाधानके लिये है । और यदि सारा प्रपञ्च भ्रमरूप ही है तो तुम जो कुछ निश्चय करोगे वह भी भ्रम ही होगा । फिर तुम्हारे इस प्रश्नका यथार्थ उत्तर कोई किस प्रकार देगा ? क्योंकि वह स्वयं और उसका उत्तर भी तो जगत्‌रूप होनेके कारण भ्रम ही होगा । यह भ्रम कैसे हुआ—इसका ज्ञान तो अधिष्ठानके ज्ञानसे होगा । अधिष्ठानका ज्ञान होनेपर इस बातका पता लग जायगा कि भ्रम हुआ था या नहीं हुआ और हुआ था तो किस प्रकार हुआ था ।

प्र०—क्या ईश्वर तर्कसे सिद्ध हो सकता है ?

उ०—नहीं, तर्कसे षडैश्वर्यसम्पन्न ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती, केवल निर्विशेष ब्रह्मकी सिद्धि हो सकती है । ईश्वर तो भावग्राह्य है । उसका अनुभव तो भक्ति और प्रेमसे ही होता है । किन्तु यद्यपि हम तर्कसे ईश्वरको सिद्ध नहीं कर सकते तथापि ब्रह्मसत्ताको सिद्ध कर सकनेके कारण शून्यवाद भी सिद्ध नहीं होने देंगे । हमारा सिद्धान्त शून्यवाद नहीं, ब्रह्मवाद है ।

प्र०—क्या गृहस्थ भी भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है ?

उ०—भगवान्‌को तो सभी आश्रमोंमें प्राप्त किया जा सकता है, बोध भी सभीको हो सकता है । किन्तु यदि 'गृहस्थ' शब्दका अर्थ 'गृहासक्त' किया जाय तो वह भगवान्‌को प्राप्त नहीं कर सकता । जो गृहस्थाश्रममें रहते हुए उसके राग-

द्वेषपूर्ण झगड़ोंसे दूर रहकर शान्तिपूर्वक भगवद्भजनमें लगा रहता है वह अवश्य भगवत्प्राप्ति कर सकता है।

प्र०–जीव ब्रह्म है, इसमें क्या प्रमाण है?

उ०–जीव ब्रह्म नहीं है, जीव साक्षी ब्रह्म है। इसमें शास्त्र, अनुभव और युक्ति सभी प्रमाण हैं। इसका अनुभव करनेके लिये विचार (सदसद्विवेक) करना चाहिये।

प्र०–अधिक कार्य करनेसे शरीरमें तादात्म्य हो जाता है। आप कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे किसी भी प्रकार स्वरूपविस्मृति न हो।

उ०–इसके लिये अभ्यासकी दृढ़ताकी आवश्यकता है। दृढ़ अभ्यास होनेपर, कैसा ही झंझट क्यों न हो, चित्त अपने लक्ष्यसे विचलित नहीं होगा। इसलिये ज्ञेयको जान लेनेपर भी निरन्तर ब्रह्माकार वृत्तिका अभ्यास करते रहना चाहिये।

प्र०–अन्तकालमें पीड़ाकी अधिकता रहती है अथवा चेतनाशून्य स्थिति हो जाती है, इसलिये उस समय यदि स्वरूपकी विस्मृति हो गयी तो मुक्ति कैसे होगी?

उ०–मुक्ति मरनेपर नहीं हुआ करती। जिसे यथावत् सुदृढ़ बोध हो गया है वह तो जीवित रहते हुए ही मुक्त हो जाता है। ऐसा जीवन्मुक्त कैसी ही अवस्थामें देहत्याग करे, वह मुक्त हो ही जायगा।

प्र०–कहते हैं, स्वप्नकी त्रिपुटी नयी होती है। यदि ऐसी बात है तो जाग्रत्‌में उसकी स्मृति किस प्रकार होती है?

उ०–जाग्रत्-अवस्थामें जो अभिमानी है वह जाग्रत् अवस्थाका अभिमानी नहीं बल्कि जाग्रत्-पुरुषका अभिमानी है। जो सम्पूर्ण जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी है उसे स्वप्न नहीं होता, बल्कि जाग्रत्पुरुषाभिमानीको ही होता है। स्वप्नावस्थामें उससे भिन्न किसी अन्य अन्तःकरणकी उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि उसे अपने अन्तःकरणपर पड़े हुए संस्कारोंकी ही अनुभूति हुआ करती है। जो यह कहा जाता है कि स्वप्नमें नवीन त्रिपुटीका उदय होता है वह जाग्रत्-अवस्थाके अभिमानीकी दृष्टिसे है। जो समष्टि जाग्रत् अथवा समष्टि स्वप्नका अभिमानी है उसे ही तत्त्ववेत्ता कहते हैं। वह जिस प्रकार समष्टि जाग्रत्‌का अभिमानी है उसी प्रकार समष्टि स्वप्नका भी है। अतः उसके लिये जैसे स्वप्न प्रातिभासिक है उसी प्रकार जाग्रत् भी प्रातिभासिक ही है। स्वप्न और जाग्रत् उसके लिये केवल स्वप्नान्तरमात्र है। अतः जिस प्रकार जाग्रत्‌में जाग्रत्‌की त्रिपुटी उसकी ही विलास है, उसी प्रकार स्वप्नमें स्वप्नकी त्रिपुटी भी उ दृष्टिकी ही सृष्टि है। वह दृष्टिसृष्टिवादी है; अतः अवस्थामें जिस सृष्टिकी प्रतीति होती है वह उसकी ही नूतन सृष्टि है।

प्र०–प्रपञ्चका निषेध करते समय क्या उसके अ त्वका भी विचार करना चाहिये?

उ०–निषेध दो प्रकारका है—विवेकीका और बोध का। बोधवान् प्रपञ्चका अवस्तुत्व देखता है, इसलिये नि करता है; तथा विवेकी उसे अनात्मा जानकर अपनेको से भिन्न अनुभव करनेके लिये उसका निषेध करता विवेकीके निषेधमें प्रपञ्चकी पृथक् सत्ता रहती है, वि बोधवान् उसकी असत्ता देखता है।

प्र०–हठसमाधि और ध्यानसमाधिमें क्या अन्तर है?

उ०–हठसमाधि प्राणकी कसरत मात्र है। उ निर्विकल्पावस्था नहीं रहती और न उससे शान्ति, द आदि गुण ही प्राप्त होते हैं। समाधिसे उत्थित होनेपर योगी एक साधारण पुरुषके समान रहता है। कि ध्यानसमाधिमें चित्त संकल्पशून्य हो जाता है और उ उत्थान होनेपर भी वह दिव्यगुणसम्पन्न देखा जाता दीर्घकालीन हठसमाधिकी अपेक्षा भी क्षणभरकी ध्यानसमा का महत्त्व सैकड़ों गुना बढ़कर है।

प्र०–योगी और ज्ञानीकी निर्विकल्पावस्थामें क अन्तर है?

उ०–योगी सृष्टिदृष्टिवादी है। समाधिमें भी उस सृष्टि बनी ही रहती है, वह केवल उससे अपनी दृष्टि (चि वृत्ति) हटा लेता है। किन्तु ज्ञानी दृष्टिसृष्टिवादी होता उसकी दृष्टि ही सृष्टि है तथा उसकी दृष्टिकी निवृत्ति सम प्रपञ्चकी निवृत्ति है। योगीकी दृष्टिमें आत्मभेद, प्रकृति सत्ता और ईश्वरकी अन्यता है तथा ज्ञानी स्वयं ही सर्व है। समाधि-अवस्थामें प्रपञ्चकी अप्रतीति तो दोनों ही होती है, किन्तु यह अप्रतीति ही कल्याणका हेतु नहीं है यदि इसीसे कल्याण होता तो सुषुप्तिमें तो सभीको प्रपञ्चाभा का अनुभव होता है; उस समय सभीको मुक्त हो जा चाहिये था। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः आत्यन्ति निःश्रेयसका कारण तो ब्रह्मात्मैक्यबोध ही है।

प्र०—भावसमाधि और ध्यानसमाधिमें क्या अन्तर है ?

उ०—भावसमाधि साधनसाध्य नहीं है, वह परतन्त्र है। जिनका हृदय कोमल है उन्हें उद्दीपनविभावकी सन्निधिमें स्वतः ही उसकी प्राप्ति हो जाती है। किन्तु इससे लौकिक वासनाएँ निर्मूल नहीं होतीं और न पूर्ण निर्विकल्पता ही होती है। किन्तु ध्यानसमाधि अभ्याससाध्य है। यह उन्हींको प्राप्त हो सकती है जो दीर्घ कालतक निरन्तर अभ्यास करते-करते रजोगुण-तमोगुणसे सर्वथा मुक्त हो गये हैं।

प्र०—अज्ञानकी निवृत्ति होते ही द्वैतकी निवृत्ति हो जाती है; फिर गुरु-शिष्यादिसम्बन्ध किस प्रकार रहता है ?

उ०—बोधवान्का गुरु-शिष्यादि व्यवहार भी अद्वैतमें ही होता है, उसमें द्वैत नहीं है। मरुभूमिमें जो तरंग, फेन एवं बुद्बुदादिकी प्रतीति होती है वह यद्यपि मरुभूमिके याथात्म्यको जाननेवाले और न जाननेवाले दोनोंको समान ही होती है; तथापि जाननेवालेके लिये वह सब मरुस्थलमात्र ही है। इसी प्रकार बोधवान् यद्यपि सब प्रकारका व्यवहार देखता है तथापि वह उसके शुद्ध स्वरूपसे भिन्न कुछ भी नहीं है। कहीं वह युद्ध करता है, कहीं कर्मानुष्ठान करता है, कहीं उपासनामें तत्पर है और कहीं तरह-तरहके लौकिक व्यवहारोंमें संलग्न है; किन्तु उसकी दृष्टिमें ये सब उसका अपना-आप ही तो है।

प्र०—'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इस मन्त्रके 'त्रिपाद' शब्दसे क्या अभिप्राय है ?

उ०—मुझसे एक महात्माने कहा था कि सत्, चित् और आनन्द, ये त्रिपाद हैं तथा प्रपञ्च एक पाद है। सत्की प्रतीति तो सभीको होती है, चित् विवेकीको प्रतीत होता है और आनन्द पूर्ण बोधवान्को प्रतीत होता है। जिसे सत्, चित्, आनन्द—इन तीनों पादोंका ज्ञान हो जाता है वही पूर्ण बोधवान् है और उसीकी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति होती है।

प्र०—बोधदृष्टि क्या है ?

उ०—लोकमें चार प्रकारकी दृष्टियाँ हैं—(१) भगवान् सबमें हैं—यह भेददृष्टि है; (२) भगवान् सर्वत्र हैं—यह विराट्रूपसे भगवान्की उपासना करनेवालोंकी दृष्टि है; (३) भगवान् सबसे अलग हैं—यह निर्गुणोपासकोंकी दृष्टि है और (४) भगवान् ही भगवान् हैं—यह सगुणोपासकोंकी दृष्टि है, जो भगवान्के सिवा और किसी वस्तुकी ओर दृष्टि ही नहीं देते। जिसमें ये चारों दृष्टियाँ आ जाती हैं और जो इन चारों दृष्टियोंसे अलग है उसे बोधदृष्टि कहते हैं।

प्र०—यदि वृत्तिका काम आवरणभंग ही है तो वृत्तिव्याप्तिका क्या अर्थ है ?

उ०—वृत्तिका स्वतः कोई स्वरूप नहीं है। वह जिस विषयमें जाती है तद्रूप हो जाती है और उसीके अनुसार उसका स्वरूप देशकालावच्छिन्न हो जाता है। फिर उस वस्तुका स्फुरण चिदाभाससे होता है। उसका नाम फलव्याप्ति है। यह नियम इदंरूपसे स्फुरित होनेवाले पदार्थोंके विषयमें है। आत्मा कोई परिच्छिन्न अथवा परप्रकाश्य पदार्थ नहीं है। अतः जब समस्त अनात्मवस्तुओंका बाध करके वृत्ति अहमर्थमें पहुँचती है तो उसमें कोई परिच्छेद न होनेके कारण उससे किसी आकारविशेषका स्फुरण नहीं होता। अनात्मपदार्थोंका निषेध करते-करते जब अभावाकार वृत्ति होती है तो उसे ही श्रुतिप्रतिपादित* सूक्ष्म बुद्धि कहते हैं। उस समय जब गुरु उसे 'तत्त्वमसि' महावाक्यका उपदेश करते हैं तब उसे तत्त्वबोध होता है। तत्त्वबोधके होते ही फिर अनात्मवस्तु कुछ भी नहीं रहती। फिर तो समुद्रसे तरंग, सूर्यसे किरण और मृत्तिकासे घटादिके समान उसे कोई भी वस्तु अपनेसे भिन्न प्रतीत नहीं होती।

प्र०—किन्तु सूक्ष्म बुद्धि भी तो गुणमयी ही होती है। उस गुणमयी बुद्धिसे गुणातीत वस्तुका दर्शन कैसे हो सकता है ?

उ०—सूक्ष्म बुद्धिसे भी पदार्थका इदंतया दर्शन नहीं होता, बल्कि उससे वह लक्षित होता है। बुद्धिवृत्ति केवल आवरण भंग करती है; वस्तु तो स्वयंप्रकाश है, उसे प्रकाशित करनेमें बुद्धिकी अपेक्षा नहीं होती। इसीसे महावाक्यके 'तत्' और 'त्वम्' पदकी एकता भी अभिधावृत्तिसे नहीं होती, वहाँ भी लक्षणा करनी पड़ती है; क्योंकि परमार्थतत्त्व किसी भी शब्दका वाच्य नहीं है।

प्र०—त्याग और वैराग्यमें क्या अन्तर है ?

उ०—विषयको सामने न रहने देना 'त्याग' है और सामने रहनेपर उसमें प्रीति न होना 'वैराग्य' है।

प्र०—ज्ञान और ज्ञाननिष्ठामें क्या अन्तर है ?

उ०—परमार्थ वस्तु यह है—इस बातको जान लेना 'ज्ञान' है, जैसे किसीका पिता यह बतलाकर मर गया कि हमारे पास एक लाख रुपया है और यह विश्वास भी हो गया

---

* दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मबुद्धिभिः।

कि हमारे घरमें किसी स्थानपर लाख रुपये गड़े हुए हैं; परन्तु उन्हें कभी खोदकर नहीं देखा और न उनका कोई उपयोग ही किया। ऐसी अवस्थामें अपने लखपती होनेका अभिमान होनेपर भी वह रहा कंगाल-का-कंगाल ही तथा उसका भूखों मरना भी नहीं छूटा। इसी प्रकार जबतक अभ्यासद्वारा बोधवृत्तिकी स्थिरता नहीं होती तबतक वस्तु लक्षित हो जानेपर भी ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति नहीं होती। इस बोधवृत्तिकी स्थिरताका नाम ही 'ज्ञाननिष्ठा' है।

प्र०–वृत्ति नित्य है या अनित्य ?

उ०–अज्ञानीकी दृष्टिसे वृत्ति नित्य है। बोध हो जानेपर भी जबतक प्रारब्ध शेष है तबतक तो वृत्ति रहेगी ही। प्रारब्धक्षय होते ही वृत्ति भी क्षीण हो जायगी, किन्तु अज्ञानियों और उपासकोंकी वृत्ति देहपातके पश्चात् भी नहीं छूटती, यह अकाट्य सिद्धान्त है। सृष्टिसे दृष्टिको हटाना—यह योग है और दृष्टिसे सृष्टिको बनाना यह वेदान्त है। इसीको दृष्टिसृष्टिवाद कहते हैं। इस दृष्टिका निवृत्त हो जाना ही मोक्ष है।

प्र०–लोग कहते हैं कि अवतार लेनेसे ईश्वरकी व्यापकता नष्ट हो जायगी। इस विषयमें आपका क्या मत है ?

उ०–पृथिवी सर्वत्र व्यापक है; उससे घटादि बना लेनेसे भी उसकी व्यापकता नष्ट नहीं होती। उसी प्रकार यदि कहीं भगवान् अपने सगुण, साकार विग्रहसे आविर्भूत हो जाते हैं तो इससे उनकी व्यापकतामें कोई कमी नहीं आती।

प्र०–ईश्वर तो निराकार है, वह साकार कैसे हो जाता है ?

उ०–जब अल्पशक्ति जीव भी अपनी सङ्कल्पशक्तिसे साकार हो जाता है तो सर्वशक्तिमान् भगवान्के साकार हो जानेमें क्या आश्चर्य है ?

प्र०–शुद्ध साक्षी किसे कहते हैं ?

उ०–जो स्वप्नको देखता है उसे स्वप्नपुरुष कहते हैं, जो स्वप्नसे जाग पड़नेपर उसे प्रतीतिमात्र अनुभव करता है उसका नाम जाग्रत्पुरुष है और जो जाग्रत्पुरुषके सहित इस सम्पूर्ण जाग्रत्को अनुभव करता है उसे जाग्रद्द्रष्टा कहते हैं। उसीका नाम स्वप्नद्रष्टा भी है और वही शुद्ध साक्षी है, क्योंकि वह सम्पूर्ण स्वप्न और सम्पूर्ण जाग्रत्का साक्षी है। स्वप्नपुरुष और जाग्रत्पुरुष केवल स्वप्नशरीर और जाग्रच्छरीरके ही साक्षी हैं, इसलिये वे व्यष्टिसाक्षी हैं; किन्तु यह समष्टिसाक्षी है, क्योंकि यह समस्त स्वप्नावस्था और समस्त जाग्रदव प्रकाशित करता है। जिस प्रकार वस्त्रके ऊपर बनाये बेल-बूटे वस्त्रसे भिन्न नहीं होते तथा मूर्त्ति पाषाणसे भिन्न होती उसी प्रकार यह चराचर जगत् आत्मासे भिन्न नहीं

१–ज्ञानी और भक्त तीन प्रकारके होते हैं—१ सत्त्व २ रजोगुणी और ३ तामसी। जो आत्मरति और भगव में लगे हुए हैं वे सत्त्वगुणी हैं; जो सिद्धियोंमें लग जा वे रजोगुणी हैं और जो अकर्मण्य हैं वे तमोगुणी हैं।

२–ज्ञानीमें दो बातें नहीं रहतीं—पापमें प्रीति साधनजन्य सुख। ज्ञानी स्त्री-पुत्रादि साधनोंसे होनेवाले सुखमें आसक्त नहीं होता, वह इन सबके त्या ही आनन्द भोगता है। इस अनासक्तिके कारण ही कोई अशुभ कर्म नहीं होता। उसने तो अशुभ कर्मोंका करके ही ज्ञानरूप परम धनको प्राप्त किया है, फिर वह क्यों प्रवृत्त होगा। यदि ज्ञान होनेपर भी अशुभ कर्म रहे तो ज्ञानसे लाभ ही क्या हुआ ? तथा ज्ञान और अज्ञा अन्तर ही क्या हुआ ? मुझे गीताका यह श्लोक अच्छा जान पड़ता है—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

३–मुक्त होनेपर शरीर छूट जाना चाहिये—ऐसा नि नहीं है। शरीर भी बना रहता है और जीव मुक्त भी जाता है; जिस प्रकार कोई मकान-मालिक जब अपने मका को दूसरेको दे देता है तो उसे उसके टूटने-फूटनेका भय दुःख नहीं रहता। इस प्रकार वह दुःखमुक्त भी हो जा है और मकान भी बना रहता है। इसी तरह ज्ञान होने शरीर भी बना रहता है और मुक्ति भी हो जाती है।

४–वैराग्यका फल बोध है और बोधका फल उप है। इतना अन्तर अवश्य है कि वैराग्य होनेपर विष ग्लानि हो जानेके कारण उसे भोगा नहीं जाता और उप होनेपर वस्तु सामने रहनेपर भी उसे भोगनेकी प्रवृत्ति ही न होती। उपरतिका फल आनन्द है और आनन्दका प शान्ति है।

५–उपन्यास-समाचारपत्रादि अशास्त्रावलोकनकी अपे शास्त्रचिन्तन अन्तरङ्ग है, शास्त्रचिन्तनकी अपेक्षा नामकीर्त अन्तरङ्ग है, नामकीर्तनकी अपेक्षा नामजप अन्तरङ्ग है त

मजपकी अपेक्षा ध्यान, ध्यानकी अपेक्षा ध्यानजनित नन्द और उस ध्यानानन्दकी अपेक्षा निर्विकल्पता न्तरङ्ग है ।

६–जो चीज़ मुँहसे छू जाती है वह जूठी हो जाती है । ब्द मुखसे निकलता है, इसलिये जो कुछ कहा जायगा ठा ही होगा ।

७–पूर्ण बोधकी प्राप्तिके लिये जिज्ञासुको इस क्रमसे भ्यास करना चाहिये । पहले द्रष्टा और दृश्यको अलग-लग अनुभव करे । फिर सम्पूर्ण दृश्यको एक सत्तामें लाकर ससे अपनेको द्रष्टारूपसे पृथक् देखे । तत्पश्चात् दृश्यको पनी ही दृष्टिके विलासरूपसे अनुभव करे और फिर उसे ीन करनेकी भी इच्छा न करे । इस प्रकार अपने लक्ष्यका र्ण निश्चय हो जानेपर उसका उठना-बैठना आदि सभी यवहार शान्त हो जाता है । प्राणोंकी निःस्पन्दता भी पनेको प्राणसाक्षीरूपसे अनुभव किये बिना नहीं हो कती ।

८–राजाका बल स्थूलशरीरतक है, शास्त्रका शासन क्ष्मशरीरतक है और मायाका प्रभाव कारणशरीरतक है । जा अधिक-से-अधिक फाँसी दे सकता है, शास्त्र नरकमें ले जा सकता है और माया मोह उत्पन्न कर सकती है । किन्तु तत्त्ववेत्ताकी स्थिति तो इन सबसे परे अपने शुद्धस्वरूपमें होती है; इसलिये उसे इनमेंसे किसीसे भय नहीं है ।

प्र०–ब्रह्ममें अध्यास कैसे हुआ ?

उ०–अध्यासका कारण अज्ञानदशामें ढूँढ़ते हो या ज्ञानदशामें ? अज्ञानदशामें तो जो कुछ भी कारण मिलेगा वह स्वयं भी अध्यस्त ही होगा और ज्ञानदशामें अध्यास रहता नहीं, इसलिये उसका कारण ढूँढ़ना नहीं बनता । इसलिये जिज्ञासुको अध्यासका कारण न ढूँढ़कर अधिष्ठानकी ही खोज करनी चाहिये । अधिष्ठानज्ञानसे यह निश्चय हो जायगा कि वस्तुतः अध्यास कभी हुआ ही नहीं । यह जो कुछ प्रतीत होता है बिना हुआ ही भास रहा है । लोग सूर्यको तिमिरारि कहते हैं; किन्तु क्या सूर्यने कभी तिमिर (अन्धकार) को देखा है ?

प्र०–क्या सविशेष उपासना निर्विशेष उपासनाका साधन है ?

उ०–भगवान्में अध्यास नहीं होता, अध्यास जीवमें ही है । भगवान्के सोपाधिक और निरुपाधिक दोनों ही रूप स्वयंप्रकाश हैं । सविशेष उपासना निर्विशेष उपासनाका साधन है–यह विचार ठीक नहीं । प्रेमी भगवान्के सविशेष-निर्विशेष किसी भी रूपसे प्रेम करे वह भगवान्से ही प्रेम करता है । भगवान्के इन रूपोंमें किसी प्रकारका तारतम्य मानना ठीक नहीं । हाँ, भगवान्के शुद्ध स्वरूपको समझनेके लिये यदि ऐसा भेद किया जाय तो कोई आपत्ति नहीं । परन्तु यह सिद्धान्त नहीं है । भगवान्का सगुण रूप भी वस्तुतः निर्गुण ही है, क्योंकि भगवान् भक्तानुग्रहविग्रह हैं । भक्तोंको आनन्दित करनेके लिये उनकी भावनाके अनुसार वे भिन्न-भिन्न रूपोंमें भासते हैं । वस्तुतः तो वे सच्चिदानन्दस्वरूप ही हैं । श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

निरगुन ब्रह्म सगुन भए कैसें ।
जलु हिम-उपल बिलग नहि जैसें ॥

प्र०–संकीर्तनमें जो स्वर-ताल आदिका रस आता है, क्या वह बन्धनकारी है ?

उ०–वह भक्तके लिये तो बन्धनकारक हो नहीं सकता, क्योंकि उसकी उसमें भगवद्भावना है; उसे वह श्रवणरस न समझकर भगवद्रस समझता है । अतः भगवत्प्राप्तिका साधन होनेके कारण वह उसके बन्धनका कारण नहीं हो सकता । हाँ, जिज्ञासुकी अवश्य उसमें उपेक्षा रहती है, क्योंकि उसकी उसमें भगवद्भावना नहीं होती । इसके सिवा उसका लक्ष्य भी भगवत्प्रेम नहीं होता, वह तो भगवत्तत्त्वका जिज्ञासु है । अतः उसे ये स्वर-ताल भी विषयरूप प्रतीत होनेके कारण हेय ही प्रतीत होते हैं । परन्तु बोधवान्की उनमें न तो हेयबुद्धि होती है और न उपादेयबुद्धि ही—उसकी दृष्टिमें तो सब कुछ ब्रह्मस्वरूप ही है ।

प्र०–प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव पक्ष है या सिद्धान्त ?

उ०–स्वरूपसत्तामें पहले अभावसत्ता और फिर भावसत्ताकी स्फूर्ति होती है । परन्तु जिस प्रकार घटाभाव और घट दोनों ही मृत्तिकारूप हैं उसी प्रकार प्रपञ्च और प्रपञ्चाभाव दोनों ही आत्मसत्तासे भिन्न नहीं हैं । तथापि जिज्ञासुको वस्तुका लक्ष्य कराने और उसके कर्तृत्वका निरास करनेके लिये प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव निरूपण किया जाता है । प्रपञ्चके अत्यन्ताभावमें दृष्टि रखना ही जीवन्मुक्तिका अभ्यास है । परन्तु यह वस्तुस्थिति नहीं है । यह भी एक पक्ष ही है । वस्तुतः तो भाव और अभाव दोनों ही आत्मासे भिन्न नहीं हैं; क्योंकि आत्मा प्रपञ्चका अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है,

कार्यसे पृथक् सत्ता तो केवल निमित्तकारणकी ही हुआ करती है।

प्र०–ज्ञानी और भक्तके सिद्धान्तोंमें क्या अन्तर है ?

उ०–ज्ञानीकी दृष्टिमें परमार्थ वस्तुके साथ प्रपञ्चका कोई सम्बन्ध नहीं है और भक्तकी दृष्टिमें प्रपञ्चसहित भगवान् परमार्थ हैं। सुवर्णमें जो कुण्डलादिका अत्यन्ताभाव देखना है वह ज्ञानीकी दृष्टि है तथा सुवर्णको कुण्डलादि-सहित देखना भक्तिसिद्धान्त है।

प्र०–माया और प्रकृतिमें क्या अन्तर है ?

उ०–सांख्यसम्मत प्रकृति और वेदान्तकी मायामें क्या अन्तर है ? सांख्य प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है, भक्त या योगी भगवान्‌की अभिन्न शक्ति मानता है और वेदान्ती उसे भ्रान्ति समझता है। भक्तकी दृष्टिमें भगवान् और भगवद्विग्रहमें कोई भेद नहीं है, दोनों ही चिन्मय हैं।

प्र०–काम-क्रोधादिके प्रति बोधवान्‌की क्या दृष्टि रहती है ?

उ०–बोधवान्‌की दृष्टिमें इनका अत्यन्ताभाव है। जब उसकी दृष्टिमें इनके आश्रयभूत चित्तकी ही सत्ता नहीं है तो इनकी स्थिति तो हो ही कैसे सकती है ?

प्र०–अज्ञान भावरूप है या अभावरूप ?

उ०–यह न भावरूप है न अभावरूप, बल्कि अनिर्वचनीय है। अज्ञान स्वरूपके आवरणको कहते हैं। यह तो भाव और अभावका कारण है।

प्र०–जगत्‌का अत्यन्ताभाव और ब्रह्मको अभिन्न-निमित्तोपादानकारण माननेमें क्या अन्तर है ?

उ०–समुद्रका शान्त स्वरूप अत्यन्ताभावका और उसकी सतरङ्गावस्था अभिन्ननिमित्तोपादानका दिग्दर्शन कराती है। प्रपञ्चाभाव शुद्ध चिति है और प्रपञ्चसत्ता चिद्विलास है। वह निःस्पन्द चिति है और यह सस्पन्द चिति है। इनमेंसे किसी भी पक्षमें आग्रह नहीं होना चाहिये। श्रुति कहती है—

जीवन्मुक्तिपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनास्पन्दतामिव ॥*

प्र०–'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इस वाक्यमें ज्ञा कैवल्यका क्या सम्बन्ध है ?

उ०–'ज्ञान' शब्दकी व्युत्पत्ति दो प्रकार है– अनेन इति ज्ञानम्'[1] और 'ज्ञायते इति ज्ञानम्'[2]। पहला ज्ञान करणरूप है और दूसरा स्वरूपभूत। इस में पहला अर्थ लिया गया है। यहाँ ज्ञान ही कैवल्य है बल्कि कैवल्यका हेतु है। अतः यह वृत्तिज्ञान है, ज्ञान नहीं। स्वरूपज्ञान तो प्रपञ्चाभाव निश्चय करने प्राप्त होता है।

प्र०—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति किसे प्राप्त हो

उ०—जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति भी स्वप्न ही हैं। ही द्रष्टामें ऐसा कोई व्यापार होना सम्भव नहीं है केवल व्यावहारिक दृष्टि है। अष्टावक्र मुनि कहते हैं—

एको द्रष्टासि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बन्धः द्रष्टारं पश्यसीतरम्॥

अतः जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति भी व्यावहारि हैं। ये अनेक द्रष्टा माननेपर ही सम्भव हैं। एक स अखण्ड चेतनमें इनका होना सम्भव नहीं है। सम्बन्ध स्वप्नपुरुषोंसे ही है। समाधि भी स्वप्नपुरुष होती है, स्वप्नद्रष्टासे समाधिका कोई सम्बन्ध नहीं विद्यारण्य स्वामी कहते हैं—

विक्षेपो नास्ति मे यस्मान्न समाधिस्ततो मम।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः॥

प्र०—'यो बुद्धेः परतस्तु सः' (जो बुद्धिसे परे है ब्रह्म है) और 'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' (जो बुद्धिसे ग्राह्य इन्द्रियातीत है) इन वाक्योंमें आये हुए 'बुद्धि' श अर्थोंमें क्या अन्तर है ?

उ०—'यो बुद्धेः परतस्तु सः' यह वस्तुका निर्णय इसमें केवल यह बतलाया गया है कि आत्मतत्त्व ऐसा यहाँ 'बुद्धि' शब्दसे व्यावहारिक बुद्धि समझनी चाहि

---

* अर्थात् अपने देहके कालकवलित होनेपर बोधवान् पुरुष वायुके निःस्पन्द हो जानेके समान जीवन्मुक्तिपदको त्यागकर विदेहमुक्ति प्राप्त कर लेता है।

[1] जिसके द्वारा जाना जाय उसे ज्ञान कहते हैं। जाना जाता है उसे ज्ञान कहते हैं।

* तू सबका एक ही द्रष्टा है और सर्वदा मुक्तप्राय है। तेरा बन्धन है कि तू अपनेसे भिन्न कोई और द्रष्टा देखता है

† क्योंकि मुझ शुद्ध चेतनमें कोई विक्षेप नहीं है, इस मुझे समाधि भी नहीं होती। विक्षेप और समाधि ये तो वि मनको ही होते हैं।

भगवान् व्यवसायात्मिका बुद्धि कहते हैं। किन्तु 'बुद्धि-ह्यमतीन्द्रियम्' यह साक्षात्कार है। यहाँ 'बुद्धि' शब्दसे द्ध बुद्धिका ग्रहण करना चाहिये। इसीको भगवान्ने बुद्धियोग ा है। यह केवल वृत्तिव्याप्ति है और व्यवसायात्मिका द्धिमें वृत्तिव्याप्ति, फलव्याप्ति दोनों हैं। ऐसी शुद्ध बुद्धि वल भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती है। राजालोग अपनेको रीट, कुण्डल एवं बहुमूल्य वस्त्रादिसे विभूषितकर स्वयंवर-डपमें जाते हैं; वे केवल इतना ही कर सकते हैं। उन्हें माला पहनाना तो राजकन्याकी इच्छापर ही निर्भर है। सी प्रकार साधक केवल साधन कर सकता है, उसे अपना क्षात्कार कराना ता भगवान्की इच्छापर निर्भर है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं ाम् ।

प्र०—भक्ति ज्ञानका हेतु है या ज्ञान भक्तिका हेतु है ?

उत्तर—अविद्यासे मुक्त होना ज्ञान है। उस ज्ञानमें क्ति ही हेतु है। भक्त जो यह कहता है कि मेरा प्रेष्ठ पूर्ण , वह उसकी भावना है। ज्ञानी ब्रह्मके जितने लक्षण तलाता है उन सबकी भावना भक्त अपने इष्टदेवमें करता है। ह समझता है कि मेरा प्रियतम विभु है, अनन्त है, सर्व-मर्थ है और निरतिशय है। इससे उसे स्वयं ही बोध हो ायगा। भक्ति ज्ञानका स्वतन्त्र साधन है; जिज्ञासापूर्वक ी हुई भगवद्भक्ति स्वयं ही ज्ञान उत्पन्न कर देती है। ऐसे क्तको ज्ञानप्राप्तिके लिये सांख्यसम्मत विवेक करनेकी ावश्यकता नहीं होती।

भक्ति दो प्रकारकी है —साधनरूपा और प्रेमलक्षणा। ज्ञासापूर्वक की हुई साधनभक्ति ही ज्ञानकी जननी है। न्तु प्रेमलक्षणा भक्ति तो स्वतः फलस्वरूपा ही है। ऐसा प्रेमी ज्ञानकी भी इच्छा नहीं किया करता। ब्रह्मके जितने लक्षण शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं उन सभीकी भावना वह अपने प्रियतममें करता है। प्रेममें कभी पूर्णता नहीं होती; प्रेमी सर्वदा अपने प्रियतमकी यादमें छटपटाया करता है। प्रेमीके बाह्य लक्षणोंका वर्णन करते हुए किसी फारसी कविने कहा है—

आहे सर्दो रंगे ज़र्दो चश्मे तर। इन्तज़ारी बेक़रारी बेसबर।
कमगुफ़्तनो कमखुर्दनो .ख्वाबे हराम।
आशिक़ाराँ नौ निशाँ बाशद पिसर ॥*

किन्तु ज्ञानमें पूर्णता है, कृतकृत्यता है, और निश्चल शान्ति है।

प्र०—अनेक महानुभाओंका मत है कि भगवान्का भक्त अज्ञानी नहीं रह सकता। श्रीभगवान्ने भी कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

फिर भक्तोंमें ऐसी अपूर्णता क्यों देखी जाती है ?

उ०—जिस प्रकार ज्ञानीका स्वभाव माना जाता है उसी प्रकार यह भक्तका स्वभाव है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भक्त अज्ञानी रहता है। हनुमान्जी, नारदजी, सनत्कुमारजी, शुकदेवजी और गोपीजन—ये सब भगवान्के अनन्य भक्त थे, किन्तु क्या वे अज्ञानी थे। वे सभी पूर्ण बोधवान् थे, उनकी भक्तवत् चेष्टा तो उनका स्वभाव था।

प्र०—यदि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, इन अवस्थाओं-की सन्धिमें केवल शुद्ध स्वरूप ही रहता है तो इनकी स्मृति किस प्रकार होती है ?

उ०—दृष्टिसृष्टिवादकी रीतिसे प्रत्येक अवस्था चेतनकी केवल दृष्टिमात्र है। वह नवीन ही भासती है। जिस समय जिस अवस्थाकी स्फूर्ति होती है उसी समय उसके पदार्थ, पदार्थज्ञानमें उपयोगी त्रिपुटी और अनुभूत पदार्थोंकी स्मृतिका भी स्फुरण हो जाता है। अतः प्रत्येक अवस्थाकी स्फूर्तिके समय उसमें प्रतीत होनेवाले पदार्थ, संस्कार एवं स्मृति आदि भी नवीन ही स्फुरित होते हैं।

प्र०—हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिये ?

उ०—हमें सर्वदा गुण ही देखना चाहिये। दोष कभी किसीका नहीं देखना चाहिये। महापुरुषोंका यह स्वभाव होता है कि वे अपने विरोधीका भी गुण ही देखते हैं। बोधवान्की दृष्टिमें सारा प्रपञ्च बोधस्वरूप है। इसमें सब प्रकारके पाप-पुण्य, निन्दा-स्तुति, राग-द्वेष और दैवी एवं आसुरी प्रकृतियोंकी प्रतीति हो रही है। इसीसे क्या वह उनकी सत्ता स्वीकार कर लेता है! सारे प्रपञ्चको मायाका विलास समझनेके कारण उसे किसी भी घटनासे कुतूहल नहीं होता।

अपि शीतरुचावर्के सुतीक्ष्णे चेन्दुमण्डले।
अप्यधः प्रसरत्यग्नौ जीवन्मुक्तो न विस्मयी॥*

---

* ठंडी आहें, पीला रंग, सजल नयन, प्रतीक्षा, बेचैनी, अतृप्ति, मितभाषण, मिताहार और नींद न आना—हे पुत्र! ये प्रेमियोंके नौ चिह्न हैं।

* यदि सूर्य शीतल किरणोंवाला हो जाय, चन्द्रमा तेजीसे

ऐसे महात्मा लोग स्वभावसे ही अत्यन्त निर्भीक होते हैं। संसारकी बड़ी-से-बड़ी आपत्ति उन्हें अपने निश्चयसे चलायमान नहीं कर सकती। और तो क्या, प्रलयकालीन विस्फोटसे भी उनके चित्तमें किसी प्रकारका क्षोभ नहीं होता।

प्रलयस्यापि हुङ्कारैश्चलाचलविचालकैः।
विक्षोभं नैति यस्यात्मा स महात्मेति कथ्यते॥ *

वे उदारताकी तो मूर्ति ही होते हैं। उनके लिये कोई भी पदार्थ अदेय नहीं होता। वे अपने विरोधीका भी उपकार ही करते हैं और जो मान चाहते हैं उन्हें सम्मान प्रदान करनेमें भी किसी प्रकारका संकोच नहीं करते। एक बार एक दिग्विजयी विद्वान् भारतके भिन्न-भिन्न नगरोंमें अनेकों पण्डितोंको परास्त करता काशीमें आया। उस समय काशीमें एक महात्मा सबसे बड़े विद्वान् समझे जाते थे। उनके सहस्रों शिष्य थे। दिग्विजयीने उनके पास जाकर कहा कि यदि आप मुझे पराजयपत्र लिखकर दे दें तो मैं अनायास ही महान् कीर्तिमान् हो सकता हूँ। महात्माजीने बिना किसी प्रकारकी आपत्ति किये उसे पराजयपत्र लिखकर दे दिया। तब वह दिग्विजयी अपनी विजय घोषित करता बड़ी धूमधामसे बाजे-गाजेके साथ काशीके राजमार्गसे निकला। इसी समय उसे उन महात्माजीके कुछ शिष्य मिले। उन्होंने सारा समाचार जानकर उसे शास्त्रार्थके लिये आमन्त्रित किया, और थोड़ी ही देरमें उसे एक शिष्यने पराजित कर दिया। इससे उसका बड़ा तिरस्कार हुआ और उसे वहीं अपनी सवारी छोड़नी पड़ी। जब महात्माजीको यह समाचार विदित हुआ तो उन्होंने उस शिष्यकी प्रवृत्तिपर खेद प्रकट करते हुए यह कहकर कि 'इस प्रकारके वेदान्तश्रवणसे क्या लाभ है?' आजन्म मौन धारण कर लिया।

महात्माओंके चरित्र ऐसे ही विलक्षण हुआ करते हैं। वे स्वयं किसीकी निन्दा नहीं करते और यदि उनके कोई व्यक्ति किसी अन्य पुरुषकी निन्दा करता है वे उसके गुणोंपर ही दृष्टि देते हैं। एक बार किसी एक महात्माको कोई सड़ा हुआ कुत्ता दिखाकर 'देखिये, यह कैसा मलिन जीव है! कितनी दुर्गन् रहा है!' महात्माजीने कहा—'अहा! इसके कैसे उज्ज्वल हैं? यह इसके पुण्यकर्मोंका ही फ इस प्रकार उन महात्माजीने एक सड़े हुए मरे कुत्ते गुणोंपर ही ध्यान दिया। एक बार सुकरातने कहा था- हो, भगवान्ने कान दो और जिह्वा एक क्यों दी है? भगवान्का यही अभिप्राय है कि सुनो बहुत बोलो कम।'

अतः हमें भी ऐसे महापुरुषोंके आचरणों अनुकरण करना चाहिये और निन्दा-स्तुति, हानि एवं मानापमानकी ओर दृष्टि न देकर सब प्रा साथ सहृदयता, प्रेम और उदारताका बर्ताव करना चा यदि कोई क्रोध करे तो उसके प्रति क्रोध न करना कोई कटुभाषण करे तो मृदुभाषण करना चाहिये प्रकारके अपवादोंको सहन करना चाहिये और कभी का तिरस्कार न करना चाहिये—

क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
नातिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन॥

सुनै न काहूकी कही, कहै न अपनी बात।
नारायन वा रूपमें मगन रहै दिन रात॥

इस प्रकार जो निरन्तर भगवत्स्मरणमें तत्पर है, प्रकारके कार्य करते हुए भी जिसकी मनोवृत्ति भगव स्वादनमें ही लगी रहती है, उस प्रशान्तात्मा महात्माके संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

यस्य चित्तं निर्विषयं हृदयं यस्य शीतलम्।
तस्य मित्रं जगत्सर्वं तस्य मुक्तिः करस्थिता॥

तपने लगे और अग्नि नीचेकी ओर फैलने लगे तो भी जीवन्मुक्त महात्माको कोई आश्चर्य नहीं होता।

* चराचरको विचलित कर देनेवाले प्रलयकालीन विस्फोटके होनेपर भी जिसका चित्त क्षुब्ध नहीं होता वह 'महात्मा' जाता है।

† जिसका चित्त विषयशून्य है और हृदय शान्त है उसका सारा संसार मित्र है तथा मुक्ति भी उसकी मुट्ठीमें है।

साधन-संग्रह

(एक लोकसंग्रही महात्माका प्रसाद)

प्रश्न—भगवन् ! सुना है महात्मालोग तो अपनी कृपासे ही सबका उद्धार कर सकते हैं; फिर क्या कारण है कि उनकी शरणमें आनेपर भी जीवका सांसारिक बन्धन नहीं टूटता ?

उत्तर—जीवके उद्धारके लिये चार प्रकारकी कृपा होनी चाहिये—ईश्वरकृपा, शास्त्रकृपा, गुरुकृपा और आत्मकृपा। शास्त्र और गुरु केवल आवरण भंग करते हैं। ये केवल प्रकाशमात्र हैं। वस्तुके देखनेमें प्रकाश तो केवल सहायता ही करता है, देखा तो अपने ही नेत्रोंसे जाता है। अतः आत्मकल्याणके लिये महात्माओंकी कृपाके साथ-साथ आत्मकृपा भी अत्यन्त आवश्यक है। ईश्वर और महात्माओंकी कृपा शुद्ध चित्तमें ही प्रतिफलित होती है।

प्रश्न—महात्मा लोग तो सदा सबके कल्याणकी ही चेष्टा करते हैं; फिर इसका क्या कारण है कि उनके बार-बार चेतानेपर भी चित्तका मल निवृत्त नहीं होता। कृपया इस जीवके उद्धारका कोई सरल साधन बतलाइये।

उत्तर—जिस समय जीवका अशुभ कर्म सम्मुख होता है उस समय उसपर महात्माओंके सदुपदेशका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता; किन्तु जिस समय उसके शुभ कर्मोंका उदय होता है उस समय उसे जो कुछ उपदेश किया जाता है वही घर कर जाता है। ऐसा संयोग बड़े पुण्यसे प्राप्त होता है। यह पुण्योदय भगवान्‌की कृपासे ही होता है। बिना भगवत्कृपाके ऐसा सुअवसर नहीं मिलता; और भगवत्कृपासे सत्संगका सुअवसर मिलनेपर ही विवेक होता है। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

बिनु सतसंग बिबेकु न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥

इस प्रकार सत्संग होनेपर विवेक होता है और विवेकसे समस्त सांसारिक विषयोंमें वैराग्य हो जानेपर चित्त भगवान्‌की ओर लग जाता है। इसलिये यदि भगवत्प्राप्तिकी इच्छा हो तो जितने सांसारिक पदार्थ हैं उनको दुःखरूप निश्चय करो। भला विचारो संसारमें तो सुख है कहाँ ! पुरुष स्त्रीको सुखरूप देखता है और स्त्री पुरुषको सुखरूप देखती है। परन्तु वस्तुतः सुख है कहाँ—इसका उन दोनोंमेंसे किसीको पता नहीं है। यदि स्त्रीमें सुख होता तो वह पुरुषकी इच्छा क्यों करती और यदि पुरुषमें सुख होता तो उसे स्त्रीकी इच्छा क्यों होती। खाँड क्या मिठाईके लिये किसी अन्य वस्तुकी इच्छा करती है ? अतः यह सोचना चाहिये कि सुख विषयोंमें है या आत्मामें। समस्त शास्त्र और महापुरुषोंके अनुभवसे यही सिद्ध होता है कि सुखका अखण्ड भण्डार तो आत्मा ही है। इस आत्मदेवकी उपलब्धिके लिये ही बड़े-बड़े राजा लोग अपना धन-धान्यपूर्ण राजभवन छोड़कर वनवासी हो जाते हैं—

जासु चरनपंकज अनुरागी। होहिं भूप तजि राजु बिरागी॥

यदि विषयोंमें सुख होता तो ये नृपतिगण राज्यलक्ष्मीको ठुकराकर वनकी विपत्तियोंको अपने सिरपर क्यों लेते ? जीव अनादिकालसे विषयोंमें आसक्त है; अपने वास्तविक सुखस्वरूपको भूलकर वह जन्मजन्मान्तरसे सुखकी ही खोजमें नाना प्रकारके विषयोंमें भटकता रहा है; इसीसे मनुष्यजन्ममें भी उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति तो विषयोंकी ही ओर हुआ करती है। किन्तु जबतक उसे आत्मतत्त्वकी उपलब्धि नहीं होती तबतक उसकी सुखाभिलाषा शान्त नहीं होती। देखो, एक भौंरा है। उसे सुगन्ध इतनी प्रिय है कि वह उसीके लिये मतवाला हुआ कभी गुलाबपर बैठता है, कभी जुहीपर जाता है, कभी बेलेपर गुनगुनाता है और कभी मालतीपर गूँजने लगता है। इस प्रकार अतृप्तिपूर्वक भटकता-भटकता जब वह सायंकालके लगभग विकसित कमलकुसुमपर पहुँचता है तो उसकी मतवाली सुगन्धमें ऐसा विमुग्ध हो जाता है कि वहाँसे उड़ना भूल जाता है। तब सूर्यदेवके अस्ताचलकी ओटमें होते ही वह कमलकोश मुँदता है और वह भ्रमर उसीमें बँध जाता है। इसी प्रकार यह जीव सुखकी इच्छासे विविध विषयोंमें भटका करता है। इस प्रकार भटकते-भटकते जिस समय इसे सत्संग-सुख प्राप्त होता है उस समय यह अन्यत्र जाना

भूलकर उसीमें बँध जाता है। किन्तु उस सत्संग-सुखको प्राप्त करनेके लिये इसे विषयोंसे दूर रहना चाहिये। जिस प्रकार बहुत-से छिद्रोंवाले घड़ेमें जल नहीं ठहर सकता उसी प्रकार विषयलम्पट चित्तमें भजनका आनन्द नहीं ठहरता। अतः सबसे पहले चित्तकी विषयासक्तिका मार्जन करना चाहिये। इसके लिये—

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥*

—इस श्लोकके तात्पर्यपर सर्वदा दृष्टि रखनी चाहिये।

प्रश्न—आजकल यह सब होना तो बहुत कठिन है, कोई सुगम उपाय बतलाइये।

उत्तर—सुगम कुछ भी नहीं है। जबतक प्रेम नहीं होता तबतक कोई भी साधन सुगम नहीं होता। प्रेम होनेपर तो सभी सुगम हो जाता है। देखो, स्त्रीलम्पटोंको स्त्रीकी प्राप्तिके लिये कितना उद्योग करना पड़ता है, धनेच्छुकोंको धनोपार्जनमें कितनी झंझटोंका सामना करना होता है तथा विद्यार्थियोंको विद्यालाभके लिये कितने परिश्रमकी आवश्यकता होती है; किन्तु जिनका उनमें अनुराग है वे सब प्रकारकी अड़चनोंका सामना करके भी उनके लिये प्रयत्न करते ही हैं। इस प्रकार जब साधारण विषयोंकी प्राप्तिके लिये इतने प्रयासकी आवश्यकता है तो भगवत्प्राप्तिके लिये उद्योग करनेमें डरनेका क्या कारण है? हमारा यह भय हमारी लगनकी कमीके कारण है। जिन्हें तीव्र अनुराग और सुदृढ़ विश्वास है उनके लिये कुछ भी कठिन नहीं होता।

एक बार एक वैश्यने गोस्वामी तुलसीदासजीके पास जाकर उनसे भगवद्दर्शन करानेकी प्रार्थना की। उसका अधिक आग्रह देखकर श्रीगोसाईंजीने कहा—'तुम एक वृक्षके नीचे भाला गाड़कर उसके ऊपर कूद पड़ो। इससे तुम्हें भगवान्‌का दर्शन हो जायगा।' वैश्यने जाकर एक पेड़के नीचे भाला खड़ा किया और वृक्षपर चढ़कर उसपर कूदनेका विचार किया। परन्तु प्राणोंके लोभने उसके चित्तमें हलचल पैदा कर दी! इतनेहीमें उधर एक क्षत्रियकुमार आ निकला। उसने यह सब देखकर उससे उसका कार पूछा। वैश्यने सारा रहस्य बतला दिया। यह सुन क्षत्रियकुमारने उस वैश्यको थोड़ा-सा धन देकर विदा कि और, यह सोचकर कि गोसाईंजीका वाक्य कभी मि नहीं हो सकता, स्वयं वृक्षपर चढ़कर उस भालेके ऊ कूद पड़ा। किन्तु भगवान्‌ने भालेतक पहुँचनेके पूर्व ही उ अपनी गोदमें ले लिया। इस प्रकार श्रद्धा और विश्वास महिमासे वह सहजहीमें भगवद्दर्शन पाकर कृतार्थ हो गया अतः यदि विश्वास हो तो संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है

प्रश्न—लोग कहते हैं कि संतोंको सर्वस्व समर्पण करे पर फिर कोई भय नहीं रहता।

उत्तर—समर्पणका अर्थ तो यही न है कि फिर उस हम अपना स्वत्व न समझें। यदि हम समर्पित वस्तु अपना अधिकार समझते रहें तो समर्पण ही कहाँ हुआ अतः यदि हम किन्हीं संतको अपना चित्त समर्पित कर हैं तो न्यायतः उसपर हमारा अधिकार नहीं रहना चाहि और जब उसपर हमारा कोई अधिकार नहीं है तो ह विषयसेवनमें उसका उपयोग कैसे कर सकते हैं? इ प्रकार जब हम चित्तको विषयोंकी ओर न जाने देंगे तो ह भगवत्प्राप्ति हो ही जायगी और भगवत्प्राप्ति हो जानेपर ह किसी प्रकारका भय रहना भी सम्भव नहीं है।

प्रश्न—परन्तु इसका क्या कारण है कि इच्छा होनेपर भ हमारा भगवान्‌में प्रेम नहीं होता?

उत्तर—जिसका जिसकी ओर आकर्षण होता है उ उसकी याद बनी ही रहती है। यदि हमारे मनका म निवृत्त हो जाय तो भगवान्‌की ओर उसका आकर्षण ह सकता है। हम भगवान्‌के सच्चे प्रेमी तभी कहे जा सक हैं जब हम उनकी आज्ञाओंका पालन क.। भगवान्‌ आज्ञा है—'सत्यं वद, धर्मं चर, मातृदेवो भव, पितृदेवो भ आचार्यदेवो भव' इत्यादि। अतः यदि हमें भगवत्प्रेम उपार्ज करना है तो सबसे पहले भगवान्‌की आज्ञाओंका पाल करना चाहिये। जो मनुष्य अपने स्वामीकी चापलूसीमें त लगा रहता है परन्तु उसकी आज्ञाओंकी ओर कुछ भ ध्यान नहीं देता, उसे सच्चा स्वामिभक्त नहीं कहा जा सकता

---

* जो परस्त्रियोंमें माताके समान, परधनमें मिट्टीके ढेलेके समान और समस्त प्राणियोंमें आत्माके समान दृष्टि रखता है वह पण्डित है।

प्रश्न–किन्तु क्या हमारा जन्मान्तरका संस्कार हमें पापोंपर विजय प्राप्त करने देगा ?

उत्तर–यदि हमारा अभ्यास प्रबल हो तो हम जन्मान्तरके संस्कारोंपर भी विजय प्राप्त कर सकते हैं। यदि जीवमें ऐसी स्वतन्त्रता न होती तो शास्त्रविहित साधनोंका क्या प्रयोजन हो सकता था। यदि पूर्वसंस्कारोंपर विजय प्राप्त करना सर्वथा असम्भव होता तो सत्संगादिसे भी क्या लाभ होता। परन्तु बात ऐसी नहीं है। यदि दृढ़ निश्चय हो तो भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो ही जायगी। इस विषयमें एक आख्यायिका प्रसिद्ध है। एक फकीर थे, वे एक महात्माकी कीर्ति सुनकर उनके दर्शनार्थ गये। महात्माके आश्रममें, जहाँ वे नमाज़ पढ़ते थे, तीन गढ़े बने हुए थे। उन्होंने उनका कारण पूछा तो मालूम हुआ कि नमाज़ पढ़ते समय महात्माके घुटने और मस्तकको रगड़ लगते-लगते वहाँ तीन गढ़े हो गये हैं। यह सुनकर फकीरको महात्माके प्रति अत्यन्त श्रद्धा और कुतूहल हुआ। कुछ देरमें महात्मा नित्यकर्मसे निवृत्त होनेको चले गये। उसी समय यह आकाशवाणी हुई कि 'मुझे इस साधुकी नमाज़ मंजूर नहीं है।' यह सुनकर फकीर साहब रोने लगे। उन्होंने सोचा, जब इतने बड़े तपस्वीकी उपासना भी ईश्वरको मंजूर नहीं है तो मेरी क्या गति होगी! इतनेहीमें महात्माजी नित्यकर्मसे निवृत्त होकर लौटे और उन्हें रोते देखकर उसका कारण पूछा। जब उन्हें सारा वृत्तान्त विदित हुआ तो वे हर्षसे नाचने लगे और उन फकीरसाहबसे कहा—'भाई, तुम मेरे विषयमें कही हुई बातको सुनकर क्यों दुखी होते हो, मुझे तो इसीसे परम सन्तोष है कि भगवान्‌को मेरी उपासनाका पता तो है।' महात्माके यह कहते ही पुनः आकाशवाणी हुई—'मंजूर है, मंजूर है।' इसी प्रकार यदि हमारा अटल निश्चय हो तो हमें भगवत्प्राप्ति हो ही जायगी।

प्रश्न–माता तो अपने कुपुत्रपर भी कृपा ही करती है; इसी प्रकार क्या परमकृपालु भगवान् हमारे अवगुणोंकी ओर न देखकर हमपर अपनी अपार कृपाकी वर्षा न करेंगे ?

उत्तर–नहीं, यदि पुत्र निरन्तर कुकर्ममें ही प्रवृत्त रहे तो माता भी उसका त्याग कर देती है। हाँ, यदि वह अपने पापाचारके लिये पश्चात्ताप करके भविष्यमें उससे बचनेकी प्रतिज्ञा करे तो माता उसके पूर्वकृत दुष्कर्मोंको भुला देती है। इसी प्रकार यदि हम अपनी दुष्प्रवृत्तिके लिये पश्चात्ताप करें और भगवान्‌की कृपापर हमारा पूर्ण विश्वास हो जाय तो प्रभु हमें क्षमा कर देंगे। किन्तु जबतक हम पापोंकी ओर प्रवृत्त रहेंगे तबतक हमारे उद्धारकी कोई आशा नहीं है। जो पुरुष परस्त्रीगमनादि पापोंमें निरत हैं उनपर भगवत्कृपा नहीं हो सकती।

हाँ, हमारा यह अनुभव अवश्य है कि बिना पूर्व पुण्योंके जीवकी भगवान्‌की ओर प्रवृत्ति नहीं होती, और भगवान्‌की ओर प्रवृत्ति होते ही किसी प्रकारके पाप-ताप नहीं टिक सकते। जिस समय कोई कुलीना स्त्री पनघटपर आती है उस समय यदि वहाँ कोई मैली-कुचैली निम्नजातीया स्त्री होती है तो वह स्वयं ही हट जाती है। इसी प्रकार भक्तिका आविर्भाव होनेपर कुप्रवृत्ति स्वयं ही दूर हो जाती है।

प्रश्न–इसका क्या कारण है कि बहुत-से लोग भगवन्नाम लेनेपर भी पापमुक्त नहीं होते ?

उत्तर–हमने तो ऐसा एक भी पुरुष नहीं देखा जो भगवन्नाम लेता हो और पापोंमें भी प्रवृत्त हो। हाँ, जो दम्भपूर्वक केवल दिखानेके लिये ऐसा करता है वह अवश्य पापग्रस्त रहता है। अन्यथा नामके प्रभावसे तो पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

नामप्रभाउ जान सिव नीकें। कालकूट फलु दीन्ह अमीकें॥

नामजप करते-करते भगवत्प्रेम होता है, और उसके प्रभावसे सारे पाप तत्काल दग्ध हो जाते हैं। जिसे भगवान्‌के प्रति प्रेम है उसपर तो स्वतः ही पूर्ण भगवत्कृपा हो जाती है। इस विषयमें हम एक दृष्टान्त सुनाते हैं—एक बहुत दरिद्र आदमी नित्यप्रति कलक्टर साहबकी कोठीके कुएँपर स्नानकर कोठीके सामने सलाम कर आता था। उसका नित्यप्रतिका यही नियम था। उसने कभी कोई कामना प्रकट नहीं की। कलक्टर साहबके सेवकोंने बहुत पूछताछ भी की, परन्तु उसने कोई इच्छा प्रकट नहीं की। धीरे-धीरे यह बात कलक्टर साहबके कानोंतक पहुँची। उन्होंने उसके नियत समयपर बाहर आकर उससे इसका कारण पूछा। उसने केवल यही कहा कि मुझे कोई इच्छा नहीं है; आप हमारे शासक हैं, इसलिये आपको प्रणाम करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। उसकी इस निःस्पृहतासे कलक्टर साहब बहुत प्रसन्न हुए। कल्पना कीजिये कि यदि वह आदमी किसी अपराधमें बन्दी होकर कलक्टर साहबके सामने आवेगा तो वे यथाशक्ति उसे दण्डमुक्त करनेकी ही चेष्टा करेंगे। इसी प्रकार जो पुरुष नित्य निष्काम-

भावसे भगवान्‌की वन्दना करता है उससे यदि प्रमादवश कोई अपराध हो भी जाता है तो भगवान् उसे क्षमा ही कर देते हैं। किन्तु उचित तो यही है कि यदि हम भगवद्भजनमें तत्पर हैं तो हमारा आचरण भी उसीके अनुरूप होना चाहिये। 'यथायोग्यं तथा कुरु'। इस विषयमें एक कहावत है—'मुर्देका स्वाँग तो 'सी'का क्या काम'। यह प्रसङ्ग इस प्रकार है—एक बार एक चोर राजाके यहाँ चोरी करके भागा। राजाने कुछ खोजियोंके साथ उसका पीछा किया। चोर भागता-भागता एक नदीके तीरपर श्मशानमें पहुँचा। वहाँ कई मुर्दे पड़े हुए थे। आगे जानेका कोई मार्ग नहीं था। अतः वह कफन ओढ़कर मुर्दा बन वहीं लेट गया। कुछ देर पीछे राजा अपने खोजियोंके सहित वहाँ पहुँचा। राजाने एक खोजीको चोरका पता लगानेकी आज्ञा दी। खोजीने इधर-उधर घूमकर देखा तो उसे वहाँसे भागकर निकलनेका कोई मार्ग दिखायी न दिया। अतः उसने राजासे प्रार्थना की, 'महाराज, मैंने बहुत खोजा किन्तु यहाँसे भागकर निकलनेका कोई मार्ग दिखायी नहीं देता; मालूम होता है, चोर नदीमें डूब गया।' इसपर राजाने कहा—'हम कोई बहाना नहीं सुनना चाहते; या तो चोरका पता लगाओ, नहीं तो तुम्हें प्राणदण्ड दिया जायगा।' तब खोजीने प्रत्येक मुर्देके ऊपर कूद-कूदकर देखा; वह उस चोरके ऊपर भी कूदा; परन्तु वह टससे मस न हुआ। खोजी फिर निराशा प्रकट की। परन्तु राजाने पुनः डपटकर कहा-'या तो चोरका पता लगाओ, नहीं तो अभी मार जाओगे।' तब उसने एक भाला लेकर प्रत्येक मुर्देको छे आरम्भ किया। उस चोरको भी छेदा, भाला उसकी जं आरपार हो गया, लोहूकी धारा बहने लगी, परन्तु चो सी न की। खोजीने लोहूकी धारासे पहचान लिया कि मुर्दा बनकर पड़ा हुआ पुरुष ही चोर है, किन्तु उस ऐसी हिम्मत देखकर उसने उसके प्राणोंको संकटमें डाल उचित न समझा। अतः राजासे प्रार्थना की—'अन्नदा चोर इन मुर्दोंमें ही है; परन्तु यदि आप उसे प्राणदान तो मैं उसे बता सकता हूँ।' राजाने कहा—'जिन मुर्दों तुमने छेदा है यदि इनमेंसे ही कोई चोर है तो मैं उसे क्ष करता हूँ।' राजाका यह वचन सुनते ही चोर उठ हुआ और झुककर राजाका अभिवादन किया। रा उसके इस प्रकार निश्चल रहनेका कारण पूछा तो उ कहा—'महाराज, मुर्देका स्वाँग तो 'सी'का क्या काम।' प्रकार हमें भी उचित है कि यदि हम संसारमें भक्त सत्पुरुष कहलाते हैं तो हमारा आचरण उसीके अनु होना चाहिये। हमें अपनी तुच्छ वासनाओंकी पूर्तिके भक्त और संतोंके बानेको कलङ्कित नहीं करना चाहिये।

अधिकारकी आवश्यकता

(एक गङ्गातीरनिवासी विरक्त महात्माका प्रसाद)

प्र०—संसारसे वैराग्य और परमात्माकी ओर प्रवृत्ति कैसे हो?

उ०—शास्त्रके अनुसार प्रयत्न करनेसे ऐसा हो सकता है; कहने-सुननेसे क्या होगा! देखो, सभी विषयोंमें तारतम्य है; अतः इनकी प्राप्तिसे कभी शान्ति नहीं मिल सकती। अधिक-से-अधिक वैभवशाली पुरुषका भी पराभव होता देखा जाता है। इस प्रकार विषयोंको नाशवान् और दुःखमय देखकर यदि इनमें विष्ठाके समान ग्लानि हो जाय तो फिर इनकी ओर किस प्रकार प्रवृत्ति हो सकती है? अतः निरन्तर वैराग्य और अभ्यासका ही आश्रय लेना चाहिये।

प्र०—अभ्यास किस प्रकार किया जाय?

उ०—इस कार्यको हम अवश्य कर लेंगे—इस प्रकारके मानसिक उत्साहका नाम अभ्यास है। 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'। नदीके दो प्रवाहोंके समान मनके भी दो प्रवाह हैं (१) संसारकी ओर और (२) परमात्माकी ओर। यदि संस की ओर होनेवाले प्रवाहमें बन्ध लगा दिया जाय तो चि नदीका प्रवाह स्वभावतः ही परमात्माकी ओर हो जायगा

प्र०—वैराग्य किसे कहते हैं?

उ०—पदार्थोंमें ग्लानि हो जाना ही वैराग्य है। वेदान का तो यह सिद्धान्त है कि मनुष्य विवेक-वैराग्यादि साध चतुष्टयका सम्पादन किये बिना वेदान्तश्रवणका अधिका ही नहीं होता। पहले पदार्थोंकी असलियतपर विचार कि जाता है; जब चित्तमें उनकी अनित्यता और अशुचिता पूर्ण निश्चय हो जाता है तब उनकी ओर आकर्षण नहीं रहता इसीको वैराग्य कहते हैं।

प्र०—कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिसके द्वारा सुगमत ही काम बन जाय।

उ०–पूरा काम तो, जैसा पढ़ा-लिखा जाय उसीके नुकूल आचरण करनेसे हो सकता है। चित्तके तीन दोष—मल, विक्षेप और आवरण। इनमें शुभकर्मोंसे मलकी वृत्ति होती है, उपासनासे विक्षेपकी शान्ति होती है और नसे आवरण भङ्ग होता है। उपासना दो प्रकारकी है—कार और निराकार। पहले साकार-उपासनाद्वारा जब चित्त कुछ संयत हो जाता है तब उसकी प्रवृत्ति निराकार उपासनामें हो सकती है—'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या'। 'मल' पोंको कहते हैं और 'विक्षेप' चित्तकी चञ्चलताको। मल और विक्षेपसे मुक्त हो जानेपर चित्त शुद्ध हो जाता है। इस कार मल और विक्षेपसे मुक्त हुआ साधनचतुष्टयसम्पन्न चित्त ही वेदान्तश्रवणका अधिकारी है। जो लोग इस तरह अधिकार प्राप्त करके परमार्थपथमें प्रवृत्त होते हैं वे ही पूरी सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

प्र०–साधनचतुष्टय कौन-कौन-से हैं ?

उ०–विवेक, वैराग्य, शम-दमादि षट्सम्पत्ति * और मुमुक्षुता। ये ज्ञानप्राप्तिके बहिरङ्ग साधन हैं।

प्र०–अन्तरङ्ग साधन कौनसे हैं ?

उ०–श्रवण, मनन और निदिध्यासन। अद्वितीय तत्त्व और उसके प्रतिपादक महावाक्योंका अर्थश्रवण 'श्रवण' कहलाता है, भेदकी बाधक और अभेदकी साधक युक्तियोंसे विचार करना 'मनन' है तथा सजातीय वृत्तियोंके प्रवाहका नाम निदिध्यासन है।

प्र०–भगवन्! आजकल पूर्णतया साधनसम्पन्न होना तो बड़ा कठिन है; कोई सरल उपाय बतलानेकी कृपा कीजिये।

उ०–भाई! सरल तो संसारमें कुछ भी नहीं है। साधारण रुपये-पैसेके लिये भी मनुष्यको कितना प्रयत्न करना पड़ता है और उसे कितना गुप्त रक्खा जाता है ? फिर ब्रह्मबोध-जैसी अमूल्य वस्तुके लिये क्या ढीलसे काम चल सकता है ? अतः इसके लिये खूब अभ्यास करना चाहिये।

प्र०–कहते हैं, भगवान् और महात्माओंकी तो कृपासे ही तत्त्वसाक्षात्कार हो जाता है।

उ०–भगवान् और महापुरुषोंकी कृपा तो सभीपर है; परन्तु वह प्रतिफलित शुद्ध चित्तपर ही होती है। ठीक-ठीक रंग तो स्वच्छ वस्त्रपर ही चढ़ सकता है; इसी प्रकार तत्त्वका साक्षात्कार भी अधिकारीको ही हो सकता है। अतः उस कृपाकी प्राप्तिके लिये अधिकार प्राप्त करना चाहिये।

अद्वैत-वेदान्तका सदुपदेश

(श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ श्रीस्वामी १०८श्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराज मण्डलेश्वरजीके विचार)

याद रक्खो ! हिन्दूधर्मका मूलस्तम्भ एवं निखिल-शक्तियोंका केन्द्र एकमात्र ब्रह्मविद्या है, इसी आनन्दप्रदायिनी अत्युत्तम परम पवित्र ब्रह्मविद्याके बलसे ही हिन्दूजातिका पूर्ण समुत्थान हुआ था और होगा। अतएव भगवान् गीतामें कहते हैं—

'राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।'

ब्रह्मविद्याके सेवनसे ही मनुष्य ओजस्वी, तेजस्वी, प्रतापी, धीर, वीर, गम्भीर, उदार, स्वार्थत्यागी एवं आनन्दभागी होता है। इस ब्रह्मविद्याके सच्चे उपासक सारे प्रमाद एवं विषयासक्तिका परित्याग कर सदाके लिये निर्भय हो जाते हैं। कायरता, दुर्बलता, मलिनता आदि तो उनके पास फटकनेतक नहीं पातीं। उपनिषद् ही ब्रह्मविद्याका पवित्र भण्डार हैं। उपनिषदोंसे ही गीताका जन्म हुआ है। ब्रह्मविद्या ही विशुद्ध भगवत्प्रेम एवं अनन्य भक्ति है।

× × × ×

याद रक्खो ! अगर सिरपर तोपके गोले बरसाकर विविध दुःखोंको बुलाना पसंद करते हो तो अपने शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूपको भूलकर तुच्छ देहाभिमानरूपी कीचड़में बेशक फँस जाओ। अगर चूनेके गोलेको माखनका पेड़ा समझकर उसे खाना पसन्द करते हो तो सत्य तत्त्वकी अवज्ञा कर मिथ्या नाम-रूपके पीछे धक्के खाओ। अगर फूसकी प्रचण्ड आगमें पच-पचकर मरना चाहते हो तो संसारको सत्य मानकर उसमें आसक्त बने रहो। सावधान ! होशमें आ जाओ। निश्चय करो, एकमात्र ब्रह्म—आत्मा ही शाश्वत है। यह ध्रुव

---

* शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा।

सत्य है। तमाम संसार धोकेकी टट्टी है, झूठके पीछे पड़नेवालेका बेड़ा गरक हो जायगा। श्रुति भगवती डंकेकी चोट पुकारती है—

‘तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ’
(मु० उ०)

‘सत्यमेव जयते नानृतम्’ (मु० उ०)

‘उस एक आत्माको ही जानो, अन्य वाणीको छोड़ो।’ ‘सत्यकी ही जय होती है, झूठकी नहीं।’

× × × ×

सर्वात्मदृष्टिको स्थिर करो; सर्वात्मदृष्टि तभी स्थिर होगी, जब तमाम संसारसे अच्छी-बुरी भावना निकल जायगी, भेद-भावना हृदय-भवनमें रहने ही न पायेगी। सर्वात्मदृष्टिको छोड़कर राग-द्वेषरूपी प्रचण्ड अग्निमें जलते रहना नितान्त मूर्खता है। समुद्रकी छोटी-बड़ी, ऊँची-नीची, तिरछी-सीधी आदि अनेक तरङ्गें हों; उससे क्या ? परन्तु निश्चय करो, उनकी सत्ता, उनका जीवन समुद्रसे अलग नहीं है। इसी प्रकार अच्छे-बुरे, अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष आदि तरङ्गें हैं, उन सबमें एक ही निर्विकार ब्रह्मरूपी समुद्र ओत-प्रोत है। सर्वात्मदृष्टि होनेसे सम-धी यानी समाधि हो जायगी, छातीमें शीतलता आ जायगी, हृदय आनन्दोद्रेकसे लबालब भर जायगा; बस यही पुरुषार्थ है। विषमदृष्टिके रहते शान्ति कहाँसे हो ? अतः सर्वात्मदृष्टिको दृढ़ करो। सर्वात्मदृष्टिका महान् फल है। वेद भगवान् स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं—

न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्।
सर्वꣳह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः॥
(छा० उ०)

अर्थ—जब इस महापुरुषकी सर्वात्मदृष्टि स्थिर हो जाती है, तब उसके पास रोग, दुःख एवं मौत फटक नहीं सकते। उस सर्वाभिन्नतत्त्वका साक्षात्कार कर लेनेपर क्या नहीं जाना जाता ? क्या नहीं मिल सकता ? अर्थात् सब कुछ जाना जाता है, हर प्रकारसे तमाम पदार्थ मिल जाते हैं।

× × × ×

याद रक्खो ! देहके जीवनसे आपका जीवन नहीं है। देहके मरनेसे आप नहीं मर सकते। देहके मान-अपमानसे और निन्दा-स्तुतिसे आपका मान-अपमान व निन्दा-स्तुति नहीं हो सकती। प्राणोंकी क्षुधा-पिपासासे आप क्षु एवं पिपासावाले नहीं हो सकते। मनके राग-द्वेषादिसे रागी-द्वेषी नहीं बन सकते। वस्तुतः आप देहादिक प्रपञ्चसे पृथक् हैं, असङ्ग हैं। आकाशकी तरह ब्रह्माण्डके बाहर-भीतर परिपूर्ण रूपसे विराजमान हैं। अचल हैं, और सब चलायमान है। आप ही ब्रह्मा आधार हैं। आपके तटस्थ होनेपर किसीकी भी सत्ता नहीं हो सकती। आपकी ही सत्तासे यह मन आदिक नाचता फिरता है। इस असली तत्त्वका सतत अनुभव दृढ़ पुरुषार्थके सामने कुछ भी असम्भव नहीं।

× × × ×

दृढ़ निश्चय करो ! मैं अल्प नहीं हूँ। अग्नि दग्ध नहीं कर सकती। तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्र मेरे टुकड़े कर सकते। पवन मुझे सुखा नहीं सकता। जल भिगो सकता। विकराल काल मुझे मार नहीं सकता। अजर-अमर हूँ, निष्काम हूँ, शुद्ध हूँ, असंग हूँ, स हूँ, अचल हूँ, सनातन हूँ, सच्चिदानन्द हूँ। अहो ! सब आनन्द ही है। मैं वही आनन्द हूँ, अभिन्न हूँ; अद्वय, व्यापक वासुदेव हूँ। अहा !! सब जगह सब आनन्द-ही-आनन्द है !!

× × × ×

अपने व्यापक अविनाशी आत्मामें ‘अहं ब्रह्मा इस प्रकार ब्रह्मपनेका अभिमान अवश्य कल्याणकारी वस्तुतः ‘अहं ब्रह्मास्मि’ ऐसा भाव अभिमान नहीं, किन्तु परिच्छिन्न देहादिके अभिमानका नाश करनेवाली भावना है।

‘अहं ब्रह्मास्मि’ यही सच्चा मन्त्र है, यही संसा सर्पके भयंकर विषका नाशक है। भगवती श्रुति अक्षरोंमें कह रही है—

‘अहं ब्रह्मास्मि’ मन्त्रोऽयं ज्ञानानन्दं प्रयच्छति।
सप्तकोटि महामन्त्रं जन्मकोटिशतप्रदम्॥
सर्वमन्त्रान् समुत्सृज्य एतं मन्त्रं समभ्यसेत्।
सद्यो मोक्षमवाप्नोति नास्ति सन्देहमण्वपि॥
(तेजोबिन्दूपनिषत् श्लो० ७३,

अर्थ—'अहं ब्रह्मास्मि' यह महामन्त्र ज्ञान और आनन्दको देनेवाला है। और जो सात करोड़ महामन्त्र हैं, वे करोड़ों जन्मोंके देनेवाले हैं। अतः इन सब मन्त्रोंको छोड़कर अधिकारीको इसी मन्त्रका बार-बार अभ्यास करना चाहिये। इसका अभ्यासी शीघ्र मुक्तिको प्राप्त होता है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है।

× × × ×

साधको! भावना करो—मैं देह नहीं हूँ, एवं 'इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि भी नहीं हूँ, अल्प-परिच्छिन्न नहीं हूँ, किन्तु सर्वान्तर्यामी साक्षी ब्रह्म ही मैं हूँ। 'अहं ब्रह्मास्मि'। 'सोऽहम्'। ॐ इस गुरु मन्त्रको हरवक्त अपने सामने रक्खो। इस मन्त्रको एकबार समझकर अलंबुद्धि मत करो, बार-बार इसके असली तत्त्वका अनुसन्धान करो। यही भगवान्‌की असली पूजा है। याद रक्खो! जीना-मरना, क्षुधा-पिपासा, सुख-दुःख, राग-द्वेष, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, अभिमान, काम, क्रोध, लोभ, नाम, रूप, जाति, सम्बन्ध ये सब धर्म देहके हैं। जब आप देहसे पृथक् हैं, तब देहके धर्म आपमें कैसे हो सकते हैं।

× × × ×

निश्चय करो!! यह संसार संकल्पका बना हुआ है; इसमें जो कुछ है, या जो कुछ होगा वह सब संकल्पके आधार है। अज्ञानसे ही संकल्पकी सृष्टि है। मनुष्य जैसा बनना चाहे, वैसा दृढ़ संकल्प करके बन सकता है। संकल्प कभी निष्फल नहीं होते; चाहे वे शुद्ध हों या अशुद्ध, देर या सबेर, इस जन्ममें या जन्मान्तरमें उनका फल अवश्य मिलेगा। अज्ञानके नाशसे ही संकल्प-सृष्टिका नाश होता है, अतः अज्ञानके नाशके लिये ज्ञानका सम्पादन करो।

× × × ×

याद रक्खो! नाम और रूप (आकृति) सर्वदा बदलते रहते हैं। जितने पदार्थ बदलते रहते हैं, वे सब मायाके हैं; स्वप्नमें देखे हुए अनेक पदार्थ, मरुस्थलका जल, जादूगरके पदार्थ और रस्सीमें सर्प, सत्य नहीं हैं। अस्ति-भाति-प्रियरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म ही केवल कभी बदलता नहीं, किन्तु सदा एकरस रहता है। चिदात्मामें जितने नाम और रूप दीखते हैं, वे सब मिथ्या हैं, उनका बाध करो। 'नेति-नेति' इस श्रुति-प्रमाणसे द्वैतप्रपञ्चका अभाव निश्चय करो। उसका बाध करके देखोगे तो एक अद्वैत तत्त्व ही परिशिष्ट रहेगा, यही सबका आत्मा आनन्दरूप है। तुम, हम और यह समस्त जगत् उससे भिन्न नहीं है। उसी तत्त्वमें अपने मनकी दृढ़ धारणा करो, यही मुमुक्षु साधकोंका प्रधान उद्देश्य होना चाहिये।

प्रेषक—स्वामी श्रीवासुदेवानन्दजी

* * *

माध्वसिद्धान्त

(लेखक—श्रीमन्मध्वसम्प्रदायाचार्य दार्शनिकसार्वभौम, साहित्यदर्शनाद्याचार्य, तर्करत्न, न्यायरत्न गोस्वामी श्रीदामोदरजी शास्त्री)

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम॥

अखिल विश्वमें चेतनाचेतनात्मक दो ही पदार्थ हैं, अचेतनसंबद्ध विचारशास्त्रको 'विज्ञान' कहते हैं और चेतनसम्बन्धी निर्णयशास्त्रको 'दर्शन' कहते हैं। इस 'दर्शन'के मुख्य दो विभाग हैं—वैदिक और अवैदिक; पुनः प्रत्येकके दो भेद हैं—ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी; इस प्रकार कुल चार विभाग हुए। इन चार विभागोंमें प्रत्येकके तात्पर्यभेदसे अनेक अवान्तर भेद हैं।

वस्तुतस्तु—सर्वसमन्वयदृष्टिसे यथार्थ विरोध कहीं भी नहीं है, जिसकी मीमांसा अन्यत्र की गयी है।

इन दर्शनोंमें जो ईश्वरवादी वैदिक दर्शन हैं उनमें अनेक कारणोंसे 'उत्तरमीमांसा' नामक वेदान्तदर्शन ही सर्वप्रधान है, जिसमें सर्वतोभावेन ब्रह्मतत्त्वोपपादन ही मुख्य उद्देश्य है। इसमें भी दो मार्ग हैं—निर्विशेष ब्रह्मवाद, जो 'अद्वैतवाद'के नामसे प्रसिद्ध है, और सविशेष ब्रह्मवाद। यह सविशेष ब्रह्मवाद पाँच प्रकारका है—विष्णुपरक, शिवपरक, शक्तिपरक, सूर्यपरक और गणपतिपरक। इनमें भी हर एकके कई प्रभेद हैं, प्रथम विष्णुपरक विभागके चार विभाग हैं—विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद और द्वैतवाद।

इनमें अन्तिम जो 'द्वैतवाद' है, उसके सर्वप्रथम उपदेष्टा चतुर्मुख श्रीब्रह्मदेव हैं। अनन्तर परम्परासे कलियुगमें श्रीमदानन्दतीर्थापरनामक 'श्रीमध्वाचार्य' ही प्रथम उपदेष्टा हुए, अतएव द्वैतसिद्धान्तप्रतिष्ठापनाचार्य विरुदसे भी इनका परिचय प्रसिद्ध है। इन्होंने जिस अनादिसिद्ध सम्प्रदायका प्रकाश या प्रचार किया उसीको शास्त्रोंमें एवं व्यवहारमें 'माध्वसम्प्रदाय' कहते हैं।

इस सम्प्रदायके प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्योंने सिद्धान्त

तथा उपासनाके विषयमें प्रमाण-प्रमेयोंके विचारमें जितने ग्रन्थ लिखे हैं उनका हिसाब अनुष्टुप्छन्दके परिमाणसे नियुत (दस लाख) से कम न होगा, अतः आचार्योंने अति संक्षेपसे दिग्दर्शन करानेके अभिप्रायसे माध्वसम्प्रदायके मन्तव्योंका एक शार्दूलविक्रीडितवृत्तमें संनिवेश कर दिया है; उसीको हम नीचे उद्धृत करते हैं—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः ।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः ॥

इसमें नौ सिद्धान्त कहे गये हैं, इन्हींमें सम्प्रदायका सारा रहस्य आ गया है—

(१) श्रीमध्वसम्प्रदायमें श्रीविष्णु ही सर्वोच्च तत्त्व हैं। अर्थात् चेतन दो प्रकारके हैं—जीव और ईश्वर। दोनोंका स्वरूप है सच्चिदानन्दात्मक; परन्तु 'जीव' माया-मोहित है, अतएव अनादिकालसे बद्ध है, तथा अज्ञत्वादि नाना धर्मोंका आश्रय है और 'ईश्वर', जो विष्णु नामसे प्रसिद्ध हैं सर्वज्ञत्व, अनन्तशक्तिसंपन्नत्व आदि अपरिमित अप्राकृत कल्याणगुणोंके आश्रय हैं, अतएव चेतनद्वयमें अति प्रशस्त हैं।

(२) जगत् सत्य है, अर्थात् 'रज्जुसर्प' न्यायसे मिथ्या नहीं है। क्योंकि स्वतःप्रमाण वेदने भगवान्को सत्यसंकल्प कहा है, सत्यसंकल्पका बनाया पदार्थ मिथ्या नहीं हो सकता।

(३) भेद वास्तविक है। भेदशब्दमें जो एकवचनार्थक विभक्ति लगी हुई है, वह भेदत्वरूप धर्मके तात्पर्यसे है; वैसे तो भेदके भी पाँच अवान्तर भेद समझने चाहिये—जीव-ईश्वरका भेद, जीव-जडका भेद, ईश्वरजडका भेद, परस्पर भेद और जडोंका परस्पर भेद। ये सभी वस्तुतः हैं; इनमें कोई भी औपचारिक नहीं है।

(४) जीवगण सब ईश्वरके अधीन हैं अर्थात् का सकल सामर्थ्य भगवदधीन है।

(५) जीवोंमें तारतम्य है अर्थात् केवल संसा ही नहीं प्रत्युत मोक्षमें भी मिथः जीवोंका ता रहता है।

(६) स्वरूपघटक आनन्दका प्रतिद्वन्द्विसम्पर्क आवरणशून्य साक्षात्कार जीवका मोक्ष है।

(७) मोक्षका मुख्य साधन 'अमला भक्ति' अर्थात् फलाभिसन्धिरूप, मलरहित जो भगवान्में प्री वही मुक्तिका प्रधान उपाय है।

(८) समस्त वेदोंके द्वारा वेद्य भगवान् विष्णु अर्थात् यद्यपि वेदोंके प्रतिपाद्य आपाततः बहुत प्रतीत हो तथापि साक्षात् और परम्परासे वेदोंका तात्पर्य प्रधा भगवत्तत्त्वप्रतिपादनमें ही है।

(९) प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन ही प्र हैं। भाव यह कि वस्तुसिद्धि प्रमाणाधीन होती है, उक्त प्रमाणोंसे ही अखिल प्रमेय साधित होते हैं। दार्शनिकोंने इससे न्यून तथा अधिक भी प्रमाण मा परन्तु इनसे अधिक प्रमाण इन्हींमें गतार्थ हो जाते हैं, न्यूनतामें निर्वाह नहीं होता; अतः तीन ही प्रमाण माध्वसि को मान्य हैं।

इस प्रकार माध्वसिद्धान्त 'स्थालीपुलाक' न्य दिखलाया गया। इसके भीतर सभी मन्तव्योंकी प्रामाणि है जिसका निरूपण विस्तारभयसे छोड़ दिया गया है।

वेदान्तज्ञानकी प्रक्रियाएँ*

(लेखक—श्रीअरविन्द)

भागवतसत्ताके होनेका भाव और ज्ञान हमें इन्द्रियग्राह्य ज्ञानके परे पहुँचने और भौतिक मन-बुद्धिकी भीतको भेदनेसे प्राप्त होता है। इस ज्ञानके जो साधक करण हैं उनमें सबसे पहला करण विशुद्ध बुद्धि है। मानव बुद्धि द्विविध है, मिश्र या अन्याश्रित, और विशुद्ध वा स्वाश्रित। बुद्धिका कार्य मिश्र तब होता है जब वह अपने-आपको इन्द्रियानुभवकी परिधिमें बाँध रखती है, उसीके नियमको परम सत्य मानती है और इन्द्रियग्राह्य विषयोंके अर्थात् विषयोंके बाह्यरूपोंके परस्पर सम्बन्ध, उनके क्रम और विविध उपयोगके ही परिज्ञानमें यत्नवान् रहती है। इसके विपरीत बुद्धिका विशुद्ध कार्य तब कहाता है जब आरम्भ तो इन्द्रियानुभवसे ही होता है पर उन्हीं अनुभवोंमें वह बँधी नहीं रह जाती बल्कि उसकी तहमें पहुँच जाती है और वहाँसे जाँचती है, अपनी ही सत्तासे कार्य करती है और ऐसे सर्वमान्य तथा अपरिवर्तनीय विचारोंको स्थिर करनेका प्रयत्न करती है जो विचार पदार्थोंके बाह्यरूपोंसे बद्ध नहीं हैं बल्कि बाह्यरूपोंके परे जो कुछ है उससे सम्बद्ध हैं। ऐसी बुद्धि बाह्यरूपको देखतेके साथ ही तदन्तःस्थित वस्तुपर ही सीधे पहुँचकर परीक्षण कर निर्णय कर लेती है। परन्तु विशुद्ध बुद्धिकी अनुभूतियाँ भी अपने प्रारम्भिक अनुभवका उपयोग निमित्तमात्रके लिये करती हैं और तत्त्वनिर्णयपर पहुँचनेके पहले ही उस अनुभवको बहुत दूर पीछे छोड़ देती हैं, इतना दूर कि अन्तमें होनेवाला अन्तस्तत्त्वसम्बन्धी निर्णय इन्द्रियजन्य अनुभूतिसे जँचनेवाले निर्णयके सर्वथा विपरीत हो सकता है। विशुद्ध बुद्धिकी अनुभूतियोंका यह विशिष्ट व्यापार है। बुद्धिका यह व्यापार सर्वथा न्याय्य और अपरिहार्य है; कारण, मनुष्योंका जो सामान्य अनुभव है वह विश्वघटनाका केवल एक अति क्षुद्र अंश है और इस क्षुद्र क्षेत्रके भीतर भी इस अनुभवमें ऐसे ही साधनों या करणोंका उपयोग होता है जो दोषयुक्त हैं और इसलिये इनके द्वारा नाप-जोखके लिये नकली तुला और नकली मान ही प्राप्त होते हैं। बुद्धिके द्वारा इन्द्रियभूत मनकी गलतियोंको दुरुस्त करना बड़ी भारी शक्ति है जो मनुष्यने प्राप्त की है, और यही जगत्के प्राणियोंमें उसकी श्रेष्ठताका मुख्य कारण है।

बुद्धिका पूर्ण उपयोग होनेसे मनुष्य भौतिक ज्ञानसे निकलकर आध्यात्मिक ज्ञानमें प्रवेश करता है। आध्यात्मिक ज्ञानके सिद्धान्तोंसे यद्यपि विशुद्ध बुद्धिका समाधान होता है, क्योंकि उसकी सत्ता इन्हींसे है, तथापि हमारा स्वभाव दो आँखोंसे दो रूपोंमें सब पदार्थोंको देखा करता है—एक भावना और दूसरा वस्तुतत्त्व—और इसलिये हमारे लिये प्रत्येक सिद्धान्त तबतक अपूर्ण और हमारे स्वभावके कुछ अंशके लिये मिथ्या ही रहता है जबतक वह हमारे अनुभवका विषय नहीं हो जाता। परन्तु ये वस्तुतत्त्व जिनकी बात यहाँ कही जा रही है, हमारे सामान्य अनुभवके विषय नहीं हैं, बल्कि ‘बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्’ हैं। इसलिये इनके अनुभवके लिये अनुभवका कोई दूसरा करण होना चाहिये जिससे हमारे स्वभावकी यह इच्छा पूरी हो और यह करण, इस जडातीत क्षेत्रमें, मानसिक अनुभवके बढ़ानेसे ही प्राप्त हो सकता है।

बुद्धिसे होनेवाले ज्ञानके समान, मानसिक अनुभव भी मनुष्यके अन्दर द्विविध कार्य कर सकता है—मिश्र या पराश्रित, और विशुद्ध या स्वाश्रित। इसका मिश्र कार्य प्रायः तब होता है जब अन्तःकरण बाह्य जगत् अर्थात् विषयोंको जाननेका यत्न करता है, और विशुद्ध कार्य तब होता है जब वह अपने-आपको अर्थात् धर्मीको जाननेका यत्न करता है। पूर्वोक्त कार्यमें वह इन्द्रियोंपर निर्भर करता है और इन्द्रियोंकी अनुभूतिके आधारपर उसका ज्ञान होता है; पिछले कार्यमें अन्तःकरणका कार्य अपने अन्दर ही होता है और उसे पदार्थोंके साथ एक प्रकारके तादात्म्यसे उन पदार्थोंका साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार हमें अपनी मनोवृत्तियोंका ज्ञान हो जाता है, अपने क्रोधादिका ज्ञान हो जाता है, क्योंकि हम ही तदाकार बन जाते हैं। यथार्थमें अनुभवमात्रका ही वास्तविक स्वरूप तादात्म्यसे होनेवाला ज्ञान है; पर इसका यह वास्तविक स्वरूप हमसे इसलिये छिपा रह जाता है कि हमने अपने-आपको पार्थक्य-वृत्तिके द्वारा शेष

---

* श्रीअरविन्दप्रणीत “The Life Divine” (भागवत जीवन) नामक ग्रन्थसे संगृहीत एवं अनुवादित।

जगत्से पृथक् कर लिया है; अपने-आपको विषयी और शेष सब पदार्थोंको विषय मान लिया है; और इसलिये हमें ऐसे साधन साधने और करण तैयार करने पड़ते हैं जिनसे हम फिर उन सबके साथ, जिन्हें हम अपनेसे पृथक् कर चुके हैं, सम्बन्ध स्थापित कर सकें।

इससे यह मतलब निकला कि हमारे जो वर्तमान बन्धन हैं वे हमारे लिये अनिवार्य नहीं हैं। अन्तःकरणके लिये यह शक्य है—और ऐसा करना स्वाभाविक भी होगा—कि यह अपने-आपको जडप्रकृतिका प्रभुत्व माननेकी वृत्तिसे मुक्त कर ले और बिना इन्द्रियोंकी सहायताके ही इन्द्रियार्थोंको ग्रहण करनेका सामर्थ्य प्राप्त कर ले। निद्राभिभूतिके प्रयोग तथा ऐसी ही अन्य मानसिक प्रक्रियाओंमें यही तो होता है। हमारी जाग्रत्-अवस्थाकी चेतना जीवनके विकासक्रमसे प्राप्त अन्तःकरण और विषयके सामञ्जस्यसे नियत और मर्यादित होती है, इस कारण इस अतीन्द्रिय परिज्ञानका होना हमारी सामान्य जाग्रत्-अवस्थामें प्रायः सम्भव नहीं होता और इसलिये इस अतीन्द्रिय अर्थज्ञानके लिये जाग्रत् मनको एक प्रकारकी निद्रावस्थामें लाना पड़ता है, जिससे वास्तविक अन्तःकरण स्वतन्त्र हो जाता है। तब अन्तःकरण अपने वास्तविक स्वरूपमें आ जाता है—अपने-आपको एकमात्र सर्वतः स्वतन्त्र इन्द्रिय जानने लगता है और इन्द्रियार्थोंको जाननेका पराश्रित मिश्र मार्ग परित्यागकर अपने स्वरूपसे ही स्वतन्त्रतापूर्वक स्वाश्रित विशुद्ध कार्य करनेमें समर्थ होता है। मनःशक्तिका यह विस्तार-साधन वास्तबमें असम्भव भी नहीं है, पर हमारी जाग्रत्-अवस्थामें ऐसा होना कुछ कठिन अवश्य है।

इन्द्रियस्वरूप मन—अन्तःकरण—का स्वाश्रित विशुद्ध कार्य होने लग जाय तो उसके द्वारा, हमारे सामान्य इन्द्रियोंके अतिरिक्त जो अन्य इन्द्रिय हैं उनका भी विकास-साधन किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, ऐसी शक्ति साधी जा सकती है जिससे हाथपर रक्खी हुई किसी भी चीजका ठीक-ठीक तौल, तुलासे तोले बिना ही, जाना जा सके। ऐसे अवसरमें इन्द्रियका काम केवल आरम्भमें रहता है, पीछे मन ही अपनी अर्थग्रहणशक्तिसे उसे ठीक-ठीक नाप या जोख लेता है, और जो बात विशुद्ध बुद्धिकी है वही इन्द्रियार्थग्राही मनकी है; अर्थात् यहाँ भी इन्द्रियानुभूतिके द्वारा आरम्भिक अवस्था है, आगे चलकर उस ज्ञानकी प्राप्ति जा सकती है जिसका इन्द्रियोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं बल्कि जो प्रायः इन्द्रियानुभूतिके विपरीत होता यह शक्ति-विस्तार केवल बाह्यरूपोंतक ही मर्यादित है। प्रत्युत यह सम्भव है कि किसी भी इन् द्वारा किसी भी बाह्य पदार्थके साथ संयोग होते मनःशक्तिका ऐसा प्रयोग किया जा सकता है कि पदार्थके भीतर जो-जो कुछ हो वह सब मालूम हो उदाहरणार्थ, दूसरोंके विचार या भाव भी, बिना किसी वाक्य, संकेत, कार्य, या मुखाकृतिकी सहाय जाने जा सकते हैं और ऐसे जाने जा सकते हैं कि इस सब अधूरी और भ्रामक सामग्रीसे नहीं जाने जा स अन्तमें, इन अन्तःकरणों अर्थात् इन्द्रियोंकी अधि शक्तियोंके प्रयोगसे, उनके विशुद्ध मानस सूक्ष्म क द्वारा (भौतिक कर्मद्वारा नहीं, जो उनके पूर्ण व्यापक कर्मका केवल बाह्यजीवनोपयोगी पृथक्कृत अंश है), हम इन्द्रियानुभवों, पदार्थोंके उन रूपों प्रतीकोंको भी ग्रहण कर सकते हैं जो जड जगत्की सी अंदर नहीं हैं।

परन्तु इन सब शक्तियोंके संवर्द्धनसे हमारे लक्ष्यकी नहीं होती अर्थात् अन्तःकरणको उन सत्योंकी अनुभूति होती जिनका इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण नहीं होता, अपितु जो बु ही ग्राह्य हैं ('बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्')। उपर्युक्त शक्ति विस्तारसे ग्राह्य विषयोंका क्षेत्रभर विस्तृत हो जाता है और ग्रहण करनेके अधिक अमोघ साधन प्राप्त हो जाते हैं। पदार्थ जो सत्स्वरूप है वह तो इन्द्रियग्राह्य होता ही नहीं। तथ विश्व-जीवनकी बनावटके भीतर ही एक ऐसी सुन्दर व्यव अन्तर्निहित है कि जहाँ कहीं बुद्धिग्राह्य तत्त्व हैं उस बुद्धिसे युक्त करणसमूहके अंदर ही उन तत्त्वों जानने या अनुभवसे जाँचनेका साधन होता ही है। साधन जो हमने अपने अन्तःकरणमें रख छोड़ा है वह तादात्म्यके द्वारा होनेवाले ज्ञानका विशेष लक्षण है जि द्वारा हम अपनी सत्ताको जान पाते हैं। हमारे आत्म अंदर क्या-क्या है इसका ज्ञान अपने आत्माके ही न्यूनाधि चैतन्य ज्ञानपर निर्भर करता है। और भी अ

सामान्यरूपसे कहें तो यह कह सकते हैं कि व्याप्यका ज्ञान व्यापकके ज्ञानके अन्तर्गत है। इसलिये यदि हम अपने मानसिक स्वानुभवकी शक्तिको अपने भी परे और अपने बहिःस्थित आत्मा या ब्रह्मके अनुभवतक आगे बढ़ावें तो अपने उपनिषदुक्त आत्मा या विश्वव्याप्त ब्रह्मकी सत्ताके अन्तर्गत जो सत्य हैं वे हमारी अनुभूतिके विषय हो सकते हैं। इनकी इस अनुभवगम्यतापर ही भारतीय वेदान्त स्थापित है। इस वेदान्तने आत्माके ज्ञानके द्वारा विश्वके ज्ञानका अनुसन्धान किया है।

परन्तु वेदान्तमें मानसिक अनुभूति और बौद्धिक विचारोंको अधिक-से-अधिक अन्तःकरणकी तदाकारतामें पड़े हुए प्रतिबिम्बमात्र माना है, स्वतःसिद्ध परम अद्वैत-तत्त्व नहीं। यहाँ हमें मन और बुद्धिके परे जाना पड़ता है। हमारी जाग्रत्-अवस्थाकी चेतनामें जो बुद्धि जाग्रत रहती है वह अखिल जडीभूत चेतन (जहाँसे हम अपने ऊर्ध्वाभिमुख विकासमें निकलते हैं) और परम चेतन विश्वात्मा (जिसकी ओर हमें यह विकास ले जाता है), इन दोनोंके बीचमें केवल एक मध्यस्थका काम करती है। ये, जडीभूत चेतन और परम चेतन, दोनों उसी अखिलके रूप हैं। जडीभूत चेतनका विशिष्ट कार्य जीवन है, परम चेतनका विशिष्ट कार्य प्रकाश है। जडीभूत चेतनमें ज्ञान अथवा चेतना कर्मके अन्तर्गत है; कारण, कर्म ही जीवनका सार है। परम चेतनमें, कर्म पुनः प्रकाशमें प्रवेश करता है और यहाँ ज्ञान उसके अन्तर्गत नहीं है, यहाँ तो वह स्वयं परम चैतन्यमें निवास करता है। अन्तर्ज्ञान वह है जो दोनोंमें समान है, और अन्तर्ज्ञानका आधार है ज्ञाता और ज्ञेयके बीच सज्ञान तादात्म्य। यह उभयसामान्य स्वतः सिद्धताकी वह अवस्था है जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय ज्ञानके द्वारा एक हो जाते हैं। पर जडीभूत चेतनमें अन्तर्ज्ञानकी कर्ममें समर्थ अभिव्यक्ति होती है, और ज्ञान अथवा सज्ञान एकात्मता सर्वथा अथवा न्यूनाधिक रूपमें कर्ममें छिपी रहती है। इसके विपरीत, परम चेतनमें प्रकाश ही धर्म और प्रकाश ही तत्त्व होनेसे, अन्तर्ज्ञान सज्ञान एकात्मतासे उद्भूत ज्ञानके रूपमें अर्थात् अपने असली स्वरूपमें व्यक्त होता है, और कर्मकी समर्थता आनुषंगिकरूपसे प्रकट होती है, मूल तत्त्व बनकर अपने स्वरूपको नहीं छिपाता। इन दो अवस्थाओंके बीचमें बुद्धि और मन मध्यस्थका ऐसा काम करते हैं जिससे आत्मा ज्ञानको कर्मके बन्धनसे मुक्त करने और अपने मुख्य एवं मूल स्वरूपको पुनः प्राप्त करनेके लिये तैयार हो जाता है। मनोगत आत्मबोध जब व्याप्य और व्यापक दोनोंमें, स्वात्मा और परात्मा दोनोंमें प्रयुक्त होकर ज्योतिर्मय स्वप्रकाश तादात्म्यको प्राप्त होता है, तब बुद्धि भी अन्तर्ज्योतिर्मय अन्तर्ज्ञानमें परिणत हो जाती है। हमारे ज्ञानको प्राप्त हो सकनेवाली यह परमावस्था है जब अन्तःकरण परात्पर विज्ञानमें पहुँचकर अपने पूर्णत्वको प्राप्त होता है।

अति प्राचीन वेदान्तके सिद्धान्त मानवी बुद्धिकी इसी व्यवस्थापर स्थित हैं।

कैवल्यस्वरूप, अनिर्वचनीय, अनन्त, निर्विशेष सद्ब्रह्म वेदान्तके विश्वसम्बन्धी विवेचनका अन्तिम सिद्धान्त और नामरूपात्मक विश्वके प्रत्येक कर्म और रूपके मूलमें रहनेवाली वह मूल सत्ता है जो वेदान्तके अनुभवसे जानी जाती है। यह स्पष्ट है कि जब इस सिद्धान्तको हम उपन्यस्त करते हैं तब हम उस स्थानपर पहुँच जाते हैं जो हमारे सामान्य बोध और अनुभवके सर्वथा परे है। इन्द्रियों तथा इन्द्रियभूत मनको शुद्ध अथवा निरपेक्ष तत्त्वका कुछ भी ज्ञान नहीं है। हमारी इन्द्रियानुभूतिमें केवल रूप और कर्म ही आते हैं। रूपोंका भी अस्तित्व है, पर ऐसा अस्तित्व है जो शुद्ध अथवा कैवल्यस्वरूप नहीं; इनकी सत्ता मिलावटी, सांघातिक, सामूहिक एवं सापेक्ष होती है। जब हम अपने आत्मामें प्रवेश करते हैं तब बँधे-बँधाये रूपसे तो हम मुक्त हो जाते हैं; पर कर्मसे, परिवर्तनसे मुक्त नहीं हो सकते। देश-दिग्रूप आकाशमें जडप्रकृतिका चलन-कर्म और कालमें परिवर्तनकी क्रिया, यही तो जीवनका लक्षण प्रतीत होता है। हम लोग चाहें तो यह निःसंकोच कह सकते हैं कि यही जीवन है और जीवनकी इस कल्पनाकी अनुसारिणी कोई उपलब्धियोग्य सत्ता नहीं है। अधिक-से-अधिक इतनाही है कि अहंबोधके इस रूपमें या इसके पीछे कभी-कभी किसी अचल और अविकारी सत्ताकी झलक मिल जाती है, किसी वस्तुका स्पष्ट-सा भान होता है अथवा हम यह कल्पना करते हैं कि हम जीवन-मरणके परे हैं—सब विकारों, रूपों और

कर्मोंके परे हैं। हमारे अंदर यही एक द्वार है जो कभी-कभी खुल जाता है और हम किसी दूरस्थित सत्यकी झलक पा जाते हैं, और यह द्वार फिर बंद होनेके पहले इतना कर जाता है कि उस सत्यकी कोई किरण हमें स्पर्श कर जाती है—हमें कोई आलोकमय संकेत मिल जाता है जिसे हम, यदि हममें उतनी शक्ति और दृढ़ता हो तो, अपने विश्वासके अंदर कायम रख सकते हैं, और उसे हम इन्द्रियभूत अन्तःकरणसे भिन्न प्रकारके चैतन्यकी क्रीडाका—अन्तर्ज्ञानकी क्रीडाका प्रारम्भिक साधन बना सकते हैं।

कारण, यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करें तो हमें मालूम होगा कि अन्तर्ज्ञान ही हमारा प्रथम गुरु है। यह अन्तर्ज्ञान हमारे मन-बुद्धि आदिके व्यापारोंके पीछे छिपा रहता है। यह अन्तर्ज्ञान अन्तर्हित, अज्ञात परमात्माके यहाँसे मनुष्यके पास उन दिव्य सन्देशोंको पहुँचाता है जहाँसे उसके परम ज्ञानका आरम्भ होता है। बुद्धिका प्रवेश यहाँ पीछे होता है वह इस बातको देखनेके लिये कि इस दिव्य खेतीसे वह कोई लाभ उठा सकती है या नहीं। हम जो कुछ जानते और जो कुछ अपने-आपको समझते हैं उसके परेकी सत्ताका अंदाज़ हमें अन्तर्ज्ञान ही कराता है और यही अनुमान मनुष्यकी बुद्धि और सामान्य अनुभवके विरुद्ध उसका पीछा करता है और उसे ईश्वर, अमृतत्व, स्वर्ग आदि अनेक भावोंमें स्पष्टतर उस अरूप दर्शनको स्थिर करनेके लिये प्रेरित करता है जिसके द्वारा हम उस तत्त्वका मन-बुद्धिको बोध करानेका यत्न करते हैं। क्योंकि अन्तर्ज्ञानका भी वैसा ही जोर है जैसा कि स्वयं प्रकृतिका; प्रकृतिकी अन्तरात्मसत्तासे ही उसका उदय होता है और ऐसे अन्तर्ज्ञानको मन-बुद्धिके विरोधों और अनुभवोंके निषेधोंकी कुछ परवा नहीं होती। अन्तर्ज्ञान जानता है जो कुछ कि है, क्योंकि वह है और वह स्वयं उसीका है, उसीसे निकला है, और इसलिये जो चीजें बनी हुई हैं (पहलेसे हैं नहीं) और जो भासित होती हैं उनके द्वारा किये गये निर्णयोंके सामने वह सिर नहीं झुकाता। अन्तर्ज्ञान सत्ताका निरूपण नहीं करता, किन्तु सत्‌का करता है, क्योंकि हमारे अंदर जो ज्योति है उसीसे अन्तर्ज्ञानकी उत्पत्ति होती है और यही इसकी विशेषता है, यहींसे हमारी स्वानुभूतिका कभी-कभी द्वार जाता है। प्राचीन वेदान्तने अन्तर्ज्ञानके इस सन् ग्रहणकर इसीको उपनिषदोंके निम्नलिखित तीन महावा निबद्ध कर दिया—'मैं वही हूँ', 'तुम वही है श्वेतकेतु !' 'निश्चय ही यह सब ब्रह्म है, यह आत्मा ब्रह्म

परन्तु अन्तर्ज्ञानकी क्रिया मनुष्यके अंदर परि होनेके कारण वह सत्यको सुव्यवस्थित एवं सुस्पष्ट हमारे सामने नहीं रख सकता जैसा कि हमारी चाहती है। अन्तर्ज्ञानके द्वारा हमारे अंदर अपरोक्ष ज्ञा ऐसी पूर्णता सिद्ध हो, इससे पहले इस अन्तर्ज्ञानको बाह्य सत्तामें (अन्तःकरणादिमें) अपने-आपको और सुव्यवस्थित करना पड़ता है और वहाँ इसके अंगपर अधिकार करना पड़ता है। पर हमारी ऊपरी अन्तर्ज्ञान नहीं बल्कि बुद्धि ही सुव्यवस्थित है और वही अनुभूतियों, विचारों और कर्मोंकी व्यवस्था करनेमें सहायक होती है। इसी कारण प्राचीन औपनि विचारधारासे सूचित होनेवाले अन्तर्ज्ञानयुगके अ बौद्धिक ज्ञानका युग आया; अपौरुषेय वेदका स्थान शास्त्रने ले लिया, जिस प्रकार आगे चलकर शास्त्रका स्थान प्रयोगात्मक भौतिक विज्ञानने ले लिया। यह क्रम यद्यपि ऊपरसे नीचेकी ओर जाता-सा प्रतीत है, यथार्थमें उन्नतिका ही चक्र है। कारण, प्रत्येक सूरतमें यही देखनेमें आता है कि निम्नश्रे शक्तिको उच्चश्रेणीकी शक्तिके द्वारा प्रदत्त कुछ-न अपने भरसक ग्रहण करना ही पड़ता है और उच्चश्रे शक्तिसे प्राप्त उसी तत्त्वको अपने ही ढंगसे पुनः स्था करनेकी चेष्टा करनी पड़ती है। इस प्रयत्नसे निम्नश्रे शक्तिका क्षेत्र पहलेसे अधिक व्यापक हो जाता है अन्तमें जाकर उच्चश्रेणीकी शक्तियोंके साथ वह और अधिक घुल मिल जाती है।

इस क्रमको हम उपनिषदों और बादके भार दर्शनोंमें पाते हैं। वेद और वेदान्तका आधार ऋषियों अन्तर्ज्ञान और आध्यात्मिक अनुभव ही था। उपनिषदों कहीं भी वेदान्त-सिद्धान्तोंकी पुष्टिमें तर्कका आश्रय

लिया गया है। ऋषियोंका यही सिद्धान्त मालूम होता है कि अन्तर्ज्ञानका संशोधन और भी अधिक पूर्ण अन्तर्ज्ञानसे होना चाहिये; तर्कके द्वारा अन्तर्ज्ञानकी जाँच हो नहीं सकती।

तथापि मानवी बुद्धि अपने सन्तोषका मार्ग चाहती ही है। इसलिये जब तार्किक विचारका युग आरम्भ हुआ, तब भारतीय तत्त्ववेत्ताओंने, प्राचीन परम्पराका पूर्ण आदर करते हुए, अनुसन्धेय तत्त्वोंके प्रति अपनी ज्ञानवृत्ति द्विविध रक्खी। श्रुतिको उन्होंने अन्तर्ज्ञान अथवा अपौरुषेय ज्ञानका, जो बुद्धिकी अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है, पहला फल माना है। पर साथ-ही-साथ इन लोगोंने बुद्धिसे भी विचार आरम्भ किया और उसके निर्णयोंको जाँचने लगे, और केवल उन्हीं निर्णयोंको सत्य माना जिनकी श्रुतिसे भी पुष्टि होती थी। तथापि बुद्धिकी अपनी प्रधानता स्थापित करनेकी जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है उसने बुद्धिकी अधीनताके सिद्धान्तपर विजय प्राप्त कर ली। इसीसे परस्परविरोधी सम्प्रदायोंकी सृष्टि हुई; इनमेंसे प्रत्येकने सिद्धान्ततः वेदका आधार लेकर भी उसका उपयोग एक दूसरेका खण्डन करनेमें ही किया।

फिर भी प्राचीन वेदान्तके मुख्य सिद्धान्त ही अंशतः भिन्न-भिन्न दार्शनिक मतवादोंमें रह गये और समय-समयपर ऐसे प्रयत्न होते रहे कि इन सबको पुनः एकत्र करके अन्तर्दृष्टियुक्त विचारकी प्राचीन उदारता और एकताकी कोई मूर्ति पुनः निर्माण की जाय। इन सब सम्प्रदायोंके विभिन्न विचारोंके पीछे मूल सिद्धान्त, उपनिषदोंका पुरुष, आत्मा या सद्ब्रह्म, तो बना ही रहा; बहुधा इसे कल्पना या मानसिक अवस्थाका बौद्धिकरूप भी दिया गया, पर फिर भी अनिर्वचनीय सत्तारूप इसका पहला लक्षण बना ही रहा। इस सर्गक्रियाका, जिसे हमलोग जगत् कहते हैं, इस निर्विशेष अद्वितीय ब्रह्मके साथ क्या सम्बन्ध हो सकता है और यह अहङ्कार, जो चाहे इस क्रियासे उत्पन्न हुआ हो या उसका कारण हो, किस प्रकार वेदान्तद्वारा घोषित उस सत्य आत्माको प्राप्त हो सकता है, इन्हीं तार्किक एवं व्यावहारिक प्रश्नोंका विचार हिन्दुस्तानमें सदासे होता आया है।

वेदान्त

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीगङ्गानाथजी झा, एम० ए०, डी० लिट, एल-एल० डी०)

वेदान्तके विषयमें लोगोंने—विशेषतः अभिनव वेदान्तियोंने ही—ऐसी भ्रान्ति फैला रक्खी है कि सामान्यतः अब ऐसा संस्कार दृढ़ हो गया है कि वेदान्त 'नास्तिक' है। इसके विरोधियोंने इसे 'प्रच्छन्नबौद्ध' तक कह डाला। कारण इसका यह कहा जाता है कि वेदान्तमें कर्मकाण्डानुष्ठान, पुण्य-पापादि भेदका कहीं स्थान नहीं है।

यदि ये बातें सत्य हैं तो अवश्य वेदान्त 'नास्तिक' है। परन्तु वेदान्तके मूलग्रन्थोंको—अर्थात् ब्रह्मसूत्र तथा शङ्कराचार्यादिकृत भाष्योंको जो कोई आद्यन्त पढ़ेगा उसे स्पष्ट हो जायगा कि ये लाञ्छन उचित नहीं हैं। कर्मकाण्डोक्त कर्मकलापोंकी परम आवश्यकता वेदान्तके अनुसार भी उतनी ही है जितनी और किसी मत या धर्मके अनुसार। जातकर्मादि संस्कार, ब्रह्मचर्यादि आश्रमचतुष्टयके धर्मोंके सम्यक् अनुष्ठान,—तथा और भी नित्य-नैमित्तिक धर्मोंके अनुष्ठान इत्यादि सभीको वेदान्ती भी आवश्यक समझते हैं।

बात असल यह है कि हमारे हिन्दूधर्ममें अनुष्ठानके योग्य एकमात्र धर्म सभी मनुष्योंके लिये नहीं कहा गया है। अनुष्ठाताके सामर्थ्यको चित्तमें रखकर ही हमारे आचार्योंने उपदेश किया है। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इस सिद्धान्तके अनुसार जब कोई जिज्ञासु आचार्यके पास उपस्थित होता है तो पहले आचार्य उसकी बुद्धि इत्यादि योग्यताकी परीक्षा—साक्षात् अथवा दिव्य दृष्टिसे—कर लेते हैं और तदनुसार ही—शिष्यके समझने और अनुष्ठानके योग्य ही—धर्मका उपदेश करते हैं। और साथ-साथ यह भी सूचित करते हैं कि अभी तुम्हारी योग्यताके अनुसार इतना ही पर्याप्त होगा। इसके अनुसार परिशीलन तथा अनुष्ठानके अनन्तर जब चित्तमें शुद्धि आवेगी तब तुम्हें अग्रिम काष्ठाका अधिकार होगा। इस तरह क्रमशः चित्तशुद्धिद्वारा—एक दिनमें अथवा एक जन्ममें अथवा अनेक जन्मोंमें (पूर्व संस्कारके अनुसार)—जब सभी काष्ठाएँ पार हो जाती हैं तभी—उसको उस चरम काष्ठाका उपदेश दिया जाता है

जहाँ केवल 'शिवोऽहम्; शिवोऽहम्' इतना ही कर्तव्य रह जाता है।

इस काष्ठातक लाखोंमें कोई एक मनुष्य पहुँच सकता है, ऐसा कहें तो भी अत्युक्ति नहीं है; पर भ्रान्तिवश लोग ग्रन्थोंका पूर्वापर न देखते हुए, मनुष्यमात्रका यही 'शिवोऽहम्' धर्म है—ऐसा समझकर सकल शास्त्रोक्त कर्मकलापको त्याग बैठते हैं। इससे कितना अनर्थ हुआ है, यह सभी भारतवासी देख रहे हैं। हमारे हिन्दूधर्मका यही वैशिष्ट्य है कि सब दरजेके मनुष्योंके लिये कर्मकी योग्यताके अनुसार इसमें कर्तव्यविधि मौजूद है। इस वैशिष्ट्यसे बहिर्भूत वेदान्त भी नहीं है। इसीसे सभी ग्रन्थोंके आरम प्रायः 'अधिकारिनिरूपण' ही देखा जाता है।

बिना इस वैशिष्ट्यको हृदयमें रक्खे वेदान्तका अध्य अनिष्टकर ही होता है और होगा।

भगवद्गीतामें भी इसी वैशिष्ट्यके अनुसार सभी दर अधिकारियोंके उपकारार्थ समुचित उपदेश हैं, उपदेशोंमें लोगोंने 'परस्पर विरोध' समझकर नाना कल्पन की हैं। उपदेशोंमें 'विरोध' कहीं नहीं है—केवल अधिका भेदेन 'भेद' है। इसीसे वेदान्तके 'प्रस्थानत्रय'में भगवद्गी भी अन्तर्गत है।

* * *

दर्शनोंमें वेदान्तदर्शनकी मुख्यता

(लेखक—वेदाचार्य पं० श्री १०८ श्रीमधुसूदनजी ओझा)

अध्यात्मविद्याके ग्रन्थोंमें 'दर्शन' शब्दका स्थान-स्थानपर प्रयोग हुआ है। अध्यात्मविद्याके रूढ़ धर्मोंको परीक्षाकी दृष्टिसे देखकर आचार्योंने दूसरोंको जिस (ज्ञान) का दर्शन कराया है, उसको दर्शनशास्त्र कहते हैं। दर्शनशास्त्रमें इन अध्यात्मनिरूढ धर्मोंको तीन प्रकारसे विभाग करके दिखलाया गया है। कई आचार्य 'भूतग्राम', 'दैवतग्राम' और 'आत्मग्राम', इस तरह पुरुषविभागके द्वारा इनके तीन भेद करते हैं। कई 'स्थूलशरीर', 'सूक्ष्मशरीर' और 'कारण-शरीर', इस तरहसे शरीरविभागके द्वारा तीन विभाग करते हैं, और कई 'भूतमात्रा', 'प्राणमात्रा' और 'प्रज्ञामात्रा', इस तरह प्रत्ययविभागसे इनका त्रिविध भेद बतलाते हैं।

वैशेषिकदर्शन पुरुषके बहिरङ्गाश्रित धर्म और भूतग्रामात्मक स्थूलशरीरसम्बन्धी पदार्थोंको प्रधानतया दिखलाता है, और उसके साथ-साथ तत्सम्बन्धी बहुत-से अन्य धर्मोंका भी प्रतिपादन करता है। सांख्यदर्शन पुरुषके अन्तरङ्गाश्रित धर्म और देवग्रामात्मक सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी पदार्थोंको मुख्यतया दिखलाता है और साथ ही तत्सम्बन्धी अन्य धर्मोंका भी प्रतिपादन करता है। और शारीरकदर्शन अव्यय, अक्षर और क्षर, इन तीन विभागोंमें विभक्त पुरुषके स्वरूप-धर्मोंका और आत्मग्रामात्मक आत्मसम्बन्धी पदार्थों प्रधानतया दर्शन कराता है, और साथ-साथ तत्सम्बन्धी अ धर्मोंको भी प्रतिपादित करता है।

इन तीनों ही शास्त्रोंका 'दर्शन' शब्दसे व्यवहार हो है, और इनमें अध्यात्मविद्याका निरूपण किया गया है यद्यपि इन तीनों दर्शनोंमें तीन प्रकारसे विभाग किये हुए धर्मोंका प्रतिपादन होना चाहिये—जैसे 'स्थूलशरीरानुबन् भूतग्राम', 'प्रकृतिमण्डलानुबन्धी दैवतग्राम', और 'कार शरीरानुबन्धी पुरुषत्रयलक्षण आत्मग्राम'; तथापि प्रत्येक कुछ-न-कुछ विलक्षणता मालूम होती है। जिस शास्त्रमें जो वि प्रधानतया निरूपित होता है उस शास्त्रमें वह मुख्य सम जाता है, और दूसरे गौण समझे जाते हैं। मुख्य विषयका जि तरह विस्तरशः प्रतिपादन होता है, उस तरह गौण विषयों नहीं होता। अतः जो विषय जिसके लिये प्रधान है उस उसीका प्रतिपादन मुख्यतया मिलता है। तीनों ही दर्शनों अपना अलग-अलग आत्मा मान रक्खा है। आत्माके ती प्रकार शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं, आत्माको ही पुरुष भी कहते हैं। भेद हैं—क्षर, अक्षर और अव्यय। आत्माके इन ती भेदोंमेंसे इन तीनों दर्शनोंने क्रमशः एक-एक भेद प्रधानत स्वीकृत किया है। अर्थात् वैशेषिकदर्शनने आत्माको 'क्षर

माना है, सांख्यदर्शनने 'अक्षर', और शारीरकदर्शनने, जिसको वेदान्तदर्शन भी कहते हैं, आत्माको 'अव्यय' स्वीकृत किया है। पहला सब विकारोंका उपादान, परिणामी और अव्यक्त है। दूसरा कुम्भकारकी तरह निर्माण करनेवाला, अन्तर्यामी, नियन्ता, निर्विकार, अपरिणामी और अव्यक्त है; और तीसरा कार्य-कारणातीत, असंग और अव्यक्त है। यह स्मरण रखना चाहिये कि पहला क्षर पुरुष है, दूसरा अक्षर पुरुष और तीसरा अव्यय पुरुष है।

इन तीनों पुरुषोंमें जो क्षर पुरुष है, उसके वैशेषिकोंने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय–ये छः भेद कर रक्खे हैं। इन्हीं षोढा विभक्त क्षर पदार्थोंमें व्यापक अक्षर आत्माको ये लोग जीवात्मा और परमात्मा, इस तरहसे दो प्रकारका मानते हैं। इसके अतिरिक्त 'अव्यय' नामधारी कोई आत्मा इनके मतमें नहीं है। जितने 'अक्षर' आत्माके धर्म हैं, और जितने 'अव्यय' आत्माके धर्म हैं उन सब धर्मोंका इसी स्वमतसिद्ध 'क्षर' आत्मामें वे अन्तर्भाव कर लेते हैं। इतनेमें ही वे संसारको कृतकृत्य समझते हैं, और इतना मर्म जाननेवाले मनुष्योंको भी वे कृतकृत्य मान लेते हैं। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्', इन श्रुतियोंमें 'ब्रह्म' शब्दसे उनके मतमें जगत्प्रकृतिभूत क्षर आत्माका ही ग्रहण होता है। उसीको वे अधिष्ठाता भी मानते हैं, क्योंकि उनके मतमें परिणामी और क्षरगुणक अव्यक्त तत्त्व ही आत्मा है। यह है संक्षेपमें वैशेषिकदर्शन नामक प्रथम शास्त्रका सिद्धान्त।

वैशेषिकदर्शनकी युक्तियोंसे सन्तोष न पाकर सांख्यदर्शनके निर्माता आचार्योंने इससे अधिक सूक्ष्म मार्ग ग्रहण किया। वे लोग वैशेषिकाभिसम्मत क्षर आत्मासे भिन्न, गुणत्रयसमष्टिरूप, जगत्प्रकृति किसी अव्यक्त पदार्थको आत्मा मानते हैं, और उसको 'अक्षर' कहते हैं। इस 'अक्षर' के अतिरिक्त दूसरा 'अव्यय' आत्मा इनके सिद्धान्तमें भी नहीं है। इस अव्यक्तके ही व्यक्त होनेसे इनके मतमें सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति हो जाती है। अथवा दूसरा आत्मा 'अव्यय' भी इनके मतमें हो सकता है, किन्तु वह इनके मतमें केवल चेतन और भोक्ता ही है, सृष्टिनिर्माणमें इसका स्रष्टृत्वरूपसे कोई भी उपयोग नहीं होता। सब कुछ प्रकृति ही कर लेती है, इसलिये इसीको वे अक्षर पुरुष मानते हैं। यह है द्वितीय शास्त्र सांख्यदर्शनका मत।

अब इन दोनों शास्त्रोंसे अत्यन्त श्रेष्ठ शारीरकशास्त्रका सिद्धान्त सुनिये। भूत और भविष्यत्को जाननेवाले ये वेदान्ती आत्माको खूब अच्छी तरह जानते हैं। वे 'क्षर' और 'अक्षर' इन दोनोंसे ही सन्तुष्ट नहीं होते और इन दोनों पदार्थोंसे भी अत्यन्त उत्कृष्ट 'अव्यय' नामक विश्वरूप आत्मा मानते हैं। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मपदसे अव्यय आत्माका ही ग्रहण होता है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
(गीता १५। १६—१८)

अर्थात् 'संसारमें दो पुरुष हैं, क्षर और अक्षर। सम्पूर्ण प्राणी तो क्षर कहलाते हैं, और कूटस्थ (जीव) अक्षर कहलाता है। और इन दोनों पुरुषोंसे भी उत्तम एक दूसरा पुरुष है, जिसको परमात्मा कहा जाता है, और जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें व्याप्त होकर सबका धारण और पोषण करता है। क्योंकि मैं 'क्षर' और 'अक्षर' दोनों पुरुषोंसे अति उत्तम हूँ, इसलिये मुझे वेदमें और लोकमें 'पुरुषोत्तम' नामसे पुकारा गया है।' ये श्रीमद्भगवद्गीताके वचन इसमें प्रमाण हैं। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इस श्रुतिके प्रमाणसे इस दर्शनमें 'सर्वं ब्रह्म' (सब कुछ ब्रह्म है)–यह सिद्धान्त स्वीकृत किया गया है। इसीलिये संसारको अव्यक्तैकसार और प्रधानमात्रपर्यवसायी माननेवाले सांख्योंका मत श्रीकृष्णने गीतामें अपर्याप्त घोषित किया है। यथा—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
(७। २४-२५)

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(७। १३-१४)

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
राञ्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
(८।१८)

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥
(८।२०-२२)

अर्थात् 'मेरे अव्यय, अनुत्तम और वास्तविक भावको नहीं जाननेवाले मूर्ख लोग मुझ अव्यक्तको भी व्यक्तिको प्राप्त हुआ समझते हैं। योगमायासे ढका हुआ मैं सबको दिखायी नहीं पड़ता, अतः मूढ़ संसार मुझे अज और अव्यय नहीं समझता। सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंके धर्मोंसे यह सम्पूर्ण जगत् मोहित हो रहा है, और मुझे इन तीनों गुणोंसे अतिरिक्त श्रेष्ठ और अव्यय नहीं मानता। मेरी यह गुणमयी दैवी माया बड़ी दुरत्यय है, अर्थात् इसका नाश बड़ी कठिनतासे होता है। जो मनुष्य मुझे प्राप्त कर लेते हैं वे ही इस मायाको पार कर सकते हैं। ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अर्थात् कल्पके आदिमें अव्यक्तसे सब व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशमें अर्थात् प्रलयके समय उसी अव्यक्तमें वे लीन हो जाती हैं। उस अव्यक्तसे भी दूसरा एक ऐसा सनातन अव्यक्त पदार्थ है जो सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता। अव्यक्त ही अक्षर कहा गया है, यही परमगति है जिसको प्राप्त करके मनुष्य वापस नहीं आता, वही मेरा परमधाम है। हे अर्जुन! वह परम पुरुष अनन्य भक्तिसे प्राप्त होता है जिसके भीतर सम्पूर्ण संसार स्थित है, और जिसने यह सब व्याप्त कर रक्खा है।'

'मम परं भावम्' (मेरे परम भावको)—यहाँ 'मेरे' शब्दसे शरीरका अभिमान होनेसे शारीरक प्राज्ञ आत्मा विवक्षित है। उस शारीरक प्राज्ञके आत्मत्वमें क्या प्रमाण है? यह पूछनेपर सांख्याचार्य यही उत्तर देते हैं कि वह अव्यक्त और अक्षर है अर्थात् अव्यक्ताक्षरपरमता ही इसके आत्मत्वमें मूल है। और गीताके मतमें उसका मूल है अक्षरालम्बनचिदव्ययपरमता। अथवा श्रीमद्भगवद्गीतामें जहाँ कहीं भी 'अस्मत्' शब्दका प्रयोग आया है, वहाँ सब जगह वह 'अव्यय' आत्माका ही प्रतिपादन करता है। जैसे—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

—इस श्लोकमें 'अस्मत्' शब्दसे 'अव्यय' आत्मा निर्देश किया गया है। वही शारीरक हो सकता है, प्राज्ञ शारीरक नहीं हो सकता। यहाँ दो प्रकारका ' समझना चाहिये—एक तो जीवाव्यय, और दूसरा व्यय। जीवाव्यय शरीराभिमानी है, और परम विश्वाभिमानी। इसलिये 'परं भावमजानन्तो मम' वाक्यमें 'अस्मत्' शब्दसे शरीराभिमानी जीवात्मा लक्षित है, और उसका परमभाव विश्वाभिमानी परमाव्यय सम चाहिये। वही परमाव्यय इस जीवाव्ययका परमधाम वह द्विविध अव्यय ही योगमायाके कारण सांख्या इस 'अक्षर' में एकीभावको प्राप्त हो गया है। इसीलिये 'अव्यय' 'अक्षर' (प्रकृति) से पृथक् सब लोगोंको भान होता, यही समझकर सांख्यकारोंने आत्माको अव्यक्त पर्यवसायी प्राज्ञ मान लिया है। किन्तु गीता तो कहती है इस सूक्ष्म परमाव्ययका सम्यक् निर्धारण करना चाहि

अथवा यह भी हो सकता है कि स्थूलारुन्धती इन तीनों दर्शनोंका अर्थात् वैशेषिक, सांख्य और वे का क्रमिक विकास हुआ हो। जैसे किसी सूक्ष्म व एक बार ही ज्ञान न होकर धीरे-धीरे स्थूलवस्तुज्ञान ज्ञान होता है और शनैः-शनैः स्थूल वस्तु उसके सिद्ध हटती जाती है, वैसे ही इन दर्शनोंमें भी समझना चा पहला दर्शन स्थूल वस्तु बतलाता है, दूसरा उससे सूक्ष्म और तीसरा सूक्ष्मतर वस्तु बतला रहा है, जिससे अ सूक्ष्म कोई चीज नहीं है। प्रथम—वैशेषिक नामक द गति 'क्षर' पुरुषतक ही समाप्त हो जाती है, वह इससे नहीं जा सका। दूसरा सांख्य नामक दर्शन इससे कुछ चढ़ा और अव्यक्त, अक्षर पुरुषतक जाकर रुक इससे आगे वह भी न जा सका। तृतीय शा दर्शनने तत्त्वका स्पर्श कर लिया। वह कहीं भी रुका उसने अपना काम पूरा कर लिया। इस तरह हो सकता है जिज्ञासु लोगोंकी सुगमताके लिये एक शास्त्रके ही ये प्रकरण हों। अतः इन तीनों दर्शनोंका जो वैषम्य है क्रमनिर्देशनिबन्धन है; सिद्धान्ततः परस्पर विरोध नहीं एक आरम्भमें 'क्षर' को ब्रह्म मानता है, दूसरा उसके 'अक्षर' को, और तीसरा अन्तमें जाकर निर्णय कर दे कि न क्षर ब्रह्म है और न अक्षर, किन्तु परमाव्यय ही

है । अतः उपाधिभेदसे हुए क्रमनिर्देशनिबन्धनमें इस शास्त्रवैषम्यकी उपेक्षा ही करनी चाहिये ।

सगुणरूप क्षर ब्रह्मको विस्तारसे निरूपण करनेवाले वैशेषिकोंने और अक्षर ब्रह्मका विस्तृत विवेचन करनेवाले सांख्याचार्योंने जो बातें अवशिष्ट रख दीं, अथवा विपर्यस्त लिख दीं, उन सब बातोंको साधुतया विवेचन करके बतलानेके लिये इस वेदान्तदर्शनका निर्माण हुआ, ऐसा समझना चाहिये । परमाव्यय ब्रह्म ही श्रीमद्भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र आदि वेदान्तग्रन्थोंका परम मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । यद्यपि कई लोग इस सिद्धान्तको नहीं मानते कि 'ब्रह्मसूत्र' आदि वेदान्त-ग्रन्थोंका परम प्रतिपाद्य विषय परमाव्यय ब्रह्म ही है, तथापि साधुतया विवेचना करनेपर उन लोगोंका आक्षेप निर्मूल ही ठहरता है । आक्षेपक लोग कहते हैं कि 'ब्रह्मसूत्रमें'—

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (१।१।१)
'जन्माद्यस्य यतः' (१।१।२)
'शास्त्रयोनित्वात्' (१।१।३)
'तत्तु समन्वयात्' (१।१।४)

—इत्यादि सूत्रोंमें शास्त्रकारने सामान्यरूपसे ही 'ब्रह्म' शब्दका निर्देश किया है । वह निर्दिष्ट ब्रह्म क्षर पुरुष ही हो सकता है, परमाव्यय पुरुष नहीं हो सकता ।

तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायते ।

'उससे यह 'ब्रह्म, नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं ।'

—इस श्रुतिमें भी 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ क्षर पुरुष ही किया गया है, जैसा कि सम्भव है । 'परब्रह्म' शब्दसे अव्यय और 'परम' शब्दसे अक्षरका अभिप्राय ग्रहण करनेवाली श्रीगीताने भी 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' इस पद्यांशसे 'ब्रह्म' शब्दका क्षर पुरुष ही अर्थ माना है । जब उपनिषद् और गीता आदि समान विषयवाले शास्त्रोंमें भी 'ब्रह्म' शब्दका 'क्षर पुरुष' अर्थ मिलता है तो कोई कारण नहीं कि ब्रह्मसूत्रवाले ब्रह्मका भी वही अर्थ न किया जाय । इसीलिये ब्रह्मसूत्रकारने भी 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रसे क्षर ब्रह्मका ही लक्षण किया है—'जिससे इस संसारके जन्म आदि हों, वह ब्रह्म है' । क्षर ब्रह्मसे ही यह संसार उत्पन्न होता है, उसीमें इसकी स्थिति है और उसीमें इसका लय हो जाता है । 'परमाव्यय' ब्रह्म अपरिणामी है और अक्षर ब्रह्म भी अपरिणामी है, अतः उन दोनोंसे कभी भी विकार उत्पन्न होना सम्भव नहीं है । इसलिये क्षर ब्रह्मका ही निरूपण करनेके लिये ब्रह्मसूत्र प्रवृत्त है । 'परमाव्यय' ब्रह्म इसका प्रतिपाद्य विषय कभी भी नहीं है, ऐसा आक्षेप करनेवाले उन महानुभावोंसे हमारा कहना है कि एक स्थलपर, जहाँ ब्रह्मको कार्यारम्भक और उपादान माना है, क्षरत्व सिद्ध होनेसे ही क्या सभी स्थलोंमें उसको क्षर माना जा सकता है ? ऐसा यदि मान लिया जाय तो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि समग्र श्रुतिवाक्योंका फिर कौन-सा विषय रह जायगा जहाँ ये चरितार्थ होंगे ? इसलिये 'श्रुतेरनवकाशत्वात्' यह विवेचना करनी चाहिये कि सामान्यरूपसे प्रयुक्त यह 'ब्रह्म' शब्द क्या है ? वह अव्यय, अक्षर और क्षर, तीनोंका वाचक है, या प्रत्येकका ? पूर्वोक्त दोषके कारण वह प्रत्येकका वाचक नहीं हो सकता, किन्तु तीनोंका ही वाचक है । वह क्षर भी है, अक्षर भी है, और अव्यय भी; किन्तु क्षरकी अक्षरसे भिन्न सत्ता नहीं है, और न अक्षरकी अव्ययसे भिन्न सत्ता है । अतः अन्तमें जाकर अव्यय ही रह जाता है, उसके बिना उन दोनोंकी स्थिति ही नहीं है । क्षरकी अक्षरमें स्थिति है और अक्षरकी अव्ययमें, अतः ये तीनों वस्तुतः एक ही हैं । इनका एकपदार्थत्व 'तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम्' (जो जिसमें रहता है, वह उसी शब्दसे कहा जाता है)—इस न्यायसे 'अव्यय' में ही होता है, क्योंकि अव्ययके बिना क्षर और अक्षर रह ही नहीं सकते ।

यह त्रिपुरुष (क्षर-अक्षर-अव्ययरूप) पुरुष दो प्रकारका है, एक परमात्मा और दूसरा प्रत्यगात्मा । विश्वाभिमानी ईश्वर 'परमात्मा' कहलाता है और यह शारीरक जीव 'प्रत्यगात्मा' कहा जाता है । इन दोनों पुरुषोंका, अर्थात् ईश्वर और जीवका परस्पर एकत्व है अथवा विभिन्नत्व—इसका निरूपण ही इस वेदान्तदर्शनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । दूसरे दर्शनोंके सिद्धान्तोंके अनुसार जब क्षर पुरुषसे अथवा अक्षर पुरुषसे ही सर्वार्थसिद्धि हो जाती है तो क्या आवश्यकता पड़ी है कि हम तृतीय अव्यय पुरुषको अतिरिक्त मानें । इन्हीं शङ्काओंके समाधानके लिये वेदान्तदर्शनके एक प्रकरण, गीताशास्त्रकी उत्पत्ति हुई है । और उसमें इन प्रश्नोंका ऐसा उत्तर दिया गया है जो महातार्किकोंके लिये भी अत्यन्त दुर्भेद्य है । शिवम् ।

देहतत्त्व और मुक्ति

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, काशी)

देह किसे कहते हैं, देहकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है, देहका स्वरूप और धर्म क्या है, देह कितनी तरहकी है एवं आत्मासे इसका सम्बन्ध किस प्रकारका है ? साधारणतः अधिकांश जिज्ञासु मनुष्योंके चित्तमें ये प्रश्न एवं इसी तरहके अन्यान्य प्रश्न उठते ही नहीं । क्योंकि प्रायः सब लोगोंका ही विश्वास है कि यह सर्वसाधारणका सुपरिचित विषय है । इसके सिवा बहुतोंकी यह धारणा भी है कि मुक्ति प्राप्त करनेके लिये आत्मतत्त्वकी उपलब्धि आवश्यक है; सुतरां परमार्थलिप्सुके लिये छानबीनके साथ देहतत्त्वको जाननेकी चेष्टा करना काकदन्त-परीक्षाके समान निष्फल है ।

परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है । क्योंकि जिनको पारमार्थिक आत्मज्ञान प्राप्त करनेकी सच्ची उत्कण्ठा है उनके लिये देहतत्त्वका प्रकृष्ट ज्ञान आवश्यक है । 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' यह अति गभीर सत्य है । किसी भी प्रकारसे हो, जीव जबसे किसी अनादि और अनिर्वचनीय शक्तिके प्रभावद्वारा संसारपाशमें बँधा है, तभीसे देहाध्यासवश उसका आत्मबोध देहको आश्रय करके ही अभिव्यक्त होता है । वस्तुतः जीव आत्मविस्मृत हो गया है एवं उसकी विशुद्ध चेतना मलिन और परिच्छिन्नवत् होकर देश, काल और कार्यकारणभावके अधीन रूपमें प्रतीत होती है । 'देह कोई वस्तु नहीं है, यह अनित्य एवं नश्वर है' इस प्रकार सोचकर देहके विचारोंको दूर करनेकी इच्छा करनेपर भी, प्राकृतिक शक्तिके अव्यर्थ आघातसे जीवका देहात्मबोध निरन्तर ही जाग्रत होता रहता है । साधारण जीवके लिये आत्मा और देहको परस्पर पृथक् भावसे ग्रहण करना सम्भव नहीं है । लोकायतसम्प्रदाय अर्थात् चार्वाकमतावलम्बी जडवादीगण भी यह अच्छी तरह समझते हैं । नहीं तो बृहस्पतिको 'चैतन्यविशिष्टकायः पुरुषः'—आत्माके इस लक्षणसूत्रकी रचना करनेकी आवश्यकता न होती । पक्षान्तरमें विशुद्ध आत्मवादी दार्शनिकको भी विदेह-कैवल्य प्रमाण करते समय, नाना प्रकारसे देहकी सत्ताको अङ्गीकार नहीं करना पड़ता । जो विदेहमुक्तिरूप मोक्ष स्वीकार करते हैं, उनके मोचक ज्ञानका उद्भव भी देहावच्छेदकालमें ही है ! सुतरां लौकिक ज्ञानवाले जीवके लिये विशुद्ध जड या चैतन्य, इनमेंसे किसी भी एक पक्षका आश्रय ग्रहण सम्भव नहीं है । प्रस्थानभेदसे शास्त्रीय परिभाषाका ता रहनेपर भी वस्तुस्थिति सर्वत्र प्रायः एक प्रकारकी देखी जाती है । 'देह' कहनेसे साधारण मनुष्य जो सम हैं, शास्त्रदृष्टिसे वह स्थूल देहका ही प्रकारभेद मात्र है वस्तुतः वह देहतत्त्वके भौतिक विकासके सिवा दूसरी चीज नहीं है । रज और वीर्यके संयोगसे हो उस संयोगके बिना हो, जब भौतिक अणुराशि किसी विशिष्ट स्थानपर अवस्थित होकर विन्दुभावको प्राप्त होती तब उसे ही स्थूल देहका बीज समझना चाहिये। देहबीज बाह्य उपादान ग्रहण करके पुष्टि प्राप्त करता और यथासमय कार्यक्षमरूपसे अभिव्यक्त होता है। और वीर्यरूप रक्त और शुक्र विन्दुद्वय प्राकृतिक अथवा आ कामके प्रभावसे विक्षुब्ध होकर परस्पर मिलते हैं एवं बीज आत्मप्रकाश करते हैं । जबतक मनुष्य ब्रह्म साधनके क्रमिक उत्कर्षके द्वारा स्थिररेता ऊर्ध्वरेता अवस्थाकी उपलब्धि नहीं कर पाता तबतक अधोरेता अवस्था स्वाभाविक है । साधारणतः मनुष्यमा यही स्थिति है। इस अवस्थामें कामजय न होनेके विक्षोभके द्वारा वीर्यकी गति अधोमुखी या बाह्य बिना नहीं रह सकती । इस गतिवेगसे शक्त्यात्मक व्या विन्दुसत्ता बाष्पराशिके संघातसे उत्पन्न घनीभावके घनीभावको प्राप्त होती है और क्रमशः अधोभूमिमें अव होते-होते तैजस एवं तरल अवस्थाको प्राप्त होकर ना निम्न देशमें आ जाती है । वहाँसे रेतोवहा नाडीके मध्याकर्षणशक्तिके नियमानुसार बाहर निकल जाती है यही प्राकृत कामका सृष्टिरहस्य है। परन्तु जो ब्रह्म और जितकाम हैं, उनको स्थूल सृष्टिके कार्यमें प्रवृत्त हो आवश्यकता होनेपर, पहले इच्छाशक्तिके द्वारा या क्रि कौशलसे कामको विक्षुब्ध करना पड़ता है। क्योंकि वि

क्षोभ प्राप्त हुए बिना किसी प्रकारकी गतिका विकास संभव नहीं है। एवं गति न होनेसे, सृष्टि आकाशकुसुमके समान है। ऊर्ध्वरेताओंका निष्कामभाव सांसिद्धिक है, इसलिये प्राकृत मनुष्योंके समान उनमें कामप्रवृत्तिकी सम्भावना नहीं है। इस सृज्यमान कामको आहार्य काम कहते हैं।

प्राचीन समयमें ब्रह्मचर्यसिद्धिके बाद गृहस्थाश्रममें प्रवेश होनेसे, प्रजातन्तुकी रक्षाके लिये इसी प्रकार कामका आवाहन करके कार्यसिद्धि करनी पड़ती थी। बाह्यदृष्टिसे दोनों ही सृष्टिके भेद प्रायः एक-से ही हैं। क्योंकि दोनोंमें ही शुक्र-शोणितके मिलनकी आवश्यकता है। यही मैथुन-सृष्टि अथवा योनिज देहका उत्पत्ति-विवरण है।

परन्तु यह कोई नियम नहीं है कि स्थूल देह सर्वत्र योनिज ही हो। अयोनिज देह भी होती हैं। सीता जैसे अयोनिसम्भवा थीं, वैसे ही और भी अनेक देवता, मुनि-ऋषियोंकी देह भी अयोनिज सुननेमें आयी है। शुद्ध सङ्कल्पसे परमाणु आकृष्ट होकर, यथावत् स्थानमें स्थित हो देहका उत्पादन करते हैं। प्रलयके बाद, सृष्टिके आरम्भमें जो देह निर्मित होती हैं, वे एक हिसाबसे अयोनिज स्थूल देहका ही उदाहरण हैं। इस प्रकारकी देह सृष्टिकर्ताके संकल्पवश परमाणुपुञ्जके संघटनसे उत्पन्न होती है।

हम पहले ही लिख चुके हैं कि ऊर्ध्वरेताका शक्तिस्रोत ऊपरकी ओर प्रवहनशील होनेपर भी आहार्य कामके प्रभावसे कुछ समयके लिये अधोवृत्त हो जाता है। यह ठीक है कि कामको आहरण करना या न करना स्वतन्त्रता-मूलक है। जो कामका आवाहन नहीं करते अथवा इस तरह आहरण करनेकी स्वतन्त्रता जिनको नहीं है, वे इस प्रकारकी मैथुनी सृष्टिमें प्रवृत्त नहीं होते, परन्तु शुद्ध कामके आश्रयमें केवल नाभि, हृदय और मस्तक प्रभृतिका अंगुलिसे स्पर्श करते हैं अथवा देहसम्बन्धके बिना भी योगीजन गर्भसञ्चार कर सकते हैं। यह भी एक प्रकारकी रजोवीर्य-संघातकी प्रक्रिया है, परन्तु यह पूर्ववर्णित प्रक्रियासे अत्यन्त सूक्ष्म है। जो कामाश्रयके अत्यन्त विरोधी हैं वे इस सूक्ष्म प्रक्रियाका भी अवलम्ब लेनेकी इच्छा नहीं करते।

पूर्वोक्त आलोचनाद्वारा यह समझमें आ जायगा कि स्थूल देह एक प्रकारकी नहीं होती। हमलोग प्रतिदिन लौकिक व्यवहारमें जिस प्रकारकी स्थूल देह देखते हैं वे अधःस्रोत वीर्यद्वारा उत्पन्न होनेके कारण स्वभावतः अशुचि और अशुद्ध हैं। साधनाविशेषके प्रभावसे इस कामांशको शरीरसे शोधित किये बिना देहशुद्धि नहीं होती। यह सर्वत्र प्रसिद्ध स्थूल देह प्रथम श्रेणीके अन्तर्गत है। ऊर्ध्वरेता जीवके संकल्पप्रभावसे आहार्य कामके सम्बन्धद्वारा अधोवृत्ति उदित होकर जो देह उत्पन्न होती है, वह द्वितीय श्रेणीकी स्थूल देह है। यह अपेक्षाकृत शुद्ध होनेपर भी मलिन है। क्योंकि यह भी मैथुनसे उत्पन्न हुई है। ऊर्ध्वरेता जीवके संकल्पसे शुद्ध कामका आहरण करके अंगुलिद्वारा स्त्रीके नाभि, हृदय, मस्तक प्रभृति ऊर्ध्वाङ्गके स्पर्शसे जो स्थूल देह उत्पन्न होती है वह तृतीय श्रेणीकी स्थूल देह है। एवं स्पर्श न करके केवल दर्शन या चिन्तनके द्वारा जहाँ गर्भसञ्चार होता है एवं उसके फलस्वरूप जो देह उत्पन्न होती है वह चतुर्थ श्रेणीकी स्थूल देह है। तीसरी और चौथी स्थूल देह स्त्री-पुरुषके बाहरी मिथुनीभावसे उत्पन्न न होनेके कारण शुद्ध है। फिर भी तीसरीकी अपेक्षा चौथी देह और अधिक शुद्ध है। परन्तु जिस देहके उत्पन्न करनेमें बाह्य स्त्रीपिण्डकी अथवा उसके गर्भयन्त्रकी आवश्यकता नहीं होती वह और भी अधिक पवित्र देह है। यह ठीक है कि सूक्ष्म योनितत्त्वकी आवश्यकता सर्वदा ही रहती है। क्योंकि 'योनेः शरीरम्' इस नियमके अनुसार योनिकी सहायताके बिना केवल लिङ्गज्योति सृष्टिकार्यमें व्यापृत नहीं हो सकती। योगीके संकल्पप्रभावसे भौतिक उपादानराशि आकृष्ट होकर सम्मिलित होती है एवं देह निर्मित करती है, यह देह पाँचवीं प्रकारकी है एवं यह अत्यन्त शुद्ध है। बौद्ध एवं पातञ्जलगणकी निर्माणदेह, जैन लोगोंकी आहारक देह प्रभृति कुछ अंशोंमें इसी प्रकारकी हैं। किसी-किसी स्थानपर शास्त्रमें इसको औपपादिक देह कहकर भी वर्णना की गयी है। निर्माणदेह एवं औपपादिक देहमें परस्पर अत्यन्त वैलक्षण्य होनेपर भी किसी-किसी अंशमें समानता होनेके कारण ये एक श्रेणीके अन्तर्भुक्त की गयी हैं।

इनके सिवा और भी एक प्रकारकी देह है। जैसे पहले स्त्रीपिण्डके बिना भी देहोत्पत्तिकी बात कही गयी

है, वैसे ही अवस्थाविशेषमें पुरुषपिण्डके बिना भी देह उत्पन्न हो सकती है। शाक्त-सिद्धान्तकी मूल बात यही है। मानवीय भाषामें इस तत्त्वको प्रकट करना हो तो कहना होगा कि यह देह अक्षतयोनि कुमारीसे उत्पन्न सन्तानदेह है। खीर्स्टीय धर्म-साहित्यमें जो Immaculate Conception प्रभृति मतवादकी बातें सुननेमें आती हैं, वे केवल मतवाद ही नहीं है। इसका गम्भीर रहस्य सूक्ष्मदर्शी तत्त्वविदोंके सिवा अन्य लोगोंके बोधगम्य नहीं है। यह प्रसिद्ध है कि ईशु खीस्टकी माता मेरी (Virgin Mary) कुमारी थी। श्रीकृष्ण, बुद्ध प्रभृति अवतारों अथवा महापुरुषोंका आविर्भाव भी किसी-किसी अंशमें इसीके अनुरूप है। स्त्री कुमारी रहकर भी अर्थात् विकृत न होकर भी सन्तानकी जननी हो सकती है। हिन्दू तन्त्र-शास्त्रमें जगदम्बाको कुमारीरूपसे वर्णन करनेका यही तात्पर्य है। क्योंकि ऐसा होनेसे विश्वजगत् प्रसूत होनेपर भी, उनकी स्वरूपस्थिति और निर्विकारभाव नष्ट नहीं होता। यह ठीक है कि उनका सधवा रूप भी है, यहाँतक कि विधवा रूप भी है (जैसे धूमावती); पर उसका रहस्य स्वतन्त्र है।

अयोनिज देहके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा गया है उसके द्वारा आपाततः यह विचार आ सकता है कि योनिकी सहायताके बिना भी देहकी उत्पत्ति संभव है। परन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है। यहाँ 'योनि' शब्दका साधारण प्रचलित अर्थ ही समझना चाहिये। सूक्ष्म अर्थके अनुसार सोचनेपर यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि किसी प्रकारकी देह भी अयोनिज नहीं हो सकती। ऊर्ध्वमुख त्रिकोण एवं अधोमुख त्रिकोण, ये दोनों त्रिकोण ही योनिस्वरूप हैं। लिङ्गज्योतिरूप विन्दुके क्षुब्ध होकर गतिशील होते ही योनिमें आकर्षणशक्तिका उदय होता है। यदि विन्दु अधोगतिशील होता है, तो यह प्राकृत या निम्नयोनिमें प्रविष्ट होकर सृष्टिका विकास करता है। परन्तु क्षोभप्राप्त विन्दु ऊर्ध्वगतिशील भी हो सकता है; इस अवस्थामें उसका समावेश अप्राकृत या ऊर्ध्वयोनिमें होता है, प्राकृत योनिमें नहीं होता। इसके फलस्वरूप अप्राकृत, दिव्य, एवं विशुद्ध देहका उद्भव होता है। यह ऊर्ध्वयोनि स्थान एवं शुद्धिके भेदसे कई प्रकारकी है। इसमें जो सबसे ऊर्ध्व है वह मनुष्यके शिरोदेशमें अवस्थित है। यह योगिसमाजमें ब्रह्मयोनिके नामसे प्रसिद्ध है। इसी योनिसे विशुद्ध देहकी सृष्टि होती है। परन्तु कहना नहीं होगा कि भी एक प्रकारकी स्थूल देहके सिवा और कुछ नहीं

लौकिक स्थूल देह (वेदान्तदर्शनका अन्नमयको साकौशिक देहके नामसे परिचित है। इसकी रचनामें भूतोंकी उपयोगिता ही रहती है। दार्शनिकोंमें इस सम्‍ काफी मतभेद है कि इसका उपादानकारण एक ही है या पाँचों भूत हैं। पर एक भूतको उपादान या सम कारण माननेपर भी अन्य भूतोंकी उपष्टंभकरूपसे निमि माननी ही पड़ेगी। सारांश, इसमें सारे भूत ही हैं। पृथिव्यादि भूतविशेषका प्राधान्य होनेके कारण पार्थिव आदि नामोंसे प्रसिद्ध होती है।

जिस प्रकार इस देहके सम्बन्ध विना जीवका क निष्फल है, उसी प्रकार भोक्तृत्व भी निष्फल ही है। अ जो जीव स्थूल देहधारी है उसीका कर्ममें अधिकार अतएव वही कर्ता होता है। एवं भोगका आश्रय या भ भी वही हो सकता है। क्योंकि इस देहका अभिमान र तक ही एक ओर कर्तृत्व एवं दूसरी ओर भोक्तृत्व प्रकट है। जिस प्रकार कार्यके साथ कारणका अथवा हेतुके फलका सम्बन्ध है, उसी प्रकार कर्तृत्व एवं भोक्तृत्वका परस्पर सम्बन्ध है। 'मैं कर्मका कर्ता हूँ' इस प्रकारका कर्तृ भिमान नष्ट होनेके बाद सुख-दुःखभोगकी आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि वास्तवमें उस समय कर्म ही नहीं हो अभिमानहीन पुरुषके लिये कर्म और उसका फल न बराबर हैं। परन्तु देहका अभिमान रहते कर्म भी करने पड़ते हैं। एवं उसीके अनुसार फलभोग भी जरूरी है देहाभिमानका मूल अविद्या है, अतः अविद्या ही कर्म मय संसारचक्रकी प्रवर्तक है। ज्ञानोदयके द्वारा अविद्या निवृत्ति होनेसे अभिमानका नाश होता है। तब जीव क और भोगकी बेड़ीसे छुटकारा पाता है।

स्थूल देहको भोगायतन इसलिये कहते हैं कि इ देहका आश्रय लेकर ही पूर्व कर्मोंका फलभोग सम्भव है सूक्ष्म और कारणदेह भोगायतन नहीं हैं। जिस देहसे क होता है वह कर्मदेह है एवं जिसके द्वारा भोग होता

भोगदेह है। और जिस देहके द्वारा कर्म एवं भोग नों होते हैं वह उभयात्मक देह है। कहनेकी जरूरत नहीं है ये सब स्थूल देहके ही भेद हैं। चौरासी लाख योनियोंमें रिभ्रमण करके जीव स्थावर, उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज भृति अवस्थाओंके ग्रहण एवं परिहारपूर्वक क्रमशः स्वभावके तसे अन्तमें जरायुज श्रेणीको प्राप्त होता है। फिर मशः जरायुज श्रेणीकी ऊर्ध्वतम सीमापर पहुँचकर दुर्लभ नुष्यदेह पाता है। एक-एक श्रेणीमें नाना प्रकारकी क्रमोत्कृष्ट देहकी प्राप्ति होती है। जिस प्रकार नदीका स्रोत स्वभावतः क्रमशः समुद्रकी ओर प्रवाहित होता है, उसी प्रकार पुरुषंसर्गके वश विक्षुब्ध प्रकृतिका अन्तःस्रोत भी पुरुषकी ओर प्रवाहित होता है। इसीलिये जीव बीजरूपसे प्रकृतिके र्भमें आविर्भूत होकर क्रमशः ऊँचा उठता रहता है वं क्रमशः उत्कृष्टतर देह प्राप्त करता रहता है। यह कृतकर्मका ल नहीं है। प्राकृतिक स्रोतके स्वाभाविक परिणामका फल । अहंभावकी स्फूर्ति न होनेतक जीवका कर्माधिकार नहीं ता। अतएव मनुष्यदेह पानेके पूर्वतक चौरासी लाख होंमें सञ्चरण केवल प्राकृतिक व्यापार ही है, उसके मूलमें यक्तिगत इच्छा या कर्मप्रेरणा नहीं है। परन्तु मनुष्यहके साथ संसर्ग होते ही कर्तृत्वाभिमान उत्पन्न हो जाता , एवं इसीलिये कर्माधिकारकी उत्पत्ति एवं फलभोग आवश्यक होता है। उस समय प्राकृतिक स्रोतका प्रभाव हीं रहता एवं जीव स्वकृत कर्मोंके अनुकूल ऊर्ध्व या अधोगति प्राप्त करता है। प्राकृतिक गति सरल और ऊर्ध्वमुखी है; पर कर्मकी गति वक्र, चक्राकार एवं अनन्त चित्र्यमयी है। क्योंकि अभिमानके विकाससे अनन्त कारकी लीलामय इच्छाका स्फुरण होता रहता है। इस अभिमानके निवृत्त होनेसे ही स्वाभाविक सरल गतिका सूत्रात होता है। इस सरल स्वाभाविक गतिको फिर पानेके लये ही दीक्षादि ग्रहण करके योगादि साधनोंके अनुष्ठानकी आवश्यकता होती है।

मनुष्यदेहकी विचित्रता सूक्ष्मदर्शी साधकोंके सिवा सरोंके गोचर नहीं होती। शक्ति यन्त्रद्वारा नियमित ोकर प्रकाशित होती है। मुक्त शक्ति अव्यक्त है, उसका फुरण नहीं होता। उसी प्रकार पुरुषसंसर्गवश चेतनशक्ति जड प्रकृतिके गर्भमें प्रविष्ट होकर उससे निकलते समय जडका सत्तांश आकर्षण करके प्रकाशित होती है। जिस प्रकार दीपक तैल आदिके बिना प्रकाशमान नहीं होता, उसी प्रकार सत्त्वसे रहित चेतन भी प्रकाशित नहीं होता। यह सत्त्व जडके साथ सम्बन्धित है। चेतनशक्ति इसका क्रमशः उद्धार करके इसके संगद्वारा स्वयं पुष्टिलाभ करती है।

चौरासी लाख योनियोंमें परिभ्रमण करनेका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण बाह्य प्रकृतिका सत्तांश जाग्रत होकर उसीके अनुरूप चेतनशक्तिके साथ योगयुक्त होता है। प्राण, मन और बुद्धिके विकासका यही मूलसूत्र है। प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोशके विकासका यही क्रम है। चित् और सत्का मिलन भलीभाँति सम्पादन कर लेनेपर, उससे आनन्दकी अभिव्यक्ति स्वभावतः ही होती है। तब दिव्य भावका उदय होता है एवं आनन्दमय कोशका विकास होता है। क्रमशः षोडशी कलाका आविर्भाव होकर खण्ड जीव फिर पूर्णज्ञानमय पुरुषोत्तमकी गोदमें, यहाँतक कि पुरुषोत्तमरूपकी ही—प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। पर उसके पहले यह सम्भव नहीं है।

हम साधारणतः जिस स्थूल देहको देखते हैं उसका परिचालन शक्तिके द्वारा ही होता है। स्थूल देहके संचारके मूलमें ज्ञान और क्रियाशक्ति अवस्थित है। ज्ञानेन्द्रिय ज्ञानशक्तिकी धारा है एवं कर्मेन्द्रिय क्रियाशक्तिकी धारा है। दोनों धाराएँ ही अन्तःकरणमें समान भावसे सम्मिलित रहती हैं। यह तेजोमयी शक्ति देहके अंदर बहुत-सी सूक्ष्म नाडियोंके आश्रयसे प्राणादि वायुतत्त्वका अवलम्ब लेकर काम करती है। यद्यपि सारी इन्द्रियाँ स्थूल देहका आश्रय लिये हुए ही जान पड़ती हैं, पर तो भी वे वास्तवमें स्थूल देहकी अंश नहीं हैं। क्योंकि मृत्यु अथवा दूसरेके शरीरमें प्रवेश करनेके समय जब लिङ्गशरीर स्थूलदेहका त्याग करके बाहर चला जाता है तब वे भी स्थूलदेहमें विद्यमान नहीं रहतीं। इन्द्रियाँ आदि वास्तवमें तेजोमय शक्तिविशेषहीकी देहगत स्फूर्ति हैं, इस तेजको ही लिङ्गशरीर कहते हैं। यह अविभक्त होकर भी आधारके अनुसार विभक्तके समान प्रतीत होता है। यह स्थूलदेहके साथ ओतप्रोतभावसे व्याप्त होकर रहता है। जैसे काठके टुकड़ेमें सुप्त अग्नि विद्यमान रहती है परन्तु

दिखलायी नहीं पड़ती, क्रियाविशेषके द्वारा उसे जागृत करना पड़ता है, वैसे ही यह लिङ्गात्मक तेज या ज्योति भी समस्त स्थूल देहमें व्याप्त है। संघर्षणद्वारा इसको प्रज्वलित करके इससे इच्छानुरूप काम लिया जा सकता है। सांख्यमतसे लिङ्गशरीर सप्तदश या अष्टादश अवयववाला है। अथवा वेदान्तमतसे प्राणादि-त्रिकोशमय है। पर इन पारिभाषिक शास्त्रीय विचारोंकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। लिङ्गके साथ साक्षात् परिचय बिना हुए ये सब बातें सरलतासे बोधगम्य नहीं होतीं। यह स्पष्ट ही समझमें आता है कि हमलोग जिसको अन्तःकरण कहते हैं, वह भी इस लिङ्गज्योतिके ही अन्तर्गत है; यह लिङ्ग, संसारमें किसीका भी विशुद्ध नहीं है। क्योंकि नाना प्रकारके संस्कार, वासना प्रभृति इसमें सञ्चित होकर इसको धूल लगे दर्पणके समान मलिन किये हुए हैं। किसी विषयका आश्रय लेनेसे चित्तपर जो दाग पड़ता है वही वासना है। वह कर्म अथवा लौकिक ज्ञान दोनोंसे उत्पन्न हो सकती है। इस वासना नामक संस्कारका विश्लेषण करनेपर जिस प्रकार एक ओर अन्तःकरणकी सत्ता मिलती है उसी प्रकार दूसरी ओर विषयका अंश भी उपलब्ध होता है। आसक्तिके प्रभावसे चित्तमें विषयका आकर्षण होता है। सकाम भावसे जो कुछ किया या सोचा जाता है, वहाँ सर्वत्र ही विषयका अंश आकर अन्तःकरणसे संलग्न हो जाता है। जन्म-जन्मान्तरसे कितने संस्कार इस प्रकार इकट्ठे हो रहे हैं, उसका कोई हिसाब नहीं है। ये सब स्वभावतः स्वच्छ हृदयदर्पणको मलिन कर देते हैं। इन सबको लिङ्गसे दूर कर सकनेपर ही लिङ्ग निर्मल (शुद्ध) होता है, बिना दूर किये नहीं।

मृत्युके उपरान्त जब स्थूल देहको त्यागकर लिङ्ग बाहर चला जाता है, तब इन सारे संस्कारों और उनके साथ सूक्ष्म भूतसमूहको भी साथ ले जाता है। जीवित अवस्थामें भी यही होता है। मृत्युके समय जो संस्कार या भाव प्रबल हो जाते हैं, वे पूर्वसञ्चित दूसरे भावोंको उद्‌बुद्ध करके अपनेमें मिला लेते हैं एवं पिण्डीभूत होकर प्रारब्धकर्मोंकी सृष्टि करते हैं। जीव उसीके अनुसार गति पाता है। फलतः अधिकांश स्थलोंमें इस फलभोगके लिये फिर स्थूलदेह ग्रहण करनेकी आवश्यकता हो जाती है। अतएव मरनेपर भी छुटकारा नहीं है। क्योंकि अभुक्त कर्मोंके फलभोगके लि स्थूल देह धारण करनेके लिये बाध्य होना

अतएव जब इन सञ्चित संस्कारोंका पुञ्ज नहीं कर सकता एवं अभिनव अर्थात् नये कर्म औ नहीं होते तब चित्तशुद्धि होती है। इसका एकमा ज्ञान है। अन्य किसी भी उपायसे चित्तकी स शुद्धि नहीं हो सकती। देहादिसे अलग विशुद्ध आत्म साक्षात्‌रूपसे जान लेनेपर अभिमान नष्ट हो जात इसीलिये नवीन कर्मोंका बीज भी नष्ट हो जात देहात्मबोधके अभावसे प्राक्तन कर्म दग्धवत् हो जाते

किन्तु ज्ञानोदयका मार्ग क्या है? लिङ्गशरीरसे चारों ओर रश्मियाँ विकीर्ण हो रही हैं। फल सदा ही विक्षुब्ध रहता है। यदि किसी कौशलसे इन रश्मियोंको एकत्र कर लिया जाय तो लिङ्ग स्थिरताको कर उज्ज्वल, अखण्ड ज्योतिके आकारमें विकास होगा। यहो ज्ञानमयी अथवा ज्ञानरूपी लिं साधारणतः मनुष्यमात्रकी लिङ्गदेह असिद्ध है। मनुष्य प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न विषयोंका चिन्तन कर है। वह जिस समय जिस विषयका चिन्तन उस समय उसका चित्त तदाकार हो जाता है, एवं विषयका उपादान संग्रह करता है। किन्तु वह स्था होता। तुरन्त दूसरे विषयके चिन्तनसे पहलेका आ हो जाता है एवं दूसरा स्वरूप बन जाता है। आकारका टूटना-बनना चित्तमें बराबर चलता र वास्तवमें यही दुर्बलताका चिह्न है। परन्तु जब किसी विशेषके आश्रयसे चित्त एक ही विषयको ग्रहण करके लिये उसीके आकारमें आकारित हो जाता है तब वह समान कठिन हो जाता है। उसकी चञ्चलता नष्ट है एवं वह स्थिरता प्राप्त कर लेता है।

इस अवस्थामें जीव अपने आधारके अनुसार और सर्वशक्तिसम्पन्न हो जाता है। यह एक प्रकार अद्वय अवस्था है। परन्तु यथार्थ अद्वैतस्थिति चित्त होनेतक नहीं हो सकती। चित्तकी यह अवस्था उसी प्रतिष्ठित होती है जब उसमें सूक्ष्मरूपसे भी दूसरा लेशमात्र विद्यमान नहीं रहता। दृष्टान्तरूपसे सोचिये

क्ति निरन्तर श्रीकृष्णकी भावना करता है। गुरुदत्त कौशल-अनुसार भावना करते-करते एक ऐसी परिबोधित अवस्थाका द्भव होता है कि उसका चित्त उसकी भावनाके विषयके थ ओतप्रोत होकर एकीभूत हो जाता है। दृष्टान्तस्थलमें, ब चित्त श्रीकृष्णका आकार धारण करके अवस्थित हो, उस मय यह समझना चाहिये कि इसकी भावनाका उत्कर्ष आ है। यदि चित्तमें श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसी कारका भी संसर्ग न रहे तो फिर चित्तके श्रीकृष्णभावसे ट जानेकी सम्भावना नहीं रहती। अर्थात् उस समय त्तमें अन्य भावना या विकल्पका उदय नहीं होता, चित्त ौर कोई नया आकार धारण नहीं करता। उस समय त्तका आकार श्रीकृष्णमय और स्थायी हो जाता है। स्तवमें यह सायुज्य-मुक्तिकी अवस्था है। जिसकी ऐसी वस्था हो गयी हो उसके चित्त या लिङ्गको सिद्ध कहा जा कता है। सूक्ष्मदर्शी योगी इस प्रकारके मनुष्यको देखकर मझ जाते हैं कि इसको श्रीकृष्णभावकी सिद्धि प्राप्त हो गयी । इस उदाहरणके अनुसार ही अन्यत्र भी समझना चाहिये।

चित्त अत्यन्त स्वच्छ है। यह आलम्बनके सम्बन्धसे दाकार हो जाता है। वास्तवमें यह जो श्रीकृष्णका आकार है वह सच्चा श्रीकृष्ण नहीं है। यह साधक जीवका श्रीकृष्णाकार चित्त है। इसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। यही लेङ्गसिद्धि है। इस प्रकारके लिङ्गशरीरकी सिद्धिके बिना उज्ज्वल ज्ञानज्योतिका विकास नहीं होता, एवं संसारबीजस्वरूप अन्तःकरणमें अवस्थित संस्कारादि भी नष्ट नहीं होते।

लिङ्गसाधनाकी प्रथम अवस्था ज्योतिःसिद्धि है। यही सालोक्यमुक्ति है। क्योंकि समानलोकता ही सालोक्य है। लोकसे मतलब है आलोक अथवा ज्योतिका, अर्थात् ध्येय देवताकी अङ्गप्रभा समझनी चाहिये। जिसको जो आलम्बन इष्ट है उसके लिये उसीकी ज्योति ही निकट है। यद्यपि मूल ज्योति एक ही है, फिर भी पहले-पहल उसका साक्षात्कार सबको नहीं होता। अतएव श्रीकृष्णका तेज, श्रीरामचन्द्रका तेज, श्रीगणेशका तेज, पारमार्थिक दृष्टिसे एक होते हुए भी, व्यावहारिक भूमिमें परस्पर विभिन्न हैं। साधक जब इस इष्टतेजसे अपने लिङ्गतेजको मिला लेता है, तभी उसकी सालोक्यमुक्ति सिद्ध होती है। यह सर्वदा ही स्मरण रखना चाहिये कि जिसको साधारणतः कृष्णलोक, रामलोक, गणपतिलोक कहा जाता है, वह वास्तवमें उन श्रीकृष्णादिरूप मध्यविन्दुसे निःसृत उनकी मण्डलाकार प्रभा-राशि ही है। सुतरां सालोक्य अवस्थामें उन-उन देवताओंके लोकोंमें ही स्थिति होती है। लोकके बाद रूप है एवं रूपके बाद शक्ति या ऐश्वर्य है। चित्त क्रमशः तद्रूपता प्राप्तकर उसकी शक्तिका अधिकारी होता रहता है। यदि अग्निका आकार धारण करके भी उसकी दाहिकाशक्तिको न प्राप्त किया तो समझना होगा कि अभी अग्निका स्वरूप दूर है। यह शक्तिलाभ ही सार्ष्टिमुक्तिकी अवस्था है। इसके उपरान्त—शक्ति या ऐश्वर्यको अतिक्रान्त करनेके बाद सामीप्यभावका उदय होता है। ऐश्वर्य-अवस्थामें अधिक घनिष्ठता नहीं होती, किन्तु सामीप्य-अवस्थामें नित्य सान्निध्य रहनेके कारण माधुर्यभावका विकास होता है। इसके बाद इष्टके साथ सर्वथा योगसम्पत्ति हो जाती है। यही सायुज्य है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यही सब लिङ्गकी ही क्रमश्रेष्ठ सिद्धि है।

परन्तु लिङ्ग सिद्ध होनेपर भी, अर्थात् परमात्माके सगुण-रूपके समभावापन्नवत् हो जानेपर भी गुणातीत परा सत्तामें प्रवेश प्राप्त नहीं होता। लिङ्गकी सर्वथा निवृत्ति हुए बिना निर्गुण अवस्थाकी प्राप्तिकी सम्भावना नहीं है। कहना नहीं होगा कि यह लिंगनिवृत्ति ही परामुक्ति है। साक्षात् भगवत्कृपा एवं तदुद्भूत जीवका आत्मसमर्पण होनेसे ही पूर्णावस्था उदय होती है।

वास्तवमें लिङ्गकी निवृत्ति ही आत्माकी स्वरूपमें अवस्थिति है। लिङ्गके पीछे लिङ्गका प्रयोजक अविद्यामय कारणशरीर वर्तमान रहता है। जबतक ब्रह्मविद्याके प्रभावसे इस कारण-शरीरका नाश नहीं होता तबतक पूर्ण अद्वैतसिद्धिकी आशा बहुत दूर है। इस कारणात्मक मूल अज्ञानको अक्लिष्ट जानकर भक्तगण त्याग करना नहीं चाहते। बौद्धसम्प्रदायमें भी सम्यक्सम्बोधिमय बुद्धत्वलाभके पूर्वतक इस अक्लिष्ट अज्ञानकी सत्ता स्वीकृत हुई है। परन्तु यह मुक्तावस्थाके ही अन्तर्गत है, क्योंकि दोनों आवरणोंमें क्लेशावरणके दूर होनेसे ही मुक्ति प्राप्त होती है। परन्तु अज्ञानावरणकी निवृत्ति न होनेतक अद्वयभावमें स्थिति नहीं होती।

लिङ्गदेह सिद्ध करनेके कई उपाय हैं। सहजियागण एवं वैष्णव आचार्यगण जिसको भावदेह कहते हैं वह सिद्ध लिङ्गदेहके सिवा और कुछ नहीं है। सिद्ध होनेके कारण इसमें लौकिक संस्कार एवं कर्माशय नहीं रहते। स्थूलदेह सिद्ध करनेका कौशल भी साधकोंको अविदित नहीं है। रासायनिकोंके मतमें अष्टादश संस्कारसे संस्कृत पारेके द्वारा देहवेध होता है। लोहवेधके फलस्वरूप जैसे लोह सुवर्णत्व प्राप्त कर लेता है वैसे ही देहवेधके द्वारा अशुद्ध देह वज्रपञ्जरके समान सिद्धि प्राप्त करती है।

पातञ्जल सम्प्रदायमें भूतजयसे कायसम्पत् अथवा देहसिद्धिकी बात है। गोरखनाथ आदि नाथगण एवं बौद्धगण भी कायसिद्धिके सम्बन्धमें अनेक आदेश दे गये हैं। सुना जाता है कि शुक्राचार्य, जलन्धरनाथ, गोविन्दभगवत्पाद आदि सिद्धदेहसम्पन्न थे। इस देहमें वृद्धत्वका आविर्भाव नहीं होता। नित्य ही किशोरावस्थापन्न एवं रमणीय दिखलायी पड़ती है। किसी प्रकारका भी विकार इस देहमें लक्षित नहीं होता। मृत्युका आघात भी इससे एक प्रकार दूर ही रहता है। परन्तु यह आपेक्षिक है। यहाँ मृत्युजयसे कल्पान्तस्थिति समझनी चाहिये। जिन उपादानोंसे इस कल्पका उदय हुआ है, उन उपादानोंके साथ उपादानोंका साम्य हो जानेके कारण कल्पक्षयके इस देहका लय भी सम्भव नहीं है।

अग्नि और सोमके रहस्यका उद्घाटन इस उद्देश्य नहीं है। परन्तु यहाँ यह कह देना उचित सोमकलासे यह देह उत्पन्न होती है एवं अग्निरूपी भक्षण करता है। यदि सोमकला अग्निसे, यहाँ कालाग्निसे भी प्रबल होती है तो वैसी देहका कल्पा विनाश सम्भव नहीं है। सोमपानजनित अमरत्व यही तात्पर्य है। किसी भी साधनाके द्वारा देहस्थ सो को प्रधान करके यदि अग्निको अभिभूत किया जा आपेक्षिक मृत्युजयभावकी प्राप्ति अवश्य ही होगी देहकी अथवा लिङ्गदेहकी दीर्घ अवस्थितिका कारण

हमने पहले जो आलोचना की है, उससे यह आ जाता है कि देहतत्त्वपर पूर्णरूपसे अधिकार न सकनेसे देहातीत, विशुद्ध एवं अद्वैत आत्मभावकी कभी सम्भव नहीं है। देहका अवलम्बन लेकर ही अवस्थाको पाना होगा। यही शास्त्रोंका एवं महा एकमात्र सिद्धान्त है। अतएव मुक्तिकामीके लिये तत्त्वका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

भगवत्कृपा

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

किसी भाईका प्रश्न है कि भगवत्कृपा सहैतुक होती है या निर्हैतुक? मनुष्यको सभी अवस्थाओंमें भगवान्‌की दयाका दर्शन किस प्रकार करना चाहिये?

इसके उत्तरमें मेरा निवेदन है कि भगवत्कृपाके महत्त्वको वाणीद्वारा पूर्णरूपसे वर्णन करना असम्भव है। क्योंकि भगवान्‌की दयाका महत्त्व अपार है और वाणीद्वारा जो कुछ कहा जाता है वह स्वल्प ही होता है; भगवान्‌की कृपाके रहस्यको जो कोई महापुरुष यत्किञ्चित् समझते हैं, वे भी जितना समझते हैं उतना वाणीद्वारा बता नहीं सकते। भगवान्‌की कृपा सब जीवोंपर सदा-सर्वदा अपार है। लोगोंका इस विषयमें जितना अनुमान है उससे भी भगवान्‌की कृपा बहुत अधिक है, इस विषयमें 'भगवान्‌की दया' शीर्षक एक लेख कल्याणमें पहले छप चुका है*। विषय एक होनेके कारण कुछ पुनरुक्तियाँ आ सक तथापि दोनों लेखोंको मिलाकर पढ़नेसे भगवान्‌की महत्त्व समझनेमें अधिक सहायता मिल सकती है।

वास्तवमें भगवान्‌की दया सभी प्राणियोंपर बिना कारणके समभावसे सदा ही स्वाभाविक है, अतः निर्हैतुक ही कहना चाहिये। परन्तु जो मनुष्य भगव दयापर जितना अधिक विश्वास करता है, अपनेपर अधिक दया मानता है, उनकी दयाका तत्त्व जितना समझता है, उसे उतना ही अधिक प्रत्यक्ष लाभ मिल इसीलिये उसको सहैतुक भी कहा जा सकता है।

भगवान् तो सर्वथा पूर्णकाम, सर्वशक्तिमान्, ईश्वर हैं। उनमें किसी प्रकारकी कामना या कल्पना ही कैसे हो सकती है, जिससे उनकी

---

* यह लेख 'कल्याण', वर्ष ५ अङ्क १२ में छपा था, तथा 'तत्त्वचिन्तामणि' भाग २ (लेख नं० [illegible]) में भी संगृहीत है।

'तत्त्वचिन्तामणि' के दोनों भागोंके छोटे साइजके अभी प्रेससे प्रकाशित हुए हैं; मू० ।-), ।=)-सजिल्द ।=),

इसी प्रकारके स्वार्थरूप हेतुको स्थान मिल सके। वे तो स्वभावसे ही—बिना कारण परम दयालु हैं, सबके सुहृद् हैं; उनकी सब क्रिया सम्पूर्ण जीवोंके हितके लिये ही होती है; वास्तवमें अकर्ता होते हुए भी वे दयावश जीवोंके हितकी चेष्टा करते हैं। अजन्मा होते हुए भी साधु पुरुषोंका उद्धार, धर्मका प्रचार और दुष्टोंका संहार * करनेके लिये एवं संसारमें अपनी पुनीत लीलाका विस्तार करके लोगोंमें प्रेम और श्रद्धाका सञ्चार करनेके लिये समय-समयपर अवतार धारण करते हैं; निर्गुण, निराकार और निर्विकार होते हुए भी अपने भक्तोंके प्रेमके अधीन होकर सगुण और साकाररूपसे दर्शन देनेके लिये बाध्य होते हैं; सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वथा स्वतन्त्र होते हुए भी प्रेममें पिघलकर भक्तके अधीन हो जाते हैं; इन सबमें उनकी निर्हैतुकी परम दया ही कारण है।

जो भगवान्‌को प्राप्त हुए भगवद्भक्त हैं, जो भगवान्‌की दयाके महत्त्वको समझ गये हैं, जिनमें उस दयामय परमेश्वरकी दयाका अंश व्याप्त हो गया है, उन महापुरुषोंका भी अन्य जीवोंसे किसी प्रकारका भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता। उनकी समस्त क्रियाएँ केवल लोकहितके लिये, किसी प्रकारके स्वार्थरूप हेतुके बिना ही होती हैं; तब फिर भगवान्‌की दया हेतुरहित हो, इसमें तो कहना ही क्या है! महापुरुषोंका किसी भी जीवके साथ किसी प्रकारका स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता, इस विषयमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
(गीता ३। १८)

'इस संसारमें उस (पुरुष) का किये जानेसे भी (कोई) प्रयोजन नहीं है (और) न किये जानेसे (भी) कोई प्रयोजन नहीं है तथा उसका सम्पूर्ण भूतोंमें कुछ भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है, तो भी उसके द्वारा केवल लोकहितार्थ कर्म किये जाते हैं।'

इसी तरह अपने विषयमें भी कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
(गीता ३। २२)

'हे अर्जुन! यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, तथा कोई भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, तो भी मैं कर्ममें ही बर्तता हूँ।'

तुलसीदासजीने भी कहा है—

स्वारथ मित्र सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥
हेतुरहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

इस वर्णनसे यह पाया जाता है कि महापुरुषोंका और भगवान्‌का कोई कर्त्तव्य और प्रयोजन न रहते हुए भी लोगोंको उन्मार्गसे बचानेके लिये एवं नीति, धर्म और ईश्वरभक्तिरूप सन्मार्गमें लगानेके लिये केवल लोकहितार्थ उनके द्वारा सब क्रियाएँ हुआ करती हैं; इसमें उनकी अपार दया ही कारण है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि इस प्रकार भगवान्‌की समान भावसे सब जीवोंपर अपार दया है, तब फिर सभी जीवोंका कल्याण क्यों नहीं हो जाता? विवेचन करनेसे इसका यही उत्तर मिलता है कि उनकी दयाके तत्त्वको न जाननेके कारण लोग उस दयासे विशेष लाभ नहीं उठा सकते।

भगवान्‌के परम दयालु और सर्वशक्तिमान् होते हुए भी, समदर्शी और निःस्पृह होनेके कारण उनके द्वारा अपने-आप कोई क्रिया नहीं की जाती। श्रद्धा-प्रेमपूर्वक शरणागत होनेसे ही, भक्तके हितके लिये उनमें क्रियाका प्रादुर्भाव होता है और उनकी दयाका विकास होता है। जैसे जगत्तारिणी भागीरथी गंगाका प्रवाह लोकहितार्थ निरन्तर बहता रहता है, तथापि जो गंगाके प्रभावको नहीं जानते, जो श्रद्धा-भक्तिकी कमी होनेके कारण स्नान-पानादि नहीं करते, वे उससे विशेष लाभ नहीं उठा सकते; इसी तरह भगवान्‌की दयाका प्रवाह अहर्निश गंगाके प्रवाहसे भी बढ़कर सर्वत्र बह रहा है, तो भी मनुष्य उसका प्रभाव न जाननेके कारण एवं श्रद्धा-भक्तिकी कमी होनेके कारण, भगवान्‌की शरण लेकर उनकी दयासे विशेष लाभ उठानेकी चेष्टा नहीं करते।

समान भावसे भगवान्‌की दयाका साधारण लाभ तो

---

* यहाँ 'संहार' रूपसे भी भगवान् कल्याण ही करते हैं। कहा भी है—

लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः॥

'जिस प्रकार बच्चेको प्यार करने और ताड़ना देने, दोनोंमें माताकी दया ही है, उसी प्रकार जीवोंके गुण-दोषोंका नियन्त्रण करनेवाले भगवान्‌की सब प्रकारसे उनपर कृपा ही है।'

सब जीवोंको मिलता ही है; परन्तु जो उसकी दयाका पात्र बन जाता है, वह उससे विशेष लाभ उठा सकता है। सूर्यकी धूप और रोशनी सर्वत्र समान भावसे सबको प्राप्त होती है, अतः समान भावसे उसका लाभ सबको मिलता है । किन्तु सूर्यमुखी काँचपर उसकी शक्तिका विशेष प्रादुर्भाव होता है, उसमें तुरंत अग्नि प्रकट हो जाती है । सूर्यमुखी काँचकी भाँति जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है, जिसके अन्तःकरणमें भगवान्पर विशेष श्रद्धा और प्रेम होता है, वह उनकी दयासे विशेष लाभ उठा सकता है ।

मनुष्यके सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण, तीनों प्रकारके कर्मोंसे ही भगवान्की दयाका सम्बन्ध है—पूर्वकृत पुण्यकर्मोंका सञ्चय भगवान्की दयासे ही हुआ है तथा उन सञ्चित कर्मोंके अनुसार प्रारब्धभोगका विधान भी भगवान् ही दयापूर्वक जीवोंके हितके लिये करते हैं । अतः भगवान्की दयाके रहस्यको समझनेवाला प्रारब्धभोगके समय हर एक अवस्थामें भगवान्की दयाका दर्शन किया करता है। क्रियमाण शुभ कर्म भी भगवान्की दयासे ही बनते हैं, उनकी दयासे ही मनुष्य सन्मार्गमें अग्रसर हो सकता है । अतः सभी कर्मोंसे भगवान्की दयाका नित्य सम्बन्ध है ।

श्रद्धा-भक्तिपूर्वक विचार करनेसे क्षण-क्षणमें, पद-पदपर, हरएक अवस्थामें मनुष्यको भगवान्की दयाके दर्शन होते रहते हैं ! सब जीवोंको जल, वायु, प्रकाश आदि तत्त्वोंसे सुखभोग मिल रहा है, उनके जीवनका निर्वाह हो रहा है, खान-पान आदि कार्य चल रहे हैं, इन सबमें ईश्वरकी समान दया व्याप्त है ।

मनुष्यके शुभ और अशुभ कर्मोंके अनुसार फलभोगकी व्यवस्था कर देनेमें भगवान्की दयाका ही हाथ है ।

थोड़ा-सा जप, ध्यान और सत्सङ्ग करनेसे मनुष्यके जन्मजन्मान्तरके पापोंका नाश होनेका जो भगवान्ने कानून बनाया है, इसमें भी भगवान्की अपार दया भरी हुई है !

भगवान्की शरण होकर प्रेम और करुणाभावसे प्रार्थना करनेपर प्रत्यक्ष प्रकट हो जाना, भक्तके हर प्रकारके दुःखों और संकटोंको दूर करना, सब प्रकारसे शरणागतकी रक्षा करना, हर एक प्रकारके पापकर्मसे उसे बचाना, यह उनकी विशेष दयाका प्रदर्शन है । बिना इच्छा और प्रार्थनाके भी भक्त प्रह्लादकी भाँति दृढ़ विश्वास रखकर भक्ति करनेवाले भक्तके हितके लिये स्वयं प्रकट होकर उसे दर्शन देना और सम्पूर्ण संकटोंसे उसकी रक्षा करना, यह भगवान्की द
अतिशय विशेष प्रदर्शन है ।

महात्मा और शास्त्रोंके द्वारा या स्वतः लोगोंके अ
करणमें प्रेरणा करके अथवा स्वयं अवतार लेकर लोगोंको कर्मोंसे हटाकर अच्छे कर्मोंमें लगा देना, यह भी भग
की विशेष दयाका प्रदर्शन है ।

स्त्री, पुत्र, धन और मकान आदि सांसारिक पदार्थों
प्राप्ति और उनका विनाश होनेमें एवं शरीरका स्वास्थ्य
रहने और न रहनेमें, रोग और संकटादिकी प्राप्तिमें
सुख-सम्पत्ति और दुःखोंकी प्राप्तिमें भी—हर एक अव
मनुष्यको भगवान्की दयाका दर्शन करनेका अभ्यास क
चाहिये ।

स्त्री, पुत्र, धन और मकान आदि सांसारिक पदार्थों
वृद्धिमें समझना चाहिये कि भगवान्ने पूर्वकृत पुण्यक
फलस्वरूप ये सब पदार्थ दूसरोंको सुख पहुँचानेके
श्रेष्ठ कर्म करनेके लिये, भगवान्में प्रेम बढ़ानेके लिये
हर प्रकारसे ईश्वरभक्तिमें इनका प्रयोग करनेके लि
दिये हैं । ऐसा समझकर उन सांसारिक पदार्थोंसे जो
शरीरनिर्वाहमात्र ही अपना सम्बन्ध रखता है, और
सबको ईश्वरके ही काममें लगा देता है, वही ईश्वरकी द
का रहस्य ठीक समझता है; जो उन पदार्थोंको भो
खर्च करता है, वह भगवान्की दयाके तत्त्वको नहीं समझता

इन सब सांसारिक पदार्थोंके नाशके समय समझ
चाहिये कि इन सबमें मेरी भोगबुद्धि और आसक्ति हो
कारण ये ईश्वरभक्तिमें बाधक थे । अतः परमदयालु भगवा
दयावश अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये इन सब
हटाया है, इसमें भगवान्की परम दया है । जिस प्रकार संसा
देखा जाता है कि पतंगे या दूसरे इसी प्रकारके जन्तु रोशनी
देखकर उसपर आसक्त हो जाते हैं, मोहवश उसमें उछ
उछलकर पड़ते और भस्म हो जाते हैं । उनकी ऐसी बुरी द
देखकर, दयालु मनुष्य उस रोशनीको वहाँसे हटा देता
बुझा देता है; इस कार्यमें उस मनुष्यकी उन पतंगों
महान् दया है, यद्यपि वे पतंग इस बातको नहीं समझते
उनकी समझमें तो उस रोशनीको हटानेवाला अत्य
निर्दयी और महान् शत्रु है; पर यह उनका अज्ञान है, उनक
भूल है । इसी तरह हमारे भोले भाई जो ईश्वरकी दया
रहस्य नहीं जानते, वे भी सांसारिक पदार्थोंका अभाव हो
देखकर नाना प्रकारसे ईश्वरको दोष दिया करते हैं; पर

भगवान् परम दयालु हैं, वे उनके अपराधकी ओर नहीं देखते। तथा मुझपर परम दया करके भगवान्ने पूर्वकृत पापकर्मोंसे उऋण करनेके लिये, भविष्यमें पापोंसे बचानेके लिये और समस्त भोगसामग्रीको प्रत्यक्ष क्षणभङ्गुर दिखाकर उनमें वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये इन सबका वियोग किया है—ऐसा समझकर जो सांसारिक पदार्थोंके वियोगमें भी भगवान्की दयाका दर्शन करके सदा प्रसन्न रहता है, वही उनकी दयाके रहस्यको ठीक समझता है।

ऐसे ही जब शरीर आरोग्य रहे तो समझना चाहिये कि भगवान्को सर्वव्यापी समझकर सबमें भगवान्का दर्शन करते हुए दूसरोंकी सेवा करनेके लिये, श्रेष्ठ पुरुषोंका संग करके भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझनेके लिये और उनके भजन-ध्यानका निरन्तर अभ्यास करनेके लिये भगवान् दया करके मुझे नीरोग रखते हैं—ऐसा समझकर इस क्षणभङ्गुर शरीरको जो परम दयालु परमात्माके काममें उपर्युक्त उद्देशानुसार लगा देता है, वही उनकी दयाके रहस्यको ठीक समझता है।

शरीर रोगग्रस्त होनेसे समझना चाहिये कि पूर्वकृत पापकर्मोंसे उऋण करनेके लिये, भविष्यमें पापोंसे बचानेके लिये, शरीरमें वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये, और रोगादिमें तपबुद्धि करके उसका लाभ देनेके लिये, एवं बार-बार अपनी स्मृति दिलानेके लिये, भगवान्ने परम दया करके यह अवस्था दी है—यह समझकर जो रोगादिकी प्राप्तिमें भी किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करता, आनन्दपूर्वक अपने मनको निरन्तर भगवान्के चिन्तनमें लगा देता है, तथा भगवान्के उपर्युक्त उद्देशोंको समझ-समझकर सदा हर्षित रहता है, वही भगवान्की दयाके रहस्यको ठीक समझता है।

इसी तरह सुखी और दुखी, महात्मा और पापी जीवोंके साथ मिलन और बिछोह होनेके समय, एवं उनसे किसी प्रकारका भी सम्बन्ध होते समय, सदा भगवान्की दयाका दर्शन करना चाहिये।

अच्छे पुरुषोंसे भेंट हो तो समझना चाहिये कि इनके गुणों और आचरणोंका अनुकरण करवानेके लिये, इनके उपदेशोंको काममें लाकर भगवान्में प्रेम बढ़ानेके लिये, भगवान्ने परम दया करके इनसे भेंट करायी है।

उनके साथ वियोग होनेपर समझना चाहिये कि ऐसे पुरुषोंका संग सदा रहना दुर्लभ है, इस महत्त्वको समझानेके लिये, पुनः उनसे मिलनेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न करनेके लिये, और उनमें प्रेम बढ़ानेके लिये भगवान् दया करके ही उनसे वियोग कराते हैं।

दुष्ट, दुराचारी पुरुषोंसे भेंट होनेपर समझना चाहिये कि दुराचारोंसे होनेवाली हानियोंको प्रत्यक्ष दिखाकर, दुर्गुण और दुराचारमें विरक्ति उत्पन्न करनेके लिये भगवान् ऐसे मनुष्योंसे भेंट कराते हैं।

उनके वियोगमें समझना चाहिये कि कुसंगके दोषोंसे बचानेके लिये भगवान् अपनी दयासे ही ऐसे दुराचारी मनुष्योंसे वियोग कराते हैं।

दुखी मनुष्यों और जीवोंसे भेंट होनेपर समझना चाहिये कि अन्तःकरणमें करुणाभावकी वृद्धि करनेके लिये, उनकी सेवा करनेका मौका देनेके लिये और संसारमें वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये दयामय भगवान् दया करके ही ऐसे जीवोंसे भेंट कराते हैं।

सुखी जीवों और मनुष्योंसे भेंट होनेपर समझना चाहिये कि इन सबको सुखी देखकर प्रसन्न होनेकी शिक्षा देनेके लिये, भगवान्ने दया करके इनसे भेंट करायी है।

इन सबके वियोगमें समझना चाहिये कि जनसमुदायकी आसक्तिको दूर करके, संसारमें परम वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये और एकान्तमें रहकर भजन-ध्यानका दृढ़ अभ्यास करनेके लिये भगवान्ने दयापूर्वक ऐसा मौका दिया है।

इसी तरह अन्य सब घटनाओंमें सदा-सर्वदा, सभी अवस्थाओंमें, भगवान्की दयाका दर्शन करना चाहिये। ऐसा अभ्यास करके मनुष्य, सब जीवोंपर जो भगवान्की अपार दयाका प्रवाह बह रहा है, उसके रहस्यको समझकर, उससे विशेष लाभ उठा सकता है।

दयामय परमेश्वरकी सब जीवोंपर इतनी दया है कि सम्पूर्ण रूपसे तो मनुष्य उसे समझ ही नहीं सकता; मनुष्य अपनी बुद्धिसे अपने ऊपर जितनी अधिक-से-अधिक दया समझता है, उतना समझना भी अपर्याप्त ही है; मनुष्य ईश्वरकृपाकी यथार्थरूपसे तो कल्पना भी नहीं कर सकता।

लोग भगवान्को दयासागर कहते हैं; किन्तु विचार करनेपर मालूम होता है कि यह उपमा भी पर्याप्त नहीं है, यह तो उसकी अपार दयाका किञ्चित् परिचयमात्र है। समुद्र परिमित—सीमाबद्ध है और भगवान्की दया असीम और अपार है, तथापि संसारमें समुद्रसे बड़ी वस्तु प्रत्यक्ष न होनेके कारण लोग उसीकी उपमा देकर भगवान्की दयाके महत्त्वको समझानेकी चेष्टा किया करते हैं।

इस प्रकार सब जीवोंपर भगवान्की अपार दया होते हुए भी उसके रहस्यको न समझनेके कारण मनुष्य उससे विशेष लाभ नहीं उठा सकते और अपनी मूर्खताके कारण निरन्तर दुःखोंमें मग्न रहते हैं।

भगवान्की दयाका महत्त्व अपार है; उससे जो मनुष्य जितना लाभ उठाना चाहेगा, उतना ही उठा सकता है। भगवान्की दयाको एवं उसके रहस्य और तत्त्वको बिना समझे वह दया समान भावसे साधारण फल देती है; उसे जो जितना अधिक समझता है उसे वह उतना ही अधिक फल देती है और समझकर उसीके अनुसार क्रिया करनेसे अत्यधिक फल देती है।

भगवान्की दयाका ऐसा प्रभाव है कि उसका रहस्य और तत्त्व जाननेवालेसे वह पारसमणिकी भाँति स्वयं क्रिया करवा लेती है। अर्थात् जैसे किसी दरिद्री मनुष्यके घरमें पारस पड़ा हो पर उसे उसका ज्ञान न हो, वह उसे साधारण पत्थर ही समझ रहा हो, तो वह मनुष्य उससे विशेष लाभ नहीं उठा सकता, केवल पत्थर-जैसा ही काम ले सकता है। किन्तु ऐसा करते-करते यदि अकस्मात् उस पारसका लोहेसे सम्बन्ध हो जाय, तो वह उसे विशेष लाभ भी दे देता है; एवं ऐसा अद्भुत चमत्कार देखकर या किसी दूसरे गुणज्ञ पुरुषके समझानेसे, वह उस पारसको ठीक पारस समझ लेता है, उस पारसके गुण और प्रभावका उसे भलीभाँति ज्ञान हो जाता है, तब ऐसा ज्ञान उस मनुष्यसे विशेष क्रिया करवाकर, उसे पूर्ण फलका भागी बना देता है। इसी तरह जब किसी विशेष घटनासे या किसी महापुरुषके संगसे, भगवान्की दयाके रहस्य, तत्त्व और प्रभावका मनुष्यको कुछ ज्ञान हो जाता है, तो वह ज्ञान उससे स्वयं क्रिया करवाकर उसे पूर्ण फलका भागी बना देता है।

जो मनुष्य इस रहस्यको समझ जाता है कि भगवान परम दयालु तथा सबके सुहृद् हैं, उसे तुरंत ही परम शान्ति मिल जाती है। भगवान्ने स्वयं कहा है—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(गीता ५ । २९)

'हे अर्जुन! मेरा भक्त मुझे समस्त भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित प्रेमी तत्त्वतः जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

क्यों न हो। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जब साधारण राजाधिराज या सेठ-साहूकारके विषयमें यह विश्वास हो जाता है कि अमुक राजा या सेठ दयालु और शक्तिशाली है, वह सबपर दया कर मुझे भी वह पहचानता है एवं मुझसे मिलना चा और प्रेम करना चाहता है, तो हमें कितना आनन्द है, कितना आश्वासन मिलता है, कितनी शान्ति मिल एवं किस प्रकार उससे मिलकर उसकी दयासे लाभ की चेष्टा होती है। फिर सर्वशक्तिमान्, असंख्य ब्रह्माण्डोंके मालिक भगवान्के विषयमें जिसको यह हो जाय कि भगवान् परमदयालु, सबके सुहृद् हैं, वे प्रेम करना चाहते हैं, मुझपर उनकी अपार द मिलनेकी इच्छावालोंसे वे स्वयं मिलना चाहते वह भगवान्की दयासे परम लाभ उठानेकी चेष्टा और उसे परम शान्ति प्राप्त हो, इसमें तो ही क्या है। इस प्रकार भगवान्की दयाके रहस्यको स वाला स्वयं भी परम दयालु और सबका सुहृद् बन है, उसे स्वयं भगवान् मिल जाते हैं, वह भगवान्का शय प्यारा बन जाता है, भगवान्की और उसकी हो जाती है। भगवान्ने स्वयं कहा है—

'मेरे रहस्य, तत्त्व और प्रभावको जाननेवाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे अत्यन्त प्रि (गीता ७ । १७) ऐसा ज्ञानी भक्त मेरा स्वरूप वह सदा-सर्वदा मुझमें ही स्थित है (गीता ७ । १८)

इस प्रकार उस परम दयालु, सबके सुहृद्, सर्व मान् परमेश्वरकी अपार दया हमलोगोंपर स्वाभावि क्षण-क्षणमें उसकी दयाका स्वाभाविक लाभ हमको रहा है, वे स्वयं अवतार लेकर अपनी दयाका प्रत्यक्ष करा गये हैं; उसकी ओर लक्ष्य करके भगवान्की रहस्य, प्रभाव और तत्त्वको समझनेके लिये हमें त जाना चाहिये। यह मनुष्यशरीर भगवान्की नि दयासे ही प्राप्त हुआ है, इसीमें यह जीव भगवान्की समझकर उनका परम प्रेमपात्र बन सकता है। क्षण आयु नष्ट हो रही है, फिर ऐसा मौका मिलना असम्भ गया हुआ समय वापिस नहीं मिल सकता, अतः ऐसे मनुष्य-जीवनको विषय-भोगोंके भोगनेमें, मोह-म आलस्य और प्रमादमें व्यर्थ नहीं खोना चाहिये।

मुमुक्षुओंके लिये उपयोगी वेदान्तका सरल साधन

(लेखक—श्रीशारदापीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्दजी तीर्थ)

वृन्दारण्यनिविष्टं विलुठितमाभीरधीरनारीभिः ।
सत्यचिदानन्दघनं ब्रह्म नराकारमालम्बे ॥

श्रुति भगवतीकी आज्ञा है—'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' और 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इस वाक्यके अनुसार श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मका ज्ञान ही कैवल्यमोक्षको प्रदान कर सकता है। परन्तु वह ज्ञान सिर्फ पुस्तकद्वारा प्राप्त ज्ञान नहीं, बल्कि साक्षात्कार अथवा अपरोक्षानुभूतिद्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वही कैवल्यप्राप्तिका कारण होता है। ब्रह्मसाक्षात्कारसे ही मोक्ष मिलता है, इसमें किसीका मतभेद नहीं है।

मतभेदके स्थान हैं—(१) उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्मके निर्गुण-सगुणादि रूप, (२) क्रममुक्ति और सद्योमुक्तिके प्रकार, (३) जगत्सत्यत्व और जगन्मिथ्यात्व, (४) ज्ञान, भक्ति और कर्मकी त्रिपुटी और क्रम-समुच्चय और सम-समुच्चय, (५) परिणामादि वाद, (६) जीव-ब्रह्मकी एकता और अनेकता।

इन मतभेदोंके कारण अनेकों बार मुमुक्षु पुरुष भ्रान्तिमें पड़कर, सब अपनी-अपनी ओर खींचातानी करते हैं, यों मानकर किसी निर्णयपर न पहुँचनेके कारण वेदान्तसे विमुख हो जाते हैं। बल्कि न्याय-मीमांसादिके न जानने और समझनेके कारण बहुतेरे न्यायादिकी खण्डनात्मक प्रक्रियाको देखकर अनेकों प्रकारकी विप्रतिपत्तियोंमेंसे न निकल सकनेके कारण वेदान्तसे अरुचि कर उससे विमुख हो जाते हैं। ऐसा न हो और मुमुक्षुजन वेदान्तके दीखनेवाले मतभेदोंमें भी अपना काम सिद्ध कर लें, केवल इसलिये कुछ विचार इस छोटे-से लेखमें प्रकट किये जाते हैं। आशा है, परमात्मा किसी-न-किसीके लिये इन्हें उपकारक सिद्ध करेगा।

ऊपर बताये हुए छः प्रकारके मतभेदोंपर संक्षेपमें क्रमशः विचार किया जाता है।

१—ब्रह्मके स्वरूपका मतभेद

जिसको वेद 'नेति नेति' कहकर प्रतिपादन करता है, जो 'अवाङ्मनसगोचरः', 'अप्राप्य मनसा सह', 'रसो वै सः' इत्यादि वाक्योंसे इन्द्रियातीत, और अनुभवसे ज्ञात होनेपर भी रसके समान, वर्णनातीत बतलाया गया है, उस ब्रह्मके वर्णनमें मनुष्योंमें मतभेदका होना स्वाभाविक है। अपनी बुद्धिके अनुसार समझकर और इस प्रकार समझे हुएको आग्रहपूर्वक सच्चा मानकर बहुतेरे लोग विवाद किया करते हैं, ऐसा व्यवहारमें भी देखा जाता है। वेदमें तो ब्रह्मके दोनों ही स्वरूपोंका वर्णन है, इसमें किसीका मतभेद नहीं। परन्तु उन दोनोंमें पारमार्थिक रूप कौन-सा है, इसके लिये बहुधा सिद्धान्तदृष्टिसे मतभेद होता है। मायाकी उपाधिसे एक सगुण और उपाधिरहित दूसरा रूप निर्गुण है, इस प्रकार दोनों प्रकारके वर्णनका समन्वय भी किया जाता है। भाष्यकार भगवान् श्रीशङ्कराचार्य ब्रह्मसूत्रके उभयलिङ्गाधिकरण और प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणमें विशेष रूपसे इसका विवेचन करते हैं। इन दोनों रूपोंमेंसे एकको ही स्वीकार करनेवालेको श्रुतिवाक्योंमें बहुत ही खींचातानी करनी पड़ती है। दोनोंका वर्णन करते समय मायाद्वारा उसका समाधान करनेमें कोई आपत्ति नहीं आती। 'माया' शब्द तो श्रुतिमें प्रसिद्ध ही है। बल्कि भागवतपुराणमें तो यह शब्द अनेकों बार आता है। उस मायाको ब्रह्मकी शक्तिरूपसे तो सभी स्वीकार करते हैं, फिर अपनी शक्तिका स्वयं उपयोग करने या न करनेकी स्वतन्त्रता ब्रह्ममें मानकर शक्तिका उपयोग करनेकी अवस्थामें ब्रह्मको सगुण, और उपयोग न करनेकी अवस्थामें उसे निर्गुण मानें तो क्या आपत्ति है ? और एक बार सगुण साकार रूपको स्वीकार करनेवाला बादमें ब्रह्मको केवल निर्गुण निराकार माननेका आग्रह करे तो ऐसा हो नहीं सकता। एक बार परमात्माको सर्वशक्तिमान् स्वीकारकर, फिर वह केवल निराकार ही रहे, और साकार न बने, यह माननेका अर्थ उसे परिमित शक्तिमान् मानना होता है। फिर, 'भक्तचित्तानुरोधेन धत्ते नानाकृतीः स्वयम्' इस नियमके अनुसार भक्तोंकी चित्तवृत्तिमें जितने प्रकारका भेद होता है परमात्मा भी संगवश उसी प्रकार नाना रूप धारण करते हैं। परन्तु वे सब स्वरूप नित्य तो नहीं कहे जाते। इस प्रकार जगत्की उत्पत्ति आदिके कारणसे भी ब्रह्म अनेक रूपवाला हो जाय तो वे भी उसके नित्य स्वरूप नहीं कहे जाते। इससे पारमार्थिक एक रूपको स्वीकारकर अन्य रूपोंको

मायाशक्तिके आधारपर स्वीकार करनेमें श्रुतिका समन्वय भी हो जाता है और मतभेद भी सहजमें ही दूर हो सकता है। इस प्रकार वेदान्तद्वारा प्रतिपादित ब्रह्मके स्वरूपके सम्बन्धमें जो मतभेद होता है वह एक ही स्वरूप माननेका आग्रह करनेवालोंमें परस्पर होता है, वेदान्तमें कोई मतभेद नहीं है; ऐसी अवस्थामें 'परस्परं विरुद्धयन्ते तैरयं न विरुध्यते' यह वाक्य वेदान्तके लिये चरितार्थ होता है।

उपर्युक्त स्थिति होनेके कारण मुमुक्षुको भ्रान्तिमें न पड़कर अपनी रुचिके स्वरूपको स्वीकारकर उसके द्वारा अपना श्रेयःसाधन करना चाहिये। और यों मानना चाहिये कि श्रुति भगवती इस प्रकार एक स्वरूपके अवलम्बनसे मुक्ति प्रदान करनेकी आज्ञा देती हैं, अतएव इसमें कोई आपत्ति नहीं आवेगी। निर्गुण ध्यानावलम्बनका तो विषय है नहीं, यदि विचारा जाय तो 'निर्गुणोपासना' शब्द भी सापेक्ष ही ठहरता है। अतएव किसी भी सगुण रूपके अवलम्बनद्वारा मुमुक्षुको आगे बढ़नेके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये।

२-मुक्तिके प्रकारमें मतभेद

वेदान्तमें क्रममुक्ति, सद्योमुक्ति, चतुर्विध मुक्ति और कैवल्यमुक्तिका वर्णन आता है। अधिकारिभेदसे फलप्राप्तिमें भी भेद है, तो भी उस अधिकारिभेदके ज्ञानके बिना और वेदान्तके ठीक अनुशीलनके बिना यह मानकर मतभेद होता है कि वेदान्तमें कैवल्यमोक्षके अतिरिक्त दूसरेके लिये स्थान ही नहीं है। यदि कैवल्य ही एक मुक्ति होती तो ऐसे अधिकारियोंकी पुराणादिद्वारा खोज करनेपर भी वैसे अधिकारी अष्टावक्र, जडभरत-जैसे बहुत थोड़े प्रतीत होते हैं। उनके सिवा, अन्य सब जन्म-मरणके चक्रमें ही पड़े रहते। परन्तु परमात्माने कृपालु होनेके कारण तत्तदधिकारी पुरुषोंके लिये कैवल्यके सिवा चतुर्विध मुक्तिका भी विधान किया है। श्रीव्यास भगवान्‌ने इन मुक्तियोंका वर्णन भी किया है। और इनके अधिकारियोंके मार्गोंका भी निर्देश किया है। उन्होंने अपने वेदान्तसूत्रोंमें भी क्रममुक्तिका वर्णन किया है। वह वेदान्तसूत्रोंकी समाप्ति भी क्रममुक्तिके 'अनावृत्तिशब्दात्' इस सूत्रसे करते हैं। अन्तिम अधिकरण भी जगद्व्यापाराधिकरण है, उसमें यह विचार किया गया है कि सायुज्यमुक्तिके अधिकारी परमात्माके जगद्व्यापारके उपाधिसे युक्त होते हैं या नहीं। भले ही वेदान्त कैवल्यकी उत्तमता निरुपाधिक दृष्टिसे सिद्ध करे,

परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वेदान्तमें मुक्तिकी गणना ही नहीं है। अधिकारके अनुसार साले मुक्तिवाले अपने इष्टके लोकमें रहनेके अधिकारी होते सामीप्य-मुक्तिवाले इष्टके समीप रहते हैं, सारूप्य-मुक्ति अपने इष्टका सारूप्य प्राप्त करते हैं और सायुज्य-मुक्ति अधिकांशमें इष्टकी योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। अन्तमें सब अ अपने अधिकारके अनुसार इष्टके लोकके लयके साथ कैव मुक्तिको भी प्राप्त होंगे ही। इस स्थानपर जीवन्मुक्त अव जैसी अवस्थाको प्राप्त करना, यही कैवल्यके अधिकारी वर्णन किया गया है।

वेदान्तमें अधिकारानुसार प्रत्येक मुक्तिका वर्णन है, समझकर अपने अधिकारके अनुसार इष्टोपासनामें, 'ब्रह्मदृ रुत्कर्षात्' इस सूत्रके अनुसार ब्रह्मदृष्टि रखते हुए मुमुक्षुजनों भ्रान्तिमें न पड़कर अपना श्रेयःसाधन करना चाहिये।

३-जगत्-सत्ताके विषयमें मतभेद

वेदान्तमें तीन प्रकारकी सत्ता मानी जाती है—पारमार्थिक व्यावहारिक और प्रातिभासिक। वेदान्तके अनुसार जगत् सत्ता पारमार्थिक नहीं है, बल्कि व्यावहारिक और प्रातिभासि है। इसलिये सिद्धान्तमें 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' यह क जाता है। भाष्यकार भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने सामान्य रीति तो सम्पूर्ण भाष्यमें और विशेष रीतिसे आरम्भणाधिकरण इसका विवेचन किया है। श्रीव्यासभगवान्‌ने इस अधिकर को ही इसी हेतु निर्माण किया है, ऐसा जान पड़ता है अद्वैतको सिद्ध करते समय जगत्‌को मिथ्या सिद्ध करना पड़ता है। अद्वैतसिद्धिकार भी न्यायकी परिभाषा देते हुए अपने ग्रन्थके आरम्भमें ही जगत्‌का मिथ्यात्व सिद्ध करने लगते हैं। अध्यासभाष्यका प्रारम्भ भी इसी अपूर्वतासे पूर्ण है श्रीव्यासभगवान्‌ने अपने श्रीमद्भागवतपुराणमें भी प्रारम्भ ही 'तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा' कहकर तथा श्रीब्रह्माजीकृत श्रीकृष्णभगवान्‌की प्रसिद्ध स्तुति 'रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा' जैसे शब्दोंका उपयोग क विवर्तवादका समर्थन कर जगत्‌के मिथ्यात्वको दिखलाया है। श्रीमद्भागवतमें तो इसके अनेकों प्रमाण हैं, स्थानकी कमीके कारण उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया जाता। जगत्‌की नश्वरताको तो सभी स्वीकार करते हैं। जगत्‌की परिवर्तनशीलता (changeable state) एक प्रकारकी अन्तिम

अपरिवर्तनावस्था (Unchangeable state) में ही है और इस अपरिवर्तनशील (Unchangeable) तत्त्वको तो अब विज्ञान (Science) भी स्वीकार करता है। अपने अनुभवमें कोई बात न आवे तबतक हम उसे नहीं मानते, यह सिद्धान्त तो भयङ्कर परिणाम उत्पन्न करनेवाला है। विषका हमने स्वयं अनुभव नहीं किया है, ऐसी हालतमें दूसरेको विषद्वारा मरते देखकर क्या हमें यह शंका हो सकती है कि वह विषसे ही मरा है या दूसरे कारणसे ? Medical Science जो कुछ कहता है वह तो हमारे अनुभवकी बात नहीं है। अतएव विष खाकर स्वयं अनुभव करें कि इससे मरेंगे या नहीं। यदि इससे भी आगे विशेष तर्क करें तो हम विष खायँ और मर जायँ, तो भी विष खानेसे मृत्यु हुई या अन्य किसी कारणसे, इसका प्रमाण क्या ? यदि कहो कि Medical Science कहता है, इसलिये कहते हैं, तो इसमें तो चक्रापत्ति होती है। सिद्धान्तरूपसे जगत्के मिथ्यात्वको स्वीकार न करनेवाले भी साधनरूपसे तो मिथ्यात्वदृष्टिकी आवश्यकताको स्वीकार करते ही हैं। पातञ्जल योगदर्शन एक प्रकारसे सांख्यवाद कहलाता है। उसके एकाग्रतासाधनवाले सूत्रोंमें 'स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा' एक सूत्र है। उसपर वृत्तिकार लिखते हैं—'जाग्रज्ज्ञाने स्वप्नज्ञानदृष्टिः, जाग्रत्पुरुषज्ञानेषु सुषुप्तिज्ञानदृष्टिः' इत्यादि। इन शब्दोंसे मिथ्यात्वदृष्टिका ही अवलम्बन करना बतलाया गया है। उसी शास्त्रमें 'वीतरागविषयं वा चित्तम्' यह सूत्र है। इसमें एकाग्रताके बाधक सांसारिक पदार्थोंका विचार हटानेके लिये उन पदार्थोंसे आसक्तिके हटानेकी सूचना है। परन्तु जबतक संसारके पदार्थोंमें सत्यत्वदृष्टि हो तबतक आसक्तिका हटाना कठिन है, इसीलिये आगे 'स्वप्ननिद्रा०' यह सूत्र आता है। इसमें जाग्रत्-ज्ञानको स्वप्नवत् भान करे तो 'स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यां न बुधः स्पृश्यते खलु' इस न्यायानुसार असर न होकर 'निःसंगता प्राप्त हो और चित्तको एकाग्रता प्राप्त हो, यह हेतु है। दूसरे जाग्रत् पुरुषके ज्ञानमें सुषुप्तिज्ञानका अवलम्बन करनेके लिये कहा गया है, उसमें भी यही हेतु है कि जिस प्रकार सुषुप्ति अर्थात् स्वप्नहीन निद्रामें मनुष्य somnambulism की (स्वप्नमें चलनेकी) क्रिया करता है तो उसे जाग्रत् पुरुष किसी गणनामें नहीं लेता और उससे निःसंग रहकर उसके प्रभावसे प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार दूसरे जाग्रत् पुरुषकी क्रियामें दृष्टि रखकर निःसंग होकर अपनी एकाग्रताका साधन करे। इस प्रकार साधनदृष्टिसे सभी सिद्धान्तवादी जगत्को मिथ्या बतलाते हैं। जिसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता न हो और दूसरेकी सत्तासे सत्तावान् हो वह पदार्थ मिथ्या कहलाता है, इसी प्रकार वेदान्तकी दृष्टिसे जगत्के कारण ब्रह्मको अभिन्ननिमित्तोपादान रूपसे माननेसे जगत्का मिथ्यात्व स्वीकार किये बिना नहीं चल सकता। क्योंकि उनके हिसाबसे भी जगत् स्वतन्त्र सत्तावान् नहीं है और यदि हो तो ब्रह्म उसका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त प्रमाणसे हर प्रकारसे जगत्के मिथ्यात्वको मानना ही पड़ेगा, इस प्रकार सिद्धान्तरूपसे मानकर उससे होनेवाले असरसे बचकर अन्तमें निःसंग होनेके लिये मुमुक्षु पुरुषको प्रयत्न करना चाहिये।

४–साधनत्रय और समुच्चयवादके विषयमें मतभेद

भक्ति, ज्ञान और कर्म, इन तीनोंका ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध है कि साधनावस्थामें कभी छूट नहीं सकता। एक प्रधान रहता है तो दूसरा गौण, और प्रधानताके अनुसार एकहीका नाम दिया जाता है; परन्तु रहते तीनों ही हैं—यह सिद्धान्त है। सिद्धावस्थामें जब निर्विकल्प समाधिकी अवस्था होती है, तभी केवल ज्ञान है ऐसा कहा जाता है। योगमें ईश्वरप्रणिधानको पूर्णतया स्वीकार किया गया है। उसके बिना काम नहीं चलता। निष्काम कर्म भक्तिके बिना हो, यह सम्भव नहीं। फलका ईश्वरार्पण ईश्वरकी भक्तिके ही परिणामस्वरूप होता है। ज्ञानमार्गमें निदिध्यासन केवल भगवदाकार वृत्तिका ही रूपान्तर कहलाता है। बल्कि ज्ञान और भक्तिका साध्यसाधनभाव-सम्बन्ध गीतामें देखा जाता है—'ददामि बुद्धियोगं तम्', 'मद्भक्तिं लभते पराम्', 'भक्त्या मामभिजानाति', 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा', ये सब वाक्य ज्ञान और भक्तिको साध्यसाधकरूपमें ही सूचित करते हैं। ज्ञानी भक्तको और भक्त योगीको भगवान्ने उत्तम भी बतलाया है। योगियोंमें उत्तम कौन है, यह बतलाते समय भगवान् कहते हैं—'श्रद्धावान् भजते यो माम्'। आश्रमातीतको भी उसकी अवस्थाके अनुसार रहनेके लिये शास्त्रोंकी विधि-निषेधात्मक आज्ञा है, उस आज्ञाका पालन ही कर्म है। कर्मका अर्थ है

अपने-अपने अधिकारके अनुसार करनेयोग्य शास्त्रविहित कर्म। बहिर्मुख अवस्थामें ज्ञानी या योगीके लिये भी अधिकारानुसार कर्म है। कर्मका अर्थ कोई भी क्रिया (Action) ली जाय तो एक आत्मा—ब्रह्मके सिवा शेष सब क्रियावान् ही हैं। ब्रह्मके सिवा कोई दूसरा निष्क्रिय नहीं है। मुर्देमें भी कृमि उत्पन्न करने आदिकी क्रिया होती है। समाधिस्थ पुरुषका शरीर, कुम्भक करनेवाले योगीका शरीर अथवा परकायप्रवेश करनेवालेका पूर्व शरीर भी बहुधा बाहरसे मृतवत् जान पड़ता है, डाक्टर भी उसे मृत कह सकते हैं; परन्तु उस योगीके शरीरको थोड़ी देर बाद कृमियुक्त या दुर्गन्धियुक्त न होने देनेकी उस योगीकी अवधारणशक्तिकी क्रिया उसमें रहती है। शास्त्रोक्त कर्म तो भक्तको भी करने चाहिये। भगवान् कहते हैं—

> **श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।**
> **आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी स भक्तोऽपि न वैष्णवः॥**

'सर्वधर्मान् परित्यज्य'में भगवान् उच्च कोटिके भक्तको, भक्तिके आनन्दमें धर्म याद न रहनेपर उसके पापसे मुक्त करनेका आश्वासन देते हैं, न कि जान-बूझकर भक्तको धर्म छोड़नेकी आज्ञा देते हैं। उनकी उच्च कोटिकी भक्तिमें जो बाधक हो उसकी कोई चिन्ता न करना, यह भी एक प्रकारसे भगवदाज्ञारूप धर्म ही होता है। इस प्रकार भक्ति, ज्ञान और कर्मकी त्रिपुटी साथ ही रहती है, अलग नहीं हो सकती। बल्कि किसी भी क्रिया (Action) के करनेमें प्रेम और ज्ञान (Love and Knowledge) की आवश्यकता तो है ही, इस विचारसे भी यह त्रिपुटी छूटनेवाली नहीं है।

उपर्युक्त बात होनेपर भी समसमुच्चयवाद सिद्ध नहीं होता। क्योंकि समसमुच्चयवादके अनुसार तो कर्म और ज्ञान दोनों साधनरूपमें एक साथ रहते हैं। ज्ञानी कर्म करता तो है, परन्तु कर्ममें उसका साधनभाव नहीं होता। कर्ममें भी निष्काम कर्म ही साधन माना जाता है। सकाम कर्मको तो समसमुच्चयवादी भी साधन नहीं मानते। निष्काम कर्मके दो भाग होते हैं—एक क्रिया (Action) और दूसरा फलासक्तिरहित समत्व अथवा निःसङ्ग वृत्ति। इन दोनोंमें क्रिया नहीं, बल्कि फलासक्तिरहित समत्व अथवा निःसङ्ग वृत्ति ही साधन मानी जाती है और यह वृत्ति तो ज्ञान ही है, कर्म नहीं;
समसमुच्चयवाद कहाँ रहा ? बल्कि ज्ञान और योगकी
खास भूमिकासे कोई भी अधिकारीको बहिर्मुख करनेमें
नहीं, तब फिर उसको कर्ममें प्रवृत्त कौन करायेगा?
उस अधिकारीके विषयमें यह कहा जा सकता है
कर्मके अभावसे मुक्त न होगा ? यदि कहो
अधिकारी होना सम्भव नहीं, तो शास्त्रोक्त निर्विक
निर्बीज समाधि और अवधूत आदि शब्द
हो जायँगे।

उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार मुमुक्षुको भ्रममें न
अपने अधिकारके अनुसार उक्त त्रिपुटीमेंसे एकको
और दूसरोंको शास्त्रानुसार गौण रखकर साधनमार्गमें
बढ़ना चाहिये।

५—परिणामादि वादके सम्बन्धमें मतभेद

वेदान्तके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते समय
वादोंका आश्रय लिया जाता है। उनका आरम्भ परि
वादसे और अन्त अजातवादमें होता है। वेदान्तसूत्रमें
'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' 'पटवच्च','आभास एव
'आत्मकृतेः परिणामात्', 'उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डल
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' आदि सूत्रोंमें
पृथक्रूपसे अधिकरण और अध्यायकी सङ्गतिके अनु
अद्वैतका ही प्रतिपादन किया गया है। कभी सूत्र पारमा
दृष्टियुक्त होते हैं, कभी प्रातिभासिक और कभी व्यावहा
अधिकारानुसार किसी भी वादका आश्रय लेकर जी
ब्रह्मदृष्टिसे युक्त करना ही सूत्रकारका अभिप्राय है।
दृष्टिगोचर तो है नहीं, तब उसकी भावना करवानेमें
सृष्टि, जो प्रत्यक्ष है, बीचमें आती है। उसकी सत्यता
उसके गुणोंकी दृष्टि चिरकालसे जीवोंको हो रही है। उ
से उस सृष्टिके नाम, रूप और गुण आदिको दूर कराकर
दृष्टि करानेके ही हेतुसे सृष्टिकी उत्पत्तिका कारण अभि
निमित्तोपादानरूपमें ब्रह्मको ही निर्दिष्ट करते हैं और
प्रकार ब्रह्मकी अनन्यता सिद्ध करते हैं। ब्रह्मकी वेदान्ता
नुसारिणी मान्यतामें वाद तो केवल सृष्टिकी उत्पत्ति

स्थितिके सम्बन्धमें ही होता है। श्रुति भगवतीका हेतु तो ब्रह्मज्ञान प्रदान करनेमें है; न कि सृष्टि इस प्रकार हुई, यह कहनेमें। भगवान् भाष्यकार भी 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' इस सूत्रके भाष्यमें 'न चेयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वात्, ब्रह्मात्मभावप्रतिपादनपरत्वाच्चेत्येतदपि नैव विस्मर्त्तव्यम्' इस प्रकार कहकर ब्रह्मात्मभावप्रतिपादन ही श्रुति भगवतीका हेतु बतलाते हैं। उनका वादपरक कोई हेतु प्रतीत होनेपर उसे प्रदर्शित करनेके लिये, 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इस सूत्रके ऊपर स्वयं कहते हैं—'सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह। व्यवहाराभिप्रायेण तु स्याल्लोकवदिति महासमुद्रस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां चाश्रयति सगुणेषूपासनेषूपयोक्ष्यत इति।' बल्कि शतश्लोकीमें भी कहते हैं—

> **स्वं बालं रोदमानं चिरतरसमयं शान्तिमानेतुमग्रे**
> **द्राक्षं खार्जूरमाम्रं सुकदलमथवा योजयत्यम्बिका स्व।**
> **तद्वच्चेतोऽतिमूढं बहुजननभवान्मौढ्यसंस्कारयोगाद्**
> **बोधोपायैरनेकैरवशमुपनिषद्बोधयामास सम्यक्॥**

अर्थात् श्रुति भगवती चिरकालसे, दुःखसे रुदन करते हुए जीवोंको निजानन्द प्रदान करनेके लिये माताके समान अनेक प्रक्रियाएँ प्रस्तुत करती है। जिस प्रकार रोते हुए बालकको शान्त करनेके लिये माता उसे दाख, खजूर, आम, केला इत्यादि फल देती है—इसमें उसका यह अभिप्राय नहीं रहता कि बालक उन सब पदार्थोंको ले ले और खा जाय, बल्कि उन फलोंमेंसे जिसकी इच्छा हो ले; खावे या न ले, न खाये, या सिर्फ देखे ही, परन्तु शान्त हो जाय। इसी प्रकार श्रुति माता भी निजानन्द प्राप्तकर मुक्त होनेके लिये हमें नाना प्रकारकी प्रक्रियाका उपदेश करती हैं। जीवको ब्रह्मभावके बिना निजानन्दकी प्राप्ति और मुक्ति नहीं होती, अतएव ब्रह्मभाव उत्पन्न करना ही श्रुति माताका ध्येय है। उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार किसी भी वादकी प्रक्रियाके द्वारा ब्रह्मभावनाको लाने और जगत्का बाध कर ब्रह्मदृष्टि करनेमें ही मुमुक्षुको लगा रहना चाहिये।

६—जीव-ब्रह्मकी एकतामें मतभेद

कोई कहता है, जीव ब्रह्मसे भिन्न है और कोई उसे अभिन्न कहता है। दोनों प्रकारके मत प्रचलित हैं। भिन्न माननेवाले भी जीवको ब्रह्मका अंश तो मानते ही हैं, अभिन्न माननेवाले भी अंशको स्वीकार करते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि एक तो अंशको वास्तविक अंश—टुकड़ा मानते हैं और दूसरे उसे उपाधिद्वारा अंश स्वीकार करते हैं। अखण्डैकरस ब्रह्म और सर्वव्यापक ब्रह्मको श्रुतिके अनुसार अव्रण माननेपर भी उसमें दूसरे वास्तविक अंश—टुकड़ेके अलग रहनेका तथा जगत् नामक पदार्थके भी रहनेका अवकाश न रहे, इसलिये ब्रह्मातिरिक्त पदार्थोंको मायाकी अघटित घटनामें लेना पड़ता है। उसमें अवकाशका प्रश्न नहीं रहता। स्वप्नकालमें स्वप्नके पदार्थोंके लिये अवकाश आवश्यक नहीं होता। अतएव श्रुतिके अनुसार युक्ति ठीक बैठ जाती है। वास्तविक अंश माननेवालोंको 'अखण्डैकरस, सर्वव्यापक, नेह नानास्ति किञ्चन, एकमेवाद्वितीयम्' आदि वाक्योंमें संकोच करना पड़ता है। उपाधिकृत अंश माननेवालोंको 'यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गाः, तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इत्यादि वाक्योंमें अध्यारोपवादकी शरण लेनी पड़ती है। जीव और जगत्को अनादि और अनन्त अर्थात् स्वतन्त्र सत्तावान् स्वीकार करनेवालेके विचारसे तो जब सृष्टिके समस्त जीव मुक्त हो जायँगे तब जगत्के ऐकान्तिक अत्यन्ताभावका प्रसंग आ जायगा। क्योंकि जीव या जगत् बीचमें तो उत्पन्न होते नहीं, यदि उत्पन्न होते तो अनादि नहीं कहलाते। जीवके बिना जगत् हो नहीं सकता। जिसको हम जड़ मानते हैं वह 'स्थाणुमेवान्यसंयाति यथाकर्म यथाश्रुतम्' इस श्रुतिके अनुसार और आधुनिक विज्ञानके अनुसार जड़ नहीं है। जीव तो सब मुक्त हो गये और नये उत्पन्न होंगे नहीं, इस हिसाबसे जड़ जगत् भी न रहेगा। प्रलयके बाद यदि कोई जीव उत्पन्न हो तब तो वह अनादि नहीं कहलायगा और दूसरा उत्पन्न न हो तो मुक्त जीवोंको वापिस लाना पड़ेगा। यदि इस बातको स्वीकार करते हैं तो स्वतः अस्तित्व धारण करनेवाले अनाद्यनन्त जगत्की मान्यतामें और साथ ही मोक्षमें आपत्ति आती है। वेदान्तमें जगत्के लिये मायावादका और जीवोंकी व्यावहारिक प्रतीतिके लिये आभासवादका आश्रय लेनेके कारण यह आपत्ति नहीं उठती।

वेदान्तसूत्रोंमें तो 'आभास एव च' यह प्रमाण भी है। बल्कि वह प्रमाण वेदान्तके अंशाधिकरणमें है। उसका आदिम सूत्र है—'अंशो नानाव्यपदेशात्' इत्यादि। इससे अंशका स्वीकार वेदान्तसूत्रकारके मतसे आभासानुसार उपाधिसे ही है। ब्रह्म और जीवके सच्चिदानन्दत्वमें तो किसी वादीको विरोध है ही नहीं।

ऐसा होनेपर भी यदि किसी भी प्रकार अंशको स्वीकार करनेसे अपने मनका समाधान होता हो तो उसी प्रकार अपनी आत्माके सच्चिदानन्द रूपका साक्षात्कार करनेके लिये मुमुक्षुको प्रयत्न करना चाहिये। क्रममुक्ति तो जरूर होगी और उसके द्वारा अन्तमें कैवल्यका अधिकार भी प्राप्त होगा, इसमें सन्देह नहीं।

इस छोटेसे लेखमें वेदान्तके गहन विषयोंमें केवल मुमुक्षुके लिये वेदान्तज्ञानमें बाधक मतभेदोंका विचार किया गया। भारतवर्षके निवासी शरीरादिसे जीवको पृथक् तो मानते ही हैं। परन्तु चिरकालसे अध्यासके कारण विस्मृत हुई भावनाको जाग्रत करने और दृढ़ करनेकी आवश्यकता है। स्वस्वरूप आत्माको अकर्त्ता, अभोक्ता, निःसंग समझकर, जगत्को मिथ्या समझकर, उसकी घटनाओंसे निःसंग रहकर, अन्तःकरणको भी तदनुसार बनावे, जिससे वे घटनाएँ अपने संस्कार न डालें और पड़े हुए संस्कार ज्ञानद्वारा नष्ट हो जायँ तो अधिकारी मुक्त ही है।

यह याद रखना होगा कि उपर्युक्त विचारमात्र ही काम नहीं देते। साथ-ही-साथ ईश्वरप्रणिधानकी भी आवश्यकता है। इसलिये किसी भी इष्टकी आराधना करके इष्टके अनुग्रहसे मुक्त होनेका प्रयत्न करना चाहिये। भगवान्ने गीतामें 'मम माया' कहा है, ऐसी दशामें उनके अधीन माया उनकी आज्ञाके बिना नहीं हट सकती। उनकी शरणमें रहकर ही सब कुछ करना अद्वैतसिद्धि-जैसे ग्रन्थके रचयिताके ग्रन्थोंके श्लोकोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि वे भी अवलम्बन लेते हैं। यह मुमुक्षुके लिये सरल साधन

आधुनिक कालमें अनेकों जटिल मार्ग दुर्घटसे हो रहे हैं। ऐसे समयमें एक इष्टदेवके मन्त्रका जप उनके नामका जप भी एक सरल मार्ग है। प्रणिधानमें यह उपयोगी भी है। 'तज्जपस्तदर्थभा इस योगसूत्रके अनुसार वह योगमार्ग भी है। जपयज्ञोऽस्मि' इस भगवद्वाक्यके अनुसार यह कर्ममा है। भक्ति तो इसमें स्पष्ट ही है। इससे चित्तशुद्धि भी और उसके होनेपर भगवान्—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

—अपनी इस प्रतिज्ञाके अनुसार ज्ञान देकर मु प्रदान करेंगे। इससे सरल साधन और क्या हो सकता

इस प्रकार वेदान्तके सरल विचारसे मतभेदकी दूर रहकर, सरल साधनोंके अवलम्बनद्वारा सर्वा परम कृपालु परमात्माकी कृपाके पात्र बनकर हम मुक्तावस्थाको प्राप्त हों, यही उस दयालु प्रभुसे प्रार्थना

यो लक्ष्म्या निखिलानुपेक्ष्य विबुधानेको वृतः स्वेच्छ
यः सर्वान् स्मृतमात्र एव सततं सर्वात्मना रक्ष
यश्चक्रेण निकृत्य नक्रमकरोन्मुक्तं महाकुञ्
द्वेषेणापि ददाति यो निजपदं तस्मै नमो विष्ण

मेरा प्यारा

मेरे प्यारेको जो-जो भाता है।
सोई-सोई मुझे सुहाता है॥
जैसा स्वर मेरा प्यारा भरता है।
वैसा मुखसे मेरे उचरता है॥ १॥
मेरे प्यारेको जैसी गति होती।
वैसी-वैसी मेरी भी थिति होती॥
मेरे प्यारेकी गति मेरी गति है।
मेरे प्यारेकी रति मेरी रति है॥ २॥
मेरा प्यारा जो भावना करता।
सोई मानसमें मेरे भी फुरता॥
मेरा प्यारा जहाँ-जहाँ रहता।
मैं भी हूँ उसके संग ही बहता॥ ३॥
मेरा प्यारा जो वेष सजता है।
वैसा ही मुझको भी सिरजता है॥
जितनी उस प्यारेकी छटाएँ हैं।
उतनी ही मेरी भावनाएँ हैं॥ ४॥
जैसा सुन्दर वह मेरा प्यारा है।
वैसा ही मुझको भी सँवारा है॥
मैं हूँ या वह है, वह है या मैं हूँ।
उससा, उसका सुना गया मैं हूँ॥ ५॥
मैं सलिल, वह प्रवाह बहता है।
मेरे अन्तरहीमें वह रहता है॥
भेद मुझको रहा वह प्रेष्ठ अभेद।
हो रहा जिसका मुझको सुख-संवेद॥ ६॥
मेरी तन्त्री हृदयकी बोल उठी।
एक अनुपम रहस्य खोल उठी॥
उससे प्यारेको पी गया जीमें।
एक जीवन नया जिया जीमें॥ ७॥
तत्त्वमसिका भी नृत्य देख लिया।
प्रियका अद्वैतकृत्य देख लिया॥
प्यार करता वह मुझको प्यारा है।
पार करता मुझे वह पारा है॥ ८॥
ओतप्रोत हो गया मैं उससे हूँ।
अति सराबोर प्रेय-रससे हूँ॥
प्यार है और मेरा प्यारा है।
अब न मुझको कोई सहारा है॥ ९॥
इतना अपनाया कि न रहने दिया।
मर्म भी न किसीसे कहने दिया॥
कैसा छल हाय, मुझसे कर वह गया!
मुझ-सहित मेरा सारा चर वह गया॥ १०॥
अब तो उसका ही बोल-बाला है।
चारों दिशि उसका ही उजाला है॥
अब रहा वह ही, मेरा अन्त हुआ।
सान्त था जो, वह अब अनन्त हुआ॥ ११॥
जान पीयूष पी गया उसको।
मर गया पर मैं दे जिया उसको॥
क्या कहूँ मैं कि क्या-सा, अब, कुछ हूँ।
वह भी, यह भी, न कुछ भी, सब कुछ हूँ॥ १२॥
मुझमें है वह या मैं ही उसमें हूँ।
कौन जाने कि किस सुरसमें हूँ॥
मेरे कण सारे घुल गये उसमें।
मेरे परमाणु मिल गये उसमें॥ १३॥
तब भी, उसका मैं प्रेमपात्र रहा।
वह मेरा प्रेय एकमात्र रहा॥
प्यारे लगते सब उसके क्रीडाचार।
खेलना संग उसके इति व्यापार॥ १४॥
नादसे बिन्दु मिल अखेद हुआ।
भेद पा उसका वह अभेद हुआ॥
'मेरा प्यारा,' 'वह मेरा प्यारा है।'
इसमें ही सद्रहस्य सारा है॥ १५॥

—'श्रीबिन्दु' ब्रह्मचारी

वेदान्त और गीताधर्म

(लेखक—स्वामी श्रीविद्यानन्दजी महाराज)

हमारे अधिकांश पढ़े-लिखे भाइयोंको यह भ्रम है कि वेदान्त धर्मका विरोधी है। वेदमें धर्म-कर्मकी बातें हैं, पर वेदान्तमें तो कोरा ज्ञान है। पर सच्ची बात यह नहीं है। वेदान्तमें धर्मका ही प्रतिपादन किया गया है, धर्मका ही ऊँचा रूप दिखलाया गया है। सच पूछा जाय तो धर्म और ज्ञानमें कोई भेद नहीं है। सच्चे ज्ञानका नाम ही है सच्चा धर्म। आज लोग इसे भूल गये हैं, इसीसे तो वेदान्तकी छीछालेदर हो रही है। लोग वेदान्तको गाली देते हैं। बहुत-से लोग कहते हैं कि वेदान्तने ही भारत और भारतके धर्मको चौपट किया। वेदान्तने ही सबको आलसी और अकर्मण्य बना दिया।

उनकी इस भूलको दूर करना हमारा पहला प्रयोजन है। वेदान्तका तो लक्ष्य ही है भूल और भ्रमको दूर करना।

वेदान्तमें धर्मका जैसा वर्णन है उस धर्मका स्वरूप दिखाना यहाँ आवश्यक है, पर यह काम बहुत बड़ा है। वेदान्तशास्त्र बहुत बड़ा है, और उसके तत्त्व बहुत गहन हैं। वेदान्तके ज्ञान और धर्मकी व्याख्या करना थोड़ेमें और हमारे-जैसे साधारण लोगोंके लिये सहज नहीं, यह तो पण्डितों और शास्त्रियोंका काम है। यदि वेदान्तके मुख्य ग्रन्थ ही लें तो तीन होते हैं—(१) उपनिषद् (२) ब्रह्मसूत्र और (३) भगवद्गीता। इन तीनोंकी व्याख्यामें ही बड़े-बड़े आचार्योंने अपना जीवन लगा दिया है।

हमें तो आज थोड़ेमें अपने भाइयोंको—अपने प्रेमी जिज्ञासुओंको यह बताना है कि वेदान्तमें धर्मका समर्थन है, और ज्ञानका ही दूसरा नाम धर्म है; अतः हम वेदान्तके सब ग्रन्थोंको न लेकर केवल एक गीताको ही लेते हैं। इसीके आधारपर अपनी बात कहेंगे। गीता है भी सब शास्त्रोंका शास्त्र।

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।

एक गीताके पढ़ लेनेसे वेदान्तका सच्चा ज्ञान हो जाता है। गीतासे ही वेदान्तके सच्चे धर्मका भी ज्ञान हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने इसमें ब्रह्मविद्याका सर्वस्व रख दिया है, ब्रह्मविद्याका ही दूसरा नाम वेदान्त है। [देखो—ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे, इत्यादि।]

इस गीतामें जिस धर्मका प्रतिपादन है वही वेदान्तका धर्म है अर्थात् गीताधर्म और वेदान्तधर्म दोनों पर्याय हैं। इसलिये हम थोड़ेमें यहाँ गीताधर्मका परिचय देंगे।

पहले ही हम यह मानकर चलते हैं कि गीताधर्म और गीताज्ञानमें कोई भेद नहीं है। देखिये—

एकं सांख्यं च योगं च। (गीता ५।

यहाँ सांख्य=ज्ञान
योग=धर्म

इस विषयपर जिन्हें विशेषरूपसे और विस्तारसे सुनना हो वे आचार्य श्रीशङ्करके भाष्यको देखें।

हम जब ज्ञान, योग और धर्मको पर्याय मानकर हैं तब तो एक ही बातमें कह सकते हैं कि गीता विषयका प्रतिपादन किया गया है, बस, एक उसीको लो। गीता पढ़ो, सब ठीक हो जायगा। पर गुत्थी तो है कि गीतामें क्या लिखा है? गीताधर्म क्या है, कैसा

यदि भगवान्‌की बात मानें तो गीताधर्म है—

मामेकं शरणं व्रज। (गीता १८। ६

पर शरण जाना कैसे हो? इसका उत्तर है कि जा सके वैसे ही जावे।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। (

भगवान्‌की प्रतिज्ञा है—

जो जिस प्रकार मुझे मानता है मैं उसी प्रकार प्रसन्न रहता हूँ।

पर असली शर्त है एक। गीताधर्मीको अनन्य एकनिष्ठ होना चाहिये, यदि वह एक रास्तेसे चलता है तो अवश्य अपने लक्ष्यपर पहुँचेगा। पर बार-बा रास्तेसे उस रास्तेपर चलनेवाला तो भटकता ही रह जात

अन्तमें हमारा पाठक पूछता है—किस रास्तेसे जाना इसका उत्तर केवल एक है—गीता पढ़ो, विचारो और अनुसार आचरण करो। गीताधर्मका रास्ता अपने तुम्हारी आत्मा तुम्हें बता देगी। यही महात्माओं और साथ हुआ है। 'तुम भी कर देखो'।

वेदान्ती और गीताधर्मीका अन्तिम उत्तर यही है 'कर देखो'।

× × × ×

गीताधर्मके आचार्य तिलकने अपने गीता अन्तमें जो कुछ लिखा है वह द्रष्टव्य है—

'गीताधर्म कैसा है? वह सर्वतोपरि निर्भय व्यापक है; वह सम है अर्थात् वर्ण, जाति, देश या अन्य भेदोंके झगड़ेमें नहीं पड़ता, किन्तु सब लोगोंको ही मापतौलसे समान सद्गति देता है; वह अन्य प्रति यथोचित सहिष्णुता दिखलाता है; वह ज्ञान,

और कर्मयुक्त है; और अधिक क्या कहें, वह सनातन वैदिक धर्मवृक्षका, अत्यन्त मधुर तथा अमृत फल है। (पृ० ५०७)

यही बात वेदान्तके ज्ञान और धर्मके लिये भी कही जा सकती है। वह सम है…………। वह वेदधर्मका अमृतफल है।

वैराग्य

(लेखक—गंगोत्तरीनिवासी परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)

प्रश्न—अच्छा, मेरी यह जिज्ञासा है कि क्या वेद-वेदान्त, उपनिषद्; क्या पुराण-उपपुराण, संहिता; क्या तेजस्वी वयोवृद्ध गुरुके गम्भीर आदेशवाक्योंकी ओजस्विनी भाषा; क्या महापुरुषोंके कोमल कण्ठसे निकली हुई उपदेशपूर्ण वाक्यावली—सबमें वैराग्यकी बारंबार प्रशंसा की गयी है; परन्तु वैराग्य है क्या, यह मैं नहीं जानता। अतएव कृपाकर बतलाइये कि वैराग्य किसे कहते हैं?

उत्तर—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

(पातञ्जल योगदर्शन समाधि० १५)

भोगस्पृहाके त्यागका नाम वैराग्य है। इस वैराग्यके नीचे-ऊँचे चार स्तर हैं—यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार। इनमें 'वैराग्यमाद्यं यतमानसंज्ञम्'—पहले स्तरके वैराग्यका नाम 'यतमान' है; 'क्वचिद्विरागो व्यतिरेकसंज्ञम्'—दूसरे स्तरके वैराग्यका नाम 'व्यतिरेक' है; 'एकेन्द्रियाख्यं हृदि रागसौक्ष्म्यम्'—तीसरे स्तरका नाम 'एकेन्द्रिय' और 'तस्याप्यभावस्तु वशीकृताख्यम्'—चौथे स्तरका नाम 'वशीकार' है। इनमें शेषोक्त वशीकार नामक वैराग्य-स्तर सबसे ऊँचा है। इसी कारण महर्षि पतञ्जलिने इस सर्वश्रेष्ठ, जीवोंका सब प्रकारसे मंगल करनेवाले वैराग्यका ही उल्लेख करते हुए कहा है—'दृष्ट और शास्त्रप्रतिपादित दोनों प्रकारके विषयोंसे एक साथ ही पूर्णरूपसे निःस्पृह होनेपर 'वशीकार' नामक वैराग्य उत्पन्न होता है।' वैराग्य मानो एक प्रकारका महावृक्ष है। इस विराट् महावृक्षके काण्ड-प्रकाण्डसे अनन्त शाखा-प्रशाखाएँ निकलकर हिन्दू-धर्म, हिन्दू-शास्त्र, हिन्दू-समाज, और हिन्दुओंके चतुर्विध आश्रमके भीतर-बाहर फैली हुई हैं। हिन्दू-धर्म, शास्त्र, समाज, तथा चतुर्विध आश्रमको आवृत करनेवाले इस वैराग्यरूप अक्षय वृक्षके शिखरपर आरोहण करना होगा; इसकी एक-से-एक उच्च शाखा-प्रशाखाएँ एकके-बाद-एक सजायी गयी हैं। जिस तरह वैराग्य चार प्रकारका है, उसी तरह साधक भी चार प्रकारके होते हैं—मृदु साधक, मध्य साधक, अधिमात्र साधक और अधिमात्रतम साधक। यथा—

चतुर्धा साधको ज्ञेयो मृदुमध्याधिमात्रकः।
अधिमात्रतमः श्रेष्ठो भवाब्ध्युल्लङ्घनक्षमः॥

इन चतुर्विध साधकोंमें अधिमात्रतम साधक सर्वश्रेष्ठ हैं और वे शीघ्र भवसागर पार करनेमें समर्थ होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

'हे अर्जुन! असीम सुषमाकर इस नरावास सुविशाल धराधामपर मेरे उपासक चार प्रकारके हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। किन्तु हे भरतर्षभ!

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।

—इन चार प्रकारके सुकृती पुण्यवान् साधकोंमें अधिमात्रतम साधक योगयुक्त ज्ञानी ही श्रेष्ठ है; क्योंकि मैं उस ज्ञानीको और वह ज्ञानी साधक मुझको अत्यन्त प्रिय है। ये चारों प्रकारके उपासक मोक्ष प्राप्त करते हैं; किन्तु मेरे मतसे ज्ञान ही आत्माका स्वरूप है और जिसने ज्ञानका अवलम्बन किया है वह, मेरे साथ एकचित्त होकर, मुझे एकमात्र उत्तम गति मानते हुए, मेरा ही आश्रय करके, मुझमें ही निवास करता है।' अतएव पूर्वोक्त चार प्रकारके साधकोंमेंसे किसीने तो एकदम शीर्षस्थान प्राप्त कर लिया है; कोई उससे कुछ नीचे रहकर ऊपर उठनेकी चेष्टा कर रहा है; किसीने सबसे नीचेकी शाखापर आश्रयमात्र प्राप्त किया है; और कोई उस निम्नतम शाखाको भी अभीतक नहीं पकड़ सका है, उसे स्पर्श करनेकी चेष्टामात्र कर रहा है। जिसकी जितनी क्षमता है, जितनी योग्यता है, उसीके अनुसार अधिकार उसे प्राप्त हो सकता है। कलिके मनुष्य कामनाके दास हैं, वे क्या कभी एकदम उस उच्च स्तरमें पहुँच सकते हैं? उनको तो सबसे पहले ऐसी चेष्टा करनी चाहिये जिससे वे 'यतमान' वैराग्यको प्राप्त कर सकें। उसके बाद तो अपने-आप ही वे धीरे-धीरे उच्चसे उच्चतर स्तरपर आरोहण करनेमें समर्थ होंगे। शिशु खड़ा होना सीखनेके समय कोई सहारा पकड़ता है; परन्तु पीछे क्रमशः अपने-आप देश-देशान्तर भ्रमण करनेमें समर्थ हो जाता है। ठीक यही बात साधकोंकी

भी है। साधकको पहले विषयासक्त चित्तके विषयानुरागको नष्ट करनेकी चेष्टा करते हुए सत्कर्म करनेका व्रत लेना चाहिये; नाम-यशकी कामनासे, कृतज्ञता-प्रत्युपकारकी कामनासे या पारलौकिक सुखकी कामनासे, किसी प्रकार भी सत्कर्म करनेका अभ्यास करना चाहिये। उसके बादका सारा काम अपने-आप सिद्ध होगा। इस प्रकार विषयपङ्कमें फँसे हुए चित्तका विषयानुराग नष्ट करनेकी चेष्टा जब उत्पन्न होती है, तब उसे 'यतमान' नामक वैराग्य कहते हैं। यह वैराग्यका अङ्कुर या प्रथमावस्था है। यह वैराग्यकी चरम अवस्था नहीं है, यह वैराग्यकी पूर्ण अभिव्यक्तिकी अवस्था नहीं है, यह वैराग्यकी प्रारम्भिक, आदिम अवस्थामात्र है। यह स्तर वैराग्यकी अभिव्यक्तिका स्तर नहीं है। यह वैराग्यप्राप्तिका सोपानमात्र है। इसी स्तरमें वैराग्यका बीजारोपण होता है। यहींपर साधकके वैराग्यका बीज अङ्कुरित होता है। इसी स्तरमें आनेके बाद साधक वराग्यके महत्त्वको समझ सकता है। विषोद्गारी विषयकी विषमय क्रियाको समझ सकता है। इसी स्तरमें आकर साधक विषयोंमें दोष देखनेकी चेष्टा करता है। विषय नित्य हैं या अनित्य, विषयभोगका परिणाम मङ्गलमय होगा या अमङ्गलमय—इस प्रकारका विवेक इसी स्तरमें आनेपर उत्पन्न होता है। इस प्रकारका विवेक उत्पन्न होनेपर साधक नित्यानित्य वस्तुका विचार करनेमें निरत होता है, और अन्तमें विषयके सब दोष उसे स्पष्ट ही दिखायी पड़ते हैं। इसीका नाम 'यतमान' वैराग्य है। यह वैराग्य ही साधकके लिये मोक्षप्राप्तिका पहला स्तर है। इससे साधकमें विषयदोषदर्शन और विषयत्यागकी शक्ति उत्पन्न होती है, वह विषयके और त्यागके रहस्यको समझने लगता है। इससे साधक यह बात सुचारुरूपसे समझने लगता है कि विषयका परिणाम अनन्त दुःख है और विषयत्यागका परिणाम अनन्त सुख है। जब साधकके हृदयमें इस यतमान वैराग्यका उद्भव होता है, जब साधक विषयकी असारताका अनुभव करके उसका त्याग करनेकी चेष्टा करता है, तब साधकका विषयविषमें लिप्त चित्त विषयभोगकी इच्छासे रहित होकर विषयसे निवृत्त हो जाता है। उस समय साधक अपने-आप समझने लगता है कि 'विषयके प्रति विरक्तिका विकास—वैराग्य, एकमात्र वैराग्य ही जीवनकी शुभ परिणति है।' विषयके प्रति विरक्ति परमानन्दका निम्न स्तर या उसका निम्न सोपान है। विषयके प्रति जो विरक्ति है, उसीसे परम आनन्दका आविर्भाव होता है। यह विषयविरक्ति महान् वैराग्यवृक्षका मूल है, उसके सिरेपर अमृतमय आन शोभायमान है। जब साधकके हृदयमें वास्तविक वैराग्यका आविर्भाव होता है, तभी उसके प्राणोंमें इस भोग्य विषयसुख एवं ऐश्वर्यके प्रति घृणा उत्पन्न हो उस समय इस जगत्के भोग्य विषय उसे तनिक भी नहीं लगते। साधक धीरे-धीरे एक-एक विषयका करनेकी चेष्टा करता है, विषयभोगका त्याग कर, भोगसे बहुत दूर बैठकर, विषयोंकी छाया छोड़कर एकान्त स्थानमें निवास करता है। यतमान चित्तको विषयसे हटाकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्यात्मतत्त्वकी फेर देता है। उस समय साधक अपने चित्तको देख है, चित्तकी शक्तिको समझ सकता है और यह दे चेष्टा करता है कि चित्त किस विषयसे निवृत्त हुआ किस विषयमें अनुरक्त हुआ है। उसके बाद कौन अ नष्ट हुआ, कौन अनुराग अभी सजीव है, यह परीक्षा जानकर सजीव अनुरागोंको दग्ध करनेकी चेष्टा करता इसीका नाम 'व्यतिरेक' वैराग्य है। इस प्रकार अनुरागको दग्ध करनेकी चेष्टा अर्थात् व्यतिरेक, वैरा द्वितीय स्तर या अवस्था है। क्रमशः जब चित्त फिर विषयमें अनुरक्त या आकृष्ट भी नहीं होता, परन्तु बीचमें थोड़ा-बहुत या अत्यल्प उत्सुकतामात्र उत्पन्न है, तब उस अवस्थाको 'एकेन्द्रिय' वैराग्य कहते हैं। एकेन्द्रिय अवस्था या स्तर वैराग्यके तीसरे स्थानमें है। धीरे-धीरे जब यह सूक्ष्म उत्सुकता भी नहीं अर्थात् विषयानुरागके संस्कार भी जब विलुप्त हो जा तब उसे 'वशीकार' वैराग्य कहते हैं। यह वैराग्यका स्तर या अवस्था है। यहींपर वैराग्य पूर्णताको प्राप्त है; यही अत्यन्त उत्कृष्ट, सर्वश्रेष्ठ वैराग्य है। जब अत्युत्कृष्ट 'वशीकार' वैराग्य हृदयमें आविर्भूत होता है, समय, इस लोककी बात तो दूर रही, प्रदीप्त अपा देवाराध्य स्वर्गलोक, या चिरसुख-शान्तिमय ब्रह्मलोकक स्पृहा साधकके अन्दर नहीं रहती। उस समय साधक सुख, चिरशान्ति, स्थायी आनन्दके लीलानिकेतन पूर्ण मयमें आत्मलीन होकर चिरविश्राम, अनन्त सुख-शा प्राप्तिका अधिकारी होता है। अतएव—

सर्वपरिग्रहभोगत्यागः। कस्य सुखं न करोति विराग

—परिदृश्यमान संसार-यातनासे कातर होकर, अ परिश्रमसे प्राप्त होनेवाले भोग्य विषयोंको तुच्छ सम विषयभोगका परित्याग करके, अगणित धन-सम्पत्ति उच्च अट्टालिकाकी बाहरी चमक-दमकको भूलकर,

कलत्र आदिकी आसक्ति छोड़कर, अपनी कायाकी माया—यहाँतक कि अपनी देहका अस्तित्वतक भूलकर, विषयोंके प्रति वैराग्य प्राप्त करनेपर किस विरागरसिक सर्वभोगत्यागी पुरुषके हृदयमें सुखका अनुभव नहीं होता! महामति सूत मुनि शौनकसे कहते हैं—

रागद्वेषादियुक्तानां न सुखं कुत्रचिद् द्विज ।
विचार्य खलु पश्यामि तत्सुखं यत्र निर्वृतिः ॥
यत्र स्नेहो भयं तत्र स्नेहो दुःखस्य भाजनम् ।
स्नेहमूलानि दुःखानि तस्मिंस्त्यक्ते महत्सुखम् ॥

(गरुडपुराण पूर्व० ११३)

'जो लोग संसारकी अनित्य वस्तुओंमें सुखकी खोज करते हैं, राग-द्वेष आदिके द्वारा अभिभूत रहते हैं तथा पुत्र-कलत्रादिमें अत्यन्त अनुरक्त होते हैं, उन्हें कहीं भी सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। हे शौनक! मैंने विचार करके देखा है, जिसका अन्तःकरण शान्तिगुणसे विभूषित होता है, उसे ही वास्तविक सुख प्रात होता है। जिसे घरके लोगोंसे अधिक स्नेह है, उसे सदा भय लगा रहता है; इस कारण स्नेह ही दुःखका भाजन है, स्नेह ही दुःखका मूल कारण है। अतएव स्नेहका त्याग करनेसे महत्सुख प्राप्त होता है।' वस्तुतः वैराग्यका विषय अर्थात् परित्याग करने योग्य वस्तुएँ दो प्रकारकी हैं—दृष्ट और अदृष्ट। जो दिखायी पड़ता है वह दृष्ट है और जो दिखायी नहीं पड़ता वह अदृष्ट है। स्त्री, अन्न, जलीय पदार्थ, उपलेपन आदि वर्तमान भोगके साधनस्वरूप सब वस्तुएँ दृष्ट हैं तथा स्वर्ग, अमृत, अप्सरा और अमरत्व प्रभृति पारलौकिक भोग्य वस्तुएँ अदृष्ट हैं; क्योंकि इन वस्तुओंके अस्तित्व या भोगका अनुभव वर्तमान शरीरमें नहीं होता। अतएव शास्त्रवाक्योंमें विश्वास होनेके कारण 'बादमें उसका उपभोग करूँगा', इस आशासे उसके आकार या अस्तित्वकी कल्पना करके पारलौकिक भोगसाधनाके लिये याग-यज्ञ और दान-तपस्या आदिका अनुष्ठान किया जाता है। यदि इन द्विविध अर्थात् ऐहिक तथा पारलौकिक विषयोंका त्याग किया जाय तो फिर परम सुखके मूल कारण वैराग्यकी प्राप्ति हो सकती है।

तू

(लेखक—अज्ञात्त कवि)

(१)

पृथ्वी नहिं पानी नहिं पावक पवन तू है,
ना तू है अकास जिन्है आप करि जान्यौ है।
ना तू है करन ना तू अंतहकरन, ना तू
जनन-मरन-भेद-भावमें समान्यौ है॥
ना तू है सबद ना सपर्स रूप रस गंध,
कारन न कारज न करता बखान्यौ है।
साखी इन सबको तू अनन्य चैतन्य ब्रह्म,
कहा कहौं आपुहीतें भ्रमत भुलान्यौ है॥

(२)

भूलि-भूलि भरि-भरि भारी भ्रमहीतें भर्यौ,
उज्ज्वल अनूप निज रूप बिसरायौ है।
पायौ पंचभौतिक सरीरको सरन तातें,
आपु ही में जीवन-मरन ठहरायौ है॥
भयौ दीन दूबरौ मलीन सब विद्या-हीन,
या बिधि अविद्या बस जीव तू कहायौ है।
ना तो कछू बंधन, न बंधनको करनिहारो,
आपको तू आप बिन बंधन बँधायौ है॥

(३)

आपकों अधीन छीन छोटो मान लीन्हो कहा,
बड़ो जानि काके तू करत गुन-गान है।
कहा जानि सूद्र तू दुरयौ है दूरहीतें अरु,
कहा जानि द्विज तू करत सनमान है॥
मायाके बनाये रूप राजत अनेक भाँति,
एक वह आतमा तो सबमें समान है।
जैसे सोन-रूप-लोह-माटीके घटन बीच,
देखि तू बराबर बिराजि रह्यौ भान है॥

वेद कहते हैं अनन्त ज्ञानराशिको। इस सम्पूर्ण ज्ञानका जिसमें पर्यवसान होता है, जिसमें 'अन्त' होता है उसे वेदान्त कहते हैं। इस 'अन्त'का अर्थ विनाश नहीं है। अन्तका अर्थ है सम्पूर्ण ज्ञानराशिका चरम और परम फल। ज्ञानका यह चरम फल ही इसका मूल स्रोत भी है। मतलब यह कि जिससे समस्त ज्ञान निकलता है और जिसमें जाकर मिल जाता है, उसका नाम वेदान्त है। वेदान्तप्रतिपादित तत्त्व ही यह वेदान्त है। उस तत्त्वका वर्णन वाणीसे नहीं हो सकता, मन वहाँतक नहीं पहुँच सकता, बुद्धि उसका निर्णय नहीं कर सकती। वह अनिर्वचनीय है, अचिन्त्य है।

ऐसे अनिर्वचनीय वेदान्ततत्त्वके सम्बन्धमें वाणीसे कुछ कहना या लेखनीसे उसका प्रतिपादन करने जाना एक प्रकारसे हास्यास्पद ही है। अतः वह कैसा है, क्या है, इस बातको लेकर परस्पर विवाद करनेमें कोई लाभ नहीं। परन्तु अहंकारवश विवाद हो ही जाता है। वेदान्ततत्त्वको पानेकी जिनकी इच्छा हो, उनको विवादसे जरूर अलग रहना चाहिये।

एक ही सत्यको पानेके अनेक मार्ग हैं। विविध दिशाओंसे उस एककी ओर अग्रसर हुआ जा सकता है; जो जिस दिशामें है, वह अपनी दिशासे ही उसकी ओर चलेगा। सब एक दिशासे नहीं चल सकते, क्योंकि सब एक दिशामें हैं ही नहीं। हाँ, सबका लक्ष्य वह एक ही है, इसलिये अन्तमें सब उस एकहीमें पहुँचेंगे; परन्तु दिशाभेदके अनुसार मार्ग तो भिन्न-भिन्न होंगे ही। तुम जिस मार्गसे चलते हो, वह भी ठीक है, और दूसरा जिससे चलता है, वह भी ठीक हो सकता है। तुम्हारा और उसका लक्ष्य तो एक ही है। फिर विवाद किस बातका? इसलिये अपने मार्गपर चलो, सावधानीके साथ अग्रसर होते रहो, दू
ओर मत ताको। न किसीको गलत समझो औ
अपने निर्दिष्ट मार्गको छोड़ो।

विवाद छोड़कर विचार करो। प्रमाद त्या
भजन करो। याद रक्खो, भगवान्का भजन ऐसा
पथप्रदर्शक है जो तुम्हें सदा यथार्थ मार्ग दिख
रहेगा। तुम कभी मार्ग भूल नहीं सकोगे।

भजनके साथ साधनचतुष्टयका अभ्यास
करो। विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति (शम, दम, ति
उपरति, श्रद्धा और समाधान) तथा मुमुक्षुत्व,
चार प्रधान साधन हैं। इनके साथ जो भजन
वह तुम्हें वेदान्तका तत्त्व बहुत ही शीघ्र प्राप्त क
वाला होगा।

भजनको शुद्ध बनाये रखनेके लिये इन चा
बड़ी ही आवश्यकता है।

सत्संगका श्रद्धापूर्वक सेवन करो, भगवान्के
नामोंका जप और कीर्तन करो, संसारकी अस
और क्षणभंगुरतापर विचार करो, विषयोंके दुः
और अनित्य स्वरूपको सोचो और आत्माकी नि
और सुखरूपताका अनुभव करो।

आत्मा नित्य है, शुद्ध है, निर्विकार है, अज
सनातन है, चेतन है और ज्ञानमय है। आ
परमात्माका ही स्वरूप है। आत्माको जाननेसे
परमात्माको जाना जा सकता है और परमात्म
जाननेपर आत्मा और परमात्माका कोई भेद नहीं
जाता, वह उसमें मिल जाता है। मिलनेका प्र
साधन है प्रेम अथवा पराभक्ति, और इस प्रेमका प्रादु
होता है जाननेसे। इस जाननेके जो साधन परमा
श्रीकृष्णने बतलाये हैं, उनका सारांश यह है—

‘बुद्धिको विशुद्ध करो, एकान्तमें भजन करो, हलका हितकारी थोड़ा आहार करो; मन, वाणी और शरीरको वशमें रक्खो; संसारके विषयोंसे भलीभाँति वैराग्य करो, नित्य ध्यान करो, सात्त्विकी धृतिसे अन्तःकरणका नियमन करो, शब्दादि विषयोंका त्याग करो, राग-द्वेषको छोड़ो; अहंकार, शरीर, जन और धनके बलका आश्रय, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करो; ममता किसीमें न रक्खो, चित्तको शान्त करो; तब तुम ब्रह्मस्वरूप आत्माको जाननेके योग्य बनोगे ।

‘फिर ब्रह्ममें तुम्हारी स्थिति होगी, तुम्हारा चित्त प्रसन्न हो जायगा, तुम्हें न किसी वस्तुके नाशसे शोक रहेगा, और न किसी चीजकी चाह रहेगी, तुम सब भूतोंमें समभावको प्राप्त हो जाओगे । ऐसा होनेपर तुम्हारा मुझ परमात्मामें प्रेम होगा—मेरी पराभक्ति मिलेगी । उस भक्तिसे मेरे यथार्थ स्वरूपको तत्त्वसे तुम जान सकोगे और उसे जानते ही तुम उसी क्षण मुझमें प्रवेश कर जाओगे । मैं और तुम दोनों एक हो जायँगे ।’

परमात्माके इस अमूल्य उपदेशपर ध्यान देकर इसके अनुसार साधन करो—तभी वेदान्ततत्त्वको पा सकोगे ! याद रक्खो, विवाद या झगड़ेसे कुछ भी नहीं होगा । तुम्हारी शब्दोंकी हार-जीत तुम्हें मिथ्या विषाद और हर्षके चक्करमें ही डालेगी । उससे लाभ कुछ भी नहीं होगा । लाभ तो साधनसे होगा । इसलिये झूठे झगड़ेको छोड़कर साधनमें लग जाओ—जी-जानसे लग जाओ ! मनुष्यजीवन बहुत थोड़े दिनोंका है, देर न करो । याद रक्खो, देरमें कहीं मानव-जीवनका अवसान हो गया तो पीछे बहुत पछताना पड़ेगा ।

‘शिव’

दैवी विपत्तियाँ और उनसे बचनेका उपाय

समाचारपत्रोंको देखनेसे पता लगता है कि इस समय प्रायः सभी देशोंमें दैवी विपत्ति आयी हुई है । अकाल, बाढ़, तूफान आदि न मालूम कितने उत्पात हो रहे हैं । भारतमें संयुक्तप्रान्त, आसाम, बंगाल, बिहार, पंजाब, काश्मीर और राजपूतानाके कई स्थानोंमें बाढ़ आ रही है । गुजरातमें अकालकी आशंका हो रही है । नयी-नयी बीमारियाँ फैल रही हैं । इनके अतिरिक्त बिजली गिरना, नावें डूबना आदि छोटी-छोटी घटनाएँ तो प्रायः नित्य होती हैं । बेकारी तो है ही । सारांश यह कि चारों ओर प्राणी दुखी हो रहे हैं । यह सब क्या है और क्यों हो रहा है ? इसका यथार्थ उत्तर तो अन्तर्जगत्की स्थितिको जाननेवाले कर्मरहस्यज्ञ पुरुष ही दे सकते हैं, तथापि शास्त्र और सन्तोंके अनुभवके आधारपर इतना कहा जा सकता है कि यह सब हमारे दुष्कर्मोंका फल है और हमें शुद्ध करनेके लिये भगवान्की कृपासे प्राप्त हो रहा है । भगवत्कृपाका प्रकाश विविध रूपोंमें हुआ करता है; कभी वह बड़े सौम्य स्वरूपमें अपने दर्शन देती है तो कभी बहुत ही भीषण रूपमें ! जो उसे पहचानता है वह उस भीषण मूर्त्तिके अन्दर भी उसकी त्रितापका नाश करनेवाली शान्ति-सुधामयी छबिको देख पाता है, वह सभी अवस्थाओंमें भगवान्की कृपाका अनुभव करता है । प्रत्येक आघातमें वह अपने एकमात्र प्रियतमका कोमल करस्पर्श पाकर पुलकित हो उठता है और अपनेको परम सौभाग्यवान् और सुखी समझता है । परन्तु जो नहीं पहचानते, वे रोते और दुखी होते हैं; परन्तु वे भी विपत्तिमें सम्पत्ति पाते हैं, दुःखमें भगवान्को कहीं अधिक सच्चे हृदयसे पुकारते हैं !

संसारमें कुछ भी अनियमित नहीं होता । सभी कुछ सत्य, न्याय और दयासे सनी हुई भागवती शक्तिके नियमाधीन

होता है जो जीवोंके कर्मवश विविध भाँतिसे उनके शरीरोंका सृजन, पालन और संहार करती हुई उन्हें सतत कल्याणके मार्गपर अग्रसर करना चाहती है और करती रहती है। जैसे सृजन और पालनका कार्य सर्वत्र सतत नियमित चल रहा है, इसी प्रकार संहारका भी चल रहा है; परन्तु किसी अज्ञात नियमके अनुसार जब एक ही जगह एक ही समयमें अधिक संहार होने लगता है, तब हम उसे कोई असाधारण घटना समझकर सिहर उठते हैं और समझते हैं मानो सर्वनाश हो गया। परन्तु ऐसी बात नहीं है। जब बार-बार बिजली कौंधती है, बादल गरजते हैं, आँधी आती है और साथ ही मूसलधार वर्षा होने लगती है, तब भीगा हुआ राहका मुसाफिर जाड़ेसे काँपता हुआ सोचता है, न मालूम यह प्रलयवृष्टि बन्द होगी या नहीं; परन्तु थोड़ी ही देरमें बादल हट जाते हैं, आकाश निर्मल हो जाता है, सूर्यकी किरणें सब ओर अपना प्रकाश फैला देती हैं और पथिक सुखी होकर अपने गन्तव्य स्थानकी ओर चल देता है। यही तो संसारका स्वरूप है। इसमें उतराव-चढ़ाव होता ही रहता है; प्रतिक्षण परिवर्तन, रूपान्तर, मरण और सृजन हो रहा है। इस सारी लीलामें वस्तुतः एक लीलामय ही खेलता है, वह विधाता ही विधानका स्वाँग धारण करता है! उसकी कृपा उससे अभिन्न है। हम उसे पहचानते नहीं, यही हमारा मोह है। भक्त और ज्ञानी उसे पहचानते हैं; इसीलिये वे सदा सुखी रहते हैं, महान्-से-महान् दारुण दुःख भी उनको उस सुखमयी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकता—

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

तथापि जहाँपर जैसी लीला होती है, उसीके अनुसार सब पात्रोंको अभिनय करना पड़ता है और करना चाहिये भी। इसीसे ज्ञानी और भक्तगण भी दुखियोंके दुःखको देखकर रोते हैं और उनके दुःखनाशके लिये तन-मन-धनसे जतन करते हैं। वस्तुतः ज्ञानी और भक्त ही सबका दुःख दूर करना चाहते हैं, क्योंकि उनके अन्तःकरणका स्वभाव ही 'सर्व भूतोंके हितमें रत' रहना, और 'सबके प्रति द्वेषरहित होकर सबके अकृत्रिम मित्र और दयालु होना' है।

'सर्वभूतहिते रताः।'

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च

जिनका हृदय दुखियोंके दुःखको देखकर द्रवि
होता, जिनको पीड़ितोंकी करुण पुकार पीड़ित नहीं
उन मनुष्योंका ज्ञानी और भक्त बनना तो दूर रहा, मनु
तक पहुँचना भी अभी नहीं हो सका है। जो लोग
फल बतलाकर किसी दुखी जीवसे उदासीन रहते हैं,
अपने धन और पदके अभिमानमें दुखियोंके दुःखसे
होनेका अवकाश ही नहीं मिलता, वे मनुष्य अभागे
उनके द्वारा प्रायः पापका ही सञ्चय होता है। अतएव
यथासाध्य दुखी प्राणियोंकी तन-मन-धनसे सेवा करनेके
सदा तैयार रहना चाहिये। जिसकी जैसी शक्ति
अपनी शक्तिके अनुसार ही सेवा करे। सेवा करके
अभिमान न करे और न यह समझे कि मैंने जिनकी से
है, उनपर मैंने कोई कृपा की है, वे मुझसे नीचे हैं, मैंने
उपकार किया है, उनको मेरा कृतज्ञ होना चाहिये या अ
मानना चाहिये। बल्कि यह समझे कि सेवाका सौभाग्य
बल प्रदान करके भगवान्‌ने मुझपर बड़ी कृपा की;
द्वारा किसीको कुछ सुख मिला है, इसमें उसका भाग्य
कारण है, उसीके लिये वह वस्तु आयी है, और भग
मेरे जरिये उसे वह चीज दिलवायी है; मेरा अपना कुछ
नहीं है, मैं तो निमित्तमात्र हूँ। मेरे लिये अभिमान कर
कोई भी कारण नहीं है। बात भी यही है कि हमारे पास
बुद्धि, तन, मन, धन, जो कुछ है, सब भगवान्‌की धरोहर
उनकी चीज है। उनको जहाँ जिस वस्तुकी आवश्यकता
वहाँ उस वस्तुको आदरपूर्वक प्रसन्न मनसे उनके सम
कर देना ही हमारा धर्म है। जहाँ अकाल है, वहाँ वे
माँगते हैं; जहाँ सूखा है, वहाँ जल चाहते हैं; जहाँ बा
सब कुछ बह गया, वहाँ वे अन्न-वस्त्र और आश्रय चा
हैं। ऐसी अवस्थामें हमारे पास उनका जो कुछ भी हो तु
देकर उनकी प्रसन्नता प्राप्त करनी चाहिये। उन्हींकी ची
उनकी पूजा करनी चाहिये। इस प्रकार जो भगवा

जाके भावसे दुखी जीवोंकी सेवा करता है, उसे मुनिजन-र्लभ साक्षात् भगवान्की या भगवान्के प्रेमकी प्राप्ति होती । और बुद्धिमानोंको इसी भावसे सेवा करनी चाहिये । ो अपनी क्रियाका ऊँचे-से-ऊँचा फल प्राप्त कर सके वही तो ुद्धिमान् है ।

यहाँपर एक प्रश्न होता है कि तब क्या संसारमें दैवी ंकटोंका आना किसी प्रकार रुक नहीं सकता ? इसका उत्तर यह है कि जबतक संसार है, तबतक इनका सर्वथा ष्ट होना तो असम्भव है, परन्तु ये कम जरूर हो सकते हैं । जिस कालमें दैवी संकट कम होते हैं, उसीको सत्ययुग कहते हैं, और उसका कारण है हमारे अपने कर्म । महर्षियोंने कहा है कि 'जब देश, नगर और ग्रामोंके शासक तथा उनकी देखादेखी प्रजाजन अधर्ममें रत हो जाते हैं, काम, क्रोध, लोभ और अभिमानके वश होकर असत्य, हिंसा, चोरी, व्यभिचार, शिष्टोंका अपमान और शास्त्रकी अवहेलना करने लगते हैं, तब देवता उनकी रक्षा न करके उन्हें त्याग देते हैं । इसीसे ठीक समयपर वर्षा नहीं होती, होती है तो कहीं अनावृष्टि और कहीं अतिवृष्टि । वायु ठीक नहीं बहता, भूमि विकारयुक्त हो जाती है, जल सूख जाता है, औषध अपना स्वभाव छोड़ देती है । लोभ और क्रोधकी वृद्धिके कारण परस्पर भयानक युद्ध छिड़ जाते हैं, लोगोंकी आजीविका नष्ट हो जाती है, भूकम्प, वज्रपात और जल-प्रलय आरम्भ हो जाते हैं । धर्मविहीन मनुष्य धर्मभ्रष्ट होकर गुरु, वृद्ध, सिद्ध, ऋषि और पूज्योंका अपमान करके अहित साधन करते हैं और अन्तमें उन गुरुओंके अभिशाप-से भस्म हो जाते हैं !' सच पूछिये तो आजकल यही हो रहा है । ऐसे संकटसे बचनेके लिये शास्त्रोंमें जो उपाय बतलाये गये हैं उनका साररूप निम्नलिखित दस बातें हैं—

१ सत्यका पालन ।
२ दुखी प्राणियोंपर दया ।
३ तन, मन, धनसे सात्त्विक दान ।
४ देवताओंकी यथाविधि पूजा ।
५ सदाचरण ।
६ ब्रह्मचर्यपालन ।
७ शास्त्र और जितात्मा महर्षियोंकी आज्ञाका पालन ।
८ धर्मात्मा और सात्त्विक पुरुषोंका संग ।
९ गोसेवा, गायोंके लिये गोचरभूमिकी व्यवस्था करना ।
१० भगवान्के नामरूपी मन्त्रोंके द्वारा आत्मरक्षा । विनीत—**हनुमानप्रसाद पोद्दार**

* * *

आत्मज्ञानका सौदा

(रचयिता—स्व० सेठ श्रीअर्जुनदासजी केडिया)

उश्शाक़[१] कभी मरनेकी परवा नहीं करते ।
परवाने[२] कभी शमा[३]का शिकवा[४] नहीं करते ॥
वेदोंमें है करतारका ऐलान[५] मुक़द्दस[६] ।
'भूलूँ न उन्हें जो मुझे भूला नहीं करते' ॥
आईनए-दिल[७] साफ़ करो ख़ाके-ख़ुदी[८]से ।
रुख़[९] अपना बजुज़[१०] इसके दिखाया नहीं करते ॥
देखा है जिन्होंने 'जो दिखाई नहीं देता' ।
फिर ज़ाहिरी दुनियाँको वो देखा नहीं करते ॥
दिल देके लिया करते हैं सौदा यही उश्शाक़ ।
सौदाई[११] कभी दूसरा सौदा नहीं करते ॥

---

१ आसक्त । २ पतंगे । ३ दीपक । ४ शिकायत । ५ घोषणा । ६ प्रधान ।
७ मनके दर्पणको । ८ अहंकार । ९ स्वरूप । १० बिना । ११ प्रेमोन्मत्त ।

विभु

(रचयिता—क० स० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध')

है रूप उसी विभुका ही, यह जगत रूप है किसका ?
है कौन दूसरा कारण, यह विश्व कार्य है जिसका ?
है प्रकृति-नटी लीला तो है कौन सूत्रधर उसका ?
अति दिव्य दृष्टिसे देखो भव-नाटक प्रकृति-पुरुषका ॥

है दृष्टि जहाँतक जाती, नीलाभ गगन दिखलाता ।
क्या यह है शीश उसीका, जो व्योमकेश कहलाता ?
वह प्रभु अनन्तलोचन है जो हैं भव-ज्योति सहारे ।
क्या हैं न विपुल तारक ये उन आँखोंके ही तारे ?

जितने मयंक नभमें हैं वे उसके मंजुल मुख हैं ।
जो सरस सुधामय हैं सब जगती-जीवनके सुख हैं ॥
चाँदनीका निखर खिलना, दामिनीका दमक जाना ।
उस अखिल-लोक-रंजनका है मंद मंद मुसुकाना ॥

उसके गभीरतम रवका सूचक है घनका निस्वन ।
कोलाहल प्रबल पवनका अथवा समुद्रका गर्जन ॥
अपने कमनीय करोंसे बहु रवि-शशि हैं तम खोते ।
क्या हैं न हाथ ये विभुके जो ज्योति-बीज हैं बोते ?

भव-केन्द्र हृदय है उसका नभ जीवन-रस-संचारी ।
है उदर दिगन्त, समाई जिसमें विभूतियाँ सारी ॥
हैं विपुल अस्थिचय उसके गौरवित विश्वके गिरिवर ।
हैं नसें सरस सरिताएँ तन-लोम-सदृश हैं तरुवर ॥

जिसके अवलम्बन द्वारा है प्रगति विश्वमें होती ।
है वही अगति-गतिका पग, जिसकी रति है अघ खोती ॥
है तेज तेज उसका ही, है श्वास समीर कहाता ।
जीवन है जगका जीवन, है सुधा-पयोधि विधाता ॥

हैं रातें हमें दिखातीं, फिर वर वासर है आता ।
यह है उसकी पलकोंका उठना-गिरना कहलाता ॥
जिनसे बहु कलित ललित हो बनता है विश्व मनोहर ।
उन सकल कलाओंका है विभु अति कमनीय कलाधर ॥

ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य

एक समय प्रसिद्ध विदेह राजा जनकने बहुदक्षिण नामक बड़ा यज्ञ किया । यज्ञमें कुरु और पाञ्चाल आदि देशोंके बहुत-से ब्राह्मण एकत्र हुए । जनक राजाने ब्राह्मणोंको बहुत दक्षिणा दी; अन्तमें 'इन ब्राह्मणोंमें सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता कौन है' यह जाननेकी इच्छासे जनकने अपनी गोशालामेंसे एक हजार गौएँ निकालकर प्रत्येक गायके दोनों सींगोंमें दस-दस सोनेकी मुहरें बाँध दीं और ब्राह्मणोंसे कहा कि 'हे पूजनीय ब्राह्मणो ! आपलोगोंमें जो ब्रह्मिष्ठ हों, वे इन गायोंको अपने घर ले जायँ ।' परन्तु किसी भी ब्राह्मणका उन्हें ले जानेका साहस नहीं हुआ । अन्तमें महर्षि याज्ञवल्क्यने अपने शिष्य ब्रह्मचारीसे कहा कि 'हे प्रियदर्शन ! हे सामश्रवा ! (सामवेदके अध्ययन करनेवाले) इन गायोंको अपने घर ले चल ।' गुरुके इन वचनोंको सुनकर शिष्य उन गौओंको हाँककर गुरुके घरकी ओर ले जाने लगा । यह देखकर सभामें बैठे हुए ब्राह्मणोंको इस बातपर बड़ा क्रोध हुआ कि 'हमलोगोंके सामने 'मैं ब्रह्मिष्ठ हूँ' ऐसा याज्ञवल्क्य कैसे कह सकता है ?'

महाराजा जनकके होता ऋत्विज् अश्वलने आगे बढ़कर याज्ञवल्क्यसे पूछा—

'हे याज्ञवल्क्य ! क्या तुम्हीं हम सबमें ब्रह्मिष्ठ हो ?' यद्यपि ये शब्द अपमानजनक थे, परन्तु याज्ञवल्क्यने इस उद्धतपनसे कुछ भी विकारको न प्राप्त होकर नम्रताके साथ उत्तर दिया—

नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयं स्मः ।

'भाई ! ब्रह्मिष्ठको तो हम नमस्कार करते हैं । हमें तो गौओंकी चाह है । इसीलिये हमने गौएँ ली हैं ।'

ब्रह्मनिष्ठाभिमानी अश्वल याज्ञवल्क्यको नीचा दिखानेके लिये उनसे एकके बाद एक बड़े-बड़े ज़टिल प्रश्न पूछने लगा । याज्ञवल्क्य सबका उत्तर तुरन्त ही देते गये । इसके बाद ऋतभागपुत्र आर्तभाग, लह्यपुत्र भुज्यु, चक्रपुत्र उषस्त, कुषीतकपुत्र कहोल, वचक्नुपुत्री गार्गी और अरुणपुत्र उद्दालकने कई गम्भीर प्रश्न किये और याज्ञवल्क्यसे तुरन्त उनका उत्तर पाया । सब ब्राह्मण थक गये, तब अन्तमें गार्गीने आगे बढ़कर सब ब्राह्मणोंसे कहा, 'हे पूज्य ब्राह्मणो ! यदि आपकी अनुमति हो तो मैं इस याज्ञवल्क्यसे दो प्रश्न फिर करना चाहती हूँ । यदि उन दो प्रश्नोंका उत्तर यह दे सका तो फिर मैं यह मान लूँगी कि आपमेंसे कोई भी इस ब्रह्मवादीको नहीं जीत सकेगा ।' ब्राह्मणोंने कहा, 'गार्गी ! पूछ ।'

गार्गीने गम्भीर स्वरसे कहा, 'हे याज्ञवल्क्य ! जैसे वीर-पुत्र विदेहराज या काशिराज उतारी हुई डोरीके धनुषपर फिरसे डोरी चढ़ाकर शत्रुको अत्यन्त पीड़ा देनेवाले दो बाणोंको हाथमें लेकर शत्रुके सामने खड़ा होता है, उसी प्रकार मैं दो प्रश्नोंको लेकर तुम्हारे सामने खड़ी हूँ, तुम यदि ब्रह्मवेत्ता हो तो इन प्रश्नोंका उत्तर मुझे दो ।' याज्ञवल्क्यने कहा 'गार्गी ! पूछ ।'

गार्गी बोली—

हे याज्ञवल्क्य ! जो ब्रह्माण्डसे ऊपर है, जो ब्रह्माण्डसे नीचे है और जो इस स्वर्ग और पृथिवीके बीचमें स्थित है, तथा जो भूत, वर्तमान और भविष्यरूप है, ऐसा शास्त्र जाननेवाले लोग कहते हैं, वह 'सूत्रात्मा' (जगद्रूप सूत्र) किसमें ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्यने कहा—

'हे गार्गी ! जो स्वर्गसे ऊपर है, जो पृथिवीसे नीचे है और जो स्वर्ग और पृथिवीके बीचमें स्थित है, तथा जो भूत, वर्तमान और भविष्यरूप है ऐसा शास्त्रवेत्तागण कहते हैं वह व्याकृत (विकृतिको प्राप्त कार्यरूप स्थूल) जगद्रूप सूत्र अन्तर्यामीरूप आकाशमें ओतप्रोत है !' इस उत्तरको सुनकर गार्गीने कहा, 'हे याज्ञवल्क्य ! तुमने मेरे इस प्रश्नका ऐसा स्पष्ट उत्तर दिया, इसके लिये तुम्हें नमस्कार है । अब दूसरे प्रश्नके लिये तैयार हो जाओ !' याज्ञवल्क्यने सरलतासे कहा, 'गार्गी ! पूछ ।'

गार्गीने एक बार उसी प्रश्नोत्तरको फिरसे दोहराकर याज्ञवल्क्यसे कहा—हे याज्ञवल्क्य ! तुम कहते हो व्याकृत जगद्रूप सूत्रात्मा तीनों कालोंमें सर्वदा अन्तर्यामीरूप आकाशमें ओतप्रोत है तो वह आकाश किसमें ओतप्रोत है ?

याज्ञवल्क्यने कहा—हे गार्गी ! अन्तर्यामीरूप अव्याकृतका अधिष्ठान यही वह अक्षर है, इस अविनाशी शुद्ध ब्रह्मका वर्णन ब्रह्मवेत्तागण इस प्रकार करते हैं—यह स्थूलसे भिन्न, सूक्ष्मसे भिन्न, ह्रस्वसे भिन्न, दीर्घसे भिन्न, लोहितसे भिन्न, स्नेहसे (चिकनाहटसे) भिन्न, प्रकाशसे भिन्न, अन्धकारसे भिन्न, वायुसे भिन्न, आकाशसे

भिन्न, संगरहित, रसरहित, गन्धरहित, चक्षुरहित, श्रोत्ररहित, वाणीरहित, मनरहित, तेजरहित, प्राणरहित, मुखरहित, परिमाणरहित, छिद्ररहित और देश, काल, वस्तु आदि परिच्छेदसे रहित सर्वव्यापी अपरिच्छिन्न है, वह कुछ भी खाता नहीं और उसे भी कोई खाता नहीं, इस प्रकार वह सब विशेषणोंसे रहित एक ही अद्वितीय है ।

इस प्रकार समस्त विशेषणोंका ब्रह्ममें निषेध करके अब उसका नियन्तापन बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—हे गार्गी ! इस प्रसिद्ध अक्षरकी आज्ञामें यह सूर्य और चन्द्रमा नियमितरूपसे वर्तते हैं । हे गार्गी ! इस प्रसिद्ध अक्षरकी आज्ञासे ही स्वर्ग और पृथिवी हाथमें रक्खे हुए पाषाणकी तरह मर्यादामें रहते हैं । हे गार्गी ! इस प्रसिद्ध अक्षरकी आज्ञामें रहकर ही निमेष, मुहूर्त, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर इस कालके अवयवोंकी गणना करनेवाले सेवककी तरह नियमितरूपसे आते-जाते हैं । हे गार्गी ! इस प्रसिद्ध अक्षरके शासनमें रहकर ही पूर्ववाहिनी गङ्गा आदि नदियाँ श्वेत हिमालय आदि पहाड़ोंसे निकलकर समुद्रकी ओर बहती हैं तथा पश्चिमवाहिनी सिन्धु आदि और अन्यान्य दिशाओंकी ओर बहती हुई दूसरी नदियाँ इसी अक्षरके नियन्त्रणमें आजतक वैसे ही बहती हैं । हे गार्गी ! इस प्रसिद्ध अक्षरकी आज्ञासे मनुष्य दाताओंकी प्रशंसा करते हैं और इन्द्रादि देवगण, यजमान और पितृगण दर्वीके अनुगत हैं अर्थात् देवता यजमानद्वारा किये हुए यज्ञसे और पितृगण उनके लिये किये जानेवाले होममें घी डालनेकी चमचीसे यानी उस होमसे पुष्ट होते हैं ।

इसके बाद याज्ञवल्क्य फिर बोले—

हे गार्गी ! इस अक्षरको बिना जाने यदि कोई पुरुष इस लोकमें हजारों वर्षोंतक देवताओंको उद्देश्य करके यज्ञ करता है, व्रतादि तप करता है तो भी उस कर्मका फल तो अन्तवाला ही होता है । अर्थात् फल देकर वह कर्म नष्ट हो जाता है, वह अक्षय परम कल्याणको प्राप्त नहीं होता ।

हे गार्गी ! जो पुरुष इस अक्षरको नहीं जानकर (भगवत्प्राप्ति होनेसे पूर्व ही) इस लोकसे मृत्युको प्राप्त होता है वह (बेचारा) कृपण (दीन, दयाके योग्य) है और हे गार्गी ! जो इस अक्षरको जानकर इस लोकमें मरणको प्राप्त होता है वह ब्राह्मण (ब्रह्मविद्, मु जाता है । अब याज्ञवल्क्य ब्रह्मका उपाधिरहित बतलाते हुए कहते हैं—हे गार्गी ! यह प्रसिद्ध अक्षर को नहीं दीखता पर यह सबको देखता है । इसकी कानोंसे कोई नहीं सुन सकता परन्तु यह सबकी सुन यह किसीकी धारणामें नहीं आता परन्तु यही सबका है । कोई इसे बुद्धिसे नहीं जान सकता परन्तु यही विज्ञाता (जाननेवाला) है । इससे भिन्न द्रष्टा नहीं है भिन्न श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है । हे गार्गी ! वह अ आकाश इसी प्रसिद्ध अक्षर अविनाशी ब्रह्ममें ही प्रोत है ।’

महर्षि याज्ञवल्क्यके इस विलक्षण व्याख्यानको गार्गी सन्तुष्ट हो गयी और प्रमुदित होकर ब्राह्मणोंसे लगी कि ‘हे पूज्य ब्राह्मणो ! याज्ञवल्क्यको नमस्कार ब्रह्मसम्बन्धी विवादमें इनको कोई भी नहीं हरा स इनका पराजय मनकी कल्पनामें भी नहीं आ सक इतना कहकर गार्गी चुप हो गयी ।

इसके बाद शकलके पुत्र शाकल्य या विदग्धने याज्ञ से कई इधर-उधरके प्रश्न किये । अन्तमें याज्ञव उससे कहा कि अब मैं तुझसे एक बात पूछता हूँ, तू उसका उत्तर नहीं दे सकेगा तो तेरा मस्तक कट जा शाकल्य उत्तर नहीं दे सका और उसका मस्तक अलग हो गया । याज्ञवल्क्यके ज्ञान और तेजको दे सारी सभा चकित हो गयी । तदनन्तर याज्ञवल्क्यने ब्राह्मणोंसे कहा, ‘तुमलोगोंमेंसे कोई एक या सब मि मुझसे कुछ पूछना हो तो पूछें’ परन्तु किसीने कुछ भी पूछा । चारों ओर याज्ञवल्क्यकी जयध्वनि होने ल विज्ञानानन्दसे याज्ञवल्क्य और गार्गीका चेहरा रहा था !

इसी ब्रह्मको यथार्थरूपसे जाननेकी चेष्टा करना अन्तमें जान लेना मनुष्य-जन्मकी सफलताका एक प्रमाण है ।

(बृहदारण्यकोपनिषद्के आधार

⁂

इसीका नाम वेदान्त है

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

वाह गुरो ! अच्छा वेदान्त पढ़ाया, मरे हुएको अमर बनाया, कुछका कुछ करके दिखाया ! मिटा दी काया, भुला दी माया, बना दिया अमाया ! अश्रवणीयको सुना दिया, अदर्शनीयको दिखा दिया, अस्पर्शनीयको छुआ दिया, अरसनीयको चखा दिया और अगन्धनीयको सुँघा दिया ! मेट दिये जन्म-जन्मके सञ्चितादि पुण्य पाप, मैं तू-को बना दिया एक आप, सात बालिश्तवाला हो गया महान ब्रह्म अमाप ! सर्वत्र भरपूर हूँ, न पास हूँ, न दूर हूँ, सर्वदा हाजिर हुजूर हूँ ! मेरा देहसे नहीं है सम्बन्ध, न मुझमें मोक्ष है न बन्ध, न कर्ता-भोक्ताकी लेश भी है गन्ध ! न बुद्धि हूँ, न मन हूँ, न प्राण हूँ, न तन हूँ, नित्य सिद्ध कूटस्थ सनातन हूँ ! ममकारका मुझमें नाम नहीं है, अहङ्कारका भी कुछ काम नहीं है, मेरा शुद्ध स्वरूप आत्माराम ही है ! न कहीं आता हूँ, न कहीं जाता हूँ, न कभी कुछ करता-कराता हूँ ! अवयवहीन अनङ्ग हूँ, चेतन प्रशान्त असङ्ग हूँ, नाशहीन अभङ्ग हूँ ! कायातीत हूँ, मायातीत हूँ, छायातीत हूँ ! वृक्षके समान अच्छेद्य हूँ, पर्वतके समान अभेद्य हूँ, न शोष्य हूँ, न क्लेद्य हूँ ! श्रोत्रका श्रोत्र हूँ, जातिहीन अगोत्र हूँ, न किसीका पुत्र हूँ, न पौत्र हूँ ! सच्चिदानन्द हूँ, परमानन्द हूँ, पूर्णानन्द हूँ ! दुःखका मुझमें नहीं है लेश, एक भी नहीं मुझमें क्लेश, न राग है मुझमें न द्वेष ! इस प्रकारका विचार है, इसीका नाम वेदान्त है, इस विचारका करनेवाला संत महान्त है, वही निर्द्वन्द्व है और वही शान्त है !

हे गुरो ! यह बात सम्यक् सत्य है कि पारस लोहेको कञ्चन बना देता है, परन्तु पारस नहीं बनाता, आप तो अपने अनुचरको अपना-सा ही बना देते हैं ! आपकी सेवा करनेवाला पूज्योंका पूज्य हो जाता है। आपके संसर्गमें आनेवाला कहीं भी पराजयको प्राप्त नहीं होता, किन्तु सबको जीतनेवाले मृत्युको भी जीत लेता है। यद्यपि आनन्दस्वरूप ब्रह्म सबका आत्मा होनेसे प्रत्यक्षसे भी परम प्रत्यक्ष है, फिर भी जो भाग्यहीन आपके चरणोंसे विमुख हैं, उनको अपने आनन्दस्वरूप आत्माका दर्शन नहीं होता और जो भाग्यवान् स्त्री-पुत्रादिका स्नेह त्यागकर आपके चरणोंकी शरण लेता है, उसीको शान्तिमय अपने आत्माका दर्शन होता है और आत्माका दर्शन करनेसे वह कृतकृत्य हो जाता है, फिर उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता ! सच कहा है कि जिसकी देवमें परमभक्ति है और जैसी देवमें भक्ति है, वैसी ही गुरुके चरण-कमलोंमें भक्ति है, उसीको परम रहस्यका ज्ञान होता है, दूसरोंको नहीं होता ! इस आत्माको जानकर ही याज्ञवल्क्यने सब ब्राह्मणोंको परास्त करके जनककी सभामेंसे गोधन और सुवर्णका हरण किया था, इसी आनन्दस्वरूप आत्माको जानकर जनक राजाने अपना सब राज-पाट याज्ञवल्क्य गुरुको अर्पण कर दिया था। इससे सिद्ध होता है कि आत्मधनके सिवा दूसरा धन नहीं है, इस धनको पाकर कंगाल भी मालामाल हो जाता है, और अल्पज्ञ भी सर्वज्ञ हो जाता है। इस सच्चे धन आत्माकी प्राप्ति आपसरीखे गुरुके शरण हुए विना नहीं होती, इसलिये विद्वान् वेदान्तका अर्थ चाहे कुछ करें, विद्वानोंको सब कुछ शोभन है। सद्गुरुकी शरणमें जाना इसीका नाम वेदान्त है, मेरा तो यही सिद्धान्त है, इसीसे होता दुःखान्त है !

ब्रह्मतरङ्ग

अहाहा ! ओहोहो ! आनन्दका अथाह अपार सागर हिलोरें ले रहा है ! न यहाँ मैं हूँ, न तू है, न वह है, न ज्ञाता है, न ज्ञान है, न ज्ञेय है ! न ध्याता है, न ध्यान है, न ध्येय है ! एक ही अद्वितीय, कूटस्थ, शाश्वत, शान्त है, इसीका नाम विद्वानोंके लोकमें वेदान्त है ! न पास है, न दूर है अपना-आप हाजिर हुजूर है ! अखण्ड आनन्दका अम्बुनिधि है, अक्षय शान्तिका पहाड़ है, निरुपम सुखका भण्डार है, न इसका वार है, न पार है, अपरम्पार है, सर्वाधार निराधार है, गिरागोपार है ! जो इस रसको चखता है वही याद रखता है ! अनेक जन्मोंतक जो कोई ईश्वर-प्रीतिके लिये स्वधर्मका आचरण करता है, वही ईश्वर, गुरु, शास्त्र और आत्मकृपासे इसको जान पाता है, दूसरेको स्वप्नमें भी इसका दर्शन नहीं होता ! जब दर्शन ही नहीं होता, तो इसका प्राप्त करना और स्वाद लेना तो करोड़ों कोसों दूर है। कोई विरला माईका लाल, गुरुका बाल ही इसका दर्शन करता है, प्राप्त करता है और स्वाद लेता है, दूसरे तो शास्त्रके

जालमें पड़े हुए, शुष्क तर्क करते हुए अपना माथा पचाते रहते हैं! पानीको बिलोनेसे घी नहीं निकल सकता, घी तो दही बिलोनेसे ही हाथ आता है! इसी प्रकार बाहर आनन्दकी खोज करनेवालोंको इस अद्भुत आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती, जो भाग्यवान् विषय-भोगोंकी आसक्ति छोड़कर अपने हृदयमें ही खोज करता है यानी बहिर्मुखताको त्यागकर अन्तर्मुख हो जाता है, वही इस अपूर्व रसका स्वाद लेता है! विचित्र आनन्द है, अपूर्व सुख है, अनोखी शान्ति है! जैसे मछलीके ऊपर-नीचे, दायें-बायें जल-ही-जल होता है, फिर भी जबतक वह उलटी नहीं होती, तबतक उसके मुखमें पानीकी बूँद नहीं जाती, इसी प्रकार ब्रह्मानन्द सर्वत्र सर्वदा भरा हुआ है, फिर भी जबतक मनुष्य बाहरके संसारको देखना छोड़कर अपने भीतर नहीं देखता, तबतक ब्रह्मानन्दकी छायातक भी भाग्यहीन नर नहीं पा सकता।

यह ब्रह्मरस अलौकिक है, लोकमें कहीं ऐसा रस नहीं है, लोकमें जहाँ कहीं थोड़ा-बहुत सुख दृष्टिमें आता है, वह इस ब्रह्मरसके लेशका भी लेश है, अथवा लेश भी नहीं है, केवल छाया है, इस छायाका भी कभी-कभी किसी-किसीको अनुभव होता है, सर्वत्र सर्वदा अनुभव नहीं होता! यह छाया ब्रह्मरसकी है, ब्रह्मरस सबका स्वरूप ही है, परन्तु देहासक्तिने उसको ढाँक दिया है, जो भाग्यवान् देहासक्तिका त्याग कर देता है, वह पुण्यशाली सर्वत्र सर्वदा सर्वथा इस ब्रह्मरसका रस लेता है। तब सब रस विरस हो जाते हैं, पश्चात् ब्रह्मरसका रस लेनेवाला, उसीमें रति करता है, उसीमें क्रीडा करता है, उसीमें तृप्त रहता है और उसीमें संतुष्ट रहता है। उससे बढ़कर दूसरा लाभ नहीं मानता, भारीसे भारी कष्टमें भी प्रह्लाद आदिके समान सुखका ही अनुभव करता है, कष्टसे किञ्चित् भी चलायमान नहीं होता। वह वृक्षके समान अचल रहता है, न काँपता है, न कोप करता है, पर्वतके समान अटल रहता है, न हिलता है। न क्रोध करता है! भला, अक्षय आनन्दके सागरमें डूबा हुआ तुच्छ अनित्य, क्षणिक भोगोंके सुखाभासकी क्यों इच्छा करेगा? कभी नहीं करेगा! मीठी ईखका प्रेमी हाथी कभी नीम खानेकी इच्छा नहीं करता, इसी प्रकार ब्रह्मानन्दरस चखनेवालोंको सब भोग फीके ही लगते हैं!

यह चराचर जगत् ईश्वरसे पूर्ण है, फिर भी देहाभिमानी पुरुष उस सर्वव्यापी ईश्वरको नहीं देख सकता, जो भाग्यवान् देहाभिमानको त्याग देता है, वह ईश्वरको स्पष्ट देख ईश्वरका ज्ञान अथवा दर्शन न होनेमें देहाभिमान ही जहाँ देहाभिमान गया, ईश्वरका दर्शन हुआ, जहाँ ज्ञान हुआ, वहीं शोक, मोह, भय गया। कोई कहे कि होते हुए ईश्वरका दर्शन कैसे होगा और ईश्वरका द बिना शोक, मोह, भय कैसे जायगा तो इसका उत्तर कि 'जगदेव हरिर्हरिरेव जगत्' इस न्यायके ईश्वरसे जगत् भिन्न नहीं है, इसलिये जगत्के होते जैसे घटके होते हुए भी मृत्तिकाका ज्ञान हो सकता प्रकार ईश्वरका ज्ञान हो सकता है। कोई कहे कि ज और जगत् अभिन्न हैं, तो जगत्का नाश होनेसे भी नाश हो जायगा, तो यह बात नहीं है; क्योंकि अंशका ही नाश होता है, व्यापीका नाश नहीं होता व्याप्य अंश घटका नाश होनेपर भी व्यापी अंश नाश नहीं होता, उसी प्रकार जगत्के व्याप्य अंश रूपका नाश होनेपर भी व्यापी ईश्वरका नाश नहीं व्याप्य अंश मिथ्या होता है और व्यापी तत्त्व सच्चा है। इसलिये मिथ्या जगत्को त्यागकर सच्चे ईश्वरका सकता है। कोई कहे कि जगत् तो सत्य ही है, मिथ्या है, तो प्रश्नकर्ताको बताना चाहिये कि व्याप्य अंश नाम जगत् सत्य है अथवा व्यापी अंश सच्चिदानन्दरूपसे है? व्याप्य अंशसे तो जगत् सत्य हो नहीं सकता, नामरूपका नाश सबके अनुभवसे अथवा प्रत्यक्ष प्र सिद्ध है, व्यापी अंशसे जगत् सत्य है, यही कहना यह बात तो ठीक ही है, इसलिये सच्चिदानन्दरूप ईश्व सत्य है, यह सिद्ध हुआ। जो शास्त्र सदसत्का विवेक है, उसीका नाम वेदान्त है।

जो भाग्यवान् अधिकारी अनेक जन्मोंमें ईश्व प्रीतिके लिये कर्म करता है, उसका अन्तःकरण शुद्ध जाता है, शुद्ध अन्तःकरण होनेसे वह देह, देहके सम्ब मिथ्या और तुच्छ पदार्थोंकी आसक्ति त्यागकर और पदार्थोंकी प्राप्तिके साधन सब कर्मोंको त्यागकर सद्गु शरण लेता है। जैसे कहा है कि ब्राह्मण कर्मसे हुए लोकोंकी परीक्षा करके वैराग्यको प्राप्त होता है, क्यों अकृत (क्रियारहित) परमात्मा कृतसे (क्रिया प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसा विचारकर समित्पाणि हाथमें समिधा लेकर शिष्य ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरुके पास पदार्थको जाननेके लिये जाता है। गुरुके मुखसे महावाक्य

वण करता है, श्रवण किये हुएके अर्थका मनन करता है, नन किये हुएका निदिध्यासन करता है यानी सजातीय त्तिकी आवृत्ति और विजातीय वृत्तिका तिरस्कार नित्य-रन्तर करता है। निदिध्यासन करनेसे देहका अभिमान ौर जगत्‌की सत्यता निवृत्त हो जाती है और परात्मतत्त्वका पने प्रत्यक् आत्मारूपसे साक्षात्कार हो जाता है यानी धिकारी अपनेको और इस समस्त जगत्‌को ब्रह्मस्वरूप ी देखता है, ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ नहीं देखता। ह्मके सिवा अन्य कुछ न देखना, इसीका नाम दान्त है !

बहुत-से मोहाग्र बुद्धिवाले 'वेदान्त शुष्क है' ऐसा कहते ए देखने और सुननेमें आते हैं। मुमुक्षुओंको इनकी ातोंपर ध्यान न देना चाहिये ! ऐसे पुरुषोंने न तो गुरुके ुखसे वेदान्तका श्रवण किया है न श्रवण किये हुएका अपनी ुक्तियोंसे मनन ही किया है। जिन्होंने श्रवण-मनन ही नहीं किया, वे निदिध्यासन तो करें ही कहाँसे ? ऐसोंने केवल दान्तकी प्रक्रिया सुन ली है और सुनकर वे 'हम कर्ता-भोक्ता हीं हैं किन्तु असङ्ग आत्मा हैं' ऐसा कथनमात्र मानने लगे हैं। इनकी वही कहावत है कि जब गायको ारा, तब तो हाथके देवता इन्द्रने मारा और जब आप पिटे तब रोने-चिल्लाने लगे, तब यह नहीं समझते कि त्वचाके देवता वायु पिटे हैं, हम नहीं पिटे ! ऐसोंकी बात प्रमाणरूप नहीं है। भला ! जिस देवके आनन्दकी एक मात्रासे मस्त चराचर प्राणी आनन्दित होकर जीते हैं, जिसको श्रुति 'रसो वै सः' ऐसा कहती है, जिसको भगवान् गीतामें 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः' ऐसा कहते हैं, जिस शान्तरसके सामने शृंगारादि नवों रस नीरस हो जाते हैं, वह वेदान्तरस शुष्क कैसे हो सकता है ? श्रवण-मनन करनेके पश्चात् चिरकाल, नित्य-निरन्तर, प्रेमपूर्वक एकान्तमें बैठकर निदिध्यासन किये बिना और फिर उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते निरन्तर वेदान्तका चिन्तन किये बिना तत्त्वज्ञान दृढ़ नहीं होता और दृढ़ हुए बिना मन निर्वासन नहीं होता, निर्वासन मन हुए बिना पूर्णानन्दका अनुभव नहीं होता, इसलिये श्रेयोभिलाषीको नित्य-निरन्तर 'मैं, यह सब जगत् अखण्डानन्दैकरस ब्रह्म ही है' ऐसा अनुसंधान करना चाहिये, ऐसा करनेमें परिश्रम कुछ नहीं है, सुखसे हो सकता है और दिन-प्रतिदिन अद्भुत आनन्दका अनुभव होता है। इसीका नाम वेदान्त है।

अखण्डानन्द ब्रह्मामृतरसका जो अनुसंधान करता है, उसको ऋषभदेव आदिके समान व्यवहार अच्छा नहीं लगता। सुन्दर-से-सुन्दर स्त्री भी मांस-हड्डी आदिकी पुतली दिखायी देती है, स्वादिष्ट-से-स्वादिष्ट भोजनको देखकर अथवा सूँघकर उसका मन नहीं चलता, विषय विषके समान प्रतीत होते हैं, देह भी भार मालूम होती है। 'तूष्णीमवस्था परमोपशान्तिः' 'मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्' इस न्यायके अनुसार वह सर्वदा कायासे, वाणीसे और मनसे मौन ही धारण करता है। ऐसे भाग्यशालीका योगक्षेम भगवान् अपने वचनानुसार आप वहन करते हैं। जिस सुखका वह अनुभव करता है, उसको वही जान सकता है, दूसरा नहीं जान सकता। सुनते हैं कि भगवान् ऋषभदेवके मुखमें किसी धूर्तने भोजन करानेके बहानेसे पत्थरका टुकड़ा रख दिया, तो वह उस टुकड़ेको कई मासतक मुखमें रक्खे रहे, बाहर नहीं निकाला ! भला, आनन्दके अपूर्व सागरमें डूबे हुएको छोटे-मोटे पत्थरके टुकड़ेकी क्या खबर पड़े ! टुकड़ेकी बात अलग रही, ऐसा पुरुष सिंहसे, हाथीसे, तलवारसे अथवा अन्य किसीसे भी भय नहीं खाता, क्योंकि उसे सिवा ब्रह्मके अन्य कुछ भी दिखायी ही नहीं देता ! जहाँ दूसरा होता है वहाँ दूसरा दूसरेको देखे। जहाँ एक ही है, दूसरा है ही नहीं, वहाँ किससे किसको देखे, किससे किसको सुने, किससे किसको जाने ? श्रुतिका यह कथन ठीक ही है। सामान्य मनुष्योंकी समझमें यह बात नहीं आ सकती। हौजमें रहनेवाला मेंढक समुद्रकी थाह नहीं पा सकता। अथाह सुखसागर ब्रह्ममें मग्न हो जाना, इसीका नाम वेदान्त है।

भाद्रपदकी अँधेरी रात है, सूझता नहीं हाथको हाथ है, घटा घनघोर छायी है, मानो देवराजने करी दैत्योंपर चढ़ायी है ! ऊँचे-नीचे टीलोंका मैदान है, बत्ती लिये हुए फिर रहे वहाँ काले-काले चार जवान हैं। कभी टीलोंपर चढ़ते हैं, कभी उतरते हैं, लट्ठ सबके पास हैं, फिर भी हो रहे उदास हैं ! अनुमान होता है कि किसी वस्तुकी खोजमें हैं, इसीसे सबके सब सोचमें हैं ! पासके खेतकी झोंपड़ीके आगे एक हृष्ट-पुष्ट जवान आसन लगाये बैठा हुआ है, क्षेत्रकी रखवाली कर रहा है, परन्तु मन उसका क्षेत्रज्ञमें लगा हुआ है। काले-काले जवान इसको सर्वाङ्गपूर्ण देखकर प्रसन्न होकर 'मिल गया ! मिल गया !' कहकर तालियाँ बजाते हैं और परस्पर यों बातचीत करते हैं—

एक—भाइयो ! यही वह नरपशु है, जो हमारी आँख बचाकर भाग आया है, अच्छा हुआ, जो मिल गया, नहीं तो हमारा राजा हम सबको बड़ा भारी दण्ड देता !

दूसरा—नहीं ! उसमें और इसमें भेद है, वह इतना मोटा नहीं था, यह बहुत मोटा है, पर बलिदान देनेके लिये यह उससे भी अच्छा है, देवी इसका रक्त पीकर बहुत ही प्रसन्न होगी और हमारे राजाका मनोरथ पूर्ण करेगी ! चलो, जल्दी ले चलो, समय आ गया है, पुरोहितसहित राजा आनेवाला है या आ गया होगा, हमारी प्रतीक्षा कर रहा होगा, देर हो रही है, जल्दी करो, अभी मन्दिर-तक पहुँचनेमें भी देर लगेगी, आधी रात हो गयी है। यह पुरुष भी (धीरेसे) बलवान् है, यदि लड़ने लगा, तो हम सबकी खोपड़ी-से-खोपड़ी लड़ा देगा, यदि आसन जमाये बैठा रहा, तो हम सबसे उठाया भी नहीं जायगा !

तीसरा—अरे ! हम चार हैं, यह अकेला है, बेचारा अकेला क्या कर सकेगा ? बाँध लो ! हम डाकुओंसे यह जीत नहीं सकता।

चौथा—भाई ! यदि बिना बाँधे ही चलनेको तैयार हो जाय, तो बाँधनेकी क्या आवश्यकता है ? (हृष्ट-पुष्ट पुरुषसे) अरे भाई ! चल हमारे साथ, हम तुझे लड्डू-पेड़े खिलावेंगे !

मोटा पुरुष—मित्रो ! लड्डू-पेड़ोंका तो मैं भूखा नहीं हूँ, हाँ ! यदि मैं तुम्हारे कुछ काम आ सकता हूँ, तो मैं साथ चलनेको तैयार हूँ, यह शरीर सदा तो रहेगा नहीं, एक-न-एक दिन अवश्य ही इसे छोड़ना पड़ेगा ! तुम्हारे काम आ जाय, तो अच्छा ही है।

इतना कहकर हमारा वीर खड़ा हो गया है, एकने इसका दायाँ हाथ, दूसरेने बायाँ हाथ पकड़ लिया है, तीसरेने इसकी कमरमें रस्सी बाँधकर पकड़ ली है, चौथा कंधेपर लट्ठ धरे हुए एक हाथमें बत्ती लिये आगे हो लिया है, इस प्रकार जैसे रामदूत पवनकुमारको मेघनाद ब्रह्मपाशमें बाँधकर रावणकी सभामें ले गया था, उसी प्रकार हमारे वीरको ले चले हैं ! हमारा वीर भी जैसे हनूमान् निःशंक ब्रह्मपाशमें बँधे हुए जा रहे हों, ऐसे ही चला जा रहा है ! कौन मुझे लिये जा रहे हैं, कहाँ ले जा रहे हैं, ले जाकर मेरा क्या करेंगे, इत्यादि कोई भी संकल्प उसके मनमें नहीं उठता ! गीताके गुणातीत पुरुषके लक्ष
घटते हैं।

थोड़ी दूर चलकर भद्रकालीका एक विशा
दिखायी देता है, हमारे वीरसहित चारों मनुष्य
घुस गये हैं, वहाँपर बहुत-से मनुष्य एकत्र हैं, इन
कर सब-के-सब 'भद्रकालीकी जय हो' ऐसा
ऊँचे स्वरसे उच्चारण कर रहे हैं और इतने प्रसन्न
देवराज इन्द्रका राज्य ही उनको मिल गया। पश्
मिलकर देवीके नर-पशुका उबटन किया है, उब
जलसे स्नान कराया है, स्नान कराके तिलक-छापे ल
पुष्पोंकी माला पहनायी है, सुन्दर-सुन्दर नवी
पहनाये हैं, उत्तम-उत्तम षट्रस भोजन कराये है
वीरको कुछ यह खबर नहीं है कि मुझे अलंकृत क
अथवा किसी दूसरेको अलंकृत कर रहे हैं। क्योंकि
देहोंके समान ही उसे अपनी भी देह है। जैसे ह
मनुष्यको अलंकृत देखकर अपनेको अलंकृत हु
समझते वैसे ही वह भी ऐसा समझ रहा है कि दू
कोई अलंकृत किया जा रहा है, मैं नहीं !

चोरोंके पुरोहितने अब हमारे वीरको देवीके
बैठा दिया है और देवीसे प्रार्थना करता है—

प्रार्थना—हे काली, कराली, भद्रकाली ! अ
जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवा
सब जगत्को आप नचाती हैं, सब आपके परत
आप स्वच्छन्द हैं ! यद्यपि सात्त्विक प्राणी सात्त्विक प
आपका पूजन करते हैं और आप उनको सात्त्विक
देती हैं, परन्तु हमारी प्रकृति तामसी है, तामस प
आपका पूजन करते हैं, तामस फलकी प्रार्थना करते
उसीको आपसे पाते हैं ! यद्यपि आपमें पक्षपात न
आप तो सबके लिये समान ही हैं, भक्तोंकी भावनाके
आप फल देती हैं ! इस नरपशुको हम आपकी भें
हैं, इसका फल आपसे यह माँगते हैं कि हमारे य
को आप उसीके समान पुत्र प्रदान करें यानी व
बाँका चोर है, वैसा ही उसका पुत्र भी हो।

इस प्रकार कहकर पुरोहितने बिजलीके समान लप
हुआ तीक्ष्ण खड्ग हाथमें ले लिया है, नरपशुका सिर
अलग करना चाहता है। परन्तु जैसे च्यवन ऋषिके मा
उठाया हुआ वज्रसहित इन्द्रका हाथ उठा-का-उठा
गया था, उसी प्रकार पुरोहितका हाथ खड़े-का-खड़

या है ! हमारे वीरको यह भी खबर नहीं है कि मेरा सिर काटनेको तलवार उठायी गयी है अथवा किसी दूसरेका ! खबर हो भी कहाँसे ! अपना-पराया तो देहाभिमानीकी दृष्टिमें होता है, ब्रह्मनिष्ठके लिये तो सब देह समान ही है !

पुरोहित आश्चर्यमें है, इतनेमें ही भद्रकाली विकराल रूप धारण करके अपनी सखियोंसहित प्रकट हो गयी हैं, पुरोहित, यजमानसहित सब चोरोंके सिर तलवारसे काटकर उनका रुधिर पीकर सिरोंकी गेंदें बनाकर खेल रही हैं और नाच रही हैं।

पाठक ! आप समझ गये होंगे कि यह हमारा वीर कौन है, यह ब्रह्मनिष्ठ जडभरत है, जो तीसरे जन्ममें ब्राह्मण होकर मुक्त हुए थे। जडभरतकी यह जो स्थिति है, इसीको जीवन्मुक्ति कहते हैं, इसीका नाम वेदान्त है ! यही एकान्त सिद्धान्त है ! इसीमें पहुँचकर होता वेदोंका अन्त है ! इसीको पाकर होता सब अनन्त है ! इसीलिये कहा है—

कुं०—ब्रह्म सनातन वाच्य है, वाचक है वेदान्त।
पढ़त सुनत वेदान्तके, होता है मन शान्त॥
होता है मन शान्त, अन्त दुःखोंका होता।
जीव होयके ब्रह्म, नींद सुखकी है सोता॥
भोला ! नाहीं विश्व, नहीं माया ना मन तन।
तज कर सारे कार्य, नित्य भज ब्रह्म सनातन॥

* * *

वेदान्तका महान् वैलक्षण्य

(लेखक—स्वामी श्रीअभेदानन्दजी पी-एच० डी०)

वेदान्त क्या है ?

सामान्यतः यही समझा जाता है कि वेदान्तदर्शन वही दर्शन है जिसका सम्बन्ध ऋगादि वेदोंसे है; परन्तु यहाँ जो 'वेद' पद है, यह किसी ग्रन्थका द्योतक नहीं है, बल्कि इसका अर्थ है ज्ञान। इसमें धातु 'विद्' है जिसका अर्थ 'जानना' होता है। इसी 'विद्' धातुसे ही अँगरेजीका 'विज़डम' शब्द निकला है। वेदान्त शब्दका इस प्रकार अर्थ हुआ, 'ज्ञानका अन्त'। और यह ज्ञान इसलिये वेदान्त कहलाता है कि इसमें यह निरूपण होता है कि 'अन्त' क्या है और कैसे उसकी प्राप्ति होती है।

समस्त सापेक्षिक ज्ञान विश्वके असीम सत्यके साथ व्यष्टिगत आत्माके एकत्वकी अनुभूतिमें समाप्त होता है। परम सत्य विश्वात्मा या ब्रह्म है। यह अनन्त ज्ञानोदधि है। जैसे नदियाँ सहस्रों मील चलकर, अन्तमें समुद्रको प्राप्त होती हैं वैसे ही सापेक्षिक ज्ञानके स्रोत नाना नामरूपात्मक जगत्की विभिन्न भूमिकाओंको पारकर अन्तमें सच्चिदानन्दस्वरूप अनन्त सिन्धुमें मिलकर समाप्त होते हैं।

वेदान्त-दर्शन और धर्म

सभी धर्मोंका अन्तिम लक्ष्य इसी एकत्वके अनुभवकी प्राप्ति ही होना चाहिये, पर संसारके धार्मिक इतिहाससे यह पता लगता है कि इस बातको प्राचीन भारतवर्षके ऋषियोंने जैसा समझा और साहसके साथ कर दिखाया वैसा संसारके अन्य किसी भी राष्ट्रने न तो समझा और न किया ही। सहस्रों वर्षोंसे हिन्दू इस बातको समझे हुए हैं कि 'सत्य एक है, पर उसकी प्राप्तिके मार्ग अनेक हैं।' संसारका जो सबसे प्राचीन ग्रन्थ है ऋग्वेद, उसमें यह मन्त्र आता है कि 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात् 'वह एक ही है और सद्विप्र उसे अनेक नामोंसे अभिहित करते हैं।' यहूदी उसे जेहोवा कहते हैं। ईसाई गॉड या स्वर्गस्थ पिता कहते हैं; मुसलमान अल्लाह कहकर पूजते हैं; बौद्ध बुद्ध, पारसी अहुरमज्द और हिन्दू ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं।

इस मूल सत्यपर वेदान्तकी सम्पूर्ण शिक्षाका ढाँचा खड़ा है। सत्ताकी एकताका सिद्धान्त ही वेदान्त विविध नामोंसे प्रस्थापित करता है और वेदान्तके द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैतादि जितने भी सम्प्रदाय हैं और जो भी धार्मिक विचार हैं उन सबके विभिन्न स्वरूपोंके ठहरनेके लिये इतना अच्छा और सुदृढ़ आश्रयस्थान प्रदान करता है कि और कोई दार्शनिक या धार्मिक सम्प्रदाय इसमें उसकी बराबरी नहीं कर सकता। वेदान्तके विषयमें सचमुच ही यह कहा जा सकता है कि यह एक ऐसे विश्वधर्मका संस्थापक है कि जो संसारके सभी विशेष धर्मोंका अपने अन्दर समावेश करता है।

वेदान्तके अनेक स्वरूप हैं। इसके द्वैतसम्प्रदायमें जरथुस्त्रप्रवर्तित पारसीधर्म, यहूदीधर्म, ईसाका धर्म, इस्लामका धर्म आदि सगुण साकार ईश्वरके उपासक या किसी भागवत आदर्शके भक्त द्वैतवादी या एकेश्वरवादी सभी पन्थोंके मूल सिद्धान्तोंका अन्तर्भाव हो जाता है।

विशिष्टाद्वैतस्वरूपमें उन सब पन्थोंका समावेश हो जाता है जो अन्तःस्थ और दूरस्थ परमेश्वरको मानते हैं। इसमें इन सब भावोंका अन्तर्भाव होता है, जैसे 'ईश्वर हमारे अन्दर है और विश्वमें भी है', 'हम रहते ईश्वरमें, चलते-फिरते ईश्वरमें और हमारा आत्मस्वरूप भी ईश्वरमें है', 'वही हमारे आत्माओंका आत्मा है', 'हम सब उसी बृहत् पूर्णके अंश हैं', 'हम ईश्वरके सन्तान हैं, अमर आनन्दकी सन्तति हैं'। परन्तु वेदान्तका अद्वैतस्वरूप सबसे अधिक गम्भीर है। ऐसे ज्ञानी और तत्त्ववेत्ता बहुत थोड़े ही होते हैं जो आत्मैक्यकी महत्ताका भाव ग्रहण कर सकें। पर, यही वह स्थान है जहाँ भौतिक विज्ञान, तत्त्वज्ञान और अध्यात्मशास्त्रके गूढातिगूढ प्रश्नोंका उत्तर तथा सब धर्मोंका परम ध्येय मिलता है। इसी स्थानमें आकर ही कोई यह कह सकता है कि 'मैं और मेरा पिता एक हैं।'

वेदान्तका विलक्षण वैलक्षण्य यह है कि उसका प्रतिपाद्य ईश्वर सगुण भी है, निर्गुण भी है और सगुण-निर्गुणके परे भी है। वेदान्तके सगुण ईश्वरको सभी साम्प्रदायिक धर्मोंको माननेवाले लोग भिन्न-भिन्न नामोंसे पूजते हैं। वेदान्तका ईश्वर एक है, पर उसके नाम अनेक हैं। वह ईसाइयोंका स्वर्गस्थ पिता है, मुसलमानोंका अल्लाह है, जरथुस्त्रानुयायियोंका अहुरमज्द है, चीनियोंका तितीन है, यहूदियोंका जेहोवा है और बौद्धोंका बुद्ध है। वही हिन्दुओंका विष्णु, शिव और अम्बिका है। वह न स्त्री है न पुरुष, इसलिये वह जगत्का पिता, माता दोनों है। भक्त उसे पुरुषरूपमें या स्त्रीरूपमें अथवा दोनोंसे रहित रूपमें भज सकते हैं।

वेदान्तका धर्म विलक्षणरूपसे विश्वधर्म है, क्योंकि यह किसी व्यक्तिके द्वारा नहीं प्रवर्त्तित हुआ है। जो धर्म या दर्शन किसी व्यक्तिका चलाया हुआ होता है वह विश्वधर्मके लक्षणोंसे युक्त नहीं हो सकता। किसी दर्शनके विश्वव्यापक होनेके लिये सबसे पहली बात यह है कि यह अव्यक्तिक होना चाहिये। किसी धर्मका जबतक कोई व्यक्ति प्रवर्त्तक है तबतक वह धर्म उस प्रवर्त्तकके व्यक्तित्वसे बद्ध है और इसलिये वह विश्वधर्म नहीं हो सकता। ईसाईधर्म, इस्लाम, बौद्ध और अन्य धर्म इसी प्रकारके विशेष धर्म हैं, विश्वधर्म नहीं। इन महान् धर्मसम्प्रदायोंके माननेवाले लोग मूल सिद्धान्तोंको भूलकर धर्मप्रवर्तकके व्यक्तित्वसे बद्ध हो जाते हैं और फिर अन्य किसी धर्मको नहीं मानते; इसका परिणाम होता है कलह, संघर्ष और अन्याय- जिससे कि संसारके धार्मिक इतिहासके सब पृष्ठ रँ

वेदान्तके धर्ममें किसी प्रकारकी कट्टरता वेदान्त पक्षपातरहित न्यायाधीशके समान सभी सब राष्ट्रोंके आध्यात्मिक आचार-विचारोंके बृहत् अपने-अपने स्थानमें बैठाता है। इसका अपना को न होनेसे इसके आश्रयस्थानीय वे सनातन आ नियम हैं जिन्हें सब देशों और कालोंके ऋषि निकाला है और जो संसारके विभिन्न धर्मग्रन्थोंमें व आध्यात्मिक नियम प्रकृतिके नियमोंकी तरह सर्व हैं, इसलिये सब देशोंके धर्मग्रन्थोंमें उनका व्या स्वाभाविक ही है।

इसके सिवा फिर, वेदान्तका जो लोग अध्य हैं उन्हें इस विश्वधर्ममें पूर्व और पश्चिम दोनों ओर बड़े भूतविज्ञानवेत्ताओं और तत्त्ववेत्ताओंके चरम मिलते हैं। इसमें सभी भौतिक और तात्त्विक समावेश है। वेदान्तका अचिन्त्यानन्त 'एको ब्रह्म' जो इमर्सनका 'ओवरसोल' या परमात्मा है, प्लेटो (शिव), स्पिनोजाका 'सबस्टांसिया' (सार तत्त्व) का 'परात्पर आत्मसत्ता', शोपेनहारका 'विल' (मह हर्बर्ट स्पेन्सरका अज्ञात और अज्ञेय, अर्नेस्ट हेकेलका ' (सत्), जडवादियोंका जडपदार्थ या प्रकृति और वादियोंका विश्वात्मा है। इसलिये प्रो॰ मैक्समूलरने 'वेदान्त सब दर्शनोंसे अधिक गम्भीर दर्शन है और धर्मोंकी अपेक्षा अधिक दिलासा देनेवाला है।' यह भी कथन है कि 'हमारे हेराक्लिटस, प्लेटो, हेगेलसमेत समस्त तत्त्ववेत्ताओंमें कोई भी ऐसा नहीं हुआ जिसने ऐसी मीनार खड़ी की हो जिसे या बिजलीका कोई भय न हो। जहाँ एक बार ऊप के लिये कदम रक्खा और जहाँ यह बात समझमें आ मूलमें एकके सिवा और कोई दूसरा नहीं हो सक इसलिये अन्तमें भी एकके सिवा कोई दूसरा न सकता, फिर उस एकको चाहे आत्मा कहिये या ब्र आगे पत्थरपर पत्थर रक्खा पक्का रास्ता बराबर चलेगा।' (भारतीय षड्दर्शन पृ॰ २३९) शो वेदान्तके बारेमें कहा कि, 'यह मेरे जीवनका दिल यह मेरी मृत्युका दिलासा होगा।'

मूसा, जरथुस्त्र, कनफ्यूशस, लाओजी, बुद्ध, मुहम्मद, शंकराचार्य, रामानुज, चैतन्य, नानक और कृष्ण परमहंस-जैसे विभूतिसम्पन्न महापुरुषों और अव

-जो शिक्षाएँ हैं सब वेदान्तमें अन्तर्भूत हैं। मनुष्यजातिके द्धारके लिये आगे जो आयँगे उनके लिये भी इसमें स्थान ाली है।

वेदान्तका दूसरा वैलक्षण्य यह है कि यह सबके लिये रमलक्ष्यकी प्राप्तिका एक-सा ही मार्ग नहीं बताता। बल्कि भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंकी पात्रता देखकर तदनुसार मार्ग निर्देश करता है। मनुष्यके अन्तःकरणकी प्रवृत्तियोंके चार ख्य विभाग वेदान्तने माने हैं। इनके उपविभागोंके साथ इन चार विभागोंमें सब प्रकारके मनुष्य आ जाते हैं। इनमेंसे र-एकके लिये जिस मार्गका अवलम्बन सबसे अधिक हितकर होगा, उसके लिये वेदान्तने उसी मार्गका निर्देश किया है। इन मार्गोंमेंसे प्रत्येक मार्गको योग कहते हैं।

पहला योग कर्म-योग है। यह कर्मशील मनुष्योंके लिये है, उन लोगोंके लिये है जो काम करना पसंद करते हैं और दूसरोंको मदद पहुँचानेके लिये कुछ-न-कुछ करनेको तैयार रहते हैं; तात्पर्य, काममें लगे हुए प्रत्येक स्त्री-पुरुषके लिये यह योग है। कर्मयोगसे कर्मका रहस्य मालूम होता है, यह मालूम होता है कि किस तरह हम अपने नित्यके कर्म यज्ञकर्म बना सकते हैं और इस प्रकार कैसे कर्म और केवल कर्महीके द्वारा इस जीवनमें सिद्धि लाभ कर सकते हैं। जो कर्ममय जीवन चाहते हैं उनके लिये यह सर्वथा व्यवहार्य और अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इससे उन्हें यह बोध होगा कि किस प्रकार कम-से-कम शक्तिव्ययसे अधिक-से-अधिक काम किया जा सकता है। इस देशके अधिकांश लोगोंकी मानसिक शक्तिका, उनके नित्यजीवनकी हड़बड़ीसे, व्यर्थ ही बड़ा अपव्यय होता है। इसका मुख्य कारण अवश्य ही आत्मसंयमका अभाव है। यदि कर्मका रहस्य उन्हें ज्ञात हो जाय तो वे न केवल इस अपव्ययसे बचें जिसके कारण उन्हें कितने प्रकारकी दुर्बलताएँ और बीमारियाँ आकर घेरती हैं, बल्कि अपनी आयु-वृद्धि भी करेंगे। कर्मयोगसे यह रहस्य मालूम होता है और पूर्ण आत्मवशताका रास्ता मिल जाता है।

दूसरा मार्ग भक्तियोग है। यह भावुक लोगोंके लिये है। इससे यह मालूम होता है कि किस प्रकार मनुष्यके सामान्य प्राकृत भाव अत्युत्कृष्ट आध्यात्मिक उन्मीलनके साधक हो सकते हैं और सब धर्मोंका जो चरम लक्ष्य है उसकी अनुभूति करा सकते हैं। यह भक्ति और प्रेमका मार्ग है। इससे भगवत्प्रेमका स्वरूप मालूम होता है और यह पता लगता है कि मानवप्रेम किस प्रकार भागवत प्रेमको प्राप्त होकर इह-पर-जीवनका उद्देश्य पूर्णतया सफल कर सकता है।

तीसरा राजयोग है—एकाग्रता और ध्यानका मार्ग। राजयोगका क्षेत्र बहुत व्यापक है। समस्त अन्तःकरणका क्षेत्र इसमें आ जाता है। नाना प्रकारकी आन्तरिक शक्तियाँ जैसे दूसरोंके मनोगत भावोंको जानना, दूर देशस्थित वस्तुको देखना, दूर देशका शब्द सुनना, अति सूक्ष्म इन्द्रियानुभूति, परकायाप्रवेश, मानसिक शक्तिसे रोगोंको हटाना और ऐसे अनेक कृत्य करनेकी क्षमता जिन्हें लोग चमत्कार कहते हैं, इन्हें प्राप्त करनेके उपाय इसमें बताये गये हैं। ईसा और उनके शिष्योंने जो-जो चमत्कार दिखाये और जिनका प्रयोग आज भी ईसाई वैज्ञानिक, मानस-चिकित्सक, वैश्वास-चिकित्सक, भागवत चिकित्सक और अन्य अनेक प्रकारके चिकित्सक करते हैं, ये चमत्कार हिन्दुस्थानमें योगी लोग बहुत प्राचीन कालसे दिखाते आये हैं।

राजयोग इन शक्तियोंको लेकर उनका वर्गीकरण करके उनसे एक शास्त्र निर्माण करता है। राजयोग प्राणायामशास्त्र भी सिखाता है। श्वासायामका कितना आश्चर्यजनक परिणाम मन और शरीरपर होता है यह पश्चिम मानस-चिकित्सकोंसे छिपा नहीं है। राजयोग इन सब शक्तियोंका वैज्ञानिक रीतिसे निरूपण तो करता ही है पर यह भी चेत धरा देता है कि इस प्रकारकी कोई शक्ति प्राप्त करना अध्यात्मजीवनका लक्षण नहीं है। यह बड़ी भारी शिक्षा है जो विशेष करके अमेरिकाके मानस-चिकित्सकों और ईसाई वैज्ञानिकोंको हिन्दुस्थानके योगियोंसे ग्रहण करनी होगी। जब कोई मानसिक शक्ति अपने अन्दर आयी हुई अनुभूत होती है तब छोटे दिमाग और दुर्बल हृदयवाले साधक विमोहित होकर आध्यात्मिक पथसे विचलित हो जाते हैं और यह समझने लगते हैं कि हम तो आध्यात्मिक ज्ञानके शिखरपर पहुँच गये, क्योंकि हममें सिरदर्द या हृदयवेदनाको दूर करनेकी शक्ति आ गयी। परन्तु राजयोगकी यह शिक्षा है कि अन्तःशक्तियोंका इस प्रकार प्रयोग करना या उन प्रयोगोंसे अपनी जीविका चलाना आध्यात्मिक प्रगतिमें महान् प्रत्यवाय है। राजयोगका लक्ष्य जिज्ञासुको एकाग्रता और ध्यानके द्वारा उस परम बोधकी अवस्थामें ले जाना है जहाँ जीवको विश्वात्माका साक्षात्कार और सच्चिदानन्दस्थितिका अनुभव होता है।

ज्ञानयोग चौथा मार्ग है। यथावत् ज्ञान और विवेकका यह मार्ग है। यह उन लोगोंके लिये है जो बुद्धिमान् हैं, विवेकी हैं और जिनके स्वभावमें तत्त्वजिज्ञासा है।

इस प्रकार संक्षेपमें हम यह देख सकते हैं कि वेदान्तका क्षेत्र कितना व्यापक है। वेदान्तमें जीवकी गतिसम्बन्धी मूल सिद्धान्तोंका निरूपण भी होता है, यह निरूपित किया जाता है कि जीव मृत्युके पश्चात् किस प्रकार और किस अवस्थामें रहता है, किस कोटिके जीव वहाँसे फिर हमलोगोंके साथ भी सम्बन्ध रख सकते हैं, और फिर उनका क्या होता है, किस प्रकार अन्नमय कोषमें बद्ध जीव कर्मविपाकसे इस पृथ्वीपर मनुष्ययोनिमें पुनः-पुनः आते हैं। वेदान्त जीवके अनन्त जीवनका शास्त्र निरूपित करता है और सनातनसे ही करता आया है।

वेदान्तधर्म आत्मानुभवके मार्गमें आध्यात्मिक बोधकी वृद्धि और विकासका सिद्धान्त मानता है। जैसे हमारे इस अन्नमय शरीरमें कौमार-यौवन-प्रौढ़ अवस्थाएँ हैं वैसे ही आध्यात्मिक जीवनकी कौमार-यौवन-प्रौढ़ अवस्थाएँ हैं। आध्यात्मिक कौमार अवस्थासे आध्यात्मिक यौवनावस्था और आध्यात्मिक यौवनावस्थासे आध्यात्मिक प्रौढ़ावस्था और अन्तमें परमात्माकी अपरोक्षानुभूतिकी अवस्था प्राप्त होती है। आध्यात्मिक कौमार अवस्था पूर्वपुरुषपूजनसे आरम्भ होती है और विश्वके परे रहनेवाले सगुण ईश्वरकी भावनामें उसका अन्त होता है। प्रकृतिपुरुषभेदवादी या एकेश्वरवादी सभी धर्मसम्प्रदाय इस आध्यात्मिक कौमार अवस्थामें ही रह जाते हैं और अपने माननेवालोंको यह विश्वास दिलाते हैं कि यही सबसे श्रेष्ठ अवस्था है, इसके आगे और कुछ भी नहीं है।

आध्यात्मिक यौवन वहाँ आरम्भ हुआ समझना चाहिये जहाँ परम तत्त्वके जिज्ञासु यह अनुभव करते हैं कि ईश्वर प्रकृतिके बाहर नहीं है, प्रकृतिके भीतर है और वह हमारे अन्दर भी रहता है; वह विश्वके परे नहीं बल्कि विश्वके अन्दर है, प्रकृतिमें वही अन्तःस्थित है। जैसे हमारे शरीरमें जीव इस शरीरका अन्तर्यामी प्रभु है वैसे ही इस विश्वका जीव इस विश्वका अन्तःस्थित प्रभु है। वह विश्वका शासन करता है, बाहर रहकर नहीं बल्कि अन्दर रहकर। वह स्रष्टा है, ऐसा स्रष्टा नहीं जो प्रकृतिके बाहर किसी स्वर्गमें बैठा-बैठा शून्यसे जगत् सर्जन करता हो, बल्कि वह इस प्रकृतिमें अपना आत्मतत्त्व डालकर सृष्टि करता या प्रकृतिका विकास करता है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

(गीता १४।३)

विश्वप्रकृति परमात्माका शरीर है। वही इस निमित्तोपादानकारण है, और इसलिये वह न केव है बल्कि पिता-माता दोनों एक साथ है। जीव प्रचण्ड अग्निके स्फुलिंगरूप अंशके समान, उसीके

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः

(गीता

हमारे जीवस्वरूप स्वभावसे ही अमर हैं।

इस अवस्थासे फिर क्रमशः आध्यात्मिक प्रौढ़ता होती है। इस प्रौढ़तामें जगत् या सृष्टिका विचार रहता, दृश्य जगत्से ऊपर उठकर अभेद्य एकत्वका यहाँ होता है; यहाँ अपना स्वरूप स्फुलिंगवत् नहीं होता, ईश्वरका सामीप्य और ईश्वरके साथ सायुज्य होता है। इसी स्थितिमें आकर ही कोई कह सकता 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ)। इस प्रकार आध्य जीवनकी प्रौढ़ताको प्राप्त होकर पूर्ण निरपेक्ष अद्वैत होती है।

वेदान्तधर्म यथार्थमें अति उदार और सब दृष्टिसे देखनेवाला धर्म है। किसी प्रकारके उपासन इसका विरोध नहीं। विविध द्वैतवादी सम्प्रदायों प्रकारके विधि-विधान और उपासन 'ब्रह्मैवाह अनुभूतिरूप परमपदावाप्तिके साधनमात्र हैं। वेदान्त अपने अन्दर इन सबका तथा संसारके सब सम्प्रदायोंका समावेश करता है। प्रो० मैक्समूल खूब कहते हैं कि 'व्यवहारतः वेदान्ती समस्त और बाह्य नामरूपात्मक जगत्को सत्य ही मानते उतना ही सत्य है जितना कोई भी सामान्य मनुष्य मानता हो, बौद्धोंकी समझमें जो शून्य है सो यहाँ नहीं है। और इस प्रकार वेदान्त प्रत्येक मनुष्यको वा रूपसे उपयोगी होनेका विस्तृत क्षेत्र प्रदान करता है उसे एक ऐसे नियममें नियत करता है कि जो इतना कड़ा और अवश्य पालनीय है जितनी इस मू जीवनमें और कोई बात हो सकती हो। वेदान्त पूजनेको ऐसा देव देता है जो किसी भी अन्य देवताओंसे कम शक्तिशाली और ऐश्वर्यसम्पन्न नहीं इसमें प्रत्येक धर्मके लिये स्थान है, सब धर्मोंके लिये बाँहें फैली हैं।'

वेदान्तसाधन और उसका फल

(लेखक—स्वामी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती)

चारों वेदोंमें एक लाख मन्त्र हैं, जिसमें कर्मकाण्डके ८० हजार, उपासना या भक्तिकाण्डके १६ हजार और ज्ञानकाण्डके ४ हजार मन्त्र हैं । इसी ज्ञानकाण्डको वेदान्त कहते हैं । वेदका अन्तिम भाग जो उपनिषद् कहलाता है, वही वेदान्त है । वेदके तीनों काण्डोंका पृथक-पृथक् फल इस प्रकार कहा गया है—

कर्माणि चित्तशुद्ध्यर्थमैकाग्र्यार्थमुपासना ।
मोक्षार्थं ब्रह्मविज्ञानमिति वेदान्तनिश्चयः ॥
चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित्कर्मकोटिभिः ॥

अर्थात् वेदोक्त शुभ कर्मोंको करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, परमात्माकी भक्ति करनेसे चित्त एकाग्र होता है और ब्रह्मका दृढ़ ज्ञान होनेसे मोक्ष प्राप्त होता है । कर्म चित्तकी शुद्धि करता है, शुद्ध चित्तमें विचारके द्वारा ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है और ब्रह्मज्ञानसे मोक्ष होता है । वेदान्तका अधिकारी वही साधक है जो नित्यानित्यविवेक, इहामुत्रफलविराग, षट्सम्पत्तिसम्पन्न और मुमुक्षुत्व इन चार गुणोंसे युक्त हो । अगर उसमें इन गुणोंका अभाव है तो वह वेदान्तका अधिकारी ही नहीं । अधिक-से-अधिक वह वाग्मी शुष्क वेदान्ती हो सकता है । भगवान् श्रीकृष्णने भागवतमें तीनों काण्डोंके पृथक्-पृथक् अधिकारी इस प्रकार बतलाये हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ।

अर्थात् जीवोंके कल्याणके लिये श्रीकृष्ण भगवान्ने तीन उपाय भागवतमें बतलाये हैं—कर्म, भक्ति और ज्ञान । जो लोग अत्यन्त विरक्त हैं, वे ज्ञानकाण्डके अधिकारी हैं, जो मायामें अत्यन्त लिप्त हैं, वे कर्मकाण्डके अधिकारी हैं और जो न अधिक विरक्त ही हैं और न आसक्त ही हैं, जो बीचके लोग हैं, वे भक्तिकाण्डके अधिकारी हैं ।

पारमार्थिक सत्ता, व्यावहारिक सत्ता और प्रातिभासिक सत्ता—इस प्रकार तीन तरहकी सत्ता है । पारमार्थिक सत्तामें केवल एक ब्रह्म है, दूसरी सब वस्तुओंका अभाव है, वह मन-वाणीसे अगोचर है, बन्ध-मोक्षसे परे है । ब्रह्मसे जब स्पन्दशक्तिका आविर्भाव होता है तब व्यावहारिक सत्ता और प्रातिभासिक सत्ताका उदय होता है, जिनमें व्यावहारिक सत्ता तो जाग्रत अवस्थाकी है और प्रातिभासिक सत्ता स्वप्नकी है । ब्रह्ममें स्पन्द होते ही व्यवहारसत्तामें ब्रह्म, ईश्वर, जीव, तीनोंके परस्पर भेद, अविद्या और अविद्याका जीवके साथ सम्बन्ध—ये छः पदार्थ उत्पन्न हुए, जो सब अनादि हैं । इनमें पाँच तो अनादि-सान्त हैं और एक ब्रह्म अनादि-अनन्त है । जीव और ब्रह्ममें स्वरूपतः अभेद है, परन्तु उपाधिकृत भेद है । कहा भी है—

'अविद्योपाधिको जीवो मायोपाधिक ईश्वरः ।'
'मायाविद्यारहितं ब्रह्म ।'

अर्थात् जो चेतन अविद्या उपाधिवाला है, वह तो जीव है और जो चेतन मायाकी उपाधिवाला है, वह ईश्वर है । माया और अविद्या इन दोनों उपाधियोंसे रहित जो चेतन है, उसको ब्रह्म कहते हैं ।

पुनः कहा है—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥

अर्थात् करोड़ों ग्रन्थोंका सार यही है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, स्वरूपतः ब्रह्म और जीवमें अभेद है, भेद उपाधिकृत है । 'उपाधिविलयाद् विष्णुः' उपाधिका नाश होनेपर जीव विष्णु हो जाता है । इस उपाधिका नाश कैसे हो ?

उपाधि-नाशका साधन

अस्ति भाति प्रिय सिंधुमें, नाम रूप जंजाल ।
मति न लखे जोह मति लखे, सो मैं दीनदयाल ॥

वेदान्तमें अस्ति, भाति और प्रिय ये तीन ब्रह्मके रूप कहे गये हैं और मायाके अंश नाम-रूप बन्धनके कारण बताये गये हैं । मुण्डकोपनिषद्में भी इसी तरह नाम-रूपको मृगजल समझकर मनसे इनका त्याग करनेका आदेश दिया गया है । यथा—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।

तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

अर्थात् जिस तरह बहती हुई नदी समुद्रसे मिलकर अपने नाम-रूपका त्याग कर देती है, उसी तरह विद्वानोंको नाम-रूप-दृश्यका त्याग करके ब्रह्मपदको प्राप्त कर लेना चाहिये ।

तुलसीदासजी भी कहते हैं—

छोरन ग्रंथि पाव जौ सोई । तौ यह जीव कृतारथ होई ॥

एक स्थलपर कहा गया है—

मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति
त्यजातिदूराद्विषयान् विषं यथा ।
पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जव-
प्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात् ॥
मोक्षस्य हेतुः प्रथमो निगद्यते
वैराग्यमत्यन्तमनित्यवस्तुषु ।
ततः शमश्चापि दमस्तितिक्षा
न्यासः प्रसक्ताखिलकर्मणां भृशम् ॥

अर्थात् यदि आपको मोक्षकी इच्छा है तो विषयोंको विषके समान समझकर छोड़ दीजिये और अमृतके तुल्य जो सन्तोष, दया, आर्जव, शम, दम इत्यादि गुण हैं, इनको आदरके साथ ग्रहण कीजिये । मोक्षका प्रधान साधन दृश्यरूपी अनित्य वस्तुओंसे वैराग्य करना ही है । कहा है—

अकृत्वा दृश्यविलयमज्ञात्वा तत्त्वमात्मनः ।
बाह्यशब्दैः कुतो मुक्तिरुक्तिमात्रफलैर्नृणाम् ॥
अकृत्वा शत्रुसंहारमगत्वाखिलभूश्रियम् ।
राजाहमिति शब्दान्नो राजा भवितुमर्हति ॥

अर्थात् जबतक ज्ञानद्वारा दृश्यका अत्यन्त अभाव नहीं किया जाता और ब्रह्मका ज्ञान करामलकवत् नहीं हो जाता तबतक शब्दज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती । जिसने अपने शत्रुओंका संहार नहीं किया, सारी पृथ्वीको जीत नहीं लिया, वह केवल 'मैं राजा हूँ, मैं राजा हूँ,' ऐसा कहनेसे ही राजा नहीं हो सकता । इसी तरह चारों प्रकारके साधनोंसे सम्पन्न हुए बिना केवल ब्रह्मज्ञानकी बातें करनेसे मुक्ति नहीं हो सकती । साधनसम्पन्न मनुष्य ही मुक्तिका अधिकारी है । पाँचों ज्ञानेन्द्रिय और छठाँ मन, ये जीवात्माके शत्रु हैं । इनको जब मनुष्य जीत लेता है, तब ये मित्र बन जाते हैं । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर ये हैं, इनको नष्ट करना चाहिये । कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्
लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम्
एतज्ज्ञानं च मोक्षं च शेषास्तु ग्रन्थविस्तराः
एक एव मनोदेवो ज्ञेयः सर्वार्थसिद्धिदः
अन्यत्र विफलाः क्लेशा सर्वेषां तज्जयं विना
विद्यमानं मनो यावत्तावद्दुःखक्षयः कुतः

अर्थात् जो मन विषयोंमें आसक्त है वही बन्ध और जो मन विषयोंकी वासनासे रहित है वही मु मनको लय-विक्षेपसे रहित करो, यही ज्ञान और यही है, अन्य बातें तो ग्रन्थोंका विस्तार ही हैं । मनको करना ही परमपद प्राप्त करना है ।

अधिष्ठान ब्रह्म संसारका एक साथ ही उपादान निमित्तकारण है अर्थात् यह जगत् चेतनका विवर्त अविद्यारूपी मनका परिणाम है ।

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति-
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥

परमात्माकी अव्यक्त नामवाली जो अविद्या त्रिगुणात्मिका शक्ति है, वही इस दृश्य जगत्को उत्पन्न है । अघटनघटनापटीयसी होनेके कारण इसको माय कहते हैं । अविद्याका कार्य मन है; अतएव मनके होनेपर जगत्का भी उदय होता है और मनका लय हों जगत्का भी लय हो जाता है । श्रीशंकराचार्य भी यही हैं—

न ह्यस्त्यविद्या मनसोऽतिरिक्ता
मनो ह्यविद्या भवबन्धहेतुः ।
तस्मिन् विनष्टे सकलं विनष्टं
विजृम्भितेऽस्मिन् सकलं विजृम्भते ॥
सुषुप्तिकाले मनसि प्रलीने
नैवास्ति किञ्चित्सकलप्रसिद्धेः ।
अतो मनःकल्पित एव पुंसः
संसार एतस्य न वस्तुतोऽस्ति ॥

मनके अतिरिक्त अन्य कोई चीज अविद्या नहीं मन ही अविद्या है । मनके नष्ट होनेपर सब जगत् नष्ट

जाता है और मनके सङ्कल्पसे सारा जगत् उत्पन्न होता है, जैसे सुषुप्तिसे स्वप्न उत्पन्न होता है। यह बात प्रसिद्ध है कि सुषुप्तिमें मनका लय होनेपर जगत्का अत्यन्त अभाव हो जाता है। मनके सङ्कल्पके सिवा जगत्का कोई दूसरा रूप नहीं है। इस अटल अचूक सिद्धान्तकी पुष्टि विज्ञान और अनुभव दोनोंसे होती है। आयर्लैंण्डके प्रसिद्ध दार्शनिक जार्ज वर्कलेका कहना है कि जितना जगत् हमको बाहर दीख रहा है, वह हमारे मनके अंदर है न कि बाहर। जैसे स्वप्नके पदार्थ हमें बाहर प्रतीत होते हैं, परन्तु हैं वे मनके अंदर ही, वैसे ही जाग्रदवस्थाके भी सब पदार्थ हमारे मनके अंदर हैं। इसीको वेदान्तमें दृष्टिसृष्टिवाद कहते हैं। यह वेदान्तके अद्वैतवादके सिद्धान्तोंमें सर्वोत्तम है। तुलसीदासजी और एकनाथजी भी यही कहते हैं। यथा—

रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानु करि बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल महँ, भ्रम न सकै कोउ टारि॥
जळीं प्रतिबिंब साचनसे जो पाहे तो बिंबला दीसे।
मिथ्या प्रपंचाचें रूप तैसें निज कल्पना वशें भासत॥

अर्थात् जलके अंदर प्रतिविम्ब नहीं है, परन्तु जो देखता है उसे भासता है। इसी तरह अपनी ही कल्पनासे यह मिथ्या जगत् भासता है।

सङ्कल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं
सङ्कल्पमात्रकलनैव मनोविलासः।
सङ्कल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
रूपेण निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम्॥

योगवासिष्ठमें वसिष्ठजी भगवान् श्रीरामसे कहते हैं कि हे प्रियवर राम! यह सब जगत् संकल्पमात्र है, मनका विलास है, संकल्पको छोड़कर निर्विकल्परूप शान्तिको प्राप्त करो। मनरूपी रोगकी ओषधि शङ्कराचार्यजी और विद्यारण्यजी इस प्रकार बतलाते हैं—

एकान्तस्थितिरिन्द्रियोपरमणे हेतुर्दमश्चेतसः
संरोधे करणं शमेन विलयं यायादहंवासना।
तेनानन्दरसानुभूतिरचला ब्राह्मी स्थितिर्योगिनः
तस्माच्चित्तनिरोध एव सततं कार्यः प्रयत्नान्मुने॥

स्वात्मन्येव सदा स्थित्वा मनो नश्यति योगिनः।
वासनानां क्षयश्चातः स्वाध्यासापनयं कुरु॥

अर्थात् एकान्तमें रहनेपर पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ दृश्यसे उपराम हो जाती हैं, उसीको दम नामकी सिद्धि कहते हैं। मनकी सब वासनाओंको मिटा देनेसे शम नामकी सिद्धि प्राप्त होती है। बादलके हट जानेपर जैसे सूर्य प्रत्यक्ष दीखने लगता है, वैसे ही वृत्तियोंका पूर्ण निरोध होनेपर ब्रह्मानन्दका अनुभव होता है। इसलिये मुमुक्षुओंको प्रयत्न करके वृत्तियोंका निरोध करना चाहिये। हमेशा अपने आत्मामें स्थित रहनेसे मनका नाश हो जाता है, मनका नाश होनेसे वासनाएँ भी क्षीण हो जाती हैं और आत्मामें जो आत्माभिमान रहता है, वह भी नष्ट हो जाता है। कहा है—

पाण्डित्येन विदित्वाथच्छित्त्वा बाल्येन संशयम्।
मुनिर्ध्यानसमाधिभ्यां भवेद् धीवृत्तिशान्तये॥
प्रशान्तवृत्तिके चित्ते परमानन्ददीपके।
कृतकृत्यो ब्रह्मभावं गतो ब्राह्मण उच्यते॥

'पहले विद्याके बलसे ब्रह्मको जानो, फिर बालक जिस तरह संशयरहित होता है, उस तरह तुम भी संशयरहित बन जाओ, फिर ध्यान-समाधिमें पक्के होकर मुनि-भावको प्राप्त हो जाओ। वृत्तियोंका पूर्ण निरोध हो जानेपर ब्रह्मानन्द प्राप्त होगा और तुम कृतकृत्य होकर ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाओगे।'

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः।
कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।
न हृष्यामि न कुप्यामि स्वात्मन्येव स्थितः सदा।

इन सब श्लोकोंका तात्पर्य यह है कि सत्यस्वरूप ब्रह्म जो अपना ही रूप है, उसमें अन्तर्मुखी होकर स्थित होना चाहिये।

बन्ध-मोक्षकी व्याख्या

बन्ध और मोक्षका यथार्थ स्वरूप क्या है? कहा है—

द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताङ्ग बन्ध इत्यभिधीयते।
द्रष्टा दृश्यवशाद् बद्धो दृश्याभावे विमुच्यते॥
ज्ञानस्य ज्ञेयतापत्तिर्बन्ध इत्यभिधीयते।
तस्यैव ज्ञेयताशान्तिर्मोक्ष इत्यभिधीयते॥

अर्थात् द्रष्टारूपी जीव दृश्यको सत्य माननेके कारण बद्ध है; ज्ञानद्वारा दृश्यका अत्यन्त अभाव होनेपर मोक्ष प्राप्त होता है। ज्ञानस्वरूप जो द्रष्टा है, उसका दृश्याकार

होना ही बन्धनमें पड़ना है। ज्ञानद्वारा उस दृश्याकारके अभावका अनुभव होना मोक्ष है। यद्यपि बन्ध-मोक्ष, सुख-दुःख बुद्धिके धर्म हैं, परन्तु आत्मस्वरूपका ज्ञान न होनेके कारण चेतन उन्हें अपनेमें मान लेता है। वास्तवमें आत्मा तो नित्यमुक्त है। श्रीशङ्कराचार्यजी कहते हैं—

रागेच्छासुखदुःखादि बुद्धौ सत्यां प्रवर्तते ।
सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे तस्माद् बुद्धेस्तु नात्मनः ॥
शुद्धो मुक्तः सदैवात्मा नैव बध्येत कर्हिचित् ।
बन्धमोक्षौ मनस्संस्थौ तस्मिन् शान्ते प्रशाम्यतः ॥

अर्थात् सुख-दुःख, वासना, धर्म-अधर्म सब मनके धर्म हैं, आत्माके नहीं। बन्ध-मोक्ष ये सब मनके धर्म हैं; मनका अभाव होनेपर बन्ध-मोक्षका भी अभाव हो जाता है।

फल

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति, तरति शोकमात्मवित्, देवं सर्वपाशापहानिः, तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति पन्था विद्यतेऽयनाय, ब्रह्मविदाप्नोति परम्, ऋते न मुक्तिः, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ।

धर्माधर्मौ सुखं दुःखं मानसानि न ते विभो
न कर्तासि न भोक्तासि मुक्त एवासि सर्वदा।

अर्थात् धर्म, अधर्म, सुख, दुःख, कर्त्ता, भोक्ता मनके धर्म हैं, व्यापक चेतन आत्मा तो नित्यमु व्यापकमें क्रिया नहीं होती।

वेदान्त-विद्याका स्वरूप और माहात्म्य

(लेखक—श्रीतपोवनस्वामीजी महाराज)

यह सभीको विदित है कि वेदान्तका, जिसका दूसरा नाम उपनिषद् है, प्रतिपाद्य विषय 'एक अद्वितीय जरा-मरण-शून्य परब्रह्म' है। हम यहाँ वेदान्त-वचनोंका उदाहरण देकर पहले इस बातका विचार करेंगे कि वह ब्रह्म कैसा है और वेदान्तमें किस लक्षणसे युक्त ब्रह्मका प्रतिपादन किया जाता है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्तिरीय०)

'ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है।'

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृहदारण्यक०)

'ब्रह्म विज्ञान एवं आनन्दरूप है।'

—इत्यादि प्रौढ़ तथा सारगर्भित वचन यह स्पष्ट बतलाते हैं कि वह परब्रह्म सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। तथा—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्…………… ॥

(कठ०)

'ब्रह्म शब्द, स्पर्श और रूपसे रहित, अक्षय, अरस, नित्य और गन्ध आदिसे शून्य है, वह आदि-अन्त (कारण-कार्य) से रहित तथा बुद्धि नामक महत्तत्त्वसे पर एवं ध्रुव (क्रियारहित) है।'

'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितम्' (बृहदा

'वह स्थूल, सूक्ष्म, ह्रस्व, दीर्घ या लोहित नहीं

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि………………।

'यच्चक्षुषा न पश्यति' 'यच्छ्रोत्रेण न शृणोति' (

'जो मनसे नहीं मनन करता अपितु जिसके मनको ही मनन किया हुआ कहते हैं, उसीको समझ।' 'जो आँखसे नहीं देखता' 'जो कानसे नहीं सु

—इत्यादि, ऐसे ही अनेकों वचनोंसे यही ज्ञात है कि वह वेदान्तवेद्य सच्चिदानन्दघन ब्रह्म शब्द, स्पर्श, रस और गन्धादिसे शून्य, स्थूलता, सूक्ष्मता, ह्रस्वता दीर्घता आदि विशेषताओंसे रहित, निर्गुण, निर्वि निराकार, मन-वाणीका अविषय तथा नेत्र आदि इन्द्रि अतीत है। यद्यपि वेदान्तमें सविशेष ब्रह्मके बोधक भी बहुत-से सुने जाते हैं तथापि उनमें वेदान्तका तात्पर्य नहीं है, इसलिये पूर्वोक्त वचनोंके अनुसार पारमार्थिक रूप निर्विशेष ही है—यह अन्तिम निर्णय हु 'यद्यत्सविशेषं तत्तद्घटादिवद् विनाशि' (जो-जो स वस्तु है वह-वह घटादिके समान नाशशील है), यह भी विशेषणोंका बाध करनेवाली पूर्वोक्त श्रुतियोंकी करता है। ऐसी स्थितिमें जो लोग ऐसा कहते हैं 'सविशेष ब्रह्ममें ही वेदान्तका समन्वय है' उनका

कथन चरम सिद्धान्त नहीं है, इसलिये उन लोगोंका अनुसरण नहीं करना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त जो लोग उपर्युक्त सच्चित्स्वरूप ब्रह्मसे भिन्न अन्य जीव तथा प्रकृति आदिका होना मानते हैं तथा वेदान्तको प्रमाणभूत बतलाते हुए भी 'परम तत्त्व द्वैतविशिष्ट या द्वैतसहित है अर्थात् ब्रह्म सद्वैत है, अद्वैत (द्वैतरहित) नहीं—ऐसा स्वीकार करते हैं, उनके मतका आधार न तो युक्ति है और न वेदान्तका वचन ही है । यदि ब्रह्मसे अतिरिक्त उसके समान ही सत्तावाली जीव या प्रकृति नामक कोई दूसरी वस्तु मानी जाय तो उससे ब्रह्म परिच्छिन्न हो जाता है । कैसे ? देखिये—अश्वसे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाली वस्तु भैंस है, अतः भैंसकी प्रतीति अश्वकी प्रतीतिका अन्त है । अभिप्राय यह कि अश्वत्व (अश्वका धर्म) भैंसमें नहीं है, इसलिये भैंससे अश्व परिच्छिन्न हो जाता है । इसी प्रकार भैंससे अलग अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाला अश्व है, इसलिये अश्वकी प्रतीति भैंसकी प्रतीतिका अन्त है, अर्थात् महिषत्व (भैंसका धर्म) अश्वमें नहीं है, अतः भैंस अश्वसे परिच्छिन्न हो जाती है । इस प्रकार अश्व और भैंस एक दूसरेसे परिच्छिन्न हैं, जो-जो दूसरेसे परिच्छिन्न होते हैं वे-वे अश्व और घट आदिके समान नाशवान् होते हैं—यह व्याप्ति लोकमें अत्यन्त प्रसिद्ध है । अतः इस व्याप्तिके अनुसार स्वतन्त्र सत्तावाले इतर जीव आदिसे परिच्छिन्न होनेके कारण परब्रह्म भी अवश्य ही नष्ट हो जाने योग्य है—इस प्रकार महान् दोषकी प्राप्ति होती है । अतएव पूर्वमें उद्धृत किये हुए वेदान्तवचनोंमें देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेदका वारण करनेके लिये ब्रह्मका 'अनन्तम्' (अन्तरहित है) यह विशेषण सुना जाता है, अन्य वचनोंमें भी अनेकों जगह 'अनन्त' इस विशेषणका श्रवण होता है । भाव यह कि ब्रह्ममें केवल देश-कालकृत परिच्छेदका ही अभाव नहीं है, वस्तुकृत परिच्छेदका भी अभाव है—यह अनन्त शब्दका तात्पर्य है । केवल 'अनन्त' शब्दके प्रयोगसे ही नहीं, अन्य अनेकों न्याययुक्त वेदान्त-वचनोंसे भी यह निर्णय किया जा सकता है कि निर्विशेष सच्चिदानन्दघन वेदान्तवेद्य परब्रह्म अद्वितीय है, द्वैतसे रहित है, एकमात्र है, अवयवशून्य है और सजातीय-विजातीय आदि भेदोंकी गन्धसे वर्जित है ।

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ।' (ऐतरेय०)

'यह सारा प्रपञ्च पहले एकमात्र आत्मस्वरूप ही था ।'

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।' (छान्दोग्य०)

'हे सोम्य ! यह नामरूपात्मक जगत् सृष्टिके पहले सत् शब्दवाच्य अव्याकृत ब्रह्मरूप ही था । वह ब्रह्म एकमात्र अद्वितीय है अर्थात् सजातीय, स्वगत और विजातीय भेदोंसे रहित है ।'

'आत्मैवेदं सर्वम् ।' (छान्दोग्य०)

'यह सब कुछ आत्मा ही है ।'

'ब्रह्मैवेदं विश्वम् ।' (मुण्डक०)

'यह विश्व ब्रह्म ही है ।'

'इदं सर्वं यदयमात्मा ।' (बृहदारण्यक०)

'यह सब जो कुछ है, आत्मा ही है ।'

'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् ।' (बृहदारण्यक०)

'वह यह ब्रह्म कारण-कार्यसे रहित और अन्तर-बाह्य-भेदसे शून्य है ।'

—इत्यादि श्रुतियाँ इस बातका स्पष्टतया उपदेश करती हैं कि ब्रह्मसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है, तथा ब्रह्ममें सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदोंका लेशमात्र भी नहीं है ।

इस प्रकार निर्विशेष निराकार एक अद्वितीय अद्वैत आनन्दघन परब्रह्मका ही वेदान्त एक स्वरसे सिद्धान्ततः प्रतिपादन करता है । ऐसे ब्रह्मकी विद्या ही वेदान्तविद्या है । वेदान्तविद्या और ब्रह्मविद्या—दोनों समानार्थक (पर्याय) हैं । ब्रह्मकी विद्या अर्थात् ज्ञान ब्रह्मविद्या है । यहाँ ज्ञान ज्ञेयाकार वृत्ति है । इसलिये ब्रह्माकार मनोवृत्ति ही ब्रह्मविद्या है—यह फलित अर्थ हुआ । ब्रह्माकार मनोवृत्ति कैसे और कहाँ उत्पन्न होती है ? सुनिये—

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः ।' (श्वेताश्वतर०)

'एक ही देव सभी प्राणियोंके भीतर छिपा हुआ है ।'

'तत्त्वमसि ।' (छान्दोग्य०)

'वह ब्रह्म तू ही है ।'

—इत्यादि श्रुतियों और अनेकों युक्तियोंसे यह निःशङ्क होकर कहा जा सकता है कि एकमात्र अद्वितीय चेतन ब्रह्म सम्पूर्ण शरीरोंमें आत्मारूपसे वर्तमान है और यह जीवात्मा ही ब्रह्म है । इसलिये अपने हृदयपुण्डरीकके मध्यमें विराजमान आत्मदेवका अनुभव अर्थात् अपने अन्तःकरणमें उत्पन्न हुई संशयादिरहित आत्मविद्या ही ब्रह्मविद्या है ।

वेदान्तवेद्य परब्रह्मका हृदयके अतिरिक्त कहीं अन्यत्र नहीं अन्वेषण करना है ।

ऐसी वेदान्तविद्याके माहात्म्यकी न तो दूसरेसे समता हो सकती है और न दूसरा इससे बढ़कर ही हो सकता है—यह समस्त वेदान्तकी एक कण्ठसे गर्जना है ।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन । (मुण्डक०)

'कर्मद्वारा प्राप्त हुए लोकोंकी परीक्षा कर ब्राह्मण निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त हो जाय क्योंकि इस संसारमें अकृत (नित्यपदार्थ) नहीं है और कृतसे हमें प्रयोजन क्या है ?'

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति । (बृहदारण्यक०)

'जितेन्द्रिय, शान्तचित्त, निरीह, सहिष्णु एवं आत्मनिष्ठ होकर अपने शरीरमें ही वह साक्षी आत्माका दर्शन करता है ।'

'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या ।' (कठ०)

'तीव्र बुद्धिसे आत्माका साक्षात्कार होता है ।'

—इत्यादि वचनोंसे यह निर्णय होता है कि जिस पुरुषमें इहलौकिक और पारलौकिक विषयसे विराग, शम, दम, उपरति, तितिक्षा (सहनशीलता), समाधि और चित्तकी एकाग्रता आदि दैवी सम्पत्तिके गुण हैं उसीका वेदान्त-विद्याके अभ्यासमें अधिकार है; क्योंकि वेदान्त आदि दर्शन केवल बुद्धिविनोद या बुद्धिविकासके ही लिये नहीं अपितु उसमें अपना जीवन समर्पण करके उसका अनुष्ठान करनेके लिये हैं, जैसा कि किसी पाश्चात्त्य और प्राच्य दर्शनके धुरन्धर विद्वान् आधुनिक विचारकने कहा है—

"Philosophy is not an intellectual pursuit, but a dedicated life."

तथा च—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । (बृहदारण्यक०)

'अरे ! आत्माका ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये ।'

—इस विधि-वाक्यके अनुसार वैराग्य आदि साधनोंसे सम्पन्न पुरुषको ही श्रवणादिरूप विचारसे विद्याकी प्राप्ति हो सकती है; अतः वैराग्यभाव और विक्षेपरहित एकाग्रवृत्तिसे साधनावस्थामें ही वेदान्तविद्या महान् दुःखकी निवृत्ति तथा बहुत बड़े सुखका आविर्भाव कर देती है,

इसकी अद्भुत महिमा है ।

जब वेदान्तविद्या उत्पन्न होकर निरन्तरके अ परिपक्व हो जाती है उस समय अविद्या, असित और द्वेष आदि दुःखके हेतुओंका सर्वथा नाश हो दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है और सर्वदा स्थिति रहनेके कारण निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति हो अतः इसके माहात्म्यका गौरव कहाँतक बताया जा सक

'को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशा

'किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्' (बृहदार

'तरति शोकं तरति पाप्मानम्' (मु

'तरति शोकमात्मवित्' (छान्दो

'सब भूतोंमें एकात्मत्वका दर्शन करनेवाले वि क्या शोक और क्या मोह हो सकता है ?' [यदि अपनेको परमात्मा जान लिया तो] वह किस अभि किस फलके लिये शरीरके दुःखसे दुःखी होगा' 'वह और पापको पार कर जाता है' 'आत्मवेत्ता शोकको जाता है'

—इत्यादि श्रुतियाँ अन्तरात्मासे अभिन्न साक्षात् ब्रह्मका अनुभव करनेवाले विद्वान्के शोक-मोहरूप सं समूल विनाश बतलाती हैं । यह विद्या केवल इहलो ही तीनों तापोंका नहीं अपितु समस्त पारलौकिक दुः ध्वंस कर देती है ।

एतँ ह वाव न तपति किमहं साधु नाक किमहं पापमकरवमिति (तैत्तिरी

'इस विद्वान्को—मैंने क्यों पुण्य कर्म नहीं कि क्यों पाप किया ? इस प्रकारकी चिन्ता कष्ट नहीं पहुँचा

तात्पर्य यह कि मैंने पुण्यकर्म तो बिल्कुल नहीं कि परन्तु पाप बहुत-सा कर डाला—इस प्रकार पुण्य- कारण होनेवाली पारलौकिक चिन्ता वेदान्त-विद्याके जा वाले पुरुषको व्याकुल नहीं करती । इसी प्रकार ऐहलौकि दैहिक और मानसिक दुःख तथा शुभाशुभ कर्मकी चि रूप पारलौकिक दुःख एवं इन दोनोंके बीजभूत अज्ञा यह विद्या तत्काल नष्ट कर देती है, इसलिये यह सैकड़ों श्लाघनीय और अनुपम है । इसके अतिरिक्त यह वि आनन्दकी चरम सीमाको पहुँचाती है–ऐसी भी वेदा गर्जना है ।

'रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तैत्तिरीय०)

'रस (स्वरूप ब्रह्म) को ही प्राप्त कर यह जीव आनन्दित होता है।' ब्रह्मविद्यासे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, नित्य-निरन्तर निरतिशय आनन्दस्वरूप ब्रह्ममें तादात्म्य-भावसे स्थित होना ही ब्रह्मकी प्राप्ति कहलाता है। इसलिये विद्वान् सदा ही आनन्दरूपसे विराजमान होता है—इस प्रकार यह भी वेदान्तविद्याकी ही महिमा है।

एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।
(बृहदारण्यक०)

इस श्रुतिके अनुसार वेदान्तविद्यासे उत्पन्न होनेवाले महान् आत्मानन्दका स्वल्पतम अंश ही विषयानन्द है, इसलिये वैसी वेदान्तविद्यासे सम्पन्न पुरुषके लिये विषयानन्द या उसका साधनभूत विषय वाञ्छनीय नहीं है। और इसीलिये ब्रह्मभूत विद्वान्‌को स्त्री, पुत्र, धन, साम्राज्य, देवलोक और ब्रह्मलोक आदि भोगोंकी, जिनकी कामना मूढ़ लोग किया करते हैं, एक ही समयमें प्राप्ति हो जाती है।

'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह' (तैत्तिरीय०)

'वह एक ही साथ समस्त कामनाओंका उपभोग करता है।' वेदान्तविद्याकी प्राप्ति हो जानेपर अन्य कुछ चाहनेयोग्य नहीं रह जाता, उसीसे समस्त कामनाओंकी प्राप्ति हो जाती है—यह भी उसका महान् प्रशस्त फल है। इस प्रकार वेदान्तविद्यासे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जानेके कारण अन्य कमनीय भोग शेष नहीं रहता, दूसरा कुछ पानेयोग्य नहीं रहता, दूसरा कुछ करनेयोग्य नहीं रह जाता। सभी पानेयोग्य वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है, सभी कर्तव्य पूर्ण हो जाते हैं। अतः महती निरतिशय कृतार्थता भी वेदान्तविद्याका श्रेष्ठ और अनुपम फल है।

'अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्'
(बृहदारण्यक०)

'इसके बाद मनुष्य अमर हो जाता है—इतने ही कालतक अनुशासन है।'

भाव यह है कि समस्त कामनाओंके त्यागसे वेदान्तविद्या सुस्थिर होती है, उससे मरणधर्मा मनुष्य अमृत ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है। वेदान्तविद्यासे नित्यमुक्त ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेतक ही मनुष्यके लिये सभी वैदिक विधियोंका अनुष्ठान आवश्यक है, ब्रह्मभावकी प्राप्तिके बाद किसीके लिये कोई भी अनुशासन नहीं है, इसीसे वह विद्वान् कृतार्थ हो जाता है।

उपर्युक्त प्रकारसे शोक-निवृत्ति आदि जो ब्रह्मविद्याके अनेकों उत्तम फल बतलाये गये हैं, वे शरीर-धारणकी अवस्थामें ही प्राप्त होते हैं। शरीरपातके अनन्तर तो वह वेदान्तवेत्ता नाम-रूप आदिकी गन्धसे भी अछूते अद्वितीय ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है, इसलिये नित्य निरतिशय आनन्दघन ग्राह्य-ग्राहक आदि भेदसे शून्य जन्म-मरणसे रहित अद्वितीय अद्वैत ब्रह्मका सायुज्य ही वेदान्तविद्याका अन्तिम और सर्वोत्तम फल है। इससे भी इस विद्याका अनुपम एवं अबाध माहात्म्य सूचित होता है। केवल साधन और फलसे ही नहीं, स्वरूपसे भी वेदान्तविद्या अधिक महत्त्वशालिनी है। घटादि पदार्थोंका ज्ञान करानेवाली विद्याकी भाँति वेदान्तविद्या परिच्छिन्न वस्तुकी प्रकाशिका नहीं है, अपितु अपरिच्छिन्न ब्रह्मकी प्रकाशिका है, इसलिये वह स्वरूपसे भी सब विद्याओंसे उत्तम है। जैसे एकवेदविद्यासे चतुर्वेदविद्या बड़ी है; क्योंकि चतुर्वेदविद्यामें एकवेदविद्याका अन्तर्भाव है, इसी प्रकार वेदान्तविद्यामें सभी विद्याओंका अन्तर्भाव होनेके कारण वह सबसे महत्त्वशालिनी है। अतएव श्रुतिने कहा है—

'ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्'
(मुण्डक०)

—इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मविद्या सभी विद्याओंका अधिष्ठान है। इस प्रकार यह सर्वोत्तम वेदान्तविद्या वेदान्तग्रन्थोंमें पराविद्याके नामसे कही जाती है।

'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'
(मुण्डक०)

'पराविद्या वह है जिससे उस अक्षरब्रह्मका ज्ञान होता है।'

अपरा और परा नामक दो प्रकारकी विद्याएँ हैं, उनमें वेदशास्त्रादि विद्या अपरा विद्या हैं; क्योंकि वह परिच्छिन्न वस्तुको प्रकाशित करनेवाली है और संसार-प्राप्तिकी कारणभूता है। परन्तु वेदान्तजनित ब्रह्माकार-वृत्तिरूपा जो विद्या है वह पराविद्या है; क्योंकि वह अपरिच्छिन्न वस्तुकी प्रकाशिका और दुःखरूप संसारका विध्वंस करनेवाली है। इस प्रकार साधन, फल और स्वरूपसे भी वेदान्तविद्या ही परम उत्तम और अधिक

महत्त्वशालिनी विद्या है—यह सभी वेदान्तग्रन्थोंकी एक कण्ठसे उच्च घोषणा है ।

इसके अतिरिक्त वेदान्तग्रन्थोंमें पराविद्या कही जानेवाली वेदान्तविद्या ही पराभक्ति भी है । भक्ति दो प्रकारकी है—साधनरूपा और फलरूपा । उनमें 'तत्' 'त्वम्' पदार्थके शोधनपूर्वक उत्पन्न होनेवाली निर्विशेष ब्रह्मविद्याके बाद ही फलरूपा पराभक्तिका उदय होता है, इसलिये निर्विशेष ब्रह्मविद्यासे युक्त पराभक्ति ब्रह्मविद्यासे तनिक भी छोटी नहीं हो सकती । अतएव स्वामी मधुसूदन सरस्वतीने अपने भक्तिरसायन नामक ग्रन्थमें 'स्वरूपाधिगतिस्ततः' इस कथनके द्वारा स्वरूपभूत निर्विशेष निराकार अन्तरात्माभिन्न ब्रह्मतत्त्वके ज्ञानको भक्तिकी ग्यारह भूमिकाओंमेंसे छठीं भूमिका कहा है । जिस अधिकारीका अन्तःकरण प्रेमके संस्कारसे सम्पन्न है, वह यदि वेदान्ततत्त्ववेत्ता होनेपर भी परब्रह्मके किसी सुन्दर साकार स्वरूप शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदिमें निरतिशय अद्वैतरूपिणी पराभक्ति करता है तो बारंबार धन्यवादका पात्र है । पूर्वमें वेदान्तविद्याके जिन-जिन फलोंका निरूपण किया है उन सभी फलोंको वह भक्त भी प्राप्त ही करता है; इसलिये पराभक्ति भी पराविद्या ही है, और पराविद्याके समान ही अधिक महत्त्वशालिनी है—इस सम्बन्धमें अब विशेष नहीं कहना है ।

अब, वेदान्तवेद्य सच्चिदानन्दघन परब्रह्मके निराकार स्वरूपकी भाँति साकाररूप भी हैं और हो सकते हैं, इसलिये साकाररूपमें भक्ति की जा सकती है, अवश्य ही भक्ति करनी चाहिये—इन विषयोंमें भी वेदान्तवचनोंका प्रमाण देकर इस निबन्धका उपसंहार किया जायगा ।

यथा सर्वगतस्य निराकारस्य महावायोश्च तदात्मकस्य त्वक्पतित्वेन प्रसिद्धस्य साकारस्य महावायुदेवस्य चाभेद एव श्रूयते सर्वत्र········तद्वत्परब्रह्मणः सर्वात्मकस्य साकारनिराकारभेदविरोधो नास्त्येव ।

(त्रिपादविभूतिमहानारायणोपनिषद्)

'जिस प्रकार सर्वगत निराकार महावायु और त्वगिन्द्रियके पतिरूपसे प्रसिद्ध तदात्मक साकार महावायुदेवका सर्वत्र अभेद ही श्रुत होता है, उसी प्रकार परब्रह्मके स्वरूपमें साकार-निराकार-भेदसे होनेवाल नहीं है ।'

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं
त्रिलोचनं नीलकण्ठं महान्तम्
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिम् ।·······

(कै

'पार्वतीजीके साथ तीन नेत्रोंवाले महान् भगवान् नीलकण्ठका ध्यान करके मुनि भूतयोनि को प्राप्त कर लेता है ।'

'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि'

(कै

'उसे श्रद्धा, भक्ति और ध्यानयोगसे जानो ।'

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

(श्वेता

'जिसकी परमेश्वरमें पराभक्ति है तथा उन्हींके गुरुमें भी पराभक्ति है उसी महात्माको इस कहे तत्त्वका स्फुरण होता है ।'

जो वेदका अन्त—अन्तिम भाग है, वह वेदान्त अथवा वेदोंका अन्त–अवसान अर्थात् तात्पर्य जिसमें वेदान्त है । इस व्युत्पत्तिके अनुसार वेदान्त वेदका हृद प्रधान अंश है । ऐसे वेदान्तका तात्पर्य निर्विशेष पर है, इसलिये उस परब्रह्मकी विद्या ही वेदान्तविद्या है । फल त्रिविध दुःखोंकी निवृत्ति और ब्रह्मकैवल्यकी प्राप्ति है । अतः उस विद्याका माहात्म्य सबसे बढ़कर है । बतलाये हुए विषयोंका शङ्कर, रामानुज, मध्व वल्लभ आदि अनेकों वेदान्तभाष्यकारोंमेंसे किसीके पक्षका आश्रय न लेकर निष्पक्ष भावसे मूल वेदा वचनोंके ही सहारे संक्षिप्त निरूपण किया गया है बात यहाँ विशेषरूपसे बतला देना आवश्यक है । इति ।

ॐ नम औपनिषदाय पुरुषाय

ऋग्वेदमें अद्वैतवाद

(लेखक—वेददर्शनाचार्य स्वामी श्रीगंगेश्वरानन्दजी)

वेदान्त शब्दमें 'वेदानामन्तः' ऐसा षष्ठी समास है। अन्त शब्दका अर्थ–परम तात्पर्य या मुख्य प्रतिपाद्य विषय या वस्तु है। तात्पर्य, अवान्तर और परम भेदसे दो प्रकारका है। मुख्यप्रयोजननिष्पादक वस्तुमें परम तात्पर्य एवं गौणप्रयोजनसाधक वस्तुमें अवान्तर तात्पर्य माना जाता है। सर्वपुरुषार्थमूर्धाभिषिक्त मोक्ष ही मुख्य प्रयोजन है, उसकी प्राप्ति चेतोवृत्त्यारूढ़ अद्वितीय सच्चिदानन्द परब्रह्मपर अवलम्बित है, या यों कहना चाहिये कि अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परब्रह्माकार अपरोक्ष वृत्ति ही मोक्षका एकमात्र साधन है, और उस वृत्तिका उदय तभी हो सकता है जब कि प्रथमतः कर्म और उपासनाद्वारा मल और विक्षेपदोषका निरास होकर अन्तःकरण सर्वथा विशुद्ध हो जाय। एतावता यह स्थिर हो गया कि अन्तःकरणशुद्धिरूप गौणप्रयोजनके साधक कर्म और उपासनामें वेदका अवान्तर तात्पर्य और मुख्य प्रयोजन मोक्षसम्बद्ध अद्वितीय ब्रह्ममें वेदका परम तात्पर्य निहित है। इस दार्शनिक पद्धतिसे अद्वितीय ब्रह्म ही वेदके परम तात्पर्यका विषय होनेसे 'वेदान्त' शब्दका वास्तविक अर्थ है। कहीं-कहीं ब्रह्मप्रतिपादक ग्रन्थोंमें भी वेदान्त शब्दका प्रयोग लक्षणासे माना गया है। श्रीकृष्ण परमात्माने 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्' (गीता अ० १५ श्लो० १५) में ब्रह्मप्रतिपादक व्यासविरचित ब्रह्ममीमांसानिबन्धके दृष्टिबिन्दुसे वेदान्त शब्दका प्रयोग लक्षणासे ही किया है। इसी प्रकार उपनिषद् ग्रन्थोंमें भी वेदान्त शब्द लाक्षणिक है। परन्तु मुण्डकोपनिषद्के 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थः' इस मन्त्रमें वेदान्त शब्द अपने वास्तविक अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि इस स्थलमें 'विज्ञान' पदके साथ प्रयुक्त वेदान्त शब्दका परब्रह्म अर्थ करना ही युक्तिसंगत है।

जिन-जिन निबन्धोंमें अद्वितीय ब्रह्मसाक्षात्कारफलस्वरूप मोक्ष और ब्रह्मसाक्षात्कारसाधनीभूत विवेक, वैराग्य आदि साधनसन्दोहकी विशेष चर्चा हुई है, वे सब वेदान्त शब्दसे व्यपदिष्ट होते हैं। और वेदान्तनिबन्धोंमें वेदान्त शब्दसे व्यपदिष्ट होते हैं। और वेदान्तनिबन्धोंमें निर्णीत पदार्थोंका नाम ही 'वेदान्तसिद्धान्त' है। ब्रह्म अद्वितीय है, अर्थात् सजातीय-विजातीय स्वगतभेदसे वर्जित है। समस्त प्रपञ्च मायाका विलास और मिथ्या है। एक स्वप्नद्रष्टामें निद्रादोषसे अनन्त स्वाप्न पदार्थोंकी तरह एक ही अधिष्ठानभूत ब्रह्ममें मायाके द्वारा अनेक असत्य सांसारिक पदार्थपुञ्ज प्रतिभासित हो रहे हैं। अद्वितीय ब्रह्मका साक्षात्कार होते ही मायाका परदा उठ जाता है, और जीवका जीवभाव दूर होकर ब्रह्मभावमें अवस्थान हो जाता है, इसीका नाम मोक्ष है।

साक्षात्कारके प्रधान बहिरङ्ग साधन—१ विवेक २ वैराग्य ३ शमादि षट्सम्पत्ति तथा ४ मुमुक्षुता, ये चार हैं। और प्रधान अन्तरङ्ग साधन—१ श्रवण २ मनन और ३ निदिध्यासन, ये तीन हैं। मुक्तिके दो भेद हैं—१ जीवन्मुक्ति २ विदेहमुक्ति। परोक्ष और अपरोक्षभेदसे ज्ञान भी दो प्रकारका है। यह द्विविध ज्ञान चिदाभासकी सात अवस्थाओंमेंसे चतुर्थी और पञ्चमी अवस्था है। यही वेदान्तविषयकी संक्षिप्त प्रक्रिया है। वेदान्तप्रक्रियाके समस्त तत्त्वोंका क्रमबद्ध वर्णन विशदरूपसे ऋक्संहितामें उपलब्ध होता है। अधोनिर्दिष्ट मन्त्रमें अद्वैतवाद (ब्रह्मकी अद्वितीयता) का क्या ही सुन्दर चित्र चित्रित किया गया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋ० सं० अष्ट० २ अ० ३ व० २३ मं० ४६)

मेधावी पण्डित उस सूर्यको ऐश्वर्यविशिष्ट इन्द्र, मृत्युसे रक्षा करनेवाला, दिवसका अभिमानी देवता मित्र, पापनिवारक रात्र्यभिमानी देव वरुण, अञ्जनादिगुणविशिष्ट अग्निदेव कहते हैं, अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि इन नामोंसे सूर्यको ही पुकारते हैं। और दिव्य शोभनगति पक्षिराज गरुड़ भी सूर्य ही हैं। एक ही सूर्यके नाना नाम होनेके समाधानमें वेदपुरुष प्रतिपादन करते हैं कि देवता तत्त्वज्ञ पण्डित वस्तुतः एक होते हुए सूर्यको भी तत्तत्कारणोंसे इन्द्रादि बहुरूप कहते हैं। भाव यह कि सूर्यनारायण एक हैं, पर ऐश्वर्यादि अनन्त विभूतियोगसे उनके इन्द्रादि अनन्त रूप हैं, वस्तुतः नहीं। इतना ही नहीं, उस सूर्यको वृष्ट्यादिका कारण और पापिष्ठ प्राणियोंका नियन्ता यम और अन्तरिक्षगामी वायु भी कहते हैं। सायणाचार्य तो इस

मन्त्रके भाष्यके अन्तमें 'सूर्यस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वेन सार्वात्म्यमुक्तं भवति' ब्रह्मसे अभिन्न होनेके कारण सूर्यकी सर्वरूपता कथन की गयी है, ऐसा लिखकर ब्रह्मकी अद्वितीयताका स्पष्ट वर्णन कर रहे हैं। यदि अद्वैतवादको अङ्गीकार न किया जाय तो सूर्यकी ब्रह्मरूपता और ब्रह्मकी सर्वरूपताका प्रदर्शक उक्त वेदमन्त्र असङ्गत होगा। अतः इस मन्त्रके अनुशीलनसे वेदान्तसम्मत अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वके विषयमें किसी प्रकारका सन्देह शेष ही नहीं रह जाता। इसके अतिरिक्त अद्वैतवादकी पोषक और भी सहस्रों ऋचाएँ वेदसागरसे उपलब्ध होती हैं, किन्तु स्थानसङ्कोचसे उन सबका उल्लेख दुष्कर है, तथापि हंसवती ऋचा और वामदेवसूक्त तथा वागाम्भरणीय सूक्तकी कतिपय ऋचाएँ अवश्य उल्लेखयोग्य हैं। यथा—

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोतावेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जागोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्॥

(ऋ० सं० अष्ट० ३ अ० ७ व० १४ मं० ५)

इस ऋचाका सूर्य देवता है, और यह ऋचा मण्डलाभिमानी सूर्यदेव, समस्त प्राणियोंके हृत्पुण्डरीकमें विराजमान प्रत्यगात्मा तथा निरुपाधिक ब्रह्मकी एकताका प्रतिपादन करती है। शब्दार्थ यह है कि—आत्मदेव हंस=सूर्यरूप होकर द्युलोकमें निवास करता है, सर्व प्राणियोंके निवासका साधन वायु हो अन्तरिक्ष=आकाशमें भ्रमण करता है, होमनिष्पादक अग्निरूपको धारणकर पृथ्वीरूप वेदीमें स्थित होता है, अतिथिः=सोमरस बनकर दुरोण=पात्रविशेष (कलश) में प्रविष्ट होता है, वही आत्मा नृषत्=मनुष्योंमें स्थित है, वरसत्=देवोंमें स्थित, ऋतसत्=यज्ञमें स्थित और व्योमसत्=व्योमचारी पक्षी-स्वरूप है। इतना ही नहीं, वह अब्जा=जलमें उत्पन्न जलजन्तुरूप, गोजा=पृथ्वीमें उत्पन्न वृक्षादिरूप, ऋतजा=फलोन्मुख शुभाशुभ कर्मसे प्रसूत भौतिक देहादिरूप, अद्रिजा=पर्वतसे प्रादुर्भूत नद्यादिस्वरूप है। वह सर्वात्मक आत्मतत्त्व ऋतम्=त्रिकालाबाध्य सर्वाधिष्ठान परब्रह्म-स्वरूप है। पाठकवृन्द, उक्त ऋचाद्वारा जीवात्मा और परमात्माके ऐक्यापादनकी सुन्दरताको समझ ही गये होंगे। वामदेवसूक्तके अधोनिर्दिष्ट मन्त्रावलोकनसे और भी अधिक अद्वैतवादकी प्रामाणिकता सहृदयजनके हृदयपटलपर अङ्कित हो जाती है, यथा—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेहं कविरुशना पश्यता मा॥

(ऋ० सं० अष्ट० ३ अ० ६ व० १५ मं० १)

मैं वामदेव प्रजापति हूँ, और सबका प्रेरक तथा हूँ, बुद्धिरूप उपाधिके सम्पर्कसे विप्रपदका वाच्य मैं हूँ, दीर्घतम नामक ऋषिका पुत्र कक्षीवान् ऋषि भी हूँ, आर्जुनीके पुत्र कुत्स नामक ऋषिको मैं ही सिद्ध हूँ, त्रिकालदर्शी (उशना) शुक्र मैं हूँ, यह केवल दि मात्र है, वस्तुतः विचार करनेपर समस्त प्रपञ्चस्वरूप हे मनुष्यो! आप मुझे सर्वात्मक देखें,—और वैसा बननेका प्रयास करें। इस मन्त्रमें तत्त्वज्ञान होनेपर गर्भस्थित वामदेवने स्वानुभूत सर्वात्मकताका प दिया, अब वह नीचेके मन्त्रमें योगबलसे गर्भ परित्यागकर बोलते हैं, यथा—

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम्

(ऋ० अष्ट० ३ अ० ६ व० १६ मं०

मैं वामदेव जब गर्भमें ही था, तभीसे इन इन्द्र देवोंके जन्मोंको जानता था, अर्थात् यह मैंने गर्भमें ठीक-ठीक समझ लिया था कि इन्द्रादि समस्त देव कारण परमात्मासे उत्पन्न होते हैं। इससे पूर्व लोहमय अनेक शरीरोंने मुझे अपने जालमें फँसा रक्खा देहेन्द्रियसंघातकी अहंता-ममतामें पड़कर उससे अति आत्माके यथार्थ स्वरूपको न जान सका, अब श्येन पक्षी तरह तीव्र गतिसे मैं उस शरीरबन्धनसे निर्मुक्त हो गया और अनावृत आत्माके यथार्थ दर्शनसे अविद्या-रजनी सर्वथा अन्त हो जानेके कारण अलौकिक ब्रह्मानन्द आस्वाद ले रहा हूँ।

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥

(ऋ० अष्ट० ८ अ० ७ व० ११ मं०

यह ऋग्वेदके दशम मण्डलका १२५ वाँ वागाम्भरणी सूक्त है, अम्भरण नामक ऋषिकी पुत्री वाग्देवीको सूक्तका साक्षात्कार हुआ था, इस सूक्तकी आठ ऋचाएँ विस्तारभयसे पूर्ण सूक्तका उपन्यास न कर पाठकोंके केवल प्रथम ऋचाका उपन्यास किया गया है। इस भाषार्थ यह है कि—

मैं वाग्देवी ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रभावसे जगत्कारण ब्रह्मरूप होकर एकादश रुद्ररूपसे जगत्में व्यवहार करती हूँ। वसु, सूर्य तथा विश्वदेवरूपमें मैं ही संसृतियात्रा निर्वहण करती हूँ, मैं मित्रावरुण, इन्द्राग्नि तथा अश्विनी

कुमार देवयुगलका धारण और पोषण करती हूँ, क्योंकि समस्त प्रपञ्च*शुक्तिकामें रजतकी तरह मुझमें ही कल्पित है तथापि भ्रान्तिसे सत्यवत् प्रतीत हो रहा है। यह जगदाकार माया-का परिणाम है, उस मायाका अधिष्ठान परब्रह्म असङ्ग है। उस ब्रह्मका समस्त जगत् विवर्त ही है। उक्त प्रमाणोंसे सच्चिदानन्द परब्रह्मकी अद्वितीयता प्रमाणित हो गयी।

उस ब्रह्ममें द्वैतकी कल्पना मायाके द्वारा होती है, या यों कह दीजिये कि एक ब्रह्ममें अनेकताकी प्रतीतिका कारण माया ही है। इस विषयकी पुष्टि नीचे उद्धृत ऋग्वेदके मन्त्रसे स्वतः हो जायगी।

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥
(ऋ० अष्ट० ४ अ० ७ व० ३३ मं०१८)

सर्वव्यापक चिद्रूप परमात्मा प्रत्येक शरीरस्थित बुद्धिमें प्रतिबिम्बित हो जीवभावको प्राप्त होता है, अर्थात् घटस्थित जलमें आकाशछायाकी तरह शरीरस्थित बुद्धिमें चिदाभास-का नाम ही जीव है और जीव कर्मवश त्रिविध शरीरोंमें अनुप्रविष्ट हो नानाविध भोगोंका उपभोग करता है। तत्= परमात्माका जीवात्मक प्रतिबिम्बस्वरूप बिम्बस्थानीय परमात्माके यथार्थ बोधके लिये है। इन्द्रः=ऐश्वर्यशाली वह परमात्मा, मायाभिः=माया और मायाकी अनन्त शक्तियों-द्वारा† आकाशादि विविध रूपोंसे युक्त हो ब्रह्माण्डरचना-रूपी चेष्टा करता है, शता दश=सहस्र (अनेक) इन्द्रिय-वृत्तियाँ इस आत्माके आधिपत्यमें विषय ग्रहण करनेके लिये तत्पर रहती हैं।

पाठकगण ऋग्वेदमें अद्वैतवादका कितना स्पष्ट एवं अधिक वर्णन है, यह तो आपको अवगत हो ही गया होगा, अब आइये! आप एक ही मन्त्रमें अद्वैतवादकी पूर्ण प्रक्रिया-का दर्शन करें।

चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥
- (ऋ० सं० अष्ट० ३ अ० ८ व० ११ मं० ३)

इस मन्त्रमें बैलके रूपकद्वारा अद्वितीय आत्मबोधका मनोहर चित्र चित्रित हुआ है। अद्वितीय आत्मबोध ही बलिवर्द है, सुरेन्द्र, कुबेरादि देवाधिपतियोंकी दृष्टिमें भी पूज्यतम होनेसे वह महान् देव है, परम अभीष्ट मोक्षका वर्षक होनेसे उसे वृषभ कहा जाता है, वह गीता, उपनिषत् और ब्रह्मसूत्रात्मक प्रस्थानत्रयीके रूपमें निबद्ध अथवा सद्भाव-चिद्भाव तथा आनन्दभावलक्षण भावत्रयीसे सम्बद्ध होनेके कारण त्रिधाबद्ध है। ज्ञानके बहिरङ्ग साधन—विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता नामक साधन-चतुष्टय ही उसके सर्वस्पृहणीय, नितान्तकमनीय, सर्वोच्च चार शृङ्ग हैं, अथवा—ऋक्, यजुः, साम, अथर्व इन चारों वेदोंके क्रमशः 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म' ये चारों महावाक्य ही उक्त बलिवर्दके शृङ्गचतुष्टयरूपसे वर्णित हैं। 'पद्यते प्राप्यते ब्रह्म एभिः' (प्राप्त होता है ब्रह्म इनसे) इस व्युत्पत्तिद्वारा ब्रह्मबोधकी प्राप्तिके प्रधानतम साधन श्रवण-मनन-निदिध्यासन ये तीनों ही तीन पाद हैं, जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति ही इसके दो मस्तक हैं, चिदाभासकी सात अवस्थाएँ-अविद्या, आवरण, विक्षेप, परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोकापगम और तृप्ति ही उस बैलके सात हाथ हैं, रोरवीति=पुनः-पुनः शब्द करता है, ब्रह्मवेत्ताके 'धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं'—इत्यादि हर्षसूचक उद्गारोंका निकलना ही पुनः-पुनः शब्द करना है। विद्यारण्य स्वामीने चिदाभासकी पूर्वोक्त सात अवस्थाओंका वर्णन इस प्रकार किया है—

अज्ञानमावृतिस्तद्वद्विक्षेपश्च परोक्षधीः।
अपरोक्षमतिः शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरङ्कुशा ॥३३॥
सप्तावस्था इमाः सन्ति चिदाभासस्य तास्विमौ।
बन्धमोक्षौ स्थितौ तत्र तिस्रो बन्धकृतः स्मृताः ॥३४॥
(पञ्चदशी-तृप्तिदीप)

अज्ञान, आवरण, विक्षेप, परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोकविमोक्ष तथा निरङ्कुश तृप्ति ये सात चिदाभासकी अवस्थाएँ हैं, उन्हींमें बन्ध और मोक्ष ये दोनों स्थित हैं, उनमेंसे तीन अवस्थाओंका सम्बन्ध बन्धसे और शेष चार-का सम्बन्ध मोक्षसे है। बन्धकारण तीन अवस्थाओंके कार्य-सहित स्वरूप निम्नलिखित हैं—

न जानामीत्युदासीनव्यवहारस्य कारणम्।
विचारप्रागभावेन युक्तमज्ञानमीरितम् ॥३५॥
अमार्गेण विचार्याथ नास्ति नो भाति चेत्यसौ।
विपरीतव्यवहृतिरावृतेः कार्यमिष्यते ॥३६॥

---

* मयि हि सर्वं जगत् शुक्तौ रजतमिवाध्यस्तं सद्दृश्यते, माया च जगदाकारेण विवर्तते। इति सायणः।

† व्यत्ययो बहुलमिति वचनव्यत्ययः, शक्त्यभिप्रायेण वा बहुवचनम्।

देहद्वयचिदाभासरूपो विक्षेप ईरितः।
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्योऽस्य बन्धकः ॥३७॥
(पञ्चदशी-तृप्तिदीप)

विचारप्रागभावके सहित उदासीन व्यवहारका कारण 'न जानामि' इत्याकारक अनुभवका विषय जो वस्तु है, उसे 'अज्ञान' कहते हैं। शास्त्रविरुद्ध तर्कद्वारा विचार करनेपर 'असौ नास्ति, न भाति च' वह नहीं है, और नहीं प्रतीत होता है, इस प्रकारके विपरीत व्यवहारके कारणको ही 'आवरण' कहते हैं। स्थूल-सूक्ष्म शरीरसहित चिदाभासका नाम ही विक्षेप है। बन्धनका कारण कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिरूप सम्पूर्ण शोक, जिसका नामान्तर संसार है, वह उसका कार्य है।

वेदान्तसिद्धान्तमें आत्मा स्वप्रकाश चिद्रूप है, और नित्य अपरोक्ष है। अतएव चित्सुखाचार्यने प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकामें आत्माकी स्वप्रकाशता और चिद्रूपताका निम्नलिखित शब्दोंमें उद्घोष किया है—

अपरोक्षव्यवहृतेर्योग्यस्याधीपदस्य नः।
सम्भवे स्वप्रकाशस्य लक्षणासम्भवः कुतः ॥१-१॥
चिद्रूपत्वादकर्मत्वात्स्वयंज्योतिरिति श्रुतेः।
आत्मनः स्वप्रकाशत्वं को निवारयितुं क्षमः ॥१-३॥

अपरोक्ष व्यवहारके योग्य ज्ञानका अविषय ही स्वप्रकाशका स्वरूप है, फिर स्वप्रकाशके लक्षणका असम्भव कैसे हो सकता है। आत्मा चिद्रूप है और वह किसी ज्ञानका कर्म नहीं है, क्योंकि यदि ज्ञानरूप आत्माको ज्ञानका कर्म मानें तो कर्मकर्तृविरोध होगा—एक ही वस्तु स्वयं कर्ता और कर्म नहीं बन सकती, और 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' इस श्रुतिमें आत्माको 'स्वयंज्योति' स्वप्रकाश कहा है, अतः आत्माकी स्वप्रकाशताका निराकरण कौन कर सकता है, फिर उसका परोक्ष-अपरोक्ष-भेदसे दो प्रकारका ज्ञान कैसा? और चिदाभासकी सात अवस्थाएँ भी कैसे होंगी, क्योंकि आत्माके परोक्षज्ञानका सर्वथा सम्भव नहीं, इसका समाधान विद्यारण्य स्वामीने दशम पुरुषके दृष्टान्तसे किया है—

नित्यापरोक्षरूपेऽपि द्वयं स्याद् दशमे यथा।

जैसे दशम पुरुषमें परोक्ष-अपरोक्ष दोनों ज्ञान होते हैं, उसी प्रकार नित्यापरोक्षस्वरूप आत्मामें भी दोनों ज्ञान हो सकते हैं। दृष्टान्तमें अज्ञानादि सात अवस्थाओंका उपपादन—

नवसंख्याहृतज्ञानो दशमो विभ्रमात्तदा।
न वेत्ति दशमोऽस्मीति वीक्षमाणोऽपि तान्नव
न भाति नास्ति दशम इति स्वं दशमं तदा।
मत्वा वक्ति तदज्ञानकृतमावरणं विदुः।
नद्यां ममार दशम इति शोचन्प्ररोदिति।
अज्ञानकृतविक्षेपं रोदनादिं विदुर्बुधाः
न मृतो दशमोऽस्तीति श्रुत्वाप्तवचनं तदा।
परोक्षत्वेन दशमं वेत्ति स्वर्गादिलोकवत्।
त्वमेव दशमोऽसीति गणयित्वा प्रदर्शितः।
अपरोक्षतया ज्ञात्वा हृष्यत्येव न रोदिति।
(पञ्चदशी-तृ

अर्थात्—एक समय दस मित्र नदीके पार गये, डूब न गया हो इस आशंकासे गणना की गयी, दशम पुरुष गणनीय नौ पुरुषोंकी गणना करने होकर अपने-आपको भूल गया, और अपनेसे पुरुषोंको देखता हुआ भी भ्रान्तिवश दसवाँ मैं हूँ अपनेको नहीं जान सका। अन्य पुरुषोंकी नौ कारण लुप्तविवेक हो, स्वात्माको 'मैं दशम हूँ' इस प्र जानना ही यहाँपर अज्ञान नामक प्रथमावस्था अज्ञानका कार्य आवरण द्वितीयावस्था है, उसकी अ पादक और असत्त्वापादक दो शक्तियाँ हैं। उस आ प्रभावसे दशम पुरुष अपने-आपको 'दशम न और न प्रतीत होता है' ऐसा मानकर कहता है, 'नास्ति न भाति' इस व्यवहारके कारणका न 'आवरण' है। फिर 'दशम नदीमें डूबकर मर ऐसा शोक करता हुआ रोता है, सो अज्ञानका यह रोदनादि कार्य ही 'विक्षेप' नामक तीसरी है। 'दशम है, मरा नहीं' ऐसा आप्तवचन अज्ञानकार्य आवरणकी असत्त्वापादक शक्तिका नाश शास्त्रवाक्यद्वारा स्वर्गादि लोककी तरह दशम 'दशम है' ऐसा स्वात्माका परोक्षज्ञान होता है, यही अवस्था है। जब गणना करके आप्तपुरुषने बतला कि (त्वमेव दशमोऽसीति) तू ही दशम है, तब आ अभानापादक शक्तिका नाश होकर उसको 'मैं द ऐसा अपरोक्षज्ञान होता है, यह पञ्चमी अवस्था है उसका शोक दूर हो जाता है, फिर रोनेकी तो बात ही हर्षके मारे उछलने लगता है। इस स्थलमें शोक-रो विक्षेपनाश षष्ठी और हर्षात्मक तृप्ति सप्तमी

है। उक्त दृष्टान्तसे दार्ष्टान्त चिदात्मामें सातों अवस्थाओंकी योजना—

संसारासक्तचित्तः संश्चिदाभासः कदाचन।
स्वयंप्रकाशकूटस्थं स्वतत्त्वं नैव वेत्त्ययम् ॥२९॥
न भाति नास्ति कूटस्थ इति वक्ति प्रसङ्गतः।
कर्त्ता भोक्ताहमस्मीति विक्षेपं प्रतिपद्यते ॥३०॥
अस्ति कूटस्थ इत्यादौ परोक्षं वेत्ति वार्तया।
पश्चात्कूटस्थ एवास्मीत्येवं वेत्ति विचारतः ॥३१॥
कर्ता भोक्तेत्येवमादिशोकजातं प्रमुञ्चति।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तुष्यति ॥३२॥
(पञ्चदशी-तृप्तिदीप)

सांसारिक विषय-जालमें मनके फँस जानेसे यह जीव निजात्मा स्वप्रकाशचिद्रूप कूटस्थ प्रत्यगात्माको कभी नहीं जानता, यही 'अज्ञान' है। चिदात्माका प्रसङ्ग आनेपर 'चिदात्मा कूटस्थ नहीं है, और नहीं प्रतीत होता है' ऐसा मानकर जो 'नास्ति न भाति' इत्याकारक शब्द प्रयोग किया जाता है, उसका कारण ही 'आवरण' है, एवं 'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ' इस प्रकार कर्तृत्वादिका जो आत्मामें आरोप किया जाता है, उसका कारण देहद्वययुक्त चिदाभास ही 'विक्षेप' है। दूसरेके द्वारा समझाये जानेपर 'कूटस्थ है' ऐसा जो ज्ञान होता है, वह 'परोक्षज्ञान' है। श्रवणादि विचारके परिपक्व हो जानेसे 'मैं कूटस्थ हूँ' ऐसा ज्ञान ही 'अपरोक्षज्ञान' है। कूटस्थासङ्ग चिदात्माके अपरोक्षज्ञानके उदय होते ही जीवात्मा कर्तृत्वादि सम्पूर्ण शोकको त्याग देता है, इसीका नाम 'शोकापगम' या 'शोकनाश' है। मैंने अपने सब कर्तव्योंको कर लिया, और प्राप्तव्य वस्तुको पा लिया' इस प्रकारकी भावनासे प्रसन्न होता है—यही तृप्ति है। चिदात्माकी दर्शित सप्त अवस्थाओंको ही ऋग्वेदमें दिव्य बलिवर्दके सात हाथोंका रूप दिया गया है। वेदमें अद्वैतवादके प्रतिपादक कतिपय मन्त्रोंका समुल्लेखकर अब अद्वैतवादकी पुष्टिके लिये ब्रह्ममीमांसा (वेदान्तदर्शन) के कतिपय सूत्रोंका प्रदर्शन किया जाता है। साथ ही विषयवाक्यरूपसे गृहीत उपनिषद्वाक्योंका प्रदर्शन अनायास ही हो जायगा। इसलिये उसके पृथक् प्रदर्शनकी आवश्यकता नहीं।

'त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च'
(वे० द० अ० १ पा० ४ सू० ६)

यमकी ओरसे नचिकेताके प्रति तीन वरोंका ही उपन्यास है, तब तो वरानुरूप ही प्रश्न हो सकते हैं, अधिक नहीं। कठोपनिषत्में पितृप्रसादरूप वर माँग लेनेपर दो ही वर शेष रह जाते हैं, उन वरोंके आधारपर नचिकेता यमराजसे दो ही प्रश्न पूछ सकता है—एक अग्निविषयक प्रश्न, दूसरा जीवविषयक प्रश्न। किन्तु ब्रह्म-विषयक तृतीय प्रश्न भी नचिकेताने यमसे पूछा है, तब उसकी सङ्गति कैसे होगी यदि 'अद्वैतवाद' की पादसेवा न की जाय?

तीनों प्रश्नोंके प्रतिपादक मन्त्र अधोनिर्दिष्ट हैं—

'स त्वमग्नि ँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो
प्रब्रूहि त्व ँ श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त
एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण॥
(कठ० १।१।१३)

पूज्यचरण! आप स्वर्गप्राप्तिसाधनभूत उस अग्निको जानते हैं, मुझ श्रद्धालुके प्रति साङ्गोपाङ्ग उस अग्निका उपदेश करें, जिसके चयनसे कर्माधिकारी यजमान स्वर्गलोकमें पहुँचकर देवत्वको लाभ करते हैं, इस अग्निविज्ञानकी द्वितीय वरद्वारा प्रार्थना करता हूँ।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः॥
(कठ० १।१।२०)

प्राणोंके मर जानेपर पुरुषभेदसे यह सन्देह होता है कि आस्तिकोंके विचारमें आत्मा देहेन्द्रियसंघातसे पृथक् है। और मृत्युकालमें प्रथम संघातको छोड़कर नवीन संघातको ग्रहण करता है। इसके विपरीत नास्तिकोंकी यह धारणा है कि आत्मा शरीरसे पृथक् नहीं, और शरीरदाहके साथ ही उसका अस्तित्व नष्ट हो जाता है। गुरुदेव! आप ऐसा उपदेश करें कि जिससे मुझे संदिग्ध आत्मतत्त्वका ज्ञान हो जाय। प्रार्थित वरोंमेंसे आत्मविज्ञानरूप यह तृतीय वर प्रदान करें।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥
(कठ० १।२।१४)

धर्म, अधर्म, कार्य-कारणसे रहित, त्रिकालातीत जिस वस्तुको आप देखते हैं उसीका मुझे उपदेश करें। यहाँपर विचार करना होगा कि यदि जीव, ब्रह्म भिन्न हों, तो द्वितीय वर तो अग्निविज्ञानप्रश्नसे और तृतीय वर जीवात्मविज्ञानप्रश्नसे उपक्षीण हो चुका, फिर नचिकेताको तो ब्रह्मविषयक प्रश्न करनेका सर्वथा अधिकार ही नहीं, तब ब्रह्मविषयक प्रश्न क्यों किया ? जीव और ब्रह्मका ऐक्य स्वीकार कर लेनेपर ब्रह्मविषयक प्रश्नके जीवप्रश्नकक्षामें निविष्ट हो जानेसे प्रश्नाधिक्यशङ्काका अवकाश नहीं रहता है। इसी प्रकार—

'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' वे० द० १ । ४ । २२

ब्रह्म ही आविद्यकभेदवश जीवरूपसे अवस्थित है, अतः ब्रह्मप्रतिपादक मैत्रेयी ब्राह्मणके उपक्रममें जीवका उल्लेख अयुक्त नहीं। अर्थात् जब जीव-ब्रह्म एक ही हैं फिर आरम्भमें जीवके प्रतिपादनसे उपक्रम और उपसंहारका ऐक्य भग्न नहीं हो सकता।

'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' वे० द० १ । १ । ३०

कौषीतकी उपनिषद्की इन्द्रप्रतर्दनाख्यायिकामें 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' एतद्वाक्यगत 'प्राण' शब्दका प्रतिपाद्य अर्थ परब्रह्म है, इन्द्रादि देवता नहीं, ऐसा—'प्राणस्तथानुगमात्' (१ । १ । २८) सूत्रद्वारा सिद्धान्त किया है। यदि इस-प्रकार 'प्राण' शब्द परब्रह्मका प्रतिपादक मान लिया जाय तो 'मामेव विजानीहि' मुझे ही प्रज्ञात्मा प्राण समझो, इस वाक्यद्वारा वक्ता इन्द्रदेवका प्राणको अपना आत्मा कहना असङ्गत होगा, क्योंकि आपके मतमें तो प्राण शब्दका इन्द्रादि देवतारूप अर्थ है ही नहीं ! इस शङ्काके उत्तरमें कहा गया है कि इन्द्रका प्रज्ञात्मप्राणको आत्मरूपसे उपदेश करना शास्त्रदृष्टिसे है, अर्थात् मैं ही सर्वात्म परब्रह्मस्वरूप हूँ, इस भावनासे है, देवतादृष्टिसे नहीं। जैसे वामदेव महर्षि स्वात्माको सर्वात्म परब्रह्मस्वरूप देखकर बोलते हैं 'मनुरहमभवं सूर्यश्च' मैं प्रजापति बना, और मैं ही सूर्य हूँ।

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १ । ३ । १९
तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः । २ । १ । १४
प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः । २ । ३ । ६
यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् । २ । ३ । ७
अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् । ३ । २ । १४
प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम् । ३ । २ । १५
अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् । ३ । २ । १८
प्रकाशवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् । ३ ।
अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् । ३ । २ । २६
पूर्ववद्वा । ३ । २ । २९
प्रतिषेधाच्च । ३ । २ । ३०
आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च । ४ । १ । ३
अविभागेन दृष्टत्वात् । ४ । ४ । ४
चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः । ४

इत्यादि सूत्र अद्वितीय निर्विशेष परब्रह्मकी अ लिये अवश्य द्रष्टव्य हैं, स्थानसङ्कोचसे यहाँपर इनकी नहीं की गयी, जिज्ञासु वाचक भाष्यादि निबन्धावल प्रयास करें। गीताके सातवें अध्यायके श्लोक में भगवान्ने अपनेको रस, पुण्य, गन्धादिरूप एवं नवम अध्यायके १६–१७–१८–१९ श्लोकों यज्ञ और अग्निहोत्रादिके रूपमें आत्मदर्शन कराया, सम्पूर्ण दशमाध्यायसे उत्कृष्ट आदित्यादि समस्त अपने आनन्दघनस्वरूपका वर्णन किया, सो अद्वैतामृतमहोदधिकी विस्मयकारी साटोपमहोर्मि निदर्शनमात्र है। यों तो—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
(गीता ७

—इत्यादि सहस्रशः अद्वैतवादकी पोषक वच लहरी समुपलब्ध होती है, तथापि अद्वैतबोधको ज्ञानकक्षामें निविष्टकर अद्वैतसिद्धान्तको वाङ्मनसातीत प्रतिष्ठा प्रदान करते हुए श्रीभगवान् अध्याय १८ में श्रीमुखसे कहते हैं—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

हे अर्जुन! परस्पर भिन्न सर्वभूतोंमें जिसके द्वारा निर्विकार ब्रह्मसत्ताके दर्शन हों, तू उस अद्वैत सात्त्विक समझ। भगवान् वेदव्यास भी पुराण भागवतपुराणके प्रथम श्लोकके तृतीय चरणमें 'यत्र मृषा' जिस ब्रह्ममें तेज, जल और पृथ्वी उन तीनों सृष्टि मृषा—कल्पित है, इस उक्तिद्वारा समस्त काल्पनिक बतलाकर, समस्त पुराणशास्त्रका मुख्य परब्रह्म ही है, इस बातका मुक्तकण्ठसे परिचय दे और सख्यसूचक व्यावहारिक समान वस्त्राभर

परिधानकी तरह प्रथम श्लोकके ही प्रथम चरणमें ब्रह्ममीमांसाके आरम्भिक 'जन्माद्यस्य यतः'(जिससे इस जगत्‌का जन्मादि=सर्जन, अर्जन एवं विसर्जन होता है, वह ब्रह्म है) इस वचनका उल्लेख करके तो उन्होंने वेदान्तदर्शनके साथ पुराणशास्त्रके नैसर्गिक मैत्रीप्रदर्शनका प्रशंसनीय प्रयास किया है और तृतीय चरणद्वारा यह भी सूचित कर दिया है कि मिथ्यात्ववाद ही अद्वैतवादकी आधारशिला है।

अद्वितीय ब्रह्म स्वप्रकाश चिद्रूप होनेसे स्वतःसिद्ध है, उसके सिद्ध करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं। केवल भ्रान्तिप्रतिपन्न द्वैतका निरास अपेक्षित है, वह तो द्वैतप्रपञ्चमें मिथ्यात्व प्रमाणित होनेसे ही साध्य है। अतएव मधुसूदन स्वामीने अद्वैतसिद्धिके आरम्भमें प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधनका हृदयग्राही प्रयत्न किया है। मिथ्यात्वसाधनमें मुख्य निदर्शन ६ हैं—रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत, मरु-मरीचिजल, स्वप्न, इन्द्रजाल और गन्धर्वनगर। मधुसूदनस्वामीने मिथ्यात्वके पाँच निर्वचन किये हैं। चित्सुखाचार्यने पाँच अधिकको कल्पनाकर दशविध मिथ्यात्वका उल्लेख किया है, और मधुसूदनसम्मत (प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूप) द्वितीय मिथ्यात्वको ही अन्तमें विशेष स्थान दिया है।

यथा—

सर्वेषामपि भावानामाश्रयत्वेन संमते ।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता ॥ (१।७)

पटादि समस्त पदार्थोंके जो अधिकरण तन्तु आदि स्वीकार किये गये हैं, उनमें वर्तमान अत्यन्ताभावकी प्रतियोगिता ही (प्रतियोगी होना ही) घटादि पदार्थोंका मिथ्यापन है। स्वाधिकरण तन्तु आदिको छोड़कर अन्य वस्तुमें पटादि पदार्थोंकी सत्ता सम्भव ही नहीं, यदि उनमें (तन्तु आदिमें) भी उनकी सत्ता न हो, अर्थात् उनका अभाव माना जाय, तो गले पादुकान्यायसे उन पटादि पदार्थोंका मिथ्यात्व ही पर्यवसित होगा। क्योंकि स्वाधिकरणमें सत्य वस्तुका अभाव कभी हो नहीं सकता, कल्पित रजतादि ही असत्य होनेके कारण स्वाधिकरणरूपसे प्रतीयमान शुक्तिकादिमें वस्तुतः नहीं रहते। तात्पर्य यह कि जो वस्तु जिस स्थलमें प्रतीत हो, और फिर उसका वहीं अभाव प्रमाणित हो जाय तो वह वस्तु मिथ्या ही होगी, सत्य नहीं; बस, यही 'प्रतिपन्नोपाधिनिष्ठत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व' है। लक्षित मिथ्यात्वका अंशित्व हेतुसे अनुमान करते हुए चित्सुखाचार्य लिखते हैं—

अंशिनः स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः ।
अंशित्वादितरांशीव दिगेषैव गुणादिषु ॥ (१।८)

तत्तदवयवी अपने-अपने तन्तु आदि अवयवोंमें वर्तमान अभावके प्रतियोगी हैं, अवयवी होनेसे अन्य अवयवीकी तरह गुण-क्रिया-जात्यादिक पदार्थोंमें इसी रीतिका अनुसरण करना उचित है। मधुसूदन स्वामीने मिथ्यात्व सिद्ध करनेके लिये प्रथम दृश्यत्व, जडत्व और परिच्छिन्नत्व इन तीन हेतुओंका प्रदर्शन किया है। दृश्यत्वका परिष्कृत स्वरूप 'शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्व' ही है। अन्तमें चित्सुखाभिमत अंशित हेतुका भी उपन्यास किया है। उनके लेखका आकार यह है—

चित्सुखाचार्यैस्तु अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, अंशित्वात् इतरांशिवत्, इत्युक्तम्।

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित् ।
आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु ॥
(इति खण्डनखण्डखाद्ये श्रीहर्षः)

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥

शिष्योंको सदुपदेश

प्राचीन कालमें जब ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करके घर लौटना चाहता तब आचार्य उसे कैसा उपदेश देते थे इसका उदाहरण देखिये, गुरु उपदेश करते हैं—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

(तैत्ति० १।११।१)

सत्य बोलो। धर्मका आचरण करो। स्वाध्यायका कभी त्याग न करो। आचार्यको गुरुदक्षिणा देकर प्रजाके सूत्रको न काटो अर्थात् ब्रह्मचर्य-आश्रमका पालन कर चुकनेपर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करो। सत्यका कभी किसी अवस्थामें भी त्याग न करो। धर्मका कभी त्याग न करो। कल्याणकारी कर्मोंका त्याग न करो, साधनकी जो विभूति प्राप्त है, उसे कभी मत त्यागो। स्वाध्याय और प्रवचनमें कभी प्रमाद न करो।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि।

(तैत्ति० १।११।२)

'देवकर्म (यज्ञ) और पितृकर्म (श्राद्ध, तर्पण आदि) का कभी त्याग न करो। माताको देवरूपसे पूजो। पिताको देवरूपसे पूजो। आचार्यको देवरूपसे पूजो। अतिथिको देवरूपसे पूजो। जो कर्म निन्दारहित हैं उन्हींको करो। अन्य (निन्दित कर्म) मत करो। हमारे (गुरुके) आचरणोंका अनुसरण करो, दूसरोंका नहीं।'

जो ब्राह्मण अपनेसे श्रेष्ठ हों उन्हें तुरन्त बैठनेके आसन दो। जो कुछ दान करो श्रद्धासे करो, अश्र नहीं। श्रीके लिये दान करो (लक्ष्मी चञ्चल हैं, प्र सेवामें उसे समर्पण नहीं करोगे तो वह तुम्हें त्यागकर जायगी), लोक-लाजके लिये ही दान करो। श डरकर भी दान करो, दान करना उचित है इस वि दान करो। अपने किसी कर्म अथवा लौकिक आच सम्बन्धमें मनमें कोई शंका उठे, तो अपने समीप रहने ब्राह्मणोंमें जो वेदविहित कर्मोंमें विचारशील हों, सम हों, कुशल हों, स्वतन्त्र हों (किसीके दबावमें आ व्यवस्था देनेवाले न हों), क्रोधरहित अथवा शान्तस्व हों और धर्मके लिये ही कर्तव्यपालन करनेवाले हों जिस प्रकारका आचरण करें, उसी प्रकारका आचरण करो। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेदोंका है, यही आज्ञा है, ऊपर बतलायी हुई प्रणालीसे आचरण करना चाहिये। इसी प्रकार आचरण क चाहिये।

(तैत्तिरीय उपनि

आनन्द अनिर्वचनीय है

गई पूतरी नोंनकी, थाह सिंधुकी लैन।
पैठत ही घुलमिल गयी, पलट कहे को बैन॥
पूतरी नोंनकी दौरि गई, ढिंग सागरके जल जाय थहावै।
पाय भली विधि भेद सबै, तब आयके ज्ञानकी बात बतावै॥
पैठत आपहि आप भई, निज नाम स्वरूप समूल नसावै।
'श्रोत्रिय' को फिर लौटि कहै, अरु कौन सुने समुझे समझावै॥

—लक्ष्मीचन्द्र श्रोत्रिय

गीतान्तर्गत वेदान्तमार्ग

(लेखक—स्वामी श्रीअसंगानन्दजी)

भारतीय आर्य जातिका सनातनधर्म इतना पुरातन है कि इतिहास या प्राचीन गाथाएँ भी उस पुरातनत्वके परदेको उठाकर अंदर झाँक नहीं सकतीं और इसके जो नानाविध मूलतत्त्व, वाद और परम्परागत विश्वास तथा विधि और निषेध हैं उन सबका सार-संग्रह करके एकत्र सामने रख देनेका काम बड़े-बड़े विद्वानोंकी बुद्धि और उनके प्रचण्ड अध्ययनके लिये भी असाध्य हो जाता है। तथापि इतनी कठिनाइयों और रुकावटोंके होते हुए भी सनातनधर्म अपनी पूर्ण प्रभा और ज्योत्स्नाके साथ हिन्दूधर्मके उस सार-संग्रहरूप ग्रन्थमें पूर्णरूपसे प्रतिबिम्बित हुआ है जिसे श्रीमद्भगवद्गीता कहते हैं। हिन्दुओंके इस प्रमाणभूत ग्रन्थमें सब महापन्थ, चतुर्विध प्रसिद्ध योगमार्ग, विविध मत और सिद्धान्त, सुन्दर सरल रसात्मक काव्य, आदर्शवाद और वस्तुस्थितिवाद, युक्तिसंगति और भाव-भक्ति, पक्ष-विपक्ष और सामञ्जस्य-समाधान, ईश्वरवाद, अनेकेश्वरवाद और एकेश्वरवाद इन सबका विलक्षण समन्वय हुआ है, और इसलिये यह गीता समग्र वेदोंका सार कहाती है। यदि ज्ञान ही वह आधारशिला है जिसपर वेदान्तकी भव्यातिभव्य अट्टालिका खड़ी है तो यह बात भी स्पष्ट है कि तत्त्वज्ञानके इस स्वरूपका अर्थात् वस्तुतत्त्ववाद या सद्वादका बहुत ही सुन्दर और विलक्षण निरूपण गीताके ४ थे और १३ वें अध्यायमें हुआ है; यही नहीं, प्रत्युत १४ वें अध्यायका प्रत्येक श्लोक वेदान्तके ही सिद्धान्तों और वादोंसे परिपूर्ण है। उपनिषदोंने यदि ज्ञानयोगके द्वारा परमात्मबोधकी प्राप्तिका माहात्म्य बड़े ही मधुर स्वरसे गाया है तो गीताने सबके स्वर मिलाकर एक विलक्षण संगीतका प्रादुर्भाव किया है और सबके आधारभूत सामञ्जस्य और एकत्वको प्रकट किया है जो गीताके शब्दोंका केवल उत्तान अर्थ ग्रहण करनेवालोंके ध्यानमें भले ही न आवे।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
(१३। २४-२५)

'कुछ लोग ध्यानके द्वारा आत्माको विशुद्ध हृदयसे अपनी बुद्धिमें देख लेते हैं, अन्य लोग कर्मयोगके द्वारा; और फिर कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इसको न जानकर, दूसरोंसे सुनकर, जैसा सुना है वैसी उपासना करते हैं। ये भी, जो कुछ सुना है उसीको परम आश्रय जानकर मृत्युको पार कर जाते हैं।'

हिन्दूतत्त्वज्ञानके सभी ग्रन्थोंमें ज्ञानका बड़ा माहात्म्य गाया गया है। अधम-से-अधम मनुष्यके लिये भी वेदान्तमें इस बातकी अनन्त आशा है और उत्साह है कि वह अपने खोये हुए दिव्य स्वरूपको पुनः प्राप्त कर सकता है। जब मनुष्य अकथनीय क्लेशों और आधि-व्याधि-व्यथाओं और घोर यन्त्रणाओंका भागी होता है और काल अपने अति भयानक रूपसे उसके सामने नाचने लगता है और सब हित-नात उसे छोड़ देते हैं तब वहाँ उसे प्रेमसे आलिङ्गन करनेके लिये वेदान्त ही सामने आता है और उस आर्त्तको दुःख और अज्ञानके पंकसे बाहर निकालता है। और तब गीताका आत्माको जगानेवाला पाञ्चजन्य-शङ्खनिनाद उसके कानोंमें गूँजता है और अन्तःस्थित आत्माकी निष्कलंक पवित्रता और दिव्यताका अनुभवामृत पानकर उसका नया जन्म होता है। आत्मा, ईश्वर और विश्वके सम्बन्धमें अबतक जो अज्ञान उसे विवश और दुर्बल बनाये हुए था वह अज्ञान छूट जाता है, उसका सारा दुःख और दौर्बल्य नष्ट हो जाता है।

बुद्धिवादकी चढ़ाई और विद्वत्ताकी विलक्षण प्रगतिके इस जमानेमें ज्ञानके सम्बन्धमें आधुनिकोंकी बड़ी अनूठी कल्पना है। किसी सिद्धान्तको बुद्धिके द्वारा समझ लेना ही उनका 'ज्ञान' है जिसके साथ प्रत्यक्ष अनुभूति या अन्तर्ज्ञानका कोई वास्ता नहीं। पर यह ज्ञान नहीं है। ज्ञान कोई कल्पना या विचार या शुष्क वाद नहीं है। यह वह चीज है जिसके लिये जिज्ञासुको व्यवहार्य मन-बुद्धिके अन्तस्तम बोधकी स्थितिमें रहना और बर्तना पड़ता है। और इसलिये जो कोई सर्वात्मैक्यभावको प्राप्त करनेके लिये प्रस्थान करना चाहता है उसे पहले इस महापथकी पाथेय सामग्रीसे पूर्णतया सुसज्जित हो जाना चाहिये। सबसे पहला काम यह है कि किसी गुरुके समीप जाओ जो शिष्यकी नौकाको खेकर पार लगा दे। गुरुकी सेवा; गुरुको प्रणाम और गुरुसे परिप्रश्न जिज्ञासुकी जीवन-चर्या है।

Sri Sri Amoghavardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
(४ । ३४)

‘उसे जानो, चरणोंमें लोटकर, पूछ-पूछकर और सेवा करके । जो ज्ञानी हैं, तत्त्वको जिन्होंने अनुभूत किया है वे तुम्हें ज्ञानका उपदेश करेंगे ।’

फिर विश्वास होना चाहिये अपने आपमें, आत्मप्राप्तिके साधनोंमें और आत्मसत्तामें । यह विश्वास कुछ-न-कुछ मान लेना नहीं है, अन्धविश्वास नहीं है; बल्कि दृढ़ और अत्यन्त घन विश्वास होना चाहिये । ऐसा विश्वास, अविरत अध्यवसाय, धृति और सुदृढ़ इच्छाशक्ति, लगन और फिर सबसे बढ़कर—इन्द्रियोंका संयम इत्यादि इस महासागरयात्राके अत्यावश्यक पाथेय हैं । और विवेक और वैराग्य तो ज्ञानयोगसाधक विहगके दो पंख हैं जिनसे ही वह परमात्मबोध और पराशक्त्यनुभूतिके महाकाशमें उड़ सकता है ।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान (अ० १३) ज्ञानयोग कहा गया है ।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥
(१३ । २)

‘हे भरतवंशोद्भव ! मुझे सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ भी जानो । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानको ही मैं ज्ञान मानता हूँ ।’

स्थूल और सूक्ष्म शरीर तथा उनके स्थूल और सूक्ष्म विकार ही ‘क्षेत्र’ कहे गये हैं ।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥
(१३ । ५-६)

‘पञ्च महाभूत, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त मूल प्रकृति, दश इन्द्रिय और एक मन, पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, चेतना और धृति, यह सविकार क्षेत्रका वर्णन है ।’

इस क्षेत्रका जो ज्ञाता है उसे ‘क्षेत्रज्ञ’ कहा है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥
(१३ । १)

‘हे कौन्तेय ! इस शरीरको क्षेत्र कहा गया है
कोई इसे जानता है उसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके जा
क्षेत्रज्ञ कहते हैं ।’

यह सर्ववादिस्वीकृत है कि ज्ञानके होनेमें ज्ञा
ज्ञेयका होना आवश्यक है और इसलिये ज्ञाता या
मूल या आदिकारणकी कल्पना करना केवल परले
मूर्खता है; क्योंकि ऐसी कल्पनाके लिये भी ज्ञा
ज्ञेयको उससे पहले मानना पड़ेगा और इस प्र
वाद निग्रहकोटिमें आ जायगा ।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥
(१३ ।

‘प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि जानो; औ
भी जानो कि सब विकार और गुण प्रकृतिसे उत्पन्न हुए

गीताके शब्दोंमें क्षेत्रज्ञ और कोई नहीं—पुरुष
परन्तु शरीर और इन्द्रियोंके उत्पादनमें प्रकृति ही का

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥
(१३ ।

‘शरीर और इन्द्रियोंके उत्पादनमें प्रकृति ही
कही गयी है; और सुख-दुःखकी अनुभूतिमें कारण
कहा गया है ।’

ब्रह्म या आत्मा सब बन्धनोंसे मुक्त है और
मलिनता और अपूर्णताका लेश भी कहींसे उसे
सकता, न दूषित कर सकता है; पर यह मिथ्याता
है, झूठा अध्यारोप है जो हमारी बद्धताका कारण
जिससे हम भ्रम और अज्ञानमें पड़कर उसके फल
नैतिक और आध्यात्मिक दुःख और मृत्युके भागी हो
यथार्थमें पुरुष किसी भी मानसिक या कायिक कर्ममें
नहीं लेता और इसलिये किसी भी भले-बुरे परिणामके
श्रीभगवान् जिम्मेदार नहीं माने जा सकते । आत्मा
आनन्दमय और परिपूर्ण है और इसलिये वह सब हे
उदासीन है; पर पुरुषके अति सन्निधानसे प्रकृति प्रे
स्फूर्ति या शक्ति पाकर दृश्य-अदृश्य जगत् निर्माण करती

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥
(५ ।

‘सर्वव्यापक परमेश्वर किसीके पाप-पुण्यको नहीं
करता । ज्ञान अज्ञानसे ढका हुआ है, इस कारण

ोहमें गिरते हैं ।'

विषयभूत बाह्य जगत् असत् है, इससे क्षेत्रज्ञका विषयी वरूप असत् प्रतीत होता है; विषय या विषयी नहीं बल्कि ोनोंके परे दोनोंका जो परम मूल स्वरूप है वही सत् या ह्म है ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥
(७ । ६)

'मैं समस्त जगत्का प्रभव और प्रलय हूँ ।'

ब्रह्म—एकमेवाद्वितीय ब्रह्म सर्वथा निरपेक्ष है । जैसे समुद्रकी सत्ता जलतरङ्गोंपर निर्भर नहीं करती, वैसे ही ब्रह्मको अपनी निरपेक्ष सत्ताके लिये, एक क्षणको भी किसी भौतिक जगत्की आवश्यकता नहीं होती; बल्कि जितने भी व्यक्त रूप हैं, उस परमात्मासे ही निकलते हैं यद्यपि वह सदा उनमें नहीं रहता ।

'यह सारा जगत् मुझ अव्यक्त मूर्तिद्वारा व्याप्त है; सब प्राणी मुझमें रहते हैं, पर मैं उनमें नहीं रहता ।'

आजकलके शिक्षित लोगोंकी यह बड़ी भ्रान्त धारणा हो गयी है कि वेदान्त उन्हीं लोगोंके लिये है और उन्हीं लोगोंकी चीज है जो घरबार छोड़कर जंगलोंमें या गिरिगुफाओंमें जा रहते और ध्यान-धारणादि करते हैं और इसका उपयोग भी उन्हीं लोगोंके लिये है जो दुनियामें किसी कामके नहीं रह गये हैं, बूढ़े बेकार, मरेके किनारे हैं । अयथावत् ज्ञान और भ्रान्त धारणासे अधिक हानिकर, अप्रिय और नाशकारी और कोई चीज नहीं । वर्तमान संसारके तीन चौथाई दुःख मानवजातिके अयथावत् ज्ञानसे ही उत्पन्न हुए हैं । वैयक्तिक स्वार्थपरता और परापहारिणी वञ्चकता, सामाजिक विशृंखलता और पारस्परिक अविश्वास, राजनीतिक छल-कपट और राष्ट्रीय अहंकारके इस जमानेमें जब कि ये चीजें मानवसमाजों और राष्ट्रोंका जीवन नष्ट कर रही हैं और सभ्यता तथा संस्कृतिको पूर्णताके पथसे भ्रष्ट कर रही हैं, वेदान्तमार्ग हो एक ऐसा मार्ग है जिससे उस नवीन सभ्यताके निर्माणका बड़ा भारी काम होनेवाला है जिसके लिये संसार तरस रहा है, क्योंकि यह वेदान्त ही मनुष्यको उसके अन्तःस्थित भगवत्तत्त्वका परिचय करानेवाला है । ईश्वर करे कि वेदान्तका यह उद्देश्य शीघ्र पूरा हो और इस नवीन भावी सभ्यताके ले आनेवाले देवदूत संसारमें प्रेम और ज्ञानका सन्देश घर-घर पहुँचावें, यही उन लोगोंकी प्रार्थना है जो इसी दृष्टिसे प्रयत्न कर रहे हैं ।

ज्ञानका साधन

(लेखक—स्वामी श्रीप्रज्ञानाथजी महाराज)

समस्त जीवोंमें दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिके लिये अत्यन्त उत्सुकता पायी जाती है, और वह उत्सुकता यद्यपि कुछ अंशतक मन्त्र-ओषधियोंद्वारा सम्पन्न हो जाती है तथापि इनके द्वारा मनुष्यजीवनके चरम लक्ष्य मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती, इसे सभी विचारशील मनुष्योंको स्वीकार करना पड़ता है । दार्शनिकोंने मुक्तिके साधनकी खोजमें अग्रसर होकर अनेकों उपायोंका निदर्शन किया है, जो आपाततः दृष्टिसे परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं । इसी कारण महाभारतमें लिखा है—

वेदा विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना
नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

अतएव महर्षिगणके सिद्धान्त आगे क्रमशः दिखलाये जाते हैं ।

१–मीमांसादर्शनके मतसे धर्मके द्वारा ही निःश्रेयस या मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है । काम्य और निषिद्ध कर्मोंका परित्यागकर नित्य और नैमित्तिक कर्मोंके करनेसे फलस्वरूप स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है । स्वर्गादिकी प्राप्ति ही धर्मका मुख्य उद्देश्य है । यह धर्म जिस उद्देश्यसे किया जाता है उस उद्देश्यकी प्राप्तिका हेतु होता है, परमात्मबुद्धिसे क्रियमाण होनेपर अर्थात् परमेश्वरकी प्रीतिके लिये करनेपर निःश्रेयसका कारण होता है । श्रुति, स्मृति और सदाचार धर्मके प्राण हैं । श्रुति वेदको कहते हैं । महर्षियोंने श्रुतिका स्मरण कर जो कुछ कहा है वह स्मृति है तथा सत्पुरुषोंके जो साधु आचार हैं उनका नाम सदाचार है । इनमें वेद तो स्वतःप्रमाण है और स्मृति और सदाचार वेदमूलक होनेसे ही प्रमाण माने जाते हैं । अर्थकर्म और गुणकर्मभेदसे कर्म दो प्रकारके होते हैं, अदृष्टको उत्पन्न करनेवाला जो आत्मगत कर्म है उसे अर्थकर्म कहते हैं जैसे अग्नि-

होत्रादि। अर्थकर्मके तीन भेद हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। इनमें नित्यकर्म अग्निहोत्र, सन्ध्या-वन्दनादि हैं, नैमित्तिक कर्म पुत्रेष्टि आदि हैं। काम्य कर्म तीन प्रकारके होते हैं, ऐहिक फलक (इसी लोकमें फल देनेवाला), आमुष्मिक फलक (परकालमें फल देनेवाला) और ऐहिकामुष्मिकफलक (इहकाल और परकाल दोनोंमें फल देनेवाला)। इनमें ऐहिकफलक कर्म हैं कारीरि-यागादि* आमुष्मिकफलक दर्शपौर्णमासादि, और ऐहिकामुष्मिकफलक—

'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः।' इत्यादि।

संस्कारकर्मोंको गुणकर्म कहते हैं। इसके भी अनेक भेद हैं। संस्कारकर्म चार प्रकारके होते हैं—उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति। इनके भेद-प्रभेदका उल्लेख वेदान्त-ग्रन्थोंमें हुआ है अतएव यहाँ विस्तार करना अनावश्यक है। कर्मद्वारा केवल बन्धन ही होता है, क्योंकि स्वर्गादिसे भी पतनकी सम्भावना बनी रहती है, अतएव आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति इसके द्वारा नहीं हो सकती। महर्षिने मीमांसादर्शनमें धर्मशास्त्र और धर्मके फलोंका जहाँतक हो सकता है, निर्देश किया है। कर्मके द्वारा चित्तशुद्धि होनेपर यह भी गौणरूपसे मोक्षका साधन हो जाता है, यही उनका अभिप्राय मानना पड़ेगा। क्योंकि महाभारतमें भी यही बात लिखी हुई है—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्ययाथ विमुच्यते।

२–वैशेषिकदर्शनकार महर्षि कणादने भी 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' के रूपमें प्रतिज्ञा करते हुए धर्मशास्त्रका प्रणयन किया है। उनके मतसे केवल धर्मानुष्ठान ही मुक्तिका साधन नहीं है। धर्मके साथ आत्मविचारयुक्त हुए बिना मुक्ति नहीं हो सकती। अतएव धर्मके साथ षट् पदार्थोंके विचारसे अर्थात् धर्मविशेषके द्वारा षट् पदार्थके साधर्म्य और वैधर्म्यरूप जो तत्त्वज्ञान होता है, उससे मुक्ति होती है। इच्छा और द्वेषसे धर्माधर्म उत्पन्न होते हैं और धर्माधर्मसे ही जन्म-मरणका प्रवाह है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन प्रभृति तथा यमादि लक्षणयुक्त आत्मसाधनके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति होती है। अदृष्टके अभावसे शरीरान्तरके साथ पुनः संयोगके न होने अर्थात् जन्म-मरणसे रहित होनेको, जिसमें पुनः दुःखका प्रादुर्भाव नहीं होता, मोक्ष कहते हैं।

३–न्यायदर्शनके प्रवर्तक गौतम, पहले सूत्रमें षोडश पदार्थोंके विचारद्वारा तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति और तत्त्वज्ञानके
द्वारा निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है यह प्रतिज्ञा करते
फिर तत्त्वोंके विचारद्वारा मुक्ति नहीं प्राप्त हो सक
मानकर आत्मतत्त्वज्ञानके मुख्य सूक्ष्म साधन
समाधिका अभ्यास करनेके लिये उपदेश देते हैं।
के शुभ कर्मोंके फलसे जो अदृष्ट उत्पन्न होता है
समाधिके सारे प्रतिबन्धक नष्ट हो जाते हैं और
विशेषका अभ्यास हो सकता है। योगके लिये वन,
नदीतट प्रभृति स्थानोंका आश्रय करना चाहिये।
लिये यम-नियम तथा योगशास्त्रके द्वारा प्राप्त
विद्याके साधनों अर्थात् आसनादिके द्वारा योग्यत्व (
विशेष) का सम्पादन करना पड़ता है। आत्मत
अनुकूल शास्त्रोंके अभ्यास और उन शास्त्रोंके ज्ञाता
साथ वार्तालाप करके तत्त्वविचार कर सन्देहको दू
पड़ता है। अतएव महर्षिके मतसे विचारको भी
का साधन माना गया है।

४–सांख्यकर्ता कपिल अपने 'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं
सृष्टिरा विवेकात्' (३।४७) तथा 'विविक्तबोधात् सृष्टि
(३। ६३) सूत्रोंमें बतलाते हैं कि ब्रह्मासे तृणपर्यन्त
सृष्टि पुरुषके लिये ही होती है, जबतक तत्तत्
विवेकज्ञान नहीं होता तबतक सृष्टि रहती है;
बोध होने अर्थात् प्रकृति-पुरुषके साक्षात्कार होनेपर
निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् उस विवेकी पुरुष
जन्म नहीं होता। विवेकदशामें भी यद्यपि प्रकृति-
संयोग रहता है परन्तु प्रयोजनके अभावमें पुनः सृ
होती। तत्त्वके अभ्याससे विवेककी सिद्धि होनेपर
लिङ्गशरीरके नष्ट होनेपर सब दुःखोंकी निवृत्तिसे
कृतकृत्य हो जाता है। श्रवण-मननके द्वारा केवल
अधिकारीको ही तत्त्वज्ञान होता है। केवल विवेक
उदयसे ही शरीरका पतन नहीं हो जाता। जिस
कुम्हारकी क्रिया न होनेपर भी वेगाख्य संस्कारसे
कुलालचक्र घूमता रहता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञानसे
अविद्याकी निवृत्ति होनेपर भी विवेकी पुरुष कुछ स
जीवित रहते हैं। यही जीवन्मुक्त पुरुष तथा मुमुक्षु
उपदेष्टा हैं।

५–पतञ्जलिके योगशास्त्रपर खूब विचार
जान पड़ता है कि वे सांख्यशास्त्रके ही परिशिष्ट
रचना करते हैं। विचारके द्वारा प्रकृति और पुरुषका
ज्ञान हो जानेपर भी जबतक चित्तकी स्थिरता नहीं

---

* यह यज्ञ वर्षा चाहनेवाला पुरुष किया करता है।

ती तबतक ज्ञानका मुख्य फल शान्ति प्राप्त नहीं होती । तएव विवेकके साथ-साथ शान्तिके लिये चित्तका निरोध वश्यक है । इसीलिये वह प्रतिज्ञा करते हैं कि 'योगश्चित्त-त्तिनिरोधः' । योगदर्शन सांख्यदर्शनमूलक है, सांख्य-र्शनके ही तत्त्वोंका योगदर्शन अवलम्बन करता है । दार्थनिर्णयकी दृष्टिसे सांख्यदर्शनके साथ योगदर्शनका कमत्य होनेके कारण योगदर्शनको सांख्यप्रवचन भी ह सकते हैं । वस्तुतः जिस प्रकार पेट और पीठ अलग-लग नहीं हैं उसी प्रकार सांख्य और योग भी अलग-लग नहीं हैं । इसी कारण गीतामें भगवान्ने सांख्य और गको एक रूपमें देखनेका उपदेश दिया है । सांख्यशास्त्र वल तत्त्वके निदिध्यासन और वैराग्यके अभ्यासद्वारा त्मसाक्षात्कार कराता है, और योगशास्त्र तप, स्वाध्याय ौर ईश्वरप्रणिधानरूप क्रियायोगके द्वारा आत्मसाक्षात्कार राता है । फलतः मोक्षधर्मका सांख्य तत्त्वकाण्ड है और ोग साधनकाण्ड । उपयुक्त गुरु प्राप्त कर लेनेपर अष्टाङ्ग-गका अनुष्ठान किये बिना भी मन्त्रयोगकी सहायतासे गका फल प्राप्त हो सकता है । वैसा गुरु (सिद्ध गुरु) मिलनेपर अष्टाङ्गयोगका अभ्यास करना पड़ता है ।

योगके आठ अङ्ग हैं, उनका विधिपूर्वक अनुष्ठान रनेसे अविद्यादि क्लेशोंकी निवृत्ति होती है । इससे वेकज्ञानपर्यन्त ज्ञानका अतिशय प्रकर्ष होता है । यम, यम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और माधि ये आठ अङ्ग हैं । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य ौर अपरिग्रह इन पाँचोंको यम कहते हैं । प्राणियोंको ीड़ा न पहुँचानेका नाम अहिंसा है, मन और वचनके थार्थ्यका नाम सत्य है, परद्रव्यकी किसी प्रकार आकांक्षा करनेका नाम अस्तेय है, उपस्थेन्द्रिय और जिह्वाका यम ब्रह्मचर्य है, शरीरयात्राके अतिरिक्त पदार्थोंका संग्रह करना अपरिग्रह है । यह अहिंसादि पञ्चविध यम यदि ाति, देश, काल, समय या नियमद्वारा अविच्छिन्न न हों र्थात् सभी सर्वदा अविशेषरूपसे अनुष्ठित हों तथा भी अवस्थाओंमें सुस्थिर रहें तो इन्हें महाव्रत कहते हैं ।

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान न पाँचोंको नियम कहते हैं । शुचिके भावको शौच हते हैं, यह बाह्य और अभ्यन्तरभेदसे दो प्रकारका ोता है । बाह्यशौचमें मृत्तिका और जलादिके द्वारा रीरकी और पवित्र भोजनके द्वारा उदरकी शुद्धि होती है । अभ्यन्तरशौचमें मैत्री प्रभृति भावनाके द्वारा चित्तके मल—रागद्वेषादिकी निवृत्ति होती है । तुष्टि अथवा अतृप्तिके अभावको सन्तोष कहते हैं । शीतोष्ण, सुख-दुःखादिके लिये सहनका नाम तप है । प्रणवादिके जप अथवा मोक्षशास्त्रके अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं । भगवान्में निखिल कर्मोंके फलको समर्पण करनेका नाम ईश्वरप्रणिधान है । निश्चल और सुखपूर्वक बैठनेका नाम आसन है । प्रयत्नशैथिल्य और अनन्तमें समापत्तिसे आसनकी सिद्धि होती है । श्वास-प्रश्वासकी गतिके विच्छेदको प्राणायाम कहते हैं अर्थात् श्वास और प्रश्वासकी स्वाभाविक गतिको बंदकर दोनोंको शास्त्रोक्त नियममें आबद्ध करना या स्थानविशेषमें स्थापन करना प्राणायाम है । आसनसिद्धिके बाद निश्चिन्त होकर बैठनेपर श्वास-प्रश्वासकी गतिकी प्रतीक्षा करनेसे इसकी सिद्धि होती है । इन्द्रियोंके अपने विषयोंके साथ सम्बन्ध न रहनेपर चित्तके स्वरूपका अनुकरण या तुल्यताका नाम प्रत्याहार है । अर्थात् चित्तके शब्दादि विषयोंसे निवृत्त होनेपर जो श्रोत्रादि सारी इन्द्रियाँ अपने-अपने शब्दादि विषयोंसे निवृत्त होकर चित्तके निरोधमें निरोधवत् होती हैं उसका नाम प्रत्याहार है । देशविशेषमें, बाह्य या अभ्यन्तर किसी स्थानमें चित्तको धारण करनेका नाम धारणा है । जिस पदार्थमें चित्त धारित होता है उसमें चित्तवृत्तिकी एकाग्रताका नाम ध्यान है । वह ध्यान जब स्वरूपशून्य होकर केवल ध्येयाकारमें भासमान होता है तब उसे समाधि कहते हैं अर्थात् वह ध्यान जब केवल ध्येय वस्तुको ही प्रकाशित करता है; और 'मैं आपके स्वरूपका ध्यान करता हूँ' इस प्रकारके भेदज्ञानको नष्ट कर देता है तब उसे समाधि कहते हैं । धारणा, ध्यान और समाधि यह तीनोंका एक नाम 'संयम' है; संयमके अभ्यासके द्वारा प्रज्ञालोक या पूर्णप्रकाश उपस्थित होता है ।

६—वेदान्तके मतसे ज्ञाननिष्पत्तिमें अग्निहोत्रादि सब कर्मोंकी परम्पराक्रमसे अपेक्षा होती है । नित्य-नैमित्तिक कर्मद्वारा अन्तःकरणके शुद्ध हुए बिना ज्ञानके मुख्य साधन वैराग्य और मुमुक्षुत्व उत्पन्न नहीं होते । मुमुक्षुको शमदमादियुक्त होना पड़ता है । अर्थात् ज्ञानाङ्गके रूपमें शमदमादिका सम्पादन करना पड़ता है । पवित्र भोजनके समान स्व-स्व-आश्रमोचित कर्म भी ज्ञानके साधन हैं । ज्ञानार्थीके लिये आश्रमोचित कर्मोंका अनुष्ठान आवश्यक है । किसी-किसीमें पूर्वजन्मोंके अनुष्ठित कर्मोंके फलस्वरूप आश्रमोचित कर्मोंके बिना भी ज्ञानकी निष्पत्ति देखी जाती है । यज्ञादि

आश्रमकर्मोंसे शम-दमादि साधन श्रेष्ठ हैं, इसमें श्रुति-स्मृति प्रमाण है।

किसी गाँवमें पहुँचनेके लिये यहाँसे चल देना ही साधन है, बिना चले केवल रास्तेकी खबर जानकर ही वहाँ कोई नहीं पहुँच सकता। लकड़ीको काटनेमें जैसे कुल्हाड़ी साधन है, उसी प्रकार सभी कार्योंमें भिन्न-भिन्न साधन होते हैं। बन्धनका कारण खोजनेपर अज्ञानके सिवा और कोई कारण नहीं मिलता। संक्षेपशारीरकमें लिखा है—

अल्पं रूपं बन्धनं प्रत्यगात्मा
बद्धोऽनेन स्वच्छचैतन्यमूर्त्तिः।
स्वात्माज्ञानं कारणं बन्धनस्य
स्वात्मज्ञानात्तन्निवृत्तिश्च मुक्तिः॥

अज्ञान भ्रान्तिरूप है। भ्रान्तिसिद्ध पदार्थके यथार्थ ज्ञानके बिना अन्य किसी उपायसे इसकी निवृत्ति नहीं देखी जाती है। जैसे रज्जुमें सर्पकी भ्रान्ति होनेपर स्नान-दान, जप-तपादिके द्वारा उसकी निवृत्ति नहीं देखनेमें आती। रज्जुका स्वरूपज्ञान होना ही उस भ्रान्तिके दूर होनेका साधन है। उसी प्रकार सब जगत् ब्रह्ममें अध्यस्त है; अध्यस्त पदार्थकी निवृत्ति अधिष्ठानके ज्ञानके बिना नहीं हो सकती अतएव सब पदार्थोंके अधिष्ठान ब्रह्मका ज्ञान होनेपर ही बन्धनकी निवृत्ति हो सकती है। ब्रह्म अपरोक्ष है, अतएव उसके ज्ञानके लिये साधनान्तरकी आवश्यकता नहीं है। एकमात्र शब्द ही ब्रह्मज्ञान उत्पन्न करनेमें समर्थ है। परन्तु असम्भावनादि दोषसे चित्तके कलुषित होनेपर शब्द यथार्थ ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता। श्रवणादिके द्वारा ही इस प्रतिबन्धकी निवृत्ति होती है।

शमादि साधनसम्पत्तिके अभ्यासके द्वारा विपरीत प्रवृत्ति निरुद्ध हो सकती है। श्रवणके द्वारा प्रमाण-प्रमेयगत संशयकी निवृत्ति होती है। मननात्मक तर्कके द्वारा असम्भावनाकी निवृत्ति होती है। निदिध्यासनके द्वारा विपरीत भावनाकी निवृत्ति होनेपर शब्दके द्वारा ही जीव-ब्रह्मकी एकताका ज्ञान हो सकता है।

ब्रह्मज्ञानी इच्छानुसार मौनावलम्बन कर सकता है, और नहीं भी कर सकता। फलतः जिस प्रकार ब्रह्मज्ञमें विधिके अनुष्ठानसे न कुछ वृद्धि होती है और न निषेधके अनुष्ठानसे कुछ क्षति ही होती है, उसी प्रकार मौनधारणमें उनके लिये कोई विधि-निषेध नहीं है।

ज्ञानसे किस प्रकार मोक्ष प्राप्त होता है, इसके लिये कोई नियम नहीं है। अर्थात् साधनसे प्राप्त होनेवाले ज्ञानमें जिस प्रकार ऐहिक और आमुष्मिक नियम हैं,
होनेवाले मोक्षमें उस प्रकार ऐहिक और आमुष्मि
नहीं हैं। अर्थात् प्रतिबन्ध न रहनेपर ऐहिक मो
और प्रतिबन्ध रहनेपर आमुष्मिक मोक्ष होता
प्रकारका नियम वहाँ नहीं है। बल्कि जब ज्ञान
मोक्ष हो जायगा। श्रवण, मनन और निदिध्यासन
ही ज्ञानके अन्तरङ्ग साधन हैं। गुरुमुखसे श्रव
जाता है, युक्तिद्वारा उसे मनन करना पड़ता है
विषयके निरन्तर ध्यान या चिन्तनके द्वारा नि
करना पड़ता है। जबतक आत्मदर्शन न हो तबत
मनन और निदिध्यासन करना पड़ता है।
समीप रहकर श्रवण, सहाध्यायीके साथ मन
एकान्तमें गिरिगुहा या नदीके तटपर निवासक
ध्यासन करना पड़ता है। कितने दिन श्रवणादि
होगा, इसका कोई नियम नहीं है। अधि
कालका तारतम्य देखा जाता है। प्रतिबन्धके प्रब
नियमित साधन करनेसे भी फलकी प्राप्ति न
जाती। परन्तु इससे निराश नहीं होना
प्रतिबन्धके नष्ट होनेपर फलकी प्राप्ति अवश्य ही

शास्त्रोंके अनुशीलनद्वारा ज्ञानके उत्पन्न हो
आसुरी सम्पत्तिके रहते वह पूर्ण फल प्रदान न
सकता। अतः वासनाक्षयके लिये दैवी स
अनुशीलन आवश्यक है। भगवान्‌ने गीताके
अध्यायमें ज्ञानके बीस साधन बतलाये
लक्षण जिस पुरुषमें दिखलायी दें उन्हें ज्ञानी
होगा। ज्ञानीका परिचय वक्तृता या वैशद्य
प्राप्त होता। लोभ अज्ञानकी ध्वजा है, लोभ
कर ही अज्ञानका पता लग जाता है। लोभपर
प्राप्त किये बिना कोई जितेन्द्रिय नहीं हो सकता।
पहले लोभपर विजय प्राप्त करके ज्ञानकी साधना
पड़ती है। ज्ञानीमें लोभ, भय और मोह नहीं रह
सिद्धिलाभ ज्ञानका लक्षण नहीं है। अविद्वान्
होते हुए भी सिद्धि प्राप्त कर सकता है। अतए
देखकर भी ज्ञानका अनुमान नहीं किया जा
अहंता और ममताका जितना ह्रास होता है
आलोक उतना ही प्रकाशित होता है। ममता
त्याग करना पड़ता है। जो दुर्व्यसनोंके त्यागनेमें
हैं उनको ज्ञानकी प्राप्ति असम्भव है। अतए

॥ श्रीगुरुभ्यो नमः ॥

शारीरकमीमांसादर्शनम्

अथ प्रथमोऽध्यायः

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥
जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥
शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥
तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥
ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥
गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ६ ॥
तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥
हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥
स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥
गतिसामान्यात् ॥ १० ॥
श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥
आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥
विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥
तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥
मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥
नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥
भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥
कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥
अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १९ ॥
अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ २० ॥
भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥
आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २२ ॥
अत एव प्राणः ॥ २३ ॥
ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २४ ॥
छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥ २५ ॥
भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥
उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २७ ॥
प्राणस्तथानुगमात् ॥ २८ ॥
न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २९ ॥
शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥
जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३१ ॥

इति वैयासिक्यां शारीरकमीमांसायां प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥
विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥
अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥
कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥
शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥
स्मृतेश्च ॥ ६ ॥
अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥ ७ ॥
सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥
अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ९ ॥
प्रकरणाच्च ॥ १० ॥
गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥
विशेषणाच्च ॥ १२ ॥
अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥
स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥
सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥
श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥
अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥
अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १८ ॥
न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १९ ॥
शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ २० ॥
अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २१ ॥
विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥
रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥
वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ २४ ॥
स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥
शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानान्नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥
अत एव न देवता भूतं च ॥ २७ ॥
साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥
अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २९ ॥
अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥
सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥ ३१ ॥
आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥ ३२ ॥

इति वैयासिक्यां शारीरकमीमांसायां प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥
मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥
नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥
प्राणभृच्च ॥ ४ ॥
भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥
प्रकरणात् ॥ ६ ॥
स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ७ ॥
भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥
धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥
अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १० ॥
सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥
अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥
ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॥ १३ ॥
दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥
गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५ ॥
धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥
प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥
इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् ॥ १८ ॥
उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥
अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥
अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ २१ ॥
अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥
अपि च स्मर्यते ॥ २३ ॥
शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥
हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥
तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥ २६ ॥
विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २७ ॥
शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २८ ॥
अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥
समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥ ३० ॥
मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ॥ ३१ ॥
ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥
भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥
शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ॥ ३४ ॥
क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥ ३५ ॥
संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥ ३६ ॥
तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥
श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॥ ३८ ॥
कम्पनात् ॥ ३९ ॥
ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥
आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥
सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥
पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

इति वैयासिक्यां शारीरकमीमांसायां प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥
सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥
तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥
ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥
वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥
त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥
महद्वच्च ॥ ७ ॥
चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥
ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥ ९ ॥
कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥
न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ ११ ॥
प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥
ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥
कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥
समाकर्षात् ॥ १५ ॥
जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥
जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥ १७ ॥
अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥ १८ ॥
वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥
प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ २० ॥
उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः ॥ २१ ॥
अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥
अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥
साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ २५ ॥
आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६ ॥
योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥
एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

इति वैयासिक्यां शारीरकमीमांसायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

समाप्तोऽध्यायश्च ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥
इतरेषां चानुपलब्धेः ॥ २ ॥
एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥
न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥ ४ ॥
अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ ५ ॥
दृश्यते तु ॥ ६ ॥
असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥
अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥
न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥
स्वपक्षदोषाच्च ॥ १० ॥
तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ॥ ११ ॥
एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२ ॥
भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥ १३ ॥
तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥
भावे चोपलब्धेः ॥ १५ ॥
सत्त्वाच्चावरस्य ॥ १६ ॥
असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७ ॥
युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥
पटवच्च ॥ १९ ॥
यथा च प्राणादि ॥ २० ॥
इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः २१
अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥
अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥
उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥ २४ ॥
देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥
कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा २६
श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥
आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥
स्वपक्षदोषाच्च ॥ २९ ॥
सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥
विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ ३१ ॥
न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२ ॥
लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥ ३३ ॥
वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ३४ ॥
न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ३५
उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥
सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

इति वैयासिक्यां शारीरकमीमांसायां द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥
प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥
पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥
व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥
अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ५ ॥
अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ ६ ॥
पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥ ७ ॥
अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥ ८ ॥
अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥ ९ ॥
विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ १० ॥
महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ ११ ॥
उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥ १२ ॥
समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः १३
नित्यमेव च भावात् ॥ १४ ॥
रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥ १५ ॥
उभयथा च दोषात् ॥ १६ ॥
अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १७ ॥
समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ १८ ॥
इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥ १९ ॥
उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २० ॥
असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥ २१ ॥
प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥ २२ ॥
उभयथा च दोषात् ॥ २३ ॥
आकाशे चाविशेषात् ॥ २४ ॥
अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥
नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥
उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २७ ॥
नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥
वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २९ ॥
न भावोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥
क्षणिकत्वाच्च ॥ ३१ ॥
सर्वथानुपपत्तेश्च ॥ ३२ ॥
नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥ ३३ ॥
एवं चात्माकार्त्स्न्यम् ॥ ३४ ॥
न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ ३५ ॥
अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ ३६ ॥
पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥
सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥
अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥
करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥
अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥
उत्पत्त्यसम्भवात् ॥ ४२ ॥
न च कर्तुः करणम् ॥ ४३ ॥
विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥
विप्रतिषेधाच्च ॥ ४५ ॥

इति वैयासिक्यां शारीरकमीमांसायां द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥
अस्ति तु ॥ २ ॥
गौण्यसम्भवात् ॥ ३ ॥
शब्दाच्च ॥ ४ ॥
स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ ५ ॥
प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ ६ ॥
यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥
एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ ८ ॥
असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ९ ॥
तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥ १० ॥
आपः ॥ ११ ॥
पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥
तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥ १३ ॥
विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥ १४ ॥
अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥ १५ ॥
चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १६ ॥
नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ १७ ॥
ज्ञोऽत एव ॥ १८ ॥
उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १९ ॥
स्वात्मना चोत्तरयोः ॥ २० ॥
नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥ २१ ॥
स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥ २२ ॥
अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २३ ॥
अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ॥ २४ ॥
गुणाद्वा लोकवत् ॥ २५ ॥
व्यतिरेको गन्धवत् ॥ २६ ॥
तथा च दर्शयति ॥ २७ ॥
पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥
तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् २९
यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ३०
पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ३१
नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वान्यथा ॥ ३२ ॥
कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३ ॥
विहारोपदेशात् ॥ ३४ ॥
उपादानात् ॥ ३५ ॥
व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ३६
उपलब्धिवदनियमः ॥ ३७ ॥
शक्तिविपर्ययात् ॥ ३८ ॥
समाध्यभावाच्च ॥ ३९ ॥
यथा च तक्षोभयथा ॥ ४० ॥
परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ ४१ ॥
कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥ ४२ ॥
अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥ ४३ ॥
मन्त्रवर्णाच्च ॥ ४४ ॥
अपि च स्मर्यते ॥ ४५ ॥
प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥ ४६ ॥
स्मरन्ति च ॥ ४७ ॥
अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥ ४८ ॥
असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥ ४९ ॥
आभास एव च ॥ ५० ॥
अदृष्टानियमात् ॥ ५१ ॥
अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥ ५२ ॥
प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ ५३ ॥

इति वैयासिक्यां शारीरकमीमांसायां द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

तथा प्राणाः ॥ १ ॥
गौण्यसम्भवात् ॥ २ ॥
तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥ ३ ॥
तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ ४ ॥
सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥
हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ ६ ॥
अणवश्च ॥ ७ ॥
श्रेष्ठश्च ॥ ८ ॥
न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥
चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥ १० ॥
अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ११
पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते ॥ १२ ॥
अणुश्च ॥ १३ ॥
ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥ १४ ॥
प्राणवता शब्दात् ॥ १५ ॥
तस्य च नित्यत्वात् ॥ १६ ॥
त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् १७
भेदश्रुतेः ॥ १८ ॥
वैलक्षण्याच्च ॥ १९ ॥
संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ २० ॥
मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ २१ ॥
वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ २२ ॥

इति वैयासिक्यां शारीरकमीमांसायां द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

समाप्तोऽध्यायश्च ।

अथ तृतीयोऽध्यायः

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥
त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ २ ॥
प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥
अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥
प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ५ ॥
अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥
भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ७ ॥
कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥
चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥ ९ ॥
आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ १० ॥
सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ ११ ॥
अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥
संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥
स्मरन्ति च ॥ १४ ॥
अपि च सप्त ॥ १५ ॥
तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६ ॥
विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥
न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ १८ ॥
स्मर्यतेऽपि च लोके ॥ १९ ॥
दर्शनाच्च ॥ २० ॥
तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥
तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ २२ ॥
नातिचिरेण विशेषात् ॥ २३ ॥
अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥ २४ ॥
अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥
रेतःसिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥
योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥

इति वैयासिक्यां शारीरकमीमांसायां तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥
निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥
मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥
सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ४ ॥
पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥ ५ ॥
देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ६ ॥
तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ७ ॥
अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥
स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥
मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥
न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥
न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥
अपि चैवमेके ॥ १३ ॥
अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥
प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥
आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥
दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥ १७ ॥
अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ १८ ॥
अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥
वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥ २० ॥
दर्शनाच्च ॥ २१ ॥
प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥ २२ ॥
तदव्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥
अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २४ ॥
प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥ २५ ॥
अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ २६ ॥
उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥
प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥
पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥
प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥
परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ३१
सामान्यात्तु ॥ ३२ ॥
बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३३ ॥
स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥ ३४ ॥
उपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥
तथान्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥
अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥
फलमत उपपत्तेः ॥ ३८ ॥
श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥
धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ४० ॥
पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

इति वैयासिक्यां शारीरकमीमांसायां तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥
भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥ २ ॥
स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥
दर्शयति च ॥ ४ ॥
उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥ ५ ॥
अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ६ ॥
न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥
संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ८ ॥
व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥
सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥
आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ११ ॥
प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ १२ ॥
इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ १३ ॥
आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥
आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥
आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १६ ॥
अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥ १७ ॥
कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ १८ ॥
समान एवं चाभेदात् ॥ १९ ॥
सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥
न वा विशेषात् ॥ २१ ॥
दर्शयति च ॥ २२ ॥
सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥ २३ ॥
पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् २४
वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥
हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्स्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥ २६ ॥
साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥ २७ ॥
छन्दत उभयाविरोधात् ॥ २८ ॥
गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोधः २९
उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥ ३० ॥
अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥ ३१ ॥
यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥
अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥
इयदामननात् ॥ ३४ ॥
अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥ ३५ ॥
अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥
व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥
सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥
कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥
आदरादलोपः ॥ ४० ॥
उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥
तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ॥ ४२ ॥
प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥
लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥
पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानसवत् ॥ ४५ ॥
अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥
विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥
दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥
श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥
अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ॥ ५० ॥
न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥
परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥
एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५३ ॥
व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ ५४ ॥
अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥
मन्त्रादिवद्वाविरोधः ॥ ५६ ॥
भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥ ५७ ॥
नाना शब्दादिभेदात् ॥ ५८ ॥
विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ ॥
काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥ ६० ॥
अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६१ ॥
शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥
समाहारात् ॥ ६३ ॥
गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६४ ॥
न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६५ ॥
दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥

इति वैयासिक्यां शारीरकमीमांसायां तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥
शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥
आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥
तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥
समन्वारम्भणात् ॥ ५ ॥
तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥
नियमाच्च ॥ ७ ॥
अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥
तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ९ ॥
असार्वत्रिकी ॥ १० ॥
विभागः शतवत् ॥ ११ ॥
अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥
नाविशेषात् ॥ १३ ॥
स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥
कामकारेण चैके ॥ १५ ॥
उपमर्दं च ॥ १६ ॥
ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ॥ १७ ॥
परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥ १८ ॥
अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥
विधिर्वा धारणवत् ॥ २० ॥
स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् २१
भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥
पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् २३
तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २४ ॥
अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २५ ॥
सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २६ ॥
शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ २७ ॥
सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ २८ ॥
अबाधाच्च ॥ २९ ॥
अपि च स्मर्यते ॥ ३० ॥
शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३१ ॥
विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३२ ॥
सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥
सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३४ ॥
अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३५ ॥
अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३६ ॥
अपि च स्मर्यते ॥ ३७ ॥
विशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥
अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३९ ॥
तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥ ४० ॥
न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥ ४१ ॥
उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ४२ ॥
बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥
स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४४ ॥
आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥ ४५ ॥
श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥
सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४७ ॥
कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ४८ ॥
मौनवदितरेषामप्युपदेशा
अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ५० ॥
ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे त
एवं मुक्तिफलानियमस्तदव
स्तदवस्थावधृतेः ॥ ५२ ॥

इति वैयासिक्यां शारीरक
ध्यायस्य चतुर्थः पा

समाप्तस्तृतीयोऽध्या

अथ चतुर्थो

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥
लिङ्गाच्च ॥ २ ॥
आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राह
न प्रतीके न हि सः ॥ ४ ॥
ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥
आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उप
आसीनः सम्भवात् ॥ ७ ॥
ध्यानाच्च ॥ ८ ॥
अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥
स्मरन्ति च ॥ १० ॥
यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥
आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥
तदधिगम उत्तरपूर्वाघयो
तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥
इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु
अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तद
अग्निहोत्रादि तु तत्कार्याये
अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः
यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥
भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्प

इति वैयासिक्यां शारीरकमी
ध्यायस्य प्रथमः पा

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥
अत एव च सर्वाण्यनु ॥ २ ॥
तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥
सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥
भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥
नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥ ६ ॥
समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं च
तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥
सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥
नोपमर्देनातः ॥ १० ॥
अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ ११ ॥
प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥
स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥
स्मर्यते च ॥ १४ ॥
तानि परे तथा ह्याह ॥ १५ ॥
अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥
तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो
सामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृति
हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ १७
रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥
निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य या
भावित्वाद्दर्शयति च ॥ १९ ॥
अतश्चायनेऽपि हि दक्षिणे ॥ २० ॥
योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते

इति वैयासिक्यां शारीरकमीमांसायां च
ध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥
वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥
तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥ ३ ॥
आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ४ ॥
उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ५ ॥
वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥
कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥
विशेषितत्वाच्च ॥ ८ ॥
सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ९ ॥
कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभि
धानात् ॥ १० ॥
स्मृतेश्च ॥ ११ ॥
परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १२ ॥
दर्शनाच्च ॥ १३ ॥
न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥ १४ ॥
अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बाद
उभयथादोषात्तत्क्रतुश्च ॥ १५ ॥
विशेषं च दर्शयति ॥ १६ ॥

इति वैयासिक्यां शारीरकमीमांसायां च
ध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ १ ॥
मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥
आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥
अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥
ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५
चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वा
दित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥
एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरो
बादरायणः ॥ ७ ॥
सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥
अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥
अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥
भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥
द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः
तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥
भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥
प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५
स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं
॥ १६ ॥
जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहि
तत्वाच्च ॥ १७ ॥
प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकम
स्थोक्तेः ॥ १८ ॥
विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥ १९
दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥
भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥
अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २

इति वैयासिक्यां शारीरकमीमांसायां चतु
ध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

समाप्तश्चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

[illegible]
[illegible]
गीताप्रेस, गोरखपुर

दुर्व्यसनोंको त्यागकर आत्मानात्मविचारमें प्रवृत्त होना चाहिये, देहादिमें अहंभाव और पुत्र-क्षेत्रादिमें ममभाव रहता है। जो ममताका त्याग नहीं कर सकता, वह अहंताको नहीं त्याग सकता अतएव ममताका त्यागकर अहंताके त्यागका यत्न करना पड़ता है। 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' ब्रह्म या ज्ञानी निर्दोष होता है। उसमें दोष नहीं रह सकता। जबतक मनुष्य सर्वथा निर्दोष नहीं हो जाता तबतक साधन-भजन करना पड़ता है। दोषकी निवृत्तिके लिये ही भजन है। ज्ञान वस्तुतन्त्र है परन्तु दोषनिवृत्ति पुरुषतन्त्र है। पुरुष जब निर्दोष हो जाता है तभी उसे पुरुष कहा जाता है। इसीसे भगवान् कहते हैं कि—

ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

बादरायणका ब्रह्मसूत्र

(लेखक—पं० श्रीव्रजविहारीलालजी शास्त्री बी० ए०, एम० आर० ए० एस०, वेदान्तरत्न, साहित्यभूषण, विद्यासागर)

'वेदान्त' किसे कहते हैं ?

'वेदान्त' शब्द समासान्त है, 'वेद' और 'अन्त' इन दो शब्दोंके मेलसे बना है। अतः इस शब्दका वाच्यार्थ वेद अथवा वेदोंका अन्तिम भाग है।

वैदिकोंने वैदिक साहित्यको दो भागोंमें बाँटा है—पहले भागका नाम है 'कर्मकाण्ड' अर्थात् वेदका वह भाग जिसका साक्षात् सम्बन्ध कर्मसे है, जो मनुष्योंके प्रति कर्तव्य कर्मका निरूपण करता है। दूसरे भागका नाम है 'ज्ञानकाण्ड', इसमें ज्ञान ही एकमात्र श्रेयस्कर है, मुक्तिका एकमात्र कारण है, ऐसा प्रतिपादन है। ऊपर लिखा विभाग किसी पुस्तकविशेषसे अथवा वेदके काण्डों आदिसे तो प्रतीत नहीं होता परन्तु साधारणतया यह कहा जा सकता है कि मन्त्रभाग और ब्राह्मण-ग्रन्थोंके वे भाग जिनका सम्बन्ध यज्ञोंसे है 'कर्मकाण्ड' भाग कहलाते हैं। और वे ग्रन्थ जो 'उपनिषद्' के नामसे प्रसिद्ध हैं और जिनका प्रधानतया सम्बन्ध ब्राह्मण-ग्रन्थोंसे है 'ज्ञानकाण्ड' कहलाते हैं। अर्थात् वेदान्त शब्दका वाच्यार्थ वेदोंका 'ज्ञानकाण्ड' है। वेद-भाग होनेसे वेदान्त शब्दसे 'श्रुति' समझनी चाहिये। 'वेदान्त', 'श्रुति' तथा 'उपनिषद्' एकार्थक हैं। ऊपर लिखे अर्थमें उपनिषदोंमें वेदान्त शब्दका प्रयोग प्रायः देखा गया है—उदाहरणार्थ मुण्डकोपनिषद् ३।२।६ श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।२२ में 'वेदान्त' शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्यजीने अपने भाष्योंमें 'वेदान्त' शब्दका प्रयोग बहुधा ऊपर लिखे अर्थमें ही किया है। परन्तु यह बात माननी ही पड़ेगी कि 'वेदान्त' शब्दका यही अर्थ स्थायी नहीं रहा।

'अन्त' शब्दका अर्थ क्रमशः 'तात्पर्य', 'सिद्धान्त' तथा आन्तरिक अभिप्राय अथवा मन्तव्य भी होने लगा। उपनिषदोंके मार्मिक स्वाध्यायसे पता चलता है कि उन ऋषियोंने, जिनके नाम तथा जिनका मत इन उपनिषदोंमें पाया जाता है, 'अन्त' शब्दका प्रयोग इसी अर्थमें किया है। इनके मतके अनुसार वेद (ज्ञान) का अन्त अर्थात् पर्यवसान ब्रह्मज्ञानमें है। देवी-देव, मनुष्य, पशु-पक्षी स्थावर-जंगमात्मक सारा विश्व-प्रपञ्च नाम-रूप-स्वरूप सारा जगत् ब्रह्मसे भिन्न नहीं, यह वेदान्त अर्थात् वेद-सिद्धान्त है। 'जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, जो कुछ नामरूपसे सम्बोधित होता है, उसकी सत्ता ब्रह्मकी सत्तासे भिन्न नहीं, मनुष्यका एकमात्र कर्तव्य ब्रह्मज्ञानप्राप्ति, ब्रह्ममयता, ब्रह्मस्वरूपताप्राप्ति है' यही एक बात वेदोंका 'मौलिक सिद्धान्त', 'अन्तिम तात्पर्य' तथा सर्वोच्च-सर्वमान्य अभिप्राय है। यही 'वेदान्त' शब्दका मूलार्थ है। इस अर्थमें वेदान्त शब्दसे—उपनिषद्-ग्रन्थोंका साक्षात् बोध होता है। परन्तु यह अर्थ भी स्थायी न रह सका, क्रमशः इसमें भी परिवर्तन हुआ। कारण यह कि उपनिषदोंमें भी केवल उन्हीं विषयोंका प्रतिपादन नहीं है जिनका एकमात्र आध्यात्मिक जीवनसे ही सम्बन्ध हो। इनमें बहुत-से ऐसे विषयोंका भी वर्णन है जिनका आध्यात्मिक जीवनसे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। ऐसी अवस्थामें संशयका होना स्वाभाविक ही है। आवश्यकता हुई कि एक ऐसे मौलिक ग्रन्थकी रचना हो जिसमें आध्यात्मिक ज्ञान-सम्बन्धी विषयोंका ही प्रधानतया निस्संदिग्ध प्रतिपादन हो और उपनिषत्सम्बन्धी ज्ञानमें जो बुद्धिविभ्रमजन्य भ्रान्तियाँ हों उनका युक्ति-तर्कद्वारा न सिर्फ संशोधन ही हो प्रत्युत

समन्वय भी हो। यह बात सर्वसाधारण ज्ञानका विषय है कि उपनिषदोंमें सभी मतोंके सिद्धान्तोंके आश्रयभूत, सभी सम्प्रदायोंके मूलभूत वाक्य पाये जाते हैं। यदि सद्वादका वर्णन है तो असद्वादका भी वर्णन है ही। ऐसी अवस्थामें कौन-सा सिद्धान्त, कौन-सा मत, कौन-सा सम्प्रदाय वेदमूलक है, और कौन-सा वेदामूलक है, ऐसा सन्देह स्वाभाविक ही है। इस सारी अड़चनको दूर करनेके लिये वेदमूलक—उपनिषन्मूलक सिद्धान्तोंको नये सिरेसे, युक्तितर्कद्वारा यथावत् प्रतिपादन करनेके लिये आध्यात्मिक शास्त्ररचनाकी आवश्यकता हुई और यह आध्यात्मिक शास्त्र रचा गया। इसका नाम है 'वेदान्तशास्त्र' तथा 'वेदान्तदर्शन'। यह परिभाषा हृदयंगम तथा व्यापिनी है। इसमें उन सब ग्रन्थोंका अन्तर्भाव हो जाता है जिनका प्रतिपाद्य विषय आध्यात्मिक है। यद्यपि इस परिभाषाकी कोटिमें प्रधानतया उपनिषद् ग्रन्थ ही आने चाहिये थे; परन्तु ऐसा नहीं हुआ। वेदान्तशास्त्र अथवा वेदान्तदर्शनसे प्रायः लोग ब्रह्मसूत्रोंको ही लेते रहे हैं। परन्तु इतना जरूर है कि 'श्रुति' से 'उपनिषद्वाक्य' तथा 'वेदान्तशास्त्र' से 'ब्रह्मसूत्र' का तात्पर्य लिया जाता है।

वेदान्तके तीन अनमोल रत्न—जिनका नाम 'प्रस्थानत्रयी' है

वेदान्तके मौलिक ग्रन्थ तीन हैं—उपनिषद्, वेदान्तसूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता। वेदान्तशास्त्रवेत्ता इन तीनोंको समुच्चयपरिभाषामें 'प्रस्थानत्रयम्' अथवा 'प्रस्थानत्रयी' कहते हैं। पहले प्रस्थानका नाम अर्थात् उपनिषदोंका नाम श्रुतिप्रस्थान है। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतकि तथा श्वेताश्वतर—ये बारह प्रधान उपनिषद् हैं। इनमेंसे ऐतरेय तथा कौषीतकि ऋग्वेदीय, केन और छान्दोग्य सामवेदीय, ईश तथा बृहदारण्यक शुक्ल यजुर्वेदीय, कठ, तैत्तिरीय तथा श्वेताश्वतर कृष्ण यजुर्वेदीय, प्रश्न, मुण्डक तथा माण्डूक्य अथर्ववेदीय उपनिषद् हैं।

दूसरा प्रस्थान जिसको न्यायप्रस्थान भी कहते हैं, ब्रह्मसूत्र है। इन ब्रह्मसूत्रोंका नाम वेदान्तसूत्र, शारीरक, मीमांसा, उत्तरमीमांसा भी है। बहुमत है कि इन सूत्रोंके रचयिता बादरायण अथवा कृष्णद्वैपायन हैं और ये बादरायण वे ही हैं जिनका सार्थक नाम वेदव्यास है।

वेदान्तसूत्रोंके रचयिता महर्षि बादरायण हैं

यह विषय बड़ा विवादग्रस्त है। ब्रह्मसूत्रोंमें रायणका नाम आया है, औ है कि ये बादरायण वे ही थे उपनिषदोंकी जटिल गुत्थियाँ थीं। निर्भ्रान्ततया यह बात कठिन है कि इन ब्रह्मसूत्रोंके कर्त्ताका ही सूत्रोंमें लिखा गया है। तीसरा प्रस्थान गीताप्रस्था प्रस्थान कहलाता है। भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्यजी तहाँ गीताका नाम 'स्मृति' शब्दसे ही लिखा है।

यह प्रस्थानत्रयी भारतीय ज्ञानभण्डारका सर्वो है। इसकी प्रामाणिकताका अंदाजा इसी एक बा जाता है कि हर एक आचार्यने, प्रत्येक साम्प्रदायि प्रस्थानत्रयीपर भाष्य लिखे, टीकाएँ बनायीं, वार्तिक, तिलक आदि प्रबन्ध लिखे। प्रधान बारह षदोंपर, ब्रह्मसूत्रोंपर तथा श्रीमद्भगवद्गीतापर श्रीम शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, र्काचार्य आदियोंके भाष्य आदि मिलते हैं। आध्यात्मिक ज्ञानप्रिय देश है। आध्यात्मिक ज्ञा उच्च कोटिके ग्रन्थ उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता प्राचीन कालमें किसी भी आचार्यका मत प्रामाणि नहीं गिना जाता था जबतक वह आचार्य यह प्रम करे कि उसके मतकी पुष्टि उपनिषद् आदिसे हो अतएव प्रत्येक आचार्यने इन ग्रन्थोंपर भाष्य, टीकाएँ, टिप्पणियाँ आदि लिखीं। जिस आचार्यका जैसा दृष्टिको उसने इन ग्रन्थोंका वैसा ही अर्थ किया। किसीने स्वारस्यसे अर्थ किया, और किसीने क्लिष्टकल्पना, अध्याह अर्थापत्तियोंसे काम लिया। कुछ लोगोंने उपक्रम-उ आदिकी परवा न करते हुए मनमानी भी की। हुआ कि आज यह भी समस्या है कि उपनिषद् यथार्थ तात्पर्य क्या है। अस्तु, यह विषयान्तर है। यह कि 'वेदान्त' शब्दका पारिभाषिक अर्थ केवल अन्तिम भाग, अथवा वेदका सिद्धान्त ही नहीं प्रत्युत दर्शन, औपनिषद सिद्धान्त, वेदान्तमत तथा फिलॉसफी है। और यह परिभाषा इतनी व्यापिनी इसमें सभी प्रकारके ग्रन्थोंका जो प्रस्थानत्रयीके सुलझानेके लिये लिखे गये हैं, उदाहरणार्थ प्रकर खण्डनग्रन्थ, मण्डनग्रन्थ जो आजतक लिखे जा अथवा प्राचीन कालमें लिखे गये, सबका अन्त जाता है। ब्रह्म ही इसका मुख्य विषय होनेसे दर्शनको ब्रह्मसूत्र कहते हैं। ब्रह्मसूत्रका दूसरा

त्तरमीमांसा इसलिये है कि यह वेदके अन्तिम ज्ञानकाण्ड- प्रतिपादक है ।

शारीरकमीमांसा इसे इसलिये कहते हैं कि यह शरीरस्थित जीवावस्थापन्न ब्रह्मविषयक विवेचनका प्रतिपादन करता है ।

दान्तदर्शनमें कितने सूत्र हैं ?

प्रायोवाद है कि इसमें ५५६ सूत्र हैं । परन्तु यह भी विषय विवादग्रस्त है । निम्नलिखित सूचीसे मालूम होगा कि किस आचार्यके मतमें कितने सूत्र हैं—

कर	रामानुज	वल्लभ	भास्कर	मध्वा-चार्य	निम्बार्क	विज्ञान-भिक्षु	श्रीकण्ठ	बलदेव
५५	५४५	५५५	५४७	५६२	५४९	५५६	५४५	५५६

ऊपर दी हुई सूचीसे यह बात साफ है कि इन आचार्योंमें केवल साम्प्रदायिक मतभेद ही नहीं है प्रत्युत भाष्यभेदसे सूत्रभेद और पाठभेद भी है ।

उदाहरण—शंकर, रामानुज आदिके अनुसार 'जन्माद्यस्य यतः', 'शास्त्रयोनित्वात्' ये दो सूत्र हैं । परन्तु वल्लभाचार्यके मतमें 'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्' यह एक ही सूत्र है । बलदेवको छोड़कर बाकी सब भाष्यकार 'हेयत्ववचनाच्च' ऐसा सूत्रपाठ करते हैं । परन्तु बलदेवजीके मतमें 'हेयत्वं वचनाच्च' ऐसा पाठ होना चाहिये । ऊपरकी सूचीमें सूत्रसमष्टिको लेकर सूत्रसंख्यामें भेद दिखाया है और लेखके विस्तार-भयसे प्रत्येक अध्यायकी सूत्रसंख्यामें क्या भेद है यह तुलनात्मक सूची नहीं दी है । परन्तु इन नौके नौ भाष्योंके सूत्रपाठका तुलनात्मक विवेचन किया जाय तो मालूम होगा कि परस्पर क्या भेद है । उदाहरणके तौरपर प्रथम अध्यायकी समष्टि सूत्र-सूची देता हूँ ।

निम्बार्क	बलदेव	भास्कर	मध्व	रामानुज	वल्लभ	विज्ञान-भिक्षु	शंकर	श्रीकण्ठ
१३७	१३५	१३३	१३५	१३८	१३४	१३४	१३४	१३८

वेदान्तदर्शनके केवल चार अध्याय हैं, और प्रत्येक अध्यायमें चार-चार पाद हैं ।

वेदान्तसूत्रका संक्षिप्त विवरण

प्रखरमति भाष्यकारोंने यथामति इन ब्रह्मसूत्रोंकी संगति लगायी है, विषयनिर्वाचन किया है । किन-किन सूत्रोंमें क्या-क्या विषय प्रतिपादित हुआ है, यह बात खोलकर बतायी है । यह विषयनिर्वाचन अधिकरणद्वारा किया गया है । अधिकरण-संख्यामें भी मतभेद है । भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यानुसार अधिकरणसंख्या १९१ है । बलदेवभाष्यमें अधिकरणसंख्या १९८ है । श्रीकण्ठीय ब्रह्मसूत्र-मीमांसाभाष्यमें अधिकरणसंख्या १७२ है । श्रीरामानुज-मतानुसार अधिकरणसंख्या १५६ और निम्बार्कभाष्यानुसार १५१ है । इसी प्रकार अणुभाष्य (वल्लभाचार्यकृत) में १६२ तथा मध्वभाष्यमें अधिकरण-संख्या २२३ है । भास्कराचार्य तथा विज्ञानभिक्षुजीने अधिकरणसंख्याकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया ।

ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायका नाम 'समन्वय' है । इस अध्यायमें अनेक प्रकारकी श्रुतियोंका समन्वय किया गया है । जैसे प्रथम अध्यायके पहले पादमें स्पष्टज्ञापक श्रुति-समूहका, दूसरे पादमें अस्पष्ट ब्रह्मभावात्मक श्रुतिसमूहका, तीसरे और चौथे पादमें संशयात्मक श्रुतियोंका समन्वय किया गया है । दूसरे अध्यायका साधारण नाम अविरोध है । इसके प्रथम पादमें स्वमत-प्रतिष्ठाके लिये स्मृतितर्कादि-विरोधोंका परिहार किया गया है । द्वितीय पादमें विरुद्ध मतोंके प्रति दोषारोपण किया गया है । तृतीय पादमें ब्रह्मसे तत्त्वोंकी उत्पत्ति कही गयी है, और चतुर्थ पादमें भूत-विषयक श्रुतियोंका विरोध-परिहार किया गया है । फलतः इस अध्यायमें विरोधी दर्शनोंका खण्डन करके युक्ति और प्रमाणके साथ वेदान्तमत अविरोध कथन किया है ।

तृतीय अध्यायका साधारण नाम साधन है । इसमें जीव और ब्रह्मके लक्षणोंका निर्देश करके मुक्तिके बहिरंग और अन्तरंग साधनोंका उपदेश किया गया है ।

चतुर्थ अध्यायका नाम फल है । इसमें जीवन्मुक्ति, जीवकी उत्क्रान्ति, सगुण और निर्गुण उपासनाके फलके तारतम्यपर विचार किया गया है । ऊपरके संक्षिप्त विवेचनका नाम षोडशपदार्थसंग्रह है । भाष्यकारोंने सूत्रोंके गूढ़ अर्थोंके समझानेके लिये कई प्रकारकी संगतियाँ भी लगायी हैं । प्रधानतया तीन तरहकी संगति है—शास्त्रसंगति, अध्यायसंगति तथा पादसंगति । उदाहरण—ईक्षति-अधिकरणमें विवेचन किया गया है कि 'तदैक्षत' यह वाक्य प्रधानपरक है अथवा ब्रह्मपरक । चूँकि यह विचार ब्रह्मसम्बन्धी है अतः इसकी ब्रह्मविचारशास्त्रमें संगति है । इसीको शास्त्रसंगति कहा गया है । 'तदैक्षत' इस वाक्यका तात्पर्य ब्रह्ममें है, प्रधानमें नहीं, ऐसा निर्णय होनेसे

समन्वयाध्यायसंगति भी है। ईक्षण चेतनब्रह्मका असाधारण-तथा स्पष्ट लिंग है, अतः इसकी प्रथम पादसे संगति है। इसका नाम पादसंगति है। यही नहीं, और भी कई प्रकारकी संगतियाँ हैं जिनका नाम अवान्तरसंगति है, जैसे आक्षेपसंगति, दृष्टान्तसंगति, प्रत्युदाहरणसंगति तथा प्रासंगिक संगति। लेखका आकार बहुत न बढ़ जाय, अतः इनके उदाहरण नहीं दिये गये। प्रत्येक अधिकरण पञ्चावयव है—विषय, संशय, संगति, पूर्वपक्ष तथा उत्तर-पक्ष (सिद्धान्त)। विस्तारभयसे अधिकरणोंके पाँच अवयवोंके उदाहरणका दिग्दर्शन नहीं किया गया है। वेदान्ताचार्योंने भामती आदि ग्रन्थोंमें इनका खूब ही सविस्तर प्रतिपादन किया है।

इन ब्रह्मसूत्रोंको यथावत् समझानेके लिये तथा इनका प्रतिपाद्य विषय जिज्ञासुओंके हृदयमें बैठानेके लिये बहुतेरे भाष्योंकी रचना हुई है। सारे भाष्योंमें उच्च कोटिका भाष्य शांकरभाष्य है। यह बात निर्विवाद है कि श्रीगौड़पादाचार्य श्रीशंकराचार्यजीके दादागुरु थे। श्रीगौड़पादाचार्यजीकी जन्मतिथि, जन्मकाल तथा जन्मदेश सन्देहास्पद ही हैं। कहा जाता है कि भगवत्पाद श्रीगौड़पादाचार्यजीने ७८० ईस्वीके लगभग उपनिषदोंके एक ब्रह्मवादको पुनर्जन्म दिया था। आपने अपने विचारोंको माण्डूक्य-कारिकाके रूपमें आध्यात्मिक-विचारप्रिय संसारके सामने रक्खा। आपके शिष्य भगवत्पाद गोविन्दाचार्यजी नर्मदा-तीरपर संन्यासवास करते थे।

शंकराचार्यजीके गुरु तथा परम-गुरु कौन थे?

आपका बनाया हुआ कोई भी ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ है। परन्तु यह बात निर्विवाद है कि आप उच्च कोटिके संन्यस्त वेदान्ताचार्य, अद्वैतसिद्धान्तमूर्ति थे। इसका एकमात्र प्रमाण यही है कि आप शंकराचार्यजीके परम आदरणीय श्रद्धास्पद गुरु थे। श्रीशंकराचार्यजीने अपने बनाये हुए भाष्योंके प्रारम्भमें आपके नामका स्मरण बड़ी ही श्रद्धा तथा भक्तिसे किया है। यह बात बहुमतसिद्ध है कि जिस अद्वैतसिद्धान्तका संक्षिप्त वर्णन स्वनिर्मित माण्डूक्योपनिषत्-कारिकामें श्रीगौड़पादाचार्यजीने किया था और जिन अद्वैतसिद्धान्तोंको गोविन्दाचार्यजीने मौखिक व्याख्यानोंद्वारा हृदयंगत कराया था उन्हीं अद्वैतवेदान्तसिद्धान्तोंका भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यजीने स्वनिर्मित शान्त, प्रसन्न, गम्भीर शारीरकभाष्यमें सविस्तर प्रतिपादन किया है।

शंकरजन्म-कालनिर्णय

ईसाकी छठी-सातवीं तथा आठवीं शताब्दी अत्यन्त क्रान्तिकारी समय समय वैदिक धर्म अत्यन्त संक भारतवर्ष नानाविध अवैदिक क्रीड़ास्थल बन रहा था। कहीं तो कहीं जैन। कहीं पाशुपत्य धर्मका प्रचार था क्षपणक और कापालिक धर्मका विजयदुन्दुभिना पड़ता था। शाक्तमत अपने ही तराने गा रहा तरह वैदिक धर्म एक ओर बौद्धोंके अविरत प्रहारों काय हो रहा था, और दूसरी ओर शाक्त और आदि भेदोंसे तहस-नहस होकर अनेकों अनाचारों भी हो चला था। तब ऐसे धर्म-संकटमें एक ऐसे महापुरुषके अवतारकी बड़ी भारी आवश्यकता विपक्षियोंसे वैदिक सभ्यताकी रक्षा करता हुआ उप मान दोषोंका परिशोधन करता। भगवान् शंक परिस्थितिमें अवतीर्ण हुए।

आपका जन्म शिवगुरु ब्राह्मणके घर सुभद्रा दे से केरल देशके कात्वटो नामक ग्राममें हुआ। पं० शर्माजीने उपदेशसाहस्रीकी भूमिकामें लिखा है कि भगवत्पादका जन्मकाल कलिगताब्द ३८८९ विक्रम ८४५ में हुआ। इस दिन चैत्रशुक्ल दशमी तिथि थी। तैलंगजीका मत है कि शङ्कराचार्यजीका जन्म ईसा शताब्दीके मध्य अथवा अन्तिम भागमें हुआ भाण्डारकर ६८० ईस्वीके लगभग बल्कि इससे वर्ष पहले शङ्कर-जन्मको नियत करते हैं। प्रोफेसर मैक्स तथा मैकडानलका मत है कि आपका जन्म ७८८ हुआ। तथा स्वस्वरूपप्राप्ति (मृत्यु) ८२० ई०में प्रो० कीथकी सम्मतिमें शङ्कर-जन्म ईसाकी नवमी श के प्रथम भागमें हुआ है। ऊपरके लेखसे यह बात है कि शङ्कर-जन्मके विषयमें बहुत-सा मतभेद है। बहुमतसे यह मानना पड़ेगा कि ७८८ ई०में ही जन्म था। आप मालावारके नामबुद्री ब्राह्मणकुलमेंसे एक आपके ऐहिक देहकृत्यके विषयमें यदि कोई कुछ लगाना चाहे तो उसे मध्वशङ्करदिग्विजय, आनन्द शङ्करविजय पढ़ने चाहिये।* चिद्विलास तथा सदान ने भी इनके जीवनपर कुछ प्रकाश डाला है। स्कन्द में भी कुछ इतिवृत्त प्राप्त होता है।

---

* कुछ सज्जन श्रीशङ्कराचार्यका काल ईसासे पूर्व मा [illegible]का मत इसी अंकमें अन्यत्र प्रकाशित है।

श्रीशङ्कराचार्यकृत सुधारोंका संक्षिप्त वर्णन

आपने १६ वर्षकी अवस्थाके बाद दिग्विजयका प्रारम्भ किया था। इस अरसेमें आपने अद्वैत-सिद्धान्तका खूब ही प्रचार किया, वैदिक सभ्यताके विरोधियोंका मर्दन किया। जब आप अद्वैतसिद्धान्तका प्रतिपादन करने बैठते थे तब आपकी ओजस्विता-भरी, प्रसन्न तथा गम्भीर प्राञ्जल भाषासे बड़े-से-बड़े पण्डितराज, नरराज आदि प्रभावित हो उठते थे और आपकी शिष्य-कोटिमें आकर अपनेको कृतकृत्य मानने लगते थे। आपने शाक्त, गाणपत्य, भैरव आदि अनेक धर्मोंकी कुरीतियोंकी कड़ी समालोचना की और उनका संशोधन भी किया। परस्पर-भेद इन मतोंकी जड़को खोखला कर रहा था। इनमें फैले हुए अनाचार इनको भयावना बना रहे थे। फलतः इनके अनुयायियोंमें अत्यन्त द्वेष, अन्तरग्नि तथा अशान्ति फैल रही थी। भगवान् शङ्करने अद्वैतसिद्धान्तरूपी प्रखर-किरण सूर्यप्रकाशसे इनका अज्ञानान्धकार दूर किया। और कटकसे लेकर अटकतक और कन्याकुमारीसे केदारतक यह सिखाया कि सभी देव-देवियाँ उसी एक परब्रह्मके स्वरूप हैं, इनमें परस्पर भेद नहीं। आपने संन्यासमार्गका भी परिशोधन किया। सरस्वती, भारती, पुरी, गिरि आदि दशनामी साधुओंका संघ तैयार किया। उनके स्वस्वरूपावस्था-प्राप्तिके बाद भी अद्वैतमार्गका अक्षुण्ण प्रचार बना रहे, इसलिये इन्होंने मठोंकी स्थापना की और जो अपने अत्यन्त प्रिय शिष्य थे उनको इन मठोंके सञ्चालक नियत किया। महिसूर (मैसूर) प्रान्तमें प्रधान मठ शृंगेरीकी स्थापना की। पूर्वमें पुरीमें, पश्चिम दिशामें द्वारिकामें, हिमालयमें बद्रीनाथमें चार मठ स्थापित किये।

निम्नलिखित ग्रन्थोंकी रचना की जो आजतक उनकी उज्ज्वल कीर्तिके साक्षी हैं—

श्रीशङ्करनिर्मित ग्रन्थ-सूची

१ ब्रह्मसूत्रभाष्य, २ एकादशोपनिषद्भाष्य, ३ गीताभाष्य, ४ विष्णुसहस्रनामभाष्य, ५ सनत्सुजातीयभाष्य, ६ हस्तामलकभाष्य, ७ ललितात्रिशतीभाष्य, ८ लगभग ३४ प्रकरणग्रन्थ, ९ स्तोत्रसमूह, १० प्रपञ्चसारतन्त्र।

भगवान् शङ्कराचार्यजीने कौन-सा ग्रन्थ पहले लिखा और कौन-सा उसके बाद, ऐसा क्रमिक निर्देश करना कठिन है। कइयोंका मत है कि उनकी सर्वप्रथम कृति विष्णुसहस्रनामभाष्य है। तदनन्तर प्रकरणग्रन्थोंकी रचना की गयी। पश्चात् गीताभाष्य तथा उपनिषद्भाष्य रचे गये। अन्तमें ब्रह्मसूत्रभाष्यकी रचना की गयी। परन्तु इस योजनाका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। यह जरूर है कि ब्रह्मसूत्रभाष्यमें उनकी सर्वतोमुखी असाधारण प्रतिभा तथा मनीषाका पद-पदमें परिचय मिलता है। उनकी अति प्रौढ़ प्रतिपादनशैली एवं पदार्थगाम्भीर्य देखकर निःसन्देह कहा जा सकता है कि वह आचार्यकी सर्वोत्कृष्ट रचना है, और सम्भव है कि सर्वान्तिम भी हो।

वेदान्तदर्शनपर विविध भाष्य तथा टीकाएँ

शङ्कराचार्यनिर्मित शारीरक मीमांसाभाष्यको छोड़कर अन्य आचार्योंके लिखे हुए और भी कई एक भाष्य हैं। मैंने निम्नलिखित भाष्योंका स्वाध्याय किया है—

शांकरभाष्य, रामानुजभाष्य, वल्लभाचार्यभाष्य, मध्वाचार्यभाष्य, निम्बार्कभाष्य, भास्कराचार्यभाष्य, विज्ञानभिक्षु भाष्य, श्रीकण्ठाचार्यभाष्य, बलदेवभाष्य। मध्वविजयभावप्रकाशिकाके स्वाध्यायसे पता चलता है कि मध्वके पहले कम-से-कम इक्कीस आचार्योंने ब्रह्मसूत्रोंपर भाष्य लिखे थे। उनके नाम निम्नलिखित हैं—भारतीविजय, सच्चिदानन्द, ब्रह्मघोष, शतानन्द, उदवर्त, विजय, रुद्रभट्ट, वामन, यादवप्रकाश, रामानुज, भर्तृप्रपञ्च, द्रामिड़, ब्रह्मदत्त, भास्कर, पिशाच, वृत्तिकार, विजयभट्ट, विष्णुक्रान्त, वादीन्द्र, मध्वदास, शंकर। खेदका विषय है कि ये भाष्य उपलब्ध नहीं। उपरिनिर्दिष्ट नवभाष्यकारोंके विषयमें संक्षेपतः कुछ कथनका विचार था परन्तु यह विचार स्थगित ही रखना पड़ा है क्योंकि लेखका आकार आशासे बढ़ गया है। भाष्यकारोंके अनन्तर जिन आचार्योंने ब्रह्मसूत्रों अथवा ब्रह्मसूत्र-शारीरक मीमांसाभाष्यपर टीकाएँ, विवरण, वार्तिक आदि लिखे हैं उनके नाम आदि देकर लेखको समाप्त करूँगा।

महात्मा क्राइस्टके जन्मके बाद नवमी शताब्दीमें षड्दर्शनव्याख्याकार श्रीयुत वाचस्पतिमिश्रजीने पहले-पहले 'भामती' नामक व्याख्याकी रचना की। शांकरभाष्यपर 'भामती' व्याख्या एक प्रसिद्ध टीका है, यह 'भामती-प्रस्थान' के नामसे भी प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ बहुत ही प्रामाणिक है। अतएव बारहवीं शताब्दीमें अमलानन्दने 'वेदान्तकल्पतरु' नामक व्याख्या लिखी जो भामतीकी व्याख्या है। सोलहवीं शताब्दीमें अप्पय्य दीक्षितने 'वेदान्तकल्पतरुपरिमल' नामक व्याख्या लिखी। सतरहवीं शताब्दी-

में लक्ष्मीनृसिंहने 'अभोगाख्य' व्याख्या 'वेदान्तकल्पतरु-परिमल'पर लिखी। यही नहीं, भामतीतिलक, भामती-विलास, भामतीव्याख्या, वेदान्तकल्पतरुमञ्जरी आदि और भी व्याख्याएँ लिखी गयीं। भामतीतिलक आदि अद्यावधि मेरे दृष्टिगोचर नहीं। भामतीसहित चतुः-सूत्रीभाष्य अंग्रेजी अनुवाद-सहित भी अब उपलब्ध है।

तेरहवीं शताब्दीमें श्रीयुत आनन्दज्ञानजीने 'न्याय-निर्णय' नामक अत्यन्त गम्भीर व्याख्या लिखी। गोविन्दा-नन्दजीने चौदहवीं शताब्दीमें 'रत्नप्रभा' नामक व्याख्या लिखी। यह व्याख्या भामती तथा न्यायनिर्णयकी अपेक्षा सरल तथा मूलभाष्यको अच्छा लगाती है। अब इसका हिन्दी अनुवाद अच्युतग्रन्थमाला ललिताघाट काशीसे प्रकाशित हुआ है। सुरेश्वराचार्य और पद्मपादाचार्य अद्वैत-सिद्धान्तके प्रधान आचार्य हुए हैं। चतुःसूत्रीभाष्यपर 'पञ्च-पादिका' व्याख्या अत्यन्त मनोरम है और सर्वथा उपादेय है। यह ग्रन्थ प्रामाणिक है, इसकी सत्यता इसीसे प्रतीत होती है कि भामतीकी भाँति इसपर भी कई एक वेदान्ताचार्योंने कई एक टीकाएँ लिखी हैं। तेरहवीं सदीमें प्रकाशात्माने 'पञ्चपादिकाविवरण' लिखा। चौदहवीं शताब्दीमें अखण्डानन्दने 'तत्त्वदीपन' नामक व्याख्या लिखी। पञ्चपादिकाविवरणपर विष्णुभट्टोपाध्यायने 'ऋजुविवरण' व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या तत्त्वदीपन-से प्राचीन है। नृसिंहस्वरूपके शिष्य आत्मस्वरूपने 'प्रबन्धपरिशोधिनी' नामक व्याख्या लिखी। यह टीका भी पञ्चपादिकापर है। धर्मराज ध्वरीन्द्रने 'पञ्चपादिका टीका' लिखी। किसीने 'पञ्चपादिकाव्याख्या' नामक टीका भी लिखी थी, लेखकका नाम उपलब्ध नहीं। यही नहीं, आनन्दपूर्णने 'टीकारत्न' तथा रामानन्दने त्रय्यन्तभाव-प्रदीपिकाविवरणपर लिखी थी। नारायण सरस्वतीने शांकरभाष्यपर वार्तिक लिखा था। यह वार्तिक चतुःसूत्री-पर उपलब्ध है। श्रीयुत अनन्तकृष्ण शास्त्रीजीके हम बड़े ही कृतज्ञ हैं क्योंकि इन्होंने बड़े परिश्रमसे नवव्याख्यो-पेत चतुःसूत्रीभाष्य प्रकाशित किया है जिसमें ऊपर निर्दिष्ट कतिपय टीकाओंके देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। भामतीपर अखण्डानन्दनिर्मित ऋजुप्रकाशिका टीका बहुत ही अच्छी है। जगन्नाथाश्रमकी बनायी हुई 'पञ्च-पादिकाविवरणप्रकाशिका' नामक टीका मुझे उपलब्ध नहीं हुई। प्रकाशानन्दका 'ब्रह्मविद्याभरण', सर्वज्ञात्मा मुनिका 'संक्षेप शारीरक' बहुत ही उत्तम ग्रन्थ हैं। [illegible] 'प्रत्यक् तत्त्व-चिन्तामणि' भी बहुत अच्छी है। श्री

अद्वैतसिद्धान्तके मर्मवेत्ता पण्डितोंने भाष्यच्छायाके आ को लेकर वृत्तियाँ भी लिखी हैं। यह वृत्तिग्रन्थ भी भा के समझनेके लिये बहुत उपयोगी हैं। निम्नलिखित से प्रतीत होगा कि किस विद्वान्‌ने कौन-सा ग्रन्थ लिखा इनमेंसे मुझे हरिदीक्षितकृत 'ब्रह्मसूत्रवृत्ति', नीलमेघ निर्मित 'वेदान्तनवमालिका वृत्ति' तथा सदाशिवेन्द्र स्वतीनिर्मित 'ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका' नाम ब्रह्मसूत्रवृत्तिके प सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

(१) भाष्यार्थन्यायमाला—सुब्रह्मण्य
(२) वैयासिकन्यायमाला—भारतीतीर्थ
(३) शास्त्रदर्पण—अमलानन्द
(४) वेदान्तन्यायभूषण—स्वयंप्रकाश
(५) ब्रह्मसूत्रवृत्ति—हरिदीक्षित
(६) ब्रह्मसूत्रदीपिका—शंकरानन्द
(७) वेदान्तसूत्रमुक्तावली—ब्रह्मानन्द
(८) ब्रह्मसूत्रभाष्यार्थसंग्रह—ब्रह्मानन्द यति
(९) ब्रह्मसूत्रार्थदीपिका—वेंकट
(१०) ब्रह्मसूत्रवृत्ति—अन्नंभट्ट
(११) ब्रह्मसूत्रभाष्यव्याख्या—ज्ञानोत्तमभट्टारक
(१२) ब्रह्मसूत्रवृत्ति—धर्मभट्ट
(१३) सूत्रभाष्यव्याख्यान—अद्वैतानन्द
(१४) ब्रह्मसूत्रभाष्यव्याख्या—न्यायरक्षामणि—अप्पय्य दीक्षित
(१५) ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका—सदाशिवेन्द्र सरस्वती
(१६) ब्रह्मसूत्रोन्यास—रामेश्वर भारती
(१७) शारीरकमीमांसासूत्रसिद्धान्तकौमुदी—सुब्रह्मण्य अग्निचित् मखीन्द्र
(१८) वेदान्तकौस्तुभ—सीताराम
(१९) शारीरकन्यायमणिमाला—अनन्यानुभव
(२०) शारीरकमीमांसान्यायसंग्रह—प्रकाशात्मा
(२१) शारीरकमीमांसासंग्रह—कृष्णानुभूति।

ऊपरके विवरणसे यह स्पष्ट है कि 'वेदान्त बहुत ही मौलिक तथा उपादेय, अद्वैतसिद्धान्तका अन रत्न है। अतएव प्राचीन विद्वानोंने अन्य दर्शनग्रन् अपेक्षा इसपर भारी परिश्रम किया है। यही नहीं, पा विद्वानोंने भी इसपर अटूट यत्न करके अपनेको कृत माना है। थीवोने शारीरकभाष्यका अपनी भा अनुवाद किया। श्रीयुत राजा राममोहनरायने

ब्रह्मसूत्रपर भाष्य किया था। वह अब अंग्रेजी अनुवादके रूपमें उपलब्ध है। मैंने इसका भी स्वाध्याय किया है। श्रीयुत सीतानाथ तत्त्वभूषणने भी 'भाष्यच्छाया' नाम सरल संस्कृतटीका की है। यह बात सत्य है कि भगवान् शङ्करके पहले भी भारतवर्ष अद्वैतसिद्धान्तसे परिचित ही था। परन्तु इसका जो पुनरुज्जीवन इनके समयमें हुआ, जो उन्नति इनके समयमें हुई, सर्वसाधारणको जो गौरव-भावना, प्रीति तथा हार्दिक सहानुभूति अद्वैतसिद्धान्तसे इनके समयमें हुई वह आशातीत थी। इन सबका श्रेय भगवान् शङ्करको है। यदि उन्होंने शारीरकमीमांसाभाष्य तथा उपनिषद्भाष्य आदि न लिखे होते तो अद्वैतसिद्धान्तपरम्पराका अक्षुण्ण प्रवाह न चला रहता। खेद है कि इन सिद्धान्तग्रन्थोंके अस्तित्वमें भी कई एक सज्जनोंके मनमें असद्भाव उत्पन्न हो रहे हैं। इसका एकमात्र हेतु यही है कि साधारण लोग भगवत्पादके भाष्योंको नहीं पढ़ते, प्रत्युत भाष्येतर ग्रन्थोंमें व्यर्थ समय गँवाते हैं। मेरी उनसे विनीत प्रार्थना है कि वे शांकरभाष्यपर प्रयत्न करें ताकि उनके कुतर्कसमूह स्वयं ही नष्ट हो जायँ। अन्तमें इस लेखके पाठकोंसे मेरी विनम्र विनती है कि वे इस ब्रह्मसूत्ररूपी अनमोल रत्नको यथाशक्ति अपनावें। यदि वे संस्कृतके विद्वान् हैं तो प्राचीन भाष्यों तथा टीकाओं और वृत्तियोंका हिन्दीमें अनुवाद करें। और यदि वे आंग्लभाषा तथा अन्यान्य भाषाओंके वेत्ता हैं तो वे अद्वैतसिद्धान्तपर स्वतन्त्र लेख लिखें जिससे अद्वैत-सिद्धान्तका और भी प्रचार बढ़े और त्रिविधतापसंतप्त संसारमें शान्ति-राज्य स्थापित हो।

* * *

वेदान्त-मीमांसा

(लेखक—श्रीप्रकाशचन्द्रसिंह राय, न्यायवागीश)

'वेदान्त' शब्दका एक अर्थ है—वेदका अन्त। उपनिषद् वास्तवमें वेदका अन्त हैं; इसलिये 'वेदान्त' शब्दसे एक अर्थमें उपनिषद् लक्षित होते हैं। 'वेदान्त' शब्दका और एक अर्थ है, ज्ञानकी चरम सीमा। उपनिषदोंमें चरम ज्ञानका उपदेश दिया गया है। इस अर्थमें भी 'वेदान्त' शब्दसे उपनिषद् या औपनिषद ज्ञान ही लक्षित होता है। उपनिषदुक्त आपातविरुद्ध वाक्योंका समन्वय करके उत्तरमीमांसाकी रचना हुई है; इसलिये उत्तरमीमांसाको भी 'वेदान्त' कहा जाता है। उत्तर-मीमांसाका दूसरा नाम ब्रह्मसूत्र है; इसमें ब्रह्मविषयक ज्ञानका उपदेश दिया गया है, इसीसे इसका नाम ब्रह्मसूत्र पड़ा है। भगवद्गीतामें भी उपनिषद्का ही ज्ञान अपेक्षाकृत सरल भाषामें और सरल ढंगमें प्रकट किया गया है। इसलिये भगवद्गीताको भी 'वेदान्त' कहा जाता है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता इनको वेदान्तका प्रस्थानत्रय कहा जाता है।

ब्रह्मसूत्रके मतानुसार जीव और ब्रह्ममें प्रकृत सम्बन्ध क्या है, इसका निर्णय करनेके लिये भिन्न-भिन्न समयोंमें भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके द्वारा ब्रह्मसूत्रके भिन्न-भिन्न भाष्य रचे गये हैं। ये सब भाष्य भी कभी-कभी 'वेदान्त' शब्दद्वारा लक्षित होते हैं। इन भाष्योंमें शङ्कराचार्यप्रणीत शारीरकभाष्य, रामानुजप्रणीत श्रीभाष्य, निम्बार्कप्रणीत वेदान्तपारिजातसौरभ, वल्लभाचार्यप्रणीत अणुभाष्य एवं मध्वाचार्यप्रणीत पूर्णप्रज्ञभाष्य ही विशेष उल्लेखनीय हैं।

जीव और ब्रह्मके बीच वास्तविक सम्बन्ध क्या है, इस विषयमें सब भाष्यकार एकमत नहीं हैं। उनमें भिन्न-भिन्न मतोंके भिन्न-भिन्न नाम हैं। इसका उल्लेख आगे किया जायगा।

उपनिषद्में ऐसी कई श्रुतियाँ हैं जिनसे ऐसा मालूम होता है कि जीव और ब्रह्म एक ही वस्तु हैं। जैसे—'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ), 'तत्त्वमसि' (तुम ब्रह्म हो) इत्यादि। और इस प्रकारकी श्रुति भी है जिससे मालूम होता है कि जीव और ब्रह्म पृथक्-पृथक् वस्तु हैं। जैसे—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

अर्थात् 'जीव और ब्रह्म दोनों देहरूप वृक्षपर वास करते हैं, इनमें एक संसारवृक्षके फलोंका भोग करता है और दूसरा केवल देखता है।'

पुनः इस प्रकारकी श्रुति भी है जिससे मालूम होता है कि जीव एक-न-एक रूपमें ब्रह्मका ही अंश है। जैसे—

'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च'

(जिस तरह मकड़ी अपने ही शरीरसे तागे निकालकर फलाती है और उसीमें संग्रह करती है)

'यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः'

(जिस प्रकार सुदीप्त पावकसे उसीके सदृश स्फुलिङ्ग निकलते हैं) इत्यादि।

इन अद्वैत, द्वैत एवं द्वैताद्वैत-सम्बन्ध बतानेवाली समस्त श्रुतियोंमें किस श्रेणीकी श्रुति जीव और ब्रह्मके वास्तविक सम्बन्धको प्रकट करती है, इसी विषयको लेकर भाष्यकारोंमें मतभेद है। शङ्कर आदि अद्वैत भाष्यकारोंका कहना है कि अद्वैतभावका सम्बन्ध सूचित करनेवाली श्रुतियाँ वास्तवमें सत्य हैं—पारमार्थिक सत्य हैं। द्वैतभावको प्रकट करनेवाली श्रुतियाँ व्यावहारिक रूपमें धर्माचरणके लिये प्रयोजनीय होनेपर भी पारमार्थिक रूपमें सत्य नहीं हैं। उनके मतानुसार जीव और ब्रह्मकी एक ही सत्ता है। ब्रह्मसे पृथक् जीव या जगत् नामक कोई भी वास्तविक सत्ता नहीं है। हम जो जगत्‌रूपसे एक सत्ता देख रहे हैं यह मायाका कार्य है, अविद्याके कारण ऐसा हो रहा है। वे गर्वके साथ यह कहते हैं कि वेदान्तका सार मर्म आधे श्लोकके द्वारा प्रकट किया जा सकता है—

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

ब्रह्म ही एकमात्र सत् पदार्थ है; जगत्‌की कहीं पारमार्थिक सत्ता नहीं है। जीव और ब्रह्म एक ही हैं।

और एक श्रेणीके भाष्यकार हैं, उनका मत इससे विपरीत है। मध्वाचार्य इस श्रेणीके प्रधान हैं। ये कहते हैं कि जीव और ब्रह्म दोनों चिन्मय वस्तु होनेपर भी उनकी पृथक्-पृथक् सत्ता है। जीव ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म भी जीव नहीं है। पृथक्त्व बतलानेवाले सब श्रुतिवाक्य पारमार्थिक सत्य हैं। जीव और ब्रह्मका एकत्व बतलानेवाली जो श्रुतियाँ हैं वे अर्थवाद हैं—मुक्त आत्माके प्रशंसासूचक वाक्यमात्र हैं।

इन दो मतोंके बीचमें कई मत हैं; इन सब मतोंके अनुसार जीव और ब्रह्ममें, किसी-न-किसी रूपमें, अंश-अंशीका सम्बन्ध है। अतएव एकत्व और पृथक्त्वसूचक सब श्रुतिवाक्य पारमार्थिक सत्य हैं। रामानुज स्वामी, निम्बार्क स्वामी और वल्लभाचार्य स्वामी इन सब समर्थक हैं।

इन कतिपय बातोंका प्रकृत अर्थ हृदयङ्गम करने हमलोगोंको पहले यह विचारकर देख लेना होगा दो वस्तुएँ परस्पर किस-किस प्रकारसे सम्बन्धवि सकती हैं। मेल और बेमेलकी दृष्टिसे हम यही कह हैं कि दोनों वस्तुएँ या तो सम्पूर्ण रूपमें एक सम अथवा सम्पूर्ण रूपमें भिन्न-भिन्न हैं; अथवा ये दोनों रूपमें एक समान और आंशिक रूपमें भिन्न-भिन्न है।

इन तीन प्रकारोंके अतिरिक्त चौथी और इनके सम्बन्धका प्रकाश करनेवाली कल्पना भी हम कर सकते। अब यह देखें कि पूर्ण ऐक्य, आंशिक नैक्य और पूर्ण अनैक्य ये जो भेद हैं, इनके भी धिक प्रकार हो सकते हैं या नहीं।

पहले पूर्ण ऐक्यकी बातका विचार करें। पूर्ण ऐ उस अवस्थाको कहना चाहते हैं जब कि दोनों वस्तुएँ गुण, परिमाण और संख्यामें सर्वतोभावेन एक प्र हों अर्थात् उनकी भिन्न-भिन्न सत्ता होनेपर भी दो एकमें ऐसा कोई भी वैशिष्ट्य न हो जिससे वह भिन्न दिखायी दे सके। इस प्रकारके सम्बन्धसे युक्त में दोनों वस्तुएँ हैं या नहीं, यह कहना कठिन है कोई दार्शनिक कहते हैं कि एक ही मौलिक पदार्थके परमाणु इस प्रकारके सम्बन्धविशिष्ट हैं। अन्य दार्शनिक इस बातको स्वीकार नहीं करते; उनके परमाणुमात्रमें ऐसी एक-एक विशेषता है जिससे एकका अन्य परमाणुसे भेद मालूम हो सकता है प्रकारकी विशेषता स्वीकार करनेके कारण ही उनके वैशेषिक मत कहा जाता है।

पूर्ण रूपसे एक प्रकारकी दो वस्तुओंकी पृथ सत्ता हो या न हो, कोई एक वस्तु स्वयं अपने सा रूपेण एकरूप है, इसमें कोई सन्देह नहीं। किसी साथ उसका जो अभेद सम्बन्ध है उसे तादात्म्य कहते हैं। इस प्रकारसे सम्बन्धित दो वस्तुओंकी बा पर यह समझना होगा कि दोनों वस्तुओंकी सत्ता पृथक्-पृथक् नहीं है—दोनोंकी सत्ता एक है, दो पृथ भर हैं—जैसे रामचन्द्र और राजा दशरथके ज्ये भारतके वर्तमान सम्राट् और इंगलैंडके वर्तमा इत्यादि।

Prof. Anandavardhana Kaundinyayana Collection, Kathmandu, Nepal

पूर्ण अनमेलका अर्थ हम यह समझाना चाहते हैं कि ऐसा कोई भी गुण नहीं है जो दोनों वस्तुओंमें वर्तमान हो। जिस तरह पूर्णरूपसे एक समान कहनेपर यह समझना होगा कि दोनों वस्तुओंमेंसे किसीमें भी ऐसा कोई गुण नहीं जो असाधारण हो, उसी तरह पूर्णरूपसे भिन्न कहनेपर यह समझना होगा कि दोनोंमेंसे किसीमें भी ऐसा कोई गुण नहीं जो साधारण हो। अवश्य ही इस प्रकारकी दो वस्तुओंको ढूँढ़ निकालना कठिन है। इस प्रकारके सम्बन्धसे युक्त दो वस्तुएँ हों या न हों; हम मान सकते हैं कि इस प्रकारकी दो वस्तुओंका होना सम्भव है। मोटे रूपमें जड और चैतन्यको इस प्रकार सम्बन्धविशिष्ट माना जा सकता है—'मोटे रूपमें' कहनेका मतलब यह है कि सूक्ष्मरूपमें देखनेपर हम देखते हैं कि एक प्रकारसे इनके अंदर भी मेल है। दोनों 'हैं', दोनों अस्तित्वविशिष्ट हैं, अतएव एक जातिके हैं, इसलिये एक विषयमें अर्थात् अस्तित्वकी दृष्टिसे समानधर्मी हैं।

आंशिक मेल और बेमेलका सम्बन्ध मेल और बेमेलकी मात्रा एवं प्रकारभेदसे असंख्य प्रकारका हो सकता है। फिर भी उनके बाहरके (External) और भीतरके (Internal) मेलके अनुसार बेमेलको दो श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है। किसी एक वस्तुका दूसरी एक वस्तुके साथ जो मेल और बेमेल है वह बाहरी मेल और बेमेल है; किसी एक वस्तुका उसके अंशके साथ जो मेल या बेमेल है वह भीतरी मेल या बेमेल है।

एक जातिकी दो वस्तुएँ, जैसे—दो स्तनपायी जीव, दो मेरुदण्डवाले जीव, दो पृथक् काठके टुकड़े, दो वृक्ष इत्यादिके बीच जो मेल-बेमेल है वह बाहरके मेल-बेमेलका दृष्टान्त है। इस प्रकारके मेल-बेमेलको सजातीय भेदाभेद-सम्बन्ध कहा जाता है।

अंशअंशीसम्बन्ध नाना प्रकारका हो सकता है। एक द्रव्यके साथ उसके किसी भी अंशका, एक गुणवाली वस्तुके साथ उसके गुणका, एक देहधारी वस्तुके साथ उसकी देहका जो सम्बन्ध है, यह सब किसी-न-किसी रूपमें अंशअंशीसम्बन्ध है। इस प्रकारके सम्बन्धको स्वगतभेदाभेदसम्बन्ध कहा जाता है।

दो वस्तुओंमें जिन सम्बन्धोंमेंसे कोई-न-कोई रहेगा ही, उन्हें नीचे संक्षेपमें स्पष्ट तौरपर लिखा जाता है। यदि पाठक इन कतिपय बातोंको ध्यानमें रक्खेंगे तो वेदान्तके अद्वैतवाद, द्वैतवाद और द्वैताद्वैतवादसे क्या सूचित होता है, यह सहज ही हृदयङ्गम कर सकेंगे—

(१) तादात्म्यसम्बन्ध अर्थात् किसी वस्तुका स्वयं अपने साथ जो सम्पूर्ण ऐक्य है। शङ्करके मतानुसार जीव इसी प्रकारके सम्बन्धसे युक्त है। इस मतके भिन्न-भिन्न नाम हैं; जैसे पूर्णाद्वैत या केवलाद्वैत, अखण्डाद्वैत, अद्वैतवाद प्रभृति।

(२) पूर्णरूपेण समगुणविशिष्ट दो पृथक् वस्तुओंमें जो सम्बन्ध होता है। किसी भी भाष्यकारके मतमें जीव और ब्रह्मका ऐसा सम्बन्ध नहीं है।

(३) एक जातिकी दो वस्तुओंके अंदर जो मेल-बेमेलका सम्बन्ध होता है अर्थात् सजातीय भेदाभेद-रूप सम्बन्ध। मध्वाचार्यके मतसे जीव और ब्रह्म इसी प्रकार सम्बन्धयुक्त हैं। उनके मतका नाम है द्वैतवाद।

(४) किसी देहधारी वस्तुके साथ उसकी देहका जो स्वगतभेदाभेद है। यही सम्बन्ध रामानुजके मतसे जीव और ब्रह्मका है; जीव देह है, ब्रह्म जीवरूप देहसे युक्त देही है। इस सम्बन्धका नाम विशिष्टाद्वैतसम्बन्ध है। इस मतका नाम विशिष्टाद्वैतवाद है।

(५) किसी गुणविशिष्ट गुणीके साथ उसके गुणका जो स्वगतभेदाभेदसम्बन्ध है। निम्बार्काचार्यके मतानुसार ब्रह्म और जीवके बीच यही सम्बन्ध है। उनके मतका नाम भेदाभेद या अचिन्त्यभेदाभेदवाद है।

(६) किसी द्रव्यके साथ उसके अंशका जो स्वगत मेल-बेमेल है। यही सम्बन्ध वल्लभाचार्यके मतसे ब्रह्म और जीवके बीच है। यह शुद्धाद्वैतसम्बन्ध है; मतका नाम है शुद्धाद्वैतवाद।

(७) पूर्ण विभिन्नता—जैसे—जड़ और चैतन्य। किसी भी भाष्यकारके मतसे जीव और ब्रह्ममें इस प्रकारका सम्बन्ध नहीं है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि ब्रह्मके साथ जीव एवं जगत्‌का क्या सम्बन्ध है, इसी विषयमें ब्रह्मसूत्रके भाष्यकारोंमें मतभेद है। शङ्कराचार्यके मतसे जीव और ब्रह्मके बीच तादात्म्यसम्बन्ध है। जीव और ब्रह्म एक ही वस्तु हैं और जगत् मिथ्या है, अर्थात् हमारे मनके बाहर इस प्रकारके जगत्‌का कोई भी अस्तित्व नहीं है। जिस प्रकारकी युक्तियोंके द्वारा शङ्कर इस सिद्धान्तपर पहुँचे हैं, वे यथासम्भव संक्षेपमें और सरल भाषामें नीचे दी जाती हैं।

वेदान्त अथवा वेदान्तका कोई भाष्य पढ़नेके समय एक बात विशेषरूपसे स्मरण रखनी चाहिये। वह बात यह है कि प्रमाणके विषयमें वेदान्तमें श्रुतिको ही सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इसका अर्थ यह नहीं कि इसमें युक्तिका प्रमाण अस्वीकृत किया गया है। इसका मतलब यह समझना होगा कि यदि किसी स्थानमें युक्ति श्रुतिके विरुद्ध हो तो वहाँ श्रुतिप्रमाण ही ग्रहणीय होगा एवं युक्ति त्याज्य होगी। अन्यान्य दर्शनोंकी विचारप्रणाली इसके विपरीत है। यह बात विशेषरूपसे स्मरण नहीं रखनेसे वेदान्त अथवा वेदान्तके भाष्य समझनेमें असुविधा हो सकती है।

ब्रह्मविषयक एक प्रधान श्रुति यह है कि ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्' है। एकमात्र ब्रह्मकी ही सत्ता है। ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी और किसी वस्तुकी सत्ता नहीं है। वह सत्य, ज्ञान और अनन्त हैं। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त हैं। यही तथा इसी तरहकी अन्यान्य श्रुतियाँ शङ्करके मतकी भित्ति हैं। यदि ब्रह्म ही एकमात्र अनन्त ज्ञानमय सत्ता है तब ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुके अस्तित्वके लिये स्थान नहीं रह जाता। यह दृश्यमान जगत् या तो ब्रह्मका विकार है अथवा मिथ्या है। शङ्करने नाना प्रकारकी युक्तियोंके द्वारा यह दिखाया है कि ज्ञाता ब्रह्म कभी ज्ञेय जडत्वके रूपमें विकृत नहीं हो सकता। विषयी (Subject) कभी विषय (Object) नहीं हो सकता। और विशेषकर जब ब्रह्मके अतिरिक्त और कोई सत्ता ही नहीं, तब किसके द्वारा ब्रह्म विकृत होंगे ? अतएव यदि ब्रह्मके लिये जगत्‌रूपमें विकृत होना सर्वथा युक्तिविरुद्ध है तब यही मान लेना होगा कि जगत् मिथ्या है। जगत्-ज्ञान भ्रमात्मक ज्ञान है। इस प्रकारका भ्रमात्मक ज्ञान हमें होता है, इसका दृष्टान्त भी मौजूद है। रज्जुमें सर्पका भ्रम होनेकी बात बहुत-से लोग जानते हैं। जिस तरह रज्जुमें अन्य किसी वस्तुके द्वारा विकृति न होनेपर भी उससे मिथ्या सर्पका ज्ञान होता है, उसी तरह ब्रह्मके अन्य किसी अवस्थामें विकृत न होनेपर भी हमारे मनमें मिथ्या जगत्-ज्ञान उत्पन्न होता है। नामरूपात्मक जगत्‌का अस्तित्व हमारे मनके भीतर है, बाहर नहीं है। परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि यह मिथ्याज्ञान सपनेमें देखे हुए अनेक मिथ्या ज्ञानकी तरह एकदम आधारशून्य नहीं है। इसके पीछे एक सत्य वर्तमान है। जिस तरह भ्रमात्मक सर्पज्ञानके पीछे अविकृत रज्जु वर्तमान है उसी तरह भ्रमात्मक जगत्-ज्ञानके पीछे भी अविकृत ब्रह्म वर्तमान है।

जगत्‌को मिथ्या मान लेनेपर भी 'मैं' शब्द
जो जीवात्मा है, उसको तो मिथ्या नहीं कहा जा
अगर 'मैं' न हो तो मिथ्या ज्ञान किसे होगा ?
कौन है ? इस विषयमें शङ्करकी युक्ति यह है कि
जीवात्मा या तो ब्रह्मसे भिन्न कोई चिन्मय सत्ता है
ही अंश है, अथवा ब्रह्म ही है। इन तीनमेंसे
यह अवश्य होगा। जब श्रुति यह कहती है कि ब्रह्म
वाद्वितीयम्' है, तब जीवात्मा ब्रह्मके अतिरिक्त
वस्तु नहीं हो सकता। और ब्रह्म जब देश-कालसे
है, तब उसके अंशकी कल्पना करना ही
विशेषतः ब्रह्मके इस प्रकारके अंशकी कल्पना करने
अंशकी ओर इसके असीमत्वमें बाधा पहुँचेगी।
जीवात्मा जब ब्रह्मसे भिन्न कोई सत्ता भी नहीं है औ
अंश भी नहीं है, तब यह स्वीकार करना पड़ेगा
ब्रह्म ही है। 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' 'अयमा
इत्यादि श्रुतियाँ इसी सिद्धान्तका समर्थन करती हैं

यदि वास्तवमें 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुति
यही हो कि ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी और सत्ता नहीं
वह ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त है, तब शङ्कराचार्यके
खण्डन करना कठिन है, यह बात कह देनेसे
चलेगा कि यह युक्तिसंगत नहीं है और हमारी
विरुद्ध है। उनके मतका खण्डन करनेके लिये श्रु
सहायता लेनी होगी।

युक्ति और अनुभवकी दृष्टिसे देखनेपर इस मतके
एक प्रधान बात यह सामने आती है कि जीव यदि
है तब ब्रह्मकी तरह जीवको भी सर्वशक्तिमान् होना
था। परन्तु जीव सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् नहीं
सबको मालूम है। जीव ब्रह्मकी तरह सर्वज्ञ, सर्व
क्यों नहीं है, इस प्रश्नका उत्तर शङ्करने सीधी तौ
देकर थोड़ा घुमाकर दिया है। सीधे ढंगमें वह क
थे कि जब श्रुति कहती है कि जीव और ब्रह्म ए
तब यह मानना ही होगा कि वे एक हैं। परन्तु
जीवको क्यों नहीं मालूम है, इसका कोई सदुत्तर नहीं
अतीन्द्रिय विषयका विचार करते समय इस प्रकार
अवस्था आती ही है जब विचारकको कहना पड़ता है
कुछ मैंने कहा, उसके अतिरिक्त और कुछ मैं नहीं
परन्तु इस कारण जो कुछ कहा गया उसे मान लेने
बाधा नहीं आती। परन्तु शङ्कर इस बातका उत्तर
सीधे ढंगसे नहीं देते। वह कहते हैं—जीव और

ही सत्ता है, यह बात ठीक है; क्योंकि यह श्रुतिका कथन है। परन्तु जीव जो इस बातका अनुभव नहीं कर पाता, एवं ब्रह्मकी तरह वह सर्वज्ञ नहीं है, यह अविद्याका कार्य है। अविद्या है, यह हमारी अभिज्ञताका विषय है। हम सब लोग बहुत-सी बातोंके विषयमें कहा करते हैं कि 'मैं नहीं जानता।' अविद्याको हम मान ही लेते हैं। और ज्ञान होनेपर अविद्या दूर हो जाती है यह भी हमलोगोंको ज्ञात है। अतएव यह मान लेना होगा कि अविद्या है और साथ ही यह भी मान लेना होगा कि विद्या होनेपर अविद्या नहीं रहती। अतएव इस अविद्याका निर्णय भी विद्याकी सहायतासे ही करना होगा। परन्तु जहाँपर ज्ञान है वहाँ अज्ञान रह नहीं सकता। अविद्याको खोजने जाना और प्रकाश हाथमें लेकर अन्धकार ढूँढ़ने जाना एक ही बात है। इस प्रकार विचार करनेपर मालूम होता है कि अविद्या भी मिथ्या है। सुतरां अविद्याके सहारे ब्रह्ममें विजातीय द्वैतापत्तिकी बात भी नहीं उठ सकती। अर्थात् अविद्याको ब्रह्मातिरिक्त कोई सत्ता भी स्वीकार नहीं की जा सकती। यह अविद्या एक ऐसी चीज है कि इसके विषयमें न तो यही कह सकते हैं कि यह है और न यही कह सकते हैं कि यह नहीं है।

इस युक्तिसे विश्लेषण करनेपर पाठकोंको मालूम होगा कि इसका सार यही है कि जीव और ब्रह्म एक होनेपर भी जीव क्यों सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् नहीं है, इस बातका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता।

पहले लिखा जा चुका है कि शङ्करके मतका खण्डन करनेके लिये श्रुतिकी सहायता लेनी होगी। केवल यही कह देनेसे काम नहीं चलेगा कि यह युक्तिविरुद्ध है। अब हम यह देखें कि ब्रह्मसूत्रके अन्यान्य भाष्यकारोंने किस प्रकारकी युक्तिके द्वारा शङ्करके मतका खण्डन करनेका उद्योग किया है। अद्वैतमतके विपरीत द्वैतमत है। द्वैतमतके पोषकोंमें मध्वाचार्य सबसे अग्रणी हैं। उनकी व्याख्याके अनुसार जीव और ब्रह्मकी सत्ता पूर्णरूपसे अलग-अलग है। ब्रह्म, जीव और समस्त जडवर्गके मूलमें जो एक प्रकारका एकत्व है, जिसको प्रकृति कहते हैं, ये तीनों अज एवं अनादि हैं। उनके मतका समर्थन करनेवाली एक श्रुति यह है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

जीव और ब्रह्म दोनों देहरूप वृक्षपर वास करते हैं। एक इसके फलका भोग करता है, दूसरा देखताभर है। यह श्रुति स्पष्ट कहती है कि जीव एवं ब्रह्म पृथक्-पृथक् सत्ता हैं। यह श्रुति केवल माण्डूक्य और श्वेताश्वतर दो उपनिषदोंमें ही है, सो नहीं; यह ऋग्वेदका भी एक ऋक् है (ऋक् १।१३। ४२१)। अतएव यह प्राचीन प्रमाण होनेके कारण भी विवादरहित होना चाहिये।

और एक श्रुति कहती है कि सर्वज्ञ ईश्वर और अल्पज्ञ जीव तथा जीवकी भोग्या प्रकृति, ये सब अज, अनादि हैं (ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता)।

इस प्रकारकी द्वैतसम्बन्धप्रकाशक और भी अनेक श्रुतियाँ हैं। इन सबके आधारपर ही द्वैतवादी मध्वाचार्य कहते हैं कि जीव एवं ब्रह्मकी सत्ता अलग-अलग है। जीव भी ब्रह्मकी तरह चिन्मय वस्तु है। ब्रह्ममें जो-जो गुण हैं, जीवमें भी वे सभी गुण हैं—अवश्य ही वे अत्यन्त अल्प परिमाणमें हैं। ब्रह्म सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् हैं, जीव सूक्ष्म, अल्पज्ञ, अल्प शक्तिमान् है। ये दोनों एक जातिकी सत्ताएँ हैं और केवल एक अर्थमें एक हैं।

जिस तरह शङ्करने द्वैतभावप्रकाशक सब श्रुतियोंकी पारमार्थिक सत्यता अस्वीकार कर, उनको केवल अपेक्षाकृत अज्ञ लोगोंके व्यवहारके लिये उपयोगी कहकर उड़ा देनेकी चेष्टा की है, मध्वने भी उसी प्रकार अद्वैत श्रुतियोंको केवल मुक्त आत्माका प्रशंसासूचक अर्थवाद कहकर उनकी पारमार्थिक सत्यता अस्वीकार कर दी है। इसके अतिरिक्त वह इन श्रुतियोंमें बहुतोंकी अपनी इच्छाके अनुसार विकृत व्याख्या करनेसे भी बाज नहीं आये हैं। 'अयमात्मा ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि' प्रभृति श्रुतियोंकी व्याख्या करते हुए वह कहते हैं कि इन सब श्रुतियोंका अर्थ यह नहीं है कि जीव एवं ब्रह्म एक हैं; इनका अर्थ यह है कि जीवात्मा ब्रह्म है अर्थात् वर्द्धनशील है, उन्नत होनेकी सामर्थ्य रखता है। 'एकमेवाद्वितीयम्' श्रुतिका अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, बल्कि इसका अर्थ यह है कि शक्तिमें, ज्ञानमें एवं व्यापकत्वमें इसके समान और कोई सत्ता नहीं है। अवश्य ही व्याकरणकी दृष्टिसे यह नहीं कहा जा सकता कि ये सब व्याख्याएँ एकदम अशुद्ध हैं। हाँ, यह दूसरी बात है कि ये सब व्याख्याएँ श्रुतियोंकी वास्तविक व्याख्या हैं या नहीं। शङ्करने भी

वास्तवमें 'यह मेरा मत है' यह कहनेके अतिरिक्त इस बातका कोई भी युक्तियुक्त कारण नहीं बताया है कि क्यों द्वैत श्रुतियोंकी कोई भी पारमार्थिक सत्यता नहीं है। मध्वने भी 'यह मेरा मत है' इसके अतिरिक्त इस बातका कोई युक्तियुक्त कारण नहीं दिखाया है कि अद्वैत श्रुतियाँ क्यों मुक्त आत्माका प्रशंसासूचक अर्थवादमात्र हैं।

इस प्रबन्धमें द्वैतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, भेदाभेदवाद और शुद्धाद्वैतवाद आदि जो वेदान्तके पाँच दार्शनिक मत हैं, उनका उल्लेख किया गया, एवं द्वैत और अद्वैतके अनुसार जीव और जगत्के साथ ब्रह्मका क्या सम्बन्ध है, इसकी भी थोड़ी-बहुत आलोचना की गयी। अब शेष तीन मतोंके अनुसार जीव और जगत्के साथ ब्रह्मका क्या सम्बन्ध है, इसका कुछ आभास देनेकी चेष्टा की जाती है।

इन तीनों मतोंका साधारण नाम द्वैताद्वैतवाद है। अद्वैतमतकी तरह इन तीनों मतोंके अनुसार भी ब्रह्म ही एकमात्र पारमार्थिक तत्त्व हैं; किन्तु फिर भी जगत् मिथ्या नहीं है। जगत् सूक्ष्म ब्रह्मांशके ही स्थूल एवं अनुभवयोग्य आकारकी अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति ही सृष्टि है एवं इसका सूक्ष्म कारणमें लौट जाना लय है। ब्रह्म ही जगत्के उपादान एवं निमित्तकारण हैं; अतएव एकमेवाद्वितीयम् हैं। वह केवल ज्ञानस्वरूप नहीं हैं, वह ज्ञाता और कर्त्ता भी हैं। वह असीम कल्याणकारी गुणोंके आकर हैं, इस अर्थमें सगुण हैं; एवं उनमें किसी प्रकारका अकल्याणकारी गुण नहीं है, इस अर्थमें वह निर्गुण हैं। इसी प्रकारसे उनमें सगुणत्वका प्रतिपादन करनेवाली तथा निर्गुणत्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंका सामञ्जस्य सिद्ध होता है। जीव किसी-न-किसी रूपमें ब्रह्मचैतन्यका ही अंश है। जिस अर्थमें अंश और अंशी एक हैं, उसी अर्थमें जीव और ब्रह्म भी एक हैं, और जिस अर्थमें भिन्न हैं, उसी अर्थमें जीव और ब्रह्म भी भिन्न हैं। अतएव द्वैत और अद्वैत श्रुतियोंका भी सामञ्जस्य ब्रह्ममें ही साधित होता है। इसके लिये अद्वैतवादियोंकी तरह द्वैतसम्बन्धप्रकाशक श्रुतियोंकी पारमार्थिक सत्यता अस्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं होती, और न द्वैतवादियोंकी तरह अद्वैतसम्बन्धप्रकाशक श्रुतियोंकी ही अर्थवाद कहकर उपेक्षा करनेकी आवश्यकता होती है। जीव और जगत् ब्रह्मके अंश हैं, यह बात साधारणतया स्वीकृत होनेपर भी वे किस रूपमें ब्रह्मके अंश हैं, इस विषयमें तीनों मतोंमें परस्पर पार्थक्य है।

विशिष्टाद्वैतवादके अनुसार जीव और जगत् देह है। ब्रह्म देही है, जीव देह है। ब्रह्म देही है, है। जिस अर्थमें देह देहधारी देहीका अंश है, जीव ब्रह्मका अंश है। ब्रह्मको देहविशिष्ट माननेके ही इस मतका नाम विशिष्टाद्वैतवाद है। ऐसी श्रुतियाँ हैं जिनमें कहा गया है कि ब्रह्म अन्तरात्मा हैं। इन्हीं श्रुतियोंके कारण रामानुज जीव और ब्रह्ममें देह-देहीका सम्बन्ध माना है।

भेदाभेदवादके प्रतिष्ठाता निम्बार्क स्वामीके ब्रह्मको देहविशिष्ट मानना युक्तिसंगत बात नहीं है। अतिरिक्त जब दूसरी कोई वस्तु नहीं है तब ब्रह्मकी बात निरर्थक है। अतएव विशिष्टाद्वैतवाद भी अर्थशून्य है। उनके मतसे जीव ब्रह्मकी देह बल्कि वह ब्रह्मकी शक्तिका अंश है। जिस तरह शक्तिमान्से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं, उसी तरह भी ब्रह्मसे पृथक् कोई भी अस्तित्व नहीं। इसी जीव और ब्रह्म एक हैं। और शक्ति जिस तरह शक्तिमान्के साथ एक नहीं है, उसी तरह जीव एक नहीं हैं। इसी अर्थमें वे भिन्न हैं।

शुद्धाद्वैतवादके प्रतिष्ठाता वल्लभाचार्य इस युक्तिसंगत नहीं मानते कि जीव ब्रह्मकी देह अथवा का अंश है। उनका कहना है कि जीव ब्रह्म-द्रव्य अंश है। ब्रह्ममें सत्, चित्, आनन्द ये तीन गुण हैं। जिस अंशमें वह चित् एवं आनन्द-अंश रखते हैं वही जड है; एवं जिस अंशमें केवल अंश अप्रकाशित रखते हैं वही जीव है। वह कहते हैं इसका कोई भी उत्तर नहीं है।

अब दर्शन एवं धर्मकी दृष्टिसे इन कतिपय हम आलोचना करें। भारतीय समस्त आस्तिक अर्थात् जिन दर्शनोंमें वेदके प्रमाण स्वीकृत किये उनमें इन वैदान्तिक मतोंका स्थान-निर्देश करनेके जानना आवश्यक है कि उन दर्शनोंमें परतम तत्त्व तत्त्वोंके सम्बन्धमें क्या कहा गया है। आस्तिकदर्शनों नाम है षड्दर्शन। संख्यामें छः होनेके कारण इनका षड्दर्शन पड़ा है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा ये छः दर्शन कहलाते हैं। उत्तरमीमांसाका दूसरा नाम है जिन पाँच वैदान्तिक मतोंकी बात लिखी ब्रह्मसूत्रकी ही पाँच विभिन्न प्रकारकी व्याख्याएँ हैं

न्याय एवं वैशेषिकके मतसे पाँच प्रकारके परमाणु एवं आत्मा ये छः परतम तत्त्व हैं। ये ही छः जड़ और जीव जगत्के उपादानकारण हैं। इन दो दर्शनोंके अंदर भेद यह है कि न्यायमें प्रमाणविषयकी विशेष एवं प्रमेय-विषयकी अपेक्षाकृत थोड़ी आलोचना की गयी है। वैशेषिकमें प्रमाणकी अपेक्षा प्रमेयकी ही आलोचना अपेक्षाकृत अधिक विस्तारके साथ की गयी है।

सांख्यमें, न्यायमें उल्लिखित पाँच प्रकारके परमाणुओंके पीछे एक प्रकारका एकत्व स्थिर किया गया है। इसी एकत्वको इसकी सूक्ष्मतम अवस्थामें प्रकृति कहते हैं। अतएव सांख्यके मतमें परतम तत्त्व दो हैं—प्रकृति एवं आत्मा या पुरुष। सांख्यसे पातञ्जलकी विशेषता केवल यही है कि इसमें सांख्योक्त समस्त पुरुषोंमें एक विशेष पुरुषका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वव्यापी हैं। वही ईश्वर हैं। वही इस जगत्के केवल निमित्तकारणरूपसे सृष्टिकर्त्ता हैं। इस तरह ईश्वरको स्वीकार करनेके कारण ही पातञ्जल दर्शनको सेश्वर सांख्य कहते हैं। सांख्य और पातञ्जलमें कुछ और भेद यह है कि सांख्यमें ज्ञानके सब विषयोंके सम्बन्धमें विस्तृत रूपमें तथा ज्ञानप्राप्तिके उपायके सम्बन्धमें संक्षिप्त रूपमें आलोचना की गयी है। परन्तु पातञ्जलमें ज्ञानप्राप्तिके उपायके सम्बन्धमें विस्तृत रूपमें और ज्ञानके विषयोंके सम्बन्धमें अपेक्षाकृत संक्षिप्त रूपमें आलोचना की गयी है।

पूर्वमीमांसामें दार्शनिक तत्त्व थोड़ा ही है। फिर भी धर्मशास्त्रके वास्तविक अर्थके निरूपणके सम्बन्धमें इसमें जो विचारप्रणाली दी गयी है, वह अत्यन्त सुन्दर तथा समय-पर काम देनेवाली है। उत्तरमीमांसामें सांख्यकी प्रकृति और पुरुषके पीछे भी एक एकत्व निर्धारित हुआ है। यही एकत्व ब्रह्म है तथा समस्त जीव और जड़ जगत्का परतम तत्त्व—एकमात्र पारमार्थिक सत्ता है।

थोड़े शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि न्याय और वैशेषिकके मतानुसार जगत्के परतम तत्त्व छः हैं—पाँच प्रकारके परमाणु और आत्मा। सांख्य और पातञ्जलके मतसे दो हैं—प्रकृति और पुरुष। उत्तरमीमांसा या वेदान्तके मतसे परतम तत्त्व एक है अर्थात् ब्रह्म है। अतएव दर्शनकी दृष्टिसे विचार करनेपर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वेदान्तका स्थान सर्वोच्च है। वेदान्तके सब भाष्योंमें अद्वैतवादने केवल ब्रह्मको परतम तत्त्व ही स्थिर किया है सो बात नहीं, इस मतमें जगत् मिथ्या है; हमारे मनके बाहर इसका कोई भी अस्तित्व नहीं है। अतएव सब दर्शनोंके अंदर जिस तरह वेदान्तका स्थान सबसे ऊँचा है, उसी तरह वेदान्तके सब भाष्योंमें भी अद्वैतवादका स्थान सर्वोच्च है। यह एक ही साथ दार्शनिक (Metaphysical) एवं ज्ञानतान्त्रिक (Idealistic) कल्पनाकी सर्वोच्च सीमा है, यह किसी तरह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सब प्रकारके वैचित्र्यके पीछे केवल एक परतम तत्त्वकी कल्पना दर्शन-शास्त्र (Metaphysical) की अन्तिम बात है एवं नाम-रूप जगत्का अस्तित्व केवल हमारे मनमें है, यह सिद्धान्त भी ज्ञानतन्त्रवाद (Idealism) की अन्तिम बात है।

शङ्करने यदि ब्रह्मसूत्रसे केवल दार्शनिक तत्त्वका निरूपण करनेके अभिप्रायसे उसका भाष्य लिखा होता तो सम्भवतः यहींपर उसकी बात समाप्त हो जाती। परन्तु उनका प्रधान उद्देश्य था ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या करना, केवल दर्शन लिखना नहीं। ब्रह्मसूत्र केवल दर्शनमें ही सीमाबद्ध नहीं है। इसमें ईश्वरतत्त्व (Theology) की एवं धर्म (Religion) की बात भी है। अतएव शङ्करको भी धर्मके साथ अपने दर्शनका सामञ्जस्य करनेकी चेष्टा करनी पड़ी। धर्म कहते ही सगुण ब्रह्मकी बात ध्यानमें आती है। सगुण ब्रह्मकी कल्पनाके बिना 'धर्म' शब्द अर्थहीन हो जाता है। 'धर्म' शब्दके द्योतन (Connotation) में ही उपास्य-उपासकका भाव वर्तमान है, परन्तु पूर्णाद्वैतमें उपास्य-उपासककी बात उठ ही नहीं सकती। ऐसा होनेपर भी शङ्करको अपनी ब्रह्मसूत्रकी व्याख्याके अंदर धर्मके लिये स्थाननिर्देश करना पड़ा था।

ब्रह्मका जो सर्वान्तरनिहिततत्त्वभाव (Immanent aspect) है, जिसको हिरण्यगर्भ या अपरब्रह्म कहते हैं, उसीको उन्होंने सर्वसाधारणके सामने उपास्यरूपमें उपस्थित किया है। परन्तु यह कहना भी नहीं भूले हैं कि यह अपरब्रह्म भी जीवकी ही तरह ब्रह्मसे पूर्णरूपेण अभिन्न है, ब्रह्मके साथ पूर्णरूपसे तादात्म्य-सम्बन्धविशिष्ट है। जीव, ईश्वर और ब्रह्म ये तीनों एक हैं। अद्वैतवादी दृष्टान्तस्वरूप वृक्षाकाश, वनाकाश, महाकाश इन तीन आकाशोंके सम्बन्धके द्वारा जीव, ईश्वर और ब्रह्ममें जो सम्बन्ध है, उसे समझानेकी चेष्टा करते हैं। जिस तरह वृक्ष और वन हुए बिना वृक्षाकाश अथवा वनाकाश कुछ नहीं रहता, एक महाकाश

ही रहता है, उसी तरह जीवदेह तथा जगत् देहरूप उपाधिके मनसे निकल जानेपर एकमात्र ब्रह्म ही रह जाता है। जीवचैतन्य एवं जगत्चैतन्य नामक और कोई द्वितीय सत्ता नहीं रहती।

थोड़ेमें हम कह सकते हैं कि शङ्करका दार्शनिक मत अद्वैतभावप्रकाशक श्रुतियोंके ऊपर प्रतिष्ठित है तथा उनका ईश्वरतत्त्व या धर्ममत द्वैत एवं द्वैताद्वैतभावप्रकाशक श्रुतियोंके ऊपर प्रतिष्ठित है। पहले ही कहा गया है कि शङ्करके मतमें अद्वैत श्रुतियाँ पारमार्थिक सत्य तथा द्वैत श्रुतियाँ व्यावहारिक सत्य हैं। अतएव शङ्करका दार्शनिक मत पारमार्थिक सत्य तथा धर्ममत व्यावहारिक रूपसे सत्य है। शङ्करने भी प्रकारान्तरसे यही बात स्वीकार की है। पारमार्थिक तत्त्वोंको हृदयंगम करनेके लिये जितने परिमार्जित मन एवं बुद्धिकी आवश्यकता है, वैसी परिमार्जित बुद्धि तथा मन जो अभी प्राप्त नहीं कर सके हैं, उनको आध्यात्मिक उन्नतिकी प्राप्तिके सोपानस्वरूप व्यावहारिक सत्यका अवलम्बन कर जीवन बनाना चाहिये।

परन्तु इतना होनेपर भी परवर्त्ती भाष्यकारोंमेंसे किसी-किसीने शङ्करको प्रच्छन्न बौद्ध कहनेसे भी नहीं छोड़ा है। वास्तवमें पूर्णाद्वैतवादमें एक तरहसे जैसे आस्तिक्यवादकी पराकाष्ठा है, वैसे ही एक तरहसे नास्तिक्यवादकी भी पराकाष्ठा है। आस्तिकताकी पराकाष्ठा इसलिये है कि इसके श्वासमें ब्रह्म, प्रश्वासमें ब्रह्म, प्रत्येक नाड़ीमें ब्रह्म, और प्रत्येक ग्रन्थिमें ब्रह्म हैं। ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य किसी सत्ताका संस्पर्श भी नहीं है। और नास्तिकताकी पराकाष्ठा इसलिये है कि इसमें उपास्य-उपासक, बन्धन-मुक्ति प्रभृतिकी बात ही नहीं उठ सकती।

खैर, जो हो, शङ्करके दार्शनिक तत्त्वके साथ उनके ईश्वर-तत्त्वका सामञ्जस्य हो या न हो, यह तो स्वीकार करना ही होगा कि शङ्करका ईश्वरतत्त्व (Theology) उनके अपने मतसे केवल व्यावहारिक सत्य होनेपर भी ईश्वरतत्त्वके सम्बन्धमें यही अन्तिम बात है। जो ब्रह्म पारमार्थिक भावमें निर्गुण तथा केवल ज्ञानस्वरूप हैं, वही ब्रह्म व्यावहारिक भावमें सगुण, सक्रिय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सृष्टि-स्थिति-लयके कर्ता हैं। यही उपास्यका उच्चतम आदर्श है।

ब्रह्मको अनुभव करना ही मानवजीवनकी परम सफलता है। इस सफलताकी प्राप्तिके लिये जिस तरहका नैतिक जीवन बनानेकी जरूरत है, उसका भी उ
इस धर्ममतमें बतलाया गया है। विवेक, वैराग्य,
दम, तितिक्षा, उपरति, समाधि, श्रद्धा इत्यादि
जीवनमें प्रतिफलित हुए हैं, केवल वही वेदान्त
अधिकारी है। विवेक शब्दका अर्थ है नित्यानित्य,
अनात्मा, बुरा-भला इत्यादिकी विचारशक्ति।
अनात्मविषयमें आसक्तिशून्यता। शम और दमका
है बाहरी और भीतरी इन्द्रियोंका संयम। तितिक्षा
दुःखके प्रति सहिष्णुताको कहते हैं। उपरति है
विषयसे समस्त इन्द्रियोंको संयत कर लेना। सम
जो सत्य वस्तु मालूम हो उसमें चित्तकी एक
श्रद्धा शब्दका अर्थ है सत्य शास्त्र या गुरुवाक्यमें वि
यह मानना पड़ेगा कि नैतिक उपदेशकी दृष्टिसे इन
स्थान अत्यन्त उच्च है।

द्वैतवाद जगत्का परतम तत्त्व 'एक' है, इस
स्वीकार नहीं करता। इस मतके अनुसार जीव,
और प्रकृति ये तीनों परतम तत्त्व हैं। अतएव द
दृष्टिसे विचार करनेपर इस मतका स्थान अपेक्षाकृत
स्तरमें मालूम होता है। परन्तु धर्मकी दृष्टिसे
करनेपर यह मत अपेक्षाकृत अधिक यु
मालूम होता है। इस मतमें जीव और ईश्वरके
उपास्य-उपासक, नियन्तृ-नियम्य-सम्बन्ध है। पहले ह
गया है कि धर्म कहते ही उपास्य-उपासकका भाव
आता है।

द्वैताद्वैतवादके अनुसार भी ब्रह्म ही एकमात्र
तत्त्व है। यह जगत् ब्रह्मके ही अपेक्षाकृत स्थू
अनुभवयोग्य आकारकी अभिव्यक्ति है। यह अत्यन्त
दार्शनिक मत है। वर्तमान समयमें वैज्ञानिक ज
प्रगति देखकर ऐसा अनुभव किया जा सकता है
सम्भवतः ऐसा समय आवेगा जब इस दार्शनिक त
वैज्ञानिक प्रणालीबद्ध प्रमाणोंके ऊपर प्रतिष्ठित कि
सकेगा। जगत्के तीन उपादान हैं—चैतन्य, गति या
और जड़। जड़ एक तरहसे गतिकी ही परिणति है
एक प्रकारसे सिद्ध किया जा चुका है। बाकी रह
दिखाना कि गति या शक्ति चैतन्यका ही रूपान्तर
वर्तमान विज्ञानकी गतिसे ऐसा मालूम होता है कि
भविष्यमें ही यह भी दिखा देना सम्भव हो जा
जो हो, द्वैताद्वैतवाद दर्शनकी दृष्टिसे उच्च कोटिका सि
है। जीवको ब्रह्मका अंश मान लेनेके कारण इसमें उ

उपासक-सम्बन्धके लिये भी स्थान है। हाँ, एक बात यह है कि जीव यदि ब्रह्मका अंश है तो ब्रह्ममें मलिनताके स्पर्शका दोष घटता है। जीव जब अज्ञ और मोहाच्छन्न है तब प्रत्येक जीव शुभ्र ब्रह्ममें मानो एक-एक काला दाग है; ऐसा मानना अवश्य ही कष्टदायक है। परन्तु युक्तिकी दृष्टिसे देखनेपर इसे छोड़नेका भी उपाय नहीं। यह दोष घटनेके कारण ही किसी-किसी व्याख्याकारने 'अंश' शब्दका 'अंश इव' अर्थात् अंशके समान केवल दिखायी देता है, ऐसा अर्थ किया है। अर्थात् यद्यपि जीव ब्रह्मके अंशके समान दिखायी देता है, तथापि यह ब्रह्मका अंश नहीं है। अंशका इस प्रकार अर्थ करनेपर द्वैत एवं द्वैताद्वैतवादके अन्दर जो पार्थक्यकी बात कही गयी है, वह केवल वाक्योंमें ही समाप्त हो जाती है। तब सम्भवतः ऐसा हो सकता है कि व्याख्याकारोंने अंशकी 'अंश इव' व्याख्या करके केवल इस बातको समझाना चाहा हो कि जब जीव और ब्रह्म दोनों देशकालसे अतीत हैं, तब उनको अंश-अंशी कहनेपर उन दोनों शब्दोंका साधारण अर्थ नहीं समझना होगा। बल्कि यह स्मरण रखना होगा कि जीव और ब्रह्म दोनों चिन्मय वस्तु हैं; अतएव देश और कालसे अतीत हैं। जो देशकालसे अतीत है, उसके सम्बन्धमें अंश-अंशी, बड़ा-छोटा, भीतर-बाहर प्रभृति शब्द व्यवहार करनेपर देश और कालके द्वारा सीमाबद्ध अर्थात् जड़ वस्तुकी ही बात हमारे ध्यानमें आती है। देशके सम्बन्धमें जो हमारी धारणा है, उसके द्वारा चिन्मय वस्तुका विचार करनेपर कौन-कौन-सी भूलें हो सकती हैं, यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं।

जो हो, संक्षेपमें हम यह कह सकते हैं कि अद्वैतवाद ज्ञानतान्त्रिक दर्शन (Idealistic metaphysics) की अन्तिम बात है। द्वैताद्वैतवाद वस्तुतान्त्रिक दर्शन (Realistic metaphysics) की शेष बात है और द्वैतवाद धर्मकी दृष्टिसे अपेक्षाकृत दृढ़तर युक्तियोंके ऊपर प्रतिष्ठित है।

यहाँपर स्वतः पाठकोंके मनमें यह प्रश्न उठ सकता है कि इन पाँच वैदान्तिक मतोंमेंसे ब्रह्मसूत्रकी वास्तविक व्याख्या कौन-सी है?

इस प्रबन्धमें पूर्णाद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, भेदाभेदवाद, शुद्धाद्वैतवाद इत्यादि पाँच वैदान्तिक मतकी बात कही गयी है; और यह भी कहा गया है कि इनमें सर्वप्रथम मतके अनुसार जीव और ब्रह्म तादात्म्यसम्बन्धविशिष्ट एक सत्ता हैं; द्वितीय मतके अनुसार इनकी पृथक्-पृथक् सत्ता है; दोनों अनादि और अनन्त हैं; और अन्य तीन मतोंके अनुसार इनमें एक तरहसे अंश-अंशीका सम्बन्ध है, एक-न-एक रूपमें जीव अंश और ब्रह्म अंशी है।

अब पाठकोंके मनमें स्वतः ही यह प्रश्न उठ सकता है कि इन पाँच व्याख्याओंमें कौन-सी सूत्रकी वास्तविक व्याख्या है, अर्थात् कौन-सी सूत्रकारके मतानुसार व्याख्या है? एक सूत्र या अनेक सूत्रोंकी पाँच तरहकी व्याख्याओंमें सब ठीक नहीं हो सकतीं। यदि इनमेंसे कोई भी एक सत्य हो तो अन्य चार निश्चय ही भ्रमात्मक होंगी। अथवा ऐसा भी हो सकता है कि पाँचों व्याख्याएँ भ्रमपूर्ण हों। क्योंकि यदि एक सूत्रकी पाँच प्रकारकी व्याख्याएँ हो सकती हैं तो कौन कह सकता है कि उसकी एक और व्याख्या नहीं हो सकती, और यदि ऐसा हो तो कौन कह सकता है कि यह व्याख्या वास्तविक व्याख्या नहीं है।

इन सब प्रश्नोंके उत्तरमें हम अभी इतना ही कह सकते हैं कि इन पाँच वैदान्तिक मतोंमें कौन-सी सूत्रकी वास्तविक व्याख्या है, यह दृढ़ताके साथ कहना कठिन है। क्योंकि यद्यपि ब्रह्मसूत्रमें सब श्रुतियोंका सामञ्जस्य दिखानेकी चेष्टा की गयी है तथापि इसके किसी सूत्रमें कोई श्रुति उद्धृत नहीं की गयी है। किस सूत्रके द्वारा किस श्रुतिको या किन श्रुतियोंको लक्ष्य किया गया है, यह पाठकोंको ही अपनी निजी विचार-बुद्धिके ऊपर निर्भर करके निश्चित करना पड़ता है। सूत्रोंकी रचनाका ढंग भी ऐसा है कि इनमेंसे किसीकी भी व्याख्या कई प्रकारसे की जा सकती है। और इसके ऊपर जीव और ब्रह्मका सम्बन्ध बतलानेवाली श्रुतियोंमें कोई अद्वैत, कोई द्वैत और कोई द्वैताद्वैत-सम्बन्ध बतलानेवाली है; अतएव प्रत्येक भाष्यकार केवल अपने मतानुसार सूत्रोंकी व्याख्या करनेमें ही समर्थ नहीं हुए हैं बल्कि उस मतके पोषणार्थ तदनुकूल श्रुतियोंको भी उद्धृत कर सके हैं।

अब यह देखें कि कहीं बाहरसे इस विषयमें कोई सहायता मिलती है या नहीं। पहले कहा गया है कि गीता एक अर्थमें उपनिषदोंका ही भाष्य है। उपनिषदोंमें कहे गये वाक्य इसमें अपेक्षाकृत सरल भाषामें कहे गये हैं। इसीलिये गीताको भी ब्रह्मसूत्र और उपनिषद्की तरह वेदान्तकी भित्ति मानते हैं। कहा गया है, जो गीताके

रचयिता हैं वही ब्रह्मसूत्रके भी रचयिता हैं। गीतामें जीव और ब्रह्मका क्या सम्बन्ध बताया गया है, यदि इसका निरूपण किया जा सके तो हम युक्तियुक्त रूपमें कह सकते हैं कि यही सूत्रकारका मत है।

गीतामें जीव और ब्रह्मका सम्बन्ध बतलानेवाले जितने श्लोक हैं वे नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

(१) **भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।**
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
(७। ४-५)

भूमि, जल, अनल, वायु, आकाश, मन, बुद्धि एवं अहंकार ये आठ ब्रह्मकी अपरा प्रकृति हैं। जीव उनकी परा प्रकृति है और इसके द्वारा यह जगत् विधृत हो रहा है।

(२) **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।**
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
(१५। ७)

जीव ब्रह्मका ही सनातन अंश है। मृत्यु होनेपर यह मन और पाँच इन्द्रियोंको आकर्षित करके स्थूल देह छोड़ देता है।

(३) **पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।**
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥
(१३। २१-२२)

इस देहमें जीव भी है, ब्रह्म भी हैं। जीव प्रकृतिजात सब गुणोंका भोक्ता है; यही उसके सत् या असत् योनिमें जन्म धारण करनेका कारण है। ब्रह्म इसके उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता एवं पालक हैं तथा परमात्मरूपसे सबकी देहमें वर्तमान हैं। यह निम्नलिखित प्रत्येक वाक्यकी प्रतिध्वनिमात्र है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

एक ही देहरूप वृक्षपर जीव तथा ब्रह्मरूप दो पक्षी निवास करते हैं। एक इस देहवृक्षके मीठे फलोंको खाता है और दूसरा केवल देखता है।

(४) गीतामें एक और स्थलमें है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
(१५। १६–

क्षर एवं अक्षर ये दो पुरुष दो तत्त्व हैं। सब
क्षर हैं। जिसमें परिवर्तन नहीं होता, जो कूटस्थ है
अक्षर है। इसके अतिरिक्त एक तीसरा तत्त्व भी है,
परमात्मा कहते हैं। यह परमात्मा क्षर और अक्षर
तत्त्वोंसे अतीत तथा दोनोंसे उत्तम हैं। इसीलिये
पुरुषोत्तम कहते हैं।

(५) और एक स्थानमें कहा गया है—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ (
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ (

ब्रह्म ही जगत्के प्रभव और प्रलयके कारण हैं।
परतर और कोई तत्त्व नहीं है। सूत्रमें जिस तरह म
गुँथी होती हैं, यह विश्वब्रह्माण्ड भी उनमें उसी तरह
हुआ है।

ब्रह्म जगत्के निमित्त और उपादानकारण हैं,
विषयमें यह श्रुतिवाक्य है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि
तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥
(मुण्डक० १। १।

जिस तरह मकड़ा अपनेमेंसे तन्तु बाहर निकालकर
बनाता है और फिर उस तन्तुको अपने ही अंदर
लेता है, जिस तरह पृथिवीसे उसके चेष्टा किये
ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और उसीमें लीन हो जाती
जिस तरह पुरुषके चेष्टा किये बिना ही उसके केश
लोम उत्पन्न होते हैं, उसी तरह अक्षरब्रह्मसे विश्वकी उत्
होती है। महाभारतके शान्तिपर्वमें लिखा है—

यदा तु मन्यतेऽन्योऽहमन्य एष इति द्विजः।
तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति॥

अन्यश्च राजन्यवर तथान्यः पञ्चविंशकः ।
तत्स्थानाच्चानुपश्यन्ति एक एवेति साधवः ॥

साधक जब अपनेको देहसे पृथक् जानते हैं तब वे वलीभूत होते हैं एवं छब्बीसवें तत्त्वके अर्थात् ब्रह्मके दर्शन त करते हैं। महाराज ! पचीसवाँ तत्त्व (अर्थात् पुरुष जीव) छब्बीसवें (अर्थात् ब्रह्म) से भिन्न है, इस षयमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु फिर भी पचीसवाँ त्व छब्बीसवेंके अंदर ही दिखायी देता है और इसीलिये नी उनको एक ही वस्तुके रूपमें देखते हैं।

ऊपर जो गीताके वाक्य उद्धृत किये गये हैं, उनमेंसे हलेमें जीवको ब्रह्मकी परा प्रकृति कहा गया है। इस तरह व-ब्रह्ममें वह सम्बन्ध होता है जो गुण और गुणीमें होता । एक तरहसे गुणको गुणविशिष्ट गुणीका अंश माना जा कता है। अतएव इस सम्बन्धको अंश-अंशीका सम्बन्ध ना जा सकता है। दूसरे स्थानमें, स्पष्ट भाषामें, जीवको ह्मके अंशके रूपमें वर्णन किया गया है। तीसरे स्थानमें ीव और ब्रह्मको एक ही देहमें वर्तमान दो पृथक् सत्ता हा गया है। और यह भी कहा गया है कि ब्रह्म सबके ंदर सबके आत्माके आत्मारूपसे वर्तमान है। चौथे स्थल-ं दोनोंका दो पृथक् सत्ताके रूपमें वर्णन किया गया है। यही नहीं, बल्कि ब्रह्मको जीवसे श्रेष्ठ, उसको पुरुषोत्तम भी कहा गया है। शान्तिपर्वसे जो सूत्र उद्धृत किया गया है, उसमें स्पष्ट भाषामें प्रकट किया गया है कि ब्रह्म जीवसे पृथक् एक सत्ता है। और यह भी कहा गया है कि ज्ञाननेत्र खुल जानेपर जीव ब्रह्मके अंदर ही वर्तमान दिखायी देता है और इसी अर्थमें ज्ञानी लोग जीव और ब्रह्मको एक कहते हैं।

इससे यह स्पष्ट ही मालूम होता है कि गीताके रचयिताके मतानुसार जीव और ब्रह्ममें पूर्ण तादात्म्यका सम्बन्ध है, ऐसा कभी नहीं समझा जा सकता। और विशेषकर जीव और ब्रह्मके पूर्णरूपेण एक हो जानेपर उपासना या भक्ति एकदम अवान्तर विषय हो जाती है, परन्तु गीताके कोई भी पाठक यह समझ सकते हैं कि ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये गीतामें भक्तिको ही उत्कृष्ट उपाय निर्धारित किया गया है। गीताके किसी-किसी श्लोकके द्वारा द्वैताद्वैतवादका समर्थन होनेपर भी गीतामें ऐसी कोई भी स्पष्ट उक्ति नहीं है जिसके द्वारा केवलाद्वैतवाद प्रकट या प्रतिष्ठित हो सके। यदि वास्तवमें गीता और ब्रह्मसूत्रके रचयिता एक ही व्यक्ति हों तो हम निस्सन्देह यह कह सकते हैं कि केवलाद्वैतवाद ब्रह्मसूत्रकी वास्तविक अर्थात् सूत्रकारके मतानुयायी व्याख्या नहीं है।

(शेष आगे)

मेरा स्वप्न

देखा स्वप्न रातको मैंने, मैं बैठा उपवनके बीच।
अपनी चारु चन्द्रिकासे हैं चन्द्र रहे उपवनको सींच ॥
हुई अचानक यह ध्वनि 'पकड़ो' मैंने पूछा कैसा शोर।
चन्द्रप्रभामें देखा मैंने भागे आते नन्दकिशोर ॥
मोरमुकुट है शोभित सिरपर और गलेमें है वनमाल।
पीताम्बर है श्याम अंगपर शोभित हो ज्यों तरुण तमाल ॥
हाथोंमें है मधुर बाँसुरी होठोंपर मीठी मुस्कान।
चन्द्रप्रभा भी बढ़ा रही है श्याम अंगकी छटा महान ॥
'भैया गोपी घेर रही हैं' बोले मुझसे यों भगवान।
शीघ्र बताओ मुझे यहाँ क्या छिपनेको है कोई स्थान ॥
पुलकित हो बोला मैं आओ, मेरा मन तमका आगार।
आओ छिप जाओ इसहीमें सब गोपी ढूँढ़ें संसार ॥

(सं० व्रजनाथ गौड़)

ब्रह्मज्ञानका अधिकारी

एक समय प्रजापतिने कहा कि 'आत्मा पापसे रहित, बुढ़ापेसे रहित, मृत्युसे रहित, शोकसे रहित, क्षुधासे रहित, पिपासासे रहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है। उस आत्माकी खोज करनी चाहिये। वही जानने योग्य है। जो उस आत्माको जानकर उसका अनुभव करता है, वह सम्पूर्ण लोकोंको और सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त करता है।'

प्रजापतिके इस वचनको सुनकर देवता और असुर दोनोंने आत्माको जाननेकी इच्छा की। देवताओंमें इन्द्र और असुरोंमें विरोचन प्रतिनिधि चुने गये और उन दोनोंने प्रजापतिके पास जानेका विचार किया। परस्पर द्वेषके कारण आपसमें एक दूसरेसे कुछ भी न कहकर दोनों समित्पाणि होकर विनयपूर्वक प्रजापतिके पास गये।*

दोनोंने वहाँ जाकर परस्परकी ईर्षाको भुलाकर लगातार बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन किया। इसके बाद प्रजापतिने उनसे पूछा—

'किस इच्छासे तुम दोनों यहाँ आकर रहे हो?'

उन्होंने कहा—'भगवन्! आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधा और पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है। वह जानने योग्य है, वही अनुभव करने योग्य है। जो उसको जानकर उसका अनुभव करता है वह सम्पूर्ण लोकों और सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त होता है। आपके ये वचन सबने सुने हैं, इसीसे उस आत्माको जाननेकी इच्छासे हमलोग यहाँ आये हैं।'

प्रजापतिने कहा—'आँखोंमें यह जो पुरुष द्रष्टा अन्तर्मुखी दृष्टिवालोंको दीखता है, यही आत्मा है, यही अमृत है, यही अभय है, यही ब्रह्म है।'

इन्द्र और विरोचनने अशुद्ध बुद्धि होनेके कारण इस कथनको अक्षरशः ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया। उन्होंने समझा कि नेत्रोंमें जो मनुष्यका प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है वही आत्मा है। इसी निश्चयको दृढ़ करनेके लिये उन्होंने प्रजापतिसे फिर पूछा—'हे भगवन्! जलमें जो पुरुषका प्रतिबिम्ब दीखता है अथवा दर्पणमें शरीरका जो दीखता है, इन दोनोंमेंसे आपका बतलाया हु कौन-सा है? क्या ये दोनों एक ही हैं।' प्रजापतिने 'हाँ, हाँ, वह इन दोनोंमें ही दीख सकता है प्रत्येक वस्तुमें है।'

इसके बाद प्रजापतिने उनसे कहा—'जाओ जलसे भरे हुए कुण्डमें देखो और यदि वहाँ आ पहचान सको तो फिर मुझसे पूछना, मैं तुम्हें समझा दोनों जाकर कुण्डमें अपना प्रतिबिम्ब देखने लगे। पतिने पूछा—'तुमलोग क्या देखते हो?' उन्होंने 'भगवन्! नखसे लेकर शिखातक हम सारे देख रहे हैं।' नख-शिखकी बात सुनकर ब्रह्माजी कहा—'अच्छा, तुम जाओ और शरीरोंको स्नान अच्छे-अच्छे गहने पहनो और सुन्दर-सुन्दर वस्त्र करो। फिर जाकर जलके कुण्डमें देखो।' नख औ सदृश यह शरीर भी अनात्म है। इसी बातको स लिये प्रजापतिने यों कहा, परन्तु उन दोनोंने इस नहीं समझा। वे दोनों अच्छी तरह नहा-धोकर सुन्दर वस्त्रालङ्कारोंसे सजकर कुण्डपर गये औ प्रतिबिम्ब देखने लगे। प्रजापतिने पूछा—'क्या देख उन्होंने कहा—'हे भगवन्! जैसे हमने सुन्दर-सुन्द और आभूषण धारण किये हैं, इसी प्रकार हम आत्माने भी सुन्दर-सुन्दर वस्त्रालङ्कारोंको धारण कि

प्रजापतिने सोचा कि अन्तःकरणकी अशुद्धिके आत्माका यथार्थ स्वरूप इनकी समझमें नहीं सम्भवतः मेरे वचनोंका मनन करनेसे इनके प्र संस्कारोंके दूर होनेपर इनको आत्मस्वरूपका सकेगा। यों विचारकर प्रजापतिने कहा—'यही आ यही अविनाशी है, यही अभय है, यही ब्रह्म है।'

प्रजापतिके वचन सुन इन्द्र और विरोचन होकर अपने-अपने घरकी ओर चले। उनको यों देखकर प्रजापतिने मनमें कहा—'ये बेचारे आत्मा बिना ही, साक्षात् अनुभव किये बिना ही जा रहे हैं देव और असुरोंमेंसे जो कोई भी इस (प्रतिबिम्ब शरीरको ही ब्रह्म माननेके) उपनिषद्वाले होंगे, तो पराभव ही होगा।'

---

* यह नियम है कि—'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।' (मुण्डक० १।२।१२)

'शिष्यको हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाना चाहिये।'

विरोचन तो अपनेको ज्ञानी मानकर शान्त हृदयसे सुरोंके पास जा पहुँचा और 'प्रतिबिम्बके निमित्त शरीरको ही आत्मा समझकर उसने इस शरीरमें आत्मबुद्धिरूप पनिषद्का उपदेश आरम्भ कर दिया। उसने कहा–प्रजापतिने शरीरको ही आत्मा बतलाया है, इसलिये यह रीररूपी आत्मा ही पूजा करने योग्य है, यही सेवा रने योग्य है, इस जगत्में केवल इस शरीररूपी आत्माकी ी पूजा और सेवा करनी चाहिये। इसीकी सेवासे मनुष्यको ोनों लोक (दोनों लोकोंमें सुख) प्राप्त हो सकता है।'

इस देहात्मवादके कारणसे जो दान नहीं करता, त्कार्योंमें श्रद्धा नहीं रखता तथा यज्ञादि नहीं करता, उसको आज भी असुर कहा जाता है! यह देहात्मवादी उपनिषद् असुरोंका ही चलाया हुआ है। ऐसे लोग शरीरको ही आत्मा समझकर इसे गहने, कपड़े आदिसे सजाया करते हैं। और सारा जीवन इस शरीरकी सेवा-पूजामें ही खो देते हैं। अन्तमें यही लोग मृत शरीरको भी गहने-कपड़ोंसे सजाकर ऐसा समझते हैं कि हम स्वर्गको जीत लेंगे। 'अमुं लोकं जेष्यन्तः।'

इधर दैवीसम्पदावाले इन्द्रको स्वर्गमें पहुँचनेसे पहले ही विचार हुआ कि 'प्रजापतिने तो आत्माको अभय कहा है, परन्तु इस प्रतिबिम्बरूप आत्माको तो अनेक भय रहते हैं। जब शरीर सजा होता है तो प्रतिबिम्ब भी सजा हुआ दीखता है। शरीरपर सुन्दर वस्त्र होते हैं तो प्रतिबिम्ब भी सुन्दर वस्त्रोंवाला दीखता है। शरीर नख-केशसे रहित साफ-सुथरा होता है तो प्रतिबिम्ब भी साफ-सुथरा दीखता है। इसी प्रकार यदि शरीर अन्धा होता है तो प्रतिबिम्ब भी अन्धा होता है। शरीर काला होता है तो प्रतिबिम्ब भी काला दीखता है। शरीर लूला-लँगड़ा होता है तो प्रतिबिम्ब भी लूला-लँगड़ा दीखता है। शरीरका नाश होता है तो प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाता है। इसलिये इसमें तो मैं कुछ भी आत्मस्वरूपता नहीं देखता।'

इस प्रकार विचारकर इन्द्र समित्पाणि होकर फिर प्रजापतिके पास आया। प्रजापतिने इन्द्रको देखकर कहा–'इन्द्र! तुम तो विरोचनके साथ ही शान्त हृदयसे वापस चले गये थे, अब फिर किस इच्छासे आये हो?' इन्द्रने कहा–'भगवन्! जैसा शरीर होता है वैसा ही प्रतिबिम्ब दीखता है; शरीर सुन्दर वस्त्रालङ्कृत और परिष्कृत होता है तो प्रतिबिम्ब भी वस्त्रालङ्कृत और परिष्कृत दीखता है। शरीर अन्ध, स्राम या अंगहीन होता है तो प्रतिबिम्ब भी वसा ही दीखता है। शरीरका नाश होता है तो इस प्रतिबिम्बरूप आत्माका भी नाश होता है। अतएव इसमें मुझे कोई आनन्द नहीं दीख पड़ता।'

प्रजापतिने इन्द्रके वचन सुनकर कहा–'हे इन्द्र! ऐसी ही बात है। वास्तवमें प्रतिबिम्ब आत्मा नहीं है। मैं तुम्हें फिर समझाऊँगा, अभी फिर बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रतसे यहाँ रहो।'

इन्द्र बत्तीस वर्षतक फिर ब्रह्मचर्यके साथ गुरुके समीप रहा, तब प्रजापतिने उससे कहा—'जो इस स्वप्नमें पूजित होता हुआ विचरता है, स्वप्नमें अनेक भोग भोगता है वह आत्मा है, वही अभय है, अमृत है, वही ब्रह्म है।'

इन्द्र शान्त हृदयसे अपनेको कृतार्थ समझकर चला, परन्तु देवताओंके पास पहुँचनेके पहले ही उसने सोचा कि 'स्वप्नके द्रष्टा आत्मामें भी दोष है। यद्यपि शरीर अन्धा होनेसे यह स्वप्नका द्रष्टा अन्धा नहीं होता, शरीरके स्राम (व्याधिपीड़ित) होनेसे यह स्राम नहीं होता, शरीरके दोषसे यह दूषित नहीं होता, शरीरके वधसे इसका वध नहीं होता तथापि यह नाश होता हुआ-सा, भागता हुआ-सा, शोकग्रस्त होता हुआ-सा और रोता हुआ-सा लगता है, इससे मैं इसमें भी कोई आनन्द नहीं देखता।'

इस प्रकार विचारकर इन्द्र हाथमें समिधा लेकर फिर प्रजापतिके समीप गया और प्रजापतिके पूछनेपर उसने अपनी शंका उनको सुनायी।

प्रजापतिने कहा—'इन्द्र! ठीक यही बात है। स्वप्नका द्रष्टा आत्मा नहीं है। मैं तुम्हें फिर उपदेश करूँगा, तुम फिर बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रतसे यहाँपर रहो।'

इन्द्र तीसरी बार बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यके साथ फिर रहा। इसके बाद प्रजापतिने कहा–'जिसमें यह जीव निद्राको प्राप्त होकर सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापार शान्त हो जानेके कारण सम्पूर्ण रीतिसे निर्मल और पूर्ण होता है और स्वप्नका अनुभव नहीं करता, यह आत्मा है, अभय है, अमृत है, यही ब्रह्म है।'

आत्माका यथार्थ स्वरूप समझमें आ गया ऐसा मानकर इन्द्र शान्त हृदयसे स्वर्गकी ओर चला परन्तु देवताओंके पास पहुँचनेके पहले ही मार्गमें विचार करनेपर उसे सुषुप्ति-अवस्थामें पड़े हुए जीवको आत्मा समझनेमें दोष दीख पड़ा। उसने सोचा कि 'सुषुप्ति अवस्थामें आत्मा जाग्रत् और स्वप्नकी तरह 'यह मैं हूँ' ऐसा अपनेको नहीं जानता।

न इन भूतोंको जानता है और उसमेंसे विनाशको ही प्राप्त होता है। यानी सुषुप्ति-अवस्थाका सुख भी निरन्तर नहीं भोग सकता अतएव इसमें भी कोई आनन्द नहीं दीखता।'

इस प्रकार विचारकर इन्द्र समित्पाणि होकर चौथी बार फिर प्रजापतिके पास आया। उसे देखकर प्रजापतिने कहा–'तुम तो शान्त हृदयसे चले गये थे, लौटकर कैसे आये?' इन्द्रने कहा—'भगवन्! इस सुषुप्तिमें स्थित यह आत्मा जाग्रत् और स्वप्नमें जैसे अपनेको जानता है वैसा वहाँ 'यह मैं हूँ' यों नहीं जानता, इन भूतोंको भी नहीं जानता और इस अवस्थामेंसे इसका विनाश-सा भी होता है अतएव मैं इसमें भी कोई आनन्द नहीं देखता।'

प्रजापतिने कहा–'इन्द्र! ठीक है। सुषुप्तिमें पड़ा हुआ जीव वास्तवमें आत्मा नहीं है। मैं तुम्हें फिर इसी आत्माका ही उपदेश करूँगा, किसी दूसरे पदार्थका नहीं। तुम यहाँ पाँच सालतक फिर ब्रह्मचर्यव्रतसे रहो।'

तीन बार बत्तीस-बत्तीस वर्षका ब्रह्मचर्यव्रत पालन करनेपर भी प्रतिबन्धकरूप तनिक-से भी हृदयके मलको नाश करके प्रकृत अधिकारी बनानेके हेतुसे फिर पाँच वर्ष ब्रह्मचर्यके लिये प्रजापतिने आज्ञा दे दी। पूरे एक सौ एक वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन कर चुकनेपर प्रजापतिने कहा–'इन्द्र! यह शरीर मर्त्य है, सर्वदा मृत्युसे ग्रस्त है, तो भी यह अमृतरूप तथा अशरीरी आत्माका अधिष्ठान (रहने और भोगादि भोगनेका स्थान) है। यह अशरीरी आत्मा जब अविवेकसे सशरीर अर्थात् शरीरमें रखनेवाला होता है तभी सुख-दुःखसे ग्रस्त जहाँतक देहात्मबोध रहता है वहाँतक सुख-दुःखसे नहीं मिल सकता। विज्ञानसे जिसका देहात्मभाव गया है उस अशरीरीको निःसन्देह सुख-दुःख नहीं कर सकते।' इसके बाद वायु, अभ्र और का दृष्टान्त देते हुए अन्तमें प्रजापतिने कहा—'इस जो मैं देखता हूँ ऐसे जानता है वह आत्मा है, उसके रूपके ज्ञानका साधन है; जो इस गन्धको हूँ ऐसे जानता है वह आत्मा है और गन्धके नासिका है; जो मैं इस वाणीका उच्चारण करता जानता है वह आत्मा है और उसके उच्चारणके है; जो मैं सुनता हूँ ऐसे जानता है वह आत्मा उसके श्रवणके लिये श्रोत्र हैं; जो जानता है कि मैं हूँ वह आत्मा है और मन उसका दैवी चक्षु है। स्वस्वरूपको प्राप्त वह मुक्त इस अप्राकृत चक्षुरूपी द्वारा इन भोगोंको देखता हुआ आनन्दको है।' यही आत्मतत्त्व है।

इन्द्र आनन्दमें मग्न हो गया और देवलोकमें उसने देवताओंको इस आत्माका उपदेश देवताओंने इस आत्माकी उपासना की। इससे सर्वलोक और सम्पूर्ण भोगोंकी प्राप्ति हुई। आत्माको भलीभाँति जानकर इसका साक्षात्कार वही सर्वलोक और सम्पूर्ण आनन्दको प्राप्त होता

---

* इस प्रकारकी तीव्र जिज्ञासा और अटल श्रद्धा होनेपर ही ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपकी उपलब्धि हुआ करती है। विशाल भोगोंको छोड़कर लगातार एक सौ एक वर्षोंतक ब्रह्मचर्यका पालन करनेके अनन्तर देवराज इन्द्रको प्रजापति यथार्थ करते हैं और तभी उन्हें ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। आजकल लोग विना ही श्रद्धा और साधनके अनायास मुफ्तमें ही प्राप्त कर लेना चाहते हैं। गुरुको खोजने और उसके समीप जानेकी भी आवश्यकता नहीं समझते। इसी कारण रह जाते हैं। प्रथम तो गुरु मिलते नहीं, मिलते हैं तो विषयान्ध मनुष्य उन्हें पहचानते नहीं। बिना पहचाने और बिना यदि सत्पुरुष अपनी स्वाभाविक दयासे कुछ उपदेश कर देते हैं तो श्रद्धाके अभावसे वह ग्रहण नहीं किया जाता। अनधिकारीको बिना पूछे उपदेश देनेका कोई महत्त्व नहीं रहता, इसीसे महात्मा लोग बिना पूछे प्रायः कुछ कहा भी नहीं इन सब बातोंपर विचार करके जिन लोगोंको दुःखोंसे सर्वदा मुक्त होनेकी अभिलाषा है उनको चाहिये कि साधनोंसे सम्पन्न होकर श्रद्धा और भक्तिसमन्वित हृदयसे सद्गुरु और शास्त्रोंकी शरण लें एवं तर्कसे सदा बचे रहकर उनकी आज्ञानुसार लक्ष्यका अनुसन्धान करके उसीमें चित्तकी वृत्तियोंको विलीन कर दें।

साधारण लोगोंके लिये वेदान्त

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीहाथीभाईजी शास्त्री)

वेदान्त शब्दकी व्युत्पत्तिसे वेदोंके अन्त—उपनिषदोंका बोध होता है । वेदोंमें कर्मकाण्डका बड़े विस्तारसे प्रतिपादन किया गया है और अन्तमें उपनिषदोंसे विविध प्रकारसे अध्यात्मविचार निरूपण किया गया है। अतः इसे अध्यात्मविद्या कहते हैं ।

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीताके दशमाध्यायमें जहाँ विभूतिवर्णन किया है वहाँ संसारभरकी अनन्त लौकिक विद्याओंको छोड़कर 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' कहकर इस अध्यात्मविद्याको अपनी विभूति बताकर और विद्याओंकी अपेक्षा इसीका महत्त्व बखाना है ।

ऐसी विद्याके अधिकारी बननेके लिये शास्त्रोंमें शम-दमादि सम्पत्ति प्रभृति साधनसम्पादनापेक्षा भी वर्णित है। फिर भी 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' इस श्रुतिवाक्यमें गुरूपसदन आवश्यक बताया है । 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि वाक्योंसे प्रतीत होता है कि यह विद्या पुस्तकवाचन मात्रसे अधिगत नहीं हो सकती । ऐसा होनेपर भी यदि कोई 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंका आपातप्रतीत अर्थ लेकर 'सब ब्रह्म है तो हमारा तो सब कुछ ब्रह्म है ही दूसरोंकी चीज़ भी ब्रह्म है; और इसलिये यदि हम परायी चीज़को ले लें तो इसमें कोई दोष नहीं'—ऐसा व्यवहार-विप्लावक अर्थ निकालकर वेदान्तशास्त्रका अन्यथा उपयोग करने लगे तो संसारमें अव्यवस्थाकी आपत्ति आ जाय । इस अव्यवस्थाके परिहारार्थ 'आचार्यादेवाधिगता विद्या साधिष्ठा भवति' इत्यादि श्रुति 'वेदान्तज्ञान आचार्य पुरुषोंसे ही प्राप्य है' ऐसी ही साग्रह प्रेरणा करती है ।

वेदान्तप्रक्रियासे अनभिज्ञ कई लोग 'वेदान्तमें संसारको मिथ्या कहा है' ऐसा सुनते ही चकित होते हैं । और कई तो 'वेदान्त सुननेसे अकर्मी हो जाना पड़ेगा' ऐसे भयसे वेदान्तको बड़ा भूत समझते हैं ।

वेदान्त संसारको झूठा नहीं कहता, किन्तु मिथ्या कहता है, और इसी मिथ्यात्वकी प्ररूपणाके लिये वेदान्तमें—

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानोऽथ रथान् रथयोगान्पथः सृजति । (कठ०)

'तत्र (स्वप्नमें) न तो रथ है न रथमें जोतनेके घोड़े हैं न लम्बे-चौड़े मार्ग हैं; तो भी रथ, रथमें जोतनेके घोड़े और मार्गोंको सृजते हैं' इस दृष्टान्तसे संसारका मिथ्यात्व समझाया गया है । यदि स्वप्न न होता तो संसारको मिथ्या समझाना कुछ दुष्कर-सा हो जाता । परमात्माने मनुष्योंको संसारका मिथ्यात्व समझानेके लिये ही स्वप्नसृष्टिकी रचना दिखायी है ।

ऐसे ही मुक्तिसुखका अनुमान करानेके लिये सुषुप्ति—गाढ़ निद्रा दृष्टान्तरूप होती है। यद्यपि दोनोंमें ज्ञान और अज्ञानका महान् अन्तर है तथापि सुषुप्ति मुक्तिकी नकल है, ऐसा कहना अयुक्त न होगा । इसी शाश्वत मुक्तिसुखके अधिकारी मुमुक्षुजनोंके वैराग्यादिसिद्ध्यर्थ पहले संसारका मिथ्यात्व वर्णित किया है ।

पाश्चात्य तत्त्वदर्शी हेगेलने कहा है—

'वेदान्तमें एक मनसे दूसरे मनमें परमात्माका ज्ञान संक्रान्त करनेमें वाणी अपूर्ण सामर्थ्यवाला साधन मानी गयी है। केवल वाणीके क्षेत्रसे बाहर नहीं किन्तु सब इन्द्रियोंके परे अवर्णनीय साक्षात्कारकी ओर ले जानेवाला एक अपरोक्ष ज्ञान है ।

'वेदान्त जगत्को असत् नहीं कहता किन्तु जैसी अपने इन्द्रियोंकी सत्ता है वैसी जगत्की (व्यावहारिकी) सत्ता मानता है पर जब परमात्माके साथ सादृश्यप्रसंग उपस्थित हो तब यह जगत् यों मिथ्या है कि परब्रह्म द्वितीय-रहित है ।'*

इसी प्रकार एक दूसरे तत्त्ववेत्ता सोफरने कहा है—

'जबतक स्वप्न-अवस्था है तबतक स्वाप्न पदार्थ सत्य प्रतीत होता है किन्तु जाग्रत् होते ही जाग्रत् जगत् सत्य दीखता है और स्वप्नदृष्ट सब असत्य समझा जाता है, अब

---

* In Vedanta speech has been considered as the imperfect weapon of carrying the notion of an Almighty from one mind to another. Outside the realm of speech, nay all the senses, there is intuition leading to realization indescribable.

The world in Vedanta is not unreal. It is as real as the senses we possess. It is only unreal when compared with the Absolute and what is not unreal, when compared with that Absolute reality which is without a second.

जाग्रद्दशामें इन्द्रियगोचर संसार सत्य प्रतीत होता है किन्तु इन्द्रियोंके परे ऐसी एक शक्ति है कि जो आत्माके ऊपर आवरण-सी हो रही है। उस शक्तिका स्वभाव जाननेके लिये परमात्माको पहुँचना होगा जिसके आगे वह शक्ति भी सत्ता-रहित मानी जाती है।' इस अविद्या-शक्तिको पार करनेके लिये प्रथम अनासक्ति सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये*।

एक महात्माने कहा है कि—

'वस्तुसम्पत्ति स्वयं उन्नतिविघातक नहीं है किन्तु उसमें आसक्तिका होना ही परम प्रतिबन्धक होता है। ज्यों-ज्यों सम्पत्ति बढ़ती है त्यों-त्यों उसमें आसक्ति दृढ़तर होती है और उस आसक्तिको हटाना भी उतना ही अधिक दुःसाध्य होता है।'† इस प्रयत्नकी परमावधि वासनाक्षयतक पहुँचाती है, तब 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का निश्चय होता है। मिथ्या शब्दार्थ अनिर्वचनीयतामें पर्यवसित है।

श्रीमद्भगवद्गीता भी 'न सत्तन्नासदुच्यते' कहकर इसी अर्थका अनुमोदन कर रही है, क्योंकि जो सत् नहीं और असत् भी नहीं उसीको वेदान्त अनिर्वचनीय कहता है। इस मिथ्यात्वकी निरुक्ति श्रीमधुसूदन सरस्वती स्वामीने अद्वैतसिद्धिमें बहुत युक्तिपूर्वक अनेक हेतूपन्याससे कर दिखायी है—

श्रीमद्भागवतमें भी—

ऋतेऽर्थं यद् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः॥
(२।९।३३)

इत्यादि दृष्टान्तसे इसी अर्थका बोधन किया गया है—'जो अर्थ (वस्तु) न होनेपर भी प्रतीत होता है, जैसे सीपमें रजत; और जो आत्मामें प्रतीत नहीं होता उसको आत्माकी माया जानो। अर्थात् यह जो सकल प्रपञ्च वस्तुभूत न होनेपर भी केवल प्रतीत हो रहा है; जैसे शुक्तिमें रजतका आभास होता है, इसको आत्माकी माया—आत्माश्रित विक्षेपशक्तिरूपा माया जानो; ऐसे ही जो आत्मामें प्रतीत नहीं होता अर्थात् 'मैं ब्रह्म नहीं जानता' ऐसा जो अज्ञान है यह तम आवरणशक्तिरूपा अविद्या है। फलितार्थ है कि वस्तुभूत न होता हुआ भी यह प्रपञ्च भास शुक्तिमें रजताभास जतानेवाली विक्षेपशक्ति—मा और आत्माश्रित आवरणशक्तिरूपा तमःपदनिर्देश समझो 'माया चाविद्या च स्वयमेव भवति'—एक माया और अविद्या कार्यभेदवशात् भिन्ननामनिर्देश है। इस प्रकार भागवतमें माया और अविद्या पृथक् स्वरूप स्पष्टतया दिखलाया गया है।

दर्पणकार भी लिखते हैं—

एकस्यानेकमूर्त्तित्वं युगपत् परमात्मनः
सच्चिदानन्दरूपस्य सिद्ध्येन्मायामृते कथम्।

एककालावच्छिन्न अनेकाकारता सच्चिदान परमात्माको मायाशबलता बिना कैसे सिद्ध हो सक इसी कारिकाका अर्थ ऑक्सफोर्डकी बोड्लियन ला क्यूरेटर यों लिखते हैं—

How is it possible to explai manifold simultaneous manifestatio the Absolute being nothing but *Sat* (b *Chit* (intelligence) and *Ananda* (without having recourse to Maya?

यह सब जगत् इसी मायाका विलास है और जो प्रकाश है सो चिद्विलास है; और चित् और अचित् अध्यास कहाता है। भगवान् भाष्यकारने—'स्मृ परत्रपूर्वदृष्टावभासः' स्मृतिके रूप-जैसा रूपवाला तद धिकरणसे भिन्नाधिकरणमें पूर्वदृष्ट पदार्थका अवमत (अ बोधबाध्य) जो भास—प्रतीति है, वह अध्यास है चतुर्दश ब्रह्माण्डको अपने अन्तर्गत दिखाता हुआ च वर्णात्मक अध्यासलक्षण निरूपण किया है। आगे न्यात्मकता और अन्योन्यधर्मता कथनसे अर्थाध्यास ज्ञानाध्यास इत्यादि अध्यासके प्रभेद दिखलाये ग तादात्म्याध्यासनिरूपणके प्रसंगमें वार्त्तिककार लिखते हैं

अहङ्कारस्य तादात्म्यं चिच्छायादेहसाक्षिभिः।
सहजं कर्मजं भ्रान्तिजन्यं चेति त्रिधा मतम्।

चिच्छायाके साथ अहङ्कारका तादात्म्य सहज है देहके साथ कर्मजन्य तादात्म्य है और साक्षीके साथ भ्र जन्य तादात्म्य है। इस तादात्म्याध्यासकी निवृत्तिके ब्रह्मनिष्ठ गुरुमुखसे महावाक्योपदेशश्रवणपूर्वक मन

---

*A dream is real during its existence but when we awake the world seems real and the dream unreal. Now the world is real as perceived by the senses; beyond the senses there is the real power of the nescience acting as a cover over self-consciousness knowing the nature of that power we reach that Absolute reality before which even that power of nescience is unreal.

†Richness in material wealth is not a hindrance in itself but the attachment to it, the greater the wealth the stronger the attachment and the harder the struggle to remove that attachment.

कृत निदिध्यासनान्त साक्षात्कारापरपर्याय आत्मज्ञानसे सकार्याज्ञाननिवृत्तिरूपा मुक्ति प्राप्त होती है—'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि' 'ज्ञानी त्वात्मैव मे' इत्यादि वचनोंसे श्रीभगवान्ने आत्मज्ञानकी महिमा स्वमुखसे अनेकशः वर्णित की है।

कार्योत्पादनमें कारण जब प्रतिबन्धकरहित हो तभी समर्थ होता है। यहाँ प्रत्यग्ब्रह्मैक्यावबोधमें महावाक्यार्थाधिगमको कारण बतलाया, इसमें शास्त्रकारोंने जो प्रतिबन्धक-निरूपण किया है उनमें संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञमहामुनि लिखते हैं कि—

पुरुषापराधमलिना धिषणा
निरवद्यचक्षुरुदयापि यथा।
न फलाय भर्च्छुविषया भवति
श्रुतिसम्भवापि तु तथात्मनि धीः॥

एक राजाका भर्च्छु नामका अति कुशल मन्त्री था। उससे दूसरे अधिकारी द्वेष करते थे। राजाने मन्त्रीको कार्यार्थ विदेश भेजा। पीछेसे द्वेषियोंने अवसर पाकर राजासे कहा कि भर्च्छु तो मारा गया। दो-तीन मास बाद जब भर्च्छु वापस आया तब फिर उन द्वेषियोंने राजासे कहा कि भर्च्छु भूत हो गया है और शहरके बाहर भटकता है। राजाने एक समय शहरके बाहर रास्तेमें भर्च्छुको सामनेसे आता देखा तब चिल्लाकर बोला—'दौड़ो-दौड़ो, भर्च्छु भूत आ रहा है।'

इस दृष्टान्तमें भर्च्छुका प्रत्यक्ष निर्दोष चक्षुःप्रमाणसे हो रहा है तथापि पुरुषापराध (भर्च्छु मर गया और भूत हो गया है) ऐसे शाब्दज्ञानजनित असद्ग्रहरूप दोषसे मलिन बुद्धि प्रत्यक्ष फलभागिनी नहीं हुई। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि निरवद्य प्रमाणजनित प्रत्यग्ब्रह्मैक्यमें असद्वासनात्मक पुरुषापराधमलिन धिषणा—बुद्धि निष्ठा नहीं पाती है; अर्थात् पुरुषापराध ही प्रतिबन्धक हो रहा है। इस प्रतिबन्धकको मिटानेके लिये गुरूपसदनादि अवश्यानुष्ठेय है।

जीवन्मुक्त पुरुषोंमें भी यथापूर्व देहव्यापार देखनेमें आता है तो फिर उनको विदेहता किस प्रकार मानी जाय? इस शङ्काके समाधानार्थ साम्राज्यसिद्धिकारने कहा है कि—

जीवतोऽप्यस्य नैवात्मबुद्धिस्तनौ
वामलूरेऽप्यहेर्निर्ल्वयिन्यामिव।
देहमात्रात्परे कल्पयन्त्यस्य चेद्-
देहितां कल्पयन्त्वत्र तद्धानिरस्येह का॥

'यद्यपि देहाभिमान निवृत्त होनेसे और प्रत्यग्ब्रह्मैक्यानुभवसे ज्ञानी विदेहभावापन्न हो जाता है तथापि जबतक देहपात न हो तबतक उसको देही तो कहना होगा। वहाँ कहते हैं कि वह आत्मदर्शी जीवित है तो भी शरीरमें उसकी आत्मबुद्धि नहीं है, जैसे वामलूर—वल्मीकमें पड़े हुए कञ्चुकमें सर्पको आत्मबुद्धि नहीं होती। तथापि यदि अन्य मनुष्य उसको देही कल्पते हों तो कल्पने दो, इससे ज्ञानीको क्या हानि है? कुछ भी नहीं।'

किसी ग्राममें एक घुड़सवारीका शौकीन पुरुष था। वह पंसारीके यहाँ हल्दी-मसाला लेने जाता तो भी घोड़ेपर बैठकर जाता; शाक-तरकारी लेने जाता तो भी घोड़ेपर बैठकर जाता; यहाँतक कि मुर्दा जलानेके लिये भी घोड़ेपर सवार हुए बिना न जाता। ऐसे ही एक दूसरा व्यक्ति इसी ग्राममें गद्दी-तकियेका शौकीन भी था। वह भी जहाँ जाता, गद्दी-तकिया दुपट्टेमें बाँधकर अपने कन्धेपर ले जाता। पंसारीकी दूकानपर भी गद्दी-तकिया बिछाकर बैठता फिर कहता कि इतनी सुपारी, इतनी चीनी, हल्दी, जीरा, हींग, मसाला दो और जो कुछ लेना होता सो लेकर गद्दी-तकिया अपने कन्धेपर उठाकर वापस आता।

एक समय उन दोनोंको शहरसे २० मीलकी दूरीपर एक ग्राममें कुछ कार्यवश जाना पड़ा। गद्दीवाला सुबहको चला और घोड़ेवाला कुछ दिन चढ़ते चला। शहरसे बारह मीलपर दोनों मिल गये। आपसमें बातचीत करते चलने लगे। गद्दीवालेने चाल जरा तेज रक्खी और घोड़ेवालेने लगाम जरा खींच रक्खी; यों साथ-साथ चले जाते थे। रास्तेमें सामने जो लोग मिलते वह यही समझते कि यह घुड़सवार तो कोई तहसीलदार है और गद्दीवाला उसका बेगारी है, इसीसे गद्दी वगैरह सामान उठाये साथ चल रहा है।

डेढ़ घंटा दिन शेष रहते दोनों ग्राममें आ पहुँचे, और दोनों ही ग्रामके मुखियाके घर पहुँचे। घोड़ेवाला अपना घोड़ा बाँधनेके लिये जगह तजवीज कर रहा था, इतनेमें गद्दीवालेने झट चबूतरेपर जरा झाड़कर अपनी गद्दी बिछायी और पीछे तकिया लगाकर उसपर बैठ गया।

इतनेमें घरसे पटेल निकला और गद्दीवालेके पैर छूकर कहने लगे कि—'आपके लिये चाय बनवाता हूँ। और आपके नौकर, इस घोड़ेवालेको भी चाय पीनेको बुलाइये। आपके घोड़ेके लिये घास भी अभी मँगाकर

दिलवाता हूँ। आप जरा लेटिये; यह हजाम आपकी जरा पगचंपी करेगा।

इस वृत्तान्तमें पहले रास्तेमें मिले हुए मनुष्योंने तो घोड़ेवालेको अपनी कल्पनासे अधिकारी समझा और गद्दीवालेको बेगारी; फिर यहाँ पटेलने गद्दीवालेको राज्याधिकारी माना और घोड़ेवालेको नौकर समझा। परन्तु यथार्थमें दोनोंमें न तो कभी स्वामिता या सेवकता थी, न होगी। इसी प्रकार ज्ञानीको दूसरे लोग अपनी अनुसार देही मानें, तो इससे ज्ञानीको कुछ मृगतृष्णाकी जलकल्पनासे ऊसर भूमि जैसे होती वैसे ही परकल्पित देहादिसम्बन्ध ज्ञानीको भी बाधक नहीं होता।

* * *

ब्रह्मसूत्रके अनुसार मुक्तात्माका स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम० ए०, आचार्य, शास्त्री, वेदान्तविद्यार्णव)

उपनिषद्में कहा गया है कि जीवकी बारंबार आवृत्ति[१] हुआ करती है। स्मृतिमें[२] भो इसी वादका समर्थन है। आवृत्तिका अर्थ है किसी स्थानविशेषमें जाकर वहाँसे लौट आना। जीव अपने पाप और पुण्यके फल भोगनेके लिये स्वर्ग और नरकको[३] जाता है और फिर इसी लोकमें जन्म धारण कर लेता है। इस गति और आगतिको ही आवागमन, पुनर्जन्म और संसार कहा जाता है।

ब्रह्मसूत्रका अन्तिम अध्याय इस आवृत्तिके वर्णनसे प्रारम्भ होता है और अनावृत्तिमें समाप्त हो जाता है। अनावृत्ति प्राप्त होनेपर आवृत्तिसे मुक्ति मिल जाती है। बार-बार जन्म और मृत्युसे छुटकारेको ही मोक्ष, मुक्ति, अपवर्ग, कैवल्य, स्वरूपावस्थान, अनावृत्ति आदि कहा जाता है।

प्रारब्धकर्मोंको भोगद्वारा[४] समाप्त करके जीव ब्रह्मके पास जाता है। उन कर्मोंकी समाप्ति होनेपर सब इन्द्रियाँ[५] मनमें, और मन प्राणमें[६] लीन हो जाता है। प्राण अध्यक्ष[७] आत्मामें रहता है और इन्द्रियमनःप्राणोपेत आत्मा पञ्चभूतोंमें[८] रहता है। आत्माका सूक्ष्म शरीरके साथ सम्पर्क अपीति[९] (मुक्ति) पर्यन्त रहता है। स्थूल शरीरके सूक्ष्मशरीरका[१०] नाश नहीं होता।

एक श्रुतिवाक्यमें ऐसा कहा गया है कि प्राणोंका उत्क्रमण[११] नहीं होता। इसपर बादरायण कि उक्त वचनसे यह नहीं समझना चाहिये कि प्राणोंका वियोग नहीं होता किन्तु ऐसा समझना चा शारीरसे[१२] अर्थात् जीवसे प्राणोंका वियोग नहीं होता। नीय शाखावाले तो स्पष्ट[१३] ही कहते हैं कि आत्मासे उत्क्रान्ति नहीं होती। स्मृतिसे[१४] भी यही सिद्ध होता

बन्धनमुक्त शुकदेवजीका आदित्यमण्डलकी ओर स्मृतिमें—पुराणेतिहासमें—द्रष्टव्य है। प्रस्थान सूक्ष्म के बिना कैसे सम्भव है।

जीवाधिष्ठित सूक्ष्मभूत पर[१५] (ब्रह्म) में चले जाते हैं पर भी आत्माका सूक्ष्म शरीरसे विभाग[१६], वियोग पार्थक्य नहीं होता।

१–आवृत्तिरसकृदुपदेशात् (४।१।१)

२–लिङ्गाच्च (४।१।२)

३–संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् (३।१।१३)

४–भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते (४।१।१९)

५–अतएव च सर्वाण्यनु (४।२।२)

६–तन्मनः प्राण उत्तरात् (४।२।३)

७–सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः (४।२।४)

८–भूतेष्वतःश्रुतेः (४।२।५)

९–तदापीतेः संसारव्यपदेशात् (४।२।८)

१०–नोपमर्देनातः (४।२।१०)

११–न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति (उपनिषद्)

१२–प्रतिषेधतीति चेन्न शारीरात् (४।२।१२)

१३–स्पष्टो ह्येकेषाम् (४।२।१३)

१४–स्मर्यते च (४।२।१४)

१५–तानि परे तथा ह्याह (४।२।१५)

१६–अविभागो वचनात् ४।२।१६)

[१७]अर्चिरादि मानव देवगण मुक्तात्माको विद्युल्लोकतक पहुँचा देते हैं। इससे आगे अमानव पुरुष उसे ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं।

बादरिकी सम्मति है कि ये मुक्त पुरुष [१८]कार्यब्रह्म अर्थात् अपराजिता-नगरी-निवासी चतुर्मुख ब्रह्माजीके सामीप्यका लाभ करते हैं और ब्रह्माजीके साथ ही [१९]परान्तकालमें परब्रह्मको प्राप्त करते हैं। किन्तु [२०]जैमिनिका मत है कि अमानव पुरुषके साथ मुक्तात्मा परब्रह्मके पास ही जाते हैं क्योंकि 'पर-ज्योतिके पास जाकर ही मुक्त स्वरूपस्थ होता है' ऐसा श्रुति कहती है। बादरि और जैमिनिके पारस्परिक विरोधका [२१]बादरायण यह कहकर मिटाते हैं कि इस प्रकरणमें दोनों ही मत ग्राह्य हैं। अप्रतीकालम्बन मुक्तोंको अमानव पुरुष ब्रह्मके पास ले जाता है। अपने-अपने क्रतु (श्रद्धा-भक्ति-विश्वास) के अनुसार मुक्त जीव कार्यब्रह्म (अपरब्रह्म) और कारणब्रह्म (परब्रह्म) दोनोंको प्राप्त कर सकता है।

मुक्तिमें जीव सत्यकाम, सत्यसंकल्प आदि [२२]ब्राह्म गुणगणोंसे विभूषित हो जाता है, ऐसा जैमिनिका मत है। [२३]औडुलोमि कहते हैं कि मुक्तात्माका स्वरूप शुद्ध चेतन है। किन्तु [२४]बादरायण कहते हैं कि मुक्त जीव चेतन भी होता है और सत्यकामादि गुणालंकृत भी। इन दोनों वादोंमें कोई विरोध नहीं होना चाहिये।

मुक्तोंको समस्त सुखोंकी प्राप्ति [२५]संकल्पमात्रसे ही हो जाती है। पूर्वजन्मोंके माता-पिता, मित्र आदि सम्बन्धी मुक्तकी इच्छासे आकर उपस्थित हो जाते हैं। उसके विचारमात्रसे ही खान-पान, यान आदि सामग्री आ जाती है।

वह सब लोकोंमें इच्छानुसार अप्रतिहत गतिसे आ जा सकता है। वह सर्वेश्वर, [२६]सर्वाधिपति हो जाता है।

[२७]बादरिकी सम्मति है कि मुक्तात्मा केवल मनसे ही सब भोगोंको भोग लेता है, उसका स्थूल शरीर नहीं होता। [२८]जैमिनि कहते हैं कि श्रुतिमें मुक्तके अनेक शरीर धारण करनेका वर्णन है, इससे उसका स्थूल शरीर अवश्य होता है। इन दोनों आचार्योंके मत-वैषम्यको [२९]बादरायणने यह कहकर दूर किया है कि मुक्त जीव अपने संकल्पके अनुसार सशरीर और अशरीर बन जाता है। स्थूल शरीर न धारण करनेपर वह मनसे ही [३०]स्वप्नके समान सुख प्राप्त कर लेता है और स्थूल शरीरके होनेपर वह [३१]जाग्रदवस्थाके समान खान-पानादि भी कर सकता है। वह अपने ऐश्वर्यसे एक समयमें [३२]अनेक शरीर धारण कर सकता है।

मुक्तात्मा ब्रह्मके साथ परम साम्यको प्राप्त करता है, ऐसा उपनिषद्वचन है। बादरायण कहते हैं कि इससे यह नहीं समझना चाहिये कि जीव ब्रह्म ही हो जाता है किन्तु यह समझना चाहिये कि केवल आत्मानन्दके उपभोगमें जीवका ब्रह्मके साथ साम्यका उपदेश है। बादरायणके 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च' इस सूत्रसे यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि ब्रह्मकी शक्तिसे जीवकी शक्ति अवश्यमेव हीन रहती है।

ब्रह्मको प्राप्त करनेके अनन्तर मुक्तात्माको फिर इस [३३]मानव आवर्तमें नहीं आना पड़ता।

ब्रह्मसूत्रके निष्पक्ष पाठ करनेसे यह बोध होता है कि मुक्तिमें जीवको संसारसे छुटकारा मिल जाता है और वह

१७–अर्चिरादिना तत्प्रथितेः (४।३।१)
आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् (४।३।४)

१८–कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः (४।३।७)

१९–कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् (४।३।१०)

२०–परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् (४।३।१२)

२१–अप्रतीकालम्बनान् नयतीति बादरायण उभयथा दोषात्तत्क्रतुश्च (४।३।१५)

२२–ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः (४।४।५)

२३–चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः (४।४।६)

२४–एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः (४।४।७)

२५–संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः (४।४।८)

२६–अत एव चानन्याधिपतिः (४।४।९)

२७–अभावं बादरिराह ह्येवम् (४।४।१०)

२८–भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् (४।४।११)

२९–द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः (४।४।१२)

३०–तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः (४।४।१३)

३१–भावे जाग्रद्वत् (४।४।१४)

३२–प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति (४।४।१५)

३३–अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् (४।४।२२)

पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है। वह चाहे स्थूल शरीर धारण करे या न करे, सूक्ष्म शरीर तो उसका सदा ही रहता है। वह चाहे जहाँ आ जा सकता है। इस मर्त्यलोकमें भी आ सकता है किन्तु फिर उसे कोई बन्धन नहीं है। चाहे वह कार्यब्रह्मके निकट रहे अथवा कारणब्रह्मके। वह सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प होता है। ब्रह्मके अधीन रहकर व्यापारके अतिरिक्त अणिमाद्यैश्वर्यका उपभोग करता पञ्चमहाभूतोंके ऊपर उसको विजय प्राप्त हो जाती है सिद्ध होता है, वह चाहे भगवान्की लीलाविभूति[३४] चाहे नित्यविभूतिमें।

व्यवहारक्षेत्रमें अद्वैतज्ञानकी उपयोगिता

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण)

आर्य-संस्कृति या हिन्दू-सभ्यताके मौलिक उपादान क्या हैं, यह जाननेके लिये हमारी दृष्टि सबसे पहले अद्वैत ब्रह्मवादकी ओर आकृष्ट होती है। वेद अर्थात् मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद् इन तीन भागोंमें विभक्त अपौरुषेय वाक्यसमूह इस अद्वैत ब्रह्मवादकी सनातन भित्ति है। दैशिक, कालिक और पार्श्ववर्त्ती अनिवार्य अवस्थाओंके प्रभावसे हिन्दू-सभ्यता बाह्यतः युग-युगमें परिवर्तनशील होनेपर भी उसका प्राणस्वरूप जो अद्वैत ब्रह्मतत्त्व है, वह शाश्वत और कूटस्थ है अर्थात् वह अनादि कालसे आजतक एक ही रूपमें हिन्दू-सभ्यताका प्रधानतम केन्द्र बना हुआ है। यही है आर्य-संस्कृति या हिन्दू-सभ्यताकी सबसे अधिक आश्चर्यजनक विशेषता। इस विशेषताकी ओर सावधानीके साथ दृष्टि रक्खे बिना हिन्दू-सभ्यताकी स्थिति, गति और प्रसारकी आलोचना या अनुसन्धान करना किसीके लिये श्रेयस्कर नहीं हो सकता, यह बिल्कुल सत्य है। यही अद्वैत तत्त्व वैदिक महर्षियोंका एकमात्र ध्येय था, यह ऋग्वेदके संहिता-भागसे मालूम होता है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' यह ऋक् उसी बातकी ओर इशारा करता है। इसका अर्थ है—'विप्र अर्थात् तत्त्वदर्शी एकमात्र सद्वस्तुको ही अनेक प्रकारसे निर्देश किया करते हैं।' एक ही वस्तु नाना प्रकारसे, नाना रूपोंमें प्रतीत होनेपर भी वह परमार्थतः नाना या बहु नहीं होती, क्योंकि एकत्व और नानात्व परस्परविरुद्ध धर्म हैं और इस कारण एक किसी समयमें, किसी अवस्थामें नाना हो सकता—अद्वैतवादका यही अभ्रान्त सिद्धान्त उ ऋक्मन्त्रद्वारा सूचित होता है। संसारी जीवको यह ही सत्य प्रतीत होता है। उसके कर्म, उसके ज्ञान, उपासना, थोड़ेमें कह सकते हैं कि उसके जीवनके अनुस्यूत समस्त व्यवहार इस नानात्वबुद्धिपर ही प्र हैं। इस नानात्वबुद्धिके संशयरहित प्रामाण्यबोधपर हमारी सारी क्रियाएँ, सारे व्यवहार आश्रित हैं। ज्ञान, और ज्ञातामें परस्पर स्पष्टतः प्रतीत होनेवाले भेद या नान का बोध जब सुषुप्ति अवस्थामें नहीं रहता तब हमारे ज्ञानपूर्वक कोई क्रिया या व्यवहार नहीं होता, हो भी सकता, इस बातका हम सबको अनुभव है, इसे कौन अ कार करेगा ? इस नानात्वबुद्धिके साथ अद्वैत ब्रह्मवा पूर्णतः विरोध अनादि कालसे सबके अनुभवसे सिद्ध हो भी मुक्त कण्ठसे, निःसंकोच भावसे श्रुति घोषणा क है—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' और श्रुतिकी पारमार्थिक प्रामाणिकता स्वीकार करना सनातन हिन्दूध एकमात्र मूलभित्ति है; इस विषयकी इस दुर्ज्ञेय प्रहेलि का समाधान क्या है, यह जानना प्रत्येक हिन्दूके लिये आवश्यक है। हिन्दूधर्मका, हिन्दूसभ्यताका अस्ति उन्नति और प्रसार इस पहेली या समस्याके समाधानके ऊ ही निर्भर है। इस समस्याका समाधान हुए बिना हिन्दुओं

३४—भगवान् बादरायणने ब्रह्मसूत्रमें नित्यविभूतिका स्पष्ट निर्देश नहीं किया है। तथापि कार्यब्रह्मपर्यन्त अवस्थिति लीला विभूतिकी है और परब्रह्मसामीप्य नित्यविभूतिकी बात है। श्रीमद्भागवत आदिमें नित्यविभूतिका विशद वर्णन है। भ प्रेमके वैविध्यसे नित्यविभूतिमें मुक्ति सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य-भेदसे नैकविध है। किन्तु इनमेंसे किसी मुक्तिमें जीव ब्रह्म नहीं बन जाता। केवल ब्रह्मके समान ऐश्वर्यकी प्राप्ति उसे हो जाती है। सारूप्य मुक्तिमें भी भगवत्पार्षदों श्री, श्रीवत्स एवं कौस्तुभ नहीं मिलते। ये तीन चिह्न ही भगवान्में मुक्त पुरुषोंसे अधिक हैं।

ब्रह्मसूत्र जीवको संसारसे मुक्ति दिलाकर कार्यब्रह्मसे परे परब्रह्मके श्रीचरणोंमें पहुँचा देता है।

ज्ञान, कर्म और उपासनारूप त्रिविध साधन सभी विज्ञ पुरुषको निरर्थक या अन्धविश्वासमूलक मालूम होते हैं। अतएव इसका समाधान अद्वैतवादके प्रवर्तक महर्षि और आचार्य जिस प्रकार करते हैं, उसीकी यथासम्भव संक्षिप्त आलोचना इस प्रबन्धमें की जायगी।

ऋक्संहिताके 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' इस मन्त्रमें बहुके अंदर आत्मरूपसे विराजमान जिस परमार्थ सद्वस्तुका उल्लेख है, उसका स्वरूप क्या है, उपनिषदोंमें नाना प्रकारकी युक्तियों और दृष्टान्तोंके द्वारा इसीका वर्णन और निर्णय हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद्में उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

आरुणि नामक ऋषिके एक पुत्र था, उसका नाम श्वेतकेतु था। श्वेतकेतुसे आरुणिने कहा, 'श्वेतकेतो! गुरुकुलमें जाकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए वेदका अध्ययन करो, हमारे कुलमें आजतक कोई भी व्यक्ति समग्र वेदका अध्ययन न कर ब्राह्मण-वृत्तिसे शून्य नहीं हुआ।'

श्वेतकेतुने जिस समय पितासे यह आदेश पाया उस समय उसकी अवस्था बारह वर्षकी थी। आदेशानुसार आचार्यकुलमें जाकर यथाविधि ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए श्वेतकेतुने बारह वर्षतक विशेष परिश्रमके साथ साङ्गोपाङ्ग वेदका अध्ययन किया, उसके बाद वह पढ़ना समाप्त करके घर वापस आया। जब वह चौबीस वर्षका युवक श्वेतकेतु अध्ययन समाप्त करके घर आया तब देखा गया कि वह मानो अपनेको बड़ा भारी पण्डित समझता है। वह अवज्ञाका भाव रखकर किसीके साथ पहलेकी तरह विनीत व्यवहार नहीं करता था; 'मैंने समस्त वेदोंका अध्ययन किया है, मेरा हृदय बड़ा ऊँचा हो गया है, मेरे घरके और पास-पड़ोसके लोग अशिक्षित और अर्धशिक्षित हैं, इनके साथ बातचीत करनेसे क्या लाभ?' इस प्रकारके अभिमानके कारण वह प्रायः फूला हुआ रहने लगा। शिक्षाजनित पाण्डित्यके अहङ्कारके कारण युवा पुत्रमें इस प्रकारका कुत्सित परिवर्तन देखकर पिता आरुणिने एक दिन एकान्तमें उससे पूछा—'हे श्वेतकेतो! तुम्हारी ऐसी अवस्था क्यों हो गयी? क्या तुम गुरुसे ऐसी किसी वस्तुके विषयमें जान आये हो, जिसके द्वारा अपठित वस्तु भी पठित मालूम हो, अननुमित वस्तु भी अनुमित हो जाय अथवा जो कुछ अज्ञात है वह सब ज्ञात हो जाय?'

पिताके मुँहसे इस अश्रुतपूर्व प्रश्नको सुनकर पाण्डित्याभिमानी गर्वित युवकने अवज्ञाके साथ हँसते हुए उत्तर दिया—'यह क्या पिता! इस वैषम्यपूर्ण अनन्त प्रकारके संसारमें क्या ऐसी कोई वस्तु है या हो सकती है जिसे जान लेनेसे अन्य सब वस्तुएँ जानी जा सकें?'

पुत्रके अभिमान-व्यञ्जक मृदु हास्यके अन्तर्निहित गूढ़ अर्थको समझकर भी पिता आरुणि व्याकुल नहीं हुए, धैर्यके साथ करुणामय ज्ञानी पिताने झट् उत्तर दिया—

'हे प्रियदर्शन! क्यों ऐसा नहीं हो सकता? देखो न, एक साधारण मिट्टीके पिण्डको यदि हम समझ जायँ कि यह मिट्टी है तो उस मृत्पिण्डसे आविर्भूत घट, शराव प्रभृति वस्तुओंको देखकर क्या यह नहीं समझा जा सकता कि ये घट, शरावादि भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रतीत होनेवाली वस्तुएँ मिट्टीके सिवा और कुछ नहीं हैं, केवल मुँहसे ही हम इनको पृथक्-पृथक् बतलाते हैं, ये विकारमात्र हैं, मिट्टीरूप कारणके अतिरिक्त इनकी वास्तविक कोई सत्ता नहीं है। मिट्टी ही एकमात्र सत्य इनके अंदर है, और जो कुछ भिन्न रूपसे जगत्में व्यवहृत होता है, वह केवल विकार या कल्पित है, उसकी पृथक् कोई सत्ता नहीं है; इसी प्रकार परिदृश्य अनन्त भेद-प्रपञ्चका उपादान भी ऐसी कोई वस्तु हो सकती है, यह जान लेनेसे निखिल प्रपञ्चका वास्तविक स्वरूप भी हृदयङ्गम हो सकता है।'

पिताके मुँहसे ऐसा अश्रुतपूर्व वचन सुनकर श्वेतकेतुको विस्मय हुआ। इस प्रकारका सर्वात्मभूत एक वास्तविक सत् हो सकता है, इस सम्भावनाने उसके हृदयमें एक नवीन जिज्ञासा उत्पन्न कर दी। जाननेकी उत्कट आकांक्षाके आवेगमें वह बोल उठा—'मेरे परम पूजनीय गुरुदेव अवश्य इस विषयको नहीं जानते थे; यदि इसे जानते होते तो वह मेरे-जैसे सर्वथा शुश्रूषापरायण छात्रको अवश्य इसका उपदेश देते, (मेरा विश्वास है कि इस निगूढ़ तत्त्वको जाननेके लिये पुनः उनके पास जाना व्यर्थ है) इसलिये मैं प्रार्थना करता हूँ कि हे पिता! आप ही दया करके मुझे ऐसा उपदेश दीजिये जिसमें मैं इस रहस्यको अच्छी तरह समझ जाऊँ।' पुत्रकी इस प्रार्थनासे प्रसन्न होकर करुणामय तत्त्ववित् पिताने उस समय कहा—'अच्छा, ठीक है, मैं ही तुम्हें उसे कहता हूँ, सुनो।

'इस अनन्त वैषम्यपूर्ण परिदृश्य प्रपञ्च-सृष्टिके आरम्भकालमें सत् ही था, वह सत् एक तथा स्वगत, सजातीय

और विजातीय इस त्रिविध भेदसे शून्य था (आज भी वह उसी रूपमें है और अनन्त कालतक उसी रूपमें रहेगा)।

'कोई-कोई कहते हैं कि सृष्टिके पूर्व यह दृश्यमान प्रपञ्च बिल्कुल नहीं था, उस समय एकमात्र अद्वितीय असत् अर्थात् शून्य ही था। उस असत् या शून्यसे ही यह विश्व उत्पन्न हुआ है। कहो तो वत्स! शून्यसे जगत् किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है? अतएव ऐसा सिद्धान्त ग्राह्य नहीं हो सकता; इसीलिये कहता हूँ कि इस प्रपञ्च-सृष्टिके पूर्व उक्त लक्षणोंसे युक्त सत् ही था इसे ही निश्चित जानो।'

इसके बाद पिता आरुणिने नाना प्रकारके दृष्टान्तों और युक्तियोंके द्वारा प्रपञ्चकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयके उपादान अथच अविकृत अतएव अविनाशी अद्वैत ब्रह्मतत्त्वका प्रतिपादन बड़े सुन्दर ढंगसे करके उपसंहारमें कहा--

ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति।

'अनन्त वैषम्यपूर्ण विश्वप्रपञ्चका यही स्वरूप है, वह सत् ही आत्मा है, श्वेतकेतो! वही सत् है और तुम भी वही हो।'

वही सर्वकारण अतएव सबकी आत्मभूत वस्तु ब्रह्म है, वही ब्रह्म आनन्द है तथा वही स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप है, वह 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादि उपनिषद्-वाक्योंद्वारा प्रतिपादित हुआ है।

अनन्त भेद अथवा वैषम्य-बुद्धि तथा तज्जनित अनादि-कालसे सञ्चित संस्कारोंके आधार मनुष्यके अन्तःकरणमें इस अद्वैत ब्रह्मतत्त्वकी धारणा तथा सत्यताका बोध करना एक प्रकारसे असम्भव प्रतीत होता है और यही स्वाभाविक है, अतएव उपनिषद्के इस अद्वय ब्रह्मतत्त्वकी अनुभूति और उसके ऊपर प्रामाण्यबोध व्यावहारिक मानवजीवनमें किस प्रकार हो सकता है, उसके लिये अद्वैतवादके आचार्य जिन युक्तियों और प्रमाणोंका आश्रय ग्रहण किया करते हैं, उसकी यथासम्भव संक्षिप्त आलोचना करना यहाँ अत्यन्त आवश्यक है।

किसी भी एक वस्तुका स्वरूप क्या है, उसकी सत्ता किस प्रकारकी है, यह जाननेका एकमात्र उपाय हमारी अनुभूति या ज्ञान है, इसे सब स्वीकार करते हैं। अतएव यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है या सर्ववादिसम्मत है। किन्तु यथार्थ है या नहीं, इसका भी निरूपण किये बिना किसी प्रकारके व्यवहारमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। समयमें प्रखर सूर्य-किरणोंसे समुज्ज्वल जलविहीन म प्यासा मनुष्य थोड़ी दूरपर उत्ताल तरङ्गोंसे यु बहनेवाली नदीके अस्तित्वका अनुभव करता है अनुभवकी प्रेरणासे वह यदि उस स्रोतस्विनी पीकर दारुण तृषाका निवारण करनेके लिये इध दौड़े तो उसकी प्यास शान्त तो होगी ही नहीं, वह और भी बढ़ जायगी और अन्तमें उसकी भी हो जायगी। इसलिये हम जिस ज्ञानकी सहा समस्त व्यवहारोंमें प्रवृत्त होते हैं, उसमें यथार्थता है नहीं, इसका निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है, इसे अस्वीकार कर सकता है?

ज्ञान यथार्थ है या नहीं, इसका निर्णय करनेका मात्र उपाय यह है कि यह जाना जाय कि जिस का ज्ञान उत्पन्न हुआ है वह निर्दोष है या नहीं, अथ ज्ञान हुआ है, उसके साथ प्रमाणरूप जो निश्चित ज्ञा उसका कोई विरोध है या नहीं। पहली बातके विषयमें जानना चाहिये कि यदि बुरे कारणसे ज्ञान उत्पन्न हु तो वह ज्ञान अयथार्थ या भ्रान्त है। इस सिद्धान्तपर नि करनेके लिये यह जाननेकी आवश्यकता है कि कौन भला और कौन-सा बुरा कारण है। यही नहीं, कार्य कहते हैं, कारण किसे कहते हैं तथा उस कार्य और का में परस्पर सम्बन्ध क्या है, यह भी जाननेकी जरूरत है

यह सभी जानते हैं कि जब कार्य है तब उ कारण भी है। परन्तु कार्य अपने कारण अर्थात् उपादा भिन्न है या अभिन्न, इस विषयमें मतभेद देखा जाता है आरम्भवादी दार्शनिकोंका मत है कि कार्य उपादानका से एकदम भिन्न है। उनके मतसे जिस सूत्रसमू (सूतके तारोंसे) पट (कपड़ा) बना है, वह सूत कपड़ा नहीं है, बल्कि कपड़ा उस सूतसे अत्यन्त भिन्न है सूत्रसमूहके विशिष्ट प्रकारसे सम्बद्ध होनेपर पट उत्पन्न हो है, इस प्रकारका सम्बन्ध होनेके पूर्व पट नहीं रहता अतएव पटका उपादानकारण जो सूत्रसमूह है, उ पट पूर्णरूपसे विभिन्न वस्तु है। इस प्रकारके मतवाद आरम्भवाद कहते हैं। नैयायिक, वैशेषिक आदि दार्शनि इस आरम्भवादको ही अभ्रान्त मानते हैं।

परिणामवादी सांख्य और पातञ्जल प्रभृति दार्शनिक इस आरम्भवादका खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि उत्पत्तिके पूर्व यदि पटको असत् माना जाय, तो वह किसी समय सत् नहीं हो सकता। असत्का अर्थ हम समझते हैं आकाशकुसुम। आकाशकुसुम किसी समय सत् नहीं हो सकता। यदि घट-पटादि कार्य उत्पत्तिके पूर्व आकाशकुसुमकी ही भाँति असत् हों तो वे किसी समय सत् कैसे हो सकते हैं? कारणके साथ किसी विशेष कारणका कोई सम्बन्ध हुए बिना अमुक कार्य अमुक कारणसे उत्पन्न होता है, ऐसा जो नियम है, वह भी सम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि उत्पत्तिके पहले घट या पट आदि कार्य बिल्कुल नहीं थे अर्थात् वे आकाशकुसुमकी तरह अलीक थे, यही यदि मान लिया जाय तो उत्पत्तिके पहले उनके साथ किसीका भी किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं था, यह निश्चित है, क्योंकि असत्के साथ, अस्तित्वहीनके साथ किसी वस्तुका किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं होता, हो भी नहीं सकता। इस कारण आरम्भवादी दार्शनिकोंको यह स्वीकार करना होगा कि कार्यकारणभावकी व्यवस्था या नियमकी रक्षा करनेके लिये उत्पत्तिके पूर्व भी कार्य सत् था, वह आकाशकुसुम आदिकी तरह अलीक या असत् नहीं था।

अब इस बातका निर्णय करना आवश्यक है कि परिणामवादीके मतानुसार कार्य और कारणमें परस्पर सम्बन्ध क्या है। परिणामवादी लोगोंका कहना है कि कार्य कारणसे अत्यन्त भिन्न भी नहीं है, अत्यन्त अभिन्न भी नहीं है अर्थात् कार्य कारणसे भिन्न भी है और अभिन्न भी। मृत्तिका घट (घड़े) का भी उपादान है, शराव (सकोरे) का भी उपादान है; हम घटको मृत्तिका कहते हैं, शरावको भी मृत्तिका कहते हैं; परन्तु हम घटको शराव नहीं कहते, शरावको भी घट नहीं कहते। इससे मालूम होता है कि घट मृत्तिकासे अभिन्न है, शराव भी मृत्तिकासे अभिन्न है अथच मृत्तिकास्वरूप घटसे मृत्तिकास्वरूप शराव भिन्न है, अतएव एक मृत्तिका घटसे या शरावसे भिन्न भी है, अभिन्न भी है। इस प्रकारके भेद और अभेद परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। इस प्रकारके भेदाभेदवादको ही परिणामवाद कहते हैं। परिणामवादी लोगोंके मतसे एक उपादानकारणकी नाना प्रकारकी अवस्थाएँ हैं; अवस्थाओंका स्वभाव यह है कि वे एक समयमें प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देतीं, जब एक अवस्था प्रत्यक्ष दिखायी देती है तब अन्य अवस्थाएँ विद्यमान रहनेपर भी प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देतीं, उस समय वे अपने मूल कारणमें अव्यक्तरूपमें विद्यमान रहती हैं। जो अवस्था व्यक्तरूपमें उपादान कारणमें रहती है, उसके अव्यक्तभावके साथ अन्य अवस्थाओंका विरोध नहीं रहता, व्यक्तभावके साथ ही विरोध रहता है। व्यक्त अवस्था जबतक रहती है तबतक वह कार्य अन्य किसी कार्यको व्यक्त नहीं होने देता, यही स्वभावसिद्ध नियम है। परिणामवादी इस प्रकारके सिद्धान्तपर निर्भर करके कहते हैं कि इस संसारमें कोई वस्तु असत् नहीं है, कार्यमात्र सत् है। जो नहीं था, वह कभी नहीं हो सकता; जो वस्तु है, उसीको अभिव्यक्त करनेके लिये कारणकी क्रिया होती है; अतएव हम जिसे उत्पत्ति कहते हैं वह अभिव्यक्तिका ही दूसरा नामभर है; घटादि कार्योंकी अभिव्यक्ति ही उनकी उत्पत्ति है। इसलिये उत्पत्तिके पूर्व कार्य बिल्कुल नहीं था, उत्पत्तिके बाद वह हुआ है, इस प्रकार जो आरम्भवादियोंका मत है, वह सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित नहीं है।

आरम्भवाद और परिणामवादका यथासम्भव संक्षिप्त वर्णन हो गया। परन्तु अद्वैतवादी कहते हैं कि आरम्भवाद और परिणामवाद दोनों ही भ्रान्तिके ऊपर प्रतिष्ठित हैं। दोनोंमेंसे कोई मत प्रमाणद्वारा संस्थापित नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार यह सिद्ध नहीं होता कि कार्य कारणसे भिन्न है, उसी प्रकार यह भी सिद्ध नहीं होता कि कार्य कारणसे अभिन्न है। परन्तु प्रमाणद्वारा यह निर्धारित होता है कि एकमात्र सद्वस्तु ही विद्यमान है, उसका किसी प्रकारका परिणाम किसी समय नहीं होता, हो भी नहीं सकता। परिणाम या कार्यकी सत्ता काल्पनिक या अज्ञानमूलक होनेके सिवा और कुछ नहीं है। इसीसे विद्यारण्य स्वामी अपनी पञ्चदशीमें कहते हैं—

निरूपयितुमारब्धे पण्डितैः सकलैरपि ।
अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासु चित् ॥

कार्य-कारणभावका स्वरूप क्या है, इसका निर्णय करनेके लिये पृथ्वीके जितने पण्डित हैं, वे सब यदि एकत्र होते हैं तो उनकी इस निर्णयकी चेष्टाका परिणाम यह होता है कि कुछ समय विचार करनेके बाद उन्हें यह दिखायी देता है कि उनके आगे अज्ञान आकर खड़ा हो गया है अर्थात् कार्यकारणभाव अज्ञान या अज्ञानमूलक कल्पनाके ऊपर प्रतिष्ठित है। आरम्भवाद अथवा परिणामवाद मनुष्यके कार्यकारणतत्त्वविषयक प्रश्नका चरम वा सन्तोषजनक उत्तर देनेमें समर्थ नहीं होता, हो भी नहीं सकता—

यही उद्धृत श्लोकका तात्पर्य है। परिणामवादी कार्य द्रव्यको कारणसे अभिन्न और साथ ही भिन्न स्वीकार करते हैं। परन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है। मृत्तिकासे घट अभिन्न है, क्योंकि घट मृत्तिकाका कार्य है; इसी प्रकार शराव भी मृत्तिकाका कार्य है, अतएव शराव भी मृत्तिकासे अभिन्न है, यह परिणामवादी स्वीकार करते हैं। यहाँपर यह प्रश्न उठता है कि यदि घट और शराव दोनों मृत्तिकासे अभिन्न हैं तब घट और शराव आपसमें भिन्न कैसे हो गये ? मृत्तिकासे अभिन्न घट और शराव यदि परस्पर भिन्न हैं तब मृत्तिका भी परस्पर भिन्न हुए बिना नहीं रह सकती। इसलिये कार्य और कारणमें परस्पर अभेद होनेपर भेद नहीं रह सकता, इसी प्रकार भेद होनेपर अभेद रहना भी सम्भव नहीं हो सकता। इस कारण भेद या अभेद किसी एकको सत्य स्वीकार करना ही होगा और दूसरेको कल्पित मानना होगा।

अभेद या एक ही परमार्थ सत् होना उचित है और भेद या नानाको कल्पित मानना उचित है। क्योंकि ऐसा नहीं करनेसे असंख्य परमार्थ सत् वस्तुओंको स्वीकार करना होगा। उस एकमात्र अविनाशी अखण्ड सत् वस्तुका स्वरूप यदि अनुभूत होता है, तो उसमें कल्पित जितने प्रकारके भेद या नामरूप प्रपञ्च हैं, उनका स्वरूप समझनेमें फिर देर नहीं लगती अर्थात् वे सब कल्पनामूलक हैं, अतएव सत् या असत् नहीं हैं, अर्थात् मिथ्या अथवा अनिर्वाच्य हैं, यह मालूम होता है; वे निस्तत्त्व हैं या स्वप्नमें दिखायी देनेवाली वस्तुओंकी तरह प्रातिभासिक हैं, एकमात्र स्वप्रकाश अखण्ड चैतन्यकी सत्ताके अतिरिक्त उनकी कोई पृथक् सत्ता या अस्तित्व नहीं है, इस प्रकारका निश्चय हो जाता है, उस समय और किसी प्रकारके भेदकी सत्यताका बोध नहीं रहता, इसी प्रकारके सिद्धान्तका प्रतिपादन उपनिषदोंद्वारा होता है।

इस प्रकारका अद्वैत सिद्धान्त व्यवहार-क्षेत्रमें हमारे अनुकूल नहीं पड़ता, प्रत्युत प्रतिकूल पड़ता है, यह सभी द्वैतवादी दार्शनिकोंका मत है। इस प्रकारके अद्वैत तत्त्वका दृढ़ निश्चय जिसे हो जाता है, उसके अंदर इस संसारके किसी कार्यकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिये सांसारिक मनुष्योंके लिये यह अद्वैत तत्त्वका ज्ञान निष्प्रयोजन और सब कार्योंका विरोधी है। इस कारण यह अवश्य ही त्याज्य है, इस प्रकारकी आपत्ति अनादि कालसे सुनी जाती है, आजकल भी बहुतोंके मुँहसे यह बात प्रायः ही सुनी जाती है। अद्वैत तत्त्वके स्वरूपको समझे बिना जो लोग ऐसी आ हैं, वे सनातन हिन्दूधर्मका पूर्ण रहस्य हृदयंग बिना ही इस प्रकारके भ्रान्त मतका पोषण क सनातन हिन्दूधर्मके अन्तर्निहित निगूढ़ महारहस्य एक भाग ही देखते हैं। यही भगवत्पाद शंकराचार्य समस्त अद्वैतवादाचार्योंका मत है। वे कहते हैं, के ही नहीं हैं बल्कि शास्त्रप्रमाण और युक्तियोंकी प्रमाणित करते हैं कि उपनिषद्प्रतिपाद्य अद्वैता अनुभूति मनुष्यकी व्यावहारिक या पारमार्थिक सब उन्नतिके सर्वथा अनुकूल है, प्रतिकूल तो है ही नहीं

मनुष्य, केवल मनुष्य ही क्यों, प्रत्येक जी चाहता है, दुःख नहीं चाहता। शास्त्र भी यही कहते

सुखाय कर्माणि करोति लोको
न तैः सुखं वान्यदुपारमं वा।
विन्देत भूयस्तत एव दुःखं
किमत्र तत्त्वं भगवन् वदस्व मे।
(श्रीमद्

सब लोग सुखके लिये कर्मोंका अनुष्ठान क परन्तु प्रायः ही देखा जाता है कि उन सब कर्मों अभिलषित सुखकी प्राप्ति नहीं होती अथवा दुःखकी निवृत्ति नहीं होती। केवल इतना ही नहीं बल्कि समयपर उन सब कर्मोंके परिणामस्वरूप दुःख जाता है। हे भगवन्! क्यों ऐसा होता है, यह आप समझा दीजिये। इसका उत्तर देते हुए शास्त्र कहते

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो
न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं
कालेन सर्वत्र गभीररंहसा॥
(श्रीमद्भाग

चतुर व्यक्ति उसीके लिये प्रयत्न करे जिसे इस भूमि भारतवर्षके ऊर्ध्व और अधोदेशमें रहनेवाले लो कर्मवश विचरण करनेवाले जीवोंके अंदर कोई प्राप्त कर सकता। जिसकी आसक्तिवश जीव सर्वदा कार्यमें होते हैं, उस सुख-दुःखका सुविचार अन्य किसी का द्वारा उत्पन्न होता है, उस कारणको अलक्ष्यगति काल फलोन्मुख करता है।

कोई कार्य करनेकी प्रवृत्ति होनेके पहले प्रत्येक म के मनमें आता है कि यह मेरा कर्तव्य है, मैं इसका

हूँ, अमुक साधनके द्वारा यह पूरा होगा या हो सकता है। इस प्रकार कार्यकर्त्ता और करणके परस्पर पृथक्त्वकी अनुभूति हुए बिना हम किसी विषयमें प्रवृत्त नहीं होते, यह हम सब समझते हैं। परन्तु यह अनुभूतिरूप कार्य किस कारणके द्वारा सम्पादित होता है, इसका एकमात्र उत्तर यही है कि वह कारण हमारी प्रकृति या हमारे अंदर निहित कोई स्वभाव है; इतना ही मनुष्य कह सकता है, आकस्मिक कार्य देखकर इसके अस्तित्वमात्रका हम अनुमान कर सकते हैं; परन्तु इसका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह किसी प्रकार लौकिक प्रमाणकी सहायतासे समझनेकी शक्ति हममेंसे किसीको नहीं है, यह ध्रुव सत्य है। इसीसे गीता कहती है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥

इस संसारके सब कार्योंको प्रकृति करती है। देह, इन्द्रिय आदिमें जो उस प्रकृतिकृत अहंबुद्धि है, उसके द्वारा जिसमें मूढ़ता आ गयी है, वह अभिमान करता है कि मैं ही यह कार्य करता हूँ।

इस अहंकार या अकर्तामें कर्तृत्वबुद्धिके कारण-स्वरूप अज्ञान अथवा विपरीत ज्ञान वा अध्यास ही इस संसारमें हमारे सब प्रकारके दुःखों या अनर्थोंका मौलिक उपादान है।

यदि इस अध्यास या विपरीत ज्ञानका पूर्णरूपेण विध्वंस कर दिया जाय तो हमारे सब प्रकारके दुःखोंका अवसान हो जाता है, यह ध्रुव सत्य है। क्योंकि इस देहादिमें अहंज्ञान हमारे जागरण और स्वप्नकी दशाओंमें विद्यमान रहता है, उसी जागरण और स्वप्नमें हमें दुःखकी अनुभूति होती है। परन्तु सुषुप्ति अवस्थामें जब हम रहते हैं और इस कारण हमारा इस देहादिमें रहनेवाला अहंज्ञानरूप अध्यास या विपरीत ज्ञान नहीं रहता, तब हमें किसी प्रकारकी दुःखकी अनुभूति नहीं होती, यह हममेंसे प्रत्येकका अनुभव है। उन सब दुःखोंके मूल कारणस्वरूप इस अध्यास या देहात्माभिमानको नष्ट करनेका एकमात्र निश्चित उपाय है यथार्थ ज्ञान या अध्यात्मविद्या, उसीका नाम ब्रह्मविद्या या अद्वैतात्मविज्ञान है, ब्रह्मविद् पिता महर्षि आरुणि भी यही कहते हैं—

ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तद् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।

'निखिल प्रपञ्चका यही आत्मा है, यही वह सत्य है, हे श्वेतकेतो! वही आत्मा तुम भी हो।'

इस समस्त विश्वके आत्माकी ही सत्ता सब वस्तुओंको सत्ता प्रदान किये हुए है, सब भेद इसीके ऊपर कल्पित हैं, कोई वस्तु इस आत्मासे पृथक् नहीं है, यह अद्वैतात्मतत्त्वज्ञान ही जीवके सब दुःखोंके मूल कारण अज्ञानका विनाश करता है, यही सनातनधर्मकी मूलभित्ति है। जो इस अद्वतात्मविज्ञानका आश्रय नहीं ग्रहण करता, उसके दुःख, अशान्ति, अवसादका अन्त नहीं होता। पूर्वजन्मके अनन्त पुण्योंके हुए बिना इस अद्वैतज्ञानके प्रति मनुष्यकी आस्था या श्रद्धा नहीं होती यह उपनिषदोंका अभ्रान्त सिद्धान्त है। यह अद्वैतज्ञान दो प्रकारका है—(१) परोक्ष और (२) साक्षात्कार या अपरोक्षानुभूति। ब्रह्मविद् आचार्यके उपदेशके अनुसार श्रद्धापूर्वक शास्त्रानुशीलनकी प्राथमिक परिणतिका नाम परोक्ष अद्वैतानुभूति है। यह परोक्षानुभूति मनुष्यके देहात्माभिमानका एकदम उच्छेद नहीं करती; परन्तु उसको अवसन्न या दुर्बल बना देती है। अतएव वह व्यवहारक्षेत्रमें हमारे किसी कार्यके विरुद्ध नहीं पड़ती, बल्कि व्यावहारिक सभी कर्मोंके फलभोगके लिये जो हमारी अत्यधिक आकांक्षा अर्थात् काम या विषयभोगकी स्पृहा है, उसके तीव्र भावको वह प्रशान्त कर देती है। इस परोक्ष अनुभूतिके हुए बिना तथा उसकी प्रामाणिकताका बोध हुए बिना गीतोक्त कर्मयोगका अधिकार नहीं प्राप्त होता, और कर्मयोगका अधिकार हुए बिना ज्ञानयोग और भक्तियोगस्वरूप परस्पर अटूटरूपसे सम्बद्ध साधनद्वय किसीको प्राप्त नहीं हो सकते, अपने प्रिय सखा अर्जुनको इस कर्मयोगका अधिकारी बनानेके लिये ही गीताके दूसरे अध्यायमें श्रीभगवान्ने सबसे पहले इस अद्वैततत्त्वका उपदेश दिया था—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥

उस सत्को विनाशरहित समझो, वह सत् ही इस विश्वप्रपञ्चको आत्मरूपसे व्याप्त करके सर्वदा विद्यमान रहता है। इस अविनाशी सत्का कोई विनाश नहीं कर सकता। इसके बाद वह अर्जुनको उपदेश देते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

सुख या दुःख, सुख-दुःखका कारण, लाभ या हानि अथवा जय या पराजय ये सब जिस कारणसे

कल्पित हैं, अविद्याकी परिणति हैं, उस कारणसे वे सब समान हैं अर्थात् स्वप्नमें प्राप्त वस्तुओंकी तरह अनुभवकालमें सत्य मालूम होनेपर भी, उनमेंसे कोई परमार्थ सत् नहीं है, वे कल्पित हैं, अतएव रज्जुमें अनुभूत सर्पकी नाईं मिथ्यामात्र हैं । इस प्रकार अच्छी तरह समझो और समझकर युद्ध अर्थात् शास्त्रविहित सब कार्य करनेके लिये उद्यत हो जाओ, तब उन सब कर्मोंके फलस्वरूप जो पाप या दुःखका कारण है, वह फिर तुम्हें नहीं होगा ।

यही वेदान्तोक्त साधनमार्ग या कर्मयोगका मूल सूत्र है । इस मूल सूत्रको दुर्भाग्यवश आज हम भूल गये हैं । इसीसे आज हम हिन्दू विश्वमानवद्वारा उपेक्षित, अपमानित और लाञ्छित होकर दिन-पर-दिन अधःपतनके अतल, गम्भीर भँवरमें डूब मरनेके लिये बड़ी तेजीसे अग्रसर हो रहे हैं । इस बातको, इस सार सत्यको आज प्रत्येक सनातनधर्मी हिन्दूको समझना होगा, अन्यथा रक्षाका कोई उपाय नहीं है ।

इस संसारमें हम समझ-बूझकर जितने कार्य करते हैं, उन सबमें हम अपने भावी दुःखका बीज वपन करते हैं । क्योंकि प्रत्येक कार्य करते समय हम समझते हैं कि यह कार्य मैं करता हूँ, इसका फल मैं भोगूँगा, अपने अप्राप्त भोगकी वासनाको मैं इसके द्वारा पूर्ण करूँगा । इस प्रकार सकामभावसे कर्म करनेके परिणामस्वरूप हमारे हृदयमें भोगाकांक्षाका वासनाजाल दृढ़ और सञ्चित हो जाता है । वह वासनाजाल ही हमारे भावी दुःखका सूक्ष्म कारण है । वह सूक्ष्म कारण-जाल हमारे अदृष्ट और कालका सहकारी बनकर भविष्यमें हमारे सब प्रकारके कर्तव्यकर्मोंकी सृष्टि करता है । इस प्रकार अनादि और अनन्त कर्म- जालमें बँधा हुआ संसारी जीव तापत्रयका करनेवाला और भोक्ता बन जाता है । इससे निवृ करनेका एकमात्र उपाय निष्काम कर्मयोग है । इ कर्मयोगके स्वरूपका निर्देश करते हुए श्रीभगवान् क

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्

हे कौन्तेय ! तुम्हारी प्रकृति तुमसे कार्य करावे काम किये बिना तुम नहीं रह सकते, काम तो तुम्हें ही होगा । अतएव प्रकृतिके अनुसार तुम कर्तव्य करते इससे कोई हानि नहीं । परन्तु कार्य करते समय यह कि मैं यह कार्य नहीं करता, मेरा कर्तृत्व नहीं है, वही सर्वनियन्ता, सर्वसाक्षी, हमारे-तुम्हारे सबके अ परमेश्वर ! इस ज्ञानके साथ कार्य करनेमें प्रवृत्त होओ वे कार्य भोजन, हवन, दान या विहित तपस्या अथवा स्वभाववश किये हुए हों, उन सबका जो कु है, उसके भोक्ता वही परमेश्वर या सबके आत्मा हैं, इ समझकर तुम सब काम करते रहो । इस प्रकार सर्वकर्म जो कौशल है, इस कौशलके साथ सारे कर्मोंको करने कर्मयोग कहते हैं । इसका अनुष्ठान करते-करते जब चित्त पूर्णरूपसे राग-द्वेषरूप अशुद्धिसे मुक्त हो तभी तुम्हारी उस सर्वात्मभूत एकमात्र सत् प अद्वैतानुभूति साक्षात्काररूपमें परिणत होगी । साक्षात्कारके साथ ही तुम्हारे सब दुःख और उनका कारण अज्ञान एकदम विलुप्त हो जायगा । इसीका आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति या ब्रह्मभाव है, यही ब्रह्मात्मवादका चरम सिद्धान्त है ।

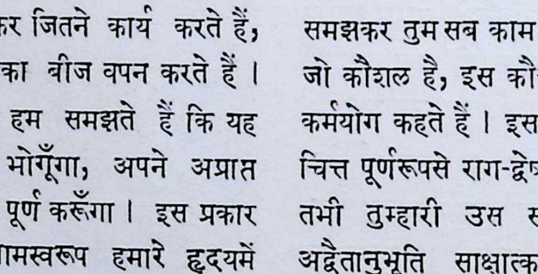

ऐक्यका सिद्धान्त

(लेखक—श्रीरामस्वामी)

(१)

माया (ब्रह्मकी शक्ति) से संयुक्त होकर ब्रह्म (परमात्मा अद्वैत विश्वात्मा) विश्वका कारण, और ईश्वर नामसे अभिज्ञात है।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।'

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

'मायाको प्रकृति (विश्वका उपादानकारण) जानना चाहिये और मायासे युक्त आत्माको ईश्वर ।'

'कारणोपाधिरीश्वरः' (श्रुति)

'आत्मा अपने कारणशरीर मायासे मिलकर ईश्वर कहलाता है।'

वेदान्तका यह सुनिश्चित सिद्धान्त है कि ब्रह्म जगत्का कारण है। कारण दो प्रकारके होते हैं—निमित्त और उपादान। जो किसी पदार्थके उत्पन्न करनेमें सहायक होता है वह उस पदार्थका निमित्तकारण कहलाता है, और जिन तत्त्वोंसे कोई पदार्थ बनता है वे उस पदार्थके उपादानकारण कहे जाते हैं। उदाहरणके लिये, किसी बर्तनका बनानेवाला उसका निमित्तकारण, जब कि मिट्टी जिससे वह बर्तन बना है उसका उपादानकारण है। निमित्तकारण, कर्ता, बनानेवाला अथवा सहायक है। अब विश्वका कारण ब्रह्म है, किन्तु यह निश्चित करना आवश्यक है कि वह किस प्रकारका है। स्वभावसे निर्विकार अनन्त और निष्क्रिय होनेके कारण ब्रह्मसे सृष्टिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। ऐसी वस्तुस्थितिसे यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि ब्रह्मने किस प्रकार इस संसारको बनाया। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि शुद्ध, केवल ब्रह्ममें क्रियाका होना सम्भव नहीं, तथापि मायासहित ब्रह्ममें यह असम्भव नहीं। यह कथन कि माया ब्रह्मकी शक्ति है, और इस शक्तिके द्वारा ब्रह्म जगत्को उत्पन्न करता है, निर्भ्रान्त है। सांख्यदर्शनमें यह माया प्रकृति कहलाती है। आपत्ति हो सकती है—जब ब्रह्म अपनी शक्ति मायाके द्वारा विश्वका निर्माण करता है तब ब्रह्मकी अद्वैतता (एकमेवाद्वितीयम्) का वेदान्त सिद्धान्त बाधित हो गया, क्योंकि इस प्रकार दो विभिन्न सत्ताएँ हो गयीं—ब्रह्म और उसकी शक्ति। किन्तु ऐक्य-सिद्धान्तका खण्डन उपपन्न नहीं होता है, क्योंकि यद्यपि सृष्टिके निर्माणमें मायाकी सहकारिता आवश्यक है तथापि ब्रह्मकी प्रधानता है; ब्रह्मके अतिरिक्त मायाका अस्तित्व नहीं है और माया जड होनेके कारण ब्रह्मकी सहायताके बिना कुछ कर नहीं सकती। सच बात तो यह है कि किसी पदार्थकी शक्तिका अस्तित्व उस पदार्थसे भिन्न नहीं होता। उदाहरणार्थ, अग्निकी दाहिकाशक्ति अग्निपिण्डसे अलग नहीं ठहर सकती। दाहिकाशक्तिसे अग्निका तादात्म्य है। इस हेतुसे, माया ब्रह्मकी शक्ति होनेके कारण, उसके संयोगसे ब्रह्मकी अद्वैतताको धक्का नहीं पहुँचता। नीचेके दृष्टान्तसे यह स्पष्टतः समझमें आ जायगा। व्यक्तिकी प्रत्येक क्रिया उसकी इच्छा-शक्तिका अनुगमन करती है। इच्छाके बिना क्रियाका अनुष्ठान नहीं हो सकता; इच्छा ही शक्ति है। यह इच्छा-शक्ति व्यक्तिसे अलग नहीं रह सकती। व्यक्ति किसी समय इच्छाके बिना भी रह सकता है, किन्तु इच्छा व्यक्तिके बिना नहीं रह सकती। इसलिये व्यक्तिसे पृथक् इच्छाका कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार माया परमेश्वरकी केवल इच्छा-शक्ति है। यह एक मानसिक क्रिया है । जिस प्रकार स्वप्नमें हमलोगोंसे मानसिक सृष्टि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार यह विविध विश्व ईश्वरकी मानसिक शक्ति—मायासे आविर्भूत होता है। इस तरह मायायुक्त ब्रह्म विश्वका कारण है और ईश्वर कहलाता है।

(२)

विश्वका निमित्त और उपादानकारण एक ही है, जो ईश्वर है

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय ।' (श्रुति)

'उस पुरुष—केवल सत्ताने इच्छा की अथवा इस प्रकार विचार किया—मैं बहुत हो जाऊँ और विभिन्न रूपोंमें जन्म लूँ ।'

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च······'तथाक्षराद् सम्भवतीह विश्वम् ।

(श्रुति)

'जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीरसे जालकी रचना करता है और फिर उसको समेट लेता है, उसी प्रकार अक्षर पुरुषसे विश्वकी सृष्टि होती है और उसीमें फिर इसका लय हो जाता है।'

संसारमें किसी पदार्थका निमित्तकारण उपादानकारणसे सदा भिन्न दिखायी पड़ता है। दृष्टान्तके लिये बर्तनका निमित्तकारण कुम्हार है, जब कि उसका उपादानकारण मिट्टी है। ऐसा होनेसे ईश्वरके, विश्वके निमित्त और उपादानकारणत्वकी बुद्धिगम्यतामें सन्देह उत्पन्न होता है। किन्तु यदि हम अधिक ध्यानसे इस विषयपर विचार करें तो जान पड़ेगा कि उपर्युक्त सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं पड़ती। यह स्पष्ट दिखला दिया गया है कि माया ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। अब बर्तनवाले ऊपरके दृष्टान्तमें, बर्तनके दो भाग हैं—(१) मिट्टी और (२) बर्तनका रूप। इसलिये हमें देखना चाहिये कि जिसको हम बर्तन कहते हैं वह रूप है अथवा मिट्टी। यह एक सर्वमान्य बात है कि उपाधि (अवस्थाविशेष) से नामोंकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार 'बर्तन' नामका सम्बन्ध रूप (उपाधि) से है, मिट्टी (अधिष्ठान, आधार) से नहीं। और माया ब्रह्मकी इच्छा अथवा बुद्धि है। अब ध्यान देनेकी बात है कि बर्तन जो केवल रूप है, उसका उपादान कुम्भकारकी बुद्धि है, क्योंकि सब रूप काल्पनिक अथवा मानसिक होते हैं। अतः माया जो ब्रह्मकी केवल कल्पना, बुद्धि वा इच्छा है, स्थूल विश्वका निश्चित उपादान है। हमारी बुद्धि और ईश्वरकी मायामें यह अन्तर है कि हमारी कल्पना वा बुद्धिको पदार्थोंकी रचनाके लिये बाह्य सामग्री, जैसे मिट्टीकी आवश्यकता होती है जब कि ईश्वरकी बुद्धि अथवा मायाको अपनेसे भिन्न सामग्रीकी आवश्यकता नहीं। ईश्वरमें उद्भूत कल्पना बहुरंगी, विविध विश्वके रूपमें हमें दिखायी पड़ती है। स्वप्नका उदाहरण इस प्रश्नको और स्पष्ट कर देगा। घोड़े, हाथी, पर्वत, नदी आदि स्वप्नमें दिखायी पड़नेवाले पदार्थ बिल्कुल मानसिक होते हैं अर्थात् उनका उपादान केवल मन होता है। इसी प्रकार विश्वका उपादान केवल ईश्वरकी बुद्धि अर्थात् माया है। हमलोगोंने देख लिया है कि माया ब्रह्मसे पृथक् नहीं रह सकती। इसलिये ब्रह्म ही मायाद्वारा विश्वका उपादान है। किन्तु श्रुति (वेद) में उपादानकारण दो प्रकारका* कहा गया है—(१) विवर्त (अथवा भ्रामक आभासका कारण) और (२) (रूपान्तरकारी)। जो दूसरे प्रकारके कारणको उनका कहना है कि एक पदार्थ दूसरेमें रूपान्तरित है, जैसे दूध दहीमें, मिट्टी पात्रमें, सोना आभू में। जो पहले कारणको स्वीकार करते हैं, उनका कि रूपान्तर केवल आभासमात्र है, जैसे रज्जु आकाशका विविध आकृति और रंग आदिमें। जब भ्रान्तिसे रस्सी सर्पके रूपमें दिखायी पड़ती है सर्पका विवर्तोपादान, और अज्ञान वा अविद्या उपादान कहे जाते हैं। क्योंकि रस्सीका सर्पवत् केवल अज्ञानका परिणाम वा रूपान्तर है। इसी प्र विश्वका विवर्तोपादान और इसकी अभिन्न माया पादान है। यहाँ भी निमित्त और उपादानकारण हैं। इस निबन्धके प्रारम्भमें दिये हुए मकड़ेके श्रुतियोंमें यह बात दर्शायी गयी है। जिस प्रकार अपने शरीरसे निकली हुई रालसे जाल बनाता है, प्रकार ब्रह्म अपनेसे अभिन्न मायाके सम्पर्कसे जगत् करता है। यह उपमा निमित्त और उपादानका जो दोनों ईश्वर ही है, एकता प्रदर्शित करती है।

(३)

ईश्वर सर्वद्रष्टा, सर्वशक्तिमान् और स्वावल

'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः स

'वह सबका स्वामी, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी और जन्मदाता है।'

किसी कार्य करनेवालेका काम कार्य और सामग्रीके पूर्ण ज्ञानके बिना नहीं चल सकता। इसलिये अ प्रशंसनीय और विचित्र विश्वका कर्ता सर्वद्रष्टा अवश्य

---

* कभी-कभी तीन प्रकारके उपादानकारण स्वीकार गये हैं—(१) विवर्ति, बिना किसी वास्तविक परिवर्तनके परि का आभास करानेवाला कारण। (२) परिणामि, वास्तविक प उत्पन्न करनेवाला कारण और (३) आरम्भक, एक प्र कारण जो बिल्कुल भिन्न परिणाम पैदा करते हैं। तीसरे प्र कारणको स्वीकार करनेवालोंका कहना है कि एक प्र उपादान अपनेसे बिल्कुल भिन्न पदार्थ उत्पन्न करता है, जैसे वस्तुसे भिन्न हैं, फिर भी उसको उत्पन्न करते हैं।

चाहिये । अनन्त पदार्थों और शक्तियोंसे परिपूर्ण विश्वके कर्ताको सर्वशक्तिमान् भी होना चाहिये । जो सर्वशक्तिसम्पन्न है, उसे परावलम्बनकी आवश्यकता नहीं । इसलिये वह अवश्य ही स्वतन्त्र तथा स्वावलम्बी है । इस प्रकार ईश्वर सर्वद्रष्टा, सर्वशक्तिमान् और स्वावलम्बी है ।

(४)

जीव (व्यक्तिगत अथवा शरीरबद्ध आत्मा) ईश्वरका अंश अथवा प्रतिबिम्ब है ।

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।' (गीता)

'संसारमें सनातन व्यक्तिगत आत्मा मेरा अंश है ।'

'कार्योपाधिरयं जीवः ।' (श्रुति)

'मायाके परिणामस्वरूप स्थूल और सूक्ष्म शरीरसहित आत्मा जीव कहलाता है ।'

'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ।' (श्रुति)

'जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके समान आत्मा एक और अनेक दिखायी पड़ता है ।'

प्रतिबिम्ब सापेक्ष होता है । जहाँ कहीं भी प्रतिबिम्ब होगा, वहाँ प्रतिबिम्बित मूल पदार्थ और वह पदार्थ जिसपर प्रतिबिम्ब पड़ता है अवश्य होंगे । जैसे चेहरेके प्रतिबिम्बके लिये तीन पदार्थ आवश्यक हैं—मुख, दर्पण अथवा जल और प्रतिबिम्ब । यहाँ बिम्ब (मूल प्रतिबिम्बित पदार्थ) ईश्वर है । किन्तु दर्पण वा जलस्थानीय पदार्थ क्या है, जिसपर ईश्वरका प्रतिबिम्ब पड़ता है ? यह अन्तःकरण (आन्तरिक इन्द्रिय) है । मायासे संयुक्त ब्रह्म ईश्वर कहलाता है, इसलिये यदि ईश्वरको ब्रह्म कहें तो आपत्ति न होनी चाहिये । वह सर्वव्यापी होनेके कारण प्रत्येक जीवके अन्तःकरणमें अवश्य ही व्याप्त है । हमलोगोंमेंसे प्रत्येकके अन्तःकरणमें 'मैं' की चेतना उसका प्रतिबिम्ब है, और उसीको जीव समझना चाहिये । प्रतिबिम्ब अथवा प्रतिबिम्बित चित्रसे क्या मतलब है, इसकी थोड़ी व्याख्या यहाँ आवश्यक है । ऊपरके दृष्टान्तमें मुख एक सान्त पदार्थ है, इसलिये इसके सामने रखे हुए दर्पणमें इसका प्रतिबिम्ब उलटा दिखायी पड़ता है । किन्तु यह प्रक्रिया जीवके सम्बन्धमें ठीक नहीं उतरती । यहाँ बिम्ब अथवा मूल पदार्थ ईश्वर वा ब्रह्म अनन्त तथा सर्वव्यापी है । इसलिये यहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्बकी कल्पना दूसरे प्रकारकी है । नीचेके उदाहरणसे यह स्पष्ट हो जायगा । सूर्यके उज्ज्वल प्रकाशमें तागे-से लटकते हुए एक स्फटिककी कल्पना कीजिये । यह किसी घरके भीतरसे बाहर खुले हुए स्थानमें अधिक चमकीला दिखायी पड़ेगा । यह ज्योति सूर्यके प्रकाशका प्रतिबिम्ब है । अन्तःकरण स्फटिकके समान और परमात्मा सूर्यवत् है । जिस प्रकार स्फटिकमें व्याप्त होनेवाला प्रकाश सूर्यके प्रकाशका ही प्रतिबिम्ब है उसी प्रकार परमात्माका प्रकाश, जो अन्तःकरणमें पड़ता है, जीव कहलाता है और 'मैं' की चेतनाके रूपमें प्रकट होता है । इसी अर्थमें जीव ईश्वरका प्रतिबिम्ब है । और शास्त्रोंमें प्रतिबिम्ब ही 'अंश' शब्दसे जाना जाता है । नहीं तो अंशरूपमें जीवकी कल्पना युक्तियुक्त नहीं जान पड़ती, क्योंकि उसी पदार्थके अंशकी कल्पना हो सकती है जो काल और स्थानसे बद्ध हो । किन्तु ब्रह्मके अनन्त और अरूप होनेसे उसमें विभाग नहीं हो सकता । अतएव 'अंश' शब्दकी व्याख्या 'प्रतिबिम्ब' के अर्थहीमें करनी चाहिये । इस प्रकार जीव ईश्वरका अंश अर्थात् प्रतिबिम्ब है ।

(५)

ज्ञान, अज्ञान, बन्ध और मोक्ष केवल जीवमें हैं; ब्रह्मका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं ।

अज्ञानमावृतिश्चैव विक्षेपश्च परोक्षधीः ।
अपरोक्षमतिः शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरङ्कुशा ॥
सप्तावस्था इमाः सन्ति चिदाभासस्य तास्विमौ ।
बन्धमोक्षौ स्थितौ तत्र तिस्रो बन्धकृतः स्मृताः ॥

(पञ्चदशी)

'अज्ञान, आवरण, मोह, परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोकसे मुक्ति और निर्बन्ध आनन्द—ये चिदाभास (प्रतिबिम्बित बुद्धि) की सात अवस्थाएँ हैं और बन्ध और मोक्षके कारण हैं । इनमेंसे प्रथम तीन बन्ध करनेवाली कही जाती हैं ।'

इस विश्वका आधार अथवा आश्रय, जो निर्गुण, सद्रूप ज्ञानमय तथा आनन्दस्वरूप है, ब्रह्म है । 'मैं' चेतनाकी बुद्धि अथवा अन्तःकरणपर ब्रह्मका प्रतिबिम्ब जीव कहलाता है । ज्ञान और अज्ञान बुद्धिके गुण हैं, ब्रह्मके नहीं । क्योंकि ब्रह्म सब गुणोंसे रहित है । जाग्रत् अवस्थामें, जब कि बुद्धि काम करती रहती है, ज्ञान और अज्ञानका अनुभव

होता है। किन्तु प्रगाढ़ निद्रामें बुद्धिके अभावसे जो प्रकृतिमें लीन रहती है, उनका अनुभव नहीं होता। इसलिये उनको बुद्धिके ही गुण कहना चाहिये। अमुक पदार्थका ज्ञान मैंने भूतकालमें प्राप्त किया, वर्तमानमें मुझको अमुक पदार्थका ज्ञान है—अहंकारसे सम्बन्ध रखनेवाला ऐसा ज्ञान मनुष्यको होता है। इस ज्ञानसे यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान और अज्ञान ब्रह्मके गुण नहीं हैं। ये बुद्धिके गुण होनेके कारण बुद्धियुक्त जीवसे ही सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार यदि ज्ञान और अज्ञान जीवमें ही हैं, तो बन्ध और मोक्षको भी उसीसे सम्बन्ध रखना चाहिये। इसके प्रतिकूल ब्रह्म न तो कभी बद्ध था और न उसकी मुक्ति होती है। इस प्रकार ज्ञान, अज्ञान, बन्ध और मोक्ष केवल जीवमें होते हैं, जब कि ब्रह्मसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

(६)

जीवात्मा और ईश्वर तत्त्वतः एक हैं।

'अयमात्मा ब्रह्म।' (श्रुति)

'यह आत्मा ब्रह्म है।'

'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।' (श्रुति)

'परमात्मा सृष्टि करनेके अनन्तर उसीमें प्रवेश कर गया।'

जीव और ईश्वरमेंसे प्रत्येकके दो रूप हैं—शुद्ध और विकृत। शुद्ध रूप लक्ष्य अथवा लभ्य और विकृत वाच्य है। इनमेंसे उपाधिकल्पित वाच्य अंशको त्यागनेसे शेष विशुद्ध निरुपाधि रूप रह जाता है। उदाहरणके लिये कृष्णा नदीका पेटा इसके उद्गमके निकट वाईक्षेत्रमें बिल्कुल संकीर्ण दिखायी पड़ता है। मसुलीपट्टमसे वहाँ आते हुए एक अबोध बालककी कल्पना कीजिये। एक पुरुष उससे कहता है कि यह वही नदी है जो उसके गाँवसे होकर बहती है। भूगोलके अज्ञानके कारण इस बातको सुनकर बालक आश्चर्यित हो जाता है। किन्तु एक प्राप्तवयस्कको, जिसको यात्राका अनुभव अथवा भूगोलका ज्ञान है, इस बातके समझनेमें देर नहीं लगती। इस उदाहरणमें वाईक्षेत्र और मसुलीपट्टममें घाटके साथ नदीके रूप विकृत अथवा वाच्य हैं। और दो गाँवोंके अतिरिक्त उद्गमसे लेकर मुहानेतक नदीका जलसमूह शुद्ध अथवा लक्ष्यरूप है। यहाँ यद्यपि दो गाँवोंकी उपाधिके कारण नदीके रूप विभिन्न दिखायी पड़ते हैं तथापि उपाधिकी कल्पना छोड़ देनेपर नदीका शुद्ध रूप एक और अविभक्त है। इसी प्रकार त्रिगुणात्मक अविद्यासे बद्ध जीवके गुण, जैसे सीमित ज्ञान, शक्ति, शोक आदि, और माया (शुद्ध सत्त्वसे अविद्या) युक्त ईश्वरके गुण, जैसे सर्वज्ञता, सर्व और आनन्दमयताको अलग कर देनेपर, अवशिष्ट शुद्ध रूप दोनोंमें समान है। ऐक्य-स्था प्रक्रिया वेदान्तमें जहदजहल्लक्षणा वा भागलक्षणा है। इस तरह जीवात्मा और परमात्मा एक ही है।

(७)

तात्त्विक दृष्टिसे जीव और ब्रह्म एक ही

'अयमात्मा ब्रह्म।'

'यह आत्मा ब्रह्म है।'

'तत्त्वमसि।'

'वह ब्रह्म तुम हो।'

बुद्धिके ऊपर पड़ा हुआ ब्रह्मका प्रतिबिम्ब लाता है। खुले आँगनमें रक्खे हुए जलपूर्ण पात्र बिम्बित सूर्यका चित्र सूर्यसे भिन्न नहीं कहा जाता, प्रतिबिम्बका अस्तित्व उसके मूल पदार्थपर अवलम्ब इस उक्तिसे कि प्रतिबिम्बित प्रतिकृति अपने मूल भिन्न नहीं होती, यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रतिबिम्ब होनेके कारण जीवात्माकी उससे भिन्न है। इसलिये जीव ब्रह्म है। इस कथनमें जीवकी निकाल देनेपर केवल ब्रह्महीका ज्ञान होता है वेदान्तमें बाधसामानाधिकरण्य विरोधी गुणोंको नि जीव और ब्रह्मका समान आधार रखना कहा जाता

(८)

प्रत्यगात्मा अथवा कूटस्थ (निर्विकार गत आत्मा) और ब्रह्म अभिन्न हैं।

घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम्।
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित् स्वयम्॥

'जिस प्रकार घटके नष्ट हो जानेपर उसके आकाश बाहरके आकाशमें मिल जाता है, उसी उपाधियोंके विलीन होनेपर ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मस्वरूप हो

अन्तःकरणसे बद्ध चेतना प्रत्यगात्मा अथवा और विशुद्ध वा निर्मल चेतना ब्रह्म कहलाती है। तरह घटाकाश और सर्वव्यापक आकाशमें कोई अन्त है उसी तरह प्रत्यगात्मा और ब्रह्म सर्वथा एक है। विभिन्न स्थलोंपर ब्रह्म आत्मा कहा गया है। दूसरे

ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (ब्रह्म ही यह सब कुछ है) और 'आत्मैदं सर्वम्' (आत्मा ही यह सब कुछ है), ऐसी प्रतिज्ञा मिलती । इससे यह अनुमान किया जाता है कि 'ब्रह्म' और आत्मा' से निर्दिष्ट पदार्थ एक और अभिन्न है ।

यदि ब्रह्मकी कल्पना आत्मासे भिन्न की जाय, जो चद्रूप है, तो ब्रह्म अपना व्यक्तित्व, ब्रह्मत्व खो बैठता है । क्योंकि यदि आत्मा और ब्रह्म दो अलग-अलग पदार्थ समझे जायँगे तो ब्रह्म सान्त हो जायगा, और 'एकमेवाद्वितीयम्' (ब्रह्म अकेला, अद्वितीय है) और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सद्रूप, चिन्मय और अनन्त है) आदि वचनोंमें विरोध पड़ जायगा ।

'ब्रह्म' शब्दका धात्वर्थ* 'सर्वव्यापक (अत्यन्त महान् और निस्सीम) सत्ता है । प्रत्यगात्मा भी इसी तरहका है । अतः प्रत्यगात्मा अथवा कूटस्थ और ब्रह्ममें ऐक्य है ।

(९)

सम्पूर्ण विश्व तत्त्वतः ब्रह्म है ।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।' (श्रुति)

'यह सारा विश्व ब्रह्म है ।'

'ईशावास्यमिदं सर्वम् ।' (श्रुति)

'यह सम्पूर्ण भौतिक विनश्वर विश्व ईश्वर—परमात्मासे आवास्य, आच्छन्न अथवा आवृत है ।'

'अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।' (श्रुति)

'नीचे और ऊपर ब्रह्मसे व्याप्त है; यहाँतक कि यह सारा विश्व ही परमब्रह्म है ।'

कार्य कारणसे भिन्न नहीं होता । जिस प्रकार बर्तन मिट्टीसे और आभूषण सोनेसे भिन्न नहीं होते, उसी प्रकार ब्रह्मसे उत्पन्न विश्व भी उससे भिन्न नहीं है । जो मायासे आच्छादित है वह उसका अधिष्ठानस्वरूप है । जिस प्रकार भ्रमसे रज्जुमें दिखायी पड़नेवाला सर्प रज्जुस्वरूप ही है, उसी प्रकार विश्व जो भ्रमसे हमें दिखायी देता है, अपने आधार ब्रह्मका ही स्वरूप है । यहाँ यह आपत्ति हो सकती है—यदि विश्व ब्रह्मस्वरूप है और ब्रह्म सत्य और सदा अक्षर है तो विश्वको भी सत्य होना चाहिये; किन्तु जगत् असत् बतलाया गया है । हमारा उत्तर यह है—यहाँ बाधसामानाधिकरण्यके आधारपर विश्व ब्रह्मस्वरूप निश्चित किया गया है । सामानाधिकरण्य (पदार्थकी अनुरूपता) दो प्रकारका है—मुख्य सामानाधिकरण्य और बाधसामानाधिकरण्य । दृष्टान्तके लिये घटाकाश (घड़ेके भीतरका आकाश) महाकाश (सर्वव्यापी आकाश) है । इस दृष्टान्तमें घटाकाश और महाकाशमें उभयनिष्ठ आधार आकाश होनेके कारण, इन शब्दोंसे बिना कुछ निकाले ही सामानाधिकरण्य उपपन्न होता है । इसलिये इसको मुख्य सामानाधिकरण्य कहते हैं । किन्तु 'सर्प रज्जु है', इस उदाहरणमें, सर्पको निकालकर केवल रज्जुका ग्रहण किया जाता है, क्योंकि जिसको सर्प कहा जाता है वह वास्तव सर्प नहीं, रज्जु है । अतः इसको बाधसामानाधिकरण्य कहते हैं । इसी प्रकार 'यह सारा संसार ब्रह्म है', इस कथनका अर्थ दृश्य जगत्से समझा जानेवाला विश्व नहीं किन्तु ब्रह्म है । अतएव विश्वको छोड़कर केवल ब्रह्मका ग्रहण करनेसे यहाँ बाधसामानाधिकरण्य होता है । इसलिये यह परिणाम निकलता है कि यह सारा विश्व ब्रह्म है ।

सारा विषय संक्षेपमें निम्नलिखित श्लोकोंसे जाना जा सकता है । अद्वैत वेदान्तके सारांशको थोड़ेमें कण्ठ करा देनेकी योग्यता रखनेके कारण ये अधिक उपयोगी हो सकते हैं ।

मायोपाधिवशाद् ब्रह्म जगतः कारणं स्मृतम् ।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥ १ ॥
जगतो यो निमित्तं स्यादुपादानं स एव हि ।
यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते चेति वेदतः ॥ २ ॥
सर्वज्ञः सर्वकर्तृत्वात् स्वतन्त्रः सर्वशक्तिमान् ।
एष सर्वेश्वर इति माण्डूक्यश्रुतिवाक्यतः ॥ ३ ॥
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
इति स्मृतिरयं जीवः प्रतिबिम्बः परात्मनः ॥ ४ ॥
ज्ञानाज्ञाने बन्धमोक्षौ ब्रह्म न स्पृशतः खलु ।
वस्तुतस्ते बुद्धिधर्मा जीवस्य तदुपाधितः ॥ ५ ॥
विहाय मायाविद्ये द्वे उपाधी परजीवयोः ।
भागलक्षणया ज्ञेयो जीवोऽयं परमेश्वरः ॥ ६ ॥
बिम्बसत्तां वर्जयित्वा प्रतिबिम्बो न विद्यते ।
ब्रह्मणः प्रतिबिम्बत्वाज्जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥ ७ ॥
बुद्ध्यवच्छिन्नचैतन्यं कूटस्थ इति कथ्यते ।
तदेव ब्रह्म जानीहि बुद्ध्युपाधेर्मृषात्वतः ॥ ८ ॥
यथा रज्जोरधिष्ठानाद् भिन्नः सर्पो न विद्यते ।
जगन्न भिद्यते सत्यब्रह्माधिष्ठानतस्तथा ॥ ९ ॥

---

* बृह धातुका अर्थ है बढ़ना, फैलना, व्यापना ।

शाङ्करवेदान्तके जागरित और स्वप्नमय जगत्

(लेखक—पं० श्रीकोकिलेश्वर शास्त्री, विद्यारत्न, एम० ए०)

श्रीमत् शङ्कराचार्यने इस जगत्के बाह्य स्वरूपको जो स्वप्नवत् कहा है उससे शाङ्करमतके अनेक प्रतिवादी इस सिद्धान्तपर पहुँचे हैं कि जब नामरूपात्मक जगत् हमारी स्वप्नसृष्टिसे अधिक सत्य नहीं है तब तो यही कहना चाहिये कि जैसे स्वप्नसृष्टिके पदार्थोंका कोई अस्तित्व नहीं है वैसे ही इस जागरित सृष्टिके पदार्थोंका भी कोई अस्तित्व नहीं है; और इस सिद्धान्तने, हमारे विचारमें, श्रीमत् शङ्कराचार्यकी गौरवगरिमाको उसी तरह ग्रसा है जैसे राहु चन्द्रको ग्रसता है। परन्तु श्रीमत् शङ्कराचार्यपर जगत्की असत्ताका जो अभियोग लगाया जाता है, यह हमारे विचारमें इतना कमजोर है कि शङ्कराचार्यने स्वयं इस सम्बन्धमें जो कुछ कहा है उसके सामने यह अभियोग ठहर ही नहीं सकता। संसारकी पारमार्थिक सत्ताके विरुद्ध इन भाष्यकारने और जो-जो कुछ कहा है उसको अलग रखकर, हम इस निबन्धमें केवल उन्हीं बातोंको लेते हैं जो उन्होने स्वप्नसृष्टिके सम्बन्धमें कही हैं। उनके भाष्योंके विभिन्न भागोंमें तीन स्थान ऐसे हैं जहाँ उन्होंने भौतिक जगत् और स्वप्नजगत्की तुलना की है।

सबसे पहले हम ब्रह्मसूत्रके सुप्रसिद्ध आचार्यभाष्यको लेते हैं जिससे यह स्पष्ट ही देख पड़ता है कि श्रीमत् शङ्कराचार्यके मतमें जागरितावस्थाकी कल्पना और स्वप्नावस्थाकी कल्पनामें बड़ा अन्तर है। इस प्रसङ्गमें शङ्कराचार्य एक सुनिश्चित बात कहते हैं और वे जो कुछ कहते हैं वह वैसी कोई बात नहीं है जैसी उनके प्रतिवादी उनपर लादना चाहते हैं। बादरायणके 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' (२। २। २९) इस सूत्रपर आचार्य कहते हैं, 'बौद्धोंका जो यह मत है कि विना किसी इन्द्रियग्राह्य पदार्थके जैसे स्वप्नमें काल्पनिक सृष्टि होती है वैसे ही जाग्रत अवस्थामें भी वृक्ष, स्तम्भ आदि इन्द्रियग्राह्य पदार्थोंके न होते हुए भी ये होते-से देख पड़ते हैं, यह मत सिद्ध नहीं होता।' बौद्धोंके इस मतके विरुद्ध शङ्कराचार्य कहते हैं कि, 'ये दोनों सृष्टियाँ स्वभावतः भिन्न-भिन्न प्रकारकी हैं; उनमें परस्पर वैधर्म्य है, कल्पनाओंकी विभिन्नता है। विभिन्न होनेसे ये सम नहीं समझी जा सकतीं। इनकी इस विभिन्नताको दिखानेके लिये श्रीशङ्कराचार्य तीन युक्तियाँ देते हैं—

(१) हमारी स्वप्नस्थिति हमारी जाग्रतस्थिति होती है और हमारी जाग्रतस्थिति स्वप्नस्थितिसे है। उदाहरणार्थ, स्वप्नसे जब हम जागते हैं तब विदित हो जाता है कि स्वप्नमें जो कुछ सब मिथ्या था, क्योंकि जाग्रतमें उसमेंकी कोई न रही। पर जाग्रत अवस्थामें हम जो कुछ देखते वृक्ष है, यह खम्भ है इत्यादि, यह कभी बाधित और इसलिये यह मिथ्या नहीं कहा जा सकता। विभिन्न अनुभव एक कोटिमें कैसे आ सकते हैं?

(२) स्वप्नस्थितिके दृश्य स्मृतिके कार्य जाग्रतस्थितिके दृश्य प्रत्यक्ष अनुभूत हैं, स्मृति नहीं। विद्यमान वस्तुओंकी अनुभूति और वस्तुओंकी अनुभूति तो भिन्न-भिन्न होती है। वस्तुओंकी अनुभूति वस्तुतन्त्र है। उसे देखना देखना हमारी इच्छापर निर्भर नहीं करता, वस्तुपर ही निर्भर करता है। किसी वस्तुकी गोचर करानेवाले पुरुषके मनको तभी होती गोचरताकी सब सामग्री उपस्थित हो। स्वप्न क्योंकि गोचर पदार्थ उपस्थित नहीं है। पर जब पदार्थको देखते हैं तब उसका देखना, उसका करना सच है, क्योंकि वह पदार्थ उपस्थित है।

(३) मन-बुद्धिमें किसी पदार्थकी स्मृतिका होना सम्भव नहीं जबतक उसे बाहर न देखा हो। हमारे बौद्धिक कार्योंमें उन्हीं पदार्थोंकी व्यवस्थिति होती है पदार्थोंको हमने बाहर देखा है। बाह्य पदार्थोंके कोई मनोभाव नहीं उठते; और बाह्य पदार्थोंको लिये किसी पूर्वतन मनोभावकी आवश्यकता नहीं

इस प्रसङ्गमें श्रीमत् शङ्कराचार्यने एक ऐसा किया है जिसका बहुत बड़ा महत्त्व है और जो शङ्कराचार्यपर टीका करनेवालोंको सदा ध्यानमें चाहिये। आचार्य हमारे मायामय पदार्थोंको उसी रखते हैं जिस कोटिमें स्वप्नसृष्टिको रखते हैं। इस यह सङ्केत करते हैं कि मायामय पदार्थ और जगत्के भौतिक पदार्थ कुछ और हैं। अर्थात् इन्द्रि

नेवाले पदार्थ ही मायामय नहीं हैं। उनका यह चन है—

एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः।
नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु ········· बाध्यते॥

अर्थात् 'इसी प्रकार मायादिके वशमें रहते हुए हम-लोग जिन पदार्थोंको अनुभूत करते हैं वे हमारी सामान्य जाग्रत अवस्थासे बाधित हो जाते हैं। जाग्रत अवस्थाके पदार्थोंकी यह बात नहीं है।'

शाङ्करभाष्यके फिर दूसरे एक स्थानमें आचार्यने स्वप्नसृष्टिके पदार्थोंको मायामय कहा है, पर बाह्य जगत्के पदार्थोंको मायामय नहीं कहा। (ब्रह्मसूत्रभाष्य ३।२।३) स्वप्नसृष्टिके पदार्थोंको इसलिये मायामय कहा कि देशकालका जो हमारा सामान्यरूपसे ज्ञातसम्बन्ध है उसके हिसाबमें ये नहीं बैठते, और कार्यकारणसम्बन्धकी मर्यादा भी उल्लंघन करते हैं।

इन बातोंसे यह स्पष्ट है कि शाङ्करमतके प्रतिवादी लोग जो यह कहा करते हैं कि श्रीशङ्कराचार्यके मतमें बाह्य जगत् मिथ्या है, उनका यह कहना ही मिथ्या है। मिथ्या पदार्थ तो वे हैं जो हमारी स्वप्नसृष्टिके समान हैं।

शाङ्करभाष्यमें और दो वचन ऐसे हैं जहाँ ऐसी तुलना हुई है। उन्हींकी ओर अब पाठकोंका ध्यान दिलाते हैं।

पहला वचन बृहदारण्यक उपनिषत्के भाष्यमें आता है जहाँ श्रीशङ्कराचार्यने इन्द्रियगोचर पदार्थोंकी तुलना स्वप्नगत पदार्थोंसे की है। पर यहाँ पाठकोंको यह ध्यानमें रखना होगा कि केवल तुलना करनेसे या उपमा देनेसे भौतिक पदार्थ मिथ्या नहीं हो जाते जैसा कि कुछ लोग समझ बैठे हैं। इस तुलनाका वास्तविक अभिप्राय क्या है यह श्रीशङ्कराचार्यने स्वयं बता दिया है। शाङ्करसम्प्रदायकी किसी बातके सम्बन्धमें कोई मत निर्धारित करते हुए यह ध्यानमें रखना चाहिये कि आचार्य स्वयं उसे किस रूपमें पेश कर रहे हैं या उसकी क्या व्याख्या दे रहे हैं। अपना ही अभिप्राय श्रीशङ्कराचार्यके लेखमें ढूँढ़ निकालना जो यथार्थमें उस लेखमें है ही नहीं, अथवा उनके वचनोंको पूर्वग्रहसे दूषित होकर समझनेका यत्न करना बहुत ही भयावह है। उनके सिद्धान्तके सम्बन्धमें जो अनेक विपरीत धारणाएँ लोगोंकी हुईं, उसका यही कारण है।

पाठक हमारे साथ अब बृहदारण्यक उपनिषत्की 'अजातशत्रु और बालाकी' की गाथामें आये हुए एक वचन-को देखें। इसमें शङ्कराचार्यने इस जगत्के पदार्थोंको स्वप्न-सृष्टिकी उपमा दी है।

स्वप्नमें, मान लीजिये कि कोई राजा बना, उसका राजदरबार लगा, उसमें सुख-दुःख देनेवाले अनेक स्थित्यन्तर हुए। स्वप्नमें यह जो अनुभव हुआ इसमें जीव अपने उस पृथक् स्वरूपको सर्वथा भूला हुआ है जिसमें सुखदुःखकी वेदनाओंका कोई असर नहीं होता। यही हालत अपनी जाग्रत अवस्थामें भी होती है। बस, इसी अंशमें जाग्रत और स्वप्नकी अवस्थाओंका साम्य है। दोनों ही अवस्थाओंमें हम अपना स्थित्यन्तर अनुभव करते हैं और इस बातको भूल जाते हैं कि आत्मा सर्वथा स्थित्यन्तरों या उनकी अनुकूल-प्रतिकूल वेदनाओंको नहीं प्राप्त होता, आत्माका वास्तविक स्वरूप इन अवस्थाओंके परे है, वह इनसे सम्पृक्त या विचलित नहीं होता। हमें इन स्थित्यन्तरोंके साथ अपने आत्माके तादात्म्यकी जो अनुभूति होती है वह मिथ्या है और वह भ्रमजन्य है। श्रीमत् शङ्कराचार्य इस प्रकार, ऐसे तादात्म्यको मिथ्या कहते हैं। जाग्रत या स्वप्नकी अवस्थाओं-में जो एकके बाद एक परिवर्तन होते रहते हैं उन्हें मिथ्या नहीं कहते; मिथ्या कहते हैं इन स्थित्यन्तरोंसे आत्माके अभिभूत होनेको।

इस भाष्यमें आचार्यने दो ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया है जिनसे हम समझते हैं कि, यह भ्रम उत्पन्न हुआ है कि जाग्रत और स्वप्न दोनों अवस्थाएँ, श्रीशङ्कराचार्यके मतमें एक-सी ही अवास्तव और मिथ्या हैं। उनका वाक्य इस प्रकार है—

तस्मात्स्वप्ने मृषाध्यारोपिता एव, आत्मभूतत्वेन लोका अविद्यमाना एव सन्तः। तथा जागरितेऽपि—इति प्रत्येतव्यम्।

इस वाक्यमें 'मृषा' और 'अविद्यमाना' ये दो शब्द दुर्भाग्यवश अधीर विचारकोंके भ्रमके कारण हुए हैं। ये लोग यह समझकर भागे कि शङ्कर तो इन्द्रियगोचर पदार्थोंको स्वप्नवत् मिथ्या और अविद्यमान कह रहे हैं। पर हमारे विचारमें, इस वाक्यको इस तरहसे समझना, समझनेमें बड़ी भारी गलती करना है। आचार्यका अभिप्राय क्या है यह तब अच्छी तरहसे स्पष्ट हो जायगा जब हम 'अध्यारोपिता' शब्दपर ध्यान देंगे और 'मृषा' और 'अविद्यमाना' के साथ

उसे जोड़कर 'आत्मभूतत्वेन' के साथ पढ़ेंगे । अभिप्राय इस प्रकार है—'हमलोग अपनी जाग्रत और स्वप्न दोनों ही अवस्थाओंमें विषयोंका अनुभव करते हैं । इन विषयोंको हम अपने अन्तरात्मापर इस तरहसे 'अध्यारोपित' करते हैं कि आत्मा सर्वथा तदाकार हो जाता है—यहाँतक कि आत्माकी पृथक् और विविक्तसत्ता ही बिल्कुल भूल जाती है और एकमात्र सत्तारूपसे विषय ही रह जाते हैं । वस्तुतः तो आत्मा इन विषयोंसे असंस्पृष्ट और उदासीन ही रहता है । भ्रमवशात् जब इनका आत्मापर अध्यारोप किया जाता है तब ये विषय आत्माके आत्मभूत-जैसे प्रतीत होते हैं अर्थात् हम लोग इन विषयोंको आत्माका ही स्वरूप जानते हैं । अन्तःस्थित आत्माका जो सर्वथा भिन्न स्वरूप है उसे हमलोग भूले हुए हैं और इन विषयोंसे इतना तादात्म्य हो गया है कि विषयजन्य मनोवृत्तियों और कर्मोंको ही हमलोग आत्माका वास्तविक स्वभाव मान बैठे हैं । श्रीमत् शङ्कराचार्य यह कहते हैं कि इनको इस प्रकारसे देखा जाता है तब वे 'अविद्यमान' हैं—हैं ही नहीं । आत्माका स्वरूपगत स्व-भाव अपने परात्पर दिव्य स्वरूपमें ही स्थित रहना है, ये अध्यारोपित अवस्थाएँ उसका स्वभाव नहीं बन सकतीं ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमारा यह स्वप्नगत सुख-दुःख, राजदरबार, राजसी ठाट, राजसिंहासन इत्यादि आत्माका स्वस्वरूपगत स्वभाव नहीं है, क्योंकि आत्मा सदा ही अस्पृष्ट रहता है (केनचित् अस्पृष्टस्वभावमपि सत्) । आत्मापर जब ये विषयानुभव अध्यारोपित होते हैं तब वे आत्माके स्वभावसे प्रतीत होते हैं । श्रीमत् शङ्कराचार्य कहते हैं कि यह भ्रम है । ये विषयानुभव चाहे वे स्वप्नकी अवस्थाके हों या जाग्रदवस्थाके, हैं अध्यारोपित ही और आत्माके स्वस्वरूपगत स्वभावके विचारसे इन्हें 'अविद्यमाना एव' समझना चाहिये । श्रीशङ्कराचार्यने अपने कथनके समर्थनमें तीन युक्तियाँ यहाँ दी हैं जिनकी ओर अब पाठक ध्यान दें—

हमारे स्वप्नगत और जागरित विषयानुभव आत्माका स्वरूप नहीं हो सकते । कारण—

(१) व्यभिचारदर्शनात्—स्वप्नमें हम जो अवस्थाएँ अनुभव करते हैं वे आत्माका वास्तविक स्वरूप कैसे हो सकती हैं जब कि हम यह देखते हैं कि ये अवस्थाएँ बदलती रहती हैं ? स्वप्नमें इनका जो रूप होता है, जागते ही वह नष्ट हो जाता है । स्वप्नकी अवस्थामें भी बराबर होता ही रहता है । किसी वस्तुका स्वरू को कहेंगे जो सदा वैसा ही बना रहे । 'स्वभा भावः स्वतः प्रच्युतिर्न कथञ्चित् भविष्यति' । (कारिकाभाष्य ३ । २१)

(२) ये सुखदुःख और विषयानुभव होते हैं वे जीवको अपने ही प्रतीत होते हैं । और विषयोंका भोक्ता, दृक् और दृश्य दोनों सकते । दृश्यसे द्रष्टा सदा पृथक् ही रहेगा । दृश्यादि विषय द्रष्टा जो आत्मा है उसके स्वरू सकते ।

(३) वस्त्वन्तरसम्बन्धजनितत्वाच्च—ये विषयानुभव जो आत्माको होते हैं सो आत्म विकारजनक या क्षोभजनक अनात्म विषयके आनेके कारण होते हैं । विकार या क्षोभके कारण विषयके हटते ही अथवा उसके स्वरूप या स्थिति ही वे अनुभव भी नहीं रह जाते । जो चीज कि पदार्थके संसर्गसे उत्पन्न होती है उसका स्वरूप ए रह सकता । इसलिये विषयसंसर्गसे उठनेवाली ये आत्माका स्वरूप नहीं हो सकतीं । जागरित अव हमारे अन्तःकरणमें जो वृत्तियाँ उठती हैं और जि अनुभव करता है वे भी आत्माका स्वरूप नहीं हो आत्माका जो कुछ स्वरूप होगा वह तो वही होगा एक-सा रहेगा, बदलती हुई अवस्थाओंसे जो बदलेगा ।

अब पाठकोंके ध्यानमें यह बात आ गयी हो श्रीमत् शङ्कराचार्यने स्वप्नगत पदार्थों और बाह्य पदार्थोंमें जो समानता दिखायी है उसका हेतु यह नहीं है कि बाह्य जगत् है ही नहीं । प्रत्युत बाह्य वि संसर्गसे, अन्तःकरणमें जो वृत्तियाँ उठती हैं उन्हें हम अज्ञानसे आत्मापर अध्यारोपित करते हैं और यह सम कि यही आत्माका स्वरूप है । पर यथार्थमें आ स्वरूप वही है जो कभी नष्ट नहीं होता, जो बदलनेवाली अवस्थाओंको नहीं प्राप्त होता बल्कि ए रहता है और किसी भी अवस्थासे उसमें कोई विकार उत्पन्न होता । इस वस्तुस्थितिको भूलकर हम सामान्य अविद्यावश अपनी सब अवस्थाओं, वृत्तियों और प्रवृ के संघातको ही आत्माका स्वरूप मान बैठते हैं ।

माननेको श्रीमत् शङ्कराचार्य मिथ्या कहते हैं। यह अध्यारोप-का परिणाम है जिसे श्रीमत् शङ्कराचार्य 'अध्यास'* कहते हैं। केवल इसी एक बातमें अवश्य ही हमारी स्वप्नगत और जागरित दोनों ही अवस्थाओंमें समानता है—क्योंकि दोनों ही अध्यारोपके परिणाम हैं।

शांकरभाष्यमें एक और वाक्य ऐसा है जिसमें श्रीमत् शंकराचार्यने स्वप्नसृष्टिके साथ इस जगत्के पदार्थोंकी समानता दिखायी है। यह वाक्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसको लेकर भी कुछ लोगोंने शंकराचार्यपर जगत्को मिथ्या कहनेका अभियोग लगाया है। ये लोग यों कहते हैं कि हमारे स्वप्नगत अनुभव जैसे मिथ्या हैं, वैसे ही हमारे जागरित अवस्थाके इन्द्रियगोचर बाह्य जगत्के अनुभव भी मिथ्या ही होंगे, पर पाठक यदि थोड़ी दूर हमारे साथ चलें तो हम यह दिखा देंगे कि यहाँ भी श्रीमत् शंकराचार्यकी बातको इन लोगोंने ठीक तरहसे नहीं समझा है। यह बात माण्डूक्य उपनिषत्की गौडपादकारिकाके भाष्यमें आयी है।

इस सम्बन्धमें जो निरूपण ऊपर हो चुका है वही हम देखते हैं कि कारिकाओंके भाष्यमें भी आचार्यपादने किया है। पर दुर्भाग्यवश जिस सावधानता और ध्यानके साथ आचार्य-वचनोंका विचार करना चाहिये वह सावधानता और वैसा ध्यान न होनेसे भाष्यका अभिप्राय इन लोगोंकी समझमें नहीं आया।

इस भाष्यमें भी इन्द्रियगोचर बाह्य पदार्थों और स्वप्नगत मनःकल्पित पदार्थोंकी परस्पर तुलना देखकर इन लोगोंने यह सिद्धान्त निकाला है कि यतः स्वप्नगत पदार्थ मिथ्या हैं इसलिये इन बाह्य पदार्थोंको भी मिथ्या ही समझना चाहिये। मूल मन्त्रों और उनके भाष्यके शब्दोंका उत्तान अर्थ लेनेसे तो ऐसा ही प्रतीत होता है। पर हमें जरा और गहराईमें जाना होगा और उस विचार-पद्धतिका अनुसन्धान करना होगा जिससे बाह्य पदार्थोंके स्वरूपकी स्वप्नगत पदार्थोंके स्वरूपसे समानता दिखायी गयी है। कारिका २। ८ में यह कहा गया है—

स्वप्ने दृष्टं…'यन्मन्यसे न तत्त्वतः सिद्धं किं तर्हि ? स्थानिनः स्वप्नस्थानवतो धर्मः। …न स्वतः सिद्धो द्रष्टुः स्वरूपवत्।

उपस्थित वादका मूल इसीमें है जिसका अच्छी तरहसे विचार करना होगा, जिसमें इस मिथ्यात्वका वास्तविक अभिप्राय क्या है यह समझमें आ जाय। हमारे स्वप्नगत अनुभव जब 'स्थानवतो धर्मः' अर्थात् आत्माके धर्म समझे जाते हैं तब वे मिथ्या हैं। वास्तवमें ये अनुभव आत्माके स्वरूप नहीं हो सकते (न स्वरूपवत्); हम भ्रमसे इन्हें स्वप्नस्थ आत्माके (स्वप्नस्थानवतः आत्मनः) धर्म मान लेते हैं। अर्थात् स्वप्न देखते हुए हम आत्मधर्मको भूल जाते हैं और आत्माको स्वप्नगत विषयानुभवाकार बना लेते हैं और इससे वे आत्मधर्म हो जाते हैं। ऐसे आत्मधर्मको ही मिथ्या माननेको कहा गया है—

स्वचित्तविकल्पान् अयं स्थानी स्वप्नदृक् स्वप्नस्थानं गत्वा प्रेक्षते।

स्वप्नगत होनेसे ये विविध विकल्प चित्तमें उठते हैं और जीव इन पदार्थोंको देखता-भोगता हुआ इनसे होनेवाले विकारोंको अपना स्वरूप या स्वधर्म मान लेता है। यह है श्रीमच्छंकर भगवत्पादका आन्तरिक अभिप्राय। विषयानुभवोंको, नानाविध वृत्तियों और विकल्पोंको वे मिथ्या नहीं कहते, पर उन्हें आत्माका स्वरूप माननेको मिथ्या कहते हैं। आचार्यपादके कथनका यही अभिप्राय मालूम होता है। इसके समर्थनमें उन्होंने दृष्टान्त भी दिया है जिससे बात और भी स्पष्ट हो जाती है—

यथा स्थानिधर्माणां रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादीनामसत्त्वं तथा स्वप्नदृश्यानामपि स्थानिधर्मत्वमेवेति असत्त्वम्।

'स्थानिधर्मत्वमेवेति' पर उन्होंने यहाँ विशेष ध्यान दिलाया है। अर्थात् स्वप्नगत पदार्थ 'स्थानिधर्म' यानी आत्माका स्वरूप या आत्माका धर्म जो माने जाते हैं सो मिथ्या है। मन्दान्धकारमें कोई रस्सी साँप समझी जाय तो यह जैसे मिथ्या है वैसे ही स्वप्नगत पदार्थोंको आत्मस्वरूप या आत्मधर्म समझना मिथ्या है। ये स्वप्नगत पदार्थानुभव अन्तःस्थित आत्मापर प्रकट होते हैं, जैसे भ्रमसे रस्सीपर साँप प्रकट होता है—'आत्मन्येव…भेदाकारं कल्पयन्ति रज्ज्वादाविव सर्पादीन्' (कारिका १२), और ये तभी-तक रहते हैं जबतक हमारा स्वप्न रहता है—'कल्पनाकाल एव उपलभ्यन्ते' (कारिका १४)। पर इन अनुभवोंके साथ जीवको स्वस्वरूपमें विकार होनेकी जो प्रतीति होती है वही मिथ्या है।

---

* रज्ज्वां सर्पादिवदात्मनि 'अहं सुखी, अहं दुःखी जातो मृतो…' इत्येवमादयः सर्व अध्यारोप्यन्ते आत्मैतेष्वनुगतः सर्वत्राव्यभिचारात्। यथा सर्पधारादिभेदेषु रज्जुः।

तथैव—यथा रज्जुर्मन्दान्धकारे किं सर्प उदकधारा दण्ड इति वानेकधा विकल्पिता भवति पूर्वं स्वरूपानिश्चयनिमित्तम्…

(माण्डूक्यकारिकाभाष्य २। ३२, १७)

अश्विनीकुमारोंको उपदेश

अश्विनीकुमार देवलोकके चिकित्सक हैं। इन्होंने दैव-अथर्वण ऋषिके शिष्य दध्यङ् अथर्वण ऋषिसे वेदाध्ययन किया था। दध्यङ् ऋषि ब्रह्मज्ञानी थे; परन्तु उन्होंने वैराग्यादि साधनोंके अभावमें अश्विनीकुमारोंको अनधिकारी समझकर उन्हें ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं किया था। विद्याके अभिमानमें एक समय अश्विनीकुमारोंने इन्द्रका अपमान किया, तब इन्द्रने इन्हें यज्ञभागसे बहिष्कृत कर दिया। तबसे इनको किसी भी यज्ञमें भाग मिलना बंद हो गया। इन्होंने नाराज़ होकर गुरु दध्यङ् ऋषिसे इन्द्रसे लड़कर उसे जीतने अथवा ओषधि आदिके द्वारा इन्द्रका विनाश करनेकी आज्ञा चाही। दध्यङ् ऋषि महान् पुरुष थे, उन्होंने काम-क्रोधादिकी निन्दा करते हुए अश्विनीकुमारोंको अन्यान्य उपायोंसे सफलता प्राप्त करनेकी आज्ञा दी और यह कहा कि तुमलोग यदि हृदयके अभिमान, काम-क्रोधादि दोषोंसे रहित और वैराग्ययुक्त होकर मुझसे पूछोगे तो मैं तुम्हें अधिकारी पाकर दुर्लभ ब्रह्मविद्याका उपदेश करूँगा। पश्चात् गुरुकी आज्ञासे अश्विनीकुमारोंने च्यवन ऋषिके नेत्र अच्छे कर दिये और च्यवनजीने अपने तपोबलसे उन्हें यज्ञमें अधिकार दिलवा दिया। इस प्रकार बिना ही लड़ाईके अश्विनीकुमारोंका मनोरथ सिद्ध हो गया।

एक समय इन्हीं दध्यङ् ऋषिके आश्रममें इन्द्र आया। अतिथिवत्सल ऋषिने इन्द्रसे कहा कि 'आप मेरे अतिथि हैं, जो कुछ कहिये सो मैं करूँ।' इन्द्रने कहा 'मुझे ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये।' दध्यङ् ऋषि दुविधामें पड़ गये। वचन देकर नहीं करते हैं तो वाणी असत्य होती है, और उपदेशके योग्य अधिकारी इन्द्र है नहीं। आखिर उन्होंने वचनको सत्य रखनेके लिये उपदेश देनेका निश्चय किया, और भलीभाँति ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। उपदेश करते समय ऋषिने प्रसंगवश भोगोंकी निन्दा की, और भोगदृष्टिसे इन्द्रको और एक कुत्तेको एक-सा सिद्ध किया। इन्द्र ब्रह्मविद्याका अधिकारी तो था ही नहीं, स्वर्गादि भोगोंकी निन्दा सुनकर उसे क्रोध आ गया, और उसने दध्यङ् ऋषिपर कई तरहसे सन्देह करके निन्दा, शाप और हत्याके डरसे उन्हें मारनेकी इच्छा तो छोड़ दी, परन्तु उनसे यह कहा कि 'यदि आप इस ब्रह्मविद्याका उपदेश किसी दूसरेको करेंगे तो मैं उसी क्षण वज्रसे आपका सिर उतार लूँगा।'

क्षमाशील ऋषिने शान्त हृदयसे इन्द्रकी बात सुनकर बिना ही किसी क्षोभ या क्रोधसे कहा, 'अच्छी बात है, हम किसीको उपदेश करें तब सिर उतार लेना।' इस इन्द्रपर प्रभाव पड़ा और वह शान्त होकर स्वर्गको लौट

कुछ दिनों बाद अश्विनीकुमारोंने वैराग्यादि सम्पन्न होकर ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये गुरुके उपस्थित होकर अपनी इच्छा जनायी और ब्रह्म उपदेश करनेके लिये प्रार्थना की। इसपर सत्य दध्यङ्ने सोचा कि 'इनको उपदेश न देनेसे मेरा असत्य होगा और उपदेश करनेपर इन्द्र मेरा सिर लेगा। वचन असत्य होनेकी अपेक्षा मर जाना उत्त प्रतिज्ञा-भङ्ग और असत्यका जो महान् दोष होता है सामने मृत्यु क्या चीज़ है। शरीरका नाश तो ए होगा ही।' यह विचारकर उन्होंने उपदेश देनेका कर लिया और अश्विनीकुमारोंको इन्द्रके साथ जो हुई थी वह कहकर सुना दी। अश्विनीकुमारोंने पह कहा कि 'भगवन्! आप हमलोगोंको अब कैसे दंगे। क्या आपको इन्द्रके वज्रसे मरनेका डर नहीं परन्तु जब दध्यङ् ऋषिने कर्मवश शरीरधारीके निश्चयता, परमार्थरूपसे निःसारता और सत्यकी श्रेष्ठ कर दी तब अश्विनीकुमारोंने कहा, 'भगवन्! आप भी भय न करें। हम एक कौशल करते हैं, जि आपकी मृत्यु होगी और न हमें ब्रह्मविद्यासे वञ्चित पड़ेगा। हम पृथक्-पृथक् हुए अङ्गोंको जोड़कर करनेकी विद्या जानते हैं। पहले हम इस घोड़ेका उतारते हैं, फिर आपका सिर उतारकर इस घोड़ेके रख देते हैं और घोड़ेका सिर आपके धड़से जोड़ देते आप घोड़ेके सिरसे हमें ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये। जब इन्द्र आकर आपका घोड़ेवाला सिर काट देगा तब पुनः उसका सिर उतारकर आपके धड़से जोड़ देंगे इन्द्रके द्वारा काटा हुआ घोड़ेका सिर घोड़ेके धड़से देंगे। न घोड़ा ही मरेगा और न आपको ही कुछ हो दध्यङ् ऋषिने इस प्रस्तावको स्वीकार करके उन्हें भली ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। जब इन्द्रको इस बातका लगा तो इन्द्रने आकर वज्रसे दध्यङ् ऋषिके धड़से हुआ घोड़ेका सिर काट डाला। पश्चात् अश्विनीकु सञ्जीवनी विद्याके प्रभावसे घोड़ेके धड़से जुड़ा ऋषिका सिर उतारकर उनके धड़से जोड़ दिया घोड़ेके धड़पर घोड़ेका सिर रखकर उसे जोड़ दि यों दोनों जीवित हो गये।

श्रीमच्छंकराचार्यका अनुभव-विश्लेषण

(लेखक—श्री एस० बी० दाण्डेकर एम० ए०)

अध्यात्मविद्याका अनेक प्रकारसे लक्षण किया गया है। सामान्य मनुष्य अध्यात्मविद्या उस विद्याको समझते हैं जिसमें ईश्वर, मनुष्य और प्रकृतिका विचार होता है। ग्रीसदेशीय तत्त्ववेत्ता अरस्तूने इसे आत्मासे आत्मातककी विद्या कहा है। एक आधुनिक इन्द्रियैकसाध्य ज्ञानवादीने इसे सब शास्त्रोंका सार तत्त्व कहा है। टेलर कहते हैं कि 'यह वह विद्या है जो असत्से सत्को पृथक् करनेका यत्न करती है।' पर ये सब लक्षण दोषरहित नहीं हैं, इनमेंसे अधिकांश लक्षणोंसे इस विद्याके प्रतिपाद्य विषयके यथार्थ स्वरूपका पता नहीं लगता। सबसे अच्छा लक्षण जे० एस० मैकेंजीके 'आउटलाइन्स आफ मेटाफिजिक्स' में यों दिया है—'अध्यात्मविद्या उस विद्याको कह सकते हैं जिसमें अनुभवका, सर्वथा या यह कहिये कि सारतत्त्वरूपसे, विचार होता है।' सर राधाकृष्णन् ठीक ही कहते हैं कि 'अध्यात्मविद्या मुख्यतः अनुभूतिगत तत्त्वका विचार है।' परम सत्यके अनुसन्धानका आरम्भ 'अनुभूति' से ही होता है। अध्यात्मविद्याकी व्याख्यामें इस 'अनुभूति' या 'अनुभव' शब्दका कितना महत्त्व है यह दिखानेके लिये हम जे० एस० मैकेंजीके 'आउटलाइन्स आफ मेटाफिजिक्स' मेंसे एक बहुत ही उद्बोधक परिच्छेदांशका यहाँ अनुवाद करते हैं—'अन्तिम बात यह कि 'अनुभव' शब्दका प्रयोग उस दृष्टिको सूचित करता है जिस दृष्टिसे हमें इस विषयको समझना होगा। यदि हम केवल जगत्को समझनेका प्रयत्न करने चलें तो यह तो बिना कम्पास या पतवारके अपनी नौकाको अपार सागरमें छोड़ देना है। 'अनुभव' शब्द यह सूचित करता है कि हमें इस यात्राका आरम्भ कहाँसे करना है—अर्थात् किसी पुरुषको प्राप्त बोध या अनुभवसे ही इस यात्राका आरम्भ है—और साथ ही इस यात्रामें मार्गदर्शक तत्त्व भी यही है। अन्य विषयोंकी अपेक्षा इस विषयमें, प्राचीन ग्रीसके तत्त्वज्ञानसे आधुनिक तत्त्वज्ञानको अधिक सुभीता है। अन्य बातोंमें आधुनिक तत्त्ववेत्ताओंका परस्पर चाहे कितना ही मतभेद हो, पर इस विषयमें तो सबकी एक ही राय है कि हमें यहाँ जो कुछ समझना है वह वही है जो हमारे चेतन अनुभवके अंदर है। इस विषयमें औरोंकी अपेक्षा डेसकार्टीजके ही हमलोग अधिक ऋणी हैं; पर वास्तवमें यही वह बात है जिसपर ग्रीसका तत्त्वज्ञान स्वयं उपनीत हुआ।' अब यहाँ हम एक सामान्य नियम यह बना सकते हैं कि अध्यात्मविद्यामें जो कोई नवीन प्रयत्न किसी अध्यात्मवाद या सिद्धान्तके रूपसे होता है वह स्वानुभूत विषयका ही प्रतिपादन होता है।

अनुभवके इस प्रतिपादनका महत्त्व पाश्चात्य देशोंमें डेसकार्टीज, लाकी और कांटके समझानेके बाद ही माना गया। पर भारतवर्षके तत्त्वज्ञानियोंको यह बात डेसकार्टीजका जन्म होनेके बहुत पहलेसे ही मालूम थी। श्रीमत् शंकराचार्य अनुभवका महत्त्व कितना अधिक मानते थे, यह बात उनके महान् ग्रन्थ शारीरकभाष्यमें यह देखनेसे मालूम होगी कि किस तरह उन्होंने 'प्रकृतिविषयक अनुभव' के साथ ग्रन्थका उपोद्घात किया है।

श्रीमत् शंकराचार्य पुराणमताभिमानी तत्त्ववेत्ता थे, परम सद्वस्तुको जाननेमें बुद्धिकी क्षमताके पक्षका उन्होंने बारंबार बड़ा तीव्र खण्डन किया है, तथापि ब्रह्मकी सत्ताके विषयमें वे शब्दको ही सर्वत्र प्रमाण नहीं मान बैठे हैं। उनके तत्त्वनिरूपणमें हम स्पष्ट ही देखते हैं कि वे निरपेक्ष अद्वितीय ध्येयकी ओर बुद्धिबोधित मार्गसे ही जा रहे हैं। विभिन्न तत्त्ववादोंके परस्पर विभेदोंका मूल विभिन्न बुद्धिबोधित वाद अर्थात् स्वानुभवके भिन्न-भिन्न विश्लेषण-प्रकार ही हैं। उदाहरणार्थ, ब्रह्मसत्ताके सम्बन्धमें शंकर और रामानुजके परस्पर विभिन्न विचार हैं, उनका मूल उनके अनुभव-विश्लेषणका विभिन्न परिणाम है। ब्रह्मसत्ताके स्वरूपके विषयमें जो कुछ भी निश्चय होता है उससे स्वानुभव-विश्लेषणका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इस निबन्धमें श्रीमत् शंकराचार्यका अनुभव-विश्लेषण ही पाठकोंके सामने रखनेका विनम्र प्रयास किया जाता है।

'अनुभव' शब्द एक प्रकारका सम्बन्ध सूचित करता है। और इस सम्बन्धसे सम्बद्ध दो पदार्थ हैं—अनुभवकर्ता और अनुभूत विषय। पाश्चात्य तत्त्वज्ञानमें जो दो नवीन सम्प्रदाय हैं अर्थात् ध्येयवादी और वस्तुस्थितिवादी, वे अनुभवकर्ता और अनुभूत विषयके इस सम्बन्धके विषयमें विभिन्न मतोंके कारण ही विभिन्न बने हुए हैं। आजकल

ध्येयवाद* तत्त्वज्ञानके उस सिद्धान्तको कहते हैं जिसमें ज्ञान या अनुभव वह क्रम माना जाता है जिसमें अनुभवकर्ता और अनुभव-विषयका तानेबानेके समान अन्योन्याश्रय है। और वस्तुस्थितिवाद उस सिद्धान्तको† कहते हैं जिसमें अनुभव वह चीज है जिसे पाश्चात्य तत्त्वज्ञानकी परिभाषामें 'एकदेशीय आश्रयभूत सम्बन्ध' कहते हैं। कोई भी अनुभव हो और उसका अमुक स्वरूप हो, इसके लिये निश्चित स्वरूपके वैसे वास्तविक पदार्थोंका होना आवश्यक है; पर वास्तविक पदार्थोंके होनेके लिये यह आवश्यक नहीं कि उनका अनुभव हो ही। श्रीमत् शंकराचार्य प्रकृतिगत अनुभवके विषयमें वस्तुस्थितिवादी हैं।

श्रीशंकराचार्यका यह वस्तुस्थितिवाद निम्नलिखित बातोंसे सुस्पष्ट होता है—

उनके सुप्रसिद्ध ब्रह्मसूत्रभाष्यका आरम्भ इस प्रकार हुआ है—

युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिरित्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः।

इस अवतरणको अच्छी तरह देखनेसे यह देख पड़ता है कि आचार्य यहाँ 'युष्मत्' पदसे आरम्भ करते हैं। यदि श्रीमच्छंकराचार्य अन्तरादर्शवादी होते तो यह बड़े आश्चर्यकी बात होती। दूसरी बात यह कि यहाँ वे 'विषय' की बात कह रहे हैं और विषयीको 'युष्मत्, अस्मत्' कहकर बहुवचनका प्रयोग कर रहे हैं। तीसरी बात यह कि वे विषय और विषयीको तमःप्रकाशवत् परस्परविरुद्ध, परस्परसामञ्जस्यमें अक्षम बता रहे हैं। अन्तिम बात यह कि हमारा जो व्यावहारिक जीवन है सो विषय-विषयीके परस्परविरुद्ध धर्मोंका एक दूसरेपर अध्यास होनेसे ही बनता है।

भारतीय जडवादी चार्वाकका खण्डन

चार्वाक चैतन्यको पृथ्वी, अप्, तेज और वायुके संमिश्रणसे उत्पन्न होनेवाला एक विकारमात्र मानता है। व्यष्टिशः पृथ्वी या अप् या तेज या वायुमें कोई चैतन्य नहीं है पर इनके मिलनेसे यह एक नवीन विकार उत्पन्न होता है, जैसे कुछ द्रव्य जो स्वयं मादक नहीं हैं पर ए मिलनेसे मादक हो जाते हैं। इसी प्रकारसे चैतन्य एक उपाधि या छठी अँगुली-सी है।

शंकर इस तर्कका खण्डन नीचे लिखी बातों हैं जिससे उनका वस्तुस्थितिवादी मत प्रकट होता है—

(१) यदि चैतन्य पञ्चतत्त्वोंका ही एक विका यह पञ्चतत्त्वों और उनके विकारोंको कैसे ग्रहण क कर्ताका कर्म कर्तासे भिन्न किसी विषयमें होता है स्वयं कर्मका विषय नहीं होता। अग्निका दाहक कर्म पर ही नहीं होता, कोई सुनिपुण अश्वारोही अ कन्धोंपर नहीं आरोहण करता।

(२) यदि चैतन्य तत्त्वों और उनके विकारों कोई विकार होता तो वह इन विषयोंको अपनेसे भिन्न अनुभवका विषय न बना सकता, जैसे कोई भी रूप वर्णको अपना विषय नहीं बना सकता।

(३) शरीर बदलता है, पर चैतन्य ज्यों रहता है। यदि ऐसा न हो तो यह अपने-आपको कर्ताके रूपसे न पहचान सकता और पूर्वकालकी भी इसको कदापि न होती। इससे यही जाहिर हो कि विषय विषयीसे बाह्य हैं।

विज्ञानवादका खण्डन

बौद्धमतके जो चार सम्प्रदाय हैं उनमेंसे एक वि वादी है। इसका यह मत है कि इन्द्रियार्थग्रहणका आन्तरिक है। इन्द्रियार्थप्रतीतिका मूल इन्द्रियार्थ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ये सब बुद्धिमें ही हैं। इन्द्रियार्थसन्नि का जो क्रम है उससे भिन्न किसी पदार्थकी कोई सत्ता है। इस सम्प्रदायको अन्तरादर्शवादी सम्प्रदाय भी कहते पर इसका यथार्थ नाम 'बौद्धिक आदर्शवाद' ही कारण यह आध्यात्मिक अहंसत्ता या बाह्य विषयके आ ग्रहीताकी सत्ता नहीं मानता। शङ्कराचार्यने इसका प्रकार खण्डन किया है—

बाह्य विषयोंकी असत्ताकी कल्पना सम्भावित नहीं है कारण—

(१) प्रतिक्षण ही हम बाह्य पदार्थ, यह खम्भा, दीवार, यह अमुक इत्यादि रूपसे देख रहे हैं। अपने बो बाहर उनका अस्तित्व ही न मानना वैसा ही है जैसे भूखा मनुष्य सुस्वादु भोजन पाकर तृप्त होनेकी बातको न माने।

---

* 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में ध्येयवादपर एक निबन्ध।

† टेलरकृत 'एलिमेंट्स आफ मेटाफिजिक्स' पृष्ठ ६७।

(२) कोई बौद्ध जब यह कहता है कि बाह्यतः कोई पदार्थ प्राप्त नहीं है तो वह मानो बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व ही स्वीकार करता है। यदि कोई बाह्य पदार्थ ही न होता तो ऐसी भाषाका प्रयोग होना ही असम्भव होता।

(३) इन्द्रियग्राह्य प्रमाणको बिल्कुल ही न मानना नहीं बन सकता।

(४) स्वप्नका दृष्टान्त जाग्रत्पर नहीं घट सकता। कारण, जागतेमें एकको जहाँ जो देख-सुन पड़ता या अनुभव होता है वहाँ सबको वैसा ही देख-सुन पड़ता या अनुभव होता है।

इन बातोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि न्याय और सांख्यदर्शनोंके समान तथा रामानुज और अन्य आचार्यों-के समान शङ्कराचार्य भी व्यावहारिक अनुभवके विषयमें वस्तुस्थितिवादी हैं। श्रीमत् शङ्कराचार्यका न्यायके साथ अथवा पराक्-कालीन आचार्योंके साथ जिस बातमें मत-भेद है वह बात यह है कि श्रीमत् शङ्कराचार्य एक ऐसे ज्ञानकी भी सत्ता मानते हैं जिसमें कोई बाह्याभ्यन्तर-भेद-सम्बन्ध नहीं है। शङ्कराचार्य कहते हैं कि आत्मा ज्ञाता नहीं है, आत्मा स्वयं ज्ञान है। दो स्थानोंमें यह सिद्धान्त स्पष्ट लिखा हुआ मिलता है—

एक तो तैत्तिरीय उपनिषत्के 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस सुप्रसिद्ध वचनपर उनका भाष्य। इसमें 'ज्ञान' शब्दकी शङ्कराचार्य यों व्याख्या करते हैं—

ज्ञानं ज्ञप्तिः अवबोधः। भावसाधनो ज्ञानशब्दः न तु ज्ञानकर्तृ, ब्रह्मविशेषणत्वात् सत्यानन्ताभ्यां सह।

अर्थात् यहाँ जो 'ज्ञान' शब्द है उसमें द्वैतकी कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि द्वैतकी कल्पना करनेसे वह 'अनन्त' नहीं हो सकता। आचार्य कहते हैं—

यत्र न अन्यद् विजानाति स भूमा। अथ यत्र अन्यद् विजानाति तदल्पम्।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि ऐसा क्यों न माना जाय कि आत्मा ही विषयी और वही विषय भी होता है। इसपर श्रीमत् शङ्कराचार्यका यह उत्तर है कि आत्मामें विभाग नहीं है।

दूसरा स्थान है बृहदारण्यक ४। १५ के—

'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति···। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्।'

इस वचनपर उनका भाष्य। जब आत्मा यह सब कुछ है तब वह अन्यको कैसे देख सकता है, कैसे सूँघ सकता है, कैसे चख सकता है, कैसे प्रणाम कर सकता है, कैसे स्पर्श कर सकता है, कैसे जान सकता है? श्रीमत् शङ्कराचार्य उसी परम ज्ञानका सिद्धान्त यहाँ स्थापित करते हैं।

तात्पर्य, इस विषयमें श्रीशङ्कराचार्यका मत संक्षेपमें इस प्रकार लिखा जा सकता है—

श्रीमच्छंकराचार्यके मतसे दो प्रकारके ज्ञान हैं, एक व्यावहारिक जिसमें विषयी और विषयका द्वैत है, और दूसरा परमज्ञान जिसमें विषयो और विषयका भेद नहीं। व्यावहारिक ज्ञानमें गृहीत विषय ग्रहणक्रियासे सर्वथा भिन्न है। कारण, ग्रहणक्रिया अपने आपको ही नहीं ग्रहण करती। श्रीमच्छंकराचार्यका वैशिष्ट्य इस बातमें है कि वे एक ऐसी परमबोधकी अवस्था मानते हैं जिसमें ज्ञाता और ज्ञानका कोई भेद नहीं। वह चितिमात्र अवस्था है।

पराक्कालीन श्रीरामानुज प्रभृति आचार्योंने श्रीमच्छंकरा-चार्यके ज्ञानविषयक इस सिद्धान्तका खण्डन किया है। श्रीरामानुज प्रथम सूत्रके अपने भाष्यमें कहते हैं—

न च निर्विषया संविद् काचिदस्ति, अनुपलब्धेः। विषयप्रकाशनस्वभावतयैवोपलब्धेरेव हि संविदः स्वयं-प्रकाशता समर्पिता। न च स्वापमदमूर्च्छादिषु सर्वविषय-शून्या केवलैव संविद् परिस्फुरतीति वाच्यम्, योगज्ञानु-पलब्धिपराक्रतत्वात्।

नैयायिक भी श्रीमच्छंकराचार्यके 'निर्विकल्प ज्ञान' सिद्धान्तको नहीं मानते।

परन्तु आधुनिक ध्येयवाद श्रीशाङ्कर सिद्धान्तकी ओर ही निश्चितरूपसे झुका हुआ देख पड़ता है। मि० ए० ई० टेलर अपने 'अध्यात्मशास्त्रके मूलतत्त्व (एलिमेण्ट्स आफ मेटा-फिजिक्स)' ग्रन्थमें यह सिद्धान्त स्थापित करते हैं कि अनुभव-का मौलिक लक्षण है अति सामीप्य (immediacy) अर्थात् यह बात कि जिस पदार्थका होना या उसमें जो कुछ होना हमें अनुभूत होता है वह हमारे अन्तःकरणसे पृथक् नहीं होता। इस अति सामीप्यका कारण, मि० टेलर कहते हैं कि पदार्थगत घटकों या तत्त्वोंसे पृथक् रहकर उनका विश्लेषण न कर सकना ही हो सकता है जैसा कि किसी भी

केवल अनवरत संवेदनमें हुआ करता है। पर इसका यह भी कारण हो सकता है कि प्रथमतः सारतत्त्वानुसन्धान और विश्लेषणकी पद्धतिसे प्राप्त ज्ञान पीछे और ऊपरकी कक्षामें पहुँचकर प्रत्यक्षानुभूत पदार्थके अर्थके साथ एकाकार हो जाता हो। अवश्य ही हम यह नहीं कह सकते कि मि० टेलरका यह उच्च कक्षागत अतिसामीप्यजन्य तदाकार आन्तर अनुभव वही चीज है जिसे श्रीशङ्कराचार्य परम ज्ञान कहते हैं। मि० टेलरका विचार यहाँ उपस्थित हेतु केवल यही दिखाना है कि आधुनिक निरपेक्ष किस प्रकार ज्ञानकी दो कक्षाएँ माननेकी ओर और किस प्रकार उनकी उच्च कक्षाका ज्ञान श्रीश के परमज्ञानके समीप पहुँचता है। हमारे विचारमें विषय ऐसा है कि इसका अन्तिम निर्णय स्वानुभव ही हो सकता है।

अवस्थात्रय अथवा वेदान्तकी अप्रतिम प्रक्रिया

(लेखक—श्री य० सुब्रह्मण्य शर्मा)

वेदान्तके सभी सम्प्रदाय इस विषयमें एकमत हैं कि वेदान्तकी जो पद्धति मुख्य-मुख्य उपनिषदोंमें वर्णित है और जिसका विस्तार बादरायणाचार्यने अपने सुप्रसिद्ध सूत्रोंमें किया है, उसमें अवस्थात्रय अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिके विवेकका बड़ा महत्त्व है। इस विवेकके साध्यके विषयमें अवश्य ही बड़ा मतभेद है। सभी आचार्योंके प्रति हमारा पूर्ण आदर है, क्योंकि सबने ही असंख्य जीवोंके उद्धारका मार्ग दिखाया है, पर यहाँ हम यह दिखाना चाहते हैं कि तार्किकशिरोमणि श्रीमच्छंकराचार्यके बुद्धिकौशलने तो यहाँ जादूका-सा ही काम किया है; कारण, जहाँ अन्य सब भाष्यकारोंने केवल मनुष्यकी सहज दुर्बलता और विवशता देखी और इसलिये सदाके लिये मनुष्यको शब्दब्रह्मका ऐसा अंकित माना कि उसीकी दयासे ही उसे मृत्युके पश्चात् मोक्ष मिल सकता है, वहाँ इस वैदिक अद्वैतवादके प्रवर्तकने ही वह अति प्रशस्त मार्ग देखा जिससे मनुष्यके आत्माकी एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्मके साथ एकात्मता सप्रमाण सिद्ध की जा सकती है।

श्रीमच्छंकराचार्यके मतसे वेदान्तमें अवस्थात्रयका ऐसा महत्त्व है जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह बात पाठकोंको जँचानेके लिये यहाँ जो बातें कही जायँगी उनके लिये पद-पदपर आचार्यके वचन उद्धृत किये जायँ यह तो यहाँ न सम्भव है न आवश्यक ही। उदाहरणके तौरपर यहाँ उनके माण्डूक्योपनिषत्पर गौडपादकारिकासह भाष्यमेंसे दो वचन उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा। माण्डूक्योपनिषत् दशोपनिषदोंमें सबसे छोटा उपनिषद् है और इसमें केवल अवस्थात्रयका ही वर्णन है। आचार्य अपने भाष्यग्रन्थका जिस बातको कहकर आरम्भ उसके मर्मको विचक्षण पाठक ग्रहण किये बिना नहीं

वेदान्तार्थसारसंग्रहभूतमिदं प्रकरणचतुष्टयम्।

'सम्पूर्ण वेदान्तके अर्थका यह सारसंग्रह है।' माण्डूक्यपर गौडपादाचार्यकी जो कारिकाएँ हैं प्रतिपादित अवस्थात्रयविचारको सामने रखते हु मच्छंकराचार्य कहते हैं।

एवमन्योन्यविरुद्धत्वात्संसारकारणानि रा दोषास्पदानि प्रावादुकानां दर्शनानि। अतो मिथ्याद तानीति तद्युक्तिभिरेव दर्शयित्वा चतुष्कोटिवर्जि द्रागादिदोषानास्पदं स्वभावशान्तमद्वैतदर्शनमेव स दर्शनमित्युपसंहृतम्। अथेदानीं स्वप्रक्रियाप्रद आरम्भः।

भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके मत एक दूसरेके विरु और संसारके कारण हैं। कारण, रागद्वेष दोषके पा इसलिये वे सब मिथ्या हैं। उन्हींकी युक्तियोंसे यह दिखा चुकनेपर यह उपसंहार किया गया है कि अ सिद्धान्त पूर्वकथित चतुर्विध दोषोंसे तथा रागद्वेषसे होनेके कारण स्वभावसे शान्तिका कारण है और इ यही एकमात्र सही सिद्धान्त है। और अब इस सिद्धा प्रक्रिया दिखानेके लिये यह प्रकरण आरम्भ होता (४। ८७ से ९० तक)।

इस प्रक्रियाकी उन विशेषताओंको देख लेना अ अच्छा होगा जिनके कारण कोई दूसरी प्रक्रिया इ तो श्रेष्ठ जँच सकती है न इसे नीचा ही दिखा सकती पहली विशेषता यह है कि यही एकमात्र प्रक्रिया है

जीवनका सब अंगोंसहित विचार होता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये ही तो जीवनकी सारी अवस्थाएँ हैं और जैसा कि आचार्य कहते हैं, इन तीनके परे जाननेकी और कोई भी बात नहीं है, सब मतोंकी कल्पनाओंका समावेश इन तीन अवस्थाओंमें हो जाता है। ('एतद्व्यतिरेकेण ज्ञेयानुपपत्तेः; सर्वप्रावादुककल्पितवस्तुनोऽत्रैवान्तर्भावात्') और दूसरी बात यह कि तीनों अवस्थाओंके अनुभवोंको मिलाकर जो निर्णय किया जायगा वह बाधित नहीं हो सकता; कारण यह कि बाधित होना कालमें ही सम्भव है, पर यह निर्णय तो इतने ऊँचेपर पहुँच जाता है जहाँ कालका प्रवेश ही नहीं होने पाता।

ऊपर जो दूसरी बात कही गयी उसके विवरणार्थ यह कहना आवश्यक है कि अवस्थात्रयको जाँचनेके लिये बैठना क्या है, अपने-आपको पदार्थमात्रसे अलग करके उसे साक्षीरूपसे देखना है। उदाहरणार्थ अपनी जाग्रत् अवस्था लीजिये। इस जाग्रत् अवस्थामें सभी मनोगत और बाह्य पदार्थोंका ज्ञान आ जाता है—इस अवस्थामें जो कुछ हम इन्द्रियोंसे अनुभव करते हैं या मन-बुद्धिसे सोचते-विचारते या सङ्कल्प-विकल्प करते हैं यह सभी इस अवस्थाके अन्तर्गत हैं; केवल पशु-पक्षी-मनुष्य, सूर्य-चन्द्र-तारे, नदी-नाले-पर्वत, यक्ष-किन्नर-गन्धर्व, देव-राक्षस-पिशाच या मनःकल्पित संसारके काव्यकल्पनागत प्राणी और पदार्थ या मानस उन्मादगत दृश्य ही नहीं बल्कि अपना ही शरीर और मनबुद्ध्यहंकाराद्यन्तःकरण भी उसी अवस्थाका विषय है अर्थात् संक्षेपमें यह कह सकते हैं कि सभी आन्तर और बाह्य विषय उस अवस्थाके ही विषय हैं और हम केवल इस विशाल व्यापक दृश्य-परम्पराके तदलिप्त साक्षीभूत द्रष्टा हैं। यह बात भी यहाँ स्मरण रहे कि इस जाग्रत् अवस्थामें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी जाग्रत् अवस्थाएँ सन्निविष्ट हैं; इसी प्रकार यत्र-तत्र अधोर्ध्वादि भेदोंसहित दिक् भी इसमें अन्तर्भूत है। किसीके लिये इस प्रकारकी मनोवृत्ति धारण करना अवश्य ही बहुत कठिन है; तथापि यदि किसीमें द्रष्टा होकर दृश्यको इस प्रकार देखनेकी इच्छा और समझनेकी योग्यता हो तो वह इसी निर्णयपर पहुँचेगा कि जाग्रत् अवस्थाका यह साक्षी यथार्थमें अपने प्रत्यक्षानुभूत अथवा मनोगत सभी लोकोंके सभी अनुभाव्य या अनुमेय पदार्थोंका साक्षी है। इस विषयका अध्ययन करनेकी इच्छा जिस किसीको हो उसे माण्डूक्यके शांकरभाष्यका यह प्रसंग पढ़ना चाहिये जहाँ जाग्रत् आत्माको 'सप्ताङ्ग' कहा गया है। यहाँ श्रीआचार्य यह दिखलाते हैं कि किस प्रकार जाग्रत् आत्मा सर्वपिण्डात्माओंके साथ तदात्मभूत चिन्मय द्रष्टा पुरुष ही है (सर्वपिण्डात्मानन्यत्वात्)।

अब हम स्वप्नावस्थाका विचार करें और उसी प्रकार द्रष्टारूपसे देखें तो हमें इन दोनों अवस्थाओंमें विलक्षण साम्य अनुभूत होगा। जाग्रत् अवस्थामें सबका जो समान अनुभव होता है उससे हम जाग्रत् अवस्थाके ही क्षुद्र अहङ्कारको अपना स्वरूप समझने लगते हैं और यह मान लेते हैं कि जाग्रत् अवस्था सब प्राणियोंकी समान अवस्था है और स्वप्नावस्था वैसी नहीं है, क्योंकि सबकी स्वप्नावस्था अलग-अलग है। परन्तु जब हम अवस्थात्रयको वेदान्तकी प्रक्रियाके अनुसार विचारका त्रिविध आधार बना लेंगे और ऐसी स्थितिमें आना चाहेंगे जहाँसे हम तीनों अवस्थाओंको जाग्रत् अहंकार या स्वप्नगत अहंकार किसीका भी पक्ष ग्रहण न कर निष्पक्ष होकर विचारेंगे तो सारा दृश्य ही पलट जायगा। यहाँ स्वप्नावस्था जाग्रत् अवस्थाकी यथावत् प्रतिकृति ही देख पड़ेगी और दोनोंमें इतना साम्य अनुभूत होगा कि कोई भी लक्षण ऐसा नहीं रह जायगा जिससे हम जाग्रत् अवस्थाको स्वप्नावस्थासे भिन्न जान सकें। कारण, स्वप्नमें भी दिक्कालाद्यवच्छिन्न आन्तर बाह्य कारण-कार्य-परम्परा वैसी ही बनी हुई है जैसी कि जाग्रत् अवस्थामें। (माण्डूक्यके मन्त्रोंको देखिये; जिनमें दोनों ही अवस्थाओंका द्योतन 'सप्ताङ्ग' और 'एकोनविंशतिमुख' इन्हीं पदोंसे किया गया है।) हाँ, जाग उठनेपर हमें यह बोध होता है कि स्वप्न केवल आन्तरिक और क्षणिक हैं और स्वप्नमें जो कुछ देखा जाता है वह न तो सुसम्बद्ध है और न काल और कारणके अटल नियमोंसे ही परिचालित है; पर यह जो बोध होता है सो विचार करनेकी भिन्न स्थितिके कारण होता है जहाँ हम अपने जाग्रत् अहंकारको ही अपना स्वरूप समझते हैं। जाग्रत् अहंकारका ऐसा पक्ष न करके निष्पक्ष होकर देखा जाय तो ऊपर जो निष्पक्ष निर्णय उल्लिखित हुआ वही ज्यों-का-त्यों बना रहता है।

इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत्का जो यह समान स्वरूप निश्चित हुआ, इससे यह बात भी निकलती है कि इन दोनों अवस्थाओंका द्रष्टा जो आत्मा है, जिससे ही इस स्वरूप-साम्यका बोध होता है, उस द्रष्टा आत्माको इन उभय अवस्थाओंके आन्तर और बाह्य पदार्थोंके परे

जानना चाहिये। कठोपनिषत्के एक मन्त्रमें इस गम्भीर सत्यका इस प्रकार वर्णन है—

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥
(२।१।४)

'वह महान् विभु जिससे कोई स्वप्न और जाग्रत् दोनोंको देखनेमें समर्थ होता है उसे आत्मा जानकर धीर पुरुष शोकको नहीं प्राप्त होता।' दोनों ही अवस्थाओंमें तत्तदवस्थानुरूप दिक्काल और कार्य-कारण-सम्बन्ध होता ही है और इसी प्रकारसे तत्तदवस्थानुरूप ही आन्तर-बाह्य जगत् भी होते हैं। प्रत्येक अवस्थाके अहंकारानुरूप हमें उस जगत्के सुखदुःख भोगने पड़ते हैं; पर यह देखना कुछ कठिन नहीं है कि द्रष्टा जो आत्मा है वह दोनों ही अवस्थाओंमें व्यापक है और इसलिये हम दोनों ही अवस्थाओंके परे हैं और आगमापायिनी वृत्तियोंके क्षुद्र सुखों और चिन्ताओंके ऊपर हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्में आत्माकी इस स्थितिको उस बलवान् मत्स्यके उदाहरणसे समझाया है जो नदीके एक किनारेसे दूसरे किनारेतक सञ्चार करता रहता है और नदीके वेगसे विचलित न होकर तरखा काटकर तैरता रहता है।

अब हमलोग यहाँ इस सिद्धान्तपर पहुँचे कि स्वप्न और जाग्रत्का द्रष्टा जो हमारा वास्तविक अन्तरात्मा है वह दिक्काल और कार्य-कारण-सम्बन्धसे अवच्छिन्न नहीं है। इसकी सत्ताको सीमित करनेवाली कोई दूसरी वैसी सत्ता नहीं है। कारण, स्वप्न या जाग्रत्में दीखनेवाले कोई भी पदार्थ दिक्कालके चङ्गुलसे नहीं निकल सकते—दिक्कालसे वे बँधे हैं—और इन पदार्थोंमेंसे कोई भी पदार्थ अपनी अवस्थासे निकलकर दूसरी अवस्थामें अपना पूर्व स्वरूप बनाये रहकर, आत्माके समान नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त, इनमेंसे कोई भी अवस्था दूसरी अवस्थाके साथ नहीं बनी रह सकती और न बराबर आत्माके सङ्ग ही रह सकती है, इसके विपरीत आत्मा अनायास ही किसी भी अवस्थामें अन्ततक रह सकता है। अर्थात् दोनों अवस्थाओंका चिन्मय द्रष्टा आत्मा निरपेक्ष स्वाधीनता भोगता है। परन्तु क्या वह इन अवस्थाओंसे सम्बन्ध-विच्छेद भी कर सकता है? क्या दृश्यके बिना या दोनों अवस्थाओंके सर्वथा नाशकी अवस्थामें वह केवल अपनी सत्तासे रह सकता है? इस प्रश्नका एकमात्र उत्तर सुषुप्ति अवस्था है जिसका हम किसी एक अवस्थाके आधारपर कोई भी विश्लेषण नहीं कर सकते, पर अवस्थात्रयमें व्यापक प्रक्रियासे उसका भी अशेष रहस्य जान सकते हैं।

जाग्रत् और स्वप्नके समान सुषुप्ति भी, जाग्रत गत अहंकारके पक्षसे विचार करनेपर केवल ही प्रतीत होती है और यह समझ पड़ अहंसुषुप्ति अज्ञानका एक अभ्र है जिससे हम आच्छन्न होते हैं अथवा एक क्षणिक अकर्मण्यता है नित्य ही प्रकृति हमें डाल दिया करती है। परन्तु अ का साक्षी बनकर वेदान्तकी दृष्टिसे देखनेपर इ उपेक्षित अवस्थासे कुछ ऐसा बोध होता है जिस उपेक्षा नहीं कर सकते। तब तो सुषुप्ति अपने स्वरूपकी ऐसी अन्तर्ज्ञानावस्था मालूम होती है जि व्यक्तित्व या व्यष्टित्व नहीं रहता और एक ऐसा रहता है जिसमें अहंकार, मन, बुद्धि और इन्द्रियों गोरखधन्धा नहीं। जाग्रत् या स्वप्नजगत् अथ दिक्कालजाल जिसमें ये दोनों जगत् अटके रहते हैं कोई बात इस सुषुप्ति अवस्थामें नहीं है। इस अवस् अपने उस आत्माके ही समीप पहुँचते हैं जो क भोगकी श्रान्तिसे रहित निष्कलङ्क आनन्दस्वरूप है। या स्वप्नके अवच्छेद यहाँ प्रवेश नहीं कर सकते; और दुराचारी, धनी और निर्धन, स्त्री और पुरुष, और बड़े सभी अपनी-अपनी अवच्छेदक अवस् त्यागकर अपने इस स्वर्गीय स्वराज्यके प्रवेशद्वार करते हैं।

इस अवस्थाके महान् गौरवका वर्णन उप (बृहदारण्यक० ४। ३। २१ से ३२ तक और छान्दो ३ से ६ तक) बड़े सुन्दर शब्दोंके साथ किया गया है। विचार यहाँ न करके हम आत्मसत्ताकी इस विशिष्ट व्यक्तिके द्विविध स्वरूपकी ओर पाठकोंका ध्यान दि क्योंकि जाग्रत् और स्वप्नके साथ इस अवस्थाको रख इसका विचार कर सकते हैं और एक विशिष्ट अ रूपमें इसका वास्तविक महत्त्व सोच सकते हैं। जाग्रत स्वप्नके सम्बन्धसे देखते हुए हमें यह कहना पड़ेगा सुषुप्ति जिसमें केवल चिन्मय आत्मसत्ता ही रहती है— किसीकी सत्ता नहीं रहती, वास्तवमें जाग्रत् और स्व अवस्थाओंका मूल कारण है। यह जो केवल चिन्मय है, जो सुषुप्तिमें अनवच्छिन्नरूपसे प्राप्त है, यही सत्ता प्रक्रियासे अन्य दो अवस्थाओंमें दृक् और दृश्यरूपमें होती है और एक तरफ शरीर, मन और इन्द्रियों

अहंकारके रूपमें तथा दूसरी तरफ दिक्काल और कार्य-कारण-सम्बन्धसे अवच्छिन्न जगत्के रूपमें प्रकट होती है। इस केवल चिन्मय आत्मसत्तामें कोई ऐसी अचिन्त्य शक्ति है जिससे यह भव्य विशाल विश्वको निर्माण करती और फिर कुछ काल बाद उसका सर्वथा लय भी कर देती है। माण्डूक्योपनिषद्में कहा है—

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।

'यह सबका ईश्वर है, यह सर्वज्ञ है, अन्तर्यामी है, सबका मूल है, सब भूतोंकी उत्पत्ति और लय है।'

यहाँ हमें यह ध्यानमें रखना होगा कि ये तीनों अवस्थाएँ चिन्मय सत्ताकी अवस्थाएँ नहीं हैं। सबसे पहली बात यह कि हमारे अंदर जो साक्षितत्त्व है, जो निर्मल बोधस्वरूप है वह इन अवस्थाओंके उत्पन्न होने या नष्ट होनेसे किसी विकारको नहीं प्राप्त होता, सदा एक-सा ही रहता है; और दूसरी बात यह कि ये तीन अवस्थाएँ न तो एक साथ एक देशमें रह सकती हैं न इनमें कोई कालानुक्रम ही हो सकता है। इसलिये हमें यही समझना चाहिये कि सुषुप्ति ही केवल निर्मल चिन्मय सत्ता है जिसका अपने अहंकार या अनहंकार, जाग्रत् या स्वप्न अथवा सुषुप्तिरूप विकारसे किसी भी समय कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये इस निरपेक्ष विचारसे यह न तो किसीका कारण है न किसीका कार्य। इसी सुषुप्तिका उस अविकार्य आत्मासे तादात्म्य वर्णन किया गया है जिसे इन तीन अवस्थाओंके प्रत्यक्षानुभूत अहंकारोंकी अपेक्षासे 'चतुर्थ' कहा गया है (चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा) और जिसपर ही उस उपनिषत्के गौडपादाचार्यके सुप्रसिद्ध भाष्यमें 'अजातवाद' स्थापित हुआ है।

अब हमलोग अवस्थात्रयसम्बन्धी वेदान्तिक प्रक्रिया-विषयक इस लघु निबन्धकी मुख्य-मुख्य बातोंका पुनरवलोकन कर लें। इस प्रक्रियामें कोई बात पहलेसे नहीं मान ली गयी है, कोई शब्दप्रामाण्य भी नहीं लिया गया है और किसी अन्तर्ज्ञानका सहारा लेनेको नहीं कहा गया है। मनुष्यका जो प्रत्यक्ष अनुभव है उसीपर इसकी उठान है और आग्रह भी इसका यही है कि जीवनरूप प्राकट्यके मूलमें जो निरपेक्ष स्वतःसिद्ध सत्ता है उसकी कोई भी बात समझने-समझानेके पूर्व हमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंको अच्छी तरहसे जाँच लेना चाहिये। जाग्रत् अवस्थाकी बातोंको ही लेकर बुद्धिके द्वारा जो तर्क किये जाते हैं उन तर्कोंके इस मूलमें ही गलती है और ये तर्क यद्यपि अपने क्षेत्रमें व्यवहारोपयोगी हैं तथापि वेदान्तकी इस प्रक्रियासे यह स्पष्ट होता है कि तर्क अध्यात्मशास्त्रनिर्माणमें सर्वथा निरुपयोगी और असमर्थ हैं। वेदान्तकी यह अपनी ही खास प्रक्रिया है जो इन तीनों अवस्थाओंको आत्मसत्ताकी एक ही पूर्ण अभिव्यक्तिके रूपमें देखनेका निर्देश करती है, और फिर इनमेंसे प्रत्येकका अन्य दोनोंके साथ समीकरण करके इस सिद्धान्तपर आती है कि इन तीनों अवस्थाओंका चिन्मय स्वरूपद्रष्टा हमारा आत्मा ही वास्तवमें महत्तम सत्तत्त्व है, तीनों मायिक अवस्थाओंके लेपसे सर्वथा अलिप्त है, ये अवस्थाएँ उसपर इन्द्रियानुभूतिके द्वारा अध्यारोपित हैं, वह स्वयं केवल सच्चिदानन्दस्वरूप है। माण्डूक्यपर श्रीमच्छंकराचार्यने जो अतिप्रभावशाली भाष्य किया है उसका उन्होंने निम्नलिखित श्लोकसे जो मंगलाचरण किया है उसमें अवस्थात्रयके सम्बन्धमें इस अप्रतिम वेदान्तकी प्रक्रियाका सार-संग्रह हुआ है—

प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य लोकान्
भुक्त्वा भोगान्स्थविष्ठान्पुनरपि धिषणोद्भासितान्कामजन्यान्।
पीत्वा सर्वान्विशेषान्स्वपिति मधुरभुङ् मायया भोजयन्नो
मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि॥

'जो चराचर प्राणिसमूहोंको व्यापनेवाले अपने प्रज्ञान-किरण-प्रतानोंद्वारा सब लोकोंको व्यापता है, स्थूल जगत्के सुखदुःखरूप स्थूल भोगोंको भोगता है और पुनरपि कामजन्य मनोद्भासित भोगोंको भोगता है, जो इन सब विशेषोंको आत्मसात् करके माधुर्य भोग करता हुआ सोता है और इस प्रकार अपनी मायासे हम लोगोंको इन सब अवस्थाओंका भोग कराता है, जो इन तीन मायिक अवस्थाओंकी अपेक्षासे 'तुरीय' (चतुर्थ) है उस परम अमर अज ब्रह्मको मैं प्रणाम करता हूँ।'*

* * *

---

* इस विषयका अध्ययन करनेकी जिन्हें इच्छा हो वे उपनिषदोंके शांकरभाष्य, विशेषकर माण्डूक्य, प्रश्न तथा बृहदारण्यक और छान्दोग्यके अवस्थात्रयसम्बन्धी प्रकरणोंके भाष्योंका अध्ययन करें। प्रस्तुत लेखकका 'शंकर-हृद्य' अथवा 'मूलाविद्यानिरास' नामक संस्कृत ग्रन्थ भी इस विषयमें बहुत सहायक होगा। अंगरेजीमें श्री के० ए० कृष्णस्वामी ऐयर बी० ए० लिखित 'Vedanta or the Science of Reality' ही एकमात्र उत्तम ग्रन्थ है जिसमें अवस्थात्रयकी प्रक्रिया उत्तम रीतिसे वर्णित है।

वेदान्त या ब्रह्मसाक्षात्कार

(लेखक—श्रीरामचन्द्रलालजी)

यह कहना, जैसा कि इस लेखमें व्यक्त करनेका प्रयत्न किया गया है कि 'ब्रह्मसाक्षात्कार दुर्गम नहीं सुगम, काल्पनिक नहीं, गणितके नियमोंसे भी बढ़कर निश्चित और ध्रुव सत्य है,' मनुष्योंकी परम्परागत धारणाके विरुद्ध होनेके कारण आश्चर्य, उपेक्षा तथा अविश्वासको आवाहन करना है। प्रायः यह देखा जाता है कि ब्रह्मका विषय लेकर विद्वन्मण्डली भी कोलाहल मचाती है। क्या कभी गणितके जटिल प्रश्नोंको हल करते समय शोर मचाया जाता है? इस प्रकार ब्रह्मविषयको गणितके प्रश्नसे भी हेय स्थान देना क्या उचित है?

इस विषयपर कुछ लिखनेके पूर्व यह बतला देना आवश्यक है कि पुस्तकीय ज्ञान और महापुरुषोंके प्रवचन ब्रह्मनिरूपणमें अमूल्य सहायता अवश्य प्रदान करते हैं। परन्तु उनका स्थान गौण है। मुख्य स्थान 'मनन' का है। बहुधा देखनेमें आता है कि प्रगाढ़ पण्डित भी मननके अभावमें उद्धरणोंके प्रसङ्ग और रहस्यका विचार न कर अपनेको अनर्थकारी अभेद्य धारणाके दुर्गमें आबद्ध कर लेते हैं। लेखकको एक श्रद्धास्पद—विद्वान् आर्य संन्यासीकी सेवामें उपस्थित होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उपदेशके सिलसिलेमें स्वामीजीने कहा कि 'शङ्करने भ्रान्तिपूर्ण नवीन वेदान्तकी सृष्टि करके निस्सार और मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त फैलाया है कि 'सभी ब्रह्म है'। मेरी दृष्टिमें मूर्ख ही इस सिद्धान्तको मानते हैं।' मैंने नम्रतासे कहा—'स्वामीजी! मैं भी उन मूर्खोंमेंसे एक होनेका गौरव रखता हूँ।'

क्या लोकमान्य तिलक भी मूर्ख थे? वे न केवल प्रगाढ़ देशभक्त थे, बल्कि प्रकाण्ड पण्डित भी थे जिनकी अमरकृति 'गीतारहस्य' आदिने पाश्चात्य विद्वानोंके हृदयोंपर भी उनकी विद्वत्ता और असाधारण बुद्धिमत्ताकी छाप लगा दी है। स्वामीजीने मेरी अज्ञानतापर तरस खाकर पूछा, 'क्या तुम ब्रह्म, जीव और प्रकृतिको नित्य और पृथक् माननेके विरुद्ध तर्क कर सकते हो?' मैंने निवेदन किया कि जीव और प्रकृतिको स्वतन्त्र माननेमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है, ठीक उसी तरह कि 'कोयला' और 'हीरा' भिन्न और स्वतन्त्र दृष्टिगोचर होते हुए भी विज्ञानका साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि दोनों एक ही हैं, क्योंकि दोनों केवल कारबन (Carbon) के रूपान्तर हैं। ब्रह्म और जीवको अलग माननेमें ब्रह्मकी सर्वव्यापकता नहीं रह जाती; जहाँ जीव होगा वहाँ ब्रह्म नहीं हो सकता। यदि ब्रह्म व्याप्त होगा तो जीव छेदन होनेसे कभी-न-कभी जायगा। उत्तरमें स्वामीजीने कहा—'देखो, कमरेमें करनेसे रोशनी फैल जाती है और कमरेका रोशनीसे व्याप्त रहता है, इसी तरह जीवमें ब्रह्म रहता है और दोनों स्वतन्त्र हैं। परन्तु रो छेदन आकाश करता है इसीलिये तो रोशनीका ना है।' मैंने उत्तर दिया—'और प्रकाशमें आकाश व्याप्त है क्योंकि दोनों सजातीय और एक ही महत्त रूपान्तर हैं। ब्रह्म और जीव अलग और नित्य माने सजातीय नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों किसी तीसरी रूपान्तर नहीं हैं। ब्रह्म, जीव और प्रकृति पृथक् होनेसे वे 'देश' और 'काल' के आश्रित हो जायँगे आश्रित तो नित्य हो ही नहीं सकता। वेदान्त जिस निरूपण करता है वह तो देश और कालके परे है। जीने मौन धारण किया और दूसरे दिन आनेको यह दृष्टान्त इसलिये दिया गया कि विद्वान् भी किस एक धारणा स्थिर कर लेनेपर बाहर जानेमें असहिष्णु परिचय देते हैं।

ब्रह्मका निश्चयात्मक ज्ञान होना एक बात है और ज्ञानको अपने जीवनका अंगीभूत बनाना दूसरी बात वैज्ञानिक ढंगसे विवेचन करनेपर प्रथम सुगम और महादुर्गम है। क्योंकि अटल संकल्प और असीम किसी-किसीके ही हिस्से पड़ते हैं। सत्य, अहिंसादि आच सम्बन्धी नियमोंकी उपयोगिता प्रायः सभी स्वीकार हैं, परन्तु उन थोड़े-से नियमोंको अपने जीवनका बनाना महात्मा गाँधी-जैसे बिरले पुरुषोंहीका कार्य है।

ब्रह्मके निरूपणके साथ-साथ जगत्का मिथ्या करना आवश्यक हो जाता है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मि वेदान्तका सूत्र है। यदि वैज्ञानिक नियमसे इस वा सत्यता प्रमाणित कर दी जाय तो द्वैत या बहुवादि यह सिद्धान्त कि 'ब्रह्म भी सत्य और जगत् भी सत्य,' नास्तिकोंका सिद्धान्त 'जगत् सत्यं ब्रह्म मिथ्या' आ

आप गिर जाते हैं। परन्तु जगत् तो सत्य प्रतीत होता है और यह सनातन नियमोंसे जकड़ा हुआ है, इसको मिथ्या कैसे माना जाय? जब सभी ब्रह्म हैं तो संसारमें दुःख क्यों? सर्वशक्तिमान् ब्रह्म भ्रम या मायाके वशीभूत कैसे हुआ? माया क्या है? सृष्टि कब और कैसे उत्पन्न हुई, ब्रह्मको सत्य माननेसे क्या लाभ? इत्यादि अनन्त प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। इनमेंसे बहुत-से प्रश्नोंके उत्तरमें वेदान्तवादीका कहना है कि मैं तुम्हें ब्रह्मकी सत्यता और जगत्की असारता दिखला सकता हूँ, परन्तु तुम्हारे अगणित प्रश्नोंका उत्तर नहीं दे सकता, क्योंकि ये प्रश्न ही असम्भव हैं। इन्हें न मैं हल कर सकता हूँ न कोई दूसरे। यदि कोई हल करे तो मैं गलत सिद्ध कर सकता हूँ। हाँ, प्रश्नोंके असम्भव होनेका युक्तिपूर्ण प्रमाण दे सकता हूँ। विरोधी-दल कहता है, तुम्हारे वेदान्तकी कलई खुल गयी 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का सिद्धान्त बुरी तरह गिर गया।

यहाँपर एक घटनाका वर्णन अप्रासंगिक न होगा। मैं अपनी रिश्तेदारीमें गया था। वहाँपर कुछ लोग एक प्रश्नके हल करनेमें करीब एक माससे व्यस्त थे। प्रश्न हल नहीं होता था। मुझसे भी प्रश्न हल करनेके लिये अनुरोध किया गया। प्रश्न यह था 'सात घर बयालिस नाटा, ताके ताक बैठावहु नाटा'—सात घरोंमेंसे हर एकमें विषम संख्यामें बयालीस बैलोंको रखना था। थोड़ी देरमें मैंने उत्तर दिया—प्रश्न असम्भव है। इसपर मेरी बड़ी खिल्ली उड़ायी गयी और कहा गया, तुमने अपनी अयोग्यता छिपानेका अच्छा स्वाँग रचा है। अमुक गाँवके अमुक व्यक्तिने, सुना जाता है, हल कर लिया है। मैंने उत्तर दिया, जब प्रश्न ही असम्भव है तब कोई भी हल नहीं कर सकता। मेरी युक्ति तो सुन लीजिये। परन्तु उपहास करनेसे किसको फ़ुरसत थी कि वह मेरी युक्ति सुनता। सबके चले जानेपर एक व्यक्तिको बड़ी कठिनाईसे समझा सका 'यह गणितका सिद्धान्त है कि सात विषम संख्याओंका जोड़ विषम संख्या होता है और बयालीस सम संख्या है, इसलिये प्रश्न असम्भव है।'

वेदान्त भी कहता है कि माया या जगत्के विषयमें तुम्हारे बहुत-से प्रश्न असम्भव हैं। तुम भले ही खिल्ली उड़ा लो। जरा युक्ति सुननेमें धैर्यसे तो काम लो।

माया या जगत्के विषयमें वेदान्त तीन गुर बतलाता है जिनपर कसनेसे जाना जा सकता है कि असंख्य प्रश्न इन्हीं तीन सिद्धान्तोंके अन्तर्गत आनेसे असाध्य हो जाते हैं। जगत्का जहाँ प्रयोग किया जाता है वहाँ विशाल विश्व समझना चाहिये न कि यह क्षुद्र पृथ्वी। विश्लेषण करनेपर यह प्रत्यक्ष है कि माया अथवा जगत्के तीन अंग हैं। देश, काल और कारण। जरा सावधानीसे विचारना होगा। माया किस जगहसे शुरू हुई? जिस जगहसे भी प्रारम्भ मानोगे, अनिवार्यरूपसे उसके आगे भी देश आ जाता है। चूँकि देश माया है जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इसलिये मायाके आदि स्थानके पहले भी माया आ जाती है। परिणाम यह निकला कि यह प्रश्न असम्भव है। दूसरा प्रश्न यह है कि माया कब शुरू हुई? जिस कालसे भी मायाका आरम्भ माना जाय उसके पहले भी काल अथवा मायाका अनिवार्यरूपसे आरोप हो जाता है, अतः यह प्रश्न भी असम्भव हो जाता है। तीसरा प्रश्न यह है कि मायाका क्या कारण है? कार्य और कारण एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। विचारपूर्वक ध्यान दीजिये तो ज्ञात होगा कि कार्य और कारणकी शृंखला भी बड़ी जटिल है। मायाका कारण खोजना है। कारण ही माया है। दूसरे शब्दोंमें प्रश्न यह हो जाता है कि मायाकी माया क्या है? अतः यह प्रश्न भी असम्भव हो जाता है। सूक्ष्म विचारके बाद मनोरञ्जनार्थ एक मोटा प्रश्न यह है कि पहले वृक्ष हुआ या बीज। चक्करमें घूमिये, इस प्रश्नका भी हल नहीं। डारविन साहबका विकासवाद कुछ दूर आगे चलता है ज़रूर परन्तु वृत्ताकार जटिलता दूर नहीं होती।

सारांश यह निकला कि निम्नांकित तीन कसौटियाँ प्रश्नोंकी असाध्यता परखनेके लिये कायम हुईं—

१–कहाँ माया?
२–कब माया?
३–कैसे माया?

मायाके विषयमें असंख्य प्रश्नोंको इन कसौटियोंपर कसकर असम्भव कह दीजिये। हल करनेकी व्यर्थ माथापच्ची मत करिये। उदाहरणार्थ, ब्रह्म मायाके वशीभूत कैसे हुआ? अग्रिम प्रकरणमें यह स्पष्ट हो जायगा कि ब्रह्म वशीभूत कभी नहीं होता। यह प्रश्न कसौटी नं० ३ का है अतः असाध्य है।

इतनी लंबी भूमिकाके बाद अब ब्रह्मसाक्षात्कारपर आता हूँ। रसायनशास्त्री किसी पदार्थके गुणोंको जाननेके लिये दुनियाके सम्पूर्ण पदार्थको नहीं लेता। उदाहरणार्थ,

थोड़े-से तूतियाको लेकर विश्लेषण करता है और कुल तूतियाके बारेमें अनुमान निकालता है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' ब्रह्मके साक्षात्कारके लिये सम्मुखकी दो वस्तुओंको लेता हूँ—कलम और कागज। पहले कलमको लीजिये। इसमें क्या देखते हैं? लंबाई, मोटाई, गोलाई, रंग, कड़ापन और वजन इत्यादि गुणोंका ज्ञान इन्द्रियोंद्वारा होता है। आधार जिसपर ये गुण अवलम्बित हैं, इन्द्रियोंकी पहुँचके बाहर हैं। अनुमान अथवा दिव्य चक्षुद्वारा अनुभवित होता है। क्या ये गुण वास्तविक हैं, अथवा मिथ्या? पहले वजनको लीजिये, विज्ञानका विद्यार्थी जानता है कि पृथ्वीके आकर्षणका परिणाम वजन है। विष्वतरेखाके समीप होनेसे आकर्षण ज्यादा है। अतः कलमका जो वजन यहाँपर है साइबेरियामें उसका वजन कुछ कम हो जाता है। पृथ्वीपर जो वजन है, दो मील ऊपर आकाशमें उसका वजन कम हो जाता है। यदि इतना ऊपर ले जायँ जहाँ पृथ्वीका आकर्षण शून्य हो तो कलमका वजन गायब हो जायगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि यह गुण सापेक्षिक या मिथ्या है। अब लंबाई, चौड़ाई, गोलाई और मोटाईको लीजिये। हमारी आँखोंके लेंस एक विशेष प्रकारके हैं। ये गुण लेंस (Lens)के फोकसके परिणाम हैं। यदि हमारी आँखोंके लेंस लुडिक्रास ग्लास (वह शीशा जिसमें छोटा आकार भी बड़ा दीख पड़ता है) की भाँति हो तो ये लंबाई इत्यादि बहुत बृहदाकार दृष्टिगोचर हों। चींटीकी आँखोंकी बनावट ऐसी है कि पदार्थ दूसरे ही प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। हाथीकी आँखोंसे दूसरे प्रकार। अब किस किस्मकी आँखोंको प्रमाणित माना जाय। यदि आँखें बंद कर ली जायँ तो ये गुण अवश्य अदृश्य हो जाते हैं। अतः ये गुण भी सापेक्षिक हैं। इसी तरह कड़ाई भी हमारी विशेष स्पर्शशक्तिका प्रतिफल है। कलमके सभी गुण विचार करनेपर सापेक्षिक या मिथ्या सिद्ध होंगे। अब बिना आधारके ये गुण स्थित नहीं रह सकते। आधार इन्द्रियातीत है। उसीपर देश, और गुण अवलम्बित हैं। देश, काल और गुण इ समुच्चय 'रूप और नाम' है। रूप और नाम इन्द्रि आधारपर अवलम्बित हैं। अतः रूप और नाम और आधार सत्य है। इसी तरह कागजका रूप औ मिथ्या और आधार सत्य है। अच्छा, अब यह दे कि कागजका आधार कलमके आधारसे भिन्न है य यहींपर यूनानी फिलास्फरोंने गलती की है। भिन्नता होती है, अतः कागज और कलमका आधार एक आगे बढ़िये और अनुभव कीजिये कि सारे आधार या ब्रह्म एक अभिन्न, अखण्ड और काल और कारणसे अतीत है। रूप और नाम सिद्ध हो चुके। जगत् दृढ़ और सनातन नियमों प्रतीत होता है। अनिवार्य परिणाम यह निकलता आधार सत्य और सनातन है। रस्सीमें साँपका भ्रम है। साँप मिथ्या है, परन्तु साँपकी लंबाई, चौड़ाई मोटाई इत्यादि गुण रस्सीसे प्राप्त होते हैं। रूप और मिथ्या हैं। संसारकी दृढ़ता साबित करती है कि आधा इन्द्रियातीत है देश, काल और वस्तुसे परे, सत्य सनातन और सर्वशक्तिदाता है। यही कारण है कि कहता है 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।' 'अहं ब्रह्मास्मि'

लेखका विस्तारभय पद-पदपर रहा है। मैं न सकता कि स्पष्ट करनेमें मैं कितना सफल हुआ हूँ। सूक्ष्म है। कल्याणमें धारावाहिक लेखोंकी आवश्यक लेखको पढ़नेपर बहुत-से सन्देहात्मक प्रश्न उपस्थित मेरा अनुरोध है कि बाहर दौड़नेकी आवश्यकता धैर्यके साथ मनन करनेपर सन्देह आप-से-आप मिट जा और यह विश्व मनोरम ब्रह्ममें परिणत हो जायगा। इस उपयोगिता आदिके बारेमें कुछ लिखना लेखके आ बढ़ाना है। अतः इत्यलम्।

* * *

पुण्यकर्मवाले जीव तुरन्त ही रमणीय योनि जैसे कि ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त कर और जो पापकर्मवाले हैं, वे तुरन्त ही पापयोनि जैसे कि श्वानयोनि, सूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं।

(छा० ५।१०

* * *

ब्रह्मानुसन्धान

(लेखक—दीवानबहादुर के० एस० रामस्वामी शास्त्री बी० ए०, बी० एल०)

१ अनुसन्धान

पूर्वके, विशेषकर भारतवर्षके अध्यात्मशास्त्रमें अन्तर्ज्ञानकी जो ज्योति, या दिव्य सूक्ष्म दृष्टि अथवा सत्सिद्धान्तके प्रतिपादनमें जो सत्साहस देखनेमें आता है, पश्चिमके अध्यात्मशास्त्रमें उसका कहीं कोई नाम-निशान नहीं है। चार्ल्स ह्विटबी कहते हैं—'सामान्यतः पाश्चात्य तत्त्वज्ञानका इतिहास प्लेटोद्वारा स्थिर गृहीत मूल तत्त्वविभागका क्रमागत विकारमात्र है।' प्लेटोका गृहीत सिद्धान्त भी चञ्चल ही था। प्लाटिनसने प्लेटोके विचारोंको प्राच्य अध्यात्मज्ञानके सिद्धान्तोंसे प्रकाश पाकर तदनुसार और ऊँचेपर चढ़ाया और उन्हें और भी युक्तिसंगत बनाया। इनके कथनानुसार मननके द्वारा मनुष्य प्रकृतिसे अन्तःकरणको, अन्तःकरणसे शुद्ध सत्त्व बुद्धिको और शुद्ध सत्त्वसे परम पुरुषको प्राप्त होता है। यहाँ हमें आत्मा और अखण्ड सच्चिदानन्द तथा 'एकमेवाद्वितीयम्' के सम्बन्धमें उपनिषदोंके ही मन्त्र-स्वर स्पष्ट सुनायी देते हैं। इंग्लैण्ड, फ्रान्स और जर्मनीके तत्त्ववेत्ता प्रायः संदिग्ध शब्दों और अस्पष्ट ध्येयके पंकमें जा धँसे हैं। भौतिक ज्ञान (सायन्स) के तत्त्वविद्, विशेषकर हर्बर्ट स्पेन्सरने अपने शब्दजंजाल और कल्पनाजालसे इस विवशताको और भी बढ़ा दिया है, और इनका जो अज्ञेयवाद है वह तो—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

—इस स्वानुभवोक्तिके सर्वथा विपरीत ही है।

भौतिक शास्त्र, तत्त्वज्ञान और धर्म ये जो तीन अलग-अलग विभाग ज्ञानके माने गये, यह पाश्चात्योंकी ही मनमानी है। भौतिक शास्त्र और अध्यात्मशास्त्रके बीच कभी समाप्त न होनेवाला घोर विरोध और युद्ध मानना पाश्चात्योंकी ही कुकल्पना है। भारतीय लोग तत्त्वज्ञानको 'दर्शन' कहते हैं, परन्तु पाश्चात्योंके यहाँ तत्त्वज्ञान सर्वतःप्राप्त तत्त्वोंका विचारमात्र है। दर्शनमें बुद्धिपूर्वक विश्लेषण, अनुसन्धान और मीमांसा, यह क्रम तो रहता ही है पर फल इसका है दर्शन, और दर्शन ही जीवनका वास्तविक लक्ष्य है।

इस प्रकार ब्रह्मदर्शन पानेका सुनिश्चित मार्ग व्यतिरेक और अन्वयकी पद्धतिसे अपने आपको देखना है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओंको व्यतिरेकपूर्वक देखनेसे हम उस साक्षीकी झलक पाते हैं जो इस अवस्थात्रयके पीछे है जो कभी बदलता नहीं, जो वृद्धि-क्षय-रहित अविकार्य है और जो सर्वव्यापी और स्वयंप्रभ है, जैसा कि अमर 'पञ्चदशी' में विद्यारण्य स्वामी कहते हैं—

नोदेति नास्तमेत्येका संविदेका स्वयंप्रभा ।

इस शाश्वत अनन्त सनातन आत्माके होनेका स्वानुभूत प्रतिपादन ही भारतीय परम तत्त्वज्ञानकी पराकाष्ठा है। इसी एक परमात्माके ये विविध रूप और कर्म हैं जो इस नानाविध नामरूपात्मक जगत्में देख पड़ते हैं।

इस परमात्माके अनुसन्धानके लिये इस पृथ्वीसे उड़कर ऊपरके ग्रहनक्षत्रमण्डलोंमें जानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसका अनुसन्धान और इसकी प्राप्ति इसी शरीरमें, हृदयकी अँधेरी कोठरीमें (हृदयगुहा या दहराकाशमें) होती है; यही वास्तवमें ब्रह्मपुर है। मस्तिष्क जो कि बुद्धिका स्थान है उसका अन्तर्ज्ञानके स्थान हृदयसे वही सम्बन्ध है जो कि चन्द्रमाका सूर्यसे। उसकी कला सूर्यसे लिया हुआ प्रकाश है और उसकी वृद्धि और क्षयके पक्ष हुआ करते हैं, पर यह अधिक सुसह्य ज्योत्स्ना है, यद्यपि धुँधलापन इसमें सर्वथा ही नष्ट नहीं है। श्रुति और स्मृतिका भी परस्पर ऐसा ही सम्बन्ध है।

अनन्त चक्रके पीछे भटकनेके बदले जब हम केन्द्रमें ही पहुँचते हैं तब सब बातें खुल जाती हैं और विश्वकी समस्या हल हो जाती है। 'एक' ही किस प्रकार अनेकोंमें और अनेकों द्वारा खेल खेल रहा है, यह स्पष्ट देख पड़ता है। वहाँ आत्मा और जगत्की कोई पहेली नहीं रह जाती। एकके अनेकविध होनेका क्रम वहाँ ध्यानमें आ जाता है। वहाँ एकत्व और बहुत्व परस्पर भिन्न या विरोधी तत्त्व नहीं हैं। वेदान्तमें प्रकृति, पुरुष या परमेश्वरसे पृथक् या विरुद्ध तत्त्व नहीं है। प्रकृति परमेश्वरकी परमेश्वरी शक्ति ही है—

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'

जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषत्में कहा है। एकका एक बने रहते हुए अनेक रूपोंमें प्रादुर्भूत होना जीवनका

महत्तम आश्चर्य है (आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य ज्ञाता)। प्रकृतिके तेईस विकार प्रकृतिके आत्म-प्राकट्यके ही एकके बाद एक क्रमविकास हैं, पर सबके मूलमें ब्रह्मकी सत्ता सदा और सर्वत्र विद्यमान है। ऐसे सिद्धान्तको अनेकेश्वरवाद कहना शब्दोंका दुरुपयोगमात्र है। चार्ल्स ह्विटबी बड़े अच्छे ढंगसे कहते हैं कि 'अनेकेश्वरवादका यदि कुछ अर्थ हो सकता है तो वह यही हो सकता है कि विश्व ही ईश्वर है; परन्तु वेदान्तका सिद्धान्त तो यह है कि विश्वमें जो कुछ भी सत् है उसका कारण ब्रह्म है, और ब्रह्मकी जो परम सत् सत्ता है उसके अणुमात्रका भी कारण विश्व नहीं है।'

अनेकोंका जो खेल हो रहा है उसके बीचमें हमलोग हैं और उस एकको नहीं देख पाते हैं। इसे कोई भी तभी देख सकता है जब यह अपनी इच्छासे अपने-आपको हमारे सामने प्रकट करे। पञ्चकोशात्मक त्रिविध शरीर उस आत्मज्योतिको सहस्रशः विकीर्ण करती हैं। इन विकीर्ण और विविध वर्णरञ्जित ज्योतियोंको आत्मप्राप्तिकी केवल एक शुभ्र ज्योतिमें एकीभूत करनेके लिये परब्रह्मके सगुण रूपकी दया ही कारण है। इसीलिये निरपेक्ष ब्रह्मका अनुसन्धान करनेवाले हिन्दू मूर्ति-पूजक भी होते हैं। भगिनी निवेदिताने अच्छा कहा है कि 'संसारके सब लोगोंमेंसे हिन्दू ही ऐसे हैं जो बाह्यतः सबसे अधिक और हृदयतः सबसे कम मूर्तिपूजक हैं।'

जब सब वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और मन आत्मज्योतिको विकीर्ण करनेका कारण नहीं होता तब निरपेक्ष ब्रह्मका विशुद्ध अनन्त सनातन परमानन्द प्रकाशने लगता है। तब कोई अनुसन्धान नहीं रहता; क्योंकि अनुसन्धित्सु, अनुसन्धेय और अनुसन्धान तीनों एक ऐसे एकत्वमें एक हो जाते हैं कि जिसमें कोई द्वैत नहीं रह जाता और वह समाकीर्ण शुभ्र आत्मज्योति दिक्कालाद्यनवच्छिन्नरूपसे अपनी महिमामें स्थित होती है (स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः)।

२ अन्तराय—अविद्या

धर्मका रूप या तत्त्व चाहे कुछ भी हो, उसके द्वारा व्यष्टिगत पुरुषका स्वरूपगत ईश्वरत्व ही घोषित होता है। यदि पूर्णत्व या सिद्धि अप्राप्तकी प्राप्ति है तो अन्य सब प्राप्तियोंके समान इसका भी किसी कालमें आरम्भ होना अनिवार्य है और इसलिये फिर इसका किसी कालमें अन्त होना भी निश्चित है। इस प्रकार यह अवस्था भी क्षणिक ही हुई। अनन्तत्वमें असीमत्व संनिहित है और ही कोई पूर्वसत्ता है यदि कोई सनातन पराक्-सत्ता वर्तमान अपूर्णत्व अवश्य ही किसी पूर्णत्वका ही सकता है। चिरन्तन पूर्णत्व तभी सम्भव हो सकता वस्तुतः उसकी सनातन सत्ता हो। वर्तमान अ स्वरूप यही है कि यह क्षणभङ्गुर जीवन है और यह दुःखका कर्दम है। इस अपूर्णत्वका कारण भि धर्मोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे बताया गया है। यह पाप अविद्या कहा गया है। पापका सम्बन्ध व्यवहारसे है व्यवहार मानसिक और कायिक दोनों होता है। व्यवहारका मुख्य कारण मानस ही है, इसलिये इस भङ्गुरता और दुःखका कारण वासना या काम कहा है। तत्त्वविचार इस मीमांसाको और आगे बढ़ाकर प्रश्नका उत्थापन करता है कि इस कामका भी कारण है। इसका उत्तर यह है कि आत्माकी ज्योतिका न होना इसका कारण है; क्योंकि यदि वह ज्योति हित न होती, अन्तराय-रहित प्रकाशती रहती तो कोई वासना न होती, और यदि वासना न होती तो पाप न होता। तत्त्वज्ञानका हेतु आत्मसत्ताका ज्ञान अनुभव कराना ही है।

जगत्का जो बाह्य रूप हमलोग देखते हैं, यही वास्त रूप नहीं है; यह बात सामान्य बुद्धिको बड़ी ही वि मालूम होगी, पर विचारनेसे स्पष्ट हो जायगी और ज्ञानके सभी सम्प्रदायोंने इस बातको माना भी है। सम्बन्धमें हमलोग केवल उतना ही जानते हैं जितना इन्द्रि से जाना जाता है, यह चीज स्वयं क्या है सो कुछ भी जानते। जड प्रकृतिको हम दिक्कालावच्छिन्न देखते हैं यह देखते हैं कि रूपमात्र अशाश्वत है। पर आत्मा अ आपको अशाश्वत नहीं समझ सकता, वह अपनेको ही अनुभव करता है।

अद्वैत सिद्धान्त यह है कि पदार्थोंकी जो नानावि हम देखते हैं यह अविद्याके कारणसे देखते हैं, यथा सद्वस्तु तो एक ब्रह्म ही है। इस अविद्याका कारण है, यह प्रश्न नहीं हो सकता, क्योंकि कारणरूपसे कार्यो दनका क्षेत्र ही अविद्याका क्षेत्र है। अवि अनिर्वचनीय है, पर विद्यासे इसका निराकरण होता जगद्भ्रमके पीछे तदाश्रयस्वरूप सनातन सत्ता है। जब विकार या कार्यको देखते हैं तब हम उसके कारणको प्र

कहते हैं, जब हम उसे ब्रह्मानुभवकी दृष्टिसे देखते हैं तब उसे अविद्या, माया कहते हैं। सांख्यसिद्धान्तके अनुसार प्रकृति अनाद्यनन्त है। परन्तु अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार अविद्या अनादि है पर अनन्त नहीं, सान्त है। सांख्यमतमें प्रकृति और पुरुष दोनों ही सत् हैं और दोनों एक दूसरेके बिना रह सकते हैं पर अद्वैत सिद्धान्तमें अविद्याकी गौणसत्ता है और ब्रह्मसत्ताके बिना वह नहीं रह सकती।

यह कहना ठीक नहीं कि अविद्या अभावरूपा है। अविद्या भावरूपा है। यदि जगत् मनोमय ही होता तो इसमें स्थिरता, हेतु या क्रम कुछ भी न होता। मनोमय सृष्टि जब चाहे गढ़ी और तोड़ी जा सकती है। जगत्को कोई ऐसे गढ़ और तोड़ नहीं सकता। फिर यदि अविद्या केवल मनोगत ही होती तो सुषुप्तिमें इसका रहना न बनता, जब कि मन सर्वथा निष्क्रिय होता है। अद्वैत सिद्धान्त यह है कि अविद्या ब्रह्मको छिपाये रहती और जगत्को सामने रखती है। इसकी इन शक्तियोंको आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति कहते हैं। आत्मसत्ताका अबोध ही अविद्याका कारण है। तुरीय अवस्थामें जब हमें आत्मस्वरूपका बोध होता है तब सब भ्रम दूर हो जाते हैं और बहुविधता नष्ट हो जाती है।

धर्मभावका सम्बन्ध जितना बुद्धिसे है उतना ही अन्तर्ज्ञानसे है। मि० ओ० सी० क्विकने अन्तर्ज्ञान और बुद्धिकी यथाक्रम घर फिरनेवाले कबूतर और जहाजके अफसरसे तुलना की है। कबूतरका मन जहाजी गणितसे बिल्कुल खाली रहता है, पर वह अपने स्थानपर ठीक पहुँच जाता है। जहाजका अफसर नक्षत्रादिसे दिशा निश्चितकर जहाजका रास्ता ठीक करता और अपने स्थानपर पहुँचता है। अपने-अपने हिसाबसे दोनों ही ठीक हैं। अन्तर्ज्ञानी अपने हिसाबसे और बुद्धिवादी अपने हिसाबसे ठीक है। कोई किसीको अपनेसे हीन समझे, यह ठीक नहीं।

धर्ममें अन्तर्ज्ञानीका भी उतना ही महत्त्व है जितना कि बुद्धिवादीका। स्टार्बकने अन्तर्ज्ञानके विषयमें अपना अनुभव इस प्रकार वर्णन किया है—'अन्तरकी गहराई और भी अधिक गहराईमें प्रवेश करने लगी—मेरी ही साधनासे जो गहराई मेरे अंदर उत्पन्न हुई उससे आकर मिलने लगी, वह अथाह गभीरता जो बाहर है, जो नक्षत्रोंको भी पार कर गयी है⋯कई अवसरोंपर मैंने यह अनुभव किया कि मुझे भगवत्सत्ताके सारूप्यका आनन्द भोगनेको मिला।' इतना ही महत्त्व उस आध्यात्मिक बुद्धिवादी या विश्लेषणकारी विचारकका है जो अपनी बुद्धिका प्रयोग करके अज्ञानके परदेको उठाकर सत्तत्त्वको प्रकट कराता है। वह यह जान लेता है कि जीव सत्तत्त्व है। शरीरसे सर्वथा स्वतन्त्र और सनातन है।

इस प्रकार क्या अन्तर्ज्ञान और क्या बौधिक मीमांसा दोनोंमें ही, भिन्न-भिन्न प्रकारसे ही क्यों न हो, 'अन्तश्चक्षु' का ही सहारा लेना पड़ता है।

३ प्राप्ति

श्रीमच्छंकराचार्यके विलक्षण तत्त्वज्ञानका यह केन्द्रबिन्दु है। इसे प्रच्छन्न बौद्धकी-सी बात कहकर उड़ा देना सहज है। हमलोग अपने परिच्छिन्न अहंकारमें इतने फँसे हुए हैं कि हमें अपने आत्मा और उसके सान्त परिच्छिन्न अति कोमल अवगुण्ठनके बीच वियोगकी कल्पना भयावनी लगती है। जब यह बन्धच्छेद हो जाता है और हमारा वास्तव अन्तर्हित अपरिच्छिन्न सनातन सच्चिदानन्दस्वरूप प्रकाशित होता है, जब कुछ भी अल्प नहीं रह जाता, सब कुछ भूमा हो जाता है, तब अविद्या नष्ट होती है और जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति होती है और ब्रह्मानुसन्धान पूर्ण होता है।

* * *

जो कोई ब्राह्मण हमसे श्रेष्ठ हैं उनको आसनादि देकर तुझे उनका श्रम दूर करना चाहिये। अथवा उनको आसनादि देनेमें साँस भी न लेनी चाहिये। आस्तिक-बुद्धिसे दान देना चाहिये, नास्तिक-बुद्धिसे दान न देना चाहिये, उदारतासे देना चाहिये, लज्जासे देना चाहिये, शास्त्रके भयसे देना चाहिये, विचारपूर्वक देना चाहिये।

(तैत्ति० १। ११। ३)

वैदिक और वैदान्तिक साधना

(लेखक—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय)

भगवान्‌की सृष्टिमें असंख्य जीवोंके बीच मनुष्य भी एक देहेन्द्रियविशिष्ट जीव है। अन्यान्य प्राणियोंके समान मनुष्यको भी सुख-दुःख, भूख-प्यास, राग-द्वेष, भय-विषाद, रूप-रस, गन्ध-स्पर्श, शब्दकी अनुभूति होती है, हेय और उपादेय वस्तुओंके भेदका ज्ञान होता है। तथा उपादेय वस्तुओंकी प्राप्ति और हेय वस्तुओंके परिहारके लिये कर्म-प्रेरणा होती है। अन्यान्य प्राणियोंके समान मनुष्य भी जन्म, स्थिति, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय और मृत्युकी अधीनतारूपी शृङ्खलासे आबद्ध है। इन समस्त विषयोंमें मनुष्य अन्य प्राणियोंके साथ समान भूमिकामें ही विचरण करता है। यद्यपि मनुष्यका दैहिक गठन, इन्द्रियशक्तियोंका विकास तथा सर्वोपरि मनोवृत्तियोंका वैचित्र्य, इन समस्त क्षेत्रोंमें भी, मनुष्यको जो वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं, इससे प्राणिजगत्‌में उसकी श्रेष्ठता निर्विवाद है, तथापि मनुष्यका जीवन यदि इन क्षेत्रोंमें ही आबद्ध रहता तो मनुष्य जो इस जगत्‌में अपने जातीय श्रेष्ठत्वका दावा करता है वह निराधार होता। समजातीय अनेकोंमें श्रेष्ठत्व प्राप्त करना एक बात है और जातिके रूपमें श्रेष्ठत्व प्राप्त करना बिल्कुल दूसरी बात है। मनुष्य सृष्टिके एक उन्नततर स्तरमें विचरण करता है, इसका प्रमाण प्राणियोंकी शक्ति और वृत्तियोंके परिमाणगत तारतम्यसे नहीं प्राप्त होता। प्राणियोंके कर्म, भोग और अनुभूतिकी विचित्रता तथा जटिलताके अधिकतर विकासके द्वारा भी उसका निरूपण करना ठीक नहीं। मनुष्यमें कोई ऐसी आभ्यन्तरीया प्रकृतिगत विशिष्टता है, जिससे उसके समस्त जीवनको, जीवनके सारे विभागको एक उन्नततर भूमिमें प्रतिष्ठित करके समस्त प्राणियोंकी अपेक्षा उसे उच्चतर अधिकार प्रदान किया गया है। मनुष्यकी यह विशिष्टता क्या है? कठोपनिषद् कहती है—

‘श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।’

श्रेय और प्रेयका विवेक ही मनुष्य-जातिका वैशिष्ट्य है, इसीके कारण अन्यान्य सभी जातियोंसे मनुष्य श्रेष्ठ गिना जाता है। इसे अंग्रेजीमें Moral Consciousness कह सकते हैं। अन्यान्य प्राणी प्रेयका अनुवर्तन करते हैं। जो उन्हें अच्छा लगता है, जीवनधारणके लिये और देहेन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये जो आवश्यक जान पड़ता है, उसी ओर वे स्वभावतः बिना विचारे दौड़ते हैं। प्रेयकी और अप्रेयके त्यागके लिये ही उनकी कर्म-प्रेरणा होती अप्रेयका संयोग और प्रेयका वियोग ही उनके लिये है। उनके राग-द्वेष-भयादि सभी प्रेयको केन्द्रित प्रकट होते हैं। एक प्रेयसे दूसरे प्रेयका भेद उनकी अनु में प्रकाशित होता है तथा अधिक प्रेयकी आशामें प्रेयका त्याग करना भी वे सीखते हैं। परन्तु प्रेयसे भि ही भिन्न स्वरूप श्रेयज्ञानकी ओर प्राणिसाधारणका विकसित नहीं होता।

मनुष्यके चित्तमें विकासके साथ-ही-साथ प्रेय और की पृथक्‌ताका ज्ञान होने लगता है। उचित और अनु बुरा और भला, न्याय और अन्याय, शुभ और अ पुण्य और पाप इस प्रकारकी भेदबुद्धि मनुष्यके चि स्वभावतः विकसित होने लगती है। जिसे अनुचित, अन्याय, अशुभ या पाप नामसे पुकारते हैं वह प्रेय सकता है, देहेन्द्रियकी तृप्तिके लिये वह कभी-कभी आव मालूम हो सकता है, जीवन धारण करनेके लिये भी कभी-कभी प्रयोजनीय मालूम हो सकता है, फिर भी मा बुद्धि उसका अनुमोदन नहीं करती, उसे सदा त्याज्य बतलाती है।

मानवबुद्धिके विकासके निम्नस्तरोंमें मनुष्योचित श्रे लिप्साकी अपेक्षा अन्यान्य प्राणियोंकी भाँति प्रेयलिप्सा अधिक प्रबल होती है। यही कारण है कि मनुष्य बहु श्रेयका त्यागकर प्रेयकी ओर दौड़ता है। परन्तु तब उसमें प्रेय और श्रेयकी भेदबुद्धिका अभाव नहीं होता फिर, एक मनुष्य जिसे श्रेय समझता है, दूसरा उसे अ समझता है, तथा एक ही मनुष्य एक समय या एक अवस्था में जिस वस्तुको श्रेय समझकर आलिङ्गन करता है, दू समय या दूसरी अवस्थामें उसे ही वह अश्रेय समझ त्याग कर सकता है। परन्तु श्रेय और अश्रेयका भेद मनुष्यके चित्तमें सदा तरङ्गित होता रहता है। श्रेय और प्रेयमें जब द्वन्द्व उपस्थित होता है, मनुष्योचित विवेकबु जिसे अश्रेय बतला देती है, उसे ही जब प्रेयके रूपमें प्र करनेके लिये देह, इन्द्रियाँ और मन लालायित होता तथा विवेकबुद्धि जिसे श्रेय मानकर आदर्शरूपमें

सामने उपस्थित करती है, उसे ही जब देहेन्द्रिय, मन अश्रेय मानकर त्याग करनेके लिये उद्यत होते हैं—तभी मनुष्यके अन्तःकरणमें एक नैतिक और आध्यात्मिक युद्ध आरम्भ होता है। इस द्वन्द्वके कारण ही मनुष्यके जीवनमें अनेकों प्रकारकी समस्याएँ सदा ही उद्भूत होती रहती हैं और इसी कारण उसका जीवन साधनामय होता है। अन्य प्राणियोंके भीतर श्रेय और प्रेयका द्वन्द्व, आदर्श और प्रवृत्तिका द्वन्द्व न होनेके कारण ही वे साधनाके अधिकारी नहीं हैं, उनके जीवनमें ज्ञातरूपमें कोई गुरुतर समस्या नहीं है, और न समस्याका समाधान करनेके लिये कोई विचारपूर्वक चेष्टा ही है।

श्रेय और प्रेयके भेदकी अनुभूति और तज्जनित साधना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है। यही अनुभूति प्रकृतिराज्यमें मनुष्यको एक असाधारण स्वाधीनताका ज्ञान प्रदान करती है। इसी कारण मनुष्यका जीवन अन्यान्य प्राणियोंकी अपेक्षा अनन्तगुना जटिल, समस्यापूर्ण और रहस्यमय है। प्रेयहीन श्रेयज्ञानके ऊपर ही मनुष्यजीवनकी समस्त मनुष्योचित साधनाएँ और सिद्धियाँ प्रतिष्ठित हैं।

मनुष्यकी प्रकृतिमें साधारण प्राणियोंकी प्रवृत्ति और मनुष्योचित प्रेरणा दोनों ही विद्यमान हैं, इस कारण मनुष्य न तो प्रेयके बन्धनका त्याग कर सकता है और न श्रेयके आदर्शको अस्वीकार कर सकता है। श्रेय और प्रेयमें सामञ्जस्य स्थापित न कर सकनेके कारण उसका प्रकृतिगत युद्ध किसी तरह बंद नहीं होता। इसमें एक और कठिनाई यह है कि यथार्थ श्रेयका निर्धारण करना बहुत ही कठिन है। अपनी देहेन्द्रिय-मनोवृत्तियोंका विश्लेषण कर प्रेयका तो सहज ही निश्चय हो जाता है, परन्तु श्रेयके सम्बन्धमें अनन्त मतभेद हैं। अतएव मानवजीवनकी प्रधान समस्या ही श्रेयके यथार्थ स्वरूपको जानना है। मनुष्यके अंदर कर्मशक्ति, ज्ञानशक्ति और भोगशक्ति स्वभावतः ही विद्यमान है, तथा बहिर्जगत्के साथ आदान-प्रदान और घात-प्रतिघातके द्वारा स्वभावतः ही उसकी शक्तियाँ उद्बुद्ध होकर विचित्ररूपमें आत्मप्रकाश करती हैं। जगत्के विविध विषयोंके साथ स्वभावतः ही उसका परिचय होता है तथा और भी घनिष्ठ और व्यापक परिचय प्राप्त करनेके लिये उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। विचित्र भोग्यपदार्थ उसके देहेन्द्रिय-मनमें अनुकूल और प्रतिकूल वेदना उत्पन्न करते हैं, तथा अनुकूल वेदनाकी प्राप्ति और प्रतिकूल वेदनाके त्यागके लिये उसकी बुद्धि स्वभावतः हेय-उपादेयका विभाग करती हुई भोग और त्यागमें प्रवृत्त होती है। उसकी कर्मशक्ति भी इसी प्रकार सुखप्राप्ति और दुःख-निवारणके लिये नाना दिशाओंमें प्रवाहित होती है। परन्तु इस प्रकार प्राणीसुलभ स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले कर्म, ज्ञान और भोगके द्वारा उसकी श्रेय प्राप्त करनेकी आकांक्षा परितृप्त नहीं होती। उसके भीतर निरन्तर यह प्रश्न उठता रहता है कि किस प्रकारके कर्म, ज्ञान, भोग और भावका अनुशीलन करना उचित है, किस प्रकारके ज्ञान, कर्म, भोग और भावका अनुशीलन करनेसे मनुष्यजीवन सम्यक्रूपसे सार्थक हो सकता है? श्रेयस्कर ज्ञान, कर्म, भोग और भावका स्वरूप क्या है तथा किस प्रकार उनकी प्राप्ति हो सकती है? प्रेमको किस प्रकार श्रेयका अनुवर्ती बनाकर जीवनके अन्तर्द्वन्द्वका निवारण किया जा सकता है? मानवबुद्धिके लिये यही चिरन्तन प्रश्न है।

मानवबुद्धि श्रेयके आदर्शका निरूपण करते हुए पहले प्रेयमें ही श्रेयका अनुसन्धान करती है और इस सिद्धान्तपर पहुँचती है कि सुख ही वास्तविक श्रेय है। सुख जितनी मात्रामें दुःखमिश्रित और अस्थायी होता है उतनी ही मात्रामें वह अश्रेय है; स्थायी, गम्भीर और अमिश्रित सुखके अतिरिक्त श्रेय और कुछ नहीं है। तदनुकूल कर्म, ज्ञान और मनोवृत्तियोंका अनुशीलन करना ही श्रेयका मार्ग है। भविष्यमें स्थायी, गम्भीर और अमिश्रित सुख प्राप्त करनेके लिये सम्प्रति जो अगम्भीर, दुःखमिश्रित, पश्चात्ताप-प्रद सुख आपाततः देहेन्द्रिय-मनको रमणीय जान पड़ते हैं, उनका त्याग करना ही समुचित मालूम होता है। समस्त कर्म, ज्ञान और भावानुशीलनका सुख ही एकमात्र अभिलषित फल है, और इसी फलके तारतम्यके अनुसार कर्मज्ञानादिका मूल्य निर्धारित होता है। इसी सुखके लिये ऐश्वर्यका उपार्जन और सञ्चय करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है, तथा दूसरोंपर प्रभुत्व स्थापित न कर सकनेपर ऐश्वर्यकी सार्थकता ज्ञात नहीं होती। अतएव अपरिपक्व मानवबुद्धि सुख, ऐश्वर्य और प्रभुत्व इन तीनको ही कर्म-ज्ञानादिके आदर्शरूपमें ग्रहण करती है। शास्त्रोंमें इन तीनोंका उल्लेख 'अर्थ' और 'काम' के नामसे किया गया है। ऐश्वर्य और प्रभुत्व एक ही अर्थकी द्विविध मूर्त्ति है। आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता अबतक इन्हीं तीन देवताओंकी आराधनामें लगी है। सुख, ऐश्वर्य और प्रभुत्वको ही

श्रेयरूपमें ग्रहण करके पाश्चात्य देशोंमें ज्ञान और विज्ञानकी चर्चाद्वारा प्रभूत उन्नति हुई है, इन तीनोंकी प्राप्तिके लिये ही वहाँ मानवीय कर्मशक्तिका अद्भुत जागरण और संगठन हुआ है, मनुष्यके साथ मनुष्यका सम्बन्ध भी इन्हीं तीन पुरुषार्थोंको केन्द्रित कर आवर्तित होता है। भारतीय आर्य ऋषियोंने श्रेयसम्बन्धी इस प्रकारकी धारणाको आसुरी धारणा तथा उसपर प्रतिष्ठित सभ्यताको आसुरी सभ्यता कहा है। विश्वनियन्ताके सुनिपुण विधानसे यह प्रेयोनिष्ठ आसुरी सभ्यता नाना प्रकारके संघर्षोंके द्वारा स्वयं अपना विनाश करती है। प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता, वैरभावपोषण, आत्मसम्पद्वृद्धि और परसम्पत्तिका हरण करनेके उद्देश्यसे संघका संगठन करना, महा यन्त्रोंको (मशीनोंको) स्थापित करना, नाशकारी शस्त्रास्त्रोंका आविष्कार करना, दुर्बलोंके प्रति बलवानोंका अत्याचार करना—ये सब इस सभ्यताके नित्य सहयात्री हैं तथा इसी कारण यह सभ्यता क्रमशः ध्वंसकी ओर अग्रसर होती है। इससे मानवीय जीवनकी समस्याका समाधान नहीं होता। आधुनिक पाश्चात्य सभ्यताका फल भी यही देखा जाता है कि सर्वसाधारणके भोजनका प्रश्न भी इसके द्वारा हल नहीं होता। कुछ लोगोंमें मानवीय शक्तिका अत्यन्त उज्ज्वल विकास दिखलायी देनेपर भी अधिकांश मनुष्य मामूली रोटी, कपड़े और झोंपड़ीके लिये दिन-रात तरसते हैं। सभ्यताकी चमक-दमक बढ़नेके साथ-साथ यह समस्या भी क्रमशः भीषण आकार धारण करती जा रही है। यह समस्या ही इस सभ्यताको ध्वंसकी ओर ले जा रही है, और उसीके साथ जातिगत, श्रेणीगत और सम्प्रदायगत द्वेष इस ध्वंसयज्ञमें पूर्णाहुतिकी व्यवस्था कर रहे हैं। प्राचीन इतिहास भी अनेक बार इस बातका प्रमाण दे चुका है। प्रेयको श्रेयके आसनपर बैठाकर मानवसमाजमें कदापि शान्ति, प्रीति, साम्य और सुश्रृंखलाकी प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती। इससे वैषम्य, प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष, युद्ध अवश्यम्भावी हैं तथा ध्वंस अनिवार्य है।

परन्तु श्रेयकी प्राप्ति कहाँ हो सकती है? मनुष्यके प्राणोंमें प्रेयरहित श्रेयकी अनुभूति जिस मूल स्रोतसे आती है, मानवप्राणमें श्रेयका अनुसन्धान करनेकी जिसने इच्छा उत्पन्न की है, वहींसे मनुष्यको श्रेयका सन्धान भी मिल सकता है। प्रेयकी वासनाने मनुष्यके देहेन्द्रिय-मनके ऊपर आधिपत्य जमा लिया है, इसी कारण श्रेयका स्वरूप मानवचित्तके गम्भीरतम प्रदेशमें स्वतः प्रकाशित होनेपर भी मनुष्य स्थूल बुद्धिसे उसे ग्रहण नहीं कर पाता।
विचारबुद्धि भी प्रेयवासनाके द्वारा कलुषित हो
मनुष्यके जीवनपथके प्रत्येक स्तरमें, प्रत्येक अव
प्रकार प्रेय स्वभावतः देहेन्द्रिय-मनको आकर्षित क
भी उसी प्रकार प्रेयकी शक्तिको संयमित कर मनुष्य
ओर खींचना चाहता है। परन्तु प्रेय-वासनाके प्राबल्य
श्रेयका आकर्षण साधारण मनुष्यके चित्तको के
डुलाकर ही निवृत्त हो जाता है, अपने स्वरूपको
दिखलानेमें समर्थ नहीं होता, तथा प्रेयकी अपेक्षा
रूपमें अपनेको व्यक्त नहीं कर पाता। जिनके चित्तमें
वासना क्षीण हो जाती है, कम-से-कम समयविशे
जिनकी बुद्धि प्रेयके प्रभावसे मुक्त हो जाती है,
अन्तर्दृष्टिके सम्मुख श्रेयका यथार्थ स्वरूप प्रकट होता
श्रेय-द्रष्टा हो जाते हैं। इसी प्रकारके मनुष्य ऋषि
हैं। इस प्रकारके मनुष्य किसी देश-विशेष और
विशेषमें ही उत्पन्न होते हों, ऐसी बात नहीं है। हाँ,
विधानानुसार मानवसमाजके प्रयोजनके अनुकूल
विशेष काल और देशमें इस प्रकारके ऋषिश्रेणीके
अधिक संख्यामें आविर्भूत हुआ करते हैं। मानवसम
विचित्र रुचि, बुद्धि, शक्ति, प्रकृतिसे सम्पन्न विभिन्न
मानवमण्डलीकी जीवन-समस्याएँ मानो इन ऋ
चित्तमें प्रतिफलित होती हैं, तथा इन समस्याओंका स
भी उनके विशुद्ध चित्तमें प्रकाशित होता है।

सुदूर अतीतकालमें प्राचीन भारतमें इस प्र
बहुसंख्यक ऋषियोंका आविर्भाव हुआ था। उनके
अन्तःकरणमें श्रेयका स्वरूप प्रकाशित हुआ था। कर्म,
भाव और भोगको किस प्रकार नियन्त्रित करनेसे
कल्याणकी प्राप्ति होती है, मनुष्यत्व सार्थक होता
मनुष्यकी देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि श्रेयकी अनुगा
होकर सम्यक्रूपसे विकसित होती है, विश्वप्रकृतिके
मानवप्रकृतिका सुसामञ्जस्य स्थापित होता है, समस्त मा
समाजमें शान्ति और सुव्यवस्थाकी स्थापना होती है
प्रकारके विविध विधान उन ऋषियोंके चित्तमें प्रका
हुए थे। दैहिक और मानसिक, आर्थिक और सामा
आध्यात्मिक और आधिभौतिक—असंख्य प्रकारके भे
द्वारा विभक्त मनुष्योंके अपनी-अपनी अवस्थाके वि
प्रकारके अच्छे और बुरे अवसरोंमें किस प्रकारके आदर्शके
अनुप्राणित होकर किस प्रकार अपनी कर्मशक्ति, ज्ञानश
और भोगशक्तिको सुनियन्त्रित करनेपर, किन-किन प्रकार

मनोवृत्तियोंका किस प्रकार अनुशीलन करनेपर सब लोग सम्यक् कृतार्थताके पथपर अग्रसर हो सकते हैं, ऋषियोंके अनन्त सहानुभूतिसे पूर्ण विशाल चित्तमें ये सभी सनातन सत्य प्रकाशित हुए थे। ऋषियोंद्वारा दृष्ट उन सब सनातन सत्योंका नाम ही 'वेद' है। वेदमें श्रेयका यथार्थ स्वरूप निर्धारित हुआ है। किसके लिये क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है, क्या ग्राह्य है और क्या अग्राह्य है, क्या ज्ञातव्य है क्या अज्ञातव्य है, क्या सम्भोग्य है, क्या परिहार्य है, इन सभी बातोंका वेदमें निरूपण हुआ है, इन सब बातोंको उन असाधारण ऋषियोंने प्रत्यक्ष किया था। अतएव वेदोंके अनुशासनको मानकर चलना ही मनुष्यका धर्म है। श्रेयबुद्धिविशिष्ट मनुष्योंका धर्म ही विधिनिषेधात्मक है। क्या उचित है, क्या अनुचित है, इसका निश्चय करके अनुचितका त्याग और उचितका अनुवर्तन ही मनुष्यकी साधना है। देहेन्द्रिय-मन जिसे प्रेय मानकर ग्रहण करना चाहता है, उसमें वैदिक दृष्टि या श्रेयदृष्टिसे जो कुछ अनुचित जँचे, उसका भी त्याग करना चाहिये और उसके लिये देहेन्द्रिय-मनकी प्रबल वासनाको भी संयत करना आवश्यक है। यही वेदकी शिक्षा है। वेदका अनुशासन किसी जाति, सम्प्रदाय या देशविशेषके निमित्त ही नहीं है, वह तो मनुष्यमात्रके लिये है। इसीलिये वैदिक धर्म 'मानवधर्म' के नामसे पुकारा जाता है। पुनः वेदका अनुशासन किसी पुस्तकविशेषका उपदेश नहीं है, किसी महापुरुषविशेष या पुरुषसमष्टिका आदेश नहीं है, किसी विशेष मतवादके ऊपर प्रतिष्ठित नहीं है, किसी विशेष साधनप्रणालीका अङ्ग भी नहीं है, जिससे मनुष्यका चित्त प्रेयबुद्धि या पापबुद्धिद्वारा अभिभूत न हो, और उस विशुद्ध चित्तमें कर्त्तव्याकर्त्तव्यका ज्ञान स्वतः ही प्रतिभात हो, तत्त्वतः वेद यही अनुशासन करता है, और तदनुकूल मार्गमें चलनेके उपायोंका निर्देश करता है। मानवप्रकृतिमें जो श्रेयज्ञान निहित है, उसीके ऊपर वेदका विधान प्रतिष्ठित है।

मानवबुद्धि जब श्रेयके प्रति अनुराग होनेपर सम्यक् रूपसे प्रभावित होती है, तब ज्ञेय, कार्य और भोग्यके सम्बन्धमें उसकी धारणा बदल जाती है; सत्य, मंगल और सुखका आदर्श नया आकार ग्रहण करता है, जगत् उसके सामने नवीन रूपमें प्रतिभात होता है। मनुष्यके साथ मनुष्यका, तथा मनुष्यके साथ अन्य प्राणियोंका और बहिर्जगत्‌का सम्बन्ध वह नवीन दृष्टिसे देखने लगता है। श्रेयका अनुसरण करनेवाली दृष्टि ही वैदिक दृष्टि है। यही दृष्टि यथार्थ मानवदृष्टि है। इसी दृष्टिके ऊपर प्रतिष्ठित सभ्यता यथार्थ मानवसभ्यता है।

वैदिक दृष्टिके सामने विश्वप्रकृति केवल जड़ जगत्‌के रूपमें प्रतिभात नहीं होती; लक्ष्यहीन, उद्देश्यहीन अन्ध नियमोंके द्वारा परिचालित कुछ जड़ पदार्थों और कार्योंकी समष्टिमात्रके रूपमें प्रतीत नहीं होती। वैदिक दृष्टिसे सम्पन्न मनुष्य अपनी प्रकृतिमें जैसे एक चेतन नियामककी सत्ता और श्रेयोभिमुखी प्रेरणाका अनुभव करता है, जड अङ्ग-प्रत्यङ्गकी गतिविधिमें जिस प्रकार स्वतन्त्र इच्छाशक्ति-विशिष्ट एक अविकारी चेतनके स्वाधीन कर्मोंके प्रकाशकी उपलब्धि करता है, उसी प्रकार विश्वप्रकृतिकी समस्त घटनाओंकी परम्पराके पीछे भी वह एक या एकाधिक चेतन नियामककी सत्ता उपलब्ध करता है। आपाततः लक्ष्यहीन कार्यकारणशृङ्खला और अन्ध नियतिके भीतर वह स्वतन्त्र इच्छाशक्तिविशिष्ट चेतनकी स्वाधीन इच्छा और कर्मका प्रकाश देखता है। वैदिक दृष्टिसे जड सर्वत्र ही चेतनके आश्रित है, चेतनके द्वारा नियन्त्रित है, चेतनके उद्देश्यकी पूर्तिके लिये सुशृङ्खल नियमद्वारा परिचालित है। वैदिक ज्ञानके अनुसार प्राकृतिक कार्यकारणशृङ्खलाके पीछे एक अलङ्घनीय धर्मविधान विद्यमान है।

आधुनिक जड विज्ञानके उपासक जड जगत्‌के विभिन्न विभागोंके विभिन्न प्रकारके व्यापारोंकी परम्पराके ऐक्यसूत्रका आविष्कार करनेके लिये जिन साधारण नियमोंका आविष्कार कर चुके हैं और कर रहे हैं, वैदिक दृष्टिसे केवल वे नियम ही चरम सत्य नहीं हैं। जिन घटनाओंका साधारण परिज्ञान होता है उनके साधर्म्य और वैधर्म्यकी आलोचना करते हुए उनका श्रेणीविभाग करके सामान्य रूपसे व्यापक भाषामें उन्हें जिन रूपोंमें व्यक्त किया जाता है, उन्हें साधारण प्राकृतिक नियम (Law of Nature) कहते हैं। ये नियम जो कुछ घटता है, उसीका साधारण वर्णनमात्र करते हैं, घटनाओंके कारणका पता इनसे नहीं लगता। वैदिक विज्ञानके उपासकोंने इन नियमोंके नियामक सत्यका भी आविष्कार किया है। जिस विधानके द्वारा ये प्राकृतिक नियम शासित होते हैं, उसे धर्मविधान कहते हैं। अर्थात् जो होना उचित है, उसके द्वारा ही, जो होता है, उसका स्वरूप और गतिविधि निर्धारित और नियन्त्रित होती है। श्रेयकी शक्तिद्वारा समस्त जागतिक व्यापार सुनियन्त्रित होते हैं। दृष्ट कार्यकारणशृङ्खलाके मूलमें अदृष्ट धर्मविधान विद्यमान

है। प्राकृतिक व्यापार-प्रवाहके नियामकके रूपमें नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शकी प्रेरणा होती है, विश्वप्रकृति केवल जडप्रवाह (Physical process) ही नहीं है; यह एक धर्मविधान (Moral order) है। वैदिक दृष्टि जगत्को इसी रूपमें देखती है।

जहाँ धर्मविधान है, वहाँ चेतन नियामकको स्वीकार करना ही पड़ता है। विश्वप्रकृति धर्मके आदर्शके द्वारा परिचालित, नैतिक और आध्यात्मिक लक्ष्यसिद्धिके अनुकूल नियन्त्रित और श्रेयके उद्देश्यसे सुव्यवस्थितरूपमें प्रशासित है, यदि ऐसा अनुभव किया जाय तो जागतिक व्यापारोंकी आड़में श्रेयबुद्धिसम्पन्न विशालशक्तिसमन्वित स्वतन्त्र चेतन पुरुषका अस्तित्व स्वभावतः ही अनुभूत होता है। चेतनके बिना श्रेय और अश्रेयका विवेक नहीं हो सकता, उद्देश्य और साधनका सम्बन्ध नहीं हो सकता, भविष्यत्को लक्ष्यकर वर्त्तमानका सञ्चालन सम्भव नहीं हो सकता, और विभिन्न समय तथा देशोंके व्यापारोंके बीच आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। जगत्-प्रवाहके अन्दर इन सब बातोंको देखनेपर उनके आश्रयके रूपमें एक या अधिक चेतन, विचारशील, धर्मप्राण पुरुषकी सत्ता अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है। इस प्रकार चेतन, शक्तिशाली, नियत कर्ममय पुरुष या पुरुषोंकी जीवनधारा ही उक्त प्रकारसे सुनियन्त्रित परस्परसम्बन्धविशिष्ट धर्मविधि-शासित व्यापारोंके अंदर अभिव्यक्त होती है। वैदिक दृष्टिसे इस प्रकारके पुरुष प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। उन्हींको 'देवता' कहा जाता है। जगत्के विभिन्न विभागोंके अधिष्ठाता और नियन्ताके रूपमें विभिन्न देवता विराजमान हैं। विश्वप्रकृति देवताओंके श्रेय-ज्ञानसे प्रसूत, धर्मविधिसे शासित आत्मप्रकाशका क्षेत्र है। वे चेतन, स्वयंद्युतिमान्, नित्य क्रीड़ारत होनेके कारण ही देवता नामसे पुकारे जाते हैं। जागतिक व्यापारोंके साथ योगायोगके द्वारा वस्तुतः देवताओंके साथ ही मनुष्यका सम्बन्ध होता है और देवताओंके साथ ही मनुष्योंका आदान-प्रदान होता है।

इस वैदिक दृष्टिके अनुसार मनुष्यजाति इस विचित्र विशाल जड जगत्में जड़ पदार्थोंसे घिरकर, जडशक्तियोंके उद्देश्यहीन घात-प्रतिघातके द्वारा अनिर्दिष्टभावसे विचलित होकर अपनी असाधारण ज्ञानशक्ति, कर्मशक्ति तथा उद्देश्यमय जीवनको लेकर विचरण करती हो, यह बात नहीं है; बल्कि इस जगत्की आड़में भी ज्ञानशक्ति, कर्मशक्ति और उद्देश्यमय जीवन वर्तमान है; मानवीय कर्मोंके जागतिक व्यापारोंमें भी सजग कर्मशक्ति, ज्ञानश लक्ष्यमय जीवनकी ही अभिव्यक्ति होती है। वैदिक जानेपर यह भी स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि जगत्के पी वाली, जगद्व्यापारनियामक उन शक्तियोंके साथ शक्तिका बहुत कुछ सजातीय सम्पर्क है और उन के आधारस्वरूप देवताओंके साथ मनुष्यका आदान और भावविनिमय भी चल सकता है। तब यह भी हो जाता है कि मानवजीवनके साथ देवताओंका एक सूत्रमें ग्रथित है, मानवकर्मोंके साथ बाह्य प्र घटनाओंका अच्छेद्य सम्बन्ध विद्यमान है, मनुष्य प्रकारके कर्मोंके द्वारा सुखदुःखमय फलप्राप्तिकी प्रकारकी योग्यता प्राप्त करते हैं, बाह्य प्रकृतिके प्रवाहके द्वारा तदनुरूप भोग ही उसके सामने होते हैं। जिस प्रकारके कर्मका जो फल होता है वह धर्मविधानके द्वारा नियमित होता है, उसी धर्मवि द्वारा बाह्य प्रकृतिकी कार्य-कारणशृङ्खला सुनि होती है और उसीके द्वारा वैसा ही फल तत्तत् क करनेवाले मनुष्यको भोगके लिये उत्पन्न होता है; अ देवता कर्मोंके प्रवाहमें कर्मानुरूप फल ही मनुष्यको प्र करते हैं।

जागतिक सम्पर्कमें ही मनुष्यको सुख-दुःखादि भो की प्राप्ति होती है। उसकी सारी भोगसामग्री ज ही है। जगत् यदि उसके निकट अनुकूलवेदनीय उपस्थित करता है, तो वह सुखका अनुभव कर सकता प्रेय लाभ कर सकता है। और यदि प्रतिकूलवेदनीय और अवस्थाएँ उपस्थित करता है तो उसे दुःखकी ही प्रा होती है और अप्रेयके साथ युक्त होकर आर्त्तनाद क पड़ता है। उसकी भोग्य वस्तु, भोगायतन शरीर औ भोगेन्द्रियकी शक्ति सभी जगत्के अन्तर्गत हैं और जागति विधानद्वारा नियन्त्रित हैं। अतएव जगत्के अनु होनेपर ही मनुष्य प्रेयको प्राप्त कर सकता है, जगत् प्रतिकूल होनेपर प्रेयकी तीव्राकांक्षा होते हुए भी मनु उससे वञ्चित होकर दुःखसागरमें डूबने लगता है अतएव जगत्को अनुकूल बनानेका कौशल जाने बिना औ तदनुकूल जीवन बनानेमें समर्थ हुए बिना मनुष्यके लि दुःख भोगना अवश्यम्भावी हो जाता है। जगत्की अनुकू सम्पादन करनेका कौशल प्राप्त करनेके लिये जागति

व्यापारोंका नियन्त्रण करनेवाली विधिको जानना आवश्यक है। प्रेयका अनुसरण करनेके लिये आत्मशक्तिको नियुक्त कर सुख, ऐश्वर्य और प्रभुत्व प्राप्त करनेके निमित्त यथासाध्य प्रयत्न कर मनुष्य जबतक जगत्‌को सुखप्रद बनानेकी चेष्टा करता है, तबतक उसे अधिकांशमें जागतिक व्यापारोंके प्रतिकूल आघात ही सहन करने पड़ते हैं, वस्तुतः जगत्‌को अनुकूल और सुखप्रद बनाना सम्भव नहीं है।

श्रेयदृष्टि अथवा वैदिक दृष्टि प्राप्त होनेपर ज्ञात होता है कि जगत् देवताओंके द्वारा शासित धर्मविधानके अनुसार ही नियन्त्रित हो रहा है। तब जान पड़ता है कि जगत् भी श्रेयका ही अनुवर्तन करता है, श्रेयको लक्ष्यमें रखकर ही देवता जागतिक व्यापारोंको परिचालित करते हैं। अतएव तब यह धारणा होती है कि मनुष्य जब श्रेयका अनुसरण करता है, धर्म, न्याय और सत्यके पथमें अपनी शक्तिका प्रयोग करता है तभी वह देवताओंके अनुकूल और अनुगत कार्य करता है, जगद्‌विधानके साथ जीवनका सामञ्जस्य स्थापित होता है तथा तभी देवता अनुकूल होते हैं और जगद्‌विधान अनुकूल होता है। अतएव प्रेयकी प्राप्तिके लिये भी प्रेयके पन्थका अनुसरण करना समीचीन नहीं है, बल्कि श्रेयपथपर चलना ही समीचीन मार्ग है। विश्वनियामक धर्मविधानमें प्रेय श्रेयका अनुवर्ती होता है, सुख कल्याणकी सेवामें नियुक्त होता है।

यदि यही विश्व प्रकृतिका निश्चित विधान है, तो मनुष्यका कर्त्तव्य-पथ क्या है? मनुष्य किस मार्गमें अपनी स्वाधीन कर्मशक्तिका प्रयोग कर जीवनको पूर्णतः कृतकार्य कर सकता है? वैदिक दृष्टिके अनुसार इसका उत्तर है—यज्ञनीति। अपने-अपने अधिकारके अनुसार यज्ञानुष्ठान ही मानवजीवनकी कृतार्थताका पथ है। यज्ञ क्या है? श्रेयकी सेवामें प्रेयका उत्सर्ग ही यज्ञ है। जो उचित है, विश्वविधानके अनुकूल है, जो ऋषि-दृष्ट मङ्गल है, उसकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको अपनी सारी प्रेय सामग्रीका बलिदान करना अथवा उसकी आहुति दे डालना ही यज्ञ है। जिसमें जो कर्मशक्ति, ज्ञानशक्ति, भोग्य पदार्थ और सुयोग सुविधा है, उन सबका यदि श्रेयकी प्राप्तिके लिये प्रकृतिके विभिन्न विभागोंके नियन्ता मङ्गलमय देवताओंकी प्रीतिके उद्देश्यसे उत्सर्ग किया जाय तो इसीसे यज्ञ सम्पादित हो जाता है। देवताओंको प्रसन्न करनेका अभिप्राय ही श्रेयका अनुवर्त्तन, कल्याणपथका अनुसरण है। देवताओंसे विरोध करनेका अर्थ है मङ्गलका विरोध करना, श्रेयकी प्रेरणाका अपमान कर प्रेयपथका अनुगमन करना तथा विश्वविधानको अग्राह्य कर देहेन्द्रिय-मनोवृत्तिकी तृप्तिके लिये चेष्टा करना। विश्वविधानके प्रतिकूल पथमें मानवीय स्वाधीनताका व्यवहार करनेसे कभी प्रेयकी आकांक्षा पूरी नहीं हो सकती, स्थायी सुखैश्वर्य-प्रभुत्वकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती, तथा मानवताका यथार्थ गौरव जिस श्रेयके अंदर है, उससे भी वञ्चित होना पड़ता है।

अतएव देवताओंके प्रीत्यर्थ अर्थात् विश्वविधानकी अनुकूलताकी प्राप्तिके लिये अपनी शक्ति, भोग्य सामग्री तथा परिस्थितिको लगा देना ही मनुष्यके लिये सर्वोत्तम कर्त्तव्य-पथ है। इस प्रकार यज्ञानुष्ठानमें जीवनयापन करना ही यथार्थ धर्म है। विचारपूर्वक स्वेच्छासे यज्ञव्रती जीवनयापन करना ही मानवीय धर्म है। यह यज्ञ ही श्रेयका भी मार्ग है; विशेष उन्नत विशेष व्यापक और विशेष स्थायी प्रेयकी प्राप्तिका भी साधन है। मनुष्य जब देवताके प्रीत्यर्थ अपनी प्राप्त वस्तुओंका त्याग करता है, तब देवता भी प्रसन्न होकर उसको प्रसन्नता प्रदान करते हैं। मनुष्य यदि विश्वप्रक्रियाके नियामक धर्मविधानके अनुकूल पथमें अपनी शक्तियोंका सद्‌व्यवहार करता है तो सारे विश्वके व्यापार उसके अनुकूल हो जाते हैं, तथा उसको मनचाही स्थायी सुखकर वस्तुएँ प्रदानकर कृतार्थ करते हैं। देवता और मनुष्यके, विश्वविधान और मानवी स्वाधीनताके इस प्रकार परस्पर अनुकूल होनेसे मनुष्यके जीवनकी भी सार्थकता सिद्ध होती है, और जगत्‌के व्यापार भी मङ्गलसे भरपूर प्रतीत होते हैं। इसके द्वारा व्यष्टि और समष्टिका कल्याण और मङ्गल, वर्त्तमानका भोग और भविष्यका निश्चित सौभाग्य एक ही साथ सुन्दर सामञ्जस्यके साथ सम्पादित होते हैं। त्यागके द्वारा भोग, अनेकोंके कल्याणमें लगकर अपने कल्याणकी प्राप्ति, विश्वकी सेवाके द्वारा अपनी अभीष्टसिद्धि, देवताओंको प्रसन्नकर अपने श्रेय और प्रेयमें सामञ्जस्य स्थापित करना—यह यज्ञनीति ही वैदिक धर्मनीति है। इस प्रकारका देवोत्तर जीवन यापन करना ही अभीष्ट सिद्धिका सुनिश्चित उपाय है। जीवनको यज्ञमय करनेसे ही मनुष्यत्वका समुचित विकास होता है।

इस वैदिक नीतिका अवलम्बन करनेसे मनुष्योंमें पारस्परिक संघर्षके बदले सम्मेलन, प्रतिद्वन्द्विताके बदले

सहयोगिता, लूट-खसोटके बदले आदान-प्रदान और स्वार्थ-सम्बन्धके बदले प्रेम-सम्बन्ध स्थापित होता है। मनुष्यके अधिकारभेदके तारतम्यके, शक्ति, ज्ञान और भोग्य वस्तुके परिमाण, और प्रकारके भेदके, देश, काल और अवस्थाके परिवर्तनके तथा रुचि, बुद्धि, प्रकृति और सामर्थ्यकी नाना प्रकारकी विचित्रताके कारण विभिन्न मनुष्योंके अनुष्ठेय यज्ञोंकी आकृति-प्रकृतिमें भेद होना स्वाभाविक है। धनीके यज्ञ और दरिद्रके यज्ञ, राजाके यज्ञ और प्रजाके यज्ञ, ज्ञानीके यज्ञ और मूर्खके यज्ञ, वीरके यज्ञ और दुर्बलके यज्ञ एक ही प्रकारके नहीं हो सकते। एक ही प्रकारके होनेपर यज्ञनीति सार्थक नहीं हो सकती। इसी कारण वेदमें विविध प्रकारके यज्ञोंका विधान है—ऋषियोंके द्वारा विभिन्न प्रकारके अधिकारोंसे सम्पन्न मनुष्योंके लिये तथा विभिन्न प्रकारकी अभीष्ट-सिद्धिके साधनरूप विभिन्न प्रकारके यज्ञोंका विधान मानव-समाजमें उपदिष्ट और प्रचारित हुआ है। परन्तु यज्ञकी मूलनीति सभीके लिये समान है। सभी अपने-अपने अधिकारानुकूल यज्ञके द्वारा उन्नततर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। यज्ञमय जीवन यापन करनेका मनुष्यमात्रको अधिकार है; तथा मनुष्यमात्र ही इस साधनके द्वारा कृतकार्य होनेमें समर्थ हैं। इसके द्वारा मनुष्यमात्रका चित्त उदार हो जाता है, देह और इन्द्रियोंकी पवित्रता प्राप्त होती है, भोग्य विषयोंकी आसक्ति और तज्जनित बन्धन ढीले हो जाते हैं, दृष्टि व्यापक और गम्भीर हो जाती है, जीवन निम्न भूमिसे क्रमशः उन्नततर भूमिमें आरोहण करता है और चिरस्थायी सुखकी प्राप्ति होती है।

वैदिक दृष्टिका अवलम्बन करनेसे श्रेयका अनुगमन करते-करते जितना ही चित्त परिशुद्ध होता है, जितनी ही प्रेयकी कामना दबती है, उतना ही उच्च-से-उच्च आदर्श मानवहृदयको अनुप्राणित करता जाता है और उच्च-से-उच्च यज्ञके अनुष्ठानका अधिकार और प्रवृत्ति प्राप्त होती जाती है। अब यह प्रश्न उठता है कि इसका 'अन्त' कहाँ होता है? वैदिक ज्ञान, वैदिक कर्म और वैदिक भावसाधनाके चरम आदर्शको जाननेकी आकांक्षा उत्पन्न होती है। मानवजीवनका अन्तिम श्रेय क्या है? क्या कोई ऐसा अन्तिम सत्य है, जिसको जाननेपर और कुछ जानना शेष नहीं रहता? क्या ऐसी कोई भोग्य वस्तु है जिसके प्राप्त होनेपर अखिल भोगवासनाओं-का पर्यवसान हो जाता है? क्या ऐसा कोई कर्म है, जिसमें अखिल कर्मोंकी ऐकान्तिक परिसमाप्ति हो जाती है? क्या हृदयमें किसी ऐसे भावका अनुशीलन किया जा सकता है, जिसमें समस्त अन्यान्य भावप्रवाह विलीन हो जा

जो निःश्रयसके विषयमें जिज्ञासा होती है, इसे ही वै

जिज्ञासा कहते हैं। वैदिक दृष्टिको जिस प्रकार

कहा जाता है, वैदान्तिक दृष्टिको उसी प्रकार निःश्रे

कहा जा सकता है। वैदिक साधना श्रेयकी साधना

वैदान्तिक साधना निःश्रेयसकी साधना है।

मनुष्यके सत्यानुसन्धानमें दो प्रबल प्रेरणाओंकी

होती है—एक है कारणज्ञानकी प्रेरणा, और दूसरी

ज्ञानकी प्रेरणा। मानवबुद्धि इन्हीं दो प्रेरणाओंद्वारा

चालित होकर सत्यका अनुसरण करती है। उसके

कार्यकी अपेक्षा कारण, और बहुत्वकी अपेक्षा

अधिकतर सत्य है। ऐन्द्रिय और मानसिक कार्योंके

और उनमें ऐक्यसूत्रका पता लग जानेपर ही

बुद्धि इस बातकी उपलब्धि कर सकती है कि इन

यथार्थ व्याख्या अब हुई है, इनके तत्त्वोंका आविष्कार

हुआ है और अब इनका सम्यक् परिचय प्राप्त हुआ

मनुष्यकी यह तत्त्वानुसन्धान करनेवाली बुद्धि

विकसित और संकीर्णतासे मुक्त होकर असंख्य कार्यपर

की समष्टिरूप इस विशाल जगत्के मूल कारणका अनु

करनेके लिये दौड़ती है तथा इसे एक अखण्ड

विचित्र अभिव्यक्तिके रूपमें देखनेका प्रयत्न करती है।

अनुसन्धान और चेष्टाके फलस्वरूप विवेकशील पुरुषको

होता है कि इस असंख्य जड़ और चेतन पदार्थोंके

इनके व्यापारके मूलमें एक अद्वितीय सद्वस्तु नित्य वि

है। एक वही सद्वस्तु अपनी सत्तासे सत्तावान् है, और

सब पदार्थ उसीसे उत्पन्न होते हैं, उसीकी सत्तासे सब

वान् होते हैं, उसीकी सत्ताकी विचित्र अभिव्यक्तिमें

सबकी गति और स्थिति है और अन्तमें सब उसीमें

प्राप्त होते हैं। वह स्वतन्त्र सत्ताविशिष्ट अद्वितीय वस्तु

प्रकाश है, चैतन्यस्वरूप है। वह देशकालातीत है,

रिच्छेद्य है, तथा वही देशकालके अंदर असंख्य परि

वस्तुओं और व्यापारोंके रूपमें खण्ड दृष्टिके समीप प्र

होती है। वही अनन्त, अखण्ड, स्वराट्, स्वप्रकाश

सर्वापेक्षा 'बृहत्' होनेके कारण 'ब्रह्म' नामसे अभिहित

है, सर्वव्यापी, सर्वमय होनेके कारण 'विष्णु' नामसे पु

जाती है, सर्वकालातीत और सर्वकालाश्रय होनेके

'अकाल' और 'महाकाल' नामसे आख्यात होता है। श्रेय

वही सर्व मङ्गलोंके आश्रय निःश्रेयसस्वरूप होनेके कारण

नामसे अभिहित होती है। प्रेयदृष्टिसे वही चरम प्रेय, चरम अभिलषणीय, चरम आस्वाद्य वस्तु होनेके कारण प्रेमस्वरूप, आनन्दस्वरूप, रसस्वरूप इत्यादि भावोंसे जाननेमें आती है। उस 'एकमेवाद्वितीयम्' 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' 'आनन्दरूपममृतम्' 'शान्तं शिवम्' परम और चरम तत्त्वका अधिगत और आस्वादित होना ही ज्ञानकी परम सार्थकता, कर्मका ऐकान्तिक पर्यवसान, भोगकी आत्यन्तिक कृतार्थता तथा सब भावोंकी एक महाभावमें नित्यप्रतिष्ठा है। इस परमतत्त्वकी प्राप्तिमें ही ज्ञान, कर्म और भावका अन्त है, अतएव यही वेदान्त है।

इस वैदान्तिक दृष्टिके प्राप्त होनेपर विश्वजगत् अकारण लक्ष्यहीन प्राकृतिक नियमावलीद्वारा परिचालित नहीं मालूम होता, इसके विभिन्न विभाग विभिन्न स्वभावोंसे युक्त श्रेयज्ञानविशिष्ट चिन्मय देवताओंके द्वारा नियन्त्रित भी नहीं जान पड़ते, और न यही धारणा होती है कि अनेक देवताओंकी समवेत शक्तिके द्वारा विश्वशृङ्खला सुरक्षित हो रही है। बल्कि ऐसा अनुभव होता है कि सारा विश्वब्रह्माण्ड एक ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है, एक ब्रह्मद्वारा सुनियन्त्रित हो रहा है, एक ब्रह्म ही समस्त जगत् और उसके अन्तर्भुक्त सब पदार्थोंके 'यत्किञ्च जगत्यां जगत्' सबके प्राणस्वरूप, अन्तरात्मास्वरूप और अन्तर्यामी नियन्तारूपमें विराजमान है। अतएव समस्त जगत् मूलतः एक है, इसकी सारी वस्तुएँ और सारे व्यापार उसी एक सूत्रमें ग्रथित हैं, एक परम विधानके अनुसार परस्पर अङ्गाङ्गीभावमें मिलकर सुशृङ्खलामें नियन्त्रित हैं। वैदिक दृष्टिसे प्राप्त सारे देवता उस एक ब्रह्मकी ही विचित्र विभूतियाँ हैं, उसीकी विभिन्न मूर्तियाँ जगत्के विभिन्न विभागोंमें अभिव्यक्त हो रही हैं। अपनी प्रकृतिसे समुद्भूत विश्वजगत्के विभिन्न अंशोंकी विचित्र कार्यावलीके सम्पर्कसे विभिन्न उपाधि ग्रहणकर, विभिन्न रूप, गुण, शक्ति, कर्मादिसे भूषित होकर वही विचित्र देवताओंके रूपमें प्रतीयमान होते हैं। सारे कार्य उन्हींके कार्य हैं, उन्हींकी लीला है, सबमें उन्हींका आनन्दचिन्मयरस प्रतिभावित हो रहा है। जगत्में देवताओंकी जिन विचित्र शक्तियोंके खेल दिखलायी देते हैं, वे सारी शक्तियाँ इस वैदान्तिक दृष्टिसे एक महाशक्तिके ही विचित्र प्रकाशके रूपमें उपलब्ध होती हैं। यह महाशक्ति उस एक अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परम मंगलमय ब्रह्मकी ही शक्ति है। यह महाशक्ति अघटनघटनापटीयसी, वैचित्र्यनिर्माणकारिणी है; अपने आश्रयस्वरूप नित्यचिदानन्दघन ब्रह्मके पारमार्थिक स्वरूपको निर्विकार रखते हुए ही उसे अत्यन्त आश्चर्यजनक ढंगसे आवृत करके उसे ही देशकालपरिच्छिन्न असंख्य खण्डित जड पदार्थोंके रूपमें दिखला देनेकी असाधारण निपुणता इस महाशक्तिके स्वभावमें नित्य विद्यमान रहती है। इसी कारण इस महाशक्तिको 'माया' कहते हैं। शक्ति शक्तिमान्से स्वरूपतः अभिन्न है और शक्तिका कार्य भी शक्तिसे स्वरूपतः अभिन्न है। इस युक्तिके अनुसार माया ब्रह्मसे स्वरूपतः अभिन्न है, और जगत् मायासे स्वरूपतः अभिन्न है। अतएव जगत् भी ब्रह्मसे स्वरूपतः अभिन्न है। ब्रह्म ही अपनी मायाशक्तिका अवलम्बनकर अपनेको जगद्रूपमें व्यक्त करवा रहा है। ब्रह्मके अतिरिक्त जगत्में और कोई सत्ता नहीं है। ब्रह्म ही सब कुछ है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

दूसरी ओर, अपने जीवनकी आत्यन्तिक सार्थकता, परम निःश्रेयसका निर्धारण करनेके लिये अपने स्वरूपको सम्यक्रूपसे हृदयङ्गम करनेकी आवश्यकता है। 'मैं क्या हूँ', 'मेरा स्वरूप क्या है', इसका विचार करते समय ज्ञात होता है कि मैं साधारणतः अपनेको जो समझता हूँ वह सभी दूसरी वस्तुएँ हैं, वे व्यक्ति और कर्मके सम्पर्कसे उपाधिमात्र हैं, वह दूसरोंसे उधार लिया हुआ एक परिचयमात्र है। तब फिर मेरा अपना परिचय क्या है? मेरा निरपेक्ष स्वरूप क्या है? इस प्रकारकी खोजके फलस्वरूप सारी उपाधियोंसे, सारे उधार लिये हुए परिचयोंसे जब अपनेको मुक्त करके विचार किया जाता है तब ज्ञात होता है कि मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा हूँ, अतएव परमार्थतः ब्रह्मके साथ मेरा कोई भेद नहीं है, कोई पार्थक्य नहीं है। अतएव मेरे ज्ञान, कर्मादिका विषयरूप जो विशाल जड जगत् विद्यमान है, उसका भी मूलकारण और तात्त्विक स्वरूप जो ब्रह्म है, इस विषय जगत्के विषयीरूपमें—ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्तारूपमें विद्यमान मेरा तात्त्विक स्वरूप भी वही एक ब्रह्म है। 'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'—'अहं ब्रह्मास्मि'। फिर अपनेको जैसे हम ब्रह्मसे स्वरूपतः अभिन्न उपलब्ध करते हैं, वैसे ही प्रत्येक जीव, प्रत्येक 'तुम' ब्रह्मसे अभिन्न दिखायी देने लगता है। 'तत्त्वमसि', 'जीवो ब्रह्मैव नापरः।'

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एक ही अद्वितीय नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्दघन ब्रह्म वा आत्मा असंख्य विषयी और असंख्य विषयरूपमें—असंख्य ज्ञाता, कर्त्ता और

भोक्तारूपमें तथा असंख्य ज्ञेय, कार्य और भोग्यरूपमें, असंख्य चेतन और जडरूपमें आत्मप्रकाश कर अनादि, अनन्तकालसे लीला कर रहा है। परमार्थतः एक ब्रह्म वा आत्माके अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ न रहनेके कारण वह सर्वसम्बन्धातीत, सर्वभावातीत, सर्वगुणातीत, निरुपाधिक, निर्गुण और निर्विशेष है। दूसरे प्रकारसे कह सकते हैं कि अपनी मायाशक्तिके योगसे असंख्य नाम-रूपोंमें अपनेको प्रकट करनेके कारण वही सविशेष, सगुण, अनन्तगुणाधार, अनन्तभावाधार, सर्वसम्बन्धमय और सर्वोपाधिभूषित हैं। यही वैदान्तिक दृष्टि है।

यह दृष्टि प्राप्त होनेपर हमारे लिये परमार्थतः कर्तव्य या अकर्तव्य, प्राप्तव्य या त्यक्तव्य, श्रेय या प्रेय कुछ भी नहीं रह जाता। हम तो वस्तुतः नित्य पूर्णतामें प्रतिष्ठित ब्रह्मसे अभिन्न हैं, अतएव हमारे लिये साध्य या साधन कुछ भी नहीं है। फिर हमें जो कर्त्तव्याकर्त्तव्य, हेयोपादेयादि द्वन्द्वका अनुभव होता है, उसका कारण यही है कि हम अपने स्वरूपकी उपलब्धि नहीं कर सकते हैं, हम अपनी अतात्त्विक अनित्य उपाधियोंको ही अपना स्वरूप समझते हैं। अपने यथार्थ स्वरूपको जान लेनेपर सारे द्वन्द्व मिट जाते हैं, सारे दुःख-तापोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। अतएव अपने यथार्थस्वरूपका साक्षात्कार करना ही हमारी एकमात्र साधना है। अज्ञानताके सम्यक् निराकरणद्वारा इस आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्वका अपरोक्षज्ञान ही मानवजीवनका चरम आदर्श है, यही निःश्रेयस है, नयी कोई वस्तु प्राप्त करनी नहीं है।

अतएव जबतक अज्ञानता या अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती, तभीतक द्वन्द्व रहता है। श्रेय, और अश्रेयका भेद रहता है, वर्तमान अवस्थामें असन्तोष और भविष्यत्में लक्ष्यसिद्धिका बोध रहता है, और तभीतक साध
आवश्यकता रहती है। देह, इन्द्रिय, मन औ
तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके अनुकूल बना देना और उस
श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना ही एकमा
है। इस उद्देश्यसे जिस प्रकारके कर्म, संयम, उपा
भावानुशीलनकी आवश्यकता होती है वे सब साध
हैं। वैदिक दृष्टिसे जिस प्रकार यज्ञानुष्ठानके द्वारा
मन-बुद्धिको सुसंस्कृत कर क्रमशः उच्चतर श्रेयकी ओ
को परिचालित किया जाता है, उसी प्रकार वैदान्ति
में उसकी सम्यक् प्रतिष्ठा होती है। यहाँ ब्रह्मके
उपलब्धिके उद्देश्यसे अहन्ता और ममतासे सम्ब
विषयोंका ऐकान्तिक त्याग ही महायज्ञ है। 'मैं औ
से जिन वस्तुओंका अभिप्राय होता है, उन सबको
होमकर अहं-मम-शून्य ब्रह्मात्मभावमें प्रतिष्ठा प्राप्त
यज्ञकी परम सार्थकता है। सारे प्राणकर्मों, इन्द्रिय
मानसिक कर्मोंको सुसंयत कर बुद्धिको ब्रह्मा
बनाना ही संयमकी पराकाष्ठा है। समस्त चित्त
सर्वात्मभावसे एकमात्र प्रेमवृत्तिमें परिणतकर आत्मा
निखिल रसामृतसिन्धु सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी
करना, और जीवनको ऐकान्तिक रूपसे ब्रह्ममय
प्रतिष्ठित करना ही उपासनाकी पराकाष्ठा है। इ
वैदिक धर्म वैदान्तिक धर्ममें परिणत होकर
सार्थकताको प्राप्त होता है।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गु
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन
'स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु।'

ॐ तत्सत्

◆

वेदका अध्ययन कराकर आचार्य शिष्यको शिक्षा देते हैं—सच बोल। धर्मका आचरण कर। स्वाध्यायसे
मत कर। आचार्यके लिये प्रिय धन लाकर दे। प्रजातन्तुका विच्छेद मत कर। सत्यसे प्रमाद न करना चाहिये। धर्मसे
न करना चाहिये। आरोग्यादि शरीरकी कुशलसे प्रमाद न करना चाहिये। विभूतिसे प्रमाद न करना चाहिये।
पढ़ानेसे प्रमाद न करना चाहिये, देव और पितृकर्मसे प्रमाद न करना चाहिये।

(तैत्ति० १।११

भगवान् श्रीरामका श्रीलक्ष्मणको उपदेश

अपने पिता महाराज श्रीदशरथजीकी आज्ञा पाकर मर्यादापुरुषोत्तम परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी श्रीजानकीजी तथा श्रीलक्ष्मणजीके साथ अयोध्यासे वनवासके लिये निकल पड़े । वे नाना प्रकारके तीर्थों, पर्वतों और ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंको देखते हुए श्रीअगस्त्यजीके आश्रममें आये और उन्होंने ऋषिवरसे प्रश्न किया कि मुझे ऐसा स्थान बतलाइये जहाँ रहकर मैं अपने जीवनका कार्य सुचारुरूपसे पूरा कर सकूँ । परमज्ञानस्वरूप लीलातनुधारी भगवान्के प्रश्नको सुनकर ऋषिवरको बड़ा संकोच हुआ । भगवान्ने उन्हें जो यह मान दिया, उससे वह प्रेममग्न हो गये । उन्होंने श्रीसीताजी और अनुज लक्ष्मणके साथ अपने हृदयमें निवास करनेकी प्रार्थना करते हुए निवेदन किया कि पञ्चवटी नामक एक परम पवित्र और रमणीक स्थान है, जहाँपर गोदावरी नदी बहती है, वहींपर दण्डकवनमें आप निवास करें और सब मुनियोंपर दया करें ।

दण्डकवन पहले एक प्रसिद्ध तपोवन था, जहाँ अनेक ऋषि-मुनि रहकर तपस्या किया करते थे । परन्तु इधर ऋषि-शापसे वह राक्षसोंका निवासस्थान बनकर अत्यन्त भयावह हो रहा था, आनन्दके स्थानमें वहाँ आतंकका राज्य छाया हुआ था । वहाँके लता-वृक्षतक राक्षसोंके कुकृत्य और ऋषि, मुनि और ब्राह्मणोंकी दुर्दशा देखकर निरन्तर आँसू बहाया करते थे । ऋषिकी आज्ञा पाकर भगवान् तुरन्त दण्डकवनमें पधारे । उनके पधारते ही मानो वहाँसे भय, शोक, दुःख एकदम विलीन हो गये और सर्वत्र आनन्दका राज्य छा गया । ऋषि-मुनि निर्भय हो गये; लता, वृक्ष, नदी, ताल आदितक श्रीराम, श्रीसीता और श्रीलक्ष्मणके चरण-कमलोंके दर्शनकर अत्यन्त आनन्दित और शोभायमान हो गये । भगवान्ने गोदावरी-तटपर एक पर्णकुटी बनायी और वह उसमें श्रीसीताजी तथा श्रीलक्ष्मणजीके साथ सुखपूर्वक निवास करने लगे ।

एक दिन भगवान् सुखपूर्वक आसनपर विराजमान थे; पासमें ही श्रीजानकीजी तथा श्रीलक्ष्मणजी भी यथास्थान आसनपर बैठे हुए थे । एक सुन्दर अवसर जानकर श्रीलक्ष्मणजीने निष्कपट अन्तःकरणसे, दोनों हाथ जोड़कर बड़ी नम्रताके साथ भगवान्से निवेदन किया—

सुर नर मुनि सचराचर साईं । मैं पूछौं निज प्रभुकी नाईं ।।
मोहि समुझाइ कहहु सो देवा । सब तजि करौं चरनरज सेवा ।।
कहहु ग्यान बिराग अरु माया । कहहु सो भगति करहु जेहि दाया ।।

ईश्वर जीवहिं भेद प्रभु, कहहु सकल समुझाइ ।
जातें होइ चरन रति, शोक मोह भ्रम जाइ ।।

सारांश यह कि हे सुर, नर, मुनि तथा समस्त जगत्के स्वामी ! मैं आपको अपना प्रभु समझकर पूछ रहा हूँ । कृपाकर मुझे समझाकर कहिये कि ज्ञान, वैराग्य और माया किसे कहते हैं, वह कौन-सी भक्ति है जिससे आप भक्तोंपर दया करते हैं और ईश्वर तथा जीवमें क्या भेद है, जिससे मेरा शोक, मोह, भ्रम इत्यादि दूर हो जाय और मैं सब कुछ छोड़कर आपके चरण-रजकी सेवामें ही तल्लीन हो जाऊँ ।

भक्तवत्सल भगवान्ने सरलहृदय, परमश्रद्धालु, एकान्त प्रेमीके कल्याणके लिये संक्षेपमें इस प्रकार उत्तर दिया—

मैं अरु मोर तोर तैं माया । जेहि बस कीन्हे जीव निकाया ।।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानहु भाई ।।
तेहिकर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ । बिद्या अपर अबिद्या दोऊ ।।
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा । जा बस जीव परा भवकूपा ।।
एक रचै जग गुन बस जाके । प्रभु प्रेरित नहिं निजबल ताके ।।
ग्यान मान जहँ एकौ नाहीं । देख ब्रह्म समान सब माहीं ।।
कहिय तात सो परम बिरागी । तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी ।।

माया ईस न आपु कहँ, जान कहिअ सो जीव ।
बंध मोच्छप्रद सर्वपर, माया प्रेरक सीव ।।

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना । ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना ।।
जातें बेगि द्रवौं मैं भाई । सो मम भगति भगत सुखदाई ।।
सो सुतंत्र अवलंब न आना । तेहि आधीन ग्यान बिग्याना ।।
भगति तात अनुपम सुखमूला । मिलै जो संत होहिं अनुकूला ।।
भगतिके साधन कहौं बखानी । सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी ।।
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती । निज-निज धरम निरत श्रुतिरीती ।।
यहिकर फल पुनि बिषय बिरागा । तब मम चरन उपज अनुरागा ।।
स्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं । मम लीला रति अति मन माहीं ।।
संत चरन पंकज अति प्रेमा । मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा ।।
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा । सब मोहि कहँ जानैं दृढ़ सेवा ।।
मम गुन गावत पुलक सरीरा । गदगद गिरा नयन बह नीरा ।।
काम आदि मद दंभ न जाके । तात निरंतर बस मैं ताके ।।

बचन करम मन मोरि गति, भजन करहिं निःकाम ।
तिन्हके हृदय कमल महुँ, करौं सदा बिस्राम ॥

सारांश यह कि हे भाई ! मैं और मेरा, तू और तेरा ही माया है जिसने समस्त जीवोंको अपने वशमें कर रक्खा है । इन्द्रियाँ और उनके विषयोंमें जहाँतक मन जाता है, वहाँतक माया ही जानना चाहिये । इस मायाके दो भेद हैं—विद्या और अविद्या । इनमें एक अविद्या तो दुष्ट और अत्यन्त दुःखरूप है, जिसके वशमें होकर जीव भवकूपमें पड़ा हुआ है । दूसरी अर्थात् विद्या, जिसके वशमें समस्त गुण हैं, संसारकी रचना करती है; वह प्रभुकी प्रेरणासे सब कार्य करती है, उसका अपना कोई बल नहीं है ।

हे तात ! जिस मनुष्यमें ज्ञानाभिमान बिल्कुल नहीं है, जो सबमें समानरूपसे ब्रह्मको व्याप्त देखता है, जिसने तृणके समान सिद्धियों और तीनों गुणोंको त्याग दिया है, उसीको परम वैराग्यवान् कहना चाहिये ।

जो अपनेको मायाका स्वामी नहीं जानता, वही जीव है और जो बन्धन और मोक्षका दाता है, सबसे श्रेष्ठ है, मायाका प्रेरक है, वही ईश्वर है !

वेद कहते हैं कि धर्मसे वैराग्य, वैराग्यसे योग, योगसे ज्ञान होता है और ज्ञान ही मोक्षको देनेवाला है । परन्तु मैं जिससे शीघ्र प्रसन्न होता हूँ, वह मेरी भक्ति है और वही भक्तोंको सुख देनेवाली है । वह भक्ति स्वतन्त्र है; वह किसी चीजपर अवलम्बित नहीं है; ज्ञान और विज्ञान स अधीन हैं । हे तात ! भक्ति अनुपम सुखका मूल वह तभी प्राप्त होती है जब संत लोग अनुकूल हों

अब मैं भक्तिके साधनका वर्णन करता हूँ सुगम मार्ग बतलाता हूँ जिससे प्राणी मुझे सहज सकें । पहले तो ब्राह्मणके चरणोंमें बहुत प्रीति होनी और वेदविहित अपने-अपने धर्ममें प्रवृत्ति होनी इसका फल यह होगा कि मन विषयोंसे विरक्त हो और तब मेरे चरणोंमें अनुराग उत्पन्न हो जायगा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नौ प्रकारकी भ होनी चाहिये और मनमें मेरी लीलाओंके प्रति अ होना चाहिये । जिसे संतोंके चरण-कमलोंमें अत्यधि हो, जो मन-वचन-कर्मसे भजन करनेका दृढ़ नियम वाला हो, जो मुझे ही गुरु, पिता, माता, भाई, पति देवता सब कुछ जानता हो और मेरी सेवा करने रहता हो, मेरा गुण गाते समय जिसके शरीरमें रोमा आता हो, वाणी गद्गद हो जाती हो, और नेत्रों गिरते हों और जिसके अंदर काम, मद, दम्भ हों, मैं सदा उसके वशमें रहता हूँ । मन, वचन और जिनको मेरी ही गति है, जो निष्कामभावसे मेरा करते हैं, मैं सदा उनके हृदय-कमलमें विश्राम करता हूँ

◆

छाया है माया है

छाया है, माया है—
भासित प्रतिबिम्ब एकका है अनेक जैसा,
नीरव-सी तन्त्रीने स्वर फैलाया है ।
कौतुक दिखाया है—
मूकवेदना ही यहाँ गायन प्रतीत होती,
दुख ही मनोहर सुखरूप धर आया है ॥
मोहक बनाया है—
शून्यमें ही 'रंगहीन-रंग' से अनेक चित्र,
'मेरा मनोहर चित्रकार' रच लाया है ।
भ्रमसे रुलाया है—
आह ! दुख भोगते हैं सत्य मानते हैं इसे,
'वह' तो हँस कहता है 'छाया है, माया है' ॥

—'सुदर्शन'

वेदान्तका अर्थ और उसकी लोकमान्यता

(लेखक—श्री पी० के० आचार्य एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लि०, आई० ई० एस०)

'वेदान्त' के नामसे जो दर्शनशास्त्र प्रसिद्ध है उसे 'पूर्वमीमांसा' की अपेक्षासे, 'उत्तरमीमांसा' भी कहते हैं। पूर्वमीमांसाका अभिप्राय वेदके पूर्वभाग अर्थात् मन्त्रभागकी मीमांसासे है और उत्तरमीमांसाका अभिप्राय वेदके उत्तर अर्थात् उपनिषद्भागकी मीमांसासे है। परन्तु पूर्वमीमांसा मीमांसाके ही नामसे कही जाने लगी, क्योंकि वेदमन्त्रोंका अर्थ बतानेमें यह शास्त्र शब्दब्रह्मके सनातनत्वकी मीमांसा करता है। और उत्तरमीमांसाका नाम 'वेदान्त' (वेदोंका अन्त) हो गया। इस वेदान्तशास्त्रका दूसरा नाम 'ब्रह्ममीमांसा' और 'शारीरकमीमांसा' है जो अधिक उद्बोधक है, क्योंकि इस शास्त्रका लक्ष्य परमात्मा या निर्गुण ईश्वर और शरीरी तथा सगुण साकार ईश्वरका अनुसन्धान है पर 'वेदान्त' शब्द स्वयं भी अर्थात् किसी ग्रन्थ या शास्त्रका नाम होनेके अतिरिक्त भी, बहुत लोकप्रिय और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी है। वेदोंके अन्तका उपनिषदोंके साथ तादात्म्य समुचित हो सकता है, यदि उपनिषत् पदसे ब्राह्मणभागके पश्चात्के ग्रन्थविशेषोंका अभिप्राय न लेकर धात्वर्थसे इसका अर्थ ग्रहण करें। धात्वर्थसे इस पदका अर्थ उस गुरुके 'समीप बैठना' होता है जो ब्रह्मका गुप्त ज्ञान दे सकता है और इस प्रकार जो 'परब्रह्मको प्राप्त करनेका ज्ञान प्रकट कराकर अज्ञानको दूर कर देता है।'

उपनिषत् नामसे प्रसिद्ध ग्रन्थ निःसंशय ही इसी ज्ञानका निरूपण करते हैं जिसे शिष्य सीधे गुरुसे ही लेनेके लिये गुरुके समीप बैठता है। पर वेदोंका अन्त जिसको कहते हैं वह कोई ग्रन्थ नहीं हो सकता। वेदपदका भी सामान्य पाठकोंके लिये जो सामान्य अर्थ ऋक्, साम, यजुः और अथर्व-आंगिरस है, इससे भी अधिक निश्चित अर्थ होना चाहिये। वेदमन्त्रोंसे सामान्यतः वेदोंका जो लक्ष्य समझमें आता है, वेदोंका परम लक्ष्य उससे बहुत अधिक है।

वेदान्तदर्शनकार बादरायण व्यासने, कहते हैं कि न केवल वेदोंको ही यथाभाग व्यवस्थित किया बल्कि वेदों और पुराणोंका भी यथाभाग, संकलन किया जिनमें वही विषय प्रसंगानुसार वर्णित है। ब्रह्मसम्बन्धी अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद या द्वैतवाद किसी-न-किसी रूपमें स्वयं ऋग्वेद-में भी बीजरूपसे मिलता है। फिर वेदान्तदर्शन उपनिषदोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंका ही अनुगमन करता है, इसकी रचना ही वैदिक साहित्यके अन्तःस्वरूप उपनिषदोंके आधारपर हुई मानी जाती है। महर्षि वेदव्यासने, कहते हैं कि ५५५ शारीरक या ब्रह्मसूत्र रचे। प्रथम सूत्रमें सम्पूर्ण दर्शनका हेतु अति संक्षेपमें 'ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मको जाननेकी इच्छा) बताया है। वेदान्तका सिद्धान्त, अवश्य ही, छान्दोग्योपनिषत्के 'एकमेवाद्वितीयम्' (ब्रह्म एक ही है, कोई दूसरा नहीं है) इस वाक्यके द्वारा और अधिक स्पष्टताके साथ बताया है। इस वाक्यको और भी स्पष्ट करनेवाले ऐसे वाक्य हैं जैसे—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' (ब्रह्म ही वास्तवमें है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है और कोई दूसरा नहीं)। अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है; ब्रह्मसे ही यह उत्पन्न होता है, ब्रह्ममें ही लीन होता है; ब्रह्ममें ही यह श्वास-प्रश्वास लेता है; और कुछ भी यथार्थमें नहीं है, केवल एक निर्गुण निराकार तत्त्व है जिसे ब्रह्म, आत्मा, पुरुष इत्यादि नामोंसे पुकारते हैं। पर यह सत्ता चैतन्यरहित कही गयी है, एक प्रकारकी सुषुप्ति। यह सत्ता वेदान्तदर्शनके अनुसार तीन प्रकारकी है। पारमार्थिक सत्ता निर्गुण निराकार अचित् सत्ता है। व्यावहारिक सत्ता सगुण ईश्वर, जीव, लोक, परलोक, नरक तथा बाकी सब पदार्थोंकी सत्ता है। और प्रातिभासिक सत्ता केवल स्वप्नवत् भ्रम है, जैसे जब हमलोग सोते हैं तब हम नाना प्रकारके पदार्थ कल्पित कर लेते हैं, यथार्थमें जो हैं नहीं; परन्तु स्वप्न देखनेवालोंके लिये तो पूर्णरूपसे हैं ही; पर जब हम जागते हैं तब यह पता लगता है कि यह सब कुछ नहीं था, केवल भ्रम था।

यह प्रातिभासिक सत्ता ही मायावादका मूल है। मूलमें मायावाद इतना ही था। यह बढ़ते-बढ़ते बुद्धभगवान्के पश्चात्, ईसाकी छठी शताब्दीमें खूब बढ़ा। उपनिषदोंके पूर्वतर ऋषि परिणामवादी थे अर्थात् इन्द्रियगोचर जगत्को सत्य ही मानते थे। उनके हिसाबसे ब्रह्मकी व्यावहारिक सत्ता ही गोचर जगत्का उपादानकारण है। मुण्डकोपनिषत्में यह स्पष्ट ही कहा है कि 'जिस प्रकार मकड़ी अपने जालेको बनाती और उसे निगल जाती है, जैसे पृथिवीमें ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जैसे सजीव पुरुषसे केश एवं लोम

उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार उस अक्षरसे यह विश्व प्रकट होता है।' इस व्यावहारिक सत्तामें परम अव्यक्त अचित् ब्रह्म चैतन्य और ईश्वरभाव धारण करता है अर्थात् तब किसी पदार्थमें रहना, सोचना और आनन्दित होना (सत्-चित्-आनन्द) आरम्भ करता है, और अपने अंदरसे सगुण ईश्वर या स्रष्टाको उत्पन्न करता है और अपने ही लिये (मौज या लीलाके लिये) नाना जीवों और जड़ पदार्थोंका सर्जन करता है। ये जड़ पदार्थ 'यद्यपि हैं उसीके अंश, पर बनते हैं जगत्के विविध दृश्य।' विभिन्न कालों और देशोंके तत्त्ववेत्ताओंद्वारा विकसित विभिन्न दर्शनोंके गूढ़ सिद्धान्त और रहस्य चाहे कुछ भी हों, पर व्यावहारिक सत्ताका यह सगुण ईश्वर ही एकमात्र प्रतीक है जो सामान्य मनुष्यकी समझमें आ सका है और जिसके अनेक रूप मूर्तिकारों और चित्रकारों, कवियों और गवैयोंने बनाये हैं और जिसको श्रद्धालु लोग इसलिये भजते हैं कि मकड़ीके जालेकी तरह वे भी सर्वशक्तिमान् और आनन्दघन ईश्वरको प्राप्त हों जिसमें ऐहिक जीवनकी बद्धता, अपूर्णता, दुःख, दारिद्र्य-दैन्य नष्ट हो जायँ।

इस कल्पनाका बीज उपनिषदोंमें मिलता है जो कि वेदोंका अन्तिम भाग होनेके कारण अथवा 'परम लक्ष्य' होनेके कारण वेदान्त समझे जाते हैं। इस बीजमेंसे, विशेषकर वेदान्तदर्शनमें अंकुर निकले पड़े हैं। पर ये अंकुर दार्शनिकोंकी सूक्ष्म मीमांसाकी लालसाके कारण अतिसूक्ष्म, उपेक्ष्य, अपुष्ट और छिपे-से रह गये हैं। परन्तु वेदान्तको, जो सर्वजनमान्य है, ऐसा होना चाहिये कि वह सबको उन्नति और पूर्णताके रास्तेपर ले जाय और स्थावर-जंगम जीवों
व्यावहारिक सत्तामें जो अभाव, दुःख और
वे दूर हो जायँ। केवल दार्शनिक विचार और वा
बौद्धिक विलासमात्र है। भौतिक विज्ञानके जाने
तरह दार्शनिक भी प्रायः अपनी श्रद्धा और आसि
बैठते हैं। एरोप्लेन, मोटरकार, स्टीमर या रेलवे
बनावटका शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त होनेसे किसी
तद्विषयक प्यास बुझ सकती है, पर इससे किसीको
चरम लक्ष्यके रास्तेपर आनेका आनन्द या लाभ नहीं
सकता। चीनी कैसे बनायी जाती है, यह जाननेवाला
विशेषज्ञ कहला सकता है, पर चीनीकी मिठास
लिये चीनी ही जीभपर रखनी होगी, चाहे आँखें
रक्खे या बंद करके। औपनिषत सिद्धान्तका गु
शिष्यको उन गुप्त मधुर फलोंका समास्वादन क
जिनसे इह-पर-जीवनके सारे दुःख दूर हो जाते हैं
और शान्तिके पथिक, मोक्षके इच्छुक, परमानन्द
यात्रीको उस सगुण साकार चिन्मय ईश्वरकी व्याव
सत्ताका विश्वासी होना होगा जो पात्रापात्रको समझ
सुकृतको पुरस्कृत करता है, सच्चे हृदयकी प्रार्थनाको
है, अपनी ओर आनेवालेके आगे बढ़ते हुए क
देखता रहता है और जो मातापिताके समान अपने
जीवोंकी सहायता करता और उन्हें प्यार करता है।
शास्त्रोंके ग्रन्थ जो कुछ भी कहें या न कहें, लोग जिस
न्तको मानते हैं उस लोकमान्य वेदान्तकी यही
होनी चाहिये और उसका यही अर्थ उसकी लोकमान्
पात्र हो सकता है।

* * *

नाममाहात्म्यम्

वेदान्तसिद्धान्तविचिन्तनञ्च
शास्त्रोक्तदेवादिकपूजनञ्च ।
विहाय सर्वं सततं स्मर त्वं
गोविन्द दामोदर माधवेति ॥

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

वेदान्तके सम्बन्धमें विपरीत धारणा

(लेखक—श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम० ए०)

वेदान्तके सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें पाश्चात्य विद्वान् प्रायः बड़ी गलती करते हैं जो यह समझते हैं कि जिन लोगोंको अनेक देवताओंके होनेकी बातपर तथा यज्ञयागादिकी अमोघतापर विश्वास नहीं हुआ उन्हीं लोगोंकी ये कल्पनाएँ हैं जो उपनिषदोंमें अर्थात् समष्टि नामतः वेदान्तमें ग्रथित हैं। इन पाश्चात्य विद्वानोंमें आजकल डा० विंटरनीज सबसे आधुनिक प्रमाणभूत माने जाते हैं। उन्होंने अपने भारतीय साहित्यके इतिहास (हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर भाग १ पृष्ठ २२६-२२७) में यह लिखा है 'यहाँतक हम लोगोंने यह देखा कि किस प्रकार ऋग्वेदके कुछ सूक्तोंमें ये शङ्काएँ उठी हैं कि देवताओं और याज्ञिक पुरोहितोंका जो सम्प्रदाय लोकमें चल पड़ा है सो कहाँतक ठीक है। ये शङ्का करनेवाले तथा आगे विचार करनेवाले लोग अर्थात् प्राचीन भारतके आद्य तत्त्ववेत्ता इस काममें अकेले ही नहीं पड़े रह गये।' इसके बाद फिर (पृष्ठ २३५ पर) लिखते हैं, 'जब ब्राह्मण अपनी शुष्क यजन-याजनविद्या लिये बैठे थे तब उसी समय अन्य लोग उन महत्तम प्रश्नोंको विचारनेमें लगे थे जिनका इतना सुन्दर निरूपण पीछे उपनिषदोंमें हुआ। ये लोग आदिमें याज्ञिक पुरोहित-सम्प्रदायवालोंकी जातिसे सम्बद्ध नहीं थे और इन्हींमेंसे अरण्यवासी मुनि और परिव्राजक यती निकले जिन्होंने केवल संसार और उसके सुखोंको छोड़ा ही नहीं बल्कि ब्राह्मणोंके यज्ञ-यागादिसे अपने आपको सर्वथा अलग रक्खा।' यह विचार-पद्धति बिल्कुल ही गलत है। ऋग्वेदसंहितामें या किसी भी उपनिषद्में देवताओंकी सत्ता या यज्ञयागादिकी अमोघतापर कोई भी शङ्का नहीं उठायी गयी है। नास्तिकोंकी बात कुछ स्थानोंमें आयी है पर वह यह बतानेके लिये है कि नास्तिकोंका मत सर्वथा अग्राह्य है। उपनिषदोंका मूल इस प्रकारकी शङ्कामें ढूँढ़ने जानेका जरा भी कोई कारण नहीं है।

डा० विंटरनीजने जो वाद उपस्थित किया है उसके लिये जो कारण उन्होंने दिये हैं उनका परीक्षण यहाँ हम करना चाहते हैं। उनका यह कथन है कि देवताओंकी सत्ताके सम्बन्धमें ऋग्वेदसंहितामें शङ्का उठायी गयी है (२।१२, ८।१००, १०।१२१, १०।१२९)।

द्वितीय मण्डलका १२ वाँ सूक्त इन्द्रकी स्तुति है। इन्द्रके पराक्रमोंका वर्णन है और प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें यह कहा गया है कि 'हे मनुष्यो, वह इन्द्र है।' इस सूक्तका अभिप्राय निश्चय ही यह नहीं हो सकता कि इन्द्रकी सत्तापर शङ्का उठायी जाय। एक ऋचामें नास्तिकोंका विषय आया है और उनके बारेमें यह कहा है कि 'जिसके बारेमें वे पूछते हैं कि 'वह कहाँ है', उसके बारेमें वे सचमुच ही यह कहते हैं कि 'वह नहीं है।' उसपर विश्वास करो; क्योंकि वह, हे मनुष्यो, इन्द्र है।......'

इस मन्त्रके द्रष्टाको इन्द्रकी सत्तापर निश्चय ही कोई अविश्वास नहीं था, न उसका यह आशय ही है कि ये नास्तिक एक ईश्वरको ढूँढ़नेवाले कोई बड़े बुद्धिमान् या तत्त्ववेत्ता पुरुष थे।

अष्टम मण्डलका १०० वाँ सूक्त वह है जिसमें कुछ याज्ञिक यह सन्देह प्रकट करते हैं कि इन्द्र वास्तवमें हैं या नहीं, 'इसपर इन्द्र अपनी सत्ता और महत्ताका समाश्वासन देनेके लिये स्वयं प्रकट हुए।' इस सूक्तके ऋषिका आशय भी इन्द्रकी सत्तापर सन्देह कराना नहीं हो सकता। पूर्वोक्त सूक्तके समान इस सूक्तका आशय भी इस विषयमें सन्देहको नष्ट करना ही है।

दशम मण्डलका १२१ वाँ सूक्त हिरण्यगर्भ-सूक्त है। इसमें प्रत्येक ऋचाकी यही टेक है—'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। सायणाचार्य 'कस्मै' पदका अर्थ करते हैं—'प्रजापति देवको'; अर्थात् इस टेकका अभिप्राय यह हुआ कि 'हम प्रजापति देवको हवि देते हैं।' यह अर्थ सर्वथा युक्तियुक्त है। डा० विंटरनीज 'कस्मै' पदका अर्थ 'किसको—किस देवताको' ऐसा करते हैं और यह कहते हैं कि 'किस देवताको हम हवि प्रदान करें?' यही इस ध्रुवपदका अर्थ है। इस तरहसे उनके विचारमें यह मन्त्र अन्य देवताओंको हवि देनेकी अव्यर्थतापर सन्देह प्रकट करता है। यदि हम डा० विंटरनीजका अर्थ भी मान लें तो भी अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि इस सूक्तमें प्रजापतिकी स्तुति है और अन्य देवताओंका गौणत्व है और इसलिये अन्य देवताओंको हवि देनेकी अपेक्षा प्रजापतिको हवि देना अधिक फलदायक है। किसी भी

हालतमें इस सूक्तका यह अर्थ तो हो ही नहीं सकता कि अन्य देवता हैं ही नहीं, क्योंकि इसी सूक्तमें यह भी कहा है कि अन्य देवता प्रजापतिकी आज्ञाकी उपासना करते हैं।

'उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।'

इस प्रकार इस सूक्तमें भी यह बात स्पष्ट है कि अन्य देवताओंकी भी सत्ता है।

दशम मण्डलका १२९ वाँ सूक्त 'नासदीयसूक्त' है जिसमें डा० विंटरनीजको **'बड़ी जबर्दस्त शङ्का'** देख पड़ती है। इस सूक्तसे उन्होंने दो मन्त्रोंका अवतारण किया है जिनमें प्रलयकी अवस्थाका वर्णन है कि किस प्रकार तब वायु नहीं था, जल नहीं था, पृथ्वी नहीं थी और न स्वर्ग था, अकेला ईश्वर ही था। इससे डा० विंटरनीज यह सिद्धान्त स्थापित करते हैं कि यह सूक्त उन अन्य देवताओंका अस्तित्व नहीं मानता जो वेदोंके अन्य भागोंमें वर्णित हैं। डा० विंटरनीजने यहाँ स्पष्ट ही बड़ी भारी गलती की है। प्रलयकी अवस्थामें अन्य देवता नहीं रहते, इस कथनका यह अभिप्राय नहीं हो सकता कि अन्य देवताओंकी कोई सत्ता ही नहीं है। मनुष्य और पशु प्रलयकालमें नहीं रहते, पर अन्य समयोंमें रहते हैं। इसी प्रकार अन्य देवता भी रहते हैं। इस सूक्तमें यह बात स्पष्ट ही कही गयी है कि 'इस जगत्‌की सृष्टिके साथ ही यहाँ देवता आये।' इसलिये देवताओंकी सत्ताके विषयमें कोई सन्देह नहीं हो सकता।

इस प्रकार डा० विंटरनीजका जो यह कहना है कि ऋग्वेदसंहिताके कुछ भागोंमें अन्य देवताओंकी सत्ताके विषयमें सन्देह प्रकट किया गया है सो बिल्कुल ही निराधार है। परन्तु अन्य देवताओंके होनेका अभिप्राय यह नहीं है कि वेदोंका सिद्धान्त अनेकेश्वरवाद है। अनेकेश्वरवादका अर्थ एक दूसरेसे स्वतन्त्र अनेक देवताओंका होना है। यहाँ अनेक देवता तो हैं पर वे एक परमेश्वरके अधीन हैं; इसलिये यह एकेश्वरसिद्धान्त है, अनेकेश्वरवाद नहीं; अन्य देवताओंको उसी एक परमेश्वरने अपने ही अंशसे उत्पन्न किये हैं जैसा कि वेदोंमें कहा है। ऋग्वेदसंहितामें सुप्रसिद्ध पुरुषसूक्तादि अनेक सूक्त हैं जिनमें यह एकेश्वरसिद्धान्त उक्त हुआ है। फिर भी डा० विंटरनीज अपने ग्रन्थमें 'वैदिक भारतीयोंके अनेकेश्वरवाद' की बात कहे ही जाते हैं। यह भी उनकी बड़ी भारी गलती है। ऋग्वेदसंहिताके पुरुषसूक्त, नासदीयसूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त आदि अनेक सूक्तोंमें एक ही परमेश्वरकी सत्ताका वर्णन है। इसलिये वैदिकसिद्धान्त अनेकेश्वरवाद नहीं हो सकता।

यदि डा० विंटरनीजका यह कहना गलत है कि संहिताके कुछ मन्त्रोंमें अन्य देवताओंकी सत्ताप प्रकट किया गया है तो उनका यह कहना भी लोग अन्य देवता या उनके लिये यज्ञ करनेकी आ नहीं मानते थे उन्हींकी कल्पनाएँ उपनिषद्रूप हुई, उतना ही गलत है। इन विद्वान् डाक्टर मान लिया है कि जो लोग एक ईश्वरके मा हैं वे अन्य देवताओंके माननेवाले कदापि न सकते। इस तरह इन्होंने अपनी ही उपनिषद्-ऋषियोंपर लाद दी हैं। उपनिषदोंमें कहीं नहीं कहा है कि अन्य देवता नहीं हैं या उनके लि करना व्यर्थ है। इसके विपरीत अनेक स्थानोंमें देवताओं तथा उनके लिये यज्ञोंका वर्णन है। उ अवश्य ही यह बतलाते हैं कि यज्ञ ही जीवनके पर नहीं हैं। पर इसका कारण यह है कि स्वर्गनिवास नहीं है, जो पुरुष स्वर्ग प्राप्त करता है उसे कुछ का इस मृत्युलोकमें फिर जन्म लेना पड़ता है। केवल परमेश्वरकी प्राप्तिसे ही पुरुष जन्म-मृत्युके चक्रसे है। इसलिये जीवनका परम लक्ष्य परमेश्वर है जो परमात्मज्ञानसे ही हो सकती है। उपनि यह आदेश है कि स्वर्गप्राप्तिके लिये यज्ञ न चाहिये, क्योंकि स्वर्गके दिव्य भोग भोगनेकी परमात्मप्राप्तिके साधनमें बाधक है। परन्तु उपनिष यह भी आदेश है कि यज्ञ अवश्य करना चाहिये चित्त शुद्ध और परमात्मज्ञानके उपयुक्त हो। उपनिष ही यह निर्देश है कि विहित यज्ञोंके किये बिना उपनिषदोंके मन्त्रोंका मनन किसी काम न आवे कारण, यज्ञकर्मके बिना चित्त शुद्ध नहीं होता और ज चित्तशुद्धि न हो तबतक चाहे कोई कितना ही अधी वह उस अध्ययनमात्रसे परमेश्वरको नहीं जान सक इसलिये यज्ञकर्म और उपनिषद् इनमें परस्पर यदि विरोध हो तो वह केवल डा० विंटरनीजके दिमागमें ही

ऐसी विपरीत धारणाएँ सामान्यतः बहुतेरे पा विद्वानोंमें समायी हुई हैं। इससे भी अधिक दुःखकी तो यह है कि पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षासे सम्पन्न भार विद्वान् भी ऐसी ही गलतियाँ करते हैं। उपनिषत्-सम्ब इनका ज्ञान प्रायः पाश्चात्य विद्वानोंके ही ग्रन्थों लिया हुआ रहता है और इसलिये उनकी गलतियों कुसंस्कारोंको वे भी अपना लेते हैं।

वेदान्तके सम्बन्धमें कुछ गलतियाँ ऐसी भी होती हैं जो वेदान्तका नाममात्रको अध्ययन करनेवाले लोग किया करते हैं। उपनिषदोंमें यह कहा है कि केवल ब्रह्म ही सत्य है और बाकी सब भ्रम है, इसलिये ये लोग यह समझते हैं कि शास्त्रोंमें जो आचारधर्म है उसे माननेकी कोई आवश्यकता नहीं। परन्तु वेदान्तका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे यह अभिप्राय नहीं है। उपनिषत् कहते हैं—'सत्यं वद' 'धर्मं चर'। शास्त्रनिर्दिष्ट विधिनिषेध ही धर्म हैं। जो पुरुष शास्त्रविधिका अनुसरण करता है उसका चित्त शुद्ध और परम ज्ञान ग्रहण करनेयोग्य होता है। धर्माधर्मके अन्य फल भी हैं। धर्माचरण करनेवाला पुरुष स्वर्गको प्राप्त होता है और अधर्माचरण करनेवाला पुरुष नरकको जाता है। उपनिषद् इन सिद्धान्तोंको नहीं काटते। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि जो उपनिषद् ब्रह्मके सिवा और सबको भ्रम बतलाते हैं वे स्वर्ग-नरककी बातोंका समर्थन कैसे कर सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि स्वर्ग और नरक भ्रम हो सकता है पर जबतक ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता तबतक तो पुरुष स्वर्ग-नरकके सुख-दुःखसे सुखी अथवा दुःखी हुआ करता है जैसे इस लोकके विषयोंसे होनेवाले सुख-दुःखोंमें लिप्त रहता है। बात यह है कि श्रीमत् शङ्कराचार्य इस जगत्की तथा स्वर्ग और नरककी 'व्यावहारिक सत्ता' तो मानते ही हैं, यद्यपि इनकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। जबतक मनुष्य परमात्मतत्त्वको नहीं प्राप्त होता तबतक उसे शास्त्रविहित धर्माचरण करना ही होगा, यदि वह यह चाहता हो कि हमें कोई दुःख न हो और हमारा अन्तःकरण भी शुद्ध हो। इससे यह बात आयी कि जातिके अनुसार खान-पान और जात-पाँतके जो बन्धन हैं वे वेदान्तमें ग्राह्य हैं। वेदान्तमें जातिभेदका विषय अनेक स्थानोंमें आया है। वर्णाश्रमधर्म वेदोक्त है (और वेदोंमें वेदान्त आ ही जाता है) और यह धर्म यह बतलाता है कि किस प्रकार भेदोंके द्वारा अभेदको प्राप्त होना चाहिये।

वेदान्तके सम्बन्धमें दूसरा हेत्वाभास यह है कि वेदान्तकी शिक्षा जब यह है कि परमेश्वर अरूप और अदृश्य है तब परमेश्वरके अवतारों और उसकी मूर्तियोंका पूजन करना तो ठीक नहीं है। यह बात सच है कि ईश्वर अरूप है और अदृश्य है; पर उसके इस अदृश्य-अचिन्त्य स्वरूपको समझना और उसका पूजन करना सबकी सामर्थ्यमें नहीं है। इसलिये अन्यान्य विषयोंकी तरह इस विषयमें भी, हिन्दू-शास्त्रोंमें, अधिकारीभेदका विचार है। केवल वही पुरुष ईश्वरके अदृश्य-अचिन्त्य स्वरूपका पूजन कर सकता है जो इन्द्रियादिसे अनुभूत सुख-दुःखादि वेदनाओंसे विचलित नहीं होता। ऐसा पुरुष, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि विरला ही होता है। सामान्यजनोंके लिये समुचित साधन यही है कि वे श्रीभगवान्के अवतारकृत्योंका मनन करें। भगवान्के अगोचर स्वरूपका अर्चन उनके लिये हानिकर यदि न हो तो व्यर्थ तो है ही। इसमें उनकी योग्यता नहीं है—अधिकार नहीं है। यदि वे श्रद्धाभक्तिपूर्वक ईश्वरके अवतारों; विभूतियों और मूर्तियोंका पूजन-अर्चन करें तो क्रमशः वे इस योग्य होंगे कि ईश्वरके निरपेक्ष अद्वितीय स्वरूपको प्राप्त हो सकें।

अन्तमें एक भ्रमका और निवारण करना है। बहुत-से लोग यह समझते हैं कि वेदान्त और श्रीमत् शङ्कराचार्यका सिद्धान्त एक ही चीज है। श्रीमत् शङ्कराचार्यका सिद्धान्त वेदान्तके प्रतिपादनका एक मार्ग है—अवश्य ही बड़ा दिव्य मार्ग है। पर यही एकमात्र मार्ग नहीं है। रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि आचार्योंने भी अपने-अपने ढंगसे वेदान्तका प्रतिपादन किया है। शाङ्करसिद्धान्तमें जगत् माया—भ्रम है, अन्य आचार्योंने यह मायावाद नहीं स्वीकार किया है। इन आचार्योंका यह कहना है कि जगत् मिथ्या केवल इसी एक अर्थमें है कि यह चिर-चञ्चल है। इसलिये वेदान्तको माननेमें यह आवश्यक नहीं कि श्रीमत् शङ्कराचार्यका मायावाद भी अवश्य ही माना जाय।

वेदान्त अत्यन्त गहन विषय है और यदि कोई इस विषयमें अपनी ही बुद्धिका भरोसा करे तो भ्रान्तिका होना अनिवार्य है; क्योंकि मनुष्यकी बुद्धि सामान्यतः अनेक प्रकारके कुसंस्कारों और पूर्वग्रहोंसे दूषित होती है। इसलिये यह जानना परम आवश्यक है कि जिन पूर्वाचार्योंने अपने जीवन वेदान्तके अध्ययन और मननमें लगा दिये उनका इस विषयमें क्या वक्तव्य है। इसके लिये जिज्ञासुको वेदव्यासके ब्रह्मसूत्र तथा इन ब्रह्मसूत्रों और उपनिषदोंपर श्रीमत् शङ्कर, रामानुज, मध्व आदि महात्मा आचार्योंके भाष्य पढ़ने चाहिये। यह भी बहुत अच्छा होगा कि इस विषयका अध्ययन किसी ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप रहकर किया जाय।

* * *

ईश्वर सब है

(लेखक—वेदान्तरत्न श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त एम० ए०)

वेदान्तने ब्रह्मका 'एकमेवाद्वितीयम्' कहकर वर्णन किया है अर्थात् ब्रह्म एक ही है अर्थात् अद्वितीय है।

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

(छान्दोग्य० ६।२।१)

अर्थात् 'ईश्वर केवल ऐक्य नहीं है बल्कि अद्वितीय वैलक्षण्य है।'

न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत्पश्येत्।

(बृह० ४।३।२३)

'केवल यही नहीं कि 'और कोई ईश्वर नहीं है, एक ही ईश्वर है' ('एक एव महेश्वरः'), बल्कि ईश्वर ही सब कुछ है।'

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳ सर्वमिति।

(छान्दोग्य० ७।२५।१)

'वह ऊपर है, वह नीचे है, वह पीछे है, वह सामने है, वह दक्षिण ओर है, वह उत्तर ओर है, यही नहीं बल्कि वही यह सब कुछ है।' उससे अलग और उसके परे और कुछ भी नहीं है।

इसलिये वेदान्तकी यह स्पष्ट, संक्षिप्त और असन्दिग्ध घोषणा है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। पर क्या यह बात इस विविध नामरूपात्मक आन्तर-बाह्य जगत्के सामने ठहर सकती है जो कि हमें प्रतिक्षण इन्द्रियोंद्वारा अनुभूत हो रहा है? व्यक्तरूपमें यह विविधता अवश्य है, पर वेदान्तका अद्वैतसिद्धान्त यह विश्वास दिलाता है कि 'नेह नानास्ति किञ्चन', नानात्व यहाँ कुछ भी नहीं है।

वेदान्तको यदि हम उसके मूल उद्गमस्थान अर्थात् उपनिषदोंमें देखें तो यह पता लगता है कि वहाँ अद्वैतका दो प्रकारसे प्रतिपादन हुआ है—(१) यह कहा गया है कि नानात्व, द्वैत केवल माया है; और (२) यह दिखाया गया है कि यह विविध बाह्य जगत्, विवेकदृष्टिसे देखनेपर निरपेक्ष ब्रह्मके व्यक्त होनेका एक प्रकारमात्र है।

बृहदारण्यकमें कुछ ऐसे वाक्य हैं जो बतलाते हैं कि 'जगत् है—जैसा है'। ('इव' शब्दका प्रयोग है।)

'यत्र हि द्वैतमिव भवति।'

(२।४।१४)

'यत्र वान्यदिव स्यात्।'

(४।

'य इह नानेव पश्यति।'

(४।

इन वाक्योंमें विशुद्ध अद्वैत ध्वनित है। का बाह्य जगत् सत्य होता अर्थात् भ्रमके अतिरिक्त होता तो 'इव' का प्रयोग क्यों होता? इसलिये ब्रह्मसूत्रोंमें इस प्रकार उपसंहार करते हैं—

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्

(३।

अर्थात् जगत्की सत्ता है उसकी प्रतीति। प्रतीति जहाँतक है वहींतक उसकी सत्ता है—'प्रतीतिमा भाति विश्वं चराचरम्।' यह वस्तुतः वाचारम्भ है। इसीलिये ऋग्वेदके प्राचीन ऋषियोंने कहा कि सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (वह एक ही है, उसे अनेक सद्विप्र पुकारते हैं)। यह विषय श्वेतकेतुके पिताने उ देकर बहुत अच्छी तरहसे छान्दोग्योपनिषद्में समझा

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं वि स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव स यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳ स्या चारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्॥ सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातꣳ स्या चारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेव स आदेशो भवतीति।

(७।१।४-

श्वेतकेतुके पिता अपने विवेकवान् पुत्रसे कहते सौम्य! जैसे तुम मिट्टीके ढेलेको जानकर मिट्टीके पदार्थोंको जान लेते हो, कारण, ये सब विकार (नाम वाचारम्भणमात्र हैं, सत्य तो केवल एक मृत्तिका ही जैसे सुवर्णकी कोई एक वस्तु जाननेसे सुवर्णके सब जान लेते हो, कारण, ये सब विकार वाचारम्भणमात्र सत्य तो एक सुवर्ण ही है; जैसे नखसे खरोंचकर किसी टुकड़ेको जानकर लोहेकी सब चीजोंको जान हो, कारण ये सब विकार वाचारम्भणमात्र हैं, सत्य एक लोहा ही है; वैसे ही इस विश्वकी बात है, इ सत्य अद्वितीय ब्रह्म है।' वही ब्रह्म नामरूपात्मक वि

जगद्रूपमें भासता है। वह ब्रह्म ही केवल है, बाकी सब भासता है। इसीको वेदान्तने विवर्त्त कहा है—अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदाहृतः—जिसमें एकमात्र सत्पर अध्यासके द्वारा नानाविध जगत् अध्यारोपित है। इसीको श्रीमत् शङ्कराचार्य कहते हैं कि यह अध्यास है—अतत्में तद्बुद्धिका होना—'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः।' (ब्रह्मसूत्र १।१।१ शाङ्करभाष्य)

इस विषयमें सुप्रसिद्ध दृष्टान्त रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत और मरीचि-मरीचिकाका है जिसमें भ्रमसे रज्जु साँप मालूम होता है, सीप चाँदी मालूम होती है और सूर्यरश्मि जलप्रवाह। इसी जलप्रवाहको मृगजल कहते हैं। 'जब वायु शान्त है और भूमि अति उष्ण, तब मिश्रकी भूमि दूरसे ऐसी देख पड़ती है जैसे कोई झील हो और मकान जैसे किसी अपार समुद्रमें टापू हों।

अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि वर्तते।
रौप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा॥

यह दृष्टान्त तो बड़ा अच्छा है; पर बाह्य जगत्के सम्बन्धमें यह अध्यारोप कैसे समझा जा सकता है?

पाश्चात्य नव्यमनोविज्ञानसे **'सजेश्शन'** (सूचना) नामकी एक चीज मालूम हुई है, जिसमें आपरेटर (सजेश्शन-कर्ता) केवल अपने मनस्संकल्पसे 'सबजेक्ट' (संकल्पपात्र व्यक्ति) को ऐसे जनसंसदमें सिंहका दर्शन करा देता है जहाँ सिंहके आनेकी कोई सम्भावना नहीं और जहाँ सिंह आता भी नहीं; अथवा निरभ्र आकाशमें पूर्णचन्द्रकी चाँदनीमें घनघोर वर्षाका अनुभव करा देता है। हिपनॉटिज्मसे होनेवाला यह वैयक्तिक भ्रम है। इसीको हमलोग इस देशमें इन्द्रजाल कहते हैं—जादूका खेल जिसमें अधरमें लटकी हुई रस्सीपर नटका नाच सबसे बड़ी हिकमत है। श्रीशङ्कराचार्यके समयमें यह खेल हुआ करता था और इसका उन्होंने प्रसंगसे उल्लेख किया है।* पर इसकी सत्यतापर इधर कुछ कालसे कुछ लोगोंको सन्देह होने लगा है, इसलिये मैं जादूके वैसे ही एक खेलका वर्णन यहाँ उद्धृत करता हूँ जो बादशाह जहाँगीरने देखा था और उनके दास्तानमें लिखा है—

'तब एक आदमीको वे सामने लाये, उसका एक-एक अंग काटकर उन्होंने अलग किया, वास्तवमें धड़से सिर अलग कर दिया। इन सब कटे हुए अंगोंको जमीनपर उन्होंने छितरा दिया, कुछ देरतक इसी हालतमें ये सब अंग पड़े रहे। तब उन्होंने एक चादर जमीनपर बिछायी, एक आदमी उस चादरके नीचे चला गया और थोड़ी देरमें उस आदमीके साथ लौटा जिसके अंग कटे अभी-अभी सब लोगोंने देखे थे। यह बिल्कुल स्वस्थ और सुखी था, उसे देखकर कोई भी शपथपूर्वक यह कह सकता था कि इसके तो कभी कोई घाव या चोट नहीं लगी।' (बादशाह जहाँगीरके दास्तान—मेजर डेविड प्राइसकृत अंगरेजी अनुवाद।)

इसी सूत्रसे आकाशमें आरोहण करनेवाले नटके दृष्टान्तको लेकर श्रीशङ्कराचार्य आगे कहते हैं—

लोकेऽपि देवादिषु मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादिसृष्टयो दृश्यन्ते। तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकप्रकारा सृष्टिर्भविष्यति।

(ब्रह्मसूत्र २।१।२८ पर भाष्य)

जब कोई इस भ्रमको भेद सके, अविद्याको दूर कर सके, तब यह भ्रम सदाके लिये जाता रहे।

रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति तज्ज्ञानाद्भासते न हि।

'रज्जुके अज्ञानसे साँप भासता है, उसके ज्ञानसे नहीं भासता।'

अतः वेदान्तका यह सिद्धान्त है कि जब तुम एक ब्रह्मको अनुभव करोगे तब यह दृश्य नहीं रह जायगा।

यदा सर्वमात्मैवाभूद्विजानतस्तदा कं केन पश्येत्।

(बृह० २।४।१३)

श्रीमच्छङ्कराचार्य कहते हैं—

यथा च मायावी स्वयं प्रसारितां मायामिच्छयानायासेनैवोपसंहरति एवं शारीरोऽपीमां सृष्टिमुपसंहरेत्।

(ब्रह्मसूत्र २।१।२१ पर भाष्य)

इस प्रकार यह संक्षेपमें शुद्धाद्वैतकी दृष्टिसे अद्वैतका निरूपण है।

दूसरा निरूपण विशिष्टाद्वैतकी दृष्टिसे है। बृहदारण्यकोपनिषत्का यह वचन है—

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो

---

* यथा च मायाविनश्चर्मखड्गधरात् सूत्रेणाकाशमधिरोहतः स एव मायावी परमार्थरूपो भूमिष्ठोऽन्यः। (ब्रह्मसूत्र १।१।१७ का भाष्य)

गृहीतः । स यथा शङ्खस्याध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः । स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः । (२।४।७–९)

'जैसे दुन्दुभीके बजनेसे जो शब्द होता है वह दुन्दुभीसे भिन्न नहीं समझा जा सकता, दुन्दुभीकी सत्तासे ही दुन्दुभीके उस शब्दकी सत्ता है; जैसे शंखके बजनेसे जो शब्द होता है वह शंखसे भिन्न नहीं समझा जा सकता, शंखकी सत्तासे ही शंखके शब्दकी सत्ता है; जैसे वीणाके बजनेसे जो शब्द होता है वह वीणासे भिन्न नहीं समझा जा सकता, वीणाकी सत्तासे ही वीणाके शब्दकी सत्ता है, वैसे ही यह जो सब कुछ है वह आत्मा है ।'

इसी प्रसंगमें डा० डासन कहते हैं, 'आत्मा वाद्य (दुन्दुभी, शंख, वीणा) है, दृश्य जगत् उस वाद्यका शब्द। यह शब्द तभी गृहीत होता है जब वाद्ययन्त्र गृहीत होता है, उसी प्रकार यह बहुविध जगत् तभी जाना जाता है जब आत्मा जाना जाता है ।'

(फिलासफी आफ दि उपनिषत्स पृ० ७६)

आधुनिक विज्ञानके जो चरम सिद्धान्त हैं उनसे इसका समर्थन होता है । आधुनिक विज्ञानके हिसाबसे इस जगद्रूप संघातका अन्तिम विश्लेषण इसे दो कोटियोंमें विभक्त करता है, अचेतन और सचेतन—स्थावर और जंगम । जब अचेतन पदार्थोंको तोड़कर उनका विश्लेषण किया जाता है तो उनसे ऐसे ९० तत्त्वोंका पता लगता है जिनपर कुछ भौतिक शक्तियोंकी जैसे उष्णता, प्रकाश, विद्युत् आदिकी सदा क्रिया होती रहती है और जो इस क्रियासे संघातको प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार, जो कुछ भी सचेतन है वह प्राणके अणु-परमाणुओंसे संघटित है । ये अणु-परमाणु उपर्युक्त द्रव्योंमेंसे कुछके संघातरूप सचेतन करणके द्वारा अपना जीवन प्रकट करते हैं ।

अभी कुछ काल पूर्वतक वैज्ञानिकोंका यह निश्चित मत था कि ये उपर्युक्त तत्त्वनामधारी द्रव्य यथार्थमें अणु हैं और इनका विभाग या पृथक्करण नहीं हो सकता । परन्तु यह भ्रम अब जाता रहा और यह सिद्धान्त हुआ है कि अबतक मूलतत्त्व कहकर जो पदार्थ माने गये थे वे सब यथार्थमें एक ही मूलतत्त्वके विकारमात्र हैं । इस मूलतत्त्वको सर विलियम क्रुक्सने 'प्रोटाइल' नामसे अभिहित किया है । यह संकेत तो मैं पहले ही कर चुका हूँ कि प्रोटाइलके
भी कुछ शक्तियाँ हैं जैसे उष्णता, प्रकाश, विद्युत्
एक समय था जब भौतिक विज्ञान इन शक्तियोंको
असम्बद्ध मानता था, पर अब यह सिद्धान्त हु
प्रत्येक शक्ति (प्राणशक्ति और मानसशक्ति भी)
या अप्रत्यक्षरूपसे अन्य शक्तियोंमें परिवर्तित की
है । इनका परस्पर विभेद मुख्यतः दृश्य पदार्थके
गतिके भेदसे है' (डोलबेअर) । अतः हर्बर्ट स्पेन्सरको

'सचेतन पदार्थकी चेतनाके रूपसे जो श
होती है वह उसी शक्तिका स्थित्यन्तरको प्राप्त
जो शक्ति चेतनाके बाहर प्रकट होती है ।'

वेदान्तमें इन सब बातोंका विचार पहलेसे ही
है । वेदान्तके सारस्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है
जो ज्योति प्रकाशमान है, अग्निसे जो उष्णता नि
पृथ्वीमें जो आकर्षणशक्ति है, शरीरमें जो प्राण
और अन्तःकरणसे होकर जो चेतना प्रकट होती है
एक ही विश्वव्यापिनी भागवत शक्तिके रूप हैं।

इस प्रकार भौतिक विज्ञान अपनी विश्लेषण
परमावस्थामें जगत्की बहुविधताको, जड और श
द्विविधतामें लाकर छोड़ता है । सांख्योंका प्रकृ
पुरुष यह जो द्वैत है, इसीका यह एक निकृष्ट
सांख्योंकी प्रकृतिमें जड और शक्ति दोनों एक
दोनोंका एक दूसरेसे अलगाव नहीं हो सकता—'सं
क्षरमक्षरं च', अर्थात् पदार्थ स्थावर हो या जंगम
बनावटमें जड और शक्ति दोनोंका संघात है ।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय

(गीता

तात्पर्य, पाश्चात्य भौतिक विज्ञान जिस महाद्वैत
हुआ है वह यही है । इसीको उपनिषदोंमें रयि औ
या अन्न और अन्नाद कहा है । अब यह देखना
क्या इन दोनोंका भी कोई समन्वय हो सकता है
कोई द्वैत रह ही न जाय ? हाँ, हो सकता है । आजसे
वर्ष पहले ही हमारे पूर्वज और पूर्वाचार्य हिन्दूधर्मके
ऋषियोंने यह समन्वय कर रक्खा है । श्रीमद्भगवद्गी
और शक्तिको ब्रह्मको परा और अपरा प्रकृति कहा
ब्रह्म इन दो विधियों या प्रकारोंसे प्रकट होता है ।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्

(गीता

पुराणोंमें इसी सिद्धान्तका अनुवाद है। विष्णुपुराण उसी एक ब्रह्मका निर्देश करता है जिसमेंसे प्रधान और पुरुष दोनों निकले—

यतः प्रधानपुरुषौ ।

फिर यह भी लिखा है कि जब 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' ने व्यक्त होनेकी इच्छा की—'एकोऽहं बहु स्याम्'—तब उसकी प्रकृतिके दो विभाग हुए—जड और चित्—जड और शक्ति जो प्रलयकालमें फिर उसी एकत्वको प्राप्त होते हैं जिससे वे निकले।

प्रकृतिर्या मयाख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी ।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि ॥
(विष्णुपुराण ६ । ४ । ३८)

परमात्माको इसीलिये अन्वर्थकतया नारायण—नारोंके अयन (आश्रय)—कहते हैं। नारा क्या है ? यह प्रथमतः एकरस सम्पूर्ण प्रकृति है—'आपो नारा इति प्रोक्ताः' (मनु०); और द्वितीयतः, यह सब नारोंका, भागवत शक्तिकी मानव-गतिसमेत समस्त विविध गतियोंका समूह है। उपनिषदोंने साररूपसे यही बात इस प्रकार कही है—'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति'। इसीलिये ईश्वरको प्रधानक्षेत्रपति या प्रधानपुरुषेश्वर कहते हैं। इस प्रकार विशिष्टाद्वैतकी दृष्टिसे ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और जड तथा शक्ति उसके व्यक्त होनेके प्रकार हैं। अतः वेदान्तकी जो यह घोषणा है कि, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् 'ईश्वर ही सब कुछ है' सर्वथा न्यायसंगत ही है।

साधन-चतुष्टय

(लेखक—श्रीकृष्णप्रेमजी)

ब्रह्मविद्या कोई ऐसी चीज नहीं है जो किसी भी अन्य विषयकी तरह केवल बौद्धिक अध्ययनसे समझमें आ जाय। 'जहाँसे मन, कुछ पता न पाकर, इन्द्रियोंसहित लौट आता है' वह स्थान केवल बुद्धिगम्य नहीं है चाहे कोई कितना ही बुद्धिमान् या विद्वान् हो। इसके लिये ऐसी साधनाओंकी ही आवश्यकता है जिनका हमारे आधुनिक विश्वविद्यालयोंमें कोई नाम-निशान नहीं है। वेदान्तको केवल ऐसे शब्द-जंजालके रूपमें ही ग्रहण न करना हो कि जो विद्वानों और पण्डितोंके ही कामकी चीज हो तो इसके लिये साधना अनिवार्यरूपसे आवश्यक है।

ब्रह्मविद्याकी जिसे जिज्ञासा है और जो उस अमृतत्वके मार्गपर चलना चाहता है उसके लिये अति प्राचीन परम्परासे साधन-चतुष्टयका मार्ग निर्दिष्ट चला आया है। यह मार्ग है—विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इस परम्पराको नहीं मानते और यह कहते हैं कि यह केवल श्रीशङ्कराचार्यका मत है। पर बात ऐसी नहीं है, यह तो इसीसे स्पष्ट है कि श्रीरामानुजाचार्यने अपने श्रीभाष्यमें भी इन्हीं साधनोंको लिया है।

यह साधन-चतुष्टय श्रीमच्छङ्कराचार्यसे बहुत ही पहलेसे चला आया है, और यद्यपि यही एकमात्र साधन-निर्देश नहीं है, और भी हैं, तथापि इस साधन-चतुष्टयमें अति संक्षिप्तरूपमें वे सब बातें आ गयी हैं जो प्रत्येक वास्तविक धर्मसम्प्रदायमें इस पथके पथिकके लिये आवश्यक बतायी गयी हैं। नामके लिये कोई झगड़ना चाहें तो झगड़ सकते हैं, एकके स्थानमें अपनी पसन्दका दूसरा नाम रख सकते हैं; पर साधन जो चीज है उसकी उपेक्षा तो नहीं की जा सकती। कारण, साधनोंके बिना इस मार्गपर कोई चल ही नहीं सकता, और कोई साधनहीन अनधिकारी पुरुष चले तो इस 'क्षुरकी धारवाले' पथसे निश्चय ही गिरेगा और या तो शुष्क नीरस बौद्धिक ज्ञानके चट्टानसे टकराकर चकनाचूर होगा या असंयत भावनावेशके खौलते हुए पंकमें जा धँसेगा।

पहला साधन है विवेक अर्थात् सत्-असत्, नित्य-अनित्यको पहचाननेकी शक्ति। भगवान् बुद्धदेवके अष्टविध सन्मार्गमें इसीका नाम 'सम्यग् दृष्टि' है। जबतक सत्-असत्की पहचान नहीं होती तबतक सत्का अनुगमन नहीं बनता। किसी भी विषयके अध्ययनमें अध्ययनके विशिष्ट विषयको उससे सम्बद्ध अन्य पदार्थोंसे पृथक् कर लेना पड़ता है। ब्रह्मविद्या सनातन सत्का ज्ञान है, इसलिये महाप्रयास करके इस सनातनको प्रतिक्षण बदलनेवाले उस असत्से पृथक् कर लेना होगा जिसके साथ सत् मिला हुआ हमें अनुभूत होता है।

इतना कहनेमात्रसे कुछ नहीं होगा कि हाँ, हाँ, ईश्वर सनातन है और संसार क्षणिक—परिवर्तनशील है

अथवा 'आत्मा अमर है और बाकी सब मर्त्य है' यह कहा और बस समझ लिया कि विवेक हो गया। पर शब्दोंसे विवेक नहीं होता; केवल शब्द तो निरर्थक हैं, असल चीज है अर्थानुभूति।

सनातन सत् सर्वत्र है और पदार्थमात्रमें विद्यमान है। सब पदार्थोंमें, अग्निशलाकाकी तुरंत बुझनेवाली ज्वालासे लेकर हिमालयके पुरातन शिखरोंतक, एक दिनकी जिंदगीवाली तितलीसे लेकर शतायुर्मानवाले मनुष्यतक, सबके दो स्वरूप हैं—एक अगोचर सनातन स्वरूप है और दूसरा गोचर प्रतिक्षण परिवर्तनशील रूप है। जो सनातनकी खोजमें है उसे सनातनके साथ एकत्वलाभ करना होगा, और इस एकत्वको लाभ करनेके लिये उसे पहले सब पदार्थोंमें सनातनको देखना सीखना होगा।

बाह्य जगत्‌में उसे प्रकृतिके सनातन नियमों और उन नियमोंके अनुसार चलनेवाले क्षणिक रूपोंके बीच विवेक करना सीखना होगा। आन्तर जगत्‌में उसे चित्तवृत्तियोंके चिरचाञ्चल्य और उन्हें भासित करनेवाले 'आत्मबोध' के बीच, वृत्तियों और जिसकी ये वृत्तियाँ हैं उस अपने बीच, अपने विचारों और इनका जो विचारकर्ता है उस अपने बीच पार्थक्य करना होगा।

जब वह अपने-आपको, विचारकर्ताको अलग कर ले तब भी अपनी अहंताके भावोंको, उन भावोंको जो उसे एक विशिष्ट व्यक्ति बनाये हुए हैं उस सद्वस्तुसे बराबर अलग करता रहे जो सनातन है और सबमें एक है।

सामान्य मनुष्यकी जीवनपद्धति इसके सर्वथा विपरीत होती है। वह पदार्थगत भेदोंको ही देखता है और जीवनके बाह्य रूपके साथ अपने-आपको मिला देता है। उसे अपने वर्ण और जातिका अभिमान होता है या अपनी परिपक्व बुद्धिपर गर्व होता है। वह यह नहीं समझता कि सब वर्ण और जातियाँ, सब शरीर और बुद्धियाँ क्षणभङ्गुर चीजें हैं जो आज या कल नष्ट होनेवाली हैं। क्षणभङ्गुरके साथ अपने-आपको मिलाकर, आप ही क्षणभङ्गुर बन जाता है और मृत्युपथपर चलता है। उपनिषदोंमें ऐसे मनुष्यको 'आत्महन्' आत्महत्यारा कहा है; क्योंकि वह सनातन आत्माको न देखकर क्षणिक रूपोंको अपनाता है, और यद्यपि वास्तवमें है वह अमर ही, तथापि इस तरहसे मृत्युके चक्कर काटता रहता है।

विवेक इस प्रकारके जीवनके विपरीत है। नि
कभी करनेकी चीज न होनी चाहिये। जब ध्यानमें
अथवा कभी वेदान्तविचारकी कोई धुन समा
लिये विवेक नहीं है। यह सतत निरन्तर
अभ्यासका काम है। इसका इतना अभ्यास
चाहिये कि रेलवे स्टेशनपर ट्रेनके आनेकी प्रतीक्षामें
वैसी ही शान्ति होनी चाहिये जैसी कि गङ्गाके
ध्यान करते होती है अथवा तंग करनेवाले
कष्टप्रद उपस्थितिमें भी वही आनन्द आना
साधुसंग और वार्ताप्रसङ्गमें आता है।

इससे फिर दूसरा अधिकार अर्थात् वैराग्य प्रा
है। यह कोई न समझे कि इन चार साधनोंमेंसे
साधन स्वयं ही पूर्ण हो सकता है और उसमें दूसरेकी
नहीं होती। किसी भी साधनके पूर्ण होनेके पूर्व सभी
की आवश्यकता होती है। यह साधन-चतुष्टय है, चा
भिन्न साधन या सोपान-जैसे नहीं जो एक-एक क
जायँ बल्कि एक ही रस्सीके चार बल या भाँज हैं
दूसरेमें बटे हुए हैं। जो कोई इस रस्सीको पकड़कर
चढ़ना चाहेगा उसे रस्सीको ही पकड़कर चढ़ना
अलग-अलग बलको नहीं।

वैराग्य कहनेसे हमलोगोंकी कल्पनामें ऐसे बा
आ जाते हैं जो नंगे वदन और भभूत रमाये
दुनियासे जिन्हें घृणा है, बाल-बच्चोंको जिन्होंने छोड़
है और जिनका निवासस्थान कोई श्मशान या
कोई गुफा है। वैराग्य अनेक रूपोंमें प्रकट हो
उनमेंसे यह भी एक नैमित्तिक रूप है, वैराग्य नहीं।
संसारसे घृणा करना या कर्तव्यकर्म छोड़ देना नहीं है
संसारसे अनासक्त होना और अनासक्तिपूर्वक
कर्मका पालन करना है; और यह वैराग्य एक गृहस्थ
भी उतना ही प्राप्त हो सकता है जितना कि किसी
रमनेवाले यतिको।

जो कुछ सनातन है उसे जो कुछ क्षणिक है
पृथक् करके ग्रहण करना सीखनेके बाद साधकको
पदार्थोंसे दृढ़तापूर्वक हट जाना चाहिये जो कि मर्त्य
परिवर्तनशील हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह
सामाजिक कर्तव्योंसे भाग जाय। वैराग्य इतना
नहीं है; क्योंकि सबसे अधिक चञ्चल और परिवर्त
पदार्थ तो अपना मन ही है और इस मनको छोड़क

कोई कहाँ जाय ? कहीं भी जाओ, मन तो संग ही रहेगा। इसका यह भी अभिप्राय नहीं है कि मनुष्य अपने जीवनकी दुःखद बातोंको ही लिये रोता बैठा रहे। जीवनकी दुःखद बातें सुन्दर मनोहर उत्साहप्रद बातोंसे अधिक सच्ची और स्थायी नहीं हैं। कुरूप और दुर्गन्धवाले नालेका यहाँ जैसा अस्तित्व है वैसा ही महामहिम महासागरका भी है। इसलिये सदा दुःखद बातोंको लिये दुश्चिन्त रहना कोई अच्छी वृत्ति नहीं है यद्यपि किसी-किसी खास अवसरपर इसका भी कुछ उपयोग होता है। पर है यह वृत्ति खराब ही और यह उस समत्वसे सर्वथा विपरीत है जिसे गीताने योगका सारतत्त्व कहा है—'समत्वं योग उच्यते।'

सच्चा वैराग्य सड़नेवाले मुर्दोंका या ऐसे ही दृश्योंका चिन्तन करना नहीं है प्रत्युत यह है ऐसे सभी पदार्थोंसे आन्तरिक अनासक्ति कि जो क्षणभङ्गुर हैं चाहे वे सुख देनेवाले हों या दुःख देनेवाले। सामान्य मनुष्यका मनोहर पदार्थोंकी ओर बड़ा ही प्रबल वेग होता है और दुःखद पदार्थोंकी ओरसे उतना ही भयङ्कर उद्वेग होता है। वैरागी या वीतराग वह है जो यह देखता है कि सुख और दुःख दोनों ही विकासक्रममें काम आनेवाली वृत्तियाँ हैं और अपने अन्तरात्माको उनसे आकर्षित या विकर्षित नहीं होने देता। वह अपने उस साक्षिचैतन्यके साथ अपना एकत्व स्थापित करता है जो सुख-दुःख दोनोंमें सम रहता है। जीवनमें जो नानाविध अनुभव होते हैं उन्हें वह अपने सामने सिनेमाके चित्रोंके समान देखता है जो सामने आ-आकर निकल जाते हैं, सबसे कुछ-न-कुछ बोध ग्रहण करता है पर आसक्त किसीमें भी नहीं होता।

यही आन्तरिक अनासक्ति असली चीज है और साधक इसे गुफाओं या श्मशानोंमें जाकर रहनेके बजाय जीवनके सामान्य कर्तव्योंका पालन करते हुए अधिक अच्छी तरहसे प्राप्त कर सकता है। जब जीवनमें उसे उत्तम सुखानुभव प्राप्त हों तब वह अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तिको बाहर झपट पड़नेसे रोके और जब पदार्थमात्रकी प्राकृतिक गतिके अनुसार वे सुखानुभव उससे विदा हों तब उन्हें वह आलिङ्गन करे और उन्हें अपनेसे अलग होने ही न दे। इसके विपरीत, जब दुःखानुभवका समय उपस्थित हो तब वह अपनी स्वाभाविकी प्रवृत्तिको भयादिसे अवसन्न न होने दे। इस प्रकार सतत अभ्यास करनेसे, जीवनका प्रत्येक क्षुद्रातिक्षुद्र अनुभव भी परम लक्ष्यकी ओर ऊपर चढ़ानेवाली सीढ़ीका एक-एक डंडा होगा; और ऐसी प्रत्येक सफलताके साथ, चाहे वह सफलता क्षुद्र ही क्यों न हो, साधक उस सुख-दुःखातीत पूर्ण अनासक्तिको प्राप्त होगा जो वैराग्यका राजमुकुट है और सनातनमें स्थित पुरुषका स्वाभाविक लक्षण है।

इसके बादका साधन वह है जिसे 'षट्सम्पत्ति' कहते हैं। ये छः मानसिक शक्तियाँ हैं—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान। ये सब सम्पत्तियाँ एक ही सम्पत्ति मानी जाती हैं, क्योंकि एक ही मनःसंयमके ये भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। साधकके लिये यह मनःसंयम परमावश्यक है।

शमका अर्थ है मनका स्थिर और शान्त रहना। सबसे पहले इसीका निर्देश हुआ है; क्योंकि जबतक मन स्थिर और शान्त नहीं होगा तबतक इन्द्रियोंको वशमें करना नितान्त असम्भव है। मन इन्द्रियोंका राजा है, मन यदि वशमें नहीं हुआ तो एक-एक करके इन्द्रियोंको जीतनेका प्रयत्न विफल ही होनेके लिये है वैसे ही जैसे मधुमक्खियोंके किसी झुंडको काबूमें करना रानीमक्खीको मनाये बिना असम्भव है। यदि रानीमक्खीको मनाकर शान्त किया जा सके तब तो सभी मक्खियाँ स्थिर हो बस जायँ और काबूमें आ जायँ।

इसलिये शमके बाद दम आता है जिसका मतलब है इन्द्रियोंका ही वशमें होना। यह ध्यान रहे कि यह आततायीपनसे घोर तपके द्वारा इन्द्रियोंका उच्छेद करना नहीं है, बल्कि बुद्धिपूर्वक वशमें करना है। बलवती इच्छाशक्तिवाले मनुष्यके लिये इन्द्रियोंके साथ कठोर व्यवहार करके उनको बेकाम कर देना आसान है, पर यह रास्ता गलत है और इससे आध्यात्मिक जीवनको पुष्टि नहीं मिलती, उसका ह्रास ही होता है।

शरीर और उसकी इन्द्रियोंको नष्ट-भ्रष्ट या दीन-दुर्बल करना ठीक नहीं; क्योंकि ये वे करण हैं जिनके द्वारा ही आत्मा चैतन्यके इस स्तरमें कर्म कर सकता है। आत्माके काम आनेके लिये ही इनका विकास हुआ जैसा कि सांख्यशास्त्रने ठीक ही सिखाया है अथवा यह कहिये जैसा कि भक्तिसम्प्रदाय है कि इनका काम ईश्वरकी सेवा करना है, भोग नहीं। इनका मनके पूर्ण वशमें होना आवश्यक है, ये साधकको उसके विवेकके विरुद्ध उसे कहीं बहकाकर कदापि न ले जा सकें। इन्द्रियाँ अपने-अपने सुखद विषयोंकी ओर जो दौड़ पड़ती हैं, इनकी इसी गतिको रोकना होगा और इन्हें केवल ऐसे ही काम करने देने होंगे जिनके लिये विवेकसंयत मनकी अनुमति हो।

इसके बाद है उपरति जिसका अर्थ है भोगसे उपराम होना। जब मन और इन्द्रियाँ वशमें आ गयीं तब एक पग और आगे बढ़ना होगा। भोगी मनुष्य भी थोड़ा आत्मसंयम करे तो उसके लिये भी अच्छा है, क्योंकि उसकी इन्द्रियोंका वशमें न रहना अनेक सुखोंके भोगमें बाधक होगा। पर ब्रह्मविद्याके साधकके लिये तो यह नितान्त ही आवश्यक है। पूर्वकी दो सम्पत्तियाँ पाकर उसे भोगेच्छासे अपने मनको दृढ़तापूर्वक हटा लेना होगा।

बहुत लोगोंका जीवनोद्देश्य ही किसी-न-किसी प्रकारका भोग हुआ करता है। बहुत-से लोग ऐसे भी होते हैं जो समझनेको तो यह समझते हैं कि हम ब्रह्मविद्याके पथपर हैं पर उनका भी उद्देश्य भोग ही होता है, वे सामान्य मनुष्योंके सामान्य भोग नहीं चाहते, चाहते हैं अधिक स्थायी और आनन्दकी बहुत अधिक मात्रावाले दिव्य स्वर्गीय भोग अथवा योगसिद्धियोंसे मिलनेवाले भोग। बात कुछ नीरस-सी मालूम होगी पर है बात यही कि साधकको भोगकी कल्पनातकको त्याग देना चाहिये और उसके किसी आचार या विचारका हेतु किसी प्रकारसे भोग न होना चाहिये। भोगके स्थानमें वह सेवाभाव ले आवे, उस सनातन सत्यकी सेवाकी इच्छा करे जो सनातन सत्य भिन्न-भिन्न नामरूपोंसे सर्वत्र पूजा जाता है, जो सबके हृदयोंमें निवास करनेवाला स्वयं श्रीकृष्ण है।

यहाँ कोई हीला-हवाला करके यह न कहे कि यह भी तो एक प्रकारका भोग ही है। परमानन्द तो वास्तवमें श्रीकृष्णकी सेवामें ही मिलता है, पर उसीको मिलता है जो उनकी सेवामें अपने-आपको उत्सर्ग कर देता है, जो परमानन्दभोगको ढूँढ़ता है उसे नहीं। 'जो अपना जीवन चाहता है वह उसे खो देता है पर जो अपना जीवन **मेरे** लिये खो देता है वह उसे पा लेता है।'

तितिक्षा—द्वन्द्वोंको सह लेना—इसके बादका क्रम है।* जिस साधकने अपने भोगकी सारी इच्छा त्याग दी उसके सामने, सब मनुष्योंके समान, यह बात आ संसारमें बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो दुःखदायी है और गरमी, लाभ और हानि, शत्रु और मित्र, अपमान—ये ताने और बाने हर किसीके अनुभव हैं। सामान्य मनुष्यका बर्ताव इनके बारेमें यही हो इन द्वन्द्वोंमें जो दुःखद अंश हैं उन्हें त्याग देनेकी जाती है और जो सुखद अंश हैं उन्हें रख लेनेका किया जाता है। पर यह बर्ताव अज्ञानमूलक है। अभिव्यक्त होनेका जो स्वभाव है उसका ज्ञान मनुष्य ऐसी अज्ञानमूलक चेष्टामें प्रवृत्त होता है। कहीं भी कोई गति है, व्यक्त जीवन है, वहाँ दो विरोधिनी शक्तियाँ होती ही हैं। अभिव्यक्तिके स्तरमें क्रिया और प्रतिक्रिया हुआ ही करती है। चेष्टा करना कि जीवन तो रहे पर उसमें द्वन्द्व न हों, मूर्खता है।

प्रत्येक साधकको यह बात तो सीख ही लेनी कि प्रकृतिके जो सनातन नियम हैं उनके विरुद्ध परोंको व्यर्थ ही न फड़फड़ाया करे। जिन सनातन नि द्वारा विश्वका शासन होता है वे नियम हमारे लिये जायँगे, ऐसा अन्धविश्वास न करके, साधकको चाहिये वह उन नियमांको समझे और उनके साथ योगदान करे

इस प्रसङ्गमें उसे यह जान लेना चाहिये कि अभि और गतिमात्रकी प्रकृति, मूलतः ही द्वन्द्वात्मक जीवनकी द्वन्द्वात्मक प्रकृतिमेंसे दुःखका अंश हमारे हटा लिया जाय ऐसी दुर्बलतासूचक इच्छा न साधकको चाहिये कि वह अपने आपको अपने ही अंशमें केन्द्रीभूत करे जो अंश अविकार्य और अच स्थाणु है, सब द्वन्द्वोंके परे है। उस महत् शाश्वत वह स्थिर और निःसङ्ग होकर विश्वमहार्णवके ज्वारभा देखे कि किस तरह यह ज्वारभाटा हमारी चिर मनोवस्थाओंके सुख और दुःखसे लेकर राष्ट्रोंकी प्र हलचलोंतक अथवा मध्यवर्ती सूर्यनारायणकी परिक्रमा हुए अनन्त ब्रह्माण्डोंकी द्वन्द्वमयी अतिप्रचण्ड गतियोंतक सब पदार्थोंमें अपना विश्वव्यापक द्वन्द्व रहा है।

यही तितिक्षा है, केवल सरदी-गरमीको सह लेना तितिक्षा नहीं। यद्यपि यह तितिक्षा बड़ी कठिन साधना तथापि है यह ज्ञानमूलक, केवल इच्छाशक्तिमूलक नहीं

---

* कुछ लोग पञ्चाग्निसाधन किया करते हैं अर्थात् अपनी चारों दिशाओंमें चार अग्नि प्रज्वलित करके बीचमें बैठते हैं, ऊपरसे पाँचवें अग्निस्वरूप श्रीसूर्यनारायण अपने प्रखर प्रज्वलनसे तपाते हैं। पर वास्तविक पञ्चाग्नि पञ्च इन्द्रियोंके पञ्चाग्नि हैं और सच्चा पञ्चाग्निसाधक यति वही है जो इस शरीरकी नवद्वारवती-पुरीमें इनकी धधकती हुई ज्वालाओंसे तनिक भी विचलित न होकर सुस्थिर शान्त बैठा रहता है।

इस तितिक्षाका तितिक्षु अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके तहस-नहस होनेकी हालतमें स्थिर रहेगा और केवल सरदी-गरमी सहनेवाला तितिक्षु विपज्जलप्रवाहके प्रबल वेगके साथ विवश होकर बह जायगा।

श्रद्धा पाँचवीं सम्पत्ति है। इसके बारेमें लोग प्रायः भ्रममें पड़ा करते हैं। संसारमें जितने भी सम्प्रदायवादी हैं वे अपने-अपने अनुयायियोंसे अन्धश्रद्धा ही चाहते हैं। हर सम्प्रदाय यही कहता है कि हमारे धर्मग्रन्थमें जो कुछ लिखा है उसे आँख मूँदकर मान लो और जिस आचार्यकी यह शिक्षा है उसे एकमेवाद्वितीय ईश्वरी अवतार मान लो और उसी प्रकारके ईश्वरको मानो जिसकी शिक्षा यह सम्प्रदाय देता है।

ऐसा मानना पूर्वपरम्परा, भावुकता तथा केवल तार्किक मतसे बनता है, पर है यह अन्धविश्वास; क्योंकि अन्धविश्वास उसी विश्वासको कहते हैं जो प्रमाण या स्वानुभवके बिना ही कर लिया जाय। ऐसे अन्धविश्वासोंकी रक्षा तभी हो सकती है जब प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे आँखें फेर ली जायँ अथवा अपनी आत्मसत्ताका ही कोई अंश काटकर अलग किया जाय। इसीलिये अन्धविश्वासी मनुष्य अपने विश्वाससे विश्वस्त होकर सुखपूर्वक स्थिर नहीं रह सकता, उसे अपने आपको सम्हालने या अपना आत्मबल और उत्साह बढ़ानेके लिये संख्याबलकी ओर देखना पड़ता है—क्योंकि संख्याबलसे ही उसे यह बल और उत्साह प्राप्त होता है, और यह सहारा उसे स्वभावतः ही न मिले तो वह दूसरोंसे जबरदस्ती अपनी विचार-पद्धति मनवानेका यत्न करता है जिसमें उसके हृदयमें उठनेवाले सन्देह किसी प्रकार शान्त हो जायँ। आततायीपन अन्धविश्वासका यमज भाई है; और यदि किसी मनुष्यकी ऐसी हालत है कि वह दूसरोंको भी अपनी ही विचारपद्धतिमें जबरदस्ती लाना चाहता है या यह चाहता है कि दूसरे भी ईश्वरके हमारे-जैसे विश्वासवाले हों तो वह यह समझ ले कि वह खुद अन्धविश्वासी है, उसका विश्वास जैसा विशुद्ध होना चाहिये वैसा नहीं है और दूसरोंके अंदर जिन अन्धविश्वासोंको वह नष्ट करने चलता है वे यथार्थमें संशय हैं जो खुद उसीके हृदन्तस्तलमें छिपे बैठे हैं।

यह तो यह हुआ कि श्रद्धा क्या नहीं है, अब यह देखना चाहिये कि श्रद्धा क्या है। जिज्ञासु मुमुक्षुके आत्मामें जो ज्ञान पहलेसे स्थित है उसीका मन, बुद्धि और हृदयमें जो अस्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ता है वही सच्ची श्रद्धा है। सम्पूर्ण ज्ञान आत्मामें विद्यमान है। यदि ऐसा न होता तो कोई शिक्षा-दीक्षा ही न हो सकती। कारण, किसी ऐसे पदार्थका कोई संशयरहित ज्ञान नहीं हो सकता जो अपनेसे भिन्न हो, न कोई ऐसा ज्ञान ही पूर्ण समझा जा सकता है जो प्रत्यक्ष और स्वतःसिद्ध न हो।

परन्तु जिस तरहसे आत्माकी शक्ति और आनन्द भौतिक शरीर और अहंताके संसर्गसे प्रच्छन्न रहते हैं वैसे ही भौतिक बुद्धिरूप करणके द्वारा प्रकट करना आवश्यक होनेके कारण आत्माका ज्ञान छिपा रहता है। तथापि जो कुछ आनन्द हमें अनुभूत होता है और जो कुछ शक्ति हम अपने जीवनमें प्रकट करनेमें समर्थ होते हैं वे आनन्द और शक्ति जिस प्रकारसे आत्मानन्द और आत्मशक्तिके ही क्षुद्रातिक्षुद्र अंश हैं उसी प्रकारसे यह भी सच है कि जो कुछ ज्ञान हमें प्राप्त है वह आत्माका ही आत्मस्थित ज्ञान है यद्यपि वह हमारे परिसीमित पार्थिव रूपके कारण हमें प्रच्छन्न और विकृत रूपमें ही प्राप्त है।

यह ज्ञान हमारे हृदयोंमें परमसत्यके स्वतःसिद्ध अन्तर्ज्ञान (intuition) के रूपमें प्रतिबिम्बित होता है। इस अन्तर्ज्ञानको महज मानसिक मतों और बाह्यतः प्राप्त अपसिद्धान्तों और कुसंस्कारोंसे छाँटकर अलग और विशुद्ध कर लेना चाहिये जैसा कि हंसक्षीरन्याय प्रसिद्ध है।

अवश्य ही सच्चे अन्तर्ज्ञानको सहज पशुबुद्धि और छिपी हुई वासनासे पृथक् करके जानना बड़ा कठिन काम है, सबके लिये सब समय सहज नहीं। पर यह कौन कहता है कि यह मार्ग, इस कृपाणकी धारापर चलना सुगम है? यह तो तभी सम्भव है जब साधक पूर्वकी साधनाओंके निरन्तर अभ्याससे सर्वाङ्गसहित अभ्यस्त और संयत हो जाय और परिपन्थिनी वासना नष्ट होकर मन मौन हो जाय। तथापि हृदयमें जो अन्तर्ज्ञानकी ज्योति है वही एक ज्योति है जो साधकको मार्ग दिखा सकती है। यदि अभी वह उस ज्योतिको नहीं देख पाता है तो उसे अपने मन-बुद्धिको बराबर शुद्ध और संयत करते जाना चाहिये; क्योंकि इसके बिना कोई गुरु, कोई धर्मशास्त्र, कोई चिदनुभूति या कोई दैवी दृष्टान्त कुछ भी काम नहीं दे सकता। जिसका अपना ज्ञानदीप नहीं प्रज्वलित हुआ उसे अन्धकारमें ही रहना होगा चाहे उसके चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश क्यों न हो।

श्रद्धाके इस प्रकार दो सोपान हैं। पहले यह प्रयत्न होना चाहिये कि हृदय शुद्ध हो जिसमें अन्तर्ज्ञानकी ज्योति सुस्पष्ट रीतिसे प्रकाशित हो। इसके बाद दूसरी अवस्था इस प्रयासकी है कि और जितनी बातें हैं वे सब इसी ज्योतिके अधीन हों। जहाँ कहीं यह ज्योति प्रकाशित हो वहाँ अन्य सब बातें इसके सामने नत हो जायँ। साधकको अपनी अन्तर्ज्ञानज्योतिको ही सचाईके साथ, सर्वात्मना धारण किये रहना होगा; किसी धार्मिक परम्परा या सामाजिक आचार-विचार या भावुक हृदयकी पसंद या बौद्धिक विचारको अपने और अपनी इस ज्योतिके बीच न आने देना होगा। इस विषयमें अवश्य ही उसे कोई सन्देह न करना चाहिये कि हर बार जब वह अपने इस हृत्स्थित अस्पष्ट नक्षत्रका अनुगमन करेगा तब-तब इस नक्षत्रकी ज्योति अधिकाधिक होती जायगी, यहाँतक कि अन्तमें यह ज्योतिर्मय ज्ञान-प्रदीप दश सहस्र सूर्योंके एक साथ प्रकाशनेके समान जगमगाने लगेगा।

इसके बादकी अर्थात् अन्तिम सम्पत्ति समाधान है। यह मनःसमाधान वही है जिसे गीता (अ० २ श्लो० ५४) में और बुद्धदेवके अष्ट सन्मार्गमें 'समाधि' कहा है। यह स्थित-प्रज्ञकी अवस्था है जिसमें हृदय अपनी सब प्रकारकी आसक्तियोंसे विमुक्त होकर 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः' और 'सुखेषु विगतस्पृहः' होता और आत्माका उपाश्रित होकर यह सोचता हुआ कि अच्छा हुआ जो दुनिया छूट गयी जिसमें अब आत्मा तो मिलेगा, भक्तिपूर्वक उस आत्माकी ओर दृष्टि लगाता है।

इस अवस्थाका वर्णन गीताके सुस्पष्ट विवरणसे इतना प्रसिद्ध है कि इस विषयमें और कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती। केवल 'समाधि' के विषयमें लोगोंकी जो यह धारणा है कि समाधि एक प्रकारकी बेसुध अवस्था है जिसमें मनुष्यको अपने शरीर या आसपासकी चीजोंका कुछ भी भान नहीं रहता, कोई तेज छुरा भी शरीरमें भोंक दिया जाय तो भी कुछ नहीं मालूम होता, इसके विषयमें अवश्य ही कुछ कहना होगा। इस प्रकारकी बेसुध अवस्थाएँ तो अवश्य होती हैं, परन्तु इन अवस्थाओंका निजी मूल्य कुछ भी नहीं है। सच्ची समाधि कोई दूसरी ही चीज है। समाधि-अवस्था वह अवस्था है जब जीव आत्माके समीप, आत्माके सम्मुख होता है और मन (और शरीर) पूर्णतया सम और सर्वभूताशयस्थित आत्माके करणरूपसे काम आनेके लिये सदा सन्नद्ध रहता है।

वह बेसुध अवस्था यह नहीं है जिसे लोग सम मान लेते हैं और जिसका सम्बन्ध गिरिकन्दराओं औ जंगलोंसे है, बल्कि यह वह समाधि है जो कर्ममें भी उत ही जाग्रत् रह सकती है और रहनी ही चाहिये जितनी ध्यानमें। जो समाधान बाह्य शान्ति और मौनपर नि करता है वह अपूर्ण समाधान है, इसे बढ़ाना और बल बनाना होगा, यहाँतक कि कुरुक्षेत्रके शस्त्रसम्पात और संघर्षमें साधक उतना ही समचित्त रह सके जितना किसी वनस्थित मुनि-आश्रमके शान्त वातावरणमें। ऐ जब हो जाय तब यह समझना चाहिये कि समाधान हुआ

अन्तमें अब चतुर्थ साधनपर आते हैं, यह है मुमुक्षु अर्थात् मोक्षकी इच्छा। मूलतः यह कोई ऐसा साध नहीं है जो पूर्वके साधन पूर्ण करके केवल पीछे ही करने चीज हो बल्कि यह वह चित्तवृत्ति है जो अन्य साधनों करते हुए बराबर बनी रहनी चाहिये और इसी इच्छा अन्य साधन करने चाहिये। यह सम्पूर्ण साधन-परम्परा सा साधनाका हेतु है, इसीके लिये सब साधन करने हैं। बहुतसे लोग किसी परिसीमित लक्ष्यके लिये बड़े कठोर साधन करते और उसमें अपना जीवन ही ढाल देते हैं। परन्तु 'अन्त-वत्तु फलं तेषाम्' फल उनका अस्थायी ही होता है; कारण—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्॥

एतद्रूप जो परम सनातन तत्त्व है उसे छोड़ और कुछ भी स्थायी नहीं है। अन्य सब लाभ कुछ काल रहकर पीछे कालकवलित ही होंगे जब विश्वचक्र अनन्त परिवर्तनाभि-मुख अपनी अनवरत कालगतिसे घूम जायगा।

'जबतक यह अदृश्य चक्र घूमता रहेगा, कहीं कोई रुकाव, कोई शान्ति, कोई ठहरनेका स्थान न होगा। जो चढ़ेगा, वह गिरेगा; जो गिरेगा, वह चढ़ेगा। चक्रके आरे ऐसे ही बराबर घूमते रहेंगे।'

जबतक मनुष्य अपने पृथक् जीवभावमें अटका रहेगा, तबतक उसे दुःखसागरकी विकल तरङ्गोंमें चक्कर काटना और दुःख उठाना ही होगा, तबतक उसे अपनी अहंताकी अटकमें अटके ही रहना होगा चाहे वह कोई राजा हो या रंक, साधु हो या पापात्मा। सनातन परमतत्त्वके सिवा और कहीं भी अमृतत्व नहीं है। इसलिये साधकको अपने वैयक्तिक स्वार्थकी आसक्तिसे, अपने पृथक् वैयक्तिक अस्ति-त्वकी वासनासे मुक्त होनेका उपाय करना होगा। अपना

आपा उसे सर्वथा दूर कर देनेका हृदय और प्राणसे प्रयत्न करना होगा, इसलिये नहीं कि इहजीवनमें उसके भाग्यमें सुख ही नहीं बदा है बल्कि इसलिये कि सब प्रकारका पृथग्भाव, सब प्रकारका अहंभाव अन्तमें असत् ही है, और अमृतत्वरूप मोक्ष और शान्ति केवल सनातन परमात्मपुरुषकी निर्मल ज्ञानमय ज्योतिमें ही है ।

यह अभ्यास अर्थात् परम पुरुषका ही एकान्त भक्त होनेका निरन्तर प्रयास प्रारम्भिक मुमुक्षुत्व है । इसके बाद भी मुमुक्षुत्वकी इससे श्रेष्ठ अवस्था है, और जब अनेक जन्म साधन-संघर्ष करनेके पश्चात् वह आश्चर्यमय ज्योति प्रकाशित होती है, जब जीवकी झिलमिलाती हुई ज्योति आत्माकी सूर्यप्रभामें मिलकर लीन हो जाती है, तब अकस्मात् ठहर जाना पड़ता है । उसके पृथक् जीवनकी सरिता अब अनन्त अकूल सागरमें मिला चाहती है, पृथक् भावको देखते हुए तो मिल ही गयी है । यहींपर, एकाएक दुःखसागरके उन असंख्य रूपोंकी ओर जिन्हें अब वह सदाके लिये छोड़ देनेको है, ज्यों वह एक निगाह पीछे फेरकर देखता है तब एक बड़ा ही भयानक और अद्भुत दृश्य उसके सामने आता है ।

इन सब सुखार्थी दुःखी प्राणियोंके अंदर जो पार्थिव जीवनके त्रिशूलपर भयंकर पीड़ा पा रहे हैं, कितने ही जख्मोंसे निकलनेवाले रक्तसे तराबोर हो रहे हैं, वह अपने प्रिय प्रेमपात्र आत्माको देखता है जो दुःखाश्रुओंसे चमकनेवाली आँखोंके पीछेसे बड़ी हो दुर्बल ध्वनिसे सहायताकी पुकार कर रहा है उन प्राणियोंके लिये जो उस अन्धकारमय दुःखोदधिमें डूबे हुए हैं जिसका अस्तित्व आत्मा मानता ही नहीं ।

क्या वह परम साधक इस दयनीय पुकारकी उपेक्षा कर सकता है ? क्या वह अपनी ज्ञानज्योतिर्मयी वर्त्तिकाको सूर्यप्रभामें मिलाकर सदाके लिये घुल जाने देगा अथवा क्या वह फिर एक बार पीछे न लौटेगा और साधनसिद्ध एवं दिव्य आप्यायित व्यक्तित्वको ऐसा किरणकेन्द्र न बनावेगा कि जिसके द्वारा जीवकी झिलमिलाती ज्योति नहीं बल्कि सनातन परमसत्यकी महाप्रभा इस अन्धकारमें मनुष्योंको मार्ग दिखानेके लिये प्रकाशित होती रहे ?

क्या प्रेमी प्रेमपात्रके बन्धनमें पड़े रहते कभी विश्राम कर सकता है ? बन्धन चाहे भ्रमके ही क्यों न हों, पर हैं तो वे सत्य ही उन लोगोंके लिये जो सो रहे हैं और स्वप्न देख रहे हैं । जो कोई रास्ता तै करके यहाँतक आ पहुँचा है वह अपनी ही ऐसी सुविधाकी बातको आश्रय न दे कि हम तो विमुक्त आत्मा हैं, हमें अब करना ही क्या है । वह अब वह त्याग करे जो अन्तिम त्याग है । यह उस आत्माका ही त्याग है जो अपना ही सुख ढूँढ़ता है । उस परमात्माके लिये यह त्याग है जो सबके अंदर एक है । अब वह सुदृढ़ साहसके साथ उस सच्चे मुमुक्षुके रास्तेपर चले जो सबके लिये मोक्ष चाहता है जबतक वह महादिन उदय नहीं होता कि जिस दिन आत्माका अन्तिम स्फुलिंग जड-सृष्टिकी पकड़से छूट जायगा, और स्वप्नके भूतप्रेतोंके समान रहनेवाले पृथक् अहंकारोंसे जड और चेतन दोनों विमुक्त होकर उसकी महाज्योतिमें मिलेंगे जिसका कोई नाम नहीं है ।

* * *

वेदान्तका गीत

काली बिल्ली आई—कैसे—काली बिल्ली आई ?
फूलबागमें—किस मारगसे—काली बिल्ली आई ?
या तो तुमने बीज लुटाया
बीजक ज्ञान समझ ना पाया
काँच समझकर लाल गँवाया
घरका दीपक फूँक बुझाया

इस चूहेने जुलम गुजारा—जो बिल्ली बुलवाई !
फूलबागमें—किस मारगसे—काली बिल्ली आई ?
या तुम नहीं दीनता धारी
सब या शिव करता रखवारी
अहंकारवश मति मतवारी
बने न प्रिय वेदान्तविहारी

दिन सम सहज रूपके भीतर—रात अमावस छाई !
फूलबागमें—किस मारगसे—काली बिल्ली आई ?
या तुम नहीं विचार कमाया
नीर-क्षीरको परख न पाया
अमर नहीं कर पाई काया
बिल्लीका भय हृदय समाया

अविनाशी पदके दर्शन बिन—मौत न मिटती भाई !
फूलबागमें—किस मारगसे—काली बिल्ली आई ?

—नयनजी

* * *

वेदान्त

(लेखक—पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी)

साधनचतुष्टय

स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीने शारीरक मीमांसाभाष्यमें निम्नलिखित साधनचतुष्टयसे सम्पन्न पुरुषको ही ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी माना है। इसके विपरीत साधनरहित पुरुष ब्रह्मको जाननेमें समर्थ नहीं हो सकता।

(१) विवेक–**नित्यानित्यवस्तुविवेकः।**

(२) वैराग्य–**इहामुत्रार्थफलभोगविरागः।**

(३) शम-दमादि–**साधनसम्पत्***

(४) मुमुक्षुत्व

ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये अन्तःकरणचतुष्टयको संस्कृत करना आवश्यक है। 'मनसैवानुद्रष्टव्यः' यह श्रुतिका आदेश संस्कृत मनके लिये है। परन्तु मन रजोगुणके कारण चञ्चल है। इन्द्रियोंके संयोगसे प्रमाथी हैं। नित्य सकाम क्रियमाण कर्मसे बलवान् होता रहता है; और सञ्चितकर्मसे संसारकी ओर दृढ़रूपसे आसक्त है। और बुद्धि भी कभी रजोगुणात्मिका तथा कभी तमोगुणयुक्ता हो जाती है। चित्त संसारके विषयकी ओर दौड़ता रहता है। अहंकार परमात्मासे पृथक् अपनी एक सत्ता बनाकर संसारके बन्धनका अभिमानी और कारण बना हुआ है। इससे अपने शुद्धस्वरूपसे विस्मृत तथा मोहग्रस्त हो रहा है। अतएव इन दोषोंके कारण आत्मदर्शन दुर्लभ है। साधनचतुष्टयसे ये चारों अन्तःकरण शुद्ध और संस्कृत होते हैं। यथा—

अन्तःकरण-चतुष्टय	के दोष	साधनचतुष्टयद्वारा दोष-दूरीकरण
(१) बुद्धि	रजोगुण-तमोगुणके कारण ठीक-ठीक निश्चय नहीं कर सकती।	परन्तु विवेकद्वारा सात्त्विकी बनकर बन्ध (असत्) मोक्ष (सत्)का निश्चय कर सकती है। (गीता) इसी प्रकार विवेकद्वारा ही वह नित्य सत्त्वस्थ होकर नित्यानित्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त करती है।
(२) चित्त	विषयोंका ही अनुसन्धान करता रहता है।	उसको वैराग्यद्वारा विषयोंसे विरक्त करके परमार्थतत्त्वमें लगाया जा सकता है। इस तरह उसके दोषका निराकरण हो जाता है।
(३) मन	चञ्चलता	इसको शमसे दूर किया जा सकता है।
	प्रमाथ	प्रमथनशीलता इन्द्रियोंके दमसे दूर होती है।
	क्रियमाण कर्मसे उत्पन्न बल	उपरतिके अभ्याससे मन बली न रहेगा अर्थात् नित्य निष्कामभावसे कर्मफलको ईश्वरको अर्पण करते रहनेपर मनमें कर्मफलसे बन्धनका संस्कार नहीं बनेगा और वह संसारकी ओर जानेमें निर्बल होता रहेगा।
	सञ्चित कर्मजन्य (वासना) दृढ़ता	श्रद्धा और समाधानके द्वारा भगवान्के दर्शन होनेपर सञ्चित कर्मजन्य वासनाकी दृढ़ता क्षीण हो जायगी; क्योंकि भगवान्का साक्षात्कार होनेपर समस्त सञ्चित कर्म नष्ट हो जाते हैं।*

---

* श्रुति और वेदान्तदर्शनमें ऐसा कहा है—

तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति।

(बृ० ४।४।२३)

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्।

(वे० दर्शन ३।४।२७)

* क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। (श्रुति

तथा—

सन्मुख होय जीव मोहि जबही। जन्म कोटि अघ नासौं तबही।

(रामचरितमानस

	प्रारब्ध कर्मका भोग	ये तो सहने ही पड़ेंगे। अतएव साधक तितिक्षा-युक्त होनेसे सांसारिक सुख-दुःखसे व्यग्र न होकर परमार्थपथपर अग्रसर होता रहेगा। इस प्रकार शमदमादि षट् सम्पत्तिके द्वारा मनके दोषोंके हट जानेपर ही मन संस्कृत और सहन-शील हो सकेगा।
(४) अहंकार	यह जो अपनेको स्वतन्त्र सत्ताधारी समझता है	अहंकारका दोष केवल इसी एक उपायसे दूर हो सकता है कि साधक मुमुक्षु बनकर 'सोऽहमस्मि' का श्रवण-मनन-निदिध्यासन करके अपने अद्वैत ब्रह्म-स्वरूपको प्राप्त हो।

अतएव चारों अन्तःकरणोंकी शुद्धिके लिये ही एक-एक साधन पृथक्-पृथक् निर्मित होकर साधनचतुष्टयके नामसे प्रसिद्ध हैं।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायमें विवेक-वैराग्यादि साधनचतुष्टयका सार अधोलिखित डेढ़ श्लोकमें ही प्रदर्शित किया है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
१
(२।४१)

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षे त्मवान्॥
३(क) ३ ३(४
(२।४५)

गीताके श्लोक		साधनचतुष्टय
१ व्यवसायात्मिका बुद्धि	१	विवेकको कहते हैं।
२ निस्त्रैगुण्य होना ही	२	वैराग्य है।
३ धृति, बुद्धि, श्रद्धाके नित्य सत्त्वस्थ होनेसे	३	शम, दम, श्रद्धा और समाधानके परिणाम-को प्राप्त होता है।
३(क)निर्द्वन्द्व	३(क)	निर्द्वन्द्व होना और तितिक्षा एक ही बात है।
३(ख)निर्योगक्षेम	३(ख)	निर्योगक्षेम अर्थात् फलाशारहित होना उपरति है।
४ आत्मवान्	४	मुमुक्षुका ही स्वरूप है।

साधनचतुष्टयका वर्णन गीतामें ज्ञानकाण्डके अन्तिम ६ अध्यायोंमें अर्थात् १३ से १८वें अध्यायतक क्रमसे विस्तारसहित दिया है।

यथा—

साधनचतुष्टय	गी० अ०	विषय
(१) विवेक	१३	क्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञान (अनित्य) (नित्य)
(२) वैराग्य	१४ । १५	(निस्त्रैगुण्य) गुणातीत और अश्वत्थ (संसार) वृक्षोच्छेदन
(३) षट्सम्पत्ति शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान	१६ । १७	(१) दैवी सम्पत्ति (२) श्रद्धा (३) सात्त्विक यज्ञ, दान और तप (उपरति)
	१८	सात्त्विक-धृति-ज्ञान (समाधान)
(४) मुमुक्षुत्व	१८ (मोक्षसंन्यास-योगाध्यायका नाम सार्थक है)	परानिष्ठाज्ञान 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' मुमुक्षु

जान पड़ता है कि भगवान्के ज्ञानकाण्डके उपदेशके क्रमको लक्ष्यमें रखकर ही विज्ञानविद् महानुभावोंने ज्ञानयोग-के साधनचतुष्टयके क्रमका नियमन किया है।

विवेकादि साधनचतुष्टयका गीतोक्त विवरण अन्य ग्रन्थोंकी परिभाषासहित नीचे दिया जाता है।

(१) विवेक—नित्य तथा अनित्य वस्तुके ज्ञानको कहते हैं; अर्थात् परमात्मा नित्य है और जगत् अनित्य, यह जान लेना ही विवेक है।

लक्षण

गीताके दूसरे अध्यायमें भगवान्ने विवेकका वर्णन इस प्रकार किया है कि यह शरीर अन्तवान् है और शरीरी

नित्य, अविनाशी तथा अप्रमेय है। (गीता २। १८) इसीका वर्णन क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ तथा प्रकृति-पुरुषके रूपमें १३वें अध्यायमें विस्तारपूर्वक किया है। यह व्यष्टि एवं समष्टि दोनों ही प्रकारसे है। इसी अध्यायके अन्तिम श्लोकमें, क्षेत्रक्षेत्रज्ञके अन्तर तथा भूतोंकी प्रकृतिके मोक्षको जाननेवाले अर्थात् विवेकद्वारा जाननेवाले ब्रह्मको प्राप्त होते हैं, यह कहा है। इससे भी विवेकका स्पष्टीकरण होता है।

(२) वैराग्य—लोक तथा परलोकके फलोंसे पूर्ण विराग करना ही वैराग्य है। मतान्तरसे सांसारिक विषयोंमें दोष देखना वैराग्यका कारण है। विषयोंको त्यागनेकी इच्छा वैराग्यका स्वरूप है; और भोगोंके प्रति विनयभाव न रहना ही वैराग्यका फल है।

भगवान् श्रीकृष्णने गीताके दूसरे अध्यायमें पहले अर्जुनसे स्वर्गप्राप्ति तथा पृथ्वीका राज्य भोगनेकी बात कहकर पीछेसे स्वर्ग तथा भोगैश्वर्यकी बातोंको संसारचक्रमें फँसानेवाली बतलाया है। और यह भी कहा है कि भोगैश्वर्यमें आसक्त रहनेवाले मनुष्योंकी बुद्धि समाधिमें स्थित नहीं हो सकती, इस प्रकार लोक तथा परलोकके भोगैश्वर्यकी हेयता दिखलायी है। और फिर त्रिगुणात्मक विषयोंसे रहित अर्थात् निस्त्रैगुण्य होनेका उपदेश किया है। (गीता २। ३७, ४३, ४४, ४५)

इन्हीं तीन गुणोंसे अतीत होने अर्थात् परे रहनेका वर्णन १४ वें अध्यायमें करके १५वें अध्यायमें समस्त भोगैश्वर्य अर्थात् पुण्य-पापरूप संसार-वृक्षको असंग (वैराग्य) के अस्त्रद्वारा छेदन करनेका निर्देश किया है। इसमें वैराग्यके महत्त्वका स्पष्ट वर्णन है। इस छेदनके उपरान्त परमपदको खोजने अर्थात् परमात्माकी शरणमें जानेका आदेश है। (गीता १५। २-३-४)

(३) षट्सम्पत्ति—

(क) शम—इन्द्रियोंके जो विषय हैं, उनसे सर्वदा विरक्त होकर आत्म-वस्तुमें सदा चित्त लगानेको ही शम कहते हैं। (विवेकचूडामणि २२)

गीताके दूसरे अध्यायमें भगवान्ने कहा है कि विषयोंमें आसक्त होनेसे मनुष्य किसी योग्य नहीं रहता; जो मनुष्य आसक्ति और द्वेषसे रहित है, वही मुमुक्षु है।

ऐसा पुरुष अपनी इन्द्रियोंको वशीभूत करके प्रसन्न होता है। (गीता २। ६१-६४)

(ख) दम—ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियोंको उनके विषयोंकी ओर आकृष्ट न होने देना और अपने स्थानपर रखना दम है। (विवेकचूडामणि २४)

गीताके दूसरे अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश करते हैं कि जो अपनी इन्द्रियोंको अपने वशमें कर चुका है उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है।

(ग) तितिक्षा—शीतोष्णादि समस्त दुःखोंको सहना और उनके लिये चिन्ता तथा विलाप न करना ही तितिक्षा है। (गीता २। ६८)

गीताके दूसरे अध्यायमें इसी बातको इस प्रकार कहा गया है कि इन्द्रियोंका विषयोंसे संयोग होनेपर जो शीतोष्ण-सुख-दुःख प्राप्त होता है, उसे सहना चाहिये। जो सुख-दुःखको समान समझता है, उसे दुःख व्यथित नहीं कर सकते। इनको सहनेवाला पुरुष मोक्षप्राप्तिका अधिकारी होता है। (विवेकचूडामणि)

(घ) उपरति—विवेकचूडामणिकार विषयोंसे इन्द्रियोंकी निवृत्तिको और कोषकार विहित कर्मकी विधिके परित्यागको या लाभ प्राप्त करनेकी उदासीनताको, और किसीके मतसे फलेच्छाशून्य होकर समस्त कर्म भगवान्के अर्पण करनेको उपरति कहते हैं। वेदान्तपरिभाषामें 'विक्षेपाभाव उपरतिः' कहा है।

गीताके दूसरे अध्यायमें भगवान्का वाक्य है कि कर्मसे उत्पन्न फलको बुद्धियुक्त पुरुष त्यागकर जन्मके बन्धनसे विनिर्मुक्त हो जाते हैं, और परमात्माको प्राप्त होते हैं।

(ङ) समाधान—'विवेकचूडामणि' में सर्वदा शुद्ध परब्रह्ममें बुद्धिको लगाना 'समाधान' कहा है।† और तत्परताको भी समाधानका पर्याय बतलाया है। (वि० चू०)

(च) श्रद्धा—गुरु एवं शास्त्रके वाक्यमें विश्वास होना और पारमार्थिक वस्तुकी प्राप्ति ही श्रद्धा है। (वि० चू०)

गीताके दूसरे अध्यायके वचनानुसार जब बुद्धि मोहरूपी मलसे शुद्ध हो जाती है, तब वैराग्यको प्राप्त होती है। (गी० २। ५२) और फिर वह समाधिमें अचल और दृढ़तापूर्वक स्थिर हो जाती है। (गी० २। ५३) तदुपरान्त

---

† सर्वदा स्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वदा ।
तत्समाधानमित्युक्तं न तु चित्तस्य लालनम् ॥
(वि० चू० २६)

साधकको चाहिये कि वह इन्द्रियोंको वशमें करके परमात्म-परायण हो। (गी० २। ६१) और दूसरे अध्यायका 'शिष्यस्तेऽहम्' चौथे अध्यायका 'तद्विद्धि प्रणिपातेन' और दशवें अध्यायका 'सर्वमेतद्दतं मन्ये'—ये सब श्रद्धाके लक्षण हैं।

श्रीभगवद्गीताके चौथे अध्यायमें भी श्रद्धा तथा समाधानका उल्लेख किया है कि जो श्रद्धालु, तत्पर और संयतेन्द्रिय है, वह निस्सन्देह ज्ञान प्राप्त करता है। और ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य मोक्षरूप परमशान्ति पाता है। (गी०४। ३९)

उपर्युक्त शम-दमादि षट् सम्पत्तिका विस्तारसहित वर्णन श्रीभगवद्गीताके १६वें अध्यायमें भी दिया है।

सत्रहवें अध्यायमें श्रद्धा और उपरतिका विषय निहित है। ॐ तत्सत्के नामसे जो यज्ञ, दान, तप ब्रह्मवादी और मोक्षकाङ्क्षीके लिये उपदिष्ट है उसका अन्तर्भाव उपरतिमें हो जाता है।

स्वामी श्रीशंकराचार्यजीने अपने गीताभाष्यके नवें अध्यायके दैवी प्रकृतिप्रकरणमें शमदमादिको स्पष्टतः प्रदर्शित किया है।

इसी दैवी सम्पत्तिके प्रभावसे मोक्ष प्राप्त होता है। 'दैवीसम्पद्विमोक्षाय।' अतएव मुमुक्षुके लिये दैवी सम्पत्की आवश्यकता है।

अठारहवें अध्यायमें सात्त्विक ज्ञान, कर्त्ता, कर्मका उल्लेख है। इसीसे 'समाधान'के लिये ध्याता, ध्यान और ध्येयके त्रिपुटीका ज्ञान प्राप्त होता है—जो कि उपदेश एकाग्रचित्तमें होता है। इसीलिये 'समाधान' सम्पन्न मुमुक्षुको 'सोऽहमस्मि'का उपदेश सुननेकी योग्यता होती है। भगवान्ने भी ऐसा ही कहा है।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।

(४) मुमुक्षुत्व—आत्मस्वरूपका बोध होनेपर अहंकारादि देहपर्यन्त अज्ञानकल्पित बन्धसे मुक्त होनेकी इच्छाको मुमुक्षुत्व कहते हैं। (वि० चू० २८)

गीताके दूसरे अध्यायमें भगवान् आदेश करते हैं कि जो समग्र कामनाओं और भोगोंको निःशेषरूपसे त्यागकर निरीह, निर्मम तथा निरहंकार हो जाता है, वह मोक्षरूप परमशान्तिको पाता है और इसीको विस्तारसहित अठारहवें अध्यायमें परानिष्ठाज्ञानका लक्षण बतलाकर ५३ वें श्लोकमें 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' के द्वारा मुमुक्षुके लक्षणकी ओर संकेत किया है।

इस परानिष्ठाज्ञानमें साधनचतुष्टयका पूरा विषय भी एक प्रकारसे निहित है।

अतएव साधनचतुष्टयका सब विषय द्वितीय एवं ज्ञानकाण्डके १३ से १८ अध्यायमें विस्तारसे अच्छी तरह वर्णित है। इसको ज्ञानयोगकी भित्ति कह सकते हैं।

शरणागति (भक्तियोग) और साधनचतुष्टय

स्वामी श्रीशंकराचार्यजीने वेदान्तदर्शनके भाष्यमें 'सगुणशरणानामप्यनावृत्तिसिद्धिरिति' अर्थात् सगुण ब्रह्मकी शरणमें जानेवालोंकी भी मुक्ति होती है, यह लिखा है। श्रुति भी ऐसा कहती है।

'सायुज्यं सालोकतां जयति' (बृहदारण्यक० १। ३। २२) वेदान्तदर्शनका भी यही मत है।

सगुण मार्गके लिये शरणागतिकी निम्नलिखित छः विधि बतलायी हैं जो कि साधनचतुष्टयसे मिलती-जुलती हैं—

(१) **आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः**—अनुकूलका संकल्प।

(२) **प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्**—प्रतिकूलका वर्जन अर्थात् त्याग।

(३) **रक्षिष्यतीति विश्वासो**—भगवान्में रक्षकका विश्वास।

(४) **गोप्तृत्ववरणं**—भगवान्को अपना रक्षक चुनना।

(५-६) **कार्पण्य एवं आत्मनिक्षेपण**—अकिञ्चन भावसे भगवान्को आत्मसमर्पण करना।

यह सब साधनचतुष्टयसे ही सुलभ हो सकता है।

(१) विवेक—अनुकूल एवं प्रतिकूल वस्तुका जानना।

(२) वैराग्य—प्रतिकूल वस्तुका परित्याग।

(३) शम-दम—इस अनुकूलके संकल्प तथा प्रतिकूलके त्यागका कार्य, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धिकी शुद्धिके बिना असम्भव है। अतएव इनको संस्कृत करनेके लिये शम-दमकी आवश्यकता है।

श्रद्धा और समाधान—भगवान्में विश्वास करके उनको अपना ध्येय समझना।

(४) मुमुक्षुत्व—कार्पण्य एवं आत्मनिक्षेपण।

जिस प्रकार निर्ममत्व तथा निरहंकारत्व मुमुक्षुत्वका स्वरूप है, उसी तरह सांसारिक विषयवासनासे निर्मम होकर परमात्माको आत्मसमर्पण करना ही आत्मनिक्षेपण है। और अपनेको परम अकिञ्चन बनाकर गलित अहंकार होना ही कार्पण्य है। इसी आत्मनिक्षेपण और कार्पण्यद्वारा अर्थात्

निर्मम तथा निरहंकार होनेपर शरणागति अथवा मुमुक्षुत्वकी प्राप्ति होनेसे शान्ति मिलती है, जैसा कि भगवान्‌का वचन है—

निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ।
(गीता २ । ७१)

साधनचतुष्टयका सुन्दर वर्णन गोस्वामी तुलसीदासजीने भी अपने रामचरितमानसमें भरतजीकी नन्दिग्रामकी तपश्चर्याके सुअवसरपर किया है । यथा—

राम मातु गुरुपद सिरु नाई। प्रभुपद पीठ रजायसु पाई ॥
नंदि गाँव करि परन कुटीरा। कीन्ह निवास धरमधुर धीरा ॥
जटाजूट सिर मुनि पट धारी। महि खनि कुस साथरी सँवारी ॥
असन बसन बासन ब्रतनेमा। करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा ॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तृन तूरी ॥

वैराग्य—

अवधराज सुरराज सिहाई। दसरथ धन सुनि धनद लजाई ॥
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥
रमाबिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी ॥

विवेक—

रामप्रेम भाजन भरत, बड़े न यह करतूति ।
चातक हंस सराहियत, टेक बिबेक बिभूति ॥

तितिक्षा—

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई। घट न तेज बलु मुख छबि सोई ॥
नित नव राम प्रेम पनु पीना। बढ़त धरमदलु मन न मलीना ॥
जिमि जलु निघटत सरद प्रकासे। बिलसत बेतस बनज बिकासे ॥

शम, दम, श्रद्धा और समाधान—

सम दम संयम नियम उपासा। नखत भरत हिय बिमल अकासा॥
ध्रुव बिस्वासु अवधि राकासी। स्वामि सुरति सुर बीथि बिकासी॥
रामप्रेम बिधु अचल अदोखा। सहित समाज सोह नित चोखा॥
भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस गनेस गिरा गमु नाहीं ॥

उपरति—

नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदय समाति ।
माँगि माँगि आयसु करत, राजकाज बहु भाँति ॥

मुमुक्षुत्व—

पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। जीह नाम जप लोचन नीरू ॥
लखन राम सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तप तनु कसहीं॥

साक्षात्कार—

सियराम प्रेम पियूष पूरन होत जनम न भरतको ।
मुनिमन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को ॥
दुखदाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसीसे सठन्हि हठि राम सनमुख करत को ॥

अनर्थकी निवृत्ति, परमानन्दकी प्राप्ति—

भरत चरित करि नेम, तुलसी जो सादर सुनहिं ।
सीयराम पद प्रेम, अवसि होइ भवरस बिरति ॥

यहाँ तत्त्वज्ञ भरतजीका भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी अनन्य भक्तिमें तन्मय होकर भजन करना परमानन्दकी प्राप्ति है; क्योंकि तत्त्वज्ञानी पुरुष तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् चाहे तो निर्विकल्प समाधिमें स्थित रहे अथवा भजन करता रहे इन दोनों बातोंमें कोई अन्तर नहीं ।*

ऐसे ही साधनचतुष्टयसम्पन्न भक्तके द्वारपर खड़ी हुई मुक्ति दासत्व स्वीकार करनेके लिये बड़ी ही आतुर रहती है।†

कर्मयोग और साधनचतुष्टय

जिस प्रकारसे ज्ञानयोग और भक्तियोगमें साधनचतुष्टयकी आवश्यकता है, उसी तरह क्रियायोगमें भी ।

अद्वैतवादी स्वामी श्रीशंकराचार्यजीने जिस तरह सगुण ब्रह्मके उपासकोंको भी मुक्तिका प्राप्त होना माना है, उसी तरह कर्मकाण्डियोंकी मुक्तिमें अनासक्तिको कारण माना है। 'जो मनुष्य स्वामीके लिये कर्म करनेवाले सेवकके समान सब कर्मोंको ईश्वरमें अर्पण करके यहाँतक कि मोक्षरूपी फलकी भी आसक्ति छोड़कर कर्म करते हैं, वे भी पापसे लिप्त नहीं होते। जैसे कमलका पत्ता जलसे'‡। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी भक्तिसे मुक्तिको अनादृत (अनादरित) कराया है। बात यह है कि ईश्वरमें अपने सारे कर्म अर्पण करनेवाले

---

* विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ
ननु भजनविधौ वा तद्द्वयं तुल्यमेव ॥
(बोधसारभक्तिरसायनम्)

† रोमाञ्चेन चमत्कृता तनुरियं भक्त्या मनो नन्दितं
प्रेमाश्रूणि विभूषयन्ति वदनं कण्ठं गिरो गद्गदाः ।
नास्माकं क्षणमात्रमप्यवसरः कृष्णार्चनं कुर्वतः
मुक्तिर्द्वारि चतुर्विधापि किमिदं दास्याय लोलायते ॥
(बोधसारभक्तिरसायनम् ५०)

‡ 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि' पर शांकरभाष्य देखिये ।
(गीता ५ । १०)

मनुष्य इतने पहुँचे हुए तितिक्षु होते हैं कि वे अपने इष्टदेवसे सञ्चित कर्मोंसे बचनेके लिये कभी प्रार्थना नहीं करते; प्रत्युत यह चाहते हैं कि—

'जेहि जोनि जन्मों कर्मबस तहँ रामपद अनुरागहूँ।'

कठिन-से-कठिन सांसारिक कष्टको वे भगवान्के प्रेममें भूल जाते हैं। जन्म-मरणके चक्रसे बचनेके लिये ज्ञानी हृदयकी गुहामें प्रविष्ट होकर साक्षात्कारद्वारा मुक्ति चाहता है और कर्मयोगी संसारमें शम, दम, तितिक्षा, उपरतिके बलसे दुःख, विघ्न आदिकी कुछ परवा नहीं करता, न जन्म-मरणसे हटता है; उसका एकमात्र ध्येय भगवान्के दीनजनोंकी निष्काम सेवा ही रहता है, इसी आनन्दमें वह अपने जीवनको सुफल समझता है।

'जे दिन जात अनंदमें, जीवनको फल सोय।'

यही उसकी मुमुक्षुता है। अतएव योगदर्शनके—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।

—से ऊपरका आशय स्पष्ट हो जाता है। यहाँ ईश्वरप्रणिधान अर्थात् सब कर्मोंको ईश्वरमें अर्पण कर देना, फलको छोड़ना, यही उपरति है। और निष्काम-भावसे भगवान्में एकाग्रचित्त होकर अटल विश्वास करना ही श्रद्धा तथा समाधान है। बहुत-से मनुष्योंको ईश्वरके अनुग्रहसे, पूर्व जन्मके शुद्ध संस्कार, सत्संग और गुरुका उपदेश सुननेसे ही साधनचतुष्टयकी सिद्धि हो जाती है। परन्तु बहुत-से ऐसे भी मनुष्य हैं, जिनको क्रियायोगद्वारा ही उपर्युक्त साधनोंकी उपलब्धि हो सकती है। योगदर्शनमें नित्यके विवेकका लक्षण इस प्रकार दिया है कि कालके अधीन न होनेसे ईश्वर नित्य है और सबसे (यो० द० १।२६) श्रेष्ठ है और लोक तथा वेदोंके सुने हुए पारलौकिक विषयोंकी तृष्णा न करना ही वैराग्य है (यो० द० १।१५)। यह साधनचतुष्टयके विवेक तथा वैराग्यके समान ही है।

अब योगाङ्गद्वारा शेष दो साधनोंके सुलभ होनेका विवरण नीचे दिया जाता है। प्राणायामद्वारा इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे विरक्त करके आत्मवस्तुमें चित्त लगाया जा सकता है, यही शम है। (यो० द० २।५२)

प्रत्याहारद्वारा इन्द्रियोंका दमन किया जाता है अर्थात् उनको वशीभूत करके अपने स्थानपर स्थिर किया जाता है। (यो० द० २।५४) यही दम है। योगीको विभूतियों अर्थात् लौकिक तथा पारलौकिक भोगैश्वर्यमें आसक्त न होना चाहिये, यही उपरति है। (यो० द० २।३८) आसनकी सिद्धिमें दृढ़ हो जानेपर शीतोष्ण सुख-दुःखादि द्वन्द्व विघ्नकारी नहीं होते, यही तितिक्षा है। (यो० द० २।४८) धारणा अर्थात् ईश्वरमें चित्तके स्थिर करनेको ही श्रद्धा कहते हैं। (यो० द० ३।१) ध्यान अर्थात् धारावाहीरूपसे चित्तको एकाग्र करना ही समाधान है। (यो० द० ३।२) और जब ज्ञानी विषय-वासनाओंसे रहित हो आत्मभावकी भावनासे शान्त होता है, तब मुमुक्षु बनता है। (यो० द० ३।३६, ४।२५, ४।२६)

इन सबका निष्कर्ष यह है कि ज्ञानयोगके साधनचतुष्टय, भक्तियोगकी षड्विध शरणागति और महर्षि पतञ्जलिप्रणीत योगदर्शनके अष्टाङ्गयोगमें वास्तविक भिन्नता कुछ नहीं है, और इन सबका लक्ष्य केवल अनर्थकी निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्ति ही है।

* * *

देवके समान माताका पूजनेवाला हो। देवके समान पिताका पूजनेवाला हो। देवके समान आचार्यका पूजनेवाला हो। देवके समान अतिथिका पूजनेवाला हो। जो निर्दोष कर्म हैं वे तुझे करने चाहिये, अन्य दोषयुक्त कर्म न करने चाहिये। जो हमारे आचार्योंके सुन्दर चरित हैं, वे तुझे नियमसे करने चाहिये, दूसरे (कर्म) शापादि, यदि आचार्य करें, तो भी तुझे न करने चाहिये।

(तैत्ति० १।११।२)

* * *

वेदान्तसे मोक्ष-प्राप्ति

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दनारायणजी आसोपा बी० ए०)

वेदान्त शब्दकी सिद्धि 'वेदस्य अन्तः वेदान्तः' मानी जाय तो अपौरुषेय वेदके अन्तिम भागका नाम वेदान्त होता है, क्योंकि वेदान्तके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन उपनिषदोंमें किया हुआ है जो प्रायः वेदके अन्तिम अध्यायरूप हैं। अथवा वेदके प्रतिपादित ब्रह्मज्ञान वा ब्रह्मविद्याका वर्णन उन्हीं उपनिषदोंमें किया हुआ है और वेदप्रतिपाद्य ज्ञानकी पराकाष्ठारूप है। 'वेदस्य ज्ञानस्य अन्तः यस्मिन्' ऐसी व्युत्पत्ति अङ्गीकार की जाय तो जिस शास्त्रमें ज्ञानका अन्त (समाप्ति) हो वह वेदान्त कहाता है। परब्रह्म परमात्माका ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है, अतः वेदान्तशास्त्रसे ब्रह्मज्ञान वा ब्रह्मविद्याका ही बोध होता है। 'ब्रह्मणो विद्या ब्रह्मविद्या' अर्थात् ब्रह्मकी विद्या ब्रह्मविद्या है। ब्रह्म ही परब्रह्म परमात्मा है जो अज, अनादि, अविनाशी, शुद्ध, चैतन्य, सर्वात्मक, सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। गीतामें भी कहा है कि 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' (८। ३) परब्रह्म अविनाशी है। उस ब्रह्मका जिस विद्यासे ज्ञान हो वह ब्रह्मविद्या कहाती है। अतः ब्रह्मविद्या और ब्रह्मज्ञान पर्यायवाची शब्द हैं। 'उपनिषीदति प्राप्नोति ब्रह्मात्मभावो अनया इति उपनिषत्' जिससे ब्रह्मात्मभाव प्राप्त किया जाय वह उपनिषत् कहाता है, इस व्युत्पत्तिसे उपनिषत् इसी ब्रह्मज्ञान वा आत्मज्ञानके साधक सिद्ध होते हैं। ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके प्रतिपादक तीन ग्रन्थ माने जाते हैं यथा उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता जिनको 'वेदान्तप्रस्थानत्रयी' कहते हैं। इनमेंसे उपनिषद् तो जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अपौरुषेय वेदका विभाग है। दूसरा ब्रह्मसूत्र वेदव्यासका बनाया हुआ वेदान्तका सर्वोत्तम ग्रन्थ है, जिसका वर्णन गीतामें भी आया हुआ है, यथा—'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' (१३। ४)। ब्रह्मसूत्र और वेदान्तसूत्र एक ही ग्रन्थके नाम हैं। तीसरी भगवद्गीता जिसमें भी ब्रह्मविद्याका उपादेय उपदेश दिया हुआ है। इन तीनों ग्रन्थोंमें ब्रह्मका प्रतिपादन होनेसे ये तीनों ही एक वेदान्तके सिद्धान्तके प्रतिपादक हैं। अद्वैत वेदान्त-मतमें एक ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु सत्य नहीं मानी जाती। ब्रह्मज्ञानके तत्त्वोंका निरूपण उपनिषदोंमें अनुक्रमसे नहीं किया हुआ है। किन्तु वे यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। उनकी एक-वाक्यता हुए बिना वे सिद्धान्त सहजमें समझमें नहीं आ सकते। अतः उनकी एकवाक्यता कर अन्तिम सिद्धान्तके तात्पर्यका परिज्ञान करानेके लिये वेदव्यासने वेदान्तसूत्रोंकी रचना की। और उन्हीं सिद्धान्तोंका विशदीकरण भगवद्गीतामें किया हुआ है।

वेदान्त अथवा ब्रह्मविद्याकी एकमात्र शिक्षा 'अहं ब्रह्मास्मि' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' है। यही बात गीतामें स्पष्ट बतायी गयी है कि—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
(४। २४)

अग्निमें हवनकर समर्पणकी क्रिया ब्रह्मरूप है, हवि ब्रह्मरूप है, अग्नि ब्रह्मरूप है; हवन करनेवाला पुरुष ब्रह्मरूप है, हवनरूप कर्म ब्रह्मरूप है, अतः हवन करनेवाला होता भी ब्रह्मको ही प्राप्त होता है। अर्थात् सब ब्रह्मरूप है यही ज्ञान ब्रह्मज्ञान है।

ईशावास्य उपनिषद्के प्रथम मन्त्रमें भी यही ब्रह्मज्ञानका निष्कर्ष दिया हुआ है कि 'ईशावास्यमिदꣳ सर्वम्' अर्थात् 'इदं' शब्दसे निर्दिश्यमान परोक्ष और अपरोक्ष सब कार्यरूप, ईश्वर वा ब्रह्मसे व्याप्त है, वसनेके[1] योग्य है, अवष्टम्भ[2] करनेके योग्य है, आच्छादन[3] करनेके योग्य है अर्थात् ब्रह्मस्वरूप है।

ब्रह्मसूत्रमें भी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिप्रतिपादित सिद्धान्तका विस्तृत वर्णन है। 'अहं ब्रह्मास्मि' 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' इत्यादि महावाक्योंका यही सिद्धान्त है कि जीव और ब्रह्म एक है। इनके पृथक्-पृथक् प्रतीत होनेका कारण अविद्या अथवा अज्ञान है। अविद्याके कारण जीव अपनेको ब्रह्मसे पृथक् समझता है। तत्त्वज्ञान होनेसे जब अविद्याका नाश हो जाता है, तब वह अपने-आपको ब्रह्मसे अभिन्न समझकर मुक्त हो जाता है। जीव और ब्रह्ममें जो भिन्नता भास रही है, वह सत्य वा तात्त्विक नहीं है, किन्तु उपाधि वा मायाके सम्बन्धसे ऐसी प्रतीति हो रही है। एक ब्रह्म ही सत्य है, उससे अतिरिक्त सब नाम-रूपात्मक वस्तुमात्र अनित्य है। जब गुरूपसत्तिसे तत्त्वका ज्ञान हो जाता है तब जीव अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्थितिका अनुभव करने लग जाता है। यही मुक्ति है। जगत् भ्रमके अतिरिक्त

---

[1] वस् निवासे धातुसे। [2] वसु स्तम्भे धातुसे। [3] वस् आच्छादने धातुसे।

और कुछ नहीं है। ब्रह्म अपनी माया-शक्तिके द्वारा जगद्-भ्रम उत्पन्न कर रहा है। परमात्मा ही स्वयं जीवरूपमें प्रवेश कर नाम और रूपका भेद उत्पन्न करता है, इस नाम-रूपके द्वारा ही परमात्मासे द्वैत संसारकी उत्पत्ति होती है। माया-मय जीवभावको ब्रह्मभाव प्राप्त करानेके लिये वेदान्तशास्त्रमें तीन प्रकारकी उपासनाका उपदेश है, यथा—अङ्गावबद्ध, प्रतीक और अहंग्रह।

अङ्गावबद्ध उपासनामें यज्ञके अङ्गोंमें ब्रह्म-भावना करनी होती है। प्रतीक-उपासनामें ब्रह्मसे भिन्न वस्तुओंमें ब्रह्म-भावना की जाती है। और अहंग्रह उपासनामें 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सोऽहम्' इस प्रकार जीव-ब्रह्मकी अभिन्न भावना की जाती है। इस प्रकारकी भावना ही अद्वैतवादकी उपासना है। इस ब्रह्म-भावनाकी प्राप्ति विद्यासे होती है। विद्या नाम आत्मज्ञान वा तत्त्वज्ञानका है। जो इस प्रकारकी विद्यासे अन्य हो वह अविद्या अथवा अज्ञान कहाता है।

विद्याका विशद विवेचन मुण्डकोपनिषद्में इस प्रकार किया हुआ है कि विष्णुभगवान्‌से सबसे प्रथम देवता ब्रह्माजी हुए। इस वैवस्वत मन्वन्तरमें उन ब्रह्माजीके ज्येष्ठ[1] पुत्र अथर्वा हुए। उस अथर्वाको ब्रह्माने ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। ब्रह्माजीकी दी हुई ब्रह्मसम्बन्धी विद्या होनेसे इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' है। यह ब्रह्मविद्या सर्व विद्याओंकी प्रतिष्ठा वा भित्तिरूप है। अथर्वाने यह विद्या अङ्गिराको सिखायी। अङ्गिराने भरद्वाजके पुत्र सत्यवाहको पढ़ायी। भारद्वाज सत्यवाहने आङ्गिरसको बतलायी। आङ्गिरसने शौनकको बतायी। अतः यह मुण्डकोपनिषत् अथर्वाका कहा हुआ है। अथर्वाके कर्दमकी पुत्री चित्तिसे दधीचि हुए जिन्होंने अपनी हड्डी इन्द्रको वृत्रासुरके वधार्थ प्रदान की थी। उन्हीं दधीचिने अश्विनीकुमारोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश किया जिसका वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद्में दिया हुआ है कि दधीचिने अश्वके शिरसे अश्विनीकुमारोंको मधुविद्या*का उपदेश दिया। मधुविद्या, अध्यात्मविद्या और ब्रह्मविद्या ये तीनों एक ही पदार्थके वाचक शब्द हैं। क्योंकि इन सबकी प्रवृत्ति आत्माको लक्ष्य करके होती है। उसी बृहदारण्यकमें लिखा है कि—

'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु।' इत्यारभ्य 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्।' यह पृथ्वी सब प्राणियोंकी मधु है और इस पृथ्वीके लिये सब प्राणी मधु हैं। यहाँसे आरम्भ कर 'यह आत्मा ब्रह्म है, जो सबमें व्याप्त है—यही अनुशासन (शिक्षा) है।'

दध्यङ्ङाथर्वणका दिया हुआ वह ब्रह्मविद्याका उपदेश ईशावास्य उपनिषद्में वर्णित है। भाष्यकार उवटाचार्य लिखते हैं कि—'दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः स्वशिष्यं पुत्रं वा गर्भाधानादिभिः संस्कारैः संस्कृतशरीरमधीतवेदमुत्पादितपुत्रं यथाशक्त्यनुष्ठितयज्ञमपापं निःस्पृहं यमनियमवन्तमतिथिपूजापनीतकिल्बिषं मुमुक्षुमुपसन्नं शिक्षयन्नाह।' अथर्वाके पुत्र दध्यङ् ऋषि अपने शिष्यको अथवा पुत्र (पिप्पलाद) को, जिसका शरीर गर्भाधान आदि षोडश संस्कारोंसे संस्कारयुक्त किया गया है, जिसने वेद पढ़ लिये हैं, जिसके पुत्र उत्पन्न हो चुका है, जिसने अपनी शक्तिके अनुसार यज्ञानुष्ठान किया है, जो पाप-रहित है, जिसकी स्पृहा जाती रही है, जो यम और नियम दोनोंका पालन करता है, जिसने अतिथिपूजा आदिसे अपने पापोंकी निवृत्ति कर ली है, जो मोक्षकी इच्छासे उपस्थित हुआ है, शिक्षा देते हुए कहते हैं।

उन दध्यङ् आथर्वणके वेदवतीके गर्भसे पिप्पलाद हुए जिन्होंने सुकेशा, सत्यकाम आदि छः ऋषियोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश किया, जिसका वर्णन प्रश्नोपनिषद्में आया हुआ है, यथा—

सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः।

(प्रश्न० १।१)

'भरद्वाजका पुत्र सुकेशा, शिबिका पुत्र सत्यकाम, सौर्यायणका पुत्र गार्ग्य, अश्वलका पुत्र कौसल्य, विदर्भका

---

[1] १—अथर्वासे छोटे मित्र, वरुण, ब्रह्मेति, हेति हुए।

* यह मधु अर्थात् मधुविद्या अथर्वाके पुत्र दध्यङ्ने अश्विनीकुमारोंको कही। उस ऋषिने देखते हुए अर्थात् ब्रह्मका अनुभव करते हुए जिस मधुको कहा उसका मैं आविष्कार करता हूँ। उस अथर्वाके पुत्र दध्यङ्ने घोड़ेके मस्तकसे अश्विनीकुमारोंको उस मधुविद्याका उपदेश किया। इसके आगेके तीन मन्त्रोंमें भी उसी बातका वर्णन है कि 'इस मधु विद्याका उपदेश अथर्वाके पुत्र दध्यङ्ने अश्विनीकुमारोंको दिया।'

पुत्र भार्गव, कत्यका पुत्र कबन्धी सब ब्रह्ममें तत्पर, ब्रह्ममें निष्ठावाले, परब्रह्मकी खोज करनेवाले, यह (पिप्पलाद) सब बतावेगा, इस अभिप्रायसे हाथमें समिधा लिये भगवान् पिप्पलादके पास आये।' पुनः पिप्पलादने इन छः ऋषियों-के प्रश्नोंका उत्तररूप प्रश्नोपनिषत् कहा। तदनन्तर इन छः महर्षियोंने ब्रह्मविद्याका प्रसार और प्रचार किया। इस प्रकार इस ब्रह्मविद्याका प्रचार हुआ। भगवान् नारायणने ब्रह्माजीको, ब्रह्माजीने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वाको, अथर्वाने दधीचिको, दधीचिने पिप्पलादको और पिप्पलादने छः ऋषियोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया। यह ब्रह्मज्ञानकी वैदिक परम्परा है।

अब हम प्रकृत विषयपर आते हैं कि वह विद्या दो प्रकारकी है—परा और अपरा।

अपरा विद्यामें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष हैं। और परा विद्या वह है जिससे अक्षर (अविनाशी) ब्रह्मका ज्ञान होता है। ब्रह्म अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षुःश्रोत्र, अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वग, सुसूक्ष्म, अव्यय, भूतयोनि है। जैसे ऊर्णनाभि (मकड़ी) अपने जालेको तनती है और समेट लेती है, जैसे पृथिवीमेंसे ओषधियाँ उगती हैं, जैसे जीते हुए मनुष्यके शिरमेंसे केश निकलते और बढ़ते हैं, वैसे अक्षरब्रह्मसे यह विश्व (जगत्) उत्पन्न होता है। परब्रह्मकी अनिच्छारूप इच्छा (तप) से प्रकृति (अन्न) हुई। प्रकृतिसे प्राण, मन, सत्य, लोक और कर्म हुए। कर्मसे अमृत वा मोक्ष हुआ। जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है, जिसका ज्ञानरूप तप (इच्छा वा विचार) है, उस परमात्मासे ब्रह्मा, नाम-रूप (जीव) और अन्न (प्रकृति) ये तीन उत्पन्न हुए। इस प्रकारके परब्रह्मके ज्ञानको ब्रह्मज्ञान वा ब्रह्मविद्या कहते हैं। इस विद्याके अभावको अविद्या कहते हैं। उसी मुण्डकोपनिषद्में लिखा है कि—

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना
वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागा-
त्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥
(१।२।९)

अविद्यामें प्रायः वर्तमान अज्ञानी पुरुष ऐसा अभिमान करते हैं कि हम कृतार्थ हैं। रागासक्त होनेके कारण कर्मनिष्ठ पुरुष विद्या अर्थात् ज्ञानको नहीं जानते हैं, जि उनके उत्तम लोक क्षीण हो जाते हैं और वे नीचे योनियोंमें गिर जाते हैं।

पुनः उसी मुण्डकमें लिखा है कि—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥
(१।२।८

अविद्यामें वर्तमान पुरुष अपने-आपको धीर औ पण्डित मानते हैं, अतएव वे मोहित होकर इधर-उ पिटते ऐसे डोलते हैं जैसे अन्धे पुरुषसे ले जाये जा अन्धे चौतरफ घूमते हैं।

इस विद्या और अविद्याका वर्णन ईशावास्य उपनिषद् के ९ से लेकर ११ तकके तीन मन्त्रोंमें इस प्रकार कि हुआ है कि—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँरताः ॥९॥

जो पुरुष अविद्या (अथवा अज्ञान) अर्थात् कर्मकी उपासना करते हैं (अर्थात् स्वर्ग-प्राप्तिके लिये ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ करते हैं) वे अदर्शनात्मक अज्ञानमें प्रवेश करते हैं; अर्थात् संसारकी परम्पराका अनुभव करते हैं। और जो विद्या अथवा आत्मज्ञान वा देवताओंकी उपासनामें ही आसक्त रहते हैं किन्तु न तो कर्मानुष्ठान करते हैं और न ब्रह्मानन्दका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं और केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा कथनमात्र करते हैं, वे उससे भी नीचेके तम अर्थात् नरक-को जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य कर्मोंका त्यागकर केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' कहता फिरता है और ब्रह्म-का साक्षात्कार नहीं करता, उसका चित्त वर्णाश्रमधर्मके कर्म न करनेसे उत्पन्न हुए विघ्नोंसे दब जानेके कारण और अन्तःकरणकी शुद्धि न होनेके कारण और ज्ञानका उदय न होनेके कारण वह इधर-उधर दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर नरकका अधिकारी होता है। अन्तःकरणकी शुद्धि तो वेदमें कहे हुए कर्मके करनेसे ही होती है। उस अन्तःकरणकी शुद्धिके हो जानेसे ही ज्ञानका उदय होता है और ज्ञानसे मोक्ष होता है। अतः मोक्षकी इच्छावाले पुरुषको चाहिये कि वह वेदविहित कर्म करता हुआ ही विद्या अर्थात् आत्म-ज्ञानके लिये प्रयत्न करे। न तो अकेला वेदविहित कर्म और

न अकेला आत्मज्ञान ही फलदायक होता है। दोनों मिलकर ही फलदायक हो सकते हैं। इसमें प्रमाण देते हैं कि—

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

केवल विद्या अर्थात् आत्मज्ञान अथवा देवताओंकी उपासना करनेसे दूसरा फल होता है और केवल अविद्या अर्थात् कर्मानुष्ठानसे दूसरा फल मिलता है, ऐसा हमने धीर पुरुषोंसे सुना है जो हमें विद्या और अविद्याका फल स्फुट प्रकारसे बता गये हैं। इसका यह तात्पर्य है कि विद्या अर्थात् आत्मज्ञान अथवा देवताओंकी उपासनासे देवलोककी प्राप्ति होती है और अविद्या अर्थात् कर्मानुष्ठानसे पितृलोककी प्राप्ति होती है। श्रुति कहती है कि—

'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः।'

कर्म करनेसे पितृलोक और विद्या (आत्मज्ञान) से देवलोक मिलता है। सब लोकोंमें देवलोक श्रेष्ठ है इसलिये विद्याकी प्रशंसा की गयी है। यहाँ पितृलोकका कथन करनेसे सकाम कर्म करनेसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोकसे तात्पर्य है। और देवलोक कहनेसे निष्काम कर्म करनेसे प्राप्त होनेवाले पुनरागमनरहित मोक्षसे तात्पर्य है। मोक्षकी श्रेष्ठता उसके पुनरागमनसे रहित होनेके कारण स्पष्ट ही है। यह बात परम्परागत आचार्योंके वचनोंसे जानी जाती है।

अब विद्या और अविद्या दोनों मिलकर ही फलदायक होती हैं, इस बातको बतानेके लिये यह उपदेश किया गया है कि—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

जो पुरुष विद्या (आत्मज्ञान वा देवदर्शन) और अविद्या (कर्म अथवा देवदर्शनका अभाव) इन दोनोंको एक साथ जानता है, वह अविद्या (कर्मानुष्ठान) से मृत्यु (अन्तःकरणकी अशुद्धिरूप मलको) दूरकर विद्या (आत्मज्ञान) से अमृत अर्थात् मोक्षको प्राप्त होता है। इसका यही निष्कर्ष है कि अपने वर्ण और आश्रमके धर्मका पालन करता हुआ पुरुष आत्मज्ञानमें प्रवृत्त हो सकता है। वर्णाश्रमधर्मको छोड़नेसे आत्मज्ञान नहीं हो सकता। धर्मकर्म करनेसे ही अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। अशुद्धिरूप मलके कारण ही राग-द्वेष आदिसे उत्पन्न होनेवाले जन्म-मरण आदि होते हैं जो मृत्युरूप हैं। और जन्म-मरणरूप दुःखकी निवृत्ति ही अमृत वा मोक्षरूप है। सकाम कर्म करनेसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है और निष्काम कर्म करनेसे (उनके ईश्वरार्पण हो जानेसे और उस ईश्वरकी प्रेरणासे अन्तःकरणकी शुद्धि हो जानेसे) मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः निष्काम कर्म मोक्षके साधनके अंग हैं, ऐसा समझना चाहिये।

इन तीनों मन्त्रोंका यही गूढाशय है कि विद्या तो ज्ञानरूप है और अविद्या कर्मरूप है। अतः जो कर्म करना वह ज्ञानपूर्वक करना, न कि अन्धेकी तरह। कर्म और ज्ञान दोनों क्रियाओंके सम्मिलित साधनसे ही मोक्षरूप फलकी प्राप्ति होती है।

उसी प्रकार आगेके तीन मन्त्रोंमें सम्भूति अर्थात् कारणरूप आत्मा वा ब्रह्म और असम्भूति अर्थात् कार्यरूप देहादिका वर्णन किया गया है, यथा—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳ रताः ॥१२॥
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥

कारणरूप ब्रह्म और कार्यरूप जगत् इन दोनोंकी उपासना करनी चाहिये। कारणरूप ब्रह्मकी उपासनासे मोक्षरूप फल मिलता है और कार्यरूप शरीर अथवा जगत्की उपासनासे भोगरूप फल मिलता है, ऐसा धीर पुरुषोंसे हमने सुना है। जो पुरुष इन दोनों कारणरूप ब्रह्म और कार्यरूप जगत्को एकरूपसे जानता है, वह असम्भूति वा नाशवान् वर्णाश्रमधर्मके साधनभूत शरीरसे मृत्यु अथवा पापको दूरकर सम्भूति अर्थात् ब्रह्मकी उपासनासे अमृत अर्थात् मोक्षको प्राप्त होता है। वर्णाश्रमधर्मोक्त कर्मोंके करनेसे जिसके पाप नष्ट हो गये हैं ऐसा पुरुष ही ब्रह्मकी उपासना करनेमें समर्थ होता है। अतः पहले वर्णाश्रमकर्म करने चाहिये। और उसका साधन यह शरीर और वस्तुमात्र है, ऐसा जानना चाहिये। वर्णाश्रमविहित कर्मानुष्ठान करनेवाले शरीरकी ही ब्रह्मोपासना करनेकी योग्यता होती है। इससे यह समझना चाहिये कि पहले वर्णाश्रमधर्मकार्य करना और पीछे ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये। इन दोनों क्रियाओंके मिलित साधनसे मोक्षरूप फलकी प्राप्ति होती है। यह इन तीनों श्रुतियोंका गूढाशय है। बिना शरीरके जीव टिक नहीं सकता और जीवका मोक्ष शरीर-द्वारा कर्म किये बिना हो नहीं सकता। अतः देहसे जो कर्म

करे उन्हें निष्कामभावसे अहङ्कार-शून्य होकर करे और उन्हें भगवान्के अर्पण कर दे। इस प्रकार देहसे ब्रह्मके अर्पणपूर्वक निःसङ्गतासे कर्म करनेके कारण पापरहित हुआ पुरुष आत्मरूपसे मोक्षका अधिकारी हो जाता है। अतः देहादिके विषयमें घृणा नहीं करनी चाहिये। कहा भी है 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।' धर्मका पहला साधन शरीर है। शरीरका उपयोग ही यह है कि धर्मसाधनद्वारा मोक्षके फलकी प्राप्तिकी ओर प्रयत्न किया जाय। कहा है कि—

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥
(भाग० ११।१८।

यह ब्राह्मणका शरीर क्षुद्र (नीच) कामोंके लिये नहीं है, किन्तु इस लोकमें कठिन तपस्या और परलो मोक्षकी प्राप्तिके लिये है।

* * *

श्रीशुकदेवमुनिके द्वारा परीक्षितको दिव्योपदेश

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥

भगवान् श्रीकृष्णका अवतार द्वापरके अन्तमें हुआ था और उसी समय कौरव तथा पाण्डवोंमें महाभारतका भीषण युद्ध भी। उस महायुद्धमें पाण्डवोंकी विजय हुई, क्योंकि योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण उन्हींके पक्षमें थे। पाँच पाण्डव, सात्यकि, युयुत्सु, कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामाको छोड़कर दोनों पक्षोंके प्रायः सभी वीर उस युद्धमें मारे गये। अर्जुनका पुत्र अभिमन्यु भी वीरगतिको प्राप्त हुआ, किन्तु उसकी स्त्री उत्तरा गर्भवती थी। इसीसे एक बड़ा प्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम परीक्षित था।

युद्ध समाप्त होनेपर महाराज युधिष्ठिरने तीन अश्वमेधयज्ञ किये, किन्तु तिसपर भी उनके हृदयका शोक नहीं मिटा। इसी बीच विदुरजी और राजा धृतराष्ट्र घर छोड़कर जंगलको चले गये तथा उन्होंने वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लिया। उधर द्वारिकासे समाचार आया कि गृहकलहके कारण यादववंशका संहार हो गया और भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने लोकको पधार गये। इन सब सूचनाओंसे महाराज युधिष्ठिरको ज्ञात हो गया कि अब कलियुगका आगमन हो गया है, अतः उन्होंने भी परम वैराग्ययुक्त होकर परीक्षितको राज्य सौंप दिया तथा चारों भाइयों और द्रौपदीको साथ लेकर महायात्राके लिये विदा हो गये।

महाराज परीक्षित बड़े धर्मात्मा, शक्तिशाली और दिग्विजयी राजा थे। एक समय वे कुरुक्षेत्रकी यात्रा कर रहे थे, वहाँ उन्होंने एक अद्भुत दृश्य देखा। वह यह था कि एक बूढ़े बैलके तीन पैर टूटे हुए थे और उसके साथ एक गाय थी जो अत्यन्त कृश और दीन हो रही थी। उ दोनोंके पीछे एक काले रंगका भयावना पुरुष राजचि धारण किये खड़ा था। वास्तवमें वह बूढ़ा बैल धर्म था, गा पृथ्वी थी तथा पुरुष कलि था, जिसके भयसे वे दोनों (गा बैल) आपसमें यह कह रहे थे कि 'हाय, हाय! अब कलि युग आ गया, भविष्यमें पृथ्वी शूद्रप्राय राजाओंके अधिकार चली जायगी, देवताओंका हविर्भाग नष्ट हो जायगा, इन्द्र वर्षा नहीं करेंगे जिससे प्रजा भूखों मरेगी। ब्राह्मण कुक होंगे या लोभवश सेवावृत्ति करेंगे, अन्य सब प्राणी शास्त्र विधि-निषेधको न मानकर मनमाना आचरण करेंगे तथा धर्मके चार चरण—तप, शौच, दया और सत्यमेंसे पहले तीन चरण नष्ट हो जायँगे। केवल सत्य कुछ समयतक बच रहेगा, किन्तु अन्तमें वह भी नष्ट हो जायगा।'

इस संवादको सुनकर राजा परीक्षितने उस राजदण्ड धारी कलिकी ओर देखा और वे धनुषपर बाण चढ़ाकर उसको मारनेके लिये उद्यत हो गये। तबतक कलिने राज चिह्नोंको त्याग दिया और वह दण्डके समान राजा परीक्षित के चरणोंमें जा गिरा। राजा परीक्षित दीनवत्सल थे ही, उन्होंने उसका वध नहीं किया। कलिने यह प्रार्थना की कि 'महाराज! आप मेरे रहने लायक कोई स्थान बतला दीजिये, जहाँ मैं आपकी आज्ञासे निश्चिन्त होकर रहूँ। मैं जहाँ-जहाँ जाता हूँ, वहाँ-वहाँ आप मेरे वधके लिये हाथमें धनुष-बाण धारण किये हुए दिखायी देते हैं।'

ऐसी प्रार्थना करनेपर राजा परीक्षितने कहा—'द्यूत, मद्यपान, स्त्री-संग और हिंसामें असत्य, मद, काम तथा क्रूरताका वास है। तुम इन्हीं चार जगहोंमें निवास करो।' इसपर कलियुगने फिर प्रार्थना की कि 'महाराज! मुझको ऐसा स्थान भी बतलाइये, जहाँ उपर्युक्त चारों अधर्मोंकी

एक साथ स्थिति हो।' तब राजा परीक्षितने ऐसा स्थान सुवर्ण बतलाया और कहा कि उसमें असत्य, मद, काम, क्रूरता, वैरभाव इत्यादि सभी पाप बसते हैं।

अस्तु, इस प्रकार कलियुगका निवास सुवर्ण (धन) आदि पाँच स्थानोंमें रहता है। अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि वे इन विषयोंसे सर्वथा अनासक्त रहें। विशेषकर धर्मशील राजा और लोकरक्षक गुरुओंको तो और भी उनसे बचना चाहिये, क्योंकि सर्वसाधारण जनता उन्हींका अनुकरण करती है।

एक बार राजा परीक्षित शिकार खेलनेके लिये किसी जंगलमें अकेले जा पहुँचे। वे चलते-चलते थक गये और प्याससे व्याकुल हो उठे। उन्होंने एक ऋषिको कुछ दूरपर बैठे हुए देखा और उनके पास जाकर जलकी प्रार्थना की। मुनि ध्यानमग्न थे, अतः उन्होंने कुछ भी नहीं सुना। राजा परीक्षितको यह देखकर क्रोध आ गया। उन्होंने सोचा, 'इस मुनिने मुझको बैठनेके लिये तृणका भी आसन नहीं दिया और न कुछ प्रिय भाषण ही किया!'

एक तो राजा गर्मी, भूख, प्यास आदिसे व्याकुल थे दूसरे उनके स्वर्ण-मुकुटमें कलिका निवास था; इससे उनकी बुद्धि विवेकशून्य हो गयी। वे वहाँसे चल दिये। इसी समय उनकी दृष्टि एक मरे हुए सर्पपर पड़ी। कलिप्रभावित और क्रोधके वशीभूत राजाने उस सर्पको अपने धनुषके अग्रभागसे उठा लिया और लौटकर उसे ध्यानमग्न ऋषिके गलेमें डाल दिया। उस समय राजाने यह जरा भी नहीं सोचा कि ऋषि सचमुच ध्यानमें बैठे हैं या उन्होंने लोगोंको ठगनेके लिये झूठी समाधि लगा रक्खी है।

ऋषिके गलेमें सर्प डालकर राजा चले गये। किन्तु जब राजाके इस अपराधका पता ऋषिके प्रतापी पुत्र शृंगीको मालूम हुआ, तब उसके क्रोधकी सीमा न रही। उसने झट जलका आचमन करके राजाको यह शाप दे दिया कि 'मेरे पिताके गलेमें मरा हुआ सर्प डालनेवाले और इस प्रकार लोकमर्यादाका उलङ्घन करनेवाले उस कुलाङ्गार परीक्षितको आजके सातवें दिन तक्षक सर्प डस लेगा।'

इतनेमें शमीक ऋषिकी समाधि टूटी और उनको इस सारी घटनाका पता चल गया। फिर तो वे बड़े खिन्न हुए और उन्होंने अपने पुत्रसे डाँटकर कहा—'अरे मूर्ख! तुमने यह बड़ा पाप किया जो बहुत थोड़े-से अपराधके कारण उस परमधार्मिक, महाकीर्तिमान्, भगवद्भक्त, अश्वमेधयाजी सम्राट्को ऐसा भयानक शाप दे दिया।' किन्तु इसके सिवा अब ऋषि कर ही क्या सकते थे! उन्होंने अपने शिष्यके द्वारा शापका सारा वृत्तान्त राजाके पास भेजवा दिया।

इधर राजा ज्योंही घर पहुँचे, मुकुट उतारा, त्योंही उनकी बुद्धि ठिकाने आ गयी थी। वे अपने कुकृत्यपर अत्यन्त पश्चात्ताप और शोक प्रकट कर रहे थे, तबतक शापका समाचार पाकर उनके दुःखका ठिकाना न रहा। उनका मन संसारसे विरक्त हो गया, परलोकके सम्पूर्ण भोगोंसे भी उनका मन हट गया। उन्होंने राज्यका भार अपने पुत्र जनमेजयको सौंप दिया और स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें लौ लगाकर, मृत्युकालपर्यन्त अनाहार-व्रतका संकल्प करके वे भगवती भागीरथीके पुनीत तटपर चले गये। यह हाल सुनकर वहाँ अनेकों ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि और ऋषि-मुनि पहुँच गये तथा सबने राजाके साथ सहानुभूति दिखलायी। राजा परीक्षितने उन सबसे प्रार्थना की कि 'आपलोग मुझको तक्षकसे बचानेका कोई उपाय न सोचकर भगवान् श्रीकृष्णकी कथाओंको ही विस्तारके साथ सुनानेकी कृपा करें।' राजा नदीके दक्षिण तटपर उत्तरकी ओर मुँह करके बैठ गये और उन्होंने महर्षियोंसे पूछा—'भगवन्! ऐसा कौन-सा कर्म है, जिसको सब लोग, सब अवस्थाओंमें—विशेषकर मृत्युके समय कर सकते हैं तथा जिसके करनेसे कुछ भी पाप नहीं लगता है?' इस प्रश्नको सुनकर, वहाँ जितने ऋषि-मुनि थे, आपसमें वाद-विवाद करने लगे। कोई तपको श्रेष्ठ बतलाता था, कोई-कोई योग और यज्ञको ही सर्वश्रेष्ठ कर्म कहकर पुकार उठते थे।

इतनेमें वहाँपर एक अवधूत आ पहुँचे। उनकी अवस्था १६ वर्षकी थी, शरीर दिगम्बर था तथा मुखाकृति प्रसन्न और तेजयुक्त थी। वे और कोई नहीं, श्रीशुकदेवजी थे। राजाके द्वारा पूजा किये जानेके उपरान्त उन्होंने कहा—'राजन्! मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सर्वात्मा भगवान् श्रीहरिका कीर्तन करना चाहिये, सुनना चाहिये तथा स्मरण करना चाहिये। भगवान् श्रीहरिका कीर्तन यदि अन्तकालतकमें भी हो तो वह पुरुष मरकर श्रीहरिके रूपमें जा मिलता है। राजा खट्वाङ्गकी कथा तुम्हें मालूम होगी, वह दो घड़ीमें ही सम्पूर्ण विषयोंका त्याग करके मुक्त हो गया। तुम्हारे लिये तो अभी सात दिन बाकी हैं। पहली बात यह कि तुम मृत्युका भय छोड़ दो, उसके बाद इस शरीर और शरीरके सभी सम्बन्धी जैसे स्त्री-पुत्र आदिकी ममतारूपी रस्सीको वैराग्यरूपी शस्त्रसे छिन्न-भिन्न

कर दो और एकान्तमें बैठकर मनको भगवत्स्वरूपमें लगा दो। श्रीभगवान् सबके अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं। क्योंकि श्रुति यही कहती है और अनुमानसे भी इसीकी पुष्टि होती है। जैसे कुल्हाड़ी आदि हथियार वृक्षको काटनेके साधन हैं, किन्तु वे सभी हथियार किसी काटनेवाले चेतनके बिना अपना कार्य नहीं कर सकते, वैसे ही मन, बुद्धि आदि भी जड पदार्थ हैं और किसी चेतनके आश्रयसे ही काम करते हैं। वह चेतन ज्ञानस्वरूप ईश्वर ही है, जो प्रत्येक शरीरमें निवास करता है। इस प्रकारके अनुमानसे जब पुरुषको ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास हो जाता है, तब उसके हृदयमें भगवत्प्रेम उत्पन्न होना भी अशक्य नहीं होता। किन्तु भगवान्में प्रीति प्राप्त करनेके साधनोंमें श्रीहरिकथाके श्रवणसे बढ़कर और कोई साधन नहीं। श्रीहरिकथाके श्रवणसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। ज्ञानाग्निसे काम, क्रोध आदि दुर्वृत्तियोंका नाश हो जाता है। तदनन्तर विषयोंसे वैराग्य होकर चित्त प्रसन्न हो जाता तथा मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला भक्तियोग प्राप्त हो जाता है।

इस सुमधुर सम्भाषणको सुनकर राजा परीक्षि श्रीशुकदेवजीसे श्रीहरिकथामृतका पान करानेके लिये प्रा की। श्रीशुकदेवजीने एक सप्ताहमें उनको श्रीमद्भागवत कथा सुना दी और उससे राजाको बड़ी सान्त्वना मिली परमहंससंहिता श्रीमद्भागवतमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति जो त्रिभुवनपावनी त्रिवेणीका स्रोत बहा है वह सं अनिर्वचनीय है! *

विद्या, अविद्या और सम्भूति, असम्भूतिका तत्त्व

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

ईशोपनिषद् यजुर्वेदमन्त्रसंहिताका ४० वाँ अध्याय है। वेदका आशय बहुत ही गहन है। हरेक मनुष्य वेदका तत्त्व नहीं समझ सकता। कोई महापुरुष ही ऐसे गूढ़ विषयोंका तात्पर्य बता सकते हैं। मेरा न तो वेदका तत्त्व बतानेका अधिकार है और न ऐसी योग्यता ही है तथापि प्रेमी भाइयोंकी प्रेरणासे अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जैसा समझमें आया, लिखा जाता है।

विद्या, अविद्या और सम्भूति, असम्भूतिका अर्थ विद्वानोंने अनेक प्रकारसे किया है। परन्तु मन्त्रोंमें जो इनके ज्ञानसे महान् फल बतलाया है, वह फल किस प्रकारकी उपासनासे मिल सकता है, इसका ठीक-ठीक निर्णय समझमें नहीं आता, अतः इसका विवेचन करके समझनेकी आवश्यकता है; सुतरां पहले विद्या और अविद्याके अर्थपर विचार किया जाता है।

मेरी समझमें यहाँ विद्याका अर्थ ब्रह्मविद्या और अविद्याका अर्थ यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंका करना तथा स्ववर्णोचित स्वाभाविक कर्मोंका करना, इस प्रकार मानना ठीक है† क्योंकि यहाँपर विद्या और अविद्याके तत्त्वको न समझनेवालेकी निन्दा करके, इन दोनोंके तत्त्वको समझनेवालेकी प्रशंसा की गयी है। और इनका तत्त्व समझने फल मृत्युसे तरकर अमृतत्वकी प्राप्ति बतलायी गयी है, और ऐसा फल उपर्युक्त अर्थ माननेसे ही हो सकता है। कोई कोई विद्वान् यहाँ विद्यामें रत रहनेका अर्थ देवोंकी उपासना मानते हैं, किन्तु यह अर्थ युक्तिसंगत समझमें नहीं आता। क्योंकि यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंकी अपेक्षा, देवोपासना का फल नीचा बतलाना यानी देवोपासना करनेवाला, उनसे भी बढ़कर घोर अन्धकारमें प्रवेश करता है, यह कहना नहीं बन सकता क्योंकि स्वर्गादिकी प्राप्तिको अन्धकारमें प्रवेश करना मान लेनेसे, उससे बढ़कर घोर अन्धकार शूकर-कूकर आदि तिर्यक् योनियोंकी या रौरवादि नरकोंकी प्राप्तिको ही मानना पड़ेगा, सो देवोपासनाका ऐसा फल मानना युक्तिसंगत या शास्त्रसंगत नहीं प्रतीत होता।

अतएव यहाँ 'विद्यामें रत होनेका' अभिप्राय ब्रह्मविद्याका केवल अभिमानमात्र करना समझना चाहिये, क्योंकि यहाँपर यथार्थ न समझकर रत होनेवालेकी निन्दा की गयी है, उपासना करनेवालेकी नहीं। इसलिये जो मनुष्य विवेक, वैराग्य और उपरामतादिसे रहित हैं, वास्तवमें जिनका देहाभिमान नष्ट नहीं हुआ है, केवल शास्त्रोंके अभ्याससे

---

* गीताप्रेससे प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थ 'भागवत स्तुति-संग्रह' से।

† शास्त्रनिषिद्ध चोरी, व्यभिचार और मिथ्याभाषणादि पापकर्म भी अविद्या ही हैं, पर इनकी उपासना नहीं बन सकती, अतः इनकी गणना उनके साथ नहीं की गयी है।

ब्रह्मविद्याकी बातें पढ़-सुनकर अपनेको ज्ञानी मानने लग जाते हैं तथा ऐसे ज्ञानाभिमानमें रत रहनेके कारण स्ववर्णाश्रमोचित शास्त्रविहित कर्मोंकी अवहेलना करके स्वेच्छाचारी हो जाते हैं, उनको यहाँ विद्यामें रत बतलाया है। अतएव उनके लिये घोर नरकोंकी प्राप्ति बतलाना उचित ही है। गोस्वामीजीने भी कहा है कि—

ब्रह्मग्यान जान्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय।
तुलसी ऐसी आतमा, सहज नरकमें जाय॥

इसी तरह स्वामी शङ्कराचार्यजीने भी कहा है—

कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः।
ते ह्यज्ञानितमा नूनं पुनरायान्ति यान्ति च॥

(अपरोक्षानुभूति १३३)

'जो ब्रह्मवार्तामें कुशल हैं किन्तु ब्राह्मी वृत्तिसे रहित और रागयुक्त हैं, निश्चय ही वे अत्यन्त अज्ञानी हैं और बारंबार जन्मते-मरते रहते हैं।'

जो इस प्रकारके विपरीत ज्ञानसे अपनेको ज्ञानी समझते हैं, वे मनुष्य, इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बर्तती हैं, गुण ही गुणोंमें बर्त रहे हैं, कामक्रोधादि दुर्गुण अन्तःकरणके धर्म हैं, इनका अन्तःकरणमें रहना अनिवार्य है, इत्यादि बहाना करके सदा भोगोंके भोगनेमें फँसे रहते हैं और ईश्वरको तथा शास्त्रोंको एवं धर्म-अधर्मको कल्पित समझकर, विहित कर्मोंका त्याग कर बैठते हैं, निषिद्ध कर्मोंसे निर्भय हो जाते हैं, फिर ऐसे मिथ्याज्ञानियोंको घोर नरककी प्राप्ति हो, इसमें कहना ही क्या है!

यहाँ विद्यामें रत होनेका फल घोर अन्धकारकी प्राप्ति बतलाया जानेके कारण, पहले-पहल साधारण दृष्टिसे यह शंका होती है कि यदि विद्याका तात्पर्य ब्रह्मविद्या होता, तो उसका ऐसा उलटा फल कैसे बतलाया जाता, परन्तु मन्त्रोंकी उक्तिपर विशेष लक्ष्य करनेसे इस प्रकारकी शंकाको स्थान नहीं रहता। क्योंकि मन्त्रमें विद्याकी उपासनाका फल घोर अन्धकारकी प्राप्ति नहीं बताया गया है, उसका फल तो परब्रह्मकी प्राप्ति है। किन्तु जो विद्याके तत्त्वको न जाननेके कारण उसकी उपासना नहीं करके केवल विद्याके अभिमानमें रत हैं यानी सत्यासत्यके विवेकपूर्वक अनात्मवस्तुओंसे सर्वथा विरक्त होना और तत्त्वज्ञानके अर्थका निरन्तर चिन्तन करना आदि साधनोंकी चेष्टा न करके, शरीरमें अहन्ता, ममता और आसक्ति रखते हुए ही केवल ब्रह्मविद्याका अभिमानमात्र करके, अपनेको पण्डित और ज्ञानी मान बैठते हैं, उनके लिये घोर अन्धकारकी प्राप्ति बतायी गयी है।

अविद्या अज्ञानका नाम है। अतः अज्ञानके कार्यरूप यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंके अनुष्ठानको यहाँ अविद्याकी उपासना बतलायी गयी है।

एकादश मन्त्रमें, विद्या और अविद्याको एक साथ जाननेके लिये कहा गया है, इससे यह शङ्का उपस्थित होती है कि यदि विद्याका अर्थ ब्रह्मविद्या और अविद्याका अर्थ यज्ञादि कर्म मान लिया जाय तो दोनोंका समुच्चय यानी एक साथ उपासना कैसे हो सकेगी। क्योंकि यज्ञ, दान और तप आदि कर्मोंका अनुष्ठान करते समय साधककी ईश्वरमें और अपनेमें, एवं कर्म और कारकादिमें भेददृष्टि रहती है तथा विद्याकी उपासनामें यानी ब्रह्मविचाररूप ज्ञानाभ्यासमें अभेददृष्टि होती है, अतः दोनोंकी उपासना एक साथ नहीं हो सकती। सो ठीक है, यहाँ यह कहना भी नहीं है, यहाँ तो दोनोंका तत्त्व एक साथ समझनेवालेकी प्रशंसा की है।

यहाँ दसवें मन्त्रमें केवल संकेतमात्रसे ही दोनोंका फल बताया है, उसका स्पष्टीकरण नहीं किया—इससे इस प्रकरणका तात्पर्य समझनेमें बहुत कठिनता पड़ जाती है। शास्त्रका तात्पर्य समझकर उपासना करनेसे विद्या और अविद्या अर्थात् ज्ञान और कर्मानुष्ठानका दूसरा ही फल होता है। विचार करनेसे मालूम होता है कि यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंका और स्ववर्णाश्रमोचित स्वाभाविक कर्मोंका, जो सकामभावसे अनुष्ठान करना है, यह तो वास्तविक अर्थ बिना समझे अविद्याकी उपासना करना है। अतः इसका फल स्वर्गादिकी प्राप्तिरूप अन्धतमकी प्राप्ति बतायी गयी है; पर इन्हीं कर्मोंका जो अभिमान, राग, द्वेष और फलकामना छोड़कर अनुष्ठान करना है, यह तात्पर्य समझकर अविद्याकी उपासना करना है, अतः इसका फल उससे दूसरा अर्थात् राग-द्वेष आदि समस्त दुर्गुणोंका और हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्याभाषणादि दुराचारोंका तथा हर्ष, शोक आदि समस्त विकारोंका सर्वथा अभाव हो जाना बताया गया है।

इसी तरह शास्त्रके तात्पर्यको न समझकर ब्रह्मविद्याका केवल अभिमानमात्र कर लेना, उसकी उपासना नहीं है, उसमें अज्ञानपूर्वक रत होना है। इसलिये उसका फल घोर अन्धतमकी प्राप्ति बतलायी गयी है। किन्तु नित्यानित्यवस्तुके

विवेकसे क्षणभङ्गुर, नाशवान्, अनित्य शरीर और संसार आदि दृश्य पदार्थोंसे और सम्पूर्ण क्रियाओंसे विरक्त होकर उपराम होना एवं निरन्तर केवल नित्यविज्ञानानन्दघन ब्रह्मके ध्यानमें अभेदभावसे स्थित होना, यह शास्त्रोंके तात्पर्यको समझकर विद्याकी उपासना करना है। अतः इसका फल उससे दूसरा अर्थात् तत्त्वज्ञानपूर्वक परब्रह्मकी प्राप्ति बतायी गयी है।

इस प्रकार मन्त्रोंके प्रत्येक अक्षरपर ध्यान देकर अर्थका विचार करनेसे, किसी प्रकारकी शंका नहीं रह जाती, इस विवेचनके अनुसार मन्त्रोंका अर्थ इस प्रकार मानना चाहिये।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः॥
(ईश० ९)

'जो मनुष्य अविद्याकी उपासना करते हैं अर्थात् सकामभावसे यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्म और स्वाभाविक कर्मोंका आचरण करते हैं, वे अज्ञानरूप अन्धकारमें प्रवेश करते हैं यानी इस लोकमें और स्वर्गादि परलोकमें भोगोंको भोगते हैं।'*

और जो विद्यामें रत हैं अर्थात् जो शास्त्रोंको पढ़-सुनकर ब्रह्मविद्यामें अभिमान करके अपनेको धीर और पण्डित ज्ञानी मानते हैं (किन्तु वास्तवमें ज्ञानी नहीं हैं) वे मानो उस सकाम कर्म करनेवालेसे भी बढ़कर घोर अन्धकारमें ही प्रविष्ट होते हैं यानी पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादि योनियोंको या रौरवादि घोर नरकोंको प्राप्त होते हैं।

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥
(ईश० १०)

शास्त्रके तात्पर्यको समझकर विद्याकी उपासना करनेसे दूसरा ही फल बताया है अर्थात् नित्यानित्यवस्तुके विवेकपूर्वक क्षणभङ्गुर, नाशवान्, अनित्य, शरीर और स्त्री-पुत्र धनादि सम्पूर्ण दृश्यमात्रसे विरक्त होकर, केवल एक नित्यविज्ञानानन्दघन ब्रह्मके ध्यानमें अभेदभावसे स्थित रहनेसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होकर, परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप फल बताया है। तथा अविद्यासे दूसरा ही फल बताया है कर्तृत्वाभिमान, राग-द्वेष और फल-कामना छोड़कर विहित यज्ञ, दान, तपादिका और स्ववर्णाश्र स्वाभाविक कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे उसका फल आदि समस्त दुर्गुणोंका और हिंसा, चोरी, व्यभि मिथ्याभाषणादि दुराचारोंका एवं हर्ष-शोकादि वि सर्वथा अभाव होकर संसारसे पार होना बताया है प्रकार हमने उन पुरुषोंके वचनोंसे सुना है कि जिन महापुरुषोंने हमें इस विषयकी शिक्षा दी थी।

अब विद्या और अविद्या इन दोनोंके तत्त्वको एक समझनेका फल बताते हैं—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥
(ईश०

जो मनुष्य विद्या और अविद्याके तत्त्वको एक भली प्रकार समझ लेता है अर्थात् ब्रह्मविद्याद्वारा बताये विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके तत्त्वको भली प्रकार समझ लेता है मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले समस्त शास्त्रवि कर्मोंमें फल तथा रागद्वेष आदिको त्यागनेसे दु दुराचार एवं समस्त विकारोंका अभाव होकर अन्तःक पवित्र हो जाता है, इस रहस्यको भी भली प्रकार समझ है; वह—इस प्रकार समझनेवाला मनुष्य, अविद्या अर्थ कर्मोंके रहस्यज्ञानसे, मृत्युको तरकर यानी पुनर्जन्म संसारसे पार होकर, विद्यासे अर्थात् ज्ञानसे अमृतत्वको प्र होता है यानी अविनाशी परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें हो जाता है।

इस प्रकार इन मन्त्रोंका अर्थ मान लेनेसे सब प्रकार शंकाओंका समाधान हो जाता है और श्रुतिका महत्त्व विशाल आशय प्रतीत होने लगता है।

इसी प्रकार अब सम्भूति और असम्भूतिके अर्थपर विचार किया जाता है।

मेरी समझमें सम्भूतिका अर्थ नित्य, अविना सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है, जिससे इस सा विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है। और अस म्भूतिका अर्थ विनाशशील देव आदिके नाना भेदोंको मानना ठीक है। क्योंकि सम्भूति शब्द सम्पूर्वक 'भू' धातुका है, 'भू' धातुका अर्थ सत्ता है, अतः जिसकी सत्ता सम्यक्

---

* सम्पूर्ण संसार मायामय अनित्य होनेके कारण वास्तवमें समस्त भोग अन्धकाररूप ही है। इसलिये स्वर्गादिको अन्धतम बतलाया गया है।

रूपसे हो, जिसका कभी किसी अवस्थामें भी नाश न हो सके, जो उत्पत्ति, विनाशादि समस्त विकारोंसे रहित हो; ऐसा परब्रह्म परमेश्वर ही सम्भूतिका वाच्यार्थ हो सकता है। उससे अतिरिक्त अन्य देव आदिके नाना भेद प्रकृति-जनित विनाशशील होनेके कारण, उन सबको असम्भूतिका वाच्यार्थ समझा जा सकता है।

इसके सिवा सम्भूतिके ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्तिरूप फल बतलाया गया है। इससे भी सम्भूतिका अर्थ परमेश्वरको मानना ही ठीक प्रतीत होता है।

कोई-कोई विद्वान् यहाँ असम्भूतिका अर्थ अव्याकृत प्रकृति और सम्भूतिका अर्थ हिरण्यगर्भ—कार्य-ब्रह्म मानते हैं। किन्तु इस प्रकार मानना युक्तिसंगत नहीं मालूम होता। क्योंकि हिरण्यगर्भकी उपासनाका फल, घोर अन्धकाररूप कीट-पतंगादि योनियोंकी प्राप्ति या रौरव आदि नरकोंकी प्राप्तिरूप नहीं हो सकता। और दोनोंकी समुच्चित उपासनाका जो विशेष फल उन्होंने बतलाया है, वह भी मन्त्रके शब्दोंके अनुकूल महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ता, इसके सिवा ऐसा अर्थ माननेके लिये उनको अक्षरार्थमें भी बहुत क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ी है। अर्थात् 'विनाश' शब्दको 'सम्भूति' का पर्याय माननेके लिये चतुर्दश मन्त्रमें, सम्भूति-शब्दके साथ दो जगह अकारका अध्याहार करना पड़ा है। परन्तु विद्या, अविद्याके प्रसंगका क्रम देखते हुए, 'विनाश' शब्द असम्भूतिका ही पर्याय माना जाना उचित है। एवं प्रत्येककी अलग-अलग उपासनाका बुरा फल बताते हुए, अव्याकृतकी उपासनाका फल उसके अनुरूप अदर्शनात्मक तमकी प्राप्ति बतलाया है और दोनोंकी समुच्चित उपासनाका विशिष्ट फल बतलाते हुए भी, अव्याकृत प्रकृतिकी उपासनाका फल अमृतत्वके अर्थमें उस प्रकृतिमें लीन होना बतलाया है; सो विचार करनेसे मालूम होता है कि अव्याकृत प्रकृति स्वयं अदर्शनात्मक है, अतः उसमें लीन होना भी तो अदर्शनात्मक तममें ही लीन होना है, फिर अलग-अलग फल क्या हुआ ? इसके सिवा उन विद्वानोंने यह भी नहीं बतलाया कि शास्त्रोंमें ऐसी उपासनाका कहाँ विधान है ? इत्यादि कारणोंसे उनका बतलाया हुआ अर्थ ठीक समझमें नहीं आता।

मन्त्रके अक्षरोंपर ध्यान देकर विचार करनेसे प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि बारहवें मन्त्रके पूर्वार्द्धमें असम्भूतिकी उपासनाका फल बतलाया है, किन्तु उत्तरार्द्धमें सम्भूतिकी 'उपासनाका' फल नहीं बतलाया है, केवल उसमें अज्ञान-पूर्वक 'रत' होनेका यानी सम्भूतिमें स्थित होनेके मिथ्या अभिमानका फल बतलाया है। उसके बाद तेरहवें मन्त्रमें विद्या और अविद्याकी भाँति ही उपासनाके तात्पर्यको समझकर, सम्भूति और असम्भूतिकी उपासना करनेसे जो विशिष्ट फल मिलता है उसका लक्ष्य कराया है, फिर चौदहवें मन्त्रमें दोनोंके तत्त्वको एक साथ समझनेका फल बतलाया है।

श्रुतिका भाव ऐसा प्रतीत होता है कि जो मनुष्य शास्त्रोक्त विधिके अनुसार देव आदिकी सकामभावसे उपासना करते हैं वे अज्ञानरूप अन्धकारमें प्रवेश करते हैं। अर्थात् उन-उन देवके लोकों या योनियोंको प्राप्त होते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥
(७।२०)

'नाना प्रकारकी कामनासे जिनका विवेकज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसे (विषयासक्त) सकामी मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृतिसे प्रेरित होकर, उन नाना देवोंकी उपासनाके (संसारमें प्रचलित) नियमोंको धारण करके, ईश्वरसे भिन्न अन्य देवोंकी पूजा-उपासना करते हैं।'

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥
(गीता ७।२३)

'परन्तु उन अल्प बुद्धिवालोंकी उपासनाका वह फल नाशवान् होता है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही मुझे भजें, शेषमें वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं।'

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥
(गीता ९।२५)

'देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरलोकको या उनकी योनियोंको और भूतोंकी उपासना करनेवाले उनकी योनियोंको पाते हैं, इसी तरह मुझ परमेश्वरकी उपासना करनेवाले मुझे ही पाते हैं। (इसीलिये मेरे भक्तोंका पुनर्जन्म नहीं होता।)'

उन-उन देवोंके लोक एवं योनियाँ विनाशशील और मायामय होनेके नाते, उनकी प्राप्तिको अन्धकारकी प्राप्ति बतलाया गया है।

उत्तरार्धमें कहा गया है कि जो मनुष्य सम्भूतिमें रत है, उसे उन असम्भूतिकी उपासना करनेवालोंसे भी बढ़कर घोर अन्धकारकी प्राप्ति अर्थात् शूकर-कूकर, कीट-पतंग आदि तिर्यक् योनियोंकी और रौरव आदि नरकोंकी प्राप्ति होती है। यहाँ साधारण दृष्टिसे ऐसी शंका हो सकती है कि सम्भूतिका अर्थ यदि अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर मान लिया जाय, तब फिर उसकी उपासनाका फल नरकादिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? किन्तु इसका उत्तर पहले ही बता दिया गया है कि इस मन्त्रके उत्तरार्धमें सम्भूतिकी 'उपासना' का फल नहीं बताया गया है पर उसमें 'रत' होनेका अर्थात् मिथ्या अभिमान कर लेनेका फल बताया गया है।

जो मनुष्य शास्त्रके तात्पर्यको न समझनेके कारण भगवान्‌का भजन-ध्यान नहीं करते, जिनका विषय-भोगोंमें वैराग्य नहीं हुआ है, जो भगवान्‌को सर्वभूतोंमें व्यापक समझकर भगवद्बुद्धिसे उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा नहीं करते, जो भगवान्‌के तत्त्व और रहस्यको नहीं समझते, ऐसे विषयासक्त मनुष्य ईश्वरोपासनाका मिथ्याभिमान करके लोगोंसे अपनी पूजा कराने लग जाते हैं। वे इस अभिमानके कारण अन्य देव आदिमें तुच्छ बुद्धि करके, शास्त्रविधिके अनुसार करने योग्य, देवपूजनादिका त्याग कर देते हैं। दूसरोंको भी ऐसी ही शिक्षा देकर देवादिकी उपासनामें अश्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। ईश्वरोपासनामें मिथ्याभिमानके कारण स्वयं अपनेको ईश्वरके तुल्य मानकर स्वेच्छाचारी हो जाते हैं और लोगोंसे अपनेको पुजवाने लग जाते हैं; ऐसे पुरुषोंको ही यहाँ घोर अन्धकारकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

जो पुरुष शास्त्रके इस तत्त्वको समझता है कि सम्पूर्ण यज्ञ और तपोंका भोक्ता परमेश्वर ही है (गीता ५।२९), अन्यान्य देवादिमें भी उनकी आत्माके रूपमें भगवान् ही व्याप्त हैं, भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना परम धर्म है, सब भूत-प्राणियोंकी सेवा, पूजा, सम्मान आदि करना, उस सर्वव्यापी परमदेव परमेश्वरकी ही पूजा है; वह निष्कामभावसे शास्त्राज्ञानुसार, देव आदिकी उपासना प्राप्त होनेपर विधिपूर्वक उनकी उपासना करता है। उसको ऐसी उपासनाका फल बारहवें मन्त्रमें बतायी हुई सकामभावसे को जानेवाली देवादिकी उपासनाकी अपेक्षा
मिलता है अर्थात् निष्कामभावसे इस प्रकार की हुई
की उपासनासे, उसका अन्तःकरण बहुत शीघ्र
जाता है, उसके समस्त दुर्गुण, दुराचार और समस्त
का नाश हो जाता है।

इसी तरह शास्त्रके तात्पर्यको समझकर जो
अविनाशी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, परमेश्वरकी
करते हैं, जैसे भगवान्‌ने कहा है कि—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
(गीता ८

'हे पार्थ! (यह नियम है कि) परमेश्वरके
अभ्यासरूप योगसे युक्त, अन्य तरफ न जानेवाले
निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष, परम (प्रकाश
दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है।'

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
(गीता ८

'(इससे) जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्
सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करने
अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाश
अविद्यासे अति परे शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माको
करता है।'

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(गीता ८।

'वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योग
भ्रुकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापन करके
निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ, उस दिव्यस्वरूप
पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है।'

---

* अन्तर्यामीरूपसे सब प्राणियोंके शुभ और अशुभ
अनुसार शासन करनेवाला।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

(गीता ८ । २२)

'हे पार्थ ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्व भूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष अनन्यभक्तिसे प्राप्त होने योग्य है।'

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

(गीता ९ । १३)

'परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके आश्रित हुए जो महात्माजन हैं, वे तो मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर, अनन्य मनसे युक्त हुए निरन्तर भजते हैं।'

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

(गीता ९ । १४)

'वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन, निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मेरेको बारंबार प्रणाम करते हुए, सदा मेरे ध्यानमें युक्त हुए, अनन्य भक्तिसे मुझे उपासते हैं।'

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

(गीता १० । ९)

'वे निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले और मेरेमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले* भक्तजन, सदा ही मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा, आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही सन्तुष्ट होते हैं। और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं।'

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(गीता १० । १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको, मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं।'

इस प्रकार जो भगवान्के भजन-ध्यानमें निरन्तर लगे रहते हैं, उनको ऐसी उपासनाका दूसरा ही फल मिलता है अर्थात् वे अपने आराध्यदेव अविनाशी परमेश्वरको प्राप्त हो जाते हैं। तथा जो अविनाशी परमेश्वरको और विनाशशील देव आदिको तत्त्वसे समझ लेते हैं, वे उन देवादिके विनाशशील लोक और योनियोंके तत्त्वको समझ लेनेके कारण, उन-उन लोकोंकी प्राप्ति लाँघकर, परमेश्वरको तत्त्वसे समझकर उसे प्राप्त कर लेते हैं।

इस विवेचनके अनुसार, सम्भूति और असम्भूति-विषयक तीनों मन्त्रोंका अर्थ इस प्रकार मानना चाहिये।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याᳬं रताः ॥

(ईश० १२)

'जो मनुष्य असम्भूतिकी उपासना करते हैं अर्थात् शास्त्रके तात्पर्यको न समझनेके कारण विनाशशील देव आदिकी सकामभावसे उपासना करते हैं, वे अज्ञानरूप अन्धकारमें प्रवेश करते हैं अर्थात् उन-उन देव आदिके लोकोंको और योनियोंको पाते हैं।' *

इनसे अन्य जो सम्भूतिमें रत हैं अर्थात् ईश्वरमें श्रद्धा न होनेके कारण, ईश्वरकी भक्तिका साधन किये बिना ही अपनेको भक्त मानते हैं, वे यानी सकामभावसे देवादिकी उपासना करनेवालोंसे भी बढ़कर घोर अन्धकारमें ही प्रवेश करते हैं अर्थात् शूकर-कूकरादि तिर्यक् योनियोंको और रौरवादि नरकोंको प्राप्त होते हैं।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥

(ईश० १३)

सम्भूतिकी उपासनासे यानी नित्य, अविनाशी सर्वव्यापी, विज्ञानानन्दघन, परमेश्वरकी भक्तिसे दूसरा ही फल बताया है अर्थात् उन सम्भूतिमें 'रत' होनेवालोंको जो फल मिलता है उससे भिन्न अपने आराध्यदेव परमेश्वरकी प्राप्तिरूप फलका मिलना बताया है, और असम्भूतिसे अर्थात् भगवान्की आज्ञा समझकर निष्कामभावसे, देवादिकी

---

* मुझ वासुदेवके लिये ही जिन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया है, उनका नाम है 'मद्गतप्राणाः'।

* ब्रह्मलोकतकके सभी लोक और योनियाँ विनाशशील हैं। अतः वहाँतक जानेवाले जीवोंका भी पुनरागमन होता है (गीता ८ । १६)। एवं ब्रह्मलोकतक सभी लोक मायामय हैं, इसलिये इन सबकी प्राप्तिको भी अन्धकारमें प्रवेश करना कहा गया है, क्योंकि इनको प्राप्त होना भी अज्ञानरूप संसारको ही प्राप्त होना है।

उपासना शास्त्रोक्त विधिके अनुसार करनेसे, उसका दूसरा ही फल बताया है अर्थात् सकामभावसे उपासना करनेवालोंके फलसे भिन्न अन्तःकरणकी शुद्धिरूप फल बताया है; इस प्रकार हमने उन धीर तत्त्वज्ञ पुरुषोंके वचनोंसे सुना है, जिन्होंने हमें इस तत्त्वकी शिक्षा दी थी।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभय ँ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥
(ईश० १४)

जो मनुष्य सम्भूतिको और विनाशको अर्थात् नित्य, अविनाशी, विज्ञानानन्दघन परमेश्वरको और विनाशशील देवादिको तत्त्वसे जानता है यानी नित्य, अविनाशी परमात्मा सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सबका आत्मा और सर्वोत्तम है, इस प्रकार परमेश्वरके निर्गुण-सगुणरूप समग्र तत्त्वको भलीभाँति समझता है एवं सब देवादिकी योनियाँ और सब लोक विनाशशील, क्षणभङ्गुर हैं, इनमें जो कुछ है वह भी भगवान्‌की ही है, इस प्रकार उन दे तत्त्वको समझता है, वह उन विनाशशील देवादिके समझनेके कारण मृत्युको लाँघकर अर्थात् विना मृत्युरूप उन-उन लोकोंमें आसक्त न होता हुआ यानी न अटककर, सम्भूतिके तत्त्वज्ञानसे अर्थात् अवि नित्य, विज्ञानानन्दघन परमेश्वरके समग्र स्वरूपको भली समझनेसे अमृतको यानी अमृतस्वरूप परमेश्वरको प्रा जाता है।

इस प्रकार इन मन्त्रोंका अर्थ मान लेनेसे सब प्रका शंकाओंका समाधान हो जाता है और श्रुतिका महत् आशय झलकने लगता है।

* * *

अनिर्वचनीयवाद

(लेखक—वेदान्ताचार्य श्रीहरिदत्त शर्मा शास्त्री पञ्चतीर्थ)

अनिर्वाच्याविद्याद्वितयसचिवस्य प्रभवतो
विवर्ता यस्यैते वियदनिलतेजोऽबवनयः।
यतश्चाभूद्विश्वं चरमचरमुच्चावचमिदं
नमामस्तद्ब्रह्मापरिमितसुखज्ञानममृतम् ॥

यह जगत् किन कारणोंसे उत्पन्न हुआ? कहाँ लीन हुआ? कहाँ स्थित है—यह विषय अत्यन्त दुरूह एवं विचारास्पद है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में—'कालमेके कारणं संवदन्ति' इत्यादि रीतिसे यह शङ्का उठाकर कुछ निश्चित नहीं कहा गया जिससे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि यह गूढ़तम विषय अत्यन्त दुष्परिच्छेद्य है, अतएव अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीयताका प्रतिपादन ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायके १–२ पादोंके सूत्रोंमें और शाङ्करभाष्यमें बड़ी प्रौढ़ रीतिसे किया गया है। हम उसका यहाँ पिष्टपेषण नहीं करेंगे, किन्तु नये रूपसे स्वतन्त्र विचार करेंगे।

क्या प्रतीयमान भेद सत्य है?

यह मानी हुई बात है कि कार्य और कारण ये दोनों रहनेवाली सत्ता एक ही है। प्रति व्यक्ति सत्त्वका भेद नहीं होता। जब ये दोनों एक ही सत्ता हैं तो दोनों एक ही हो गये। इन दोनोंके भिन्न होनेसे सत्त्वका ही भेद है यह नहीं कह सकते। क्योंकि तब तो सत्त्व भी समारोपित है, यह कहना पड़ेगा। भेदको समारोपित मानें या अभेदको? इ विचारके उपस्थित होनेपर अभेदोपादानक भेदकी कल्प करनी उचित है। क्योंकि भेदग्रह प्रतियोगीग्रहापेक्ष और अभेदग्रह प्रतियोगीग्रहनिरपेक्ष है। तथा एक (अभेद के विना अनेकत्व (भेद) बन भी नहीं सकता। दूस बात यह है कि 'पटः' इस बुद्धिमें सिवा तन्तुओंके औ कुछ नज़र नहीं आता। कहो कि समवाय कारण तन्तुप गत भेद स्थापित हो जाता है सो ठीक नहीं; क्योंकि समवा और भेदमें अन्योन्याश्रय दोष आ पड़ेगा कि भेद हो समवाय हो और समवाय हो तो भेद हो। रहे अर्थ, क्रि व्यपदेशभेदादि, सो वे तो अभेदमें भी हो सकते हैं। अत मूलकारण ब्रह्म परमार्थ सत् है और अवान्तर कारण तत्त्वादि अनिर्वचनीय हैं, यही मानना ठीक है। यही बा अध्यासके लक्षणसे जो कि—'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः यह किया जाता है, प्रतीत होती है। तथा हि—अत्यन्तासत् निस्तत्त्व-शरीरेन्द्रियादि अनुभवके विषय नहीं हो सकते और जो विषय होते हैं तो अत्यन्तासत् निस्तत्त्व अनुभव गोचर नहीं होता, यह कहनेसे मरुमरीचियाँ जलरूप अनुभूयमान होती हुई भी सतत्त्व नहीं हो सकतीं; क्योंकि जलात्मना मरीचियाँ असत् हैं। वस्तुओंका तत्त्व दो प्रकार होता है या तो सत्त्वरूप या असत्त्वरूप।

तो क्या मरीचियोंमें होनेवाली जलकी प्रतीति तात्त्विक है ? अतएव भ्रान्त नहीं और न बाधका विषय है ? नहीं-नहीं, यह बात नहीं, अजलात्मक मरीचियोंका जलरूपेण ज्ञान सत् नहीं हो सकता। वस्त्वन्तरकी वस्त्वन्तररूपसे प्रतीति ही असत्ता कही जाती है। 'भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिद-निरूपणात्' और न हम इसे असत् ही कह सकते हैं क्योंकि अनुभवगोचर होती है। अतः न सत् है, न असत् है और न परस्पर विरोध होनेसे सदसत् है किन्तु अनिर्वचनीय रूप ही जलमरीचियोंमें भासित होता है। यही हाल देहादिप्रपञ्च-का है—वह भी अनिर्वचनीय है—अपूर्व होता हुआ भी पूर्व मिथ्या प्रतीतियोंसे उपदर्शित होता है तथा चिदात्मामें अध्यस्त है। सर्वज्ञात्म मुनिने लिखा भी है—

वेदान्तवादिसमयेऽपि समानमेत-
च्चोद्यं परैर्न खलु वाच्यमिहाप्रसक्तेः ।
असन्मते न खलु संव्यवहारमात्रे
मायामये किमपि दूषणमस्ति यस्मात् ॥

अपि च—

जगन्महिम्ना न जगत्प्रसिद्धि-
र्न चिन्महिम्नापि जगत्प्रसिद्धिः ।
न च प्रमाणाज्जगतः प्रसिद्धि-
स्ततोऽस्य मायामयताप्रसिद्धिः ॥

'अध्यासो नामातस्मिंस्तद्बुद्धिः' यह शाङ्करसिद्धान्त है। अध्यास दो प्रकारका होता है—अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास। इन्द्रियसंयोगान्वयव्यतिरेकानुविधायित्व अध्यास-का कारण है क्योंकि रज्जु-अधिष्ठानसे जबतक इन्द्रियसंयोग न हो तबतक 'सर्प है' यह अध्यासज्ञान पैदा नहीं होता। अधिष्ठान और इन्द्रियका संयोग अधिष्ठानज्ञानद्वारा ही कारण हो सकता है, अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह है कि अधिष्ठानका सामान्य ज्ञान ही कारण है क्योंकि इन्द्रियसंयोगके विना भी अहङ्कारादिका अध्यास होता है। अहङ्काराध्यासका अधिष्ठान स्वयंप्रकाश प्रत्यक्स्वरूप आत्मा है। भ्रमस्थलमें यद्यपि इदमाकार प्रमा अनुभवसिद्ध नहीं तथापि भ्रमरूपकार्यान्यथानुपपत्त्या सामान्य ज्ञानका आक्षेप किया जाता है। उपाध्याय-मतानुयायी तो यह कहते हैं कि सामान्य ज्ञान अधिष्ठानमें कारण नहीं भी होता क्योंकि घटादिका अध्यास सामान्य ज्ञान बिना भी होता है। सिद्धान्त यह है कि जैसे स्वप्न अवस्थामें सारे पदार्थ साक्षिभास्य हैं, तद्वत् चाक्षुषत्वादिकी भी प्रतीति होती है, इसी प्रकार सर्परजतादिक अनिर्वचनीय पदार्थ साक्षिभास्य हैं। स्वप्नवत् घटादि प्रमेय और नेत्रादि प्रमाण और तत्सम्बन्ध एक कालमें उत्पन्न नहीं हो सकते तथा उनका प्रमाण-प्रमेयभाव नहीं हो सकता तथा अनुभूत भी नहीं होता। अतः अनिर्वचनीय ही है।

भ्रमके लक्षण और स्वरूपके परिज्ञानके लिये संक्षेपतः ख्यातियोंका जान लेना भी अत्यन्त अपेक्षित है। ख्यातियाँ कितनी हैं, इस विषयमें बड़ा विवाद है। जैसे—(१) आत्मख्यातिवाद (२) असत्ख्यातिवाद (३) ख्यातिवाद (४) अन्यथाख्यातिवाद (५) सदसत्-ख्यातिवाद (६) अनिर्वचनीय ख्यातिवाद (७) सत्-ख्यातिवाद (८) अभिनवान्यथाख्यातिवाद, इस प्रकारसे ये आठ वाद क्रमसे विज्ञानवादी योगाचार (बौद्ध) माध्यमिक, प्राभाकर, भाट्ट और तार्किक, सांख्य, अद्वैतवेदान्ती, विशिष्टाद्वैतवेदान्ती, द्वैतवेदान्तियोंके प्रसिद्ध हैं। परन्तु अन्तर्भाव कर-कराके—

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा ।
तथानिर्वचनीया चेत्युच्यते ख्यातिपञ्चकम् ॥

आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति और अनिर्वचनीय ख्याति ये पाँच ही ख्यातियाँ मानी गयी हैं। कोई लोग आत्मख्याति और अख्यातिको उड़ाकर सत्-ख्यातिको जोड़कर चार ख्यातियाँ होती हैं, ऐसा कहते हैं। अभिनवान्यथाख्याति न्यायसुधादिमें वर्णित है, अन्यथा-ख्याति सदसद्-विषयक होनेसे भिन्न नहीं है क्योंकि आधी सत्-ख्यातिमें आ गयी और आधी आ गयी असत्-ख्यातिमें यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सन्मात्रकी ख्यातिको सत्-ख्याति कहेंगे। असद्विषयक सद्विषयक ज्ञान सत्-ख्याति शब्दका अर्थ है एवं सद्विषयक असद्विषयक ज्ञान असत्ख्याति शब्दका अर्थ है, अन्यथाख्याति इनसे भिन्न रूप रखती है, अतः भिन्न ही है। खण्डनखण्डखाद्यमें भी यह शङ्का-समाधान निम्नलिखित शब्दोंमें लिखा है—

'किं न स्याद् विशिष्टरूपे सम्बन्धांशे चासत्ख्यातेरन्यथा-ख्यातिवादाभ्युपगमात्' यहाँसे लेकर—'असत्-ख्यात्यात्मा स्वीक्रियते' यहाँतक। अतः सिद्ध हुआ कि अन्यथाख्याति ख्यातियोंमें अपना स्वतन्त्र स्थान रखती है।

सत्-ख्याति-निरूपण

इन ख्यातियोंमें सत्ख्यातिवादी सांख्योंका यह सिद्धान्त है कि शुक्त्यवयवोंके साथ रजतावयव सदा सहचारसे

रहते हैं—जिस प्रकार शुक्त्यवयव सत्य हैं वैसे ही रजतावयव भी सत्य हैं। जैसे दोषरहित नेत्रोंके सम्बन्धसे अविद्याका परिणामस्वरूप अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न होता है उसी प्रकार रजतावयवोंसे सत्य रजत्की उत्पत्ति होती है। अधिष्ठानसाक्षात्कारसे जिस प्रकार अनिर्वचनीय रजतकी निवृत्ति सिद्धान्तमें हो जाती है उसी प्रकार शुक्तिज्ञानसे सत्य रजतका स्वावयवोंमें ध्वंस हो जाता है।

सत्ख्यातिवादका खण्डन

पर यह मत ठीक नहीं, क्योंकि व्यावहारिक रजत और व्यावहारिक रजताभाव दोनों विरोधी होनेसे सहानवस्थान-लक्षण विरोध होनेसे साथ नहीं रह सकते। अनिर्वचनीय रजतवादीके मतमें तो वह रजत केवल मध्यकालवर्ती है, अलीक है, कल्पित है। शुक्तिदेशमें रजतावयव रहते हैं, यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि वे रजतावयव उद्भूत हैं या अनुद्भूत ? यदि उद्भूत हों तो उनका प्रत्यक्ष होना चाहिये। अनुद्भूत हैं तो अनुद्भूतरूप रजतावयवोंसे उत्पन्न रजत कभी प्रत्यक्ष न होना चाहिये। और यदि परमाणुओंकी तरह शुक्तिदेशमें रजतावयवोंकी सत्ता कहो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि अनुभवानुरोधसे तो रजतनिवृत्ति शुक्तिज्ञानसे ही मानना चाहिये। तथा जहाँ जिस क्षणमें रजतभ्रम हो वहाँ उसी क्षणमें शुक्तिके साथ अग्निसंयोग होकर यदि शुक्ति-ध्वंस हो जाय तो रजतज्ञानकी निवृत्तिका वहाँ कोई साधन नहीं रहता। अतः मरुदेशमें रजतकी प्रतीति होनी चाहिये। क्योंकि रजत तैजस पदार्थ है, उसका गन्धकादि पदार्थोंके साथ सम्बन्ध बिना ध्वंस होना असम्भव है। इसी प्रकार गुञ्जापुञ्जसे धूमध्वजोपलब्धि होनी चाहिये—अतः सत्ख्यातिवाद संगत नहीं।

असत्-ख्यातिवाद तथा उसका खण्डन

यद्यपि यह वाद युक्त्यनुभवशून्य है, निस्तत्त्व है, फिर भी निराकरण करते हैं। असत्-ख्यातिवादी शून्यवादी नास्तिक है जो कि जगत्को ही असत् कहता है। अतः शुक्ति, रजत भी असत् है। यह मत ठीक नहीं, क्योंकि इस मतमें कोई भी व्यवहार नहीं होना चाहिये या जलका प्रयोजन अग्निसे अग्निका प्रयोजन जलसे सिद्ध होना चाहिये।

किन्हीं शास्त्रकारोंके मतमें शुक्ति आदि पदार्थ तो असत् नहीं, किन्तु भ्रमज्ञानके विषय अनिर्वचनीय रजतादि असत् हैं। क्योंकि दोषसहित नेत्रके सम्बन्धसे रजतभ्रम होता है, उसका विषय शुक्ति नहीं, क्योंकि 'इदं यह प्रतीति नहीं होती। यदि दोषबलसे शुक्तिका भी हो, तो भी 'इयम्' इतनी प्रतीति अवश्य चाहिये। अतः भ्रमका विषय न रजत है, न शुक्ति है। शुक्तिज्ञानोत्तर—तीनों कालोंमें यहाँ रजत नहीं था प्रतीति होती है। अतः रजतभ्रम निर्विषयक होनेसे गोचर है। यही असत्-ख्याति है।

वाचस्पति मिश्रके मतसे शुक्तिमें शुक्तित्व और समवाय तो प्रतीत होता नहीं, किन्तु रजतत्वका प्रतीत होता है, यही असत्-ख्याति है। इस प्रकार ख्याति दो प्रकारकी हुई—एक तो शुक्तिरूप अधि असत्-प्रतीति, दूसरी शुक्तिमें असत् रजतत्व-समवा प्रतीति। ये दोनों मत ठीक नहीं क्योंकि असत् शब्दका अबाध्य विलक्षण है या निःस्वरूप। अन्तिम पक्षमें 'मम जिह्वा नास्ति' के समान वदतोव्याघातदोष है। पक्षमें अबाध्य विलक्षण बाध्य होता है और यह बाध्य उपलब्ध होनेसे 'व्यवहारे भाट्टनयः' के अनुसार अनिर्वच है।

आत्मख्याति और उसका खण्डन

विज्ञानवादी आत्मख्याति मानते हैं। इनके म रजतका बाध नहीं हो सकता, क्योंकि सत्य पदार्थोंकी आन्त सत्ता है और बाह्यदेशस्थिततारूपमें रजतप्रतीति भ्रम तथा रजत आन्तर है यह किसीको प्रतीति नहीं होती किन्तु सुखतक आन्तर है यही प्रतीति होती है। नहीं 'मयि रजतम्' 'अहं रजतम्' यह प्रतीति होनी चाहिये यदि दोषमाहात्म्यसे रजतमें बाह्यतारूप इदन्ताकी प्रती होती है तो बाह्य देशमें सत्य रजतके न होनेसे अनिर्वचनी रजत मानना पड़ेगा। और यह अप्रसिद्धकल्पनादो होगा। सिद्धान्तमें अन्य धर्ममें अन्यकी प्रतीति संसर्गाध्यास से होती है। अनिर्वचनीय वस्तुविषयक अप्रसिद्धकल्पना दोष सिद्धान्तमें नहीं आता, क्योंकि चेतनसे भिन्न पदार्थोंको सत्य मानना ही अप्रसिद्धकल्पना है।

अन्यथाख्यातिवाद और उसका खण्डन

नैयायिक अन्यथाख्यातिवादी हैं। इनके मतमें सत्य पदार्थोंके अनुभवसे संस्कार होते हैं, उनके सहित दोष सहित नेत्रका अधिष्ठानके साथ सम्बन्ध होनेपर पूर्वदृष्टकी स्मृति होनेपर पुरोवर्त्ति स्थाणु आदि पदार्थोंमें पुरुषप्रतीति

ही अन्यथाख्याति है । इसमें पूर्वानुभवजनित संस्कार-सहित सदोष नेत्र कारण होता है । यह मत भी श्रुति-स्मृति-विरुद्ध है । क्योंकि स्वप्नज्ञानको नैयायिक मानसिक विपर्यय मानते हैं । श्रुति कहती है कि स्वप्नकालमें अनिर्वचनीय पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है—

न तत्र रथा न रथयोगा न तत्र पन्थानो भवन्ति । अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते ॥

इसी प्रकार 'सन्ध्ये सृष्टिराह हि' इस व्यासस्मृति (सूत्र)में भी स्वप्नमें पदार्थोंकी सृष्टि बतलायी है तथा अन्यथाख्याति शब्द ही अन्यथाख्यातिके स्वरूपको अन्यथा बतलाता है । अतः यह ख्याति भी दुष्ट है ।

अख्यातिवाद और उसका खण्डन

प्रभाकर अख्यातिवादी हैं । इनके यहाँ—'इदं रजतम्' इस भ्रमस्थलमें रजतकी स्मृति और इदन्ताका प्रत्यक्ष होता है । अर्थात् ज्ञानद्वयका विवेकाभाव ही अख्यातिका पारिभाषिक अर्थ है । यह पक्ष भी असंगत है । क्योंकि शुक्तिरजतभ्रमसे प्रवृत्त हुए पुरुषको रजतका लाभ न होनेसे मेरी निष्फल प्रवृत्ति हुई यह भ्रमज्ञान अनुभवसिद्ध है । अख्यातिवादीकी रीतिसे रजतकी स्मृति और शुक्तिका ज्ञान मुझे हुआ और शुक्तिविषयक मेरी प्रवृत्ति हुई यह प्रतीति और बाध होना चाहिये, पर होता नहीं । अतः यह भी असंगत है । रजतप्रतीतिकालमें अभिमुख देशमें रजत-प्रतीति होती है, स्मृति नहीं । इसलिये भी अख्यातिवाद अनुभवविरुद्ध है । दूसरे अख्यातिवादियोंके मतमें रजतका भेदग्रह प्रवृत्तिप्रतिबन्धक होनेसे भेदाग्रह जैसे रजतार्थीकी प्रवृत्तिका हेतु माना गया है, वैसे ही सत्य रजत-स्थलमें रजतका अभेदग्रह निवृत्तिका प्रतिबन्धक अनुभव-सिद्ध है । अतः रजतके अभेदग्रहका अभाव निवृत्तिहेतु होगा । ऐसा स्वीकार कर लेनेपर रजतके भेदज्ञानका अभाव रजतार्थीकी प्रवृत्तिका कारण है । और रजतके अभेदज्ञान-का अभाव रजतार्थीकी निवृत्तिका कारण है । शुक्तिदेशमें 'इदं रजतम्' ऐसे दो ज्ञान हैं क्योंकि शुक्तिमें रजतका भेद तो है, परन्तु दोषबलसे रजतके भेदका ज्ञान नहीं होता । अतः प्रवृत्तिका हेतु रजतके अभेदज्ञानका अभाव है । और शुक्तिमें रजतका अभेद नहीं है तथा अख्यातिवादमें भ्रम-ज्ञान माना नहीं जाता । अतः शुक्तिमें रजतके अभेदका ज्ञान नहीं बन सकता । इस प्रकार रजतार्थीकी निवृत्तिका कारण रजतके अभेदज्ञानका अभाव और रजतार्थीकी प्रवृत्तिका कारण भेदज्ञानका अभाव दोनों हैं क्योंकि दोनों-का यहाँ समावेश हो जाता है—किन्तु प्रवृत्ति-निवृत्ति परस्परविरोधी होनेके कारण एक स्थानमें नहीं रह सकते । अतः अख्यातिवाद सर्वथा व्याकुलवाद है । इसी प्रकार अन्य भी अनेक दोष इसमें हैं किन्तु विस्तारभयसे नहीं लिखते । अतः परिशेषन्यायसे अनिर्वचनीयवाद ही निर्दुष्टवाद है । और श्रेयस्कामोंसे आदरणीय है । जिसे जानकर शिष्य गुरुकी सहसा इस प्रकार स्तुति करने लगता है—

त्वत्पादपङ्कजसमाश्रयणं विना मे
सन्नप्यसन्निव परः पुरुषः पुरासीत् ।
त्वत्पादपद्मयुगलाश्रयणादिदानीं
नासीन्न चास्ति न भविष्यति भेदबुद्धिः ॥

* * *

यदि कदाचित् तुझे श्रौत और स्मार्त कर्ममें संशय हो अथवा लौकिक आचारमें संशय हो, तो जो ब्राह्मण विचारशील, कुशल, अनुष्ठानशील, क्रोधरहित यानी शान्त स्वभाववाले और धर्मकी ही कामनावाले हैं, जैसे वे उस कर्ममें अथवा व्यवहारमें बर्तते हों, उसी प्रकार तुझे बर्तना चाहिये ।

(तैत्ति० १ । ११ । ४)

ब्रह्म-परिणामवाद

(लेखक—'वेदान्तशिरोमणि' श्रीरामप्रपन्न रामानुजदास 'विद्यार्थी')

जीव-समष्टि और प्रकृति अर्थात् जड-समष्टिके संमिश्रण-का नाम जगत् है। इनमेंसे प्रथमांश अर्थात् जीव-समष्टि ही जब प्रत्यक्षका विषय नहीं है तो दोनों समष्टिरूप अंशोंके धारक परब्रह्म श्रीमन्नारायण प्रत्यक्षके विषय कैसे हो सकते हैं ? अतएव परब्रह्म परमात्मा प्रत्यक्ष प्रमाणके विषय नहीं हैं।

जिस प्रकार कार्य घटको देखकर तन्निमित्तकारण कुलालका सामान्यतया अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार इस विविध विचित्र स्थिर-रचनात्मक कार्य जगत्को देखकर इसके निमित्त कारणका भी सामान्यतया अनुमान किया जा सकता है कि इसका भी बनानेवाला कोई-न-कोई अवश्य है ! तथापि जैसे पर्वतपर धूम-समूहको उठते हुए देखकर अग्निकी व्याप्तिका अनुमान किया जाता है, वैसे ही ईश्वरके विषयमें अनुमान नहीं किया जा सकता। क्योंकि जिसने पहले पाकशालामें जाकर धूम और अग्निको देखा है, वही पर्वतपर धूम-समूहको उठते हुए देखकर 'जहाँ-जहाँ धूम रहता है, वहाँ-वहाँ अग्नि रहती है; जहाँ अग्नि नहीं, वहाँ धूम भी नहीं'—इस प्रकार साहचर्य-व्यतिरेकनियमसे अग्निकी व्याप्तिका अनुमान कर सकता है। इस प्रकार विशेषानुमान तभी हो सकता है जब कि पक्ष, साधन और दृष्टान्त—ये तीन प्रत्यक्षके विषय हों ! केवल साध्य ही अप्रत्यक्ष हो। ईश्वरके विषयमें इस प्रकार विशेषानुमान नहीं हो सकता। क्योंकि जगत्को पक्ष करके ईश्वरको साध्य यदि माना जाय, तब भी व्याप्य अर्थात् लिङ्ग (साधन) और दृष्टान्त प्रत्यक्ष नहीं मिलते। जीव-समष्टि और प्रकृति अर्थात् जडसमष्टिके संमिश्रणका ही नाम जगत् है। इन दोनों अंशोंमेंसे केवल जडांश ही प्रत्यक्ष होता है; इस प्रकार पक्ष भी जब कि सर्वाङ्गतया प्रत्यक्षका विषय नहीं तो साधन और दृष्टान्तकी तो बात ही क्या है ! अतएव ईश्वर अनुमानके भी विषय नहीं हैं।

रहा शब्दप्रमाण। 'अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्' अर्थात् प्रत्यक्ष-अनुमानकी गति अप्राप्त होनेपर शास्त्र अर्थवान् होता है। प्रत्यक्षमें देखा जाता है कि घट कार्यके प्रति उपादान-कारण मृत्पिण्ड और निमित्तकारण कुलाल—इस प्रकार दोनों कारण भिन्न-भिन्न होते हैं। अनुमानसे घटका उपादानकारण मृत्पिण्ड और निमित्तकारण कुलाल तथा पटका उपाद कारण तन्तु और निमित्तकारण तन्तुवाय इस प्र संसारकी सभी वस्तुओंके उपादानकारण और निमित्त भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रत्यक्ष-अनुमानकी गति यहाँ है। शास्त्र उन दोनों प्रमाणोंसे विलक्षण बातको बत है कि जगत्के यावत् वस्तु-समूहके उपादान और निमि कारण एक ही परब्रह्म श्रीमन्नारायण हैं। शास्त्र कहता है—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

(छा० ६। २। १

'हे सोम्य ! इदम्—यह नाम-रूप विभागार्ह स्थू चित् (जीव)-अचित् (प्रकृति)-समष्टि-विशिष्ट ब्रह्म अग्रे—सृष्टिके पूर्वकालमें एकमेव—नामरूपविभागशू एक ही अद्वितीयम्—निमित्तकारणान्तररहित (स्वयमे निमित्तकारण) सदेव—सूक्ष्म चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म स्वरूप उपादानकारणमात्र (असत् नहीं) आसीत्—था।' इसी बातको अन्यान्य शाखाओंकी श्रुतियाँ भी एक-कण्ठ होकर उद्घोष करती हैं। यथा—

'ब्रह्म वा इदमेवाग्र आसीत्।'

(बृह० ३। २। १२)

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।'

(ऐतरेय० १। १। १)

इन श्रुतियोंमें 'सत्-ब्रह्म-आत्मा'—इस प्रकार सामान्य शब्दोंसे जगत्कारणका निर्देश किया गया है। परन्तु 'वादी भद्रं न पश्यति'—इस न्यायसे 'सत्' शब्द सत्ताविशिष्टका वाचक होनेसे जीव-ईश्वर-प्रकृति इन तीनोंका वाचक है। ऐसे ही 'ब्रह्म' शब्द भी बृहत्त्वविशिष्टका वाचक होनेसे जीव-ईश्वर-माया इन तीनोंका बोधक है। इसी प्रकार 'आत्मा' शब्द भी 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि' इस कोषानुसार जीव, ईश्वर और देहादिका वाचक है। इसलिये इन सामान्य शब्दोंसे जगत्कारणत्वका निर्णय नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'शिव एव केवलः'—'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इत्यादि श्रुतियोंमें शिव, हिरण्य-गर्भादि भी सामान्य शब्द अर्थात् अनेक वस्तुओंके वाचक हैं तो भी जगत्कारण कौन है, इस प्रकार विचिकित्सा रह

ही जाती है। अतएव महोपनिषद् १। १ और ऐतरेय १। १ में 'एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः' इस प्रकार नारायणको जगत्कारणत्वेन निर्देश किया है। यह 'नारायण' शब्द नानार्थक न होनेके कारण ईश्वरका असाधारण वाचक है; एवञ्च जगत्कारण नारायण हैं—ऐसा जब निश्चय हो चुका तब सत्-ब्रह्म-आत्मा-शिव-हिरण्यगर्भादि शब्द भी 'छागो वा मन्त्रवर्णात्'—इस न्यायसे अथवा 'सामान्यवाचकानां शब्दानां विशेषे पर्यवसानम्'—इस श्रुति-सिद्ध न्यायसे नारायणके ही वाचक होनेसे सब श्रुतियोंद्वारा 'नारायण ही जगत्कारण है', यह सिद्ध हो गया।

उपादानकारण विकारात्मक होता है और 'यत्र यत्र विकारत्वं तत्र तत्रानित्यत्वम्' इस नियमसे उपादानकारण विकारात्मक होनेके कारण अनित्य होता है। दृष्टान्त—घटके प्रति उपादानकारण मृत्पिण्ड होता है और वह मृत्पिण्ड ही स्वरूपतः परिणामको प्राप्त होकर घटावस्थाको प्राप्त हो जाता है; एतदर्थ घट विकारात्मक होनेके कारण अनित्य होता है। अब यदि देव-मनुष्य-तिर्यक्-स्थावर विविध विचित्र रचनात्मक नाना नाम-रूप-विभागार्ह स्थूल चेतनाचेतनसमूहरूप जगद्विशिष्ट ब्रह्मके प्रति नाम-रूप-विभागानर्ह सूक्ष्म चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म, उपादानकारण माने जायँ तो परब्रह्म नारायण भी परिणामी ठहरते हैं और परिणामी होनेके कारण परब्रह्म नारायणके विषयमें भी घटवत् अनित्यत्वप्रसङ्ग होता है। ऐसी आशङ्का उपस्थित होनेपर श्रुति-स्मृत्याद्यनुकूल इसका समाधान लिखा जाता है—

देव-मनुष्य-तिर्यगादि चेतनोंके विषयमें विचार करनेपर पता चलता है कि परिणाम, प्राकृतिक शरीर एवं तच्छरीर-विशिष्ट जीवात्माके धर्मभूत ज्ञानमें ही हुआ करता है, स्वरूपमें नहीं। प्राकृतिक शरीरगत परिणाम है—'बाल्य-यौवन-जरादि अवस्था।' एवं तच्छरीरविशिष्ट जीवात्माके धर्मभूत ज्ञानका परिणाम है—'मेरा ज्ञान उदय हुआ, मेरा ज्ञान नष्ट हो गया, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इत्यादि प्रकारसे अनुभवोंका होना।' देव-मनुष्य-तिर्यक्-स्थावर नाना नाम-रूपवाले जीवात्माओंकी तत्तच्छरीरावाप्ति एवं तत्तच्छरीरानुगुण तत्तद्धर्मभूत ज्ञानोंके सङ्कोच-विकास उनके अनादिकर्म-प्रवाहप्रयुक्त हुआ करते हैं; तथापि उन जीवोंके स्वरूपमें परिणाम नहीं होता। अतएव शास्त्रोंमें जीव-स्वरूप नित्य कहा गया है। वास्तवमें जीव-स्वरूपका धर्मभूत ज्ञान भी नित्य ही है, परन्तु वह तदनादि कर्मतया सङ्कोच-विकासको प्राप्त होता रहता है। श्रीमन्नारायणकी उपासना करते हुए जीवपर किसी समय श्रीपरमप्रभुका निर्हेतुक कृपा-कटाक्ष हो जाते ही उसके सम्पूर्ण कर्म-सम्बन्ध नष्ट हो जानेपर वह आविर्भूतस्वरूप होकर नित्य-अखण्ड-एकरस ज्ञानवाला हो जाता है, जिस प्रकार मणिमें मिट्टी लिपट जानेसे उसका प्रकाश सङ्कुचित एवं मिट्टी धुल जानेपर वह स्वच्छ प्रकाशवाला हो जाता है। प्रकृति स्वरूपतः परिणामशीला रहनेपर भी प्रवाहरूपसे नित्या है। रही बात चिदचिच्छरीरक सर्वाधार श्रीपरमप्रभु परमात्माके विषयमें; सो उनका कर्म-सम्बन्ध है ही नहीं। वे अखिलहेयप्रत्यनीक कल्याणैकतान स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षण हैं। अतएव तत्स्वरूप एवं तज्ज्ञानका परिणाम न होकर तदिच्छया चित्-अचित् तदुभयशरीरोंमें ही परिणाम होता है। इस प्रकार सूक्ष्म चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म उपादान-निमित्तकारण और स्थूल चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म कार्य हैं। कतिपय श्रुतियाँ इसी प्रकार भोक्तृ-भोग्यरूप सर्वावस्थावस्थित चित्-अचित् दोनोंका परम पुरुषके शरीरतया तन्नियाम्यत्व-रूपसे तत्-अपृथक् स्थितिको और परम पुरुषके आत्मत्वको कहती हैं; यथा—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति ॥

(बृह० ३। ७। ३)

'जो पृथ्वीमें [परमात्माकी बहिर्व्याप्तिका सूचक है] रहता हुआ पृथ्वीके भीतर है [परमात्माकी अन्तर्व्याप्तिका यह सूचक है], जिसे पृथ्वी नहीं जानती, जिसका पृथ्वी शरीर है, जो पृथ्वीके भीतर रहता हुआ नियमन करता है।'

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ (बृ० ५ अ० ७ ब्रा० विज्ञानस्थाने माध्यन्दिनपाठः २२)

'जो जीवात्मामें रहता हुआ जीवात्माके भीतर है, जिसे जीवात्मा नहीं जानता, जिसका जीवात्मा शरीर है, जो जीवात्माके भीतर रहता हुआ नियमन करता है, वह अन्तर्यामी अमृत तेरी आत्मा है।'

यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वद ॥

(सुबाल० ७)

'जो पृथिवीके भीतर सञ्चार करता है, जिसका पृथ्वी शरीर है, जिसे पृथ्वी नहीं जानती।'

योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन् यस्य मृत्युः शरीरं यं मृत्युर्न वेद एष सर्वभूतान्तरात्मापहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ॥

(सुबाल० ७)

'जो अक्षर (प्रकृति) के भीतरमें सञ्चार करता है, जिसका अक्षर शरीर है, जिसे अक्षर नहीं जानता । जो मृत्युके भीतर सञ्चार करता है, जिसका मृत्यु शरीर है, जिसे मृत्यु नहीं जानती–यह सम्पूर्ण भूतोंके अन्तरात्मा, पापप्रत्यनीक, दिव्य देव एक नारायण है ।' उक्त श्रुतिमें मृत्यु शब्दसे 'तम' शब्द-वाच्य सूक्ष्मावस्थ अचिद्वस्तु कही गयी है—

अव्यक्तमक्षरे लीयते । अक्षरं तमसि लीयते ॥

(सुबाल० २)

'अव्यक्त (स्थूल जगत्की निवृत्तिरूपावस्था) अक्षर (अव्यक्तकी निवृत्तिरूपावस्था) में लीन होता है, अक्षर तम (अक्षरकी निवृत्तिरूपावस्था) में लीन होता है ।'

अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा ॥

(यजुरारण्यके ३ प्रश्ने० चित्ति० ११ अनु० २१ पं०)

'भीतर प्रविष्ट प्राणियोंका शासक सर्वात्मा है। इस प्रकार सर्वावस्थावस्थित चित्-अचित्-वस्तुशरीरतया तत्प्रकारवान् परमपुरुष ही कार्यावस्थ-कारणावस्थ जगत्रूपसे अवस्थित हैं । इसी अर्थको जतलानेके लिये निम्न श्रुतियाँ 'कार्यावस्थ और कारणावस्थ जगत् वे ही परब्रह्म श्रीमन्नारायण हैं'—ऐसा कहती हैं—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत ॥

(छा० ६ । २ । १)

'हे सोम्य ! यह नामरूपविभागार्ह स्थूल चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म, सृष्टिके पूर्वकालमें निमित्तकारणान्तररहित (स्वयमेव निमित्तकारण) नाम-रूप-विभागानर्ह एक ही सूक्ष्म चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म उपादानकारण मात्र था । उसने संकल्प (इच्छा) किया—बहुत प्रजारूप हो जाऊँ ! इस हेतुसे उसने अग्निको उत्पन्न किया ।'

सन्मूलाः सोम्येमास्सर्वाः प्रजाः सदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः । ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ॥

(छा० ६ । ८ । ६)

'हे सोम्य ! ये सारी प्रजाएँ सत् (नाम-रूप-विभागानर्ह सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म) मूल, सत्-आधार और सत्प्रतिष्ठा-वाली हैं।······हे श्वेतकेतो ! यह चिदचिन्मिश्र सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक है, सत्य (मिथ्या नहीं) है, वह ब्रह्मात्मक जगत् आत्मा है वह ब्रह्मात्मक तू है ।' तथा—

सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा । इदं सर्वमसृजत·····सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् ॥

(तैत्ति० २ । ६)

'उसने संकल्प किया—बहुत प्रजारूप हो जाऊँ ! उसने आलोचन किया, आलोचन करके इस सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न किया ।·········जीवरूप और प्रकृतिरूप ब्रह्म हो गया ।' श्रुत्यन्तरसे भी जीव, माया और परमपुरुषके स्वरूप-विवेक-स्मरण कराया जाता है—

हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ॥

(छा० ६ । ३ । २)

'मैं इन तीनों देवताओं (पृथ्वी-जल-अग्नि) में इस जीवके अन्तर्यामीरूपसे अनुप्रविष्ट होकर नाम-रूप व्याकरण (रचना) करूँ ।'

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् ।······विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यञ्चानृतं च सत्यमभवत् ॥

(तै० ब्रह्मानन्दवल्ली ६ अनु०)

'उस जगत्की सृष्टि करके उसमें ही प्रवेश कर गया। उसमें प्रवेश करके जीवरूप और प्रकृतिरूप हो गया।······चेतनरूप और जडरूप । स्वरूपतः परिणामरहित जीवरूप और स्वरूपतः परिणामशील प्रकृतिरूप ब्रह्म ही हो गया ।' 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य'—यह श्रुति जीवके ब्रह्मात्मकत्वको कहती है। 'तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्, विज्ञानं चाविज्ञानं च'—यह श्रुतिवाक्य और पूर्वोक्त श्रुति इन दोनों करके एक अर्थ होनेसे आत्मशरीरभावनिबन्धन है—ऐसा जाना जाता है । ऐसा ही नाम-रूप व्याकरण इस श्रुतिमें भी कहा गया है—

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते।

(बृ० ३ अ० ४ ब्रा० ७ वा०)

अर्थात् 'वही यह नाम-रूप-विभागार्ह जगत् सृष्टिके पूर्वकालमें नाम-रूप-विभाग-शून्य था, उसे नाम-रूपों करके व्याकरण करता हूँ ।' इत्यादि अनेक प्रमाण हैं । अतः कार्यावस्थ और कारणावस्थ स्थूल-सूक्ष्म चित्-अचित् वस्तुशरीर-वाले परम पुरुष नारायण हैं। इस प्रकार कारणसे कार्यका अनन्यत्व होनेसे कारणके विज्ञानसे कार्यकी ज्ञातता करके एक विज्ञानसे सर्व विज्ञान भी कहा हुआ उपपन्नतर होता है ।

अहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ।

इस वाक्यमें 'तिस्रो देवताः'से सम्पूर्ण अचिद्वस्तुको निर्देश करके उसमें स्वात्मकजीवानुप्रवेशद्वारा नाम-रूप व्याकरण-वचनसे सम्पूर्ण वाचक शब्द अचिद्विशिष्ट जीवविशिष्ट परमात्माके ही वाचक हैं । इस प्रकार कारणावस्थ परमात्म-वाची शब्दके साथ कार्यवाची शब्दका सामानाधिकरण्य मुख्यवृत्त होता है; अतएव स्थूल-सूक्ष्म चित्-अचित् प्रकार-वाले ब्रह्म ही कार्य और कारण हैं । इस हेतुसे ब्रह्मोपादान जगत् है । सूक्ष्म चित्-अचित् वस्तुशरीरक ब्रह्म ही कारण है । ब्रह्मोपादानत्व होनेपर भी संघातके उपादानत्वसे चित्-अचित् और ब्रह्मका स्वभावासङ्कर ही रहा करता है; जिस प्रकार शुक्ल-कृष्ण-रक्त तन्तु-संघात, उपादानत्व होनेपर भी चित्रवस्त्रके तत्तत्तन्तु-प्रदेशमें ही शौक्ल्यादिसम्बन्ध रहा करता है न कि चित्रवस्त्ररूप कार्यावस्थामें सर्वत्र वर्ण-संकर । उसी प्रकार चित्-अचित्-ईश्वर-संघात, उपादानत्व होनेपर जगत्की कार्यावस्थामें भी भोक्तृत्व (जीव-स्वभाव) भोग्यत्व (प्रकृति-स्वभाव) नियन्तृत्वादि (ईश्वर-स्वभाव) असंकर रहा करता है । किन्तु, इतनी बात अवश्य है कि तन्तु पुरुषसे पृथक् रहकर पुरुषकी इच्छासे किसी समय मिलकर कारणत्व और कार्यत्वावस्थाको प्राप्त हुआ करते हैं और ये चित्-अचित्, सर्वावस्थावस्थित परम पुरुपके शरीरत्वरूपसे तत्प्रकारतया ही पदार्थत्व होनेसे तत्प्रकारवाले परम पुरुष ही सर्वदा सर्वशब्दवाच्य हैं, यही विशेषता है । स्वभावभेद और तदसांकर्य, कारण-कार्य दोनों अवस्थाओंमें तुल्य रहा करते हैं । इस प्रकार परब्रह्मका कार्यानुप्रवेश होनेपर भी स्वरूपान्यथाभावाभाव होनेसे अविकृतत्व उपपन्नतर हुआ । स्थूलावस्थ नाम-रूप-विभाग-विभक्त चित्-अचित् वस्तुका आत्मतया अवस्थान होनेसे कार्यत्व भी उपपन्नतर हो गया । अवस्थान्तरकी प्राप्ति ही कार्यता कहलाती है । इसीका नाम ब्रह्म-परिणाम है ।

परमात्माके जिस पञ्चोपनिषन्मय दिव्य मंगलविग्रहमें समस्त शक्तियाँ प्रतिष्ठित हैं, वह पञ्चोपनिषन्मय दिव्य मङ्गलविग्रह, विश्वरूप शरीरसे विलक्षण रूपवाला है । विष्णुपुराण ६ अं० ७ अ० ७० श्लोकको देखिये—

समस्ताश्शक्तयश्चैता नृप यत्र प्रतिष्ठिताः ।
तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्महत् ॥

हे राजन् ! ये समस्त शक्तियाँ परमात्माके जिस पञ्चोपनिषन्मय दिव्य मङ्गलविग्रहमें प्रतिष्ठित हैं, वह हरिके विश्वरूप शरीरसे विलक्षण विभु, अन्य रूपवाला अर्थात् कोटि सूर्यसम प्रकाशमान है ।

◆

द्वैतवाद-श्रीमध्वाचार्य और महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव

(लेखक—आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी सा० र० भा० भू०)

सम्पूर्ण शास्त्रोंद्वारा प्रतिपादित चार सम्प्रदायोंमें श्रीमध्व-सम्प्रदाय भी एक प्रधान सम्प्रदाय है । द्वैतवाद और मध्व-सम्प्रदायके तात्त्विक सिद्धान्तोंके प्रचारक तत्त्ववादगुरु श्रीआनन्दतीर्थ श्रीमन्मध्वाचार्य उडुपी कृष्णनगर (दक्षिण भारत) में प्रकट हुए थे । श्रीमध्वाचार्य अपने समयके अद्वितीय विद्वान् थे । उन्होंने द्विधातत्त्वयुक्त द्वैतवादका प्रतिपादन किया है । उनके सिद्धान्तका मूल सूत्र है—

विष्णोर्देहात् जगत्सर्वमाविरासीत् ॥

(तत्त्वविवेक)

समस्त पदार्थोंका मूल कारण परमात्मा है, उसीसे सारा जगत् आविर्भूत हुआ है । परमात्मा और जीवात्मा दोनों अनादि हैं, और इन दोनोंमें भेद है ।

यथा पक्षी च सूत्रं च नानावृक्षरसा यथा ।
यथा नद्यः समुद्राश्च शुद्धोदलवणे यथा ॥
यथा चौर्योपहार्यौ च यथा पुंविषयावपि ।
तथा देवेश्वरौ भिन्नौ सर्वदैव विलक्षणौ ॥

अर्थात् पक्षी और सूत्र, वृक्ष और रस, नदी और समुद्र, शुद्ध जल और लवण, चोर और द्रव्य तथा पुरुष और ऐन्द्रिय विषयोंमें जैसी विभिन्नता है, उसी प्रकार जीव और ईश्वर सर्वदा भिन्न और विलक्षण हैं ।

श्रीमध्वाचार्यजीने बतलाया है कि परमात्मा (विष्णु) स्वतन्त्र हैं और जीवात्मा परतन्त्र है । जीव विष्णुका दास है । परमात्मा निर्दोष और सत्त्वगुणस्वरूप हैं । जीव उनकी समता नहीं कर सकता । विष्णु सर्वथा पूजनीय हैं । यथा—

स्वतन्त्रमस्वतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते ।
स्वतन्त्रो भगवान् विष्णुर्निर्दोषोऽशेषसद्गुणः ॥

(तत्त्वविवेक)

श्रीविष्णुभगवान्की उपासनाके तीन अङ्ग हैं—कायिक भजनका अनुष्ठान, वाचिक भजनका अनुष्ठान और मानसिक भजनका अनुष्ठान । सर्वदर्शनसंग्रहमें लिखा है—

अत्रैकैकं निष्पाद्य नारायणसमर्पणं भजनम् ।

अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक भजन करते

हुए इसे श्रीविष्णुभगवान्‌को समर्पण कर देना चाहिये।

श्रीमध्वाचार्यके पश्चात् श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभुने द्वैतमतका प्रतिपादन करते हुए उपदेश दिया है। वह कहते हैं कि श्रीमध्वाचार्यके मतानुसार श्रीविष्णु ही वेदैकवेद्य और परमतत्त्व हैं। विश्व सत्य है और जीव तथा जगत्‌का भेद भी सत्य है। समस्त जीव श्रीहरिचरणोंके दास हैं, पर उनमें तारतम्य है। श्रीविष्णुभगवान्‌के चरणोंकी प्राप्ति ही मोक्ष है। और इस मोक्षकी प्राप्ति जीवको श्रीभगवान्‌के निर्मल भजनके द्वारा ही प्राप्त होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन प्रमाण हैं। इन तीनोंके द्वारा तत्त्वचिन्तन होता है। यथा—

श्रीमध्वः प्राह विष्णुं परतममखिलाम्नायवेद्यं च विश्वं
भेदं सत्यं च जीवान् हरिचरणजुषः तारतम्यं च तेषाम्।
मोक्षं विष्ण्वङ्घ्रिलाभं तदमलभजनं तस्य हेतुं प्रमाणं
प्रत्यक्षादित्रयं चेत्युपदिशति हरिः कृष्णचैतन्यचन्द्रः॥

(श्रीमा० सि०)

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रके द्वारा भक्तिकी सम्पूर्ण कलाओंका विकास हुआ। भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यने हरिनामसंकीर्तनरूपी सुधाका आस्वादन कराकर संसारको प्रेमसे प्लावित कर दिया। आपने कलिके जीवोंके उद्धारके हरिनामकीर्तनको ही एकमात्र उपाय बतलाया है। आ उपदेश है कि भगवान् व्रजेन्द्र नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ही के एकमात्र आराध्य हैं। उनका धाम श्रीवृन्दावन है, वह निरन्तर वास करते हैं। उनकी आराधनाका मार्ग अनिर्वचनीय उपासना है, जिनका आदर्श व्रजकी गोपि हैं। श्रीमद्भागवत इसका प्रमाण है। प्रेम ही जीवका पुरुषार्थ है। यथा—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्राग्रहो नापरः॥

(श्री० गौ० सि०

द्वैतवाद तथा इसके तात्त्विक सिद्धान्त 'अचिन्त्यभे भेद' की विवेचना मध्वभाष्य तथा गोविन्दभाष्यकी लोचनासे सम्यक् हो सकती है। परन्तु संक्षिप्त लेख लि की सूचना होनेके कारण अधिक लिखना उचित नहीं सम गया।

शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्तनिरूपण

(लेखक—पण्डितवर्य श्रीमान् वे० काशीनाथ शास्त्रीजी)

शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्त वीरशैवसम्प्रदायका है। निगमागमप्रसिद्ध और वर्णाश्रमनिबद्ध यह वीरशैवमत अनादिसंसिद्ध है, यह बात निर्विवाद ही है।

शिवजीकी आज्ञासे सोमनाथादि शिवलिङ्गमुखोंसे दिव्य देह धारण करके आये हुए श्रीजगद्गुरु रेणुक, दारुक, एकोराम, पण्डिताराध्य, विश्वाराध्य नामक जो पाँच आचार्य हैं उन्होंने ही इस पवित्र वीरशैवमतकी प्रत्येक युगमें स्थापना की है; यह बात शिवागमोंमें पायी जाती है। इन आचार्योंके धर्मपीठ क्रमशः रम्भापुरी (बाले होन्नूरु), उज्जयिनी, केदार, श्रीशैल और काशीमें पूर्वकालसे लेकर अभीतक मौजूद हैं। इन पीठोंके नाम क्रमशः वीरसिंहासन, सद्धर्मसिंहासन, वैराग्यसिंहासन, सूर्यसिंहासन और ज्ञानसिंहासन हैं। इन पाँच आचार्योंने मानवोद्धारके लिये इस लोकमें निगम और आगमोंसे प्रतिपादित 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' को स्थापन करके 'शिवसूत्र,' तथा 'ब्रह्मसूत्रों' के ऊपर भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्तको दृढ़ किया है।

शक्तिविशिष्टाद्वैत शब्दका अर्थ है शक्तिविशिष्ट जीव और शक्तिविशिष्ट शिव, इन दोनोंका सामरस्य अर्थात् परस्पर एकाकार होना। इसकी पूर्वाचार्यकथित व्युत्पत्ति तरहकी है—'शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती ताभ्यां वि (जीवेशौ) तयोरद्वैतं शक्तिविशिष्टाद्वैतम्'। भाव यह है स्थूलचिदचिदात्मकशक्तिविशिष्ट जीव और सूक्ष्मचि चिदात्मकशक्तिविशिष्ट शिव इन दोनोंका अद्वैत (सामर ही शक्तिविशिष्टाद्वैत कहा जाता है। यह शक्ति परशिव ब्र अविनाभावसम्बन्धसे रहती है और नित्य है, इस विष 'श्वेताश्वतर' श्रुतिने—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

इस वाक्यसे घोषित किया है। इस मन्त्रार्थका पर्यालो करनेसे यह मालूम पड़ता है कि, यह शक्ति परशिव ब्र स्वाभाविक रीतिसे रहकर ज्ञान-क्रियादिरूपसे नाना प्रका हो जाती है। यहाँ 'स्वाभाविकी' पद शक्तिका नि सिद्ध करता है। इसी विषयको इस 'श्वेताश्वतर' श्रुतिने—

यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रि-
र्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।

तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं
प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥

इत्यादि वाक्योंसे कहा है। इस श्रुतिमें पुराणी=अनादि-संसिद्ध, प्रज्ञा=चिच्छक्ति, तस्मात्=उस परशिव ब्रह्मसे, प्रसृता=क्रियाशक्त्याद्यनन्तरूपसे आविर्भूत हुई। इस तरहसे शक्तिका विकास स्पष्ट रीतिसे निर्देश किया गया है।

और 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (मायाको प्रकृति जानो तथा महेश्वरको मायावाला जानो) इत्यादि श्रुतियोंसे साफ पता चलता है कि, वह परशिव ब्रह्म शक्तिविशिष्ट ही है, क्योंकि हमारे पूर्वाचार्योंने माया शब्दका अर्थ 'मं=शिवम्, अयति=स्वभावतः प्राप्नोतीति माया' अर्थात् जो शिवको स्वभावतः प्राप्त है वही माया है, इस प्रकार किया है। इसलिये शिवपरब्रह्मस्थित यह माया अद्वैतियोंके कथनानुसार 'मूलाविद्यारूपा' नहीं है, प्रत्युत 'विमर्शशक्ति-रूपा' है। इस श्रुत्यभिप्रायको 'सिद्धान्तागम' ने भी—

मं शिवं परमं ब्रह्म प्राप्नोतीति स्वभावतः।
मायेति प्रोच्यते लोके ब्रह्मनिष्ठा सनातनी ॥

इत्यादि श्लोकमुखसे समर्थित किया है। और 'यजुर्वेद' के—

आखुस्ते रुद्र पशुस्तं जुषस्वैष ते रुद्रभागः।
सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व ॥

इस मन्त्रमें 'स्वस्रा-अम्बिकया' इन पदद्वयोंकी पर्यालोचनासे यह विदित होता है कि, शिवपरब्रह्ममें शक्ति स्वभावसे ही रहती है।

'नमः सोमाय च रुद्राय च।'

इत्यादि 'श्रीरुद्र' मन्त्रमें भी ईश्वरको उमाशक्तिविशिष्ट बताया गया है। इसी अभिप्रायका, 'कैवल्य' श्रुतिने, 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुम्' इस मन्त्रसे समर्थन किया है। इस तरहसे अनन्तानन्त श्रुतिवाक्य शक्तिका नित्यत्व और शिवसमवेतत्व प्रतिपादन करते हैं।

श्रीरेणुकभगवत्पादाचार्यने भी अगस्त्य महर्षिको उपदेश दिया है कि—

तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा।
समस्तलोकनिर्माणसमवायस्वरूपिणी ॥
तदिच्छयाभवत्साक्षात्तत्स्वरूपानुकारिणी।

इस उक्तिसे भी सच्चिदानन्दरूप परशिवकी वह शक्ति समस्तभुवननिर्माणके लिये उस परशिवसे समवेता होकर उनके इच्छानुसार साक्षात्स्वरूपा रहती है अर्थात् परशिवाभिन्न वह विमर्शशक्ति विश्वोत्पादनमें कारणीभूत हुआ करती है; यह स्पष्ट मालूम पड़ता है।

लोकविख्यात कविकुलतिलक श्रीकालिदास महाकविने भी स्वरचित रघुवंशकाव्यके आरम्भमें—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

इस प्रकार मङ्गल करके अपना यही अभिप्राय प्रकट किया है कि, पार्वतीजी और परमेश्वर शब्द और अर्थकी तरह नित्यसम्बन्धसे रहते हैं। 'पार्वतीपरमेश्वरौ' यहाँ 'शक्तिशिवौ' ऐसा अर्थ होता है। शब्दको छोड़कर अर्थका रहना और अर्थको छोड़कर शब्दका रहना जैसे असम्भव है वैसे ही शिवके बिना शक्तिका और शक्तिके बिना शिवका रहना असम्भव है।

वीरशैवसिद्धान्तमें शक्ति और शक्तिमान् पदार्थोंका भेदाभेदसम्बन्ध कहा गया है। 'कूर्मपुराण' ने भी शिव और शक्ति इन दोनोंमें पारमार्थिक रीतिसे भेदाभेद बताया है। वह इस प्रकार है—

एषा शक्तिः शिवा ह्येतच्छक्तिमानुच्यते शिवः।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदं वदन्ति परमार्थतः ॥
अभेदं चानुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः।

वीरशैवसिद्धान्तमें ब्रह्मका शक्तिवैशिष्ट्य नित्यसम्बन्धसे माना जाता है। इसलिये वह परशिव ब्रह्म सविशेष ही है, निर्विशेष नहीं है; निर्विशेष कहेंगे तो उस परशिव ब्रह्मका चराचरात्मक जगदुत्पत्तिकर्तृत्व ही असिद्ध हो जायगा। शक्तिविशिष्ट परशिव ब्रह्मसे समुत्पन्न हुआ यह जगत् भी शक्तिविशिष्ट है; क्योंकि कारणगुण कार्यको अनुसंक्रमण करते ही हैं। इस प्रपञ्चमें सकल पदार्थ परिशीलन करनेसे यह विदित होता है कि, प्रत्येक पदार्थमें एक-एक प्रकारकी शक्ति रहती है; जैसे कि पृथिवीमें धारणाशक्ति, जलमें आप्यायन-शक्ति, अग्निमें ज्वलनशक्ति, वायुमें स्पन्दनशक्ति, आकाशमें व्यापनशक्ति, आत्मामें बुद्धिशक्ति, वृक्षादिमें जलाद्याकर्षणशक्ति, लोहचुम्बिकामें सूच्याकर्षणशक्ति, ऊँटमें श्वाससे सर्पाकर्षणशक्ति, इस प्रकार सभी वस्तुओंमें शक्ति दिखायी पड़ती है। इसलिये ब्रह्म और जगद्रूपोंमें, कारण और कार्योंमें शक्तिवैशिष्ट्यको मानना सङ्गत ही है।

सच्चिदानन्दरूपी ब्रह्म 'अस्मि—प्रकाशे नन्दामि' इस अनुभवसे युक्त है। इस प्रकारका अनुभव ही उस ब्रह्मकी

Prof. Ambikadatta Vardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

विमर्श नामक शक्ति है; यदि यह अनुभव परब्रह्ममें न रहे तो वह परब्रह्म प्रकाशमय स्फटिकशिलाके समान जड है, ऐसा कहनेका प्रसङ्ग आ जाय । सौन्दर्यविशिष्ट अन्धेको स्वगत सौन्दर्यका ज्ञान नहीं होता इसलिये वह सौन्दर्य जैसे व्यर्थ होता है, वैसे ही ब्रह्मका भी स्वगत सच्चिदानन्दलक्षण विमर्शाभावमें वैयर्थ्यको ही प्राप्त मानना पड़ेगा । इस कारणसे ब्रह्ममें सच्चिदानन्दशक्तिको अवश्य ही अङ्गीकार करना चाहिये । इससे ब्रह्मका शक्तिवैशिष्ट्य सिद्ध हुआ ।

परब्रह्मस्थित विमर्शशक्ति ही सूक्ष्मचिदचिदात्मिका शक्ति कही जाती है । जो परब्रह्मनिष्ठ चिच्छक्ति है वह सर्वज्ञतारूप है, और जो सूक्ष्म अचिच्छक्ति है वह सर्वकर्तृत्वरूप है; इन दोनों शक्तियोंकी आश्रयस्वरूपा इच्छाशक्ति ही विमर्शशक्तिरूप कही जाती है । यही सूक्ष्मचिदात्मकशक्तिविशिष्ट परशिव ब्रह्म 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' 'चैतन्यमात्मा' इत्यादि ब्रह्मसूत्र और शिवसूत्रमय वेदान्तशास्त्रका प्रतिपाद्य है ।

वीरशैवमताचार्य श्रीजगद्गुरु रेणुकाचार्यजीने भी 'गुणत्रयात्मिका शक्तिर्ब्रह्मनिष्ठा सनातनी' (विमर्शशक्ति ब्रह्मनिष्ठ और नित्य है) ऐसा कहा है । इस विमर्शशक्तिमें 'मयूराण्डरसन्याय'से समस्त चराचरात्मक संसार लीन रहता है, यह चराचर विश्वात्मक विमर्शशक्ति स्वविभागपरामर्शदशामें सत्त्व, रज और तमोगुणरूपसे युक्त रहती है, उस विमर्शशक्तिके अंशमें उत्तमकर्तृत्वविनिर्मुक्त ज्ञानांशसे सत्त्वगुणात्मक विद्याशक्ति उत्पन्न होती है, उत्तम ज्ञातृत्वविनिर्मुक्त क्रियांशसे किञ्चित् सत्त्वतमोगुणमिश्रित रजोगुणशक्ति उत्पन्न होती है, ज्ञान-क्रियाओंका स्वाभाविक ऐक्य रहनेपर भी सृष्टिदशामें ज्ञानशक्तियाँ और क्रियाशक्तियाँ परस्पर भिन्न हो जाती हैं; इसलिये 'ज्ञानं क्रिया न भवति, क्रिया ज्ञानं न भवति' (ज्ञान क्रिया नहीं है, और क्रिया ज्ञान नहीं है), इस प्रकार भेदबुद्धिरूप तमोगुणशक्ति उत्पन्न होती है ।

यह तमोगुणशक्ति ही जडमाया कहलाती है । सूर्यकिरण जैसे सूर्यकान्तमणिका सम्पर्क होते ही प्रतिस्फुरणगतिसे अग्निकणका रूप धारणकर रूईमें लगकर अग्नि हो जाता है उसी प्रकार शिवकी विमर्शशक्ति जडमायाशक्तिमें प्रतिस्फुरणगतिसे प्रवेश करके सुख-दुःख मोहोंको पैदा करनेवाली सत्त्वरजतमोगुणात्मिका 'प्रकृति' कही जाती है । इस प्रकृतिको वीरशैव आचार्योंने 'चित्त' कहा है, इस चित्तशक्तिविशिष्ट शिवप्रकाशरूप शिवांश ही 'जीव' कहलाता है; यह जीव स्थूल चिदचिदात्मकशक्तिविशिष्ट है, जीवकी स्थूल चिच्छक्ति किञ्चिज्ज्ञता और स्थूल अचिच्छक्ति किञ्चित्कर्तृतारूप है; जीव उभयविध शक्तियोंकी आश्रयभूता इच्छाशक्तिसे यु

श्रीरेणुकाचार्यकी 'अनाद्यविद्यासम्बन्धात्तदंशो नामकः' इस उक्तिके अनुसार जीव शिवांशरूप ही है। अभिप्रायका 'ब्रह्मसूत्र'ने भी 'अंशो नानाव्यपदेशात्' सूत्रसे समर्थन किया है; और 'मुण्डकश्रुति' भी प्रकार कहती है कि—

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥

'जैसे प्रदीप्त अग्निसे अग्निस्वरूप अनन्त चिनगा निकलती हैं और फिर उसीमें समाप्त हो जाती हैं, तरह परब्रह्मसे उसके अंशरूप अनन्तानन्त जीव उत् होते हैं और फिर उसीमें लीन हो जाते हैं ।' यहाँ अ और उस अग्निसे आविर्भूत कण इन दोनोंमें न अत्य भेद ही है, न अभेद ही है; इसलिये जेसे यहाँ भेदाभेद अङ्गीकार करते हैं वैसे ही शिवसे आविर्भूत शिवांशवा जीवोंमें तथा शिवमें आत्यन्तिक भेद अथवा अभेद कल्पना नहीं करनी चाहिये; प्रत्युत भेदाभेदको ही स्वीक करना चाहिये ।

यदि अंश और अंशियोंमें अभेद मानेंगे तो अग्नि तरह उन अग्निकणोंसे भी पाकादि क्रियाओंकी उत्प कहनेका प्रसङ्ग आ जाता है । अग्निकणसे पाकादिकी निष्प कहीं नहीं सुनी जाती । यदि आत्यन्तिक भेद मानेंगे वह्निभिन्न जलादियोंकी तरह वह्निकणोंमें भी दाहकार्याभा प्रसङ्ग आ जाता है, तथापि रूईमें गिरकर दाहकार्यको पैदा करनेमें वह्निकण समर्थ हैं, यह बात लोकप्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार जब शिवका तथा शिवांशरूप जीवोंका अभेद कहेंगे तो जीवोंमें भी शिवगत सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्वादिकों व्यवहारप्रसङ्ग आ जाता है; जब भेद कहेंगे तब शिवभि घटपटादि अचेतन वस्तुओंकी तरह जीवोंमें भी सकल वस्तुज्ञानाभावप्रसङ्ग आ जाता है, परन्तु जीवोंका घटपटादि ज्ञानवैशिष्ट्य प्रसिद्ध ही है । इसलिये हमारे वीरशैव आचार्योंने शिव और जीवोंमें पारमार्थिक भेदाभेदको ही अङ्गीकार किया है । इसी कारणसे वीरशैवमतको भेदाभेद मत (द्वैताद्वैतमत) भी कहते हैं ।

श्रुतियोंमें 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' इत्यादि वाक्य द्वैतका प्रतिपादन करते हैं। तथा 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि वाक्य अद्वैतका प्रतिपादन करते हैं। इन उभयविध वाक्योंका सुगम उपायसे सार्थक्य सम्पादन करना वैदिक-मतानुयायियोंका प्रधान कर्तव्य है। वीरशैव आचार्योंने इसी मार्गका अनुसरण किया है। इसलिये वीरशैवमतमें सब श्रुतियोंका समन्वय हो जाता है। इस विषयको वीरशैवमत-भाष्यकार शक्तिविशिष्टाद्वैतिकुलपति तार्किकचूडामणि श्रीकराचार्य उपनामवाले (श्रीपति पण्डित)जीने स्वविरचित 'श्रीकरभाष्य' में—

द्वैताद्वैतमते शुद्धे विशेषाद्वैतसंज्ञके।
वीरशैवैकसिद्धान्ते सर्वश्रुतिसमन्वयः॥

ऐसा उल्लेख किया है। इससे भी वीरशैवमत भेदाभेदात्मक है, यह सिद्ध होता है।

परशिव सच्चिदानन्दरूप, नित्य, निर्विकल्प, अप्राकृत-वैभव, उपमातीत, सर्वज्ञ, शान्त, चराचरप्रपञ्चव्यापक और सर्वशक्तिसमन्वित है। परशिवांशभूत जीव भी किञ्चिज्ज्ञ, किञ्चित्कर्ता, किञ्चित्शक्तिसमन्वित, अविद्यामोहित, ब्रह्मैक्यज्ञानवर्जित, घोरापारनिस्सारसंसारतापत्रयानलदंदह्यमान, जननमरणान्वित और बद्ध हैं।

सच्चिदानन्दरूप परशिव ब्रह्ममें अविनाभावसम्बन्धसे विद्यमान विमर्शशक्तिका स्फुरण ही षट्त्रिंशत्प्रकारक तत्त्वरूपसे परिणत होता है; यथा—शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, मन, श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी। ये छत्तीस तत्त्व श्रुतिसिद्ध हैं। इसी विषयको 'वृद्धजाबालोपनिषद्' ने भी—

पुनस्तं होवाच कानि षट्त्रिंशत्तत्त्वानीति। स तस्मा आह शिवशक्तिसदाशिवेश्वरशुद्धविद्या एतानि शुद्धानि पञ्चतत्त्वानि। माया कालो नियतिः कला विद्या रागः पुरुष इति शुद्धाशुद्धानि सप्ततत्त्वानि॥

इत्यादि वाक्योंसे कहा है। इसी प्रकारसे 'महानारायणोपनिषद्' में भी षट्त्रिंशत् तत्त्वोंका विवरण है।

शक्तिविशिष्ट परशिव ब्रह्म 'बहु स्यां प्रजायेय' इस श्रुतिके अनुसार जब सृष्टिके उन्मुख होता है तब तन्निष्ठ विमर्शशक्ति ही इच्छाशक्तिरूपसे परिणत होती है।

अनादिनिधनाच्छान्ताद् शिवाद् परमकारणात्।
इच्छाशक्तिर्विनिष्क्रान्ता ततो ज्ञानं ततः क्रिया॥
तत्रोत्पन्नानि भूतानि भुवनानि चतुर्दश।

इस शिवागमप्रमाणानुसार उत्पत्तिनाशरहित परमकारण और शान्त शिवजीसे सर्वप्रथम इच्छाशक्ति, उस इच्छाशक्तिसे ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तियोंका आविर्भाव होता है; उस इच्छाशक्तिमें ज्ञानशक्ति अन्तरङ्गरूपसे और क्रियाशक्ति बहिरङ्गरूपसे रहती है, जब परशिव ज्ञानशक्तिमें एकाकार होकर 'मैं सर्वज्ञ हूँ' इस प्रकारके अभिमानका कर्ता होता है, तब उसे 'शिवतत्त्व' कहते हैं। कुम्भकार जैसे घड़ेका निमित्तकारण है, उसी प्रकार शिवतत्त्व ही चराचर प्रपञ्चका निमित्तकारण होता है।

परशिव जब क्रियाशक्तिमें लीन होकर 'मैं सर्वकर्ता हूँ' ऐसा अभिमान करता है तब वही 'शक्तितत्त्व' कहा जाता है। घड़ेका मृत्तिका जैसे उपादानकारण है वैसे यह शक्तितत्त्व ही भावी चराचर प्रपञ्चका उपादानकारण है।

यह शक्तितत्त्व इच्छाशक्तिकी अन्तरङ्ग ज्ञानशक्तिकी उद्रेकावस्थामें प्रवेश कर जलाधिवाससे अङ्कुरोन्मुख चनेके सदृश हो जाता है, ऐसी उद्रिक्तज्ञानशक्तिको जरायुके सदृश आवरण करके 'अहमिदम्' (मैं यह प्रपञ्च हूँ) इस प्रकार अभिमान करना ही 'सदाशिवतत्त्व' कहलाता है।

उस शक्तितत्त्व इच्छाशक्तिकी बहिरङ्ग और उद्रिक्त दशाको प्राप्त क्रियाशक्तिमें प्रवेश कर वपन किये हुए बीजके सदृश अङ्कुरावस्थाको प्राप्त किया हुआ 'इदम्' शब्दवाच्य प्रपञ्च 'अहमिदम्' (मैं यह प्रपञ्चस्वरूप हूँ) ऐसा अभिमान करना ही 'ईश्वरतत्त्व' है।

सागरतरङ्गन्यायसे (जैसे समुद्र और उसके तरङ्गोंमें भेद नहीं है वैसे) 'अहमिदम्' इसमें 'अहम्' शब्दवाच्य अहङ्कार और 'इदम्' शब्दवाच्य प्रपञ्च इन दोनोंमें रहनेवाला अभेदज्ञान ही 'शुद्ध विद्यातत्त्व' कहलाता है। इसीको शास्त्र और गुरुसे प्राप्त होनेवाला मुक्तिका हेतुभूत तत्त्वज्ञान कहते हैं।

यह शुद्ध विद्यातत्त्व मयूराण्डरसन्यायसे अपनेमें लीन भावीप्रपञ्चनिर्माणकारणीभूत सूक्ष्म पदार्थोंमें अन्योन्याभावरूप भेदबुद्धिप्रधान होकर 'मायातत्त्व' कहा जाता है।

कला, विद्या, राग, काल, नियति ये पाँच तत्त्व पुरुषके कञ्चुकरूप हैं; इसलिये पहले कञ्चुकीभूत पुरुषतत्त्वको कहकर उसके बाद कलादि पाँच तत्त्वोंको कहेंगे ।

काष्ठयोगसे जैसे अग्निकण पैदा होते हैं, उसी प्रकार शिवजीके इच्छाशक्तियोगसे आविर्भूत होनेवाला शिवांश ही मायाशक्तिमें प्रवेश कर 'पुरुषतत्त्व' कहलाता है, यह तत्त्व मायामलावृत होनेके कारण आत्मामें अनात्मज्ञान और अनात्म वस्तुओंमें आत्मज्ञान तथा 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इस तरहकी बुद्धिको भी उत्पन्न करता है । पुरुष इस प्रकार आणवादि मलावृत होनेके कारण संसारी कहलाता है ।

इस पुरुषके मायावृत होकर अपनी सर्वकर्तृत्वादि शक्तियोंको भूलकर किञ्चित्कर्तृत्वादि शक्तियोंसे युक्त होनेके कारण, उसकी वह किञ्चित्कर्तृत्वरूप शक्ति ही 'कलातत्त्व' कही जाती है । किञ्चिज्ज्ञत्वरूप शक्ति ही 'विद्यातत्त्व' कही जाती है । स्रक, चन्दन, वनितादि विषयोंमें प्रेमको रखना ही 'रागतत्त्व' कहलाता है । भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालव्यवहारका कारण ही 'कालतत्त्व' कहलाता है । 'इस कारणसे यही कार्य पैदा होता है, दूसरा नहीं,' इस नियमके कारणको ही 'नियतितत्त्व' कहते हैं ।

कार्योन्मुख गर्भित इच्छाशक्ति अपनी आश्रयभूता ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तियोंके अन्योन्याभावभेदबुद्धिरूप मायातत्त्वमें प्रतिस्फुरित होती है तब वही 'प्रकृतितत्त्व' कही जाती है । यह प्रकृतितत्त्व सुख-दुःख और मोहोंकी कारणरूपा सत्त्व-रज-तमोगुणोंकी साम्यावस्था होकर महत्तत्त्वसे लेकर पृथिव्यन्त तेईस तत्त्वोंका मूलकारण होता है; 'इदमित्थम्' (यह ऐसा ही है) इस प्रकारके निश्चयके कारणको 'बुद्धितत्त्व' कहते हैं । इसीका द्वितीय नाम 'महत्तत्त्व' है । 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इत्यादि अहंकार-ममकारके कारणको ही 'अहङ्कारतत्त्व' कहते हैं । 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादि सङ्कल्प-विकल्पोंके कारणको ही 'मनस्तत्त्व' कहते हैं । बुद्धि, अहङ्कार और मनस्तत्त्व शरीरके भीतर रहनेके कारण ये तीनों मिलकर 'अन्तःकरण' कहलाते हैं । यह अन्तःकरण इच्छाशक्तिप्रधान है ।

इससे पहले कहा हुआ शक्तितत्त्व बाह्य शरीरको अवलम्बन करके शब्दज्ञानका साधन होकर 'श्रोत्रतत्त्व' कहलाता है । फिर स्पर्शज्ञानका साधन होकर 'त्वक्तत्त्व' कहलाता है। रूपज्ञानका साधन होकर 'नेत्रतत्त्व' कहलाता है । रसज्ञानका साधन होकर 'जिह्वातत्त्व' कहलाता है । गन्धज्ञानका होकर 'घ्राणतत्त्व' कहलाता है । ये पञ्चेन्द्रियाँ ज्ञान प्रधान होनेके कारण 'ज्ञानेन्द्रिय' कहलाती हैं ।

पूर्वोक्त वही शक्तितत्त्व उच्चारणक्रियाका कारण 'वाक्तत्त्व' कहलाता है । दानादानादि क्रियाओंका होनेके कारण 'पाणितत्त्व' कहलाता है । गमनागमन ओंका हेतु होनेके कारण 'पादतत्त्व' कहलाता है । म त्यागका साधन होनेके कारण 'पायुतत्त्व' कहलाता है । मूत्रपरित्यागका साधन होनेके कारण 'उपस्थतत्त्व' कहलाता ये पञ्चेन्द्रियाँ क्रियाशक्तिप्रधान होनेके कारण 'कर्मे कहलाती हैं । ऊपर कहे हुए बुद्धि आदि त्रयोदश तत्त्व इ ज्ञान और क्रियात्मक हैं ।

केवल श्रोत्रेन्द्रियसे ग्रहण करनेयोग्य जो गुण है वही ' तत्त्व' कहलाता है । केवल त्वगिन्द्रियसे समझनेयोग्य जो गु वही 'स्पर्शतत्त्व' कहलाता है। केवल नेत्रेन्द्रियसे समझने जो गुण है वही 'रूपतत्त्व' कहलाता है । केवल जिह्वेन्द्रि समझनेयोग्य जो गुण है वही 'रसतत्त्व' है । केवल घ्राणेन्द्रि यसे समझनेयोग्य जो गुण है वही 'गन्धतत्त्व' है । श ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक भेद, रसमें मधुर और आम्ल भेद, गन्धमें सुगन्ध और दुर्गन्ध भेद ऐसा विभाग न हो वे सब सामान्यरूपसे रहनेके कारण 'शब्दादि तन्मात्र' ना कहे जाते हैं ।

वायु, अग्नि, जल और पृथिवी तत्त्वोंको अवका देनेवाला और केवल शब्दगुणसे युक्त जो तत्त्व है 'आकाशतत्त्व' कहलाता है । कम्पन, भ्रमण, शोषण औ वेगक्रियायुक्त तथा केवल स्पर्शगुणात्मक जो तत्त्व है 'वायुतत्त्व' कहलाता है । दहन और पचनक्रियासे यु तथा केवल रूपगुणवाला जो तत्त्व है वही 'तेजस्तत्त्व' कहल है । द्रव, प्लवन और आप्यायनादिसे युक्त तथा केवल रसगु वाला जो तत्त्व है वही 'जलतत्त्व' कहलाता है । जलतत्त्व आधारभूत छेदनयोग्य और केवल गन्धगुणसे युक्त तत्त्व है वही 'पृथिवीतत्त्व' कहलाता है; यह आकाशादि पाँ तत्त्व 'महाभूत' नामसे पुकारे जाते हैं ।

शक्त्यण्डमृत्पिण्डमुपाददानो
मायाण्डचक्रभ्रमणक्रमेण ।
मूलाण्डदण्डेन मुहुर्विधत्त
ब्रह्माण्डभाण्डं भगवान् कुलालः ।

इस श्लोकमें षट्त्रिंशत् तत्त्वात्मक जगत्-सृष्टिका सब विषय भरा हुआ है; निगमागमप्रसिद्ध यह षट्त्रिंशत्तत्त्व सच्चिदानन्दरूपी और चिच्छक्तिविशिष्ट परशिवब्रह्मका परिणामरूप होनेके कारण वीरशैवसिद्धान्त परिणामवाद और जगत्सत्यत्ववादको बोध करता है।

वीरशैवसिद्धान्तमें परशिवब्रह्म 'स्थल' नामसे निर्देश किया गया है, जैसे कि—

स्थीयते लीयते यत्र जगदेतच्चराचरम् ।
तद् ब्रह्म स्थलमित्युक्तं स्थलतत्त्वविशारदैः ॥

यह चराचरात्मक जगत् जिसमें उत्पत्ति और लयको पाता है वही ब्रह्म 'स्थल' नामसे कहा गया है। स्थलरूपी यह परशिवब्रह्म अपनी लीलासे 'अङ्गस्थल और लिङ्गस्थल' नामसे दो प्रकारका हुआ है। पूर्वोक्त चित्तशक्तिविशिष्ट जीव ही अङ्गपदवाच्य है, चिच्छक्तिविशिष्ट परशिव ही लिङ्गपदवाच्य है; यह शिवलिङ्ग भक्तानुग्रहके निमित्त स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक शरीरस्थानभेदसे इष्टलिङ्ग, प्राणलिङ्ग और भावलिङ्ग नामसे तीन प्रकारका होता है। अङ्ग भी 'त्यागाङ्ग, भोगाङ्ग, योगाङ्ग' नामसे तीन प्रकारका होता है। शिवलिङ्गका पहला भेद जो इष्टलिङ्ग है वह आचारलिङ्ग और गुरुलिङ्ग नामसे दो प्रकारका; दूसरा भेद जो प्राणलिङ्ग है वह शिवलिङ्ग और चरलिङ्ग नामसे दो प्रकारका; तीसरा भेद जो भावलिङ्ग है वह प्रसादलिङ्ग और महालिङ्ग नामसे दो प्रकारका; ऐसे सब छः प्रकारके होते हैं। इसी तरह अङ्गस्थलका त्यागाङ्ग-भक्त और महेश नामसे दो प्रकारका; भोगाङ्ग—प्रसादी और प्राणलिङ्गी नामसे दो प्रकारका; योगाङ्ग—शरण और ऐक्य नामसे दो प्रकारका; ऐसे सब छः प्रकारके होते हैं।

यह अङ्गस्थल अवान्तरभेदसे ४४ प्रकारका और लिङ्गस्थल ५७ प्रकारका होता है; दोनों मिलकर १०१ स्थल होते हैं। एकोत्तर शतस्थलात्मक यह लिङ्गाङ्ग-सामरस्य-जन्य ज्ञान ही मोक्षका मूलकारण है।

अब संक्षेपसे लिङ्गस्थलविषयका विचार करेंगे—

इष्टलिङ्गमिदं स्थूलं यद्बाह्ये धार्यते तनौ ।
प्राणलिङ्गं तु तत् सूक्ष्मं यदन्तर्भावनामयम् ॥
परात्परं तु यत्प्रोक्तं तृप्तिलिङ्गं तदुच्यते ।

स्थूलदेहके ऊपर जो धारण किया जाता है वही इष्टलिङ्ग है, शरीरके भीतर (सूक्ष्म शरीरमें) जो धारण किया जाता है वही प्राणलिङ्ग है, जो कारणशरीरमें धारण किया जाता है (आत्मा) वही भावलिङ्ग है। इस प्रकारके त्रिविध लिङ्गसे फिर छः भेद होते हैं, जो नीचे लिखे गये हैं—

आचारलिङ्गं घ्राणाख्यं भक्तस्थलसमाश्रयम् ।
निवृत्तिकलयोपेतं गन्धग्रहणसाधनम् ॥
गुरुलिङ्गं तु जिह्वाख्यं महेशस्थलसंश्रयम् ।
प्रतिष्ठाकलयोपेतं रसग्रहणसाधनम् ॥
शिवलिङ्गं तु नेत्राख्यं प्रसादिस्थलसंश्रयम् ।
विद्यांकलासमायुक्तं रूपग्रहणसाधनम् ॥
त्वगाख्यं जङ्गमं लिङ्गं प्राणलिङ्गिस्थलाश्रयम् ।
शान्त्याख्यकलयोपेतं स्पर्शग्रहणसाधनम् ॥
प्रसादलिङ्गं श्रोत्राख्यं शरणस्थलसंश्रयम् ।
शान्त्यतीतकलोपेतं शब्दग्रहणसाधनम् ॥
मानसं तु महालिङ्गमैक्यस्थलसमाश्रयम् ।
शान्त्यतीतोत्तरोपेतं सर्वग्रहणसाधनम् ॥

घ्राणरूपी आचारलिङ्ग भक्तस्थलको आश्रय कर निवृत्तिकलासे युक्त होकर गन्धग्रहणका साधन होता है; घ्राण इडा-पिङ्गला-नाडीद्वारसे प्राणवायुके सञ्चारका आश्रय होनेके कारण, और देहशुद्धिके हेतुभूत प्राणायामका साधन होनेके कारण 'आचारलिङ्ग' कहाता है।

जिह्वारूपी गुरुलिङ्ग महेश्वरस्थलको आश्रय कर प्रतिष्ठाकलासे युक्त होकर रसग्रहणका साधन होता है, जिह्वा पञ्चाक्षर-षडक्षर मन्त्रोंके उच्चारका साधन होनेके कारण, और यह पञ्चाक्षर-षडक्षररूप शिवमन्त्र गुरुमुखसे प्राप्त होनेके कारण इस जिह्वाको 'गुरुलिङ्ग' कहते हैं।

नेत्ररूपी शिवलिङ्ग प्रसादिस्थलको आश्रय कर विद्याकलासे युक्त होकर रूपग्रहणका साधन होता है, नेत्र अपने गोलकमें स्थित शिवप्रकाशसे संयुक्त होकर सकल पदार्थोंके रूपप्रकाशका साधन होनेके कारण 'शिवलिङ्ग' कहाता है।

त्वग्रूपी चरलिङ्ग प्राणलिङ्गिस्थलको आश्रय कर शान्तिकलासे युक्त होकर स्पर्शग्रहणका साधन होता है, त्वक् सर्वाङ्गोंमें आच्छादित होकर शीतस्पर्शादि ज्ञानका साधन होनेके कारण, और सञ्चरणशील वायुका अंश होनेके कारण 'चरलिङ्ग' कहलाता है।

श्रोत्ररूपी प्रसादलिङ्ग शरणस्थलको आश्रय कर शान्त्यतीतकलासे युक्त होकर शब्दग्रहणका साधन होता है, इसलिये यह श्रोत्र नाद-सुनाद-निनाद-महानादरूप परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीक्रमसे प्राप्य उस अनुग्रहरूप प्रसादका हेतु होता है, इसको 'प्रसादलिङ्ग' कहते हैं।

मनोरूपी महालिङ्ग ऐक्यस्थलको आश्रय कर शान्त्यतीतोत्तरकलासे युक्त होकर सर्वग्रहणका साधन होता है, यह मानस-श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी तरह एक-एक विषयको ग्रहण न कर सर्व विषयोंको ग्रहण करता है, इस कारण और सब इन्द्रियोंका राजा होनेके कारण 'महालिङ्ग' कहलाता है।

अब अङ्गस्थलविषयका विचार करेंगे—

अङ्गस्थलं तथा प्रोक्तमाचार्यैः सूक्ष्मदर्शिभिः।
योगाङ्गं प्रथमं प्रोक्तं भोगाङ्गं च द्वितीयकम्॥
त्यागाङ्गं च तृतीयं स्यादित्येवं त्रिविधं स्मृतम्॥

यह अङ्गस्थल 'योगाङ्ग-भोगाङ्ग-त्यागाङ्ग' नामसे तीन प्रकारका है, वीरशैव अपना और गुरुलिङ्गजङ्गमोंका ऐक्य-योगानुसन्धान करता है; इसलिये इसीको 'योगाङ्ग' कहते हैं। गुरु, लिङ्ग और जङ्गमदेवोंको अर्पण किये हुए प्रसादको स्वीकार करता हुआ सुखभोगोंको अनुभव करता है; इसलिये इसको 'भोगाङ्ग' कहते हैं। गुरु, लिङ्ग और जङ्गमोंके निमित्त निर्वञ्चनासे तन-मन-धनका त्याग करता है; इसलिये इसको 'त्यागाङ्ग' कहते हैं।

सदाचारः शिवे भक्तिर्लिङ्गे जङ्गम एकधीः।
लाञ्छने शरणे भक्तिर्भक्तस्थलमनुत्तमम्॥
केवले सहजे दाने निष्णातः शिवतत्परः।
ब्रह्मादिस्थानविमुखो भक्तो माहेश्वरः स्मृतः॥
मनःप्रसादसिद्ध्यर्थं निर्मलज्ञानकारणम्।
शिवप्रसादं स्वीकुर्वन् प्रसादीत्येष कथ्यते॥
लिङ्गं चिदात्मकं ब्रह्म तच्छक्तिः प्राणरूपिणी।
तद्रूपलिङ्गविज्ञानी प्राणलिङ्गीति कथ्यते॥
सती चाहं पतिर्लिङ्गं हृदि युक्तः स्वयं प्रभुः।
प्रापञ्चिकं सुखं नास्ति शरणस्थलमुत्तमम्॥
प्राणलिङ्गादियोगेन सुखातिशयमेयिवान्।
शरणाख्यः शिवेनैक्यभावनादैक्यवान् भवेत्॥

सदाचारशील, शिवभक्तियुक्त, गुरुलिङ्ग-जङ्गमोंमें समानबुद्धियुक्त, शिवलाञ्छन और शिवशरणोंमें भक्तियुक्त मानव ही 'भक्त' कहलाता है। सहज दानमें तत्पर, शिवासक्त, ब्रह्मादिस्थानविमुख भक्त ही 'माहेश्वर' कहलाता है। वह माहेश्वर अपनी मनःप्रसन्नताके लिये निर्मलज्ञान-कारण शिवप्रसादको स्वीकार करता है; इसलिये 'प्रसादी' कहलाता है। परशिवब्रह्म चित्स्वरूप है, परशिवब्रह्ममें रहनेवाली शक्ति प्राणस्वरूप है, शिवलिङ्ग इन उभयस्वरूपोंसे युक्त है; इस प्रकार समझनेवाला प्रसादी ही 'प्राणलिङ्गी' कहलाता है। शिवलिङ्गको पति समझकर अपनेको सती समझकर प्रापञ्चिक सुखशून्य वह प्राणलिङ्गी ही 'शरण' कहलाता है। वह शरण प्राणलिङ्गादियोगसे सुखातिशयको प्राप्तकर 'शिवोऽहम्' इस भावनासे परशिवसे एकत्वको प्राप्त कर लेता है, इसलिये वह 'ऐक्य' कहलाता है। यहाँ ऊपर कहा हुआ भक्तादि षट्स्थल जातिवाचक नहीं है, किन्तु मुक्तिमार्गका सोपानरूपमात्र है।

अङ्गस्थलप्रतिपाद्य भक्त लिङ्गस्थलप्रतिपाद्य आचारलिङ्गका अङ्ग होनेके कारण आचारलिङ्गमें सामरस्यको प्राप्त कर लेता है; इसी तरह माहेश्वर गुरुलिङ्गमें, प्रसादी शिवलिङ्गमें, प्राणलिङ्गी जङ्गमलिङ्गमें, शरण प्रसादलिङ्गमें, ऐक्य महालिङ्गमें सामरस्यको प्राप्त कर लेता है।

इसी तरह आचारलिङ्ग गुरुलिङ्गमें, गुरुलिङ्ग शिवलिङ्गमें, शिवलिङ्ग जङ्गमलिङ्गमें, जङ्गमलिङ्ग प्रसादलिङ्गमें, प्रसादलिङ्ग महालिङ्गमें, महालिङ्ग परशिवरूप घनलिङ्गमें सामरस्यको पाकर अखण्ड आनन्दानुभवयुक्त हो जाता है।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे
अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

इस 'मुण्डक' श्रुत्यभिप्रायानुसार जैसे नदियाँ समुद्रमें मिलकर अपने नामरूपोंको त्यागकर सामरस्य (एकत्व) को पाती हैं, उसी तरह शिवज्ञानयुक्त वीरशैव अपने नामरूपोंसे विमुक्त होकर परशिवब्रह्ममें सामरस्यको पाता है।

कीटो भ्रमरयोगेन भ्रमरो भवति ध्रुवम्।
मानवः शिवयोगेन शिवो भवति केवलम्॥

जैसे कीड़ा भ्रमरके सम्बन्धसे भ्रमर हो जाता है, उसी तरह ऊपर कहे हुए षट्स्थलात्मक शिवयोगसे मानव शिव हो जाता है। इस प्रकार शिवागम उद्घोष कर रहे हैं। लिङ्गाङ्गी वीरशैव षट्स्थलोंके आचरणसे शिवसायुज्यको प्राप्त कर लेता है। शुद्धात्मा अङ्ग नामक जीवको लिङ्ग नामक शिवमें सामरस्यको प्राप्त कर लेना ही 'लिङ्गाङ्गसामरस्य' कहलाता है, यही 'शिवजीवैक्य' है और यही 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' है।

तत्त्वमसि

अरुणके पुत्र आरुणि उद्दालकके श्वेतकेतु नामक एक पुत्र था। वह बारह वर्षकी अवस्थातक केवल खेलकूदमें ही रहा। पिता सोचते रहे कि यह स्वयं ही विद्या प्रात करनेकी इच्छा करे तो उत्तम है परन्तु उसने वैसी इच्छा नहीं की, तब पितासे नहीं रहा गया। उन्होंने एक दिन उसे अपने पास बुलाकर कहा—'हे वत्स श्वेतकेतो! तू जा और सुयोग्य गुरुके समीप ब्रह्मचारी होकर रह। हे सौम्य! अपने वंशमें कोई भी ऐसा उत्पन्न नहीं हुआ जिसने वेदोंका त्याग किया हो और जो ब्राह्मणके गुण और आचारोंसे रहित होकर केवल नामधारी ब्राह्मण बनकर रहा हो। ऐसा करना योग्य नहीं है। सारांश, तुझे वेदोंका अध्ययन करके ब्रह्मको प्रात करना ही चाहिये।'

पिता आरुणिका मीठा उलाहना सुनकर श्वेतकेतु बारह वर्षकी अवस्थामें गुरुके घर गया और पूरे चौबीस वर्षकी अवस्थातक गुरुगृहमें रहकर व्याकरणादि छः अङ्गोंसहित चारों वेदोंका पूर्ण अध्ययन करनेके पश्चात् गुरुकी आज्ञा लेकर घर लौटा। उसने मन-ही-मन विचार किया कि 'मैं वेदका पूर्ण ज्ञाता हूँ, मेरे समान पण्डित और कोई नहीं है। मैं सर्वोपरि विद्वान् और बुद्धिमान् हूँ।' इस प्रकारके विचारोंसे उसके मनमें गर्व उत्पन्न हो गया, और वह उद्धत और विनयरहित होकर बिना ही प्रणाम किये पिताके सामने आकर बैठ गया। आरुणि ऋषि उसका नम्रतारहित औद्धत्यपूर्ण आचरण देखकर इस बातको जान गये कि इसको वेदके अध्ययनसे बड़ा गर्व हो गया है, तो भी आरुणि ऋषिने उस अविनयी पुत्रपर क्रोध नहीं किया और कहा—'हे श्वेतकेतो! तू ऐसा क्या पढ़ आया है कि जिससे अपनेको सबसे बड़ा पण्डित समझता है और इतना अभिमानमें भर गया है। विद्याका स्वरूप तो विनयसे ही खिलता है। अभिमानी पुरुषके हृदयसे सारे गुण तो दूर चले जाते हैं और समस्त दोष अपने-आप उसमें आ जाते हैं। तूने अपने गुरुसे यह सीखा हो तो बता कि ऐसी कौन-सी वस्तु है कि जिस एकके सुननेसे बिना सुनी हुई सब वस्तुएँ सुनी जाती हैं, जिस एकके विचारसे बिना विचार की हुई सब वस्तुओंका विचार हो जाता है, जिस एकके ज्ञानसे नहीं जानी हुई सब वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है?'

आरुणिके ऐसे वचन सुनते ही श्वेतकेतुका गर्व गल गया, उसने सोचा कि 'मैं तो ऐसी किसी वस्तुको नहीं जानता। मेरा अभिमान मिथ्या है।' वह नम्र होकर विनयके साथ पिताके चरणोंपर गिर पड़ा और हाथ जोड़कर कहने लगा—'भगवन्! जिस एक वस्तुके श्रवण, विचार और ज्ञानसे सम्पूर्ण वस्तुओंका श्रवण, विचार और ज्ञान हो जाता है, उस वस्तुको मैं नहीं जानता। आप उस वस्तुका उपदेश कीजिये।'

आरुणिने कहा—'हे सौम्य! जैसे कारणरूप मिट्टीके पिण्डका ज्ञान होनेसे मिट्टीके कार्यरूप घट, शराव आदि समस्त वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है और यह पता लग जाता है कि घट आदि कार्यरूप वस्तुएँ सत्य नहीं हैं केवल वाणीके विकार हैं, सत्य तो केवल मिट्टी ही है। हे सौम्य! जैसे कारणरूप सोनेके पिण्डका ज्ञान होनेसे कड़े, कुण्डलादि सब कार्योंका ज्ञान हो जाता है और यह पता लग जाता है कि ये कड़े, कुण्डलादि सत्य नहीं हैं, केवल वाणीके विकार हैं, सत्य तो केवल सोना ही है। और जैसे नख काटनेकी नहरनी आदिमें रहे हुए लोहेका ज्ञान हो जानेसे लोहेके कार्य खड्ग, परशु आदिका ज्ञान हो जाता है और यह पता लग जाता है कि वास्तवमें ये सब सत्य नहीं हैं, एक लोहा ही सत्य है, बस इसी तरह वह ज्ञान होता है।'

पिता आरुणिके यह वचन सुनकर श्वेतकेतुने कहा—'पिताजी! निश्चय ही मेरे विद्वान् गुरु इस वस्तुको नहीं जानते हैं, क्योंकि यदि वे जानते होते तो मुझे बतलाये बिना कभी नहीं रहते। अतएव हे भगवन्! अब आप ही मुझको उस वस्तुका उपदेश दीजिये जिस एकके जाननेसे सब वस्तुएँ जानी जाती हैं।' आरुणिने कहा, 'अच्छा सावधान होकर सुन—

'हे प्रियदर्शन! यह नाम, रूप और क्रियास्वरूप दृश्यमान जगत् उत्पन्न होनेसे पहले केवल एक अद्वितीय, सत् ही था। उस सत् ब्रह्मने संकल्प किया कि 'मैं एक बहुत हो जाऊँ' ऐसा संकल्प करके उसने पहले तेज उत्पन्न किया, फिर उससे जल उत्पन्न किया और तदनन्तर उससे अन्न उत्पन्न किया। इन्हीं तीन तत्त्वोंसे सब पदार्थ उत्पन्न हुए। जगत्में जितनी वस्तुएँ हैं, सब तेज, जल और अन्न इन तीनोंके मिश्रणसे ही बनी हैं। जहाँ प्रकाश या गरमी है वहाँ तेजतत्त्वकी प्रधानता है, जहाँ द्रव या प्रवाही भाव है वहाँ जलकी प्रधानता है और जहाँ कठोरता है वहाँ अन्न

या पृथ्वीकी प्रधानता है। अग्निमें जो लाल, श्वेत और कृष्ण वर्ण है उसमें ललाई तेजकी, सफेदी जलकी और श्यामता पृथ्वीकी है। यही बात सूर्य, चन्द्रमा और बिजलीमें है। यदि अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और बिजलीमेंसे तेज, जल और पृथ्वीको निकाल लिया जाय तो अग्निमें अग्निपन, सूर्यमें सूर्यपन, चन्द्रमामें चन्द्रपन और विद्युत्में विद्युत्पन कुछ भी नहीं रह जायगा। इसी प्रकार सभी वस्तुओंमें समझना चाहिये। खाये हुए अन्नके भी तीन रूप हो जाते हैं। स्थूल भाग विष्ठा बन जाता है, मध्यम भाग मांस बनता है और सूक्ष्म भाग मनरूप हो जाता है। इसी तरह जलके स्थूल भागसे मूत्र बनता है, मध्यम भागसे रक्त बनता है और सूक्ष्म भाग प्राण बनता है। इसी प्रकार तेल, घृत आदि तैजस पदर्थोंके स्थूल भागसे हड्डी बनती है, मध्यम भाग मज्जारूप हो जाता है और सूक्ष्म भाग वाणीरूप होता है। अतएव मन अन्नमय है; प्राण जलमय है और वाक् तेजमय है अर्थात् मन अन्नसे बनता है, प्राण जलसे बनता है और वाणी तेजसे बनती है।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा—'हे पिताजी! मुझको यह विषय और साफ करके समझाइये।' उद्दालक आरुणि बोले—'हे सौम्य! जैसे दही मथनेसे उसका सूक्ष्म सार तत्त्व नवनीत ऊपर तैर आता है इसी प्रकार जो अन्न खाया जाता है, उसका सूक्ष्म सार अंश मन बनता है। जलका सूक्ष्म अंश प्राण और तेजका सूक्ष्म अंश वाक् बनता है। असलमें ये मन, प्राण और वाणी तथा इनके कारण अन्नादि कार्यकारणपरम्परासे मूलमें एक ही सत् वस्तु ठहरते हैं। सबका मूल कारण सत् है, वही परम आश्रय और अधिष्ठान है। सत्के कार्य नाना प्रकारकी आकृतियाँ सब वाणीके विकार हैं, नाममात्र हैं। यह सत् अणुकी भाँति सूक्ष्म है, समस्त जगत्का आत्मारूप है, जैसे सर्पमें रज्जु कल्पित है, इसी प्रकार जगत् इस 'सत्' में कल्पित है। हे श्वेतकेतो! वह 'सत्' वस्तु तू ही है। 'तत्त्वमसि'

'हे सौम्य! जैसे शहदकी मक्खी अनेक प्रकारके वृक्षोंके रसको एकत्र करके उसको एकरस करके शहदके रूपमें परिणत करती है, शहदरूपको प्राप्त रस जैसे यह नहीं जानता कि मैं आमके पेड़का रस हूँ या मैं कटहरके वृक्षका रस हूँ, इसी प्रकार सुषुप्तिकालमें जीव 'सत्' वस्तुके साथ एकीभावको प्राप्त होकर यह नहीं जानते कि हम सत्में मिल गये हैं। सुषुप्तिसे जागकर पुनः वे अपने-अपने पहलेके श सिंह, वृक, शूकर, कीट, पतंग और मच्छरके शरीरको प्रा हो जाते हैं। यह जो सूक्ष्म तत्त्व है यही आत्मा है, यह स है और हे श्वेतकेतो! वह तू ही है।' 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझको फिर समझाइये।' आरुणि बोले—'हे सौम्य! जैसे समुद्रके जलसे ही बादलों द्वारा पुष्ट हुई गंगा आदि नदियाँ अन्तमें समुद्रमें ही मिलकर अपने नामरूपको त्याग देती हैं, यह नहीं जानतीं कि मैं गंगा हूँ, मैं नर्मदा हूँ' और सर्वथा समुद्रभावको प्राप्त हो जाती हैं। और फिर मेघके द्वारा वृष्टिरूपसे समुद्रसे बाहर निकल आती हैं किन्तु यह नहीं जानतीं कि हम समुद्रसे निकली हैं। इसी प्रकार ये जीव भी 'सत्' मेंसे निकलकर सत्में ही लीन होते हैं और पुनः उसीसे निकलते हैं परन्तु य नहीं जानते कि हम 'सत्' से आये हैं। और यहाँ वही बाघ सिंह, वृक, शूकर, कीट, पतंग या मच्छर जो-जो पहले होते हैं वे हो जाते हैं। यह जो सूक्ष्म तत्त्व सबका आत्मा है, यह सत् है, यही आत्मा है और हे श्वेतकेतो! यह सत् तू ही है!' 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझे फिरसे समझाइये।' उद्दालक आरुणिने 'तथास्तु' कहकर समझाना शुरू किया—

'हे सौम्य! बड़े भारी वृक्षकी जड़पर कोई चोट करे तो वह एक ही चोटमें सूख नहीं जाता, वह जीता है और उस छेदमेंसे रस झरता है। वृक्षके बीचमें छेद करनेपर भी वह सूखता नहीं, छेदमेंसे रस झरता है, इसी प्रकार अग्रभागपर चोट करनेसे भी वह जीता है और उसमेंसे रस टपकता है। जबतक उसमें जीवात्मा व्याप्त रहता है तबतक वह मूलके द्वारा जल ग्रहण करता हुआ आनन्दसे रहता है। जब इस वृक्षकी शाखाओंमें एक शाखासे जीव निकल जाता है तब वह सूख जाती है, दूसरीसे निकलनेपर दूसरी, और तीसरीसे निकलनेपर तीसरी सूख जाती है। और जब सारे वृक्षको जीव त्याग देता है तब वह सब-का-सब सूख जाता है। इसी प्रकार यह शरीर भी जब जीवसे रहित होता है तब मृत्युको प्राप्त होता है। जीव कभी मृत्युको प्राप्त नहीं होता, यह जीवरूप सूक्ष्म तत्त्व ही आत्मा है। यह सत् है, यही आत्मा है और हे श्वेतकेतो! 'वह सत् तू ही है।' 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' पिता आरुणिने कहा—'अच्छा, एक बड़ा फल तोड़कर

ला ! फिर तुझे समझाऊँगा ।' श्वेतकेतु फल ले आया । पिताने कहा—'इसे तोड़कर देख इसमें क्या है ?' श्वेतकेतुने फल तोड़कर कहा—'भगवन् ! इसमें छोटे-छोटे बीज हैं ।' ऋषि बोले, 'अच्छा, एक बीजको तोड़कर देख उसमें क्या है ?' श्वेतकेतुने बीजको फोड़कर कहा—'इसमें तो कुछ भी नहीं दीखता ।' तब पिता आरुणि बोले—'हे सौम्य ! तू इस वट-बीजके सूक्ष्म भावको नहीं देखता, इस अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वसे ही महान् वटका वृक्ष निकलता है । बस, जैसे यह अत्यन्त सूक्ष्म वट-बीज बड़े भारी वटके वृक्षका आधार है, इसी प्रकार सूक्ष्म सत् आत्मा इस समस्त स्थूल जगत्-का आधार है । हे सौम्य ! मैं सत्य कहता हूँ, तू मेरे वचनमें श्रद्धा रख । यह जो सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है वह सत् है और यही आत्मा है । हे श्वेतकेतो ! वह 'सत्' तू ही है ।' 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन् ! मुझको पुनः दूसरे दृष्टान्तसे समझाइये ।' उद्दालकने एक नमककी डली श्वेतकेतुके हाथमें देकर कहा—'वत्स ! इस डलीको अभी जलसे भरे हुए लोटेमें डाल दे और फिर कल सवेरे उस लोटेको लेकर मेरे पास आना ।' श्वेतकेतुने ऐसा ही किया । दूसरे दिन प्रातःकाल जब श्वेतकेतु जलका लोटा लेकर पिताके पास गया, तब उन्होंने कहा—'हे सौम्य ! रातको जो नमककी डली लोटेमें डाली थी, उसको जलमेंसे ढूँढ़कर निकाल तो दे, मैं उसे देखूँ ।' श्वेतकेतुने देखा, पर नमककी डली उसे नहीं मिली, क्योंकि वह तो जलमें गलकर जलरूप हो गयी थी । तब आरुणिने कहा—'अच्छा, इसमेंसे इस तरफसे थोड़ा-सा जल चखकर बता तो कैसा है ?' श्वेतकेतुने आचमन करके कहा—'पिताजी ! जल खारा है ।' आरुणि बोले—'अच्छा, अब बीचमेंसे लेकर चखकर बता ।' श्वेतकेतुने चखकर कहा—'पिताजी ! यह भी खारा है ।' आरुणिने कहा—'अच्छा ! अब दूसरी ओरसे जरा-सा पीकर बता कैसा स्वाद है ?' श्वेतकेतुने पीकर कहा—'पिताजी ! इधरसे भी स्वाद खारा ही है ।' अन्तमें पिताने कहा—'अब सब ओरसे पीकर, फिर जलको फेंक दे और मेरे पास चला आ ।' श्वेतकेतुने वैसा ही किया और आकर पितासे कहा—'पिताजी ! मैंने जो नमक जलमें डाला था, यद्यपि मैं अपनी आँखोंसे उसको नहीं देख पाता परन्तु जीभके द्वारा मुझको उसका पता लग गया है कि उसकी स्थिति उस जलमें सदा और सर्वत्र है ।' पिताने कहा—'हे सौम्य ! जैसे तू यहाँ उस प्रसिद्ध 'सत्' नमककी नेत्रोंसे नहीं देख सका तो भी वह विद्यमान है, इसी प्रकार यह सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है । वह सत् है और वही आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा तू ही है ।' 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'पिताजी ! मुझे फिर उपदेश कीजिये ।' तब मुनि उद्दालक बोले—'सुन ! जैसे चोर आँखोंपर पट्टी बाँधकर किसी मनुष्यको बहुत दूरके गान्धार देशसे लाकर किसी जंगलमें निर्जन प्रदेशमें छोड़ दे और वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओंकी ओर देख-देखकर सहायताके लिये पुकार करके कहे कि 'मुझको आँखोंपर पट्टी बाँधकर चोरोंने यहाँ लाकर छोड़ दिया है' और जैसे उसकी करुण पुकारको सुनकर कोई दयालु पुरुष दयावश उसकी आँखोंकी पट्टी खोल दे और उससे कह दे कि 'गान्धार देश इस दिशामें है, तू इस रास्तेसे चला जा, वहाँ पहुँच जायगा ।' और वह बुद्धिमान् अधिकारी पुरुष जैसे उस दयालु पुरुषके वचनोंपर श्रद्धा रखकर उसके बताये मार्गपर चलने लगता है और एक गाँवसे दूसरे गाँव पूछ-परछ करता हुआ आखिर अपने गान्धार देशको पहुँच जाता है । इसी प्रकार अज्ञानकी पट्टी बाँधे हुए, काम, क्रोध, लोभादि चोरोंके द्वारा संसाररूपी भयङ्कर वनमें छोड़ा हुआ जीव ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुके दयापरवश हो बतलाये हुए मार्गसे चलकर अविद्याके फंदेसे छूटकर अपने मूल स्वरूप 'सत्' आत्माको प्राप्त हो जाता है। यह जो सूक्ष्म तत्त्व है, सो आत्मा है । वह सत् है, वही आत्मा है, हे श्वेतकेतो ! वह सत् आत्मा तू ही है ।' 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन् ! कृपापूर्वक मुझको फिर उपदेश कीजिये ।' तब मुनि उद्दालक बोले—'सुन, जैसे कोई एक रोगी मनुष्य मरनेवाला होता है, तब उसके सम्बन्धी लोग उसे घेरकर पूछते हैं कि तुम हमें पहचानते हो या नहीं ? जबतक उस रोगी जीवकी वाणीका मनमें, मनका प्राणमें, प्राणका तेजमें और तेजका ब्रह्ममें लय नहीं हो जाता तबतक वह सबको पहचान सकता है । परन्तु जब उसकी वाणीका मनमें, मनका प्राणमें, प्राणका तेजमें, और तेजका ब्रह्ममें लय हो जाता है तब वह किसीको नहीं पहचान सकता । यह जो सूक्ष्म भाव है सो आत्मा है, वह सत् है, वही आत्मा है, हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा तू ही है ।' 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन् ! कृपापूर्वक मुझे फिर समझाइये ।' तब मुनि कहने लगे—'अच्छा सुन ! एक आदमी चोरीके सन्देहमें पकड़ा जाता है, और उससे पूछा

जाता है कि तैंने चोरी की या नहीं, वह अस्वीकार करता है। तब राज्यके अधिकारी जलती हुई कुल्हाड़ी लाकर उसके हाथमें देनेकी आज्ञा करते हैं, कुल्हाड़ी लायी जाती है और यदि उसने चोरी की है और झूठ बोलकर छूटना चाहता है तो आत्माको असत्यके साथ जोड़नेके कारण कुल्हाड़ीका स्पर्श होते ही उसका हाथ जल जाता है और उसे अपराधके लिये दण्ड दिया जाता है। परन्तु यदि वह चोर नहीं होता और सत्य ही कहता है तो आत्माको सत्यके साथ संयुक्त रखनेके कारण उसका हाथ उस कुल्हाड़ीसे नहीं जलता और वह बन्धनसे छूट जाता है।*

इस प्रकार सत्यताके कारण जलती हुई कुल्हाड़ीसे सत्यवक्ता बच जाता है, इससे सिद्ध होता है कि जीव सत् है, वह सत् है, वही आत्मा है। हे श्वेतकेतो! वह आत्मा तू ही है।' 'तत्त्वमसि'

इस प्रकार पिता उद्दालक आरुणिके उपदेशसे श्वेतकेतु आत्माके अपरोक्ष ज्ञानको प्राप्त होकर कृतार्थ हो गया।

निम्बार्क-दर्शन (द्वैताद्वैत-सिद्धान्त)

(लेखक—स्वामी श्रीपरमानन्ददासजी)

भारतवर्षमें प्रचलित चार प्रमुख धार्मिक सम्प्रदायोंमें एक निम्बार्कमतानुयायियोंका पन्थ है। इनका धर्म भी वेदान्तपर अवलम्बित है। ये ऐसा कोई भी उपदेश नहीं करते जिसका वेदान्तमें समावेश न हो और न ऐसी पूजा-पद्धतिका अनुसरण करते हैं जो उस लक्ष्यतक नहीं पहुँचाती जिसका वेदान्त निर्देश करता है। द्वैताद्वैतके नामसे प्रसिद्ध सुप्रतिष्ठित वेदान्त-सिद्धान्त इस देशमें भगवान् निम्बार्काचार्यके द्वारा प्रचलित हुआ था। यह कहा जाता है कि भगवान् निम्बार्क जन्मके तैलङ्ग ब्राह्मण थे और निम्ब नामक गाँवमें रहते थे। उनके पिताका नाम जगन्नाथ और माताका नाम सरस्वती था। निम्बार्कने 'वेदान्तपारिजातसौरभ' (ब्रह्मसूत्रोंपर एक प्रकारका भाष्य) और दश श्लोकोंके एक छोटे ग्रन्थ 'सिद्धान्तरत्न' (जिसको प्रायः दशश्लोकी भी कहते हैं) की रचना की थी।

वेदान्त अथवा ब्रह्मसूत्र परब्रह्मको चराचर जगत्का मूल कारण बतलाते हैं। उससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है, उसीमें स्थित है और उसीमें इसका लय हो जायगा। अपने वास्तविक स्वरूपमें परब्रह्म एक ओर सब उपाधियोंसे रहित, सर्वव्यापक, पूर्ण, अद्वैत, निर्विकार और दूसरी ओर सर्वद्रष्टा, सर्वशक्तिमान्, सृष्टिका कर्ता-धर्ता और संहर्ता है। वह अनन्त रूपोंमें व्यक्त, सबके हृदयमें निवास करनेवाला और सञ्चालक है। ईश्वर विश्वके कण-कणमें व्याप्त है, किन्तु साथ-ही-साथ सर्वातिशायी भी है। जिस प्रकार इस संसारमें मिट्टी वृक्ष, लता, पौधे, फल, फूल, मांस, हड्डी आदि अनेक रूपोंमें परिणत हो जाती है और ये सब फिर पृथ्वीपर गिरकर, कालक्रमसे, मिट्टीका रूप धारण करते हैं उसी प्रकार अनेक नामरूपात्मक विश्व भी ब्रह्मसे प्रादुर्भूत हुआ है और ब्रह्मसे एकात्म होकर प्रलयके पश्चात् भी बना रहता है। अक्षर परम तत्त्व (अक्षरब्रह्म) सत्, चित् और आनन्द है।

श्रुतियाँ ब्रह्मको सत्, चित्, आनन्द बतलाती हैं। उनमें ऐसा वर्णन मिलता है—

स तपस्तप्त्वा······आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

(तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली)

'उसने तपस्या करके ब्रह्मको आनन्दमय अनुभव किया। आनन्दसे ही ये भूत उत्पन्न होते हैं। आनन्दसे ही उत्पन्न होकर जीते हैं और मृत्युके पश्चात् पुनः आनन्दमें ही प्रवेश कर जाते हैं।'

'रसो वै सः रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति।' (तैत्ति०, ब्रह्मवल्ली)

'वह रसस्वरूप है। रसको पाकर मनुष्य आनन्दित हो जाता है, यदि इस विश्व (हृदयाकाश) में रस नहीं होता तो कौन जीता और कर्म करता? यही (रसस्वरूप ब्रह्म) आनन्द देता है।'

---

* इस वर्णनसे पता लगता है कि प्राचीन कालमें सत्यपर कितना विश्वास था। सत्यके प्रतापसे उस सत्यमय वातावरणमें जलती हुई कुल्हाड़ी भी सत्यवक्ताके हाथ नहीं जला सकती थी, और असत्यका आश्रयी उसीसे जलकर दण्डित होता था।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' (तैत्ति० ब्र०)

'ब्रह्म सत्य और आनन्दस्वरूप है। वह अनन्त भी है।'

श्रुतियाँ ब्रह्मको आनन्दरूप कहती हैं। किन्तु जबतक ब्रह्म अद्वैत और सर्वव्यापक न हो वह वास्तवमें आनन्द-स्वरूप नहीं हो सकता। यदि उसके अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता हो तो वह विभक्त हो जायगा उस पदार्थसे जिसमें वह व्याप्त नहीं है। श्रुतियोंमें इस प्रकारका वर्णन है—

'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्।'

'जो सार्वभौम है वही सुख है। स्वल्पमें सुख नहीं है। सार्वभौममें ही सुख है।'

'यो वै भूमा तदमृतम्। अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।'

'जो सार्वभौम है वही अमृत है। जो अल्प है वह मर्त्य है।'

इस प्रकार श्रुतियाँ निर्देश करती हैं कि ब्रह्मकी आनन्दमयतासे उसकी अद्वितीयता और सर्वव्यापकता सिद्ध होती है।

अब यदि हम गम्भीरतासे विचार करें तो मालूम होगा कि ज्ञानके बिना आनन्दका अस्तित्व हो ही नहीं सकता। यदि अपनेमें स्थित आनन्दका अनुभव किसीको न हो, तो कम-से-कम उस व्यक्तिके लिये आनन्दका अस्तित्व नहीं है। शक्कर अपने माधुर्यका उपभोग स्वयं नहीं कर सकती। मनुष्य इसका उपभोग करते हैं और इसको मीठा बतलाते हैं। इस प्रकार माधुर्य ज्ञानका ही विषय है। यदि कोई अनुभव करनेवाला नहीं होता तो शक्करके माधुर्यका पता नहीं चलता। किन्तु ब्रह्म अद्वितीय है, अतः अपने आनन्दका वह स्वयं भोक्ता है। इसलिये उसको हम चित् कहते हैं। चिच्छक्तिके द्वारा वह अपने अन्तर्भूत आनन्दका उपभोग करता है। अतएव ब्रह्म सच्चिदानन्द कहलाता है।

भगवान् निम्बार्काचार्यने अपने उपदेशोंमें उन मार्गोंका विधान किया है जिनके अनुसरणसे हम उस योग्यताको प्राप्त कर सकते हैं जो परमानन्दकी प्राप्तिके लिये प्रेमपरिपूर्ण हृदयसे ब्रह्मसत्ताके समुद्रमें, सागरमें बहती हुई नदियोंके समान, निमग्न होनेमें समर्थ बनाती है। क्योंकि सृष्टिके विभिन्न पदार्थ स्रष्टाके रूपमात्र हैं, इसलिये द्वेष, असत्य, संघर्ष, हिंसा आदिके त्यागसे पवित्रहृदय और निरहंकार होकर मनुष्य प्रत्येक जीवमें भगवान्‌का साक्षात्कार कर सकता है। इस पवित्रतासे ही सनातन शान्ति मिल सकती है। द्वैताद्वैतसिद्धान्तके चार रूपोंका वर्णन नीचे किया जाता है—

(१) दृश्यस्थानीय जगत् (आँखोंसे दिखायी पड़नेवाला संसार)।

(२) द्रष्टा जीवसमूह (व्यक्तिगत अहंकार जो संसारके पदार्थोंको पृथक्-पृथक् देखते हैं)।

(३) नियन्ता ईश्वर (जो सृष्टिके सब पदार्थोंको एक साथ देखता है)।

(४) सच्चिदानन्द वा अक्षरब्रह्म (जो नाम-रूप-रहित है। वह सनातन, निर्विकार और आनन्दका अनुभव करनेवाला है। श्रुतियाँ उसको अक्षर कहती हैं)।

यह चौथा स्वरूप आनन्दरूपी ब्रह्ममायासे समन्वित है जो स्वभावतः उसमें स्थित है। मायाका दूसरा नाम प्रकृति (आदिम अव्यक्त) है। यद्यपि ब्रह्म अद्वैत, अविभक्त और सदा निर्विकार है तथापि मायाके कारण ब्रह्मका स्वाभाविक आनन्द अनन्त रूपोंमें अनुभूत होता है अर्थात् द्वैतमें व्यक्त होनेके कारण आनन्द ज्ञानका विषय बन जाता है। दूसरे शब्दोंमें ब्रह्मका स्वाभाविक आनन्द ऐसा सामर्थ्य रखता है कि ब्रह्म अविभक्त रहते हुए भी अपनेको विभिन्न रूपोंमें व्यक्त कर सकता है अर्थात् आनन्द अनेक रूपोंमें अनुभव किया, देखा और भोगा जा सकता है। माया (मीयते अनया—वह जो अमेयको मापती है उस) की यह शक्ति ब्रह्मकी अन्तर्जात शक्ति है।

भगवान्‌के अनन्त व्यक्त रूपोंके समूहका नाम विश्व है। यह उसके चित्‌के द्वारा ज्ञानका विषय है। ईश्वर (नियन्ता) इसी व्यक्त करनेवाली शक्तिका संज्ञापक है जो एक ही साथ संसारके सारे पदार्थोंको पूर्णतः देखता है। इसीलिये ईश्वर सर्वद्रष्टा है। जब पदार्थोंको अलग-अलग करके देखता है तब ईश्वरकी संज्ञा जीव होती है। इसलिये आंशिक द्रष्टा होनेके कारण जीवका अनुभव सीमित होता है। ईश्वर और जीव दोनों विभिन्न रूपमें ब्रह्मके अन्तर्निष्ठ चिच्छक्तिके प्रत्यक्षीकरण हैं। ये दोनों सनातन हैं। विश्व भी अनादि और सनातन इस अर्थमें है कि समस्त रूप जो अतीतमें व्यक्त हुए थे, वर्तमानमें हो रहे हैं और भविष्यमें होंगे, वे सब ईश्वरके ज्ञानमें अवस्थित हैं। ईश्वर सर्वद्रष्टा

होनेके कारण कालातीत है और उसके ज्ञानमें कालका कोई बन्धन नहीं है। किन्तु ईश्वरसे प्रकृतिमें भिन्न होनेसे जीवकी दृष्टि सदोष है, वह पदार्थोंको एक-एक करके देखता है जो ईश्वरके ज्ञानमें सदा वर्तमान रहते हैं। इसलिये संसारके पदार्थ, एकके बाद दूसरे, जीवके ज्ञानमें आते और उत्पन्न होते, जीते और मरते हुए मालूम पड़ते हैं। अतः जीवके ज्ञानमें संसार सदा परिवर्तनशील और अस्थिर है। परन्तु सर्वद्रष्टा ईश्वरके ज्ञानमें जो है उसके अतिरिक्त कुछ भी अपूर्णद्रष्टा जीवके ज्ञानमें नहीं आ सकता। इस तरह जीव सब कर्मोंके लिये नियन्ता ईश्वरपर सदा अवलम्बित रहता है।

ईश्वर और जीव अक्षर तथा सर्वातिशायी हैं। दोनों ही द्रष्टा और चिद्रूप हैं। चित् सदा निर्विकार परिवर्तनरहित है। जो रूप जीवको देख पड़ते हैं उनमें परिवर्तन हुआ करता है, इसलिये वे परिवर्तनशील मालूम पड़ते हैं। ईश्वर और जीवके चित्में कभी परिवर्तन नहीं होता, अतएव वे विकार तथा परिवर्तनरहित हैं। किन्तु संसारमें अनन्त रूप होनेके कारण इन रूपोंके द्रष्टा जीव भी अनन्त हैं। चिद्रूप ईश्वर सर्वव्यापक होनेसे भूमा (सार्वभौम, महान्) है, जब कि जीव अणु है जो प्रत्येक रूपमें निवास करता हुआ उसको अनुभवका विषय बनाता है। किन्तु जिस प्रकार दीपककी छोटी शिखा अपने चारों ओरके सुदूर स्थानोंको अपने प्रकाशसे प्रकाशित करती है, उसी प्रकार जीव भी अणु होते हुए सुदूर पदार्थोंको दृष्टिगोचर करता है। ईश्वरकी तरह वह सारे संसारका ज्ञान एक साथ नहीं कर सकता। परम तत्त्वसे अनुभूत आनन्द सर्वातिशायी होता है और उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता। ब्रह्ममें ही विभिन्न रूप व्यक्त होते हैं। इसलिये ब्रह्मके चतुर्थ स्वरूपको अलग करते हुए श्रुतियोंने उसे अक्षर कहा है।

ऊपरके विवेचनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि विश्व ब्रह्मका ही अंश है। जीवके ज्ञानमें वह परिवर्तनशील (क्षरस्वभाव) और अनन्त रूपवाला है। जीव भी ब्रह्मका अंश, अक्षर, अणु तथा अगणित है। जीव और जगत् दोनों ईश्वरपर अवलम्बित हैं। संसार ईश्वरके ज्ञानमें है जो सदा सर्वद्रष्टा, असीम, अक्षर और इसका कर्ता तथा संरक्षक है। वह जीवोंका नियन्ता भी है। वह स्वभावसे द्रष्टामात्र होनेके कारण आकाररहित और रूपात्मक जगत्से परे है। वह स्वयम्भू है। सनातन और अक्षर होनेके कारण ब्रह्म सर्वातिशायी, सर्वानन्द, सर्वज्ञानमय, अपने पूर्णरूपमें आकाररहित और उसमें किसी रूपकी कल्पना नहीं, इसलिये वह परब्रह्म कहलाता है। इस जीव और जगत् उसीमें स्थित, उसके व्यक्त रूप हैं। विष्णुपुराणके षष्ठ भागके सप्तम अध्यायमें ब्रह्मके चारों रूपोंका थोड़ा-सा भिन्न वर्णन इस प्रकार है—

आश्रयश्चेतसो ब्रह्म द्विधा तच्च स्वभावतः।
भूप मूर्तममूर्तं च परं चापरमेव च॥४७॥
अमूर्तं ब्रह्मणो रूपं यत्सदित्युच्यते बुधैः॥६९॥
समस्ताः शक्तयश्चैता नृप यत्र प्रतिष्ठिताः।
तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्महत्॥७०॥
समस्तशक्तिरूपाणि तत्करोति जनेश्वर॥७१॥
एतव् सर्वमिदं विश्वं जगदेतच्चराचरम्।
परब्रह्मस्वरूपस्य विष्णोः शक्तिसमन्वितम्॥६०॥

× × × ×

एतान्यशेषरूपाणि तस्य रूपाणि पार्थिव।
यतस्तच्छक्तियोगेन युक्तानि नभसा यथा॥६८॥
द्वितीयं विष्णुसंज्ञस्य योगिध्येयं महामते॥६९॥

'राजन्! (भक्तोंके) मन (ध्यान) का आश्रय ब्रह्म है। वह स्वभावसे दो प्रकारका—मूर्त और अमूर्त अथवा पर और अपर है।'

'जो विद्वानोंद्वारा सत् कहा जाता है वह ब्रह्मका तात्त्विकरूप अमूर्त है। जिसमें समस्त व्यक्त शक्तियाँ प्रतिष्ठित हैं वह ब्रह्मका दूसरा परम विचित्र विश्वरूप है। संसारकी समस्त शक्तियाँ इसीसे उत्पन्न होती हैं।'

'सारा विश्व, समस्त चराचर सृष्टि परब्रह्म विष्णुकी शक्तिसे समन्वित है।'*

---

* पारिभाषिक शब्दोंमें दृश्य जगत् जड अथवा अचित् कहा जाता है। किन्तु वास्तवमें इसका कोई भी भाग अचेतन नहीं है। चित् इसके प्रत्येक अंशमें वर्तमान है और पुरुष कहलाता है (पुरि शेते इति पुरुषः—शरीरमें निवास करता हुआ आत्मा)। इस प्रकार सारा विश्व व्यक्तिगत अहंकारसे आवासित है। जो अंश देख पड़ता है वह शरीर कहलाता है और जो उसके भीतर छिपा हुआ है वह पुरुष कहा जाता है। वास्तवमें शरीर और पुरुष सदा साथ रहते हैं। वह चित् अर्थात् पुरुष जो विश्व-शरीरमें रहता है, हिरण्यगर्भ कहलाता है। वह ईश्वरका व्यक्तरूप है। साधारण व्यक्ति उसके शरीरके विभिन्न भागोंमें निवास करते हैं। जिस प्रकार एक आत्मा सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त रहता है, यद्यपि शरीरके विभिन्न भागोंमें अनगिनत आत्मा बसते हैं,

'हे राजन् ये सब जीव सर्वव्यापक विष्णुके व्यक्त रूप हैं। जिस प्रकार सारा विश्व तेजोवह आकाशसे व्याप्त है उसी प्रकार ये जीव विष्णुकी शक्तिसे ओतप्रोत हैं। यह ध्यान करनेयोग्य विष्णुका दूसरा रूप है।'

ऊपरके कथनसे यह स्पष्ट है कि ब्रह्मके चार रूप हैं—

(१) पर अमूर्त अर्थात् परम अक्षरतत्त्व।
(२) अपर अमूर्त अर्थात् ईश्वर, सर्वद्रष्टा और सब शक्तियोंका उद्गम।
(३) पर मूर्त (जो हिरण्यगर्भ भी कहलाता है)— वह स्वरूप जो समष्टिरूपसे सारे संसारको धारण करता है और सब व्यक्त रूपोंका मूल स्रोत है।
(४) अपर मूर्त—अनन्त भिन्न-भिन्न रूप जो जीव कहलाते हैं।

इस प्रकार ब्रह्म अद्वैत और द्वैत (द्वैताद्वैत) दोनों है। जीव और ब्रह्मके बीच वही सम्बन्ध है जो अंश और अंशीके बीच (अंशांशिभाव) होता है। जड जगत्, व्यक्तिगत आत्मा और ईश्वर एक दूसरेसे भिन्न और अनुरूप दोनों हैं। अनुरूप इस अर्थमें कि प्रथम दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और वे अपने अस्तित्व और क्रियाके लिये ईश्वरपर अवलम्बित रहते हैं, आत्मा और ईश्वर 'तुम' और 'मैं' जैसे भिन्न पुरुष नहीं हैं। निम्नलिखित दृष्टान्तोंसे अंश और अंशीका सम्बन्ध अच्छी तरह समझा जा सकता है।

यदि हम किसी निकटस्थ स्तम्भको देखते हैं तो सर्वांशमें उसके अस्तित्वका अनुभव करते हैं। परन्तु यदि गम्भीरतासे विचार करें तो मालूम पड़ेगा कि स्तम्भके विभिन्न अंगोंका ज्ञान सम्पूर्ण स्तम्भके ज्ञानके साथ उत्पन्न होता है। स्तम्भके रंग, आकार, विस्तार, काठिन्य आदि तथा एक भागसे दूसरे भागको भिन्नताका ज्ञान पूरे स्तम्भके ज्ञानमें निहित है। इस तरह भागविशेषका देखना पूरेके देखनेमें सम्मिलित है। व्यक्ति भी अपनी अवस्थामें अपना अनुभव एक पूर्ण इकाईके रूपमें करता है। उसके हाथ-पाँव और दूसरे अंग अलग-अलग हैं, फिर भी वह वास्तवमें चेतन आत्माका ही अनुभव करता है। चलने, देखने और करने आदि हरेक काममें पूरे आत्माका अनुभव करता है। जब कोई जाता है तो हम यह नहीं कहते कि उसके शरीरका एक भाग जा रहा है। जब वह किसी पदार्थको देखता है तब उसे अपने पूरे व्यक्तित्वसे देखता है। ये क्रियाएँ व्यक्तिमें स्थित विभिन्न शक्तियोंके स्फुरण हैं। जब कोई अपनी आँखें बंद कर लेता है, वह कुछ नहीं देखता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके देखनेकी शक्ति ही नष्ट हो गयी है। इसका मतलब यही है कि शक्तिका उपयोग नहीं हो रहा है। यद्यपि मनुष्य अविभक्त पूर्ण इकाई है तथापि उसकी बहुत-सी शक्तियोंमें उसकी एकात्मता है, जिन्होंने अपनी भिन्नता खो दी है और विभिन्न क्रियाओंके समय परिस्फुटित होती हैं जब देखना, करना आदि उनकी अलग-अलग संज्ञा होती है। किन्तु क्या ये शक्तियाँ व्यक्तिमें अङ्गभूत नहीं हैं? वास्तवमें वे हैं। यद्यपि व्यक्ति अविभक्त पूर्णता है तथापि उसकी क्रियाविशेषकी ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि वह चलने, देखने, करने आदिकी शक्तिसे समन्वित है। ये शक्तियाँ एक दूसरेसे भिन्न हैं, किन्तु इनके अन्तस्तलमें अविभक्त व्यक्तिका आधार है। यही अवस्था ब्रह्मकी भी है। वह अखण्ड और अपने स्वरूपमें पूर्ण है, फिर भी उसमें अनन्त शक्तियाँ हैं। ये शक्तियाँ उसके अंश हैं। यद्यपि प्रत्येक शक्ति दूसरीसे भिन्न है तथापि ब्रह्मसे सबका तादात्म्य है। प्रत्येक शक्तिके दो स्वरूप हैं—ब्रह्ममें उसका ऐकात्म्य और नामरूपमें अभिव्यक्ति। परमतत्त्व-ब्रह्म विभिन्न शक्तियोंसे समन्वित होकर अपनेको अनन्त नामरूपोंमें व्यक्त कर रहा है। जिस शक्तिको इन नामरूपोंका एक साथ ज्ञान होता है उसको ईश्वर और जो शक्ति उनको एक-एक करके जानती है उसको जीव कहते हैं।

द्वैताद्वैत सिद्धान्तका समर्थन बहुत-से वेदान्तसूत्रोंमें किया गया है जिनमेंसे कुछ नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके। (२।३।४३)

'जीव ब्रह्मका अंश और तन्मय भी है। अंश होनेके कारण श्रुतियोंमें इसका इस प्रकार वर्णन पाया जाता है—

'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानौ', 'अंशो ह्येष परस्य', 'एष परस्य शक्तिर्जीवोऽ[illegible]', 'य आत्मानमन्तरो यमयति अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्।'

उसी प्रकार हिरण्यगर्भ विराट्स्वरूपके पृथक्-पृथक् भागोंमें अनन्त जीव रहते हैं। जैसा कि भगवद्गीतामें कहा गया है, जगत् और जीव ब्रह्मकी शक्ति प्रकृतिके व्यक्त रूप हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

दोनोंकी एकता श्रुतियोंमें कही गयी है—‘तत्त्वमसि’, ‘अयमात्मा ब्रह्म’, ‘अहं ब्रह्मास्मि।’ आथर्वणोंके एक सम्प्रदायने इस ऐक्यको इस तरह प्रकट किया है—‘दास ब्रह्म है, कितव (ठग, दुष्ट) ब्रह्म है ।’

‘मन्त्रवर्णात् ।’ (२।३।४४)

जीव ब्रह्मका अंश है, इस श्रुतिमन्त्रसे सिद्ध होता है ‘पादोऽस्य विश्वा भूतानि’ सहस्रशीर्ष पुरुषके एक पादमें यह समस्त जीवसमूह है ।

‘अपि च स्मर्यते ।’ (२।३।४५)

जीव ब्रह्मका अंश है, इस स्मृतिवचनमें स्मरण किया गया है ।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

(श्रीमद्भगवद्गीता १५।७)

मेरा सनातन अंश संसारमें जीव नामसे व्यक्त है ।

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् । (३।२।२७)

यह विश्व अपने सूक्ष्म अथवा स्थूल रूपमें, एक और भिन्नके सम्बन्धसे, अपने उपादानकारण ब्रह्ममें वर्तमान रहता है । इस सम्बन्धका वर्णन श्रुतियोंमें यों मिलता है—

‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’, ‘यः पृथिव्यां तिष्ठन्’, ‘पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा’, ‘ब्रह्मैवेदं सर्वम्’, ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।’

जबतक सर्प कुण्डली बनाकर बैठा रहता है, उसके शरीरके सब अंग देखे नहीं जा सकते, किन्तु जब वह अपनेको फैला देता है तो उसके फण, पूँछ आदि दृष्टिगोचर हो जाते हैं । इसी प्रकार प्रलयके समय सारा विश्व ब्रह्ममें लीन रहता है और सृष्टिके समय उसमेंसे फिर आविर्भूत होता है ।

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः । (२।१।१४)

कार्य और उसका उपादानकारण एक ही हैं । दोनोंमें कोई भेद नहीं । श्रुति कहती है—

‘वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।’ ‘ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् ।’, ‘तत्सत्यं तत्त्वमसि’, ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।’

जन्माद्यस्य यतः । (१।१।२)

‘ब्रह्मका ज्ञान होता है, क्योंकि वह इस संसारकी सृष्टि, धारण और प्रलयका कारण है ।’

शास्त्रयोनित्वात् । (१।१।३)

‘ब्रह्मको हम शास्त्रोंके उद्गमके रूपमें जानते हैं ।’

तत्तु समन्वयात् । (१।१।४)

‘श्रुतियाँ इस विषयमें एकमत हैं कि ब्रह्म विश्वमें व्या
और अतिशायी दोनों है ।’

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् । (१।४।२

ब्रह्म विश्वका उपादान और निमित्तकारण दोनों है यह श्रुतिकी इस प्रतिज्ञासे सिद्ध होता है—

तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतं भव विज्ञातं विज्ञातं भवति ।

और दृष्टान्तसे भी यथा—

सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् ।

योनिश्च हि गीयते । (१।४।२

श्रुतियाँ ब्रह्मको प्रत्येक पदार्थका कारण बतलाती है इसलिये हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ब्रह्म विश्व उपादानकारण भी है ।

ब्रह्मके चारों स्वरूपोंका वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद् निम्नलिखित और दूसरे मन्त्रोंमें इस प्रकार किया गया है—

उद्गीतमेतत् परमं तु ब्रह्म
तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा
लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥

‘वेदान्त परब्रह्मका निरूपण करता है । तीन—जग जीव और ईश्वर—ब्रह्ममें सुप्रतिष्ठित हैं; और साथ-ही-स वह अक्षर भी है । ब्रह्मको जाननेवाले इस अन्तरको जा हुए उसमें लीन हो जाते हैं और जन्म-मरणके बन्ध छूट जाते हैं ।’

इस मन्त्रमें ब्रह्मके अतिशायित्वका स्पष्ट वर्णन है इसके अतिरिक्त ब्रह्मके तीन और स्वरूपोंका विवेचन नीचे मन्त्रमें और भी स्पष्ट है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशा-
वजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्म ह्येतत् ॥

‘ईश्वर (नियन्ता) ज्ञ (सर्वद्रष्टा) है और अनीश्वर (ईश्वरसे नियमित) तथा अज्ञ (स्वल्पद्रष्टा) दोनों ही अज तथा सनातन हैं । प्रकृति भी जो जी भोग्य पदार्थ प्रदान करती है, अज है । जब आ (व्यक्तिगत अहंकार) इन तीन स्वरूपोंसे समन्वित ब्र

जानता है तब वह निस्सीम, सर्वरूप और अकर्ता हो जाता है।' ब्रह्म चार रूपोंसे युक्त कहा गया है। और इस मन्त्र—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

—में ब्रह्म सनातन, अवर्णनीय, सदा सर्वथा पूर्ण कहा गया है, यद्यपि वह चार स्वरूपोंसे युक्त है । यही द्वैताद्वैत सिद्धान्त है जिसका उपदेश भगवान् निम्बार्काचार्यने किया है। इस सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है। सबका आधार होनेके कारण वह निर्गुण और सब शक्तियोंसे युक्त होकर सगुण है ।

जिस प्रकार जब सूर्य आकाशमें निकलता है तब उसका सारा प्रकाश चारों ओर फैल जाता है और उसके साथ-ही-साथ उसमें छिपी हुई अगणित किरणें भी सब दिशाओंमें छिटक जाती हैं, उसी प्रकार ईश्वरके अन्तर्भूत जीव भी व्यक्तरूपमें आते हैं। जिस तरह स्तम्भके विभिन्न अङ्गोंका ज्ञान सम्पूर्ण स्तम्भके ज्ञानमें सन्निविष्ट है उसी प्रकार अगणित जीव भी ब्रह्ममें सन्निहित हैं । ऐसे पदार्थोंके उदाहरण कम नहीं हैं जिनके एक साथ दो रूप देख पड़ते हैं। लड़कपनसे लेकर बुढ़ापेतक मनुष्यमें बहुत-से परिवर्तन होते हैं, किन्तु इन परिवर्तनोंके होते हुए भी पुरुष एक ही रहता है। मनुष्य सोता और साथ ही स्वप्न भी देखता है। ईश्वरको खोजनेवाला साधक आत्मानुभूतिमें निमग्न रहता है। और फिर भी दूसरोंके साथ वार्तालाप करता रहता है। सत्यके जाननेवालेका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार है—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन् ॥
(५ । ८)

ऐसा भी देखा गया है कि कोई व्यक्ति स्वप्नमें अपनेको अनेक रूपोंमें देखता है, यद्यपि वह उन रूपोंसे रहित होता है। जीव वास्तवमें अरूप होते हुए भी अपनेको किसी-न-किसी रूपमें अनुभव करता है। ब्रह्म यद्यपि रूपरहित है, तथापि अपनेको चिच्छक्तिके द्वारा अनन्त रूपोंमें देखता है।

किन्तु यहाँ यह प्रश्न हो सकता है—यदि सब कुछ जो भूतकालमें हुआ है, वर्तमानमें व्यक्त हो रहा है और भविष्यमें होगा, सदा ब्रह्ममें ही स्थित रहता है तो किस प्रकार यह कर्मशृंखला आनुपूर्व्यसे व्यक्त होती हुई दिखायी देती है? प्रतिदिन हम नयी क्रियाओं और पदार्थोंको उत्पन्न होते हुए देखते हैं। यदि ये सदा ब्रह्महीमें स्थित होते तो इस प्रकारके स्फुरणकी सम्भावना कैसे हो सकती है ?

उत्तरमें निवेदन किया जा सकता है कि फिल्ममें लगे हुए चित्रोंकी तरह विश्वकी समस्त घटनाएँ ब्रह्ममें घटित हो रही हैं। यद्यपि चित्र एक दूसरेसे भिन्न होते हैं तथापि जब वे पर्देपर पड़ते हैं तो आनुपूर्व्यसे कार्य-कारणरूपमें देख पड़ते हैं। कालबद्ध जीव (व्यक्तिगत अहंकार) के ज्ञानमें संसारकी घटनाएँ एक दूसरेके पीछे, ब्रह्मकी मायासे सञ्चालित स्फुरणोंके रूपमें दिखायी देती हैं। यदि दो पदार्थ एक विशेष क्रमसे व्यक्त हों तो उनके बीचकी शृंखलाको कार्य-कारणके सम्बन्धसे पुकारते हैं। पानीके पृथक्-पृथक् कण जो शीघ्रतासे किसी नदीमें प्रवाहित होते हैं, एक दूसरेसे जुटे रहनेके कारण नदीके आकारमें दिखायी पड़ते हैं। यद्यपि प्रतिक्षण उनमें परिवर्तन होता रहता है तथापि एक प्रवाहमें देखे जाकर एक पदार्थके रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं।

श्रुति और ब्रह्मवेत्ताओंके वचन ही ब्रह्मका वास्तविक साक्षात्कार करानेमें निर्विवाद प्रमाण हैं। जो पदार्थ देखे जा सकते हैं, उनके वास्तविक स्वरूपको हम तर्क और संकेतके द्वारा जान सकते हैं; किन्तु रहस्यवादके सम्बन्धमें विश्वास दृढ़ करनेमें तर्क पर्याप्त नहीं हैं।

अब इस सिद्धान्तके अनुसार आत्मानुभूतिके लिये जिन मार्गोंका अनुसरण किया जाता है, उनका वर्णन किया जायगा। साधनाका मुख्य अंग ब्रह्मके सर्वव्यापक स्वरूपका ध्यान करना है। साधकको धर्मात्मा, पापी, यहाँतक कि पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़ोंतकमें ब्रह्मका अनुभव करना और किसी भी प्रकार उनसे अपनेको उच्च समझकर अहंकार नहीं करना चाहिये। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीतासे प्रकट है, इस प्रकारके अभ्यास श्लाघनीय हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
(५ । १८)

'ज्ञानी पुरुष विद्या और विनयसे सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, यहाँतक कि कुत्ते और चाण्डालमें भी समदृष्टि रखते हैं।'

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
(६ । ३२)

'हे अर्जुन ! जो अपने ही समान सर्वत्र सब भूतोंमें समदृष्टि रखता है और सबमें सुख-दुःखका बराबर अनुभव करता है वह परम योगी है।'

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥
(१३ । ३०)

'जब वह पृथक्-पृथक् भूतोंको एक ही परम सत्तामें स्थित और उसीसे विस्तृत समझता है, तब वह ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

इसी साधनसे इसकी शाखाके रूपमें दूसरे साधन स्वयं उत्पन्न होते हैं । अपिशुनता, सत्यवादिता, अनसूया, निःस्पृहता आदि साम्यसे अपने-आप हो जाते हैं। भोगेच्छा द्वैतभावनापर अवलम्बित है। किसीका शरीर चाहे कितना ही सुन्दर हो, उसके उपभोगकी इच्छा मनमें कभी उदय नहीं होती। इसी प्रकार यदि कोई अपने आत्मा और भोग्यके आत्माको ब्रह्ममय देखता है तो आत्मानुभूतिसे भोग्य पदार्थोंके लिये तृष्णाका क्षय हो जाता है। इन साधनोंको भक्तिका साधन कहते हैं। इनका अभ्यास करता हुआ भक्त अहंकाररहित हो प्रत्येक वस्तुमें ब्रह्मकी ज्योति देखता और सबमें समदृष्टि रखता है। ये शुद्ध सत्त्व (पवित्रात्मा) के लक्षण हैं। उसके हृदयमें पराभक्ति अपने-आप उत्पन्न होती है। जिस प्रकार समुद्रमें गिरनेवाली नदी अपना नाम-रूप खोकर उसमें लीन हो जाती है उसी प्रकार भक्त भी ब्रह्ममें अपना लयकर उससे एक हो जाता है और अपने निर्बन्धमुक्त स्वरूपमें स्थित रहता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
(१८ । ५४-५५)

'ब्रह्मसे एकात्म होकर मनुष्य अपने आत्मामें सन्तुष्ट रहता है। किसी वस्तुके लिये शोक नहीं करता और न किसी पदार्थकी कामना ही। सब भूतोंमें समताका व्यवहार करता हुआ मेरी पराभक्तिको प्राप्त होता है। भक्तिसे वह जानता है कि मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है और मैं कौन हूँ। तदनन्तर मेरा पूर्ण ज्ञान प्राप्तकर वह मुझमें प्रवेश कर जाता है।'

भगवान् निम्बार्कके अनुयायी ब्रह्मके सर्वव्यापक स्वरूपका अनुभव करनेके लिये राधा-कृष्णकी युगल मूर्त्तिकी उपासना विशिष्ट प्रकारसे करते हैं। प्रकृतिके तीन गुण हैं, (प्रकाश), रजस् (क्रिया) और तमस् (मोह)। हर और विरञ्चिके रूपमें अपनेको व्यक्त करनेके लिये इन गुणोंका सहारा लेता है। हरि (श्रीकृष्ण) का शुद्ध और दिव्य सत्त्वसे बना हुआ है। इस रूपमें उपासना करनेसे भक्त परम कल्याण पाता है। कहा है—

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादयो हरिविरञ्चिहरेति संज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः॥

वास्तवमें जब हम किसी मनुष्यको बड़ा समझते हैं तो प्रति भक्ति अपने-आप ही उत्पन्न हो जाती है। इस प्रत्येक पदार्थको बड़ा समझते और उसके प्रति विकसित करते हुए सारी व्यक्त सृष्टिको ब्रह्ममय बड़ी आसानी होती है। विशिष्ट शक्तिसम्पन्न पुरुषकी करनेसे उपासककी भक्ति स्वतः विकसित होती है और उपास्य उसके उपकारी और सहायक होते हैं। श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(१२ । ६-

निम्बार्कदर्शनके विशेष ज्ञानके लिये अनुवाद दशश्लोकी (जो भगवान् निम्बार्कके सिद्धान्तोंका सार है के कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं
श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं
त्रिरूपतापि श्रुतिसूत्रसाधिता॥

'यह ज्ञान कि सब पदार्थ (ब्रह्मसे व्यक्त होनेके ब्रह्ममय हैं, श्रुति और स्मृतिके अनुसार सत्य हैं। भी यही मत है। ब्रह्मके तीन स्वरूप प्रकृति, पुरुष ईश्वर भी सूत्रों और श्रुतियोंसे सिद्ध होते हैं।'

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहा-
दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यशासनात् ॥

'ब्रह्मा, शिव आदिसे वन्दित भगवान् श्रीकृष्णके कमलवत् चरणोंके अतिरिक्त मोक्षके लिये कोई दूसरा साधन नहीं है। भक्तोंकी इच्छासे वह ध्यानके लिये सुगम रूप धारण करते हैं यद्यपि उनकी शक्ति अचिन्त्य और उनका शासन कल्पनातीत है।'

कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते
यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा ।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः
सा चोत्तमा साधनरूपिकापरा ॥

'भगवान्की कृपा उन्हींपर होती है जिनमें दैन्यादि भाव होते हैं। उसकी दयासे पराभक्ति उत्पन्न होती है जिसका अर्थ है परमात्मा और सम्पूर्ण भूतोंके अधिपतिके लिये अनन्य प्रेम। दूसरे प्रकारकी अपराभक्ति वह है जो साधनरूप होकर परातक पहुँचा देती है।'

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोष-
मशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं
ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ॥

'मैं कृष्णके रूपमें परब्रह्मका ध्यान करता हूँ, जिनके नेत्र कमलके समान हैं, जो स्वभावतः सब दोषोंसे रहित, जो समस्त शुभ गुणोंकी राशि, जिनका शरीर सब व्यूहोंसे व्याप्त और जो सबसे स्तुत्य हैं।'

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥

'मैं वृषभानुकी पुत्री श्रीराधिकाजीका स्मरण करता हूँ जो भगवान् श्रीकृष्णके वामभागमें उन्हींकी अनुरूप शोभासे विराजती हैं। वे सहस्रों सखियोंसे सेवित और सब कामनाओंको पूरा करनेवाली हैं।'

वेदान्तका भेदाभेद-सम्प्रदाय

(लेखक—श्री श्रीधर मजुमदार, एम० ए०)

भेदाभेद या द्वैताद्वैतसम्प्रदाय (अद्वैतके साथ द्वैत भी) वेदान्तके निम्बार्कसम्प्रदायके नामसे प्रसिद्ध है।

इस सम्प्रदायका यह सिद्धान्त है कि बन्धक्षम तथा मुक्तिक्षम जो जीव है वह अपनी जीवदशामें पूर्ण परमात्माका एक अंश है, पर ऐसा अंश है जो अविभेद्य पूर्ण परमात्मासे पृथक् नहीं किया जा सकता जैसे द्रव्यके मुद्रादिरूप अंश अलग किये जा सकते हैं। अर्थात् जीव परिसीमित शक्ति है पर पृथक् नहीं, और परमात्माकी असीम शक्ति है। परमात्मा या परब्रह्मका अपृथक् अंशस्वरूप जीव परब्रह्मसे भिन्न भी है और अभिन्न भी; अंश अपनी शक्ति और गुणोंसे पूर्णके साथ एकात्मभूत ही होना चाहिये, पर साथ ही अंश होनेके कारण पूर्णसे भिन्न है। इस प्रकार बद्ध जीव और परब्रह्मका परस्पर सम्बन्ध भेदाभेदगत है।

चैतन्य अपनी पूर्ण और निरपेक्ष अवस्थामें ब्रह्म है और अपनी विशिष्ट व्यष्टिगत अनुभूतिमें जीव है; अर्थात् अहंबोधके साथ संपृक्त होनेकी अवस्थामें यह जीव है और कैवल्यकी अवस्थामें ब्रह्म है।

बद्ध जीव अणु है, विभु नहीं, जैसा कि उसके शरीरकी गतिसे और उसके इस जगत्के गमनागमनसे ज्ञात होता है; पर इसके साथ ही यह भी बात है कि इसका आकार और धर्म शरीरका आकार और धर्म नहीं है। यह भी अमर है। जन्म और मृत्यु शरीरके होते हैं, आत्माके नहीं।

इस अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके सर्जन, पालन और संहरणका कारण ब्रह्म है, इसलिये वह सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ तथा सब गुणोंका आश्रय होनेसे निर्गुण ही होना चाहिये। ब्रह्म इस ब्रह्माण्डका उपादानकारण है, और निमित्तकारण भी। ब्रह्मके नाम-रूपात्मक अर्थात् इन्द्रियग्राह्यस्वरूपके दो भेद हैं—(१) दृश्य (भूमि, आप और अग्नि), और (२) अदृश्य (वायु और आकाश); पर इसका एक तीसरा स्वरूप भी है जो आकाशसे भी सूक्ष्म है, यह उसका निर्विषय अर्थात् इन्द्रियातीत स्वरूप है।

ब्रह्मसत्ताकी चार अवस्थाएँ हैं। इसकी मूल अवस्था अव्यक्त अविकार्य देशकालाद्यनवच्छिन्न परब्रह्मकी अवस्था है जिसमें अचिन्त्यानन्तस्वगतसौख्यसुधासिन्धुका भोग है;

यह अवस्था सर्वथा निरपेक्ष है, इसमें स्वगत सुधासिन्धुमें ही निमज्जन है। दूसरी अवस्था जगदीश्वरकी है जिसमें ईश्वरत्वके साथ सम्पूर्ण विश्वका भान है। तीसरी अवस्था इसकी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दकी यथाक्रम व्यष्टिगत अनुभूतिकी है; यहाँ इसको जीव कहते हैं, यही बद्ध जीव है। जीव अनुभूति-भेदसे दो प्रकारके होते हैं—(१) वे जीव जो इन व्यष्टिगत रूपादिको ब्रह्मसे अपृथक् अनुभव करते हैं और अविद्यासे मुक्त कहाते हैं; और (२) वे जीव जो इन व्यष्टिगत रूपादिको जानते हैं पर इनके आश्रयस्वरूप अन्तःस्थित विभु आत्माको नहीं जानते और जो इस कारण बद्ध कहाते हैं। इसकी चौथी अवस्था वह है जिसमें ब्रह्म रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द-विषयक विश्वके रूपमें व्यक्त होता है; इस विश्वकी ब्रह्मातिरिक्त कोई सत्ता नहीं है; ब्रह्मातिरिक्त रूपमें यह वैसा ही जड है जैसा कोई प्राणरहित शरीर।

ब्रह्म यद्यपि दृश्य भी है और अदृश्य भी, अणु भी है और विभु भी, सगुण भी है और निर्गुण भी, तथापि इसकी अविभेद्य अनवच्छिन्न सनातन स्वरूपकी पूर्णता चिन्मय आनन्द सुधासिन्धुरूप सत्ता सर्वत्र और सर्वकाल एकरस है। महामहिम श्रीनिम्बार्काचार्यका यह सिद्धान्त है जो द्वैताद्वैतवादको स्थापित करता है।

पूज्यपाद श्रीमच्छङ्कराचार्य, भक्तिप्राधान्यस्वरूप श्रीरामानुजाचार्य, सदाचारस्वरूप श्रीमध्वाचार्य तथा अन्य आचार्योंके समान शान्तिस्वरूप स्थैर्यमूर्ति श्रीनिम्बार्काचार्यने भी श्रीबादरायणाचार्यके ब्रह्मसूत्रोंपर, 'वेदान्तपारिजात-सौरभ' के नामसे भाष्य किया है। यह भाष्य अति संक्षिप्त है और इसमें अन्य वादियोंपर कोई आक्रमण भी नहीं है; पर इसकी सबसे बड़ी खूबी जो मोह लेती है वह इनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावदर्शक विवेचनशैली और असंदिग्ध शब्द-योजना है; और इसकी सबसे बड़ी तारीफ यह है कि इसमें इनके सर्वग्राही सिद्धान्तके द्वारा भिन्न-भिन्न भाष्यकारोंके विभिन्न मतोंकी, यथाभाग विलक्षण सामञ्जस्यजनक व्यवस्था है। परमात्मतत्त्वसम्बन्धी इनका वह सर्वग्राही सिद्धान्त संक्षेपमें सब भाष्यकारोंके सब मतोंका सारसंग्रह है और इसलिये यह सब भाष्योंका क्रमसे प्राप्त विकास है। यह बात अवश्य ही सर्ववादिसम्मत है कि श्रीमन्निम्बार्काचार्यका सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है जितना कि उन औडुलोमि ऋषिका है जिनका नामोल्लेख स्वयं श्रीबादरायणाचार्यने भी अपने ब्रह्मसूत्रोंमें किया है (१ । ४ । २१, ३ । ४ । ४५, ४ । ४ । ६)।

सान्त व्यष्टिगत जीवके लिये एकाएक अनन्त निः परब्रह्म परमात्माको बुद्धिद्वारा ग्रहण करना और उपयुक्त शब्दोंद्वारा उस भावको सम्यक्रूपसे प्रकट करना बड़ा ही कठिन काम है। ब्रह्मसूत्रोंके भिन्न-भिन्न भाष्यकारोंने ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपके विषयमें बाह्यतः भिन्न-भिन्न विवरण दिये हैं; पर मजेकी बात यह है कि इन सबके सिद्धान्तोंका आधार है श्रुति, जिसके प्रामाण्यमें प्रमादकी कोई सम्भावना नहीं, क्योंकि श्रुति अन्तर्ज्ञानसे प्राप्त है अथवा प्राचीन महर्षियोंकी इन्द्रियातीत अनुभूति है। इसलिये इन सिद्धान्तोंपर सन्देह करना श्रुतिपर ही सन्देह करना है और श्रुतिपर सन्देह करना बुधजनोंकी दृष्टिमें पाप है; क्योंकि श्रुति तो भिन्न-भिन्न ऋषियोंद्वारा ब्रह्मानुभवानुसन्धानमें प्राप्त पृथक्-पृथक् अन्तर्ज्ञानानुभूतियोंसे सर्वथा सिद्ध प्रमाण है। इसलिये इन विभिन्न स्वरोंके बीचमें हमलोग ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपके सम्बन्धमें श्रुतिके उस चिरस्मरणीय अनुष्टुप् छन्दका वह गम्भीर स्वर सुनें जो यह बतलाता है कि ब्रह्म 'अचिन्तनीय, अनिर्वचनीय, अनन्तरूप है; सर्वसत्, सर्वशान्ति और अमर है; विश्वका कारण है, अनाद्यमध्यानन्त है, निर्द्वन्द्व, विभु, चिन्मय और आनन्दमय है; अदृश्य और अपरीक्ष्य है'। (कैवल्योपनिषत् १ । ६) प्रत्येक भाष्यकारने ब्रह्मका वही दर्शन कराया है जो उसे प्राप्त हुआ और जो उसकी रुचिके सर्वाधिक अनुकूल था। पर यह कहना कि किसी एक भाष्यकारका दिया हुआ विवरण ही अनन्त ब्रह्मके पूर्ण स्वरूपका यथार्थ वर्णन है और बाकी सब भाष्यकारोंके दिये हुए विवरण गलत हैं, यह तो सब भाष्यकारोंके साथ न्याययुक्त व्यवहार करना नहीं है। और ऐसा करना श्रुतिके प्रामाण्यपर भी सन्देह प्रकट करना होगा। इन्द्रियातीत आलोकमें अनुसन्धान करनेसे जो श्रुति प्राप्त है उसका अध्यात्मशास्त्रमें वैसा ही प्रामाण्य है जैसा कि आधिभौतिक शास्त्रोंमें इन्द्रियोंसे प्राप्त प्रत्यक्ष प्रमाणका। इन दोनोंके प्रामाण्यमें इतना अन्तर तो अवश्य ही है कि श्रुति दर्शन है, उसमें प्रमादकी कोई सम्भावना नहीं; और इन्द्रियोंसे प्राप्त ज्ञानमें प्रमादकी सम्भावना है। अतः अनन्त परब्रह्मके वास्तविक स्वरूपको बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेके लिये यह आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न भाष्यकारोंके विचारोंकी यथाभाग कोई व्यवस्था हो, यद्यपि इस अवस्थामें भी और सभी अवस्थाओंमें ब्रह्मकी अचिन्त्यानन्त सत्ता अचिन्त्य, अनि-

र्वचनीय और अपरीक्ष्य बनी रह सकती है। किसी राजप्रासादको हम देखें तो जिस दिशासे देखेंगे उसी ओरका दृश्य हमारे सम्मुख होगा और इस तरह भिन्न-भिन्न दिशाओंसे दिखायी देनेवाले भिन्न-भिन्न दृश्य होंगे; परन्तु विहङ्गम-दृष्टिसे यदि कोई ऊपरसे सम्पूर्ण प्रासादको एक साथ देखे तो वह यह देखेगा कि ये सभी दृश्य उसी राजप्रासादके ही हैं और वह यह भी देखेगा कि राजप्रासादका वास्तविक दृश्य तो वही है जिसमें इन सब दृश्योंका समावेश हो; यद्यपि इसपर भी बहुत-से ऐसे दृश्य बिना देखे बने रह सकते हैं जो नीचेसे या प्रासादके अंदर भिन्न-भिन्न स्थानोंसे देख पड़ें। ये सभी पूज्यभाष्यकार वेदान्तको प्रमाण मानकर चलते हैं, हमें उन सबके चरणोंमें मस्तक नवाना चाहिये और यह मानना चाहिये कि अनन्त ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपके विषयमें इनके जो भिन्न-भिन्न विवरण हैं ये सभी सच हैं, क्योंकि सबका मान समान है और ब्रह्म, श्रुतिके अनुसार अनुभूतिकी वस्तु है, कल्पनाग्राह्य नहीं। हमारा ज्ञान अल्प होनेसे ये विवरण हमें परस्पर विरोधी-से लगते हैं, पर दिक्कालायनवच्छिन्न परब्रह्म परमात्माके स्वरूपपर वे समानरूपसे ही घटते हैं। परब्रह्मविषयक इन विभिन्न सम्प्रदायोंमें सामञ्जस्य देखना योगवासिष्ठरामायणमें भी उपदिष्ट है। (निर्वाणप्रकरण-उत्तर भाग—सर्ग १७)

इस प्रकार प्रकरणमें यह आया है कि श्रीनिम्बार्काचार्यका सम्प्रदाय माननेवाले लोग जो ब्रह्मका द्विविध सनातन स्वरूप मानते हैं, उन्हें ब्रह्मसूत्रोंके अन्य भाष्यकारोंके मतोंको सच माननेमें कोई कठिनाई नहीं होती, क्योंकि सबके छोर अनन्तके सूत्रोंमें जाकर मिलते हैं। श्रीमच्छङ्कराचार्यके मतसे भी उनका कोई झगड़ा नहीं है। वे उनके मतको इस प्रकार ग्रहण करते हैं कि उन्होंने भी ब्रह्मसूत्रोंके २।३।४३ वें सूत्रके भाष्यमें जीव और ब्रह्मका भेदाभेद सम्बन्ध माना है, ३।२।२७ वें सूत्रके भाष्यमें ब्रह्मके दो स्वरूप अर्थात् सगुण भी और निर्गुण भी माने हैं, और फिर अन्तमें अपनी सबसे ऊँची तात्त्विक उड़ानमें, ऊँचे-से-ऊँचे ध्येयके ध्यानमें उन्होंने, अध्याय ३।२।११ वें सूत्रके भाष्यमें, ब्रह्मके सगुण रूपको पीछे छोड़ निर्गुण रूपको ही माना है। श्रीनिम्बार्काचार्यके अनुयायी श्रीशङ्कराचार्यके इन बाह्यतः परस्परविरोधी मतोंका इस बुद्धिसे सामञ्जस्य करते हैं कि सामान्य मनुष्य, अविद्याके कारण, ब्रह्मसे विश्व और व्यष्टिगत जीवोंको पृथक् बोध करते हैं, पर इन्हें इस बातकी कोई कल्पना नहीं होती कि इन व्यष्टिगत जीवोंका तथा इस विश्वका कोई गुणातीत इन्द्रियातीत स्वरूप भी है; और श्रीमच्छङ्कराचार्य जब ब्रह्मके द्विविध स्वरूपका कथन करते हैं तब उनका ध्यान बाह्य स्वरूपपर भी है और इन्द्रियातीत स्वरूपपर भी; और जहाँ वे केवल इन्द्रिय-मन-बुद्ध्यतीत कैवल्यका ही प्रतिपादन करते हैं वहाँ उनके ध्यानमें वह अशेषविशेषातीत ब्रह्म ही है जो तुरीय अर्थात् समाधिकी उस अवस्थामें अनुभूत होता है जिसे ज्ञानकी अवस्था कहते हैं (अन्नपूर्णोपनिषत् १।४८ तथा महोपनिषत् ४।१२) जिसमें दृश्यका तिरोधान होता है (जाबालदर्शनोपनिषद् १०।१२)। दृश्यकी प्रतीति चञ्चल मनको इन्द्रियोंके द्वारा, जाग्रत् अवस्थामें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दके रूपमें होती है जब कि निर्विशेष ब्रह्म पीछे रहता है; और इस निर्विशेष ब्रह्मकी अनुभूति इन्द्रियोंके दमनके द्वारा अर्थात् शान्त मनसे, समाधिकी अवस्थामें सच्चिदानन्दरूपसे होती है जब कि इन्द्रिय निरुद्ध रहते हैं और दृश्य जगत् मनश्चक्षुसे तिरोहित होता है। आचार्य शङ्कर दृश्य जगत्की व्यावहारिक सत्ता नहीं अस्वीकार करते और न सगुण ब्रह्मकी ही उपेक्षा करते हैं, जैसा कि उनकी 'आनन्दलहरी' से स्पष्ट है। जगत्की मायिकताका जो वर्णन श्रीशङ्कराचार्यने किया है उसे इस रूपसे ग्रहण किया जाता है कि यह अनादि होनेपर भी विकार्य है, और इस वर्णनका हेतु यही है कि (१) इस दृश्य जगत्से आसक्ति न हो क्योंकि यह आसक्ति दुःखको बढ़ानेवाली है, और (२) एकमात्र अन्तःस्थित विभु आत्माका ही सम्पूर्णरूपमें ध्यान करनेमें सहायता हो। दो प्रकारकी श्रुतियोंको इसी विचारसे सुसम्बद्ध किया जा सकता है।

श्रीनिम्बार्काचार्यके भाष्यने, मेरे विचारमें, विभिन्न सम्प्रदायोंके विद्वानोंका ध्यान सामञ्जस्यकी ओर तथा परम सत्यके विषयमें परस्पर अनावश्यक वादविवाद और ईर्ष्या-द्वेषको नष्ट करनेकी ओर दिलाया है, यद्यपि यह बात तो सदा बनी ही रहेगी कि ब्रह्मके भिन्न-भिन्न स्वरूप ध्याताओंको उनकी विशिष्ट अवस्था और उत्तरोत्तर बढ़नेवाली पात्रताके अनुसार प्राप्त होते रहेंगे।

Prof. Amodavardhana Kaushalyayana Collection, Kathmandu, Nepal

पुष्टिमार्गके सिद्धान्त और उनका उद्गमस्थान

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य)

वेदान्तके माननीय सम्प्रदायोंमें महाप्रभु वल्लभाचार्यजीका सम्प्रदाय अपनी पृथक् ही विशेषता रखता है। महाप्रभुने जिन सिद्धान्तोंकी मजबूत गहरी नींवपर अपने वैष्णव सम्प्रदायकी इमारतको खड़ा किया उनकी पुष्टि उनके पीछेके आचार्योंने नवीन ग्रन्थोंकी रचनाकर पर्याप्त मात्रामें की; यह बात वैष्णवदर्शनोंके इतिहास जाननेवाले विद्वानोंसे छिपी हुई नहीं है। महाप्रभुजीने वेदान्तसूत्रोंके ऊपर 'अणुभाष्य' लिखकर ही नहीं, प्रत्युत श्रीमद्भागवतके ऊपर 'सुबोधिनी' तथा अन्य अनेक प्रकीर्ण ग्रन्थ और स्तोत्रोंकी रचनाकर शुद्धाद्वैतके सिद्धान्तोंका स्पष्टीकरण विशदरूपेण किया। श्रीविट्ठलनाथजीने 'विद्वन्मण्डन' नामक एक अत्यन्त विशद स्वसिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थ लिखा जिसे श्रीगोस्वामी पुरुषोत्तमजी महाराजने 'सुवर्णसूत्र' से अलङ्कृतकर उसके गूढ़ भावोंको अधिक व्यक्त करनेका श्लाघनीय प्रयत्न किया। अणुभाष्यके आधारपर व्रजनाथ भट्टने ब्रह्मसूत्रोंके ऊपर 'मरीचिका' नामक सरल वृत्तिकी रचना की। श्रीबालकृष्ण भट्टने 'प्रमेयरत्नार्णव' में सात प्रमेयोंका विवेचन बड़े अच्छे ढंगसे किया। गोस्वामी श्रीगिरिधरजी महाराजने 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' नामक नितान्त उपादेय ग्रन्थमें केवल ९५ पद्योंमें लिखा जिसमें इस वेदान्तसम्प्रदायके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन परमतके निरसनके साथ-साथ बड़ी खूबीके साथ संक्षेपमें सरलताके संग किया गया है। अन्य आचार्योंने भी समय-समयपर स्वसिद्धान्तोंके विवेचन तथा विशदीकरणके लिये अनेक उपादेय ग्रन्थोंकी रचना की। इस प्रकार आजतक इतने नवीन ग्रन्थोंका निर्माण होता आया है कि इस सम्प्रदायविषयक साहित्यका वर्णन करनेके लिये एक स्वतन्त्र ग्रन्थकी आवश्यकता प्रतीत हो रही है।

शुद्धाद्वैत मत

श्रीवल्लभाचार्यने सिद्धान्तरूपसे शुद्धाद्वैतका प्रतिपादन किया है। भक्तिसम्प्रदायमें उनके मतको 'पुष्टिमार्ग' के नामसे पुकारते हैं। महाप्रभु जीव तथा ब्रह्मकी नितान्त एकताके पक्षपाती हैं। अतः अद्वैतके वे पक्के माननेवाले हैं। परन्तु मायाशबल ब्रह्मके माननेवाले शांकर वेदान्तसे अपने मतकी भिन्नता प्रतिपादन करनेके विचारसे उन्होंने अद्वैतके पूर्व शुद्ध शब्दका व्यवहार किया है तथा अपने सिद्धान्तको 'शुद्धाद्वैत' के नामसे व्यवहृत किया है। शुद्धाद्वैतमार्तण्डमें इस नामकरणका यही कारण बतलाया गया है।

> **मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।**
> **कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥**
>
> (चौखंभा सं०, प० २८, पृ० २४)

यह परब्रह्म सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप है। भगवान् अखिलरसामृतमूर्ति, अखिल लीलानिकेतन श्रीकृष्ण ही यह परब्रह्म हैं[1]। अग्निसे स्फुलिंगोंके समान उस परब्रह्मसे जीवोंका आविर्भाव होता है[2]। जगत् भगवान्की लीलाका विलास है। आविर्भाव तथा तिरोभाव नामक भगवत्-शक्तियोंके कारण इस जगत्का विकास तथा लय होता है[3]। इत्यादि।

शुद्धाद्वैतियोंके अनेक सुप्रसिद्ध सिद्धान्त हैं जिनका विशद विवेचन इस अल्पकाय निबन्धमें स्थानकी कमीके कारण नहीं किया जा सकता। इस स्थानपर हम अपने पाठकोंका ध्यान शुद्धाद्वैतके व्यावहारिक रूप—पुष्टिमार्गकी ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। हम प्रथमतः इस मार्गकी विशेषता तथा सिद्धान्तका प्रतिपादन करेंगे। अनन्तर इसके मूल स्थानके खोजनेका प्रयत्न करेंगे।

पुष्टिमार्ग—आवश्यकता तथा विशिष्टता

यह संसार विपत्तियोंका आगार है। चारों ओरसे विपत्तियाँ आकर हमें थपेड़ा मार रही हैं। जिधर दृष्टि डालिये उधर ही हमारे लिये दुःखका सागर उमड़ रहा है। अतः सब आचार्योंके सामने सब समय यही विकट प्रश्न उपस्थित होता आया है कि इस जगत्के त्रिविध दुःखोंसे सदाके लिये (आत्यन्तिकी) निवृत्ति किस प्रकार होगी। कौन ऐसा सुगम उपाय है जो मानवजीवोंको इन बन्धनोंसे छुड़ाकर आनन्दके मार्गपर लगा देगा। प्राचीन आचार्योंने ज्ञान, कर्म तथा भक्तिके मार्ग मुमुक्षुजनोंके लिये इन दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये ही निर्दिष्ट किये हैं। वल्लभाचार्य इन मार्गोंकी उपयोगिताको मानते हैं, परन्तु

---

[1] १—देखिये–'प्रमेयरत्नार्णव' पृ० ११–१५

[2] २—देखिये–शुद्धाद्वैतमार्तण्ड पृ० ७

[3] ३— ,, ,, पृ० ८–१३

उनकी दृष्टिमें इन साधनोंका ठीक-ठीक आचरण इस कलिकालमें नहीं हो सकता । महाप्रभुने अपने कृष्णाश्रय-स्तोत्रमें इस कुटिल कालका बड़ा ही सजीला वर्णन किया है[1]। समस्त देश म्लेच्छोंके आक्रमणोंसे ध्वस्त हो गये हैं; गंगादि तीर्थोंको पापियोंने घेर रक्खा है तथा उनके अधिष्ठातृदेवता अन्तर्धान हो गये हैं। ऐसे विपरीत समयमें क्या ज्ञानकी निष्ठा हो सकती है? यज्ञ-यागादिकोंका यथोचित अनुष्ठान हो सकता है? अथवा भक्तिमार्गका ही क्या आचरण भलीभाँति हो सकता है? नहीं, कभी नहीं। यदि हो भी सकता है, तो केवल वेदाध्ययननिरत त्रिवर्णके पुरुषोंको ही हो सकता है। शूद्रों तथा स्त्रियोंकी मुक्ति भला इन दुर्गम मार्गोंके अनुसरणसे कभी हो सकती है? उनके लिये तो कोई सीधा राजमार्ग होना चाहिये जिसपर चलकर वे लोग—निराश्रय तथा निःसहाय जन—इस संसारके समस्त बन्धनोंसे अनायास हो मुक्त हो जायँ। इन निराश्रयोंका उद्धार सदाकी भाँति आज भी एक विषम समस्या है। महाप्रभुने इन्हीं लोगोंके कल्याणके लिये अपना पुष्टिमार्ग चलाया। इस मार्गमें परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान्[2]का अनुग्रह ही एकमात्र साधन है। जो लोग प्रसिद्ध साधनत्रयके निष्पादनमें अपनेको असमर्थ पाते हैं, उन्हें चाहिये कि अपनी समस्त वस्तुएँ, अपना सर्वस्व भगवान्के चरणारविन्दोंमें समर्पण कर दें। यदि पूर्ण भक्तिके साथ हम श्रीकृष्णके पादपद्मोंमें अपने निराश्रय आत्माको डाल दें, तो क्या वह करुणावरुणालय हमारा उद्धार न करेगा? क्या वह विश्वम्भर हमारा भरण-पोषण न करेगा? क्या वह व्रजविहारी हमारे आर्त चित्तको अपनी मधुर वंशीकी तानसे आप्यायित न कर देगा? अवश्य करेगा, जरूर करेगा। परन्तु हममें चाहिये उसके अनुग्रहमें पूरा विश्वास, उसकी अलौकिक कृपापर नितान्त भरोसा।

वल्लभने पुष्टिमार्गकी मर्यादामार्गसे विशिष्टता स्पष्टरूपसे दिखलायी है। मर्यादामार्गमें जीव फलके लिये अपने कर्मोंके अधीन है। जैसा वह कर्म करेगा, वैसा फल भगवान् उसे देंगे। 'कर्मानुरूपं फलम्' मर्यादामार्गका प्रसिद्ध सिद्धान्त है, परन्तु पुष्टिमार्गमें कर्मकी क्या आवश्यकता? मर्यादामार्गमें शास्त्रविहित ज्ञानकर्मके आचरणसे ही मुक्तिरूपी फल मिलता है परन्तु पुष्टिमार्गमें ज्ञानकर्मकी नितान्त निरपेक्षता बनी रहती है[2]। इसी कारणसे सब निराश्रय दीन जीवोंका एकमात्र मोक्षसाधन तथा उद्धारोपाय है—पुष्टिमार्ग, जिसमें भगवान् अपनेमें कर्मणा मनसा वाचा आत्मसमर्पणशील जीवोंका प्रपञ्चसे उद्धार अपनी दयाके बलसे कर देते हैं।[3] अतः यह मार्ग सब जीवोंके लिये—वर्ण, जाति, देश किसी भी भेदभावके बिना—सर्वदा तथा सर्वथा उपादेय है। यही इस मार्गकी विशेषता है। मर्यादामार्गसे इस मार्गकी यही विशिष्टता है।[4]

ब्रह्मसम्बन्धका अनुष्ठान

यह तो हुआ पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त, परन्तु अब इस सिद्धान्तको व्यवहारमें किस प्रकार लानेकी व्यवस्था आचार्यचरणोंने बतलायी है उसका विचार करना भी समुचित है। इसे व्यावहारिक रूप जिस विधिके द्वारा दिया

---

[1] म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥
गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥
अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥
(कृष्णाश्रयस्तोत्र)

[2] भगवान् श्रीकृष्ण ही परमसत्तारूप हैं। देखिये—
(क) परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् ॥ ३ ॥
(सिद्धान्तमुक्तावली)
(ख) कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥
(अन्तःकरणप्रबोध)

[1] फलदाने कर्मापेक्षः। कर्मकारणे प्रयत्नापेक्षः। प्रयत्ने कामापेक्षः। कामे प्रवाहापेक्षः। इति मर्यादारक्षार्थं वेदं चकार। ततो ब्रह्मणि न दोषगन्धोऽपि। न चानीश्वरत्वम्। मर्यादामार्गस्य तथैव निर्माणात्। यत्रान्यथा स पुष्टिमध्य इति। (ब्र० सू० २। ३। ४२ पर अणुभाष्य)

[2] अत एव पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य ज्ञानादिनैरपेक्ष्यं मर्यादायामङ्गीकृतस्य तु तदपेक्षितत्वं च युक्तमेवेति भावः।
(ब्र० सू० ३। ३। २९ पर अणुभाष्य)

[3] पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः प्रमाणमार्गाद्विलक्षणः।
(ब्र० सू० ४। ४। ९ पर अ० भा०)

[4] इस सम्बन्धमें विशेष जाननेके लिये देखिये श्रीहरिरायजीकृत पुष्टिमार्गीय कारिकाएँ—प्रमेयरत्नार्णव पृ० १८।२४ नमूनेके तौरपर एक कारिका नीचे दी जाती है—
समस्तविषयत्यागः सर्वभावेन यत्र हि।
समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥

जाता है उसका नाम इस सम्प्रदायमें है ब्रह्मसम्बन्ध ।[1] इस अनुष्ठानका विधान वल्लभाचार्यजीको स्वयं भगवान्‌ने बतलाया था, इसका उल्लेख हमें उनके सिद्धान्तरहस्य नामक स्तोत्रमें (पहले श्लोकमें) किया मिलता है । इस अनुष्ठानके द्वारा गुरु प्रत्येक शिष्यका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध करा देता है । मुमुक्षु शिष्यको ज्ञाननिरत तथा भागवत तत्त्वज्ञ गुरुकी खोज करनी चाहिये । अनुरूप गुरुकी प्राप्ति हो जानेपर उसे अपना अभिप्राय बतलाना चाहिये । तब गुरु उसे सर्वप्रथम भगवान् श्रीकृष्ण ही हमारे शरण हैं इस अर्थवाला 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मन्त्र बतलाते हैं । इसे शरणमन्त्रके नामसे पुकारते हैं । वल्लभाचार्यजीने नवरत्नमें स्वयं इस मन्त्रके विषयमें कहा है—

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥९॥

इसके अनन्तर वह गुरु शिष्यको भगवान्‌के विग्रहके पास ले जाता है, तुलसीकी माला देता है तथा दीक्षा-मन्त्रका उपदेश करता है तथा शिष्यसे उच्चारण कराता है। यह मन्त्र नितरां गोप्य माना जाता है । इस मन्त्रकी आत्मनिवेदनमन्त्रके नामसे प्रसिद्धि है । इसमें भक्त अपनी समस्त वस्तुओंको, अपनी देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरणको उनके धर्मोंके साथ, अपनी आत्माको भगवान्‌को निवेदन कर देता है । यह मन्त्र यों है—

सहस्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्दतिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि ।

प्रसिद्धि है कि श्रीकृष्णने यह मन्त्र आचार्यजीको स्वयं बतलाया था। इस मन्त्रोपदेशके अनन्तर उस नवीन श्रद्धालु भक्तको गोपियोंको अपना आदर्श मानकर अपना समर्पण-निरत जीवन बिताना चाहिये तथा भगवान्‌की पूजा-अर्चाहीमें अपना कालयापन करना चाहिये, उसे अपने जीवनपर तनिक भी ममता नहीं, स्वतन्त्रता नहीं । वह तो अब भगवान्‌का दास बन गया । जीवन भी भगवान्‌हीका है । उसके जितने कर्म हैं, चेष्टाएँ हैं, मन-वचन-कर्मके जितने विविध विधान हैं, वे सब श्रीकृष्णको ही समर्पण किये जाते हैं । इस प्रकार वह सर्वात्मना भगवान्‌का दास बनकर अपने ऐहिक लीलाकी समाप्तिके अनन्तर भगवदनुग्रहसे गोलोकमें विपुल शान्तिमें जा विराजता है ।

पुष्टिमार्गका उद्गमस्थान

पुष्टिमार्गमें संक्षेपमें यही सिद्धान्त है तथा यही व्यावहारि विधान है । आचार्य श्रीवल्लभने इस नवीन मतकी उद्भाव कहाँसे की है ? इसकी कुछ खोज करनी है । वल्लभाचार्य अपने मतको नवीन नहीं बतलाते, बल्कि अपनेको विष्णु स्वामीके प्राचीन सम्प्रदायका अनुयायी बतलाते हैं । फिर भी विष्णुस्वामीके लुप्त होते हुए सम्प्रदायको जीवन प्रदान एक शक्तिशाली वैष्णवसम्प्रदायके रूपमें परिवर्तित करन अत्यन्त असाधारण कार्य है । महाप्रभुजीने यही कर दिखलाया इसके लिये उन्हें प्रेरणा कहाँसे हुई ? किस ग्रन्थके सुचा अध्ययनने प्रभुजीके भावुक हृदयमें इन सिद्धान्तोंकी रूपरेखा खड़ा किया ? प्राचीन आचार्योंने अपने सम्प्रदायके दार्शनि आधारके लिये सदा ही प्रस्थानत्रयी—वेद (उपनिषद्), ब्रह्म सूत्र तथा भगवद्गीताको मूल माना है । महाप्रभुने भी वैसा ही किया है, परन्तु लेखक बहुत वर्षोंके अध्ययनके बाद इस निष्कर्षपर पहुँचा है कि आचार्यका यह समग्र सिद्धान्तसमुच्च पुष्टिमार्गका यह समस्त अनुष्ठान, शुद्धाद्वैतका यह परिमार्जि सिद्धान्त—यह सब तत्त्व पुराणाग्रगण्य साक्षात् भगवद्रू श्रीमद्भागवतकी जाज्वल्यमान विभूति है । 'सुबोधिनी' हमारे कथनके लिये पर्याप्त प्रमाण उपस्थित करती है कि वल्लभाचार्य भागवतके निगूढ़ तत्त्वोंके सुबोध ज्ञाता थे। उन्होंने भागवतके अमृत फलको खूब ही अधिक अनुप तथा विमल भक्तिभावके साथ चखा था । निःसन्देह ही ग्रन्थरत्न निगमकल्पतरुका गलित फल है (निगमकल्पतरो र्गलितं फलम्) वेद-वेदान्तका सार है[1], प्रस्थानत्रय सर्वे निहित गूढ़ अर्थोंका सर्वसाधारणके सामने सीधी भाषा प्रकट करनेवाला व्याख्यानग्रन्थ है; अतः इसके सिद्धान्तों वैदिक सिद्धान्तोंका सार माननेमें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती । तथापि हमें तो यह बात विवादशून्य प्रतीत होती है कि वल्लभाचार्यजीके ऊपर इसी पुराणरत्नने सबसे अधिक अन्तरङ्गरूपेण अपना प्रभाव डाला जिसका फल हैं 'पुष्टि'की भक्तिमयी साधना तथा 'शुद्धाद्वैत' के उद्

---

[1] —ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि … … … … … .. … ॥२॥
(सि० र०)

[1] —सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचिद्॥
(भा० १२ । १३ । १५

दार्शनिक तत्त्वमें पद-पदपर दिखलायी देता है। हमारे पास इस कथनकी पुष्टिमें पर्याप्त प्रमाण हैं, परन्तु स्थानकी कमीके कारण हम कुछ ही प्रबल प्रमाणोंको यहाँ उपस्थित करनेका प्रयत्न करेंगे।

'पुष्टि'का अर्थ

'पुष्टि' शब्दहीको देखिये। बहुत-से देशी तथा विदेशी विद्वान् इस शब्दसे अन्नपानके द्वारा शरीरकी पुष्टि करनेवाले सम्प्रदायकी कल्पना करते हैं और उनके भ्रान्त विचारके अनुसार 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ' की ही गूँज वल्लभाचार्यके पवित्र सिद्धान्तोंमें सुन पड़ती है! परन्तु आचार्यने ऐसे जीवनकी बड़ी निन्दा की है[1]। इस कठिन शब्दके अज्ञानसे ही समुज्जृम्भित ये सब अनर्गल कल्पनाएँ हैं। यह शब्द आचार्यको भागवतसे प्राप्त हुआ। भागवतके द्वितीय स्कन्ध १० वें अध्यायके चतुर्थ श्लोकमें पुष्टि या पोषणका अर्थ भगवान्का अनुग्रह बतलाया गया है—पोषणं तदनुग्रहः। इसी श्लोकांशके आधारपर वल्लभने अपने सिद्धान्तको 'पुष्टि'के नामसे पुकारा है। इस शब्दका यह उत्पत्तिस्थल ही स्पष्ट रूपसे प्रमाणित कर रहा है कि यह श्रीमद्भागवतकी देन है। आचार्यजीने इसे भागवतसे प्राप्त किया।

पुष्टिमार्गकी प्राचीनता

श्रीभगवान्के अनुग्रहको ही मुक्तिका एकमात्र साधन बतलानेका सिद्धान्त आधुनिक नहीं है। यह तो वेदकालसे चला आता है। यह उपनिषदोंमें यत्र तत्र सूत्ररूपसे पाया जाता है। देखिये, मुण्डक उपनिषद्ने आत्माकी उपलब्धिका कारण बतलाते समय न तो प्रवचनको कारण माना है, न मेधाको और न बहुशास्त्रश्रवणको, प्रत्युत यही बतलाया है कि जिसपर उसकी कृपा होती है वही उसे प्राप्त कर सकता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥

कठोपनिषद्में भी (१।२।२०) 'तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः' कहकर भगवान्के प्रसादसे ही आत्मस्वरूपके दर्शन करनेकी बात कही गयी है। अतः भगवदनुग्रहका यह सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है—वैदिक है, परन्तु आचार्यचरणने इसे ही मुक्तिकी मूलभित्ति मानकर अपना जो पुष्टिमार्ग चलाया उसमें श्रीमद्भागवत ही प्रधान कारण प्रतीत होता है। भागवतमें वैदिक सिद्धान्तोंकी ही तो विस्तृत व्याख्या है। श्रुतिमें जो सूत्ररूपसे है उसका भाष्य हमें भागवतमें उपलब्ध होता है। भागवतमें भगवदनुग्रहको बड़ा महत्त्व दिया गया है। ज्यों ही भक्त भगवान्के सम्मुख होता है, भगवान् दया करके उसके समस्त पातकोंको जलाकर उसे अपना लेते हैं तथा दुःखोंसे मुक्तिकी व्यवस्था कर देते हैं। वह तो भक्तवत्सल ठहरे; भागवतका कहना है कि भगवान् कल्पतरु-से स्वभाववाले हैं—

चित्रं तवेहितमहोऽमितयोगमाया-
लीलाविसृष्टभुवनस्य विशारदस्य।
सर्वात्मनः समदृशो विषमः स्वभावो
भक्तप्रियो यदसि कल्पतरुस्वभावः॥
(भाग० ८।२३।८)

जो कामी भक्त हैं, भगवान्से याच्ञा करते हैं उन्हें तो उनका मुँहमाँगा दे ही देते हैं, परन्तु अनिच्छुक अकामी भक्तोंको भी स्वयं अपना चरण-कमल प्रदान कर देते हैं जिससे उनकी सब इच्छाएँ ही आप-से-आप समाप्त हो जाती हैं। अहा, भगवान् कैसे कृपालु हैं—

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता-
मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्॥
(भाग० ५।१९।२७)

आत्मनिवेदनकी विशिष्टता

भक्तिके द्वारा ही भगवान्का अनुग्रह हमें प्राप्त हो सकता है। बिना भक्तिके ज्ञान, कर्म हस्तिस्नानकी तरह बिल्कुल निष्फल हैं। प्रह्लादजीने दान, व्रत, शौच आदिको व्यर्थ बतलाकर भगवान्की प्रीति सम्पादन करनेके लिये निर्मला—निष्काम भक्तिको ही एकमात्र साधन बतलाया है—

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥
(भाग० ७।७।५२)

---

[1] विषमाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वथा हरेः।
(संन्यासनिर्णय ६)

परन्तु भक्ति तो नवधा ठहरी। श्रवण, कीर्तन, वन्दनादिके द्वारा भक्ति की जाती है, परन्तु श्रवणादि भक्तिके बहिरङ्ग साधनके समान प्रतीत होते हैं। इनमें भक्तकी भगवान्से पृथक् ही सत्ता बनी रहती है, तादात्म्यका पक्का रंग अभीतक चढ़ा हुआ नहीं देख पड़ता। 'एकात्मता' की ऊँची सीढ़ी अभी दूर ही दृष्टिगोचर होती है। इसके लिये अन्तिम भक्तिप्रकार आत्मनिवेदन ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। गीताजीमें इसका सूत्र मिलता है, भागवतमें इसका भाष्य। भागवतने आत्मनिवेदनसे सद्यः अमृतत्वलाभ तथा कृष्णैकात्म्यकी प्राप्ति बतलायी है। एकादशमें भगवान्का स्वयं कहना है—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभूयाय च कल्पते वै॥
(११ । २९ । ३४)

जबतक भगवदर्पण नहीं किया जाय, वेदविहित त्रिवर्ग एकदम मिथ्या है, यह प्रह्लादजीका कथन (७ । ३ । २६) बिल्कुल सत्य है। अतः भक्तिके सब प्रकारोंमें आचार्यजीने आत्मनिवेदनको जो अपना मन्त्र बनाया, वह भागवतके सर्वथा सम्मत ही है।

शरणागति

श्रीकृष्णके शरणमें बिना गये मनुष्यका कल्याण-साधन नहीं हो सकता। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' गीता बतलाती है। भागवतमें भी इस विषयका बड़ा ही प्रभावोत्पादक वर्णन हम पाते हैं। जो मनुष्य भगवान्को छोड़कर दूसरेकी शरणमें जाता है, वह मूर्ख कुत्तेकी पूँछ पकड़कर समुद्रको पार करना चाहता है—

अविस्मितं तं परिपूर्णकामं
स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम्।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः
श्वलाङ्गुलेनातितितर्ति सिन्धुम्॥
(भाग० ६ । ९ । २२)

तापत्रयसे सन्तप्त मनुष्यके लिये भगवान्का पादपद्म ही तो एकमात्र शरण है। उद्धवजीका कथन है—

तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे
सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीश।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात्॥
(११ । १९ । १

ऐसे मनुष्यको किसी प्रकारके क्लेश बाधा नहीं पहुँचाते (भाग० ३ । २२ । ३५) तथा अपनी भ्रूकुटिसे समस्त विश्वको ध्वंस करनेवाला यमराज भी ऐसे मनुष्यको अपने प्रभावके बाहर समझता है (४ । २४ । ५६)। ऐसा होना उचित ही है, क्योंकि भगवान्के पादपद्म 'अभयं' सर्वतो भयशून्य हैं, 'ऋतं' अविनाशी हैं तथा 'अशोकं' नितरां शोकरहित हैं—

शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म-
न्नभयमृतमशोकं पाहि मापन्नमीश॥
(१० । ५१ । ५

जबतक हम भगवान्के शरणापन्न नहीं हैं, तभीतक ही यह गृह कारागृह है, राग-द्वेष चौर हैं, मोह पादबन्धन है। शरणागतिके अनन्तर तो भगवद्भक्तिके साधक होनेसे इनमें स्वार्थके कीड़े मर जाते हैं; ये सब परार्थ होनेसे श्लाघनीय बन जाते हैं।

तावद् रागादयः स्तेनास्तावद् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥

अतः मुक्तिसाधनमें शरणागतिका बड़ा उपयोग है। महाप्रभुजीने शरणमन्त्रको अपनाकर अपनी भागवत-तत्त्वज्ञताका गहरा परिचय दिया है।

उपसंहार

अबतकके विवेचनसे यह बात किसी भी आलोचकको स्पष्ट मालूम पड़ जायगी कि पुष्टिमार्गका उपरिविवेचित रू भागवतके आधारपर है। इसलिये इस मतके आचार्योंने प्रस्थानत्रयीके बाद 'व्यासकी समाधिभाषा'—भागवत—को भी प्रमाणचतुष्टयमें ठीक ही गिनाया है[1]। सच तो यह है कि श्रीमद्भागवतकी महिमा अमित है। सब वैष्णव सम्प्रदायोंपर भागवतकी अमिट छाप लगी हुई है, विशेषकर वल्लभाचार्य तथा चैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायपर। वल्लभा-

---

[1] वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्॥७९॥
(शुद्धाद्वैतमार्तण्ड पृ० ४९)

चार्यकी भागवतनिष्ठाकी बात प्रसिद्ध ही है । महाप्रभु चैतन्यके गौडीय वैष्णवमतमें भी भागवतको अमल प्रमाण माना गया है—'श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलम्' । इस प्रकार ये दोनों सम्प्रदाय भागवतके भक्तिमय आधारपर निर्मित हुए हैं, इसमें तनिक भी शङ्काका स्थान नहीं है । अन्तमें प्रेमी पाठकोंसे भागवतामृतके रस चखनेकी 'भागवतमाहात्म्य' के निम्नलिखित पद्यसे प्रार्थना करता हुआ यह दीन लेखक अब लेखनीको विराम देता है—

> असारे संसारे विषयविषसङ्गाकुलधियः
> क्षणार्धं क्षेमार्थं पिबत शुकगाथातुलसुधाम् ।
> किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितकथे
> परीक्षित् साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्तिकथने ॥

* * *

श्रीशुद्धाद्वैतवाद और उसके प्रकाशक

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

पुष्टिमार्ग ब्रह्मवाद और उसके प्रकाशक

भारतवर्षमें चार सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं, उनमें एक पुष्टिमार्ग भी है । 'पुष्टिमार्ग' का अर्थ होता है—भगवान्‌के अनुग्रहका पथ । श्रीमद्भागवतमें कहा है कि 'पोषणं तदनुग्रहः' भगवान्‌के अनुग्रहको पुष्टि कहते हैं । पोषण और पुष्टि दोनों एकार्थक हैं । शास्त्रोंमें बहुत-से ऐसे शब्द होते हैं जो अपने अर्थमें कुछ विशेष रखते हैं । जैसे भगवती गीतामें 'योगक्षेम ।' यह शब्द कुछ विशेषता रखता है । यों तो गीताके भाषान्तरकर्ता इस शब्दका अर्थ 'रोटी-कपड़ा' भी करते हैं । परन्तु क्या रोटी-कपड़ा देनेके लिये ही श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव है ? और क्या रोटी-कपड़े प्राप्त कर लेना ही मनुष्य-जन्मका उद्देश्य है ? वास्तवमें योगक्षेमका अर्थ है, अप्राप्तका लाभ और प्राप्तका संरक्षण । प्रायः संस्कृतके टीकाकारोंने लिखा भी यही है । और यही उचित भी है । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो
> न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः ।
> तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं
> कालेन सर्वत्र गभीररंहसा ॥
> (स्कं० १)

सब लोग दुनियाके सुखोंकी चाहना रखते हैं और उन्हींके लिये प्रयत्न किया करते हैं । किन्तु बुद्धिमान्‌को चाहिये कि प्रयत्न उसीके लिये करें कि जो वस्तु इधर-उधरसे अपने-आप न मिले । प्राणीने भले और बुरे जो-जो कार्य किये हैं उनका फल, गुप्त वेगकालके चक्रमें पड़ा हुआ है । सुख और दुःखमें सब फलोंका समावेश हो जाता है । इस अनन्त कालचक्रमें सुख और दुःख सबके लिये आते रहते हैं । कभी चक्रके ऊपर जानेसे तो कभी नीचे आनेसे । किसीको राजाके यहाँ जन्म लेनेपर भी चटाईतक मयस्सर नहीं होती तो किसीको कुत्तेका सुपुत्र होनेपर ही मोटर और मखमलकी गद्दीपर बैठनेको आप ही मिलता है । कुत्ता किसी सुन्दरीकी गोदमें बैठनेके लिये खुशामद नहीं करता, प्रत्युत सुन्दरी उसे खिलाने और गोदमें बैठानेके लिये लालायित रहती है । यह प्राचीन कर्म और कालके गुप्त वेगका प्रताप है । दुःखके लिये कोई प्रयत्न नहीं करता पर वह अपने-आप आ ही जाता है, सुख भी इसी तरह आता है । पर मनुष्यको कालके गुप्तवेगकी एवं अपने पूर्व कर्मोंकी खबर नहीं है, इसीलिये अविश्वासवश उस अपने-आप आनेवाले सुखके लिये ही वह प्रयत्नशील रहता है । सांसारिक सुख अप्राप्त नहीं है और न शास्त्रको उसका संरक्षण ही केवल अभीष्ट है, इसलिये योगक्षेमका अर्थ रोटी-कपड़े या सांसारिक सुख समझ लेना जैसे मूर्खता है वैसे ही पुष्टिका अर्थ खा-पीकर मोटे हो रहना, ऐसा मानना बुद्धिका दीवाला निकालना है !

वास्तवमें योगक्षेमका अर्थ भगवान्‌का मनोमन्दिरमें पधारना है । यह अप्राप्तकी प्राप्ति है । दुनियाके विषय प्रत्यक्ष हैं इसलिये उनका मनमें घुसे रहना सहज है किन्तु भगवान् सबके परोक्ष हैं, अतएव उनका वहाँ आकर बैठना अप्राप्त है । और फिर आकर वहाँ स्थिर हो जाना यह क्षेम है । यह योगक्षेम कालके गुप्त वेगमें नहीं है । भगवान् कालचक्रके भी ऊपर हैं ।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।

भगवान् भगवान्‌के ही हाथमें हैं । वह जब चाहेंगे तभी हमारे मणिमय मनोमन्दिरमें आवेंगे । बस, इसी स्वीकारका नामान्तर अनुग्रह है । वह हमारे हृदयमें पधारकर स्थिर हो जायँ, इसके सिवा और क्या अनुग्रह होगा ? और

यही योगक्षेम है। इस योगक्षेमके स्वामी स्वयं भगवान् ही हैं, अतएव आज्ञा की है कि 'योगक्षेमं वहाम्यहम्'—उन लोगोंको अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तका संरक्षण मैं कराता रहता हूँ।

यह भगवान्‌का अनुग्रह (पुष्टि) दो प्रकारसे प्राप्त होता है—प्रथम तो स्वतः भगवान्‌की इच्छासे और दूसरे मर्यादामें भक्तिसे। भक्तिके दो अंश हैं पूर्व और पर। स्वरूपविचार और दूसरा परिचर्या। गीताके श्लोकमें भी दोनों अंश कह दिये हैं। 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' और 'नित्याभियुक्ताः'। अनन्यचिन्तनको ही स्वरूपविचार किंवा ब्रह्मवाद कहा है और नित्याभियोगको ही प्रेमपूर्वक परिचर्या, नवधाभक्ति किंवा तनुजावित्तजा सेवा कहते हैं। इन दोनोंके निरन्तर होनेसे मनोमन्दिर मणिमय हो जाता है। और धीरे-धीरे फिर उस मन्दिरमें प्रेमका प्रादुर्भाव होता है, यही भगवान्‌का आकर विराजना है, योग भी यही है। और विराजकर स्थिर हो जाना क्षेम है। यह योगक्षेम गीताके श्लोकमें कहा गया है। जिस तरह इस योगक्षेमकी खबर न होनेसे लोग मनमाना अर्थ कर लेते हैं, इसी तरह पुष्टिका भी अर्थ न मालूम होनेसे कुछ-का-कुछ कहने लगते हैं। वेदमें भी पुष्टि शब्द है और उसका भी अनभिज्ञ लोग 'मोटे-ताजे' होना अर्थ कर लेते होंगे। 'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्' हम सुगन्धि और पुष्टि (मोटे-ताजेपन) को बढ़ानेवाले श्रीमहादेवजीका यजन करते हैं। किन्तु यह उनका अर्थ सर्वथा भ्रान्त है। जो श्रीमहादेव ईश्वर हैं जहाँ विषयमृगतृष्णाका स्पर्श नहीं है, वे स्वयं विषयमृगतृष्णामें पचे रहनेवालोंको अपने हाथसे सांसारिक विषयोंका दान करेंगे या बढ़ावेंगे, यह आशा करना कितना भ्रान्त है। हाँ, श्रीमहादेव समर्थ हैं वे सब कुछ दे सकते हैं, किन्तु लौकिक शारीरिक पुष्टि, जो कि बाजारमें घी-दूधके द्वारा बिक रही है उसके लिये उनकी आराधना करनेको कहना वेदके लिये भी लज्जाजनक है। वास्तवमें पुष्टिका अर्थ वहाँ भी अनुग्रह है। श्रीमहादेव ईश्वर होते हुए भी भक्तिमार्गके आचार्य हैं, उनको भगवदनुग्रह करानेका अधिकार है। आचार्यके द्वारा भगवान् अनुग्रह करते हैं, हृदयमन्दिरमें पधारते हैं। सुगन्धिका अर्थ है त्याग। त्यागमूर्ति महादेव त्यागका भी दान करते हैं। अपने भक्तोंको त्यागका दान करके श्रीमहादेव भगवदनुग्रहका भाजन बना देते हैं। जितना-जितना लौकिक विषयोंका त्याग होगा उतना-उतना ही हृदयमें भगवत्प्रेमका प्रादुर्भाव होगा। त्याग होना कठिन है। त्याग होनेमें, (और ग्रहणमें भी) वस्तुका ज्ञान होना कारण है। किसी वस्तुका हम त्याग करें या ग्रहण करें, इसमें वस्तुका यथार्थ स्वरूप समझनेकी अपेक्षा है। वस्तुका स्व-रूप, (निज-रूप) वस्तुसे पृथक् ही निकलता है। गहने, कपड़े वगैरह वस्तु हैं किन्तु उनका निजरूप सोना या रूई है। गहनेको गहना समझकर ही कोई नहीं ग्रहण कर लेता अपितु उसके सोनेपनको देखकर ग्रहण करता है। इसीका नाम वस्तुतत्त्व है। वस्तुओंमें वस्तुतत्त्व छिपा हुआ रहता है। उसका विचार करनेसे ही वह मिलता है। व्यवहार वस्तुओंसे चल रहा है, वस्तुतत्त्वसे नहीं। दस गहने चाहनेवाली स्त्रीके गलेमें पचीस तोला सोना लटका देनेसे व्यवहार नहीं चलेगा।

किन्तु एक विचार फिर यह होता है कि क्या सोना वस्तु नहीं है? वस्तु उसको कहते हैं जिसका परिवर्तन होता रहे और वस्तुतत्त्व उसे कहते हैं जिसका कभी परिवर्तन न हो। गहने बदलते रहते हैं, पर सोना नहीं बदलता। किन्तु वास्तवमें सोना भी सोनेका निजरूप नहीं है। वह भी वस्तु ही है, वस्तुतत्त्व नहीं है। सोनेको भी बुद्धिमान् लोग भस्मका रूप दे देते हैं। दुनियामें जितने भी वस्तुतत्त्व हैं वे सब वास्तवमें वस्तु ही निकलते हैं। अब यह विचारना है कि फिर इन सब वस्तुओंका वास्तविक वस्तुतत्त्व कौन है। हम पहले कह चुके हैं कि वस्तुओंके बदलते रहते भी आप न बदले और वस्तुओंमें ही छिपा हुआ रहे, वह वास्तव वस्तुतत्त्व है। श्रीमद्भागवतमें इस विषयका एक दूसरी तरहसे भी विचार किया है।

विशेषबुद्धेर्विवरं मनाक्‌च
पश्यामि यन्न व्यवहारतोऽन्यत्।

राजा रहूगणने जब जडभरतजीसे कहा कि 'मैं राजा हूँ, पालकीमें बैठा हूँ, देखता नहीं, यदि उलटा-सुलटा चलेगा तो दण्ड देकर सीधा कर दूँगा।' उसके उत्तरमें श्रीभरत बोले कि 'राजन्! यह सब तुम्हारी बातें विशेष बुद्धियाँ हैं। राजा, पालकी, बैठना, दण्ड प्रभृति इन सब विशेष बुद्धियोंका कोई नियत अवकाश (स्थान) मैं तो देखता ही नहीं हूँ, सिवा व्यवहारके। यदि हो तो तुम ही कहो, यह

१—'बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया' एतत्सुबोधिनी द्रष्टव्या।

पालकी क्या है। विचार करनेसे आड़े-टेढ़े दो-चार काठके टुकड़े निकलेंगे। यदि काष्ठका भी विचार किया जाय तो फिर वृक्ष निकलता है। और उसका भी विवेचन करो तो बीज, और उसका भी मूल फिर कुछ मिट्टी, कुछ जल और कुछ गर्मी निकलेगा। और फिर इन सबका भी इसी तरह भाग त्याग करते-करते अन्ततः परमाणु शायद निकलें, किन्तु परमाणु भी इसी युक्तिसे केवल कल्पनामात्र निकलते हैं। तो क्या वस्तुके अंदर शून्य छिपा हुआ है?'

नहीं-नहीं। वस्तुके अंदर केवल 'है' छिपा हुआ है। वस्तुके साथ जो 'है' लगाया जाता है वही उसका वस्तु-स्वरूप है और वही वस्तुतत्त्व है। अतएव श्रुतिने कहा है कि 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' वह परमात्मा सब वस्तुओंमें 'अस्ति'–'है', इसी स्वरूपसे पाया जाता है। विचार करनेसे ही पाया जाता है, वैसे तो वह अव्यक्त ही रहता है। यह अस्ति (है) त्रिकालमें एक रूप है, अतएव सत्य है और सत् कहा जाता है। घट है, पट है, सोना है, गहना है, यह 'है' 'है' ही सत् है। सत्का सर्वत्र अन्वय है। यह 'सत्' भगवान्का एक अंश है 'पादोस्य विश्वा भूतानि' भगवान् सच्चिदानन्द हैं, और जगत् सत् है। इसलिये 'है' ही वस्तुका निज रूप है। केवल अन्वय ही नहीं, इस अस्तिका व्यतिरेक भी है। जो अपने विशेषके द्वारा सर्ववस्तुओंसे बढ़ता रहे वह व्यतिरेक कहा जाता है।

यदि विचार किया जाय तो यह सत् अर्थात् अस्ति (है) सब पदार्थोंसे बढ़ता ही रहता है, घट घटसे, पट पटसे नहीं बढ़ता, पर सत् इन दोनोंसे या सब जगत्से ही बढ़ता रहता है, अतएव सारे जगत्का वस्तुतत्त्व सद्रूप भगवान् है। यही बात समाधिभाषामें कही है—

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा॥
(२।९।३८)

परमात्मतत्त्वको खोजकर प्राप्त करनेवालेको यही जान लेना चाहिये कि अन्वय और व्यतिरेकके द्वारा जो (वस्तु-तत्त्व) सब वस्तुओंमें सर्वकालमें विद्यमान मिले वही जिज्ञास्य है। घटके समय पट और पटके समय घट, निवृत्त होते रहते हैं पर 'है' 'सत्' सर्वदा विद्यमान ही मिलता है इसलिये सबका वस्तुतत्त्व (अस्ति) 'है' सत् है। और यही भगवान् है। सब कुछ भगवान् है। यही व्यक्त पदार्थोंमें अव्यक्त रहता है। यह एक प्रकार है।

अब दूसरे प्रकारसे देखिये। घटोऽस्ति, घट है, पट है, मैं हूँ इत्यादि सब पदार्थोंके साथ ज्ञानका अन्वय है और व्यतिरेक भी है। घटज्ञान पटज्ञान आदि सब ज्ञान एक-एक अलग-अलग दीखते हैं पर यह सभी अनेक ज्ञानोंके एकीकृत ज्ञान हैं। घटको लीजिये या पटको। घटमें क्या है, मिट्टी, उसका रंग, गला, पेट और उसका भी रंग, चित्राम वगैरह विविध ज्ञान घटज्ञानमें एकीकृत हैं। इस तरह सारा जगत् और उसमें समाये हुए पृथक्-पृथक् छोटे-से-छोटे पदार्थोंमें भी यही विविध ज्ञानोंका एकीकृत ज्ञान छिपा हुआ बैठा है। सारा जगत् ज्ञानका राज्य है। और फिर वह ज्ञान स्वप्रकाश है, अपने आपसे ही प्रकाशित है। उसका ज्ञान करानेके लिये अन्य पदार्थकी अपेक्षा नहीं है। 'देवदत्त-को मैं जानता हूँ' यहाँ तीन ज्ञान हैं। देवदत्त, मैं और जानना। और तीनों पूर्वोक्त प्रकारसे विविध ज्ञानोंके एकीकृत ज्ञान हैं। किन्तु इन तीनों या अनन्त ज्ञानोंका साक्षी ज्ञान और भी है जिसने इन सबको अपनी गोदीमें ले रक्खा है। देवदत्तको मैं जानता हूँ, इस ज्ञानको भी तो समझ है न। यह ज्ञान स्वाश्रयाश्रय कहा जाता है। सब विभक्त ज्ञानोंमें स्वयं अविभक्त रहता हुआ भी जो विभक्तोंमें विभक्तकी तरह सर्वत्र सर्वदा विद्यमान रहता है वह ज्ञान भी भगवान् है, भगवान्का अंश है। भगवान् सच्चिदानन्द हैं और जगत् ज्ञानस्वरूप है, इसलिये भगवान् है। यही बात आनन्दमें भी है। प्रियताके रूपमें आनन्द भी सर्वदा सर्वत्र विद्यमान है। सबके साथ प्रिय है, सब प्रिय है और सबसे व्यतिरिक्त भी प्रिय है। आनन्द भी भगवान्का अंश है, भगवान् है। यह भी अविभक्त है, पर विमल पदार्थोंमें विभक्तकी तरह छिपा हुआ रहता है—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
(भगवान् श्रीकृष्ण)

१–घटः सन् पटः सन् आस्त इति प्रियमिति च सर्वत्रैवैकस्यान्वयः। विशेषेण अतिरिच्यत इति व्यतिरेकः। घटादिभ्यः किमतिरिच्यते? घटस्तु घटान्नातिरिच्यते तथा पटः पटात्। किन्तु 'सत्' (अस्ति) (है) घटादप्यतिरिच्यते पटादपि। एवं सर्वत्र यत्सर्वं सत्सर्वस्मादतिरिच्यते तद्ब्रह्मैव। ब्रह्मरूपं जगत् ज्ञातव्यं जगतो व्यतिरिच्यत इति न तत्र (जगति) आसक्तिः कर्तव्या। सुबोधिन्यां श्रीवल्लभाचार्यचरणाः २।९।३५।

पूर्वोक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि सारा जगत् सत् चित् आनन्द है और सच्चिदानन्द भगवान्का अंश है। सच्चिदानन्द भगवान्से पृथक् जगत्का कोई अंश नहीं है। वह व्यापक है और यह जगत् परिच्छिन्न है, वह अनियत नामरूप है और यह नियत नामरूप है और यह इसका नियत नामरूप भी इसका स्वयं नहीं है किन्तु नियत नामरूपसे भी वह परमात्मा ही फैल रहा है। सुवर्णके गहने हजारों-लाखों हैं और उन सबके नाम और रूप सब नियत हैं, किन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो सुवर्ण ही नियत नामरूपोंमें फैला हुआ बैठा है। सुवर्णको छोड़कर गहनोंका अपना कुछ भी नहीं है। जैसे यह सुवर्णाद्वैत गहनोंके रूपमें हो रहा है, इसी तरह जगत्के रूपमें ब्रह्माद्वैत हो रहा है। इसे ही शुद्धाद्वैत कहते हैं और इसे ही ब्रह्मवाद भी कहते हैं। और ब्रह्मवाद किंवा शुद्धाद्वैत ही श्रीवल्लभाचार्यजीका मत है।

कितने ही कहते हैं कि यह जगत् सत्य और अनृतका मेल है। यह जो द्वैत जगत् दीख रहा है यह वास्तवमें कुछ नहीं है। द्वैत झूठा है, मायिक है। इस द्वैतका उपादान वास्तवमें माया है। भ्रम है। वास्तवमें कुछ नहीं है। वास्तव तो ब्रह्म ही है, अतएव केवलाद्वैत है। हमारा कहना है कि माया भी है और वह झूठी भी, भ्रम भी है और उन दोनोंसे बना हुआ द्वैत भी है, जगत् भी सत्यानृतका मेल है, यह सब सत्य है, पर इसमें ब्रह्मके सिवा अन्यका मेल नहीं है, निखालिस ब्रह्म-ही-ब्रह्म है। एक ब्रह्मका ही यह बहुभवन है और वह भी 'प्रजायेय' उच्च-नीच भावसे बहुभवन है। अतएव यह बहुभवन भी वास्तविक है। मायाका झूठापन भी सत्य है और उसका ब्रह्मपन भी सत्य है। क्योंकि ब्रह्मने ही तो यह बहुभवन स्वीकार किया है। माया झूठी है, गहना कुछ नहीं है पर वह ब्रह्म तो है, सुवर्ण तो है। सुवर्णका ही तो नियत नामरूप गहना है पर है तो वह सुवर्ण, है तो वस्तु। इसी तरह सारा जगत् जब ब्रह्मका ही नियत नामरूप है तो उसमें ही एक माया भी है। वह ब्रह्मका ही नियत नामरूप है। अनियत नामरूप भी ब्रह्म है और नियत नामरूप ब्रह्म ही है। यह दूसरे प्रकारका है, वह दूसरे प्रकारका। वस्तुके रूपमें वस्तुतत्त्व है, गहनेके रूपमें सुवर्ण है।

अब यहाँ विचार होता है कि जब सब कुछ निखालिस ब्रह्म-ही-ब्रह्म है तब फिर हम भगवान्का ही भजन क्यों करें, घटपट आदिका भजन क्यों न करें, फिर यह नियम क्यों? इसका श्रीवल्लभाचार्यजी यों उत्तर देते हैं कि यद्यपि यह बहुभवन सब कुछ ब्रह्म है तथापि प्रयोजनके लिये है। भिन्न-भिन्न प्रयोजनोंके लिये भिन्न-भिन्न बहुभवन है और वह भी उच्चनीचभावसे। घटपट आदि पदार्थ भजनके लिये बहुभवन नहीं हैं, वे जलाहरण और आच्छादनकार्यके लिये हैं। किन्तु राम-कृष्ण आदि बहुभवन, शालग्राम आदि बहुभवन भजनके लिये हैं, इसलिये उनका ही भजन करना ठीक है। घटपटका जप करना यह भी शब्दब्रह्मका बहुभवन है सही, पर जीवोद्धारके लिये जप करनेको नहीं हुआ है, वह किसी अन्य कार्यके लिये है। 'रामराम' 'कृष्णकृष्ण' यह भी शब्दब्रह्मका बहुभवन है, पर यह बहुभवन जप करनेके लिये है, जीवोद्धारके लिये है।

एक और भी बात है। यद्यपि यह सारा जगत् ब्रह्म ही है पर दशांगुल है। अतिरिक्त नहीं है। व्यतिरिक्त ब्रह्म तो इससे कहीं अनन्त है। अतएव दशांगुलको समझ लेना जरूरी है पर भजन तो व्यतिरिक्तका ही, अनन्तका ही करना चाहिये। एक तीसरी बात और है—

ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः
पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः।
न कुत्रचित् क्वापि च दुःस्थिता मति-
र्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम्॥

मूलका जब परित्याग कर दिया जाता है तब फिर उसकी कल्पित वस्तुओंपरसे अभिधेयका पर्यवसान होना असम्भव हो जाता है। मृत्तिका मूल है, किन्तु इसका परित्याग करनेपर फिर उसके बासनोंपर ही दृष्टि रखनेसे तो उनका कात्स्न्र्येन ज्ञान होना और गिन सकना भी असम्भव ही है। उसमें बुद्धि बहुशाख और अनन्त हो जाती है और वस्तुका निर्णय ही नहीं होता। और एक निर्णय न होनेसे भजन किसका किया जाय?

चौथी बात यह है कि इस अवस्थामें हमें वस्तुतत्त्वका भान ही नहीं है। अभीतक हमें यह भान नहीं है कि ये सारी वस्तुएँ वस्तुतत्त्व हो हैं। वस्तुतत्त्वके ही वस्तुकोटि, नामान्तर और रूपान्तर हैं। अभीतक हम वस्तुको और वस्तुतत्त्वको पृथक्-पृथक् देख रहे हैं। जगत् और ब्रह्मको अलग-अलग मान और देख रहे हैं। किन्तु जब हमें सर्वत्र ब्रह्मदर्शन हो जाय, वस्तुबुद्धि जाती रहे, तब 'यत्किञ्च भूतं

प्रणभेदनन्यः' सब पदार्थ ही ब्रह्म होनेसे सेवनीय हैं, पूजनीय हैं। अभी मूलपर दृष्टि नहीं है, इसलिये शास्त्रने जिसको सर्वमूल कर रक्खा है उसका ही भजन करना उचित है। शास्त्र और महात्माओंके अनुभवसे जिसमें निर्दोषता और पूर्ण कल्याणगुण स्पष्ट मालूम देते हों उसका ही भजन करना उचित है। ऐसे तो वह श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, भगवान् हैं, सर्वात्मा हैं, निर्दोष हैं, पूर्ण कल्याणगुण हैं, दयालु हैं और सर्वेश्वर हैं। इसलिये श्रीकृष्णका ही भजन करना उत्तमोत्तम है। और उनका ही अंग यह सारा जगत् है, इसलिये इसका भी अपने अधिकारानुसार यथोचित पूजन करते रहना चाहिये। श्रीमद्वल्लभाचार्यका भक्तिके विषयमें मन्तव्य हम अपने 'भक्तिप्रपत्तिका स्वरूपगत भेद' इस लेखमें कह चुके हैं।

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी उत्तरादि तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज और ये सोमयाजी थे। इनके पूर्वजोंमें श्रीयज्ञनारायणभट्टजी प्रसिद्ध पुरुष थे। इन्होंने अपनी अवस्थामें बत्तीस सोमयागपर्यन्त श्रौतयाग किये। इन्हींको भगवान्ने वरदान दिया था कि सौ सोमयाग पूर्ण होनेपर मैं तुम्हारे वंशमें जन्म ग्रहण करूँगा। तदनुसार श्रीवल्लभाचार्यजीके पिता श्रीलक्ष्मणभट्टजीके हाथसे वे सौ सोमयाग पूरे हुए। श्रीलक्ष्मणभट्टजीने पाँच सोमयाग किये। ये कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय शाखाके अधीती थे। श्रीवल्लभाचार्यकी माताका नाम यल्लमागारु था। सौ सोमयाग पूर्ण होनेसे श्रीलक्ष्मणभट्टजीके श्रीभगवान्का श्रीवल्लभाचार्यके स्वरूपमें प्रादुर्भाव हुआ। शास्त्रप्रामाण्यसे भी श्रीवल्लभाचार्य भगवान् हैं–'आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति।' 'आचार्यं मां विजानीयात्' 'भगवान् आचार्यस्वरूपसे ही अपने स्वरूपका प्रकाश करते हैं', 'आचार्य मेरा स्वरूप है' इत्यादि वचनोंसे श्रीवल्लभाचार्य भगवान्के स्वरूप हैं। अनुभवसे भी श्रीवल्लभाचार्य भगवान् हैं। सब आचार्य और विद्वानोंसे अपूर्व एवं वैदिक सिद्धान्तोंकी रक्षा करनेवाली बातें श्रीमद्वल्लभाचार्यने कही हैं। ये उनका भगवान् होना सिद्ध करती हैं। वास्तवमें तो भगवद्धर्म उनमें होनेसे वे भगवान् हैं। समाधिभाषाके अधिकारस्कन्धमें 'सत्यं शौचम्' आदि श्लोकोंसे भगवान्के गुणों (धर्म) का कुछ दिग्दर्शन कराया गया है, वे गुण श्रीवल्लभाचार्यजीमें भी थे। श्रीवल्लभाचार्यजीके नित्यलीलाप्रवेशके कुछ पूर्व उनके पुत्र जब हनुमानघाट काशीमें मिलने गये तब उनसे साक्षात् कुछ न बोलकर एक पत्रपर यह लिखकर दे दिया कि 'जिस दिन तुमलोग श्रीकृष्णके सिवा अन्य पदार्थोंमें आसक्ति करोगे उस दिनसे ही तुम्हें, तुम्हारी ही देह, मन आदि खा जायँगे, यह मेरी बुद्धि कह रही है।' यह एक उनका प्रत्यक्ष सत्य था। त्याग भी श्रीवल्लभाचार्यमें पूर्ण था। सारी उमर आपने धोती और उत्तरीयके सिवा अपर वस्त्रोंका भी परिग्रहण नहीं किया। न कोई मठ या मन्दिर स्थापित किये। अन्ततोगत्वा जो एक कहीं अपनी झोपड़ी थी उसे भी अपनी इच्छाग्निके द्वारा भस्म कर परिग्रहका अन्त कर किया। इस त्यागको भी सारा सम्प्रदाय जान रहा है। त्यागके बिना ज्ञानका प्रचार नहीं हो सकता। प्रायः सारे भारतवर्षमें जो पुष्टिमार्गका प्रचार हो रहा है आजतक, यह केवल श्रीमद्वल्लभाचार्यके त्यागका ही प्रताप है। ब्रह्मवाद (शुद्धाद्वैत) और पुष्टिमार्ग दोनों बहुत प्राचीन हैं। इनका प्रकाश और प्रचार श्रीवल्लभाचार्यने किया। इस वैदिक प्राचीन मतके प्रचारार्थ आपने तीन बार सारे भारतके तीर्थोंकी यात्रा की। जहाँ आपके विराजनेके स्थान उपलब्ध हुए हैं वे 'बैठकजी' इस नामसे प्रसिद्ध हैं। अणुभाष्य, पूर्वमीमांसाभाष्य, सुबोधिनी प्रभृति बहुत-से ग्रन्थरत्न आपके निर्माण किये हुए आज प्रसिद्ध हो चुके हैं। वार्ताएँ, भावनाएँ आपके सत्यगुणवर्णनोंसे भरी हुई हैं जिनके नित्य श्रवण एवं कथनसे भारतकी लक्षशः वैष्णव जनता अपने जन्म एवं आचरणोंको पवित्र बना रही है। मनकी विविधताके कारण भावनाओंपर सन्देह और वार्ताओंपर कभी-कभी आक्षेप हो सकते हैं किन्तु इनसे उनकी सत्यतामें बाधा नहीं आ सकती। किसीकी भावना किसीको विरुद्ध या अनुकूल जँचे, यह हो सकता है, क्योंकि मनकी विविधता है। किन्तु वह मूलतः असत्य है यह कैसे कह सकते हैं ! श्रीमद्वल्लभाचार्यका सारा जीवन ग्रन्थनिर्माण, तत्प्रचार और भगवदाराधनमें ही गया। आपने बहुत थोड़े ही समयतक भारतको पवित्र कर पाया। बावन वर्षकी आयुमें ही भगवदाज्ञासे आपको इहलीलाका संवरण करना पड़ा। अतएव भागवतका भाष्य श्रीसुबोधिनी अधूरी रह गयी। तथापि आपने अपने सिद्धान्तोंको सर्वसामान्यके लिये निबन्धों और षोडश ग्रन्थोंमें संक्षेपसे खूब समझा दिया। आजकल नाथद्वारमें विराजित श्रीनाथजीका स्वरूप श्रीवल्लभाचार्यजीने प्रादुर्भाव किया था। श्रीवल्लभाचार्यका प्रादुर्भाव संवत् १५३५ सन् १४७९ के वैशाख कृष्णा एकादशीके मङ्गलमय दिनको रायपुरके

समीप चम्पारण्यमें हुआ था। इनके पिता श्रीलक्ष्मणभट्टजी बहुत कालसे काशीमें निवास करते थे। वहाँ विद्यार्थियोंका उपद्रव होनेसे अन्यत्र जानेके समय मार्गमें चम्पारण्यमें आपका प्रादुर्भाव हुआ। आपका प्रायः सब कुल दीक्षित था। श्रीवल्लभाचार्यके श्रीहस्तसे सेवित भगवन्मूर्ति निधि कही जाती है।

श्रीवल्लभाचार्यके इस शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गसम्प्रदायमें प्रायः सब वंशधर गोस्वामिगण विद्वान् एवं प्रतापी हो गये हैं और अब भी हैं। किन्तु उनमें प्रधान चार गोस्वामी महामहिम विद्वान् हुए हैं। गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथ दीक्षित, गोस्वामिश्रीगोकुलनाथजी महाराज, महानुभाव गोस्वामिश्रीहरिरायजी महाराज और गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमजी महाराज।

गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथजी दीक्षित, श्रीवल्लभाचार्यके द्वितीय पुत्र थे। आपकी प्रसिद्धि सम्प्रदायमें भगवदवताररूपसे है। अतएव आपको श्रीप्रभुचरण कहते हैं। आप पूर्ण विद्वान् एवं महामहिमाशाली महापुरुष थे। आज सम्प्रदायका अस्तित्व आपके ही अनुग्रहका फल है। आचार्यपरम्परा और सेवाका दृढ़ प्रचार दोनों आपके ही हैं। ये दोनों ही सम्प्रदायके 'अस्ति' हैं। सेवाकी क्रमिक सशास्त्र पद्धति आपने ही नियत की और पूर्ण रूपसे उसका प्रचार भी किया। आपके बनाये हुए विद्वन्मण्डनादि कई ग्रन्थ आपके वैदुष्यका प्रकाश कर रहे हैं। आपके स्वतन्त्र लेख भी बहुत हैं जो कि श्रीवल्लभाचार्यके ग्रन्थोंमें सम्मिलित लिखे जानेसे उनके ही गिने जाते हैं। पा भाषाभेदसे स्पष्ट पृथक् किये जा सकते हैं। आपके स पुत्र विद्वान् एवं प्रतापी हुए जिनका वंश आज विराजमान है। इनकी भी वार्ताएँ प्रसिद्ध हैं।

गोस्वामिश्रीगोकुलनाथजी महाराज भी पूर्ण विद्वा एवं प्रतापी थे। कई बार आपने विपक्षी विद्वानोंके साथ वाद कर विजय पायी और बादशाहतकको अपना प्रताप दिखाया। आपके भी बहुत-से ग्रन्थ हैं। इन्होंने संस्कृतमें भक्तचरितावली (वार्ता) भी बनायी है। ये गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथजी दीक्षितके चतुर्थ पुत्र थे।

गोस्वामिश्रीहरिरायजी महाराज पूर्ण विद्वान्, शान्त और मधुरस्वभाव महानुभाव थे। इनके ग्रन्थ श्रीमद्वल्लभाचार्यके सत्य सिद्धान्तोंका प्रकाश करनेवाले, गूढ़ और सारमय हैं। सम्प्रदायमें इनकी महानुभावरूपसे प्रसिद्धि है।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमजी महाराज बड़े प्रतापी विद्वान् थे। इनकी विद्या वारदानिक मालूम देती है, इनको केवल विद्याका ही सर्वदा सुसंग रहता था। इनके ग्रन्थ अभिनव वैदुष्यसे पूर्ण—भरे हुए रहते हैं। श्रीवाल्लभभाष्य और तत्त्वदीपनिबन्धपर आपकी बनायी उत्तमोत्तम टीकाएँ हैं। और भी आपके रचित वादग्रन्थ विपुल हैं। आपके वेदादि शास्त्रकी मर्यादाके रक्षणका पूर्ण आग्रह है। यह मैंने शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग तथा उसके प्रकाशकोंका थोड़ा-सा परिचय दे दिया है। समानशीलव्यसन विद्वान् लोग इसे ग्रहण करनेका अनुग्रह करें।

कौन ?

(१)
छिप-छिपके कौन बजाता है मोहमयी शहनाई !
है कैसी भूल-भुलैया ? यह समझ नहीं है आई।

(२)
है कौन निरंतर करता रंगस्थलमें परिवर्त्तन ?
फिर कौन विविध वेषोंसे इसमें करता है नर्त्तन ?

(३)
मुसकाता कौन सुमनमें, है चन्द्रबिंबमें हँसता ?
नलिनीके जीवन-धनमें किसकी है तीव्र प्रखरता ?

(४)
यह कौन अनिल-स्यंदनपर क्षण-क्षण है आता-जाता?
जगतीके आँगनमें है नव-जीवन-कण बिखराता ?

(५)
शुभ-शोभन नीलांबरमें जड़ करके अगणित हीरे
फिर कौन छुड़ा लेता है कुछ क्षणमें धीरे-धीरे!

(६)
ऊषा नव-साज सजाकर किसका करती अभिनंदन!
संध्या किसके हाथोंमें करती सर्वस्व समर्पण!

(७)
है अवगुंठनमें किसकी जगमग करती सुंदरता!
यह कौन विनश्वरतामें है क्रीड़ासक्त अमरता!

(८)
है कौन विश्व-तंत्रीके तारोंको झंकृत करता!
फिर स्वर-लहरीमें उसकी मधु-मादकता है भरता!

श्रीरामप्रियाशरणसिंह—'रत्नेश'

गुरुभक्तिसे ब्रह्मज्ञान

जबाला नाम्नी एक सदाचारिणी ब्राह्मणी थी। उसके सत्यकाम नामक पुत्र था। जब वह विद्याध्ययन करने योग्य हुआ, तब एक दिन उसने गुरुकुल जानेकी इच्छासे अपनी मातासे पूछा—'हे पूजनीया माता! मैं ब्रह्मचर्यपालन करता हुआ गुरुकी सेवामें रहना चाहता हूँ, गुरु मुझसे नाम और गोत्र पूछेंगे; मैं अपना नाम तो जानता ही हूँ परन्तु गोत्र नहीं जानता, अतएव मेरा गोत्र क्या है सो बतलाओ।'

जबालाने कहा—'बेटा! तू किस गोत्रका है, इस बातको मैं नहीं जानती। मेरी जवानीमें, जब तू पैदा हुआ था, तब मेरे स्वामीके घरपर बहुत-से अतिथि आया करते थे। मेरा सारा समय उनकी सेवामें ही बीत जाता था, इससे मुझको तेरे पितासे गोत्र पूछनेका समय नहीं मिला, अतएव मैं तेरा गोत्र नहीं जानती। मेरा नाम जबाला है और तेरा सत्यकाम; बस, मैं इतना ही जानती हूँ। तुझसे आचार्य पूछें तो कह देना कि मैं जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।'

माताकी आज्ञा लेकर सत्यकाम महर्षि हरिद्रुमके पुत्र गौतम ऋषिके घर गया और प्रार्थना करके बोला कि 'हे भगवन्! मैं ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ आपके समीप रहकर सेवा करना चाहता हूँ। मुझे स्वीकार कीजिये।' गुरुने बड़े स्नेहसे पूछा—'हे सौम्य! तेरा गोत्र क्या है?' सरल सत्यकामने नम्रतासे कहा—'भगवन्! मेरा गोत्र क्या है, इस बातको मैं नहीं जानता। मैंने यहाँ आते समय मातासे पूछा था तब उन्होंने कहा कि मैं युवावस्थामें अनेकों अतिथियोंकी सेवामें लगी रहनेके कारण स्वामीसे गोत्र नहीं पूछ सकी। युवावस्थामें जब तेरा जन्म हुआ था उसी समय तेरे पिताकी मृत्यु हो गयी थी, इसलिये शोक और दुःखसे पीड़ित होनेके कारण दूसरोंसे भी तेरा गोत्र नहीं पूछ सकी। मैं केवल इतना ही जानती हूँ कि मेरा नाम जबाला है और तेरा सत्यकाम है। अतएव हे भगवन्! मैं जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।'

सत्यवादी सरलहृदय सत्यकामकी सीधी-सच्ची बात सुनकर ऋषि गौतम प्रसन्न होकर बोले—'वत्स! ब्राह्मणको छोड़कर दूसरा कोई भी इस प्रकार सरल भावसे सच्ची बात नहीं कह सकता—'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति'—ऐसा सत्य और कपटरहित वचन कहनेवाला तू निश्चय ब्राह्मण है। मैं तेरा उपनयनसंस्कार करूँगा, जा थोड़ी-सी समिधा ले आ!'

विधिवत् उपनयनसंस्कार होनेके बाद वेदाध्ययन कराकर ऋषि गौतमने अपनी गोशालामेंसे चार सौ दुबली-पतली गौएँ चुनकर अधिकारी शिष्य सत्यकामसे कहा—'पुत्र! इन गौओंको चराने वनमें ले जा। देख, जबतक इनकी संख्या पूरी एक हजार न हो जाय तबतक वापस न आना।' सत्यकामने प्रसन्न होकर कहा—'भगवन्! इन गौओंकी संख्या जबतक पूरी एक हजार न हो जायगी, तबतक वापस नहीं आऊँगा।' यों कहकर सत्यकाम गौओंको लेकर जिस वनमें चारे-पानीकी बहुतायत थी, उसीमें चला गया और वहीं कुटिया बनाकर वर्षोंतक उन गौओंकी तन-मनसे खूब सेवा करता रहा।

गुरुभक्तिका कितना सुन्दर दृष्टान्त है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छावाले शिष्यको गौ चरानेके लिये गुरु वनमें भेज दें और वह चुपचाप आज्ञा शिरोधार्य कर वर्षोंतक निर्जन वनमें रहने चला जाय। यह बात ज्ञानपिपासु गुरुभक्त भारतीय ऋषिकुमारोंमें ही पायी जाती है। आजकी संस्कृति तो इससे सर्वथा विपरीत है! अस्तु!

सेवा करते-करते गौओंकी संख्या पूरी एक हजार हो गयी। तब एक दिन एक वृषभने आकर पुकारा—'सत्यकाम!' सत्यकामने उत्तर दिया—'भगवन्! क्या आज्ञा है?' वृषभने कहा—'वत्स! हमारी संख्या एक हजार हो गयी है; अब हमें गुरुके घर ले चलो, मैं तुमको ब्रह्मके एक पादका उपदेश करता हूँ।' सत्यकामने कहा—'कहिये भगवन्!' इसके बाद वृषभने ब्रह्मके एक पादका उपदेश देकर कहा—'इसका नाम प्रकाशवान् है। अगला उपदेश तुझे अग्निदेव करेंगे।'

दूसरे दिन प्रातःकाल सत्यकाम गौओंको हाँककर आगे चला, सन्ध्याके समय रास्तेमें पड़ाव डालकर उसने गौओंको वहाँ रोका और उन्हें जल पिलाकर रात्रिनिवासकी व्यवस्था की। तदनन्तर वनमेंसे काठ बटोरा और अग्नि जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। अग्निदेवने तीन बार कहा—'सत्यकाम!' सत्यकामने उत्तर दिया—'भगवन्! क्या आज्ञा है?' अग्निने कहा—'हे सौम्य! मैं तुझे ब्रह्मके द्वितीय पादका उपदेश करता हूँ।' सत्यकाम बोला—'कीजिये भगवन्!' तदनन्तर अग्निने ब्रह्मके दूसरे पादका उपदेश करके कहा—'इसका नाम अनन्तवान् है। अगला उपदेश तुझे हंस करेगा।'

सत्यकाम रातभर उपदेशका मनन करता रहा। प्रातःकाल गौओंको हाँककर आगे बढ़ा और सन्ध्या होनेपर किसी सुन्दर जलाशयके किनारे ठहर गया। गौओंके लिये

रात्रिनिवासकी व्यवस्था की और आप आग जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। इतनेमें एक हंस ऊपरसे उड़ता हुआ आया और सत्यकामके पास बैठकर बोला—'सत्यकाम !' सत्यकामने कहा—'भगवन् ! क्या आज्ञा है ?' हंसने कहा—'हे सत्यकाम ! मैं तुझे ब्रह्मके तीसरे पादका उपदेश करता हूँ।' सत्यकामने कहा—'भगवन् ! कृपा करके कीजिये।' पश्चात् हंसने ब्रह्मके तीसरे पादका उपदेश करके कहा—'इसका नाम ज्योतिष्मान् है। अगला उपदेश तुझे जलमुर्ग करेगा।'

रातको सत्यकाम ब्रह्मके चिन्तनमें लगा रहा, प्रातःकाल गौओंको हाँककर आगे चला और सन्ध्या होनेपर एक वटके वृक्षके नीचे ठहर गया। गौओंकी उचित व्यवस्था करके वह अग्नि जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। इतनेमें एक जलमुर्गने आकर पुकारा, 'सत्यकाम !' सत्यकामने उत्तर दिया, 'भगवन् ! क्या आज्ञा है ?' मुर्गेने कहा, 'वत्स ! मैं तुझे ब्रह्मके चतुर्थ पादका उपदेश करता हूँ।' सत्यकाम बोला—'प्रभो ! कीजिये।' तदनन्तर जलमुर्गने आयतनवान् रूपसे ब्रह्मका उपदेश किया।

इस प्रकार सत्य, गुरुसेवा और गौ-सेवाके प्रता वृषभरूप वायु, अग्निदेव, हंसरूप सूर्यदेव और मुर्गरूप प्रा देवतासे ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सत्यकाम एक हजार गौओं बड़े समूहको लेकर आचार्य गौतमके घर पहुँचा। उ समय उसके मुखमण्डलपर ब्रह्मतेज छिटक रहा था, आनन्द की सहस्र-सहस्र किरणें झलमला रही थीं। गुरुने सत्यका की चिन्तारहित, तेजपूर्ण दिव्य मुखकान्तिको देखकर कहा- 'वत्स सत्यकाम !' उसने उत्तर दिया—'भगवन् !' गु बोले—'हे सौम्य ! तू ब्रह्मज्ञानीके सदृश दिखायी दे रहा है वत्स ! तुझको किसने उपदेश किया ?' सत्यकामने कहा- 'भगवन् ! मुझको मनुष्येतरोंसे उपदेश प्राप्त हुआ है। यों कहकर उसने सारा हाल सुना दिया और कहा- 'भगवन् ! मैंने सुना है कि आप-सदृश आचार्यके द्वा प्राप्त की हुई विद्या ही श्रेष्ठ होती है, अतएव मुझे आ ही पूर्ण रूपसे उपदेश कीजिये।' गुरु प्रसन्न हो गये औ उन्होंने कहा—'वत्स ! तूने जो कुछ प्राप्त किया है यही ब्रह्मतत्त्व है। अब तेरे लिये कुछ भी जानना शे नहीं रहा।'

वल्लभ-वेदान्त

(लेखक—दे० श्रीव्रजनाथजी शास्त्री, विशारद)

जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम्।
तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधाः॥

वल्लभ-वेदान्तको दूसरे शब्दोंमें यदि हम परात्पर भगवान् श्रीकृष्णके तत्त्वकी समीक्षा कहें तो अनुचित न होगा। श्रीवल्लभाचार्यने शास्त्रोंकी गवेषणा की तो श्रीकृष्णके लिये, शास्त्रार्थ किया तो श्रीकृष्णके लिये एवं वेदान्तप्रतिपादक जितने भी शास्त्रीय ग्रन्थ लिखे तो वे भी सब श्रीकृष्णके ही लिये। उनका मन, उनकी वाणी एवं उनका समस्त व्यवहार भी श्रीकृष्णपरक था। इसीसे हम आज भी देख रहे हैं कि इनके मार्गमें और इनके अनुयायिवर्गमें विद्वत्ताकी गवेषणाकी अपेक्षा श्रीकृष्णचन्द्रके पदानुरक्तिपर ही कहीं अधिक विशेष प्रेम रहता चला आ रहा है। श्रीकृष्णके प्रतिपादक ही हमारे शास्त्र हैं, इसके विरुद्ध चाहे वह ऊँचे-से-ऊँचा कुछ भी हो, हमारे लिये अशास्त्र है। वेदान्तका विचार हमारे यहाँ तभीतक मान्य है जबतक कि वह श्रीकृष्णपरक हो। थोड़ेमें कहें तो हम कह सकते हैं कि वल्लभ-वेदान्तमें सर्व शास्त्रोंका आलोडन किया है तो वह कृष्णके लिये है, वही समस्त शास्त्रोंका सार है, अतः वह हमारा ध्येय भी है।

वल्लभ-वेदान्तको साधारणतया शुद्धाद्वैत कहते हैं। इत अद्वैतमतोंसे वैलक्षण्य प्रतिपादन करनेके हेतु यहाँ शुद्ध प सन्निविष्ट है। इतर वेदान्तमतावलम्बी जनोंकी तरह श्रीवल्लभ सम्प्रदायमें भी प्रमाण माने गये हैं। श्रीवल्लभाचार्य शब्दको ही स्वतःप्रमाण मानते हैं। शब्दप्रमाणको परम प्रमाण मान कर ही प्रस्थानत्रयीके साथ श्रीवल्लभाचार्यने श्रीमद्भागवतको भी इन्हींके समान गौरव देते हुए प्रस्थानचतुष्टयको प्रमा माना है। 'उत्तरं पूर्वसन्देहवारकम्' कहते हुए प्रस्थानत्रयीके सन्देहको दूर करनेवाला श्रीभागवत शास्त्र वेदवत् है, य कहकर आपने श्रीभागवतपर अपनी अटल श्रद्धा अभिव्य की है।

प्रमाणके अनन्तर प्रमेय आता है। 'प्रमाकरणं प्रमेयम्' शुद्धाद्वैतमें प्रमेय तीन प्रकारका है—स्वरूपकोटि, तत्त्व कोटि और कार्यकोटि। वस्तुतः प्रमेय तो एक ही है और वह आनन्दकन्द श्रीकृष्ण हैं। यही श्रीकृष्ण स्वरूप, तत्त्व और

कार्यरूपसे निरूपित होते हैं। 'यथा शब्द एव प्रमाणं तत्रापि वेदादिभावापन्नस्तथा हरिरेव प्रमेयः सर्वभावापन्नः।' जिस प्रकार प्रमाणोंमें शब्दप्रमाण ही प्रमाण है और वह भी वेदादिभावापन्न शब्द ही, उसी प्रकार श्रीहरि भी सर्वभावापन्न प्रमेय हैं। उसीकी तीन अवस्था बताते हुए कहते हैं—

बुद्धिसौकर्यसिद्ध्यर्थं त्रिरूपेणैव वर्ण्यते ।
कारणेन च कार्येण स्वरूपेण विशेषतः ॥

अट्ठाईस तत्त्व कारणरूप प्रमेय हैं—

अष्टाविंशतिभेदास्तु कारणे तत्त्वभेदतः ।
भगवत्त्वं यतस्तेषां तस्मात्तत्त्वानि तानि तु ॥

अण्डसृष्टिके पूर्व वे कारणरूप हैं, इसलिये ये कारण कहे गये हैं। कार्यरूप प्रमेयके अनन्त भेद हैं, उनकी गणना घटपटवत् असम्भव है। स्वरूपकोटिके तीन भेद हैं—क्रिया, ज्ञान, तथा क्रियाज्ञानरूप। क्रियारूप यज्ञ, ज्ञानरूप ब्रह्मका निरूपण करनेवाले शास्त्रोंमें (वेदोत्तरकाण्डे) क्रिया और ज्ञानरूप ब्रह्मका निरूपण गीता तथा श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णरूपसे स्फुट है।

क्रियारूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी यज्ञ एकः। तथा ज्ञानरूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी द्वितीयः। ज्ञानक्रियोभययुतः कृष्णस्तृतीय इति त्रयो भेदाः।

इसके अतिरिक्त अक्षर, काल, कर्म, स्वभाव ये भी भगवत्स्वरूप हैं। इस प्रकार कार्यकारण और स्वरूपरूपसे प्रमेय विस्तृत है। किन्तु यह सब भगवद्रूप होनेसे भगवान् श्रीकृष्ण ही उन-उन रूपोंमें प्रमेय हैं, यह वल्लभ-वेदान्त-सिद्धान्त है।

जगत्-तत्त्वके वेदान्तमें श्रीवल्लभाचार्यने अविकृतपरिणामवादका प्रतिपादन किया है। उनका कहना यह है कि जिस प्रकार कामधेनु, मन्त्र, कल्पवृक्ष आदि पदार्थोंमेंसे नाना प्रकारके पदार्थ उत्पन्न हो सकते हैं तथापि वे विकृत नहीं होते उसी प्रकार ब्रह्ममेंसे यह जगत् उत्पन्न हुआ है और ब्रह्ममें कोई विकृति नहीं आती। दूध दही होते समय अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं रखता, अपने-आप ही रूपान्तर ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार ब्रह्म भी अपने आप ही जगत्रूपसे बदल जाता है। जगत् ही ब्रह्म है इसीलिये वल्लभ-वेदान्तमें जगत्को सत्य माना है। संसार इससे भिन्न है, वह अविद्याजनित है, अतः मिथ्या है। इसीलिये कहा है—

प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाभवत् ।
संसारस्य लयो मुक्तौ न प्रपञ्चस्य कर्हिचित् ॥

वल्लभ-वेदान्तमें जीव भगवत्स्वरूप है। जिस प्रकार अग्निमेंसे तेजस्वी और हीन पतङ्गे निकलते हैं उसी प्रकार जीव भी उसी ब्रह्ममेंसे निकलते हैं। वास्तवमें जीव-ब्रह्मका अभेद है। ब्रह्म सत्, चित् और पूर्ण प्रकटानन्द हैं तब जीव तिरोहितानन्द संसारावस्थामें रहता है। उसी जीवका जब आनन्दांश उद्रेक होता है तब वह सत्, चित् और आनन्दरूप हो जाता है। ब्रह्मको अलौकिक माननेसे अवयवावयवीकी शंका भी निर्मूल हो जाती है। जीव नित्य है, क्योंकि श्रुतियोंमें जीवका व्युचरण होना लिखा है, उत्पत्ति नहीं। वल्लभ-वेदान्तमें जीवाणुत्व स्वीकृत है। अणु होनेपर भी चन्दनवत् सर्व शास्त्रोंमें व्याप्त है और मणिवत् प्रकाशित है। जीवका चैतन्य धर्म है और वह ज्ञाता भी है। जीव कर्ता भी है और भोक्ता भी। उसका कर्तव्य ब्रह्मसे उसके कर्मकी अपेक्षासे नियमित है और इससे फलदान होनेसे ब्रह्मको वैषम्य, नैर्घृण्य नहीं। अब जीवका लक्ष्य क्या है, इसपर विचार करनेपर ब्रह्मप्राप्ति ही इसका चरम लक्ष्य है, यह शास्त्रोंसे सिद्ध होता है और वह कर्म, ज्ञान और भक्तिसे साध्य है यह शास्त्रोंमें कहा है। वल्लभाचार्यने भी अपने वेदान्तमें इसका विचार किया है और सिद्ध किया है कि कलिमें ज्ञान और कर्मसे ब्रह्मप्राप्तिके साधन नष्ट हो गये हैं और भक्तिमार्ग अथवा भगवच्छरणमार्ग ही ब्रह्मप्राप्तिमें साधन हो सकते हैं। बड़े अच्छे शब्दोंमें आपने यह प्रमाणित किया है कि—

ज्ञाननिष्ठा तदा ज्ञेया सर्वज्ञो हि यदा भवेत् ।
कर्मनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा चित्तं प्रसीदति ॥
भक्तिनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा कृष्णः प्रसीदति ।

यहाँ हम इसकी कुछ समीक्षा करेंगे। कर्ममार्गका फल अनित्य है, पुण्योपभोग कर ले वहाँतक ही उसका फल है। किन्तु भक्तिमार्गका फल नित्य है। भक्तिमार्गमें निराशा अथवा दुःखका होना सम्भव ही नहीं है। कर्ममार्ग क्लेशसाध्य है, परन्तु भक्तिमार्गमें क्लेश है ही नहीं। कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग अत्यन्त कठिन हैं, कलिमें उनके द्वारा सिद्धि प्राप्त करना एक तरहसे प्रायः असम्भव ही है। भक्तिमार्ग कलिमें अत्यन्त सुलभ है और आयोजनरहित है। कर्ममार्गमें कर्मके फलकी प्राप्तिके लिये देश, काल, द्रव्य, कर्म, कर्ता और मन्त्रकी शुद्धि अपेक्षित है जो कि कलिमें सर्वथा असम्भव है, भक्तिमार्गमें देशकालादिकी शुद्धिकी अपेक्षा सर्वथा नहीं है।

कर्मके अनन्तर ज्ञान आता है। यह ज्ञान शास्त्रोंमें सात्त्विक, राजसिक, तामसिक-भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

यही शुद्धाद्वैतज्ञान है और यही वल्लभ-वेदान्तमें प्रतिपादित है । यहाँ सिद्ध ज्ञानको ही ज्ञान कहते हैं । मधु मीठा है, यह शाब्दिक ज्ञान पर्याप्त नहीं; किन्तु उसका रसास्वादन ही यथार्थ ज्ञान है । ज्ञानीका ध्येय अक्षरब्रह्म है, और यहाँ पुरुषोत्तम है । अक्षर गणितानन्द और पुरुषोत्तम पूर्णानन्द है । ज्ञानीका आत्मा दुग्धशर्करावत् ब्रह्ममें मिल सकता है, किन्तु भक्तका आत्मा अलौकिक विग्रह धारण कर पुरुषोत्तमके साथ क्रीडा करता है । ज्ञानीका मोक्ष दुःखका अभाव है, भक्तका मोक्ष परमानन्दकी प्राप्ति है ।

सर्वधर्मोपपत्तेश्च, सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ।

—आदि प्रमाणोंका अवलम्बनकर श्रीमद्वल्लभाचार्यने ब्रह्मको सर्वधर्मसमन्वित माना है। ब्रह्ममें नियतधर्मित्व माननेसे ब्रह्ममें इयत्ता आ जाती है । ब्रह्मको अत्यन्त निर्गुण माननेसे उसका ज्ञान भी असम्भव हो जायगा, तब मोक्षरूप पुरुषार्थ भी व्यर्थ हो जायगा, शास्त्रमात्र व्यर्थ हो जायँगे ।

ब्रह्ममें विरुद्ध सर्वधर्माश्रयत्व भी है। 'उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्' 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्' आदि सूत्र इसीका प्रतिपादन करते हैं । परात्पर परब्रह्मका माहात्म्य ही ऐसा अनवगाह्य है कि उसमें सब विरुद्ध धर्मोंका आश्रय स्वाभाविक रीतिसे सम्भव है । इतिहास-पुराण सब इसके प्रमाण हैं । ब्रह्म निर्विशेष है, सविशेष भी है; निर्गुण है, सगुण भी है; अणु भी है, महान् भी है; कूटस्थ है, चल भी है; अगम्य है, गम्य भी है । 'अपि संराधने प्रत्यक्षानु०' 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगा०' 'पश्यन्ति यं योगिनः' 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' 'समो मशकेन समो नागेन' 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता०' आदि सब ब्रह्मके सर्वधर्माश्रयत्वके उदाहरण हैं ।

वल्लभ-वेदान्तमें ब्रह्मको सर्वकर्तृत्वरूपसे स्वीकार किया है । वह स्वयं आप्तकाम है तथापि 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' न्यायसे कर्ता भी है । कर्तृत्व मायाकृत नहीं किन्तु सर्वां पूर्ण माहात्म्यप्रदर्शक है । यह सब होकर भी वल्लभवेदान्त की प्रवृत्ति और निवृत्ति तो भगवान् श्रीकृष्णमें ही रही है। वेदान्तका अनुशीलन करते हुए भी पुष्टिमार्गीय महानुभाव तो श्रीकृष्णको ही ढूँढ़ते हैं । वेदान्तके चक्करमें फँसकर वे मुख्य साध्य वस्तुको भूल नहीं जाते । उनका वेदान्तसार तो नन्दांगणमें नृत्य करनेवाला रासरसिक आनन्दकन्द श्रीकृष्ण ही है और उसके प्रेमके आगे वे वेदान्तकी रूखी बातोंको भूल जाते हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं ।

इस प्रकार हमने स्थालीपुलाकन्यायसे वल्लभ-वेदान्तका प्रतिपादन किया है । जिसके लिये राशि-राशि ग्रन्थ समर्थ विद्वानोंद्वारा लिखे गये हैं उसे कुछ पंक्तियोंमें अभिव्यक्त करना बहुत कठिन है । तथापि हमने वेदान्तके अङ्गरूप प्रमाण, प्रमेय, जगत्, जीव, ब्रह्म, कर्मज्ञान और भक्तिका यथाज्ञान अनुशीलन और पूजनीय पिताजीकी कृपासे कुछ प्रतिपादन किया है ।

वेद-वेदान्त और समस्त शास्त्रोंका निचोड़ और सार भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं । सुधी उसीको परमतत्त्व मानते हैं। आजकल भी जिस प्रकार सार वस्तुपर मनुष्यकी नजर जाती है उसी प्रकार विद्वानोंकी दृष्टि शास्त्रोंके सार भगवान् श्रीकृष्णपर जमी हुई है । वे ब्रह्मप्रतिपादक ग्रन्थोंकी आलोचना अब कहाँ करते हैं ? उनको तो अब 'कल्याण' उत्तमोत्तम वस्तु श्रीकृष्ण मिल गयी है, अकल्याणकारी भवभय अब उनको नहीं सताता । कल्याणकी कल्याणकामना, हमारे कल्याणके लिये कल्याणभावना और भगवान् श्रीकृष्णका कल्याणके लिये कल्याणपूर्ण आशीर्वाद ही अब तो कल्याणके कल्याणके लिये कल्याणकामना है और वह श्रीकृष्णपर अनन्य प्रेमसे सुलभसाध्य है । इसीसे हम पहले ही कह आये हैं—

जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम् ।
तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधाः ॥

◆

यह सब निश्चय ब्रह्म ही है, इसीसे जगत् उत्पन्न होता है, इसीमें लय होता है, इसीमें चेष्टा करता है, इसलिये शान्त होकर उपासना करे क्योंकि पुरुष निश्चयमय है। इस लोकमें पुरुष जैसा निश्चयवाला होता है, वैसा ही यहाँसे मरकर होता है, इसलिये वह क्रतु यानी पक्का निश्चय करे । (छा० ३ । १४ । १)

श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुका वेदान्त-सिद्धान्त

(लेखक—आचार्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी)

सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे ।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ॥

श्रीश्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभुने वेदान्तसूत्रोंपर स्वयं कोई भाष्य निर्माण नहीं किया है। उन्होंने समय-समयपर अपने अनुगतोंको जो उपदेश दिये हैं उन्हींमें उनके वेदान्तविषयक सिद्धान्त पाये जाते हैं। ये उपदेश श्रीकृष्णदास कविराज-रचित श्रीचैतन्यचरितामृत-ग्रन्थमें संग्रहीत हुए हैं। हम यहाँ कल्याणके वेदान्तांकके पाठकोंकी अवगतिके लिये उन्हींमेंसे श्रीमन्महाप्रभुके वेदान्तसम्बन्धी कुछ वाक्य उद्धृत कर उपस्थित विषयका सारार्थप्रदर्शन करते हैं—

स्वतः प्रमाण वेद प्रमाण शिरोमाणि ।

× × × ×

मायामुग्ध जीवै नहीं कृष्णस्मृतिज्ञान ।
कृपा कर कृष्ण कहे वेद ओ पुरान ॥

× × × ×

उपनिषद् वाक्यमें जो मुख्य अर्थ रह्यो ।
सोइ सब अर्थ व्यास सूत्रनमें कह्यो ॥

× × × ×

प्रभु कहैं, ब्रह्मसूत्र ईश्वरवचन ।
व्यासरूप होय कह्यो तिन्हैं नारायण ॥
भ्रम प्रमाद छलना करणापाटव ।
ईश्वरवाक्यमें नहीं दोष यह सब ॥

× × × ×

मुख्य अर्थ छाँड़ करो गौणार्थकल्पना ।
अभिधा कू छाँड़ करो शब्दकी लक्षणा ॥

× × × ×

व्यास सूत्रनमें कह्यो परिणामवाद ।
व्यास भ्रान्त होत तासों उठो ये विवाद ॥
परिणाममें ईश्वर होत सविकार ।
याही सों विवर्त्तवाद कियो है स्वीकार ॥
वस्तुतः परिणामवाद ही है प्रमान ।
देहमें है आत्मबुद्धि विवर्त्तको स्थान ॥
अविचिन्त्य शक्तियुक्त हैं श्रीभगवान ।
स्वेच्छासे जगतरूप परिण.म जान ॥
अचिन्त्यशक्ति हैं भगवान अविकार ।
प्राकृत चिन्तामणि है दृष्टान्त निर्धार ॥
होत हैं चिन्तामणि सों नाना रत्न स्तूप ।
तो भी चिन्तामणि रहै अविकृतरूप ॥
स्वरूप ऐश्वर्य तासु नहीं माया गंध ।
है सभी वेदको भगवानसों सम्बन्ध ॥
ताय निर्विशेष कहैं चिच्छक्ति न मान ।
अर्धरूप माने बिना पूर्णताकी हान ॥

× × × ×

प्रणव है महावाक्य वेदको कारन ।
ईश्वर प्रणव करै विश्वकू धारन ॥
सर्वाश्रय ईश्वरको प्रणव उद्देश ।
तत्त्वमसि वेदकौ है वाक्य एक देश ॥
प्रणव-महावाक्यता कर आच्छादन ।
तत्त्वमसि महावाक्य कियो है स्थापन ॥
कहैं उपनिषद सह सूत्र जो तत्त्व ।
मुख्य वृत्ति सौं है अर्थ परम महत्त्व ॥

× × × ×

ब्रह्म शब्द कौ है अर्थ मुख्य भगवान ।
षडैश्वर्यपरिपूर्ण अनूर्द्ध समान ॥
तासु विभूति देह सब चिदाकार ।
चिद्विभूति आच्छाद कै कहैं निराकार ॥
स्वयं चिदानन्द तासु स्थान परिवार ।
कहैं तिनैं प्राकृत सत्त्वगुणको विकार ॥

श्रीमन्महाप्रभुके इन महावाक्योंका सारार्थ यह है कि, जिस प्रकार सूर्य स्वयंप्रकाश है अर्थात् अपने ही प्रकाशसे अपने स्वरूपका प्रकाशक है उसी प्रकार शब्दब्रह्म वेद भी स्वयंप्रमाण है, अपने शब्दार्थका स्वयं ही ज्ञापक है; अतएव यह समस्त प्रमाणोंका शिरोमणि है।

जिस वस्तुको हम जानना चाहते हैं, उसे 'प्रमेय' कहते हैं, और जिसके द्वारा उसे जानते हैं उसे 'प्रमाण' कहते हैं। जिस प्रकार अन्धकारमें रक्खी हुई वस्तु बिना प्रदीपके प्राप्त नहीं होती उसी प्रकार कोई भी प्रमेय बिना प्रमाणके प्रतीत नहीं होता। प्राचीन विद्वानोंने अनेक प्रकारके प्रमाण स्वीकार किये हैं, जैसे कि—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य, सम्भव, चेष्टा आदि। यदि विचार कर देखा जाय तो इनमेंसे उपमान आदि कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं हैं, इनका तो प्रत्यक्ष आदिमें ही अन्तर्भाव हो जाता है; अतएव वास्तवमें प्रत्यक्ष,

अनुमान और शब्द ये तीन ही प्रमाण ठहरते हैं। शास्त्रमें भी कहा है—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मसिद्धिमभीप्सताः॥

अर्थात् धर्मकी सिद्धि चाहनेवालेको प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शास्त्र और विविध आगमरूप शब्द इन तीन प्रमाणोंको ही भले प्रकारसे जानना चाहिये। इनमें भी प्रत्यक्ष और अनुमानमें कभी-कभी व्यभिचार हो जाता है, अतएव शब्दप्रमाण ही ग्राह्य है। आप्तपुरुषका वाक्य शब्द-प्रमाण कहलाता है। यथार्थ वक्ताका नाम आप्त है। मनुष्य कितना भी यथार्थ वक्ता क्यों न हो, इसका वाक्य भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोषोंसे कुछ-न-कुछ अवश्य दूषित होगा, अतएव अप्राकृत वस्तु अर्थात् आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्वके ज्ञानमें यह भी प्रमाणरूपसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। वास्तवमें तो यथार्थ वक्ता ईश्वर ही है, क्योंकि वह सत्यज्ञानअनन्तस्वरूप है। उसके सम्बन्धमें उसीके निर्दोष वाक्य प्रमाण हो सकते हैं, वे हैं वेदवाक्य, श्रीभगवान्ने स्वयं श्रीमुखसे आज्ञा की है—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।

अर्थात् 'समस्त वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ।' यहाँ वेद नाम ज्ञानका है, इस ज्ञानका विषय अर्थात् ज्ञेय वस्तु भगवान् ही हैं, जीव उनका ज्ञाता है; किन्तु अल्पज्ञ होनेके कारण इसको उनका स्वयं ज्ञान नहीं होता। इसे पूर्णज्ञानस्वरूप श्रीभगवान् ही जब अपना ज्ञान प्रदान करते हैं तभी यह उनको जानता है। श्रीभगवान् परमदयालु हैं, उन्होंने कृपा करके सृष्टिके आदिमें ही वेद-वाणीके रूपमें अपना ज्ञान जीवोंको प्रदान कर रक्खा है, जैसा कि भगवान्ने उद्धवसे कहा है—

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥

अर्थात् 'यह वेद नामकी वाणी प्रलयमें कालसे नष्ट हो गयी थी, जिसमें मेरा धर्म था—मैंने पुनः सृष्टिके आदिमें उसे ब्रह्मासे कहा है।'

अब यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, जब एकमात्र श्रीभगवान् ही सर्ववेदैकवेद्य हैं, तब उन्होंने यह कैसे कहा है कि—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

'हे अर्जुन! वेद त्रिगुणविषयक हैं, तू त्रिगुणसे रहित हो जा।'

इसका उत्तर यह है कि, वेदमें दो विषय हैं— निर्दिष्टविषय, दूसरा उद्दिष्टविषय। निर्दिष्टविषय त्रिगुणा एवं स्थूल है, उद्दिष्टविषय निर्गुणात्मक एवं सूक्ष्म है सूक्ष्म वस्तुको दिखानेसे पूर्व स्थूल वस्तुको दिखा जाता है। जिस प्रकार आकाशमें किसी सूक्ष्म तारेको दिखा हो, तो पहिले उसके समीपवर्ती स्थूल तारेको दिखाते हैं; के दीखनेपर, उससे हटाकर सूक्ष्म तारेको दिखाते हैं, प्रकार वेदके सूक्ष्म विषय आत्मतत्त्वका परिचय करानेके पहिले स्थूल विषय कर्मकाण्डका अनुष्ठान कराते हैं, इससे हटाकर आत्मज्ञानमें ले जाते हैं। यही बात अपरा और पराविद्याके नामसे कही गयी है। हमको विद्याओंको ही जाननेका आदेश दिया गया है। वेदके काण्डात्मक संहिताभागका नाम अपराविद्या है एवं अक्षरतत्त्वका ज्ञान होता है उस उपनिषद्भागका पराविद्या है। इस उपनिषद्भागमें ही वेदका सिद्धान्त है; इसीसे इसकी वेदान्त संज्ञा है। इसके कर्ता ज्ञाता भी स्वयं श्रीभगवान् हैं, जैसी कि उन्होंने आज्ञा की है—

वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्।

अर्थात् 'वेदान्तका कर्ता एवं उसके अर्थका ज्ञाता मैं ही हूँ।'

वेदान्तसिद्धान्तका जो मुख्य अर्थ है, उसीका प्रतिपाद करनेके लिये श्रीभगवान्ने श्रीव्यासरूपसे अवतार ले वेदान्तसूत्रोंका निर्माण किया है और इनके भाष्यरूप मद्भागवतका प्रणयन किया है।

शब्दकी दो प्रकारकी वृत्तियाँ होती हैं—एक अभि वृत्ति, दूसरी लक्षणावृत्ति। इनको मुख्यार्थ और गौणार्थ कहा जाता है। जो शब्दके उच्चारण या श्रवणसे सहज बोध हो उसे मुख्यार्थ कहते हैं और जो अर्थ क्लिष्टकल्प द्वारा किया जाय, वह गौणार्थ कहाता है। यथासम्भ शब्दका मुख्यार्थ ही ग्रहण करना चाहिये। जहाँ तात्पर्य ज्ञात न हो, वहाँ गौणार्थ ग्रहण करना चाहिये जिस प्रकार 'गङ्गामें ग्राम है' इस वाक्यमें शब्दोंके अर्थसे तात्पर्य सिद्ध नहीं होता अर्थात् गङ्गामें ग्राम नहीं सकता, अतः यहाँ 'गङ्गाके तटपर ग्राम है' ऐसा कल्पि किया जायगा।

श्रीवेदव्यासविरचित वेदान्तसूत्रोंका मुख्य अर्थ णामवाद' है—अर्थात् 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रके अनु जगत् श्रीभगवान्की शक्तिका परिणाम है। वस्तु ही कार्यरूपसे परिणत हो, उसे परिणाम कहते हैं, किन्तु परिणामवादमें श्रीभगवान् विकारी ठहरते हैं इसलिये

वेदव्यासका मत भ्रान्त हो जायगा इस आशंकासे विवर्तवादकी कल्पना की गयी है। किसी वस्तुमें अन्य वस्तुकी भ्रान्ति होनेका नाम विवर्त है। जिस प्रकार रस्सीमें सर्पकी भ्रान्ति होती है, उसी प्रकार ब्रह्ममें जगत्‌की भ्रान्ति है।

यदि विचार कर देखा जाय तो वेदान्तका यथार्थ सिद्धान्त परिणामवाद ही है, विवर्तवाद तो देहात्मबुद्धिके विषयमें स्वीकार किया जा सकता है। परिणामवादमें विकारकी आशंका श्रीभगवान्‌के सम्बन्धमें नहीं की जा सकती, क्योंकि वे अचिन्त्य शक्तियुक्त हैं, वे अपनी इच्छासे ही जगत्‌रूपमें परिणत होते हैं। जिस प्रकार प्राकृत चिन्तामणि अनेक रत्नराशि प्रसव करके भी अविकृत रहती है, उसी प्रकार श्रीभगवान् भी जगत्‌रूपमें परिणत होकर अविकृत रहते हैं। इस विषयमें एक वैज्ञानिक दृष्टान्त भी इस प्रकार है— विद्युत्-शक्ति (बिजली) से आजकलके सभी लोग परिचित हैं। यह शक्ति जिस यन्त्रसे उत्पन्न होती है उसे 'डाइनामो' कहते हैं। इस यन्त्रमें एक चुम्बक लगा रहता है। इस चुम्बकसे कितनी भी बिजली निकाल ली जाय, किन्तु इसकी शक्तिमें किसी प्रकारकी कमी नहीं होती। जब कि एक जडीय वस्तुमें इस प्रकारकी शक्ति विद्यमान है, तो अचिन्त्य-शक्तिपूर्ण श्रीभगवान्‌में होना कौन-सी आश्चर्यकी बात है! श्रीभगवान्‌के स्वरूपभूत ऐश्वर्यमें मायाका लेश भी नहीं है। उनकी चित्-शक्तिको स्वीकार न कर, उन्हें निर्विशेष मानना ठीक नहीं है; इससे उनकी पूर्णताकी हानि होती है।

समस्त वेदका सम्बन्ध एकमात्र श्रीभगवान्‌से ही है। वेदबीज प्रणव ही वेदका महावाक्य है; यही श्रीभगवान्‌का निगूढ़ नाम है। इसके साथ श्रीभगवान्‌का अभेद है अर्थात् नाम और नामी दोनों अभिन्न हैं। प्रणवकी महावाक्यताके आगे 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यरूपसे स्वीकार नहीं किये जा सकते, क्योंकि ये वेदके एकदेशीय वाक्य हैं।

उपनिषदोंके सहित वेदान्तसूत्र जिस तत्त्वका प्रतिपादन करते हैं, मुख्य वृत्तिसे वही अर्थ परम महत्त्वका है। वेदान्तप्रतिपादित ब्रह्म शब्दका मुख्य अर्थ भगवान् है। ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य, ये छः भग कहाते हैं, ये जिनमें पूर्ण रूपसे विद्यमान हों वे ही भगवान् हैं। भगवान्‌में ये अनूर्ध्व समान भावसे रहते हैं, अर्थात् दूसरेमें ये भाव न तो उनसे अधिक होते हैं और न समान होते हैं। श्रीभगवान्‌की विभूति एवं देह आदि सब चिदाकार हैं। जिस प्रकार वे स्वयं चिदानन्दमय हैं उसी प्रकार उनका स्थान, परिवार सब चिदानन्दमय है। कुछ लोग वेदान्तके मुख्यार्थको छिपाकर गौणार्थद्वारा भगवान्‌को निराकार एवं उनके वैभवको प्राकृत सत्त्वगुणका विकार बताते हैं—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणाम्।

इस वचनके अनुसार सूत्रकार भगवान् श्रीवेदव्यास-रचित श्रीमद्भागवत ही वेदान्तका भगवत्प्रोक्त अकृत्रिम भाष्य है। इसमें—

कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्॥

—कहकर भगवान् शब्दसे श्रीकृष्ण ही प्रतिपादन किये गये हैं, इन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने गीताशास्त्रमें जड और जीवको अपनी अपरा और पराप्रकृति कहकर निरूपण किया है। प्रकृतिकी ही अन्य संज्ञा शक्ति है। शक्तिका कार्य शक्तिमान्‌से पृथक् प्रतीत होता है, इसीसे दोनोंमें परस्पर प्रभेद होता है और शक्तिकी सत्ता शक्तिमान्‌से पृथक् प्रतीत नहीं होती, इससे इन दोनोंमें परस्पर अभेद है। श्रीकृष्णके साथ जगत् और जीवका यह जो भेदाभेदसम्बन्ध है वह युगपत् नित्य और सत्य है। इसका सामञ्जस्य मानवचिन्ताके अतीत है, इसीसे यह अचिन्त्यभेदाभेदवादके नामसे निर्देश किया गया है। यही श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुका वेदान्तसिद्धान्त है। इस सुसिद्धान्तके सम्बन्धमें परिव्राजकाचार्य श्रीप्रकाशानन्द सरस्वतीकी उक्ति है—

जो ग्रन्थकर्ता चाहत स्वमत स्थापन।
शास्त्रको सरलार्थ नहीं होय ज्ञापन॥
मीमांसक कहै ईश्वर है कर्म अंग।
सांख्य कहै जग होत प्रकृतिके संग॥
न्याय परमाणुसों ही विश्व होत मानै।
मायावादी निर्विशेष ब्रह्मै हेतु जानै॥
परम कारण ईश कोइ नहीं मंडै।
स्वमत स्थापन हेतु परमत खंडै॥
अतः छम दर्शनसों तत्त्व नहीं ज्ञान।
महापुरुष जो कहैं सोई सत्प्रमान॥
श्रीकृष्णचैतन्य वाणी अमृतकी धार।
तिनके कहे वाक्य हैं सब तत्त्वसार॥

तात्पर्य स्पष्ट है।

* * *

अचिन्त्य भेदाभेदवाद

(लेखक—श्रीमहानामव्रत ब्रह्मचारी, फेलो शिकागो युनिवर्सिटी)

श्रीशङ्कराचार्य तथा श्रीरामानुजाचार्य प्रभृतिने जिस प्रकार प्रत्यक्षरूपसे ब्रह्मसूत्रोंपर भाष्य किया है, उस प्रकार श्रीजीवगोस्वामीने नहीं किया है, सम्भवतः इसी कारणसे वेदान्तके सुप्रसिद्ध आचार्योंमें उनकी गणना नहीं होती। यदि यही कारण हो तो मैं समझता हूँ कि उन्हें हमलोग जिस दृष्टिसे देखते हैं वह दृष्टि सम्यक् समीचीन नहीं है। कारण, श्रीजीवगोस्वामीने जो सूत्रोंपर प्रत्यक्षरूपसे भाष्य नहीं किया इसका कारण यह नहीं है कि उनका श्रीशङ्कर और रामानुजकी अपेक्षा सूत्रोंमें कुछ कम प्रवेश रहा हो बल्कि यह कारण है कि अपने पूर्ववर्ती वैष्णव आचार्योंके अनुसार उन्होंने श्रीमद्भागवतको ही ब्रह्मसूत्रोंका भाष्य माना था।

गायत्रीभाष्यसंस्थोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः।

और इसी कारण उन्होंने अपना सारा ध्यान श्रीमद्भागवतकी ओर लगाया और उसपर बहुत ही गम्भीर और मौलिक भाष्य लिखा, जो 'क्रमसन्दर्भ' के नामसे प्रसिद्ध है। तथापि अपने 'षट्सन्दर्भ', विशेषतः 'भागवतसन्दर्भ' और 'परमात्मसन्दर्भ' में श्रीजीवगोस्वामीने वेदान्तके समस्त मुख्य सूत्रोंको लेकर शङ्कर और रामानुजके बीच समन्वय स्थापित करनेकी चेष्टा की है। इसमें उन्होंने चतुराईसे दूसरोंके विचार लेकर या दूसरोंके विचारोंके अनुकूल अपने विचार बनाकर यह समन्वय साधा हो, यह बात नहीं; यहाँ उनकी मौलिक प्रतिभाने यह काम किया है कि इन दो महान् आचार्योंकी गूढ़ातिगूढ़ विचारधाराओंको प्रकट करके उनका समन्वय करके विलक्षण सिद्धताके साथ अपना वह परम सुरम्य मनोहर सिद्धान्त स्थापित किया है जो 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' के नामसे प्रसिद्ध है।

इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती ईश्वरवादी और अद्वैतवादी विचारकोंके ग्रन्थोंसे बहुत सहायता ली पर इससे तो उनका गुण ही प्रकट होता है, हमारी उस दृष्टिका समर्थन नहीं होता जिस दृष्टिसे हम उन्हें देखते हैं (अर्थात् उनकी गणना आचार्योंमें जो नहीं करते)। तत्त्वदर्शीके नाते श्रीमच्छङ्कराचार्यकी महत्ताको जब हमलोग विचारते हैं तो यह नहीं सोचा करते कि वे श्रीगौडपादाचार्यके कितने ऋणी थे। किसी दार्शनिककी महत्ता मेरे विचारसे प्रधानतः दो बातोंपर निर्भर करती है—एक, उसके प्रतिपाद्य विषयमें उसकी मौलिकता, और दूसरी, विवेचनकी आलोचनात्मक शैली। यह कहनेमें कोई अत्युक्ति नहीं कि श्रीजीवगोस्वामीमें ये दोनों बातें अनायास कोई भी देख सकता है। श्रीजीवगोस्वामीकी मौलिकतासे मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि उन्होंने कोई अद्भुत और क्रान्तिकारी सिद्धान्त उपस्थित किया हो, बल्कि उनकी दी हुई कोई ऐसी चीज है जो उन्हींकी पवित्र तपस्याका परिणाम है। उनकी आलोचनात्मक शैलीसे भी मेरा यह अभिप्राय नहीं कि उन्होंने अपना सारा समय और शक्ति दूसरोंके विचारोंकी आलोचनामें ही लगायी हो, बल्कि उनका विषयविवेचन पूर्ण संयत, सम्यक् समन्वित और पक्षपातरहित निर्णयकी गम्भीर शान्तिसे ही सर्वथा नियन्त्रित है। मैं तो यहाँतक कहनेको तैयार हूँ कि श्रीजीवगोस्वामी वेदान्तके वह आचार्य हैं जिन्होंने ईश्वरवाद और ब्रह्मवाद, ब्रह्म और भगवान्, ज्ञान और भक्ति, विज्ञान और प्रेममें बड़ा ही सुन्दर समन्वय किया है और यह समन्वय तार्किक दृष्टिसे भी सर्वथा युक्तियुक्त है। जीवेश्वर भेदवादियोंकी तरह नहीं, बल्कि अभेदवादियोंकी तरह ही उन्होंने अभेदकी महत्ताको स्वीकार किया है, यहाँ शङ्करके साथ उनका मिलाप हुआ है। परन्तु दूसरी तरफ उन्होंने शङ्करके विपरीत नित्य और अनित्यको संलग्न करके व्यावहारिक अनुभूति और सान्त विविधताको भी स्वीकार किया है। अब आगेकी पंक्तियोंमें मैं नम्रतापूर्वक अपनी अयोग्यताको समझते हुए यह दिखानेकी चेष्टा करूँगा कि हमारे देशके वेदान्तविचारकी जो अनन्त महानिधि है उसमें श्रीजीवगोस्वामीने मुख्यतः किन-किन विचाररत्नोंको लाकर रक्खा है।

संसारके सभी दर्शनोंमें एक और अनेकका प्रश्न बड़ा ही जटिल है, वेदान्तदर्शनोंमें तो इसकी जटिलता और भी अधिक है। एकानेककी मीमांसा करते-करते शङ्कर एकमें, 'एकमेवाद्वितीयम्' में निमज्जित हो गये। उनकी दृष्टिमें अभेद ही परमवस्तु है; वही एक है, और कोई दूसरा नहीं; यही नहीं, हम उसके विषयमें यह भी नहीं कह सकते कि वह है, क्योंकि है जो कुछ है सो ही तो वह है। आप यह भी नहीं कह सकते कि वह चित् और आनन्द है, क्योंकि

चित् और आनन्द जो कुछ है सो ही तो वह है । वह निर्विशेष और लक्षणरहित है । क्योंकि सब विशेष और लक्षण सान्त होते हैं । सब भेद सत्यके अपलाप हैं । नामरूपात्मक प्रपञ्चकी एक प्रकारकी क्षणभङ्गुर गौण सत्ता श्रीमत् शङ्कराचार्य मानते हैं, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टिसे प्रपञ्चका कोई अस्तित्व हो नहीं है । रज्जुमें सर्पकी भ्रान्तिसे अधिक उसकी सत्ता नहीं है । शङ्करके दर्शनके अनुसार एक और अनेककी यही स्थिति और सम्बन्ध है । रामानुज शङ्करके इस विचारकी कड़ी समीक्षा करते हैं । उनके विचारसे निर्विशेष अद्वैत केवल भाव है । शङ्करका यह कैवल्य रामानुजके विचारमें कुछ नहीं है । रामानुज कहते हैं कि सत्की समृद्धि उसकी विविधता है । एकत्वका सौन्दर्य अनेकोंके सामञ्जस्यमें है । कैवल्य गतिहीन है, मृत है और सत् कहलानेके भी योग्य नहीं । सत् सविशेष है, जीवन है, वह नानात्वमें रहता है । शङ्करके विचारमें नानात्व भ्रम है और एकमें वह आरोपित है; रामानुजके विचारमें, नानात्व ब्रह्मका विशेष है, नानात्व ही सत्की अनन्तपरिवर्तनरूप समृद्धि है । इस विशेषके कारणसे यह विशिष्टाद्वैत कहाता है ।

श्रीजीवगोस्वामी इन दो आपाद्विरोधी सिद्धान्तोंमें समन्वय ढूँढ़ते हैं । सच्ची अन्तर्दृष्टिसे वे यह देखते हैं कि यदि तुरीयावस्था सत्य है (और इसके सत्य होनेमें उन्हें कोई सन्देह नहीं है) तब तो पूर्ण अभेद एक असंदिग्ध आध्यात्मिक तथ्य है । फिर, मनुष्य प्राणीकी धार्मिक शुभेच्छा और प्रवृत्तिका यदि कुछ अर्थ है, यदि प्रेममय श्रीकृष्णको ढूँढ़ना स्वयं ही कोई आनन्द है तब तो नानात्व मिथ्या नहीं हो सकता । रामानुजके व्यक्तित्वमें श्रीजीवगोस्वामी गम्भीर धर्मतत्त्व देखते हैं और शङ्करके व्यक्तित्वमें गूढ़ तत्त्वज्ञान । उनके लिये इन दोनोंमेंसे कोई भी किसीसे कम सत् नहीं है । शङ्करने धर्मोपासनाको ज्ञानपर उत्सर्ग कर दिया है और रामानुजने ज्ञानको भक्ति, उपासना, कर्मपर उत्सर्ग किया है । श्रीजीवगोस्वामी दोनोंको समान रूपसे आवश्यक सिद्ध करते हैं । पर कैसे ? यही तो देखने योग्य है और इसीमें उनका गाम्भीर्य देख पड़ता है ।

सोना और काम करना, निःसन्देह एक प्रकारसे दो परस्परविरोधी अवस्थाएँ हैं । परन्तु फिर भी, हम सोते भी हैं और काम भी करते हैं । हमारे जीवनमें इनमेंसे कोई भी किसीसे कम सच नहीं, कोई किसीसे कम आवश्यक नहीं । गहरी नींदमें हमारी क्रियात्मक शक्ति ताजा हो जाती है, जाग्रत्में हम उस शक्तिका उपयोग करते और काम करते हैं, और जब थक जाते हैं तो फिर शिथिल होकर गहरी नींद सो जाते हैं । प्रातःकाल ताजा होकर उठते और काममें लग जाते हैं । ये परस्परविरोधी अवस्थाएँ हमारे जीवनमें किस प्रकार समन्वित होती हैं ! केवल समन्वित नहीं, एक दूसरेसे क्या अच्छे ढंगसे सम्बद्ध होती हैं । ये अन्योन्याश्रित हैं, इसीसे एककी सम्भावना और उपयोगितामें दूसरी कारण है । यह क्योंकर सम्भव होता है ? सम्भव ही क्यों, हमारे जीवनके लिये इनका होना अनिवार्य है । इन अवस्थाओंका बारी-बारीसे आना-जाना जो हुआ करता है, यही तो जीवनका वास्तविक स्वरूप मालूम होता है । अतः जीवन एवंविध परिवर्तन है, गति है, शक्ति है; यहीं श्रीजीवगोस्वामीके हाथ वह कुंजी लगती है जिससे वे सम्पूर्ण रहस्यका उद्घाटन करते हैं ।

ब्रह्ममें शक्ति होनी चाहिये । उसमें गति होनी चाहिये । वह निर्विकार है, इसमें सन्देह नहीं; ठीक उसी प्रकार जैसे हम अपने सारे परिवर्तनोंके भीतर भी हम ही रहते हैं । ब्रह्म अचल है पर चल शक्तिके साथ । अवस्थान्तरका होना अर्थात् गतिका होना उसका मूल स्वरूप है । आनन्दके अतिरेकसे उसकी गति है और उसीके द्वारा वह अपनी शक्तियोंको अनुभव करता है । यही ब्रह्मकी लीला—प्रेममय प्रभुकी क्रीड़ा है ।

ज्ञानकी परा अवस्थामें नानात्व अभेदके अचल मौनमें विलीन हो जाते हैं, परन्तु उस अवस्थामें भी अभेद अचल नहीं है, बल्कि उसमें गतिशीलता होती है । 'एकोऽहं बहु स्याम्' ही आत्माकी मूल प्रकृति है । अनेकत्वकी पराकाष्ठाके द्वारा ही सत्ताकी पूर्णताका अनुभव होता है । यहीं एक और अनेकका, शङ्करकी ज्ञाननिष्ठा और रामानुजकी उपासनानिष्ठाका, श्रीजीवगोस्वामीके तत्त्वज्ञानमें समन्वय होता है ।

एक और अनेकका प्रश्न हमारे सामने एक ही रूपमें नहीं आता । कम-से-कम विचारकी तीन भूमिकाओंमें इस प्रश्नसे हमारी मुठभेड़ होती है । मानसशास्त्र, ज्ञानशास्त्र और सृष्टिशास्त्रमें यह प्रश्न विभिन्न नाम धारण कर हमारे सामने आता है । परन्तु एक बात जो जीवगोस्वामी या रामानुजाचार्यके निरूपणमें ही नहीं प्रत्युत सारे वेदान्तमें अविरोधतया एक-सी ही है वह यह है कि विभिन्न सम्प्रदायोंके सभी आचार्योंने इन तीनों ही प्रकारके विचारक्षेत्रोंमें प्रकृतिके तत्त्व एक-से ही माने हैं और इसलिये उनके सामनेकी

गुत्थियोंका स्वरूप भी एक-सा ही है। और इसलिये उनके इन तीनों ही प्रकारके विचारक्षेत्रोंमें इन गुत्थियोंका जो-जो समाधान किया जाता है वह भी एक-सा ही है। मानसशास्त्रके क्षेत्रमें यह प्रश्न (एक और अनेकका) जाग्रत् और तुरीयके सम्बन्धका प्रश्न है। ज्ञानशास्त्रके क्षेत्रमें यह साक्षी चैतन्य और बाह्य जगत्के सम्बन्धका प्रश्न है, सृष्टिशास्त्रके क्षेत्रमें यह ब्रह्म और प्रकृतिके विकासक्रमका प्रश्न है। आपाततः ये प्रश्न एक दूसरेसे बहुधा भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु मूलतः हैं ये एक ही; इस बातको शंकरसे बलदेवतक, वेदान्तके सभी आचार्य बहुत ही अच्छी तरहसे जानते थे। वेदान्तकी यह एक खास बात है और इसीसे संसारके सब दर्शनोंमें वेदान्तका स्थान सबसे ऊँचा है।

मानसशास्त्रके क्षेत्रमें इस बातको श्रीशंकराचार्य इस प्रकार कहते हैं कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ये चार अवस्थाएँ अनुभवकी विभिन्न भूमिकाएँ हैं। इनमें क्रमशः पूर्व अवस्थाका उत्तर अवस्थामें बाध हो जाता है और अन्तमें केवल तुरीय अवस्था रह जाती है। पूर्व अवस्था उत्तर अवस्थामें परिवर्तित नहीं होती न पूर्व अवस्थाका उत्तर अवस्थाके साथ समन्वय होता है, किन्तु उत्तर अवस्थामें पूर्व अवस्थाकी कोई सत्ता ही नहीं रहती, वह मिथ्या या अविद्याकृत समझी जाती और उसका सर्वथा त्याग होता है। परन्तु जीवगोस्वामीके मतमें ये सब अवस्थाएँ एक ही क्रिया-सत्ताके अन्तर्गत हैं, और ये उसीके समय-समयपर होनेवाले रूपान्तर हैं, एक ही क्रिया-सत्ताके विभिन्न अनुभव हैं। जीवगोस्वामीकी इस बातको मान लेनेसे ये अवस्थाएँ निःसार नहीं होतीं; ससार हो जाती हैं और ब्रह्म शक्तिविशिष्ट हो जाता है।

इसी बातको ज्ञानशास्त्रके क्षेत्रमें आकर श्रीशंकराचार्य इस प्रकार कहते हैं कि अविद्याका कार्यक्षेत्र और विषयरूप बाह्य जगत् दोनों ही एकाकार हैं। विषयरूप जो-जो कुछ है वह मिथ्या है, और इसलिये केवल विषयी अर्थात् साक्षी कूटस्थ चैतन्य ही सत्य है और विषयमात्रका अधिष्ठान है। श्रीरामानुजाचार्य श्रीशंकराचार्यके विचारगत 'कूटस्थ' को नहीं मानते। यहाँ श्रीजीवगोस्वामी कूटस्थ चैतन्य और बाह्य विषयके बीचमें 'शक्ति' को ले आते हैं और ब्रह्मको शक्तिविशिष्ट करके कूटस्थ ब्रह्मके स्थानमें कर्तृब्रह्मका दर्शन कराते और समस्त बाह्य विषयभूत जगत्को आत्मसर्जनशील विषयी ब्रह्मके सर्जनरूपमें ले आते हैं।

अब सृष्टिशास्त्रके क्षेत्रमें यह सृष्टिका प्रश्न है। शंकराचार्य इसे 'विवर्त' कहकर उड़ा देते हैं। विचारमें, आत्मदृष्टिसे न कभी कोई जगत् था न कभी होगा। ब्रह्म अखण्ड है, अभेद्य है। वह एक है, किसी समय भी उसमें कोई परिवर्तन नहीं श्रीरामानुजाचार्यने यह 'विवर्त्तवाद' नहीं माना, 'परिणामवाद' निकाला और ब्रह्माण्डको ब्रह्मका ही सिद्ध किया जिसमें जीव और प्रकृति ब्रह्मके विशिष्ट रूप हुए। श्रीजीव गोस्वामी अन्य सब ईश्वरवादि समान परिणाम अर्थात् रूपान्तर या विकासका मानते हैं, पर साथ ही विवर्त्तवादके रहस्यको भी नहीं और प्रकृतिको ब्रह्मकी बहिरंगा शक्ति मानकर विवर्तको विशिष्ट करके समन्वयकी रीतिसे ग्रहण करते हैं।

इस बातका थोड़ा और विशदीकरण करना प्रतीत होता है। श्रीरामानुजाचार्य प्रकृतिको ब्रह्मका मानते हैं। जीवगोस्वामी प्रकृतिको इस प्रकार नहीं, प्रत्युत बहिरंगा शक्ति मानते हैं। इस शक्तिका ब्रह्मसे साक्षात्सम्बन्ध नहीं है। यह बाह्य है, है आत्मचैतन्यके साथ सम्बद्ध ही पर ऐसे सम्बद्ध कि आत्मचैतन्यमें उससे कोई भी विकार उत्पन्न हो। इस बहिरंगा शक्तिका विकास होता है पर परिणामके तौरपर नहीं। प्रकृतिके विकासका ब्रह्मके उतना ही सम्बन्ध है जितना कि शरीरके ज्ञानतंतु वृत्त्यनुवृत्ति-प्रवृत्तिका हमारी बुद्धिके साथ। यहाँ सृष्टि और ब्रह्मके बीच प्रायः वैसा ही सम्बन्ध है श्रीशंकराचार्यके विवर्त्तवादमें जगत् और ब्रह्मके परन्तु इसमें एक बात और है जो ईश्वरवादियोंकी श्रीजीवगोस्वामीकी विशेष बात है और वह यही कि जो सृष्टि करती है उसमें ईक्षणद्वारा ब्रह्मकी अनुमति है जो श्रीशंकराचार्यके 'अधिष्ठान' में नहीं होती।

जीव जो तटस्थ शक्ति है, और ब्रह्म, इन दोनोंके श्रीजीवगोस्वामी 'विशिष्ट परिणाम' का कुछ वैसा ही देखते हैं जैसा कि सूर्य और उसकी किरणोंके बीच इसे मैं 'विशिष्ट' इसलिये कहता हूँ कि यह परिणाम दहीका-सा नहीं है। प्रत्येक जीव एक स्फुलिङ्ग है सब जीव एक दूसरेसे स्वतन्त्र हैं।

इस प्रकार श्रीजीवगोस्वामीने विवर्त और दोनोंके ग्राह्यांश ग्रहण किये हैं। जहाँ ब्रह्म और परस्पर सम्बन्धका प्रश्न आता है वहाँ वे विशिष्ट सिद्धान्तसे काम लेते हैं और जहाँ ब्रह्म और जीवका

करना होता है वहाँ विशिष्ट परिणामके सिद्धान्तका उपयोग करते हैं। इस प्रकार वे इन सबका ही सामरस्यपूर्वक समन्वय सिद्ध करते हैं।

यहाँ कोई यह शंका कर सकते हैं कि यह पूर्ण सामरस्य है या सामरस्यकी अधूरी चेष्टा। हाँ, यदि श्रीजीवगोस्वामी अपने सिद्धान्तनिरूपणको यहीं लाकर छोड़ देते तो अवश्य ही यह अधूरा काम होता। पर उनके तत्त्वनिरूपणका यह केवल आरम्भ है। इसके बाद उन्होंने परासत्ता मानी है और वहाँ भी विवर्त्त और परिणामके उन सब सिद्धान्तोंकी छानबीन हुई है। वह सत्ता ब्रह्मकी अन्तरंगा शक्ति है, उसकी भी एक झाँकी हमलोग देख लें।

यह तो हमलोग देख चुके कि श्रीजीवगोस्वामीने गतिशील शक्तिविशिष्ट सद्ब्रह्मकी स्थितिके रूपान्तरोंके होनेकी बातसे किस प्रकार धर्म और उपासनाके साथ कैवल्यकी स्थितिका समन्वय किया है। सूक्ष्म दृष्टि और गूढ़ अन्तर्ज्ञानसे तब वे यह भी देखते हैं कि इस सिद्धान्तसे यह बात भी सिद्ध होती है कि उपासना ही वह मार्ग है जिसका अन्त कैवल्य या सायुज्यतामें होता है। पर इससे उपासनामार्गकी यह सारी प्रेमसेवा सायुज्यतारूप साध्यकी साधनामात्र ही रह जाती है। अपने परम प्रेमास्पद भगवान्‌को पानेकी भक्तकी यह सारी उत्कण्ठा, ढूँढ़-खोज और प्रेमभक्तिसेवाका मूल इतना ही रह जाता है कि यह सायुज्यमुक्तिका केवल एक साधन है। तब तो, जो कोई इस अवस्थाको प्राप्त हो चुका हो उसके लिये भगवत्प्रेमकी कोई बात व्यर्थ ही हो जाती है। पर श्रीजीवगोस्वामी उत्तम रीतिसे जानते हैं कि प्रेम, प्रेमसेवा आदि व्यर्थ नहीं हैं। निश्चय ही वे साधन हैं जबतक साध्य प्राप्त नहीं हुआ; पर साध्य प्राप्त होनेपर प्रेम या प्रेमसेवाका अन्त नहीं होता; हाँ, साधनरूपसे उनका अन्त होता है और उन्हें नया अर्थ प्राप्त होता है। श्रीजीवगोस्वामी इस बातको जानते थे, क्योंकि उन्होंने अपनी आँखों उस कर्मी उपासक पुरुषको देखा था जिसे वे ब्रह्मका ही अवतार जानते थे। ये थे श्रीश्रीचैतन्यमहाप्रभु जो भक्त और भगवान्‌के अभेदस्वरूप थे। उनमें श्रीजीवगोस्वामीने प्रेमका वह नया अर्थ देखा जिसका, अभेदको प्राप्त होनेपर, अन्त नहीं होता, बल्कि जो अभेदको प्राप्त होकर ही व्यक्त होना आरम्भ होता है।

श्रीजीवगोस्वामीका यह निश्चय है कि अभेदस्वरूप चैतन्य कोई वस्तु है, क्योंकि श्रीचैतन्यमहाप्रभु, उनके सामने इसके दृष्टान्त थे; पर उनका यह भी निश्चय है कि अभेद सनातनकी सत्ताको प्राप्त होनेका एक सोपानमात्र है। साधनका पर्यवसान कहा जानेवाला यह अभेद एक नये जीवनका प्रवेशद्वार है। सम्पूर्ण नानात्व जब ब्रह्ममें अभेदको प्राप्त होता है तब इस अभेदके जीवनकी गतिशीलता लेशमात्र भी इससे कम होती हो, ऐसी बात नहीं है। इस जीवनशक्तिमें एक नवीन भाव आता है, इसको नया अर्थ प्राप्त होता है। अभेदकी शान्ति एक नवीन दिशामें अग्रसर होती है और यहाँके अनुभवके आनन्द और माधुर्यकी बाढ़के साथ ऊपरसे और अधिक ऊपरकी ओर चलती है। यह मधुर आनन्दसुधासिन्धु अधिकाधिक वेगके साथ उमड़ पड़ता है, पर अन्तःस्थ शान्ति जो अचल है उसकी अचलता कहींसे भी खण्डित नहीं होती। तर्ककी दृष्टिसे यह वदतोव्याघात-सा प्रतीत होता है, और इसीलिये श्रीजीवगोस्वामी इसे अचिन्त्य कहते हैं—यह तर्कके परेकी वस्तु है। जिसके पास यह वस्तु है, वही इसे जानता है। वही यह जानता है कि अभेदसिद्धिकी गति कितनी प्रचण्ड होती है; पर संसारमें अन्य जितनी गतियाँ हैं उनका तो कोई-न-कोई गन्तव्य स्थान है पर इस अचिन्त्य गतिका कोई गन्तव्य स्थान नहीं, क्योंकि प्राप्तव्यकी प्राप्ति तो यहाँ पूर्ण हो चुकी। पर तब यह गति है किसलिये? यह कौन कह सकता है कि किसलिये है? हमलोग जो कुछ कह सकते हैं वह तो इतना ही है कि ब्रह्मकी अन्तरंगा शक्ति इसमें कारण है। यह पूर्ण मुक्तिकी गति है। इसका गन्तव्य कुछ नहीं, फिर भी यह गतिमती है और व्यक्त होती है। यह पूर्णत्वका उद्रेक है, परमाप्ति है और व्यक्त होती है। यह पूर्णत्वका उद्रेक है, परमाप्तिकी बाढ़ है, आनन्दकी उमड़ है—हरिपुरुष या पुरुषोत्तमकी लीला है।

इसे मैं परम परिणाम या सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपान्तर कहता हूँ। यह विकास-रहित विकास है। इसके मूलमें पूर्ण ध्रुव शान्ति है, वह श्रीशंकरके कूटस्थ 'अधिष्ठान' वत् ज्यों-की-त्यों बनी रहती है और इसलिये यह संशोधित विवर्त्त है। अन्यान्य प्राकृत रूपान्तरोंसे इस रूपान्तरका स्वरूप भिन्न है, क्योंकि यह रूपान्तर किसी असाधितका साधन नहीं है। सामान्य विवर्तवादसे यह भिन्न है, क्योंकि यहाँ जो नामरूप है वह अन्तःस्थ वस्तुकी अपेक्षा भी अधिक सत्य है, जैसे कोई विनोदसे कहे कि यहाँ रज्जुकी अपेक्षा सर्प ही अधिक सत्य है; और इसलिये जीवगोस्वामी इसे मायाकी नहीं बल्कि योगमायाकी सृष्टि कहते हैं। यही

अचिन्त्यानन्त सुधासिन्धु श्रीकृष्णकी अपनी अन्तरंगा शक्ति राधा और गोपियोंके साथ अनन्तानन्दलीला है। यह सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड उसी मधुरातिमधुर प्रेमस्वरूपकी नित्य लीलाका प्रतिबिम्ब है। पृथ्वीका एक-एक अणु-रेणु इस आनन्दलीलामें सम्मिलित है और इसलिये सत्य है। प्रत्येक जीव और जीवका एक-एक अंग उस दिव्य माधुर्यके अनन्त प्रवाहनाट्यका एक-एक आनन्दमय पात्र है। और सबसे बड़ी बात यह कि हर कोई अपना यह पात्र होना, इस अलौकिक रंगभूमिके रंगका अंग होना अपने इसी अल्प-से जीवनमें अनुभव कर सकता है, अभेद-प्राप्तिके लिये मृत्युतक प्रतीक्षा करते रहनेकी उसे कोई आवश्यकता नहीं।

इस तरहसे अब यह सिद्ध हुआ कि श्रीजीवगोस्वामीका यह सामरस्यपूर्ण समन्वय अधूरा नहीं, पूर्ण है। इससे हमें संसारकी ओर देखनेकी वह दृष्टि मिलती है जो उनके पूर्वके आचार्योंके भाष्योंसे नहीं मिलती और जिससे ब्रह्मसूत्रोंका यथार्थ भाव प्रकट होता है।

अंगरेजी ‘कल्याणकल्पतरु’ के पिछले ‘वेदान्ता आरम्भमें ‘महाभाव और रसराज’ का एक तिरंगा ‘मूर्तिमान् वेदान्त’ के नामसे है। मैं यह कह सकता हूँ श्रीजीवगोस्वामीकी वेदान्तव्याख्यासे ही यह चित्र और नामकरण जितना सार्थ होता है उतना अन्य भाष्यकारों भाष्योंसे नहीं होता चाहे वे भाष्यकार अन्य बातोंमें भी मान्य हों।

श्रीशंकर और श्रीरामानुज, विवर्त्त और परिणाम दोनोंका यह विशिष्ट और फिर सुसंस्कृत समन्वय अचिन्त्य भेदाभेदवाद है। इसमें अभेद गृहीत है, भेद गृहीत है और दोनों ही भगवान् श्रीकृष्णमें आकर नियत स्थानपर विराजमान हैं।

अमर श्रीजीवगोस्वामीकी सुमधुर तत्त्वव्याख्याका तत्त्व यही है जो मैंने यहाँ अति नम्रतापूर्वक, इस अति दिग्दर्शनमात्ररूपमें उपस्थित किया है।

श्रीश्रीकृष्णार्पणमस्तु

शब्दाद्वैतवाद

(लेखक—श्री वी० कुटुम्ब शास्त्री)

वेदोंमें तीन प्रकारका अद्वैतसिद्धान्त माना गया है और आगे चलकर इन तीनोंको विभिन्न दार्शनिकोंने विकसित किया है। बुद्ध विज्ञानाद्वैतके समर्थक थे और शङ्कराचार्यने सत्ताद्वैतवादका स्थापन एवं शृंखलाबद्ध प्रतिपादन किया। भर्तृहरिने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ‘वाक्यपदीय’में शब्दाद्वैतवादका प्रवर्तन किया। पहले दो अद्वैतवादोंकी भाँति जनताने इसे नहीं अपनाया, फलतः इसका लोप होना स्वाभाविक था। इस शब्दाद्वैतवादका ही दूसरा नाम स्फोटवाद वा प्रणववाद है।

इस दर्शनका इतिहास और विकास

इस सिद्धान्तके बीज ऋग्वेद तथा अन्य संहिताओंके मन्त्रोंमें पाये जाते हैं। इस निबन्धमें यथावसर हम उनका उद्धरण करेंगे। उपनिषदोंमें ओंकारप्रशस्ति पायी जाती है और माण्डूक्योपनिषद्में प्रणवोपासनाकी विस्तृत व्याख्या है—

(१) **‘प्रणव एवैकस्त्रिधाभिन्यज्यत’**
(२) **‘वाचमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे’**

इस दर्शनका संकेत पाणिनीय सूत्रोंमें है, विशेषतः सूत्रमें, ‘तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्’ यह निर्धारण किया गया कि शब्दव्यवहार अनादि और सनातन है। अपने संस्कृत व्याकरणग्रन्थ ‘संग्रह’ में, जो अब लभ्य नहीं है, शब्दाद्वैतसिद्धान्तका विचार बड़ी कुशलतासे करते हैं, इस ग्रन्थसे उसके पीछे होनेवाले वैयाकरण कात्यायन पतञ्जलि अपने ग्रन्थोंकी बहुत सामग्री लेते हैं। कात्यायन वार्तिक, ‘सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे’ इत्यादिमें इस वादके मुख्य सिद्धान्त आ जाते हैं और वार्तिककी पूर्ण व्या पतञ्जलिके महाभाष्यमें हुई है। ‘स्फोट’ शब्द सबसे पहले महाभाष्यमें मिलता है—‘स्फोटमात्रमादरश्रुतेर्लश्रुतिर्भ और ‘ध्वनिः स्फोटस्य शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते’। पहली बार इसकी परिभाषा इस प्रसिद्ध वाक्यमें मिलती है—

येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणि
सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः ।

भर्तृहरि सर्वप्रथम दार्शनिक थे जिन्होंने इस सिद्धान्त अपने वाक्यपदीय–ब्रह्मकाण्डमें शास्त्रीय रूप दिया। भर्तृह

पश्चात् भर्तृमित्र हुए, जिनका स्फोटपर ग्रन्थ 'स्फोटसिद्धि' आजकल लभ्य है। इसके बाद इस सिद्धान्तका पूर्ण वर्णन एवं व्याख्या पुण्यराज और कैयटके भाष्यों तथा नागेशके उद्योतमें मिलता है। नागेश सत्रहवीं शताब्दीमें हुए थे। ये शब्दाद्वैतके कट्टर प्रतिपादक हैं, इसका सर्वाङ्गीण प्रतिपादन ये अपनी मञ्जूषामें करते हैं।

शब्दाद्वैतवाद

दर्शनशास्त्रके प्रत्येक विद्यार्थीको यह भलीभाँति विदित है कि सब दृश्य पदार्थ कल्पना अथवा साधारण भाषामें विचारोंकी प्रतिच्छाया वा प्रतिबिम्ब हैं। यह सम्पूर्ण बाह्य जगत् सत् नहीं—अवास्तविक है। ठीक यही मत उपनिषदोंका भी है—

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

और—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

अब यह मानकर हम आगे बढ़ेंगे। यदि हम इसे दार्शनिक भाषामें कहना चाहें तो ये विचार अथवा अर्थ वैयाकरणशब्दावलीके व्यापक भावार्थमें शब्दसे अलग नहीं किये जा सकते हैं, 'विचार नहीं तो भाषा नहीं, भाषा नहीं तो विचार नहीं।' इस सिद्धान्तको प्रायः सभी भाषाविज्ञानी मानते हैं। और शब्दाद्वैतके पोषक वैयाकरण कुछ परिवर्तनके साथ इस मतको स्वीकार करते हैं। जो भी हो, भर्तृहरिका स्पष्ट कथन है कि विचार और भाषा अभिन्न हैं तथा वे अन्ततोगत्वा एक हैं अर्थात् वे एक ही वस्तु, शब्दकी, वैयाकरणोंके अनुसार, दो अभिव्यक्तियाँ हैं। यह प्रमुख मनोवैज्ञानिक समस्याओंमेंसे एक बड़ी समस्या है जिसने प्राचीन तथा अर्वाचीन भाषाविज्ञानियोंके मस्तिष्कको चक्करमें डाल रक्खा था। और हमारे भाषाविज्ञानी दार्शनिक भर्तृहरि दोनों मतों, 'भाषा विचारकी पूर्ववर्ती है तथा विचार भाषाका'—को प्रदर्शित करते हुए उपर्युक्त निष्कर्षपर पहुँचते हैं 'एकस्यैवात्मना भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ' इस प्रकार हम ऐसे स्थानपर पहुँचते हैं जहाँसे, कई एक आधुनिक भाषाविज्ञानियोंके साथ, हमें विश्वास करना पड़ता है और हम विश्वास करते हैं कि संसार शब्दका कोष या भाण्डार है (इस उपमाको अधिक नहीं बढ़ाना चाहिये)। भर्तृहरि इससे आगे जाकर पर्याप्त युक्तिसे घोषित करते हैं कि शब्दके बिना कोई बोध ही नहीं, क्योंकि दोनों अविभेद्य हैं। यही नहीं, शब्दके अभावमें ज्ञानका स्वयंप्रकाशत्व ही लुप्त हो जाता है—

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशयेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥

इस शब्दके अभावमें हमारी सारी क्रियाएँ बंद हो जायँगी और हमारी अवस्था पत्थर और काठसे अच्छी न रहेगी—

'तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते कुड्यकाष्ठवत्।'
इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥
(दण्डी)

भर्तृहरिका कथन है कि एक बच्चा भी, जन्मते ही, अपनेको व्यक्त करनेके लिये शब्दकी शरण लेता है—

इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया।
यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते॥

जब कि आधुनिक भाषाविज्ञानी केवल इस विचारसे सन्तोष कर लेते हैं कि शब्दकी उत्पत्ति, जब वक्ता परस्पर भावका आदान-प्रदान करना चाहता है, उसकी स्वरप्रणालीके नियमनसे होती है, भर्तृहरि मनकी आन्तरिक क्रियामें प्रवेश करके घोषित करते हैं कि हमारी वागिन्द्रियोंका प्रथम समायोग, श्वासका निष्क्रमण और अंगोंका सञ्चालन भी तभी होता है जब पूर्व संस्कारोंसे बच्चेको शब्दकी स्मृति होती है। इससे वे यह प्रतिपादन करते हैं कि शब्दव्यवहार नित्य एवं अनादि है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो बच्चा अपनेको व्यक्त करनेके लिये शब्दकी शरण न ले। इस प्रकार भर्तृहरि सिद्ध करते हैं कि शब्द सर्वव्यापक और नित्य है। किन्तु इतना ही नहीं। भारतीय वैयाकरण और आगे बढ़कर कहते हैं कि प्रत्येक वर्तमान वस्तु शब्दद्वारा व्यक्त की जा सकती है; इसके विरुद्ध कोई भी वस्तु जो शब्दद्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती है अविद्यमान है (यद्वर्तते तद्व्यपदेश्यं यन्न व्यपदिश्यते तन्नास्ति)। शब्दकी शक्ति अव्याख्येय है, क्योंकि यह शब्द ही है जो हमें, क्षणमात्रहीके लिये सही, शशविषाण और आकाशकुसुमकी अभिव्यक्ति करा देता है, यद्यपि ये पदार्थ सर्वथा असत्य हैं—

अत्यन्तमतथाभूत निमित्ते श्रुत्युपाश्रये।
दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकारनिरूपणा॥

इस प्रकार वैयाकरणोंके अनुसार शब्दका आधिपत्य स्थापित करके हमें देखना चाहिये कि हमारे प्रतिदिनके

व्यवहारके शब्दोंमें, और नामरूपात्मक जगत्के अतिरिक्त, कौन-सी शक्ति है, और क्यों हमें भूमण्डलपर स्फोट-जैसे पदार्थको स्वीकार करना चाहिये ?

शब्दसे ही हमें ज्ञान होता है । इस प्रकार उदाहरणार्थ, 'गौ' शब्द 'गौ' पदार्थका बोध कराता है । अब हमें इस प्रश्नपर विचार करना है—इस 'गौ' शब्दमें क्या है जो हमें 'गौ' पदार्थका ज्ञान कराता है ? क्या ध्वनिसे ही ऐसा होता है ? और यदि ऐसा है तो क्या अन्तिम, प्रथम अथवा मध्यम ध्वनिसे होता है ? क्योंकि यह शब्द तीन ध्वनियोंसे बना है— ग+औ+अह् । हम यह नहीं कह सकते कि इनमेंसे कोई भी अकेला उस पदार्थका ग्रहण कराता है, क्योंकि ऐसा माननेपर अन्य ध्वनियाँ व्यर्थ होंगी; हमें इस एक ध्वनिसे अर्थकी प्राप्ति हो जाती है । न तो हम यही कह सकते हैं कि ये तीनों ध्वनियाँ मिलकर बोध कराती हैं, क्योंकि नैयायिकोंके अनुसार यह स्वीकृत सिद्धान्त है कि शब्द अधिक-से-अधिक दो क्षणसे ज्यादा नहीं ठहर सकते । ऐसा माननेपर प्रथम ध्वनि अन्तिम ध्वनिके उच्चारणतक नष्ट हो जायगी (इन ध्वनियोंके उच्चारणमें कुछ अभ्यन्तरकाल मानना ही पड़ेगा) और इसलिये इन ध्वनियोंकी एकता हमें नहीं मिलेगी । अतएव नैयायिकोंका यह कथन है कि अन्तिम ध्वनिकी अनुभूति दो शब्दोंकी अनुभूतिसे उत्पन्न संस्कारके साथ अर्थको प्रकट करती है । अब उपर्युक्त कठिनाई तो दूर हो जाती है, परन्तु हमारे मार्गमें एक दूसरी कठिनाई आ उपस्थित होती है । वैयाकरण और आधुनिक भाषाविज्ञानी इस कथनमें एकमत हैं कि वाक्य ही भाषाकी इकाई है और इसमें हमें एक विधान करनेके लिये प्रतिज्ञाओंकी एकता होनी चाहिये । दूसरे शब्दोंमें वाचकताके अधिष्ठानमें अवश्यमेव एकता होनी चाहिये, जिसको हम दो विभिन्न पदार्थों—अर्थात् (१) अन्तिम वर्ण (२) पूर्वध्वनिका संस्कार—में नहीं पा सकते । इस तरह नैयायिकोंका सिद्धान्त सदोष सिद्ध होता है । हमें देखना है कि मीमांसक इस विषयपर क्या कहते हैं ।

मीमांसकोंके अनुसार वर्ण नित्य हैं और ध्वनिसे व्यक्त होते हैं । अर्थप्रत्यायकत्वप्रक्रिया तो नैयायिकों-जैसी है, किन्तु वर्णोंकी ऐक्यानुभूतिमें हमें कोई कठिनाई नहीं मालूम होती, कारण कि सभी वर्ण नित्य हैं; फिर भी यह आपत्ति होती है कि इन वर्णोंकी अनुभूति क्षणिक है और इस दशामें उन सबोंकी एकता शक्य नहीं है । इसलिये इन सभी कठिनाइयोंको दूर करनेके लिये वैयाकरणने स्फोट वाचकताका अधिष्ठान माना और इस सिद्धान्तको शृंख बद्ध किया । यह स्फोट विभिन्न शब्दों और अर्थोंमें व्य होता है । यही स्फोटवाद है ।

सार

उपर्युक्त विवेचनका उपसंहार करते हुए हमें यह मान पड़ेगा कि यह संसार अर्थोंसे बना है और इस प्रकार वास्तवि नहीं है । यह शब्द ही है जो हमें अर्थज्ञान देता है, औ हम कह नहीं सकते कि जो ध्वनि हमारे मुँहसे निकलती वह वाचकताका अधिष्ठान है । मीमांसक और नैयायि दोनों वाचकताके अधिष्ठानकी सन्तोषजनक व्याख्या करने असफल रहे; इसलिये वैयाकरणोंके अनुसार इन सबका ए नित्य आधार मानना पड़ता है, और यह आधार प्रणव जिसकी सारा विश्व अभिव्यक्ति है ।

यह शब्द-तत्त्व विश्वका कारण है, और इसकी एक शाङ्कर अद्वैतके ब्रह्मसे की जाती है । केवल शुद्ध ब्रह्म बदले शब्दब्रह्मका प्रयोग करते हैं । इस प्रकार वर्तमा प्रारम्भ करके उसके उद्गमका पता लगाते हुए हम उपर्यु निष्कर्षपर पहुँचे हैं । कोई नहीं कह सकता है कि यह न शब्दजाल और अप्रामाणिक कल्पना है, क्योंकि वेद न इसी तत्त्वका प्रतिपादन करते हैं कि इस विश्वका शब्द कारण है—

वागेवार्थं पश्यति वाग्ब्रवीति
वागेवार्थं सन्निहितं सन्तनोति ।
वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धं
तदेतदेकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते ॥

और—

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे
वाच इत्सर्वममृतं मर्त्यं च ।

यहाँ श्रुति कह रही है कि विश्व शब्दसे विकसित हुआ शङ्करके पद—

सुवर्णाज्जायमानस्य सुवर्णत्वं हि निश्चितम् ।
ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्वं च सुनिश्चितम् ॥

—से निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि यह विश्व ना रूपात्मकके अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

थोड़े परिवर्तनके साथ सभी सम्प्रदायके विचारकोंने शब्दाद्वैतके सिद्धान्तको स्वीकार किया है। वेदोंके अपौरुषेयत्व-की व्याख्याके लिये, मीमांसकोंके द्वारा ऐसा मानना अनिवार्य है, किन्तु वे यह प्रतिज्ञा करके सन्तोष कर लेते हैं कि शब्द और वर्ण एक ही हैं, जो नित्य हैं। यहाँतक कि शङ्कराचार्य भी यह मानते हैं कि संसारकी रचना शब्दसे हुई है, जो उसके अनुसार, उपादानकारण है—

न चेदं शब्दप्रभवत्वं ब्रह्मप्रभवत्ववदुपादानकारणत्वाभिप्रायेण।……चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठंस्तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात् तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत्। तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः प्राग् वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः पश्चात् तदनुगतानर्थान् ससर्जेति गम्यते।

(ब्रह्मसूत्र १।३।२८)

यह ध्यान देनेकी बात है कि शङ्कराचार्यका शब्द स्फोट नहीं अपितु मीमांसकोंका वर्ण है—

'वर्णा एव तु न शब्द इति भगवानुपवर्षः।……'स्फोटवादिनस्तु दृष्टिहानिरदृष्टकल्पनाच्च।'

वे और भी कहते हैं—

'नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यविरुद्धम्।'

ऋषियोंने वाक्‌को उत्पन्न नहीं किया, किन्तु जो वाक् पहलेसे वर्तमान थी उसीको प्राप्त किया। विश्वनिर्माण करनेवाले शब्दके इस स्वरूपकी व्याख्या भर्तृहरिने अपने वाक्यपदीयमें इस प्रकार की है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
अव्याहता कला यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादयो विकाराः षड्भावा भेदस्य योनयः॥
एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः॥

यह ध्यान देनेकी बात है कि विश्व शब्दब्रह्मका विवर्त है, परिणाम नहीं, और आरम्भवादका तो इसमें बिल्कुल समावेश ही नहीं है। शब्द और अर्थके बीचमें नित्य सम्बन्ध है—

सम्बन्धस्य न कर्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्धः स्यात् कृतः कथम्॥

(व्याळि, संग्रह)

शब्दब्रह्मकी अनुभूति कैसे हो सकती है, अब इस प्रश्नका उत्तर देना है। उत्तर देनेके पहले यह जानना आवश्यक है कि शब्दके चार रूप हैं—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

(ऋग्वेद १।१६४।१०)

ये चार रूप परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी हैं। इनमेंसे परा मूलाधारमें है, पश्यन्ती नाभिमें, मध्यमा हृदयाकाशमें और जो हम सुनते अथवा बोलते हैं वह वैखरी है। प्रथम तीन तो अतिप्राकृतशक्तिवाले योगियोंको ही मालूम हैं। जिस किसीको वाक् दर्शन देना चाहती है, वही उसको जान सकता है—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच-
मुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

नागेशने अपनी मञ्जूषामें इन सबकी विशद व्याख्या की है। मैं अपने पाठकोंके ध्यानको अधिक समयतक रोक रखना नहीं चाहता। पुण्यराजद्वारा अपने भाष्यमें उद्धृत कुछ श्लोकोंको नीचे देकर लेख समाप्त करता हूँ।

प्राणवृत्तिमतिक्रान्ते वाचस्तत्त्वे व्यवस्थितः।
क्रमसंहारयोगेन संहृत्यात्मानमात्मनि॥
वाचः संस्कारमाधाय वाचः स्थाने निवेश्य च।
विभज्य बन्धनान्यस्याः कृत्वा तां छिन्नबन्धनाम्॥
ज्योतिरान्तरमासाद्य छिन्नग्रन्थिपरिग्रहम्।
परेण ज्योतिषैकत्वं छित्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते॥

शब्दब्रह्मकी अनुभूतिमें प्रणवोपासन ('नेदिष्ठं ब्रह्मणो यदोङ्कार इति'), योग और शुद्ध भाषण सहायक हैं। शब्दका यही दर्शन है।

क्व स्विदस्याः परमं जगाम।

श्रीरामानन्दाचार्यकृत श्रीआनन्दभाष्य

(लेखक—पं० श्रीवैष्णवदासजी त्रिवेदी 'न्यायरत्न' 'वेदान्ततीर्थ')

अटकसे कटकतक और सेतुसे सिताचलपर्यन्त पूर्ण प्रतिष्ठापूर्वक विस्तृत श्रीसम्प्रदायके प्रधानाचार्य यतिसार्वभौम जगद्गुरु १००८ श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजका नाम पूर्ण प्रभासे विभासित भगवान् भास्करके समान यशःसमुदायसे संसारमें देदीप्यमान है । और अनन्तकालके लिये इसी प्रकार देदीप्यमान रहेगा । इसका मुख्य कारण है उनका अलौकिक और निर्हेतुक धर्मप्रेम । उक्त आचार्यवर्यने निर्दोष वैदिक वैष्णवधर्मके संरक्षणके लिये अपूर्व प्रयत्न किया है । नाना चमत्कारोंसे अलङ्कृत इनका परम पवित्र जीवनवृत्तान्त विस्तृतरूपसे श्रीवाल्मीकिसंहिता, श्रीरामानन्ददिग्विजय और तत्त्वप्रकाशिका (स्वामी श्रीरघुवराचार्यकृत श्रीआनन्दभाष्यभूमिका) इत्यादि ग्रन्थोंमें सुशोभित है । इन्होंने लोकोपकारके लिये श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर इत्यादि अनेक ग्रन्थरत्नोंका सम्पादन किया है।

त्रिविधतापपूर्ण संसारदावानलसे संतत मुमुक्षु जीवोंके उद्धारकी दृष्टिसे जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजीने प्रस्थानत्रयी अर्थात् ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीतापर भाष्य किये हैं। वेदान्तदर्शनका श्रीआनन्दभाष्य उनमेंसे अन्यतम है। श्रीआनन्दभाष्य प्रसन्नगम्भीर है । इसकी भाषा प्रसादमयी है। इसका आदिसे अन्ततक अच्छी प्रकार परिशीलन करनेसे भाष्यकारका अनुपम पाण्डित्य विज्ञात होता है।

'आनन्दभाष्य' नाम होनेका कारण

भगवान् भाष्यकारने ही इस भाष्यरत्नका नाम 'आनन्दभाष्य' रक्खा है ।;इसका कारण साम्प्रदायिक रहस्यवेत्ताओंसे इस प्रकार सुना जाता है कि जिस पदार्थका जो सारभूत गुण होता है उस नामसे भी उस पदार्थका व्यपदेश होता है । इसमें 'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्' (ब्रह्मसूत्र २ । ३ । ३०) यह सूत्र प्रमाण है । ब्रह्मका सारभूत गुण आनन्द है । इसलिये ब्रह्म आनन्दपदसे भी व्यपदिष्ट होता है । ऐसा माननेसे ही—

आनन्दो ब्रह्म व्यजानात् ।

आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्ति ।

इत्यादि श्रुतियाँ संगत होती हैं । इसीलिये आनन्दपदवाच्य ब्रह्मके नामसे ही इस भाष्यको भगवान् भाष्यकारने प्रसिद्ध किया ।

आनन्दभाष्यका मत

भगवान् भाष्यकारने विशिष्टाद्वैतमतको ही ब्रह्ममीमांसाभिमत माना है । क्योंकि विशिष्टाद्वैतमत ही श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणसे समञ्जस होता है। तथा युक्तियुक्त भी यही सिद्धान्त है । इसीलिये आचार्यपादने कहा है कि—

एवञ्चाखिलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणसामञ्जस्यादुपपत्तिबलाच्च विशिष्टाद्वैतमेवास्य ब्रह्ममीमांसाशास्त्रस्य विषयो न तु केवलाद्वैतम् । (आनन्द० १ । १ । १)

विशिष्टाद्वैत शब्दका अर्थ इस प्रकार है—

विशिष्टञ्च विशिष्टञ्च विशिष्टे, विशिष्टयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम् ।

प्रथम विशिष्ट शब्दसे सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म अर्थात् कारणब्रह्मका ग्रहण होता है और द्वितीय विशिष्टशब्दसे स्थूलचिदचिद्विशिष्ट अर्थात् कार्यब्रह्मका ग्रहण होता है। तथा च विशिष्टाद्वैतका अर्थ हुआ कार्य और कारणब्रह्मकी एकता अर्थात् अभेद । इस विषयको भाष्यकारने—

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः । (ब्र० सू० २ । १ । १४)

सूत्रके भाष्यमें अच्छी प्रकारसे समझाया है । तथैव उक्त विषयका विस्तृतरूपमें शङ्का-समाधान मैंने स्वनिर्मित 'विशिष्टाद्वैतपरिष्कार' नामक ग्रन्थमें किया है । अतः विशे जिज्ञासुओंको उसमें देखना चाहिये ।

आनन्दभाष्यमें ब्रह्मशब्दवाच्य कौन है ?

भगवान् भाष्यकारने ब्रह्मशब्दवाच्य भगवान् श्रीरामको माना है । अब मैं श्रीआनन्दभाष्यके उक्तविषयक भागको सामने रखता हूँ—

ब्रह्मशब्दश्च महापुरुषादिपदवेदनीयनिरस्तनिखिलदोषमनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणं भगवन्तं श्रीराममाह । सामान्यवाचकानां पदानां विशेषे पर्यवसानात् । (आनन्दभाष्य १ । १ । १)

एवञ्च सर्वज्ञसर्वशक्तिमज्जगत्कारणनिर्गुणसगुणादिपदवाच्यं श्रीरामतत्त्वं तदेव जगत्कारणं ब्रह्मेत्युच्यतेऽनेन सूत्रेण । (आनन्द० १ । १ । २)

आगे चलकर और भी अभी कहा है—

तत्तु समन्वयात् । (ब्र० सू० १ । १ । ४)

इति सूत्रेणापि तस्मिन्नेव जगत्कारणे सर्वासां सगुण-निर्गुणार्थकेन प्रतीयमानानां श्रुतीनां समन्वयप्रदर्शनेन तस्यैकस्यैवाक्षरस्य ब्रह्मात्मसदादिसामान्यपदबोध्यस्य श्रीरामादिविशेषपदवाच्यस्य दिव्यगुणवत्त्वेन प्राकृतहेयगुणरहितत्वेन च सगुणत्वनिर्गुणत्वज्ञापनादिति न क्वापि गुणशून्यत्वं निर्विशेषत्वञ्चेति मन्तव्यम् । (आनन्द० १ । १ । २)

इसी प्रकार आगे भी कहा है कि 'उन्हीं सगुण ब्रह्म श्रीरामके निरवच्छिन्न ध्यानाभ्यासवाले शताधिक सुषुम्ना नाड़ीद्वारा शरीरसे निकलकर अर्चिरादि (उत्तरायण) मार्गसे ब्रह्मलोकमें गये हुए अनन्य भक्तकी मुक्ति प्रतिपादित की गयी है।' (आ० भा० १ । १ । २)

आनन्दभाष्य तथा सगुण-निर्गुण ब्रह्म

भगवान् भाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजीने एक ही ब्रह्मको सगुण और निर्गुण दोनों माना है। यद्यपि ऐसा कहनेमें प्रथम विरोध प्रतीत होता है परन्तु उनके अर्थपाटवको देखकर फिर यही विरोध विरोधाभासरूपमें दिखायी देता है। उन्होंने ऐसी बुद्धिमानीसे अर्थ किया है कि तदनुसार विचार करनेपर लेशमात्र भी विरोध नहीं आता। उन्होंने 'निर्गुण' शब्दका अर्थ किया है कि—

निर्गता निकृष्टाः सत्त्वादयः प्राकृता गुणा यस्मात्तन्निर्गुणमिति व्युत्पत्तेर्निकृष्टगुणराहित्यमेव निर्गुणत्वम् ।

(आ० भा० १ । १ । २)

निकृष्ट प्राकृत गुणोंसे जो रहित हो उसे निर्गुण कहते हैं! आचार्यवर्यने स्वकथनमें प्रमाण दिया है—

सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः ।
स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु ॥

(वि० पु०)

योऽसौ निर्गुणः प्रोक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः ।
प्राकृतैर्हेयसत्त्वाद्यैर्गुणैर्हीनत्वमुच्यते ॥

(प० पु०)

अगर भाष्यकार ऐसा अर्थ न करके निर्गुण शब्दका गुणात्यन्ताभावविशिष्ट अर्थात् सर्वथा गुणसे रहित अर्थ करते तो उक्त पुराणवचनों तथा—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।

इत्यादि श्रुतिशतका विरोध आता और यौक्तिक बाध भी होता। इसलिये भाष्यकारीय अर्थ ही समीचीन है। ऐसा माननेमें 'निर्गुणं निष्क्रियं' इत्यादि श्रुतियोंका विरोध भी नहीं होता।

'सगुण' शब्दका अर्थ करते हुए आचार्यचरणोंने कहा है कि—

दिव्यगुणवत्त्वेन च सगुणत्वमित्युभयथैकस्यैव ब्रह्मणो निर्देश इति न किञ्चिदनुपपन्नम् । (आ० भा० १ । १ । २)

अर्थात् दिव्य गुणोंसे भगवान्का सगुणत्व भी सिद्ध हो जाता है। आगे चलकर भी कहा है कि—

किञ्च श्रीरामस्य जगत्कारणत्ववादिन्यः काश्चन श्रुतयः स्फुटं कारणस्वरूपस्य तस्य साकारत्वं सगुणत्वमक्षरब्रह्मणो जगत्कारणत्ववादिन्यश्च काश्चन श्रुतयस्तस्याक्षरस्यनिराकारत्वं निर्गुणत्वञ्चाहुरित्युभयत्राविरोधार्थं स एवार्थस्तान्त्रिकैरङ्गीकर्त्तव्यः । अन्यथा परस्परविरोधे व्याहतत्वादप्रामाण्यमेव निष्पद्येत ॥

आगे भी इसी सूत्रके भाष्यमें लिखा है कि—

श्रीरामादिविशेषपदवाच्यस्य दिव्यगुणवत्त्वेन प्राकृतहेयगुणरहितत्वेन च सगुणत्वनिर्गुणत्वज्ञापनादिति न क्वापि ब्रह्मणो गुणशून्यत्वं निर्विशेषत्वञ्चेति मन्तव्यम् ।

इसी प्रकार आगे भी कहा है—

एवञ्चास्याः शारीरकब्रह्ममीमांसाया उपक्रमोपसंहारयोर्ब्रह्मणः शेषित्वसगुणत्वादिप्रतिपादकतया तन्मध्यभूतानामपि सूत्राणां संदंशपतितन्यायेन तत्प्रतिपादकत्वमेवेति मन्तव्यम् । (आ० भा० १ । १ । २)

इस प्रकारसे भाष्यकारने सम्पूर्ण वेदान्तदर्शनको सगुण ब्रह्मप्रतिपादक ही माना है।

आनन्दभाष्यमें सद्योमुक्त्यभाव

आनन्दभाष्यकार जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजीने सद्योमुक्ति नहीं मानी है।

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषावगमात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया । (४ । २ । १६)

इस सूत्रके भाष्यमें भाष्यकारने बतलाया है कि विद्यासामर्थ्यात्का अर्थ है विद्यासामर्थ्यसे अर्थात् परमात्मोपासनरूप विद्यासामर्थ्यसे और परमात्माके शेषत्वके अनुसन्धानसे यह जीवात्मा ईश्वरसे अनुगृहीत होता है। इसीका निर्देश

जन्माद्यधिकरणमें भी किया है कि सगुण ब्रह्म श्रीरामके निरवच्छिन्न ध्यानाभ्यासवाले शताधिक (एक सौ एकवीं) सुषुम्ना नाड़ीद्वारा शरीरसे निकलकर अर्चिरादि मार्गसे ब्रह्मलोकको प्राप्त हुए अनन्य भक्तकी मुक्ति प्रतिपादित की गयी है । विद्यासामर्थ्यात् यहाँपर विद्यापदसे जिसकी पूर्वमें (अर्थात् मरणसे प्रथम) आवृत्ति की गयी है उसी ब्रह्मनिदिध्यासनरूप परमात्मचिन्तनपदवाच्य विद्याका ग्रहण है। यही सूत्रकारका मार्ग है । ऐसा कहकर फिर उन्होंने स्पष्ट कहा है कि—

एतेन ज्ञानिनः सद्योमुक्तेरभावोऽपि व्यक्तो भवति ।

इससे 'ज्ञानीको सद्योमुक्तिका अभाव है' अर्थात् ज्ञानीको सद्योमुक्ति नहीं होती है । यह सिद्धान्त भी व्यक्त हो जाता है । आगे चलकर पुनः भाष्यकारने देवयानपथसे ब्रह्मज्ञानीकी गति है ऐसा हेतु बतलाते हुए—

अर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगमनत्वज्ञपनात् सद्यो न मुक्तिर्ब्रह्मविदामपि तु देवयानक्रमेणैवेति सिद्धान्तः ।

इस प्रकार एवकारसे सद्योमुक्त्यभावको ही दृढ़ किया है । तदनन्तर इसी विषयकी शंका करके तत्समाधानद्वारा स्वपक्षको दृढ़ करते हैं ।

शंका-**अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।**

(बृह० ४ । ४ । ७)

इस श्रुतिके कथनसे जैसे घटके फूट जानेपर घटावच्छिन्नाकाश महाकाशके साथ एकताको प्राप्त होता है, उसी प्रकार अज्ञान और अज्ञानप्रयुक्त कर्मबन्धके उच्छेद होनेपर विमुक्त सर्वकाम यहींपर जहाँ भोगसमाप्ति होती है वहींपर ब्रह्मैक्य होता है। अर्चिरादिमार्गसे उसकी गति नहीं होती है । इसलिये सद्योमुक्ति सिद्ध होती ही है ।

समाधान-उक्त प्रकारकी शंकाका समाधान भाष्यकार निम्न प्रकारसे करते हैं—

योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येति (बृ० ४ । ४ । ६)

श्लोको भवति स चायम्—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

(बृ० ४ । ४ । ७)

इत्यादि श्रुति और श्लोक दोनोंका 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इस माध्यन्दिनीय श्रुतिके कथनबलसे प्राणोत्क्रान्तिका प्रतिषेध अर्थ माननेसे सर्व उपपन्न हो जाता है । इसलिये यहींपर लय होनेकी कल्पना अन्याययुक्त है। क्योंकि इस कल्पनामें श्रुति-स्मृतिका विरोध होता है ।

'ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येति' इस श्रुतिके 'ब्रह्म सन्' का अर्थ है 'ब्रह्म सदृशः सन्' नहीं तो 'ब्रह्म सन्' इस प्रकार कहकर फिर ब्रह्ममें ब्रह्माप्यय (अप्यय=लय) कहना व्यर्थ होगा। क्योंकि अपनेमें ही अपना लय होना युक्तियुक्त नहीं है। यदि सद्योमुक्तिका सिद्धान्त मानकर ब्रह्मरूपता ही श्रुतिको अभीष्ट होती तो श्रुति इस प्रकार कहती कि—

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति किन्तु सार्वत्रिकं यद्ब्रह्म तद्रूपतामासादयति ।

इसलिये सद्योमुक्ति मानना ठीक नहीं है। इसीलिये भाष्यकारने अन्तमें कहा है कि—

इति न केनापि प्रमाणेन सद्योमुक्तिः सिद्ध्यतीति मनीषिभिर्विभावनीयम् । (आ० भा० १ । १ । २)

अर्थात् किसी भी प्रमाणसे सद्योमुक्ति सिद्ध नहीं हो सकती है यह बुद्धिमानोंको विचार करना चाहिये ।

अब मैं विस्तारभयसे संक्षेपमें ही आचार्यपादके माने हुए श्रीमदानन्दभाष्यके सिद्धान्तोंका नामनिर्देशमात्र करता हूँ ।

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजीने अनन्य भक्तिको ही मोक्षका अव्यवहितोपाय माना है । प्रपत्तिको भी मोक्षहेतु माना है। कर्मको भक्तिका अंग माना है, जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्मको ही माना है। जीवोंका परस्पर भेद तथा नानात्व माना है । तथैव जीवोंका स्वरूपतः अणुत्व, कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व और नित्यत्व इत्यादि माना है । जीवोंका ब्रह्मसे भेद माना है। विद्योपकारिका वर्णाश्रमव्यवस्थाको स्वीकार किया है। विवर्त्तवादका असकृद् प्रत्याख्यान किया है । नारद पाञ्चरात्रका कात्स्न्र्येन प्रामाण्य स्वीकार किया है। निर्विशेष ब्रह्मवादका अनेकों स्थलोंपर निरास करके सविशेष ब्रह्मका प्रतिपादन किया है । जगन्मिथ्यात्व तथा भावरूप अनिर्वचनीय अविद्याका खण्डन किया है। सत्ख्यातिवादको स्वीकार किया है । तथैव आचार्यपादने वेदोंका अपौरुषेयत्व स्वीकार किया है ।

आनन्दभाष्य और उसकी व्याख्याएँ

अब हमारे श्रीरामानन्दीय वैष्णव महानुभाव समयकी जाग्रतिके साथ कुछ-कुछ जाग्रत होने लगे हैं । अतः बहुतसे प्राचीन साम्प्रदायिक ग्रन्थोंका पुराने पुस्तकालयोंमेंसे अन्वेष

किया गया है। डङ्कपूर (डाकोर–गुजरात) के दाऊजी मठमें मैंने श्रीआनन्दभाष्यका सुरद्रुम व्याख्यान देखा है। इस व्याख्यानके कर्त्ता आचार्यवर्य श्री १०८ श्रीटीलाचार्यजी महाराज हैं। और इस सुरद्रुमव्याख्यानकी व्याख्या सुरद्रुममञ्जरी नामकी देखी है। इसके कर्त्ता जगत्प्रसिद्ध आचार्यवर्य श्री १०८ श्रीमङ्गलदासजी महाराज हैं। दोनों ग्रन्थ संस्कृतमें उत्तम पारिष्कारिक भाषामें हैं।

अब मैं अपने लेखको अधिक विस्तृत न करके यहींपर समाप्त करता हूँ। और विद्वद्वर्ग तथा श्रीरामानन्दीय सम्प्रदायके महानुभावोंसे प्रार्थना करता हूँ कि वे ऐसे भव्य और पक्षपातशून्य यथार्थ ज्ञानसम्पादक श्रीआनन्दभाष्य-ग्रन्थका खूब प्रचार तथा पुनः-पुनः परिशीलन करें। क्योंकि ऐसा करनेमें अपना और जगत् दोनोंका कल्याण समाया हुआ है।*

तन्त्र और वेदान्त

(लेखक–श्रीचिन्ताहरण चक्रवर्ती काव्यतीर्थ, एम० ए०)

भिन्न-भिन्न तन्त्रोंके भिन्न-भिन्न दर्शन हैं। तन्त्रके पाँच मुख्य सम्प्रदायोंके पाँच विभिन्न दर्शनोंका उल्लेख तो मिलता ही है[1]। दुःखकी बात इतनी है कि इन सब दर्शनोंके निरूपणका साहित्य नहीं मिल रहा है, मिला है केवल काश्मीरके शैवोंका। तान्त्रिक दर्शनोंके सम्बन्धमें अनुसन्धानके उपक्रमके तौरपर इस निबन्धमें उन सब बातोंका संग्रह करनेका विचार है जो तन्त्रग्रन्थोंमें तथा अन्य ग्रन्थोंमें यत्र-तत्र बिखरी हुई पड़ी हैं और जिनसे यह पता लगता है कि तन्त्रोंका वेदान्तके साथ क्या या कैसा सम्बन्ध है तथा जिनसे तान्त्रिक दर्शनोंपर भी सामान्यरूपसे प्रकाश पड़ता है।

यह बात ध्यानमें रहे कि कुछ तन्त्र-सम्प्रदायोंके सिद्धान्त वेदान्तके सिद्धान्तोंसे भिन्न हैं और कुछ ऐसे हैं जो वेदान्तका अनुगमन करते हैं। तन्त्रविषयक जो तत्त्वज्ञान है वह सामान्यतः वेदान्तके विरुद्ध ही माना जाता है। यह कहते हैं कि तन्त्रका सिद्धान्त है 'परिणामवाद' (विकासवाद) जो वेदान्त-प्रतिपादित 'विवर्त्तवाद' के विरुद्ध है। इसी प्रकार वेदान्ती जहाँ तीन अवस्था—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तथा तीन ही कृत्य–सृष्टि, स्थिति और संहार—मानते हैं वहाँ तान्त्रिक तुरीय और तुरीयातीत ये दो अवस्थाएँ (अर्थात् कुल पाँच) और तिरोधान और अनुग्रह ये दो कृत्य और (अर्थात् कुल ५) मानते हैं।

कुछ तन्त्र-सम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंका वेदान्तसूत्रोंमें (२।२।७-८) सप्रमाण खण्डन किया गया है। इन सूत्रोंके भाष्यकारोंने इन प्रसंगोंमें इन तन्त्र-सम्प्रदायोंके उन सिद्धान्तोंका उल्लेख किया है जो वेदान्त-सिद्धान्तके विरुद्ध हैं। ये जो दो विभिन्न विभाग हैं इनके सम्बन्धमें शैव भाष्यकारोंका यह मत है कि इनका हेतु वैष्णवों और पाञ्चरात्रोंके मूल सिद्धान्तोंका खण्डन करना है और वैष्णव भाष्यकारोंका यह मत है कि ये शैवों और शाक्तोंके मतोंका खण्डन करते हैं। मृगेन्द्र तन्त्र (२।१०) वेदान्तदर्शनका ही खण्डन करता है। दक्षिणके सिद्धान्त-तन्त्र वेदान्त-विरोधी ही देखनेमें आये। ये अद्वैत वेदान्तके सिद्धान्तोंका खण्डन करते हैं[2]।

तन्त्रके कुछ सम्प्रदायोंके सिद्धान्त न्याय-वैशेषिक या सांख्यदर्शनके तो अनुकूल थे, पर वेदान्तसे उनका कोई मत नहीं मिलता। न्याय और वैशेषिकदर्शन स्पष्ट ही शैवागमोंके

---

* कुछ सम्भ्रान्त महानुभावोंका यह दृढ मत है कि आनन्दभाष्य श्रीरामानन्द स्वामीद्वारा रचित नहीं है। किन्हीं आधुनिक सज्जनने किसी कारणवश इसे रचकर श्रीरामानन्द स्वामीके नामसे प्रचारित कर दिया है। वे लोग इस मतके समर्थनमें प्रमाण भी देते हैं। परन्तु हम इस विषयमें सर्वथा अनभिज्ञ हैं; हम नहीं कह सकते कि इसमें कौन-सी बात सत्य है और न "कल्याण" इस विवादमें पड़ना ही चाहता है। यह लेख इसीलिये इस टिप्पणीसहित छापा गया है। —सम्पादक

[1] १–शैवशाक्तसौरगणेशवैष्णवनास्तिकमतप्रतिपादकानि षड्दर्शनानि सन्ति। (देवीभागवत–नीलकण्ठभाष्य)

[2] २–एस० सूर्यनारायण शास्त्री—श्रीकण्ठकृत 'शिवाद्वैत' पृ० ३

साथ सम्बद्ध हैं ।[1] श्रीमच्छंकराचार्यके किसी अनुयायीद्वारा लिखित 'अद्वैतमञ्जरी' ग्रन्थमें तथा व्रजनाथ भट्टकृत 'मरीचिका' ग्रन्थमें वेदान्तसूत्रोंको (२ । २ । ७) इन आगमोंका खण्डन बताया है । 'सत्शास्त्र' की टीकामें की-संगने लिखा है कि न्यायके सोलह प्रकार महेश्वरके उपासकोंद्वारा कथित हुए हैं ।[2]

कुछ लोगोंका यह प्रयत्न है कि तन्त्रोंके साथ अथवा कम-से-कम शैवागमोंके साथ सांख्यदर्शनका सम्बन्ध स्थापित किया जायँ[3], इसका कारण यही मालूम होता है कि दोनोंमें कुछ तत्त्व एक ही हैं । 'सौन्दर्यलहरी' पर लक्ष्मीधरकी जो टीका है उसमें यह दिखानेका भी प्रयत्न किया गया है कि तन्त्रोंके ५१ या ३६ तत्त्व वे ही हैं जो सांख्यके २५ तत्त्व हैं ।

इसके विपरीत कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कम-से-कम कुछ तन्त्र तो निश्चितरूपसे वेदान्तके ही मार्गपर हैं । तन्त्रोंके मुख्य-मुख्य सम्प्रदायोंमें वेदान्तसूत्रोंपर अपने-अपने भाष्य हैं और इन भाष्योंमें इन सूत्रोंका अर्थ अपने अपने सम्प्रदायके अनुसार लगाया गया है । इन भाष्योंमें वैष्णव और शैव भाष्य सुप्रसिद्ध हैं और शाक्त भाष्यका, कहते हैं कि लोप हो गया है । अकूटागमतन्त्रमें यह स्पष्ट निर्देश है कि वेदान्तका अध्ययन तन्त्रोपासकके प्रधान कर्तव्योंमेंसे एक कर्तव्य है । शक्ति अर्थात् परमेश्वरीको अधिष्ठातृ वा अधिष्ठित मायोपाधिविशिष्ट परब्रह्म ही कहा गया है । यह परमेश्वरी शक्ति ही वेदान्तका परम ध्येय और परमधाम कही गयी है । जगत्के मायिक स्वरूपका भी यत्र तत्र प्रसङ्गानुसार वेदान्तियोंके ढंगसे ही वर्णन किया गया है ।

वेदान्तका जो परम ध्येय है सान्तका अनन्तके साथ मिल जाना—जीवात्माका परमात्मासे युक्त होकर एक हो जाना, उसकी सिद्धिमें तन्त्रोपासना भी एक व्यावहारिक साधनका काम देती है । इस उपासनाके जो अंग हैं—भूतसिद्धि और विभिन्न प्रकारके न्यास—उनका लक्ष्य यही सिद्धि है । उपासकको उपासनाके समय अपने शरीरको भगवतीका आसन मानना पड़ता है । उपासनाकी जो और भी श्रेष्ठ प्रक्रिया है जिसे अन्तर्याग कहते हैं, उसमें शरीरको भगवतीका आसन बनानेका क्रम और भी अधिक उन्नत होता है । यहाँ उपासकका इतना ही साधन नहीं है कि वह भगवतीके साथ केवल अपना ही तादात्म्य करे प्रत्युत पूजनकी जितनी सामग्री है उसमें भी उस तादात्म्यको ले आवे । इस प्रकार यह देखनेमें आता है कि सम्प्रदायके ब्योरेमें अनेक विभेदोंके होते हुए भी तन्त्रोंका ध्येय तो वही था जो वेदान्तका है !

◆

आत्माको रथका स्वामी जाने, शरीरको रथ जाने, बुद्धिको सारथी जाने, मनको बागडोर जाने, इन्द्रियोंको घोड़े कहते हैं और विषयोंको मार्ग कहते हैं । विवेकी पुरुष इन्द्रिय और मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं ।

(कठ० ३ । ३-४

◆

---

[1] १—नैयायिकशासनं शैवामाख्यायते वैशेषिकदर्शनञ्च पाशुपतमिति । (श्रीकुमारकृत 'तत्त्वप्रकाशिका' ४ । ३)

[2] २—कीथकृत इंडियन लाजिक ऐंड एटामिज्म (न्याय और वैशेषिक) अध्याय १०; चीनसे प्राप्त डिंगनागपूर्व बौद्धन्यायग्रन्थ प्र० २९ ।

[3] ३—अन्यथाख्यामुपाश्रित्य सांख्यवच्छिवशासनम् (श्रीकुमारकृत तत्त्वप्रकाशिका ४ । ३); सांख्यमतेषु चतुःषष्टितन्त्रादिषु मृगेन्द्र-तन्त्रपर भट्ट नारायणकी टीका २ । १०)

देव्या मायाविशिष्टब्रह्मरूपत्वात् क्वचिन्मायोपसर्जनब्रह्मरूपत्वेन वर्णनं क्वचिद् ब्रह्मोपसर्जनमायारूपत्वेन वर्णनम् ।

(देवीभागवत नीलकण्ठकृत भाष्य)

वेदान्त-शिक्षाकी कुछ बातें

(लेखक—श्रीडाक्टर एम० एच० सय्यद एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्)

(१)

यह सच ही कहा गया है कि देश और काल भ्रम हैं। जिसे अपनी बाह्य सत्ताका बोध है उसके लिये काल कोई वस्तु नहीं है। हमलोग अभी स्थितधी और समबुद्धि क्यों नहीं हैं, इसका कारण यही है कि अनित्य पदार्थोंके पीछे दौड़ रहे हैं। चिरचञ्चल और मायामरीचिकावत् जो प्राकृत दृश्य है उससे उत्पन्न होनेवाली कल्पनापरम्परा ही कालबुद्धिका कारण है। जब यह कल्पनापरम्परा या मन-बुद्धिकी संकल्पविकल्पात्मक वृत्ति शान्त या निरुद्ध हो जाती है तब काल कोई पदार्थ नहीं रह जाता।

(२)

एकमेवाद्वितीय सनातन परब्रह्म सर्वव्यापक है और विश्वके बाह्य स्थूलस्वरूपसे अधिक शक्तिमान् और महान् है। इसलिये अध्यात्मवृत्तिके मनुष्यके लिये पावन-अपावनका कोई भेद नहीं है। सामान्य संसारी मनुष्यकी अपेक्षा उसमें वह बुद्धिशक्ति अधिक होती है जिससे वह जिस किसी वस्तुके संसर्गमें आता है उसके श्रेयःस्वरूपका अनुभव कर लेता है। उसके लिये सुख और आनन्दकी सामग्री बहुत अधिक है। किसी पदार्थके स्थूल स्वरूपसे ऐसे मनुष्यकी आँखोंपर पट्टी नहीं बँध जाती। हमारे चारों तरफ जो दुःख-दारिद्र्य और क्लेश दिखायी दे रहे हैं उसका कारण है। बहुत-से लोग पार्थिव (वैषयिक) सुखोपभोगमें कूद पड़ते हैं और अपने सच्चिदानन्दस्वरूपको भूल जाते हैं। वे अपने-आपको विषयस्वरूप बना लेते हैं और किसी-न-किसी विषयमें ही सुखोपभोग, सुरक्षितता और शान्ति ढूँढ़ा करते हैं, जो वहाँ है ही नहीं। विषयोंसे सुख चाहना आकाशकुसुमके अनुसन्धानमें लगना है। इसलिये यह व्यर्थका प्रयास छोड़ देना चाहिये।

(३)

जो लोग निवृत्तिमार्गपर चल रहे हैं और सदाके लिये अन्तरात्माकी ओर चलनेका निश्चय कर चुके हैं उन्हें सर्वात्मना अपनी सब शक्तियोंको सदाचारकी वृद्धि और आध्यात्मिक जीवनके निरन्तर अभ्यासमें लगा देना चाहिये।

बहुत कालसे हमलोग वैषयिक जीवनसे अभ्यस्त हैं, इसलिये उतना ही काल हमें अध्यात्ममार्गपर चलते रहना होगा तब जाकर हमलोग अपने लक्ष्यको प्राप्त करेंगे। अपने इस कार्यकी महत्ताको तथा उस आध्यात्मिक जीवनके वास्तविक स्वरूपको अच्छी तरह समझ-बूझ लेनेके बाद अपने इस प्रयासमें कहीं चूकनेपर भी हमें एक क्षणके लिये भी हतोत्साह न होना चाहिये। जो कोई भी प्रयत्न हम इस मार्गमें करते हैं वह निश्चितरूपसे हमें अन्तिम विजयकी ओर ही ले जाता है।

हमलोगोंको जो कार्य करना होगा वह द्विविध है—एक तो आत्मप्राप्तिका अध्यवसायपूर्ण निरन्तर सन्निष्ठापूर्वक अभ्यास; और दूसरा सेवा। स्वार्थरहित सेवासे हमलोग उन्नत होंगे, सबके अंदर हमारी जो एकात्मता है उसे अनुभव करनेमें इससे मदद मिलेगी; पर केवल इतना ही नहीं, इससे हम पूर्वकर्मजनित ऋणसे मुक्त होंगे और तभी हम अपने गन्तव्य स्थान अर्थात् मोक्षको प्राप्त करनेके अधिकारी होंगे।

(४)

वेदान्तकी दृष्टिसे विकास (evolution) का क्या अर्थ होता है ? सबके अंदर आत्मा तो एक ही है। वह अक्षर, सर्वगत, स्थाणु, सनातन, अज और अविनाशी है; वह सदा ही पूर्ण है। तब वह चीज क्या है जिसका विकास होता है ?

कभी-कभी आत्मा जो कुछ अनात्म है उसके साथ अपना तादात्म्य कर लेता है। और जब वह मायिक रूपके अन्तस्तलसे बाहर निकलने लगता है तब कहते हैं कि यह विकसित होता है और नाना रूपोंकी आश्चर्यमयी विविधतासे क्रमशः ऊपर प्रकट होता है।

(५)

मानवजाति एक है; मनुष्योंके विचार और उच्चाभिलाष समानरूपसे एक दूसरेके साथ आबद्ध हैं। ये इतने परस्पर मिले-जुले हैं कि इनकी क्रिया-प्रतिक्रिया एक दूसरेपर सदा ही हुआ करती है, और इससे जीवमात्रका जीवमात्रसे नाता साबित होता है। उदाहरणस्वरूप यह कह सकते हैं कि कवियोंकी सूझें, विज्ञानके सत्यानुसन्धान और प्राचीन तथा नवीन भाषाओं और बोलियोंका एक दूसरेपर प्रभाव, ये सब बातें ऐसी हैं जिनसे यह जाहिर होता है कि मनुष्य सब एक ही जातिके हैं और यह भी सूचित होता है कि शायद किसी समय सब मनुष्य परस्परको भाई-भाई माननेकी स्थितिको प्राप्त होंगे।

(६)

भारतीय तत्त्ववेत्ताओंके विचारमें, तत्त्वज्ञानका उद्देश्य दुःखका अन्त करना है। प्रत्येक भौतिक विषय दुःख देनेवाला और परिणाममें अनित्य है। दुःख, शोक, आधि-व्याधि और दौर्भाग्यकी एकमात्र सर्वोत्तम ओषधि ज्ञान है, वह ज्ञान जिससे जन्म और मृत्युको समझनेकी सूक्ष्म आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। सब प्रकारके दुःख, शोक और यातनाओंका शिकार होनेवाले मनुष्यको आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टिका अभ्यास करना चाहिये, इसीसे वह सकुशल दुःख-सागरको पार कर जायगा।

आध्यात्मिक संस्कारोंसे सुसंस्कृत मनुष्य अति कठिन और कष्टप्रद अवस्थाओंमें भी शान्त, स्थिर और उदासीन रहता है। प्रत्येक प्रकारके दुःखको वह आगमापायी समझता है और किसी भी प्रकारकी अनिष्ट अवस्थासे अपने आपको विचलित नहीं होने देता।

ज्यों-ज्यों उसकी आध्यात्मिक उन्नति होती है त्यों-त्यों वह अनुभव करने लगता है कि अपना अन्तस्तम आत्मा ही नित्य सनातन आत्मा है और यह अस्थिचर्ममांसमय पिण्ड अनित्य, मरणशील और इसलिये अवास्तवरूप है। इस विचारके साथ वह शान्तिमें ही स्थिरतासे निवास करता है।

(७)

'स्वतन्त्रता' ही आधुनिक जगत्‌की सर्वसामान्य पुकार है। लोग सब प्रकारके संयमों और प्रतिबन्धोंसे बेरोक स्वतन्त्रता चाहते हैं जिसमें वे अपने सामाजिक और राजनीतिक मामलोंमें जो चाहें कर सकें और जैसा चाहें अपनी व्यापारिक और राजनीतिक संस्थाओंको बना सकें। पश्चिमके उन्नतिशील सभ्य राष्ट्रोंने इस समय इतनी वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है कि उनके पूर्वपुरुषोंको नसीब नहीं थी; और फिर भी अन्य प्रकारसे वे अभी बद्ध ही हैं। वास्तविक आन्तरिक स्वतन्त्रता उन्हें नाममात्रको भी नहीं है। स्वतन्त्रता वास्तवमें जो कुछ है उसके विचारसे तो वे परतन्त्रताकी शृंखलाओंसे ही बँधे हैं।

मनुष्य तो अपने भाग्यका विधाता कहा जाता है; पर हालत यह है कि अभी उसकी समझमें यही नहीं आता है कि उसने स्वेच्छासे अपने आपको इतने बन्धनों और प्रतिबन्धनोंसे बाँध रक्खा है। सच तो यह है कि मनुष्य अपनी वासनाओं और मनोवेगोंका दास बना हुआ है, प्रत्येक मोहक पदार्थ जो सामने आता है उसीका शिकार हो रहा है, क्रोध उसे फाड़ रहा है, भय घेर रहा है और सब प्रकारकी आशा-अपेक्षा उसका पीछा कर रही है। ऐसा मनुष्य स्वतन्त्र कैसे कहा जा सकता है?

सच्ची स्वतन्त्रता यह है कि मनुष्य अपनी हीन तथा वासना, भय और मनोविकारसे मुक्त हो। यथार्थमें मनुष्य वही है जिसने अपने विचारों, वासनाओं और भावोंको जीता है और जो अपने शरीर और मनको रखकर ऐसे चलता है जैसे कोई घोड़ेको चलाता है। ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, भय आदि जितनी भी दुर्वृत्तियाँ उनसे मुक्त होनेका यत्न मनुष्यको करना चाहिये। और दुःखमें उसे स्थिर और सम रहना सीखना चाहिये जय-पराजय, लाभ-हानिको सम करके लेना चाहिये। मनुष्य तभी स्वतन्त्र कहाने योग्य होता है जब वह स्पर्शोंसे विचलित नहीं होता और इष्टानिष्ट सब परि योंमें स्थिर और शान्त रहता है।

(८)

भारतीय तत्त्वज्ञानमें सृष्टिकी समस्याका एक विषय है जिसपर बड़ा विवाद है। इस सिद्धान्तके यह कहते हैं कि कुछ नहींसे कुछ नहीं उत्पन्न हो यदि इस विश्वको किसी महान् पुरुषने निर्माण किया उस महान् पुरुषको भी उससे बड़े किसी महान् निर्माण किया होगा और फिर उसको भी किसी निर्माण किया होगा। इस परम्पराका कोई अन्त और इसलिये मूल कारणकी सर्वाङ्गपूर्णता और महत्ता सन्दिग्ध हो जाती है। परिणामवादी यह कि विश्व अपनी सत्तासे है, इसे कभी किसीने निर्माण किया। यह प्रादुर्भाव या प्राकट्य है उसी एकमेवाद्वि सत्ताका जो नित्य, सनातन, पुराण और अज है।

जैसे सूर्यकी उष्णता समुद्रके जलको वाष्प ऊपर चढ़ाती है और वह भाफ मेघ बनकर वर्षाके पृथ्वीपर बरसती है और जलस्रोत बनकर समुद्रको जाती है, वैसे ही यह सम्पूर्ण विश्व अपने नानाविध रूपों और प्राणियोंके साथ भगवन्मानससे प्रकट होता फिर उसीमें लीन हो जाता है।

वृक्ष-वनस्पत्यादि उद्भिज्ज भूमिसे उत्पन्न होते धात्वादि खनिज खानों और पहाड़ी चट्टानोंसे निकाले जाते हैं और फिर जब वे जीर्ण होकर झर तब भूमि उन्हें अपने अंदर मिला लेती है; वैसे ही एकसे ये अनेक प्रकट होते हैं और कुछ काल अपने मूल तत्त्वमें घुल-मिल जाते हैं।

मनुष्यका पोषण और जीवन पशुकी सहायता और वनस्पतिके खाद्यसे है। विकासके सामान्य क्रममें खनिज जातिके रूपोंकी आवश्यकता वनस्पतियोंके पोषणके लिये होती है और वनस्पतियोंकी आवश्यकता पशुओंके पोषणके लिये होती है। इसी प्रकारसे मनुष्यके पोषणके लिये वानस्पत्य भक्ष्य और पाशव सहायता आवश्यक है। जब किसी मनुष्यका शव शरीरके भिन्न-भिन्न तत्त्वोंमें पृथक्-पृथक् हो जाता है तब उससे इन तत्त्वोंका योग (जोड़) बढ़ जाता है। इस प्रकार विकासका सम्पूर्ण क्रम परस्पर आदान-प्रदान और प्रेमपर निर्भर करता है। यथार्थमें किसी भी पदार्थमें या किसी भी रूपमें कोई घट-बढ़ नहीं होती। जड और चेतन जिनके मिलनसे यह सारा बाह्य जगत् प्रकट होता है, ये दोनों हो अविनाशी हैं, यह बात निःसन्देह प्रमाणित हो चुकी है। जड भी चेतनसे ही उत्पन्न होता है। चेतन ही अनेकविध जडरूपसे प्रकट होकर भी चेतन ही रहता है।

(९)

विश्वके कारण या हेतुसम्बन्धी जिज्ञासाका समुचित समाधान 'लीला' सिद्धान्तसे ही होता है। यह बाह्य जगत् भागवत शक्तिका प्राकट्य है। यथार्थमें यह भगवान्की लीला या क्रीडा है। इसमें देखते-देखते यही देखनेमें आता है कि न किसीको कोई चीज मिली न किसीकी कोई चीज खोयी, एक खेल हो गया। श्रीभगवान् विश्वके सर्वगत जीवनाधार हैं, उत्थान या पतनके ऊपर उदासीन हैं। उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। जो लोग पूर्णकाम या सिद्ध पुरुष कहाते हैं वे वे ही हैं जो जडकी बद्धताको पार कर गये हैं और उसकी बहकानेवाली वृत्तियोंको अपने वशमें कर चुके हैं। उनके अन्तरात्मामें कोई वृद्धि हुई हो, ऐसी बात नहीं है। अन्तरात्मा सदा ही अच्छे-बुरेके परे शान्त और सुस्थिर रहता है। जैसे किसी विशाल समुद्रमें बुद्बुदोंका उठना और गिरना होता है या तरङ्गोंका उठना और बहना होता है अथवा जलधाराओंका बड़ी तेजीसे चलना होता है और फिर भी समुद्र ज्यों-का-त्यों रहता है; वैसे ही परब्रह्म जो कि हमारे आत्माओंका आत्मा है, सदा ही अविकार्य है। 'उसे तुम अविनाशी जानो' श्रीकृष्ण कहते हैं, 'जिससे यह सारा तना हुआ है, उस अव्ययका विनाश तो कोई कर ही नहीं सकता।'

आपद्धर्म

एक समय कुरुदेशमें ओलोंकी बड़ी वर्षा होनेसे और उगते हुए अन्नका नाश हो जानेसे भयानक अकाल पड़ गया। अकालसे पीड़ित नर-नारी अन्नके अभावसे देश छोड़कर भागने लगे। इसीलिये चक्रके पुत्र उषस्तिने भी अपनी अप्राप्तयौवना पत्नी आटिकीको साथ लेकर देश छोड़ दिया और भटकते-भटकते दोनों एक महावतोंके ग्राममें पहुँचे। भूखके मारे उस समय उषस्ति मरणासन्न-दशाको प्राप्त हो रहा था। उसने एक महावतको उबले हुए उड़दके दाने खाते देखा और उसके पास जाकर कुछ उड़द देनेको कहा। महावतने कहा—'मैं इस बर्तनमें रक्खे हुए जो उड़द खा रहा हूँ इन जूँठे उड़दोंके सिवा मेरे पास और उड़द नहीं है तब मैं तुम्हें कहाँसे दूँ?' महावतकी बात सुनकर उषस्तिने कहा—'मुझे इनमेंसे ही कुछ दे दो।' तब महावतने उनमेंसे थोड़े-से उड़द उषस्तिको दे दिये और जल सामने रखकर कहा कि 'लो, इनको खाकर जल पी लो।' इसपर उषस्तिने कहा—'भाई! मैं यह जल पी लूँगा तो मुझे दूसरेकी जूँठन खानेका दोष लगेगा।'

महावतने अचरजसे पूछा, 'तो क्या तुमने जो उड़द मुझसे लिये हैं, ये जूँठे नहीं हैं, फिर जूँठे जलहीमें कौन-सा दोष है?'

उषस्तिने उत्तर दिया—'भाई! यदि मैं यह उड़द नहीं खाता तो मेरे प्राण नहीं रहते (प्राण-संकटमें आपद्धर्म समझकर ही मैं उड़द खा रहा हूँ) अब जल तो मेरी इच्छानुसार मुझे दूसरी जगह भी मिल जायगा। यदि उड़दकी तरह मैं तुम्हारा जूँठा जल भी पी लूँ तब तो वह स्वेच्छाचार ही होगा। आपद्धर्म नहीं रहेगा। इसलिये मैं तुम्हारा जल नहीं पीऊँगा।' इतना कहकर उषस्तिने कुछ उड़द खा लिये और शेष अपनी स्त्रीको दे दिये। ब्राह्मणीको पहले ही कुछ खानेको मिल गया था, इसलिये पतिके दिये हुए जूँठे उड़द उसने खाये नहीं, अपने पास रख लिये।

दूसरे दिन प्रातःकाल उषस्तिने प्रातःकृत्य करनेके बाद अपनी स्त्रीसे कहा—'क्या करूँ, मुझे जरा-सा भी अन्न कहींसे खानेको मिल जाय तो मैं अपना निर्वाह होने लायक कुछ धन प्राप्त कर सकता हूँ, यहाँसे समीप ही एक राजा यज्ञ कर रहा है, वह ऋत्विक्के काममें मेरा भी वरण कर लेगा।'

यह सुनकर स्त्रीने कहा—'मेरे पास कलके बचे हुए कुछ उड़द हैं, लीजिये, इन्हें खाकर यज्ञमें शीघ्र चले जाइये।' भूखसे अशक्त हुए उषस्तिने उड़द खा लिये और कुछ स्वस्थ होकर वह राजाके यज्ञमें चले गये। वहाँ जाकर वे आस्तावमें (स्तुतिके स्थानमें) स्तुति करनेवाले उद्गाताओंके पास जाकर बैठ गये और स्तुति करनेवालोंकी भूल देखकर उनसे बोले—'हे प्रस्तोता! आप जिन देवताकी स्तुति करते हैं वे देव कौन हैं? आप यदि अधिष्ठाताको जाने बिना उनकी स्तुति करेंगे तो याद रखिये, आपका मस्तक नीचे गिर पड़ेगा' इसी प्रकार उद्गातासे कहा कि 'हे उद्गीथकी स्तुति करनेवाले! यदि आप उद्गीथभागके देवताको जाने बिना उनका उद्गान करेंगे तो आपका मस्तक नीचे गिर पड़ेगा।' तदनन्तर उन्होंने प्रतिहारका गान करनेवालेकी ओर भी मुड़कर कहा कि 'हे प्रतिहारका गान करनेवाले प्रतिहर्ता! यदि आप देवताको बिना जाने उसका प्रतिहार करेंगे तो आपका मस्तक नीचे गिर जायगा।' यह सुनकर स्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता आदि सब ऋत्विज्गण मस्तक गिरनेके डरसे अपने-अपने कर्मको छोड़कर चुप होकर बैठ गये।

राजाने अपने ऋत्विजोंकी यह दशा देखकर कहा कि 'हे भगवन्! आप कौन हैं, मैं आपका परिचय जानना चाहता हूँ।' उषस्तिने कहा—'राजन्! मैं चक्रका पुत्र उषस्ति हूँ।' राजाने कहा—'ओहो! भगवन्! उषस्ति आप ही हैं? मैंने आपके बहुत-से गुण सुने हैं। इसीलिये मैंने ऋत्विज्के कामके लिये आपकी बहुत खोज की थी परन्तु आपके न मिलनेपर मुझे दूसरे ऋत्विज् वरण करने पड़े। अब मेरे सौभाग्यसे आप पधारे हैं तो हे भगवन्! ऋत्विज्-सम्बन्धी समस्त कर्म आप ही करनेकी कृपा कीजिये।'

उषस्तिने कहा—'बहुत अच्छा! परन्तु इन ऋत्विजोंको हटाना नहीं, मेरी आज्ञानुसार ये ऋत्विज्गण अपना-अपना कर्म करें। और दक्षिणा भी जो इन्हें दी जाय, उतनी ही मुझे देना।' (न तो मैं इन लोगोंको निकालना चाहता हूँ, और न दक्षिणामें अधिक धन लेकर इनका अपमान करना चाहता हूँ। मेरी देख-रेखमें ये सब कर्म करते रहेंगे) तदनन्तर प्रस्तोता, उद्गाता आदि समस्त ऋत्विजोंने उषस्तिके पास जाकर विनयपूर्वक उनसे पूछ-पूछकर सब बातें जान लीं और उषस्तिने उन लोगोंको सब समझाकर उनके द्वारा राजाका यज्ञ भलीभाँति पूर्ण करवाया।

* * *

अग्निदेवकी कृपा

कमलाका पुत्र उपकोसल सत्यकाम जाबालके पास जाकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर रहने लगा। उसने पूरे बारह वर्षतक गुरुके अग्नियोंकी सेवा की। गुरुने अपने दूसरे शिष्य ब्रह्मचारियोंका समावर्तन (वेदाध्ययन पूर्ण करवा) कर उन्हें घर जानेकी आज्ञा दी, परन्तु उपकोसलको आज्ञा नहीं दी।

उपकोसलके मनमें कुछ विषाद हो गया, यह देखकर गुरु-पत्नीके मनमें दया उपजी। उसने स्वामीसे कहा, 'इस ब्रह्मचारीने ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन किया है और श्रद्धापूर्वक विद्याध्ययन किया है और आपके अग्नियोंकी भलीभाँति सेवा की है, अतएव इसका समावर्तन करके इसकी कामना पूर्ण कीजिये। नहीं तो ये अग्नि आपको उलाहना देंगे।' सत्यकामने बात सुनी-अनसुनी कर दी। और वह बिना ही कुछ कहे यात्राके लिये घरसे चले गये।

उपकोसलको इससे बहुत दुःख हुआ! वह मानसिक व्याधियोंसे दुखी हो गया और अन्न छोड़कर अनशन व्रत करने लगा। स्नेहमयी गुरुपत्नीने कहा—'हे ब्रह्मचारी! तू भोजन कर। किसलिये भोजन नहीं करता है?' उसने कहा—'मेरे मनमें अनेकों कामनाएँ हैं, मैं अनेक प्रकारके मानसिक दुःखोंसे ग्रस्त हूँ, अतः मैं कुछ भी नहीं खा सकूँगा।' गुरुपत्नी चुप हो गयीं।

अग्नियोंने विचार किया कि 'इस तपस्वी ब्रह्मचारीने मन लगाकर हमारी बहुत ही सेवा की है, अतएव इसकी कामनाको हमलोग पूर्ण करें।' यह विचारकर अग्नियोंने उसे अलग-अलग ब्रह्मविद्याका यथोचित उपदेश किया। उपदेशके अनन्तर सब अग्नियोंने मिलकर उससे कहा—'हे सौम्य उपकोसल! हमने तुझको अग्नि तथा आत्माका यथार्थ उपदेश दिया है, अब तेरे आचार्य आकर तुझे इस विद्याके फलका उपदेश देंगे।'

कुछ दिनों बाद गुरु यात्रासे लौट आये, उन्होंने शिष्यको पुकारा—'उपकोसल!' उसने कहा 'भगवन्!'

उपकोसलका मुख ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान हो रहा था, उसकी समस्त इन्द्रियाँ सात्त्विक प्रकाशको प्राप्त थीं,

देखकर आचार्यने हर्षमें भरकर पूछा—'बेटा उपकोसल! तेरा मुख ब्रह्मज्ञानियोंकी तरह चमक रहा है, बता, तुझको किसने ब्रह्मका उपदेश किया?' किसी मनुष्यसे उपकोसलको उपदेश नहीं मिला था इससे उसने स्पष्ट न कहकर सांकेतिक भाषामें कहा—'भगवन्! आपके बिना मुझे कौन उपदेश करता? यह अग्नियाँ पहले मानों और प्रकारके-से थे, अब आपको देखकर मानो डर-से रहे हैं।' संकेतका अर्थ समझकर आचार्यने कहा—'वत्स! अग्नियोंने तुझे क्या उपदेश किया?' उपकोसलने अग्नियोंसे जो कुछ प्राप्त किया था, सब कह सुनाया। सुनकर गुरु बोले—'वत्स! इन अग्नियोंने तो तुझे लोकसम्बन्धी ही उपदेश किया है। मैं तुझको उस पूर्ण ब्रह्मका उपदेश करूँगा, जिसका साक्षात् हो जानेपर जैसे कमलके पत्तेपर जलका स्पर्श नहीं होता, वैसे ही उसपर पापका स्पर्श नहीं हो सकता।' शिष्यने कहा—'भगवन्! आप उपदेश करें।'

इसके बाद आचार्यने उपकोसलको ब्रह्मका रहस्यमय सम्पूर्ण उपदेश किया। और उसका समावर्तन करके उसे घर जानेकी आज्ञा दी।

ब्रह्म ज्ञानस्वरूप हैं

(लेखक—काशीनिवासी स्वामी श्रीविवेकानन्दजी)

अद्वैत ब्रह्म ज्ञानस्वरूप हैं। उनके उस ज्ञानका विकास ब्रह्मसे अभिन्नरूपा ब्रह्मशक्ति महामायाके विलासद्वारा उस महामायाकी अवस्थाओंके अनुसार हुआ करता है। सूर्यके प्रकाशका कोई रंग नहीं है; जिन प्राकृतिक पदार्थोंमें होकर वह प्रकाश आता है, उन पदार्थोंके रंगके अनुसार उसका रंग दिखायी देता है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रकाशका कोई रंग नहीं है, पदार्थोंका रंग ही प्रकाशके रंगके रूपमें भासमान होता है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप हैं और अद्वैत हैं। महामायाके विलासके समयके उसके क्रमोन्नत सोपानोंके अनुसार ज्ञानका विकास दिखायी देता है। ये ज्ञानस्वरूप अखण्ड ब्रह्मके ज्ञानके सोपान नहीं हैं, अभिन्नरूपा ब्रह्मशक्ति महामायाके सोपान हैं जो ब्रह्मके ज्ञानके सोपानरूप प्रतीयमान होते हैं। अखण्डके खण्ड नहीं हो सकते। प्राकृतिक अवस्थाओंके कारण ब्रह्मज्ञानके खण्ड दिखायी देते हैं।

प्राकृतिक सोपान चतुर्दश हैं। महामायाके दो रूप हैं, विद्या और अविद्या। तमःप्रधान अविद्या कहाती है और सत्त्वप्रधान विद्या है। तमःप्रधान सात सोपानोंकी अधिष्ठातृदेवी अविद्या है और सत्त्वप्रधान सात सोपानोंकी अधिष्ठातृदेवी विद्या है। प्रकृतिके क्रमोन्नत सोपानोंके अनुसार सात अज्ञानभूमियाँ और सात ज्ञानभूमियाँ हैं। प्रथम अज्ञानभूमिमें ज्ञानका जितना क्रमशः विकास होता है उसके निदर्शनरूप उद्भिज्ज जीवोंका अन्तःकरण है। यद्यपि वहाँ पञ्च कोषोंका पूर्ण विकास नहीं हुआ है केवल अन्नमय कोषका ही विकास हुआ है; तथापि उद्भिज्ज जीवमें अन्य कोष भी विद्यमान हैं। प्रथम और द्वितीय अज्ञानभूमियोंका विकास स्वेदज जीवोंमें होता है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय अज्ञानभूमियोंका विकास अण्डज जीवोंमें होता है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अज्ञानभूमियोंका विकास मनुष्येतर जरायुज जीवोंमें होता है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम अज्ञानभूमियोंका विकास अनार्य मनुष्य जीवोंमें होता है। स्मरण रहे कि इन पाँच अज्ञानभूमियोंके विकासके साथ-ही-साथ अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषोंका क्रमशः पूर्ण विकास भी हो जाता है। मनुष्य अपने पिण्डका अधीश्वर हो जाता है अतः उसमें उसकी क्रमोन्नतिके अनुसार क्रमशः अन्तिम तीन अज्ञानभूमियोंके विकासकी पूर्णता होती है। प्रथम अवस्थामें पञ्चम अज्ञानभूमिके विकासकी पूर्णता होती है, द्वितीय अवस्थामें षष्ठ अज्ञानभूमिके विकासकी पूर्णता होती है और तृतीय अवस्थामें सप्तम अज्ञानभूमिके विकासकी पूर्णता होती है। ये तीनों आर्येतर जातिके मनुष्योंकी अवस्थाएँ हैं। वे देहात्मवादी आदि नास्तिक मतोंके होते हैं। आर्य जातिके मनुष्योंमें जन्म तभी होता है जब इन तमःप्रधान सात अज्ञानभूमियोंको जो एक प्रकारसे क्रमोन्नत ज्ञानभूमियाँ ही हैं, अतिक्रमण कर लेता है। उसी समयसे उसमें सत्त्वप्रधान प्रथम ज्ञानभूमिका विकास प्रारम्भ हो जाता है। यही न्यायदर्शनकी भूमि है। यहींसे आस्तिकदर्शनोंकी ज्ञानभूमियोंका प्रारम्भ होता है। दूसरी वैशेषिकदर्शनकी भूमि है। तीसरी योगदर्शनकी भूमि है। चौथी सांख्यदर्शनकी भूमि है। पाँचवीं कर्ममीमांसादर्शनकी भूमि है। छठी देवी-

मीमांसादर्शनकी भूमि है। सातवीं ब्रह्ममीमांसादर्शन (वेदान्त) की भूमि है। उस भूमिको पार करनेपर जीव स्वरूपमें स्थित हो जाता है। वह त्रिगुणातीत अवस्था है, अतः वहाँ प्रकृतिके विलाससम्बन्धीय आवरणके न रहनेसे ब्रह्मांशवत् प्रतीयमान जीवकी सत्ता ही नहीं रहती है। ब्रह्मसत्ता अद्वैत है, उसमें अंशवत् प्रतीयमान जीव भ्रमसे प्रतीत होता था। ब्रह्मसत्ताका जो ज्ञानस्वरूप है वह वही गुणातीत अवस्था है। इसका अर्थ यह न समझा जाय कि जीव त्रिगुणोंसे अलग हो जाता है और यह भी न समझा जाय कि जीव पहले ब्रह्म न था और उस समय ब्रह्म हो जाता है। यह सब कुछ नहीं होता। त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके उस अंशकी ऊर्ध्वगति समाप्त होनेसे वह प्रकृतिका अंश भी प्रकृतिस्थ हो जाता है। पृथक् प्रतीयमान नहीं होता और ब्रह्मांशवत् प्रतीयमान जीव भी स्वस्वरूपमें स्थित हो जाता है, पृथक् प्रतीयमान नहीं होता। चिज्जडग्रन्थिके कारण ब्रह्मांशवत् प्रतीयमान जीव, लिप्त-सा दिखायी देता था, चिज्जडग्रन्थिके खुल जानेसे लिप्त-सा भी दिखायी नहीं देता और अंशरूप भी दिखायी नहीं देता। उस समय प्रकृतिका जो अंश स्वभावतः सत्त्वकी ओर परिणामी हुआ था वह भी चिज्जडग्रन्थिके खुल जानेसे प्रकृतिस्थ हो जाता है। इतनी लीला करके प्रकृति फिर अपने स्वरूपमें आ जाती है अर्थात् ब्रह्ममें जैसे पहले अभिन्नरूपसे स्थित थी वैसे ही अब भी स्थित है। बीचकी अवस्था उसकी नहीं रहती है। यद्यपि जीवभाव ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति महामायासे पृथक्भाव नहीं है तथापि प्रतिपादन करनेके रूपमें कहा जा सकता है कि उस समय प्रकृतिके अंशवत् प्रतीयमान प्रकृत्यंश मूलप्रकृतिमें लय हो जाता है और ब्रह्मांशवत् प्रतीयमान जीव ब्रह्ममें लय हो जाता है। होता-हवाता कुछ नहीं, वर्णन करनेके रूपमें उक्त रूपसे कहा गया है। अखण्ड वस्तुका खण्ड नहीं हो सकता, अभिन्न वस्तु भिन्न नहीं हो सकती। न जीव ब्रह्मका अंश है और न अविद्या मूलप्रकृतिका अंश है। दोनों ही अभिन्न हैं। एककी एकके बिना स्थिति नहीं दिखायी दे सकती। अविद्याको हमने मूलप्रकृतिका अंश होना स्वीकार नहीं किया, इसका कारण यह है कि अविद्या तमःप्रधान होनेपर भी सत्त्व और रजकी भी स्वल्परूपमें स्थिति उसमें है अतः अविद्या मूलप्रकृतिका टुकड़ा नहीं है अवस्थान्तरमात्र है। लयावस्थाकी मूलप्रकृति और सृष्टिसमयकी सत्त्वोन्मुखिनी अविद्याकी अवस्था ये दोनों एक ही हैं। स्थिति-अवस्थामें ही ये अपनी ऊर्ध्वमुखिनी गतिके कारण पृथक्-पृथक् प्रतीयमान होती हैं। अखण्डरूप और ज्ञानस्वरूप ब्रह्मके क्रमशः अनेक रूप दिखानेवाली अतर्क्य नाटकनटी महामाया ही है। ज्ञानके उन क्रमोन्नत रूपोंका वर्णन ही हमने इस लेखमें करनेकी यथामति चेष्टा की है। सनातनधर्मके दर्शनशास्त्र ही उन रूपोंका दर्शन करानेमें समर्थ हैं अतः अन्तमें ज्ञानप्रचारक सकल नित्य ऋषियोंको प्रणाम करके इस लेखको समाप्त करता हूँ। ओं तत्सत्।

तस्मै ज्ञानात्मने नमः

* * *

आत्मविस्मरण

अपुनपो आपुन ही बिसरयो।
जैसे स्वान काँच-मंदिरमें, भ्रमि-भ्रमि भूसि मरयो॥
हरि सौरभ मृगनाभि बसतु है, द्रुम तृन सूँघि मरयो।
ज्यों सपनेमें रंक भूप भयो, तसकरि अरि पकरयो॥
ज्यों केहरि प्रतिबिंब देखिकैं, आपुन कूप परयो।
ऐसे गज लखि फटिक-सिलामें, दसननि जाइ अरयो॥
मरकट मूठि छाँड़ि नहिं दीनी, घर-घर द्वार फिरयो।
सूरदास नलिनीको सुवटा, कहि कौने जकरयो॥

—सूरदासजी

ब्रह्मवेत्ता

(लेखक—ब्रह्मीभूत पूज्यपाद महात्मा श्री १०८ श्रीमन्नथुराम शर्मा आचार्य)

दुःखरहित आनंदघन, जानो ब्रह्मस्वरूप।
मैंपन ममता छोड़कर, बनो दृश्यके भूप॥

सर्वत्र पूर्णरूपसे व्याप्त, तीनों कालोंमें विद्यमान तथा सब प्राणियों और पदार्थोंके स्वरूपभूत ब्रह्मको जो महापुरुष पवित्र, एकाग्र और वेदान्तसंस्कारसे युक्त अन्तःकरणसे, सब प्रकारके संशय और विपर्ययसे रहित होकर अभेदभावसे स्पष्ट अनुभव करते हैं वे महापुरुष ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मवित्, ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मदर्शी, ब्रह्मानुभवी आदि नामोंसे शास्त्रोंमें अभिहित होते हैं।

अचल श्रद्धा और अचल उत्साहके साथ जो विवेकादि साधनसे युक्त अधिकारी पुरुष अपने श्रीसद्गुरु और सत्-शास्त्रोंके आज्ञानुसार धैर्य, दृढ़ता और सावधानीपूर्वक सतत प्रयत्न करता है वही अधिकारी ब्रह्मज्ञानके भूत और वर्तमान प्रतिबन्धकोंको पूर्णरूपसे दूर कर ब्रह्मवेत्ता हो सकता है। जो इस प्रकार आचरण करता हुआ सर्वदा सत्यनिष्ठा और सदाग्रहयुक्त जाग्रतिका सेवन नहीं करता, वह कभी ब्रह्मवेत्ता नहीं हो सकता।

आलसी, प्रमादी, दीर्घसूत्री, कर्तव्याकर्तव्य-विवेकसे हीन, मन्दबुद्धि, अमित आहारी, अति निद्रालु, व्यवहार-परमार्थमें अनियमपूर्वक रहनेवाला, परदोषदर्शनमें चतुर और स्वदोषदर्शनमें मूढ़, परनिन्दक, अश्रद्धालु (सात्त्विक श्रद्धासे हीन), असहनशील, चञ्चलचित्त, यत्र-तत्र निरर्थक भयभीत रहनेवाला, साधारण-से प्रतिकूल प्रसङ्गके प्राप्त होनेपर खेद करनेवाला, रजोगुणकी वृद्धिसे भ्रामक चित्तवाला, तमोगुणकी वृद्धिसे विमूढ़ चित्तवाला, चमत्कारको ज्ञानका अङ्ग मानकर चमत्कारकी बातोंके कहने-सुनने तथा चमत्कारके वर्णनोंके बाँचनेमें कालक्षेप करनेवाला, निरन्तर बीती हुई बातोंकी चिन्तामें लगा रहनेवाला, स्वधर्मका यथायोग्य अनुष्ठान न कर परधर्मका निरर्थक द्वेष करनेवाला, धैर्य और सावधानीसे कर्तव्यानुष्ठान किये बिना ही शीघ्र ज्ञानी या सिद्ध होनेकी लालसा रखनेवाला, कुतार्किक, दुर्व्यसनोंमें डूबा रहनेवाला, देहादिमें आत्मबुद्धि और जगत्में सत्यबुद्धि रखनेवाला, प्रमादमें समय व्यतीत करनेवाला, परमात्मा सद्गुरु और सत् शास्त्रकी यथायोग्य भक्ति न करनेवाला, किसी प्रकारकी नयी बात सुनकर आश्चर्यान्वित होनेवाला, वाणीके निग्रहसे रहित, नेत्रको वशमें न रखनेवाला, कानको निग्रहमें न रखनेवाला, अपने सद्गुरुकी आज्ञासे उत्साह और सावधानीसे न चलनेवाला, उच्छृङ्खल स्वभाववाला, चाहे जैसी पुस्तकें पढ़ने और परचर्चा सुननेमें रुचि रखनेवाला, शरीरपर केवल काषायवस्त्र धारणकर अपनेको कृतार्थ माननेवाला, कामके वशमें रहनेवाला, क्रोध और ईर्ष्याके द्वारा अपने अन्तःकरण और वाणीको अनुतप्त करनेवाला, दृश्य पदार्थोंमें तृष्णा रखनेवाला, धनादिका अभिमान रखनेवाला, स्थूल शरीरमें पृथिवी आदि भूतोंको समान करनेकी भ्रान्तिमें कालक्षेप करनेवाला, जिस किसीसे ईर्ष्या रखनेवाला, दम्भी, विवेक-वैराग्य-शमादि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता प्रभृति चार साधनोंसे हीन, वेदान्तका विधिवत् श्रवण न करनेवाला, वेदान्तवाक्योंका विधिवत् मनन न करनेवाला, और ब्रह्मका विधिवत् निदिध्यासन न करनेवाला जो पुरुष सदाग्रहपूर्वक अपने अन्तःकरणकी अपात्रताको दूर नहीं करता है वह कल्पान्तमें भी ब्रह्मवेत्ता नहीं हो सकता; वर्तमान जन्मकी तो बात ही क्या ? जिसके हृदयमें इसी जन्ममें ब्रह्मवेत्ता होकर कृतार्थ होनेकी इच्छा हो उसे उपर्युक्त दोषोंको तथा हृदयकी अपात्रताको दूर करनेके लिये अत्यन्त धैर्य, सावधानता, दृढ़ता और उत्साहसे युक्त होकर सतत प्रयत्न करना चाहिये।

जो तोतेकी रट और ग्रामोफोनके रेकर्डकी भाँति केवल वेदान्तकी बातें करना जानते हैं, किन्तु उन वेदान्तकी बातोंके अनुसार अपना आचरण कैसे बनाना चाहिये, तथा कैसे अनुभव करना चाहिये यह नहीं जानते, विवेकके द्वारा वेदान्तको जीवनमें पूरा-पूरा नहीं उतारते, वे विवेकादि साधनसे हीन तथा ब्रह्मानुभवसे हीन होनेके कारण कदापि ब्रह्मवेत्ता नहीं हैं, यह बात सुस्पष्ट ही है।

जिसने निष्काम कर्मोंके द्वारा, अपने गुरुकी आज्ञाके द्वारा, और अपने प्राप्त व्यवहारोंको निर्दोषपूर्वक करके अपने अन्तःकरणको मलिन विचारोंसे रहित और पवित्र किया है; जिसने अपने शुद्ध सात्त्विक इष्टदेवके पूजन, स्मरण और ध्यानके द्वारा अपने अन्तःकरणकी चञ्चलताको अधिकांशमें दूर किया है; जिसने विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुता इन चार ब्रह्मज्ञानके साधनों-को यथासामर्थ्य प्राप्त किया है; जिसने अपने ब्रह्मवेत्ता

सद्गुरुके पास यथाविधि ब्रह्मका उपदेश सुना है; जिसने उस उपदेशको पवित्र और एकान्तदेशमें बैठकर यथायोग्य मनन कर उसे दृढ़ किया है, और जिसने अपने सद्गुरुके उपदेशानुसार ब्रह्मका विचार और ध्यान आदरपूर्वक दीर्घ कालतक किया है वही मनुष्य ब्रह्मवेत्ता हो सकता है। ऐसा अधिकार प्राप्त किये बिना कोई भी मनुष्य ब्रह्मवेत्ता नहीं हो सकता।

जो सत्ता (अधिकार), द्रव्य या विद्याके मदसे मत्त होनेके कारण श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ और परम कारुणिक सद्गुरुके शरण जाकर उनसे ब्रह्मका उपदेश नहीं प्राप्त करता, उसे ब्रह्मका ज्ञान नहीं हो सकता। जो अपने अन्तःकरणमें रहनेवाले दोषोंको शत्रुके अन्तःकरणमें रहनेवाले दोषोंके समान सूक्ष्म दृष्टिसे नहीं देख सकता, तथा उन दोषोंको परित्याग करनेका प्रयत्न नहीं करता, बल्कि अपने दुष्ट स्वभावका ही गुलाम बनकर रहता है वह ब्रह्मका ज्ञान प्राप्तकर भाग्यशाली नहीं हो सकता।

जिस प्रकार नेत्रके साफ रहे बिना मनुष्य सूक्ष्म पदार्थको ठीक-ठीक नहीं देख सकता, उसी प्रकार अपने अन्तःकरणकी शुद्धिके बिना अपनेको जिज्ञासु माननेवाला मनुष्य दुर्विज्ञेय ब्रह्मको संशय-विपर्ययसे रहित स्पष्टरूपसे अनुभव नहीं कर सकता। अन्तःकरणकी पूर्ण शुद्धिके बिना सबके अधिष्ठानभूत ब्रह्मको कोई भी मनुष्य कभी साक्षात्कार नहीं कर सकता, अतः विवेकी मनुष्यको सर्वदा अपने अन्तःकरणकी शुद्धिका प्रयत्न करना चाहिये।

जिस मनुष्यको ब्रह्मवेत्ता बननेकी शुभ इच्छा हो उसे शास्त्रोंके अनुसार, सद्गुरुके उपदेशके अनुसार चलनेका प्रयत्न करना चाहिये, और जबतक ब्रह्मकी उपलब्धि न हो जाय तबतक तनिक भी ऊबना नहीं चाहिये।

ब्रह्मवेत्ताके हृदयमें अनुभूत स्वाभाविक परमानन्द किसी अज्ञानी जीवको महापुण्यके फलस्वरूप प्राप्त हुए ब्रह्माके पदसे अनुभूत उत्तम विषयके सुखसे भी अनन्तगुणा श्रेष्ठ है। अन्यान्य प्राणी इस परमानन्दके लेशके द्वारा अपने जीवनके हेतुभूत सुखका अनुभव करते हैं। यही कारण है कि जो पुरुष ब्रह्माके महान् पदमें भी दोष देखता हुआ उससे विरक्त होता है वही परमानन्दरूप ब्रह्मका अभेदभावसे अनुभव करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सकता है, ऐसा मोक्षशास्त्र कहते हैं।

ब्रह्म असङ्ग, अक्रिय, व्यापक, परम पवित्र, अभोक्ता, सर्वदुःखरहित, सब विषयोंकी तृष्णासे रहित और परमानन्दरूप है। सर्व संशय और विपर्ययसे रहित होकर ब्रह्मवे इस प्रकारके ब्रह्मको अपना वास्तविक स्वरूप अनुभव क है। यह अनुभव उसके अन्तःकरणकी दुर्बलतासे उ भ्रान्तिमूलक नहीं होता, बल्कि लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों उत्पन्न निर्भ्रान्त मनुष्यके सुस्पष्ट व्यावहारिक अनुभवसे अधिक सुस्पष्ट वास्तविक अनुभवरूप होता है। जिस प्र कोई सोया हुआ मनुष्य अपने व्यावहारिक स्वरूपको त जगत्में प्रतीत होनेवाले व्यावहारिक जगत्को भूलकर स्व में भ्रान्तिसे अपने प्रातिभासिक स्वरूपको तथा प्रातिभासि जगत्को अनुभव करता है, और पीछे जब कोई मनु उसका हाथ पकड़कर स्वप्नसे जगा देता है तब व स्वप्नमें प्रतीत हुए अपने प्रातिभासिक स्वरूपको तथा तत्काली प्रतीत प्रातिभासिक जगत्को मिथ्या समझकर अ व्यावहारिक स्वरूपमें तथा जाग्रत्में प्रतीत व्यावहारिक जग में सत्यत्वका अनुभव करता है, उसी प्रकार अज्ञानके द्वा पुरुष अपने वास्तविक स्वरूपको भूलकर अपने व्यावहारि स्वरूपको और जाग्रत्में प्रतीत व्यावहारिक जगत्को सत रूपमें अनुभव करता है, और पीछे जब उसके महापु का उदय होता है और कोई श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महापुरु उसे उस अज्ञानरूप स्वप्नसे ज्ञानोपदेशके द्वारा जगाता है तब उसको अपने वास्तविक ब्रह्मस्वरूपमें और जगत्के वास्तविक ब्रह्मस्वरूपमें सत्यका निश्चय होता है, और जाग्र में प्रतीत अपने व्यावहारिक स्वरूपमें तथा जाग्रत्में प्रती व्यावहारिक जगत्में उसे मिथ्यात्वका निश्चय हो जाता है जब स्वप्नके विषयोंकी अपेक्षा जैसे जाग्रत्के विषयोंमें अधि सत्य दृष्टिगत होता है, तब जाग्रत्के विषयोंकी अपेक्षा तुरी के अकल्पित विषयको अधिक सत्य समझना ही चाहिये।

ज्ञानका करण विशुद्ध होता है तभी उससे होनेवा ज्ञान भी विशुद्ध होता है, यह स्वतःसिद्ध बात है। ज अन्तःकरणरूप ज्ञानके करणमें तमोगुणकी अधिकता हो है तब उसके मलिन होनेके कारण उसमें जडता औ अविवेक बढ़ जाते हैं, इस प्रकारके अन्तःकरणद्वारा ज्ञान होता है, वह मलिन और अविशुद्ध होता है; अन्त करणरूप ज्ञानके करणमें जब रजोगुणकी अधिकता हो है तब वह स्पृहा और अस्थिरतारूप दोषोंसे युक्त हो जा है; और उस अन्तःकरणके द्वारा जो ज्ञान होता है वह म सदोष और अविशुद्ध होता है, यह सुस्पष्ट है। अन्तःकर रूप ज्ञानके करणमें जब सत्त्वगुणकी अधिकता होती है, त

वह प्रायः निर्मल होता है। ऐसे अन्तःकरणद्वारा जो ज्ञान होता है वह प्रायः विशुद्ध होता है। और अन्तःकरणरूप ज्ञानका करण जब शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त (रजोगुण और तमोगुणके धर्मोंसे अस्पृष्ट सत्त्वगुणयुक्त) होता है, तब अन्तःकरण विशुद्ध होता है और उसके द्वारा होनेवाला ज्ञान भी विशुद्ध होता है। ज्ञानके सम्बन्धमें ऐसा नियम होनेके कारण रजोगुण और तमोगुणके विकाससे अन्तःकरणमें जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह निश्चय ही भ्रान्त होता है और शुद्ध सत्त्वसे अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भ्रान्तिरूप नहीं, बल्कि सत्यरूप होता है, यह निश्चय है। अन्तःकरणमें जब शुद्ध सत्त्वगुणकी स्थिरता होती है, तब ब्रह्मभावना या निदिध्यासन करनेवाले मनुष्यके अन्तःकरणमें ब्रह्मज्ञानका आविर्भाव होता है, अतः वह ज्ञान परम सत्यरूप माना जाता है, भ्रान्तिरूप नहीं माना जाता।

ब्रह्मानुभवके द्वारा अनुभूत, शब्दादि विषयोंसे रहित, परमानन्द मनकी दुर्बलताके द्वारा न उत्पन्न होनेके कारण भ्रान्त और अनित्य नहीं होता, बल्कि मनकी सबलतासे उत्पन्न होनेके कारण परम सत्यरूप और नित्य होता है। उत्पत्ति-विनाशधर्मवाले क्षणभङ्गुर विषयोंके साथ उन विषयोंकी प्राप्तिके लिये क्षुब्ध हुई इन्द्रियोंका सम्बन्ध होनेके कारण अन्तःकरणकी क्षणिक स्थिरताके द्वारा थोड़े समयके लिये जो कृत्रिम आनन्द उत्पन्न होता है, वह परमानन्दरूपमें स्थित ब्रह्मके साथ शुद्ध सत्त्वगुणवाली अन्तःकरणकी वृत्तिके सम्बन्धसे अनुभूत स्वाभाविक परमानन्दके समान कैसे हो सकता है? इस परम सत्यरूप परमानन्दका अनुभव जब शुद्ध सत्त्वगुणवाली अन्तःकरणकी वृत्तिको होता है तब मनुष्यके अनादिकालके परिताप सदाके लिये दूर हो जाते हैं और वह परमानन्दरूप होकर परम शान्ति और परम तृप्ति प्राप्त करता है।

विनाशक सामग्रीके अभावमें ब्रह्म अविनाशी अथवा अनन्त है अर्थात् अवधि और विनाशसे रहित है; अतएव जो पुरुष अपनी शुद्ध सत्त्वगुणवाली अन्तःकरणकी वृत्तिके द्वारा अभेदभावसे उस ब्रह्मका अनुभव करता है वह पुरुष भी अविनाशीभावको प्राप्तकर अपने भीतर माने हुए कल्पित मरणधर्म तथा उसके भयसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है।

जिस प्रकार एक बड़े और स्वच्छ दर्पणमें उसके समीप स्थित किसी महानगरका प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है उसी प्रकार निरतिशय, व्यापक और चिदाकाशरूप ब्रह्ममें द्रष्टाको अपने अन्तःकरणमें रहनेवाली अनात्मपदार्थोंकी वासनाओंके अनुकूल जगत् अर्थात् प्राणियों, जडपदार्थों और क्रियाओंकी प्रतीति होती है। जिसके अन्तःकरणमें अनात्मपदार्थोंकी वासनाएँ बढ़ी होती हैं, उसको यह जगत्रूप प्रतिबिम्ब सत्य प्रतीत होता है; जिसके अन्तःकरणमें अनात्मपदार्थोंकी वासनाएँ कम होती हैं, उसको यह जगत्रूप प्रतिबिम्ब अनिर्वचनीय अर्थात् वर्तमानकालमें दिखलायी देता हुआ भी ज्ञानकालमें मिथ्या प्रतीत होता है। और जिस प्रकार अन्तःकरणमें आत्माके अनुभवके द्वारा अनात्मपदार्थोंकी वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं उसी प्रकार यह जगद्रूप प्रतिबिम्ब मिथ्या प्रतीत होता है। ब्रह्मवेत्ताके अन्तःकरणमें आत्माका सुस्पष्ट साक्षात्कार होनेसे यह जगत् मिथ्या प्रतीत होता है, यह बात उपर्युक्त प्रतिपादनसे स्पष्ट हो जाती है।

जिस प्रकार निर्मल दर्पणमें प्रतिबिम्बित प्राणियों, पदार्थों और क्रियाओंका उस दर्पणमें प्रवेश नहीं होता; जिस प्रकार निर्मल आकाशमें आभासित गन्धर्वनगर अर्थात् उसमें प्रतीत होनेवाले प्राणी, पदार्थ और क्रियाएँ उसमें प्रविष्ट नहीं होतीं; और जिस प्रकार सिनेमाके निर्मल परदेमें आभासित प्राणी, पदार्थ और क्रियाएँ उस परदेमें प्रविष्ट नहीं होतीं उसी प्रकार चिदाकाशरूप ब्रह्ममें मनुष्यके अन्तःकरणकी जाग्रत् अवस्थामें प्रतीत प्राणी, पदार्थ और क्रियाएँ भी प्रविष्ट नहीं हो सकतीं, यह विशुद्ध और अतिसूक्ष्म बुद्धिवाले ब्रह्मवेत्ताको अनुभूत होता है। बल्कि जिस प्रकार वायु बड़े-बड़े वृक्षोंको हिला देता है, परन्तु उस वृक्षका अधिष्ठानरूप आकाश तनिक भी नहीं हिलता, उसी प्रकार प्रारब्धकर्मके द्वारा शरीरादि क्रियाएँ होती हैं, परन्तु उसमें रहनेवाला आत्मा तनिक भी क्रियाशील नहीं होता, यह बात भी ब्रह्मवेत्ताको अनुभूत होती है।

जिस प्रकार घटरूप उपाधिके मिथ्यात्वका दृढ़ निश्चय होनेपर उसके अंदरके आकाश—घटाकाश वा महाकाशके साथ सर्वदा वास्तविक अभेद होता है, उसी प्रकार अन्तःकरणरूप उपाधिके मिथ्यात्वका सुदृढ़ निश्चय होनेके बाद अन्तःकरणमें चेतन आत्माका ब्रह्मके साथ सर्वदा वास्तविक अभेद ब्रह्मवेत्ताको (संशय-विपर्यय-रहित) अनुभूत होता है।

जिस प्रकार किसी मनुष्यके घरके समीप एक वृक्ष उगता है, बढ़ता है और समयपर नष्ट हो जाता है, परन्तु उस मनुष्यका उसके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता; उसी प्रकार अपने स्थूल शरीर और उसकी क्रियाओंका,

द्विविध इन्द्रियों और उनकी क्रियाओंका, अन्तःकरण और उसकी क्रियाओंका, प्राण और उसकी क्रियाओंका, अविद्याका अंश और उसकी क्रियाओंका मुझ ब्रह्मस्वरूपके साथ लेश भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा ब्रह्मवेत्ताको स्पष्ट अनुभव होता है।

जिस प्रकार मृगजलके वास्तविक स्वरूपको जाननेवाले मनुष्य उसको अन्य मनुष्यके समान देखते हुए भी जलरूप नहीं देखते हैं, बल्कि उसे सूर्यकी किरणोंके रूपमें देखते हैं; उसी प्रकार संसारके वास्तविक स्वरूपको जाननेवाले ब्रह्मवेत्ता संसारको अन्य मनुष्यके समान व्युत्थानकालमें देखते हुए भी उस रूपमें सत्य नहीं देखते, बल्कि उसे सच्चिदानन्द ब्रह्मके रूपमें देखते हैं। संसारका मिथ्यात्व सुस्पष्ट होनेपर ब्रह्मवेत्ताको अपने या अन्य मनुष्योंके प्रारब्धकर्मसे जो पूर्ववत् जगत्की प्रतीति होती है, उसमें बाधितानुवृत्ति कारण कही जाती है।

जबतक सूर्यकी किरणें रहती हैं तबतक देखनेवाले मनुष्यको क्षारमयी भूमिपर पड़ी हुई सूर्यकी किरणोंमें मिथ्या जलकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ताको अपने अथवा अपने सम्पर्कमें आये हुए या आनेवाले मनुष्योंके प्रारब्धकर्मके शेष रहनेके कारण संसारके अधिष्ठानरूप ब्रह्ममें नाम, रूप और क्रियासे युक्त मिथ्या संसारकी प्रतीति ब्रह्मरूप अधिष्ठानके ज्ञानके साथ होती है।

जिस प्रकार राजाका वेश धारणकर रंगभूमिमें आनेवाला पात्र अपने सम्पर्कमें आये हुए अन्य पात्रोंके साथ अथवा स्वयं अपने साथ भी जो व्यवहार करता है वह कृत्रिम आस्था रखकर करता है अर्थात् कल्पित समझकर करता है; उसी प्रकार दूसरे अज्ञानी पुरुषोंको इस पृथ्वी देहादिसे युक्त प्रतीत करते हुए, असंग ब्रह्मवेत्ता भी अपने सम्पर्कमें आनेवाले मनुष्योंके साथके व्यवहारको तथा अन्योंको प्रतीत होनेवाले अपने शरीरादि व्यवहारको भी कल्पित समझकर करता है।

जैसे किसी स्थिर जलवाले जलाशयके तीरपर खड़ा कोई समझदार मनुष्य उस जलमें दिखलायी देते अपने स्थूल शरीरके औंधे आकारको सच्चा नहीं मानता, परन्तु उस जलाशयके तीरपर स्थित अपने सीधे स्थूल शरीरको सत्य मानता है; उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता अपने या अन्य मनुष्योंके प्रारब्धकर्मसे प्रतीत होनेवाले अपने स्थूल शरीरादिको अपना वास्तविक स्वरूप नहीं मानता, बल्कि ब्रह्मको ही अपना वास्तविक स्वरूप मानता है।

अन्तरात्मासे अभिन्न ब्रह्मको अपना वास्तविक स्वरूप अनुभव करनेवाले ब्रह्मवेत्ता अविद्या, काम, कर्म और कर्मके सुख-दुःखरूप फलोंके वशवर्ती नहीं होते। बल्कि इनसे सर्वदा, सब प्रकार निर्लेप और स्वतन्त्र रहते हैं।

कल्पित दृश्यको सत्य माननेवाले अविवेकी मनुष्य निरन्तर किसी-न-किसी प्रकारके दुःखका न्यूनाधिक अनुभव करते रहते हैं, और अनेकों वार अपनेको धिक्कारते हैं, परन्तु बाह्य दृष्टिके द्वारा प्रतीत सारे दृश्योंको मिथ्या समझनेवाले ब्रह्मवेत्ता अपने अन्तःकरणको तथा उसके सुख-दुःखादि धर्मोंको अपने ब्रह्मस्वरूपसे भिन्न और मिथ्या अनुभव करते हैं, इसीसे वह अनुकूल विषयकी प्राप्तिमें हर्ष और प्रतिकूल विषयकी प्राप्तिमें खेदके वश नहीं होते बल्कि सर्वदा दोनोंमें समभावापन्न अर्थात् प्रसन्न रहते हैं।

स्वप्न, मनोराज्य, इन्द्रजाल और भ्रान्तिके पदार्थोंके समान जाग्रत्में प्रतीत होनेवाले इस जगत्को प्रारब्धकर्मके द्वारा उत्पन्न बाह्यदृष्टिद्वारा देखते हुए भी असंग ब्रह्मवेत्ता उसमें दृढ़ राग नहीं रखते। स्वप्न और मनोराज्यादिके प्राणियों और पदार्थों तथा जाग्रत्में प्रतीत प्राणियों और पदार्थोंमें कोई भी वास्तविक अन्तर नहीं, ऐसा जानकर ब्रह्मवेत्ता जगत्में प्रतीत होनेवाले सब प्राणियों और पदार्थोंमें सत्यत्वकी बुद्धि नहीं रखते, बल्कि उन सबको कल्पित समझते हैं।

ब्रह्मवेत्ता सारे दृश्यप्रपञ्चको उसके विवर्त्तोपादानकारणरूपमें अर्थात् ब्रह्मरूपमें देखते हैं, अर्थात् दृष्टिपात करते ही प्रत्येक प्राणी और पदार्थोंके व्यावहारिक ज्ञानके साथ ही उनके विवर्त्तोपादानकारणरूप ब्रह्मका भी उन्हें स्फुरण हो जाता है।

जगत्में प्रतीत होनेवाले व्यावहारिक भोक्ता और भोग्यको ब्रह्मवेत्ता मिथ्या समझते हैं, इससे उनको अनुकूल प्राणियों और पदार्थोंके वियोगसे, और प्रतिकूल प्राणियों और पदार्थोंके संयोगसे अपने असंग, अद्वय और परमानन्दरूपके दुःखातीत स्वरूपमें द्वन्द्व और दुःखका अनुभव नहीं होता।

भयङ्कर माने जानेवाले भव (संसार) की आत्यन्तिक निवृत्तिके लिये भवकी (महेश्वरकी या महेश्वरसे अभिन्न अपने ब्रह्मोपदेष्टा सद्गुरुकी) अत्यन्त आदरपूर्वक आराधना कर उनकी अगाध कृपाके द्वारा और अपने अन्तःकरणकी अन्तर्मुखी वृत्तिके द्वारा अपने ब्रह्मस्वरूपका यथार्थ अनुभव किये हुए कृतार्थ वे ब्रह्मवेत्ता केवल हृदय, ब्रह्मरन्ध्र, देवप्रतिमा, अग्नि अथवा तीर्थमें ही नहीं, सर्वत्र ही (उत्तमाधम सब प्राणियों और पदार्थोंमें) सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मका ही अनुभव करते हैं।

जिस अविद्यारूप अलौकिक दृढ़ रज्जुके द्वारा बँधा हुआ यह जीवरूपी पशु इस विश्वमें सदा भ्रमण करता रहता है, और उस रज्जुसे मुक्त होनेपर अपने स्वरूपमें स्थिर होता है, वह अविद्यारूप अलौकिक दृढ़ रज्जु ब्रह्मवेत्ताको कहीं भी प्रतीत नहीं होती ।

अपने समर्थ सद्गुरुके ब्रह्मोपदेशरूप अलौकिक अमृतका परम आदरपूर्वक पानकर जिसने देवलोकके अमृतका अनादर किया है, ऐसे ब्रह्मवेत्ताको ब्रह्मरूप निर्मल ज्ञान तथा उससे अभेदता प्राप्त होनेके कारण इहलोक, परलोक, ज्ञानप्राप्ति अथवा मोक्षप्राप्तिके लिये कोई भी कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता ।

परमानन्दरूप अद्वय ब्रह्मका उपदेश करनेवाले शास्त्र, ब्रह्मोपदेष्टा सद्गुरु, अद्वितीय ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मानन्दकी अलौकिकताके विचारसे चकित हुआ ब्रह्मवेत्ता निरन्तर अपने परमानन्दस्वरूपमें रमण करता है ।

वस्तुतः सब प्रकारके कर्तव्योंसे निवृत्त होकर व्यवहारमें जिसने अपने चित्तमें अज्ञानियोंको ज्ञान प्रदान करना अपना कर्तव्य आरोपित किया है, इस प्रकारका कृतकृत्य ब्रह्मवेत्ता अपने अन्तःकरणकी बाह्य दृष्टिके द्वारा जब विश्वको देखता है तब मुमुक्षु पुरुषोंको इस प्रकार सदुपदेश देता है—

'हे सज्जनो ! आप पहले सुख और दुःखके वास्तविक स्वरूपको समझें; तब सुख और दुःखके कारणोंका सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करें । सबको सुख चाहिये—निर्दोष तथा पूर्ण सुख मिलना चाहिये, दुःखका लेश भी न होना चाहिये । आप ब्राह्मण हों या किसी दूसरे वर्णके हों, अथवा वर्णहीन हों, ब्रह्मचारी हों या किसी अन्य आश्रमके हों, स्त्री हों या पुरुष हों—कोई भी हों, आपको सुख चाहिये, दुःख नहीं चाहिये । यह बात उसी प्रकार सत्य है जैसे एक और एक मिलकर दो होते हैं ।'

'हे सुखाभिलाषी पुरुषो ! आप सुखकी इच्छा करते हैं और दुःखकी इच्छा नहीं करते, परन्तु शोककी बात है कि आपमेंसे अधिकांश, जिन उपायोंके द्वारा वास्तविक सुखकी प्राप्ति होती है उनका आदरपूर्वक सेवन नहीं करते, और जिन उपायोंसे अवश्य दुःखकी प्राप्ति होती है उनका सेवन करनेसे बाज नहीं आते ।'

'सुख आपके अन्तःकरणमें है, बाहरी अनुकूल जान पड़नेवाले पदार्थोंमें सत्य सुख नहीं है । बाहरी इच्छित पदार्थोंकी प्राप्ति और उपभोगके द्वारा थोड़ी देरके लिये अन्तःकरणमें सुखका अनुभव होता है, परन्तु पीछे न्यूनाधिक रूपमें दुःखका अनुभव होने लगता है । इस प्रकार अनुकूल पदार्थकी प्राप्ति या उपभोगके द्वारा मनुष्यको स्थायी सुख नहीं मिलता यह बात सबके अनुभवसिद्ध है । यदि बाहरी सब पदार्थोंकी तृष्णाका त्याग किया जाय तो बाहरी पदार्थोंके चिन्तनके द्वारा उत्पन्न होनेवाली मनुष्यके चित्तकी चञ्चलताका शमन हो जाय और चित्तको स्थिरता प्राप्त हो जाय । चित्तकी स्थिरताके द्वारा विक्षेपका अभाव होनेके कारण पुरुषको उपशम सुखकी प्राप्ति होती है और पश्चात् उसे परमानन्दरूप ब्रह्मका अनुभव होता है । यदि मनुष्यको निर्दोष, निरवधि, नित्य और स्वतन्त्र सुखकी चाह हो तो उस सुखको दृश्य विषयोंमें नहीं ढूँढ़ना चाहिये, बल्कि अपने अन्तःकरणमें ही, किसी समर्थ सद्गुरुके शरण होकर, विधिपूर्वक खोजना चाहिये । आलस्य और अश्रद्धाका त्याग कर इसके लिये विधिवत् प्रयत्न करो और सुख प्राप्त करो ।'

ऐसा परम पूज्य, प्रातःस्मरणीय, वन्दनीय और विश्वका श्रेष्ठ अलङ्काररूप ब्रह्मवेत्ता, देहादि जड पदार्थोंमें अहंताबुद्धि न रखनेवाला, किसी भी दृश्य पदार्थमें ममता न रखनेवाला, सब दृश्य पदार्थोंमें विलसित अपने आत्माको और अपने आत्मामें कल्पित सब पदार्थोंको देखनेवाला, निर्भय और निर्मल चित्तवाला, उदार कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंको निषिद्ध कर्मोंसे सर्वथा रोक रखनेवाला, अन्तरात्मासे अभिन्न ब्रह्मस्वरूपमें अपने चित्तको तथा अपनी इन्द्रियोंको सुस्थिर रखनेवाला, सुदृढ़ निश्चयवाला, प्रारब्धसे प्राप्त होनेवाले आहार-विहारमें सन्तोष रखनेवाला, किसीसे द्वेष न करनेवाला, किसी भी प्राणीको किसी प्रकारसे उद्विग्न न करनेवाला, अगाध दयासे पूर्ण हृदय, वाणी और नेत्रवाला, किसीका अहित चिन्तन न करके प्रिय और सत्य बोलनेवाला, क्षमाका महासमुद्र, सहनशील अर्थात् प्रतिकूल प्राणी अथवा प्रतिकूल प्रसङ्गकी प्राप्तिमें तनिक भी उद्विग्न न होनेवाला, प्राप्त व्यवहारमें मानापमान, सुख-दुःख, स्तुति-निन्दा, भूख-प्यास तथा अन्य अनुकूल-प्रतिकूल प्रसङ्गोंमें हर्ष-खेदयुक्त न होकर अपने हृदयको शीतल, शान्त रखनेवाला, किसीकी निन्दा न करनेवाला, कर्मेन्द्रियोंमें अनुचित चापल्य न रखनेवाला, कोमल हृदयवाला, प्रतापी, ऊपरसे व्यवहारके लिये रागाभास तथा द्वेषाभासका व्यवहार रखते हुए भी हृदयमें आकाश-जैसा अति पवित्र रहनेवाला, नम्र अर्थात् विद्याधनादिके अभिमानसे रहित, सरल स्वभाववाला, दम्भरहित, इहलोक तथा परलोकके सब सुखोंमें उदासीन रहनेवाला, दृश्यके बाधके द्वारा दृश्यकी वासनासे रहित, प्रारब्धकर्मवश प्राप्त हुए सुख-दुःखको मिथ्या समझ सर्वदा प्रसन्न रहनेवाला,

जाग्रत् अवस्थामें भी सुषुप्तिके समान विक्षेपरहित मन रखनेकी शक्तिवाला, अपनेको अक्रिय, असङ्ग, परम पवित्र, दुःखरहित और परमानन्दरूप अनुभव करनेवाला, किसी भी प्राणीसे ईर्ष्या न करनेवाला, मैं और तू, शुभाशुभ तथा ऊँच-नीच इत्यादि संसारके सब विकल्पोंसे रहित चित्तवाला, निष्काम कर्म करनेवाला, शुभाशुभ कर्मोंकी आदरपूर्वक सेवा न करनेवाला, सब पदार्थोंको विवर्तोपादान कारणरूपमें—ब्रह्मरूपमें देखनेवाला, किसी प्रकारकी चिन्ता न करनेवाला, बाहरी अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थों तथा प्रसङ्गोंका एवं अन्तःकरणमें आभासित सुख-दुःख-मोहाकार वृत्तियोंका द्रष्टा, अन्तःकरणको आत्माभिमुख रखनेकी शक्तिवाला तथा प्राकृत मनुष्योंके समूहमें सम्मानमें प्रीतिरहित होनेके कारण विवेकी पुरुषोंमें सर्वथा सदा धन्यवादका पात्र माना जाता है। जिसका चित्त परम सुख और परम ज्ञानके महासागररूप परब्रह्ममें लीन रहता है, ऐसा ब्रह्मवेत्ता अपने लौकिक कुलको पवित्र करनेवाला, अपने स्थूल शरीरके अपने माता-पिताको अपनी अद्भुत स्थितिके द्वारा परम सन्तोष प्रदान करनेवाला, और अपने निवास तथा भ्रमणके द्वारा इस पृथिवीको पवित्र करनेवाला होता है।

जहाँ दुःखकी गन्ध भी नहीं है, अपवित्रताका नाम नहीं सुना जाता, जहाँ माया और मायाके कार्यरूप पदार्थो का अत्यन्त अभाव होनेके कारण सर्वदा सर्वोत्तम स्थान है। जहाँ जड़ता आदि तमोगुणका धर्म नहीं, चञ्चलता आदि रजोगुणका धर्म नहीं, जहाँ सुखाभिमाना मलिन सत्त्वगुणका धर्म नहीं, जहाँ केवल चैतन्य और उपा रहित स्वाभाविक आनन्द ही है, जहाँ भेद या द्वैत नहीं, जहाँ आकाशको भी स्थूलतर गिना जाता है, जहाँ कि प्रकारके शरीरकी सत्ता नहीं, जहाँ परम निश्चलता और पर गम्भीरता फैल रही है, जहाँ अन्धकार नहीं, जहाँ ते अधिकरण कोई भी पदार्थ नहीं है, और जो स्थल परम गु है जिसका वाणीद्वारा निरूपण नहीं हो सकता स्थानमें, जिसका चित्त अधिष्ठानमें निमज्जित हो गया है ब्रह्मवेत्ता अभेदभावसे निवास करता है।

जो अपनेको मुमुक्षु मानता हो उसको अपने जीवन क्षणभङ्गुरताका निश्चयकर अपने हृदयमें अवस्थित विश्वा (श्रद्धा) के अनुसार वर्त्तमान जन्ममें ब्रह्मवेत्ता होनेके लि जहाँतक हो सके शीघ्र ही अधिकाधिक प्रयत्न करना चाहि

ॐ

अवतार-तत्त्व

प्र०—अवतारका क्या अर्थ है ? मैंने सुना है कि जो महात्मा पुरुष दैवीसम्पत्तिको प्राप्तकर उच्च स्थितिपर पहुँच जाते हैं, वही आगे चलकर भगवान्‌के अवतार माने जाते हैं, क्या यह ठीक है ?

उ०—नहीं; उच्च स्थितिपर पहुँचना तो आरोहण कहाता है, वह तो ऊपर चढ़ना है। अवतारका अर्थ तो है उच्च स्थानसे नीचेकी ओर उतरना—अवतरण। जो लोग चढ़नेको उतरना कहते हैं वे तो अवतारका अर्थ ही नहीं समझते।

प्र०—अच्छा, इस उच्च और नीचका क्या अर्थ है, जब कि यह कहा जाता है कि सभी लोक उस एकमात्र जगत्प्रसविनी प्रकृति माताके गोदके बच्चे हैं, तब उनमें ऊर्ध्व और अधः यानी उच्च और नीच लोकका मानना क्या अर्थ रखता है ?

उ०—अवश्य ही सभी लोक प्रकृति माताके गोदके बच्चे हैं, परन्तु उसमें जबतक विषमता नहीं होती, जबतक परमात्माके संकल्पसे चेतनका संयोग पाकर वह गर्भधारिणी नहीं होती, तबतक एक भी बच्चा नहीं सकता। प्रकृतिके परम साम्यभावमें ऊँच-नीचका भी विभाग नहीं है, परन्तु जैसे माँके बहुत-से बच्चे छोटे-बड़े, बुद्धिमान्-मूर्ख, धनी-निर्धन होते हैं, प्रकार प्रकृतिकी गोदमें खेलनेवाले इन लोकोंमें उच्च-नीचका विभाग स्वाभाविक है। अवश्य ही परमार्थदृष्टिसे ऐसा ही नहीं है 'न रूपमस्ये तथोपलभ्यते।' पर सृष्टि होती ही है विषमतामें विषमतामें उच्च-नीच है ही। अतएव कारणजगत् अन्तर्गत जो सत्त्वप्रधान लोक हैं, साधारणतया उन लोकोंसे नीचेकी ओर अवतरण होता है।

प्र०—क्या इस मर्त्यलोकमें ही अवतार होता है और कि नहीं होता ?

उ०—होता क्यों नहीं ? स्वर्गादि लोकोंमें भी अवतार होता है परन्तु इतना याद रखना चाहिये कि वह होगा अ लोककी अपेक्षा निम्नस्तरके लोकमें ही। तभी उन अवतार नाम सार्थक है।

प्र०-भगवान्‌का अवतार होता है या अन्य किसी देवताका भी होता है ?

उ०-कारणजगत्‌के सत्त्वमय लोकोंमें निवास करनेवाली किसी भी शक्तिका अवतार हो सकता है । महापुरुषगण भी, जो कारणजगत्‌में पहुँचे हुए हैं, भगवदिच्छासे समय-समयपर अवतरण करते हैं ।

प्र०-यह तो सब मायिक लोकोंसे होनेवाले अवतार हुए। क्योंकि कारणजगत् भी तो मायामें ही है । क्या कोई नित्य मायातीत भगवद्धाम भी है, और क्या वहाँसे भी अवतार होते हैं ?

उ०-भगवान्‌के दिव्यधाम भी हैं, जिनमें मायिक सूर्य-चन्द्रमाका प्रकाश नहीं है, वहाँ सब कुछ भगवत्स्वरूप है, भगवत्प्रकाशसे ही वे प्रकाशित हैं, वहाँसे भी भगवान्‌का और भगवत्स्वरूप कारक पुरुषोंके अवतार होते हैं ।

प्र०-भगवान् तो नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव हैं, वे विज्ञानानन्दघन नित्य निर्विकार निराकार हैं, उनमें धाम और देहकी कल्पना क्योंकर हो सकती है ?

उ०-ऐसी बात नहीं है । नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव विज्ञानानन्दघन नित्य निर्विकार निराकार ब्रह्म भी भगवान्‌का स्व-रूप ही है। उसमें धाम या देहकी कोई कल्पना नहीं हो सकती । उस आलोचनातीत अव्यक्त निरञ्जन निराकारका अवतार नहीं होता । अवतार होता है उस आनन्दमय विज्ञानानन्दघन निर्विकार समग्र भगवान्‌का, जिसका एक स्वरूप निराकार ब्रह्म है। इसीसे गीतामें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको ब्रह्मकी प्रतिष्ठा बतलाया है । 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् ।' (१४ । २७) ये सर्वमय और सर्वातीत समग्ररूप भगवान् सगुण साकार भी हैं और सगुण निराकार भी हैं तथा दोनोंसे अतीत भी ।

प्र०-जो अवतार होता है उसे तो जन्म लेना पड़ता है, उसका देहपात भी होता है, उसे सुख-दुःख भी होते हैं। तथा कर्म भी करने ही पड़ते हैं, उनका फल भी उसे भोगना ही पड़ता है । भगवान्‌में यदि ये सारी बातें होती हैं तब हम अविद्याग्रस्त जीवोंमें और उन सच्चिदानन्दघन भगवान्‌में अन्तर ही क्या रह गया ?

उ०-यदि ऐसी ही बात होती तो जीवोंमें और भगवान्‌में कोई अन्तर नहीं रहता। आत्मदृष्टि या भगवद्दृष्टिसे कोई अन्तर है भी नहीं, परन्तु वह विषय दूसरा है इसलिये यहाँ उसकी आलोचना नहीं की जाती। बात यह है कि हमारे जन्ममें हमारे पूर्वकृत कर्म कारण हैं, अदृष्टकी प्रेरणासे जगन्नियन्ताके नियमानुसार हमें बाध्य होकर निश्चित योनिमें जन्म धारण करना पड़ता है । हम अदृष्टके अनुसार कर्मफलरूप सुख-दुःख भोगते हैं, आसक्ति और अहंकारसे युक्त हुए नवीन कर्म करते हैं, पाञ्चभौतिक देह छोड़कर—मरकर सूक्ष्म शरीरके साथ अन्य गतिमें चले जाते हैं, परन्तु भगवान्‌के अवतारमें ऐसी बात एक भी नहीं है । उनके अदृष्ट नहीं है, वे किसी अदृष्टकी प्रेरणासे बाध्य होकर जन्म नहीं लेते । कर्तृत्वाभिमान न होनेसे वे कोई नया कर्म नहीं करते । हमलोगोंकी तरह उनके जन्म और मृत्यु भी नहीं होते । जीवोंके कल्याणार्थ वे संसारमें उसी भाँति अवतीर्ण होते हैं, जैसे कोई चक्रवर्ती सम्राट् अपने सम्राट्-पदपर प्रतिष्ठित रहता हुआ ही छोटे बच्चोंके साथ खेलने और खेल-ही-खेलमें उनके दुःखोंको मिटाकर उन्हें सुख पहुँचाने तथा सन्मार्ग बतलानेके लिये उन बच्चोंके साथ जमीनपर आकर बैठ जाता है और उन्हींकी भाषामें उनसे बातचीत, हास्यविनोद, खेलकूद करता है । बच्चोंकी भाँति सब कुछ करते हुए भी वह जैसे अपने महान् सम्राट्पदपर कायम रहता है इसी प्रकार भगवान् भी अपनी स्वमहिमामें पूर्णतया प्रतिष्ठित रहते हुए ही हम लोगोंमें अवतीर्ण होते हैं । स्वयं उनका कथन है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥
(गीता ४ । ६)

अज, अविनाशी और समस्त प्राणियोंका ईश्वर रहता हुआ ही मैं अपनी प्रकृतिको अधीन करके 'अपनी माया' (योगमाया—ह्लादिनीशक्ति) से प्रकट होता हूँ। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् जन्म-मृत्यु-रहित हैं, कर्म-रहित हैं और वे अपनी महिमामें सुप्रतिष्ठित रहते हुए ही प्रकट होते हैं, इसीसे उन्होंने अपने जन्म-कर्मको दिव्य कहा है—'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' वास्तवमें भगवान्‌में जन्म-कर्म है ही नहीं, यह तो उनकी लीला है । और बात भी ठीक ही है, जब मुक्त पुरुष भी जन्म-कर्म-रहित होते हैं, तब भगवान्‌के जन्म-कर्म-रहित होनेमें क्या आश्चर्य है ! परन्तु प्राकृत

लोगोंको उनके जन्म-कर्म प्रतीत होते हैं, इसीलिये उन्हें दिव्य कहते हैं। उनका प्राकट्य और तिरोधान होता है, तथा कर्मके रूपमें उनकी अनिर्वचनीय दिव्य लीलाएँ होती हैं। भगवान्के इस दिव्य जन्म-कर्मको जो तत्त्वतः जान लेता है उसके लिये भगवान् स्वयं कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४।९)

हे अर्जुन! मेरा जन्म-कर्म दिव्य है इस बातको जो पुरुष तत्त्वतः जान लेता है, वह शरीर छोड़नेके बाद फिर जन्म ग्रहण नहीं करता, वह मुझको प्राप्त हो जाता है।

भगवान्में न आसक्ति है, न फलकामना है, न अहंकार है, न इनके आवासस्थान प्राकृत मन-बुद्धि ही है। वे सर्वात्म-रूपमें सच्चिदानन्दमय भगवान् हैं।

उनका जन्म भी साधारण जीवोंकी भाँति नहीं होता। भगवान् कंसके कारागारमें परमभक्त देवकी और वसुदेवके सामने चतुर्भुज विष्णुके रूपमें सहसा प्रकट हुए। उनके कमलके समान सुन्दर नेत्र थे, वे चारों हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए थे। उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न तथा कण्ठमें शोभायमान कौस्तुभमणि थी। वे पीताम्बर पहने हुए थे, नवनील नीरदके समान उनका मनोहर श्यामवर्ण था। उनके मस्तकपर वैदूर्य मणियों-से जड़ा हुआ किरीट और कानोंमें मकराकृति कुण्डल शोभा पा रहे थे। अंगोंपर सुन्दर करधनी, बाजूबन्द और कङ्कणादि-की शोभा अपूर्व थी।* ऐसे अद्भुत विष्णुरूप बालकको देखकर वसुदेव-देवकी चकित हो गये और वसुदेवजीने स्तुति करना शुरू कर दिया। उन्होंने पहले ही कहा—

विदितोऽसि भवान् साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः।
केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्॥

(श्रीमद्भा० १०।३।१३)

हे परमात्मन्! मैंने आपको जान लिया, आप प्रकृति-से पर साक्षात् परम पुरुष हैं, केवल अनुभवानन्दस्वरूप हैं और सम्पूर्ण प्राणियोंकी बुद्धिके साक्षी हैं।

इसके बाद देवकीके स्तुति करनेपर वे लोकनयना-भिराम द्विभुज बालरूपमें बदल गये। इसी प्रकार श्रीरामा-वतारमें भी श्रीकौसल्याजीके यहाँ भी उन सनातन परमात्-जगन्नाथका आविर्भाव हुआ।

आविरासीज्जगन्नाथः परमात्मा सनातनः।

उन्होंने देखा 'भगवान् नील कमलके समान श्याम हैं, पीताम्बर पहने हुए हैं, चार भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हैं, नेत्रोंके भीतरका भाग सुन्दर अरु कमलके समान शोभायमान है, कानोंमें कान्तिमान् कुण्डल शोभित हैं, हजारों सूर्योंके समान प्रकाश है, मस्तक प्रकाशमान मुकुट और गलेमें वैजयन्ती माला है। मुखकमल पर हृदयस्थ अनुग्रहरूप चन्द्रमाकी सूचक मुसकानरू चाँदनी छिटक रही है, करुणारसपूर्ण नेत्र कमलदलके समान विशाल हैं एवं श्रीवत्स, हार, केयूर और नूपुर आदि आभूषणोंसे विभूषित हैं।*

फिर कौसल्याजीके स्तुति करनेपर आप बालकरूप बन गये। इसी प्रकार श्रीकृष्ण और श्रीरामके अन्तर्धानकी कथाएँ भी हैं। भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें आता है—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाग्नेय्याऽदग्ध्वा धामाविशत्स्वकम्॥

(श्रीमद्भा० ११।३१।६

भगवान् श्रीकृष्ण योगधारणाजनित अग्निके द्वारा धारणा-ध्यानमें मंगलकारक लोकाभिराम मनोहर स्वतनु (दि भगवद्देह) को दग्ध किये बिना ही उसी भगवद्देहसे अप परमधाम पधार गये। भगवान् श्रीरामके सम्बन्धमें भी ऐसी कथा आती है कि वे विष्णुरूप होकर स्वधामको पधार गये।

हम लोगोंकी भाँति उनका देहपात नहीं हुआ, न हो सकता है। जब एक योगी भी चाहे जहाँ चाहे जब चा जिस रूपमें प्रकट और अन्तर्धान हो सकता है तब भगवान्के स्वरूपभूत अप्राकृत भगवद्देहके प्रकट और अन्तर्धान होनें

---

* तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदार्युदायुधम्।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्॥
महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम्।
उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत॥

(श्रीमद्भा० १०।३।९-१०)

* नीलोत्पलदलश्यामः पीतवासाश्चतुर्भुजः।
जलजारुणनेत्रान्तः स्फुरत्कुण्डलमण्डितः॥
सहस्रार्कप्रतीकाशः किरीटी कुञ्चितालकः।
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविराजितः॥
अनुग्रहाख्यहृत्स्थेन्दुसूचकस्मितचन्द्रिकः।
करुणारससम्पूर्णविशालोत्पललोचनः॥
श्रीवत्सहारकेयूरनूपुरादिविभूषणः।

(अ० रामायण १।३।१६—१९)

क्या आश्चर्य है ? परन्तु वास्तवमें उनका यह प्राकट्य और अन्तर्धान देहधारण और देहत्याग नहीं है। लीलाभूमिमें प्रकट होना 'जन्म' और अन्तर्धान करना ही देहत्याग कहलाता है। भगवान्‌को सुख-दुःख भी नहीं होते, और न उन्हें हम लोगोंकी भाँति कर्म करना और उसका फल ही भोगना पड़ता है। स्वमहिमामें स्थित भगवान् लोक-कल्याणार्थ लीला करते हैं; जैसे बालकोंके साथ उनके कल्याणार्थ खेलनेवाला वृद्ध पितामह सम्राट् उनके खेलमें हारता-जीतता और बच्चोंकी दृष्टिमें अपने ही सदृश शोक-विषादको प्राप्त होता हुआ-सा दीखता है इसी प्रकार हम अज्ञोंकी दृष्टिमें भगवान्‌में सुख-दुःख भासते हैं, हम अज्ञानियोंकी दृष्टिमें ही वे कर्म करते और कर्मोंका फल भोगते हैं। और अज्ञानियोंकी दृष्टिमें ही वे जन्म और मृत्युको प्राप्त होते प्रतीत होते हैं। वस्तुतः वे सदा ही अज, अविनाशी, निष्क्रिय, स्वमहिमामें स्थित और आनन्दमय हैं। और लीलावश अपनी इच्छासे ही अवतीर्ण होते हैं। कोई भी बाहरी कारण उन्हें अवतीर्ण होनेके लिये बाध्य नहीं कर सकता।

प्र०-फिर भगवान्‌के अवतारमें प्रयोजन क्या है ? वे किस उद्देश्यसे अवतार लेते हैं ?—

उ०-भगवान्‌ने स्वयं ही इसका उत्तर दिया है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

(गीता ४ । ८)

साधुओंके परित्राण, दुष्कृतोंके विनाश और धर्मकी स्थापनाके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ।

प्र०-साधुओंका परित्राण, पापियोंका विनाश और धर्मकी स्थापना तो भगवान् अपने साधारण-से सङ्कल्पसे ही कर सकते हैं, अधिक करें तो अपनी सन्निधिमें रहनेवाले किसी मुक्त कारक पुरुषको भी भेज सकते हैं। भला, जिन भगवान्‌के भ्रूसंकेतमात्रसे अखिल ब्रह्माण्डोंका सृजन और प्रलय हो सकता है, वे स्वयं इस मामूली कार्यके लिये अवतीर्ण क्यों होंगे ?

उ०-भगवान्‌की कौन-सी लीला क्यों होती है, इस बातको हमलोग नहीं समझ सकते। भगवान्‌को जानना, पहचानना और उनकी लीलाका रहस्य समझना केवल उनकी कृपासे ही सम्भव है। कोई भी निश्चितरूपसे नहीं कह सकता कि यह बात यों ही है। तथापि इस श्लोकका रहस्यार्थ महात्मा लोग इस प्रकार करते हैं कि यहाँ "साधु शब्दसे 'गोपाङ्गना'-जैसे साधु समझने चाहिये जिनका परित्राण साक्षात् भगवान्‌के दर्शन बिना हो ही नहीं सकता था। तथा दुष्कृति भी भगवान्‌के परम अन्तरंग भक्त जय-विजय-जैसे समझने चाहिये जिनका दुष्कृत भगवान्‌की लीलाविशेषके विकासके लिये ही था, अन्य दुष्कृतियोंको तो उनका दुष्कर्म ही नष्ट कर देगा, और धर्म-संस्थापनसे यहाँ भक्ति-प्रेम-योगरूप धर्मकी स्थापना समझनी चाहिये जो ऐसे कोटि कामकमनीय महामनोहर भजनीय भगवान्‌के बिना हो नहीं सकती।" यही अर्थ युक्तियुक्त भी मालूम होता है। हाँ, अवान्तर प्रयोजन सन्मार्गस्थ साधुओंकी रक्षा, भाग्यवान् दुष्कृतियोंका शरीर-विनाशरूपसे उद्धार और पवित्र निष्काम धर्मकी स्थापना भी है ही। कुन्तीदेवी स्तुति करती हुई भगवान्‌के अवतारका हेतु बतलाती हैं—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥

(श्रीमद्भा० १ । ८ । २०)

जिनके अन्तःकरण सर्वथा मलरहित पवित्र हैं उन परमहंस मुनियोंकी भक्तियोगमें प्रवृत्ति करानेके लिये अवतार धारण करनेवाले आपको हम अबलाएँ कैसे देख (जान) सकती हैं ?

इससे मालूम होता है कि परमहंस मुनियोंको प्रेमदान देनेके लिये भगवान् स्वयं अवतीर्ण होते हैं। आगे चलकर कुन्तीदेवी श्रीकृष्णावतारके प्रयोजनमें मतभेद दिखलाती हुई कहती हैं—

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये।
यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम्॥
अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात्।
अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम्॥
भारावतरणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ।
सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः॥
भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन॥
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥

(श्रीमद्भा० १ । ८ । ३२-३६)

कोई कहते हैं कि आपने पुण्यश्लोक राजा युधिष्ठिरका यश बढ़ानेके लिये ही यदुवंशमें अवतार लिया है अथवा चन्दन जिस प्रकार मलयाचलमें पैदा होकर उसकी कीर्ति बढ़ाता है उसी प्रकार आपने महाराज यदुका यश बढ़ानेके लिये यदुवंशमें अवतार लिया है । किसीका कथन है कि श्रीवसुदेव-देवकीने अपने पूर्वजन्ममें आपसे पुत्ररूपसे प्रकट होनेकी प्रार्थना की थी, उनकी प्रार्थनासे आप उन-सरीखे साधुओंके कल्याण और देवद्रोही दानवोंका वध करनेके लिये ही उनके पुत्ररूपसे अवतीर्ण हुए हैं । कोई कहता है कि समुद्रमें डूबती हुई नौकाके समान पृथ्वी भारी भारसे डूबी जा रही थी उसके भारको उतारनेके लिये आपने ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे अवतार धारण किया है । अब कुन्तीजी अपना मत प्रकट करती हैं कि इस संसारमें अज्ञान, कामना और कामनायुक्त कर्मोंके कुचक्रमें पड़े हुए जो जीव विभिन्न प्रकारके क्लेश भोग रहे हैं उन सन्तप्त जीवोंको क्लेशसे मुक्त करनेके लिये उनके सुनने और मनन करने योग्य सुन्दर दिव्य लीलाओंको करनेके लिये आपने अवतार लिया है । जो लोग आपकी प्रेमभरी दिव्य लीलाओंको सुनते हैं, गाते हैं, कीर्तन करते हैं, बार-बार स्मरण करके आनन्दित होते हैं, वे शीघ्र ही जन्ममरणरूपी संसारप्रवाहको शान्त करनेवाले आपके मंगलमय चरणकमलोंके दर्शन पा जाते हैं ।

उपर्युक्त सभी प्रयोजन उचित और सत्य हैं । परन्तु कुन्तीजीका बतलाया हुआ अन्तिम प्रयोजन बहुत ही हृदयग्राही है । भगवच्चरित्र ही वस्तुतः भवसागरसे तरनेके लिये दृढ़ नौका है । कलियुगी जीवोंका तो यही आधार है । इसीसे गोसाईं तुलसीदासजीने कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जो नर कर बिसवास ।
गाइ राम गुन-गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

अमलात्मा मुनियोंको भक्तियोग प्रदान करनेवाला प्रयोजन भी बहुत ही युक्तियुक्त है । इसीमें तो पवित्र भागवत धर्मकी स्थापना होती है । इन्हीं हेतुओंसे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र इच्छाशून्य भगवान् अवतीर्ण होनेकी इच्छा करते हैं ।

प्र०—जय-विजयादि-सरीखे दुष्कृतियोंकी और प्रेमधर्म स्थापनकी बात तो समझमें आ गयी परन्तु गोपाङ्गनाओंके परित्राणकी बात कुछ समझमें नहीं आयी । उनको क्या दुःख था जिससे भगवान्के साक्षात् अवतीर्ण हुए बिना वे उससे नहीं छूट सकती थीं ?

उ०—सौन्दर्यमाधुर्यसागर नटनागर भगवान्के दिव्यातिदिव्य मङ्गल स्वरूपके दर्शनकी लालसा ही उनका महान् दुःख था । वे इसी विरहतापसे सन्तप्त थीं, उनका यह बिना श्रीभगवान्के साक्षात् मिलनके मिट ही नहीं स था । इस दुःखसे परित्राण करनेके लिये ही भगव स्वयं प्रकट हुए ।

परन्तु यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि प्रयोजन यही एकमात्र स्वरूप है । विभिन्न युगोंमें प्रयोजनोंके विभि स्वरूप होते हैं परन्तु उनमें वह बातें तीन ही होती हैं—सा परित्राण, दुष्टविनाश और धर्मसंस्थापन ।

प्र०—अच्छी बात है, यह बतलाइये कि भगवान्के अवता में क्या छोटे-बड़े भी होते हैं । अंशावतार, कलावता आवेशावतार और पूर्णावतार आदि अनेकों नाम मि हैं, इनका क्या रहस्य है ?

उ०—भगवान्का पूर्णावतार भी होता है, और अंश-क वतारादि भी होते हैं । यद्यपि भगवत्तत्त्व एक ही और किसी भी समय उनकी शक्तिमें कोई न्यूनाधिक नहीं होती । क्योंकि उनकी शक्ति भी साक्षात् भगव स्वरूप ही है । अतएव वह सदा ही समरस है तथ उनके प्राकट्यके अनेक भेद माने गये हैं । जहाँ जि प्रयोजनसे उनका अवतार होता है, वहाँ उसीके अनु उनकी शक्तिका प्रकाश होता है । जैसे सम्पूर्ण वेद कण्ठस्थ पाठ करनेवाला वेदज्ञ पुरुष जहाँ जिस मन्त्र उच्चारणकी और जितने वेदार्थप्रकाशकी आवश्यक होती है, उतना ही करता है, इसी प्रकार नित्य पू असीम शक्तिसे सम्पन्न भगवान् भी लीला-प्रयोजन अनुसार ही शक्तिका प्रकाश करते हैं । अग्निके जरा कणमें भी जैसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको दाह करनेकी श है, क्योंकि वह साक्षात् अग्नि ही है, इसी प्र भगवान्का किसी भी प्रयोजनसे अवतीर्ण लोकहि अत्यन्त छोटा-सा स्वरूप भी पूर्णशक्तिसम्पन्न ही है भगवान्की पूर्णतामें कभी विकार नहीं होता । श्रुति यह सिद्धान्त सदा सत्य है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

विशाल अग्निमेंसे चाहे जितनी अग्नि चाहे जि स्थानोंमें प्रकट हो जाय, सबमें सब जगह समान हो दाहि शक्ति होती है । इसी प्रकार भगवान्के चाहे एक ही स कितने ही विभिन्न अवतार हो जायँ, सबमें शक्ति स रहती है । यद्यपि अग्निका उदाहरण भगवत्-शक्तिकी पूर्ण

के लिये लागू नहीं होता। अग्नि मायाका कार्य है, ससीम है, देशकालावच्छिन्न और सान्त है। भगवान्‌की शक्ति भगवत्स्वरूप है, असीम है, देशकालातीत है, सर्वमय है और नित्य है। तथापि शाखाचन्द्रन्यायकी भाँति केवल समझनेके लिये यह बात कही जाती है।

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार पूर्ण शक्ति होते हुए ही भगवान् नाना रूपमें प्रकाशित होते हैं। भगवान्‌के स्वयंरूप और व्यूहरूप आदि अनेकों रूप हैं। इसी प्रकार विभवावतार, कलावतार, अंशावतार, आवेशावतार, अर्चावतार आदि अनेकों अवतार हैं। इनमें स्वयंरूपके दर्शन तो मुक्त पुरुषोंको ही होते हैं। या तो नित्य नित्यधाममें रहनेवाले अनादिकालीन मुक्त पुरुष ही उनके दर्शन करते हैं या भगवान् अनुग्रह करके जिन्हें दर्शन देते हैं वे कर सकते हैं। स्वरूपावतार अथवा भगवान्‌के स्वयं अवतीर्ण होनेके समय वे जिनको दर्शन देनेके लिये योगमायाका परदा हटाकर दिव्य दृष्टि दे देते हैं वे भी दर्शन कर सकते हैं। अन्य लोगोंको इस परम रूपके दर्शन नहीं हो सकते। योगमायाका आवरण हटाते ही वहाँ भगवान्‌की दिव्यताके संस्पर्शसे तमाम प्रकृति दिव्य बन जाती है। इसीसे जिस पुरुषके सामने आवरण हटता है वही दिव्य दृष्टिसम्पन्न हो जाता है। अवश्य ही आवरणमुक्तिकी क्षेत्रसीमा भगवान्‌की इच्छानुसार होती है। इसके सिवा अन्य प्रकारसे भी दिव्य दृष्टि प्राप्त की जा सकती है। दिव्य दृष्टिके भी अनेकों उच्च-नीच स्तर हैं, अर्जुन और संजय दोनोंको दिव्यदृष्टि प्राप्त थी, परन्तु दोनों एक ही प्रकारकी नहीं थी। एकमें प्रत्यक्ष दर्शन था, दूसरेमें छाया दर्शन! परन्तु यह यहाँका आलोच्य विषय नहीं है इसलिये इसपर आलोचना नहीं की जाती।

भगवान्‌का व्यूहरूप नित्य विभूतिके बाहर लीलाविभूतिमें है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चार व्यूह हैं। असलमें तो संकर्षणादि तीन ही व्यूह हैं। वासुदेव तो व्यूहमण्डलमें आनेसे व्यूहरूप माने जाते हैं। भगवान्‌के जिस लीलास्वरूपमें ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज पूर्णरूपसे सदा ही प्रकाशित हैं, उस षडैश्वर्यसम्पन्न स्वरूपका नाम वासुदेव है। संकर्षणमें प्रधानतासे ज्ञान और बल, प्रद्युम्नमें ऐश्वर्य और वीर्य और अनिरुद्धमें शक्ति और तेज रहता है। एक वासुदेवरूप ही इस त्रिविध रूपमें व्यूहमय बन रहा है। इसलिये तत्त्वतः संकर्षणादि प्रत्येक स्वरूप ही षडैश्वर्यसम्पन्न है। परन्तु उनके लीलाप्रयोजनके लिये उनमें प्रधानतासे दो-दो गुणोंका आधिक्य भासता है। संकर्षण जीवके अधिष्ठाता हैं, प्रद्युम्न मनके और अनिरुद्ध अनन्त जगत्‌के रक्षक, पोषक और विधाता हैं।

अब अवतारोंके सम्बन्धमें कुछ जानना है। यद्यपि अवतार अनेकविध हैं, और उनका प्रकृत रहस्य संसारमें कोई भी नहीं जान सकता तथापि महात्मा पुरुषोंके सुने और पढ़े हुए वचनोंके आधारपर किञ्चित् वर्णन करनेकी चेष्टा की जाती है। स्वयं भगवान्‌के प्रादुर्भावको विभवावतार कहते हैं। इसके दो भेद हैं—मुख्य और गौण। मुख्य विभव साक्षात् अवतार है और गौण विभव आवेशावतार। आवेशावतारके भी दो भेद हैं—शक्त्यावेश और स्वरूपावेश। शक्त्यावेशमें आवेशकालमें केवल शक्तिका विकास होता है, और स्वरूपावेशमें भगवान् अपने अप्राकृत विग्रहसमेत किसी चेतन शरीरमें आविष्ट होते हैं। मुख्य या साक्षात् अवतारका विग्रह नित्य दिव्य और अप्राकृत होता है और गौणका विग्रह केवल आवेशकालमें दिव्य होता है। मुख्य या साक्षात् अवतारका प्रयोजन ऊपर बतलाया जा चुका है। गौणका प्रकाश सृष्टिरचना या रक्षा आदि प्रयोजनोंके लिये होता है। गौणावतारोंमें भी अनेकों भेद हैं।

जो अवतार कलारूपसे होता है उसे कलावतार कहते हैं, जो भगवत्-शक्ति हमारे जगत्‌की केन्द्रस्था है, वह षोडश कलाकी समष्टि है, इस कलारूपा शक्तिमेंसे जितनी कलाओंके विकासको लेकर अवतार होता है, उसे कलावतार कहते हैं। एक या अनेक कलाओंके विभिन्न अवतार हो सकते हैं।

कलाकी अपेक्षा अर्थात् सोलह कलायुक्त शक्तिके सोलहवें हिस्सेसे भी जो न्यून शक्तिका आविर्भाव होता है, उसे अंशावतार कहते हैं। अंशकी अपेक्षा न्यून शक्तिके अवतारको विभूत्यावतार कहते हैं। यह याद रखना चाहिये कि परमब्रह्म परमेश्वर नपी-तुली सोलह कलावाले ही नहीं हैं। हमारे इस जगत्‌में सोलह कलायुक्त शक्तिके विकाससे ही काम चल जाता है। इससे हम भगवान्‌को षोडशकला कहते हैं, वस्तुतः भगवान् अनन्त कलायुक्त हैं। उन नित्य निष्कलकी अनन्त अकल कलाओंका पार नहीं है। करोड़ों कलाओंकी विविधमुखी अनन्त धाराएँ निरन्तर उनकी समष्टि कलासे बह रही हैं। सारी कलाओंका मूल कारण वह समष्टि कलारूप भगवान्‌की निज शक्ति ही है। उस शक्तिका अवतार भी साक्षात् भगवान्‌के आविर्भावके समय भगवान्‌के साथ ही होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सब कलाओंका विकास हो ही। ऐसा होना न तो आवश्यक है और न सहज ही सम्भव है।

इसके अतिरिक्त जिस कल्प, युग या मन्वन्तरमें जैसे अवतारका प्रयोजन होता है तदनुसार अनेकों अवतार हुआ करते हैं। वे ही कल्पावतार, युगावतार या मन्वन्तरावतार कहलाते हैं।

इसी तरह भगवान्‌का अर्चावतार भी है। जिस अर्चामूर्त्तिमें विश्वासी श्रद्धासम्पन्न भक्त भगवान्‌का आविर्भाव चाहता है उसी अर्चाविग्रहमें दयामय भगवान् अपने भक्तकी प्रसन्नताके लिये उसपर अनुग्रह करके आविर्भूत हो जाते हैं, इसमें देश, कालका कोई नियम नहीं है। न अधिकारीका नियम है। अधिकारी वही है जो पूर्ण श्रद्धासम्पन्न प्रेमी हो और अर्चामूर्त्तिमें भगवान्‌का पूर्ण स्वरूप समझता हो। इसमें अवतारका स्वरूप वही होता है जैसा भक्त चाहता है। इसमें भगवान् अपने भक्तके अधीन होते हैं, वह जिस विधिसे जिस समय उनके स्नान, भोजन, शयन, पूजन, शृङ्गार आदिकी व्यवस्था करता है, उसी रूपमें भगवान् स्वीकार करते हैं।

प्र०—क्या साक्षात् भगवान्‌का ही अवतार होता है, और किसीका नहीं होता ? यदि होता है तो क्या उन सब अवतारोंमें भी शक्तिका तारतम्य नहीं रहता ?

उ०—यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि कारणजगत्‌की किसी भी शक्तिका अवतार हो सकता है। वस्तुतः साक्षात् समग्र भगवान्‌के अवतार बहुत कम होते हैं। अन्य शक्तियोंके अवतार ही अधिक होते हैं। अंश और गौणावतारोंके भी समय-समयपर अवतार होते हैं। आयुध और आभूषणोंके भी अवतार होते हैं। नित्य भगवत्-कैङ्कर्यको प्राप्त महाभाग मुक्त पुरुषोंके भी भगवदिच्छासे अवतार होते हैं। कभी-कभी वे भगवत्-सेवाके लिये भी अवतार धारण करते हैं। यही भगवान्‌के भक्तों और परिकरोंके अवतार होते हैं—श्रीमद्-शङ्कराचार्य नृसिंहतापनीय उपनिषद्‌के भाष्यमें कहते हैं—'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा त्वां भजन्ते।' मुक्त पुरुष भी लीलासे देह धारण करके भजन किया करते हैं।

कारणजगत्‌में ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, प्रेमशक्ति, दयाशक्ति, निरोधशक्ति, ऐश्वर्यशक्ति आदि जो अनन्त प्रकारकी शक्तियाँ हैं, उन सभीके प्रयोजनानुसार विविध अवतार होते हैं; इन्हीं शक्तियोंके नामानुसार उनके ज्ञानावतार, क्रियावतार, प्रेमावतार आदि विभिन्न नाम और कार्य होते हैं। इनकी शक्तिमें बहुत तारतम्यता रहती है। अव इन सबमें न एक-सी शक्ति होती है, और न इनकी ए सी क्रिया ही होती है। इनमें बहुतेरे अवतार शक्त्याव गौणावतारोंकी श्रेणीमें भी आ जाते हैं। अवतार मनु रूपमें ही नहीं, पशु-पक्षी आदि रूपोंमें भी होते हैं।

दुष्ट शक्तियोंके भी अवतार होते हैं, परन्तु उन अवतीर्ण होना जगत्‌के अमङ्गलके लिये होता है अत जगत्‌के कल्याणार्थ उनके विनाशके लिये भी समय-सम शक्त्यवतार होते हैं। अवश्य ही इन सभीमें भगवच्छ के द्वारा सञ्चालित एक अखण्ड नियम सतत काम करता है

भगवान्‌का एक अन्तर्यामी अवतार भी है जो जीव हृदयमें रहकर उसकी प्रवृत्ति और चेष्टाओंका नियमन कर है। इस अन्तर्यामी स्वरूपके दो भेद हैं। एक जो अ श्रद्धामय भक्त जीवके हृदयकमलमें सुहृद्रूपसे उसके यो क्षेमके वहन करनेके लिये निवास करता है। यह भक्त इष्टमूर्त्तिके रूपमें ही भक्तको हृदयमें दर्शन देता है। दूस स्वरूप अन्तरात्मारूपसे है जो सभी जीवोंके हृदयमें भ बुरी सभी अवस्थाओंमें सदा निवास करता है। जीवो हृदयमें इस अन्तर्यामीका निवास है, तभीतक वह जीव है

इसके सिवा प्रत्येक युगमें अनन्त अवसरोंपर अनन्त भक्तोंके सम्मुख एकान्तमें उन्हें कृतार्थ करनेके लिये भगवान का जो प्राकट्य होता है, वह भी अवतार ही है। उसमें भी साक्षात् भगवान् और गौण शक्तिका भेद भक्तकी साधना अनुसार रहता है।

प्र०—साक्षात् भगवान्‌के अवतारका शरीर क्या भौतिक न होता ? और भौतिक नहीं होता तो वह कैसा होता है

उ०—भगवान् चाहें तो मायिक शरीर भी धारण कर सकते हैं क्योंकि वे सर्वभवनसमर्थ हैं और समय-समयपर लोक कल्याणार्थ करते भी हैं। परन्तु उनका साक्षात् अवता शरीर भगवत्स्वरूप ही होता है। वह भौतिक न होक चिदानन्दमय होता है। स्थूल पाञ्चभौतिक शरीरकी त बात ही दूर रही, उनका सूक्ष्म तथा कारणशरीर भी नह होता, 'वे इन त्रिविध मायिक शरीरोंसे परे हैं। मायि शरीर तो उनका भी नहीं होता जो कारणमण्डल लाँघकर भगवान्‌के नित्य परम धाममें पहुँच जाते हैं फिर स्वयं भगवान्‌की तो बात ही क्या है ? भगवान् श्री कृष्णकी स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥
(श्रीमद्भागवत १०। १४। २)

हे देव! भक्तोंकी इच्छानुसार प्रकट हुए मुझपर अनुग्रह करनेवाले आपके इस अवतारविग्रहकी, जो पाञ्चभौतिक नहीं, अपितु अचिन्त्य शुद्ध सत्त्वमय है, महिमाको मनसे भी जाननेके लिये मैं ब्रह्मा समर्थ नहीं हूँ अथवा कोई भी समर्थ नहीं है तब आपके साक्षात् स्वरूपकी महिमाको तो एकाग्र किये हुए मनसे भी कौन जान सकता है?

भगवान् श्रीरामको महर्षि वाल्मीकिजी कहते हैं—
चिदानन्दमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जानु अधिकारी॥

इसीसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्के दिव्य स्वरूपका दर्शन पाते ही मुग्ध हो जाते हैं। जनक-से राजर्षि, व्यास-से महर्षि और भीष्म-से ज्ञानवृद्ध भगवान्को देखते ही पलकें मारना भूलकर एकटक दृष्टिसे उनकी ओर देखते ही रह जाते हैं। तभी उनके भक्तोंकी चरणरजको मस्तक चढ़ानेके लिये ब्रह्मा-सरीखे देवता, और उद्धव-सरीखे ज्ञानी लालायित होते हैं। वस्तुतः भगवान्का देह दिव्य देह भी नहीं है, वह भगवत्स्वरूपसे सर्वथा अभिन्न है। वह देहातीत साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। वह दिव्यातिदिव्य आनन्दका आनन्दमय आनन्दनिर्झर है। क्योंकि वह आह्लादिनी शक्तिके निमित्तसे ही नित्य प्रकट रहता है। वह सर्वत्र मधुर-ही-मधुर है, सब कुछ मधुर-ही-मधुर है, वह मधुरिमामय है। इसीसे उसको 'आनन्दमात्रपादमुखोदरादि' या 'आनन्दैकरसमूर्तयः' कहते हैं। जिनके पादारविन्दमकरन्दसे निकली हुई तुलसीमिश्रित सुगन्ध जन्मसे ही ब्रह्मविद्शिरोमणि सनकादिके मनमें क्षोभ उत्पन्न कर देती है, उन भगवान्के स्वरूपभूत भगवद्देहकी महिमा कौन गा सकता है?

प्र०–अच्छा, अब भगवान्के सौन्दर्यका कुछ वर्णन कीजिये।

उ०–विश्वब्रह्माण्डमें ऐसा कौन है जो भगवान्के दिव्य भगवद्देहके सौन्दर्यके करोड़वें भागका भी वर्णन कर सके। वह अनिर्वचनीय तत्त्व है। जिस किसी परम सौभाग्यशाली महानुभावने भगवान्के उस योगमायासे अनावृत सौन्दर्य-माधुर्य-सागर महान् सुन्दर स्वरूपके दर्शन किये हैं, वही उनके सौन्दर्यका किञ्चित् रहस्य जानता है परन्तु जो कुछ जानता है, उसके वर्णनकी सामर्थ्य उसमें कदापि नहीं है।

भगवान्के सौन्दर्यकी तो बात ही क्या है, विशुद्ध लिंगशरीरके सौन्दर्यका भी वर्णन नहीं हो सकता। वह भी बहुत ही ज्योतिर्मय, मनमोहन, नयनाभिराम, माधुर्यमय और लावण्ययुक्त होता है, उसकी भी कोई तुलना नहीं होती। सारी देवभूमिकाएँ उस विशुद्ध लिंगकी ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं। फिर जब वही लिंग 'कारणरूप' में जा पहुँचता है तब तो उसका सौन्दर्य सर्वथा वर्णनातीत हो जाता है। कामदेवके मनोहर स्वरूपकी उपमा इस कारणशरीरसे हीं दी जाती है। परन्तु यह कारणदेह भी जड भौतिक ही होता है। क्योंकि कारण, सूक्ष्म और स्थूल जगत् सब मायामें ही है। इनकी स्थितिका कारण जीवोंका अनादि कर्मप्रवाह है। अस्तु! जब परमोत्कृष्ट भौतिक देहकी ऐसी महिमा है तब भगवद्देहका सौन्दर्य कौन कह सकता है? भक्त कवि इतना कहकर चुप हो जाते हैं—

अंग अंगपर वारिये कोटि कोटि सत काम।

न उसकी कोई उपमा है, न उसका कोई नमूना है। जो देखता है, वही जानता है परन्तु कह कोई भी नहीं सकता!

प्र०–जब भगवान्का ऐसा मधुर आनन्दमय स्वरूप है तब तो अवतारकालमें उसको देखकर सभी लोग मोहित होने चाहिये। उनके स्वरूपका दर्शन करनेवाले सभी लोगोंको उनकी पहचान भी होनी चाहिये। परन्तु श्रीराम, श्रीकृष्णादि साक्षात् भगवत्स्वरूपोंके जीवनको पढ़नेसे ऐसा पता लगता है कि ऐसा नहीं हुआ। बहुत-से लोगोंने तो उन्हें पहचाना ही नहीं।

उ०–भगवान्के दिव्यातिदिव्य भगवद्देहके दर्शनके लिये दिव्यदृष्टि चाहिये। प्राकृत जगत् तो उनके उस रूपके तेजको भी सहन नहीं कर सकता। इसीसे अवतारकालमें भगवान् अपने स्वरूपको योगमायासे समावृत रखते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
(गीता ७। २५)

और इसीसे सब लोग उन्हें नहीं पहचान सकते। वे कृपा करके जिनको अपना परिचय प्रदान करना चाहते हैं

उन्हींके लिये योगमायाका आवरण हटाते हैं, इस आवरणके हटानेमें भी अधिकारीभेदसे बड़ी भारी तारतम्यता रहती है। इसका हटाना पूर्णरूपसे तो वहीं होता है, जहाँ भगवान्की केवल अन्तरङ्गा ही नहीं, स्वरूपा शक्तियोंका आकर्षण रहता है। वहीं भगवदिच्छासे वह योगमाया अपने आवरणरूपको त्यागकर—भगवान्को आवरणमुक्तकर स्वरूपभूता आनन्दशक्तिके रूपमें बदलकर भगवान्के रमणका आधार बन जाती है। क्योंकि वस्तुतः वह आह्लादिनी शक्तिसे अभिन्न ही है। इसीसे श्रीशुकदेव मुनिने कहा है कि—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

याद रखना चाहिये भगवान्की यह योगमाया वह माया नहीं है जो सृष्टिकर्ता ईश्वरके साथ रहती है, न वह अविद्या है जो समस्त जगत्को मोहित किये हुए है। वे तो बहुत ही निम्नस्तरकी शक्तियाँ हैं, यह योगमाया तो भगवान्की साक्षात् स्वरूपाशक्ति ही है। इसी शक्तिको साथ लेकर भगवान् अवतीर्ण होते हैं—'सम्भवामि आत्ममायया।'

इस योगमायासे समावृत होनेके कारण ही लोगोंको भगवान्का देह मायिक या भौतिक-सा प्रतीत होता है, और ऐसा होना ठीक ही है, क्योंकि उनकी मायामयी दृष्टि अमायिकका प्रत्यक्ष कर ही नहीं सकती। हमारी इन्द्रियाँ तो अतीन्द्रियमायिक पदार्थको भी ग्रहण नहीं कर सकतीं, फिर मन-वचन-बुद्धिसे और इनकी मूल प्रकृतिसे परेके परमात्म-स्वरूपको तो कैसे ग्रहण कर सकती हैं। अतएव भगवान्का स्वरूप न्यूनाधिकरूपमें उन्हींके सामने प्रकट होता है जिनकी न्यूनाधिकरूपमें दिव्यदृष्टि मिल जाती है। भगवान्की बात तो दूर रही, मोहदृष्टिसे तो हम भौतिक देहधारी महात्मा पुरुषको भी नहीं पहचान सकते। उसके लिये भी अन्तर्दृष्टि तो चाहिये ही। परन्तु यह दिव्यदृष्टि, कोई ज्ञानदृष्टि या अन्तर्दृष्टि नहीं है यह भगवद्दत्त एक भगवदीय शक्ति है। ज्ञानदृष्टिसम्पन्न पुरुष उन्हें ब्रह्म देखते थे, शत्रुभाववाले उन्हें साक्षात् कालरूपमें देखते थे। वसुदेव-देवकी, नन्द-यशोदा या दशरथ-कौसल्या उन्हें पुत्ररूपमें देखते थे। यह सब भगवान्की इच्छापर ही निर्भर था। इतना होनेपर भी भगवान्के स्वरूपको जो कोई भी देखता था वह कुछ क्षणोंके लिये तो मुग्ध हो ही जाता था। हाँ, उनकी बात दूसरी है जिनको जान-बूझकर ही भगवान्ने अपना भयङ्कर रूप ही दिखलाया। मोहनरूप दिखलाया ही नहीं। अन्तर्दृष्टिसम्पन्न ऋषि-मुनि, महात्मा और प्रेममना आत्मीय स्वजनोंकी तो बात ही निराली है, सेनासहित खरदूषण जो शत्रुरूपमें भगवान्से युद्ध करनेको आये थे—उनके दिव्य स्वरूपको देखकर क्षणभरके लिये मुग्ध हो गये और अपने मन्त्रीसे कहने लगे—

नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते।
हम भरि जनम सुनहु सब भाई। देखी नहिं अस सुन्दरताई।
जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा।

यह उन राक्षसोंकी दशा है जो बहिनके नाक-कान कट जानेपर मारनेके लिये आये हैं, और जिनके सामने योगमायाका पर्दा नहीं हटा है।

हमें तो बस आकुल हृदयसे उत्कण्ठित नेत्रोंसे लीलाशुकके शब्दोंमें उनकी रूपमाधुरीके दर्शनार्थ यह प्रार्थना ही करते रहना चाहिये—

कारुण्यकर्बुरकटाक्षनिरीक्षणेन
तारुण्यसंवलितशैशववैभवेन।
आपुष्णता भुवनमद्भुतविभ्रमेण
श्रीकृष्णचन्द्र शिशिरीकुरु लोचनं मे॥
हे देव! हे दयित! हे भुवनैकबन्धो!
हे कृष्ण! हे चपल! हे करुणैकसिन्धो।
हे नाथ! हे रमण! हे नयनाभिराम!
हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे॥
अमून्यधन्यानि दिनान्तराणि
हरे त्वदालोकनमन्तरेण।
अनाथबन्धो! करुणैकसिन्धो!
हा हन्त हा हन्त कथं नयामि॥

* * *

जो मनमें स्थित होकर मनके भीतर है, जिसको मन नहीं जानता, जिसका मन शरीर है, जो मनके भीतर रहकर उसे नियममें रखता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। (बृह० ३ । ७ । २०)

* * *

गीता और वेदान्त

(लेखक—पं० श्रीजीवनशङ्करजी याज्ञिक, एम० ए०)

अखिल धर्मका मूल वेद अनन्त, अनादि और अपौरुषेय है अतएव वेदके अन्तकी कल्पनामें वदतोव्याघातः दोष आता है। परन्तु ऐसा नहीं है। वेदके तीन काण्ड—कर्म, उपासना और ज्ञान हैं, मनुष्यको चरम लक्ष्यपर पहुँचानेवाला ज्ञानकाण्ड है और उसीका नाम वेदान्त है। कर्म और उपासना क्रमोन्नतिमें आवश्यक हैं परन्तु ज्ञानकी उपलब्धिके बिना मोक्षप्राप्ति असम्भव है। इसी दृष्टिसे वेदान्तका नाम सार्थ और निर्दोष है। जिसने वेदान्तको समझ लिया वही अनन्त ज्ञानका अधिकारी होकर ज्ञानस्वरूप हो जाता है और परमात्मतत्त्वमें एकीभावसे सदाके लिये स्थित हो जाता है।

गीतामें वेदान्तका क्या स्वरूप बतलाया गया है इसी बातपर यहाँ थोड़े-सेमें विचार करना है। वैसे तो वेदान्त-सिद्धान्तपर उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और अनेकानेक ग्रन्थ हैं, परन्तु गीताकी विचारशैलीमें और विषयालोचनमें कुछ वैचित्र्य है। सारभूत बात बहुत ही थोड़े शब्दोंमें कही गयी है और जिज्ञासुको अनावश्यक विस्तारके बिना ही सिद्धान्त हृदयंगम हो जाता है।

वेदान्तको समझनेके पूर्व यह विचार करना आवश्यक है कि गीताके अनुसार वेदका क्या अर्थ है और यदि वेदका अन्त किसी दृष्टिसे कल्पित किया जाता है तो वेदका आदि और मध्य क्या हो सकता है और उसका भी विवेचन गीताने किया है कि नहीं।

गीता समस्त विश्वको वेद कहती है और उसका अश्वत्थरूपकसे वर्णन करती है। विश्वकी उपमाके लिये अश्वत्थको क्यों चुना, इसका कारण यह है कि विश्व और अश्वत्थमें दार्शनिक दृष्टिसे पूरी समानता है। 'न श्वः तिष्ठतीति अश्वत्थः' जो कल न रहे सो अश्वत्थ। जिसका अस्तित्व क्षणभङ्गुर है ऐसा यह विश्व है। 'श्वः' का अर्थ 'कल' है, अर्थात् ब्रह्माका एक दिन।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥
(८।१७-१९)

'ब्रह्माका जो एक दिन है उसको हजार चौकड़ी युगतक अवधिवाला और रात्रिको भी हजार चौकड़ी युगतक अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं वे कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं। सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय हो जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्माके एक सौ वर्ष पूर्ण होनेसे अपने लोकसहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाते हैं।'

इस प्रकार ब्रह्माकी दृष्टिमें संसारका आयुष्य एक ही दिनका है। अतएव विश्वको अश्वत्थ—जो कल न रहे—कहना पूर्णरूपेण उपयुक्त है। 'संसार' शब्दका भी ऐसा ही अर्थ है—'संसरतीति संसारः।' ऊपर दिये हुए श्लोकोंमें विश्वका स्वरूप यथावत् जैसा है गीताने समझा दिया।

विश्वका अश्वत्थरूपकसे वर्णन तो हो गया, परन्तु विश्व और वेद गीताने एक ही बताये हैं, इसपर अभी और विचार करना है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥
(१५।१)

इस श्लोकमें संसारका अश्वत्थरूपसे वर्णनकर भगवान् कहते हैं कि उस संसाररूप वृक्षको जो पुरुष तत्त्वसे जानता है वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है। अर्थात् इस वृक्षको तत्त्वसे जानना ही वेदको जानना है। अतएव वेद ही अश्वत्थ नामसे वर्णित है। इस बातकी आगे और भी पुष्टि होगी।

भगवान्ने निश्चयपूर्वक बताया कि वेदको भली प्रकार जानना चाहिये। और उसका आदि, मध्य और अन्त भी जानना चाहिये। परन्तु आदि, मध्य और अन्तको जाननेके पहले यह शङ्का होती है कि गीतामें परस्परविरोधी वचन मिलते हैं—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
(१५।३)

इस संसारवृक्षका न तो रूप है और न इसके आदि-अन्तका पता चलता है और न उसके आधारका ज्ञान होता है और फिर गीता यह भी कहती है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
(१३ । १२)

जो जानने योग्य है और जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है उसको भगवान् कहते हैं कि अच्छी प्रकार कहूँगा। इस प्रकार गीतामें परस्परविरोधी वचन मिलते हैं। परन्तु गीता ही इसका समाधान भी करती है—

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयम् । (१३ । १५)

वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है। सारांश यह है कि उस तत्त्वकी अविज्ञेयता जान लेना ही उसको भली प्रकार जानना है। जिसको न जान सकें उसका जानना इसी प्रकार हो सकता है।

अब वेदका आदि, मध्य और अन्त क्या है उसपर भी विचार करना चाहिये। गीताका वचन है—'त्रैगुण्यविषया वेदाः' (२ । ४५) सब वेद तीन गुण सत्त्व, रज और तमका ही प्रतिपादन करते हैं। और संसारका अश्वत्थरूपसे वर्णन करनेमें उसकी मूल, शाखा और पत्तोंका भी नाम दिया गया है। अश्वत्थके तीनों भाग तीन गुण ही हैं। वेदोंका विषय तीन गुण, और संसारवृक्षके भी तीन ही अङ्ग। अर्थात् वेद वृक्षका सत्त्वगुण मूल वा आदि है, तमोगुण अर्थात् शाखा अन्त है और रजोगुण अर्थात् पर्ण मध्य है। दूसरे शब्दोंमें ज्ञान मूल है, कर्म मध्य है और इच्छा वा वासना अन्त है। और इसके जाननेका अभिप्राय गीताने इस प्रकार बताया है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥
(१३ । १)

'हे अर्जुन! यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है और इसको जो जानता है उसको तत्त्व जाननेवाले ज्ञानीजन क्षेत्रज्ञ कहते हैं।'

जैसा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ वैसे ही वेद और वेदविद्। धर्मक्षेत्र वा अखिल विश्वरूपी क्षेत्रके क्षेत्रज्ञके लिये तो भगवान्ने स्वयं कहा ही है—

वेदविदेव चाहम् । (१५ । १५)

'वेदोंका जाननेवाला भी मैं ही हूँ।' अर्जुनने भी विभूतिदर्शनके बाद यही कहा कि आप भगवान् 'वेत्तासि वेद्यम्' हैं। इससे यह तात्पर्य निकला कि जैसे क्षेत्रका शरीरी क्षेत्रज्ञ वैसे ही लोकत्रय भगवान्का शरीर है। अतएव वेदका अर्थ हुआ संसार और इस संसारका अन्त वही वेदान्त। इसी वेदान्तको अत्यन्त अन्वर्थकसंज्ञासे गीताने 'कृतान्त सांख्यम्' भी १८ वें अध्यायमें कहा है। अतएव संसारसे मोक्ष होना ही वेदान्त है। ऐसी श्रुति भी है कि मोक्ष लाभ होनेपर 'वेदोऽवेदो भवति।'

अब यह प्रश्न और रह गया कि वेदका अन्त किस प्रकार किया जाय और गीता उसका क्या उपाय बताती है। वेद त्रैगुण्य है। निस्त्रैगुण्य होनेसे ही वेदका अन्त हो जायगा। भगवान्का उपदेश भी अर्जुनको यही है—'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।' चौदहवें अध्यायमें अर्जुनके पूछनेपर भगवान्ने गुणातीत होनेका उपाय भी बताया है। जो उपाय है वही गुणातीतके लक्षण भी हैं। फिर भगवान्ने यह भी बताया है कि वे स्वयं 'वेदान्तकृत्' हैं। वे कहते हैं-

वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् । (१५ । १५)

'मैं ही वेदान्तका कर्ता और मैं ही वेदोंका जाननेवाला भी हूँ।'

वेद वा विश्वरूपी अश्वत्थके छेदनका उपाय भगवान्ने असंग बतलाया है। असंगशस्त्रसे ही यह वृक्ष कट सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि गुणातीत होकर जब जीव ईश्वर होता है तब उसकी मुक्ति होती है। और उसके वेदका अन्त होता है। वह सच्चिदानन्दस्वरूप संसारकी प्रतिष्ठास्वरूप भगवान् हो जाता है। इस सिद्धान्तको गीताने इस प्रकार समझाया है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
(१४ । २७)

'अविनाशी कारण महद्ब्रह्मका तथा अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ।'

यहाँ 'ब्रह्म' का अर्थ महद्ब्रह्म है, 'अव्ययम् अमृतम्' का सत्; 'शाश्वतः धर्म' का चित् और 'ऐकान्तिकमसुखम्' का आनन्द है। इस अन्तिम सिद्धान्तके प्रमाणस्वरूप इस श्लोकसे वेदान्तसे प्राप्त गति वा अवस्थाका स्पष्ट वर्णन हो जाता है।

गीताको वेद और वेदान्तका जो अर्थ मान्य है वह तो स्पष्ट हो गया, परन्तु गीताने एक बड़े जटिल प्रश्नपर भी पूर्ण प्रकाश डाला है। वेदका अन्त होनेपर जब जीव ईश्वर हो गया तो फिर उसकी क्या अवस्था होती है। मोक्ष होनेपर उसकी कैसी स्थिति होती है। यह वही प्रश्न है जो नचिकेताने यमराजसे पूछा था। नचिकेताने पूछा था—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः॥
(कठ० १ । १ । २०)

यमराजसे तीसरा वर नचिकेताने यही माँगा था कि उसको यह बतलाया जाय कि प्रेतका अस्तित्व है या नहीं। नचिकेता स्वयं मृत्युको प्राप्त हो चुका था। साक्षात् यमराजके सम्मुख खड़ा होकर उन्हींसे प्रश्न करता है कि प्रेतकी क्या दशा होती है। जो उसको स्वयं अनुभव प्राप्त है उसके बारेमें प्रश्न कैसा ! अपने प्रेतके बारेमें 'अस्ति' 'नास्ति' का प्रश्न कैसे बन सकता है ! इससे यह बात स्पष्ट है कि नचिकेताका प्रश्न स्थूल शरीरके छूट जानेपर जो मनुष्यकी दशा होती है उसके बारेमें नहीं है। 'प्रेत' शब्दका प्रयोग महामृत्यु अर्थात् मोक्षसे है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों ही शरीरोंसे जब मनुष्यको छुटकारा मिल गया तब उसकी कैसी स्थिति होती है। 'नास्ति' 'अस्ति' का प्रश्न ऐसे प्रेतके सम्बन्धमें है। ब्रह्मविद् होकर जीव 'ब्रह्मैव भवति' वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है। ऐसी अवस्थामें अद्वैतवादी कहते हैं कि जीव ब्रह्म हो जानेसे अब अपनी आत्मसत्ता वा अस्तित्व ब्रह्मसे पृथक् नहीं रखता। अब उस मुक्त जीवके बारेमें कहा जा सकता है कि 'न अस्ति'। परन्तु जो द्वैतवादी हैं उनका ऐसा मानना है कि मुक्त जीव पृथक् सत्ता अनुभव करता है। उनका कहना है कि मुक्तावस्थामें भी जीवको 'अस्ति' कह सकते हैं। इन दोनों मतोंमें कौन मत यथार्थ है यही नचिकेताकी जिज्ञासा थी। उसके उत्तरमें यमराजने यह सिद्धान्त बताया—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥

अर्थात् 'अयम् अस्ति' और 'अयं नास्ति' ऐसी दोनों प्रकारसे 'प्रेत' जीवकी उपलब्धि करनी चाहिये। प्रथम प्रतीति साधनरूप है और उससे दूसरी प्रतीति तत्त्वभावकी वा 'नास्तिक्यम्' की साध्य होती है। दोनों ही मतोंकी एकवाक्यताकी आवश्यकता है ! विचार करनेसे ब्रह्मज्ञानकी पूर्तिके लिये तीन प्रकारका जो उसका ज्ञान होता है उनकी एकवाक्यता होनी चाहिये। वह तीनों प्रतीति क्या हैं ?

प्रथम शास्त्रप्रतीति होती है। शास्त्रद्वारा ब्रह्मका ज्ञान होता है और उस प्रतीतिका स्वरूप होता है 'ब्रह्म अस्ति'। दूसरी गुरुद्वारा प्रतीति होती है और उसका स्वरूप होता है 'ब्रह्म असि'। गुरुप्रतीतिसे यह ज्ञान होता है कि जीव ब्रह्मस्वरूप है। परन्तु अन्तिम प्रतीति आत्मप्रतीति होती है और उसका स्वरूप होता है 'ब्रह्म अस्मि'। तब मनुष्यका जीवभाव नष्ट हो जाता है और वह अपनेको ब्रह्म ही जानता है।

जिस सम्प्रदायके मतमें शास्त्रप्रतीति ही चरम है और उसके आगे कोई अवस्था नहीं है ऐसे आचार्य 'द्वैतवादी' होते हैं। जिनकी गति गुरुप्रतीतितक हो जाती है और उससे परे नहीं ऐसे आचार्य 'द्वैताद्वैतवादी' कहलाते हैं। और जिनको आत्मप्रतीति सिद्ध हुई वे 'अद्वैतवादी' कहलाते हैं। फलतः तीनों क्रमसे ब्रह्मविद्, ब्रह्मवित्तर और ब्रह्मवित्तम हैं। अब यह देखना है कि गीताको यह भी सिद्धान्त तीनों प्रतीतियोंका मान्य है कि नहीं। गीताकी परिभाषामें इन तीनों प्रतीतियोंकी एकवाक्यता और तीनोंका क्रम यथावत् मिलता है—

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८ । ५४-५५)

पहली पंक्ति वा श्लोकार्द्ध 'ब्रह्म अस्ति' दूसरी 'ब्रह्म असि' और तीसरी 'ब्रह्म अस्मि' को क्रमसे सूचित करती है। और भी—

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यम्। (१८ । ४२)

—वचन है, जो प्रतीतित्रयको समझाता है। ज्ञान तो केवल ब्रह्मके अस्तित्वको जनाता है और विज्ञान जीवब्रह्मकी एकता सम्पादन करता है। पूर्ण आस्तिकता तो वही है जो आत्मप्रतीतिद्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि' का निर्भ्रान्त अनुभव कर लेता है। इन तीनों शब्दोंसे वही ऐक्य सूचित किया गया है जो महावाक्य 'तत्त्वमसि' के तत्पदार्थशोधन, त्वंपदार्थशोधन और दोनोंका 'असि' पद-प्रतिपादित भागत्याग वा जहदजहद् लक्षणाद्वारा बताया गया है।

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि भोगैश्वर्यमें आसक्त मनुष्य 'वेदवादरत' भले ही हों मुमुक्षु नहीं हैं। जबतक त्रिगुणात्मक संसारका अन्त न होगा, मनुष्य गुणातीत नहीं हो सकता। विश्व वा वेदका अन्त अर्थात् वेदान्तद्वारा ही मोक्षप्राप्ति सम्भव है। चरम लक्ष्य ब्रह्मवित्तम होनेका है जिसका निर्देश 'विशते तदनन्तरम्' से किया गया है और यही पूर्ण आस्तिकता है। ज्ञानी वा ब्रह्मविद्‌को चरम लक्ष्य-तक पहुँचनेमें अर्थात् ब्रह्मवित्तम होनेमें बहुत काल लगता है; क्योंकि जैसा श्रीभगवान्‌ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
(७। ३)

हजारोंमें कोई एक सिद्धिके लिये प्रयत्न करता है और हजारों प्रयत्नशीलमेंसे किसी विरलेको परम तत्त्वकी प्रा होती है। केवल आत्माकी चर्चा सुननेसे तो काम च नहीं, क्योंकि 'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्' 'सुनकर भी आत्माको नहीं जानता।' कोई विरला ही मनुष्य उसे जानता है। ब्रह्मविद् होनेके पश्चात्—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
(७। १९

ज्ञानीको ब्रह्मवित्तम होनेमें अनेक जन्म लग सकते हैं जो विरला चरम लक्ष्यपर पहुँच गया उसकी दृष्टिमें 'वासुदे सर्वमिति' सब कुछ वासुदेव ही हो जाता है, उसके लिये ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी त्रिपुटीका नाश हो जाता है ऐसे पूर्ण ब्रह्मज्ञानीके लिये ही भगवान्‌ने कहा है—'स महात् सुदुर्लभः।'

भगवान् शङ्कराचार्य और द्वारकापीठ

(लेखक—श्रीविनयतोष भट्टाचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०)

प्रायः मठोंकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें बड़े ही विवादग्रस्त जटिल प्रश्न उपस्थित होते रहते हैं। इस लेखमें उन सबका एक साथ संग्रह करके संक्षेपमें यह दिखलानेका प्रयत्न करूँगा कि इन प्रश्नोंके सम्बन्धमें प्राचीन कालमें कैसे नियम थे, क्या रीति थी, क्या प्रथा थी?

१—पीठका आविर्भाव

भगवान् श्रीकृष्णके साथ सम्बन्धित होनेके कारण काठियावाड़प्रान्तका द्वारकापीठ अनादि कालसे बहुत आदर और पवित्रताकी दृष्टिसे देखा जाता है—यह सभी-को अच्छी तरह ज्ञात है। देवीभागवत, कालिकापुराण तथा अन्य पुराणोंमें इस स्थानकी पवित्रताके सम्बन्धमें विवरण मिलते हैं।

एक बार दक्षप्रजापतिने एक यज्ञ करना चाहा जिसमें उन्होंने न अपनी कन्या सतीको ही आमन्त्रित किया, न अपने जामाता शिवको ही। फिर भी सती अपने पिताके घर यज्ञ देखने चली ही गयीं। सतीका आना दक्षप्रजापतिसे सहा न गया और वे क्रोधमें जल उठे और भगवान् शिवको नाना प्रकार गालियाँ बकने लगे। पतिका अपमान सतीके लिये असह्य हो उठा। वह यज्ञकी अग्निमें कूद पड़ीं। शिव यह सारा हाल सुनकर दक्षके यज्ञमें अपने भीषण परिकरोंके साथ पहुँचे, यज्ञको विध्वंसकर दक्षका वध किया। सती शवको अपने कन्धेपर लेकर शिव पागलकी तरह घूमने लगे

यह देख देवताओंके चित्तमें बड़ा क्षोभ हुआ। भगवा विष्णुने सतीके शवमें प्रवेशकर अपने चक्रसे सतीके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर डाला। शिव शवको लेकर घूम रहे इसलिये भिन्न-भिन्न टुकड़े भिन्न-भिन्न स्थानोंपर गिरे औ जहाँ-जहाँ वे गिरे प्रत्येक स्थानपर उनसे एक भैरव औ एक शक्तिका प्रादुर्भाव होता गया। ये स्थान आगे चल पीठ कहलाये तथा एक विशेष पवित्रताकी दृष्टिसे देखे ज लगे। कई ग्रन्थोंमें इन पीठोंकी सूची मिलती है। कोई कोई इनकी संख्या ५२ मानते हैं और कोई-कोई १०८ १०८ पीठोंमें द्वारका भी एक है। इसकी अधिष्ठात्री दे श्रीरुक्मिणीजी हैं। यह बावनवाँ पीठ है।

रुक्मिणी द्वारवत्यां तु राधा वृन्दावने तथा।
(देवीभागवत ७। ३०। ६

देवीभागवतमें पीठोंका नाम इस प्रकार मिलता है—

पीठका नाम	अधिष्ठात्री देवता
१ वाराणसी	विशालाक्षी
२ नैमिषारण्य	लिङ्गधारिणी
३ प्रयाग	ललिता

४ गन्धमादन	कामुकी	४२ सह्याद्री	एकवीरा
५ दक्षिण मानस	कुमुदा	४३ हरिश्चन्द्र	चन्द्रिका
६ उत्तर मानस	विश्वकामा	४४ रामतीर्थ	रमणी
७ गोमन्त	गोमती	४५ यमुना	मृगावती
८ मन्दर	कामचारिणी	४६ कोटतीर्थ	कोटवी
९ चैत्ररथ	मदोत्कटा	४७ मधिवन	सुगन्धा
१० हस्तिनापुर	जयन्ती	४८ गोदावरी	त्रिसन्ध्या
११ कान्यकुब्ज	गौरी	४९ गंगाद्वार	रतिप्रिया
१२ मलय	रम्भा	५० शिवकुण्ड	शुभानन्दा
१३ एकाम्र	कीर्तिमती	५१ देकीकटात	नन्दिनी
१४ विश्व	विश्वेश्वरी	५२ द्वारवती	रुक्मिणी
१५ पुष्कर	पुरुहुत	५३ वृन्दावन	राधा
१६ हिमवत	मन्दपृष्ठ	५४ मथुरा	देवकी
१७ गोकर्ण	भद्रकर्णिका	५५ पाताल	परमेश्वरी
१८ स्थानेश्वर	भवानी	५६ चित्रकूट	सीता
१९ बिल्वक	बिल्वपत्रिका	५७ विन्ध्य	विन्ध्यवासिनी
२० श्रीशैल	माधवी	५८ विनायक	उमादेवी
२१ भद्रेश्वर	भद्रा	५९ वैद्यनाथ	आरोग्या
२२ वाराहशैल	जया	६० महाकाल	महेश्वरी
२३ कमलालय	कमला	६१ उष्णतीर्थ	अभया
२४ रुद्रकोटि	रुद्राणी	६२ विन्ध्यापर्वत	नितम्बा
२५ कलञ्जर	काली	६३ माण्डव्य	माण्डवी
२६ शालग्राम	महादेवी	६४ महेश्वरीपुर	स्वाहा
२७ शैवलिङ्ग	जलप्रिया	६५ चगलान्द	प्रचण्डा
२८ महालिङ्ग	कपिला	६६ अमरकण्टक	चण्डिका
२९ मकोट	मुकुटेश्वरी	६७ सोमेश्वर	वरारोहा
३० मायापुरी	कुमारी	६८ प्रभास	पुष्करवती
३१ सन्तना	ललिताम्बिका	६९ सरस्वती	देवमाता
३२ गया	मङ्गला	७० ताता	परवरा
३३ पुरुषोत्तम	विमला	७१ महालय	महाभागा
३४ सहस्राक्ष	उत्पलाक्षी	७२ पयोष्णि	पिङ्गलेश्वरी
३५ हिरण्याक्ष	महोत्पला	७३ कृतशौच	सिंहिका
३६ विपासा	अमोघाक्षी	७४ कार्तिक	अतिशंकरी
३७ पुण्ड्रवर्धन	पटला	७५ उत्पलवर्तक	लोला
३८ सुपार्श्व	नारायणी	७६ सोनसंगम	सुभद्रा
३९ त्रिकाद्रू	रुद्रसुन्दरी	७७ सिद्धवन	लक्ष्मी
४० विपुल	विपुला	७८ भरताश्रम	अनङ्गा
४१ मलयाचल	कल्याणी	७९ जालन्धर	विश्वमुखी

८०	किष्किन्धापर्वत	तारा
८१	देवदारुवन	पुष्टि
८२	काश्मीरमण्डल	मेधा
८३	हिमाद्रि	भीमदेवी
८४	?	तुष्टि
८५	?	विश्वेश्वरी
८६	कपालमोचन	शुद्धि
८७	कायावरोहन	माता
८८	शङ्खोद्धार	धारा
८९	पिण्डारक	धृति
९०	चन्द्रभाग	कला
९१	अच्छोद	शिवधारिणी
९२	वेन	अमृता
९३	वादरी	उर्वशी
९४	उत्तरकुरु	औषधि
९५	कुशद्वीप	कुशोदका
९६	हेमकूट	मन्मथा
९७	कुमुद	सत्यवादिनी
९८	अश्वत्थ	वन्दनीया
९९	कुबेरालय	निधि
१००	वेदवेदन	गायत्री
१०१	शिवसन्निधि	पार्वती
१०२	देवलोक	इन्द्राणी
१०३	ब्रह्ममुख	सरस्वती
१०४	सूर्यबिम्ब	प्रभा
१०५	मातृमध्य	वैष्णवी
१०६	सतीमध्य	अरुन्धती
१०७	स्त्रीमध्य	तिलोत्तमा
१०८	चित्त	ब्रह्मकला

ऊपरके उद्धरणसे यह सर्वथा स्पष्ट है कि परम्पराके अनुसार ही किसी पीठकी स्थापना होती है और प्रत्येक पीठकी अपनी विशेषता है। प्रत्येक पीठके अधिष्ठात्री देव एक भैरव और एक शक्ति हैं और इनका सम्बन्ध पार्वतीके किसी-न-किसी एक अंगसे है। इस कारण पीठोंमें हेरफेर नहीं हो सकता क्योंकि पीठकी परिभाषामें ही किसी प्रकारके परिवर्तनकी सम्भावना नहीं है।

द्वारकापीठके साथ जो एक विशिष्ट पवित्रताका भाव बना हुआ है, सम्भवतः इसी कारण आद्य शङ्कराचार्यने पश्चिमीय शाखाका प्रमुख केन्द्रस्थान इसे ही चुना औ उनके समयसे ही उस स्थानकी ख्याति परम प तीर्थस्थानके रूपमें चलती आयी है।

२—मठका आविर्भाव

शाङ्करमतके साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें आद्य शङ्कराचा द्वारा स्थापित मठकी परिभाषा दी हुई है और इसके सा ही भारतवर्षके अन्य भागोंमें स्थित मठोंकी भी। उदाहरणा ससाम्नायमें द्वारकामें प्रतिष्ठित मठकी परिभाषा है। य शङ्कराचार्यद्वारा स्थापित पश्चिमीय मठोंका प्रधान म था। (ओरियेन्टल इन्स्टिट्यूट हस्तलिखित प्रति सं ५०१६)

> प्रथमे पश्चिमाम्नाये शारदा मठ उच्यते।
> कीटवारसम्प्रदायस्तस्य तीर्थाश्रमे पदे॥
> द्वारकाख्यं तु क्षेत्रं स्याद्देवः सिद्धेश्वरो भवेत्।
> भद्रकालीति देवी स्यादाचार्यो विश्वरूपकः॥
> गोमतीतीर्थममलं ब्रह्मचारी स्वरूपकः।
> सामवेदस्य वक्ता च तत्र धर्मं समाचरेत्॥

प्रथमतः पश्चिमाम्नायमें शारदामठ है। सम्प्रदायका ना है कीटवार। उनका पद है तीर्थ और आश्रम। क्षेत्र नाम है द्वारका। देवता हैं सिद्धेश्वर और देवी हैं भद्रका विश्वरूपक इसके आचार्य हैं, विमल तीर्थ है गोमती ब्रह्मचारी हैं स्वरूपक जो सामवेदका उपदेश भी करते हैं धर्मके कार्य यहीं करने चाहिये।

ऊपरके श्लोकोंसे यह स्पष्ट है कि शारदामठसे अन्य क पवित्र वस्तुओंका सम्बन्ध है—भगवान् सिद्धश्वर, देवी भ काली, गोमतीतीर्थ, और तीर्थस्थान द्वारका। इस मठ स्थापना आद्य शङ्कराचार्यजीने की थी जो ईस्वी सन् ७८८ हुए और आजतक भी वह मठ विद्यमान है। सब प्रका मठका सम्बन्ध उन सभी वस्तुओंसे है जिनका उल्ले ससाम्नायमें है। इस कारण इसे हम किसी प्रकार, कि कारण भी वहाँसे तबतक हटा नहीं सकते जबतक मठ साथ सम्बन्धित सभी उपकरण भी न हटाये जायँ। मठ साथ आसपासकी पवित्रताके कारण एक विशिष्ट पवित्रता वातावरण बना हुआ है और श्रीशङ्कराचार्यद्वारा स्था होनेके कारण वैसी पवित्रता अब किसी भी अन्य मठ कोई भी प्रदान नहीं कर सकता। यदि किसी मठ प्रतिष्ठापना उक्त प्रकारसे हो भी तो मानना यहीं चाहि

कि यह उसी पुरातन मठका अंगीभूत मठ है, उसीके अन्तर्गत है।

३–शारदामठके अधिकारक्षेत्रका प्रश्न

शाङ्करमतके साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र (काठियावाड़), महाराष्ट्र तथा भारतवर्षके पश्चिम भागमें उनके बीचके देश शारदापीठके अन्तर्गत हैं। यहाँ पीठका अर्थ है मठ।

सिन्धुसौवीरसौराष्ट्रमहाराष्ट्रास्तथान्तराः ।
देशाः पश्चिमदिक्स्था ये शारदापीठसात्कृताः ॥

(मठेतिवृत्त पृष्ठ २ शङ्कराचार्य चूर्णिका)

इसी ग्रन्थमें इस बातका भी उल्लेख है कि पीठके चारों आचार्योंको अपने-अपने अधिकारक्षेत्रके बाहर नहीं जाना चाहिये; नहीं तो संघर्ष हो जानेकी सम्भावना है। उन्हें पारस्परिक सहयोगद्वारा अपने क्षेत्रका अनुशासन तथा संनियमन करना चाहिये।

परस्परविभागे तु प्रवेशो न कदाचन।
परस्परेण कर्त्तव्या आचार्येण व्यवस्थितिः॥
मर्यादाया विनाशेन लुप्येरन् नियमाः शुभाः।
कलहागारसम्पत्तिरतस्तां परिवर्जयेत्॥

(मठेतिवृत्त पृष्ठ ३)

इस श्लोकसे यह पता चलता है कि शाङ्करमतके सभी मठ द्वारकामठके अन्तर्गत हैं और आचार्योंको यह अधिकार प्राप्त था कि वे इन भिन्न-भिन्न स्थानोंमें पर्यटन करते हुए लोगोंमें धर्मका उपदेश करें और उन्हें धर्मकी ओर प्रवृत्त करें।

४–मठके स्थानपरिवर्तनका प्रश्न

शाङ्करमतके साम्प्रदायिक साहित्यमें केवल एक ही उदाहरण ऐसा मिलता है जब देशके मुसलमान शासकोंके अत्याचारके कारण मठके अधिकारी अपने मठको अन्यत्र सुरक्षित स्थान वागला देशमें ले जानेके लिये बाध्य हुए। परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि मठका स्थान-परिवर्तन इसलिये हुआ कि यदि नहीं होता तो शङ्कराचार्योंकी श्रृङ्खला यहीं समाप्त हो जाती। उपर्युक्त घटनाके बाद भी द्वारका शारदामठका प्रधान केन्द्र बना रहा। इससे यही प्रमाणित होता है कि घोर आपत्तिकालमें, केवल बचावके लिये, एक विशेष उद्देश्यको लेकर ही द्वारकाके अन्तर्गत ही वागलामें मठकी स्थापना हुई।

द्वारकामठे यवनप्राबल्यसामयिकोपद्रवेणोन्मूलिते ततस्तत्र विद्यापीठाधिपतिराचार्यो निर्गत्य योग्यं स्थानमन्विष्यमाणो मुलवागलानामकस्थाने प्रविश्य…… तत्र मठं निर्माय……। (श्रीशङ्कराचार्यचरित पृष्ठ ३०)

परन्तु यहाँ भी शाङ्कर ग्रन्थोंमें यही मिलता है कि द्वारकाके आचार्यने एक नये मतका निर्माण किया, एक नये सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा की—(नव्यं सम्प्रदायं प्रवर्तयामि) इसलिये भी यह कहा नहीं जा सकता कि शारदामठ आमूल द्वारकासे हटा दिया गया। शङ्कराचार्योंकी निम्नलिखित सूचीसे भी यही झलकता है कि वागला देशमें जानेवाले शङ्कराचार्य श्रीसदानन्दजीका नाम सूचीमें आया ही नहीं है। चूँकि वह शारदापीठके बाहर चले गये, उन्होंने शङ्कराचार्य कहलानेका अपना अधिकार खो दिया। सदानन्दद्वारा संस्थापित वागला देशका मठ अभी हालतक चला आया था। इससे इतना स्पष्ट है कि शारदामठसे इसकी सत्ता भिन्न थी!

यह भी सर्वथा सम्भव है कि श्रीसदानन्द द्वारकामठके एक शिष्यमात्र थे और किसी मठके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करनेके हेतुसे किसी बहाने द्वारकासे बाहर चले आये और वागला देशमें मठकी स्थापना की। क्योंकि यदि शारदापीठ द्वारकासे मूलतः हट गया होता तो क्रमपरम्पराकी श्रृङ्खलामें विक्षेप हुआ होता परन्तु वैसी बात मिलती नहीं।

शारदापीठकी क्रमपरम्पराकी सूची

१–ब्रह्मस्वरूपाचार्य*	२६९१	युधिष्ठिर-संवत्
२–चित्सुखाचार्य	२७१५	,, ,,
३–सर्वज्ञानाचार्य	२७७४	,, ,,
४–ब्रह्मानन्दतीर्थ	२८२३	,, ,,
५–स्वरूपाभिज्ञानाचार्य	२८९०	,, ,,
६–मङ्गलमूर्त्याचार्य	२९४२	,, ,,
७–भास्कराचार्य	२९६५	,, ,,
८–प्रज्ञानाचार्य	३००८	,, ,,
९–ब्रह्मज्योत्स्नाचार्य	३०४०	,, ,,
१०–आनन्दवीरभावाचार्य	२५	विक्रम-संवत्

---

* मालूम हुआ है कि पहले आचार्य श्रीसुरेश्वराचार्य थे जिनका काल २६४९ युधिष्ठिर-संवत्से २६९१ तक ४२ वर्ष लिखा है।

११–कलानिधितीर्थ	८३	वि० सं०
१२–चिद्विलासाचार्य	११९	,, ,,
१३–विभूत्यानन्दाचार्य	१५४	,, ,,
१४–स्फूर्त्तिनिलयपाद	२०३	,, ,,
१५–वरतन्तुपाद	२४९	,, ,,
१६–योगारूढ़ाचार्य	३६०	,, ,,
१७–विज्ञानडिण्डिमाचार्य	३९४	,, ,,
१८–विद्यातीर्थ	४२७	,, ,,
१९–चिच्छक्तिदेशिक	४८३	,, ,,
२०–विज्ञानेश्वरतीर्थ	५११	,, ,,
२१–ऋतम्भराचार्य	५७२	,, ,,
२२–अमरेश्वरगुरु	६०८	,, ,,
२३–सर्वमुखतीर्थ	६६९	,, ,,
२४–स्वानन्ददेशिक	७२९	,, ,,
२५–समररसिक	७९९	,, ,,
२६–नारायणाश्रम	८३६	,, ,,
२७–वैकुण्ठाश्रम	८८५	,, ,,
२८–त्रिविक्रमाश्रम	९११	,, ,,
२९–शशिशेखराश्रम	९६०	,, ,,
३०–त्र्यम्बकाश्रम	९६५	,, ,,
३१–चिदम्बराश्रम	१००१	,, ,,
३२–केशवाश्रम	१०६०	,, ,,
३३–चिदम्बराश्रम	१०८३	,, ,,
३४–पद्मनाभाश्रम	११०८	,, ,,
३५–महादेवाश्रम	११४८	,, ,,
३६–सच्चिदानन्दाश्रम	१२०७	,, ,,
३७–विद्याशङ्कराश्रम	१२६५	,, ,,
३८–अभिनवसच्चिदानन्दाश्रम	१२९३	,, ,,
३९–नृसिंहाश्रम	१३२६	,, ,,
४०–वासुदेवाश्रम	१३६१	,, ,,
४१–पुरुषोत्तमाश्रम	१३९४	,, ,,
४२–ज्ञानार्घनाश्रम	१४०८	,, ,,
४३–हरिहराश्रम	१४११	,, ,,
४४–भावाश्रम	१४२१	,, ,,
४५–ब्रह्माश्रम	१४३६	,, ,,
४६–वसनाश्रम	१४५६	,, ,,
४७–सर्वज्ञानाश्रम	१४८९	,, ,,
४८–प्रद्युम्नाश्रम	१४९५	,, ,,
४९–गोविन्दाश्रम	१५२३	,, ,,

५०–चिदाश्रम	१५७६	वि० सं०
५१–विश्वेश्वराश्रम	१६०८	,, ,,
५२–दामोदराश्रम	१६१५	,, ,,
५३–महादेवाश्रम	१६१६	,, ,,
५४–अनिरुद्धाश्रम	१६२५	,, ,,
५५–अच्युताश्रम	१६२९	,, ,,
५६–माधवाश्रम	१६८५	,, ,,
५७–आनन्दाश्रम	१७१६	,, ,,
५८–विश्वरूपाश्रम	१७२१	,, ,,
५९–चिद्घनाश्रम	१७२२	,, ,,
६०–नृसिंहाश्रम	१७३५	,, ,,
६१–मनोहराश्रम	१७६१	,, ,,
६२–प्रकाशानन्द सरस्वती	१७९५	,, ,,
६३–विशुद्धानन्दाश्रम	१७९८	,, ,,
६४–वामनेश	१८३१	,, ,,
६५–केशवाश्रम	१८३८	,, ,,
६६–मधुसूदनाश्रम	१८४८	,, ,,
६७–हयग्रीवाश्रम	१८६२	,, ,,
६८–प्रकाशाश्रम	१८६३	,, ,,
६९–हयग्रीवाश्रम सरस्वती	१८७४	,, ,,
७०–श्रीधराश्रम	१९१४	,, ,,
७१–दामोदराश्रम	१९२९	,, ,,
७२–केशवाश्रम	१९३५	,, ,,
७३–राजराजेश्वर शङ्कराश्रम	१९५८	,, ,,
७४–श्रीमाधवतीर्थ	......	,,
७५–श्रीशान्त्यानन्द	......	,,
७६–श्रीचन्द्रशेखराश्रम	......	,,

५–गुरु-शिष्यमें सम्बन्ध कैसे स्थापित होता है?

गुरु-शिष्यमें सम्बन्ध स्थापित होनेमें सबसे पहली
मुख्य आवश्यकता इस बातकी है कि शिष्य पहले एक
तक गुरुके आश्रममें रहे और शिक्षा प्राप्त करे। इस
शिष्यकी योग्यताको गुरु भिन्न-भिन्न प्रकारकी
परीक्षाओंकी कसौटीपर कसता रहे जिससे शिष्य अपने
योग्य सिद्ध कर सके।

(१) गुरुता शिष्यता वापि तयोर्वत्सरवासतः।

(नवरत्नेश्वर

गुरुता और शिष्यता दोनोंके एक वर्षपर्यन्त एक
वास करनेपर निर्भर है।

(२) एकाब्देन द्विजो योग्यः। (कुलार्णव० १४)

ब्राह्मण एक वर्षमें ही दीक्षा पानेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है।

(३) सद्गुरुः स्वाश्रितं शिष्यं वर्षमेकं परीक्षयेत्।

(सारसंग्रह)

सद्गुरु अपने आश्रित शिष्यकी एक वर्षतक परीक्षा ले।

६-दीक्षा देनेके अधिकारी कौन हैं ?

संस्कृत-साहित्यमें दीक्षाका बड़ा महत्त्व है। योग्य गुरु ही दीक्षा दे सकता है और इस सम्बन्धमें अनेकों ग्रन्थोंमें प्रमाण मिलते हैं। इन प्रमाणोंसे यही पुष्ट होता है कि संन्यासदीक्षा लेनेके लिये एक संन्यासीकी ही आवश्यकता है। वही दीक्षा एक वानप्रस्थ वानप्रस्थको दे सकता है, इसी प्रकार गृहस्थ गृहस्थको, इत्यादि।

साथ ही गुरु भी उसी सम्प्रदायका होना चाहिये, जिस सम्प्रदायका शिष्य है।

उदासीनो ह्युदासीनं वनस्थो वनवासिनः।
यतीनां च यतिः प्रोक्तो गृहस्थानां गुरुर्गृही॥

तथा—

वैष्णवे वैष्णवो ग्राह्यः शैवे शैवस्तथा पुनः।
शाक्ते शाक्तो गुरुः शस्तः शैवे शैवो गुरुर्मतः॥
वैष्णवे वैष्णवः सौरे सौरो गुरुरुदाहृतः।
गाणपे गाणपः ख्यातः·····················॥

(बृहत्तन्त्रसार)

उदासीनके लिये उदासीन ही गुरु हो सकता है, वानप्रस्थके लिये वानप्रस्थ, यतिके लिये यति और गृहस्थके लिये गृहस्थ इत्यादि-इत्यादि।

७-कैसे शिष्योंको दीक्षा नहीं देनी चाहिये ?

कुछ ग्रन्थोंमें गुरुओंको इस बातकी चेतावनी दी हुई है कि वे ऐसे शिष्योंको दीक्षा न दें जो उसके अधिकारी न हों, जिनमें उसकी पात्रता न हो।

परशिष्ये दुष्टवंश्ये धूर्तपण्डितमानिनि।
स्त्रीद्विष्टे समयभ्रष्टे व्यङ्गे दीक्षा तु निष्फला॥

(बृहत्तन्त्रसार)

जो दूसरे गुरुका शिष्य हो, जो अच्छे कुलमें उत्पन्न न हुआ हो, जो धूर्त्त हो, जिसे अपने ज्ञानका अभिमान है, जिससे स्त्रियाँ घृणा करती हैं, जो आचारभ्रष्ट हो, जिसके अंग विकृत हों ऐसे व्यक्तिको दी हुई दीक्षा अनाचारका कारण होती है।

नष्टान्ववायजं क्षेत्रगुणहीनं निरूपितम्।
परशिष्यं च पाषण्डं षण्ढं पण्डितमानिनम्॥
इत्यादिदोषसंयुक्तं गुरुः शिष्यं न कारयेत्।

(कुलार्णव० १३। ३। १४)

जिस व्यक्तिमें निम्नलिखित दोष हों, उसे शिष्य न बनावे—जो नीच कुलमें उत्पन्न हो, जो दूसरेका शिष्य हो, जो नास्तिक हो, जो अशक्त हो, जिसे अपनी विद्याका गर्व हो—ऐसे व्यक्तिको दीक्षा न दे।

८-नियमविरुद्ध दीक्षाका परिणाम

यदि गुरु दीक्षाके नियमोंका ध्यान न रक्खे और परीक्षा लिये बिना ही शिष्यको दीक्षा दे दे तो उसे स्मरण रखना चाहिये कि वह महान् पाप करता है और परलोकमें उसे भयङ्कर दण्ड भोगना पड़ता है।

विचार्य यत्नाद्विधिवच्छिष्यसंग्रहमाचरेत्।
अन्यथा शिष्यदोषेण नरकस्थो भवेद् गुरुः॥

(बृहत्तन्त्रसार)

बहुत सूक्ष्म परीक्षाके अनन्तर और नियमोंका अनुसरण करते हुए ही शिष्यको दीक्षा देनी चाहिये; अन्यथा शिष्यके दोषसे गुरुको नरकमें जाना पड़ता है।

गुरुशिष्यावुभौ मोहादपरीक्ष्य परस्परम्।
उपदेशं ददद् गृह्णन् प्राप्नुयातां पिशाचताम्॥

(कुलार्णव० १४। ११)

यदि गुरु और शिष्य एक-दूसरेको बिना परखे हुए दीक्षा देते हैं या दीक्षा ग्रहण करते हैं तो दोनों दूसरे जन्ममें पिशाच होते हैं।

९—क्या दूसरा गुरु किया जा सकता है ? यदि हाँ, तो किस परिस्थितिमें ?

यदि गुरु दीक्षा देनेके योग्य न हों तब तो बात और है, नहीं तो साधारणतः गुरुका परिवर्तन उचित नहीं है। यदि गुरु अयोग्य हों तभी परिवर्तन हो सकता है।

ज्ञानान्मोक्षमवाप्नोति तस्माज्ज्ञानं परात्परम्।
अतो यो ज्ञानदाने हि न क्षमस्तं त्यजेद् गुरुम्॥

(बृहत्तन्त्रसार)

ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है अतएव ज्ञान ही परम उत्तम पदार्थ है। इसलिये यदि गुरु उस ज्ञानका दान नहीं कर सकता तो उसे त्याग देना चाहिये।

मधुलुब्धो यथा भृंगः पुष्पात्पुष्पान्तरं व्रजेत्।
ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत्॥

जिस प्रकार भँवरा मधुकी खोजमें एक फूलसे दूसरे फूलपर मँडराता है उसी प्रकार शिष्य भी ज्ञानकी खोजमें एक गुरुसे दूसरे गुरुके पास जावे।

१०—आचार्यके गुण

मठेतिवृत्तमें यह लिखा है कि पीठपर एक ऐसे आचार्यका अधिकार होना चाहिये जो पवित्र हों, जितेन्द्रिय हों, वेद-वेदाङ्गोंमें निष्णात हों तथा जो सब प्रकारके तन्त्रोंकी प्रक्रियाके ज्ञाता हों।

शुचिर्जितेन्द्रियो वेदवेदाङ्गादिविशारदः।
योगज्ञः सर्वतन्त्राणामस्मदास्थानमाप्नुयात्॥

(मठेतिवृत्त पृष्ठ ३)

यदि गुरुमें उपर्युक्त गुण हों तो वह पीठका अधिकारी हो सकता है, अन्यथा यद्यपि पीठपर उसका अधिकार होगा तो भी बुद्धिमानोंके द्वारा उसकी निन्दा होगी।

उक्तलक्षणसम्पन्नः स्याच्चेन्मत्पीठभाग्भवेत्।
अन्यथारूढपीठोऽपि निगर्हार्हो मनीषिणाम्॥

(मठेतिवृत्त पृष्ठ ३)

११—यतिका उत्तराधिकारी

याज्ञवल्क्यस्मृतिमेंसे बहुधा यह दिखलानेके लिये प्रमाण उद्धृत किया जाता है कि यतिके धनका उत्तराधिकारी उसके शिष्योंमेंसे कोई योग्य और उत्तम शिष्य ही हो सकता है। वह श्लोक इस प्रकार है—

वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणं रिक्थभागिनः।
क्रमेणाचार्यसच्छिष्यधर्मभ्रात्रकतीर्थिनः॥

(याज्ञवल्क्य० २। १३७)

वानप्रस्थ, यति और ब्रह्मचारीके धनका उत्तराधिकारी क्रमशः आचार्य, उत्तम शिष्य, धर्मभाई अथवा सहपाठी हो सकता है।

परन्तु इस नियमका विधान मठको लेकर नहीं है। क्योंकि भाष्य लिखते हुए विज्ञानेश्वरने कहा है कि यतिकी सम्पत्ति उसकी पादुका, कौपीन और दण्डमात्र है। इस भाष्यके आधारपर तो इतना ही कहा जा सकता है कि यतिका शिष्य यतिकी मृत्युके अनन्तर इन्हीं वस्तुओं
अधिकारी हो सकता है।

कौपीनाच्छादनार्थं वा वासोऽपि बिभृयाच्च सः।
योगसम्भारभेदांश्च गृह्णीयात्पादुके तथा॥

१२—यतिका उत्तराधिकारी न हो तब ?

याज्ञवल्क्यस्मृतिमें उत्तराधिकारके सम्बन्धमें जो प्रमा
मिलते हैं उससे यही स्पष्ट है कि जब यतिकी मृत्यु होती है
तो उसकी सम्पत्तिको उसका योग्य शिष्य जिसने निय
और विधिके अनुसार दीक्षा पायी है, पा सकता है
इसके अभावमें, शाङ्कर मतका यह निर्णय है कि उत्तराधिकार उस मठके यतियोंको ही प्राप्त होगा जिसे गुरु
योगपट्टी प्रदान किया है।

समानयोगपट्टकः पीठस्थोऽधिकारी भवति।

(शङ्कराचार्यचरित पृष्ठ ६२

समानयोगपट्टकाः पीठस्था अधिकारिणः।

(विचारत्रयी पृ० ४२०

यतिकी मृत्युपर उसके धनका अधिकारी गृहस्थ नहीं
हो सकता, क्योंकि यतियोंसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है
और उनका आदर्श सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार वानप्रस्थ
और ब्रह्मचारी भी पीठके धनका अधिकारी नहीं हो सकते
क्योंकि उन्होंने न संन्यास ही लिया है और न उन्होंने
योगपट्ट ही पाया है।……

तत्र गृहस्थस्य तु नाधिकारः। असमानधर्मत्वेनाप्रत्या
सन्नत्वाद् अत एव वानप्रस्थब्रह्मचारिणोर्नाधिकारः संन्यास
पीठाधिकारस्य समानयोगपट्टस्य च प्रत्यासन्नत्वात्।

(शङ्कराचार्यचरित पृ० ६२

जब वैसा योगपट्ट शिष्य न मिले तो कोई योग्य, शुचि
ब्राह्मण जिसका परिवार, देश, गोत्र और जाति अ
तरह ज्ञात हो 'आतुर' रीतिसे गुरुके शवके सम्मुख दीक्षि
किया जाय। गुरुका शव भगवान् दक्षिणामूर्त्तिका प्रती
बन जाता है और उस अभिनव दीक्षित ब्राह्मणके द्वारा
गुरुकी अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न हो। ऐसा ही परम्परा
शृङ्गेरी मठमें होता आया है।

तस्याप्यलाभे दक्षिणामूर्त्तिमिव पीठस्थं गुरुदेहं सि
गतं साक्षीकृत्य कञ्चिद्योग्यं ब्राह्मणं ज्ञातकुलदेशगोत्रजाति
नामानमातुराश्रमेण दीक्षयित्वा तत्परानुकूलं योगपट्टं विधा
ब्राह्मणैरधिकारदानेनाधिकारी कल्पनीयः। तद्व

तदौर्ध्वदैहिकं कारयितव्यम् ……………………

प्रसिद्धशृङ्गगिरिप्रभृतिमठेषु व्यवहारदर्शनात् ।

(शङ्कराचार्यचरित पृ० ६२)

१३–पट्टशिष्य कौन है ?

विश्वेश्वर सरस्वतीके यतिधर्मसंग्रहमें एक ऐसे संस्कारका विवरण मिलता है जिसमें गुरु शिष्यको यति बनाता है तथा उसे योगपट्ट प्रदान करता है ।

अधीतविद्यस्सभ्यश्चेद्दद्याद्योगपट्टं गुरुः ।
पादौ मृदा त्रिः प्रक्षाल्य पादुकाभ्यां गृहं व्रजेत् ॥
द्विगुणं कटिसूत्रं च बद्ध्वा वासोऽवगुण्ठ्य च ।
उच्चासनं प्रकल्प्योपविशेत्तत्राज्ञया गुरोः ॥

(यतिधर्मसंग्रह पृ० १०२)

यदि शिष्य विद्यामें पूर्णतः निष्णात है गुरु उसे योगपट्ट अर्थात् योगाभ्यासकी पट्टी प्रदान करे। शिष्य मिट्टी और जलसे तीन बार अपने पैरोंको धोवे, काठकी चट्टी पहने और सभाभवनमें पधारे। वहाँ वह अपने कटिबन्धको दुहरा कर ले, सिरको वस्त्रसे ढँक ले और गुरुकी आज्ञासे उच्च आसनपर बैठे ।

सभ्यादिष्टमुपन्यस्य वेदान्ते किञ्चिदेव तु ।
गुरुणा विधिवन्न्यासपूर्वं शंखाभिषेचनम् ।
वासो माल्यादिकं दत्वा गुरुणा यतिभिस्सह ।
नमस्कृत्य प्रपूज्याथ स्तोत्राणि च पठेत्तथा ॥

(यतिधर्मसंग्रह पृ० १०२)

दूसरे सभ्योंद्वारा पूछे जानेपर वह वेदान्तपर एक छोटा-सा प्रवचन करे। और तब गुरु न्यास कर चुकनेके अनन्तर शंखसे उसके सिरपर जलकी धारा छोड़े। इसके बाद गुरु उसे वस्त्र, पुष्प, हार आदि देकर अन्य यतियोंके साथ उसका अभिवादन करे, उसकी पूजा करे तथा स्तोत्र पढ़े ।

ततो नाम प्रकर्तव्यं गुरुणा सर्वसम्मतम् ।
तीर्थाश्रमवनारण्यगिरिपर्वतसागराः ॥
सरस्वती भारती च पुरी नामानि वै दश ।
श्रीपादसंज्ञया वाच्यं नाम तस्य यथातथम् ॥

(यतिधर्मसंग्रह पृ० १०३)

इसके अनन्तर गुरु सभीकी सम्मतिसे शिष्यको निम्नलिखितमेंसे कोई नाम दे—तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती और पुरी। अब उस शिष्यका नाम प्रणालीके अनुसार 'श्रीपाद' के साथ बोला जाना चाहिये ।

अद्यारभ्य त्वया कार्यं दीक्षाव्याख्यादिकं सदा ।
योगपट्टोऽपि दातव्यः शिष्ये सम्यक्परीक्षिते ॥

(यतिधर्मसंग्रह)

आजसे तुम दीक्षा दे सकते हो, उपदेश कर सकते हो, प्रवचन कर सकते हो, दूसरे कर्त्तव्य कर्म कर सकते हो। पूर्णतः परीक्षा ले चुकनेपर अपने शिष्यको योगपट्ट प्रदान कर सकते हो ।

इत्याज्ञां गुरुणा दत्तां गृहीत्वा शिरसा स्वयम् ।

(यतिधर्मसंग्रह)

गुरुकी इस आज्ञाको शिष्य शिरसे स्वीकार करे ।

ऊपरके उद्धरणसे यह स्पष्ट है कि एक गुरुके कई शिष्य होते थे जो यति होते थे । गुरुको दीक्षा देनेका अधिकार था, अनुमानतः वह संन्यासकी ही दीक्षा देता था, वह शिष्योंमें उपदेश करता था और आचार्यके सभी काम करता था। अपने शिष्योंमें सबसे अधिक योग्य शिष्यको योगपट्ट भी प्रदान करनेका उसे अधिकार था और वह इसे दश नामोंमें कोई एक नाम भी दे सकता था जिसमें सतन्नायके अनुसार 'तीर्थ' और 'आश्रम' का सम्बन्ध केवल शारदामठसे है। ये सारे अधिकार शङ्खाभिषेकसंस्कारके द्वारा गुरु अपने शिष्यको दे सकता था और गुरुके पश्चात् शिष्यका ही मठमें अधिकार था। इस प्रकार पट्ट शिष्य ही गुरुका स्थानापन्न हो जाता है और किसी दूसरे उत्तम पट्ट शिष्यके अभावमें वह गुरुपदका भी अधिकारी हो जाता है।

ऊपरके उद्धरणसे यह भी स्पष्ट है कि जिस शिष्यका विधिपूर्वक शङ्खाभिषेक नहीं हुआ है वह कुछ विशेष मठोंमें गुरुका उत्तराधिकारी हो नहीं सकता। यदि उसे अधिकार है तो मठके अन्य सदस्य भी, चाहे वह कितना ही अयोग्य क्यों न हो वही अधिकार पा सकते हैं। इसके अतिरिक्त योगपट्ट देनेके पूर्व ही शिष्य गुरुसे संन्यासकी दीक्षा ले क्योंकि ऊपर जिन बातोंका उल्लेख आया है उसका सम्बन्ध जैसा यतिधर्मसंग्रहमें लिखा हुआ है केवल यतियोंसे ही है।

गुरुर्यतिः शिष्यं यतिं शिरसि शङ्खेन पुरुषसूक्तेनाभिषिच्य ।

(धर्मसिन्धुसार पृष्ठ ३४४ योगपट्टविधिप्रकरण)

१४–संन्यासी और राजाका सम्बन्ध

हिन्दू शास्त्रकारोंने चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा चार आश्रम—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और

संन्यास माने हैं यह सभी जानते हैं। प्राचीन कालमें संन्यासमें प्रवेश करनेका अधिकार केवल ब्राह्मणको ही था अतएव संन्यासी केवल ब्राह्मण ही चौथेपनमें होते थे।

राजाका अपने राज्यके प्रायः सभी वर्णों और आश्रमोंपर अधिकार था। जहाँ चारों वर्ण और आश्रमके लोग अपने-अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते अथवा लड़ते-झगड़ते थे तो राजकीय अफसरोंको यह अधिकार प्राप्त था कि वे इनका बीच-बिचाव कर दें। राज्यके अफसर तथा संन्यासियोंमें मतभेद होनेपर स्वयं राजाको बीचमें पड़ना पड़ता था और उन्हींका निर्णय अन्तिम माना जाता था।

उदाहरणतः कौटिल्यमें जिसका प्रादुर्भाव ईसाके जन्मके ४०० वर्ष पूर्व हुआ था, एक स्थलपर ऐसा आता है कि ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—चारों आश्रमोंके लोग राजाके अनुशासनके अधीन थे और चारों आश्रमके लोग अपनी जीविकाका उपार्जन तथा धर्मका अनुसरण नहीं कर सकते यदि राजा अपने राजदण्डसे उनका नियमन न करे—

चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु॥

(अर्थशास्त्र)

चार वर्ण और धर्मके चार आश्रमोंके व्यक्ति अपने-अपने निश्चित पथपर तभीतक आरूढ़ रहेंगे, तभीतक अपने कर्तव्य और आचरणका श्रद्धापूर्वक परिपालन करेंगे जब राजा अपने दण्डसे उनपर शासन करे।

नारदसंहितामें जिसका प्रणयन ८ वीं सदीमें हुआ था, निम्नलिखित श्लोक मिलता है जिसमें राजाको यह अधिकार दिया हुआ है कि वह सभी संघसमाज और व्यापारमण्डलमें दखल दे सकता है।

पाषण्डिनैगमादीनां स्थितिस्समय उच्यते।
समयस्यानपाकर्म तद्विवादपदं स्मृतम्॥
पाषण्डिनैगमश्रेणीपूगव्रातगणादिषु।
संरक्षेत्समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा॥

(नारदसंहिता १०। १-२)

पाषण्डियों और नैगमोंके नियम-विधानका नाम है 'समय'। समयका अर्थ है ठेका। इन ठेकोंके इन नियमोंका उल्लंघन करनेपर झगड़े शुरू हो सकते हैं। पाषण्डी, नैगम, श्रेणी, पूग, व्रत, गण तथा अन्य संघोंके नियमकी रक्षा राजाको करनी चाहिये; और ठीक उसी तरहसे जिस प्रकार वह किले और देशकी रक्षा करता है।

मित्र मिश्रके जो अकबरके समकालीन थे, वीरमित्रोदयमें बहुत-से ऐसे उद्धरण मिलते हैं जिससे यही प्रमाणित होता है कि राजाका अधिकार सभी वर्णों, आश्रमों तथा संघोंपर था। उदाहरणके लिये—

स्वे स्वे धर्मे व्यवस्थानां वर्णानां पृथिवीपतेः।
परो धर्मस्सदा प्रोक्तस्तत्र यत्नपरो भवेत्॥

राजाका सबसे बड़ा कर्तव्य यही बतलाया जाता है कि चारों वर्णको अपने-अपने कार्यमें लगा दे; इसके लिये वह सबसे अधिक ध्यान दे।

भाष्यकारने विष्णुका उद्धरण दिया है—

वर्णाश्रमाणां स्वे स्वे धर्मे व्यवस्थापनम्।

इसका अभिप्राय यही है कि सभी वर्ण और आश्रमके लोग अपने-अपने कर्तव्यका पालन करें।

वर्णाश्रमपदे सङ्करपाषण्डादीनामप्युपलक्षके
सङ्कराणां वर्णमूलत्वात् पाखण्डानामाश्रममूलत्वात्।

'वर्ण' और 'आश्रम' इन दो शब्दोंमें वर्णसङ्कर और पाषण्डी भी आ जाते हैं; क्योंकि वर्णसङ्करोंका जन्म किसी-न-किसी वर्णमें ही होता है तथा पाषण्डीका जन्म आश्रमसे ही होता है।

(राजनीतिप्रकाश पृ० १२१-१२२)

इसी ग्रन्थमें मत्स्यपुराणसे निम्नलिखित उद्धरण दिया हुआ है—

आश्रमी यदि वा वर्णी पूज्यो वाथ गुरुर्महान्।
नादण्डयो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति॥

चाहे किसी भी आश्रमका हो, किसी भी वर्णका हो, पूज्य गुरु ही क्यों न हो यदि वह अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता तो राजा उसे दण्ड दे सकता है।

(राजनीतिप्रकाश पृ० २८५)

उसी ग्रन्थकारने महाभारतसे उद्धरण दिया है—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
दण्डस्यैव भयादेते मनुष्या वर्त्मनि स्थिताः॥

सभी मनुष्य—चाहे ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थ हो अथवा भिक्षुक हो—राजदण्डके भयसे सीधे मार्गपर चलते हैं।

(राजनीतिप्रकाश पृ० २८७)

दण्डकी परिभाषा लिखते हुए उसी ग्रन्थकारने मनुका एक प्रमाण दिया है—

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥

राजा मूर्त्तिमान् दण्ड है । वह नेता है, शासक है—चारों आश्रमोंद्वारा पाले जानेवाले धर्मका प्रतिनिधि है ।

(राजनीतिप्रकाश पृ० २९२)

याज्ञवल्क्यसंहितामें कुछ ऐसे प्रकरण आते हैं जहाँ इसका वर्णन मिलता है कि राज्यके किस प्रकारके अफसर संघ, समाज तथा धर्ममण्डलोंपर शासन कर सकता है तथा जिसके साथ मतभेद होनेपर स्वयं राजा ही हस्तक्षेप करता है ।

वेदज्ञाः शुचयोऽलुब्धा भवेयुः कार्यचिन्तकाः ।
कर्तव्यं वचनं तेषां समूहहितवादिनाम् ॥
श्रेणिनैगमपाषण्डिगणानामप्ययं विधिः ।
भेदं चैषां नृपो रक्षेत् पूर्ववृत्तिं च पालयेत् ॥

राज्यके अफसर अपवित्रता और लोभसे परे हों । उन्हें धर्मका पूरा ज्ञान होना चाहिये । राज्यके सदस्य अपना निर्णय लोकहितकी दृष्टिको सामने रखकर करें । श्रेणी, नैगम तथा पाषण्डियोंके सम्बन्धमें तथा अन्य संघोंके सम्बन्धमें यही नियम है । मतभेद होनेपर राजाको उचित है कि वह स्वयं हस्तक्षेप करे तथा उन्हें नियतविधानके अनुकूल बनावे ।

(याज्ञवल्क्यसंहिता अध्याय २ । १९१-१९२)

धर्म और नीतिशास्त्रके अनुसार राजाका अधिकार सभी आश्रमोंपर है । इसके सिवा मठ भी एक संस्था होनेके कारण उसके अधिकारमें आता है । और आश्रमवासी संन्यासी नियमतः राजाका अधिकार स्वीकार करनेको बाध्य हैं ।

१५—संन्यासी राजाके अनुशासनमें हैं

भारतीय विज्ञान तथा नीतिशास्त्रके प्रामाणिक ग्रन्थ शुक्रनीतिसारमें इस बातका उल्लेख मिलता है कि राजाका सभी वर्णों और सभी आश्रमोंपर अधिकार है; सभी प्रकारके संघ, समुदाय, मण्डल तथा व्यापारदलपर राजा शासन कर सकता है । इस सम्बन्धके दो उद्धरण दिये जाते हैं—

विद्यार्थं ब्रह्मचारी स्यात् सर्वेषां पालने गृही ।
वानप्रस्थः संदमने संन्यासी मोक्षसाधने ।
वर्तयन्त्यन्यथा दण्डया या वर्णाश्रमजातयः ॥

(पृष्ठ ५७०)

ब्रह्मचारी वह शिष्य है जो विद्योपार्जनके निमित्त आया है, गृहस्थका धर्म है सबका पालन करना, वानप्रस्थ वह है जो वनमें जाकर अपने मन और इन्द्रियोंका दमन करे और संन्यासी मोक्षप्राप्तिमें लगे । इससे विपरीत आचरण करनेवाले वर्णाश्रमीको राजा दण्ड दे ।

राज्ञा ये विदिताः सम्यक् कुलश्रेणिगणादयः ।
साहसस्तेयवर्ज्यानि कुर्युः कार्याणि ते नृणाम् ॥
विचार्य श्रेणिभिः कार्यं कुलैर्यन्न विचारितम् ।
गणैश्च श्रेण्यविज्ञातं गणाज्ञातं नियुक्तकैः ॥
कुलादिभ्योऽधिकाः सभ्यास्तेभ्योऽध्यक्षोऽधिकः कृतः ।
सर्वेषामधिको राजा धर्माधर्मनियोजकः ॥

(पृष्ठ ४२७)

चोरी और डाकाके सिवा अन्य सभी मामलोंकी तहकीकात वैसे लोग जिनके परिवार, संघ अथवा दलके सम्बन्धमें राजाको ज्ञात है—कर सकते हैं । कुलोंके द्वारा जिस मुकदमेकी जाँच नहीं हो पायी है उसकी जाँच श्रेणी करेगी; श्रेणीसे छूटे हुए मामलेको गण देखेंगे, और गण जिस मामलेको न देख सकेगा उसे राज्यके अफसर देखेंगे।

राजाके सभासद् अधिकारमें 'कुल' आदिसे बड़े हैं, अध्यक्ष अर्थात् प्रधान न्यायाधिपति सभासदोंसे श्रेष्ठ है । राजा धर्म-अधर्मके निर्णायकोंमें सर्वश्रेष्ठ है ।

इन नियमोंसे यही पता चलता है कि जब स्वतन्त्र संघ या समुदाय किसी बातका निर्णय नहीं कर सकता था तो राज्यके अफसर उसे देखते थे और जब किन्हीं दो अफसरोंमें उस विषयपर परस्पर मतभेद होता था तो राजा उसका अन्तिम निर्णय करता था ।

१६—धर्मश्रृङ्खलाकी परम्पराकी रक्षाके लिये राजासे अपील

मठेतिवृत्त ग्रन्थमें राजा सुधन्वा तथा उसके पश्चात् होनेवाले राजाओंसे यह अभ्यर्थना की गयी है कि वे सदैव धर्मकी श्रृङ्खलाकी परम्पराकी रक्षा करें । इससे यह स्पष्ट है कि गुरु-शिष्यकी श्रृङ्खला तथा सम्प्रदाय उस देशके राजाके

संरक्षणमें था और प्रायः सभी बातोंमें राजाकी स्वीकृतिकी अपेक्षा थी।

सुधन्वा हि महाराजस्तदन्ये च नरेश्वराः।
धर्मपारम्परीमेतां पालयन्तु निरन्तरम्॥
(मठेतिवृत्त)

ये प्रमाण शङ्कराचार्यके सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें मिलते हैं। इसलिये इनकी महत्ता और अधिक है।

इसके आगे, उसी ग्रन्थमें यह मिलता है कि लोग मठोंके आचार्यकी आज्ञा मानें, और उस स्थानके नियमोंका पालन करें और इन दोनोंकी किसी प्रकार निन्दा न करें क्योंकि ये दोनों निन्दासे सर्वथा परे हैं।

तानाचार्योपदेशांश्च राजदण्डांश्च पालयेत्।
तस्मादाचार्यराजानावनवद्यौ न निन्दयेत्॥
(मठेतिवृत्त)

इन नियमोंसे यही निश्चित होता है कि पहलेके आचार्य राजासे यह अनुरोध किया करते थे कि वह धर्म-परम्पराकी शृङ्खलाकी रक्षा करें। इसका यही अभिप्राय है कि धर्मपरम्पराकी रक्षा सदैव राजाकी सम्मति और संरक्षणपर निर्भर थी तथा परम्पराके अन्त होनेकी आशङ्का होती थी तो स्वयं राजा उसमें हस्तक्षेप करता था। सभी मनुष्य, शाङ्करमठके संन्यासी भी देशके नियमोंका पालन करते थे।

१७—नियमके सम्बन्धमें सन्देह होनेपर क्या होता था?

बहुत प्राचीन कालके धर्मशास्त्रोंमें ऐसा मिलता है कि राज्यकी नीतिव्यवस्थामें कोई सन्देह उठ खड़ा हो तो दस सभ्योंकी या तीन व्यक्तियोंकी एक समिति बना ली जाय जो अपना अन्तिम निर्णय उस विषयपर दे और उचित व्यवस्था दे। मनुसंहितामें भी नीतिव्यवस्थाके सम्बन्धमें सन्देह उठनेपर ऐसे ही नियमोंका उल्लेख मिलता है।

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा॥
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये॥

कम-से-कम दस सभ्योंमें जो धर्मपरिषद्के लि आवश्यक है तीन ऐसे सदस्य चाहिये जो तीन प्रमुख वेदों एक-एक जानते हों, एक तार्किक, एक मीमांसक, एक व जो निरुक्त जानता हो, एक वह जो धर्मशास्त्रों औ नीतिशास्त्रमें निष्णात हो, और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ- तीन आश्रमोंका एक-एक व्यक्ति—ऐसे दस सभ्य मिलक एक राज्यपरिषद्की स्थापना करें।

जो ऋग्वेद जानता है, जो यजुर्वेद जानता है, ज सामवेद जानता है—ऐसे ही तीन मिलकर एक परिषद् स्थापना कर सकते हैं और वे व्यवस्थासम्बन्धी विवादग्रस्त विषयको सुलझा सकते हैं।

(मनु० १२। १११-११

चातुर्विद्यो विकल्पी च अंगविद् धर्मपाठकः।
आश्रमस्थास्त्रयो मुख्याः पर्षदेषां दशावरा॥

चार ऐसे व्यक्ति जो चारों वेद जानते हों, एक तार्कि एक वेदाङ्ग जाननेवाला, एक जो धर्मशास्त्रके नियमों पण्डित हो, तीन ऐसे व्यक्ति जो प्रथम तीन आश्रमों पालनेवाले हों—ये दस मिलकर एक परिषद्की स्थाप कर सकते हैं। (वशिष्ठधर्मसूत्र ३। २०

ठीक यही नियम मठमें होनेवाले विग्रहों तथा मत भेदोंके सम्बन्धमें लागू होता है और संन्यासियोंको भ यह नहीं समझना चाहिये कि वे राजकीय तथा तत्स्थानी नियमकी किसी प्रकार भी अवहेलना कर सकते हैं।

इस लेखका उद्देश्य मठोंकी परम्पराका विवरण- मात्र था जिसे ठीक-ठीक समझ लेनेपर सम्भव है कि मठवाले तथा मठसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियोंमें सद्भावन और शान्तिके भाव हों।

आत्मज्ञानका अधिकारी नचिकेता

सत्ययुगका पवित्र काल है। देशभरमें यज्ञोंका प्रचार हो रहा है। यज्ञधूमसे और उसके पवित्र सौरभसे आकाश भरा हुआ है। वेदके वरद मन्त्रोंसे दिशाएँ गूँज रही हैं। यज्ञका हवि ग्रहण करनेके लिये स्वर्गसे देवगण पृथिवीपर उतरते हैं। पवित्र और आनन्दमयी वाद्यध्वनिसे समस्त जीव प्रफुल्लित हो रहे हैं। यज्ञकर्ता यज्ञकी पूर्णाहुति होनेपर परम श्रद्धासे ऋत्विक्‌गणको दक्षिणा बाँटते हैं। आकांक्षारहित होकर सात्त्विक यज्ञकर्ता वेदविधिका पूर्णतया पालन करते हुए समस्त कार्य सम्पादन करते हैं। ऐसे पवित्र युगमें ऋषि वाजश्रवाके सुपुत्र उद्दालक मुनिने विश्वजित् नामका एक यज्ञ किया। इस यज्ञमें सर्वस्व दान करना पड़ता है। तदनुसार वाजश्रवस् (वाजश्रवाके पुत्र) उद्दालकने भी अपना सारा धन ऋषियोंको दे दिया। ऋषि उद्दालकके नचिकेता नामक एक पुत्र था। जिस समय ऋषि ऋत्विज् और सदस्योंको दक्षिणा बाँट रहे थे और उसमें अच्छी-बुरी सभी तरहकी गौएँ दी जा रही थीं उस समय बालक नचिकेताके निर्मल अन्तःकरणमें श्रद्धाने प्रवेश किया। नचिकेताने अपने मनमें सोचा—'जो गौएँ (अन्तिम बार) जल पी चुकी हैं, घास खा चुकी हैं और दूध दुहा चुकी हैं; जो शक्तिहीन अर्थात् गर्भ धारण करनेमें असमर्थ हैं, ऐसी गायोंको जो दान करता है वह उन लोकोंको प्राप्त होता है जो आनन्दसे शून्य है।'

यज्ञके बाद गोदान अवश्य होना चाहिये, परन्तु नहीं देनेयोग्य गौके दानसे दाताका अमंगल होता है। इस प्रकारकी भावनासे सरलहृदय नचिकेताके मनमें बड़ी वेदना हुई और अपना बलिदान देकर पिताका अनिष्ट निवारण करनेके लिये उसने कहा—'हे पिताजी! मैं भी आपका धन हूँ, मुझे आप किसको देते हैं?' पिताने कोई उत्तर नहीं दिया। नचिकेताने फिर कहा, 'पिताजी! मुझे किसको देते हैं?' पिताने इस बार भी उपेक्षा की। धर्मभीरु नचिकेतासे नहीं रहा गया। उसने तीसरी बार फिर वही प्रश्न किया। ऋषि चिढ़ गये और खीझकर कह उठे—'तुम्हें देता हूँ मृत्युको।'

पिताके क्रोधभरे वचन सुनकर नचिकेता सोचने लगा कि शिष्य और पुत्रोंकी तीन श्रेणियाँ हुआ करती हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। जो गुरुका अभिप्राय समझकर उसकी आज्ञाकी कोई प्रतीक्षा किये बिना ही सेवा करने लगते हैं वे उत्तम हैं। जो आज्ञा पानेपर कार्य करते हैं वे मध्यम हैं। और जो गुरुका अभिप्राय समझ लेने और आज्ञा सुन लेनेपर भी गुरुकी इच्छानुसार कार्य नहीं करते वे अधम कहलाते हैं। मैं प्रथम श्रेणीमें चाहे न होऊँ पर दूसरीमें तो अवश्य हूँ; मैं अधम तो कदापि नहीं हूँ। मुझ-सरीखे गुणसम्पन्न पुत्रको पिताजीने, न मालूम, क्यों यमको दे दिया? मृत्यु-देवताका मुझसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? सम्भवतः पिताजीने क्रोधके आवेशमें ही ऐसा कह दिया है; परन्तु जो कुछ भी हो, पिताजीका वचन असत्य नहीं होना चाहिये।' यों विचारकर उसने यमराजके यहाँ जानेका ही निश्चय कर लिया। धन्य पितृभक्ति और धन्य त्याग !!

पुत्रकी व्यवस्था देख ऋषि एक ओर बैठे पछता रहे थे कि मैंने क्रोधमें पुत्रसे क्या कह दिया, इतनेमें ही नचिकेताने जाकर पितासे कहा—'हे पिताजी! अपने पूर्वजोंका व्यवहार देखिये, इस समयके साधु पुरुषोंका व्यवहार देखिये। उनके चरित्रोंमें न कभी पहले असत्य था और न अब है। असाधु लोग ही असत्यका आचरण किया करते हैं। परन्तु उस असत्यसे कोई अजर-अमर नहीं हो सकता। मनुष्य अनाजकी तरह जराजीर्ण होकर मर जाता है और अनाजकी तरह ही कर्मवश पुनः जन्मता है। अतएव इस अनित्य संसारमें मिथ्या आचरणसे क्या प्रयोजन है? आप अपने सत्यका पालनकर मुझे यमराजके पास जानेकी आज्ञा दीजिये।'

पिताको बड़ा दुःख हुआ, परन्तु पुत्रकी सत्यपरायणता देखकर ऋषिने आज्ञा दे दी। नचिकेताने पिताके वचनोंको निबाहनेके लिये यमसदनकी ओर प्रयाण किया।

यमराजका अतिथि

निर्भीकचित्त नचिकेताने पिताकी आज्ञानुसार यमराजके घरपर पहुँचकर पता लगाया तो मालूम हुआ कि यमराज कहीं बाहर गये हुए हैं। नचिकेताको तीन रात्रितक अन्नजल ग्रहण किये बिना यमराजकी प्रतीक्षा करनी पड़ी। तीसरे दिन यमराजके लौटनेपर घरके लोगोंने उनसे कहा—'साक्षात् अग्नि ही ब्राह्मण-अतिथिके रूपमें घरमें प्रवेश करते हैं। साधु गृहस्थ उस अतिथिरूप अग्निके दाहकी

शान्तिके लिये उसे जल (पादार्घ्य) दिया करते हैं। अतएव हे वैवस्वत ! आप उस ब्राह्मण बालकके पैर धोनेके लिये जल ले जाइये। अतिथि तीन दिनोंसे आपकी बाट देखता हुआ अनशन लिये बैठा है, अतएव जब आप स्वयं उसकी सेवा करेंगे तभी वह शान्त होगा। जिस अल्पबुद्धि पुरुषके घरपर अतिथि ब्राह्मण बिना भोजन किये रहता है उस मन्दबुद्धिकी सारी आशा और प्रतीक्षाएँ—ज्ञात और अज्ञात वस्तुओंके प्राप्त होनेकी इच्छाएँ, उनके संयोगसे प्राप्त होनेवाला फल, उसकी सम्पत्ति, पुत्र, पशु, सत्यभाषण, यज्ञ और सारे पूर्त (कुएँ, तालाब, धर्मशाला आदि बनानेका पुण्य) नष्ट हो जाते हैं।' इस बातको सुनकर यमराज जलसे भरा हुआ स्वर्णकलश लेकर दौड़े और अतिथि नचिकेताको पादार्घ्य देकर आदरपूर्वक कहने लगे—'हे ब्राह्मण ! तुम नमस्कार करनेयोग्य अतिथि होकर मेरे घरपर तीन दिनसे बिना कुछ खाये पड़े हो, तुमको नमस्कार है और इससे मेरे दोषकी निवृत्ति होकर मेरा कल्याण हो। मुझसे बड़ा अपराध हुआ है। अतएव तुम प्रत्येक रात्रिके लिये एक-एक वरके हिसाबसे कुल तीन वर मुझसे माँग लो !'

यमराजकी बातको सुनकर 'सदासन्तुष्ट' नचिकेताने यह सोचकर कि पिताको सुख पहुँचाना ही पुत्रका सबसे प्रथम कर्तव्य है, यमराजसे यही पहला वर माँगा—'हे मृत्यो ! तीन वरोंमेंसे मैं प्रथम वर यही माँगता हूँ कि मेरे पिता मेरे प्रति शान्तसंकल्प, प्रसन्नचित्त और क्रोधरहित हो जावँ। और जब मैं आपके यहाँसे लौटकर घर जाऊँ तो वे मुझे पहचानकर मुझसे प्रेमसे बातचीत करें।'

यमराजने 'तथास्तु' कहकर कहा कि 'मेरेद्वारा तुम्हारे वापिस लौट जानेपर तुम्हारे पिता पहलेकी भाँति तुम्हें पहचान लेंगे; मृत्युके मुखसे छूटे हुए तुमको देखकर वे सुखसे सोयेंगे और उनका क्रोध शान्त हो जायगा।'

पितृभक्त बालककी पहली कामना पूर्ण हुई। नचिकेताने इस प्रकार पिताका सुख सम्पादन कर फिर समस्त जीवोंके मङ्गलके लिये स्वर्गके साधन अग्नितत्त्वको जाननेके लिये यमराजसे कहा—'हे मृत्यो ! स्वर्गमें कुछ भी भय नहीं है; वहाँ न आप (मृत्यु) हैं, न किसीको बुढ़ापेका भय है; भूख-प्याससे पार होकर और शोकसे तरकर वहाँ पुरुष बड़ा आनन्द भोगता है। अतएव हे मृत्यो ! आप उस स्वर्गके साधनभूत अग्निको यथार्थरूपसे जानते हैं। मुझ श्रद्धावान्को आप वह बतलाइये। कारण, उसको जानकर लोग स्वर्गमें रहकर अमृतत्वको (देवत्वको) प्राप्त होते हैं। यह मैं दूसरा वर माँगता हूँ।'

यमराजने बड़ी तपस्या करके अग्निविद्याको जाना था। वास्तविक अधिकारी बिना इस विद्याको देनेसे दाता और ग्रहीता दोनोंमेंसे किसीका कल्याण नहीं होता। परन्तु आज नचिकेताको उत्तम जिज्ञासु जानकर अग्नितत्त्वका महत्त्व बतलाते हुए यमराज बोले—'हे नचिकेता ! मैं उस स्वर्गके साधनभूत अग्निको भलीभाँति जानता हूँ और तुमको बतलाता हूँ, तुम इसको अच्छी तरह सुनो। यह अग्नि अनन्त (स्वर्ग) लोककी प्राप्तिका साधन है, विराट्रूपसे जगत्की प्रतिष्ठाका मूल कारण है। इसे तुम विद्वानोंकी बुद्धिरूप गुहामें स्थित जानो।'

इसके अनन्तर यमराजने नचिकेताको समस्त लोकोंके आदिकारण उस अग्निकी और उसके लिये जैसी और जितनी ईंटें चाहिये, वे जिस प्रकार रक्खी जानी चाहिये, सो सब बतलाया अर्थात् यज्ञस्थानके निर्माणके लिये आवश्यक सामग्रियों और अग्निचयन करनेकी विधिको बतलाया। तीक्ष्णबुद्धि नचिकेताने यमराजकी कही हुई सारी बातोंको दुहराकर अपनी प्रतिभाको सिद्ध कर दिया। यमराजको बालककी अप्रतिम योग्यता देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने पहले तीन वरोंके अतिरिक्त एक चौथा यह वर दिया कि 'मैंने जिस अग्निकी बात तुमसे कही वह तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगी। और तुम इस विचित्र रत्नोंवाली शब्दवती मालाको भी ग्रहण करो।' नचिकेताका तेजोदीप्त मुखमण्डल प्रसन्नतासे भर गया। यमराज फिर बोले—'जिसने यथार्थरूपसे मातापिता और आचार्यके उपदेशानुसार तीन बार नाचिकेत अग्निकी उपासना कर यज्ञ, वेदाध्ययन और दान किया है वह जन्म और मृत्युको तर जाता है और जब वह भाग्यवान् पुरुष उस अग्निको ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ, ज्ञानसम्पन्न पूजनीय देव जानता है तब वह शान्तिको प्राप्त होता है। जो नाचिकेत अग्निके स्वरूप, संख्या और आहुति देनेकी प्रणालीको जानकर उसकी उपासना करता है वह देहपातसे पहले ही मृत्युके पाशको तोड़कर और शोकरहित होकर स्वर्गमें आनन्दको प्राप्त होता है।'

नाचिकेत अग्निको स्वर्गका साधन बतलाकर और

उसकी कुछ और प्रशंसा करके यमराजने नचिकेतासे कहा—'हे नचिकेता ! अब तीसरा वर माँगो ।'

अधिकारिपरीक्षा

पिताकी प्रसन्नताका वर इस लोकके लिये और स्वर्गके साधन अग्निका ज्ञान परलोकके लिये वरकर नचिकेता सोचता है कि क्या स्वर्गसुखमें ही जीवका परम कल्याण है ! स्वर्गसे भी तो पुण्यात्माओंका पुण्य क्षय होनेपर वापिस लौटना सुना जाता है, अतएव अब तीसरे वरसे उस मृत्युतत्त्व या आत्मतत्त्वको जानना चाहिये जिसके जाननेपर और कुछ जानना बाकी नहीं रह जाता । यों सोचकर 'आत्मा परलोकमें जाता है या नहीं, मरनेके बाद आत्माकी क्या गति होती है ?'—इस आत्मज्ञानके जटिल प्रश्नको समझनेके हेतुसे नचिकेताने यमराजसे कहा—'मृत मनुष्यके विषयमें एक संशय है । कोई कहते हैं—शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके अतिरिक्त देहान्तरसम्बन्धी कोई अन्य आत्मा है । कोई कहते हैं, ऐसा कोई स्वतन्त्र आत्मा नहीं है । प्रत्यक्ष या अनुमानसे इस विषयका कोई निर्णय नहीं हो सकता । आप मृत्युके अधिपति देवता हैं, अतएव मैं यह आत्मतत्त्व आपसे जानना चाहता हूँ । यही तीसरा वर मैं माँगता हूँ ।' नचिकेताका महत्त्वपूर्ण प्रश्न सुनकर यमराजने सोचा—'ऋषिकुमार बालक होनेपर भी है बड़ा ही बुद्धिमान्, कैसे गोपनीय तत्त्वको जानना चाहता है । परन्तु आत्मतत्त्व उपयुक्त पात्रको ही बतलाना उचित है, अनधिकारीके समीप आत्मतत्त्व प्रकट करनेसे हितके स्थानमें प्रायः अनिष्ट ही हुआ करता है । इसलिये पहले पात्रपरीक्षाकी आवश्यकता है ।' यों विचारकर यमराजने इस तत्त्वकी कठिनताका बखान करके नचिकेताको टालना चाहा । यमराजने कहा—'देवताओंको भी पहले इस विषयमें सन्देह हुआ था । इस आत्मतत्त्वका समझना कोई आसान बात नहीं, यह बड़ा ही सूक्ष्म विषय है; अतएव हे नचिकेता ! तुम दूसरा वर माँगो, इस वरके लिये मुझे मत रोको ।'

नचिकेता विषयकी कठिनताका नाम सुनकर घबराया नहीं, परन्तु और भी अधिक दृढ़तासे कहने लगा—'हे मृत्यो ! पूर्वकालमें देवताओंको भी जब इस विषयमें सन्देह हुआ था और जब आप भी कहते हैं कि यह विषय आसान नहीं है, तब मुझे इस विषयका समझानेवाला आपके समान दूसरा वक्ता ढूँढ़नेपर भी कोई नहीं मिल सकता । आप किसी दूसरे वरके लिये कहते हैं; परन्तु मैं समझता हूँ कि इसकी तुलनाका और कोई वर नहीं है, क्योंकि यही कल्याणकी प्राप्तिका हेतु है । अतएव मुझे यही समझाइये !'

किसी विषयको जब नहीं बतलाना होता है तो सबसे पहले उसकी कठिनताका भय दिखलाया जाता है । यमराजने भी परीक्षाके लिये यही किया, परन्तु नचिकेता इस परीक्षामें उत्तीर्ण हो गया । अबकी बार यमराजने और भी कठिन परीक्षा लेनी चाही । साधककी परीक्षाके लिये दो ही प्रधान शस्त्र होते हैं—एक 'भय' और दूसरा 'लोभ' । नचिकेता भयसे नहीं डिगा, इसलिये अब यमराजने दूसरे शस्त्र लोभका उसपर प्रयोग किया । यमराजने कहा—

'बालक ! तुम ऐसे वरको लेकर क्या करोगे ? तुम इन सुखकी विशाल सामग्रियोंको ग्रहण करो—सौ-सौ वर्ष जीनेवाले पुत्र-पौत्र माँगो, गौ आदि बहुत-से पशु, हाथी, सुवर्ण, घोड़े और विशाल भूमण्डलका राज्य माँगो और इन सबको भोगनेके लिये जितने वर्ष जीनेकी इच्छा हो उतने ही वर्ष जीते रहो । इतना ही नहीं, इसीके समान और कोई वर चाहो तो उसे, और प्रचुर धनके साथ दीर्घजीवन माँग लो; अधिक क्या इस विशाल भूमिके तुम सम्राट् बन जाओ । मैं तुम्हें अपनी सारी कामनाओंका इच्छानुसार भोगनेवाला बनाये देता हूँ । इसके सिवा जो-जो भोग मृत्युलोकमें दुर्लभ हैं, उन सबको तुम अपनी इच्छानुसार माँग लो । ये रथोंसमेत और वाद्योंसमेत जो सुन्दर रमणियाँ हैं, ऐसी रमणियाँ मनुष्योंको नहीं मिल सकतीं । मेरे द्वारा दी हुई इन सारी रमणियोंसे तुम अपनी सेवा कराओ; परन्तु, हे नचिकेता ! मुझे मरणसम्बन्धी (मृत्युके बाद आत्मा रहता है या नहीं) यह प्रश्न मत पूछो ।'

संसारमें ऐसा कौन है जो बिना चाहे इतनी भोगसामग्रियों और उनके भोगनेके लिये दीर्घजीवनव्यापी सामर्थ्य प्राप्त होनेपर भी उन्हें नहीं चाहेगा, सुनते ही लार टपकने लगती है; परन्तु विचार और वैराग्यकी उच्च भूमिकापर पहुँचा हुआ नचिकेता अटल और अचल है, यमराजके प्रलोभनोंका उसके मनपर कोई असर नहीं हुआ ।

नचिकेताने कहा—'हे मृत्यो ! आपने जिन भोग्य वस्तुओंका वर्णन किया वे कलतक रहेंगे या नहीं, इसमें भी सन्देह है । ये मनुष्यकी सारी इन्द्रियोंके तेजको हरण कर लेती हैं । आपने जो दीर्घजीवन देना चाहा है, वह भी

अनन्त कालकी तुलनामें बहुत थोड़ा ही है। जब ब्रह्माका जीवन भी अल्प कालका है तब औरोंकी तो बात ही क्या है ? अतएव मैं यह सब नहीं चाहता। आपके रथ, घोड़े, हाथी और नाच-गान आपके ही पास रहें।

'धनसे मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता; जहाँ केवल कामनाका ही विस्तार है, वहाँ तृप्ति कैसी ? भोगविलासकी तृष्णामें अभाव और अपूर्णतामें अतृप्ति और आकांक्षाके सिवा और क्या रह सकता है ? अतएव 'वरस्तु मे वरणीयः स एव'— मुझे तो वही आत्मतत्त्वरूप वर चाहिये ! भला, अजर और अमर देवताओंके समीप आकर नीचेके मृत्युलोकका जरामरणशील कौन ऐसा मनुष्य होगा जो अस्थिर और परिणाममें दुःख देनेवाले विषयोंको चाहेगा ? शरीरके सौन्दर्य और विषयभोगके प्रमादोंको अनित्य और क्षणभङ्गुर समझकर भी कौन ऐसा समझदार होगा जो संसारके दीर्घजीवनसे आनन्द मानेगा ? अतएव हे मृत्यो ! जिसके विषयमें लोग संशय करते हैं, जो महान् परलोकके विषयमें निर्णयात्मक आत्मतत्त्वविज्ञान है, मुझे वही दीजिये।'

यह आत्मतत्त्वसम्बन्धी वर गूढ़ होनेपर भी नचिकेता इसके सिवा, दूसरा (अज्ञानी पुरुषोंद्वारा इच्छित) अनित्य वर नहीं चाहता !!

श्रेय और प्रेय

यमराजने नचिकेताको परम वैराग्यवान्, निर्भीक और उत्तम अधिकारी समझकर परम प्रसन्न होकर कहा कि 'हे नचिकेता ! एक वस्तु श्रेय (कल्याण) है और दूसरी वस्तु प्रेय है (श्रेय मनुष्यके वास्तविक कल्याण मोक्षका नाम है और प्रेय स्त्री-पुत्र, धन-मानादि प्रिय लगनेवाले पदार्थोंका नाम है)। इन दोनोंका भिन्न-भिन्न प्रयोजन है और ये अपने-अपने प्रयोजनमें मनुष्यको बाँधते हैं। इन दोनोंमेंसे जो श्रेयको ग्रहण करता है उसका कल्याण (मोक्ष) होता है और जो प्रेयको चुनता है वह आपातरमणीय धन-मानादिमें फँसकर पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो जाता है।

'श्रेय और प्रेय दोनोंमेंसे मनुष्य चाहे जिसको ग्रहण कर सकता है। बुद्धिमान् पुरुष श्रेय और प्रेय दोनोंके गुण-दोषोंको भलीभाँति समझकर उनका भेद करता है और नीरक्षीरविवेकी हंसकी तरह प्रेयको त्यागकर श्रेयको ग्रहण करता है। परन्तु मूर्ख लोग योगक्षेमके लिये यानी प्राप्त स्त्री, पुत्र, धनादिकी रक्षा, और अप्राप्त भोग्य पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये प्रेयको ही ग्रहण करते हैं। हे नचिकेता ! तुमने मेरे द्वारा बार-बार प्रलोभन दिखलाये जानेपर भी जो प्रिय स्त्री-पुत्रादि और प्रियरूप अप्सरादि समस्त भोग्य विषयोंको अनित्य समझकर त्याग दिया, इस द्रव्यमयी निकृष्ट गतिको तुम नहीं प्राप्त हुए, जिसमें कि साधारणतः बहुत-से मनुष्य डूबे रहते हैं !

'विद्या और अविद्या ये दोनों प्रसिद्ध हैं, ये दोनों एक दूसरेसे अत्यन्त विपरीत और भिन्न-भिन्न तरफ ले जानेवाले हैं। हे नचिकेता ! मैं तुम्हें विद्याका अभिलाषी मानता हूँ क्योंकि तुम्हें बहुत-से भोग भी नहीं लुभा सके।

'अविद्यामें पड़े हुए भी जो लोग अपनेको बड़े बुद्धिमान् और पण्डित मानते हैं वे भोगकी इच्छा करनेवाले मूढ़जन अन्धेसे चलाये हुए अन्धोंकी तरह चारों ओर ठोकरें खाते भटकते फिरते हैं।

'धनके मोहसे मोहित, प्रमादमें रत रहनेवाले मूर्खको परलोक या कल्याणका मार्ग दीखता ही नहीं। वह तो केवल यही मानता है कि स्त्री-पुत्रादि भोगोंसे भरा हुआ एकमात्र यही लोक है, इसके सिवा परलोक कोई नहीं है। इसी मान्यताके कारण उसे बारंबार मेरे (मृत्युके) अधीन होना पड़ता है !

'हे नचिकेता ! आत्मज्ञान कोई साधारण-सी बात नहीं है। अनेक लोग तो ऐसे हैं जिनको आत्माके सम्बन्धकी बातें सुननेको ही नहीं मिलतीं। बहुत-से लोग सुनकर भी इसे जान नहीं सकते, आत्माका वक्ता भी आश्चर्यरूप कहीं ही कोई मिलता है और इस आत्माको प्राप्त करनेवाला भी कहीं कोई एक निपुण पुरुष ही होता है, इसी प्रकार किसी निपुण आचार्यसे शिक्षाप्राप्त कोई बिरला ही आश्चर्यरूप पुरुष आत्माको जाननेवाला होता है।

'किसी साधारण मनुष्यके विवेचनसे आत्माका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, आत्मज्ञान तभी होता है जब उसका उपदेश किसी अनन्य (अभेददर्शी) समर्थ पुरुषके द्वारा किया जाता है, क्योंकि यह (आत्मा) सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म होनेके कारण सर्वथा अतर्क्य है। यह ज्ञान-तर्कसे प्राप्त नहीं होता, यह तो किसी अलौकिक ब्रह्मज्ञानीके द्वारा बतलाये जानेपर ही प्राप्त होता है। हे नचिकेता ! तुमने ऐसा पुरुष पाया है, वास्तवमें तुम सत्यधारणासे सम्पन्न हो। तुम जैसा जिज्ञासु मुझे मिलता रहे।

'हे नचिकेता ! मैं जानता हूँ कि धनराशि अनित्य है, और अनित्य वस्तुओंसे नित्य वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती। यों जानते हुए भी मैंने अनित्य पदार्थोंसे स्वर्गसुखके साधनभूत नाचिकेत अग्निका चयन किया है। इसीसे मैंने यह आपेक्षिक अर्थात् अन्यान्य पदोंकी अपेक्षा नित्य (अधिककालस्थायी) यमराजका पद पाया है।

'परन्तु, हे वत्स ! तुम तो सब प्रकारसे श्रेष्ठ हो, तुमने उस परम पदार्थके सम्मुख जगत्की चरम सीमाके भोग, प्रतिष्ठा, यज्ञफलरूपी हिरण्यगर्भका पद, अभयकी मर्यादा (चिरकालस्थायी जीवन), स्तुत्य और महान् ऐश्वर्यको हेय समझकर धैर्यके द्वारा त्याग दिया है। यथार्थमें तुम बड़े गुणसम्पन्न हो।

'यद्यपि यह आत्मा—यह नित्य प्रकाशरूप आत्मा जीवरूपसे हृदयमें विराजमान है तथापि सहजमें इसके दर्शन नहीं होते। क्योंकि यह अत्यन्त ही सूक्ष्म है, यह अत्यन्त गूढ़ है, समस्त जीवोंके अन्तरमें प्रविष्ट है, बुद्धिरूपी गुफामें छिपा हुआ है, रागद्वेषादि अनर्थमय देहमें स्थित है और सबसे पुराना है। जब कोई धीर पुरुष इस देवताको अध्यात्मयोगके द्वारा अर्थात् चित्तको विषयोंसे निवृत्तकर उसे आत्मामें समाहित करता है तब इसे जानकर वह हर्ष और शोकसे तर जाता है। कारण, आत्मामें हर्ष और शोकको कहीं भी स्थान नहीं, ये तो वास्तवमें केवल बुद्धिके विकारमात्र हैं। जिसने ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके द्वारा आत्मतत्त्वको सुनकर उसे सम्यक्रूपसे धारण कर लिया है और धर्मयुक्त इस सूक्ष्म आत्माको जड शरीरादिसे पृथक् समझकर प्राप्त कर लिया है वही आनन्दधामको पाकर अतुल आनन्दमें रम जाता है। मैं समझता हूँ कि नचिकेताके लिये भी वह मोक्षका द्वार खुला हुआ है।'

यमराजके वचनोंसे अपनेको आत्मज्ञानका अधिकारी समझकर नचिकेताने कहा—'हे भगवन् ! आप यदि मुझपर प्रसन्न हैं तो धर्म और अधर्मसे अतीत, तथा इस कार्य और कारणरूप प्रपञ्चसे पृथक्, एवं भूत तथा भविष्यत्से भिन्न जिस सर्व प्रकारके व्यावहारिक विषयोंसे अतीत परब्रह्मको आप देखते हैं उसे बतलाइये।'

साधन और स्वरूप

नचिकेताके प्रश्नको सुनकर यमराजने आत्माका स्वरूप बतलानेसे पूर्व उसके साक्षात् साधन प्रणवका उपदेश आरम्भ किया। यमराज बोले—

'समस्त वेद जिसका प्रतिपादन करते हैं, समस्त तप जिसे बतलाते हैं अर्थात् जिसके लिये किये जाते हैं, जिसको प्राप्त करनेके लिये साधकगण ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान किया करते हैं वह पद मैं संक्षेपमें बतलाता हूँ; वह है 'ॐ'।

'वह परात्पर परमात्मा जो सब नामोंसे परे होनेपर भी सब नामोंमें भरा हुआ है, जो सर्वथा नामविहीन होते हुए भी अनेक नामोंसे सम्बोधित किया जाता है, उसके समस्त नामोंमें 'ॐ' सर्वश्रेष्ठ है। ॐ शब्द ब्रह्मका प्रतीक है। यह अक्षर ही ब्रह्म है और इसी अक्षरको ब्रह्मस्वरूप समझकर इसकी उपासना करनेसे साधक जो चाहता है सो पाता है।

'यह ओंकार ही ब्रह्मकी प्राप्तिका सबसे उत्तम और श्रेष्ठ अवलम्बन है और इसी अवलम्बनको जान लेनेसे ब्रह्मलोकमें महिमा होती है।

इस प्रकार प्रणवोपासनारूपी साधन बतलाकर अब यमराज आत्माका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥[*]
(कठ० १ । २ । १८)

'यह चैतन्यस्वरूप आत्मा न जन्मता है, न मरता है; न यह किसी दूसरेसे उत्पन्न हुआ है, न कोई दूसरा ही इससे उत्पन्न हुआ है। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है और सनातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मरता।' मरना और मारना सब शरीरमें है; आत्मा न कभी मरता है, न कोई उसे मार सकता है। शस्त्रादिसे देह कट जानेपर भी देहमें स्थित यह आत्मा ज्यों-का-त्यों बना रहता है। जिस प्रकार मकानके नष्ट होनेसे उसमें स्थित आकाश नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार देहादिके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता। इसीलिये यमराज कहते हैं—

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥[†]
(कठ० १ । २ । १९)

[*-†] गीताके अ० २ श्लोक १९-२० में थोड़े-से शब्दान्तरसे ये दोनों मन्त्र ज्यों-के-त्यों हैं।

'अज्ञानी मारनेवाला समझता है कि 'मैं इसे मारता हूँ' और मरनेवाला समझता है—'मैं मरा हूँ'; परन्तु वे दोनों ही नहीं समझते हैं, क्योंकि यह आत्मा न तो किसीको मारता है और न कोई मरता ही है।' यह आत्मा—

अणोरणीयान् महतो महीया-
न्आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
(कठ० १।२।२०)

'जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और जो महान्से भी महत्तर है, जो जीवकी हृदय-गुफामें छिपा हुआ है'—इसे वही देख पाता है जो कामनाओंसे रहित है, जो कर्मोंकी सिद्धि और असिद्धिमें समचित्त है, जो सुत-वित्त-दारकी उत्पत्ति या विनाशमें हर्ष और शोकको नहीं प्राप्त होता, जो प्रत्येक अवस्थामें परमात्माकी एक अनन्त सत्ताको उपलब्ध करता हुआ शान्त और स्थिर रहता है। परन्तु जो इस प्रकारका नहीं है उसे आत्माके दर्शन नहीं होते। क्योंकि यह आत्मा निश्चल होनेपर भी दूरतक पहुँच जाता है, सोया हुआ ही सर्वत्र चला जाता है, विद्या और धनादि-मदयुक्त होते हुए भी मदरहित है। इसे मेरे अतिरिक्त अन्य कौन जान सकता है?'

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥
(कठ० १।२।२२)

'यह समस्त अनित्य शरीरोंमें रहते हुए भी शरीररहित है, समस्त अस्थिर पदार्थोंमें व्याप्त होते हुए भी सदा स्थिर है; इस नित्य और महान् विभु आत्माको जो धीर पुरुष जान लेता है वही शोकसे तर जाता है।'

यह एक ही आत्मा सब ओरसे और सबमें व्यापक होनेपर भी—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।

'न तो यह वेदके प्रवचनसे प्राप्त होता है, न विशाल बुद्धिसे मिलता है और न केवल जन्मभर शास्त्रोंके श्रवण करनेसे ही मिलता है।' यह मिलता है उसीको जो इसको पानेके लिये परम व्याकुल हो जाता है और मिलता है उसको—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम्॥
(कठ० १।२।२३)

—जिसको यह स्वप्रकाश आत्मा स्वयं स्वीकार क लेता है और जिसके निकट अपना यथार्थ स्वरूप प्रकट क देता है।

'जो पापोंमें रत है; जो दम, शम तथा चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप समाधिसे रहित है; जिसका मन अशान्त है उसको केवल पाण्डित्यकी प्रचुरता और तर्कोंकी तीक्ष्णतासे ही आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता। जो शम-दमादि गुणोंसे युक्त है, जो शुद्ध, संयत और समाहितचित्त है, जो इन्द्रियलालसाओंसे विरत है और जिसने श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनद्वारा अभेदरूप प्रज्ञान प्राप्त कर लिया है वही उस प्रज्ञानके द्वारा इस आत्माको प्राप्त होता है।

'हे नचिकेता! देखो, दूसरोंकी तो बात ही क्या है, जो ब्राह्मण और क्षत्रिय समस्त धर्मोंके रक्षक और प्राण-स्वरूप हैं, जो इतने श्रेष्ठ हैं वे भी उस परमात्माके 'अन्न' बन जाते हैं। सबका संहार करनेवाला मृत्यु भी जिस परमात्माके भोजनका उपसेचन अर्थात् साग-पात बन जाता है ऐसे उस महामहिमान्वित परमात्माको संसारके भोगोंमें आसक्त और साधनरहित मनुष्य कैसे जान सकता है कि वह 'इस प्रकार' का है!'

आत्मा और परमात्माका निर्णय करके यमराजने शिष्यको कर्मसे अग्निविद्या और ज्ञानसे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति बतलानेके लिये कहा, 'जो यजमानको दुःखसागरसे पार करनेके लिये पुलके समान है वही नाचिकेत अग्नि है—और जो संसारसागरसे पार होना चाहनेवालोंके लिये परम आश्रयस्वरूप है वही अक्षर परब्रह्म है। कर्मके द्वारा अपर ब्रह्मको और ज्ञानके द्वारा परब्रह्मको जानना चाहिये। जीवकी मुक्तिके लिये जितने पथ हैं उन सबमें ज्ञान ही सबसे प्रधान है। तदनन्तर यमराजने आत्माका रथीरूपसे वर्णन करते हुए कहा—

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳरथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
(कठ० १।३।३-४)

'शरीर रथ है, आत्मा रथका स्वामी रथी है, बुद्धि सारथी है, और मन लगाम है ऐसा समझो। श्रोत्रादि इन्द्रियाँ घोड़े हैं, शब्द-स्पर्शादि विषय ही इनके दौड़नेके

मैदान है और शरीर, इन्द्रिय तथा मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं ।'

घोड़ोंसे ही रथ चलता है, परन्तु उस रथको चाहे जिस तरफ ले जाना लगाम हाथमें पकड़े हुए बुद्धिमान् सारथीका काम है । इन्द्रियरूपी बलवान् और प्रमथनकारी घोड़े विषयरूपी मैदानमें मनमाना दौड़ना चाहते हैं, परन्तु यदि बुद्धिरूपी सारथी मनरूपी लगामको जोरसे खींचकर उन्हें अपने वशमें रखता है तो घोड़ोंकी ताकत नहीं कि वे मनरूपी लगामके सहारे बिना ही चाहे जिस तरफ दौड़ने लगें । यह सबको विदित है, इन्द्रियाँ वास्तवमें विषयका ग्रहण तभी कर सकती हैं जब मन उनके साथ हो । घोड़े उसी ओर दौड़ते हैं जिस ओर लगामका सहारा होता है; परन्तु इस लगामको ठीक रखना सारथीके बल, बुद्धि और मार्गके ज्ञानपर निर्भर करता है । यदि बुद्धिरूप सारथी विवेकपूर्ण स्वामीका आज्ञाकारी, लक्ष्यपर सदा स्थिर, बलवान् और इन्द्रियरूपी अश्वोंकी सञ्चालनक्रियामें निपुण नहीं होता तो इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़े उसके वशमें न रहकर लगामको अपने वशमें कर लेते हैं और परिणाममें वे रथको रथी और सारथीसमेत चाहे जैसे बुरे स्थानमें ले जाकर पटक देते हैं । परन्तु—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥
(कठ० १ । ३ । ६)

'जिसकी बुद्धिमें विवेक होता है, जिसका मन एकाग्र और समाहित होता है उसकी इन्द्रियाँ अच्छे घोड़ोंकी तरह बुद्धिरूप सारथीके वश रहती हैं ।'

जिसका मन निग्रहरहित है, जो अविवेकी है और जो सदा अपवित्र है, ऐसे रथीको कभी अपने लक्ष्य—परमपद ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती । उसे बारंबार कष्टमय जन्ममरणरूप ससारमें ही भटकना पड़ता है । परन्तु—

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥
(कठ० १ । ३ । ८)

'जो विवेकी है, जिसका मन निग्रहीत है, जो सदा पवित्र रहता है वह ऐसे परमपदको पाता है जहाँसे लौटकर फिर जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता । जिसका बुद्धिरूप सारथी विवेकी है, जिसकी मनरूप लगाम स्थिर है, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े लगामके साथ-ही-साथ विवेकमयी बुद्धिके वशमें हैं वह इसी रथकी सहायतासे संसारसागरके उस पार अपने लक्ष्यस्थानपर अनायास ही जा पहुँचता है और वही—

तद्विष्णोः परमं पदम् ।

—'विष्णुका परमपद है ।'

यमराजने फिर कहा कि 'इन्द्रियोंसे उनके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धिसे महत् श्रेष्ठ है, महत्से अव्यक्त श्रेष्ठ है और अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है, बस, इस पुरुषसे परे और कोई नहीं है—

सा काष्ठा सा परा गतिः ।

यही चरम सीमा है, यही परमगति है परन्तु यह केवल—

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।

सूक्ष्मदर्शियोंके द्वारा सूक्ष्म वस्तुके निरूपणमें निपुण एकाग्रतायुक्त बुद्धिसे ही देखा जा सकता है । अतएव—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

उठो ! जागो ! और महापुरुषोंके पास जाकर इसे जानो । बुद्धिमान् लोग इस मार्गको तलवारकी धारपर चलनेके समान बतलाते हैं—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं, इसीसे वे केवल बाहरकी वस्तुओंको देखती हैं अन्तरात्माको नहीं देखतीं । कोई विवेकसम्पन्न पुरुष ही अमृतत्वकी शुभ इच्छासे इन इन्द्रियोंको अन्तर्मुखी करके अन्तरात्माको देख पाता है । अज्ञानी लोग बाह्य विषयोंकी ओर ही दौड़ते हैं और इसीसे वे सर्वत्र व्याप्त मृत्युके फंदेमें फँस जाते हैं परन्तु ज्ञानी पुरुष उस अमृतत्वको जानकर इन अनित्य पदार्थोंसे नित्य वस्तुकी प्रार्थना नहीं करते ।

जो यहाँ (कार्यमें) है वही वहाँ (कारणमें) है । परन्तु जो उपाधिके सम्बन्धसे और भेदज्ञानके कारण अविद्याके प्रभावसे उस अभिन्नस्वरूप ब्रह्मको नाना रूपोंमें देखता है—वह बार-बार मृत्युको (जन्म-मरणको) ही प्राप्त होता है । इस ज्ञानकी प्राप्ति केवल विचारसे ही हो सकती है । यहाँ किञ्चित् भी भेद नहीं है । जिसको यहाँ भेद दीखता है उसीको बार-बार मृत्युकी शरण लेनी पड़ती है । जैसे शुद्ध जलमें शुद्ध जल मिलानेपर दोनों मिलकर एकरस तन्मय हो जाते हैं इसी प्रकार आत्मदर्शी पुरुषका आत्मा परमात्मामें मिलकर ब्रह्मरूप बन जाता है ।'

यमराजने आगे चलकर फिर कहा—'हे नचिकेता ! मैं प्रसन्न होकर तुम्हें यह अत्यन्त गोपनीय सनातन ब्रह्मतत्त्व बतला रहा हूँ। मृत्युके बाद जीवका क्या होता है सो तुम सुनो ! जिसके जैसे कर्म और जैसी वासना होती है और जिसका जैसा ज्ञान होता है उसीके अनुसार कोई तो मृत्युके बाद माताके गर्भमें जाता है और कोई मृत्युके पश्चात् वृक्ष, पाषाणादि स्थावर योनिको प्राप्त होता है। जब समस्त प्राणी निद्राग्रस्त रहते हैं तब जो एक निर्गुण ज्योतिर्मय ब्रह्म सुप्रकाशितरूपसे जाग्रत् रहकर समस्त विषयोंको प्रकाशित करता है, वही शुद्ध है, वही ब्रह्म है, उसीका नाम अमृत है, उसके सिवा और कोई छिपा हुआ ब्रह्म नहीं है। पृथ्वी आदि सभी लोक उसीमें अवस्थित हैं, उसका अतिक्रमण कोई भी नहीं कर सकता।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
(कठ० २।२।९-१०)

अग्नि एक ही है, परन्तु जैसे सम्पूर्ण भवनमें प्रवेश करनेपर वही भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें भिन्न-भिन्न रूपमें दीखता है, इसी प्रकार समस्त प्राणियोंमें रहनेवाला आत्मा एक ही है, परन्तु सबमें भिन्न-भिन्न रूपमें दीखता है, आकाशकी तरह निर्विकार होनेके कारण बाहर भी वही रहता है। जैसे एक ही वायु लोकमें प्रवेशकर भिन्न-भिन्न रूपमें दीखता है इसी प्रकार सब प्राणियोंमें व्यापक एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न रूपमें दीखता है तथा बाहर भी रहता है। अग्नि और वायुके दृष्टान्तमें केवल यही अन्तर है कि अग्नि तो प्रकाशस्वरूप होकर लोकमें प्रवेश करता है, और वायु प्राणस्वरूप होकर प्रत्येक देहमें प्रवेश करता है।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥
(कठ० २।२।११)

जैसे एक ही सूर्य सब लोकोंकी आँख है, अच्छी-बुरी सभी वस्तुओंका प्रकाश सूर्यसे होता है तथापि वह बाह्य दोषोंसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह आत्मा सर्वव्यापी होनेपर भी जगत्के दुःखोंसे लिप्त नहीं होता, उनसे बाहर रहता है।

समस्त भूतप्राणियोंके अंदर शक्तिरूपसे रहनेवाला वह आत्मा एक ही है, वही सबका नियन्ता है, वह एक ही अनेक रूपमें दिखायी देता है। जो धीर पुरुष इस प्रकार आत्माको जानते हैं उनको ही—

तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।

—नित्य सुख प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।
(कठ० २।२।१३)

जो नित्योंका भी नित्य है, जो चेतनोंका भी चेतन है, जो एक ही अनेकोंकी कामनाएँ पूर्ण करता है, उस शरीरस्थ आत्माका जिनको अनुभव होता है वे ही नित्य शान्तिको प्राप्त होते हैं, दूसरे नहीं। जिसको सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता, जो चन्द्रमा और तारागणोंसे प्रकाशित नहीं होता, बिजली जिसे प्रकाशित नहीं कर सकती उसको बेचारा अग्नि तो क्या प्रकाशित करे ! जिसके प्रकाशसे ही सबका प्रकाश होता है, उसी परिपूर्ण प्रकाशकी दिव्य ज्योतिसे समस्त विश्व प्रकाशित हो रहा है।

इस दृश्यमान संसारके समस्त पदार्थ उस परब्रह्मसे निकलकर उसीकी सत्तासे सदा काँपते हुए अपने-अपने काममें लगे रहते हैं क्योंकि वह उठे हुए वज्रके सदृश महाभयङ्कर है।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥
(कठ० २।३।३)

'अग्नि उसीके भयसे तपता है, सूर्य उसीके भयसे तपता है तथा इन्द्र, वायु और पञ्चम मृत्यु उसीके भयसे दौड़ते हैं।'

जो पुरुष इस शरीरका नाश होनेसे पूर्व ही उस आत्माको जान लेता है वही मुक्त होता है, नहीं तो इन जन्ममरणशील लोकोंमें उसे फिर जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

जब मनुष्यकी सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, जब मन सब प्रकारकी मलिनताको त्यागकर अत्यन्त विशुद्ध बन जाता है और जब अन्तःकरणकी समस्त वासनाएँ सम्पूर्णरूपसे नष्ट हो जाती हैं तब यह मरणशील मनुष्य अमृत बनकर यहींपर ब्रह्मको प्राप्तकर ब्रह्मानन्दमें मग्न हो जाता है। इस अवसरपर उसके हृदयकी ('मैं' और 'मेरे' की) समस्त ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं और वह अमृत बन जाता है, बस यही शास्त्रका उपदेश है, इससे परे और कुछ भी नहीं है।

'द' 'द' 'द'

एक समय देवता, मनुष्य और असुर सबके पितामह प्रजापति ब्रह्माजीके पास शिष्यभावसे विद्या सीखने गये, एवं नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए उनकी सेवा करने लगे। इस प्रकार कुछ काल बीत जानेपर उन्होंने उपदेश ग्रहण करना चाहा। सबसे पहले देवताओंने जाकर प्रजापतिसे प्रार्थना की, 'भगवन्! हमें उपदेश कीजिये।' प्रजापतिने उत्तरमें एक ही अक्षर कह दिया—'द'। स्वर्गमें भोगोंकी भरमार है, भोग ही देवलोकका सुख माना गया है, कभी वृद्ध न होकर देवगण सदा इन्द्रियभोगोंमें लगे रहते हैं, अपनी इस अवस्थापर विचारकर देवताओंने 'द' का अर्थ 'दमन'–इन्द्रियसंयम समझा और अपनेको कृतकृत्य मानकर प्रजापतिको प्रणामकर वे वहाँसे चलने लगे। प्रजापतिने पूछा, 'क्यों, मेरे उपदेश किये हुए अक्षरका अर्थ तो तुम समझ गये न?' देवताओंने कहा 'जी, समझ गये, आपने हम विलासियोंको इन्द्रियदमन करनेकी आज्ञा की है।' प्रजापतिने कहा, 'तुमने ठीक समझा, मेरे 'द' कहनेका यही अर्थ था। जाओ, परन्तु मेरे उपदेशके अनुसार चलना; तभी तुम्हारा कल्याण होगा।'

तदनन्तर मनुष्योंने प्रजापतिके पास जाकर कहा–'भगवन्! हमें उपदेश कीजिये।' प्रजापतिने उनको भी वही 'द' अक्षर सुना दिया। मनुष्योंने विचार किया, हम कर्मयोनि होनेके कारण सदा लोभवश कर्म करने और अर्थसंग्रह करनेमें ही लगे रहते हैं। इसलिये प्रजापतिने हम लोभियोंको 'दान' करनेका उपदेश किया है। यह निश्चयकर वे अपनेको सफलमनोरथ मानकर चलने लगे, तब प्रजापतिने उनसे पूछा–'तुमलोग मेरे कथनका अर्थ समझकर जा रहे हो न?' संग्रहप्रिय मनुष्योंने कहा–'जी हाँ, समझ गये, आपने हमें दान करनेकी आज्ञा दी है।' यह सुनकर प्रजापति प्रसन्न होकर बोले—'हाँ, मेरे कहनेका यही अर्थ था, तुमने ठीक समझा है। अब इसके अनुसार चलना, तभी तुम्हारा कल्याण होगा।'

इसके पश्चात् असुरोंने प्रजापतिके पास जाकर प्रार्थना की, 'भगवन्! हमें उपदेश कीजिये।' इनको भी प्रजापतिने 'द' अक्षरका ही उपदेश किया। असुरोंने समझा, हमलोग स्वभावसे ही हिंसावृत्तिवाले हैं, क्रोध और हिंसा हमारा नित्यका व्यापार है, अतएव प्रजापतिने हमें इस दुष्कर्मसे छुड़ानेके लिये कृपा करके जीवमात्रपर दया करनेका ही उपदेश दिया है। यह विचारकर वे जब चलनेको तैयार हुए तब प्रजापतिने यह सोचकर कि ये लोग मेरे उपदेशका अर्थ समझे या नहीं, उनसे पूछा–'तुम जा रहे हो; परन्तु बताओ, मैंने तुम्हें क्या करनेको कहा है?' तब हिंसाप्रिय असुरोंने कहा, 'देव! आपने हम हिंसकोंको 'द' कहकर प्राणिमात्रपर दया करनेकी आज्ञा की है।' यह सुनकर प्रजापतिने कहा, 'वत्स! तुमने ठीक समझा, मेरे कहनेका यही तात्पर्य था। अब तुम द्वेष छोड़कर प्राणिमात्रपर दया करना, इससे तुम्हारा कल्याण होगा।'

देव दनुज मानव सभी लहैं परम कल्यान।
पालैं जो 'द' अर्थ को दमन दया अरु दान॥

मायावाद-वैजयन्ती

(लेखक—साधु श्रीशान्तिनाथजी)

भूमिका

अद्वैतवादके समर्थक वेदान्तियोंसे सम्मत सिद्धान्त 'मायावाद' के नामसे प्रसिद्ध है। यहाँ अद्वैतसे केवलाद्वैत समझना चाहिये, विशिष्टाद्वैत नहीं। इसको अधिक स्पष्ट करनेके लिये 'अद्वैत', 'विशिष्टाद्वैत' और 'केवलाद्वैत' की व्याख्या आवश्यक है। जिस सिद्धान्तके अनुसार सारा विश्व-प्रपञ्च एक ही अद्वितीय तत्त्वमें अन्तर्भूत है, उसीकी सत्तासे स्थित और उसीके प्रकाशसे प्रकाशित है, उसे 'अद्वैतवाद' कहते हैं। स्वप्रकाश, अद्वितीय और ज्ञानस्वरूप चेतनमें जड पदार्थका अन्तर्भाव तीन प्रकारसे हो सकता है—जड पदार्थ चेतनका शक्तिरूप, या शक्ति न होकर गुणादिके समान उसके आश्रयसे रह सकता है, अथवा जिस प्रकार शुक्ति (सीप) में रजत (चाँदी) का अध्यास (आभास) होता है, उसी प्रकार जड चेतनमें अध्यस्त और इसलिये वास्तवमें अयथार्थ है। इनमेंसे प्रथम और द्वितीय प्रकारानुसार 'विशिष्टाद्वैत' (जिसमें जीव और जगत् ब्रह्मके वास्तविक विशेषण हैं) और तीसरे प्रकारसे केवलाद्वैतवाद (इसमें जीव और जगत् अवास्तविक विशेषण हैं) सिद्ध होता है। केवलाद्वैतवादियोंका तत्त्वविषयक सिद्धान्त यह है कि सम्पूर्ण दृश्य जगत्को प्रकाशित करनेवाला, स्वयंप्रकाश, अनन्तरूप, अखण्ड चेतनतत्त्व ब्रह्म ही किन्हीं उपाधियोंसे विवर्तित होकर अनेक प्रकारके जड और चेतन पदार्थोंमें दिखायी पड़ता है। उसके अतिरिक्त और कुछ भी वास्तविक नहीं है। इसलिये वस्तुतः दूसरी सत्ताके अभावसे सद्वस्तु अद्वैत है। सारे विश्वके आधार चेतन, अद्वितीय सत्ताकी दृष्टिसे ज्ञेय जगत्का विवेचन करके जिसे ब्रह्माद्वैतवाद कहते हैं, उसी सिद्धान्तको अध्यस्त पदार्थकी दृष्टिसे मायावाद कहते हैं। प्रथम दृष्टिमें अधिष्ठानकी प्रधानता और द्वितीयमें अध्यस्तकी प्रधानतासे विचार किया गया है। 'माया' शब्दसे सत् (ब्रह्म) से विलक्षण विश्वका मूल उपादान समझा जाता है। सम्पूर्ण सृष्टिकी दृष्टिसे जो उसका उपादानकारण है और जो विश्वके अधिष्ठान सच्चित् स्वरूप ब्रह्मकी दृष्टिसे उसमें स्वरूपतः या तत्त्वतः विद्यमान नहीं है परन्तु उसीके ही आश्रित है, उसी सत् या असत्से अनिर्वचनीय पदार्थको माया कहते हैं। यद्यपि मायारूपसे कोई भी पदार्थ किसीके अनुभवगोचर नहीं होता, किन्तु जो सब लोगोंमें प्रसिद्ध अज्ञान है उसीका नाम माया है। अधिष्ठानमें विकार न उत्पन्न करके, उसमें अनेकों प्रकारकी विचित्र सृष्टि करनेमें समर्थ होनेके कारण, अद्भुत सामर्थ्यकी दृष्टिसे, अज्ञानकी ही परिभाषा 'माया' है।

मायावादप्रतिपादनकी रीति

मायावाद-प्रदर्शनकी बहुत-सी रीतियाँ हैं। यहाँ स्थानाभावके कारण केवल एकका प्रतिपादन तथा अन्य रीतियोंका संकेत किया जायगा।

(क) प्रथमतः, कार्य-कारण-भावके विचारसे सिद्ध होता है कि कार्यपदार्थ अपने उपादानकारणसे सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न नहीं परन्तु भिन्न और साथ-ही-साथ अभिन्न सत्तावाला है, अर्थात् कारणपदार्थका भेदक न होकर भी भेदयुक्त है। कारणसत्ताके अवच्छेदक न होनेके कारण कार्य और कार्यके भेद सद्विलक्षण अथवा अनिर्वचनीय हैं।

(ख) द्वितीयतः, यह बतलाना आवश्यक है कि सत्स्वरूप ब्रह्म भिन्न-भिन्न वस्तु (घटपटादि) रूप नहीं अथवा उनका धर्म भी नहीं, किन्तु उनका धर्मिरूप अद्वैत सत्ता है। वह सांख्यादि मतोंके अनुसार मूल परिणामी (परिवर्तनशील) उपादानकारण नहीं, किन्तु अपरिणामी निर्विकार अधिष्ठानरूप है। यह सिद्धान्त स्थापित हो जानेपर, सत्स्वरूपको सत्ता स्फूर्ति देनेवाला मूल उपादान मानना होगा। यही सम्पूर्ण विश्वका एकमात्र अधिष्ठान होकर सत् और असत्रूपसे प्रतिभासित होता है, इसलिये विश्व-प्रपञ्चका इसको उपादान कहना होगा; किन्तु अधिष्ठानरूपसे, परिणामरूपसे नहीं।

(ग) सन्मात्रका उपादानत्व सिद्ध होनेके अनन्तर उपर्युक्त कार्यकारणभावके सिद्धान्तका प्रयोग कर तीन प्रकारसे यह प्रतिपादन करना होगा कि सत्के अतिरिक्त उससे विलक्षण अनिर्वचनीय भी जगत्का मूल उपादान है। यदि केवल सत् ही उपादान होता तो कार्य और उनके भेदमें अनिर्वचनीयता न होती और भेद न होनेसे कार्यकारणभाव ही नहीं उत्पन्न होता। इसलिये कार्य और उनके भेदकी सिद्धिके लिये केवल सदधिष्ठानके अतिरिक्त किसी

अनिर्वचनीय पदार्थको कार्यजगत्का मूलकारण मानना होगा। यह अनिर्वचनीय सत्ता ही अद्वैत-वेदान्तके ग्रन्थोंमें 'माया' शब्दसे बतलायी गयी है।

विशदीकरण

(क) उपादानकारण और कार्यमें सर्वथा भेद होता है, न्याय और वैशेषिकदर्शनवाले इस पक्षका समर्थन करते हैं; किन्तु यह संगत नहीं है।

भेदवाद-खण्डन

सब प्रकारसे भिन्न दो पदार्थोंका गुणगुणिभाव या कार्यकारणभाव नहीं होता। द्रव्यके साथ ही उसके गुणकी प्रतीति होती है, इसलिये गुण और गुणीका सर्वथा पृथक्त्व अनुभवसिद्ध नहीं होता।

पूर्वपक्षी–गुण और गुणीके सर्वथा भिन्न होनेपर भी समवायसम्बन्धके द्वारा उनकी अभिन्नता सिद्ध होती है। समवाय उन दोनों सम्बन्धियोंसे पृथक् पदार्थ है।

सिद्धान्ती–सम्बन्धियोंका पृथक्त्व सिद्ध हो जानेके बाद यदि उनमें सम्बन्ध दिखायी पड़े तो समवायकी कल्पना हो सकती है। परन्तु गुण-गुणी आदिमें पृथक् प्रतीतिका अभाव होनेके कारण समवायकी कल्पना व्यर्थ है। समवायसम्बन्ध स्वयं सम्बन्धियोंसे भिन्न है, अतः कार्य-कारणमें वह अभिन्नता नहीं सिद्ध कर सकता। यदि विशेषण विशेष्यसे सर्वथा भिन्न हो तो विशेष्यमें सदा उसके अनुरूप बुद्धि कैसे उत्पन्न होगी? और भी 'मृद्घट' और 'शुक्लपट' इत्यादिमें समान अधिकरण होनेके कारण गुण-गुणी और कार्य-कारणके भेदमें बाधा पड़ती है। अभिप्राय यह है कि नैयायिकादि 'मृद्घट' और 'शुक्लपट' आदिमें भेदको सिद्ध करनेके लिये गुण और गुणी आदिमें समवाय स्वीकार करते हैं। किन्तु इससे सामानाधिकरण्यकी सिद्धि नहीं होती, क्योंकि सामानाधिकरण्य तो अभेदमें ही दिखलायी पड़ता है, जैसे 'मृद्घट' में मिट्टी और घटका समान आधार है किन्तु गो-अश्वमें नहीं। समवाय माननेसे गुण और गुणीमें अत्यन्त भेद मानना पड़ेगा। और इससे सामानाधिकरण्यका बाध होता है। अतः यद्यपि सब कहीं तादात्म्यके विषयमें समवायपदका प्रयोग होता है, किन्तु समवाय होता नहीं।

पूर्वपक्षी–'शुक्लपट' आदिमें समानाधिकरण अथवा अभेद (ऐक्य) दिखायी पड़ना भ्रमके कारण होता है।

सिद्धान्ती–यदि रूप आदि गुण आँखोंसे प्रत्यक्ष दिखायी न पड़ें तो धर्मी (गुणी) के भेद और अभेदसे उदासीन गुणकी सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थात् 'नीलघट' में नीलता दिखायी पड़नेसे ही रूप (गुण) की सिद्धि होती है। इस प्रकारके ज्ञानसे गुण और गुणीमें भेद और अभेद दोनों दिखायी पड़ता है। यदि 'गो-अश्व' की तरह गुण और गुणीमें अत्यन्त भेद हो तो इस तरहका ज्ञान नहीं होगा। यदि अत्यन्त अभेद हो तो भी गुण-गुणीका ज्ञान नहीं होगा, जैसे 'घट-घट' कहनेमें गुण-गुणीका बोध नहीं होता, किन्तु केवल एक पदार्थका। इसलिये गुण-गुणीके साथ भेदाभेदके समझनेसे ही प्रत्यक्ष होता है। यदि ऐसा न हो तो 'नीलघट' के ज्ञानको भ्रम कह सकते हैं। इसलिये यदि 'नीलघट' में नीलता दिखायी पड़ती हो, किन्तु घटसे अभिन्न होनेके कारण केवल उसका भ्रम होता हो तो गुणकी सिद्धि नहीं हो सकती। कहाँपर प्रत्यक्षद्वारा गुणसे गुणीका भेद सिद्ध होगा? यदि उपर्युक्त 'नीलघट' आदिको प्रमाण मानें तो इसके देखनेसे गुण-गुणी आदिमें अभिन्नता ही सिद्ध होगी। अर्थात् ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाणके सामने किसी भी प्रमाणसे भेदकी सिद्धि नहीं हो सकती। गुण-गुणी और कार्य-कारणमें भेद व्यापक पृथक्त्वका अभाव होता है। अतः गुण-गुणी और कार्य-कारणमें समवायसम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

अभेदवाद-खण्डन

कार्य और उसके उपादानकारणमें सर्वथा अभेद मानना उचित नहीं। कार्य और कारणके लक्षण भिन्न होते हैं। उपादान पहलेसे ही विद्यमान होता है, किन्तु उससे बननेवाला उपादेय (कार्य) नहीं। एक ही स्थान और एक ही कालमें होना और न होना परस्परविरोधी हैं। और यदि कार्य कारणको पार नहीं कर जाता तो कार्य-कारणभाव भी सिद्ध नहीं होता। यदि कार्य और कारणमें अभेद हो तो कार्य आप ही अपना कारण होगा। अगर दोनोंमें ऐक्य हो, तो उत्पत्तिके पूर्व रहनेके कारण, कार्य सदा ही उत्पन्न रहेगा। यदि कार्यका सत्त्व वही हो जो कारणका है, तो कार्य होनेकी क्रिया ही निरर्थक होगी। अतः सिद्ध हुआ कि कार्य कारणसे अभिन्न नहीं है।

भेदाभेदवाद-खण्डन

सांख्य, योग, भट्टभास्कर, वैष्णव तथा शैवोंसे माना गया भेदाभेदवाद अर्थात् ब्रह्म और जगत्में अभेद और

भेद दोनों घटित हैं, समीचीन नहीं है; क्योंकि समान सत्तावाले भेद और अभेदका एक कालमें एकत्र रहना असम्भव है। भाव और अभावका एक बार एकत्र रहना स्वीकार कर लेनेपर उनसे उत्पन्न हुआ विरोध कहींपर भी सिद्ध नहीं होगा। यदि यह कहा जाय कि भेदाभेदपक्ष प्रमाणोंसे सिद्ध न होनेपर भी दिखायी पड़ता है, तो भी ठीक नहीं; क्योंकि एक ही प्रमाणका साथ-ही-साथ विधि और निषेध नहीं किया जा सकता। विधि और निषेधको एक ही कालमें प्रमा-विषय बना लेना प्रमाणका स्वभाव नहीं है। उक्त पक्षका दोष एक दृष्टान्तसे बहुत स्पष्ट हो जायगा। 'घट' शब्दका अर्थ केवल मृत्तिका नहीं, किन्तु मिट्टीसे बनी हुई गोलाकार एक वस्तुविशेष है। केवल मृत्तिकामें घटबुद्धि नहीं होती, अथवा घट-शब्दका प्रयोग नहीं होता। यदि घट मृत्तिकासे अभिन्न हो तो जैसे घट बननेके पहले मृत्तिकाका अनुभव होता है उसी प्रकार उक्त आकारवाले घटकी भी अनुभूति होनी चाहिये। जैसे मृत्तिका अपने लिये कारण नहीं हो सकती, उसी प्रकार अभेद होनेसे घटका भी नहीं।

पूर्वपक्षी—भेद होनेपर भी उत्पत्तिके पूर्व घटका अभाव होता है तथा मृत्तिकाको ही उसका कारण बनना पड़ता है। अतएव भेद मानकर ही सब सिद्ध होता है।

सिद्धान्ती—किन्तु भेद रहनेसे क्या हुआ? जिस प्रकार घटस्थितिदशामें भेद अभेदसत्ताका विरोधी नहीं है, उसी प्रकार घटोत्पत्तिके पहले भी भेद अपनी प्रतियोगी सत्ता (अभेद) का विरोधी नहीं होगा। इसलिये भेद माननेपर भी उक्त दोष होगा ही। अर्थात् घटोत्पत्तिके पहले घटबुद्धि करनेसे, कार्यकारणभावसे असिद्धिका दोष होगा। भेद, विद्यमान प्रतियोगी (अभेद)की अप्राप्तिमें कारण नहीं है, अर्थात् यह नहीं कह सकते कि भेद रहनेसे अभेद प्रतीत नहीं होगा, अथवा घटके बननेमें भी भेद प्रयोजक नहीं है। ऐसा हो तो घटस्थितिकालमें भी भेद रहनेके कारण अभेदकी अनुपलब्धि होगी। और इससे घटकी पुनः उत्पत्ति माननी पड़ेगी। तात्पर्य यह है कि भेद ही अभेदकी अनुपलब्धि और घटके कार्यत्वमें प्रयोजक है और भेद ही घटोत्पत्तिके अनन्तर स्थितिकालमें है, परन्तु स्थितिकालमें घट और मृत्तिकाके अभेदकी अनुपलब्धि नहीं होती तथा घटकी कार्यता भी कार्यके उपरान्त स्थितिकालमें नहीं है। अतएव भेद, अभेदकी अनुपलब्धिमें तथा घटकी कार्यतामें प्रयोजक नहीं होगा। मृत्तिकामें वर्तमान रूपादि मृत्तिकाके तथा मृत्तिकानिष्ठ कार्यताके प्रयोजक नहीं होते। कारण यह है कि मृत्तिकामें मृत्तिकाके अभेदके अनुकू रूपादि होते हैं। इसी प्रकार 'मृद्घट' में मिट्टी औ घड़ेका भेद भी मृद्गत अभेदके अविरुद्ध होनेके कारण भेदकृत घटकी अनुपलब्धि सिद्ध नहीं होगी। अर्थात् यदि भेद घटके अनुपलम्भ तथा उत्पत्ति आदिमें प्रयोजक हो तो घटोत्पत्तिके अनन्तर भी घट अनुपलब्ध होता और उसकी पुनः उत्पत्ति होती। परन्तु यह नहीं देखा जाता। अतएव भेद उन दोनोंका प्रयोजक नहीं है।

उक्त विवेचनसे यह सिद्ध है कि कार्य और कारणका सामानाधिकरण्य सत्यभेदसहित अभेदसे सिद्ध नहीं होता। अब सिद्धान्तपक्षका अवलम्बन कर सामानाधिकरण्यपक्षका विषय निरूपित किया जायगा।

सिद्धान्त-पक्ष

शङ्का—गुण-गुणीका और कार्य-कारणका सम्बन्ध कैसा है?

सिद्धान्ती—तादात्म्यसम्बन्ध है। गुणमें गुणीसे भिन्नता है, परन्तु गुणकी सत्ता गुणीसे अभिन्न होती है।

शङ्का—भेद होनेपर सत्ताकी एकता कैसे हो सकती है?

समाधान—सत्ताका अनवच्छेदक (अलग न करनेवाला) भेद ही तादात्म्य कहलाता है। जो भेद सत्ताका पृथक्त्व सम्पादन नहीं करता उसको सत्तासे अभिन्न ही कहेंगे। गुणोंका यह भेद गुणमें रहता है। घटादि पदार्थ दण्डादिसे भिन्न हैं, वैसे ही मृत्तिकादिसे भी भिन्न हैं, नहीं तो पहले बतलाया हुआ दोष होगा।

शङ्का—इस अवस्थामें अभेदकी प्रतीति कैसे होती है?

समाधान—मृत्तिका और घटमें भेद विद्यमान होनेपर भी वह सत्ताका अवच्छेदक नहीं है, इसलिये यह भेद असत् है, सत् नहीं। सत्ताका पृथक्त्व करनेवाला भेद सद होता है। दण्ड और घटका भेद सत्ताका अवच्छेदक है, इसलिये वह सत् है। स्वतन्त्र पृथक्सिद्ध धर्मी आधार (जिसमें भेद रहता है) और स्वतन्त्र प्रतियोगी (भेदका आधेय है)—इन दोनोंकी भेदसत्ताको अवच्छिन्न करता है, क्योंकि ऐसा अपरोक्ष अनुभव होता है कि ये दो भिन्न सत् हैं। किन्तु कार्यके कारण परतन्त्र होनेसे ऐसा अनुभव नहीं होता। अतएव उन दोनोंका भेद सत्ताका अवच्छेदक नहीं है। इसलिये सत्ताका अवच्छेदक

होनेसे, वर्तमान होता हुआ भी असत् (सद्विलक्षण) है। इसलिये सत्ताका पृथक्करण न करनेवाला भेद ही तादात्म्य है। उक्त युक्तिमें प्रमाण यह है कि 'मृद्घट' में मृत्तिका और घटकी साथ-ही-साथ प्रतीति होती है तथा मृत्त्व (मृत्तिकात्व) के बिना सत्त्व (घटसत्ता) नहीं दीखता। इससे मृत्तिकाभेद दण्डभेदसे विलक्षण होता है।

स्पष्टीकरण

'सुवर्णकुण्डल', 'मृद्घट' इत्यादिमें सामानाधिकरण्यकी प्रतीति होती है। किन्तु इससे मृत्तिकात्व आदि जातिसम्बन्धका बोध नहीं होता, क्योंकि उपादानके अतिरिक्त किसी दूसरी ज्ञात जातिके लिये प्रमाण नहीं मिलता। गुण-गुणी, जाति-व्यक्ति आदिमें भी तादात्म्यकी प्रतीति होती है। किन्तु व्यक्तिमें जातिका समवाय रहनेके कारण ही सर्वत्र उक्त प्रतीति होती है, ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि समवाय असिद्ध है। उसकी सत्ता होनेपर भी सम्बन्धीसे उसका अत्यन्त भेद होनेके कारण अभेदकी प्रतीति सिद्ध नहीं हो सकती। परन्तु 'नीलपट', 'मृद्घट' इत्यादि रूपसे अभेदका अनुभव होता है। अतएव दो भिन्न (दिखायी पड़नेवाले) पदार्थोंकी एक सत्ता ही कार्य और कारणका तादात्म्य है। इसी प्रकार गुण-गुणी आदिका भी। इसलिये कार्यकारणादिका दण्डघटविलक्षण तादात्म्य अनुभवसिद्ध है। अतः कार्यकारणभावके लिये सद्भेदकी आवश्यकता नहीं, तथा सामानाधिकरण्यके द्वारा सिद्ध होता है कि घटका मृत्तिका-प्रतियोगिक भेद भेदान्तर (दण्डघटादिभेद) के समान सत्ताका अवच्छेदक नहीं है। मृद्घटका भेद सत्ताके ऐक्यमें बाधक न होनेके कारण सामानाधिकरण्यबुद्धिका नियामक है।

उक्त प्रकारसे भेदके सत्ताशून्य प्रमाणित होनेपर, कार्य और कारणका भेद अनिर्वचनीय कहा जाता है। समान सत्तावाले प्रतियोगी और उसके अभावमें विरोध होता है। प्रतियोग ही विरोधका प्रयोजक है। अनिर्वचनीय भेदके साथ तदभावका विरोध नहीं। अतएव कार्य और तद्भेदका सत्से विलक्षण होनेके कारण ही कार्यमें कारणका तादात्म्य सम्भव है। यदि कार्य और उसका भेद सत्य होता तो कार्यमें कारणाभिन्न स्थितिरूप तादात्म्यकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये कार्य और उसके भेदका अनिर्वचनीयत्व आवश्यक है। कार्यका अनिर्वचनीयत्व होनेके कारण ही, कारणसत्तासे पृथक् अपनी सत्ताका अभाव होनेसे भी, अनिर्वचनीय भेदके कारण कार्य-कारणभाव उत्पन्न होता है।

(ख) अब यह विचार करना है कि सत्का स्वभाव क्या है ? क्या यह परिच्छिन्न वस्तुरूप, वस्तुओंका धर्मरूप अथवा अनुगत धर्मिरूप है ? प्रथम पक्ष संगत नहीं। स्वरूप भिन्न-भिन्न है। वस्तुस्वरूप भिन्न होनेके कारण सत् भी भिन्न-भिन्न होगा। भिन्न-भिन्न सत्द्वारा 'यह वस्तु सत्, यह वस्तु सत्' ऐसी अनुगत बुद्धि सुसंगत नहीं है। घटादिकी परस्पर विलक्षणता होनेके कारण उनमें 'सत् घटः'; 'सत् पटः' इत्यादिरूपसे एकाकार बुद्धि नहीं हो सकती। वस्तुस्वरूपसे भिन्न अनुगत सत् न रहनेके कारण अनुगत सद्बुद्धि भी विषयशून्य होगी। इससे अनुगत सद्बुद्धिका ही अनुभव नहीं हो सकेगा और अनुगत व्यवहारका भी कोई आलम्बन नहीं रह जायगा।

अब दूसरे पक्षका खण्डन करना है। अनुगत-प्रतीतिके अनुसार सत्ताको जाति मानना उचित नहीं। अनुगत-प्रतीति वहीं हो सकती है जहाँ विशेषण और विशेषण-विशेष्यका अनुगत सम्बन्ध हो। विशेषणके अनुगत होनेपर भी यदि विशेषण-विशेष्यका अनुगत सम्बन्ध न हो तो अनुगत-प्रतीति नहीं हो सकती। जैसे एक ही गोत्व-सामान्य समवाय और कालिकसम्बन्धसे विशेषण होनेके कारण एक रूपमें न होकर विभिन्न रूपमें प्रतीत होता है। यदि 'सद्घट' आदि प्रतीतिमें प्रत्येक व्यक्तिभेदसे विभिन्न सद्रूपता (सत्ता) मानें तो विशेषण अनुगत नहीं रहेगा। अतः उसमें अनुगत-प्रतीति भी नहीं होगी। यदि इस सद्रूपताको सत्ताजातिरूप कहा जाय, तो विशेषण सत्ताजाति अनुगत होगी अवश्य, परन्तु विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध अनुगत नहीं रहेगा। कारण यह है कि 'द्रव्यसत्', 'गुणसत्', 'कर्मसत्' ऐसी प्रतीतियोंमें सत्ताजाति समवाय-सम्बन्धसे विशेषण होती है, और 'जातिसत्' 'समवायसत्' आदि प्रतीतिमें सत्ताजाति समवायसम्बन्धसे विशेषण नहीं होती, किन्तु एकार्थसमवाय अर्थात् सामानाधिकरण्यसे। द्रव्य, गुण, कर्म समवायसम्बन्धसे सत्ताके आश्रय हैं, जाति समवायसे द्रव्यादिमें रहती है। इस प्रकार परस्पर सम्बन्धसे सत्ता जातिमें रहती है। सुतरां विशेषण-विशेष्यका सम्बन्ध अनुगत नहीं हुआ; इसलिये विश्वप्रपञ्चमें घटपटादि सदसद्रूपसे अनुगत-प्रतीतिका विषय न हो सका।

अनुगत एकाकार बुद्धिको एकरूप सम्बन्धविषयत्व ही कहना उचित है, नहीं तो जिस प्रकार प्रमा (सिद्धान्त,

यथार्थ ज्ञान) और प्रमेय (साध्य जो सिद्ध किया जाय) में द्वैतबुद्धि होती है, उसी प्रकार इसमें आकारभेद उपस्थित होगा। अर्थात् साक्षात् एवं परम्परासम्बन्धसे प्रतीतिकी विलक्षणता दिखायी पड़ती है। प्रमाणोंके प्रकारमें एकता होनेपर भी साक्षात् सम्बन्ध और स्वाश्रय विषयतारूप परम्परासम्बन्धसे प्रमा और प्रमेयमें भेदबुद्धि दिखायी पड़ती है। अतः एक स्थानपर साक्षात्सम्बन्धसे, दूसरे स्थानपर परम्परासम्बन्धसे सत्की प्रतीति सिद्ध नहीं होती। 'सत्-सत्' विशिष्ट बुद्धिका आधार प्रत्यक्ष होनेके कारण, इसमें परम्परासम्बन्ध दिखायी नहीं पड़ेगा। परम्परासम्बन्धसे किसी पदार्थमें भी विशिष्टबुद्धि प्रत्यक्ष नहीं होती। ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता कि एकाकारबुद्धिका विषय कभी साक्षात्सम्बन्ध और कभी परम्परासम्बन्ध होता है। विजातीय सम्बन्धसे समानाकार प्रतीति असिद्ध है; नहीं तो सम्बन्धभेद ही नहीं सिद्ध होगा। यदि विजातीय सम्बन्धसे समानाकार प्रतीति हो तो सम्बन्धकी विजातीयता ही नष्ट हो जायगी। इसका कारण यह कि सम्बन्ध आदि विषयोंका एकत्व या अनेकत्व प्रतीतिद्वारा ही सिद्ध करना होगा। प्रकृत स्थलमें एकाकार प्रतीति होनेके कारण उसका विषय सम्बन्ध भी एक ही होगा, अर्थात् उसमें विजातीयत्व नहीं रहेगा।

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हुआ कि पदार्थमात्रमें उत्पन्न होनेवाला ज्ञान साधारण होनेके कारण, सत्तासामान्यके विषयमें प्रमाण नहीं हो सकता। यदि यह माना जाय कि अनुगत प्रतीतिको अनुगत विषयकी अपेक्षा नहीं होती, तो प्रतीतिद्वारा विषयोंकी व्यवस्था नहीं होगी। विषयका अनुगमन होते हुए भी यदि प्रतीतिका अनुगमन होगा तो जातिमात्रका उच्छेद हो जायगा। अनुगत प्रतीतिमें विशेषण और सम्बन्ध दोनोंहीका अनुगत होना आवश्यक है। कारण, दोनों ही प्रतीतिके विषय हैं। अतएव अनुगत व्यवहारको सिद्ध करनेके लिये जातिके अतिरिक्त अन्य सत् मानना पड़ेगा जिसके साथ ऐसा तादात्म्य होनेके कारण व्यवहार सम्भव हो सके। 'सत् घटः', 'सत् पटः' इत्यादि प्रतीति, घट-पटादि व्यक्तियोंमें सत्ताव्यक्तिके केवल अभेदको विषय करती है। परन्तु इस प्रतीतिद्वारा घटपटादिमें सत्ताजातिका समवायित्व सिद्ध नहीं होता। कारण, जो प्रतीति अभेदको विषय करती है, उसका निर्वाह भेदसे उत्पन्न हुए समवायसम्बन्धसे नहीं हो सकता। इस प्रकार 'द्रव्यं सत्'; 'गुणः सत्' इत्यादिक प्रतीतिद्वारा उस एक सद्वस्तुकी द्रव्यादिक समस्त पदार्थोंके साथ अभिन्नता सिद्ध होती है। ऐसा होनेसे उन द्रव्यादिक पदार्थोंमें भी परस्पर वास्तविक भेद सिद्ध नहीं होता। केवल भेदकी कल्पना ही होती है। अतः 'घटसे भिन्न पट' आदि प्रतीति भी भेद सिद्ध नहीं करती, क्योंकि घट-पटका भेद सद्-अभेदसे सिद्ध न होकर ऐक्य ही होता है। दो विरुद्ध स्वभाववालोंका अभेद वस्तुतः सम्भव नहीं। आध्यासिक (आभासमात्र) अभेद ही सम्भव है। पदार्थमात्रमें उत्पन्न होनेवाली प्रतीतिके विषयका, सबमें व्याप्त सत्के विरुद्ध स्वभाव होनेके कारण अनेक वस्तुओंमें उसका तादात्म्य पारमार्थिक नहीं होता, इसलिये इसको आध्यासिक ही कहना पड़ेगा। जब सत् जातिस्वरूप नहीं, पर घटादिके साथ उसका सामानाधिकरण्य होता है, तो 'सोऽयम्' (वह यही है) की तरह दोनोंमें एक ही आधारसे ऐक्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। अर्थात् यह मानना पड़ेगा कि सद्व्यक्तिकी अभिन्नता घटमें दृष्टिगोचर होती है। वस्तुभेद होनेके कारण जिस प्रकार घट और पटका सामानाधिकरण्य नहीं होता वैसे घटादिके साथ सत्का भी सामानाधिकरण्य नहीं होता। सामानाधिकरण्यके लिये दो पदार्थोंका भान होना आवश्यक है, उनका पारमार्थिक अस्तित्व आवश्यक नहीं। मृगमरीचिका आदिमें दूसरेका पारमार्थिक अस्तित्व न रहनेपर भी 'सत् यह जल' ऐसा सामानाधिकरण्य दीख पड़ता है। वास्तविक भेदके असिद्ध होनेपर द्रव्यगुणादिक धर्मोंमें सत्ताजातिरूप धर्मकी भी कल्पना नहीं हो सकती। अतः सद्रूप धर्ममें द्रव्यगुणादिक पदार्थोंका अभिन्नत्व ही मानना उचित है। जिस तरह अनेक घटोंमें 'यह घट, यह घट' ऐसी उपलब्धि व्यवहारसिद्धिके लिये घटत्व जाति माननी पड़ती है, वैसे ही सद्रूप व्यक्तिका भेद न रहनेके कारण उसमें सत्त्वरूप जाति नहीं है। सत्स्वरूप सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्चमें अनुगत होकर भासमान हो रहा है; इसलिये जैसे विशेषणकी उपलब्धि होती है वैसे सम्बन्धकी भी। जगत्में जहाँ भी सत्की प्रतीति होती है, वहाँ एक सद्रूप ब्रह्म ही सर्वत्र विशेषणरूपसे दिखायी पड़ता है, और उसीका तादात्म्य सम्बन्ध भी होता है। ब्रह्मका तादात्म्यसे विशेषणत्व उपलब्ध होनेपर, उसीका तथात्व (उसी प्रकारका होना) होता है, क्योंकि दोनों ही अवस्थामें व्यवहार सिद्ध है। ब्रह्म ही सबका सामान्य (जाति) है। जब वह सर्वसाधारणरूपसे व्यवहारमें आता है तो उसको सत्ता कहते हैं। किन्तु जब विकृतिसे अनेक

रूपोंमें दिखायी पड़ता है तब द्रव्य, पृथ्वी, घट, पट आदि उसकी संज्ञा होती है।

उल्लिखित विचारसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार 'मृद् घटमें' मृत्तिका धर्मिरूप है, उसी प्रकार घट-पटादिमें भी धर्मिरूप सत्की प्रतीति होती है अर्थात् सब पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाले सत्की ही धर्मिरूपसे उपलब्धि होती है। सर्वत्र सत्स्वरूपके अनुस्यूत होनेके कारण, मिट्टीसे बने घड़ेके समान, विश्वके उपादानके रूपमें उसकी सिद्धि होती है। सत्स्वरूपका जगत्से तादात्म्य अनुभव होनेके कारण, वह इसका उपादान है। (विश्वका अधिष्ठान सत् भी भावरूपसे सिद्ध होता है।) घटादिमें मिट्टी और द्रव्यके अभेदसे जिस प्रकार मिट्टीपनेका अनुभव होता है, उसी प्रकार सद्वस्तु और द्रव्यमें अभिन्नताके कारण ही विश्व-प्रपञ्चमें सत्त्व या सत्ताका अनुभव होता है; इसलिये पृथक् सत्त्वादि धर्म नहीं माना जाता।

उक्त विवेचनद्वारा जगत्का उपादान सत्स्वरूप सिद्ध होनेपर अब पूर्वप्रतिपादित कार्यकारणसम्बन्धवाले सिद्धान्तका प्रयोग करके मायावादका प्रतिपादन किया जायगा। सत्स्वरूपका विवेचन सृष्टिके अधिष्ठानरूपसे करनेपर, जगत्का उपादान सत्से कुछ विलक्षण (भिन्न) मानना होगा। यदि केवल सत् ही कार्यप्रपञ्च सृष्टिका उपादान होता तो उसका कार्य और कार्यका भेद भी सत् होता, परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये कार्यकारण-सम्बन्धमें तादात्म्यके लिये कार्य और उसके भेदमें अनिर्वचनीयत्व आवश्यक है। यदि कार्य और उसके भेदका केवल सद् उपादान होगा तो अनिर्वचनीयत्व सिद्ध नहीं होगा। इस अनिर्वचनीयताकी सिद्धिके लिये कार्य-प्रपञ्च (जगत्) का उपादान कुछ अनिर्वचनीय ही मानना पड़ेगा। यह अनिर्वचनीय उपादान निमित्त नहीं, क्योंकि निमित्तके धर्मका कार्यमें अन्वय (मेल) नहीं होता। कार्य और उसके भेदमें अनिर्वचनीय उपादान माननेसे उसका अनिर्वचनीयत्व हो सकेगा, और कारणसे तादात्म्य भी सिद्ध होगा। वह अनिर्वचनीय सद्विलक्षण मूल उपादान माया है। इसी स्वीकृत कारणसे सद्विलक्षण कार्यकी उत्पत्ति हो सकती है, दूसरेसे नहीं। इसको न माननेसे केवल नामोंके विषयमें विवाद होगा।

'सत्प्रपञ्च'में दोनों शब्दोंका समानाधिकरण माननेसे सत्के साथ प्रपञ्चका अभेद प्रतीत होता है। यह अभेद तभी संगत हो सकता है जब ब्रह्मके अतिरिक्त जगत्की सत्ता न हो। दो भिन्न सत्ताओंका ऐक्य सिद्ध नहीं होता। इसलिये सत् सर्वदा और सर्वत्र सत् ही होता है। उसका कहीं कभी भी असत्त्व संगत नहीं। सत्में व्यभिचार (परिवर्तन) होनेसे उसका कभी भी असत्त्व हो सकता है। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं; क्योंकि सत्त्व और असत्त्वके एकत्वमें विरोध है। इस प्रकार सत्का असत्त्वधर्म सिद्ध नहीं होता। गन्धर्वनगर आदिकी भाँति जो असत् है वह सर्वदा सर्वत्र असत् रहेगा। असत्का सत्त्व उपलब्ध नहीं होता, कार्य अपनी उत्पत्तिके पूर्व कारणसे अलग सत् नहीं होता, इसलिये बादमें भी वह असत्य ही है। पदार्थोंके रूपमें प्रतीयमान जगत् अनिर्वचनीय है। सत्स्वरूप ब्रह्म ही परमार्थतः सत्य है, तथा जगत् उसका परिणाम (आंशिक या पूर्णतः) न होनेके कारण, उसके समान सत्तावान् न होनेके कारण वास्तवमें सत्य नहीं है। कार्य उपादानकारणके अनुसार ही होता है। जगत्का वह अवास्तविक (अथवा अपारमार्थिक) मूल उपादान ही माया है।

यदि सच्चित् ब्रह्मका रूपान्तर जगत् अनिर्वचनीय न होकर वास्तविक हो, तो इस मतके अनुसार ब्रह्म उत्पन्न और नष्ट होता है, और इसलिये उसमें विकार उत्पन्न होकर उसकी निर्विकारतामें बाधा पहुँचाता है। अनिर्वचनीयवादमें, ब्रह्ममें इस प्रकारका विकार नहीं उत्पन्न होता, क्योंकि अवास्तविक कार्यका विकार कारणमें विकृति नहीं उत्पन्न कर सकता। अतः सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त ब्रह्मसे, मायाके कारण विविध प्रपञ्चविवर्त (जगत्) उत्पन्न होनेपर भी वह निर्विशेष ही बना रहता है, इसलिये उसके निर्विकारत्वकी हानि नहीं होती। परन्तु सर्वथा असत् कार्यकी उत्पत्ति युक्तिसंगत नहीं होती। अतएव यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कुछ-न-कुछ उसका कारण है और अपने सहकारी कारणोंसे कार्यरूपको प्राप्त होता है। इसलिये कार्यकी उत्पत्ति और विनाश—दोनोंका अवसान कारणमें होगा और इसलिये कारणका अविकारत्व अक्षुण्ण नहीं रह सकता। जो अविकारी है उसमें अशेषता और विशेषताका प्रश्न ही नहीं उठता; वह निर्विशेष रहता है। जिस किसी पदार्थके साथ विशेष लगा होता है, वह विकारयुक्त होता है। जो एक निर्विकार प्रकाशस्वरूप परब्रह्म है उसमें उसके विपरीत आकारसे आभास होना स्वाभाविक नहीं है। उसको मायाके विलाससे ही ऐसा सम्भव है।

अब दूसरी रीतिका कुछ प्रतिपादन किया जाता है। उक्त अनिर्वचनीय मूल कारण (माया) को अन्य रीतिसे प्रतिपादित करनेके लिये यह दिखलाना पड़ेगा कि कार्य भी अनिर्वचनीय है। यहाँ सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद और सदसत्कार्यवाद* का खण्डन करना पड़ेगा। यद्यपि स्थानाभावके कारण विस्तारके साथ ऐसा नहीं किया जा सकता तथापि पूर्वप्रदर्शित सत्स्वरूपकी दृष्टिसे इसपर कुछ विचार किया जायगा। सत्त्व (वास्तविक सत्ता) त्रिकालाबाधित है, क्योंकि इसके अतिरिक्त और कोई सत्ता ही नहीं है। और असत्त्व शशशृंग (खरगोशकी सींग) आदिकी तरह अवास्तविक है। अतः कार्यका सत्त्व मान लेनेसे, इसके कालातीत होनेके कारण, उत्पत्तिके पूर्व भी कार्यकी उपलब्धि होनी चाहिये तथा कार्यका व्यापार भी निष्फल होगा। उसका नाश भी सम्भव नहीं होगा, क्योंकि सद्वस्तुका नाश दिखायी नहीं पड़ता। कार्यके अवास्तविक होनेसे शशशृंगादिकी नाईं उत्पत्ति आदिमें शङ्का भी नहीं उत्पन्न होती। इसलिये कार्यमें सत् और असत् दोनोंसे कुछ विलक्षणता माननी पड़ेगी। जैनलोग जगत्प्रपञ्चका सत्त्व, असत्त्व, सदसदात्मकत्व (सत् और असत् दोनों होना) और सदसद्भिन्नत्व (सत् और असत् दोनोंसे भिन्न होना) मानते हैं, किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है। एक ही जगत्में ऐसे वास्तविक विरुद्ध धर्म असम्भव हैं। हाँ, यदि इन धर्मोंको मिथ्या मान लिया जाय तो अद्वैतवेदान्तियोंको कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

सत्, असत् अथवा सदसत्की उत्पत्ति असम्भव होनेसे कार्यकी अनिर्वचनीयता ही माननी पड़ेगी। यह इसलिये नहीं कहा जाता कि वक्ता अपने असामर्थ्यके कारण अनिर्वचनीयताकी शरण लेता है, परन्तु वक्तव्य वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है। असत्पक्षमें दोषोंके निवारणके लिये कार्यको असद्विलक्षण मानना पड़ेगा। इसी प्रकार सत्पक्षके दोषोंके निवारणके लिये कार्यको सद्विलक्षण और दोनों पक्षके दोषोंको हटानेके लिये उसको सदसद्विलक्षण मानना होगा। सदसद्वैलक्षण्य एकत्र प्रमाणित होनेके कारण परस्परविरोध नहीं रहेगा।

सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद तथा सदसत्कार्यवादके दूषित सिद्ध होनेपर, एक अनिर्वचनीय उपादानकारणके बिना कार्यकी उपलब्धि नहीं हो सकती। सत्, असत् अथवा सदसत्से कार्यका उत्पन्न होना असम्भव है; इसलिये अनिर्वचनीयसे ही कार्यकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी। अनिर्वचनीय प्रपञ्च (जगत्) का सत्य उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि कार्य और उपादानकारणमें विलक्षणता नहीं होती। कार्यके सदृश ही उपादानकारणकी चर्चा करनी होगी। वह अनिर्वचनीय जगत्का अनिर्वचनीय उपादानकारण माया है।

लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त घट, पट आदिमें भी उक्त अनिर्वचनीय कारण माननेकी आवश्यकता पड़ती है। उत्तरोत्तर कार्यकी पूर्व-पूर्व कार्यके साथ भिन्नताका निराकरण करके अन्तमें एकता स्थापित करनी होगी। इस सिद्धान्तमें पूर्व पटसे अभिन्न होनेहीके कारण उत्तर पट उत्पन्न होता है, ऐसा मानना पड़ेगा। और जात (उत्पन्न) पटका जायमान पटसे अभेद दिखलाना मायाके बिना सम्भव नहीं है, क्योंकि दो परस्परविरुद्ध वस्तुओंका वास्तविक ऐक्य हो नहीं सकता। तात्पर्य यह कि उत्तरोत्तर पटमें पूर्व-पूर्व पटका प्रत्यक्ष अभेद न होनेके कारण अनिर्वचनीय अभेद मानना पड़ेगा। यदि केवल तन्तु (सत्) पटका उपादान होगा तो उक्त अभेदका अनिर्वचनीयत्व सिद्ध नहीं होगा। इसलिये कार्यके परस्पर अभेदका उपादानकारण अनिर्वचनीय है, वही माया है।

पूर्वपक्ष—अदृष्ट (अलौकिक या जो दिखायी न पड़े) अथवा भाग्यवश ही अनिर्वचनीय कार्यकी उत्पत्ति हो सकेगी ?

सिद्धान्त—नहीं, अनिर्वचनीय पदार्थ केवल अदृष्टसे सिद्ध नहीं हो सकता, वह तो केवल मायाके उपादानत्वसे उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह कि अदृष्ट केवल निमित्त है, उपादान नहीं। बिना कार्यके अनुरूप उपादान पाते

---

* जिस मतमें उत्पत्तिके पूर्व और नाशके अनन्तर उपादानकारणमें कार्य सूक्ष्मरूपसे रहता और स्थिति-अवस्थामें कार्य कारणसे भिन्नाभिन्न है, उसको सत्कार्यवाद कहते हैं। जिस सिद्धान्तके अनुसार उत्पत्तिके पहले और नाशके पीछे समवायी (उपादान) कारणमें कार्य नहीं रहता तथा कार्य-कारण सर्वथा भिन्न हैं और समवायसम्बन्धके कारण अभिन्न दिखायी पड़ते हैं, उसे असत्कार्यवाद कहते हैं। सदसत्कार्यवादके अनुसार एक ही कार्य कहीं सत् और कहीं असत्, परन्तु एकान्त सत् और एकान्त असत् नहीं होता।

अनिर्वचनीय कार्यकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती ।*

उक्त अनिर्वचनीय मूल कारण अज्ञानरूप है, इसका प्रतिपादन करना आवश्यक है। परन्तु लेखका विस्तार बहुत बड़ा न हो जाय, इसलिये प्रस्तुत विषयकी केवल रूप-रेखा ही दिखायी जायगी।

लोकमें प्रचलित भ्रान्त विचारों—असत्ख्याति, सत्ख्याति और सदसत्ख्यातिका निराकरण करके अनिर्वचनीय ख्यातिकी प्रतिष्ठा करनी है। प्रत्यक्षमें असत्य होनेके कारण असत्ख्याति अनुभवमें नहीं आती। सत्ख्यातिमें बाधा सिद्ध नहीं होती और न उसके व्यवहारमें भ्रान्ति ही उत्पन्न होनी चाहिये। अख्यातिवादमें शुक्तिके 'इदं' अंश (यह जो दिखायी पड़ता है) का प्रत्यक्ष और रजतकी स्मृति होती है। और इन दो पृथक् ज्ञानोंके अविवेकसे उस तरफ प्रवृत्ति भी मालूम पड़ती है। परन्तु यह मत समीचीन नहीं जान पड़ता। इसमें दो प्रकारके ज्ञान, परोक्षका भाव, स्मृति होना, मैं स्मरण कर रहा हूँ, इसको भूल जाना, इस कारणसे अविवेक उत्पन्न होना, इसलिये प्रवृत्ति होना तथा जन्मान्तरमें अनुभूति स्मृति—इस प्रकारकी अनुभवमें न आयी हुई और इसलिये असिद्ध कल्पनाएँ अख्यातिवादमें करनी पड़ती हैं। अन्यथा ख्यातिवादमें दूसरे स्थानमें स्थित रजत आदिका भान भ्रममें होता है। परन्तु यह सिद्धान्त सुसङ्गत नहीं जान पड़ता। इस वादके अनुसार अन्यत्र स्थित वस्तुका अन्यत्र ज्ञान, जन्मान्तरमें अनुभूत पदार्थका इन्द्रियोंको ज्ञान, दोषका अदृष्ट सामर्थ्य तथा असत् वस्तु (शुक्तिमें रजत) की प्रत्यक्षता—ये प्रमाणविरुद्ध कल्पनाएँ करनी होती हैं। सदसत्के ज्ञान और सत्तामें विरोध होनेके कारण, और उनमें ऐक्य न दिखायी पड़नेके कारण, भ्रममें भी दोनोंका एक साथ अवभास मानना उचित नहीं। इसलिये सब दोषोंके निवारणके लिये और ज्ञानमें भ्रान्तिके मिथ्यात्वको अनुभव करनेके लिये मानना पड़ेगा कि 'रजत नहीं है, मिथ्या ही रजत भान हुआ था।' तात्पर्य यह है कि भ्रम और उसके मिथ्यात्वका ज्ञान दोनों अनुभवसिद्ध हैं। शुक्तिस्थलमें रजतके भानसे कम-से-कम प्रतिभासमान कालतक मिथ्या रजतको अङ्गीकार करना पड़ेगा, चाहे पीछे इसका भ्रम दूर भले हो जाय। सत्त्व अतीन्द्रिय होनेके कारण अपरोक्षका प्रयोजक नहीं है। और असत्त्व भी अवास्तविक होनेके कारण बाध नहीं उत्पन्न करता। अतएव अपरोक्ष और बाध होनेसे ही शुक्ति और रजतको सदसत्के अतिरिक्त मानना पड़ेगा।

अज्ञान केवल शुक्ति-रजतको उत्पन्न ही नहीं करता; किन्तु उनकी स्थितिका भी बोध कराता है। इसलिये घटको उत्पन्न करके उसको स्थितिमें रखनेवाली मिट्टीकी तरह अज्ञान भी जगत्का उपादानकारण है। इस अज्ञानके कारण ही अधिष्ठानरूप शुक्तिमें विभिन्न सत्तावाले रजतका आभास होता है। यह अनिर्वचनीय पदार्थ अधिष्ठानसे भिन्न, अभिन्न या भिन्नाभिन्न नहीं; वह सत्, असत् या सदसद्रूप भी नहीं। ऐसे पराधीन पदार्थको मिथ्या कहते हैं।

स्वयंसिद्ध पारमार्थिक सच्चित्स्वरूप अधिष्ठानकी दृष्टिसे (उसकी अपेक्षा) स्वल्प सत्तावाले व्यावहारिक जगत्का विवेचन करनेसे, उक्त लक्षणवाले प्रपञ्च (विश्व) को मिथ्या ही कहना पड़ेगा। एकमात्र स्वप्रकाश सत्की सत्तासे ही जडकी सत्ता होती है, किन्तु इसकी सत्ता अधिष्ठानसे विषम होती है। ऐसा प्रतिभास यथार्थ नहीं हो सकता। इसलिये वह अध्यास होगा। अधिष्ठानके असम सत्ताका अवभास ही अध्यास कहलाता है। इस अवभासका कारण अज्ञान है। अज्ञानके कारण ही चेतनके साथ जड प्रपञ्चका शुक्ति-

---

* सांख्यादि दार्शनिक कार्य (जगत्) को सत् मानकर उसके कारण (प्रकृति) को सत् मानते हैं। क्योंकि परिमित पदार्थोंको एक साथ देख सकते हैं, और एकजातीयताके कारण एक ही कारण दिखायी पड़ता और कार्योंमें शक्तिके साथ प्रवृत्ति भी मालूम पड़ती है। इसलिये सत्कार्यवादी सांख्यादिकोंने सामान्यतः दृष्ट अनुमानसे उन कार्योंका कारण एक अव्यक्त (रूपादिरहित) शक्ति सिद्ध किया है। न्याय और वैशेषिकदर्शन कार्यको उत्पत्तिके पूर्व और नाशके बाद असत् मानते हैं। मध्यमें वह सत् होता है। इस मतके अनुसार विभिन्न व्यक्तियोंसे विभिन्न सत्तारूप जाति सिद्ध होती है। इस सिद्धान्तमें जाति और व्यक्तिके बीच समवायसम्बन्ध मान लेनेसे, व्यक्ति और जातिका सर्वथा भेद होनेके कारण सत्को परिणामी (परिवर्तनशील) नहीं मान सकते। समजातीय पदार्थसे समजातीय कार्य उत्पन्न होने, बहुत-से एक और सूक्ष्मसे स्थूलका आरम्भ देखकर कार्यप्रपञ्च (जगत्) का मूल उपादान रूप आदिसे युक्त चार प्रकारके परमाणु अनुमान किये गये हैं। अद्वैत वेदान्ती लोग भी सत्को एक और नित्य मानते हैं, परन्तु इस मतमें वह परिणामी-रूप धर्मी या अपरिणामी धर्म नहीं, किन्तु वह अपरिणामी धर्मी वा अधिष्ठान है (जगत्का आधार जिसपर प्रपञ्चका अध्यास होता है)। इस सिद्धान्तके अनुसार अनिर्वचनीय कार्यका परिणामशील उपादानकारण माना जाता है।

रजतकी नाईं आध्यासिक सम्बन्ध मानना होगा। यहाँपर संयोग (दो वास्तविक पदार्थोंका एक साथ मिलना), समवाय (एक पदार्थसे उससे भिन्न पदार्थका बनना), स्वरूप (ऐक्य) और यथार्थ तादात्म्य (दोका एक हो जाना) सम्भव नहीं है। और जडकी स्वतन्त्र सत्ता न होनेके कारण चेतनके साथ उसका तादात्म्य स्वीकार करना पड़ेगा। अन्तमें दोनोंका अयथार्थ तादात्म्य स्वीकार करना पड़ेगा। इसलिये चेतनके साथ जडका सम्बन्ध अयथार्थ या अनिर्वचनीय है। जहाँ अधिष्ठान—अध्यस्त सम्बन्ध होता है वहाँ अध्यस्त मिथ्या होता है, किन्तु दोनों सत्य या दोनों मिथ्या नहीं होते। इस अनिर्वचनीय अवभासका कारण कुछ अनिर्वचनीय ही मानना पड़ेगा। वह अनादि है, नहीं तो सृष्टिमें अनवस्था उत्पन्न होगी। विचार करनेसे मालूम होता है कि कूटस्थ, अद्वितीय, सत्स्वरूप, स्वप्रकाश चैतन्य सत्तामें जडके प्रतिभासित होनेका मूल कारण कुछ ऐसा होना चाहिये जो किसीका कार्य नहीं, जो मिथ्या कार्योंके उत्पन्न करनेमें समर्थ है, जो सत् या असत् नहीं, जिसके द्वारा अधिष्ठानमें विकृति नहीं सम्पादित होती और जो जड है। ये सब बातें अज्ञानमें ही सम्भव हो सकती हैं। इसलिये अज्ञान ही उक्त मूल हेतु है।

स्पष्टीकरण

कार्यजगत् जड और चेतन दोनोंसे अनुविद्ध होकर उत्पन्न होता है। इसलिये दोनोंका उपादानत्व स्वीकार करना उचित है। जिससे अभिन्न कार्य उत्पन्न होता है उसको उपादानकारण कहते हैं। अभेदका अर्थ पृथक् सत्ताका न होना है। और जड और चेतनमें समान है। चेतनके स्वरूपका विचार करनेसे वह अखण्ड और स्वप्रकाश सिद्ध होता है। वह सत्स्वरूपकी भाँति सर्वत्र स्फुरणरूपसे अनुभूत होता है। किन्तु यदि केवल सच्चित्स्वरूप ही उपादान होता तो जड आकस्मिक होता। चेतनका उपचय, अपचय या स्वरूपभेद न रहनेसे उसका परिणाम नहीं होता। इसलिये सदसदात्मक प्रपञ्चका सदसदात्मक उपादान नियमपूर्वक होना चाहिये। दृश्य, जड, परतन्त्र और चेतनाश्रित कार्यप्रपञ्च अपने समजातीय कारणसे ही उत्पन्न होगा। ऐसा कारण अज्ञान ही है। जड पदार्थके, चेतनका स्वरूप, धर्म, अंश, या विकार न होनेसे तथा चेतनसत्तासे सत्तावान् होनेके कारण, अज्ञान उपादान मान्य होता है। अज्ञानजनित होनेसे ही सावयवत्व निरवयवत्वका व्याघात नहीं करता। अज्ञान अनिर्वचनीय होनेसे उसक
सम्बन्धी भी अनिर्वाच्य है। अतएव सद्वस्तुके निरवयवत्व
का विरोध नहीं होता। इस प्रकार अज्ञानके कारण द्वैत
भान होनेसे द्वैत और अद्वैतका वस्तुतः विरोध नहीं सि
होता। इसलिये अद्वैततत्त्व और द्वैतमें समान अधिकरण
उत्पन्न हुआ ऐक्य प्रमाणित होता है। अधिष्ठानरूप चेत
सत्ता ही कारणरूप अज्ञानसे अवच्छिन्न होकर कार्यद्वारा
अवच्छिन्न होती है। अतएव परिणाम और परिणामि
एकसत्तात्मक तादात्म्य सिद्ध होता है। अनिर्वचनीय होने
ही अज्ञान सावयव-निरवयव, पूर्ण या आंशिक परिणाम
विकल्प-दोषसे दूषित नहीं होता।*

अज्ञानवादका प्रतिपादन अन्य रीतिसे भी करते हैं। कि
इसके पहले साक्षिचेतनका प्रतिपादन होना चाहिये। (
जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाओंके विचारद्वारा उनके भ
और अभावके अतिरिक्त प्रकाशरूपसे (२) परिणामी अन्त
करण दिखाकर उसके प्रकाशक परिणामरहित चेतनरूपसे (
धारावाहिक ज्ञानके विचारद्वारा अहंकारके अतिरिक्त अनुभ
रूपसे (४) इष्टज्ञान और सुखके कार्यकारणभावके ग्राह

---

* विचारद्वारा यह दिखायी पड़ता है कि चिन्मात्रस्व
साक्षीके साथ तादात्म्य होनेसे ही सम्पूर्ण साक्ष्यकी प्रतीति हो
है। ऐसा सिद्ध होनेसे प्रकृति, परमाणु आदि जड कारणवाद
निराकरण हो जाता है। ज्ञानका नित्यत्व सिद्ध होनेसे क्षणि
विज्ञानवाद और शून्यवाद भी खण्डित होंगे। अभाव और शब्द
का परिणाम जगत्में न होनेके कारण अभाव और शब्द
जगत्के मूल उपादान नहीं हो सकते। अधिष्ठान, सद्रूप, अद्वि
आत्मचैतन्य ही सद्बुद्धिगोचर होता है। वही वास्तव स्वरूप है
उससे अलग दृश्य जगत्का स्वतः सत्ताभाव होनेके कारण सद
सर्वाभेद है। इसलिये वैष्णवादिसम्मत भेदाभेदवादका भी निरा
हो जाता है। अज्ञान, गौडीय वैष्णवसम्मत 'विशेष' भी नहीं। अ
विशेष स्वरूपसे अभिन्न ब्रह्मशक्ति है, अतएव सत्य है। पर
अज्ञान चेतनस्वरूप ब्रह्मसे भिन्न, अभिन्न या भिन्नाभिन्नरूपसे
निरूपणके योग्य नहीं है। वह अनिर्वचनीय या मिथ्या है
अतएव ब्रह्ममें अध्यस्त अज्ञान ही अपने परतन्त्ररूपसे शक्ति
शक्ति है। वस्तुतः अज्ञानसम्बन्ध न होनेसे भी आध्या
सम्बन्धके कारण वह शक्तिवत् कहा जाता। इसलिये शक्ति
गौण है। अज्ञान सांख्यदर्शनकी प्रकृति भी नहीं। प्रकृति चेत
भिन्न, स्वतन्त्र, चेतन-अनधिष्ठिता और चेतन-अनध्यस्ता है, पर
अज्ञान इससे विपरीत स्वभाववाला है।

रूपसे (५) अज्ञात बहिःपदार्थोंके प्रकाशकरूपसे और (६) भावरूप अज्ञानके साधकरूपसे साक्षिचेतन प्रतिष्ठित होना चाहिये। उसका स्वप्रकाशकत्व दिखलाना है। ज्ञानका स्वप्रकाश्यत्व होनेसे अनवस्था, विषयान्तरसञ्चाराभाव, अननुभव और उसके आश्रयसे विषयमात्रमें संशय होगा। स्वप्रकाश होनेसे ज्ञान निर्विषय रहेगा, इसलिये उसमें परिणाम न होकर उसका अभेदतत्त्व सिद्ध होगा। अब सत् और चेतनकी एकता प्रदर्शित करनी चाहिये। सत्स्वरूप भिन्न-भिन्न वस्तुरूप नहीं, किसीका भी धर्मभूत नहीं, सबमें व्याप्त, भेदरहित, औपाधिक भेदसहित, और स्वतः सिद्ध है; ऐसा ही चेतनका भी स्वरूप है। सत् और चेतनकी एकता सिद्ध होनेके बाद उसकी परिपूर्णताकी अनभिव्यक्तिके प्रमाणरूपसे अज्ञानवाद सिद्ध होगा। अज्ञानके बिना पदार्थोंकी एक रूपसे प्रसिद्धि और दूसरे रूपसे अप्रसिद्धि नहीं सिद्ध होगी। अज्ञानमूलक ही अध्यास होता है। अध्यास अपने विरोधी अंशका आवरण है और सामान्यतः भासमान वस्तुमें होता है। अतएव एक ही पदार्थ अध्याससे अंशतः आवृत और स्फुरणांशमें अनावृत होनेके कारण ज्ञानमूलक सत्में अज्ञानमूलक प्रपञ्चाध्यास सम्भव है। सच्चित्स्वरूप स्फुरित होनेसे अज्ञानादिका साधक होता है, परिपूर्णादिरूपसे अस्फुरित होनेसे अज्ञानका विषय होता है। (स्फुरण तात्त्विक और अस्फुरण अतात्त्विक होनेसे उनमें विरोध नहीं है।) अपने ही आकारमें प्राप्त प्रकाशका अप्रकाशत्व और उसका विपरीत स्फुरण अज्ञानजनित चेतनमें सम्भव होता है। उत्पत्तिरहित अज्ञानद्वारा विषयीकृत चेतनकी आंशिक प्रतीतिसे, उसका अधिष्ठानत्व सिद्ध होता है। अतएव परिपूर्णतः अज्ञात सच्चिद्रूपसे ज्ञातस्वरूप चैतन्य ही सर्वप्रपञ्चका अधिष्ठान है।

जीवत्वकी दृष्टिसे अज्ञानवादका प्रतिपादन करनेके लिये यह दिखलाना होगा कि दृश्य और द्रष्टारूपसे, आगमापायी (आवागमनशील) और उसकी अवधिरूपसे तथा परिणामी और अपरिणामिरूपसे अहङ्कार और चेतन विरुद्धस्वभाववाले हैं। इन दोनोंके ऐक्यके आभासमें शुक्तिरजतकी भाँति अन्योन्याध्यास होता है। क्योंकि इसके बिना विरुद्ध स्वभाववाले पदार्थोंका एकत्व दिखायी नहीं पड़ सकता। इस प्रकार भ्रम उत्पन्न करनेवाले, परिणामी, आत्माश्रित मिथ्या अज्ञानकी सिद्धि होती है।

ऊपरके विवेचनसे यह निष्कर्ष निकला कि जडप्रपञ्चका आधार सच्चित् है। वह सच्चित्स्वरूप स्वप्रकाश, अखण्ड, परिपूर्ण, परिणामरहित है। उस स्वरूपका जगद्रूपमें दिखायी पड़ना अर्थात् परिपूर्णतः उसकी अनभिव्यक्ति और विभक्तरूपसे अभिव्यक्ति अज्ञानसे उत्पन्न हुई है। यह सिद्धान्त जीवत्वके विचारद्वारा भी प्रमाणित होता है। तथा कार्यके स्वरूप, कार्य और उपादानकारणके सम्बन्ध, उनके सामानाधिकरण्य और उनके भेदका विवेचन करनेसे भी यही सिद्धान्त प्रतिष्ठित होता है। यही अज्ञानवाद, मायावाद या अनिर्वचनीयवाद है।*

* * *

क्यों ?

देख लो अब तो दयानिधान।
ठगियोंकी बस्तीमें कैसे पाऊँ मैं कल्यान॥
अहंभावना मुझमें रहकर करती है हैरान।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोहसे नाकों आयी जान॥
शरणागत यह 'प्रेम' तुम्हारा फैला हाथ निदान।
टेर रहा है तुमको प्रभुवर! दोगे क्या नहिं कान?

—प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम'

---

* उपर्युक्त बहुत-से विषयोंका विस्तृत विवेचन हमारे तत्त्वविज्ञान (हिन्दी), मायावाद या अद्वैतसिद्धान्तविद्योतन (हिन्दी) और अद्वैततत्त्वप्रबोधिनी (संस्कृत) ग्रन्थोंमें किया गया है।

भर्तृप्रपञ्चका अद्वैत-सिद्धान्त

(लेखक–पं० श्रीवीरमणिप्रसादजी उपाध्याय एम० ए०, बी० एल०, साहित्याचार्य, न्यायशास्त्री)

एतेन चिकीर्षिताया वृत्तेर्भर्तृप्रपञ्चभाष्येणागतार्थत्वमुक्तम्……भर्तृप्रपञ्चभाष्याद्विशेषान्तरमाह–तस्या इयमल्पग्रन्थावृत्तिरारभ्यते—

बृहदारण्यकके ऊपर शाङ्करभाष्य और आनन्दगिरिटीकाके इन वाक्योंसे यह पता चलता है कि भर्तृप्रपञ्च आचार्य शङ्करसे भी पहले एक प्रसिद्ध लेखक हो गये हैं और इन्होंने बृहदारण्यकोपनिषद्पर एक विस्तृत भाष्य लिखा था, जो इस समय उपलब्ध नहीं ! यह भी निस्सन्देह है कि अपने समयमें औपनिषद दर्शनके प्रचारकोंमें इनका बड़ा प्रभाव रहा होगा; क्योंकि इनके मतका स्पष्ट निर्देश प्राचीन वेदान्तग्रन्थोंमें अधिक रूपसे पाया जाता है, विशेषतः शाङ्करभाष्योंमें तथा सुरेश्वराचार्यके 'वार्त्तिक' में। रामानुजभाष्य आदिमें भी इस मतका सूक्ष्म उल्लेख मिलता है। यद्यपि इनका कोई स्वतन्त्र लेख अथवा ग्रन्थ नहीं मिलता तो भी पूर्वपक्षके रूपमें बिखरे हुए वाक्योंके परिशीलनसे इनका अद्वैत-मत निम्नलिखित प्रकारसे वर्णित किया जा सकता है—

मैं इनके दार्शनिक सिद्धान्तको (१) राशित्रयवाद, (२) अनेकान्तवाद अर्थात् भेदाभेदवाद, (३) परिणामवाद और (४) मोक्षनिरूपण, इन चार प्रकरणोंमें बाँट कर दिखलाना चाहता हूँ।

(१) राशित्रयवाद–भर्तृप्रपञ्चके अनुसार तीन राशियाँ होती हैं—(क) परमात्मा स्वयं। इस राशिको उत्तम राशि कहते हैं; (ख) जीव। इस राशिको मध्यम राशि कहते हैं। (ग) शेष मूर्तामूर्त जगत्। इसे अधम राशि कहते हैं, क्योंकि यह कोटि परमात्मा और जीवसे भी नीचे आती है। मूर्त्त—जैसे आधिभौतिक कोटिमें पृथ्वी, जल आदि, अमूर्त्त—जैसे आकाश आदि पदार्थ हैं, और आध्यात्मिक कोटिमें मूर्त्त—जैसे शरीरको बनानेवाले पृथिवी आदि भूत और अमूर्त्त—जैसे प्राण आदि। इसी प्रकार सारा संसार इन्हीं दो भागोंमें बाँटा जा सकता है।

—(ख) निर्गुण, शुद्ध, सच्चिदानन्द परमात्माका एकदेश अथवा अंश है जीव। जिस प्रकार हरदी-चूना आदि द्रव्योंके मेलसे वस्त्र रंगीन हो जाता है उसी प्रकार भावना (अर्थात् पूर्वप्रज्ञा), विद्या (अथवा ज्ञान), कर्म, राग आदिके समुदायसे परमात्माका अंश सांसारिक जीव बन जाता है। वासनाओंका उपचय जीवका साधारण रूप है–यह वही अपाञ्चभौतिक रूप है, जिसके कारण परमात्मा परिच्छिन्न होता हुआ विज्ञानात्मा (अथवा जीव)के रूपमें परिणत हो जाता है। यह रूप भूतराशि और उसके विकारोंके संयोगसे उत्पन्न होता है। परन्तु यह रूप पाञ्चभौतिक (अर्थात् स्थूल आकारका) नहीं होता है और भूतराशिसे लिंगशरीरके द्वारा–(बुद्धि, अन्तःकरण आदि)–आत्मामें संक्रान्त होता है। जिस प्रकार कई द्रव्योंसे एक मद (नशा) उत्पन्न होता है पर वह स्वयं द्रव्यरूप नहीं होता; उसी प्रकार यह रूप पञ्चभूतोंकी राशिसे उत्पन्न होता है पर वह स्वयं पञ्चभूतात्मक, किन्तु भावमय होता है।

अपाञ्चभौतिकं रूपमिदं तन्निर्दिदिक्ष्यते।
यथेति माहारजनं वासनोपचयात्मकम्॥

परमात्माका अंश अथवा एकदेशरूप जीव वस्तुतः स्वयं निर्गुण है, किन्तु इन्हीं वासनाओंके कारण सगुण-सा हो जाता है–कर्त्ता, भोक्ता और बन्ध या मोक्षका भागी हो जाता है। वासना, विद्या, काम, कर्म आदि विज्ञानात्माके स्वाभाविक रूप नहीं किन्तु आगन्तुक हैं। सांख्यसिद्धान्तकी तरह ये अनात्म-धर्म हैं, किन्तु जिस प्रकार गन्ध फूलोंमें रहता हुआ भी उससे निकलकर इत्र या तेल आदिमें आ जाता है, उसी प्रकार भावना, ज्ञान (विद्या), राग, कर्म आदिका समुदाय भूतराशिसे निकलकर लिङ्ग (शरीर) में और उससे परमात्मैकदेश अर्थात् आत्मामें आ जाता है। तात्पर्य यह है कि वासना, कर्मराशि आदि विज्ञानात्माके स्वारसिक धर्म अथवा गुण नहीं किन्तु भूतराशिसे लिङ्गके द्वारा (लिङ्गरूप उपाधि और आत्मामें तादात्म्य रहनेके कारण) आत्मामें उसी प्रकार संक्रान्त हो जाता है जिस प्रकार फूलोंका गन्ध इत्र या तेलमें, और तभी विज्ञानात्मा स्वयं निर्गुण तथा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वरूप होता हुआ भी कर्त्ता, भोक्ता और जन्म-मरण आदि सांसारिक बन्धनोंमें जकड़ जाता है—

भूतराशेरगाल्लिङ्गं कर्मराशिः सकाशतः।
लिङ्गादात्मानमागात्स लिङ्गसम्बन्धकारणात्॥

जिस प्रकार फूलोंके नहीं रहनेपर भी फूलोंका गन्ध इत्र या तेलमें बना रहता है, उसी तरह सुषुप्ति-कालमें लिङ्गके नहीं रहनेपर भी आत्मामें वासनाएँ आदि बनी रहती हैं और जागरणमें उद्भूत होकर सांसारिक जीवनकी धारा पुनः फैला देती हैं। इस तरह यह स्पष्ट है कि भर्तृप्रपञ्चके मतमें जीव परमात्माके एकदेश या अंश हैं, जो आगके सदृश चिनगारीकी भाँति निर्गुण हैं; परन्तु आगन्तुक कर्मराशि वासनाएँ आदिके सम्पर्कसे सांसारिक जीवके रूपमें परि-

हो जाते हैं। इस प्रकार परमात्मा तथा जीवमें अंशांशिभाव अथवा एकदेश-एकदेशिभाव सिद्ध हुआ।

(२) अनेकान्तवाद या भेदाभेदवाद—एकदेश और एकदेशीमें या अंश या अंशीमें भेदाभेद सम्बन्ध रहता है, इसीलिये भर्तृप्रपञ्चका मत भेदाभेदवाद या द्वैताद्वैतवाद या अनेकान्तवाद माना गया है। सुरेश्वराचार्यने नैष्कर्म्यसिद्धिमें भर्तृप्रपञ्चके भेदाभेदवादका खण्डन किया है—

अनुत्सारितनानात्वं ब्रह्म यस्यापि वादिनः।
भिन्नाभिन्नं विशेषैश्चेद् दुःखि स्याद् ब्रह्म ते ध्रुवम्॥

टीकामें लिखते हैं—

सामान्यविशेषात्मना भिन्नाभिन्नं ब्रह्मेति यस्य मतं तन्मतेऽपि दुस्सम्पादः समुच्चयः।

इत्यादि। अर्थात् सामान्यका नाम परमात्मा और विशेषका जीव (या विज्ञानात्मा)। इस भेदाभेदवादका सूक्ष्म किन्तु मार्मिक चित्रण स्वयं आचार्य शङ्करने अपने वेदान्तभाष्यमें अ० २ पा० १ सू० १४ पर किया है, जिस प्रकार एक वृक्ष वृक्षके रूपमें एक है और शाखा, पत्र, पुष्प आदिके रूपमें अनेक हैं; समुद्र समुद्रके रूपमें एक है, परन्तु फेन, भँवर और लहराती हुई ऊर्मिमालाओंके रूपमें अनेक है; मिट्टी मिट्टीके रूपमें एक है किन्तु तरह-तरहके खिलौनेके रूपमें अनेक है, उसी प्रकार ब्रह्म (अथवा परमात्मा) अपने रूपमें एक है, किन्तु (अपने एकदेशरूप) जीवके रूपमें अनेक है। इस रीतिसे एक ही ब्रह्ममें सामान्य रूपसे एकत्व और विशेषरूपसे नानात्व—दोनों धर्म संगत होते हैं (unity in diversity)। अर्थात् ब्रह्म अथवा परमात्मा अपने शुद्ध निर्गुण रूपसे अभिन्न है, किन्तु जीवरूपसे (अर्थात् सगुणरूपसे) भिन्न तथा अनेक है। श्रुतिके वाक्य भी ब्रह्म और जीवमें अभेद तथा भेद, दोनों बतलाते हैं। अभेद बतलानेवाले वाक्य हैं—

'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु'
(बृह०)

'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'
(तैत्ति०)

'नेह नानास्ति किञ्चन', 'अहं ब्रह्मास्मि'
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि। भेदनिरूपण करनेवाले वाक्य हैं—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।
(मु०)

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः……………॥ (श्वे०)

आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः। (श्वे०)

श्रुतियोंमें मरनेके बाद जीवका शरीरसे उत्क्रमण, चन्द्रलोक आदिमें गति तथा पुनः वहाँसे मर्त्यलोकमें आगति बतलायी गयी है, जिससे भी जीवोंका अणुत्व तथा भेद सिद्ध होता है—

स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति।
(कौषी०)

ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति।

तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे। (बृ०)

इन दोनों प्रकारके वाक्योंके साक्षात् समर्थनके लिये भेदाभेदपक्ष ही ठीक है।

दूसरी बात अभेदके बिना श्रुतिका सारभूत विषय 'ब्रह्माहमस्मि'—यह ज्ञान नहीं बन सकता और भेदके बिना 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' अर्थात् ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाला ब्रह्मस्वरूप हो जाता है—यह मत नहीं बन सकता; इस कारण भेदाभेदपक्ष ही समुचित है—

अभेदं विना 'ब्रह्माहमस्मि' इति ज्ञानानुपपत्तिर्भेदं विना चानेककारकसाध्यकर्मानुपपत्तेश्च भिन्नाभिन्नात्मकं ब्रह्म।

तीसरी बात, यदि ब्रह्मका जीव और मूर्तामूर्तराशि (जगत्) आदिके साथ एकान्त अभेद माना जाय तो यह भोग्य प्रपञ्च, भोक्ता जीव तथा सभी एक ही हो जायँ और इनका लोकप्रसिद्ध विभाग भी निरवकाश हो जाय। इस कारण भी श्रुतिसे सिद्ध एक परमात्माके साथ 'अभेद' और प्रत्यक्षादिसे सिद्ध परस्पर भेद दोनोंका मानना समुद्र-तरङ्गके दृष्टान्तके अनुसार आवश्यक है। जिस प्रकार एक समुद्रके विकार फेन, बुलबुले और तरङ्गका एक समुद्रके साथ अभेद रहता है; क्योंकि परिणाम परिणामीके साथ अभिन्न हुआ करता है, परन्तु उन्हींका परस्पर भेद प्रत्यक्ष देखा जाता है, उसी प्रकार एक ब्रह्म और परिणामरूप जीव आदिमें भेदाभेद ही मानना चाहिये।

एवमेकब्रह्मपरिणामयोर्भोक्तृभोग्ययोरेकब्रह्माभिन्नत्वं परस्परं भिन्नत्वञ्चोपपद्यते।

(३) परिणामवाद—कहे गये दृष्टान्तोंसे यह भी स्पष्ट होगा कि भर्तृप्रपञ्च परिणामवादी थे। जिस प्रकार एक ही मिट्टी नामकी वस्तु अनेक तरहके खिलौनेके रूपमें परिणत हो जाती है उसी प्रकार एक ही परमात्मा अपने एक देशसे भिन्न-भिन्न

कर्मराशि तथा वासना आदिके अनुसार अनेक जीवोंमें तथा भूतराशिमें परिणत हो जाता है। पुनः जीवकी भावना, ज्ञान, कर्म, रागके समुदायसे तदनुसार भोग्यवर्ग (मूर्तामूर्त राशि) और उसके भोग-साधनोंकी (ज्ञान, कर्म, करण और विषयकी) उत्पत्ति होती है। इसी कारण जीवके कर्मराशि तथा वासना आदि प्रयोजक माना गया है--

भावनाज्ञानकर्मादिसमुदायः प्रयोजकः ।
मूर्त्तामूर्त्तादिराशिस्तु प्रयोज्यः साधनं तथा ॥

(४) मोक्षनिरूपण–वर्णित रीतिके अनुसार जीव स्वयं वस्तुतः परमात्माका एकदेश या अंश तथा निर्गुण (निर्धर्मक) अर्थात् शुद्ध है। परन्तु कर्मराशि तथा वासनाओंके अनुसार उसका सांसारिक रूप बन-सा जाता है और वह कर्ता, भोक्ता, प्रपञ्चमें गिरा हुआ और तरह-तरहके दुःखोंसे पीड़ित हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि जीव अज्ञानी है और वह अपने अज्ञानके कारण अपने निर्गुण तथा शुद्ध स्वरूपको नहीं समझता। यह अविद्या स्वाभाविक होती हुई भी परमात्मासे अभिव्यक्त होकर परमात्माके एक देशमें विकार पैदा करती हुई वहाँ ही (परमात्माके एक देशमें) अन्तःकरणमें रहती है। मार्केकी बात यह है कि इनके मतमें अविद्या न तो परमात्मामें रहती है और न जीवमें, किन्तु अन्तःकरणमें अर्थात् अनात्म-धर्म है। यहाँपर यह प्रश्न नहीं उठाना चाहिये कि यदि अविद्या परमात्मासे उत्पन्न होती है तो उसीमें रहना चाहिये न कि उसके एक देशमें; क्योंकि पृथिवीसे उत्पन्न हुआ ऊषर देश समस्त पृथिवीमें नहीं रहता, किन्तु उसके किसी एक देशमें रहता है, उसी प्रकार परमात्मासे अभिव्यक्त अविद्या परमात्माके एक देशमें और वहाँपर भी उसके तादात्म्यापन्न अन्तःकरणमें रहती है—

यथोषरात्मको देशः पृथिव्या एव जज्ञिवान् ।
क्ष्मैकदेशं विकृत्यास्तेऽविद्या तद्वत्परात्मनः ॥
अनात्मधर्मोऽविद्येति वदन्तश्चोषरादिवत् ।
इत्थेवं सांख्यसिद्धान्तमनुवर्तन्ति सम्भ्रमात् ॥

इनके मतमें अविद्या स्वाभाविक (नैसर्गिक) अनादि और अन्तःकरणका धर्म है और इसीसे जीव मोहमें पड़कर संसारी और दुःखी बना रहता है। अन्तःकरणसे इसी अविद्याके निकल जानेपर जीव अपने शुद्ध और निर्गुण स्वरूपको प्राप्त-सा कर लेता है, क्योंकि वह प्राप्त ही था किन्तु अज्ञानके कारण अप्राप्त-सा हो जाता है। इसी अपने निर्गुण शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूपके आविर्भावको मोक्ष कहते हैं।

पाञ्चरात्र और वेदान्त

(लेखक—श्रीयुत पं० राजबलीजी पाण्डेय एम० ए०)

आधुनिक वैष्णव आगमोंकी उत्पत्ति और विकास उस भक्तिप्रधान नारायणीय धर्मसे हुए हैं, जिसको महाभारतमें पाञ्चरात्र, सात्वत और भागवत कहा गया है। एक ही धर्मके तीन नाम किस प्रकार प्रचलित हुए, इसकी उपपत्ति लोकमान्य तिलकने अपने गीतारहस्यमें इस प्रकार बतलायी है—'जिस धर्मको श्रीकृष्णने प्रवर्तित किया था, वह उनके पहले कदाचित् नारायणीय या पाञ्चरात्र नामोंसे न्यूनाधिक अंशोंमें प्रचलित रहा होगा, और आगे सात्वत जातिमें उसका प्रसार होनेसे उसको सात्वत नाम प्राप्त हुआ होगा, तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनको नर-नारायणके अवतार मानकर लोग इस धर्मको 'भागवतधर्म' कहने लगे होंगे।' यद्यपि आजकल इन नामोंको, विशिष्ट मन्त्रोंके आधारपर, कुछ साम्प्रदायिक रूप भी प्राप्त हैं (भागवतोंका द्वादशाक्षर और पाञ्चरात्रोंका अष्टादशाक्षर मन्त्र है), तथापि ये तीनों पर्यायवाची समझे जाते थे, ऐसा वेदान्तसूत्र (२ । २ । ४०–४३) पर श्रीरामानुजके श्रीभाष्यसे प्रकट होता है। आगमोंने 'पाञ्चरात्र' शब्दहीको प्रधानता दी है, इसलिये प्रसिद्ध एक सौ आठ वैष्णव आगम पाञ्चरात्र आगम कहलाते हैं।

नारायणीय धर्मको पाञ्चरात्र नाम कैसे मिला, यह बतलाना कठिन है। पाद्मसंहिता (१ । १ । ७) में इस शब्दकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है, 'वह सिद्धान्त जो अन्य पाँच शास्त्रों—शैव, योग, सांख्य, बौद्ध और अर्हत्को रात्रिमय बना देता है, अर्थात् उनको असत्व सिद्ध करके अन्धकारमें ढकेल देता है, पाञ्चरात्र कहलाता है।' ऐतिहासिक दृष्टिसे, साम्प्रदायिक रूपमें, बौद्ध और अर्हत् धर्मोंका उदय भागवत धर्मके पीछे हुआ। इसलिये यह व्याख्या ठीक नहीं मानी जा सकती। यह पीछेसे और काल्पनिक जान पड़ती है, अतएव इस शब्दके मूल अर्थपर इससे कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। सम्भव है कि व्यूहसिद्धान्तके अनुसार वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और ब्रह्मा, इन पाँच तत्त्वोंके आधारपर ही इसका नाम

पाञ्चरात्र पड़ा है। फिर भी, इसके सम्बन्धमें अभीतक कुछ निश्चितरूपसे नहीं मालूम है।

नारायणीय धर्मकी उत्पत्तिका वर्णन महाभारतके नारायणीयोपाख्यानमें किया गया है। 'नर तथा नारायण नामक दो ऋषियोंने (जो ब्रह्मके ही अवतार हैं) नारायणीय अथवा भागवत धर्मको पहले-पहल प्रचलित किया था और उनके कहनेसे जब नारद ऋषि श्वेतद्वीपको गये तब वहाँ स्वयं भगवान्ने उनको इस धर्मका उपदेश किया।' पश्चिमी विद्वान् वेबरने इससे यह अनुमान निकाला कि श्वेतद्वीप युरोप है, और भारतवर्षमें भक्ति-धर्मका प्रचार ईसाई धर्मके द्वारा हुआ। इस मतको आजकल कोई नहीं मानता, क्योंकि भक्ति-धर्मके पर्याप्त प्रमाण महात्मा ईसासे पूर्ववर्ती भारतीय साहित्यमें मिलते हैं। इसलिये इसके विवेचनमें समय नष्ट न कर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यद्यपि यह भक्ति-प्रधान धर्म भारतवर्षमें पहलेसे प्रचलित था (भक्तिका स्रोत ऋग्वेदकी ऋचाओंसे प्रवाहित होता है), परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके द्वारा इसके प्रसारमें बड़ी सहायता मिली। अवतारवादके विकसित होनेपर ही इस धर्मकी पुष्टि हुई। इस प्रकार पाञ्चरात्रका धार्मिक स्वरूप स्थिर हुआ। महाभारतमें एक दूसरी कथा मिलती है जिसके अनुसार आचार्य पञ्चशिखने पाञ्चरात्र वैष्णव सम्प्रदायकी स्थापना की। इस कथाका आधार यह मालूम होता है कि पाञ्चरात्रदर्शन सेश्वर सांख्ययोगपर अवलम्बित है जिसके पञ्चशिख प्रसिद्ध आचार्य थे। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि पाञ्चरात्रदर्शनका विकास पाञ्चरात्रधर्मके उदयके पीछे सांख्ययोगके सम्पर्कमें हुआ। महाभारतके एक और स्थलपर पाञ्चरात्रके सिद्धान्तोंका संकलन किया गया है, जिसको सप्त चित्रशिखण्डिन् ऋषियोंद्वारा सम्पादित कहा गया है। इससे जान पड़ता है कि ये ऋषि परवर्ती पाञ्चरात्र संहिताकारोंके प्राचीन साम्प्रदायिक आचार्य थे।

पाञ्चरात्रके प्राचीन साहित्य नारायणीयोपाख्यान (महाभारतमें), नारदसूत्र, शाण्डिल्यसूत्र तथा भागवत पुराण हैं। बादका साहित्य पाद्मसंहिता और लक्ष्मीतन्त्रमें है। इसके अतिरिक्त, एक सौ आठ पाञ्चरात्र आगम हैं। इन सबके नाम पाद्मसंहितामें आये हैं। किन्तु इनके विषयोंको देखकर अनुमान करना पड़ता है कि उनमेंसे कई एक, जैसे भारद्वाजसंहिता, बहुत आधुनिक हैं। सम्भव है, इनके नाम पुराने हों, परन्तु बीचमें ये नष्ट हो गये और उन्हींके नामसे नये आगम फिर लिखे गये। उपनिषदोंकी तरह आगमोंकी उत्पत्ति भी ब्राह्मणोंसे हुई। इसलिये आगमोंके अनुयायियोंने उनका प्राचीन और वेदसम्मत होना सिद्ध करनेकी चेष्टा, उपनिषद्वाक्योंकी अपनी अनुकूल व्याख्यासे की है। वे अपने आगमोंको संहिता और स्मृति भी कहते हैं और इस प्रकार दिखलाते हैं कि उनका आधार प्राचीनपरम्परा है। इस प्रवृत्तिसे कई नयी उपनिषदोंकी रचना हुई जो प्राचीन उपनिषदोंकी तरह ब्रह्मका निरूपण नहीं करतीं किन्तु विशुद्ध वैष्णवमतका प्रतिपादन। सच कहा जाय तो ये उपनिषद्के रूपमें आगम ही हैं। बहुत-से आगम भी उपनिषद् कहलाते हैं, किन्तु इनकी गणना प्रसिद्ध एक सौ आठ उपनिषदोंमें नहीं है। दार्शनिक विवेचनके लिये नारदसूत्र और शाण्डिल्यसूत्रकी महत्ता बहुत कम है, क्योंकि वे शुद्ध भक्तिका ही निरूपण करते हैं। पाद्मसंहिता, लक्ष्मीतन्त्र और आगमोंमें धर्मविज्ञानके रूपमें दार्शनिक तत्त्वोंका वर्णन है, इसलिये इनका महत्त्व विशेष है।

अब इस ऐतिहासिक विवरणके पश्चात् पाञ्चरात्र-दर्शनका तात्त्विक विवेचन वेदान्तकी तुलनामें करना है। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि पाञ्चरात्र विशुद्ध दर्शन नहीं, किन्तु धर्मविज्ञान है। इसमें भावप्रधान भक्तिमार्गके सहारे दार्शनिक तत्त्वोंका विवरण है। इसके विपरीत वेदान्त शास्त्रीय दर्शन है। और उसका श्रीगणेश ब्रह्मजिज्ञासासे ही होता है, यद्यपि इसके अनुसार भगवान्, भक्ति और अवतारका विरोध नहीं होता।

नारायणीयोपाख्यानमें व्यूह अथवा सृष्टिविज्ञान जिस प्रकार बतलाया गया है, उसके अनुसार भगवान् विष्णुका अभिव्यञ्जन चार रूपोंमें होता है। वासुदेवसे संकर्षण, संकर्षणसे प्रद्युम्न, प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध और अनिरुद्धसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए। जिस प्रकार वासुदेवका आरोप ईश्वर या ब्रह्मपर किया गया है उसी प्रकार वासुदेव या श्रीकृष्णके निकट सम्बन्धियोंका आरोप ब्रह्म या ईश्वरकी विभूतियोंपर किया गया है। इनका एकीकरण सांख्यके तत्त्वोंसे इस प्रकार दिखाया गया है—

(१) वासुदेव	परम तत्त्व
(२) संकर्षण	प्रकृति
(३) प्रद्युम्न	महान्

(४) अनिरुद्ध	अहंकार
(५) ब्रह्मा	प्रकृति-विकृति या सृष्टि

उपर्युक्त वर्णनमें यद्यपि सृष्टिक्रममें सांख्यदर्शनकी प्रक्रिया स्वीकार की गयी है, तथापि एक ही परम तत्त्वसे सारी सृष्टिके उत्पन्न होनेके कारण, अद्वैत वेदान्तहीका प्रतिपादन किया गया है। इसमें वासुदेव परब्रह्मका श्रेष्ठ स्वरूप और उनसे उत्पन्न तत्त्व कनिष्ठ स्वरूप हैं। इसकी तुलना हम गीताकी परा और अपरा प्रकृतिसे भी कर सकते हैं। गीता भी सांख्यप्रक्रियाको स्वीकार करती है। किन्तु 'सब कुछ वासुदेव ही है' ऐसा कहकर सबका मूल परम-तत्त्व वासुदेवहीमें स्थापित करती है।

आगम संहिताओंके उदयके साथ ही पाञ्चरात्रकी दार्शनिक प्रक्रियामें एक परिवर्तन आया। अधिकांश आगमोंमें यद्यपि नारायण या वासुदेव मूलमें बने रहते हैं, तथापि उनकी सम्पूर्ण क्रिया उनकी 'शक्ति'में आ जाती है। इस शक्तिकी प्रधानतासे पाञ्चरात्रदर्शनमें 'शक्तितत्त्व' की मुख्यता हो जाती है। हाँ, आगे चलकर वैष्णव आगमोंने पुरुषरूपसे वासुदेव अथवा नारायणकी प्रधानता स्थापित की। आगमोंके विषयोंको हम चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या। भगवान्का जानना ज्ञान है; यही ज्ञान मुक्ति कहलाता है (पाद्मसंहिता १।२।६)। चित्तको अक्षुब्ध करके उसको एक विषयपर स्थिर करना योग है (२ । १ । ३)। मन्दिरनिर्माणके लिये भूमि जोतनेसे लेकर मूर्तिस्थापनातक क्रिया कहलाती है (३ । १ । ६)। पूजाविधिको चर्या कहते हैं (४।१।१)। पाञ्चरात्रदर्शनोंमें कई सम्प्रदाय हैं, किन्तु निम्नलिखित सिद्धान्त सबको मान्य हैं—

(१) सगुण ईश्वरके रूपमें एक परम तत्त्व और उसकी शक्ति
(२) जीवात्माओंका समूह
(३) दृश्य जगत्
(४) मायावादका विरोध और
(५) भगवान्में उत्कट भक्ति

पहले देखना है कि परमतत्त्वके सम्बन्धमें आगमोंकी क्या कल्पना है। पाद्मसंहिता (१ । ५ । २९–३४) उसका वर्णन इस प्रकार करता है। वह आनन्दमय, आदि, अपरिवर्तनशील, स्वयंप्रकाश, निर्दोष, सूक्ष्म, ईश, निष्कलङ्क, अनन्त, अक्षर, शान्त, अदृश्य संसारको विकसित करनेवाला, चिदानन्द, सर्वव्यापक, परम, त्रिकालाबाधित, भगवान् वासुदेव, सब भूतोंका उद्गम, परमात्मा, सनातन, निस्तरङ्ग, निर्बाध, निर्गुण और सगुण है। लक्ष्मीतन्त्र (२ । १ । १०) के अनुसार वह परमात्मा निर्दुःख, आनन्दमय है। लोग उसको पथ अथवा अन्त कहते हैं। अहंकारका जिससे बोध होता है उसको आत्मा और जिस अहंकारकी प्रकृति अनन्त है उसको परमात्मा कहते हैं। वह सम्पूर्ण चराचरको आच्छादित किये हुए है। उसीको वासुदेव कहते हैं, वह परम क्षेत्रज्ञ है। वह विष्णु, नारायण, विश्व और विश्वरूप भी कहलाता है। उसकी अहंतासे यह सारा संसार ढका हुआ है। वह सर्वत्र, शान्त, निर्विकार, अनन्त और देशकालाबाधित है। उसे महाविभूति भी कहते हैं, क्योंकि उसका अनन्त विस्तार है। वह परमधाम, स्वयंप्रकाश है। वह ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेजोमय है। वह चिद्घन है। वह ब्रह्म, अद्वितीय और शक्तिमान् है।

लक्ष्मीतन्त्र (९ । १ । १०) में लक्ष्मी अपने (शक्तिके) विषयमें इस प्रकार कहती है। 'मैं उसकी परमशक्ति, अहंता, सनातन और निर्विकार हूँ। सिसृक्षा मेरी क्रिया है। मैं अपनी स्वतन्त्र शक्तिसे, अपने अत्यन्त स्वल्प अंशसे सारे विश्वकी रचना करती हूँ। मैं दो प्रकारके भूतोंमें अपनेको उत्पन्न करती हूँ—चेत्यम् (जाननेवाला) और चेतनी (जाना हुआ)। मेरी चिच्छक्ति दोनोंको प्रकाशित करनेवाली है। मेरा संवित् स्वभाव ही ज्ञाता और ज्ञात हो जाता है। वह शुद्ध, स्वतन्त्र और पूर्ण है। योगद्वारा ईखके रसके समान घनीभूत हो जाता है। इससे चेत्य (ज्ञाता) चित्त्व (जीवत्व) को प्राप्त होता है। जिस प्रकार ईंधन आगसे मिलकर अग्निमय हो जाता है, उसी प्रकार चेत्य संवित्से मिलकर चिन्मय हो जाता है। चित्त उपाधियोंसे विकारयुक्त होता है।

लक्ष्मी आगे चलकर जीवात्माके विषयमें कहती है। मेरा संकुचित रूप जीवात्मा है। हीराकी तरह वह सर्वत्र चमकता है! चैतन्य उसका लक्षण है, मेरी तरह वह भी पाँच कर्म— सृष्टि, स्थिति, संहृति, तिरोभाव और अनुग्रह करता है।

परमात्मा, शक्ति और जीवात्माका सम्बन्ध लक्ष्मीतन्त्र में इस प्रकार बतलाया गया है; वह सब भूतोंका आत्मा है,

सब भूतोंकी सनातनी अहंता हूँ। चाहे जिस भावसे सनातन वासुदेवको पुकारा जाय, वह भाव मैं ही हूँ। इसलिये परम ध्येय ब्रह्म भवद्भाव स्वभाववाला है। भगवान् नारायण भवत् हैं। मैं महालक्ष्मी भाव हूँ। इसीलिये ब्रह्म लक्ष्मीनारायण कहलाता है। अहंतासे आच्छादित होनेपर ही अहंकारकी पहचान होती है। अहंता 'मैं' पदवाच्य है। यह जानना चाहिये कि अविनाभाव (अटूट सम्बन्ध) और समन्वयके कारण मुझमें और भगवान्में आत्मीयता है। अहंताके बिना अहंकारका वर्णन और पहचान नहीं हो सकता। अहंता भी अहंकारके बिना निराधार है। संस्थ (समन्वय) और व्यस्थ (विश्लेषण) के रूपमें दृश्य भवद्भाव (ब्रह्म और सारा विश्व) परोक्ष और अपरोक्ष करके जाना जाता है।

पाञ्चरात्र आगमोंमें सृष्टि-विज्ञानका निरूपण इस तरह है; भगवान्का शरीर तीन प्रकारका बतलाया गया है—स्थूल, सूक्ष्म और परम। स्थूल शरीरको सकल (विभक्त), सूक्ष्मको सकल-निष्कल और परमको निष्कल (अविभक्त) कहते हैं। परमात्माका सहस्रशीर्ष शरीर सकल, प्रकाश-निर्मित स्वरूप सकल-निष्कल और सच्चिदानन्दका प्रथम स्वरूप निष्कल है। (पाद्मसंहिता १। ६। ३०—४०)। परमात्माका द्विविध स्वभाव प्रकृति और विकृति है। सत्त्व और अन्य गुणोंका सामञ्जस्य प्रकृति और पुरुष विकृति है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। उसीमें व्यक्तिगत चेतन स्थित है, और वही सारी सृष्टिको उत्पन्न करती है, और परमात्माकी आज्ञासे सबको धारण करती है। (१। ६। ४१-४३) लक्ष्मीतन्त्रमें लक्ष्मी सृष्टिका वर्णन इस प्रकार करती है—जब ब्रह्म सोता है तो मैं परमेश्वरी अहंता भी सोती रहती हूँ और उस समय समस्त विश्वको अपने गर्भमें धारण करती हूँ। सागरके ऊपर चन्द्रोदयके समान उसका उन्मेष (आँख खोलना) मैं ही हूँ। सिसृक्षायुक्त नारायणी शक्ति मैं ही हूँ। प्रलयकालमें परमात्माका निमेष—सुषुप्ता नारायणी शक्ति भी मैं ही हूँ। ऐश्वर्य और सिसृक्षा मुझमें ही विकसित होती हैं। सृष्टि, स्थिति, संहृति, तिरोभाव और अनुग्रह पञ्चकर्म मैं करती हूँ। दूधसे जब दही बनता है तो दूध अपना स्वभाव छोड़ देता है; जब मैं व्यक्त विश्वके रूपमें प्रकट होती हूँ तो इस प्रकारका परिवर्तन मुझमें उत्पन्न नहीं होता। यही मेरा वीर्य है; इसीको विक्रम भी कहते हैं। मैं अपनी स्वेच्छासे सारे विश्वका सर्जन करती हूँ। मुझमें संसार उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होता है जिस प्रकार पक्षी जलमें। मुझमें ही सारा संसार चमकता है जैसे दर्पणमें पर्वत।

ऊपरके वर्णनसे यह स्पष्ट है कि पाञ्चरात्र आगमोंका परम तत्त्व सच्चिदानन्द, सर्वगुणसम्पन्न और निर्विकार है। इसके अनुसार विश्वकी आश्रयभूत सत्ता एक ब्रह्म ही है। वह सृष्टिका निमित्त और उपादानकारण दोनों है। ब्रह्मका यह निरूपण परवर्ती विशिष्टाद्वैत और द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदायोंसे न मिलकर अद्वैतवादसे ही मिलता है। आधुनिक वैष्णव पन्थोंसे पाञ्चरात्रमें यह विशेषता है। इसका कारण यह है कि पाञ्चरात्र आगम उस भागवत दर्शनपर अवलम्बित है जो महाभारत और भगवद्गीतामें मिलता है और जिसका सिद्धान्त अद्वैतपरक है। आगे चलकर श्रीरामानुजद्वारा प्रवर्तित विशिष्टाद्वैतका वैष्णव सम्प्रदायों-पर प्रभाव पड़ा और उनका सगुण ब्रह्म सृष्टिक्रममें आकर विशिष्ट हो गया।

नारायणी शक्ति महालक्ष्मीकी समता हम सांख्यकी प्रकृतिसे नहीं कर सकते, क्योंकि यह पुरुषसे भिन्न नहीं है, बल्कि वह परम पुरुषकी अहंता और उससे अभिन्न है। हाँ, इसकी तुलना सेश्वर सांख्य अथवा योगसे की जा सकती है, किन्तु यह भी पिछले द्वैतवादी आगमोंके सम्बन्धसे ही। इसकी ठीक समता तो गीताकी आत्ममाया, योगमाया अथवा वेदान्तसूत्रकी मायाशक्तिसे ही बैठती है। यह नारायणसे अभिन्न होती हुई भी अपनी विचित्र प्रतिभासे सृष्टिका निर्माण करती है। नारायण-लक्ष्मी अथवा शक्ति और शक्तिमान्के ऐक्यका प्रतिपादन करते हुए भी पाञ्चरात्र आगम मायावाद अथवा अविद्यावादका विरोध करते हैं। उनके अनुसार जगत् असत् या मिथ्या नहीं, किन्तु सत् परम तत्त्वसे उत्पन्न होनेके कारण सत्य है। पौष्कर (२। ५) आगम कहता है—'यदि संसार चेतनसत्ताका भ्रान्त आभास है तो कार्यरूप जगत् बहुत बड़ा असत्य होगा। जिस जगत्की सत्ता सब प्रकारके प्रमाणोंसे सिद्ध होती है वह चेतनाका मिथ्या अध्यास कैसे हो सकता है?' श्रीभास्करराय अपने 'ललितसहस्रनामभाष्य' में लिखते हैं—'वास्तवमें पाञ्चरात्रोंके मतमें, जिनका सिद्धान्त है कि जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है, विश्व सत्य है; क्योंकि ब्रह्म और जगत्में उसी प्रकार अन्तर नहीं है जिस प्रकार मिट्टी और पात्रमें। इस प्रकार ब्रह्मकी सत्यतासे विश्वकी सत्यता प्रमाणित होती है। क्योंकि हम स्वीकार

करते हैं कि ब्रह्म और विश्वमें भेद झूठा है, इसलिये अभेद-प्रतिपादक ग्रन्थोंको मान्य समझते हैं। भेदके मिथ्यात्वसे यह निष्कर्ष निकलता है कि अधिष्ठान और अध्यस्तका भेद भी झूठा है। इसलिये संसारका मिथ्यात्व प्रतिपादन करनेवाले वेदान्त-सिद्धान्तको स्वीकार नहीं किया जा सकता।'

पाञ्चरात्रदर्शनके अनुसार जीवात्मा परमात्माका विकृत स्वभाव अथवा उसकी शक्तिका संकुचित रूप है। यह सिद्धान्त जीवात्मा और परमात्माके ऐक्यका प्रतिपादन करता है। इस दृष्टिसे, अद्वैतवेदान्तसे यह मिलता-जुलता है। इस प्रकार सांख्यकी सृष्टि-प्रक्रिया मानते हुए भी पाञ्चरात्र-दर्शन जीवात्माके सम्बन्धमें उससे विरोध रखता है। जीवात्माओंके चार भेद बतलाये गये हैं—मुक्त, मुमुक्षु, बद्ध और तामसिक। भगवान्की दयासे जीवको ज्ञान और फलतः मोक्ष मिलता है। कई एक पाञ्चरात्र आगमोंमें जीवात्माको परमात्मासे भिन्न माना है और उसकी मुक्तिको सालोक्यमुक्ति बतलाया है। निवृत्तिप्रधान अद्वैतवेदान्तके अनुसार अविद्यानाशके अनन्तर ज्ञान-प्राप्तिसे मोक्ष मिलता है। इसके लिये सब प्रकारका कर्म-संन्यास आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं कि चित्तशुद्धिके लिये शास्त्रविहित शुभ कर्म करने चाहिये, किन्तु वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने और सर्वथा बन्धनोंसे छुटकारा पानेके लिये उनका त्याग करना ही पड़ता है। प्राचीन पाञ्चरात्रधर्म निवृत्तिप्रधान नहीं मालूम पड़ता है, क्योंकि स्वयं नारायणीयोपाख्यानहीमें लिखा है, 'प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः' अर्थात् नारायणीय धर्म प्रवृत्तिप्रधान है। किन्तु आगे चलकर कर्म गौण हो गया और भक्तिकी प्रधानता हो गयी, ऐसा नारद-पाञ्चरात्र, शाण्डिल्यसूत्र और आगमोंसे मालूम पड़ता है। नारदभक्तिसूत्रके अनुसार साधक भक्तको शास्त्रविहित कर्म करने चाहिये। किन्तु अनन्य भक्तके लिये कर्म बिल्कुल गौण हो जाता है। इसके अनन्तर भक्तकी महत्ता इतनी बढ़ी कि भक्ति मुक्तिका साधन न रहकर स्वयं साध्य बन गयी। अब तो भगवान्के प्रेममें विह्वल भक्त मुक्ति नहीं चाहता, बल्कि उसके चरणोंमें अनन्य प्रेमकी ही कामना करता है।

अब आगमोंके सृष्टिविज्ञानको लीजिये। पाद्मसंहिता और लक्ष्मीतन्त्रके सृष्टिक्रमवर्णनमें पौराणिक दृष्टिसे थोड़ा अन्तर है। पहलेके अनुसार पुरुषतत्त्व नारायणकी इच्छासे सृष्टिका विस्तार होता है, किन्तु दूसरेके मतमें नारायणकी सिसृक्षा शक्तिका रूप धारण करती है और उसकी स्वतन्त्र क्रियाशक्तिसे सारा विश्व उत्पन्न होता है। यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है। प्राचीन और नवीन आगमोंमें सृष्टिके प्रयोजनके सम्बन्धमें मतभेद है। प्राचीन आगम मानते हैं कि भगवान्की सिसृक्षासे लीलारूपमें सृष्टि उससे प्रादुर्भूत होती है, किन्तु विशिष्टाद्वैत, द्वैतवादी आदि आगमोंकी सम्मतिमें भगवान् अपने भक्तोंपर दया करके उनको मुक्त करनेके लिये सृष्टिकी रचना करते हैं। ये दो प्रकारके मत समय-समयपर ज्ञान और भक्तिकी प्रधानतासे उत्पन्न हुए। एक ज्ञानीकी जिज्ञासाको तृप्त करता है और दूसरा भक्तकी प्रपन्नताका आदर। वेदान्त प्रथम मतका ही समर्थन करता है। ऋग्वेद कहता है, 'पहले इसमें काम उत्पन्न हुआ। यह मानसिक बीज था। सबसे पहले यही था। विद्वान् लोगोंने अपनी अन्तर्दृष्टिसे सत् और असत्के बीचमें इस पुलका पता लगाया (१०।१२९।४)।' तैत्तिरीय ब्राह्मणमें भी यही कहा है, 'असत् होते हुए इसने सत् होनेकी इच्छा की (२।२।९।१)।' उपनिषदोंमें तो इस प्रकारके बहुतसे वचन मिलते हैं। वेदान्तसूत्र (२।१।३२-३३)के अनुसार सृष्टि किसी विशेष उद्देश्यसे नहीं हुई, किन्तु यह ब्रह्मकी लीला है, जैसा कि हम साधारण लोगोंमें खेलनेके समय देखते हैं।

सृष्टिके उपादानकारणके सम्बन्धमें पाञ्चरात्रदर्शन परिणामवाद मानता है, आरम्भवाद नहीं। अर्थात् उसको न्याय-वैशेषिकका यह मत मान्य नहीं है कि नव विभिन्न पदार्थोंके संघातसे यह विश्व बना है। और इन पदार्थोंके परमाणु अपनेसे भिन्न नये पदार्थोंकी सृष्टि करके भी अपनी विशेषता बनाये रहते हैं। इसके विपरीत परिणामवादके अनुसार विश्वका मूल उपादानकारण नये रूपोंमें स्वयं परिवर्तित होता है और अपनी विशेषता खो बैठता है। परिणामवादको सत्कार्यवाद और आरम्भवादको असत्कार्यवाद भी कहते हैं। असत्कार्यवादियोंका कहना है कि कार्यमें कारण विद्यमान नहीं रहता, इसके विरुद्ध सत्कार्यवादियोंका कथन है कि कार्य और कारणमें कोई अन्तर नहीं, और बीजरूपसे कार्य कारणमें रहता ही है। पाञ्चरात्रदर्शनके मतमें एक ही नारायण, वासुदेव अथवा परमतत्त्वका यह सारा विश्व विलास है और प्रलयकालमें सारी सृष्टि नारायणकी शक्तिके गर्भमें सोती रहती है। वेदान्तसूत्रोंमें भी इसी

मतका प्रतिपादन किया गया है, जिसमें ब्राह्मणों और उपनिषदोंके भी प्रमाण दिये गये हैं। "विश्वके उपादान कारण ब्रह्मने सोचा 'मैं बहुत हो जाऊँ इत्यादि'……उसने स्वयं परिणामसे अपनेको बनाया (वेदान्तसूत्र १।४।२४।२७)।" गीतामें भी यही बात कही गयी है। 'मुझ अव्यक्तमूर्तिसे यह सारा विश्व तना गया है।' 'सब भूतोंमें मैं ही रमा हुआ हूँ।' गीताका स्पष्ट मत है कि पुरुषोत्तमसे ही क्षर, अक्षर सब निकले हुए हैं, केवल नाम और रूपका अन्तर है।

पाञ्चरात्रका परिणामवाद भी एक विशिष्ट प्रकारका है। यद्यपि यह सांख्यके प्रकृतिसे विकृतिके विस्तार-क्रमको मानता है, परन्तु यह नहीं स्वीकार करता कि बिल्कुल स्वतन्त्र प्रकृति पुरुषके संयोगसे उसकी मुक्तिके लिये विकृतिमें प्रवाहित होने लगती है, जिस प्रकार बछड़ेके संसर्गसे गायके स्तनसे दूध। पाञ्चरात्रदर्शनमें तो स्वयं नारायणका स्वरूप ही प्रकृति और विकृति है। इसलिये द्वैत और भेदके लिये बिल्कुल स्थान ही नहीं है। पाञ्चरात्रका परिणामवाद विशिष्टाद्वैतके परिणामवादसे भी नहीं मिलता है, जिसके अनुसार कारणावस्थामें ब्रह्मका सूक्ष्म शरीर उसमें लीन व्यक्तिगत आत्माओं और प्रकृतितत्त्वोंसे बना होता है, और कार्यावस्थामें जब सृष्टि उत्पन्न होती है, यह शरीर ही विकसित होता है, यद्यपि ईश्वर सदा परिवर्तनरहित और अव्यक्त रहता है। लक्ष्मीतन्त्रमें लक्ष्मी अपने परिणामके विषयमें इस प्रकार कहती है—'दूधसे जब दही बन जाता है तो दूध अपना स्वभाव छोड़ देता है; जब मैं व्यक्त जगत्के रूपमें प्रकट होती हूँ तो इस प्रकारका परिवर्तन मुझमें नहीं होता। यही मेरा वीर्य है।……मैं अपनी स्वेच्छासे सारे विश्वका सर्जन करती हूँ। मुझमें सारा विश्व उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होता है जिस प्रकार पक्षी जलमें। मुझमें ही संसार प्रतिबिम्बित होता है जिस प्रकार दर्पणमें पर्वत आदि।' पाञ्चरात्रके परिणामको हम प्रतिबिम्बपरिणाम कह सकते हैं। यह वर्णन अद्वैतवेदान्तके विवर्त-परिणामवादके निकट पहुँचता है। श्रीशङ्कराचार्यके मतानुसार विश्वके पदार्थोंका विकास ऐन्द्रजालिक है (विवर्त-परिणाम) और ब्रह्म केवल विवर्त उपादान है—'ब्रह्म सम्पूर्ण दृश्य जगत्के परिवर्तनोंका अधिष्ठान है जिसके ऊपर अविद्याके कारण उनका अध्यास होता है। अपने शुद्ध स्वरूपमें वह दृश्य जगत्से अतिशायी और निर्विकार है।' (ब्रह्मसूत्र भा० २।१।२७) किन्तु इससे पाञ्चरात्रदर्शनमें एक असंगति आ जाती है। जगत्को प्रतिबिम्ब और सत्य दोनों एक साथ कैसे माना जा सकता है? पौष्कर आगममें श्रीशङ्कराचार्यके मायावादका तीव्र खण्डन किया गया है। इस असंगतिका कारण यह है कि पाञ्चरात्र आगमोंके कई सम्प्रदाय थे। इनमेंसे प्राचीन और अधिकांशका झुकाव शुद्ध अद्वैतकी ओर, कुछका किसी अंशमें झुकाव विशिष्टाद्वैत और द्वैत वैष्णव दर्शनोंकी ओर था।

यहाँतक तो पाञ्चरात्रदर्शनोंके ज्ञान-पादकी चर्चा हुई। पाञ्चरात्रके योगका समकक्ष साधन कोई भी वेदान्तमें नहीं है। योगदर्शनका योग भी इससे भिन्न है। यह बहुत कुछ शाक्त धर्मके तान्त्रिक क्रियाओंसे मिलता है। इसमें मानवशरीरके विभिन्न चक्रों और शक्तियोंका वर्णन और अभ्याससे विभूतियोंको प्राप्त करनेका विधान है। क्रियापादमें मन्दिरनिर्माण और मूर्तिस्थापनाकी विधि है। यद्यपि वेदान्तकी दृष्टिमें इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है तथापि अधिकांश वेदान्ती शैव या शाक्त हैं, और अवतारवाद तथा मूर्तिपूजामें विश्वास करते हैं। पाञ्चरात्र और वेदान्तकी चर्या अथवा आचारमें थोड़ा-सा अन्तर है। वेदान्ती प्रायः स्मार्त-धर्मके माननेवाले दृढ़ परम्परावादी होते हैं। पाञ्चरात्र वैष्णवोंके लिये वैदिक कर्मकाण्डका विशेष महत्त्व नहीं है। उनकी पूजा-अर्चामें जाति-पाँतिका बन्धन भी कुछ ढीला है। दार्शनिक मतभेदके कारण संसारके प्रति दृष्टिकोणमें भी अन्तर है। पाञ्चरात्रदर्शनोंके माननेवाले रागप्रधान प्रवृत्तिमार्गी तथा आजीवन भगवान्की पूजा-अर्चामें लगे रहनेवाले होते हैं। वेदान्ती वैराग्यप्रधान और संन्यासमार्गका अनुसरण करनेवाले होते हैं।

* * *

जो प्राणमें स्थित होकर प्राणके भीतर है, जिसको प्राण नहीं जानता, जिसका प्राण शरीर है, जो प्राणके भीतर रहकर उसे नियममें रखता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। (बृह० ३।७।१६)

सच्ची जिज्ञासा

उपमन्युका पुत्र प्राचोनशाल, पुलुषका पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लवका पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्षका पुत्र जन और अश्वतराश्विका पुत्र बुडिल ये पाँचों महाशाल (अर्थात् जिनकी शालामें असंख्य विद्यार्थी पढ़ते थे ऐसी महान् शालाओंवाले) महान् श्रोत्रिय यानी वेदका पठन-पाठन करनेवाले थे। एक दिन ये एकत्र होकर 'वास्तवमें आत्मा क्या है और ब्रह्म क्या है' इस विषयपर विचार करने लगे। परन्तु जब किसी निर्णयपर नहीं पहुँचे तब किसी दूसरे ब्रह्मवेत्ता विद्वान्‌के पास जाकर उनसे पूछनेका निश्चय कर आपसमें कहने लगे कि 'वर्तमान समयमें अरुणके पुत्र उद्दालक आत्मरूप वैश्वानरको भलीभाँति जानते हैं, यदि सबकी राय हो तो हमको उनके पास चलना चाहिये।' सबकी एक राय हो गयी और वे उद्दालकके पास गये।

उद्दालकने उनको दूरसे देखते ही उनके आनेका प्रयोजन जान लिया और वे विचार करने लगे—'ये महाशाल और महान् श्रोत्रिय आते ही मुझसे पूछेंगे और मैं इनके प्रश्नोंका पूर्ण समाधान कर नहीं सकूँगा। इससे उत्तम यही है कि मैं इन्हें किसी दूसरे योग्य पुरुषका नाम बतला दूँ।' ऐसा विचारकर उद्दालकने उनसे कहा—'हे भगवन्! मैं जानता हूँ आप मुझसे आत्माके विषयमें कुछ पूछने पधारे हैं परन्तु इस समय केकयके पुत्र प्रसिद्ध राजा अश्वपति इस आत्मरूप वैश्वानरको भलीभाँति जानते हैं, यदि आप सबकी अनुमति हो तो हम सब उनके पास चलें।' सर्वसम्मतिसे सब राजा अश्वपतिके पास गये।

अश्वपतिने उन छओं ऋषियों—अतिथियोंका अपने सेवकोंद्वारा यथायोग्य अलग-अलग भलीभाँति पूजन-सत्कार करवाया और दूसरे दिन प्रातःकाल वह सोकर उठते ही उनके पास गये और बहुत-सा धन सामने रखकर विनयभावसे उसे ग्रहण करनेकी प्रार्थना करने लगे। परन्तु वे तो धनकी इच्छासे वहाँ नहीं गये थे, इससे उन्होंने धनका स्पर्श भी नहीं किया और चुपचाप बैठे रहे। राजाने सोचा, शायद ये मुझे अधर्मी या दुराचारी समझते हैं, इसीलिये मेरा धन (दूषित समझकर) नहीं लेते। यह विचारकर राजा कहने लगे—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

'हे मुनियो! मेरे राज्यमें कोई चोर नहीं है, (क्योंकि किसीके पास किसी वस्तुका अभाव नहीं है, कारण) मेरे देशमें ऐसा कोई धनी नहीं है जो कंजूस हो यानी यथायोग्य दान न करता हो। न मेरे देशमें कोई शराब पीता है, न कोई ऐसा द्विज है जो अग्निहोत्र न करता हो, न कोई ऐसा ही व्यक्ति है जो विद्वान् न हो; और न कोई व्यभिचारी पुरुष ही मेरे देशमें है, जब पुरुष ही व्यभिचारी नहीं है तो स्त्री तो व्यभिचारिणी होगी ही कहाँसे? अतएव मेरा धन शुद्ध है, फिर आप इसे क्यों नहीं लेते?'* मुनियोंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब राजाने सोचा, शायद धन थोड़ा समझकर मुनि न लेते हों, अतएव वे फिर कहने लगे—

'हे भगवन्! मैं एक यज्ञका आरम्भ कर रहा हूँ, उस यज्ञमें मैं एक-एक ऋत्विक्‌को जितना धन दूँगा, उतना ही आपमेंसे प्रत्येकको दूँगा। आप मेरे यहाँ ठहरिये और मेरा यज्ञ देखिये।'

राजाकी यह बात सुनकर उन्होंने कहा—'हे राजन्! मनुष्य जिस प्रयोजनसे जिसके पास जाता है, उसका वही प्रयोजन पूरा करना चाहिये। हमलोग आपके पास आत्मरूप वैश्वानरका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे आये हैं, क्योंकि इस समय आप ही उसको भलीभाँति जानते हैं इसलिये आप हमें वही समझाइये। हमें धन नहीं चाहिये।'

राजाने उनसे कहा—'हे मुनियो! कल प्रातःकाल मैं इसका उत्तर आपको दूँगा।'

ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अभिमानका त्याग करना परम आवश्यक है, केवल मुँहसे माँगनेपर ज्ञान नहीं मिलता। वह अधिकारीको ही मिलता है। राजाके उत्तरसे सच्ची जिज्ञासावाले मुनि इस बातको समझ गये और दूसरे दिन अभिमान त्यागकर सेवावृत्तिका परिचय देनेवाले समिधको हाथोंमें लेकर दुपहरसे पहले ही विनयके साथ शिष्यभावसे सब राजाके पास पहुँचे और जाते ही उनके चरणोंमें प्रणाम करने लगे। राजाने उनको अपने चरणोंमें प्रणाम नहीं करने दिया, क्योंकि प्रथम तो वे ब्राह्मण थे और दूसरे सद्गुरु मान-बड़ाई-पूजाकी इच्छा नहीं रखते। तदनन्तर राजाने उन्हें गुरुरूपसे नहीं, किन्तु दाताके रूपमें वैश्वानररूप ब्रह्मविद्याका उपदेश किया!

* * *

---

* राजाओंको इस आदर्शपर विचार करना चाहिये और इसीके अनुसार अपने राज्यके एक-एक पैसेको शुद्ध बनाना चाहिये।

ब्रह्मज्ञानी रैक्क

प्रसिद्ध जनश्रुत राजाके पुत्रका पौत्र जानश्रुति नामक एक राजा था, वह बहुत ही श्रद्धाके साथ आदरपूर्वक योग्य पात्रोंको बहुत दान दिया करता था। अतिथियोंके लिये उसके घरमें प्रतिदिन बहुत-सा भोजन बनवाया जाता था। वह महान् दक्षिणा देनेवाला था। वह चाहता था कि प्रत्येक शहर और गाँवमें रहनेवाले साधु, ब्राह्मण आदि सब मेरा ही अन्न खायँ, इसलिये उसने जहाँ-तहाँ सर्वत्र ऐसे धर्मस्थान, अन्नसत्र या छात्रावास खोल रक्खे थे जहाँ अतिथियों आदिके ठहरने और भोजन करनेका सुप्रबन्ध था।

राजाके अन्नदानसे सन्तुष्ट हुए ऋषि और देवताओंने राजाको सचेत करके उसे ब्रह्मानन्दका सुख प्राप्त करानेके लिये हंसोंका रूप धारण किया और राजाको दिखायी दे सकें ऐसे समय वे उड़ते हुए राजाके महलकी छतके ऊपर जा पहुँचे। वहाँ पिछले हंसने अगले हंससे कहा—'भाई भल्लाक्ष! इस जनश्रुतके पुत्रके पौत्र जानश्रुतिका तेज दिनके समान सब जगह फैल रहा है। इसका स्पर्श न कर लेना, कहीं स्पर्श कर लेगा तो यह तेज तुझे भस्म कर डालेगा।' यह सुनकर अगले हंसने कहा—

'भाई! तुम बैलगाड़ीवाले रैक्कको नहीं जानते, इसीसे तुम उस रैक्कसे इसका तेज बहुत ही कम होनेपर भी उसकी-सी प्रशंसा कर रहे हो।' पिछले हंसने कहा—'वह गाड़ीवाला रैक्क कौन है और कैसा है, सो तो बता।' अगले हंसने कहा—'भाई! उस रैक्ककी महिमाका क्या बखान किया जाय। जैसे जुआ खेलनेके पासेके नीचेके तीनों भाग उसके अन्तर्गत होते हैं, यानी जब जुआरीका पासा पड़ता है तब वह तीनोंको जीत लेता है, वैसे ही प्रजा जो कुछ भी शुभ कार्य करती है, वह सारे शुभ कर्म और उनका फल रैक्कके शुभ कर्मके अन्तर्गत है। अर्थात् प्रजाकी समस्त शुभ क्रियाओंका फल उसे मिलता है। वह रैक्क जिस जाननेयोग्य वस्तुको जानता है, उस वस्तुको जो जान जाता है उसे भी रैक्कके समान ही सब प्राणियोंके शुभ कर्मोंका फल प्राप्त होता है। मैं उसी विद्वान् रैक्कके लिये ही ऐसे कह रहा हूँ।'

महलपर सोये हुए राजा जानश्रुतिने हंसोंकी ये बातें सुनीं और रातभर वह इन्हीं बातोंको स्मरण करता हुआ जागता रहा। प्रातःकाल बन्दीजनोंकी स्तुति सुनकर राजाने बिछौनेसे उठकर बन्दीजनोंसे कहा कि 'हे वत्स! तुम गाड़ीवाले रैक्कके पास जाकर उससे कहो कि मैं आपसे मिलना चाहता हूँ।' भाटने कहा—'हे राजन्! वह गाड़ीवाला रैक्क कौन है? और कैसा है?' राजाने जो कुछ हंसोंने कहा था, सो उसे कह सुनाया। राजाकी आज्ञानुसार भाटोंने बहुत-से नगरों और गाँवोंमें रैक्ककी खोज की परन्तु कहीं पता नहीं लगा। तब लौटकर उन्होंने राजासे कहा कि 'हमें तो रैक्कका कहीं पता नहीं लगा।' राजाने विचार किया कि इन भाटोंने रैक्कको नगरों और ग्रामोंमें ही खोजा है। भला, ब्रह्मज्ञानी महापुरुष विषयी पुरुषोंके बीचमें कैसे रहेंगे। और उनसे कहा कि 'अरे! जाओ, ब्रह्मवेत्ता पुरुषोंके रहनेके स्थानोंमें (अरण्य, नदीतट आदि एकान्त स्थानोंमें) उन्हें खोजो।'

राजाकी आज्ञानुसार भाट फिर गये, और ढूँढ़ते-ढूँढ़ते किसी एक एकान्त निर्जन प्रदेशमें गाड़ीके नीचे बैठे हुए शरीर खुजलाते हुए एक पुरुषको उन्होंने देखा। बन्दीजन उनके पास जाकर विनयके साथ पूछने लगे—'हे प्रभो! क्या गाड़ीवाले रैक्क आप ही हैं?' मुनिने कहा—'हाँ, मैं ही हूँ।'

रैक्कका पता लगनेसे भाटोंको बड़ा हर्ष हुआ और वे तुरन्त राजाके पास जाकर कहने लगे कि 'हमने अमुक स्थानमें रैक्कका पता लगा लिया।'

तदनन्तर राजा छः सौ गायें, सोनेका कण्ठहार और खच्चरियोंसे जुता हुआ एक रथ आदि लेकर रैक्कके पास गया और वहाँ जाकर हाथ जोड़कर रैक्कसे बोला—'भगवन्! यह छः सौ गायें, एक सोनेका हार और यह खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ, ये सब मैं आपके लिये लाया हूँ। कृपा करके आप इनको स्वीकार कीजिये और हे भगवन्! आप जिस देवताकी उपासना करते हैं, उस देवताका मुझको उपदेश कीजिये।'

राजाकी बात सुनकर रैक्कने कहा, 'अरे शूद्र*! ये गौएँ, हार और रथ तू अपने ही पास रख।' यह सुनकर राजा घर लौट आया और विचारने लगा कि 'मुझको मुनिने शूद्र क्यों कहा। या तो हंसोंकी वाणी सुनकर शोकातुर था इसलिये शूद्र कहा होगा। अथवा थोड़ा धन देखकर उत्तम विद्या लेनेका अनुचित प्रयत्न समझकर भी मुनि मुझको शूद्र

---

* शोकसे विकल होनेके कारण राजाको मुनिने शूद्र कहा।

कह सकते हैं। परन्तु बिना ज्ञानके तो मेरा शोक दूर होगा नहीं अतएव मुनिको प्रसन्न करनेके लिये मुझे फिर वहाँ जाना चाहिये।'

यह विचारकर राजा अबकी बार एक हजार गौएँ, एक सोनेका कण्ठहार, खच्चरियोंसे जुता हुआ एक रथ और अपनी पुत्रीको लेकर फिर मुनिके पास गया और हाथ जोड़कर कहने लगा—'हे भगवन्! यह सब मैं आपके लिये लाया हूँ, इनको आप स्वीकार कीजिये और धर्मपत्नीके रूपमें मेरी इस पुत्रीको, और जहाँ आप रहते हैं इस गाँवको भी ग्रहण कीजिये। तदनन्तर आप जिस देवकी उपासना करते हैं उसका मुझे उपदेश कीजिये।'

राजाके वचन सुनकर, कन्याकी करुणाभरी स्थिति देखकर मुनिने उसको आश्वासन दिया और कहा कि 'हे शूद्र! तू फिर यही सब वस्तुएँ मेरे लिये लाया है? (क्या इन्हींसे ब्रह्मज्ञान खरीदा जा सकता है?)' राजा चुप होकर बैठ गया। कुछ समय बाद मुनिने राजाको धनके अभिमानसे रहित हुआ जानकर ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। मुनि रैक्व जहाँ रहते थे उस पुण्य प्रदेशका नाम रैक्वपर्ण हो गया!

* * *

वेद-वाणी

(रचयिता—म० पु० श्रीप्रतापनारायणजी)

सार है संसारका किसमें भरा
है कहाँ व्यापार भव-संहारका?
सृष्टि-रचना-भेद किससे खुल गया
है कहाँ वृत्तान्त जगदाधारका॥१॥

आदि चर्चा है कहाँ साहित्यकी
आदि गौरव है कहाँपर गानका?
ध्यानका किसने बताया मार्ग है
खोलकर पूरा खजाना ज्ञानका॥२॥

दर्शिनीमें आत्मभू-चातुर्यकी
जागती है ज्योति क्षय-विज्ञानकी।
कर रही दिन-रात ताण्डव नृत्य भी
हैं कहाँ सब भूतियाँ भगवानकी॥३॥

प्राणियोंकी आयुका जो शास्त्र है
कौन उसका आदि-सुन्दर स्रोत है?
भीमतम संसार-सागरका महा
कौन पावनतम-अनश्वर पोत है॥४॥

तत्त्व क्या हैं और उनके सत्त्व क्या
मन्त्र क्या हैं, साधनाके यन्त्र क्या?
दे रहा इनका समुत्तर कौन है
भूत क्या हैं, प्रेत क्या हैं, तन्त्र क्या॥५॥

दीप्तिधर नक्षत्र, तारे और ग्रह
ठोस हैं सब, या कि इनमें पोल है।
है नहीं चौकोर कहता कौन यह
गोल ही भू गोल बन भूगोल है॥६॥

कौन सच्चा आदि विद्या-केन्द्र है
कौन भूपति-नीतिका भाण्डार है?
कौन सारे शास्त्र-गणका धाम है
कौन वर विज्ञान-पारावार है॥७॥

कौन उपमाएँ अनोखी दे रहा
मेघ लोचनजल टपाटप डालते?
मोतियोंकी वृष्टि करते भूमिपर
या कि वे हैं निज दया-प्रण पालते॥८॥

चन्द्रमासे काचमें मुख देखने
और होने मानिनी या भामिनी—
तम-कचोंमें फूल तारोंके लगा
नित्य सजती यामिनी क्यों कामिनी॥९॥

खिलखिलाकर खूब हँस हँसी उषा
और खा करके तिमिरकी कालिमा—
जन रही क्यों हंस जैसा हंस फिर
रदपटोंकी प्रथम फैला लालिमा॥१०॥

दुष्ट माया-तिमिरयुत जग-गेहमें
ढूँढ़ता उस नील मणिको कौन है—
जो नहीं उसमें कहींपर है छिपी
कौन वह वाचाल होकर मौन है॥११॥

इसलिये बस वेद तो हैं वेद ही
लोकमें ये श्रेष्ठ-शुद्ध-अनूप हैं।
विष्णुवाणी ब्रह्मवाणी ये सभी
और ये ही दिव्य वाणी-रूप हैं॥१२॥

दर्शनोंका वैज्ञानिक समन्वय

(लेखक—पं० श्रीदेवराजजी विद्यावाचस्पति)

किसी पदार्थको पूरी तरहसे देखनेके लिये छः तरफसे देखा जाय तो वह पूरा-पूरा देखा जाता है। ऐसा देखा जाता है कि उसमें कुछ भी संशय नहीं रहता। पदार्थके छः तरफ उसकी छः दिशाएँ हैं। चार दिशाएँ परस्पर सम्मुखकी हैं और दो दिशाएँ ऊपर-नीचेकी हैं। सामनेकी पूर्वा, पीछेकी पश्चिमा, दाहिनी दक्षिणा, बायीं उत्तरा, नीचेकी ध्रुवा, ऊपरकी ऊर्ध्वा इस प्रकार ये छः दिशाएँ किसी पदार्थको पूरी तरहसे देखनेकी होती हैं। पदार्थोंपर छःओरसे दृष्टि डाली जावेगी तो पदार्थोंको देखनेकी छः दृष्टियाँ हो जावेंगी। एक पदार्थको देखनेकी भी छः दृष्टियाँ हैं और पदार्थसमष्टिको देखनेकी भी छः ही दृष्टियाँ हैं। पदार्थसमष्टि कहनेमें सभी पदार्थ आ गये कुछ बचा नहीं—जड-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल, विकारी-अविकारी सभी पदार्थ मिलकर पदार्थसमष्टि हैं। पदार्थसमष्टि अर्थात् सम्पूर्ण विश्व वा ब्रह्माण्ड। एक शब्दमें कहा जाय तो यह जो कुछ भी है वह सब। यह सब कुछ जो कुछ दीखता है 'यह क्या है'। 'यह क्या है' यह प्रश्न इतना सरल और इतना जटिल है कि हरेक आदमी—मूढ़-से-मूढ़, गँवार-से-गँवार, बाल-वृद्ध-युवा, नर-नारी—इसका जवाब दे रहा है, सुना रहा है परन्तु सुनते-सुनते जिज्ञासा नहीं मिटती वैसी-की-वैसी बनी रहती है। पूछनेवाला भी आश्चर्यमें, बतलानेवाला भी आश्चर्यमें और सुननेवाला भी आश्चर्यमें डूबा है। सुनते चले जाते हैं, सुनते-सुनते भी नहीं जान पाते कि 'यह क्या है'।

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

मनुष्य पदार्थोंको देखता है, चाहता है कि स्वरूपका ज्ञान हो जाय और उसकी 'यह क्या है' की रट बंद हो जाय। मनुष्यको सर्वत्र एक भाव विशेष नजर आता है और वह है परिवर्तन। जन्मसे मृत्युतक यही परिवर्तन है और कुछ नहीं। रसोईमें, खाने-पीनेमें, व्यवहारमें, सुबह-शाममें, जलके प्रवाहमें, ऋतुओंके चक्रमें, जलमें, थलमें, नभमें सर्वत्र एक जो प्रतीत हो रहा है वह है परिवर्तन—केवल परिवर्तन, परिवर्तनके सिवा और कुछ नहीं। यह जो परिवर्तन है इसीका नाम है कर्म। इस कर्मको संसारमेंसे एक क्षणभरके लिये कल्पनाके द्वारा निकाल दिया जाय तो संसार कुछ भी नहीं रह जाता, एकदम सब कारखाना बंद हो जाता है। कर्म निकल गया तो कौन देखनेवाला, कौन कहनेवाला, कौन पूछनेवाला और कौन सुननेवाला, कुछ भी नहीं रहा—'यह क्या है' का प्रश्न ही खतम हो गया। इसलिये 'यह क्या है' इस प्रश्नका उठानेवाला और इस प्रश्नको खतम करनेवाला अर्थात् 'यह क्या है' का आदि और 'यह क्या है' का अन्त यह सब कुछ कर्म है, कर्मके सिवा कुछ नहीं। कर्म ही आदि है और कर्म ही अन्त है। कर्म ही आधार है और कर्म ही आधेय है। पूर्वकर्म उत्तरकर्मका आधार हो रहा है। कर्मपर कर्मान्तरके आधानसे नवीन स्वरूपकी उत्पत्ति होती रहती है। पदार्थका स्वरूप कर्मात्मक है। पदार्थोंके स्वरूपोंकी निष्पत्ति कर्मसे है। कर्म ही पदार्थोंके स्वरूपोंको धारण कर रहा है, बनाये हुए है। जो धारणकर्त्ता है, स्वरूप निष्पन्न करता है वा जिससे स्वरूप पहिचाननेमें आता है, उसका नाम धर्म है। कर्म ही धारणकर्त्ता है, कर्म ही निष्पन्न करता है, कर्मसे ही स्वरूप पहिचाननेमें आता है, अतः कर्म ही धर्म है। यह सब कुछ कर्म तो है ही परन्तु इसी कथनको यूँ भी कह सकते हैं कि यह सब कुछ धर्म है। पदार्थमात्र धर्म है। धर्म वही पदार्थ है जिस पदार्थमें एक कर्मपर दूसरे कर्मकी चिति हुई है। जिस पदार्थमें कर्मकी चिति नहीं है अर्थात् जिस पदार्थका स्वरूप पूर्वकर्मपर उत्तरकर्मकी चितिसे निष्पन्न नहीं हुआ वह पदार्थ धर्म नहीं है वह तो धर्मी है। धर्म धर्मको नहीं पकड़ता, धर्मी धर्मको पकड़ता है। धर्मपर धर्म नहीं रहता, धर्मीपर धर्म रहता है। धर्मी वही है जो सब धर्मोंका आश्रय है, जिसमें कोई भी धर्म टिक सकता है। धर्मी धर्मको आश्रय देकर धर्मके स्वरूपको प्रकट करता है। जो प्रकट होता है वह धर्मका स्वरूप प्रकट होता है, धर्मीका नहीं। धर्मीका अपना कोई स्वरूप ही नहीं कि जिस स्वरूपसे वह प्रकट होवे। जो रूप प्रकट होता है वह धर्मीका नहीं है, वह तो धर्मका है। परन्तु धर्मीको छोड़कर धर्म अकेला कहीं टिक भी नहीं सकता। सब धर्मोंकी प्रतिष्ठा, सब धर्मोंसे अनुस्यूत, सब धर्मोंवाला परन्तु सर्वधर्मरहित वह धर्मी है। धर्मीका रूप ही कोई नहीं, अतः 'यह क्या है' यह पहेली धर्मीको

लक्ष्य करके नहीं है, केवल धर्मको लक्ष्य करके है। 'यह क्या है' इसमें जाननेका विषय धर्म ही हो सकता है धर्मी नहीं। इसलिये पहिला दर्शन जिसका नाम पूर्वमीमांसा-दर्शन है, वह प्रारम्भमें ही बतलाता है कि संसारमें पहिली जिज्ञासा अर्थात् पहिला प्रश्न जो मनुष्यके सामने आकर खड़ा होता है वह धर्मविषयक प्रश्न है कि 'यह सब क्या है'। विषयकी उपलब्धि होनेपर ही जिज्ञासा उठा करती है, जबतक विषयका पता ही नहीं तबतक जिज्ञासा भी नहीं होती। विषयकी उपलब्धिका साधन मनुष्यके पास श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक् और मन हैं। इन साधनोंसे जो विषय उपलब्ध होता है उसकी सामान्यज्ञानरूपा उपलब्धिका नाम ही वेद है। जबतक वेद अर्थात् उपलब्धि उपलब्ध न हो तबतक जिज्ञासा नहीं हो सकती। जब धर्मकी उपलब्धि अर्थात् वेद प्राप्त वा अधिगत वा अधीत हो चुकता है तब इसी कारण धर्मविषयक जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि 'यह क्या है'। जिसका जैसा वेद है उसके लिये वैसा ही उसका धर्म है। वेद धर्मकी बुनियाद है। वेद बिगड़ा तो धर्म भी बिगड़ा। वेद ठीक है तो धर्म भी ठीक है।

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।'

वेदसे धर्मका प्रकाश होता है। वेदसे कुछ प्रकट होता है, जो कुछ प्रकट होता है वह धर्म है।

'वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ।'

वेदका प्रथम स्वरूप श्रुति (श्रावण ज्ञान) है। केवल श्रुतिसे धर्मका साक्षात् ज्ञान नहीं होता। धर्मका साक्षात् ज्ञान करनेके लिये साक्षात् दर्शन चाहिये। धर्मोंका साक्षात् दर्शन करनेसे ही मनुष्य साक्षात् कृतधर्मा बनता है। जिन मनुष्योंने धर्मोंका साक्षात्कार कर लिया है अर्थात् धर्मोंकी शृङ्खलामें क्रमकी जिन्होंने पहिचान कर ली है वे मनुष्य पदार्थोंमें क्रमका साक्षात् दर्शन कर लेनेके कारण ही ऋषि कहलाते हैं।

'ऋषिः दर्शनात्, स्तोमान् ददर्श।'

देखनेसे ऋषि होता है, जिसने धर्मोंके समूहोंको, चितियोंको, निरीक्षण और परीक्षण करके, देखा है वह ऋषि है। किसी पदार्थके आदिसे लेकर उस पदार्थके उपस्थित स्वरूपतक सम्पूर्ण क्रमका जिसने साक्षात् दर्शन कर लिया है वह ऋषि है। साक्षात् कृतधर्मा मनुष्योंकी जो श्रेणी है उसका नाम ऋषि है। सब मनुष्योंमें न इतनी शक्ति है और न इतना अवसर है कि वे सब साक्षात् कृतधर्मा बन सकें, इसलिये साक्षात् कृतधर्मा ऋषिलोग असाक्षात् कृतधर्मा अनृषि लोगोंके लिये ऐसी वाक्का प्रयोग करके उन अर्थोंको बतलाते हैं जिस वाक्को मन ग्रहण करता है, कबूल करता है। ऐसी वाक्का नाम, जिसे मन कबूल करे वा जिसमें मन बँध जावे, मन्त्र है। मनका त्राण करनेसे अर्थात् मनको पकड़े रहनेके कारण वाक् मन्त्र कहलाती है। वाक् मनमें प्रतिष्ठित होती है तो वह वाक् मन्त्र कहलाती है। मनमें प्रतिष्ठित वाक्का मनन होता है। मन्त्रमयी वाक् प्रयोग करनेसे उसको सुनकर दूसरा मनुष्य अपने श्रद्धामय मनके श्रद्धाबलके द्वारा उस मनुष्यके मनमें प्रतिष्ठित होकर उसके मनको अपने स्वरूपका बना देती है। वाक्का स्वरूप, जिसकी प्रतिष्ठा दूसरे मनुष्यके मनमें होती है, उसीका नाम छन्द है। छन्दको छन्द इसीलिये कहते हैं क्योंकि वह अनिरुक्त वाक्को छादन करता है अर्थात् उसमें स्वरूपनिष्पत्ति करता है। निष्पन्न-स्वरूपात्मिका छन्दोमयी वाक् पहिले अच्छन्दस्का होती है पश्चात् निरुक्ता अर्थात् छन्दोमयी बनती है। छन्दोमयी वाक् ही व्यवहारोपयोगी है। अच्छन्दस्का अनिरुक्ता वाक् व्यवहारोपयोगी नहीं है, वह प्रजापतिरूपा है, अनिरुक्त ब्रह्मरूपा है। गतिस्थितिबलात्मिका वाय्वाकाशरूपा यजुरूपा है (यत्=वायु = गतिः, जूः = आकाशः = स्थितिः; वाय्वाकाशौ = गतिस्थिती; बलरससमुच्चितमनिरुक्तं वाग् ब्रह्म)।

छन्दोमयी वाक्का नाम मूर्ति है। मूर्ति वाक्का छन्द है। मूर्तिमती वाक् छन्दोमयी होती है। वाक् मूर्तिसे वा छन्दसे पहिचानी जाती है। वाक्में विद्यमान प्राणोंके परस्पर संघातसे प्राणोंका परस्पर ग्रन्थिबन्धन हो जाता है। प्राणोंके परस्पर ग्रन्थिबन्धन हो जानेसे अमूर्त वाक् मूर्तिमयी हो जाती है। प्राणोंके परस्पर संघातसे तेजोमय अग्नि पदार्थ उत्पन्न हो जाता है। अग्नि मूर्तिमती वाक्के हृदयमें निहित रहता है। अग्निबलके अनुसार वाक्की विविध प्रकारकी मूर्तियां बनती हैं। इसी अग्निबलके कारण मूर्तियोंके परस्पर सम्भेदसे वाक् विविध छन्दोमयी हो जाती है।

ऋषिप्राणोंकी परस्पर मूर्च्छनासे उत्पन्न हुए वाक् शरीरधारक अग्निमय पितृप्राणको अपने गर्भमें रखनेसे वाक् गायत्रीछन्दमें उपनिबद्ध होती है, (गयाः प्राणाः मूर्छितान् त्रायते गर्भे रक्षतीति गायत्री)। इस छन्दोमयी बिन्दुरूपा एकपृष्ठात्मिका मौलिक वाक्का स्वरूप दैवी गायत्री है ($\overset{\text{क}}{\cdot}$)। वाक्के गर्भमें निहित और प्राणोंके मूर्च्छित होनेसे कारण उत्पन्न हुए अग्निबलके तीन दिशाओंमें गति करनेसे चार पृष्ठवाली गायत्री वाङ्मूर्तिका स्वरूप बन जाता है।

दिशाओंमें गति करनेसे विविध पृष्ठात्मक वाक्‌का स्वरूप नहीं बनता, अतः वाक्‌का विविध पृष्ठात्मक स्वरूप ग्रहण करनेके लिये अग्निकी गति तीन दिशाओंमें माननी पड़ती है। इस प्रकार तीन दिशाओंमें गति करनेसे चार पृष्ठवाली वाक् उत्पन्न होती है (पृष्ठ १ क ख च, २ ख ग च, ३ ग क च, ४ क ख ग)। यह याजुषी गायत्रीका स्वरूप है। इस स्वरूपमें चार पृष्ठ होते हैं और छः सीमा (कख, खग, गक, खच, गच, कच) होती हैं। छः सीमा होनेसे याजुषी गायत्री है। दो समानान्तर त्रिभुजोंमें समानान्तर रेखाओंके परस्पर सम्बन्धसे दो त्रिभुज और तीन समानान्तर चतुर्भुज पृष्ठोंसे उत्पन्न मण्डल ५ पृष्ठों और ९ सीमाओंसे घिरा हुआ साम्नी गायत्रीका स्वरूप है। पृष्ठ १ क ख ग, २ च छ ज, ३ क च छ ख, ४ ख छ ज ग, ५ क च ज ग। ९ सीमा कख, खग, गक, चछ, छज, जच, कच, खछ, गज।

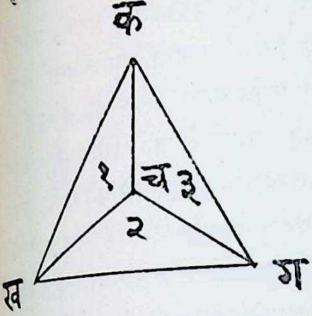

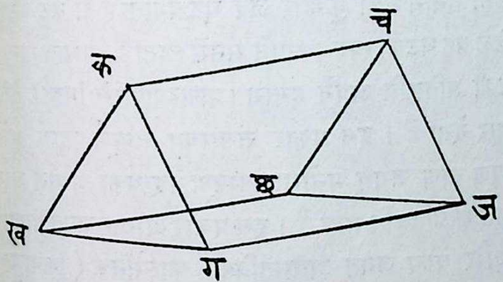

इसी प्रकार साम्नी गायत्रीके आधारपर दूसरी ओर समानान्तर त्रिभुजकी कल्पना करें और आधारके साथ उसे पूर्वोक्त प्रकारसे सम्बद्ध करें तो ८ पृष्ठ और १५ सीमावाली आसुरी गायत्रीका स्वरूप बनता है।

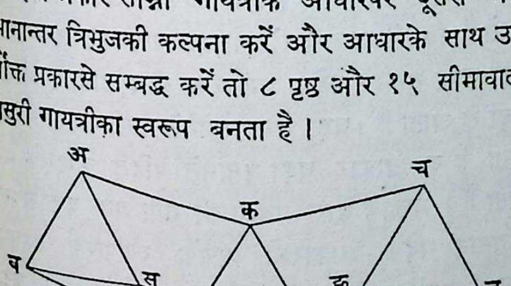

पृष्ठ १ च छ ज, २ क ख छ च, ३ ख ग ज छ, ४ क ग ज च, ५ क अ स ग, ६ क अ ब ख, ७ स ब ख ग, ८ अ ब स। १५ सीमा—चछ, छज, चज, कच, खछ, गज, कअ, खब, गस, अस, अब, बस, कख, खग, गक।

आसुरी गायत्रीकी ऊर्ध्व त्रिभुजकी तीनों सीमाओंसे तीन त्रिभुज एक ही शीर्षकोणपर मिलते हुए खड़े किये जावें तो आसुरी गायत्रीकी आकृतिमें तीन पृष्ठ और तीन सीमाएँ और बढ़ जाती हैं। इस प्रकार आर्ची गायत्रीमें ११ पृष्ठ और १८ सीमाएँ हो जाती हैं। इसी प्रकार आगे किन्हीं दो त्रिभुजपृष्ठोंपर तीन-तीन त्रिभुज एक ही शीर्षकोण रखते हुए उठावें तो १७ पृष्ठ और २४ सीमाएँ हो जाती हैं जो आर्षी गायत्रीका स्वरूप है। इसी प्रकार क्रमशः ६ पृष्ठ और ६ सीमाएँ बढ़ाते जावें तो विविध प्रकारकी गायत्रियोंका स्वरूप बनता जाता है। जिन स्वरूपोंमें २९ पृष्ठ और ३६ सीमाएँ हों वे ब्राह्मी गायत्रीके स्वरूप हैं। यह सब क्रम समत्रिकोणमें चलता है। यदि समकोण समद्विबाहु त्रिभुज लेकर उसके दोनों पार्श्वोंपर समकोण बनानेवाली भुजाओंपर दो-दो त्रिभुज लिये जावें तो आकृतिमें ६ पृष्ठ ८ सीमाएँ बनती हैं जो प्राजापत्या गायत्रीका स्वरूप है।

जिस प्रकार गायत्रीका आरम्भ एक बिन्दुसे होता है, इसी प्रकार उष्णिक्‌का आरम्भ दो बिन्दुओंके परस्पर सम्बन्धसे होता है। अनुष्टुप् तीन बिन्दुओंके परस्पर सम्बन्धसे, बृहती चारके, पंक्ति पाँचके, त्रिष्टुप् छःके और जगती सात बिन्दुओंके परस्पर सम्बन्धसे आरम्भ होता है। प्रत्येक छन्दकी मूलाकृति दैवी है और क्रमशः उसके विस्तारसे छन्दोंके अन्य-अन्य भेद होते जाते हैं।

सभी छन्दोंका निर्माण वाक्‌में निहित अग्निके बलके अनुसार होता है। केन्द्रस्थ अग्निबलके तारतम्यसे विविध दिशाओंमें विविधरूपसे वाक्‌का संस्थानविशेषोंमें फैलाव होनेसे विविध आकारवाले वा विविध छन्दोंवाले पदार्थोंका निर्माण होता है। पदार्थोंके स्फटिकमय मौलिकरूप, जिनके टूट जानेसे वह पदार्थ नहीं रहता, अपनी रचनाभेदके कारण सात छन्दोंमें विभक्त है। इनकी मात्राके तारतम्यसे विविध स्वरूपवाले पदार्थोंका निर्माण होता रहता है। अवयवोंकी मात्रा और संस्थानके बदल जानेसे पदार्थोंके गुणधर्ममें भेद पड़ जाता है। अवयवोंकी मात्रा और संस्थानके बदलनेका कारण पदार्थोंके गर्भमें विद्यमान अग्नि है जो विभिन्न बलोंकी परिस्थितिमें पदार्थगत अवयवोंको विभिन्न संस्थानमें करता है। वह प्रजापति अग्नि है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर-
जायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा-
स्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

पदार्थके वा वाक्के अवयवोंकी मात्रा अग्निबलापेक्षिणी होती है। अग्निबलके द्वारा वाक्के संस्थानविशेषमें आ जानेसे ही पदार्थका छन्द बनता है। वाक्का संस्थानविशेषरूप छन्द ही उस पदार्थका ऋक् है, इस ऋक्में विद्यमान वाक्मात्रा जो छन्दसे छन्दित है, घिरी हुई है वह यजुःपुरुष है, और अग्निके प्रसारके बलसे ऋङ्मूर्तिसे प्रसृत वाक्से जो बहिर्मण्डल बनता है जो कि ठीक ऋङ्मूर्तिके अनुरूप होता है वह साम है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ ऋक्-साम-यजुर्मय है। अग्निबलसे, ऋक्-साम-यजुर्मयी वाक्, विविध पदार्थोंके रूपमें भास रही है। किसी पदार्थका ज्ञान करनेमें उस पदार्थके ऋक्-साम-यजुःका ज्ञान किया जाता है। चूँकि वाक् ऋक्-यजुः-साममय है, अतः विज्ञानमें पदार्थकी ऋङ्मात्रा, यजुर्मात्रा और साममात्राको परिज्ञात करके पदार्थके अग्निबलकी मात्राका परिज्ञान करना होता है।

पदार्थ ऋक्-साम-यजुर्मय हैं, अतः पदार्थोंका ज्ञान करना ऋक्-साम-यजुःका ज्ञान करना है। प्रत्येक पदार्थके ऋक्-साम-यजुःसे उस पदार्थका ग्रहण होता है। जिस-जिस रूपसे पदार्थोंकी उपलब्धि होती है पदार्थोंका वह-वह रूप ही ज्ञान है। ऋक्-साम-यजुरूपसे पदार्थोंकी उपलब्धि होती है अतः ऋक्-साम-यजुरूप ही पदार्थोंका ज्ञान है, यही वेद है। सब पदार्थ ऋक्-साम-यजुर्मय हैं अतः वेदमय हैं और पदार्थोंकी उपलब्धि भी वेदरूपा है। वेदरूपमें ही पदार्थ सत् हैं और वेदरूपसे ही उनकी उपलब्धि अर्थात् ज्ञान होता है। वेद वा ज्ञान जिसमें अवलम्बित रहता है वा वेदका जो आश्रय है वह धर्म है। वेदको धारण करनेसे पदार्थ धर्म हैं।

जिज्ञासु शिष्य गुरुके द्वारा पहिले वेदको ग्रहण करता है, फिर जिस पदार्थका वह वेद है उस पदार्थके अर्थात् धर्मके ज्ञानकी इच्छा शिष्यको होती है। वेदके बिना धर्मका ज्ञान नहीं हो सकता अर्थात् जब पता ही नहीं कि किसका ज्ञान करना है तो क्या ज्ञान हो सकता है, ज्ञान नहीं हो सकता। वेदग्रहणके पश्चात् धर्मके ज्ञानका अभिप्राय वाक्के संस्थानविशेषको जाननेसे है, क्योंकि पदार्थोंका स्वरूप वाक्का संस्थानविशेष मात्र है। पदार्थगत वाक्का संस्थान बदल जानेसे पदार्थ बदल जाता है अर्थात् धर्म बदल जाता है और धर्म बदल जानेसे वेद बदल जाता है। वेदसे धर्म प्रकट होता है—

'वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ।'
'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।'

और धर्मके आश्रित वेद रहता है। वेदके ग्रहणके पश्चात् ही धर्मका ग्रहण होता है। इसीलिये मीमांसादर्शनकार जैमिनिने धर्मकी जिज्ञासा वेदके अध्ययन (ग्रहण, प्राप्ति) के पश्चात् सूचित करनेके लिये 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्रमें 'अथ' शब्द दिया है। पूर्वकथनसे स्पष्ट हो चुका है कि धर्मशब्दसे उन पदार्थोंका ग्रहण है जो अवयवभूत वाक् (matter) के विविध संस्थानमें आ जानेसे बने हैं वा प्रकट हुए हैं। इसलिये धर्मके स्वरूपको पहिचाननेके लिये पदार्थकी रचना जानना आवश्यक है कि पदार्थोंके स्वरूपोंमें वाक् किस-किस प्रकार विविध संस्थानविशेषोंमें आयी हुई है। वाक्के संस्थानविशेषोंको जाननेके लिये, वाक् द्विविध स्वरूपके अनुसार, दो प्रकारका प्रयत्न हो सकता है। दोनों प्रकारसे पदार्थका वा धर्मका स्वरूप प्रकाशित हो जाता है।

वाक् दो प्रकारकी है—१ शब्दमयी, २ अर्थमयी। दोनों प्रकारकी वाक् परस्पर अनुरूप हैं अतएव परस्पर उपकार्योपकारकभावसम्बन्धसे सम्बद्ध हैं। यह ऐसे ही है जैसे घटको बनानेवाला कुम्हार जब घट बनाता है तो घट बनानेके पहिले वह घटका स्वरूप अपने मनमें लाता है। पश्चात् मानसिक घटकी प्रतिकृति अपने हस्तगत प्राणव्यापारसे मिट्टीके ढेलेपर उतार देता है। इस प्रकार संसारका सम्पूर्ण पदार्थ अर्थात् सम्पूर्ण बाह्य जगत् मनोगत सम्पूर्ण पदार्थका अर्थात् आन्तर जगत्की प्रतिकृति मात्र है। इस प्रकार आन्तर जगत् वास्तविक है और बाह्य जगत् अवास्तविक, काल्पनिक (क्रियाजन्य) मिथ्या प्रतिकृति मात्र है। इसी प्रकार जब हम किसीसे कहते हैं कि 'घड़ा लाओ' तो इस वाक्यको सुननेवालेको घड़ा शब्द सुननेसे घड़ेके आकारका बोध होता है और वह घड़ा ले आता है। घड़ा शब्द सुननेसे उसी आकारका बोध होता है जो आकार घड़ा बनानेसे पहिले कुम्हारके मनमें होता है। वक्ताके द्वारा प्रयोग की गयी वाक् वक्ताके मनमें विद्यमान घड़ेके आकारको प्राणके व्यापारके सहकारसे श्रोताके मनमें उपस्थित कराती है। घटदर्शनसे मनमें घटका वही आकार उपस्थित होता है जो आकार घट शब्दके श्रवणसे मनमें उपस्थित होता है। घट पदार्थ दृश्य वाक् है और घट शब्द श्रव्य वाक् है। इस प्रकार दृश्य वाक् और श्रव्य वाक् दोनों वाक् हैं और दोनों वाक् घटके एक ही स्वरूपको ग्रहण कर लेती हैं। दोनों वाक् समान स्वरूपवाली होकर सा

साथ समानान्तर बह रही हैं । इस प्रकार मृत्पिण्डसे लेकर घटाकृतिपर्यन्त जितना क्रम है उस क्रममें दृश्य वाक्का प्रवाह चल रहा है । उसके ठीक अनुरूप मृत्पिण्डसे लेकर घटाकृतिपर्यन्त श्रव्य वाक्का भी प्रवाह चल रहा है । दोनों वाक् परस्पर ऐसी सम्बद्ध हैं कि एक दूसरेसे पृथक् नहीं रह सकतीं । घटके गिरनेसे घटकी अपनी ही एक आवाज़ निकलती है । लोहेकी कील गिरनेसे लोहेकी अपनी ही खास आवाज़ निकलती है । चाँदीके रुपये और काँसीके रुपयेकी अपनी-अपनी विशेष आवाज़ें हैं जिनसे वे पहिचाने जाते हैं । मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणी अपनी-अपनी आवाज़ोंसे पहिचाने जाते हैं । दृश्य वाङ्मय सब पदार्थोंकी आवाज़ें उनके अग्निबलपर आश्रित हैं जिस अग्निबलके कारण पदार्थ-पदार्थमें विभिन्न वाक् संस्थान हुआ है । केवल इतना ही नहीं प्रत्युत अग्निके नानाभेदसे पदार्थोंमें रूप-रसका भेद है, गन्ध और स्पर्शका भेद है । पदार्थोंमें वाक्-संस्थानके रूपमें खड़ा हुआ अग्नि ही पदार्थोंके स्वरूपोंको प्रकट कर रहा है । अग्निमें लटका हुआ वाक् (matter) परिपाकभेदसे विविध गुणोंको प्रकट कर रहा है । इस प्रकार अग्निके द्वारा वाक्के संस्थान और संसक्तिके भेदके कारण ही श्रव्य वाक्रूपी शब्दगुणका विविध रूपोंमें प्रकाश हो रहा है । दृश्य वाक्की संस्थानावस्थागत परिणामक्रमपरम्पराके ठीक अनुरूप श्रव्य वाक्में भी संस्थानावस्थागत परिणामक्रमपरम्परा रहती है । मूलरूपमें दोनों वाक् अमृतमय हैं, एक ही हैं, रस हैं । रसात्मक वाक्में उद्बुद्ध प्राणके सम्बन्धसे वाक्का जो प्राणमय स्वरूप बनता है वह अक्षर वाक् है । अक्षर वाक् मौलिक वाक् है । अक्षर वाक्में विद्यमान प्राणोंके परस्पर ग्रन्थिबन्धनसे जिस वाक्का स्वरूप बनता है वह क्षर वाक् है । क्षर वाक् दृश्य वाक् है जिससे सृष्टि बनती है । क्षर वाक्से ही श्रव्य वाक्का क्रम आरम्भ होता है । क्षर वाक्के एक-एक मौलिक अवयवके साथ अन्य अवयवोंके मिलनेसे वा आगमसे और इसी परिणामक्रममें पूर्व अवयवोंके हटनेसे वा अपायसे दृश्यवाक्के द्वारा नानाविध स्वरूपोंकी उत्पत्ति होती है । इन नानाविध स्वरूपोंकी उत्पत्तिके साथ-साथ उसी परिणामक्रमके अनुसार श्रव्य वाक्के विविध रूपोंकी उत्पत्ति होती है ।

दृश्य वाक्के रूपोंके परिणामक्रमको दिखलानेवाला और मौलिक स्वरूपको प्राप्त करानेवाला शास्त्र भौतिक विज्ञानशास्त्र है और श्रव्य वाक्के परिणामक्रमको दिखलानेवाला और श्रव्य वाक्के मौलिक स्वरूपको प्राप्त करानेवाला शास्त्र शब्दशास्त्र है । शब्दशास्त्रके द्वारा श्रव्यवाक्गत मौलिक रूपोंमें अर्थात् प्रकृतिमें नवीन रूपोंके वा अर्थोंके द्योतक भावोंकी वा प्रत्ययोंकी योजना, वियोजना, आगम, आदेश, लोप, विकार, विपर्यय आदि परिवर्तन ठीक दृश्यवाक्गत परिवर्तनोंके अपने-अपने क्रमके अनुरूप दिखलाया जाता है । दृश्यवाक्गत परिवर्तनोंके क्रमको विज्ञानशास्त्र बतलाता है और श्रव्यवाक्गत परिवर्तनोंके क्रमको शब्दशास्त्र बतलाता है । दोनों प्रकारकी वाक्में परिवर्तनोंका क्रम परस्पर अनुरूप रहता है । दोनोंमें परिवर्तनोंका क्रम परस्पर अनुरूप रहनेसे एकमें निष्णात हुआ मनुष्य दूसरेमें भी निष्णात हो जाता है । दृश्यवाक्गत परिवर्तनोंके सूक्ष्म क्रमको पहिचानना अधिक कठिन है—असम्भव-सा है, इसलिये श्रव्यवाक्-सम्बन्धी परिवर्तनोंके क्रमको पहिचाननेके लिये प्रयास किया जा सकता है । कहा जाता है—

शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति ।

—कि वाक् सामान्यके मौलिकरूप परब्रह्मको प्राप्त करनेके लिये शब्दब्रह्ममें निष्णात हुआ मनुष्य परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है । शब्दब्रह्मके द्वारा परब्रह्ममें पहुँचना अर्थब्रह्मके द्वारा पहुँचनेकी अपेक्षा अधिक सुगम है । क्योंकि यद्यपि दोनोंमें मन-प्राण-वाक्का बन्धन है तथापि अर्थब्रह्ममें यह बन्धन पाशुक अग्निपर है और शब्दब्रह्ममें यह बन्धन सामान्य मर्त्याग्निपर है । मर्त्याग्नि प्राणात्मक है, पाशुक अग्नि भूतात्मक है और परब्रह्मगत अग्नि आत्मा है । पशुसे आत्मातक पहुँचनेके लिये बीचमें प्राणका क्रम पड़ा है, और प्राणसे आत्मातक पहुँचनेके लिये बीचमें अन्य क्रमकी आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि मनुष्यका यह शरीर काय कहलाता है । कायका अर्थ है जिसमें अनेकोंका सञ्चय हुआ हो । आत्मा, प्राण और पशु इन तीनके चयनसे यह काय हुआ है । इसमें पशुभाव (Worldly desires or passions) को मनुष्य छोड़ता है तो वीर बनता है तब वह देवभावको वा वीरभावको प्राप्त होता है अर्थात् प्राणोंकी चितिमें पहुँचता है । देवोंसे वा प्राणोंसे अधिक सूक्ष्म जाना होता है तो स्थितप्रज्ञ होकर आत्मभावको प्राप्त होता है । आत्मभावकी प्राप्तिमें उसकी बुद्धि वा विज्ञानरूपी सूर्य खिल उठता है, तब वह समता वा स्थिरतामें पहुँचकर निरतिशय आनन्दको प्राप्त होता है । इस प्रकार प्राणसे आत्माको प्राप्त होता है । इस प्रकार शब्दब्रह्मसे परब्रह्मको प्राप्त करना अर्थब्रह्मसे

परब्रह्मको प्राप्त करनेकी अपेक्षा अधिक सुगम है। अतएव कहा है—शब्दब्रह्ममें निष्णात हुआ मनुष्य परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।

देश-कालके सम्बन्धमें प्राणका विविध रूपोंको प्राप्त होना ही शब्दका स्वरूप है, जिसके परिणाममें ही हम विविध अर्थोंके स्वरूपोंको उपलब्ध करते हैं। इस प्रकार शब्दवेद और अर्थवेद दोनों ही प्राणमय वा क्रियामय हैं और विविध छन्दोमयी रचनाको प्रकट कर रहे हैं। क्रियामय वेदका नाम ही आम्नाय है। आम्नाय अर्थात् क्रियाके द्वारा लौट-फेरकर बने हुए स्वरूप। आम्नायको बतलानेवाला सम्पूर्ण शब्दराशि और किसको बतलावे और कुछ भी बतलाया नहीं जा सकता—अभिधेय नहीं हो सकता। क्रिया-निष्पाद्य स्वरूप जो उस-उस क्रियाकलापके फल हैं वे ही मनुष्यको अभीष्ट हैं। प्रयोजनविशेषसे फलको लक्ष्य करके विधिपूर्वक की गयी क्रिया अवश्य ही फलको निष्पन्न करती है। विविध प्रकारके फलोंकी निष्पत्तिके लिये विविध प्रकारकी प्रक्रियाके ज्ञानकी आवश्यकता है। प्रक्रियाका फलके साथ सम्बन्धविधान करनेसे ही मनुष्य फलविशेषके प्रति प्रक्रियाविशेषको धारण करनेके लिये उद्यत होता है। कोई भी अर्थ प्रारम्भसे अन्ततक अर्थात् फलरूपमें पहुँचनेतक प्रक्रियाविशेषसे अतिरिक्त कुछ नहीं है, इसलिये प्रक्रियारूप अर्थका फलके साथ सम्बन्ध बतलाना वा विधान करना आवश्यक है। इसीका नाम विधि वा चोदना वा प्रेरणा है। विधिको धारण करनेसे मनुष्य अभीष्ट फलको प्राप्त होता है। इसलिये विधिरूप अर्थका नाम धर्म है। इसीको जैमिनिने मीमांसादर्शनमें कहा है—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।

धर्मको ठीक-ठीक ग्रहण करनेके लिये आवश्यक है कि मनुष्यको विधिकी ठीक-ठीक पहिचान हो, अर्थात् किस प्रक्रियाका किस फलके साथ यथार्थ सम्बन्ध है इस बातका ज्ञान हो, अर्थात् धर्मका ज्ञान हो। मीमांसादर्शनमें जैमिनिने धर्मको ग्रहण करानेके लिये विधिकी पहिचानकी मीमांसा की है। यही मीमांसादर्शनका विषय है। फलकी निष्पत्तिके लिये पदार्थोंके संश्लेषण (यजन), विश्लेषण (अवयजन) को छोड़कर शब्दके विवेचनका आश्रय लिया है जिससे विधिका स्वरूप ठीक-ठीक जाना जाय। विधिके ठीक-ठीक ज्ञान लेनेसे ही मनुष्यका कल्याण है अतः क्रिया वा विधिको बतलानेवाले आम्नायके वाक्योंसे अतिरिक्त वाक्योंको अनर्थक अर्थात् मनुष्यका अभीष्ट सिद्ध न करनेवाला कह दिया है—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।

इस प्रकार मीमांसाका विषय विधिस्वरूपविचार और उसके लिये वाक्यार्थविचार करना है। विधिका पता लग जानेपर—क्या कर्तव्य है यह जान लेनेपर मनुष्य झंझटमें नहीं रहेगा, वह विधिनिर्दिष्ट अपने कर्तव्यको करता चला जायगा और अभीष्ट फलको प्राप्त हो जावेगा। वाक्यका तात्पर्य विधिमें होनेसे विधिवाक्यसे अतिरिक्त वाक्य विधिवाक्यके ही उपकारक होनेसे सार्थक समझे जाते हैं। यदि विधिवाक्यके साथ, अतिरिक्त वाक्य, उपकारक नहीं हैं तो वे निरर्थक हैं क्योंकि फलके साथ कर्मका सम्बन्ध बतलाते हुए प्रेरणा तो विधिवाक्योंके द्वारा ही मिलती है, अन्य वाक्योंके द्वारा नहीं। इसी प्रेरणारूप चिह्नके द्वारा कर्तव्यके अर्थमें बँध जाने वा कर्तव्य अर्थसे अपने-आपको मर्यादामें ले आनेका नाम ही धर्म है। कहा है—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।

इस प्रकार मीमांसाका विषय एक शब्दमें कहा जाय तो धर्म है। धर्म अर्थात् मर्यादा, boundary, limitation, सीमा, नियम, नियमित क्षेत्र। धर्म छन्द है, मनुष्यको छन्दित करता है, स्वच्छन्द या अच्छन्द नहीं रहने देता। किसी फल वा उद्देश्यको लेकर मनुष्यके क्रियाकलापका एक स्वरूप बनता है। क्रियाकलापकी स्वरूपनिष्पत्तिका नाम छन्द है कि जितने प्रदेशमें क्रिया निष्पन्न हो रही है। फलविशेषको लेकर विशेष प्रकारके क्रियाकलापका आश्रय लेनेसे अर्थात् छन्दविशेषमें, सीमाविशेषमें वा धर्मविशेषमें रहनेसे मनुष्योंका भी अपना-अपना छन्द बन जाता है। इस प्रकार मीमांसादर्शन तो क्रियाकलापका छन्दके साथ सम्बन्धनिरूपण ही करता रहता है वा धर्मकी व्याख्या करता रहता है।

मीमांसादर्शन शब्दके आधारपर अपना सब विषय रखता है, परन्तु चूँकि शब्दकी धारा अर्थके साथ समानान्तर रहती है, दोनोंमें परस्पर विशेष अनुकूलता है, अतः अर्थगत गुणधर्मोंकी और प्रतिपद अर्थकी स्वरूप-पहिचानकी व्याख्या करनेके लिये एक अन्य दर्शनकी आवश्यकता है। इस दर्शनमें पदार्थज्ञान करानेके लिये पदार्थोंका वर्गीकरण और उनकी पहिचानके लिये एक-एककी विशेषताका निरूपण होना चाहिये। यह दर्शन पदार्थोंकी पहिचानके लिये विशेषता दिखलानेके कारण और इसीलिये विशेष पदार्थके स्वीकार करनेके कारण वैशेषिक कहलाने लगा है।

जिस प्रकार मीमांसादर्शनका प्रारम्भ 'अथातो धर्मजिज्ञासा' से होता है उसी प्रकार वैशेषिकदर्शनका आरम्भ 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' से होता है। मीमांसादर्शनमें कहा है 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' और वैशेषिकदर्शनमें कहा है 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।' मीमांसादर्शनका धर्म निष्पद्यमान पदार्थ है और वैशेषिकदर्शनका धर्म निष्पन्न पदार्थ है। निष्पद्यमान पदार्थमें क्रियापर विशेष ध्यान दिया जाता है कि जिससे क्रिया ठीक हो अर्थात् अभीष्ट पदार्थको निष्पन्न करनेमें पूरी तरह समर्थ हो। पदार्थमें अभीष्टता यही है कि वह हमारे लौकिक वा पारलौकिक ध्येयको पूरा करनेमें समर्थ होता है। ध्येयको पूरा करनेमें असमर्थ पदार्थ अभीष्ट नहीं होता। मीमांसादर्शन ठीक-ठीक पदार्थरचनाके सम्बन्धमें विधिको अपना ध्येय रखता है कि विधि न बिगड़ जावे। पदार्थके सम्बन्धमें विधि बिगड़ जावेगी तो पदार्थका स्वरूप ही कुछ-का-कुछ हो जावेगा। पदार्थका स्वरूप अन्यथा हो जावेगा तो अभ्युदय वा निःश्रेयसरूपमें अभीष्ट फलकी प्राप्ति न होगी। इसलिये कोई भी काम कैसे करना चाहिये इस विधि वा कानूनका विचार मीमांसादर्शनमें अच्छी तरह हुआ है। चूँकि पदार्थोंकी रचनाका नाम यज्ञ है अतः दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि यज्ञके सम्बन्धमें विधि-निषेधका विचार मीमांसाका विषय है। बने हुए पदार्थोंके गुणधर्मोंको जानकर पदार्थोंको ठीक-ठीक उपयोगमें लाकर लौकिक समृद्धि वा यशको प्राप्त करना और उनके बन्धनसे मुक्त होना यह लक्ष्य वैशेषिक दर्शनका है। वैशेषिक दर्शनके अन्तमें बतलाया है कि जिन पदार्थोंका प्रयोजन अनुभवमें आ चुका है उन अनुभूत पदार्थोंका अदृष्टमें प्रयोग करनेसे अभ्युदय होता है—

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय।

आम्नाय (वेद) के अंदर पदार्थोंका प्रयोग अभ्युदयके लिये बतलानेसे वेदकी प्रामाणिकता कही है। वैशेषिक दर्शनके अन्तमें कहा है—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।

मीमांसादर्शनमें तो आम्नायको 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' कहकर क्रिया (Process) का बोध करानेवाला माना है। इस प्रकार धर्म जो पदार्थोंका नाम है वह निष्पद्यमान हो तो मीमांसाका विषय है और निष्पन्न हो तो वैशेषिकका विषय है। वैशेषिक निष्पन्न पदार्थोंके स्वरूपोंको स्पष्टतया ग्रहण कराकर उनके उपयोगको अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्तिका साधन बतलाता है।

मीमांसाके क्षेत्रमें निष्पद्यमान पदार्थोंका और वैशेषिकके क्षेत्रमें निष्पन्न पदार्थोंका स्वरूपज्ञान जबतक न हो तबतक उन दर्शनोंका कुछ महत्त्व नहीं रहता। इसलिये आवश्यक है कि एक दर्शन विचार करनेका ही ठीक-ठीक प्रकार बतलावे जिससे कि यथार्थ ज्ञान हो सके। यथार्थ ज्ञान (यथार्थानुभव वा प्रमा) को विषय मानकर वा लक्ष्य करके प्रवृत्त हुआ दर्शन न्यायदर्शन है। न्यायदर्शनके प्रथम सूत्रमें ही तत्त्वज्ञान (यथार्थ ज्ञान वा यथार्थानुभव वा प्रमा) को निःश्रेयसकी प्राप्तिका साधन बतलाया है। दूसरे सूत्रमें स्पष्ट कर दिया है कि तत्त्वज्ञानके द्वारा मिथ्या ज्ञानका अपाय, फिर दोषोंका, फिर प्रवृत्तिका, फिर जन्मका और फिर दुःखका अपाय होनेसे मनुष्य अपवर्गको प्राप्त होता है अर्थात् संसारका बन्धन उससे छूट जाता है। संसारका बन्धन छूट जाना अर्थात् अपवर्गकी प्राप्तिको ही मीमांसा और वैशेषिक दर्शनोंने निःश्रेयसकी प्राप्ति बतलाया है। स्वयं न्यायदर्शनने भी प्रथम ही सूत्रमें तत्त्वज्ञानसे निःश्रेयसकी प्राप्ति कही है। इससे स्पष्ट हो गया है कि अन्य दर्शन जो मनुष्यका ध्येय निःश्रेयस बतलाते हैं उनके लिये न्यायदर्शन निर्देश करता है कि निःश्रेयसकी प्राप्तिके लिये तत्त्वज्ञान (स्वरूपज्ञान) आवश्यक है, बिना तत्त्वज्ञानके निःश्रेयस नहीं हो सकता। निष्पद्यमान धर्म और निष्पन्न धर्म दोनोंका तत्त्वज्ञान (स्वरूपज्ञान) होनेसे निःश्रेयसकी प्राप्ति सम्भव है अन्यथा नहीं। इस कारण न्यायदर्शनने यथार्थज्ञान वा प्रमा कैसे ग्रहण किया जा सकता है इसकी विवेचना अच्छी कर डाली है।

न्यायदर्शनने दुःखकी निवृत्तिके लिये तत्त्वज्ञान (यथार्थ ज्ञान) उपाय बतलाया है। तत्त्वज्ञान होनेसे दुःख (बाधा, बन्धन, संसार) छूट जाता है, अपवर्गप्राप्ति होती है। सांख्यदर्शन तो कहता है कि दुःख दूर करना ही मनुष्यका सबसे बढ़कर पुरुषार्थ है अर्थात् पुरुषको सबसे अधिक अभीष्ट है। दुःख भी एक प्रकारका नहीं, तीनों प्रकारका—समाजका दुःख, शरीरका दुःख और प्रकृतिसे आया हुआ दुःख। सभी प्रकारके दुःखोंपर विजय प्राप्त करना अर्थात् सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होना मनुष्यका अभीष्ट है—

त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।

सम्पूर्ण दुःखकी निवृत्ति विवेकसे होती है, तभी मनुष्यको सफलता मिलती है, अन्य कोई उपाय सफलताका नहीं है—

विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात् ।

सब प्रकारकी दुःखनिवृत्तिके लिये विवेक उत्पन्न करना सांख्यशास्त्रका विषय है। सांख्यशास्त्रने बड़ी गहराईके साथ अनात्माको खोलकर रख दिया है और अच्छी तरह समझा दिया है कि जिसको तुम स्वयं अपने-आपको मान रहे हो वह तुम नहीं हो।

विवेकी मनुष्यको सब संसार झंझट वा दुःख लगने लगता है। विवेकका अभ्यास करो, आत्मस्थ हो जाओ। विवेकपूर्वक आत्मस्थ होनेपर बन्धन, बाधा वा दुःखरूप संसारमें रहते हुए भी बन्धन नहीं लगेगा, दुःख नहीं होगा। योगदर्शनमें कहा है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।

विवेकीको सब दुःख-ही-दुःख है। विवेकी मनुष्य दुःखसे मुक्त होनेके लिये प्रतिक्षण प्रयत्न करता रहता है। एक-एक दुःखको वा बन्धनको कैसे हटाये, नहीं हटा सकता। न इतना समय है और न शक्ति। उपाय केवल एक है, वह यह कि मनुष्य आत्मस्थ हो जावे। पानीमें तैरते हुए कमलपत्रके समान संसारमें विचरता हुआ संसारसे बेलाग रहे, किसी प्रकारके विकारसे विकृत न हो। दुःखोंको अपनेसे अलग करनेके स्थानमें अपने-आपको दुःखोंसे अलग कर ले। अपने-आपको दुःखोंसे अलग करनेका मार्ग योगमार्ग है, ज्ञान वा निवृत्तिमार्ग है। अपनेसे दुःखोंको अलग करनेका नाम प्रवृत्तिमार्ग है, कर्ममार्ग है। योगदर्शनने अपने-आपको दुःखोंसे अलग करनेका मार्ग चुना है। यह मार्ग आसान है। दुःख तो बहुत हैं। एक एक दुःखको दूर करनेके लिये साधनोंके संग्रह (आवश्यकताओंको पूरा करने) में मनुष्य लग जाय तो सारा जीवन इस कार्यके प्रति लगा देनेसे भी न तो वह सम्पूर्ण साधन-सम्पन्न हो सकता है और न दुःखोंको ही दूर कर सकता है। इसलिये योगदर्शन केवलावस्थाको प्राप्त करनेका मार्गप्रदर्शन करता है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

'संस्कारोंकी चितिका आधार जो चित्त है उसके परिवर्तनोंपर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेनेका नाम योग है। समवस्थामें रहनेका नाम योग है।'

Full control of the modifications of mind is Yoga. Fully undisturbed mind.

यह वह अवस्था है जिसे गीतामें उस भरे हुए समुद्रसे उपमा दी है जिसकी मर्यादा कभी विचलित नहीं होती चाहे उसमें चारों ओरसे नदियाँ आ आकर मिल रही हैं। यह वह अवस्था है जिसमें चारों ओरसे तरङ्गें प्रवेश करती हैं परन्तु उसके स्वरूपको कुछ बिगाड़ नहीं सकतीं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

योगदर्शन इसी अवस्थाको अन्तिम सूत्रसे कहता है कि जिस समय सत्त्व, रज, तम गुण पुरुषके लिये किसी मतलबके नहीं रहते उस समय उन गुणोंका उत्पन्न कैवल्य है, केवलपन है। इस समय चितिशक्ति (रसघन आत्मा) अविक्षुब्ध अवस्थामें अपने ही रूपमें विद्यमान रहता है।

वेदान्तदर्शन कहता है कि यह अवस्था आत्माकी आनन्दमय अवस्था है। इस समय कुछ भी हेय नहीं रहता—

'आनन्दमयोऽभ्यासात् ।' 'हेयत्वावचनात् ।'

इस अवस्थामें आकर ही आत्मा स्व अर्थात् निमित्तकारण अक्षरब्रह्ममें लीन हो जाता है—

स्वाप्ययात् ।

क्योंकि ब्रह्मनिष्ठ होनेसे मोक्ष होता है, अन्यथा नहीं—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।

जिस ब्रह्ममें विद्यमान रहनेपर आत्माको मोक्ष होता है उसके जाननेकी इच्छा वेदान्तमें प्रकट की है। इस ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन ही वेदान्तदर्शनका विषय है। प्रारम्भहीमें कहा है—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।

वेदान्तका विषय वह ब्रह्म है जो इस जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-संहारका निमित्तकारण है—

जन्माद्यस्य यतः ।

ब्रह्माण्डका आत्मा ब्रह्माण्डका निमित्तकारण है। पिण्डका आत्मा पिण्डमें निमित्तकारण है। दोनों एक ही हैं। पिण्डका लय ब्रह्माण्डमें और पिण्डात्माका लय ब्रह्माण्डात्मामें होता है, उसीमें उसकी गति है, उसीमें उसका मेल है, उसीसे उसकी एकरूपता है।

इस प्रकार इन वैदिक षड्दर्शनोंपर एक दृष्टि डाली जावे तो कहा जा सकता है कि ये सब मिलकर वेद (पदार्थ)

का भलेप्रकार दर्शन करा देते हैं। वेदका आश्रय लेकर इन्होंने मनुष्यको सम्पूर्ण जीवनपथका प्रदर्शन करा दिया है। दुःखी मनुष्योंके दुःखोंको शान्त करके उन्हें कैवल्यधाम पहुँचाया है। मीमांसाने मनुष्योंको धर्म (मर्यादा) में रखने-के लिये कर्म और कर्मफलके सम्बन्धका निरूपण कर डाला। वैशेषिकने धर्मके लिये कर्म (पदार्थ) का स्वरूप निरूपण किया। न्यायने यथार्थज्ञान करना सिखलाया। इन तीन बाह्य दर्शनोंसे अतिरिक्त शेष तीन दर्शन आन्तर दर्शन हैं। सांख्यदर्शन मूलकारणतत्त्वतक पहुँचा देता है। योगदर्शन मूलकारणतत्त्वका दर्शन कराते हुए मनुष्यको आत्मस्थ बनाता है। वेदान्तदर्शन आत्मतत्त्वसे ऊपर निमित्तकारण-रूप ईश्वरतत्त्वका परिचय देता और उसके साथ आत्मतत्त्वका अभेद प्रदर्शन करता है। इस प्रकार सभी दर्शनोंका ध्येय सांसारिक स्थितिको ठीक बनाते हुए आत्मतत्त्वको अनुभव करना और ईश्वरदर्शन प्राप्त करना है। दर्शनोंने अभ्युदय और निःश्रेयसको साथ-साथ रक्खा है। अभ्युदयको निःश्रेयसका साधन बताया है। मर्यादा, पाबंदी, धर्ममें रहकर ऐसी अवस्थाको प्राप्त करना है कि जिसमें कोई मर्यादा, पाबंदी वा धर्म न रहे। स्थितप्रज्ञता (undisturbed mind) को प्राप्त करनेके लिये मनुष्यका अपने-आपको मर्यादित करना ही धर्मका धारण करना है। इसीके लिये मनुष्यको सामाजिक धर्मोंमें (सामाजिक बन्धनोंमें) बँधना पड़ता है। दर्शनोंने मनुष्यको उसके जीवनका सीधा रास्ता (बन्धनसे मुक्तितक अर्थात् बन्धनमुक्त होनेतक) दिखला दिया है। इस रास्तेपर जो चलते हैं उनकी आँखें खुल जाती हैं। उन्हें किसी प्रकारका संशय नहीं रहता। 'यह क्या है' 'यह क्या है' का प्रश्न उनके लिये समाप्त हो जाता है। सब रूपोंको सच्चिदानन्दका रूप अनुभव करते हुए वे आनन्दमें मग्न रहते हैं।

इस प्रकार वैदिक षड्दर्शनोंकी यह भूमिका 'दर्शनोंका वैज्ञानिक समन्वय' के रूपमें समाप्त होती है। आगे प्रति-दर्शनपर प्रतिसूत्र लिखनेका यत्न किया जायगा।

पेचीली पहेलियाँ

(रचयिता—पं० श्रीमहेशप्रसादजी मिश्र 'रसिकेश' मुख्तार)

(१)

'मैं' कौन ? कहाँसे आया 'मैं' ?
किसकी कृति ? किसकी माया 'मैं' ?
किन दिव्य करोंसे इस 'मैं' की कब हुई सृष्टि आश्चर्य-भरी ?
किस अर्थसिद्धिके लिये किया स्रष्टाने यह योजना खरी ?
किन तत्त्वोंके सम्मिश्रणसे यह कनक-भवन रच-रच साजा ?
किस लिये सदा बजता रहता इसमें अनहद स्वरका बाजा ?
क्यों इसमें गया बिठाया 'मैं' ?
'मैं' कौन ? कहाँसे आया 'मैं' ?
किसकी कृति ? किसकी माया 'मैं' ?

(२)

रच-रच वह ऐसे स्वर्ण-सदन क्यों नष्ट भ्रष्ट करता रहता ?
क्यों इस 'मैं' के प्रिय रंगमहलको वह बरबस हरता रहता ?
फिर रच करके चटपट विभिन्न पहलेसे कहीं सदन-न्यारा ?
'मैं' बेचारेको बलात्कारसे बन्दी करता वह प्यारा ?
बन्दी-गृहमें सुख पाया 'मैं' ?
हर्षित, न तनिक शरमाया 'मैं' ?
'मैं' कौन ? कहाँसे आया 'मैं' ?
किसकी कृति ? किसकी माया 'मैं' ?

(३)

हममें वह घुला-मिला रहता हो एकाकार अभिन्न सदा।
मुँह मोड़ छोड़ भग चला, झँपीं आँखें जब सुखसे हो प्रमदा॥
दूरातिदूर निकटातिनिकट हमसे वह जादूगर रहता।
कैसा ? कबका नाता हमसे जोड़े अह ! जादूगर रहता ?
ऐसेको क्यों अपनाया 'मैं' ?
उसको क्यों कर मन भाया 'मैं' ?
'मैं' कौन ? कहाँसे आया 'मैं' ?
किसकी कृति ? किसकी माया 'मैं' ?

(४)

इस 'मैं' विटपीका कौन बीज ? पहले विटपी या बीज हुआ ?
पहले विटपीको यदि मानें तो प्रथम कौन अंकुरित हुआ ?
यदि प्रथम बीज ! तो बिना विटप कैसे यह सम्भव है भाई ?
ये हैं पहेलियाँ पेचीली अबतक न समझमें हैं आई॥
वेदान्त-अंक अपनाया मैं।
उत्तर समुचित बस, पाया मैं॥
'मैं' कौन ? कहाँसे आया 'मैं' ?
किसकी कृति ? किसकी माया 'मैं' ?

गीतोक्त समग्र ब्रह्म या पुरुषोत्तम

गीताका 'समग्र ब्रह्म' या 'पुरुषोत्तम' कौन है, इसका यथार्थ तत्त्व तो गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण ही जानते हैं तथापि हमारी दृष्टिमें इसका सीधा-सा उत्तर यह है कि श्रीकृष्ण ही वह 'समग्र ब्रह्म' या 'पुरुषोत्तम' हैं; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे ही अपनेको 'समग्र' (गीता ७। १) और 'पुरुषोत्तम' (गीता १५। १८) घोषित किया है। परन्तु अब प्रश्न यह रह जाता है उन श्रीकृष्णका स्वरूप क्या है। ब्रह्मवादी महात्मा कहते हैं कि श्रीकृष्णने ब्रह्मको लक्ष्य करके ही अपनेको पुरुषोत्तम बतलाया है। पर द्वैतवादी महापुरुष कहते हैं कि अर्जुनके सामने रथपर विराजित साकारविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण केवल अपने लिये ही ऐसा कहते हैं। अब गीताके द्वारा ही हमें यह देखना है कि भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप गीतामें क्या है। श्रीकृष्णके स्वरूपका विचार ही 'समग्र ब्रह्म' और 'पुरुषोत्तम' का विचार है और श्रीकृष्णके स्वरूपकी उपलब्धि ही समग्र ब्रह्म और पुरुषोत्तमकी प्राप्ति है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीतामें भगवान्ने अहं, मम, मां, मे, मयि आदि पदोंसे सर्वत्र अपनेको ही परमतत्त्व बतलाया है और अन्तमें खुले शब्दोंमें यह आज्ञा दी है कि 'अर्जुन! तू सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मेरी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक न कर।' (गीता १८। ६६) परन्तु विचार यह करना है कि अर्जुनके सामने मनुष्यरूपमें भासनेवाले दिव्यमंगलविग्रह भगवान् उतने ही मानवरूपमें अपनी शरण ग्रहण करनेको कहते हैं या अपनेको कुछ और भी बतलाते हैं। यदि यह मानें कि उतने ही मानवरूपके लिये भगवान्का कथन है तब तो भगवान्के इस कथनका क्या तात्पर्य है कि 'मानुषी तनु' धारण किये हुए मेरे भूत-महेश्वररूपके परम भावको मूढ लोग नहीं जानते। (गीता ९। ११) इससे यह सिद्ध होता है कि उनका भूतमहेश्वररूप परम भाव इस योगमायासमावृत* 'मानुषी तनु' से ही प्रकट नहीं है; वह पृथक् है। और उसे देखनेके लिये 'मानुषी तनु' से परे दृष्टिको ले जाना पड़ेगा। और यदि यह मान लें कि ब्रह्मके लिये ही भगवान्का यह कथन है तो 'मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ' (गीता १४। २७) इस कथनकी व्यर्थता सिद्ध होती है, अतएव यह देखना है कि भगवान् श्रीकृष्ण वास्तवमें क्या हैं? आनन्दकी बात है कि महान् भक्त अर्जुनकी कृपासे हमें भगवान्का वह रहस्य उन्हींके श्रीमुखकी दिव्य वाणीसे उपलब्ध हो जाता है। अर्जुन-सा बछड़ा न होता तो कभी हमें यह भगवत्-रहस्यरूपी गीतामृत न मिलता। भगवान् जहाँ भी कुछ रहस्य बतलाना चाहते हैं, वहीं अर्जुनके प्रेमको कारण बतलाते हैं। अब हमें यह देखना है वह भगवत्-रहस्य क्या है, जिससे हम भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको जान सकें। इसके लिये सरसरी निगाहसे हमें गीताके प्रारम्भसे ही विचार करना है।

पहले अध्यायमें भगवान् केवल सारथिरूपमें अपना दर्शन देते हैं। अर्जुनकी आज्ञानुसार वे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें ले जाकर खड़ा कर देते हैं। अर्जुन सेनाको देखकर मोहमें डूब जाते हैं और धनुषबाण रथके एक किनारे रखकर बैठ जाते हैं। भगवान् कुछ भी नहीं बोलते। दूसरे अध्यायके आरम्भमें भगवान् अर्जुनको एक बुद्धिमान् प्रतिभाशाली महापुरुषके रूपमें उत्साह दिलाते हैं और समझाते हैं और तदनन्तर अर्जुनके द्वारा यह कहनेपर कि 'मैं आपके शरण हूँ, आपका शिष्य हूँ, मुझे उपदेश दीजिये।' (गीता २। ७) भगवान् पहले सांख्ययोग कहते हैं, फिर क्षात्रधर्मका महत्त्व बतलाकर निष्काम कर्मयोगका वर्णन करते हैं और अन्तमें स्थितप्रज्ञ पुरुषके लक्षण कहते हैं। इस सारे अध्यायमें एक जगह भगवान् 'मत्पर' शब्दका प्रयोग कर इन्द्रियसंयमपूर्वक युक्तचित्तसे अपने परायण होनेकी आज्ञा देते हैं। यहाँ अपने स्वरूपमहिमाका यह साधारण संकेत है! तीसरे अध्यायमें वे यज्ञ और कर्मकी व्याख्या करते हुए अपनेको लोकसंग्रही आदर्श पुरुष या लोकशिक्षक प्रधान नेताके रूपमें प्रकट करते हैं और अपने लिये कुछ भी प्राप्तव्य या कोई भी कर्तव्य न बतलाकर अपने ज्ञानस्वरूप या नित्य पूर्ण प्रयोजनरहित ईश्वरस्वरूपको व्यक्त करते हैं परन्तु खुलकर कुछ भी नहीं कहते। चौथे अध्यायके आरम्भमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं ही अविनाशी योगका सर्वप्रथम उपदेशक हूँ, मैंने ही कल्पके आदिमें विवस्वान् या सूर्यको इसका उपदेश किया था। मेरा ही बतलाया हुआ यह सनातन योग परम्पराक्रमसे राजर्षियोंने जाना था, परन्तु बहुत कालसे वह योग लुप्तप्राय हो गया था। (गीता ४। १-२) इससे

---

* 'योगमाया' भगवान्की स्वरूपाशक्ति है, इसीको गीतामें 'आत्ममाया' भी कहा है।

आपने अपने सनातन जगद्गुरुपदको व्यक्त किया और अर्जुनको अपना भक्त एवं प्रिय सखा समझकर उस पुरातन योगके व्यक्त करनेकी बात कहकर अवताररहस्य बतलाया। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण कुछ खुले। कुछ रहस्य बतलाया। कहा कि मैं अविनाशी, अजन्मा और सबका ईश्वर रहते हुए ही अपनी योगमायाके निमित्तसे अवतार धारण करता हूँ। मेरे जन्म-कर्म दिव्य हैं। (गीता ४। ६–९) अन्य जीवोंकी भाँति ही मेरे जन्म-कर्मोंको देखनेवाला मुझको नहीं जान सकता। मेरे जन्म-कर्मको तत्त्वतः जानना होगा। फिर कर्मरहस्य, यज्ञ और ज्ञानकी महिमा आपने बतलायी। पाँचवें अध्यायमें कर्मयोग और संन्यासका निर्णय, सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगी मुक्त पुरुषोंके लक्षण आदि बतलाकर अन्तमें अपने रहस्यके पर्देको जरा हटाकर कहा कि 'सारे यज्ञ और तपोंका भोक्ता मैं ही हूँ, कोई किसी देवताके नामसे यज्ञ-तप करे, सब मुझको ही पहुँचता है। मैं समस्त लोकोंका महान् ईश्वर हूँ और ऐसा होते हुए ही मैं जीवमात्रका सुहृद् हूँ। मेरे इस स्वरूपको जान लेनेसे ही शान्ति प्राप्त हो जाती है। (गीता ५। २९) यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने यह दिखलाया कि तुम मुझे अपना सखा समझते हो फिर भी चिन्ता क्यों करते हो? समस्त कर्मोंका नियन्ता, सबका महेश्वर जिसका सुहृद् सखा हूँ, यह बात जो जान ले वह दुःख, शोक और सन्तापको कैसे प्राप्त हो सकता है? वह आसक्ति, अहंकारका शिकार कैसे हो सकता है? फिर छठे अध्यायमें आपने योगके साधन और स्वरूपकी भलीभाँति व्याख्या करके, सिद्ध योगियोंके लक्षण बतलाकर कहा कि 'जो मुझको सबमें और सबको मुझमें देखता है, जो सब भूतोंमें स्थित मुझ एकको भजता है वह सब कुछ करता हुआ मुझमें ही बर्तता है। (गीता ६। ३०-३१) यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने अपने 'अहं' का तात्त्विक स्वरूप दिखलाया। और अन्तमें कहा कि तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी सबकी अपेक्षा इस प्रकार मुझको जाननेवाला योगी श्रेष्ठ है और योगियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ वह श्रद्धावान् योगी है जो अन्तरात्मासे मुझको ही भजता है। (६। ४६-४७) यहाँपर भगवान् श्रीकृष्णने अपने भजनीय स्वरूपका निर्देश किया। यहाँतक भगवान्ने यह बतलाया कि 'मैं ही लोकशिक्षक आदर्श पुरुष हूँ, मैं ही आदिम उपदेष्टा जगद्गुरु हूँ, मैं ही धर्मसंस्थापक, दिव्य अवतारी और दिव्य कर्मी हूँ। मैं ही सब यज्ञ-तपोंका भोक्ता हूँ, मैं ही सबका परमेश्वर हूँ; जो मुझे अपना सुहृद् समझ लेता है वह उसी क्षण परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। मैं ही सबमें हूँ और सब मेरेमें ही है। मैं ही ज्ञानी, तपस्वी, कर्मी सबका आराध्य हूँ।' यद्यपि इस प्रसङ्गमें सङ्केतसे कई बार भगवान्ने अपना रहस्य बतलाया, पर इसके आगे अब स्पष्ट रूपसे अपना रहस्य खोलकर बतलाने लगे। सातवें अध्यायके आरम्भमें ही आप कहते हैं—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥
(गीता ७। १-२)

'हे अर्जुन! मुझमें मनको आसक्त करके और मेरे शरणागत होकर योगयुक्त होनेपर मुझे 'समग्र' रूपमें संशयरहित होकर किस प्रकार जाना जाता है सो सुनो! मैं तुम्हें विज्ञानसहित उस ज्ञानको (रहस्यसहित मेरे तत्त्वको) पूरे तौरसे खोलकर कहता हूँ। इस रहस्यको जान लेनेपर फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा।' 'समग्र' को जाननेपर शेष रहेगा भी क्या? यहाँ भगवान् यह भी कह देते हैं कि हजारों-लाखोंमेंसे कोई बिरला ही मुझे जाननेके लिये प्रयत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवालोंमेंसे भी कोई बिरला ही मुझे समग्ररूपसे तत्त्वतः जानता है। (गीता ७। ३)

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण जीव और जगत्, चेतन और जड दोनोंको अपनी प्रकृति बतलाते हुए कहते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
(७। ४-५)

'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार यह आठ प्रकारसे विभक्त बहिर्जगत् और अन्तर्जगत्के समस्त उपादान मेरी ही प्रकृति है। यह अपरा प्रकृति है। इससे विलक्षण जीव या चैतन्यरूप मेरी दूसरी परा प्रकृति है जिससे यह सारा जगत् विधृत है।'

वस्तुतः इस द्विविध प्रकृतिके द्वारा ही भगवान्ने अपनेको विश्वरूपमें प्रकट किया है। प्रकृति प्रकृतिमान्से भिन्न नहीं है, इसलिये यह जो कुछ है सब प्रकृतिमान् भगवान्का ही स्वरूप है। भगवान् ही इस रूपमें प्रकट हो रहे हैं, इसीसे

आगे चलकर वे कहते हैं कि मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जैसे सूतकी मालामें सूतकी मणियाँ गुँथी होती हैं वैसे ही मेरी प्रकृतिसे बना हुआ सारा जगत् मेरी प्रकृतिके द्वारा मुझमें गुँथा है। मैं ही जलमें रस हूँ, चन्द्र और सूर्यमें प्रभा हूँ, समस्त वेदोंमें प्रणव हूँ, आकाशमें शब्द हूँ, पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ। पृथ्वीमें पवित्र गन्ध, अग्निमें तेज, जीवोंमें जीवन, तपस्वियोंमें तप, बुद्धिमानोंमें बुद्धि, तेजस्वियोंमें तेज, बलवानोंमें कामरागविवर्जित बल, मैथुनोत्पन्न प्राणियोंमें धर्माविरुद्ध काम हूँ। (गीता ७। ७–११) फिर अपने भक्तोंकी श्रेणी और महिमा बतलाकर कहा कि जो दूसरे देवताओंको पूजते हैं, उनकी उन देवताओंके रूपोंमें मैं ही श्रद्धा करवा देता हूँ, देवताओंकी पूजा भी मेरी ही पूजा है, देवताओंके द्वारा मिलनेवाला फल भी मेरा ही विधान किया हुआ होता है। मूढ़ लोग योगमायासे समावृत मुझको पहचानते नहीं। (गीता ७। २५) यहाँ भगवान्‌ने अपने रहस्यका कुछ अंश भलीभाँति खोल दिया। इसके बाद सातवें अध्यायके अन्तमें आप कहते हैं कि—

> **जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।**
> **ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥**
> **साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।**
> **प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥**
> (गीता ७। २९-३०)

'जो पुरुष मेरी शरण होकर जन्म-जरा-मरणसे सर्वथा मुक्त होनेके लिये यत्न (मेरा भजन) करते हैं, वे उस ब्रह्म, सम्पूर्ण अध्यात्म, निखिल कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित मुझको सम्यक् रूपसे जानते हैं, वे ही युक्तचित्त पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही जानते (पाते) हैं।' वे जानते हैं कि सम्पूर्ण विभिन्न भाव एकमात्र उन्हीं पूर्णतम भगवान् श्रीकृष्णके ही प्रकाश हैं। इसीसे तद्भाव-भावित होनेके कारण उन्हें अन्तमें भगवान्‌की ही प्राप्ति होती है।

आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुन उत्सुकताके साथ भगवान्‌से ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञका स्वरूप पूछते हैं एवं प्रयाणकालमें भगवान्‌को जाननेका—पानेका साधन जानना चाहते हैं। इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

> **अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।**
> **भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥**
> **अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।**
> **अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥**
> **अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।**
> **यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥**
> (८। ३–५)

जिस समग्र रूपको बतलानेकी भगवान्‌ने सातवें अध्यायके प्रारम्भमें प्रतिज्ञा की थी, जिसका उल्लेख अध्यायके अन्तिम श्लोकोंमें कर दिया था, अब अर्जुनके पूछनेपर उसीका स्पष्टीकरण करते हैं। पूर्णतम भगवान्‌के अनेकों भाव हैं, और भगवान्‌का भाव होनेके कारण स्वरूपतः उनमेंसे कोई भी अपूर्ण या न्यूनाधिक नहीं है तथापि उनके कार्य और बाह्य रूपके प्रकाशमें भेद होनेके कारण न्यूनाधिकता प्रतीत होती है। उनमेंसे किसी एक भावको पूजनेवाला भी भगवान्‌को ही पूजता है, परन्तु विधिपूर्वक नहीं। समग्रको जानकर ही किसी एक भाव या रूपको पूजना यथार्थ विधिवत् भगवत्पूजन है। ऐसा न होनेके कारण ही अनेकों मत हो रहे हैं। ब्रह्मवादी कहते हैं कि समस्त कारणोंके परम कारण उपाधिरहित, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, सच्चिदानन्दस्वरूप, बोधानन्दघन ब्रह्म ही एकमात्र परम सत् तत्त्व है और सब मिथ्या है, उस ब्रह्मके स्वरूपको जानना ही परम पुरुषार्थ है। अध्यात्मवादी मानते हैं कि आत्मानात्मविचारके द्वारा उपलब्ध स्थूल-सूक्ष्म-कारण-शरीर-विहीन अक्षर आत्मा ही एकमात्र परम तत्त्व है। इस आत्माके अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर या ब्रह्म नहीं है। कर्मवादियोंका कहना है कि कर्म ही सृष्टिका मूल कारण-तत्त्व है, कर्मके द्वारा ही सबका नियन्त्रण होता है, कर्मसे ही जीवनकी सार्थकता और अभीष्टकी प्राप्ति होती है अतएव एकमात्र कर्म ही सेवनीय है। आधिभौतिक लोगोंका मत है कि चेतन भी जडका ही एक धर्म है, जड ही वस्तुतत्त्व है, जडको छोड़कर चित्सत्ताका अन्य कोई प्रमाण नहीं है, अतएव जड जगत्की उन्नति करना, शरीर और शरीरसम्बन्धी पदार्थोंकी उन्नति करना और आरामके लिये धन-दौलतको इकट्ठा करना ही मनुष्यका कर्त्तव्य है। आधिदैविक मानते हैं कि देवता ही सब कुछ करते हैं, वे ही जगत्‌के तमाम विभिन्न भागोंके नियन्ता और अधिष्ठाता हैं, वे ही मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियोंके सञ्चालक, भर्त्ता, पोषक और भोगविधाता हैं, यज्ञ-यागादि उपासनाके द्वारा उन्हींको सन्तुष्ट करनेसे कार्यकी सिद्धि हो सकती है। उन देवताओंमें

भी सबसे प्रधान परमदेव समग्र ब्रह्माण्डके अभिमानी देवता या सबके स्वामी एक ही हैं, जिनको विभिन्न सम्प्रदायोंके लोग हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा, शिव, शक्ति, नारायण, सूर्य आदि विभिन्न नामोंसे पुकारते हैं। यह सूक्ष्मदर्शी आधिदैविक पुरुषोंकी मान्यता है। याज्ञिक लोग यज्ञको ही प्रधान धर्म मानते हैं और उनके अधिष्ठात्री देवताओंकी आराधना भाँति-भाँतिके यज्ञोंद्वारा करते हैं। इस प्रकार अनेकों मत-मतान्तर प्रचलित हैं और अपनी-अपनी दृष्टिसे सभी ठीक हैं। तात्त्विक दृष्टिसे भी सब मत अपनी-अपनी पद्धति और भावसे एक ही भगवान्‌की पूजा करनेवाले होनेसे भगवान्‌के ही उपासक हैं, परन्तु 'समग्र'को न जाननेके कारण उनकी पूजा पूर्णाङ्ग नहीं होती। भगवान् श्रीकृष्ण अपने 'समग्र' स्वरूपकी व्याख्या करनेके अभिप्रायसे यहाँ इन सबका समन्वय करते हुए सबको अपनी ही अभिव्यक्ति बतलाते हैं। इसीसे वे उपर्युक्त गीताके श्लोक ८। ३–५ में कहते हैं—

परम अक्षर ब्रह्म है; मेरी अपरा प्रकृतिके साथ संलग्न होनेवाला जो निर्विकार परा प्रकृतिरूप मेरा (भगवान्‌का) अपना भाव (अंशरूप) है, वह जीवात्मा-रूपसे जडके अंदर अनुस्यूत ब्रह्म ही अध्यात्म है। अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न समस्त भूतरूप जो मेरा क्षरभाव है वही अधिभूत है। भूतोंका उद्भव और अभ्युदय जिस विसर्ग—त्याग अथवा यज्ञसे होता है, जो सृष्टि-स्थितिका आधार है, वह विसर्ग ही कर्म है (यह भगवान्‌का ही एक विशेष विकास है। 'यज्ञो वै विष्णुः')। पुरुषसूक्तोक्त विराट् ब्रह्माण्डाभिमानी हिरण्यमय पुरुष ही अधिदेव है। इसीको सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति या ब्रह्मा कहते हैं। प्रत्येक देवता इसका एक-एक अंग है, चेतनाचेतनात्मक सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका यही प्राणपुरुष है। भगवान्‌के इस पुरुषभावका विकास ही अधिदैव है। भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता हैं और प्रभु हैं। अतएव वे कहते हैं कि मैं ही अधियज्ञ हूँ और इस शरीरमें ही अन्तर्यामी-रूपसे स्थित हूँ। अन्तकालमें जो पुरुष इस प्रकारके मुझ 'समग्र'को स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है वह निःसन्देह मेरे ही भावको—मेरे ही साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है।

यहाँ भगवान्‌ने प्रधान-प्रधान भावोंका समन्वय करके अपने स्वरूपका निर्देश किया। इसके बाद अपने महत्त्वका दिग्दर्शन कराते हुए भगवान्‌ने यह बतलाया कि मेरे भावविशेषकी अभिव्यक्तिरूप जो कुछ भी और पदार्थ हैं, वे सब कालाधीन हैं, उन सबकी प्राप्ति पुनरावर्तिनी है। ब्रह्मलोकतकके सभी लोक पुनरावर्तन-शील हैं। एकमात्र मैं ही कालातीत हूँ, जो मुझको प्राप्त हो जाता है, उसका फिर पुनर्जन्म नहीं होता। 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।' हाँ, अव्यक्त अक्षर ब्रह्म कालाधीन नहीं है, वह भगवान्‌का परम भाव है, उसीको परमधाम कहा है, यह परम धाम अव्यक्तरूप मूलप्रकृतिसे भी विलक्षण सनातन अव्यक्त भाव है, यह किसी भी हालतमें सबके नष्ट हो जानेपर भी नष्ट नहीं होता, अतएव इसको प्राप्त होकर भी जीव वापस नहीं आता। परन्तु यही 'समग्र' नहीं है, यह समग्र भगवान्‌का एक सनातन अव्यक्त परम भाव है। आठवें अध्यायके अन्तमें श्रीभगवान् छठें अध्यायके अन्तिम श्लोककी भाँति ही ऐसे भगवान्‌के उपासक योगीकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥
(८। २८)

इस रहस्यको तत्त्वतः जानकर वह योगी वेद, यज्ञ, तप और दानसे जो पुण्यफल होते हैं, जो गतियाँ प्राप्त होती हैं, उन सबको लाँघकर उन सबसे आगे बढ़कर सर्वोच्च आद्य परम स्थानको प्राप्त होता है। यहाँ अपने स्वरूपका और उसके जाननेवाले योगीका महत्त्व बतलाकर नवम अध्यायके आरम्भमें गुह्यतम रहस्यको ज्ञानविज्ञानसहित बतलानेकी प्रतिज्ञा करते हैं और इसे राजविद्या-राजगुह्य, परमपवित्र, प्रत्यक्ष फलरूप, परमधर्म, सुगम और अविनाशी बतलाते हैं। (गीता ९। १-२) फिर कहते हैं समस्त जगत्‌में मैं ही अव्यक्त मूर्तिके रूपमें परिपूर्ण हूँ, सब भूत मुझमें हैं, मैं उनमें नहीं हूँ, वे भी मुझमें नहीं हैं, यह मेरे ऐश्वरयोगका प्रभाव है कि सब प्राणियोंका धारण-पोषण करनेवाला और सबका उद्भव करनेवाला भी मैं उनमें नहीं हूँ। (गीता ९। ४-५) इसका तात्पर्य यह है कि जगत्‌में साकार मूर्तिसे व्याप्ति नहीं हो सकती। उसमें तो अव्यक्त मूर्तिसे ही व्याप्ति होती है; परन्तु वह अव्यक्तमूर्ति, भगवान् कहते हैं कि, मेरी ही है, मुझसे भिन्न अव्यक्त कोई दूसरा

नहीं है। यह बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् मेरी ही अष्टधा अपरा प्रकृति है और इस प्रकृतिका निवासस्थान अधिष्ठान स्वामी मैं हूँ, अतएव ये सब मुझमें हैं (मैं इनमें नहीं हूँ); परन्तु प्रकृति मुझ प्रकृतिमान्‌से अभिन्न है इसलिये ये सब भी मुझमें नहीं हैं। वस्तुतः यह सारा जड-चेतन विश्वभुवन मेरी ही अभिव्यक्ति है और स्वरूपतः मुझसे अभिन्न है। यह मेरी लीला है, ऐश्वरयोग है। कल्पके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिमें चले जाते हैं और कल्पके आदिमें मैं पुनः अपनी प्रकृतिसे उन्हें प्रकट कर देता हूँ। इतना होते हुए भी मैं नित्य अपनी महिमामें अपने स्वरूपमें स्थित हूँ, मैं उदासीनवत् आसीन किसी भी कर्मसे नहीं बँधता। (गीता ९। ७-९) तदनन्तर अपनी महिमा और सकाम देवोपासकोंकी पुनरावर्तिनी स्वर्गगतिका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो दूसरे देवताओंको पूजते हैं वे भी मुझको ही पूजते हैं परन्तु 'समग्र' को जानकर नहीं पूजते इसलिये उनकी पूजा अज्ञानकृत है। मैं ही सबका स्वामी, भोक्ता और सर्वरूप हूँ, इस रहस्यको तत्त्वसे न जाननेके कारण वे लोग पुनरावर्तिनी गतिको पाते हैं, यानी प्राप्त की हुई स्थितिसे गिर जाते हैं। (गीता ९। २३-२४) फिर अपने भजनकी—शरणागतिकी महिमा बतलाकर अन्तमें खुले शब्दोंमें परमरहस्यकी घोषणा करते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(९। ३४)

इस प्रकार मुझ समग्रको जानकर तुम मुझमें हो मन लगाओ, मेरे ही भक्त बनो, मेरी ही पूजा करो, मुझको ही नमस्कार करो; इस तरह आत्माको लगाकर मेरे परायण—मेरे अनन्यशरण होनेसे तुम मुझको ही प्राप्त होओगे।

यहाँ भगवान्‌के द्वारा गुह्यतम रहस्य बतलाया गया, परन्तु अर्जुन कुछ नहीं बोले। तब दशम अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने कहा कि अच्छी बात है, मैं अब फिर (भूयः) तुमसे तुम्हारे हितार्थ अपना परम रहस्ययुक्त सिद्धान्त सुनाता हूँ, क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो। देखो, मेरे प्रभावको देवता, महर्षि कोई भी नहीं जानते, क्योंकि मैं ही सबका आदि हूँ, जो मुझको अज, अनादि और लोकमहेश्वर तत्त्वतः जान लेते हैं वे असंमूढ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं। (गीता १०। १-३) इसके बाद अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने अपनी प्रधान-प्रधान विभूतियोंका वर्णन किया। इस विभूतिवर्णनमें भगवान्‌ने विष्णु, शंकर, सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वरुण, कुबेर, अग्नि, वायु प्रभृति समस्त देवताओंको भी अपनी विभूति ही बतलाया है। यह कहा कि 'मैं ही सबका मूल हूँ, अधिक क्या समस्त जगत् मेरे एक अंशमात्रमें स्थित है।' (गीता १०। ४२) इसके बाद एकादश अध्यायमें भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्य दृष्टि देकर अपना महामहिम विराट्‌रूप प्रत्यक्ष दिखलाया, अपनेको काल बतलाया और अन्तमें अपने साकार दिव्य मङ्गल विग्रहकी महिमा गाकर अनन्य भक्तिद्वारा उसे तत्त्वतः जानने, देखने और प्राप्त करनेकी बात कही। बारहवें अध्यायमें सगुण साकाररूपमें अवतीर्ण दिव्यमूर्ति अपने श्रीकृष्णरूपकी परम श्रद्धापूर्वक उपासना करनेवाले योगियोंको श्रेष्ठ योगी बतलाया और अन्तमें भक्त महात्माओंके लक्षणोंका प्रतिपादन किया। यहाँ यह ध्यान रखनेकी बात है कि नवमसे लेकर द्वादश अध्यायतकके वर्णनमें बहुत थोड़े श्लोक ऐसे हैं जिनमें 'अहं' 'मम' 'मां' 'मे' 'मयि' आदि अस्मद् शब्दवाचक पदोंका प्रयोग न हुआ हो।

तेरहवें अध्यायमें प्रकृति-पुरुषका विवेचन है। सातवें अध्यायकी द्विविधा अपरा और परा प्रकृतिका ही यहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके नामसे वर्णन है। इन्हींको आगे चलकर सूक्ष्म और व्यापकरूपमें 'प्रकृति' और 'पुरुष' कहा है। इस प्रसंगमें सांख्यदर्शनके दोनों मूल तत्त्व 'पुरुष और प्रकृति' को भगवान्‌ने स्वीकार किया और खुले शब्दोंमें यह मान लिया कि समस्त जगत्‌के मूलमें प्रकृति-पुरुष-तत्त्व ही हैं; परन्तु इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इस बातको स्वीकार नहीं किया। न यही माना कि ये दोनों तत्त्व मूलतः पूर्णरूपसे पृथक् हैं और इनके अविवेककृत संयोगके परिणामस्वरूप अनन्त विचित्र गुण-क्रियादि युक्त व्यक्त जगत्‌की उत्पत्ति हुई है। सांख्यदर्शनका सिद्धान्त है कि पुरुष निर्विकार निष्क्रिय, गुणातीत और चित्स्वरूप है। प्रकृति विकारशीला, परिणामिनी, सक्रिय और त्रिगुणमयी है। पुरुष और प्रकृति सर्वथा विपरीत धर्मवाली दो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं। इनके संयोगसे जगत्‌की उत्पत्ति हुई है। इनमें गुणात्मिका प्रकृति मूल उपादानकारण है। उसीके परिणामसे जगत्‌के समस्त पदार्थोंकी अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु पुरुषके संयोग बिना प्रकृतिका परिणाम नहीं होता। और परिणाम हुए बिना जगत्‌का सर्जन नहीं होता। व्यक्त जगत्‌में प्रकृतिका धर्म पुरुषपर आरोपित होता है, और पुरुषका धर्म प्रकृतिपर आरोपित होता है, मूलतः दोनों पूर्णरूपेण पृथक् हैं।

इनका संयोग अविवेकमूलक है और अनादि कालसे है । तत्त्वविचारके द्वारा इनके पार्थक्यका विवेक होनेपर संयोग टूट जाता है परन्तु उससे जगत् नहीं मिट जाता । जिस पुरुष-विशेषकी बुद्धिमें इस पार्थक्यकी यथार्थ अनुभूति होती है, उसके लिये जगत् नहीं रहता, वह पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्धरहित होनेके कारण अपने नित्य शुद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाता है ।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।
(योग० २ । २२)

इसीलिये पुरुष अनेक हैं, यही सांख्यका सिद्धान्त है । भगवान् कहते हैं, पुरुष-प्रकृतिसे संसारकी उत्पत्ति हुई है यह ठीक है परन्तु यही परम तत्त्व नहीं है, इन दोनोंसे परे एक मूल तत्त्व और भी है, ये दोनों उसी तत्त्वके द्विविध विकास हैं । वह मूल तत्त्व ही प्रकृति और पुरुषके रूपमें अपनेको अनेकों प्रकारसे व्यक्त करता है । पुरुष और प्रकृति दोनों ही उसकी (परा और अपरा) द्विविध प्रकृति हैं । नित्य परिवर्त्तनशील, असंख्य पदार्थों और शक्तियोंसे तथा उनके संयोग-वियोग एवं प्रकाश-तिरोधानसे युक्त यह प्राकृत जगत् (भगवान्‌की ही) अभिव्यक्ति है । जड अपरा प्रकृतिमें भगवान्‌का अक्षरभाव चित्स्वभाव पूर्णतः आवृत है और परा चेतन प्रकृतिमें वह निर्विकार अक्षर असंग और प्रकाशशील चित्स्वभाव पूर्णतया सुरक्षित है और इसी भगवदंशरूप चेतनकी सत्ता और शक्तिद्वारा यह जगत् विधृत है । भगवान् इस बातको बतलाते हैं कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका तत्त्वज्ञान भी मुझ परमेश्वरमें अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति करनेसे होता है । (गीता १३ । १०) देहमें स्थित पुरुष उस महेश्वरका ही प्रकाश है, वही परपुरुष उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, परमात्मा और महेश्वर कहलाता है ।

चौदहवें अध्यायमें फिर परम ज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान् यही बतलाते हैं कि 'मैं ही बीजप्रद पिता हूँ, सब भूतोंकी उत्पत्ति मुझसे ही होती है । गुणोंके स्वरूपको जानकर पुरुष गुणातीत होता है । परन्तु उसका साधन भी मेरी अव्यभिचारिणी भक्ति ही है । क्योंकि अविनाशी सनातन ब्रह्म, अमृत, सनातन धर्म और अखण्ड एकरस सुखकी प्रतिष्ठा मैं ही हूँ । ये सब मेरी ही अभिव्यक्तियाँ हैं । मैं ही इन सब स्वरूपोंमें प्रकट हूँ ।' पन्द्रहवें अध्यायमें संसारवृक्ष और उसके रहस्यका वर्णन करनेके बाद कहते हैं–'जो सूर्यगत तेज जगत्‌को प्रकाशित करता है, अग्नि और चन्द्रमामें जो तेज है वह सब मेरा ही है । मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी ओजःशक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूँ, मैं ही रसात्मक सोम होकर समस्त ओषधिसमूहको पुष्ट करता हूँ, मैं ही प्राणिमात्रके शरीरमें स्थित वैश्वानर अग्नि बनकर प्राणापानयुक्त हो उनके खाये हुए चतुर्विध अन्नको पचाता हूँ । अधिक क्या, मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें संनिविष्ट हूँ, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है । मैं ही समस्त वेदोंद्वारा जाननेयोग्य हूँ, मैं ही वेदान्तका कर्ता हूँ, और मैं ही वेदोंको जाननेवाला भी हूँ । इस संसारमें क्षर और अक्षर ये दो प्रकारके पुरुष हैं जिनमें समस्त अचेतन भूतप्राणियोंके शरीररूप जगत् क्षर और कूटस्थ जीवात्मा अक्षर है । इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अविनाशी, परमात्मा, महेश्वर दूसरा ही है जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका भरण-पोषण करता है । वह पुरुषोत्तम मैं हूँ, क्योंकि मैं क्षरसे तो अतीत हूँ और अक्षरसे उत्तम हूँ, इसलिये लोक और वेद मुझको ही 'पुरुषोत्तम' कहते हैं ।' (गीता १५ । १२—१८)

सातवें अध्यायमें कथित अपरा प्रकृतिको ही यहाँ क्षर पुरुष बतलाया और परा प्रकृति जीवात्माको ही अक्षर पुरुष । 'पुरुषोत्तम' वही समग्र ब्रह्म है जिसका यह द्विविध प्रकाश है भगवान्‌का यह 'समग्र' रूप ही गीतोक्त पुरुषोत्तमरूप है । इस 'पुरुषोत्तम' स्वरूपका ही मूर्तिमान् नित्य सत्य मायातीत सौन्दर्यमाधुर्यसमुद्र परम दिव्यातिदिव्य मङ्गलविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण हैं । भगवान् कहते हैं कि—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

'हे अर्जुन ! जो पुरुष इस प्रकार तत्त्वतः मुझे जान लेता है वही असंमूढ है और वही सब कुछ जान गया है । ऐसा ज्ञानी पुरुष सर्वभावसे मुझ (श्रीकृष्ण) को ही भजता है । यही गुह्यतम शास्त्र है, इसको जानकर बुद्धिमान् पुरुष कृतकृत्य हो जाता है ।'

जो भगवान्‌को इस प्रकार नहीं जानते वही संमूढ हैं । उन्हींके लिये भगवान्‌ने कहा है 'अवजानन्ति मां मूढाः ।'

इस विवेचनसे हम भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपका किञ्चित् अनुमान कर सकते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण ही सच्चिदानन्द नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव विज्ञानानन्दघन

ब्रह्म हैं, भगवान् ही अक्षर अविनाशी आत्मा हैं, भगवान् ही हिरण्यगर्भ हैं, भगवान् ही सर्व देवता हैं, भगवान् ही जीवात्मा हैं, भगवान् ही प्रकृति हैं, भगवान् ही जगत् हैं, भगवान् ही जगद्व्यापी विभु अक्षर अव्यक्त सगुण निराकार ब्रह्म हैं, भगवान् ही यज्ञ हैं, भगवान् ही कर्म हैं, भगवान् ही जगत्के कर्त्ता, भर्ता, संहर्ता हैं, भगवान् ही साक्षी और भगवान् ही भोक्ता हैं, भगवान् ही शिव, विष्णु, ब्रह्मा, शक्ति, सूर्य आदिके अंशी हैं, भगवान् ही शिव, विष्णु, ब्रह्मा, शक्ति, सूर्य आदि हैं। भगवान् ही श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीनृसिंह आदि अवतार हैं, भगवान् ही समस्त सृष्टिके द्वारा विभिन्न रूपोंमें पूजित विभिन्न नामरूपधारी ईश्वरीय नियमविशेष हैं। भगवान् ही विश्वगुरु हैं और भगवान् ही वसुदेवपुत्र, देवकीनन्दन, नन्दनन्दन, यशोदालाल, गोपीवल्लभ, मुरलीमनोहर, श्यामसुन्दर, राधारमण, रुक्मिणीपति, व्रजनवयुवराज, व्रजेश्वर, द्वारिकाधीश और व्यास-भीष्मादिके द्वारा पूज्य परमेश्वर हैं और वही भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ इतिहास-प्रसिद्ध 'पार्थसखा' या 'तोत्रवेत्रैकपाणयः पार्थसारथि' हैं। इस प्रकार श्रीकृष्णके सर्वातीत और सर्वमय 'समग्र' स्वरूपको सम्यक्रूपसे जानकर उनकी जो उपासना होती है वही श्रीकृष्णकी यथार्थ उपासना है। (जाननेका अर्थ केवल बुद्धिद्वारा समझ लेना ही नहीं है, उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति होनी चाहिये।) यह श्रीकृष्ण न तो केवल एकदेशीय व्यक्त स्वरूपविशेष हैं, और न केवल शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ब्रह्म ही हैं। ये दोनों ही उनकी अभिव्यक्तियाँ हैं। उनको एकदेशीय माननेमें भी उनके स्वरूपको अल्प और परिच्छिन्न करना पड़ता है। और केवल शुद्ध ब्रह्म माननेसे भी शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और सब कुछका कोई स्वरूप निश्चय नहीं होता। माया या मिथ्या कहकर टालनेसे भी काम नहीं चलता। इसीसे यह कहा जाता है कि सब कुछ नहीं है सो नहीं है, पर वह सब (ब्रह्मसमेत) भगवान्की ही अभिव्यक्ति है। भगवान् स्वयं ही कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
(गीता ७। ७)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(१४। २७)

'हे धनञ्जय! मेरे सिवा और कुछ भी नहीं है, यह समस्त जगत् सूतमें सूतकी मणियोंकी भाँति मुझमें ही गुँथा है। जगत् ही क्यों, अव्यय परब्रह्म, अमृत, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक आनन्दका आधार भी मैं ही हूँ।' सबका समन्वयात्मक यही गीतोक्त 'समग्र ब्रह्म' या 'पुरुषोत्तम'का स्वरूप है और वह श्रीकृष्ण ही है। इसीलिये वेदान्तज्ञानके उपदेष्टा और ज्ञाता श्रीमधुसूदन सरस्वती कहते हैं—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

* * *

ब्रह्म और व्रजकुमार

चाहे तू योग करि भृकुटिमध्य ध्यान धरि,
चाहे नाम-रूप मिथ्या जानिकै निहार लै।
निरगुन, निरभय, निराकार ज्योति व्याप रही,
ऐसो तत्त्वज्ञान निज मनमें तू धार लै॥ १॥
नारायन अपनेकौ आप ही बखान करि,
'मोतें वह भिन्न नहीं' या बिधि पुकार लै।
जौलौं तोहि नंदकौ कुमार नहिं दृष्टि पर्यौ,
तौलौं तू भलै बैठि ब्रह्मकौं बिचार लै॥ २॥

—नारायण स्वामी

* * *

परा और अपरा भक्ति

(लेखक—श्रीयदुनाथसिंहजी एम० ए०, पी-एच० डी०)

श्रीनारद भगवान्ने ईश्वरसम्बन्धी परम प्रेमको भक्ति कहा है—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा । (नारदसूत्र २)

भक्तिका स्वरूप वह प्रेम है जो अपने परम स्वरूपको प्राप्त होता है । भक्तिका स्वरूप अमृत है—'अमृतस्वरूपा च' (नारदसूत्र ३) ईश्वरभक्ति अमृतसरीखी मधुर है जिसके आस्वादनसे मनुष्य अमृतत्वको प्राप्त होता है । जो मनुष्य ईश्वरभक्तिमें निष्ठ होता है वह अमर होता है । (शाण्डिल्यसूत्र ३) जो भगवान्में जीता है, भगवान्में चलता है और भगवान्में ही संस्थ हो जाता है वह अमृतत्व लाभ करता है । (शाण्डिल्यसूत्र-स्वप्नेश्वर-भाष्य) भगवत्प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है, 'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्' (नारदसूत्र ५१) । यह प्रेम अमिट है । यह 'मूकास्वादनवत्' (नारदसूत्र ५२) अवर्णनीय है ।

शाण्डिल्य महर्षि परा भक्तिको ईश्वरसम्बन्धिनी आसक्ति ('सा परानुरक्तिरीश्वरे' शाण्डिल्यसूत्र २) कहते हैं । इस लक्षणको अन्य प्रकारसे यों कह सकते हैं कि भक्ति ईश्वर-सम्बन्धी परम अनुराग या प्रेम है । श्रीनारदोक्त लक्षण ऐसा ही है ।

नारदपाञ्चरात्रमें भक्तिको—

'अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता'

अर्थात् 'ईश्वरमें अनन्य प्रेमयुक्त अनन्य ममत्वानुभव' कहा है । ईश्वरसम्बन्धी अनन्य प्रेम वह प्रेम है जिसमें केवल एक ईश्वर ही 'अपना' मालूम होता है । यह किसी दूरस्थित आदर्शसम्बन्धी सूक्ष्म अव्यक्त भावतरङ्गमात्र नहीं है । यह पुरुषोत्तम-सम्बन्धी प्रत्यक्षानुभूत सुस्पष्टतया अभिव्यक्त प्रेमभाव है । **पराक्कालीन** भक्तिशास्त्रसाहित्यमें भक्ति और प्रेमा ये दो भेद किये गये हैं । भक्ति ईश्वर-सम्बन्धी स्वयमुद्भूत अनुराग है जिसमें इष्ट विषय ईश्वर है और उसीमें भक्त **परमाविष्ट** और तन्मय होता है—

इष्टे स्वारसिको रागः परमाविष्टता भवेत् ।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

प्रेमा भक्तिका परमोत्कर्ष है । ईश्वरसम्बन्धी यह अत्यन्त एकाग्र—केन्द्रीभूत प्रेम है जिसमें अनुरागकी हद है और जिससे हृदय **पूर्णतया** विशुद्ध हो जाता है—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः ।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

भगवत्प्रेम भगवद्भक्तिकी पूर्णता और सिद्धि है ।

श्रीमद्भागवतमें तीन प्रकारकी भक्ति कही गयी है । यदि कोई मनुष्य परद्रोह, घमण्ड, ईर्ष्या या क्रोधसे प्रेरित होकर भक्ति करता है तो उसकी भक्ति तामसी है, क्योंकि तम ही उसके आचरणमें मुख्य है । (३ । २९ । ८) यदि कोई मनुष्य लोकैषणा, वित्तैषणा या किसी प्रकारकी भोगैषणासे देवमूर्तियोंका आराधन करता है तो उसकी भक्ति राजसी है, क्योंकि उसके आचरणमें रजोगुण प्रधान है । (२९ । ९) यदि कोई मनुष्य कर्तव्य जानकर कर्तव्य करनेकी इच्छासे या गुप्त वासनाओंको नष्ट करनेके अभिप्रायसे अथवा ईश्वरको प्रसन्न करनेके लिये ईश्वरकी भक्ति करता है तो उसकी भक्ति सात्त्विकी है, क्योंकि उसके आचरणमें सत्त्व प्रधान है । (२९ । १०) भक्तिके ये तीन प्रकार गौणी भक्तिके प्रकार हैं । ये मनुष्यकी स्वाभाविक इच्छाओंसे प्रवृत्त होते हैं । परन्तु पराभक्ति सर्वथा अहैतुकी और अव्यवहित होती है—'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे' (२९ । १२) मनुष्यका परम धर्म वही है जिससे ईश्वरकी वह अहैतुकी और अव्यवहित भक्ति प्राप्त हो जो जीवमें आत्मानन्द भर देती है । (१ । २ । ६) यही परा भक्ति है । यही निर्गुण भक्ति अर्थात् सत्त्व, रज, तमसे विमुक्त भक्ति है । यह सर्वान्तरात्मा श्रीभगवान्की ओर अविच्छिन्ना मनोगति है जो भगवद्गुणश्रुतिमात्रसे निकल पड़ती है । (३ । २९ । ११) जो इस प्रकारकी परा भक्तिसे भक्तिमान् है वह भगवत्सेवाके सिवा और कुछ भी नहीं चाहता । वह न सालोक्य (भगवान् जहाँ रहते हैं वहाँ रहना) चाहता है, न सार्ष्टि (भगवान्की कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं शक्ति), न सामीप्य (भगवान्के समीप रहना), न सारूप्य (भगवद्रूप होना), न सायुज्य (भगवान्के साथ एक हो जाना) ही चाहता है, इन्हें वह देनेपर भी ग्रहण नहीं करता (२९ । १३) । वह न अपुनर्भव कैवल्यकी इच्छा करता है (११ । २० । ३४) न निर्वाण—मुक्तिपदलाभकी ही (१४ । १४) । जो एकान्त भक्तिसे भगवान्को भजता है वह श्रीभगवच्चरणोंके सिवा और कुछ नहीं चाहता—

एकान्तभक्त्या को वान्छेद् पादमूलं विना बहिः ।
(४ । २४ । ५५)

ऐसे भक्तकी भक्ति ही परा भक्ति है ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें चार प्रकारके भक्त वर्णित हैं—(१) आर्त (जो दुःखसे परित्राण चाहता है), (२) जिज्ञासु, (३) अर्थार्थी (जो भोगके विषय चाहता है) और (४) ज्ञानी (जो ईश्वरकी अहैतुकी भक्ति करता है)। आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थीकी भक्ति गौणी है, क्योंकि इसमें भगवदतिरिक्त हेतु हैं । परन्तु ज्ञानी भक्तकी भक्ति अहैतुकी, स्वार्थरहित और मुख्य होती है (शाण्डिल्यसूत्र ७२ और स्वप्नेश्वरभाष्य तथा नारदसूत्र ५६)। उसकी अनन्यतया एक भक्ति होती है । वह श्रीभगवान्से नित्ययुक्त रहता है । भगवान् उसके प्रियतम हैं और वह भगवान्का प्रियतम है (गीता ७ । १७) । उसका भगवत्प्रेम अन्धा नहीं होता प्रत्युत अन्तर्ज्ञानसे प्रकाशमान रहता है ।

शाण्डिल्य महर्षिने मुख्या और गौणी भक्तिका निरूपण किया है । मुख्या भक्ति भगवान्के प्रति अनन्य एकान्तभाव है (शाण्डिल्यसूत्र ८३)। यही परा भक्ति है (सूत्र ८४ और स्वप्नेश्वरभाष्य)। गीताकी भी यही शिक्षा है कि श्रीभगवान्की परा भक्ति करके भक्त भगवान्में प्रवेश करता है (गीता १८ । ६८)। भक्तिसे ईश्वरकी भक्ति करना गौणी भक्ति है । मुख्य भक्तिका यह साधन है (शाण्डिल्यसूत्र ५६)। भगवन्नामकीर्त्तनादिसे उत्पन्न होनेवाला यह प्रभाव है जो उसमें अनुराग उत्पन्न करता है। गौणी भक्तिकी प्राप्तिके ये साधन हैं (शाण्डिल्यसूत्र और स्वप्नेश्वरभाष्य)। यही अनुराग विकसित होकर भगवत्प्रेमको प्राप्त होता है ।

श्रीनारद भगवान्ने भी भक्तिके दो भेद किये हैं—गौणी और मुख्या (नारदसूत्र ५६ और ६७)। गौणी भक्ति भक्तके स्वभावमें सत्त्व, रज, तमके तारतम्यसे त्रिविध है (नारदसूत्र ५६, श्रीमद्भागवत ११ । ९ । १०)। अथवा गीताके अनुसार आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थीरूपसे त्रिविध है । मुख्य भक्त वे हैं जिनकी ईश्वरमें अनन्य भक्ति है, जो ईश्वरके सिवा और कुछ नहीं चाहते (गीता ७ । १६)। ईश्वर ही उनके जीवनका सर्वस्व है।

ज्ञानोत्तर भक्ति

(लेखक— पं० श्रीनरहर शास्त्री खरशीकर)

भक्ति दो प्रकारकी है—एक ज्ञानोत्पत्तिके लिये ईश्वरकी उपासना करके ज्ञान प्राप्त करना; और दूसरी, ज्ञानके पश्चात् श्रीभगवान्के प्रति आत्यन्तिक प्रेमका होना । पहलीको गौणी भक्ति कहते हैं और दूसरीको प्रेमा भक्ति अथवा ज्ञानोत्तर भक्ति । भारतवर्षके प्रायः सभी संतोंने इस प्रेमा भक्तिका अवलम्बन किया है और महाराष्ट्रमें संतवर्य श्रीज्ञानेश्वर महाराजसे इस भक्तिका बहुत ही स्पष्ट रूप प्रकट हुआ है । श्रीमच्छङ्कराचार्यने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' इस सिद्धान्तके द्वारा ज्ञानका अधिष्ठान विशद किया । इसी ज्ञानाधिष्ठानपर श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अति दिव्य भक्तिप्रेमका सुन्दर, रमणीय भवन खड़ा किया। इस भवनका सौन्दर्य देखकर स्वर्गस्थ देवता भी इसमें निवास करनेके सुखसे अपने-आपको वञ्चित देख दुखी होते हैं । नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, श्रीसमर्थ आदि संतोंने इसी भक्तिप्रेमके आनन्दगीत गाये हैं। वर्तमान कालमें भी अनेक संत इसी प्रेमभक्तिके उपासक हैं । माहुरके योगिराज श्रीपुरुषोत्तमानन्द सरस्वती उर्फ विष्णुदास महाराज ज्ञानोत्तर प्रेमसे ही जगदम्बाकी उपासना करते थे। यह प्रेमभक्ति चतुर्विध पुरुषार्थके परेकी भक्ति है, इसलिये इसे संतोंने पञ्चम पुरुषार्थ कहा है। यह मुक्तिके परेकी भक्ति है इसलिये इसमें उपासक मुक्तिकी भी इच्छा नहीं करते।

परब्रह्म परमात्माका वर्णन करते हुए उपनिषदोंमें यह दिखाया है कि 'आनन्द' ही उसका रूप है। पर इस केवल 'आनन्दं ब्रह्म' को अपने आनन्दकी प्रतीति नहीं हो सकती, 'एकाकी न रमते' इसीलिये तो उसने 'एकोऽहं बहु स्याम्' ऐसी इच्छा की और एकसे अनेक हुआ। श्रीज्ञानेश्वर महाराजके 'अमृतानुभव'की टीकामें श्रीशिवकल्याण कहते हैं—'पूर्णत्वसे जो परब्रह्म है उसे अपने परब्रह्मस्वरूपका दिग्दर्शन नहीं होता, इसलिये ऐसा दिग्दर्शन हो और प्रेमसुख बढ़े, यह स्फूर्ति परब्रह्ममें होती है।' उदाहरण—खेलनेवाली छोटी बच्चियोंको पुत्रप्रेम व्यक्त करनेका बड़ा शौक रहता है। वस्त्रकी गुड़िया बनाकर वे उसे अपना बच्चा बनाती हैं। बच्चा जनती हैं और उसका बड़ा लाड़-प्यार करती हैं, पास लेटाकर सुलाती हैं, ये सब खेल

खेलती हैं और इसी खेलमें बच्चा जब 'माँ' कहकर पुकारता है तब उस गुड़ियाकी माँके आनन्दका कोई पारावार नहीं रहता। इसमें उसे अपने माता होनेका, उस बच्चेकी पुकारसे बड़ा सुख मिलता है। किसी बाँझ स्त्रीको यह आनन्द नहीं हो सकता। लोकमें वह अपने पेटमें चाहे जितने कपड़े लपेटकर अपने-आपको लोकमें गर्भवती कहलानेका यत्न करे या किसीका बच्चा चुराकर अपनी गोद भरे—उसे पुत्रप्रेमका वह आनन्द हो ही नहीं सकता, न पुत्रप्रेमसे उसके दुग्धकी धारा ही निकल सकती है। स्वयं ही जब कोई जननी शिशुको जनकर द्वैतको प्राप्त होती है तभी पुत्रके पुकारते ही माताको मातृत्वका बोध होता है और उस बोधसे ही सहज प्रेम दुग्धामृत बनकर बाहर निकलता है। स्त्रीके होनेसे ही पतिको पतित्व अनुभूत होता है, स्त्रीके बिना पतिका पतित्व नहीं; शिशु हो तो ही माताको मातृत्व अनुभूत होता है, अन्यथा नहीं। आत्यन्तिक प्रेम ही माताके गर्भमें रहकर पीछे पुत्ररूपसे प्रकट होता है। इसी प्रकार आनन्दस्वरूप ब्रह्मको अपना आनन्द व्यक्त करनेकी जो स्फूर्ति होती है उस स्फूर्तिका व्यक्त होना एकमेवाद्वितीय ब्रह्मका द्वैत होना है। इस द्वैताकार स्फूर्तिका नाम जीव या भक्त है। जीव भक्त और भगवान् हैं तो एक ही; पर पुत्र 'मैं पुत्र हूँ' इस भावनासे माताको 'माता' कहकर पुकारे इसमें अद्वैतकी कोई हानि नहीं होती, प्रत्युत प्रेम व्यक्त होता और बढ़ता है। इसी प्रकार भगवान्‌का प्रेम व्यक्त हुआ उसीका नाम हुआ भक्त; और यह भक्त जब हे प्रभो! मैं पतित हूँ—तुम पावन हो, मैं शिशु हूँ—तुम माता हो, मैं भक्त हूँ—तुम भगवान् हो, इस प्रकार भगवान्‌को पुकारता है तब भगवान्‌को अपनी भगवत्ता प्रतीत होती है। तब अद्वैतका भाव बनाये रहकर प्रेम-प्रतीति-कालमें जो-जो व्यवहार उस भक्तके कायमनोवाक्यसे होते हैं वे सब भगवान्‌के भजन ही होते हैं। बच्चेके 'माँ' कहकर पुकारते ही जैसे माताके हृदयमें वात्सल्य उमड़ पड़ता है वैसे ही भगवान्‌को जब भक्त पुकारता है कि 'हे भगवन्! हे प्रभो! हे जगन्नायक! हे जगज्जननी!' तब पुकारनेकी देर है कि भगवान्‌का भक्तवत्सल हृदय माताके समान ही भक्तकी ओर उमड़ पड़ता है; यही नहीं, सदा-सर्वदा ही भक्तका प्रेम ग्रहण करनेके लिये भगवान् भक्तपराधीन होकर रहते हैं।

श्रीतुकाराम महाराज भगवान्‌से कहते हैं कि हमारे भक्तभावके कारणसे ही तो तुम्हारा भगवद्भाव है। फिर इसे भूलकर क्यों चुप बैठे हो? क्यों हमारी उपेक्षा कर रहे हो?

मकईका एक दाना है। वह जोती हुई भूमिमें गिरा, उसपर वृष्टि हुई और तब वह दाना फूटा। दाना फूटा पर उसके फूटनेकी क्रियामेंसे ही अङ्कुर उत्पन्न हुआ। वह अङ्कुर बढ़ा, उसमेंसे छोटी-छोटी कई शाखाएँ फूट निकलीं और वह एक भुट्टा बना उस भुट्टेमें फूल लगे और फिर उसमें दाने निकले। ये दाने असंख्य थे। मूलमें जो एक दाना था वह अब कहीं नहीं देख पड़ता। वह गायब हो गया सही पर वही असंख्य दानोंके रूपमें व्यक्त हुआ है। इसलिये एक दानेकी प्रतीति असंख्य दानोंमें है, यह बात निश्चित हुई। भक्तकी वृत्ति ऐसी ही होती है। एक ही परमात्मा अनेकत्वको प्राप्त हुआ है। अनेकत्व एकत्वका ही चिद्विलास है।

ज्ञानेश्वरीमें श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि समुद्रमें अनेक तरङ्ग उत्पन्न होते हैं, वे समुद्रमें ही रहते हैं और समुद्रमें ही विलीन होते हैं। तरङ्गोंकी इन तीनों ही क्रियाओंमें जलके सिवा और कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार प्रेमरूप प्रभुका प्रियत्व जो प्रसृत हुआ वही जगद्रूप भक्तत्वको प्राप्त हुआ है। जैसे मकईके अनेक दानोंमें अथवा समुद्रके अनेक तरंगोंमें मूल मकईका एक दाना या जल ही होता है, वैसे ही भक्तोंकी अनेकानेक वृत्तियोंमें पूर्ण परमात्मा ही होता है। समुद्र और तरंग कहनेमें तो दो शब्द हैं पर प्रतीतिमें केवल जल ही है; सूर्य और प्रकाश शब्द दो हैं परन्तु प्रतीतिमें है एक प्रकाश ही। घट और मृत्तिका, सुवर्ण और अलङ्कार, तन्तु और पट ये सब शब्द हैं दो दो; पर अनुभूति एक ही है। इसी प्रकारसे भगवान् और भक्त, सेव्य और सेवक, परमात्मा और जगत्, गुरु और शिष्य हैं शब्दतः दो, पर वस्तुतः एक ही। अनेकानेक अखिल व्यवहारोंमें प्रेमरूप परमात्मा ही समुदित है यही ज्ञानी भक्तोंकी चित्त-भूमि है। इसीलिये श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि शिष्य और गुरु इन दोनों शब्दोंका अर्थ दोनोंमें ही श्रीगुरु ही है। (अमृतानुभव) आकार चाहे अनन्त हों पर उनके एकत्वमें कोई बाध नहीं होता।

जगज्जीवेश्वरत्वादि विचित्रं विभवं विना।
केवलं चित्सदानन्दब्रह्मात्मैक्यपरा श्रुतिः॥
(ब्रह्मगीता)

जगत्, जीव, ईश्वरको त्रिविधरूपसे कहना केवल कहना ही है। यथार्थमें परब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(मुण्डकोपनिषत्)

सूर्य, चन्द्र, तारा, विद्युत्, अग्नि ये सब भासते हैं, पर भासते हैं उसी परब्रह्मपर। परब्रह्म ही इन रूपोंसे प्रकट है। भूमिके बिना वृक्ष नहीं होता वैसे ही परमात्म-सत्ताके बिना जगत् नहीं होता। भक्त सब अवस्थाओंमें भगवान्‌को ही देखते हैं। विषयबुद्धि तो उनमें होती ही नहीं। उनका विषय एक नारायण ही हो जाता है। यह श्रीतुकाराम महाराजका स्वानुभव है।

ज्ञानोत्तर भक्तिमें भक्त प्रभु-प्रेमातिरिक्त मुक्तिको कोई चीज ही नहीं समझता। जीवदशा दुखदायी है, प्रपञ्च नाशवान् है, जन्म-मरणके दुःख अपार हैं, इत्यादि बातें सुनकर जो भीरुता उत्पन्न होती है उससे लोग जन्म-मरणके भयसे छूटना चाहते हैं; पर जिनका जीवन ही भगवन्मय है जो 'मच्चित्ता मद्गतप्राणाः' हैं, जिनके 'इन्द्रियाणां मनः' और 'बुद्धिर्बुद्धिमताम्' श्रीकृष्ण हैं, अहंस्फुरण जिनका स्वयं श्रीनारायण है ऐसे हरिभक्तोंको जन्म-मरण और उसके कष्टोंकी सुध लेनेका श्रीहरिको छोड़ अवकाश ही कहाँ! श्रीहरि ही जिनके तन-मन-प्राण हैं उनको बन्धन ही क्या! फिर मुक्ति भी वे किससे चाहेंगे!

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
(श्रीमद्भागवत)

बन्ध-मोक्ष गुणत्रयकी अपेक्षासे हैं, वस्तुतः तो नहीं ही हैं। ये गुणत्रय भी परमात्मसत्तासे ही पूर्णतया व्याप्त हैं, इसलिये बन्ध-मोक्ष, पाप-पुण्य, सुख-दुःखादि द्वन्द्व शब्दतः द्वन्द्व होनेपर भी भक्तकी भावनामें उनका द्वन्द्वातीत-गुणातीत प्रेमरूप ही वास करता है। प्रेम भी बिना विरोधके अपना पूर्ण सुखस्वरूप नहीं प्रकट करता, इसलिये अनन्त आकार-विकारोंसे श्रीप्रभु ही अपना प्रियत्व प्रकट करते हैं। इसलिये भक्त मोक्षके पीछे न पड़कर प्रभुचरणोंमें ही प्रेम लगाते हैं। एकनाथी भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'सब भूतोंमें भगवान्‌को ही देखते हुए जो भक्तजन भगवद्भजन करते हैं वे मेरे ही परिपूर्ण स्वरूप हो जाते हैं।…… जो स्वर्गकी इच्छा करते हैं उन्हें मैं स्वर्ग देता हूँ; जो मुक्तिकी इच्छा करते हैं उन्हें मैं मुक्ति भी देता हूँ; और तो क्या मैं अपनी देह भी श्रीलक्ष्मीजीको सौंपकर निश्चिन्त हो रहता हूँ।' परन्तु जैसा कि श्रीज्ञानेश्वरीमें भगवान् कहते हैं 'जिस सुखमें मेरे मैंपनका भी लेश नहीं रह सकता वह अत्यन्त मृदु-मधुर आनन्द मैं अपने प्रेमी भक्तोंके लिये रख छोड़ता हूँ और उन्हींको उस परम प्रेमानन्दपदपर आरूढ करता हूँ, उस प्रेमानन्दमें भगवान् और भक्तके सिवा और कुछ भी नहीं रह सकता।' इस प्रेमानन्दमें भक्त अपना भक्तत्व भूल जाता है और राम-कृष्ण-हरि आदि नामोंका भजन करता रहता है। अनन्य नाम-भक्त नामदेव इस प्रेमानन्दका वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'पाण्डुरंग! तेरी छवि देखकर भवभय नष्ट हो गया, अब यही एक भय चित्तको घेरता है कि यदि तू मुझे मुक्त कर देगा तो मैं तेरा भजन कैसे कर सकूँगा, कैसे तेरे नामरूपकी माधुरीका समास्वादन कर सकूँगा इसलिये मुझे मुक्ति न देकर बार-बार जन्म ही दे जिसमें मैं तेरे नामरूपमाधुर्यसे कभी वञ्चित न होऊँ।' श्रीतुकाराम महाराज भगवान्‌से कहते हैं कि 'मुझे तेरी मुक्ति-सम्पदा नहीं चाहिये। मुझे बार-बार जन्म दिया कर, पर अपनी प्रेमभक्तिसे मुझे कभी खाली न कर।' एकनाथ महाराज प्रभुसे प्रार्थना करते हैं कि 'मुझे प्रेमसुख दे, प्रेमके बिना समाधान नहीं। जिस ज्ञानीमें प्रेम नहीं होता उसका वह ज्ञान वेश्याके ही शृंगारका-सा है जिसका कोई पति नहीं।'

यही भक्तिके परेकी मुक्ति है जिसपर चारों मुक्तियाँ न्योछावर हैं। इसी प्रेम-भक्तिको देवर्षि नारदने 'परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च' कहा है। गीताके 'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्' इत्यादि श्लोककी श्रीज्ञानेश्वर महाराजने बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की है—भगवान् कहते हैं—'जिस भक्तने अनन्य प्रेमसे मुझे पत्र, पुष्प, फल, उदक दिया उसने वैकुण्ठसे भी बढ़कर दिव्य धाम दिया, कौस्तुभमणिकी अपेक्षा भी सुन्दर आभूषण दिये, अमृतसे भी उत्कृष्ट भोग दिया, इस भोगसे मैं जितना सन्तुष्ट होता हूँ उतना और किसी वस्तुसे नहीं। सुदामाके तण्डुलकी पोटलीकी गाँठ खोलनेवाले अर्जुन! तुमने तो देखा ही है! मैं छोटा-बड़ा, कम-बेश, धनी-निर्धन कुछ नहीं जानता, केवल एक प्रेम जानता हूँ। मेरे प्रियत्व-रूप भक्तोंके अन्तःकरणमें मेरे सिवा दूसरा कोई भाव ही नहीं रहता। सर्वांगसे भक्तत्व मैं ही हूँ, यही उसकी प्रतीति होती है। उसके द्वारा होनेवाले सब कर्म मेरे ही स्फुरण हैं।

अद्वैतपारंगता भक्ति है।' श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते यह भक्ति अनुभवसे ही जाननेयोग्य है, कहनेयोग्य नहीं।'

श्रीजगदम्बा रेणुका देवीके कण्ठमणि लाडले भक्त विष्णुदास महाराज भगवतीसे पूछते हैं—'शशिकला! मैं तेरा बच्चा हूँ न, तेरा ही तो अमृतपान करता हूँ न? मैं पथ्य क्यों करूँ, जो चाहूँ क्यों न खाऊँ, इतना तो माता! मुझे बता दे। कामधेनुका स्तन जब मेरे मुखमें है तो मनोरथोंमें मैं कमी क्यों करूँ? विषयभूमिके पपड़े क्यों चाटा करूँ? इतना, रेणुका माता! मुझे जरूर बता दे।'

इस प्रेम-भक्तिमें भक्तके नाम-रूपादि सभी व्यवहार प्रभु-प्रेममें ही समर्पित होते हैं, इसलिये सब व्यवहारोंमें भक्तके भगवान् ही विराजते हैं। ज्ञानोत्तर भक्तिका इस प्रकार विलक्षण माहात्म्य है जिसका अत्यल्प विवेचन यहाँ किया गया है। ज्ञानोत्तर भक्तिके पाठ सब जीवोंको प्राप्त हों और सर्वत्र भगवत्प्रेम व्यक्त हो, यही श्रीसद्गुरुमातासे प्रार्थना करके यह लेख समाप्त करता हूँ।

◆

वेद-मन्त्र

वेदने किया यही गुणगान—
विश्व तेरा तुम उसके प्रान
हवाकी व्यापकता हो आप।
अनलकी ज्योति उष्णता ताप॥
नीरकी शीतलता सुखमूल।
धराकी क्षमता कणकी धूल॥
गगनकी निर्मलता नव रूप।
सिन्धुकी विषम गहनता कूप॥
सुमनमें मधु पराग शुचि गन्ध।
मधुर रस स्वाद श्रेष्ठ फल कन्द॥
प्रकृतिका तू ही पुरुष प्रधान।
वेदने किया यही गुणगान॥
आप अग-जगमें रमते मौन।
छुपा रह सकता तुमसे कौन॥
विहँग कुलका कलरव अलि तान।
चतुष्पद न्यारा नीति विधान॥
देवका दुर्लभ निर्मल ज्ञान।
मनुजकी मानवता भगवान॥
कीड़ियोंके भी जीवनप्राण।
आपने किया जगत निर्माण॥
आप ही हरि हर अज भगवान।
वेदने किया यही गुणगान॥
पिता माता त्राता दुख ताप।
पुण्य उत्पीडन भव-भय-पाप॥
सुधामें संजीवन अभिधान।
गरलमें मृत्यु जीवमें जान॥
दिवाकरमें उष्णता महान।
सुधाकरका शीतल परिधान॥
विषमता समता धन ऐश्वर्य।
कला कौशल प्रभुता बल वीर्य॥
आप ही दीनबन्धु भगवान।
वेदने किया यही गुणगान॥
मोहनी माया शक्ति सदेह।
आपहीका भव छाया-गेह॥
नेह ममता निष्ठुरता प्रीति।
कठिनता कोमलता भवभीति॥
आप ही संयम नियम प्रधान।
शील सुन्दर आचरण निधान॥
कौन पा सकता तेरा अन्त।
कहा करती श्रुति तुझे अनन्त॥
आप ही हैं सच्चे भगवान।
वेदने किया यही गुणगान॥

—जगदीश झा 'विमल'

बालगोपाल सच्चिदानन्दकी स्तुति

एक बार सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण अपने साथी गोपबालकों और बछड़ोंको साथ लेकर वनमें गये। वहाँ पूतना तथा बकासुरका भाई अघासुर एक बहुत बड़े अजगरका रूप बनाकर इस ताकमें बैठा था कि 'कब श्रीकृष्ण आवें और मैं उनका बध करूँ।' उस अजगररूप राक्षसका आकार इतना बड़ा था कि वह एक पर्वतकी श्रेणी-सा जान पड़ता था। उसको देखकर ग्वाल-बाल आपसमें कहने लगे 'देखो न, यह कैसा विचित्र अजगराकार पर्वत है, ऐसा जान पड़ता है कि इस पर्वतरूपी अजगरका ऊपरी होंठ बादलोंसे मिला हुआ है तथा नोचेका नदीपर रक्खा है। इसकी ये गुफाएँ दो जबड़ेकी तरह, चोटियाँ दाढ़ोंकी तरह और यह चौड़ा-सा मार्ग जिह्वाकी तरह जान पड़ता है।' यह कहते और हँसते-खेलते सभी ग्वाल-बाल अपने बछड़ोंके समेत उस भयानक अजगरके मुखमें प्रवेश कर गये। भगवान् श्रीकृष्णने जब इस प्रकार अपने मित्रोंको अघासुरके मुँहमें पड़ा हुआ देखा, तो वे झटपट उस दुष्ट राक्षसके वध और अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये स्वयं भी उसके मुँहमें पैठ गये।

अघासुर तो यह चाहता ही था, उसने भगवान्के घुसते ही अपना मुँह बंद कर लिया। किन्तु भगवान्के सामने उसकी शक्ति ही क्या थी? भगवान्ने अपने शरीरको बढ़ाना आरम्भ कर दिया। इससे अघासुरके गलेमें डाट-सी लग गयी और उसका दम घुटने लगा। अन्तमें उसकी दोनों आँखें बाहर निकल पड़ीं और वह मौतके घाट छटपटाने लगा। तबतक उसके प्राण-पखेरू भी ब्रह्मरन्ध्रको फोड़कर बाहर निकल आये। प्राण निकलते ही भगवान्ने अपना पहले-जैसा बालरूप बना लिया और ग्वाल-बाल तथा बछड़ोंके सहित हँसते-हँसाते बाहर निकल आये।

इसके अनन्तर भगवान् विचरते हुए यमुना-तटपर पहुँचे और वहाँ भोजनकी तैयारी करने लगे। ग्वाल-बालोंने अपनी-अपनी भोजनकी पोटलियाँ खोलीं और जितने भोज्य-पदार्थ थे, सब एकमें मिलाकर एक दूसरेको बाँट दिये गये। भगवान्ने अपने बायें हाथकी हथेलीमें ग्रास रक्खा, अँगुलियोंमें चटनी आदि रक्खी, और सब बालकोंके मध्यमें खड़े होकर, सबको हँसाते हुए भोजन करने लगे। तबतक सबने बछड़ोंपर दृष्टि डाली। बछड़े वहाँ नहीं थे, वे हरी-हरी घास चरते कहीं दूर निकल गये थे। यह देखकर गोप-बालक आतुर हो उठे। भगवान्ने उन सबको धीरज बँधाते हुए कहा—'तुमलोग भोजन करना न छोड़ो। मैं अभी बछड़ोंको ले आता हूँ।' ऐसा कहकर उसी प्रकार हाथमें भोजनकी सामग्री लिये हुए भगवान् आगे बढ़ गये।

बात यह थी कि ब्रह्माजीको अघासुरका आश्चर्यजनक मोक्ष देखकर यह उत्कण्ठा पैदा हो गयी कि वे भगवान्की और भी अधिक आनन्ददायिनी महिमा देखें। इसीसे उन्होंने बछड़े छिपा दिये थे। यहींतक नहीं, भगवान् जब ग्वाल-बालोंको छोड़कर आगे बढ़ गये, तब ब्रह्माजीने ग्वाल-बालोंको भी एक पर्वतकी कन्दरामें छिपाकर सुला दिया। किन्तु ब्रह्माजीकी यह सारी करतूत भगवान्से कब छिपी रह सकती थी! जगत्-प्रतिपालक भगवान् श्रीकृष्णने अपने मनमें यह विचार किया कि 'यदि मैं इस समय ग्वाल-बाल और बछड़ोंको घर नहीं ले जाऊँगा तो उनकी माताओंको अत्यन्त दुःख होगा। परन्तु यदि ब्रह्माजीद्वारा चुराये गये ग्वाल-बाल और बछड़ोंको लौटाता हूँ तो ब्रह्माजीको मोह नहीं होगा।' अतः भगवान्ने एक लीला रची, उन्होंने अपनेको ही उन नानाप्रकारके गोवत्स और गोपालोंके रूपमें परिणत कर दिया।

भगवान्ने जिन गोवत्सों और गोप-बालकोंको बनाया, वे ठीक उन्हीं गोवत्सों और गोप-बालकोंके समान थे जिनको ब्रह्माजीने छिपा रक्खा था। ये ठीक उन्हीं-जैसी शकल-सूरतवाले, उन्हीं-जैसे सजे-बजे और वंशी लिये हुए थे। गोकुलमें पहुँचकर सब बालक और बछड़े अपनी-अपनी जगहपर चले गये। उनके माता या पिता किसीको भी यह भ्रम नहीं हुआ कि 'वे उनके बालक नहीं हैं।' बल्कि भगवत्‌रूप होनेके कारण उन बछड़ों और बालकोंमें उनकी प्रीति और भी बढ़ गयी!

इधर ब्रह्माजीने इस कार्यमें अपनी दृष्टिसे केवल रंच मात्रका समय लगाया था, किन्तु उनके इतने ही समयमें ब्रजवासियोंका एक वर्ष व्यतीत हो गया। ब्रह्माजी अपने छिपाये हुए बछड़ों और गोप-बालकोंको भगवान्के साथ देखकर बड़े आश्चर्यचकित हुए। वे सोचने लगे कि—'मैंने तो इन्हें छिपाकर सुला रक्खा है, ये उतने ही बछड़े, वैसे ही बालक भगवान्के पास कैसे आ गये?' ब्रह्माजीने इस रहस्यको समझनेकी बहुत चेष्टा की, किन्तु वे कुछ भी

नहीं समझ सके। उन्हें यह कुछ भी नहीं मालूम पड़ा कि ये बछड़े और ग्वाल-बाल सत्य हैं या मायारचित हैं! इस प्रकार ब्रह्माजी मोहरहित किन्तु जगत्को मोहित करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको मोहमें डालनेके लिये प्रवृत्त हुए थे, परन्तु उनको अपनी मायासे स्वयं ही मोहित हो जाना पड़ा!

मोहमग्न ब्रह्माजीने देखा कि 'उनके सामने जितने बछड़े और गोप-बालक थे, सभी चतुर्भुज-मूर्ति हो गये हैं और हमारे-जैसे अनेकों ब्रह्मा देवताओंके साथ उनका पूजन कर रहे हैं!' अब तो ब्रह्माजीके मोहका कुछ ठिकाना ही न रहा। वे मायामें सर्वथा डूब गये। इतनेमें दयामय भगवान्ने उनका क्लेश दूर करनेके लिये अपनी मायाका परदा हटा लिया। ब्रह्माजीकी आँखें खुलीं, उस समय उन्होंने केवल भगवान्को ही देखा। बस, क्या था, वे दौड़े हुए गये और सुलाकर छिपाये हुए बछड़ों और गोप-बालकोंको जल्दीसे लाये। इसके पश्चात् भगवान्के चरणोंमें दण्डकी भाँति गिरकर गद्गद वाणीसे स्तुति करने लगे—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥

हे स्तुत्य! मेघके समान श्यामल शरीरधारी! बिजली-जैसे चमकीले वस्त्रोंसे आच्छादित, गुञ्जाओंके झूमकों और मोरपंखोंके मुकुटसे सुशोभित मुखवाले! गलेमें वैजयन्ती माला, हाथोंमें ग्रास, बेंत, सींग और वंशी धारण कर इनकी शोभासे युक्त हुए कोमल चरणोंवाले! नन्दगोपके लाड़ले! आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महित्ववसितुं मनसान्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥

हे देव! भक्तोंकी इच्छाके अनुसार प्रकट हुए और मेरे ऊपर अनुग्रह करनेवाले आपके इस अतिसुलभ अवतारकी, जो पाञ्चभौतिक नहीं, अपि तु अचिन्त्य शुद्ध सत्त्वमय है, महिमाको मनसे भी जाननेके लिये मैं (ब्रह्मा) समर्थ नहीं हूँ। अथवा और भी कोई समर्थ नहीं है। जब अवतारकी महिमा नहीं जानी जाती तो आत्मसुखके अनुभवसे ज्ञात होनेवाले गुणातीत स्वरूप साक्षात् आपकी ही महिमाको एकाग्र किये गये मनसे भी जाननेके लिये कौन समर्थ होगा? अर्थात् कोई भी समर्थ नहीं है।

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

जो लोग ज्ञानकी प्राप्तिके लिये कुछ भी प्रयास न करके, केवल साधुओंके निवास-स्थानमें रहकर भक्तोंके मुँहसे स्वभावतः नित्य प्रकटित हुई, आप (भगवान्) की चर्चाको सुनकर, उसका शरीर, वाणी और मनसे आदर करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, हे अजित! उन पुरुषोंने त्रिलोकीमें औरोंसे नहीं जीते जानेवाले आपको भी जीत लिया है (अर्थात् उनको आप प्राप्त हो गये हैं)।

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

हे प्रभो! जैसे सरोवरसे अनेकों स्रोत बहते हैं, वैसे ही आपकी भक्तिसे कल्याणरूपी स्रोत बहते हैं। आपकी ऐसी भक्तिको त्यागकर जो पुरुष केवल ज्ञानकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं, उनको केवल क्लेश ही मिलता है, जैसे धानकी भूसी (छिलके) को कूटनेवालेको केवल क्लेश ही शेष रहता है—चावल नहीं मिलते।

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(हे नाथ!) मुझको वैसा परम सौभाग्य प्राप्त हो, जिससे मनुष्यलोकमें, विशेषतः गोकुलमें और उससे भी विशेषतः व्रजके वनमें (पशु, पक्षी, वृक्ष, कीट आदि योनिमेंसे) किसी भी योनिमें मेरा जन्म हो। वहाँपर इन गोकुलवासियोंमेंसे किसीके तो चरणरजका अभिषेक मेरे ऊपर होगा! क्योंकि उनका जीवन मुकुन्दपरायण है। अर्थात् उनके गृह, वृत्त, पुत्रादि सर्वस्व भगवान् मुकुन्द ही हैं, जिनकी चरणरजको भगवती श्रुति भी अनादिकालसे अबतक खोजती है। (परन्तु देख नहीं पाती)

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति।

सद्वेषादपि पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता।
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥

हे देव ! आप भी इन व्रजवासियोंको सर्वफलरूप अपने स्वरूपसे बढ़कर कहाँ क्या फल देंगे—इस विषयमें विचार करता हुआ, (इनके पुण्यानुरूप स्थानको सर्वत्र खोजता हुआ) हमारा (ब्रह्मा, रुद्र, सनक आदिका) चित्त मोहको प्राप्त होता है, क्योंकि आपके स्वरूपसे बढ़कर कोई स्थान ही नहीं है। (यदि कहिये कि अपनेको ही देकर मैं उऋण हो जाऊँगा, तो वह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि) हे देव ! केवल भक्तोंके वेशका अनुकरण करनेसे पापिनी पूतना अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ आपको ही प्राप्त हुई। तो क्या, जिनके शरीर, धन, मित्र, पुत्र, प्रिय, प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि सब कुछ आपके ही निमित्त हैं, उन्हें भी वही फल देंगे, जो राक्षसोंको दिया था ? नहीं, वह तो बहुत थोड़ा है, अतः ऋणी रहना ही ठीक है !

तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः ॥

हे कृष्ण ! जबतक मनुष्य आपकी शरणमें नहीं आता, तभीतक रागद्वेषादि चोरकी भाँति व्यवहार करते हैं, तभीतक यह घर कारागृह-सा है और तभीतक पैर मोहरूपी बेड़ीसे बँधे हैं।

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले।
प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो ॥

हे प्रभो ! आप प्रपञ्चसे अलग होते हुए भी शरणमें आये हुए जनसमूहके आनन्दका विस्तार करनेके लिये इस भूतलमें पुत्रादिरूप प्रपञ्चका अनुकरण करते हैं। (नकली पुत्रका रूप स्वीकार करके गोपोंकी सच्ची सेवासे आप अनृण नहीं हो सकते।)

अजातवाद और भक्तिका समन्वय

(लेखक—पं० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय व्याकरणसाहित्यशास्त्री)

आजकल भक्तों और ज्ञानियोंका विवाद बहुत जोर पकड़ता जा रहा है, यदि किसी ज्ञानी महात्माके आश्रमपर भगवन्नामकीर्तन होता है तो कुछ ज्ञानाभिमानी विद्वान् उसके इस कार्यकी कटु आलोचना करते हुए नाक-भौंह सिकोड़ते हैं। उनकी समझमें नामकीर्तनसे द्वैत एवं अज्ञानका भाव बढ़ता है और इस प्रकार ज्ञानके पवित्र नामपर बट्टा लग जाता है। कहनेको तो वे किसी भी सिद्धान्तसे अपना विरोध नहीं बतलाते पर व्यवहारतः वे अपने प्रतिकूल सिद्धान्तवाले सभी लोगोंको तुच्छ एवं अज्ञानी मानकर घृणा करते देखे जाते हैं।

इसी प्रकार अपनेको भक्त कहनेवाले कुछ सज्जन भी ज्ञान-मार्गको भगवत्प्रेम और भक्तिसे शून्य बतलाकर उसकी अवहेलना करते हैं तथा अद्वैत-सिद्धान्तपर श्रद्धा न रखते हुए भगवान् शङ्कराचार्यजीपर भी आक्षेप करते दिखायी देते हैं। अपने-अपने मतोंकी श्रेष्ठताके नामपर राग-द्वेषके शिकार बने हुए दोनों दल परमार्थपथसे कितनी दूर हटते जा रहे हैं—यह शोचनीय बात है। इस निबन्धमें यह दिखलानेकी चेष्टा की जायगी कि अद्वैतवीथीपथिकोंका ज्ञानमार्ग भक्तिसे शून्य नहीं है और अजातवादके समर्थक आचार्य शङ्कर आदर्श ज्ञानी होते हुए भी महान् भक्त थे।

यह तो प्रायः सभी लोग स्वीकार करते हैं कि ज्ञान और भक्ति—दोनोंकी सरिताएँ एक ही महासागरमें मिलती हैं, दोनों एक ही मंजिलपर पहुँचनेके दो राजमार्ग हैं। शब्दान्तरसे एक ही परम महेश्वरकी प्राप्ति दोनोंको अभीष्ट है। ये यद्यपि दो कहे जाते हैं तथापि इनमें सुन्दर समन्वय है, दोनों एक-दूसरेपर अवलम्बित हैं। लोकमें भी देखा जाता है कि जो जिसकी महत्ताको अधिक जानता है वह उसमें अत्यधिक प्रेम और भक्ति रखता है। इसी प्रकार जो परमेश्वर-तत्त्वको जानता है वह उसमें अधिक भक्ति रख सकता है। जिसका जिसमें अधिक प्रेम तथा भक्ति है वह उसके विशेष रहस्योंका अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करता है। तात्पर्य यह कि ज्ञानसे भक्तिका और भक्तिसे ज्ञानका विकास होता है। श्रीशङ्कराचार्यजीका अद्वैतज्ञान भी भक्तिसे भरपूर है।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने ज्ञानीको भक्तकी श्रेणीमें रखकर ज्ञान और भक्तिके समन्वयको स्पष्ट किया है और ज्ञानी भक्तको अपना आत्मा बताकर भक्तिभूषित ज्ञानको ही सम्मान दिया है। ज्ञानीको आत्मा माननेमें दो रहस्य हैं, पहला यह कि ज्ञानी अपने आत्माको ही परमात्मा मानकर अभिन्नरूपसे तद्विष्ट होना चाहते हैं; अतः 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'

अनुसार भगवान् उन्हें अपना अभिन्न आत्मा ही मानते हैं, साथ ही यह भी सिद्ध करते हैं कि यह अभेदोपासना भी भक्ति ही है; अतः अभिन्नात्मदर्शी विद्वान्‌को चाहिये कि वह अपनेको भक्त कहने या माननेमें मिथ्या संकोचका अनुभव न करे।

दूसरा रहस्य ज्ञानी भक्तको प्रधानता देनेका यह है कि वह आर्त आदि त्रिविध भक्तोंकी अपेक्षा अधिक निष्काम और आत्मनिर्भर होता है। वह किसी कामना या अपनी रक्षाके लिये भगवान्‌का भजन नहीं करता अपि तु भगवदीय आनन्द-की उपलब्धिके लिये तादात्म्य-भावनाके द्वारा वह भगवन्निष्ठ होनेका यत्न करता है। जो भक्त अपने स्वार्थके लिये भगवान्‌को पुकारता है वह निकृष्ट श्रेणीका भक्त कहा गया है—इसे सभी भक्तिमार्गके अनुयायी स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्धमें एक आख्यायिका सुनी जाती है कि 'कोई भक्त हिंसाके भयसे हरी-हरी दूब न खाकर सूखी दूबसे ही प्राणोंकी रक्षा करता था, परन्तु वह अर्जुन और द्रौपदीको मारनेके लिये सदा अपने पास एक तलवार रखता था। पूछनेपर इसका रहस्य उसने यह बताया कि अर्जुनने मेरे प्यारे भगवान्‌से सारथिका काम कराया और द्रौपदीने अपनी तुच्छ लोक-लज्जाकी रक्षाके लिये मेरे प्राणाधार कृष्णको द्वारकासे हस्तिनापुरतक दौड़ाया; क्या यह साधारण अपराध है?' यह है एक सच्चे भक्तकी निष्ठा!

प्रत्येक भक्तके लिये प्रतिक्षण ईश्वर-चिन्तन मुख्य कर्तव्य माना गया है और वह भी निष्कामभावसे; परन्तु ऐसा होना साधारण बात नहीं है। जगत्‌के व्यवहारमें बद्ध हुए प्राणीके लिये रूप, रसादि विषयोंकी आसक्तिसे अछूता रहकर नाना प्रकारके क्लेश और भय आदिकी चिन्ता त्यागकर निरन्तर भगवत्स्मरण करना कितना कठिन है! यह कहनेकी बात नहीं है, इसका अनुभव सभीको है। जबतक जगत्‌का तनिक भी स्मरण है, तबतक भगवान्‌का सच्चा स्मरण नहीं हो सकता, 'दुइ न होइ इक संग भुआलू।' विजातीय चिन्तनसे रहित स्मरण ही सच्चा भगवत्स्मरण है। परन्तु जबतक ईश्वरसे भिन्न जगत्‌के सद्भावका विश्वास है तबतक उसकी स्मृतिका अत्यन्ताभाव होना असम्भव है और जगत्‌की स्मृति भुलाये बिना सांसारिक विषयोंके आकर्षणसे बचना दुःसाध्य है। इसी प्रकार जगत्‌से समय-समयपर भय प्राप्त होना स्वाभाविक है। इस तरह विषयासक्ति और भयसे ही भगवत्स्मरणमें विघ्न पड़ता है।

इस विघ्नको दूर करनेका यत्न भक्त और ज्ञानी दोनों ही करते हैं। भक्त विघ्नकी सत्ताको मानकर भगवान्‌की शरण लेता है और इस प्रकार अपनेको विघ्नमुक्त मानता है। किन्तु विघ्न-निवारणके उद्देश्यसे भगवान्‌की शरण जाना भी पूर्वकथनानुसार उत्तम श्रेणीकी भक्ति नहीं है; क्योंकि उसमें भी स्वार्थ निहित है। उत्तम भक्त तो विघ्नकी प्राप्तिको भी भगवान्‌का आगमन समझकर अत्यन्त प्रसन्न होता है। इस प्रकार उसके लिये विषय और भय दोनों ही भगवद्रूप हैं, अतः वे उसे विचलित नहीं करते; इस प्रकारका साधन अत्यन्त उत्तम है।

परन्तु पूर्वोक्त विघ्नको दूर करनेके लिये ज्ञानी विघ्नोंके अभावकी भावना करता है, उसकी दृष्टिमें विघ्न नामक कोई वस्तु है ही नहीं। इतना ही नहीं, वह विघ्नके मूलस्रोत जगत्‌की भी सत्ता नहीं स्वीकार करता। वह तीनों कालोंमें ईश्वरके सिवा और किसीका होना नहीं मानता। अपने अहंभावको भी ब्रह्ममें ही विलीन कर वह ब्रह्ममय हो जाता है। इस भावनाके दृढ़ हो जानेपर उसे विघ्नके आक्रमणकी आशंका नहीं रह जाती। यही अजातवादका रहस्य है। जो लोग जगत्‌की सत्ता स्वीकार करते हैं वे भी तो उसे अनित्य मानते हैं। उनके मतमें भी सृष्टि और प्रलयकी व्यवस्था है। सृष्टिके पूर्व और प्रलयके पश्चात् जगत्‌के अभावको वे भी स्वीकार करते हैं। गीतामें भी जगत्‌का यही रूप स्वीकृत है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव ………………॥

अजातवाद भी इसको अस्वीकार नहीं करता। वह अजातत्वका साधन इस प्रकार करता है कि जो वस्तु आदि और अन्तमें नहीं है वह मध्यमें भी नहीं है।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।

इसी वचनके अनुसार वह जगत्‌की सत्ताका अभाव बतलाता है। आदि और अन्तमें जगत्‌का अभाव होना प्रसिद्ध है अतः उसमें युक्ति देनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी। पर जगत्‌की मध्यकालमें अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष है, अतः युक्तिसे उसका अभाव सिद्ध करना पड़ा है। और यह सब इसलिये किया गया कि अनन्य भगवत्स्मरणमें बाधा न आवे। अजातवादी भी मध्यकालमें जगत्‌की अभिव्यक्तिको 'व्यावहारिक सत्ता' नाम देकर स्वीकार ही करते हैं। केवल जगत्‌के विक्षेपोंसे बचनेके उद्देश्यसे ही वे जगत्‌के अत्यन्ता-

भावकी भावना दृढ़ करते हैं। अजातवादके सिद्धान्तमें सद्वस्तु वही है जो त्रैकालिक सत्य अविकारी अखण्ड और एकरस हो। यह लक्षण परमेश्वरके सिवा अन्यत्र कहीं संगत नहीं होता अतः परमेश्वर ही 'परमार्थ सत्' है। अन्य जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह क्षणिक नाशवान् और परिवर्तनशील है अतः असत् है। सर्वदा प्रतीत न होनेके कारण ही वह असत् है। वन्ध्यापुत्र या शशशृङ्ग (खरगोशके सींग) के समान उसका अत्यन्ताभाव नहीं है; क्योंकि अत्यन्ताभावकी कभी भूलसे भी प्रतीति नहीं होती। भूलकर भी किसीने वन्ध्या स्त्रीकी सन्तान और खरहेका सींग नहीं देखा है। जगत्का अभाव बतलानेवाले जितने भी वचन हैं उन सबका इसी अर्थमें पर्यवसान है कि जगत् त्रैकालिक सत् नहीं है अपि तु इसकी सत्ता क्षणिक है। परन्तु साधनावस्थामें सर्वत्र परात्मसत्ताका अबाध अनुभव करनेके लिये जगत्की क्षणिक प्रतीति भी हमें भुला देनी होगी। परमात्माके सिवा दूसरा कुछ है ही नहीं—यही धारणा परम श्रेयको शीघ्र प्राप्त करानेका अमोघ साधन है। इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये अद्वैत-सिद्धान्तमें जगत्की असत्ता सिद्ध की गयी है। जिस अजातवादका चरम लक्ष्य ब्रह्मानन्दको ही प्राप्त करना और सदा सर्वत्र ब्रह्मकी ही सत्ताका अनुभव एवं स्मरण करना है उसे भक्तिशून्य बताकर कौन अपने अविवेकका परिचय देगा ?

इस प्रकार अजातवादके सिद्धान्तको हृदयङ्गम कर लेनेपर सर्वत्र परात्म-चैतन्यका ही अनुभव होगा। फिर बिना किसी साधनाके ही परमेश्वरका अबाध स्मरण चलता रहेगा। जब जगत् नामकी कोई वस्तु है ही नहीं तो बाधा या भय कहाँसे हो; क्योंकि 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' भय दूसरेसे ही प्राप्त होता है। जहाँ दूसरा कुछ है ही नहीं, केवल परमात्मा ही सर्वत्र व्याप्त है वहाँ अन्यका स्मरण ही कैसे हो ?

यत्र वास्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं विजानीयात्।

हमें अपनेको मनुष्य समझनेके लिये किसी साधनाकी आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि हमने अमनुष्यताके लक्षणोंको बाधित करके अपने मनुष्य होनेका दृढ निश्चय कर लिया है। इसी प्रकार अजातवादके सिद्धान्तमें जगत्को बाधित कर केवल ईश्वरीय दृष्टि रखनेका अभ्यास किया जाता है—'दृष्टिभेदाद्दर्शन-भेदः' इस न्यायके अनुसार जगत् नहीं दीखता और ईश्वरका ही सर्वत्र साक्षात्कार होता है। जगत्को भगवान्का स्वरूपान्तर मानकर भगवत्स्मरण करनेकी अपेक्षा जगत्का अभाव और एकमात्र ईश्वरकी ही सत्ताका अनुभव करनेका मार्ग अधिक सुस्थिर है। क्योंकि पहले मतमें जगत्का भान अवश्य होता है और जहाँतक भान होता है वहाँतक अनन्य स्मरण नहीं बन सकता। घट और शराव आदि नाना पार्थिव-विकारोंको पृथ्वीका स्वरूपान्तर माननेवालेकी अपेक्षा उसमें केवल पृथिवी-दृष्टि रखनेवाला मनुष्य अधिक अभ्रान्त है। क्योंकि पहला व्यक्ति नाम-रूपोंके चक्करमें पड़कर कभी पृथिवीको भूल सकता है; परन्तु दूसरेसे भूल होनेकी आशङ्का नहीं है।

जिस समय हम स्वप्न देखते हैं और उसमें किसी भयसे आक्रान्त होकर घबरा उठते हैं, उससे बचनेके लिये नाना प्रकारके असफल प्रयत्न करने लगते हैं। जिसे जाग्रत्-अवस्थामें भगवत्स्मरण करनेका अभ्यास है, वह स्वप्नमें भी भगवान्के स्मरणसे भयरहित होता है। परन्तु यदि किसी प्रकार स्वप्न देखनेवालेको यह विश्वास हो जाय कि मैं जो कुछ देख रहा हूँ यह झूठा स्वप्न है तो वह भयसे विचलित नहीं हो सकता और न उस भयका उसपर कोई असर ही हो सकता है। इसी प्रकार दृश्य-प्रपञ्चके अभावका अनुभव करनेवालेको न तो उसमें आसक्ति होती है और न उससे भय ही प्राप्त होता है। इस प्रकार निर्भय स्थितिमें पहुँचकर वह अद्वैतपथका साधक स्थिर-भावसे समाधि-निष्ठ हो आत्मानन्दका अनुभव करता है। यही आत्मा भक्तोंका आनन्दकन्द वासुदेव है जो उनकी भावनाके अनुसार दिव्यातिदिव्य मधुरातिमधुर मदनमोहनरूपमें प्रत्यक्ष दर्शन देता है। यही श्रुतियोंका सर्वस्व परब्रह्म है जो गोपांगनाओंकी आँखोंमें अञ्जन बनकर रम रहा था। यहीं पहुँचकर भक्तों और ज्ञानियोंकी एक-सी अवस्था होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अजातवाद भक्तिसे दूरकी वस्तु नहीं अपि तु भक्तिमिश्रित साधनाका एक सुदृढ़ एवं सुगम मार्गविशेष है।

यहाँ कुछ लोग यह आक्षेप करते हैं कि भक्ति और अजातवादका समन्वय कदापि नहीं हो सकता; क्योंकि भक्ति-के सिद्धान्तमें भजनीय और भजन करनेवाला—ये दो हैं; परन्तु अजातवाद द्वैतभाव नहीं मानता, वहाँ तो 'सोऽहमस्मि' (वह परमेश्वर मैं ही हूँ) का अभ्यास किया जाता है। परमेश्वरसे पृथक् 'मैं' कोई वस्तु ही नहीं है; ऐसी दशामें

यहाँ भक्तिभावका समावेश कैसे हो सकता है ? इतना ही नहीं, अजातवादने तो उपासकको कृपण कहकर उपासनाका स्पष्ट विरोध किया है--

उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते ।
प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृतः ॥
(गौ० पा० का० २ । १)

इसका भाष्य लिखते हुए आचार्य शङ्कर कहते हैं--

उपास्योपासनादि सर्वं भेदजातं वितथम्, केवलश्चात्माद्वयः परमार्थ इति स्थितमतीते प्रकरणे । यतः उपासनाश्रितः उपासनामात्मनो मोक्षसाधनत्वेन गतः उपासकोऽहं ममोपास्यं ब्रह्म; तदुपासनं कृत्वा जाते ब्रह्मणीदानीं वर्तमानः अजं ब्रह्म शरीरपातादूर्ध्वं प्रतिपत्स्ये । प्रागुत्पत्तेश्चाजमिदं सर्वमहं च यदात्मकोऽहं प्रागुत्पत्तेरिदानीं जातो जाते ब्रह्मणि च वर्तमान उपासनया पुनस्तदेव प्रतिपत्स्ये, इत्येवमुपासनाश्रितो धर्मः साधको येनैवं क्षुद्रब्रह्मवित् तेनासौ कारणेन कृपणो दीनोऽल्पकः स्मृतो नित्याजब्रह्मदर्शिभिर्महात्मभिरित्यभिप्रायः । 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' इति श्रुतेस्तलवकाराणाम् ।

अर्थात् 'पिछले प्रकरणमें यह बताया जा चुका है कि उपास्य और उपासना आदि सारे भेद झूठे हैं, केवल अद्वितीय आत्मा ही सत्य है । जो उपासनाको अपने मोक्षका साधन मानता है अर्थात् जो यह समझता है कि मैं उपासक हूँ और ब्रह्म मेरा उपासनीय है, उसकी उपासना करके इस समय कार्यब्रह्ममें रहता हुआ मैं शरीरत्यागके अनन्तर पुनः उसी अजन्मा ब्रह्मको प्राप्त कर लूँगा, उत्पत्तिके पूर्व मैं तथा यह सारा जगत् अजन्मा ब्रह्म ही था, इस समय जन्म लेकर मैं कार्यब्रह्ममें स्थित हुआ हूँ, इसकी उपासनाके द्वारा मैं पुनः उसी अजन्मा ब्रह्मको प्राप्त कर लूँगा, जिस रूपमें कि सृष्टिके पहले मैं था, इस प्रकार उपासनाका जो आश्रय लेनेवाला है वह साधक क्षुद्र ब्रह्मवेत्ता होनेके कारण नित्य अजन्मा ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाले महात्माओंद्वारा कृपण माना गया है—यह अभिप्राय है । केनोपनिषद्की श्रुति भी कहती है कि 'जिसका वाणीसे उच्चारण नहीं हो सकता अपितु जिसके द्वारा वाणी स्वयं ही उच्चारित होती है, उसे तुम ब्रह्म समझो, सामान्य लोग जिस परिच्छिन्नकी उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है ।'

विचार करनेपर उपर्युक्त आक्षेपमें कुछ सार नहीं दिखायी देता । जिस प्रकार भक्ति एक साधनाका मार्ग है उसी प्रकार अद्वैतज्ञान भी है । साधनावस्थामें भेद सर्वत्र ही रहता है, यदि भक्तिमार्गमें भक्त और भजनीय भिन्न-भिन्न हैं तो अद्वैतसाधनामें भी साधक और साध्यका भेद है ही । श्रोता, श्रोतव्य, मन्ता, मन्तव्य, ध्याता, ध्यातव्य आदि भेद अद्वैतपथमें भी उपलब्ध होते हैं । यदि कहें कि सिद्धावस्थामें भेदका भान न होनेसे ये भेद मिथ्या हैं तो भक्तिमार्गके लिये भी यही कहा जा सकता है । भक्त भी सिद्धावस्थामें भगवद्रूप ही हो जाता है, उस समय भगवत्तत्त्वोंका उसे पूर्ण ज्ञान रहता है । भक्त और भगवान्में वास्तविक भेद नहीं है । भेदप्रदर्शन तो लीलारसविस्तारके लिये नाट्यमात्र है । यह भेदका अभिनय साधन-प्रक्रियाका अङ्ग और रसानुभवका एक प्रकारविशेष है । परम भागवत पवननन्दन हनुमान्जीके मुखसे भक्त और भगवान्की एकताका प्रतिपादन सुनिये—

देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः ।
वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः ॥

'भगवन् ! देहदृष्टिसे तो मैं आपका दास हूँ, जीवदृष्टिसे आपका अंश हूँ, परन्तु वास्तवमें तो मैं आपका साक्षात्स्वरूप ही हूँ—यह मेरा निश्चित विचार है ।'

विष्णुपुराणमें कथा आती है कि हिरण्यकशिपुने भक्तराज प्रह्लादके ऊपर अनेकों अत्याचार करनेके बाद एक बार उन्हें नागपाशोंसे बाँधकर समुद्रमें फेंकवा दिया और उनके ऊपर पर्वतोंका बोझ रखवा दिया । उस समय वहाँ दबे हुए प्रह्लादजी भगवान् विष्णुकी स्तुति करते हुए उनके चिन्तनमें इतने तल्लीन हो गये कि उन्हें आत्मविस्मरण हो गया । वे अपनेको साक्षात् विष्णु ही समझने लगे और ऐसी भावना करने लगे कि मैं ही अनन्त अविकारी परमेश्वर हूँ । इस भावनाके दृढ़ होते ही उनमें वैष्णवी शक्तिका विकास हुआ, फिर जरा-सा अंग हिलते ही सारे नागपाश टूट गये और अपने ऊपर लदे हुए पर्वतोंको फेंककर वे बाहर निकल आये ।*

उपर्युक्त प्रमाणोंसे सिद्ध है कि भक्त और भगवान्में कोई भेद नहीं है । इस प्रकार अद्वैतनिष्ठा और भक्तिमार्गके नाम तथा साधनाके व्यावहारिक स्वरूपोंमें भेद होनेपर भी उद्देश्य और फल समान हैं; इसलिये इनका परस्पर समन्वय होनेमें कोई बाधा नहीं है । भक्ति प्रेमभावको कहते

---

* स च तं शैलसंघातं दैत्यैर्न्यस्तमथोपरि ।
उत्क्षिप्य तस्मात् सलिलान्निश्चक्राम महामतिः ॥

हैं; यद्यपि प्रेमी और प्रेमास्पदमें व्यक्तित्वका भेद देखा जाता है तथापि वह वास्तविक नहीं है, क्योंकि उनके शरीर दो रहते हुए भी प्राण एक ही है। एकके बिना दूसरेका जीवन नहीं रह सकता। उपनिषदोंका कथन है कि प्रेम तो दूसरेसे होता ही नहीं, प्रेमका पात्र तो बस अपना आप ही है। आत्माके लिये सुखद होनेसे ही संसारकी अन्य वस्तुएँ प्रिय मानी जाती हैं—

'न वारे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।'

अद्वैतनिष्ठ ज्ञानीके लिये शास्त्रोंमें आत्मरति, आत्माराम आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं; इन शब्दोंका अर्थ है—आत्मामें अनुराग रखनेवाला। आत्मासे आत्मा ही अनुराग रखता है, कोई दूसरा नहीं। आत्मा ही प्रेमी और प्रेमास्पद भी है। जिस प्रकार अद्वैतसाधनामें आत्मा ही (जीवभावसे) आत्मामें स्थित होता है उसी प्रकार आत्मा ही (प्रेमी होकर) आत्मासे प्रेम करता है। इस प्रकार आत्मनिष्ठ ज्ञानीको हम आत्मानुरागी प्रेमी कह सकते हैं।

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।'

—इत्यादि वचनोंमें प्रयुक्त हुए 'आत्मरति' आदि शब्द हमारे कथनकी पुष्टि करते हैं। जो प्रेमी है वह भक्त भी है ही, इसलिये ज्ञानी और भक्तमें वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। इस कारण अजातवादके सिद्धान्तसे भक्तिका समन्वय न हो सकनेकी धारणा निर्मूल है।

अब रही उपासनाके विरोधकी बात; उसके सम्बन्धमें यही कहना है कि उक्त कारिका और भाष्यमें उपासनाका विरोध नहीं किया गया है, अपि तु उपासकको कृपण कहा गया है। अभिन्नात्मदर्शीकी अपेक्षा वह उपासक न्यून श्रेणीका साधक है—यही उसका मन्तव्य है। यह विचारनेकी आवश्यकता है कि यहाँ 'उपासना' शब्दका क्या अभिप्राय है? सामान्यतः साधनाका तात्पर्य उपासनासे ही है और सभी साधक साधना करते हैं, अतः सभी उपासक कहे जा सकते हैं, ऐसी दशामें सभी साधक कृपण कहे जायँगे; परन्तु ऐसा मानना इष्ट नहीं है, इसलिये यहाँ उपासनासे किसी विशेष प्रकारकी उपासनाकी ओर संकेत किया गया है। 'जाते ब्रह्मणि वर्तते' इस कथनमें उसका विशेष आभास मिलता है। भाष्यकारने इसीको यों स्पष्ट किया है—

'इदानीं जातो जाते ब्रह्मणि वर्तमान उपासनया पुनस्तदेव प्रतिपत्स्ये।'

'इस समय मैं जन्म लेकर जात (जननादिविशिष्ट) ब्रह्ममें वर्तमान हूँ, अब उसकी उपासनासे फिर उस अजन्मा ब्रह्मको ही प्राप्त करूँगा'। जो साधक आत्मा और ब्रह्ममें भेद तथा उन्हें जन्म-मरणादि धर्मोंसे आबद्ध समझता है, अवश्य ही वह तबतक कृपण और निम्न श्रेणीका है। परन्तु जो अपने आराध्य देवकी ही झाँकी सर्वत्र देखता है तथा सब कुछ उसीके भृकुटिविलासका ही कार्य समझता है, वह क्या किसी अभिन्नात्मदर्शीसे न्यून कहा जा सकता है? कदापि नहीं; इन दोनोंकी धारणाका चरम लक्ष्य एक ही है।

भगवान् शङ्कराचार्यका ज्ञान भक्तिसे ओतप्रोत है, उन्होंने ज्ञानके साथ कर्मके समुच्चयका खण्डन किया है, पर प्रेम-भक्तिका कहीं भी विरोध नहीं किया है। प्रेम-भक्ति तो क्रियारूप है ही नहीं, वह तो भावरूप है। भाष्यकार स्वयं भी बड़े भक्त थे, उनके हृदयका यह उद्गार है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

'नाथ! यद्यपि तुझमें और मुझमें भेद नहीं है तथापि मैं ही तुम्हारा हूँ, तुम मेरे नहीं हो। समुद्रकी ही लहर होती है लहरका समुद्र नहीं होता।'

कैसी सुन्दर युक्ति है? लहर और समुद्रमें स्वरूपतः भेद न होते हुए भी भेद है। यही भेद जीवात्मा और परमात्माका है। [इसके अतिरिक्त हिमालयसे लेकर सेतुबन्ध रामेश्वरतक भारतवर्षके अंदर अनेकों प्रसिद्ध क्षेत्रोंमें अपनी सर्वोत्तम भक्तिसे उन्होंने वहाँके देवताओंको प्रसन्न किया और उन देवताओंने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन तथा मनोवाञ्छित वरदान दिया—यह बात उनके चरित्रवेत्ताओंसे छिपी नहीं है।]

यद्यपि उन्होंने वैष्णवोंके भक्तिशास्त्रकी प्रक्रियाओंका बहुत कुछ खण्डन किया है तथापि भक्तिका विरोध कहीं नहीं किया है। चतुर्व्यूहवादका खण्डन करते हुए शारीरक भाष्यमें उन्होंने कहा है—

यदपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमाराधनमजस्रमनन्यचित्ततयाभिप्रेयते तदपि न प्रतिषिध्यते श्रुतिस्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात्।

अर्थात् भगवान्के निकट [मन्दिर आदिमें] जाना और विविध सामग्रियोंसे उनका पूजन करना आदि जो निरन्तर अनन्य चित्तसे की जानेवाली आराधना है उसका भी यहाँ निषेध नहीं किया जाता है, क्योंकि श्रुतियों और स्मृतियोंमें ईश्वरप्रणिधानका अनुशासन प्रसिद्ध है।

उपर्युक्त रीतिसे विचार करनेपर भगवान् शङ्कराचार्यके विचारों और जीवनमें ज्ञान तथा भक्तिका अद्भुत सम्मिश्रण जान पड़ता है।

यहाँ कुछ लोगोंको यह शङ्का होती है कि यदि शाङ्कर सिद्धान्तके अनुसार समस्त दृश्य प्रपञ्चको मिथ्या मान लें तो शास्त्रोंमें जो भगवान्‌के साकार स्वरूप या अवतारोंका वर्णन आता है वह भी दृश्यके अन्तर्गत होनेके कारण मिथ्या ही सिद्ध होता है और मिथ्या जगत्‌के लिये पालक अथवा संहारककी व्यवस्था भी युक्तियुक्त नहीं है। तथा यदि भगवान्‌के साकार स्वरूप या अवतार मिथ्या हैं तो उनमें श्रद्धा न होनेसे भक्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार उक्त सिद्धान्तके समर्थक शङ्कराचार्यजी भी कैसे भक्त माने जा सकते हैं?

सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाय तो उपर्युक्त शङ्का कोई महत्त्व नहीं रखती। यह तो ऊपर कहा ही जा चुका है कि मध्यकालमें जगत्‌की अभिव्यक्ति होती है; जिसको अद्वैत वेदान्तने व्यावहारिक सत्ता नाम दे रक्खा है, इसी जगत्‌के लिये स्रष्टा और पालक आदिकी व्यवस्था आवश्यक होती है। जीवके प्रारब्धके अनुसार यह जगत् कल्पित है; अतः इससे बन्ध और मोक्ष दोनों व्यवहार होते हैं। मृगतृष्णाके जलकी भाँति यह शून्य नहीं है। इसका मिथ्यात्व और अजातत्व इतना ही है कि आदि-अन्तमें इसकी सत्ता नहीं रहती, मध्यमें इसकी उपलब्धि प्रत्यक्ष है। परमेश्वरकी भाँति यह सदा एकरस रहनेवाला नहीं, परिणामी एवं नाशवान् है।

अब रही साकार स्वरूप और अवतारकी बात; इनके भी अनित्य होनेकी शङ्का अविवेकमूलक ही है। भगवान्‌का कमनीय विग्रह सामान्य जगत्‌की भाँति प्राकृतिक तत्त्वोंसे निर्मित नहीं है, वह तो दिव्य, चिन्मय है। प्रकृति तो भगवान्‌से ही उत्पन्न हुई है, फिर वह उनका उपादान कैसे हो सकती है। वह अजन्मा अनन्त ब्रह्म ही प्रकृतिको अपने अधीन करके लोकरक्षाके लिये अवतीर्ण होता है। कभी तो वह अंशतः अवतार लेता है और कभी पूर्णतः। पूर्णावतार होनेपर भी उसकी व्यापकता नष्ट नहीं होती। जिस प्रकार सूर्य गगनमण्डलके एक देशमें रहकर भी अपनी किरणोंसे समस्त चराचरमें व्याप्त है, इसी प्रकार भगवान्‌की शक्तियाँ सर्वत्र व्याप्त रहती हैं। अन्य शरीरधारियोंकी तरह भगवान्‌के साकार स्वरूप या अवतारोंके जन्म-मरण नहीं होते। अपि तु भक्तकी प्रार्थनाके अनुसार लीलाविस्तारके निमित्त उनके आविर्भाव और तिरोभावमात्र होते हैं। शास्त्रोंमें इसके प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। यही गीताका दिव्य जन्म-कर्म है। भगवान् शङ्कराचार्य भी इस मतको हृदयसे स्वीकार करते हैं। गीताके 'अजोऽपि…' श्लोकके भाष्यमें वे कहते हैं—

कथं तर्हि तव नित्येश्वरस्य धर्माधर्माभावेऽपि जन्मेत्युच्यते—अजोऽपि जन्मरहितोऽपि संस्तथाव्ययात्माऽक्षीणज्ञानशक्तिस्वभावोऽपि सन् प्रकृतिं स्वां मम वैष्णवीं मायां त्रिगुणात्मिकां यस्या वशे सर्वं जगद्वर्तते। यया मोहितं स्वमात्मानं वासुदेवं न जानाति। तां प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय वशीकृत्य संभवामि देहवानिव भवामि जात इवात्ममायया आत्मनो मायया न परमार्थतो लोकवत्।

अर्थात् देहारम्भके कारणभूत धर्म और अधर्मका अभाव होनेपर भी आप नित्य ईश्वरका जन्म कैसे होता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—यद्यपि मैं अज-अजन्मा हूँ, अव्ययात्मा—जिसके ज्ञान, शक्ति और स्वभावका कभी क्षय नहीं होता, ऐसा हूँ और ब्रह्मसे लेकर कीटतक सभी जीवोंका शासन करनेवाला ईश्वर हूँ तथापि अपनी प्रकृति यानी त्रिगुणमयी वैष्णवी मायाको जिसके वशमें सारा संसार है और जिससे मोहित हो लोक अपने आत्मा वासुदेवको नहीं पहचानता—अपने अधीन करके मैं उत्पन्न होता हूँ, देहधारी-सा हो जाता हूँ, मानो मैंने जन्म ग्रहण किया है—ऐसा अपनी मायासे प्रतीत होता हूँ। अन्य लोगोंकी तरह वस्तुतः मेरा जन्म नहीं होता।'

इससे यह सिद्ध है कि भगवान्‌का साकार या अवतार-विग्रह जन्म-मरणसे अतीत है। यदि वस्तुतः जन्म हुआ होता तो द्वापरमें ही मृत्यु हो जानेके कारण भगवान् कृष्णके उस नटवर रूपका कलियुगीय भक्तोंको दर्शन न होता। परन्तु भक्तवर सूरदास और प्रेममयी मीराबाई आदिने इन चर्मचक्षुओंसे ही भगवान्‌के दिव्यरूपकी झाँकी देखी है। एक ही वासुदेव ज्ञानियोंका आत्मा और भक्तोंका आनन्द-कन्द मुकुन्द है। भगवान्‌के सभी साकार विग्रह नित्य हैं, अधिकारी भक्तोंको उनके दर्शन सदा ही होते रहते हैं। राजा बलिको भगवान् वामनकी झाँकी प्रतिक्षण मिलती है। अनधिकारियोंकी आँखें उन्हें नहीं देख सकतीं। भगवान्‌के दिव्य विग्रहमें भाष्यकारकी अटूट श्रद्धा-भक्ति थी, इसीलिये भगवान्‌के रहस्योंसे ये विशेष परिचित थे। यही कारण है कि नित्य, अजन्मा परब्रह्म परमात्माको ही भाष्यकारने वासुदेवमें उपलब्ध किया है। उनका कथन है—

भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः ।
प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम् ॥

'जो ज्ञानमय सच्चिदानन्द प्रकृतिसे पर परमात्मा अन्तर्यामीरूपसे सब प्राणियोंमें स्थित है वही यह यदुकुलभूषण श्रीकृष्ण है ।' केवल आचार्य शङ्करका ही नहीं, अनेकों निर्गुण ब्रह्मपरायण महात्माओंका यही अनुभव है । अद्वैत-सम्प्रदायके गुरु योगिराज शुकदेवजी कहते हैं—

'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।'

'तुम इस कृष्णको सभी प्राणियोंका आत्मा समझो ।'

अहो बकीयं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥

'अहो ! इस दुराचारिणी पूतनाने जिन्हें मारनेकी इच्छासे अपने स्तनोंमें लगाया हुआ विष पिलाकर भी माताके लिये समुचित गति प्राप्त कर ली, उन्हें छोड़कर भला मैं दूसरे किस दयालुकी शरणमें जाऊँ ।'

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥

'धन्य है नन्द बाबा और व्रजवासियोंका भाग्य ! जिनका मित्र पूर्ण परमानन्दमय सनातन ब्रह्म है ।'

भगवान्‌के कमनीय विग्रहकी झाँकी करते ही अव्यक्त अक्षर ब्रह्मकी उपासना करनेवाले सनकादि भी दीवाने बन बैठे थे ! प्रमाणके लिये भागवत देखिये—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥

'उन कमलनयन भगवान्‌के चरणारविन्दोंपर चढ़ी हुई केसरसहित तुलसीके मकरन्दसे मिली हुई वायुने नासिकाके छिद्रसे भीतर घुसकर उन अक्षरोपासक मुनियोंके भी मन और शरीरको बेसुध कर दिया ।'

ऊपर जो कुछ कहा गया उसपर विचार करनेसे यह बात भलीभाँति समझमें आ जाती है कि एक ही शुद्ध बुद्ध अज अविनाशी परमानन्दमय परमात्मा सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि अनेकों भावोंमें रम रहा है। वह स्वयं भक्त बनकर अपना ही भजन करता है, ज्ञानी होकर अपने ही तत्त्वका चिन्तन करता है, फिर भी सभी क्रियाओंसे पृथक् रहकर उनका द्रष्टा बना रहता है । ज्ञानी और भक्त सभी उस एकके ही उपासक हैं । भक्त भगवान्‌के रहस्योंको जानते हैं, इसलिये वे भी ज्ञानी हैं । और ज्ञानी भी आत्मरूप वासुदेवमें परायण रहनेवाले हैं, इसलिये वे भी भक्त हैं। भक्ति तथा ज्ञान मिश्री और दूधकी भाँति घुले-मिले हैं। आचार्य शङ्कर भक्तिके ही प्रतापसे ज्ञानियोंके सिरमौर हो सके हैं । ज्ञानीके हृदयमें भक्तिकी निर्मल गंगा प्रवाहित रहती है और भक्तका हृदय ज्ञानके प्रकाशसे देदीप्यमान रहता है। दोनोंका सामञ्जस्य ही मनुष्यको उन्नतिके शिखरपर पहुँचाता है ।

निरगुन सेज

टुक रंगमहलमें आव कि निरगुन सेज बिछी ।
जहँ पवन-गवन नहिं होय, जहाँ जा सुरति बसी ॥ १ ॥
जहँ त्रैगुन बिन निरबान, जहाँ नहिं सूर-ससी ।
जहँ हिल-मिलकै सुखमान मुकतिकी होय हँसी ॥ २ ॥
जहँ पिय-प्यारी मिलि एक कि आसा दुई नसी ।
जहँ चरनदास गलतान कि शोभा अधिक लसी ॥ ३ ॥

—चरनदास

प्रणव अथवा ओङ्कारका विज्ञान

(लेखक—पं॰ श्रीहरिदत्तजी शर्मा शास्त्री)

प्रणव तथा ओङ्कार पर्यायवाचक शब्द हैं। माताके गर्भको छोड़कर जब मनुष्य इस भूलोकमें आता है और जातकर्मादि संस्कारोंके अनन्तर उसका उपनयनसंस्कार होता है तब जन्मदाता पिता उस अपने पुत्रको 'ॐ' (ओङ्कार) की शरणमें रख देता है, माता अपने प्राणोंसे भी प्रिय पुत्रको भगवती गायत्री (वेदमाता) की शरणमें सौंपकर न्यस्तभार हो जाती है। मनुका वचन है—

तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ।

उपनयनके दिनसे 'ॐ' (ओङ्कार) पिता और गायत्री देवी माता बन जाती हैं। इन दोनोंका ज्ञान जिस पुत्रको न हो वह दुर्भाग्य है। इससे प्रत्येक द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) का कर्तव्य अथवा धर्म है कि वह अपने यथार्थ माता-पिता (ॐ और गायत्री) को जाने और नित्य उनकी उपासना करे। भगवान् पतञ्जलिने बतलाया है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।

(समाधिपाद २४)

'अविद्यादि दुःख, कर्म, उनके परिणाम और आशय जिसको छू भी न सकें वह सृष्टिकर्ता, रक्षक और संहर्ता ईश्वर है।' उसीका नाम प्रणव अर्थात् ओङ्कार है। पहलेके जितने ऋषि, महर्षि, सिद्ध हो गये हैं उन सबका गुरु ईश्वर है। उस ईश्वरको हम देख नहीं सकते। जो पदार्थ कभी देखा ही न हो उसे जानना और भी कठिन है। परन्तु इतना सुभीता है कि—

तस्य वाचक प्रणवः । (पातञ्जलदर्शन १।२७)

उस ईश्वरको बतानेवाला प्रणव—ओङ्कार है। अ+उ+म्, इन तीन अक्षरोंका बना हुआ ॐ है। इनमें ऋग्वेदके जितने मन्त्र हैं सबका सार एक 'अ' में ले लिया गया है। यजुर्वेदका 'उ' में और सामवेदका 'म्' में। इस प्रकार अ+उ+म् व्याकरणके नियमानुसार मिलकर 'ॐ' एक अक्षर अपने महत्त्वसे परब्रह्मका प्रतिपादक है। इसमें सबसे प्रथम महर्षि मनुकी साक्षी देखिये—'एकाक्षरं परं ब्रह्म' (ॐ ही परब्रह्म है)। कठ उपनिषद्में इस एक (ॐ) अक्षरके महत्त्वमें कहा है—

एतदेवाक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरं परम् ।
एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥

'ॐ ही अक्षर—कभी नाश न होनेवाला ब्रह्म है, यही परब्रह्म है, इसके ज्ञानसे मनुष्य—उपासक, जिस पदार्थकी इच्छा करता है उसको सिद्ध कर लेता है।' उदाहरणस्वरूप दूधको ले लीजिये, उसमें मक्खन भरा हुआ रहता है, क्योंकि दूधका सार भाग मक्खन उस दूधको मथकर ही निकल सकता है। दूधके स्थानमें उपासककी देह है। मथनदण्ड ओङ्कारके दृढ़ घर्षण करनेसे मक्खनस्थानीय ज्योतिरूपके दर्शनमें कुछ संशय नहीं रहता।

कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्डकी शिथिलतासे आजकल जो शोच्य दशा द्विजोंकी हो गयी है उसको दूर करनेका सबसे उत्तम उपाय ओङ्कारकी उपासना है। ओङ्कारका उच्चारण करते समय एक मात्रा, दो मात्रा और अर्ध मात्राका स्मरण रखकर क्रमसे ऋग्, यजुः, सामका भी ध्यान होता जाय तो इनके प्रभावसे उपासककी प्रतिदिन श्रद्धा बढ़ती जाती है, मनकी चञ्चलता क्रमशः कम होती जाती है; इसीकी उपासना समय-समयपर करनेपर भी सम्भवतः मात्राओंके उच्चारण, उनके देवताओंके ध्यान आदिमें कुछ भी न्यूनता अथवा शिथिलता हो जाय तो देहावसानके समय मनुष्य क्रमशः उन-उन लोकोंमें निवास करने और वहाँके सुखोंका उपभोग करनेपर इसी कर्मक्षेत्रमें जन्म लेता है, पुण्य-चरित्रोंके घरमें सब प्रकारके सुख पाता है। इसके अनन्तर जो उपासक ओङ्कारकी तीन मात्रावाले प्लुतकालके उच्चारणसे उपासना करता है वह सूर्यके तेजोमण्डलमें अपने अनेक जन्मोंके पापोंको भसकर सामवेदके मन्त्रोंके देवोंद्वारा सूर्यलोकमें मुक्त होकर ब्रह्मीभावको प्राप्त हो जाता है, अर्थात् ज्ञानस्वरूप. ज्योतिर्मय परब्रह्ममें मिल जाता है। ओङ्कारकी अनायास उपासना प्रश्नोपनिषद्में वर्णित है। उपासककी यह क्रमिक शिक्षा अल्प प्रयाससे भी उत्तम फल देनेवाली होती है। श्रुति कहती है—

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता
अन्योन्यसक्ता अनुविप्रयुक्ताः ।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु
सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥

'ओङ्कारकी तीन मात्राओंका भिन्न-भिन्न उच्चारण उपासकके पुनर्जन्मका कारण होता है; यदि वे मात्राएँ उपासनासमकालिक उच्चारणमें एक दूसरेसे सम्बद्ध होकर सहयोग रक्खें, बाह्य, आभ्यन्तर और मध्यमा क्रियाओंमें यथाविधि प्रयोगमें लायी जायँ तो बुद्धिमान् उपासक ध्यान-क्रियामें सिद्धि लाभ कर लेता है।'

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं
सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते ।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्
यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥

अर्थात् ऋग्वेदके मन्त्रोंसे उपासित ॐकारके ध्यानयोगसे इस भूलोकका जय होता है, यजुर्वेदके मन्त्रोंमें प्रतिपादित प्रणवकी उपासनासे अन्तरिक्षलोकके निवासमें जो आनन्द अनुभूत होता है वहाँके निवासतक उपासक उसका सुख भोगता रहता है। सामवेदप्रतिपादित ब्रह्मगीतिका भी ऐसा ही आनन्द है। यह तीनों वेदोंमें प्रतिपादित प्रणवोपासनाका आनन्द कहा गया। इसीसे भगवान्ने कहा—'प्रणवः सर्ववेदेषु'। इस प्रणवकी उपासनासे उपासकको कृष्णमूर्तिमें परब्रह्मको देखना हो तो सङ्कल्पके अनुसार प्रत्यक्ष दर्शन हो जायगा। प्रयोजन यह कि यह वैदिक उपासना है, वेद सत्त्व, रज और तमोगुणोंसे सम्बन्ध रखते हैं। त्रिगुणातीत होना ही जीवका परम पुरुषार्थ है, आत्मज्ञानसे लाभ लेना है। श्रीमद्भगवद्गीतामें विस्तृतरूपसे भक्ति, ज्ञान और विज्ञानका खुलासा किया है, 'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा०' इत्यादि अनेक वाक्योंको विचारकर विद्वान् लोग उसके अनुसार चलकर अपने लक्ष्यको पहुँच जाते हैं—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

जीवात्माको ओङ्काररूपी धनुषसे परब्रह्मका वेध करना होता है, ऐसे लक्ष्यका वेध बड़े तीखे बाण बिना असम्भव है; इस काममें कितनी सावधानता चाहिये इसको बाणविद्यामें पारंगत ही जान सकते हैं। साथ ही यह जान लेना भी आवश्यक है कि वह परब्रह्म, ॐ तत्, सत्, इन तीन पदोंके ज्ञानसे विदित हो जाता है।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।

इस ब्रह्मप्रतिपादक वाक्यमें प्रधान ॐ—ओङ्कार है, इसकी प्रधानतामें—

ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ…………………॥

—कहा गया है। अर्थात् सृष्टिरचनाके प्रारम्भमें स्रष्टाके मुखसे ॐ, अथ—ये दो माङ्गलिक शब्द प्रकट हुए। अब यह स्वतः विचारमें आ सकता है कि जो कुछ भी सृष्टि-स्थिति-लय है वह सब इसी ओंकारमें है। इस ज्ञानके अनन्तर इसके विशेष विज्ञानकी आवश्यकता हुई कि इसका विवरण क्या होगा। वह माण्डूक्य उपनिषद्में स्फुट होता है, जिसके विषयमें अभियुक्त वाक्य है—

माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये ।

अर्थात् मोक्षके इच्छुकोंको माण्डूक्य उपनिषद् ही पर्याप्त (काफी) है।

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं; तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

ॐ यह शब्द अक्षर अविनाशी है। जो कुछ प्राचीन व्यवहार, वर्तमान दृश्य और होनेवाला विषय है वह सब ओङ्कार है, ओङ्कारप्रतिपाद्य परब्रह्म है। शब्द और उसके अर्थका अभेदान्वय होता है, 'ओम्' शब्दका वाच्यार्थ परब्रह्म परमेश्वर है। तीनों कालोंमें मिलकर कुछ भी विकारको प्राप्त न होनेवाली कोई चीज है तो वह उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयमें भी कर्म और नियमके अनुसार प्रवृत्त होनेवाला सगुण ब्रह्म है। और जो त्रिकालातीत है, कालका भी जो काल है, वह ओङ्कारका वाच्य अर्थ परमेश्वर है। भाव यह कि एक ब्रह्म ही सर्वोपरि व्याप्त चञ्चलतारहित अविनाशी नित्य एकरस है। उसके समान दूसरा कोई नहीं है। उसकी उपासना ऐहिक तथा आमुष्मिक कामनाओंकी ही साधिका नहीं किन्तु जीवके जीवत्वको भी हटा, उसके लिये परमात्मस्वरूपकी प्रापिका भी है। इसी महत्त्वको हृदयङ्गम करके मोक्षमार्गके पथिकको पूज्यपाद भगवान् शङ्कराचार्यका उपदेश है—

क्रियते गङ्गासागरगमनं
व्रतपरिपालनमथवा दानम् ।
ज्ञानविहीनः सर्वमतेन
मुक्तिन्न भजति जन्मशतेन ॥

यह ॐ वाच्य और वाचकके अभेदको सूचित करता है। यह अभेदारोप भी शब्द, अर्थ और ज्ञानके किसी प्रकार एक हो सकनेसे करना पड़ता है। इसी प्रकार यहाँ भी ॐ यह शब्द और उसका वाच्य और ध्यान करनेयोग्य ध्येयरूप अर्थ भी समझना चाहिये। जब बुद्धिकी वृत्तियाँ

Prof. Amodavardhana Kaundinhyayana Collection, Kathmandu, Nepal

वाच्याकार अर्थाकार हो जाती हैं, केवल वाणीसे प्रकट होनेवाले शब्द इत्यादिके भेद, अध्यास और अभ्यास जब छूट जाते हैं तब उपासक पुरुषको पहलेसे ही ऐसा विचार वा अनुसन्धान करना चाहिये कि जो वाचक शब्द है वही अर्थ है, जो अर्थ है वही शब्द है, क्योंकि वाच्य अर्थका ज्ञान होनेके समय दूसरे वाचककी अपेक्षा नहीं होती। इस प्रकार आसपासके एकको दूसरेमें अपेक्षित करके ओतप्रोत करना ही इतरेतराध्यास, अभेदारोप अथवा अनन्यत्व कहा जाता है। इस प्रकार इतरेतराध्यासपूर्वक ध्यान अथवा उपासना करते-करते ब्रह्मके साक्षात्कारका ज्ञान हो जाता है।

यहाँ दृष्टि, कर्म अथवा उपाधिभेदसे ईश्वरसम्बन्धी सगुण और निर्गुण दो प्रकारसे आरोप किये जाते हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य, इन तीनों कालोंसे सम्बन्ध रखनेवाला उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकर्ता, सर्वाधार, सर्वरक्षक, सर्वनियामक तथा शुभाशुभ कर्मोंका यथार्थफलदाता इत्यादि गुणयुक्त सगुण ब्रह्म कहा जाता है। और सर्वदा सर्वत्र वर्तमान, जन्म-मरणादिरहित, अशरीर, अच्छेद्य, अवध्य, निष्पाप, शब्दस्पर्शरसरूपादिरहित, असङ्ग, निरञ्जन, निर्विकार, अखण्डैकरस, निर्विकल्प, ज्ञानस्वरूप, ज्ञप्तिमात्र, अधिष्ठानभूत निर्गुण ब्रह्म कहा जाता है। इस आरोपित (कल्पित) भेदसे ब्रह्मके वास्तव स्वरूपमें भेद नहीं पड़ता, किन्तु इस भेदव्यवहारनिरूपणमें गुण-कर्मोंके भेदका ही कारण है। जो कुछ है वह वाणी और व्यवहारमात्रका भेद है। इससे ब्रह्मके वास्तविक, विशुद्ध, अविकारी स्वरूपमें भेद है ही नहीं और उसके लिये ऐसे विशिष्ट व्यावहारिक भेदकी कल्पनासे सिद्धान्त वा ब्रह्मकी कोई हानि नहीं; यह बात प्रकरणभरमें ध्यानमें रखनी चाहिये।

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्॥

पहले मन्त्रमें वाच्यवाचकके अभेदान्वयसे कहा गया है, अब केवल वाच्यको लेकर कहा जाता है—एतत्–ओम् शब्दका वाच्य, सर्वं–दृश्यमान सब बाह्य जगत्, ब्रह्म—सब ब्रह्म ही है, उसके स्वरूपमें और किसीका मेल नहीं है। अयं–यह ज्ञान और ध्यानसे प्रत्यक्ष होनेवाला आत्मा सर्वव्यापक ईश्वर ब्रह्म सबसे महान्–बड़ा है। 'सः अयम् आत्मा'–वह यह परमेश्वर है; चतुष्पात्–वाचक 'ओम्' शब्दके मात्रारूप भेद लेकर वाच्य आत्माके भी चार प्रकार, भाग वा अवस्थाएँ हैं। यह विभागकथन सरलतासे जाननेके लिये हुआ है, व्यवहारसे कल्पित किया गया है। यह पहले कहा जा चुका है।

भाव—इस मन्त्रमें ब्रह्म, आत्मा, अयम्, ये तीन शब्द दो बार आये हैं। 'अयम्' यह पद ज्ञानियोंमें प्रत्यक्षताकी प्रबलता दिखलानेके लिये है, एक ब्रह्मशब्द विशेष्य और दूसरा विशेषण है। दूसरे आत्मशब्दका प्रयोग वाचक स्वरूपके वाच्यके साथ अभेदान्वयके लिये है। जहाँ-जहाँ अखण्ड, निर्विकार ब्रह्मादिमें भेदकल्पनाके साथ वर्णन है वहाँ-वहाँ उन ज्ञानियोंको भी कठिनतासे जाननेयोग्य अथवा अगम्य, सब सूक्ष्म पदार्थोंसे भी अति सूक्ष्म ब्रह्मवस्तुका सुगमतासे ज्ञान होनेके लिये उपयोग अथवा उपचार है; परन्तु इस तरह वाणीमात्रका भेदक नहीं है, उस व्यापक निर्विकार ब्रह्ममें अंशांशिभाव कभी नहीं आ सकता। जैसे कोई कहे कि आकाशके एक भागमें बादल हैं, उसी प्रकार यहाँ भी सुगमतासे ज्ञान होनेके लिये ब्रह्ममें भेदकल्पना है; किन्तु वास्तवमें ब्रह्म किसी भी भेदकल्पनासे रहित, परिच्छेद-शून्य, देश-काल-वस्तुपरिच्छेदरहित, विभु, असङ्ग, निर्लेप, निराकार, चैतन्यमात्र सत्स्वरूप है।

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

सबके शुभ और अशुभ कर्मफलोंका विवेक करनेवाली, जाग्रत्-अवस्थामें स्थितियुक्त, अपनेसे भिन्न सांसारिक व्यवस्थारूप बाह्य कर्मोंमें बुद्धिव्यापारवान्, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य नामक जगत्के अवयवस्वरूप सात लोकोंके आधार; कान, त्वक्, चक्षु, जीभ, नाक, वाणी, चरण, हाथ, लिङ्ग, गुदा, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, पञ्चभूतोंकी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द नामकी तन्मात्रा, ये उन्नीस जिसके मुखस्थानीय हैं, वैश्वानर सब मनुष्यादि प्राणियोंका प्रवर्त्तक स्वामी, ओङ्कारवाच्य परब्रह्मका पहला पाद है।

स्पष्टार्थ यह हुआ कि प्रथम पाद जाग्रत्-अवस्था है जो सात भागवाले संसारकी स्थूल शारीरिक तत्त्वरचनाका विभाजक है, उसमें सदा अखण्ड आन्तरिक क्रियाप्रवाह अर्थात् सत्ता-स्मृतिमात्रका कारण होता हुआ विचार (ज्ञानकृति) और अन्योन्याश्रय हुए उन्नीस इन्द्रियतत्त्व-साधन, जो स्थूल जगत्में अपने-अपने विषयका आनन्द लेनेको समर्थ हैं, उनके स्वभावको मर्यादित करता हुआ, यथा-योग्य प्रेरित करता हुआ और संसारकी स्थूल शारीरिक रचनाभूत गति-क्रिया-वृत्तिको यथार्थ और नियमित रूपमें व्यवस्थित करता हुआ ईश्वर इस अवस्थामें बाह्य जगत्में–सृष्टिमें फैला हुआ-सा प्रकट है।

फलित—इन चार मन्त्रोंमें प्रवृत्तिसे निवृत्तिकी ओर व्याख्यान है। परमेश्वरकी चतुष्पादविषयक कल्पना वेदमें भी कितने ही प्रकारसे पायी जाती है। (जैसा 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' इस मन्त्रमें वर्णित है)। उसी प्रकार यह आत्मकल्पनारूप चार अवस्थाएँ जाननी चाहिये। जिस भाँति मनुष्यकी जाग्रत् आदि चार अवस्थाएँ होती हैं उसी भाँति परमेश्वरके प्रकृति-कार्यभेदसे यह प्रथम अवस्था है। इन अवस्थाओंका वाच्यार्थ ईश्वरपर लगाकर यह व्याख्या की गयी है। यद्यपि परमेश्वर सदैव जाग्रत् ही है तथापि विशेषकर जगत्का पालन जाग्रत् दशामें इसलिये आरोपित किया जाता है कि इस समय उसको अपनेसे अलग बाह्य प्रजाके व्यापारोंमें तत्परता, तन्मयता, तादात्म्यसे रहना पड़ता है। सबका धारण-पोषण, देख-भाल और अपने-अपने कर्मप्रवाहमें चलना भी इसी अवस्थामें सम्भव है। इसलिये स्थितिदशामें सबकी व्यवस्था कर सकनेका भाव ही उसका पहला अंश है। भाव यह कि प्रकृति और पुरुषका व्याप्य-व्यापक अथवा आधाराधेयभाव-रूप तादात्म्य सम्बन्ध होनेसे प्रकृतिसम्बन्धी उत्पत्ति, स्थिति और नाशात्मक व्यापार तथा विकारमात्र उसके अन्तर्गत उसकी सत्ता लेकर, उससे मिलकर उसमें आरोपित किया जाता है, तदनुसार यहाँ भी जाग्रत् कल्पनाके आरोपसे यह ज्ञानकल्पना है। यथार्थमें तो ब्रह्म निर्विकल्प और परिच्छेद-शून्य है, विभु है; परन्तु उपासनाके कारण निर्गुणके साथ सगुणका निर्देश यहाँ अभिमत है।

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

अवान्तर प्रलयदशारूप स्वप्नदशामें स्थित अतएव सोये हुए मनुष्यकी भाँति अपने आन्तरिक विचारमें स्थित, ब्रह्माण्डके सात लोकरूप अवयववान् पूर्वोक्त उन्नीस तत्त्व जिसके मुखमें हैं, भलीभाँति विषयवासनारहित केवल शुद्ध ज्ञानका अनुभव करता है ऐसा तैजस आत्मा स्वयंप्रकाश ईश्वर दूसरा चरण—अंश—भाग है।

अर्थात् जैसे मनुष्य स्वप्नावस्थामें अपने मनमें ही स्वप्न देखता है, इन्द्रियोंद्वारा बाह्य विषयका अनुभव नहीं करता, उस भाँति अवान्तर (खण्ड) प्रलयोंमें जिस समय सब प्राणी या सब तत्त्वोंका प्रलय नहीं होता उस समय आधे सोये हुए मनुष्यकी भाँति ईश्वर बाकी रहे हुए वर्तमान जगत्का धारण-पालन करता हुआ अपने स्वरूपमें ही ध्यानावस्थित रहता है।

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

इस मन्त्रमें प्रलयदशाका वर्णन है। यहाँ उसका भावमात्र लिखा जाता है। जब मनुष्य गाढ़ी नींदमें सुख पाता है उस समय न कोई सङ्कल्प होता है, न कोई कामना ही होती है, न किसी प्रकारका स्फुरण, चिन्तन या स्वप्नका अनुभव ही होता है; स्वाभाविक स्वच्छन्द पञ्चमहाभूतोंके व्यापार भी नहीं रहते। वह सुषुप्तावस्था अथवा गाढ़ निद्रा कही जाती है। यह ओंकारका तीसरा चरण है। इसमें स्वतः तिरोहित अज्ञानवेष्टित मनुष्यके समान ईश्वर स्वतः तिरोहित सम्पूर्ण विचारवृत्ति और कारणोंका ऐकात्म्यरूप सर्वानन्दमय होनेपर आनन्दोंका भोक्ता (अनुभव लेनेवाला) स्वयंविद्-रूप अर्थात् साक्षीमात्र प्रकट और स्वयंप्रकाश तथा सर्वोत्कृष्ट ज्ञानमय प्रतीत होता है। फलित यह हुआ कि ऊपरके तीनों मन्त्रोंमेंसे प्रथममें सृष्टिकी स्थितिदशामें परमेश्वर जिस कर्मके करनेसे जिस अवस्थाको प्राप्त होता है उसका वर्णन है। दूसरे मन्त्रमें अवान्तर प्रलय-दशाको प्राप्त होनेका और तीसरे मन्त्रमें प्रलयदशामें अवस्थित ईश्वरका वर्णन है। उसी प्रकार उपासना-प्रसङ्गमें भी प्रथम मन्त्रसे सवितर्क समापत्ति—इतरेतराध्यासपूर्वक ध्यानसे उपासित ईश्वर प्रथम भागमें रहा हुआ कहा जाता है। निर्वितर्क समाधि—जिसमें केवल ध्येय वस्तुका ध्यान रहता है—उससे उपासना किया गया प्रकाशस्वरूप ईश्वर द्वितीय पादस्थ अभिहित होता है और इस तीसरे मन्त्रमें सविचार-निर्विचार समापत्तियोंसे उपासित ईश्वर ज्ञानस्वरूप वा प्राज्ञसंज्ञोक्त तीसरे पाद या अंशके तुल्य माना जाता है। फलित यह हुआ कि कार्यजगत्में ईश्वर तीन प्रकारसे उपासनायोग्य है और कार्यभेदसे तीन प्रकारका हो जाता है, ऐसा मानकर तीन भाग—पाद—अंशोंका आरोप किया गया है। इन तीन उपासनाओंसे उपास्य, सबीज या सम्प्रज्ञात समाधि नामक योगद्वारा जाननेयोग्य, कार्य था व्यवहारदशामें उपासना करनेयोग्य त्रिगुण ईश्वरको सगुण भी कहते हैं। इससे आगे निर्बीज समाधि-गम्यको निर्गुण कहते हैं।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ-यह पूर्व मन्त्रोंसे प्रतिपादित सब चराचर जगत्का स्वामी अधिराज है; यह सर्वज्ञ भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालोंकी वस्तुको जानता है; यह अन्तर्यामी सबके अन्तःकरणोंमें साक्षीके समान रहता है। यही सभी प्राणियोंका मूल कारण और सभी पदार्थोंकी उत्पत्ति तथा प्रलयका आधार है। पर्वतोंसे नदियोंकी भाँति उससे सब उत्पन्न होते और विलीन हो जाते हैं। इसपर भी वह किसी प्रकार जगत्का उपादानकारण नहीं होता परन्तु निमित्तकारण होता है। फलित यह हुआ कि इससे पूर्वोक्त तीन मन्त्रोंमें (रूपकालङ्कारसे कार्यविशिष्टभेदसे) प्रतिपादित भी परमेश्वर अखण्ड ही है। वह सबको उत्पन्न करनेवाला, धारण करनेवाला तथा विनाशक है, ऐसा समझकर उस शुद्ध निर्विकारस्वरूपकी उपासना श्रेयस्करी है।

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्य-मव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिव-मद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥ ७॥

शब्दार्थ—प्रलयदशामें अव्यवस्थित निर्बीज समाधिसे उपासना करनेयोग्य परमेश्वर है। अन्तःकरणकी भाँति अपने स्वरूपमें उसका विचार नहीं हो सकता, इससे तैजस आत्माका भी यह विषय नहीं रहा। मनकी बाह्य वृत्तिके समान सारे संसारकी विवेचना करना, शुभ और अशुभ फलोंके भेदकी व्यवस्था करनेमें तो बाह्य बुद्धिकी आवश्यकता होती है, वह भी उस समाधिके समय नहीं रहती। बाहर-भीतर दोनों ओर वृत्तिवाली बुद्धिकी वहाँ पहुँच नहीं; अर्थात् आन्तर बुद्धिकी वृत्तिके निषेधसे स्वप्न अवस्थाका निषेध, बाह्य बुद्धिके प्रसार न होनेसे जाग्रत् अवस्थाका निषेध और इन दोनों बुद्धियोंकी वृत्तियोंके निषेधसे इनके मध्यकी वृत्तिका स्वयं निषेध हो गया। उसी भाँति उसे सुषुप्ति-अवस्था-युक्त भी नहीं कह सकते, क्योंकि वाणी उसका वास्तविक रूप कहनेमें सर्वथा असमर्थ है; क्योंकि उसका भान केवल निर्बीज समाधिसे हो सकता है। उस समाधिमें भी एक देश अथवा कालमें उन सब विषय अथवा वस्तुओंको नहीं जाना जा सकता परन्तु जो जितना वा जैसा जानना चाहता है जान सकता है। उसके स्मरण करनेमें कुछ रोक अथवा परिश्रम नहीं पड़ता। वह सदा चैतन्य-स्वरूप है। इन्द्रियोंके परे होनेसे वह परोक्ष—अगम्य है, अव्यवहार्य है—जिस वस्तुके गुण और कर्म देखे जाते हैं उसीका वाणीसे व्यवहार हो सकता है, अदृष्टका नहीं। किसी प्रकारके चिह्न होनेसे वह चिन्तनका विषय हो सकता है, ब्रह्ममें कोई चिह्न न होनेसे वह विचारमें भी नहीं आ सकता। समस्त संसारकी कार्यदशा जिसकी चौथी अवस्थामें हो, निरुपद्रव, कल्याणकारी वा कल्याणरूप द्वितीयरहित, चौथी अवस्थामें प्राप्त ब्रह्म है, ऐसी जिन ज्ञानी उपासकोंकी धारणा हो गयी है उनके मनमें आया हुआ और उनके ही अनुभूत मार्गसे दूसरे सभी उपासकोंको प्रत्यक्ष होनेयोग्य आत्मा है, उसीको विशेष यत्नसे जानना चाहिये।

फलित यह हुआ कि चौथी निर्बीज समाधिदशा असम्प्रज्ञात योगकी दशा है, इसीमें जिसके शुद्ध, केवलस्वरूप-मात्रकी प्राप्ति हो सके ऐसे निर्गुण निराकार महाप्रलयदशामें स्थित चतुर्थ पादरूप परमात्माका इस मन्त्रमें वर्णन है।

ओङ्कारका विज्ञान

यहाँतक अवस्थापूर्वक परमेश्वरका प्रतिपादन हुआ है, अब उसकी उपासनाके लिये वाच्य-वाचकके अभेदव्यवहारका वर्णन किया जाता है।

ॐ इस वाचक अक्षरकी प्रधानतासे वर्णित अन्तर्यामी पहले अंशकल्पनासे कहा गया है। वह अब ओङ्कारकी मात्रा—अ+उ+म् में समझनी चाहिये। अर्थात् जाग्रत् अवस्थामें सबकी व्यवस्था करनेवाला वैश्वानर अपने-अपने कर्मोंके अनुसार सबको चलानेवाला वाच्य ईश्वर ॐ की पहली मात्रा है, क्योंकि स्वर-व्यञ्जनरूप सभी अक्षरोंमें इसकी व्याप्ति और प्रधानता है। यही वाचककी पहली मात्रा है अर्थात् 'अ' अक्षर सर्वव्यापक और सर्वश्रेष्ठ है, अग्निस्वरूप है। अग्नि अपने तेजसे सभीको भस्म कर देता है, उपासकके पाप नाश करनेमें 'अ' भी अग्निका काम करता है। स्वप्न नामकी मध्य दशामें रहनेवाला उकार इस वाचकपदमें अकार और मकार दोनोंसे सम्बन्ध रखता है, इसलिये अ, उ, म्, ये तीनों अक्षर श्रेष्ठतामें समान हैं, तीनोंके गुण परस्पर मिलकर एक विलक्षण तेजकी वृद्धि करते हैं। ऐसे विज्ञानी उपासककी प्रतिक्षण बढ़ती हुई ज्ञानधारा इतनी प्रबल हो जाती है कि उसके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि जिन-जिनसे उसका वंशसम्बन्ध, विद्यासम्बन्ध अथवा दैशिक, कालिक किसी प्रकारका भी सम्बन्ध हो वह उन्नत, निष्पाप और सुखी हो जाता है। क्योंकि ॐकारमें अकारसे सबमें व्याप्त सबको नियमानुसार अपने-अपने कार्यमें चलनेवाले, मध्यस्थ उकारसे उत्कृष्ट अवान्तर

प्रलयमें नाश न होनेवाले और मकारसे सबके प्रमाणकर्ता ज्ञानस्वरूप वाच्य ईश्वरका ग्रहण है। इस प्रकार ॐ में समुदित अ+उ+म् रूप ईश्वरात्मक मन्त्रसे उपासनाप्रसङ्गमें वाच्य-वाचककी एकरूपताका वर्णन संक्षेपमें कहा गया है।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वद ॥ १२ ॥

अब निर्गुणका व्याख्यान है, यहाँ भी वाच्यवाचककी एकरूपता दिखायी है, जो कि सर्वप्रधान मानी गयी है।

प्रपञ्चोपशम मात्रा वा पादकल्पनाद्वारा स्पष्ट भेदका कारण प्रपञ्च अर्थात् प्रकृतिका व्यापार है, उसकी समाप्ति जहाँ वाचकमें हो तथा कार्यदशाको प्राप्त व्यक्त जगत्की शान्ति जहाँ हो उस महाप्रलयकी दशामें रहनेवाला वाच्य अकारादि मात्रा वा पादकल्पनासे रहित निर्विकल्प समाधिसे ही ग्राह्य है; इसलिये अव्यवहार्य निर्गुण परमात्मा वा वाचक पक्षमें स्फोटरूप शब्द ये दोनों व्यवहारयोग्य नहीं हैं, अनिन्द्रिय हैं, चौथे प्रकारका अद्वैत उसके समान कोई नहीं है तथा शिव—कल्याणस्वरूप है। ऐसे परमेश्वरकी उपासना सर्वोपरि कल्याणकारिणी है। इस कहे हुए प्रकारसे 'ओङ्कार' अपने वाच्य ब्रह्मके अन्तर्गत ही है, जो ऐसा दृढ़ ज्ञान रखता है और समाधिसे अनुभव कर लेता है वह परमात्मामें मिल जाता है, परमात्मा ही हो जाता है।

व्यावहारिक वेदान्त

(लेखक—डा० श्रीदुर्गाशंकरजी नागर, सम्पादक 'कल्पवृक्ष')

वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान्
कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः ।
आत्मैक्यबोधेन विनापि मुक्ति-
र्न सिद्धयति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ॥

जगद्गुरु शङ्कराचार्यजी विवेकचूडामणिमें कहते हैं कि, भले ही रात-दिन शास्त्रोंकी चर्चा करते रहो, देवोंका पूजन करते रहो, कर्म करते रहो, भजन करते रहो, माला फेरते रहो, भक्ति करते रहो, परन्तु बिना आत्मज्ञान प्राप्त किये सैकड़ों महाकल्प व्यतीत हो जायँ फिर भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकोगे।

जीवनको सुखी या दुःखी, शान्त वा अशान्त, सफल या निष्फल, स्वतन्त्र या परतन्त्र कर लेना प्रत्येक मनुष्यके हाथमें है।

यदि आप स्वाधीन होना चाहते हैं, सब बन्धनोंसे मुक्त होकर जीवनको आनन्दमय बनाना चाहते हैं तो वेदान्तके तत्त्वविचारको व्यावहारिक जीवनमें उतारिये। अपनेको जाननेकी विद्याका नाम ही आत्मज्ञान, तत्त्वविचार या वेदान्त है। सर्वोत्तम उन्नतिके लिये तत्त्वविचार ही सर्वोच्च साधन है।

'यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति'
—जिस तत्त्वके जाननेसे सबका ज्ञान हो जाता है वही आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान है।

वेदान्त यह शिक्षा देता है कि तुम प्रकृति नहीं हो—अनन्त कालतक रहनेवाले आत्मा हो। तुम निरे मिट्टीके पुतले नहीं हो किन्तु चेतन आत्मा हो। तुम अपने भाग्यके विधाता हो।

वास्तवमें प्रारब्ध कोई वस्तु नहीं है। तुम अपनी शक्तिसे परिस्थितिको बदल सकते हो। मन तुम्हारा चाकर है। शरीर तुम्हारा दास है। तुम इन सबके स्वामी हो। तुम्हारे भीतर ही सब शक्तियोंका केन्द्र है। उसीसे सब शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। परमात्मा तुम्हारे भीतर ही विराजमान है, फिर तुम किसका सहारा ढूँढ़ रहे हो ?

शान्त होकर अपने भीतर गहरे उतरो और आत्माको जाननेका प्रयत्न करो। तुमको अनुभव होगा कि तुम अनन्त शक्ति, वैभव, सामर्थ्य और ज्ञानके भण्डार हो।

अर्वाचीन मानसशास्त्र यह बतलाता है कि सब सिद्धियोंकी कुञ्जी आत्मसूचना या आत्मद्योतन (Auto-suggestion) है। मनुष्य विचारोंका बना हुआ है। जो अपनेको हमेशा रोगी, निर्बल, महामूर्ख और दरिद्र मानता रहेगा वह कुछ ही दिनोंमें रोगी, निर्बल, महामूर्ख और दरिद्र हो जायगा। कुछ लोग रात-दिन यही भावना किया करते हैं—यह शरीर अनित्य है—नाशवान् है, मुझे संसारमें थोड़े ही दिन जीना है, शरीरका कुछ भरोसा नहीं, बाल सफेद हो गये हैं, दाँत गिर गये हैं, बुद्धि मन्द हो

ती है। ऐसे निरर्थक विचारोंसे हृदयकमल संकुचित ता है, मन दुर्बल होता है और उत्साह भंग हो जाता है। मस्तिष्कके प्रत्येक परमाणुपर इन विचारोंके संस्कार दा अङ्कित होते हैं और मनुष्य शीघ्र ही वृद्ध होकर -सर्वदा दुःख, शोक, भय, निराशा और क्लेशोंमें डूबता हता है और अन्तमें परलोकको सिधार जाता है।

मानसशास्त्रका यह महानियम है कि जिस क्षण मनुष्य जिस वस्तुका भान करता है उस वस्तुका आकार सी क्षण उसके अन्तर्मनपर अंकित हो जाता है और जिस स्तुसे मन तदाकार हो जाता है उस वस्तुके गुण, धर्म उसके अन्तःकरणमें प्रकट होते हैं।

भानकी यथार्थता या अयथार्थतापर ही अन्तःकरणके रूपान्तरका आधार रहता है।

मनुष्य भ्रान्तिसे अपनेको मन समझ बैठा है। यही सब दुःखोंकी जड़ है। सेवकको स्वामी पद दे देनेसे क्लेशोंकी उत्पत्ति होती है।

आत्मद्योतन (Auto-suggestion) जीवनकी उन्नतिके लिये अमोघ बल है। हमको अपनी शक्तियोंका ज्ञान नहीं और न खुदपर ही विश्वास है। हाथी और घोड़ोंको अपनी-अपनी शक्तिका ज्ञान हो जाय तो क्या वे हमको अपने ऊपर सवार होने देंगे ? हममें आत्मविश्वास जाग्रत हो जाय तो हम चाहे जो कुछ कर सकते हैं। आत्मशक्तिको जाग्रत करनेका साधन आत्मद्योतन है।

हमारे प्राचीन ऋषि महर्षि हजारों वर्ष पूर्वसे आत्मद्योतनके सिद्धान्तसे परिचित थे। यहाँतक कि प्राचीन कालमें पलनेमें झुलाते समय आत्मज्ञानकी शिक्षा दी जाती थी। इसके लिये मदालसा रानीका उदाहरण है, जो अपने बच्चोंको झुलाते हुए नीचे लिखी लोरियाँ गाकर सुलाया करती थी।

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि
संसारमायापरिवर्जितोऽसि।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम्॥

'तू शुद्ध है, बुद्ध है, निरञ्जन है, संसारकी मायासे अलग है। संसार यह स्वप्न है। मोहकी नींदको त्याग कर।' यह उपदेश मदालसा रानी अपने पुत्रोंको पलनेमें झुलाते हुए दिया करती थी।

बहुत-से लोग यह नहीं जानते कि बच्चोंके कोमल मस्तिष्कपर जिन शब्दोंको वे उच्चारण करते हैं उनका प्रभाव पड़ता है। इसलिये ऋषिपत्नियाँ अपने बालकोंको बाल्यावस्थामें स्वयं शुद्ध आत्मज्ञानका उपदेश दिया करती थीं। पुरानी बातको जाने दीजिये, थोड़े दिनकी बात है कि महू (सी० आई०) के एक अग्रवाल सज्जन अपने बहुत छोटे पाँच-सात महीनेके बालकको गोदीमें लेकर उसे सैकड़ों बार यही कहा करते थे कि 'तू सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ब्रह्म है।' वह बालक आज बड़ा सुन्दर स्वरूपवाला, बुद्धिमान् और एम० ए०, एल-एल० बी०, वकील मौजूद है। इत्यादि उदाहरणोंसे यह विदित होता है कि बालकोंका मस्तिष्क हमारे भावोंको ग्रहण करनेमें सदैव तत्पर रहता है। इसलिये हमको बालकोंके समीप सदैव शुद्ध शब्दोंका और शुद्ध विचारोंका ही उच्चारण करना चाहिये, जिससे बालक भविष्यमें सुयोग्य जीवन प्राप्तकर सुखी और सुखदायक बने।

बृहदारण्यक उपनिषद्‌में महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी पत्नीसे कहते हैं—

यो वा एतदक्षरं गार्गि अविदित्वा अस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः।

हे गार्गि ! जो इस अविनाशी आत्मतत्त्वको बिना जाने संसारसे विदा हो जाता है वह कंजूस है, अर्थात् उसने अपना जीवन निष्फल व्यतीत किया।

यो वा एतदक्षरं गार्गि विदित्वा अस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः।

जो इस अमरतत्त्वको जानकर इस लोकसे जाता है वह ब्राह्मण है। वेदान्तशास्त्रका यह अबाधित सिद्धान्त है कि तुम अपनेको जैसा मानोगे वही बन जाओगे। इस संसारमें गरीब, अमीर, मूर्ख, विद्वान् सभी किसी-न-किसी रोगसे, चिन्तासे, व्यथासे पीड़ित हैं, उन सब चिन्ताओं और व्यथाओंसे मुक्त होनेका मार्ग वेदान्त बतलाता है कि तुम प्रत्यक्ष ईश्वरके स्वरूप हो और जगत्‌को चाहे जैसा बना सकते हो।

तुम अपने-आपको दुर्बल आत्मसूचना दे-देकर दुखी बना रहे हो। मैं जीव हूँ। मैं अल्पज्ञ हूँ। मैं अल्पशक्ति हूँ। मैं दुःखी हूँ। मैं परिच्छिन्न हूँ। इन अनिष्ट भावनाओंके चिन्तनसे मनुष्य निर्बल हो जाता है। इसके विपरीत आत्मस्वरूपभावनाका चिन्तन करनेसे आत्माकी भावनाके दृढ़ करते रहनेसे तुम्हारे अन्तःकरणमें आत्माके गुण, धर्म प्रकट होते हैं।

ऐसा कभी मत कहो कि मैं शक्तिहीन हूँ। मैं क्षुद्र प्राणी हूँ। मैं दुर्बल हूँ। मेरी बुद्धि मन्द है। मैं कुछ नहीं कर सकता। मैं पापी हूँ। मुझमें काम करनेकी जरा भी शक्ति नहीं है। मैं दुष्ट हूँ। मैं अधम हूँ। तुम ऐसे वाक्य कहकर विनय और निरभिमानता प्रकट करना चाहते हो, किन्तु वास्तवमें तुम अपनी आत्माका तिरस्कार कर रहे हो। यह सब वेदान्तशास्त्रके प्रतिकूल है। इस प्रकारके रोने रोते रहनेसे कभी भी तुम्हारा कल्याण नहीं हो सकता। अपनेको तुच्छ कीटक मानते रहना—अपनेमें और दूसरोंमें दोषोंको ढूँढ़ते रहना, अपूर्णताका चिन्तन करना, किये हुए पापोंका बारंबार स्मरण करते रहना इत्यादि-इत्यादि बातोंसे तुम्हारा सुधार कदापि नहीं हो सकता।

तुमने पहिले चाहे कैसे ही घोर पाप किये हों, चाहे जैसे तुम दुराचारी रहे हो, इस समय तुमको आत्म-तिरस्कार करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। भूतकालका और भूतकालकी बीती हुई घटनाओंका स्मरण और विचार न करो। और न भविष्यकी चिन्ता करो। वर्तमानको हाथमें लो और सत्कर्म करो। तुम अपनी निकृष्टताकी कभी चर्चा मत करो। यह सनातन सत्य है कि तुम आत्मा हो और तुम सब कुछ करनेको समर्थ हो। तुम अपने सामर्थ्यमें, बुद्धिमें और महत्तामें अचल दृढ़ विश्वास रखो। फिर संसारमें कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जो दुःसाध्य या असम्भव हो। जिसका हम अन्तरमें भान करते हैं वही बाह्य जगत्में प्रकट होता है।

भावना या मानसचित्रकल्पनासे ही इच्छा, मनोवृत्ति और उद्देश उत्पन्न होते हैं। जिस स्थितिको प्रकट करना हो मनमें उसके यथार्थ मानसिक चित्रकी रचना करो और उसे मनपर अखण्ड आरूढ रक्खो।

आत्मतत्त्वका अनुभव करो। आत्मामें आनन्द, शान्ति, ऐश्वर्य, ज्ञान, शक्तिका अगाध भण्डार है—इसीको परमतत्त्व या ईश्वर कहते हैं। तुम ईश्वरके अंश हो, तुम्हारी आत्मामें अनन्त शक्ति है। तुम जानो या न जानो, तुममें ईश्वरीय शक्ति भरी हुई है। इसी सत्य तत्त्वका हमको साक्षात्कार करना है।

सब पदार्थोंमें आत्माको देखो और आत्मामें सबको देखो।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

जो सब भूतोंमें आत्माको देखता है और आत्मामें सब भूतोंको देखता है उससे ईश्वर नहीं छिपता।

सारे ब्रह्माण्डमें केवल एक आत्मा ही है। सब कुछ इस आत्माकी ही सत्ता है। मैं वही अनन्त अविनाशी आत्मा हूँ। बाह्य दृश्यमान जगत्से दृष्टि हटाकर अपना ही स्वरूप सर्वत्र देखो।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

'सारे विश्वकी जड़में एकत्व है और जो इस एकत्वको देख लेता है उसमें फिर मोह, शोक, चिन्ता, रंज कैसे रह सकते हैं?'

इस तत्त्वका साक्षात्कार करनेसे ही हमारे हृदयकी सब ग्रन्थियाँ खुल जायँगी, संशय दूर हो जायँगे, कर्मके बन्धन टूट जायँगे और हम अनन्त सुख, असीम शक्ति और अपार शान्ति और आनन्दका अनुभव करेंगे और सच्ची स्वाधीनता प्राप्त करेंगे।

हम लोगोंने वेदान्तको आलस्य, प्रमाद, निरुत्साह और अकर्मण्यता बढ़ानेवाला साधन समझ रक्खा है। वेदान्ती आलसी बनकर भाररूप हो रहे हैं। दूसरोंको वेदान्तका उपदेश देते हैं, स्वयं परावलम्बी हैं और क्लेशों और दुःखोंसे घिरे हुए हैं। वेदान्तकी बातें बनानेसे कुछ नहीं होता, किन्तु व्यवहारमें लानेसे ही शरीरमें नवजीवन और उत्साहका सञ्चार होता है। मानसिक शक्तिका विकास होता है और आत्मबल बढ़ता है; सुख, शान्ति, आरोग्य और ऐश्वर्यकी जीवनमें वृद्धि होती है।

मनोविज्ञानके अनुभव और परीक्षाओंसे यह बात सिद्ध हो चुकी है कि किसी भी बातकी सूचनाएँ बार-बार दुहरानेसे वे पुष्ट होती हैं और कल्पना विश्वासके रूपमें परिवर्तित होकर मनुष्य जैसा सोचता है वही हो जाता है।

आर्य शास्त्रकारोंने आत्मचिन्तनको जीवनका सर्वोच्च ध्येय बतलाया है। मनोविज्ञानको आत्मसंकेत (Auto-suggestion) आरोग्य—आनन्द-प्राप्तिका साधन बतलाता है और अध्यात्मविज्ञान मन्त्रजपको महत्त्व देता है।

जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिः पुनः पुनः।

सर्वसिद्धियोंका यही एक अचूक मार्ग है।

वेदान्तविज्ञानके कुछ अनुभूत प्रयोग देते हैं। इनके अभ्याससे तुम्हारे रोग, दुःख, क्लेश, अशान्ति और नैराश्य आदि समूल नष्ट हो जायँगे।

प्रयोग नं०१

प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त्तमें उठकर आध घंटेतक नियमित रूपसे बैठकर अभ्यास करो।

किसी भी आसनसे मेरुदण्डको सीधाकर दोनों हाथोंको घुटनोंपर रखकर आँखें बंद करके स्थिरतासे बैठ जाओ। पीठको दीवारसे न लगने दो। शरीरपर तनाव न मालूम हो। छातीको ऊपर उठाये, ठोड़ीको नीचे दबाये रहो। मनसे शरीरके अंग-प्रत्यंगोंके तनावका ध्यान त्याग दो। स्नायुओं तथा ज्ञानतन्तुओंको शिथिल करो। शरीरके अंग, प्रत्यंग, किसीको जरा भी न हिलने दो। मनको निःसंकल्प (blank) बनाओ। शरीरपर पूर्ण शासन करो। मक्खी काटे, खुजली चले, घबराहट मालूम हो या वेदना प्रतीत हो तब भी आसनसे मत डिगो और इन बातोंकी परवा न करो, क्योंकि ये सब बाधाएँ तुम्हारी स्थिरताकी परीक्षाके लिये उपस्थित होती हैं।

दृढ़ संकल्पसे कहो कि 'मैं शरीरपर शासन करता हूँ। शरीर मेरा सेवक है। मैं जो कुछ आज्ञा दूँगा अवश्य इसे स्वीकार करनी पड़ेगी।'

जब शरीरमें स्थिरता होने लगे तब मनकी वृत्तियोंको सब ओरसे हटाकर शान्तिके विचारोंपर टिकाओ। मैं शान्त हूँ। मेरा मन शान्त है। मेरे अन्दर-बाहर सर्वत्र शान्ति है। मेरे आसपासका वायुमण्डल शान्त है।

अब नासिकासे दीर्घ श्वास-प्रश्वास करो। गहरा साँस लेनेका अभ्यास करो। और उतना ही गहरा साँस बाहर निकालो। प्रत्येक श्वास-प्रश्वासके साथ निम्न भावनाका दृढ़ चिन्तन और धारणा करो:—

मैं चैतन्यमय हूँ। मैं जीवनतत्त्वसे परिपूर्ण हूँ। मैं आरोग्यस्वरूप हूँ। मैं पूर्ण आरोग्यमय हूँ। मैं बलवान् और नीरोग हूँ। मैं अजर, अमर और निरामय हूँ। मैं जीवन-शक्तिके सागरमें गोते ले रहा हूँ। मेरे शरीरके अणु-अणुमें आरोग्यकी लहरियाँ सञ्चार कर रही हैं। मैं आरोग्य और अखण्ड यौवनका भान कर रहा हूँ।

ॐ आरोग्यम् ॐ आरोग्यम् ॐ आरोग्यम्।

प्रयोग नं० २

मैं समस्त बलका महासागर हूँ। मेरी आत्मशक्तिसे सारे स्नायु और ज्ञानतन्तुओंको उत्तेजना और पुष्टि मिलती है। मेरी इच्छाशक्ति प्रबल है। मेरा निश्चय दृढ़ है। मन और शरीरपर मेरा पूर्ण अधिकार है। मैं दृढ़ संकल्प करता हूँ कि मैं कभी भी कोई मादक पदार्थ सेवन न करूँगा। मैं सदा निर्भय और स्वतन्त्र हूँ। मैं शक्तिमान् हूँ (इन भावनाओंके अन्तर्मनपर दृढ़ संस्कार अंकित करनेसे तुम्हारा बुरे-से-बुरा व्यसन या खराब आदत दूर हो जायगी, तुम अपने शरीर और मनके स्वामी हो जाओगे।)

प्रयोग नं० ३

सरल आसनसे स्थिरतासे बैठकर दीर्घ श्वास-प्रश्वास करो। अब मानसचक्षुसे चेतन ब्रह्म या आत्मतत्त्वको, आगे-पीछे, बाहर-भीतर, बायें-दायें, ऊपर-नीचे और सब जगह श्रेष्ठतम ब्रह्म ही फैला हुआ है, इस प्रकारसे देखो।

प्रत्येक श्वासके आने-जानेमें सोऽहं मन्त्रका जप करो ('अहं ब्रह्मास्मि,' 'अयमात्मा ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि', इन चार वाक्योंका आशय सोऽहंमें आ जाता है)।

मैं आत्मा हूँ—मैं सत् चित् आनन्दघन आत्मा हूँ। मैं पूर्णकाम हूँ। मैं अखण्ड आनन्दमय हूँ।

सोऽहं या इन भावनाओंके चिन्तन और जपसे जल्दी एकाग्रता होती है और एकाग्रताकी अवस्था दीर्घकालतक रहनेसे समाधि अवस्था प्राप्त होती है।

एवं निरन्तराभ्यासाद् ब्रह्मैवास्मीति भावना।
हरत्यविद्याविक्षेपान् रोगानिव रसायनम्॥

'मैं आत्मा हूँ' इसका निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे जगत्के सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले शोक, मोह, चिन्ता, भय, उद्वेग आदि जो विक्षेप हैं वे इसी प्रकार दूर हो जाते हैं जैसे रसायनके सेवनसे रोगोंका नाश हो जाता है।

देहाध्यासको छोड़कर आत्मभावनामें निरन्तर स्थिर रहकर निर्लिप्त होकर संसारका व्यवहार करते रहो। इस अखण्ड ब्रह्मचिन्तनसे ब्रह्माकार वृत्ति हो जाती है। आत्मतत्त्वका सर्वत्र भान होने लगता है और साधक सब क्लेशोंसे और दोषोंसे मुक्त हो जाता है। उसे न कोई शोक है, न मोह, न वासना है और न कोई आकांक्षा है। वह अपनेको भूल जाता है और सर्वव्यापक आनन्दघन आत्मतत्त्वमें स्थिर हो जाता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।

यही व्यावहारिक वेदान्तकी सर्वोच्च शिक्षा है।

असली और नकली वेदान्त

(लेखक—स्वामी श्रीसहजानन्दजी सरस्वती)

लोगोंका खयाल है कि 'हम क्या हैं, संसार क्या है और हमारा इस संसारके साथ सम्बन्ध क्या है,' इन्हीं तीन जिज्ञासाओं या प्रश्नोंने दर्शनों (Philosophies) को जन्म दिया है और धर्म, मजहब या रिलिजन (Religion) विभिन्न दर्शनोंके बाहरी या व्यावहारिक रूप हैं। आचार (आचरण, कर्म, क्रिया, अमल, प्रैक्टिस) विभागको धर्म और विचार (सोचना, थिंकिंग) विभागको अब दर्शन कहते हैं, हालाँकि आचार और विचार दोनों ही दर्शनके ही दो विभाग या अंग हैं। असलमें जनसाधारण सोचने, विचारने मेडिटेशन (Meditation) आदिसे स्वभावतः दूर रहते हैं; कारण, उन्हें दैनिक जीवनके कामों और विचारोंसे अवकाश ही नहीं रहता कि लोक, परलोक और अध्यात्मके गहरे पानीमें उतरें। फलतः दर्शन उनके लिये एक निराली और अपरिचित-सी चीज हो गयी है। वह उसे समझ नहीं सकते। अतएव धर्मके रूपमें उन्हें जो ठोस और व्यावहारिक चीज दी जाती है उसपर थोड़ा या अधिक अमल करके सन्तोष कर लेते हैं। क्योंकि धर्म आत्माकी भूखकी खूराक है और बिना खूराकके काम चलता नहीं। यही कारण है कि किसी-न-किसी धर्मकी ओर सदासे जनताकी प्रवृत्ति होती चली आयी है और धर्मके न माननेवालोंको लोगोंने कभी भी आदरकी दृष्टिसे नहीं देखा है। असलमें तो आत्माकी बुभुक्षाकी शान्ति दार्शनिक विचारोंसे ही होती है और यही ठीक भी है; फलतः दर्शन ही उस खुराकके देनेवाले हैं। लेकिन आम लोगोंके लिये वे दुर्गम हैं। इसलिये दर्शनोंके बाहरी रूपमें प्रचलित धर्मोंसे ही काम चलाया जाता है। यही कारण है कि धर्मोंकी प्रवृत्तिका स्रोत मूलमें चाहे दर्शन भले ही रहे हों, आगे चलकर वे विकृत, दिखावटी और प्रवञ्चनामात्र रह जाते हैं। क्योंकि जनता उनके दार्शनिक आधारोंसे अनभिज्ञ होनेके कारण धर्मप्रचारक पुरोहितों, गुरुओं और साधु-फक़ीरोंसे न तो प्रश्नोत्तर हो कर सकती और न उनका निरादर ही करनेकी हिम्मत रखती है। विभिन्न धर्मसम्प्रदायोंका पारस्परिक कलह भी इसीसे उत्पन्न होता है और असली बातोंको छोड़ रूढ़ियोंकी उपासना भी इसीलिये चल पड़ती है, जो सभी अनर्थोंकी जननी है। विपरीत इसके यदि हम दार्शनिक विचारोंको ही धर्मोंके मूलाधार मान लें तो यह बला योंही खत्म हो जाय। क्योंकि तब तो धर्मके बारेमें हम यही देखेंगे कि वह पूर्वोक्त तीन जिज्ञासाओंकी पूर्तिके लिये सामग्री या मार्ग प्रभूत करता है या नहीं और ऐसा जो न होगा उसे स्वयं त्याग देंगे। यदि इस दृष्टिसे देखा जाय तो पता चलेगा कि सभी धर्म सत्य, दया, मैत्री, अव्यभिचार, अस्तेय आदि दैवी सम्पत्तियोंपर पूरा जोर देते हैं, जिससे पता चलता है कि वे किसी एक ही ध्येयकी खोजमें एक ही मार्गसे जा रहे हैं और सत्य, दया आदि उनका वह निर्विवाद मार्ग है। फिर धार्मिक झगड़ोंके लिये स्थान ही कहाँ? सत्य, दया आदि ऐसी चीज भी नहीं कि आत्मा-परमात्माकी तरह अदृश्य होनेके कारण विवादास्पद हों। वह तो सर्वजनानुभूत पदार्थ हैं। इसीलिये उनकी प्राप्तिमें जो सहायक न हो वह आसानीसे हेय हो सकता है। इसमें अधिक खोद-विनोदकी गुंजाइश नहीं। यही वेदान्त है, सब ज्ञानोंका अन्त या पर्यवसान है, निष्ठा है।

वेद नाम है ज्ञानका। 'विद ज्ञाने' धातुसे यह शब्द बना है। आज जो वेदके नामसे ऋक्, साम आदि प्रसिद्ध हैं वे भी इसीलिये कि उनमें ऋषियों (Thinkers) का ज्ञान भरा है, जिसे वे जनसाधारणतक पहुँचाते हैं। ये वेद दर्शनके स्थूल रूप—ककहरा—कर्मकाण्डसे शुरू करके अध्यात्मविचारमें समाप्त होते हैं और जहाँ यह अध्यात्मविचार मिलता है उसे उपनिषद् कहते हैं। अच्छा, तो अब देखना है कि वेदान्तके अन्त शब्दसे क्या अर्थ निकलता है। अन्त नाम है समाप्ति, पर्यवसान, निष्ठा या निष्कर्ष (Result) का। इस प्रकार वेद (ज्ञान, विवेक, विचार) का जो पर्यवसान या निष्कर्ष हो, या विचार और विवेकके बाद जिस परिणामपर पहुँचते हैं उसे ही वेदान्त कहना ठीक है। सारांश, वेदान्त अक्ल और बुद्धिकी बातको ही कहना उचित है। जो बात ऐसी हो उसमें कलहके लिये जगह भी नहीं है। वेदान्तकी सब दर्शनोंसे ज्यादा प्रतिष्ठाका कारण भी यही है।

असलमें एकता और मेलके बिना संसारका काम चल नहीं सकता। हम पद-पदपर इस ऐक्यकी तलाशमें हैं और इसके बिना अनेक कष्टोंका अनुभव करते हैं, फिर वह संसार चाहे राजनीतिका हो या धर्मनीति, समाजनीति, अर्थनीतिका। यदि ऐक्यका लोप हो जाय तो प्रलय हो जाय। संसारके बनानेवाले परमाणुओं, गुणों, तत्त्वों (Atoms and elements) का एक दूसरेसे अलग हो जाना ही तो प्रलय कहा जाता है; कारण, उस दशामें कोई चीज ठहर सकती ही नहीं। यही कारण है कि विवेकी लोग शुरूसे ही ऐक्यकी तलाशमें पड़े हैं और वह अन्वेषण बराबर जारी है।

किसी दार्शनिकने स्थूल पृथिवी आदिको परमाणुओंसे मिलाया, तो किसीने समस्त स्थूल जगत्‌को सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणोंसे जोड़ दिया और कह दिया कि इनसे पृथक् कोई चीज नहीं। सूक्ष्म जगत्‌में मन, बुद्धिको इन्हीं तीन गुणोंमें मिला दिया। ईश्वर और जीवके बारेमें किसीने सामीप्य और सान्निध्यका भाव कायम किया तो किसीने ईश्वरको जीवमें ही मिला दिया और उसकी सत्ता ही मिटा डाली। इस प्रकार परमाणुओंसे आरम्भकर प्रकृति (त्रिगुण) और पुरुष (जीव) इन दोको ही माना और शेष संसारका पर्यवसान इन्हींमें कर दिया। अन्तमें अद्वैतवादका दर्शन आया जिसे वेदान्तदर्शन भी कहते हैं। उसने प्रकृति और जीवका भी भेद मिटा दिया और दोनोंको ही एक करके ब्रह्मके साथ मिलाया। जब एकताका सूत्रपात हुआ तो उसका चरम पर्यवसान भी होना ही चाहिये। जबतक दो पदार्थ रह जायँगे, दिक्कत बनी ही रहेगी। उपनिषदोंने जो कहा है कि—'द्वितीयाद्वै भयं भवति'-दोके रहनेसे ही सारी खुराफात होती है, या—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

'जब सभी एक हो गये तो डर किसका?' उसका मतलब यही है। प्रतिद्वन्द्वीको कायम करके चैन? यदि आप संसारमें प्रेमका पूरा प्रसार अबाधरूपसे चाहते हैं तो द्वैत मिटाना ही होगा। क्योंकि अपने-आपसे जितना ही अन्तर किसी वस्तुका होगा प्रेममें उतनी ही कमी होगी। परमात्मामें यदि परमप्रेमरूपा भक्ति चाहते हैं तो उसे भी अपनेसे अभिन्न करना ही होगा। नहीं तो स्वभावतः जितना प्रेम अपने-आप (आत्मा) में है उतना उसमें कदापि न होगा। इसीलिये तो कहा है—

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

यदि निकट जाना है तो दूरी कम करो और वास्तविक सान्निध्य तो तभी होगा जब दूरी विलुप्त हो जाय। यही अद्वैतवादका रहस्य है और यही वेदान्त है। आप 'वसुधैव कुटुम्बकम्' चाहते हैं और चाहते हैं मानवमात्रका कल्याण, जो वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीयता है। इसके लिये आवश्यक है कि—

आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।

—को चरितार्थ करें। जबतक गैरोंके सुख-दुःखको आप स्वयं अनुभव न करेंगे उनके लिये मर मिटनेको तैयार कैसे होंगे? लेकिन जबतक वे आपसे भिन्न हैं तबतक हजार कोशिश करनेपर भी उनकी व्यथाका अनुभव आप नहीं कर सकते, उसे जान लें भले ही। जानना और अनुभव (इहसास, Feeling) में अन्तर है और अनुभवके लिये उसके साथ–अन्यके साथ–आपको अपने तादात्म्यका ज्वलन्त और जीवन्त ज्ञान होना चाहिये। बिना इसके काम चल नहीं सकता। अन्तर्राष्ट्रीयता और मानवसमाजके प्रति, नहीं-नहीं, समस्त संसार (Universe) के प्रति भ्रातृभाव और सद्भाव लानेका वास्तविक उपाय यही वेदान्तदर्शन है, वेदान्त है। वेदान्तीको जीवन्मुक्त कहनेका यही अभिप्राय है। उसका तो आपा रही नहीं जाता। उसने तो अपनेको समष्टिमें विलीन कर दिया। अब समष्टि और व्यष्टिका भेद रही नहीं गया।

ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, छूत-अछूत, हिन्दू-मुस्लिमका भेद तबतक मिट नहीं सकता जबतक इस अद्वैतवादका, सच्चे वेदान्तका रहस्य प्रतीत न हो जाय। खूबी तो यह है कि यह वेदान्त बाहरी विभिन्नता और पार्थक्य (Diversity) को मिटानेकी राय नहीं देता। प्रत्युत उससे तो इस विभिन्नता (Diversity) में ही ऐक्य (Unity) देखनेमें मजा आता है। आखिर छायाका आनन्द तो धूपके रहनेसे ही होता है। अतएव वेदान्ती तो अपने विचारोंकी कीमिया या पारसके बलसे विभिन्नतारूप लोहेको सोना बनाता है। उसकी दृष्टिमें बाहरी भेद विलीन हो जाते हैं। कितना सुन्दर हो यदि यह वेदान्त आज प्रचलित हो जाय। हमारा देश ही नहीं, मानवसमाज पारस्परिक कलहोंसे जर्जर हो रहा है और हम अहंमन्यताके मारे किसीको नीच, किसीको दलित, किसीको पतित बनाकर अपना नाश स्वयं कर रहे हैं, द्रुत गतिसे उस नाशकी ओर जा रहे हैं, हालाँ कि हमें अपने वेदान्तदर्शनका अभिमान है। कितनी मूर्खता और कैसा प्रचण्ड अज्ञान है! तत्त्वसे हम कितनी दूर जा पड़े हैं। हमें कौन बतावे? कौन सिखावे? एक समय था जब हमने गिरिशिखरोंसे वेदान्तकी पुकार मचायी थी।

'पण्डिताः समदर्शिनः।' 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन॥

—इत्यादि। आज फिर उसी वेदान्तकी आवश्यकता है। उसे कौन लावेगा? हमारा कृष्ण कौन होगा? नकली वेदान्त कौन हटावेगा, जिसे जानकर भी हम नामर्द बने पड़े हैं करोड़ोंकी संख्यामें?

* * *

वेदका स्वरूपविचार

(लेखक—श्रीमोतीलालजी शर्मा गौड़)

चराचर जगत्के अधिष्ठाता औपनिषद पुरुषकी प्राप्तिके अनेक उपाय शास्त्रोंमें बतलाये हैं। वे ही उपाय अधिकारिभेदसे शास्त्रोंमें कर्म, भक्ति, योग, ज्ञान आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। शुद्ध कर्ममार्ग कर्ममार्ग है, शुद्ध ज्ञानमार्ग ज्ञानमार्ग है। ज्ञानयुक्त कर्म भक्तिमार्ग है, एवं कर्मयुक्त ज्ञान योगमार्ग है। इस योगके राज, मन्त्र, हठ, लय आदि विविध भेद हैं। विविधभावापन्न योगके किसी एक मार्गके आश्रयसे योगी सिद्धावस्थाको प्राप्त होता हुआ उस औपनिषद पुरुषके साथ क्रमशः सालोक्य-सामीप्य-सारूप्य-भावको प्राप्त करता हुआ सायुज्यभावको प्राप्त हो जाता है। योगका चरम फल है वेदान्तपुरुषकी प्राप्ति। सम्भव है, इसी गुहानिहित रहस्यको लक्ष्यमें रखकर कल्याणप्रेमियोंने 'योगाङ्क' के अनन्तर 'वेदान्ताङ्क' निकाला हो। कुछ भी हो, हम इस शैलीसे प्रभावान्वित हुए बिना नहीं रह सकते। यही कारण है कि समाचारपत्रोंमें लेख देनेका विचार न रखते हुए भी हमें कल्याणप्रवर्तकोंका अनुरोध मानना पड़ा है। फलस्वरूप वेदके सम्बन्धमें हम अपने संक्षिप्त विचार प्रकट करना चाहते हैं। 'वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ', 'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः', 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्', 'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति' ये हैं विदितवेदितव्य आप्त महर्षियोंकी वेदराशिके प्रति श्रद्धाञ्जलियाँ। क्या वास्तवमें वेदपुरुषका इतना ऊँचा आसन है? क्या सचमुच सारे धर्मोंकी आश्रयभूमि वेद है? क्या वेदसे ही सब कुछ सिद्ध होता है? इन प्रश्नोंका यथार्थ समाधान तबतक कभी सम्भव नहीं, जबतक कि वेदके वास्तविक स्वरूपको यथावत् हृदयङ्गम न कर लिया जाय। जो वेदके वास्तविक स्वरूपको नहीं जानता, विश्वास रखिये—'न स वेद, न स वेद'—उसने कुछ नहीं जाना। ज्ञान ही तो वेदका स्वरूप है। वेद ही तो ज्ञान है। जब वेदका तात्पर्य विदित नहीं तो ज्ञान कैसा? ज्ञान नहीं तो अज्ञानका विनाश कैसा? हमारा यह काल्पनिक विश्वास नहीं, अपि तु ध्रुव निश्चय है कि आज जो आर्यजातिकी यह दुरवस्था हो रही है उसका एकमात्र कारण वैदिक साहित्यके प्रचारका अभाव ही है। 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' क्या इस अनुशासनका आज हमारी दृष्टिमें कोई मूल्य रह गया है? क्या—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

इस मन्वादेशका हम कुछ मूल्य समझते हैं? नहीं! सर्वथा नहीं!! व्याकरण-न्याय-ज्यौतिष-साहित्य-दर्शन आदि इतर शास्त्रोंका सर्वत्र साम्राज्य है। सामन्तगण सम्राट् बने हुए हैं, वेदसम्राट् सामन्तपदवीका भी अधिकारी नहीं है। वेद आज विद्वानोंकी दृष्टिमें केवल अर्चनीय प्रतिमा बना हुआ है। वेदमें क्या है? वेदको आप्तपुरुषोंने इतना महत्त्व क्यों दिया है? इन प्रश्नोंपर विचार करनेतकके लिये हमारे पास समय नहीं। वेदशास्त्र कहता है कि केवल मेरे अक्षरसंनिवेशपर श्रद्धा रखनेसे तुम्हारा कल्याण नहीं हो सकता। कुछ मन्त्र कण्ठस्थ कर स्वरसन्धानपूर्वक कुछ कर्मेतिकर्त्तव्यता करा देनेमात्रमें ही मेरी समाप्ति मत समझो। कुछ आगे बढ़ो। मैं तुम्हें सारे विश्वका सञ्चालक बनानेमें समर्थ हूँ। क्या तुम मेरे 'ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते' (शत० १४) इस आदेशको भूल गये? क्या तुम्हें—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभू-
दधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

—यह आदेश याद नहीं रहा? सुनो, मनन करो, अध्यवसायबुद्धिद्वारा अन्तरात्मापर मेरे यथार्थ स्वरूपको प्रतिष्ठित करो; इसीमें तुम्हारा, तुम्हारे समाजका, तुम्हारे राष्ट्रका, नहीं-नहीं सारे विश्वका कल्याण है। कालपुरुषकी कृपासे वेदाध्ययनाध्यापनप्रणालीके शिथिल हो जानेसे, साम्प्रदायिक अर्थप्रणालीके उच्छिन्न हो जानेसे, मेरे निगूढ़ तत्त्वोंका प्रतिपादन करनेवाले निगम-निदान-गाथा-कल्प-नाराशंस-रहस्य-वाकोवाक्य-कुम्ब्या आदि ग्रन्थोंके विलुप्तप्राय हो जानेसे मेरा वास्तविक स्वरूप तुमलोगोंकी दृष्टिसे इतना तिरोहित हो गया है कि यदि आज मैं अपना वास्तविक स्वरूप तुम्हारे सामने रक्खूँ तो तुम सहसा पीछे हटनेका प्रयास करोगे। वह स्वरूप तुम्हारी दृष्टिसे आगेकी

वस्तु होगी। वह स्वरूपविज्ञान तुम्हारे कल्पित स्वरूपसे विभिन्न होगा। परन्तु सावधान, दुराग्रहमें पड़कर कहीं मेरे इस स्वरूपकी अवहेलना न कर बैठना, खूब सोचना। मैं जानता हूँ कि तुम लक्षणैकचक्षुष्क हो। 'यदस्माकं शब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्' इस आदेशके भक्त हो। चिन्ता न करो। तुम्हारे सन्तोषके लिये प्रमाण भी पर्याप्त होंगे। युक्तिविशारदोंके लिये यथासम्भव युक्तियाँ भी रहेंगी। विज्ञानका धन्यघोष करनेवाले विज्ञानधुरीणोंके मनोरञ्जनका भी प्रयास किया जायगा। हाँ, तो सुनो अब मैं अपना संक्षिप्त स्वरूप तुम्हारे सामने रखता हूँ—

सनातन सम्प्रदायके अनुसार ऋक्, यजुः, साम, अथर्व-भेदसे चार वेद हैं। इनमें ऋग्वेदकी २१ शाखाएँ, यजुर्वेदकी १०१ शाखाएँ, सामवेदकी १००० शाखाएँ, एवं अथर्वकी ९ शाखाएँ हैं। सबके संकलनसे ११३१ शाखाएँ हो जाती हैं। दुर्भाग्यसे आज दो-चार शाखाएँ ही उपलब्ध होती हैं। शेष शाखाएँ दुर्दान्त कालसे कवलित की जा चुकी हैं। प्रत्येक शाखामें विज्ञान, स्तुति, इतिहास, ये तीन मुख्य विषय हैं। कितने ही मन्त्र 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादि रूपसे स्तुतिपरक हैं। कितने ही मन्त्र इतिहास (सृष्टीतिवृत्त—एवं मनुष्यचरितभेदसे उभयविध इतिहास) से सम्बन्ध रखते हैं। एवं कितने ही मन्त्र शुद्ध विज्ञानतत्त्वका प्रतिपादन करते हैं। इन तीनोंके अतिरिक्त इन्हीं संहिताओंमें सूत्ररूपसे कर्म, उपासना, ज्ञान इन तीनों काण्डोंका भी निरूपण है। इस प्रकार विज्ञान-स्तुति-इतिहास-कर्म-उपासना-ज्ञान इन छः विषयोंका सूत्ररूपसे निरूपण करनेवाला संहितावेद ११३१ भागोंमें विभक्त है। यही वेदभाग मन्त्र-ब्रह्म-ऋषि आदि विविध नामोंसे प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त दूसरा वेदभाग है ब्राह्मण। इस ब्राह्मणभागके कर्म, उपासना, ज्ञानभेदसे क्रमशः विधि, आरण्यक, उपनिषद् ये तीन विभाग हैं। कर्मप्रतिपादक विधि भाग ब्राह्मण नामसे प्रसिद्ध है। उपासनाप्रतिपादक ब्राह्मणभाग आरण्यक नामसे व्यवहृत किया जाता है, एवं ज्ञानप्रतिपादक ब्राह्मणभाग उपनिषद् नामसे व्यवहृत होता है। इस प्रकार संहिता, विधि, आरण्यक, उपनिषद्, इन चार पर्वोंमें एक शाखाका स्वरूप निष्पन्न होता है। संहिता मूल वेद है। शेष तीनोंका समुच्चय तूलवेद हैं। संहिता ब्रह्म है, शेष तीनों ब्राह्मण हैं। ब्रह्म-ब्राह्मणका समुच्चय वेद है। इस ब्रह्म-ब्राह्मणात्मक किंवा मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदका अन्तिम भाग उपनिषद् है। अतएव दार्शनिक मर्यादाके अनुसार यह उपनिषद्भाग 'वेदान्त' नामसे प्रसिद्ध हो रहा है।

अपि च—उपनिषद्के वेदान्त व्यवहारका एक कारण और भी है। विधिस्वरूप कर्मकाण्डप्रतिपादक ब्राह्मणभागमें जिन विधियोंका उल्लेख है, उनका समन्वय करना साधारण मनुष्योंके लिये कठिन है। कितने ही विधिवचन एक दूसरेसे विरुद्ध प्रतीत होते हैं। इनका यथावत् समन्वय करनेके लिये 'पूर्वमीमांसा'का जन्म हुआ है। 'द्वादशलक्षणी' नामसे प्रसिद्ध पूर्वमीमांसादर्शन वेदके विधिभागका यथावत् समन्वय करता है। यही अवस्था उपासनाकाण्डप्रतिपादक आरण्यकभागकी है। इसके समन्वयके लिये 'शाण्डिल्यदर्शन' का जन्म हुआ है एवं ज्ञानकाण्डप्रतिपादक तीसरे उपनिषद्भागके समन्वयके लिये 'उत्तरमीमांसा' नामसे प्रसिद्ध वेदान्तदर्शनका जन्म हुआ है। वेदादेशका चरम लक्ष्य ज्ञानप्राप्ति है। अतः ज्ञान ही वेदान्त है। उसीकी उपनिषदोंमें प्रधानता है। इसलिये भी उपनिषदोंको वेदान्त नामसे व्यवहृत करना न्यायप्राप्त है। इस प्रकार पूर्वमीमांसा (जैमिनिदर्शन), मध्यमीमांसा (शाण्डिल्यदर्शन), उत्तरमीमांसा (व्यासदर्शन) इन तीनों दर्शनोंसे उपबृंहित कर्मप्रधान ब्राह्मण, उपासनाप्रधान आरण्यक, ज्ञानप्रधान उपनिषद्रूप स्वांगोंसे युक्त ऋग्-यजुः-साम-अथर्व-भेदभिन्ना वेदचतुष्टयी आर्यसन्तानकी महानिधि है। इतर शास्त्रोंके आदेशोंपर आर्यसन्तान ऊहापोह कर सकती है; परन्तु मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदपुरुषके आदेशपर न इसे कभी सन्देह हुआ, न भविष्यमें होगा। कहना नहीं होगा कि आर्य जातिकी दृष्टिमें वेद अपौरुषेय है। साक्षात् ईश्वरकी वाणी है। ईश्वरका निवास है। ईश्वर साक्षात् वेदमूर्त्ति है। हम उन श्रद्धालु महानुभावोंसे निवेदन कर देना चाहते हैं कि वेदके उपर्युक्त स्वरूपके सम्बन्धमें यद्यपि हम भी सहमत हैं तथापि विचारपूर्वक श्रद्धा करना अच्छा है, क्योंकि जड श्रद्धा हानिकर है। हम उन श्रद्धालुओंसे वेदके सम्बन्धमें क्या निम्नलिखित प्रश्न कर सकते हैं—

१–यदि उपलब्ध संहिताब्राह्मणात्मक पुस्तकरूपसे उपलब्ध ककार-पकार-टकारानुपूर्वीसे अवच्छिन्न शब्दात्मक वेद ही अपौरुषेय एवं नित्य है तो 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (वै० दर्शन) इस कणाद सिद्धान्तका क्या मूल्य है?

२–पुस्तकात्मक वेद ही यदि नित्य एवं अकृतक हैं तो—

१–'मन्त्रभागवत् ब्राह्मणभाग (ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्) भी अवश्य ही वेद है' इस विषयका विशद विवेचन 'उपनिषद्भाष्य-भूमिका' के 'क्या उपनिषद् वेद है' इस प्रकरणमें द्रष्टव्य है।

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥
(मनु० १२ । ९८)

यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थम्, ता ऋचः, स ऋचां लोकः । यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतम्, तानि सामानि, स साम्नां लोकः । अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः सोऽग्निः । तानि यजूंषि । स यजुषां लोकः । सैषा त्रय्येव विद्या तपति । (शत० ब्रा० १० । ५ । २ । १-२)

—इत्यादि श्रौत-स्मार्त सिद्धान्तोंका आप क्या समाधान करेंगे ? क्या वेदपुस्तकसे रूपरसगन्धादि पञ्चतन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं ? क्या सौरमण्डल वेदपुस्तकोंका मण्डल है ? अग्नि-वायु-आदित्यसे उत्पन्न होनेवाली त्रयीविद्या क्या यही वेदपुस्तक है ?

हमारा विश्वास ही नहीं, दृढ़ निश्चय है कि वेदका वास्तविक स्वरूपपरिचय प्राप्त करो । इसके बिना उत्तरसहस्रोंसे भी आप उपर्युक्त जटिल समस्याओंको हल नहीं कर सकते । यद्यपि वेदके वास्तविक स्वरूपके लिये स्वतन्त्र अध्ययन अपेक्षित है, लेखमात्रसे इस सम्बन्धमें पूर्ण तुष्टि नहीं हो सकती, तथापि—‘स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्’ के अनुसार वेदका संक्षिप्त स्वरूप कल्याणप्रेमियोंके समक्ष उपस्थित किया जाता है—

प्राण-अप्-वाक्-अन्न-अन्नाद-कलावच्छिन्न, भौतिकी सृष्टिके उपादान, अपरा प्रकृति नामसे प्रसिद्ध क्षर पुरुष, एवं ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-सोम-अग्नि-कलावच्छिन्न भौतिकी सृष्टिके स्रष्टा (निमित्तकारण) परा प्रकृति नामसे प्रसिद्ध अक्षर पुरुषसे युक्त आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक्-भेदसे पञ्चकोशात्मक अव्ययेश्वर सर्वत्र व्याप्त हो रहा है । अव्ययेश्वरकी आनन्दकला प्रसिद्ध है, विज्ञानकला ‘चित्’[1] नामसे प्रसिद्ध है । शेष मन, प्राण, वाक् ये तीन कलाएँ बचती हैं । इन तीनोंकी समष्टि ही ‘सत्’, ‘सत्ता’ किंवा ‘अस्ति’ है । मन ज्ञानप्रधान है । प्राण क्रियामय है । वाक् अर्थमयी है । मनसे रूपका विकास होता है, प्राणसे कर्मकी प्रतिष्ठा है, एवं वाक् नामतत्त्वकी आधारभूमि है । प्रत्येक अस्तिमान् पदार्थ नाम+रूप+कर्मका समुच्चय है । नाम, रूप, कर्म मन-प्राण-वाक्से अविनाभूत हैं । इसी आधारपर हम सत्ताका ‘मनःप्राणवाचां संघातः सत्ता’ यह लक्षण माननेके लिये तैयार हैं । इससे प्रकृतमें हमें यही बतलाना है कि तैत्तिरीयोपनिषद्में जिन आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, अन्नमय कोशब्रह्मोंका निरूपण किया गया है, वे ही पाँचों ब्रह्मकोश [2]उत्तमपुरुष नामसे प्रसिद्ध अव्यय पुरुषकी आनन्दादि उपर्युक्त पाँच कलाएँ हैं । अव्यय पुरुषकी पाँचवीं ‘वाक्’ कला उपनिषद्में ‘अन्नब्रह्म’ नामसे व्यवहृत हुई है । कारण इसका यही है कि वाक्तत्त्व आकाश है । यही बलग्रन्थियोंके कारण आकाश-वायु-तेज-जल-मृत् इन पाँच स्वरूपोंमें परिणत हो रही है । यही हमारे अन्न हैं । जौ-गेहूँ-आम्र आदि ओषधि वनस्पतियाँ मिट्टी हैं । पानी प्रसिद्ध है । श्वासप्रश्वास वायु है । सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वाक्, आत्मा—यह पञ्चविध तेज है । इसी आधारपर विदेह जनकके ‘किं ज्योतिरयं पुरुषः ?’ यह प्रश्न करनेपर महर्षि याज्ञवल्क्यने ‘पञ्चज्योतिरयं पुरुषः’ यह समाधान किया है । शब्द आकाशान्न है । प्रत्येक प्राणीको अपनी जीवनसत्ताके लिये उपर्युक्त वाङ्मय पाँचों अन्न अपेक्षित हैं । इसी आधारपर वाग्ब्रह्मको श्रुतिने ‘अन्नब्रह्म’ नामसे व्यवहृत किया है । मोद, प्रमोद, हर्ष, भेदभिन्न विश्वके समस्त आनन्द अव्ययकी आनन्दकलापर प्रतिष्ठित हैं । विज्ञान-अज्ञान (अज्ञानावृत ज्ञान)-सद्ज्ञान भेदभिन्न यच्च यावत् ज्ञान अव्ययकी विज्ञानकलापर प्रतिष्ठित हैं । सर्वेन्द्रिय नामसे प्रसिद्ध प्रज्ञानमन, अनुकूल-प्रतिकूल वेदनाका अधिष्ठाता इन्द्रियमन, अहंभावका अधिष्ठाता सत्त्वमन आदि सारे मनश्श्वोवसीयस नामसे प्रसिद्ध अव्ययकी मनःकलापर प्रतिष्ठित हैं । प्राण, उदान, व्यान, समान, अपान, कृकल, देवदत्त, धनंजय, हंस, मरुत्, रुद्र, सविता, पवमान, मातरिश्वा आदि विविध भेदभिन्न सारा वायुप्रपञ्च अव्ययकी प्राणकलापर प्रतिष्ठित है । एवं उपर्युक्त सारे अन्नोंकी आधारभूमि अव्ययकी वाक्कला है । आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाग्घन अव्ययकी आनन्दादि मात्राओंको लेकर सारे भूत जीवित हैं । वह सबका आलम्बन है, अतएव उसकी पाँचों कलाएँ ‘कोशब्रह्म’

---

[1] आज दिन चित् एवं चेतनाको अभिन्न माना जाता है । परन्तु विज्ञानदृष्टिसे यह भ्रान्ति है । चिदात्मा अव्ययपुरुष है । एवं अक्षरतत्त्व चेतना है । ‘चेतयते सा चेतना’ के अनुसार यह अक्षर ही चेतनाद्वारा अव्ययके ऊपर ज्ञानकर्मकी चिति करता हुआ उसे ‘चिदात्मा’ बनाता है ।

[2] प्राणादि पञ्चकल भेदभिन्न क्षर प्रथम पुरुष है, ब्रह्मादि पञ्चकल भेदभिन्न अक्षर मध्यम पुरुष है, एवं आनन्दादि पञ्चकल भेदभिन्न अव्यय ‘उत्तम पुरुष’ नामसे प्रसिद्ध है ।

नामसे व्यवहृत हुए हैं। कलावच्छेदेन वह सबका आलम्बन है। इसी आलम्बनविज्ञानको लक्ष्यमें रखकर उन्हें अव्ययावतार पुरुषोत्तम कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७। ७)

आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाङ्मय अव्यय पुरुष 'सच्चिदानन्द' घन है। यह सच्चिदानन्द ब्रह्म वेदस्वरूपमें परिणत होकर सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। ब्रह्म-वेद दोनों अभिन्न हैं। आनन्दविज्ञानघन मनःप्राणगर्भिता अव्यय वाक् ही त्रयीविद्या है। स्वस्वरूपसे अव्यय ब्रह्म सर्वथा एकरस रहता हुआ भी उपाधिभेदसे ब्रह्म, विद्या, वेद इन तीन स्वरूपोंमें परिणत हो रहा है। प्रातिस्विक दृष्टिसे ब्रह्म, विद्या, वेद तीनों पृथक् तत्त्व हैं, किन्तु अव्ययदृष्ट्या तीनों अभिन्न हैं। यही कारण है कि तत्तत् स्थलोंमें 'त्रयं ब्रह्म सनातनम्' (मनुः), 'त्रयो वेदाः' 'सैषा त्रयी विद्या तपति' इत्यादि रूपसे ऋषि तीनोंका अभेदरूपसे व्यवहार करते हैं। प्रथम हम इन्हीं तीनोंका संक्षिप्त स्वरूप आपके समक्ष उपस्थित करेंगे—

अध्यात्मजगत्में तीनोंका साक्षात्कार कीजिये। ज्ञान-कर्ममय अव्ययके अंशभूत हमारे (जीवात्मा) में ज्ञानकर्म दोनों भाव प्रतिष्ठित हैं। ज्ञायते—क्रियते दोनों भाव सतत अनुस्यूत रहते हैं। हम कुछ जानते हैं, कुछ करते हैं। ज्ञान-कर्मसे अतिरिक्त 'अहं' में और क्या बच जाता है। ज्ञानतत्त्व नित्य है, सल्लक्षण है। अतएव एकरसरूप इसे 'अमृत' कहा जाता है। प्रतिक्षणविलक्षण त्रिक्षणभावापन्न, दूसरे शब्दोंमें अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्तावस्थापन्न कर्म अनित्य है, असत् है। अतएव इसे मृत्यु कहा जाता है।

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृत आहितः।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः॥

—के अनुसार अमृतरूप ज्ञान मृत्युरूप कर्ममें अन्तरान्तरीभाव सम्बन्धसे प्रतिष्ठित है, कर्म ज्ञानमें अनुस्यूत है। यही कारण है कि बिना ज्ञानके आप कोई भी कर्म नहीं कर सकते, साथ ही बिना कर्मके ज्ञानसम्पत्ति भी प्राप्त नहीं की जा सकती। दोनोंमें उपकार्य-उपकारकता है। दोनोंमें आधाराधेयभाव सम्बन्ध नहीं है, अपि तु अन्तरान्तरीभाव सम्बन्ध है। यदवच्छेदेन ज्ञान है, तदवच्छेदेनैव कर्म है। अंगुलिमें क्रिया है अथवा क्रियामें अंगुलि है? दूसरे शब्दोंमें 'हिलना' रूप क्रियाका आधार अंगुलि है, अथवा अंगुलि क्रियाका आधार है? यह असमाधेय प्रश्न है। दोनों कहनेको दो हैं, सत्ता एक है। दोनोंकी समष्टि ही 'ओंकार' (ईश्वर) है। दोनोंकी समष्टि ही 'अहं' (जीवात्मा) है, एवं दोनोंकी समष्टि ही 'अहस्कार' (विश्व) है। विश्वोपनिषत् 'अहः' है, जीवोपनिषत् 'अहं' है, ईश्वरोपनिषत् 'ओम्' है। तीनों ही ज्ञानकर्मरूप हैं। इसी रहस्यको लक्ष्यमें रखकर जीवाव्यय-स्वरूपसम्पादिका योगमायासे अवच्छिन्न योगीश्वर भगवान् कृष्ण कहते हैं—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।

(गीता ९। १९)

ज्ञान-कर्ममय आत्माका ज्ञान शब्द-विषय-संस्कारभेदसे तीन भागोंमें विभक्त है। दूसरे शब्दोंमें हमें तीन ही प्रकारका ज्ञान होता है। एक ही ज्ञान-तत्त्व शब्द, विषय, संस्कार इन तीन पृथक्-पृथक् उपाधियोंसे संश्लिष्ट होकर त्रेधा विभक्त हो जाता है। घट, पट, देवदत्त, यज्ञदत्त, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि शब्दोंको सुननेसे आत्मामें तत्तद्विषयक ज्ञानका उदय होता है। 'गो' शब्द सुनते ही अन्तरात्मामें गो पदार्थ समाविष्ट हो जाता है। इसीको शब्दावच्छिन्न ज्ञान कहते हैं। जिस प्रकार शब्द सुननेसे ज्ञान होता है, उसी प्रकार विषयदर्शनसे भी ज्ञान होता है। घट, वस्त्र, पुस्तक, गृह आदि पदार्थों (विषयों) के साथ चक्षुरिन्द्रियके सम्बन्ध होनेसे भी तत्तद्विषयज्ञानका उदय होता है। यही ज्ञान 'विषयावच्छिन्न ज्ञान' नामसे प्रसिद्ध है। शब्द सुननेसे एवं पदार्थदर्शनसे जो ज्ञान होता है वह श्रद्धा (सोम) रसमय, सर्वेन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञान मनपर खचित हो जाता है। केवल ज्ञानसे जो आत्मापर संस्कार होता है वह 'भावना' कहलाता है, कर्मजनित संस्कार आत्मामें बस जानेके कारण (वसति आत्मनि) 'वासना' नामसे प्रसिद्ध है। शब्द-कर्म, विषय-कर्म, ज्ञान-कर्मसे उत्पन्न भावना-वासनात्मक संस्कार आत्मामें चिरकालके लिये प्रतिष्ठित हो जाता है। यही संस्कार 'स्मृति' का जनक है। इसी संस्कारके आघातसे प्रज्ञानेन्द्र पुनः-पुनः संस्कृत विषयकी ओर अनुधावन करता रहता है। इसी अभिप्रायसे श्रुति कहती है—

ओकः सारी वा इन्द्रः, यत्र वा एष इन्द्रः पूर्वं गच्छति एवं तत्रापरं गच्छति। (ऐ० ब्रा० ६। १७। २२)

शब्द सुनते ही, किंवा विषय देखते ही जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह तत्काल तिरोहित हो जाता है। केवल संस्कार

रह जाता है। खूब शब्द सुनिये, यदि संस्कार नहीं तो सब व्यर्थ। बस, यही तीसरा संस्कारावच्छिन्न ज्ञान है। उपर्युक्त यही तीनों ज्ञान वेद–ब्रह्म–विद्या नामसे प्रकृत स्थलमें व्यवहृत हुए हैं। शब्दावच्छिन्न ज्ञान वेद है, विषयावच्छिन्न ज्ञान ब्रह्म है, एवं संस्कारावच्छिन्न ज्ञान विद्या है। प्रकृतमें वेदपदार्थ निरूपणीय है। अतः उसीकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित किया जाता है—

वेद सच्चिदानन्दघन अव्ययेश्वरका निश्वास है, यह पूर्वमें बतलाया जा चुका है। सत्ता अस्तित्व है, अस्तित्वका ज्ञान चिदंश है। जिसका अस्तित्व है एवं जिसका परिज्ञान है वही तीसरा तत्त्व रस (आनन्द) है। वस्तुकी उपलब्धि (प्राप्ति) वेद है। दूसरे शब्दोंमें उपलब्ध पदार्थ ही वेद है। इस उपलब्धिमें रस, चित्, सत्, तीनों अंश विद्यमान हैं। आप एक पुस्तक उपलब्ध करते हैं। 'पुस्तक है—उसे आप जानते हैं' इस वाक्यमें 'पुस्तक—है—जानते हैं' यह तीन अंश हैं। बस 'पुस्तक' रस है, 'है' सत्ता है, 'जानते हैं' यह चिदंश है। तीनोंके समन्वयसे पुस्तकोपलब्धिका स्वरूप सम्पन्न हो रहा है। यही 'वेद' है। वेदमें तीनों हैं, अतएव वेदपदार्थका—'विद्यते इति वेदः', 'वेत्ति इति वेदः', 'विन्दति इति वा वेदः' तीनों प्रकारसे निर्वचन किया जा सकता है। सत्तार्थक 'विद्' धातुसे विद्यते बनता है, ज्ञानार्थक 'विद्' धातुसे 'वेत्ति' बनता है, एवं लाभार्थक 'विद्' धातुसे 'विन्दति' बनता है। 'विद्यते' सत्ताभावका द्योतक है, 'वेत्ति' ज्ञानभावका द्योतक है, एवं 'विन्दति' रसभावसमर्पक है। तीनोंकी समष्टि 'वेद' है। यही सच्चिदानन्द ब्रह्म है। प्रत्येक पदार्थ सच्चिदानन्द है। प्रत्येक पदार्थ वेद है। तभी तो आचार्योंका—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भवच्चैव सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति॥

—यह उद्घोष है। यह वेदतत्त्व—ब्रह्मनिःश्वसित, गायत्रीमात्रिक, ब्रह्मस्वेद, यज्ञमात्रिक, छन्द, वितान, रस, उपलब्धि, उक्थामद, महदुक्थ, अर्चिः, पुरुष आदि भेदसे अनन्त भागोंमें विभक्त है। हम प्रारम्भमें ही निवेदन कर चुके हैं कि विनोदकी सामग्रीभूत समाचारपत्र कभी ऐसे दुरूह विषयोंका समाधान नहीं कर सकते। अतएव हम इस लघुकाय लेखमें 'वेदका स्वरूपविचार' इस सम्पादकीय शीर्षकका सम्यक् समाधान करनेमें असमर्थ हैं। केवल यज्ञमात्रिक वेदका संक्षिप्त स्वरूप पाठकोंके समक्ष उपस्थित कर—'लेख बड़ा न हो' इस अनुशासनको पूरा करनेकी चेष्टा करते हैं—

'यज्ञमात्रिक' शब्दका अर्थ है यज्ञको मित करनेवाला। दूसरे शब्दोंमें, जो वेदतत्व यज्ञमात्रा (यज्ञस्वरूप) को स्वच्छन्दसे मितकर उसका स्वरूप सुरक्षित रखता है, वही यज्ञमात्रिक वेद है। सारा विश्व यज्ञमय है। दो वस्तुओंके रासायनिक संयोगकी प्रवर्तिका प्रक्रिया ही यज्ञ है। रासायनिक संयोगमें एक पदार्थ भोक्ता होता है, दूसरा भोग्य होता है। भोग्यपदार्थ 'अन्न' नामसे व्यवहृत होता है, एवं भोक्ता 'अन्नाद' (अन्न खानेवाला) नामसे पुकारा जाता है। प्रकृतिमण्डलको देखिये। अग्नि भोक्ता है, सोम भोग्य है। ये दोनों ही तत्त्व ऋत-सत्य-भेदसे दो-दो भागोंमें विभक्त हैं। सहृदय सशरीर तत्त्व सत्य है, अहृदय अशरीर तत्त्व ऋत है। सूर्य सत्याग्नि है, कारण सूर्यपिण्ड इस सौराग्निका शरीर है, सूर्य अपना स्वतन्त्र हृदय रखता है। चन्द्रमा सत्यसोम है। इधर दक्षिणस्थ वायव्याग्नि ऋताग्नि है, उत्तरस्थ वायव्य दिक्सोम ऋतसोम है। दक्षिणस्थ ऋताग्निमें उत्तरस्थ ऋतसोमकी आहुतिके तारतम्यसे वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत्-हेमन्त-शिशिर इन छहों ऋतुओंका स्वरूप निष्पन्न होता है।

'यस्मिन् काले अग्निकणाः पदार्थेषु वसन्तो (निवसन्तो) भवन्ति।' इस व्युत्पत्तिसे अग्निवृद्धिकी प्राथमिक अवस्था 'वसन्त' नामसे व्यवहृत होती है। सूर्यके दर्श-पूर्णमास यज्ञसे इन दिनों भूमण्डलपर 'मधु' रसकी वृष्टि होती है। 'मधु' रस है। आनन्द है। आनन्दकला अव्यय नामसे प्रसिद्ध पुरुषोत्तमकी प्रधान कला है। अतएव अब 'माधव' मास (वैशाख) पुरुषोत्तमका मास कहलाता है। मधुसम्बन्धसे ही वसन्तात्मक चैत्र-वैशाख मधु-माधव नामसे व्यवहृत होते हैं। अतिशयेन (अधिकमात्रया) यस्मिन् काले अग्निकणाः पदार्थान् गृह्णन्ति' इस व्युत्पत्तिसे अग्निकी युवावस्था 'ग्रीष्म' नामसे व्यवहृत होती है। 'अतिशयेन ऊरू भवति यस्मिन् काले' से अग्निवृद्धिका चरम काल 'वर्षा' कहलाता है। इस ऋतुमें बड़ा चमत्कार है। 'वर्ष' नाम संवत्सरका है। वही नाम इस प्रावट् ऋतुका है। कारण इसका यही है कि वर्षा ऋतुमें सब ऋतुओंका समावेश है। जब ऊष्मा (ऊमस) बढ़ती है तो वर्षामें प्रखर गर्मीका अनुभव होता है। घोर वृष्टिके अनन्तर शीत ऋतुका अनुभव होने लगता है। साधारण वृष्टिके अनन्तर शरत्की छटा आ जाती है। वृष्टिका आरम्भकाल वसन्तका द्योतक बन जाता है। कहना नहीं होगा कि इस प्रकार केवल वर्षाऋतु सब वर्षोंकी अधिष्ठात्री बन जाती है। यही कारण है कि संवत्सरात्मक वर्ष शब्द इस एकमात्र 'वर्षा'के साथ युक्त हो गया है। अपि च अन्नसम्पत्ति ही वर्षकी (संवत्सरकी) प्रतिष्ठा है। जिस वर्ष अन्न नहीं होता वह वर्ष अकाल किंवा दुष्कालसे शासित रहता है। इधर—

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥
(मनु०)

—के अनुसार वर्षा ही अन्नकी अधिष्ठात्री है। इस प्रकार अन्नकी अधिष्ठात्री बनती हुई भी वर्षाऋतु वर्षभरकी अधिष्ठात्री बन जाती है। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर शतपथीया श्रुति कहती है—

वर्षा ह वै सर्वऋतवः। अथादो वर्षमकुर्म, अदो वर्षमकुर्म इति संवत्सरान् सम्पश्यन्ति। वर्षा ह त्वेव सर्वेषामृतूनां रूपम्। उत हिं तद्वर्षासु भवति ग्रीष्मइव वाऽअद्य–इति। उतो तद्वर्षासु भवति–यदाहुः—शिशिर इव वाऽअद्य इति। वर्षांदिद्वर्षाः। अथैतदेव परोक्षं रूपम्–यदेव पुरस्ताद् वाति तद् वसन्तस्य रूपम्। यद् स्तनयति तद् ग्रीष्मस्य। यद् वर्षति तद् वर्षाणाम्। यद् विद्योतते तच्छरदः। यद् वृष्ट्वोद्गृह्णाति तद्धेमन्तस्य। वर्षाः सर्वऽऋतवः। ऋतून् प्राविशत्।

(२। २। १। ७-८)

पाणिनीय व्याकरणानुसार उरुको वर्ष आदेश हो जानेसे 'वर्षा' शब्द निष्पन्न होता है—यह भी ध्यान रखना चाहिये। इस प्रकार वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा इन तीन ऋतुओंमें अग्निकी क्रमशः बाल-युवा-वृद्ध तीन अवस्थाओंका उपभोग हो जाता है। तीनों अग्नि ऋतु हैं। देवता आग्नेय प्राणप्रधान हैं। अतएव 'वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः।' के अनुसार तीनोंको देवता माना जाता है। आषाढ़ शुक्ला एकादशी देवताके निद्राकालकी उपक्रमभूमि है। वर्षाके अनन्तर अग्निकण शीर्ण होने लगते हैं, अतएव 'यस्मिन् काले अग्निकणाः शीर्णा भवन्ति' इस व्युत्पत्तिसे यह काल 'शिशिर' नामसे प्रसिद्ध है। आगे जाकर अग्निकण और भी हीन हो जाते हैं, अतः 'यस्मिन् काले अग्निकणा हीनतां गता भवन्ति' इस व्युत्पत्तिसे यह काल 'हेमन्त' कहलाता है। अग्निके सर्वात्मना क्षीण हो जानेसे आगेका काल—'पुनः पुनरतिशयेन वा शीर्णा भवन्ति अग्निकणा यस्मिन् काले' इस व्युत्पत्तिसे 'शिशिर' नामसे प्रसिद्ध है। इन तीनोंमें सोमतत्त्वका साम्राज्य रहता है, एवं सौम्य प्राण ही पितर है, इसी आधारपर—

'शरद्धेमन्तः शिशिरः ते पितरः' (शत० २। २। १)

—यह कहा जाता है। उपर्युक्त षड्ऋतुसमुच्चय ही संवत्सर है। अग्निसोममय होनेसे यही यज्ञ प्रजापति है। जडचेतनात्मक सारा प्रजावर्ग इसी संवत्सरात्मक अग्नीषोममय, दूसरे शब्दोंमें ऋतुमय यज्ञसे उत्पन्न हुआ है। इसी यज्ञविज्ञानको लक्ष्यमें रखकर योगेश्वर कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

(गीता ३। १०)

इस संवत्सरात्मक अग्नियज्ञसे ही भूपिण्डकी सृष्टि हुई है। एवं इसीसे भूपिण्डपर प्रतिष्ठित प्रजाकी उत्पत्ति हुई है। भूपिण्ड अग्निमय है। 'अग्निर्भूस्थानः' (या० नि०) यह आप्तसिद्धान्त प्रसिद्ध है। भूपिण्ड यज्ञकी वेदि है। यहींपर यज्ञमात्रिक वेद प्रतिष्ठित है। इस यज्ञमात्रिक वेदके छन्दोवेद-वितानवेद-रसवेद-भेदसे तीन विवर्त्त हैं। छन्दोवेद ऋग्वेद है, वितान सामवेद है, एवं रस यजुर्वेद है। छन्दात्मक ऋग्वेद पुनः ऋक्-साम-यजुः-भेदसे तीन भागोंमें विभक्त है। वितानात्मक सामवेदके भी ऋक्-साम-यजुः ये तीन भेद हैं। एवं रसात्मक यजुर्वेद भी ऋक्-साम-यजुः-भेदसे इन्हीं तीन भागोंमें विभक्त है। तीनोंमेंसे पहिले ऋग्वेदको ही लीजिये। पिण्डवेद ही छन्दोवेद है। इसीको ऋग्वेद कहते हैं। भूपिण्ड ऋग्वेद है, इसमें विष्कम्भ-परिणाह-विष्कम्भपरिणाहसे युक्त वस्तु–ये तीन विभाग हैं। जिसे ज्यौतिष शास्त्र व्यास (डायमिटर) कहता है, वही 'छन्दोभस्ता' नामसे प्रसिद्ध वेदभाषामें विष्कम्भ कहलाता है। आयाम (लम्बाई), उत्सेध (ऊँचाई), घनता (मुटाई), दीर्घता (चौड़ाई), ये सब विष्कम्भके धर्म हैं। वस्तुपिण्डका परिणाह (चारों ओरका घेरा) उस वस्तुपिण्डका साम है। अवसान ही साम है। घेरेपर वस्तुसीमा समाप्त हो जाती है, अतः हम अवश्य ही परिणाहको 'साम' कहनेके लिये तैयार हैं। वस्तुपिण्डके व्यासको यदि तिगुना कर लिया जाता है तो वह व्यासावच्छिन्न वस्तुका परिणाह बन जाता है। वस्तुपिण्डका बहिर्मण्डल (चारों ओरका घेरा) उस वस्तुपिण्डके व्याससे तिगुना होता है—यह निश्चित सिद्धान्त है। व्यास ऋक् है–यही त्रिगुणित बनकर परिणाहस्वरूप सामरूपमें परिणत हो जाता है, इसी आधारपर सामका 'त्र्यृचं साम' [तीन ऋचा (व्यास) का एक साम (परिणाह) है] यह कहा जाता है। यही अवस्था शब्दवेदकी है। जितने समय एक ऋङ्मन्त्रका उच्चारण होता है, यदि उससे तिगुना समय लगाकर उसी ऋङ्मन्त्रका उच्चारण किया जाता है तो पद्यसे गीतिभावमें परिणत होती हुई वह ऋक् सामस्वरूपमें परिणत हो जाती है। इसी आधारपर भगवान् जैमिनिने सामका 'गीतिषु सामाख्या' यह लक्षण किया है। जिसका यह व्यास है, एवं जिसका परिणाह है, व्यास परिणाहसे छन्दित (सीमित) वह वस्तुपिण्ड यजुः है। यम यजुः है, वयोनाध ऋक् साम है। दोनोंकी समष्टि

'वयुन' है। प्रत्येक पदार्थ वयुन है। उसमें वय (अन्न—वस्तु), वयोनाध (वयरूप वस्तुको चारों ओरसे बद्धकर उसका स्वरूप सम्पन्न करनेवाली सीमा) ऋक् साम है। वय-वयोनाधात्मक ऋक्सामयजुःकी समष्टि वस्तुपिण्ड है। यही छन्दोवेदात्मक ऋग्वेद है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रकारसे छन्दात्मक ऋग्वेदमें तीनों वेदोंका उपभोग सिद्ध हो जाता है—

१—छन्दोवेदः—ऋक्

१—विष्कम्भः—ऋक्
२—परिणाहः—साम
३—वस्तु—यजुः

'तदित्थम् ऋग्वेदे वेदत्रयोपभोगः'

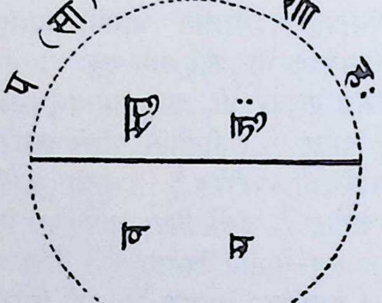

'छन्दोवेद-प्रतिकृतिरियम्'

विष्कम्भः—ऋक्

दूसरा है वितानाख्य सामवेद। इसीको महिमा किंवा विभूतिवेद भी कहा जा सकता है। यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि जिसे आप छू सकते हैं उसे कभी देख नहीं सकते, एवं जिसे आप देखते हैं उसे छू नहीं सकते। स्पृश्यपिण्ड पृथक् है, दृश्यमण्डल पृथक् है। प्रत्येक वस्तुमें हृदय-स्पृश्यपिण्ड-दृश्यपिण्ड भेदसे तीन विभाग होते हैं। हृदयभाव उस वस्तुका आत्मा है। पिण्ड स्पृश्य है। महिमा दृश्यमण्डल है। प्रत्येक वस्तुपिण्डमेंसे एक प्राण निकलकर बड़ी दूरतक अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाता है। इसी बहिर्मण्डलको साम कहते हैं। पिण्डावच्छिन्न प्राण ही वितत होकर (फैलकर) बहिर्मण्डलस्वरूपमें परिणत होता है, अतएव सामको 'वितान' कहा जाता है। पिण्डरूप ऋक् ही (छन्दोवेद ही) वितत होकर सामस्वरूपमें परिणत होता है। एक वस्तुपिण्डको अपने सामने रख लीजिये। उसपर अपनी दृष्टि रखते हुए आप उससे पीछे हटते जाइये। ज्यों-ज्यों आप पीछे हटते जायँगे, त्यों-त्यों उत्तरोत्तर वस्तुपिण्ड छोटा दिखलायी देने लगेगा। हटते-हटते जब आपको वह वस्तुपिण्ड सूक्ष्म विन्दुमात्र दिखलायी देने लगे उस स्थानपर आप खड़े हो जाइये। वहाँसे वस्तुपिण्डको केन्द्र मानकर आप अपने स्थानमें एक वर्तुल वृत्त बना डालिये। यही 'उद्गच' नामका अन्तिम साम होगा। यहाँ वस्तुसीमा समाप्त है। यदि आपकी दृष्टि इससे बाहर निकल गयी तो अब वह वस्तु आपसे तिरोहित हो जायगी। इसी आधारपर सामरहस्यवेत्ता महर्षि ताण्ड्यने अन्तिम सामको 'निधन' साम कहा है। इस सामपर जितने मनुष्य खड़े होंगे सबको ऋग्रूप मूर्तिपिण्ड समानाकार दिखलायी देगा। इसी आधारपर इस सामका 'ऋचा समं मेने' यह लक्षण किया जाता है। यह साम उस हृद्य प्रजापतिकी विभूति है। अतएव विभूतियोगाध्यायमें अपनी विभूतियोंका दिग्दर्शन कराते हुए भगवान्ने—'वेदानां सामवेदोऽस्मि' यह कहा है। आप साममण्डलको देखते हैं, न कि वस्तुपिण्डको। वस्तुपिण्डका आप केवल स्पर्श कर सकते हैं। दृश्यात्मक इस सामवेदमें भी तीनों वेदोंका उपभोग है। जिस मण्डलका ऊपर दिग्दर्शन कराया गया है, उस महामण्डलके भीतर अवान्तर अनेक मण्डल बनते हैं। इन मण्डलोंमें सामात्मक पूर्व-पूर्व मण्डल उत्तर-उत्तर मण्डलकी अपेक्षा ऋक् है। एवं उत्तर-उत्तर मण्डल पूर्व-पूर्व मण्डलकी अपेक्षा साम है। एवं जिस वस्तुका यह-यह पूर्व एवं उत्तर मण्डल है, उभयविध मण्डलावच्छिन्न वह तत्त्व यजुः है। जैसा कि निम्नलिखित परिलेखसे स्पष्ट हो जाता है—

'वितानवेदप्रतिकृतिरियम्'

'तदित्थं सामवेदे वेदत्रयोपभोगः'

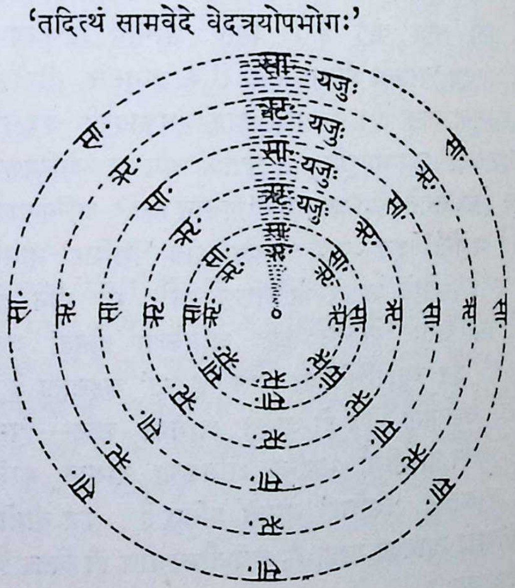

२—वितानवेदः—साम

१—सामात्मकं पूर्वपूर्वमण्डलम्—ऋक्
२—सामात्मकमुत्तरोत्तरमण्डलम्—साम
३—विन्द्वात्मकेन समन्ततो व्याप्तं वस्तु—यजूंषि

तीसरा है रसवेद। यही यजुर्वेद है। ऋक् मूर्त्ति है। मण्डल साम है। दोनों वयोनाध (आयतन) मात्र हैं। मण्डल और मूर्तिसे परिच्छिन्न (छन्दित—सीमित) वस्तुतत्त्व ही रस है। रस ही उपलब्ध होता है। यही वास्तविक वेद

है। इस वस्तुरूप रसाख्य यजुर्वेदमें भी तीनों वेदोंका उपभोग होता है। प्रत्येक वस्तु हमें छोटी-बड़ी क्यों दिखलायी देने लगती है? इसकी समाधानभूमि यही यजुर्वेद है। समान आकारवाले सौ दर्वाजे बनाइये। सबसे अन्तवाले दर्वाजेके मध्यमें खड़े होकर दृष्टि डालिये। आपको आगे आगे दर्वाजे छोटे दिखलायी देने लगेंगे। सबसे अन्तका (पीछेका) दर्वाजा बिल्कुल छोटा दिखायी देगा। जबकि सब दर्वाजे समान हैं तो इस वैषम्यका क्या कारण? इसका उत्तर भी वही पूर्वोक्त यजुर्वेद है। वस्तुतत्त्व ऋग्भावके कारण वर्गमूलद्वारा तीन-तीन विन्दु छोटा होता जाता है। स्मरण कीजिये, हमने व्यासको 'ऋक्' कहा था। उस व्यासका मध्यम विन्दु आगे जाकर केन्द्र बन जाता है। यह केन्द्रविन्दु आगेके व्यासका हृदय बन जाता है। इस प्रकार एक केन्द्रविन्दु एवं दो पार्श्वविन्दु इस प्रकार उत्तर-उत्तरका व्यास तीन-तीन विन्दु छोटा होता जाता है। उत्तरोत्तर वस्तु क्यों छोटी होती जाती है? इसका यही समाधान है। इस व्यासके दोनों ओर साथ-साथ ही सीमाभाव बनता जाता है। जैसे ऋक् उत्तरोत्तर छोटी होती जाती है, ठीक इसके विपरीत साम बड़ा होता जाता है। इसी आधारपर ऋक्-सामका ब्राह्मणग्रन्थोंमें 'परोह्वर्यः—परउर्व्यः' यह लक्षण किया गया है। इन दोनोंके अतिरिक्त व्यासका मध्यविन्दु (केन्द्र—आत्मा) (जो कि अकुटिलभावसे सीधा जाता है) यजुर्वेद है। जैसा कि निम्नलिखित परिलेखसे स्पष्ट हो जाता है—

'रसवेदप्रतिकृतिरियम्'

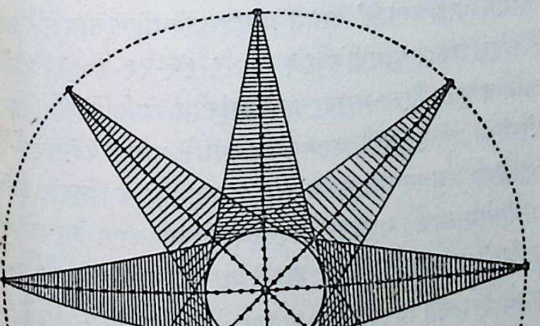

३—रसवेदः—यजुः

'[1]तदित्थं यजुर्वेदे वेदत्रयोपभोगः'

१—ह्रसीयसी व्यक्तिः—ऋक्
२—वरीयसी व्यक्तिः—साम
३—यस्य ह्र० व० भावस्ताद् वस्तु—यजूंषि

छन्द-वितान-रस तीनोंकी समष्टिसे पदार्थका स्वरूप निष्पन्न होता है। यद्यपि इस विषयमें अभी वक्तव्य बहुत है तथापि विस्तारभयसे हमने प्रकृतमें वेदका केवल आभासमात्र आपके सामने रक्खा है। उपर्युक्त तीनो वेदोंका हमने पृथक्-पृथक् स्वरूप बतलाया है, परन्तु रहते तीनों साथ हैं। तीनोंमेंसे यदि एक भी नहीं रहता तो वस्तुस्वरूप उच्छिन्न हो जाता है। तीनोंके समुच्चयसे वेदतत्त्वका जैसा रूप निष्पन्न होता है वह आगेके परिलेखसे स्पष्ट हो जाता है—

'नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक् सृष्टेः केवलात्मने'

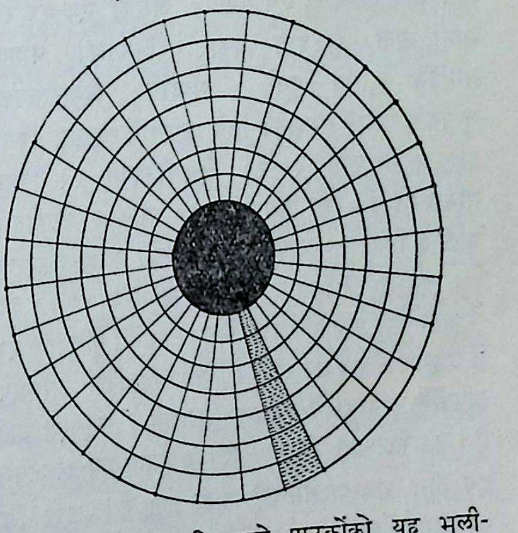

उपर्युक्त वेदस्वरूपनिरूपणसे पाठकोंको यह भली-भाँति ज्ञात हो गया होगा कि विश्वके व्यष्ट्यात्मक एवं समष्ट्यात्मक सारे पदार्थ वेदस्वरूप हैं। वस्तुसत्ता वेद-सत्तापर निर्भर है। शशशृङ्ग-वन्ध्यापुत्र-मृगमरीचिका-खपुष्प क्यों उपलब्ध नहीं होते? इन सबका उत्तर यही वेद है। जिस वस्तुका वेद है, वही वस्तु उपलब्ध होती है। उपलब्धि ही वेद है—यह पूर्वमें बतलाया जा चुका है।

---

[1] इस वेदतत्त्वका विशद निरूपण हमारे लिखे हुए 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' (हिन्दी) में देखना चाहिये। यह 'व्यवस्थापक 'उपनिषद्-विभाग', बालचन्द्रप्रेस, जयपुर' से प्राप्त हो सकता है।

पूर्वमें बतलाया जा चुका है कि वेदिपर वेद प्रतिष्ठित है। एवं वेदपर यज्ञ प्रतिष्ठित है। वेदतत्त्व अग्नीषोमात्मक है। यह अग्नितत्त्व मर्त्य-अमृतभेदसे दो भागोंमें विभक्त है। अमृताग्नि प्राणाग्नि है, यही देवता है। मर्त्याग्नि भूताग्नि है। भूताग्निसे पिण्ड बनता है—प्राणाग्नि महिमामण्डलका अधिष्ठाता है। आपः, फेन, मृत्, सिकता, शर्करा, अश्मा, अय, हिरण्य इन आठ भूतधातुओंसे पृथिवीपिण्डका स्वरूप निष्पन्न हुआ है। पृथिवीका गोला भूताग्निमय है। इसमें प्रतिष्ठित रहनेवाला अमृताग्नि (प्राणाग्नि–देवाग्नि) केन्द्रसे बाहर निकलकर बड़ी दूरतक अपना मण्डल बनाता है। वही बहिर्मण्डल याज्ञिक परिभाषानुसार 'वषट्कार' नामसे प्रसिद्ध है। पिण्डसे निकलनेवाला प्राणतत्त्व 'गौ' है। यह सहस्रधा विभक्त है। जिस प्रकार व्यवहारके लिये प्रत्येक वर्त्तुल वृत्तके ३६० अंश माने जाते हैं, ३० दिनका मास माना जाता है, एवं ३०-३० अंशकी एक-एक राशि मानी जाती है, इसी प्रकार वेदविज्ञानकी यथावत् संगतिके लिये—दूसरे शब्दोंमें विज्ञानतत्त्वको सुव्यवस्थितरूपसे समझनेके लिये ऋषियोंने सहस्रधा विभक्त प्राणरूप गौतत्त्वके ३०-३० गौके हिसाबसे ३३ विभाग मान रक्खे हैं। इस विभागमें ९९० प्राणगौ संगृहीत हो जाती है। शेष १० प्राणसमष्टि चौतीसवाँ प्रजापति कहलाता है। उपर्युक्त ३३ विभाग 'अहर्गण' नामसे प्रसिद्ध है। ३३-वें अहर्गणपर पृथिवीपिण्डका निधन साम है। पृथिवीके २१-वें अहर्गणपर सूर्य तप रहे हैं। इसी विज्ञानके आधारपर पृथिवीके पुष्करद्वीपमें सूर्यसत्ता (पुराणमें) बतलायी जाती है। पृथिवीपिण्डसे निकलनेवाला अग्नितत्त्व घन-तरल-विरल इन तीन अवस्थाओंमें परिणत हो जाता है। ऊपर जिन ३३ अहर्गणोंका दिग्दर्शन कराया गया है, उनका ६-६ के विभागसे एक-एक स्तोम माना जाता है। ३ को मूल मानकर उसमें ६ अहर्गण मिलानेसे त्रिवृत्सोम (९ वें अहर्गण तक ९ अहर्गणात्मक) का स्वरूप निष्पन्न होता है। और ६ अहर्गणोंके समन्वयसे पञ्चदश (१५) स्तोम बनता है। ६ के सम्बन्धसे एकविंश (२१) स्तोमनिष्पत्ति होती है। ६ के समन्वयसे त्रिणव (२७) स्तोम स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है। एवं ६ के समन्वयसे त्रयस्त्रिंश स्वरूप बनता है। साथ-हीमें ३३ अहर्गणात्मक सम्पूर्णमण्डलका केन्द्रस्थान १७ वाँ अहर्गण पड़ता है। जैसे हृदयस्थ भाव अनिरुक्त प्रजापति कहलाता है, एवं पिण्डगर्भित महामण्डलको अपने उदरमें प्रतिष्ठित रखनेवाला ३४ अहर्गणात्मक प्रजापति 'सर्वप्रजापति' कहलाता है एवमेव यह सप्तदश प्रजापति 'उद्गीथ' प्रजापति नामसे प्रसिद्ध है। इस प्रकार त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश, सप्तदश भेदसे पिण्डकेन्द्रसे निकलकर ३४तक व्याप्त रहनेवाली मनःप्राणगर्भिता प्राजापत्या वाक्के ६ स्तोम हो जाते हैं। यही वाक्तत्त्वके षट्कार हैं। 'वाक्षट्कार' ही 'वौषट्कार' हैं। वौषट्कार ही 'वषट्कार' हैं। इस षट्स्तोमात्मक वषट्कारके त्रिवृत्स्तोमतक घनावस्थापन्न प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है। पञ्चदशस्तोमपर्यन्त तरलावस्थापन्न प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है। इस तरलावस्थापन्न अग्निको 'अग्नि' नामसे व्यवहृत न कर 'वायु' नामसे व्यवहृत किया जाता है। एकविंश स्तोमपर्यन्त विरलावस्थापन्न प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है। इसे आदित्य (इन्द्र) कहा जाता है। आदित्य ज्ञानशक्तिका अधिष्ठाता बनकर अध्यात्मदृष्ट्या 'प्राज्ञ' एवं अधिदैवतदृष्टिसे 'सर्वज्ञ' नामसे प्रसिद्ध हो रहा है। पञ्चदशस्थ वायु क्रियाशक्तिका अधिष्ठाता बनता हुआ (तरलाग्नि) अध्यात्मदृष्ट्या 'तैजस' एवं अधिदैवतदृष्ट्या 'हिरण्यगर्भ' नामसे व्यवहृत हो रहा है। एवं त्रिवृत्स्तोमस्थ अग्नि (घनाग्नि) अर्थशक्तिका अधिष्ठाता बनता हुआ अध्यात्मदृष्टिसे 'वैश्वानर' एवं अधिदैवतदृष्टिसे 'विराट्' नामसे प्रसिद्ध हो रहा है। ज्ञान-क्रिया-अर्थशक्तिके अधिष्ठाता आदित्य-वायु-अग्नि तीनों देवता मनः-प्राण-वाङ्मय हृदयस्थ ब्रह्मके विजयमें त्रैलोक्यमें विजित हो रहे हैं। यही तीनों देवता केनोपनिषत्के मुख्य पात्र हैं। त्रिणवस्तोम (२७) में भास्वरसोम प्रतिष्ठित है, एवं त्रयस्त्रिंशत्स्तोममें 'ब्रह्मणस्पति' नामसे प्रसिद्ध पवित्रदिक्सोम प्रतिष्ठित है। इस प्रकार पृथिवीके ३३ तक ९-१५-२१-२७-३३ क्रमसे अग्नि-वायु-आदित्य-भास्वरसोम-दिक्सोम प्रतिष्ठित हैं। इन पाँचोंकी प्रतिष्ठा वही यज्ञमात्रिक नामसे प्रसिद्ध वेदसत्य है। 'ते देवा अब्रुवन् यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै' के अनुसार इसी अग्नीषोमात्मक यज्ञद्वारा वेदसत्य वितत होता है। ऋग्वेद अग्निकी प्रतिष्ठा है। इसी ऋक्से ऋग्वेदी अग्निहोत्र कर्म पूरा करते हैं। यजुर्वेद वायुकी प्रतिष्ठा है। इसी यजुःसे यजुर्वेदी वायु—आध्वर्यव कर्म सम्पन्न करते हैं। सामवेद आदित्यकी प्रतिष्ठा है। इसी सामसे सामवेदी बनते हुए आदित्य औद्गात्रकी इतिकर्त्तव्यता पूरी करते हैं एवं अथर्व सोम (चन्द्र) की प्रतिष्ठा है। यही इस प्राकृतिक नित्ययज्ञके ब्रह्मा हैं। इसी प्राकृतिक यज्ञको सुसम्पन्न बनानेके कारण यह पार्थिव 'वेदतत्त्व यज्ञमात्रिक' नामसे प्रसिद्ध है। इसी यज्ञ-

मान्त्रिक वेदका स्वरूप बतलाते हुए यज्ञरहस्यवेत्ता भगवान् मनु कहते हैं—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥

जिसे हमने सोम कहा है वह भी अग्नि ही है। पानीमें प्रविष्ट वारुणाग्नि सोम है। 'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्ने अग्निरास' इत्यादि रूपसे प्रथमकाण्डस्थ शतपथके आप्त्या ब्राह्मणमें चार अग्नियोंसे अग्नि-वायु-आदित्य-वरुण यही चारों अग्नि अभिप्रेत हैं। अग्नि ही वायु है, अग्नि ही आदित्य है। आपोमण्डलमें प्रविष्ट अग्नि ही वरुण किंवा सोम है। ऐसी अवस्थामें चारों तत्त्वोंका एकमात्र अग्नितत्त्वमें पर्यवसान हो जाता है। अग्नि-वायु-आदित्य-वरुणकी प्रतिष्ठारूप ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-भेदभिन्न चारों वेद अग्निरूप ही हैं। यह अग्नितत्त्व 'त्रिवृत्' नामसे प्रसिद्ध है। त्रिवृत्का अर्थ नव है। अग्नितत्त्व नवधा विभक्त होनेसे ही 'त्रिवृत्' कहलाता है। अग्निके इसी त्रिवृद्भावका निरूपण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

सोऽकामयत भूय एव स्यात्, प्रजायेतेति, सोऽश्राम्यत्-स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानः फेनं[१]मसृजत, मृदं[२] शुष्कापम्[३], ऊषसिकतं[४] शर्कराम्[५], अश्मानम्[६], अयः[७], हिरण्यम्[८], ओषधिवनस्पत्य[९]सृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्। ता वाऽएता नव सृष्टयः। इयमसृज्यत। तस्मादाहुः त्रिवृदग्निः इयं (पृथिवी) ह्यग्निः। (शत० ६ । १ । १ । १२-१३)

इसी आधारपर मूलसंख्याकी समाप्ति नौपर ही मानी जाती है।* ९ संख्याकी आधारभूमि पूर्णरूपा (विन्दुरूपा) प्रथमा संख्या है। उस प्रथमा संख्यापर नवसंख्यायुक्त अग्नि-तत्त्व प्रतिष्ठित है। उस एक संख्याके समन्वयसे नवकल अग्नि दशकल हो जाता है। यह दशकल अग्नि मर्त्य अग्नि है। यही १० कलाएँ अमृताग्निकी हैं। इन दोनोंके ऋणधनसे आगेकी वेदसंहिताओंका स्वरूप निष्पन्न होता है।

प्रथम दशकल अग्निमेंसे एक संख्याका ऋण (रिक्त-भाव ही ऋण है) कर डालिये। यही नवधा विभक्त वारुणाग्निरूप अथर्ववेद है। १० मर्त्याग्नि—१० अमृताग्निमें एक धन (वृद्धि) कर दीजिये, यही एकविंशतिधा विभक्त ऋग्वेद है। अब १० संख्याको दशगुणित कीजिये एवं धन कर दीजिये यही एकशतविध यजुर्वेद है। पुनः शत संख्याको दशगुणित करके एक ऋण कर दीजिये, यही ९९९ शाखाविभक्त सामवेद है। हजारवीं शाखा कामगवी (कामधेनु) है। इस प्रकार एक (१), दश (१०), शत (१००), सहस्र (१०००) संख्याके ऋण-धन, धन-ऋण-क्रमसे चतुर्धा विभक्त वेदतत्त्व ९, २१, १०१, ९९९, इन विभागोंमें विभक्त हो जाता है। अपि च ऋक् अग्नि है। यह २१ तक जाता है। दूसरे शब्दोंमें इस ऋणाग्निके २१ पर्व हैं। यही मौलिक, प्राकृतिक नित्य ऋग्वेदकी २१ शाखा हैं। यजुर्वेद वायु है। वायु ही ऋताग्नि है। यह ऋताग्निरूप वायुमय यजुर्वेद एकशतविध है। वायव्य अग्नि ही ऋतभावमें परिणत रहता हुआ ऋतुका जन्मदाता बनता हुआ ऋतुसमष्टिरूप संवत्सरका जनक बनता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

स यः संवत्सरः प्रजापतिर्व्यस्रंसत अयमेव स वायुर्योऽयं पवते। अथ या अस्य ता ऋतवः पञ्चतन्वो व्यस्रंसन्त।
(शत० १ । १ । २ । १९८)

यह वायव्य संवत्सरमूर्त्ति यजुरग्नि ६० अहोरात्र, २४ अर्द्धमास, मलिम्लुच नामसे प्रसिद्ध अधिकमासके समावेशसे १३ मास, ३ ऋतु के समुच्चयसे शतविध हो जाता है। एवं स्वयं समष्ट्यात्मक संवत्सर एकशततमी विद्या है। इस प्रकार वायुमूर्ति यजुरग्निके १०१ पर्व हो जाते हैं। यही यजुर्वेदकी १०१ शाखा है। इसी पर्वविज्ञानको लक्ष्यमें रखकर श्रुति कहती है—

संवत्सरो वै प्रजापतिरेकज्ञानविधः। तस्याहोरात्राण्यर्धमासा ऋतवः। षष्टिर्मासस्य अहोरात्राणि। मासि वै संवत्सरस्याहोरात्राण्याप्यन्ते। चतुर्विंशतिरर्धमासाः। त्रयोदश मासाः। त्रय ऋतवः। ताः शतविधाः। संवत्सरे एवैकशततमी विधा। (शत० १० । २ । ६ । १ । १)

बहिर्मण्डलात्मक आदित्य सामवेदमय है। यह साम-मूर्त्ति आदित्य सहस्ररश्मिमय है। अतएव 'आदित्य' को सहस्रदीधिति कहा जाता है। इसी सहस्ररश्मिसम्बन्धसे आदित्यात्मक साम सहस्रवर्त्मा हो जाता है। सोममय अथर्व है। यह सोमतत्त्व—ओषधि[१], पवमान[२], रस[३], चन्द्रिका[४], दिक्[५], यज्ञिय[६], वृत्र[७], अश्मा[८], धेत्र[९], धरुण[१०]—भेदसे दशधा विभक्त है। 'न्यूनाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते' इस निगमश्रुतिके अनुसार एक संख्यासे न्यून नवसंख्यात्मक अतएव न्यून विराट् नामसे प्रसिद्ध अथर्वमय सोमाहुति ही प्रजोत्पत्तिका कारण है। यही अथर्वकी नव शाखाएँ हैं। ऋक्, साम, यजु,

---

* कल्याणके शक्त्यङ्कमें 'दश महाविद्या' का स्वरूप बतलाते हुए संख्याविज्ञानका विशद निरूपण किया जा चुका है। विशेष जिज्ञासा रखनेवालोंको वह प्रकरण देखना चाहिये।—लेखक

अथर्व, चारोंकी समष्टि मूल ब्रह्म है। इस मूल ब्रह्मका तूल विश्वमें ज्ञान, क्रिया, अर्थरूपसे होता है। मूल ब्रह्म ब्रह्म है, ज्ञानक्रियार्थरूप तूलब्रह्म ब्राह्मण है। एक वस्तुका विविध रूपसे आख्यान होना ही 'व्याख्यान' है। व्याख्यान ही व्याख्या है। ब्राह्मणभाग ही उसका ज्ञान, क्रिया, अर्थरूप विविधाख्यान है। अतएव त्रेधा विभक्त ब्राह्मणको (ज्ञान-क्रिया-अर्थतत्त्वको) हम उस मूल वेदकी व्याख्या माननेके लिये तैयार हैं। संसारके सारे कर्म अर्थतत्त्व (पदार्थतत्त्व) पर प्रतिष्ठित हैं। यही ब्राह्मणरूप कर्मकाण्ड है। क्रियातत्त्व उपासना है। यह एकान्तभावसे सम्बन्ध रखनेके कारण 'आरण्यक' नामसे प्रसिद्ध है। ज्ञानतत्त्व सबका मौलिक आधार है। इसी ज्ञानके आधारपर हमारा आत्मा तत्तद्विषयोंके समीप निश्चयरूपसे प्रतिष्ठित होनेमें समर्थ होता है। अतएव—'उप (समीपे) नि (नितरां) सीदति आत्मा सा' इस व्युत्पत्तिसे ज्ञानको 'उपनिषत्' कहते हैं। संहिता-वेदकी प्रत्येक शाखा एक-एक स्वतन्त्र मूलब्रह्म है। प्रत्येक मूलब्रह्म ज्ञान-क्रिया-अर्थरूप उपनिषत्-आरण्यक-ब्राह्मणसे युक्त है। इस प्रकार ११३१ संख्यामें विभक्त मूल ब्रह्मके ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् इतने ही हो जाते हैं। यह है प्राकृतिक नित्य अपौरुषेय वेदका संक्षिप्त स्वरूपनिदर्शन। प्रकारान्तरसे यों समझिये—मूर्तिपिण्ड ऋग्वेद है। बहिर्वितत तेजोमण्डल सामवेद है। साम एवं ऋगन्तःपाती गतिभावापन्न प्राण-तत्त्व यजुः है। तीनोंका अधिष्ठाता ब्रह्मसोम अथर्व है। इसी रहस्यको लक्ष्यमें रखकर महर्षि तित्तिरि कहते हैं—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः
सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्
सर्वं हि ब्रह्मणा (अथर्ववेदेन) हैव सृष्टम्॥
(तै० ब्रा० ३। १२। ९। १-२)

आप्त महर्षियोंने अपनी दिव्य दृष्टिसे उपर्युक्त प्राकृतिक नित्य वेदराशिको पहिचाना। एवं प्राकृत वेदतत्त्व जिन स्वरोंसे युक्त है, जिन छन्दोंसे युक्त है, उसी विद्याके अनुकूल शब्दात्मक वेदकी रचना की। जो शाखाविभाग वहाँ था वही यहाँ किया गया। पुस्तकस्थ वेदमन्त्र साक्षात् उस नित्य वेदकी प्रतिकृति है। वर्ण-स्वर-मात्राके तारतम्यसे इसका स्वरूप बिगड़ जाता है। यदि यथावत् मन्त्रप्रयोग किया जाता है तो इस शब्दात्मक मन्त्रद्वारा प्राकृतिक वेदतत्त्व संगृहीत हो जाता है। प्रकृति वेदके द्वारा जैसे विश्वरचना कर रही है, वैसे ही हम भी कर सकते हैं, इसीका नाम यज्ञ-विद्या है। यही ब्रह्मविद्या है। 'ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते' यह ऋषियोंका आदेश है। उत्तिष्ठत! जाग्रत !! प्राप्य वरान्निबोधत !!!

◆

स्वार्थकी प्रीति

जगतमें झूठी देखी प्रीत।
अपने ही सुखसों सब लागे, क्या दारा, क्या मीत॥
'मेरौ' 'मेरौ' सभी कहत हैं, हितसों बाँध्यौ चीत।
अंतकाल संगी नहिं कोऊ, यह अचरजकी रीत॥
मन मूरख अजहूँ नहिं समुझत, सिख दै हार्यौ नीत।
नानक भव-जल-पार परै जो गावै प्रभुके गीत॥

—गुरु नानक

१—वैदिक विज्ञानके प्रचारके लिये हम 'शातपथका विज्ञान-भाष्य' निकाल रहे हैं। यह उसका तीसरा वर्ष चल रहा है। विज्ञान-प्रेमियोंके लिये यह अवश्य द्रष्टव्य है। —लेखक

सच्चिदानन्दकी जय हो!

एक बार त्रेतायुगमें कैलासपति भगवान् महादेवजी जगज्जननी श्रीसतीजीके साथ अगस्त्य मुनिके आश्रममें आये। मुनिवरने उन्हें श्रीरामकथा सुनाकर सुखी किया और भगवान् शङ्करने मुनिवरको हरिभक्तिका रहस्य समझाकर धन्य किया। कुछ काल हरिचर्चामें व्यतीतकर भगवान् शङ्कर ऋषि-आश्रमसे निज धामके लिये विदा हुए। उन्हीं दिनों परम ब्रह्म परमात्मा भूभार उतारनेके लिये श्रीरामरूपमें अवतरित होकर दण्डकवनमें निवास कर रहे थे। ऐसा सुअवसर देख परम हरिभक्त महादेवजीके मनमें लीलातनुधारी परम प्रभुके दर्शनका लोभ उत्पन्न हुआ और वे मन-ही-मन विचार करने लगे कि किस प्रकार दर्शनका आनन्द उठाया जाय। भगवान् गुप्तरूपसे प्रकट हुए हैं, कहीं मेरे जानेसे उन्हें सब लोग पहचान न जायँ। एक ओर तो उनके नेत्र दर्शनके लिये व्याकुल हो रहे थे और दूसरी ओर इस मर्मके प्रकट होनेके भयसे उनका मन भगवान्के पास जानेसे हिचक रहा था। मनमें बड़े जोरका द्वन्द्व मचा, परन्तु अन्तमें विजय नेत्रोंकी ही हुई। भगवान् शङ्कर परम प्रभुके दर्शनका लोभ संवरण न कर सके और वे श्रीसतीजीके साथ दण्डकवनकी ओर चल पड़े।

उस समय संयोगसे उस ओर बड़ी विकट अवस्था उत्पन्न हो गयी थी। लङ्कापति राक्षस रावणने मायावी मारीचकी सहायतासे छलपूर्वक श्रीजानकीजीका हरण कर लिया था। भगवान् मायामृगको मारकर जब अपनी पर्णकुटीमें आये तो श्रीसीताजीको न देख बड़े दुखी हुए। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी पत्नीके वियोगमें अत्यन्त कातर होकर 'हा सीता! हा जानकी!' इत्यादि कह-कहकर विलाप करने लगे। श्रीलक्ष्मणजीने उन्हें बहुत समझानेकी चेष्टा की, परन्तु उनकी दशा क्रमशः बिगड़ती ही गयी, वे एकदम अपनी सुध-बुधतक भूल गये और जंगलमें चारों ओर प्रलाप करते हुए घूमने लगे। वे खग, मृग, मधुकर, वृक्ष, लता इत्यादि जिसे ही देखते, उससे ही अपनी हृदयेश्वरी श्रीसीताका पता पूछते। उनकी दशा अत्यन्त विरही और कामी पुरुषकी तरह दिखायी देने लगी। अपने प्रभुकी इस दशाको देखकर उनके परम सेवक श्रीलक्ष्मणजी भी बहुत दुखी हुए, उनका मन मणिहीन सर्प और जलविहीन मछलीकी भाँति व्याकुल हो रहा था। वे प्रभुके पीछे-पीछे जा रहे थे।

ठीक उसी समय श्रीभवानी-शङ्करने दूरसे ही भगवान्की उस अद्भुत छविकी झाँकी ली। क्या ही अद्भुत वह रूप था! सिरपर जटा, शरीरपर वल्कल-वस्त्र, गलेमें वनमाला, हाथमें धनुष, पीठपर बाणोंसे भरा तरकस और नंगे पाँव भगवान् शोकातुर भावमें विलाप करते हुए चारों ओर श्रीसीताजीको खोज रहे हैं और श्रीलक्ष्मणजी उनके पीछे-पीछे छायाकी भाँति डोल रहे हैं। जो सच्चिदानन्द परम ब्रह्म परमात्मा स्वयं मायापति हैं, जिनके लिये योग-वियोग कोई वस्तु है ही नहीं, शोक, दुःख आदि जिन्हें स्पर्श भी नहीं कर सकते, वही परम प्रभु आज लीलाके हेतु पत्नीविरहमें प्राकृत मनुष्यकी भाँति विलाप कर रहे हैं, यह देखकर श्रीमहादेवजी गद्गद हो गये, लीलामयकी अद्भुत लीलाचातुरी देखकर आनन्दमग्न हो गये, परम हरिभक्त श्रीशङ्करजीका रोम-रोम पुलकित हो गया, उनके नेत्र सौन्दर्यसागर सच्चिदानन्दकी इस अलौकिक छविकी शोभा देखनेसे अघाते ही नहीं थे। उन्होंने बड़ी भक्तिके साथ दूरसे ही हाथ जोड़कर प्रणाम किया और जान-पहचान न हो जाय, इस भयसे भगवान्की रूप-माधुरीका पान करते हुए तथा मन-ही-मन उनकी जय-जयकार करते हुए चलने लगे।

भरि लोचन छबिसिंधु निहारी। कुसमय जानि न कीन्हि चिन्हारी॥
जय सच्चिदानंद जगपावन। अस कहि चलेउ मनोज-नसावन॥

जगज्जननी श्रीसतीजीने जब अपने पतिदेव भगवान् शङ्करका यह हाल देखा तो उनके मनमें बड़ा सन्देह हुआ। उन्होंने सोचा—'आज भगवान् शङ्कर यह क्या लीला दिखा रहे हैं? ये तो स्वयं सारे जगत्के स्वामी हैं, सुर, नर, मुनि और समस्त जगत् तो इन्हें भक्तिपूर्वक सिर नवाता है। ये इस राजपुत्रको क्यों सच्चिदानन्द और मोक्षधाम कहकर प्रणाम कर रहे हैं? उसकी छविपर ये इतने मुग्ध हो गये हैं कि इनका हृदय मानो प्रेमसे उमड़ा आ रहा है। जो ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त, मायारहित, अजन्मा, अशरीरी, चेष्टा और भेदसे रहित है और जिसे वेद भी नहीं जानते, वह क्या मनुष्यशरीर धारण कर सकता है? और यदि उन्होंने ही शरीर धारण किया है तो वे तो महाज्ञानी, सर्वज्ञ, लक्ष्मीपति और असुरोंका संहार करनेवाले हैं, वे अज्ञानियोंकी तरह स्त्रीको क्यों खोज रहे हैं? फिर

भगवान् शङ्करके वचन भी तो झूठे नहीं हो सकते, वे भी तो सर्वज्ञ ही हैं। तब यह क्या बात है ?' इस तरह वे मन-ही-मन तर्क-वितर्क करने लगीं। किसी तरह समस्याका समाधान ही नहीं होता था। मायापति जगदीशकी माया ही ऐसी दुरूह है जो सुर, नर, मुनि सबको मोहित कर डालती है। एकमात्र उनकी ही कृपासे मनुष्य उस दुस्तर मायासे तर सकता है।

स्वयं ज्ञानस्वरूप अन्तर्यामी भगवान् शङ्करसे उनके मनका द्वन्द्व छिपा न रह सका। उन्होंने बिना पूछे ही कहना आरम्भ किया—हे सती ! सुनो, तुम्हारा स्त्रीस्वभाव है। ऐसा सन्देह मनमें नहीं लाना चाहिये। जिन श्रीरामचन्द्रजीकी कथा श्रीअगस्त्यजीने सुनायी थी और जिनकी भक्ति मैंने उन्हें सुनायी थी वही मेरे इष्टदेव हैं।

मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु ब्यापकु ब्रह्म भुवन-निकाय-पति मायाधनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥

'मुनि, धीर, योगी और सिद्ध शुद्ध चित्तसे जिनका निरन्तर ध्यान करते हैं; वेद, पुराण और शास्त्र 'नेति-नेति' कहकर जिनकी कीर्त्तिका बखान करते हैं, उन्हीं सर्वव्यापक, सकलभुवनपति, मायाके स्वामी, ब्रह्म, रघुकुलमें मणिस्वरूप रामने अपने भक्तोंके हितके लिये अपनी इच्छासे अवतार लिया है।'

देवयान-पितृयाण

(शुक्लकृष्णगति)

(लेखक—पं० श्रीमल्लिनाथजी शर्मा)

देवयान-पितृयाणमार्गोंके निर्णयसे पहले हमें कुछ यह भी निर्णय कर लेना चाहिये कि देवयानमार्गसे जानेके अधिकारी कौन होते हैं और पितृयाणमार्गसे जानेके अधिकारी कौन। वे किन-किन लोकोंमें जाते हैं और वे लोक क्या वस्तु हैं तथा उनमें क्या वस्तु जाती है।

वेदान्तशास्त्रमें मुख्यतया मुक्तिके दो भेद माने हैं—एक सद्योमुक्ति और दूसरी क्रममुक्ति। सद्योमुक्तिके अधिकारीको किसी भी लोकान्तरमें जानेकी आवश्यकता नहीं रहती, उसके विषयमें तो श्रुतियाँ यही कहती हैं—

न तस्य प्राणा ह्युत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते तस्मात्तत्सर्वमभवत् ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।

'उसके प्राण उत्क्रान्तिको प्राप्त नहीं होते, यहीं ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं', इत्यादि। और जो ब्रह्मके उपासक होते हैं वे कार्यब्रह्मलोकमें जाते हैं। उनके विषयमें श्रुति कहती है—

स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते। (बृहदारण्यक ४।४।५)

क्रतुमयः पुरुषो यत्क्रतुरस्मिन् लोके भवति तथेतः प्रेत्य भवति। (छान्दोग्य ३।१४।१)

सारांश यह है कि जो पुरुष ब्रह्मकी उपासना करते हैं वे कार्यब्रह्मलोकमें जानेके अधिकारी होते हैं। इस अधिकारप्राप्तिका नाम ही क्रतुमय होना है। इसके अतिरिक्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी तथा निष्काम यज्ञादि कर्म करनेवाले भी ब्रह्मलोकमें जानेके अधिकारी होते हैं।

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु
यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो
यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः।
एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः
सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य
एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः।
(मु० १।२।५-६)

अर्थात् अग्निकी सप्त जिह्वाओंमें, यथाकालमें शास्त्रोक्त-विधिसे आहुतियाँ देनेवालेको भी ये आहुतियाँ सूर्यकी रश्मियोंके द्वारा ब्रह्मलोकमें ले जाती हैं। इसी प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचारी आदिके विषयमें भी शास्त्रोंमें अनेक प्रमाण हैं कि वे भी उत्तरमार्गसे ब्रह्मलोकमें ही जाते हैं। तथा यज्ञानुष्ठान, वापी, कूप, तडागादिनिर्माणरूप काम्य कर्म करते हैं वे पितृलोक (चन्द्रलोक) में जानेके अधिकारी होते हैं।

'कर्मणा पितृलोकः' (बृ० १।५।१६)

ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति। (कौ० १।२)

सारांश यह कि उपासक आदि कार्यब्रह्मलोकमें जाते हैं और कर्मी चन्द्रलोकमें जाते हैं ।

कार्यब्रह्मलोक 'प्रजापति' नामक तारा है, जो आकाशके प्रायः समस्त तारों-नक्षत्रोंसे बड़ा और उनका उत्पादक माना जाता है और जो 'क्रान्तिवृत्त' से ३८ अंश उत्तरकी तरफ स्थित है।

पूर्वस्यां ब्रह्महृदयादंशकैः पञ्चभिः स्थितः ।
प्रजापतिर्वृषान्तेऽसौ सौम्येऽष्टात्रिंशदंशकैः ॥

(सूर्यसिद्धान्त, नक्षत्राध्याय २०)

तत्र लोके गुरुर्ब्रह्मा विश्वात्मा विश्वभावनः ।
तत्र गत्वा न शोचन्ति स विष्णुः स च शङ्करः ॥
न मे वर्णयितुं शक्यं ज्वालामालासमाकुलम् ॥

(भविष्यपुराण, अध्याय २, श्लोक ३)

अर्थात् वह लोक ही ब्रह्मा, विष्णु और शंकर है और वह ज्वालाओंसे युक्त करोड़ों सूर्योंके समान तेजस्वी अग्निमय लोक है।

···तदैरं मदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता-पूर्ब्रह्मणः ।

(छान्दोग्य० ८ । ५ । ३)

तात्पर्य यह है कि अनधिकारियोंको न मिलनेयोग्य ब्रह्माकी पुरी—लोक है। इसी ब्रह्मलोकमें विद्या (उपासना) के बलसे देवयानमार्गद्वारा उपासक वहाँ जाते हैं। 'विद्यया देवलोकः' (बृहदारण्यक १ । ५ । १६)। इसी प्रकार कर्मी भी पितृयाणद्वारा चन्द्रलोकमें जाते हैं। चन्द्रमा ही पितरोंका निवासस्थान है—

विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्तः स्वाधः सुधादीधितिमामनन्ति ।

(सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय, त्रिप्रश्नवासना, श्लोक १३)

ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति ।

(कौषि० १ । २)

भाव यह है कि प्रजापति नामक तारा ही ब्रह्मलोक है और चन्द्रमा पितृलोक है।

मरनेके बाद प्राणियोंका स्थूल शरीर इसी जगह रह जाता है और सूक्ष्म शरीर (लिङ्गशरीर) अपने कर्मोंके अनुसार ब्रह्मलोक, पितृलोक आदिमें जाता है।

तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य ।

(बृहदारण्यक० ४ । ४ । ५)

अर्थात् कर्मोंके अनुसार लिंगशरीर ही अपने-अपने लोकोंमें जाता है।

जब मृत्युके बाद लिङ्गशरीरका ब्रह्मलोकादिमें देवयान, पितृयाणमार्गद्वारा जाना सिद्ध हो जाता है, तब विचारणीय विषय यह है कि देवयान और पितृयाण किन मार्गोंके नाम हैं और उनके स्वरूप एवं उनके भेद क्या हैं ? यहाँपर निम्नलिखित मन्त्र बतलाता है कि देवयान, पितृयाण पृथक्-पृथक् मार्ग हैं—

द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥

(यजुर्वेद १९ । ४७; ऋग्वेद १० । ८८ । १५)

द्युलोक और पृथ्वीलोकके बीचमें मनुष्योंके जानेके लिये मैंने दो मार्ग सुने हैं, जिनमें एकका नाम देवयान और दूसरेका नाम पितृयाण है। इन्हीं दोनों मार्गोंसे समस्त संसारी आते-जाते हैं।

देवयानके विषयमें श्रुति कहती है—

तद्य इत्थं विदुः। ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति । अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान् ॥

मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥

जो यथोक्त (छान्दोग्य उपनिषत् पञ्चमाध्यायके चतुर्थ खण्डसे नवम खण्डपर्यन्त कही गयी) पञ्चाग्निविद्याको जानते हैं कि 'हम द्युलोकादि अग्निक्रमसे यहाँ (भूलोकमें) आये हैं, इसलिये हम पञ्चाग्न्यात्मक हैं, इस ज्ञानको जाननेवाले वनोंमें जाकर जो श्रद्धाके लिये तप करते हैं, अर्थात् जो साकार ब्रह्मकी उपासना करते हैं वे मरनेके बाद अग्निकी सूक्ष्म ज्वालाके सदृश होकर पहले अग्निकी ज्वालाको मार्ग बनाते हैं। आगे दिनको, रात होनेपर शुक्लपक्षको, उत्तरायणके छः मासोंको, संवत्सरको, आदित्य (सूर्य) को, चन्द्रमा नामक नक्षत्रको, विद्युत् नामक नक्षत्रको एकके बाद एकको मार्ग बनाते हुए चले जाते हैं। फिर ब्रह्मलोकसे अमानव पुरुष आकर इनको ब्रह्मलोकमें पहुँचा देता है, यह देवयानमार्ग है' (छान्दोग्य० ५ । १०)। छान्दोग्य उपनिषत्के ४ । १५ । ५ में इतना और भी लिखा है—

एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ।

'यह देवपथ=देवयान ब्रह्मपथ है, इससे जानेवाले वापिस लौटकर नहीं आते, नहीं आते।' किन्तु ब्रह्मलोकमें जाकर अपनी साधनसम्पत्तिको बढ़ाकर ब्रह्माके साथ ही मुक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार भगवान्ने गीतामें भी कहा है—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
(८।२४)

अग्नि, ज्वाला, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छः मास, इस प्रकारके मार्गसे गये हुए ब्रह्मवेत्ता (उपासक) ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं। 'तद्य इत्थं विदुः' इस श्रुतिमें तथा 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः' इस श्लोकमें प्रारम्भके कुछ शब्द ऐसे हैं जो केवल प्रकाशसे ही सम्बन्ध रखते हैं। जैसे 'अर्चिषमभिसंभवन्ति', 'अग्निर्ज्योति' ये प्रकाश वा तेजसे सम्बन्ध रखते हैं। आगे—

अहरह्न आपूर्यमाणपक्षं षडुदङ्ङेति मासान् संवत्सरम् ।

तथा 'अहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्' ये वाक्य प्रायः कालसे सम्बन्ध रखते हैं। इसी प्रकार श्रुतिमें आगे 'संवत्सरादादित्यम्, चन्द्रमसम्, विद्युतम् आदि शब्द लोक (पिण्ड) विशेषसे सम्बन्ध रखते हैं। अतः इस मार्गका क्या स्वरूप होना चाहिये, इसी उलझनमें पड़कर ही भाष्यकारोंने एवं सूत्रकारोंने इनके अभिमानी देवताओंकी कल्पना की है। परन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता। यहाँपर श्रुति एवं स्मृतियोंका तात्पर्य इतना ही है कि देवयानमार्ग प्रकाशमय है जिसमें पहले यजमान (जानेवाला) अग्नि एवं ज्योति (अर्चि) के रूपमें परिणत होता है, इसी बातका समर्थन—

तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति । (बृ० ४।४।२)

यह श्रुति तथा 'तदोकोऽग्रज्वलनम्' इत्यादि ब्रह्मसूत्र भी कहते हैं कि स्थूल देहसे निकलनेके समय अथवा उसके अंदर ही रहते समय उसका लिङ्गशरीर ज्वलन (अग्नि, ज्वाला) हो जाता है। इस 'ज्वलन' शब्द और 'अर्चि' तथा 'अग्निज्योति' का एक ही तात्पर्य है। अर्थात् उपासकका लिंगशरीर प्रकाशरूप होता है और वह स्थूल शरीरसे निकलते ही दिनके प्रकाशको मार्ग बनाता है। उपासकका लिंगशरीर प्रकाशमय होता है। अतः वह प्रकाशका सजातीय होता है, दिन भी प्रकाशमय होता है। अतः प्रकाशमय लिंगशरीरका प्रकाशमय दिनको मार्ग बनाना युक्तियुक्त ही है। अतः श्रुतिमें जो 'अर्चिषमभिसंभवन्ति' है, इस वाक्यका यही अर्थ है कि वे (साधक) अर्चिरूप हो जाते हैं। यह कोई मार्गके स्थानविशेषका नाम नहीं है। आगे—

अहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् षडुदङ्ङेति मासांस्तान् । मासेभ्यः संवत्सरम् ।

यहाँतक वह मार्ग कालसे सम्बन्ध रखता है। क्योंकि उपासकका लिंगशरीर प्रथम अर्चिरूपमें परिणत होता है, यह प्रकाशरूप होनेसे आगे दिनका प्रकाश मिलनेपर दिनको मार्ग बनाता है, रात्रि होनेपर चन्द्रमाके प्रकाशको मार्ग बनाता है, तथा यदि यह घटना उत्तर ध्रुवस्थानपर हो तो उत्तरायणकालकी भी आवश्यकता हो जाती है, क्योंकि उत्तरायणके बिना वहाँ दिन होता ही नहीं, इसलिये श्रुतिमें उत्तरायणके छः मास लिये गये हैं। उत्तरायणके आरम्भसे ही संवत्सरका आरम्भ होता है। अतः उत्तरायणके बाद संवत्सर लिया गया है। अर्चिष्के अनन्तर संवत्सरपर्यन्तका मार्ग तो कालसे सम्बन्ध रखता है, क्योंकि यहाँतक तो 'गति' में पृथ्वीकी छायारूप रात्रिके अन्धकारका तथा चन्द्रमाकी छायाके अन्धकारका विघ्न पड़नेकी सम्भावना रहती है। बात यह है कि पृथ्वीसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त ब्रह्मपथ एकदम प्रकाशमय है। अतः पहले भूपृष्ठसे सूर्यलोकपर्यन्त सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित रहता है। दिनमें तो सूर्यका प्रकाश रहता ही है, रात्रिमें चन्द्रमाका प्रकाश भी सूर्यका ही प्रकाश है। उत्तर ध्रुव-स्थानपर उत्तरायण होनेपर सूर्यका प्रकाश रहता ही है। अतः भूपृष्ठसे सूर्यलोकपर्यन्त सूर्यका प्रकाश, आगे चन्द्रमा नामक नक्षत्रका प्रकाश मिलता है। देवमार्गप्रतिपादक श्रुतिमें जो चन्द्रमा लिखा गया है, उससे पितृयाणमार्गका चन्द्रमा नहीं लेना चाहिये, क्योंकि पितृयाणमार्गसे जानेवाले इस मार्गसे जा ही नहीं सकते, यह 'न तेन दक्षिणा यान्ति', 'निरोधोऽविदुषाम्' इत्यादि श्रुतियोंसे साफ जाहिर होता है। अतः दक्षिणायनमार्गसे जानेवालोंको इस चन्द्रमाकी प्राप्ति होती ही नहीं, तब पितृयानमार्गका चन्द्रमा किस प्रकार लिया जा सकता है? अतः देवमार्गप्रतिपादक श्रुतिका चन्द्रमा उससे भिन्न होना चाहिये। जिस चन्द्रमाको हम देखते हैं, जिसका रात्रिके समय भूपृष्ठपर प्रकाश होता है, वह चन्द्रमा तो पृथ्वीका उपग्रह है, जो अन्य समस्त ग्रहोंकी अपेक्षा भूपृष्ठके समीप है। परन्तु देवमार्गप्रतिपादक श्रुतिमें तो चन्द्रलोक सूर्यलोकके भी अनन्तर लिखा गया है। ज्योतिषशास्त्रके हिसाबसे इस प्रकारके चन्द्रमा एक प्रकारके विकारी तारा होते हैं, जो चन्द्रमाकी तरह घटने-बढ़नेके कारण सोमतारा कहलाते हैं। ज्योतिर्गणितका नक्षत्राध्याय, तथा 'भूगोल चित्र' और 'ज्योतिर्विनोद' नामक ग्रन्थ

देखनेसे इन विकारी तारात्मक चन्द्रमाओंका भली प्रकारसे ज्ञान हो सकता है। इसलिये इस देवमार्गसे जानेवालोंके लिये पृथ्वीसे सूर्यतक तो सूर्यका प्रकाश मिलता है, आगे चन्द्रमा नामक नक्षत्रका प्रकाश मिलता है, इसी प्रकार, इसके आगे विद्युत् नामक नक्षत्रका प्रकाश मिलता है तथा इसके आगे स्वयं ब्रह्मलोकका प्रकाश मिलता है। इस प्रकार देवमार्ग पृथ्वीसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त एकदम प्रकाशमय हो जाता है। उत्तरायणकालमें पृथ्वीकी छाया तो प्रायः दक्षिणमें रहती है तथा सूर्य पृथ्वीसे उत्तरमें रहता है और उत्तर ही देवताओंका स्थान है एवं उत्तरमें ही ब्रह्मलोक है। अतः उत्तरायणमें देवयान पृथ्वीसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त एकदम सीधा रहता है, इस सीधे देवयानसे जानेके लिये ही भीष्मजीने उत्तरायणकी प्रतीक्षा की थी।

जब दक्षिणायन होता है, तब सूर्य दक्षिणकी तरफ रहता है और इस समय उतर ध्रुवस्थानपर छः मासतक निरन्तर रात्रि रहती है। तथा ब्रह्मलोक सदा उत्तरमें ही रहता है, अतः उस समय रात्रि होनेके कारण प्रथम चन्द्रमाके प्रकाशमें उस लिंगशरीरकी गतिका आरम्भ होता है। आगे दक्षिणमें स्थित सूर्यलोकमें होकर वह लिंगशरीर अन्तमें उत्तरगत ब्रह्मलोकमें चला जाता है; परन्तु यह मार्ग जरा टेढ़ा हो जाता है। क्योंकि भूलोकसे पहले दक्षिणकी ओर जाकर वह लिंगशरीर पुनः उत्तरकी तरफ जाता है। सारांश यह है कि उत्तरायणकालमें भूलोकसे ब्रह्मलोकपर्यन्त देवयानमार्ग सरल रहता है, और वही दक्षिणायनकालमें टेढ़ा हो जाता है। इसमें सरलता और टेढ़ापन ही प्रशस्तता और अप्रशस्ततामें हेतु है। इसीलिये सरल देवयान तिर्यक् देवयानसे प्रशस्त माना गया है। यहाँपर यदि हम अहः, शुक्लपक्ष, उत्तरायण आदिका अर्थ कालात्मक न करें, तो इन मार्गोंकी प्रशस्तता और अप्रशस्ततामें भेद ही कुछ न रहेगा। इसीलिये हमने इनका कालात्मक अर्थ किया है, और श्रुतियोंमें कालात्मक अर्थ ही अभिप्रेत है। इस विषयमें भगवान्‌ने तो साफ ही कह दिया है—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥

(गीता ८। २३)

'जिस कालमें गये हुए योगी (साधक या कर्मी) आवृत्ति और अनावृत्तिको प्राप्त होते हैं, उस कालको मैं कहता हूँ।' देवयानप्रतिपादक श्रुतिमें लिंगशरीरका तेजोमय होना ही 'अर्चि'को प्राप्त होना है। और पृथ्वीसे आदित्य—सूर्यतकके सारे मार्गको प्रकाशयुक्त रखनेके लिये दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण ये कालसूचक हैं। और सूर्यसे ब्रह्मलोकपर्यन्त सारा मार्ग प्रकाशित रखनेके लिये चन्द्र, विद्युत्–ये पिण्डात्मक लोक हैं। शास्त्रोंमें देवयानको जो शुक्लगति बतलाया है, उसका मतलब यह है कि पृथ्वीसे सूर्यलोकतक सूर्यका प्रकाश रहता है, सूर्यलोकसे चन्द्रलोकतक चन्द्र नामक नक्षत्रका, चन्द्रसे विद्युत्-लोक पर्यन्त विद्युत् नक्षत्रका और विद्युत्से ब्रह्मलोक पर्यन्त ब्रह्मलोकका प्रकाश रहता है। यह प्रकाशकी सीधी रेखा पृथ्वीसे ब्रह्मलोकतक रहती है, इसी तेजोमयी रेखाको 'शुक्लगति'के नामसे गीतामें कहा है।

देवयान—शुक्लगतिका विचार तो ऊपर बतला दिया गया है, अब पितृयाण—कृष्णगतिके विषयमें विचार करना अवशिष्ट है। उसके विषयमें श्रुति कहती है—

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति, धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड्दक्षिणेति मासाँ्स्तान् नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति।

(छान्दोग्य० ५। १०। ३)

'इष्ट=अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म, पूर्त=वापी-कूप-तड़ागादिनिर्माण, दत्त=योग्य पुरुषोंको दान देना, इन कर्मोंके द्वारा जो ग्राममें ही रहकर उपासना करते हैं वे मरनेके बाद धूम=धुएँके सजातीय होनेके कारण प्रथम धुएँके रूपमें होकर धुएँको ही अपना मार्ग बनाते हैं। आगे धुएँसे रात्रिके अन्धकारको, रात्रिसे कृष्णपक्षके अन्धकारको, कृष्णपक्षसे दक्षिणायनके अन्धकारको मार्ग बनाते हुए आगे चले जाते हैं। ये संवत्सरको नहीं प्राप्त होते।' क्योंकि संवत्सर सौर मानसे होता है। वह सूर्यसे अथवा उत्तरायणसे सम्बन्ध रखता है। 'वर्षायनर्तुयुगपूर्वकमत्र सौरात्' (सिद्धान्तशिरोमणि, मध्यमाधिकार, श्लोक ३१) अर्थात् वर्ष, अयन, ऋतु, युग आदि सौरमानसे होते हैं। और सूर्य इनका (कर्मियोंका) अवरोधक होता है, क्योंकि ये स्वयं अन्धकारमय और अन्धकारके सजातीय हैं। इसलिये इनका संवत्सरको प्राप्त न होना युक्तिसंगत है।

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसम् एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं मे तद्देवा भक्षयन्ति।

(छान्दोग्य० ५। १०। ४)

'पूर्वोक्त दक्षिणायनके छः मासोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको मार्ग बनाता है और आकाशसे

चन्द्रलोकको प्राप्त होता है। यह सोम राजा पितरोंका अन्न=भोग्यस्थान होता है, इसको पितर भक्षण करते हैं (भोगते हैं) अर्थात् सोम=चन्द्रमापर एकत्रित हुए अपने अमृतरूपी सूक्ष्म फलोंको भोगते हैं।

पितृयाणमार्गमें छः मासके बाद जो पितृलोक, आकाशलोक लिखे हैं, वे क्या हैं और कहाँपर हैं ? इस प्रश्नका निम्नलिखित मन्त्रमें उत्तर मिलता है।

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमाः ।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥

(अथर्व० १८।२।४८)

उदन्वती=पानीवाली, जिसमें जलके भरे बादल रहते हैं अर्थात् जहाँसे बादल वृष्टि करना आरम्भ करते हैं वह 'द्यौ'=पितृलोक या आकाशीय भाग 'अवमा'=पहला पितृलोक है। 'पीलुमतीति मध्यमा'=जिस आकाशमें पानीके सूक्ष्म परमाणु रहते हैं वह मध्यकी 'द्यु' (पितृलोक) है अर्थात् मध्यकी द्यु ही अन्तरिक्षका पितृलोक है। 'तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते'=तीसरी निश्चय ही 'प्रद्यौ' नामकी द्यौ है जिसमें पितर बैठते हैं। यह तीसरी 'प्रद्यौ' चन्द्रलोक है जिसके पृष्ठपर जाकर पितर बैठते हैं या निवास करते हैं। इस मन्त्रके 'तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते' इस वचनसे एक यह बात भी सिद्ध होती है कि पितृलोकोंमेंसे पितृलोक और अन्तरिक्षलोकोंमें पितर ठहरते नहीं और तीसरे प्रद्यौ (चन्द्रलोक) में पितर निवास करते हैं। अतः पहले पितृलोक और अन्तरिक्षलोकको चन्द्रलोकके मार्गमें स्टेशनमात्र समझना चाहिये। सारांश यह है कि कर्मीका लिङ्गशरीर अन्धकारका सजातीय होता है, अतः वह अन्धकारमें ही चल सकता है, इसीलिये श्रुतिमें इसका मार्ग (पितृयाण) रात्रि-कृष्णपक्ष और दक्षिणायनरूप अन्धकारसे ही विशेष सम्बन्ध रखता है अर्थात् पितृयाण अन्धकारमय है। इसीलिये इसका कृष्णगति (कृष्णमार्ग) के नामसे उल्लेख किया गया है। कर्मी पहले रात्रिरूप भूमिकी छायामें चलता है, आगे कृष्णपक्ष होनेपर चन्द्रमाकी छायामें चलता है, क्योंकि कृष्णपक्षमें चन्द्रमाकी छाया भूपृष्ठकी तरफ रहती है। इसीलिये कृष्णपक्षकी परम आवश्यकता है। यदि यह घटना उत्तर ध्रुवस्थानपर हो तो छः मासतक दिन-ही-दिन रहता है, अतः दक्षिणायनकी भी अत्यावश्यकता है। दक्षिणायनके बिना वहाँ अन्धकार मिलता ही नहीं। अतः पितृयाणसे जानेवालेके लिये यदि रात्रि कृष्णपक्ष और दक्षिणायन हो तो वह सीधा चन्द्रलोकमें चला जाता है, क्योंकि पृथ्वीकी छाया और चन्द्रमाकी छाया ही पितृयाण है। वे अनुकूल रहनेपर पितृयाण सरल रहता है, अन्यथा उसमें तिर्यक्पन आ जाता है। इसका विशेष विचार आगे किया जायगा।

देवयानके भेद

पूर्वमें देवयानका कुछ विवेचन हो चुका है, परन्तु वहाँ यह विशेष नहीं बतलाया गया कि देवयानके कितने भेद हैं। यद्यपि देवयान एक ही है, तो भी पृथ्वीके स्थानभेदसे ही इसमें विविधता आ जाती है। क्योंकि भूपृष्ठके स्थानभेदसे कालभेद होता है, और कालभेदसे इसमें भेद होना अनिवार्य हो जाता है; जैसे—उत्तरायणकालमें देवयानमार्ग पृथ्वीसे ब्रह्मलोकतक सरल रहता है, और वही दक्षिणायनकालमें टेढ़ा हो जाता है। इसलिये देवयानमार्गके मुख्यतया दो भेद हो सकते हैं।

सरल देवयान

पहले इस बातका कुछ निर्णय हो चुका है कि देवयानमार्गसे ब्रह्मलोकमें जानेवाले प्राणियोंका सूर्यलोकमें होकर जाना अनिवार्य है—

'स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद् वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥'

(छान्दोग्य ८।६।५)

शाङ्करभाष्यम्—'एतद् वै खलु प्रसिद्धं ब्रह्मलोकस्य द्वारं य आदित्यस्तेन द्वारभूतन ब्रह्मलोकं गच्छति विद्वान्, अतो विदुषां प्रपदनं प्रपद्यते ब्रह्मलोकमनेन द्वारेणेति प्रपदनम्।'

अर्थात्—उपासकका लिङ्गशरीर स्थूलशरीरसे उत्क्रमित होते (निकलते) ही मनोवेगसे सूर्यलोकमें चला जाता है, क्योंकि यह सूर्यलोक ही ब्रह्मलोकका द्वार है। और यह भी बतलाया गया है कि ब्रह्मलोक पृथ्वीसे उत्तरकी ओर है। इसलिये भूलोकसे ब्रह्मलोकमें जानेवालोंके लिये सूर्यलोक इन दोनोंके बीचमें आता है। और भूलोक, सूर्यलोक और ब्रह्मलोक ये तीनों एक सरल रेखामें हो जाते हैं (चित्र नं० १ देखिये)। चित्र नं० १ में पृथ्वीके 'क', 'च' चिह्नोंसे लेकर 'क', 'ख', 'ग' और 'च', 'छ'

ज' इन दो रेखाओंके बीचमें होता हुआ तथा सूर्यलोकको स्पर्श करता हुआ जो मार्ग ब्रह्मतारात्मक ब्रह्मलोकको चला जाता है, यही प्रकाशमय सरल देवयानमार्ग है। इसीको ब्रह्मपथ भी कहते हैं। इसी सरल मार्गसे जानेवाले साधक इधर-उधर कहीं न भटककर सीधे मनोवेगसे ब्रह्मलोकमें चले जाते हैं।

(सरल देवयान) चि. नं० १

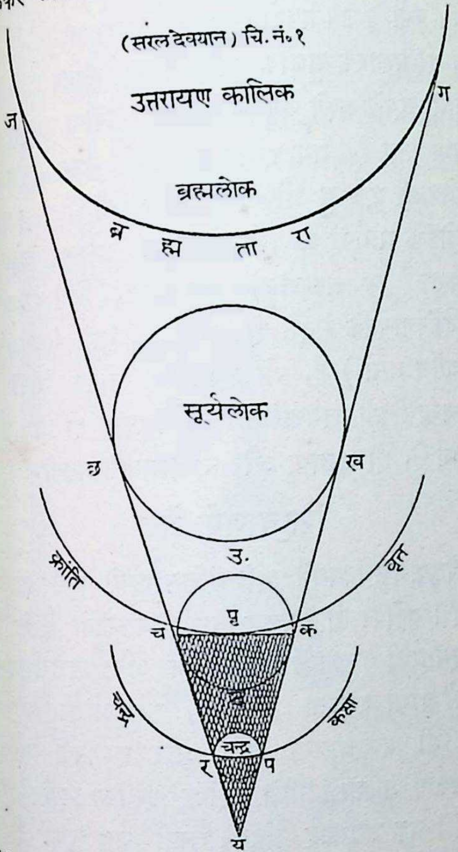

(चित्र १ परिचय)

यहाँ ब्रह्मतारा=ब्रह्मलोक। सूर्य=सूर्यलोक। पृ=पृथ्वीलोक। चन्द्र=चन्द्रलोक। पृथ्वीके 'क' 'च' चिह्नोंसे लेकर 'क ख ग' और 'च छ ज' दो रेखाओंके बीचोंबीच होता हुआ तथा सूर्यलोकको स्पर्श करता हुआ जो मार्ग ब्रह्मतारात्मक ब्रह्मलोकको चला जाता है, यही प्रकाशात्मक शुक्लगति नामक सरल देवयान है। तथा पृथ्वीके अर्धभागके 'क' और 'च' चिह्नोंसे लेकर 'च र य' और 'क प य' रेखाओंके बीचोंबीच जो 'य' चिह्नपर्यन्त अन्धकारमय काला-काला मार्ग-सा दिखाया गया है, यह पितृयाणका एक भाग है। इसमें जो कृष्णता दिखायी गयी है वह पृथ्वीकी छाया है। पृथ्वीकी छायाका नाम ही रात्रि है। चन्द्रग्रहणके समय यही पितृयाणमार्ग बनता है।

तिर्यक् (टेढ़ा) देवयान

पूर्वमें यह बतला दिया गया है कि उत्तरायणमें देवयानमार्ग भूमिसे लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सीधा रहता है, परन्तु यह नहीं बतलाया कि दक्षिणायनमें उसकी परिस्थिति कैसी हो जाती है। चित्र नं० १ में देवयानमार्गकी जो सीधी रेखाएँ हैं वे ही चित्र नं० २ में टेढ़ी हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि ब्रह्मलोक तो पृथ्वीसे उत्तरमें है और दक्षिणायनमें सूर्यलोक पृथ्वीसे दक्षिणमें चला जाता है। तथा भूलोकसे जानेवालेको सूर्यलोकमें होकर जाना अनिवार्य है अतः चित्र नं० १ में जो 'क ख ग' और 'च छ ज' रेखाएँ सीधी ब्रह्मलोकको जाती थीं वे ही दक्षिणायनकालिक चित्र नं० २ में 'क ख ग' और 'च छ ज' की तरह टेढ़ी हो जाती हैं। तात्पर्य यह है कि उत्तरायणमें तो सूर्य पृथ्वीसे उत्तरमें रहनेके कारण ब्रह्मलोकमें जानेवालेको रास्तेमें ही पड़ जाता है। परन्तु दक्षिणायनसे सूर्य तो पृथ्वीसे दक्षिणमें चला जाता है और ब्रह्मलोक पृथ्वीसे उत्तरमें रह जाता है। अतः दक्षिणायनमें मरनेवाले साधकोंको पहले तो पृथ्वीसे दक्षिणमें स्थित सूर्यलोकमें 'क ख' और 'च छ' रेखाओंके बीचोबीच होते हुए जाना पड़ता है और बादमें सूर्यलोकसे ब्रह्मलोकमें 'ख ग' और 'छ ज' रेखाओंके बीचमें होकर उलटा ब्रह्मलोककी तरफ लौटना पड़ता है। इसलिये यह मार्ग जरा टेढ़ा हो जाता है। इसीलिये देवयानमार्गसे जानेवालोंके लिये दक्षिणायनकालकी अपेक्षा उत्तरायणकालको प्रशस्त माना गया है। उत्तरायणकालमें देवयान सीधा रहनेके कारण उस कालमें मरनेवाला उपासक सीधा ब्रह्मलोकमें चला जाता है और दक्षिणायनमें मरनेवालेको टेढ़ा मार्ग काटना पड़ता है। इसीलिये भीष्मजीने सीधे मार्गसे जानेके लिये ही उत्तरायणकी प्रतीक्षा की थी, यही अनुमान होता है; क्योंकि वे इस विषयको पूर्णतया जानते थे। अतः उक्त प्रकारसे देवयान-मार्गके दो भेद हो जाते हैं, इस बातको वेद भी बतलाता है—

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्था-
मेका यमस्य भुवने विराषाट्।
आणिन्नरथ्यममृताऽधितस्थुरिह
ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत्॥
(ऋ० १।३५।६)

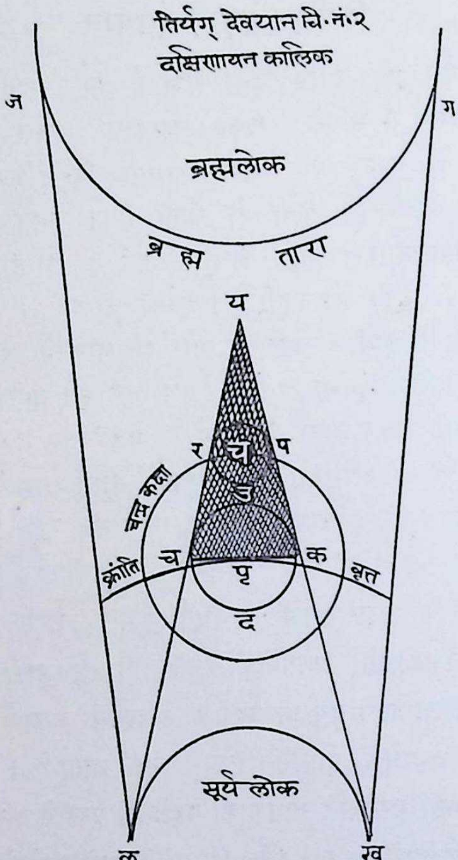

(चित्रपरिचय—)

[चित्र नं॰ १ में जो 'च र य' 'क प य' रेखाओंके बीचमें पृथ्वीकी छायारूप रात्रि दिखायी गयी है उसका अन्धकार कुछ गहरा दिखाया गया है और यही चित्र नं॰ २ में हलका दिखाया गया है, इसका कारण यह है कि यहाँ रात्रिको चन्द्रमाके द्वारा प्रकाशित दिखाया गया है, क्योंकि उत्तरध्रुवस्थानपर दक्षिणायनमें छः मासतक रात्रि रहती है, अतः शुक्लपक्षके बिना वहाँसे उपासककी गतिका आरम्भ ही नहीं होता ।]

अर्थ—(तिस्रो द्यावः) तीन प्रकारके प्रकाशमान मार्ग हैं जिनमेंसे (द्वा) दो तो, (सवितुः) सूर्यके (उपस्थां) समीपमें होकर जानेवाले हैं और (एका) एक मार्ग (यमस्य भुवने) यमलोकमें जानेवाला है तथा (विराषाट्) जिस लोकमें कर्मी या उपासक जाते हैं उस लोकको ये मार्ग नहीं छोड़ते । जैसे (रथ्यम् आणिन्न) रथके चक्र, अणिकी नोकपर लगी हुई कीलको नहीं छोड़ते और उसीके आश्रित रहते हैं, इसी प्रकार ये अमृतमय मार्ग अपने-अपने लोकोंके (अधितस्थुः) आश्रित हैं, अर्थात् अपने-अपने लोकोंमें गये हुए हैं । अतः (यः) जो मनुष्य (तत्) इस उपर्युक्त तत्त्वको (चिकेतत्) भले प्रकारसे जानता हो वह (इह) यहाँपर (ब्रवीतु) उस तत्त्वका विवेचन करे ।

कई एक भाष्यकारोंने 'तिस्रो द्यावः'का अर्थ तीन द्युलोक हैं, ऐसा किया है । परन्तु ऐसा अर्थ करनेसे 'सवितुर्द्वा' तथा 'एका यमस्य भुवने' का कोई अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि उपनिषदोंमें अथवा अन्य शास्त्रोंमें सूर्यके समीप दो प्रकारके द्युलोक कहीं भी नहीं बतलाये गये हैं। उनमें तो सूर्यसे आगे चलकर अन्तमें केवल ब्रह्मलोक ही बतलाया गया है । तथा इसी प्रकार यमके भुवन (चन्द्रलोक) में रहनेवाली एक द्यु और क्या हो सकती है ? यह भी चन्द्रलोकके मार्गका ही वर्णन है । अतः मन्त्रका यही अर्थ हो सकता है कि ब्रह्मलोकमें जानेवालेके लिये उत्तरायण और दक्षिणायनके भेदसे दो प्रकारकी 'द्यु' (प्रकाशमान आकाशीय मार्ग) हैं, जो सूर्यलोकमें होकर जाती हैं। और चन्द्रलोकमें जानेवालेके लिये तो एक ही प्रकार की द्युन्मार्ग है, जो भूछाया और चन्द्रछायासे बनती है।

पितृयाणके भेद

पितृयाणके विषयमें पहले संक्षिप्त रूपसे कुछ बतलाया गया है । यहाँपर तो केवल इतना ही बतलाना है कि जैसे देवयानमार्गकी सरलताके लिये दिन और उत्तरायणकाल आदिकी परमावश्यकता होती है, उसी प्रकार पितृयाण-मार्गमें भी दक्षिणायन, रात्रि और कृष्णपक्ष आदिकी आवश्यकता अवश्य होगी । यहाँपर इसीका निर्णय किया जाता है । यह बात कई जगह लिखी जा चुकी है कि देवयानमार्ग प्रकाशरूप है और पितृयाणमार्ग अन्धकाररूप । और देवयानगामियोंके कर्म और वे स्वयं प्रकाशरूप होते हैं, और पितृयाणगामियोंके कर्म तथा वे स्वयं अन्धकाररूप होते हैं । एक बात यह भी ध्यानमें रखने योग्य है कि पृथ्वीकी छाया ही रात्रि है और वही चन्द्र-छायाको साथमें लेकर अन्धकारमय पितृयाणमार्गको बनाती है । अब छान्दोग्य उपनिषत् ५ । १० । ३ के साथ-साथ भगवान्के 'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्' में जो पितृयाणमार्गका वर्णन किया है, इसमें धूमको छोड़कर रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायनके छः मास लिये गये हैं । यहाँपर यह प्रश्न होता है कि रात्रि क्या वस्तु है और किसके आश्रित है ? इसी प्रकार कृष्णपक्ष और दक्षिणायन भी क्या चीज हैं और किसके आश्रित हैं

तथा इनमेंसे प्रत्येकका पितृयाणमार्गमें क्या उपयोग है? प्राचीन महर्षियोंका विज्ञान भूमध्यरेखाके उत्तरी गोलार्धसे ही विशेष सम्बन्ध रखता है, क्योंकि वे उत्तरी गोलार्धमें रहनेवाले थे। भगवान्‌के वर्णनमें धूमके बाद रात्रिका ही नाम आता है। भूनिवासियोंके लिये पृथ्वीकी छाया ही रात्रि है, यह अयन (गति) उत्तर और दक्षिणकी तरफ घूमती रहती है। उत्तरायणकालमें पृथ्वीकी छाया भूमध्यरेखासे दक्षिणकी ओर विशेषरूपमें रहती है, और उत्तरकी ओर अल्परूपमें रहती है। इसी प्रकार दक्षिणायनकालमें पृथ्वीकी छाया भूमध्यरेखासे उत्तरकी तरफ विशेषरूपमें रहती है और दक्षिणकी तरफ अल्परूपमें रहती है। फलतः अयन=गतिभेदसे दोनों ध्रुवस्थानोंपर छः-छः महीनोंतक भी रात्रि-ही-रात्रि रहती है। अब चित्र नं० ३ को देखना चाहिये। यह पितृयाणमार्गका चित्र है, जो परम दक्षिणायनकालका द्योतक बनाया गया है।

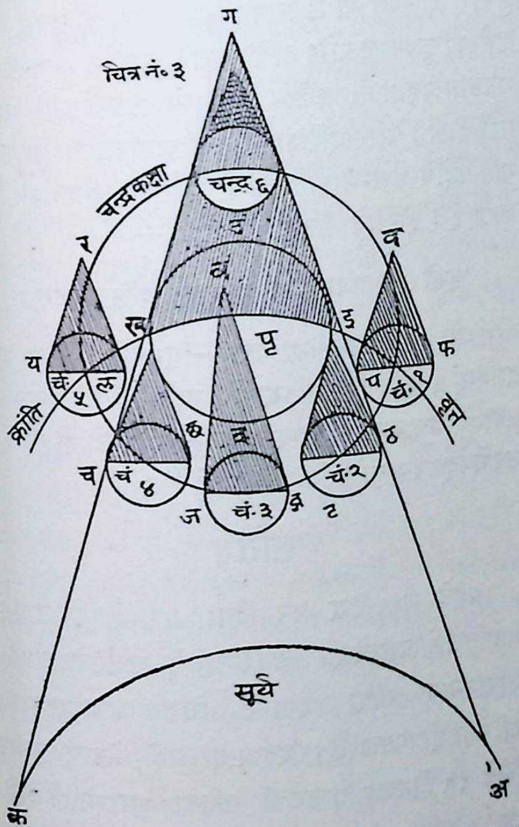
चित्र नं० ३

[चित्रमें 'अ', 'क' चिह्नोंके बीचमें सूर्यका बिम्ब दिखाया गया है, जो आकारमें सबसे बड़ा है। 'पृ' पृथ्वी है, जो क्रान्तिवृत्तिमें चलती हुई दिखायी गयी है। 'ख' 'ड' भूमध्यरेखा है, जिससे उत्तरकी तरफ 'ग' पर्यन्त फैली हुई जो कृष्णरूपमें दिखायी गयी है, यह पृथ्वीकी छाया है। यही रात्रि है। 'चन्द्रकक्षा' वृत्त चन्द्रमाकी वह कक्षा है, जिसमें चलकर चन्द्रमा पृथ्वीकी परिक्रमा करता है तथा इसी वृत्तके १, २, ३, ४, ५, ६ चिह्नोंकी संख्याओंमें जो छोटे-छोटे वृत्त दिखाये गये हैं, ये चन्द्रमा हैं। इन वृत्तोंके एक तरफ जो काली-काली चोटी-सी दिखायी गयी हैं, ये अवस्थाभेदसे चन्द्रमाकी छायाएँ हैं। और जैसे पृथ्वी स्वयं प्रकाशित नहीं है, सूर्यसे ही प्रकाशित होती है, इसी प्रकार चन्द्रमा भी स्वयं प्रकाशित नहीं है, सूर्यसे प्रकाशित होता है। इसलिये चन्द्रमाकी भी सूर्यसे विरुद्ध दिशामें छाया पड़ती है और उसी कारण इसके पृष्ठपर भी रात्रि एवं दिन होते हैं।]

कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष

चन्द्रमाका एक भाग सदैव सूर्यके सामने रहता है, वही प्रकाशित रहता है। तथा सूर्यसे विरुद्ध दिशामें जो भाग रहता है, वही अप्रकाशित और कृष्ण रहता है। चन्द्रमाके प्रकाशित भागका पृथ्वीके सामने रहनेका नाम ही पृथ्वीका शुक्लपक्ष है; क्योंकि इस प्रकाशित भागसे ही सूर्यकी किरणें प्रतिहत होकर भूपृष्ठपर गिरती हैं, जिससे भूपृष्ठपर रात्रि होनेपर भी वह चन्द्रमाके द्वारा प्रकाशित हो जाता है। इसी प्रकार चन्द्रमाके कृष्णभागका भूपृष्ठके सम्मुख आनेका नाम ही कृष्णपक्ष है। कृष्णपक्षमें चन्द्रमाका कृष्णभाग पृथ्वीके आसन्न और सामने रहता है। शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षके विषयमें आजकल तीन भेद प्रचलित हैं। पहले भेदके अनुसार शुक्ल प्रतिपदासे पूर्णिमातक शुक्लपक्ष तथा कृष्ण प्रतिपदासे अमावस्यातक कृष्णपक्ष है। दूसरा मत यह है कि कृष्णपञ्चमीसे शुक्लपक्षपञ्चमीतक कृष्णपक्ष एवं शुक्लपञ्चमीसे कृष्णपक्षपञ्चमीतक शुक्लपक्ष है। तीसरे मतानुसार कृष्णाष्टमीसे शुक्लपक्ष-अष्टमीतक कृष्णपक्ष तथा शुक्लाष्टमीसे कृष्णपक्ष-अष्टमीतक शुक्लपक्ष माना जाता है। इन भेदोंमें अन्तिम भेद ही उत्तम और युक्तिसंगत मालूम होता है, क्योंकि इन्हीं दिनों चन्द्रमाका शुक्ल एवं कृष्णभाग आधेसे अधिक पृथ्वीकी ओर रहता है।

चित्र नं० ३ में क्रान्तिवृत्तपर लगे हुए चन्द्रमाके जो दो वृत्त दिखलाये गये हैं, इनमेंसे संख्या १ पर कृष्णाष्टमीका चन्द्रमा और संख्या ५ पर शुक्लाष्टमीका चन्द्रमा दिखलाया गया है। इसी प्रकार संख्या ६ पर पूर्णिमाका, एवं संख्या ३ पर अमावस्याका, संख्या २ पर कृष्णा दशमी और एकादशीका, और संख्या ४ पर शुक्ल पञ्चमीका चन्द्रमा

दिखलाया गया है। ये अवस्थाभेदसे चन्द्रमाकी शकलें दिखलायी गयी हैं। चन्द्रमाके इन चित्रोंसे प्रत्यक्ष मालूम होता है कि दोनों ही अष्टमियोंको चन्द्रमाके कृष्ण अथवा शुक्ल भाग दोनों ही भूपृष्ठके सामने आधे-आधे दिखलायी देते हैं। जब चन्द्र संख्या १ से आगे संख्या २ की तरफ ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों उसका कृष्ण भाग आधेसे अधिक भूपृष्ठके सामने आ जाता है। और अन्तमें संख्या ३ पर आकर समस्त अन्धकार भाग भूपृष्ठके सामने आ जाता है और एकदम अमावस्या हो जाती है। इसी प्रकार संख्या ४ पर भी आधेसे अधिक ही कृष्ण भाग पृथ्वीके सामने रहता है और वह अधिकता संख्या ५ तक रहती है। आगे शुक्लताकी वृद्धि होने लगती है और कृष्णताका ह्रास होने लगता है। यही ह्रास क्रमशः संख्या ६ पर जाकर समाप्त हो जाता है और उस दिन एकदम पूर्णिमा हो जाती है। चित्र देखनेसे पता चलता है कि कृष्णाष्टमीके अनन्तर चन्द्रमाकी छाया भूपृष्ठकी दिशामें क्रमशः पृथ्वीके समीप आती रहती है, और अमावस्याके दिन चन्द्रमाकी छाया पृथ्वीकी छायाके साथ सम्मिलित-सी हो जाती है। और आगे क्रमशः चन्द्रछाया शुक्लाष्टमीतक भूछायासे दूर होती जाती है। अर्थात् कृष्णपक्षमें चन्द्रछायाका भूपृष्ठकी तरफ रहनेके कारण ही कृष्णपक्षके पितरोंका पक्ष माना गया है। इस विषयका विस्तृत और सयौक्तिक विवेचन हमारे बनाये हुए 'श्राद्धविज्ञान' नामक ग्रन्थमें किया गया है।

पितृयाणके लिये भूछाया और चन्द्रछाया इन दोनोंकी आवश्यकता होती है, या यों कहिये कि भूछाया और चन्द्रछाया ही मिलकर पितृयाणमार्ग बनता है। वस्तुतः पितरोंका परमप्राप्य स्थान चन्द्रलोक है, उसमें जानेके लिये अन्धकारयुक्त मार्गकी आवश्यकता होती है और उसकी पूर्ति भूछाया और चन्द्रछायाके द्वारा ही होती है।

पृथ्वीकी छाया (रात्रि) शुक्लपक्षमें चन्द्रमाके प्रकाशमें प्रकाशित होनेके कारण पितृयाणमार्गके उपयुक्त नहीं होती, इसलिये कृष्णपक्षकी रात्रिको ही ग्रहण किया गया है। भूपृष्ठसे चन्द्रलोकमें जानेवाले लिङ्गशरीरके लिये पहले कृष्णपक्षीय पृथ्वीकी छाया राह बनाती है, और बादमें चन्द्रछाया उसे चन्द्रलोकमें पहुँचाती है। अतः पितृयाणमार्गसे जानेवाले प्राणीको रात्रिकी नितान्त आवश्यकता समझकर गीतामें भगवान्‌ने 'धूमो रात्रिः' कहा है। पृथ्वीकी छायासे आगे चन्द्रमाकी छाया ही पितृयाणमार्गको बनाती है, और वह कृष्णपक्षमें ही भूपृष्ठकी तरफ रहती हुई पितृयाणमार्गके लिये उपयुक्त होती है, इसीलिये गीतामें 'तथा कृष्णः' पद लिखकर कृष्णपक्षकी उपयोगिता बतलायी गयी है। इससे पितृयाणप्रतिपादक 'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः' इतना कहना तो एकदम विज्ञानमय सिद्ध हो जाता है। पहले यह कहा जा चुका है कि ऋषियोंके विज्ञानका सम्बन्ध उत्तरमेरुसे विशेषरूपसे है। और उत्तर मेरुध्रुवपर छः महीनेकी रात्रि और छः महीनेका ही दिन होता है। और कर्मीको पितृयाणमार्गसे चन्द्रलोकमें जानेके लिये रात्रिकी नितान्त आवश्यकता होती है। और उत्तरीय ध्रुवपर दक्षिणायनमें ही रात्रि होती है, रात्रि होनेपर ही वह प्राणी पितृलोकमें जा सकता है। इसलिये गीतोक्त 'षण्मासा दक्षिणायनम्' यह भी वैज्ञानिक आधारपर है। यदि कोई कर्मी उत्तरीय ध्रुवपर शुक्लपक्ष या उत्तरायणमें मर जाय, तो उसके लिङ्गशरीरको कृष्णपक्ष और दक्षिणायनके आरम्भ होनेतक वहीं भटकना पड़ता है; क्योंकि प्रकाशमें उसकी गति आरम्भ नहीं होती। और दक्षिणायन तथा कृष्णपक्ष आनेपर उसकी गति वहाँसे आरम्भ हो जाती है तथा वह चन्द्रलोकमें चला जाता है। इसलिये गीतामें कहा हुआ—

'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।'

और छान्दोग्यमें कहा गया—'धूममभिसंभवन्ति, धूमाद्रात्रिम्' इत्यादि विज्ञानसिद्ध हैं। यहाँपर 'रात्रि' 'कृष्णपक्ष' तथा 'दक्षिणायन', ये शब्द कालवाचक होनेसे ही गीता एवं उपनिषद्वाक्य युक्तिसंगत हो सकते हैं।

सारांश

पहले यह सिद्ध कर दिया गया है कि उत्तरमेरु-निवासियोंको ब्रह्मलोकमें जानेके लिये उत्तरायणकालमें तो देवयानमार्ग सीधा रहता है, लेकिन दक्षिणायनकालमें वही टेढ़ा हो जाता है। इतना ही नहीं, मेरुपर कृष्णपक्ष होनेसे १५ दिनतक तो उसकी गतिका आरम्भ ही नहीं हो सकता; क्योंकि चन्द्रमा उनके क्षितिजसे प्रायः नीचे ही रहता है। इसलिये दक्षिणायनकालमें और कृष्णपक्षमें मेरु-निवासी १५ दिनतक तो चन्द्रमाके दर्शन ही नहीं कर सकते; क्योंकि शुक्लाष्टमीसे कृष्णाष्टमीतक चन्द्रमा वहाँके

क्षितिजसे नीचे ही परिभ्रमण करता रहता है। इसलिये दक्षिणायनमें मरनेवालेको चन्द्रमाका प्रकाश न मिलनेसे १५ दिनतक वहीं रहना पड़ता है। भारतादि देशोंमें, जहाँ २४ घंटेके दिनरात होते हैं, वहाँपर रात्रिमें मरनेवाले साकारोपासकको जबतक चन्द्रका प्रकाश न मिले तबतक वहीं रुकना पड़ता है। चन्द्रोदय होनेपर उसकी गति आरम्भ हो जाती है। मेरुकी १५ दिनकी रुकावट यहाँ कुछ घंटोंतक ही परिमित हो जाती है। इसीलिये भारतको अत्यन्त पवित्र माना गया है।

प्रश्न-यदि हम गीतोक्त 'अग्निर्ज्योतिरहः' इस श्लोकमें तथा 'तद्य इत्थं विदुः' इस छान्दोग्य उपनिषद्में कही हुई श्रुतिमें 'अहः', 'शुक्ल' आदिको कालवाचक मानकर साकारोपासकके लिङ्गशरीरके उत्क्रमणमें १५ दिनोंकी या कुछ घंटोंकी रुकावट (बाधा) को, तथा कर्मियोंके लिये ६ तथा ६॥ मासतककी रुकावटको सिद्धान्तरूपमें मान लें तो—

स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति।
(छान्दोग्य० ८।६।५)

'उस विद्वान्‌का लिङ्गशरीर स्थूलशरीरसे उत्क्रमित होते ही मनकी तरह आदित्यलोकमें चला जाता है।' इस श्रुतिसे विरोध होगा; क्योंकि श्रुतिके अनुसार मरते ही लिङ्गशरीर उत्क्रमित होकर स्व स्व अभीष्ट लोकमें चला जाता है और इस सिद्धान्तानुसार उसके उत्क्रमणमें उपयुक्त काल न आनेतक बाधा रहती है। इसलिये श्रुति-विरोध होता है।

उत्तर-उपर्युक्त श्रुतिका तात्पर्य यह है कि यदि दिन अथवा शुक्लपक्ष, उत्तरायणका समय हो तो साकारोपासकका लिङ्गशरीर तुरन्त ही मनोवेगसे ब्रह्मलोकमें चला जाता है। और यदि उपयुक्त समय, काल न मिलें तो उसे यहीं रहना पड़ता है। इसलिये श्रुति तो उपयुक्त अधिकारीका ब्रह्मलोकमें मनोवेगसे जानेका निर्देश कर चरितार्थ हो जाती है—उसका इस सिद्धान्तसे कोई भी विरोध नहीं रहता। यदि हम दिन, शुक्लपक्ष आदिका कालवाचक अर्थ न करें तो—

अह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्।
(छान्दोग्य० ५।१०।१)

तथा—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
(गीता ८।२३-२४)

—ये सब व्यर्थ होंगे, क्योंकि प्रत्येक समयमें मरनेवाला यदि उपयुक्त कालके बिना ही अपने अभीष्ट लोकमें चला जाय तो देवयानप्रतिपादक श्रुतिमें तथा गीतामें प्रतिपादित दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण आदिका कहना ही व्यर्थ हो जाता है। इसलिये कालवाचक अर्थ माननेसे उपयुक्त काल होनेपर 'साकारोपासक ब्रह्मलोकमें मनोवेगसे जाता है' इस अर्थको प्रतिपादन करनेवाली श्रुति भी चरितार्थ हो जाती है और गीतोक्त सिद्धान्तसे भी उसका कुछ भी विरोध नहीं रहता।

प्रश्न-यदि साकारोपासक प्रत्येक समयमें ब्रह्मलोकमें न जा सके और उसे उपयुक्त कालकी बाट जोहनी पड़े तो—

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते, ता आसु नाडीसु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्त तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः।
(छान्दोग्य० ८।६।२)

'जैसे महापथ दोनों गाँवोंके बीचमें फैला रहनेपर दोनों ही गाँवोंको जानेवाला कहलाता है, इसी तरह सूर्यकी किरणें दोनों ही लोकोंमें जाती हैं—सूर्यलोकमें और उपासकके शरीरमें। ये रश्मियाँ आदित्यसे निकलकर उपासककी नाड़ियोंमें विसर्जित होती हैं और वे उन नाड़ियोंसे निकलकर वापिस आदित्यलोकमें जाती हैं।' इस श्रुतिसे विरोध होगा, क्योंकि इस श्रुतिके अनुसार हर समय ही सूर्यलोकसे साधककी ब्रह्मनाड़ीतक सूर्यकिरणोंका सम्बन्ध बना रहता है। और जब साधककी ब्रह्मनाड़ीसे सूर्यकिरणोंका सम्बन्ध बना रहता है तो जब कभी साधकका लिङ्गशरीर उत्क्रमित होगा उसी समय वह सूर्यरश्मियोंसे सम्बन्धित होनेके कारण तत्काल मनोवेगसे ब्रह्मलोकमें चला जायगा। इसलिये उनका कालादि अर्थ माननेपर फिर श्रुतिसे विरोध होगा।

उत्तर—उपर्युक्त श्रुतिमें 'उभौ लोकौ' तथा 'इमं च अमुं च' इसका पूर्वोक्त यह अर्थ कर लें कि 'सूर्यलोकसे चली हुई रश्मियाँ हर समय उपासकके शरीरसे लगी रहती हैं' और 'इमं' का अर्थ उपासकका शरीर करें तो 'द्वे सृती

अशृणवम्' (यजु० १९ । ४७) में 'यदन्तरा पितरं मातरं च' इसका अर्थ ठीक नहीं हो सकेगा; क्योंकि देवयानमार्ग और पितृयाणमार्ग पृथ्वीलोक और द्युलोकके बीचमें बतलाये गये हैं और यहाँ 'मातरम्' से पृथ्वीको ही लिया गया है। इसलिये पृथ्वीलोक और द्युलोकके बीचमें ही देवयान, पितृयाणमार्ग बतलाये गये हैं, साधकके शरीर और द्युलोकके बीचमें नहीं। इसीलिये उपर्युक्त श्रुतिमें भी 'इमं' शब्दसे पृथ्वीलोक लेना चाहिये, साधकका शरीर नहीं। उपर्युक्त श्रुतिका अर्थ यह है—जैसे कोई महापथ दोनों गाँवोंके बीचमें फैला रहनेके कारण दोनों ही गाँवोंको जानेवाला कहलाता है, उसी तरह आदित्यकी रश्मियाँ दोनों ही लोकोंमें जाती हैं, सूर्यलोकसे पृथ्वीलोकमें और पृथ्वीलोकसे सूर्यलोकमें। और दिन, शुक्लपक्ष आदि अनुकूल समय रहनेपर तो वे सूर्यकी रश्मियाँ साधककी ब्रह्मनाड़ीसे सम्बन्ध कर लेती हैं और ब्रह्मनाड़ीसे निकलकर सूर्यसे सम्बन्धित होती हैं। इसलिये हर समय साधकका सूर्यरश्मियोंसे सम्बन्ध नहीं रहता। जब हर समय सम्बन्ध नहीं रहता तब उसे ब्रह्मलोकादिमें जानेके लिये काल–समयकी अपेक्षा रहती है। खगोलके जाननेवाले अच्छी तरह जानते हैं कि पृथ्वीका कोई-सा अर्धभाग हर समय सूर्यसे प्रकाशित रहता है। अर्थात् सूर्यकी रश्मियाँ पृथ्वीके किसी-न-किसी भागपर हर समय अवश्य पड़ती रहती हैं। और वहाँसे लौटकर वे सूर्यलोकमें जाती हैं, इसीलिये सूर्यका तेज भूपृष्ठपर अधिक मालूम होता है। भूपृष्ठपर विशेष तेज अनुभव होनेका कारण वहाँ किरणोंका फैलना तथा प्रतिहत होना ही है। इसलिये श्रुति ठीक ही कहती है कि सूर्यलोकसे भूलोकतक और भूलोकसे सूर्यलोकतक किरणें आती जाती रहती हैं। परन्तु इससे यह तो नहीं कह सकते कि वे किरणें हर समय पृथ्वीके सभी भागोंपर समानरूपसे पड़ती हैं। जिस भूभागपर किरणें लगती हैं, वहाँ दिन; और जहाँ वे नहीं लगतीं वहाँ रात्रि होती है। सारांश यह है कि जहाँ दिन होता है वहाँके ब्रह्मोपासकोंकी ब्रह्मनाड़ीका सम्बन्ध सूर्यकी रश्मियोंद्वारा सूर्यके साथ जुड़ जाता है। और रात्रि होनेपर वही सम्बन्ध टूट जाता है। इसलिये जिस समय ब्रह्मनाड़ीका सम्बन्ध रश्मियोंद्वारा सूर्यके साथ जुड़ा हुआ रहता है, उस समय यदि कोई ब्रह्मोपासक शरीर छोड़ता है तो उसको ब्रह्मलोकमें जानेके लिये कोई भी बाधा उपस्थित नहीं होती; क्योंकि उस समय उपासककी ब्रह्मनाड़ीका सम्बन्ध सूर्यकी किरणोंके द्वारा सूर्यलोकतक और आगे चन्द्रादि लोकोंकी किरणोंद्वारा ब्रह्मलोकतक जुड़ जाता है। इसलिये इस जुड़े हुए सम्बन्धके समय उपासककी ब्रह्मनाड़ीसे लेकर ब्रह्मलोकतक सीधा मार्ग हो जाता है, इसी अभिप्रायको 'तद्यथा महापथ०' यह श्रुति द्योतन करती है। उपर्युक्त श्रुतिका यही अर्थ लगानेसे उत्तरायण तथा दक्षिणायनमार्गप्रतिपादक श्रुतियाँ सार्थक होती हैं, अन्यथा मार्गप्रदर्शक श्रुतियोंका अस्तित्व ही उड़ जाता है; क्योंकि जब यदि समयमें ही गतियोंका आरम्भ होना मान लिया जाय तो फिर कालरूपी मार्गप्रतिपादक श्रुतियोंका मूल्य ही क्या है ?

प्रश्न—दिन, उत्तरायण आदिमें मरनेवाले क्या सभी ब्रह्मलोकमें चले जाते हैं ?

उत्तर—नहीं, हरेक आदमी ब्रह्मलोकमें नहीं जा सकता। भगवान्‌ने इस विषयको स्पष्ट कर दिया है—'ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।' (गीता ८ । २४) ब्रह्मवेत्ता (उपासक) ही उपर्युक्त कालमें मरनेपर ब्रह्मलोकमें जा सकते हैं—दूसरे नहीं। इसी प्रकार कर्मी भी दक्षिणायनादि उपयुक्त कालमें मरनेपर चन्द्रलोकमें जाते हैं—अन्य नहीं जा सकते। उपासक और कर्मियोंको छोड़कर तीसरे प्रकारके प्राणियोंके जानेके लिये तीसरे मार्गका निर्देश किया गया है—

अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयँ स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः।

(छान्दोग्य० ५ । १० । ८)

जो इन देवयान-पितृयाण दोनों ही मार्गोंसे जानेके अधिकारी नहीं होते वे क्षुद्र जन्तु होकर बारंबार जन्मते और मरते हैं।

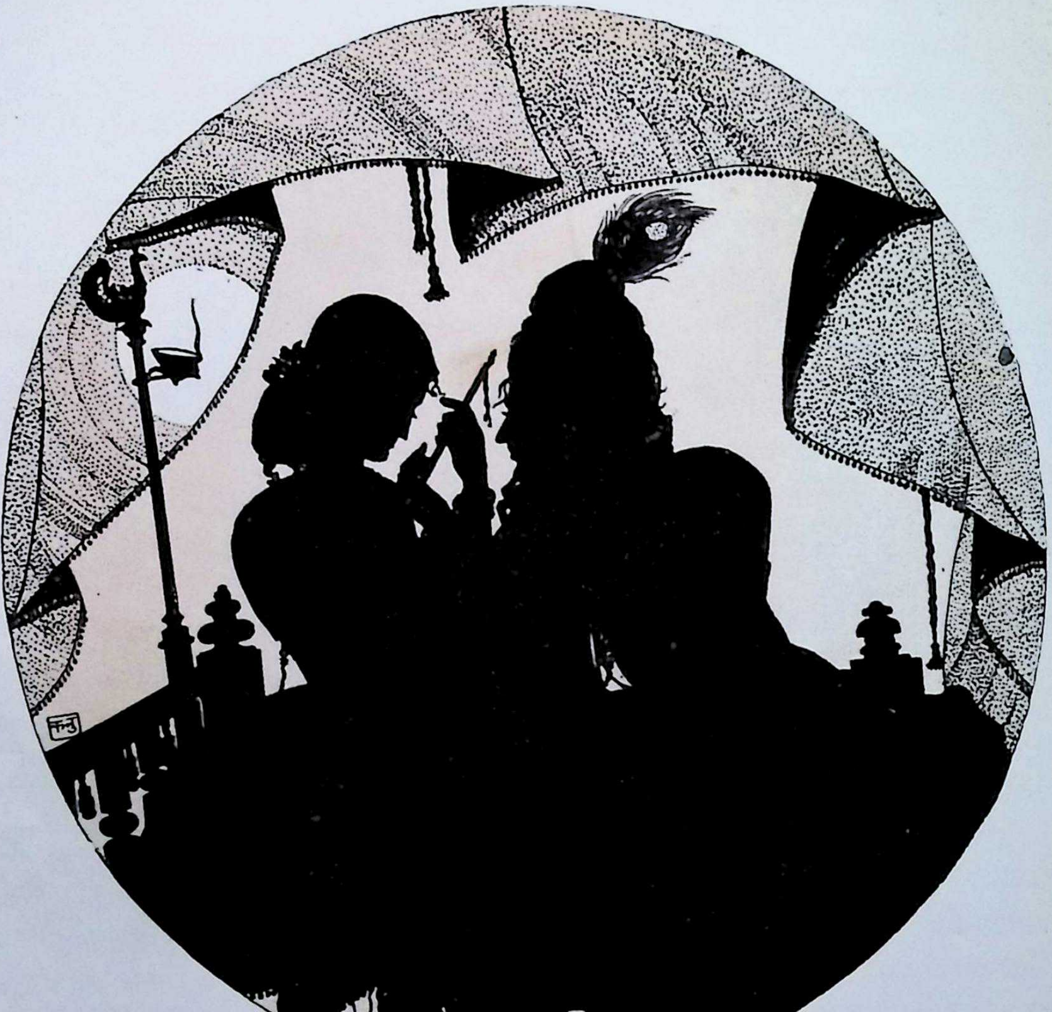

ब्रह्म और उसकी शक्ति

नादब्रह्म—मोहनकी मुरली

नादात्मकं नादबीजं प्रयतं प्रणवस्थितम्।
वन्दे तं सच्चिदानन्दं माधवं मुरलीधरम्॥
नादरूपं परं ज्योतिर्नादरूपी परो हरिः॥

'नाद ही परम ज्योति है और नाद ही स्वयं परमेश्वर हरि है।'

नाद अनादि है। जबसे सृष्टि है तभीसे नाद है। महाप्रलयके बाद सृष्टिकी आदिमें जब परमात्माका यह शब्दात्मक संकल्प होता है कि 'मैं एक बहुत हो जाऊँ', तभी इस अनादि नादकी आदि जागृति होती है। यह नादब्रह्म ही शब्दब्रह्मका बीज है। वेदोंका प्रादुर्भाव इसी नादसे होता है। नादका उद्भव परमेश्वरकी सच्चिदानन्दमयी भगवती स्वरूपाशक्तिसे होता है, और इस नादसे ही विन्दु उत्पन्न होता है। यह विन्दु ही प्रणव है और इसीको बीज कहते हैं।

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तस्माद्विन्दुसमुद्भवः॥
नादो विन्दुश्च बीजश्च स एव त्रिविधो मतः।
भिद्यमानात् पराद्विन्दोरुभयात्मा रवोऽभवत्॥
स रवः श्रुतिसम्पन्नः शब्दो ब्रह्माभवत् परम्॥

'सच्चिदानन्दरूप वैभवयुक्त पूर्ण परमेश्वरसे उनकी स्वरूपाशक्ति आविर्भूत हुई, उससे नाद प्रकट हुआ और नादसे विन्दुका प्रादुर्भाव हुआ। वही विन्दु नाद, विन्दु तथा बीजरूपसे तीन प्रकारका माना गया है। बीजरूप विन्दु जब भेदको प्राप्त हुआ तब उससे इस प्रकारके शब्द प्रकट हुए। वह शब्द ही श्रुतिसम्पन्न श्रेष्ठ शब्दब्रह्म हुआ।'

यही नाद क्रमशः स्थूलरूपको प्राप्त होता हुआ समस्त जगत्में फैल जाता है। पाँच भूतोंमें सबसे पहले महाभूत आकाशका गुण शब्द है। यह नादका ही एक रूप है। आदिनादरूप बीजसे ही पञ्चतत्त्वकी उत्पत्ति मानी गयी है। इस स्थूल नादकी उत्पत्ति अग्नि और प्राणके संयोगसे होती है। ब्रह्मग्रन्थिमें प्राण रहता है, इस प्राणको अग्नि प्रेरणा करती है। अग्निमें यह प्रेरणा आत्मासे प्रेरित चित्तके द्वारा होती है। तब प्राणवायु अग्निसे प्रेरित होकर नादको उत्पन्न करता है। यह नाद नाभिमें अति सूक्ष्म, हृदयमें सूक्ष्म, कण्ठमें पुष्ट, मस्तकमें अपुष्ट और बदनमें कृत्रिमरूपसे आकार धारण करता है। कहते हैं कि 'न' कार प्राण है और 'द' कार वह्नि है और प्राण तथा वह्निके संयोगसे उत्पन्न होनेके कारण ही इसको 'नाद' कहते हैं।

योगी लोग इसी नादकी उपासना करके ब्रह्मको प्राप्त किया करते हैं। हठयोगशास्त्रोंमें इसका बड़ा विस्तार है। मुक्तासन और शाम्भवी मुद्राके साथ इस नादका अभ्यास किया जाता है। इस नादसाधनासे सब प्रकारकी सिद्धियाँ मिलती हैं। अनाहतनाद योगियोंका परम ध्येय है। शास्त्रोंमें नादको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिका एक साधन माना है। नादके बिना जगत्का कोई भी कार्य नहीं चल सकता। पाञ्चभौतिक जगत्में आकाश सर्वप्रधान है और आकाशका प्राण नाद ही है। इसीसे जगत्को नादात्मक कहते हैं। नादका माहात्म्य अपार है। संगीतदर्पणकी एक सुन्दर उक्ति है कि देवी सरस्वतीजी नादरूपी समुद्रमें डूब जानेके भयसे ही वक्षःस्थलमें सदा तुम्बी धारण किये रहती हैं।

नादाब्धेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती।
अद्यापि मज्जनभयात्तुम्बं वहति वक्षसि॥

संगीत और स्वरका तो प्राण ही नाद है। गीत, नृत्य और वाद्य नादात्मक हैं। नादद्वारा ही वर्णोंका स्फोट होता है। वर्णसे पद और पदसे वाक्य बनता है। इस प्रकार समस्त जगत् ही नादात्मक है।

यह नाद मूलतः परमात्माका ही स्वरूप है। जब भगवान् लीलाधाममें अवतीर्ण होते हैं, तब उनके दिव्य विग्रहमें जितनी कुछ वस्तुएँ होती हैं सभी दिव्य सच्चिदानन्दमयी भगवत्स्वरूपा होती हैं। इसीसे अवतारविग्रहकी वाणीमें इतना माधुर्य होता है कि उसको सुनते-सुनते चित्त कभी अघाता ही नहीं और यह चाहता है कि लाखों-करोड़ों कानोंसे यह मधुर ध्वनि सुननेको मिले तब भी तृप्ति होनी कठिन है। चिदानन्दमय श्रीकृष्णस्वरूपमें तो इस नादका भी पूर्णावतार हुआ था। श्यामसुन्दरकी सच्चिदानन्दमयी मुरलीका मधुर निनाद ही यह नादावतार था। इसीसे उस मुरलीनिनादने प्रेममय व्रजधाममें जडको चेतन और चेतनको जड बना दिया। मोहनके वेणुनिनादने वृन्दावनके प्रत्येक आबालवृद्ध-

में, प्रत्येक पशु-पक्षीमें, स्थावर-जंगममें, पत्र-पत्रमें, और कण-कणमें प्रेमानन्द भर दिया। उस वंशीनादको सुनकर विमानोंपर चढ़ी हुई सुरबालाओंके धैर्यका बन्धन छूट गया। वे सहसा मुग्ध हो गयीं। उनकी कबरियोंमें खोंसे हुए नन्दन-काननके कमनीय कुसुम हठात् वहाँसे खिसककर मर्त्यभूमिपर गिर पड़े। गन्धर्वकन्याएँ संगीत भूलकर मतवाली-सी झूमने लगीं। ऋषि, मुनि, तपस्वी, परमहंस, योगियोंकी ब्रह्म-समाधि भंग हो गयी। बरबस उनका मन वीणास्वरसे विमोहित मृगकी भाँति मुरलीध्वनिमें निमग्न हो गया। सुधाकरकी चाल बंद हो गयी। श्रीकृष्णके उस वेणुविनिर्गत ब्रह्म-नादामृतका पान करनेके लिये बछड़ोंने स्तनोंका चूँघना छोड़कर केवल उन्हें मुँहमें ही रहने दिया। गौएँ चरना भूल गयीं। सुरम्य वृन्दारण्यके बिहंगोंने मधुर काकलीका त्यागकर वंशीध्वनिसे झरनेवाले अनिर्वचनीय आनन्दका उपभोग करनेके लिये आखें मूँद लीं और श्रवणपात्रोंका मुख उस सुधाधाराके प्रवाहमें लगा दिया। सिंह-मृगादि वनचर प्राणी भय और हिंसा भुलाकर मुरलीमनोहरको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये और कान तथा आँखोंको अतृप्त बोध करने लगे। महिषी कालिन्दी अपनी ऊर्मिभुजाओंको फैलाकर परम प्रियतमका आलिङ्गन करनेके लिये दौड़ पड़ीं। इस प्रकार दिव्य धामकी दिव्य सुधाधारा समस्त धरामण्डलमें बह चली। चेतन जीव जडवत् अचल हो गये। और साक्षात् रसराजकी रसधारासे प्लावित होकर वृक्ष ही नहीं, सूखे काठतक रस बरसाने लगे। सूरदासजीने कहा है—

जब हरि मुरलीनाद प्रकास्यो।
जंगम जड थावर चर कीन्हे, पाहन जलज बिकास्यो।
स्वरग पताल दसों दिसि पूरन धुनि आच्छादित कीनौं।
निसि हरि कलप समान बढ़ाई गोपिनकों सुख दीनौं।
जड सम भये जीव जल थलके तनकी सुधि न सम्हारा।
सूर स्याम मुख बेनु बिराजत पलटे सब व्यवहारा॥

एक सखी रसोई बना रही थी, इतनेमें मोहनकी मुग्धकारिणी मुरली बजी। मुरलीध्वनिके साथ ही मुरलीधरकी मधुर छवि सखीके ध्याननेत्रोंके सामने आ गयी। इधर उस रसवर्षिणी मुरलीध्वनिने रस बरसाकर चूल्हेकी तमाम लकड़ियोंके हृदयको गीला कर दिया, उनमेंसे रस बहने लगा। आग बुझ गयी। परम भाग्यवती सच्चिदानन्दप्रेमिका गोपी प्रेमका उलाहना देती हुई-सी बोली—

मुरहर रन्धनसमये मा कुरु मुरलीरवं मधुरम्।
नीरसमेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतरताम्॥

'हे मुरारे! भला, भोजन बनाते समय तो कृपाकर इस मुरलीकी मधुर तान न छेड़ा करो। देखो, तुम्हारी मुरलीध्वनिसे मेरा सूखा ईंधन रसयुक्त होकर रस बहाने लगता है, जिससे चूल्हेकी आग बुझ जाती है।' इस जादूभरी मुरलीके नादने सबको उन्मत्त कर दिया। महान् योगी भी इससे नहीं बचने पाये। बचते भी कैसे? योगियोंके अनाहत नादकी जननी तो यह मुरली ही है। वंशीध्वनिकी महिमा गाते हुए भक्त कहते हैं—

ध्यानं बलात्परमहंसकुलस्य भिन्द-
न्निन्दन् सुधामधुरिमानमधीरधर्मा।
कन्दर्पशासनधुरां मुहुरेव शंसन्
वंशीध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य॥

'निर्बीज समाधिनिष्ठ परमहंसोंकी समाधिको हठात् तोड़ डालनेवाली, सुधाके माधुर्यको फीका बना देनेवाली, धैर्यवान् पुरुषोंके धैर्यको तोड़कर उनकी अधीरताको उत्तेजित करनेवाली, कामदेवपर विजयदुन्दुभी बजाकर उसको अपने शासनमें रखनेवाली, भगवान् श्रीकृष्णकी यह वंशीध्वनि विश्वमें सब ओर विजयिनी हो रही है।'

वृन्दावननिवासी चराचर जीवोंका परमसौभाग्य था जो वे इस वंशीध्वनिको सुनते थे। और उन गोपीजनोंके भाग्यकी तो ब्रह्मादि देवतागण भी ईर्ष्या करते हैं जिनको आवाहन करनेके लिये मोहन स्वयं अपनी इस मधुर मुरलीकी मधुर तान छेड़ा करते थे। वे सुनती थीं और मुग्ध होती थीं, चेतनाका विसर्जन कर देती थीं, परन्तु सुनना कभी छोड़ती ही नहीं थीं। सन्ध्याको गोधूलिके समय जब प्राणधन श्यामसुन्दर वनसे लौटते थे, उस समय व्रजबालाओंके झुंड-के-झुंड घरोंसे निकलकर रास्तोंमें उनकी प्रतीक्षा करते थे। एक दिन एक नवीन व्रजगोपी मुरलीध्वनिकी प्रतीक्षामें घरके बाहर दरवाजेपर खड़ी थी, उसे देखकर, वंशी और वंशीधरकी महिमाका व्याजसे बखान करती हुई दूसरी महाभागा गोपी कहती है—

सुनती हो कहा भजि जाहु घरै बिंध जाओगी नैनके बाननमें।
यह बंसी 'निवाज' भरी बिषसों बगरावति है बिष प्राननमें॥
अबहीं सुधि भूलिहौ भोरी भटू भँवरौ जल मीठी-सी ताननमें।
कुलकानि जो आपनी राखि चहौ दै रहौ अँगुरी दोउ काननमें॥

वंशीनादसे आकृष्ट गोपिजनोंकी प्रेमविह्वल दशाका वर्णन भगवान् वेदव्यासजीने भागवतमें बहुत ही सुन्दर

रूपसे किया है। भागवतका वेणुगीत प्रसिद्ध है। भावुक भक्तजन उसे अवश्य पढ़ें-सुनें।

भक्त रसखान कहते हैं—

कौन ठगौरी भरी हरि आजु, बजाई है बाँसुरिया रँगभीनी।
तान सुनी जिनहीं तिनहीं तब ही कुल-लाज बिदा करि दीनी॥
घूमै घरी-घरी नंदके द्वार, नवीनी कहा कहूँ बात प्रबीनी।
या ब्रजमंडलमें रसखानि सु कौन भटू जो लटू नहिं कीनी॥

बजी सुबजी रसखानि बजी, सुनिकै अब गोकुल-बाल न जीहै।
न जीहै कदाचित काननकौं, अब कान परी वह तान अजी है॥
अजी है, बचाओ, उपाय नहीं, अबलापर आनिकै सैन सजी है।
सजी है हमारो कहा बस है, जब बैरिन बाँसुरी फेरि बजी है॥

आजु अली एक गोपलली भई बावरी, नेकु न अंग सँभारै।
मातु अघात न देवन पूजत, सासु सयानि सयानि पुकारै॥
यों रसखानि फिरो सगरे ब्रज आन कुआन उपाय बिचारै।
कोउ न कान्हराकै करतें वह बैरन बाँसुरिया गहि डारै॥

ऐ सजनी वह नंदकुमार सु या बन धेनु चराइ रह्यो है।
मोहनी तानन गोधन गायन बेनु बजाइ रिझाइ रह्यो है॥
ताही समै कछु टोनौं करो रसखानि हियें सु समाइ रह्यो है।
कोउ न काहुकी कानि करै सिगरौ ब्रज बीर बिकाइ रह्यो है॥

मोहनकी मुरलीसे प्रभावित व्रजधामकी कुछ कल्पना भक्त कविके उपर्युक्त शब्दोंसे की जा सकती है। एक गोपी बाँसुरीसे तंग आकर अपनी सखियोंसे कहती है—

अब कान्ह भये बस बाँसुरिके, अब कौन सखी! हमकों चहिहै।
वह रात दिना सँग लागी रहै, यह सौतको सासन को सहिहै॥
जिन मोह लियौ मन मोहनकौ, रसखानि सु क्यों न हमें दहिहै।
मिलि आओ सबै कहुँ भाजि चलें, अब तो ब्रजमें बँसुरी रहिहै॥

दूसरी एक बाँसके साथ बाँसकी बनी बाँसुरीकी तुलना कर और उसे वंशका नाम बिगाड़नेवाली बतलाती हुई कहती है—

वै मगदायक अंधनिके, तुम अच्छिनहूकी सुचाल बिगारयो।
वै जलथाह बतावत हैं, तुम प्रेम अथाहके बारिधि पारयो॥
वै बर बास बसाय भले, तुम बास छोड़ाय उजारमें डारयो।
का कहिये, हरिकी मुरली! तुम आपने बंसको नाम बिगारयो॥

दूसरी कहती है—अरी मुरली! तेरे सौभाग्यका क्या कहना है—

अधर सेज नासा बिजन स्वर मिल चरन दबाय।
अरी सोहागिनि मुरलिया! लियो स्याम बिलमाय॥

तीसरी एक मुरलीके साथ ईर्ष्या करती हुई बड़े विनययुक्त शब्दोंमें मुरलीसे पूछती है—

मुरली! कौन तप तैं कियो।
रहत गिरधर मुखहि लागी, अधरको रस पियो॥
नंदनंदन पानि परसे तोहि तन मन दियो।
सूर श्रीगोपाल बस किय, जगतमें जस लियो॥

मुरली उत्तर देती है—

तप हम बहुत भाँति करयो।
हेम बरिखा सही सिरपर घाम तनहिं जरयो॥
काटि बेधी सप्त सुरसों हियो छूछो करयो।
तुमहि बेगि बुलायबेको लाल अधरन धरयो॥
इतने तप मैं किये तबही लाल गिरधर बरयो।
सूर श्रीगोपाल सेवत सकल कारज सरयो॥

मैंने बड़े-बड़े तप किये हैं, जीवनभर सिरपर जाड़ा और वर्षा सहती रही, ग्रीष्मकी ज्वालामें मैंने तनको तपाया। काटी गयी, शरीरको सात स्वरोंसे बिंधवाया। हृदयको शून्य कर दिया। कहीं कोई गाँठ नहीं रहने दी। इतना तप करनेपर लालने मुझको बरा है।

प्राणधन श्रीगोपालके अधरामृतका पान चाहनेवाले प्रत्येक भक्तको वंशीकी इस साधनाका अनुकरण करना चाहिये। याद रहे, जबतक लौकिक सुख-दुःखमें समता और सहिष्णुता नहीं आती, जबतक प्रियतम प्रभुके लिये तन-मनकी बलि नहीं दे दी जाती, जबतक हृदयको अन्य वासनासे शून्य नहीं कर लिया जाता, तबतक प्रियतमके मधुर आलिंगनका सुख हमें नहीं मिल सकता।

मोहनकी यह मुरली आज भी बजती है, सदा बजती रहेगी। परन्तु जो मुरलीकी भाँति साधनामें प्रवृत्त होगा वही इस मधुर ध्वनिको सुन सकेगा। वृन्दावनके प्रातःस्मरणीय भगवत्-सखाओंने और अन्तरंगा शक्ति गोपीजनोंने अपनेको इस मुरलीकी साधनामें सिद्ध करके ही मुरलीकी ध्वनिको सुन पाया था।

उस मुरलीमें क्या बजता है और उससे जगत्को क्या दिया जाता है? इसका उत्तर यह है कि ह्लादिनी सुधाका अनिर्वचनीय आनन्द ही इस मधुर ध्वनिके द्वारा सबको दिया जाता है। 'कलं वामदृशां मनोहरम्।' इस कलपदामृत वेणुगीतसे 'क्लीं' पदकी सिद्धि होती है। कल=क+ल=क्ल। इसमें वामदृक् यानी चतुर्थ स्वर ईकार संयुक्त करनेपर क्ली बनता है। यह मनोहर है यानी

मनके अधिष्ठात्री देवता चन्द्रको या चन्द्रबिन्दुको हरण करता है। अतएव क+ल+ई+ँके संयोगसे 'क्लीं' बनता है। यह 'क्लीं' कामबीज है। मुरलीध्वनि यही कामबीज है। यह काम भगवत्-काम है। अतएव साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। व्रजधामके कामविजयी—मन्मथ-मन्मथ मोहन तपवैराग्ययुक्त अधिकारसम्पन्न अपने भक्त-साधकोंमें इस कामबीजको वितरणकर उन्हें अपनी ओर खींच लेते हैं, उनके सर्वस्वका मोह छुड़ाकर, उनका सब कुछ भुलाकर उन्हें सहसा आकर्षित कर लेते हैं। साथ ही नरकोंकी ओर आकर्षित करनेवाले, मन और इन्द्रियोंको विक्षुब्ध कर आत्माका पतन करनेवाले, विषय-विषका पान करनेके लिये उन्मत्त बनानेवाले गंदे कामके वशीभूत हुए जगत्के जीवोंको भी उस घृणित कामजालके फंदेसे छुड़ाकर पवित्र मधुर रसका आस्वादन करानेके लिये इस चिन्मय नादका सञ्चार करते हैं। कामबीजकी बड़ी महिमा है। भगवान्का सृष्टि-सङ्कल्प ही कामबीज है। यही नादस्वरूप है। इसीसे सृष्टि होती है और यही जगत्स्वरूप बन जाता है। शास्त्र इस 'क्लीं' रूप कामबीजसे पञ्च महाभूतोंकी उत्पत्ति बतलाते हुए इसका स्वरूप निर्देश करते हैं—

ककारो नायकः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
ईकारः प्रकृती राधा महाभावस्वरूपिणी॥
लश्चानन्दात्मकः प्रेमसुखं च परिकीर्तितम्।
चुम्बनाश्लेषमाधुर्यं विन्दुनादं समीरितम्॥

'क' कार सच्चिदानन्दविग्रह नायक श्रीकृष्ण हैं। 'ई' कार महाभावस्वरूपा प्रकृति श्रीराधा हैं। 'ल' कार इन नायक-नायिकाके मिलनात्मक प्रेमसुखका आनन्दात्मक निर्देश है और नादबिन्दु इस माधुर्यामृतसिन्धुको परिस्फुट करनेवाले हैं।

यह श्रीराधाकृष्णका मिलन दिव्य है। यह आत्मरमण है। यह अपने ही स्वरूपमें सच्चिदानन्द भगवान्की लीला है। इस लीलाका विकास 'क्लीं' रूप मुरलीनिनादसे ही होता है। यह मुरलीनाद स्वयं सच्चिदानन्दमय है। ब्रह्मरूप है। यही नादब्रह्म है।

* * *

हमारे ह्रासके कारणोंकी भ्रान्तिमूलक कल्पना

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी)

आजकल 'वेदान्त' शब्दके विषयमें बहुत-से लोगोंके विचित्र विचार हो रहे हैं। कुछ लोगोंका कहना है कि वेदान्तचर्चामें लीन व्यक्ति तो केवल परमार्थचिन्तनमें ही लगा रहता है। उसे इस दुनियाकी अथवा अपनी लौकिक उन्नतिकी कोई फिकर ही नहीं। मेरी समझमें ऐसा विचार भ्रान्तिमूलक है। पर कभी-कभी कुछ बातें ऐसी देखी जाती हैं जिनसे ऐसी धारणाका होना असंगत नहीं। जहाँ भी इस प्रकारकी लौकिकविषयक उपेक्षा मिलेगी वहाँ गम्भीर विचारसे परकालव्यापी विकृत बौद्धधर्मका प्रभाव स्पष्ट रूपसे दीख पड़ेगा। यथार्थमें एक सच्चे वेदान्तीको न तो गृहस्थाश्रम त्याग करनेकी आवश्यकता है, न सांसारिक विषयोंके प्रति किसी प्रकारकी उपेक्षा करनेकी। उसका काम तो यह है कि संसारके सब कामोंको बड़ी चतुरतासे करता जाय (योगः कर्मसु कौशलम्—गीता)। परन्तु करे निष्काम वृत्तिसे। और साथ-ही-साथ अपने जीवनके मुख्य उद्देश्य—आत्मज्ञान—पर निरन्तर दृष्टि रक्खे। महात्माओंने इस स्थितिकी उपमा पनिहारिनसे दी है। कहते हैं कि जैसे पनिहारिन पानीके घड़ेको सिरपर रक्खे हुए हँसना, बोलना, चलना इत्यादि सब काम करती हुई भी उस घड़ेपर ही ध्यान रखती है, उसी प्रकार सच्चा वेदान्ती सम्पूर्ण सांसारिक कर्तव्योंको करते हुए भी केवल ब्रह्मपर ही अटल ध्यान लगाये रहता है। निश्चय ही वह जीवन्मुक्त है और कर्मोंके बन्धनसे मुक्त है।

उस दिन मेरे एक मित्र कहने लगे कि यह कोरा वेदान्त ही तो हिन्दूजातिके पतनका कारण है। अन्धविश्वास, वर्णव्यवस्था, पृथक् भोजन, जातिगत विवाह इत्यादि रूढ़ियोंको लेकर नष्ट हो जानेसे तो यही अच्छा है कि इन सब बन्धनोंको काटकर हिन्दूसमाजका एक नया संगठन करें, जिसमें जाति तथा देश दोनों स्वतन्त्र हो सकें। मेरी समझमें उनका ऐसा विचार भ्रमपूर्ण है। पर साथ-ही-साथ यह मानना पड़ेगा कि इसी प्रकारके अनेक विचार आज बहुतेरे हिन्दुओंको क्षुब्ध कर रहे हैं। आइये, इस विषयपर कुछ विचार करें।

सबसे पहिले तो यह देखना है कि हमारा पतन हुआ ही क्यों ? मेरे विचारमें शिक्षाका अभाव सबसे बड़ा कारण है।

शिक्षासे मेरा मतलब आजकलकी निरीश्वर स्वार्थपर स्कूली तालीमसे नहीं है। उसमें साक्षरता, आचार तथा धर्मविषयक ज्ञान सम्मिलित हैं। इस शिक्षाके अभावके कारण ही सदियोंकी कठोर राजनैतिक पराधीनता तथा वर्तमान हृदयको दहलानेवाली देशकी दरिद्रता है। सच ही कहा है—'निधनता सर्वापदामापदम्'। साथ-ही-साथ चमक-दमकवाली पाश्चात्य सभ्यताका सम्पर्क भी कोई मामूली बात नहीं है। यह कृत्रिम, अप्राकृतिक किन्तु बहकानेवाली सभ्यता इस समयके देशके शासकोंकी सभ्यता है। और प्राकृतिक नियमानुसार इसका न्यूनाधिक अनुकरण अवश्यभावी है। आजकल पुराने समाजके बन्धन शिथिल हो रहे हैं। कोई शक्ति ऐसी नहीं जो समाजके नवयुवकोंपर आचार-विचारका नियन्त्रण रख सके। बच्चा-बच्चा अनियन्त्रित नागरिक हो रहा है और नहीं जानता कि वह किस ओर जा रहा है। शीलयुक्त स्वातन्त्र्यके स्थानमें अहम्मन्य उद्दण्डताका राज्य है। और ऐसी स्थितिमें विलासिता तथा नाना प्रकारके दुराचार तथा अनाचारका प्रचार कोई आश्चर्यजनक बात नहीं।

भाइयो! हमलोग अपना व्यक्तित्व ही खो बैठे हैं। नयी सभ्यताके झोंकेमें अखाड़ोंमें जाकर कसरत करना और बलिष्ठ बनना एक हेय वस्तु हो गयी है। और बहुत-से विद्वानोंके मतमें तो शारीरिक कमजोरी ही इन्द्रियविषयक, मानविषयक तथा राजनैतिक पतनका कारण है। शारीरिक दुर्बलतायुक्त व्यक्ति ही इन्द्रियलोलुप, खुशामदी, स्वार्थी तथा पतित होता है। खानपानकी सादगी तथा पौष्टिकता भी जाती रही। मद्य-मांसके अधिकाधिक बढ़ते हुए प्रचारके अतिरिक्त चना, जौ, ऋतुफल तथा शाक-भाजी, दूध इत्यादिकी ओर अरुचि बढ़ रही है। तरह-तरहकी निकृष्ट मिठाइयाँ दिन-दिन लोकप्रिय होती जाती हैं। शुद्ध सात्त्विक तथा सस्ते आटा, घी, चीनी, दूध, तेल इत्यादि लुप्त-से हो रहे हैं। शुद्ध जल, वायु तथा प्रकाश भी लुप्त हो रहे हैं। कामवासना घनघोररूपमें पुरुषों तथा स्त्रियों दोनोंमें बढ़ रही है। स्त्रियोंको भगाना, अगम्यागमन करना तथा वैवाहिक बन्धनोंको तोड़नेके प्रयत्न चारों ओर दीख रहे हैं। असवर्ण विवाह तो चल ही गया, अब 'मुताह' (कुछ दिन अथवा रात्रिमात्रके लिये विवाह) को प्रचलित करनेके लिये बड़ा प्रयत्न किया जा रहा है। क्या यह वही आर्यजाति है जिसमें सतीत्वका महान् आदर्श जलता आ रहा है? लड़के तथा लड़कियोंके स्कूल और कालेजोंके छात्रावासोंमें सदाचारकी साधारणतया क्या ही विकट स्थिति हो गयी है। विद्यार्थियोंमें विनय (विद्या ददाति विनयम्) के स्थानपर उद्दण्डता तथा अशिष्टता फैल गयी है। नियन्त्रण और अनुशासन तो वे बरदाश्त ही नहीं कर सकते। ये ही विद्यार्थी अध्ययन समाप्त करके स्वार्थी, काहिल तथा कर्तव्य-विमुख बाबू बन जाते हैं। १५) या २०) की नौकरीके लिये न जाने कितनी दूर घूमते फिरेंगे और कितनी फटकार सह लेंगे पर हिम्मत करके और धैर्यपूर्वक कोई छोटा भी व्यवसाय सँभालनेमें असमर्थ होंगे। इनमें बिरले ही समयका मूल्य समझते हैं। वचन दे दिया, भूल गये, और जब समय आया तो दाँत दिखलाकर हँसीमें टाल दिया। संक्षेपमें इन नवयुवकोंमें दृढ़ता तो होती ही नहीं। वे व्रत, उपवास, इन्द्रियनिग्रह, धैर्यपूर्वक कष्टसहनके विषयमें सर्वथा असमर्थ होते हैं। माता, पिता अथवा गुरुकी एक बात भी नहीं सुन सकते, पर दफ्तरमें प्रतिदिनकी डाँट-फटकार नतमस्तक होकर प्रसन्नतापूर्वक सहते हैं।

इनमेंसे जो पदाधिकारी हो जाते हैं वे बहुधा अपने अफसरोंको प्रसन्न करनेके लिये मद्य-मांस ग्रहण करते हैं अथवा अन्य अनाचारोंमें प्रवृत्त होकर स्वतन्त्र कहलाना चाहते हैं। लज्जाके साथ कहना पड़ता है कि ऐसे लोगोंद्वारा कभी-कभी अपनी धर्मपत्नीका भी दुरुपयोग पद अथवा वेतनवृद्धिके लिये किया जाता है।

मैंने कुछ ही बातें कहीं। अब पाठकगण स्वयं विचार लें कि क्या ये बातें अपने सनातन आचार, विचार, वर्ण-व्यवस्था अथवा विवाहसम्बन्धी नियमोंसे सम्बद्ध हैं। अथवा ये पाश्चात्य सभ्यताके संघर्षके कारण उपस्थित हुई हैं।

संगठनके सम्बन्धमें मुसलमानोंका उदाहरण दिया जाता है। क्या इस उदाहरणको देनेवाले लोग मुसलमानोंके विवाहसम्बन्धी नियमोंसे, शिया, सुन्नी, वहाबी, क़ादियानी आदि मतोंके भेदोंसे, भारतवर्षमें १८५० ई० से लेकर वर्तमान समयतककी मुसलमानोंकी राजनैतिक स्थितिसे पूर्णरूपेण परिचित हैं? यदि हैं तो वे कदापि ऐसा भ्रमपूर्ण उदाहरण न देंगे।

यदि अपना कल्याण इष्ट है तो हमको और ही प्रकारसे अपना सुधार करना होगा। हमको शीलयुक्त, निर्भीक, संयमी, सहनशील, दृढ़प्रतिज्ञ तथा कर्मनिष्ठ बनना होगा।

तब सारी सम्पदाएँ स्वयं हमारी ओर आकृष्ट होंगी। हिंसावृत्तियुक्त तथा आचारविहीन सामाजिक संगठन पहले तो हो ही नहीं सकता और यदि हो भी तो कदापि चिरस्थायी नहीं हो सकता। सदाचारके नियमोंपर बना हुआ तथा लोकहितकारी संगठन सदैव अमर होगा और यही अपना सनातनधर्म है। इसपर जो ग्रहण इस समय लगा है वह शीघ्र ही दूर होगा और यह पुनः निर्मल कान्तियुक्त, देदीप्यमान होगा।

बहुत-से लोगोंका खयाल है कि धार्मिक अथवा ईश्वरानुरागी व्यक्ति सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्रमें बिल्कुल ही बेकाम है। समझमें नहीं आता कि किन तर्कोंपर यह परिणाम निहित है। वास्तवमें सच्चा ईश्वरभक्त स्वार्थत्यागी, नम्र, सेवाभावयुक्त तथा निर्भीक होता है। समाजके लिये वह जीवित उदाहरण है और राजनीतिमें कोई भी प्रलोभन उसे लक्ष्यच्युत नहीं कर सकता। न वह किसीसे दबनेवाला होता है। उसकी नींव तो प्रेम तथा सत्यपर जमी हुई है।

हमारे पूर्वजोंद्वारा विहित व्रत, उपवास, विनयवृत्ति, सात्त्विक भोजन, देवाराधन, इन्द्रियनिग्रह इत्यादि हमारे लिये कण्टक नहीं, अनमोल अनुभवयुक्त रत्न हैं। इनके विषयमें अकारण अश्रद्धा करना अपने पैरमें कुल्हाड़ी मारना है। वास्तवमें अपना-सा वैज्ञानिक (Scientific), सरल, प्राकृतिक तथा सर्वहितकारी धर्म मुझे तो अन्यत्र नहीं दीखता।

अपने समाजमें प्रविष्ट दुर्गुणोंको धैर्यसे दूर कीजिये। अपनी स्त्रियोंकी मानरक्षाके लिये उन्हें अपने साथ मेले इत्यादिमें ले जाइये। उनके लिये अपना कुछ समय दीजिये। बालकोंको चरित्रयुक्त बनानेके लिये उन्हें अधिकतर अपने संग रखिये, कुसंगसे बचाइये। उनके लिये स्वयं सद्गुणोंका उदाहरण बनिये। अपने बालकोंमें जो गुण देखना चाहते हों वे पहले अपनेमें दिखलाइये। यदि आप स्वयं सिगरेट पियेंगे, भक्ष्याभक्ष्य भोजन करेंगे, कुवाक्य बोलेंगे अथवा दुराचारमें प्रवृत्त होंगे तो भला आपके बालक इन दुर्गुणोंको क्यों न अपनावेंगे। हमलोग स्वयं संयमरूपी तपस्यासे च्युत हो गये हैं और इसी कारण हमारे नवयुवक ऐसे निकम्मे हो रहे हैं। यही कर्मकी गति है। हमारा ही दोष है, न कि हमारे पूर्वज महर्षियोंका।

सदाचारवृद्धिके लिये हमको स्वयं एकपत्नीव्रतका पालन करना होगा, तभी हमारे यहाँ सती और साधु जन्म लेंगे। स्मरण रहे कि केवल जननेन्द्रियस्पर्श ही मैथुन नहीं है। हमारे यहाँ अष्टांग मैथुन कहा गया है। परस्त्रीविषयक कामवासनायुक्त स्मरण तथा परस्त्रीके स्पर्श भी इनमें गिनाये गये हैं। आधुनिक Ball Dance (अंग्रेजी नाच) अपने यहाँ तो व्यभिचार ही गिना जावेगा।

आजकल लोकसेवाका ढोंग ही अधिकतर दृष्टिगोचर होता है। यथार्थमें सेवा बहुत कम दीखती है। बहुतेरे नवयुवक बेचारे ग्रामीणोंके प्रति कठोर अफसरोंका-सा व्यवहार करते हुए, दुर्वाक्य कहते हुए अथवा बेत प्रहार करते हुए भी अपनेको 'स्वयंसेवक' कहते नहीं लजाते।

क्या ही अच्छा हो यदि प्रत्येक मुहल्ले अथवा ग्रामके शिक्षित नागरिक अपने दरिद्र और अशिक्षित भाइयोंकी सहायताके लिये एक संगठित सेवकमण्डल बना लें और प्रतिदिन नियमित समयपर किसी उपयुक्त स्थानपर (अपने ही घरमें) दस-पन्द्रह मिनटका समय दें। कोई सज्जन अपने यहाँ साधारण देशी दवा रख लें, कोई Postal Guide (पोस्टल गाइड) की एक प्रति तथा तार, मनिआर्डर, बीमा इत्यादिके फार्म रख लें और मुफ्तमें लिख दें, कोई रेलका Time-Table (टाइम-टेबल) रख लें और यात्रा करनेवालेको महसूल, मार्ग, ठहरनेका स्थान इत्यादि बतला दें, अथवा पार्सलपर पता लिख दें, कोई मुफ्तमें चिट्ठी अथवा दरख्वास्त लिख दें, कोई गरीब विद्यार्थियोंके लिये छोटा-सा पुस्तकालय खोल लें, कोई अखाड़ा बनवाकर बालकोंको व्यायाम करावें, इत्यादि। रेलपर हम अपने गरीब भाइयोंकी अनेक प्रकारसे सहायता कर सकते हैं।

आजकल बड़ी शिकायत इस बातकी है कि जीविका नहीं मिलती। मैं इसे भी अपनी ही कमजोरी समझता हूँ। यदि आप दृढ़प्रतिज्ञ होकर कोई भी छोटा-सा ही काम क्यों न हो, उठा लेंगे और सचाई तथा लगनके साथ उसमें लगे रहेंगे तो संसारमें कोई भी शक्ति आपको असफल अथवा पराजित नहीं कर सकती। पर शर्त यह है कि आप मीठा वचन बोलें, ग्राहकके मोल-भाव अथवा अन्य इसी प्रकारके व्यवहारसे रुष्ट न हों, अपने वादेके पक्के हों, नियमित मुनाफा लें और सबसे एक ही दाम लें, और इन सबके साथ चोचलों तथा फैशनसे बचे रहें। क्या आपने नहीं देखा है कि हजारों निरक्षर कच्छी, पंजाबी, मारवाड़ी

इत्यादि लगन तथा सादगीके कारण लखपती हो गये हैं और हो रहे हैं।

पाठकगण स्वयं सोच लें कि उपर्युक्त बातोंसे हमारा उद्धार सम्भव है अथवा जातपाँत तोड़नेसे अथवा वैवाहिक उच्छृङ्खलताका प्रचार करनेसे ? भगवान् हमें सुबुद्धि, आत्मबल दे और—

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा ँसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वसित नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

मण्डनमिश्रका ब्रह्माद्वैतवाद

(लेखक—श्री एस० एस० सूर्यनारायणशास्त्री, एम० ए०)

श्रीशङ्कराचार्यके शास्त्रार्थसम्बन्धी दिग्विजयके विषयमें जो किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं उनमें वह शास्त्रार्थ, जिसके द्वारा मण्डनमिश्रपर उन्होंने विजय प्राप्त की, बड़ा ही मनोरञ्जक है। सुनते हैं, मण्डनमिश्र कर्ममीमांसाके सिद्धान्तोंके बड़े भारी व्याख्याता थे और तदनुकूल कर्मानुष्ठान भी करते थे। शङ्कराचार्यका युवावस्थामें संन्यासी बना देखते ही वे उबल पड़े। दोनोंमें शास्त्रार्थ छिड़ गया, मण्डनमिश्रकी पत्नी, जो सरस्वतीका अवतार मानी जाती थीं, मध्यस्थ बनीं। मण्डनमिश्र हार गये और उन्होंने अपने सिद्धान्त और धर्मका त्याग कर संन्यास ग्रहण किया और पीछे वे अद्वैतवेदान्तकी व्याख्या कर सुरेश्वराचार्यके नामसे सुप्रसिद्ध हुए। परन्तु इस कथाके लिये यह आपत्तिकी बात है कि कम-से-कम एक अद्वैतग्रन्थ तो ऐसा है जिसके कर्ता मण्डनमिश्र ही हैं (सुरेश्वराचार्य नहीं); इस ग्रन्थका नाम 'ब्रह्मसिद्धि' है, जिसपर पश्चात्कालीन अद्वैतियोंने, विशेषकर वाचस्पति और चित्सुखने भाष्य किये हैं; इस ग्रन्थमें जो विचार प्रकट किये गये हैं वे सुरेश्वराचार्य-प्रणीत ग्रन्थोंके कुछ सिद्धान्तोंके विरुद्ध हैं, तथापि किसी भी भाष्यकारने इन दो ग्रन्थकारोंकी मानी हुई एकताके साथ इन परस्पर विरोधोंका समन्वय-साधन नहीं किया है। इसलिये मण्डनमिश्र और सुरेश्वराचार्य, इन दोनोंके एक होनेकी जो मान्यता है वह केवल कल्पनामात्र प्रतीत होती है और यह कल्पना श्रीमच्छङ्कराचार्यके मानको बढ़ाती हुई, दुर्भाग्यवश मण्डनमिश्रके अद्वैतको पीछे ढकेलकर विस्मृतिके गर्भमें डाल देती है, जो कि बहुत ही अनुचित है।

तथापि कथाके साररूपसे जो अंश ग्राह्य है वह यह है। कोई भी अद्वैतवादी प्रपञ्चकी व्यावहारिक सत्ताको अस्वीकार नहीं करता, यद्यपि इसके वास्तविक उपयोगके विषयमें अद्वैतवादियोंमें मतवैभिन्न्य देखा जाता है। इनमें जो सबसे अधिक व्यावहारिक हैं वे प्रापञ्चिक नामरूपोंको, जहाँतक सम्भव है, बना रखना चाहते हैं; पर साथ ही इन नामरूपोंकी निरपेक्ष सत्ता कोई भी नहीं मानता। इन सिद्धान्तियोंकी दृष्टिमें चराचर जगत्का नानात्व केवल भ्रम नहीं है। उनकी व्यावहारिक सत्ता तो है, परन्तु निरपेक्ष सत्य जो कुछ है वह एक ही है। यहाँ जीवोंकी अनेकता अस्वीकार करनेका कोई कारण नहीं है। संक्षेपमें मण्डनमिश्रका यही विचार है। इनका सिद्धान्त दृष्टि-सृष्टिवादियोंका-सा नहीं है, जिसमें नामरूपात्मक प्रत्येक पदार्थ केवल भ्रम है, और जिसमें सब शंकाओंका समाधान एक स्वप्नके दृष्टान्तसे ही कर दिया जाता है। तुम और मैं, गुरु और शिष्य, ईश्वर और जीव, तथा चेतन और अचेतनके बीच भेद तो है ही, परन्तु यह मूल या परम सत्य नहीं है।

जीवोंकी अनेकता एक तथ्य है, परन्तु उनकी सान्तता और बहुरूपता अविद्याकृत होनेके कारण सत्य नहीं है। पर यह जो नामरूपोंकी विभिन्नता है, प्रत्येक पुरुषका ही जो पृथक्-पृथक् रूप है उससे यह मालूम होता है कि अविद्या एक नहीं, अनेक हैं। अविद्या एक दोष है। अतः इसका आश्रय सिद्ध स्वरूप (पूर्ण) नहीं हो सकता। अतः इसका आश्रय ब्रह्म नहीं, बल्कि अपूर्ण जीव है। पर जीव जब स्वयं अविद्याका परिणाम है, तब वह अविद्याका आश्रय कैसे हो सकता है ? यही तो रहस्यकी बात है। यदि अविद्या बुद्धिसंगत होती, तो वह अविद्या ही न होती। बुद्धिसे असंगतता ही इसका स्वरूप है। इसके विषयमें जो शङ्काएँ उठती हैं वे ही इसका स्वरूप हैं। और व्यवहारमें तो यह प्रश्न ही व्यर्थ है, क्योंकि जीव अनादि हैं अर्थात् यह पूछा ही नहीं जा सकता कि इन दोनोंमेंसे किसका आविर्भाव पहले होता है ? इस प्रकार प्रत्येक जीवके साथ जो एक अविद्या

अवस्थित है उसका आधेय ब्रह्म है। हममेंसे हर कोई पूर्ण नहीं है तो हमें अपनी अपूर्णताका ज्ञान ही न होता ? फिर भी हर कोई अपनी पूर्णतासे अनभिज्ञ है और उसीकी खोजमें है। हमारे अज्ञानके विभिन्न आधार हैं, पर उन सबका आधेय एक ही है अर्थात् पूर्णत्व है। यही कारण है कि जीवको अविद्याका आधार और ब्रह्मको उसका आधेय कहा जाता है। यह सिद्धान्त अपूर्णताके सम्बन्धमें अनुभवोंके वैचित्र्य और उसके निराकरणके उपायोंकी विभिन्नताके साथ सर्वथा सुसंगत है। यही कारण है कि जो लोग भगवान्‌को चाहते हैं और उसे ढूँढ़ते हैं उनकी अनुभूतिके प्रकारोंमें इतना प्रभेद देखा जाता है।

अविद्या ही मौलिक दोष है, अतः उसका निराकरण मनुष्यका अन्तिम लक्ष्य है। अविद्याका दूर होना ही मुक्ति है; मुक्ति कोई ज्ञानातीत वस्तु नहीं, बल्कि स्वयं ज्ञान ही है अर्थात् आत्मा ही है। अतएव मुक्ति कोई अभावात्मक अवस्था नहीं, बल्कि अपने मूल चिदानन्दस्वरूपकी प्राप्ति ही है। आनन्द दुःखका अभावमात्र नहीं है। अभावके पीछे कोई नहीं दौड़ा करता। यदि भूखा मनुष्य अपनी भूखको केवल मिटाना ही चाहता होता तो वह अनेकविध भोज्य पदार्थोंके सामने रहते हुए कुछका त्याग और कुछका ग्रहण क्यों करता ? भावात्मक सन्तुष्टिके अनेक क्रम हो सकते हैं, पर केवल अभावमें कोई क्रम नहीं हो सकता। यह भी सच नहीं है कि इच्छाका निर्मूलन ही मानवजीवनका लक्ष्य हो। अग्निमान्द्यसे ग्रस्त पुरुष अपनी अवस्थासे सुखी होना दूर रहा, अपनी भूखको ही बढ़ानेका उपाय ढूँढ़ता है।

इस प्रकार भावस्वरूप जो मुक्ति है उसकी प्राप्तिका साधन ज्ञान ही है, क्योंकि ज्ञान ही अज्ञानको नष्ट कर सकता है। नित्य या काम्य कर्मोंके अनुष्ठानसे तो आवागमनका चक्र कभी छूट ही नहीं सकता, इस चक्रमें भ्रममाण पुरुषको भ्रमणके लिये सुन्दर मार्ग और सघन कुञ्ज भी मिल सकते हैं, परन्तु उसका भूलमें भटकना समाप्त न होगा। तथापि यह बात नहीं है कि मुक्तिकी प्राप्तिमें कर्मका कुछ भी प्रयोजन न हो। निष्काम कर्म बड़े शुद्धिकारक होते हैं; उनसे चित्त एकाग्र होता है; चित्तका एकाग्र होना यहाँ अनिवार्य ही है; क्योंकि चित्तसे ही औपनिषद सत्यका चिन्तन करना होता है। चित्तके इसी सतत प्रसंख्यानके द्वारा ब्रह्मानुभवकी प्राप्ति होती है। अतएव कर्म 'आरात् उपकारक' साधन है। जिसने कर्मानुष्ठान नहीं किया उसे ज्ञानकी इच्छा ही नहीं हो सकती, ब्रह्मज्ञानका होना तो दूर रहा।

जब एकाग्रचित्तसे श्रद्धापूर्वक सुदीर्घकालतक निरन्तर ध्यान किया जाता है तब ध्येय सत्यकी अन्तर्ज्ञानतः अनुभूति होती है, जैसे विरही प्रेमीको अपनी खोयी हुई प्रेमिकाका अपने अंदर ही भान हो। विरही विधुरका यह भान अवश्य ही भ्रमात्मक होता है; क्योंकि यह भानगत वस्तु सान्त वस्तुओंमेंसे है, जो देशकालावच्छिन्न होनेके कारण कभी हो सकती हैं तो कभी नहीं भी हो सकतीं। परन्तु ब्रह्म देशकालसे अतीत है, उसका भान कभी मिथ्या कैसे हो सकता है ? बन्ध, जो अपरोक्ष है, उसको काटनेका साधन भी अपरोक्ष ही होना चाहिये; यह साधन अन्तःकरणमें होनेवाला भान ही हो सकता है, कोई शाब्दिकज्ञान नहीं, जो केवल परोक्षज्ञान है। इन्द्रिय या करण सान्त वस्तुओंके विषयमें भ्रमको प्राप्त हो सकते हैं, पर अनन्तविषयक अन्तर्ज्ञानमें नहीं। अन्तर्ज्ञानका उदय होते ही साधक मुक्त हो जाता है। उसके समस्त कर्म, मय उस प्रारब्धके जो वर्तमान शरीरका कारण है, झड़ जाते हैं। केवल अंदर ही नहीं बाह्य शरीरके बन्धनमें भी मुक्ति हो जाती है। जीवन्मुक्तोंकी बातें भी सुनी जाती हैं; पर ये जीवन्मुक्त केवल साधक होते हैं, सिद्ध नहीं। ये मुक्त इसलिये कहे जाते हैं कि मुक्ति उन्हें अपने अंदर प्राप्त है।

मण्डनमिश्रके अद्वैतवादका यह खाका है। इससे स्पष्ट है कि वह अपनी सैद्धान्तिक एकताका निर्वाह करते हुए साधारण बुद्धिकी उपेक्षा कहीं भी नहीं करते। इसीसे जीवोंकी अनेकता और कर्मकी उपयोगिता वे मानते हैं, पर जीवन्मुक्ति नहीं मानते। तथापि एक प्रकारसे मण्डनमिश्र शङ्कर और वाचस्पतिकी अपेक्षा अधिक विशुद्ध अद्वैतवादी हैं, जैसा कि उनके 'स्फोटसिद्धि' नामक ग्रन्थके स्फोटसिद्धान्तसे स्पष्ट सिद्ध होता है। शङ्कर और उनके अनुयायी ब्रह्मसे न्यून किसी एकत्वको स्वीकार नहीं करना चाहते। मण्डनमिश्रने 'स्फोट' को आहत ध्वनियों और शब्दोंके रूपमें क्रमशः प्रकट होनेवाले अर्थका मूल एकत्व माना है और इस तरह अद्वैतसिद्धान्त और युक्तियुक्त न्यायका अधिक प्रामाणिक परिपालन किया है।

मण्डनमिश्रकी शैली ओजस्विनी है। उनकी उक्तिमें लाघव है और प्रतिवाद उनका बड़ा प्रबल होता है। उस कालमें ये ही शायद पहले शास्त्रार्थी हैं जिन्होंने व्यावहारिक द्रव्योंका वर्गीकरण और उनका अति सूक्ष्म विश्लेषण किया है। ब्रह्मसिद्धिके दूसरे अध्यायमें जो भेदवादकी उन्होंने आलोचना की है वही आगेके सम्पूर्ण विवेचनकी भूमिका

है। किस प्रकार वे अपने विषयका निरूपण करते हैं यह देखनेके लिये यहाँ एक छोटा-सा उदाहरण देना ही अधिक अच्छा होगा ।

वादी 'भेद' को पदार्थोंका स्वरूप बतलाता है, क्योंकि अर्थक्रियामें सर्वत्र भेद देखा जाता है । जैसे अग्नि जलाती है, जल ठंडा करता है इत्यादि । सिद्धान्ती मण्डनमिश्र कहते हैं, नहीं—

अर्थक्रियाकृते भेदे रूपभेदो न लक्ष्यते ।
दाहपाकविभागेन कृशानुर्न हि भेदवान् ॥

'अर्थक्रियाकृत भेदसे भेद नहीं होता । दाह अग्निकी क्रिया है और पाक भी अग्निकी क्रिया है, पर पाक करनेसे अग्नि कुछ होता हो और दाह करनेसे कुछ और सो तो नहीं होता ।'

दहन करना पाक करना नहीं है; तथापि अर्थक्रियामें भेद होनेपर भी, हम दोनों क्रियाएँ करनेवालेको एक ही अग्नि कहते हैं । इस श्लोककी यह एक व्याख्या है । इस श्लोककी एक दूसरी व्याख्या है जिससे उन लोगोंका जवाब हो जाता है जो यह कहते हैं कि जगत्की अर्थक्रियाओंमें न केवल भेद है बल्कि परस्पर विरोध भी है जिसका होना अद्वैतसिद्धान्तसे विसंगत है । इसके उत्तरमें भी यही कहते हैं कि क्या दाहक्रिया पाकक्रियाके साथ असंगत और विरुद्ध नहीं है ? फिर भी क्या ये दोनों क्रियाएँ अग्निमें ही एक साथ नहीं रहतीं ? परस्पर विरोध क्या है, अन्योन्याभाव है ? यदि ऐसा अन्योन्याभाव जैसा कि दाह और पाक-क्रियाओंमें है न होता तो हम इन दो क्रियाओंको दो समझ ही न पाते ।

एक और आक्षेप इस विषयमें यह हो सकता है कि यदि क्रियाभेद भेदमूलक नहीं है तो किसी भी वस्तुसे कोई भी दूसरी वस्तु उत्पन्न हो सकती है । उपर्युक्त श्लोक इस आक्षेपका भी उत्तर देता है; क्योंकि एक ही अग्नि विभिन्न क्रियाओंका हेतु है । यह सच है कि हमें दही केवल दूधसे और तेल केवल तिलसे ही प्राप्त होता है । पर दूधमें चिक्कणताका होना इस बातसे असंगत नहीं है । अग्नि जला सकती है और पका भी सकती है, परन्तु कुछ पदार्थोंको ही पकाती है और कुछको ही जलाती है । इसी प्रकार जिस वस्तुमें निमित्तविषयक जो शक्ति है, उसे वह उस निमित्तको छोड़, अन्यथा कार्यान्वित नहीं कर सकती; इस प्रकार क्षमता और अक्षमताका एक साथ होना कोई परस्पर विरोध नहीं है; अतएव अर्थक्रियाकृत भेदके कारण भेदको मूलतत्त्व मान लेना युक्तिविरुद्ध है । इस प्रकार श्लोककी एक पंक्ति कितने-कितने प्रकारकी गूढ़ शंकाओंका समाधान कर देती है—यह छोटे परिमाणपर बड़ा भारी उदाहरण है इस बातका कि किस प्रकार सब भेदोंके मूलमें रहकर एक अभेद ब्रह्म ही सभी कर्म सम्पादन करा रहा है।

घनश्यामकी लगन

जाहि लगन लगी घनश्यामकी ।
धरत कहूँ पग, परत हैं कितहूँ
भूल जाय सुधि धामकी ॥ १ ॥
छबि निहार नहिं रहत सार कछु
घरि-पल निसिदिन जामकी ।
जित मुँह उठै तितै ही धावै,
सुरति न छाया-घामकी ॥ २ ॥
अस्तुति-निन्दा करौ भलै ही,
मेड़ तजी कुल-गामकी ।
नारायन बौरी भइ डोलै,
रही न काहू कामकी ॥ ३ ॥

—नारायण स्वामी

* * *

प्रत्यभिज्ञादर्शन और वेदान्तशास्त्र

(लेखक—वेदान्ताचार्य पं० श्रीहरिदत्तजी शर्मा शास्त्री)

प्रत्यभिज्ञादर्शनके अनुयायी श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य श्रीसोमानन्दनाथ, उदयाकरसूनु वसुगुप्ताचार्य आदि आचार्य हुए हैं। इन माहेश्वर दर्शनोंका अवान्तरविभाग संक्षेपतः निम्नलिखित प्रकारसे किया जा सकता है। जो लोग तर्कके बलसे मूलतत्त्वका अन्वेषण करते हैं तथा श्रुतिमें विश्वास रखते हुए भी तर्कका अवलम्बन कुछ अधिक लेते हैं, उनमें श्रुतिपर मन्द श्रद्धावाले सांख्यशास्त्र और योगशास्त्र हैं। फिर वैशेषिक और नैयायिक मन्दतर श्रद्धावाले कहे जा सकते हैं, और मन्दतम श्रद्धावाले माहेश्वर चार प्रकारके हैं। इनके चार भेद हैं—रसेश्वरवादी, प्रत्यभिज्ञावादी, नकुलीश पाशुपत, और शैव। इनमें प्रत्यभिज्ञावादी जीवेश्वरका वास्तविक ऐक्य मानते हैं। यहाँपर 'अतीत और वर्तमानरूप कालद्वयानुसन्धानप्रतियोगित्वरूप' प्रत्यभिज्ञा नहीं ली गयी, किन्तु प्रतिजीव महेश्वरका आभिमुख्येन ज्ञान ही 'प्रत्यभिज्ञा' कहाता है। इस मतमें परसिद्धि=मुक्ति और अपरसिद्धि=अभ्युदय देवलोकप्राप्त्यादि बाह्य क्लेश और आन्तर क्लेशोंके बिना ही प्रत्यभिज्ञामात्रसे सर्वसुलभ होती है, जैसा कि 'शिवदृष्टि' में लिखा भी है—

एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः।
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना॥
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा।
ज्ञाते सुवर्णे करणं भावनां वा परित्यजेत्॥

परमेश्वरताके प्राप्त होनेपर फिर क्या प्राप्तव्य शेष रहता है, कुछ नहीं।

श्रीउत्पलाचार्य लिखते हैं—

भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
एतया वा दरिद्राणां किमन्यदपयाचितम्॥

अर्थात् परमात्माकी भक्तिरूपी लक्ष्मीसे समृद्ध लोगोंको क्या चाहिये? कुछ नहीं। परमेश्वरकी दासता सम्पत्तिकी पराकाष्ठा है। और इस सम्पत्तिसे रहित हतभाग्य पुरुषोंको और छोड़ना क्या है, इस सम्पत्तिके न होनेरूप दारिद्र्यसे पिण्ड छुड़ाना ही सबसे बड़ा हातव्य है। यद्यपि ईश्वर स्वभावतः नित्यसिद्ध है तथापि मायावश अंशतः ईश्वररूपको अप्रकाशमान जीवात्मामें पूर्णरूपतया ईश्वरात्मत्वकी सिद्धिके लिये प्रत्यभिज्ञा मानी गयी है। लिखा भी है—

किन्तु मोहवशादस्मिन् दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते।
शक्त्या विकरणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते॥

मोहवश प्रकाशितस्वरूप भी यह महेश्वरस्वरूप अप्रकाशित रहता है, अतः स्वगत—दृक्शक्तिके प्रकाशनके लिये 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' बना है। तथा जो लोग यह मानते हैं कि बिना उपादानके घटोत्पत्ति नहीं होती तो उनके मतमें योगिसङ्कल्पसे सहसा गृह-धन-जनादि निर्माण कैसे होगा? अतः यह मानना चाहिये कि महादेवमें सब शक्तियाँ हैं—वह सब कुछ कर सकता है। लिखा भी है—

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने॥

जिस प्रकार कोई स्त्री नायकानुरक्त होनेपर भी बिना बतलाये किसी मेलेमें अपने प्रेयान्‌को नहीं पा सकती, उसी प्रकार गुरुवचन बिना यह पूर्णात्मताज्ञान नहीं हो सकता। इस दर्शनके आधार शिवसूत्र हैं।

वेदान्तसे भेद

यद्यपि जीवेश्वरकी एकताके अंशमें यह मत वेदान्तसे संवाद करता है, परन्तु अन्य प्रत्येक दृष्टिसे यह मत वेदान्तमतसे भिन्न है। जैसा महेश्वर इस मतमें माना जाता है वैसा महेश्वर वेदान्तसिद्धान्तमें नहीं माना जाता। महेश्वरका खट्वाङ्गपाणि होना, जटाधर होना इत्यादि रूप इन पाशुपत मतोंसे कल्पित हैं, जिसका खण्डन 'पत्युरसामञ्जस्यात्' (ब्रह्मसूत्र २।२।३७) के भाष्यमें किया गया है। फिर इस जीवकी उत्पत्तिका कारण केवल अज्ञान ही नहीं किन्तु पशुपाश भी हैं, जिन पशुपाशोंका मोक्ष इस दर्शनसे होता है तथा इनके मतमें जगत् मायारूप होते हुए भी सत्य है—इस रूपसे रहता ही है—सर्वथा नष्ट नहीं होता। हाँ, 'ईश्वरोऽहम्' इस भावनासे मुक्ति और अभ्युदय दोनों होते रहते हैं; जिसकी भावना प्रबलतम है उसे मुक्ति, जिसकी कुछ कम है उसका अभ्युदय। यही कारण है कि पिण्डस्थैर्यवादी रसेश्वरदर्शन महेश्वरसे तादात्म्य माननेपर भी पिण्डस्थैर्यके लिये बराबर यतमान है। दूसरे ऐक्य होनेपर भी दासस्वरूप नष्ट नहीं होता। इस प्रकार इस मतमें अनेक विरुद्ध बातें हैं। यह मत वेदान्तमतसे भिन्न है।

सच्चिदानन्दके ज्योतिषी

सर्वव्यापक, निरञ्जन, निर्गुण, अजन्मा, हर्ष-विषादसे रहित, नाम-रूप-रहित परमब्रह्म परमात्मा जब भक्तिके वशीभूत होकर पृथ्वीका भार उतारनेके लिये श्रीअयोध्यामें माता श्रीकौशल्याजीकी गोदमें श्रीरामरूपमें अवतरित हुए तब अयोध्यानगरी एक अलौकिक शोभाको प्राप्त हुई। जहाँपर अलौकिक शोभाधाम सच्चिदानन्द प्रभु स्वयं बालरूपसे खेल रहे हों, वहाँकी छबिका क्या कहना ! सुर-नर-मुनि सभी अयोध्यानगरीके सौभाग्यकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा कर रहे थे और भगवान्की रूपमाधुरीका पान करनेके लिये तथा परमानन्दका रसास्वादन करनेके लिये मनुष्यरूपमें अयोध्याकी गलियोंमें चक्कर लगाया करते थे। अखिलभुवनपति भगवान् महेश्वर भी उस समय अपने सुरम्य कैलासधाममें टिक न सके, वह उन्हें अयोध्याके मुकाबले सूना, नीरस-सा लगने लगा। उन्होंने काकभुशुण्डि तथा कुछ अन्यान्य प्रेमी ऋषि-मुनियोंका एक दल संगठित किया और अयोध्यानगरीमें आकर निवास किया। इस रहस्यको उस समय कोई जानता नहीं था। भगवान् शङ्कर अपने दलके साथ राजमहलके इर्द-गिर्द बराबर चक्कर लगाया करते थे कि किसी तरह प्रभुके बालरूपकी झाँकी मिल जाय।

एक दिन उन्होंने अपने साथियोंको तो बालक शिष्योंका रूप धारण कराया और स्वयं एक वयोवृद्ध अनुभवी ज्योतिषी बन बैठे। इस तरह दिव्यवेश बनाकर अपनी मण्डलीसहित वे राजभवनके फाटकपर पहुँचे। उस समयका वर्णन भक्तप्रवर श्रीतुलसीदासजी अपनी गीताबलीमें इस प्रकार करते हैं—

अवध आजु आगमी एकु आयो।
करतल निरखि कहत सब गुनगन, बहुतन्ह परिचौ पायो ॥१॥
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन, संकर नाम सुहायो।
सँग सिसु सिष्य, सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो ॥२॥
पायँ पखारि, पूजि, दियो आसन, असन बसन पहिरायो।
मेले चरन चारु च्कार्यो सुत, माथे हाथ दिवायो ॥३॥
नखसिख बाल बिलोकि बिप्रतनु पुलक, नयन जल छायो।
लै लै गोद कमल-कर निरखत, उर प्रमोद न अमायो ॥४॥
जनम-प्रसंग कह्यो कौसिक मिस सीय-स्वयंबर गायो।
राम, भरत, रिपुदवन, लखनको जय सुखु सुजसु सुनायो ॥५॥
तुलसिदास रनिवास रहसबस भयो, सबके मन भायो।
सनमान्यौ महिदेव असीसत सानँद सदन सिधायो ॥६॥

राजभवनके रनिवासमें खबर पहुँची कि आज अवधपुरीमें एक सामुद्रिक ज्योतिषी आये हैं जो हथेली देखकर ही सारे गुण बता देते हैं। उनके कथनकी सत्यताका परिचय बहुत-से लोगोंको मिला है। वह बूढ़े ब्राह्मण बड़े ही प्रामाणिक हैं ! उनका बड़ा सुन्दर 'शङ्कर' नाम है और उनके साथ कई बालक शिष्य भी हैं। यह सुनकर माता कौशल्याजीने ज्योतिषीको भीतर महलमें बुला भेजा। ज्योतिषीके आनेपर उन्होंने ब्राह्मणके पैर धोये, पूजा की, आसनपर बैठाया, भोजन कराया और वस्त्र प्रदान किया। फिर उनके सुन्दर चरणोंमें चारों बालकोंको रखकर उनके सिरपर हाथ रखवाया। उन बालकोंको नखसे सिखतक निहारकर ब्राह्मणदेवताके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और नेत्रोंमें जल भर गया। फिर वे गोदमें ले-लेकर उनके करकमल देखने लगे। उस समय अपने आराध्यदेवको साकार मूर्त्तिमें और सो भी अपनी गोदमें पाकर उनके हृदयमें आनन्दकी सीमा न रही। उन्होंने उनके जन्म लेनेके कारणसे लेकर भविष्यमें श्रीविश्वामित्रजीकी यज्ञरक्षाके मिससे श्रीसीताजीके स्वयंवरमें पधारनेतककी कथा सुनायी तथा राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नके भावी जय, सुख और सुयशका वर्णन किया। यह सुनकर सारा रनिवास आनन्दमग्न हो गया, क्योंकि ज्योतिषीजीकी बात सबके हृदयको प्रिय लगनेवाली थी। उन्होंने उन विप्रप्रवरका अत्यन्त सम्मान किया और वह भी अतृप्त नयनोंसे सच्चिदानन्दकी सच्चिदानन्दमयी छबिको मुँह फिरा-फिराकर निरखते हुए मन-ही-मन गुणगान करते हुए और ऊपरसे उन्हें आशीर्वाद देते हुए अपने धामको वापस चले गये।

वेदान्तकाव्य

विराट् शिव

(लेखक—पं० श्रीब्रह्मदत्तजी शर्मा 'शिशु')

१—विश्वका प्रभात है मेरी मदभरी आँखोंका खुलना, और तुर्य्यावस्थासे मेरे मस्तिष्कका जाग उठना है इसकी (विश्वकी) रचना। इन असंख्य ब्रह्माण्डोंकी रचनाका कारण है मेरे अत्यन्त कौतुकी रसिक हृदयका क्रीड़ाके लिये मचल उठना। विश्व मेरे हृदयनायकका रङ्गस्थल है।

२—मौन धारण किये हुए हरे-भरे वृक्ष मेरे प्राणोंके सञ्चलनसे ही लहलहाते हैं और मेरी मुस्कराहटसे ही उनपर खिल उठते हैं मञ्जुल सुमन। मेरा मनविहंग उनकी फुनगियोंपर कभी इसपर कभी उसपर चहचहाता हुआ फुदकता रहता है, सरित्-वीचियोंपर चन्द्रकिरणकी तरह।

३—मेरा अनन्त प्रेम प्रकृतिकी छातीमें धड़क रहा है। कण-कणमें उसके सुकोमल पयोधरोंसे मधुर दुग्धकी अनवरत बूँदें टपक रही हैं, विश्व-शिशु उसकी वात्सल्य-मयी गोदमें 'ॐ ॐ' करता हुआ उसको गटक रहा है और मैं कर रहा हूँ प्रकृतिका शृङ्गार।

४—पर्वतोंके पाषाणमय हृदयोंसे भी मेरी करुणा निर्झरोंके रूपमें निर्झरित होकर शीतलतरङ्गिणी सरिताओंके रूपमें अठखेलियाँ करती हुई जगतीके सन्तप्त हृदयको शीतल पीयूषवारिसे शान्ति प्रदान करती रहती है, पर संसार-की आँखोंमें हूँ मैं अत्यन्त कठोर।

५—मैं अनन्त सिन्धु हूँ। नामरूपात्मक विश्वकी विभिन्न सम्पूर्ण वस्तुएँ हैं मेरी लहरें। मेरा तट अस्ति और नास्तिके कथनात्मक शब्दोंसे विनिर्मुक्त है और नित्योदित सूर्यकी तरह न मेरा कभी उदय है न अस्त, न जन्म है न मृत्यु, लौकिक बुद्धि चाहे जो कुछ कहती रहे। कारण कि यह बेचारी तो विवेकहीन अस्तोदयके चक्रपर घड़े और मटके उतारती रहती है और मैं हूँ इस पार और उस पारकी दृष्टि-से आगे ऊँचेपर उच्चतम अपने ही लोकमें।

६—मेरी मौन दृढ़ता हिमालयके रूपमें शून्यसे वातें कर रही है और उसके हिमशृङ्गोंपर लगा हुआ है मेरा अखण्ड आसन। वहीं विश्वरहस्यकी मूलाधारशक्ति अपने प्रेमपूर्ण मञ्जुल करोंसे पिलाती रहती है मुझे 'विजया'के प्यालेपर प्याले, और मैं झूमता रहता हूँ निजानन्दमें, हाँ! खुदमस्तीमें।

७—मैं श्मशानको बनाता हूँ मनोरमा रङ्गभूमि, और रोते हुए संसारके सत्यदर्शकोंको दिखाता हूँ महा प्रज्वलित चिताग्निमें जीवन, मधुर सृष्टिका मोहन अभिनय, प्रिय-प्रियतमाका मधुर मिलन और—रौद्रमें शृङ्गार, वीभत्समें वीर, करुणामें हास्य। दुनियाकी आँख देखती है मुझे अति भयानक, पर मैं हूँ परम शान्त। संसार जिस अशिवसे सदा डरकर दूर भागा चाहता है मैं वही हूँ पर, हूँ परम शिव सदाशिव! ॐ! ॐ!! ॐ!!!

बिराना देश

रहना नहिं, देस बिराना है।
यह संसार कागदकी पुड़िया,
बूँद पड़े घुल जाना है ॥ १ ॥
यह संसार काँटकी वाड़ी,
उलझ-पुलझ मर जाना है ॥ २ ॥
यह संसार झाड़ औ झाँखर,
आग लगे बरि जाना है ॥ ३ ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो!
सतगुरु नाम ठिकाना है ॥ ४ ॥

—कबीर

संहारप्रक्रिया तथा चतुर्विध प्रलय

(लेखक—पं० श्रीसीतारामजी मिश्र, साहित्याचार्य, काव्य-व्याकरण-सांख्य-वेदान्त-तीर्थ)

अजमपि जनियोगं प्रापदैश्वर्ययोगा-
दगति च गतिमत्तां प्रापदेकं ह्यनेकम् ।
विविधविषयधर्मग्राहि मुग्धेक्षणानां
प्रणतभयविहन्तृ ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ॥
(श्रीशङ्कराचार्य)

वेदान्तसिद्धान्तके अनुसार जिस क्रमसे भूत और भौतिक पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है उसके ठीक विपरीत-क्रमसे उनका संहार होता है, अर्थात् जो पदार्थ सृष्टिकालमें जिस पदार्थसे सृष्ट होता है, वह उसी पदार्थमें संहारकालमें लीन भी होता है, ऐसा सिद्धान्त है। वेदान्तमें उत्पत्तिका अर्थ है व्यक्ति, और संहारका तात्पर्य है लय। कोई भी पदार्थ असत् होकर उत्पन्न नहीं होता, और न सद्रूपसे किसी पदार्थका नाश ही होता है; किन्तु कारण ही कार्य-रूपसे प्रतिभासित होता है। कारणकी सत्ताके अतिरिक्त कार्यकी कोई सत्ता नहीं है, कारणकी सत्ता ही कार्यकी वास्तविक सत्ता है। उदाहरणार्थ घटको ही लीजिये, मृत्तिकाकी सत्तासे भिन्न घटकी कोई सत्ता नहीं है। यदि घटकी सत्ता मृत्तिकाकी सत्तासे भिन्न होती तो मृत्तिकाका नाश होनेपर भी घट उसी रूपमें बना रहता, नष्ट नहीं होता; किन्तु ऐसा नहीं होता,मृत्तिकाके नष्ट होते ही घट भी नष्ट हो जाता है अतः यह सिद्ध है कि कारणकी सत्ता ही कार्यकी वास्तविक सत्ता है। इसी तरह किसी पदार्थका नाश भी अपने कारण-में लीन हो जाना ही है, अन्य कुछ नहीं। घटका नाश अपने उपादान मृत्तिकामें लीन हो जाना ही समझा जाता है। जब मृत्तिकाके अतिरिक्त घट है ही नहीं तब उसका नाश हो ही कैसे सकता है, उसका नाश तो उसकी व्यक्तिका नाश होनेसे समझा जाता है। पहले वह व्यक्त था, अब वह मृत्तिकामें अव्यक्त रूपसे स्थित है; यदि वह मृत्तिकामें नहीं रहता तो फिर उसकी उससे उत्पत्ति ही कैसे हो सकती थी। जो पदार्थ जिसमें नहीं रहता, वह उससे उत्पन्न नहीं हो सकता; तिलोंसे ही तैल उत्पन्न होता है, क्योंकि उनमें वह है। यदि यह नियम नहीं होता तो बालूसे भी तैल उत्पन्न हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता; तिलोंसे ही तैल उत्पन्न होता है, दूधसे ही मक्खन पैदा होता है। अतः निर्विवाद हमें यह स्वीकृत करना पड़ता है कि संहारका अर्थ उस पदार्थका सर्वथा नाश नहीं है, किन्तु अपने उपादानमें लीन हो जाना ही उसका संहार है। यह है संहारके विषयमें वेदान्तका सिद्धान्त। संहारका ही वेदान्तशास्त्रमें 'प्रलय' शब्दसे व्यवहार है अर्थात् संहार ही वेदान्तमें प्रलय कहा जाता है। प्रलयका अर्थ है त्रैलोक्यनाश। जिसमें इस त्रिलोकीका नाश हो जाता है, वह प्रलय है। वह शास्त्रोंमें चतुर्विध माना गया है—१ नित्यप्रलय, २ प्राकृत प्रलय, ३ नैमित्तिक प्रलय और ४ आत्यन्तिक प्रलय। ये हैं प्रलयके चार भेद, इन्हीं चारों प्रलयोंका इस लेखमें संक्षिप्त विवेचन किया जायगा, पाठक ध्यानपूर्वक पढ़ें।

१—नित्यप्रलय—जो प्रलय प्रतिदिन होता है, उसको नित्यप्रलय कहते हैं। वह है सुषुप्ति, उसमें सकल कार्योंका प्रलय हो जाता है, एक भी कार्य उस समय व्यक्तरूपसे नहीं रहता। अतः सकलकार्यप्रलयरूप होनेसे सुषुप्ति ही नित्यप्रलय है, वह सदा हम लोगोंका प्रलय किया करती है। 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति।' कैव० १, १५। अर्थात् सुषुप्ति-कालमें जब सब कार्य अपने कारणमें लीन हो जाते हैं, उस समय तमोगुणसे आवृत मनुष्य सुखरूपको प्राप्त हो जाता है।

यह श्रुति इसमें प्रमाण है। भगवती श्रुति स्पष्ट कह रही है कि सुषुप्तिसमयमें समग्र कार्योंका अपने कारणोंमें लय हो जाता है, अतः सुषुप्ति भी प्रलय है। वह नित्य होती है, अतः उसका 'नित्यप्रलय' शब्दसे शास्त्रोंमें उल्लेख है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जब सुषुप्त्यवस्थामें सकल कार्य नष्ट हो जाते हैं, तो फिर सोकर उठनेके बाद सुख-दुःख आदिका अनुभव कैसे होता है? सुषुप्तिसे उठकर जो मनुष्य यह कहता है कि 'सुखमहमस्वाप्सम्'—मैं सुखसे सोया, यह क्यों होता है? सुख-दुःखके कारण धर्माधर्मका तो सुषुप्तिमें लय ही हो जाता है, तो फिर उसके कार्य ये सुख-दुःख क्यों उत्पन्न होते हैं? और स्मृतिका कारण संस्कार भी सुषुप्तिमें नष्ट ही रहता है, अतः उसका कार्य सुख-दुःखका स्मरण भी उठनेके बाद नहीं होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जब सुषुप्तिकालमें सब कुछ विलीन हो जाता है, तो फिर मनुष्योंको जो यह अनुभव होता है—'सुखमहमस्वाप्सम्', 'दुःखमहमस्वाप्सम्' (मैं

सुखसे सोया, मैं दुःखसे सोया) वह नहीं होना चाहिये। क्योंकि वहाँ सुख और दुःखके कारण धर्म और अधर्म नहीं रहते और न वहाँ उठनेके बाद उन सुख-दुःख आदिकी स्मृति ही होनी चाहिये, क्योंकि स्मृतिका कारण संस्कार भी वहाँ नहीं रहता।

किन्तु यह प्रश्न कुछ सूक्ष्म विचार करनेपर उसी समय विलीन हो जाता है। यद्यपि सुषुप्तिमें कार्यरूपसे सबका विलय हो जाता है, तथापि कारणरूपसे धर्म, अधर्म और संस्कार आदिकी सत्ता वहाँ रहती ही है; अतः न तो वहाँ धर्माधर्म-कार्य सुख-दुःख आदिके अनुभूत होनेका ही प्रश्न उठ सकता है और न सोकर उठनेके बाद उनकी स्मृति ही अनुपपन्न हो सकती है। क्योंकि वहाँ सुख-दुःखके कारण धर्माधर्म और स्मरणका कारण संस्कार कारणरूपसे विद्यमान रहता है। यहाँ एक दूसरी शंका यह उठती है कि जब सुषुप्तिमें सबके विनाशके साथ-साथ अन्तःकरणका भी विनाश हो जाता है तो फिर उस अवस्थामें प्राण, अपान, व्यान, समान आदिकी क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं ? प्रत्यक्ष देखा जाता है कि सोये हुए मनुष्यका भी अन्न पचता रहता है, श्वास-प्रश्वास आते-जाते रहते हैं। इस शंकाका शास्त्रकारोंने इस तरह समाधान किया है कि अन्तःकरणकी दो शक्तियाँ हैं—एकका नाम है ज्ञानशक्ति, और दूसरीका नाम है क्रियाशक्ति। सुषुप्त्यवस्थामें ज्ञानशक्तिविशिष्ट अन्तःकरणका ही लय होता है, न कि क्रियाशक्तिविशिष्ट अन्तःकरणका। अतः क्रियाशक्तिविशिष्ट अन्तःकरणका लय न होनेसे प्राण, अपान, व्यान आदिकी क्रियाएँ अनुपपन्न नहीं हो सकतीं।

यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति, अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति, अथैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति।

(कौ० ३। २)

अर्थात् 'जब सुप्त मनुष्य स्वप्न नहीं देखता तब वहाँ केवल प्राण ही एक रहता है, सब नामोंके साथ वाक् भी उसी प्राणमें प्रविष्ट हो जाती है।' यह कौषीतकिश्रुति, और—

'सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति।'

(छा० ६।८।१)

'हे सौम्य ! उस समय पुरुष सत्‌से सम्पन्न हो जाता है, अपने-आपको प्राप्त कर लेता है।' यह छान्दोग्यश्रुति इसमें प्रमाण है।

२–प्राकृत प्रलय—कार्यब्रह्मके नष्ट हो जानेपर जो तन्निमित्तक समग्र कार्योंका नाश होता है, उसको प्राकृत प्रलय कहते हैं। यहाँ यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि 'नाश' शब्द यहाँ जहाँ-जहाँ भी प्रयुक्त हुआ है वहाँ सभी जगह उसका लय ही अर्थ है, प्रध्वंस अर्थ नहीं है। सुषुप्तिमें कार्यब्रह्मविनाशनिमित्तक सकल कार्योंका नाश नहीं होता, अतः वहाँ अतिव्याप्ति दोष नहीं आ सकता। कार्यब्रह्मका अर्थ है—हिरण्यगर्भ। प्रथमं[1] जीव वही है, वही आदिकर्त्ता और ब्रह्मा भी है। हिरण्यगर्भको जब परब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है, तब उसको ब्रह्माण्डाधिकारलक्षण प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जानेपर विदेहकैवल्यनामिका परमा मुक्ति प्राप्त हो जाती है, और साथ-साथ हिरण्यगर्भलोकमें रहनेवाले भी परब्रह्मका साक्षात्कार होनेके अनन्तर विदेहमुक्त हो जाते हैं।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

अर्थात् प्राकृत प्रलय प्राप्त होनेपर जब हिरण्यगर्भकी मुक्ति होती है, तब सत्यलोकनिवासी भी ब्रह्मसाक्षात्कार करके विदेहमुक्त हो जाते हैं। यह श्रुति भी यही बतला रही है। अभिप्राय यह है कि समग्र कार्योंका तो प्रकृति (माया) में लय हो जाता है, और कार्यब्रह्म (हिरण्यगर्भ) का परब्रह्ममें लय होता है, और उसके साथ ही उस लोकमें रहनेवालोंका भी उसी परब्रह्ममें लय होता है। यही प्राकृत प्रलय 'महाप्रलय' भी कहा जाता है।

३–नैमित्तिक प्रलय—कार्यब्रह्म (हिरण्यगर्भ) के दिनके समाप्त हो जानेपर जो तन्निमित्तक तीन लोकों (भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक)का नाश होता है, उसको नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। चतुर्युग जितने समयमें एक हजार बार बीतते हैं, उतना समय हिरण्यगर्भका दिन कहलाता है।

'चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते।'

यह वचन इसमें प्रमाण है। यह नैमित्तिक प्रलय उतने कालतक रहता है, जितने काल हिरण्यगर्भका दिन रहता है क्योंकि कार्यब्रह्मका दिन जितना बड़ा है, उतनी ही बड़ी उसकी रात्रि भी है। पुराणोंमें लिखा है—

एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक्।
शेतेऽनन्तासने नित्यमात्मसात्कृत्य चाखिलम्॥

---

[1] स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते।
आदिकर्ता च भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत॥

अर्थात् नैमित्तिक प्रलय वह कहलाता है जब विश्वस्रष्टा भगवान् हिरण्यगर्भ सम्पूर्ण त्रिलोकीको अपनेमें लीन करके सदा शेषशय्यापर सोते हैं।

४–आत्यन्तिक प्रलय–ब्रह्मसाक्षात्कार हो जानेपर जो अज्ञानके साथ सम्पूर्ण कार्योंका विनाश होता है, वह आत्यन्तिक प्रलय कहा जाता है। वह आत्यन्तिक प्रलय एकजीववादियोंके सिद्धान्तमें युगपत् (एक साथ) ही हो जाता है और नानाजीववादियोंके मतमें क्रमसे होता है।

'सर्वं एकीभवन्ति', 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्।' (बृ० २।४।१४)

अर्थात् 'उस समय सब एक हो जाते हैं'; 'जिस समय इसको सब आत्मा-ही-आत्मा दिखलायी देता है, तब वह किससे किसको देख ?' ये श्रुतियाँ आत्यन्तिक प्रलयमें प्रमाण हैं। आरम्भके जो तीन प्रलय हैं, वे तो कर्मोपरतिके कारण होते हैं, और यह चौथा आत्यन्तिक प्रलय ज्ञानोदयके कारण ज्ञानके साथ ही होता है। चतुर्विध प्रलयोंका संक्षिप्त विवेचन हो चुका, अब प्रलयके क्रमका संक्षिप्त विचार किया जाता है। वेदान्तमें नैयायिकोंके अनुसार कारणलयक्रमसे कार्योंका लय नहीं होता, क्योंकि नैयायिकोंका सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है। नैयायिकोंके सिद्धान्तमें तो पहले कारणका लय होता है, और पीछे कार्यका। किन्तु विचारिये, जब कारणका नाश हो गया, तब कारणके बिना कार्य पीछे कैसे रहेगा? जब मृत्तिका नष्ट हो गयी, तब घट क्या रह सकता है। नहीं तो फिर बतलाइये, कारणलयक्रमसे सब पदार्थोंका लय कैसे होगा। अतः ठीक सृष्टिक्रमके विपरीत क्रमसे सब पदार्थोंका अपने कारणमें लय होता है। जैसे जिस क्रमसे सीढ़ियोंपर चढ़ा जाता है उसके ठीक विपरीत क्रमसे उनसे उतरा भी जाता है। उसी तरह पृथिवीका जलमें लय होता है, जलका तेजस्‌में, तेजस्‌का वायुमें, वायुका आकाशमें, आकाशका जीवाहङ्कारमें, जीवाहङ्कारका हिरण्यगर्भाहङ्कारमें और हिरण्यगर्भाहङ्कारका अविद्यामें प्रलय होता है। यही बात विष्णुपुराणमें कही गयी है—

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते॥
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्त प्रलीयते।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्कले सम्प्रलीयते॥

अर्थात् हे देवर्षे! जगत्प्रतिष्ठाभूत यह पृथिवी जलमें लीन होती है, और जल तेजस्‌में और तेज वायुमें लीन होता है। वायु आकाशमें लीन होती है और आकाश अव्यक्तमें और अव्यक्त निष्कल पुरुषमें प्रलीन हो जाता है।

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

* * *

जीवनकी व्यर्थता

साधो, ऐसे आयु सिरानी।
लगत न लाज, लजावत संतन,
करतहिं दंभ-छदंब बिहानी॥ १॥
माला हाथ, लसित तुलसी गर,
अँग अँग भगवत-छाप सुहानी।
बाहिर परम बिराग भजनरत,
अंतस-मति पर-जुवति नसानी॥ २॥
मुखसों ग्यान-ध्यान बरनत बहु,
कानन रति नित बिषय-कहानी।
ललितकिसोरी कृपा करौ हरि,
हरु संताप, सुहृद, सुखदानी॥ ३॥

—ललितकिसोरी

शिवाद्वैतानुसार 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'

(लेखक—पं० श्रीवागीश शिवाचार्यजी)

पूर्ण ज्ञानी महर्षि बादरायण वेदव्यासने लोकहितार्थ स्वरचित 'ब्रह्मसूत्र' नामक शारीरकशास्त्रमें परिपूर्ण ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिसे युक्त चेतनाचेतनविलक्षण परब्रह्मस्वरूप ही मुमुक्षुओंके लिये जिज्ञास्य है, यही बात 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें निदर्शित की है ।

अथ—इस शब्दका अर्थ 'अनन्तर' है । किसके अनन्तर ?

अमृतस्य देव धारणो भूयासम् ।

शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा ।
कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि ।
मेधया पिहितः । श्रुतं मे गोपायेति ॥

(तैत्तिरीयशाखा)

'मैं मोक्षके लिये शिवरूप शिवलिङ्ग धारण करनेवाला होता हूँ, मेरा शरीर पापरहित हो, मेरी जिह्वा मधुर भाषण करनेवाली हो । कानोंसे शिवज्ञानके योग्य कार्य-कारणविषय सुनूँ । हे शिवके उपलब्धाधिष्ठान और लौकिक प्रज्ञासे समावृत ! श्रवणपूर्वक प्राप्त मेरे भक्तिज्ञानादिका रक्षण कर ।'

धारयेद्यस्तु हस्तेन लिङ्गाकारं शिवं सदा ।
तस्य हस्तस्थितं विद्धि मत्पदं सम्पदां पदम् ॥
अक्षपादादयः सर्वे शक्तयः परया मुदा ।
धारयन्त्यलिकाग्रेषु शिवलिङ्गमहर्निशम् ॥
मुखे मन्त्रो हृदि ध्यानं मस्तके लिङ्गधारणम् ।
शिखासूत्रे तथा भस्म एतद्ब्राह्मणलक्षणम् ॥
वामहस्तस्थितं लिङ्गं सावधानेन पूजयेत् ।
मस्तके हृदये कण्ठे धारयेत् सर्वदा द्विजः ॥
पूजयेद्यस्तु हस्तादौ शिवलिङ्गं शिवात्मकम् ।
तस्य हस्तस्थिता मुक्तिः शङ्करस्य प्रसादतः ॥
लिङ्गाङ्गसङ्गिनां चैव पुनर्जन्म न विद्यते ।
युगपज्ज्ञानसिद्धिः स्यात्ततो मोक्षमवाप्नुयात् ॥

—इत्यादि प्रात्यक्षिक श्रुति, आगम, स्मृति, पुराणेतिहासादि प्रमाणोंसे शिवलिङ्गधारणविधिका अग्निहोत्रादिवत् वैदिकत्व सिद्ध होता है । तैत्तिरीयशाखाकी 'यच्छन्दसामृषभो विश्वरूपश्छन्दोभ्योऽध्यमृतात् संबभूव' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार परमेश्वरानुग्रहसे सकल वेदार्थज्ञान प्राप्त किये हुए श्रीरेणुकादि पूर्वाचार्योंने शिवलिंगधारणपरक व्याख्यान किये हैं, इसलिये शिवाद्वैती (शक्तिविशिष्टाद्वैती) श्रुत्युक्त 'अनुभूति'वादी ही हैं । निगमागमोभयवेदान्तप्रतिपादित भक्तिक्रियाज्ञानकाण्डत्रयविहित, स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रपञ्चप्रकाशक 'षट्स्थल' से तथा परशिवसाक्षात्कारहेतु, बहुजन्माचरित यजनयाजनतपोध्यानाद्यनेकपुण्यपूर्वक शरीरत्रयगतमलत्रयध्वंसक, कारुण्य-कल्याण-कैवल्य-विभूतित्रयदायक 'अष्टावरण' और 'पञ्चाचार' सद्गुरुके करुणाकटाक्षसे ही प्राप्त होते हैं और इनका साधन परशिवेष्टलिङ्गधारणात्मक पाशुपत-शिवदीक्षा है जैसा कि ऊपरके प्रमाणोंसे सिद्ध है । अर्थात् 'अनन्तर' पदसे अभिप्राय एवंविध शास्त्रविहित समस्त कर्म परमात्माराधनस्वरूप होने और सत्कर्मप्रभावजनित शमदमादि षट्सम्पत्तिसे युक्त होनेके 'अनन्तर' है ।

अतः—विमर्शशक्त्याश्रयभूत, अनन्तानन्तशक्तिविकासमूल, अनुभव-स्मरण-सविकल्पक-प्रत्यभिज्ञादि-ज्ञान-भूमिकाश्रय परिपूर्ण अहमर्थस्फुरणस्वरूप स्वतन्त्र स्वप्रकाश महेश्वर परब्रह्मका स्वरूपपरिज्ञान ही अनन्तस्थिरफलप्रद है, परशिवब्रह्मण्यतिरिक्त-अग्नीन्द्रादिदेवोपासनरूप यज्ञादिक कर्म अल्प-अस्थिरफलप्रद हैं, यह बात कर्मविचारशास्त्रसे निश्चित है, अतः यही 'अतः' पदका अभिप्राय है ।

ब्रह्मजिज्ञासा—वेदान्तागमोभयप्रतिपादित, स्वाभाविकानन्तशक्तिविशिष्ट, जगदुभयकारण, पशुपाशनियामक, सकलनिष्कलस्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकाशक सत्यज्ञानानन्त कल्याणगुणविभवाश्रयभूत ही 'परशिव'ब्रह्म है । अनादि स्वाभाविक मायापाशबद्ध, घोरापारनिस्सारसंसारतापत्रयानलदन्दह्यमान, नानाशरीरप्रवेशनिर्गमनवर्णाश्रमाभिमानविशिष्ट, कामक्रोधाद्यनुस्यूत सुखदुःखाश्रयभूत ही जीव है। पुरुषतत्त्वाभिहित जीवस्वरूपमें अनादिकालसे सम्बद्ध कर्मरूपा अविद्या महेश्वरकी इच्छाशक्तिसे नियत होनेके कारण उसी इच्छाशक्तिके ही अन्तर्गत है । इसलिये परमात्मस्वरूपके परिज्ञानसे प्राप्त अविद्याकी परमात्मस्वरूपपरिज्ञानके द्वारा निवृत्ति अवश्य होनी चाहिये अर्थात् मूल सर्वज्ञतारूप शक्तिके साथ समरस हो जानी चाहिये। इसके लिये अखण्डविमर्शशक्तिपरिपूर्ण ब्रह्मस्वरूपकी जिज्ञासा ही कर्तव्य है। ब्रह्मसत्यके विषयमें प्रत्यक्ष, अनुमान, आगमादि प्रमाण

हैं। सत्य नित्य परशिव ब्रह्मके साथ जीवका अभेद मानें तो 'द्वा सुपर्णा' आदि भेदश्रुतियोंका विरोध होता है और भेद मानें तो 'तत्त्वमसि' आदि अभेदश्रुतियोंका विरोध होता है। अर्थात् द्वैताद्वैत ही श्रुतिसमन्वय है, अंशतः श्रुतिप्रमाण ग्रहण करने और अंशतः न ग्रहण करनेसे बौद्धादिवत् वेदबाह्यताका दोष होता है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि मन्त्रोंसे द्वैताद्वैतप्रपञ्चका कारण-कार्यत्व निर्दिष्ट है, इन सब कारणोंसे सर्वोपनिषत्सिद्ध भेदाभेदब्रह्ममीमांसा ही जिज्ञास्य है। यही 'जिज्ञासा' पदका अर्थ है।

शारीरक शास्त्रमें समन्वय, अविरोध, साधन और फल, ये चार विषय क्रमसे निरूपित हुए हैं। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें जो 'अतः' पद है उससे समन्वयाध्याय, अविरोधाध्याय और फलाध्यायका अर्थ संगृहीत है। 'ब्रह्म' से जड जीवोभयविलक्षण स्वतन्त्र स्वप्रकाशक शक्तिमत्त्व-स्वभाव ही तात्पर्यतः विषयीकृत हुआ है। इस प्रकार 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' एतद्रूप जो शारीरकवाक्य है, इसी एक सूत्रके अर्थानुसन्धानमात्रसे उत्तम अधिकारी कृतकृत्य हो सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं—

आसुप्तेरा मृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया ।

* * *

शाक्ति-अद्वैतवादकी कुछ विशेषताएँ

(लेखक—श्रीयुत जी० एस० शर्मा)

शांकर अद्वैत और शक्ति-अद्वैतवादमें इतना ही अन्तर है कि शांकरमत ज्ञान-वैराग्य तथा त्यागप्रधान है, वह कर्मसे उपराम बनाकर ब्रह्मवाद अथवा ब्रह्मवादकी स्थापना करता है; किन्तु शाक्तधर्म-कर्मप्रधान है। वह निष्काम कर्मका मार्ग प्रदर्शित करता है। इसीलिये उसे वीरधर्म या वीरमार्ग भी कहते हैं। शाक्त सिद्धान्त कर्म-त्यागकी शिक्षा नहीं देता, न सब कुछ मिथ्या बतलाता है। वह तो ईशोपनिषद्के निम्नलिखित मन्त्रके अनुसार उपदेश करता है कि यह संसार एक कर्मभूमि है। यहाँ माया-मोह और ईर्ष्या-द्वेषका त्यागकर कर्तव्यपालन करना चाहिये, भयभीत होकर त्यागी बननेकी आवश्यकता यहाँ नहीं है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।

शाक्तमत यह घोषणा करता है कि जगदम्बाकी सन्तानोंको घबराने या खिन्न होनेका कुछ भी कारण नहीं है। वह कहता है—'हे माताके अमर पुत्रो! भयभीत मत हो। संसारकी कोई वस्तु तुम्हें डरा नहीं सकती। सर्वथा जगदम्बाके चरणोंमें अपनेको अर्पण कर दो; अहंरूपी पशुकी बलि चढ़ा दो और तत्पश्चात् निर्भीक होकर स्थिर चित्तसे यथारुचि सारे कार्य (निर्लिप्तभावसे) करो। भुक्ति और मुक्ति दोनों ही तुम्हारे चरणोंमें लोटेंगी।'

श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥

शाक्त सिद्धान्तकी यह विशेषता है कि वह प्रकृतिधर्मानुगामी है। एक ऐसे बच्चेको देखिये जिसपर अभी संसारके संस्कार नहीं पड़े। वर्ष-दो वर्षतक बच्चा 'माँ, माँ' इसी महामन्त्रका जप करता रहता है। माँके अतिरिक्त और किसीको जानता ही नहीं। गायका बच्चा भी 'माँ' शब्द करता हुआ ही रँभाता है। माता ही जनन, पालन, शिक्षण, ताड़न आदि सब कुछ करती है। भगवती श्रुति भी कहती हैं—'मातृदेवो भव'। सबसे प्रथम और श्रेष्ठ स्थान माँका ही है। माँका स्वरूप स्त्रीस्वरूप ही है। सक्रिय ब्रह्मकी (जो प्रकृति या मायासे संवलित है) दार्शनिक कल्पना स्त्रीरूपमें ही हो सकती है। यूरोपके प्रसिद्ध दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने कहा है—

The female is the primary and original sex. Originally and normally all life centers around the female. The male is not necessary to the scheme of life.

वास्तवमें तो वह परा शक्ति न स्त्री है, न पुरुष। लिङ्गकी कल्पना तो व्यवहार और उपासनाके लिये ही की गयी है। देवीभागवतमें कहा है—

नाहं स्त्री न पुमांश्चाहं न क्लीबं सर्गसंक्षये ।

इसी कारण श्रीउमानन्दनाथ भगवती परा शक्तिका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

यस्या दृष्टो नैव भूमण्डलांशो
यस्या दासो विद्यते न क्षितीशः ।
यस्या ज्ञातं नैव शास्त्रं किमन्यै-
र्यस्याकारः सा परा शक्तिरेव ॥

यह भगवतीका दिक्कालातीत स्वरूप है, किन्तु उपासनाके लिये साकार स्वरूप ग्रहण किया जाता है। उपासनाका मनुष्य-जीवनमें बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। जो जिसकी उपासना करता है वह वही बन जाता है। यह एक सुनिश्चित सत्य है।

पाठकोंसे मेरी यह प्रार्थना है कि यदि उन्हें अपना, अपने समाज और अपने देशका कल्याण करना है तो वे अपनी उपासनाकी पद्धति बदल दें। वे वीरमार्गकी उपासनाकर शक्तिमान् बनें। शक्तिमान् बनकर ही संसारके सभी भोग प्राप्त किये जा सकते हैं। अभेदत्वकी प्राप्ति भी इसीसे हो सकती है। स्वस्वरूपका दर्शन और अखण्ड अद्वैतामृतका पान करते हुए जीवन-मरणके बन्धनोंसे छूट जानेका यही उपाय है। यही 'वाममार्ग' नामसे प्रसिद्ध है (शक्ति-अद्वैतवाद भी इसे ही कहते हैं), इसका एकमात्र अधिकारी वह है जो अपनेको शिशुवत् बना ले और माताकी ही शरणमें पहुँच जाय। मेरुतन्त्रमें इस मार्गका अधिकारी वह बतलाया गया है—

परद्रव्येषु योऽन्धः स्यात् परस्त्रीषु नपुंसकः ।
परापवादे यो मूकः सर्वदा विजितेन्द्रियः ॥
तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता ।

'जो परद्रव्यके लिये अन्ध, परस्त्रीके लिये नपुंसक और परनिन्दाके लिये मूकवत् है वह जितेन्द्रिय ब्राह्मण ही वाममार्गका अधिकारी है।' यह मार्ग सुगम नहीं है, अत्यन्त गहन है—

वामो मार्गः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ।

अन्तमें महामाया भगवती परमा शक्तिसे यही प्रार्थना है कि हे माँ—

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नोपोपवनवति चिन्तामणिगृहे ।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम् ॥

सदा तुम्हारा यह स्वरूप आँखोंके सामने रहे। सर्वत्र तुम्हें ही देखूँ। वे आँखें न रहें जो भिन्न भावसे देखना चाहें। वह हृदय टूक-टूक हो जाय जिसमें तुम्हारे अतिरिक्त अन्यकी कल्पना हो। हे माँ, मुझे केवल तुम्हारी जरूरत है। तुम्हारी ही इच्छा मेरे जीवनमें पूरी हो। तुममें और मुझमें कुछ भी भेद नहीं है। माँ! मुझे इन साकार-निराकारके झगड़ोंमें न पड़ने दो। हे दयामयि! अपना अभय वरद हस्त मेरे मस्तकपर रक्खो और मुझे पुत्र कहकर सान्त्वना दो। मैं सदैव तुम्हारा यह गान गाता रहूँ—

न मोक्षस्याकाङ्क्षा भवविभववाञ्छापि च न मे
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः ।
अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै
मृडानी रुद्राणी शिव शिव भवानीति जपतः ॥

'न तो मुझे मोक्षकी आकांक्षा है, न सांसारिक वैभवकी वाञ्छा। न मुझे विज्ञानकी अपेक्षा है, न सुखकी अभिलाषा। हे शशिमुखि! मैं तुझसे यही प्रार्थना करता हूँ कि प्रतिक्षण तेरा ही नाम जपते हुए मेरा सारा जीवन व्यतीत हो।'

गठरीके चोर

तेरी गठरीमें लागे चोर, बटोहिया! का सोवै ॥ टेक ॥
पाँच पचीस तीन है चोरवा, यह सब कीन्हा सोर ।
जागु सबेरा, बाट अनेरा, फिर नहिं लागै जोर ॥
भवसागर एक नदी बहतु है, बिनु उतरे जाव बोर ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो! जागत कीजै भोर ॥

—कबीर

विशेषाद्वैतसिद्धान्त

(लेखक—श्रीनिजसिंहासनाधीश्वर जगदाचार्य स्वामी विरूपाक्षजी)

जगत्के सृष्टि, पालन, संहार, तिरोधान (अदर्शन) और अनुग्रह—इन पाँच कार्योंका कर्ता कोई है, ऐसा तो मानना ही पड़ेगा। श्रुतिने जो 'असद्वा इदमग्र आसीत्' कहा है, इसमें 'असत्' शब्दसे ब्रह्मके सूक्ष्म रूपका ही कथन है, उसकी शून्यता (अत्यन्ताभाव) का नहीं। यदि ऐसा न मानें तो 'ततो वै सदजायत' (उससे सत्की उत्पत्ति हुई)—इस अगले वाक्यसे विरोध हो जायगा। इसलिये यहाँ 'असत्' शब्दका आकाशपुष्प और शशशृङ्गकी भाँति अभावरूप अर्थ लेना ठीक नहीं। कारण, अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

'पृथिवी आदि भूतोंके मेलसे स्वभावतः जड-चेतनकी उत्पत्ति हो जाती है' यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि सूर्य, चन्द्रमा, ऋतु, समुद्र और काल आदिकी, कर्ताकी अपेक्षा रखकर ही, अपने-अपने धर्मोंमें प्रवृत्ति देखी गयी है। रथ, दरवाजा, महल, चहारदिवारी आदि सभी कार्य ऐसे हैं जो प्रत्येक कार्यमें किसी चेतन कर्ताका होना सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार गोबरमें भी जो गुप्तरूपसे कीड़े हो जाते हैं वे स्वतः उत्पन्न नहीं होते, उनको भी ईश्वरने ही स्थापित कर रक्खा है।

सब तरहकी सहायताओंसे युक्त राजा-महाराजाओंको भी उनकी इच्छाके विरुद्ध रोग, चिन्ता, जरा, मरण और दरिद्रता आदिके चंगुलमें फँसते देखकर हम इसी निर्णयपर पहुँचते हैं कि जीवोंको उनके अन्य जन्मोंमें किये हुए पुण्य-पाप आदि कर्मोंके अनुसार स्वामीके समान फल देनेवाला और स्थूल-सूक्ष्म, जड-चेतन, सबको प्रकाश पहुँचानेवाला सत्य-ज्ञानमय अनन्त कल्याणमय गुणोंसे युक्त वैभवशाली कोई ब्रह्म अवश्य है।

इसी प्रकार विद्वान् लोग अपने अनुसन्धानसे यह भी ढूँढ़ निकालते हैं कि स्वाभाविक अनादि मायापाशमें बँधा हुआ, भयङ्कर एवं अपार संसारके त्रिविध तापरूप अग्निसे जलता हुआ तथा अनेकों शरीरोंमें प्रवेश करने, निकलने और काम-क्रोधादिसे सम्बद्ध होकर सुख-दुःखका पात्र बना हुआ जीव भी है ही। यद्यपि यह जीव ब्रह्मसे भिन्न है, तथापि 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्म और जीवके प्राप्यप्रापकभावका उपदेश होनेके कारण और कीट तथा भ्रमरमें* एवं लोहे तथा उसके रस (भस्म) में स्वाभाविक भेदकी भी निवृत्ति देखी जानेके कारण यह निश्चय किया जाता है कि अद्वितीय ब्रह्मका ज्ञान हो जानेसे जीवके स्वाभाविक त्रिविध मलरूप मायामय बन्धनजन्य दुःखकी निवृत्ति होती है और वह जीव परम शिवके साथ एकतारूप मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

सृष्टिके पूर्व ब्रह्मके अतिरिक्त जगत्की उपादानकारणभूत प्रकृति भी तो थी, फिर ब्रह्मका अद्वैतभाव (एकमात्र होना) कैसे सिद्ध होता है? ऐसी यदि कोई शङ्का करे तो उसका उत्तर यह है कि वह प्रकृति ईश्वरकी शक्ति होनेके कारण उससे पृथक् नहीं है, जैसे अयस्कान्तमणि (चुम्बक) की आकर्षणशक्ति और अग्निकी दाहकशक्ति अयस्कान्तमणि और अग्निसे पृथक् नहीं देखी जाती।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
(श्वेता० १ । ३)

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥
(श्वेता० ६ । ८)

'उन्होंने ध्यानमग्न होकर स्वयंप्रकाश परमेश्वरकी सत्त्वादि गुणोंसे आच्छन्न हुई शक्तिका साक्षात्कार किया।' 'इनकी स्वाभाविक पराशक्ति नाना प्रकारकी सुनी जाती है और इनमें ज्ञान तथा बलसम्बन्धिनी क्रियाएँ भी स्वाभाविक हैं।'

—इत्यादि श्रुतियोंमें ईश्वरकी पराशक्ति स्वभावसिद्ध है। उपर्युक्त विषयको आचार्य श्रीपति पण्डितने अपने श्रीकरभाष्यमें बहुत सुन्दर ढंगसे स्पष्ट किया है—

'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ'; 'न कदाचिदनीदृशं जगत्'; 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।'

---

* भ्रमरके विषयमें यह प्रसिद्धि है कि वह किसी दूसरे कीड़ेका अंडा उठा लाता है और उसे किसी स्थानपर रखकर वहाँ भन्न-भन्न शब्द किया करता है, इसके शब्दसे भयभीत होकर वह कीट इसीका चिन्तन करते-करते इसीके समान रूप धारण कर लेता है और ऐसा ही बोलने भी लगता है।

'ज्ञानयुक्त ईश्वर और अज्ञानयुक्त जीव–ये दोनों ही अजन्मा हैं।' 'जगत् कभी अन्य प्रकारका नहीं होता (सदा ऐसा ही रहता है)।' 'ये सम्पूर्ण भूत उसका एक पाद हैं और अमृतरूप तीन पाद स्वर्गमें हैं।'

—इत्यादि श्रुतियोंके द्वारा यह सिद्ध है कि समुद्रसे प्रकट हुए फेन और तरङ्ग आदिकी तरह समस्त जगत्की परमात्मासे ही उत्पत्ति होती, उनमें ही स्थिति रहती और उनमें ही उसका लय होता है। इसलिये महान् आकाशके अन्तर्वर्ती पवन आदिकी भाँति सम्पूर्ण जगत्का परमेश्वरमें ही अन्तर्भाव है। जगत्की उपादानभूत जो ईश्वरकी शक्ति है वह उनके एक देशमें रहती है, और प्रकृति तथा जीवमें नित्यताके साथ ही तादात्म्य सम्बन्ध है; क्योंकि प्रकृति तो स्वभाव है और स्वभावका अपनेसे पृथक् निर्देश नहीं किया जा सकता। अतएव मायाविशिष्टताका बोध भी पृथक् नहीं किया गया। ईश्वर, माया और जीवका पारस्परिक सम्बन्ध निम्नाङ्कित श्रुतिसे स्पष्ट है—

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः। (श्वेता० ६।१६)

'परमात्मा अव्यक्त प्रकृति तथा जीवका स्वामी और सत्त्वादि गुणोंका नियामक है।'

इस प्रकार श्रुतिमें ब्रह्मके सर्वज्ञत्व आदि असाधारण धर्मोंका उपदेश होनेके कारण ब्रह्म शुद्ध चेतन है और स्वाभाविक अविद्यापाशसे बद्ध होनेके कारण जीवमें जड-चेतनभावका सम्मिश्रण है। इसी प्रकार महत्तत्त्व आदि जगत्की उपादानकारण होनेसे त्रिगुणमयी प्रकृति केवल जड है।

इसपर यदि कोई यह शङ्का करे कि यदि ब्रह्म शुद्ध चेतन है तो वह जगद्रूप और जड प्रपञ्चरूप कैसे हो सकता है, तो इसका समाधान यह है—

'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च'

—इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार यदि चेतन मकड़ीसे अचेतन जालेकी उत्पत्ति देखी जाती है तो अघटितघटनापटीयसी शक्तिसे युक्त परमेश्वरके लिये तो कहना ही क्या है? इस प्रकार श्रुति भी 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (जिससे इन भूतोंकी उत्पत्ति होती है) इस वचनके द्वारा ईश्वरकी निमित्तकारणता बतलाती है और 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (महाप्रयाण करते समय सभी भूत जिसमें प्रवेश कर जाते हैं) इस वाक्यसे उपादानकारणताका प्रतिपादन करती है। इस तरह परमेश्वरको अभिन्ननिमित्तोपादानकारण बताकर—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत'

'यह सारा प्रपञ्च ब्रह्म है; क्योंकि यह उससे ही उत्पन्न होता, उसीमें लीन होता, और उसीके सहारे जीवित रहता है—इस प्रकार शान्तभावसे उपासना करे।'

—इस श्रुतिके द्वारा जड और चेतन तथा प्रपञ्च एवं परम शिवमें कार्यकारणभाव तथा एकत्वका प्रदर्शन करती है। यही वैदिक सिद्धान्त है।

अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि क्या ब्रह्मको जगत्का कारण माननेपर मृत्तिका आदिके समान उसको विकारी मानना पड़ेगा? इसका उत्तर है–नहीं; क्योंकि माया ईश्वरका स्वभाव है, उस मायाके द्वारा ही वह जगत्का उपादानकारण है, इसलिये यहाँ कोई विरोध नहीं है। चार पदार्थोंकी सत्ता होनेपर सर्वत्र ही भ्रमकी सम्भावना होती है। यहाँ ब्रह्मसे इतर वस्तुका अभाव है, इसलिये भ्रमकी सम्भावना नहीं है। यदि इतर वस्तुकी सत्ता स्वीकार करते हैं तो अद्वैतभावकी हानि होती है, और यदि नहीं स्वीकार करते तो भ्रम होता है। इसी भ्रमके निवारणार्थ—

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'; 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'

'ब्रह्मवेत्ता परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।' 'उसीको जानकर मृत्युको पार करता है।'

—इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मको तम (अज्ञान) से परे बतलाया गया है। उसीके ज्ञानसे जीवोंकी मुक्ति होती है—इस प्रकार ब्रह्मको मुक्तिका कारण कहा गया है।

इस तरह वेदान्तके सार-तत्त्वको न जाननेके कारण कुछ लोग मोहित होकर वेदका उलटा अर्थ लगानेके लिये यत्नशील हो ब्रह्मके शक्तिविशिष्टाद्वैतभावकी कल्पना करते हैं, परन्तु उनका मत भ्रममूलक है।

इसी प्रकार स्वप्नके समान इस प्रपञ्चको मिथ्या बतलानेवाला मत भी समीचीन नहीं है, क्योंकि इस प्रपञ्चमें अर्थसिद्धि और क्रियासिद्धि देखी जाती है तथा यहाँ विधि-निषेधविधायक शास्त्र और आचार्योंके उपदेश किये हुए कर्तव्य भी प्राप्त होते हैं। तथा—

'नाभाव उपलब्धेः।' (२।२।२८)

'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्।' (२।२।२९)

'बाह्य पदार्थोंका ग्रहण होता है इसलिये उनका अभाव नहीं माना जा सकता।' 'जाग्रत् अवस्थामें उपलब्ध होनेवाले पदार्थ स्वप्न आदिकी भाँति मिथ्या नहीं हैं, क्योंकि स्वप्न और जागरण—ये परस्पर विरुद्ध धर्मवाले हैं।'

—इन सूत्रोंके द्वारा भगवान् व्यासने प्रपञ्चको स्वप्न और इन्द्रजालके समान बतलानेवालोंके मतका अनेकों प्रकारसे खण्डन किया है। भगवान् श्रीकृष्णने भी मिथ्यावाद नहीं स्वीकार किया है, वे मिथ्यावादियोंपर इस प्रकार कटाक्ष करते हैं—

'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।'

'वे जगत्को मिथ्या, अस्थिर और ईश्वरशून्य कहा करते हैं।

मिथ्यावाद इसलिये भी त्याज्य है कि उसमें अनेकों दोष दीख पड़ते हैं, जैसे जगत्को मिथ्या माननेपर यह प्रश्न उठता है कि इस प्रकारके निर्विशेष ब्रह्मकी सत्तामें क्या प्रमाण है? यदि कहो, श्रुति ही प्रमाण है ता श्रुति भी तो जगत्के ही अंदर है, अतः जगत्के साथ वह भी मिथ्या हुई; फिर तो मिथ्या श्रुतिके प्रतिपादन किये हुए ब्रह्मको भी मिथ्या कहा जा सकता है। यदि तुम ब्रह्ममें अध्यास (आरोप) स्वीकार न करो तो मुक्तिमें कोई बाधा ही नहीं दिखायी देती और यदि स्वीकार करो तो वह अध्यास स्वाभाविक होगा, इसलिये उसमें सभी श्रुतियोंका समन्वय ही नहीं हो सकता। इसी प्रकार जीव, ब्रह्म और मोक्ष आदिका भी मिथ्यात्व माना जाने लगेगा। इसीलिये जगत्का मिथ्यात्व वारण करनेके निमित्त वेदान्तमें ब्रह्मसे उत्पन्न हुए जगत्को 'यह ब्रह्मका ही स्वरूप है' ऐसा बतलानेवाला निम्नाङ्कित—

'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः।' (२।१।१४)

—सूत्र बनाया गया है। तथा—

'न मिथ्यात्वाय कल्पन्ते जगतः शिवरूपतः।'

'जगत् शिवका ही स्वरूप है, इसलिये इसे मिथ्या नहीं मानते।'

—इस प्रकार दूसरी स्मृतियोंमें भी उक्त कथनका ही पोषण किया गया है।

अतः हम लोग अवयवावयविभावकी व्यवस्था करनेवाले द्वैतपाञ्चरात्र आदिकी भाँति जीवको अङ्ग और ईश्वरको अङ्गी माननेवाले सावयववादी नहीं हैं; क्योंकि जीवको ईश्वरका अङ्गविशेष माननेपर ईश्वरमें भी जीवकी तरह सुख-दुःख तथा भयकी आपत्ति माननी पड़ेगी। तथा ऐसा माननेपर—

'आकाशवत्सर्वगतश्च पूर्णः।'

'वह आकाशके समान सर्वव्यापक और पूर्ण है।'

—इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंका विरोध होगा।

इसी प्रकार हम घट-पट आदिकी तरह ईश्वर और जीवमें अत्यन्त भेद भी नहीं मानते तथा रज्जु-सर्पकी भाँति ईश्वर-जीवमेंसे एक मिथ्या है—यह भी हमें मान्य नहीं है; क्योंकि अत्यन्त भेद मानने या एकको मिथ्या माननेसे 'सत्यकामः' 'सत्यसंकल्पः' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध स्वाभाविक अनन्त कल्याणमय गुणोंके अभावका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। हम तो जिसमें सभी श्रुतियोंका समन्वय है उस भेदाभेदवादको ही माननेवाले हैं। जैसे 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि श्रुतिके द्वारा संसारप्राप्तिकी दशामें जीव और ब्रह्ममें भेद है और 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके द्वारा मोक्षदशामें अभेद है। इस तात्त्विक सिद्धान्तका आश्रय लेकर श्रीश्रीकराचार्य विशेषाद्वैतसिद्धान्तका निम्नाङ्कितरूपसे प्रतिपादन करते हैं—

श्रुत्येकदेशप्रामाण्यं द्वैताद्वैतमतादिषु।
द्वैताद्वैतमते शुद्धे विशेषाद्वैतसंज्ञके॥
वीरशैवैकसिद्धान्ते सर्वश्रुतिसमन्वयः।
विशब्देनोच्यते शम्भुर्द्वा सुपर्णेति मन्त्रतः॥
शेषशब्देन शारीरो यथाग्नेरिति मन्त्रतः।
अद्वैतेन भवेद्योगो यथा नद्यादिभिस्तथा॥

'द्वैत और अद्वैत आदि मतोंमें श्रुतिका एकदेश ही प्रमाणभूत होता है, परन्तु जो शुद्ध द्वैताद्वैतमत है, जिसे विशेषाद्वैत या वीरशैवसिद्धान्त भी कहते हैं, एकमात्र उसीमें सभी श्रुतियोंका समन्वय है। 'विशेषाद्वैत' के 'वि' शब्दसे शिवका प्रतिपादन होता है, यहाँ 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' यह श्रुति प्रमाण है। तथा 'शेष' शब्दसे 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः' इस मन्त्रके आधारपर देहधारी जीवका कथन होता है। और 'यथा नद्यः' इस मन्त्रके अनुसार जिस प्रकार समुद्रसे नदीका योग होता है वैसे ही जीव और शिवके संयोगका 'अद्वैत' शब्दसे प्रतिपादन किया गया है।

ॐ शिवः।

शिवाद्वैतके भाष्य

(लेखक—काव्यतीर्थ, साहित्यविशारद पं० श्रीचन्द्रशेखरजी शर्मा)

हमारे इस भारतवर्ष देशमें वेदागमजीवी तथा परम वेदिक अनेकानेक मताचार्योंने ब्रह्मसूत्र-शिवसूत्रपर शिव-विष्णुपरक भाष्य रचकर अपने-अपने सिद्धान्तोंका प्रचार किया है। द्वैत और अद्वैतसिद्धान्तोंके जिस प्रकार अनेक भाष्य हैं, उसी प्रकार द्वैताद्वैत (शक्तिविशिष्टाद्वैत) सिद्धान्तके भी अनेक भाष्य हैं । जगदादिशिवाज्ञानुसार शिवलिंगसे आविर्भूत श्रीजगद्गुरु रेणुक, दारुक, एकोराम, पण्डिताराध्य और विश्वाराध्य नामोंसे प्रसिद्ध शिवाचार्योंने वेदागमाभिप्रायानुसार 'शिवसूत्र' के भाष्य रचकर 'शिवाद्वैत' सिद्धान्तकी स्थापना की। इन आचार्योंका समय अति प्राचीन है, यह बात साढ़े पाँच हजार वर्षसे चली आयी हुई उनकी शिष्यपरम्परासे स्पष्ट ही प्रकट है। इन शिवाद्वैतसंस्थापक मूल पञ्चाचार्योंने भाष्य रचे, यह बात प्राचीन ग्रन्थोंसे जानी जाती है। लगभग सहस्र वर्ष पूर्व श्रीकराचार्य (श्रीपति पण्डित) ने 'ब्रह्मसूत्र'पर 'शक्तिविशिष्टाद्वैत'प्रतिपादक भाष्य लिखा, जो श्रीकरभाष्य*के नामसे प्रसिद्ध है। इस भाष्यमें सन्दर्भानुसार एकोराम शिवाचार्य (श्रीजगद्गुरु पञ्चाचार्योंमेंसे एक) द्वारा रचित 'अधिकरणभाष्य' के अभिप्राय स्थान-स्थानमें उल्लिखित हैं। इनके अतिरिक्त दशोपनिषदोंके भाष्यकार वृषभ पण्डिताराध्य पण्डितके तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यके आरम्भमें—

वेदव्यासं सूत्रकारं दुर्वासं वृत्तिकारकम् ।
भाष्यकृत्पण्डिताराध्यं प्रपद्ये पाशमुक्तये ॥

—इस प्रकार पाशविमोचनार्थ सूत्रकार वेदव्यास और वृत्तिकार दुर्वास ऋषिके साथ भाष्यकार पण्डिताराध्यका नमन करके मङ्गलाचरण किया है। फिर इन्हीं पण्डिताराध्य पण्डितने अपने 'महानारायणोपनिषद्भाष्य' में 'विश्वाराध्यादयस्तु अस्यामुपनिषदि दहरोपासनाविषये······योजयितुं शक्यमिति प्रोचुः।' इस प्रकार उल्लेख किया है, जिससे पूज्यपाद विश्वाराध्य आचार्यकृत भाष्यका होना सिद्ध होता है। श्रीजगद्गुरु रेणुकाचार्यकृत 'रेणुकभाष्य' तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है, जिसका विवरण 'कल्याण' के 'शिवाङ्क' में पृ० ३५० पर प्रकाशित हो चुका है। इन भाष्योंके अतिरिक्त श्रीकण्ठ शिवाचार्य, श्रीनीलकण्ठ शिवाचार्य, स्वप्रभानन्द शिवाचार्य, परमतकालानल शिवाचार्य, परवादिभयङ्कर शिवाचार्य, वज्रनखाराध्य, उद्भटाराध्य, वेमनाराध्य आदि प्राचीन पण्डितोंद्वारा रचित उत्तम शिवाद्वैतसिद्धान्तग्रन्थ सुप्रसिद्ध ही हैं। पूर्वोक्त श्रीकरभाष्यमें शक्तिविशिष्टाद्वैतभाष्यकर्ता श्रीरेणुक, दारुक, एकोराम, गोकर्ण, शंकुकर्ण, उपमन्यु, दधीचि, गौतम, दुर्वास, अगस्त्य आदि पूर्वाचार्योंके नाम आये हैं। प्रसंगानुसार शाखान्तर्गत श्रीनीलकण्ठ और श्रीकण्ठ* आदि आचार्योंके नाम भी आये हैं और स्थान-स्थानमें अद्वैतभाष्यकार श्रीमच्छंकराचार्य और विशिष्टाद्वैतभाष्यकार श्रीमद्रामानुजाचार्यका भी नामोल्लेख हुआ है। भाष्यकार श्रीनीलकण्ठ श्रीकराचार्यके भी पूर्व हुए, यह बात श्रीकरभाष्यमें उनके नामोल्लेखसे विदित होती है। दसवीं शताब्दीमें काश्मीरके नाथानन्द शिवाचार्यके शिष्य स्वप्रभानन्द नामक वीरशैवाचार्यने 'शिवाद्वैतमञ्जरी'† ग्रन्थ लिखा। काश्मीरके सोमानन्द शिवाचार्यकृत 'शिवदृष्टि' ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त काश्मीरदेशप्रसिद्ध 'शिवसूत्र' 'शिवसूत्रवार्तिक', 'स्पन्दकारिका', 'त्रिंशिकाशास्त्र', 'चिदागमचन्द्रिका', 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' आदि ग्रन्थ प्रमाणभूत माने जाते हैं।

---

* यह ग्रन्थ अभी देवनागरीलिपिमें नहीं मुद्रित हुआ है, आन्ध्र अक्षरोंमें मुद्रित मद्रास, मैसूर, काशी आदि स्थानोंमें मिलता है।

* अनेक पण्डित अवतक श्रीकण्ठभाष्यको ही श्रीनीलकण्ठभाष्य बतलाते आये हैं । परन्तु ये दोनों ग्रन्थकार और इनके ग्रन्थ अलग-अलग हैं। श्रीकरभाष्यमें श्रीनीलकण्ठ शिवाचार्य और श्रीकण्ठ शिवाचार्य ये दोनों नाम दो पृथक् आचार्योंके लिये आये हैं। 'क्रियासार' नामक सुप्रसिद्ध शिवाद्वैतग्रन्थमें यह बात और भी स्पष्ट हो गयी है, जहाँ ग्रन्थकारने यह कहा है कि 'नीलकण्ठ शिवाचार्यकृत विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादक भाष्यको मैं यहाँ कारिकारूपसे निबन्धन करके कहता हूँ।' श्रीकण्ठभाष्य सर्वत्र मिलता है, श्रीनीलकण्ठभाष्य अभीतक कहीं नहीं मिला । हाँ, इसका कारिकारूप 'क्रियासार' मिलता है, जिसमें ३२ उपदेश (अध्याय) हैं।

† इस परम उपादेय ग्रन्थका अनुवाद कर्णाटक भाषामें भी प्रकाशित हुआ है।

वेदान्त और शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्त

(लेखक—श्रीपञ्चाक्षरजी शास्त्री)

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

सकल शास्त्रमें पारङ्गत विद्वानोंको यह तो मालूम ही होगा कि वेदान्तमें प्रपञ्चके मायिक बन्धनसे छूटनेके द्वारा शिव और जीवके एकत्वकी स्थापना की गयी है । इसीलिये बड़े-बड़े विद्वानोंने संसारमें अन्य सब शास्त्रोंकी अपेक्षा वेदान्तशास्त्रकी ही प्रधानताका इस प्रकार वर्णन किया है—

तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा ।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्तकेसरी ॥

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार सिंहके सामने गीदड़ मौन रहते हैं उसी प्रकार वेदान्तके विषयमें सभी शास्त्र मूक हो जाते हैं । परम प्रमाणभूत इस वेदान्तशास्त्ररूप समुद्रसे मन्थन करके निकाले हुए अमृतको ही भिन्न-भिन्न आचार्योंने स्वयं पान किया और दूसरोंको पान कराया था । द्वैताद्वैत तथा विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तके प्रतिपादक शास्त्र भी वेदान्तमूलक होनेके कारण प्रामाणिक मानकर मुमुक्षुओंद्वारा गृहीत होते हैं । इसी प्रकार जो शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्तरत्न है, वह भी वेद-सम्मत है—यह सभी वेदवेत्ताओंको स्पष्टरूपसे ज्ञात है ।

वेद, आगम और उपनिषदोंके परिशीलनसे श्रीजगद्गुरु रेणुकाचार्य आदिने इस शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्तरत्नका स्थापन किया है । उनके ही मतका अनुसरण करनेवाले शिवाद्वैतवादी, भेदाभेदवादी और वीरशैव इत्यादि समानार्थक शब्दोंसे कहे जाते हैं ।

वेदान्त और शक्तिविशिष्टाद्वैतशास्त्रमें प्रायः एकीकरण है । इसमें शिव और जीवकी एकताका प्रतिपादन किया गया है । इसी सिद्धान्तभूत ऐक्यको शक्तिविशिष्टाद्वैतवादी 'लिङ्गाङ्गसामरस्य' कहते हैं । 'अंग' नाम है जीवका और 'लिङ्ग' शिवकी संज्ञा है; इन दोनोंकी एकताका ही 'लिङ्गाङ्गसामरस्य' शब्दसे प्रतिपादन किया गया है ।

सिंहगर्जनाके समान जो वेदान्तमें 'तत्त्वमसि' महावाक्य है उसीके अर्थभूत लिङ्गाङ्गसामरस्यका शिवाद्वैतदर्शनमें इस प्रकार प्रतिपादन किया जाता है—

लिङ्गं तत्पदमाख्यातमङ्गं त्वंपदमीरितम् ।
संयोगोऽसिपदं प्रोक्तमनयोरङ्गलिङ्गयोः ॥

'लिङ्ग 'तत्' पद कहा गया है, अङ्ग शब्दसे 'त्वम्' पदका कथन है और इन दोनोंका संयोग 'असि' कहा गया है ।'

लिङ्ग (शिव) और अङ्ग (जीव) का सम्बन्ध और ही प्रकारका है, इन दोनोंमें सर्वथा अभेद ही है । ऐसे लिङ्ग और अङ्गकी एकतासे प्रकट हुआ जो आनन्द है उसीका नाम ब्रह्मानन्द है । एकमात्र अनुभवसे ही जाननेयोग्य और वेदान्तशास्त्रका रहस्यभूत जो लिङ्गाङ्गसामरस्य है—यही वीरशैवोंका जीवनभूत है । जैसा कि कहा जाता है—

द्वैताद्वैतमतं वीरशैवं मोक्षैककल्पकम् ।
सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारं सर्वार्थसिद्धिदम् ॥

इसका भाव यह है कि शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्तकी महत्ताका वेदान्तमें भलीभाँति प्रतिपादन हुआ है, अथवा वीरशैवसिद्धान्त समस्त वेदान्तका सारभूत है ।

शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते ।
शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥

'शक्ति और शक्तिमान्, दो पदार्थ कहे जाते हैं; शक्तिमान् स्वयं महेश्वर हैं और इनकी शक्तियाँ ही सारा जगत् है ।'

वेदान्तमें अधिकतर हम शिवशक्तिका ही विलास देखते हैं । दृश्य और सूक्ष्मरूपसे स्थित यह समस्त चराचर प्रपञ्च शिव-शक्तिसे विशिष्ट है और यह शिव तथा शक्ति—दोनोंका स्वरूप ही है, इसी सिद्धान्तका शक्तिविशिष्टाद्वैतशास्त्रमें प्रतिपादन किया जाता है ।

शिवं भूयात् ।

आधुनिक दृष्टिमें वेदान्तका तात्पर्य

(लेखक—श्री वी० सुब्रह्मण्य अय्यर)

वेदान्तकी शिक्षाका जो कुछ स्वल्पांश मैं ग्रहण कर पाया हूँ उसके लिये मैं अपने परम श्रद्धेय गुरु श्रीसच्चिदानन्द शिवाभिनव नरसिंहभारती स्वामी (शृंगेरीमठके भूतपूर्व जगद्गुरु) महोदयका पूर्णतः ऋणी हूँ। उन्होंने अपने विनश्वर शरीरमें ही भारतवर्षके बाहर भी इस युगके एक सच्चे ज्ञानीकी उच्चातिउच्च प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। उन्हींके चरणोंमें शिष्यकी भाँति बैठनेका अमूल्य अधिकार मुझे मिला था। इस समय उन्हीं चरणोंमें पुनः मानसिक प्रणाम करता हूँ।

उन्होंने ही वेदान्तके ये तीन कभी न भूलने योग्य लक्ष्य मेरे हृदयमें सन्निविष्ट कर दिये थे—

१—वेदान्त भूतमात्रके सुखकी साधना करता है (सर्वसत्त्वसुखे हितः)।

२—वेदान्त कभी किसी दार्शनिक या धार्मिक सम्प्रदायसे विरोध नहीं करता।

३—वेदान्त-तत्त्वमें दूसरोंसे विवादके लिये स्थान ही नहीं है। संसारके किसी भी व्यक्ति या विचारपरम्परापर विजय प्राप्त करनेकी यह चेष्टा नहीं करता, क्योंकि समस्त विचारोंको यह अपना ही अङ्ग मानता है (यथा स्वहस्तपादादिभिः)। ओ३म्

संसारको सहस्रों बार वेदान्तकी व्याख्याएँ बतलायी जा चुकी हैं। यह कहा जा सकता है कि जो कुछ उनमें कहा जा चुका है उसमें कोई नयी बात जोड़नेकी और जो तत्सम्बन्धी सारग्रन्थ हैं उनमें कोई वृद्धि करनेकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु पूर्व कालसे ही कितने ही व्यक्तियोंके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे यह प्रकट किया गया और इसके प्रकट करनेकी आवश्यकता हुई; इससे यह प्रतीत होता है कि संसारकी परिवर्तनशील प्रकृतिके कारण भिन्न-भिन्न समयोंकी संस्कृति और ज्ञानके अनुरूप वेदान्तके नये-नये वर्णन करने ही पड़ते हैं। वर्तमान समयमें प्राचीन पूर्वी और नवीन पश्चिमी सभ्यताके सम्मिश्रणके फलस्वरूप एक नयी ही दृष्टि उत्पन्न हो गयी है। साथ ही यह युग प्रधानतः विज्ञानका युग कहा जाता है। अतः यहाँ हमने इस आधुनिक दृष्टिसे वेदान्तपर विचार करनेकी चेष्टा की है।

'वेदान्त' शब्दका अर्थ पौर्वात्य और पाश्चात्य दोनों ही देशोंमें कई प्रकारसे किया गया है। अधिकांश लोगोंके लिये इसका तात्पर्य धार्मिक या धर्मशास्त्रीय वस्तु है। कुछके लिये यह पाण्डित्यपूर्ण सिद्धान्तनिरूपण या मीमांसामात्र है। जो इन दोनों स्वरूपोंसे ऊबे हुए हैं, उनके लिये वेदान्त रहस्यपूर्ण अनुभूति, योगसमाधि या महात्माओंकी कृपासे प्राप्त की गयी दिव्यदृष्टि है। परन्तु जैसा कि 'वेदान्त' शब्दसे ही लक्षित होता है, वह न केवल वेदकी ही वरं ज्ञानमात्रकी पराकाष्ठा है। वह उस तत्त्वका अन्वेषण करता है जिसपर अन्य समस्त ज्ञान अवलम्बित हैं ('ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्')। अन्य शब्दोंमें वेदान्त सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान और अनुभवोंको अपनेमें समाहित कर लेता है। धर्म, सम्प्रदाय, मत-मतान्तर, योगादि तथा समस्त विज्ञान और कलाएँ (वेद+अन्त) उसके अन्ततक पहुँचनेके उपकरण, साधन या सीढ़ियाँ हैं। स्वभावतः असंख्य प्राणियोंकी रुचि तथा उनके ज्ञान और सामर्थ्यके अनुसार इनके अनेकानेक भेदोपभेद भी हैं। अधिकांश व्यक्ति धर्मको ही वेदान्त समझकर सन्तोष कर लेते हैं, परन्तु यहाँ हम केवल धर्म या ईश्वरोपासना और उसके अनेक भेद अथवा कर्मकाण्ड और उसके आशयका विवेचन न करेंगे। न हम साम्प्रदायिक धर्म अथवा आत्माके स्वरूप, स्वर्ग-नरकादि, सत्-असत् या ईश्वर और जीवसम्बन्धी विषयोंपर ही विचार करेंगे। शास्त्रोंके अनेकानेक पाठों तथा अर्थोंकी, जो व्याकरण, साहित्य या न्याय आदिसे सम्बन्धित हैं, यहाँ चर्चा न की जायगी और न योगसम्बन्धिनी रहस्यपूर्ण साधना, सुखानुभूति तथा अलौकिक शक्ति या सिद्धियोंका ही उल्लेख किया जायगा। यहाँ हम मीमांसा, न्याय, सांख्य आदि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों या सिद्धान्तोंका खण्डन नहीं करेंगे, जो सभी सम्प्रदाय कई प्रकारसे वेदान्तकी पुष्टि ही करते हैं। इस लेखमें हमारा प्रयोजन उस मूलभूत सिद्धान्तका उद्घाटन कर देना है, जिसका अवलम्बन कर मानवबुद्धि परमतत्त्वकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्त होती है। यही चरम सत्ताकी प्राप्ति वेदान्तदर्शनका भी उद्देश्य है।

वेदान्त उन्हींके लिये है जो सत्यको शेष सम्पूर्ण वस्तुओंसे श्रेष्ठ समझते हैं, जो सब कुछ देकर सत्यकी ही प्राप्तिकी

इच्छा रखते हैं। वे आनन्दके उतने एकान्त इच्छुक नहीं हैं जितने सत्यके। सत्य ही शेष सम्पूर्ण सिद्धियोंका साधन है ('सत्यमेव जयति, सत्येन लभ्यः')। इसीलिये वेदान्त-दर्शनका प्रथम प्रश्न यही है कि 'सत्य क्या है?'

अन्य सब उपकरण या सीढ़ियाँ मत (व्यक्तिगत विचार) कही जाती हैं, किन्तु वेदान्तका सम्बन्ध किसी मत-विशेषसे न होकर तत्त्वसे ही है। इसका सम्बन्ध परमार्थ-तत्त्वसे है। यह मनुष्योंकी रुचि या इच्छासे नितान्त स्वतन्त्र है। जिस प्रकार दो और दोका योग सदा चार ही है, इसी प्रकार सर्वोत्कृष्ट सत्य भी सदैव एकरस रहता है। सत्य वही है जिसमें कहीं विरोध या वैपरीत्य न हो और न उसकी सम्भावना ही हो। इस सत्यतक पहुँचनेकी जो सीढ़ियाँ हैं उनमें नीचेके स्तरोंमें मतभेद अधिक होते हैं, या उनकी अधिक सम्भावना रहती है। उदाहरणार्थ भिन्न-भिन्न उपासना-पद्धतियों या रहस्यानुभूतियोंके सम्बन्धमें कितने अधिक मत-मतान्तर हैं। वे सभी उत्तरोत्तर क्षीण होते जाते हैं। वेदान्तका उद्देश्य इस मतभेदको मिटा देना तो है ही, यह उस ज्ञानको भी प्राप्त करनेका लक्ष्य रखता है जिसे प्राप्तकर सब कुछ जाना जाता है और सारी शंकाएँ विलीन हो जाती हैं ('छिद्यन्ते सर्वसंशयाः')। इस प्रकार हम मतसे ऊपर उठकर तत्त्वतक पहुँचते हैं।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि इस तत्त्वज्ञानकी उपयोगिता क्या है, जब कि इस ज्ञानको प्राप्त करके भी मनुष्य प्रकृतिके उन्हीं नियमोंसे शासित होते हैं जिनसे इतर जन? इसका उत्तर वेदान्त यह देता है कि ज्ञानके इस उद्दिष्ट स्थलपर पहुँच जानेपर सारी ईप्सित वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं ('ब्रह्मविद् आप्नोति परम्', 'सर्वं तदस्मिन् समाहितम्' इति)। तब न तो कोई अप्राप्य वस्तु रह जाती है, न कोई भय ही शेष रहता है। सत्य तो यह है कि केवल ज्ञान ही नहीं, सम्पूर्ण जीवनकी पूर्णता प्राप्त हो जाती है। हमारे अस्तित्वकी सार्थकता पूर्णरूपसे सिद्ध हो जाती है (यही परम पुरुषार्थ है)।

वेदान्त ऐसे किसी अनुभव या ज्ञानकी अवहेलना नहीं करता जो जीवनके किसी भी पक्षसे सम्बद्ध है। वह समस्त जीवनके सम्पूर्ण अंगों और स्वरूपोंका मूल्य निरूपण करता है। वह जीव और जगत्की समस्त सत्ताको अपनेमें निहितकर मनुष्यको उसीके जीवनकालमें पूर्णताकी प्राप्ति कराना चाहता है। वेदान्तके अनुसार मनुष्यके सारे उद्योग इसी पूर्णताकी प्राप्तिके लिये क्रमशः ऊँचे चढ़नेकी सीढ़ियाँ हैं।

मार्ग

इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये वेदान्त बुद्धिके आधारपर विचार आरम्भ करता है। वह प्रतीयमान दृश्य वस्तु अर्थात् जगत्से अपना विवेचन आरम्भ करता है। धार्मिक या साम्प्रदायिक गवेषणाकी भाँति वह किसी अज्ञात या अननुभूत शक्ति (ईश्वर आदि) की जिज्ञासासे नहीं शुरू करता। वह किसी वस्तुको, जबतक वह बुद्धिकी परीक्षामें उत्तीर्ण न हो जाय, सत्य स्वीकार नहीं करता। वेदान्तके अतिरिक्त अन्य सभी विचारधाराएँ आनन्द या सुखप्राप्तिको ही सत्य या उद्देश्य मानती हैं। वे यह भूल जाती हैं कि मिथ्यासे भी सुख या सन्तोषकी प्राप्ति हो जाया करती है, परन्तु वेदान्त सत्यके अनुसंधानमें आनन्दका भी अतिक्रमण करता है, उसके भी पार पहुँच जाता है। आनन्दको तो वेदान्त एक कोष (आवरण) मात्र मानता है।

आनन्द और सुख-सन्तोषसे परे पहुँचकर सत्यका अनुसंधान करनेवाला कोई धीर पुरुष ही हो सकता है। पश्चिमी देशोंके हमारे आधुनिक विज्ञानवेत्ता भी धीर नहीं कहे जा सकते। कारण यह है कि वे अपने उद्देश्य या सुख-सम्बन्धी लक्ष्यविशेषसे निरपेक्ष नहीं हो सके हैं। अतः स्वभावतः उनका सत्य पक्षपातपूर्ण या अतिरञ्जित होता है। चरम सत्यको प्राप्त करनेके लिये सारी वासनाओंके त्यागपूर्वक पूर्ण वैराग्य धारण करनेकी अनिवार्य आवश्यकता है।

धीर साधककी विशेषता यह होती है कि वह कुछ इस भाँति प्रश्न करता है—वेदमें, बाइबलमें, कुरानमें तथा ऐसे ही धर्मशास्त्रोंमें जो कुछ लिखा है अथवा प्राचीन ऋषियों या नवीन विज्ञानविशारदोंके द्वारा जो बातें कही गयी हैं या कृष्ण, बुद्ध, खीष्ट, मुहम्मद, शङ्कर, रामानुज, मध्व आदि महान् शिक्षकोंके द्वारा जो शिक्षाएँ दी गयी हैं वे सत्य हैं, यह हम कैसे समझें? आधुनिक अनुसंधानोंमें कुछ अत्यन्त प्रामाणिक विज्ञानी यह विचार प्रदर्शित करते हैं कि रहस्यात्मक या योगसम्बन्धी अनुभव मानसिक भ्रान्तिमात्र हैं (देखिये ब्रेडबी महोदयकी Logic of the Unconscious या बरनर्ड हर्टकी Psychology of Insanity नामक पुस्तक)। प्रश्न यह है कि हम उन्हें वैसा ही क्यों न समझें? यदि अनेकानेक रहस्यवादियोंके ईश्वरसाक्षात्कार

Prof. Amodavardhana Kaundinhyayana Collection, Kathmandu, Nepal

करनेपर भी संसारसे युद्धों, महामारियों और भूकम्पोंका अन्त नहीं हुआ तो क्या कम-से-कम ईश्वरसे संकेत पाकर वे दुनियाँके लोगोंको आनेवाली विपत्तियोंकी आगाही भी नहीं करा सकते ?

जो केवल 'हीनदृष्टि' या 'कृपणस्मृति' रखते हैं और जो यह परीक्षा नहीं करते कि शास्त्रपरम्परा तथा अधिकारी पुरुष क्या कहते हैं, वे वास्तवमें वेदान्तकी धीर सत्य-साधनाके अधिकारी नहीं हैं। वेदान्त तो बुद्धिनिर्णीत सत्यकी खोजका निर्देश करता है। उनकी दृष्टिका जैसा उत्तम वर्णन भागवत तथा महाभारतमें हुआ है, अन्यत्र नहीं हो सकता। सत्यके धीर अन्वेषकोंके सम्मुख यदि स्वयं ईश्वर उपस्थित होकर कहे कि मैं ईश्वर हूँ, तो वे पूछेंगे कि 'हम कैसे समझें कि आप ईश्वर हैं और जो कुछ आप कह रहे हैं वही सत्य है ?' इस ऊँचे स्तरपर बहुत कम विचारधाराएँ पहुँची हैं। इतिहासमें यह एक ही उन्नत सिद्धान्त प्राप्त होता है। जब किसी मनुष्यमें सत्यके अन्वेषणका यह धीरभाव भर जाता है तब वह विचारके क्षेत्रमें प्रवेश करनेके योग्य होता है। यह विचार ही वेदान्तदर्शन कहा जाता है। वेदान्त ऐसी किसी वस्तुको सत्य नहीं मान सकता जो बुद्धिकी कसौटीपर सत्य न उतरे। श्रुति (शब्दप्रमाण) इस सत्यसाधनाका प्रथम सोपान है। युक्ति उससे ऊँची भूमिपर आती है। अन्तिम सोपान अनुभवका है। अनुभव ही सार्वभौम और निर्विवाद होकर सारे भेदोंको नष्ट कर देता और अन्तमें ज्ञान कहलाता है। यह अनुभव ही सर्वोच्च न्यायालय है।

पद्धति

वेदान्तका विद्यार्थी सर्वप्रथम अपने ज्ञात भौतिक और मानसिक जगत्की गति-विधिकी जिज्ञासासे ही अपना कार्य आरम्भ करता है। अनुभवसे उसे शिक्षा मिलती है कि जीवनमें दुःख और अज्ञान है। वह क्रमशः इस दुःख और भ्रान्तिके कारणोंको दूर करता है। इस कार्यके लिये आवश्यक ज्ञान प्राप्त करते हुए उसे विदित होता है कि उसके पास जितनी ही कम विवेच्य वस्तु या विचारसाधन होंगे उतनी ही अधिक त्रुटि हो सकती है। अधिक-से-अधिक विस्तृत क्षेत्रसे एकत्र किये गये प्रमाणोंसे प्रमेय सत्य अधिक निर्भ्रान्त हो सकता है। वह यह भी समझता है कि जितना ही कम अज्ञान होगा, दुःख तथा भयको दूर करनेकी उतनी ही अधिक सम्भावना भी होगी, और उतनी ही अधिक आनन्दकी उपलब्धि हो सकेगी।

दर्शनशास्त्रकी परिभाषा यदि यह की जाय कि वह जीवन या अस्तित्वके सम्पूर्ण आधारकी बुद्धिसंगत मीमांसा करता है—परम्परा या शास्त्रसापेक्ष नहीं, तो हम वेदान्तदर्शनको अन्य सम्पूर्ण दार्शनिक विचारधाराओंसे एक मुख्य बातमें भिन्न पाते हैं। अन्य सभी दर्शन केवल जाग्रत् अवस्थाके आधारपर विवेचन करते हैं, वे जाग्रत्की ही दृष्टिसे सारी वस्तुओंपर विचार करते हैं; किन्तु वेदान्त जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओंको अपनी विचारसीमामें रखता है और इन तीनोंको अपने तत्त्व-विवेचनके लिये उपयोगी मानता है। यूरोपमें स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओंका मनोविज्ञान तथा शरीरविज्ञानकी दृष्टिसे गहन अध्ययन किया गया है, पर तात्त्विक या दार्शनिक दृष्टिसे उनपर अबतक वहाँ विचार नहीं किया गया। यूरोपीय तथा भारतीय सभी विचारपरिपाटियाँ यह मान लेती हैं कि जाग्रत् अवस्थाकी अनुभूत वस्तुएँ वास्तविक या सत्य हैं और स्वप्नकी वस्तुओंके सम्बन्धमें ही सत्यासत्यका मतभेद है। परन्तु वेदान्त इसे इस प्रकार स्वीकार नहीं करता। यहाँ इस समस्यापर स्थानाभावके कारण विचार नहीं किया जा सकता, केवल वेदान्तदर्शनके इस सम्बन्धके निष्कर्षको ही हम प्रकट कर सकते हैं। उसका कथन है कि जाग्रत्की अवस्था स्वप्नावस्थासे पूर्ण समानता रखती है। जबतक ये दोनों अवस्थाएँ रहती हैं तबतक दोनों ही सत्य प्रतीत होती हैं, पर वास्तवमें वे असत्य हैं। जाग्रत् अवस्थाका संसार भी स्वप्नसृष्टिकी ही भाँति असत्य है। दृश्यमान संसार केवल कल्पना है, यह श्रेष्ठ वैज्ञानिकोंकी ही खोज नहीं है अपि तु संसारके सभी समयोंके अग्रगण्य विचारकोंका यही निश्चय है। प्लेटो, शेक्सपियर, शोपेनहार, बर्कले और काण्ट आदिकी गणना इसी श्रेणीमें की जा सकती है। यही वेदान्तका शाश्वत रहस्य है। मैत्रेयी उपनिषत्का यह कथन है—

'संसार अपनी ही कल्पना है। यत्नपूर्वक इस (अपनी कल्पना) को विशुद्ध करना चाहिये।

जैसी कल्पना होगी वैसा ही वह बनेगा। यही चिरन्तन रहस्य है।'

पञ्चदशीमें कहा है—'बाह्य संसार हमारा मन ही है। इसे शुद्ध करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यह पुरातन सत्य रहस्यरूपमें सुरक्षित है कि मन जिस ओर प्रवृत्त होता है वही रूप धारण करता है। (विस्तारके साथ इस विषयका प्रतिपादन माण्डूक्योपनिषद् अध्याय २ के १—१६ मन्त्रोंमें किया गया है।)

यह मनकी कल्पनाका संसार, जो हमारी जाग्रत् और स्वप्नावस्थाके जगत्‌की सृष्टि करता है, सुषुप्तिकी अवस्थामें हमारे अहंकारके साथ ही विलीन हो जाता है। यद्यपि हमारा मोह संसारके प्रति इतना प्रबल होता है तथापि वह (संसार) नींदमें नहीं रह जाता। यह कोई नहीं कह सकता कि हमारी सुषुप्तिके समय संसारकी सत्ता रहती है। जिसे आधुनिक विज्ञानका ज्ञान है वह जानता है कि संसार केवल कल्पना है। एडिंगटन महोदयका कथन है कि यदि मोटे शब्दोंमें निष्कर्ष या सारकी बात कही जाय तो वह यही है कि 'यह संसार जिस वस्तुका बना हुआ है वह मानसिक वस्तु ही है। हमारा परिचित संसार मनकी सृष्टि है। बाह्य भौतिक संसार अब छायामात्र रह गया है। संसारसम्बन्धी भ्रमके निवारणके लिये हमने जो प्रयास किये उनके परिणामस्वरूप संसारका ही निवारण हो गया, क्योंकि हमने देख लिया कि सबसे बड़ी भ्रमकी वस्तु तो स्वयं संसार ही है।' जीन्स महोदय भी इस विषयमें एडिंगटनसे सहमत हैं। यहीं विज्ञान रुक जाता है। किन्तु वेदान्त प्रश्न करता है कि 'सुषुप्तिकी अवस्थामें इस (संसारकी सृष्टि करनेवाली) कल्पनाका क्या रूप होता है ?'

सारा (काल्पनिक) संसार और उसके साथ ही अपना व्यक्तित्व अथवा अहंकार सुषुप्तिकालमें लुप्त हो जाता है यह तो सभी जानते हैं। यह स्थूल, सारयुक्त, भौतिक संसार, जो इतना अधिक सत्य समझ पड़ता है, पर जो गाढ़ी नींदमें रह ही नहीं जाता, इसी कारण असत्य कहा जाता है। इसे ही मिथ्या या माया कहते हैं।

कुछ अन्य उत्कृष्ट विज्ञानवेत्ताओंने भी इस प्रकारकी बात कही है—'यह जीव, जो हमारे संसारका सुस्पष्ट केन्द्र है, जो संसारमें अत्यधिक अनुरक्त है, क्या कभी नष्ट हो सकता है ? इसके बिना तो निश्चय ही संसारकी सत्ता ही नहीं रहती। तथापि यह जीव प्रतिरात्रि मृत्युको प्राप्त होता है। हम इस बातका पता नहीं लगा सकते कि किस क्रमसे यह जीव आरम्भमें अपनेपनका बोध प्राप्त कर पाया।'—(जूलियन हक्सले और एच० जी० वेल्स)

कल्पना (या मन) की तीनों अवस्थाएँ (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) जो एकके बाद दूसरी आती और विलीन होती हैं, मिथ्या हैं। परन्तु जो वस्तु इन तीनों अवस्थाओंके आते-जाते रहनेका ज्ञान रखती है, जिसे साक्षी कहते हैं, वह निश्चय ही स्थिर है। यदि वह स्थिर न होती तो इन परिवर्तनशील अस्थिर अवस्थाओंका भान ही न होता। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि 'अहं' या 'मैं' नामक वस्तु भी जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें देखे गये संसारका ही अंग है, अतः वह भी मिथ्या है। वह क्षणमें उदय होती और क्षणमें लोप हो जाती है। साक्षीका आना-जाना कोई नहीं जानता। इसलिये वह नित्य कहा गया है। वह सम्पूर्ण दृश्य वस्तुओंसे भिन्न है। उसका बोध इस मिथ्या संसार-विषयक शब्दोंसे नहीं कराया जा सकता। वह साक्षात् चेतन है और वही अन्तिम सार वस्तु है। मैक्स प्लैंक श्रोडिंजर, आइन्सटीन, एडिंगटन तथा जीन्स आदि सर्वोत्कृष्ट विज्ञानवेत्ताओंका यही मत है। इसके आगे कल्पना विलीन हो जाती है (जैसे सुषुप्तिमें) और पुनः उदय होती है (जाग्रत् और स्वप्नमें), अतः हम उसे चेतना या साक्षी ही जैसी सारपूर्ण वस्तु समझते हैं। पर यथार्थतः इस 'सारपूर्ण' शब्दका प्रयोग उक्त वस्तुके साथ नहीं किया जा सकता। इसीलिये साक्षी (द्रष्टा) या चेतन वस्तुको 'आत्मा' शब्दसे अभिहित करते हैं। पुनः जब संसार जाग्रत् तथा स्वप्नकी अवस्थाओंमें प्रकट होता है तब यदि हम यह देख सकें कि सारी दृश्य वस्तु और जीव भी वास्तवमें एक ही हैं तो इस एक व्यापक तत्त्वको ब्रह्म कहेंगे।

तो क्या हमारी जाग्रत् अवस्थाका सम्पूर्ण ज्ञान और विशेषतः विविध विज्ञानोंसे प्राप्त ज्ञान निष्प्रयोजन ही है ? इसका उत्तर यह है कि सभी विज्ञान उस अन्तिम सत्यकी ओर संकेत करनेके कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। दर्शन-शास्त्र बिना विज्ञानकी सहायता न कभी अस्तित्वमें आया है और न आ सकता है। पर गत युगोंमें किस प्रकार यह शास्त्र विज्ञानके आधारपर अवलम्बित रहा है और वर्तमान कालमें प्रत्येक विज्ञानशाखा इस उद्देश्यकी पूर्तिमें कहाँतक सहायक हो रही है, ये विषय इस निबन्धकी सीमाके बाहर हैं।

सत्य

हम कैसे समझें कि वेदान्त जिसका उद्घाटन करता है वही सर्वोच्च सत्य है। सत्यका लक्षण, जो ऊपर बतलाया जा चुका है, यह है कि उसके सम्बन्धमें कोई विरोध या शंका कदापि उत्पन्न नहीं हो सकती, न विरोधकी कल्पना ही की जा सकती है। यह वह अवस्था है जिसमें भेदकी या शंकाकी कोई दूसरी वस्तु रहती ही नहीं। यह अद्वैत-

स्थिति ही उपर्युक्त कसौटीमें खरी उतर सकती है। अतः जब जाग्रत् और स्वप्नकी सारी सृष्टि अपने स्वरूपमें साक्षी या द्रष्टासे भिन्न नहीं प्रतीत होती अर्थात् जब सत्तामात्रकी एकताका ज्ञान हो जाता है, तब सर्वोच्च सत्यकी प्राप्ति भी हो जाती है।

यहाँ वेदान्तका मूलभूत सिद्धान्त यही है कि मनुष्यके विचार या व्यक्तित्वपर जो कुछ अवलम्बित है अर्थात् जो कुछ 'पुरुषतन्त्र' है वह अवश्य ही सत्य न होकर मनुष्यके भावों और प्रवृत्तियोंके रंगमें रँगी हुई वस्तु है। सत्य सम्पूर्ण रागोंसे स्वतन्त्र है। वह अपनी ही शक्ति (वस्तुतन्त्र) पर स्थित है। इसलिये सत्यके अनुसन्धानके लिये मुख्य कार्य यही है कि इन व्यक्तिगत रंगों (रूपों) को दूर कर दिया जाय।

वेदान्ती जिसे अहङ्कारका सर्वथा नाश कहते हैं। और आधुनिक विज्ञानवेत्ता जिसे Self-elimination या depersonalization कहते हैं, उसका आधार यही है। इसके पश्चात् उपनिषदों और गीतामें कहा गया है कि सर्वोच्च सत्य बुद्धिग्राह्य है। बुद्धिकी शुद्धिके लिये अनेक साधनाएँ करनी पड़ती हैं। इनमेंसे प्रधान मनोनिवेश या एकाग्रता है। यह एकाग्रता बिना शान्ति, धैर्य, शुद्धाचार आदिके नहीं आ सकती। 'अहं' के विनाश अथवा वैराग्यके उदयके साथ ही वस्तुओं और धारणाओंके प्रति आसक्ति जाती रहती है ('इहामुत्रफलभोगविरागः')।

दोष

सत्यके अन्वेषणमें अनेक बाधाएँ और विक्षेप उत्पन्न होते हैं, जिनके प्रति सतर्क रहनेकी आवश्यकता है। ये सब अज्ञानके कारण ही उत्पन्न होते हैं। अज्ञान केवल ज्ञानका अभाव ही नहीं है। सन्देहयुक्त ज्ञान (संशय), अपूर्ण ज्ञान (अभावन), अनिश्चित ज्ञान (असम्भावन) तथा काल्पनिक या परस्परविरोधी ज्ञान (विपरीत ज्ञान) तथा जाग्रत् अवस्थाके इसी प्रकारके अन्य भावरूप ज्ञान भी अज्ञान ही हैं।

कारण, ख्याति, जीवभेद तथा अन्य प्रसङ्ग

यद्यपि वेदान्ती यह जानता है कि सत्य अद्वैतस्वरूप ही है, तथापि जब उसे उन लोगोंके तर्कोंका उत्तर देना होता है, जो जाग्रत्‌के अनुभवको ही एकमात्र विश्वसनीय मानते हैं, तथा जिनकी सत्यसम्बन्धी धारणा द्वैतभावसे शून्य हो नहीं सकती तब उसे बाध्य होकर जाग्रत् अवस्थाके असंख्य भेदोंपर विचार करना होता है। वास्तवमें वे भेद असंख्य ही हैं, क्योंकि आंशिक आधार (जाग्रत्‌की अवस्था) पर ही अवलम्बित होनेके कारण अनन्त शंकाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं। इनमेंसे कुछ मुख्यपर हम यहाँ विचार करेंगे।

१ कार्यकारणभाव-सम्बन्ध—पहला प्रश्न यह है कि साक्षी या द्रष्टा तथा दृश्यमें परस्पर किस प्रकारका सम्बन्ध है? सांसारिक वस्तुओंके विषयमें ऐसे स्थलोंपर कार्यकारण-भाव-सम्बन्ध ही दिखायी देता है, परन्तु पूर्ण विचारके साथ परीक्षा करनेपर यह कार्यकारणभाव-सम्बन्ध काल्पनिक और मिथ्या सिद्ध हो जाता है (विशेष विवरणके लिये 'गौड़पादकारिका' देखिये)। 'अजाति' या कारणहीनता ही वेदान्तका इस विषयमें अन्तिम निर्देश है। आधुनिक विज्ञानके नवीनतम निर्णयोंके द्वारा इसका समर्थन किया गया है। Indeterminacy या अनिर्देश्यताका सिद्धान्त जो Quantum Physics (पदार्थविज्ञान) में आया है, निश्चय ही इसी ओर संकेत कर रहा है। आधुनिक समयके दार्शनिकोंमें काण्ट (Kant) के द्वारा भी कार्यकारणभाव-सम्बन्धको मनोभव या काल्पनिक कहा गया है, जो ठीक ही है।

२ ख्याति—यदि कार्यकारणभाव-सम्बन्ध मिथ्या है तो वेदान्त इस बातका क्या उत्तर देता है कि दृश्य वस्तु प्रकट और लुप्त कैसे हुआ करती है तथा उसे देखनेमें हमसे भ्रान्ति क्यों हो जाया करती है? प्रत्यक्ष या इन्द्रियजन्यज्ञानसम्बन्धी कितने ही सिद्धान्त इस विषयको समझानेके लिये उपस्थित किये जाते हैं—उदाहरणार्थ अख्याति, आत्मख्याति, सत्ख्याति, असत्ख्याति आदि। पर इनमेंसे प्रत्येक दूसरेका खण्डन कर देता है। सत्यका जो रूप ऊपर निर्धारित किया गया है उसके अनुसार ये सब अमान्य सिद्ध हो जाते हैं। मनका भौतिक वस्तुके साथ किस प्रकारका सम्बन्ध है यह ब सकना असम्भव है। इसलिये वेदान्तीका सिद्धान्त अनिर्वचनीयताख्याति कहा जाता है। इसीके साथ दृष्टि-सृष्टि (देखना ही सृष्टि या संसार है) का सिद्धान्त संलग्न है। विचार या मानसिक क्रियासे ही देश, काल, निमित्त आदिका आविर्भाव होता है, अतः ये सब मनःप्रसूत ही हैं। बिना इनका प्रसंग उपस्थित किये कोई अन्तिम सत्य तत्त्वका विवरण शब्दोंद्वारा दे ही नहीं सकता।

३ भेद–यदि आत्मा या साक्षीके अतिरिक्त किसी दूसरी त्ताके अस्तित्वका प्रमाण नहीं है तो वेदान्ती जीवोंकी अनेकताका क्या समाधान करता है, जो जाग्रत् अवस्थामें अनेक शरीरोंके रूपमें दिखायी देते हैं ? इसका उत्तर प्रश्न-र्ताकी पूर्व धारणाके अनुकूल ही है कि वह देश, काल और निमित्त आदि मनद्वारा रची गयी वस्तुओंसे ही मनको संलग्न रखता है। अवच्छेदवाद, आभासवाद, बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद आदि केवल प्रतिज्ञाएँ हैं। ये सब एक दूसरेसे खण्डित हो जाती हैं। सत्यकी कसौटीपर ये उत्तीर्ण नहीं होतीं। भेद तो असत्स्वरूप है ही। इनमेंसे कतिपय तर्कणाएँ पाश्चात्य दर्शनोंमें भी इसी रूपमें पायी जाती हैं, किन्तु ये सब अनिश्चयात्मक हैं। अबतक सबसे उत्तम सिद्धान्त यही प्रस्तुत किया गया है कि मन और भूत (भौतिक पदार्थ) एक ही हैं। भ्रान्तियोंका कारण यही है कि हम केवल जाग्रत् अवस्थाकी ही सीमामें रहकर विचार करते हैं।

४ प्रमाण तथा व्याख्या–भारतवर्षमें शास्त्रों तथा प्राचीन विचारोंकी विवृति करनेवाले साहित्यकी बहुत बड़ी सम्पत्ति है। यद्यपि वे मनुष्यकी बुद्धिको दर्शनके उच्च सिद्धान्तोंकी ओर उन्मुख करनेकी दृष्टिसे अत्यन्त उपयोगी हैं, तथापि चरम सत्यका साक्षात्कार करानेमें उनकी गति नहीं है। कारण यह है कि सत्यके स्वरूपका तो स्वतन्त्र रीतिसे निश्चय करना होगा और तब यह देखना होगा कि किसी शास्त्र तथा उसकी व्याख्यामें सत्यका साक्षात्कार करानेकी योग्यता है या नहीं। पाण्डित्ययुक्त विवाद और शास्त्रार्थका मूल्य तो सीमित ही है, क्योंकि शास्त्रादि इस दृश्य जगत्की तथा जाग्रत् अवस्थाकी ही वस्तुएँ हैं। इनका अस्तित्व केवल जाग्रत्की दशामें रहता है। बृहदारण्यक उपनिषत्का तो यह वाक्य है कि 'शास्त्रकी सत्ता सत्यके क्षेत्रमें नहीं है।'

इस प्रकार केवल जाग्रत् अवस्थाको ही सीमा मानकर बनाये गये मतोंमें विवादके प्रसंग वास्तवमें असंख्य हैं। अतः इनके सम्बन्धमें कहा गया है कि वे (साधककी) बालदशामें ही अधिक उपयोगी हैं। जब जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओंके आधारपर विवेचन किया जाता है, अर्थात् जब वेदान्त अपने यथार्थ स्तरपर पहुँचता है तब सत्यविषयक एक अभिनव विचार प्रकट होता है।

प्रयोजन

वेदान्तका उद्देश्य व्यक्तिको उस चरम सत्यकी उपलब्धि कराना है, जिसके प्राप्त होनेपर दुःखसे आत्यन्तिक निवृत्ति मिल जाती है, उस दुःखका कारण चाहे जो कुछ हो। यह मनुष्यको मृत्युके उपरान्त अमरता नहीं प्रदान करता—जैसी कि अन्य धर्मोंकी शिक्षा है। यह मृत्युके पूर्व ही अमरता प्रदान करता है। यही तो वास्तविक अमरता है। वेदान्त मनुष्यको सत्कार्य करनेके लिये बाध्य नहीं करता, अपनी कोई साम्प्रदायिक शिक्षा दूसरोंपर नहीं लादता, न उन्हें किसी प्रकारका प्रलोभन ही देता है। कारण यह है कि सभी साम्प्रदायिक सिद्धान्त इसके ही हैं—इन्हीं मार्गोंसे मनुष्य अन्तमें सत्यतक पहुँच सकता है। वेदान्त किसी एकको दुखी बनाकर दूसरेके सुखका विधान नहीं करता; कारण, सभी तो अपनी ही आत्मा हैं।

वेदान्ती कैसे पहचाना जाय ?

उपनिषद्, महाभारत, भागवत तथा अन्य अनेक प्रामाणिक ग्रन्थ एक स्वरसे कहते हैं कि जिसने ब्रह्मको प्राप्त कर लिया है वह व्यावहारिक जीवनमें अन्य मनुष्योंसे पृथक् नहीं किया जा सकता ('धीरो वर्तमानोऽपि लोकवत्')। सत्यका ज्ञाता पुरुष या स्त्री, राजा या रंक, बालक या युवा, किसी भी जाति, किसी भी सम्प्रदायका हो सकता है। ऐसा व्यक्ति किसी विशेष गुण या स्वभावके द्वारा नहीं पहचाना जाता। वेदान्ती कोई बाहरी चिह्न या वस्त्र या आकृति-सम्बन्धिनी विशेषता नहीं रखता ('अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः')।

वेदान्ती जीवनमें करता क्या है ?

वह संसारसे दुःखकी निवृत्तिके लिये—वह दुःख चाहे जहाँ प्राप्त हो—अपनी शक्तिभर उद्योग करता, और इस प्रकार संसारके सम्मुख एक आदर्श छोड़ जाता है, ताकि सत्यका कोई भी अन्वेषक जो हृदयमें सबके हितकी भावना रखता हो उसका अनुसरण करे। जीवनमें उसका लक्ष्य सर्वदा 'अपनेको सबमें तथा सबको अपनेमें' देखनेका रहता है।

आत्मसाक्षात्कार कैसे हो ?

(लेखक––स्वामी श्रीशिवानन्दजी)

गृहिप्रवर शौनकने अङ्गिरासे प्रश्न किया—'भगवन् ! वह कौन-सी वस्तु है जिसे जान लेनेपर सब कुछ जाना जा सकता है ?' अङ्गिराने उत्तर दिया—'परा विद्यासे नित्य ब्रह्मका ज्ञान होता है। ब्रह्मज्ञान होनेपर जो कभी सुना नहीं गया वह सुना जाता है, जो देखा नहीं गया वह देखा जाता है और जो अज्ञात है वह भी ज्ञात हो जाता है।'

कोई व्यक्ति सम्पूर्ण उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता, षड्दर्शन, षडङ्ग, स्मृति तथा पाश्चात्य दर्शनग्रन्थोंको कण्ठस्थ कर ले; परन्तु वह, चाहे वह कितना ही बड़ा विद्वान् क्यों न हो, बिना आत्मज्ञानके, बिना ब्रह्मके साथ अपनी सत्ताका निरन्तर और तीव्र साधनाद्वारा अभेद अनुभव किये, कोटि-कोटि वर्षोंमें भी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता।

जो स्वतः सब कुछ देखता किन्तु जिसे कोई नहीं देख पाता; जो मन-बुद्धिको प्रकाशित करता पर जिसे वे प्रकाशित नहीं कर सकते, वही ब्रह्म है। वही आत्मा है। वही श्याम है। वही राम है। वही अश्रुत श्रोता, अदृष्ट द्रष्टा, अचिन्तित चेता तथा अज्ञात ज्ञाता ब्रह्म है। वही अज, अजर, अमर, अभय तत्त्व ब्रह्म है। जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई है, जिससे यह धारण की जाती है तथा जिसमें यह लय होती है वही ब्रह्म है। जिसमें न पूर्व है न पश्चिम, न प्रकाश न अन्धकार, न सुख न दुःख, न भूख न प्यास, न हर्ष न शोक, न हानि न लाभ, वही ब्रह्म है।

जो इन आँखोंमें निवास करता है, जो इनके भीतर स्थित है, किन्तु जिसे ये देख नहीं सकतीं, आँखें जिसका अङ्ग हैं, जो उनपर शासन करता है वही आत्मा, अन्तर्यामी और अमृत है। वह आँखोंकी आँख, कानोंका कान, प्राणोंका प्राण, मनका मन, ज्योतिकी ज्योति, सूर्यका सूर्य, राजाओंका राजा, शाहोंका शाहंशाह, सम्राटोंका सम्राट् है।

जिसके लाभसे बढ़कर कोई लाभ नहीं, जिसके ज्ञानसे बढ़कर कोई ज्ञान नहीं, जिसके आनन्दसे बढ़कर कोई आनन्द नहीं, उसीको ब्रह्म या आत्मा जानो। धन-सम्पत्तिसे भी प्यारी वस्तु और है, पुत्रसे भी प्यारी वस्तु और है, पत्नीसे भी प्यारी वस्तु और है, प्राणोंसे भी प्यारी वस्तु और है। वह प्यारी वस्तु आत्मा, अन्तर्यामी अमर आत्मा है।

षट्सम्पत्तिका साधन करो, साधनचतुष्टयको प्राप्त करो। निष्काम कर्म, जप, तप, यम, नियम और व्रतके द्वारा तीनों मलोंको धो डालो, सगुण भगवान्की उपासनासे मनका चाञ्चल्य दूर करो और सत्संग, स्वाध्याय, वेदान्ताध्ययन तथा आत्मविचारसे आवरणको हटाओ; सबसे पहले अपने ऊपर विश्वास रक्खो, गुरुके शब्दोंपर विश्वास रक्खो। श्रुतिवाक्योंपर विश्वास रक्खो, सरल जीवन व्यतीत करो, उच्च विचार तथा ऊँचे आदर्श ग्रहण करो। कामना और आसक्तिको दूर करो, ये ही संसारके दो मूलकारण और बन्धनके दो प्रधान हेतु हैं। सदा सत्संग करो, यही महाव्याधिसे रक्षा करनेवाली (अर्थात् मुक्ति देनेवाली) दुर्लभ ओषधि है।

जिस प्रकार स्वच्छ वस्त्रपर ही चोखा रंग चढ़ता है उसी प्रकार संतोंकी शिक्षाएँ उन हृदयोंमें ही प्रवेश कर सकती हैं जो शान्त हैं, जिनमें विषयवासना नहीं तथा जिनके मनका मैल धुल गया है। यही कारण है कि साधकमें विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति आदि सद्गुणोंका होना आवश्यक होता है। इन गुणोंके होनेपर ही वह श्रुतियोंका श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेके योग्य होता है। सत्य और आत्मानुभवकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवालेके लिये सबसे पहले यह आवश्यक है कि वह अपने इन्द्रियोंको दान्त और मनको शान्त और शुद्ध करे।

ऐहिक जीवनकी समस्त इच्छाओंको मार डालो। सांसारिक जीवनमें लिप्त होना ही जन्म और मरणका मूलकारण है। अपना पार्थक्यबोध नष्ट कर दो। पार्थक्य मृत्यु है। ऐक्य अमर जीवन है।

उपनिषदोंमें वेदान्तकी कोई प्रक्रियाएँ नहीं हैं। तुम्हें 'आत्मबोध,' 'तत्त्वबोध', 'विवेकचूडामणि', 'वेदान्तसार', 'लघु वासुदेवमनन' आदि ग्रन्थोंका आरम्भमें अध्ययन करना होगा। ये सब प्रक्रियाग्रन्थ हैं। इनको पढ़नेके बाद ही उपनिषदोंकी शिक्षा स्पष्ट रीतिसे समझ सकोगे। तीन शरीर, पञ्चकोष, चार अवस्थाएँ, त्रिगुण, नेति-नेति, भागत्यागलक्षण, अन्वयव्यतिरेक, अध्यारोप-अपवाद, ॐका लयचिन्तन, अन्तःकरणका लयचिन्तन, पञ्चभूतोंका लयचिन्तन, रज्जुसर्पन्याय, विविध दृष्टान्त, दृष्टि-सृष्टि आदि वाद, इन सबका जानना ब्रह्मतत्त्वके स्वरूपज्ञानके लिये अनिवार्य है। वेदान्तका सम्यक् बोध करनेके लिये भारतीय न्यायशास्त्रका भी साधारण परिचय होना चाहिये।

ध्यान ही भगवान्को प्राप्त करनेका राजमार्ग है। यह

सीधा मार्ग है जो साधकको सीधे भागवत चैतन्यके द्वारपर ला छोड़ता है। यह वह रहस्यमय निसेनी है जो योगके अभ्यासियोंको पृथ्वीसे स्वर्गपर ला चढ़ाती है। इसी अध्यात्मसोपानपर चढ़कर योगिजन असम्प्रज्ञात समाधिके उच्च शिखरपर चढ़ जाते हैं। यह चिदाकाशकी वह सीढ़ी है जो वेदान्तियोंकी अद्वैतनिष्ठा और कैवल्यमुक्तिकी छतपर पहुँचा देती है। उसके बिना आध्यात्मिक उन्नति सम्भव ही नहीं है। यह आरसे पारतक तारका वह झूला है जिसपर झूलते हुए साधक भव-सरिताके पार पहुँचकर प्रेमका मधु और अमृतपान करनेमें समर्थ होता है।

प्रेम ! प्रेम ! ऐसा भी एक स्थान है जहाँ न तुम्हें कोई दूसरा स्वर सुन पड़ेगा न कोई दूसरा रंग दिखायी देगा। वह स्थान है परमधाम—'पदं अनामयम्'। यह शान्ति और आनन्दका राज्य है। यहाँ शरीरका भान नहीं रहता, मनको यहाँ विश्राम मिलता है, सारी इच्छाएँ और वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। इन्द्रियाँ यहाँ शान्त रहती हैं। बुद्धि अपना व्यापार बंद कर देती है। यहाँ किसी प्रकारका संघर्ष या द्वन्द्व नहीं होता। क्या तुम शान्त ध्यानके द्वारा इस परमशान्तिमय स्थानमें आना चाहते हो ? यहाँ गम्भीर शान्ति ही विराजती है। पुराकालके ऋषि अपने मनोंको इसी मौनमें मिलाकर इस स्थानपर पहुँचे थे। ब्रह्म यहाँ अपने स्वरूपसे प्रकाशमान है।

शरीरको भूल जाओ, चतुर्दिककी वस्तुओंको भूल जाओ। यह भूलना ही सबसे बड़ी साधना है। इससे ध्यानमें सहायता मिलती है। इससे ब्रह्मकी प्राप्ति सरलतर हो जाती है। ब्रह्मका स्मरण करनेसे इन सब वस्तुओंको तुम भुला सकोगे।

इन्द्रियभोगोंसे मनको खींचकर ब्रह्ममें लगाओ और आत्मचैतन्यकी सुखानुभूति प्राप्त करो। ब्रह्म सदैव तुम्हारे हृदयमें प्रकाशमान है। अपने ही हृदयके भीतर गम्भीर चिन्तनद्वारा प्रवेश करो—पैठो। गहरे डूबो। सच्चिदानन्दके सुधासिन्धुमें निर्द्वन्द्व विहार करो। आनन्दके स्रोतमें तैरो। उद्गमकी ओर चलो। यह चिदानन्दमन्दाकिनी जहाँसे निकली है सीधे उसी ओर बढ़ो और उसके मूल स्रोतमें जो अमृतप्रवाह है उसका पान करो। भागवतसमालिङ्गनका मधुमय भाव अपने भीतर भर लो और उस आनन्दाशयको भोग करो। मैं अब चला। तुम अब अमर जीवनकी निर्भय अवस्थाको प्राप्त हो गये। प्रेम ! डरो मत। चमक उठो। तुम्हारी ज्योति तो तुम्हें मिल गयी।

प्रतिदिन ठीक समयपर नियमपूर्वक ध्यान करो। तुम्हारी चित्तवृत्ति ध्यानके अनुकूल अनायास बन जायगी। जितना ही अधिक ध्यान करोगे उतना ही तुम्हें वह आन्तरिक आध्यात्मजीवन प्राप्त होगा जिसमें मन और इन्द्रियोंका कोई खेल नहीं है। वहाँ आत्माका सान्निध्य रहेगा। वहाँ तुम शान्ति और आनन्द भोग करोगे।

इन्द्रियोंके भोगोंके प्रति तुम्हारा कुछ भी अनुराग न रह जायगा। संसार स्वप्न-सा प्रतीत होगा। निरन्तर गम्भीर ध्यानसे तुम्हारे अंदर ज्ञान प्रकाशित होगा। तुम उस ज्ञानसे जाग उठोगे। अज्ञानका काला पर्दा हट जायगा। पञ्चकोष छिन्न हो जायँगे। देहात्मबुद्धि छूट जायगी। 'तत्त्वमसि' महावाक्यका अर्थ अनुभव करोगे। सारे भेद-प्रभेद और द्वन्द्व दूर होंगे। सर्वत्र एक अपार, असीम, आनन्दस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप आत्माको देखोगे। निश्चय ही यह बड़ा दुर्लभ अनुभव होगा। अर्जुनकी भाँति भयसे कम्पित मत हो। धीर-वीर बनो। अब तुम्हें अकेले रहना होगा। अब देखने-सुननेकी कोई वस्तु तुम्हारे लिये नहीं रही। इन्द्रियाँ ही नहीं रहीं। अब तो केवल शुद्ध चित्स्वरूप ही है।

प्रेम ! तुम आत्मा हो, यह नाशवान् शरीर नहीं। इस मलिन वस्तु (शरीर) का मोह छोड़ो; कहो कि शरीर तो मेरा यन्त्र है, करणमात्र है। देखो, सूर्य अस्त हो रहा है। वह अपने सारी किरणोंको समेटने लगा। अब ध्यानमें बैठो। आत्माकी पुण्यमयी त्रिवेणीमें एक बार फिर डुबकी लगाओ। मनकी सारी किरणोंको (सामने डूबते हुए सूर्यकी भाँति) समेटकर हृदयके अन्तस्तलके गहरे पानीमें पैठो। अपने सब भय, चिन्ता, दुःखादिकोंको भगा दो। नीरवताके सिन्धुमें विश्राम करो। चिरशान्तिका सुख भोगो। अब तुम जीव नहीं रहे। तुम्हारी सारी सीमाएँ मिट गयीं। यदि पुरानी वासना-कामनाएँ विक्षेप करें तो उन्हें विवेकके दण्ड और वैराग्यकी तलवारसे विनष्ट कर दो।

इन दोनों अस्त्रोंको कुछ समयतक अपने साथ रक्खो जबतक ब्राह्मी स्थिति न प्राप्त हो। ओ३म् सच्चिदानन्द है। ओ३म् अनन्त है। ओ३म् गान करो, ओ३म् अनुभव करो, ओ३म् जप करो; ओ३म्में जीवन धारण करो, ओ३म्का ध्यान करो, ओ३म्का गर्जन करो। ओ३म् सुनो। ओ३म् चक्खो, ओ३म् देखो, ओ३म् ही तुम्हारा नाम है। यह ओ३म् ही तुम्हारा पथप्रदर्शक हो।

वास्तविक सत्ताका स्वरूप या ब्रह्मलक्षण

(लेखक—श्रीयुत टी० एम० पी० महादेव)

(१)

वस्तुतत्त्वविज्ञान (Metaphysics) वास्तविक सत्ता (ब्रह्म) का अनुसन्धान है। अरस्तू (प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक) इसे 'वस्तु क्या वस्तु है' का विज्ञान कहा करता था। प्रश्न यह है कि वेदान्तके अनुसार वास्तविकताका क्या स्वरूप है ? सार-सत्ताके सम्बन्धमें उसका मत क्या है ? किसी वस्तुकी परिभाषा दो प्रकारसे की जा सकती है। एक तो हम उसके सामान्य स्वरूपका निरूपण (स्वरूपलक्षण) कर सकते हैं और दूसरे उसकी किसी ऐसी विशेषताका निर्देश कर सकते हैं जो अन्योंमें नहीं पायी जाती (तटस्थ लक्षण)। दोनों प्रकारसे वस्तुका परिचय प्राप्त किया जा सकता है। यदि किसी मकानका परिचय कराना हो तो हम उसकी (स्थिति, चौहद्दी आदि) मुख्य बातोंका उल्लेख कर सकते हैं अथवा यह कहकर कि वह मकान जिसकी छतपर कौआ बोल रहा है, हम उसे लक्षित कर सकते हैं। किसी वस्तुका स्वरूपलक्षण वह है जो उस वस्तुमें, जबतक वह वस्तु है, वर्त्तमान रहता है और उसे शेष पदार्थोंसे पृथक् करता है।[१] और उस वस्तुका तटस्थ लक्षण वह है जो उसमें एक विशेष समयतक ही रहकर उसकी विशेषताका प्रदर्शन कराता है।[२]

ब्रह्म, जो वेदान्तके अनुसार निरपेक्ष सत् है, इन दोनों प्रकारोंसे व्याख्यात हुआ है। जगत्का कारण होना ब्रह्मका 'तटस्थ लक्षण' है। ब्रह्म ही इस विश्व-ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण है[३]। ब्रह्मका 'स्वरूप-लक्षण' है सत्-चित्-आनन्द। सत्ता और चेतनाकी अनन्तता ही ब्रह्म है और जो वस्तु अनन्त है वही आनन्दस्वरूप है[४]। ये तीन लक्षण, जो शास्त्रोंमें निर्दिष्ट हैं, ब्रह्ममें आवश्यक हैं, क्योंकि ये ही उसके सार हैं, जो नामरूपात्मक असत् (अनृत), जड़ और दुःखरूप जगत्से उसे पृथक् करते हैं। सत्, चित् और आनन्द न तो ब्रह्मके अङ्ग हैं, न उसके गुण। ब्रह्मतत्त्व तो आन्तर, बाह्य समस्त भेदोंसे रहित है। सत्ता, चेतना और आनन्द तो ब्रह्मके स्वरूप ही हैं, उसके लक्षण नहीं। वे ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं, पर भिन्न-से प्रतीत होते हैं। यद्यपि आनन्द, वस्तुज्ञान और नित्यत्व आत्माका स्वरूप ही हैं तथापि पारिभाषिक शब्दोंमें ये उसके लक्षण कहे जाते हैं। कारण यह है कि ये बाह्य रूपसे उक्त वस्तु (आत्मा) से भिन्न प्रतीत होते हैं, आन्तरिक तन्त्रके मानसिक मूर्त्तस्वरूप-से जान पड़ते हैं[५]।

(२)

'सत्ता ही वास्तविकता नहीं है, किन्तु वास्तविकताकी सत्ता अवश्य होती है।' ब्रेडले महोदयका कथन है कि 'सत्ता तो दूसरे शब्दोंमें वस्तुतत्त्वका इन्द्रियगोचर रूप है[६]।' मैकटैगर्ट महोदय सत्ताको (नित्य) वस्तुकी दृश्यमान उपजाति मानते हैं। यद्यपि यह सभी स्वीकार करते हैं कि सत्तामात्रका वास्तविक होना अनिवार्य है तथापि एक ऐसा मत है जिसके अनुसार ऐसी भी वस्तु है जिसकी सत्ता नहीं होती। मैकटैगर्ट महोदय इस मतका खण्डन करनेमें तत्पर होते और यह सिद्ध करते हैं कि जिसका अस्तित्व या सत्ता नहीं है वह कोई वस्तु नहीं हो सकती। 'अभावात्मक सत्तापर विश्वास करनेके लिये कोई प्रमाण नहीं है[७]।' वेदान्तके मतसे सत्ता न तो (नित्य) वस्तुका आभास है न यह उसकी उपजाति है। वह तो ब्रह्मका स्वाभाविक लक्षण ही है।' भावका कभी अभाव नहीं होता और न अभावका कभी अस्तित्व हो सकता है[८]। कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसका अस्तित्व न हो। न कोई ऐसी सत्ता है जो वास्तविक न हो। नामरूपात्मक जगत्की वस्तुएँ जो प्रतिभासित होती हैं,

---

[१] —सद्व्यावर्त्तकत्वं स्वरूपलक्षणम्।

[२] —कादाचित्कत्वे सति व्यावर्त्तकत्वं तटस्थलक्षणम्।

[३] —'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् ब्रह्म।'

'जन्माद्यस्य यतः।' (वेदान्तसूत्र १। १। २)

[४] —'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' 'यो वै भूमा तत्सुखम्।'

(तैत्ति० उप०)

[५] —आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मा अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवावभासन्ते।

(पञ्चपादिका)

[६] —*Appearance and Reality*, Chapter XXIV.

[७] —*The Nature of Existence*, pp. 33.

[८] —'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'—गीता २।१६।

उनका भी अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, पर सत् (अस्तित्व) उनका लक्षण नहीं है । वह तो ब्रह्मका ही लक्षण है । हम भूलसे परब्रह्मके सत्, चित् आदि लक्षणोंको सांसारिक वस्तुओंका, जो काल्पनिक हैं, लक्षण मान लेते हैं और सत्को असत्से मिलाकर अज्ञानवश इस प्रकारकी बातें कहा करते हैं कि यह घट वस्तु है, यह पट वस्तु है ।

सत्यके साधकको प्रायः सबसे पहला काम यही करना पड़ता है कि वह नित्य और अनित्य वस्तुका भेद करे । जो वास्तविक अस्तित्व है उसे संसारके अवास्तविक अस्तित्वसे पृथक् करके देखे । इस कार्यमें उसे अविरोध या अबाधत्वके सिद्धान्तसे काम लेना होता है । 'नित्य वस्तु वह है जो अपना बाध नहीं करती ! अबाधत्व ही सत्यकी निर्विकल्प कसौटी है[९] । यह केवल नकारात्मक नाप नहीं है । विरोधका निराकरण और अविरोधकी प्रतिष्ठा करता है । वही सत्य है जिसका लक्षण (जिससे वह पहचाना जाता है) सदा स्थिर रहता है । वही असत् या अनृत है जिसका लक्षण बदलता रहता है[१०] । परिवर्त्तनशील पदार्थमें जो कुछ शाश्वत है वह उस पदार्थसे भिन्न है, जिस प्रकार हारमें गूँथे हुए पुष्पोंसे उसका सूत्र भिन्न है[११] ।' वास्तविक सत्ता रूपान्तरित नहीं होती । वह अबाध होती है । अन्वय-व्यतिरेकके सिद्धान्तसे यह स्पष्ट रीतिसे देखा जा सकता है कि सत् या अस्तित्व ब्रह्मका स्वरूपलक्षण है, सांसारिक वस्तुओंका नहीं, वे वस्तुएँ बहिरङ्ग हों या अन्तरङ्ग ।

(३)

'ब्रह्म प्रज्ञानस्वरूप है ।'[१२] 'यह आत्मा स्वयंप्रकाश है ।'[१३] 'आत्मा ही उसका प्रकाश है ।'[१४] सत् केवल सत् (सत्ता) नहीं है, वह चित् भी है, स्वयंज्योति भी है । उसीकी ज्योतिसे शेष सब प्रकाशित होता है । न वह उदय होता न अस्त होता है । न उसकी उन्नति होती न अवनति होती है । स्वयं प्रकाशस्वरूप होनेके कारण वह बिना किसीकी सहायतापर अवलम्बित हुए सबको प्रकाशित करता है । 'उसे कौन जान सकता है जिससे सब कुछ जाना जाता है ?' 'जो ज्ञाता है उसका ज्ञाता कौन हो सकता है ?'—ये याज्ञवल्क्यके प्रश्न हैं । आत्मा सर्वज्ञ है; उसे ज्ञानका कोई करण नहीं जान सकता । वह नामरूपात्मक संसार नहीं है जो इन्द्रियोंको भासित हो, वह अव्यक्त माया नहीं है जो किसी इन्द्रियको अनुभूत हो । आत्मा न तो मायाका त्रिगुण है न माया ही । आत्मानुभव स्वतःसिद्ध है । आत्मा जाना नहीं जाता, क्योंकि ज्ञानवस्तुसे वह कुछ अधिक है । वह स्वयं ज्ञान है, चैतन्यकी ज्योति है, जिसके प्रकाशके बिना सारा संसार अन्ध ही रहता ।

अद्वैत वेदान्तका प्रासाद जिन आधारभूत सिद्धान्तोंपर निर्मित है उसमें एक सिद्धान्त सत्का स्वयंप्रकाश या चित्-स्वरूप होना है । प्राभाकर (मीमांसक) मतानुयायियोंका कथन है कि आत्मा ज्ञानके द्वारा प्रकट होता है; किन्तु अद्वैतमतानुसार आत्मा और ज्ञानमें कोई अन्तर नहीं है । नैयायिकोंके कथनानुसार प्रमासे अन्य प्रमाका ज्ञान होता है, परन्तु अद्वैती कहते हैं कि प्रमा प्रमाका विषय नहीं हो सकती । भट्ट (ये भी मीमांसक ही थे)-सिद्धान्तके अवलम्बियोंका विचार है कि आत्मा तो चेतन और जडका सम्मिश्रित स्वरूप है; पर अद्वैतमतकी घोषणा है कि आत्मा, जो एकरस और अखण्ड है, परस्पर विरोधी लक्षणोंका आश्रय नहीं हो सकता । विज्ञानवादियोंका यह पक्ष है कि पदार्थ और उसका ज्ञान एक ही है, इसलिये सत् प्रमाकी परम्परा है; इसके विरुद्ध अद्वैत सिद्धान्तीका यह उत्तरपक्ष है कि दृश्य और द्रष्टा एक नहीं हो सकते तथा प्रमा-परम्पराका अभिज्ञान भी जो होता है सो सनातन अविकार्य चैतन्यकी सत्तासे ही होता है । यही चैतन्य ब्रह्म है । आत्मा चित्-स्वरूप है । शास्त्र कहते हैं, ब्रह्म प्रज्ञान है ।

(४)

ब्रह्म चिदानन्दस्वरूप है । सत् केवल शुद्ध चित् नहीं है, जो इस संसारनाट्यका साक्षी चैतन्य है, बल्कि वह परमानन्दस्वरूप भी है । हमलोग यह समझकर अपनेको धोखा दिया करते हैं कि सुख संसारकी बाहरी वस्तुओंमें है । पर सुखका वास्तविक स्थान और केन्द्र तो आत्मा ही है । 'यह जो अखण्ड अनवच्छिन्न सारवस्तु है वही सर्वोत्कृष्ट आनन्द है । संसारके सारे प्राणियोंको इसका

---

[९]—Bradley: *Appearance and Reality*, Ch. VIII.

[१०]—तैत्ति० उप० शांकरभाष्य—'सत्यमिति—यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यं, यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं व्यभिचरति तदनृतमिति उच्यते ।'

[११]—येषु व्यावर्त्तमानेषु यदनुवर्त्तते तत् तेभ्यो भिन्नं यथा कुसुमेभ्यः सूत्रम् ।—भामती ।

[१२]—ऐत० उप० ३ । ३

[१३]—बृह० उप० ४ । ३ । ९ । १४

[१४]—बृह० उप० ४ । ३ । ६

एक अंश ही उपलब्ध होता है।''[९५] भौतिक सुख किसी प्रकार ब्रह्मानन्दकी तुलनामें नहीं आ सकता। तैत्तिरीय उपनिषद्की आनन्दवल्लीमें आनन्दकी मात्रागणनाकी परिसमाप्ति ब्रह्मानन्दमें ही की गयी है, जिससे आगे आनन्दकी कल्पना हो ही नहीं सकती। ब्रह्म इसीलिये आनन्दस्वरूप है कि वह अखण्ड और नित्य है। 'ब्रह्म' शब्द 'बृह्, बृंहि, बढ़ना, बड़ा होना' धातुसे बना है; उसका अर्थ है, बृहत्। ब्रह्म बृहत् है क्योंकि उसके सम कोई नहीं और देश और काल आदिसे अनवच्छिन्न है। और वह आनन्दस्वरूप है, क्योंकि बृहत् है।

वेदान्तदर्पण

(लेखक—म० श्रीबालकरामजी विनायक)

(संक्षिप्त परिचय)

परम पुनीत वेदके दो भाग हैं—कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड। संहिता और ब्राह्मण आदि कर्मकाण्ड और आरण्यक एवं उपनिषद् आदि ज्ञानकाण्ड है। कर्मकाण्डकी समाप्तिपर ज्ञानकाण्डका उदय होता है। ज्ञानकाण्ड ही वेदका अन्त अथवा चरम भाग है। इसीसे उसको साधारणतः वेदान्त कहते हैं। पूर्वमीमांसामें जिस तरह कर्मकाण्डसम्बन्धी वेदका विरोधभञ्जन और सामञ्जस्यका विधान किया गया है, उसी तरह उत्तरमीमांसामें वेदान्तके समन्वयसाधन और अविरोधस्थापनकी चेष्टा की गयी है। अस्तु, उत्तरमीमांसाको ही वेदान्तदर्शन कहते हैं। इसका आरम्भ 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से हुआ है, इसलिये इसको 'ब्रह्मसूत्र' भी कहते हैं।

इस दर्शनके प्रणेता महर्षि बादरायण हैं। हम परम्परासे मानते आये हैं कि महर्षि बादरायण ही महर्षि पराशरके पुत्र कृष्णद्वैपायन वेदव्यास हैं। पाणिनिके ४।६।११० सूत्रमें पाराशर्यरचित एक भिक्षुसूत्रका उल्लेख है। महर्षि पराशरके पुत्र वेदव्यासकी ही पाराशर्य संज्ञा है, इसमें कोई सन्देह नहीं; क्योंकि तैत्तिरीय ब्राह्मणमें स्पष्टरूपसे पाराशर्य व्यासका उल्लेख है। वाचस्पति मिश्रके मतमें वेदान्तसूत्र वा ब्रह्मसूत्रका दूसरा नाम ही भिक्षुसूत्र है। क्योंकि पूर्वकालमें संसारत्यागी चौथे आश्रमवाले ही वेदान्तदर्शनका अध्ययन करते थे और चतुर्थ आश्रमीका पारिभासिक नाम 'भिक्षु' है। इसलिये वेदान्तसूत्रको 'भिक्षुसूत्र' कहना असंगत नहीं। परन्तु भेदनीतिके पोषक और प्रचारक वेदव्यास और महर्षि बादरायणको जुदा-जुदा आदमी मानते हैं।

वेदान्तदर्शनमें सब मिलाकर ५५६ सूत्र हैं। यह दर्शन चार अध्यायोंमें विभक्त है। प्रति अध्यायमें चार-चार पाद हैं। प्रथम अध्यायका साधारण विषय है—समन्वय, दूसरे अध्यायका—अविरोध, तीसरे अध्यायका—साधन और चौथे अध्यायका—फल है। प्रथम अध्यायमें स्पष्ट,अस्पष्ट एवं संदिग्ध श्रुतियोंका ब्रह्ममें समन्वय किया गया है। दूसरे अध्यायमें अन्यान्य दार्शनिक मतोंका दोष दिखलाकर युक्ति एवं शास्त्रकी सहायतासे वेदान्तमतका अविरोध प्रदर्शित किया गया है। तीसरे अध्यायमें जीव और ब्रह्मका लक्षण कहते हुए मुक्तिका बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग साधन बताया गया है और चौथे अध्यायमें जीवन्मुक्ति, जीवकी उत्क्रान्ति और सगुण-निर्गुण उपासनाका तारतम्य झलकाया गया है।

वेदान्तदर्शनके अनेक भाष्य प्रचलित हैं। उनमें श्रीशङ्कराचार्यका शारीरकभाष्य, श्रीरामानुजाचार्यका श्रीभाष्य और श्रीमध्वाचार्यका पूर्णप्रज्ञभाष्य ही क्रमशः अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी और द्वैतवादियोंके विशेष आदरकी वस्तु है। शारीरकभाष्यपर आनन्दगिरि और वाचस्पतिमिश्रने टीकाएँ लिखी हैं। वाचस्पतिमिश्रकी 'भामती' टीकाका विशेष आदर है। श्रीभाष्यपर सुदर्शनकी 'श्रुतप्रकाशिका' टीका बहुत ही प्रसिद्ध है। वेदान्तदर्शनके अन्यान्य भाष्यकारोंमें विज्ञानभिक्षु, भास्कर, यादवमिश्र, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीवल्लभाचार्य और श्रीकण्ठके नाम भी उल्लेखयोग्य हैं। इनके अतिरिक्त वेदान्तदर्शनपर और भाष्य भी बहुत मिलते हैं—नीलकण्ठका 'शैवभाष्य', 'वेदान्तपारिजात' नामक सौरभाष्य और बलदेवका 'गोविन्द (वैष्णव) भाष्य।'

इस दर्शनपर जितने प्रकारकी व्याख्याएँ मिलती हैं उन सबमें अद्वैत और विशिष्टाद्वैतमतकी ही प्रधानता है। अद्वैत-

मतके प्रधान आचार्य श्रीशङ्कराचार्य और विशिष्टाद्वैतमतके प्रधान आचार्य श्रीरामानुजाचार्य हैं। ये लोग प्रधान ही हैं, प्रवर्तक नहीं हैं। श्रीशङ्कराचार्यजीके परम गुरु श्रीगौडपादाचार्यने माण्डूक्य उपनिषद्पर एक कारिका लिखी है। उसमें अद्वैतमत परिणत अवस्थामें दृष्टिगोचर होता है। श्रीशङ्कराचार्यजीने अपने शारीरकभाष्यमें अपने मतकी पुष्टिमें भगवान् उपवर्षके वाक्यको उद्धृत किया है। उपवर्षजीसे भी प्राचीन योगवाशिष्ठ और सूतसंहितामें अद्वैतमतका स्पष्ट उल्लेख है।* इसी तरह श्रीरामानुजाचार्य भी विशिष्टाद्वैतमतके प्रवर्त्तक नहीं थे। उन्होंने अपने श्रीभाष्यमें पूर्वाचार्योंके नाम लिखे हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि उनका 'श्रीभाष्य' महर्षि बोधायनके प्राचीन भाष्यका अनुसरणमात्र है। अस्तु, पूर्ववर्त्ती आचार्योंमें सर्वश्री बोधायन, टङ्क, द्रमिड़, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी और यामुनाचार्यने विशिष्टाद्वैतका प्रचार करनेके लिये ग्रन्थ लिखे हैं। पर ये सब ग्रन्थ अब प्रायः लुप्त हो गये हैं।† इनमेंसे यामुनाचार्यकृत 'सिद्धित्रय' ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। आशा है कि आगे चलकर अन्य ग्रन्थोंका भी उद्धार हो जायगा। इससे प्रकट है कि श्रीरामानुजाचार्यसे पहले भी विशिष्टाद्वैतमत खूब प्रचलित था।‡ विशिष्टाद्वैतमतको सुलभ एवं सुगम करनेके लिये श्रीरामानुजाचार्यजीने वेदान्तसंग्रह, वेदान्तदीप, वेदान्तसार, गद्यत्रय आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। आचार्यके नामसे प्रचलित वेदान्ततत्त्वसार ग्रन्थ भी उपादेय है।

अद्वैतवादको विशद करनेके लिये अद्वैतमतावलम्बियोंने पञ्चदशी, अद्वैतब्रह्मसिद्धि, चित्सुखी वा तत्त्वप्रदीपिका, पञ्चपादिका, खण्डनखाद्य, वेदान्तपरिभाषा, वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली और वेदान्तसार तथा हिन्दीमें विचारसागर, वृत्तिप्रभाकर आदि ग्रन्थोंकी रचना की है।

प्रस्थानत्रय

लीलापुरुषोत्तम भगवान्ने द्वारकापुरीमें अपना नारायणरूप प्रदर्शित किया, सात्वत धर्मको प्रवृत्त किया और कुरुक्षेत्रके मैदानमें नररूप अर्जुनके प्रति भागवत धर्मका व्याख्यान किया। महाभागवत नारदजीने अन्य एकादश महाभागवतोंको सूचित किया और द्वादश महाभागवत एकत्र होकर उस समयके धर्मव्यवस्थापक महर्षि बादरायण वेदव्यासजीके पास गये। महर्षि पहलेहीसे सब वृत्तान्त जानते थे। भक्त और भगवन्तमें अन्तर ही क्या है। हरिलीलाके मर्मको समझकर महर्षिको 'लोकवत्तु लीलकैवल्यम्' वाले ब्रह्मसूत्रकी याद आ गयी। अपने पुत्र महाभागवत शुकाचार्यके प्रति मुसकराते हुए कहा—'उस परम सखाके साथ खेलनेमें जो आनन्द आता है, उसके सामने मुक्तिसुख तुच्छ है। भगवान्की लीलामें सम्मिलित होकर भगवत्सेवामें प्राप्त रहनेसे बढ़कर सुखदायी भागवतोंके लिये और क्या हो सकता है ?' महाभागवत प्रह्लादजीने कहा—'भगवन् ! त्रेतायुगमें ही जो धर्म लुप्त हो गया था, उसे इस समय भगवान् क्यों फिरसे प्रवृत्त कर रहे हैं, इस लीलाके मर्मको तो आप अच्छी तरह जानते होंगे। कृपया उसे हमें बताइये। यही सुननेके लिये हम लोग यहाँ आये हैं।' महाभागवत शिवजीने कहा—'वह प्रियतम सखा बड़ा ही मौजी, खेलाड़ी है। उसकी गति-विधि अचिन्त्य है।' अनन्तर महाभागवत श्रीब्रह्माजीने कहा—'यह ऋक्में बोलता है, यजुःमें भोगता है और साममें गाता है; परन्तु प्रधानरूपसे वह अथर्वणी है। वह बड़ा कारुणिक, धीमान्, सर्वशक्तिमान् और अपने उद्यानमें एकान्तविचरण करनेवाला है।' देवर्षि नारदजीने कहा—'कलिकालके कलहवर्धक शासनसे साधुओंकी रक्षा करनेके अभिप्रायसे भगवान्ने धर्माचार्यका पद ग्रहण किया है।' वेदव्यासजी बोले—आपने पधारकर हमें उपकृत किया है, मुझे बड़ाई दी है। नहीं तो, जो महाप्रभु अपनेको भक्ताधीन कहनेमें गौरव समझता है, उसके भक्तोंके समान मार्मिक ज्ञाता कौन हो सकता है ? मैं लीलाका मर्म क्या जानूँ ! हाँ, धर्म (भागवत)

---

* Sankara's is one only of the many traditional interpretations of the Sutras which prevailed at different times in different parts of India and in different Schools.

—Max Muller's *Indian Philosophy*, p. 284.

† In former times there existed the following works bearing on the doctrines of Visishtadvaita:—a Vritti by the great Rishi Bodhayana, a *Bhashya* of the Brahma-Sutras by Dramiracharya and a Vartika by Tankacharya. There were, besides other works by Bharuchi, Guhadeva and other Acharyas; but these, too, having perished through the destroying agency of time, the Siddhitraya, etc. were composed by the venerable Yamunacharya in order to explain the purport of the lost treatises. In these Siddhitraya, etc. were controverted the Bhashya and other writings of Bhartri. Subsequently the illustrious commentator and holy sage Sri Ramanujacharya advanced the knowledge of the Visishtadvaita in the world by the composition of his great work called the Sri Bhashya.

—*M. M. Rama Misra Sastri's Preface to his edition of Vedartha-Sangraha.*

‡ There is evidence to show that it (the Visishtadvaita school) must have come down in the form of an unbroken tradition from very ancient times.

—*Preface to Rangacharya's translation of Sri Bhashya.*

के तात्पर्यको कुछ-कुछ समझ पाया हूँ, उसे कहता हूँ। सुनिये। इस धर्मके प्रवर्त्तकाचार्य स्वयं वासुदेव भगवान् हैं। इसके साधन वही हैं और सिद्धफल भी वही हैं। इस धर्ममें भगवान् ही मुख्य हैं और सब बातें गौण हैं। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता—ये ही प्रस्थानत्रय इस धर्मके ज्ञेय ग्रन्थ हैं। मोहग्रस्त भगवदंश जीवोंका उद्धार करनेके निमित्त ही इनकी प्रवृत्ति हुई है। प्रथम प्रस्थानसे सम्यक् ज्ञान होगा, द्वितीय प्रस्थानसे उस ज्ञानस्वरूपमें विश्वास उत्पन्न होगा और तीसरे प्रस्थानसे उस व्यक्त ब्रह्ममें प्रीति उत्पन्न होगी। उस प्रीतिप्रवाहमें उस मानसी गङ्गाकी धारामें सम्पूर्ण कलिकल्मष बह जायँगे। इस धर्मके प्रभावसे कलिकालमें इतने साधु, सन्त, भक्त उत्पन्न होंगे जितने किसी भी युगमें नहीं उत्पन्न हुए। अब रही यह बात कि भगवान्ने किस कारणसे इस धर्मको प्रवृत्त किया? पूर्व तीन युगोंमें जो धर्मव्यवस्था थी वह संकरताके कारण गड़बड़ा गयी। इसी कारण जीवोंके उद्धारका कोई अन्य उपाय न देखकर भगवान्ने अपना ही सार्वभौम धर्म प्रवृत्त किया।' इस वार्त्ताको सुनकर सब महाभागवत आनन्दमग्न विदा होकर अपने-अपने स्थानको गये।

अद्वैतवाद

अष्टादश प्रकारके अद्वैतवादमें मुख्य तीन ही हैं—(१) शब्दाद्वैतवाद, (२) सत्ताद्वैतवाद और (३) विज्ञानाद्वैतवाद। प्रत्येककी छः-छः कलाएँ हैं; अस्तु, सब मिलाकर १८ प्रकारके अद्वैतवाद हुए। ये १८ प्रकारकी आत्माएँ जो ऊर्ध्व एवं अधोगतिसे पिण्ड एवं ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट होती हैं, उन्हींका विकास हैं।

(१) शब्दाद्वैत—शब्द ही विश्वका कारण है, श्रुति भगवती स्पष्टरूपसे कहती है—

वागेवार्थं पश्यति वाग्ब्रवीति
वागेवार्थं सन्निहितं सन्तनोति।
वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धं
तदेतदेकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते॥

पुनः—

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे
वाच इत्सर्वममृतं मर्त्यञ्च।

सृष्टिके मूलमें जब शब्द है तब वह एक—अद्वितीय कौन शब्द है, जिसका अर्थ विश्व है? वह अलौकिक शब्द प्रणव है, रामनाम है, जो तारकब्रह्म है, शब्दब्रह्म है। इसके सबसे श्रेष्ठ मार्मिक ज्ञाता शिवजी ही हैं जो सदा रामनाम जपते रहते हैं और काशीमें षडक्षर मन्त्रराजका उपदेश देकर सब जीवोंको तारते हैं। गणेशजी भी इसके तात्त्विक ज्ञाता हैं जो इसीके प्रभावसे प्रथम पूज्य हुए। पुराणकार कहते हैं—

'सावित्री ब्रह्मणा सार्द्धं लक्ष्मीर्नारायणेन च।
शम्भुना राम रामेति पार्वती जपति स्फुटम्॥'

मनुष्यलोकमें सबसे पहले आदिकवि महर्षि वाल्मीकिने तपोपूर्वक इसे प्राप्त करके अपना विश्रामस्थान बनाया। दैत्यकुलभूषण प्रह्लादजीने तो पहले ही अपने चरितसे ही शब्दब्रह्मके महत्त्वको प्रतिपादित कर दिया था। इस कलिकालमें श्रीस्वामी रामानन्दजी महाराज 'शब्दाद्वैतवाद'के प्रखर और प्रबल आचार्य हुए। इन्होंने पतितोंके उद्धारके लिये 'सुरति-शब्द-योग' चलाया। हमारे पन्थाई भाइयोंके आचार्योंकी बानीको 'शब्द' कहते हैं। स्वामीजीने 'रामनामका भजन' सिखलाया। प्रसिद्ध है—

शंकर स्वामी ध्यान सिखायो, रामानुज परपत्ति।
बिष्णू स्वामी सेवा-पूजा, निम्बारक आसक्ति॥
सेवक-सेयभाव बतलायो मधुकर-कैरव-चंद।
रामनामको भजन सिखायो स्वामी रामानंद॥

इसी शब्दाद्वैती सम्प्रदायके रत्न मानसकार गोस्वामीजी भी हैं। वे 'रामनाम' रूपी शब्दब्रह्मको 'निर्गुण ब्रह्म' और 'सगुण ब्रह्म' दोनोंसे बड़ा मानते हैं—

निरगुनते यहि भाँति बड़ नामप्रभाउ अपार।
कहउँ नाम बड़ रामते निज बिचार अनुसार॥

यह सन्तोंका मत है, यह 'मज़हब सीना' है 'सफीना' नहीं; यह Doctrine of the Heart है, Doctrine of the Head नहीं है। यह दिलका दर्द है, आत्मानुभवकी चीज़ है, कथनीमें नहीं आ सकती। यह ऐसा पवित्र सिद्धान्त है जो वैज्ञानिक सत्यकी तरह प्रत्यक्ष अनुभवद्वारा प्रमाणित होता आया है। संसारमें कोई भी पंथ नहीं, मज़हब नहीं, सम्प्रदाय नहीं, जो इस सिद्धान्तको न मानता हो। सबने इसका आश्रय लिया है। ईसाई, मूसाई, इस्लामी, बहाई सबका आधार यही है। बाइबिल, तौरेत और क़ुरानशरीफ़ आदि 'शब्दब्रह्म' ही के तो प्रतीक हैं। सूफ़ियोंका 'इस्मे आज़म'—गुह्यातिगुह्य तत्त्व रामनाम ही तो है। अपने यहाँ देखिये—सत्ताद्वैतवादी श्रीशङ्कराचार्य,

श्रीरामानुजाचार्य आदि एवं विज्ञानाद्वैतवादी भगवान् बुद्ध दोनोंको 'प्रणव' स्वीकार है। एकपंथी संन्यासी लोग 'ओम्' का जप करते ही रहते हैं, स्मार्त मन्त्रोंके आदिमें बीजरूपसे ओंकार होता ही है और बौद्धधर्मके जितने पूजन-पाठके मन्त्र हैं, सबमें ओम् लगा हुआ है। मीमांसक लोग इस सिद्धान्तको माननेके लिये बाध्य हैं, क्योंकि बिना इसके सहारे वेदका अपौरुषेय होना सिद्ध नहीं हो सकता। उनको मी दबी ज़बानसे कहना पड़ता है कि शब्द वर्णोंके द्योतक हैं, वर्ण नित्य हैं ही, अतएव शब्द नित्य हैं। माण्डूक्योपनिषद्की 'प्रणव एवैकस्त्रिधाभिव्यज्यत' 'वाचमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे' आदि श्रुतियाँ द्रष्टव्य हैं। महावैयाकरण पाणिनिने 'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्' इस सूत्रमें प्रतिपादित किया है कि शब्दव्यवहार अनादि और नित्य है। वैयाकरण व्याडिने अपने ग्रन्थ 'संग्रह' में (जो अब प्राप्य नहीं है,) शब्दाद्वैतपर गम्भीरतापूर्वक एवं सफलतापूर्वक विचार किया है। वैयाकरण कात्यायन एवं पतञ्जलिने उसी ग्रन्थसे अपने ग्रन्थोंमें सहायता ली है और इस विषयको चमत्कृत किया है। महाभाष्यका—

'स्फोटमात्रमादेः श्रुतेर्लश्रुतिर्भवतीति।'

एवं—

'ध्वनिस्फोटस्य शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।'

तथा—

'येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः।'

यह अवतरण पठनीय है। 'स्फोट' शब्द और उसकी व्याख्या स्वतः महाभाष्यमें दी हुई है। भर्तृहरिजीने तो शिवजीकी आज्ञासे स्वरचित ग्रन्थ 'वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड' में इस सिद्धान्तपर शास्त्रीय रीतिसे विचार किया है और 'स्फोट' को नित्य सिद्ध कर दिया। उनके पीछे भर्तृमित्रने 'स्फोटसिद्धि' की रचना की है। पुराणराज और कैयट एवं नागेशकी टीकाओं एवं व्याख्याओंमें तो यह विषय अच्छी तरह स्पष्ट हो गया है। भर्तृहरिजीकी क्या ही अच्छी सूझ है, पतेकी बात कहते हैं।

इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया।
यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते॥

प्रथम इसके कि प्रथमतः इन्द्रियोंका सञ्चालन और करणोंपर उनका अधिकार जम सके तथा साँस बाहर निकाली जा सके एवं भिन्न-भिन्न अवयवोंका सञ्चालन हो सके शिशुको पूर्वसंस्कारवशात् 'शब्द' की सुरति हो गयी और उस शिशुने जन्मते ही ध्वनि (क्रन्दन) प्रसारित करके हमें 'शब्दव्यवहार' के नित्यत्व और अनादित्वका बोध करा दिया। प्रत्येक विद्यमान वस्तु शब्दद्वारा प्रकट की जा सकती है और शब्दद्वारा जिसका विकास नहीं उसका अस्तित्व ही नहीं।

यद्वर्तते तद् व्यपदेश्यं यन्न व्यपदिश्यते तन्नास्ति।

किसीका नाम हो, कोई वाक्य हो, कोई वार्त्ता हो, उसके अक्षरोंको गिन लीजिये, उसको चौगुना कीजिये, उसमें पाँच और जोड़कर द्विगुणित कीजिये, फिर आठसे भाग देनेपर 'र' 'म' दो ही अक्षर बचेंगे जो नित्य हैं, अनादि हैं, छत्रमुकुटके समान सब वर्णोंके ऊपर विराजमान होते हैं, तारक ब्रह्म हैं।

(२) सत्ताद्वैतवाद—इसके प्रचलित तीन प्रकार हैं—(क) केवलाद्वैत, (ख) विशिष्टाद्वैत और (ग) शुद्धाद्वैत। आचार्योंने निम्नलिखित विषयोंपर ही प्रधानरूपसे विचार किया है—(अ) जगत् सत्य है वा मिथ्या, वास्तविक है अथवा काल्पनिक? (आ) जीव ब्रह्मसे भिन्न है अथवा अभिन्न? जीव एक है या बहु? (इ) ब्रह्मका क्या स्वरूप है? वह निर्विशेष, निरुपाधि, निर्गुण है या सविशेष, सोपाधि, सगुण? निर्गुण या सगुण किस भावसे ब्रह्मकी आराधना करनी चाहिये? (ई) ब्रह्मप्राप्तिका उपाय क्या है—कर्म या ज्ञान, ध्यान या भक्ति? (उ) ब्रह्मप्राप्तिका क्या फल है—ब्रह्मके साथ सायुज्यलाभ अथवा ब्रह्मके समान ऐश्वर्यलाभ?

उपर्युक्त पाँचों विषयोंमेंसे प्रत्येकपर केवलाद्वैत और विशिष्टाद्वैत मतमें घोर विवाद है। केवलाद्वैत और शुद्धाद्वैतमें बहुत विवाद नहीं है।

(३) विज्ञानाद्वैतवाद—यह बुद्ध भगवान्का मत है। महायानसम्प्रदायके प्रवर्त्तक सिद्ध नागार्जुनजीने इसपर गम्भीर विचार किया है। बौद्धोंके योगाचारसम्प्रदायमें इसका प्रतिपादन हुआ है।

श्रीशङ्कराचार्यजीके समयमें विज्ञानाद्वैतवादियोंका प्राबल्य था। जगत् रज्जुमें सर्पकी तरह, सीपमें चाँदीकी तरह, सूर्यकिरणमें जलकी तरह मिथ्या है—ये सब उक्तियाँ पहलेसे ही विज्ञानाद्वैतवादियोंमें प्रचलित थीं वैराग्यवर्धक होनेसे उनके अनुकूल थीं और संन्यासिशिरोमणि

श्रीशङ्कराचार्यजीको भी प्रिय थीं। क्योंकि मीमांसकोंके 'मोक्ष अनभिमत' वाले सिद्धान्तको हटाकर संन्यासाश्रमकी स्थापना उन्हें करनी ही थी, इसलिये उन्होंने भी विज्ञानाद्वैतवादियोंकी तरह उपर्युक्त युक्तियोंका विस्तार किया। तदनन्तर उनके अनुयायियोंने भी उन्हें भलीभाँति पल्लवित किया। इसपर विचारना यह है कि यदि महर्षि बादरायणको 'जगत् अलीक है, मायिक है' आदि सिद्धान्त मान्य होते तो वे ब्रह्मसूत्रके दूसरे अध्यायके प्रथम पादमें निम्नलिखित आपत्तियोंका उत्थापन और खण्डन करनेके लिये इतने सूत्र क्यों बनाते ? महर्षिकी विचारधारा इस प्रकार है—(क) चेतन ब्रह्मसे अचेतन जगत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसपर महर्षि कहते हैं—जिस तरह चेतन पुरुषसे अचेतन नख, केश आदिकी उत्पत्ति देखी जाती है (ब्र० सू० २। १। ६)। (ख) ब्रह्मके पास जब कुम्भकारकी तरह कोई उपकरण नहीं, तब उसने जगत्को कैसे बनाया ? इसके उत्तरमें महर्षि कहते हैं कि उपकरणके बिना भी सृष्टि दिखायी देती है—

क्षीरवद्धि। देवादिवदपि लोके। (ब्र० सू० २।१।२४-२६)*

जैसे दूध या जल बाहरी साधनकी अपेक्षा न करके स्वयं ही दही या बर्फरूपमें बदल जाता है। (ग) जब ब्रह्म निरवयव है और यह जगत् ब्रह्मका परिणाम है तब सम्भव है कि पूर्णब्रह्म विकारग्रस्त हो जाय, नहीं तो उनको सावयव कहा जाय। उसके उत्तरमें—

कृत्स्ने प्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा।
(२।१।२६)

—सूत्र रचते हुए महर्षि कहते हैं कि जिस श्रुतिमें जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न कहा गया है उसीमें यह भी कहा गया है कि ब्रह्म विकारग्रस्त नहीं होता। (घ) जब ब्रह्म निराकार है तब वह सृष्टि कैसे करता है ? इसपर महर्षि कहते हैं—

विकरणत्वादिति चेत्तदुक्तम्। (२।३।३१)

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
(श्वेताश्वतर०)

उसके हाथ नहीं, पर ग्रहण करता है, वह पैरके बिना चलता है, बिना आँखके देखता है, बिना कानके सुनता है। जिन महर्षिने ऐसी-ऐसी युक्तियों, तर्कों और प्रमाणोंका प्रयोग किया है, वे जगत्को कभी विज्ञानमात्र या अलीक कहेंगे ? विशेषतः जहाँ वे तीसरे अध्यायके दूसरे पादके आरम्भमें स्वप्नसृष्टि और जाग्रत्-सृष्टिका भेद प्रदर्शित करते हैं, वहाँ उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि स्वप्नसृष्टि ही मायामय है।

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्।
(३।२।३)

यद्यपि श्रीशङ्कराचार्यजीके परमगुरु श्रीगौडपादाचार्य जगत्को स्वप्नसृष्टिकी तरह मिथ्या कहते हैं* और योगवाशिष्ठका भी यही मत है†, तथापि श्रीशङ्कराचार्य यह बात नहीं मानते। उपर्युक्त सूत्रके भाष्यमें वे लिखते हैं—

किं प्रबोध इव स्वप्नेऽपि पारमार्थिकी सृष्टिराहोस्विन् मायामयीति। तस्मात् तथ्यरूपैव संध्ये सृष्टिरिति। एवं प्राप्ते प्रत्याह मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् (ब्र० सू० ३।२।३)

मायैव संध्ये सृष्टिर्न परमार्थगन्धोऽप्यस्ति × × तस्मान्मायामात्रं स्वप्नदर्शनम् × × पारमार्थिकं तु **नायं संध्याश्रयः सर्गो वियदादिसर्गवत् इत्येतावत् प्रतिपाद्यते। न च वियदादिसर्गस्यापि आत्यन्तिकं सत्यत्वमस्ति। प्रतिपादितं हि 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'।**
(ब्र० सू० २।१।१४)

---

* इसके भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्य लिखते हैं—'यथा हि लोके क्षीरं जलं वा स्वयमेव दधिहिमभावेन परिणमते अनपेक्ष्य बाह्यं साधनम्, तथेहापि भविष्यति। एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवद् विचित्रपरिणाम उपपद्यते यथा लोके देवाः पितर ऋषय इत्येवमादयो महाप्रभावाश्चेतना अपि सन्तोऽनपेक्ष्यैव किञ्चिद् बाह्यं साधनमैश्वर्यं विशेषयोगाद् अभिध्यानमात्रेण स्वत एव बहूनि नाना संस्थानानि शरीराणि प्रासादादीनि च रथादीनि च निर्मिमाणा उपलभ्यन्ते एवं चेतनमपि ब्रह्मानपेक्ष्य साधनं स्वत एव जगत् स्रक्ष्यति।'

* अद्वयञ्च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः।
अद्वयञ्च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः॥
मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत् किञ्चित् सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥
(माण्डूक्यकारिका ४। ३०-३१)

† यथा स्थितमिदं विश्वं निजभावक्रमोदितम्।
न तत्सत्यं न चासत्यं रज्जुसर्पभ्रमो यथा॥
मिथ्यानुभूतितः सत्यमसत्यं सत् परीक्षितम्।
(यो० वा० ४०।४१)

इत्यत्र समस्तस्य प्रपञ्चस्य मायामात्रत्वम्। प्राक् तु ब्रह्मात्मत्वदर्शनाद् विपदादिप्रपञ्चो व्यवस्थितिरूपो भवति। संध्याश्रयस्तु प्रपञ्चः प्रतिदिनं बाध्येत इति। अतो वैशेषिकमिदं संध्यस्य मायामात्रत्वमुदितम्।

(३ । २ । ४ सूत्रपर शाङ्करभाष्य)‡

जीव और ब्रह्म—जीव जन्मता भी नहीं और मरता भी नहीं—इस विषयमें अद्वैतवादियोंसे विशिष्टाद्वैतवादियोंका मेल है, परन्तु अद्वैतवादी जीवको विभु—सर्वव्यापी मानते हैं, इसमें उनका मतभेद है। वे 'एकोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः'—इस श्रुति-प्रमाणसे जीवको अणु मानते हैं। जब अणु है, तब एक जीव बहुत शरीरोंमें अधिष्ठित नहीं हो सकता; अतः जीव बहु हैं, प्रत्येक शरीरमें अलग-अलग। किन्तु श्रुति स्पष्टरूपसे स्वीकार करती है कि आत्मा बहु नहीं, एक है—

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग् भवेत्।
तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान्॥
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

(ब्रह्मविन्दु ११ । १२)

इसपर महर्षि बादरायणका सूत्र है—

'आभास एव च' (२ । ३ । ५०)

और—

'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' (३ । २ । १८)

स्वामी शङ्कराचार्य और रामानुजाचार्य दोनों ही कहते हैं कि महर्षिने ये दोनों सूत्र उपर्युक्त श्रुतिपर लक्ष्य करके ही बनाये हैं। यदि यह ठीक है, तब तो सूत्रकारके मतमें भी आत्मा बहु न होकर एक ही है। इसपर किये गये आक्षेपोंके उत्तरमें सूत्रकारने इन सूत्रोंकी अवतारणा की है, यथा—

प्रकाशादिवन्नैवंपरः। (२ । ३ । ४६)

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्।

(२ । ३ । ४५)

असन्ततेश्चाव्यतिकर आभास एव च।

(२ । ३ । ४९-५०)

अदृष्टानियमात्। अभिसंध्यादिष्वपि चैवम्। प्रादेशादिति चेतनान्तर्भावात्। (२ । ३ । ५१–५३)

परन्तु जीव जगत्का बनानेवाला नहीं है। सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म है, जो जीवसे अधिक है।

अधिकोपदेशात् तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्।

(३ । ४ । ८)

श्रुतिने जीवसे ईश्वरको बड़ा बताया है। जीव और ब्रह्मका यह भेद स्वरूपगत नहीं, उपाधिगत है। इस भावमें जीव और ईश्वर भिन्न अवश्य हैं; किन्तु अंशी और अंशमें, बिम्ब और प्रतिबिम्बमें स्वरूपतः कोई भेद नहीं हो सकता। श्रुतिमें कहीं तो 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंद्वारा जीव और ब्रह्मकी अभिन्नता दिखायी है और कहीं कर्त्ता, कर्म आदिका निर्देश करके ब्रह्मको जीवसे अधिक बताया है। अस्तु, जीव और ब्रह्म भिन्न भी हैं और अभिन्न भी—यह बात किस तरह सम्भव है? उत्तर है, 'जिस तरह घटाकाश और महाकाश भिन्न भी हैं और अभिन्न भी।'

सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म—ब्रह्मके विषयमें दो प्रकारकी श्रुतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—(१) सविशेषलिङ्गश्रुति; यथा—वह सर्वकर्मा है, सब कुछ है, सबका रस है। दूसरी निर्विशेष लिङ्गश्रुति; यथा—वह स्थूल भी नहीं है, सूक्ष्म भी नहीं है; ह्रस्व भी नहीं है, दीर्घ भी नहीं है। श्रीरामानुजाचार्यने सगुण ब्रह्मका प्रतिपादन किया है और श्रीशङ्कराचार्यने निर्गुण ब्रह्मको ही श्रुतिका प्रतिपाद्य माना है और सविशेष ब्रह्मका प्रत्याख्यान किया है।§ परन्तु आश्चर्यकी बात यह है कि 'अनावृत्तिः शब्दात्' वाले अन्तिम सूत्रके भाष्यमें आपने 'अपराजिता—अयोध्या, साकेत—भगवद्धाम' की बात कही है। उनका मत विज्ञानमय होते हुए भी शून्यवाद नहीं है, इस बातका विचार उन्होंने अन्ततक किया है और अन्तमें उन्होंने भागवतधर्मीय सिद्धान्त, सगुणवादियोंके भगवद्धामविषयक सिद्धान्तको स्थापित किया।

श्रीशाङ्करमतके केवल विज्ञानमय बन जानेसे उनके अनुयायी सगुण ब्रह्मको मायाका खेल समझते हैं। जिस

---

‡ Even the existence, apparent and illusory, of a material world requires a real substratum, which is *Brahman*, just as the appearance of the snake in the simile requires the real substratum of a rope. Buddhist philosophers held that everything is empty and unreal and that all we have and know are our perceptions only. Sankara himself argues most strongly against this extreme idealism and enters into a full argument against the nihilism of the Buddhists. The Vedantist answers that though we percieve perceptions only, these perceptions are always percieved as perceptions of something.
—Max Muller's *Indian Philosophy*, pp. 209-11

§ अतश्चान्यतरलिङ्गपरिग्रहेऽपि समस्तविशेषरहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तद्विपरीतम्। सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्येवमादिषु अपास्तसमस्तविशेषमेव ब्रह्म उपदिश्यते। (शाङ्करभाष्य २।३।११)

तरह वृक्षोंकी समष्टि वन और जलकी समष्टि समुद्र है, उनके मतमें इसी तरह कारणदेहमें स्थित चैतन्य ही ईश्वर है। इस दृष्टान्तने अनेक अन्तःकरणोंमें नास्तिकता उत्पन्न कर दी है। वे नहीं समझते कि वृक्षसे वनका और जलसे भिन्न जलाशयका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। यह दृष्टान्त ही ठीक नहीं है। आजकलके नूतन वैज्ञानिकोंके कोषाणु (cell) का दृष्टान्त उपादेय है। इससे विदित होता है कि समष्टिका भी स्वतन्त्र और स्वाधीन अस्तित्व है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सगुण और निर्गुण ब्रह्ममें भेद नहीं है।

उपसंहार

विक्रमीय सं० १९७ की फाल्गुनी पूर्णिमाको एक महत्त्वपूर्ण चन्द्रग्रहण लगा था। उस अवसरपर 'पंपासर' पर एक अपूर्व घटना संघटित हुई। उस प्रान्तकी जनता अधिक संख्यामें वहाँ पुण्यलाभके लिये उपस्थित थी। माण्डलिक राजा बावनके दोनों पुत्र गौरचन्द और हनुमान् भी राजपरिवारके साथ पधारे थे। समय सोहावन था। वसन्त राग पृथ्वी और आकाशके भीतर प्रत्येक चर-अचरमें भरा हुआ था। कोकिलकी कूक चारों ओरसे सुनायी देती थी। रात्रि होनेसे कुछ शीतका प्रभाव अवश्य था, गुलाबी जाड़ा अवश्य था; किन्तु ऋतुपरिवर्तनके सब लक्षण विद्यमान थे। ग्रहणके स्नानार्थी नर-नारियोंको सुख पहुँचानेके लिये राजाकी ओरसे 'तपता' का प्रबन्ध सब जगह था। हाट, बाट भी साफ़-सुथरे। बड़े जप-तप, स्नान-ध्यानके अनन्तर ग्रहणोत्तर-स्नान सम्पन्न हुआ। दान-पुण्यकी धारा बही। इस पवित्र जलसे आबाल-वृद्ध-वनिता सबने मार्जन किया। राजाने भी उत्साहपूर्वक दान दिया। उन्होंने उत्तम ब्राह्मण उव्वटके पुत्र ठक्कुर चुष्पटको कलिङ्गदेशान्तर्गत छीछल परगनेके दो ग्राम 'पसेसरी' और 'सनापक' दानमें दिये। उनके राज्यका विस्तार तमसासे कृष्णातक एवं नीलगिरिसे हिमगिरितक था। ब्राह्मणको उसकी जन्मभूमिके समीपस्थ ग्राम दिये गये। यह दानका अनुष्ठान एक प्राचीन विशाल वृक्षकी छत्रच्छायामें सम्पन्न हुआ। उस विशाल वृक्षमें पीपल, पाकड़, वट, आम्र और निम्ब पाँचों वृक्ष जड़से मिले हुए थे। जिस समय संकल्प पढ़ा गया उसी समय यह वृक्ष फटा और उसमेंसे कुछ व्यक्ति निकल आये। उनके निकलते ही फटा हुआ वृक्ष फिर जुड़कर पूर्ववत् हो गया और उसमें निकले हुए व्यक्ति तुरंत शिखा फटकारकर शास्त्रार्थ करने बैठ गये। उनके शास्त्रार्थका विषय—माया, जीव, ब्रह्म था। वे पण्डित थे, शास्त्रनिष्णात थे, विवादमें कुशल थे। जनतामें जो लोग उनकी शास्त्रीय भाषा समझ सकते थे, उनको अवश्य आनन्द आया। परन्तु मूढ़ जनता जो इस अपूर्व घटनाका मर्म जाननेके लिये उत्सुक थी, इस शास्त्रार्थसे ऊब गयी थी। उधर उन पण्डितोंको विवाद करते-करते रोष आ गया और क्रोध एवं अहङ्कारके वशमें होकर वे लड़ने-झगड़नेपर उतर आये। बड़ा कोलाहल मचा। राजाके पार्षदोंने बड़ी कठिनतासे शान्ति स्थापित की। इसी बीचमें एक अत्यन्त सुन्दरी युवती वहाँ पहुँच गयी, वह बड़ी विदुषी थी। उसने—

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहु मानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥

इस श्लोकको ऐसे सुमधुर स्वरसे अलापा कि सब वेदान्ती स्तब्ध रह गये। उनपर उसका आतंक छा गया। अब वह चुप थी, सबकी दृष्टि उसीपर जमी हुई थी। वेदान्ती झुक गये। उनमेंसे एकने कहा—'माता! हमारा उद्धार कैसे होगा?' देवीने कहा—बहुत ही कठिन है। जो अविद्याके कूपमें पड़े हुए हैं उनका उद्धार तो हो जाता है परन्तु जो विद्याकी बावलीमें गोते लगा रहे हैं उनके उद्धारकी कल्पना तो ब्रह्मा भी नहीं कर सकते। क्या आप नहीं जानते कि विवाद करना वाणीके दुरुपयोगका महापाप है? विवाद राग-द्वेषवर्धक है, इससे लोगोंका दिल दुखता है, यह हिंसाका पाप है। क्या आपके गुरुओंने नहीं बताया है कि वेदान्त विवादका विषय नहीं, विचारणीय विषय है? सोचिये तो सही, आपलोग अपने समयके कैसे प्रतिष्ठित विद्वान् थे। इस विवादके कारण ही तो आपकी वक्तृत्वशक्ति छीन ली गयी और आप वनस्पतियोनिको प्राप्त हुए। आज राजाके पुण्य-प्रतापसे ज्यों ही वृक्षयोनिसे आपका उद्धार भी हुआ त्यों ही आप पुनः पूर्वाभ्यासवश उसी मन्दकृतिमें प्रवृत्त हो गये। अब आप उद्धारकी बात उठाते हैं। आप ही कहिये, आपका उद्धार कैसे हो सकता है? जो अहंकार-ममकार और क्रोध-जैसे खर-दूषण-त्रिशिराकी चतुर्दश सहस्र सेनामें सम्मिलित रहेगा, उसका उद्धार तो रामबाणसे ही हो सकता है। अच्छा, अब सुनिये वेदान्तका मर्म, अपने उद्धारकी बात। सूत्रकार व्यासजीने अपने पाँचों शिष्योंको बता और जता दिया था कि उत्तरमीमांसादर्शनके प्रथम दो अध्याय केवल समन्वय एवं सामञ्जस्यके लिये हैं, शेष दो अध्याय साधन और

फलवाले ही सबके लिये उपादेय हैं। उसीके अनुसार साधना करके अमृतत्वको प्राप्त करना चाहिये। जैसे नदियाँ, चाहे कहींसे निकली हों, सब-की-सब समुद्रकी ही ओर दौड़ती हुई जाती हैं, उसी तरह प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्वको लिये हुए प्रियतम प्रभु आनन्दस्वरूप परब्रह्मसे मिलनेके लिये तड़प रहा है और कर्मोंकी कँटीली राहसे उधर ही जा रहा है। ऐसी दशामें सबका कल्याणकारी वेदान्त पुकारकर कहता है—'हे पथिक! यह क्या है, यहाँ क्या हो रहा है! इनको न देखो, न सुनो, कुछ बोलो भी नहीं। गन्तव्य मार्गपर चलते हुए आँख, कान और मुँह तीनोंको बंद करो, तब तुम अन्तर्जगत्में प्रवेश कर सकोगे और भगवदीय रहस्यसे परिचित हो सकोगे, वह प्यारा तुम्हारे पास है। तुमसे दूर बिल्कुल नहीं। ब्रह्मपुरमें जब तुम सुषुप्तावस्थामें जाते हो तो एक क्षणके ही लिये सही, तुम प्रतिदिन एक बार उस प्यारेसे मिल आते हो, तुमको इसकी सुध-बुध नहीं। अच्छा चले चलो, घबराना मत।'

इस प्रकार उपदेश देकर वह रमणी वहीं विलीन हो गयी, वेदान्ती लोग उसी वृक्षके नीचे तप करने लगे!

पाशुपत सिद्धान्त और वेदान्त

(लेखक—पं० राजबलीजी पाण्डेय, एम० ए०)

शैव धर्मसे अनेक साम्प्रदायिक धर्मों और दर्शनोंकी उत्पत्ति हुई है। इनको हम मोटे तौरपर दो भागोंमें बाँट सकते हैं—(१) आगमिक और (२) पाशुपत। इन दोनोंमें मुख्य भेद यह है कि आगमिक शैव धर्म अपनी वैदिक परम्पराके अधिक अनुकूल है, किन्तु पाशुपत धर्ममें कालक्रमसे कई अवैदिक तत्त्व आ गये। श्रीकण्ठाचार्यने वेद और शिवागममें भेद नहीं माना है ('वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः')। परन्तु कूर्मपुराणमें पाशुपत मतको स्पष्टतः वेदबाह्य बतलाया गया है। आगमिकके पुनः शैव सिद्धान्त, प्रत्यभिज्ञा, वीरशैव, तामिल आदि साम्प्रदायिक शाखाएँ हैं। पाशुपत मतके भी पाशुपत, लकुलीश (नकुलीश), कापालिक, रसेश्वर, गोरखनाथी आदि उपभेद हैं। माधवाचार्यने अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में नकुलीश-पाशुपत दर्शनको एक मानकर उनका विवेचन किया है। पाशुपत दर्शनसे प्रायः लोग इसीका बोध करते हैं। लेकिन ध्यान देनेकी बात है कि ये मूलतः दो भिन्न सम्प्रदाय थे, ऐसा यामुनाचार्यके 'आगमप्रामाण्य' नामक ग्रन्थसे मालूम होता है, जिसमें उन्होंने दोनों मतोंका अलग-अलग उल्लेख किया है।

पाशुपत दर्शनका यह नाम क्यों पड़ा, यह एक विचारणीय विषय है। इतना तो निश्चित है कि वैष्णव और शैव दर्शनोंका उदय भक्तिमार्गके प्रवाहमें हुआ। वैदिक विष्णु और रुद्र आगे चलकर त्रिमूर्तिके दो प्रधान अङ्ग हो गये और उनकी उपासना व्यापक रीतिसे विष्णु और शिवके रूपमें होने लगी। जब दर्शनशास्त्रका विकास हुआ तो इन सम्प्रदायोंके अनुयायियोंने नवविकसित दार्शनिक तत्त्वोंको अपने धार्मिक विचारोंमें समाविष्ट करनेका विचार किया। दर्शनोंमें प्रायः तीन मूलतत्त्व माने गये हैं—(१) परमतत्त्व (ब्रह्म अथवा प्रकृति) (२) जीव और (३) जगत् (सृष्टि)। जीव जगत्के बन्धनमें पड़कर दुःख भोगता है और मूलतत्त्वके साक्षात्कार अथवा स्वानुभूतिसे उसको मोक्ष या परम सुख मिलता है। भक्तिमार्गमें उपास्य (ईश्वर), उपासक (जीव) और लीला (जगत्)—साधारणतः ये तीन पदार्थ स्वीकार किये गये हैं। पाशुपतदर्शनमें जगत्के बन्धनमें फँसा हुआ जीव पशु है। यह रूपक बद्ध पशुओंसे लिया गया है, यह जगत् पाश अथवा मल, और अनुग्रह करके इससे छुड़ानेवाला शिवतत्त्व पशुपति है। इसलिये पशुपति-तत्त्वका योग करानेवाला शास्त्र पाशुपत कहलाता है। पाशुपत नाम पड़नेका एक और कारण है। पशुपति शिवका एक पर्यायवाची नाम है। शुक्ल यजुर्वेद (१६।२८), अथर्ववेद (११।२।२८), आश्वलायन गृह्यसूत्र (४।८), पारस्कर गृह्यसूत्र (३।८) आदिमें इस शब्दका प्रयोग हुआ है, किन्तु इन स्थलोंमें उसका कोई पारिभाषिक महत्त्व नहीं मालूम होता। जान पड़ता है कि जीवोंकी बद्धताकी भावनाके उदय होनेपर शैव सम्प्रदायवालोंको पशुपति नाम अधिक उपयुक्त जान पड़ा, और इसलिये दर्शनशास्त्रमें भी इसे स्थान मिला।

पाशुपत धर्मका वर्णन सर्वप्रथम महाभारतमें (१२।२८५, ३२१; १३।१४-१८; १६०-१) मिलता है। महेश्वरमाहात्म्यमें शिवके एक सहस्र आठ नामोंकी गणना है, जो विष्णुसहस्रनामका अनुकरण जान पड़ती है। इन

स्तोत्रोंमें शिव या विष्णुको जिन नामोंसे सम्बोधित किया गया है, उनके आधारपर कहा जा सकता है कि यहाँ शिवकी कल्पना उपनिषदोंके 'ब्रह्म' के रूपमें है, जो सब देवों, मनुष्यों और पदार्थोंका उद्गम है। महाभारतमें वर्णित पाशुपत धर्मके अध्ययनसे मालूम होता है कि पाशुपत मत वैष्णव पाञ्चरात्रदर्शनका समानान्तर शैवसम्प्रदाय है। दोनोंने सांख्य-योगकी सृष्टिप्रक्रियाको स्वीकार किया है और दोनों ही औपनिषदिक शिक्षाओंसे मेल रखना चाहते हैं। औपनिषदिक विचारपरम्पराका अनुकरण करनेसे ही उक्त पाशुपत सिद्धान्त और वेदान्तमें साम्य दिखायी पड़ता है।

महाभारतकालीन अथर्वशिरस् उपनिषद्में रुद्र-पशुपति सब पदार्थोंका मूलतत्त्व और सबका गन्तव्य स्थान बतलाया गया है। पशु, पति, पाशादि पाशुपत दर्शनके पारिभाषिक शब्दोंका उल्लेख हुआ है। प्रणवके ध्यानकी योगपद्धति उपयोगी बतलायी गयी है। और साधकोंके लिये भस्म-धारणका विधान किया गया है। अथर्वशिखा, नीलरुद्र और कैवल्य उपनिषदोंमें भी पाशुपत सिद्धान्तोंका उल्लेख मिलता है।

इसके अनन्तर वामनपुराण (६। ८६-९१) में शिवलिङ्गकी चतुर्विध—शैव, पाशुपत अथवा महापाशुपत, कालयमन और कापालिक-उपासना बतलायी गयी है। शिवपुराण (वायवीय संहिता अ० २) में वर्णन आया है कि वासुदेव कृष्णने धौम्यके ज्येष्ठ भ्राता उपमन्युके निकट पाशुपत धर्मकी शिक्षा पायी थी। इससे अनुमान किया जाता है कि भागवत धर्म और पाशुपत मतमें कोई अनुल्लङ्घनीय विरोध नहीं था। शिवपुराणमें यह भी लिखा है कि पाशुपतोंका 'पाशुपतशास्त्रपञ्चार्थदर्शन' नामक एक ग्रन्थ है, जिसकी रचना स्वयं शिवजीने की थी।

मध्यकालीन निबन्धलेखकों और भाष्यकारोंने भी पाशुपत दर्शनकी आलोचना या निर्देश किया है। श्रीमच्छंकराचार्यने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें पाशुपत सिद्धान्तकी आलोचना की है कि पाशुपतोंका यह सिद्धान्त उपनिषदोंके विरुद्ध है कि ईश्वर जगत्का निमित्तकारण है, उपादानकारण नहीं। अभिनवगुप्तने तन्त्रालोकमें पाशुपत मतको अपने अद्वैत-मतके अनन्तर ही उच्च स्थान दिया है। उन्होंने कहा है कि यह मोक्ष देनेवाला मार्ग है, परन्तु हमारा मार्ग भोग और मोक्ष दोनों देनेवाला है। अभिनवगुप्तका सिद्धान्त अद्वैतपरक था, किन्तु पाशुपत सिद्धान्त द्वैताद्वैतपरक और आगममूलक। माधवाचार्यने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में पाशुपत दर्शनकी संक्षेपमें आलोचना की है। इन्होंने पशुपतिसूत्रके अतिरिक्त हरदत्त, नकुलीश और आदर्शके वचन उद्धृत किये हैं, जिनके विषयमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। उदयनाचार्यने न्यायकुसुमाञ्जलिमें पाशुपत सिद्धान्तका उल्लेख किया है और भासर्वज्ञने इसका व्याख्यान करते हुए गणकारिका नामक ग्रन्थ लिखा है।

पाशुपत दर्शनके प्राचीन ग्रन्थ सूत्र, भाष्य, कारिका इत्यादि लुप्त हो गये हैं। अतः इसके विवेचनके लिये अन्य ग्रन्थोंमें इसके संकेत, व्याख्या, आलोचना, छाया और कुछ आधुनिक निबन्धोंका ही आश्रय लिया जाता है। इस अवस्थामें कहाँतक पाशुपत सिद्धान्तको यथार्थ रूपमें उपस्थित किया जा सकता है, यह केवल अनुमान करनेका विषय है।

सर्वदर्शनसंग्रहके अनुसार पाशुपत दर्शनमें पञ्च पदार्थ माने गये हैं—(१) कार्य, (२) कारण, (३) योग, (४) विधि और (५) दुःखान्त। इनमें 'कारण' अन्य शैव आगमोंका पति, और 'कार्य' में पशु और पाश दोनों सम्मिलित हैं। दुःखान्त मोक्षका नामान्तर है। विधि और योग पाशुपत धर्मके अनुसार कायिक और मानसिक आचार हैं। वेदान्तकी परिभाषामें कारण परब्रह्म और कार्य प्रपञ्च और माया है; दुःखान्तको अज्ञानकी निवृत्ति कह सकते हैं; योग मानसिक साधना है; विधि बाह्य धार्मिक आचरण है, जिससे वेदान्तका कोई तात्त्विक सम्बन्ध नहीं है।

सबसे पहले कारणतत्त्वका विचार करना चाहिये। सर्वदर्शनसंग्रहमें माधवाचार्य कहते हैं—'पति ही कारण और प्रभु है, क्योंकि वही जगत्का उत्पादक और शासक है। वही सृष्टिका कर्ता, धर्ता और संहर्ता है। वह वस्तुतः एक है, किन्तु गुण और क्रियाके भेदसे उसके अनेक नाम हैं, उसका स्वरूप अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त ऐश्वर्यमय है।' यहाँ वेदान्तसे तुलना करनेपर एक बात स्पष्ट देख पड़ती है। पाशुपत दर्शनमें 'पति' के ऐश्वर्यपर ही जोर दिया गया है; उसमें ब्रह्मके अतिशायित्वका स्पष्ट निर्देश नहीं है। ईश्वरवादी सिद्धान्तमें ईश्वरके कर्तृत्व और ऐश्वर्यकी प्रधानता बिल्कुल स्वाभाविक है।

कारणत्वके प्रकारके सम्बन्धमें पाशुपतोंका मत है कि शिव या महेश्वर जगत्का निरपेक्ष निमित्तकारण है अर्थात् वह सृष्टिरचनामें जीवोंके कर्मकी अपेक्षा नहीं रखता, किन्तु कर्मका बलाबल व्यक्तिकी क्रियाशक्तिपर अवलम्बित होता

है; क्योंकि महेश्वरकी इच्छाशक्तिसे उसका सामञ्जस्य होनेके कारण उसमें कोई बाधा नहीं पड़ती (सर्वदर्शनसंग्रह)। शैव सिद्धान्ती ईश्वरके निमित्तकारणत्वको कर्माधीन मानते हैं; शुभाशुभ कर्मोंका फल व्यक्तिगत आत्माओंको महेश्वरकी आज्ञासे प्राप्त होता है, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि कर्माधीनतासे ईश्वरका स्वातन्त्र्य बाधित होता है। जैसे पुलिसद्वारा नगरकी रक्षा करानेसे राजाकी स्वतन्त्रता कम नहीं होती, उसी प्रकार कर्मनियमोंसे काम लेनेमें ईश्वर परतन्त्र नहीं होता। जिस प्रकार चुम्बकका पकड़नेवाला सूईकी गति निर्धारित करता है, उसी प्रकार महेश्वर यथायोग्य व्यक्तियोंको कर्मफल प्राप्त कराते हैं (शिवज्ञानभाष्यम् नामकी तामिल पुस्तक)। इन दोनों सम्प्रदायोंके दृष्टिकोणमें अन्तरका कारण यह है कि सिद्धान्ती शैव द्वैतवादी हैं और पाशुपत द्वैताद्वैतवादी। पाशुपतोंके मतमें परम स्वातन्त्र्य ईश्वरका स्वभाव है, इसलिये उसमें कर्मसापेक्षत्वका आरोप नहीं किया जा सकता। प्रत्यभिज्ञासम्प्रदायका मत इन दोनोंसे भिन्न है। इसके अनुसार सृष्टिकी उत्पत्ति केवल महेश्वरकी सिसृक्षासे होती है, क्योंकि वह अबाधित शक्ति आनन्द और स्वातन्त्र्यसे समन्वित है। इस मतमें सिसृक्षा शक्तिके अतिरिक्त विश्वका अन्य कुछ उपादान नहीं है। यह सिद्धान्त अद्वैत वेदान्तसे बहुत कुछ मिलता है, जिसमें 'एकोऽहं बहु स्याम्' से ही प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है; किन्तु पाशुपत दर्शन अद्वैतवेदान्तसे मेल नहीं खाता। पाशुपत द्वैताद्वैतमें जगत् सत्य और ईश्वरसे भिन्नाभिन्न दोनों है। अद्वैतवेदान्तमें जगत् मिथ्या है और ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

पाशुपत सिद्धान्तका दूसरा पदार्थ 'कार्य' है। इसकी परिभाषा सर्वदर्शनसंग्रहमें इस प्रकार की गयी है 'यदस्वतन्त्रं सर्वं कार्यम्'—अर्थात् जो कुछ भी परतन्त्र है वह कार्य है। इसको परतन्त्र इसलिये कहा गया है कि यह अपने कारण ईश्वरपर अवलम्बित है। इसके तीन भाग हैं—(१) विद्या (२) कला और (३) पशु। हम इस कार्यकी समता सांख्यकी प्रकृतिसे नहीं कर सकते, क्योंकि प्रकृति स्वतन्त्र और पुरुषके सहयोगसे सृष्टिकी रचना करती है। परन्तु यह 'कार्य' अद्वैत वेदान्तके 'ब्रह्म' का स्फुरण, प्रतिबिम्ब या विवर्त भी नहीं है। यहाँ तो महेश्वरने अपनेको दो भागोंमें विभक्तकर शास्ता और शासितका सम्बन्ध स्थापित कर दिया है।

'विद्या' पशुका गुण, परतन्त्र और अचेतन है। इसके दो भेद हैं—बोध और अबोध। प्रवृत्तिभेदसे बोधके दो प्रकार–विवेक और अविवेक माने गये हैं। साक्ष्यपर अवलम्बित विवेकको चित्त कहते हैं। इसीके द्वारा सब प्राणी चिदचित् पदार्थोंको जानते हैं। अबोध पशुका गुण हो भी सकता है और नहीं भी। इसका कारण यह है कि बोध तो पशुका स्वाभाविक गुण है किन्तु अबोध प्रासङ्गिक होता है। पाशुपत शास्त्रकी 'विद्या' उपनिषदोंकी विद्या नहीं है। ईशोपनिषद्में विद्यासे तात्पर्य ब्रह्मविद्याका है; शेष बौद्धिक ज्ञानको तो उसमें अविद्या ही कहा गया है। यहाँ 'विद्या' शब्द इसी अविद्याका समानार्थक मालूम होता है, और इसीलिये इसको परतन्त्र और अचेतन कहा गया है। कार्यजगत्में होनेके कारण भौतिक सीमाओंसे यह बद्ध है और मायाशक्तिसे आच्छादित होनेसे अचेतन है। इसकी कुछ अंशोंमें समता सांख्यके बुद्धि-तत्त्वसे कर सकते हैं, यद्यपि बुद्धिकी गणना कलावर्गके प्रभेदमें की गयी है।

'कला' चेतनपर अवलम्बित और स्वयं अचेतन है (चेतनपरतन्त्रत्वे सत्यचेतना—सर्वदर्शनसंग्रह)। इसके भी दो भेद हैं—कार्याख्या और कारणाख्या। कार्याख्या दश प्रकारकी होती है—पृथ्वी आदि पञ्चभूत और गन्धादि पञ्चगुण। कारणाख्याके तेरह प्रकार हैं—पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, त्रिविध अन्तःकरण (मन, बुद्धि और अहंकार, जिनके कार्य संकल्प, अध्यवसाय और अभिमान हैं)। 'कला'को सांख्यदर्शनकी प्रकृतिसे उत्पन्न तत्त्वोंकी परिगणना समझना चाहिये। यहाँ सांख्यकी पूरी शब्दावली ही ले ली गयी है। जिस प्रकार सांख्यदर्शनके अनुसार जड प्रकृति चेतन पुरुषके संसर्गसे सारी सृष्टिको रचना करती है उसी प्रकार महेश्वरकी कला भी उसके अथवा तज्जन्य जीवोंके आश्रयसे प्रपञ्चको रचती है। कलाकी तुलना हम गीताकी अपरा प्रकृतिसे कर सकते हैं, जिसके अधिष्ठानसे सम्पूर्ण जगत् बना हुआ है।

कार्यका तीसरा तत्त्व 'पशु' है। पशुत्व अथवा बन्धनसे बद्ध (जीवात्मा) ही पशु है। पशुकी दो कोटियाँ हैं—(१) साञ्जन और (२) निरञ्जन। शरीरेन्द्रियसे सम्बन्ध रखनेवाला जीव साञ्जन और इनसे रहित निरञ्जन कहलाता है। मृगेन्द्र आगमने पशुकी कुछ और विस्तृत व्याख्या की है 'पशुको पति और जगत्से भिन्न मानना चाहिये। पशु, जिसके लिये पृथ्वी और अर्थ पदार्थ वर्तमान हैं, शरीर नहीं

है, क्योंकि शरीर अचेतन है और इसलिये अवश्य ही दूसरेके उपभोगके लिये बना हुआ है। शरीर चेतन सत्ता नहीं है, क्योंकि यह भोग्य और परिवर्तनशील है।······पशु एक स्थानमें बद्ध, क्षणिक, अचेतन और अकर्ता नहीं है, क्योंकि ऐसा कहा गया है कि पाशोंके नष्ट हो जानेपर वह शिवस्वरूप हो जाता है (मृगेन्द्र आगम ६। १)।' 'पशु अपने स्वभावमें सनातन और सर्वव्यापिनी चिच्छक्तिका आवास है (वही ७। ५)।' पाशुपत सिद्धान्तमें पशु (जीवात्मा) को पति और जगत्से भिन्न माना है, किन्तु साथ-हीं-साथ यह भी कहा है कि वह पाशोंसे मुक्त होनेपर शिवस्वरूप हो जाता है। पतिसे जीव भिन्न इसलिये मालूम होता है कि वह अपने संस्कारवश पाशसे बद्ध होनेके कारण अपनेको महेश्वरसे अलग अनुभव करने लगता है। ऐसे ही जीवकी साञ्जन संज्ञा है। परन्तु तत्त्वतः वह महेश्वरका अंश अथवा तद्रूप ही है। यही कारण है कि जब पाशका आवरण हट जाता है तो अपने वास्तविक स्वरूपमें मिल जाता है। लेकिन पाशुपत और वेदान्तमतोंमें थोड़ा अन्तर है। पशुका पशुत्व भ्रान्त नहीं है। वह अपना बन्धन खोकर भी निरञ्जन पशुके रूपमें महेश्वरके विश्वशरीरमें अपना अस्तित्व कायम रखता है। अतः पाशुपत सिद्धान्त द्वैताद्वैतपरक है।

'मल' जीवात्मामें लगा हुआ दोष है ('आत्माश्रितो दुष्टभावो मलः')। मल और पाश एक ही पदार्थ हैं। इनके तीन प्रकार बतलाये गये हैं— (१) अविद्या (२) कर्म और (३) माया। अविद्याको अण्वमल कहा है अर्थात् वह दोष जो आत्माके यह सोचनेपर कि वह अणु (सान्त शरीर) है, उत्पन्न होता है। वह आत्मा जो चैतन्य और स्वातन्त्र्यस्वरूप है अपनेको सान्त, शरीरबद्ध, परिमित ज्ञान-शक्तिवाला समझता है। क्षेमराज अपने शिवसूत्र (१ । २) भाष्यमें मल अथवा पाशकी यही व्याख्या करते हैं 'वह अनन्त चैतन्य होते हुए भी समझता है कि मैं सान्त हूँ, स्वतन्त्र होते हुए भी सोचता है कि मैं शरीर हूँ। अण्वमल दो प्रकारका है—(१) आत्माकी चेतनताका अज्ञान और (२) देहात्मबुद्धि। इसको अख्याति और अनाख्याति भी कहते हैं। इस पाशको पशुत्व, पशुनीहार, मृत्यु, मूर्च्छा, मल, अञ्जन, आवृति, रुज, ग्लानि, पाप, क्षय इत्यादि भी कहा गया है। यह सब भूतोंमें अनादि, घन और शक्तिमान् है (मृगेन्द्र आगम ७। ६८)। 'दयालु माहेश्वरी देवी पाशोंमें सन्निहित हैं। महेश्वरके पञ्च ऐश्वर्योंका प्रयोग पशुओंके कल्याणार्थ होता है।' (वही ११)

जीवात्माकी मुक्तिके लिये पशुपति मलोंका विकास प्रारम्भ करते हैं। इससे सृष्टि, धारण, संहार और तिरोधानकी शक्तियाँ गतिशील हो जाती हैं। तब शक्तिका विकास अनुग्रहके रूपमें होता है। जिस जीवात्माके मल क्षीण हो गये हैं, वह मुक्त हो जाता है। अपनी दयापर अवलम्बित पशुओंके कल्याणके लिये पशुपति ही मलोंको धारण करते हैं (मृगेन्द्र आगम ७। ११···)।

दूसरा पाश कर्म-अविद्याका परिणाम है। चेतन आत्मा और अचेतन शरीरके संघातका यही कारण है। यह एकदेशीय, विविध, क्षणिक, व्यक्तिगत और अनेक जन्मोंतक चलनेवाला होता है। इसको कर्म इसलिये कहते हैं कि यह मनुष्योंकी क्रियासे उत्पन्न होता है। सूक्ष्म होनेके कारण यह अदृष्ट कहलाता है। यह भोग्य है। इसीसे शरीरका जन्म और धारण होता है। इसके तीन प्रकार—मानसिक, वाचिक और कायिक—हैं। यह प्रलयकालमें परिपक्व होता और कल्पके आदिमें प्रकट होता है और पुनः प्रलयकालमें महेश्वरकी मायामें विलीन हो जाता है। भोगे बिना कर्मका नाश नहीं होता।

तीसरा मल माया है। इसको भेद भी कहते हैं। यह सम्पूर्ण विश्वकी योनि (शिवसूत्र १। १३) और ग्रन्थिपाश है (मृगेन्द्र आगम ९। १)। ग्रन्थि वह है जो आत्माको बंदी बना लेती है। माया दुःखका कारण, विश्वका बीज, शक्तिमती, आक्रमान्त जीवकी बाधक, सर्वव्यापी और अक्षय है।······यह विश्वका उपादानकारण है, क्योंकि जड जगत्का जड ही कारण होना चाहिये (मृगेन्द्र आगम ९। २–४)।

पाशुपत सिद्धान्तके मल अथवा पाशका अन्तर्भाव, जिसमें अण्वमल, कर्म और माया सम्मिलित हैं, वेदान्तकी 'माया'में होता है। वेदान्तके अनुसार मिथ्या जगत्का उपादानकारण मिथ्या माया है। इसी प्रकार पाशुपत दर्शनमें भी जड माया जड जगत्का उपादान है। किन्तु जड माया असत्य अथवा मिथ्या नहीं है बल्कि अक्षय और प्रवाहरूपसे सनातन है। दोनों सिद्धान्तोंके मायासम्बन्धी दृष्टिकोणमें यही अन्तर है। यह तात्त्विक मतभेद है, किन्तु मायाके प्रपञ्च जगत्में दोनों सिद्धान्तोंमें बहुत कुछ शब्द और अर्थसाम्य है। हाँ, थोड़ा प्रकारभेद तो है ही। हम अण्वमल (आत्माकी चेतनताका अज्ञान और शरीरमें आत्मबुद्धि) को अज्ञान या अविद्या कह सकते हैं, जो अद्वैत वेदान्तमें मायाके पर्यायवाची शब्द हैं। परन्तु मायाकी व्याख्यामें अन्तर

है। उपर्युक्त दो प्रकारके मलोंको पाशुपत सिद्धान्तमें अख्याति और अनाख्याति कहा गया है किन्तु अद्वैत वेदान्तमें मायाकी सम्पूर्ण प्रक्रिया अनिर्वचनीय है; उसकी कोई भी विध्यात्मक परिभाषा नहीं हो सकती। कर्मका सिद्धान्त दोनों मतोंमें प्रायः एक-सा ही है। यह जीवात्माके शरीरधारण—जन्म-मरणका कारण है। परन्तु वेदान्तके अनुसार कर्म भी भ्रममात्र है और ज्ञानोदयके साथ ही इसका क्षय हो जाता है। पाशुपत सिद्धान्तमें कर्मके स्वामी महेश्वर हैं और भोगके बाद वह पुनः उन्हींमें मिल जाता है। इसके विपरीत वेदान्तके ब्रह्मका कर्मसे कोई सम्बन्ध नहीं है। वह स्वतः कर्मसे निर्लिप्त और उसके सञ्चालनसे भी परे है। महेश्वर जीवोंपर अनुग्रह करके, उनकी मुक्तिके लिये, मलोंका प्रवर्तन और विकास करते हैं; ब्रह्म किसी दयाभावसे नहीं, अपितु अपने स्फुरणसे ही विसर्ग-संज्ञक कर्म करता है और इसी विसर्गमें व्यक्तिगत जीवात्माओंके कर्मका भी समावेश हो जाता है। कर्मसे केवल अपनी कर्तृत्वबुद्धि हटा लेनेसे ही इसके बन्धनसे छुटकारा मिल जाता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, पाशुपतोंने योगको भी एक तात्त्विक पदार्थ माना है। सर्वदर्शनसंग्रहमें वर्णित पाशुपत मतके अनुसार चित्तद्वारा आत्मा और ईश्वरके सम्बन्धको योग कहते हैं। योगदर्शनमें चित्तवृत्तिनिरोधको योग बतलाया गया है और इस निरोधकी पराकाष्ठा समाधिमें होती है। परन्तु पाशुपत योग सविकल्प समाधि मालूम होता है, क्योंकि इसमें ईश्वर और आत्माका सामीप्य लाभ होनेपर भी दोनोंकी सत्ताका भेद बना रहता है। निर्विकल्प समाधि तो इसके परेकी वस्तु है, जिसमें दो अहंकारोंका सामीप्य ही नहीं होता किन्तु अल्प अहंकारका विश्वात्मामें लय हो जाता है—और इतना लय हो जाता है कि ऐक्यके सम्बन्धमें संकल्प-विकल्प भी नहीं उठता। वेदान्तका अहंकार-क्षय बुद्धियोगद्वारा यही जंगम निर्विकल्प समाधि है जिसमें आत्मा-ईश्वरका योग ही नहीं, किन्तु सर्वथा ऐक्य हो जाता है। पाशुपत सिद्धान्तमें क्रियात्मक और उपरमात्मक दो प्रकारका योग माना गया है। हम इसको वेदान्तकी भाषामें कर्म और वैराग्य कह सकते हैं। कर्मको योग इसीलिये कहा गया है कि इससे बुद्धिकी शुद्धि होती है। प्रथम दूसरेका साधन है, इसलिये दोनों आवश्यक हैं। कुछ लोग इन दोनोंको स्वतन्त्र मानते हैं। इस दशामें क्रियात्मक योगको कर्मयोग अथवा अनासक्तियोग कहना पड़ेगा। कर्ममें नैष्कर्म्यका भाव होनेसे स्वात्मानुभूति या ईश्वरदर्शनमें कोई बाधा नहीं आती।

विधि पाशुपत सिद्धान्तका चौथा पदार्थ है। जो व्यापार धर्म और अर्थकी सिद्धि करता है उसे विधि कहते हैं। प्रधानविधि और गुणविधिके भेदसे विधि भी दो प्रकारकी है। भस्मस्नान, शयन, उपहार, जप और प्रदक्षिण—ये व्रतप्रधान विधि कहलाते हैं। क्राथन, स्पन्दन, मन्दन, शृङ्गारण, वित्कलन और आविद्भाषणको गुणविधि कहते हैं। अनुस्नान, भैक्ष्य, उच्छिष्ट-अशन, निर्माल्यधारणादि व्यापार गुणविधिके ही अन्तर्गत हैं। ये पाशुपतोंके साम्प्रदायिक धार्मिक कृत्य हैं। वेदान्त धार्मिक या आर्थिक किसी भी कर्मको तात्त्विक पदार्थ नहीं मानता। यद्यपि वह किसी कर्मका विधि या निषेध नहीं करता, किन्तु सब साम्प्रदायिक कर्म और पूजापद्धतिसे परे है। हम पाशुपत आचारको स्मार्त धर्मका समानान्तर मान सकते हैं, जिसमें बहुत-से अवैदिक तत्त्व भी मिले हुए हैं।

पाशुपत सिद्धान्तका पाँचवाँ और अन्तिम पदार्थ 'दुःखान्त' है। इसको अन्य दर्शनोंका मोक्ष या मुक्ति कह सकते हैं। सर्वदर्शनसंग्रहमें माधवाचार्य इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं: 'आध्यात्मिकादिदुःखव्यपोह' अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखोंका अपहरण ही दुःखान्त है। सांख्यदर्शनमें भी मुक्तिकी यही परिभाषा की गयी है। वेदान्तके अनुसार अज्ञानकी निवृत्ति ही मुक्ति है; किन्तु यहाँ अज्ञान ही सब दुःखोंका मूल माना गया है, इसलिये इसकी निवृत्तिसे दुःखोंका क्षय अपने-आप हो जाता है। यहाँतक दोनों सिद्धान्तोंमें साम्य है किन्तु आगे चलकर भेद हो जाता है। पाशुपत लोग दो प्रकारका दुःखान्त मानते हैं—(१) अनात्मक और (२) सात्मक। सब दुःखोंके अत्यन्त उच्छेदको अनात्मक और ऐश्वर्यप्राप्तिको सात्मक दुःखान्त कहते हैं। पाशुपत दर्शनानुयायी प्रथम प्रकारके दुःखान्तको उच्च कोटिका नहीं मानते। उनके अनुसार सच्ची मुक्ति तो परम ऐश्वर्यकी प्राप्तिमें है। यह ध्यान देनेकी बात है कि यह ऐश्वर्य उपनिषदोंका स्वाराज्य या साम्राज्य नहीं किन्तु शक्ति और अधिकारका उपभोग है। द्वैताद्वैतपरक पाशुपतोंको जीवात्माका पूर्ण लय सह्य नहीं, अतः उनके लिये ऐश्वर्यकी लालसा स्वाभाविक है। किन्तु अद्वैतमतानुयायियोंके लिये किसी प्रकारका भी भोग—चाहे ईश्वरत्वका ही क्यों न हो—जीवनका परम लक्ष्य नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वरत्व भी बन्धन ही है और इसका परिणाम अवश्य दुःखमय होगा।

कबीर साहब और वेदान्त

(लेखक—महन्त श्रीरामस्वरूपदासजी गुरु श्रीशान्ति साहब)

महात्मा कबीरदास एक बहुत बड़े लोकशिक्षक थे। उन्होंने मनुष्यसमाजको सत्यधर्मकी शिक्षा देनेकी जीवनभर चेष्टा की। उन्हें अपने जीवनमें बड़ी-बड़ी बाधाओं और मुसीबतोंका सामना करना पड़ा। फिर भी वे बड़ी निर्भीकताके साथ अपने व्रतपर डटे रहे; सत्यसे उन्होंने कभी मुँह नहीं मोड़ा। आज भी हम उनके पदों और साखियों-में उनकी धर्मशिक्षाको स्पष्टरूपमें देख सकते हैं। और सत्यधर्म वेदान्त ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। फिर भी कबीर-साहित्यसे अनभिज्ञ कितने ही लोगोंका यह कहना है कि कबीरसाहबने वेद और वेदान्तको नहीं माना है। परन्तु ऐसा कहना अपनी अनभिज्ञताका परिचय देनेके सिवा और कुछ नहीं। कबीर-साहित्यको ध्यानपूर्वक निष्पक्षभावसे पढ़नेवाला कोई भी मनुष्य यह कह सकता है कि कबीरकी शिक्षा अधिकांशमें वेद-वेदान्तके अनुकूल है और उन्होंने नाममात्रके वेदान्तियोंका खण्डन करते हुए मनुष्यमात्रको सच्चा वेदान्ती बनानेका भरपूर प्रयत्न किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि सच्चा वेदान्ती वही है जिसने अपने अन्तरात्माकी प्राप्ति कर ली है, जिसका हृदय मानवप्रेमसे भरा-पूरा है, जिसका मन सदा परोपकारमें लगा रहता है, जिसकी नस-नसमें जगत्का कल्याण करनेके लिये व्याकुलता समायी हुई है तथा जो मनुष्यमात्रके उद्धारमें ही अपना उद्धार समझता है। इसके विरुद्ध आचरण करनेवालोंको उन्होंने अवैदिक और वेदनिन्दक कहा है तथा बड़े कड़े शब्दोंमें उनकी भर्त्सना की है। अपनेको वैदिक सिद्ध करते हुए स्वयं कबीर साहब एक स्थलमें कहते हैं—

वेद पुरान कहो किन झूँठा, झूँठा जो न बिचारे।

अर्थात् कौन कहता है कि वेद-पुराण झूठे हैं ? झूठा तो वह है जो वेदके रहस्यको नहीं जानता और वेदको पढ़कर भी उसके परमतत्त्वका भेद नहीं जानता—

बेद पढ़ै पै भेद न जाना।
अंधेको दरपण बेद पुराना,
दर्बी कहै महारस जाना।

—इत्यादि।

अवश्य ही कबीर साहबने वेदके कर्मकाण्ड तथा उपासनाकाण्डमें फँसे हुए तथा उसीको सब कुछ माननेवालोंको सावधान किया है और उन्हें कर्मके भयङ्कर जालसे बाहर निकलनेके लिये आदेश दिया है। क्योंकि उनके मतसे कर्मके जालसे अलग हुए बिना उस परमतत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती, वह परमतत्त्व तो कर्म इत्यादिसे एकदम न्यारा (जुदा) है, यथा—

धंधा-बंधा नित व्यवहारा, कर्म बिबर्जित बसै निनारा।

इसी बातको योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी भी गीतोपनिषद्में कह रहे हैं कि जो स्वर्गकी प्राप्ति आदि फलोंके साधनरूप कर्मोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कुछ नहीं मानते तथा जिन्होंने कामको ही अपना स्वभाव बना लिया है, ऐसे कामपरायण और स्वर्गको प्रधान समझनेवाले पुरुष जन्मरूप फलको देनेवाले ही कर्म किया करते हैं अर्थात् ऐसे पुरुष बारंबार संसारचक्रमें घूमा करते हैं। यथा—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥

(गीता २। ४२-४३)

बस, इसी तरह सद्गुरु कबीर साहबने भी जगह-जगह कर्मजाल तथा स्वर्गकी कामना आदिसे रहित होनेका उपदेश दिया है और सबसे न्यारे परमतत्त्वको प्राप्त करनेकी सम्मति प्रदान की है। यथा—

जाको मुनिबर तप करे, बेद थके गुन गाय।
सोई देउँ सिखावना, कोई नहिं पतियाय॥

(बीजक)

कबीर साहब कहते हैं कि ब्रह्मनिष्ठ आत्मवेत्ता महात्माओंका आत्मा ही देश और लोक है, दूसरा नहीं। इसी वाक्यको श्रुतिदेवी भी चरितार्थ कर रही है—'तस्यायमात्मायं लोकः।'

कबीर साहबका कथन है कि जहाँ आत्मवेत्ता महात्माओंकी स्थिति होती है, वह आत्मा (परमतत्त्व) वाक्रूप वेद-स्मृति तथा चक्षु आदि समस्त साधनोंसे अगम्य है। यथा—

पंडित मिथ्या करहु बिचारा, नहिं तहँ सृष्टि न सिरजनहारा।
थूल अस्थूल पवन नहिं पावक, रबि ससि धरनि न नीरा॥
जोतिस्वरूप काल नहिं उहवाँ, बचन न आहि सरीरा॥
करम धरम कछुवौ नहिं उहवाँ, ना उहाँ मंत्र न पूजा।
संयम सहित भाव नहिं उहवाँ, सो धौं एक कि दूजा॥
गोरख राम एकौ नहिं उहवाँ, ना वहाँ बेद बिचारा।
हरि हर ब्रह्मा नहिं सिव सक्ती, नहिं तीरथ आचारा॥
माय बाप गुरु जाके नाहीं, सो दूजा कि अकेला।
कहहिं कबीर जो अबकी बूझे, सोई गुरु हम चेला॥

(बीजक)

तथा—

कहो उस देसकी बतियाँ, जहाँ नहिं होत दिन रतियाँ।
नहीं रबि चंद्र औ तारा, नहीं उँजियार अँधियारा॥
नहीं तहाँ पवन औ पानी, गये उस देस जिन जानी।
कबीरका देस है न्यारा, लखे कोइ नामका प्यारा॥

(गुजराती शब्दावली)

इसी बातको केन तथा मुण्डकोपनिषद् भी कह रहे हैं—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि। (केन० १—३)

तथा—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

(मुण्डक० २।२।१०)

गीतोपनिषद्में भी भगवान् कहते हैं—

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।

(१५।६)

कबीर साहब परमतत्त्वकी ओर लक्ष्य करके एक स्थानपर कह रहे हैं—

संत-महंतो सुमिरो सोई, काल-फाँससे बाँचा होई।

अर्थात् हे संत-महंतो! आप उस परमतत्त्वको प्राप्त करके अमर हो जाइये। उनके मतसे कालके फाँससे यदि छूटनेका कोई उपाय है तो बस उस परमतत्त्वकी प्राप्ति ही है, दूसरा नहीं। इसी बातको वेदभगवान् भी कह रहे हैं—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

अर्थात् 'उसको जानकर ही हम मृत्युको हटा सकते हैं, परमतत्त्वकी प्राप्तिके लिये दूसरा मार्ग ही नहीं है।' इसीलिये कबीर साहब त्रिगुणकी भक्ति तथा कर्मजालसे बचनेके लिये धर्मदासजीको उपदेश दे रहे हैं—

यह त्रिगुनकी भक्ति है, जनि भूलो धर्मदास।
इनके आगे और है, जहँ जोगीका बास॥

भगवान् श्रीकृष्ण भी गीतोपनिषद्में कह रहे हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

इस प्रकार सद्गुरु कबीर साहब उसी वेद-वेदान्त-प्रतिपादित परमतत्त्वका उपदेश दे रहे हैं, जिसे प्राप्त करके मनुष्य अजर-अमर हो जाता है।

इसके अतिरिक्त कबीर साहबने उसी साधारण मानव-धर्मका प्रचार करनेकी चेष्टा की है जो वेद-वेदान्तके सिद्धान्तोंपर अवलम्बित है। वेदके 'अहिंसा परमो धर्मः' का तो उन्होंने खूब ही समर्थन किया है। इसके लिये उन्होंने हिन्दू-मुसलमान सबको फटकारा है। वह कहते हैं—

जीव न मारो बापुरा, सबके एकहि प्रान।
जिवहिंसा नहिं छूटिहै, कोटिन सुने पुरान॥

इस्लाम धर्मके नेताओंको सम्बोधित करके वे कहते हैं—'ऐ काजो साहबो! क्या घर-घर भैंसोंका कत्ल कराना ही आपलोगोंका काम है?' यथा—

काजी काज करावहु कैसा। घर-घर जबह करावहु भैंसा॥

हिन्दू-मुसलमान दोनोंको कहते हैं—

वै गाय वै खस्सी कटावें, बादिहि जनम गँवाया।
कहहिं कबीर वै दूनो भूले, रामहि किनहुँ न पाया॥

एक जगह कबीर साहेब पाण्डेजी महाराजकी करतूतका दिग्दर्शन करा रहे हैं—

संतो पांडे निपुन कसाई।
बकरा मारि भैंसापर धावें, दिलमें दरद न आई॥
करि असनान तिलक दै बैठे, बिधि तें देबि पुजाई।
आतमराम पलकमें बिनसे, रुधिरकी नदी बहाई॥
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये, सभा माहिं अधिकाई।
इनते दिच्छा सब कोइ माँगे, हँसि आवत मोहि भाई॥
पाप कटनको कथा सुनावें, करम करावें नीचा।
हम तो दोउ परसपर देखा, जम लाये हैं धोखा॥

गाय बधे तेहि तूरुक कहिये, इनतें वै क्या छोटे।
कहहिं कबीर सुनो हो संतो, कलि महँ बाम्हन खोटे॥
(बीजक)

इस तरह अनेक उदाहरण कबीर साहबके साहित्यमें मिल सकते हैं जो शुद्ध वेद-वेदान्त-प्रतिपादित मानवधर्मके समर्थक हैं। आशा है, इतनेसे हमारे सुधी पाठक भलीभाँति समझ जायँगे कि कबीर साहब वेद-वेदान्तके निन्दक नहीं थे, वरं वेद-वेदान्तके पक्के अनुयायी तथा वेद-वेदान्त-प्रतिपादित परमतत्त्वके महान् उपदेशक थे।

इति सत्यम्।

* * *

स्वलीलाद्वैत-ब्रह्म

(लेखक—निजानन्दसम्प्रदायके आदिपीठस्थ आचार्य महाराज श्रीधनीदासजी)

ब्रह्मस्वरूपावबोधकी गहनता और दुरूहताके विषयमें किसी भी आचार्यका मतभेद नहीं है। प्रत्युत इस विषयपर सभी आचार्योंने अपने तलस्पर्शी विचारोंसे मननीय और युक्तिपूर्ण प्रकाश डालते हुए अपनी हार्दिक पवित्रताका पर्याप्त परिचय दिया है, तथापि इतनेसे ब्रह्मबोधकी इतिश्री नहीं मानी जा सकती। क्योंकि इष्टसाधनताविषयक पूर्ण ज्ञानके बिना इष्टप्राप्ति अथवा ब्रह्मके स्वरूपको अवगत करना अत्यन्त कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव भी है। यद्यपि सभी महापुरुषोंने ब्रह्मको दिव्यस्वरूप और अविनाशी माना है एवं ब्रह्ममें सत्, चिद्, आनन्द अनन्त और अद्वैत धर्मोंका समावेश भी वेदशास्त्रोंने बताया है तथापि इतनेसे उसके स्वरूपका निर्णय पूर्ण नहीं हो जाता। हेतु-दृष्टान्तसे रहित एवं मनवाणीसे परब्रह्मके विषयको श्रुति-स्मृतिप्रतिपाद्य प्रमाणोंके अतिरिक्त अन्य किसी साधनसे समझनेको शास्त्र निषेध करता है। और श्रुतियाँ ब्रह्मको विलक्षण स्वरूपवाला वर्णन करती हैं।

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। (बृह० ३।९।२८)

इत्यादि श्रुति ब्रह्मको आनन्दस्वरूप वर्णन करती है।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन।

इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति भी ब्रह्ममें आनन्दधर्मका होना प्रतिपादन करती है। 'नित्यमानन्दविग्रहः' परमात्मा नित्य ही आनन्दविग्रहयुक्त है, इस प्रकार स्मृतिमें लिखा है। इससे इतना तो निश्चित हो जाता है कि—ब्रह्ममें आनन्द-धर्म सर्वशास्त्रसम्मत है।

आनन्दका वर्णन करते हुए श्रुतियोंने स्वर्गादि देवोंके आनन्दको गणितानन्द बताया है और ब्रह्मके आनन्दको पूर्ण आनन्द वर्णन किया है। गणितानन्दका वर्णन करते हुए तैत्तिरीय श्रुतिमें लिखा है कि—

ते ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः। ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः।

इस प्रकार देवोंके आनन्दका परिसंख्यान करते हुए अन्तमें ब्रह्मको पूर्ण आनन्दस्वरूप ठहराया है।

'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।'

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

इत्यादि श्रुतियोंने ब्रह्मको पूर्णानन्दयुक्त और अनन्तस्वरूप प्रतिपादन किया है। इससे स्थिर होता है कि स्वर्गादिकी भाँति ब्रह्मका आनन्द भी ब्रह्मधामस्थ आत्माओंद्वारा अनुभवमें लाया जाता है। हाँ, अन्तर केवल इतना ही है कि स्वर्गीय आनन्द परिमित, लौकिक और अनित्य है तो ब्रह्मका आनन्द नित्य, अनन्त, अलौकिक और पूर्णात्पूर्ण है एवं सच्चिदानन्दानन्ताद्वैत-धर्मावच्छिन्न होनेसे नित्य ही निरपेक्ष है। यद्यपि श्रुतियोंमें ब्रह्मकी सामग्री* धाम, लीला, वनोपवन, सरोवरादिका पृथक्-पृथक् वर्णन किया है तथापि वे सब सत्, चित्, आनन्द, अनन्त और अद्वैतके अन्तर्गत और तन्मय—ब्रह्मस्वरूप—होनेसे ब्रह्मसे भिन्न नहीं माने जा सकते।

---

* ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरं मदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनः (छान्दोग्य० ८।५।३)

'यहाँसे तीसरा जो दिव्य ब्रह्मलोक है, वहाँपर ऐर—अन्नवन—है, मदीय—सबका हर्षोत्पादक सरोवर है। वहाँपर अश्वत्थ—पीपल और सोमसवन—अमृत नामके वन हैं।'

तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम्। (छा०८।५।३)

'उसी ब्रह्मधाममें अपराजिता नामकी ब्रह्मकी पुरी है जो परमात्माद्वारा विशेषरूपसे जानी जा सकती है। उस तेजोमय धामको ब्रह्मपुर कहते हैं।'

क्योंकि रसानन्दमयी लीलासेयुक्त ब्रह्मको ही आनन्दस्वरूप माना गया है। 'रसो वै ब्रह्म, ब्रह्म वै रसः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इत्यादि श्रुति ब्रह्मको रसस्वरूप वर्णन करती हैं।

'तस्माल्लीला रसमयी रसो लीलामयः स्मृतः।'

इत्यादि स्मृति भी ब्रह्मके लीलामय रस और रसमयी लीलाका अभेद वर्णन करती है। अतः मानना पड़ता है कि ब्रह्मका सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मलीलाके बिना पूर्ण नहीं हो सकता। ब्रह्मकी अनन्त शक्तियोंद्वारा जो कुछ भी लीला-विहार अनुभव किया जाता है, उसीको ब्रह्मानन्दलीला कहते हैं। 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इत्यादि श्रुति अनन्त शक्तिसम्पन्न ही ब्रह्मको पूर्णब्रह्म प्रतिपादन करती है। ब्रह्मको धामलीलादिसंयुक्त मान लेनेपर भी द्वैतापत्ति नहीं हो सकती। कारण—

शक्तिशक्तिमतोर्भेदो दृश्यते नैव तत्त्वतः।
यथार्कश्चातपैरेको न द्वैतो मृगवारिणा॥

शक्ति और शक्तिमान्में वास्तविक भेद नहीं माना गया। इसलिये धाम वन-उपवनादि लीलासामग्री ब्रह्मसे भिन्न नहीं अपितु सच्चिदानन्दधर्मावच्छिन्न होनेसे तन्मय है। ब्रह्ममें विजातीय किंवा मायिक पदार्थोंका अभाव होनेसे सच्चिदानन्दमय सजातीय पदार्थयुक्त ब्रह्म द्वैत नहीं माना जा सकता। कारण—

मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथञ्चन।
तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यताममृतं व्रजेत्॥

(मा० उ० गौडपादीयकारिका)

माया करके ही अविनाशी ब्रह्म भेदको प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। तत्त्वतः अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप पदार्थोंसे यदि ब्रह्म भेदको प्राप्त होता हो, तब तो वह मरणधर्मा हो जाय। इसलिये सच्चिदानन्द-सामग्रीसम्पन्न ब्रह्म द्वैत नहीं हो सकता। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म [छां० ३। १४। १] (इदम्) यह ब्रह्मधाम (सर्वम्) सम्पूर्ण (खलु) निश्चय (ब्रह्म) ब्रह्मस्वरूप है।' 'नेह नानास्ति किंचन [कठ० २। ४। ११] (इह) ब्रह्मधाममें (नाना) नाना प्रकारकी (किंचन) कुछ भी वस्तु (न अस्ति) नहीं है किन्तु जो कुछ भी है सब सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्मधामके यावत्पदार्थ सत् चिद् आनन्द धर्मवाले हैं, अतः कोई भेदक नहीं कहे जा सकते। क्योंकि भेद विजातीय पदार्थ किंवा मायाकृतमें होता है, सजातीयमें नहीं। इस बातको सांख्यदर्शनकारने अधिक स्पष्ट किया है। यथा—

नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् [सां० १। १५४]

धाम, वन, नदी, सरोवर आदि अनन्त वस्तुयुक्त होनेपर भी ब्रह्ममें द्वैतापत्ति नहीं हो सकती। कारण, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मकी अनन्त सामग्री एकब्रह्मजातिधर्मावच्छिन्न है। जो श्रुति ब्रह्मको एक अद्वितीय वर्णन करती हैं वे जातिपरक हैं। अर्थात् ब्रह्म तथा ब्रह्मधामादि यावत्पदार्थ हैं वे सत् चित् आनन्द-धर्मवाले होनेसे सब एक जाति हैं। अतः विरोध नहीं।

जब ब्रह्ममें आनन्दधर्म नित्य है तब उसके उल्लासरूप धाम, वनोपवन, सरोवर, गिरि, नदी इत्यादि भी होने चाहिये, क्योंकि आनन्दसामग्रीके बिना आनन्द नहीं रह सकता। जहाँतक धाम-वनोपवनादि नित्य सच्चिदानन्दस्वरूप न हों तहाँतक एकजातिधर्मावच्छिन्न नहीं हो सकते, इसलिये ब्रह्मधाममें यावत्पदार्थ नित्य, चेतन और ब्रह्मस्वरूप हैं। ऐसा ही मानना चाहिये। शास्त्रमें लिखा भी है कि ब्रह्मके सब स्वरूप नित्य और चेतन हैं। यथा—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्॥

इस प्रकार ब्रह्मधामस्थ ब्रह्मके स्वरूपोंको नित्य चेतन-विग्रह वर्णन किया है। श्रुति भी ब्रह्मके पृथक्-पृथक् स्वरूपोंका वर्णन करती है। यथा—

अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।

—इत्यादि तैत्तिरीय श्रुतिमें परमात्माके स्वरूपका स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। इसपरसे स्थिर होता है कि ब्रह्म स्वलीलाद्वैत है। अर्थात् अपनी लीलासे ही अद्वैत है, स्वरूपसे नहीं।

स्वस्मिन्या लीला तया सह अद्वैतं यद्वा स्वस्मिन्नात्मनि लीलाविहारो यस्य तत्स्वलीलं द्वयोरितं ज्ञानं द्वैतं न द्वैत-मित्यद्वैतं स्वलीलं च तदद्वैतम्—स्वलीलाद्वैतम्।

अपने विषयमें जो ब्रह्मकी लीला है, उस करके युक्त ब्रह्म स्वलीलाद्वैत कहा जाता है अथवा अपने विषयमें लीला है जिस ब्रह्मकी उसे स्वलीला कहते हैं। दोके ज्ञानका नाम द्वैत है, जहाँपर ब्रह्मलीलाके अतिरिक्त अन्य किसीका ज्ञान

ही नहीं है उसे अद्वैत कहते हैं । अपनी लीलासे जो अद्वैत वह स्वलीलाद्वैत ब्रह्म कहा जाता है । अतः ब्रह्म स्वलीलाद्वैत है, ऐसा मानना चाहिये ।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि निर्गुण निराकारमें ये सब बातें किस प्रकार घट सकती हैं । इसके उत्तरमें शङ्कराचार्यजी लिखते हैं कि—.

साकारस्य विनाशोऽस्ति निराकारस्य शून्यत्वाच्छून्यस्य चावस्तुत्वादुभयपक्षविभिन्नं वस्तुज्ञानं मोक्षः ।

[वज्रसूची वेदान्त]

साकार पदार्थ सावयव होनेसे नाशवान् हैं, निराकार शून्य होनेसे कोई वस्तु नहीं अतः साकार-निराकार दोनोंसे पर वस्तु मोक्ष है । जब ब्रह्म निर्गुणसे पर है तब उसे सगुण निर्गुण कहनेकी आवश्यकता नहीं । वह तो स्वतः शुद्ध बुद्ध नित्य विग्रह सच्चिदानन्दस्वरूप है । जब ब्रह्म अनन्तशक्तियुक्त ब्रह्मधाममें सदा अखण्ड विराजमान है तब उसे स्वलीलाद्वैत माने बिना अन्य मार्ग नहीं रहता । इस प्रकार सगुण-निर्गुण वाक्योंसे अविरुद्ध ब्रह्मका स्वरूप पाया जाता है । सांसारिक क्रियाओंसे रहित होनेसे निष्क्रिय है । जगत्के गुणोंसे पर होनेसे उसे निर्गुण कहते हैं । वस्तुतः वह नित्य सच्चिदानन्दविग्रह और नित्यलीलायुक्त होनेसे स्वलीलाद्वैत है। 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' इत्यादि ब्रह्मसूत्र भी उसकी लीलाकी प्रबलताका प्रतिपादन करते हैं । अतः ब्रह्मको स्वलीलाद्वैत मानना ही उचित है ।

◆

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें विशिष्टाद्वैत-वेदान्त-रहस्य

(लेखक—श्रीमद्दार्शनिक पञ्चानन, षड्दर्शनाचार्य, सांख्ययोगतीर्थ, नव्यन्यायाचार्य, पं० श्रीकृष्णवल्लभाचार्यजी स्वामिनारायण)

सृष्टिका यह नियम है कि प्रवृत्तिमें इच्छा कारण होती है और इच्छामें ज्ञान कारण होता है । अर्थात् जिस पदार्थका ज्ञान होता है, उसीको पानेकी इच्छा होती है और जिस वस्तुको पानेकी इच्छा होती है, उसीमें प्रवृत्ति होती है । अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्राणिमात्र अपने दुःखको दूर करनेके लिये और सुखको स्वायत्त करनेके लिये निरन्तर उद्योग किया करते हैं। अन्य विषयोंकी प्राप्तिमें यदि मतभेद भी हो तो सुखप्राप्तिके सम्बन्धमें कोई मतभेद नहीं हो सकता । किन्तु यहाँ सुख-प्राप्तिका तात्पर्य यह न समझना चाहिये कि सुख कहीं बाहरसे आकर मिलता है। बल्कि देश-वस्तु-कालसे अपरिच्छिन्न, सर्वविध सुखमय, परब्रह्म श्रीहरिरूप शरीरीमें व्याप्त चेतनगण सुख और आनन्दके स्वरूप ही हैं । आत्मा जबतक कर्मात्मक अविद्यारूपी भगवच्छक्तिसे आवृत रहता है, तभीतक उसको अपने आनन्दमय स्वरूपका बोध नहीं होता, किन्तु जब प्रेमात्मक भगवद्भक्तिद्वारा कर्मसमूहका क्षय हो जाता है, तब आत्माको अपने अनवधिक सुखका अनुभव होता है । तथापि वह सुख सामान्यरूपसे तो ज्ञात ही रहता है और ऐसा नियम है कि सामान्य जिज्ञासा विशेष जिज्ञासाको उत्पन्न कर देती है । बस, इसी नियमानुसार वेदान्त-विचारशील आत्मदर्शी महानुभाव उस स्वसुखका अनुभव करनेके लिये भगवद्भक्ति आदिके साधनोंमें विशेष जिज्ञासाके साथ प्रवृत्त हो जाते हैं और एक दिन भगवान्के परम अक्षर धाममें पहुँचकर उनकी सेवामें उस स्वसुखका पूर्ण अनुभव भी करने लगते हैं । इसीको भगवान् श्रीस्वामिनारायणने परमसुखकी प्राप्ति माना है और अपने 'शिक्षापत्री' नामक ग्रन्थमें लिखा है—'तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवामुक्तिश्च गम्यताम् ।' अर्थात् भगवान्के भक्त भगवद्धाममें पहुँचकर भगवत्सेवारूपी मुक्तिको प्राप्त करते हैं । इस पदके भाष्यमें श्रीमद्रघुवीराचार्यजीने यह शंका उपस्थित की है कि 'सेवावृत्तिमें परतन्त्रता होती है, अतएव वह मुक्ति कैसे मानी जा सकती है ?' और फिर इस शंकाका समाधान करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'भक्तपति भगवान् सत्यसंकल्प हैं, अतएव वे अपने प्रिय भक्तको शरणमें लेकर उसके मनमें कभी भी प्रतिकूल वेदना नहीं उत्पन्न करते । बल्कि भक्तकी इच्छाके अनुकूल ही उनकी भी इच्छा होती है । अतः ऐसे श्रीहरिकी सेवा सर्वथा सुखमयी एवं मुक्तिप्रद है ।'

शास्त्रोंमें श्रीहरिको प्राप्त करनेके लिये धर्म, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति, ये चार मुख्य साधन बतलाये गये हैं । इन चारों साधनोंका विवेचन भगवान् श्रीस्वामिनारायणविरचित 'सुधासिन्धु' नामक ग्रन्थमें इस प्रकार किया गया है—'ब्रह्मविद् सत्पुरुषोंके समस्त आचार अर्थात् निष्काम कर्मका नाम धर्म है । परब्रह्मके अक्षरत्व, ब्रह्मत्व, परत्व आदि गुणोंके, एवं प्रकृति, काल, जीव, ईश्वर, माया, मुक्त,

ब्रह्म, विभूति आदि विषयोंके सम्यक् बोधका नाम ज्ञान है । परब्रह्मसे इतर जितने भी पदार्थ हैं उनसे अनासक्त हो जानेका नाम वैराग्य है और परब्रह्ममें प्रेमको पराकाष्ठाकी सीमातक पहुँचा देनेका नाम प्रेम है । इन चारों साधनोंमें भक्ति ही मुख्य साधन है । जैसे श्रुतिके 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इस वाक्यसे ज्ञानको भी भक्तिका सहकारी माना गया है ।

दर्शनाचार्योंने ज्ञानका अर्थ तत्त्वज्ञान बतलाया है और रामानुजमतमें तीन तत्त्व माने गये हैं—जीव, माया और ईश्वर । इन तीन तत्त्वोंको भगवान् श्रीस्वामिनारायणने स्वीकार किया है, किन्तु उन्होंने अपने 'सत्संगिजीवन' नामक ग्रन्थमें मुक्तानन्दस्वामीसे श्रीहरिविषयक प्रश्नोत्तरके प्रसंगान्तर्गत दो और तत्त्व अर्थात् पाँच तत्त्व बतलाये हैं—जीव, माया, ईश्वर, ब्रह्म, परब्रह्म । परन्तु इन पाँच तत्त्वोंसे भी काम नहीं चलता, सृष्टिके यावत्पदार्थतत्त्वोंमें कई तत्त्व अवशेष रह जाते हैं । अतः उन अवशिष्ट तत्त्वोंका सविस्तर विवेचन 'श्रीस्वामिनारायण-वेदान्तसार' नामक ग्रन्थमें किया गया है । उस ग्रन्थमें प्रकृति, काल, जीव, ईश्वर, मुक्त, ब्रह्म, परब्रह्म, विभूति, ज्ञान, ये नव द्रव्य और सत्त्व, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग, शक्ति, ये दस गुण बतलाये गये हैं । अब नवों द्रव्योंकी अलग-अलग व्याख्या देखिये ।

प्रकृति—गुणसाम्यको कहते हैं, तथा उसीके नाम माया, अविद्या, तम आदि हैं । 'माया' शब्दका अर्थ विस्मय उत्पन्न करनेवाला होता है और प्रकृति भी अपने वैचित्र्यदर्शनद्वारा विस्मय उत्पन्न करती है । अतः इन्द्रजाल, मायामृग आदि माया ही हैं । अद्वैतवादियोंने मायाका अर्थ सद्-असद्-अनिर्वचनीय किया है, जो ठीक नहीं है । क्योंकि मायामृगमें उस अर्थकी अव्याप्ति हो जाती है । मायामृग सत् नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्मसे भिन्न है; असत् भी नहीं है, क्योंकि वह व्यवहारमें आता है और अनिर्वचनीय भी नहीं है, क्योंकि उसका 'मृग' शब्द निर्वाच्य है । अस्तु, अज्ञानात्मिका प्रकृति ज्ञानवत् भावरूप है । वह कपिलमतानुसार स्वतन्त्र नहीं है बल्कि परब्रह्मके अधीन और उन्हींकी शक्तिरूपा है । कार्योपयोगी और अपृथक्सिद्ध विशेषणका नाम शक्ति है, जो अचेतन है, विभु है, महत्तत्त्व आदि चौबीस तत्त्वोंवाली है और है परब्रह्मकी अचित्-शरीररूपा ! चेतनके प्रति सर्वात्मभावसे आधेय-विधेय-शेषत्व-नियमानुसार अपृथक्सिद्ध द्रव्यविशेषको शरीर कहते हैं । वह नित्य और अनित्य दो प्रकारका होता है । प्रकृति, काल, जीव, ईश्वर, मुक्त, ब्रह्म तथा नित्य विभूतिको नित्य शरीर माना गया है ।

काल—सत्त्व-रज-तमसे रहित जड द्रव्यविशेषको काल कहते हैं । वह निखिल जगत्के उद्भव, स्थिति तथा संहारकी लीला करनेवाले परमात्माका लीलोपकरण है । उसके दो भेद हैं—अखण्ड काल और निमेषादि प्रलयात्मक काल । अखण्ड काल नित्य तथा विभु है और निमेषादि प्रलयात्मक काल अनित्य है ।

जीव—अणु है, स्वतः शेष है, आश्रित है, नियम्य है, परतन्त्र है, हृदयपद्मका निवासी है । नित्य है, अणुपरिमाण है, नित्य ज्ञानशक्तिमान् है और है इन्द्रियोंका अधिष्ठाता । कोई-कोई उसको इन्द्रिय, मन, प्राण, क्षणिक विज्ञान आदि मानते हैं, किन्तु ऐसा मानना शास्त्रके विरुद्ध है । हम जीवको 'निर्विशेष ज्ञानरूप' भी नहीं कह सकते, क्योंकि श्रुतिके 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' आदि मन्त्रोंमें जो धर्मवाचक शब्द आये हैं, वे अपने स्वजन्यबोधके साथ धर्मीका भी प्रतिपादन करते हैं । भगवान् व्यासने आत्मामें ज्ञानगुणका सार होनेके कारण ही 'तद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्' इस सूत्रकी रचना की है तथा 'प्राज्ञेन ब्रह्मणा विपश्चिता', 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्', 'यस्य ज्ञानमयं तपः' इत्यादि श्रुतिमन्त्रोंसे भी सर्वज्ञके लिये ही 'सत्यं ज्ञानम्'का व्यपदेश किया गया है । इसके अतिरिक्त ज्ञानमात्र हीं ब्रह्म नहीं हैं, क्योंकि 'यः सर्वज्ञः स सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः'—इस श्रुतिमन्त्रमें ब्रह्मका ज्ञातृत्व प्रदिपादित है, अतएव इस प्रकार जीवात्मा भी ज्ञानवान् सिद्ध होता है ।

जो लोग जीवात्माको ब्रह्मका प्रतिबिम्बरूप मानते हैं, वे भी ठीक नहीं करते । क्योंकि प्रतिबिम्ब जड है और जीवात्मा चेतन है । चेतनका प्रतिबिम्ब चेतन ही हो, यह नहीं हो सकता । इसका कारण यह है कि वह स्वतः प्रकाशमान नहीं है । बहुत-से लोग 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः' और 'आत्मैवेदं सर्वम्' आदिके आधारपर एकात्मवाद मानते हैं, किन्तु ऐसा माननेसे विभिन्न प्रवृत्तियोंका लोप हो जाना चाहिये । इस विषयमें यदि अन्तःकरणोपाधिप्रयुक्त भिन्न क्रियाका निर्वाह किया जाय तो ब्रह्ममें पराधीनत्वकी आपत्ति खड़ी हो जायगी । अतः ऐसा समझना चाहिये कि उक्त श्रुतिवाक्योंद्वारा परमात्माका अन्तर्यामितया शरीरशरीरिभावसे सामानाधि-

करण्य बोध कराया गया है। इसी प्रकार आत्मा वैशेषिक-मतानुसार जड भी नहीं है, क्योंकि 'अत्रायं स्वयंज्योतिर्भवति' इत्यादि प्रमाणोंसे उसका 'ज्योतिःस्वभाव' होना प्रमाणित है। अस्तु।

रामानुजमतमें जीवात्माके तीन भेद माने गये हैं—बद्ध, मुक्त और नित्य। हमारे यहाँ (श्रीस्वामिनारायण-प्रवर्तित सम्प्रदायमें) नित्यका मुक्तमें ही अन्तर्भाव कर दिया गया है तथा बद्धमें बुभुक्षु और मुमुक्षु आदि भेद माने गये हैं। चौदहों भुवनों तथा अगणित ब्रह्माण्डोंमें जितने चेतन हैं, सबको जीवात्मा माना गया है और कहा गया है कि जीवतत्त्व स्वेतरभिन्न स्वतन्त्र तत्त्व है।

ईश्वर–जीवभिन्न हिरण्यमय कोशान्तर्गत चेतनको ईश्वर कहते हैं। अष्टावरणोंमें लीन प्रकृतिलयवाले आत्मा, विराजपुरुष, महाविष्णु, भूमा पुरुष, प्रधानपुरुष, प्रकृतिपुरुष आदि सभी ईश्वर हैं। बल्कि यों कहा जाय कि ईश्वरकी भी अगणित कोटियाँ हैं तथा वे सभी स्वेतरभिन्न स्वतन्त्र हैं।

मुक्त–मायासे रहित, ब्रह्मसे भिन्न नियम्य चेतनको मुक्त कहते हैं। वे दो प्रकारके होते हैं—सादि और अनादि। जो जीव भक्तिद्वारा मुक्ति प्राप्त करते हैं, वे सादिमुक्त हैं, तथा नित्य ब्रह्मधाममें रहनेवालोंका नाम अनादिमुक्त है। रामानुजमतमें कहा गया है कि जीव नवधाभक्तिद्वारा शुद्ध और सिद्धिसम्पन्न होकर, सुषुम्ना नाडीमें प्रवेश करके जब ब्रह्मरन्ध्रसे निकलने लगता है, तब उसको लेनेके लिये परमेश्वर अपने पार्षदोंसहित उपस्थित रहते हैं। उनके साथ दिव्य विमानमें बैठकर वह क्रमशः अग्निलोक, सूर्यलोक, चन्द्रलोक, सत्यलोक, अष्टावरण, विराजलोक, शिवलोक, विष्णुलोक, महाविष्णुलोकमें पहुँचता है और उन-उन लोकोंके निवासी देवताओंका सत्कार स्वीकार करके जब वह हिरण्यमय कोशको पार करता है, तब कहीं वह मुक्त होता है और उसको नित्य विभूतिमय अप्राकृत दिव्य विग्रह मिलता है। किन्तु हमारे मतमें ऐसी मान्यता नहीं है। हमारे यहाँ बतलाया गया है कि मुक्तात्मा स्वयंचेतन तत्त्व परमेश्वरेच्छासे दिव्य साकार स्वरूपमें आविर्भूत होता है। जैसे श्रीस्वामिनारायणके शिष्य श्रीमुक्तानन्दस्वामिकृत 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' में 'सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्' (४। ४। १) इस सूत्रका भाष्य करते हुए लिखा गया है—

अस्माद् शरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, परं ज्योतिः सर्वोत्कृष्टं प्रकाशबहुलायत्तं नारायणस्वरूपं प्राप्तस्य जीवस्योपासितुः स्वरूपाविर्भाव उच्यते, तच्च स्वरूपं तस्य तत्कालसम्भूतं पूर्वसिद्धं वा ? इति संशयः। न पूर्वसिद्धम्, 'अभिनिष्पत्ति'-श्रवणाद् देवादिस्वरूपवदागन्तुकमेवेति पूर्वपक्षे, सिद्धान्तः—परब्रह्मस्वरूपं प्राप्तस्य जीवस्य अनाद्यविद्यारूपमल-तिरोहितं चैतन्यस्वरूपं पूर्वं वर्तमानमेव मलरूपावरणापगमात्प्रकाशबहुलावृतमेवाविर्भवति। 'स्वेन' शब्दाद् परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति 'स्वेन रूपेण' विशेषणशब्दाद्,…… शुद्ध आत्मन्येव परमात्मध्यानबलेन तत्समानगुणा तत्परिचर्यार्हा पार्षद-रूपा भागवती तनुः कीटपेशस्कृत्स्वरूपापत्तिन्यायेन प्रादुर्भवति……इत्यादि।

तात्पर्य यह है कि मुक्तात्मा परमात्मध्यानके बलसे, कीटभ्रमरन्यायानुसार, भगवान्‌की सेवाके लिये स्वयं ही भागवती तनु धारण कर लेता है। सम्पूर्ण दिव्य साकार विग्रह और समस्त मुक्तमण्डल सर्वज्ञ हैं, अनेकों ऐश्वर्योंसे युक्त हैं, उत्तरावधि तथा स्त्रीपुंभावसे रहित हैं, किशोरस्वरूप हैं और परमेश्वरके समान दो भुजाधारी होकर विराजनेवाले हैं। उन सबकी इन्द्रियाँ तथा क्रियाएँ स्वात्मक शक्तिविशेष हैं। उन सबके तथा परब्रह्मके भोगोंमें समानता है और वे 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' के अनुसार भगवदिच्छानुकूल किन्तु स्वेच्छासे सर्वत्र विहार करते हैं। 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' और 'न स पुनरावर्तते' आदिमें जो मुक्तात्माओंका अनावृत्तित्व दिखलाया है, वह कर्मकर्तृत्वके निषेधके आधारपर दिखलाया गया है।

ब्रह्म–मुक्त आत्माओंके आधारभूत परब्रह्मव्याप्य चेतनके भोग्य भोगोंके उपकरणोंसे विशिष्ट परमेश्वरके धामका नाम ब्रह्म या अक्षरधाम है। अक्षरधामकी परिभाषा शास्त्रोंमें इस प्रकार है—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं हि पूर्णं चाखण्डमक्षरम्।
धाम यद्वासुदेवस्य मूर्तं चामूर्तमुच्यते॥'
'यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च तदेतदक्षरं ब्रह्म।'
'तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम्।
हरेर्धाम परं साक्षाद् पुरुषस्य महात्मनः॥'

'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् ते देव तदु भव्यमा इदं तदक्षरं परमे व्योमन्।' (ऋग्वेद)

अस्तु, अक्षर धाम मुक्तिका स्थान है और वह दो प्रकारका है—मूर्तिमान् तथा अमूर्त। मूर्तिमान् अक्षर धाम

केवल भगवान्‌की सेवामें रहता है और अमूर्त अक्षर धाम सर्वत्र व्याप्त है—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' जिस जीवका जहाँ आवरण नष्ट हुआ कि उसके लिये वहीं अक्षर धाम है।

हमारे अनुभवकर्ता महर्षियोंने अक्षर ब्रह्मका कई प्रकारसे अनुभव करके वर्णन किया है। किसी-किसीके मतसे ब्रह्म-परब्रह्ममें कोई भेद नहीं है, किन्तु हमारे यहाँ उनमें परस्पर भेद माना गया है। जैसे—'अक्षरात्परत परः।'

परब्रह्म—जो स्वरूप और गुणोंसे अनवधिक महान् हों, वे परब्रह्म हैं। वे ही मुक्त पुरुषोंद्वारा प्राप्य हैं, अतएव उन्हें पुरुषोत्तम भी कहते हैं—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

उन्हीं परब्रह्म परमात्माद्वारा कर्मसे नियन्त्रित हृदयस्थ जीवोंका नियन्त्रण होता है। वे महान् विभु होनेपर भी सर्वान्तर्यामिरूपसे सूक्ष्मतम हैं। वे समस्त जीवोंके कर्मफलको प्रदान करनेवाले हैं, अक्षर ब्रह्मपर्यन्त समस्त चेतनोंद्वारा उपास्य हैं, उन्हींकी उपासना हमारे यहाँ श्रीस्वामिनारायणके नामसे की जाती है। वे चिदचिद्विशिष्ट स्वरूपसे जगत्के उपादान कारण बनते हैं, संकल्पविशिष्ट स्वरूपसे निमित्तकारण बनते हैं और कालाद्यन्तर्यामी तथा ज्ञानशक्त्यादिविशिष्ट स्वरूपसे सहकारिकारण बनते हैं।

जिस वस्तुके परिणामसे कोई कार्य होता है, वह वस्तु उस कार्यका उपादानकारण होती है। जैसे घटका उपादानकारण मृत्तिका है। जो उपादान वस्तुको कार्यरूपमें परिणत करता है, वही कर्ता निमित्तकारण होता है, जैसे घटका निमित्तकारण कुलाल है और कार्यकी उत्पत्ति करानेवाली वस्तुएँ सहकारिकारण होती हैं। जैसे घटके सहकारिकारण दण्ड-चक्र आदि हैं। इसी प्रकार जगत्के तीनों ही कारण परब्रह्म परमात्मा हैं, क्योंकि वे अपने चिदचिच्छरीरद्वारा बहु होनेमें समर्थ हैं, सत्यसंकल्प हैं। जगत्का उपादानकारण होनेपर भी परब्रह्ममें सविकारत्वकी आपत्ति नहीं आती, क्योंकि जगत् उनके चिदचिद्रूप विशेषणका ही परिणाम है। जिस प्रकार ऊर्णनाभि स्वशरीररूप विशेषणके द्वारा तन्तुजालरूपी कार्यका उपादानकारण बनकर भी स्वरूपसे अविकृत रहता है, उसी प्रकार परमात्मा इस जगत्का उपादानकारण बनकर भी अविकृतस्वरूप हैं। विकाराश्रयत्व केवल उनके विशेषणमें है। यह बात श्रुतिके—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि वाक्योंसे और भगवान् वेदव्यासकृत 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्रोंसे भी, जिनका भाष्य श्रीमुक्तानन स्वामीने किया है, निर्णीत है। अस्तु, परब्रह्म ही उपादान और उपादेय हैं, अर्थात् उनका सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट वेश उपादान और स्थूल चिदचिद्विशिष्ट वेश उपादेय है। अविकृतस्वरूप परब्रह्ममें उपादेयता इसीलिये घटती है कि वे सूक्ष्म चिदचिच्छशरीरकत्वावस्थाका परित्याग करके स्थूल चिदचिच्छशरीरकत्वरूपी अवस्थान्तरकी प्राप्ति करते हैं, अतएव उपादान और उपादेयमें एकता है। श्रुतिके 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस वाक्यमें जो 'नानात्व'का निषेध किया गया है, उसका यही अर्थ है कि विशेष्यमें कोई भेद नहीं है अर्थात् परब्रह्मसे कोई भी विशेष्य पृथक् नहीं है। अवस्थान्तरयोगका नाम ही उत्पत्ति है। कोई वस्तु अपूर्व नहीं होती, बल्कि उसकी अवस्था ही अपूर्व होती है। अतः उत्पत्त्याश्रयद्रव्यस्वरूपकी सर्वदा विद्यमानता होनेके कारण 'सत्कार्यवाद' ही यथार्थ है।

'एकमेवाद्वितीयम्' से सजातीय, विजातीय और स्वगत इन तीन भेदोंका निषेध नहीं किया गया है, प्रत्युत 'एक' से नामरूपयोगका निषेध है, 'एव' से नैयायिकोंके कार्यकी पूर्वावस्थामें असत्ताका निषेध है और 'अद्वितीयम्' से परब्रह्मातिरिक्त पदार्थोंमें अनिमित्तान्तरत्व दरसाया गया है। श्रुतिके 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ', 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इत्यादि मन्त्रोंमें जीव और परमात्माका वास्तविक भेद वर्णित है। परमात्मस्वरूपके पाँच भेद किये गये हैं—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा। भगवान् श्रीस्वामिनारायण 'पर' हैं, वासुदेवादि 'व्यूह' हैं, राम, कृष्ण आदि अवतार 'विभव' हैं। सर्वत्र स्थित 'अन्तर्यामी' हैं तथा प्रतिष्ठापित मूर्तिविशेष 'अर्चा' है।

दिव्यविभूति—परमात्माके धाममें स्थित सच्चिदानन्दात्मक, शुद्ध सत्त्वमय, मायाप्रतिद्वन्द्वी, अप्राकृत पदार्थविशेषको दिव्य विभूति कहते हैं, जो तद्धामस्थ समस्त दिव्य वस्तुओंकी उपादानभूत है। आत्मतत्त्वसे पृथक् होनेके कारण उसको 'अचेतना' कहते हैं, किन्तु परमेश्वरके संकल्पसे मुक्तादिकोंके लिये वह भोग्य-भोगोपकरण तथा भोगस्थानरूपमें व्यवस्थित है।

ज्ञान—स्वयंप्रकाश और अचेतन द्रव्यविषयी पदार्थका नाम ज्ञान है, जो नित्य और विभु है—'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते।' परमेश्वर, ब्रह्म और नित्यमुक्तोंका ज्ञान त्रिकालावच्छिन्न तिरोभावस्वभावसे रहित है।

ज्ञानको ही शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज, सौशील्य, वात्सल्य, मार्दव, आर्जव, सौहार्द, धैर्य, साम्य, कारुण्य, माधुर्य, गाम्भीर्य, औदार्य, स्थैर्य, पराक्रम, क्षमा, मुदितादि भी कहते हैं। अतः ज्ञान ही प्रकाश है और उसको वेदान्त-शास्त्रोंमें मोक्षका कारण माना गया है।

ज्ञान जब नित्य है, तब उसका स्वरूप सत् होना ही चाहिये और सत्त्व होनेके कारण किसी भी ज्ञानकी अभिव्यक्तिको भले ही कोई विसंवादिप्रवृत्तिजनक समझे, किन्तु वह है सत्त्वप्रयुक्त 'यथावस्थित व्यवहारानुगुणज्ञान' ही। शुक्तिको 'रजत' माननेके 'ज्ञान'में 'सत्त्व' (याथार्थ्य) है, परन्तु कई लोग उसे विभिन्न प्रकारसे मानते हैं। जैसे ख्यातिवादी मीमांसक 'इदमंश'को प्रत्यक्ष प्रतीतिका विषय मानते हैं और 'रजतांश' को स्मृति कहते हैं; दोनों ज्ञान सत्य हैं। बौद्ध लोग आत्मख्याति मानते हुए कहते हैं कि 'इदं रजतम्' बुद्धिरूप आत्मा ही रजतरूपमें उदित होता है। अद्वैतमतवादी अनिर्वचनीय ख्याति मानते हुए कहते हैं कि 'शुक्ति रजत'में 'रजत' सत् नहीं है, क्योंकि जो सद्वस्तु होती है, उसमें होनेवाली भ्रान्तिका बाध हो जाता है और असत् भी नहीं है, क्योंकि असद्वस्तुमें पहले ख्याति होकर पुनः उसका बाध हो जाता है। अतएव विरुद्ध सदसत् पदार्थ एकत्र नहीं होते। बल्कि शुक्ति-विषयक अज्ञानका परिणामभूत जो अनिर्वचनीय, अपूर्व रजत उत्पन्न होता है, वही वहाँ रजेतज्ञानका विषय है। नैयायिक लोग अन्यथाख्याति मानकर कहते हैं कि रजतत्वसे रहित शुक्तिमें रजतत्वधर्मप्रकारक ज्ञान (भ्रम) हो जाता है। शून्यवादी असत्ख्याति मानकर कहते हैं, शुक्तिमें शून्य—असत् रजतकी प्रतीति होती है और इसी प्रकार वाचस्पति भी शुक्तित्व-रजतत्वका अलीक समवाय मानते हैं। अस्तु।

तात्पर्य यह है कि इस विषयमें भिन्न-भिन्न तत्त्वज्ञानियोंने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं, परन्तु हमारे यहाँ ऐसे स्थलोंमें 'सत्ख्याति'को ही स्वीकार किया गया है। 'सत्ख्याति' का स्वरूप है—'ज्ञानके विषयकी सत्यता।' सभी पदार्थ मिश्रित होकर परस्पर सम्बद्ध हैं, असम्बद्ध कोई भी नहीं है; क्योंकि निर्विकल्प या सविकल्प ज्ञानका विषय होनेवाली वस्तु गुणजात्यादिसंस्थानसे विशिष्ट ही भान होती है और यही बात सर्वज्ञानमें समझनी चाहिये। उसमें कोई अंश यावत्-सा ज्ञात होता है और कोई अंश किञ्चित्-सा। जो किञ्चित्-सा ज्ञात होता है उसको अवश्य ही वहाँ रहना चाहिये। 'शुक्ति-रजत' के स्थलमें रजत तेजःपदार्थ है, और तेजके अवयव शुक्त्यादि पृथ्वीमें सन्निहित हैं ही, अतः ज्ञानका विषय होनेवाला 'रजतांश' सत्य है। किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इस विषयमें 'भ्रम' क्यों कहा जाता है?

इसका उत्तर यह है कि विषयके व्यवहारका बाध होनेके कारण भ्रमका व्यवहार होता है। 'रजतांश' की विद्यमानता होते हुए भी उसकी स्वल्पांशताके कारण उसके व्यवहारमें अयोग्यता आती है। अस्तु, इसी प्रकार स्वप्नज्ञान सत्य है। 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते······स हि कर्ता' इस श्रुतिके अनुसार स्पष्ट है कि परम पुरुष परमात्मा स्वप्नमें जीवोंके कर्मानुसार उनके अनुभवमें आने योग्य जगत्के पदार्थोंका सर्जन करते हैं। 'पीतः शङ्खः' (पीला शंख)—यह ज्ञान भी सत्य है, क्योंकि नेत्रवृत्ति पित्तद्रव्यसे मिश्रित होकर शंखमें लगती है, अतएव नेत्ररश्मिकी पीतताके कारण शंखकी शुक्लिमा आच्छादित हो जाती है और पीतिमाका ग्रहण होता है। 'मरुमरीचिका' में जलका ज्ञान भी यथार्थ है, क्योंकि पञ्चीकरणप्रक्रियासे जलके अवयव किरणोंमें मिश्रित होकर रहते ही हैं। केवल वे स्थूल नहीं होते, अतएव उनसे तृषानिवृत्ति नहीं होती। 'दिग्भ्रम' भी सत्य है, क्योंकि दिशा तो एक ही है, केवल एक-दूसरी दिशाकी अवधि (सीमा) के लिये पूर्व-पश्चिमादिका व्यवहार किया जाता है; अतः जहाँ अपेक्षा अज्ञात हो वहाँ सर्वत्र पूर्व पश्चिमादि व्यवहारके विषय बन जाते हैं। 'उल्मुकचक्र' में चक्राकारका ज्ञान भी अयथार्थ नहीं है, क्योंकि उसके गोलाकार प्रदेशमें अग्निके अवयव वियुक्त निकलते जाते हैं, अतएव तद्विशिष्ट देशका ग्रहण हो जाता है। दर्पण-मुख-दर्शनमें स्वमुखदर्शन भी यथार्थ है, क्योंकि नेत्रोंकी वृत्ति स्वच्छ दर्पणसे टकराकर लौटती है और स्वमुखको ग्रहण करती है। 'द्विचन्द्र' का ज्ञान भी सत्य है, क्योंकि अँगुलीसे किये हुए निरोधके कारण नेत्रवृत्ति दो तरहकी होकर चन्द्रमाको ग्रहण करती है और इस कारण वृत्तिरूपी विशेषणसे विशिष्ट चन्द्रमा दो होकर भासता है। अस्तु।

इससे सिद्ध होता है कि उपाधिसहित पारमार्थिक सत्य ही ज्ञानका विषय है और इसीलिये समस्त पदार्थोंका तत्त्वज्ञान मोक्षका कारण माना गया है। इसी प्रकार ज्ञानके अनुकूल

जितने भी शब्द हैं, वे वस्तुरूपी शरीरसे विशिष्ट शरीरीके ही बोधक हैं। जैसे 'घट' कहनेसे घटविशिष्ट परमात्माका, 'क' कहनेसे सुखविशिष्ट परमात्माका, 'ख' कहनेसे आकारविशिष्ट परमात्माका, और 'स्वामी' कहनेसे स्वामिविशिष्ट परमात्माका बोध होता है। तात्पर्य यह कि परमात्मा ही सम्पूर्ण विशेषणोंके विशेष्य हैं। जिन पुरुषोंको ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उनकी दिव्य दृष्टिमें—

'नेह नानास्ति किञ्चन'
'एकविज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति'
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

—प्रतीत होने लगता है। और ऐसी दिव्य दृष्टिका प्राप्त हो जाना ही वेदान्तविचारका फल है, जीवन्मुक्तता है। इस जीवन्मुक्तताका अनुभव देहपातके पश्चात् परममुक्तावस्थामें होता है और उस समय जीव—

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।'
'स अश्नाति सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता'
'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति'

—के अनुसार परमानन्दमें अवगाहन करने लगता है।

इति शम्

वेदान्त-श्रीकृष्णचन्द्र

(लेखक—पण्डित श्रीमाधव वालशास्त्री दातार)

'वेदान्त' शब्दके विद्वद्विवेकदृग्गोचर अनेक अर्थ हो सकते हैं। तथापि स्वमत्यनुस्फुरित विचारानुसार जो कुछ यहाँ लिखता हूँ इस भागवत विधेयको दयालु भगवद्भक्त, सरस विद्वद्वृन्द तथा सम्मान्य सुबुद्धिमान् पाठक स्वभावतः ही स्वप्रकृत्यनुसारिणी दयार्द्र दृष्टिसे देखेंगे, ऐसी आशा है।

वेदान्त-'वेदानामन्तो यस्मिन्'—वेदोंका अन्त—अदर्शन—परिसमाप्ति जिसमें होती हो उसे वेदान्त कहते हैं।

शङ्का-वेदोंका अन्त किसमें और कैसे हो सकता है? 'अनन्ता वै वेदाः' वेद तो अनन्त हैं—अन्तशून्य हैं।

समाधान-ठीक है, वेद अन्तशून्य हैं; अतः आदिशून्य भी हैं। तथापि 'यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्' इस वचनके अनुसार वेदोंका आदि अर्थात् प्राकट्य तो होता ही है और इसी प्रकारसे उनका अन्त अर्थात् तिरोभाव भी (जिसे हम नाश न कहकर अदर्शन वा परिसमाप्ति कह सकते हैं) होता है। 'यस्य निःश्वसितं' में जो यच्छब्दार्थ है वही वेदान्त है। यच्छब्दार्थ कौन हैं सो स्पष्ट ही है—अर्थात् 'यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्' जो वेदोंद्वारा वेदप्रतिपादित गुणकर्मविभागपूर्वक वर्णाश्रमके रचयिता हैं, जो 'सत्यं परं'—परम सत्यस्वरूप हैं। अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही यच्छब्दार्थ हैं। 'श्रुतिगीत' में श्रुतियोंने भी यही बात मानी और गायी है—

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः॥

'हे भगवन्! नाना ब्रह्माण्डसम्बन्धी नाना ब्रह्मरुद्रादिकोंने भी आपके अन्तको न पाया, क्योंकि आप अनन्त हैं। जो वस्तु अन्तवत् है वह आप नहीं हैं। अधिक क्या कहा जाय, आप स्वयं सर्वब्रह्माण्डव्यापक होनेपर भी अपने अन्तको नहीं पाते।'

शङ्का-भगवान् यदि अपने अन्तको नहीं पाते या नहीं जानते तो वे सर्वज्ञ कैसे?

समाधान-श्रुतियोंने अन्तका अभाव होनेसे 'अनन्ततया' कहा है, अर्थात् अन्त जहाँ है ही नहीं वहाँ अन्तका जानना क्या! मनुष्यके सींगका ज्ञान न होनेसे सर्वज्ञता तो कहींसे विहत नहीं होती। फिर श्रुतियोंने प्रभुचरणोंका अनन्तत्व इस प्रकार कहा कि—'यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः'। अर्थात् हे भगवन्! दशावरणयुक्त ब्रह्माण्डसमूह 'वान्ति' के आरम्भमें आपसे निकलते हैं तथा लयकालमें आपमें ही समा जाते हैं; पर ये दोनों बातें 'सह' अर्थात् एक कालमें होती हैं, जैसे वातायनसे त्रसरेणु एक कालमें आ जाते हैं। और सो भी 'वयसा' अर्थात् सर्वपरिच्छेदक कालचक्रके साथ। इसी अनन्तताके कारण श्रुतियाँ भी 'अतन्निरसनेन'—आपसे भिन्न प्रतीत होनेवाले पदार्थोंका त्याग बतलाती हुई 'भवन्निधनाः' (भवत्येव निधनं—परिसमाप्तिः—यासाम्) आपमें ही निधन अर्थात् परिसमाप्तिको प्राप्त होती हैं। इस प्रकार वेदोंके अन्त—वेदान्त—श्रीकृष्णचन्द्र ही हैं।

वेदान्तपदवाच्य आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रका स्वरूप तो वह है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'

अथवा 'अद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव'—उस स्वरूपका वर्णन केवल कठिन ही नहीं, अशक्य-सा ही है; तथापि सर्वसमर्थ भक्तमनोरथपूरक श्रीकृष्णचन्द्रकी मायाका वर्णन कथञ्चित् तत्कृपया ही हो सकेगा । आनन्दरूप श्रीकृष्णकी लीला ही 'माया' शब्दका वाच्यार्थ है, जिसका 'यथाधीतं यथामति' वर्णन और श्रवण ही इस दुःखमय संसारसे छूटकर आत्मस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रको पानेका उपाय है ।

वेदान्तियोंके मतमें संसार कुछ है ही नहीं—स्वप्नदृष्ट पदार्थवत् है । विषयभोगका जो अनुभव जीवात्माको होता है वह वस्तुतः प्रतिभासमात्र है, जो देहादिकोंपर आत्माध्यास होनेसे ही प्रतीत होता है । यदि जीवको प्रभुस्वरूप गुरुकी कृपासे देहादिसे भिन्न आत्माका ज्ञान हो जाय तो उसके लिये संसार मिथ्या ही है ।

शङ्का–यदि संसार मिथ्या है तो उससे निवृत्तिका प्रयत्न क्यों ?

समाधान–सुख-दुःखादिरूप अर्थ देहान्तःकरणादिनिष्ठ होनेसे वस्तुतः जीवात्मासे कुछ सम्बन्ध न होनेपर भी जबतक तादात्म्याभिमानसे सुखदुःखादिरूप अर्थ जीवात्मनिष्ठ प्रतीत होते हैं तबतक इसी तादात्म्याभिमानसे जीवको जन्ममरणरूप दुःखमय संसारका अनुभव होता रहता है । जैसे स्वप्नमें शिरश्छेदादि दुःखप्रद वस्तुओंका वस्तुतः अभाव होनेपर भी देहाध्याससे शिरश्छेदादि दुःख भोगने ही पड़ते हैं और जाग्रत् प्रत्ययके बिना वह दुःख दूर भी नहीं हो सकता, वैसे ही यद्यपि संसार मिथ्या है तथापि 'मिथ्या मिथ्या' कहनेसे ही यह निवृत्त नहीं होता, अपितु देहाद्यात्माध्यास छूटनेसे ही निवृत्त हो सकता है । पर यह देहाद्यात्माध्यासकी गाँठ हम अनन्त जन्मोंसे दृढ़ ही करते आये हैं। अतः यह शीघ्र कैसे खुल सकती है ? इसका उपाय श्रीभगवान् उद्धवको निमित्त करके बतलाते हैं—

तस्मादुद्धव मा भुंक्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः ।
आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम् ॥

'इन असदिन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको मत भोगो, किन्तु देखो कि यह वैकल्पिक सुख-दुःखादि भ्रमसिद्ध हैं ।' विषयभोगसे विरक्त होकर वेदान्तप्रतिपाद्य श्रीकृष्णचन्द्रकी माया अर्थात् लीलाओंको गाना, सुनना और सुनाना ही इस दुःखमय संसारसे छूटकर उन्हींको प्राप्त होनेके मार्गपर चलना है । श्रीमद्भागवतमें कहा भी है—

मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदितः ।
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययात्मा न मुह्यति ॥

जीवमात्र भगवन्मायासे मोहित है, अतः भगवल्लीलाका श्रवण-कीर्तन कैसे कर सकेगा ? मनुष्यकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति विषयोंकी ओर है, अतः इस मोहसे बचनेका उपाय क्या है ? श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने स्वयं ही इसका उपाय बताया है, जिसे सदा स्मृतिपथमें रखना अत्यावश्यक है । श्रीभगवान् कहते हैं कि--

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।

इस भगवद्वचनानुसार प्रभुचरणशरणीभावके साथ भगवल्लीलाओंका श्रवणादि रूपसे समाश्रयण करना चाहिये । यही मोहसे छूटनेका उपाय है ।

इस समय हमलोग चारों ओरसे विपत्तियोंसे घिर गये हैं, जैसा कि कहा है—

राजतश्चोरतः शत्रोः स्वजनात्पशुपक्षितः ।
अर्थिभ्यः कालतः स्वस्मान्नित्यं प्राणार्थवद्भयम् ॥

तथापि श्रीप्रभुचरणोंका यह आज्ञोपदेश, जो उद्धवको निमित्त करके हमी लोगोंको किया गया है, हमलोग कभी न भूलें—

निष्ठितो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः ।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत् ॥

संसारपीडितशरण श्रीप्रभुचरण दयानिधान हैं। पर हमीं उनसे विमुख अर्थात् विषयासक्त ही रहते हैं। यदि हम 'विषयान् विषवत्त्यजेत्' के अनुसार विषयोंको विष समझकर छोड़नेका अभ्यास करें और साथ ही सच्चे हृदयसे 'हरये नमः' कहें तो 'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्'—इस उक्तिके अनुसार स्वयमेव सब विपत्तियाँ भागेंगी ।

आनन्दांश जीवात्माका परमपद, परमध्येय परमानन्द श्रीकृष्णस्वरूपको प्राप्त होना ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं । उन्हीं श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर जीवमात्रकी आवागमनरूप यात्रा है, यह जानकर उन्हींका नाम लेकर उन्हींकी ओर आगे बढ़ो । बोलो 'श्रीकृष्णचन्द्रकी जय', 'नमः पार्वतीपतये हर हर महादेव।'

त्रिपुरागममें अद्वैततत्त्व

(लेखक—पं० श्रीललिताप्रसादजी डबराल)

प्रलयकालमें सम्पूर्ण विश्वको अति सूक्ष्म बीजरूपसे अपने गर्भमें लीनकर विमर्शतत्त्व (आद्याशक्ति[1]) जब आश्रयाश्रयी या अन्य किसी भी प्रकारका धर्मधर्मिभावका परित्याग कर नित्य, बुद्ध, मुक्त, निरतिशय सुखस्वरूप प्रकाशात्मक ब्रह्ममें विलीन[2] अर्थात् ब्रह्मसे अभिन्न हो स्थित रहती है, तब इस अवस्थाको अपेक्षाकृत नित्यस्वरूपावस्थिति कहते हैं। इसकी तुलना सुषुप्तिसे की गयी है। सुषुप्ति ही दैनिक प्रलय कहलाती है। इस अवस्थाको सापेक्ष इसलिये कहा गया है कि उपर्युक्त स्वरूपावस्थिति अव्यपदेश्य, निर्विकल्प, अवस्थातीत एवं व्यापकस्वरूप है। इसके अनन्तर 'स्वेच्छया जगत्सर्वं निगिरत्युद्गिरत्यपि' (अपनी इच्छासे समस्त जगत्‌को निगलती और उगलती है), 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मलयति' (अपनी इच्छासे विश्वको अपनी भित्तिपर धारण करती है) इत्यादि आगमप्रतिपादित इच्छास्वातन्त्र्यसे काल पाकर चिद्ब्रह्ममें विलीन महेच्छात्मिका सिसृक्षा महाशक्ति, जिसको विमर्शतत्त्व, आद्याशक्ति या जगदम्बिका भी कहा गया है, 'स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्' (अपने स्फुरणभावको देखना चाहिये) के अनुसार बाह्यकक्षामें पृथक्-सी अवस्थित हो जाती है। यही सर्वप्रथम शक्तितत्त्व आगमोंमें प्रसिद्ध है। शक्तितत्त्वके भिन्न-सा होनेपर अव्यपदेश्य, व्यापक चित्स्वरूप शिवतत्त्वपदवीको प्राप्त होता है। वस्तुतः पृथक् न होनेपर भी स्वच्छस्वरूप शिव-शक्तिके परस्परोन्मुख होते ही, एक दूसरेका प्रतिबिम्ब बनकर तत्त्वात्मक विश्वका उद्गमस्थान क्रमशः बिन्दुरूप[3] पराशक्ति होकर प्रादुर्भूत हुआ, अर्थात् सृष्टि करनेकी इच्छासे क्षुब्ध चित्तसे यह शक्ति बाहर निकली। शिव और शक्तिके उपर्युक्त पृथगवस्थानको 'स्वाभाविकी स्फुरत्ता विमर्शरूपास्य विद्यते शक्तिः। सैव चराचरमखिलं जनयति जगदेतदपि च संहरति।'—आगमके अनुसार स्वाभाविकी स्फुरत्ता ही नाम देना उचित है। इसीको भगवती श्रुति 'तदैक्षत' इत्यादि वाक्योंद्वारा परमात्माका प्रारम्भिक ईक्षण कहती है। इस महाशक्तिके पृथगवस्थितिकालहीमें आश्रयाश्रयिभाव इत्यादि अनेक धर्म उत्पन्न होते हैं। इसमें आश्रय श्रीभगवान् श्रीकामेश्वर कहलाये और आश्रिता श्रीकामेश्वरी नामसे प्रसिद्ध हुई। यह श्रीकामेश्वरी श्रीकामेश्वरके आश्रयसे अपने गर्भमें स्थित विश्वको प्रसव करनेके कारण जगदम्बिकारूपसे पूजित होती हैं। 'रत्नत्रयपरीक्षा' में श्रीअप्पय्यदीक्षित महोदयने इस दशाका स्पष्ट वर्णन किया है[4]। यहींसे द्वैतका प्रादुर्भाव हुआ। अतएव—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

(अर्थात् मायाको प्रकृति और मायीको महेश्वर जानना चाहिये) वचन सङ्गतार्थ हुआ, नहीं तो अद्वैतमें आश्रयाश्रयिभाव कैसे सम्भव हो सकता है ?

पूर्वोक्त चित् और अचित्‌में एकरससे व्याप्त, शिव तथा शक्तिका संयोगस्वरूप बिन्दुभाव ही परावाक्[5] कहलाता है। यही शब्दार्थमयी सृष्टिका बीज, किन्तु शब्द और अर्थके व्यवहारसे अतीत और शुद्ध है ('अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।')। यह केवल निर्विकल्प समाधिमें स्थित योगियोंद्वारा ही जाना जाता है। इसीसे इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप त्रिपुटीमय त्रिकोणका उदय होता है ('कालेन भिद्यमानोऽसौ स बिन्दुर्भवति त्रिधा')। यहाँ संक्षेपमें इनका क्रमिक विकास लिखा जाता है। सबसे पहले सृष्टि करनेकी इच्छा, उसके पश्चात् स्रष्टव्य पदार्थका ज्ञान और इसके अनन्तर क्रिया होती है, यही स्वारसिक नियम है। 'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या कृतिर्भवेत्।' अर्थात् 'ज्ञानसे इच्छा

---

[1] सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यनिरुपमाकारा।
भाविचराचरबीजं शिवरूपविमर्शनिर्मलादर्शः॥

[2] सकलभुवनोदयस्थितिलयमयलीलाविनोदयुक्तः।
अन्तर्लीनविमर्शः पातु महेशः प्रकाशमात्रतनुः॥

[3] विचिकीर्षुर्घनीभूता सा चिदभ्येति बिन्दुताम्।

[4] कर्तृत्वं तत्र धर्मी कलयति जगतां पञ्चसृष्ट्यादिकृत्ये।
धर्मः पुंरूपमाद्यात् सकलजगदुपादानभावं बिभर्ति॥
स्त्रीरूपं प्राप्य दिव्या भवति च महिषी स्वाश्रयादिप्रकर्तुः
प्राप्तौ धर्मप्रभेदावपि निगमविदां धर्मविद् ब्रह्मकोटी॥

[5] यह परावाक् ही परम आराध्य देवता त्रिपुरात्मिका सामरस्य पदसे आगममें प्रसिद्ध है। इसमें पराऽपरा दोनों विलासोंका सामरस्य है। जब पराविलास होता है तो भेदका विनाश होकर पूर्ण अहंताके उदयसे बन्धमुक्ति होती है। और भावोंका अनात्मतया अर्थात् भेदसे भासनात्मक अपराविलास संकोचपदको प्राप्त हो बन्धनका कारण होता है।

और इच्छासे कृति' यह अवर सिद्धान्त स्थूल जगत्में ही लागू होता है। परमार्थतः अज्ञातको ज्ञात करनेके मूलमें लौकिक व्यवहारमें भी इच्छा ही रखनी होगी, नहीं तो अज्ञातविषयक ज्ञान हो ही नहीं सकता। 'किमिदम्' (देखें, यह क्या है?) इत्यादि जिज्ञासा अज्ञातको ज्ञात बनाती हुई संसारमें प्रसिद्ध है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अज्ञातका प्रकाश शुद्ध संविन्मयी सर्वसाक्षिणी चिच्छक्तिसे ही होता है। परन्तु यह नित्यचैतन्यस्वरूप ज्ञान है। यह प्रवृत्ति या निवृत्तिजनक नहीं हो सकता। प्रवृत्तिजनक ज्ञान इच्छाजन्य ही है। यदि ऐसा न होता तो प्रलयकालमें नित्यज्ञानके विद्यमान रहते सिसृक्षाके पूर्व भी स्रष्टव्य पदार्थविषयक क्रिया क्यों नहीं होती? और श्रुति सबसे पहले सिसृक्षात्मक ईक्षणका ही वर्णन क्यों करती? इच्छाके अनन्तर ज्ञान और ज्ञानके पश्चात् क्रियाका उदय होना निर्विवाद है। अतएव इच्छाशक्ति (Power) का महत्त्व सबको स्वीकार करना पड़ता है। इस क्रमको श्रीमती श्रुति 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि वाक्योंसे स्पष्ट दर्शाती हैं। वस्तुतः आगम-मतमें एक ही अद्वैततत्त्व है। ज्ञानमें भी इच्छा है और इच्छामें भी ज्ञान है, जैसे बीजमें वृक्ष और वृक्षमें बीज है। इनका पौर्वापर्य तो केवल पूर्वपक्षमात्र है।

इस सर्वप्रथम सिसृक्षा या ईक्षणको प्रयोजकके अन्वेषणमें, अनादिपरम्पराको अन्धपरम्परा समझकर आगमकारोंने इच्छास्वातन्त्र्य ही निश्चित किया है। यह परमात्माका स्वभाव है, न कि किसी प्रयोजनसे प्रेरित। इसी प्रकार जिहीर्षा (संहार करनेकी इच्छा) भी स्वाभाविक है। अतः घटीयन्त्रवत् दोनों सदैव आवर्तित होते रहते हैं। अतएव वेदान्तसूत्र 'लोकवत्तु लीला' (जैसे लोग खेल करते हैं) सङ्गत होता है। इस प्रकार इच्छा, ज्ञान और क्रियाका त्रिकोण उत्पन्न हुआ। इस तरह पूर्वोक्त त्रिपुटी (इच्छा, ज्ञान और क्रिया) के बाह्य कक्षामें विलास करनेपर शब्दार्थमयी, नामरूपात्मक सृष्टिका उदय हुआ। शिव-शक्ति-संयोगसे उत्पन्न होनेके कारण नाम और रूप नित्य संयुक्त-स्वभाव हैं (वागर्थौ नित्ययुतौ परस्परं शिवशक्तिमयावेतौ); ये एक दूसरेसे भिन्न नहीं रह सकते। केवल शब्दब्रह्मका उल्लेख, जिसका विवर्त जगत् माना गया है और जिसको आगम परावाक् कहते हैं, ऊपर किया गया है।

यह शिवशक्तिका सम्पुट (शब्दार्थसृष्टि) उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयरूपसे तीन अवस्थावाला है। इतना ही नहीं। इस सम्पुटको जागर-स्वप्न-सुषुप्ति, मान-मेय-माता आदि अनेक त्रिपुटियोंसे पुकारते हैं। इनके बिना इसकी सत्ता हो ही नहीं सकती। इन अनेक त्रिपुटियोंमें व्याप्त शिव-शक्ति-सम्पुट ही छत्तीस तत्त्वों[६]में विभक्त होता हुआ विश्व या विश्वबीज कहलाता है। कामकलाविलासमें इस प्रकार लिखा है कि यह विमर्शमय अहङ्कार अर्थात् अकार शिव तथा हकार शक्ति, दोनोंका सामरस्य, जो कि भुवनमण्डलको अपनेमें निलीन किये हुए है, शिव-शक्ति-सम्पुटके रूपमें प्रकाशित होता है। इस संक्षिप्त विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि शिव-शक्ति-सम्पुटके अतिरिक्त विश्व कुछ भी नहीं है। और यह सम्पुट भी शिव और शक्तिका परस्पर प्रतिबिम्ब ही है, अतः तन्मूलक प्रपञ्च (जगत्) भी सब प्रतिबिम्ब या आभास ही सिद्ध हुआ। चन्द्र-चन्द्रिकाके तुल्य शिव-शक्ति भी अभिन्न हैं। इसलिये शिव-शक्तिमें भेद न होनेके कारण आश्रयाश्रयिभावका भी लोप हो जाता है। इस धर्मधर्मिभावके प्रलीन हो जानेसे शिवतत्त्व शुद्ध चिद्रूप रह जाता है। फलतः सिद्ध हुआ कि मूलभूत एक ही अद्वैततत्त्व है और प्रपञ्च उससे अनन्य है।

६—(१) शिवतत्त्व—यह अनन्यापेक्ष, शक्तिविशिष्ट, पूर्णाभिमानी है।
(२) शक्ति—ब्रह्मसे अभिन्न किन्तु पृथक्-सी दिखायी पड़नेवाली।
(३) सदाशिव—अहंभावसे विश्वको जाननेवाला।
(४) ईश्वर—यह जगत् है, ऐसी भेदबुद्धिका अधिकरण।
(५) शुद्धविद्या—इदमात्मक जगत्को अपनेसे भिन्न नहीं जानना।
(६) मायातत्त्व—सदाशिववृत्तिकी विरोधिनी अविद्या और पशुभावकी उत्पादिका। इसको प्रथम कन्चुक भी कहते हैं।
(७) अविद्या—सर्वज्ञताका सङ्कोच या अल्पज्ञता।
(८) कला—व्यक्तिगत कर्तृत्व।
(९) राग—विषयमें अतृप्ति।
(१०) काल।
(११) नियति—सर्वव्यापकताको आच्छन्नकर एकदेशस्थितिकी नियामिका शक्ति।
(१२–३६) सांख्यके पच्चीस तत्त्व—मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, दश इन्द्रियाँ, पञ्चमहाभूत, पञ्चतन्मात्रा और जीव।

यहाँतक त्रिपुरागमसिद्ध अद्वैतका दिग्दर्शन कराया गया। अब संक्षेपमें शाङ्कर वेदान्तद्वारा प्रतिपादित अद्वैत-तत्त्वका विवेचन किया जाता है।

'सुषुप्तिकाले सकले विलीने' के अनुसार प्रलयावस्थामें जब मातृ-मान-मेय सब प्रकारके त्रिपुटीमय व्यवहार विलीन हो जाते हैं, तब सकल संसाररूपी विवर्त नष्ट होकर अधिष्ठान-भूत केवल परब्रह्म ही स्वरूपावस्थित रह जाता है। यह सृष्टिका प्राक्काल है। इसको श्रुतियोंने—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (हे सौम्य, प्रारम्भमें केवल सत् ही था)—सत् आदि शब्दोंसे बोधित किया है। कुछ भी हो, इस कालमें कोई भी भेद नहीं रहता। यह प्रलय सुषुप्ति भी नहीं है, किन्तु तुरीयावस्था है। इसका माण्डूक्योपनिषत् इस प्रकार वर्णन करती है—'अनन्तर भावी प्राणियोंके अदृष्टके सहकारसे अनादि मायावश उस व्यापक चिद्ब्रह्ममें ईक्षण उत्पन्न हुआ। इसके पश्चात् नानाभावात्मक अनेक पदार्थोंका ज्ञान और उसके बाद उससे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाका प्रादुर्भाव हुआ।' इस इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मिका शक्तिको श्रुति स्वाभाविकी ज्ञानमयी कहती है। इस क्रियासे भूत-सूक्ष्मेन्द्रियादि क्रमसे मायाके उपादानवाले चिदाभाससे प्रातिभासिक मिथ्या आभासमय प्रपञ्चका उदय हुआ।

यहाँ सृष्टिके अवान्तर भेदक्रमका वर्णन आवश्यक नहीं है। साधारणतः सांख्यशास्त्रमें कही गयी प्रक्रियाका ही अनुसन्धान कर लेना चाहिये। भेद इतना ही है कि सांख्य प्रकृतिको प्राधान्य देकर जगत्को परिणाम कहता है; वेदान्त प्रकृतिका प्राधान्य न मानकर ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें मायोपादानक जगत्को विवर्तमात्र (भ्रम) कहता है। इस मतमें अधिष्ठानके साक्षात्कार हो जानेसे विक्षेप और विक्षेपोंके कारण अविद्या दोनों हट जाते हैं, और सत्यभूत अधिष्ठानमात्र अवशिष्ट रह जाता है। इसलिये वेदान्तियों (शाङ्कर अद्वैत) का मत विवर्तवाद कहलाता है। यह अवशिष्ट अधिष्ठान ही वेदान्तियोंका अद्वैततत्त्व है। आभासात्मक प्रपञ्चका अधिष्ठान शुद्ध चिद्ब्रह्म ही है। यह सत्य, ज्ञान और निरतिशय सुखस्वरूप है। अतः समस्त ब्रह्माण्ड सत्-चित्-आनन्दकी त्रिपुटीसे व्याप्त है। इसलिये जगत् ब्रह्मसे भिन्न नहीं माना जाता। जैसे रज्जुसर्प केवल प्रतिभासमात्र है, रज्जुसे अन्य कुछ नहीं, इसी प्रकार मिथ्या प्रतिभासात्मक जगत् भी अधिष्ठानभूत ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ नहीं है। अतएव 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' सिद्ध हुआ। यही शाङ्करमतका विवर्तवाद है।

इस विवर्तवादमें शङ्का उत्पन्न होती है कि शुक्ति, रज्जु आदि जड पदार्थोंका अप्रकाश अर्थात् अज्ञानसे आवृत होना सम्भव है, अतः उनके अज्ञानसे रजत या सर्पादिरूप मिथ्याज्ञान हो सकता है। परन्तु विश्वभ्रमका अधिष्ठान तो नित्यप्रकाशस्वरूप सच्चिन्मय शुद्ध ब्रह्म ही वेदान्तमतमें माना गया है। तब इस प्रकार स्वप्रकाश ब्रह्म अज्ञानसे कैसे आवृत हो सकता है? और अज्ञान ज्ञान या प्रकाशके अभावके अतिरिक्त अन्य वस्तु है भी नहीं जिससे वह ज्ञानको ढक सके। यदि अज्ञान ज्ञानको आवृत कर सके तो इसका दूर करना नितान्त असम्भव होगा। ज्ञान और अज्ञान तो प्रकाश और अन्धकारके समान परस्परविरुद्ध स्वभाववाले हैं। फिर इनका साथ कैसे हो सकता है?

उक्त शङ्काका समाधान संक्षेपमें करते हैं। 'कुछ अँधेरा हो चला, अब अच्छी तरह नहीं दिखायी पड़ता।' इस लौकिक प्रतीतिमें तम और प्रकाशका साथ रहना स्पष्ट है। 'पूरा ज्ञान नहीं हुआ, कुछ कसर है' इस प्रतीतिमें ज्ञान और अज्ञानका एक साथ रहना प्रसिद्ध है। 'मैं नहीं जानता' इस कथनमें अज्ञान स्पष्ट है और उसका प्रकाश ज्ञानसे ही हो रहा है। बिना अज्ञानके प्रकाशित हुए 'मैं अज्ञानी हूँ' कहना 'मेरे मुखमें जिह्वा नहीं है' कहनेके बराबर होगा। अस्तु यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान और अज्ञानके एक साथ रहनेमें स्वतः कोई विरोध नहीं, प्रत्युत उनमें भास्य-भासक-सम्बन्ध है।

अब प्रश्न रह जाता है कि जब ज्ञान अज्ञानका प्रकाश ही करता है तो इसका नाश कैसे होगा? देखिये! ये तिनका, रूई आदि पदार्थ सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं। सूर्यके प्रकाशसे स्वयं इनका कोई विरोध नहीं है, बल्कि भास्य-भासक-सम्बन्ध है। परन्तु यदि तृणादिको प्रकाशित करनेवाला सूर्यका आलोक सूर्यकान्त (आतिशी शीशा) द्वारा प्रतिबिम्बित हो जाता है तो तत्क्षण तृणादिका दाह कर डालता है। ऐसे ही यह नित्य शुद्ध साक्षिज्ञान स्वतः अज्ञानका विरोधी नहीं, किन्तु भासक होता हुआ भी यदि प्रमाण-वृत्तिद्वारा प्रतिबिम्बित होता है तो तुरन्त अपने भास्य अज्ञानको समूल नष्ट कर देता है।

पूर्वोक्त विवरणसे यह बात समझमें आ गयी कि अज्ञान ज्ञानको कैसे ढक लेता है। वेदान्तमतमें अज्ञान ज्ञानका अभावरूप नहीं है, क्योंकि यह तो शुक्ति-रजतमें रजतका उपादान है। अभाव किसीका उपादान नहीं हो सकता।

अतः अज्ञान एक अतिरिक्त भावपदार्थ है। इसीलिये यह ज्ञानको ढक सकता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें लिखा है—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

इस प्रकार यह अज्ञान नित्य प्रकाशस्वरूप आत्माको भी आवृत कर लेता है। अतएव बौद्धोंको 'नास्ति ब्रह्म' इत्यादि भासित होता है। इतना ध्यान रहे कि ब्रह्मका नित्यसिद्ध स्फुरण कभी भी आवृत नहीं होता, वह 'घटः सन्' (घड़ा है) इत्यादि रीतिसे सर्वत्र भासित रहता है; नहीं तो 'मैं हूँ' सबको ऐसा ज्ञान कैसे होता ? अन्ततोगत्वा चार्वाकका 'नास्ति ब्रह्म' आदि प्रतीतिका भान भी नित्यसिद्ध ब्रह्मस्फुरणहीसे है, अन्यथा कोई भी भान होना सम्भव नहीं। परन्तु आनन्दांश उपर्युक्त अज्ञानसे आवृत रहता ही है। यही अज्ञानका अज्ञानत्व है, और वह भी कल्पित, मिथ्या। यदि यह वस्तुतः सत्य हो तो इसका विनाश हो नहीं सकेगा। अतः जितना भी दृश्यमान संसार है, वह विनाशी होनेके कारण स्वप्नके पदार्थोंके समान मिथ्या है। जलहरणादि व्यवहारसे भी घटपटादिकी सत्यता सिद्ध नहीं हो सकती। यह व्यवहारकी सत्यता तो स्वप्नमें भी समान है, किन्तु स्वप्नके पदार्थोंको कोई सत्य नहीं मानता। इसी प्रकार जगत्प्रपञ्च और इसका उपादान अज्ञान भी मिथ्या है। यही इसमें अज्ञानत्व है कि युक्तिविरुद्ध प्रकाशस्वरूप आत्माको आच्छन्न कर स्वयं प्रकाशित होता हुआ नाना विक्षेपोंको उत्पन्न करता है। यदि यह युक्तिसङ्गत होता तो यथार्थ वस्तु ही कहलाता। प्रपञ्च दीखता जरूर है, परन्तु विनाशी होनेसे मिथ्या है। अतः विश्वका कोई उपादान अवश्य होगा। ब्रह्म निर्विकार होनेसे परिणामी उपादान नहीं हो सकता, इसलिये कोई दूसरा ही उपादान होगा। और होगा तो मिथ्या ही, क्योंकि तभी तो इसका परिणाम भी मिथ्या हो सकता है। अतएव वह परिणामी उपादान मिथ्या अज्ञान ही है। यह ब्रह्मका सत्य अधिष्ठान पाकर अनेक प्रकारके विक्षेप उत्पन्न करता है। इस ज्ञानमें अज्ञानके संयोगको ही तो भगवान् श्रीशङ्कराचार्य सत्य और अनृतका मिथुनीकरण कहते हैं। मिथ्या अज्ञानकी निवृत्तिको मोक्ष अथवा परम पुरुषार्थ और अज्ञानको बन्ध माना गया है।

प्रसङ्गसे अज्ञाननिवृत्तिका संक्षेपमें शङ्कासमाधानपूर्वक विवेचन किया जाता है। अज्ञाननिवृत्तिमें 'निवृत्ति' पदसे अभावका बोध होता है।

शङ्का—यदि अज्ञानका ध्वंसाभाव हो तो वह (ध्वंसाभाव) नित्य होगा। अतः द्वैत होनेसे अद्वैतकी हानि होगी। उसका अत्यन्ताभाव माननेसे संसारका उदय होना सम्भव नहीं होगा, क्योंकि त्रैकालिक संसर्गाभावको ही अत्यन्ताभाव कहते हैं। प्रागभाव माननेसे महान् अनिष्ट होगा। अज्ञानके प्रागभावकालमें तो मोक्ष रहेगा। परन्तु प्रागभाव विनाशी अभाव है, अतः इसके विनाश होते ही अविद्याका उदय और मोक्षका विनाश होगा। इस तरह मोक्ष अनित्य हो जायगा। ऐसी दशामें अज्ञाननिवृत्तिसे क्या समझा जाय ?

समाधान—प्रतियोगी पदार्थ जैसा होता है, उसका अभाव भी वैसा ही होता है। इस नियमसे जब अज्ञान मिथ्या है तो उसका ध्वंस या निवृत्ति भी मिथ्या ही होगी, एवं मिथ्या ध्वंसके रहते भी पारमार्थिक अद्वैतकी हानि नहीं होगी। जैसे—मिथ्या सर्पका विनाश मिथ्या है, परन्तु मिथ्या होते हुए भी सर्पकी अनुवृत्ति नहीं होती; इसी प्रकार मिथ्या अज्ञानके मिथ्या ध्वंस होनेपर भी कभी भी मिथ्या अज्ञानकी अनुवृत्तिकी आशङ्का नहीं हो सकती। इससे यह सिद्धान्त निकला कि तत्त्वसाक्षात्कार ही अज्ञाननिवृत्ति है, अर्थात् विद्योदयकालमें अधिष्ठानका साक्षात्कार होनेके अनन्तर भ्रम या भ्रममूल अज्ञानका न रहना ही अविद्यानिवृत्ति है। उक्त अज्ञाननिवृत्तिका साधन इस मतमें ज्ञान माना गया है, चाहे यह ज्ञान श्रवणमननादि, गुरुकृपा अथवा तारक मन्त्रोच्चारसे प्राप्त हो।

उपर्युक्त विवरणसे ज्ञात होगा कि शाङ्कर अद्वैत शुद्ध ब्रह्मस्वरूप है और द्वैत अनादि मायाकल्पित मिथ्या है। इस कल्पित मायाकी निवृत्ति ज्ञानसे होती है। यह वेदान्तका सिद्धान्त है। अब पाठकगण त्रिपुरातन्त्रसिद्धान्तके साथ अद्वैत तत्त्वकी तुलना करें।

द्वैत (प्रपञ्च) दोनों मतोंमें मिथ्या प्रतिभासमात्र है। शङ्कर इसको सत्यानृतका मिथुनीकरण और आगम इसको शिवशक्तिसम्पुट कहते हैं। केवल शब्दोंका भेद है। शक्तिको अनृतस्थानीय इसलिये कहते हैं कि परमार्थतः अद्वैत दशामें शक्ति शक्तिमान् शिवसे भिन्न कुछ भी नहीं है। मोक्ष या परमपुरुषार्थको आगममतमें स्वविमर्श अर्थात् स्वरूपानुभूति कहते हैं। शङ्करमतमें अविद्यानिवृत्ति, अधिष्ठानसाक्षात्कार या अपरोक्षानुभूतिको मोक्ष कहते हैं। यहाँ भी केवल शब्दोंमें ही अन्तर है। परमार्थतः वस्तु एक ही है। इस प्रकार

दोनों मत अद्वैत तत्त्वको स्वीकार करते हैं । आगम ज्ञानसे मुक्ति मानता है—

ज्ञात्वैवं न पुनः स्पृशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं नराः ।

'ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य फिर माताके गर्भमें नहीं आते ।' शङ्करमत भी ज्ञानसे ही मोक्ष मानता है । 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' (ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं) ।

विद्योदयसे अविद्यानिवृत्ति दोनों पक्षोंमें समान है । हाँ, कुछ भेद अविद्या और अविद्यानिवृत्तिमें है । शङ्करमतमें मूलाविद्या (कारण अविद्या) और तूलाविद्या (कार्य अविद्या) दो मानी गयी हैं । आगममें कञ्चुकोंके अन्तर्गत अविद्या नामसे एक ही तत्त्व माना गया है । मालूम होता है, यह तूलाविद्या प्रपञ्चस्थानीय है । इसकी निवृत्ति (ध्वंस) आगम भी मानता है । मूलाविद्या मायास्थानीय मालूम होती है । आगममें विमर्शतत्त्व, जिसको आद्याशक्ति भी कहा गया है, ध्वंसशील नहीं है । उसको नित्य माना गया है । किन्तु नित्य मानते हुए भी उसका विलय मानते हैं; और जब विलय है तो प्रादुर्भाव भी । नित्य पदार्थका भी विलय और प्रादुर्भाव होता है—इतना ही इसका मायात्व माना गया है । विचार करनेपर मालूम होता है कि इस विमर्शशक्तिका पुरुषमें लय और प्रादुर्भाव इस प्रकार माना गया है कि जैसे किसी व्यक्तिके पास सर्पकी केचुलीकी भाँति स्वच्छ और सूक्ष्म चादर है । जब पुरुष उस चादरको अपने ऊपर ओढ़ लेता है तब उस चादरसे आच्छन्न होता हुआ अपने प्रकाशसे चादरको प्रकाशित करता है और जब समेटकर उसको निगल जाता है तब उसका लय होकर अनावृत शुद्ध अपना स्वरूप प्रकट करता है । वस्तुतः चादर है ही । न उसका निगल जानेपर विनाश हुआ और न ओढ़नेपर उत्पत्ति । वह नित्य है । पुरुषसे किसी भी दशामें उसका वियोग नहीं है । अतएव शिवशक्तिका अभिन्न स्वभाव सिद्ध होता है । अब इस चादरस्थानीय शक्तिके लय और प्रादुर्भावमें प्रयोजक क्या है, यह हम पहले ही कह आये हैं । आगमके मतमें यह शक्ति ब्रह्मकी अनन्त शक्तिकी समष्टि है । इसको महेच्छा भी कहा गया है । इसका महास्वातन्त्र्य है । यह कदाचित् विलीन और कदाचित् प्रादुर्भूत होती है । इसी प्रकार पुरुष (ब्रह्म) भी महाशक्तिशाली है । उसके इच्छास्वातन्त्र्यका विघात कौन कर सकता है ? इसलिये इस मतमें प्रयोजकके अन्वेषणमें कोई कठिनाई नहीं है, और न शक्तिके लय-प्रादुर्भावका समन्वय करनेमें कोई दिक्कत । अस्तु, शाङ्कर-वेदान्तमें इस मूलाविद्याके लयको निवृत्ति कहा गया है । इसका साधारण अर्थ ध्वंस अथवा विनाश है । इस ध्वंसको लेकर इस मतमें बड़े तर्क-वितर्क हुए हैं । किसी अनादि भावका ध्वंस कैसे हो सकता है ? ध्वंस नित्य है वा अनित्य आदि । परन्तु परम सिद्धान्तमें आत्मसाक्षात्कार ही अविद्यानिवृत्ति माना गया है । इष्टसिद्धिकार लिखते हैं कि मोहाभाव आत्मा ही है । विचार करनेपर यही मालूम होता है कि अविद्यानिवृत्ति आत्माके अतिरिक्त कुछ नहीं । तब अविद्या क्या हो गयी ? उसका न तो कोई अतिरिक्त ध्वंस हुआ और न कोई उसको अन्यत्र उठा ले गया । इससे यही सिद्ध होता है कि वह अनादि और नित्य है; हाँ, लीन अवश्य हो जाती है । इस तरह निवृत्तिपदका गूढार्थ लय ही सङ्गत हुआ । अब प्रश्न हो सकता है कि स्पष्टार्थक लय शब्दका ही प्रयोग वेदान्तमें क्यों नहीं किया गया । इसका विशेष और तथ्यविवेचन तो इतिहासज्ञ विद्वान् ही कर सकते हैं, परन्तु कुछ विद्वानोंकी धारणानुसार यह कहा जाता है कि वेदसे आगमतन्त्रका उदय हुआ और काल पाकर परम्परामें वैगुण्य आनेसे शक्तिपूजनका प्राबल्य हो गया । यहाँतक कि बुद्ध भगवान्के उपदेशोंके अनन्तर भी शक्तिपूजनमें कमी नहीं हुई, चाहे प्रकारभेद भले हो गया हो । इसलिये कहना चाहिये कि शक्तिपूजन बौद्धमतका अङ्ग-सा हो गया । इसके अनन्तर वेदान्तदर्शनकार तथा भाष्यव्याख्यानकर्ताओंने 'श्वदतिधृतदुग्धवत्' न्यायसे इस परम आराध्य शक्तिस्थानीय मायाके आगे 'निवृत्ति' पद देकर सर्वसाधारणकी दृष्टिमें इसकी अनित्यता बोध करानेका प्रयत्न किया । लेखकका यह आग्रह नहीं है कि उपर्युक्त विद्वानोंका मत यथार्थ ही है, परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसमें कुछ तथ्य नहीं है । क्योंकि स्वयं भगवान् शङ्कराचार्य भी शक्तिमाहात्म्य गाते हैं ('शिवः शक्त्या युक्तः') । हो सकता है भक्तोंके लिये यह उपदेश हो, और सर्वसाधारण, जिनको बौद्धमतीय शक्त्युपासनासे हटाना था, उनके लिये ऐसा प्रयोग किया गया हो ।

* * *

योगसे ही वेदान्तकी उत्पत्ति

(लेखक—श्रीयुत स्वामी मौक्तिकनाथजी)

बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं होती*, ज्ञानसे ही मुक्ति होती है †, इसके विपरीत अज्ञानसे बन्धन होता है‡ । अतः यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि कैवल्यपदकी प्राप्ति केवल ज्ञानसे ही होती है§ । ज्ञान दो प्रकारका होता है—एक शास्त्रजन्य और दूसरा विवेकजन्य । इनमें शास्त्रजन्य ज्ञान निम्न श्रेणीका है; क्योंकि 'न निवर्तेत तिमिरं कदाचिद्दीपवार्तया' (दीपककी बात करनेसे ही अन्धकार कभी दूर नहीं हो सकता)—इस उक्तिके अनुसार केवल शास्त्रजन्य ज्ञान कभी मोक्षका साधक नहीं हो सकता । परन्तु जो योगाङ्गोंके अनुष्ठानसे होनेवाला विवेकजन्य ज्ञान है वही मुक्तिमन्दिरके द्वारके किवाड़ोंको तोड़नेमें समर्थ है—यह सभी शास्त्रोंका सिद्धान्त है । विष्णुपुराणमें भी कहा है—

आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तदुच्यते ।
शब्दब्रह्मागममयं परं ब्रह्म विवेकजम् ॥

(६ । ५ । ६१)

'ज्ञान दो प्रकारका है—शास्त्रजन्य और विवेकजन्य । इनमें शब्दब्रह्मका ज्ञान शास्त्रजन्य है और परब्रह्मका विवेकजन्य ।' विवेककी प्राप्तिका उपाय महर्षि पतञ्जलि योगदर्शनमें बतलाते हैं—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः ।

इस सूत्रकी व्याख्या यों है—योगके साधनरूपसे जो अगले सूत्रमें कहे जानेवाले हैं वे ही योगाङ्ग हैं;× उनके अनुष्ठानसे अर्थात् उत्साह और श्रद्धाके साथ गुरुकी बतलायी हुई साधनाके अनुसार उन योगाङ्गोंका सम्पादन करनेसे अशुद्धिका क्षय हो जाता है; यहाँ 'अशुद्धि' शब्दसे उस पञ्चपर्वा अविद्याका ग्रहण है जिसके द्वारा उत्क्रमण और गमनागमनका आश्रय लेकर जीव रहटके घड़ोंकी तरह इस संसारसागरमें भ्रमण करता रहता है—ऐसी अविद्यारूप अशुद्धिका क्षय अर्थात् तिरोभाव (लोप) होता है अथवा उसके बीजका दाह-सा हो जाता है, उसका बिल्कुल नाश नहीं होता । क्यों नहीं होता ? क्योंकि कारणका लय होनेपर नाश होता है, जैसा कि 'नाशो हि कारणलयः' (१ । १२१) इस सांख्यदर्शनके सूत्रसे सिद्ध है । तथा——

गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव प्रविशन्ति च ।

(शां० प० ३०५ । २३)

'गुण गुणोंसे ही उत्पन्न होते और उन्हींमें लीन होते हैं।'

——इस महाभारतके वचनसे भी उक्त कथनकी ही पुष्टि होती है । विज्ञानवेत्ताओंका कहना है कि ईश्वरकी सृष्टिमें किसी भी पदार्थका आत्यन्तिक विनाश नहीं होता । अन्यथा—

न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ।

(सां० द० १ । १९)

'नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाववाले पुरुषका प्रकृतिसे संयोगके अतिरिक्त बन्धन नहीं होता'——इत्यादि वचनोंका कोई महत्त्व नहीं रह जाता । इस प्रकार पूर्वोक्त अशुद्धिका क्षय हो जानेपर ज्ञानदीप्ति होती है । जिसके द्वारा सजातीय और विजातीय वस्तुओंके विभागपूर्वक त्याज्य और ग्राह्य वस्तु जानी जाय वही ज्ञान है ।

सर्वे वै ज्ञानिनो लोके पशुपक्षिमृगादयः ।

'संसारमें पशु, पक्षी और मृग आदि जितने भी जीव हैं सभी ज्ञानी हैं ।'

—इस लोकोक्तिके अनुसार आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदिके ज्ञानमें आसक्त हुए सर्वसाधारण जीवोंमें ज्ञानका सम्बन्ध नहीं मानना चाहिये । अपितु 'योगाङ्गोंके अनुष्ठानके बलसे अविद्या-लताका उच्छेद कर देनेपर धीरे-धीरे जो आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है उसी ज्ञानको तत्त्वज्ञोंने ज्ञान माना है । उसी ज्ञानकी दीप्ति—अभिव्यक्ति अर्थात् प्रकाश होता है । यदि कहो, ज्ञानका प्रकाश कबतक अभिव्यक्त होता है ? तो इसका उत्तर सूत्रमें ही बतलाया गया है—

'आ विवेकख्यातेः'

अर्थात् जबतक विवेककी ख्याति यानी पूर्णतया प्राप्ति न हो जाय तबतक ।

---

* ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।

† ज्ञानान्मुक्तिः ।

‡ बन्धो विपर्ययात् ।

§ ज्ञानादेव हि कैवल्यम् ।

× यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अंग हैं)।

विवेकख्यातिपर्यन्तं ज्ञेयं प्रकृतिचेष्टितम् ।

'जबतक विवेककी ख्याति न हो जाय तबतक प्राकृतिक चेष्टा होती रहती है ।'

–इस पञ्चशिखाचार्यकी उक्तिसे भी यही बात सिद्ध होती है । विवेक उसको कहते हैं जिसके द्वारा ब्रह्म आदिके ज्ञानका विवेचन—अवधान अर्थात् निश्चय किया जाय । ऊपर जो कुछ कहा गया, सबका सारांश यहाँ दिया जाता है—

यह अन्तर्यामी आत्मा निर्गुण होकर भी कूटस्थ होनेके कारण एकरस है और सत्त्वादि त्रिगुणमयी प्रकृतिदर्पणके समान पुरुषका अनुसरण करती है । जिस समय वैराग्य-सहित अष्टाङ्गयोगके अनुष्ठानरूप जलसे इस प्रकृतिरूप दर्पणको धो दिया जाता है उस समय अविद्या, अस्मिता आदि क्लेशरूप मलसे रहित हो जानेपर इस प्रकृतिदर्पणमें पुरुषका वास्तविक स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है, जिससे यह पुरुष विवेकमयी ज्योतिको प्राप्त कर लेता है और—

तू प्रकृति है	मैं पुरुष हूँ
तू जड है	मैं चेतन हूँ
तू दृश्य है	मैं द्रष्टा हूँ
तू कर्त्री है	मैं अकर्ता हूँ
तू नाचनेवाली है	मैं तेरा दर्शक हूँ
तू विकृत होती है	मैं निर्विकार हूँ
तू चञ्चला है	मैं अचल हूँ
तू संघातरूपा है	मैं एकरूप हूँ
तू हृदयलता है	मैं लतासे मुक्त हूँ
तू अंदर रहनेवाली है	मैं कूटस्थ हूँ
तू भ्रान्त है	मैं निर्भ्रान्त हूँ
तू मुक्त होना चाहती है	मैं नित्यमुक्त हूँ

—इत्यादिरूपसे प्रकृतिके दोषोंको स्फुटित करता है । इसके बाद पुरुषसे संयोग होनेपर भी वह प्रकृति लज्जित होकर घूँघट लटकायी हुई कुलवधूकी तरह पुरुषसे संभोगके लिये हाव-भाव और कटाक्षोंका प्रदर्शन नहीं करती । इसी बातको भागवतमें भी कैसे अच्छे ढंगसे कहा गया है—

भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः ।
नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च ॥
(३ । २७ । २४)

'जो उपभोग करके त्याग दी गयी है, जिसके प्रतिदिन दोष देखे जा रहे हैं, ऐसी वह प्रकृति अपनी महिमामें स्थित हुए ईश्वर (पुरुष) का अमङ्गल नहीं करती ।'

इधर, पुरुष भी उस विमल प्रकृतिदर्पणमें सरोवरके भीतर प्रतिबिम्बित हुए तटके वृक्षोंकी भाँति प्रतिबिम्बित होकर सम्पूर्ण ग्राह्य और त्याज्य वस्तुओंका संकलन करता हुआ निर्लेप अलाबू (तुम्बी) की तरह स्वभावतः केवल होकर भी योगाभ्याससे कैवल्य नामक आनन्दका अनुभव करता है; जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम् ।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥
(श्वेता० २ । १४)

'जिस प्रकार दर्पण श्वेत मिट्टी (चूने) से माँजनेपर शुद्ध होकर प्रकाशयुक्त हो चमकने लगता है, उसी प्रकार जीव अद्वितीयरूपसे आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करके शोक-रहित और कृतार्थ हो जाता है ।'

केवल शास्त्रीय ज्ञान रखनेवाले वेदान्तियोंकी यही चरम समाधि है, परन्तु परब्रह्मकी प्राप्ति तो विवेकजन्य ज्ञानसे ही होती है और विवेक होता है अष्टाङ्गयोगके अनुष्ठानसे । योगाभ्यासके बिना कोई भी शुष्क वेदान्ती परब्रह्मको नहीं प्राप्त कर सकता । कहा भी है—

निर्विकल्पकसमाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम् ।
अन्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ॥
(विवेकचूडामणि ३६५)

'निर्विकल्प समाधिके द्वारा ही निश्चितरूपसे ब्रह्मतत्त्वका स्फुट ज्ञान होता है, अन्यथा मनकी चञ्चल गतिके कारण वह ब्रह्मतत्त्व विजातीय प्रतीतियोंसे मिश्रित हो जाता है ।'

परन्तु सदा ही इन्द्रियोंका रस भोगनेवाले, धन और महलोंमें आनन्द मनानेवाले, सोनेके कुण्डल पहनी हुई सुन्दरी रमणियोंमें राग रखनेवाले, पुत्र, मित्र, स्त्री और क्षेत्र आदिसे उदासीन न रहनेवाले, व्यर्थ ही आत्मवादपर विवाद करनेवाले, कपटभावसे गेरुए वस्त्र धारण करनेवाले मिथ्याचारियों और अपने अन्तःकरणमें चण्डियों (मानिनी वनिताओं) का चिन्तन करनेवाले नामधारी योगी, संन्यासी, विरागी, ब्रह्मवादी, परमहंस,

कर्मयोगी, महात्मा आदिको निर्विकल्प समाधिकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये जो लोग—

‘क्रियावानेव ब्रह्मविदां वरिष्ठः।’ (मुण्डक० ३।१।४)

‘क्रियावान् ही ब्रह्मवेत्ताओंमें अत्यन्त उत्तम है।’

—इस श्रुतिके रहस्यकी अवहेलना करके धर्माचरण और समाधिसे शून्य होकर ‘मैं ब्रह्म[1] हूँ’, ‘यह[2] आत्मा ब्रह्म है’, ‘वह[3] ब्रह्म तू है’ इत्यादि वैदिक वाग्देवताको अपना पेट पालनेके लिये घर-घर नचाते फिरते हैं, वे केवल शास्त्रका ज्ञान रखनेवाले वेदान्ती शोचनीय हैं। क्योंकि वेदकी ऋचा भी यही कहती है—

‘यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति’
(श्वेता० ४।९; ऋ० वे० १।१६४।३९)

यही नहीं, श्रुति योगरहस्यका भी उपदेश करती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।
(मु० ३।२।३)

‘केवल वेदोंकी व्याख्या, बुद्धि या अधिक शास्त्राध्ययनसे इस आत्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यह आत्मा जिस पुरुषका वरण करता है उसके ही समक्ष यह अपने स्वरूपको प्रकट करता है।’ तथा—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यास योगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥
(मु० ३।२।६)

इस श्रुतिका अभिप्राय यह है—वेदान्तसिद्धान्तके द्वारा संन्यासीको सम्बोधितकर भगवती श्रुति योगकी महिमा प्रकट करती है—‘जिसने संन्यास कर लिया है उस संन्यासीको ही यहाँ संन्यास कहा है। संन्यास शब्दमें मतुप् प्रत्ययके अर्थमें ‘अर्श आदिभ्योऽच् (५।२।१२७)’ इस पाणिनिसूत्रसे ‘अच्’ प्रत्यय हुआ है, इसलिये संन्यासका अर्थ है संन्यासी। श्रुतिके ‘संन्यास! योगात्’ इस पदमें संन्यास शब्दके सम्बोधनका रूप है; अर्थात् हे संन्यास! —हे संन्यासिन्! योगात्—अष्टाङ्गयोगके अभ्याससे जिनके अन्तःकरण शुद्ध हो गये हैं—ऐसे प्रयत्नशील यति—योगी लोग लिङ्गदेहका त्याग करते समय सर्वोत्तम अमरभावको प्राप्त होकर ब्रह्मरूप लोकमें मुक्त हो जाते हैं—ब्रह्ममें एकीभावको प्राप्त हो जाते हैं।’ पूर्वोक्त प्रक्रियाकी सिद्धिके लिये श्रुति वेदान्तसिद्धान्तका प्रतिपादन करती है—‘वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः; वेदान्तोंका जो विज्ञान है उसे वेदान्तविज्ञान कहते हैं, उसमें ये अच्छी तरह निश्चित किये हुए सिद्धान्तभूत अर्थ हैं।’ तात्पर्य यह कि वेदान्ती संन्यासियोंके ये ही सिद्धान्त हैं कि पूर्वोक्त सभी योगी योगसे शुद्धचित्त होकर लिङ्गशरीरका त्याग करते समय परम अमृतभावको प्राप्त होकर मुक्त हो जाते हैं। यहाँ ‘वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः’ इस पदमें बहुवचनका प्रयोग अत्यन्त आदर प्रदर्शनके लिये है। स्मृतिमें भी पूर्वोक्त सिद्धान्तका ही समर्थन किया गया है—

‘आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते नहि।’
(स्क० पु० का० खं० ४१।४२)

‘मुक्ति आत्मज्ञानसे होती है और आत्मज्ञान बिना योगाभ्यासके नहीं होता।’

इसलिये शुष्क वेदान्तपरिभाषाका अध्ययन छोड़कर योगाभ्यासमें मन लगाना चाहिये। फिर समय आनेपर योगसे ही वेदान्तज्ञानकी उत्पत्ति हो जाती है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

* * *

१–अहं ब्रह्मास्मि। २–अयमात्मा ब्रह्म। ३–तत्त्वमसि।

वेद और यज्ञ

(लेखक—पं०श्रीरामचन्द्रजी उपाध्याय 'रत्न', साहित्याचार्य, 'विशारद')

भारतवर्ष सृष्टिके प्रारम्भसे ही धर्मप्रधान माना गया है। धर्मका आविर्भाव वेदसे हुआ है*। और वेद ईश्वरका ज्ञान है। आदिकालमें विद्यासम्प्रदायके प्रवर्तक ब्रह्मादि-गुरुपरम्परासे महर्षियोंको वेदका श्रवणमात्र हुआ था, इसलिये वेदको 'श्रुति' तथा 'आम्नाय' भी कहते हैं। हिन्दू-धर्मके प्रमाणग्रन्थोंमें श्रुतिका शिखर सबसे ऊँचा, एवं ज्यादा मान्य है। मनुने भी कहा है—'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।' स्मृति भी वेदके अनुकूल रहनेपर ही प्रामाणिक समझी जाती है। जैसे मनुने कहा है—'स्वस्य च प्रियमात्मनः', 'आत्मनस्तुष्टिरेव च'। अगर आपका प्रिय कार्य तथा स्वेच्छाचार वेदप्रतिकूल है, लोकगर्हित है, तो वह धर्म कदापि नहीं कहला सकता—चाहे उसे लाख स्मृति प्रतिपादन करती हो। इसलिये वेद स्वतःप्रमाण माना गया है, बाकी सब परतःप्रमाण हैं। जिस प्रकार किसी राज्यको चलानेके लिये एक राजाकी आवश्यकता होती है, क्योंकि बिना शासनकर्ताके राष्ट्रका उत्थान होना नितान्त दुर्लभ है, उसी प्रकार चौदह भुवनोंके अधिपति ईश्वर संसारके शासक प्रभु हैं। और उन प्रभुका कानून साक्षात् वेद है। क्योंकि कानूनसे कार्यकी श्रृंखला बँधती है और सिलसिलेवार चलनेवाले कार्यका नाश सहज ही नहीं होता। ईश्वरके कानूनस्वरूप वेदमें कोई भी विषय बाकी नहीं रह गया है। कहीं सूक्ष्म, कहींपर विशदरूपसे सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। मनु भगवान् स्वयं कहते हैं—'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'। इसमें मनुष्यको सुखी जीवन व्यतीत करनेकी अमृतमयी बूटी मन्त्ररूपसे आँक दी गयी है। वेदके बताये विधानसे चलनेमें मनुष्यमात्रका कल्याण है। क्योंकि वेद-प्रतिपादित कर्मका ही नाम धर्म है। धर्मसे धनकी वृद्धि होती है, और धनवृद्धिसे जनको सुख होता है। मनुष्यमात्रका जीवन-मरण, सुख-दुःख, भय और कल्याण सभी कर्मपर निर्भर है। ये श्रीमद्भागवतके अक्षर स्पष्ट हैं।

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैवाभिलीयते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते॥

भगवान्ने स्वयं अर्जुनसे गीतामें कहा है कि संसार भोग-भूमि नहीं, कर्मभूमि है। इसलिये त्यागियोंको भी निम्नलिखित कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

'यज्ञ, दान और तपका त्याग न करना चाहिये। क्योंकि इनसे बुद्धिमानोंका चित्त शुद्ध रहता है।' विचारमें वासनाकी बू नहीं आती, और आकर भी मनुष्यको बिगड़ने नहीं देती।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

'इसलिये कर्मफलकी आशासे रहित होकर, निरन्तर नित्य नैमित्तिक कर्म किया करो। क्योंकि फलकी आशा न करके जो मनुष्य कर्म करता है, वह मोक्षको प्राप्त करता है।' और 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'—कर्मसे जनकादि राजाओंने ज्ञानसिद्धिको प्राप्त किया। अतः 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्'—पहलेके लोगोंने जो कर्म किया, वही कर्म तुम भी करो। भगवान्ने भी कर्महीको प्रधान मानकर उसीका उपदेश अर्जुनको दिया और कहा कि—जो कुछ कर्म करो 'तत्कुरुष्व मदर्पणम्' वह मुझे समर्पण करो। अब कर्महीके विषयपर नीतिशिरोमणि चाणक्यकी अनोखी सूझ देखिये। उन्होंने इस विषयको बड़े मनोरञ्जक ढंगसे कहा है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥

अर्थात् शरीरमें रहनेवाले आत्माकी प्रेरणासे ही मनुष्यकी प्रवृत्ति सत्कर्म वा असत्कर्ममें होती है। वस्तुज्ञानमें भी आत्मा और मनका संयोग ही प्रधान कारण माना गया है। क्योंकि जब हम बाजार घूमनेके लिये निकलते हैं, तब दूकानमें एक-से-एक सजी सुन्दर वस्तु हमारी दृष्टिको खींच लेती है। अब उन दृष्ट वस्तुओंका स्मरण जरा अपने विस्तरेपर बैठकर तो कीजिये। आपके स्मृति-पथमें वही वस्तु आवेगी जिस वस्तुपर आत्माके साथ मनका पूरा प्रतिबिम्ब पड़ा होगा। क्योंकि आत्माके साथ मनद्वारा किया हुआ वस्तुका ज्ञान मनुष्यके मस्तिष्कमें मँडराता रहता है। बाकी

---

* 'वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ।'

सब ज्ञान लुप्त हो जाते हैं। आत्मा अपने किये हुए कर्मको आप भोगता और उसी फलके अनुसार संसारमें आकर योनियोंमें भ्रमण करता है, क्योंकि जीवका जन्म कर्मके आधीन है। और स्वयं उससे मुक्त भी हो जाता है। सबसे विचित्र बात तो यह है कि इस संसाररूपी परीक्षाभूमिमें कर्तव्यका इम्तहान पास कर लेनेपर स्वर्गरूपी युनिवर्सिटीसे मनुष्यको सुन्दर सार्टिफिकेट प्रदान किया जाता है, जो अनुत्तीर्ण हुए उन्हें भी, यही आधुनिक यूनिवर्सिटीसे अन्तर है। जो इस संसारमें आकर कर्तव्यकी परीक्षा पास कर गये उनके आनन्दका क्या ठिकाना है। पहुँचते ही देवदूतोंद्वारा शुभ स्वागत, स्वर्गके सुन्दर भवनमें वास, पारिजातमञ्जरियोंसे सुरभित नन्दनवनका विहार नसीब होता है। बाद जब पुण्य शेष हो गया, तब संसारमें आते समय उन्हें निम्नलिखित सार्टिफिकेट दिया जाता है—

स्वर्गस्थितानामिह जीवलोके
चत्वारि चिह्नानि वसन्ति देहे।
दानप्रसङ्गो मधुरा च वाणी
देवार्चनं ब्राह्मणतर्पणं च॥
(चा० नी०)

'स्वर्गमें रहनेवाले मनुष्यके शरीरमें चार चिह्न सदा मौजूद रहते हैं—दानमें श्रद्धा, मीठा वचन, देवताओंकी पूजा और ब्राह्मणोंमें प्रीति।' और जो कर्तव्यकी परीक्षामें फेल हो गये, वे शरीरके फेल करनेपर नरकमें ठेल दिये जाते हैं। तप्त लौहदण्डसे उनका शिष्टाचार किया जाता है। वे तपाये तेलमें तरकारीकी तरह कड़ाहीमें डाल दिये जाते हैं। बाद पाप भोग लेनेपर संसारमें आते समय उन्हें भी सार्टिफिकेट मिलता है। वे ये हैं—

अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी
दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्।
नीचप्रसङ्गः कुलहीनसेवा
चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम्॥
(चा० नी०)

'नरकमें रहनेवाले मनुष्यके शरीरमें भी नीचे लिखे चिह्न हमेशा वर्तमान रहते हैं—अत्यन्त क्रोध, कटु वचन, दरिद्रता, अपने बन्धु-बान्धवोंमें विरोध, नीचोंके साथ सहवास, अपनेसे हीन कुलके मनुष्यकी सेवा।'

यज्ञ कर्मसे अतिरिक्त नहीं, इसलिये हमने यहाँतक कर्मका ही राग अलापा। शास्त्रकारोंने भी मनुष्यकी मुक्तिके लिये तीन ही उपाय बतलाये हैं—ज्ञान, कर्म, और उपासना। इसमें ज्ञानकाण्ड सबसे जटिल काण्ड है। यह मनुष्यसे कष्टसाध्य है। इसमें सबसे पहले प्रबल मनको, जिसे अर्जुनने 'वायोरिवसुदुष्करम्'—कहकर वशमें लाना कठिन बतलाया है, उसे काबूमें करना पड़ता है। इस कार्यमें सफल होनेके लिये योगाभ्यासका आश्रय लेना पड़ता है। और यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, ये आठ योगाङ्ग हैं; इन्हें योगाभ्यासकी सीढ़ी समझिये। विरले ही आदमी योगकी सीढ़ीपर चढ़ते हैं, और चढ़कर पार हो जाते हैं। क्योंकि जभी हम प्राणायामद्वारा प्राणवायुका अवरोध करेंगे, तभी हमारे शरीरके अंदर रहनेवाली प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, ये पाँच प्रकारकी वायु—हमारे प्रयत्नको विफल कर देंगी। इनमेंसे किसी एकका सञ्चार होते ही योग भ्रष्ट हो जाता है। अतः ज्ञानकाण्ड योगियोंको उपादेय है, साधारण मनुष्यको नहीं। ज्ञानके बाद अब नंबर कर्मका है, जिसका विस्तृत विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं। भगवान्ने भी 'यज्ञः कर्मसु कौशलम्' कहकर सभी वैदिक कर्मोंमें यज्ञको ही प्रधान बतलाया है। श्रुति तो उसे साक्षात् विष्णुस्वरूप बतलाती है। 'यज्ञो वै विष्णुः'। ऋद्धि-सिद्धिको देनेवाला यह विधान भारतके प्रत्येक किसानों और गृहस्थोंसे आदृत था। लोगोंकी श्रद्धा इसमें अटूट थी। तभी तो अन्न बेशुमार पैदा होता था। इन्द्र पूर्वजोंको भक्ति, प्रेमसे प्रसन्न होकर सदा मनमाफिक जल बरसाया करते थे। पर आज उन्हीं पूर्वजोंके वंशज हम हैं, वही पृथ्वी है जो एक बोनेपर एकसे अनेक होना तो दूर रहा, उलटा मूलधन भी गायब कर देती है। कृषी सूख जानेपर वृष्टिके बादल दिखायी पड़ते हैं, जो हर्षकी जगह हृदयमें हूक पैदा करते हैं। इसका क्या कारण है, हमलोगोंने कभी इस बातको विचारा? और विचारकर भी अपने आचारपर न ध्यान देकर सारा दोष कलियुगके माथे मढ़ दिया। इस समय जो बलायें हमारे सिरपर मेघकी तरह मँडरा रही हैं, हमें पतनकी ओर लिये जा रही हैं तथा उन्नतिमें रोड़े अटकाती हैं, उन सबका प्रधान कारण सृष्टिके आदि कालमें ज़िसका ब्रह्माने उपदेश किया था उस वैदिक कर्मका परित्याग, उसकी उपेक्षा एवं अश्रद्धा ही हो सकती है। उपनिषद् बतलाती है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

'पहले ब्रह्मा यज्ञके अधिकारी ब्राह्मणोंके सहित प्रजाओंको उत्पन्नकर बोले कि इस यज्ञके द्वारा आपलोगोंकी उत्तरोत्तर वृद्धि होगी। और इससे हमेशा आपलोगोंको मनोवाञ्छित फल मिलेगा।' अब यज्ञसे मनोवाञ्छित फल किस प्रकार मिलेंगे, इसके लिये आगेका पद्य कहते हैं।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

'जब आप लोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको हविर्भाग देकर सन्तुष्ट करेंगे तब वे देवता लोग भी सन्तुष्ट होकर आपलोगोंकी वृद्धि करेंगे (अर्थात् जल बरसाकर अन्न उपजावेंगे)। इस प्रकार परस्पर एक दूसरेको सन्तुष्टकर आपलोग परमानन्दको प्राप्त करेंगे।' इसी विषयको स्पष्ट करते हुए अब कर्म न करनेसे जो दोष होता है उसे कहते हैं—

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

'यज्ञसे प्रसन्न होकर वे देवता लोग वृष्टि आदिद्वारा निश्चय ही आप लोगोंको भोग्य वस्तु समर्पण करेंगे। अतः उन्हीं देवताओंके दिये हुए अन्नादिक भोगोंको उन्हें पञ्चमहायज्ञादिद्वारा न देकर जो मनुष्य आप ही उन भोगोंको भोग लेता है, वह चोर कहलाता है। गृहस्थको पञ्चमहायज्ञ नित्य करने चाहिये, वे ये हैं—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥

'वेद और वेदाङ्गादिकका गृह्यसूत्रोक्त विधिसे पढ़ना और पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है। पद्धतिविहित विधानसे तर्पण करना पितृयज्ञ है। भोजनांशका होम करना देवयज्ञ है। बलिकर्म करना भूतयज्ञ कहाता है, और अतिथि-अभ्यागतोंका भोजनादिसे आदर-सत्कार करना नृयज्ञ है।' अतिथि जिस गृहस्थके दरवाजेसे निराश लौट जाता है, वह अपना सारा पाप गृहस्थको देकर उसके समस्त पुण्यको ले जाता है—ऐसा शास्त्रकारोंका मत है।

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥

अब आगे यज्ञ करनेवालोंकी श्रेष्ठता प्रतिपादन करते हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥

'यज्ञ करनेके बाद जो अन्न बच रहता है, उस अमृतरूपी अन्नको खानेवाला मनुष्य अविनाशी ब्रह्मको प्राप्त करता है। और जो लोग यज्ञ नहीं करते उनके लिये थोड़ा सुख देनेवाला यह मनुष्यलोक भी नहीं है, फिर बहुत सुख देनेवाला परलोक तो कहाँसे हो सकता है।' और भी कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

'यज्ञके उपरान्त बचे हुए अन्नको खानेवाला मनुष्य पञ्चहत्याजनित पापोंसे मुक्त हो जाता है। परन्तु जो लोग अपने ही भोजनके निमित्त पाक तैयार करते हैं, देवताओंके निमित्त नहीं, वे पापी लोग अन्न क्या खाते हैं, मानो पापहीको खाते हैं।' उनका किसी प्रकार कल्याण नहीं हो सकता। पञ्चहत्या जो गृहस्थोंके यहाँ नित्य हुआ करती है उन्हीं दोषोंको दूर करनेके लिये पञ्चमहायज्ञका विधान शास्त्रकारोंने बतलाया है, जिसे हम ऊपर बतला चुके हैं। वे पञ्चहत्या ये हैं—

कण्डिनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी ।
पञ्चसूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विन्दति ॥

'ओखली-मूसल, चक्की, चूल्हा, मटको (जिसमें पानी रक्खा जाता है) और झाड़ू या बुहारी, इनके द्वारा गृहस्थोंके यहाँ प्रतिदिन हत्या हुआ करती है, अर्थात् अनेक जीव मरते हैं, इस कारणसे उन्हें स्वर्ग नहीं मिलता। अब आगे यज्ञसे ही वृष्टि होकर जगत्‌का पालन होता है, यह बतलाते हैं—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

'अन्नसे रस, रससे रक्त, रक्तसे अस्थि इत्यादि बनकर प्राणी उत्पन्न होते हैं। और अन्न जलकी वृष्टिसे होता है और वृष्टि यज्ञसे होती है। और यज्ञ यजमानादि अपने कर्मद्वारा करते हैं।' स्मृति भी यही कहती है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

अर्थात् 'अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यलोकको पहुँचती है, और सूर्यसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न, और अन्नसे प्रजा उत्पन्न होते हैं।' अब यज्ञमें ब्रह्मकी स्थिति बतलाते हैं—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

'यजमानादिद्वारा किया हुआ कर्म अर्थात् यज्ञ वेदसे उत्पन्न समझो और वेद, अक्षर, यानी जिसका नाश नहीं होता उस परब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है । इसलिये सर्वव्यापक अविनाशी ब्रह्म सदा यज्ञमें वर्तमान रहता है।' श्रुतिमें लिखा है कि सब वेद एक ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं । और वेदके एक-एक अक्षरमें ब्रह्मज्ञानका तत्त्व इस तरह विद्यमान है जिस तरह दूधके सब अंशमें घी, अथवा तिलके सर्वांशमें तैल । इसी कारण वेदका नाम शब्दब्रह्म वा वेद भगवान् है । अन्य अवतारोंके समान वेद भी भगवान्‌का ही रूपान्तर है । इसीलिये भगवान्‌ने स्वयं कहा है—'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (वेदोंमें सामवेद मैं ही हूँ) । यज्ञ सर्वव्यापक ब्रह्मकी विहारभूमि है, यह उपरोक्त बातोंसे स्पष्ट हो चुका । श्रुति भी यही बात कहती है—'यस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः ।' अर्थात् तीनों वेद उस परब्रह्मकी श्वाससे उत्पन्न हुए हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि उस अविनाशी ब्रह्मसे ही यज्ञकी प्रवृत्ति हुई । अतः उसे यज्ञ प्रिय है । वह उसमें सदा वर्तमान रहता है । इसलिये मनुष्यको अवश्य यज्ञकर्म करना चाहिये ।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

'इस प्रकार परमेश्वरके चलाये चक्रको (यानी ईश्वरसे वेद, वेदसे कर्म (अर्थात् यज्ञ), कर्मसे मेघ, मेघसे अन्न और अन्नसे प्राणी) जो मनुष्य अनुष्ठान नहीं करता,—हे अर्जुन ! वह पापी इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें रमण करनेवाला संसारमें बेकार जीता है ।'

ॐ तत्सत्

अतीतके पथपर

(रचयिता—कुँवर श्रीव्रजेन्द्रसिंहजी 'साहित्यालंकार')

किस अतीतके स्मृति-पटपर हैं
उलझ रहे-से तार ?
सुप्त पड़ी यह वीणा कैसी,
भूला-सा संसार ?
निःश्वासोंकी उथल-पुथलमें
खोज रहे हो प्यार ?
अंतस्तलकी मौन व्यथाएँ,
सुनता कौन पुकार ?
मत छेड़ो, ऐ पथिक अनाड़ी !
बीते युगकी बात ।
मानसके सब बाँध पुराने,
उत्सित नेह-निपात ।
व्रज-वसुधाकी केलि-कहानी,
जगतीका सम्मान ।
वंशीवटकी ललित तान वह,
मधुवनकी मुसकान ।
रंगमहलसे, ध्वस्त कुटी तक,
मुखरित हास-विलास ।
पुण्यतटीकी तीर्थरेणु-सी,
लुटता रहा मिठास !
लोक-लोकमें वेदध्वनि थी,
ओक-ओकका राग ।
सोमपान था, सामगान था,
जीवनका अनुराग ।
दीनदयालु सुदीन बने-से,
सुखका सदा प्रभात ।
सुख-वैभवका विश्व रचा था,
सपनेकी-सी बात ।
किससे पूछें, कौन कहेगा,
प्रियतमका सन्देश ?
झरिणीके उस पार बसेरा,
बदला हुआ सुवेश ।
रँगियेकी किस रंगभूमिमें
रँगी हुई अभिराम ?
मायावीकी अजया माया,
पायें कहाँ विराम ?

पञ्चीकरण-त्रिवृत्करण

(लेखक—पं० श्रीसभापतिजी उपाध्याय)

अनादिप्राणिकर्मपरिपाकवशात् ब्रह्ममें अध्यस्त जो अविद्या है वही चिदाभासरूप ईश्वरके साथ तादात्म्यापन्न होकर शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-तन्मात्रात्मक आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवीको पैदा करती है। यथा–अविद्या-तादात्म्यापन्न चिदाभास (ईश्वर) से शब्दतन्मात्रात्मक आकाश, उससे स्पर्शतन्मात्ररूप वायु, वायुसे रूपतन्मात्ररूप तेज, तेजसे रसतन्मात्ररूप जल, जलसे गन्धतन्मात्ररूप पृथिवी पैदा हुई।

इनमें 'कार्यगुणाः कारणगुणान् लभन्ते' इस न्यायसे आकाशादिकारणगुणोंका उत्तरोत्तर भूतोंमें संक्रमण होता है। ये पञ्चमहाभूत सम्मिलित होकर ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति-विशिष्ट एक स्वच्छ द्रव्यको उत्पन्न करते हैं। उसी द्रव्यका ज्ञानशक्तिप्रधानांश अन्तःकरण है, जो निश्चयात्मक बुद्धि, तथा संशयात्मक मनके रूपमें व्यवहृत होता है तथा क्रिया-शक्तिप्रधानांश प्राण है। ये ज्ञानशक्तिप्रधान अन्तःकरण तथा क्रियाशक्तिप्रधान प्राण समष्टिरूप हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक महाभूतसे ज्ञानशक्ति तथा क्रिया-शक्तिवाली दो-दो इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। यथा—शब्दतन्मात्र (आकाश) से कर्णेन्द्रिय, वागिन्द्रिय; स्पर्श-तन्मात्र (वायु) से त्वगिन्द्रिय, पाणीन्द्रिय; रूपतन्मात्र (तेज) से चक्षुरिन्द्रिय, पादेन्द्रिय; रसतन्मात्र जलसे रसनेन्द्रिय, गुदेन्द्रिय; गन्धतन्मात्र पृथिवीसे घ्राणेन्द्रिय, उपस्थेन्द्रिय; ये दस इन्द्रियाँ पैदा होती हैं।

बुद्धि, मन, पञ्चप्राण तथा दस इन्द्रियाँ, ये सत्रह मिलकर लिङ्ग शरीर कहलाते हैं। यही शरीर—

'हिरण्यमिव प्रकाशजनको ज्ञानशक्तिरूपो गर्भो यस्य'

—इस विग्रहके अनुसार ज्ञानशक्ति प्रधान होनेसे हिरण्यगर्भ तथा–

'सर्वशरीरावच्छिन्नक्रियाजनकशक्तिमत्त्वेन सूत्रवदनुस्यूतम्'

—इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'सूत्र' नामसे भी व्यवहृत होता है।

उक्तरूपेण परिणत ये सूक्ष्म महाभूत भोगायतन स्थूल-शरीर और भोग्य विषयके बिना सुख-दुःखसाक्षात्काररूप भोगको नहीं उत्पन्न कर सकते। अतः प्रत्येक जीवावच्छेदक शरीरमें स्थौल्यसम्पादनके लिये पञ्चमहाभूतोंका पञ्चीकरण आवश्यक है।

अब यह आकांक्षा होती है कि महाभूतोंका पञ्चीकरण कैसे हुआ। पञ्चीकरणका अर्थ—

'न पञ्च अपञ्च अपञ्चानां पञ्चानां करणं पञ्चीकरणम्'

—जो पाँच न हो उसे पञ्चात्मक करना है।

इसलिये प्रत्येक भूतमें स्थूलत्वसम्पादनके लिये पञ्चात्मकत्व आवश्यक है। इस आकांक्षाकी पूर्त्ति निम्नलिखित प्रकारसे की जाती है। शब्दतन्मात्ररूप आकाश दो भागोंमें विभक्त हुआ। फिर एक भागके चार भाग हुए। इन चार भागोंमेंसे एक-एक भागका आकाशको छोड़कर वायु इत्यादि चार भूतोंके साथ सम्मिश्रण हुआ। फिर स्पर्शमात्रक वायुके दो विभाग हुए। उनमेंसे एक भागके चार भाग हुए; इन चारों भागोंका वायुको छोड़कर शेष चार भूतोंके साथ सम्मेलन हुआ। इसी तरह रूपतन्मात्ररूप तेजके दो भाग हुए; उनमें एक भागके चार भाग हुए। इन चारों भागोंका तेजको छोड़कर शेष चारों भूतोंके साथ सम्बन्ध हुआ। इसी प्रकार रसतन्मात्ररूप जलके दो विभाग, फिर एक भागके चार भाग; इन चारों भागोंका जलको छोड़कर अन्य आकाशादि चार भूतोंके साथ सम्मिलन हुआ। इसी प्रकार गन्धतन्मात्ररूप पृथिवीके दो भाग हुए, उनमेंसे एकके चार भाग; ये चार भाग पृथिवीके अतिरिक्त शेष चार भूतोंसे सम्बद्ध हुए।

इस प्रकार प्रत्येक भूत पञ्चावयवात्मक हो गया। अर्थात् सम्मेलनके बाद यदि प्रत्येक भूतके दो भाग किये जायँ तो एक भाग तो उसका अपना होगा और दूसरा भाग प्रत्येक भूतसे सम्बद्ध चतुर्भागात्मक होनेसे पञ्चभागात्मक हुआ। उनमें अपने भागके अधिक होनेसे उन्हींके नामसे व्यवहार होता है। यदि अपने भागमें भी चार भाग माने जायँ तो प्रत्येक भूत अष्टभागात्मक होगा। अर्थात् अपने भाग चार और आगन्तुक चार।

वाचस्पतिमिश्र तथा कल्पतरुकार इत्यादि कतिपय आचार्योंके मतसे प्रपञ्चगत स्थौल्यसम्पादनके लिये पञ्चीकरण नहीं होता, किन्तु त्रिवृत्करण ही होता है।

त्रयाणां तेजोऽबन्नानां वरणं व्यापनं त्रिवृत्–सम्पदादित्वाद् क्विप्। तस्याः करणम् त्रिवृत्करणम्।

परस्परमें तेज आदिका सम्मेलन; यथा तेजके दो भाग हुए, उनमेंसे एक भागके फिर दो भाग हुए, इन दोनों भागोंका

क्रमशः जल तथा पृथिवीके साथ सम्मेलन हुआ। पुनः जलके दो भाग हुए; उनमेंसे एक भागके दो भाग किये गये, उन दोनों भागोंका तेज तथा पृथिवीके साथ सम्मेलन हुआ। पुनः पृथिवीके दो भाग किये गये, उनमेंसे एक भागके दो भाग करके तेज और जलके साथ सम्मेलन हुआ। आकाश तथा वायुका विभक्त होकर सम्मेलन नहीं होता; क्योंकि यदि आकाश, वायुका भी सम्मेलन माना जाय तो तेज आदिकी तरह उनका भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। और पञ्चीकरण किसी श्रुतिमें प्रत्यक्षरूपसे नहीं मिलता। त्रिवृत्करण तो श्रुति तथा सूत्रसिद्ध है। यथा—

‘त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि’ (छा० ६ । ३ । २)

‘संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ।’

(श० अ० २, पा० ४, सू० २०)

यदि कोई यह कहे कि आकाश, वायुमें स्थौल्य न होनेसे उनका व्यवहार नहीं होगा, तो परमाणुओंके सूक्ष्म होनेपर भी जैसे उनका व्यवहार होता है तद्वत् आकाश, वायुके व्यवहारमें भी बाधा नहीं।

गौडब्रह्मानन्दाद्याचार्योंके मतसे पञ्चीकरण ही प्रमाण तथा न्यायसिद्ध है। और त्रिवृत्करण उसीका उपलक्षण है। जैसे छान्दोग्यमें ‘तत्तेजोऽसृजत्’ यह भूतत्रयसृष्टिबोधक वाक्य प्रकरणविरोधसे भूतपञ्चकका उपलक्षण माना गया है। यदि वायु, आकाशमें स्थौल्य नहीं मानेंगे तो तद्गत शब्द और स्पर्शके सूक्ष्म होनेसे उनका भी प्रत्यक्ष न होना चाहिये। यदि कहें कि आकाश-वायुमें भूतान्तरका सम्मेलन होनेसे रूपवत्ताप्रतीति होनी चाहिये तो इसका समाधान यह है कि जैसे तेज-पृथिवीके सम्बन्ध होनेपर तदल्पत्वके कारण तेजमें गन्धादिकी उपलब्धि नहीं होती, उसी प्रकार अनुद्भूतरूप होनेसे प्रत्यक्षकी आपत्ति नहीं हो सकती। और भी ‘पञ्च चेन्द्रियगोचराः’ इसके व्याख्यानमें ‘इन्द्रियगोचरशब्देन स्थूलानि भूतानि व्याख्यातानि’ पूज्य शङ्कराचार्यजीके इस विवरणसे पञ्चीकरण ही सिद्ध होता है। त्रिवृत्करण ही माननेसे अर्धजरतीयन्याय तथा पुराण इत्यादिका भी विरोध होगा। आथर्वणमें सूक्ष्म-स्थूलमहाभूतकथनप्रस्तावमें ‘पृथिवी च पृथिवीमात्रा च’ ‘वायुश्च वा वायुमात्रा च’ यह साक्षात्पञ्चीकरणबोधिका श्रुति भी उपलब्ध होती है। अतः पञ्चीकरण सर्वथा प्रमाण तथा न्यायसिद्ध है।

वेदान्तदर्शनमें अधिकारिनिर्णय

(लेखक—श्रीप्राणगोपालजी गोस्वामी ‘सिद्धान्तरत्न’)

सब शास्त्रोंमें आरम्भमें ही सम्बन्ध, अभिधेय (प्राप्तव्य विषय), प्रयोजन (प्राप्तिके फल) और अधिकारी इत्यादिका निर्णय किया गया है। क्योंकि जो जिस विषयके अधिकारी नहीं हैं, उनके लिये उस विषयकी आलोचना करके यथायोग्य फल प्राप्त करना असम्भव है। वेदान्तदर्शनका प्रथम सूत्र है ‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।’ इस सूत्रका भाष्य करते हुए आचार्य श्रीशङ्करने जो व्याख्या की है, उससे मालूम होता है कि ‘अथ’ शब्दका अर्थ है अनन्तर। अर्थात् नित्यानित्यवस्तुविचार, इहलोक और परलोकके विषय-भोगोंके प्रति विराग, शम (अन्तरिन्द्रियनिग्रह), दम (बहिरिन्द्रियोंका संयम), उपरति (विषयानुभवसे विरति), तितिक्षा (शीतोष्णद्वन्द्वसहिष्णुता), समाधान (चित्तकी एकाग्रता), श्रद्धा (गुरु और वेदान्तवाक्यमें सुदृढ़ विश्वास) और मुमुक्षुत्व या मोक्षकी इच्छा इत्यादि गुण होनेपर, धर्मजिज्ञासाके पहले और बादमें दोनों कालमें ब्रह्मज्ञानकी इच्छा उत्पन्न हो सकती है; परन्तु इन सब साधनोंके न होनेपर किसी समय ब्रह्मजिज्ञासा नहीं की जा सकती। तात्पर्य यह कि पूर्वोक्त गुणसम्पन्न व्यक्ति ही वास्तवमें ब्रह्मजिज्ञासाके अधिकारी हैं। ‘अतः’ शब्दका अर्थ ‘इसी कारण’ है अर्थात् यज्ञादि क्रियाके फल (स्वर्गादि) की अनित्यताके कारण और ब्रह्मज्ञानके पुरुषार्थसम्पादकत्वके कारण; ब्रह्मज्ञान ही मोक्षप्राप्तिका परम और चरम उपाय वेदान्तशास्त्रमें बतलाया गया है। यहाँपर समझनेकी बात यह है कि आचार्य शङ्कर कर्मके साथ ज्ञानका साक्षात् सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते। इसका कारण यह है कि कर्म और ज्ञान अन्धकार और प्रकाशकी तरह परस्पर विरुद्ध धर्मवाले हैं।

जैमिनिकृत पूर्वमीमांसा और व्यासकृत उत्तरमीमांसा परस्पर निरपेक्ष शास्त्र हैं, अर्थात् इनमेंसे कोई एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता। परन्तु श्रीपाद रामानुजाचार्य ब्रह्मसूत्रस्थ ‘अथ’ शब्दका दूसरे प्रकार अर्थ करते हैं। उनका कहना है कि ‘अथ’ शब्द का ‘अनन्तर’ अर्थ होनेपर भी इसका अर्थ कर्मज्ञानानन्तर है। जब जीवको यह अनुभव होता है कि यज्ञादि बह्वायाससाध्य कर्म करनेपर भी स्वर्गादिकी प्राप्तिरूप अनित्य फल प्राप्त होता है और फिर

उस भोगस्थानसे परिमित कालके बाद मर्त्यलोकमें पुनः आना पड़ता है, तब वह व्याकुल होकर ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये उत्सुक होता है। इसीलिये श्रीपाद रामानुजाचार्यके मतसे पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों शास्त्र मिलकर एक शास्त्र हैं; अर्थात् पूर्वमीमांसाके द्वादश अध्याय और वेदान्तदर्शन या उत्तरमीमांसाके चार अध्याय मिलकर षोडश अध्यायमें वह पूरा हुआ है। केवल विषयगत विभागके अनुसार दोनोंमें नामभेद है। परन्तु श्रीपाद शङ्कराचार्यने ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद (ज्ञान और कर्मका एक साथ अनुष्ठान करने) का प्रारंभमें ही निराकरण कर दिया है। दूसरी ओर रामानुजाचार्यपाद कहते हैं कि जिस व्यक्तिने वेद, वेदाङ्ग और उपनिषद् शास्त्रका अध्ययन किया है, वह जानता है कि ज्ञानशून्य कर्मका फल नितान्त क्षणभङ्गुर होता है, इसी कारण वह चिरशान्ति प्राप्त करनेके लिये अक्षय और अनन्तफल ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करनेका अभिलाषी होता है। स्मृति कहती है—'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः,' अर्थात् ये सब यज्ञक्रियाएँ संसारसागर पार करनेके लिये दृढ़ नौका नहीं हैं। 'ब्रह्म' शब्दकी व्याख्यामें दोनों आचार्योंका भेद स्पष्ट देखा जाता है। शङ्कराचार्यपादके मतसे ब्रह्मका स्वरूपलक्षण चिन्मात्र है। परन्तु आचार्य रामानुज कहते हैं—

ब्रह्मशब्देन स्वभावतो निरस्तनिखिलदोषोऽनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते। सर्वत्र बृहत्त्वगुणयोगेन हि ब्रह्मशब्दः। बृहत्त्वञ्च स्वरूपेन गुणैश्च। यत्रानवधिकातिशयम्, सोऽस्य मुख्योऽर्थः।

अर्थात् 'ब्रह्म' शब्दसे स्वभावतः ही सर्वदोषवर्जित, अवधि और तारतम्यशून्य, अनन्तकल्याणगुणगणसमन्वित पुरुषोत्तम (विष्णु) का बोध होता है। सब स्थानोंमें बृहत्त्वगुणके अनुसार ही 'ब्रह्म' शब्द प्रयुक्त होता है। वह बृहत्त्व ही उसका स्वरूप और गुण है। अर्थात् जो स्वरूपमें और गुणमें बृहत्तम है, वही 'ब्रह्म' शब्दका मुख्य अर्थ है। अतएव 'ब्रह्म' शब्दसे असीमगुणनिधि श्रीभगवान् विष्णुका ही बोध होता है।

श्रीरामानुजाचार्यने यह दिखाते समय कि पूर्वमीमांसा उत्तरमीमांसाका पूर्व भाग है, वेदान्तदर्शनके प्राचीन व्याख्याकार बोधायनका वाक्य उद्धृत किया है। यथा—

तदाह वृत्तिकारः—वृत्तात् कर्माधिगमादनन्तरं ब्रह्मविविदिषा।

अर्थात् पूर्वसम्पन्न कर्मज्ञानके बाद ब्रह्मको जाननेकी इच्छा होती है।

श्रीनिम्बार्काचार्यपादके भाष्यमें भी प्रायः इसी प्रकारकी व्याख्या मिलती है। माध्वभाष्यमें यह आया है कि नारायणकी कृपाके बिना मोक्षप्राप्ति असम्भव है और ज्ञानके बिना अत्यन्त कृपा भी नहीं होती। इसीलिये ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये।

श्रीवल्लभाचार्यपादने भी अपने अणुभाष्यमें ज्ञान और कर्मका विरोध समझकर इस श्रुतिका उल्लेख किया है—

यदेव विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवति। (छान्दोग्य० १। १। १०)

अर्थात् 'जो ज्ञान, आस्तिक्यबुद्धि और योगके सहित किया जाता है, वह अत्यन्त शक्तिशाली होता है।' इसीलिये ब्रह्मवित् जनक आदिके कर्मोंमें देवताओंका सान्निध्य देखा जाता है। इसके द्वारा, उपनिषत्प्रतिपाद्य ज्ञान भी कर्मके लिये उपयोगी है, यह चतुराईके साथ व्यक्त करके ज्ञान और कर्मके विरोधका परिहार किया गया है।

श्रीपादबलदेवविद्याभूषण अपने श्रीगोविन्दभाष्यमें कहते हैं—'अथ' शब्दका अर्थ 'अनन्तर' होनेपर भी यागादि कर्मके बाद ब्रह्मजिज्ञासा उचित नहीं है। क्योंकि वैसे कर्म करनेपर भी किसी-किसी व्यक्तिको साधुसंगके अभावमें ब्रह्मजिज्ञासाकी अभिलाषा नहीं होती। फिर वैसी यागादि क्रियाएँ किये बिना भी सत्यनिष्ठ साधुसंग करनेवालेमें ब्रह्मज्ञानकी इच्छा देखी जाती है। शम-दमादि साधनोंके विषयमें भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे ब्रह्मविद्याके अव्यवहित कारण हैं। क्योंकि तत्त्वज्ञ साधुके संगप्रभावसे ही वैसी सम्पत्ति प्राप्त होती है। अतएव साधुसंग ही ब्रह्म या भगवदनुभूतिका कारण है। सत्संगके बिना भक्तिप्राप्ति या भगवदनुभव असम्भव है। यही गौड़ीय वैष्णवाचार्योंका सिद्धान्त है।

कर्ममात्र ही ज्ञानका विरोधी है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि बृहदारण्यक श्रुतिमें आया है—

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानशनेनेति।

अर्थात् 'ब्रह्मचारी वेद-शास्त्रकी आलोचनाके द्वारा, गृहस्थ दान और यज्ञके द्वारा, तथा वानप्रस्थ तपस्या और मित भोजनके द्वारा उस परमात्माको जाननेकी इच्छा करते हैं।'

सत्य, तप, जप प्रभृति कर्म भी ब्रह्मजिज्ञासुके लिये अनुष्ठेय हैं। मुण्डक श्रुतिका कहना है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।

अर्थात् सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य और तपस्याके द्वारा यह आत्मज्ञान प्राप्त होता है ।'

तत्त्ववेत्ताओंका संग ही ब्रह्मज्ञानका प्रधान कारण है, यह शास्त्रोंमें अनेक स्थानोंमें कहा गया है। नारदादि मुनियोंको सनत्कुमार प्रभृतिके संगसे ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ था । गीतामें कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

अर्थात् तत्त्ववेत्ताओंके पास जाकर प्रणाम, संशयनिवारणके लिये प्रश्न और सेवा करके तत्त्वज्ञान प्राप्त करे । तत्त्ववेत्ता लोग तुम्हें इस ज्ञानका उपदेश देंगे ।

इसी प्रकार गोविन्दभाष्यमें श्रीपादबलदेवविद्याभूषणने 'अथ' शब्दकी व्याख्या की है । कर्मज्ञानके बाद ब्रह्मज्ञान होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । क्योंकि हम देखते हैं कि कर्मज्ञान होनेपर भी जिसे साधुसंग नहीं प्राप्त होता, उसमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं उत्पन्न होती । दूसरी ओर कर्मज्ञानशून्य अथ च सत्यादिगुणसम्पन्न जीवको साधुओंके संगप्रभावसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा होती है। विशेषतः हरिभक्ति ही चित्तका मल धोनेमें सम्यक्‌रूपेण समर्थ है । ऐसे स्थलमें कर्मके बाद ब्रह्मज्ञान होता है, ऐसा कहना कठिन है । श्रीभागवतमें लिखा है—

'पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सताम् ।' इत्यादि ।

अर्थात् भगवान् भक्तोंके आत्माके प्रकाशक हैं, उनकी कथारूप अमृतको जो लोग कर्णपुटमें स्थापित करके पान करते हैं उनका चित्त विषयदूषित होनेपर भी शुद्ध हो जाता है और पान करनेवालेको श्रीविष्णुपदकी प्राप्ति होती है ।

परमात्मसन्दर्भमें श्रीजीवगोस्वामिपादने साधुकृपाको ही भक्तिकी प्राप्तिका साक्षात् कारण बतलाया है। भगवान् आत्माराम हैं और तमोगुणसे अतीत हैं; परन्तु परदुःखका बोध करनेकी इच्छा होनेपर तमोगुण चित्तका स्पर्श करेगा ही। इसीलिये बहिर्मुख जीवोंके दुःखको श्रीभगवान् नहीं जानते, परन्तु चित्तमें दुःखका स्पर्श हुए बिना परदुःखनिवारणकी इच्छारूप कृपा ही उत्पन्न नहीं हो सकती। जिसके पैरमें काँटा चुभा है, वही वैसी वेदना प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं करता । जिसे व्यथाका बोध नहीं हुआ है, वह कभी उस विषयको नहीं जान सकता । जिस मध्यम भक्तने संसारदशामें दुःखभोग किया है, वही सिद्धदशामें पहलेके दुःखको स्मरण करके बहिर्मुख जीवोंके दुःखसे व्याकुल हो जाता है और श्रीभगवान्‌से वैसे बहिर्मुखी जीवोंके लिये प्रार्थना करता है। इस प्रकार साक्षात् सम्बन्धमें, भक्तिप्राप्तिके विषयमें साधुकृपा ही मुख्य है, भगवत्कृपा गौण है । क्योंकि साधुकृपाको द्वार बनाकर भगवान्‌की कृपा आगमन करती है । इस प्रकारके बहुत-से विचार सन्दर्भग्रन्थमें देखे जाते हैं । अतएव यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि साधुकृपा ही ब्रह्मज्ञान या भगवदनुभूतिका प्रधान कारण है।

* * *

त्रिगुणमय जगत्

(रचयिता—स्वर्गीय राजा श्रीअजितसिंहजी बहादुर खेतड़ी-नरेश)

समुझो, त्रिगुण हि जग उपजावै ।
प्रकृति-पुरुष दो गुण-संगति बिन,
तनक न वस्तु उपावै ।
समुझो, त्रिगुण हि जग उपजावै ॥ १ ॥
आतम एक अखंड एकरस,
गुण तौ भिन्न लखावै ।
'अजित' ताहि लखि लै जो कोई,
ब्रह्मरूप ह्वै जावै ।
समुझो, त्रिगुण हि जग उपजावै ॥ २ ॥

तन्त्रोक्त ज्ञानयोग

(लेखक—श्रीश्यामानाथजी शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य)

अनेक लोगोंकी धारणा है कि तन्त्रमें ज्ञानयोग तथा ब्रह्मोपासनाका उपदेश नहीं है, केवल काली, शिव, शक्ति, आदि सगुण ब्रह्मकी उपासनाविधि ही है। ऐसी परिस्थितिमें, तन्त्रोक्त ज्ञानयोग तथा ब्रह्मोपासनाके सिद्धान्तोंको व्यक्त करना अनुचित न होगा। तन्त्राचार्य योगिराज महादेवजीने कहा है—

निद्राभीमैथुनाहाराः सर्वेषां प्राणिनां समाः ।
ज्ञानवान् मानवः प्रोक्तो ज्ञानहीनः पशुः प्रिये ॥

'आहार-निद्रा-भय-मैथुनादिका ज्ञान पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि सभी प्राणियोंको है, परन्तु आत्मज्ञान केवल मनुष्यको ही होता है। जो मनुष्य दुर्लभ मानवजीवन लाभकर आत्मज्ञान प्राप्त नहीं करता वह पशुतुल्य ही है।' जो व्यक्ति ब्रह्मज्ञानसम्पन्न है, वही 'मनुष्य' शब्दको सार्थक करता है, वही मनुष्य कहलानेके योग्य है। प्राचीन कालमें इस ज्ञानके अनुसन्धानके लिये अनेकविध तपस्याएँ की जाती थीं। इसे प्राप्तकर मनुष्य त्रिकालदर्शी बनते थे। श्रुति कहती है—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

'इस सच्चिदानन्द ब्रह्मको जाने बिना कोई मृत्युके ग्राससे नहीं बच सकता। इसके जाननेसे ही चिरशान्ति प्राप्त होती है।' महानिर्वाणतन्त्रमें कहा है—

ब्रह्मादितृणपर्यन्तं मायया कल्पितं जगत् ।
सत्यमेकं परं ब्रह्म विदित्वैवं सुखी भवेत् ॥

'यह चराचर जगत् मायाके द्वारा कल्पित किया गया है। वास्तवमें यह मिथ्या है। सत्य तो एकमात्र परब्रह्म ही है।' वेदान्तदर्शनमें भी यही कहा है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येति।' ईश्वरने स्वीयभावसे बाह्य होकर इस विश्वकी सृष्टि की है—

मायी सृजति विश्वं सन्निरुद्धस्तत्र मायया ।

एकमात्र सत्य ब्रह्मको ही जानकर साधक सदाके लिये सुखी होते हैं। मुक्तिकी इच्छा कर ब्रह्मको जाननेके लिये वे ज्ञानयोगका अभ्यास करते हैं। शास्त्रोंके उपदेशानुसार सद्गुरुके पास रहकर विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा और श्रद्धा-समाधानादि षट्सम्पत्ति और साधनचतुष्टयसे सम्पन्न होकर वे ब्रह्मज्ञानके अधिकारी होते हैं। तन्त्रशास्त्रका उपदेश है कि जबतक साधक अधिकारी न हो तबतक भेदज्ञान दूर नहीं होता और न अद्वैतभावसे निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाकी योग्यता होती है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

तत्त्वज्ञान होनेपर मायाका बन्धन, शास्त्र-गुरु-वाक्यमें संशय तथा भेदज्ञानादि दूर हो जाते हैं। इस श्रुतिवाक्यका आदर करते हुए तन्त्रशास्त्र उपदेश करते हैं—

तत्त्वं ज्ञानात्परं नास्ति नास्ति देवः सदाशिवात् ।
ज्ञानात्परतरं नास्ति नास्ति नास्ति वरानने ॥
लब्ध्वा हि तत्त्वं परमं मुच्यते देहबन्धनात् ।
संसारोत्सारणे जन्तोरुपायो ज्ञानमेव हि ॥

इस दुस्तर संसारसागरको पार करनेके लिये ज्ञानरूपी नाव ही एकमात्र उपाय है। ज्ञान दो प्रकारके हैं—परोक्षज्ञान और अपरोक्षज्ञान। अपरोक्षज्ञान सूक्ष्मज्ञानको कहते हैं। इसके द्वारा जीवकी बाह्य विषयमें भेदबुद्धि दूर होती और समस्त पदार्थोंमें एक परम सत्ताकी ओर दृष्टि निबद्ध हो जाती है। सामान्य बुद्धिसे यह नामरूपात्मक जगत् सत्यरूपमें प्रतिभासित होता है। इससे मिथ्या जगत्के सांसारिक कर्ममें जीव बद्ध हो जाता है। 'संकल्पसम्भवो बन्धः'—जगत्को नित्य मानकर विषयवासनाके संकल्पसे जीव जन्म-मृत्युके पाशमें बँध जाता है। इस बन्धनके उच्छेदके लिये ब्रह्मविद्याका अनुशीलन प्रयोज्य होता है। 'प्राणतोषणी' तन्त्रका वाक्य है—

अविद्यानाशिनी विद्या विद्या विद्याविवर्द्धिनी ।
ब्रह्मविद्यासमं ज्ञानं नास्ति नास्ति कदाचन ॥

श्रुति भी कहती है—'विद्ययामृतमश्नुते।' इस ब्रह्मविद्याके अभ्याससे चित्तशुद्धि होती है। चित्त शुद्ध तथा बुद्धि निर्मल होनेपर जीव यह भलीभाँति समझ जाता है कि बन्धन और मोक्षका कारण क्या है। श्रुति कहती है कि जो ब्रह्मविद्याके बलसे परविज्ञानसम्पन्न होते हैं वे ही परम पद प्राप्त करते हैं— 'यस्तु विज्ञानवान् भवति।' महाविज्ञानतन्त्रमें कहा है—

आत्मा साक्षी विभुः पूर्णः सत्योऽद्वैतः परात्परः ।
देहस्थोऽपि न देहस्थो ज्ञात्वैनं मुक्तिभाग्भवेत् ॥

वास्तवमें मेरे बन्धन और मोक्षका तो कोई विषय ही नहीं है। मैं तो साक्षीस्वरूप, निर्लिप्त, सनातन अद्वैत पुरुष हूँ, शरीरस्थित होते हुए भी शरीरसे निर्लिप्त हूँ। इस प्रकार तत्त्वज्ञान होनेपर जीव मुक्त होता है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा जब सदा मुक्तस्वरूप है तो फिर उसकी मुक्ति कैसी ! इसके उत्तरमें 'प्राणतोषणी' तन्त्रका यह दृष्टान्त है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।

आत्मा इस शरीररूपी रथका रथी है। यह साक्षी-स्वरूप आत्मा तो रथका स्वामी है। ब्रह्मविद्यासम्पन्न विवेकी पुरुष कहते हैं कि शरीर, इन्द्रिय और मन, बुद्धि, अहंकारादिसे युक्त हो जानेके कारण मुक्त आत्मा भी बन्धनमें पड़ा हुआ-सा दीखता है। इन बन्धनोंका छूटना ही उसकी मुक्ति है। इन बन्धनोंसे मुक्ति पानेके लिये उत्तम मार्ग निवृत्तिका है। कामनापूर्ण याग-यज्ञादि कर्म प्रवृत्तिमार्गके हैं। उससे बन्धन और भी दृढ़ होते हैं। इसलिये कहा है—

न मुक्तिर्जपनाद्धोमादुपवासशतैरपि।
ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा मुक्तो भवति जीवभृत्॥

सदामुक्त आत्मा मायाशरीरमें बद्ध होनेपर भी जब इन्द्रियोंकी परतन्त्रता दूरकर स्ववश होता है—'शिवोऽहम् सच्चिदानन्दस्सोऽहम्' ऐसा बोध करता है-तभी मुक्त होता है। शत-सहस्र बार जप और होमादि काम्यकर्म करनेसे भी मुक्ति नहीं प्राप्त होती। शैवागममें तत्त्वज्ञानार्थी साधकको उपदेश किया गया है—

अहं ब्रह्म न चान्योऽस्मि मुक्तोऽहमिति भावयेत्।

मैं नित्यमुक्त ब्रह्म ही हूँ, अन्य नहीं हूँ, ऐसी भावना करनी चाहिये। जन्म-यौवन-वार्धक्यादि अवस्था शरीरकी हैं, आत्माकी नहीं। आत्मा तो सदैव एकरूप है, उसमें कुछ भी भिन्नता नहीं है। केवल अविद्याके—मायाके आवरणसे आवृत बुद्धि इस सत्य तत्त्वको नहीं देख पाती।

गन्धर्वतन्त्रका वचन है—

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः।
एकः संभिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः॥

आत्मा एक है। केवल मायासे उत्पन्न भ्रान्त दृष्टि भिन्न-भिन्न आत्मा देखती है। भेद औपाधिक है, तात्त्विक नहीं। जैसे कि आकाश एक ही है पर मठमें मठाकाश और घटमें घटाकाशके रूपमें बोध होता है, वैसे ही एक ही आत्मा चराचर जगत्में व्याप्त है।

यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येवाभिपश्यति।
सर्वभूतस्थमात्मानं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

सारांश यह कि ज्ञानमार्गी साधक तत्त्वविचारके द्वारा बुद्धि निर्मलकर, उस बुद्धियोगसे समस्त भूतोंको अपनेमें देखता है। तन्त्रका ही सिद्धान्त है—

ब्रह्माण्डे ये गुणाः सन्ति पिण्डमध्ये च ते स्थिताः।

'ब्रह्माण्डमें जो गुण हैं वे पिण्डमें भी स्थित हैं।' समस्त भूतोंमें जो चेतनशक्ति है वही पिण्डमें भी है। इसीलिये साधकगण समस्त भूतोंमें आत्मस्थ आत्माको देखते हुए समदर्शी हो जाते हैं। छोटे-बड़ेका भेदज्ञान जब नहीं रह जाता, जब अहंकारकी वृत्ति दूर हो जाती है,तभी ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है; तब वह साधनाकी उच्चावस्थामें पहुँच जाता है, एकमात्र ब्रह्मके चिन्तनमें तन्मय हो जाता है। उस समाधि-अवस्थामें मनकी बाह्य वृत्ति नितान्त रुद्ध हो जाती है। तब वह ज्ञानयोगी समाधिस्थ साधक कैवल्य अवस्थाको प्राप्त करता है। एकमात्र ब्रह्ममें मन-बुद्धि-अहंकारादि समस्त तत्त्वोंको लीन कर देता है। इस कैवल्य समाधिरूप ज्ञानालोकसे स्वरूपप्रत्यय होकर ब्रह्मविज्ञानकी उपलब्धि हो जाती है। यह तन्त्रका महावाक्य है—

केवलं ब्रह्मविज्ञानं जायतेऽसौ तदा शिवः।
तस्माद्विज्ञानतो मुक्तिर्नान्यथा भावकोटिभिः॥

'ब्रह्मविज्ञानसे ही साधककी मुक्ति होती है, अन्य किसी ज्ञानसे नहीं।' ब्रह्मविज्ञानरूप अग्नि सञ्चित-क्रियमाणादि समस्त कर्मोंको जला देती है। ज्ञानयोगीको देहाभिमान रह ही नहीं सकता। मन इतना स्वच्छ हो जाता है कि बाह्य वस्तुकी ओर जानेपर भी 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' सदैव निर्लिप्त रहता है।

ब्रह्माग्निमें समस्त कर्मका हवन करनेके लिये साधक नित्य ब्रह्मोपासना करता है। अन्तर्यागविधानक्रमसे उपासना करनेकी विधि सद्गुरुसे जाननी चाहिये। ब्रह्मोपासक साधक इस मन्त्रके उच्चारणके साथ-साथ ब्रह्मका ध्यान करते हैं—

हृदयकमलमध्ये निर्विशेषं निरीहं
हरिहरविधिवेद्यं योगिभिर्ध्यानगम्यम्।

जननमरणभीतिध्वंसि सच्चित्स्वरूपं
सकलभुवनबीजं ब्रह्म चैतन्यमीडे ॥

इस मन्त्रसे ध्यान करनेके पश्चात् ज्ञानयोगी साधक इन तत्त्वोंके उपचारसे ब्रह्मपूजन करते हैं—

गन्धं दद्यान्महीतत्त्वं पुष्पमाकाशमेव च ।
धूपं दद्याद्वायुतत्त्वं दीपं तैजसमर्पयेत् ॥
नैवेद्यं तोयतत्त्वेन प्रदद्यात् परमात्मने ।
ततो जप्त्वा महामन्त्रं मनसा साधकोत्तमः ॥

बाह्यपूजामें देवताका आवाहन-विसर्जन किया जाता है, परन्तु ब्रह्मोपासनामें आवाहन-विसर्जन नहीं है । ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिमें तो ब्रह्म सर्वत्र सदा व्यापक है, उसका विसर्जन कैसे हो सकता है ? सब समय सब अवस्थाओंमें ब्रह्मोपासना की जा सकती है ।

त्रैतवाद

(लेखक—प्रो० श्रीमदनमोहनजी विद्याधर)

(१)

संसारमें अनादि नित्य पदार्थ कितने हैं, इस विषयपर अनादिकालसे विवाद चला आ रहा है । मानवजातिके उपलब्ध इतिहासमें इस विवादके लिये सैकड़ों उदाहरण प्राप्त होते हैं । प्राचीन भारत तो दार्शनिक विषयोंके विवादोंकी केन्द्रस्थली रही है । जितने दार्शनिक सम्प्रदाय इस भारत-भूमिने पैदा किये हैं, उनसे कहीं कम अवशिष्ट संसारमें उत्पन्न हुए हैं । प्राचीन ग्रीक तथा मिश्री इन दोनों जातियोंके विद्वानोंके सामने यह प्रश्न उपस्थित था । प्रकृतिसे संसारकी व्याख्या करनेवालोंके सामने भी जब सांसारिक व्यवस्थाके अटल नियमोंका क्रम आता है तो वे भी सन्देहमें पड़कर इस विषयपर विचार करना प्रारम्भ कर देते हैं । संसार किस प्रकार चल रहा है ? यह है क्या ? इसे कौन चला रहा है ? कहीं यह स्वयं ही तो स्वभावतः नहीं चल रहा है ? यह सब लोकव्यवहार क्योंकर चल रहा है ? इन सब प्रश्नोंकी गुत्थी सुलझानेका सीधा एवं सरल केवल एक ही मार्ग है और वह यह है कि हम, संसारकी व्याख्या जिनसे हो सकती हो ऐसे पदार्थोंका पता चला लें । इस ब्रह्माण्ड (जगत्यां जगत्)में एक ही पदार्थ है, या दो हैं या तीन, इस विषयपर सभी भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके दार्शनिकों एवं विद्वानोंने लेखनी उठायी है । कई विद्वानोंके मतसे संसारमें अनादि नित्य पदार्थ केवल एक है, कइयोंके विचारमें दो हैं और कइयोंकी सम्मतिमें तीन अनादि नित्य पदार्थ हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति ।

प्रस्तुत निबन्धमें हमें यही देखना है कि इन तीनों मतोंमेंसे कौन-सा मत युक्तियुक्त तथा हृदयग्राही है । संसारमें इन तीनोंकी पृथक्-पृथक् सत्ता है या इन तीनोंमेंसे किन्हीं दोकी है (और तीसरा उन्हीं दोमें किसीके या दोनोंके अन्तर्गत है) अथवा इन तीनोंमेंसे किसी एककी सत्ता है ।

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायमें 'प्रकृति'की सत्ताके विषयमें उतना वादविवाद नहीं, जितना 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' के सम्बन्धमें है । वेदान्तियोंके मतमें तो सभी मिथ्या है—क्या प्रकृति, और क्या जीव । वे एकमात्र ब्रह्मकी ही सत्ता मानते हैं ।

परन्तु वेदान्तियोंको छोड़कर अधिकांश दार्शनिकोंने प्रकृतिको तो मान ही लिया है ।

(२)

अद्वैतका दूसरा अभिप्राय यह है कि संसारमें केवल एक ही सत्ता है । उसीसे संसारकी व्याख्या की जा सकती है । कइयोंके मतमें वह चेतन है और कइयोंके मतमें अचेतन । केवल प्रकृतिको माननेवाले प्रकृतिवादी (Materilist) भी अद्वैतवादी ही हैं । केवल विचार (Idea) माननेवाले कांट आदि विचारवादी (Idealist) भी हमारे मतमें अद्वैतवादी ही हैं ।

इस प्रकार 'अद्वैत' शब्दको हम यहाँपर इसी अर्थमें प्रयुक्त करेंगे कि जो कोई किसी भी एक पदार्थकी सत्तामें विश्वास करता है (चाहे वह एक पदार्थ ब्रह्म हो या जीव हो या प्रकृति) वह अद्वैतवादी है । साधारण तौरपर 'अद्वैत' शब्द कानमें पड़ते ही श्री १०८ आद्यगुरु शंकरस्वामीके वेदान्तका बोध होता है । परन्तु हम इसका 'किसी भी एक सत्तामें विश्वास' इस पारिभाषिक अर्थमें प्रयोग करेंगे ।

(३)

सबसे पूर्व हमें इस विषयमें वेदका मत देखना चाहिये। क्योंकि वेदकी प्रामाणिकता एवं श्रेष्ठता संसारके सभी विद्वान् स्वीकृत करते हैं। श्रीशङ्कराचार्यजीने भी अपने वादके पोषणमें 'श्रुतिप्रामाण्य' को मुख्य स्थान दिया है।

अतएव सबसे पूर्व हमें यह देखना चाहिये कि वेदमें इस अद्वैतवादका किस प्रकारसे वर्णन है। वेदका पढ़नेवाला विद्यार्थी यह अच्छी तरहसे जानता है कि वेदमें प्रकृतिका वर्णन स्थान-स्थानपर है (देखो नासदीय सूक्त)। परन्तु विचारना यह है कि क्या वेदमें भी 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है या वहाँपर इन दोनोंकी पृथक् सत्ता मानी गयी है। वेदने तो 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' से स्पष्ट ही दो (जीव तथा ब्रह्मकी पृथक्ता) का वर्णन किया है। इसपर भी इस विषयके हम दो प्रमाण पेश करते हैं जिनसे अद्वैतका पथ पुष्ट-सा होता प्रतीत होता है।

यजुर्वेदके—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥
(४०। १७)

तथा—

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
(अथर्व० ११। ८)

इन दो मन्त्रोंसे कुछ-कुछ जीव-ब्रह्मकी एकताका आभास होता है। परन्तु यदि हम वैदिक पद्धतिसे प्रकरण-सम्मति-पुरस्सर इन मन्त्रोंका अर्थ करें तो सर्वथा इसके विपरीत अर्थ झलकता है।

प्रथम मन्त्रका अर्थ यह है कि 'मैं ही वह हूँ जो आदित्यमण्डलमें पुरुष है।' अर्थात् जो शक्ति सूर्यमण्डलको चला रही है उसे मेरी ही समझो; या मैं वही हूँ, ऐसा समझो। यहाँपर पुरुष शब्द परमेश्वरवाची है। जैसा कि पुरुषसूक्तके—

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' तथा—
पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।

—आदि मन्त्रोंसे सिद्ध है। दूसरी बात यह है कि इसी अध्यायके प्रथम मन्त्रमें 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' ऐसा कहा। अर्थात् जीवात्माको कहा गया है कि परमेश्वरका उच्छिष्ट खाओ। तेन (परमात्मना) त्यक्तेन (उच्छिष्टेन) भुञ्जीथाः (हे जीवात्मानः यूयं भोगं कुरुथ)।

दूसरे मन्त्रके विषयमें अब कुछ कथन करते हैं। इस मन्त्रका स्पष्ट तथा सीधा अर्थ यह है कि इस कारणसे कि मनुष्यमें सभी देवोंने प्रवेश किया है, विद्वान् इस पुरुषको ब्रह्म करके जानते हैं। 'पुरुषको ब्रह्म करके जानते हैं' इस वाक्यका अभिप्राय यह है कि परमेश्वरसदृश जीवात्माको जानो। यदि ऐसा न हो तो 'द्वा सुपर्णा' आदि मन्त्रोंको इस मन्त्रसे कैसे संगति बैठेगी? यदि इस मन्त्रका अर्थ जीवब्रह्मैकत्वपरक होगा तो वेदमें विरोध-दोषको मानना पड़ेगा। इस विरोधपरिहारके लिये इसका अर्थ 'उस जैसा' यह करना चाहिये और यहाँपर तात्स्थ्योपाधि माननी चाहिये। इसकी पुष्टिके लिये हम उपनिषद्से एक कथा उद्धृत करते हैं।

'देवोंने मिलकर परमेश्वरसे कहा कि हमारे लिये एक शरीर बनाओ। बहुत-से शरीर परमेश्वरने बनाये, परन्तु देवोंको वे पसंद न आये। आखिर मनुष्यदेह बनी। इसे देखते ही सब एक साथ चिल्ला उठे कि 'अयं नो बत सुकृतेति' अर्थात् यह शरीर हमारे लिये बहुत अच्छा बना है। इसके बाद—

अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्। दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्। ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्। चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्। मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्। आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशत्।

(ऐतरेयोपनिषद् ३। ४)

—इस प्रकार सब देव उस शरीरमें प्रविष्ट हो गये। ऐसा ही वर्णन वेदमें भी आया है—

अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्।
रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥२९॥
या आपो याश्च देवता या विराट् ब्रह्मणा सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः॥३०॥
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये॥३१॥

'.........'इस प्रकार देव पुरुषके शरीरमें प्रविष्ट होने लगे। जल तथा अन्य देवता और ब्रह्मके साथ वर्तमान जो विराट् है वह इन सबके साथ ब्रह्मशरीरमें प्रविष्ट हो गया।

उस शरीरका अधिष्ठान प्रजापति करता है। सूर्य चक्षु बन, वायु प्राणका रूप धर······उस शरीरमें रहने लग गये। तदनन्तर इससे भिन्न आत्माको देवोंने अग्निके लिये दिया।' इन्हीं मन्त्रोंके आगेका मन्त्र—

'तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते'—है।

क्योंकि उपर्युक्त वेदमन्त्रोंमें यह प्रतिपादित किया गया है कि इस पुरुषमें सब देव गोशालामें गौओंकी तरह निवास करते हैं, अतएव इस पुरुषको विद्वान् लोग ब्रह्म मानते हैं। अभिप्राय यह है कि जीव तथा ब्रह्ममें यह समानता है कि इन दोनोंके आश्रयसे देव रहते हैं। मनुष्यके आश्रयसे देवोंका निवास करना तो उपर्युक्त मन्त्रों तथा इसी सूक्तके—

गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्।

(अथर्व० ११।८।१८)

—से स्पष्ट ही है। परमेश्वरके आश्रयसे देवोंका निवास होता है, इसके लिये निम्न प्रमाण ध्यान देने योग्य हैं—

(१) **तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवाः**
वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः।

(२) **यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः।**
(ऋ० १।१६४।३९)

(३) **यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः।**
(अथर्व० १०।७ सूक्तके १३, २७ तथा २३ मन्त्र)

(४) पुरुषसूक्त वेदका एक अति प्रसिद्ध सूक्त है। उसमें पुरुष नामसे भगवान्‌की स्तुति की गयी है। उसमें भी 'चन्द्रमा मनसो जातः' आदि प्रमाण इसी पक्षकी पुष्टि करते हैं।

हमें साथ-ही-साथ यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि यद्यपि देव ही दोनोंमें प्रविष्ट हैं तथापि उन दोमेंसे एक तो मर्त्य (अथर्व० ११।८।१८) है और दूसरा अजर, अमर, नित्य, शुद्ध, बुद्धस्वरूप है।

ऊपर दिये गये मन्त्रोंसे यह तो स्पष्ट ही हो गया है कि आत्मा तथा परमात्मामें देवोंका आश्रयसे रहना सादृश्य है, इसलिये यहाँपर तात्स्थ्योपाधिके कारण इस आत्माको सिंहो माणवकःके समान 'ब्रह्म' नाम दिया जाता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि आत्मा और परमात्मा भिन्न नहीं है; अपितु जिस प्रकार 'सिंहो माणवकः' में सिंह और मनुष्यके भिन्न-भिन्न होते हुए भी उनके एकत्वका प्रतिपादन किया जाता है, ठीक उसी प्रकार यहाँपर समझना चाहिये।

यदि हम ब्रह्म और जीवको एक मान लें तो वेदके सिद्धान्तोंमें परस्पर विरोध आता है और वेदमन्त्रोंकी आपसमें सङ्गति नहीं बैठती। यजु० ३२ अध्यायमें 'न तस्य प्रतिमास्ति'; ऋ० ६।१८।१२ में 'नास्य शत्रुर्न प्रतिमानमस्ति'; यजु० ४०।८ में 'अकायम्' तथा ३४।५३ में 'अज एकपात्' इत्यादि वचनोंसे उसका न उत्पन्न होना स्पष्ट सिद्ध है। उत्पन्न कौन होता है? शरीररूपमें प्रविष्ट जीव। अथर्व० २०।३६।१ में 'ये एक इद्धव्यः चर्षणीनाम्' में चर्षणी अर्थात् मनुष्य तथा हवन किये जानेवाले परमात्माका स्पष्ट ही भेद प्रतिपादन किया गया है, इसी प्रकार 'स जना स इन्द्रः' (हे मनुष्यो! वह इन्द्र है) इससे भी हमारा मत ही पुष्ट होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वेदने 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' के सिद्धान्तका प्रतिपादन न करते हुए स्पष्ट ही तीन अनादि नित्य पदार्थ माने हैं—ईश्वर, जीव तथा प्रकृति।

परन्तु कइयोंका ऐसा विचार है कि उपनिषद् इस सिद्धान्तका पोषण करते हैं। इसके लिये वे कई प्रमाण दिया करते हैं। हम अब क्रमशः उनका सम्यग्विवेचन करनेका प्रयत्न करते हैं।

(क) 'अहं ब्रह्मास्मि'

पूर्वपक्षीका कथन है कि यहाँ तो स्पष्ट ही जीव-ब्रह्मकी एकताका प्रतिपादन है। परन्तु यदि हम गम्भीर दृष्टिसे इसे देखें तो इसका यह स्पष्ट प्रतीयमान अर्थ गलत साबित हो जायगा।

(अहम्) मैं जीवात्मा (ब्रह्म=ब्रह्मणि) ब्रह्मस्थ (अस्मि) हूँ। यहाँपर तात्स्थ्योपाधि है और इसी कारण ऐसा अर्थ किया जाता है। 'मञ्चाः क्रोशन्ति, दण्डान् प्रवेशय, गङ्गायां घोषः, सिंहो माणवकः' आदिके समान ही यहाँपर एकत्वका बोध करना चाहिये। इसपर कोई यह कहे कि ब्रह्मस्थ ('पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्') तो सभी पदार्थ हैं, पुनः जीवको विशेषरूपसे ब्रह्मसदृश या ब्रह्मस्थ कहनेका क्या प्रयोजन? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि सब पदार्थ ब्रह्मस्थ हैं तथापि जैसा साधर्म्ययुक्त निकटस्थ जीव है वैसे अन्य नहीं हैं। जीव ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके मुक्तिमें साक्षात् सम्बन्धद्वारा ब्रह्मके साथ रहता है। इसीलिये तात्स्थ्य सम्बन्धके कारण आत्माके लिये 'ब्रह्मस्थ' शब्दका प्रयोग है।

इसका अर्थ दूसरे प्रकारसे भी कर सकते हैं। लोकमें 'तुम्हारा अभिन्नहृदय मित्र' तथा 'दो तन एक प्राण' यह मुहावरा प्रायः सुना जाता है। हृदय तो भिन्न ही होते हैं, परन्तु अधिक प्रेमके कारण वे ऐसा ही समझते हैं—'वह और मैं तो एक ही हैं'। इसी प्रकार एक समाधिस्थ योगी भक्त भी प्रेममें मस्त 'अहं ब्रह्म एवास्मि' का मधुर सङ्गीत गाता है। प्रेमके अतिशयमें जीव और परमेश्वर अद्वैत रूपमें हैं—अभिन्नहृदय हैं। रामायणमें जनकका नाम सदेह होते हुए भी विदेह है। क्या सचमुच वह विदेह था? नहीं, शरीरसे मोह न करनेके कारण ही उसे विदेह कहा जाता था। इसी प्रकार यहाँ भी अतिशय प्रेमके कारण प्रेमी भिन्न होते हुए भी अभिन्न कहाते हैं। महाभारतमें श्रीकृष्णने अपना प्रेम प्रदर्शित करते हुए अर्जुनसे कहा है कि मैं और तू दो शरीर होते हुए भी एक हैं, क्योंकि हमारे हृदय एक हैं। इसीलिये जो तेरा मित्र है वही मेरा मित्र है और जो तेरा शत्रु है वही मेरा भी शत्रु है। इसी प्रकार भक्तके लिये प्रभु तत्सदृश ही हैं।

(ख) 'तत्त्वमसि'

पूर्वपक्षी दूसरा प्रमाण यह दिया करते हैं—(तत्) वह ब्रह्म (त्वमसि) हे जीव! तू है। यहाँपर 'ब्रह्म' पद कहाँसे आया, ऐसा प्रश्न होनेपर वे छान्दोग्यके 'सदेव सोम्येदमग्रमासीत् एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म' इस वचनको पेश करते हैं। परन्तु छान्दोग्यमें ऐसा पाठ है ही नहीं। वहाँ तो ···आसीत् (छा० १। २। १) तक ही पाठ है। तो फिर 'तत्' का क्या अर्थ है? इसके लिये छान्दोग्यके निम्न वचनोंको ध्यानमें रखना चाहिये—

छान्दोग्यमें ही लिखा है—

अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायां, स य एषोऽणिमा; ऐतदात्म्यमिद ँसर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।
(६। ८। ६-७)

अर्थात् 'हे सोम्य श्वेतकेतो! इस मरते हुए पुरुषकी वाणी मनमें, मन प्राणमें, प्राण तेजमें, और तेज उस परदेवतामें लीन हो जाता है। (यहाँपर परदेवता कौन-सा है—आत्मा या परमात्मा, इस सन्देहके निवारणार्थ स्वयं उपनिषत्कार ही आगे कहते हैं कि) वह जो अणु परिमाणवाला आत्मा है (न कि परमात्मा, क्योंकि यह तो सबमें विद्यमान है) यह सारा शरीर 'ऐतदात्म्यम्'—उस आत्मावाला है। इसलिये 'तत्सत्यम्' (वह आत्मा सत्य—अर्थात् नित्य सत्तावाला, मरणरहित है)। वही आत्मा तू है, न कि यह पञ्चभूतोंका शरीर—आवरण तू है।'

इस प्रकार इसका यह अर्थ हुआ कि 'तू उस आत्मावाला इस आत्मासे युक्त है। जो वस्तु जिससे अधिक सूक्ष्म होती है, वह उसमें समा सकती है।' दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि वह उसका आत्मा है। इसीलिये सूक्ष्मात्मा परमात्माका शरीर हमारा यह आत्मा है। इसलिये 'तत्त्वमसि' का 'तदात्मकस्तदन्तर्यामी त्वमसि' ऐसा अर्थ है, इसीकी पुष्टिके लिये बृहदारण्यकका एक मन्त्र उपस्थित करते हैं—

य आत्मनि तिष्ठन्, आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद। यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।

'जो परमेश्वर आत्मामें ठहरा हुआ आत्मासे भिन्न है, उसको यह आत्मा नहीं जानता और जिस परमेश्वरका आत्मा शरीर है, वह आत्माके अंदर है तथा आत्माका नियमन करता है, अन्तर्यामी है, अमृत है।' ऐसे उस प्रभुको तू जान। इसीलिये हमने 'तदात्मकस्तदन्तर्यामी' ऐसा अर्थ किया है।

(ग) 'अयमात्मा ब्रह्म'

'अयं आत्मा ब्रह्म एवास्ति' यह अर्थ पूर्वपक्षी करता है। परन्तु हमारे विचारमें इसका अर्थ 'यह आत्मा (परमेश्वर या जीव) ब्रह्म (ज्ञानी) है' यह है। या यह आत्मा (ब्रह्म) ब्रह्मस्थ है।

अभी हमने ऊपर तात्स्थ्योपाधिको जीव और ब्रह्मकी एकतामें कारण बताया है। 'सिंहो माणवकः' के समान ही यहाँपर इसका अर्थ यह हुआ कि 'अयमात्मा (ब्रह्म) ब्रह्मतुल्यः देवाश्रयसादृश्यात्।'

इस प्रकार हमारा मत यह है कि संसारमें तीन नित्य पदार्थ हैं। अबतक हमने केवल प्रमाणोंद्वारा ही इस मतका पोषण किया है। अब हम युक्ति (reason) द्वारा देखनेका प्रयत्न करते हैं, कौन-सा मत ठीक है।

(४)

इस समय संसारमें विद्वान् तीनोंको पृथक्-पृथक् सिद्ध करते हुए हमें दिखायी देते हैं। भारतवर्षमें प्रायः सभी दर्शनकार आत्माकी सत्ताको मानते हैं। बौद्ध नहीं मानते। कई ईश्वरसहित मानते हैं और कई ईश्वरके बिना। परन्तु प्रायः सभीने आत्माकी सत्तामें विश्वास किया है। फ्रेंच

विद्वान् फ्लेमेरियाँने आत्मसत्ताकी सिद्धिके लिये 'मृत्युका रहस्य' नामक एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण पुस्तक तीन जिल्दोंमें लिखी है। इसी प्रकार अन्य भी बहुत-से पाश्चात्य विद्वानोंने इस विषयपर प्रकाश डाला है। यही नहीं कि इस आत्माकी सत्तामें विश्वास इस नये युगकी देन है; परन्तु प्राचीन युगमें ही इस विश्वासका जन्म हो चुका था। भारतवर्ष, ग्रीस तथा मिश्र, तीनों देशोंके प्राचीन विद्वानोंने इस विषयमें बहुत कुछ लिखा है। इसमें अविश्वास तो विकासवाद, प्रकृतिवादादिकी प्रवृत्तिके कारण इस बीसवीं सदीमें किया जाने लगा था, परन्तु वह भी अब दूर हो रहा है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जीवात्माकी सत्ता भी है।

भारतीय दर्शनमें ईश्वरकी सत्ताकी सिद्धिके लिये बहुत-से ग्रन्थ हैं, पाश्चात्य विद्वानोंने भी इस विषयपर पर्याप्त प्रकाश डाला है और ईश्वरकी सत्तामें विश्वास किया है। प्राचीन-से-प्राचीन और असभ्य-से-असभ्य जातियाँ भी अपना शासन करनेवाली अपनेसे महान् एक पूर्णशक्तिमें विश्वास किया करती थीं और इस समय भी संसारका अधिकांश जनसमुदाय इस सत्तामें विश्वास करता है।

'प्रकृति' का तो यह युग ही है। सारा विज्ञान प्रकृतिकी सत्ता मानकर ही खड़ा है। प्रकृतिवादी तथा विकासवादी इसीके आश्रयसे अपने सिद्धान्तोंका प्रचार करते हैं। भारतीय दर्शनमें तथा उपनिषदोंमें भी इसकी स्पष्ट सत्ता हमें दृष्टिगोचर होती है।

प्रतीत ऐसा होता है कि 'प्रकृति, ईश्वर और जीवात्मा' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके एक-एक अध्यायको एक-एक श्रेणीके विद्वान् लिख रहे हैं। सत्ता तीनोंकी है। तीनोंकी सत्ता माने बिना संसारकी व्याख्या हो नहीं सकती। ये विद्वान् तो एक-एक पदार्थकी सिद्धि करते हैं। इस प्रकार तीनों ही पदार्थोंकी सिद्धि न चाहते हुए भी हो जाती है। तीनों समुदाय पृथक्-पृथक् तीनोंकी सिद्धि करते हैं। हमारी प्रथम युक्ति यही है।

(५)

संसारमें प्रत्येक चीजके तीन कारण होते हैं। उन्हें दार्शनिक परिभाषामें निमित्त कारण, उपादान कारण तथा साधारण कारण कहते हैं। कुम्हार घड़ेको बनाता है। इसमें निम्न लिखित क्रिया होती है। कुम्हार बनानेवाला है, मिट्टीसे वह बनाता है और मनुष्योंके लिये बनाता है। इनमेंसे यदि किसी एकको भी हटा दिया जाय तो घड़ा नहीं बन सकेगा। तो देखा क्या?—यही कि संसारमें कर्त्ता, कारण तथा उद्देश्य (सम्प्रदान) के बिना कोई भी वस्तु नहीं बनती। हम बिना किसी साधनके कोई भी कार्य नहीं कर सकते। यही नहीं, अपितु साधन तथा कर्त्ताके उपस्थित होते हुए भी यदि कोई प्रयोजन न हो तो भी हम किसी वस्तुको नहीं बनाते। संसारमें लकड़ी भी है और हम भी हैं। यदि मेज और कुर्सी तथा तख्त आदि काष्ठनिर्मित पदार्थोंकी आवश्यकता ही न हो तो इनसे कोई भी मनुष्य कोई वस्तु नहीं बनावेगा। अभिप्राय यह है कि संसारमें कोई भी वस्तु बिना उद्देश्यके नहीं होती। हमारी प्रत्येक क्रियाका कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य होता है। निरुद्देश्य कार्य संसारमें कभी भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

अब मान लीजिये, कर्त्ता भी है और उसे किसी वस्तुकी आवश्यकता भी है, परन्तु जिससे वह चीज बनती है वह वहाँ उपस्थित नहीं, तो उसका उद्देश्य—उसकी आवश्यकता कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती। आपको खिलौना बनाना है; परन्तु यदि काष्ठ नहीं है तो बताइये, कर्त्ता और उद्देश्यके होते हुए भी वह वस्तु बन क्यों नहीं जाती? कारण यही कि उस चीजके निर्माण करनेके लिये कुछ भी साधन नहीं।

कल्पना कीजिये, आपके पास कुल्हाड़ी और काष्ठ दोनों हैं, जलानेके लिये लकड़ीकी आवश्यकता भी है, पर आपको काटना नहीं आता। जबतक कोई लकड़हारा नहीं आता, आपकी आवश्यकता पूरी नहीं होती। कारण यह कि उद्देश्य और साधनके होते हुए भी कोई कर्त्ता वहाँ उपस्थित नहीं है।

मतलब यह हुआ कि कर्त्ता, साधन तथा उद्देश्य, तीनोंकी समानरूपसे आवश्यकता है। जबतक कुम्हार न हो, मिट्टी तथा मनुष्योंकी आवश्यकतारूपी साधन तथा प्रयोजन (उद्देश्य) के होते हुए भी घड़ा कभी नहीं बन सकता, मिट्टी तथा कुम्हारके होते हुए भी जबतक उसकी किसीको आवश्यकता नहीं, घड़ा नहीं बन सकता। कुम्हार मिट्टीसे घड़ा बनावे क्यों? यदि मिट्टी नहीं तो कुम्हार भी नहीं और घड़ेका नामोनिशान तो क्या, स्वप्नमें भी कभी ध्यान नहीं आ सकता।

संसार एक घड़ा है। परमेश्वर उसको बनानेवाला है, प्रकृतिरूपी मिट्टीसे वह उसे बनाता है और हम जीवात्माओंके हितार्थ रचता है। केवल परमेश्वर ही यदि हो तो वह किस पदार्थसे संसारको बनावे? और किस उद्देश्यसे बनावे? यदि परमेश्वर नहीं, प्रकृति और जीवात्मा ही हैं, तो भी प्रकृतिको अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्थामें कौन लावेगा?

अभिप्राय यह है कि इस प्रकार सर्गरचनाके लिये इन तीनोंकी सत्ताका मानना आवश्यक है, इन तीनोंकी सत्ताको माने बिना कार्य नहीं चलता। इन तीनोंमेंसे यदि एककी भी कमी हो तो वही संसारके न बननेमें पर्याप्त बाधक कारण है।

(६)

इस समय हम संसारको बना हुआ देखते हैं, प्रकृति अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्थामें है। जीवात्मा इस संसारमें साँस ले रहे हैं और प्रकृतिका अपने लिये उपयोग—उपभोग कर रहे हैं। भिन्न-भिन्न योनियोंमें गये जीवात्मा नाना प्रकारसे इस संसारमें कार्य कर रहे हैं। इतना तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसमें तो किसीको भी शङ्का नहीं करनी चाहिये। कई इस संसारको ही मिथ्या बतलाते हैं; परन्तु यदि यह सब दृष्टिगत संसार मिथ्या है, भ्रम है, तो इस प्रकार कहनेवाला हम नहीं समझते कि सत्य कैसे है? जब वह सत्य नहीं तो उसके वचनको कौन सत्य मानेगा?

अब यह बतलाइये कि इस संसारको इस अवस्थामें लाया कौन और क्यों लाया? यदि यह संसार अनादि, नित्य एव अनन्त है, तब तो यह प्रश्न उठता ही नहीं। परन्तु यह संसार सादि और सान्त है, क्योंकि हम प्रकृतिको परिवर्तनशील तथा विकारी पाते हैं। यदि कोई व्यवस्थापक नहीं तो मनुष्योंमें इतनी विषमता कैसे आ गयी? संसारमें कोई गरीब है, दूसरा अमीर है; एक स्वस्थ है, दूसरा सदा बीमार है; यह भेद क्योंकर? यदि 'कर्मसे' कहो तो दो बातें हो सकती हैं। प्रथम यह कि कर्म चेतन हैं और स्वयमेव फल पैदा कर लेते हैं। इसमें दोष यह है कि कर्म अपना फल अपने आप कैसे लेते हैं? और क्या सभीके कर्म पृथक्-पृथक् अपने फलोंका नियमन करते हैं या उनका कोई संघटन बना हुआ है? यदि पृथक्-पृथक्, तो संसारमें कर्मोंका वैविध्य हो जायगा अर्थात् कर्मका एकीकरण कभी न हो सकेगा; यदि संघटन है तो उसका मुखिया मानना पड़ेगा, इसके स्थानपर ईश्वर मानना ही अधिक अच्छा है। तीसरा दोष यह है कि कभी भी कर्मोंका फल बुरा न होगा, क्योंकि बुरा फल कौन लेना चाहेगा। प्रत्येक कार्य संसारमें किसीके प्रति उत्तरदायित्व रखनेके कारण होता है। कर्मोंका उत्तरदायित्व तो किसीपर भी नहीं। चौथा दोष यह है कि कर्म स्वयं कर्ता कैसे हो सकता है। क्या कभी लिखना भी लेखकरूपमें परिवर्तित हुआ है। यदि क्रिया ही बिना किसी अन्य चेतनके कार्य करनेमें समर्थ है तो लिखना स्वयं ही क्यों नहीं हो जाता? इन दोषोंके कारण कर्मकी चेतनता मानना ठीक नहीं प्रतीत होता।

यदि अचेतन मानें तो यह समस्या फिर वहीं-की-वहीं अटकी रह जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कर्मोंके फलदाताके रूपमें किसी-न-किसी नियामक शक्तिको मानना ही पड़ेगा।

संसारमें इतना व्यवस्थित कार्य चल रहा है। इसका निर्माण बड़े वैज्ञानिक ढंगसे हुआ है। मानवदेह एक आश्चर्यकी वस्तु है। विश्वमें अपने घरके सामने ही फूलोंकी क्यारियाँ खिल रही हैं यदि इनमें किसी भी प्रकारकी व्यवस्था नहीं है तो बतलाइये, क्यों सब फूल एक-से होते हैं? क्यों नहीं गेहूँके बीजसे सरसों फलती? इस प्रकारसे तत्त्वोंका रासायनिक समास किसने किया है? यह सूर्य किस प्रकार प्रतिदिन हमारे सामने नियमित रूपसे चल रहा है—यहाँतक कि हम भी इसके उदय तथा अस्तको, ऋतुओंके निर्माणको भलीभाँति जान लेते हैं। यह सारी कारीगरी किसी चतुर विश्वकर्माकी है।

इस प्रकार संसारके नियमन, व्यवस्था तथा कर्मफलप्रदानके लिये किसी शक्तिकी सत्ता मानना आवश्यक है।

जीवात्माकी आध्यात्मिक पिपासाकी शान्तिके लिये कोई स्रोत चाहिये। प्रकृति केवलमात्र उसकी भौतिक इच्छाओंको ही पूर्ण कर सकती है। स्तुति, प्रार्थना तथा उपासनाके लिये कोई चाहिये। वह परमेश्वर है। बच्चा रो रहा है, तड़प रहा है, उसे चुप करानेके लिये, प्यारसे गोदी भरनेके लिये किसी स्नेहमयी माँकी आवश्यकता है। बच्चेके खेलनेके लिये खिलौना चाहिये। ये ही तो जीव, ब्रह्म और परमेश्वर हैं। बाइबलमें कहा है कि मैं और मेरा पिता एक है। परन्तु मेरा पिता मुझसे बड़ा है। सचमुच यह पिता जीवात्माकी अपेक्षा महान् आनन्दमय, प्रज्ञानघन होना चाहिये। क्योंकि ऐसी कोई महाशक्ति ही जीवात्माकी इस पिपासाकी शान्ति कर सकती है। इस प्रकार तीनोंकी सत्ता अबाधितरूपसे माननी ही पड़ती है।

(७)

यदि इन तीनोंकी सत्ता है तो इनको गुणोंके अनुसार विभक्त करके निम्न कोष्ठकद्वारा दरसा सकते हैं—

परमात्मा	सत्	चित् (ज्ञान)	आनन्द
जीवात्मा	सत्	चित्	×
प्रकृति	सत्	×	×

इसीको गायत्री मन्त्रमें 'भूर्भुवः स्वः' इस रूपसे कहा गया है। यह 'भूर्भुवः स्वः' परमेश्वरका नाम है। इसमें 'भूः' से प्रकृति, 'भूर्भुवः' से जीवात्मा, और 'भूर्भुवः स्वः' से परमेश्वर-का बोध होता है। इसीका नाम 'ओ३म्' है।

इस उपर्युक्त कोष्ठकसे ज्ञात होता है कि—

(१) परमेश्वर सत् है अर्थात् उसकी सत्ता है। वह चित् है अर्थात् चेतन (ज्ञानी) है, साथमें आनन्दमय भी है। ऐसा मत हमारा ही नहीं, परन्तु संसारमें जितने भी ईश्वरवादी हैं उन सबका यही मत है।

(२) जीवात्मा सत् और चित् दोनों है, परन्तु आनन्दमय नहीं। यही कारण है कि इसे सर्वज्ञ न कहकर अल्पज्ञ ही कहा जाता है, आनन्द तो पूर्ण ज्ञान होनेके पश्चात् ही होता है। जीवात्मा आनन्दस्वरूप नहीं। इसीलिये मानना पड़ता है कि उसे पूर्ण ज्ञान भी नहीं। इसी कारण उसे सत् तथा चित् अर्थात् अल्पज्ञ माना गया है। जो भी जीवात्माकी सत्तामें विश्वास करते हैं वे सब ऐसा ही मानते हैं।

(३) प्रकृति सत् है अर्थात् उसकी सत्ता अवश्य है, परन्तु वह चित् अर्थात् चेतन नहीं है; जब चेतन नहीं, तब आनन्दस्वरूप तो हो ही कैसे सकती है? प्रकृतिको जड सभीने माना है।

(८)

अब हमें जरा और भी गहराईसे इस बातका विवेचन करना है कि इन तीनोंको अनादि तथा अनित्य मानें या एकसे भी कार्य चल सकता है। मुख्य झगड़ा प्रकृतिवादियों तथा ईश्वरवादियोंमें है।

प्रकृतिवादियोंका कहना है कि यह सारा खेल प्रकृतिका है। चेतन-अचेतन सब उसी प्रकृतिकी माया है। इसीका एक भाई विकासवादी है। वह कहता कि है एक कोष्ठकसे यह सारा संसार बन गया है। पहले अचेतन कोष्ठकसे वनस्पतिजगत् बना, फिर पशुजगत् बना, फिर उस पशुजगत्से मानवसृष्टि हुई। परन्तु पशुसे मनुष्य कैसे बना, इसकी कोई व्याख्या (Explanation) नहीं। विकासवादके संस्थापकोंमें प्रमुख वालेसने कहा है कि इस चेतन तथा अचेतन (सजीव तथा निर्जीव) के बीचकी खाड़ीको हम कैसे भरें? इसका उपाय अभीतक हमारे पास कोई नहीं। आप भी सोचिये कि इस अचेतन पदार्थसे यह चेतन पदार्थ बन कैसे गया?

आज संसारके प्रायः सभी विद्वान् कार्यकारणके नियमको मानते हैं। बिना कारणके कोई भी कार्य नहीं हो सकता। जो गुण कारणमें होते हैं वे कार्यमें अवश्य जाते हैं। यही कारण है कि सांख्यदर्शनमें सत्कार्यवादकी पुष्टि इसी सिद्धान्त-द्वारा की गयी है। कारणमें यदि उसके कार्यका बीज न हो तो कार्य नहीं होता। इसका यही अभिप्राय है कि कारणमें यदि कार्यके गुण अन्तर्हित न हों तो कार्य नहीं हो सकता। दूसरे शब्दोंमें यों भी कह सकते हैं—'कारणगुणपूर्वकं कार्यं दृष्टम्।' अभावसे भाव क्यों नहीं हो सकता? क्योंकि भावरूप कार्यके गुण अभावरूप कारणमें नहीं हैं। इसीलिये सत्से सत्की उत्पत्ति मानी गयी है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि यदि अचेतन कारणसे चेतन कार्यकी उत्पत्ति मानी जाय तो ऐसा हो नहीं सकता। क्योंकि अचेतन कारणमें चेतनताका धर्म नहीं। अचेतनका कार्य तो अचेतन ही होगा, चेतन नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अचेतनरूप प्रकृतिको माननेसे ही चेतनकी व्याख्या नहीं हो सकती।

दूसरी बात यह है कि इस जड प्रकृतिको प्रारम्भमें गति किसने दी, प्रकृतिके परमाणु आपसमें मिल कैसे गये? यदि इनका स्वभाव ही मिलनेका है तो मिले हुओंको पृथक् कौन करेगा? एक ही पदार्थमें दो विरोधी गुण नहीं रह सकते। अपने आप संयुक्त तथा फिर अपने आप वियुक्त होनारूप दो विरोधी गुण प्रकृतिमें एक साथ कभी भी नहीं रह सकते। इसलिये प्रकृतिमें गति देने तथा उसमें आयी हुई गति (Movement) को रोकनेके लिये किसी एक महाशक्तिकी आवश्यकता है जो सत् तथा चेतन हो। वह महाशक्ति परमेश्वर है। इसलिये प्रकृतिके साथ-साथ परमात्माकी भी आवश्यकता है।

यदि इन दोको मान भी लें तो फिर जीवात्माके मानने-की क्या आवश्यकता है? कई प्रकृतिवादी कहा करते हैं कि प्रकृतिसे ही जीवात्माके कार्योंकी व्याख्या की जा सकती है। अर्थात् मनुष्य (आत्मा-मन-इन्द्रियादि-संयुक्त पार्थिव देह) को प्रकृतिने बनाया ही इस प्रकारसे है कि उसके सब कार्योंकी व्याख्या हो सके। परन्तु हमारा यहाँ-पर यह कथन है कि प्रकृति जड शरीरकी तो व्याख्या कर सकती है परन्तु शरीरमें होनेवाले चेतनधर्मकी व्याख्या नहीं कर सकती। यदि मनुष्य अचेतनका कार्य है तो इसमें चेतनता-धर्म आ ही नहीं सकता। हम शरीरसे होनेवाले कई चेतनधर्म देखते हैं। इसलिये शरीरसे पृथक् एक आत्मा नामक पदार्थ मानना पड़ता है। इस प्रकृतिवादका खण्डन जेम्स नामक एक अत्यन्त प्रसिद्ध अमेरिकन दार्शनिकने

अपने 'धार्मिक अनुभवोंकी भिन्नता' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके पहले दो अध्यायोंमें बड़े जोरदार शब्दोंमें किया है। सुख-दुःख, अनुभव तथा विचारशक्तिकी व्याख्या प्रकृतिसे नहीं की जा सकती ।

भारतीय आयुर्वेदशास्त्री तो शरीरसे पृथक् परमेश्वर तथा जीवकी सत्ताको मानते ही हैं ।

फ्रेंच विद्वान् क्लेमेरियाँने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ (मृत्युका रहस्य) में इस बातपर विशेष प्रयत्नपूर्वक प्रकाश डाला है कि शरीरसे पृथक् एक आत्मा है । क्योंकि मनुष्यकृत कई ऐसे कार्य हैं जिनकी व्याख्या शरीरसे नहीं की जा सकती ।

शरीर ही यदि सबकी व्याख्या कर सकता हो तो 'शव' रूपसे पड़ा शरीर निष्क्रिय क्यों ? उसमेंसे ऐसी कौन-सी वस्तु चली गयी जिसके चले जानेसे शरीर निश्चेष्ट हो गया ? वही तो आत्मा था । कोई कह सकता है कि शरीर तो यन्त्र है । जब मशीन फेल हो गयी तो शरीरमें क्रिया भी बंद हो गयी। परन्तु यह तो सोचना चाहिये कि उस मशीनका सञ्चालक (Driver) कौन है। मशीन अपने-आप तो नहीं चलती । वही तो आत्मा है । यदि कोई कहे कि परमेश्वरने चला दी थी, और वही रोक देता है तो फिर सुख-दुःखादिरूप फल भी परमेश्वरको ही होना चाहिये । दूसरी बात यह कि परमेश्वर एक है, यन्त्र अनेक हैं । इन यन्त्रोंका वैविध्य परमेश्वरने क्यों किया ? क्योंकि यन्त्रोंका वैविध्य तो पाप-पुण्यके कारण है । क्या परमेश्वर भी पाप कर सकता है ?

इस प्रकार शरीरकी व्याख्याके लिये प्रकृतिसे पृथक् एक चेतन जीवात्माके माननेकी आवश्यकता अनुभूत होती है। प्रकृति चेतन शरीरकी व्याख्या करनेमें सर्वथा असमर्थ है ।

(९)

अबतक हमने यह प्रतिपादन किया कि केवल प्रकृतिको माननेसे ही संसारकी व्याख्या नहीं हो सकती । प्रकृतिके सञ्चालनके लिये एक जगन्नियन्ता तथा प्रकृति-उपभोगके लिये एक जीवात्माको मानना पड़ता है । मनुष्य संसारमें चलते-फिरते स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। 'यह कहाँसे आया ?' 'कैसे बना ?' आदि प्रश्नोंकी समुचित व्याख्या दे सकनेमें प्रकृति सर्वथा असमर्थ है । परन्तु कई कहते हैं कि अच्छा, चलो, यदि प्रकृति संसारकी व्याख्या नहीं कर सकती तो एक ब्रह्म तो कर सकता है । अब आइये केवल 'ब्रह्म' पर विश्वास रखनेवालोंकी तरफ ।

उनका कहना यह है कि संसारकी व्याख्याके लिये किसी एकको ही मानना चाहिये । क्योंकि यदि अधिक मानेंगे तो उनके सम्बन्धकी व्याख्या करनेके लिये फिर किसी एकको मानना पड़ेगा । परन्तु हमारा विचार यह है कि संसारकी पूर्ण व्याख्याके लिये यदि एक पर्याप्त हो तो एक, दो पर्याप्त हों तो दो और तीन हों तो तीन भी मानने चाहिये । नियम यही बनाना चाहिये कि संसारकी पूर्ण व्याख्या हो । संसारमें चेतन तथा अचेतन—द्विविध सृष्टि है। इसलिये इतना तो स्पष्ट है कि दो पदार्थ मानने चाहिये, इससे कम नहीं । यदि ये भी पूर्ण व्याख्या न कर सकें अर्थात् पर्याप्त कारण न हों तो एक और भी माना जा सकता है । इनके सम्बन्धके लिये किसी औरके माननेकी भी आवश्यकता नहीं । प्रथम तो यह कि इनका सम्बन्ध नित्य है। दूसरे यह कि यदि 'एक' पदार्थको केवल मात्र अनवस्थादोषसे बचनेके लिये, बिना किसी कारणके (Uncaused cause) माना जा सकता है, तो इन तीनोंमें भी नित्य सम्बन्ध क्यों नहीं माना जा सकता । अब देखना है कि संसारके पर्याप्त कारण कितने हैं। प्रकृति व्याख्या नहीं कर सकी तो क्या केवल ब्रह्म कर सकता है ?

फ्लिन्ट (Flint) नामक विद्वान्ने अपने 'ईश्वरवाद' (Theism) नामक ग्रन्थ तथा 'अनीश्वरवादखण्डन' (Anti-theistic theories) नामक ग्रन्थमें प्रकृतिवाद तथा विकासवादका खण्डन किया है । उसने कहा कि प्रकृति संसारकी व्याख्या नहीं कर सकती, क्योंकि वह चेतनकी व्याख्या करनेमें असमर्थ है । इसलिये संसारकी व्याख्याके लिये किसी एक चेतनके माननेकी आवश्यकता है । तब प्रकृति और परमेश्वर, दो हमारे सामने आते हैं । दोको माननेकी कोई आवश्यकता नहीं, इसलिये (अपनेको Monism—एकत्ववादका पोषक माननेके कारण कहता है कि) केवल एक ईश्वरको ही मान लेना चाहिये । उसका यह विश्वास है कि एक अचेतन तो संसारकी व्याख्या नहीं कर सकता परन्तु एक चेतन कर सकता है । अर्थात् चेतन ब्रह्मसे संसारकी व्याख्या हो जाती है । परन्तु विचारना तो यह है कि यदि अचेतन चेतनकी व्याख्या नहीं कर सकता तो चेतन अचेतनकी व्याख्या कैसे कर सकता

है ? पहले तो चेतन अचेतनरूपमें आ नहीं सकता, यदि एक बार अचेतन हो भी गया तो फिर Flint के Theism पर यह दोष आवेगा कि उस अचेतनसे पुनः चेतनका रूप कैसे बना ? यदि चेतनसे बना, अचेतन पुनः चेतनरूपमें परिवर्तित हो सकता है तो प्रकृतिवादियोंकी अचेतन प्रकृति क्यों नहीं चेतनके रूपमें परिवर्तित हो सकती ? अभिप्राय स्पष्ट है, यही कि जिस युक्तिसे ईश्वरवादी विकासवादियों तथा प्रकृतिवादियोंका खण्डन करते हैं, ठीक उसी युक्तिसे उनका मत भी खण्डित हो जाता है। अर्थात् यदि जड़ प्रकृति चेतनकी व्याख्या करनेमें असमर्थ है तो चेतन ईश्वर भी अचेतन जगत्की व्याख्या करनेमें सर्वथा अशक्त है । इसलिये ईश्वरवादियोंको भी ईश्वरके साथ-साथ प्रकृतिको मानना पड़ता है । इसको माने बिना भी काम नहीं चलता ।

इस प्रकार हमारे सामने एकसे दो हो गये । चेतन ईश्वर तथा अचेतन प्रकृति । शेष रहा जीवात्मा । जीवात्माकी व्याख्या प्रकृति तो कर नहीं सकती, कइयोंके मतमें परमेश्वर कर सकता है । परन्तु हमारे मतमें परमेश्वर भी नहीं कर सकता । सुखदुःखादिकी अनुभूति परमेश्वरको नहीं हो सकती । वह कर्मफल किसे दे और सृष्टिरचना किसके लिये करे ? इस प्रकार जीवात्माको भी पृथक् सत्ताके रूपमें मानना पड़ता है ।

(१०)

हमने ऊपर बतलाया है कि किसी भी कार्यके तीन कारण होते हैं । ये ही तीनों कारण मिलकर ही किसी भी कार्यके पर्याप्त कारण हो सकते हैं । इनमेंसे एकके भी न होनेसे कार्य सिद्ध नहीं होता । Monism के स्थानपर यह त्रैत मस्तिष्क तथा हृदयको ज्यादा अपील करता है । क्योंकि इसके बिना समुचित व्याख्या होती नहीं । इस प्रकार संसाररूप कार्यके लिये भी तीन कारण होने चाहिये । उनमेंसे उपादान कारण स्थानीय प्रकृति है । यह नियम है कि उपादानके गुण कार्यमें आते हैं । घड़ेमें कुम्हारके गुण नहीं आते अपि तु मिट्टीके आते हैं । इसी प्रकार गेहूँमें किसानके गुण न होकर उसके बीजके गुण होते हैं । हम संसारको प्रत्यक्ष देखते हैं । उसका उपादान कारण प्रकृतिको मानें या परमेश्वरको ? केवल ब्रह्मको माननेवालोंका कथन है कि इसकी व्याख्या इसीसे हो सकती है । यदि ईश्वर इस संसारका उपादान कारण है तो इसके गुण इस संसारमें आने चाहिये । अर्थात् संसार भी सर्वज्ञादि गुणोंसे युक्त होना चाहिये । परन्तु संसार तो जड है । इसलिये इसका उपादान कारण कोई जड पदार्थ ही मानना चाहिये और जड पदार्थ प्रकृति है । जड स्वयं कार्यरूपमें नहीं आ सकता, इसलिये कर्त्तारूपमें ईश्वर भी होना चाहिये ।

यदि 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' अर्थात् जीव-ब्रह्ममें एकता है, यह मान लें तो 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे' के अनुसार ही ब्रह्म बड़ा जीव है और जीव छोटा ब्रह्म है, परन्तु यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं । ऐसा माननेपर निम्न दोष आते हैं ।

(१) ब्रह्म तो निर्विकारी है अर्थात् जन्म-जरा-मृत्यु-भयादि विकारोंसे रहित है । इसके विपरीत जीव विकारी है अर्थात् बार-बार जन्म-मरणके बन्धनमें आता है । तो क्या परमेश्वरका भी पुनर्जन्म होता है ? क्या परमेश्वरको भी विकार होता है ?

(२) ब्रह्म तो सर्वत्र व्यापक है । वह 'अकायम्' (न तस्य प्रतिमास्ति) है । वह इतनेमें कैसे आ गया ?

(३) वह अच्छेद्य अभेद्य है । इतने टुकड़ोंमें विभक्त कैसे हो गया ? सांख्यशास्त्रमें बड़े दृढ़ प्रमाणोंसे लिखा है कि यदि जीव भिन्न-भिन्न न हों तो बड़े-बड़े दोष आते हैं । सबके अनुभव एक-जैसे होने चाहिये । इसलिये एक परमेश्वरका भिन्न-भिन्न शरीरोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे कार्य करना युक्तियुक्त नहीं ।

(४) वह निर्लिप्त सुख-दुःखसे रहित है । सुख-दुःखका अनुभव जीव करता है ।

(५) परमेश्वर पूर्ण ज्ञानी है, मनुष्य अल्पज्ञ है ।

(६) यदि जीव-ब्रह्म एक, तो यह भी दोष आता है कि स्वयं परमेश्वर क्यों फल भोग करता है । क्योंकि जब वह स्वयं सभी कार्य करनेवाला है तो फल भी स्वयं देता होगा और पुनः भोग भी स्वयं करेगा ? क्योंकि उससे भिन्न कोई दूसरा तो है ही नहीं ।

इस प्रकार अन्य भी न जाने कितने दोष आते हैं । परमेश्वर पापशून्य है; जीव पापशून्य नहीं । परमेश्वर निर्लिप्त है, जीव फँसता है । परमेश्वर भोग नहीं करता परन्तु जीवात्मा प्रकृतिका भोग करता है । 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' आदि मन्त्रोंमें लिखा है कि—'एक वृक्षपर दो पक्षी बैठे हैं । उनमें-

से एक तो वृक्षके फलोंको खाता है, दूसरा नहीं।' परमेश्वर मोहग्रस्त आसक्त न होता हुआ निर्लिप्त है; परन्तु जीवात्मा मोहमें फँसता है, सदा प्रकृतिमें लिप्त रहता है। परमेश्वर 'तपोऽतप्यत' और सृष्ट्युत्पादनादि कार्य करता है परन्तु उसका फल उसे नहीं मिलता। इसके विपरीत जीवात्मा जो भी कार्य करता है उसका फल उसे भोगना पड़ता है। सांख्यकारने लिखा है—

स्वल्पः संकरः सपरिहार्यः…………।
दुःखवह्निकणिकां भजते ।

मनुष्यपर सदा ही दुःखका लेप चढ़ा रहता है। इस प्रकार हम परमेश्वरको न तो प्रकृतिका और न जीवात्माका ही उपादान कारण मान सकते हैं। वह इन दोनोंसे पृथक् एक सत्ता है। दोनोंकी एकता किसी भी प्रकार साबित नहीं की जा सकती। इस प्रकार हमें तीनमें ही विश्वास करना पड़ता है।

(११)

अब हम सर्वमिथ्यात्वपर कुछ विचार करते हैं। सर्वमनित्यम्, सर्वं दुःखम्, सर्वं क्षणिकम् इस सिद्धान्तको सबसे प्रथम बौद्धोंने रक्खा। उनका कथन था कि यह सब संसार दुःखमय है, अनित्य है, क्षणिक है। इससे इस हमारे सिद्धान्तका खण्डन नहीं, यदि सर्वका अर्थ 'यत्किंच जगत्यां जगत्' किया जाय। परन्तु वे तो ईश्वरको भी नहीं मानते, जीवात्माको भी नहीं। उसके स्थानपर पञ्च स्कन्धोंको मानते हैं। यह संसार तो सचमुच अनित्य है, क्षणिक है, दुःखमय भी मान सकते हैं परन्तु प्रकृति भी अनित्य है, यह नहीं समझमें आता। और ईश्वर-जीव नहीं यह भी मस्तिष्क नहीं मानता।

इसके बाद वेदान्तकी लहर उठी। उसने ईश्वरको तो मान लिया परन्तु संसारको मिथ्या माना। क्या यह सब कुछ मिथ्या है? यदि हाँ, तो इसका भान क्यों होता है?

जिस प्रकार सीपमें रजत, रज्जुमें सर्प, ठूँठमें मनुष्यका भान होता है, ठीक उसी प्रकार इन सबका भान होता है। जैसे स्वप्नकी प्रतीति झूठी होती है, वैसे ही इस संसारकी प्रतीति भी मिथ्या ही है, परन्तु विचारना यह है कि सीपमें रजतका भ्रम होता कैसे है? यदि संसारमें कहीं रजत हो ही नहीं, तो क्या कभी सीपमें रजतका भान हो सकता है? कभी नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि यदि भान होनेवाला तथा जिसमें भान होता है, वे दोनों न हों, तो कभी भी ऐसा भान नहीं हो सकता।

जो वस्तु हमने देखी न हो, उसका स्वप्न भी कभी नहीं आ सकता। स्वप्नमें होनेवाली बातें चाहे हमारे साथ उस समय न हुई हों, परन्तु उस स्वप्नको बनानेवाले सब पदार्थ होते अवश्य हैं, हम स्वप्नमें बिल्लीका रसोईमें दूध पीना देखते हैं और प्रातः जागनेपर दूधसे भरी हाँडी पाते हैं। यदि स्वप्नकी बातें सभी सच्ची तो उस समय जाग्रदवस्थामें वह दूध नहीं दीखना चाहिये। परन्तु दीखता है। अभिप्राय यह है कि संसारकी प्रतीति सच्ची है और प्रत्यक्ष सिद्ध है। यह संसार मिथ्या नहीं।

सचमुच यदि यह संसार मिथ्या है और इस पक्षमें विश्वास रखनेवालोंकी इसमें दृढ़ आस्था है तो मुझे बताइये कि वे इसके साथ सत्यस्वरूप वस्तुओंसे किये जानेवाले बर्ताव क्यों करते हैं? सामने जंगलमें शेर गरज रहा है। एक मनुष्य इसपर विश्वास करनेवाला क्यों उस समय भयभीत होता है? प्रथम तो यह जंगल ही नहीं, दूसरे शेर भी नहीं जो कि आक्रमण करे, तीसरे वह स्वयं भी तो मिथ्या है जिसपर कि आक्रमण होना है। परन्तु यह सब कथन व्यर्थ है। जंगल, उसमें सिंह तथा मनुष्य तीनों हैं। उस समय शेरसे बचाव उसको मिथ्या समझते हुए नहीं करना चाहिये परन्तु शेरकी सत्ता मानते हुए करना चाहिये।

यदि सचमुच यह संसार मिथ्या है तो उसका (प्रभुका) इस जीवनको मिथ्यारूप जगत्में रखनेसे लाभ क्या? नहीं, यह तो जीवन भी मिथ्या है; परन्तु इसको धारण कौन करे? वह तो स्वयं ही मिथ्या है। अद्वैतके अनुसार तो लोकव्यवहार ही बंद हो जाय, परन्तु नहीं, हम भी हैं, संसार भी है, हमारा कर्मफलदाता कोई प्रभु भी है। प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होनेवाला खिलौना है, मैं इससे खेलूँगा और खेलते-खेलते ही आनन्द लेता हुआ इसे हँसी-हँसीमें तोड़ दूँगा। तब वह प्रभु खिलौना देनेवाला आवेगा और मुझे अपनी गोदीमें भर लेगा। तब मुझे खिलौनेकी चाह न होगी। उससे दूसरे खेलेंगे और मैं प्रभुकी गोदीमें सुखकी नींद सोऊँगा। उसे पहरा देना पड़ेगा, यही मेरी मुक्तावस्था है। जब मेरी समयपर नींद खुलेगी वह फिर खिलौना हाथमें दे देगा। हम तीनों ही हैं। अन्न, अन्नाद और अन्नदाता तीनोंकी सत्ता है।

(१२)

इस प्रकार हमने इस अपने मतकी रूपरेखा देनेका

प्रयत्न किया है । हमारा हृदय तो तीनोंकी अनादि नित्य सत्ता मानता है । परन्तु परमेश्वरको सच्चिदानन्दरूपमें स्मरण करता है, जीवात्माको सच्चित् स्वीकार करता है और प्रकृतिको केवलमात्र 'सत्' रूपमें देखता है । इन तीनोंको माने बिना संसारकी व्याख्या नहीं हो सकती, तीनों अन्योन्याश्रित हैं । परमेश्वर कभी प्रकृतिकी सहायताके बिना संसार नहीं बना सकता । मिट्टीके अभावमें घड़ा न बना सकनेसे जिस प्रकार कुम्हार अयोग्य या अशक्त नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार प्रकृतिके बिना जगत् न बना सकनेके कारण परमेश्वर भी अल्प शक्तिवाला नहीं कहा जा सकता ।

'मदारी बन्दरोंको नचा रहा है । हाथमें डरानेके लिये कालदण्ड है । लुभानेके लिये रोटीके टुकड़े हैं । हम नाच रहे हैं ! नाच रहे हैं !! हे प्रभु ! हमें नचा । हमें नचा !! कुछ कर, पर चाहते तेरी शरण हैं ।'*

ज्ञानसे प्रारब्धक्षय होता है या नहीं ?

(लेखक—रायबहादुर पण्ड्या बैजनाथ बी० ए०)

एक उपनिषद्में लिखा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

'उस ब्रह्मके दर्शन होनेपर हृदयग्रन्थि खुल जाती है, सब संशय नष्ट हो जाते हैं और दर्शकके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं ।' ऐसा छान्दोग्य उपनिषद्का कथन है ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी यही बात कही है—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥
(४।३७)

कर्म यह एक प्रकारकी शक्ति है । जब कोई कर्म किया जाता है तो प्रकृतिमें शक्तितरंगें उठती हैं और उनकी शान्ति तभी हो सकती है जब वे सब तरंगें लौटकर अपने उत्पत्तिस्थानमें अर्थात् कर्मकर्त्ताके पास आकर अपनी शक्ति उसके ऊपर वापिस डाल दें । प्रकृतिशक्तिका क्षय कभी नहीं होता । केवल रूपान्तर होता है । यह प्रकृतिका नियम है । अंग्रेजीमें उसे Law of conservation of Energy कहते हैं और उसका कार्य प्रकृतिके सब लोकोंमें या खण्डोंमें होता है । तो फिर शास्त्रका कथन क्या झूठा हो जायगा ? नहीं ।

यह बात सम्भव है कि एकका कर्म दूसरा अपने ऊपर लेकर भोग ले । ऐसा जान पड़ता है कि ऐसी अवस्थामें स्वार्थत्यागी आत्मसमर्पण करनेवाले नये भोक्ताको असल कर्मकर्त्ताकी अपेक्षा कर्मका प्रतिफल कम मात्रामें भोगना पड़ता है । सद्गुरु भी शिष्यका कुछ कर्म अपने ऊपर ले लेते हैं । जब साधक पूर्ण ज्ञानी हो जाता है तो उसे दीख पड़ता है कि कौन-कौन कर्म उसका अभी भोगनेको बाकी है । वह अपने ज्ञानद्वारा उन-उन जीवोंको स्वर्गलोक, भुवर्लोक, भूलोकसे जहाँ कहीं वे जीव हों ढूँढ़ निकालता है और उनका कल्याण कर अपने सञ्चित प्रारब्ध या क्रियमाण कर्मका पलटा दे देता है और इस प्रकार उसके कर्मक्षय हो जाते हैं । यह विचार युक्ति और न्यायसङ्गत और प्रकृतिनियमानुकूल मालूम होता है ।

कोई-कोई ऐसा समझते हैं कि अहंभावका नाश हो जानेपर शरीरोंको कर्म भुगतना पड़े पर अन्तःस्थित जीवात्माको उसका भान नहीं होता, क्योंकि देहाभिमानी अहंभाव नाश हो चुका है । यह बात सत्य है पर इस अवस्थाको प्रारब्धका क्षय होना नहीं कहना चाहिये ।

किसी-किसीका कहना है कि प्रारब्ध तो अवश्य ही भोगना पड़ता है पर सञ्चित कर्म और क्रियमाण कर्म नष्ट हो जाते हैं । ऊपर लिखे विचारसे तो सब कर्म क्षय होना सम्भव हो सकता है । हाँ, यह भी सम्भव है कि कोई-कोई ऐसे कर्म हों जिनका निपटारा भोगकर ही विशेष सरल रीतिसे हो सकता है । दूसरी बात यह भी है कि प्रारब्धकर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले सब जीव इस साधकके सहवासमें सदेह हैं और उनके सम्बन्धके प्रारब्धका क्षय शरीरके भोगद्वारा ही सरलतासे हो सकता है, जो जीव सहवासमें नहीं हैं उनको सूक्ष्म शरीरोंद्वारा दूसरे लोकोंमें या खण्डोंमें सहायता दी जाती है और कर्मऋण इस प्रकार चुकाया जाता है ।

---

* लेखकके विचारमें जगत् सत्स्वरूप है, जीव सच्चित्स्वरूप है और परमेश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है । ये इनके तीनों पृथक्-पृथक् रूप तो सही हैं पर इनका एकत्व भी तो स्पष्ट है—जगत्का जो सत् रूप है वह सच्चिदानन्दस्वरूपमें मौजूद है, जीवका जो सच्चित्स्वरूप है वह भी सच्चिदानन्दस्वरूपमें मौजूद है । इस तरह जगत् और जीव दोनों ही (सत् और सच्चित्) जिस तीसरे एक सच्चिदानन्दमें अन्तर्भूत हैं वही तो वह एकमेव ब्रह्म है जिसका कोई द्वितीय नहीं । —सम्पादक

प्रारब्ध और पुरुषार्थका मेल

(लेखक—श्रीभगवानदासजी केला)

आजकलके जमानेमें प्रत्येक बातको तर्ककी कसौटीपर कसनेकी प्रवृत्ति है। आधुनिक शिक्षाप्राप्त व्यक्ति प्रारब्धमें विश्वास नहीं करते और प्रारब्धवादियोंको अविचारी, पुरातन प्रेमी या अंध विश्वासी आदि कहते हैं। तथापि विचार करनेसे ज्ञात होगा कि बात पूर्णतः ऐसी नहीं है। हम बहुत-सी वस्तुओंको पाश्चात्य लोगोंकी दृष्टिसे देखते हैं, और जबतक विज्ञान या प्रत्यक्ष प्रमाणकी छाप न लग जाय, हम उसे स्वीकार करना नहीं चाहते। पर क्रमशः पाश्चात्य विद्वान् विविध घटनाओंके अनुभवोंके आधारपर पूर्वजन्म तो मानने लग ही गये हैं। हमारा यह जीवन अपना आदि और अन्त नहीं है, वरं एक विशाल शृङ्खलाकी एक साधारण छोटी-सी कड़ी है—और वह शृङ्खला प्रायः सुदूर भूतकालतक गयी हुई है, और उसे आगे भी सम्भवतः बहुत दूरतक जाना है—उसके इस छोरका पता लगाना वैसा ही दुर्लभ है, जैसा उस छोरका।

प्रायः लोगोंको अपने पूर्व-जन्मकी बातें याद नहीं रहतीं, पर केवल इस आधारपर यह कहना कि पूर्व-जन्म नहीं हुआ, धृष्टता है। हमें तो इसी जन्मकी, थोड़े दिन पहलेकी बातें भी याद नहीं हैं, हम उन्हें भूल जाते हैं, पर इससे उस समयका न होना, या उन घटनाओंका घटित न होना नहीं माना जा सकता। कुछ ही व्यक्तियोंकी स्मरणशक्ति इतनी बढ़ी हुई होती है कि विविध बातोंको यथेष्टरूपसे याद रख सकते हैं। और समय-समयपर भिन्न-भिन्न देशोंमें ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने अपने पूर्वजन्मकी बातोंकी स्मृतिका अकाट्य परिचय दिया है।

कुछ समय हुआ, 'कल्याण' में मथुराकी शान्तिदेवीका हाल छपा था। वास्तवमें मनुष्यजीवनकी बहुत-सी पहेलियाँ या समस्याएँ ऐसी हैं, जिनका एक मात्र हल पूर्वजन्मको माननेसे ही हो सकता है। एक परिवारके, और समान वातावरणमें शिक्षा-दीक्षा पाये हुए दो व्यक्ति अपने विचार, स्वभाव, शारीरिक और मानसिक स्थिति आदिमें इतने भिन्न क्यों होते हैं? एक विद्यार्थी किताब देखता है, उसे वह पढ़ी हुई-सी मालूम होती है, उसको वह झट कण्ठ हो जाती है, दूसरा बहुत परिश्रम करनेपर भी बड़ी कठिनाईसे एक-एक पंक्ति आगे बढ़ता है। ऐसा क्यों? बात यह है कि एक तो आजसे पहले उसे हृदयंगम कर चुका है, और दूसरेके लिये यह सर्वथा नयी चीज है। एक आदमीको देखकर हम झट उससे अपनापन अनुभव करते हैं, दूसरेसे हम दूर-दूर रहना चाहते हैं। प्रथम दर्शनमें ही एकसे शत्रुता और दूसरेसे मित्रता या बन्धुत्व क्यों? स्त्री या सगे भाईसे भी हमें कभी-कभी कष्ट क्यों मिलता है? ये भावनाएँ पूर्व-जन्मके पारस्परिक सम्बन्धोंके ही कारण समझमें आ सकती हैं।

अस्तु, पूर्वजन्म है। और पूर्वजन्म है तो प्रारब्ध भी है—प्रारब्ध अर्थात् पूर्वजन्मसञ्चित कर्म। यदि हमारे व्यावहारिक जीवनका कोई पिछला दिन बीत चुका है, तो उस दिनके व्यवहारका कुछ हिसाब, लेन-देनका सम्बन्ध भी बाकी रह सकता है। व्यवहार जितना अधिक फैला हुआ, व्यापक और विस्तृत होगा, उतनी ही उसकी बाकी भी लंबी-चौड़ी होनी स्वाभाविक है। जीवनभरके व्यवहारमें तो बहुत-सी रकमें ऐसी हो सकती हैं, जो लेनी-देनी रहेंगी। किसीसे सुख लेना है, और किसीसे दुःख।

पूर्वसञ्चित कर्म या प्रारब्धके कारण, हमें कुछ प्रयत्नोंमें अनायास सफलता मिल सकती है, और कुछमें घोर परिश्रम करनेपर भी विफलता मिलती है। कुछ आदमी अकारण दुःख भोगते हुए मालूम होते हैं, और कुछ लोभी या परपीडक आदि होकर भी सुखकी नींद सोते दिखायी देते हैं। ऐसे प्रसंगोंपर हमें प्रारब्धके विचारसे संतोष, शान्ति तथा धैर्य धारण करनेकी प्रेरणा होती है। ख्वाहम-ख्वाह ईश्वरको अन्यायी कहनेका अनौचित्य ज्ञात हो जाता है।

परन्तु प्रारब्धको माननेका यह आशय नहीं कि हम दुखीका दुःख दूर करने, और पतितका उत्थान करनेमें सहायक न हों। और न यह सोचना ही बुद्धिमानी है कि हम हाथ-पाँव क्यों हिलावें, हमारे भाग्यमें होगा तो बिना उद्यम किये ही हमारी उदर-पूर्ति हो जायगी। जब कि हमें पूर्व-जन्मकी बातें या उनसे होनेवाले परिणामका सम्यक् ज्ञान नहीं है, तो हम उसके आधारपर निठल्ले कैसे बैठे रहें? हमें तो नित्य अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करते रहना चाहिये। उसके फलाफलकी बात, भाग्यवश जो भी हो, उसकी हमें चिन्ता नहीं करनी चाहिये। विजय-प्राप्ति हो तो भी वाह वाह, और न हो तो भी ठीक। इसलिये कहा गया है कि हमें कर्म करनेका अधिकार है, फल हमारे अधीन नहीं, वह ईश्वर-अधीन है। कारण कि उसमें तो प्रारब्धका अंश और जुड़ना बाकी है। इस प्रकार, प्रारब्ध और पुरुषार्थ बे-मेल नहीं, उनका तो विलक्षण मेल है। ये एक गाड़ीके दो पहिये हैं।

* * *

पाप विषयासक्तिसे होते हैं, प्रारब्धसे नहीं

प्रश्न–मनुष्यसे जो पापकर्म बनते हैं, उसमें प्रधान कारण क्या है ?

उत्तर–पापोंके होनेमें प्रधान कारण विषयोंकी आसक्ति ही है, आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है, कामनाकी पूर्तिसे लोभ, और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। ये काम, क्रोध, लोभ ही सारे पापोंकी जड़ हैं। भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
(गीता १६ । २१)

काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं, ये आत्माका नाश (अधःपतन) करनेवाले हैं, अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।

प्रश्न–क्या विषयासक्तिका और काम, क्रोध, लोभका त्याग करना मनुष्यकी शक्तिमें है ?

उत्तर–अवश्य ही है, शक्तिमें न होता तो भगवान् त्याग करनेकी आज्ञा ही कैसे देते ? तथा क्यों वेद-पुराण, स्मृतिशास्त्र निषिद्धके त्याग और विहितके ग्रहणकी व्यवस्था करते ?

प्रश्न–बात तो ऐसी ही मालूम होती है, परन्तु एक सन्देह होता है। कुछ सज्जन कहते हैं कि इसमें जीव पराधीन है। एक बार हरिद्वारमें गङ्गातटपर एक सिन्धी माईसे बातचीत होने लगी। माईको वेदान्तका बड़ा बोध मालूम होता था। उन्होंने मुझसे कहा कि 'पाप विषयासक्तिसे भी होते हैं और प्रारब्धसे भी ! बल्कि कभी-कभी तो प्रारब्धका इतना प्रबल वेग होता है कि मनुष्यको बाध्य होकर बुरे-से-बुरे पापकर्म करने पड़ते हैं।' जब मैंने नहीं माना तो उन्होंने मुझे जगत्प्रसिद्ध श्रीविद्यारण्य स्वामीकृत 'पञ्चदशी' ग्रन्थसे निम्नलिखित श्लोकोंको पढ़कर सुनाया, और उनका अर्थ करके यह समझानेकी चेष्टा की कि पाप प्रारब्धसे होते हैं, इनसे छूटनेकी कोशिश न करके ब्रह्मके बोधके लिये चेष्टा करनी चाहिये। ब्रह्मका बोध होनेपर पाप रह भी गये तो कोई हर्ज नहीं, क्योंकि पाप जिन काम-क्रोधादिसे होते हैं, वे तो अन्तःकरणके धर्म हैं, जबतक अन्तःकरण है, तबतक वे रहेंगे ही, और अन्तःकरण स्थूल शरीरके विनाशतक जरूर रहेगा, अतएव पापोंके लिये कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये।' पञ्चदशीके ये श्लोक थे–

अपथ्यसेविनश्चोरा राजदाररता अपि ।
जानन्त एव स्वानर्थमिच्छन्त्यारब्धकर्मतः ॥
न चात्रैतद् वारयितुमीश्वरेणापि शक्यते ।
यत ईश्वर एवाह गीतायामर्जुनं प्रति ॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

इनका अर्थ समझाते हुए माईजीने कहा—"कुपथ्यका सेवन करनेवाले, चोर, और राजाकी स्त्रीके साथ रमण करनेवाले लोग अपने भविष्यमें होनेवाले अनर्थको जानते हुए भी प्रारब्ध कर्मके वशमें होकर ऐसे काम करनेको इच्छा करते हैं। और उनकी इस प्रारब्धजनित इच्छाओंका रोकना ईश्वरके लिये शक्य नहीं है। इस बातको स्वयं ईश्वरने गीतामें अर्जुनके प्रति कहा है कि ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, सभी जीव अपनी प्रकृतिके वश रहते हैं फिर मैं (ईश्वर) या और कोई उसका निग्रह क्या करेगा ? यदि मनुष्य अवश्य होनेवाले दुःखोंको रोक सकता तो नल, राम तथा युधिष्ठिर-सरीखे प्रतापी और शक्तिमान् पुरुष कभी दुःखोंमें न फँसते। प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है—स्वेच्छासे, अनिच्छासे और परेच्छासे। स्वेच्छासे दुःखका भोग देनेवाला प्रारब्ध यदि दुष्कर्मकी इच्छा उत्पन्न न करेगा तो भोग होगा ही कैसे ? अतएव स्वेच्छा प्रारब्धके अनुसार प्राप्त होनेवाले दुःखभोगोंमें मनुष्यके द्वारा पापादिका होना अनिवार्य है। अवश्य ही अज्ञानी इन पापोंमें मनसे फँसता है और ज्ञानी प्रारब्धकी प्रेरणासे बाध्य होकर। क्योंकि अवश्यम्भावीका प्रतीकार तो हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार अनिच्छा प्रारब्धमें बिना अपनी इच्छाके दुःखभोगकी प्राप्ति होती है। अनिच्छा प्रारब्धकी प्रेरणासे रजोगुण बढ़ता है, उससे काम और क्रोध उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हींके कारण मनुष्य पापमें प्रवृत्त हो जाता है। उसकी अपनी इच्छा न रहनेपर भी उसे बाध्य होकर पाप करना पड़ता है। यदि ऐसा न हो तो अनिच्छा प्रारब्ध सिद्ध ही नहीं हो सकता। इसीलिये गीतामें कृष्ण और अर्जुनके संवादमें ऐसा आया है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(३ । ३६-३७)

अर्जुन पूछता है–'हे कृष्ण ! यह पुरुष इच्छा न करनेपर भी किसकी प्रेरणासे पाप करता है ? मानो कोई जबरदस्ती उसे पापमें लगा रहा हो ।' इसके उत्तरमें कृष्ण कहते हैं–'जो इस पुरुषको पापमें प्रवृत्त करता है वह रजोगुणसे उत्पन्न हुआ काम है, यह 'काम' ही क्रोधका रूप धारण कर लेता है, यह काम महाशन है अर्थात् कामनाकी कभी पूर्त्ति होती ही नहीं । अतएव इसी कामको तुम अपना वैरी जानो ।' परेच्छा प्रारब्धका भोग दूसरेको प्रसन्न करनेके लिये होता है । अतएव इन पापोंको कौन टाल सकता है ? अतएव पापोंसे घबरानेकी आवश्यकता नहीं ।"

माईजीके इस उपदेशका मर्म मैं ठीक-ठीक समझ नहीं सका । फिर एक बार एक जगह साधुओंकी एक मण्डली आयी । तीन साधु थे । उनमें जो प्रधान साधु थे वे नग्न थे, उनके साथ एक युवती स्त्री थी । उनके आचरणपर कुछ सन्देह होनेपर मैंने पता लगाया तो मालूम हुआ कि युवती सदा साधुजीके पास रहती है और उसके साथ उनका सम्बन्ध पवित्र नहीं है । मैंने साहस करके साधुजीसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने पहले तो यह कहा कि 'तुमको इससे क्या मतलब है, हमसे कोई उपदेश लेना हो तो पूछो ।' मैंने जब नम्रतापूर्वक आग्रह किया तब उन्होंने जोशमें आकर कहा कि 'हम तो अशास्त्रीय कुछ भी नहीं कर रहे हैं । स्त्रीके साथ रहनेसे हमारे आत्मबोधमें कुछ भी फर्क नहीं पड़ता ।' फिर वे भी पञ्चदशीके उपर्युक्त माईजीवाले श्लोकोंको कह गये और बोले कि "यह सब कुछ प्रारब्धसे होता है, जबतक शरीरका प्रारब्ध भोग शेष है, तबतक इस स्त्रीको हम हटा नहीं सकते । न यह हमें छोड़ सकती है । यह तो इस शरीरके भोगके लिये है । फिर दूसरी बात यह भी है कि हम जो कुछ भी करें, वस्तुतः हम तो कुछ करते ही नहीं ! यह तो सब प्रकृतिमें होता है, सब इन्द्रियोंका व्यापार है, हमसे इसका क्या सम्बन्ध ? गीता भी तो यही कहती है—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
(५ । ८-९)

तत्त्वज्ञानी महात्मा देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूँघता, खाता, जाता, सोता, साँस लेता, बोलता, छोड़ता, ग्रहण करता, पलकें मारता और खोलता—यह सब काम करता हुआ यही मानता है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें बर्त रही हैं, हम शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव आत्मासे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है ।"

साधुजीकी व्याख्यापर उस समय मुझे कोई उत्तर नहीं आया और मैं वहाँसे अपने घर चला आया ।

मुझे सिन्धी माईजीसे बात करके तो ऐसा अनुमान हुआ था कि माईजी जो कुछ कहती हैं, अपने सरल विश्वाससे जैसा समझी हैं, वैसा ही कहती हैं परन्तु साधुजीको बात सुनकर और उनके हावभाव देखकर तो यही प्रतीत हुआ कि ये अपने दोषका समर्थन करनेके लिये ही शास्त्रका दुरुपयोग कर रहे हैं । जो कुछ भी हो, अब प्रश्न यह है कि क्या वास्तवमें स्वेच्छा और अनिच्छा प्रारब्धसे मनुष्य पाप करनेको बाध्य है ? क्या गीतामें इसका समर्थन है ? और क्या ज्ञानी पुरुष भी निषिद्धाचरण कर सकता है ? यदि नहीं तो विद्यारण्य स्वामी जैसे ग्रन्थकारने ऐसी बातें क्यों लिखीं । क्या आपने पञ्चदशी पढ़ी है ? आपका इस सम्बन्धमें जो कुछ भी अभिमत हो मुझसे स्पष्ट समझाकर कहिये ।

उत्तर–श्रीविद्यारण्य स्वामीकी पञ्चदशीको मैंने देखा है । पञ्चदशी वेदान्तका बहुत ही उपादेय और मान्य ग्रन्थ है । विद्यारण्य स्वामीकी महान् विद्वत्ताके सामने सहज ही मनुष्यका सिर झुक जाता है । फिर आचार्यके नाते तो वे हम सबके परम पूज्य हैं, ऐसी दशामें मुझ-सरीखा साधारण मनुष्य उनके शब्दोंपर क्या आलोचना कर सकता है ! दीर्घकालतक आचार्योंके चरणोंमें बैठकर श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करनेसे ही उनके वचनोंका रहस्य जाना जा सकता है । पूज्यपाद विद्यारण्य स्वामीने ही यदि इस प्रकरणको लिखा है तो किस रहस्यको मनमें रखकर लिखा है, कुछ समझमें नहीं आता । परन्तु इस प्रकरणका साधारणतः जो अर्थ किया जाता है या समझा जाता है, उससे तो अवश्य ही बहुत ही अनुचित प्रवृत्तियोंके विस्तारमें सहारा मिला है और उसके बलपर पापका बहुत विस्तार हुआ है । आपने

जो उदाहरण दिये हैं ऐसे सैकड़ों-हजारों उदाहरण मिल सकते हैं। परन्तु एक बात याद रखनी चाहिये, किसीके द्वारा दुरुपयोग किये जानेसे ही शास्त्रके रहस्यमय वाक्य दूषित नहीं हो जाते। दुरुपयोग तो विषयी लोग हरेक बातका ही करते हैं, उनका उद्देश्य ही किसी-न-किसी प्रकारसे अपनी भोगकामनाको पूर्ण करना होता है। देखना तो यह है कि वास्तवमें इसका रहस्य क्या है, इस सम्बन्धमें मैं तो बहुत नम्रताके साथ पूज्यपाद श्रीविद्यारण्य स्वामीजीके पवित्र चरणोंमें नमस्कार करता हुआ यही कहता हूँ कि बार-बार विचार करनेपर भी पञ्चदशीके उपर्युक्त वाक्योंका रहस्य मैं समझ नहीं सका। वरं कभी-कभी तो मनमें ऐसा दृढ़ भाव आता है कि ये वाक्य महामान्य विद्यारण्य मुनिके हैं ही नहीं। क्योंकि जो महामान्य विद्यारण्य मुनि पञ्चदशीमें ही अन्यत्र स्वयं कहते हैं कि—

अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मन्दमिति द्विधा।
कामक्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत्॥
उभयं तत्त्वबोधात् प्राङ्निवार्यं बोधसिद्धये।
शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतं यतः॥
तत्त्वं बुद्ध्वापि कामादीन्निःशेषं न जहासि चेत्।
यथेष्टाचरणं ते स्यात् कर्मशास्त्रातिलङ्घिनः॥
बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे॥
बोधात् पुरा मनोदोषमात्रात् क्लिश्यस्यथाधुना।
अशेषलोकनिन्दा चेत्यहो ते बोधवैभवम्॥
विड्वराहादितुल्यत्वं मा काङ्क्षीस्तत्त्वविद् भवान्।
सर्वधीदोषसन्त्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत्॥

(पञ्चदशी, द्वैतविवेकप्रकरण ४९ से ५०, ५४ से ५७)

'अशास्त्रीय द्वैत भी तीव्र और मन्द दो प्रकारका होता है। कामक्रोधादिको तीव्र द्वैत कहते हैं और मनोराज्यको मन्द। बोधकी सिद्धिके लिये अर्थात् ज्ञानकी प्राप्तिके लिये इन दोनों प्रकारके द्वैतोंको पहले ही निवारण कर देना चाहिये। क्योंकि ब्रह्मज्ञानके साधनोंमें मन-इन्द्रियोंका वशमें होना और चित्तका समाहित होना दोनों ही सुने जाते हैं। तत्त्वको जानकर भी यदि तू कामादिका पूर्णरूपसे नहीं त्याग करेगा तो उसके फलस्वरूप शास्त्रोंकी आज्ञाको लंघन करनेवाला यथेच्छाचारी बन जायगा। और यदि अद्वैत तत्त्वको जान लेनेपर भी यथेच्छाचार ही बना रहा तो फिर उस शास्त्रका उल्लंघन करनेवाले तत्त्वज्ञानी और कुत्तोंमें भेद ही क्या रह गया! इससे तो अज्ञानी रहना अच्छा था क्योंकि उस अवस्थामें तुझे कामक्रोधादि मानसिक दोष ही क्लेश दिया करते थे, पर अब ज्ञानी कहलानेपर उन दोषोंके साथ-साथ लोकमें तेरी बड़ी भारी निन्दा और होने लगी है। वाह! तेरा यह ज्ञानका वैभव भी विचित्र ही है। (अर्थात् यदि यही ज्ञान है तो फिर अज्ञान क्या होगा?) अतएव तुम तत्त्ववेत्ता होकर विष्ठा खानेवाले सूअर आदिके समान बनना मत चाहो। सब दोषोंको इस प्रकार छोड़कर ज्ञानी बनो कि लोग तुम्हारी देववत् पूजा करें।'

जो महापुरुष इतने कड़े शब्दोंमें मिथ्या ज्ञानीकी खबर लेते हैं और काम-क्रोधका विरोध करते हैं, वे प्रारब्धभोगके व्याजसे ज्ञानीके लिये भी प्रकारान्तरसे परवश होकर पाप करना कैसे सिद्ध करेंगे? तत्त्वज्ञानके अधिकारकी व्याख्या करती हुई श्रुति स्पष्ट शब्दोंमें घोषणा करती है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

(कठ० १।२।२४)

'जो पापकर्मोंसे निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं, और जिसका चित्त समाहित नहीं है और जो अशान्तमानस है वह पुरुष केवल (बाह्य) ज्ञानके द्वारा ही आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता।' जब आत्माकी प्राप्तिके पहले ही पापोंका परित्याग कर देना पड़ता है तब आत्मप्राप्तिके अनन्तर बोधवान् पुरुषके द्वारा पाप कैसे हो सकते हैं? और कैसे महामान्य विद्वान् श्रीविद्यारण्य मुनि-जैसे महापुरुष उसका प्रतिपादन कर सकते हैं? इन्हीं सब बातोंपर विचार करनेसे मेरे उस सन्देहकी पुष्टि हो जाती है कि सम्भव है किसी मनचले मनुष्यने अपने मिथ्या ज्ञानको (जिसका स्वयं विद्यारण्य मुनि विरोध करते हैं) वास्तविक ज्ञानके आसनपर बैठानेके लिये विद्यारण्य मुनिके पवित्र नामका दुरुपयोग किया है। इसीसे शरीर और मनसे पापाचरण करते हुए भी लोग अपनेको आज जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष कहनेमें नहीं सकुचाते और भोली जनताको भ्रममें डालते हैं। ऐसे ही लोगोंके लिये कहा गया है कि—

सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति संप्राप्ते हि कलौ युगे।
नानुतिष्ठन्ति मैत्रेय शिश्नोदरपरायणाः॥

हे मैत्रेय! कलियुग आनेपर व्यभिचारी और पेटू लोग साधन कुछ भी नहीं करेंगे परन्तु ब्रह्मकी बातें सब करेंगे। गोस्वामीजीने भी कहा है—

ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात ।
कौड़िहु कारन लोभ लगि करहिं बिप्र गुरु घात ॥

ऐसे ही लोगोंने पञ्चदशीमें अपनी बात रख दी हो तो क्या आश्चर्य है ? क्योंकि वहाँका वह प्रसङ्ग युक्तिसङ्गत और शास्त्रीय नहीं ठहरता है, कैसे नहीं ठहरता है इस विषयपर कुछ निवेदन करता हूँ ।

सबसे पहली बात तो यह है कि प्रारब्धसे पाप होना युक्तिसङ्गत नहीं है । प्रारब्धके परवश होकर मनुष्य पाप करनेको बाध्य हो, इस सिद्धान्तके माननेसे कई अनिवार्य दोष आते हैं, जिनमें कुछ ये हैं—

१–विधिनिषेधात्मक शास्त्रवाक्योंका कोई मूल्य नहीं रह जाता। 'ऐसा करो' और 'ऐसा न करो', ये शास्त्रवाक्य तभी लागू हो सकते हैं, जब कि मनुष्य करनेमें स्वतन्त्र हो, यदि परवश होकर वह अनिच्छापूर्वक पाप करनेके लिये बाध्य है तब शास्त्रोंका शासन उसपर कैसे चल सकता है ? और ऐसी अवस्थामें प्रत्येक पापाचारी नर-नारी यह कह सकते हैं कि हम तो प्रारब्धके कारण ही ऐसा कर रहे हैं । शास्त्रको मानना हमारे लिये सम्भव नहीं है ।

२–प्रारब्धवश पापकी इच्छा होती है ऐसा माननेवालोंको यह तो मानना ही पड़ता है कि वह प्रारब्ध भोग पुण्यकर्मका फल नहीं है, पापका ही फल है । और जब पापका फल पाप है, और उसे करनेके लिये मनुष्य बाध्य है तब उसके पापका कभी अन्त हो ही नहीं सकता । पापका फल पाप, फिर पापका फल, इस अनवस्था दशामें जीवके उद्धारकी कोई आशा नहीं रह जाती । साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि इस प्रकार विधान करनेवाला ईश्वर जीवोंको पापके बन्धनसे कभी मुक्त करना ही नहीं चाहता ।

३–साधारण विवेकसे भी यह बात भलीभाँति समझमें आती है कि किसी भी विवेकयुक्त कानूनमें ऐसा विधान नहीं होना चाहिये कि जो एक अपराधके दण्डस्वरूप पुनः दूसरा अपराध करनेकी अनुमति देता हो । कोई भी दण्डविधान यह नहीं कह सकता कि चोरी करनेवालेको पुनः चोरी करनी पड़ेगी । जब मानवी कानूनमें ऐसा विधान नहीं हो सकता, तब परम न्यायकारी और दयालु ईश्वरके कानूनमें ऐसा विधान होना कैसे सम्भव है ?

४–शास्त्रोंमें पापके लिये दण्डविधान है । रोग, धननाश, पुत्रनाश, अकीर्ति आदिके रूपमें पापका ही दण्ड मिलता है । परन्तु जब स्वयं ईश्वर जीवके लिये पापका विधान करता है और उसे पाप करनेके लिये मजबूर करता है और फिर स्वयं ही उसके लिये दण्ड भोगकी व्यवस्था करता है । इससे ईश्वरका अन्याय सिद्ध होता है ।

५–जब जगन्नियन्ता ईश्वरही जीवसे कर्म कराता है तब उनके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाला सुख-दुःख भी ईश्वरको ही भोगना चाहिये । कर्म करनेको बाध्य करे ईश्वर, और फल भोग करे जीव, यह भी ईश्वरका एक अन्याय ही है ।

अतएव किसी भी युक्तिसे सिद्ध नहीं होता कि पाप प्रारब्धसे होते हैं । अब यह देखना है कि स्वेच्छा और अनिच्छा प्रारब्धके भोगमें जो गीताका प्रमाण दिया गया है वह भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञानी भी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह पूर्वजन्मके कर्मवश पाप करता है । प्रकृतिका अर्थ है स्वभाव, ज्ञानीका स्वभाव ज्ञानकी यथार्थ प्राप्तिसे पूर्व साधनकालमें ही शुद्ध हो जाता है । उस शुद्धस्वभावमें अशुद्धि कैसे आ सकती है ? फिर इसी श्लोकके अगले ही श्लोकमें भगवान् यह कहते हैं कि प्रत्येक इन्द्रियके अर्थमें राग-द्वेष स्थित हैं, उन दोनोंके वशमें मत हो क्योंकि वे दोनों तुम्हारे परिपन्थी हैं,—साधनको लूटनेवाले हैं ।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥
(गीता ३ । ३४)

यदि ज्ञानवान् पुरुष भी प्रकृतिपरवश होकर पाप करनेमें बाध्य होता तो भगवान् रागद्वेषसे—जो पापोंके मूल हैं—बचनेकी आज्ञा कैसे देते ? क्योंकि वैसी अवस्थामें बचना न बचना तो उसके हाथमें है ही नहीं । अतएव यही सिद्ध होता है कि यहाँ प्रकृतिका अर्थ उसका निवृत्ति या प्रवृत्तिपरक स्वभाव है, पापवासना नहीं । अतः प्रारब्धभोगवश पाप करनेके लिये मनुष्य बाध्य है, इसके समर्थनमें ईश्वरवाक्यके रूपमें उक्त 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः' श्लोकका प्रमाण सर्वथा अनुपयुक्त है । उससे आगे 'अनिच्छा प्रारब्ध भोग' के प्रमाणमें अर्जुनके प्रश्न और श्रीभगवान्‌के उत्तरको प्रमाणमें देनेकी तो किसी प्रकार भी संगति नहीं बैठती । क्योंकि वहाँ तो भगवान् स्पष्ट शब्दोंमें पापवासनामें रजोगुणसे उत्पन्न कामको कारण बताते हैं 'प्रारब्ध' को नहीं ! और आगे चलकर उसी प्रसंगमें साफ-साफ शब्दोंमें अर्जुनको यह आज्ञा करते हैं कि

“इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें बसकर ज्ञान-विज्ञानका नाश करनेवाले इस पापी कामको, तू पहले इन्द्रियोंका नियमन करके, अवश्य मार। आत्मा बुद्धिसे भी श्रेष्ठ है इस बातको समझकर आत्माके द्वारा आत्माको वश करके तू हे महाबाहो! इस दुर्जय कामरूपी वैरीको मार!” यदि प्रारब्धवश ही कामके वशमें होनेमें मनुष्य बाध्य होता तो भगवान् यही कहते कि भाई! प्रारब्धके कारण ऐसा होता है। इसमें कोई क्या करे, 'निग्रहः किं करिष्यति।' परन्तु यहाँ तो 'काम' पर विजय प्राप्त करनेकी आज्ञा स्पष्ट दी गयी है। ऐसी परिस्थितिमें इन श्लोकोंका 'अनिच्छा प्रारब्धवश' पापाचरण होनेके समर्थनमें प्रयोग किया जाना कदापि गीताके पूर्वापरको देखते उचित नहीं जान पड़ता। अतएव प्रथम तो प्रारब्धवश पापका होना ही सिद्ध नहीं होता, फिर ज्ञानीके द्वारा तो पापकर्मकी सम्भावना ही नहीं है। ज्ञानीमें अज्ञान, अहङ्कार, राग, द्वेष और भय कुछ भी नहीं रहते, फिर पाप हो कहाँसे? सबका मूल तो अज्ञान है। जब उसीका नाश हो गया, तब पापोंका रहना कैसे माना जा सकता है? अवश्य ही ज्ञानी पुरुषमें जैसे पाप नहीं हैं, वैसे ही पुण्य भी नहीं हैं, तथापि जिस अन्तःकरणसे ज्ञानीका सम्बन्ध कहा जाता है, उस अन्तःकरणके समस्त कर्म ज्ञानाग्निके द्वारा जल जानेके कारण वह परमपवित्र हो जाता है, उस परमपवित्र अन्तःकरणमें जो पूर्व स्वभाववश स्फूर्ति होती है वह पुण्यमयी और शास्त्रानुमोदित ही होती है। और उस स्फूर्तिके फलस्वरूप होनेवाले प्रत्येक कर्ममें प्राणियोंका कल्याण भरा रहता है!

साधारण मनुष्यको प्रारब्धवश सुख-दुःखका भोग करना पड़ता है, और उस अवश्य होनेवाले सुख-दुःखसे मनुष्य बच भी नहीं सकता। सुखका तो कहीं त्याग भी कर सकता है, क्योंकि वह तो उसको अपने पाससे देना है परन्तु दण्डस्वरूप दुःखभोगका त्याग कोई नहीं कर सकता। यह दुःखभोग ही 'अवश्यम्भावी' है, और इससे कोई भी नहीं बच सकता। इस दृष्टिसे यदि यह कहा जाय कि नल, राम, युधिष्ठिरको भी दुःख भोगने पड़े तो ठीक ही है, परन्तु दुःख भोगनेका पर्याय पाप करना नहीं है।* दुष्कर्मका फल दण्डभोग है, पाप तो नवीन कर्म है जो पापवासनासे उत्पन्न होता है।

अब यदि यह प्रश्न हो कि फिर स्वेच्छा, अनिच्छा और परेच्छा प्रारब्धका क्या रूप होगा तो उनके बहुत-से रूप हो सकते हैं। एक मनुष्य इच्छा करके नदीमें नहाने जाता है, वहाँ डूब जाता है, व्यापार करता है, उसे घाटा-नफा हो जाता है; यह स्वेच्छा प्रारब्ध है। रास्तेमें चल रहा है, ऊपरसे पेड़ गिर पड़ा, मकानमें बैठा है, छत टूटकर उसपर पत्थर गिर गया। भूकम्पसे सर्वनाश हो गया। बाढ़में सब कुछ बह गया। घरकी नींवमें धन मिल गया। यह अनिच्छा प्रारब्ध है। किसीने बिना जाँचे-माँगे ही दान दे दिया, किसीने किसीको मार दिया, जानवरने काट खाया, द्वेषवश या किसी परिस्थितिके कारण किसीने प्रहार कर दिया यह परेच्छा प्रारब्ध-भोग है।

इन सब बातोंके कहनेसे मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि मैं तुच्छ जीव महामान्य विद्यारण्य मुनिके वचनोंका खण्डन कर रहा हूँ; इस प्रकरणको लेकर लोग नानाविध युक्तियोंसे जो उनका खण्डन करते हैं, और उससे जो मेरे मनमें क्लेश होता है; उस क्लेशसे अपनेको मुक्त करनेके लिये मैं ऐसा अनुमान कर रहा हूँ और शास्त्र तथा तर्क मेरे इस अनुमानकी पुष्टि कर रहे हैं। अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार मुझे इस प्रकरणके पञ्चदशीकारकी कृति होनेमें ही सन्देह है। क्योंकि पञ्चदशीकार इस प्रकारकी लचर दलीलवाली बात पञ्चदशी-सरीखे उच्च श्रेणीके महामान्य ग्रन्थमें नहीं लिख सकते।

इतना होनेपर आखिर है यह मेरा अनुमान ही! मैं यह बलपूर्वक नहीं कह सकता कि ऐसा ही है, और न उपर्युक्त विवेचन करनेपर भी यही कहनेका साहस करता हूँ कि पञ्चदशीकारके कथनका वही अर्थ है जो साधारण लोगोंकी समझका अनुसरण करते हुए मैंने दिया है। पञ्चदशीकारकी कृति होनेकी हालतमें तो मैं यही कह सकता हूँ कि मैं उनकी इस व्याख्याको समझ नहीं सका हूँ। और यह मैं पहले भी कह चुका हूँ। परन्तु पाठकोंसे इतना अवश्य निवेदन कर देना चाहता हूँ कि जिस अर्थमें पञ्चदशीकारका यह प्रसङ्ग लिया जाता है, उसी अर्थमें इसको सिद्धान्तरूपसे माननेमें हानिको छोड़कर लाभ नहीं है, किसी भी रूपमें पापका समर्थन करना दुर्बलेन्द्रिय साधकके लिये परम हानिकर हुए बिना नहीं रह सकता। विधि-निषेधके परे पहुँचे हुए सिद्ध पुरुषकी भी शोभा इसमें कदापि नहीं है!

अब गीताके श्लोकोंकी बात रही; सो मेरी समझसे इन्द्रियोंके इन्द्रियार्थोंमें वर्तनेका ऐसा अर्थ करना

---

* भगवान् श्रीराम तो पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम थे, उनके सम्बन्धमें तो कुछ कहना ही नहीं बन सकता।—सम्पादक

गीताका भी दुरुपयोग ही है। अब यह बात समझमें आ गयी होगी कि पाप प्रारब्धसे नहीं होते, पाप होनेमें कारण 'काम' है और 'काम' की उत्पत्ति रजोगुणसे है और 'रजो रागात्मकं विद्धि' के अनुसार रजोगुण 'राग' रूप है। यह राग या विषयासक्ति ही पापमें कारण है और इसका त्याग कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग किसी भी मार्गपर चलनेवालेको करना ही पड़ता है। और ऐसा करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। भगवान्‌ने कहा है, 'कार्यमें तेरा अधिकार है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते'। दूसरी बात यह कि ज्ञानी पुरुषसे निषिद्ध कर्म होता ही नहीं। उसमें यदि कहीं कोई निषेध दीखता है तो वह हमारा दृष्टिदोष है तथा उसके स्वभावज कर्मकी सदोषताके कारण वैसी प्रतीति होती है।

साथ ही यह बात भी याद रखनी चाहिये कि कामक्रोधादि अन्तःकरणके धर्म नहीं, विकार हैं। विकार हैं इसीलिये सत्संग और कुसंग पाकर वे घटते-बढ़ते हैं। जो चीज घटती-बढ़ती है वह नाश भी हो सकती है। अतएव काम-क्रोधका नाश न मानना उचित नहीं है। जो लोग वस्तुतः काम-क्रोधके वश हो रहे हैं, उन्हें कभी ज्ञानी नहीं मानना चाहिये और अपनेमें भी जबतक ऐसी दोषकी वृत्तियाँ वर्तमान हैं तबतक इनके नाशका प्रयत्न करते रहना चाहिये और यही मानना चाहिये कि वास्तविक परमात्मज्ञानसे हम अभी बहुत दूर हैं।'*

पापोंका दोष किसपर है?

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

मालिक तेरी रज़ा रहे और तू ही तू रहे,
बाक़ी न मैं रहूँ न मेरी आरज़ू रहे।
जब तक कि तनमें जान रगोंमें लहू रहे,
तेरा ही ज़िक्र हो औ तेरी जुस्तजू रहे॥

कौन कहता है कि मालिकके दरबारमें न्याय नहीं होता? प्यारे! भूल करके भी कभी ऐसा मत सोच बैठना। उसकी अदालतमें भूलके लिये तो स्थान ही नहीं है। अन्याय और अत्याचार, बेईमानी और धोखेबाजी, रिश्वत और झूठकी तो उसके घेरेतकमें पहुँच नहीं है। वहाँके हाकिम चापलूसी और खुशामदपसंद नहीं होते। डालियों और भेंटों, सिफारिशों और चालाकियोंका वहाँ नामतक नहीं सुन पड़ता। धनी और गरीब, छोटे और बड़े, ब्राह्मण और चाण्डाल, राजा और रंक—वहाँ सब एक ही दृष्टिसे देखे जाते हैं। धन और सम्पत्ति, मान और यश, पद और गौरव—वहाँके न्यायमें लेशमात्र भी बाधा नहीं डाल सकते। वहाँपर तो खरा न्याय होता है, डंडीपर तुला हुआ—शुद्ध, सच्चा और ठीक-ठीक।

यहाँके जजोंको तुम झूठी गवाहियोंद्वारा धोखेमें डाल सकते हो, रुपये-पैसे आदिका लालच देकर न्यायमार्गसे विचलित कर सकते हो, ठीक-ठीक न्याय नहीं हुआ है—ऐसा कहकर उसके न्यायका प्रतिवाद कर सकते हो और आगेकी अदालतोंमें उसके लिये अपील भी कर सकते हो—पर प्यारे! उस घटघटव्यापी परमेश्वरसे झूठ बोलकर तुम कहाँ जा सकते हो? भला किसीमें ऐसी सामर्थ्य भी है जो उसे धोखा दे सके? दाईसे भी कहीं पेट छिपाया जा सकता है? उसे तो तुम्हारी प्रत्येक बातका पता है। गुप्त-से-गुप्त स्थानमें, गहन-से-गहन पर्वतकी कन्दरामें, घोर-से-घोर भयावनी काली रातमें, अनेकों तालोंके अंदर बंद होकर भी तुमने जो कार्य अथवा विचार किये हैं—उसके पास तो उन सारे कामोंकी पूरी-पूरी तालिका है! मिनट-मिनट, पल-पलकी खबर है; फिर भला तुम उससे भी कोई बात छिपा सकते हो? उसका न्याय सर्वमान्य होता है। उसके फैसलेकी कहीं भी अपील नहीं होती। तुम उसके फैसलेको न मानो ऐसा भी कहीं हो सकता है? तुम्हें झक मारकर उसके फैसलेके आगे नतमस्तक हो जाना पड़ेगा।

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

कर्म प्रधान बिस्व रचि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

बोया पेड़ बबूलका आम कहाँसे होय?

जैसा किया है वैसा भोगोगे। जैसा बोया है वैसा काटोगे। पाप और पुण्य जैसा किया है उसीके अनुसार दुःख और सुख प्राप्त होगा—फिर घबड़ानेकी क्या बात है? इसमें रंज मनानेकी क्या वजह है? कार्य और कारण, दुःख और सुख, भला और बुरा, हानि और लाभ, हर्ष और शोक, यश और अपयश, जन्म और मृत्यु—सबका जोड़ा है। एकका दूसरेसे घनिष्ट सम्बन्ध

---

* इस लेखमें जो तत्त्वकी और [illegible] लिखी हैं, वे सत्य हैं—लेखक।

है। गाड़ीके दो पहियोंकी भाँति दोनोंकी उपस्थिति अनिवार्य है अन्यथा यह संसाररूपी गाड़ी एक डग भी आगे न बढ़ सकेगी।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मनकी कल्पना बड़ी विचित्र है। वह जब रस्सीमें 'सर्पका भ्रम कर लेता है तो उसे वह सर्प ही जान पड़ती है। यही हाल सुख-दुःखका भी है। सुखकी कल्पनासे वह आनन्द मनाता है और दुःखकी कल्पनाहीसे वह सिहर उठता है। यह उसकी कोरी-कोरी कल्पना ही है और कुछ नहीं। यदि वह अपनी कल्पनाका दृष्टिकोण बदल दे तो फिर आनन्द ही आनन्द है। सुखमें भी आनन्द और दुःखमें भी आनन्द। वास्तवमें दुःख है क्या ? पहलेके पापोंका ही परिणाम तो ! जिस मंगलमय प्रभुने हमें पहले सुख दिया था यह दुःख भी तो उसीके अनुग्रहका फल है। हमारे पूर्वकृत पापोंका नाश कर निर्दोष बनानेके लिये ही वह अनुग्रहवश दुःखविधान करता है। कर्मोंका फल तो हमें भोगना ही पड़ेगा, फिर चिन्ता किस बातकी ! जो कार्य हमें करना है उसे हम खुशी-खुशी क्यों न करें ! जब हम जानते हैं कि हम दुःख भोगनेसे बच नहीं सकते, फिर क्यों न हम उसे हँसी-खुशीसे आनन्द मनाते हुए झेलें ! उससे दो बड़े लाभ होंगे। एक तो हमें जो दुःख पहाड़-सा भारी और आपत्तिजनक प्रतीत होता है उसका सारा भय निकल जानेसे हम निर्भय हो जायँगे; दूसरे वह मंगलमय प्रभु हमारी प्रसन्नतासे हमपर अपने अनुग्रहकी वृष्टि करने लगेगा जिससे हम कृतार्थ हो जायँगे।

प्रभुके सारे कार्य मंगलमय तथा कल्याणप्रद होते हैं। उसके प्रत्येक विधानमें मनुष्यके कल्याणकी कामना निहित रहती है। यदि कोई छोटा बालक किसी दिन मदर्सेसे कोई छोटी-सी चीज़ चुरा लावे और उसका अभिभावक इस बातपर कुछ भी ध्यान न दे तो आगे चलकर उसके पक्के चोर बननेमें क्या सन्देह है ! भला बताओ इसमें किसका दोष है ! कौन कह सकता है कि इसका सारा दोष अभिभावकको नहीं है ! यदि अभिभावक उसी दिन उस बच्चेको थोड़ी-सी ताड़ना दे देता तो फिर भविष्यमें वह कभी भी चोरी न करता। यह ताड़ना ही उसके लिये अमृतका काम करती।

हम सब लोग उस परमपिताकी परम प्रिय सन्तान हैं। संसारी माता-पिताओंकी अपेक्षा वह हमें अधिक प्रेम करता है। फिर भला वह यह क्यों चाहेगा कि उसके प्यारे बच्चोंमें कोई दूषण रहे ! उसकी सदैव यही इच्छा रहती है कि उसकी प्यारी सन्तान सदैव सन्मार्ग पर चले। इसीलिये हम जब मार्ग भूल बैठते हैं, कुपन्थपर चलने लगते हैं, संसार और प्राणिमात्रका उपकार करनेके स्थानपर अपकार करने लगते हैं—हमारे पथप्रदर्शक उस मंगलमय प्रभुके आज्ञानुसार हमें ठोकर लगती है, जिसका तात्पर्य है कि हमने अभीतक जो मार्ग ग्रहण किया था वह ठीक नहीं। हमें उससे विरत हो जाना चाहिये—और लो ! हम इसीको दुःख मान बैठते हैं ! यह हमारी मूर्खता नहीं तो और क्या है ! जिस दुःखको हमें प्रभुके अनुग्रहस्वरूप ग्रहण करना चाहिये था उसे हम उसकी निष्ठुरता तथा अन्याय समझकर स्वीकार करते हैं। प्यारे ! यह कुछ नहीं है—केवल हमारे अभिभावककी मीठी-मीठी ताड़नाएँ हैं जिन्हें कि हमें सहर्ष शीशपर धारण करना चाहिये क्योंकि इनका तात्पर्य हमारे कल्याणको छोड़कर और कुछ नहीं है। इनका उद्देश्य केवल यह है कि पहलेके किये पापोंके लिये हम सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप करें और भविष्यमें कोई पाप न करें और प्रभुकी इस महती कृपाके लिये उसके कृतज्ञ हों और उससे प्रार्थना करें कि हे प्रभु ! तू सदैव—'असतो मा सद्गमय ! तमसो मा ज्योतिर्गमय !! मृत्योर्मामृतं गमय !!!' (असन्मार्गसे हमें सन्मार्गपर ले चल, अन्धकारसे प्रकाशमें ले चल और मृत्युकी विभीषिकासे हमारा उद्धार कर, मोक्षकी ओर ले चल।)

पर मानव प्राणी कितना दुर्बल है ! प्रभुके इस मङ्गलमय विधानमें भी अमङ्गलकी कल्पना कर लेता है ! कहता है कि—'यह सारा दोष तो प्रारब्धका है तथा उस परमात्माका है जिसकी आज्ञाके बिना—लोग कहते हैं कि एक साधारण पत्ता भी नहीं हिलता। मेरी हस्ती ही क्या है जो मैं उसके विपरीत जा सकूँ ! वह जो कुछ मुझसे कराता गया मैं वैसा ही करता गया—इसमें मेरा क्या दोष !

और करै अपराध कोउ और पाव फल भोग।

यह हाल है। मेरे सारे पापोंका उत्तरदायी या तो प्रारब्ध है अथवा उसका निर्माता वह परमेश्वर। फिर मुझे क्यों उसका परिणाम—दुःख भोगनेको मिल रहा है ! दूसरे—यदि यह मान लिया जाय कि मायाके वशीभूत हो मैंने ये सब पाप किये हैं तो भी मेरा इसमें क्या दोष ! इसका दण्ड या तो मायाको मिलना चाहिये अथवा मायापति श्रीभगवान्‌को—फिर भी

सारा दुःख मुझे भोगना पड़ रहा है, यह उस प्रभुका—जिसे तुम न्यायकारी कहते हो—अन्याय नहीं तो क्या है ?'

प्यारे ! यहीं तुम भूलते हो । जिस अज्ञानान्धकारके वशीभूत हो विषयासक्तिमें फँसकर तुम पाप कर डालते हो उसीका पर्दा अभीतक तुम्हारे अन्तस्तलपर पड़ा हुआ है । वह न्यायकारी प्रभु करुणासागर भी है । वह स्वप्नमें भी हमारा अमङ्गल नहीं चाहता; फिर उसके मत्थे यह दोष मढ़ना कि हमारे सारे पाप हमसे वही कराता है, महान् भूल है । वह हमारा सबसे बड़ा शुभचिन्तक है—उसके प्रति ऐसी कल्पना करना महान् अन्याय तथा उसके प्रति घोर कृतघ्नता होगी ।

जिस समय तुम कोई भी असत् कार्य करने जाते हो, तुरन्त ही तुम्हारे भीतरसे आवाज़ आती है—खबरदार ! ऐसा काम मत करना । यह घृणित काम है । यह हमारी अन्तरात्मा है जो कि असत् कामोंके लिये हमें सदैव धिक्कारती रहती है और सत् कार्योंके लिये सदैव प्रोत्साहित करती रहती है । प्यारे ! यही है उस प्रभुकी सच्ची आज्ञा । वह हमें सदैव उचित आदेश देता रहता है, फिर यह हमारे हाथकी बात है चाहे हम उसे मानें अथवा उसकी अवहेलना कर दें ।

मायाके अथवा मायापतिके मत्थे सारा दोष मढ़ना दूसरी भूल है । भाई ! हम जानते हैं कि हमें गुलाबका सुन्दर पुष्प तोड़नेके लिये पहले काँटोंसे निबटना पड़ता है । धन पैदा करनेके लिये कठिन-से-कठिन परिश्रम उठाना पड़ता है । जो वस्तु जितनी ही उत्तम होती है उसके लिये उतना ही कठिन परिश्रम करना पड़ता है । फिर सुखके उस अनन्त सागरके पास पहुँचनेमें अनेकों विघ्न-बाधाएँ, दुःख और कष्ट आते हैं तो क्या हर्ज ? इन्हें पारकर तुम पहुँच भी तो जाओगे उस शाश्वत आनन्दकी गोदमें, जहाँ दुःखकी छायातक नहीं पहुँच पाती ? यदि उस मार्गमें ये सब आपत्तियाँ न रहें तो हमें वहाँ पहुँचनेपर आनन्द ही क्या प्राप्त हो ? तुम मनुष्य होकर भी आपत्तियोंसे डरते हो, घबड़ाते हो ! जानते हो—

> हरिनो मारग छे शूरानो, नहिं कायरनुं काम जोने ।

वेदमें कहा है कि—

> **हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।**
> **तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥**

सत्यका मुख सोनेके ढक्कनसे ढका हुआ है । हे सत्य-शोधक ! यदि तू उसे प्राप्त करना चाहे तो तुझे उस ढक्कनको खोलकर फेंक देना पड़ेगा । यदि तू उस सोनेके ढक्कनको लेना चाहे तो तुझे सत्यको छोड़ देना पड़ेगा । दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं । एक म्यानमें दो तलवारें नहीं रह सकतीं । सत्य और असत्य साथ-साथ नहीं रह सकते । सत्यको प्राप्त करनेके लिये इस सुनहले ढक्कनके मोह—सांसारिक विषय-वासनाओंकी इच्छाओंपर विजय प्राप्त करनी होगी ।

तुम्हारा हृदय तो सांसारिक विषय-वासनाओंसे कलुषित था । जो मनमें आता था कर बैठते थे । अब उसका परिणाम भोगनेमें क्यों रोते हो ? उस समय तो तुम्हारे विवेकपर अज्ञानका पर्दा पड़ा था । तुम काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदिके पञ्जोंमें जकड़े पड़े थे । मायाके फंदेमें पड़कर विषय-भोगोंमें आनन्द मना रहे थे । अन्तरात्माकी बातपर तो ध्यान ही न देते थे । क्षणस्थायी विषयोंमें आनन्दकी कल्पना कर प्रसन्न हो रहे थे । तब तो तुम्हारा केवल यही उपदेश था कि—

> अभी तो चैनसे गुजरती है आक़बतकी खुदा जाने ।

पर अब ढाड़ें मार-मारकर रोते हो, भला बताओ तो कि—

> 'मजे तुमने उड़ाये हैं, मुसीबत कौन झेलेगा ?'

प्यारे ! अब तो तुम समझ गये होंगे कि यह सारा दोष तुम्हारा ही है । खबरदार ! अब जो तुमने किसी दूसरेपर अपना दोष मढ़ा; प्रारब्ध, माया, परमेश्वर कोई इसके लिये दोषी नहीं । तुम्हारे अपने कुकर्म ही जो तुमने मजा करनेके लिये किये थे, इसमें कारण हैं । तुम स्वयं ही दोषी हो । हाँ, एक सूरत हो सकती थी । तुम उस परब्रह्मके चरणोंमें अपना सर्वार्पण कर दिये होते । यदि तुम चाहते कि इस संसारचक्रसे, इस दुःख-सुखके भँवरसे तुम्हें छुट्टी मिल जाती तो तुम्हें चाहिये था कि तुम मायाको धता बताते, इन्द्रियों और मनपर विजय प्राप्त करते, आसक्ति, वासना और कामनाओंको संयम और त्यागकी भट्ठीमें स्वाहा कर देते । पार्थिव तथा क्षणभङ्गुर पदार्थोंसे प्रेम करनेकी अपेक्षा उस मनमोहन श्यामसुन्दरसे प्रेम किये होते—फिर देखते कि दुःख है ही कहाँ ? यदि तुम उस परमपिताकी अनन्य शरणागतिको पहुँच गये होते, कोई भी वस्तु अपनी न समझते होते, प्रत्येक कार्यको प्रभुकी आज्ञाके अनुकूल करते—तब तुम्हारा यह कहना किसी हदतक ठीक भी था कि मेरे सारे गुण-दोषों, पाप-पुण्योंका उत्तरदायी वह प्रभु ही है । प्रभुसे भिन्न मेरी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । प्यारे ! फिर तुम देखते

कि कोई निन्दित कर्म तो तुमसे बनता ही नहीं। वह मंगलमय प्रभु तुम्हारी उसी प्रकार देखभाल और रक्षा कर रहा है जिस प्रकार स्नेहमयी जननी अपने कोमल शिशुकी करती है। तुम्हारे चारों ओर आनन्दका समु हिलोरें ले रहा है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

पाप क्या है ?

(लेखक—श्रीताराचन्दजी पाण्डया)

बाइबल और कुरानमें पापकी उत्पत्ति और व्याख्या बड़े सुन्दर और आलङ्कारिक ढंगसे की गयी है। ईडेनके बगीचेमें आदम और हव्वा नंगे किन्तु आनन्दमें रहते थे। साँपने (शैतानने) हव्वाको और उसके जरिये आदमको बहकाया जिससे उन्होंने ज्ञानके वृक्षका फल खा लिया। इससे उन्होंने अपने नंगेपनको जाना और शरमाये और उसे पत्तियोंसे ढँका। बस यही उनका पाप था, और इसीके फलस्वरूप उन्हें ईडेनके बाहर निकल जाना पड़ा और दुःखका भागी बनना पड़ा।

इस कथाके भीतर जो तथ्य छिपा हुआ है उसे जाननेकी सच्ची कुञ्जी भारतके आर्षग्रन्थ देते हैं।

आदम आत्मा है। हव्वा (जो आदमके ही अंगसे उत्पन्न हुई थी) आत्माका एक गुण श्रद्धा या रुचि है। शैतान या साँपको हम माया या मोह कह सकते हैं। नंगेपनका अर्थ है परवस्तुओंके सम्बन्धका अभाव अर्थात् स्वयंपूर्णता और आत्मनिर्भरता। ईडेन है आत्माका निजी धाम अर्थात् निज स्वभाव यानी अपने अनन्त आनन्दादि गुण। यहाँ ज्ञानके फलका अर्थ है सुख-दुःख, इष्ट-अनिष्ट, आदिका वह भ्रमपूर्ण और द्वैतात्मक ज्ञान जिसका कि साम्यावस्था—अखण्ड ज्ञानावस्थासे विरोध है।

संक्षेपमें अर्थ यह है कि जब मोहसे आत्मा स्वयंपूर्णतासे च्युत होकर बाह्य वस्तुओंकी कामना करता है तभी उसका पतन होता है। अर्थात् स्वयंपूर्णता ही धर्म है। स्वयंपूर्णताके अर्थ स्वाधीनता, आत्मलीनता, आत्मतृप्ति आत्मशक्ति, आत्मतुष्टि और आत्मनिर्भरता भी हैं। स्वयंपूर्णता अपने खुदके स्वाभाविक गुणोंमें ही हो सकती है, अतः धर्मका अर्थ परपदार्थोंकी अपेक्षासे रहित निज शुद्ध स्वभाव भी है। पूर्णताका भी अर्थ निज स्वभावकी ही पूर्णता है; यदि वह स्वभावसे कम है तो हीनता है, और उसका स्वभावसे अधिक होना तो सम्भव है ही नहीं। अतः धर्मका अर्थ पूर्णता भी है।

जो धर्म नहीं है, जो धर्मसे विपरीत है, वह अधर्म है। इस तरह पराधीनता, परस्वभाव, पररुचि, दीनता, अतृप्ति, असंतुष्टि, आत्मविस्मृति, भ्रमपूर्ण ज्ञान, दुःख (जो सब एक ही हैं) अधर्म हैं।

अधर्म क्यों हेय है और धर्म क्यों उपादेय है ? जो अपनी निज सत्ता है, जो अपना निजी स्वभाव है, उसीके आश्रित सुख स्वाधीन और शाश्वत हो सकता है। जहाँ ज्ञान है और तन्मयता है वहीं सुख है। ज्ञान सिवा आत्माके और कहाँ मिल सकता है ? जहाँ स्वयंपूर्णता, स्वाधीनता, ज्ञान और तन्मयताकी अखण्डता, परिपूर्णता, निःसीमता और शाश्वतभाव हो वहाँ आनन्द भी अखण्ड, परिपूर्ण, निःसीम और शाश्वत होता है। ऐसे गुणशाली आत्माको छोड़कर जड परपदार्थोंमें क्यों भटका जाय ? पर तथा विजातीय होनेसे उनसे तन्मयता भी तो नहीं हो सकती, और बिना तन्मयताके आनन्द और शान्ति कहाँ ? परका स्वभाव अपना हो नहीं सकता, और अपने स्वभावसे वियोग नहीं हो सकता, वह बाह्य निमित्तसे आच्छादित या विकृत भले ही हो जाय, परन्तु इससे तो हीनता, अस्थायीपना और अशान्ति ही होती है, अतः निज स्वभाव और उसकी पूर्णता ही वाञ्छनीय है। अपना पूर्णत्व भी अपने ही गुणोंमें होता है, परकी उन्नति और पूर्णता अपनी कैसे बन सकती है ? ऐसे अनेक कारणोंसे धर्म ही उपादेय है।

इस तरह निज स्वभाव और उसीमें तन्मयता—स्वाधीनताको धर्म कहना ही सत्य सिद्ध होता है। धर्मकी यह व्याख्या सभी देश और सभी कालोंमें निर्बाध है, सभी आचरणोंके धर्माधर्म होनेकी कसौटी है, और व्यवहार और परमार्थ दोनोंमें उपयोगी है। यह सत्यका सत्य है, और विश्वभरमें जितने भी अच्छे नीति-नियम, कानून-कायदे, रीति-रिवाज, उपदेश-आदेश और कर्म तथा भावनाएँ हैं उन सबका मूल आधार और चरम लक्ष्य यही है।

क्योंकि सब आत्मा तत्त्वतः एक हैं, अतः उन सबका धर्म भी एक-सा ही है, फिर उनके रूप और साधन

उनकी व्यक्तावस्थाओंकी विभिन्नताके कारण भले ही विभिन्न हों। उन सबका अन्तिम उद्देश्य तो एक-सी ही अवस्था है।

आत्माका स्वभाव क्या है, इसका ज्ञान शास्त्रसे, सत्संगतिसे और उससे भी अधिक दुराग्रहरहित स्वयं मननसे हो सकता है। यह तो स्थूल दृष्टिसे भी स्पष्ट है कि धन-सम्पत्ति, स्त्री-परिवार, हुकूमत, यश आदि आत्मासे जुदे हैं, अतः अपने सुख-दुःखको इनके आश्रित बनाना पराधीनता है ही। कुछ सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेसे शरीर भी परपदार्थ मालूम होता है। इसका स्वास्थ्य और जीर्णता सदा अपने हाथमें नहीं। विनाश तो इसका एक दिन होगा ही। यह जड़ पदार्थ है जिसके उपादानों और अंगोंको एक-एक कर विचार करनेसे अन्तरात्मा भी उन्हें अपनानेसे साफ इन्कार करता है। आत्माके ज्ञान, शान्ति आदि गुण हमेशा शरीरकी दशाके अनुसार ही नहीं होते हैं—व्याधिकी हालतमें भी शान्ति और तन्दुरुस्तीकी हालतमें भी अशान्तिके उदाहरण मिल सकते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि शान्ति, धैर्य, ज्ञान आदि गुण सर्वथा शरीरके ही आश्रित नहीं हैं। इस तरह शरीरके बल, रूप आदिका अभिमान करना और शरीरके निमित्तसे सुखी-दुखी होना भी अधर्म ही ठहरता है। विचार जो मस्तिष्कमें उठते रहते हैं वे भी सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर आत्माके नहीं ठहरते हैं; क्योंकि आत्मा अपने आपको उनका केवल ज्ञातारूपसे ही प्रतीत करता है—उनमें मैंपनका अनुभव नहीं करता। अलबत्ता 'मैं हूँ', 'मैं जानता हूँ' और 'मैं निराकुलता—सुख और शान्ति चाहता हूँ—ये मेरे स्वभावके अनुकूल हैं'—इन तीनकी प्रतीति मैंपनासे पृथक् नहीं हो सकती, 'मैं' का बोध होते ही इन तीनोंका बोध भी अपने-आप होता ही है। अतएव अस्तित्व (सत्), ज्ञान (चित्) और शान्ति और आनन्द, ये स्वभाव तो आत्माके स्पष्ट ही सिद्ध होते हैं, और इनमें प्रतीतिको भी जोड़ सकते हैं। इन सबमें अपना-अपना कार्य करनेकी शक्ति भी सन्निहित ही है। अस्तित्वका नाश—सत्का असत्—होता नहीं, ज्ञानकी शक्ति सब ज्ञेयोंको जाननेकी है, शान्तिकी सीमा नहीं, ज्ञान अपार होनेसे सुख और बल भी अपार होते हैं, यदि श्रद्धान स्वाभाविक हो तो शुद्ध और सत्य ही होता है और तन्मयता भी अपने स्वभावमें ही होती है। इस तरहसे यह मालूम हुआ कि आत्मा स्वभावसे अमर है, सर्वज्ञ है, असीम, शान्ति और अपार सुख और शक्तिमय है, सम्यक् श्रद्धावान् है, और आत्मलीन है। जहाँ सभी ज्ञानमें एक-सी तन्मयता हो वहाँ समता रहती ही है, अतएव यह भी आत्माका गुण है। आत्मा अपने-आपको अखण्ड अनुभव करता है—एक समयमें एकरसात्मक ही होता है—अतः आत्माका स्वभाव अखण्ड भी है। आत्मामें और भी अनेक गुणोंका पता लगता है, परन्तु उन्हें बतानेके लिये न तो यहाँ जगह ही है और न वैसा करना इस लेखका उद्देश्य ही है।

साधारण जीवोंकी पूर्वलिखित तीन प्रतीतियोंसे मालूम होता है कि उन्हें अपने अस्तित्व और चित्शक्तिके अपृथक्त्वकी तो सदा अनुभूति होती है (फिर वह अल्प और भ्रमयुक्त ही क्यों न हो), किन्तु सुख और शान्तिके अपृथक्त्वकी अनुभूति सदा नहीं होती—इसके लिये प्रायः इच्छाकी ही अभिव्यक्ति होती है। इसका कारण श्रद्धान और तन्मयताका परपदार्थोंकी ओर प्रवृत्त हो जाना है; और ये परपदार्थ स्वरूपमें एक दूसरेसे विसदृश होनेसे, यह प्रवृत्ति रागद्वेषात्मक रूप धारण कर लेती है, अर्थात् जो रुचिके अनुकूल हो उससे राग और जो रुचिके प्रतिकूल हो उससे द्वेष। रुचिके अनुकूल पदार्थके ज्ञानसे रागात्मक सुख और रुचिके प्रतिकूल पदार्थका ज्ञान होनेसे द्वेषात्मक दुःख होता है। इन राग-द्वेषोंसे समता गुण दब जाता है, और सुख-दुःखके पराधीन और अस्थिर होनेसे आत्मा सदा शान्तिके लिये छटपटाता रहता है। प्रिय पदार्थके संयोगजन्य सुखमें भी अप्रिय पदार्थका द्वेष और भय मिश्रित या दबा हुआ रहता है, और इस प्रकार क्षणिक सुख भी सर्वथा निराकुल और पूरा नहीं होता। राग-द्वेष शान्तिको ही नहीं हरते, किन्तु ज्ञानको भी पूर्ण रूपसे नहीं प्रकट होने देते, क्योंकि ये ज्ञानमें रुचि—तन्मयता नहीं होने देते। शरीरादि परपदार्थोंमें 'मैंपन' की भ्रान्ति हो जानेसे और जीवके साथ उनका सम्बन्ध स्वभावतः ही अस्थायी होनेसे आत्माको अपने सत्की अविनाशशीलतामें भी भ्रम हो जाता है। इस तरह श्रद्धान और तन्मयताका विकृत—परप्रवृत्त हो जाना ही पाप है, और इनका शुद्धस्वभावरत होना ही धर्म है। आत्माके गुण तो सदा आत्मामें ही विद्यमान रहते हैं, क्योंकि कोई पदार्थ कभी निजस्वभावरहित या परस्वभावमय नहीं हो सकता। परन्तु विश्वास और तन्मयताके मोहित–विकृत हो जानेसे आत्मामें आत्मविस्मृति हो जाती है और उन गुणोंका अनुभवन अल्पाधिक अंशोंमें आच्छादित हो जाता है।

परपदार्थोंके केवल संसर्गसे या ज्ञानसे पाप या दुःख नहीं होता, क्योंकि जानना तो आत्माका स्वभाव ही है।

Prof. Amodavardhana Kaundinhyayana Collection, Kathmandu, Nepal

उनको अपना माननेसे और उनमें तन्मयतासे—मोहसे और रागद्वेषात्मक आसक्तिसे ही आत्मा पतित और दुखित होता है। वस्तुओंके संसर्गके त्यागका विधान इसलिये है कि वासनाग्रस्त आत्माकी वासना प्रायः वस्तुके संगसे उत्तेजित हो जाती है तथा संगके अभावमें प्रायः शान्त रहती है जिससे शक्ति-सञ्चयका अवसर मिल सकता है। पूर्णात्मा तो सबको देखता-जानता हुआ भी निष्पाप रहता है।

धर्म-प्राप्तिका उपाय भी धर्म कहलाता है। यह भी अल्पाधिक अंशोंमें स्वभावके अनुकूल होता है। जो जितने अंशोंमें स्वभावके अनुकूल है उतने अंशोंमें धर्म और शेष अंशोंमें पाप होता है। परस्परकी तुलनासे भी कार्योंकी पाप और पुण्य संज्ञा होती है।

अब्रह्मचर्य क्यों पाप है ? क्योंकि इसमें आत्मा अपने सुखको स्त्री आदि बाह्य पदार्थोंके आश्रित करता है। स्वस्त्रीसन्तोषमें सिवा स्वस्त्रीके अन्य सब स्त्रियोंके प्रति वासनाका त्याग होता है, अतः यह उतने अंशोंमें धर्म है, किन्तु ब्रह्मचर्यका घात जितने अंशोंमें होता है उतने अंशोंमें तो अधर्म ही है। स्वस्त्रीसे भी निरे पशुवत् विषय-भोगकी अपेक्षा सद्गुणी सन्ततिके लिये विधिवत् मैथुन ही धर्म है, क्योंकि इसमें अधिक संयम—अधिक वासनासे स्वाधीनता है। आत्मा शुद्ध स्वभावसे तो मन, वचन, कायसे रहित है। अतः असली सत्य तो यथार्थ मौन और शान्ति है। परन्तु व्यवहारमें कथित सत्य वचनमें असत्य और अहितकर वचनोंका त्याग है, सरल होनेसे उसमें कपटाचरणकी अपेक्षा मनोव्यापार आदिकी क्रियाएँ भी कम होती हैं, और उससे निजको और परको दोनोंको शान्ति अधिक होती है। अतः असत्यभाषणकी अपेक्षा सत्यभाषण धर्म है। आत्मा स्वभावतः न तो किसीको बाधा देता है और न किसीसे बाधित होता है, अतः अहिंसा धर्म है। स्वयं पूर्णात्मा ही पूर्ण अहिंसक होता है, और अपनी तरफसे सबको पूर्ण अभय देता है। दया क्यों धर्म है ? शुद्धात्मा प्रेम जरूर करता है, परन्तु उसका प्रेम परपदार्थोंके प्रति नहीं किन्तु अपने समस्त ज्ञानमें एक-सी लीनता है। वह सुखी और दुखी दोनोंको जानता है, और अपने दोनोंके ज्ञानमें एक-सा रत रहता है। उसका ज्ञान विश्वज्ञान है, और उस सबमें एक-सा रत रहनेसे ही उसका प्रेम विश्व-प्रेम है। उसकी यह साम्यावस्था परपक्षके लिये तो प्रेम न होना-सा—उदासीनता ही है। यदि वह दयालु हो तो इतने दुखी जीवोंको जानते हुए उसे कैसे चैन हो ? सर्वथा कामनारहित होनेसे उसमें किसीके हिताहितकी कामना भी कैसे हो ? जगत्में कोई बात नियमविरुद्ध न हो सकनेसे दुःख भी नियमविरुद्ध नहीं होता, तब शुद्धात्मा नियम-भंग कैसे कर सके ? नियम-भंगसे तो पक्षपात, अन्याय और अव्यवस्था होगी जो निर्दयता भी है। ऐसे अनेक कारणोंसे यही ठीक है कि आत्माका शुद्ध स्वभाव तो अहिंसामय होनेपर भी दयामय नहीं। शुद्धात्माके ध्यानादिसे जो हमारा महान् हित होता है वह हमारी स्वाभाविक शक्तिसे होता है, कोई उसकी प्रेरणासे नहीं, अतः सिद्धान्ततः वह यों भी दयामय नहीं सिद्ध होता। परन्तु दया और परोपकारसे मिथ्या अहं या ममके बजाय जीवत्वसे प्रेम होता है। अन्य जीवोंका तत्त्वतः अपने समान होनेसे उनकी अवस्थाओंसे अपनी भी सम्भवनीय नाना अवस्थाओंका ज्ञान होता है, संसारकी दुःखमयता जानकर उससे वैराग्य होता है, कर्म करनेकी राजस प्रवृत्तिका सदुपयोग होकर उसकी शान्ति होती है, सुखी और शान्त जीवनकी परिस्थिति मिलती है, क्रोधादि दूर होते हैं, हिताहितकी बुद्धि बढ़ती है, आत्मज्ञानकी प्राप्ति सरल हो जाती है। सम्पत्ति-शरीरादिसे ममता घटती है, आलस्य और प्रमादका ह्रास होता है, पर-पीड़ाजनक क्रियाओंका त्याग होता है, परिणाम कोमल और सरल होते हैं, अहिंसादिकी साधना होती है, इत्यादि। अतः इस अपेक्षासे दया धर्म है और वासनाग्रस्त प्राणियोंके द्वारा आराधनीय है। परमेश्वरकी भक्तिमें परमेश्वरके शुद्धात्म स्वरूपके सदृश होनेपर भी पृथक्त्व भावसे 'पर' होनेसे स्वात्मलीनताकी अवस्था तो नहीं होती, परन्तु सांसारिक पदार्थोंकी आसक्तिका त्याग होनेसे और ज्ञानादि शुद्धात्माके गुणोंमें प्रीति और प्रतीति होंनेसे इस अपेक्षासे एक महान् और आत्मज्ञानका साधनरूप धर्म है। आत्मा अमर है, अतएव मृत्युका भय पाप है। आत्माको कोई दुःख नहीं पहुँचा सकता और न कोई इसके किसी गुणका हरण कर सकता है, अतः दुःख और हानिका भय पाप है। आत्मा ज्ञानमय है—सब पदार्थोंको और खुदको भी पूर्ण रूपसे और सम्यक् प्रकारसे जानता है, अतः अज्ञान, भ्रम और मिथ्याप्रतीति पाप है। आत्मा बलवान् है, अतः निर्बलता पाप है। आत्मा मन, वचन, कायसे रहित है, अतः आत्माका इनसे सम्बन्ध होना और इनके द्वारा कर्म करना पाप है, परन्तु यदि इनकी क्रियाएँ इनके ही स्वभावसे होती रहें और आत्माका उनमें मोह और आसक्ति न हो

तो आत्मा पापका भागी नहीं होता। इस तरह विषयको स्पष्ट करनेके लिये धर्माधर्मके थोड़े-से उदाहरण थोड़ी-सी अपेक्षाओंसे दिये गये हैं। पूरा वर्णन तो कैसे कर सकें?

क्रोधादि आत्माके स्वभाव हैं या नहीं? आत्माको स्वयंपूर्ण, अखण्ड ज्ञानात्मक और आत्मलीन माननेसे क्रोधादि स्पष्ट ही अस्वाभाविक मालूम होते हैं। मोटे तौरपर भी क्रोधादिसे शरीर जलने लगता है, आत्माको बेचैनी मालूम होती है, इन्हें कम किया जा सकता है, और इनके कम होनेसे आत्माके शान्ति, ज्ञान आदि गुण बढ़ते हैं। इससे भी क्रोधादि अस्वाभाविक सिद्ध होते हैं। इच्छा भी कमती-बढ़ती हो सकती है, इच्छासे अशान्ति होती है, आत्मा स्वयं इच्छाको व्याधि-सा अनुभव करता है जिसको मिटाने अर्थात् जिसकी अनुभूति न होने देनेका ही प्रयत्न करता है। अतः इच्छा भी शुद्ध स्वभाव नहीं है। जहाँ पूर्ण आनन्द और सर्वज्ञता है वहाँ इच्छाका काम ही क्या? जहाँ तन्मयता है वहाँ इच्छासे क्या प्रयोजन? इच्छा जहाँ एक तरफ पराधीनता और आत्माका परपदार्थोंका भिखारी होना है वहाँ दूसरी तरफ इसकी चञ्चलता और अतृप्तता यह भी सूचित करती है कि आत्मा स्वभावतः सर्वभोक्ता और सर्वज्ञाता है और बिना पूर्णताकी अनुभूतिके शान्ति नहीं मिल सकती। सर्वज्ञ और आनन्दमय आत्माका किसी वस्तुके ज्ञानसे रति और किसीसे अरति करना अस्वाभाविक ही है, अतः राग-द्वेष भी अस्वाभाविक हैं, और फिर जिससे किसी समय राग है उसीसे दूसरे समय द्वेष है, इससे इनकी चञ्चलता और निस्सारता भी प्रकट है।

तब इच्छा, रति, अरति, भय, सुख, दुःख आदि अस्वाभाविक होते हुए भी आत्मामें कैसे हुए और क्यों उसे इतने स्वाभाविक-से प्रतीत होते हैं? जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, इनका कारण श्रद्धान और तन्मयताकी गलत (अशुद्ध) प्रवृत्ति है। इस अशुद्ध प्रवृत्तिका एक कारण तो स्वयं आत्माकी ही ऐसी योग्यता—ऐसी शक्ति है क्योंकि यदि ऐसी गलत प्रवृत्तिकी शक्ति उसके स्वभावमें सर्वथा ही नहीं होती तो ऐसी प्रवृत्ति कभी हो भी नहीं सकती थी। और दूसरा कारण बाह्य है जिसे प्रकृति या कर्मका सम्बन्ध कहते हैं। यदि बाह्य कारण न माना जाय तो प्रथम तो यह असम्भव है कि एक ही वस्तुमें अकारण ही—केवल स्वभावसे ही शुद्ध और अशुद्ध अवस्थाएँ एक साथ और एक समयमें रहें, और दूसरे फिर आत्माका छुटकारा भी असम्भव होता, क्योंकि स्वभावसे छुटकारा कैसे हो सकता है?

भारतीय ऋषियोंका कहना है कि आत्मा अनादि कालसे ही माया, प्रकृति या कर्मसे सम्बद्ध होकर अपने आपको भूलकर बाह्य पदार्थोंमें लीन हो रहा है, और अपूर्णताका अनुभव करता हुआ इच्छा, रति, अरति, सुख, दुःख आदि करता आ रहा है। यह इतने कालसे और इतनी मात्रामें होता आ रहा है कि आत्माको इच्छादि वैसे ही आवश्यक, अपृथक् और स्वाभाविक-से मालूम होते हैं जैसे कि घोर शराबीको शराब। युक्तिसे भी आत्मा अनादिसे ही अशुद्ध सिद्ध होता है। सत् होनेसे आत्मा अनादि और अनन्त तो है ही। यदि उसका प्रथम शुद्ध रहना माना जाय तो पूर्ण ज्ञान भोगते हुए भी बलवान आत्मा अशुद्ध कैसे हो जाता है और फिर तो जो आत्मा शुद्ध हो गये हैं वे भी फिर अशुद्ध होकर दुःख-चक्रमें पड़ सकते हैं। (यहाँ यह बता देना जरूरी है कि प्रकृति आदि बाह्य कारण भी आत्माकी अशुद्धावस्थामें ही उसपर असर कर सकते हैं।)

जो अनादि है उसका अन्त कैसे हो सकता? कर्म और उनसे उत्पन्न संस्कार समुदाय और प्रवाहरूपसे अनादि हैं परन्तु प्रत्येक कर्म और तज्जन्य संस्कार सादि है और कुछ कालतक ही ठहरनेवाला है? इनका सम्बन्ध सकारण होनेसे कारणके नाश और अभावमें इनके सम्बन्धका भी नाश और अभाव हो जाता है। इस प्रकार इनका अन्त सम्भव है। बाह्य कारणके न रहनेपर आत्माकी श्रद्धा और तन्मयता भी शुद्ध और शुद्ध स्वभावरत हो जाती है।

धर्म और अधर्म अपना फल किस तरह देते हैं? बीजके अनुरूप ही फल होता है। पापसे आत्माकी पराधीनता दृढ़ होती है और पुण्यका फल इससे विपरीत होता है। यही पाप और पुण्यके फलका रहस्य है।

मोह और आसक्ति ही पाप है। तीव्र मोह और आसक्तिमें पराधीनता अधिक सूचित होती है, अतः इसमें पाप तीव्र है और इसके रूप तीव्र आत्मविस्मृति, तीव्र वासना और इन्द्रियपरायणता, क्रोध-लोभ-मानादि, क्रूरता, झूठ, चोरी आदि होते हैं। मन्द मोह और आसक्तिमें कम पराधीनता प्रकट होती है, अतः इसमें पाप भी कम है और इसके रूप अल्पाधिक आत्मबोध, दयाभाव, निष्कपटता, सन्तोष, मन्द वासना, न्यायबुद्धि, मन्द क्रोधादि होते हैं।

तीव्र पापसे आत्माकी वासना अर्थात् परपदार्थोंकी इच्छा और पराधीनता अधिक बढ़ती है, परन्तु साथ ही,

क्योंकि तीव्र पापमें दूसरोंके हितोंका घात अधिक होता है, दूसरोंकी प्रतिकूलता भी बढ़ती है, और क्योंकि वासनाकी तृप्ति परपदार्थोंके जरिये ही हो सकती है, इसलिये इन सबका परिणाम यह होता है कि वासना बढ़ती है और साथ ही वासनातृप्तिके साधन कम होते हैं, जिसका फल सिवा दुःखके और क्या हो सकता है ?

मन्द पापमें अर्थात् पुण्यमें वासना कम होती है अर्थात् आत्माकी यह दशा होती है कि यदि वासनातृप्तिके साधन न मिलें तो भी विशेष दुःख न हो। परन्तु मन्द पापकर्म प्रायः दूसरोंके हितोंके भी अधिक सहायक या अविरोधी होनेसे उनके फलस्वरूप वासनातृप्तिके साधन बढ़ते हैं, और इन सबका नतीजा होता है शान्ति और सुख।

मोह और आसक्तिके सर्वथा अभावसे आत्मा परपदार्थोंसे सर्वथा निःस्पृह—स्वाधीन होकर शान्ति और आनन्दको अपने-आपमें सर्वथा अपनेद्वारा ही अनुभव करता है। सम्बन्धके कारणोंका अभाव होनेसे शरीरादि परपदार्थोंके सम्बन्धसे भी मुक्ति हो जाती है।

पुण्य स्वयं भी अल्पाधिक रूपमें समता और शान्ति है, उसमें तदनुरूप तत्काल भी शान्ति और स्वाधीनताका अनुभव होता है। जिस पुण्यमें शान्ति और त्यागभावना नहीं वह सत्कर्म होते हुए भी खुद कर्त्ताके लिये सच्चा पुण्य—शान्तिदायक—नहीं है, और उसका परिणाम भी वैसा ही होता है। जो बात पुण्यके लिये कही गयी है, पापके लिये उससे विपरीत समझना चाहिये।

सांसारिक सुखके लिये भी वासनाका मन्द होना आवश्यक है, केवल बाह्य सामग्री ही पर्याप्त नहीं है। एक करोड़पति अपनी विशाल सम्पत्तिसे भी उतना ही सुख पा सकता है जितना उसे अपनी सम्पत्तिसे सन्तोष है और इससे अधिकका लोभ नहीं है।

साधारणतः एक रुपयेके प्रति एक निर्धनकी अपेक्षा एक करोड़पतिकी तृष्णा कम होती है। यह मन्द वासनाके ही पूर्व संस्कार और फलको सूचित करती है। परन्तु शुभ कर्म करते समय या उसके आगे-पीछे अति तृष्णा—धनलुब्धता होनेसे उसका यह परिणाम हो सकता है कि धनवान् होनेपर भी कृपणता या अति तृष्णा हो।

शुभ कर्म और शुभ कामनाएँ आत्मज्ञान बिना किये जानेपर सांसारिक सुखको देनेवाली होनेपर भी प्रायः आत्माको मोहित कर—आसक्ति पैदाकर—अन्तमें दुःखरूप होती हैं, परन्तु वे ही आत्मज्ञानसहित किये जानेपर निर्मलतर भावों परिणामस्वरूप अधिक सांसारिक सुख देनेवाली होनेपर भ आत्मज्ञानके संस्कारसे आत्माको मोहित नहीं करतीं, बल्कि मुक्तिमें भी सहायक होती हैं।

पापसे पापके और धर्मसे धर्मके संस्कार आत्मामें पड़ते हैं। प्रत्येक संस्कार योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पाकर प्रकट हो जाता है और अपनी शक्ति नष्ट न होनेतक फल देता रहता है और ऐसा करते हुए अपने-जैसे अनेक नवीन संस्कारोंका निमित्त कारण बन जाता है। कई संस्कारोंका असर प्रायः तत्काल ही शुरू हो जाता है और कइयोंका कालान्तरमें या जन्मान्तरमें होता है। अधिक दीर्घ कालतक लगातार असर करते रहनेवाले संस्कारकी अपेक्षा थोड़े कालतक लगातार असर करते रहनेवाला संस्कार साधारणतः जल्दी प्रकट होकर—जल्दी परिपक्व होकर—अपना फल देना शुरू कर देता है। प्रबल संस्कार तो परिस्थितियोंकी भी अपेक्षा नहीं रखते हैं, वे परिस्थितियोंको अपने अनुकूल कर लेते हैं। वर्तमान समयके कर्मोंसे या एक ही समयमें प्रकट होनेवाले संस्कारोंमेंसे जो प्रबल हो उससे भी अनेक संस्कार असमयमें ही पक्व हो जाते हैं या परिवर्तित हो जाते हैं या दब जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं।

भिन्न-भिन्न पदार्थोंके प्रति प्राणियोंकी जो रुचि-अरुचि होती है उसका कारण अधिकांशमें उनकी पूर्वजन्मसे आयी हुई आदतोंके सिवा और क्या बताया जा सकता है ? इससे संस्कारोंका होना सिद्ध होता है।

संस्कारोंकी सन्तति जन्म-जन्मान्तरोंतक चलती रहती है। इनकी अभिव्यक्तिके लिये योग्य शरीरादिका निर्माण या संयोगादि होता है। भौतिक पदार्थोंकी इच्छाके लिये भौतिक साधन ही जरूरी होते हैं; स्वाधीन ज्ञान और सुखके लिये तो उनकी जरूरत ही क्या ?

कई पाप ऐसे होते हैं या इतने दीर्घकालतक लगातार फल देनेवाले होते हैं कि उनके फलके लिये इस पृथ्वीपर सम्भव दुःख और शरीरादि साधन पर्याप्त और योग्य नहीं होते। उनके लिये नरक-जैसे लोकका अस्तित्व मानना पड़ता है, जहाँ सदा अशान्तिजनक परिस्थितियाँ होती हैं और जहाँ शरीर भी ऐसा मिलता है जो घोर दुःख, घोर आघात और घोर भूख, प्यास, सरदी, गरमी आदिकी वेदनाओंमें भी सुदीर्घकालतक स्थित रह सके। उसी तरह कई पुण्य ऐसे होते हैं जिनमें वासना मन्द या सूक्ष्म होती है और

जिनके फलके लिये इस पृथ्वीपर सम्भव सुख और शरीरादि साधन पर्याप्त और योग्य नहीं हैं। उनके लिये स्वर्ग-जैसे लोकका अस्तित्व मानना पड़ता है, जहाँ सदा शान्तिमय परिस्थितियाँ होती हैं और जहाँ शरीर भी ऐसा दिव्य मिलता है जो रोगरहित और जरारहित हो, जिसमें कोई आघातादिजन्य पीड़ा नहीं हो सकती हो, जिसे भूख-प्यासकी वेदना दीर्घकालमें और अत्यल्प ही होती हो और जिसके जरिये दिव्य और सूक्ष्म भोग व ज्ञान सुदीर्घकालतक भोगे जा सकें।

आत्माकी जिस शक्तिका विशेष उपयोग होता है वह शक्ति विशेष व्यक्त हो जाती है और जिस शक्तिका कम उपयोग होता है वह कम व्यक्त होती है, इस नियमसे भी पाप-पुण्यके फलोंपर विचार किया जा सकता है। जो इन्द्रियभोगोंमें अधिक आसक्त हैं वे विवेकशक्तिका कम उपयोग करते हैं, जिसके फलस्वरूप वे ऐसी अवस्थाको पाते हैं जिसमें विवेक-शक्तिकी अभिव्यक्ति अत्यल्प या बिल्कुल नहीं होती। इन्द्रियभोगपरायणोंमें भी जो किसी एक इन्द्रियज्ञानमें ही विशेष आसक्त हैं वे ऐसी अवस्थाको पाते हैं जिसमें उसी एक इन्द्रियसे ज्ञान होता है, और अन्य इन्द्रियोंसे ज्ञान अत्यल्प या बिल्कुल नहीं होता। आत्माके ज्ञानादि गुणोंमें अल्पाधिक रुचि रखनेवालोंमें आत्माकी ज्ञानादि शक्तियोंकी अल्पाधिक अभिव्यक्ति होती है और अगर जरूरी हो तो उनके लिये योग्य बाह्य साधन—इन्द्रियादि भी मिल जाते हैं। पदार्थके गुण-ज्ञानसे मोहित होकर ज्ञान या गुणकी अपेक्षा पदार्थमें ही अत्यधिक आसक्ति हो जानेसे उस पदार्थ-जैसी देह मिलती है। प्रत्येक क्षणके कर्म इस प्रकार फलोंकी ओर प्रवृत्त होते हैं। वासनाके मन्द हो जानेपर आसक्ति कम होनेसे अधिक शक्तियोंका उपयोग होता है, अतः इससे अधिक शक्तियोंकी अभिव्यक्ति हो सकती है। स्थावर जीवोंमें इन्द्रियोंमें सिर्फ स्पर्शन इन्द्रिय और स्पर्शज्ञान होता है। ज्यों-ज्यों आसक्ति कम होती जाती है त्यों-त्यों रसना, घ्राण, चक्षु, श्रवण और बुद्धि इन इन्द्रियोंकी तथा उनकी शक्तियोंकी अभिव्यक्ति होती जाती है। यदि आत्मा इन शक्तियोंमें फिरसे अनुचित रूपसे आसक्त हो जाय तो ये शक्तियाँ पुनः अव्यक्त हो जाती हैं—सिवा कम-से-कम स्पर्श शक्तिके, (यदि यह भी अव्यक्त हो सकती होती तब तो आत्मा पूर्णतया जडतुल्य हो जाता, जो कि स्वभावविरुद्ध है, और फिर तो उसका पुनरुत्थान भी असम्भव हो जाता)। यही विकासका क्रम है, और चौरासी लाख योनियोंमें आवागमनका रहस्य है। पूर्णात्मा बन जानेपर इस चक्रसे छुट्टी मिल जाती है, क्योंकि फिर न तो अवनति हो सकती है और न उन्नतिके लिये ही कुछ शेष रहता है—कृतकृत्यता हो जाती है।

पूर्णता कैसे प्राप्त हो अर्थात् पापसे मुक्ति कैसे हो? पूर्णता तो खुद आत्मामें सदा ही रहती है। सिर्फ उसकी मिथ्या श्रद्धा और गलत तन्मयता (चारित्र्य) से उसकी अभिव्यक्ति—उसका अनुभव—नहीं होता। ये ही पाप हैं। इनसे मुक्ति पानेके लिये प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों जरूरी हैं। प्रारब्ध कहते हैं पूर्व संस्कारोंको, जो असलमें स्वयं आत्माके कर्मोंसे होते हैं, परन्तु एक दफा हो जानेपर आत्माके नियन्ता-से बन जाते हैं। निम्नकोटिके जीव तो सर्वथा प्रारब्धके वशमें रहते हैं। प्रारब्धके पर्याप्त अनुकूल होनेपर मनुष्यादिको उच्च योनियोंमें जन्म, विवेक-शक्ति, सत्संगति, वासनाओंसे थोड़ी-बहुत स्वाधीनता आदि अच्छे साधन मिलते हैं और इनसे स्वाधीन सुखकी ओर कुछ रुचि भी होती है। आत्मा इन साधनोंका—विशेषकर विवेकका (जो पुरुषार्थका मुख्य साधन है)—सदुपयोग कर सकता है। यही पुरुषार्थ है। फिर तो पुरुषार्थसे आत्मा अपनी शक्तियोंको बढ़ाता हुआ अनुकूल साधनोंको भी बनाता रहता है। और अन्तमें प्रारब्धसे स्वाधीन होकर अपनी पूर्ण उन्नति कर लेता है।

बुद्धिके द्वारा अपना और परका ज्ञान होता है और वही ज्ञान श्रद्धा होनेपर सम्यक् ज्ञान बन जाता है और तदनुसार चारित्र्य बननेकी प्रवृत्ति होती है। सच्चे आत्मज्ञानका अर्थ कोरा शास्त्रीय ज्ञान या मस्तिष्कीय ज्ञान नहीं है बल्कि आत्माका एक तरहसे प्रत्यक्ष दर्शन है, जिसके होनेपर आत्मामें गाढ़ श्रद्धा और रुचि हो जाती है। गाढ़ रुचि हो जानेपर उसके स्वरूपसे तन्मय हो जानेके लिये—अपने चारित्र्यको उसके अनुसार बना लेनेके लिये—सच्चे प्रयत्नके लिये प्रेरणा होती है। ऐसे ज्ञानीमें कपटाचरण सम्भव नहीं। ऐसा ज्ञानी परमार्थको जानते हुए भी अपनी स्थितिके योग्य व्यवहारको नहीं छोड़ता अर्थात् आत्माकी शुद्ध स्थितिको जानते हुए भी जबतक उस शुद्ध स्थितिका अनुभव न हो तबतक अपनी वर्तमान स्थितिके योग्य कर्तव्योंको अहंकारसे नहीं छोड़ता। नमक मिला हुआ जल तत्त्वदृष्टिसे खारा न होनेपर भी जबतक उससे नमक पृथक् न हो तबतक व्यवहारमें तो उसका उपयोग खारे जल-जैसा ही होता है और नमकको उससे पृथक् करनेके लिये जहाँ यह जानना जरूरी है कि उसका असली स्वभाव खारा नहीं है और वह नमकसे पृथक् हो सकता है, वहाँ

Prof. Amodavardhana Kaundinhyayana Collection, Kathmandu, Nepal

यह भी जानना जरूरी है कि वर्तमानमें तो वह नमकसे मिला हुआ है, वरना व्यवहारमें ही असत्यता न होगी किन्तु नमकको जलसे अलग कर देनेकी ओर प्रवृत्ति भी न होगी। खुद तो सुईके चुभनेसे भी आकुल हो जाना, परन्तु दूसरेपर तलवार चलाते समय आत्माकी अमरता और सुख-दुःख-राहित्यकी दुहाई देना, इन्द्रियासक्तिको तो न छोड़ना परन्तु आत्माको शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन कहकर सत्कर्मसे कतराना, परधनहरणमें तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की पुकार मचाना परन्तु खुद क्रोध और लोभको न छोड़ना—ये कपटाचरण अज्ञानके ही उदाहरण हैं।

ज्ञानसे नवीन कर्म तो बँधते नहीं किन्तु पिछले कर्म भी नष्ट या निर्बल हो जाते हैं। ज्ञान आत्माकी अवस्था—भावनाको सुधार देता है और इससे प्रारब्धवश क्रोधादिकी उत्तेजक परिस्थितियोंका संयोग होनेपर भी आत्मा दुःख और क्रोधादि नहीं करता—समता रखता है। इससे क्रोधादि पूर्व संस्कारोंका नष्ट होना सिद्ध होता है। सम्भव है कि कुछ पूर्व संस्कार इतने प्रबल हों कि उनके कारण आत्माके चारित्र्यकी पूर्णता कुछ कालतक न हो, फिर भी ज्ञानसे वे कुछ मन्द जरूर हो जाते हैं और धीरे-धीरे मन्दतर होते जाते और अन्तमें नष्ट हो जाते हैं। निर्मल श्रद्धा और आत ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर आत्मा यदि प्रबल संकल्प करे तो ए क्षणमें ही अनादिकालकी समस्त बन्धनसन्ततिको विनष्ट क सकता है, परन्तु अक्सर पूर्व संस्कारोंके वश आत्मा वासनाक मोह एकदम सर्वथा नहीं छोड़ती और इससे संकल्पकी ऐसी असाधारण प्रबलता भी प्रायः नहीं होती। कुछ वर्षोंकी ही आदतोंको छोड़ना कितना मुश्किल है, फिर संस्कार तो सन्तति-दर-सन्तति चली आ रही अनादि कालकी पुरानी आदतें हैं।

अपना भला चाहनेवालोंको अर्थात् मुमुक्षुओंको चाहिये कि कम-से-कम ऐसी कामनाओंको तो, जो स्पष्ट ही अनावश्यक मालूम होती हैं, छोड़कर और इस प्रकार अपनी बुद्धिको यथाशक्य एकाग्र और निर्मलकर, आत्मज्ञानकी साधना कर उसकी उपलब्धि करें। यही वेदका अन्त अर्थात् ज्ञानका उद्देश्य और पूर्णत्व है। शास्त्रज्ञान यहीं-तक ले जाता है। इसके आगे तो आत्मा खुद अपना गुरु और नेता हो जाता है और समस्त सदाचरण धीरे-धीरे या एक साथ स्वतः उसमें प्रकट हो जाते हैं और वह खुद सत्य और शुद्ध चारित्र्यमय बन जाता है।

आत्मसाक्षात्कारके लिये दुश्चरितको छोड़ो

(लेखक—श्री अ० वेंकट सुब्बय्या)

आत्मस्वरूपके उपदेशके लिये नचिकेताने वैवस्वत यमसे प्रार्थना की। यमने उसे उपदेश देनेसे पहले यह कहा—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

अर्थात्—जो दुश्चरित्रसे विरत नहीं, शान्त नहीं, समाहित नहीं, शान्तमानस नहीं, वह (केवल) प्रज्ञानसे इस (आत्मा) को नहीं जान सकता।

यह प्रसंग कठोपनिषद् (१।२।२४) में आया है। प्रज्ञानका अर्थ है मनन-निदिध्यासन।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'

—इस बृहदारण्यकोपनिषद्वाक्यमें विहित है कि मुमुक्षुको आत्माका मनन-निदिध्यासन करना चाहिये। कठोपनिषत्के उपर्युक्त वाक्यसे स्पष्ट होता है कि मनन-निदिध्यासन करनेवाले मुमुक्षुके लिये दुश्चरित्रोंको छोड़ देना सबसे पहले अत्यन्त आवश्यक है, यदि वह नहीं छोड़ता तो वैसे कोरे मनन-निदिध्यासनसे उसको आत्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता।

अतः मुमुक्षुमात्रका यह पहला कर्तव्य है कि अपने दुश्चरित्र छोड़ दे। अब 'दुश्चरित्र' शब्दपर विचार करके उसका अर्थ जान लेना आवश्यक है। यह अर्थ अन्य दर्शनोंको देखनेसे स्पष्ट होता है।

१–योगदर्शन–इसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—इस अष्टाङ्गयोगसे साधकोंको भगवत्प्राप्ति करनेका उपदेश मिलता है। इनमें सबसे पहला अंग 'यम' है। यमका अर्थ है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

२–बौद्धदर्शन–इसके अनुसार प्रवृत्तिमार्गको छोड़कर निवृत्तिमार्गमें जानेवालोंके लिये सबसे पहले पाँच प्रकारके व्रतोंका स्वीकार आवश्यक है। ये व्रत इस प्रकार हैं—

(क) पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापदं समादियामि ।
(ख) अदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि ।
(ग) कामेसुमिच्छाचारा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि ।
(घ) मुसावादा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि ।
(ङ) सुरा-मेरेय-मज्ज-पमादट्ठाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि ।

अर्थात्—

मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं प्राणिवध नहीं करूँगा ।
,, ,, ,, अदत्त वस्तुको नहीं लूँगा ।
,, ,, ,, स्वेच्छासे (अर्थात् शास्त्रमें अविहित रीतिसे) कामोंको नहीं भोगूँगा ।
,, ,, ,, झूठ नहीं बोलूँगा; और मद्य आदि मादक पदार्थोंका सेवन नहीं करूँगा ।

३–जैनदर्शन–इसमें भी प्रवृत्तिमार्ग छोड़कर निवृत्तिमार्ग ग्रहण करनेवालोंके लिये एकव्रत लेना पड़ता है। वह तत्त्वाधिगमसूत्र, आचरांगसूत्र इत्यादि ग्रन्थोंके कथनानुसार यह है—

हिंसानृतास्तेयब्राह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥
(तत्त्वा० ७ । २)

अर्थात् प्राणहिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, (शास्त्राविहित रीतिसे) स्त्रीसंग करना, और (किसी वस्तुका) परिग्रह करना—इन पाँचोंको छोड़ना ही व्रत है।

उक्त तीन दर्शनोंमें वेदप्रामाण्यको अङ्गीकार करनेसे योगदर्शन आस्तिक कहा जाता है और उस प्रामाण्यको अङ्गीकार न करनेसे बौद्ध और जैन दर्शनोंके लिये 'नास्तिक' शब्दका व्यवहार किया जाता है । नास्तिक होनेपर भी ये दोनों दर्शन योगदर्शनकी ही रीतिसे यह कहते हैं कि मुमुक्षुका सबसे पहला कर्तव्य हिंसा आदिको छोड़ना है । अर्थात् प्राणिहिंसा, चोरी (परस्वापहार), झूठ, (शास्त्राविहित रीतिसे) स्त्रीसंग, मादक द्रव्योंका सेवन, और परिग्रह (विभिन्न वस्तुओंको देखकर लुब्ध हो जाना; अत्यावश्यक वस्तुओंसे तृप्ति न मानकर अनेक वस्तुओंका स्वीकार करना)—ये सभी दुश्चरित्र हैं ।

कठोपनिषत्के उक्त वाक्यमें भी ये ही दुश्चरित्र माने गये हैं । कठोपनिषत् परप्राप्ति या मोक्षोपायके प्रतिपादनके लिये है । अतएव उन दर्शनोंमें जो प्राणिहिंसा आदिको छोड़ना मुमुक्षुका पहला कर्तव्य कहा है, वही इस उपनिषत्के 'दुश्चरितविरति' का भी अर्थ है । योगदर्शनमें जिस यम-नियमाद्यष्टांगयोगका वर्णन है नचिकेताके गुरु वैवस्वत यमका भी वैसा ही अभिमत था । यह बात कठोपनिषत्के नीचे लिखे वाक्योंसे स्पष्ट हो जाता है—

(क) अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥
(१ । २ । १२)

श्रीशङ्कराचार्यजीका व्याख्यान है—

विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समाधानमध्यात्मयोगः ।

अर्थात् चित्तको विषयोंसे हटाकर आत्मामें ही समावेश करना अध्यात्मयोग है ।

(ख) यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
(२ । ३ । १०-११)

अर्थात् चक्षुरादि पञ्चेन्द्रिय, मन और बुद्धि आत्मामें अविचलित होकर समाविष्ट हों, यही योग है ।

इससे भी व्यक्त होता है कि कठोपनिषत्का 'दुश्चरित' योगदर्शनमें कथित प्राणिहिंसा, मिथ्याभाषण आदि ही है ।

इन दुश्चरितोंको छोड़ना ही मुमुक्षुका प्रथम कर्तव्य है। यही उक्त कठश्रुतिवाक्यका उपदेश है ।

पापका परिणाम

संसारमें मनुष्य अपने क्षणिक सुखके लिये नाना प्रकारके दुष्कर्म कर डालता है। उसे यह खबर नहीं होती कि इन दुष्कर्मोंका फल हमें अन्तमें किस प्रकार भुगतना पड़ेगा। इस जीवनमें जो नाना प्रकारके दुःख हमलोगोंको उठाने पड़ते हैं वे हमारे पूर्वकर्मके ही फलभोग हैं। परन्तु यह देह मुख्यतः कर्मका साधन है और यह लोक मुख्यतः कर्मलोक है। इस शरीरके रहते जो भोग प्राप्त होता है वह कितना ही अधिक होनेपर भी उस भोगसे तो कम ही है जिस भोगकी पूर्णताके लिये मनुष्यको मृत्युके पश्चात् भोगदेह प्राप्त होता है। यह भोगदेह दो प्रकारका है—एक वह देह जिससे सत्कर्मके फलस्वरूप स्वर्गादि भोग भोगा जाता है और दूसरा वह जिससे दुष्कर्मके फलस्वरूप नाना प्रकारकी नारकीय यँत्रणाएँ भोगी जाती हैं। मृत्युके पश्चात् तुरत ही नवीन मनुष्यदेह नहीं प्राप्त होता। नया देह प्राप्त होनेके पूर्व मनोमय और प्राणमय देहसे सुकृत-दुष्कृतके सुख अथवा दुःखरूप फल उसे भोगने पड़ते हैं। सुकृतोंके स्वर्गादि सुखरूप फल हैं जो इस संसारमें प्राप्त होनेवाले सुखोंसे अनन्तगुण अधिक हैं और दुष्कृतोंके नरकादि दुःखरूप फल हैं जो इस जीवनमें प्राप्त होनेवाले दुःखोंसे अनन्तगुण अधिक हैं। श्रीमद्भागवतके पञ्चम स्कन्धमें इन नरकोंका वर्णन है। यदि मनुष्यको इन नरकोंकी खबर हो तो वह अनेक ऐसे दुष्कर्मोंसे बच सकता है जिनके अति भीषण परिणामोंकी कल्पना भी अज्ञानके कारण उसे यहाँ नहीं होती। कुछ लोग तो इन नरकोंकी बात सुनकर इसे असत्य समझनेमें ही अपना कल्याण समझते हैं, जैसे बिल्लीको देखकर कबूतर अपनी आँखें मींच लेनेमें अपना कल्याण समझता है। परन्तु इस तरह आँखें बंद कर लेनेसे न तो कबूतर बिल्लीसे बचता है न हमलोग अपने कर्मोंके भीषण परिणामोंसे बच सकते हैं। कुछ लोग यह भी तर्क करते हैं कि मनुष्य जब मरता है तब उसका शरीर तो यहीं छूट जाता है, फिर इन दुःखोंको भोगता ही कौन है ? पर वे थोड़ा विचार करें तो उन्हें यह मालूम होगा कि सुख-दुःख जितने मन और प्राणको होते हैं उतने शरीरको नहीं होते। मरनेके बाद मन और प्राण तो रहते ही हैं और पार्थिव शरीर छूटनेपर इन्हें आतिवाहिक या यातनादेह प्राप्त होते हैं। यातनाशरीर इसको इसीलिये कहते हैं कि यह इस प्रकारके उपादानोंसे बना होता है कि वह यातनाभोग ही करता रहता है—जलती हुई आगमें दग्ध होनेपर भी नाश नहीं होता, केवल यन्त्रणाभोग करता रहता है। नीचे श्रीमद्भागवतसे नरकोंका जो विवरण दिया जा रहा है उसमें मृत्युके पश्चात् नरकोंमें प्राप्त होनेवाली भीषण पीड़ाओंका वर्णन है जो जीवके देहको यमदूतोंद्वारा दी जाती हैं, जैसे जलते हुए तेलके कड़ाहमें गिरना, कोड़ोंकी मारका पड़ना, जलाया जाना, क्षत विक्षत होना इत्यादि। ये सब कष्ट जिस शरीरको प्राप्त होते हैं वह यातनाशरीर ही है (जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है), यह पार्थिव शरीर नहीं। पार्थिव शरीर जलने, गिरने, मरने, मारे जाने आदिके जो-जो कष्टअनुभव करता है वे सब कष्ट यातनाशरीरको होते हैं और पार्थिव शरीरसे इस शरीरमें विशेषता यह है कि पार्थिव शरीर जलाने आदिसे जल जाता है, अंगभंग हो जाता है, नष्ट हो जाता है; परन्तु यातनाशरीर इन सब कष्टोंको केवल भोगता है, पार्थिव शरीरकी तरह नष्ट नहीं होता। यातनाभोगके लिये ही यह शरीर होता है।

श्रीमद्भागवतमें जिन मुख्य २८ नरकोंका वर्णन है उन नरकोंके नाम, उनके पात्र और उन्हें प्राप्त होनेवाले दुःखोंका विवरण इस प्रकार है—

नरक अपराधी और दण्ड।

१ तामिस्र—परधन, परस्त्री और परपुत्रका हरण करनेवाला मनुष्य कालपाशसे बाँधा जाकर इस नरकमें ढकेला जाता है। वहाँ उसे भूख-प्यास लगती है पर खाने-पीनेको कुछ नहीं मिलता। दण्डताडनतर्जनादि बड़ी पीड़ाएँ होती हैं।

२ अन्धतामिस्र—जो पतिको छलकर उसकी पत्नीके साथ समागम करता है तथा जो इस शरीरको आत्मा और धनको आत्मीय समझकर प्राणियोंसे द्रोहकर केवल अपने ही शरीर, स्त्री, पुत्र और कुटुम्बका भरण-पोषण करता है, ऐसे दोनों ही प्रकारके लोग इस नरकमें गिरते हैं। यहाँ उनकी स्मृति भ्रष्ट और बुद्धि विनष्ट हो जाती है।

३ रौरव—निरपराध प्राणियोंकी जो हिंसा करता है वह इस नरकमें गिरता है, यहाँ वे ही प्राणी महाभयङ्कर सर्पसे भी अधिक भयङ्कर रुरु नामक जन्तु बनकर उससे बदला लेते हैं।

४ महारौरव–प्राणियोंको पीड़ा पहुँचाकर जो अपने शरीरका भरण-पोषण करता है उसे यह नरक प्राप्त होता है। यहाँ रुरुगण उसके शरीरको नोच-नोचकर खाते हैं।

५ कुम्भीपाक–सजीव पशु या पक्षीको मारकर जो उसका मांस राँधता है वह इस नरकमें गिरकर अपने-आपको जलते हुए तेलके कड़ाहेमें सीझता हुआ पाता है।

६ कालसूत्र–पितर, ब्राह्मण और वेद, इनका द्रोही इस नरकमें गिरता है। यहाँ ताँबेकी दश सहस्र योजन विस्तीर्ण समतल भूमि है जो सदा जला करती है। इस जलती हुई भूमिपर उसे नीचेसे अग्नि जलाती है और ऊपरसे सूर्यकी किरणें और अंदरसे भूख-प्यासकी आग। उसकी व्यथा बड़ी ही भयङ्कर होती है, वह कभी लेटता है, कभी बैठता है, कभी खड़ा होता है, कभी चारों ओर दौड़ता-फिरता है। मारे हुए पशुओंके शरीरमें जितने रोम होते हैं उतने हजार वर्ष उसे ऐसी यातना भोगनी पड़ती है।

७ असिपत्रवन–आपत्तिकालके बिना भी स्वेच्छासे जो वेदमार्ग छोड़कर पाखण्डमत ग्रहण करता है वह असिपत्रवनका भागी होता है। यहाँ यमदूत उसे कोड़ोंसे मारते हैं। उस मारकी यातनासे वह इधर-उधर भागता है पर असिपत्रोंमें दोनों ओर धारा है जिससे उसका शरीर छिन्न-भिन्न हो जाता है, अत्यन्त व्याकुल होकर वह बार-बार मूर्छित हो-होकर गिरता है।

८ शूकरमुख–अदण्ड्य व्यक्तिको अन्यायसे अथवा किसी ब्राह्मणको जो राजा या राजपुरुष शरीरदण्ड देता है वह इस नरकमें गिरता है। वहाँ वह कोल्हूमें ईखकी तरह दबाया जाता है जिससे उसके सब अंग टूटने लगते हैं। वह आर्त्त स्वरसे चिल्लाता और बारबार मूर्छित होता है।

९ अन्धकूप–सब जीवोंकी वृत्ति ईश्वरद्वारा नियत है यह जानकर तथा किसी भी जीवकी वेदनाको समझनेकी क्षमता रखकर जो मच्छड़ आदि जीवोंको मार डालता है वह इस नरकमें गिरता है और यहाँ उसके द्वारा मारे गये सब पशु, पक्षी, साँप, मच्छड़, जूँ, खटमल आदि उससे बदला लेते और काटते हैं। घोर अन्धकारमें उसकी निद्रा भङ्ग होती है और कहीं चैनसे ठहरनेकी जगह उसे नहीं मिलती, निरन्तर महाक्लेश उसे होते हैं।

१० कृमिभोजन–खानेकी चीज सबको न देकर जो आप ही खाता है, जो पञ्च महायज्ञ नहीं करता, उसे ऋषिगण कौएके समान विष्ठाभोजी कहते हैं और वह इस कृमिभोजन नरकमें गिरता है। यहाँ लाख योजन चौड़ा एक कृमिकुण्ड है जिसमें गिरकर वह उन कीड़ोंको खाता है और कीड़े उसे खाते हैं।

११ सन्दंश–जो कोई चोरी करता है या बलपूर्वक ब्राह्मणका सुवर्ण आदि छीनता है अथवा आपत्काल बिना और किसीका भी सुवर्ण आदि हरण करता है वह यमदूतोंद्वारा इस नरकमें लाया जाता है और अग्निपिण्ड और सन्दंशके द्वारा उसका शरीर क्षत-विक्षत किया जाता है।

१२ तप्तसूर्मि–जो पुरुष या स्त्री अगम्यागमन करते हैं वे इस नरकको प्राप्त होकर, पुरुष स्त्रीकी जलते हुए लोहेकी प्रतिमासे और स्त्री जलते हुए लोहेकी पुरुषप्रतिमासे लिपटाये जाते हैं।

१३ वज्रकण्टकशाल्मली–मनुष्येतर योनियोंमें जो सहवास करता है वह इस नरकमें जा गिरता है और वज्रतुल्य काँटोंवाली शाल्मलीपर यमदूतोंद्वारा चढ़ाकर घसीटा जाता है।

१४ वैतरणी–जो राजा अथवा राजपुरुष उत्तम कुलमें उत्पन्न होकर भी धर्मको दूषित करता है. वह मर कर वैतरणीमें गिरता है। यह एक नदी है जो सब नरकोंको घेरे हुए है। इसमें हिंस्र जलजन्तु रहते हैं जो उसे खा जाते हैं, फिर भी उसके प्राण नहीं निकलते। वह अपने अधर्मका स्मरण करता हुआ विष्ठा, मूत्र, पीब, रुधिर, केश, नख, हड्डी, मेदा, मांस और वसासे परिपूर्ण इस वैतरणीमें बहता रहता और अत्यन्त व्यथित होता है।

१५ पूयोद–शूद्राके पति होकर जो लोग अपने शौच, आचार और नियमसे पतित होते हैं और बेहया होकर स्वेच्छाचारी बनकर घूमते हैं वे पीब, विष्ठा, श्लेष्मा और लारसे भरे हुए इस पूयोद नामक समुद्र-नरकमें गिरते और इन्हीं बीभत्स पदार्थोंको भक्षण करते हैं।

१६ प्राणरोध–जो ब्राह्मण कुत्ते और गधे पालते हैं और शिकार करते तथा विहित समयको छोड़ अन्य समयमें मृगवध करते हैं वे इस नरकमें गिरकर यमदूतोंके शरसन्धानके लक्ष्य बनते हैं।

१७ विशसन–जो केवल दम्भके लिये यज्ञमें पशुहिंसा करते हैं वे इस नरकमें गिरते हैं। यहाँ यमदूत उन्हें अनेक यातनाएँ देकर उनके अंग चूर-चूर कर डालते हैं।

१८ **लालाभक्ष**–द्विजकुलमें उत्पन्न हुआ जो व्यक्ति कामके वश हो सगोत्रा स्त्रीमें गमन करता है उसे शुक्रकी नदीरूप इस नरकमें गिरकर शुक्रपान करना पड़ता है।

१९ **सारमेयादन**–दस्युवृत्ति करनेवाले और विषपान करानेवाले लोग तथा गाँवों और काफ़िलोंको लूटनेवाले राजा या राजसैनिक इस नरकमें गिरते और सात सौ बीस कुत्तोंकी वज्रकराल दाढ़ोंसे चबाये जाते हैं।

२० **अवीचि**–जो साक्षी देनेमें झूठ बोलता है, क्रय-विक्रयमें कम तौलता है, दान देते मिथ्या बोलता है, उसे यमदूत सौ योजन ऊँचे पर्वतके शिखरसे, नीचे सिर ऊपर टाँग कर, निरालम्ब, अवीचि नरकमें गिरा देते हैं। यहाँ स्थल भी पाषाणपृष्ठस्थ तरंगशून्य जलके समान जान पड़ता है। नीचे गिरनेमें प्राणीका शरीर चूर्ण हो जाता है, पर उसके प्राण नहीं निकलते। इस तरह बार-बार वह वहाँसे निकालकर ऊपर लाया जाता और फिर गिराया जाता है।

२१ **अयःपान**–जो द्विज या द्विजपत्नी या व्रती अनजानते मद्यपान करते हैं उन्हें मरनेपर यमदूत पटक देते हैं और छातीपर पैर देकर बलपूर्वक आगमें गला हुआ शीशा पिलाते हैं।

२२ **क्षारकर्दम**–स्वयं अधम होकर भी जो अपनेको बड़ा मानता और मारे घमण्डके अपनेसे जन्म, तप, विद्या, सदाचार, वर्ण और आश्रममें श्रेष्ठ पुरुषको आदर नहीं देता, उनका निरादर करता है, वह जीवनमृत मनुष्य 'क्षारकर्दम' नरकमें गिरता है। वहाँ उसका सिर नीचे हो जाता और वह अनेक यातनाएँ भोगता है।

२३ **रक्षोगणभोजन**–जो लोग अन्य पुरुषोंके प्राण लेकर भैरवादिकी बलि देते हैं और जो स्त्रियाँ मनुष्यों और पशुओंका मांस खाती हैं वे स्त्री-पुरुष रक्षोगणभोजन नरकमें गिरकर उन्हीं मारे हुए, राक्षसरूपको प्राप्त पशुओं और पुरुषोंद्वारा खड्गसे काटे जाते और उनके भोजन बनते हैं।

२४ **शूलप्रोत**–वन या ग्रामके पशु-पक्षी सभी जीना चाहते हैं, उन्हें जो अनेक उपायोंसे विश्वास दिलाकर शूल या सूत्रसे अंग छेदकर उड़ाते या यन्त्रणा देते हैं वे शूलप्रोत नरकमें गिरते हैं। उन्हें यमदूत शूलीपर चढ़ाते हैं, और भूख और प्यासके मारे उन्हें तड़पना पड़ता है। कंक, बट आदि तीक्ष्ण चोंचवाले पक्षी उन्हें चोंच मार-मारकर जर्ज कर डालते हैं। तब वे अपने पापोंका स्मरण कर पश्चात्ताप करते हैं।

२५ **दन्दशूक**–जो मनुष्य उग्रस्वभाव बनकर प्राणियोंको भयभीत करता है वह मरनेपर दन्दशूक नरकमें गिरता है। वहाँ पञ्चमुख, सप्तमुख विषधर सर्प आकर उन्हें चूहोंकी तरह निगल जाते हैं।

२६ **अवटनिरोधन**–प्राणियोंको जो अन्धे गढ़े या अन्धे कुएँ या अँधेरी गुफाओंमें बंद कर देते हैं वे अवटनिरोधन नरकके भागी होते हैं। वे वैसे ही बंद और अन्ध स्थानोंमें कैद होते हैं और वहाँके विषमय धुएँसे उनका दम घुटा करता है।

२७ **पर्यावर्तन**–अतिथि-अभ्यागतके आनेपर क्रोधसे लाल-लाल आँखें निकालकर जो मानो अंगारे बरसाता है वह पर्यावर्तन नरकमें गिरकर अपने नेत्र वज्रचञ्चु, कंकादि पक्षियोंसे निकलवाता है।

२८ **सूचीमुख**–धनके गर्वसे जो अपनेको श्रेष्ठ समझता है—दूसरोंको वक्र दृष्टिसे देखता है, गुरुजनोंसे अपने धनके विषयमें साशंक रहता है, धनव्ययकी चिन्तासे सूखता रहता और यक्षकी तरह उसीकी रक्षामें दक्ष रहता है, उसका सदुपयोग या भोग नहीं करता वह मरनेपर सूचीमुख नरकमें गिरकर यमदूतोंद्वारा सुइयोंसे छेदा जाता और सिया जाता है।

ये अट्ठाईस नरक मुख्य हैं, अन्यथा साधारण नरक सहस्रों हैं, इस प्रकारका उल्लेख है। जितने प्रकारके दुष्कर्म हो सकते हैं उतने ही प्रकारके नरक हैं, ऐसा समझा जा सकता है। पर ये अट्ठाईस नमूने इस बातका अनुसन्धान करनेके लिये काफ़ी हैं कि किस प्रकारके दुष्कर्मका कैसा फल हो सकता है। कर्म और उसका फल, किसी वृक्षके बीज और फलके समान ही है। इनका परस्पर विच्छेद नहीं हो सकता। यातनादेहसे दुष्कर्मोंके फलभोगके पश्चात् नरकसे उद्धार होकर नया जन्म होता है और यह जन्म यदि मनुष्यजन्म है तो पूर्व कर्मोंके शेष फलको इस नवीन शरीरमें भोगते हुए भावी सुधारनेके साधनका अवसर मिलता है। इसीलिये शास्त्रोंका सर्वत्र यही उपदेश है कि पूर्वजन्मार्जित कर्मफलको अपने ही कर्मका फल जानकर इस मनुष्यशरीरको स्थायी सुख देनेवाले सत्कर्ममें ही लगाना चाहिये।

'भक्ति' रस है या भावमात्र ?

(लेखक—श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार)

इस विषयपर आगे कुछ लिखनेके पूर्व संक्षेपमें यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'रस' और 'भाव' क्या पदार्थ हैं और उनमें परस्पर क्या भेद है। 'रस' सम्प्रदायके प्रधान आचार्य श्रीभरत मुनिने 'रस' की स्पष्टता करते हुए—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।

(नाट्यशास्त्र अ० ६)

—इस सूत्रमें विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावोंके संयोग होनेपर 'रस' की निष्पत्ति बतायी है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावोंकी स्पष्टता आचार्य श्रीमम्मटने इस प्रकार की है—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः ॥

(काव्यप्रकाश ४ । ३७)

लोकव्यवहारमें रति (प्रेम), हास्य और शोक आदि चित्तकी वृत्तियों या मनोविकारोंके जो कारण, कार्य और सहकारी कारण होते हैं वे नाटक और काव्यमें रति, हास्य और शोक आदि स्थायी भावोंके कारण, कार्य और सहकारी कारण न कहे जाकर क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं। और उन विभावादिकोंद्वारा परिपुष्ट होकर जो स्थायीभाव व्यक्त होता है वही रस है।

विभाव

रति (प्रेम) आदि एक विशेष प्रकारके मनोविकार हैं, जिनको काव्य-नाटकमें स्थायीभाव कहते हैं; उन रति आदि स्थायीभावोंके उत्पन्न होनेके जो कारण होते हैं उन्हें 'विभाव' कहते हैं। स्थायीभावोंको आस्वादके योग्य विभाव ही बनाते हैं, अतः रसके उत्पादक होनेके कारण इनको विभाव कहते हैं। विभाव दो प्रकारके होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन।

आलम्बन-विभाव

जिसका आलम्बन करके स्थायीभाव (रति आदि मनोविकार) उत्पन्न होते हैं, वे आलम्बनविभाव हैं। जैसे धनुषभङ्गके प्रसङ्गमें भगवान् श्रीरामचन्द्र और परशुरामजीके संवादमें रौद्ररसके क्रोधरूप स्थायीभावके आलम्बन भगवान् श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मणजी हैं।

उद्दीपन विभाव

रति आदि मनोविकारोंका जिनके द्वारा अतिशय उद्दीपन होता है उनको उद्दीपन विभाव कहते हैं; जैसे धनुषभङ्गके प्रसङ्गमें धनुषका भङ्ग होना, लक्ष्मणजीके उत्तर आदि। क्योंकि इनके द्वारा परशुरामजीके क्रोधका अत्यन्त उद्दीपन हुआ।

अनुभाव

विभावोंके पश्चात् जो भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें अनुभाव कहते हैं। क्योंकि ये अनुभाव, उत्पन्न स्थायीभावका अनुभव कराते हैं। जैसे धनुषभङ्गके प्रसङ्गमें क्रोधजनित जो भ्रूभङ्ग आदि परस्परमें की गयी चेष्टाएँ। क्योंकि धनुषभङ्गसे परशुरामजीके हृदयमें क्रोध (मनोविकार) उत्पन्न होकर लक्ष्मणजीके उत्तरोंद्वारा जो उद्दीप्त हुआ उसको प्रकट करनेवाली भ्रूभङ्ग आदि शारीरिक चेष्टाएँ जबतक नहीं की जातीं तबतक उस क्रोधका अनुभव महाराज जनक आदि अन्य दर्शकजनोंको नहीं हो सकता। अनुभाव असंख्य होते हैं। और स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु (कम्प), वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय, ये आठ सात्त्विक भाव भी अनुभावोंके ही अन्तर्गत हैं।

व्यभिचारी भाव

चित्तकी चिन्ता आदि भिन्न-भिन्न वृत्तियोंको व्यभिचारी या सञ्चारी कहते हैं। ये स्थायीभावके सहकारी कारण हैं। ये सभी रसोंमें यथासम्भव सञ्चार करते हैं, इसीसे इनकी सञ्चारी या व्यभिचारी संज्ञा है। स्थायीभावकी तरह रसकी सिद्धितक ये स्थिर नहीं रहते, अर्थात् ये अवस्था-विशेषमें उत्पन्न होकर अपना प्रयोजन पूरा हो जानेपर स्थायीभावको उचित सहायता देकर लुप्त हो जाते हैं।

साहित्याचार्योंने रसविषयपर बहुत कुछ विवेचन करते हुए रसको अनिर्वचनीय, स्वप्रकाश, अखण्ड एवं दुर्ज्ञेय और रसास्वादको ब्रह्मानन्दसहोदर बताया है। निष्कर्ष यह है कि रसको अत्यन्त महत्त्व दिया गया है।

Prof. Ambikadatta Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

रसोंकी संख्या

रससम्प्रदायके आद्याचार्य श्रीभरत मुनिने रसोंकी संख्या ९ मानी है--शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त । श्रीभरत मुनिकी नियत की हुई यही संख्या प्रायः सभी साहित्याचार्योंको मान्य है। यद्यपि काव्यालङ्कारप्रणेता आचार्य रुद्रटने नव रसोंके अतिरिक्त एक 'प्रेयान्' रस और सरस्वतीकण्ठाभरणके प्रणेता महाराज भोज और साहित्यदर्पणके प्रणेता विश्वनाथने एक 'वात्सल्य' रस भी माना है, तथापि रससम्प्रदायके प्रधान प्रतिनिधि आचार्य मम्मट आदिने इन दोनोंको पुत्रादिविषयक रतिभावके अन्तर्गत माना है।

भाव

यों तो स्थायी भाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव साधारणतया 'भाव' ही कहे जाते हैं; किन्तु रसके साथ जिस 'भाव' शब्दका प्रयोग होता है और इस लेखके 'भक्ति रस है या भाव' इस शीर्षकसे जिस 'भाव' का सम्बन्ध है, वह 'भाव' संज्ञा स्थायी एवं व्यभिचारी भाव आदिकी एक विशेष अवस्था है। और वह अवस्था इनको कब प्राप्त होती है, इसके विषयमें आचार्य मम्मट कहते हैं—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ।
भावः प्रोक्तः··························॥

(काव्यप्रकाश ४ । ३५)

अर्थात्—

(१) देव, गुरु, मुनि, राजा और पुत्र आदि जहाँ रति (प्रेम) के आलम्बन होते हैं, या यों कहिये कि जहाँ इनके विषयमें यथायोग्य भक्ति, प्रेम, अनुराग, श्रद्धा, पूज्यभाव, वात्सल्य और स्नेह होता है वहाँ उस रतिकी—चाहे वह विभावादि सामग्रीसे पुष्ट हो अथवा अपुष्ट—'भाव' संज्ञा है।

(२) जहाँ रति आदि भाव उद्बुद्धमात्र हों अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावोंसे परिपुष्ट न किये गये हों वहाँ रति आदि सभी स्थायी भावोंकी 'भाव' संज्ञा है।

(३) निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव जहाँ प्रधानतासे व्यञ्जित (प्रतीत) होते हों वहाँ व्यभिचारी भावोंकी भी 'भाव' संज्ञा है।

उपर्युक्त रस और भावके विवेचनद्वारा स्पष्ट है कि इस प्रकरणमें तो 'रति' को स्थायी भावकी अवस्थामें विभावादिसे परिपुष्ट होनेपर शृङ्गाररसमें परिणत होनेवाला माना गया है, और भावप्रकरणमें उसी रतिको विशेष अवस्थामें 'भाव' भी माना गया है। इस प्रकार 'रति' को 'रस' और 'भाव' जो दो संज्ञाएँ दी गयी हैं उसका कारण आलम्बन-भेद है। साहित्याचार्योंने उसी 'रति' (प्रेम) को शृंगाररसका स्थायी भाव और विभावादिसे पुष्ट होनेपर शृङ्गाररसमें प्रयुक्त होनेवाला माना है, जो रति कान्ताविषयक होती है अर्थात् जिस रतिके आलम्बन विभाव परस्परमें अनुरक्त स्त्री-पुरुष होते हैं। और जहाँ वह रति कान्ताविषयक न होकर देव, गुरु, पुत्र आदिके विषयमें होती है, अर्थात् प्रेमके आलम्बन देव, गुरु आदि होते हैं उस 'रति' को 'भाव' संज्ञा प्रदान की है। और देवविषयक जो रति (प्रेम) है उसीको 'भक्ति' कहते हैं।

अच्छा, अब इस बातपर विचार किया जाना आवश्यक है कि देवविषयक रति अर्थात् भक्तिको सर्वप्रथम 'भाव' संज्ञा कब और किसके द्वारा दी गयी है। जहाँतक इस लेखकका अनुभव है, साहित्यके प्राचीन ग्रन्थोंमें सबसे पहले काव्यप्रकाशप्रणेता श्रीमम्मटद्वारा ही देवविषयक रतिको 'भाव' संज्ञा दी गयी है। रससम्प्रदायके आद्याचार्य श्रीभरतमुनिके नाट्यशास्त्रके छठे और सातवें अध्यायमें, जहाँ रस और भावोंका निरूपण है, देवादिविषयक रतिके विषयमें कुछ भी उल्लेख नहीं पाया जाता। आचार्य मम्मटने ध्वनिकार की—

रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।

(ध्वन्यालोक २ । ३)

—इस कारिकाको काव्यप्रकाशमें अविकल उद्धृत करके उसमें प्रयुक्त 'भाव' शब्दकी उपर्युक्त—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ।
भावः प्रोक्तः··························॥

(का० प्र० ४ । ३५)

—इस कारिकामें स्पष्टता की है।

सम्भवतः श्रीभरतमुनिने भक्तिको शान्तरसके अन्तर्गत माना है। उन्होंने शान्तरससे ही 'रति' आदि अन्य भावोंकी अथवा शृङ्गार आदि सभी रसोंकी उत्पत्ति और शान्तमें ही सब रसोंका लय होना बतलाया है—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥

(नाट्यशास्त्र ६ । १०८)

इसकी व्याख्या श्रीअभिनवगुप्ताचार्यने इस प्रकार की है—

तत्त्वज्ञानं तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीयं सर्वस्थायिभ्यः स्थायितममिति।

(अभिनवभारतीव्याख्या पृ० ३३७, 'गायकवाड-सीरीज')

फिर इसी कारिकाकी व्याख्यामें भक्तिरसको पृथक् न माने जानेका कारण भी श्रीअभिनवगुप्ताचार्यने स्पष्ट कर दिया है—

तस्य च वैराग्यसंसारभीरुतादयो विभावाः। स हि तैरुपनिबद्धैर्विज्ञायते । मोक्षशास्त्रचिन्तादयोऽनुभावाः। निर्वेदमतिस्मृतिधृत्यादयो व्यभिचारिणः, अत एवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेभ्योऽन्यथैवाङ्गमिति न तयोः पृथग्रसत्वेन गणनम्।

(अभिनवभारतीव्याख्या पृ० ३४०)

यहाँ यह बात ध्यान देनेयोग्य है कि श्रीमम्मटने काव्यप्रकाशमें श्रीअभिनवगुप्ताचार्यके लिये बड़े आदरके साथ—'श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यपादाः' का प्रयोग किया है और रसप्रकरणमें इनके मतका सिद्धान्तरूपमें उल्लेख किया है। अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि जब श्रीभरतमुनिके मतानुसार श्रीअभिनवगुप्ताचार्यने भक्तिको शान्तरसके अन्तर्गत बताया है, तो फिर श्रीमम्मटने उनके इस मतको स्वीकार न करके भक्तिको 'भाव' संज्ञा क्यों प्रदान की ?

यह प्रश्न वास्तवमें बड़ा मार्मिक और जटिल है। इस अल्पमति लेखकके विचारमें इसका कारण यही हो सकता है कि श्रीमम्मट अपना स्वतन्त्र सिद्धान्त रखनेवाले साहित्यके केवल प्रकाण्ड विद्वान् ही नहीं थे किन्तु उत्कट समालोचक भी थे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि काव्यप्रकाशके सप्तमोल्लासमें—जहाँ काव्यके दोषोंका निरूपण किया गया है—अपने पूर्ववर्ती कालिदास आदि सभी सुप्रसिद्ध महाकविराजोंके काव्योंके दूषणोंका उद्‌घाटन किया गया है। यही नहीं, ध्वनिकारको तो श्रीमम्मट बड़े सम्मानकी दृष्टिसे देखते थे और उनके मतके अनुयायी भी थे, पर उनका भी श्रीमम्मटने दासवत् अनुसरण नहीं किया। रसोंके विरोधाविरोधप्रकरणमें ध्वनिकारके मतकी भी—

न तु विनयोन्मुखीकरणमत्र परिहारः।

(का० प्र०, पृ० ५४४, वामनाचार्यव्याख्या-संस्करण, सन् १९०१)

—इस प्रकार आलोचना करनेमें सङ्कोच नहीं किया। निष्कर्ष यह है कि श्रीमम्मटने अपने पूर्ववर्ती किसी आचार्यके उसी मतको स्वीकार किया है जिसको उन्होंने अपने मतके अनुकूल समझा। श्रीमम्मटने 'भक्ति' का शान्तरसके अन्तर्गत समावेश किया जाना उचित नहीं समझा। श्रीभरतमुनि महाभारतके पूर्वकालवर्ती थे, वह औपनिषद काल था। उस समय भक्तिसिद्धान्तका प्रचार सम्भवतः अधिक न होनेके कारण वे भक्तिरसके आनन्दानुभवसे प्रभावित नहीं हो सके, इसीलिये उनके द्वारा प्रशान्त रसका महत्त्व स्वीकार किया जानेपर भी भक्तिरसके विषयमें कुछ विवेचन नहीं किया गया। श्रीमम्मटके समय भक्तिसिद्धान्तका केवल प्रचार ही नहीं था, किन्तु वे उससे प्रभावान्वित भी हो चुके थे; फिर भी वे साहित्यशास्त्रके आचार्य थे, उनके द्वारा साहित्यिक दृष्टिसे ही इस विषयपर विचार किया जाना सम्भव था। अतएव साहित्यिक दृष्टिसे उन्होंने शान्त रसके स्थायी भाव निर्वेद या वैराग्य आदिको भक्तिका विरोधी समझकर भक्तिको शान्तके अन्तर्गत तो नहीं माना, परन्तु साथ ही उन्होंने श्रीभरतमुनिकी मानी हुई रसोंकी नव संख्याकी मर्यादाको उल्लंघन करना भी उचित नहीं समझा। अगत्या केवल देवविषयक रति (भक्ति) को ही नहीं, अपने पूर्ववर्ती आचार्य रुद्रटके माने हुए 'प्रेयस्' रस और गुरु, मुनि, राजा और पुत्र आदि विषयक रति (श्रद्धा, पूज्यभाव, स्नेह और वात्सल्य आदि) को भी उन्होंने भावोंके अन्तर्गत रख दिया। परिणाम यह हुआ कि गतानुगतिकन्यायके अनुसार श्रीमम्मटके आदर्शपर उनके परवर्ती सभी साहित्याचार्य भक्तिको 'भाव' ही मानते गये। इस विषयपर पण्डितराज जगन्नाथद्वारा किये गये विवेचनसे भी यही सिद्ध होता है। पण्डितराजने प्रथम यह पूर्वपक्ष उठाया है कि—'भक्तिको स्वतन्त्र रस क्यों नहीं माना जाय ?' फिर इसके उत्तरमें उन्होंने यही कहा है कि भक्तिको स्वतन्त्र रस स्वीकार करनेमें श्रीभरतमुनिद्वारा नियत की गयी रस और भावोंकी व्यवस्थाका भङ्ग होता है—

भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावत्वादिव्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्यायोगात्।·········रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्यते।

(रसगङ्गाधर, पृ० ४६)

ऊपरके इस विवेचनद्वारा सिद्ध होता है कि भक्तिको 'रस' न मानकर 'भाव' माने जानेका कारण एक साहित्यिक परिपाटी अथवा रूढिमात्र है। यदि वस्तुस्थितिपर विचार किया जाय तो शृङ्गारादि नवों रसोंके अतिरिक्त—

भक्ति सर्वोपरि प्रधान रस है

बात यह है कि—

'रसो वै सः ।'

रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

—इत्यादि श्रुतिप्रमाणोंद्वारा और भगवान् वेदव्यासके—

अक्षरं ब्रह्म परमं सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥

(अग्निपुराण)

—इत्यादि वाक्योंद्वारा ब्रह्मानन्दको ही रसके रसत्वका मूलतत्त्व सभी साहित्याचार्योंने स्वीकार किया है। अर्थात् साहित्याचार्योंका मत है कि अज्ञानरूप आवरणसे रहित जो चैतन्य है उससे युक्त रति आदि स्थायी भाव ही रस है। अथवा उपर्युक्त श्रुतियोंके अनुसार रति आदिसे युक्त और आवरणरहित चैतन्यका ही नाम रस है।

इत्थं चाभिनवमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिस्थायिभावो रस इति स्थितम्।

वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः। —(रसगङ्गाधर, पृ० २३)

इसीसे रसको साहित्याचार्योंने 'ब्रह्मानन्दसहोदर' बताया है अर्थात् समाधिजन्य परमानन्दके समान बतलाया है। रसोंमें उन्होंने शान्तरसको भी सम्मिलित किया ही है। अब विचारणीय बात यह है कि क्या शान्तरसके समान भक्तिरस ब्रह्मानन्दसहोदर नहीं है ? देखिये, इस विषयमें परमहंस परिव्राजक श्रीमधुसूदन सरस्वती क्या कहते हैं—

समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वात् ……'तस्मात्'…… भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वादिति निर्विवादम्।

(भक्तिरसायन)

इसमें आपने समाधिजन्य ब्रह्मानन्दको और भक्तिरसानन्दको समान माना है। यह तो हुआ समाधिसुखका अनुभव करनेवाले अद्वैतवीथीके पथिक अव्यक्तोपासकोंका मत। अब देखिये, भक्तिरसानन्दके अनुभवी श्रीध्रुवजी क्या कहते हैं—

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किन्त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात्॥

(श्रीमद्भा० ४।९।१०)

अर्थात् 'हे नाथ, जो परमानन्द शरीरधारियोंको आपके पादारविन्दके ध्यानद्वारा उपलब्ध होता है, अथवा आपके भक्तोंसे कथाश्रवणद्वारा प्राप्त होता है, वह परमानन्द समाधिजन्य ब्रह्मानन्दमें भी प्राप्त नहीं हो सकता, फिर कालरूपी खड्गसे कटकर गिरते हुए विमानसे गिरनेवाले स्वर्गवासियोंको कहाँ उपलब्ध हो सकता है।' अतएव वृत्रासुरके प्रति स्वर्गाधिप इन्द्रने कहा है—

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः॥

(श्रीमद्भा० ६।१२।२२)

श्रीमद्भागवतमें अनेक प्रसङ्गोंमें इसी प्रकार भक्तिरसानन्दको ब्रह्मानन्दसे बढ़कर बताया गया है। यही कारण है कि यह भक्तिरसानन्द अविद्याग्रन्थियोंसे निर्मुक्त आत्माराम मुनिजनोंको भी बलात् अपनी ओर आकर्षित कर लेता है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १।७।१०)

इसके द्वारा निर्विवाद सिद्ध होता है कि भक्तिरसानन्द सर्वोपरि है।

इसके अतिरिक्त शृङ्गारादि अन्य रसोंके स्थायी और विभावादि सभी लौकिक हैं और भक्तिरसके स्थायी, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी सभी भाव अलौकिक हैं।

भक्तिरसके—

स्थायी—भगवद्विषयक अनुराग—रति अलौकिक है।

आलम्बनविभाव—साक्षात् पूर्ण ब्रह्म भगवान् श्रीराम, कृष्ण आदिके अखिलविश्वसौन्दर्यनिधि दिव्य विग्रह भी अलौकिक हैं।

अनुभाव—भगवान्के अनन्य प्रेमजन्य अश्रु, रोमाञ्च आदि भी सभी अलौकिक होते हैं।

व्यभिचारीभाव—हर्ष, औत्सुक्य, आवेग, चपलता, उन्माद, चिन्ता, दैन्य, धृति, स्मृति और मति आदि सभी अलौकिक होते हैं।

ऐसी परिस्थितिमें सखेद आश्चर्य है कि जिन साक्ष्याभास शृङ्गारादि रसोंमें चिदानन्दके अंशांशके स्फुरणमात्रसे रसानुभूति होती है उनको साहित्यमें रसकी प्रतिष्ठा दी गयी है और जो साक्षात् चिदानन्दात्मक है उस भक्तिरसको रस न कहकर 'भाव' माना गया है । यही क्यों, क्रोध, शोक, भय और जुगुप्सा आदि स्थायी भाव—जो प्रत्यक्षमें सुखके विरोधी हैं, उनको भी रौद्र, करुण, भयानक और बीभत्सरसकी प्रतिष्ठा दी गयी है, जब कि भगवद्विषयक प्रेम (रति) का आनन्द इनसे सहस्रों गुना अधिक आनन्दमय है। यदि यह कहा जाय कि भगवद्विषयके प्रेममें आनन्द प्राप्त होनेका क्या प्रमाण ? तो इसका उत्तर यह है कि शृङ्गारादि रसोंके आस्वादके प्रमाणके लिये साहित्याचार्य अनुभवी सहृदय जनोंसे पूछनेके लिये आज्ञा करते हैं, हमारा निवेदन है कि यदि आपको ऊपर उद्धृत शास्त्रप्रमाणोंसे सन्तोष न हो तो भक्तिरसास्वादके लिये आप भी तदीय भक्तजनोंसे पूछियेगा । निष्कर्ष यह है कि ऐसी अवस्थामें भक्तिको 'भाव' संज्ञा दिया जाना साहित्यिक रूढि या हमारे प्राचीन साहित्याचार्योंके दुराग्रहके सिवा और क्या कहा जा सकता है ।

वेदान्त और भक्ति

(लेखक—श्रीभालचन्द्र पण्डित बहिरट, बी० ए०)

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—यही उपनिषत्सिद्धान्त है । भिन्न-भिन्न देवता ब्रह्मके ही अनेक रूप हैं । ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है । सब कर्मोंका प्रकाशक ज्ञान ही है । इसलिये यह ज्ञानस्वरूप परब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। यही ज्ञान सबका अन्तर्यामी और आनन्दस्वरूप है। सब ज्योतियोंकी ज्योति, सब प्रकाशोंका प्रकाश, सब सौन्दर्योंका सार, सब मंगलोंका मंगल, सब पावित्र्योंका पावित्र्य यही ज्ञान है जो सबके हृदयमें है । यह ज्ञान चिरन्तन है—'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः'—औपनिषद ऋषियोंका यह अनुभव है । इस अनुभवसे संसारके सुखकी कितनी वृद्धि हुई है, इसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता । संसारकी सारी सम्पदासे यह सम्पत्ति अधिक मूल्यवान् है । कवि या चित्रकार जिस प्रकार सामान्य पदार्थोंमें छिपे हुए सुकुमार सौन्दर्यको व्यक्त करके उस समयके लिये एक नवीन दृष्टि ही दे देता है उसी प्रकार ऋषि-महर्षियोंके अनुभव हमें संसारकी ओर देखनेकी एक नवीन दृष्टि ही दिया करते हैं। ये अनुभव यदि हम लोगोंको श्रुति न होते तो परमात्मस्वरूपके सम्बन्धमें सब लोग अन्धकारमें ही पड़े रहते । उपनिषद्ग्रन्थोंको यदि हम इस दृष्टिसे देखें तो हमें पता लगेगा कि हमें कितना बड़ा लाभ हुआ और फिर यह भी निश्चय होगा कि इस लाभसे बढ़कर संसारमें और कोई लाभ नहीं है।

इस आत्मलाभके निश्चयमें ही भक्तिका बीज है । श्रीज्ञानेश्वरीमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'जहाँ ज्ञाननिष्ठा करगत हो जाती है वहाँ मेरी भक्ति उमड़ पड़ती है ।' यह निष्ठा या निश्चय कैसे होता है, इसका वर्णन करते हुए श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि, 'निरीक्षण करते हुए जानेसे तन्मयता ही हो जाती है ।' पृथ्वी-तत्त्वका निरीक्षण करें तो पृथ्वी जलमें लीन होती है, जल तेजमें और तेज वायुमें लीन होता है । वायु आकाशमें लीन होता है । आकाशकी कल्पना की जा सकती है, अर्थात् आकाश कल्पनामें लीन होता है । कल्पना कहाँसे उठती है, इसका निरीक्षण करने चलें तो वहाँ और कुछ भी नहीं है, केवल ज्ञानानन्दस्वरूप है, यही अनुभव होता है और सारा संसार उसमें निर्माजित हो जाता है । उसीको निर्गुण कहते हैं । पर जहाँ कुछ भी नहीं है वहींसे सारा जगत् प्रसूत होता है, इसलिये निर्गुण गुणरहितको नहीं बल्कि उसको कहते हैं जिससे सब गुण निकलते हैं । पर 'इस जगत्के इस प्रकार निर्गुणसे निकलनेका कारण क्या है, यह पूछिये तो 'एकाकी न रमते' यही उत्तर श्रुति भगवती देती है । यही बात संतोंने भी कही है । श्रीनिलोबाराय कहते हैं कि, 'अकेले चैन नहीं मिलता था, इसलिये उसने ये चौदह भुवन, पृथ्वी-चन्द्र-सूर्य-तारागण निर्माण किये ।' श्रीनामदेवराय कहते हैं कि 'अपने ही प्रियत्वको लेकर ब्रह्म खेला, और आपने ही अपनेको जना । जो अरूप था वह रूपवान् हो गया, इस एकसे जो दो हुए उनके जीव और शिव नाम हुए ।' अर्थात् चिदानन्द प्रभुकी स्वप्रियता ही जीव और जगत्का कारण है । श्रुति भी है—'आनन्दाज्जायते' । अतएव संसारमें हम जिसे जड कहते हैं वह जड पदार्थ नहीं है, बल्कि आनन्द ही सगुण ब्रह्म हुआ है । पर इस आनन्दको आनन्दकी प्रतीति नहीं होती । उदाहरणार्थ, आम्ररस मधुर होता है, पर आम्रफल अपने इस रस-माधुर्यको नहीं जान सकता । उसे

जान सकता है जीव। जीवमें उस आनन्दकी प्रतीति होती है। इससे यह प्रकट होता है कि जीव अविद्या या मायाका कार्य नहीं अपितु परमात्माके प्रेमसे, परमात्माकी स्वप्रियतासे उसकी उत्पत्ति हुई है। स्वसुखार्थ अभेद ही भेदको, अद्वैत ही द्वैतको प्राप्त हुआ है। परमात्मप्रेम ही जीवरूपसे व्यक्त हुआ है। इसलिये प्रेम ही जीवका मूल धर्म है।

परमात्मा ज्ञानस्वरूप है। पर ज्ञानसे ज्ञानका समाधान नहीं होता। ज्ञान लीन होता है प्रेममें। चक्रवर्ती राजा भी अपने शिशुको देखकर अपना चक्रवर्त्तित्व भूल जाता है और उसके नेत्रोंसे वात्सल्य झरने लगता है। इसी प्रकार परमात्मा अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक होकर भी जीवकी ओर देखकर अपना प्रभुत्व भूल जाता है। वात्सल्यके झरनेकी जो यह अवस्था है यह अत्यन्त मधुर है और इस माधुर्यका समास्वादन जीव कर सकता है। यह जो परस्पर माधुर्यानुभव है वह भगवान् और भक्तके बीच भक्तिप्रेमानन्दका कल्लोल है। भक्त और भगवान् देखनेमें तो दो हैं पर दोनोंका सुखानुभव एक है। पति और पत्नी होते हैं दो, पर सुखानुभवमें एक ही। इस प्रकार देखनेमें द्वैत, पर अनुभवमें अद्वैत है। इसलिये द्वैत द्वैत नहीं बल्कि अद्वैतका अनुभव है।

इससे यह पता लगता है कि मनुष्यका जीवन कितना अमूल्य है। भगवान्के प्रेमसुखभोगका यही तो साधन है। इसलिये यह जीवन सौभाग्य है। इस जीवनपर भगवत्प्रियताका अखण्ड सिञ्चन हुआ करता है। इस प्रेमसिञ्चनको जानना ही भक्ति है। अन्यथा जीव भगवान्से प्रेम करना जान ही नहीं सकता। देह, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ये जो जीवके अंग हैं ये भगवत्प्रेमके साक्षात् चिह्न हैं, यही भक्तोंका निश्चय होता है; इसी कारण ये बन्धनकारक नहीं होते, बल्कि प्रभुदर्शन करानेमें ही कारण होते हैं। अपारज्ञानसत्तास्वरूप भगवान् मेरे नेत्रोंद्वारा देखते हैं, मेरे मुखसे भाषण करते हैं, मेरे मनसे संकल्प करते हैं, मेरी रुचिसे जब जो ज्ञान आवश्यक होता है उसे उपस्थित करते हैं, मैं जब सो रहता हूँ तब मेरे ज्ञानको जतनसे रखते और जागनेपर फिर मेरे सामने लाकर रख देते हैं, जैसे सोये हुए बच्चेकी माँ उसके खिलौने जतनसे रखती और जागनेपर फिर उसे दे देती है, रोम-रोममें घुसकर मेरी रक्षा करते हैं और यह सब करते हुए यह कभी नहीं जनाते कि मैं यह सब कर रहा हूँ। भक्त यह जानकर प्रेमसे गद्गद हो उठता है। माता अपने बच्चेके लिये कितने कष्ट सहती है, पर कभी थकती ही नहीं। वैसे ही भगवान् जीवोंके लिये अहोरात्र कष्ट किया करते हैं पर कभी अघाते नहीं। इसलिये जीवके जीवनका यदि कुछ ध्येय हो तो वह इसी प्रेमका स्मरण है।

जीव जैसा चाहे, अपने-आपको बना सकता है। यह उसका स्वभाव ही है। परमात्मा अनन्त रूपोंमें सजे हैं। जीव जिस रूपमें चाहे, उसी रूपमें भगवान् उसे दर्शन दे सकते हैं। बच्चेकी भूख खेलसे शान्त नहीं होती, माताके दूधसे ही शान्त होती है; वैसे ही जीवको प्रभुके प्रेमका साक्षात्कार हुए बिना चैन नहीं मिल सकता। यह साक्षात्कार, यह प्रेममिलन कैसे हो? इसका उपाय यही है कि हृदयमें रहकर भी छिपे रहनेवाले प्रभुको निर्विषय चित्तसे पुकारो। पुकारते ही भगवान् मिलते हैं। उस मिलनकी पहचान यही है कि 'आठों अंगोंमें प्रेमभाव' उदय होता है। जो ज्ञान अबतक कल्पना, भावना आदि रूपोंसे प्राप्त था वही अब सर्वाङ्गसे पुकारनेपर मातृरूपसे आकर मिलता है, जिसके मिलनसे कण्ठ गद्गद हो जाता है, रोम-रोम पुलकित हो जाते हैं, नेत्रोंसे आनन्दाश्रु बहने लगते हैं। भगवान्का मिलना इस रीतिसे अत्यन्त सुलभ है, इसीलिये साधु-संतोंने भगवन्नामस्मरणको अन्य सब साधनोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ माना है।

एक संतका वचन है कि 'नामका प्रेम ही भगवान् है।' नामस्मरण करते-करते किसी दिन भगवान् मिलेंगे, यह बात नहीं। जीभपर चीनी रखते ही उसकी मिठास मालूम हो जाती है। नाम लेते ही भगवान्से प्रेमरूप भेंट होती है। हरिस्मरण ही हरिमिलन है। कारण, नामोच्चारणका कारण प्रेम है और प्रेमके अधिष्ठान भगवान्। प्रेमसे स्मरण और स्मरणसे प्रेमका प्रवाह भक्तके हृदयमें अखण्ड जारी रहता है। इस प्रेमका जो सुख है उसपर भक्तोंने सब सुख न्योछावर कर दिये हैं। श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं—शान्ति, क्षमा, दया, इनकी भी हे पंढरिनाथ! कोई आवश्यकता नहीं; केवल तुम्हारे नाम-गुण हम सदा गाया करें, यही एकमात्र इच्छा है।'

श्रीएकनाथ महाराज कहते हैं—'भक्ति-प्रेमके बिना ज्ञान हमें न चाहिये, क्योंकि ऐसे ज्ञानमें नित्य नया अभिमान है। दो मुझे केवल प्रेमसुख, प्रेमके बिना समाधान नहीं। वेश्याका शृङ्गार जैसा होता है, वैसा ही प्रेमके बिना ज्ञानीका ज्ञान है। एकाजनार्दनका जो प्रेम है वह बड़ा ही मधुर है, उसके अनुभवी ही उसे जानते हैं।

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

इस प्रेमकी ओर चित्तका लग जाना ही परम सौभाग्य है। इस प्रेमके विरहमें सूख जाना ही जीवनका साफल्य है। इस विरहमें बड़ा ही अद्भुत सुख है। गोपियोंके श्रीकृष्णविरहके गीत गानेका भी यही प्रयोजन है कि गोपियोंका-सा ही चित्त हो जाय। भक्तोंके चरित्र गानेसे उनके अन्तःकरणका सुख अपने हृदयमें आ जायगा। सत्संग और नामस्मरणसे यह प्रेम उपजेगा और विरहरूपको प्राप्त होगा। जन्म-मरणका भय नष्ट होगा और जन्म-जन्म यही रस-सेवन करनेकी इच्छा होगी। श्रीनामदेवराय कहते हैं--

‘इसीलिये मैं जन्म लूँगा कि तेरी चरणसेवा कर सकूँ। परब्रह्म अविनाशी और आनन्दघन है, पर उससे भी अधिक मधुर तेरे चरण हैं।’

दिव्य मूर्तियोंका साक्षात्कार

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम० ए०)

रामलीला तथा रासलीलाका प्रचार जितना संयुक्त-प्रान्तमें पाया जाता है उतना कदाचित् अन्यत्र नहीं मिलेगा। वैसे तो संयुक्तप्रान्तमें प्रायः अधिकांश बड़े-छोटे स्थानोंमें प्रतिवर्ष लीलाएँ होती हैं, परन्तु कुछ थोड़ी-सी लीलाएँ ही ऐसी हैं जिनमें भगवान्‌का आवेश प्रायः सदा ही पाया जाता है। इसका कारण उन अनन्य भक्तोंकी उत्कट उपासना तथा भक्ति है जिनके द्वारा ये लीलाएँ प्रारम्भ की गयी थीं। काशीके सुप्रसिद्ध नाटी इमलीवाले भरतमिलापका नाम पाठकोंमेंसे अनेक सज्जनोंने सुना ही होगा। इस भरतमिलापमें लाख, डेढ़ लाख आदमियोंकी भीड़ हो जाती है और स्वयं काशिराज भी भगवान्‌के दर्शनार्थ पधारते हैं। इस लेखकको अनेकानेक बार इस पुण्य अवसरपर उपस्थित होनेका सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि गोधूली बेलामें ज्यों ही भगवान् श्रीरामचन्द्रजी दौड़कर साष्टाङ्ग दण्डवत् किये हुए तपस्वी भरतको उठाकर गलेसे लगाते हैं, एक विचित्र विद्युत्प्रवाह-सा चारों ओर दौड़ने लगता है। लोगोंको रोमाञ्च हो जाता है और एक विचित्र, अनिर्वचनीय स्थितिका अनुभव होने लगता है। यह भरतमिलाप चौकाघाटकी रामलीलाका है। इस रामलीलाको भक्तशिरोमणि मेघा भगतने लगभग चार सौ वर्ष पूर्व, गोस्वामी तुलसीदासजीसे भी पहले चलाया था। इस लीलाके सम्बन्धमें अनेकानेक चमत्कारपूर्ण[*] कथाएँ सुनी जाती हैं। निस्सन्देह वे सब महात्मा मेघा भगतकी अनन्य तथा उत्कट भक्तिकी द्योतक हैं।

अभी हालहीमें बाँदा जिलेके चन्दवारा ग्रामवाले स्वामी मधुसूदनाचार्यजी (उपनाम मधुप अलीजी) का देहान्त हुआ है। ये भी एक बड़े ऊँचे भक्त हो गये हैं। इनके द्वारा स्थापित वैदेहीवाटिकाकी रामलीला लगभग पैंतालीस वर्षसे होती चली आ रही है। स्वामीजीने स्वयं चालीस वर्षतक इसका सञ्चालन किया था। स्वामीजी बड़े अच्छे गवैये भी थे और उन्होंने अनेकानेक लीलासम्बन्धी पद रचे थे। यही पद उपर्युक्त लीलामें गाये जाते हैं। इस लीलाकी अनेक विशेषताएँ हैं, जो कदाचित् अन्यत्र कहीं नहीं मिलेंगी। स्थानाभावके कारण उनका वर्णन यहाँ नहीं दिया जाता। चार-पाँच वर्ष हुए मुझे इस लीलाको देखनेका परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था और स्वामीजीके पदोंका भी कुछ अनुभव प्राप्त हुआ था। इस अवसरपर मुझे कई महात्मा लोग ऐसी विह्वल अवस्थामें दीख पड़े कि जिसका वर्णन केवल महर्षि नारदकृत ‘भक्तिसूत्र’[†] के द्वारा ही किया जा सकता है। मेरी स्वयं क्या अवस्था हुई सो भी वर्णनातीत है। मुझे रत्तीभर भी सन्देह नहीं है कि यह चमत्कार स्वामीजीकी [‡] निस्सीम भक्तिका ही द्योतक है।

ऊपर कही हुई रामलीलाके कुछ ही दिन बाद मुझे एक विचित्र रासलीलाको देखनेका अवसर मिला।

---

[*] इस सम्बन्धमें श्रीराधाकृष्णदासकृत ‘भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकी जीवनी’ (ताराप्रेस, काशी, संवत् १९६०) पृ० २०-२१ देखिये। पुस्तक अप्राप्य है, अतः बड़े पुस्तकालयोंहीमें मिलेगी।

[†] स्वामी मधुसूदनाचार्यजी तथा उनकी रामलीलाके विषयमें देखिये मेरठके ‘संकीर्तन’ का ‘श्रीचैतन्यसंकीर्तनाङ्क’ (पृ० ८६–८८)।

[‡] देखिये सूत्र ६८–‘कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च’ [श्रीहरिश्चन्द्रकला–चतुर्थ भाग (भक्तरहस्य), खड्गविलासप्रेस, बाँकीपुर, मूल्य २)]। यह भक्तोंके लिये परमोपयोगी ग्रन्थ है। इसमें भारतेन्दुकी २३ पुस्तकें संगृहीत हैं।

यह रासलीला व्रजके श्रीलाड़िलीशरणजीकी सुप्रसिद्ध मण्डलीद्वारा की गयी थी। मालूम हुआ है कि बड़ोंके द्वारा निर्धारित प्राचीन मर्यादाके उल्लङ्घनको रोकनेके विचारसे उन्होंने इस मण्डलीको अब तोड़ दिया है। इस मण्डलीकी रासलीलाओंमें भगवान्‌के प्रति जो सम्मान तथा मर्यादा दीख पड़ती थी वह अत्यन्त श्रद्धोत्पादक थी। लीलाओंमें केवल 'अष्टछाप'* के महात्माओंके, 'श्रीमद्भागवत'† के, जयदेव कविकृत 'गीतगोविन्द'‡ के तथा लीलाशुककृत§ श्रीकृष्णकर्णामृत×के उद्धरण ही काममें लाये जाते थे। इसके अतिरिक्त केवल महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकृत 'मधुराष्टक'÷ का ही प्रयोग होता था। इस मधुर मण्डलीने फ़र्रुखाबादकी भक्त जनताको ऐसा मोह लिया कि होली संवत् १९८९ के दिन उस जनताकी ओरसे मण्डलीके स्वामीजीको एक बड़ा ही मर्मस्पर्शी अभिनन्दन-पत्र दिया गया। उसमेंसे एक पद यों है—

> जिन तत्वनको भेद नहीं पढ़ि-पढ़िके पायो।
> विनको सरल बनाय सबहिं रस पान करायो॥
> दरसन कर या रासके प्रेम-पीर बढ़ि जाय।
> व्याकुल ह्वै डोलत फिरै, जगकी सुधि बिसराय॥

उपर्युक्त तीन संस्थाओंके वर्णनसे इस बातकी पुष्टि होती है कि अनन्य भक्तिका स्रोत कभी सूख नहीं सकता। प्रवर्तक भक्तके नाम तथा रूपका त्याग कर वैकुण्ठधाम सिधारनेपर भी उसके द्वारा प्रचलित प्रणाली अथवा पदोंहीसे वही सुरम्य छटा बार-बार जाग्रत हो उठती है जो आरम्भमें दीख पड़ती थी। जिस प्रकार किसी कोठरीमें कस्तूरीकी शीशी थोड़ी देरके लिये खोल दी जावे और फिर बंद करके हटा ली जावे तो भी कस्तूरीकी सुगन्ध पूर्ववत् बहुत देरतक वायुमण्डलमें फैली रहती है, ठीक उसी प्रकार अनन्य भक्तके अवसानके अनन्तर भी दीर्घकालतक वही अलौकिक प्रभा प्रकट होती है जो उसके समयमें जाग्रत हुई थी।

यह तो हुई भगवान्‌के आभासमात्रकी बात। मेरी समझमें भक्तमें जितनी ही उत्कट भावना होगी और जितना ही उसका हृदय संशय * से शून्य होगा, उतनी ही अधिक सिद्धि आभासद्वारा देवसाक्षात्कारमें होगी। मन्त्रयोगसंहितामें† लिखा है—

> **यथा गवां सर्वशरीरजं पयः**
> **पयोधरान्निःसरतीह केवलम्।**
> **तथा परात्माखिलगोऽपि शाश्वतो**
> **विकाशमाप्नोति स दिव्यदेशकैः॥४७॥**

'जिस प्रकार दुग्ध गौके सारे शरीरमें व्याप्त होनेपर भी केवल स्तनद्वारा ही प्रकट होता है, उसी प्रकार परमात्मा सर्वव्यापक होनेपर भी दिव्यदेशोंद्वारा ही विकासको प्राप्त होता है।' वहींपर यह भी कहा है कि 'धारणा' की उग्रतापर ही उपर्युक्त विकास निर्भर है।

---

* 'अष्टछाप'के महात्माओंमें महाप्रभु वल्लभाचार्यके शिष्य सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, उपर्युक्त महाप्रभुजीके पुत्र गो० विट्ठलनाथजीके शिष्य चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, नन्ददास तथा गोविन्द स्वामी थे। इनमें सूरदास, कृष्णदास तथा नन्ददास अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी जीवनी तथा पदोंके लिये देखिये 'व्रजमाधुरीसार' (श्रीवियोगी हरिजीद्वारा सम्पादित, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन आफ़िस, प्रयाग, मूल्य २)। यह बड़ा ही सरस ग्रन्थ है।

† ये पद श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्ध—अध्याय २९ से ३३ से लिये गये थे। इन्हीं ५ अध्यायोंको 'रासपञ्चाध्यायी' कहते हैं। प्रत्येक हरिभक्तको चाहिये कि वह इनको मननपूर्वक पढ़े। जिन सज्जनोंको सानुवाद श्रीमद्भागवत मिलनेमें कठिनता हो वे वेंकटेश्वर-प्रेस, मुंबई द्वारा प्रकाशित 'सप्तगीत' (मूल्य प्रायः ॥)) देखें। इसमें रासपञ्चाध्यायीके कुछ अंश आ गये हैं। ग्रन्थ सानुवाद है।

‡ मुझे तो इस जगत्प्रसिद्ध ग्रन्थका भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकृत छन्दोबद्ध अनुवाद सर्वश्रेष्ठ प्रतीत हुआ। अनुवादके माधुर्यकी छटा निराली ही है। यह अनुवाद तथा मूल गीतगोविन्द उपर्युक्त 'भक्तरहस्य' नामक पुस्तकमें सम्मिलित हैं।

§ दक्षिण भारतका जगत्प्रसिद्ध ग्रन्थ। श्रीलीलाशुक तथा इस ग्रन्थके अन्तर्गत रास-अष्टपदी (जिसके लालित्यका कहना ही क्या है) के लिये देखिये 'श्रेय' (वृन्दावन), भाग २ संख्या ४।

× 'श्रीकृष्णकर्णामृत' (मूल) वेंकटेश्वर-प्रेस, मुंबईसे छः आनेको मिलता है। अंग्रेज़ीमें सानुवाद एक बड़ा सुन्दर संस्करण V. Ramaswamy Sastrulu & Sons, Madras ने निकाला है।

÷ ऐसा हृदयग्राही स्तोत्र कदाचित् ही मिले। इसका मूल 'कल्याण' के 'श्रीकृष्णाङ्क' में ४८० पृष्ठपर मिलेगा।

* गीतामें कहा है—'संशयात्मा विनश्यति'। और यही मूलमन्त्र इस्लाम धर्मका है। मुसल्मानोंमें कुरानके वाक्योंके प्रति सत्यताका सन्देह करना 'कुफ़्र' (महापातक) है।

† 'मन्त्रयोगसंहिता', पृ० ८५-८६ (भारतधर्ममहामण्डल, काशी, मूल्य १) सानुवाद)।

लोग कहते हैं कि हिन्दूजाति मूर्तिपूजक है। मैं तो कहूँगा कि यह उन समालोचकोंका भ्रममात्र है। कोई भी हिन्दू मूर्तिरूपी दिव्य देशको अथवा काठ, पत्थर इत्यादिकी प्रतिमाको ही ईश्वर नहीं समझता। वह उस प्रतिमाके द्वारा साक्षात् परमेश्वरका स्मरण करता है और उसी जगदीश्वरकी पूजा करता है। प्रतिमा तो केवल आधारमात्र जड़ वस्तु है। यही कारण है कि अधिकांश हिन्दू सम्प्रदायविशेषसे विक्षित न होकर प्रायः समस्त मूर्तियोंको एक ही प्रकारके भक्ति-भावसे पूजते हैं। बात भी ठीक ही है। प्रत्येक मूर्तिमें ध्यान तो केवल एकमात्र परमात्माहीका है। सत्त्व, रज तथा तमके भेदसे और उपासकोंकी विभिन्न रुचि तथा मानसिक स्थितिके कारण ही हिन्दूजातिमें अनेकानेक प्रकारकी मूर्तियोंका होना पाया जाता है।

ठीक यही बात 'मनौती' के सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। यथार्थमें परमात्मा घट-घटमें व्याप्त है, और जिसे आप 'अहम्' या 'मैं' कहते हैं उसमें तथा उस परमात्मामें कोई भी भेद नहीं है। जब आप किसी देवमूर्तिके सम्मुख मनौती मानते हैं तो उस समय आप स्वयं अपनी परमात्मसत्ताको जाग्रत करते हैं और उसे उस मूर्तिमें केन्द्रित करते हैं। आप अपनेको इस बातका अनन्य विश्वास दिलाते हैं कि अमुक मूर्तिमें इतनी बलवती शक्ति विद्यमान है जो आपके निर्दिष्ट कार्यको सफलतापूर्वक सम्पादित कर सकती है। एक प्रकारसे, आप अपनी प्राणशक्तिको ही उस मूर्तिमें निहित कर देते हैं। शास्त्रोंमें यह भी कहा गया है कि 'सिद्धसङ्कल्प ईश्वरः।' इस कारण आपका सङ्कल्प उत्कट तथा आत्मबलसे युक्त होनेके कारण अवश्य सफल होता है। तात्पर्य यह है कि मनौतीकी सफलता स्वयं आपहीकी श्रद्धा तथा आत्मबलपर निर्भर है और केवल भावनाका खेल है। देवता भी सब आपके ही स्वरूप हैं।

वाल्मीकीय रामायणकी* कथा है कि जिस समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजी रावणको मार चुके थे और महारानी सीताजीकी अग्निपरीक्षा हो चुकी थी उस समय दिवंगत महाराज दशरथ सशरीर प्रकट हुए और उन्होंने महाराज श्रीरामचन्द्रजीको अपनी गोदमें बिठलाया। महाभारतमें भी इसी प्रकारके दो सुअवसरोंका वर्णन मिलता है। भारतीय युद्धके* समाप्त हो जानेपर गान्धारीकी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये महात्मा वेदव्यासजीने एक रात्रिके लिये रणमें मरे हुए कुल योद्धाओंको सशरीर बुला लिया था और उन मृत योद्धाओंके सम्बन्धियोंको उनसे मिलने-जुलने तथा बातचीत करनेका पूर्ण अवसर रात्रिभरके लिये मिल गया था। इन योद्धाओंमें द्रोणाचार्य तथा भीष्मपितामह भी सम्मिलित थे। इस अवसरपर जन्मान्ध महाराज धृतराष्ट्रको भी बारह घंटेके लिये नेत्र प्राप्त हो गये थे। इसी प्रकारका दूसरा अवसर सम्राट् जनमेजयके नागयज्ञमें हुआ था। उस समय जनमेजयके मृत पिता परीक्षित, जो बहुत काल पूर्व तक्षक-द्वारा डसे जाकर मर चुके थे, सशरीर प्रकट हुए और जनमेजयने स्वयं अपने हाथोंसे अपने पिताको स्नान कराया।

महाभारतहीके समयमें योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने अर्जुनको विराट्†रूपका दर्शन कराया था।

इस प्रकारकी कथाएँ अन्य धर्मोंके ग्रन्थोंमें भी पायी जाती हैं। सुदूर मध्य एशियाके विकट पार्वत्य प्रदेशमें एक निर्जन तथा विस्तीर्ण मैदान पड़ा हुआ है। प्रतिवर्ष वैशाखकी पूर्णिमाके दिन बड़े-बड़े बौद्ध लामा लोग इस स्थानपर रात्रिके समय जमा होकर भगवान् बुद्धका आवाहन करते हैं। कहा जाता है कि इस आवाहनपर भगवान् बुद्ध आकाशमें प्रकट‡ होते हैं और अभयमुद्राद्वारा उपस्थित बौद्ध जनसमुदायको आशीर्वाद देकर पुनः अन्तर्हित हो जाते हैं।

इसी प्रकार जैनधर्मकी एक कथा§ है कि काञ्चीनगरीमें स्वामी समन्तभद्रने जिस समय शिवजीके भीमलिङ्गके सम्मुख आठवें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ स्वामीकी स्तुति की थी उस समय एक जाज्वल्यमान सुवर्णकान्तियुक्त विशाल बिम्ब प्रकट हुआ था।

मध्ययुगीन ईसाई धर्ममें भी ईसामसीहका अकेले बालक-रूपमें ध्यान तथा माता मरियमसहित बालक ईसाका ध्यान

---

* वाल्मीकीय रामायण, लङ्काकाण्ड, सर्ग १२१।

* महाभारत, आश्रमवासिकपर्व, अध्याय ३१ से ३५ में इन दोनों अवसरोंका वर्णन मिलेगा।

† देखिये श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ११।

‡ देखिये 'कल्याण' के 'योगाङ्क' में प्रकाशित 'बौद्धधर्ममें तन्त्रयोग' शीर्षक लेख, पृ० २८९।

§ देखिये 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' (सटीक) का प्राक्कथन, पृ० ९३ (जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बंबई)।

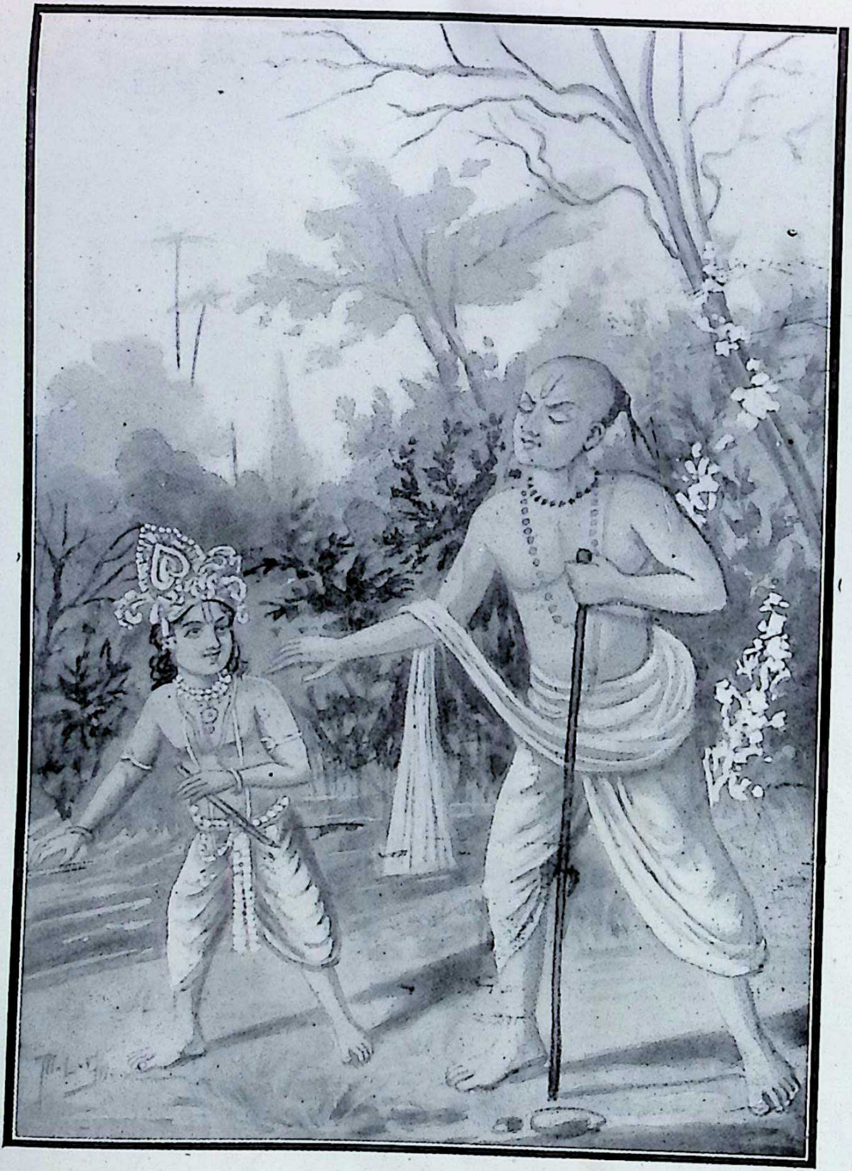

हाथ छुड़ाये जात हौ निबल जानिके मोहि ।
हिरदय ते जब जाहुगे सबल बदौंगो तोहि ॥

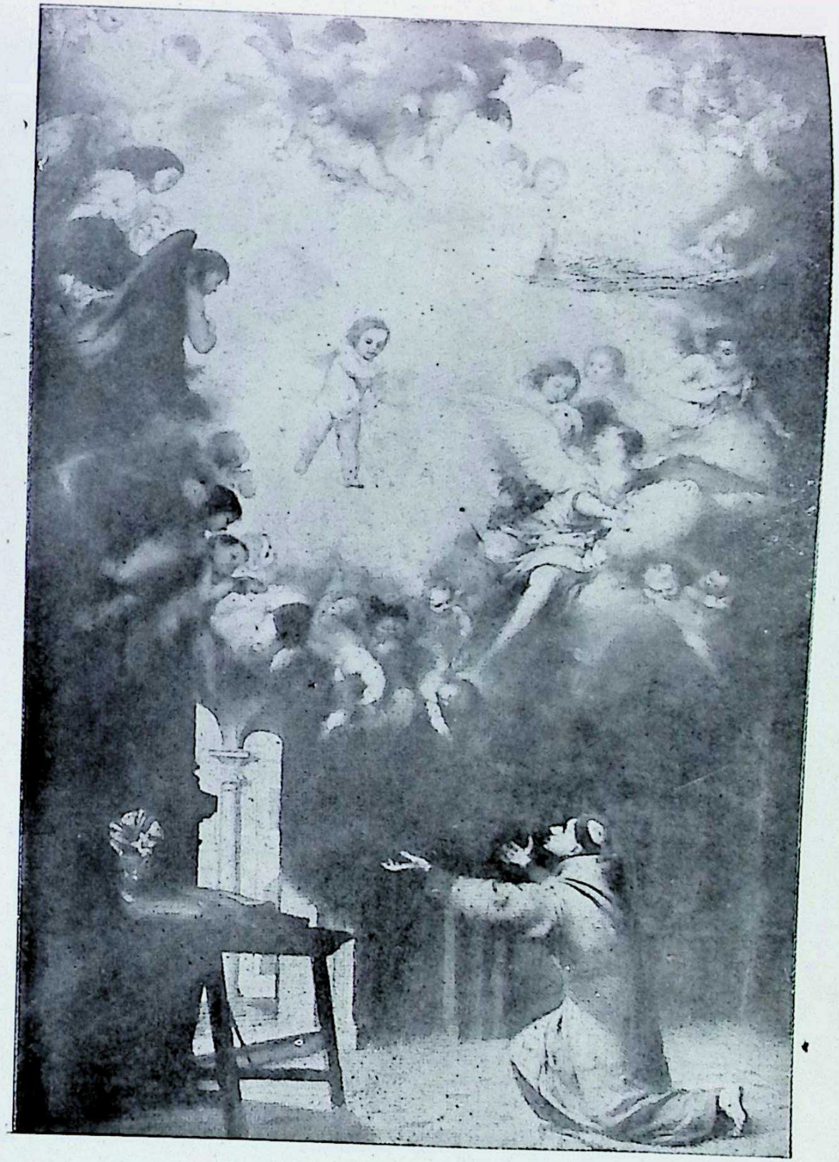

भक्तिके सम्बन्धमें मतमतान्तरका कोई विवाद नहीं । भक्त पादरी अंटोनियसकी उत्कट भावनासे बालकृष्णवत् ईसाकी मूर्तिका तेजोमण्डलमें प्रादुर्भाव ।

भी होता था और गुलाबी क्रूस (Rosy cross), जिसपर ईसाको प्राणदण्ड[*] दिया गया था, अथवा Holy Grail या वह कटोरा जिसमें ईसाका रक्त सञ्चित किया गया था, दिव्य-देशरूपसे कैथलिक ईसाइयोंद्वारा ध्यानके काममें प्रयुक्त किये जाते थे। और इन ध्यानोंकी सिद्धिके निमित्त विशिष्ट रात्रियोंको जागरण किया जाता था।

उपर्युक्त विवरणोंसे ज्ञात होगा कि कुछ भक्त साधक अपनी उत्कट भावनाके द्वारा अपने इष्टदेवकी मूर्तिको अथवा उनकी लीलाओंको अपने नाभि, हृदय अथवा मूर्धामें ध्यानके द्वारा व्यक्त कर लेते हैं। मेरा अनुमान है कि मीराबाई[†] तथा रसखान[‡] इस श्रेणीके भगवत्प्रेमी थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र[§] भी इसी प्रकार सर्वदा अपने इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीका दर्शन करते थे। उनका सुप्रसिद्ध मङ्गलाचरण पाठकोंको ज्ञात ही होगा। कहते हैं—

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥

और रसिकवर नज़ीर[×] भी इसी छविके चिन्तनमें निरन्तर विह्वल रहते थे। उनका एक पद है—

तिहारि आसा लगी है निस दिन।
तिहारे दरसनको तरसैं नैना॥
दुलारे सुंदर अनूठे अबरन।
हठीले मोहन अनोखे लाला॥

इन भक्तोंके अतिरिक्त कुछ साधक इतनी शक्ति रखते हैं कि अपनी इष्टमूर्तियोंको स्थूल रूपमें अपने सम्मुख प्रकट कर लेते हैं। सम्भव है कि सूरदासजी तथा तुलसीदासजी इसी श्रेणीमेंके थे। कहा जा सकता है कि इन भक्तोंको एक प्रकारसे पञ्चतत्त्वोंके ऊपर भी अधिकार-सा हो जाता है। अनुमान है कि यह अधिकार विशिष्ट प्रयत्नके बिना ही स्वयंप्रकाश प्रतिभाद्वारा हो जाता है। ऐसी ही सिद्धिका वर्णन महर्षि पतञ्जलिके योगसूत्र 'प्रातिभानाद्वा[*] सर्वम्' में पाया जाता है।

और कुछ भक्त अपनी उत्कट तपस्याके कारण तथा विभिन्न वस्तुओंपर 'संयम' करके 'भूतजय' को प्राप्त कर लेते हैं, जिसके अन्तर्गत सुप्रसिद्ध 'अष्ट सिद्धियाँ' भी हैं। ऐसे महात्मा जिस समय जिस रूपको चाहें स्थूल रूपमें किसीके भी सम्मुख कर सकते हैं। निस्सन्देह भगवान् वेदव्यास इसी श्रेणीके थे।

उपर्युक्त श्रेणीविभाग किसी प्रकार भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता। भक्तिकी महिमा अपरम्पार है। किसे कितनी सत्ता थी सो भगवान् ही जानें। साधारण विचारोंको व्यक्त करनेके लिये ही इस प्रकारके श्रेणीविभागकी कल्पना की गयी है। आशा है कि विद्वान् पाठक मुझे इस अनधिकार चेष्टाके लिये क्षमाप्रदान करेंगे।

महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनका तृतीय पाद, जिसे 'विभूतिपाद' कहते हैं, इन्हीं आश्चर्यजनक शक्तियोंके वर्णनसे भरा पड़ा है। जिज्ञासु पाठक इसमें 'संयम', 'भूतजय', 'अष्ट सिद्धि' तथा नाना प्रकारकी विभूतियोंके विषयमें पूरा वैज्ञानिक विवरण पायेंगे, जिससे यह बात सिद्ध होगी कि अपने देशमें महात्माओंने कैसी-कैसी विचित्र शक्तियोंका वैज्ञानिक विश्लेषण तथा अनुसन्धान कर डाला था।

योगदर्शनके चतुर्थ पादमें 'निर्माणचित्त'[†] का विचित्र विषय पाया जाता है। निर्माणचित्तसे निर्माणकाय[‡]-की रचना हुई और इसी निर्माणकायके भावको महायानिक

---

[*] इस सम्बन्धमें Tennyson कृत Sir Galahad नामक कविता देखिये। और Rev. Cutts कृत Scenes and Characters of the Middle Ages, Denial O' Connor, London 1922 में भी उस समयका बहुत कुछ हाल मिलेगा।

[†] कविताकौमुदी—भाग १, पृ० १९९ से २०८ में मीराबाईकी संक्षिप्त जीवनी तथा पद हैं [हिन्दी-मन्दिर प्रयाग, मूल्य ३)]।

[‡] 'हिन्दीके मुसल्मान कवि' (लहरी-प्रेस, काशी) के पृ० ८९ से ९७ में रसखानकी जीवनी तथा पद मिलेंगे।

[§] हिन्दी-नवरत्न (द्वितीय संस्करण) पृ० ५५२ से ६१३। गङ्गा-पुस्तकमाला, लखनऊमें भारतेन्दुजीके ग्रन्थका तथा उनकी जीवनी छप चुकी है।

[×] कविताकौमुदी—भाग ४, पृ० २९३ से ३३५ में इस श्रीकृष्णभक्त मुसल्मान कविकी जीवनी तथा कई बड़े सुन्दर पद हैं।

[*] योगसूत्र, पाद ३, सूत्र ३२।

[†] योगसूत्र, पाद ४, सूत्र ४।

[‡] निर्माणकायके विषयमें महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथजी कविराजका लेख Saraswati-Bhavana Studies, Volume I, पृ० ४७—६० में देखिये। लेख अंग्रेजीमें है। पुस्तक Government Press, Allahabad से प्राप्य है। मूल्य प्रायः ५) है।

बौद्धोंने भी अपने मतमें ज्यों-का-त्यों सम्मिलित कर लिया। निर्माणकायके सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके एक ही समय प्रति गोपीके साथ विभिन्न रूप धारण करनेकी शक्ति, महर्षि सौभरिका* एक ही समय एक-से ही पचास शरीर ग्रहण करना तथा गौतम बुद्धका श्रावस्तीमें एक ही समय अनेक रूप व्यक्त करना इत्यादि सरलतासे वैज्ञानिकरूपेण समझे जा सकते हैं। भगवान्के अवतारका कुछ तत्त्व भी इसी निर्माणकायके तत्त्वमें निहित है। विस्तारभयसे इस विषयमें और कुछ न लिखकर इस लेखको समाप्त किया जाता है। इस लेखके साथ जो चित्र महात्मा तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई तथा रसखानके दिये गये हैं उनकी कथाओंसे प्रायः समस्त पाठकगण परिचित ही होंगे। ईसाई भक्त अन्टोनियसका जो चित्र दिया जाता है उसमें यह दिखलाया गया है कि यह भक्त ईसाका बालकरूपसे ध्यान करता था और सहसा एक दिन उसकी कुटी (Cell) में उसकी इष्टमूर्त्ति एकाएक ज्योतिर्बिम्बके रूपमें प्रकट हो गयी। यह चित्र स्पेनके एक विशाल भवनमें अब भी विद्यमान है और एक प्रसिद्ध चित्रकारद्वारा लगभग ३ सौ वर्ष हुए चित्रित किया गया था।

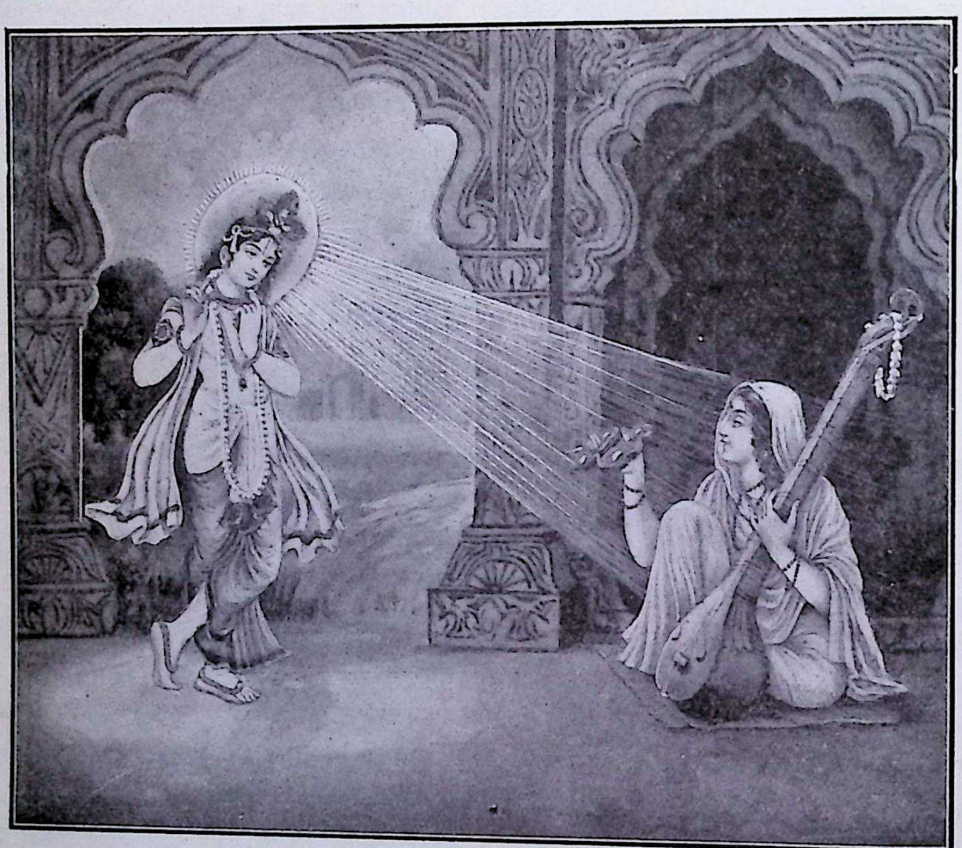

पाठकोंसे विनीत निवेदन है कि वे किसी-न-किसी प्रकारकी, चाहे बहुत थोड़ी भी क्यों न हो, प्रतिदिन उपासना अवश्य करें और दिन-ब-दिन उस उपासनामें एकाग्रता तथा भावकी वृद्धि करते जावें। आशा है कि इससे उन्हें उत्तरोत्तर अधिक सुखका अनुभव होगा।

---

* श्रीमद्भागवत स्कंध ९, अध्याय ६ में सौभरि ऋषिकी कथा मिलेगी।

वेद और वेदान्त

(लेखक—श्रीसीताराम जयराम जोशी, एम० ए०, साहित्यशास्त्राचार्य)

'वेद' शब्द

कोषमें 'वेद' शब्दके पर्याय मिलते हैं 'श्रुति' और 'आम्नाय'। ये तीनों शब्द किसी ग्रन्थविशेष या उपदेशविशेषके लिये पीछे रूढ हुए-से मालूम पड़ते हैं। 'श्रुति' शब्द अन्वर्थक है, क्योंकि आद्य ऋषियोंका ज्ञान शिष्यवर्ग गुरुमुखसे सुनकर ही सीखते थे। 'श्रुति' शब्दका अर्थ केवल सुनना ही नहीं, किन्तु यह भी है कि गुरुने जैसा कहा वैसा ही सुना और अपने शिष्योंको सुनाया। इसका अर्थ वे ही ठीक समझ सकते हैं जिन्होंने वेदके पठन-पाठनका ढंग देखा है। एक बार कह देनेसे ही गुरुका काम नहीं सिद्ध होता। जबतक गुरुजीका यह विश्वास न हो लेगा कि शिष्य प्रत्येक वर्ण, पद, स्वरका उच्चारण ठीक वैसा ही कर रहा है जैसा कि वे स्वयं कर रहे हैं, तबतक शिष्यको वे पाठ देते ही रहेंगे; फिर जब शिष्य उसको ठीक कहने लगे तब वे विरत होंगे। उसके बाद भी श्रुतको दृढ़ करनेके लिये कई बार शिष्यको उसकी आवृत्ति करनी ही पड़ती है। इस प्रकारसे जो पाठ एक दिनमें पढ़ाया जाता था वह चार या पाँच ऋचाओंसे अधिक नहीं होता था। इसीलिये ऋग्वेदकी संहितामें ऐसे चार-चार या पाँच-पाँच ऋचाओंके वर्ग बनाये गये हैं। ऐसे कई वर्गोंका अनुवाक होता है और कई अनुवाक मिलकर अध्याय होते हैं।

अध्यायोंमें अनुवाकोंकी संख्या नियत नहीं है, किन्तु आठ अध्यायोंका एक अष्टक बनकर सम्पूर्ण ऋग्वेद आठ अष्टकोंमें विभक्त है। ऋक्संहिताकी कोई भी पुस्तक पाठकगण उठाकर देखें तो उनको मालूम होगा कि ऋक्संहितामें दो प्रकारके विभाग किये गये हैं। एक मण्डलात्मक है, जिसमें मण्डल, सूक्त और ऋचाएँ विद्यमान हैं। ऋग्वेदमें १० मण्डल हैं, १०१७ सूक्त, खिल सूक्तोंके साथ १०२८ और प्रत्येक सूक्तमें एकसे लेकर कहीं-कहीं ७०-८०-१०० तक ऋचाएँ हैं। औसत संख्या ऋचाओंकी १५-१६ आ सकती है। ये विभाग स्वाभाविक मालूम पड़ते हैं, क्योंकि संहिताके बनते समय एक-एक ऋषिके कुलमें जो अनेक ऋषियोंका वृन्द था उनके देखे हुए अनेक मन्त्रसमूह एक ही स्थानमें कर देनेसे वे मण्डलऋषि कहाये, जिनके नाम क्रमसे आश्वलायन गृह्यसूत्रमें इस प्रकार मिलते हैं—

'शतर्चिनः'–ये प्रथम मण्डलके ऋषि हैं, क्योंकि यह माना जाता है कि इस प्रथम मण्डलके प्रत्येक ऋषिने सौ-सौ ऋचाओंको देखा था। दूसरे मण्डलके ऋषि हैं गृत्समद, तृतीयके विश्वामित्र, चतुर्थके वामदेव, पञ्चमके अत्रि, षष्ठके भरद्वाज, सप्तमके वसिष्ठ, अष्टमके प्रगाथ, और कण्व अथवा काश्यप; नवममें सोम (पावमानी) सूक्त हैं और दशममें क्षुद्रसूक्त और महासूक्त। इस प्रकार ये मन्त्र सूक्तोंके रूपोंमें एकत्रित होनेके बाद पठन-पाटन-प्रणालीमें सुविधा होनेके लिये चार-चार या पाँच-पाँच ऋचाओंको लेकर वर्ग बनाये। और एक अध्यायमें जितने वर्ग होते हैं उनको समान संख्याओंमें विभक्तकर उनके अनुवाक बनाये गये, अनुवाकोंके अध्याय और अध्यायोंके अष्टक। यह विभागसरणि जबसे प्रसृत हुई तभीसे वेदको 'आम्नाय' कहने लगे होंगे। किन्तु संहिता बननेके पहलेहीसे 'श्रुति' शब्द रूढ़ होगा। मालूम पड़ता है कि यह 'श्रुति' शब्द तभीसे रूढ होगा जबसे पर ऋषियोंका ज्ञान अवर ऋषियोंको उपदेशद्वारा दिया जाने लगा। क्योंकि यास्क महर्षि कहते हैं—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं वेदाङ्गानि च।

(नि० १। २०)

इस वचनका अर्थ गौर करके देखा जाय तो उसमेंसे मन्त्रोंके ये तीनों पर्याय 'वेद' 'श्रुति' और 'आम्नाय' निकल आवेंगे। आद्य ऋषि ऐसे थे जिन्होंने धर्मका साक्षात्कार किया और उन्हें मन्त्रोंके रूपमें प्रकट किया। वही 'वेद' कहाया। उनके बादके ऋषियोंको अब यह साक्षात्कार होना बंद हो गया; तबसे साक्षात्कृत धर्मका उपदेश करना पड़ा। उपदेश इसीलिये आद्योंका उच्चारण कहाता है। जबसे उपदेशको सुनकर ग्रहण करना प्रारम्भ हुआ तभीसे यह स्वाभाविक है कि इसका नाम 'श्रुति' पड़ा होगा। इनके बादके ऋषि उपदेशसे ग्रहण करनेमें असमर्थ थे; इसीसे उनके अभ्यासके लिये चारों वेद, संहिता, पद, क्रम, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् और ज्यौतिष आदि ग्रन्थ बनाये गये। इनका अभ्यास ही 'आम्नाय' पदसे बोधित

होने लगा। और यास्काचार्य अपने निरुक्तके आरम्भमें वैदिक निघण्टुके लिये कहते हैं—'समाम्नायः समाम्नातः' अर्थात् आम्नाय जो उत्तम प्रकारका माना गया है वह तो वैदिकोंके पठन-पाठनमें है। यहाँपर निघण्टुको, जिसपर यास्क टीका लिख रहे हैं, 'समाम्नाय' कहा है। इसी प्रकार 'निगम' और 'आगम' ये पद भी बहुत प्राचीन हैं। 'निगम' पदसे वेदका बोध होता है और 'आगम' पदसे शास्त्रका। 'निगम' पदका प्रयोग वेदके लिये यास्काचार्यने स्वयं किया है। 'नितरां गमयति' है अर्थात् जो सुन्दर, स्पष्ट ज्ञान कराता है वह 'निगम'। और उस निगमके विषयमें चारों ओरसे (आ=समन्तात्) जो ज्ञान कराता है वह है आगम।

मन्त्रोंको 'वेद' कहनेका कारण केवल इतना ही नहीं था कि वे ज्ञानरूप अथवा ज्ञानमय थे, जैसे मनु कहते हैं—'सर्वज्ञानमयो हि सः'। किन्तु 'वेद' शब्दकी व्युत्पत्ति ध्यानमें रक्खी जाय तो और भी बातें प्रकट होंगी। 'य एवं वेद' (जो इस) प्रकार जानता है—'जानता है' इस अर्थमें यह शब्द मन्त्रोंमें बार-बार आनेसे 'ज्ञान'के अर्थमें यह शब्द रूढ हुए; इतना ही नहीं, किन्तु 'विद्' धातुका अर्थ जो ज्ञान है उसे यहाँ प्रयोजक अर्थमें भी प्रयुक्त कर सकते हैं। जैसे कहा है—

इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोर्लौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।—

अभीष्टप्राप्ति और अनिष्टके निवारणके लिये अलौकिक उपायका बोध करा देनेवाला जो ग्रन्थ है वह वेद है। वेद स्वयं ज्ञानरूप तो है ही। यहाँपर 'ज्ञान' शब्दसे केवल अध्यात्मज्ञान ही नहीं लेना चाहिये, किन्तु धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थोंको प्राप्त करनेके उपायोंका ज्ञान समझना चाहिये। हमारे यहाँ प्राचीन समयमें क्रिया-शून्य ज्ञानका कोई महत्त्व न था। ज्ञानशून्य क्रिया जिस प्रकार किसी कामकी नहीं, उसी प्रकार, बल्कि उससे भी बढ़कर क्रियाशून्य ज्ञान निरर्थक समझा जाता था। श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं पद्मनाभ भगवान् श्रीकृष्णने अपने परम प्रिय भक्त अर्जुनको ज्ञान देकर कर्मानुष्ठान कराया। यही बात श्रुतिमें भी कही है। ईशावास्योपनिषत् वाजसनेयी संहिताका अन्तिम अध्याय है। उसमें स्पष्ट कहते हैं—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥

'अविद्या याने कर्मकी ही जो उपासना करते हैं वे अन्धकारयुक्त लोकमें प्रवेश करते हैं, अर्थात् ज्ञानज्योतिका प्रकाश उनसे कोसों दूर रह जाता है। किन्तु जो केवल ज्ञानमें रत हैं वे उससे भी अधिक अन्धकारमें रहते हैं।' इसके आगे कहते हैं कि विद्या याने ज्ञानसे कुछ और ही (अन्यत्) प्राप्त होता है और अविद्या अथवा कर्मसे कुछ और ही।

अर्थात् यहाँपर 'अन्यत्' पदसे 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' अभिप्रेत मालूम पड़ते हैं। क्योंकि अनुपदमेव कहते हैं—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

विद्या याने ज्ञान और अविद्या अर्थात् कर्म, इन दोनोंको जो साथ-साथ (विद्यमान) जानता है वह कर्मसे मृत्यु-लोकको पारकर (कर्मसे ही अभ्युदयकी प्राप्ति है—अभ्युदयमें धर्म, अर्थ, काम, ये तीन पुरुषार्थ समाविष्ट हैं) ज्ञानसे अमृतकी प्राप्ति कर लेता है अर्थात् अमर हो जाता है। इस प्रकार 'वेद' इन सब बातोंका ज्ञान करा देनेवाला होता हुआ उसके उपायका भी ज्ञान देनेवाला है; इसलिये 'विदन्ति' और 'वेदयन्ति', ये दोनों अर्थ 'वेद' पदमें अभिप्रेत हैं। 'विदन्ति'के अर्थमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

'प्रत्यक्ष अथवा अनुमान-प्रमाणद्वारा जिस उपायका बोध नहीं हो सकता उसका ज्ञान वेद अर्थात् शब्दप्रमाणसे होता है, यही वेदका वेदत्व है।' हमें जानना चाहिये कि यहाँ 'विद्' धातुका प्रयोग है। 'विद्' धातुके अनेक अर्थ हैं, वे सब इस 'वेद' शब्दमें चरितार्थ हैं। जैसे व्याकरणकी कारिका है—

सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन्लुक्श्नंशेष्विदं क्रमात्॥

दिवादि 'विद्' धातुका अर्थ है सत्ता, वह भी वेदका अर्थ है। क्योंकि वेद नित्य माने जाते हैं। अर्थात् उनकी सत्ता अथवा अस्तित्व अबाधित है। यही बात 'ॐ तत्सत्' पदसे बोधित है। गीताके सतरहवें अध्यायके अन्तमें इन तीनों पदोंका विवरण करते हुए 'सत्' पदका जो निर्वचन किया गया है वह वेदके लिये बिल्कुल यथार्थ प्रतीत होता है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

'इस प्रकार अच्छे पुरुषोंका भाव, अच्छा भाव, अच्छा कर्म, यज्ञ, तप, दान और इनके लिये होनेवाले अन्य जो

कर्म, ये सब सत् अर्थात् सदा रहनेवाले हैं; इनका नाश कभी नहीं होता, वेद इन्हींका उपदेश करता है और इसीलिये वह स्वयं भी सदाके लिये है। यह अर्थ 'विद्यते' पदसे निकल आया। विद्का अर्थ ज्ञान तो सुप्रसिद्ध ही है। सब बातोंका ज्ञान वेदसे ही है। इसीलिये सब शास्त्र, पुराण वेदसे ही निकले हैं, ऐसा माना जाता है। विन्ते विचारणे—वेदमें जो मीमांसा है, वह वेदका विचार ही है। वेदाभ्यास पाँच प्रकारका कहा गया है, जैसे दक्षस्मृतिमें कहा है—

वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः।
तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा॥

अस्तु, वेदमें विचार है, इसलिये रुधादि 'विद्' धातुका 'विचारण' अर्थ भी चरितार्थ है। 'विद्लृ लाभे' यह धातु भी चरितार्थ है, क्योंकि वेद चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति करा देता है। 'विद् चेतनाख्याननिवासेषु' धातु चुरादि भी है, जिसका रूप है 'वेदयते'। यह अर्थ भी इसीमें चरितार्थ हो सकता है।

अब पाठक समझ सकेंगे कि 'वेद' शब्द जिस ज्ञानका वाचक है वह केवल आध्यात्मिक ज्ञान ही नहीं है, बल्कि आधिदैविक, आधिभौतिक आदि सब प्रकारके ज्ञान तथा सत्ता, विचार, प्राप्ति, व्याख्यान, ज्ञापन आदि सभी प्रकारके अर्थ उसके अन्दर अभिप्रेत थे और हैं भी। इससे एक बात और निकल आवेगी कि वेद केवल मन्त्रके ही बोधक नहीं हैं किन्तु उन मन्त्रोंके साथ-साथ ऋषियोंने उपदेशके द्वारा जो कुछ बातें कही थीं वे सभी उसके अन्दर अभिप्रेत हैं। वे मन्त्रके व्याख्यानरूप थे जिन्हें आज हम 'ब्राह्मण' शब्दसे जानते हैं। ये ब्राह्मणग्रन्थ अवस्थाभेदसे तीन प्रकारके हैं—यज्ञयागादि, आरण्यक और उपनिषत् क्रमसे कर्म, उपासना और ज्ञान। कर्म और उपासना ज्ञानको परिनिष्ठित करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। इसीलिये आगेके आचार्योंने वेदका स्वरूप बतलाया है—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'।

हमारे यहाँ वेदके सम्बन्धमें इस प्रकार माना जाता है—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

वेद केवल मन्त्रात्मक ही न थे। किन्तु सेतिहास याने इतिहासयुक्त थे, जिसके कारण 'इतिहासपुराणं वेदानां पञ्चमं वेदम्' ऐसा छान्दोग्योपनिषद्में कहा है। यही नहीं, बल्कि 'वेद' शब्दका प्रयोग आयुर्वेद, नाट्यवेद आदि सभी ज्ञानोंके लिये प्रयुक्त हुआ है। ऋषियोंका ज्ञान कितना व्यापक था, यह समझनेके लिये हमारे पास कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। किन्तु हमारी परम्परा यही बतला रही है कि वेदहीसे सब शास्त्र, आगम, पुराण, इतिहास निकले हैं। इन बातोंपर गौर करनेसे यह अनुमान सुतरां हो सकता है कि बहुत प्राचीन समयमें 'वेद' शब्द केवल मन्त्रोंके लिये ही रूढ न होकर ऊपर बतलाये हुए 'वेद' शब्दके सभी अर्थ जिनके लिये चरितार्थ हो सकते हैं ऐसे सभी पदार्थोंके ज्ञानके लिये रूढ हुआ। वह ज्ञान बहुत समयके बाद नष्ट हो गया; तब जो ज्ञान मन्त्र, ब्राह्मण, इतिहास-पुराणके रूपमें बचा उसीमें वह शब्द रूढ हो गया। आगे ऋषि-मुनियोंने, जो परम्परा अवशेष बची था उससे शास्त्रोंकी खोज की और वे अन्य नामोंसे प्रसिद्ध हुए। ऐसा यदि न माना जाय तो परम्पराकी उपपत्ति लगना ही असम्भव है और यह प्रवाद कि भारतवासी सभी बातोंको ब्रह्माजीतक ले जाकर भिड़ाना चाहते हैं, सत्य हो जायगा। कपिल, व्यास, पाणिनि सरीखे बुद्धिमान् पुरुष भी आगम अथवा शब्दप्रमाणको केवल अन्धपरम्परासे मानते आये हैं, यह माननेके लिये कम-से-कम भारतवर्षीय विद्वान् तो तैयार नहीं हैं। अस्तु। वेद ग्रन्थके प्रधान दो भाग किये गये हैं—एक कर्मकाण्ड और दूसरा ज्ञानकाण्ड, अथवा एक अवरब्रह्म दूसरा परब्रह्म। मैत्र्युपनिषद् बतला रहा है—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परञ्च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

शब्दब्रह्म ही कर्मकाण्ड है। 'कर्म' शब्दका यहाँ संकुचित अर्थ लेना नहीं चाहिये। यज्ञ, तप, दान आदि जितने वेदोक्त सत्कर्म हैं वे सभी यहाँ उद्दिष्ट हैं। उन्हींके द्वारा पुरुषके चित्तका मल दूर होकर निर्मल चित्तमें आत्मस्वरूप प्रतिबिम्बित होता है, यही वेदान्त याने वेदोंका अन्त अथवा निर्णय अथवा निश्चय है। भगवदुक्तिके अनुसार—

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

इससे एक बात निकल आती है कि ज्ञान कर्मसे कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। कर्म ठीक तरहसे किये जायँ तो उनसे कर्म करनेवाले पुरुषकी जो स्थितप्रज्ञकी स्थिति बनती है वही तो ज्ञान है, जो केवल ग्रन्थोंके पढ़ने और समझनेसे प्राप्य नहीं है। तब पाठक समझ सकेंगे कि 'वेदान्त' शब्द ज्ञानके लिये किस हेतुसे प्रयुक्त किया गया है। वेद और वेदान्तका यह सम्बन्ध जबतक दृढ़ नहीं किया जायगा तबतक आत्मोद्धारका मार्ग निष्कण्टक होना असम्भव है।

* * *

विविदिषा-संन्यास और विद्वत्संन्यास

(लेखक—विद्यावाचस्पति श्रीधर्मेन्द्रनाथ 'वसु' शास्त्री, काव्यतीर्थ)

इहलोक तथा परलोकको दृष्टिमें रखते हुए हमारे शास्त्रकारोंने मनुष्यकी अवस्थाओंको चार भागोंमें विभक्त किया है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। इन्हींको आश्रम-चतुष्टय भी कहते हैं। इनमेंसे प्रथम तीन आश्रमोंके विषयमें इस समय हमें कुछ नहीं कहना है। केवल चतुर्थ आश्रमके विषयमें अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार कुछ कहा जाता है।

'संन्यास' शब्द चतुर्थ आश्रमका वाचक है। इसका अभिप्राय है संसारकी समस्त सामाजिक तथा पारिवारिक चिन्ताओंसे मुक्त होकर आत्मचिन्तनमें रत रहना। संन्यास ग्रहण करनेके तीन प्रकार हैं। प्रथम प्रकारमें क्रमसे प्रथम तीनों आश्रमोंको यथाविधि पूरा करके संन्यास ग्रहण करना होता है, जैसा कि क्रमविधायिनी श्रुति कहती है—

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा व्रजेत् ।

अर्थात् 'ब्रह्मचर्याश्रमको समाप्त करके गृहस्थ बने, गृहस्थके बाद वानप्रस्थ और इसके बाद संन्यासी।' इसीको क्रम-संन्यास कह सकते हैं।

द्वितीय प्रकार यह है कि गृहस्थादि किसी आश्रममें रहते हुए जभी पूर्ण वैराग्य हो जाय तभी संन्यास ले लेना चाहिये, जैसा कि जाबालोपनिषत्का वचन है—

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद्वा गृहाद्वा ।

अर्थात् जिस दिन मनुष्यको पूर्ण वैराग्य हो जाय उसी दिन गृहस्थ या वानप्रस्थ, कोई भी आश्रम हो, छोड़कर संन्यास ले ले।

तीसरा प्रकार यह है कि यदि ब्रह्मचर्यमें ही पूर्ण वैराग्य हो जाय और गृहस्थादि आश्रमोंमें प्रवेश करनेकी सर्वथा कोई अभिलाषा न हो तो ब्रह्मचर्य पूर्ण करके तुरन्त संन्यास ले लेना चाहिये। यथा—

'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जाबालोपनिषद्)

अर्थात् संन्यास ग्रहण करनेके लिये किसी समयविशेषका बन्धन नहीं है, उसके लिये तो केवल पूर्ण वैराग्यहीकी आवश्यकता है। जिस दिन जिसे पूर्ण वैराग्योदय हो जाय, बस, फिर संसारके बन्धन उसे अपने पाशोंमें नहीं जकड़ सकते। उसके लिये तो शान्तिका एकमात्र उपाय आत्मज्ञान है और इसके लिये आवश्यकता है एकान्तजीवनकी। और एकान्तजीवन तभी सम्भव है जब वह लौकिक चिन्ताओंसे मुक्त होकर संन्यास ग्रहण करके गृहपरित्याग कर दे।

संन्यास दो प्रकारका होता है—एक 'विविदिषा-संन्यास' और दूसरा 'विद्वत्संन्यास'। इन दोनोंका भेद आगे चलकर स्पष्ट होगा। किन्तु इन दोनों ही प्रकारके संन्यासके लिये आवश्यकता है उसी वैराग्यकी। वैराग्य दो प्रकारका होता है—एक 'तीव्र' और दूसरा 'तीव्रतर।' जिसे तीव्र वैराग्य हो वह 'कुटीचक' तथा 'बहूदक' नामक संन्यास ग्रहण करे। 'कुटीचक' और 'बहूदक' ये दोनों ही संन्यासकी विशेष अवस्थाओंके नाम हैं।

कुटीचक

यह तीव्र वैराग्यवाले संन्यासीकी अवस्थाविशेषका नाम है। इसका अभिप्राय है कि यह तीव्र वैराग्ययुक्त पुरुष यथोचित शारीरिक शक्तिके ह्रासके कारण यदि यत्र-तत्र तीर्थाटन करनेमें असमर्थ हो तो उसे चाहिये कि किसी एक स्थानपर कुटी बनाकर वहींपर निवास करता हुआ प्रतिदिन १२००० प्रणवका जप करे और ब्रह्मचिन्तनमें लीन रहे। ऐसे संन्यासीका नाम 'कुटीचक' है।

बहूदक

यह भी तीव्र वैराग्ययुक्त संन्यासीकी एक विशेष अवस्थाका नाम है। तीव्र वैराग्य होते हुए जिसके शरीरमें यथेष्ट शक्ति है उसका कर्तव्य है कि कहीं एक स्थानपर न रहकर यत्र-तत्र तीर्थाटन करते हुए आत्मचिन्तन करे। उसीका नाम 'बहूदक' है।

तीव्रतर वैराग्य–यह भी एक वृत्तिका नाम है। स्त्री-पुत्रादिसे सर्वथा वैराग्य होकर जीवन-मरणके बन्धनसे मुक्त होकर केवल परम पद प्राप्त करनेकी स्थिर बुद्धि हो, इसी स्थिर बुद्धिका नाम 'तीव्रतर वैराग्य' है। इसी तीव्रतर वैराग्यवाले योगीकी दो अवस्थाएँ होती हैं—एक 'हंस' और दूसरी 'परमहंस।'

हंस

उस संन्यासकी अवस्थाका नाम है जब तीव्रतर-वैराग्य होनेपर भी योगीको ब्रह्मलोक प्राप्त करनेकी इच्छा

हो । इस प्रकारके योगीको ब्रह्मलोकप्राप्तिके अनन्तर वहीं आत्मसाक्षात्कार होता है और फिर मुक्ति ।

परमहंस

यह उस अवस्था (आश्रम) का नाम है जहाँपर उक्त योगीको केवल मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा हो । उसीको इस आश्रमकी दीक्षा लेनी चाहिये । इस परमहंस योगीको इसी शरीरमें आत्मसाक्षात्कार होता है ।

योगीकी इस 'परमहंस' अवस्थाके भी 'जिज्ञासु' और 'ज्ञानवान्' ये दो भेद होते हैं । जिज्ञासुको ज्ञानप्राप्तिके निमित्त ही इस आश्रमको ग्रहण करना चाहिये । परमहंस अवस्थाके ये ही दोनों भेद 'विविदिषा-संन्यास' और 'विद्वत्संन्यास' के मूल कारण हैं । यहींसे 'विविदिषा-संन्यास' और 'विद्वत्संन्यास' की प्रक्रिया आरम्भ होती है ।

विविदिषा-संन्यास

ऊपर परमहंसके दो भेद किये थे—'जिज्ञासु' तथा 'ज्ञानवान्' । इनमें 'जिज्ञासु' भेद 'विविदिषा-संन्यास'का हेतु है । जिज्ञासुका वाच्यार्थ है—'जाननेकी इच्छावाला ।' 'जिज्ञासा' या 'विविदिषा' दोनोंका अर्थ एक ही है । इसलिये जिज्ञासुको या विविदिषा-संन्यासदीक्षित पुरुषको आत्मज्ञानप्राप्तिके निमित्त ही इस आश्रमको ग्रहण करना चाहिये । इसीलिये बृहदारण्यकके तृतीयाध्यायमें—'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' अर्थात् त्यागी पुरुष इसी लोक (आत्मा) की इच्छा करते हुए संन्यास लेते हैं । लोक दो प्रकारके होते हैं—'आत्मलोक' तथा 'अनात्मलोक' । अनात्मलोकके तीन भेद हैं—मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक । मनुष्य पुत्रके द्वारा मनुष्यलोकको, कर्मके द्वारा पितृलोकको तथा विद्याके द्वारा देवलोकको जीत सकता है । किन्तु योगीके लिये केवल आत्मलोककी ही उपासनाका विधान है—

आत्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते । इति

यहाँ 'कर्म' शब्दसे मोक्षरूप फलवाले कर्मका ग्रहण किया गया है । अतः इस जिज्ञासुको आत्मलोककी उपासना अर्थात् आत्मज्ञानप्राप्तिके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये । क्योंकि ज्ञान मुक्तिका और कर्म बन्धनका हेतु है । जैसा कि कहा है—

'किमर्थं वयं यक्ष्यामहे किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः ।' 'ये प्रजामीशिरे ते श्मशानानि भेजिरे ये प्रजां नेशिरे तेऽमृतत्वं हि भेजिरे ।'

अर्थात् हम आत्माको छोड़कर यज्ञ और प्रजासे क्या करेंगे ? जिन्होंने प्रजाकी इच्छा की वे मृत्युको प्राप्त हुए और जिन्होंने इसका परित्याग किया वे मुक्त हो गये । इसलिये जिज्ञासु (परमहंस) का कर्तव्य है कि वह ब्रह्मज्ञानप्राप्तिके ही लिये सतत प्रयत्न करे । क्योंकि—

ब्रह्मविज्ञानलाभाय ब्रह्महंस(परमहंस)समाह्वयः ।
शान्तिदान्त्यादिभिः सर्वैः साधनैः सहितो भवेत् ॥

अर्थात् 'ब्रह्मज्ञानप्राप्तिके लिये ही परमहंस योगीको शम-दमादि साधनोंसे युक्त होना चाहिये ।' ब्रह्मज्ञानके लिये ही उसे अविरत प्रयत्न करते रहना चाहिये । 'विविदिषा-संन्यास' का अभिप्राय ही है वह संन्यास 'जिसका इस जन्म या जन्मान्तरमें यथाविधि अनुष्ठित वेदाध्ययनादि शुभ कर्मोंके द्वारा उत्पन्न हुई विविदिषा (जिज्ञासा) से सम्पादन किया गया हो ।'

विद्वत्संन्यास

परमहंसके द्वितीय भेद 'ज्ञानवान्' का ही नाम 'विद्वत्संन्यास' है । विद्वत्संन्यास विविदिषा-संन्यासके बाद ग्रहण किया जाता है; विविदिषा-संन्यास प्रथम कोटि है तो यह द्वितीय । यदि विविदिषासंन्यासको साधन कहें तो इसे साध्य कहना उपयुक्त होगा । यदि वह एक सोपान (सीढ़ी) है तो यह प्राप्तव्य उच्च शिखर । अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये ही विविदिषा-संन्यास है और यह आत्मज्ञानके बादकी अवस्था है । आत्मज्ञानके बाद पुरुष समस्त बन्धनोंको त्यागकर केवल ब्रह्मानन्दमें ही विचरता है ।

इस प्रकारके 'विद्वत्संन्यास' को धारण करनेवाले विद्वच्छिरोमणि महर्षि याज्ञवल्क्य हुए हैं । जब उन्हें आत्मसाक्षात्कार हो गया तो उन्होंने अपनी पत्नी मैत्रेयीसे कहा कि—'अब मैं संन्यास लेता हूँ'—

अथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन् मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि, इति ।

एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार, इति ।

'यही मोक्षप्राप्तिका साधन है' कहकर याज्ञवल्क्यने सर्वपरित्याग कर संन्यास ग्रहण किया ।

इसी प्रकार 'कहोल ब्राह्मण' में भी 'विद्वत्संन्यास'का वर्णन आता है—

एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति, इति ।

'इस अपरोक्ष आत्माका साक्षात्कार करके ब्रह्मवित् पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणाको त्यागकर भिक्षाटन करते हैं ।' यही 'विद्वत्संन्यास' है ।

भेद

यद्यपि 'विविदिषा-संन्यास' और 'विद्वत्संन्यास' दोनों ही परमहंस-अवस्थाके भेद हैं, तथापि इन दोनोंमें भी परस्पर भेद है, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। विविदिषा-संन्यास ज्ञानप्राप्तिकी इच्छासे लिया जाता है, जैसा कि स्मृतिमें विधान है—

संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया ।
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः ॥
प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥ इति

अर्थात् 'संसारको सारहीन अनुभव करके साररूप परब्रह्मकी दर्शनेच्छासे गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेसे प्रथम ही परमवैराग्यवान् संन्यास धारण करते हैं । (क्योंकि) कर्मयोग प्रवृत्तिरूप है और ज्ञानका साधन संन्यास है । अतएव ज्ञानप्राप्तिको ही मुख्य समझते हुए बुद्धिमान् पुरुषको संन्यास ग्रहण करना चाहिये ।' इस वाक्यसे 'विविदिषा-संन्यास' का विधान किया गया है, क्योंकि आत्मज्ञानप्राप्तिके निमित्त ही तो विविदिषा-संन्यास ग्रहण किया जाता है ।

और—

यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम् ।
तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत् ॥
ज्ञात्वा सम्यक् परं ब्रह्म सर्वं त्यक्त्वा परिव्रजेत् । इति

अर्थात् जब ब्रह्मतत्त्व विदित हो जाय, तब एक दण्डको ग्रहणकर यज्ञोपवीतसहित शिखाको त्याग दे और जब पूर्णरूपसे ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाय तो सब कुछ परित्याग करके परिव्राजक (संन्यासी) बन जाय ।

—इस वाक्यसे विद्वत्संन्यासका विधान किया गया है । क्योंकि इस अवस्थाके बाद उसके लिये कुछ कर्तव्य शेष नहीं रह जाता । सब चिन्ताओंसे रहित होकर इस प्रकार विचरता हुआ वह जीवन्मुक्त हो जाता है और इस शरीर-निर्वाणके उपरान्त अद्वैतभावको प्राप्त करता है । क्योंकि श्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥
(कठोपनिषद्)

'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'; 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इति ।

अर्थात् परब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर हृदयकी ग्रन्थि खुल जाती है, समस्त संशय दूर हो जाते हैं, कर्म नष्ट हो जाते हैं ('ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन') । ब्रह्मवित् पुरुष ब्रह्मसाक्षात्कारके द्वारा अविद्याके दूर हो जानेसे ब्रह्मैक्यभावको प्राप्त करता है । जिस प्रकार जागनेपर स्वप्नमें देखे हुए समस्त पदार्थ मिथ्या प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार आत्मसाक्षात्कारके अनन्तर यह जगत् स्वप्नवत् भासित होने लगता है । उस समय इसकी कोई सत्यता या अस्तित्व नहीं रहता, क्योंकि इसका अस्तित्व या प्रतीति तो अविद्याके कारण ही भासित होती है । जब जगत्का कारण अविद्या ही ब्रह्मसाक्षात्कारसे दूर हो गयी तो फिर इसका अस्तित्व कहाँ ? **'छिन्ने मूले नैव शाखा न पुष्पम्'** । इति*

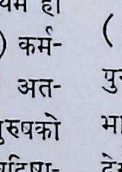

---

* यह लेख श्रीविद्यारण्य स्वामीके 'जीवन्मुक्तिविवेक'के आधारपर लिखा गया है । —लेखक

अद्वैतवेदान्तपर एक दृष्टि

(लेखक—श्रीगोपालजी शास्त्री 'दर्शनकेसरी')

न यस्य केनापि समं विरोधः
समन्वितान्यन्यमतानि यस्मिन् ।
अद्वैतवेदान्तपथं प्रशस्तं
ज्ञानप्रधानं विवृणोमि किञ्चित् ॥

वेदान्तशब्दार्थ

'वेदान्त' शब्दका स्पष्ट अर्थ होता है—वेद=ज्ञान, उसका अन्त=अन्तिम श्रेणी, अर्थात् सबसे उत्कृष्ट ज्ञान; या वेद—श्रुत, उसका अन्त—सिद्धान्त, अर्थात् वेदका सिद्धान्त—निचोड़। या वेद—श्रुति, उसका अन्त—अन्तिम भाग, उपनिषद्। अर्थात् कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डात्मक वेदका अन्तिम भाग ही 'वेदान्त' शब्दसे लिया जाता है। अर्थात् वेदके उपनिषद्भागको 'वेदान्त' कहते हैं। उन्हीं उपनिषद्भागोंके वचनपुष्पोंका एक जगह संग्रह करके मालारूपमें ग्रथन करनेके कारण 'ब्रह्मसूत्र' भी 'वेदान्त' शब्दसे पुकारा जाता है। और उसके ऊपर व्याख्यारूपमें लिखे गये 'भामती', 'रत्नप्रभा', 'संक्षिप्तशारीरक', 'अद्वैतसिद्धि' प्रभृति ग्रन्थ भी वेदान्त कहे जाने लगे। श्रीमद्भगवद्गीता-ग्रन्थ तो उपनिषद्रूपी कामधेनुओंके वचनामृत-दुग्धका संग्रहस्वरूप ही है। अतः वह भी 'वेदान्त' शब्दका वाच्यार्थ होता ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस प्रकार 'वेदान्त' शब्दसे (१) उपनिषद्, (२) ब्रह्मसूत्र और (३) श्रीमद्भगवद्गीता—ये ही तीन ग्रन्थ मुख्यतः लिये जाते हैं। इन्हींको 'प्रस्थानत्रयी' या 'प्रस्थानत्रय' यह नाम आजकल सामान्यतः सभी सम्प्रदायोंमें दिया जाता है। पूर्वके विद्वानोंने भी 'वेदान्त' शब्दसे इन्हीं ग्रन्थोंका ग्रहण किया है।

वादोंकी अनादिता

इस वेदान्तमें द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, शक्तिविशिष्टाद्वैत और अद्वैत प्रभृति बहुत-से वाद वर्तमान समयमें प्रचलित हैं। सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो ये सभी वाद श्रुतियोंमें उपलब्ध हैं। इनके प्रवर्तक आचार्योंने अपने-अपने समयोंमें इन्हीं वादोंको विशेष रूप देकर उपोद्बलित मात्र कर दिया है। इन वादोंको आचार्योंने अपने मनसे नया नहीं गढ़ा, अपितु ये सभी वाद वेदकालसे लेकर पूर्वपक्ष या सिद्धान्तपक्षके रूपमें विद्वानोंके बीच पठन-पाठन-पद्धतिमें चले आ रहे थे। वेदान्तसूत्रमें भी इन वादोंकी झलक दीख पड़ती है। आश्मरथ्य आचार्यके मतका उल्लेख बादरायणने प्रथमाध्यायके चतुर्थ पादके बीसवें सूत्र 'प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः' में किया है। ये विशिष्टाद्वैतमतके प्रतिपादक प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार द्वैतमतके पक्षपाती जैमिनि मुनिका तथा औडुलोमि प्रभृति भेदाभेदवादी बहुत-से आचार्योंका भी ब्रह्मसूत्रमें साक्षात् समुल्लेख है।

श्रुतियोंमें भी द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत प्रभृति वादोंका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। द्वैतप्रतिपादक श्रुतियोंमें—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥
(कठ०)

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
(मुण्ड०)

'उपार्जित कर्मफलके प्रकाशक देहमें उत्कृष्ट हृदयके बीच आकाशमें प्रविष्ट होकर कर्मफलको भोगनेवाले, छाया और आतपके समान विरुद्ध स्वभावके जीव और ईश्वर हैं।' 'दो सुन्दर पक्षवाले एक साथ रहनेवाले मित्र एक ही वृक्षका आश्रय लेते हैं। उनमें एक तो कर्मफलको भोगता है और दूसरा बिना कर्मफल भोगे ही सदा प्रसन्न रहता है।' इत्यादि श्रुतियाँ जीव-ईश्वरमें भेदप्रतिपादक द्वैतपक्षका समर्थन कर रही हैं।

विशिष्टाद्वैतमतकी श्रुतियोंमें—

भोक्ता भोग्यं प्रेरयितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मैतत् । (श्वेताश्व०)

उद्गीथमेतत् परमं तु ब्रह्म तस्मिन् त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरञ्च (श्वेताश्वतर०)

'भोक्ता—जीव, भोग्य—प्रकृति और प्रेरयिता—ईश्वर, ये तीनों ब्रह्मका ही स्वरूप हैं (ईश्वर, चित् और अचित्

पदार्थ, त्रितयस्वरूप हरि हैं। यही विशिष्टाद्वैतका मूल सिद्धान्त है)। 'उद्गीथ—ॐकार, यह ब्रह्मका स्वरूप है। इसके तीन रूप हैं।'—इत्यादि श्रुतियाँ विशिष्टाद्वैतका स्पष्टतया समर्थन कर रही हैं।

शुद्धाद्वैतमतके समर्थनमें भी—

न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

(श्वे०)

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष
आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

(मुण्डक०)

'उस (ब्रह्म) से भिन्न कोई कार्य अथवा करण नहीं है। उसके सदृश या उससे अधिक कोई वस्तु नहीं है। उसकी विविध प्रकारकी सर्वश्रेष्ठ शक्तियाँ हैं और स्वाभाविक ही ज्ञान, बल और क्रिया (जानाति, इच्छति, यतते)—सर्वज्ञता, सर्वेच्छा और सर्वसम्पादनकी क्रिया है।' अर्थात् स्वयं ब्रह्म इस जगत्‌रूपमें परिणत होता है, मायाकी आवश्यकता नहीं।

'यह आत्मा प्रवचनादि पाण्डित्यबलसे नहीं प्राप्त होता। किन्तु जिसके ऊपर अनुग्रह करके वह अपना स्वरूप प्रकट कर देता है उसीके द्वारा वह प्राप्त किया जा सकता है।'

—इत्यादि बहुत-सी श्रुतियाँ उपलब्ध होती हैं।

अद्वैतवादकी व्यापकता

वेदान्तसिद्धान्तमें इस प्रकार वेदकालसे लेकर आजतक अनेक प्रकारके सिद्धान्तोंके रहते हुए भी अद्वैतवादकी प्रधानता सर्वसम्मत तथा विरोधी पक्षवालोंसे भी स्वीकृत पायी जाती है। स्मृति, पुराण, दर्शन, इतिहास प्रभृति जितने भी विचारप्रवाह हैं, सभीमें वेदान्तसिद्धान्तसे अद्वैतवाद ही लिया गया है। यहाँतक कि वर्तमान समयमें हिन्दीके कवियोंने भी जहाँ कहीं वेदान्तसिद्धान्तका वर्णन किया है वहाँ उनका अद्वैतवादहीसे अभिप्राय है। गोस्वामी तुलसीदासजी स्वयं रामानुजाचार्यके सम्प्रदायमें होते हुए भी—

भूमि परत भा डाबर पानी। जनु जीवहिं माया लपटानी॥

(किष्किन्धा०)

सुंदरी, सुंदर बरन्ह सह सब एक मंडप राजहीं।
जनु जीव उर चारिउ अवस्था बिभुन्ह सहित बिराजहीं॥

(बालकाण्ड)

यदि संस्कृतके ग्रन्थकारोंके अद्वैतप्रतिपादक वचनोंका संग्रह किया जाय तब तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही बन जायगा। परन्तु पाठकोंके सन्तोषार्थ कुछ वचनोंका दिग्दर्शन मात्र करा कराया जाता है।

ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमें यह मन्त्र है—

तम आसीत् तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छेनाभ्वपिहितं तदासीत् तपसस्तन्महिनाऽजायत।

(ऋग्वेद १०। १२। ९३)

'यह जो कहा जाता है कि सृष्टिसे पूर्व अन्धकारसे व्याप्त भेदाभेदशून्य अज्ञेय कारण वारि था। वह तुच्छ—झूठी मायासे आच्छादित 'आभु' सर्वव्यापी ब्रह्म था। उसी एक ब्रह्मने (ज्ञानरूप) तपस्याद्वारा (यहाँ 'तपस्या' ज्ञानका नाम है) अपनेको अनेक रूपोंमें प्रकट किया।' 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' यह प्रसिद्ध ही है। छान्दाग्योपनिषद्‌में श्वेतकेतुके प्रति आदेश करते हुए उसके पिताने कहा है—

सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

(छान्दो० ६। २। १)

'हे सौम्य श्वेतकेतु! पहले-पहल यह सद्रूप एक अद्वितीय ब्रह्म ही था।'

बृहदारण्यकोपनिषद्‌में अद्वैतमतका स्पष्ट उल्लेख है—

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥

(४। ४। १९)

'उस (ब्रह्म) का ज्ञान (शुद्ध) मनके द्वारा ही होता है। उसके अतिरिक्त यहाँ कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। जो उससे नाना–भिन्न, द्वैत देखता है वह मृत्युके चक्रमें फँसा रहता है।'

सांख्यसूत्रकी अनिरुद्धवृत्तिमें आया है—

एक एवात्मेति वेदान्तिनः। (प्रथमाध्याय)

कपिलसूत्रमें वेदान्तमतका खण्डन करते समय लिखा है—

'नाविद्यातोऽवस्तुना बन्धायोगात्।'

'वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः।' (सां० १। २१-२४)

'विजातीयद्वैतापत्तिश्च ।'

'नाविद्याशक्तियोगो निःसङ्गस्य ।'

—इत्यादि ।

अर्थात् अविद्यासे बन्धन नहीं हो सकता, क्योंकि वह अवस्तु है । यदि उसे वस्तु कहते हो तो तुम्हारे 'अद्वैत' सिद्धान्तकी हानि हो जायगी, इत्यादि । 'निःसङ्ग' आत्माका अविद्या (माया) से योग नहीं हो सकता—इत्यादि सांख्यसूत्रोंमें जहाँ कहीं भी वेदान्तमतका खण्डन आया है वहाँ अद्वैतवादका ही उल्लेख है ।

इसी प्रकार वैशेषिकसूत्रोंमें भी—

'तस्मादागमिकम्';

'सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम् ।'

(३ । २ । १८, १९)

—इन सूत्रोंसे अद्वैतवादका अनुवाद करके उसके खण्डनमें—

'व्यवस्थातो नाना ।'

'शास्त्रसामर्थ्याच्च ।'

(३ । २ । २०-२१)

—इत्यादि सूत्रोंसे अद्वैतवादके ऐकात्म्यवादसिद्धान्तके विरुद्ध अपना नानात्ववाद सिद्ध किया है । न्यायसूत्रमें भी 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' इस सूत्रके भाष्यमें अद्वैतवादको ही वेदान्तसिद्धान्तसे ग्रहण किया गया है । इसी प्रकार पुराणोंमें तो कोई ऐसा स्थल नहीं है जहाँपर वेदान्तसिद्धान्तसे अद्वैतमत न लिया गया हो । 'विशिष्टाद्वैत' या 'शुद्धाद्वैत' शब्दोंका उल्लेखतक नहीं है । भवभूतिने उत्तररामचरितमें प्रसङ्गसे जहाँ वेदान्तसिद्धान्तका उल्लेख किया है वहाँ अद्वैतवादका ही उदाहरण दिया है—

विद्याकल्पेन मरुता मेघानां भूयसामपि ।
ब्रह्मणीव विवर्तानां क्वापि विप्रलयः कृतः ॥

'जैसे वेदान्ती विद्याद्वारा सारे विवर्तप्रपञ्चको ब्रह्ममें लय कर देते हैं, उसी प्रकार राजकुमारने वायव्यास्त्रद्वारा मेघास्त्रको विलीन कर दिया ।'

इसी प्रकार सभी शास्त्रकारोंने 'वेदान्त' शब्दसे अद्वैतवादका ही ग्रहण किया है । इसका दिग्दर्शनमात्र ऊपर कराया गया है ।

अस्तु, अब देखना यह है कि वेदसे लेकर सभी शास्त्रोंमें जिस अद्वैतवादको वेदान्तका सिद्धान्तस्वरूप माना गया है उसपर विस्तृतरूपसे विवरण किसका है । शङ्कराचार्यने भर्तृप्रपञ्च, उपवर्ष प्रभृति बहुत-से आचार्योंका उल्लेख इस मतके पोषणमें किया है । स्वयं बादरायणाचार्यने—

'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' (१ । ४ । २२)

—इत्यादि सूत्रोंसे काशकृत्स्न प्रभृति आचार्योंको भी अद्वैतमतका पोषक स्वीकार किया है । अमरसिंहने बुद्धदेवको भी 'अद्वयवादी' बताया है ।* तथापि शङ्कराचार्यसे पहले अद्वैतवादपर कोई विस्तृत विवेचनात्मक ग्रन्थ नहीं मिलता। गौडपादने माण्डूक्यकारिकामें अद्वैतवादका संक्षिप्त परिचय दिया है । सबसे प्रथम शङ्कराचार्यने ही अद्वैतवादका विस्तृतरूपसे तार्किक पद्धतिसे खण्डन-मण्डन करते हुए सम्पूर्ण विवेचन किया । और उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता, इन तीनों ग्रन्थरत्नों (प्रस्थानत्रयी) पर भाष्य करके अद्वैतवादका संस्कृतसाहित्यपर साम्राज्य कायम कर दिया ।

पूर्व लेखसे यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि व्यासदेवका मत अद्वैतवाद ही था तथा अन्य सभी शास्त्राचार्योंने वेदान्तमतसे अद्वैतसिद्धान्तको ही लिया है । वही होना भी चाहिये । पर वेदव्यासजीने तो अपने ब्रह्मसूत्रके अतिरिक्त दूसरा कोई भाष्य या वृत्ति अद्वैतवादपर लिखी नहीं । लिखी भी हो तो समुपलब्ध नहीं है । अतः अद्वैतसिद्धान्तके सर्वप्रथम आचार्य इस समय शङ्कराचार्य ही लिये जाते हैं । अद्वैतमतके पुनरुद्धारक वस्तुतः शङ्कराचार्य ही हैं भी । एक पौराणिक श्लोक है जिसमें सत्ययुगसे लेकर सभी अद्वैतवादके उद्धारक आचार्योंका उल्लेख है । उसमें कलियुगमें अद्वैतवादके उद्धारक शङ्कराचार्य ही बताये गये हैं —

कृते ज्ञानप्रदः सत्यस्त्रेतायां दत्त एव च ।
द्वापरे व्यासनामा तु कलौ शङ्करनामधृक् ॥

शङ्कराचार्यजीके इस अद्वैतवादका भारतीय साहित्यपर बड़ा प्रभाव है । उनके समयके बाद इस देशमें जितने भी प्रधान पण्डित हो गये हैं उन सभीने प्रतियोगिविधया या अनुयोगितया अद्वैतवादपर कुछ-न-कुछ लिखकर अपनी लेखनीको पवित्र किया है । वह संस्कृतसाहित्यका विद्वान् ही क्या, जिसने वेदान्तशास्त्रपर कुछ न लिखा हो । अद्वैतका आश्रय लेकर दक्षिणमें आचार्योंकी एक परम्परा हो हो गयी है । रामानुजाचार्य, श्रीपति पण्डित (वीरशैवाचार्य), मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य प्रभृति आचार्योंने

---

* 'षडभिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः (अमरको० १ । १४)

उसी अद्वैतवादका विशिष्टाद्वैत, शक्तिविशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत प्रभृति नामोंसे विवेचन किया है ।

अस्तु, अब हम अद्वैतवादके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ शाङ्करभाष्य तथा उसके आधारस्वरूप अध्यासपर कुछ विचार करेंगे ।

वेदान्तदर्शनपर आजतक जितने भाष्य उपलब्ध हुए हैं उनमें सबसे श्रेष्ठ और प्राचीन तथा विचारमें प्रौढ़ और प्राञ्जल शाङ्करभाष्य ही पाया जाता है । जिस अवस्थामें शङ्कराचार्यने वेदान्तभाष्य लिखा, उस अवस्थाकी दृष्टिसे तो यही कहना होगा कि अवश्य वे अवतारी पुरुष थे ।

शाङ्करभाष्यमें जब विद्यार्थी पूर्वपक्षकी युक्तियाँ पढ़ते हैं तो कहते हैं कि वाह ! अब इसका उत्तर क्या होगा ? देखें, शङ्कराचार्यजी इस पूर्वपक्षका क्या उत्तर देते हैं ? इत्यादि । जब उत्तरपक्ष पढ़ते हैं तब तो उनके आश्चर्यकी सीमा नहीं रह जाती, वे स्तब्ध हो जाते हैं। वस्तुतः संस्कृत-साहित्यमें इस प्रकारकी विचारधारा किसी भी ग्रन्थमें नहीं पायी जाती। इनकी भाषा सर्वोत्कृष्ट, मसृण, मञ्जुल एवंप्रसाद-गुणगुम्फित होकर धाराप्रवाह बहती है। श्रीहर्ष नैषधचरितकी रचनामें स्वतन्त्र हैं । पर शङ्कराचार्य तो गूढ़ तथा विशृङ्खलित श्रुतियोंके आधारपर चलते हैं तथापि भाषा, कल्पना और तार्किक युक्तियोंमें वे सभीको लाँघ गये हैं । चरकसंहिता, व्याकरण-महाभाष्य और नैषधचरित, इन तीनों ग्रन्थोंकी भाषासे शाङ्करभाष्यकी भाषा स्फुट, कोमल तथा स्निग्ध धारामय है । यह केवल मेरा ही मत नहीं है; प्राचीन वाचस्पति प्रभृति* सभी आचार्योंने ऐसा ही कहा है ।

अध्यासकी आवश्यकता

सर्वप्रथम शङ्कराचार्यने अध्यासभाष्यकी रचना की है। उसीमें उन्होंने अद्वैतके सारे तत्त्व भर दिये हैं । क्योंकि जब एक ब्रह्म ही सत्य वस्तु है, और सभी मिथ्या है, तो यह सारा प्रपञ्च मायापर ही तो निर्भर है । और वह बिल्कुल मिथ्या है । इसलिये सर्वप्रथम उसीका स्वरूप बताना चाहिये । और जबतक इस दृश्य जगत्‌का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता तबतक ब्रह्मकी खोज ही शुरू नहीं होती। इस कारण अद्वैत-वादमें अध्यासका वर्णन-निरूपण सबसे पहले प्राप्त है ।

सूर्यकिरणोंमें मरीचिकाका भ्रम, सीपमें चाँदीका भ्रम, रज्जुमें सर्पका भ्रम, इत्यादि बातोंका शास्त्रीय परिभाषामें आगे निरूपण किया जायगा । यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि अद्वैतवेदान्तमें जो पद-पदपर माया (इन्द्रजाल), स्वप्न, गन्धर्वनगर, मरुमरीचिका, शुक्ति-रजत, सर्प-रज्जु इत्यादिका दृष्टान्त दिया जाता है, उसमें अवश्य कुछ रहस्य है । वस्तु न रहते हुए भी उसकी प्रतीति संसारमें होती है । इस प्रकारके वर्तमान समयमें भी कितने खेल हो रहे हैं । पाश्चात्य देश तो आजकल इस विद्याको बड़ा व्यवस्थित रूप दे रहा है । हमारे यहाँ शास्त्रोंमें आसुरी विद्या कहकर इसकी निन्दा की गयी है । और खासकर इस इन्द्रजालको असुर लोग ही करते आये हैं । रामायणमें आया है कि रावणने सीताजीके आगे रामचन्द्रका सिर काटकर फेंका था । हरिवंशमें श्रीकृष्णचन्द्रको एक युद्धमें इन्द्रजालद्वारा धोखा दिया गया बताया गया है। शम्बर नामका असुर इस विद्यामें बड़ा प्रवीण था । इसी कारण इसे शम्बरविद्या भी कहते हैं । पुराणोंमें मायाका बहुत जिक्र आता है । रत्नावली नाटिका, दशकुमारचरित प्रभृति ग्रन्थोंमें भी इसका उल्लेख मिलता है ।

इन्द्रजाल-विद्याद्वारा कैसी अद्भुत घटनाएँ देखनेमें आती हैं, इसपर एक व्यक्तिने किसी पत्रमें अपने सामनेकी घटना छपायी थी । वह घटना मुझे कुछ-कुछ स्मरण है । वह किस पत्रमें छपी थी, यह स्मरण नहीं है । घटना इस प्रकार है—'स्टेशनके प्लेटफार्मपर एक व्यक्ति घूम रहा था । उसको एक पुरुष मिला जिसने कहा कि हम जादू जानते हैं, कहो तो तुमको तमाशा दिखावें । उसके इच्छा प्रकट करनेपर उसने ताली पीटी । उसके ताली पीटते ही कौओंके झुण्ड-के-झुण्ड वहाँ उतरने लगे । थोड़ी देरमें वहाँ कौओंका मेला लग गया । इस अद्भुत घटनाको देखकर वह व्यक्ति आश्चर्यमग्न हो गया । फिर थोड़ी देरमें उसने ताली पीटी । ताली पीटते ही सब-के-सब कौए एकाएक गायब हो गये । उस जादूगरको वह कुछ देना चाहता था, पर उसने लेनेसे इन्कार किया ।' यह घटना ठीक इसी प्रकार हुई, यह तो मैं नहीं कह सकता; पर इसका सारांश यही है, और जहाँतक मुझे स्मरण है, यह घटना बिल्कुल सत्य थी । मैंने इसे पत्रमें पढ़ा था, और उसी स्मृतिके आधारपर यह वृत्तान्त लिखा है। इस विद्याका ही एक स्वरूप हिप्नोटिज्म है, जो आजकल सबके प्रत्यक्ष है । इसका खेल बहुतोंने देखा होगा । किसी व्यक्तिपर यदि हिप्नोटिज्मका असर आ गया तो उस अवस्थामें उसे जो कहिये उसीको वह सत्य समझने लगता है ।

---

* नत्वा विशुद्धविज्ञानं शङ्करं करुणाकरम् ।
भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तत्प्रणीतं विभज्यते ॥

जादूगर हिप्नॉटिक (भ्रान्त) व्यक्तिको कहता है कि देखो, तुम्हारे सामने व्याघ्र खड़ा है। बस, इतना सुनते ही वह सूखकर पीला हो जाता है। यदि सख्त गरमीमें उसे कह दिया जाय कि बड़ी सर्दी है तो वह काँपने लगता है।

एक समयकी बात है, एक सज्जन जादूगरी जानते थे। वे रेलपर कलकत्तेसे चन्दननगर जा रहे थे। उनके पास चन्दननगरका ही टिकट था, पर उन्होंने मजाकमें टिकट देखनेवाले बाबू (टी० टी० आई०) से कह दिया कि मेरा टिकट लन्दनका है। बाबूने टिकट देखा तो उसे वह लन्दनका ही प्रतीत हुआ। वह अवाक् रह गया। टिकटका रूप-रंग वही, समय वही, तारीख वही, कलकत्तेसे रवानगी भी ठीक। इस टिकटपर लन्दन कैसे लिखा गया। इस आश्चर्यमें निमग्न उस बाबूको देखकर फिर उस जादूगरने कहा—बाबू साहब ! फिरसे पढ़िये—उसपर लन्दन नहीं है, बनारस लिखा है। अब बाबू देखते हैं तो सचमुच उसपर बनारस लिखा है। तब भेद खुला। वे समझ गये कि ये जादूगरी जानते हैं। तब टिकट देकर चलने लगे, तो फिर जादूगरने कहा कि 'बाबू साहब, आपकी आँखमें ही दोष है। टिकट तो चन्दननगरका ही है।' अब बाबूने देखा तो सचमुच उसमें चन्दननगर दीखने लगा।

यही हालत इस संसारकी भी है। जीव अनादि वासनारूपी माया जादूगरनीके फेरमें पड़ा हुआ है; जिस प्रकार इसे वह नचाती है उसी प्रकार यह नाचता है। वस्तुतः पदार्थ कुछ है और वह समझता कुछ और है। इसीलिये आवश्यक है कि वह अपनी आँखोंमें विद्यारूपी अञ्जन लगावे। या गुरूपदेशस्थानीय उपनिषदुपदेशद्वारा वह अपने सच्चे स्वरूपको पहचानने लगे। तभी यह भ्रममाया दूर होगी और जीव अपने अद्वैतस्वरूपको समझेगा तथा अघटनघटनापटीयसी मायाको नमस्कार करेगा*।

अध्यासका शास्त्रीय स्वरूप

इसी कारण शङ्कराचार्यने सबसे पहले अद्वैतभाष्यके भूमिकारूपमें अध्यासको ही सिद्ध किया है*—

(यद्यपि) 'युष्मत्' और 'अस्मत्' (तुम और मैं) इस प्रत्यय—ज्ञानका गोचर जो आत्मा और उससे भिन्न जड जगत् है, वे दोनों (विषय—जड और विषयी—ज्ञानस्वरूप आत्मा) तम और प्रकाशके समान भिन्न स्वभाववाले हैं। (अतः) इन दोनोंमें परस्पर किसी प्रकार भी सम्बन्ध नहीं हो सकता। और उनके धर्मोंमें—जडके धर्म दुःख, शोक, अपूर्णता प्रभृति तथा आत्माके धर्म प्रकाश, पूर्णता, अपरिणामित्व प्रभृतिमें भी किसी प्रकारका परस्पर सम्बन्ध या तादात्म्य—ऐक्य हो नहीं सकता। इस कारण 'अस्मत्'—'मैं' इस ज्ञानके विषय ज्ञानस्वरूप आत्मामें 'युष्मत्'—'तुम' इस ज्ञानके विषय जडका और उसके धर्मोंका आरोप मिथ्या ही है। इसी प्रकार उसके ठीक उलटे क्रमसे 'युष्मत्'–'तुम' इस ज्ञानके विषय–जडमें 'अस्मत्'–'मैं'–इस ज्ञानके विषय ज्ञानस्वरूप आत्मा और उसके धर्मोंका आरोप बिल्कुल मिथ्या ही है। वह हो ही नहीं सकता। तो भी परस्पर एक दूसरेमें एक दूसरेका और एक दूसरेके धर्मोंमें एक दूसरेके धर्मोंका अध्यास करके परस्पर अविवेकमूलक मिथ्याज्ञानके कारण अत्यन्त विरुद्ध धर्मों और धर्मियोंको भी सत्य और झूठे रूपको एकमें मिलाकर 'मैं यह हूँ', 'मेरा यह है' इत्यादि व्यवहार अनादिकालसे स्वभावतः होता चला आ रहा है।

अस्तु, इस प्रकार अध्यासका उपक्रम करके शङ्कराचार्यजीने इस अध्यासका लक्षण बौद्ध, मीमांसक और नैयायिकों-

---

* अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः॥
निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः॥
स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥
यदज्ञानसमुद्भूतमिन्द्रजालमिदं जगत्।
सत्यज्ञानसुखानन्तं तदहं ब्रह्म निर्भयम्॥

(रत्नप्रभामङ्गल)

* युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिरित्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणाञ्च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्। तथाप्यन्यस्मिन्नन्योऽन्यात्मकतामन्याऽन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेनात्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।

(शां० भा० भूमिका)

'विवर्तस्तु प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिनः।'
'अनादिवासनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते।'

(वाचस्पतिः)

के सिद्धान्तानुसार बताया है और यह कहा है कि, जो कुछ भी हो, चाहे अपने-अपने सिद्धान्तके अनुसार थोड़ा-बहुत अन्तर भले ही हो, पर यह अध्यास—मिथ्याज्ञान किसी-न-किसी रूपमें मान्य सभीको है। क्योंकि जो वस्तु जहाँ है नहीं, वह यदि वहाँ प्रतीत हो और जो वस्तु जैसी है नहीं वह यदि वैसी मालूम हो तो वहाँ अवश्य भ्रम है। जैसे लोकमें शुक्ति (सितुही) चाँदी-सी मालूम पड़ती है। चन्द्रमा एक होता हुआ भी जब कभी आँख मींचकर देखा जाय तो दो दिखायी देने लगता है। इसलिये दूसरी जगह दूसरे धर्मकी प्रतीति होना, यह सभीको मान्य है। इत्यादि।

इसके आगे चलकर कहा है कि इसी अध्यासको पण्डितगण 'अविद्या' कहते हैं, और इसके विरुद्ध जिसके द्वारा वस्तुके स्वरूपका ठीक-ठीक ज्ञान हो उसे 'विद्या' कहते हैं*। इस अविद्याको लेकर ही संसारके या शास्त्रके सभी व्यवहार होते हैं। क्योंकि प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार तो तभी हो सकते हैं जब इन्द्रिय, मन प्रभृति प्रमाणोंको अपना समझा जायगा। मैंने अपनी आँखसे यह वस्तु देखी है। मेरी आँख इस बातमें प्रमाण है। मैं ब्राह्मण हूँ। अतः मेरे लिये शास्त्रका यह विधान है, यह निषेध है। मुझे यह करना चाहिये, यह नहीं करना चाहिये—इत्यादि सारे व्यवहार अध्यासमूलक ही तो हैं। जब शुद्ध चैतन्यांश और जड देहादि इन्द्रियसमुदाय, 'अयो दहति' (लोहा जलाता है) इस प्रकार अग्नि और लोहेके सदृश परस्पर सम्मिलित–एक होते हैं, तभी तो संसारके सारे खेल होते हैं। यही शङ्कराचार्यकी खूबी है कि दो ही पन्नोंमें सारे अद्वैतवेदान्तका मर्म भर दिया है। इस प्रसंगकी टीका करनेमें भामतीकार वाचस्पतिमिश्रने भी कुछ छोड़ा नहीं है। अतः वेदान्त-रहस्य जाननेके लिये भामतीका अध्यासनिरूपण-प्रकरण देखना बड़ा ही आवश्यक है।

उपर्युक्त कथनका भावार्थ यह है कि चैतन्य और जड, इन दोनोंका स्वरूप परस्पर अत्यन्त विलक्षण है। चैतन्य आत्माको 'मैं' इस शब्दसे सम्बोधित किया जाता है और 'मैं' से भिन्न जितने पदार्थ हैं, वे सब 'तुम' शब्दसे लिये जाते हैं। यद्यपि 'तुम' भी चेतनको ही कहते हैं, तथापि 'मैं' के बिल्कुल विरुद्ध 'तुम' ही बैठता है। इस कारण उसके बिल्कुल विपरीत 'तुम' शब्दका प्रयोग शाङ्करभाष्यमें किया गया है। 'मैं' शब्दसे चैतन्य–ज्ञानस्वरूप आत्मा और 'तुम' शब्दसे सभी जड पदार्थ—विषय लिये गये हैं। ज्ञानसे जड जगत् प्रकाशित होता है। इसलिये अन्धकार और प्रकाशकी उपमा इन दोनों–विषय और ज्ञानस्वरूप आत्मा–को दी गयी है। अर्थात् अन्धकार और प्रकाशमें जैसे कोई सादृश्य नहीं है, वे जैसे परस्पर विपरीत हैं, वैसे ही आत्मा (ज्ञानस्वरूप) और जड जगत्में कोई भी सादृश्य नहीं है। वे दोनों परस्पर बिल्कुल विपरीत हैं।

अब देखिये, जड जगत् और ज्ञानरूप आत्मामें जब कोई सादृश्य नहीं है तो उनके धर्मोंमें भी कोई सादृश्य या सम्बन्ध नहीं हो सकता। अर्थात् जडके धर्म जो दुःख, शोक, मोह प्रभृति हैं वे कभी चैतन्यके धर्म नहीं हो सकते। इसी प्रकार चैतन्यके धर्म–प्रकाश, कूटस्थ, नित्यता प्रभृति—कदापि जडके धर्म नहीं हो सकते।

जब यह बात स्थिर हो गयी तो 'मैं' इस बुद्धिके विषय ज्ञानरूप आत्मामें 'तुम' इस बुद्धिके विषय जड जगत्-का या उसके धर्म दुःख, पाप प्रभृतिका आरोप—मैं 'आत्मा' देहरूप हूँ या देहके धर्म दुःख, ताप प्रभृतिका आधार हूँ (मैं दुःखी, पापी, परितापी हूँ), इस प्रकारका भान–हो नहीं सकता। इसी प्रकार इसके विरुद्ध जड जगत्में–देह और इन्द्रियसमुदायमें–ज्ञानस्वरूप आत्माका और उसके धर्म प्रकाश और सत्ता प्रभृतिका आरोप–देह और इन्द्रियाँ आत्मा हैं, या उनमें ज्ञान और प्रकाश है, मैं (देह) देखता हूँ, प्रकाश करता हूँ, मैं (कान) सुनता हूँ इत्यादि आत्मा और जडका किसी प्रकारका भी सम्बन्ध—सर्वथा असम्भव है, मिथ्या है, यही पूर्वपक्षियोंका आक्षेप है। इसपर सिद्धान्तरूपसे अद्वैतवादीका कहना है कि 'यद्यपि यह बात ठीक है, तथापि अनादि कालसे चला आनेवाला 'मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ, मेरी देह है' इत्यादि व्यवहार भ्रममूलक है—यह सभी द्वैतवादियोंको भी स्वीकार है। क्योंकि उनके यहाँ भी आत्मा देहसे भिन्न है। और यह दुबलापन और मोटापन तो देहका ही धर्म है। तो जैसे यह देहका धर्म आत्माके साथ व्यवहृत

---

* 'तं केचिदन्यत्रान्यधर्माध्यास इति वदन्ति। केचित्तु यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम इति। अन्ये तु यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षत इति। सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासकतां न व्यभिचरति। तथा च लोकेऽनुभवः, शुक्तिका हि रजतवदवभासते। एकश्चन्द्रः स द्वितीयवद् इति। तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः।
(शां० भा० भूमिका)

होता है और इसे सभी द्वैतवादीसमुदाय एक स्वरसे मानता है तो फिर अद्वैतवादियोंके कथनमें क्या अन्तर पड़ता है ? वे लोग भी तो यही कहते हैं कि यह प्रतीति भ्रमात्मिका है, शुद्ध नहीं है। ऐसे ही सभी सांसारिक व्यवहार हैं।

जब दोनोंके सिद्धान्तमें यह प्रत्यय भ्रमात्मक सिद्ध हुआ तो इस प्रकारके भ्रमज्ञानके मूलमें कोई यथार्थ ज्ञान चाहिये, इसकी भी आवश्यकता नहीं। क्योंकि भ्रान्ति भ्रान्तिमूलक भी हो सकती है। इस कारण 'मैं स्थूल हूँ,' 'मैं कृश हूँ' इत्यादि ज्ञान कभी भी यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। अब यहाँ अद्वैतवादियोंका कहना यह है कि यही जो मिथ्याज्ञान होता है उसीके आश्रयसे व्यवहार चल रहा है। इस मिथ्याज्ञानका भी एक अंश सत्य है, दूसरा झूठा है। इन दोनोंका जो परस्पर सम्मिश्रण हो गया है, इसका मूल कारण यह है कि इन दोनों विरुद्ध वस्तुओंका अलग-अलग यथार्थ ज्ञान नहीं हो रहा है। इतरेतराविवेकके कारण हमलोग जडमें चेतनका और चेतनमें जडका आरोप कर देते हैं और उसके बाद जडके धर्म चेतनमें और चेतनके धर्म जडमें मिलाकर व्यवहार करते हैं। यही मिथ्याज्ञान देहात्मवादका कारण है। इसके पूर्व मिथ्याज्ञानजनित एक प्रकारका संस्कार है। उसके पूर्व भी वही मिथ्याज्ञानका संस्कार है। अर्थात् इसका आदि नहीं मिल सकता। यह व्यवहारप्रवाह अनादि कालसे चला आ रहा है। इसके स्वरूपका अपलाप द्वैतवादी या अद्वैतवादी कोई भी नहीं कर सकता। इस भ्रमका 'यही स्वभाव है' सिवा यह कहनेके दूसरा कारण कोई भी नहीं बता सकता। इसके समझनेकी किसीमें भी शक्ति नहीं। इस कारण, 'यह भ्रम नहीं है' और 'इसके आधारपर सारा सांसारिक व्यवहार नहीं होता, या प्रत्यक्षादि प्रमाणद्वारा यह असिद्ध है' ऐसा कोई भी नहीं कह सकता। इसलिये, जब यह बात एक बार स्थिर हो गयी कि सांसारिक व्यवहार मिथ्याज्ञानमूलक है, तब तो इस भ्रमके तोड़नेके लिये ज्ञानहीकी आवश्यकता है। इस कारण उस ज्ञानस्वरूप ब्रह्मका यथार्थ ज्ञान करना आवश्यक हो जाता है। बिना ज्ञानकी सहायताके यह अनादि अज्ञान दूर नहीं होनेका। और बिना इस अज्ञानके दूर हुए आत्माके सच्चे स्वरूपकी प्राप्ति नहीं हो सकती, जैसा कि वेदोंमें भी कहा है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' (बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं होती)। इसीलिये अद्वैतवेदान्ती कहा करते हैं कि मुक्तिमें ज्ञान ही साक्षात् कारण है। मिथ्याज्ञानको दूर करनेके लिये यथार्थ ज्ञानकी ही आवश्यकता होती है। अन्धकारमें रज्जुको सर्प समझनेवालेके लिये प्रकाशकी ही आवश्यकता है, न कि उस रज्जुरूपी सर्पको लाठीसे मारकर समाप्त करनेकी, या वहाँसे दूर हटाकर धर देनेकी। इन दोनों प्रकारोंसे भ्रान्त व्यक्तिकी भ्रान्ति नहीं जा सकती। वह तो तभी जायगी जब वह प्रकाशसे उस रज्जुको देख लेगा। इसी कारण शङ्कराचार्यने सबसे पहले इस अज्ञानका ही निरूपण किया है। और यही अज्ञान इस संसारका मूल है।

अद्वैतवादकी उदारता

वस्तुतः इस संसारमें भी जहाँ जितना अधिक अज्ञान रहता है वहाँ उतनी ही अधिक बेचैनी तथा नाना प्रकारकी विरुद्ध कल्पनाएँ हुआ करती हैं। आज संसारमें जितने परस्पर कलह होते हैं, सभी अज्ञानहीके कारण तो होते हैं। यदि मनुष्य यह समझ जाय कि जो मैं हूँ वही तो दूसरा भी है, तो क्यों घोर उपद्रवोंका अवसर आवे ?

फ़क़त तफ़ावत है नामहीकी, दर अस्ल सब एक ही है यारो !
जो आब साक़ीकी मौजमें है, उसीका जल्वा हुबाबमें है॥

एक अद्वैतवाद ही ऐसा है जो मानवमात्रको एक सूत्रमें पिरो सकता है, जिसका 'एकजीववाद'—'एकात्मवाद' विश्वको शान्ति देनेके लिये पर्याप्त है। इसी अद्वैतवादकी यह शिक्षा है—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

'जो सब जीवोंको अपने आत्मामें देखता है और सब जीवोंमें अपने स्वरूपको ही देखता है, उसके अन्दर किसीके प्रति जुगुप्सा, निन्दा, द्वेष प्रभृतिका भाव नहीं रहता।'

'जिस ज्ञानी अद्वैतात्मवादी पुरुषके लिये सारा संसार आत्मस्वरूप हो जाता है उसको किसका भय और उसे किसका मोह तथा किसके लिये शोक हो, जब कि वह सभी जगह एक आत्मतत्त्वका अनुभव कर रहा है।' इत्यादि।

इसी अद्वैतवादका संक्षिप्त उपदेश श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुन (जीव) को दिया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

अर्थात् 'पण्डित वही है जो विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते, चाण्डाल प्रभृति सभी जीवोंमें एक तत्त्वका दर्शन करता है।' इसी कारण अद्वैतवादमें सबसे प्रथम अध्यास—अज्ञान (भ्रम) का निरूपण आवश्यक हो जाता है। और उसीके निरूपणमें भगवान् शङ्करने सर्वप्रथम अपने भाष्यमें 'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः०' इत्यादि उपोद्घात लिखा है। इसका विस्तृत विवरण वाचस्पतिमिश्र-जैसे विद्वान्‌ने अपने प्राञ्जल शब्दोंमें किया है, जिसकी हिन्दीमें व्याख्या की जाय तो एक स्वतन्त्र पुस्तक तैयार हो जाय। अतः इसपर इस समय इतना ही कहना अलम् होगा।

ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्यका संक्षिप्त परिचय

इस प्रकार अध्यासनिरूपण करनेके बाद 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यहाँसे अद्वैतमतानुसारी शाङ्करभाष्य गङ्गा-प्रवाहके सदृश खूब गम्भीर और पवित्र भावसे चलता है।*

इसमें ४ अध्याय और १६ पाद हैं। इन १६ पादोंसे युक्त यह भाष्य मानो १६ कलायुक्त पुरुष ही है। इसीलिये इसमें १६ पाद रक्खे गये हैं। ब्रह्म चार भागवाला माना गया है। उसके एक भागमें सृष्टि है और तीन भाग शुद्ध हैं।† इसी सिद्धान्तको द्योतन करनेके लिये इसमें चार अध्याय रक्खे गये हैं। इन्हीं चार भागोंके कारण ब्रह्मको गायत्री कहते हैं। ऐसा विचार ज्योतिश्चरणाधिकरणमें आया है।‡

अस्तु, इसमें शङ्कराचार्यके मतानुसार ५५५ सूत्र और १९२ अधिकरण हैं। पूरे शास्त्रका तात्पर्य ब्रह्मविचारमें है। यही उसका विषय है।

'हम दोनों (गुरु-शिष्य) की एक साथ रक्षा करो। हम दोनोंको एक साथ (सब पदार्थोंका) भोग कराओ। हम दोनों साथ मिलकर पराक्रम—उद्योग करें। हम दोनोंका अधीत विषय तेजस्वी तथा प्रभावशाली हो अर्थात् उस अध्ययनसे हमलोग अध्ययनका फल प्राप्त कर सकें। हमलोगोंमें परस्पर वैमनस्य न हो।'§

यह शान्तिपाठ करके गुरुके पादस्पर्शपूर्वक वेदान्त अध्ययन करनेका सम्प्रदाय है। अन्तमें भी पाठ समाप्त हो जानेपर गुरुका चरणस्पर्श करनेका विधान है (दाहिने हाथसे दाहिना पैर और बायें हाथसे बायाँ पैर पकड़ना चाहिये)।×

(१) शाङ्करभाष्यके प्रथमाध्यायमें वेदान्त (उपनिषद्)-वाक्योंका साक्षाद् ब्रह्ममें ही तात्पर्य है, प्रकृति प्रभृतिमें नहीं, यही बात बतायी गयी है।

(२) ब्रह्मसे जगत्‌की सृष्टि माननेमें जो कुछ विरोध आपाततः प्रतीत होता था उसका तार्किक भाषामें परिहार किया गया है। यह दूसरे अध्यायका विषय है।

(३) तीसरे अध्यायमें ब्रह्मविद्याप्राप्तिके साधनोंका विस्तारसे उल्लेख है।

(४) चौथे अध्यायमें सगुण-निर्गुण विद्याओंके फलोंका निर्णय किया गया है।+

यह तो अति संक्षेपमें अध्यायोंका विषयनिरूपण हुआ। एक-एक अध्यायमें चार-चार पाद हैं। उनके संक्षिप्त विषय इस प्रकार हैं—

---

* आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूतं वचोऽस्मदादीनाम्।
रथ्योदकमिव गङ्गाप्रवाहपातः पवित्रयति॥
(भामतीमङ्गल)

† पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
(छा० ३।१२।६)
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।
(भगवद्गीता १०।४२)

‡ यथा गायत्री चतुष्पदा षडक्षरैः पादैस्तथा ब्रह्म चतुष्पात्।
(शां० भा० १।१।२५)

§ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।

× व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥
(मनु० २।७२)

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति॥
(मनु० २।७४)

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः॥
(मनु० २।७१)

+ शास्त्रं ब्रह्मविचाराख्यमध्यायाश्च चतुर्विधाः।
समन्वयाविरोधौ द्वौ साधनञ्च फलं तथा॥
(हरिदीक्षितब्रह्मसूत्रवृत्ति-प्रारम्भ)

प्रथमाध्यायके प्रथम पादमें ब्रह्मकी स्पष्ट प्रतीति करानेवाले वाक्योंका विचार है। प्रथमाध्यायके द्वितीय पादमें ब्रह्मके अस्पष्ट लिङ्गवाले वाक्यों (उपासना) का विचार है। प्रथमाध्यायके तृतीय पादमें ब्रह्मके अस्पष्टबोधक ज्ञेयब्रह्मबोधक वाक्योंका विचार है। और प्रथमाध्यायके चतुर्थ पादमें, जो श्रुतियाँ आपाततः सांख्यमतका प्रतिपादन करती हैं उनका वेदान्तसिद्धान्तानुकूल अर्थ किया गया है।

द्वितीयाध्यायके प्रथम पादमें वेदान्तके साथ सांख्यसिद्धान्तके विरोधका परिहार है। द्वितीयाध्यायके द्वितीय पादमें सांख्य, काणाद, बौद्ध, जैन, माहेश्वर प्रभृति सिद्धान्तोंका खण्डन है। द्वितीयाध्यायके तृतीय पादमें पहले पञ्चमहाभूतसम्बन्धी श्रुतियोंका विरोधपरिहार कर, बादको जीवसम्बन्धी श्रुतियोंका विरोधपरिहार विस्तृत और प्राञ्जल भाषामें किया गया है। और द्वितीयाध्यायके चतुर्थ पादमें इन्द्रिय-लिङ्गशरीरसम्बन्धी श्रुतियोंके विरोधका परिहार विशदरूपसे किया गया है।

तृतीयाध्यायके प्रथम पादमें जीवके आवागमनविषयपर विचार कर वैराग्यका निरूपण किया गया है। तृतीयाध्यायके द्वितीय पादमें पहले 'त्वं' पदार्थके शोधनपर विचार है, बादको 'तत्' पदार्थके संशोधनपर विचार किया गया है। तृतीयाध्यायके तृतीय पादमें निर्गुण ब्रह्मके विषयमें शाखान्तरीय वचनोंका उपसंहार कर सगुणविद्यासम्बन्धी शाखान्तरीय गुणोंका भी विस्तारसे विचार किया गया है। तृतीयाध्यायके चतुर्थ पादमें निर्गुणब्रह्मविद्याके बहिरङ्ग साधन आश्रमधर्म, यज्ञ-दान प्रभृति, एवं अन्तरङ्ग साधन शम, दम प्रभृतिका निरूपण है।

चतुर्थाध्यायके प्रथम पादमें, श्रवणादि वृत्तियोंके बलपर निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार और उपासनाके बलपर सगुण ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेसे जीवितकालमें ही पाप-पुण्यलेपसे छुटकारा होकर जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है, इसका विस्तारसे निरूपण किया गया है। चतुर्थाध्यायके द्वितीय पादमें कर्माधिकारीकी ऊर्ध्वगतिका निरूपण है। और चतुर्थाध्यायके तृतीय पादमें सगुणब्रह्मवेत्ताकी मृत्युके बाद उत्तरमार्गप्राप्तिका प्रतिपादन है। चतुर्थाध्यायके चतुर्थ पादमें पहले निर्गुणब्रह्मज्ञानीकी विदेहकैवल्यप्राप्ति बतायी है, बादको सगुणब्रह्मज्ञानीकी ब्रह्मलोकमें स्थिति बतायी है। (यही ब्रह्मलोकस्थिति भक्तिमार्गवाले आचार्योंकी मुक्ति है, ऐसा समझना चाहिये।)

इस प्रकार सपरिकर ब्रह्मका निरूपण करते हुए भारतीय संस्कृतिके लिये अपेक्षित सारी बातोंका निरूपण शाङ्करभाष्यके द्वारा किया गया है। इस भाष्यकी विशेषता यह है कि इसमें संकुचित साम्प्रदायिकताकी गन्धतक नहीं है। शैव सम्प्रदायके अनुयायी होनेपर भी आचार्यने बार-बार शालिग्राममें विष्णुभगवान्के पूजन प्रभृतिका ही उदाहरण दिया है। अधिक क्या कहें, संस्कृतसाहित्यमें यह एक अद्वितीय ग्रन्थरत्न है। केवल इसी ग्रन्थके अध्ययनसे मनुष्य हिन्दूसंस्कृतिका पूरा ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसके साथ ही श्रीशङ्कराचार्यसे पूर्व प्रचलित वेदोंका भी संक्षेपमें बहुत अच्छा ज्ञान हो जाता है। विशेषकर उपनिषदोंकी श्रुतियोंके पूर्वापरविरोधोंका परिहारज्ञान एवं द्वैत, अद्वैत प्रभृति सिद्धान्तोंकी यथार्थताका भी पर्याप्त ज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार अद्वैतसिद्धान्तकी सुरसरिताका एकमात्र उद्गमस्थान शाङ्करभाष्य ही है। इसीके आधारपर सारे अद्वैतवादके ग्रन्थराशि आविर्भूत हुए हैं। आज हमने 'कल्याण' के वेदान्ताङ्कके पाठकोंके सामने उस अद्वैतवादके सूक्ष्म स्वरूपका तथा उसके आधाररूप 'अध्यास' का संक्षेपमें जो निरूपण किया है उससे सर्वान्तर्यामी विश्वात्मा सन्तुष्ट हों, यही प्रार्थना है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

वेदान्तविद्या ही ईश्वरका सर्वोत्तम आशीर्वाद है

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

ईश्वरीय आशीर्वादोंसे मानवसमाज परिपूर्ण है। ऐसे भी तत्त्ववेत्ताओंकी कमी नहीं है जो प्रत्येक वस्तुको ही ईश्वरीय आशीर्वाद मानते हैं। एक प्रकारसे तो हमारे लिये हमारा अस्तित्व ही सृष्टिकर्त्ता जगदीश्वरका आशीर्वाद ही है, परन्तु उसका सर्वोत्कृष्ट आशीर्वाद तो ज्ञान-विज्ञान है और ज्ञान-विज्ञानमें भी अद्वितीय हिन्दू-वेदान्त है, जिसकी तुलनामें संसारका बड़े-से-बड़ा सिद्धान्त एक क्षणके लिये भी नहीं ठहर सकता; क्योंकि यह सुधार, विकास, मुक्ति और पूर्णताका सार्वभौम और सार्वजनिक नुस्खा है, और संसारकी एकाङ्गिता, अनधिकार चेष्टा, परतन्त्रता और अपवित्रताकी दिव्य ओषधि है। साथ ही यह सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियोंसे उपयोगी है। आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक खोजकी भी यह चरम सीमा है। ऐसे **सर्वश्रेष्ठ** विषयपर ही हम यहाँ कुछ कहना चाहते हैं।

आत्मविश्वास और पूर्णता

प्राच्य और प्रतीच्य संसारका **सर्वश्रेष्ठ** तत्त्व आत्मविश्वास है, जो समस्त उन्नतियोंका उद्गमस्थान अथवा मूल स्रोत है। वैदिकोंके मतसे तो संसारकी प्रत्येक सिद्धि और सफलताकी मूल भित्ति आत्मश्रद्धा और आत्मविश्वास ही है। वेदान्त इसी आत्मविश्वासको दृढ़ करनेवाली एक अनोखी साधना है। मनुष्यको अपने आपमें पूर्णताका विश्वास करा देना वेदान्तकी अद्वितीय देन है। वेदान्तकी यह उच्च घोषणा है—

'आत्मा पूर्णातिपूर्ण है और इसमें विश्वास रखनेवाला सम्पूर्ण शोकसमुद्रको तर जाता है।'

शास्त्र यह बतलाते हैं कि आत्मा स्वतन्त्र है, दिव्य है और मुक्त है; इसी विश्वासकी साधनाके लिये वेदान्तमर्मज्ञ प्रातःस्मरणीय भारतीय महर्षियोंका सदुपदेश है—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।' 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'

अर्थात् 'आत्माका दर्शन करना चाहिये, उसके विषयमें श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये।' 'आत्माको जाननेसे ही जीव मृत्युको लाँघकर निःश्रेयस पदवीको प्राप्त होता है; इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है।'

इस आत्मज्ञान और आत्मलाभके विषयमें शास्त्रोंने यहाँतक कहा है—

सर्वेषामपि चैकेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
प्राप्यैतद् कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा॥

अर्थात् 'सम्पूर्ण धर्मोंमें आत्मज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है; क्योंकि इसीको प्राप्तकर द्विजगण कृतकृत्य होते हैं, अन्यथा नहीं।' महर्षि व्यासके शब्दोंमें आत्मज्ञानकी प्राप्तिका महत्त्व है—साध्य, साधन और साधकात्मक तत्त्वोंका पूर्ण समन्वय और परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति। और इस अनन्य लाभकी भूमिका है—आत्मविश्वास और आत्मश्रद्धा।

पूर्णता और अन्वेषण

आत्मा प्रत्येक दृष्टिसे पूर्ण है, इस बातका अन्वेषण प्राचीन आध्यात्मिकोंने ठीक तरह कर लिया था। वे योगज प्रत्यक्ष, समाधिभाषा, दार्शनिक पैनी दृष्टि, वैज्ञानिक तर्क और अनुमितानुमितिकी सत्साधनाके द्वारा इसी परिणामपर पहुँचे थे कि आत्मा पूर्ण सत्य है, पूर्ण तत्त्व है और पूर्ण साध्य है। उन्होंने स्वानुभवके सहारे आजसे लाखों वर्ष पूर्व इस बातको सर्ववादिसम्मत भी सिद्ध कर दिखाया था। इसके साथ ही उन्होंने यह भी बता दिया था कि भौतिक शिक्षण और साधनासे ज्ञेय वस्तुएँ उत्तरोत्तर अनन्त सिद्ध होती जाती हैं, और ज्ञाता अल्पज्ञ; किन्तु आत्मसाधनासे साधक धीरे-धीरे अनन्त और पूर्णातिपूर्ण सिद्ध हो जाता है और ज्ञेय वस्तुएँ सान्त, अर्थात् आत्मसाधनासे हम अनन्त ज्ञानसम्पन्न हो जाते हैं और अनन्त शक्ति, आनन्द और ऐश्वर्ययुक्त भी। इसी सत्यको हमारे शास्त्रोंने इस तरह स्वीकार किया है—

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्।

पूर्णता और साधना

आत्मज्ञता और पूर्णताकी साधनाके विषयमें हिन्दूधर्ममें अधिकारभेदसे अनन्त भेद बताये गये हैं। उनमें मुख्यतम भेद योगात्मक है; परन्तु आत्मलाभके लिये ज्ञान, कर्म और उपासनात्मक साधनाएँ भी हैं। इनके भी अनन्त भेद-प्रभेद हैं, और इनसे भी साधक शनैः-शनैः अपने उद्देश्यको प्राप्त कर ही लेता है। किन्तु इन सबमें योगज प्रत्यक्ष

समधिक सरल और स्वाभाविक उपाय है, और उसकी विधि यह है—

वृत्तियुक्त चित्त ही सब दोषों और क्लेशोंका कारण है। यही प्रत्येक प्रकारकी निर्बलता और अपूर्णताका हेतु है। इसी चित्तका प्रतिबिम्ब पुरुषमें पड़ता है, इसलिये चित्तकी वृत्तियोंका निरोध और उन्मूलन ही जीवकी स्वरूपावस्था या वास्तविक अवस्थाका प्रकाशक है। और वह ध्यानसाध्य है।

इसका अभिप्राय यह है कि ध्यानके द्वारा चित्तके एकाग्र होनेसे शनैः-शनैः उसकी 'आकारपरिणति' अर्थात् नाम-रूपमें बदलनेवाली क्रिया बंद हो जाती है और फिर जीव अपने आप आत्मस्थ हो जाता है। पूर्वकथनानुसार अन्यान्य—ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्डकी बातें भी हमें इसी ओर ले जानेवाली हैं; क्योंकि इन सबका अभिप्राय भी साधनात्मक ध्यानतत्त्वका सदुपयोग ही है। स्वामी विवेकानन्द ध्यानकी इसी उपयोगितापर कहते हैं—

'वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशालामें, साहित्यिक साहित्यशालामें, ज्योतिर्विद् वेधशालामें जो कुछ करता है, वह ध्यानतत्त्वके द्वारा ही करता है। मानवसंसारका सम्पूर्ण क्रियाकलाप असलमें ध्यानसाध्य ही है। इसके बिना मनुष्य किसी भी बातमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।'

हिन्दूधर्मके शास्त्रकारोंने स्त्रियोंके लिये पातिव्रतधर्मका उपदेश भी उनकी प्रकृतिके पूर्ण निरीक्षण-परीक्षणके बाद ही किया था, और उस धर्मका तात्पर्य प्रत्येक बातमें पतिदेवका विशेष ज्ञान-ध्यान रखना ही था। मूर्तिपूजाकी साधना भी इसी ध्यानतत्त्वका प्रारम्भिक सरल और सुखद सोपान है। हिन्दुओंके स्थूल और सूक्ष्म प्रायः प्रत्येक कार्यमें इसी ध्यान या इच्छाशक्तिका समावेश है, जो वस्तुतः आत्मज्ञान और पूर्णताकी साधना है। अधिक क्या, अध्यात्मप्रधान हिन्दूधर्ममें तो जीवनसम्बन्धी प्रत्येक कार्य ही अनन्त आत्माकी साधना ही है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने गीताविज्ञानमें कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

सारांश यह है कि समस्त जीव परमात्माके ही अंशरूप हैं, और अंशकी गति स्वभावतः अंशीकी ओर ही होती है। इस स्वाभाविक गतिका सुफल ही हिन्दू-वेदान्त है और यह हमें उसी ओर जानेको प्रेरित करता है। वर्तमानकालीन अनेक विद्वानोंने भी प्रकारान्तरसे इसी मार्गका समर्थन किया है। स्वयं प्लेटो इस विषयमें कहता है—

'केवल आनन्द या ज्ञानकी प्राप्ति ही मनुष्यका परम ध्येय नहीं है, अपि तु आत्मतत्त्व या परमतत्त्वका ज्ञान ही उसके जीवनका उद्देश्य है।'

पूर्णता और अन्यान्य विज्ञान

वेदान्त इस बातका दावा करता है कि आत्मा स्वयंप्रकाश, ज्ञानस्वरूप, पूर्ण शक्तिमान् और आनन्दमय है। इसके इस दावेसे थोड़े-बहुत अंशोंमें समाजविज्ञान, मनोविज्ञान, मानवविज्ञान, इतिहास आदि शास्त्र भी सहमत हैं; क्योंकि इनसे भी यही सिद्ध होता है कि व्यक्तित्व एक प्रकारका आत्मप्रकाश ही है। उसके भी महान् और अद्भुत चमत्कार देखे जाते हैं। सच तो यह है कि संसारमें अबतक जितने भी महान् पुरुष हुए वे अपने व्यक्तित्व या आत्मप्रकाशके कारण ही महान् हुए। इसके सिवा 'द्रव्यकी मौलिक एकता' (Fundamental Unity of Matter) को स्वीकार करनेवाले भूतवादियोंको भी यह तो मानना ही पड़ता है कि अध्यात्मवादी जिन चमत्कारोंका कारण आत्मतत्त्व मानते हैं, उनका कारण वे द्रव्यको समझते हैं, जो कि हमारे दृष्टिकोणसे आत्मतत्त्वकी छाया ही है[1]। इसका एक प्रमाण यह भी है कि दूरश्रवण और दूरदर्शनसम्बन्धी विज्ञानोंके द्वारा भौतिक दिक्कालसाध्य परिच्छिन्नता दिनोंदिन नष्ट होती जा रही है, जिसे अध्यात्मशास्त्री अद्वितीय आत्माकी प्रेरणाका ही फल मानते हैं। उनके मतसे आत्मा ही प्रेरक है, न कि द्रव्य या प्रकृति; क्योंकि शकरने आत्माको स्वार्थ[2]—स्वतःसिद्ध (Self-existent) चेतन माना है और प्रकृतिको अचेतन और परार्थ।

एक विचारणीय बात यहाँ यह भी है कि जो भौतिक कार्य और चमत्कार हैं वे आत्मतत्त्वकी पञ्चभूतात्मक हठसाधनासे भी सिद्ध हो सकते हैं; परन्तु वेदान्तियोंके मतसे इसका अभिप्राय भी अधिष्ठाता आत्मतत्त्वकी आत्मशक्तिका प्रभाव ही है, और यह इसलिये कि अधिष्ठाता

---

[1] 'अचेतने स्वार्थोपपत्तेः' (बृ० भा० ४ । ३ । ७)। 'एवं तर्हि स्वार्थत्वं चितिमत्त्वात्..... न परेण प्रयुज्यसे।' (उप० सा० गद्यांश)।

[2] स्वार्थका अभिप्राय यह है कि चेतन स्वयं ही अपने अस्तित्वका कारण और उद्देश्य है, अर्थात् वह किसी भी दृष्टिसे दूसरोंपर अवलम्बित नहीं है।

आत्मा पूर्णातिपूर्ण है और अधिष्ठित (प्रकृति या शरीर) अधिष्ठाताके गुण-कर्म-स्वभावकी छाया।

इङ्गलैण्डमें एक बार एक ऐसे भारतीय सज्जन पहुँचे थे जो किसी भी प्रकारके आवरणसे आवृत वस्तुके इतिवृत्तको अपने चर्मचक्षुओंपर पट्टी बाँधकर भी बता देते थे। उस समय वहाँके वैज्ञानिक लोगोंने इसका साधारण कारण यही बताया था कि उनकी आँखें एक्सरेज़की (X-rays) शक्तिसे सम्पन्न हैं। परन्तु इसका मुख्य कारण तो वही प्रकृतिका अधिष्ठाता आत्मतत्त्व ही है, जिसकी व्याख्या हम वेदान्तशास्त्रकी भाषामें—

'स्वात्मनोऽनन्याः कामाः·················।
न हि कामयितृ अचेतनमस्ति ॥'

—इस प्रकार करते हैं।

आत्मा प्रकाशस्वरूप है, उसे साधनोंके द्वारा आवरणोंसे रहित कर देना ही आत्मसाधना, आत्मशिक्षा अथवा सच्ची शिक्षा है।

वेदान्त और शिक्षा

संसारकी सारी उन्नतियोंका मूलमन्त्र शिक्षा ही है। अब यदि शिक्षा ही भ्रमात्मक सिद्धान्तों और पद्धतियोंपर अवलम्बित हुई तो फिर उससे वास्तविक आत्मतत्त्व, व्यक्तित्व और प्रसुप्त शक्तियोंके विकासकी आशा कैसे की जा सकती है? हम देखते हैं कि वर्तमानकालीन शिक्षासे संसारमें यही हो रहा है। संसार उलटे रास्ते जा रहा है। वह केवल भौतिक सिद्धान्तोंपर ही अमल कर रहा है, सनातन वैदिक विज्ञान और वेदान्तके त्रिकालाबाधित तत्त्वोंपर ध्यान नहीं दे रहा है। वह आत्माके विकास-प्रकाशका प्रयत्न न कर उसके चोले, वस्त्र या ढक्कनको ही शिक्षित करनेका उद्योग कर रहा है; उपकरण, सामग्री और सहायक तत्त्वोंके विकासके उद्योगमें ही दत्तचित्त है, न कि वास्तविक वस्तुतत्त्वके विकासमें! कौन विद्वान् इस बातसे अनभिज्ञ है कि आधुनिक संसारकी समस्त शिक्षा अन्तःकरणको ही दी जाती है। यद्यपि भौतिक अन्तःकरणमें भी आत्मतत्त्वका आरोप है, उसमें भी व्यक्तित्व माना जाता है, तो भी क्या वह वास्तविक जीव, पुरुष या आत्मा है? रेडियोके यन्त्र और ग्रामोफ़ोनकी चूड़ियाँ बोलती हैं; परन्तु क्या उनमें स्वतन्त्र अनुभूति, भावुकता और कर्मशक्ति भी मौजूद है? वैसे ही टेलीफ़ोन भी सुनता है और जवाब देता है, परन्तु क्या वह स्वतःसिद्ध चेतन है? ठीक यही दशा हमारी आधुनिक और परम्परागत शिक्षाकी है। यद्यपि वेदान्तसिद्ध वैदिक व्यावहारिक शिक्षा भी प्रायः अन्तःकरणके माध्यमके द्वारा ही दी जाती है; परन्तु उसमें अन्तःकरण माध्यमहीका तो काम देता है, न कि साध्य वस्तुतत्त्वका। फिर इस शिक्षामें तो मुख्यतः माध्यम भी कण्ठ और कपोलादि ही होते हैं; क्योंकि विद्यार्थियोंका मुख्य सहारा रटाई ही तो होती है। इसीपर एक वेदान्तनिष्णात महात्माके वचन सुनिये। वे कहते हैं—

'कूपखननका तात्पर्य भूगर्भस्थित पानीके आवरणको दूर करना है, न कि पृथ्वीके ऊपरके जलहीन स्तरोंमें पत्थरोंकी कोठी तैयार करना। वह कोठी अवश्य ही स्थानीय वर्षासे भर जाती है, परन्तु उससे कूपखननका वास्तविक और पूर्ण उद्देश्य तो सिद्ध नहीं होता।' इसी विषयपर एक और वैदिक विद्वान् इस तरह कहते हैं—

'वेदान्त ऐश्वर्यमदसे उन्मत्त व्यक्ति और जातिको वास्तविक आत्मिक ऐश्वर्यकी सदनुभूति प्रदान करनेवाला और दीन-हीन व्यक्ति और जातिकी दीनता और हीनताको नष्टकर उनमें लोकोत्तर आत्मश्रद्धा, आत्ममहत्त्व, आत्मशक्ति और आत्मानन्द उत्पन्न कर देनेवाली विद्या है। सचमुच व्यक्ति और जातिके तात्त्विक उद्धारका सच्चा और सीधा उपाय इसके सिवा दूसरा मालूम ही नहीं होता। फिर बाहरसे मिलनेवाली किसी भी प्रकारकी सहायतासे मनुष्यके दैन्य और दुःखका अत्यन्ताभाव तो हो ही नहीं सकता। इसलिये यही कहना पूर्णतः सत्य है कि वेदान्तविद्या ही ईश्वरका सर्वोत्तम आशीर्वाद है और वही प्राप्त करनेकी परम वस्तु है।

गीताके अनुसार गुणातीत, भक्त और स्थितप्रज्ञके लक्षण तथा आचरण

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

वास्तवमें जीवन्मुक्त महापुरुषोंके व्यवहारका वर्णन वाणीद्वारा प्रकट करना असम्भव-सा है। उनके व्यवहारके रहस्यको साधारण मनुष्य कैसे समझ सकता है, उसका वर्णन करनेमें न तो मेरा अधिकार है और न योग्यता ही है; तथापि अपने मित्रोंकी प्रेरणासे, गीतादि शास्त्रोंके आधारपर अपनी साधारण बुद्धिसे जो कुछ समझमें आया है उसे पाठकोंकी सेवामें निवेदन करता हूँ।

जीवन्मुक्त महापुरुषोंका व्यवहार, उनका निजी स्वार्थ एवं राग-द्वेष और अहंकार न रहनेके कारण, केवल लोकहितार्थ ही हुआ करता है। उनके आचरण संसारमें प्रमाणस्वरूप माने जाते हैं, उनके आचरणोंमें पाप और स्वार्थकी गन्ध भी नहीं रहती, उनकी प्रत्येक क्रियामें परम उपदेश भरा रहता है। मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण आदि समस्त पदार्थोंमें; पशु, पक्षी, मनुष्य, कीट, पतंग और देवादि समस्त प्राणियोंमें; तथा सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, शीत-उष्ण, प्रिय-अप्रिय आदि समस्त भावोंमें और समस्त कर्मोंमें सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा उनका समभाव रहता है। उनके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें स्वार्थ, अहंकार, राग-द्वेष, विषमता और भयका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण उनकी सारी क्रियाएँ साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा विलक्षण, परम पवित्र और दिव्य हुआ करती हैं। उनके आचरणोंमें किसी प्रकारका लेशमात्र भी दोष नहीं रहता। उनके अन्तःकरणमें समभाव, प्रसन्नता, परमशान्ति और ज्ञान, ये सब नित्य-निरन्तर अविच्छिन्न और अपार रहते हैं। यह सब होते हुए भी वास्तवमें वे महापुरुष इस त्रिगुणमयी माया और उसके कार्यरूप शरीरादिसे सर्वथा अतीत होते हैं। अतः उनको न तो प्रिय वस्तुकी प्राप्ति और अप्रियके वियोगमें हर्ष होता है और न किसी अप्रियकी प्राप्ति और प्रियके वियोगमें शोक ही होता है। यदि ऐसे महापुरुषोंको किसी भी प्रकारका कोई भारी दुःख पहुँचाया जाय, तो भी वे महापुरुष अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होते।

श्रीमद्भगवद्गीतामें परमपदकी प्राप्तिको भगवान्ने कहीं ब्रह्मनिर्वाण, सनातन ब्रह्म और ब्रह्मकी प्राप्तिके नामसे; कहीं आत्यन्तिक सुख, अनन्त सुख, अक्षय सुख और उत्तम सुखकी प्राप्तिके नामसे; कहीं अविनाशी शाश्वतपद, परम गति, परमधाम, परम दिव्य पुरुष, परमसिद्धि, संसिद्धि, शान्ति, परमशान्ति, निर्वाणपरमशान्ति, शाश्वत शान्ति, अव्यक्त, अक्षर, अमृत, परमस्थान, शाश्वतस्थान, मद्भाव, मम साधर्म्य, परम और अपनी प्राप्ति इत्यादिके नामसे कहा है।

गीतामें परमपदको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और आचरण अध्याय १४ के अन्तमें गुणातीतके नामसे, अध्याय १२ के अन्तमें भक्तके नामसे और अध्याय २ के अन्तमें स्थितप्रज्ञके नामसे भगवान्ने बतलाये हैं; इसके सिवा अन्यान्य अध्यायोंमें भी योगी, युक्त और ज्ञानी आदिके नामसे जीवन्मुक्तकी स्थितिका संक्षिप्त वर्णन आया है। ये सभी परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषके लक्षण हैं।

गीतापर भलीभाँति विचार करनेसे मालूम होता है कि अध्याय २ के श्लोक ५५ से ७२ तक स्थितप्रज्ञके नामसे कर्मयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और आचरण बताये गये हैं।

अध्याय १२ में श्लोक १३ से २० तक भक्तियोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और आचरण बताये गये हैं।

एवं अध्याय १४ में श्लोक २२ से २५ तक ज्ञानयोग यानी सांख्ययोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और आचरण बताये गये हैं।

इन तीनों स्थलोंको सामने रखकर उनपर विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि इनमेंके बहुत-से लक्षण और आचरण एक-दूसरेमें मिलते-जुलते-से ही हैं। क्योंकि परमात्माको प्राप्त होनेके उपरान्त सबकी स्थिति एक ही हो जाती है, इसलिये उनके लक्षण और आचरण भी प्रायः एक-से ही हुआ करते हैं। तथापि प्रकृति (स्वभाव) और साधनकालके अभ्यासके भेदसे गुण और आचरणोंमें किसी-किसी स्थलमें भिन्नता भी आ जाती है, पर वह शास्त्रानुकूल ही होती है। भगवान्ने भी कहा है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

(गीता ३। ३३)

Prof. Amodayardhana Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

‘सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं, अर्थात् अपने स्वभावसे परवश हुए कर्म करते हैं; ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा ।’

सभी प्रकारके साधनोंसे परमात्माको प्राप्त हुए पुरुष परम पवित्र, और साधारण मनुष्योंसे बहुत उत्तम होते हैं । ऐसे जीवन्मुक्त पुरुषोंकी प्रकृति साधनकालमें ही शुद्ध हो जाती है । अतः सभी प्रकारके जीवन्मुक्त महापुरुषोंके आचरण शास्त्रसम्मत, आदर्शरूप, पवित्र और सर्वथा दिव्य होते हैं ।

कर्मयोगीके लिये तो फलासक्तिरहित कर्मोंका करना ही योगकी सिद्धिमें हेतु बतलाया गया है (गीता ६ । ३) । इसलिये उसके द्वारा कर्मोंका विस्तार होना स्वाभाविक ही हो जाता है और कर्मोंके विस्तारसे उसमें फँसाव होकर बन्धन हो जानेका डर रहता है । अतएव उसके लिये मन-इन्द्रियोंके निग्रह एवं काम-क्रोध, राग-द्वेष, ममता और परवा आदिके त्यागपर विशेष जोर दिया गया है । भक्तियोगके साधकके लिये इन बातोंपर इतना जोर नहीं दिया गया । उनके लिये तो सर्व कर्म भगवान्के समर्पण करके भगवत्स्मरण करनेपर विशेष जोर दिया गया है । इस प्रकार करनेसे भगवान्की दयासे उपर्युक्त सारे दोष अपने-आप ही नष्ट हो जाते हैं। और ज्ञानमार्गसे चलनेवाले पुरुष तो सारे कर्म और सारे विकार प्रकृतिपर छोड़ देते हैं, अपनेसे उनका सम्बन्ध ही नहीं रखते; इस कारण उनके बाहरी कर्मोंका विस्तार नहीं भी हो सकता ।

कर्मयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषमें, परमात्माकी प्राप्तिके उत्तरकालमें भी, कर्मोंका बाहुल्य रह सकता है । उसके द्वारा स्वार्थ, आसक्ति, अहंकार आदिके बिना ही केवल लोकसंग्रहार्थ स्वाभाविक कर्मोंकी क्रियाएँ विस्तारपूर्वक भी होती हैं और उसमें उसकी महिमा है । भगवान्ने भी कहा है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
(गीता ४ । १९)

‘हे अर्जुन ! जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और सङ्कल्पसे रहित हैं, ऐसे उस ज्ञानरूप अग्निद्वारा भस्म हुए कर्मोंवाले पुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं ।’

वे ममता, अहङ्कार, कामना आदिसे रहित हुए संसारमें विचरते हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(गीता २ । ७१)

‘जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर, ममतारहित और अहङ्काररहित तथा स्पृहारहित हुआ बर्तता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है ।’

क्योंकि साधनकालमें ही कर्मयोगीके साधनमें मन-इन्द्रियोंके संयमपूर्वक राग-द्वेष और स्वार्थके बिना केवल कर्तव्यबुद्धिसे किये हुए कर्म ही उसकी स्थितिको बढ़ाकर परमात्माका साक्षात्कार करानेमें हेतु होते हैं ।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
(गीता २ । ६४-६५)

‘स्वाधीन अन्तःकरणवाला पुरुष राग-द्वेषसे रहित तथा अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको भोगता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नता अर्थात् स्वच्छताको प्राप्त होता है । और उस निर्मलताके होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और प्रसन्न चित्तवाले पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही अच्छी प्रकार स्थिर हो जाती है ।’

पूर्वमें भी इस प्रकार साधन करके जनकादि परमपदको प्राप्त हो चुके हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥
(गीता ३ । २०)

‘इस प्रकार जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं; इसलिये, तथा लोकसंग्रहको देखता हुआ भी, तू कर्म करनेके ही योग्य है ।’

इस कारण सिद्धावस्थाको प्राप्त होनेके बाद भी उन पुरुषोंद्वारा बहुलतासे कर्म हो सकते हैं । ऐसे पुरुषमें राग-द्वेषादि अवगुणोंका सर्वथा अभाव होनेके कारण, कर्मोंकी बहुलता होनेपर भी, उसके द्वारा किये हुए कर्मोंमें कोई दुराचारिता नहीं आ सकती; क्योंकि दुराचारिताका मूल कारण राग-द्वेषादि अवगुणही हैं । अर्जुनके पूछनेपर भगवान्ने आसक्तिसे उत्पन्न होनेवाले काम-क्रोधको ही पापाचारमें हेतु बताया है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(गीता ३ । ३७)

'हे अर्जुन ! रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह महाशन अर्थात् अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला और बड़ा पापी है, इस विषयमें इसको ही तू वैरी जान।'

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मोंकी बहुलता स्थितिमें बाधक नहीं है, राग-द्वेष और काम-क्रोधादि अवगुण ही बाधक हैं और इनका उन महापुरुषोंमें सर्वथा अभाव होता है। स्वार्थ और राग-द्वेषको छोड़कर किये हुए कर्म ही कर्मयोगके साधकके लिये भगवत्प्राप्ति करानेवाले हैं और सिद्धोंकी शोभा बढ़ानेवाले हैं।

शास्त्रविहित स्वाभाविक कर्मोंमें जो अनिवार्य हिंसादि दोष हुआ करते हैं, वे दुराचार नहीं हैं (गीता १८। ४८); एवं ऐसे हिंसादि दोष फलेच्छा, राग-द्वेष और अहङ्कार-रहित मनुष्यको दूषित नहीं कर सकते (गीता १८। १७)।

यद्यपि परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषको कर्म करने या न करनेसे कोई अपना प्रयोजन नहीं रह जाता, तथापि लोगोंको उन्मार्गसे बचाने और सन्मार्गमें प्रवृत्त करनेके लिये, उनके द्वारा निषिद्ध कर्मोंका त्याग और विहित कर्मोंका आचरण हुआ करता है। कर्मोंको छोड़ बैठनेवाला अज्ञानी वास्तवमें त्यागी नहीं है (गीता १८। ७); परन्तु इस प्रकार कर्म करनेवाला महापुरुष ही वास्तवमें बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है।

भगवान्‌ने कहा है—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥
(गीता १८। १०-११)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष अकल्याणकारक कर्मसे तो द्वेष नहीं करता और कल्याणकारक कर्ममें आसक्त नहीं होता, वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त हुआ पुरुष संशयरहित, ज्ञानवान् और त्यागी है। क्योंकि देहधारी पुरुषके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्म त्यागे जानेको शक्य नहीं हैं; इससे जो पुरुष कर्मोंके फलका त्यागी है वही त्यागी है, ऐसा कहा जाता है।'

भक्तियोगद्वारा परमेश्वरको प्राप्त हुए महापुरुषमें परमेश्वरकी प्राप्तिके उत्तरकालमें भी सभी मनुष्योंके साथ दया और प्रेमका भाव अधिक व्यक्त हुआ करता है। क्योंकि उसके साधनकालमें ईश्वरविषयक श्रद्धा, भक्ति, प्रेम और शरण आदि भावोंकी बहुलता ही उसकी स्थितिको बढ़ाकर परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु हुआ करती है; इससे उसका स्वभाव अत्यन्त कोमल हो जाता है और उसे सभी प्राणियोंमें अपने स्वामी आराध्यदेवको विराजमान देखनेका अभ्यास हो जाता है।

उसमें कोमलता, क्षमा और सुहृदता आदि गुणोंकी बहुलता होनेके कारण न्याय प्राप्त होनेपर भी उसके द्वारा किसी जीवको दण्ड दिया जाना कठिन-सा हो जाता है। इस कारण उससे किसी भी जीवको उद्वेग नहीं होता, और अन्य जीवोंद्वारा अनुचित कष्ट दिये जानेपर भी वह स्वयं उद्वेगवान् नहीं होता और उनसे न्यायपूर्वक भी बदला लेना नहीं चाहता।

भगवान्‌ने भी कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
(गीता १२। १३–१५)

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित एवं अहंकारसे रहित, सुखदुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है।

'तथा जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है तथा मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए, मेरेमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मेरेमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मेरेको प्रिय है।

'तथा जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता, तथा जो हर्ष-अमर्ष*, भय और उद्वेगादिकोंसे रहित है वह भक्त मुझको प्रिय है।'

दया, प्रेम और क्षमा आदि सद्‌गुणोंसे उसका अन्तःकरण भावित हो जानेके कारण, वह अपने साथ बुरा बर्ताव

---

* दूसरेकी उन्नतिको देखकर सन्ताप होनेका नाम 'अमर्ष' है।

करनेवालेको भी प्रेमपूर्वक उसके हितकी चेष्टाओंद्वारा उसके अन्तःकरणमें साधुभाव उत्पन्न करते हुए ही शिक्षा देनेका प्रयत्न किया करता है।

नीतिकी आवश्यकता पड़नेपर भी साम और दानसे ही काम लेनेका उसका स्वभाव हो जाता है। दण्ड और भेद-नीतिका प्रयोग प्रायः उसके द्वारा नहीं हो सकता।

उसकी प्रत्येक क्रियामें ईश्वरभक्ति, श्रद्धा, स्वार्थत्याग, चतुरता, कोमलता, विनय, प्रेम, दया और चित्तकी प्रसन्नता आदि भाव विशेषरूपसे झलकते रहते हैं। क्योंकि साधनकालमें इन भावोंसे ही उसकी स्थिति बढ़कर उसे परमेश्वरकी प्राप्ति होती है, अतः उसका स्वभाव ही ऐसा बन जाता है।

ऐसे महापुरुषकी सभी क्रियाएँ भगवान्‌की प्रेरणाके अनुसार समस्त प्राणियोंको अभयदान देते हुए ही हुआ करती हैं।

दूसरोंका सत्कार करना और उनको मान-बड़ाई देना उसका साधारण स्वभाव हो जाता है। ऐसे महापुरुषके मन और बुद्धि निरन्तर भगवान्‌में ही समर्पित रहते हैं। अतः उसके जीवनका अधिक समय भगवान्‌के भजन, ध्यान, गुणानुवाद और सेवा आदिमें ही लगता है।

उसके द्वारा कर्मयोगीकी भाँति व्यावहारिक कर्मोंका विस्तार होना कठिन है। क्योंकि अहर्निश भगवच्चिन्तनका स्वभाव हो जानेके कारण साधनकालमें ही उसकी रुचि लौकिक कर्मोंसे हट-सी जाती है। आवश्यकतानुसार सब कुछ करते हुए भी ऐसे महापुरुषोंकी स्थिति निरन्तर परमेश्वरमें ही रहती है। भगवान्‌ने कहा भी है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६। ३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है।'

ज्ञानयोग (सांख्ययोग) द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषमें ज्ञान, वैराग्य, उपरामता, निरहङ्कारता आदि गुणोंकी प्रधानता होनेके कारण, एवं दृश्य संसारमें अनित्यबुद्धि होनेसे, उसके द्वारा शास्त्रविहित लौकिक और धार्मिक कर्मोंका भी विस्तार प्रायः कम होता है।

वर्णाश्रमके अनुसार जीविकानिर्वाह आदिके आवश्यक कर्म भी उसके द्वारा कर्तृत्वाभिमानके बिना होते हुए-से प्रतीत होते हैं। क्योंकि साधनकालमें भी उसका ऐसा ही अभ्यास रहता है कि समस्त कर्म प्रकृतिद्वारा ही किये हुए हैं, इन्द्रियाँ ही अपने-अपने अर्थोंमें बर्तती हैं, गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, मेरा इन कर्मोंसे, शरीरसे या संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। भगवान्‌ने भी कहा है—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(गीता ५। ८-९)

'हे अर्जुन! तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मीचता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बर्त रही हैं, इस प्रकार समझता हुआ, निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता।'

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

(गीता ३। २८)

'हे महाबाहो! गुणविभाग[*] और कर्मविभागके[†] तत्त्वको[‡] जाननेवाला ज्ञानी पुरुष, सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता।'

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(गी० १४। १९)

'हे अर्जुन! जिस कालमें द्रष्टा अर्थात् समष्टिचेतनमें एकीभावसे स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणोंके सिवा

[*-†] त्रिगुणात्मक मायाके कार्यरूप पाँच महाभूत और मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय, इन सबके समुदायका नाम 'गुणविभाग' है और इनकी परस्परकी चेष्टाओंका नाम 'कर्मविभाग' है।

[‡] उपर्युक्त 'गुणविभाग' और 'कर्मविभाग' से आत्माको पृथक् अर्थात् निर्लेप जानना ही इनका तत्त्व जानना है।

अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता, अर्थात् गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं*, ऐसा देखता है और तीनों गुणोंसे अति परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस कालमें वह पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।'

ममता-अहंकारादि विकारोंका अत्यन्त अभाव और परिग्रहका त्याग, एकान्त देशका सेवन, मन-इन्द्रियोंका संयम, सांसारिक मनुष्योंसे, सर्व पदार्थोंसे और कर्मोंसे वैराग्य और उपरामता, निरन्तर विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित रहना उसके मनका स्वाभाविक धर्म-सा हो जाता है; क्योंकि साधनकालमें भी उसने ऐसा ही अभ्यास किया है। भगवान्‌ने भी कहा है:—

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
(गीता १८ । ५२)

'जो एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, हल्का और अल्प भोजन करनेवाला है, जिसके मन, वाणी और शरीर जीते हुए हैं और जो भली प्रकार दृढ़ वैराग्यको प्राप्त हुआ नित्य-निरन्तर ध्यानयोगके परायण है।'

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
(गीता १८ । ५३)

'वह अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और संग्रहको त्यागकर ममतारहित और शान्त-अन्तःकरण हुआ, सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभूत होनेके योग्य होता है।'

इस कारण उसके द्वारा कर्मोंका विस्तार नहीं हो सकता।

इस तरहसे तीनों प्रकारके महापुरुषोंके आचरण परम पवित्र, दिव्य और अलौकिक होते हैं। ऐसे महापुरुषोंके आचरणको ही शास्त्रकारोंने सदाचारके नामसे कहा है और बारंबार उनका अनुकरण करनेके लिये जोर दिया है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(गीता ३ । २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार बर्तते हैं; वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसके अनुसार बर्तते हैं।'

राजा युधिष्ठिरने भी यक्षके पूछनेपर ऐसे पुरुषोंको लक्ष्य बनाकर ही कहा था—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥
(महा० वन० ३१३ । ११७)

'धर्मके विषयमें तर्ककी कोई प्रतिष्ठा (स्थिरता) नहीं, श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न तात्पर्यवाली हैं, तथा ऋषि-मुनि भी कोई एक नहीं हुआ है, जिससे उसीके मतको प्रमाणस्वरूप माना जाय, धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा हुआ है अर्थात् धर्मकी गति अत्यन्त गहन है, इसलिये (मेरी समझमें) जिस मार्गसे कोई महापुरुष गया हो, वही मार्ग है अर्थात् ऐसे महापुरुषका अनुकरण करना ही धर्म है।'

अतः मनुष्यमात्रको उचित है कि ऐसे महापुरुषोंके आचरणको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करनेके लिये अर्थात् अपने जीवनको उन्हींके जैसा बनानेके लिये विशेष प्रयत्न करें।

प्र०—ज्ञानीके प्रारब्ध कर्म नष्ट होते हैं या नहीं?

उ०—परमात्माको प्राप्त हुए ज्ञानी पुरुषके वास्तवमें प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण, सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं। कहा भी है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥
(गीता ४ । ३७)

'हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनको भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म कर देती है।'

तथापि व्यावहारिक दृष्टिसे यह माना जाता है कि ज्ञानीके प्रारब्धकर्म रहते हैं, इसीसे उसका शरीर बना रहता है, प्रारब्धकर्म अपना फल भुगताकर ही समाप्त होते हैं, इत्यादि। किन्तु कर्मका फल जाति, आयु और भोग बताया गया है। उनमें जन्मरूप फल तो हो ही चुका, आयु समयपर अपने आप खतम हो ही जायगी; रही भोगकी बात, सो सुख-दुःखका भोक्ता प्रकृतिस्थ पुरुषको ही माना गया है (गीता १३ । २१)। शुद्ध आत्मामें भोक्तापन नहीं है। ज्ञानीकी स्थिति परब्रह्ममें हो जाती है। अतः उसे सुख-दुःखकी प्राप्ति नहीं

---

* त्रिगुणमयी मायासे उत्पन्न हुए अन्तःकरणके सहित इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें विचरना ही गुणोंका गुणोंमें बर्तना है।

बन सकती। सुतरां यही सिद्ध हुआ कि प्रारब्धका भोग केवल लोकदृष्टिसे ही ज्ञानीको होता हुआ-सा प्रतीत होता है, वास्तवमें ज्ञानीका प्रारब्धकर्मसे भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

सुख-दुःखादिकी प्राप्तिके हेतु जो खान-पान, रोग, पीड़ादि हैं, वे सब शरीरमें होते हुए भी ज्ञानीको उसकी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकते। वह सदा निर्विकार रहता है, हर्ष-शोकादिसे सर्वथा रहित हो जाता है। श्रुतिमें भी कहा है—'हर्षशोकौ जहाति', अर्थात् वह हर्ष और शोकको छोड़ देता है। 'तरति शोकमात्मवित्' (छान्दोग्य० ७ । १ । ३), अर्थात् आत्मवेत्ता शोकसे तर जाता है। वास्तवमें हर्ष-शोकका होना ही प्रारब्धका फल है, उससे ज्ञानी पार हो जाता है; स्त्री, पुत्र, धन, गृह आदि प्रिय वस्तुओंकी उत्पत्ति और विनाशमें उसको किञ्चिन्मात्र भी हर्ष-शोक नहीं होता। क्योंकि उसने साधनकालमें ही शरीर और स्त्री-पुत्र-गृहादिमें अहंता, ममता और आसक्तिके अभाव तथा समभावका अभ्यास किया है (गीता १३ । ९)। हर्ष-शोककी प्राप्तिमें राग-द्वेष, अहंता-ममता आदि दुर्गुण ही कारण हैं। इनके अभावके अभ्याससे साधनकालमें ही हर्ष-शोक आदि विकार प्रायः क्षीण हो जाते हैं, फिर सिद्धावस्थामें तो अहंता-ममता आदिका अत्यन्त अभाव हो जानेसे हर्ष-शोक आदि विकारोंका होना असम्भव ही है।

संसारमें भी यह बात देखी जाती है कि जिन स्त्री-पुत्रोंमें या गृह आदि समस्त पदार्थोंमें हमारा स्नेह और ममत्व नहीं होता, उनके बनने-बिगड़नेमें हमें सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि नहीं होते। इसी तरह ज्ञानीका अपने शरीरमें अहंभाव न रहनेसे और शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री, पुत्र, गृह आदिमें ममत्व और स्नेह न रहनेसे किसी अवस्थामें भी हर्ष-शोकका न होना उचित ही है। अतः लोकदृष्टिमात्रसे उनके स्त्री, पुत्र, गृह आदि पदार्थोंका बनना-बिगड़नारूप प्रारब्धकर्मका भोग होते हुए भी न होनेके समान ही है।

ज्ञानीके शरीरद्वारा लोकदृष्टिसे क्रियमाण कर्म होते हुए-से दिखलायी देते हैं; परन्तु अहंकार, स्वार्थ और राग-द्वेषका अभाव होनेके कारण उनके कर्म वास्तवमें कर्म नहीं हैं। कोई-कोई कह दिया करते हैं कि ज्ञानीद्वारा किये हुए क्रियमाण पुण्यकर्मोंका फल उनकी स्तुति करनेवालोंको और पापकर्मोंका फल उनकी निन्दा करनेवालोंको मिलता है। किन्तु यह कहना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ज्ञानीद्वारा पापकर्मोंका आचरण होता ही नहीं। साधनावस्थामें ही उसके अन्दर राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि दुर्गुणोंका एवं चोरी, जारी, हिंसा, मिथ्याभाषणादि दुराचारोंका प्रायः अभाव हो जाता है; फिर सिद्धावस्थाकी तो बात ही क्या ? अविद्या, अहंकार, राग-द्वेष और भय, यही सब पापाचारके कारण हैं। इनका सर्वथा अभाव होनेके बाद पापाचार कैसे हो सकता है। बुद्धिपूर्वक पापकर्म तो ज्ञानीद्वारा हो नहीं सकते और अज्ञात हिंसादिका पाप लगता नहीं। इनके सिवा जो शास्त्रविहित स्वाभाविक कर्मोंमें हिंसादि पापकर्म होते हुए दिखलायी देते हैं वे भी वास्तवमें अहंकार और राग-द्वेष-रहित होनेके कारण पापकर्म नहीं हैं। कहा भी है—

> **यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।**
> **हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥**
>
> (गीता १८ । १७)

'हे अर्जुन ! जिस पुरुषके अन्तःकरणमें मैं करता हूँ, ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और सम्पूर्ण कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है।'*

ऐसे पुरुषके द्वारा शास्त्रविहित पुण्यकर्म केवल लोकसंग्रहार्थ होते हैं। वे कर्म भी फलेच्छा, आसक्ति या अहंकारपूर्वक नहीं किये जाते, तब वे किसीको भी फलदायक कैसे हो सकते हैं ? उनका तो यही प्रत्यक्ष फल है कि जो कोई उनके आचरणोंपर श्रद्धा करके उनका अनुकरण करने लग जाता है वह अपने जीवनका सुधार कर लेता है। अश्रद्धालु उनके कर्मोंसे विशेष लाभ नहीं उठा सकते।

---

* जैसे अग्नि, वायु और जलके द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणीकी हिंसा होती देखनेमें आने, तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है; वैसे ही जिस पुरुषका देहमें अभिमान नहीं है और जिसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ स्वार्थरहित तथा केवल संसारके हितके लिये ही होती हैं, उस पुरुषके शरीर और इन्द्रियोंद्वारा यदि किसी प्राणीकी हिंसा होती हुई लोकदृष्टिमें देखी जाय, तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है। क्योंकि आसक्ति, स्वार्थ और अहंकारके न होनेसे किसी प्राणीकी हिंसा हो ही नहीं सकती तथा विना कर्तृत्व-अभिमानके किया हुआ कर्म वास्तवमें अकर्म ही है, इसलिये वह पुरुष पापसे नहीं बँधता।

उनकी निन्दा या स्तुति करनेवालोंको पाप-पुण्य अवश्य होता है; पर वह ज्ञानीके कर्मोंका फल नहीं है, उन्हींकी क्रियाका फल उन्हें मिलता है। साधारण मनुष्यकी निन्दा करनेसे भी पाप होता है; पर ज्ञानी, शास्त्र और ईश्वरकी निन्दाका पाप अधिक होता है। क्योंकि उनकी निन्दासे लोगोंकी विशेष हानि होती है। सञ्चित कर्म तो ज्ञानीके सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, प्रारब्ध कर्मोंका फल दूसरोंको मिल नहीं सकता और क्रियमाण कर्म भुने हुए बीजकी भाँति फल उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित होते हैं। अतः ज्ञानीके पुण्य-पापोंका सर्वथा अभाव होते हुए ज्ञानीके कर्मोंका फल निन्दा-स्तुति करनेवालोंको मिलनेका प्रसंग ही कैसे आ सकता है।

कोई-कोई विद्वान् ज्ञान होनेके अनन्तर भी प्रारब्धकर्मके आधारपर लेशाविद्याका आश्रय लेकर राग-द्वेष, काम-क्रोधादिको अन्तःकरणका धर्म मानकर झूठ, चोरी व्यभिचारादि दुराचरणोंका भी उस ज्ञानीके द्वारा होना मानते हैं। किन्तु वस्तुतः ज्ञानोत्तरकालमें जीवन्मुक्त पुरुषके अन्दर सर्व कर्मोंका सर्वथा अभाव बतलाया गया है (गीता ४।३७); उसका देह अज्ञानियोंकी दृष्टिमें प्रारब्धभोगके लिये रहता है। जो तत्त्ववेत्ता पुरुष हैं उनकी दृष्टिमें तो एक नित्य विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त शरीर और संसारका सर्वथा अभाव है; फिर वहाँ लेशमात्र भी अविद्या (अज्ञान) को गुंजाइश कहाँ है? यदि लेशमात्र भी अविद्या (अज्ञान) माना जाय तो इस लेशाविद्याका धर्मी किसको माना जायगा? जैसे सूर्योदयके उत्तरकालमें रात्रिका लेशमात्र भी रहना सम्भव नहीं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी सूर्यके उदय होनेपर, अज्ञानका लेशमात्र भी रहना सम्भव नहीं। अतएव उन ज्ञानी महात्माओंमें लेशमात्र भी अविद्याका मानना भूल है।

वे लोग यह भी कहते हैं कि 'प्रारब्धवश ज्ञानीद्वारा भी चोरी, परस्त्रीगमनादि पापकर्म हो सकते हैं। क्योंकि काम-क्रोधादि अवगुण अन्तःकरणके धर्म होनेके कारण जबतक शरीर रहेगा तबतक ये रहेंगे ही, साक्षीका इनसे कुछ सम्बन्ध नहीं है; अतः प्रारब्धकर्म अपना भोग देनेके लिये ज्ञानीको भी बलात् पापकर्मोंमें प्रवृत्त कर देते हैं, पर इतने मात्रसे उनका तत्त्वज्ञान नष्ट नहीं हो जाता' इत्यादि। तथा अपने मतकी पुष्टिके लिये वे यह भी कहते हैं कि "कुपथ्यसेवी, राजाकी स्त्रीसे प्रेम रखनेवाला और चोरी करनेवाला, ये तीनों भविष्यमें दण्ड मिलना निश्चित जानते हुए भी, प्रारब्धभोगके वशमें होकर स्वेच्छासे कुपथ्यसेवन, चोरी और परस्त्रीगमनादि पापकर्म करते हैं।' पर यह कहना न तो शास्त्रसम्मत है और न युक्तियुक्त ही है।

किसी पापकर्मका फल भोगनेके लिये पुनः पापकर्म करना पड़ेगा, इस कथनको शास्त्रसम्मत माननेसे पापकर्मोंकी अनवस्थाका दोष आवेगा; ऐसी व्यवस्था करनेवालेमें मूर्खता और निर्दयताका दोष आवेगा; 'धर्मका आचरण करो, सत्य बोलो, पाप मत करो' इत्यादि शास्त्रोक्त विधि-निषेधबोधक वचन व्यर्थ होंगे और शास्त्रोंमें पापकर्मका फल दुःख बतलानेवाले जो वचन मिलते हैं, उन वचनोंमें विरोध आवेगा। अतः चोरी, व्यभिचार आदि पापकर्मोंका फल दुःखभोग होना शास्त्रसम्मत है, न कि पुनः पाप करना। यदि पापकर्म प्रारब्धका फल हो तो उस पापका फल दुःख कैसे होगा। और उससे बचनेके लिये शास्त्रोंमें प्रेरणा क्यों की जायगी।

साधारण न्यायकर्ता राजा भी ऐसा कानून नहीं बनाता कि अमुक पापकर्म करनेवालेको उसके फलस्वरूप पुनः पापकर्म करना पड़ेगा, बल्कि लोगोंको पापकर्मसे रोकनेके लिये ऐसा कानून बनाता है कि अमुक आज्ञाका पालन नहीं करनेसे यह दण्ड मिलेगा। और जो कोई उसकी आज्ञाके विरुद्ध चलता है उसको राजा दण्ड भी देता है, ताकि दूसरे उसे देखकर सावधान हो जायँ और आज्ञाका पालन करें। फिर परम दयालु सर्वशक्तिमान् ईश्वरद्वारा ऐसा कानून कैसे बनाया जा सकता है कि अमुक निषिद्ध कर्मका फल भोगनेके लये अमुक निषिद्ध कर्म करना पड़ेगा।

गीता ३।३३ में जो यह लिखा गया है कि ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, वहाँ प्रकृति उसके स्वभावका नाम है। उसका स्वभाव साधनकालमें ही शुद्ध हो जाता है, अतः उसकी चेष्टा पापरूप नहीं होती। उसके द्वारा स्वेच्छापूर्वक प्रारब्धभोगके लिये जो कुछ चेष्टा होती है, सभी न्याययुक्त होती है। और लोकहितार्थ जो क्रियमाण कर्मोंकी चेष्टा होती है, वह भी न्याययुक्त ही होती है। ज्ञानियोंके लोकदृष्टिसे अवशिष्ट प्रारब्धभोग भिन्न-भिन्न रहते हैं, एवं साधनकालमें भिन्न-भिन्न ही अभ्यास होता है। इस उद्देश्यको लेकर यह कहा गया है कि सब ज्ञानियोंकी चेष्टा एक-सी नहीं होती, अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार होती है। अभिप्राय यह

Prof. Amodavardhaha Kaundinnyayana Collection, Kathmandu, Nepal

है कि सभी मनुष्योंको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्म करने पड़ते हैं, बिना कर्म किये कोई रह नहीं सकता, इसके लिये हठ करना व्यर्थ है। मनुष्यको उचित है कि प्रत्येक इन्द्रियके भोगमें जो राग और द्वेषरूप शत्रु छिपे हुए हैं, जो पापकर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाले हैं, उनके वशमें न हो और धर्मपालनमें डटा रहे। यदि भगवान्‌का यहाँ यह सिद्धान्त मान लिया जाय कि प्रारब्धवश मनुष्यको पापकर्म करने पड़ते हैं, तब तो राग-द्वेषके वशमें न होने और धर्मपालनके लिये तत्पर होनेके लिये जो अगले श्लोकोंमें जोर दिया गया है उन श्लोकोंकी कोई संगति ही न बैठेगी और भगवान्‌का महत्त्वपूर्ण उपदेश व्यर्थ हो जायगा। अतः गीताके श्लोकका ऐसा उलटा अर्थ समझाना लोगोंको भ्रममें डालना है। अवश्यम्भावीका प्रतीकार नहीं हो सकता, उसे कोई टाल नहीं सकता, यह कहना सर्वथा सत्य है; परन्तु प्रारब्धकर्मके भोगरूप सुख-दुःखादिकी प्राप्तिके लिये फिर नया पापकर्म स्वेच्छापूर्वक अवश्य करना पड़े, ऐसा अवश्यम्भावी नहीं हो सकता, क्योंकि यह न्यायसंगत नहीं है। यदि धनप्राप्तिके लिये चोरी करनी पड़ेगी या स्त्रीसुखभोगके लिये परस्त्री-गमन करना पड़ेगा या राजदण्ड पानेके लिये चोरी-व्यभिचार आदि पापकर्म करना पड़ेगा—ऐसा अवश्यम्भावी प्रारब्ध होता तो शास्त्रोंमें न्यायपूर्वक धन प्राप्त करनेकी, स्त्रीसुखभोगके लिये विवाहादिकी, रोगादिसे बचनेके लिये औषध और पथ्यकी, चोरी, व्यभिचार आदि पापकर्मोंसे बचनेके लिये राजदण्ड आदिकी व्यवस्था ही क्यों की जाती?

प्रत्यक्षमें भी देखा जाता है कि साधनद्वारा जो मनुष्य अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें कर लेता है एवं राग-द्वेष और काम-क्रोधादि शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेता है, उसकी भी प्रायः पापाचारमें प्रवृत्ति नहीं होती, और साधन-हीन मनुष्य काम-क्रोधसे प्रेरित होकर पापाचार करते हैं। इसके सिवा उपर्युक्त सिद्धान्त माननेसे किसी स्त्रीसे पुरुषका परस्पर संयोग परस्त्रीगमनरूप पापकर्मके द्वारा होना या किसी पुरुषका स्वस्त्रीव्रती होना स्वाधीन नहीं हो सकेगा, पापकर्मोंके करनेमें और धर्मके त्यागमें भी प्रारब्धको कारण मानना होगा, जो कि सर्वथा न्यायविरुद्ध है।

धनकी प्राप्ति या रतिभोगकी प्राप्ति आदि सुखभोगके निमित्त अवश्यम्भावी बनाये जाते हैं, ऐसा माननेसे कोई राजा या धनी वैराग्य होनेपर भी गृहस्थका त्याग न कर सके, ऐसा न्याय प्राप्त होगा। इससे 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' (जाबाल० ४) अर्थात् 'जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो उसी दिन गृहस्थको छोड़कर संन्यास ग्रहण करना चाहिये' इस प्रकार कहनेवाली श्रुतियाँ व्यर्थ हो जायँगी। तथा आश्रमका परिवर्तन और मुक्तिका होना भी प्रारब्धहीपर निर्भर हो जायगा। अतः यही सिद्ध होता है कि शुभ कर्मोंका फल जो प्रारब्धफलरूप सुखभोग है उसका त्याग करनेमें मनुष्य सदा ही स्वतन्त्र है। 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' (कैवल्य० १। २)—त्यागसे ही मुक्तिका होना शास्त्र बतलाता है, अगर त्यागमें यह स्वतन्त्रता न होगी तो मुक्ति कैसे होगी।

हाँ, यह बात अवश्य है कि पापकर्मका फल जो दुःख-भोग है, उसका त्याग करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। परन्तु प्रारब्ध पापकर्मका फल भोगनेके लिये नया पापकर्म करना पड़े, यह मानना न्यायसंगत नहीं है। क्योंकि ऐसा माननेसे होनेवाला दुःखरूप फल कौन-से पापकर्मका फल है, यह निर्णय होना भी मुश्किल हो जायगा और पाप-कर्मोंमें अनवस्थाका दोष आवेगा। संसारमें भी देखा जाता है कि कोई राजा चोरी, जारी आदि बुरे कर्मोंका फल यह नहीं देता कि ऐसा करनेवाला राजाज्ञाके विरुद्ध कर्म फिर करे, बल्कि फिर कभी वह राजाज्ञाका उल्लंघन न करे इसके लिये उसे दण्ड देता है।

प्र०—तब स्वेच्छापूर्वक प्रारब्धकर्मका फलभोग किस प्रकार होता है?

उ०—स्वेच्छासे न्याययुक्त चेष्टा करते हुए जो उसका परिणामस्वरूप सुखभोग होता है, वह प्रारब्ध पुण्य-कर्मका फल है और जो दुःखभोग होता है वह प्रारब्ध पापकर्मका फल है। जैसे अपनी धर्मपत्नीके साथ न्यायपूर्वक रतिसुखभोग, स्ववर्णोचित न्याययुक्त वृत्तिद्वारा धनलाभ होना, उससे न्यायपूर्वक भोगोंका भोगना एवं न्यायपूर्वक चेष्टासे पुत्रादिका उत्पन्न होना, न्यायपूर्वक व्यवहार करते हुए भी धनादिकी हानि, अपने या स्त्री-पुत्रादिके शरीरमें बीमारी होनेपर न्याययुक्त उपाय करते हुए भी आराम न होना बल्कि उलटा परिणाम हो जाना इत्यादि अनेक प्रकारसे स्वेच्छापूर्वक प्रारब्धकर्मका फलभोग होता है।

प्रारब्धकर्मका फल भोगनेके लिये पापकर्म करना अवश्यम्भावी नहीं है, चेष्टा करनेसे मनुष्य पापोंसे बच सकता है। ऐसा होते हुए भी जो लोग धनोपार्जन या स्त्रीभोगा-

दिके लोभसे पापाचरण करते हैं, वे राग-द्वेषादि अवगुणोंके वशीभूत होकर भारी भूल करते हैं। सुखभोगके अनुसार उनके पुण्यका क्षय होगा और पापकर्मका फल आगे जाकर अवश्य भोगना पड़ेगा और अन्यायाचारकी चेष्टा करनेसे भी बिना प्रारब्धके सुख नहीं मिलेगा। यह सोचकर भी मनुष्यको उचित है कि भोगोंके लोभसे,पापाचरण न करे।

इसके सिवा उन विद्वानोंका यह भी कहना है कि अनिच्छापूर्वक प्रारब्धभोगके लिये भी मनुष्यको अपनी इच्छा न रहते हुए भी पापाचार करना पड़ता है; इसकी पुष्टिमें वे गीताके इन श्लोकोंका प्रमाण देते हैं—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(३।३६)

'हे कृष्ण! फिर यह पुरुष बलात्कारसे लगाये हुएके सदृश, न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित हुआ पापका आचरण करता है?'

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३।३७)

(इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण महाराज बोले—) 'हे अर्जुन! रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यही महा-अशन अर्थात् अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला और बड़ा पापी है, इस विषयमें इसको ही तू वैरी जान।'

किन्तु ऐसा सिद्धान्त मानकर गीताद्वारा उसका समर्थन करना गीताका दुरुपयोग करना और लोगोंको भ्रममें डालना है, क्योंकि यहाँ अर्जुनका प्रश्न अनिच्छाप्रारब्धभोगके विषयमें नहीं है, क्रियमाण पापकर्मके विषयमें है। अर्जुनके प्रश्नका भाव यह है कि भगवान् मनुष्यसे पापकर्म कराना नहीं चाहते, फिर भी उसके द्वारा पापकर्म होते हैं, मानो कोई जबरन् उनसे ऐसा कराता है, तो इसमें कारण क्या है?

उसके उत्तरमें भगवान् नवीन क्रियमाण पापकर्मोंके होनेमें न तो ईश्वरको कारण बताते हैं और न प्रारब्धको ही कारण मानते हैं। वे तो स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि 'हे अर्जुन! काम और उसीका दूसरा रूप क्रोध, जो मनुष्यके ज्ञान और विज्ञानके नाशक प्रबल शत्रु तथा नरकके द्वाररूप हैं, यही नवीन पापकर्ममें हेतु हैं। अतः इन्द्रियोंको वशमें करके तू इनका नाश कर।'

यदि काम-क्रोध भी प्रारब्धके ही परिणाम होते तो भगवान् उन्हें नाश करनेकी बात कैसे कहते? क्योंकि प्रारब्ध तो अवश्यम्भावी है। अतः यह प्रसंग अनिच्छाप्रारब्धभोगविषयक नहीं है, क्रियमाण-कर्मविषयक है। उसका दुरुपयोग करना लोगोंको भ्रममें डालना है।

प्र०—तब फिर अनिच्छासे प्रारब्धकर्मका भोग कैसे हो सकता है?

उ०—अनिच्छासे यानी किसी दैवी घटनासे, अपने आप, अपनी या दूसरेकी इच्छाके बिना ही जो सुख और दुःखोंका भोग होता है वह अनिच्छापूर्वक प्रारब्धभोग है; जैसे बिजली गिरनेसे लोग मर जाते हैं, धन और मकानकी हानि हो जाती है। इसी प्रकार जलकी बाढ़से, भूकम्पसे या अन्य किन्हीं कारणोंसे शरीर, धन, स्त्री, पुत्र आदिका वियोग हो जाना, अथवा धनादि सुखभोगोंका प्राप्त हो जाना इत्यादि अनेक भोग हुआ करते हैं। ये सभी अनिच्छापूर्वक प्रारब्धभोग हैं। इनमें अन्यथा कल्पना करके उनमें पापाचारका समावेश कर देना लोगोंको धोखेमें डालना है।

इसी तरह दूसरोंकी इच्छा और प्रयत्नसे जो मनुष्यको सुख और दुःखोंका भोग प्राप्त होता है, वह परेच्छापूर्वक प्रारब्धकर्मका भोग है; जैसे चोर, डाकू आदिके द्वारा धनहरण, मृत्यु या स्त्री-पुत्रादिका नाश या अन्य किसी प्रकारकी हानिका होना, इत्यादि।

यदि किसीको दत्तक पुत्र बना लेनेके नाते कोई धन देता है, तो ऐसे पुत्रको उस धनका मिलना; कोई स्त्री न्यायपूर्वक किसीको अपना पति बनाती है, तो ऐसे पतिको स्त्रीका मिलना; कोई अपने जामाता या बेटी आदिको जो धन देते हैं, ऐसी हालतमें उन जामाता, बेटी आदिको धनका मिलना—ये सब परेच्छापूर्वक प्रारब्धभोगके उदाहरण हैं।

अतः स्वेच्छा, अनिच्छा और परेच्छापूर्वक प्रारब्धकर्मफलभोगकी अन्यथा कल्पना करके प्रारब्धकर्मका फल भोगनेके लिये पापकर्मोंका अवश्यम्भावी होना मानना या ज्ञान होनेके उपरान्त भी ज्ञानीके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, काम-क्रोधादि अवगुणोंका होना स्वीकार करना सर्वथा शास्त्रविरुद्ध, न्यायविरुद्ध और भ्रमपूर्ण है।

मनका धर्म मनन करना और बुद्धिका धर्म निश्चय करना होते हुए भी इस रहस्यको न जाननेके कारण ही काम-क्रोध, राग-द्वेष, सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंको लोग अन्तःकरणके धर्म बतलाते हैं। किन्तु ये अन्तःकरणके धर्म नहीं, विकार हैं। भगवान्ने भी इनको गीतामें विकार ही माना है—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

(१३।६)

'इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख और स्थूल देहका पिण्ड एवं चेतनता* और धृति, इस प्रकार यह क्षेत्र विकारोंके सहित† संक्षेपसे कहा गया।'

इनको अन्तःकरणके धर्म माननेसे, जबतक अन्तःकरण रहेगा तबतक इनका नाश नहीं होगा और विकार माननेसे नाश हो सकता है। तत्त्ववेत्ता पुरुषोंमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदिका अत्यन्त अभाव बतलाया है, इसलिये भी ये विकार ही सिद्ध होते हैं।

ज्ञानोत्तरकालमें ज्ञानीके मन-बुद्धि भी भुने हुए बीजके समान रह जाते हैं। फिर भला, उनमें कामक्रोधादि विकारोंके लिये गुंजाइश कहाँ? काम-क्रोधादि तो आसुरी सम्पदावालोंमें होते हैं और वे नरकके द्वार माने गये हैं (गीता १६।२१); ये आत्माके पतन करनेवाले हैं। इसीलिये कल्याणकामी मनुष्यको इनसे मुक्त होनेके लिये भगवान् कहते हैं और सिद्धमें तो ये हो ही नहीं सकते।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥
(गीता ५।२६)

'काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्त हैं।'

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥
(गीता १५।५)

'नष्ट हो गया है मान और मोह जिनका तथा जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिन्होंने और परमात्माके स्वरूपमें है निरन्तर स्थिति जिनकी, अच्छी प्रकारसे नष्ट हो गयी है कामना जिनकी, ऐसे वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त हुए ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं।'

वेदान्त-विचार

(लेखक—श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया)

मनुष्यजीवनका परम उद्देश्य मोक्ष है और एकमात्र मनुष्य-शरीर ही मोक्ष प्राप्त करनेयोग्य योनि है। शास्त्रोंमें जीवोंकी चौरासी लक्ष योनियोंका वर्णन मिलता है। उनमें मनुष्ययोनिकी प्रधानता इसीलिये मानी जाती है कि इस योनिमें मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है। कल्याणमार्गके जितने प्रकारके साधन हैं उनमेंसे किसी एकका उपयोग करनेसे संसार और ईश्वरका तत्त्वज्ञान प्राप्तकर मनुष्य इष्टकी प्राप्ति कर सकता है। यह कार्य अन्य योनियोंमें सम्भव नहीं। यद्यपि कुछ पशु आदिके उदाहरण भी पुराणोंमें मिलते हैं किन्तु उन्हें अपवादस्वरूप मानना चाहिये और इसीलिये उनकी आलोचना यहाँ नहीं की जायगी। मोक्षकी इच्छा चाहे सब न करते हों, पर यह एक मानी हुई बात है कि शान्तिकी चाह सभीको है। कोई मूर्ख हो या विद्वान्, धनी हो या गरीब, सदाचारी हो या दुराचारी, अधिक क्या, मनुष्येतर जीव भी शान्ति चाहता है। कोई भी अशान्ति नहीं चाहता। अज्ञानी पशु भी शान्तिसे ही रहना चाहता है। अशान्ति उसे भी अप्रिय है। अब यह प्रश्न उठता है कि जब शान्ति सभी चाहते हैं तब फिर अशान्ति क्यों प्राप्त होती है? उसका कारण शास्त्रोंमें एक जगह दिखलाया है कि जिस प्रकार लोग धर्म करते नहीं पर धर्मके फलकी इच्छा रखते हैं और पापकर्मका फल नहीं चाहते पर पापकर्म करते हैं, वही दशा शान्ति चाहनेवालोंकी है। हमलोग सभी देखते हैं कि हर एक मनुष्य नीरोग रहना चाहता है पर आसक्ति, अज्ञान और दुर्बुद्धिवश प्रकृतिके नियमोंका उल्लंघन कर रोगी बन जाता है और कष्ट पाता है। अधिकांश बीमारियाँ आसक्ति, अज्ञान और दुर्बुद्धिवश उत्पन्न होती हैं। प्रकृति तो केवल शरीरको शनैः-शनैः जीर्ण करके नाश करती है, रोगोत्पादन नहीं करती, जबतक कि मनुष्य नियमानुसार चलता रहता है। यही व्यवस्था शान्तिके विषयमें है। हमलोग शान्तिप्रिय होते हुए भी आसक्ति, अज्ञान और दुर्बुद्धिवश यदि ऐसे कार्य करें जिनका परिणाम अशान्ति हो तो फिर शान्तिकी आशा करना दुराशामात्र है। शान्तिका सर्वोच्च स्वरूप तो कल्याण या मोक्ष ही है। जैसे कहा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

---

* शरीर और अन्तःकरणकी एक प्रकारकी चेतनशक्ति।

† पाँचवें श्लोकमें कहा हुआ तो क्षेत्रका स्वरूप समझना चाहिये और इस श्लोकमें कहे हुए इच्छादि क्षेत्रके विकार समझने चाहिये।

'जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा लाभ कुछ नहीं मानता और जिस अवस्थामें स्थित हुआ बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।'

इसीको परम शान्ति भी कहते हैं। पर सर्वसाधारण शान्तिके अवर अर्थसे ही सन्तुष्ट हैं। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि कल्याण या मोक्षकी चाह सबको है। पशु जिस प्रकार शान्ति चाहता है पर उसे शान्तिके परम लक्ष्यार्थ कल्याणका ज्ञान ही नहीं। ऐसे ही अधिकांश मनुष्य कल्याण या मोक्षसे अनभिज्ञ रहते हुए भी अवर शान्तिको ही चाहते हैं, परम शान्तिको नहीं चाहते। अवर शान्तिसे उस शान्तिका तात्पर्य है जो कालसापेक्ष है। अर्थात् कुछ कालके लिये रहनेवाले विषयजन्य सुखको ही यहाँ अवर शान्तिके नामसे कहा गया है। इसीको गीतामें राजस सुख भी कहा है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है वह यद्यपि भोगकालमें अमृतसमान प्रतीत होता है पर परिणाममें विषके समान है, उसको राजस सुख कहा है।'

ऐसा सुख चाहे एक जन्म या अधिक जन्मतक भी हो, है वह अल्प ही। श्रुतिका वचन है—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः।

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।

'जो पूर्ण है वही सुख है। अल्पमें सुख नहीं। अतएव पूर्णहीकी खोज करनी चाहिये। पूर्णकी प्राप्ति होजानेपर अन्यके देखनेकी, अन्यके सुननेकी और अन्यके जाननेकी आवश्यकता नहीं रहती। जो अन्यको देखता है, अन्यको सुनता है और अन्यको जानता है वह अल्प है, अतएव नाशवान् है। जो पूर्ण है वह भूमा है और अमृत है।'

सब मनुष्योंको इस परम शान्तिकी चाह नहीं है, इसका कारण बहुतोंकी अनभिज्ञता ही है। और कुछ मनुष्योंको इसका ज्ञान तो है, पर वे इस परम शान्ति को इन्द्रियों और विषयोंके सम्बन्धका परिणाम मानते हैं तथा कुछ लोगोंको मौखिक चाहमात्र है, हार्दिक चाह नहीं। विचारसे, यह वस्तु अच्छी है, ऐसा समझते हैं, पर आसक्ति और प्रमादके कारण इसके अनुकूल प्रयत्न करनेमें असमर्थ हैं। यह जो अनन्त, अविच्छिन्न, परम शान्तिरूप अनन्त सुख है वह इन्द्रियोंद्वारा ग्राह्य नहीं हो सकता, कुछ अंशतक केवल बुद्धिग्राह्य तो है। जैसे गीतामें कहा है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।

यह बात सर्वसिद्ध है और वेदोंमें उस अमृतरूप परम शान्तिको प्राप्त होनेका एक ही मार्ग बतलाया गया है—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

इस परम शान्तिको प्राप्त होनेके बहुत-से मार्ग हैं। उन सब मार्गोंको प्रधानतः तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—कर्म, उपासना और ज्ञान। इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके अन्तर्गत अनेक मार्ग हैं। निष्काम कर्मयोग, योगक्रियाका अभ्यास, वैदिक कर्मानुष्ठान इत्यादि सब वैदिक कर्मकाण्डके अन्तर्गत हैं।

नामजप, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वन्दन, सेवा, शरण आदि जितने भक्तिके मार्ग हैं वे सब उपासनाके अन्तर्गत हैं।

प्रकृति और पुरुषके विचारद्वारा प्रकृतिकी अनित्यता और पुरुषकी नित्यता और सत्यताका जो ज्ञान है उसे ज्ञानकाण्ड कहते हैं।

इस समय वक्तव्य विषय वेदान्तका है और इसका प्रधान सम्बन्ध ज्ञानकाण्डसे है। अतएव उसीका संक्षेपमें वर्णन किया जायगा।

भारतकी वैदिक शिक्षा सर्वोच्च और सर्वप्राचीन है और जीवनको कल्याणकारी बनानेवाली है। वेद हमारे यहाँ अपौरुषेय माने गये हैं, अर्थात् जो नित्य अमानुषीय ज्ञान अनादिकालसे चला आ रहा है वही वैदिक ज्ञान है। वेदके प्रधानतः दो भेद हैं। धर्मसूत्रकार भगवान् आपस्तम्ब ऋषिने कहा है—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' अर्थात् मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग दोनों ही वेद कहे जाते हैं। मन्त्रभागमें यज्ञदानादि कर्मकाण्डद्वारा लौकिक एवं पारलौकिक सुखकी प्राप्तिका विशेष रूपसे वर्णन किया गया है। ब्राह्मणभागके एक अंशको 'वेदान्त' भी कहते हैं। 'वेदान्त' शब्दका अर्थ है—'वेदस्य अन्तः सारभागः' अर्थात् वेदका सार भाग वेदान्त है। इस भागमें विशेषतः कल्याण या परम शान्तिका ही वर्णन है। जितने उपनिषद् हैं वे सभी वेदान्त कहे जाते हैं। 'उपनिषद्' शब्द उप-नि-पूर्व 'सद्' धातुसे 'क्विप्' प्रत्यय लगाकर बनता है। 'उप' का अर्थ समीप है, 'नि' का अर्थ निःशेषरूपेण और

'सद्' धातु विनाश, गति और अवसाद अर्थमें प्रयुक्त होता है। अतएव उपनिषद्का धात्वर्थ होता है शीघ्र ही पूर्णरूपसे अज्ञानका नाश कर ज्ञानरूप ब्रह्मकी प्राप्ति अर्थात् ब्रह्ममें स्थिति। इन उपनिषदोंमें जो कुछ विरोधाभास हैं उन्हें दूर करनेके लिये भगवान् बादरायण वेदव्यासजीने उत्तरमीमांसा अर्थात् ब्रह्मसूत्रका निर्माण किया। और उपनिषदोंका सार सरलरूपसे समझानेके लिये वासुदेव श्रीकृष्ण भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीताको प्रकट किया। ये उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता वेदान्तके प्राचीन ग्रन्थ माने जाते हैं। आचार्यपाद शङ्कर और अन्य आचार्योंने अपने-अपने विचारानुसार इन ग्रन्थोंको भाष्य और टीकाओंसे विभूषित किया। वेदान्तप्रेमियोंको अपने विचारनिर्माणके लिये इन प्राचीन ग्रन्थोंको अच्छी प्रकार समझना चाहिये। आधुनिक ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जिनसे लोग केवल वाक्पटु वेदान्ती बन जाते हैं पर साधनहीन रहते हैं और 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंका दुरुपयोग करते हैं। वेदान्ततत्त्व वाणीका विषय नहीं है और बाह्य क्रियामात्रसे भी इसकी उपलब्धि नहीं होती। यह तो अन्तरके अनुभवका विषय है। सच्चे वैराग्य और निरन्तर अभ्याससे इसकी प्राप्ति होती है। श्रीकृष्ण भगवान्ने कहा है—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'
'असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥'

'अभ्यास और वैराग्यसे मन वशमें होता है।' 'मनको वशमें न करनेवाले पुरुषद्वारा यह आत्मज्ञान प्राप्त होना कठिन है, पर मनको वशमें करके निरन्तर साधन करनेसे यह आत्मतत्त्वज्ञान प्राप्त हो सकता है।'

संसारके सब प्रकारके सुखोंसे लेकर ब्रह्माके लोकतकके बड़े-से-बड़े सुखको भी अनित्य, क्षणभङ्गुर, मायिक और परिणाममें दुःखरूप समझकर उन सबमें वैराग्ययुक्त होकर अभ्यास करना चाहिये। वेदोंमें कहा है—

तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।

अर्थात् 'जिस प्रकार इस लोकमें कृषि आदिद्वारा प्राप्त वस्तु अनित्य है, उसी प्रकार कर्मद्वारा स्वर्गादि लोककी प्राप्ति भी अनित्य है।' इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि इहलौकिक एवं पारलौकिक सब प्रकारके सुखकी चाह छोड़कर एक नित्य परमानन्दघन वस्तुकी खोज करे। यह नित्य सच्चिदानन्दघन तत्त्व सर्वव्यापी, सर्वरूप, सर्वकालमें होते हुए भी इसका ज्ञान नहीं होता और जो वस्तु अनित्य है उसकी प्रतीति होती है। यह विलक्षण आश्चर्यकी बात है। गीतामें कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

'असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं और सत्का अभाव नहीं है—इस प्रकार इन दोनोंका तत्त्व विचारवान् पुरुषोंद्वारा देखा गया है।' सद्वस्तु किसे कहते हैं?

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥

'जो नाशरहित अर्थात् सत् है, तू उसको जान, जिससे यह जगत् व्याप्त है। इस अविनाशी सत्का नाश कोई भी नहीं कर सकता।' और जितने भी पदार्थ हैं वे सब असत् हैं।

वास्तवमें जो सत् वस्तु है उसकी प्रतीति नहीं होती और जिसकी प्रतीति होती है वह वास्तवमें है ही नहीं। इस बातको जो यथार्थरूपमें जानता है वही यथार्थमें जाननेवाला है। गीतामें कहा है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

अर्थात् कर्ममय संसार—पुत्र-कलत्रादि और जल, स्थल, वृक्ष, पर्वतादि संसारकी सभी वस्तुएँ, जो परिणामी, परिवर्तनशील और नाशवान् हैं, अज्ञानियोंकी दृष्टिमें ही सत्रूप भासती हैं और अज्ञानी ही इनकी सत्ता मानकर सुखी-दुखी होता है। जो पुरुष इनके मूलमें एक नित्य, सत्, स्थायी सच्चिदानन्दघन-तत्त्वको, जो कभी भी नाश नहीं होता, जो एकरूप है, अक्रिय है, अतएव अकर्म तत्त्व है, देखता है तथा इसी प्रकार एक सच्चिदानन्द, अक्रिय, अकर्म तत्त्वमें इस समस्त क्रियाशील जगत्-कर्मको अध्यस्त देखता है तथा यह भी देखता है कि इन सबकी इन्द्रियोंद्वारा प्रतीतिमात्र होती है पर वास्तवमें वे हैं नहीं; तथा जिनके द्वारा प्रतीति होती है ~~वे भी मायिक हैं~~—मायाके कार्य ही मायामें बर्त रहे हैं, मनुष्योंमें वही बुद्धिमान् और सब कर्मोंको करनेवाला है। कहा भी है—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

अर्थात् हे महाबाहो ! गुणविभाग और कर्मविभागके (त्रिगुणात्मक मायाके कार्यरूप पञ्चमहाभूत और मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय, इन सबके समुदायका नाम गुणविभाग है और इनकी परस्परकी चेष्टाओंका नाम कर्मविभाग है ।) तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष, सम्पूर्ण गुण गुणोंमें ही वर्तते हैं, ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता । इस प्रकार क्रियाशील कर्मरूप जगत्के मूलमें अक्रिय, अकर्मरूप सच्चिदानन्द ब्रह्मको सत्यरूपसे और अक्रिय अकर्मरूप ब्रह्ममें इस कर्मसंसारको अनित्यरूपसे जो देखता है वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, युक्त है और सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला है । जगत्की यही अलौकिकता है—जो है वह प्रतीत नहीं होता और जो प्रतीत होता है वह है नहीं । उस सच्चिदानन्द ब्रह्मको जाननेवाला उस सच्चिदानन्द ब्रह्मसे भिन्न और कोई नहीं । वह अपनी महिमामें पूर्ण है । वह एक है । शास्त्रोंद्वारा उसको जाननेके जितने वचन हैं वे सब उसका तटस्थ ज्ञान करानेके लिये हैं । साक्षात् ज्ञान किन्हीं शब्दोंसे नहीं हो सकता । महाभारत-युद्धके अन्तमें एक समय राजा धृतराष्ट्र पुत्र-पौत्रादिके नाशजन्य दुःखसागरमें डूबे हुए थे और परम व्याकुल थे । उस समय विदुरजी महाराज उनको अनेक प्रकारसे समझाने लगे । पर जब उनका शोक दूर नहीं हुआ तब विदुरजीने स्वयं ब्रह्मज्ञानी होते हुए भी धृतराष्ट्रजीके विश्वासके लिये ब्रह्मनिष्ठ ऋषि सनत्सुजातका ध्यान किया और जब सनत्सुजात ऋषि आये तब धृतराष्ट्रजीने उनसे प्रश्न किया कि 'यदिदं शृणोमि मृत्युर्हि नास्ति'—विदुरजी कहते थे कि मृत्यु नहीं है, क्या यह ठीक है ? यदि ऐसा ही है तो देवता और राक्षसगण तक मृत्युसे बचनेके लिये अनेक प्रयत्न करते हैं, इसमें क्या हेतु है ? सनत्सुजातने उत्तर दिया—'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि' (मैं प्रमादको मृत्यु कहता हूँ) । अर्थात् संसारकी सत्यता मानकर उसमें आसक्त होना ही प्रमाद है और मृत्यु उसीके लिये है जो संसारमें आसक्त है; किन्तु जो संसारको असत् जानता है और उसके स्थानमें परमात्माको देखता है, जैसा कि कहा है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥

अर्थात् 'जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें नाशरहित परमेश्वरको समभावसे स्थित देखता है, वही देखता है; क्योंकि वह पुरुष सबमें समभावसे स्थित हुए परमेश्वरको समान देखता हुआ अपने द्वारा आपको नष्ट नहीं करता अर्थात् शरीरका नाश होनेसे अपनी आत्माका नाश नहीं मानता और इसीसे वह परम गतिको प्राप्त होता है ।' वह मृत्युको प्राप्त नहीं होता और उसके लिये मृत्यु नहीं है । इस तत्त्वको जानना ही अमर होनेका उपाय है । परन्तु इसका वर्णन वाणीसे नहीं हो सकता। सनत्सुजातने कहा—

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति
वेद्येन वेदं न विदुर्न वेद्यम् ।
यो वेद वेदं स च वेद वेद्यं
यो वेद वेद्यं न स वेद सत्यम् ॥

अर्थात् चारों वेदोंमेंसे कोई भी वेद उसे साक्षात् जाननेवाला नहीं है; क्योंकि वह अवाङ्मनसगोचर है, उसका वर्णन कोई कैसे कर सकता है । संविद्रूप परमात्मा स्वयं ज्ञाता है, वह किसीका ज्ञेय नहीं हो सकता । जो कुछ ज्ञेय है वह प्रकाश्य है और ज्ञाता प्रकाशक है । अतः वेद भी प्रकाश्य है । और जो ज्ञेय (वेद्य) है वह ज्ञाताको कैसे जान सकता है, ज्ञेय तो ज्ञेयको भी नहीं जान सकता । अर्थात् वेद्यसे वेद्य भी नहीं जाना जा सकता, तब उससे वेद (ज्ञान) रूप ब्रह्मका प्रत्यक्ष कैसे होगा । जो व्यक्ति वेदरूप ब्रह्मको जाननेवाला है वह सम्पूर्ण ज्ञेयोंको अर्थात् वेद्योंको जानता है । इस ब्रह्मतत्त्वके जाननेवालेकी दृष्टिमें जगत् कुछ और ही है और जो इस तत्त्वसे अनभिज्ञ है उसकी दृष्टिमें जगत् कुछ और है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

अर्थात् 'सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके लिये जो रात्रि है उस नित्य, शुद्ध, बोधस्वरूप परमानन्दमें योगी पुरुष जागता है और जिस नाशवान् क्षणभंगुर सांसारिक सुखमें सब प्राणी जागते हैं तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रि है ।' यह जो ब्रह्मतत्त्वको जानना है वह केवल अन्योक्तिसे है, वास्तवमें जाननेवाला ज्ञान और जानने योग्य वस्तुसे भिन्न नहीं रहता अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी यहाँ अभिन्नता हो जाती है । ऐसे ब्रह्मनिष्ठके हृदयमें यह भावना नहीं होती कि मैं ब्रह्मको जाननेवाला हूँ । ऐसी भावना यदि हो जाय तो उसमें यह बड़ा दोष आवेगा कि जीव ज्ञाता

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

और ब्रह्म ज्ञेय बन जायगा । यह प्रसिद्ध नियम है कि ज्ञाता महान् होता है और ज्ञेय अल्प होता है, इस न्यायसे जीवकी महानता हो जाती है और ब्रह्मकी अल्पता हो जाती है । इसी दोषका निराकरण करते हुए श्रुति कहती है—

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनम् । त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमाꣳस्यमेव ते मन्ये विदितम् ।

अर्थात् यदि तू ऐसा मानता है कि मैं अच्छी तरह जानता हूँ तो निश्चय ही तू ब्रह्मका थोड़ा-सा ही रूप जानता है । इसका जो रूप तू जानता है और इसका जो रूप देवताओंमें विदित है (वह भी अल्प ही है), अतः तेरे लिये ब्रह्म विचारणीय ही है ।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

अर्थात् ब्रह्म जिसको ज्ञात नहीं है उसीको ज्ञात है और जिसको ज्ञात है वह उसे नहीं जानता; क्योंकि वह जाननेवालोंका बिना जाना हुआ और न जाननेवालोंका जाना हुआ है (क्योंकि अन्य वस्तुओंके समान दृश्य न होनेसे यह विषयरूपसे नहीं जाना जा सकता) ।

इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठकी दृष्टि अलौकिक कही गयी है । क्योंकि यह तत्त्व भी अलौकिक ही है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

अर्थात् कोई (महापुरुष) ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों देखता है और वैसे ही दूसरा कोई (महापुरुष) ही आश्चर्यकी ज्यों (इसके तत्त्वको) कहता है और दूसरा (कोई ही) इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों सुनता है और कोई-कोई सुनकर भी इस आत्माको नहीं जानता । वेदान्तशास्त्र इसीका प्रतिपादन करते हैं और यह स्थिति शब्दोंके ज्ञानमात्रसे नहीं होती बल्कि वैराग्ययुक्त अभ्यास-सापेक्ष है । संसारके समस्त पदार्थोंसे ममताको हटाकर, शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके प्रति अहंकारका अभाव करके, एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न कुछ नहीं है, ऐसा समझकर उसीमें अपनी सत्ताको लीन करके अभ्यास करे । जैसे कहा है—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥

अर्थात् जिस कालमें द्रष्टा तीनों गुणोंके सिवा अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता अर्थात् गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं ऐसा देखता है और तीनों गुणोंसे अति परे सच्चिदानन्दघन-स्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है उस कालमें वह पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ।

वेदान्तविषय अत्यन्त गहन है । इसमें मनन और निदिध्यासनकी विशेष आवश्यकता है । विस्तारभयसे लेख यहीं समाप्त किया जाता है । पाठकगण त्रुटिमार्जना करें ।

कर्मतत्त्व

(लेखक—पं० श्रीझावरमल्लजी शर्मा)

जीव कर्मोंके बन्धनमें बँधा हुआ है । वास्तवमें जीवकी क्रमोन्नतिके मार्गमें सहायक उसके अपने ही कर्म हैं । कर्मके तीन भेद हैं—(१) सञ्चित (२) क्रियमाण और (३) प्रारब्ध । जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके समूहको सञ्चित कर्म कहा जाता है । आगे भोगनेको जो कर्म वर्तमानमें किये जाते हैं, उनका नाम क्रियमाण कर्म है । जीवके जन्मान्तरमें कृत (सञ्चित) कर्मोंमेंसे जितना भोग इस जन्मके लिये छँटकर आरम्भ हो जाता है—वह प्रारब्ध है । दूसरे शब्दोंमें यों कहा जा सकता है कि इस जन्मके लिये जिस कर्मभोगका प्रारम्भ हो गया वह प्रारब्ध कहाता है । प्रारब्धका भोग जीवको भुगतना ही पड़ता है । सञ्चित कर्म चाहे कितने ही बड़े पर्वतके समान हों, ज्ञान प्राप्त होनेपर ज्ञानाग्निमें दग्ध हो जाते हैं । प्रारब्ध कर्म वर्तमान शरीरके रहनेतक रहते हैं । रहा क्रियमाण कर्म—इस सम्बन्धमें शास्त्रका आदेश यही है कि स्वार्थबुद्धिसे कोई कर्म नहीं करना चाहिये । यह मोटी बात आत्मकल्याणकी भावनासे स्मरण रखनी चाहिये कि सांसारिक अभिलाषाओंको लेकर कर्म करना ही बन्धनरूप है । यथा—

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य ।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः ॥

अर्थात् जो आशाके दास हैं, वे सब (लोक) के दास हैं और आशा जिनकी दासी है, सब उनके दास—आज्ञानुवर्तीके समान हो जाते हैं । आशाएँ किंवा अभिलाषाएँ सांसारिक स्वार्थबुद्धिसे होती हैं । वस्तुतः स्वार्थ शरीरमें आत्मबुद्धि करनेसे आता है और शरीरमें आत्मबुद्धि होनेका कारण अविवेक है । इसलिये विवेकपूर्वक कर्म करने चाहिये ।

श्रुतिप्रामाण्यविचार

(लेखक—स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

इस श्लोकको भाष्यकार श्रीसायणाचार्यजीने अपने ऋग्वेदभाष्य नामक जगत्प्रसिद्ध ग्रन्थके प्रत्येक अध्यायके प्रारम्भमें मंगलाचरणरूपसे लिखा है। इसका अर्थ है—'जिनके निःश्वाससे वेदोंकी उत्पत्ति हुई है और जिन्होंने वेदोंके द्वारा सम्पूर्ण विश्वको रचा है, उन समस्त विद्याओंके धाम श्रीमहेश्वरकी मैं वन्दना करता हूँ।' ऐसे ही बृहदारण्यकोपनिषद्में एक मन्त्र आता है—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः·····································।

इसमें वेदोंको परब्रह्मका निःश्वासरूप बतलाया गया है। स्यात् इसी श्रुतिके आधारपर भाष्यकारने उपर्युक्त श्लोककी रचना की हो। अतः इससे सिद्ध होता है कि जैसे श्वासोच्छ्वासकी क्रिया जीव-जीवनका बोध कराती है, वैसे ही वेद परब्रह्मकी सत्ताको बतलाते हैं। इसके अलावा वेदोंसे ही इहलोक और परलोकके समग्र सुखोंको प्राप्त करने एवं समाजका धारण-पोषण तथा उसको उन्नत बनाने आदिका ज्ञान प्राप्त होता है; इसीलिये उनको अखिल जगत्का उत्पादक कहा गया है।

युगारम्भमें वेदोंने ही संसारके मनुष्यमात्रको मनुष्यत्वकी प्राप्ति करानेका पथ बतलाया था। और वर्तमान तथा भविष्यकालमें भी मानवसमाजको पूर्णताकी ओर ले जानेके लिये एकमात्र वेद ही सोपानस्वरूप हैं। स्मृति, पुराण आदि सब शास्त्रीय ग्रन्थोंमें वेदोंको मुख्य प्रमाणरूप माना गया है। भगवान् मनुने तो वेदोंको सब धर्मोंकी जड़ बतलाया है *। इस संसारमें जितने भी धर्मग्रन्थ उपलब्ध हैं, उन समस्त धर्मग्रन्थोंसे वेद प्राचीन तथा श्रेष्ठतम हैं। हमारे मन्त्रद्रष्टा महर्षियोंने अशेष क्लेशोंको सहकर परमेश्वरके निःश्वासरूप वेदोंका अनुभव किया और फिर निःस्वार्थभावसे प्राणिमात्रके कल्याणार्थ उन्हें जगत्को प्रदान कर दिया। वेदोंके सम्पूर्ण मन्त्र सृष्टिनियमोंके पूर्ण अनुकूल हैं, अतएव वे मनुष्यमात्रके लिये मंगलदायक हैं।

वर्तमान समयमें चार वेद उपलब्ध हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। किन्तु शास्त्रोंने अनन्त वेद माने हैं*।

चरणव्यूह नामक ग्रन्थमें वेदोंकी अनेक शाखाओंका वर्णन है। और महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलिके कथनानुसार पहले यजुर्वेदकी १०१, सामवेदकी १०००, ऋग्वेदकी १२ और अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ थीं†, जिनमें अब केवल आठ-दस शाखाएँ ही दृष्टिगोचर होती हैं। कतिपय शास्त्रकारोंने वेदोंके तीन ही विभाग बतलाये हैं। महर्षि जैमिनिने अपने पूर्वमीमांसा नामक ग्रन्थमें लिखा है कि जिन मन्त्रोंकी अर्थाधीन पादव्यवस्था हो उनको ऋग्वेद, जिन मन्त्रोंका गान किया जाता हो उनको सामवेद और बाकीको यजुर्वेद जानना चाहिये ‡। अर्थात् उन्होंने अथर्ववेदके मन्त्रोंका ऋक्, साम और यजुःमें ही अन्तर्भाव कर दिया है। इससे यह अवगत होता है कि जबतक व्यासभगवान्ने वेदोंके चार विभाग नहीं किये तबतक तीन विभाग ही माने जाते थे। इस बातकी सिद्धि निम्नलिखित ब्राह्मण और स्मृतिग्रन्थोंके प्रमाणोंसे भी हो रही है—

तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः । (शत० ब्रा० ११ । ४ । २ । ३)

ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेदः आदित्यात् ।
(ऐत० ब्रा० ५ । ३२)

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥
(मनु० १ । २३)

'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः' (गीता ९ । २०)

अतः यह निश्चित बात है कि संहिताओंका विभाग होनेके पहले अथर्ववेदके मन्त्र पृथक् नहीं माने जाते थे तथा ब्राह्मणभागको भी वेदोंके अन्तर्गत ही माना जाता

---

* वेदोऽखिलो धर्ममूलम् । (मनु० २ । ६)

* अनन्ता वै वेदाः । (तै०ब्रा० ३ । १७ । ११)

† एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः एकविंशति बह्वृच्यम् नवधाथर्वणो वेदः । (पातञ्जलभाष्य)

‡ 'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।' 'गीतिषु सामाख्या ।' 'शेषे यजुःशब्दः ।' (पू० मी० २ । १ । ३५—३७)

था * । महर्षि जैमिनिने मन्त्र और ब्राह्मणकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'जो प्रेरक वचन हैं, वे मन्त्र और शेष वचन ब्राह्मण हैं † । अतः पीछे चलकर मन्त्रसंग्रहका नाम 'संहिता' और इतर वेदभागकी 'ब्राह्मण' संज्ञा प्रचलित हुई ।

'ब्राह्मण' शब्द 'ब्रह्म'के आधारपर बना है। 'ब्रह्म' शब्दके अर्थ हैं—स्तुति, ऋचा, बल और वेद । इनमेंसे यहाँ ब्रह्मका वेद अर्थ ही ग्रहण किया गया है और इस तरह ब्राह्मण-भाग उसे कहते हैं जिसमें वैदिक क्रिया, साधन तथा नियमादिका विवेचन हो । ब्राह्मणभागके उत्तरभागको 'आरण्यक' और आरण्यकके अन्तभागको 'उपनिषद्' कहते हैं । समित्पाणि शिष्यने उपनिषद्के दो अर्थ किये हैं—(१) श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी सन्निधिमें बैठकर प्राप्त किया जानेवाला ज्ञान और (२) वेदोंके तत्त्वोंका अन्त (निश्चय) करानेवाले शास्त्र । इसी दूसरे अर्थके अनुसार उपनिषदोंको 'वेदान्त' की संज्ञा मिली है । इसके अतिरिक्त संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक आदि सबके अन्तका भाग होनेके कारण कर्मकाण्ड और उपासना-काण्डके पश्चात् उपनिषदोंका ज्ञान दिया जाता है; इसलिये भी उन्हें 'वेदान्त' कहा जाता है । शास्त्रोंमें अनेक स्थलोंपर उपनिषदोंको वेदोंका उत्तमांग (सिर) कहा गया है, इससे सिद्ध होता है कि वेदान्त वेदसे पृथक् नहीं है, प्रत्युत दोनों-में अभेद है ।

वेद या वेदान्तको श्रुति भी कहा गया है ‡ । अनेक विद्वानोंकी यह कल्पना है कि प्राचीन कालमें लेखनकला नहीं थी, अतः जनसमाजमें सद्गुरुओंके द्वारा परम्परागत वेद सुने जाते थे । सुतरां उनको श्रुतिकी संज्ञा दे दी गयी। किन्तु यह कल्पना पूर्ण सत्य नहीं जान पड़ती । क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे वेदकालमें लेखन-कलाका अनस्तित्व सिद्ध होता हो । बल्कि इसके विपरीत वेदकालमें लेखनकला थी—ऐसा माननेके अनेक कारण हैं । ऋग्वेदके निम्नलिखित मन्त्रोंको देखिये—

समुद्रे न श्रवस्यवः । (१ । ४८ । ३)

समुद्रं न संचरणे सनिष्यवः । (१ । ५६ । २)

समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षळश्वैः । (१ । ११६ । ४)

शतमश्मन्मयीनां पुरमिन्द्रो व्यास्यव् । (४ । ३० । २०)

शतभुजिभिस्तमभिह्रुतेरघाव् पूर्भी रक्षता मरुतो यमावत । (१ । १६६ । ८)

पूर्भिरायसीभिः । (१ । ५८ । ८)

पूर्भिरायसीभिर्नि पाहि । (७ । ३ । ७)

इन मन्त्रोंद्वारा यह पता चलता है कि वेदकालीन युग-में समुद्रमार्गसे दूर-दूर देशोंतक नौकाएँ जाती थीं, बड़े-बड़े परिमाणमें माल भेजनेके लिये सौ-सौ चक्रोंवाली नौकाओंका उपयोग होता था, पत्थर और लोहेके बने हुए सैकड़ों नगर थे तथा कुछ नगर इतने बड़े थे कि उनमें प्रवेश करनेके सैकड़ों मार्ग थे । अथर्ववेदके तीसरे काण्डके पन्द्रहवें सूक्तमें भी व्यापारविषयक कतिपय मन्त्रोंका उल्लेख है, जिससे दूर-दूर देशोंसे व्यापार करनेकी बात सिद्ध होती है । ऋग्वेदके ४ । २ । ८ वें मन्त्रसे विदित होता है कि वेदकालीन युगमें लोग अपनी-अपनी साम्पत्तिक अवस्थाका प्रदर्शन करनेके लिये घोड़ोंको स्वर्णनिर्मित अलङ्कारों और मोतियों-की मालाओंसे सजाते थे । इसके अतिरिक्त तत्कालीन समाज-में अनेक प्रकारकी कलाएँ उन्नतिके शिखरपर पहुँची हुई थीं; सब लोग सुसभ्य, सदाचारी और विद्वान् थे, जिसको पाश्चात्यप्रदेशवासियोंने भी स्वीकार किया है । अतः अब सुविज्ञ पाठक विचार कर सकते हैं कि जिस युगमें समाजकी सर्वाङ्गीण उन्नति हुई हो, उस युगमें लेखनकलाका अभाव कैसे हो सकता है ?

और, परम्परागत सुने जानेके कारण ही यदि वेदोंको श्रुति कहा जाय तो मन्वादि स्मृतियोंको भी श्रुति कहना चाहिये । किन्तु ऐसी बात नहीं हो सकती, अतः यह कारण पूर्ण सत्य नहीं है । सत्य कारण यही प्रतीत होता है कि महर्षियोंको ध्यानावस्थामें दैवी शब्द सुनायी देते थे और उन्हीं दैवी शब्दोंको उन्होंने 'वेद' कहा एवं मन्त्रोंका प्रत्यक्ष श्रवण होनेके कारण उनको 'श्रुति' की संज्ञा दी । क्योंकि मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंको उनकी तपस्याके बलसे श्रुति-मन्त्रोंकी स्फूर्ति स्वयं होती थी । महर्षि याज्ञवल्क्यने सूर्यो-पासनाद्वारा शुक्लयजुःसंहिताके मन्त्रोंको प्राप्त किया था, जिसको उनके गुरु या अन्य पूर्वकालीन महर्षिगण नहीं जानते थे और इतराके पुत्रोंने भी 'ऐतरेय ब्राह्मण' को इसी प्रकार पाया था । निरुक्तकारने कहा है—

तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भवभ्यानर्षत् ।
तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते ।

---

* मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् । (आप० परि० १ । ३३)

† 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ।' 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' । (पू० मी० २ । १ । ३२, ३३)

‡ 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः ।' (मनु० २ । १०)

'स्वयम्भू ब्रह्म (वेद) समाधिस्थ ऋषियोंके अन्तरमें ही प्रकाशित हुए और इसीमें ऋषियोंका ऋषित्व है।' शास्त्रकारोंने ऋषियों और मुनियोंकी शक्तिमें महदन्तर माना है। ऋषियोंको मन्त्रद्रष्टा और मुनियोंको उनका अनुगामी कहा गया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें तो महर्षि, देवर्षि, सिद्ध, मुनि आदिका वर्णन स्पष्टरूपसे पृथक्-पृथक् किया गया है—

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
(१०। १३)

महर्षीणां भृगुरहम् । (१०। २५)
देवर्षीणां च नारदः । (१०। २६)
मुनीनामप्यहं व्यासः । (१०। ३७)

इन वचनोंके आधारपर शास्त्रीय मर्यादानुसार विचार करनेसे यह लक्ष्यमें आ जाता है कि ऋषियुगमें सर्वप्रथम प्रायः ऋषिगण ही भूमण्डलपर आते थे। उसके पश्चात् मुनियोंने अपने युगमें ऋषिप्रदत्त ज्ञानानुसार स्मृतिग्रन्थ तैयार किये। किन्तु किसी भी मुनिने अपनी कृतिको 'श्रुति' नहीं कहा। अतः इससे यह प्रतीत होता है कि मुनियोंने ऋषियोंके अंदर अचिन्त्य शक्ति मानी है। इस सम्बन्धमें यास्कमुनि 'ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्'—इस मन्त्रकी निरुक्तिमें लिखते हैं—

मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्त्राभ्यूहमभ्यूढम्, तस्माद्यदेव किं च नानूचानोऽभ्यूहति, आर्षं तद्भवति ।

अर्थात् ऋषियुगकी समाप्ति होनेपर मनुष्योंने देवताओंसे पूछा कि 'अभीतक तो महर्षिलोग हमलोगोंको धर्मतत्त्व समझाते थे, अब हमारे ऋषि कौन होंगे?' इसपर देवताओंने उत्तर दिया कि 'हम तुम्हें तर्कऋषि (मुनि) प्रदान करते हैं। इनके आश्रयमें तुमलोग मन्त्रोंका चिन्तन करना।' अतः मुनियुगके आरम्भसे विद्वान् तथा तपस्वी वेदज्ञ जो कुछ विचार करते आये हैं, उन्हीं विचारोंको 'आर्ष' माना जाता है। अस्तु।

तर्कऋषियोंने इस बातका पूरी तरहसे प्रतिपादन किया है कि सम्पूर्ण श्रुतियोंका उद्देश्य मनुष्यको आत्यन्तिक कल्याणकी प्राप्ति कराना है। इस परम पुरुषार्थकी सिद्धि विचार, संवेदना और कर्तृत्व, इन तीनों मानस शक्तियोंके आत्यन्तिक विकाससे ही होती है। और इन त्रिविध मानस शक्तियोंका विकास क्रमसे ज्ञान, भक्ति और कर्मद्वारा होता है। इन्हीं तीनों साधनोंके विवेचनसे वेदोंमें त्रिविधता अथवा त्रिमार्गत्वकी प्रतीति होती है। ज्ञान, भक्ति और कर्मके विभागोंको ही क्रमशः ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्ड कहते हैं। इनमेंसे विशेषतः कर्मकाण्डका वर्णन मन्त्रभाग (संहिता) में और उपासना तथा तत्त्वज्ञानका विवेचन ब्राह्मणभागमें किया गया है।

शास्त्रकारोंने जनताको बोध करानेके लिये जिस तरह वेदोंके चार विभाग किये हैं, उसी तरह मनुष्योंकी मानसिक स्थितिके अनुसार उनके भी चार विभाग किये हैं—पामर, विषयी, मुमुक्षु और मुक्त। इनमेंसे इस भूमण्डलपर सब कालमें पामर लोगोंकी ही संख्या अधिक रहती है। अतः ऐसे लोगोंकी स्वच्छन्द वृत्तियोंपर अंकुश लगाकर उनको श्रद्धावान् और नीतिवान् बनानेके लिये आपातरमणीय कर्मकाण्ड प्रवर्तित किया गया। जब कर्मकाण्डकी आज्ञाओंका पालन करके मनुष्य श्रद्धा तथा सदाचारसम्पन्न बन जाता है, तब वह पामरकोटिसे उन्नत होकर विषयीकोटिमें प्रवेश करता है। तदनन्तर उसको उच्च स्तरके ऐहिक भोग और पारलौकिक सुखकी आकाङ्क्षा होती है, जिससे वह कर्मकाण्डके साथ-साथ उपासनाकाण्डकी आज्ञाओंका पालन करनेके लिये प्रयत्न करने लगता है। वह बार-बार इन्द्रियदमन और मनोनिग्रहार्थ जप, तप, व्रत आदि कर्मोंमें प्रवृत्त होता है। फलतः एक दिन उसके अन्तःकरणके मलविक्षेपका नाश हो जाता है तथा उसको संसारके दुःसम्पाद्य विषयोंसे उपरामता आ जाती है। किन्तु उस समय भी वह चाहता है कि उसके अशेष क्लेशोंका आत्यन्तिक विनाश होकर उसको अविचल परमानन्दकी प्राप्ति हो। बस, इसके लिये वह जिज्ञासु (मुमुक्षु) होकर वेदोंके ज्ञानकाण्डरूपी उपनिषदोंका श्रवण-मनन करने लगता है और ऐसा करते-करते अन्तमें उसको ब्रह्मात्मैक्यज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है तथा वह जन्म-मरणके बन्धनसे विमुक्त हो जाता है। इस रीतिसे सामान्य जनता आरम्भमें कर्मकाण्ड, पश्चात् उपासनाकाण्ड और अन्तमें ज्ञानकाण्डका आश्रय लेती है। अतः इस कारण भी कर्मकाण्डको पहला, उपासनाकाण्डको दूसरा और ज्ञानकाण्डको अन्तिम अथवा 'वेदान्त' कहा जाता है।

प्रत्येक विचारशील मनुष्य यह चाहता है कि उसकी विचारशक्तिका प्रवाह सुयोग्य पथसे प्रवाहित होता रहे। एतदर्थ उसको श्रुतिके ज्ञानकाण्डका अभ्यास करना

आवश्यक है। श्रुति हमारी सनातन संस्कृतिके इतिहास और प्राणिमात्रके अभ्युदय तथा निःश्रेयसके साधनोंको बतलानेवाली है। जबतक श्रुतिभगवतीका श्रद्धापूर्वक पठन-पाठन नहीं होगा, तबतक तत्त्वज्ञानके सत्यासत्य सिद्धान्तोंका निर्णय कदापि न हो सकेगा।

संहिताके अनेक रहस्यपूर्ण मन्त्रोंका विवेचन ब्रह्मज्ञानको मीमांसा करनेवाले उपनिषदोंमें किया गया है। एवं भिन्न-भिन्न आचार्योंने स्मृति और भाष्यग्रन्थोंमें उसके कतिपय मन्त्रोंका तात्पर्यार्थ अपने-अपने सिद्धान्तानुरूप किया है। साथ ही अन्य सभी शास्त्रकारोंने भी उसी मूल शास्त्रके वचनोंको प्रमाणरूपसे उद्धृत करके अपने-अपने अर्थोंकी पुष्टि की है। ऐसी स्थितिमें जिनको संहिताका साक्षात् परिचय न होगा, वे अनेक मतवादोंमेंसे अपने योग्य सत्यार्थ-प्रतिपादक मतवाद चुननेमें असमर्थ होंगे। सत्यसिद्धान्तके निर्णयमें उनकी मनोवृत्ति कुण्ठित हो जायगी और वे सद्वस्तुके सङ्कलनसे वञ्चित ही रह जायँगे।

आजकल अनेक आस्तिक कहलानेवाले विद्वानोंको भी कुतर्कके आश्रयसे यह भ्रम हो रहा है कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये श्रुतिके अध्ययनकी कोई आवश्यकता नहीं है। कितने ही विपरीत भावनावाले विद्वानोंका तो यहाँतक कहना है कि ब्रह्मसूत्रकार बादरायण तथा मनु आदि स्मृतिकारोंने ब्रह्मकी मीमांसा करते समय अपनी निर्भय तथा स्वतन्त्र विचारसरणिको श्रुतिके बोझसे परतन्त्र बना दिया। अर्थात् उन्हें ब्रह्मकी मीमांसा श्रुतिप्रमाणको छोड़कर अपनी युक्तिके आधारपर करनी चाहिये थी। जनताको श्रुतिकी परतन्त्रतामें न जकड़कर युक्तिद्वारा ही धर्मका बोध कराना चाहिये था। किन्तु ऐसे तार्किकोंसे मेरी प्रार्थना है कि यदि वे इस विषयपर शान्तिके साथ विचार करेंगे तो उनके उपर्युक्त सभी तर्क भ्रमपूर्ण जँचेंगे। क्योंकि श्रुति प्राचीनतम धर्मग्रन्थ है, उसका एक भी वचन युक्ति अथवा अनुभवके विरुद्ध नहीं है। श्रुतिके द्वारा प्रलयसे भी पूर्वकालके मानवसमाजकी परिस्थितिका दिग्दर्शन होता है तथा उसमें आध्यात्मिक कल्याणके साधन और नियमोंका अनुभवपूर्ण वर्णन मिलता है। श्रुतिकी अपेक्षा आध्यात्मिक विषयोंका सुविस्तृत विवेचन संसारके किसी भी धर्मग्रन्थमें नहीं है और न आगे ही होनेकी आशा है। इसीलिये हमारे पूर्वजोंने अपनी प्राचीन संस्कृतिकी परम्पराको कायम रखनेके लिये श्रुतिको मुख्य प्रमाण माना है। और इसीलिये उन्होंने श्रद्धापूर्ण, शास्त्रीय ढंगसे श्रुतियोंका नित्य स्वाध्याय करते रहनेकी आज्ञा दी है।

श्रुतिप्रामाण्यको स्वीकार करनेके साथ-साथ इन चार बातोंको भी स्वीकार करना होगा—वेद अनन्त हैं, वेद सम्पूर्ण धर्मोंके मूल हैं, वेद मन्त्रद्रष्टा महर्षियोंके अनुभवमें आते हैं और वेदवचनोंमें पारस्परिक कोई विरोध नहीं है। इन चार बातोंको स्वीकार करना ही वैदिक वाङ्मयका मूल है। और इस श्रद्धारूप मूलकी सुदृढ़ताके कारण ही वैदिक वाङ्मयकी शाखाएँ अत्यन्त विस्तृत और पल्लवित हुई हैं। यदि प्राचीन महर्षियोंने इन चार बातोंका अर्थात् श्रुतिप्रामाण्यका परित्याग करके केवल युक्तिवादका आश्रय लिया होता तो आर्यसंस्कृति इतने दीर्घकालतक कदापि न टिकी होती। और उसकी अबतक क्या स्थिति हुई होती, इस बातकी कल्पना यूरोपके प्राचीन इतिहासपर दृष्टिपात करनेसे हो जायगी।

प्राचीनकालमें आर्य लोगोंने यूरोपके देशोंमें जाकर वेदोंका प्रचार किया था। ग्रीकदेशके प्राचीन साहित्यमें वेदोंके उदात्त-अनुदात्त स्वरोंके समान स्वरभेदका नियम था, जिससे सिद्ध होता है कि वहाँपर वेदोंकी कतिपय शाखाएँ थीं। परन्तु उस देशके निवासियोंने युक्तिवादके बखेड़ेमें पड़कर अपने प्राचीन तत्त्वज्ञानपूर्ण वाङ्मयका परित्याग कर दिया और अपनी मनोवृत्तियोंको श्रद्धारहित एवं स्वच्छन्द बना लिया। फलतः वे सत्यसिद्धान्तसे नितरां विमुख हो गये तथा ग्रीक और रोमनसमाजके समुन्नत सनातनधर्मका लोप हो गया। अब वहाँपर मनगढ़ंत शैलीसे ईश्वरपूजा होती है और सारा समाज वास्तविक धर्मसे विमुख होकर बेतरह सन्तापित हो रहा है। वहाँकी नीति, रीति और स्थिति आसुरीभावापन्न होकर सारे समाजको अशान्तिकी आगमें जला रही है।

इसी तरह यदि इस आर्यावर्तसे भी श्रुतिप्रामाण्य उड़ा दिया गया होता तो आज हमलोग स्वार्थी, संहारक और पिशाच बन गये होते। हमारे यहाँके वेदानुयायी आचार्योंने यद्यपि विभिन्न-विभिन्न विचारोंका प्रतिपादन किया है तथापि सभीने वेदोंमें पूर्ण आदरबुद्धि रक्खी है। और इसी कारण उनको सत्यान्वेषणमें निर्भयतापूर्वक प्रगति प्राप्त हुई है। हाँ, जैन, बौद्ध आदि कतिपय सम्प्रदायोंमें श्रुतिमाताका परित्याग अवश्य किया गया है और अपने मतावलम्बियोंमें स्वनिर्मित ग्रन्थोंका प्रचार करके उनको अपने पथका पथिक बनानेके लिये भगीरथ प्रयत्न किया गया है; किन्तु ऐसे सम्प्रदायोंको

भारतमें कितनी सफलता मिली। सभी विचारशील सज्जन इस बातको अपनी निष्पक्ष बुद्धिसे समझ सकते हैं कि ऐसे सम्प्रदायोंके कितने ही सिद्धान्त सृष्टिनियमोंसे प्रतिकूल होनेके कारण भ्रम-प्रमादवश हवा हो गये और उनकी सामाजिक मर्यादाका भी ह्रास हो गया।

इन सम्प्रदायवादियोंने एक ओर यदि श्रुतिभगवतीकी अवहेलना करनेका दुःसाहस किया तो दूसरी ओर स्मृतिकारोंने श्रद्धाके साथ स्मृतिग्रन्थ तैयार किये, जिनमें उन्होंने श्रुतिके आदेशोंका विषयानुक्रमसे वर्गीकरण करके उनकी सविस्तर व्याख्या की। इन्हीं स्मृतिग्रन्थोंके सहारे हमारी सनातन आर्यसंस्कृति आजतक अपने स्थानपर टिकी हुई है और इन्हींकी सहायतासे श्रुतिमन्त्रोंका तात्पर्यार्थ जाना जाता है। यदि इन धर्मशास्त्रोंकी रचना न की गयी होती तो आज अनेक श्रुतिवचनोंका तात्पर्यार्थ दुर्बोध हो गया होता और वैदिक तत्त्वज्ञानको मूल पीठिका भी लुप्त हो गयी होती। इसके अतिरिक्त स्मृतिग्रन्थोंसे सामाजिक नियन्त्रण भी होता आया है। इन्हीं धर्मग्रन्थोंके द्वारा भारतके प्रगतिशील मानवसमाजको श्रौतधर्मकी रूपरेखाका सदैव साक्षात्कार हुआ है एवं वैदिक वाङ्मयकी स्मृति बनी रही है। इसी कारण धर्मशास्त्रोंको 'स्मृति' संज्ञा दी गयी है। अस्तु, स्मृतिकारोंने धर्मशास्त्रों अथवा स्मृतिग्रन्थोंकी रचना करके भारतकी प्राचीन कृति, नीति, मति, स्थिति आदिकी कितनी रक्षा की है और उससे भारतीय समाजका कितना बड़ा हित हुआ है, इसको विवेकी महानुभाव सहज ही समझ सकते हैं।

वैदिक ज्ञानकाण्ड (वेदान्त) का एकमात्र लक्ष्य सत्यान्वेषण है, जो सर्वथा प्रमाणानुगामी है। विचारवानोंका कथन है कि प्रमाणरहित एक भी कल्पना सत्यरूपमें स्वीकृत नहीं की जा सकती। शास्त्रोंमें यहाँतक कहा गया है कि युक्तियुक्त वचन यदि बालकका भी हो तो उसको ग्रहण कर लेना चाहिये और अयुक्त वचन किसी विद्वान् अथवा ब्रह्माजीका भी क्यों न हो, वह सब तरहसे अग्राह्य है *। इसीलिये वेदानुयायियोंने ज्ञानप्राप्तिके लिये प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि इन छः प्रमाणोंको अंगीकार किया है। याज्ञवल्क्य मुनिने इन्हीं प्रमाणोंके अन्तर्गत स्मृति और पुराणादिको भी माना है †। किन्तु स्मृति और पुराणादिके वे ही वचन प्रमाण माने जाते हैं जो श्रुतिवचनोंके अनुकूल हैं, दूसरे नहीं। इस विषयमें आचार्योंका कथन देखिये—

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥
(मनु० २। १३)

इस श्लोककी टीका कुल्लूकभट्टने की है, उसमें जाबाल श्रुतिका निम्नलिखित मन्त्र आया है—

श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।
अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत्सदा॥

इसके अतिरिक्त—

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात्।
(ब्र० सू० २। १। १)

—इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने लिखा है—

विप्रतिपत्तौ च स्मृतीनामवश्यकर्तव्येऽन्यतरपरिग्रहेऽन्यतरपरित्यागे च श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणमनपेक्ष्या इतराः। तदुक्तं प्रमाणलक्षणे–'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (जै० सू० १। ३। ३) **इति। ………वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये।**

इन वचनोंसे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि प्राचीन आचार्योंने श्रुति-अनुसारिणी स्मृतिको ही प्रमाण माना है। महाभाष्यकारने तो इस विषयमें जैमिनिके वचनका प्रमाण देकर साफ-साफ कह दिया है कि 'जैसे सूर्य अपने रूपके विषयमें स्वतः ही प्रमाण है, वैसे ही वेद धर्मनिर्णयके सम्बन्धमें निरपेक्ष प्रमाण है।' श्रुतिको निरपेक्ष प्रमाण माननेके दो मुख्य कारण हैं—एक तो वह ईश्वरप्रदत्त है, दूसरे अनादि है। इस विषयमें निम्नलिखित श्रुति और स्मृतिवचनोंका प्रमाण देखिये—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
(ऋ० सं० १०। ७१। ३)

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया।
(ऋ० सं० ८। ७५। ६)

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥
(ऋ० सं० १०। ९०। ९)

अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः…। (बृ० उ० २। ४। १०)

---

* युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।
अन्यत्त्वार्षमपि त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना॥ (योगवाशिष्ठ)

† याज्ञवल्क्यस्मृति १। ३

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । (श्वे० उ० ६ । १८)

अत एव च नित्यत्वम् । (ब्र० सू० १ । ३ । २९)

उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् । (पू० मी० १ । १ । २९)

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
(म० भा० शा० प० २३२ । २४)

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥
(मनु० १ । २३)

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥
(श्रीशङ्कराचार्यकथित स्मृतिवचन)

इन उद्धरणोंसे विदित होता है कि वेद ईश्वरप्रदत्त और नित्य हैं । जिस प्रकार वे पूर्वकल्पमें परम्परासे प्राप्त थे, उसी प्रकार आज हमें वे महर्षियोंद्वारा उपलब्ध हैं । कुछ लोगोंने जो कुतर्कका आश्रय लेकर उनको मनुष्यकृत माना है, वह ठीक नहीं है । ऐसे अश्रद्धालुओंके प्रति ऋग्वेद कहता है—

यस्तित्याज सचिविदं सखाय
न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
यदीं शृणोति अलकं शृणोति
न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥
(ऋ० सं० १० । ७१ । ६)

'जिस मनुष्यने परम सत्यका साक्षात्कार करानेवाले, विश्वके बन्धुरूप वेदोंका परित्याग कर दिया, उसको वेदके विषयोंका ज्ञान कैसे हो सकता है ? अर्थात् उसको सत्य-तत्त्वके ज्ञानसे वञ्चित ही रह जाना पड़ेगा । यदि वह वेदोंको सुनेगा भी तो उसका सुनना व्यर्थ हो जायगा और कभी वह कल्याणपथका पथिक न बन सकेगा ।' अस्तु, इस रीतिसे अनेकों शास्त्रवचन उद्धृत किये जा सकते हैं जिनसे वेदोंको मनुष्यकृत माननेवाले विचारोंका जबरदस्त खण्डन होता है । ऋग्वेदभाष्यकी भूमिकामें श्रीसायणाचार्यजीने इस तरहकी दुःशंकाओंका विस्तारके साथ समाधान किया है । यहाँ भी कुछ शङ्काओंके समाधानका प्रयत्न किया जाता है ।

शंका—ऋग्वेदसंहिताके अनेक सूक्तोंसे यह भावार्थ निकलता है कि अमुक स्तोत्रको अमुक महर्षिने बनाया । बल्कि कतिपय मन्त्रोंमें ऐसे महर्षियोंके नाम भी आये हैं । जैसे—

अयं देवाय जन्मने स्तोमो विप्रेभिरासया । अकारि रत्नधातमः । (१ । २० । १)

सनायते गोतम इन्द्र नव्यमतक्षद्ब्रह्म हरियोजनाय ।
(१ । ६२ । १३)

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत् ।
अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम् ॥
(१ । ४५ । ३)

इनमें पहले मन्त्रका अर्थ है कि (अमुक ऋषिने) 'मणि-मुक्तादि रत्नोंके समान सुन्दर स्तोत्रको अपने मुखसे उत्पन्न किया ।' दूसरे मन्त्रका अर्थ है कि 'गौतमके पुत्र बोधाऋषिने रथमें प्रवास करनेकी प्रवृत्तिवाले और मनोहर नेत्रोंवाले इन्द्रदेवकी प्रसन्नताके लिये नये-नये ब्रह्म (सूक्त) तैयार किये ।' और तीसरे मन्त्रमें कहा गया है कि 'हे महिव्रत—प्रभूत कर्म करनेवाले अग्निदेव ! आप प्रियमेध, विरूप, अंगिरा आदिकी तरह कण्वपुत्रका भी आह्वान सुनिये ।' अतः इन वचनोंके आधारपर यह मानना पड़ेगा कि ऋषि लोगोंने अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार वेदोंकी रचना की ।

समाधान—ठीक है, परन्तु इन वचनोंसे वेदोंकी अनित्यता नहीं सिद्ध होती । सर आइज़क न्यूटनने संसारको गुरुत्वाकर्षणके सिद्धान्तका ज्ञान कराया, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि न्यूटनने गुरुत्वाकर्षणके सिद्धान्तको बनाया । बल्कि वह सिद्धान्त अनादि है और उसका सम्यक् परिचयमात्र संसारको नहीं था, जिसे न्यूटनने करा दिया । ऐसे ही मन्त्रद्रष्टा महर्षियोंको ध्यानावस्थामें वेदमन्त्रोंकी स्फुरणा हुई तथा उन मन्त्रोंको उन्होंने संसारके लिये प्रदान कर दिया । इसी तरह वेदोंमें जो प्रियमेध आदि संज्ञाएँ आयी हैं वे सब यौगिक संज्ञाएँ हैं । उनका अर्थ 'अमुककालीन मनुष्य' नहीं है । यदि कोई देखना चाहे तो इस विषयका विवेचन निरुक्तमें विस्तारके साथ किया गया है । तथापि यदि यही मान लिया जाय कि ये संज्ञाएँ किन्हीं ऋषियोंकी ही हैं, तो इससे भी वेदोंकी नित्यतामें कोई बाधा नहीं पड़ती । क्योंकि ऋषियुगमें कितने ही ऐसे महर्षि हो गये हैं जिनको वेदमन्त्रोंकी स्फुरणा हुई थी और जिन्होंने उन नित्य अथवा अनादि वेदमन्त्रोंको संसारके कल्याणार्थ प्रदान कर दिया था ।

शंका—प्रत्यक्षप्रमाणकी अपेक्षा श्रुतिप्रमाणको अधिक महत्त्व क्यों दिया जाय ? क्योंकि जिस वस्तुका इन्द्रियोंद्वारा

जैसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वही उस वस्तुका सच्चा स्वरूप समझा जाता है। अन्य अनुमानादि प्रमाण उस अनुभवके अधीन ही माने जाते हैं। वैसे ही शब्दप्रमाणको भी प्रत्यक्षप्रमाणका अनुयायी मानना चाहिये और शास्त्र-प्रमाण निरपेक्ष है, इस प्रवृत्तिका परित्याग कर देना चाहिये।

समाधान—कदापि नहीं, शास्त्रज्ञानके बिना प्रत्यक्ष अनुभवमें आयी हुई वस्तु या क्रियाका स्वरूप यथार्थ नहीं समझा जाता। शास्त्रज्ञानके पश्चात् ही सत्यका निर्णय होता है। जैसे जबतक हमें ज्योतिषशास्त्रका ज्ञान नहीं होता, तबतक हम सूर्यको एक छोटी-सी चमकदार थालीके समान गोल देखते हैं और समझते हैं कि वह नित्य पूर्वमें उदय होकर पश्चिममें डूब जाता है तथा पृथ्वीके चारों ओर प्रदक्षिणा करता रहता है। इसी प्रकार पृथ्वी भी हमको किसी चिपटी और गोल वस्तुके समान स्थिर दिखायी देती है। किन्तु ज्योतिषशास्त्रका ज्ञान हो जानेपर हमें अपना यह प्रत्यक्ष अनुभव भ्रमसे भरा हुआ जान पड़ता है। उस समय हम समझने लगते हैं कि सूर्य पृथ्वीसे छोटा नहीं किन्तु तेरह लाख गुना बड़ा है और करोड़ों मील दूर होनेके कारण ही छोटा-सा दिखायी देता है। वह पूर्वमें निकलकर पश्चिममें डूबता हो, सो भी बात नहीं है और न वह पृथ्वीके चारों ओर प्रदक्षिणा ही करता है, प्रत्युत पृथ्वी ही गतिमान् है तथा वह निरन्तर नियमपूर्वक अक्षभ्रमण करती हुई सूर्यके इर्दगिर्द घूमा करती है। इसके अलावा पृथ्वी किसी चिपटी वस्तुके समान गोल भी नहीं है, बल्कि वह नारंगीके समान गोल है और इस बातको आधुनिक विज्ञानवेत्ता भी पूरी तरह प्रमाणित कर चुके हैं।

ऐसे ही जबतक शास्त्रोंका श्रद्धापूर्वक अध्ययन नहीं किया जायगा तबतक ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म, कर्मवाद, परलोक आदि विषयोंके ज्ञानमें भ्रम बना रहेगा। इसीलिये शास्त्रवचनोंको निरपेक्ष प्रमाण माना गया है। जो लोग शास्त्रके प्रमेय तत्त्वोंका अनुभव किये बिना शास्त्रवचनोंको गप्प कहकर उड़ा देनेकी चेष्टा करते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं।

प्रश्न—इस कथनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार ज्योतिषशास्त्रके अध्ययनसे सत्यसिद्धान्तको हम जान जाते हैं उसी प्रकार धर्मशास्त्रों और श्रुतियोंके अध्ययनसे ईश्वर और परलोकका भी ठीक-ठीक अनुभव हो जाता है। क्या यह बात ठीक है?

समाधान—यहाँ यह बात समझनेकी है। आयुर्वेदशास्त्रके अध्ययनसे रोग दूर नहीं होते, बल्कि रोग दूर करनेके उपायोंका बोध हो जाता है। उस विषयका पूर्ण अनुभव प्राप्त करनेके लिये किसी योग्य गुरुके आश्रयमें रहकर अध्ययनके साथ-साथ क्रियात्मक चिकित्साका अभ्यास करना पड़ता है, पीड़ितोंकी सेवा-शुश्रूषा करनी पड़ती है, और जंगलोंमें भटककर ओषधियोंका परिचय प्राप्त करना पड़ता है। तब कहीं पूर्ण सफलता मिलती है। वैसे ही शास्त्र अथवा श्रुतियोंका बोध हो जानेपर ब्रह्मात्मैक्यज्ञानकी प्राप्ति एवं अन्य विषयोंका अनुभव प्राप्त करनेके लिये यथाविधि चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप योगाभ्यासकी आवश्यकता पड़ती है। हाँ, जो ऐसा न कर सकते हों उनको श्रुति अथवा शास्त्राध्ययनके उपरान्त विचारद्वारा अपने कल्याणमार्गका निश्चय करके उसपर आरूढ़ हो जाना चाहिये। और जो अल्प शक्तिवाले हैं, जो समयाभाव या प्रकृतिकी प्रतिकूलतावश श्रुति-शास्त्रका अध्ययन न कर सकते हों वे श्रुति-शास्त्रवेत्ताओंके कथनपर ही विश्वास करके कल्याणभाजन बन सकते हैं।

तात्पर्य यह कि श्रुतिप्रमाणपर अटल श्रद्धा रखकर ही हम अपने जीवनमें ऋषिप्रदत्त ज्ञानका उपयोग कर सकते हैं और उनके बतलाये हुए मार्गपर चलनेसे हमको इहलोक तथा परलोकमें कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है। जिस अविचल सत्यको हम प्रत्यक्ष या अनुमानादि प्रमाणोंसे नहीं जान सकते वह हमें वेदोंद्वारा ही विदित होता है। आचार्योंने कहा है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विन्दन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

शून्यवाद और विज्ञानवाद

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०)

शून्यवाद और विज्ञानवाद माध्यमिक और योगाचार-सम्प्रदायोंके सिद्धान्त हैं। अद्वैतवाद इन दोनों वादोंका प्राणभूत है। शून्यवाद प्राचीन मत है। नागार्जुन तथा उनके अनुगामी आर्यदेव आदि आचार्योंने प्रज्ञापारमिता आदि शास्त्रोंके आधारपर उसका प्रचार किया था। इन लोगोंका कथन है कि सद्, असद् आदि चार कोटियोंसे शून्य, निर्विकल्पक, निष्प्रपञ्च, आकाशके समान निर्लेप और असंग सत्य ही शून्यपदवाच्य है। वह अनुत्पन्न, अविरुद्ध, अनुच्छेद, अशाश्वत आदि विशेषणोंद्वारा वर्णित है। वही पारमार्थिक सत्य है और बुद्धिका अगोचर है। सत्यका एक दूसरा भी स्वरूप है, वह बुद्धि अथवा संवृतिनामसे परिचित है। बुद्धिमात्र ही विकल्पात्मक है और विकल्प अवस्तुग्राही होनेसे अविद्यात्मक है। अविद्या संवृतिका ही नामान्तर है। अतएव यह निश्चित है कि बुद्धिमें ऐसी कोई सामर्थ्य नहीं है जिससे वह पारमार्थिक सत्यका यथार्थरूपमें ग्रहण कर सके। यथार्थ बात तो यह है कि पारमार्थिक पदार्थ सांवृतिक ज्ञानका विषय ही नहीं हो सकता। जो पदार्थ सांवृतिक ज्ञानका विषय होता है वह परमार्थसे विलक्षण है। अविद्या या संवृतिका कहीं-कहीं मोह अथवा विपर्यासरूपसे भी वर्णन मिलता है। आर्यशालिस्तम्बसूत्रमें यह तत्त्वसे अप्रतिपत्ति, मिथ्याप्रतिपत्ति तथा अज्ञान शब्दसे कही गयी है। माध्यमिक लोग इस अविद्याके दो कार्य मानते हैं—१ स्वभावदर्शनका आवरण, २ असत्पदार्थस्वरूपका आरोपण।

अभूतं ख्यापयत्यर्थं भूतमावृत्य वर्तते ।
अविद्या जायमानेव कामलातङ्कवृत्तिवद् ॥

यही अविद्याका वर्णन है । संवृति दो प्रकारकी है—१ तथ्यसंवृति—प्रतीत्यसमुत्पन्न घट, पट आदि वस्तुओंका स्वरूप जिस समय अदुष्ट इन्द्रियोंसे उपलब्ध होता है, उस समय लौकिक दृष्टिसे वह सत्य माना जाता है। यही तथ्यसंवृति है। २ मिथ्यासंवृति—मायामरीचिका, प्रतिबिम्ब आदि प्रतीत्यजात होनेपर भी जब दुष्ट इन्द्रियोंसे उपलब्ध होते हैं तब लौकिक दृष्टिसे भी मिथ्या कहे जाते हैं, इसीका नाम मिथ्यासंवृति है। संवृतिसत्यका स्वरूप लौकिक दृष्टिसे अवितथ अर्थात् सत्य ही है। परन्तु पारमार्थिक दृष्टिसे वह सत्य नहीं है। इसीलिये यद्यपि वह किसी प्रकार सत्य कहा गया है तथापि परमार्थ सत्य तथा तत्त्वमें उसका परिगणन नहीं होता। पारमार्थिक सत्य आर्यगण तथा योगियोंके लिये विसंवादशून्य सत्य है। इन दोनों सत्योंके आधारपर ही बुद्ध लोग जीवोंको धर्मोपदेश देते हैं । बाह्य अथवा आध्यात्मिक सभी पदार्थोंके दो स्वभाव हैं—१ सांवृतिक और २ पारमार्थिक। इनमेंसे एककी सत्ता पृथग्जनोंके मिथ्यादर्शनके विषयरूपमें प्रकाशित होती है। ये सब पृथग्जन अभूतार्थदर्शी हैं, क्योंकि उन लोगोंका बुद्धिनेत्र अविद्यारूपी अन्धकारसे आच्छन्न रहता है। दूसरेकी सत्ता तत्त्ववित् आर्योंके सम्यग्दर्शनके विषयरूपमें आविर्भूत होती है। इन लोगोंका सम्यग्ज्ञानरूप नेत्र अविद्यापटलके प्रविचय (विवेकज्ञान) रूप अञ्जनशलाकासे छिन्न होनेके कारण उन्मीलित रहता है।

दुःख, समुदय (दुःखका कारण), निरोध (दुःखनिवृत्ति) और मार्ग (दुःखनिवृत्तिका उपाय)—ये चार आर्य सत्य भी वास्तवमें दो ही हैं; क्योंकि दुःख, समुदय और मार्ग, ये तीन संवृतिस्वभाव होनेके कारण संवृतिसत्यके अन्तर्भूत हैं। एकमात्र निरोध ही परमार्थ सत्य है। सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि ये दो सत्य भी वास्तविक नहीं हैं; क्योंकि संवृति लौकिक प्रतीतिके अनुरोधसे ही सत्य कही गयी है, वस्तुतः परमार्थ ही एकमात्र सत्य है।

‘वस्तुतस्तु परमार्थ एव एकं सत्यम्, अतो न काचिद् क्षतिः। यथोक्तं भगवता—एकमेव भिक्षवः! परमं सत्यं यदुताप्रमोषधर्मनिर्वाणं सर्वसंस्काराश्च मृषामोषधर्माणः।’

अतएव सिद्ध होता है कि माध्यमिक मतमें वस्तुतः अद्वय ही तत्त्व है। वह यद्यपि अवाच्य है, तथापि दृष्टान्तद्वारा उसका वर्णन किया जाता है—

अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का ।
श्रूयते देश्यते चार्थः समारोपादनक्षरः ॥

व्यवहारके आधारपर परमार्थका उपदेश किया जाता है। परमार्थकी उपलब्धि होनेपर निर्वाणप्राप्ति होती है। परमार्थ सत्य आर्योंके लिये संविदितस्वभाव है, इसीलिये वह प्रत्यात्मबोध कहा जाता है। एकमात्र योगी ही उसके ज्ञाता हैं। परन्तु सांवृतिक सत्यके ज्ञाता प्राकृत जन हैं। सर्वधर्मानुपलम्भरूप समाधि ही ‘योग’ पदसे कही जाती है। उक्त समाधिसे सम्पन्न पुरुष ही माध्यमिक शास्त्रमें योगी कहा गया है। प्राकृत जनोंका अनुभव योगियोंके अनुभवसे

बाधित होता है। निर्मल होनेके कारण योगीका ज्ञानचक्षु अनास्रव ज्ञानमय है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि यद्यपि शुद्ध होनेके कारण योगीका ज्ञान प्राकृत जनोंके ज्ञानको बाधित कर देता है, तथापि योगियोंमें भी परस्पर तारतम्य है। इसमें हेतु यह है कि सब योगियोंमें प्रज्ञा अथवा समाधिसम्पत्तिका प्रकर्ष समानरूपसे नहीं रहता। जिनके ज्ञाननेत्रसे जितना अधिक आवरण उन्मुक्त हुआ रहता है, उनमें उतना ही अधिक उत्कर्ष होता है, जैसे प्रमुदिता भूमिके (प्रथम भूमिकाके) ज्ञान आदिसे विमला भूमिके ज्ञान आदि अधिक उत्कृष्ट हैं। यही बात ध्यानमें भी समझनी चाहिये।

यह अद्वय परमार्थसत्य ही शून्यवादियोंके धार्मिक साहित्यमें तथागत-धर्मके नामसे प्रसिद्ध है। जितने स्वहित और परहित हैं उन सबका यही एकमात्र आधार है, क्योंकि जबतक इसका अवलम्ब नहीं मिलता तबतक न अपना कल्याणलाभ होता है और न दूसरेके कल्याणसाधनमें सामर्थ्य ही होती है। अविद्यासे अस्पृष्ट होनेके कारण वह सब प्रकारके मलोंसे उन्मुक्त है। एक ओर क्लेशरूप आवरणसे और दूसरी ओर ज्ञेयरूप आवरणसे वह मुक्त है। पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य—इन दो प्रकारके नैरात्म्योंकी प्राप्ति ही उसका स्वभाव है।

सम्यक् संबोधिके बिना इस अद्वयतत्त्वकी उपलब्धि नहीं हो सकती। सम्यक् संबोधिको प्राप्त करनेके लिये प्रज्ञाकी आवश्यकता है। बौद्ध लोग कहते हैं कि शुष्क प्रज्ञासे कोई लाभ नहीं हो सकता। पुण्यसंभार तथा ज्ञानसंभारसे ही प्रज्ञाकी उत्पत्ति होती है। दान, शील तथा क्षान्तिके दीर्घकालीन अभ्यासके प्रभावसे पुण्यसंभारका उदय होता है। वीर्य और समाधिके अभ्यासके प्रभावसे ज्ञानसंभार उत्पन्न होता है। इन दोनोंसे विशुद्ध प्रज्ञाका उन्मेष होता है। धीरे-धीरे प्रज्ञाकी निर्मलताका सम्पादन करना पड़ता है। प्राथमिक प्रज्ञा हेतु अथवा साधनस्वरूप है, उससे फलस्वरूप यथार्थ प्रज्ञाका विकास होता है। साधनप्रज्ञा भी पहले श्रुतमयी, चिन्तामयी तथा भावनामयी रूपमें प्रकट होती है। इस अवस्थामें साधक अधिमुक्तचरित कहा जाता है। इसके बाद अपरोक्ष ज्ञानके आविर्भावके साथ-साथ प्रज्ञा बोधिसत्त्वभूमिमें प्रविष्ट होकर क्रमशः निम्नवर्ती भूमियोंका परिहार करती हुई ऊर्ध्व भूमिको प्राप्तकर प्रकृष्टता लाभ करती है। पर्यवसानमें अर्थात् अन्तिम भूमिमें राग आदि पञ्चक्लेशरूप क्लेशावरण तथा पञ्चविध ज्ञेयावरणके छूट जानेपर बोधिसत्त्वभूमि अतिक्रान्त हो जाती है। इसीके साथ ही द्वैतभावकी समाप्ति होती है। एवं फलभूत बुद्धत्वरूप अद्वैत प्रज्ञा आविर्भूत होती है। बोधिसत्त्वभूमियाँ दस मानी जाती हैं *। बुद्धत्व ही प्रज्ञाका आत्यन्तिक उत्कर्ष है। आध्यात्मिक लोग

---

* बोधिसत्त्वभूमियाँ कुल कितनी हैं, इस विषयमें सन्देह है। महायानसाहित्यमें प्रायः दस भूमियाँ मानी गयी हैं। दशभूमिसूत्रमें इसका विशेष विवरण मिल सकता है—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दुरङ्गमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघा—इन दस भूमियोंके बाद तथागत भावका—बुद्धत्वका—विकास होता है। पहली भूमिमें विशेषरूपसे दानपारमिताका, दूसरी भूमिमें शीलपारमिताका और तीसरी भूमिमें क्षान्तिपारमिताका अभ्यास करना पड़ता है। इस तीसरी भूमिमें ही चार रूपध्यानों, चार आरूप्यसमापत्तियों, चार ब्रह्मविहारों और पाँच अभिज्ञाओंका लाभ होता है। कामास्रव, भवास्रव और अविद्यास्रव छूट जाते हैं। चौथी भूमिमें ३७ बोधिपक्षधर्मोंका और वीर्यपारमिताका अभ्यास करना पड़ता है। पाँचवीं तथा छठी भूमिमें ध्यान तथा प्रज्ञापारमिताका अभ्यास आवश्यक है। छठी भूमिमें ही योगी प्रतीत्यसमुत्पादका—कार्यकारणभावका—स्वरूप समझ सकते हैं। उस अवस्थामें संसार तथा निर्वाण, दोनों ओर चित्तका आभिमुख्य रहता है। सप्तमी भूमिमें योगीको ज्ञात होता है कि सब बुद्ध ही धर्मधातुकी दृष्टिसे एक अद्वैत और अखण्ड तत्त्व हैं। बुद्धके अनन्त गुण उनमें प्रकट होने लगते हैं। असंख्य स्थानोंमें उन्हें अपने असंख्य शरीर दीखने लगते हैं। इस भूमिमें दस पारमिताओंका अभ्यास प्रत्येक क्षणमें होता है। यहींपर शीलाभ्यासकी समाप्ति होकर मुक्ति प्राप्त होती है। बोधिसत्त्व उस समय इच्छा करनेपर निर्वाणमें प्रविष्ट हो सकते हैं; किन्तु समस्त जगत्का कल्याण करना ही उनका मुख्य उद्देश्य है, अतएव वे निर्वाण ग्रहण नहीं करते, अनन्त बुद्धज्ञानमें प्रविष्ट हो जाते हैं। उस समय चारों प्रकारके विपर्यास उनसे निवृत्त हो जाते हैं। उस समय उपायकौशल्य पारमिताका अभ्यास होता है। आठवीं भूमिमें अनुपपत्तिक धर्म क्षान्तिकी प्राप्ति होती है, जिसके प्रभावसे किसी प्रकारका कर्म उन्हें स्पर्श नहीं कर सकता। इस अवस्थामें चारों तरफके बुद्ध आकर उन्हें अनन्त ज्ञानमें दीक्षित करते हैं। उस दीक्षाके बलसे ही वे परोपकार करनेकी सामर्थ्य प्राप्त करते हैं। अन्यथा निर्वाणसे बचना उनके लिये असम्भव हो जाता है। इस भूमिमें सब प्रकारके वशित्वका लाभ होता है और प्रणिधान-

इस प्रज्ञाको सर्वाकारोपेत, सर्वधर्मशून्यताधिगमस्वभाव और निर्विकल्पक कहते हैं। इस अवस्थाके प्राप्त होनेपर स्वदुःख और परदुःख सदाके लिये निवृत्त हो जाते हैं। समस्त धर्म स्वभावहीन हैं, यही शून्यता है। बुद्धकी अवस्थाको प्राप्त हुए बिना इसकी यथार्थ उपलब्धि नहीं हो सकती।

शून्यवादके अनन्तर विज्ञानवादने विशिष्ट दार्शनिक प्रस्थानमें स्थान प्राप्त किया। परन्तु विज्ञानवादका सिद्धान्त लङ्कावतारसूत्र, सन्धिनिर्मोचनसूत्र प्रभृति ग्रन्थोंमें पहले ही किसी-न-किसी रूपमें विद्यमान था। साधारणतः मैत्रेयनाथ और आचार्य असंग विज्ञानवादके विशिष्ट प्रचारक माने जाते हैं। उत्तर कालमें असंगके भ्राता वसुबन्धु भी वैभाषिक सिद्धान्तका परिहार कर योगाचारमतका ग्रहण करते हुए विज्ञानवादके प्रचारमें तत्पर हुए थे।

लङ्कावतारमें भी परमार्थ तथा संवृतिका भेद दिखाया गया है; परन्तु नागार्जुनके माध्यमिक सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें इस विषयपर जितना सूक्ष्म विचार है, लङ्कावतारमें उतना सूक्ष्म विचार नहीं मिलता। संवृतिसत्य परिकल्पित तथा परतन्त्र सत्य स्वभावके साथ संपृक्त है। इन दोनों प्रकारके ज्ञानोंके बाद परिनिष्पन्न ज्ञान होता है, जिससे परमार्थ सत्यका सम्बन्ध माना जाता है। परमार्थका नामान्तर भूतकोटि है—संवृति उसीका प्रतिबिम्बमात्र है। लङ्कावतारमतमें बुद्धि दो प्रकारकी मानी गयी है-(१) प्रविचय बुद्धि और (२) प्रतिष्ठापिका बुद्धि। प्रविचय बुद्धिसे पदार्थोंके तत्त्वका ग्रहण होता है। सभी पदार्थ सत्, असत् आदि चारों कोटियोंसे मुक्त हैं। प्रतिष्ठापिका बुद्धिसे भेदप्रपञ्च आभासित होता है और सत्‌रूपसे प्रतीत होता है। यह आपेक्षिक है। यह प्रतिष्ठापन-व्यापार (समारोप) कहा जाता है। लक्षण, दृष्ट, हेतु और भाव, इन चारोंका आरोप होता है, जिसके प्रभावसे विवाद और विरोधका सूत्रपात होता है। इसीलिये दोनों पक्षोंसे बाहर रहने—द्वन्द्वातीत होनेके लिये योगीको चाहिये कि प्रतिष्ठापिका बुद्धिका अतिक्रमण कर ऊपर उठ जाय। परतन्त्र स्वभावकी क्रिया बाह्य सत्यसापेक्ष है। किन्तु परिकल्पित केवल अमूलक कल्पनामात्र है। परतन्त्र उतना दूषणीय नहीं है, परन्तु परिकल्पितके सम्बन्धसे दोषका आविर्भाव होता है। इन दोनोंका स्वभाव एक दूसरेके अधीन है। परतन्त्रलक्षण स्वयंभूत नहीं है, किन्तु हेतुप्रत्ययजन्य है। परिकल्पितलक्षणमें ग्राह्य-ग्राहकभावका स्पष्ट प्रादुर्भाव होता है। विज्ञानके स्वरूपमें वस्तुतः न ग्राह्यत्व है और न ग्राहकत्व है। ग्राह्यभाव और ग्राहकभाव दोनों ही परिकल्पित हैं। जिस समय ग्राह्य अथवा ग्राहक-भाव निवृत्त हो जाता है, उस समयकी अवस्था परिनिष्पन्न लक्षण कही जाती है। परतन्त्रकी सर्वदा परिकल्पितस्वभाव-हीनता ही परिनिष्पन्नता है। इस प्रकार त्रिविध सत्ताका विवरण विशेषरूपसे हृदयंगम होना चाहिये, नहीं तो लङ्कावतारके तात्पर्यका ग्रहण करना कठिन हो जायगा। त्रैधातुक अर्थात् काम, रूप तथा अरूप जगत्‌में विद्यमान चित्त और चैत्त ही अभूतपरिकल्प्य हैं। पहले जो परिनिष्पन्न, परतन्त्र तथा परिकल्पित, इन तीन प्रकारके लक्षणोंका वर्णन किया गया है, वह सब इसीका समझना चाहिये।

लङ्कावतारके मतसे सम्पूर्ण भाव निःस्वभाव हैं। समग्र प्रपञ्च मेघ, अलातचक्र अथवा गन्धर्वनगरके सदृश है। कहीं-कहीं यह अनुपम मायामरीचिका अथवा स्वप्नरूपमें भी वर्णित हुआ है। बाह्य वस्तु अनादिकालसे ही भ्रान्तिजन्य मनोविजृम्भणमात्र है। लङ्कावतारका मत है कि इस दृष्टिसे बाह्य सत्ताको देखनेसे विकल्पका बन्धन टूट जाता है। तब समझमें आता है कि देह, मोक्ष और प्रतिष्ठा अर्थात् समग्र जगत् आलयविज्ञान अथवा चित्तका परिणाममात्र है। उस समय दृष्ट और दृश्यके ज्ञानकी निवृत्ति होनेपर निराभास अवस्थाका, जिसमें द्वैतभावका लेशतक नहीं रहता, स्फुरण होता है। तन्मयताके साथ-साथ चित्त अभेदको प्राप्त हो जाता है। जन्म, स्थिति और नाश, सब अपने चित्तके ही भाव हैं, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिये उस समय नाम आदिका ज्ञान नहीं रहता। इस अवस्थाके उदयसे संसार तथा निर्वाणमें भी साम्यदृष्टि हो जाती है।

पारमिताका अभ्यास चलता है। नवीं भूमिमें योगी और भी आगे बढ़ जाते हैं। उस समय योगी चार प्रतिसंविदोंको प्राप्तकर बहुत समाधियोंको अपने आयत्त कर लेते हैं। धारणासे उनकी आत्मरक्षा होती है और बहुपारमिताका अभ्यास चलता है। इसके बाद दशममें अथवा अन्तिम भूमिमें उनकी अभिषेकक्रिया निष्पन्न होती है। उस समय दिव्य, उज्ज्वल देह उन्हें प्राप्त होता है, रत्नमण्डित दिव्य कमलके ऊपर उनका आसन होता है और उनके विशुद्ध ज्योतिर्मय देहसे रश्मियाँ विकीर्ण होने लगती हैं, जिनके प्रभावसे जीवोंकी दुःखनिवृत्ति होती है। असंख्य निर्माण कायोंके द्वारा वे उपदेश देते हैं और ज्ञानपारमिताका अभ्यास चलता है। दस भूमियोंके अतिक्रान्त होनेपर वे दशभूमीश्वर कहलाते हैं। यह बुद्धत्वलाभ है—इसीका दूसरा नाम पूर्णता है।

महाकरुणा, उपाय तथा अनाभोगचर्या—जिस प्रकार सूर्य सब वस्तुओंके ऊपर समानरूपसे अपनी किरणोंको फेंकते हैं, किसीके साथ पक्षपात नहीं करते, ठीक उसी प्रकार इसके द्वारा बोधिसत्त्व सब कुछ देखते हैं और जानते हैं कि यह विश्व-प्रपञ्च मायिक है, छायाके सदृश अलीक है; क्योंकि यह कारणके बिना उद्भूत है (अकारणक्लृप्त है)। वे जानते हैं कि चित्तके बाहर जगत्की सत्ता नहीं है। इसके अनन्तर क्रमशः उच्चतर भूमिमें आरूढ़ होकर इस प्रकारकी समाधिकी प्राप्ति करते हैं जिससे अपरोक्षतया अनुभूत होता है कि तीनों धातु ही अर्थात् समग्र जगत् ही चित्तमात्र है। इस समाधिका नाम मायोपम समाधि है। इसके अनन्तर वज्रबिम्बोपम समाधिका आविर्भाव होता है, जिसके बलसे चित्तके सब आकार निवृत्त हो जाते हैं—अर्थात् चित्त निराकार हो जाता है, ज्ञान पूर्ण हो जाता है और सब वस्तुओंमें अजातत्व स्पष्टतया अनुभूत होने लगता है। बुद्धकायप्राप्तिका यही समय है। यह भूततथतामें अवस्थिति है। इस अवस्थामें योगी १० बल, ६ अभिज्ञाओं और १० वशित्वोंको अपने आयत्त करते हैं और एक साथ असंख्यरूपमें प्रकट होते हैं। वे उपायके बलसे सब बुद्धक्षेत्रोंका दर्शन करते हैं और दार्शनिक मतवाद, चित्तके मल और विज्ञानसे मुक्त होकर अपने भीतर 'परावृत्ति' का अनुभव करते हैं। इसके अनन्तर धीरे-धीरे तथागतकायमें अर्थात् बुद्धकायमें विशुद्धरूपसे अवस्थित होते हैं। बुद्धकायमें अवस्थान होनेके लिये स्कन्ध, धातु, आयतन, कारण, कार्य, नीति, जन्म, स्थिति तथा विनाश, इन सबसे दूर रहते हुए चित्तमात्रसे प्रतिष्ठित होना आवश्यक है। संसार अनादिकालसे सञ्चित वासनाओंके प्रभावसे चित्तमात्रसे ही विकल्पवश उद्भूत हुआ है। परन्तु बुद्धत्व निराभास, अजात तथा स्वसंवेद्य है। चित्तके पूर्ण संयम और अनाभोगचर्याके द्वारा बुद्धभावका अधिगम होता है। लङ्कावतारमें वर्णित ५ धर्मोंमें तथता ही श्रेष्ठ है। मन जिस समय नाम (संकेतमात्र) और निमित्त (इन्द्रियग्राह्य विषयोंका गुण, जैसे रूप)-स्वरूप दो धर्मोंके द्वारा स्पृष्ट न होनेके कारण शान्त रहता है, उस समय इस अवस्थाका उदय होता है। सम्यक्ज्ञानरूप धर्मद्वारा नाम और निमित्तमय जगत्का पर्यवेक्षण करनेसे ज्ञात होता है कि यह सब सत् भी नहीं है और असत् भी नहीं है, यह सब समारोप और अपवादसे परे है, अर्थात् इसके विषयमें न कुछ विधान ही किया जाता है और न कुछ निषेध ही किया जा सकता। विकल्परूप धर्म भी उस समय नहीं रहता, इसीलिये वस्तु और गुणका परस्पर भेदग्रहण भी नहीं रहता।

निर्वाणके विषयमें इस ग्रन्थका कथन है कि यह यथाभूतार्थस्थानदर्शनसे ही प्राप्त होता है। यह सब प्रकारके विकल्पोंसे अतीत है।

आलयविज्ञानमें अनादिकालसे असंख्य वासनाएँ विद्यमान रहती हैं। ये वासनाएँ जबतक अविद्या, मिथ्यादृष्टि, अभिनिवेश आदिसे रञ्जित रहती हैं तबतक सत्यका अर्थात् तथताका स्वरूपदर्शन ठीक-ठीक नहीं होता। इसीलिये निर्वाण भी नहीं हो सकता। इसीसे उच्छेददृष्टि, शाश्वतदृष्टि, भवदृष्टि और अभवदृष्टि—इन सब विकल्पोंका परिहार करके आलयका संशोधन करना चाहिये। यही आश्रयपरावृत्ति है। महायानमतमें वस्तुतः संसार और निर्वाणमें किसी प्रकारका भेद नहीं है, इसलिये वे जागतिक सत्ताका आत्यन्तिक विनाश नहीं मानते। जिस मार्ग अथवा योगसे संसारसे निर्वाणप्राप्ति होती है, उसके प्रभावसे उस सत्ताका ध्वंस नहीं होता, केवल आश्रयकी परावृत्तिमात्र होती है, अर्थात् वह सत्ता बुद्धकायघटक उपादानमें परिणत हो जाती है *। उस समय सभी पदार्थ शून्य अर्थात् स्वभावरहित प्रतीत होते हैं। यही नित्य अपरोक्षदर्शनका स्वरूप है। आश्रयपरावृत्तिकी सिद्धि होनेपर ज्ञात होता है कि निर्वाण निर्धर्मक तथा निर्विशेष है। इसमें न लाभ है, न हानि है; न त्याग है, न ग्रहण है; न एकत्व है और न नानात्व ही है। †

ऊपर संक्षेपसे लङ्कावतारसूत्रके दार्शनिक सिद्धान्तके विषयमें कुछ आलोचना की गयी है। सन्धिनिर्मोचनसूत्रमें भी योगाचारमत ही आलोचित हुआ है। इसके बाद बोधि-

---

* महायानसंग्रहमें आश्रयपरावृत्तिका वर्णन इस प्रकार किया गया है—धातु अथवा सत्ताका जिस अंशमें आवरणसंस्कार और संक्लेश विद्यमान है, यदि उस अंशका हेतु फलभाव निवृत्त हो जाय, यदि धर्मसे आरोपितभाव निवृत्त हो जाय, तब सब प्रकारके आवरणोंसे मुक्ति होती है और सब धर्मोंके ऊपर अपना प्रभाव या स्वामित्व (वशवर्तित्व) अधिगत होता है। और उसीके प्रभावसे धर्मका दूसरा स्वभाव (जिससे शुद्धि अथवा 'व्यवदान' होता है) अभिव्यक्त होता है। परावृत्तिका विशेष विवरण असंगकृत महायानसूत्रालङ्कारमें देखना चाहिये।

† हीनयानियोंका निर्वाण संसारसे विलक्षण है, किन्तु लङ्कावतारके मतमें संसार और निर्वाणमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है।

सत्त्व मैत्रेयनाथ, असङ्ग, वसुबन्धु आदि दार्शनिकोंने योगाचारसिद्धान्तका विशेषरूपसे परिष्कार कर विभिन्न प्रकारके ग्रन्थोंका निर्माण किया। मैत्रेयनाथके पाँच ग्रन्थ विशेषरूपसे प्रसिद्ध हैं, जिनमें मध्यान्तविभागसूत्र अन्यतम है। महायानसूत्रालङ्कारका कारिकांश भी मैत्रेयनाथद्वारा रचित है, यह Pandit H. Ui ने अच्छी तरहसे प्रमाणित किया है। साधारणतया यह ग्रन्थ असंगकृत माना जाता था। योगाचार (अथवा योगाचार्य)-भूमिशास्त्र भी मैत्रेयनाथरचित ही है। सुप्रसिद्ध बोधिसत्त्वभूमि नामक ग्रन्थ इसीका एक भाग है। असंगका महायानसंग्रह एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। वसुबन्धुने अपने ज्येष्ठ भ्राताके लोकोत्तर प्रभावसे प्रभावित होकर जिस समय सर्वास्तिसम्प्रदायसे सम्बन्धविच्छेद किया था उस समय उनके आदेशसे वे योगाचारसिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थोंके निर्माणमें प्रवृत्त हुए थे। विंशिका तथा त्रिंशिका नामक विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकी दो पुस्तकें, मध्यान्तविभागसूत्रका भाष्य, और महायानसूत्रालङ्कारवृत्ति—ये सब ग्रन्थ वसुबन्धुके हैं। स्थिरमतिने वसुबन्धुरचित त्रिंशिका और महायानसूत्रालङ्कारवृत्तिके ऊपर भाष्य बनाया था और मध्यान्तविभागसूत्रभाष्यके ऊपर टीका भी लिखी थी।

विज्ञानवादी योगीके मतसे क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरणकी निवृत्तिसे ही परमार्थलाभ हो सकता है। जबतक ये दो प्रकारके आवरण रहते हैं तबतक किसी भी उपायसे मोक्ष तथा सर्वज्ञत्वलाभ नहीं हो सकता। क्लेश मोक्षका अन्तराय है। क्लेशनिवृत्ति सिद्ध होनेपर ही मोक्षलाभ होता है। परन्तु सर्वज्ञत्व तबतक प्राप्त नहीं हो सकता जबतक द्वितीय आवरण अर्थात् ज्ञेयावरण पूर्णरूपसे न कट जाय। अक्लिष्ट और क्लिष्ट भेदसे अज्ञान दो प्रकारका है। क्लिष्ट अज्ञानकी निवृत्ति क्लेशके साथ-ही-साथ हो जाती है। परन्तु क्लेशोंका उपशम होनेपर भी अर्थात् मुक्तावस्थामें भी अक्लिष्ट अज्ञान रह ही जाता है। जब उसका भी निरोध हो जाता है, तभी सर्वाकारक आसक्तिहीन तथा अप्रतिहत ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। सर्वज्ञत्वलाभ करनेके लिये यह प्राथमिक अवस्था है।

आत्मदृष्टिसे राग आदि क्लेश उत्पन्न होते हैं। जब साधकको पुद्गलनैरात्म्यज्ञानमें प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, तब सत्कायदृष्टि अथवा देहात्मबोधकी निवृत्ति होकर तन्मूलक सब क्लेशोंकी निवृत्ति हो जाती है। यही मुक्तावस्था है। इसके अनन्तर धर्मनैरात्म्यज्ञानसे द्वितीय प्रकारका आवरण अर्थात् ज्ञेयावरण कट जाता है। इससे सर्वज्ञत्वभाव अधिगत हो जाता है।

आत्मा, जीव, जन्तु, मनुष्य—ये सब आत्मोपचार हैं। स्कन्ध, धातु, आयतन, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—ये सब धर्मोपचार हैं। ये दोनों प्रकारके उपचार ही वस्तुतः विज्ञानके परिणाम हैं। विज्ञानके बाहर इनकी सत्ता नहीं है अर्थात् विज्ञानके परिणामसे अतिरिक्त आत्मा या धर्म नहीं माना जा सकता। अन्यथाभावका नाम ही परिणाम है। आत्मादि विकल्पवासनाओंकी पुष्टि होनेसे आलयविज्ञानसे आत्मादिका निर्भासमय विकल्प उत्पन्न होता है। इसी प्रकार रूपादिविकल्पवासनाकी पुष्टिसे आलयविज्ञानसे ही रूपादिनिर्भासमय विकल्प उत्पन्न होता है। इस रूपादिनिर्भासको अथवा आत्मादिनिर्भासको विज्ञानबहिर्भूतके सदृश मानकर रूपादि उपचार—व्यपदेश—अनादिकालसे ही प्रवृत्त है। रूपादि या आत्मादिके न रहनेपर भी तादृश उपचार अनादि कालसे ही है। वस्तुतः जहाँ जो वस्तु नहीं है वहाँ उसका उपचार होता है। विशेषरूपसे यदि विचार किया जाय तो मालूम पड़ेगा कि आत्मा तथा धर्म न विज्ञानके स्वरूपमें हैं, न विज्ञानके बाहर हैं—ये दोनों ही परिकल्पित हैं। इसीलिये ये पारमार्थिक या सत्य नहीं हैं।

कोई-कोई लोग समझते हैं कि विज्ञान तथा विज्ञेय दोनों ही सत्य हैं। परन्तु यह एकान्तवाद ठीक नहीं है, क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि आत्मा तथा धर्म परिकल्पित होनेके कारण विज्ञानके स्वरूपमें अथवा बाहर हैं ही नहीं, इसी कारणसे विज्ञेय अर्थात् आत्मा या धर्म सत्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु उपचार निराधार नहीं होता, इसीलिये मानना पड़ता है कि वह वस्तुतः विज्ञानका परिणाम है, जिसमें आत्मा तथा धर्मका उपचार हो सकता है।

कोई-कोई लोग यह भी कहते हैं कि जैसे विज्ञेय सांवृतिक अथवा मिथ्या है, तद्वत् विज्ञान भी मिथ्या है। परन्तु यह मत ठीक नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि उपादान संवृतिरूप माननेके योग्य नहीं है। इसीलिये विज्ञानवादी आचार्योंका सिद्धान्त है—

सर्वं विज्ञेयं परिकल्पितस्वभावत्वात् वस्तुतो न विद्यते, विज्ञानं पुनः प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वात् द्रव्यतः अस्ति इत्यभ्युपेयम्।

'परिणाम' शब्दसे मालूम पड़ता है कि विज्ञान प्रतीत्यसमुत्पन्न है। बाह्य अर्थके व्यतिरेकसे भी विज्ञान स्वयं ही अर्थके रूपमें परिणत होता है। बाह्यार्थ विज्ञानके आलम्बनप्रत्ययरूपमें माना जाता है, इसमें संशय नहीं है। परन्तु

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि विज्ञान बाह्यार्थसे उत्पन्न होता है । सिद्धान्त यह है कि बाह्यार्थ स्वाभास ज्ञानका जनक है, क्योंकि कारणता आलम्बन प्रत्ययके अनुरूप समनन्तर आदि सभी प्रकारके प्रत्ययोंमें समरूपसे ही वर्तमान है । विज्ञानका परिणाम विपाक, मनन तथा विषयविज्ञप्तिरूपसे तीन प्रकारका है । कुशल तथा अकुशल कर्मवासनाके परिपाकसे आक्षेपानुरूप फलाभिनिर्वृत्ति विपाक नामका परिणाम है । इसीका नामान्तर आलयविज्ञान है । जितने प्रकारके क्लिष्ट धर्म हैं सब इसी बीजसे उत्पन्न होते हैं । कारणरूपमें सभी धर्मोंमें इसकी उपलब्धि होती है । इस आलयविज्ञानकी प्रवृत्ति दो प्रकारसे होती है—(१) आध्यात्मिक अथवा आभ्यन्तरीय और (२) बाह्य । प्रवृत्ति-विज्ञान तथा आलयविज्ञानमें कुछ भेद है । प्रवृत्तिविज्ञानका आलम्बन तथा आकार परिच्छिन्न है । परन्तु आलयविज्ञानका आकार जैसे अपरिच्छिन्न है उसी प्रकार इसका आलम्बन भी अपरिच्छिन्न है । विज्ञानपरिणामका द्वितीय भेद मनन अथवा क्लिष्ट मन है । सर्वदा मनन करना ही क्लिष्ट मनका स्वभाव है, इसलिये इसको 'मनन' कहते हैं । जैसे चक्षुरादि विज्ञानके आश्रय चक्षुरादि इन्द्रियाँ और उसके आलम्बन रूप आदि विषय हैं, उसी प्रकार क्लिष्ट मनका भी आश्रय आलयविज्ञान है; क्योंकि आलयविज्ञान अथवा विपाक जिस धातुमें या भूमिमें रहता है, उसी धातु या भूमिमें क्लिष्ट मन भी रहता है । क्लिष्ट मनकी वृत्ति आलयविज्ञानसे नियत सम्बद्ध है अर्थात् आलयमें आश्रित होकर ही क्लिष्ट मन अपना कार्य करता है । क्लिष्ट मनका आलम्बन आलयविज्ञान ही है । सत्कायदृष्टि, देहाध्यास प्रभृतिके सम्बन्धसे 'अहम्', 'मम' इत्यादि आकारमें आलयविज्ञानरूपी आलम्बनसे क्लिष्ट मन काम करता है । जिस आलय वा चित्तसे मनोविज्ञान उत्पन्न होता है उसी चित्तको उस मनोविज्ञानके लिये आलम्बन मानना चाहिये । मननाख्य विज्ञानका ही नामान्तर मन है । यह जैसे आलयसे पृथक् है, वैसे ही प्रवृत्तिविज्ञानसे भी पृथक् है । मनन इसका स्वभाव है । यह विज्ञानात्मक है, इसीलिये सब प्रकारके चित्तधर्मोंसे इसका सम्प्रयोग होता है । चित्तधर्म दो प्रकारके हैं (१) क्लेश, (२) क्लेशभिन्न । छः प्रकारके क्लेशोंमेंसे चार प्रकारके क्लेशोंके साथ मनका सम्बन्ध रहता है—(क) अविद्या अथवा आत्ममोह, यह आत्मविषयक अज्ञानका नामान्तर है; (ख) आत्मदृष्टि, यह उपादानस्कन्धमें आत्मदर्शनका नामान्तर है; सत्कायदृष्टि भी इसीको कहते हैं; (ग) अस्मिमान अथवा आत्ममान,—आत्मदृष्टिसे चित्तकी जो उन्नति होती है वह अस्मिमान कहलाती है; (घ) तृष्णा अथवा आत्मस्नेह,—पूर्वोक्त तीन क्लेशोंके रहनेसे आत्माभिमत वस्तुमें जो अभिष्वङ्ग उत्पन्न होता है उसे तृष्णा कहते हैं । आलयविज्ञानके स्वरूपमें सम्मोह होकर उसमें आत्मदृष्टिलाभ होता है । आत्मदृष्टिसे चित्तमें अस्मिमानका उदय होता है । क्लेश अकुशल और निवृताव्याकृतरूपसे दो प्रकारका है ।

विज्ञानपरिणामका तृतीय भेद विषयविज्ञप्ति है । चक्षुर्विज्ञानादि छः प्रकारके विज्ञानका अथवा विषयप्रत्यवभासका ही नाम विषयविज्ञप्ति है । रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य और धर्म, यह छः प्रकारकी विषयोपलब्धि बौद्धग्रन्थोंमें तृतीय प्रकारका विज्ञानपरिणाम मानी जाती है । यह उपलब्धि कुशल हो सकती है, अकुशल हो सकती है अथवा उभयभावसे भिन्न अव्याकृत भी हो सकती है । अलोभ, अद्वेष और अमोहसे युक्त विषयोपलब्धि कुशल है । तथा लोभ, द्वेष और मोहयुक्त उपलब्धि अकुशल है । इस तृतीय प्रकारके विज्ञान-परिणाम अर्थात् विषयविज्ञानमें दो प्रकारके धर्म रहते हैं—(१) सर्वत्रग धर्म,—जैसे स्पर्श, मनस्कार, वित्, संज्ञा और चेतना । ये पाँच प्रकारके धर्म आलयमें, क्लिष्ट मनमें तथा प्रवृत्तिविज्ञानमें, सर्वत्र ही रहते हैं । (२) विनियत धर्म,—ये धर्मविशेष विषयमें नियत हैं, सर्वत्र नहीं रहते । जैसे कि छन्द (अभिप्रेत वस्तुके प्रति अभिलाषा), अधिमोक्ष (निश्चित वस्तुमें अवधारण), स्मृति (संस्तुत वस्तुमें चित्तका असंप्रमोष अथवा अभिलपनता), समाधि (उपपरीक्षणीय वस्तुमें चित्तकी एकाग्रता), धी अर्थात् प्रज्ञा * ।

---

* दर्शन, श्रवण आदि क्रियाके विषयरूपसे जो वस्तु अभिमत है उसे अभिप्रेत वस्तु कहते हैं । ऐसे वस्तुके विषयमें दर्शन, श्रवण आदिकी प्रार्थना या इच्छाका नाम छन्द है । युक्ति अथवा आप्तोपदेशसे जो वस्तु असंदिग्धरूपसे गृहीत होती है, उसे निश्चित वस्तु कहते हैं । जिस आकारमें (जैसे अनित्य अथवा दुःखमय इत्यादि) कोई वस्तु निश्चित होती है, उसी आकारमें ही उस वस्तुका चित्तमें जो अभिनिवेश किया जाता है—अर्थात् यह वस्तु ऐसी ही है, दूसरे प्रकारकी नहीं, उसको अधिमोक्ष कहते हैं । साधकके दीर्घकाल तक अभ्यास करके अधिमुक्ति-अवस्थाको प्राप्त कर लेनेपर प्रवादिगण अर्थात् दूसरे सिद्धान्तमें आग्रह रखनेवाले लोग उसे अपने सिद्धान्तसे हटा नहीं सकते । पूर्वानुभूत

इस प्रज्ञा या ज्ञानको 'विवेक' कहते हैं। इसका विषय स्वलक्षण भी हो सकता है और सामान्यलक्षण भी हो सकता है। बौद्धदर्शनमें इसका नामान्तर धर्मविचय है। यह सम्यक्, मिथ्या अथवा सङ्कीर्ण हो सकता है। यह ज्ञान कभी योगसे उत्पन्न होता है, कभी अयोगसे उत्पन्न होता है और कभी-कभी इन दोनों प्रकारोंसे विलक्षण होता है। आप्तोपदेश, अनुमान और प्रत्यक्ष—इन तीनोंको 'योग' कहते हैं। इसमें आप्तवचनजन्य बोध श्रुतमयी प्रज्ञा है, युक्तिप्रयोगसे उत्पन्न बोधको चिन्तामयी प्रज्ञा कहते हैं, और समाधिजन्य बोध भावनामयी प्रज्ञा कहलाता है; अनाप्तोपदेश, अनुमानाभास और मिथ्याप्रणिहित समाधिसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अयोगज ज्ञानमें परिगणित है। उपपत्तिप्रतिलम्भिक ज्ञान—अर्थात् सहज ज्ञान या वह ज्ञान जो जन्मके साथ ही उत्पन्न होता है—योगज नहीं है और अयोगज भी नहीं है। लौकिकव्यवहारमूलक ज्ञान भी इसी कोटिका है। प्रज्ञाके द्वारा धर्मका प्रविचय करनेसे जो निश्चय प्राप्त होता है, उससे संशयकी निवृत्ति होती है।

ये पाँचों धर्म, जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है, परस्पर व्यावृत्त रहते हैं। अर्थात् जहाँ एक धर्म रहता है (जैसे अधिमोक्ष) वहाँ अन्यान्य धर्म नहीं रह सकते। इन सर्वत्रग और विनियत धर्मोंके अतिरिक्त श्रद्धादि ग्यारह कुशल धर्मोंका वर्णन भी योगाचारग्रन्थोंमें मिलता है।

विज्ञानवादियोंके मतसे जो तीन प्रकारके विज्ञानपरिणामकी बात कही गयी है, वही विकल्प है। अर्थका आकार धारण करता हुआ विज्ञान ही समस्त विश्वरूप विकल्प बनता है। आलयविज्ञान, क्लिष्ट मन और प्रवृत्तिविज्ञानके स्वभावके भेदसे विकल्प तीन प्रकारका है। त्रैधातुक विश्व जिस प्रकार विज्ञानात्मक है वैसे ही असंस्कृत धर्म भी विज्ञानात्मक ही है। अनधिष्ठित मूल विज्ञानमें कारणके बिना विकल्पोंकी प्रवृत्ति कैसे होती है? इस प्रकारका प्रश्न हो सकता है। विज्ञानवादीका समाधान यह है कि आलयविज्ञानमें सर्वधर्मोत्पादनशक्ति निहित है, अतएव यह सर्वबीजरूप है। आभ्यन्तरीय अन्योन्य संघर्षसे यह आलयविज्ञान ही अनन्त आकारोंको धारणकर तत्-तत् विकल्पोंके रूपमें परिणत होता है।

योगाचारोंका निर्वाणस्वरूप धर्मधातु परमार्थसत्य है। यह अद्वय या भेदहीन तत्त्व है। इसमें ज्ञातृ-ज्ञेयरूप अथवा और किसी प्रकारका भेद नहीं है। योगी इस परिनिष्पन्नस्वभाव धर्मधातुका ध्यान करते-करते इसमें समाहित हो जाते हैं और इसके साथ तादात्म्य लाभ करते हैं; जलके जलमें मिलनेसे जैसे तादात्म्य हो जाता है, ठीक उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। यही विशुद्ध अद्वैत परिस्थिति है। परिकल्पितस्वभाव बाह्य जगत् है जिसमें सत्त्व (द्रव्य), गुण आदिका आरोप होता है; परतन्त्रस्वभाव क्षणिक विज्ञानात्मक है।

◆

वस्तुको संस्तुत वस्तु कहते हैं। आलम्बन ग्रहणके नष्ट न होनेसे असम्प्रमोष होता है। पूर्वगृहीत वस्तुका पुनः आलम्बनके आकारमें स्मरण करना अभिलपनता है। इस अवस्थाके प्रतिष्ठित होनेपर चित्त दूसरे आकारमें विक्षिप्त नहीं होता। वस्तुके गुण अथवा दोषका निरूपण ही उपपरीक्षण है। एकाग्रता होनेपर चित्तके आलम्बनमें भेद अथवा भेदाभास नहीं रह सकता। इससे अर्थात् समाधिके ठीक-ठीक अभ्याससे यथाभूत परिज्ञान होता है अर्थात् यथार्थ ज्ञानका उदय होता है। छन्द प्रभृति नियत धर्मका जो संक्षेपमें वर्णन किया गया है उसकी सार्थकता और प्रयोजनवत्ता कुछ दिनके अभ्याससे ही प्रतीत होने लगती है। छन्दके अभ्याससे वीर्यका उदय होता है, अधिमोक्षसे स्थिरता होती है, स्मृतिसे विक्षेपनिवृत्ति होती है और समाधिसे ज्ञानका उदय होता है।

कृष्णकीर्तन ही शान्तिका एकमात्र उपाय है

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव जबसे गयासे लौटकर आये हैं, तभीसे उनकी विचित्र दशा है। वे भोजन करते-करते सहसा बीचमें ही उठकर रुदन करने लगते हैं, रास्ता चलते-चलते पागलोंकी भाँति नृत्य करने लगते हैं। शय्यापर लेटे-लेटे सहसा उठकर बैठ जाते हैं और 'हा कृष्ण ! हा कृष्ण !' कहकर जोरोंसे चिल्लाने लगते हैं। कभी-कभी लोगोंसे बातें करते-करते बीचमें ही जोरोंसे ठहाका मारकर हँसने लगते हैं। रातभर सोनेका नाम नहीं। लंबी-लंबी साँसें लेते रहते हैं, अधीर होकर अत्यन्त विरहीकी भाँति हिचकियाँ भरते रहते हैं और उनके नेत्रोंसे इतना जल निकलता है कि सम्पूर्ण वस्त्र गीले हो जाते हैं। विष्णुप्रिया इनकी ऐसी दशा देखकर भयभीत हो जाती हैं और जाकर अपनी साससे सभी बातोंको कहती हैं। शचीमाता पुत्रकी दशा देखकर दुःखसे कातर होकर रुदन करने लगती हैं और सभी देवी-देवताओंकी मनौती मानती हैं। वे करुणभावसे अधीर होकर प्रभुके पादपद्मोंमें प्रार्थना करती हैं—'हे अशरणशरण ! इस दीन-हीन कङ्गालिनी विधवाके एकमात्र पुत्रके ऊपर कृपा करो। दयालो ! मैं धन नहीं चाहती, भोग नहीं चाहती, सुन्दर वस्त्राभूषण तथा सुस्वादु भोजनकी मुझे इच्छा नहीं। मेरा प्यारा, मेरे जीवनका सहारा, मेरी आँखोंका तारा यह निमाई स्वस्थ और नीरोग बना रहे, यही मेरी प्रार्थना है।' माता बार-बार निमाईके मुखकी ओर देखतीं और उनकी ऐसी दयनीय दशा देखकर अत्यन्त ही दुखी होतीं।

महाप्रभु अब जो भी काम करना चाहते, उसे ही नहीं कर सकते। काम करते-करते उन्हें अपने प्रियतमकी याद आ जाती और उसीके विरहमें वे बेहोश होकर गिर पड़ते। ठीक-ठीक भोजन भी नहीं कर सकते। स्नान, सन्ध्या, पूजाका उन्हें कुछ भी होश नहीं; मुखसे निरन्तर श्रीकृष्णके मधुर नामोंका ही अपने-आप उच्चारण होता रहता है। किसीकी बातका उत्तर भी देते हैं तो उसमें भी भगवान्की अलौकिक लीलाओंका ही वर्णन होता है। किसीसे बातें भी करते हैं, तो श्रीकृष्णके सम्बन्धकी ही करते हैं ! अर्थात् वे कृष्णके सिवा कुछ जानते ही नहीं। श्रीकृष्ण ही उनके प्राण हैं, श्रीकृष्ण ही उनके धन हैं; अर्थात् उनके सर्वस्व श्रीकृष्ण ही हैं, उनके लिये संसारमें श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

प्रभुके सब विद्यार्थियोंने जब सुना कि गुरुजी गयाधामकी यात्रा करके लौट आये हैं तो वे एक-एक करके उनके घरपर आने लगे और पाठशालामें चलकर पढ़ानेकी प्रार्थना करने लगे। सबके बहुत आग्रह करनेपर प्रभु पाठशालामें पढ़ानेके निमित्त गये। किन्तु वे पढ़ावें क्या, लौकिक शास्त्रोंको तो वे एकदम भूल ही गये; अब वे श्रीकृष्णके कीर्तनके अतिरिक्त किसी भी विषयको नहीं कह सकते। उसी पाठको विद्यार्थियोंके लिये पढ़ाने लगे—'भैया ! इन संसारी शास्त्रोंमें क्या रक्खा है। श्रीकृष्णका नाम ही एकमात्र सार है, वह मधुरातिमधुर है, उसीका पान करो; इन लौकिक शास्त्रोंसे क्या अभीष्ट सिद्ध होगा। प्राणिमात्रके आश्रयस्थान श्रीकृष्ण ही हैं। संसारकी सृष्टि, स्थिति और लय श्रीकृष्णकी इच्छामात्रसे होता रहता है। वे आनन्दके धाम हैं, सुखस्वरूप हैं। उनके गुणोंका आर्त होकर गान करते रहना मनुष्योंका परम पुरुषार्थ है।' इतना कहते-कहते प्रभु उच्च स्वरसे कृष्णकीर्तन करने लगे।

इन बातोंको श्रवण करके कुछ विद्यार्थी तो आनन्दसागरमें मग्न हो गये। वे बाह्यज्ञानशून्य होकर परमानन्दका अनुभव करने लगे। कुछ ऐसे भी थे जो पुस्तकी विद्याको ही सर्वस्व समझते थे, भट्टाचार्य और शास्त्री बनना ही जिनके जीवनका एकमात्र चरम लक्ष्य था। वे कहने लगे—'गुरुजी ! आप कैसी बातें कर रहे हैं। हमें इन बातोंसे क्या प्रयोजन। इन बातोंका विचार तो वैष्णव भक्त करें। हमें तो हमारी पाठ्यपुस्तकका पाठ पढ़ाइये। हम यहाँ पाठशालामें भक्तितत्त्वकी शिक्षा लेनेके लिये नहीं आये हैं; हमें तो व्याकरण, अलङ्कार तथा न्याय आदि पुस्तकोंके पाठोंको पढ़ाइये।'

उन विद्यार्थियोंकी ऐसी बातें सुनकर प्रभुने कहा—'भाई ! आज हमारी प्रकृति स्वस्थ नहीं है। आज आपलोग अपना-अपना पाठ बंद रखिये, पुस्तकोंको बाँधकर रख दीजिये। चलो, अब गङ्गास्नान करने चलें। कल पाठकी बात देखी जायगी।' इतना सुनते ही सभी विद्यार्थियोंने अपनी-अपनी पुस्तकें बाँध लीं और वे प्रभुके साथ गङ्गा-

स्नानके निमित्त चल दिये। गङ्गाजी पहुँचकर बहुत देरतक जलविहार होता रहा। रात्रि हो जानेपर प्रभु लौटकर घर आये और विद्यार्थी अपने-अपने स्थानोंको चले गये।

दूसरे दिन महाप्रभु फिर पाठशालामें पहुँचे। प्रभुके आसनासीन हो जानेपर विद्यार्थियोंने अपनी-अपनी पुस्तकोंमेंसे प्रश्न पूछना आरम्भ कर दिया। कोई भी विद्यार्थी इनसे कैसा भी प्रश्न पूछता उसका ये श्रीकृष्णपरक ही उत्तर देते।

कोई विद्यार्थी पूछता—'सिद्धवर्णसमाम्नाय बताइये।'

आप उत्तर देते—'नारायण ही सब वर्णोंमें सिद्ध वर्ण हैं।'

कोई पूछता—'वर्णोंकी सिद्धि किस प्रकारसे होती है?'

प्रभु उत्तर देते—'श्रीकृष्णकी दृष्टिमात्रसे ही सब वर्ण सिद्ध हो जाते हैं।'

ऐसा उत्तर सुनकर कोई-कोई विद्यार्थी कहता—'ये भक्तिभावकी बातें छोड़िये। जो ठीक बात हो उसे ही बताइये।'

प्रभु कहते—'ठीक बात तो यही है, प्रतिक्षण श्रीकृष्ण-नामका ही संकीर्तन करते रहना चाहिये।'

यह सुनकर सभी विद्यार्थी एक दूसरेके मुखकी ओर देखने लगते। कोई तो चकित होकर प्रभुके श्रीमुखकी ओर देखने लगता। कोई-कोई धीरेसे कह देता—'दिमागमें गर्मी चढ़ गयी है।' दूसरा उसे धीरेसे धक्का देकर ऐसा कहनेसे निषेध करता।

प्रभुकी ऐसी अद्भुत व्याख्याएँ सुनकर बड़े-बड़े विद्यार्थी कहने लगे—'आप ये तो न जाने कहाँकी व्याख्या कर रहे हैं, शास्त्रीय व्याख्या कीजिये।'

प्रभु इसका उत्तर देते—'मैं शास्त्रोंका सार ही बता रहा हूँ। किसी भी पण्डितसे जाकर पूछ आओ, वह सर्व शास्त्रोंका सार श्रीकृष्णपदप्राप्ति ही बतावेगा।'

विद्यार्थी बेचारे इनकी अलौकिक बातोंका उत्तर दे ही क्या सकते थे। सब अपनी-अपनी पुस्तकें बाँधकर अपने-अपने स्थानके लिये चल दिये। कुछ समझदार और बड़े छात्र पण्डित गंगादासजीकी सेवामें पहुँचे और उनसे कहा—'महाराजजी! हम क्या बतावें, हमारे गुरुजी जबसे गयासे लौटे हैं तभीसे उनकी विचित्र दशा है। वे कभी हँसते हैं, कभी रोते हैं। पाठशालामें आते तो पाठ पढ़ानेके लिये हैं किन्तु पाठ न पढ़ाकर भक्ति-तत्त्वका ही उपदेश देने लगते हैं। हमलोग व्याकरण, न्याय, अलङ्कार तथा साहित्य आदि किसी भी शास्त्रका प्रश्न करते हैं तो वे उसका कृष्ण-परक ही उत्तर देते हैं। उनसे जो भी प्रश्न किया जाय उसीका उत्तर ऐसा देते हैं जो पाठ्यपुस्तकके एकदम विरुद्ध है। कभी-कभी पढ़ाते-पढ़ाते रोने लगते हैं और कभी-कभी जोरसे 'हा कृष्ण! हा प्यारे! पाहि माम्, राधावल्लभ! रक्ष माम्' इन वाक्योंको कहने लगते हैं। अब आप ही बताइये, इस प्रकार हमारी पढ़ाई कैसे होगी? हमलोग घर-बार छोड़कर केवल विद्याध्ययनके ही निमित्त यहाँ पड़े हुए हैं, यहाँपर हमारी पढ़ाई-लिखाई कुछ होती नहीं। उलटा पढ़े-लिखेको भूले जाते हैं। वे आपके शिष्य हैं, आप उन्हें बुलाकर समझा दें।'

पं० गंगादासजी वैसे तो बड़े भारी नामी विद्वान् थे, किन्तु उनकी विद्या पुस्तकी ही विद्या थी। भक्तिभावसे वे एकदम कोरे थे। ईश्वरके प्रति उनका उदासीन भाव था। 'यदि ईश्वर होगा भी तो हुआ करे, हमें उससे क्या काम। समयपर भोजन कर लिया, विद्यार्थियोंको पाठ पढ़ा दिया। बस, यही हमारे जीवनका व्यापार है। इसमें ईश्वरकी कुछ जरूरत ही नहीं।' कुछ-कुछ इसी प्रकारके उनके विचार थे। महाप्रभुके भक्त हो जानेकी बात सुनकर वे ठहाका मारकर हँसने लगे और विद्यार्थियोंसे कहने लगे—'हाँ, सुना तो मैंने भी है कि निमाई अबकी भक्त बन आया है। पण्डित होकर उसपर यह क्या भूत सवार हो गया। यह तो अनपढ़ मूर्खोंका काम है। ब्राह्मण पण्डितको तो निरन्तर शास्त्रोंके अध्ययन-अध्यापनमें ही लगे रहना चाहिये। खैर, अब तुम लोग अपने-अपने स्थानोंको जाओ। कल उसे मेरे पास भेज देना, मैं उसे समझा दूँगा। मेरी बातको वह कभी नहीं टालता।'

× × ×

आचार्य गंगादासजीकी मधुर और वात्सल्यपूर्ण भर्त्सनाके कारण निमाई पण्डित खूब सावधान होकर घरसे पढ़ानेके लिये चले। विद्यार्थियोंने अपने गुरुदेवको आते देखकर उनके चरणकमलोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और सभी सुखसे बैठ गये। विद्यार्थियोंका पाठ आरम्भ हुआ। किसी विद्यार्थीने पूछा—'अमुक धातुका किस अर्थमें प्रयोग होता है और अमुक लकारमें उसका कैसा रूप बनेगा?'

इस प्रश्नको सुनते ही आप भावावेशमें आकर कहने लगे—'सभी धातुओंका एक श्रीकृष्णके ही नाममें समावेश

हो सकता है; शरीरमें जो सप्तधातु हैं, तथा और भी संसारमें जितनी धातु सुनी तथा कही जा सकती हैं, सभीके आदि-कारण श्रीकृष्ण ही हैं। उनके अतिरिक्त कोई अन्य धातु हो ही नहीं सकती। सभी स्थितियोंमें उनके समान ही रूप बनेंगे। भगवान्‌का रूप नील-श्याम है, उनके श्रीविग्रहकी कान्ति नवीन जलधरकी भाँति एकदम स्वच्छ और हलके नीले रंगकी है। उसे वैडूर्य या घनकी उपमा तो 'शाखा-चन्द्रन्याय' से दी जाती है; असलमें तो वह अनुपमेय है, किसी भी संसारी वस्तुके साथ उसकी उपमा नहीं दी जा सकती।'

प्रभुके ऐसे उत्तरको सुनकर विद्यार्थी कहने लगे—'आप तो फिर वैसी ही बातें करने लगे। धातुका यथार्थ अर्थ बताइये। पुस्तकमें जो लिखा है उसीके अनुसार कथन कीजिये।'

प्रभुने अधीरताके साथ कहा—'धातुका यथार्थ अर्थ तो यही है जो मैं कर रहा हूँ, इसके अतिरिक्त मैं कुछ कह ही नहीं सकता। मुझे तो इसका यही अर्थ मालूम पड़ता है। आगे आप लोग जैसा समझें।'

इसपर विद्यार्थियोंने कुछ प्रेमके साथ अपनी विवशता प्रकट करते हुए कहा—'आप तो हमें ऐसी विचित्र-विचित्र बातें बताते हैं, हम अब याद क्या करें। हमारा काम कैसे चलेगा। इस प्रकार हमारी विद्या कब समाप्त होगी और इस तरहसे हम किस प्रकार विद्या प्राप्त कर सकते हैं।'

आप प्रेमके आवेशमें आकर कहने लगे—'सदा याद करते रहनेकी तो एक ही वस्तु है। सदा-सर्वदा सर्वत्र श्रीकृष्णके सुन्दर नामोंके ही स्मरणमात्रसे प्राणिमात्रका कल्याण हो सकता है, सदा उसीका स्मरण करते रहना चाहिये। अहा, जिन्होंने पूतना-जैसी बालघ्नीको, जो अपने स्तनोंमें जहर लपेटकर बालकोंके प्राण हर लेती थी, उस क्रूर कर्म करनेवाली राक्षसीको भी सद्गति दी, उन श्रीकृष्णकी लीलाओंका चिन्तन करना ही मनुष्योंके परम कल्याणका साधन हो सकता है। जो दुष्टबुद्धिसे भी श्रीकृष्णका स्मरण करते थे, जो उन्हें शत्रुरूपसे, विद्वेषके कारण मारनेकी इच्छासे उनके पास आये थे, वे अघासुर, बकासुर, शकटासुर आदि पापी भी उनके जगत्पावन दर्शनोंके कारण इस संसारसागरसे बात-की-बातमें पार हो गये, जिससे योगी लोग करोड़ों वर्षतक समाधि लगाकर भाँति-भाँतिके साधन करते रहनेपर भी नहीं तर सकते, उन श्रीकृष्णके चारु चरित्रोंके अतिरिक्त चिन्तनीय चीज और हो ही क्या सकती है?'

श्रीकृष्णकीर्तनसे ही उद्धार होगा, श्रीकृष्णकीर्तन ही सर्वसिद्धिप्रद है, उसके द्वारा प्राणिमात्रका कल्याण हो सकता है। श्रीकृष्णकीर्तन ही शाश्वत शान्तिका एकमात्र उपाय है, उसीके द्वारा मनुष्य सभी प्रकारके दुःखोंसे परित्राण पा सकता है। तुम लोगोंको उसी श्रीकृष्णकी शरणमें जाना चाहिये।'

इनकी ऐसी व्याख्या सुनकर सभी विद्यार्थी श्रीकृष्णप्रेममें विभोर होकर रुदन करने लगे। वे सभी प्रकारके संसारी विषयोंको भूल गये और श्रीकृष्णको ही अपना आश्रयस्थान समझकर उन्हींकी स्मृतिमें अश्रु-विमोचन करने लगे।

उनमेंसे कुछ उतावले और पुस्तकी विद्याको ही परम साध्य समझनेवाले छात्र कहने लगे—'हमें तो पुस्तकके अनुसार उसकी व्याख्या बताइये! उसीको पढ़नेके लिये हम यहाँ आये हैं।'

प्रभु अब कुछ-कुछ स्वस्थ हो गये थे। उन्हें अब थोड़ा-थोड़ा बाह्यज्ञान होने लगा। इसलिये विद्यार्थियोंके ऐसा कहनेपर आपने रोते-रोते उत्तर दिया—'भैया, हम क्या करें, हमारी प्रकृति स्वस्थ नहीं है। मालूम पड़ता है, हमें फिरसे वही पुराना वायुरोग हो गया है। हम क्या कह जाते हैं, इसका हमें स्वयं पता नहीं। अब हमसे इन ग्रन्थोंका अध्यापन नहीं हो सकेगा। आप लोग जाकर किसी दूसरे अध्यापकसे पढ़ें! अब हम अपने वशमें नहीं हैं।' प्रभुके ऐसा कहनेपर सभी विद्यार्थी फूट-फूटकर रोने लगे और विलाप करते हुए करुणकण्ठसे प्रार्थना करने लगे—'गुरुदेव! अब हम कहाँ जायँ? हम निराश्रयोंके आप ही एकमात्र आश्रय हैं। हमें आपके समान वात्सल्यप्रेम दूसरे किस अध्यापकमें मिल सकेगा? इतने प्रेमके साथ हमें कोई अन्य अध्यापक पढ़ा ही नहीं सकता। आपके समान सर्व संशयोंका छेत्ता और सरलताके साथ सुन्दर शिक्षा देनेवाला अध्यापक त्रिलोकीमें ढूँढ़नेपर भी हमें नहीं मिल सकता। आप हमारा परित्याग न कीजिये। हम आपके रोगकी यथाशक्ति चिकित्सा करावेंगे। स्वयं दिन-रात्रि सेवा-शुश्रूषा करते रहेंगे।'

उनकी आर्तवाणी सुनकर प्रभुकी आँखोंमेंसे अश्रुओंकी धारा बहने लगी। रोते-रोते उन्होंने कहा—'भैया, तुम

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

लोग हमारे बाह्य प्राणोंके समान हो। तुमसे सम्बन्धविच्छेद करते हुए हमें स्वयं अपार दुःख हो रहा है, किन्तु हम करें क्या; हम तो विवश हैं, हमारी पढ़ानेकी शक्ति ही नहीं। नहीं तो तुम्हारे-जैसे परम बन्धुओंके सहवासका सुख स्वेच्छापूर्वक कौन सत्पुरुष छोड़ सकता है ?'

विद्यार्थियोंने दीनभावसे कहा—'आज न सही, स्वस्थ होनेपर आप हमें पढ़ावें। हमारा परित्याग न कीजिये, यही हमारी श्रीचरणोंमें विनम्र प्रार्थना है। आप ही हमारी इस जीवननौकाके एकमात्र आश्रय हैं, हमें मझधारमें ही बिलखता हुआ छोड़कर अन्तर्धान न हूजिये !'

प्रभुने गद्गद कण्ठसे कहा—'भैया, मेरा यह रोग असाध्य है। अब इससे छुटकारा पानेकी आशा नहीं। किसी दूसरेके सामने तो बतानेकी बात नहीं है; किन्तु तुम तो अपनी आत्मा ही हो, तुमसे छिपानेयोग्य तो कोई बात हो ही नहीं सकती। असल बात यह है कि अब हम पढ़ानेका या किसी अन्य काम करनेका यत्न करते हैं तो एक श्यामवर्णका सुन्दर शिशु हमारी आँखोंके सामने आकर बड़े ही सुन्दर स्वरमें मुरली बजाने लगता है। उस मुरलीकी विश्वविमोहिनी तानको सुनकर हमारा चित्त व्याकुल हो जाता है और हमारी सब सुधबुध भूल जाती है। हम पागलकी भाँति मन्त्रमुग्ध-से हो जाते हैं। फिर हम कोई दूसरा काम कर ही नहीं सकते।' इतना कहकर प्रभु फिर जोरोंके साथ फूट-फूटकर रोने लगे। उनके रुदनके साथ ही सैकड़ों विद्यार्थियोंकी आँखोंसे अश्रुओंकी धाराएँ बहने लगीं। सभी ढाढ़ मारकर उच्चस्वरसे रुदन करने लगे। संजय महाशयका चण्डीमण्डप विद्यार्थियोंके रुदनके कारण गूँजने लगा। इस करुणापूर्ण क्रन्दनध्वनिको सुनकर सहस्रों नर-नारी दूर-दूरसे वहाँ आकर एकत्रित हो गये।

प्रभु अब कुछ-कुछ प्रकृतिस्थ हुए। अश्रुविमोचन करते हुए उन्होंने कहा—'मेरे प्राणोंसे भी प्यारे छात्रो ! अपनी-अपनी पुस्तकोंको बाँध लो; आजसे हम तुम्हारे अध्यापक नहीं रहे और न अब तुम ही हमारे छात्र हो, अब तो तुम श्रीकृष्णके सखा हो। अब सभी मिलकर हमें ऐसा आशीर्वाद दो जिससे हमें श्रीकृष्णप्रेम प्राप्त हो सके। तुम सभी हमें हृदयसे स्नेह करते हो, तुमसे हम यही दीनताके साथ भीख माँगते हैं। तुम सदा हमारे कल्याणके कामोंमें तत्पर रहे हो।'

प्रभुके मुखसे ऐसे दीनतापूर्ण शब्द सुनकर सभी विद्यार्थी बेहोश-से हो गये। कोई तो पछाड़ खाकर पृथ्वीपर गिरने लगे और कोई अपने सिरको पृथ्वीपर रगड़ने लगे।

प्रभुने फिर कहा—'मैं अन्तिम बार फिर तुम लोगोंसे कहता हूँ। तुम लोग पढ़ना न छोड़ना, कहीं जाकर अपने पाठको जारी रखना।'

रोते हुए विद्यार्थियोंने कहा—'अब हमें न तो कहीं आप-जैसा अध्यापक मिलेगा और न कहीं अन्यत्र पढ़ने ही जायँगे। अब तो ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि आपके श्रीमुखसे जो कुछ भी पढ़ा है वही स्थायी बना रहे और हमें किसी दूसरेके समीप जानेकी इच्छा ही उत्पन्न न हो। अब तो हमें अपने चरणोंकी शरण ही प्रदान कीजिये ! आपके चरणोंकी सदा स्मृति बनी रहे, यही अन्तिम वरदान दीजिये !' यह कहकर सभी विद्यार्थियोंने प्रभुको एक साथ ही साष्टांग प्रणाम किया और प्रभुने भी सबको पृथक्-पृथक् गलेसे लगाया। वे सभी बड़भागी विद्यार्थी प्रभुके प्रेमपूर्ण आलिङ्गनसे कृतकृत्य हो गये और जोरोंसे 'हरि बोल', 'हरि बोल' कहकर हरिनामकी तुमुल ध्वनि करने लगे।

प्रभुने उन विद्यार्थियोंसे कहा—'भैया, हम लोग इतने दिनोंतक साथ-साथ रहे हैं। हमारा तुम लोगोंसे बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, तुम ही हमारे परम आत्मीय तथा सुहृद् हो। एक बार तुम सभी एक स्वरसे श्रीकृष्णरूपी शीतल सलिलसे हमारे हृदयकी जलती हुई विरहज्वालाको शान्त कर दो। तुम सभी श्रीकृष्णरसायन पिलाकर हमें नीरोग बना दो। एक बार तुम सभी लोग मिलकर श्रीकृष्णके मङ्गलमय नामोंका उच्चस्वरसे संकीर्तन करो।'

विद्यार्थियोंने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा—'गुरुदेव ! हम संकीर्तनको क्या जानें। हमें तो पता भी नहीं, संकीर्तन कैसे किया जाता है। हाँ, यदि आप ही कृपा करके संकीर्तनकी प्रणाली सिखा दें तो हम जिस प्रकार आज्ञा हो उसी प्रकार सब कुछ करनेके लिये उद्यत हैं।'

प्रभुने सरलताके साथ कहा—'कृष्णकीर्तनमें कुछ कठिनता थोड़े ही है, बड़ा ही सरल मार्ग है। तुम लोग बड़ी ही आसानीके साथ उसे कर सकते हो।' यह कहकर प्रभुने स्वयं स्वरके सहित नीचेका पद उच्चारण करके बता दिया—

हरि हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

प्रभुने स्वयं हाथसे ताली बजाकर इस नामसंकीर्तनको आरम्भ किया। प्रभुकी बतायी हुई विधिके अनुसार सभी विद्यार्थी एक स्वरसे इस नामसंकीर्तनको करने लगे। हाथकी तालियोंके बजनेसे तथा संकीर्तनके सुमधुर स्वरसे सम्पूर्ण चण्डीमण्डप गूँजने लगा। लोगोंको महान् आश्चर्य हुआ। नवद्वीपमें यह एक नवीन वस्तु थी। इसके पूर्व ढोल, मृदङ्ग, करताल आदि वाद्योंपर पदसंकीर्तन तो हुआ करता था; किन्तु सामूहिक नामसंकीर्तन तो यह सर्वप्रथम ही था। इसकी नींव निमाई पण्डितकी पाठशालामें ही पहले-पहल पड़ी। सबसे पहले इन्हीं नामोंके पदसे नाम-संकीर्तन प्रारम्भ हुआ।

प्रभु भावावेशमें जोरसे संकीर्तन कर रहे थे, विद्यार्थी एक स्वरसे उनका साथ दे रहे थे। संकीर्तनकी सुमधुर ध्वनिसे दिशा-विदिशाएँ गूँजने लगीं। चण्डीमण्डपमें मानो आनन्दका सागर उमड़ पड़ा। दूर-दूरसे मनुष्य उस आनन्दसागरमें गोता लगाकर अपनेको कृतार्थ बनानेके लिये दौड़े आ रहे थे। सभी आनन्दकी बाढ़में अपने आपेको भूलकर बहने लगे और सभी दर्शनार्थियोंके मुँहसे स्वयं ही निकलने लगा *—

हरि हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

कर्म

(लेखक—श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव)

कर्मकी महिमाके बारेमें क्या लिखा जाय। यह विस्तीर्ण मर्त्यलोक ही 'कर्मभूमि' कहलाता है। यद्यपि यह भूमण्डल योगभूमि, ज्ञानभूमि और भक्तिभूमि भी है तथापि इसे इन नामोंसे कोई सम्बोधित नहीं करता। क्योंकि 'कर्म' इतना व्यापक है कि मन, बुद्धि और वाणीसे भी जो क्रिया की जाती है वह सब कर्म ही समझी जाती है और ज्ञान, भक्ति, योग आदिकी साधनाके लिये भी किसी-न-किसी प्रकारके कर्मकी ही आवश्यकता रहती है। कर्मकी महिमा राजर्षि भर्तृहरिके वचनोंसे अच्छी तरह प्रकट हो जाती है। वे कहते हैं—

'हम देवताओंको नमस्कार करते हैं परन्तु उन्हें विधाताके वशमें देखते हैं, इसलिये विधाताहीको नमस्कार करते हैं; परन्तु विधाता भी हमारे पूर्वनिश्चित कर्मके अनुसार फल देता है। फिर जब फल और विधाता दोनों कर्मके अधीन हैं तो देवता और विधातासे क्या काम है? अतएव जिस कर्मपर विधाताका भी कोई वश नहीं चलता उस कर्मको ही नमस्कार है।'†

अस्तु, इस लेखमें, मुख्यतः तुलसीकृत रामायणके आधारपर, थोड़ा-सा 'कर्म' पर विचार किया जायगा।

पहले यह देखना चाहिये कि 'कर्म' शब्दका अर्थ क्या है। जनसाधारणमें इस शब्दका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थोंमें किया जाता है—क्रिया, कार्य अथवा कामकाजके अर्थमें और भाग्य अथवा तकदीरके अर्थमें भी। रामायणमें इस शब्दका प्रयोग अधिकांशमें तो करनी, करतूत, व्यापार, कार्य, हलचल आदिके अर्थों‡ में ही किया गया है; परन्तु एकाध स्थलमें लोकरूढ़िके अनुसार 'भाग्य या तकदीर' के अर्थमें भी किया गया है।

नित्यके व्यवहारमें देखिये, 'कर्मरेख' शब्दका अर्थ 'प्रारब्धका लेख' लिया जाता है और 'कर्मभोग' का अर्थ 'प्रारब्धका भोग अथवा पुराकृत कर्मसे उत्पन्न फलोंका भोग' लिया जाता है। 'कर्महीन' का अर्थ दूषित भाग्यवाला अथवा बदनसीब और 'कर्म फूटना' का तात्पर्य 'भाग्य फूटना' समझा जाता है। तात्पर्य यह है कि व्यवहारमें 'कर्म' का अर्थ करनी, क्रिया, अथवा व्यापार (action

---

* गीताप्रेससे प्रकाशित श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली प्रथम भागसे।

† नमस्यामो देवान्न तु हतविधेस्तेऽपि वशगा विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः।
फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किं च विधिना नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति॥

‡ उदाहरण—

(१) निम्नलिखित चौपाइयोंमें 'कर्म'का अर्थ करनी, कामकाज, व्यापार, हलचल आदि ही दिखलायी पड़ता है—

या deed) भी माना जाता है और प्रारब्ध अथवा भाग्य (fate, destiny या luck) भी । तब, क्या दोनों अर्थ ठीक हैं ?

व्युत्पत्तिशास्त्रकी दृष्टिसे देखें तो 'कर्म' शब्दका केवल एक ही सरल, सीधा और निश्चित अर्थ हो सकता है । 'कर्म' शब्द 'कृ' धातु (करना) से बना है; अतएव इसका अर्थ 'करनी, करतूत, व्यापार, क्रिया, हलचल या कार्य' ही हो सकता है, और कुछ नहीं । परन्तु अनेक त्रिकालद्रष्टा ऋषि-मुनियोंको उत्पन्न करनेवाली प्राचीन हिन्दू जातिका दर्शनशास्त्र केवल इस अर्थसे सन्तुष्ट नहीं होता । वह पूर्वजन्म और पुनर्जन्मके सिद्धान्तको अनादि कालसे मानता है, इसका प्रतिपादन डंकेकी चोट करता है और केवल वर्तमान जन्मको प्रथम अवस्था या प्रथम योनि कदापि नहीं मानता । इन कारणोंसे हिन्दू जातिके दर्शनशास्त्रोंका अटल मत है कि कर्मके साथ उसका अच्छा-बुरा फल और कर्ताके साथ उसके कर्मोंका भोग * अथवा बन्धन भी अनिवार्यरूपसे जुड़ा हुआ है । गोसाईं तुलसीदासजीने बड़े-बड़े गहन दार्शनिक सिद्धान्तोंको दो-ही-तीन सरल वाक्योंमें समझानेका प्रयत्न किया है:—

[अयोध्याकाण्डसे]

कर्मप्रधान बिस्व करि राखा । जो जस करइ सो तस फलु चाखा ॥
और
काहु न कोउ दुख सुखकर दाता† । निजकृत कर्म भोग सब भ्राता ॥
और
सुभ अरु असुभ कर्म अनुहारी । ईस देइ फल हृदयँ बिचारी ॥
करइ जो कर्म पाव फल सोई । निगमनीति अस कह सबु कोई ॥

सारांश यह है कि 'करना' (कर्म) के साथ 'भोगना' (फलभोग या कर्मविपाक) भी उसी तरह अनिवार्यरूपसे लगा हुआ है, जैसे वृक्षके साथ छाया, जन्मके साथ मृत्यु

कर्मप्रधान विस्व करि राखा । जो जस करइ सो तस फलु चाखा ॥
(अयोध्याकाण्ड)
काहु न कोउ दुख-सुख कर दाता । निजकृत करम भोग सब भ्राता ॥
(अयोध्याकाण्ड)
जल भरि नयन कहत रघुराई । तात करम निज तें गति पाई ॥
(आरण्यकाण्ड)
निजकृत कर्मजनित फल पायउँ । अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ ॥
(आरण्यकाण्ड)
मात-पिता बालकन्हि बुलावहिं । उदरु भरइ सोइ कर्म सिखावहिं ॥
(उत्तरकाण्ड)

परन्तु—

(२) नीचे लिखी चौपाइयोंमें 'कर्म' का अर्थ 'भाग्य' निकलता है—

(१) करम लिखा जौं बाउर नाहू । तौ कत दोष लगाइय काहू ॥
(बालकाण्ड)
(२) जिमि कुलीन तिय साधु सयानी । पतिदेवता करम मन बानी ॥
रहइ करम बस परिहरि नाहू । सचिवहृदयँ तिमि दारुन दाहू ॥
(अयोध्याकाण्ड)

* कर्मभोगके कुछ उदाहरण—

(१) सतीकी दुर्दशा—
निज अघ समुझि न कछु कहि जाई । तपइ अवाँ इव उर अधिकाई ॥
(बालकाण्ड)
(२) जयन्त कहता है—
निजकृत कर्मजनित फल पायउँ । अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ ॥
(आरण्यकाण्ड)
(३) दशरथसे सुमंत कहते हैं—
जनम-मरन सब सुख-दुख-भोगा । हानि-लाभ प्रिय-मिलन-बियोगा ॥
काल-कर्म बस होहिं गुसाँईं । बरबस राति-दिवसकी नाईं ॥
(अयोध्याकाण्ड)
(४) सीताका पश्चात्ताप—
हा लछिमन तुम्हार नहि दोषा । सो फलु पायउँ कीन्हेउँ रोषा ॥
(आरण्यकाण्ड)
(५) गृध्रराजसे श्रीराम कहते हैं—
जल भरि नयन कहत रघुराई । तात करम निज तें गति पाई ॥
(आरण्यकाण्ड)
(६) रावणके बारेमें कहा गया है—
बिस्वद्रोह रत यह खल कामी । निज अघ गयउ कुमारगगामी ॥
(लंकाकाण्ड)

† वनगमन-प्रसंगमें श्रीराम लक्ष्मणजीसे कहते हैं—
सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
अहं करोमीति वृथाभिमानः स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ॥
(अध्यात्मरामायण)

और सूर्यके साथ गर्मी। यदि हम इस बातको ठीक-ठीक समझ जायँ तो 'कर्म' शब्दके अर्थको भी ठीक-ठीक समझ सकते हैं और यह भी समझ सकते हैं कि हमारे दार्शनिकोंने कर्मके तीन विभाग (प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण) क्योंकर किये हैं। इन विभागोंपर आगे चलकर कुछ विचार किया जायगा। यहाँ केवल यह निवेदन करना है कि मनुष्यके पूर्व कर्मों (करनी) के फलस्वरूप उसके प्रारब्ध या भाग्यका निर्माण होता है; तब भाग्य हमारे कर्मका केवल एक अङ्ग है। यही कारण है कि जहाँ व्युत्पत्तिशास्त्रकी दृष्टिसे 'कर्म' का अर्थ पूर्णतया निश्चित है वहाँ दर्शनशास्त्रकी दृष्टिसे इसका अर्थ व्यवहारमें प्रसङ्गानुसार कहीं-कहीं भाग्य या प्रारब्ध भी लिया जाता है।

प्रायः 'कर्म'शब्दका अर्थ शास्त्रविहित अथवा धर्मसम्मत कर्म माना जाता है। यानी वर्णाश्रमकर्म (विद्यादान, युद्ध, वाणिज्य और सेवा; अथवा ब्रह्मचर्य, प्रजोत्पादन, साधना और अनासक्ति) ही कर्मके अन्तर्गत आ सकते हैं। परन्तु स्वर्गीय लोकमान्य तिलक इसे संकुचित अर्थ समझते हैं—गीताके उद्देश्यको ध्यानमें रखकर उनकी राय है कि इस शब्दका अर्थ अधिक व्यापकरूपमें लिया जाना चाहिये। इसीलिये वे कहते हैं कि मनुष्य जो कुछ करता है—जैसे खाना, पीना, खेलना, रहना, उठना, बैठना, श्वासोच्छ्वास करना, हँसना, रोना, सूँघना, देखना, बोलना, सुनना, चलना, देना-लेना, सोना, जागना, मारना, लड़ना, भजन और ध्यान करना, आज्ञा और निषेध करना, दान देना, यज्ञ-याग करना, खेती और व्यापारधन्धा करना, इच्छा करना, निश्चय करना, चुप रहना इत्यादि, इत्यादि—ये सब भगवद्गीताके अनुसार 'कर्म' ही हैं, चाहे वे कायिक हों, वाचिक हों अथवा मानसिक हों।

मानवी कर्म मूलतः दो प्रकारके होते हैं—(१) उचित कर्म, पुण्यकर्म, कर्तव्य कर्म, शुभ कर्म अथवा धर्म और (२) अनुचित कर्म, पापकर्म, त्याज्य कर्म, अशुभ कर्म अथवा अधर्म। मनुष्य सारे कर्म सुखकी प्राप्ति, दुःखकी निवृत्ति, शान्ति और आत्मोद्धारके लिये करता है; कष्ट पाने, पछताने और अपना अहित करनेके लिये नहीं। जो मनुष्य जान-बूझकर पछताने और कष्ट पानेके लिये कोई कर्म करता है, वह मनुष्य कैसे समझा जाय। जिस कर्मका अन्तिम और निश्चित परिणाम अटल सुख, स्थायी शान्ति और आत्माका आनन्द हो वह उचित कर्म है; जिसका निश्चित फल खेद, पश्चात्ताप, अनिवार्य दुःख और यन्त्रणा हो वह अनुचित कर्म है। हमारे उचित और अनुचित कर्मोंका फल तीन जरियोंसे मिलता है—समाजके द्वारा, राजशासनके द्वारा और परमात्माके अटल नियमोंके द्वारा। हम यह मानकर केवल बड़ी भारी भूल ही नहीं, आत्मवञ्चना भी करते हैं कि हमारे कर्मोंका जानने-देखनेवाला कोई नहीं है। समाज और राजकी तो भूल भी हो सकती है, परन्तु कभी न भूलनेवाले हमारे अच्छे-बुरे कर्मोंके नौ गवाह हमेशा रहते हैं—(१) सूर्य, (२) चन्द्र, (३) यमदेव, (४) काल और पञ्च महाभूत अर्थात् (५) पृथ्वी, (६) जल, (७) अग्नि, (८) वायु और (९) आकाश। हिन्दू धर्मशास्त्रोंकी आज्ञा है कि कोई भी कर्म करते समय मनुष्य इन नौ कर्मसाक्षियोंका स्मरण रक्खा करे।

किसी कर्मके असली रूप-रंगको पहचानना साधारण मनुष्यके लिये भी सरल हो जाय, इस अभिप्रायसे कर्मका विभाजन कई प्रकारसे किया गया है। साधनकी दृष्टिसे इसके तीन भेद किये जाते हैं—मानसिक, वाचिक और कायिक। धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे कर्म सात्त्विक, राजस और तामस, तीन प्रकारका होता है। हेतुकी दृष्टिसे इसी कर्मके नित्य, नैमित्तिक और काम्य ऐसे तीन भेद किये गये हैं। एक चौथा वैज्ञानिक और शास्त्रीय दृष्टिकोण है जिसके अनुसार तीन भेद—कर्म, अकर्म और विकर्म फिर किये जाते हैं। यह वर्गीकरण बड़ा महत्त्वपूर्ण है। पूर्व जन्मों और वर्तमान जन्मको सम्बद्ध करनेकी एक पाँचवीं भिन्न दृष्टिसे 'कर्म' तीन हिस्सोंमें और बाँटा गया है—प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण। यह वेदान्तकी दृष्टि है। अतएव ऊपर लिखे अन्य सब भेदोंपर कुछ विवेचन करना छोड़कर केवल इस अन्तिम वर्गीकरण (प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण) पर ही कुछ संक्षिप्त विचार करेंगे। इन भेदोंको समझे बिना कर्ममार्गके पथिकको बड़ी-बड़ी कठिनाइयों और भयङ्कर विघ्न-बाधाओंका सामना करना पड़ता है। लोकमान्य तिलकने इन तीनों भेदोंकी जो सरल व्याख्या की है उसका कुछ अवतरण नीचे देनेसे इन शब्दोंका अर्थ समझमें आ जाता है—

सञ्चितकर्म—'किसी मनुष्यके द्वारा इस क्षणतक किया गया जो कर्म है—चाहे वह इस जन्ममें किया गया हो या किसी पूर्व जन्ममें—वह सब 'सञ्चित' अर्थात् 'एकत्रित' कर्म कहा जाता है। इसी 'सञ्चित' का दूसरा नाम 'अदृष्ट' और मीमांसकोंकी परिभाषामें 'अपूर्व' भी है।......'अबतकके

सभी कर्मोंके परिणामोंके संग्रहको अथवा सब सञ्चित कर्मोंको एकदम भोगना असम्भव है, क्योंकि इनके परिणामोंमें कुछ परस्पर विरोधी अर्थात् भले और बुरे (स्वर्गप्रद और नरकप्रद) दोनों प्रकारके फल देनेवाले हो सकते हैं…… इसलिये इन दोनोंके फलोंको एक ही समय भोगना सम्भव नहीं है—इन्हें एकके बाद एक भोगना पड़ता है।'

प्रारब्धकर्म—ऊपर बतलाया गया है कि अबतकके किये गये समस्त 'सञ्चित' कर्मोंके फलको एकके बाद एक भोगना पड़ता है। अतएव 'सञ्चित' मेंसे जितने कर्मोंके फलोंका भोग पहले शुरू होता है उतनेहीको 'प्रारब्ध' अर्थात् आरम्भित 'सञ्चित' कहते हैं। व्यवहारमें सञ्चितके अर्थमें ही 'प्रारब्ध' शब्दका बहुधा उपयोग किया जाता है; परन्तु यह भूल है। शास्त्रदृष्टिसे यही प्रकट होता है कि सञ्चितके अर्थात् समस्त भूतपूर्व कर्मोंके संग्रहके एक छोटे भेदको ही 'प्रारब्ध' कहते हैं। 'प्रारब्ध' कुछ समस्त सञ्चित नहीं है; सञ्चितके जितने भागके फलोंका (कार्योंका) भोगना आरम्भ हो गया हो उतना ही प्रारब्ध है और इसी कारणसे इस प्रारब्धका दूसरा नाम आरब्ध-कर्म है।

उदाहरणके लिये रामायणसे एक दृष्टान्त लेकर देखें। जिस समय राजा दशरथ रामविरहसे छटपटाकर प्राणत्याग कर रहे थे उस समयकी यह चौपाई मिलती है—

तापस-अंध-साप-सुधि आई। कौसल्यहि सब कथा* सुनाई॥
(अयोध्याकाण्ड)

यहाँ श्रवणकुमारको भूलसे मार डालना राजा दशरथका एक पहलेका सञ्चित दुष्कर्म था। उसका बुरा फल भोगना अनिवार्य था। कुछ समयके बाद वह क्रूर समय आया। वह समय दूसरे जन्ममें भी आ सकता था और उसी जन्ममें भी। राजा दशरथ ऐसे धर्मात्मा और प्रतापी थे कि उनका दूसरा जन्म होना सम्भव ही न था—मोक्ष उनके करतलगत था। इसलिये उन्हें अपने दुष्कर्मका कड़ुआ फल उसी जन्ममें भोगना पड़ा।

यदि राजा दशरथ महारानी कौसल्यासे इस घटनाका हाल कैकेयीके वरदान माँगनेके पूर्व बतलाते तो उनका यह कहना ठीक होता कि मेरा अमुक दुष्कर्म (उसका फल) 'सञ्चित' है। परन्तु कैकेयीके वरदान माँगने और रामके वनवास जानेसे उस फलका दृश्य भोग प्रत्यक्षरूपसे प्रारम्भ हो गया। जब भोग आरम्भ हो गया उस समय यदि दशरथ उसे 'सञ्चित' कर्म कहते तो उनका कथन गलत हो जाता—उस समय उसी 'सञ्चित' का नाम बदलकर 'प्रारब्ध' कर्म हो गया। जबतक फलभोग आरम्भ न हो तभीतक कोई पूर्वकर्म 'सञ्चित' कहा जा सकता है; भोगते समय और भोगनेके बाद वह 'प्रारब्ध' कहाता है। इस उदाहरणसे 'सञ्चित' और 'प्रारब्ध' का भेद समझनेमें कुछ सहायता मिलेगी। अब यह देखना चाहिये कि 'क्रियमाण' कर्मका अर्थ क्या है?

क्रियमाणकर्म—यह कर्मका तीसरा भेद है। जो कर्म अभी हो रहा है अथवा जो कर्म सकामभावसे अभी क्रिया जा रहा है उसकी गणना क्रियमाणमें होती है। इस शब्दका उपयोग प्रचलित, चालू अथवा वर्तमानकालवाचक कर्मके लिये होता है। यह क्रियमाण ही तुरन्त सञ्चित बन जाता है।

अभीतक हमने यह समझनेका प्रयत्न किया है कि सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाणकर्म किसे कहते हैं। अब थोड़ा-सा यह देखना चाहिये कि कर्तव्य कर्म, सदाचार अथवा लोकधर्म क्या है और अकर्तव्य कर्म, दुराचार अथवा अधर्म क्या है।

कौन-कौनसे कर्म उचित और विहित हैं और कौन-कौनसे अनुचित तथा त्याज्य हैं, इसके लिये शास्त्रको प्रमाण माने बिना काम नहीं चलता। शास्त्रों और धर्मग्रन्थोंमें

---

* यह पितृभक्त श्रवणकुमार और अन्ध मुनिकी कथा बड़ी प्रसिद्ध है। राजा दशरथने अपने उसी जन्ममें भूलसे एक बड़ा अनुचित कर्म कर डाला था। शिकार खेलने निकले थे; शब्दवेधी बाण चलाना जानते थे। श्रवणकुमार जङ्गलमें पानी भरने आया। उसकी आहट पाकर राजाने उसे कोई जंगली जानवर समझा और अपना अचूक बाण चला दिया। यह भयङ्कर भूल राजाको पीछे मालूम हुई। श्रवणकुमारके कहनेसे राजा पानी लेकर अन्धमुनिके पास पहुँचे। पितृभक्त श्रवण तड़फड़ाकर मर गया। सारा हाल सुनकर दारुण पुत्रशोकमें डूबे हुए मुनिने राजाको शाप दिया कि तुम भी मेरी तरह पुत्रवियोगसे व्याकुल होकर मरोगे। फिर उस तपस्वी मुनिने भी तत्काल प्राणत्याग कर दिया।

सदाचार और लोकधर्म* के विधान भरे पड़े हैं और दुराचार तथा अधर्मकी भी यथेष्ट मीमांसा कर दी गयी है । धर्म और अधर्मका निर्णय सच्चे महात्मा भी कर सकते हैं। अस्तु, सन्मार्गमें जानेसे उत्तम परिणाम अवश्य होता है और कुमार्गमें चलनेसे बुरा परिणाम हुए बिना नहीं रहता। 'नहिं बिषबेलि अमिअ-फल फरहीं।' बुरे कामोंमें हाथ डालनेसे दण्ड तो जब मिलना होगा तभी मिलेगा; परन्तु तेज, बल और बुद्धिका ह्रास तो उसी समय हो जाता है। सीताहरणके समय यतिवेषधारी रावणकी दशा देखिये—

जाकें डर सुर-असुर डेराहीं। निसि न नीद दिन अंन न खाहीं॥
सो दससीसु स्वानकी नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥
इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज-बल-बुधि-लवलेसा॥
(आरण्यकाण्ड)

बात यह नहीं है कि केवल जान-बूझकर दुराचरण करनेसे बुरा परिणाम भोगना पड़ता हो, अनजानमें भी अधर्म करनेसे बुरा फल भोगना पड़ता है। आगपर जान-बूझ कर हाथ रक्खो या अनजानमें, हाथ अवश्य जलेगा। 'जो दुर्बुद्धि पुरुष अज्ञानसे विष पीकर उसे नहीं जानता, वह उसके परिणामके अन्तमें कर्मके फलको जानता है*।' तात्पर्य यह है कि कभी-कभी हमें ऐसे दण्ड भी भोगने पड़ते हैं जिनके कारणोंका हमें पता ही नहीं लगता। कुछ दुःख हमें ऐसे भी मिलते हैं जो हमारे अनजानमें किये गये दुष्कर्मोंके परिणाम होते हैं। राजा दशरथने श्रवणकुमारको भूलसे ही मारा था परन्तु परिणाम उसका भोगना ही पड़ा। इसी तरह यदि अनजानमें भी कोई सत्कर्म हो जाय तो उसका भी शुभ फल अवश्य मिलता है। फिर यदि जान-बूझकर सावधानीसे सत्कर्म किया जाय तो उसका कहना ही क्या। कर्मका अच्छा और बुरा फल मनुष्यकी छायाकी तरह उसके पीछे-पीछे उसी तरह लगा रहता है जैसे बछड़ा गौके पीछे। हजारों गौओंके झुंडमें जैसे बछड़ा अपनी माताका ठीक-ठीक पता लगा लेता है, उसी तरह पहलेका किया हुआ कर्म भी अपने कर्ताको ठीक-ठीक ढूँढ़ लेता है।† यही तो कर्मका फल अथवा बन्धन है।

कर्मके बन्धनसे (अच्छे-बुरे फलके भोगसे) छुटकारा कैसे मिले, इसी छोटे-से परन्तु बड़े टेढ़े-प्रश्नका उत्तर देनेके लिये गीताका उपदेश किया गया है। जब तक हम किसी सत्पुरुषके द्वारा गीताका मर्म न समझ लें तबतक इस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर समझना और जन्म-मरणके महारोगसे बचना कठिन है। हम चाहते क्या हैं? यही न, कि हमारे अच्छे कर्मोंके अच्छे फल तो हमें मिल जायँ परन्तु बुरे कर्मोंके बुरे फल न मिलें? यह एकदम असम्भव है। आवागमन और कर्मबन्धनसे छुटकारा मिल अवश्य

---

* कर्तव्य कर्म अथवा लोकधर्मके कुछ उदाहरण रामायणमेंसे देखिये—

(१) शिष्यका धर्म—

गुरुके बचन प्रतीति न जेही। सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही॥

और—

संत कहहिं अस नीति प्रभु, श्रुति-पुरान जो गाव।
होइ न बिमल बिबेकु उर, गुरु सन किएँ दुराव॥
(बालकाण्ड)

(२) वीरका धर्म—

सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु।
बिद्यमान रन पाइ रिपु, कायर कथहिं प्रतापु॥
(बालकाण्ड)

(३) मित्रका धर्म—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातकु भारी॥
(किष्किन्धाकाण्ड)

(४) सद्वैद्यका धर्म—

कुपथु माग रुज-ब्याकुल रोगी। बैदु न देइ सुनहु मुनि जोगी॥
(बालकाण्ड)

(५) पाखण्डरहित साधकका धर्म—

जोग-जुगुति तप-मंत्र-प्रभाऊ। फरइ तबहिं जब करिअ दुराऊ॥

इन थोड़े-से उदाहरणोंसे ही यहाँ सन्तोष करना पड़ता है। इस तरहके कर्तव्य कर्म पुत्र और पिताके लिये, पति और पत्नीके लिये, गुरु और शिष्यके लिये, स्वामी और सेवकके लिये, बड़े और छोटे भाईके लिये, राजा, मन्त्री और प्रजाके लिये रामायणमें ढूँढ़नेपर प्रचुरतासे मिल सकते हैं। इसी तरह रामायणसे अशुभ और त्याज्य कर्मोंके भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

* यो हि मोहाद्विषं पीत्वा नावगच्छति दुर्मतिः।
स तस्य परिणामान्ते जानीते कर्मणः फलम्॥
(वाल्मीकिरामायण-उत्तरकाण्ड)

उदाहरण—

काहुहि लात चपेटन्हि केहू। भजेहु न रामहि सो फलु लेहू॥
(लंकाकाण्ड)

†यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥
(नारायणभट्ट)

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

सकता है, परन्तु किस तरह ? क्या 'मीठा-मीठा गप और कड़ुआ-कड़ुआ थू' करनेसे ? नहीं-नहीं, इस तरह नहीं। गीताने दूसरा ही रास्ता बतलाया है—अपने-अपने कर्तव्य-पथपर डटे रहो; कायरता और आलस्य छोड़ो; बुरे कर्मोंको ओर भूलकर भी प्रवृत्ति मत रक्खो; अच्छे कर्म करो, किन्तु फलकी आशासे नहीं, निष्काम भावसे, ईश्वरार्पण-बुद्धिसे, कर्ताभाव छोड़कर। अस्थायी सुख देनेवाले काम्य कर्मोंको परम श्रेष्ठ कर्म न समझो; लोकसंग्रहको परमात्माका कार्य समझकर उसमें तल्लीन रहो; समाजधारणाके लिये जो कुछ कर्म करो वह केवल कर्तव्यबुद्धिसे (श्रीकृष्णहेतु) करो; इस वृथाभिमानको छोड़ दो कि मैं कर्ता हूँ—यह वृथाभिमान ही तुम्हें बद्ध जीव और भोक्ता बनाता है; आसक्तिको ज्ञानाग्निसे जला दो—बस, तुम सुखी हो, बन्धनमुक्त हो, शिव हो। देखिये, चतुर कबीरदासजी कर्ता-भाव और भोक्ताभावसे किस सफ़ाईके साथ निकल जाते हैं; वे कहते हैं—

*जो कछु किया सो हरि किया, मैं कछु कीया नाहिं।
जो कहुँ कहौ कि मैं किया, तुम ही थे मोहि माहिं॥

कबीरदासजी सूखे हाथ फटकारकर परमात्मासे कहते हैं कि तुम्हीं तो मेरे हृदयके प्रेरक हो—मैंने जो कुछ किया, सब तुम्हारी प्रेरणासे—तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। इस तरहके अभ्याससे (बातोंसे नहीं) कबीरदासजी न कर्ता रहे, न भोक्ता। और, एक हमलोग हैं जो अपने छोटे-से-छोटे सत्कर्मकी डोंडी पीटकर उसकी रजिस्ट्री अपने नामपर करा रखना चाहते हैं और अपने बड़े-से-बड़े दुष्कर्मको छिपानेका मूर्खतापूर्ण प्रयत्न कर समझ बैठते हैं कि कोई जानेगा ही नहीं, छुट्टी हुई !!! इस तरह छुटकारा न होगा। छुटकारेका मार्ग गीताके उपदेशोंके अनुसार चलनेमें है और अवश्य है, परन्तु उस मार्गमें चलना तीन-पैयाँ दौड़ (Three-legged race) की तरह कठिन है; निवृत्तिप्रेमी आत्मा आगे कदम बढ़ाना चाहती है, प्रवृत्तिप्रेमी समाज पीछेकी ओर टाँग पकड़कर खींचता है। बच गयी तीसरी सटी हुई टाँग, जो कालके ऊबड़-खाबड़ मैदानमें वासना, प्राक्तन संस्कार और सञ्चित कर्म-की रस्सियोंसे जकड़ी हुई किंकर्तव्यविमूढ़ रहती है। यह टाँग दौड़में आगे बढ़नेमें तो नहीं, कई बार परिस्थितिकी चट्टानोंसे ठोकर खाकर इधर-उधर फिसल पड़नेमें मदद पहुँचाती है। इसी कठिन दौड़में आगे बढ़नेका दीर्घ अभ्यास करना होगा। तब सोचिये, कितने धीरज, कितने निर्मल ज्ञान, कितने मनोयोग और कितनी ईश्वरनिष्ठाकी ज़रूरत होगी।

गीताके श्लोकों और रामायणकी चौपाइयोंमें जो विशेषण लगाये गये हैं उनसे मालूम होता है कि कर्मकी गति गहन, कुटिल, कठोर, कठिन, अघटित, असाध्य और अटल है। अवश्य ही भावी बड़ी प्रबल* होती है—होनी होकर ही रहती है। होनहारको बदल देना कोई हँसी-खेल नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि कालचक्रके फेरमें पड़कर, सञ्चित कर्मोंके फल और संसर्गदोषसे, बड़े-बड़े प्रतापी महापुरुष भी कर्मकी गहन गतिकी बलवान् चक्कीमें पिस जाते हैं। राजा दशरथके चार अवतारी पुत्र थे, परन्तु उनकी मृत्युके समय राजाके पास एक भी हाजिर न था !!! यही तो प्रारब्धकी कठिन गति थी—श्रवणकुमारके पिताके शापसे प्रतापी दशरथके लिये यही मृत्यु निश्चित थी। जब मायाके मोहमें पड़े हुए देवर्षि नारदने कहा कि मैंने कामदेवको जीत लिया है, तब उनके हितैषी शङ्कर भगवान्ने तुरन्त चेतावनी दी कि इस बातको विष्णु भगवान्के आगे कभी न कहना, नहीं तो फजिहतमें पड़ जाओगे। किन्तु नारदजी न माने। उन्हें अभिमान हो गया

---

* नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।

* भावीकी प्रबलता और मनुष्यकी अल्प शक्तिके कुछ प्रमाण—

तुलसी जस भवतव्यता, तैसी मिलइ सहाय।
आपु न आवइ ताहि पहिं, ताहि तहाँ लै जाइ॥
(बालकाण्ड)

पार्वती अपनी मातासे कहती हैं—

तुम्ह सन मिटहिं कि बिधिके अंका। मातु ब्यरथ जनि लेहु कलंका॥
(बालकाण्ड)

वसिष्ठजी कहते हैं—

सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु, जसु अपजसु बिधि हाथ॥
(अयोध्याकाण्ड)

करमु कमंडलु कर गहे, तुलसी जहँ लगि जाइ।
सागर, सरिता, कूपजल, बूँद न अधिक समाइ॥

व्यासमुनि कहते हैं—

यदपि जन्म बभूव पयोनिधौ निवसनं जगतीपतिमस्तके।
तदपि नाथ पुराकृतकर्मणा पतति राहुमुखे खलु चन्द्रमाः॥

था। फलतः वे बड़ी विडम्बनामें पड़ गये। और, क्या रानी कैकेयी अयोध्याको उजाड़ना चाहती थी या विधवा होना चाहती थी? कुछ नहीं, वह अखिल ब्रह्माण्डके घटना-चक्रमें एक निमित्तकारण बनायी गयी थी—जगन्नियन्ताने उस समयके लिये एक नाटक ही तैयार कर रक्खा था—सब अपने-अपने स्थानपर वैसे ही नाच रहे थे जैसे वह नट नचा रहा था। जो जीव असमर्थ, सामान्य शक्तिवाले, परिमित पुरुषार्थयुक्त और निस्तेज होते हैं वे अपने सञ्चित कर्मके फलको लाचारीसे, बरबस, और कभी-कभी रोते-रोते भोगते हैं; जो सामर्थ्यवान् और बड़े प्रतापी होते हैं वे कर्ममार्गकी मर्यादा स्थिर रखनेके लिये हँसते-हँसते और इच्छापूर्वक प्रारब्ध भोग करते हैं; जो ज्ञानी होते हैं वे वास्तवमें अभोक्ता होते हुए ही लोकदृष्टिमें फलभोग करते हुए देखे जाते हैं। पुरुषार्थी और प्रतापी व्यक्ति चाहें तो फलभोगसे अपनेको बचा भी सकते हैं, परन्तु मर्यादा भंगकर ईश्वरके नियमोंकी महिमा नहीं घटाना चाहते। राम चाहते तो दशरथको मृत्युसे बचा सकते थे, परन्तु वे ऐसा चाहते ही क्यों? वे मर्यादा तोड़नेके लिये नहीं, मर्यादा स्थापित करने आये थे। हनुमान्‌जी चाहते तो ब्रह्मपाशमें न बँधते, परन्तु थोड़ी देर बँधे रहकर ब्रह्माका मान रख देनेमें उनका बिगड़ ही क्या गया। ब्रह्मा कोई दानवी शक्ति होता तो उसकी महिमा हनुमान्‌जी अवश्य घटाते। ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि भावी प्रबल होती है और होनहारकी गति अटल होती है। यह साधारण नियम है।

जब होनहार अटल है, जब सारा संसार कर्मबन्धनसे जकड़ा हुआ नाच रहा है, जब प्रारब्धकी प्रबल गतिके आगे बड़े-बड़ोंको सिर झुकाना पड़ता है, तब इस दुखी और सन्तप्त संसारके लिये कहीं आशा, उत्साह, शान्ति और आनन्दका भी स्थान है अथवा नहीं? क्या दूषित प्रारब्ध भी सुधारा जा सकता है? क्या होनहार भी किसी सूरतमें टाला जा सकता है? हमारा नम्र निवेदन है कि तुलसीकृत रामायण इन प्रश्नोंका उत्तर आशाजनक शब्दोंमें देती है। उत्तम शिक्षा, सदुद्योग, सत्संग और ‘अति बिचित्र भगवंत-गति’ का महत्त्व कभी भुलाया नहीं जा सकता। जिस तरह अभ्यासद्वारा मनुष्यके दुर्दमनीय स्वभावमें भी परिवर्तन किया जा सकता है, उसी तरह नीचे बतलाये हुए कुछ खास-खास उपायोंसे कर्मकी गहन और कुटिल गतिमें भी अभीष्ट परिवर्तन किया जा सकता है। साधारण जीवोंके लिये तो यह साधारण नियम बतलाया ही जा चुका है कि प्रारब्धकर्मके अनुसार सुख-दुःख भोगना अनिवार्य है। परन्तु इस नियमके अपवादस्वरूप विशेष नियम भी हैं। सामर्थ्यवान्, तेजस्वी और पुरुषार्थी जीव कर्मकी रेखमें मेख मार सकते हैं—किस तरह? साधना, तपस्या, सत्संग और शरणागतिसे*। अल्पज्ञ और संसारमें लिप्त जीवको पहले तो यह मालूम ही नहीं रहता कि भावी अथवा होनहार क्या है। और, यदि कुछ क्षणोंके पहले मालूम हो भी जाय तो साधनाभाव और समयाभावके कारण कोई अचूक उपाय नहीं हो सकता—घरमें आग लग जानेपर कुँआ खोदना प्रारम्भ करनेसे क्या लाभ? चैतन्यता, सतर्कता और सावधानी तो समय रहते—शुरूहीसे चाहिये—

साधनधाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जो परलोकु सँवारा॥
सो परत्र दुख पावई, सिरु धुनि-धुनि पछताय।
कालहि कर्महि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाय॥
(उत्तरकाण्ड)

इसलिये यह विचारकर समय रहते कुँआ तैयार कर लेना चाहिये कि यदि घरमें आग लगेगी तो हमें पानी तैयार मिलेगा और आग न लगेगी तो हमारी और पास-पड़ोसवालोंकी प्यास बुझेगी।

साधारणतः तो ‘अनारब्ध’ सञ्चितके फलभोगसे छुटकारा नहीं मिल सकता, परन्तु कोई दृढ़ प्रयत्न करे तो विशेष परिस्थितिमें मिल भी सकता है और मिल भी

---

*(१) सर्वसिद्धिदायक मन्त्र—

मंत्र-महामनि बिषय-ब्यालके। मेटत कठिन कुअंक भालके॥
(बालकाण्ड)

और—

नहि कलि कर्म न भगति बिबेकू। रामनाम-अवलंबनु एकू॥
(बालकाण्ड)

(२) तपस्या और साधनाका वीरमार्ग—

जौं तप करइ कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥
(बालकाण्ड)

(३) साधुसेवन और सत्संगका प्रताप—

मज्जनफलु पेखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस-परस कुधात सुहाई॥
(बालकाण्ड)

(४) जो नर होइ चराचर-द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट-छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधुसमाना॥
(सुन्दरकाण्ड)

जाता है। प्रारब्धवादका अर्थ जो कुछ हो, परन्तु उसका अर्थ पुरुषार्थत्याग, कायरोंका आलस्य और अकर्मण्यता कदापि नहीं है। प्रारब्ध और होनहारको परमात्माने बनाया है—परमात्माको होनहारने नहीं बनाया। यदि जीव अपनी साधना, तपस्या, सत्संग और शरणागतिसे होनहारके निर्माता ईश्वरकी कृपा प्राप्त करनेमें तत्पर रहे—अपने प्राणोंतककी बाजी लगा दे, तो विश्वास रखिये, या तो होनहार रुक जायगा अथवा हमारा दूषित प्रारब्ध, बिना डंकके बिच्छूकी तरह, हमें सता न सकेगा। रामकी कृपासे सारे लौकिक और पारलौकिक विधान बदल जाते हैं। उसकी कृपाके आश्चर्यजनक परिणाम देखिये—

गरलु सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥
गरुअ सुमेरु रेनुसम ताही। राम कृपा करि चितवहिं जाही॥
(सुन्दरकाण्ड)

दूषित प्रारब्धवाले संतप्त संसारको महात्मा तुलसीदासजीका यही आशाजनक संदेश है। हम वर्तमान कालके क्रियमाण कर्मोंमें सतर्क, पापभीरु, सदाचारी और जाग्रत् बननेका अभ्यास लगातार करें तो हमारा अनारब्ध सञ्चित उतना क्लेशकारक नहीं हो सकता जितना उसे होना चाहिये—यह भी सम्भव है कि हम उसके भोग से सर्वथा मुक्त हो जायँ। साहूकारसे मुद्दल रकमकी तीन-चौथाई छूट माँगनेका नैतिक अधिकार ऋणीको बिल्कुल नहीं है; परन्तु यदि साहूकारको किसी तरह प्रसन्न कर लिया जाय तो वह तीन-चौथाई क्या, पूरी मुद्दल रकम छूट देकर हमारा सारा भार हटा सकता है—यही नहीं, अपने पाससे उलटे हमें कुछ और सहायता भी दे सकता है—उसे इस बातका पूरा अधिकार और सामर्थ्य है; इसमें संसारके नित्य व्यवहारका कोई नियम नहीं टूटता। संसार परमात्माके नियमोंमें बँधा हुआ है, परमात्मा संसारके नियमोंसे सर्वथा अतीत हैं—होनहारकी प्रबलताका कानून सृष्टिके लिये लागू है, स्रष्टाके लिये नहीं। जो क्षुद्र जीव स्रष्टाको अपना रक्षक बना लेता है, वह स्वयं महान् बन जाता है—उस विजयी जीवके लिये सारे मानवी नियम ढीले पड़ जाते हैं। तात्पर्य यह है कि हमारे वर्तमान कर्मोंमें परमात्माका अधिष्ठान हो तो हमारा भविष्य अवश्य सुधर सकता है और होनहार भी रुक सकता है। हाँ, यह दूसरी बात है कि परमात्मा उतने सस्तेमें प्रसन्न न हो सकें जितनेमें किसी दफ्तरका हेड क्लर्क या पेशकार खुश किया जा सकता है।

कर्ममार्गकी आवश्यकता क्यों है? इस प्रश्नका विस्तारपूर्वक उत्तर तो श्रीमद्भगवद्गीताके तीसरे अध्यायमें (विशेषतः १४, २०, २२, २६, ३३ और ३५ के श्लोकमें) मिलेगा, परन्तु यहाँ कुछ मुख्य बातें साररूपसे बतलायी जाती हैं। स्मरण रखना चाहिये कि कर्ममार्गका अर्थ सत्कर्ममार्ग, सदाचारका पंथ अथवा सन्मार्ग है—दुष्कर्म और दुराचारका मार्ग नहीं। इस मार्गकी आवश्यकता इसलिये है कि (१) अखिल सृष्टि ही कर्ममय है, कर्ममें भगवान्का निवास है; सृष्टिक्रम और समाजमर्यादाकी रक्षा तथा आदर्श और व्यवस्थाकी स्थापनाके लिये सारे कर्तव्य-बन्धनोंसे परे परमात्मा भी स्वयं बार-बार अवतार लेते हैं अथवा अपनी विभूतियोंको हम मूर्खोंके बीच समय-समयपर भेजते हैं। इससे कर्ममार्गकी आवश्यकता, सर्वश्रेष्ठता और कठिनता, तीनों एक साथ सिद्ध होती हैं। (२) कर्म हमसे आजीवन कभी नहीं छूट सकते। हम न भी चाहें तो भी हमें कर्ममार्गसे ही जाना पड़ता है—हम त्रिशङ्कुकी तरह जहाँके तहाँ नहीं रह सकते; यदि हम कर्ममार्गमें न जायँगे तो विकर्ममार्गमें जायँगे। या तो हम आगे बढ़ते हैं या पतित होकर नीचे गिरते हैं। जब किसीसे (विषयी, साधक और सिद्धसे भी) कर्म कभी छूट ही नहीं सकता—जब अभ्यास और उपासनासे उसकी केवल आसक्तिभर छोड़ी जा सकती है, तब मालूम होता है कि मनुष्यमात्रके साथ कर्ममार्गका अनादि और अटूट सम्बन्ध है; अतएव उसकी आवश्यकता सदैव है। (३) कर्मका मार्ग ही वह पाठशाला है जो विकासप्रेमी और ऊर्ध्वगामी जीवको ज्ञान, भक्ति और योगकी व्यावहारिक शिक्षा देती है। ज्ञान, भक्ति और योगका सच्चा रहस्य तथा कर्मका भीतरी मर्म लेखों, व्याख्यानों, शास्त्रों, भाष्यों और पण्डितोंसे उतनी अच्छी तरह सरलतापूर्वक कभी समझमें नहीं आ सकता जितना स्वयं कर्ममार्गमें चलकर सूक्ष्म अनुभव प्राप्त करने और स्वयं धक्के खानेसे समझमें आता है। (४) कर्ममार्ग बड़ा पथरीला, कंटकाकीर्ण, ऊबड़खाबड़, जटिल और कठोर होनेके कारण जीवके प्रबल अहंकारको सफलतापूर्वक तोड़ता और जलाता है; अतएव अभिमाननाशकी दृष्टिसे भी इस मार्गकी बड़ी महिमा है। जबतक थोड़ा भी अहङ्कार रहेगा तबतक जीवभाव दूर हो ही नहीं सकता और जीवभावके रहते ब्रह्मभाव अथवा भगवद्भावका जाग्रत होना सम्भव नहीं। जब हजारों बार वासना रखने और इच्छा

तथा प्रयत्न करनेपर हमें इच्छित फल केवल दस-पाँच बार भी नहीं मिलता, तब हम विघ्न-बाधाओं और असफलताओंके कारण, विवशतासे यह सीखने लगते हैं कि हमारे अधीन केवल कर्म करना ही है—फलका मिलना-न-मिलना किसी दूसरी सत्ताके अधीन है। इस तरह यह मार्ग हमें आस्तिकताकी ओर ढकेलता है। सदैव इच्छित फल न पानेपर एक और लाभ होता है—हमारी रोजगारी बुद्धि क्षीण होने लगती है और हम केवल कर्तव्यकी महत्ताका ज्ञान रखकर कर्तव्य-पथमें आगे बढ़ते हैं, तुरन्तके हानि-लाभपर ध्यान रखकर नहीं; यही सब प्रकारके नैतिक आचरणोंका सार है—यहीं कर्ममार्गकी सीधी सड़क शुरू होती है। (५) यह मार्ग इसलिये भी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है कि कर्तव्यजीवी व्यक्ति मृत्युसे निडर और उसका आलिङ्गन किसी भी समय करनेके लिये तैयार रहते हैं। यह वाक्यशूरता और कायरताका मार्ग नहीं, परम कल्याणकारी वीरमार्ग है—यह वह मार्ग है जिसमें पराजयमें भी विजय होती है। इस मार्गकी आवश्यकता, कठोरता और सर्वश्रेष्ठताके और भी अनेक कारण बतलाये जा सकते हैं; परन्तु स्थानाभावसे उन्हें अब छोड़ देना ही अच्छा है।

कर्ममार्गमें बुद्धि, विवेक और ज्ञानकी बड़ी भारी आवश्यकता है। ज्ञानके साथ समन्वय हुए बिना ठूठे कर्मका रूप दम्भ, पाखण्ड, आडम्बर, मिथ्याचार और अत्याचार हो जाता है। ज्ञान न रहनेपर हम लंबी जटा, लंबे केश और नख, चन्दन, तिलक और खड़ाऊँको ही सदाचारका सार्टिफिकेट मान लेते हैं और आलस्य, कायरता, वञ्चकता तथा पाखण्डको स्वर्गके चार बड़े दरवाजे समझ बैठते हैं। उस दशामें तो सांसारिक कर्तव्यसे पलायन, समाज-ऋणकी अवहेलना और लौकिक उत्तरदायित्वसे मुँह छिपाकर भाग जानेको ही हम गीतोक्त कर्मत्याग और कर्मसंन्यास समझ लेंगे! यदि कर्ममार्गी जीव ज्ञानका सहारा न लेगा तो अपने प्रारब्धकर्मका बुरा फल भोगते समय अपने ज्ञात अथवा अज्ञात दुष्कृत्यको दोष देनेके बदले ईश्वरको ही दोष और समाजको ही गालियाँ देगा। ज्ञानका आश्रय न लेनेपर हम यह कैसे समझ सकेंगे कि केवल स्वयं बुरे कर्म करनेसे ही नहीं, संसर्गदोष और कालदोषसे भी हमें दुःख मिलता है। ज्ञान न रहनेपर हम यह कैसे समझेंगे कि सत्कर्म और दुष्कर्म कभी-न-कभी समय पाकर तो फलते ही हैं, परन्तु अनेक बार तुरन्त नहीं फलते। और ज्ञानके अभावमें, हम इस पहेलीका सन्तोषजनक उत्तर कहाँ पावेंगे कि अमुक सत्पुरुष वर्षों लगातार दुःख क्यों पा रहा है और अमुक दुष्ट वर्षों सुख क्यों पा रहा है। ज्ञानके बिना हम कर्म, अकर्म और विकर्मकी बारीकियोंको कैसे जानेंगे, अपनी विपत्तिको भी परमात्माकी कृपा क्योंकर मानेंगे और अपने पुराकृत दूषित कर्मका सञ्चित फल धीरज और शान्तिके साथ कैसे भोगेंगे। और ज्ञानके अभावमें दुःख तथा सुख दोनोंके लिये समबुद्धि कैसे उत्पन्न होगी। जबतक हमारे नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें ज्ञानका अंश न रहेगा तबतक हम सात्त्विक भोजन, उच्च विचार, दैनिक सदाचार, संयम आदिका महत्त्व क्योंकर समझेंगे और अपने नीच संस्कार, लज्जाजनक वासना तथा बुरे स्वभावको बदल देनेका अभ्यास ही क्यों करेंगे। जब कभी हम एक छोटा-सा सत्कर्म करेंगे तो उच्च ज्ञानके बिना हम तुरन्त एक बड़ा-सा ढोल भी पीटने लगेंगे !!! अन्तःकरणकी शुद्धि और भोगमें योग ज्ञानके बिना नहीं हो सकता। और, एकाध बार भूलसे अथवा जान-बूझकर निन्दनीय काम कर डालें तो ज्ञानके बिना अपनी भूलको स्वीकार ही क्यों करेंगे—हृदयसे पश्चात्ताप ही क्यों करेंगे। और, ज्ञान न रहनेपर हम यह कैसे समझेंगे कि कर्मके दृश्य परिणामकी अपेक्षा कर्ताके अन्तःकरण और प्रेरक बुद्धिका मूल्य अधिक है। सारांश यह है कि बुद्धि, विवेक और ज्ञानके बिना हम न तो प्रवृत्तिमार्गमें ही ठीक-ठीक चल सकते हैं और न निवृत्तिमार्गमें ही टिक सकते हैं—कभी इधर, कभी उधर भटकते रहते हैं। उस दशामें हम केवल कोल्हूके अन्धे बैलकी तरह जन्म-मरणका चक्कर काट सकते हैं।

जिस कर्ममें अन्तरात्माकी सलाह न हो, वह मानवकर्म नहीं—पशुकर्म है। सिद्धि और सफलताका उद्गमस्थान जीवकी वासना, अभिमान और सङ्कल्प-विकल्प नहीं—उस जगन्नियन्ताकी कृपापूर्ण चितवन है। कर्ममार्गका शुद्ध रूप केवल वहाँ दिखलायी पड़ता है जहाँ कर्ताके हृदयमें आस्तिकताका संयोग और बुद्धिमें निर्मल ज्ञानका मेल हो।

अद्वैतवाद और सूरदास

(लेखक—राय बहादुर श्रीखड्गजीतजी मिश्र, एम० ए०, एल-एल० बी०)

यह बतलानेके लिये कि सूरदासके ग्रन्थोंमें अद्वैतवाद है या नहीं, पहले यह जाननेकी आवश्यकता है कि अद्वैतवाद क्या है। वेद हिन्दुओंका आदिग्रन्थ है। पण्डित लोग वेदके तीन भाग बतलाते हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। वेदका मन्त्रभाग अथवा संहिता प्रधानतः कर्मकाण्डका प्रतिपादन करता है और वेदके नामसे विख्यात है। इसीमें कर्मकाण्डके अतिरिक्त उपासनाकाण्डसम्बन्धी मन्त्र भी हैं। तीसरा भाग उपनिषद्के नामसे ज्ञात है, उसके मन्त्र ज्ञानका प्रतिपादन करते हैं।

उपनिषदोंमें विद्या दो प्रकारकी बतलायी गयी है—परा और अपरा।

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।

(मुण्डक० १।४)

'शौनकसे अङ्गिराने कहा—दो विद्याएँ जानने योग्य हैं, यह ब्रह्म जाननेवाले कहते हैं—परा और अपरा।'

तत्रापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्यौतिषमिति। अथापरा यया तदक्षरमधिगम्यते।

(मुण्डक० १।५)

'उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, यह अपराविद्या है, और जिससे परमात्माका ज्ञान होता है वह पराविद्या है।'

पराविद्याको ही ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या कहते हैं। इसकी महिमा शास्त्रोंमें बहुत गायी गयी है। बड़े-बड़े महर्षियों तथा देवतादिने इस विद्याको प्राप्त करनेके लिये बड़ा परिश्रम और बड़ी तपस्या की है। इस विद्याके देनेमें परमार्थदर्शी लोग अधिकारीकी योग्यताका बड़ा विचार रखते थे और अनधिकारी मुमुक्षुसे इसको प्रयत्न करके छिपाते थे। कठोपनिषद्में उपाख्यान है कि जब नचिकेताने यमराजसे यह विद्या सीखनी चाही तो यमराजने उसको तरह-तरहके लालच दिये और कहा कि और कोई वर माँग लो, यह वर मत माँगो।

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व
बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥

(कठ० १।१।२३)

× × ×

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान् कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः॥
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः।

(कठ० १।१।२५)

'सौ-सौ वर्षकी उमरवाले बेटे-पोते ले लो। बहुत-से पशु, हाथी, घोड़े और सोना ले लो। बहुत-सी पृथ्वी माँग लो। स्वयं जितने दिन चाहो उतनी आयु माँग लो। जो-जो वस्तुएँ संसारमें दुर्लभ हैं वे सब माँग लो। रथ और बाजोंके साथ वे रमणियाँ जो मनुष्योंको दुष्प्राप्य हैं, अपनी सेवाके लिये माँग लो। परन्तु हे नचिकेता, (जो वर मैंने तुझे देनेको कहा है उसके उत्तरमें) मरणसम्बन्धी बात मत पूछो।'

'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—ब्रह्मज्ञानवाला ब्रह्म ही हो जाता है, अर्थात् उसको मोक्ष प्राप्त हो जाता है। मोक्षप्राप्तिका मार्ग केवल ब्रह्मज्ञान है।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(ईश० ६-७)

'जो सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है, और सब भूतोंमें आत्माको देखता है वह किसीसे घृणा नहीं करता। जिस समय मनुष्य सब प्राणियोंमें आत्माको पहचानने लगा, उस समय न मोह रहता है न शोक।'

यह विद्या बहुत पवित्र और पुरानी है।

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा-
मथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा-
थर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह
भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्॥
(मुण्डक० १।१।१-२)

पुनः—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
(गीता ४।१)

कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें जब कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाएँ लड़नेके लिये तैयार होकर खड़ी थीं, तब अर्जुनको यह विषाद हुआ कि कौरवदलमें उनके अनेक सम्बन्धी, गुरु आदि मौजूद हैं, उनको मारना अधर्म है। यह विचारकर वे युद्धसे विमुख होने लगे, अपने कार्यमें ढीले पड़ गये। उस समय सारथि बने हुए भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं उनको गीताका उपदेश देकर अपने कर्मपर आरूढ़ किया। उसी आत्मज्ञानने अर्जुनका उत्साह बढ़ाया। शरीर अन्तवान् है—'अन्तवन्त इमे देहाः'; परन्तु आत्मा जो अजन्मा, नित्य, सनातन, पुराण है, वह कभी जन्मता-मरता नहीं—'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः'।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

ज्ञानवान् पुरुष शीतोष्ण, सुख-दुःख, लाभालाभ, जय-पराजयको नहीं विचारते। वे अहंकृतिका परित्याग कर और फलकी आकांक्षा छोड़कर कर्म करते रहते हैं।

यह सांख्ययोग सिखानेके पश्चात् भगवान्ने अर्जुनको कर्मयोगका पाठ पढ़ाया। भगवान् समय-समयपर इस पृथ्वीपर अवतार लेकर अपने भक्तोंकी, साधुओंकी रक्षा करते हैं और दुष्टोंका संहार करते हैं। भगवत्-ज्ञान और भक्ति मोक्षका सीधा मार्ग है। इस मार्गपर आरुढ हुआ मनुष्य समझने लगता है—'वासुदेवः सर्वम्।' भगवान्की प्रतिज्ञा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(गीता ९।३४)

सांख्य, कर्म, ज्ञान, सबके ऊपर भक्ति है।

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(गीता १२।७)

यह भक्ति 'अनन्य' होनी चाहिये—जो ऐसी भगवद्भक्तिमें रँग जाते हैं उनको ईश्वर स्वयं दर्शन देते हैं। उनका उद्धार ईश्वरका काम हो जाता है, स्वयं उनको पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता।

सारांश यह कि मनुष्यको पहले यज्ञ, दान, तप आदि सत्कर्मद्वारा अपने चित्तको शुद्ध करना चाहिये, फिर इन्द्रियोंको वशमें कर भगवान्की अनन्य भक्तिमें दत्तचित्त होना चाहिये। उनका मोक्ष सरल, सुगम है।

सूरदासके विचार वेदान्तविषयमें सर्वोत्तम श्रेणीके हैं। जब विष्णुभगवान् श्रीकृष्णावतार लेनेको हुए तब जो ऋषि, महर्षि आदि अपने तपसे, अपने सुकर्मोंसे अपने चित्तोंको शुद्ध कर चुके थे और जिनको अपने मन एवं इन्द्रियोंपर काबू हो चुका था, जो भक्तिसे भगवान्के पास रहनेके अधिकारी बन चुके थे, उनको आशीर्वादात्मक यह वर मिला कि वे व्रजभूमिमें उसी समय और उसी स्थानमें प्रकट हों जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र अपनी दिव्य मानुषी लीला करनेको अवतीर्ण हों। यह उनका परम सौभाग्य था। गोपियाँ और गोप भी उन्हीं महात्माओंमें थे। गोपियाँ कर्म-बन्धनसे परे थीं। वे ज्ञानसे भी ऊपर थीं, भगवान्की अनन्य भक्तिमें डूबी हुई थीं। उच्च कोटिका वेदान्त कूट-कूटकर उनमें भरा हुआ था। वे सहज ही जीवन्मुक्त थीं। मोक्षकी कामना भगवान्की निरन्तर सेवाके सामने उनके लिये तुच्छ थी। श्रीकृष्णभगवान्के समीप रहकर उनके प्रेममें रँगे रहना, उनकी लीला देख-देखकर आनन्द लूटना उनके मन यज्ञ, तप, दान, सत्कर्म, ज्ञान आदि सबसे अधिक था। उनके लिये श्रीकृष्णके अतिरिक्त संसारमें कोई मनुष्य,कोई देवता नहीं था;कोई दूसरा मित्र अथवा सम्बन्धी भी न था; भगवान् श्रीकृष्ण ही उनके माता, पिता एवं गुरुदेव थे। उनको समस्त जगत् अपने प्राणप्रियतम श्यामसुन्दर श्रीकृष्णसे भरा दीखता था।

सूरदासजीके शब्दोंमें वे कहती हैं—

जित देखौं तित स्याममयी है।
स्याम कुंजबन, जमुना स्यामा, स्याम गगन घनघटा छई है॥
सब रंगनमें स्याम भरो है, लोग कहत यह बात नई है।
मैं बौरी, की लोगन ही की स्याम पुतरिया बदल गई है॥
चंद्रसार रबिसार स्याम है, मृगमद स्याम काम बिजई है।
नीलकंठको कंठ स्याम है, मनो स्यामता बेल बई है॥

श्रुतिको अच्छर स्याम लेखियत, दीपसिखापर स्यामतई है।
नरदेवनकी कौन कथा है, अलख ब्रह्म-छबि स्याममयी है॥

इस प्रकार उनके विचार और जीवन अद्वैतवादसे परिपूर्ण हैं। इसके प्रमाणमें उपर्युक्त पदके समान ही सूरदासके हजारों पद पाये जाते हैं। भक्तिके आनन्दमें मग्न महापुरुष सांसारिक पदार्थोंको कुछ नहीं समझते। भगवत्कृपासे उनको सब कुछ सुगम है। सब कुछ बिना प्रयासके अपने-आप उन्हें मिल जाता है। वे नचिकेताकी भाँति कभी विभूतियोंके प्रलोभनमें नहीं फँसते।

अपनी भक्ति दै भगवान।
कोटि लालच जो दिखावौ, नाहिं मोहि रुचि आन॥

उपनिषद्के मन्त्रोंकी झलक सूरदासके निम्नांकित पदमें स्पष्ट पायी जाती है। इससे उनके अद्वैत विचारका पूरा प्रमाण मिलता है—

तुम मेरे अवगुन चित न धरौ।
समदरसी प्रभु नाम तिहारौ, चाहौ तौ पार करौ॥
एक नदिया एक नार कहावत, मैलो नीर भरौ।
जब मिलिकै दोउ एक बरन भए, सुरसरि नाम परौ॥
एक जीव, एक ब्रह्म कहावत, सूरस्याम झगरौ।
अबकी बेर मोहि पार उतारौ, नहिं प्रन जात टरौ॥

जीव क्या है, ब्रह्म क्या है, माया किसको कहते हैं, यह सब सूरदास झगड़ा समझते हैं। नदी हो या नाला, सबको एक दृष्टिसे देखते हैं। मोक्ष केवल भगवान्की अनन्य भक्तिसे मिलता है। विनयके पदमें कैसा अद्वैत है! फिर—

माधवजू यह मेरी एक गाय।
आजुसे अब आप आगे दै लाइये चराय॥
है अति हरिहाई, हटकत हूँ बहुत अमारग जाति।
फिरत बेगबन, ऊख उखारत सब दिना सब राति॥
हितकै मिलै लेहु गोकुलपति अपने गोधन माहिं।
सुख सोऊँ सुनि बचन तुमारे, लेहु कृपा करि बाहिं॥
निधरक रहौं सूरके स्वामी जनम न पाऊँ फेरि।
मैं-ममता-रुचि सो जदुराई पहले लेउँ निबेरि॥

गीतामें मनको चञ्चल बताया है, उसका निग्रह अभ्याससे होता है। उसे भगवान्में अर्पण करनेसे अभ्यास बन पड़ता है। इस प्रकार यह 'हरिहाई गाय' केवल यदुनन्दन-जैसे रखवालेके द्वारा वशमें लायी जा सकती है। जब मनुष्य अपने चञ्चल मनरूपी हरहाई गायको श्रीकृष्ण-जैसे चतुर चरवाहेके सुपुर्द कर देता है तब वह 'निधरक' हो जाता है, जन्म-मरण, आवागमनसे छूट जाता है। इसीको उपनिषद् इस प्रकार कहते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥
(मुण्डक० ३।२।३)

सूरदासकी कृष्णभक्ति इतनी प्रबल है कि वह धर्म, कर्म, ज्ञान, सबसे श्रेष्ठ है। इसके अतिरिक्त कोई मोक्षमार्ग नहीं है।

बार बार मोसो कह बूझत,
तुम हो पूरन ब्रह्म गोसाईं।
तुम हरता, तुम करता एकै,
तुम हो अखिल भुवनके साईं॥

भगवद्भक्तिके सामने वैकुण्ठ भी तुच्छ है—

'कहा करौं बैकुंठहि जाय'

नारदभक्तिसूत्रमें भक्तिके लक्षण इस प्रकार कहे हैं—

सा (भक्तिः) परमप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति। यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति।

(२-५)

यह अनन्य प्रेमाभक्ति है।

नारद बतलाते हैं—'अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता', दूसरेका आश्रय छोड़ देना अनन्यता कहलाता है।

सूरदास कहते हैं—

सूरदास जाको मन जासों, ताकों सोई सुहात।

१९ वें सूत्रमें नारदजीने बतलाया है कि जिसका मन भगवान्को अर्पण हो चुका है उसको भगवान्का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेपर परम व्याकुलता होती है। सूरदास कहते हैं—

बिन गोपाल बैरिन भईं कुंजैं।
तब वे लता लगत हीं सीतल, अब भईं बिषम ज्वालकी पुंजैं॥
बृथा बहत जमुना तट खगरो बृथा कमल-फूलनि अलि गुंजैं।
पवन पानि घन सारि सुमन दै दधिसुत-किरन भानु भईं भुंजैं॥
ऐ ऊधौ कहियो माधवसों मदन मारि कीन्हीं हम लुंजैं।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरसकौ मग जोवत अँखियाँ भईं धुंजैं॥

ऐसी भक्ति किनकी है—

'यथा व्रजगोपिकानाम्'

(नारदसूत्र २१)

इन गोपियोंके प्रेमका क्या ठिकाना है !

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या मा भजन्दुर्जरगेहश्रृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३२ । २२)

भगवान् कहते हैं कि गोपियोंने कठिनतासे टूटनेवाले गृहबन्धनको तोड़कर जो मेरी सेवा की है उसका बदला मुझसे देवताओंकी आयुमें भी नहीं दिया जा सकता ।

भगवान्की भक्तिका यह प्रभाव है कि स्वयं भगवान् भक्तके वशमें हो जाते हैं । उसके कल्याणकी चिन्ता उनको हर समय रहती है । उसकी टेढ़ी-मेढ़ी बातें वे बड़े चावसे सुनते हैं । उसके नाज़-नख़रे बरदाश्त करते हैं । इसमें प्रह्लाद, सुदामा, केवट आदिके उदाहरण हैं !

उद्धवजी कृष्णके सखा थे—

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा ।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षात्‌·················॥

श्रीकृष्णने मित्रताके नाते उनको भेजा कि व्रजमें जाकर माता-पिताको प्रसन्न कर आओ, और गोपियोंको विशेषरूपसे उपदेश देकर धैर्य बँधाओ । कौन हैं वे गोपिकाएँ ?

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ॥
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन ।

उद्धवजीने व्रज पहुँचकर गोपियोंको योगका उपदेश किया । परन्तु गोपियाँ कर्म-धर्मसे ऊपर थीं । उनका कृष्णवियोगजनित दुःख योगसे कैसे दूर होता । वे जीवन्मुक्त थीं, केवल भगवान्में लौ लगाये हुए थीं । उद्धवजी समझे थे कि वे केवल गोपललनाएँ हैं, अशिक्षित गोपोंकी स्त्रियाँ हैं ।

भगवान् कहते हैं, गोपियाँ 'मन्मनस्काः'—मुझमें दत्तचित्त हैं; 'मदर्थे त्यक्तदैहिकाः'—मेरे लिये तन, मन, धन, सब कुछ दे चुकी हैं ('त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे') । वे भगवान्के प्रेममें लोकधर्म भी छोड़ चुकी हैं । वे साधारण स्त्रियाँ नहीं हैं, वे महर्षियोंसे भी अधिक हैं ।

सूरदास कहते हैं—

जो ब्रत मुनिबर धारहीं, पै पावत नहिं पार ।
सो ब्रत सीखौ गोपिकन छाड़ि बिषय-बिस्तार ॥
अबिगत, अगह, अपार, आदि अवगत है सोई ।
आदि निरंजन नाम ताहि रंजै सब कोई ॥
नैन-नासिका-अग्र है, तहाँ ब्रह्मकौ बास ।
अबिनासी, बिनसै नहीं, हो सहज ज्योति परकास ॥
घर लागै अब दूरि, कहौ, मन कहाँ बँधावैं ।
अपनो घर परिहरै, कहौ, को घेर बतावैं ॥
मूरख जादव जाति है, हमैं सिखावत जोग ।
हमकों भूली कहत हैं हो ! हम भूलीं किधौं लोग ॥
जो कोउ पावै सीस दै, ताकौ कीजै नेम ।
मधुप हमारेसें कहौ, जोग भलो कै प्रेम ॥
प्रेम प्रेम सों होइ, प्रेम सो पारैं जइये ।
प्रेम बँधौ संसार, प्रेम परमारथ पइये ॥
एकै निहचै प्रेमको, जीवन मुक्त रसाल ।
साँचौ निहचो प्रेमको, जो मिलिहैं नँदलाल ॥
सुनि गोपिनको प्रेम, नेम ऊधौको भूलौ ।
गावत गुन गोपाल, फिरत कुंजनमें फूलौ ॥

सूरदास सगुणके उपासक हैं । श्रीकृष्णप्रेम उनका सर्वस्व है । यही अद्वैतवादकी पराकाष्ठा है ।

गोपीवचन—

निर्गुण कौन देसको बासी ।
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी ।
कैसो बरन, भेष है कैसो, केहि रसमें अभिलाषी ॥
पावैगो पुनि कियौ आपुनो, जोरि कहैगो गाँसी ।
सुनत मौन ह्वै रह्यौ ठगौ सो 'सूर' सबै मति नासी ॥

फिर गोपियाँ कहती हैं—

तौ हम मानैं बात तुम्हारी ।
अपनौ ब्रह्म दिखावै ऊधौ मुकुट-पीताम्बरधारी ॥
जो मुख सदा सुधा अँचवत है, सो बिष क्यों अधिकारी ।
सूरदास प्रभु एक अंग धरि रीझ रहीं ब्रजनारी ॥

सूरदासने अद्वैतवादका सिद्धान्त, जिसका वर्णन ग्रन्थ-के-ग्रन्थ लिखनेपर भी नहीं हो सकता था, निचोड़कर एक पंक्तिमें भर दिया है—

नहिं दासी-ठकुराइन कोई । जहँ देखौ तहँ ब्रह्महि सोई ॥
आपहि औरहि ब्रह्महि जानै । ब्रह्म बिना दूसर नहिं मानै ॥
जोगकथा ओढ़ै कि बिछावै । दुसह बचन अलि हमैं न भावै ॥

सूरदास सगुण ब्रह्मके उपासक हैं, निर्गुणके नहीं। यह बात उद्धव-गोपी-संवादसे, जिसे भ्रमरगीतके नामसे लोग जानते हैं, स्पष्ट है। भगवान्‌के भेजे हुए संदेशपर गोपियोंकी आलोचना पढ़नेयोग्य है।

सुनौ गोपी हरिकौ संदेस।
करि समाधि अंतरगत ध्यावहु, यह उनकौ उपदेश॥
वह अबिगत, अबिनासी, पूरन, सब घट रह्यौ समाई।
निरगुन ग्यान बिन मुक्ति नहीं है, बेद-पुरानन गाई॥
सगुन रूप तजि निरगुन ध्यावौ इक चित इक मन लाइ।
यह उपाव करि बिरह तरौ तुम, मिलै ब्रह्म तब आइ॥
दुसह सँदेस सुनत माधौ कौ गोपीजन बिलखानी।
'सूर' बिरहकी कौन चलावै, बूड़त मनु बिन पानी॥

गोपी—

मधुकर वह जानी तुम साँची।
पूरन ब्रह्म तुम्हारे ठाकुर, आगे माया नाची॥
यह इहि गाँव न समुझत कोऊ कैसो निरगुन होत।
गोकुल बाँट परे नँदनंदन, वहै तुम्हारो पोत॥
को जसुमति ऊखल सों बाँधौ, को दधि-माखन चोरे।
को यह दोऊ रूख हमारे जमला अर्जुन तोरे॥
को लै बसन धरौ तरुसाखा, मुरली मन को करषै।
को रसरास रच्यो बृंदाबन, हरषि सुमन सुर बरषै॥

अद्वैतवादका शिक्षण है कि सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग मोक्षमार्गकी श्रेणियाँ हैं और उनमें सर्वोच्च श्रेणी भक्तिकी है। सूरदास भक्तिका प्रतिपादन करनेवाले हैं। प्रेम ही संसारमें एक वस्तु है। प्रेममयी गोपियोंको संसार कृष्णमय दिखलायी देता है। श्रीकृष्णके प्रेममें आसक्त वे गोपियाँ उनको अपने सुख, अपनी मर्यादा और अपने जीवनका एकमात्र आधार मानती हैं। कृष्ण विना संसारमें उनका कोई नहीं है!

ब्रह्मज्ञान—अद्वैतवादके उत्तम सिद्धान्तको सूरदासने सगुण-उपासक श्रीगोपीजनों और उनके उपास्य भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रमें साक्षात्, साकार करके दिखला दिया है। मूलमें दोनों उपदेश एक ही हैं।

महात्मा सूरदास और वेदान्त

(लेखक—पं० श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयी, एम्. ए.)

वेदान्त, ब्रह्मविद्या या मोक्षविद्याकी जो अजस्र धारा इस देशमें चिरकालसे बहती चली आ रही है, महात्मा सूरदास अपने समयमें उसके एक निष्णात कवि हो गये हैं। यदि हम श्रीमद्भागवतके वेदान्त-ग्रन्थ होनेमें सन्देह नहीं करते तो सूरदासजीके सूरसागरके सम्बन्धमें भी नहीं कर सकते। सूरसागरमें श्रीमद्भागवतका सम्पूर्ण आशय ग्रहण किया गया है; यही नहीं, सूरदासजी महर्षि व्यासकी उस रचनाके रसमें पूर्णरूपसे ओतप्रोत भी हो गये हैं। यद्यपि कालकी दृष्टिसे व्यास पूर्ववर्ती और सूरदास परवर्ती कवि हुए, तथापि, जहाँतक आध्यात्मिक भाव तथा साधनाका सम्बन्ध है, दोनोंमें कोई अन्तर दिखायी नहीं देता। यदि कुछ अन्तर है तो इतना ही कि सूरदासजीने भागवतकी श्रीकृष्णलीलाका अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और उसमें कतिपय स्वतन्त्र किन्तु रसमय प्रसंग जोड़ दिये हैं। इन नवीन प्रसंगोंके कारण काव्यकी दृष्टिसे सूरसागरकी मौलिकता बहुत बढ़ गयी है; पर, जहाँतक मूल रस या आनन्दकी बात है, सूरदासका हृदय उसी उल्लाससे भरकर छलक रहा है जिससे व्यासका हृदय भरा हुआ है। इन दोनोंकी समरसता प्रत्येक सहृदय पाठकको स्वयं ही अनुभव होती है। यह समरसता इसलिये नहीं है कि व्यास और सूरदासने एक ही कथानक ग्रहण किया या एक ही शैलीकी रचना की; यह इसलिये है कि दोनों ही कवि वेदान्त या अध्यात्मविद्यामें निष्णात महापुरुष हो गये हैं। इस दृष्टिसे न केवल भागवत और सूरसागर वरं उपनिषद्, गीता, पुराण, भक्तिकी सगुण-निर्गुण आदि शाखाओंके प्रवर्त्तक कवि और आचार्य रामानुज, मध्व, वल्लभ, चैतन्य, रामानन्द, कबीर, सूर, तुलसी, सभी बाहरी रंगोंमें अन्तर होते हुए भी भीतर एक ही रंगमें रँगे हुए हैं। पहले-पहल यह बात आश्चर्यजनक-सी प्रतीत होती है; पर, यदि हम इन ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका समुचित अध्ययन करें तो हमारी शंका अवश्य दूर हो जायगी। यद्यपि उपनिषद् फुटकर श्लोकों और संवादोंके रूपमें है, गीता महाभारत-महाकाव्यका अंग तथा वीर और शान्तरसकी समन्वयात्मक कृति है, श्रीमद्भागवतमें प्रेमकी प्रधानता पायी जाती है; इसी प्रकार कबीर निर्गुणोपासक और सूर सगुणोपासक कहे जाते हैं तथा तुलसीमें अनन्य भक्तिरससे सराबोर नीति और कर्तव्यकी जीवन-व्यापिनी शिक्षा प्राप्त होती है। परन्तु मैं फिर भी कहूँगा कि

ये सब बाहरी या व्यावहारिक भेद हमें इनकी अन्तरङ्ग एकताकी झलक देखनेसे रोक नहीं सकते। इनमेंसे एक-एकके आधारसे कई-कई सम्प्रदायतक प्रचलित हो गये हैं, पर साम्प्रदायिकताके रहते हुए भी इनमें एक व्यापक साम्य यह पाया जाता है कि ये सभी एक ही महान् सत्य या सार-सत्ता (वह सगुण हो या निर्गुण) के प्रति अनन्य भावसे आकर्षित हुए हैं और उसी केन्द्रकी ओर उनकी सारी भावना खिंची हुई है। उसी केन्द्रपर उनका सम्पूर्ण काव्य-प्रासाद खड़ा हुआ है। उपनिषदोंमें वह केन्द्र ब्रह्म, गीता और भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण, रामायणमें श्रीराम तथा कबीर आदि संतोंकी वाणीमें 'निर्गुण' है। इन केन्द्रोंमें विद्वानोंको सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेसे, सम्भव है, बहुत कुछ अन्तर भी दिखायी दे; पर इनका यह ऐक्य किसी प्रकार भुलाया नहीं जा सकता कि ये सभी आध्यात्मिक आधारपर स्थित हैं और अध्यात्मके ही आनन्दमें लीन भी हैं। गीताके उपदेशक भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय शिष्य और सखा अर्जुनको योगस्थ होकर युद्ध करनेके लिये प्रोत्साहित करते हैं; भागवतमें वे माता यशोदाकी गोदमें बालकेलि करते, गोपसखाओंके साथ वनमें विचरते तथा प्रियतमा गोपियोंको लेकर भाँति-भाँतिकी रसमयी दिव्य लीलाएँ रचते हैं। गीताकी शैली ओजःपूर्ण और प्राञ्जल तथा भागवतकी प्रसादपूर्ण और अलंकृत है। साहित्यकी दृष्टिसे एकका स्थायीभाव उत्साह तथा दूसरेका रति कहा जा सकता है, किन्तु हैं ये दोनों ही आध्यात्मिक। इसी प्रकार कबीरकी निर्गुण भक्ति तथा समाजसम्बन्धी चुभते हुए व्यंग्य और तुलसीकी सगुण भक्ति तथा समाजकी संरक्षणशील गम्भीर वृत्तिमें ऊपरसे बहुत कुछ विषमता दिखायी देती है तथा इन दोनोंके बीचोबीच सूरकी प्रेममयी वाणी समाजकी निम्न जातियोंके प्रति सहानुभूतिका स्रोत लिये हुए बह रही है। ये ऊपरी निगाहसे परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं और इनमें रंगों-रूपोंका भेद है भी, परन्तु इन रंगों-रूपोंके भीतर एक अन्तरङ्ग ऐक्य अपनी दृढ़तामें सुस्पष्ट और व्यापकतामें अगाध अपनी मर्मस्पर्शिताके द्वारा हम सबको दर्शन देता और अपने पवित्र प्रभावसे हमें वशमें कर लेता है। यह ऐक्य आत्मिक ऐक्य है और यही आत्मिक ऐक्य ही वेदान्तकी प्रसिद्ध परिभाषा है।

वेदान्तका स्वरूप साहित्यकी व्यावहारिक दृष्टिसे वही है जिसे गोस्वामी तुलसीदासजीने—

कीन्हें प्राकृत-जन-गुन-गाना। सिरु धुनि गिरा लगति पछिताना॥

—पंक्तिके द्वारा प्रदर्शित किया है। इस दृष्टिसे साहित्यके दो विभाग किये गये हैं, एक आध्यात्मिक या संतसाहित्य और दूसरा लौकिक या प्राकृत साहित्य। यदि एकमें व्यास, वाल्मीकि और कबीर, सूर, तुलसी आदि प्रमुख महात्माओंकी कृतियाँ हैं तो दूसरेमें कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष, माघ, दण्डि, देव, बिहारी प्रभृति बड़े-बड़े कविराज विराजमान हैं। एकमें भगवान्के स्वरूपका निदर्शन और उनकी महिमाका वर्णन मुख्य है तथा अन्य समस्त चर्चा उसीकी अनुवर्त्तिनी है और दूसरेमें देश-कालकी परिस्थितिका सूक्ष्म चित्रण, सौन्दर्यनिरूपण तथा मनुष्यका आचरण ही मुख्यतया प्रदर्शित है। इन दोनोंमें मुख्य भेद यही है कि एकमें भावनाका केन्द्रीकरण भगवान्के केन्द्रमें किया गया है और दूसरीका किसी आदर्शविशेष या परिस्थितिविशेषमें ही किया गया है अथवा किसी कालविशेषका दृश्य दिखाकर ही काव्यकी पूर्ति की गयी है।

अध्यात्म और साहित्यके क्षेत्रोंमें इस प्रश्नको लेकर जो विवाद चले हैं उनकी ओर ध्यान देना यहाँ हमारा प्रयोजन नहीं है। साहित्यिकोंकी दृष्टिमें काव्यानन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर है और कालिदास, भवभूति आदि महाकवियोंकी रचनामें वह आनन्द परिपूरित है। इसके साथ ही इन उत्कृष्ट कवियोंमें जो भावोत्कर्ष है वह भी स्वर्गीय है। उसके समकक्ष बड़े-बड़े भक्तोंकी भावना भी नहीं पहुँचती। राम और कृष्णका यशोगान करनेवाले भक्त क्या इसी कारण उच्च हैं कि उन्होंने अपने वर्ण्य विषयका नाम राम और कृष्ण रक्खा है ? अथवा उनमें कोई ऐसी वस्तु भी है जो अन्य कवियोंमें नहीं पायी जाती। बहुत-से कवि राधा और कृष्णकी आड़में अपने हृदयके मलिन उद्गार ही प्रकट करते हैं, तो क्या उन उद्गारोंकी गणना आध्यात्मिक साहित्यमें की जा सकती है ? और जो वास्तवमें उच्च कोटिकी प्रतिभापूर्ण कविता है वह इसीलिये निन्द्य समझी जाय कि उसमें अध्यात्म कहे जानेवाले नपे-तुले नाम और भाव नहीं हैं ? इसका उत्तर यही है कि इस प्रकारकी विचार-भ्रान्ति अध्यात्मका यथार्थ स्वरूप न समझने और उसे Theology या धर्मशास्त्रीय चर्चामात्र माननेके फलस्वरूप ही उत्पन्न हो सकती है। वास्तविक 'अध्यात्म' तो वर्णनातीत है। न उसमें कोई निन्द्य है, न वरेण्य। वह गुणातीत होनेके कारण संसारकी किसी कसौटीपर नहीं परखा जा सकता। वह मनुष्यके मन-बुद्धिसे परे, विशुद्ध आत्मस्वरूप है। इसलिये वास्तवमें उसकी परख आत्मा ही कर सकती है।

तथापि व्यावहारिक दृष्टिसे, अलौकिक अध्यात्मके साथ लौकिक साहित्यवस्तुका संयोग कर हम 'आध्यात्मिक साहित्य' शब्दका प्रयोग कर लिया करते हैं। गीतामें गिनायी गयी भगवान्‌की विभूतियोंकी भाँति साहित्यमें जो सर्वश्रेष्ठ है वह आध्यात्मिक या भगवत्स्वरूप भी है ऐसा कहना अनुचित न होगा। जब भगवान् अपनेको छलविद्याओंमें द्यूत कह सकते हैं तब हम साहित्यके भी सर्वश्रेष्ठ अंशको अध्यात्म कहकर उन्हींका अनुसरण करते हैं। इस प्रकार अध्यात्मके दो स्वरूप हुए—एक तो शुद्ध अध्यात्म, जो अनिर्वचनीय है, और दूसरा व्यावहारिक अध्यात्म, जो प्रत्येक वस्तुके सर्वश्रेष्ठ अंशके रूपमें प्रकट होता है। इस दृष्टिसे, कवियोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण कालिदास आदि भगवद्विभूति कहे जा सकते हैं; किन्तु व्यास या सूरदासकी भाँति वे अनिर्वचनीय अध्यात्मतत्त्वके भी पारंगत थे, यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता।

अनिर्वचनीय अध्यात्मतत्त्व संसारकी सारी वस्तुओंसे भिन्न है। उसकी साधना उन सम्पूर्ण लौकिक साधनाओंसे पृथक् है जो मन और बुद्धिद्वारा की जाती हैं। यह आत्माकी साधना परमात्माकी नित्य, अपरिवर्त्तनीय महान् सत्ताका साक्षात् होनेपर ही सिद्ध होती है। इसकी सिद्धि हो जानेपर मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। उसे अपने नाशवान् शरीरका भान नहीं रह जाता। संसार भी उसकी दृष्टिमें नहीं रहता। एकमात्र आत्माकी ही सत्ता रहती है। यह मुक्ति प्राप्त करनेके लिये साधक या भक्त सम्पूर्ण कर्मोंसे संन्यास ले लेता है; जलमें स्थित निर्लेप कमलकी भाँति कर्मक्षेत्रमें रहनेपर भी कर्मसे उसका कुछ भी लगाव नहीं रह जाता। यह वैराग्य या असंलग्नता प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको अपने यथार्थ स्वरूपका विवेक प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। इस विवेकके द्वारा उसे सारी अनित्य वस्तुओंसे सम्बन्ध त्यागकर एक ही नित्य सत्तामें विश्राम प्राप्त करना है। यह मुक्तिकी स्थिति ही यथार्थ आनन्दकी स्थिति है। इसकी साधना शास्त्रोंमें विधिपूर्वक बतायी गयी है। मुख्य साधनाएँ क्रमशः सांख्य (ज्ञानात्मक निवृत्ति), योग (क्रियात्मक निवृत्ति) तथा भक्ति (भावात्मक निवृत्ति) हैं। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें इन तीनोंका ऐसा विशद समन्वय किया है कि परवर्त्ती कालमें यह त्रिवेणी वेदान्त-गंगाकी प्रशस्त धाराके रूपमें बहती रही है और इसने न जाने कितने संसारबन्धनत्रस्त जनोंको मुक्तिके अमृतसिन्धुकी शाश्वत आनन्द-लहरियोंके बीच पहुँचा दिया है।

वेदान्तधाराका आदिस्रोतसे आरम्भकर अबतकका प्रवाह दिखाना इस छोटे-से लेखमें नितान्त असम्भव है; तथापि महात्मा सूरदास इसीका 'दर्शन-मज्जन-पान' करते रहे हैं, यह विश्वास उत्पन्न करनेका उत्तरदायित्व तो कुछ-न-कुछ हमपर है ही। यद्यपि परम्परागत धारणाएँ, जो जनतामें प्रचलित हैं, पूर्णरूपसे हमारे पक्षमें हैं, तथापि कुछ ऊपरी प्रमाणकी भी आवश्यकता पड़ती ही है। अस्तु, वेदान्तशास्त्र श्रुतिप्रतिपादित है। यह श्रुति ही है। इसका आरम्भिक विकास विद्वानोंने उपनिषदोंमें बतलाया है। गीतामें इसका इतना सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है कि हमें पुनः-पुनः उसीकी शरणमें जाकर वेदान्ततत्त्वको समझनेकी प्रवृत्ति होती है। पुराणोंमें वेदान्तके उत्कृष्ट स्वरूपका भक्तिपूर्ण निर्देश किया गया है। मध्यकालके कवियों, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, तथा अन्य अनेकोंने पुराणोंकी ही पद्धतिका अनुसरण करते हुए उत्कृष्ट पदरचना की है। शैव, शाक्त, वैष्णव आदि इस देशके सभी सम्प्रदाय वेदान्तसे अपना सम्बन्ध सिद्ध करते हैं। यह वेदान्तका माहात्म्य है। यद्यपि इन सम्प्रदायोंमें सिद्धान्तसम्बन्धी बड़े-बड़े भेद हैं तथापि वेदान्तका आश्रय ग्रहणकर ये अपनी विविधतामें एकताकी स्थापना करते हैं। भगवान् शङ्कराचार्य वेदान्तके महान् उपदेष्टा हो गये हैं। उनका मत अद्वैतवादके नामसे प्रसिद्ध है। शङ्करस्वामीका इतना अधिक प्रभाव जनसमाजके विचारोंपर पड़ा कि प्रायः लोग शाङ्करमतको ही वेदान्त मानने लगे। यह प्रभाव इस बातसे और भी लक्षित होता है कि भगवान् शङ्करके पश्चात् वैष्णवोंके अनेक आचार्योंने विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि भक्ति-सम्प्रदायोंमें 'अद्वैत' शब्दको ज्यों-का-त्यों ग्रहण किया। इन वैष्णवसम्प्रदायोंमें निर्गुण और सगुण दोनों प्रकारकी भक्ति प्रचलित हुई। उदाहरणार्थ कबीर निर्गुणोपासक और सूर सगुणोपासक भक्त हुए। दोनों ही वैष्णवशाखाओंके अन्तर्गत माने गये हैं और दोनों ही वेदान्तके पहुँचे हुए ज्ञाता भी कहे जाते हैं। इस प्रकार वेदान्त इस देशके धर्मसमन्वयके लिये सर्वोत्कृष्ट उपकरण सिद्ध हुआ है, यद्यपि उसकी एक सुनिश्चित विचारधारा भी है और वेदान्तग्रन्थों तथा उनके भाष्यकारोंने उस विचारधाराकी स्पष्ट विवेचना भी की है। हम कह सकते हैं कि वेदान्तीय विचारोंने भारतवर्षकी प्रकृतिपर अधिकार कर लिया है और यहाँके अधिकांश महापुरुष भिन्न-भिन्न समयोंकी प्रगतियोंका अनुसरण करते हुए प्रधानतः इसीके अनुवर्त्ती हुए हैं।

यद्यपि वेदान्तशास्त्रकी उत्पत्ति वेदसे ही है, तथापि यज्ञप्रधान वेदवादसे इसका अधिक सम्पर्क विद्वानोंकी दृष्टिमें नहीं है। वैदिक यज्ञ, जो 'क्रियाविशेषबहुल' कहे गये हैं अर्थात् जिनमें विधि और निषेधोंकी अधिकता है, वेदान्तके अनुसार स्वर्गादि फलोंको ही देनेवाले हैं, वे मुक्तिके उपाय नहीं हैं। मुक्ति तो सद्वस्तुके ज्ञानसे ही होती है। यह वेदान्तकी प्राथमिक शिक्षा है। तत्पश्चात् वह सद्वस्तुकी मीमांसा करता और उसकी प्राप्तिके उपाय बतलाता है। इन उपायोंमें चाहे जितने भेद हों, परन्तु एक सारवस्तुकी सत्ता और उसीके सम्बन्धसे मुक्ति वेदान्तकी सार्वत्रिक शिक्षा है। मुक्तिसम्बन्धी दो शास्त्र और भी हैं जिन्हें वेदान्त स्वीकार करता है और उन्हें अपने रंगमें रँगनेका आयोजन भी करता है। वे हैं सांख्य और योगशास्त्र, जिनका प्रसंग गीतामें आया है। इनके अतिरिक्त बौद्धशास्त्र भी मुक्तिका निर्देश करते हैं, पर इस लेखमें हम उनकी चर्चा न कर सकेंगे। वेदान्तका रूप स्पष्ट करनेके लिये हमें सांख्य और योगकी थोड़ी-सी व्याख्या करनी आवश्यक प्रतीत हुई है। सांख्य सृष्टिविश्लेपणका शास्त्र है। उसमें प्रकृति, पञ्चमहाभूत, पञ्च तन्मात्राएँ, बुद्धि, मन, अहंकार, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पञ्च कर्मेन्द्रियाँ ही सम्पूर्ण सृष्टिवस्तु स्वीकार की गयी हैं। इनके अतिरिक्त पुरुष नामक सर्वश्रेष्ठ तत्त्व, जो चेतन और कूटस्थ है और जिसके संसर्गसे निश्चेतन प्रकृति गुणोंकी साम्यावस्थाको छोड़कर त्रिगुणात्मिका सृष्टिके रूपमें प्रकट होती है, पचीसवाँ तत्त्व है। यह तो सांख्यका वस्तुनिर्देश है। उसका मुक्तिनिर्देश निवृत्तिमूलक है। जब मनुष्य सृष्टिके वास्तविक स्वरूपको जान लेता है तब उसकी बुद्धि अपने सारे प्रस्तारको समेट लेती है। यही सांख्यकी ज्ञानात्मिका मुक्ति है। किन्तु इस शास्त्रमें पुरुषकी संख्या जीवोंकी असंख्यताके रूपमें अनन्त मानी गयी है। यदि ऐसा न हो तो भिन्न-भिन्न जीव दिखायी क्यों दें अथवा एकके मुक्त हो जानेपर सभी मुक्त क्यों न हो जायँ! पुरुषकी चेतनाका संयोग पाकर प्रकृति अपना नृत्य दिखाती है, पर जब पुरुष उसकी ओरसे ध्यान हटा लेता है तब उसे यह खेल बंद कर देना पड़ता है। यहाँ पुरुष और प्रकृतिकी द्वैत सत्ताएँ हैं जो एक-दूसरेसे भिन्न हैं और इस द्वैत सत्ताके साथ ही अनेक पुरुषकी (जीवरूप) असंख्य सत्ता भी है। वेदान्त सांख्यकी निवृत्तिको स्वीकार करते हुए भी उसके पुरुष और प्रकृतिके सम्बन्धमें परिवर्तन करता है। वह प्रकृतिको पुरुषकी अनुचरी और आज्ञानुवर्त्तिनीमात्र मानता है। इसके साथ ही सांख्यमें पुरुषकी जो अनेकता मानी गयी है, वेदान्त उसके बदले एक ही पुरुष स्वीकार करता है। यह पुरुष क्षर और अक्षरभेदसे उपनिषदोंमें आया है। दो पक्षियोंमेंसे एकका फल खाना और दूसरेका पहलेकी ओर मौनभावसे देखते रहना पुरुषके इसी द्विविध रूपका रूपक है। प्रथम पुरुष संसारसम्बद्ध और दूसरा असंसारी है। हैं दोनों एक ही। असंसारी पुरुष ही अपने साथीको यथासमय संसारसे निवृत्त करता है, उसका फल खाना बंद कर देता है। गीतामें इस क्षर और अक्षर पुरुष-भेदके ऊपर अन्तिम समन्वयस्वरूप पुरुषोत्तमकी सत्ता प्रतिष्ठित की गयी है, जो क्षर, अक्षर दोनों तथा दोनोंके परे भी है। वह 'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुं' समर्थ है। यही पुरुषोत्तम वेदान्तकी चरम सत्ता है। यही पुराणोंकी भक्तिका आधार, भक्तोंका उपास्य भगवान् है।

इसी प्रकार वेदान्त सांख्यकी प्रकृतिके भी तीन स्वरूपभेद करता है। एक तो अपरा प्रकृति, जो जीवको आवरणमें डालती है, उसे संसारमें फँसा रखती है। दूसरी परा प्रकृति, जो जीवको आत्मस्वरूप प्राप्त कराती है। तीसरी प्रकृति भगवान्की स्वरूपा अथवा अन्तरंगा प्रकृति है, जो उनसे एकदम अभिन्न है। वैष्णव भक्त श्रीराधाको इसी शक्तिका स्वरूप मानते हैं। पुरुष और प्रकृतिका पारस्परिक सम्बन्ध गीताके अनुसार स्वामी और अनुचरीका है। परन्तु यहाँ भी द्वैतभावका लेश न रह जाय, इसलिये भगवान् शङ्करने प्रकृतिको मायारूप कहकर संसारको मिथ्या—स्वप्न सिद्ध किया है। यहाँ आकर मुक्ति और बन्धन दोनों ही स्वप्न बन जाते हैं। वास्तवमें बन्धन या मोक्ष है नहीं। यह केवल मायाजन्य भ्रम है। यही निर्विशेष शाङ्करमत है।

कहना न होगा कि वैष्णव संतोंको यह निरूपण इस रूपमें स्वीकार न हुआ। वे बन्धनको भ्रम और मुक्तिको भी भ्रम माननेको तो तैयार थे, पर भगवान्की भक्ति किसी प्रकार नहीं छोड़ सकते थे। निश्चय ही वे सांख्यमतकी-सी द्वैत सत्ता नहीं स्वीकार करते वरं भगवान्को ही सृष्टिका उपादान और जीवोंका एकमात्र इष्ट मानते हैं तथापि वे अपने इष्टकी उपासना किये बिना नहीं रह सकते। यह उपासना भगवान्की प्राप्तिका साधन भी है और यही साध्य भी है। यह भक्तिका अनन्य मार्ग है।

इस भक्तिके साथ प्राचीन द्वैतवादी योगमार्गकी भी समता नहीं है (यद्यपि योगके अन्तर्गत भक्तिकी सारी

प्रक्रियाएँ आती हैं)। महर्षि पतञ्जलिके योगशास्त्रको भी वेदान्तने अपने साँचेमें ढालनेका प्रयत्न किया है। योग या क्रियाका मार्ग न तो वैदिक यज्ञ या कर्मकाण्ड है न वह योगसूत्रमें निर्दिष्ट राजयोग है, ऐसा गीतासे प्रकट होता है। वेदान्तके अनुसार, भगवान्‌को सर्वकर्मसमर्पण ही योग है। इसकी प्रधानरूपसे शिक्षा गीतामें दी गयी है और इसे ही सर्वश्रेष्ठ मुक्तिमार्ग कहा गया है। यहाँ भगवान्‌के लिये सारे कार्योंका न्यास ही संन्यास है। पातञ्जलयोगमें क्रियाका उद्देश्य साधनाके रूपमें ही है, लक्ष्य तो है समाधि। परन्तु वेदान्तमें योगमार्गको अत्यधिक प्रशस्त करनेकी चेष्टा की गयी है। वह मनुष्यजीवनके व्यापक क्षेत्रकी सम्पूर्ण क्रियाओंको भगवदर्पण करता है। इसी मार्गका अवलम्बन भक्तिके विविध सम्प्रदायोंमें विविध रूपसे किया गया है। इनमें ध्यान देनेकी बात इतनी ही है कि भक्तिप्रक्रियासम्बन्धी अनेक भेदोंके कारण भक्ति-सम्प्रदाय उस अर्थमें द्वैतमतावलम्बी नहीं कहे जा सकते जिस अर्थमें 'ईश्वरकृष्ण' की 'सांख्यकारिका' या 'पातञ्जल-योग' ने अपने मतोंका निरूपण किया है। यह भेद दूसरे प्रकारका है, जिसे ऊपर थोड़ा-बहुत स्पष्ट किया गया है। उससे अधिककी इस लेखके लिये आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। तथापि इतना कह देना असंगत न होगा कि भागवत तथा सूरसागरमें उद्धवके मुखसे जो योग कहलाया गया है और गोपियोंके द्वारा उसकी जिस रूपमें अवहेलना की गयी है उससे यह सिद्ध होता है कि द्वैतवादी मुक्तिसाधनोंकी अपेक्षा भेदापहारिणी भक्तिकी पर्याप्त प्रतिष्ठा हो चुकी थी।

महात्मा सूरदासजी भक्तिरसनिष्णात कवि थे, यह तो हम ऊपर कह ही चुके हैं। यहाँ हम यह कहना चाहते हैं कि वे पुष्टिमार्गनामक भक्तिपथके प्रदर्शक प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य वल्लभके अनुयायी थे। वल्लभाचार्यजीने वेदान्तसूत्रोंके कुछ अंशका 'अणुभाष्य' लिखकर अपने मतका प्रतिपादन किया है। उसमें उन्होंने शाङ्करमतके विरुद्ध विचार प्रकट किये हैं, जैसा कि अन्य वैष्णव आचार्योंने भी किया है। इनका मत शुद्धाद्वैतमतके नामसे प्रचारित हुआ। कुछ विद्वानोंकी सम्मतिमें यह शुद्धाद्वैतमत पूर्ववर्ती आचार्य विष्णुस्वामीके मतका ही नवीन संस्करण है। कहते हैं कि गौडीय मतकी भी कतिपय व्याख्याएँ इसमें गृहीत हुई हैं। आचार्य शङ्करके अनुयायी इस 'शुद्ध' विशेषणयुक्त 'अद्वैतवाद' को 'शुद्ध द्वैतवाद' की उपाधि देते हैं। इन अनेक प्रवादोंमें पड़नेका यह स्थल नहीं है। इस विषयके निर्णयके लिये तो बहुत विस्तृत विवेचनकी आवश्यकता होगी। यहाँ इतना ही जान लेना हमारे लिये पर्याप्त होगा कि आचार्य वल्लभ ब्रह्मको नित्य और साकार मानते तथा जगत्‌को भी नित्य मानते हैं। यह इस कारण कि जगत् ब्रह्मकर्तृक है। ब्रह्म कारण और जगत् कार्य है। वे जगत्‌को मायिक नहीं मानते। वह तो ब्रह्मसे अभिन्न ही है। ब्रह्म अनन्त और अचिन्त्य शक्तिबल-से जगत्‌की सृष्टि करता है। वही जगत्‌का उपादान भी है। इस शक्तिसंवलित ब्रह्मको शाङ्करमतावलम्बी नहीं मानते। उनके मतसे ब्रह्ममें शक्तिका अस्तित्व स्वीकार करना ही उसमें विकार स्वीकार करना है। जीवको आचार्य वल्लभ अणुरूप कहते और उसका स्थान हृदयमें बतलाते हैं। चन्दन जिस प्रकार एक स्थानमें रहकर चारों ओर सुगन्धि फैलाता है उसी प्रकार जीव हृदयस्थित होकर सारे शरीरको चेतन बनाता है। मणिकी कान्तिकी भाँति वह प्रसरणशील है।

गोलोकस्थित श्रीकृष्णका सायुज्य ही मुक्ति है। तथा पतिरूप या स्वामीरूपसे श्रीकृष्णकी सेवा करना ही जीवका धर्म है। जीव जब समस्त जगत्‌को कृष्णमय देखकर उनके प्रेममें परमानन्दका अनुभव करता है तब वह अपनी शुद्धावस्थामें पहुँचता है। भगवान् भी तभी प्रसन्न होकर उसे मुक्त करते हैं। इनके मतमें भगवद्विषयक निरुपाधि स्नेहरूप भक्तिविशेष ही सर्वात्मवाद है। इसके मर्यादा और पुष्टि नामक दो भेद हैं। अम्बरीष आदिकी मर्यादा-भक्ति थी। व्रजसुन्दरियोंकी भक्ति पुष्टिमार्गकी थी। शुद्ध पुष्टिमार्ग वह है जिसमें भगवत्प्राप्तिविषयक सब साधनोंका अभाव हो। भगवान्‌के अनुग्रहसे ही लौकिक और वैदिक सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। किसी प्रकारके यत्नकी इसमें आवश्यकता नहीं। किसी प्रकारकी योग्यताका विचार इस मार्गमें नहीं किया जाता। भगवान् आप ही अपनी भक्ति देते हैं। फलप्राप्तिमें बाधक सब धर्मोंका परित्याग ही पुष्टिमार्ग कहा गया है। इस भक्तिमें भगवान्‌के दोष-गुणका विचार नहीं है, उनके ऐश्वर्य और माहात्म्यकी कल्पना नहीं है और इसमें स्वामी (कृष्ण) के सुखके लिये ही सारी चेष्टाएँ हैं। इसके अतिरिक्त कोई दूसरी चेष्टा है ही नहीं। इस मार्गमें भगवान् जीवको वरण करते हैं, उसे निर्हेतु आत्मीयरूपसे ग्रहण करते हैं। प्रेमपूर्ण श्रवण-कीर्तनमें ही सर्व सुखोंका अनुभव इस मार्गकी रीति है। पुष्टिमार्ग भावका आतिशय्य है, जिसके कारण जीवको इहलौकिक या पारलौकिक भय नहीं रह जाता। यह देहादि अपनी नहीं, भगवान्‌की ही है, यह भाव इस

मार्गका है। समस्त विषयभोगों और देहादिका समर्पण शुद्ध पुष्टिमार्ग कहा गया है। ज्ञानकी इस मार्गमें आवश्यकता नहीं है, उसका कोई प्रयोजन ही नहीं है। केवल प्रेम ही इसके लिये बस है।

सूरदासजीकी यही प्रेममयी भक्ति थी। इसके कई प्रमाण हैं। एक तो यह कि श्रीमद्भागवतके ९ स्कन्धोंकी कथा, जिसमें प्रायः दो सौ अध्याय हैं, सूरदासजीने पाँच सौ पदोंमें ही समाप्त कर दी और इसके पश्चात् जब भगवान् श्रीकृष्णके जन्म तथा उनकी प्रेम-लीलाओंका प्रसङ्ग आया तब उसमें वे इतने रमे कि भागवत दशम स्कन्ध पूर्वार्द्धके ४९ अध्यायोंको प्रायः ५००० पदोंमें पूरा किया। यही व्रजमण्डलकी सारी जनता और विशेषतः 'अबला अहीरि' व्रजयुवतियोंका प्रेम-प्रसङ्ग है, जिसकी मिति-मर्यादा सूरसागरमें ढूँढ़े नहीं मिलती। यह व्रजवासियोंके श्रीकृष्ण-सम्बन्धी रससे भरा हुआ सागर ही सूरसागर है। व्रजके समस्त जीवनका सार रस—माताके हृदयका रस, पिताके सुखका रस, सखाओंके सहवासका रस, प्रियतमा गोपियोंके संयोग-वियोगका रस—जो सम्पूर्ण कृष्णमय रस है—यही सूरसागर है। इसके अतिरिक्त दशम स्कन्ध—उत्तरार्ध तथा शेष दो स्कन्धोंकी सम्पूर्ण कथा सूरदासजीने अत्यन्त संक्षित कर दी है, जिससे सारा 'सागर' गोपी-कृष्ण-रससे उद्वेलित होता-सा दिखायी देता है। दूसरा प्रमाण यह है कि प्रेमकी चर्चाके अतिरिक्त उनका अन्य किसी चर्चामें मन नहीं लगता। यद्यपि उद्धव अपने साथ ज्ञानका पूरा खजाना लाये थे, तथापि सूरदासजीने उन्हें गोपियोंसे तत्सम्बन्धी दस ही पन्द्रह पद कहनेका अवसर दिया। वे चाहते तो उद्धव और भी बहुत कुछ कह सकते, पर यह सूरदासजीके किये न हो सका। वे इस विषयमें एक प्रकारसे विवश थे। यह विवशता उन स्थानोंपर अत्यधिक स्पष्ट हो उठी है जिनमें व्रजवासियोंका पक्ष लेकर सूरदासजी अपने उपास्य और प्रभुकी मर्यादा भुला देते हैं और उन्हें प्रेमपूर्ण फटकार बतलानेसे भी नहीं चूकते। जब गोपियोंकी दशा देखकर उद्धव व्याकुलमना मथुरा आये तब वे ग्वालवेशमें ही थे। उस समय वे श्रीकृष्णके यादवपतिपदको एकदम ही भूल गये थे। उस अवस्थाका वर्णन सूरदासजी इन शब्दोंमें करते हैं—

सुनि गोपीके बैन नेम ऊधौके भूले।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजनमैं डोले॥
खन गोपीके पाँ परैं, धनि सोई है नेम।
धाइ धाइ द्रुम भेंटईं, ऊधौ छाके प्रेम॥
धनि गोपी, धनि ग्वाल, धन्य सुरभी बनचारी।
धनि यह पावन भूमि जहाँ गोबिंद अभिसारी॥
उपदेसन आये हुते, मोहि भयौ उपदेस।
ऊधौ जदुपतिपै चले, धरें गोपकौ बेस॥
भूले जदुपति नाम, कह्यौ गोपाल गुसाईं।
एक बार ब्रज जाहु, देहु गोपिन दिखराईं॥
बृंदावन-सुख छाँडिकै, कहाँ बसे हौ आइ!
गोबरधन प्रभु जानिकै, ऊधौ पकरे पाइ॥

यही सूरदासजीके हृदयकी बात है। इस प्रेमातिशयके इतने हृदयहारी गीत सूरसागरमें भरे हुए हैं कि उन्हें पढ़कर चित्त विचलित हो उठता है। ये गीत केवल वियोग-दशाके ही इतने विह्वलताकारी हों, यह बात भी नहीं है; संयोगकी अवस्थाके भी अत्यन्त मोहक गीत हैं। तन-मनकी दशा भूली हुई स्थितिके तो न मालूम कितने पद हैं; कुछ ऐसे भी हैं जो उससे भी आगे बढ़े हुए हैं। ये भगवद्दर्शन-सम्बन्धी अत्यन्त रहस्यात्मक पद हैं। भावनाकी तन्मयता होनेपर मनुष्य पहले भावुकतापूर्ण आचरण करता है। इसके अनन्तर दैहिक भावका एकदम विस्मरण हो जाता है और तब न तो लोककी मर्यादा रह जाती है, न क्रियाका भान रहता है। ऐसी अवस्थाके शब्दचित्र सूरसागरमें बहुत-से हैं। शरीर और संसारका भास न रह जाना ही अद्वैत-योग कहा जाता है। इस अवस्थाके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

विरहमें श्रीराधाकी शरीरविस्मृति—

अति मलीन बृषभानुकुमारी।
हरि-श्रम-जल अंचल-तनु भीज्यौ, तिहिं लालच न धुवावति सारी॥
अधोमुख रहति, उरध नहिं चितवति, ज्यौं गथ हारें थकित जुआरी।
छूटे चिहुर, बदन कुम्हिलानो, ज्यौं नलिनी हिमकरकी मारी॥
हरिसँदेस सुनि सहज मृतक भइ, इक बिरहिनि दूजे अलि-जारी।
सूर स्याम बिनु यौं जीवति है ब्रजबनिता वह स्यामदुलारी॥

विरहमें श्रीकृष्णदर्शन (गोपियोंकी उक्ति उद्धवके प्रति)—

जौ करि कृपा पाय धारे अलि, तौ मैं तुम्हैं जनावौं।
मौन गहे तुम बैठि रहौ, हौं मुरली-सब्द सुनावौं॥
अबहिं सिधारे बन गो चारन, हौं बैठी जस गावौं।
निसि-आगम श्रीदामाके सँग नाचत प्रभुहिं दिखावौं॥

को जानै दुबिधा-सँकोच में तुम उर निकट न आवैं ।
तब यह द्वंद बढ़ै पुनि दारुन, सखियनि प्रान छुड़ावैं ॥
छिन न रहैं नँदलाल इहाँ बिनु, जौ कोउ कोटि सिखावै ।
सूरदास ज्यौं मनतैं मनसा अनत कहूँ नहिं धावै ॥

× × × ×

ह्याँ तुम कहत कौनकी बातें ?
बिना कहें हम समुझति नाहीं, फिरि बूझति हैं तातें ॥
को नृप भयौ, कंस किन मारयौ, को बसुद्यौ-सुत आहि ?
ह्याँ जसुमतिसुत परम मनोहर जीजत हैं मुख चाहि ॥
दिन उठि जात धेनु बन चारन गोपसखनिके संग ।
बासर गत रजनीमुख आवत, करत नैनगति पंग ॥
को परिपूरन, को अबिनासी, को बिधि-बेद अपार ।
सूर बृथा बकवाद करत हौ, इहिं ब्रज नंदकुमार ॥

ये पद मैंने यत्नपूर्वक देखकर नहीं, यों ही पुस्तकसे चुन लिये हैं। इनमें भक्तिके भीतरसे उच्च वेदान्ततत्त्वकी झलक देख पड़ती है। मैं कह चुका हूँ कि वियोगावस्थामें ही नहीं, साथ रहते हुए भी अत्यन्त प्रबल एकत्वकी आभा स्थान-स्थानपर प्रतिफलित हुई है। यथा—

राधा स्याम स्याम राधा-रँग ।
पिय प्यारी कों हिरदय राखत प्यारी रहति सदा पियके सँग ॥
नागरि-नैन-चकोर बदन-ससि, पिय मधुकर अंबुज सुंदरिमुख ।
चाहत अरस परस ऐसें करि, हरि नागरि, नागरि नागर-सुख ॥
सुख-दुख सोचि रहत दोऊ मन, तब जानत तनकौ यह कारन ।
सुनहु सूर कुलकानि जीय दुख, दोऊ फल दोउ करत बिचारन ॥

प्रियकी अनुपस्थितिमें प्रत्यक्षदर्शनका एक अन्य रहस्यमय प्रसंग वह है जहाँ प्रिया रूठकर गृहद्वार बंद कर लेतीं और श्रीकृष्ण बाहर ही खड़े रह जाते हैं। किन्तु रुद्धद्वारके भोतर भी श्रीकृष्ण प्रवेश करते हैं और प्रियतमासे मिलते हैं। बहुत देरतक द्वार बंद नहीं रह सकते, वे शीघ्र ही खुल जाते हैं। प्रिया प्रियसे क्षमा माँगकर उन्हें स्वागतपूर्वक स्थान देती हैं। यह रुद्ध द्वारका उद्घाटन भक्तिके प्रभावसे ही सम्भव हुआ। सब ओरसे भगवान्का प्रवेशनिषेध होनेपर भी, वे जीवके हृदयद्वारके बंद रहते भी उसके अँधेरे गृहमें आते हैं, यह उनकी करुणाकी पराकाष्ठा आधुनिक अनीश्वरवादके बढ़े हुए अन्धकारमें आशाकी ज्योति उत्पन्न करती है।

जिस प्रकार यह भगवान्के प्रति अत्यन्त उपेक्षा और विद्रोहका प्रसङ्ग है, उसी प्रकार उनसे मिलनेकी उत्सुकतामें अत्यन्त दुर्भेद्य बाधाओंका एक दृश्य सूरसागरमें 'यज्ञपत्नी' की कथामें आया है। वनमें गोचारण करते हुए एक दिन गोपबालकोंने क्षुधावश श्रीकृष्णके पास आकर भूखकी बात कही। श्रीकृष्णने पास ही होनेवाले ब्राह्मणोंके एक यज्ञकी ओर संकेत करके कहा कि वहाँ जाकर भोजनकी याचना करें। उन्होंने यह भी कहा कि ब्राह्मण पुरुषोंसे तो भोजन मिलना कठिन है; पर उनकी स्त्रियाँ मेरी भक्त हैं, वे अवश्य भोजन देंगी। ऐसा ही हुआ। यज्ञकर्त्ताओंकी पत्नियाँ अपना अहोभाग्य मानकर उन्हें खाद्य वस्तु देने लगीं। कुछ स्वयं थाल सजाकर श्रीकृष्णके पास चलीं। उनमेंसे एककी उत्कट उत्कण्ठा श्रीकृष्णसे मिलनेकी थी, किन्तु उसके पतिदेवने मर्यादाका विचार कर उसे न जाने दिया। अतिशय अनुनय-विनय करनेपर भी जब वह न जा पायी, तब बोली—

हरिहि मिलत काहे कों फेरी ।
देखौं बदन जाइ श्रीपति कौ, जान देहु, हौं है हौं चेरी ॥
पा लागौं छाँड़हु अब अंचल, बार-बार बिनती करौं तेरी ।
तिरछौ करम भयौ पूरबकौ, प्रीतम भयो पायकी बेरी ॥
यह लै देह, मारु सिर अपनैं, जासों कहत कंत तूं मेरी ।
सूरदास सो गई अगमनैं सब सखियनि सौं हरिमुख हेरी ॥

सब सखियोंसे आगे पहुँचकर सबके पहले उसने श्रीकृष्णका मुखदर्शन किया। यहाँ भी शारीरिक संसर्गका अत्यन्ताभाव स्पष्ट होता है। इस कथामें यज्ञधर्मसे बढ़कर भगवद्धर्मकी शिक्षा भी प्रकट होती है। यह वेदान्तकी ही शिक्षा है। उसके साथ ही, सम्भव है, कुछ समीक्षक इस कथामें तत्कालीन सामाजिक अवस्थाके आधिभौतिक दृश्य भी देखें। इन कथाओंसे भक्ति-आन्दोलनके विस्तारप्राप्त सामाजिक उदारता और जीवनके प्रति अधिक सहानुभूतिमय भावकी भी झलक मिलती है। शबरी आदिकी भगवद्भक्तिकी महिमाका गान करते हुए भक्त जनोंने बाह्य जीवनको जकड़नेवाली कठोर शृङ्खलाओंको भी बहुत कुछ शिथिल कर दिया। अन्तरात्माकी यह संजीवनी शक्ति कबीर आदि निर्गुण संतोंकी वाणीमें ही नहीं, सूरदास आदिकी 'सगुण' कवितामें भी व्यक्त हुई है, यद्यपि कबीरका ओज सूरकी समवेदनाकी अपेक्षा अधिक लोगोंकी दृष्टिमें आता है। वेदान्तको 'निर्जीव वस्तु' समझनेवाले बहुत-से विद्वानोंको (जिनकी संख्या धीरे-धीरे कम हो रही है) इन उदाहरणोंपर फिरसे विचार करना चाहिये। परन्तु सम्प्रति हमें इसकी अधिक चर्चा नहीं करनी है।

संसारमें रहकर मनुष्यको सदैव अपनी सबसे अधिक इष्ट वस्तुका दर्शन होता रहे, यह विरले ही भाग्यवानोंके लिये सम्भव है। प्रायः सभी वियोगके दुःखमें पड़ते ही हैं। माता यशोदाको समझा-बुझाकर और शीघ्र लौटनेका आश्वासन देकर श्रीकृष्ण मथुरा चले गये, पर पिता नन्दने उनका साथ नहीं छोड़ा। नन्दको वे क्या बहाना बताकर रोकते। किन्तु कंसवधके पश्चात् जब नन्दादि व्रजवासी श्रीकृष्णको व्रज वापस ले जानेकी आशा और विश्वास किये हुए घर पहुँचनेकी कल्पनासे प्रसन्न और उत्सुक हो रहे थे तब सहसा श्रीकृष्णके कठोर वचन सुनकर उन्हें मर्माहत होना पड़ा। जब कोरा जवाब देनेके अतिरिक्त श्रीकृष्णके पास कोई उत्तर न रह गया (उत्तर था ही क्या, जब कि वे माताको कह आये थे कि हम बहुत शीघ्र घर लौटेंगे तथा अपनी प्रियतमाओंको भी स्मितपूर्वक सङ्केत किया था कि फिर मिलन होगा) तब उन्होंने वही बात कही जिसे सुननेके लिये नन्द बिल्कुल ही तैयार नहीं थे। श्रीकृष्णने कहा—

बेगि व्रजकों फिरिये नँदराइ।
हमहिं तुमहिं सुत-तातकौ नातौ ओर परयौ है आइ॥
बहुत कियौ प्रतिपाल हमारौ, सो नहिं जीते जाइ।
जहाँ रहैं तहँ-तहाँ तुम्हारे, डारयौ जनि बिसराइ॥
माया-मोह मिलन और बिछुरन ऐसैंई जग जाइ।
सूर स्यामके निठुर बचन सुनि रहे नैन जल छाइ॥

नन्दकी आँखोंमें आँसू भर आये। वे व्याकुल हो गये, 'दुखके फंदमें' पड़ गये। चकित होकर श्रीकृष्णका मुँह ताकने लगे। उन्होंने मन-ही-मन अक्रूरके षड्यन्त्रपर कोप किया। दौड़कर कृष्णके चरणोंमें जा पड़े और बोले—'हे श्याम! तुम व्रजको चलो। यहाँके सब काम पूरे हो गये। कंसका वध हुआ। देवता सुखी हुए। वसुदेव-देवकीकी भी मनोकामना पूरी हुई। अब तुम हमारे साथ चलो।'

पर श्रीकृष्ण क्यों सुनने लगे! उन्होंने कहा—'पिताजी, आप घर जाइये। बिछुरन और मिलन तो विधिने इसी प्रकार रचा है; यह सङ्कोच दूर कीजिये। माता यशोदासे कहियेगा कि वे मेरे लिये रोवें नहीं। अपना पुत्र समझकर ही हमारी सेवा उन्होंने की और प्रतिपालन भी किया। आप अपने मनमें समझें, हममें-आपमें कोई अन्तर नहीं है। मेरी आपसे यही प्रार्थना है कि हृदयसे मेरी प्रीति न छोड़ियेगा।'

'हममें-आपमें कोई अन्तर नहीं है। मेरी यही प्रार्थना है कि हृदयसे मेरी प्रीति न छोड़ियेगा' इन पंक्तियोंमें वेदान्त और भगवद्धर्मका उच्चतम तत्त्व निहित है। और ये इतने मर्मद्रावक स्थलपर आयी हैं कि बिना हृदयमें घर किये नहीं रहतीं। इतनेपर भी नन्दने घर फिरना स्वीकार न किया। उन्होंने कहा—

मेरे मोहन, तुमहिं बिना नहिं जैहौं।
महरि दौरि आगें जब पैहै, ताहि कहा मैं कैहौं?
माखन मथि राख्यो ह्वै है तुम हेतु, चलौ मेरे बारे।
निठुर भये मधुपुरी आइकै, काहे असुरनि मारे?

यह कहकर वे क्षणभर चुप रहे; उनका हृदय विदीर्ण हो रहा था। तब श्रीकृष्णने मायाकी जड़ता उत्पन्न की। नन्दको इसी जड़तासे ग्रस्तकर व्रज भेजा।

व्रज जाकर उनकी क्या दशा हुई, यशोदाने उन्हें किस प्रकार धिक्कारा, गोपी-गोप-समाजने उन्हें कैसे-कैसे तिरस्कृत किया और जड़तासे अभिभूत होनेके कारण उन्होंने यह सारा सामूहिक आक्रोश किस प्रकार आँख मूँदकर सहन किया, यह तो दूसरी कथा है; मैं यहाँ केवल नन्दकी उक्त 'जड़ता' के सम्बन्धमें ही पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। मेरा कहना इतना ही है कि भगवान्की दी हुई वह जड़ता भी मुक्ति ही है। नन्दकी यह स्थिति ब्राह्मी स्थितिसे कुछ भी नीची है, यह सिद्ध करना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। साधारणतः वेदान्तकी मुक्तावस्थाका चित्र आनन्दमय ही अंकित करनेकी पद्धति पायी जाती है, पर यह 'जड़ मुक्ति' भगवद्धेतुक होनेके कारण किसी अन्य कोटिमें नहीं जा सकती। जो लोग भक्तिको केवल सात्त्विकताका ढोंग या आधुनिक आदर्शवादकी ही कोटिकी वस्तु मानते हैं उन्हें इस प्रसंगपर विचार करना चाहिये।

इस लेखको अधिक विस्तार देना उचित न होगा। जिस 'सागर' में श्रीकृष्णके प्रेमका रस ही चतुर्दिक् भरा हुआ है उसमेंसे कौन-सा उदाहरण दिया जाय और कौन-सा न दिया जाय! मैंने ऊपर उन कुछ उद्धरणोंको ही चुन लिया है जो वेदान्तकी उच्चातिउच्च परिभाषाके अनुरूप हैं। दूसरे शब्दोंमें मैंने मुक्तावस्थाके ही चित्र सूरदासजीकी चित्रशालासे लेकर दिखानेकी चेष्टा की है। ऐसे अन्य न जाने कितने स्थल हैं, पर इस लेखका प्रयोजन इतनेसे ही पूरा हो जाता है। दूसरी स्थितियाँ, जैसे श्रीकृष्णके रूपसादृश्यसे उद्धवके प्रति गोपियोंका स्नेहप्रवाह उमड़ना, श्यामल बादलों-

में श्यामरूप देखना, आँखोंका कृष्णके पास उड़कर मिलनेको उत्कण्ठित होना तथा ऐसी अगणित उक्तियाँ कट्टर वेदान्तियोंको नीचेके स्तरकी प्रतीत हो सकती हैं। सूफियोंकी भाँति श्रीकृष्णकी छविमें संसारको रँगा हुआ ही नहीं, उत्कृष्ट वेदान्तियोंकी भाँति कृष्ण (आत्मा) की सत्तामें संसारकी स्मृति ही न रखनेवाली अवस्थाओंका ही उल्लेख करना मैंने इस लेखके अधिक उपयुक्त समझा है। और जब इस आत्म या कृष्णतत्त्वमें भी अधिक सघनता आने लगती है, जब भक्तोंकी अलौकिक भावना घनीभूत होकर अत्यन्त रहस्यात्मक रीतिसे उक्त तत्त्वमें स्थित रहना ही पर्याप्त नहीं मानती वरं उसे देखना चाहती है, उसे सुनना चाहती है, उसके कार्योंका अनुभव करना चाहती है, तब उस स्थितिमें भगवान्‌को प्रत्यक्ष दर्शन देने ही पड़ते हैं। ऐसे भी दो-एक दृश्य मैंने ऊपर दिखाये हैं। यों तो गोपियाँ श्रीकृष्णकी जन्म-जन्मकी संगिनी हैं; श्रीराधा भगवान् पुरुषोत्तमकी अन्तरंगा, अभिन्ना, स्वरूपा शक्ति ही हैं; तथापि व्रजमें अवतार लेकर श्रीकृष्ण तथा इन व्रजवासियोंने जैसी-जैसी क्रीड़ाएँ कीं, उनसे भगवत्साधनाके इच्छुक जनों, काव्यप्रेमियों और साधारण जनताके लिये भी अमित आनन्द और शिक्षाकी सामग्री मिल जाती है। उस उच्चातिउच्च रहस्यको समझनेके लिये सूरसागरके रचयिता महाकवि महात्मा सूरदासजीकी कृति कितनी मूल्यवान् है, यह निरूपित कर सकना मेरे लिये नितान्त असम्भव है। जहाँ भक्त और भगवान्‌में ऐसी अनन्यता हो जैसी नीचेके दोनों उद्धरणोंमें व्यक्त हुई है, उस प्रेमसिन्धुमें अवगाहन करना ही बहुत बड़ा लाभ है, उसकी कुछ बूँदें प्राप्त कर लेना ही जीवनकी अत्युच्च साधना है। उसका यथार्थ स्वरूप समझनेका दावा करना तो मेरे-जैसे व्यक्तियोंके लिये कोरी अज्ञता ही है।

गोपियोंकी उक्ति—

नहिन रह्यौ हियमहँ ठौर।
नंदनंदन अछत कैसे आनिये उर और ॥
चलत, चितवत, दिवस जागत, सुपन सोवत राति।
हृदयतें वह स्याम मूरति छिन न इत-उत जाति ॥
कहत कथा अनेक ऊधौ, लोकलाज दिखात।
कहा करौं, मन प्रेम पूरन, घट न सिंधु समात ॥
स्याम गात, सरोज-आनन, ललित गति, मृदु हास।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास ॥

श्रीकृष्णकी उक्ति—

ऊधौ मोंहि ब्रज बिसरत नाहीं।
बृंदाबन गोकुल तन आवत सघन तृननिकी छाहीं ॥
प्रात समय माता जसुमति अरु नंद देखि सुख पावत।
माखन रोटी दह्यौ सजायो अति हित साथ खवावत ॥
गोपी ग्वाल बाल सँग खेलत सब दिन हँसत सिरात।
सूरदास धनि-धनि ब्रजबासी, जिन सौं हँसत ब्रजनाथ ॥

प्रेमी और प्रिय, भक्त और भगवान्‌की यह अनन्यता अत्यन्त दुर्लभ, विरल और एकान्तकाम्य है।

ऊपर भागवती भक्तिके उन अधिकारियोंकी ओरसे विचार किया गया है जो ज्ञानप्रधान दृष्टि रखते हैं। उन्हें कट्टर वेदान्तीकी संज्ञा इसलिये दी गयी है कि वे 'मनोनाश' आदिकी वैराग्यप्रधान प्रक्रियाओंको ही मान्यता देते हैं और इसी रूपमें भागवतकी मीमांसा करते हैं (जो बात भागवतके विषयमें कही गयी वही सूरसागरके विषयमें भी समझनी चाहिये)। निवृत्तिपथके पथिक होनेके कारण वे संसारके अन्तर्गत मिथ्यात्व ही देखते और संसारके बाहर ही ब्रह्मके प्रकाशका दर्शन करते हैं। प्रकृति और पुरुषकी द्विधा सत्ताका सामञ्जस्य उनके मतमें किसी प्रकार हो ही नहीं सकता। ऐसे समीक्षकोंके लिये भी सूरसागरमें वेदान्तके प्रकरण हैं, यही ऊपर प्रदर्शित करनेकी चेष्टा की गयी है। किन्तु सूरसागरकी प्रेमाभक्ति कुछ अपर लक्ष्य भी रखती है। क्षर वस्तुका अक्षरमें पर्यवसान दिखाना ही सूरदासजीका अभीष्ट नहीं, वे तो क्षरको अक्षरस्वरूपमें ही अङ्कित करना चाहते हैं। वे श्रीराधाका कृष्णमें अनन्यत्व दिखाकर ही सन्तोष नहीं करते, सारे व्रजमण्डलकी गोपियोंको भी राधाकी ही प्रतिमूर्ति बना देते हैं। जो सुख श्रीराधाने कृष्णके साथ एकाकार होकर प्राप्त किया उसे गोपियोंने अपना ही सुख मान लिया। मान ही नहीं लिया, बना भी लिया। इस प्रसङ्गका चित्रण सूरसागरमें अधिक विस्तारके साथ किया गया है। भागवतमें यह इस रूपमें नहीं है। श्रीकृष्ण सूरसागरमें 'बहुनायक' कहे गये हैं। वे प्रत्येक गोपीके साथ प्रेम करते हैं। किसीको छलते, किसीके साथ रात्रिविहार करते और किसीके घर प्रातःकाल दर्शन देते हैं। इस प्रकार पारी-पारीसे सबको प्रसन्न करते हैं। यहाँ कृष्ण व्यापक प्रकृतिमें प्रसार करते हैं; माताको पुत्ररूपसे, मित्रोंको सखारूपसे, प्रेमिकाओंको प्रियतमरूपसे आह्लादित करते हैं। यह अत्यन्त मनोरम किन्तु रहस्यपूर्ण कथा सूरसागरकी निजी

विशेषता है। सारा व्रजमण्डल श्रीकृष्णके सम्बन्धसे सुखी होता, उनके वियोगसे दुःखमें डूबता और प्रत्येक प्रकारसे उनका ही अनुवर्ती बनता है। यही नहीं, यह विकास समस्त प्रकृतिको आच्छादित कर लेता है और कंस, केशी आदि शत्रु भी श्रीकृष्णके संसर्गसे मुक्तिके अधिकारी होते हैं।

इस व्यापक स्वरूपके दर्शनके पश्चात् भागवती भक्ति अपनी पराकाष्ठापर पहुँचती है। प्रकृतिमें व्याप्त श्रीकृष्ण या आत्मा स्वभावतः प्रकृतिकी छायासे समन्वित है। किन्तु भागवती भक्ति इस छायाको छोड़कर पूर्ण प्रकाशमें भी पहुँचती है। यहाँ पहुँचकर श्रीराधा कृष्णसे अभिन्न उनकी अन्तरङ्गा, स्वरूपा शक्ति, गोपियाँ श्रीराधासे अभिन्न उनकी अन्तरङ्गिनी स्फूर्तियाँ, वृन्दावन श्रीकृष्णका हृदय और समस्त लीलाएँ नित्य हो जाती हैं। कोई ऐसा स्थान नहीं, कोई प्रसंग नहीं, कोई पद नहीं, कोई शब्द नहीं जो श्रीकृष्णकी महिमामें अन्तर्लीन न हो। सब ओरसे सर्वस्व समर्पण हो जानेके पश्चात् श्रीकृष्णकी अखण्ड सत्ता ही दृष्टिगत होती है। रासलीला इसका सांकेतिक निदर्शन है। यहाँ आकर सूरसागर अथवा श्रीमद्भागवतका आध्यात्मिक लक्ष्य पूर्ण होता है। इसके पश्चात् कुछ कहनेको रह नहीं जाता।

* * *

गोस्वामी तुलसीदासजीके ग्रन्थोंमें वेदान्त

(लेखक—श्री बी० विश्वनाथ ऐयर, बी० ए०)

गोस्वामी तुलसीदासजी किसी सम्प्रदायसे बँधे साम्प्रदायिक प्रवक्ता नहीं थे जिन्होंने वेदान्तके किसी खास सम्प्रदायका प्रतिपादन या संस्थापन किया हो, तथापि ईश्वर और जीवके परस्पर सम्बन्ध तथा माया और ब्रह्मके विषयमें जो विचार उन्होंने प्रकट किये हैं वे स्पष्ट, निश्चित और सर्वथा असंदिग्ध हैं। आश्चर्यकी बात तो यह है कि ऐसे-ऐसे गहन विषय जिनके निरूपणमें बड़े-बड़े नैयायिकोंके छक्के छूट गये और उनके ग्रन्थ आखिर नीरस ही होकर पड़े रहे, श्रीतुलसीदासजीके दोहों और चौपाइयोंमें ऐसी सुन्दर, सरल, संक्षिप्त और सहज सूक्तियोंके रूपमें आ गये हैं कि कोई साधारण-से-साधारण मनुष्य भी उन्हें अनायास समझ सकता और उनका सहज उपयोग कर सकता है। भगवान् श्रीरामचन्द्रके चरणोंमें समर्पित श्रीगोसाईंजीकी 'विनयपत्रिका'के कितने ही रूपकादि अलंकारोंसे सजे हुए सुन्दर मनोहर भजनोंमें वेदान्तके मूलसिद्धान्तोंका बड़ा ही सुस्पष्ट विवेचन हुआ है। रघुकुलपतिके दिव्य विग्रहमें इन सब तत्त्वोंके गूँथे जानेसे इन्हें कुछ ऐसी विलक्षण शोभा प्राप्त हुई है कि देखने-सुननेवाले उनके वर्णनसे अनुप्राणित होते, उनका भावोद्दीपन होता और उनके रोम-रोम पुलकित हो उठते हैं।

मायातत्त्व

मायाके विषयमें श्रीतुलसीदासजी क्या कहते हैं? अरण्यकाण्डमें श्रीलक्ष्मण और श्रीरामचन्द्रका इस विषयमें बड़ा ही सुन्दर संवाद है। श्रीलक्ष्मणजी परिप्रश्नके भावसे अत्यन्त नम्रतासे कहते हैं—भगवन्! 'कहहु ग्यानु बिरागु अरु माया'—ज्ञान, वैराग्य और माया क्या है, सो कृपाकर समझाइये। श्रीरामचन्द्र वहाँ मायाका इस प्रकार व्याख्यान करते हैं—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेंहि बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो-गोचर जहँ लगि मनु जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभुप्रेरित नहि निज बलु ताकें॥

अहंकार ही मायाका मूल है। 'मैं' और 'मेरा', 'तैं' और 'तेरा' यही इस गोचर जगत्में रहनेवाले सब जीवोंके अज्ञान और परस्पर पार्थक्यका कारण है। माया विद्या और अविद्याके भेदसे द्विविध है। विद्या अर्थात् मायाका सद्रूप, मूल प्रकृति, जो विश्वकी सृष्टि-स्थिति-संहारकारिणी आदिशक्ति है—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥

श्रुतिसेतुपालकु राम तुम्ह जगदीसु माया जानकी।
जो सृजति जग, पालति, हरति रुख पाइ कृपानिधानकी॥

सृष्टिके सर्वशक्तिमान् कर्त्ता और सबके भाग्योंके विधाता ईश्वर, और इस आवरण-विक्षेपकारिणी मूल मायाके बीच जो अन्तर है उसे हम लोग किसी तज्ज्ञ यन्त्री और उसके यन्त्रको दृष्टान्तके लिये सामने रखकर

समझ सकते हैं। यन्त्र स्वयं कोई कार्य नहीं कर सकता जबतक यन्त्री यन्त्रके सब पुर्जोंको यथास्थान ठीक रखकर सबमें चाभी न भर दे। यन्त्रके इस प्रकार चालू हो जानेपर भी यन्त्रीकी उपस्थिति इसलिये आवश्यक होती ही है कि मशीनका जो खाद्य है वह उसे ठीक तरहसे मिले, उसकी गति बेहिसाब न हो जाय और सब काम सुव्यवस्थित-रूपसे हो। जब यन्त्र किसी प्रकारसे बिगड़ जाता है तब वह तज्ज्ञ यन्त्री ही उसे पुर्जे खोलकर दुरुस्त कर सकता है, यथावश्यक मरम्मत कर सकता है और सब पुर्जोंको यथास्थान बैठा सकता है। इसलिये मायाशक्ति अन्ध होनेके कारण ईश्वरकी शक्ति-स्फूर्त्तिदायिनी सत्ताके बिना स्वयं सृष्टि-स्थिति-संहार करनेमें असमर्थ है।

मायाकी विद्याशक्तिकी यह बात हुई। अब, अविद्याशक्तिके बारेमें गोसाईंजी कहते हैं—

व्यापि रहेउ संसार महुँ माया-कटकु प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभु कपटु पाखंड॥

संसारके नानाविध मोहक पदार्थोंमें यह माया-मरीचिका-तत्त्व व्याप्त है और यही मनुष्योंको विपथगामी बनाता है। इस विषोपम तत्त्वका आसुरी प्रभाव इतना व्यापक और इतना अन्तर्भेदक है कि नारद और सनकादि ऋषि तथा शिव-ब्रह्मादि महान् देव भी मोहित होकर इसकी जबरदस्त पकड़में आ ही जाते हैं।

नारदु भव बिरंचि सनकादी। जे मुनिनायक आतमबादी॥
मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग कामु नचाव न जेही॥
तृष्ना केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदउ क्रोध नहि दाहा॥
श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि-लोचन-सर, को अस लाग न जाहि॥
गुनकृत संन्यपातु नहि केही। कोउ न मान-मद तजेउ निबेही॥
यह सबु माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनइ पारा॥

यह माया नाना प्रकारके छल और मोहके रूपमें सामने आकर सबको अंधा बनाये रखती है। यही नहीं, यह नाना प्रकारकी दुष्ट वासनाओंके नशेमें चूर रखती है, लोभ और लोलुपतासे उन्मत्त बनाती है, क्रोधकी आग सुलगाकर आध्यात्मिक वृत्तिप्रणालीको जला डालती है, धनियोंको धन-मदसे अन्धा बना देती है, अधिकारमदसे अधिकारियोंके कान बहिरे कर देती है। चार आँखोंके मिलते ही प्रेमियोंमें परस्पर मिलनकी जो दुःसह इच्छा-वेदना जाग्रत हो उठती है उसका यही कारण है। यही हमें यौवनसुलभ उत्तेजना-ज्वरसे पीड़ित करती है। यही मिथ्या अभिमानसे हमारा मुँह काला करती है। ईर्ष्या और द्वेषसे यही हमारी आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधा डालती है। दुःख और उद्वेगकी लहरोंसे यही हमें विचलित कर देती है। नाना प्रकारकी चिन्ताओं और बड़े बननेकी तथा धन-धान्य-समृद्धि, भोगविलास और संततिविस्तारकी इच्छाओंके अनीतिकर रोगजन्तुओंके रूपमें यही हमारा क्षयसाधन करती रहती है।

इस मायाविनी शक्तिकी पकड़से छूटनेका उपाय भक्त-शिरोमणि कविश्रेष्ठ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥

श्रीरामचन्द्रके सगुण साकार विग्रहकी निरुपम, निरुपाधि, अबाध भक्ति ही मायाके प्रवाहको सदाके लिये रोक सकती है। ईश्वर, मनुष्य और मायाका परस्पर सम्बन्ध अब सुस्पष्ट हो जायगा—

ग्यान अखंड एकु सीताबर। मायाबस्य जीव सचराचर॥
मायाबस्य जीव अभिमानी। ईसबस्य माया गुनखानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एकु श्रीकन्ता॥

जीव मायाके आसुरी प्रभावके पाशमें बद्ध है। माया सर्वशक्तिमान् ईश्वरके वशमें है। इसलिये जीव उस ईश्वरकी अनन्य शरणागतिसे ही उस मायाके दुष्परिणामोंसे बच सकता है। ईश्वरीय विकासक्रम और कर्ममें अनधिकार हस्तक्षेप करनेके कारण ही जीवको यह जीवदशा प्राप्त हुई है।

ईस्वर-अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो मायावस परेउ गोसाईं। बँधेउ कीर-मरकटकी नाईं॥

ईश्वरने जीवको अमल बनाया। उसे बुद्धि दी। उसे असंख्य सहज सुखसाधन दिये। जीवको चाहिये था कि वह इन ईश्वरप्रदत्त शक्तियोंका यथावत् उपयोग और ईश्वरीय नियमोंके साथ पूर्ण सहयोग करता। पर दुःख है कि मायाके बाह्याकर्षणसे मोहित होकर तथा प्राणगत वासनाओंके कारण अस्वस्थ होकर उसने ईश्वरीय नियमोंमें बाधा डाली और कर्मविपाककी गहन ग्रन्थि निर्माण की। इस ग्रन्थिका भेदन भगवद्भक्तिके बिना नहीं हो सकता। भगवान् ही जीवको उसके सहज स्वस्थ सुखराशिस्वरूपमें पुनः ला सकते हैं।

जीव, ईश्वर और मायाका यह गूढ़ परस्पर सम्बन्ध किसी नगरकी बिजलीके प्रबन्धके निम्नलिखित दृष्टान्तसे भलीभाँति समझमें आ सकता है। इस प्रबन्धमें बिजलीका एक मुख्य

बिजलीघर (पावर-हाउस) होता है। यहाँसे रोशनी, रसोई, पंखा, ट्रामगाड़ियों तथा अनेकानेक यन्त्रोंके चलानेके लिये बिजली भेजी जाती है। पावर-हाउसका एक जनरल सुपरिंटेंडेंट या प्रधान सञ्चालक होता है और वह अपने मातहत काम करनेवाले मिस्त्रियों और मजूरोंको आदेश देता है। इन आदेशोंके अनुसार सब काम होता है। यदि नगरके अधिवासी इस पावर-हाउससे पूरा लाभ उठाना चाहें तो उन्हें बिजलीके कनेक्शनोंमें कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। वे यथानियम स्विचोंका उपयोग कर सकते हैं और इस तरह पावर-हाउससे सम्बद्ध रहकर उससे काम ले सकते हैं।

इस उपकारी प्रबन्धका अब दूसरा पहलू देखिये। मोहक बिजलीकी बत्तियाँ तुम्हें सिनेमा, टॉकी या जूआघर, होटल, वेश्यालय आदिकी ओर भी खींच सकती हैं और तुम अपने इन्द्रियोंके वशमें होकर क्षणिक सुखके लिये इनकी ओर खिंच सकते हो। धूर्त धोखेबाज आकर्षक बिजलीके विज्ञापन और लाउडस्पीकर तुम्हें मोहित करते हैं और तुम अपना धन, समय और तेज विलासिताके पदार्थ खरीदने या आत्माका हनन करनेवाले कामोंमें खो देते हो। अथवा, ऐसा भी हो सकता है कि तुम बिजलीके कनेक्शनमें गड़बड़ कर दो, या मेनको खराब कर दो या मूर्खतावश या महज कौतूहलके लिये स्विचोंको तोड़ डालो। इससे पावर-हाउससे होनेवाला लाभ उस मकान या गली और उस महल्लेको नहीं मिलेगा। किसी मिस्त्री आदिको बुलाकर या अपनी ही बुद्धिसे यदि मरम्मत भी कर ली जाय तो वह स्थायी नहीं होगी। काम पूरा और पक्का तभी होगा जब फोनके द्वारा कारखानेके प्रधान सञ्चालकसे विनय की जायगी—

बिनु हरिभजन न भव तरहिं, यह सिद्धांतु अपेरू।

इस दृष्टान्तसे यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि नागरिकस्थानीय जीव स्वयं ही दुःख मोल लेता है। पावर-हाउसके प्रधान सञ्चालक या सुपरिंटेंडेंटस्थानीय ईश्वरने बिजलीघरसे सर्वत्र विद्युत्प्रबन्धरूप मायाशक्तिके द्वारा जीवोंके लिये अनेक सुभीते कर दिये हैं। उसका यह प्रबन्ध ऐसा है कि जबतक हम आत्मानुभव और ईश्वरानुभवकी पूर्ण स्थितिको नहीं प्राप्त होते तबतक विकासक्रम बराबर जारी रहता है। नागरिकस्थानीय जीवको बुद्धिरूप विद्युद्दीप, प्रेम और प्राणरूप बिजलीका पंखा और इच्छाशक्तिरूप गतिशक्ति मिली है। यदि इन ईश्वरप्रदत्त शक्तियोंका वह ठीक तरहसे उपयोग करे, तब तो सब ठीक ही है। पर यदि वह मूर्खतावश अपने आसपासके प्रलोभनोंमें फँस जाय या दुष्टतावश कनेक्शन ही तोड़ डाले तो वह आपदाओंसे घिर ही जायगा। नागरिकोंको जैसे बिजलीसम्बन्धी म्युनिसिपल नियमोंका पालन करना पड़ता है वैसे ही मनुष्योंके लिये ऋषिप्रणीत शास्त्रोंके विधि-निषेधोंका पालन करना आवश्यक है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

जैसे बिजलीके सम्बन्धमें कोई गड़बड़ होनेसे या कनेक्शनके टूट जानेपर बिजलीघरके सुपरिंटेंडेंटको ही फोन करना पड़ता है, वैसे ही हमलोगोंको अपनी स्थितिके सुधार, मार्गदर्शन तथा विवशतामें सहायताके लिये सर्वशक्तिमान् ईश्वरको ही प्रार्थना, भक्तिभाव और सत्कर्मके द्वारा रिझाना चाहिये।

इतने विस्तारके साथ इस बातके समझानेपर भी कोई श्रद्धालु जिज्ञासु यह प्रश्न कर सकते हैं कि संसारमें इस बुराईका प्रयोजन ही क्या है? संसारमें सब कुछ अच्छा ही रहे, कुछ भी बुरा न रहे, ऐसा क्यों न हो? गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

भलेउ पोच सब बिधि उपजाए।
गनि गुन-दोष बेद बिलगाए॥
कहहिं बेद इतिहास पुराना।
बिधिप्रपंचु गुन-अवगुन साना।
दुख-सुख पाप-पुन्य दिन-राती।
साधु-असाधु सुजाति-कुजाती॥
दानव-देव ऊँच अरु नीचू।
अमिअ सुजीवनु माहुरु मीचू॥

बात यह है कि संसारका नियन्त्रण द्वन्द्वोंके मिश्रणसे ही हो सकता है। यदि प्रकाश है तो छाया होनी ही चाहिये, नहीं तो चित्रका सौन्दर्य ही नष्ट हो जाय। 'विपत्तिके सुख भी बड़े मधुर हैं,' क्योंकि विपत्तिसे हमें जूझने और शक्तिमान् होनेका अवसर मिलता है। कदाचारकी शक्तियाँ हमारे सदाचारकी परीक्षा करती हैं। संसारकी मूलगत विषमता शुभशक्तिके प्रवाहका कारण है और इससे सारी व्यवस्था ठीक होती है। भावात्मक सीमा भी होनी चाहिये और अभावात्मक सीमा भी। भावात्मक अनन्तके साथ-साथ अभावात्मक अनन्त भी होना चाहिये।

सृष्टिविषयक सिद्धान्त

अबतकके विवेचनसे श्रीतुलसीदासजीके तथा वेदान्तके विभिन्न सम्प्रदायोंके सृष्टिविषयक सिद्धान्तोंका विचार भी प्रसङ्गसे ही प्राप्त है। इस विषयमें जो कुछ कहा जा सकता है वह संक्षेपमें सांकेतिक भाषाके द्वारा नीचे लिखे सुप्रसिद्ध भजनमें आ गया है—

केसव ! कहि न जाइ, का कहिए।
देखत तव रचना बिचित्र हरि !
समुझि मनहिं मन रहिए॥ १॥
सून्य भीतिपर चित्र, रंग नहि,
तनु बिनु लिखा चितेरें।
धोएँ मिटइ न मरइ भीति,
दुखु पाइअ एहि तनु हेरें॥ २॥
रबिकर नीर बसै अति दारुन,
मकररूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर,
पान करन जे जाहीं॥ ३॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ,
जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम,
सो आपुनु पहिचानै॥ ४॥

हे केशव ! मैं क्या कहूँ। तेरा जो आश्चर्यजनक रचना-चातुर्य है उसे देख-देखकर मनकी बात मनमें ही रह जाती है, कुछ कहते नहीं बनता। हे हरि ! तेरी विचित्र रचना मुझे मूक बना देती है। आश्चर्यभरी दृष्टिसे मैं इसे देखता रहता हूँ, और देखकर मौन हो जाता हूँ। हे अरूप चितेरे ! तूने शून्य दीवारपर—मायाके शून्य परदेपर—रंगरहित तूलिकासे, केवल सङ्कल्पमात्रसे, विश्वका यह रंगबिरंगा चित्र बनाया है—

स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेयेति।

साधारण चित्र धोनेसे धुल जाते हैं, परन्तु स्रष्टाका यह चित्र, इसकी विलक्षण चित्रणचातुरी ऐसी है कि इसे चाहे जितना भी धोइये—सादे जलसे धोइये या रासायनिक द्रव्योंसे धोइये—यह मिट नहीं सकता। साधारण चित्रको जड होनेके कारण मरणभय नहीं होता, परन्तु इस रहस्यमय विकासवाली सृष्टिके जीवोंपर कालका कृपाण सदा लटकता रहता है। साधारण चित्र सौन्दर्यकी वस्तु और सुखभोगके विषय हैं; पर बड़े आश्चर्यकी बात है कि यह सृष्ट जगत् दुःखमय है, पारिजातवन नहीं। यह संसार मृगतृष्णाके समान अर्थात् मायामय है। जैसे मृग मरीचि-मरीचिकाको पानी समझकर दौड़ता है किन्तु जल न पाकर निराश हो प्यासके मारे मर जाता है, वैसे ही मनुष्य मरीचिकावत् सांसारिक सुखभोगके पीछे पड़कर मृत्युरूप मकरकी दाढ़ोंमें जा फँसता है। द्वैतसम्प्रदायानुयायियोंकी भाँति कुछ मनीषियोंका यह विचार है कि गोचर जगत् मिथ्या नहीं, सत्य है। अद्वैतसिद्धान्ती इसे मिथ्या कहते हैं। विशिष्टाद्वैती महानुभाव इसे असन्मिश्रित सत्य बतलाते हैं। गोसाईं तुलसीदासजी इन सबका उपसंहार यों करते हैं कि इन तीनों वादोंमें परस्पर बारीक भेद हैं, वास्तविक भेद नहीं। जो लोग इन शुष्क वादविवादोंसे ऊपर उठ जाते हैं और यह अनुभव करते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् एक दिव्य चित्रपट या नाटक अथवा सवाक् चल चित्रपट है, वे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्यके बोधको प्राप्त होते हैं।

तथापि गोसाईंजी इन तत्त्ववेत्ताओंकी प्रक्रियाओंकी अवहेलना नहीं करते; वे इन ब्रह्मवादियोंके रूपकालङ्कारोंका अपने आराध्यदेवके वर्णनमें यथास्थान उत्तम उपयोग करते हैं—

आदिमध्यांत, भगवंत ! त्वं सर्वगतमीश,
पश्यन्ति ये ब्रह्मवादी।
जथा पट-तंतु, घट-मृत्तिका, पुष्प-स्रग,
दारु-करि, कनक कटकांगदादी॥

परमात्मसाक्षात्कारके साधन—ज्ञान और भक्ति

परमात्मसाक्षात्कारके साधनोंके सम्बन्धमें अर्थात् ज्ञान और भक्तिके गुणोंके सम्बन्धमें तुलसीदासजीने तुलनात्मक दृष्टिसे अपने विचार उत्तरकाण्डकी समाप्तिके पूर्व प्रकट किये हैं। अरण्यकाण्डमें ज्ञानकी उन्होंने यह परिभाषा की है—

ग्यानु मानु जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥

अहङ्कारका सर्वथा अभाव ज्ञानीका मुख्य लक्षण है। वह हर जगह और सब जगह ब्रह्मको ही देखता है। पूर्ण वैराग्य तबतक सिद्ध नहीं होता जबतक साधक सब सिद्धियोंके मोह और त्रिगुणके दासत्वसे ऊपर नहीं उठ जाता। पर इस अवस्थाको प्राप्त करना कोई हँसी-खेल नहीं है—

कहत कठिन, समुझत कठिन, साधत कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छरन्याय जौं, पुनि प्रत्यूह अनेक॥

ज्ञानको समझाकर कहना कठिन है। यदि अच्छी तरहसे समझाया भी जा सके तो उसका समझना कठिन है। यदि किसी तरह समझा भी जा सके तो उसको साधना कठिन है, और यदि घुणाक्षरन्यायसे किसीसे साधन बन भी जाय तो उसे बनाये रखनेमें अनेक विघ्न हैं।

ये विघ्न-बाधाएँ क्या हैं? ऊपर हम यह बतला चुके हैं कि जीव अज्ञानजन्य वासनाओंके गोरखधंधेमें पड़कर मायाकी जबरदस्त पकड़में जकड़ा गया और अब इस पकड़से छूटनेके लिये सीधे भगवान्‌की प्रार्थना करना ही एकमात्र उपाय है। पर अहंभावका जो चक्कर है वह उसे अपने ही पुरुषार्थसे मुक्त होनेके पथपर जानेके लिये विवश करता है।

पहले वह अपने अन्दर सात्त्विक श्रद्धाको भर लेता है, जो कामधेनु है, जिसमें सभी दिव्य इच्छाओंको पूर्ण करनेकी सामर्थ्य है। इस श्रद्धारूपी कामधेनुको वह वेदान्त-ग्रन्थोंके क्षेत्रमें ले जाकर जप, तप और अष्टाङ्गयोगसाधनके नानाविध हरित तृण बारी-बारीसे चराता है! यह श्रद्धा-कामधेनु विशुद्ध प्रेमभावरूप वत्सको प्रसव करती है, तब वह इस बछड़ेका उपयोग इसके दूधको बढ़ानेमें करता है। फिर बछड़ेको स्थिरप्रज्ञा अथवा समबुद्धिकी नोईसे बाँध देता है, विश्वासका मटका लाता है, निर्मल अन्तःकरणरूपी दोग्धाको बुलाता है और अहिंसारूप परमधर्मका दूध निकालता है। उस दूधको तब वह निष्कामताकी अग्निपर उबालता है, संतोषका पंखा झलकर उसे ठंडा करताहै और धैर्यके जामनसे उसे जमाता है। इस प्रकार तैयार हुए दहीको वह मुदितारूप माथमें विचार-रूपी मथानीसे मथता है। संयम इस मंथनमें आधारका और सरल दयायुक्त सद्भाषण रस्सीका काम देता है। तब उसमेंसे त्यागका शुद्ध मक्खन निकलता है। तब साधक अपने बचे हुए अच्छे-बुरे कर्मोंको एकत्रकर योगाग्निशलाकासे आग तैयार करता है और त्यागका मक्खन पिघलाता है। इससे अहङ्कारगत मल जल जाते हैं और अन्तमें बुद्धि ज्ञानके तप्त घृतको ठंडा करके सेवन करनेयोग्य बनाती है। यह घृत तब समत्वरूप दीयटपर स्थित चित्तरूप दीपमें डाला जाता है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति इस अवस्थात्रय तथा सत्त्व-रज-तम इस गुणत्रयसे तुरीय अवस्थारूप रुई निकालकर उसकी बत्तियाँ बनायी जाती हैं। इस प्रकार विज्ञानमय दीप तैयार होता है और इसपर जो अहङ्कारादि पतंगे आते हैं वे आतेके साथ ही जल जाते हैं।

उस दीपकी ज्योति 'सोऽहम्' की अनुभूति है। यह अति दीप्तिमन्त और प्रचण्ड दीपशिखा है। इसकी दीप्ति अन्तर्ज्ञानानुभूति है। 'मैं अरु मोर तोर तैं' की माया यहाँ नाममात्रको भी नहीं रहने पाती। यहाँ कोई मोहान्धकार नहीं रह जाता। तब अन्तर्ज्ञानदृष्टि अज्ञानकी महाग्रन्थि भेदन करने और अपने-आपको मायाकी पकड़से मुक्त करनेमें समर्थ होती है। तब भी विघ्न-बाधाओंका अन्त नहीं होता। माया तब बड़ी मोहक सिद्धियोंका रूप धारण करती है और साधकको पथसे च्युत करने और ययातिकी भाँति ऊपरसे ढकेलनेकी चेष्टा करती है। यदि साधक बुद्धि-मान् हुआ तो वह इन सिद्धियोंकी उपेक्षा करके आगे बढ़ता है। तब अन्तिम परीक्षाका समय आता है, भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता साधककी बहुत कड़ी परीक्षा लेते हैं। जब साधक इन परीक्षाओंसे उत्तीर्ण हो जाता है तब वह संतपदवीको प्राप्त होता और उसका खोया हुआ पद उसे फिरसे मिल जाता है।

आत्मानुभवकी यह परमावस्था या विज्ञानप्रदीपकी यह पदवी प्राप्त करनेके इस लंबे चक्करदार रास्तेके स्थानमें गोस्वामी तुलसीदासजी रात-दिन जगमगानेवाली भक्तिकी रत्नदीपज्योतिका सहज सुगम छोटा रास्ता दिखाते हैं। यहाँ न बत्तीको ढूँढ़नेकी जरूरत है, न दीयटकी, न घीकी। यहाँ अज्ञान तुरन्त भाग जाता है। इस रत्नदीपपर कोई कीट या पतंग नहीं आ सकता। साधकको इस मार्गमें कोई आध्यात्मिक रोग नहीं घेर सकते, यदि वह भक्तिके सीधे रास्तेपर दृढ़ताके साथ चलता चले।

गोसाईंजीकी मानसिक पूजा

'विनयपत्रिका' की आरतीमें गोसाईंजीने जो मानस पूजा की है उसे देकर अब मैं इस लेखको समाप्त करता हूँ। यह आरती ज्ञान और भक्तिका दिव्य मिलन है—

ऐसी आरती राम रघुबीरकी करहि मन।
हरन दुखद्वंद गोबिंद आनंदघन॥१॥
अचर-चररूप हरि सर्बगत, सर्बदा
बसत, इति बासना धूपु दीजै।
दीपु निजबोधु गत-कोह-मद-मोह-तम,
प्रौढ़ अभिमान चितबृत्ति छीजै॥२॥
भाव अतिसै बिसद प्रबर नैबेद्य सुभ
श्रीरमण परम संतोषकारी।

प्रेमुतांबूल गत सूल संसय सकल,
बिपुल भव-बासनाबीजहारी ॥ ३ ॥
असुभ-सुभ कर्म-घृतपूर्ण दस बर्तिका,
त्याग पावक, सतोगुन प्रकासं ।
भक्ति-बैराग्य-बिग्यान-दीपावली,
अर्पि नीराजनं जगनिवासं ॥ ४ ॥
बिमल हृदि भवन कृत सांति परजंक सुभ
सयन बिश्राम श्रीरामराया ।
छमा-करुना प्रमुख तत्र परिचारिका,
जत्र हरि तत्र नहि भेद, माया ॥ ५ ॥
आरती-निरत सनकादि, श्रुति सेषु सिव,
देवरिषि, अखिल मुनि तत्वदरसी ।
करै सोइ तरै, परिहरै कामादि मल,
बदति इति अमलमति दासु तुलसी ॥ ६ ॥

'हे मन ! रघुवंशवीर श्रीरामचन्द्रजीकी आरती इस प्रकार कर। यह आरती राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे उत्पन्न होनेवाले दुःखोंको हरण करनेवाली, इन्द्रियोंको संयत करनेवाली और आनन्दघनको प्राप्त करानेवाली है ।

'अपने अन्दर यह भावना भर दे कि भगवान् श्रीहरि सदा और सर्वत्र हैं, चर-अचर यावत् पदार्थ भगवान्के ही रूप हैं, और इसी भावनाका भगवान्को धूप दे। यह भावना कर कि निजबोधरूप दीप तेरे अन्दर जल रहा है और क्रोध-मद-मोहादि अन्धकार नष्ट हो गये हैं और सिरपर चढ़के बैठा हुआ अभिमान और चितकी सब वृत्तियाँ क्षीण हो गयी हैं ।

'फिर यह भावना कर कि तेरे अन्दर अत्यन्त निर्मल और श्रेष्ठ भाव भरे हैं। इन्हीं भावोंका शुभ नैवेद्य भगवान्को निवेदित कर, इससे श्रीरमणभगवान् परम संतुष्ट होंगे ।

'सुदृढ सङ्कल्पके द्वारा यह निश्चय कर कि तेरे सब संशय नष्ट हो गये हैं और संसारके जनम-जनम भटकानेवाले चक्रकी वासनाएँ नष्ट हो गयी हैं। यही ताम्बूल है जो तू भगवान्को दे सकता है ।

'इसके बाद यह कल्पनाकर कि शुभाशुभ कर्मरूपी घीमें डूबी हुई दस बत्तियाँ त्यागरूप आगसे जल रही हैं और सत्त्वगुणकी आभा जगमगा रही है और ऐसे दीपोंकी एकके ऊपर एक—भक्ति, वराग्य और विज्ञानकी—तीन पंक्तियाँ हैं। यही दीपावलि-आरती जगन्निवास श्रीप्रभुके आगे अर्पण कर ।

'यह समझ ले कि तेरे विमल हृदय-भवनमें शान्तिका शुभ पर्यंक बिछ गया है और उसपर श्रीभगवान् रामचन्द्र सुखपूर्वक शयन कर रहे हैं। इस शयनागारमें क्षमा, करुणा आदि दासियाँ भगवान्की परिचर्या कर रही हैं ।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥

'जहाँ भगवान् हैं वहाँ स्त्री-पुरुष, जाति-कुजाति, श्रेष्ठ-कनिष्ठादि भेदकी कोई माया नहीं रह सकती ।

'यह नित्य मानस पूजा है जिसमें सनकादि ऋषि, चारों वेद, आदि शेष, शिव और नारद निरत रहते हैं। विमलमति श्रीतुलसीदास कहते हैं कि जो कोई नित्य यह मानस पूजा करता है वह कामादि मलोंको त्यागकर तर जाता है ।'

सियावर रामचन्द्रकी जय !
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी और अद्वैतवाद

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

श्रीरामचरितमानसके अन्दर आठ प्रसंगोंपर कुछ ऐसे शब्दोंका संयोग हो गया है, जिनके आधारपर ग्रन्थके अनुबंध-चतुष्टयसे अनभिज्ञ कुछ अद्वैतमतावलम्बी सज्जन अद्वैतवादके अनुकूल अर्थमें खींचातानी करके यह सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं कि श्रीगोस्वामिपादका मत भी अद्वैतवाद ही था। अतएव उन आठों स्थलोंका स्पष्टीकरण अलग-अलग उन्हींके पूर्वापर प्रसंगोंका प्रमाण देते हुए किया जा रहा है, जिसमें श्रीमानसभक्तोंके हृदयमें इस प्रकारकी कोई शंका न रह जाय।

(१) पहले बालकाण्डके मंगलाचरणके छठे श्लोकका यह दूसरा चरण उद्धृत किया जाता है—

यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।

अर्थात् जिसकी सत्तासे सम्पूर्ण जगत् मिथ्या होते हुए भी सत्यकी तरह भासित होता है, जैसे रस्सीमें सर्पका झूठा भ्रम हुआ करता है। यहाँपर अद्वैतमतावलम्बियोंका कहना है कि श्रीगोस्वामीजीने जगत्को मिथ्या माना है; अतएव वे अद्वैतवादी थे।

समाधान—यहाँपर पहले तो 'यत्सत्त्वात्' शब्दपर ध्यान देनेकी जरूरत है, जिसका अर्थ है—जिस प्रभुकी सत्तासे ऐसा हो रहा है—

नाथ जीव तव मायाँ मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहाँ॥

दूसरे, इसी श्लोकके प्रथम चरणमें स्पष्ट कहा गया है—

यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः

अर्थात् 'जिस प्रभुकी मायाके वशमें होकर सारा संसार, ब्रह्मादिक देवता और असुर कर्मबन्धनमें पड़े हुए हैं।' तीसरे, इसी श्लोकके तीसरे चरणमें अद्वैतवादके विरुद्ध यह कहा गया है—

यत्पादप्लवमेव भाति हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्

अर्थात् जिस प्रभुका चरणकमल ही संसारसिन्धुसे पार जानेकी इच्छा रखनेवालोंके लिये नौकारूप है। इसमें स्पष्ट उपासना (भक्तियोग) है। चौथे, इसके अन्तिम चरणमें तो श्रीरामजीका नाम सूचित कर उनकी वन्दना ही 'वन्देऽहं' शब्दद्वारा इष्ट और आधार मानी गयी है। इससे अवतारवाद और सेवक-सेव्यभाव स्पष्ट सिद्ध होता है। इस कारण ऐसे स्थलमें भला अद्वैतवाद कैसे सिद्ध हो सकता है। यहाँपर श्रीरघुनाथजीके, जो साक्षात् श्रीहरिके अवतार हैं, ऐश्वर्यका वर्णन किया गया है कि वही कर्मयोग, ज्ञानयोग और उपासना (भक्तियोग) के अधीश्वर, आधार, आधेय तथा समस्त कारणोंके भी परमेश्वर हैं।

अब रहा यह प्रश्न कि जगत् मृषा कितने अंशमें मालूम होता है। इसका निर्णय दी हुई उपमासे ही कीजिये। रस्सीको साँप मानना मिथ्या है, न कि रस्सी और साँप ये दोनों मिथ्या हैं। क्योंकि यदि साँपका अस्तित्व ही न होता तो उसका भ्रम ही कहाँसे आता। इसी प्रकार यह जगत् कारणरूपसे सत्य और कार्यरूपमें मृषा है, इसीसे हमें रामरूप जगत्में नानारूप जगत्की भ्रान्ति हो रही है। अर्थात् है तो यह जगत् (स्थावर-जंगम) श्रीरामरूप—'अगजगरूप भूप सीताबर' (विनयप०), परन्तु हम लोगोंको प्रभुकी ही मायाके आवरणके कारण नाना रूपमें भास रहा है। जैसे रस्सी यथार्थमें है, वैसे ही यह समस्त जगत् रामरूपमें यथार्थ है—

'सीयराममय सबु जगु जानी'
'निज प्रभुमय देखहिं जगत'
'मैं सेवकु सचराचर रूप स्वामि भगवंत'

—ये सब वचन श्रीमानसमें ही आये हुए हैं। जिस तरह रज्जुमें साँपका भ्रम झूठा है, उसी तरह इस रामरूप जगत्में गृह, वृक्ष, पर्वत, सरिता, पशु, पक्षी, पुत्र-कलत्र आदि नानात्वका भासना झूठा है। परन्तु जिस तरह साँप किसी समय देखा-सुना हुआ है, साँपका होना मिथ्या नहीं है, उसी प्रकार यह नानारूप जगत् भी कभी पहले उत्पन्न हुआ था और इस दृश्य जगत्के प्रलयके बाद फिर उत्पन्न होगा। अतः यह विधिप्रपञ्च भी कारणरूपसे अचल और अनादि है। श्रीमानसके अयोध्याकाण्डमें श्रीकौसल्याजीका वचन है—

बिधिप्रपंचु अस अचल अनादी

श्रीगीताजीमें कहा है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

अतएव जगत्को सर्वथा मिथ्या नहीं कहा गया है, बल्कि इस प्रकट जगत्का नानारूपमें सत्य-सा प्रतीत होना मिथ्या कहा गया है।

(२) दूसरे, पुनः बालकाण्डके १२० वें दोहेके बाद श्रीशिवजीका वचन है—

झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने । जिमि भुजंगु बिनु रजु पहिचाने ॥

अर्थात् 'जिसे जाने बिना झूठा भी सत्य हो रहा है।' यहाँ पर भी लोगोंका कहना है कि जगत्-प्रपञ्चको झूठा कहा गया है; अतः यहाँ अद्वैतवाद है।

समाधान-परन्तु यहाँपर भी ऊपरकी तरह ही साँप और रस्सीकी उपमा है। अतएव यहाँ भी उसी प्रकार प्रकट जगत्के नानात्वका सत्य भासना मृषा है, न कि जगत्। इसके बादकी चौपाइयाँ स्पष्ट ही बतला रही हैं कि यह जगत् जब रामरूपमें यथार्थ भासता है तब इसका नानारूप प्रतीत होना खो जाता है, यथा—

जेहिं जागें जगु जाइ हेराई । जागें जथा सपनभ्रमु जाई ॥

तथा—

बंदौं बालरूप सोइ रामू । सब बिधि सुलभ जपत जिसु नामू ॥

तात्पर्य यह कि जिस रूपमें हम जगत्को देख रहे हैं वह सत्य नहीं है, इसका रूप राममय है। अतः इस जगत्का नानाकार झूठा है, न कि जगत् ही झूठा है। जगत् तो रामरूप आकारमें सत्य है; क्योंकि जब हमको जगत् निज प्रभु-राममय जान पड़ता है तब इसका नानात्व उसी प्रकार गायब हो जाता है जिस प्रकार जागनेपर स्वप्नका भ्रम नष्ट हो जाता है। स्वप्नका भ्रम क्या है—

सपनें होइ भिखारि नृपु, रंक नाकपति होइ ।

अर्थात् 'कोई राजा स्वप्नमें अपनेको भिक्षुकके रूपमें जानता या देखता है अथवा कोई भिक्षुक अपनेको इन्द्रके रूपमें देखता है।' परन्तु स्वप्नमें राजाका भिक्षुक होना तथा भिक्षुकका इन्द्र होना मिथ्या था, न कि संसारमें भिक्षुकका होना और स्वर्गमें इन्द्रका होना। ये दोनों बातें सत्य ही हैं, केवल स्वप्नमें उन व्यक्तियोंका अपने लिये ऐसा परिवर्तन देखना झूठा था। इसी प्रकार जगत्को झूठा न कहकर उसमें जो नानात्व भासता है, उसे ही झूठा कहा गया है। साथ ही जगत् जिस रामका रूप है, उसकी वन्दना की गयी है और नामजप (उपासना) की बात भी कही गयी है, जो अद्वैतवादके विरुद्ध है।

(३) तीसरे, बालकाण्डके १२५ वें दोहेके ठीक ऊपरकी निम्नलिखित चौपाई अद्वैतमतके समर्थनमें उद्धृत की जाती है—

जासु सत्यता तें जड़ माया । भास सत्य इव मोहसहाया ॥

यहाँ यह कहा जाता है कि मायाको असत् कहा गया है, अतः यह अद्वैतवाद है।

समाधान—इसके भी ऊपरकी चौपाई देखिये—

जगत प्रकास्य प्रकासकु रामू । मायाधीस ग्यानगुनधामू ॥

इसमें श्रीरामजीको मायाधीश कहकर स्पष्ट मायावाद सूचित किया गया है तथा जगत शब्द जड़ मायाके पर्यायवाची शब्दके रूपमें व्यवहृत हुआ है। दोहेके नीचेकी चौपाईमें भी—

एहि बिधि जगु हरि आश्रित रहई । जदपि असत्य देत दुख अहई ॥

—जगत्का भासना ही असत्य कहा गया है। क्योंकि यहाँ भी वहाँ स्वप्नकी उपमा दी गयी है, यथा—

जौं सपनें सिरु काटइ कोई । बिनु जागे न दूरि दुखु होई ॥

और इस भ्रमका हटना सिवा रामकृपाके और किसी साधनसे सम्भव नहीं है—

जासु कृपाँ अस भ्रमु मिटि जाई । गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई ॥

यद्यपि यह भ्रम तीनों कालमें मिथ्या ही है, अर्थात् यह जगत् तीनों कालमें रामरूपके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, फिर भी उस भ्रमको कोई भी अपने पुरुषार्थसे हटानेमें समर्थ नहीं है। जैसा कि इस दोहेमें कहा है—

रजत सीप महुँ भास जिमि, जथा भानुकर बारि ।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रमु न सकै कोउ टारि ॥

यहाँ रजत-सीपकी उपमासे विद्या-माया और 'भानुकर बारि'की उपमासे अविद्या-मायाको सूचित किया गया है; क्योंकि विद्या-माया—'एकु रचइ जग गुन बस जाकें' दुःखद नहीं है, परन्तु वह नानारूप जगत्को भासित कराकर पर्दा-सा डालकर—भ्रम उत्पन्न करती है और दूसरी अविद्या-माया मृगतृष्णाकी भाँति 'मैं', 'मोर', 'तैं', 'तोर', बन्धनवाली दुःखरूप है—

एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा । जा बस जीव परा भवकूपा ॥

इन दोनों प्रकारकी मायाओंसे युक्त जगत् न कभी पहले भूतकालमें ही रामरूपको छोड़कर इस नानारूपमें वास्तव था, न अब वर्तमान कालमें ही है, और न आगे कभी भविष्यमें ही इसका यह नानात्व वास्तविक होगा; तीनों कालमें यह जगत् भगवत्स्वरूप ही सिद्ध है। इसीसे कहा गया है—'एहि बिधि जगु' अर्थात् इस प्रकारका यह जगत् है, जो 'हरि आश्रित रहई' अर्थात् जिसके आश्रय केवल भगवान् राम ही हैं, जिनका यह विश्वरूप है—

बिस्वरूप रघुबंसमनि करिअ बचन बिस्वास ।

(लङ्काकाण्डमें मन्दोदरीका वाक्य)

अतएव यहाँ भी माया या जगत्को मिथ्या न कहकर उसके नानात्व-भ्रमको ही मिथ्या कहा गया है, जो भ्रम श्रीरामकृपासे ही मिटता है। भ्रम मिटनेपर जीवको यह संसार श्रीरामरूप भासने लगता है तथा वह भ्रमजनित दुःखसे मुक्त होकर सुखी हो जाता है। इसलिये यहाँ भी अद्वैतवादसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

(४) चौथे, अवधकाण्डके पाँचवें छन्द और सोरठेके नीचेकी अष्टपदीमें १२२ वें दोहेके ऊपरकी इस चौपाईका भी अद्वैतवादी सहारा लेते हैं—

सो जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई ॥

इसका अर्थ वे इस प्रकार करते हैं कि जीव ब्रह्मको जानकर ब्रह्म ही हो जाता है। इस तरह अद्वैतवाद सिद्ध किया जाता है।

समाधान—इसके भी ऊपर और नीचेके प्रसङ्गोंको देखिये। ऊपर श्रीवाल्मीकि महर्षि श्रीरघुनाथजीसे कहते हैं—

श्रुतिसेतुपालकु राम तुम्ह जगदीस माया जानकी ।
जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधानकी ॥
जो सहससीस अहीस महिधर लखनु सचराचरधनी ।
सुर काज धरि नरराजतनु चले दलन खल-निसिचर-अनी ॥
राम स्वरूपु तुम्हार, बचन-अगोचर बुद्धिपर ।
अबिगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह ॥
जगु पेखनु तुम्ह देखनहारे । बिधि हरि संभु नचावनिहारे ॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा । और तुम्हहिं को जाननिहारा ॥

ये सब बचन 'जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई' के पूर्व हैं, जिनमें श्रुतिसेतुपालक श्रीरामजीको जगदीश (ब्रह्म) और श्रीजानकीजीको माया (ह्लादिनी शक्ति) और श्रीलखनलालको जीव (शेष) कहा गया है, जो अद्वैतवादके सर्वथा विरुद्ध है। और सोरठेमें तो 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' श्रुतिप्रतिपादित शब्दोंद्वारा श्रीरामस्वरूपकी अपारता दरसायी गयी है, जिसको वेद भी 'न इति, न इति' कहकर प्रतिपादित करते हैं। फिर इस जगत्को एक तमाशा बताया गया है जिसके द्रष्टा श्रीरामजी हैं और उस नाचके नचानेवाले ब्रह्मा, विष्णु और शिवजी हैं। जब इन त्रिदेवोंको भी, जो नचानेवाले हैं, प्रभुके मर्मका पता नहीं है, तब नाचनेवाले जीवोंको जाननेकी सामर्थ्य कहाँसे प्राप्त हो सकती है। अतः वही जान सकता है जिसे आप अपनी कृपासे बता दें—'सो जानइ जेहि देहु जनाई' और आपके मर्म (स्वभावादि) को जानकर वह फिर आपका ही हो जाता है, यथा—

उमा रामस्वभाउ जेंहि जाना । ताहि भजनु तजि भाव न आना ॥

अब रहा यह कि प्रभु किसे जनाते हैं? इसका उत्तर ठीक इसके बादकी यह चौपाई दे रही है—

तुम्हरी कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन । जानहिं भगत भगत-उर-चंदन ॥

अर्थात् आप कृपा करके अपने भक्तोंको ही जनाते हैं और आपको जाननेवाले आपके भक्त ही हैं। यहाँ भी अद्वैतवादका लेश नहीं।

(५) पाँचवें, उत्तरकाण्डका यह १०० वाँ दोहा उद्धृत किया जाता है—

सो दासी रघुबीरकी, समुझें मिथ्या सोपि ।
छूट न रामकृपा बिनु, नाथ कहौं पद रोपि ॥

यहाँ भी उनका कहना है कि मायाको मिथ्या कहा गया है, इसलिये अद्वैतवाद है।

समाधान—यहाँ भी ऊपरका प्रसंग—

मोह न अंध कीन्ह केहि केही । को जग कामु नचाव न जेही ॥

—से लेकर—

ब्यापि रहेउ संसार महुँ मायाकटकु प्रचंड ।
सेनापति कामादि भट, दंभु कपटु पाखंड ॥

—तक देखिये। इसमें 'मैं अरु मोर तोर तैं माया' जो अविद्या है, उसीका पूरा वर्णन करते हुए संसारचक्र दिखाया गया है। अतः उसीके लिये, जिसके वशमें होकर यह जीव 'मैं', 'मोर', 'तैं', 'तोर' आदिमें पड़ा हुआ है—'जा बस जीव परा भवकूपा', 'सो' शब्दका इस दोहेमें व्यवहार किया गया। जब यह 'मैं', 'मोर', 'तैं', 'तोर' ही उसका स्वरूप है तब तो यह अज्ञानता, मिथ्या, मोहजन्य है ही। परन्तु यह भी श्रीरामकृपाके बिना निवृत्त नहीं हो सकती, यह श्रीकाकभुशुण्डिजी प्रतिज्ञा करके कह रहे हैं; क्योंकि यह श्रीरामजीके ही अधीन है। इसका प्रमाण भी नीचे दिया हुआ है—

जो माया सब जगहि नचावा । जासु चरितु लखि काहुँ न पावा ॥
सोइ प्रभुभ्रूबिलास खगराजा । नाच नटी इव सहित समाजा ॥

अतः मोह, काम, चिन्ता, श्रीमद, लोभ, यौवन, ममता, मत्सर, एषणा आदिको ही, जिन्हें ऊपर 'माया कर परिवारा', बताया गया है, मिथ्या कहा गया है, क्योंकि ये

सब मोहमूलक हैं। इनका आभास तभीतक मिलता है जबतक श्रीरामकृपासे यह जगत् राममय नहीं भासता, जबतक—

सीयराममय सबु जगु जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

—का भाव उदय नहीं होता। अतएव यहाँ भी स्पष्ट रूपमें मायावाद और श्रीरामजीकी कृपासे उसकी निवृत्ति सूचित की गयी है। यहाँ अद्वैतवादकी चर्चा कहाँ सम्भव है।

(६) छठे, उत्तरकाण्डके १११ वें दोहेके नीचेकी चौपाई—

मुधा भेदु जद्यपि कृत मायाँ। बिनु हरि जाइ न कोटि उपायाँ॥

—को प्रमाणके रूपमें पेश करके कहते हैं कि यहाँ ईश्वर और जीवके भेदको मुधा (झूठा) कहा गया है, अतः इससे अद्वैतवाद सूचित होता है।

समाधान—इसके भी ऊपरके पदोंको देखिये—

ग्यान अखंड एक सीताबर। मायाबस्य जीव सचराचर॥
जो सबकें रह ग्यानु एकरस। ईस्वर-जीवहि भेदु कहहु कस॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एकु श्रीकंता॥
मायाबस्य जीव अभिमानी। ईसबस्य माया गुनखानी॥

जब ये पद ईश्वर और जीवका भेद बतानेवाले हैं तब इसी प्रसंगमें उसी भेदको झूठा कहकर 'वदतो व्याघात' होना कैसे सम्भव है? अतः यहाँ यह सूचित किया गया है कि यह जगत् जो हमें भेदाभेदरूपमें भास रहा है, इसका कारण माया ही है। यद्यपि यह नानारूप जगत्का भेद जो मायाकृत है, मुधा अर्थात् झूठा है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् एक भगवद्रूप ही है, फिर भी भगवान्की कृपाके बिना यह नानादर्शन कभी जा नहीं सकता। इसीकी पुष्टि नीचेके पदोंसे भी होती है—

रामचंद्रके भजन बिनु जो चह पदु निरबान।
ग्यानवंत अपि सो नरु पसु बिनु पूँछ बिषान॥
राकापति षोड़स उअहिं, तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन दव लाइये, बिनु रबि राति न जाइ॥
ऐसेहिं बिनु हरिभजन खगेसा। मिटइ न जीवन केर कलेसा॥

श्रीरामजीके भजनद्वारा, उनकी कृपासे ही यह द्वन्द्व-दुःख हट सकता है; अन्यथा कोई चाहे ज्ञानवान् भी क्यों न हो, बिना श्रीरामजीके भजनके, अपने पुरुषार्थपर भवसागर पार करनेका दावा करनेवाला बिना सींग-पूँछका पशु ही है। जहाँ ऐसी बात है वहाँ अद्वैतवादका अर्थ करना कितनी भूल है!

(७) सातवें, उत्तरकाण्डके ११९ वें दोहेके नीचेका लोमश मुनिका यह वचन प्रमाणके रूपमें रक्खा जाता है—

सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥

—कहते हैं, यहाँ जीव और ब्रह्मकी एकता बतायी गयी है; अतएव अद्वैतवाद है।

समाधान—यहाँपर मानसभक्तोंको सचेत होकर विचार करना चाहिये कि यह उपर्युक्त वचन हेय अर्थमें आया है या ध्येय अर्थमें। इसी बातको तो श्रीभुशुण्डिजीने स्वीकार नहीं किया और लोमश ऋषिसे बहस छेड़ दी। उन्होंने इसपर शङ्का उपस्थित करते हुए अपना मत इस प्रकार प्रकट किया—

मायाबस परिछिंन जड़ जीव कि ईस-समान॥

इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने जीव-ब्रह्मकी एकता सुनना भी भक्तिके विरुद्ध समझा; उन्होंने साफ-साफ कह डाला—

राम-भगति-जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥
सो उपदेसु करहु करि दाया। निज नयनन्हि देखउँ रघुराया॥
भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निरगुन-उपदेसा॥

इसी विवादपर क्रुद्ध होकर लोमशने उन्हें काग हो जानेका शाप दे दिया और उसे भी भक्तभूषण श्रीभुशुण्डिजी सहर्ष शिरोधार्यकर निर्भय उड़ चले। क्योंकि वास्तवमें विरोधरहित हृदय तो भगवद्भक्तोंका ही हो सकता है, जो अपनेको दास और सारे जगत्को अपने प्रभुका रूप मानते हैं, जैसा कि भगवान् शिवने भुशुण्डिजीसे कहा है—

उमा जे रामचरन रत, बिगत-काम-मद-क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, का सन करहिं बिरोध॥

इसी भावकी पुष्टि इन वचनोंसे भी हो रही है—

सुनु खगेस नहि कछु ऋषिदूषन। उर प्रेरकु रघुबंसबिभूषन॥
कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेमपरीछा मोरी॥
मन बच क्रम मोहि निज जनु जाना। मुनिमति पुनि फेरी भगवानाँ॥
अति बिसमउ पुनि पुनि पछिताई। सादर मुनि मोहि लीन्ह बुलाई॥
मम परितोषु बिबिधि बिधि कीन्हा। हरषित राममंत्रु मोहि दीन्हा॥
बालकरूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि मुनि कृपानिधानाँ॥
मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानसु तब भाखा॥

रामभक्त भुशुण्डिजी जो कुछ भी हुआ उसे अपने प्रभु रघुवंशविभूषणकी ही प्रेरणा मानते हैं; परन्तु उनको

ऐसा विश्वास है कि ब्रह्म-जीवकी एकताका कथन मुनिजीकी मति भोरी करके श्रीप्रभुने कराया था, क्योंकि ऐसा अनुचित और असम्भव कथन शुद्ध बुद्धिके रहते हुए कभी नहीं हो सकता था। यही कारण है कि उन्होंने उस कथनका सर्वथा विरोध करके और शापतक स्वीकार करके अपनी भक्तिकी दृढ़ताका प्रमाण दिखाया। ऐसे प्रसङ्गको भी अद्वैतवादके पक्षमें खींचना कहाँतक उचित है, यह विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

(८) आठवें, उत्तरकाण्डके १७ वें सोरठेके नीचे ज्ञानदीपकके प्रसंगमें आयी हुई इस चौपाईको उद्धृत करते हैं—

सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा।

यहाँ भी उनका कहना है कि 'सोहमस्मि' शब्द लिखकर श्रीगोस्वामीजीने अद्वैतवादको स्वीकार किया है।

समाधान—इस ज्ञानदीपक-प्रसंगको भी आरम्भसे ही देखिये, स्पष्ट शब्द भरे पड़े हैं—

ईस्वर-अंसु जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो मायाबस भयो गोसाईं। बँध्यो कीर-मरकटकी नाईं॥
जड़-चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

इसमें साफ-साफ जीवको ईश्वरका अंश माना गया है और यह भी कहा गया है कि वह मायाके अधीन है। इस प्रकार ब्रह्म, जीव और माया, तीनों तत्त्वोंको अनादि मानकर प्रसंग उठाया गया है। पुनः उस जड़-चिद्-ग्रन्थिकी निवृत्तिका आधार भी ईश्वरकी कृपा ही दिखायी गयी है—

अस संजोगु ईसु जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई॥
सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जो हरिकृपाँ हृदयँ बसि आई॥

इसके अतिरिक्त यहाँ केवल वाक्यज्ञान, वाक्यबोध ही नहीं, वरं सम्पूर्ण साधनका क्रम दिया हुआ है। उसके बाद 'सोहमस्मि' वृत्तिको केवल दीपशिखा माना है; अभी ग्रन्थिका छूटना बाकी है, ग्रन्थिका उसी प्रकाशमें पीछे छूटना बताते हैं—

तब सोइ बुद्धि पाइ उजिआरी। उरगृह बैठि ग्रंथि निरुआरी॥
छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तब यह जीव कृतारथ होई॥

अतएव यहाँ अद्वैतवादसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वहाँ 'सोहमस्मि'को फलस्वरूप माना है—उसके बाद कुछ बाकी ही नहीं रह जाता। इसलिये इस 'सोहमस्मि'का तात्पर्य यह है—सः (वह), अहं (मैं), अस्मि (हूँ); सः अर्थात् वही ईश्वर-अंश जो ऊपर कहा गया है, जो इस जीवका शुद्ध स्वरूप है, जिसको भूलकर वह अपनेको किसीका पुत्र, किसीका पिता, किसीको प्रजा, किसीका राजा, किसी कुलका, किसी वर्णका, किसी आश्रमका मान रहा था, उस भ्रमकी निवृत्ति इतने साधनोंके बाद हो जानेपर जीव यह निश्चय करता है कि मैं तो शुद्धस्वरूप ईश्वरका अंश, चेतन, अमल हूँ, ये मायाकृत संसारी नाते झूठे थे (यह तात्पर्य नहीं है कि उसने अपनेको ब्रह्म मान लिया), और जब उसने अपनेको ईश्वरका अंश मान लिया तब वह संसार-सम्बन्धको मिथ्या मानकर उससे अलग हो जाता है। यही ग्रन्थिको निरुआरना या छोड़ना है। जब निश्चितरूपसे संसारी नाते छूट जाते हैं और केवल प्रभुकी ही प्रसन्नता जीव स्वीकार कर लेता है तब वह कृतार्थ हो जाता है। अतः यहाँ भी अद्वैतवाद नहीं है।

इस तरह आठों स्थलोंके प्रसंगसे यह सिद्ध हो गया कि वे अद्वैतवादको सूचित नहीं करते। इनके अतिरिक्त सारा ग्रन्थ भक्तिप्रधान पदोंसे भरा हुआ है। यथा—

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥
ते सठ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥
सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़करनी॥

× × × ×

अति दुरलभ कैवल्य परम पद। संत-पुरान निगम-आगम बद॥
रामभगति सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई॥
तथा मोच्छसुखु सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई॥
अस बिचारि हरिभगत सयाने। मुकुति निरादर भगति लुभाने॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृतमूल अबिद्या नासा॥
भोजनु करिअ तृपति हित लागी। जिमि सो असनु पचवइ जठरागी॥
अस हरिभगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥

सेवकसेब्यभाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु रामपदपंकज, अस सिद्धांतु बिचारि॥
जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि, भजहिं जीव ते धन्य॥
ब्रह्म पयोनिधि, मंदरु ग्यानु, संत सुर आहिं।
कथासुधा मथि काढ़हिं, भगति-मधुरता जाहिं॥
बिरति चरम, असि ग्यानु, मद, लोभु, मोहु रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरिभगति, देखु खगेस बिचारि॥

कहाँतक लिखा जाय, ऐसे अनेक पद उद्धृत किये जा सकते हैं। इस तरह जहाँ भक्तिको कामधेनु और केवल ज्ञान (अद्वैतवाद) को आककी उपमा दी गयी है; जहाँ

भक्तिके अतिरिक्त दूसरे उपायोंको अपनी भूलके कारण महार्णवको तैरकर पार करनेका प्रयास बताया गया है; जहाँ कैवल्यादि मुक्तियाँ भक्तिके अधीन कही गयी हैं; जहाँ यह मानते हैं कि भक्तिके अतिरिक्त मोक्षसुखको कहीं ठिकाना नहीं है; जहाँ यह कहा जाता है कि भक्तशिरोमणि मुक्तिका निरादर करके भक्तिको ही अपना उद्देश्य समझते हैं; जहाँ उस भक्तिको जठराग्निकी उपमा देकर उसकी महिमा इस तरह बता रहे हैं कि जिस तरह भोजन पेट भरनेके लिये किया जाता है और उसका पाचन जठराग्निसे स्वाभाविक ही हो जाता है, उसी तरह भक्तोंको, जो सर्वोपायसे शून्य होकर भगवान्के ही आश्रित हो जाते हैं, शारीरिक रक्षाके लिये सांसारिक पदार्थोंकी भी प्राप्ति होनेपर उनमें भगवान्की ही भक्ति दृढ़ होती है; जैसे किसी भक्तको शीत लगनेपर कंबलकी आवश्यकता हुई, परन्तु वह है त्वचाका विषय; फिर भी जैसे वह मिला, उसका भोग करते हुए भक्त अपने भगवान्की दयाको स्मरणकर और भी अधिक प्रेमानन्दमें डूब गया और उसकी भक्ति दृढ़ हो गयी; शुष्क ज्ञानियों (अद्वैतवादियों) को विषयके सर्वथा त्यागसे जो संसारनिवृत्तिरूप फल मिलता है, वही भक्तोंके लिये विषयकी प्राप्तिमें भी सुलभ हो जाता है और भगवत्प्रेम भी बढ़ता रहता है—ऐसी सुगम और सुखदायिनी हरिभक्ति है; कौन ऐसा मूढ़ होगा जिसे यह न सोहायगी, इससे तो बिना प्रयास ही संसृतिके मूलका नाश हो जाता है; जहाँ यह सिद्धान्त दिया गया है कि सेवक-सेव्यभावके बिना कोई भवसागरसे तर ही नहीं सकता; क्योंकि चेतनको जड़ और जड़को चेतन बना देनेकी सामर्थ्य उन श्रीरघुनाथजीमें ही है, उनका भजन करनेवाले ही धन्य हैं; ब्रह्म समुद्र है और ज्ञान मंदराचल पर्वत है तथा संतलोग देवताओंकी जगहपर हैं, अमृतकी तरह श्रीरामकथा मथकर निकाली गयी है, उस अमृतमें मधुर स्वाद है और इस रामकथामें मधुर भक्ति है; फिर वैराग्य ढाल है, ज्ञान तलवार है, उसके द्वारा मद-लोभ-मोहरूप शत्रुओंको मारकर जय प्राप्त करनेवाली हरिभक्ति ही है; जहाँ भक्तिको चारु चिन्तामणि कहकर उसे ही सर्वोच्च और परम फल अक्षर-अक्षरसे सिद्ध किया गया है, वहाँ भला अद्वैतवादको कहाँ स्थान है। अतएव जो श्रीगोस्वामीजी भगवान् श्रीरामजीके परम भक्त, सेवकसेव्यभावकी निष्ठामें अद्वितीय हैं, उन्हें अद्वैतवादी कहना ही अनुचित है।

बोलो सियावर रामचन्द्रकी जय !

विरागी राम

(लेखक—श्रीयमुनाप्रसादजी श्रीवास्तव)

भगवान् लीलामय हैं। श्रीरामावतारमें भगवान्ने एक बार वैराग्यकी अत्यन्त उपदेशप्रद लीला की, उसीके आधारपर योगवासिष्ठ ग्रन्थकी रचना हुई है। उसी वैराग्यलीलाके सम्बन्धमें यहाँ कुछ लिखा जाता है।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी विद्याभ्यास करनेके लिये गुरुजीके पास गये—

गुरुगृह गए पढ़न रघुराई। अल्पकाल बिद्या सब आई॥

और वहाँसे विद्यानिधान होकर घर आये। इसके पश्चात् अपने पिता महाराज दशरथजीसे आज्ञा लेकर भाइयों तथा गुरुजनोंसमेत तीर्थयात्राको सिधारे और गंगा, यमुना, सरस्वती आदि पावन तीर्थोंमें स्नान-दान, पुण्य, जप-तप, ध्यान इत्यादि तथा चारों धामोंकी परिक्रमा करते हुए घर लौटे। उस समय इनकी अवस्था लगभग सोलह वर्षकी थी। एक दिन इन्हें उदास देखकर महाराजा दशरथने कहा—'रामचन्द्र ! अब तुम शिकार खेलने जाया करो।' उस दिनसे श्रीरामचन्द्रजी शिकार खेलने जाने लगे—

बंधु-सखा सँग लेहिं बुलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई॥
पावन मृग मारहिं जियँ जानी। दिन प्रति नृपहि देखावहिं आनी॥

इस प्रकार कुछ कालतक जीवहिंसा करते-करते एक दिन वे स्वयं शिकार हो गये और वैराग्यरूपी बाणोंसे घायल होकर घर आये। आपने वस्त्र-आभूषण इत्यादि उतार दिये, अकेली एक कौपीन धारण कर ली और एकान्तमें पद्मासन लगाकर बैठ गये। न लेना एक, न देना दो। जहाँ बैठे वहीं बैठ रहते। जब कोई सेवक या मन्त्री आकर याद दिलाता, तब स्नान-ध्यान, सन्ध्या-पूजन इत्यादि करते। इनका शरीर भी दुर्बल हो चला था।

राजकुमारकी यह दशा देख, महाराज दशरथ अत्यन्त दुखी हुए। गुरु वशिष्ठजीको बुलाकर उन्होंने कारण पूछा। भगवान्के लीलामहत्त्वको जाननेवाले गुरु वशिष्ठजीने उत्तर दिया—'राजन् ! चिन्ता मत करो। किसी निमित्तको लेकर ही श्रीरामचन्द्रजी दुखी हुए हैं। अन्तमें उन्हें सुख मिलेगा।'

इसी बीचमें द्वारपालोंने आकर निवेदन किया—'महाराज ! विश्वामित्रजी आये हैं।'

विश्वामित्रजीका आगमन सुन महाराज दशरथ वशिष्ठजीसहित द्वारपर आये । विश्वामित्रजीको साष्टाङ्ग दण्डवत् किया, निज आसनपर लाकर बैठाया और भलीभाँति उनकी पूजा की—

चरन पखारि कीन्हि अति पूजा। मो सम आजु धन्य नहि दूजा ॥

फिर आगमनका कारण पूछा और कहा—

जो फ़रमाओ बजा लाऊँ अदबसे। दिलो जानो जबानो चश्मो लबसे॥

विश्वामित्रजीने कहा—'राजन्! राक्षस लोग बहुत सताते हैं, उनके मारे मैं यज्ञ भी पूर्ण नहीं कर पाता। कृपाकर राम और लक्ष्मणको दे दीजिये—

अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचरबध मैं होब सनाथा ॥'

राम और लक्ष्मणका नाम सुनते ही दशरथजीका शरीर काँप उठा—

सवाले आबिदे मक़बूल सुनकर। हुआ दिलगीर शाहे हफ़्त किशवर॥

महाराज दशरथको सावधानकर विश्वामित्रजीने कहा—

देहु भूप मन हरषित, तजहु मोहु अग्यानु।
धरमु सुजसु नृप तुम्ह कहुँ, इन कहुँ अति कल्यानु ॥

यह सुन महाराज दशरथने धीरज धरकर कहा—'मुनीश्वर! बुढ़ापेमें तो ये लाल हमें मिले हैं! इन्हें कैसे देते बनेगा। आपने सोचकर बात नहीं कही—

सब सुत प्रिय मोहि प्रानकी नाईं। रामु देत नहि बनइ गुसाईं ॥

वे तो बहुत सुकुमार हैं। फूलोंकी सेजपर सोते हैं, अन्तःपुरकी स्त्रियोंके साथ वार्त्तालाप करते हैं, बालकोंके साथ खेलते हैं। अस्त्र-शस्त्रकी विद्याका भी उन्हें ज्ञान नहीं है। रणभूमिकी तो कभी सूरत नहीं देखी। वे संग्राम करना क्या जानें!

कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुंदर सुत परम किसोरा ॥

आजकल वे कुछ विषादग्रस्त भी हैं, और बहुत कमजोर हो गये हैं।

मागहु भूमि धेनु धनु कोसा। सरबसु देउँ आजु सह रोसा ॥'

यह सुन, विश्वामित्रजीने कहा—'राजन्! श्रीरामचन्द्रजीको बुलवाओ। देखें तो कैसा रोग है?'

महाराज दशरथने मन्त्रियोंकी ओर इशारा किया और मन्त्रियोंने श्रीरामचन्द्रजीके पास जाकर कहा—'कुमारजी! चलिये, पिताजीने बुलाया है।'

श्रीरामचन्द्रजीने उत्तर नहीं दिया। विलम्ब होता देख, मन्त्रियोंने राजाज्ञा दुहरायी और कहा—'कुमारजी! चलिये, पिताजीने बुलाया है।'

निद्रासे सचेत हुए प्राणीके समान सजग होकर श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'मतिमन्दो! कौन किसका पिता है? मेरे न पिता है, न माता है, न भाई हैं, न मित्र हैं, न राज्य है। यह सब मिथ्या जंजाल है, जिसमें पशुओंके समान जीव उलझे हैं।'

मन्त्रियोंने श्रीरामचन्द्रजीके वचनोंको यथावत् महाराज दशरथके पास पहुँचाया और निवेदन किया—महाराज! श्रीरामचन्द्रजी तो बड़ी भारी चिन्तामें निमग्न हैं। किसीकी कुछ सुनते ही नहीं। फल-फूल, भोजन-वस्त्र इत्यादि लेकर जाओ तो कह उठते हैं—'क्यों लाये? किसने मँगाया था? ले जाओ! अब कभी मत लाना!' माताजी मणिजड़ित आभूषण इत्यादि देती हैं तो इधर-उधर रख देते हैं अथवा किसी दीन-दुखीको दे देते हैं। अन्तःपुरकी स्त्रियोंसे तो बात भी नहीं करते, उन्हें तो वे विषवत् समझते हैं। जहाँ बैठते हैं बैठे ही रह जाते हैं, उठनेका नामतक भी नहीं लेते। हम लोग जब याद दिलाते हैं तब स्नान-ध्यान, सन्ध्या-भोजन इत्यादि करते हैं। महाराज! उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अपने इस त्यागका भी उन्हें अभिमान नहीं है। जब कभी मौजमें आते हैं और गाते हैं अथवा कुछ बोलते हैं, तब कहते हैं—'न यह राज्य सत्य है, न यह जगत् सत्य है, न भाई सत्य हैं, न मित्र सत्य हैं। मुझे न राज्यकी इच्छा है और न इन्द्रियविलासकी।'

यह वृत्तान्त सुन महाराज दशरथ व्याकुल हुए, परन्तु विश्वामित्रजीने हर्षित हो कहा—'राजन्! आप धन्य हैं, जो श्रीरामचन्द्र-ऐसे पुत्र आपको मिले हैं। वे तो बड़े विवेकी और परमज्ञानी तथा जीवन्मुक्त हैं। हम अवश्य उनका रोग दूर करेंगे।'

राजाने फिर मन्त्रियोंकी ओर संकेत किया और कहा—'मन्त्रियो! जाओ और श्रीरामचन्द्रजीसे कहो कि विश्वामित्रजी आये हैं। राजसभामें बैठे हैं और आपको बुलवाया है।'

मन्त्रियोंने विश्वामित्रजीकी आज्ञाका पालन किया। विश्वामित्रजीका नाम सुनते ही श्रीरामचन्द्रजी भाइयोंसहित दौड़ आये और पिताजी, वशिष्ठजी, विश्वामित्रजी तथा अन्य सभासदोंको प्रणामकर महाराज दशरथकी गोदमें जा बैठे।

श्रीरामचन्द्रजीको आया देख, वशिष्ठजीने आशीर्वाद दिया और कहा—'श्रीरामचन्द्रजी! आपने विषयरूपी शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली है और उन्हें वशमें कर लिया है, अतः आपका मङ्गल हो।'

इसके पश्चात् विश्वामित्रजीकी बारी आयी। उन्होंने भी आशीर्वाद दिया और कहा—'श्रीरामचन्द्रजी! कहो तो, आपको क्या दुःख है? हम उसे दूर करेंगे।'

अपने अभीष्टकी सिद्धि होते देखकर श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'हे मुनीश्वर! महाराज दशरथके घरमें जन्म लेकर मैंने बालक्रीड़ा की, यज्ञोपवीत धारण किया और ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन कर चारों वेद तथा छहों शास्त्रोंका अध्ययन किया, तीर्थोंको गया, स्नान-ध्यान, दान-पुण्य, तप-व्रत इत्यादि किये, चारों धामोंकी परिक्रमा की और क्रम-क्रमसे बड़े होकर संसारके सभी सुख भोगे। मुझे तो ये सब मिथ्या प्रपञ्च और जीके जंजाल प्रतीत होते हैं। इनके रगड़े-झगड़ेमें मेरा मन नहीं लगता। इनसे मेरा चित्त ऊब उठा है।

'यह संसार मनकी कल्पनासे उपजा है। मनका कोई आकार नहीं है। वह भी कल्पित और मिथ्या है। कल्पित मनकी कल्पनासे उपजा हुआ यह संसार भी कल्पित और मिथ्या है।

'मन इन्द्रियोंका दास है। वह इन्द्रियोंके विलासके लिये ही सांसारिक भोगोंको सत्य समझकर उनके पीछे दौड़ता है। वह इस बातको भूल जाता है कि संसार और उसके भोग मृगतृष्णाके जलके समान असत्य और भ्रमोत्पादक हैं।

'विषयवासनाको ही भोग कहते हैं। विषयोंसे प्रेम करनेका नाम बन्धन है और विषयोंको त्याग देनेका नाम मोक्ष है।

'मनके सङ्कल्प अर्थात् वासनाओंसे संसार बनता है। चौरासी लाख योनियोंमें चक्कर लगानेका नाम संसार है।

'शरीर वासनारूप है। वासनाके बलसे ही वह स्थित है। पुत्र, भाई, बन्धु, स्त्री इत्यादि सब वासनारूप हैं और उसीके पाप और पुण्यकी वासनासे स्थित हैं। वास्तवमें न कोई किसीका पुत्र है, न बन्धु है और न बान्धव इत्यादि है। वासनाके क्षय होते ही शरीर गिर पड़ता है और मृतक हो जाता है। सम्पूर्ण अनर्थोंकी जड़ वासना ही है। अज्ञानियोंकी वासना रससहित होती है। इसीलिये उन्हें जन्म लेना पड़ता है। ज्ञानियोंकी वासना रसरहित होती है, इसलिये उनका जन्म नहीं होता। वासनाओंका क्षय ब्रह्मज्ञानके द्वारा ही होता है।

'वासनाओंकी जड़ ऐश्वर्य है। वह है बड़ा सुन्दर, परन्तु महा अनर्थकारी है। उसके प्राप्त होते ही दया, धर्म, वैराग्य, कोमलता, क्षमादि सद्गुण विदा हो जाते हैं और मनुष्य अन्धा हो जाता है। सब कुछ प्राप्त होनेपर भी वह और अधिक प्राप्त कर लेनेके लिये ललचाता है। उस समय गर्व, अहङ्कार आदि दुर्गुण आकर उसे घेर लेते हैं।

'अहङ्कार महादुष्ट और परम शत्रु है। उसके उत्पन्न होते ही तृष्णा बढ़ जाती है। काम-क्रोध-लोभ-मोहादि आकर घेर लेते हैं। उस समय जीवको बड़ा कष्ट होता है और वह शोकसे व्याकुल होता है। अहङ्कारके वशीभूत होकर मनुष्य जो कुछ दान-पुण्य, तप-तीर्थ इत्यादि करता है अथवा जो कुछ लेता-देता है वह सब वृथा है। क्योंकि उससे परमार्थकी सिद्धि नहीं होती। जिस प्रकार नर और नारीके मुरदा शरीरका श्वान भक्षण करते हैं, उसी प्रकार तृष्णा सबका भक्षण कर रही है। अतः हे मुनीश्वर! बिना आत्मज्ञानके सब मृतकतुल्य हैं।

'शरीर महा अपवित्र है। वह तो अस्थिरूपी ईंट तथा रुधिर-मूत्र-विष्ठादिरूपी गारेका बना है। उसमें अहङ्काररूपी श्वपच, तृष्णारूपी पिशाचिनी और काम-क्रोध-लोभ-मोहादिरूपी पुत्र इत्यादि अनेक अपवित्र जीव रहते हैं। और वह मांस, आँत, मल इत्यादि अपवित्र पदार्थोंसे परिपूर्ण है। उसीकी संगतसे मान-अपमान, जरा-मृत्यु, दम्भ-भ्रान्ति, मोह-शोकादि विकार उत्पन्न होते हैं और बाल्य, युवा और जरा अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं।

'बाल्यावस्था जड और महा दुःखदायिनी है। इस अवस्थामें विवेकशून्य होनेके कारण जीवको बड़ा क्लेश होता है। बालक कभी रोता है, कभी हँसता है; कभी कहता है—बर्फका टुकड़ा भून दो, मैं खाऊँगा; कभी कहता है—चन्द्रमा उतार दो, मैं खेलूँगा। और गुरुजीसे तो वह ऐसा डरता है जैसे गरुड़को देखकर सर्प डरता है।

'युवावस्था परम शत्रु है। इस अवस्थामें जीवको कामरूपी पिशाच आ घेरता है। उसकी शान्ति करनेके हेतु स्त्रीकी वाञ्छा होती है। स्त्री देखनेमें तो बड़ी सुन्दर लगती है; परन्तु यथार्थमें वह अस्थि, मांस, रुधिर, मलमूत्र, विष्ठा इत्यादिका पञ्जर है, जो एक दिन या तो भस्म हो जायगा या पशु-पक्षी आदिका आहार बनेगा। स्त्री संसारकी जननी है। जिस प्रकार नेवला सर्पको बिलसे निकालकर मार डालता है उसी प्रकार स्त्री कामान्ध पुरुषोंको अभिज्ञानसे विमुख कर चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करवाती है। स्त्री विषकी गाँठ है (इसी प्रकार कामपरतन्त्र स्त्रीके लिये पुरुष विषकी ग्रन्थि है)।

बिषरस भरा कनक-घटु जैसे।

'जरावस्था महादुःखदायिनी है। सम्पूर्ण दुःखोंका आक्रमण इसी अवस्थामें होता है। शरीर दुर्बल हो जाता है। इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण पड़ जाती है, कमर झुक जाती है, कूबड़ निकल आता है। स्त्री-पुत्रादि उसे देखकर हँसते हैं और उसका अपमान करते हैं, यहाँतक कि वृद्ध बैलकी नाईं उसे त्याग भी देते हैं और मोत तो सदैव उसके सामने खड़ी रहती है।

'काल महाबली, महाक्रूर और महापराक्रमी है। यह जो दिखायी दे रहा है सब उसका आहार है। उसके सामने कोई नहीं ठहरता और न वह किसीपर दया करता है। सम्पूर्ण विश्वको एक ग्रासमें भक्षण कर लेता है। उसके हाथसे बचना बड़ा कठिन है।

'हे मुनीश्वर! स्त्री-पुत्र-कलत्र इत्यादि सब अनित्य, मिथ्या हैं। जबतक यह शरीर स्थिर रहता है तभीतक वे भासते हैं। शरीरके पात होते ही सब-के-सब न जाने कहाँ बिला जाते हैं।

'जगत्‌के पदार्थोंके संसर्गसे बुद्धि मलिन हो जाती है। इस मलिनताको दूर करनेके लिये आत्मज्ञानरूपी चन्द्रमाको प्राप्त करनेकी आवश्यकता है। हे मुनीश्वर! जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है उसपर संसारी वासना अपना प्रभाव नहीं डाल सकती। इसलिये मैंने राज्य-वैभव और कुटुम्बादिको त्याग दिया है और निरहङ्कार तथा विरागी होकर भवसागर पार करनेका विचार किया है।'

श्रीरामचन्द्रजीके उपर्युक्त परमोत्तम वचनोंको सुनकर सम्पूर्ण सभासदों और नर-नारियोंको वैराग्य हो गया। यहाँतक कि पशु और पक्षी भी संसारको असत्य समझने लगे।

यह प्रत्यक्ष चमत्कार देख विश्वामित्रजीने कहा— 'श्रीरामचन्द्रजी! आपने सब कुछ जान लिया है और मेरे कहने योग्य कुछ भी शेष नहीं छोड़ा। अब आपको केवल मार्जनकी आवश्यकता है। इसलिये जो कुछ कहता हूँ ध्यान देकर सुनो। श्रीरामचन्द्रजी! भोगकी इच्छा सबको होती है। इसीका नाम बन्धन है। भोगोंकी वासना त्याग देनेका नाम मोक्ष है। ज्यों-ज्यों जीवको भोगको अभिलाषा होती है त्यों-ही-त्यों वह नीचा होता जाता है। भोगकी वासना शान्त होते ही जीव गरिष्ठ हो जाता है, उस समय उसको आत्मानन्दकी प्राप्ति होती है।

'ज्ञानीलोग किसी फलकी इच्छा नहीं करते, इसीलिये भोगोंको त्याग करते ही उनकी विषयवासना आपसे आप दूर हो जाती है। जिस प्रकार सूर्योदय होनेसे अन्धकारका अभाव हो जाता है उसी प्रकार हे श्रीरामचन्द्रजी! आपको भोगकी इच्छा नहीं रही। अब तो आप विश्राम चाहते हैं। भगवान् वशिष्ठजी रघुवंशकुलके गुरु और त्रिकालदर्शी तथा परम ज्ञानी हैं उनके उपदेशसे आपको विश्राम मिलेगा। अब वे ही आपको उपदेश देंगे।'

विश्वामित्रजीके आदेशसे वशिष्ठजीने महाराज दशरथको मोक्षमार्गका उपदेश दिया, उसका सारांश यह है—

'राजन्! यह सम्पूर्ण जगत् संकल्पमात्र तथा वासनामय है। जैसी दृढ़ वासना होती है वैसे ही रूप हमें भासते हैं। पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धव इत्यादि जीवके पाप और पुण्यकी वासनाओंसे स्थित हुए हैं। वास्तवमें न कोई किसीका पुत्र है, न बन्धु है न बान्धव। यह सब कल्पनामात्र है।

'सहस्र पुरुष यदि किसी एक पतिव्रता स्त्रीको पत्नीरूपमें पाना चाहें और उसके पानेकी भावनाको दृढ़ करें तो उन पुरुषोंकी भावनाओंको ही उस स्त्रीका रूप धरकर उन पुरुषोंके सामने आना पड़ता है। और वे लोग उनको वही एक स्त्री समझ कर ग्रहण करते हैं।

'जगत्‌के सत्य भासनेसे ही नाना प्रकारकी भावनाएँ दृढ़ हो गयी हैं। इसलिये चित्तको वहाँसे हटाकर और उसे अन्तर्मुख करके आत्मभावना दृढ़ करनी चाहिये। आत्मभावनाके दृढ़ होते ही अज्ञान नष्ट हो जाता है। और आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है।

'ईश्वर आत्मा तथा परमदेव हैं। विवेक उनका दूत है। वेदोंका अध्ययन, प्रणवका जप, और चित्तको एकाग्र करनेसे आत्मदेवकी प्रसन्नता प्राप्त होती है और आत्मदेवकी प्रसन्नता प्राप्त होते ही विवेकका उदय होता है। विवेक चित्तरूपी शत्रुको मारकर तथा वासनारूपी मलिनता दूर करके जीवको परमदेवके पास ले जाता है और जीव परमदेवके दर्शन पाकर परमानन्दको प्राप्त होता है।

'कामनारहित शुभकर्म करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। केवल दान-तप, व्रत-तीर्थादिसेवन करनेसे ही आत्मपदकी प्राप्ति नहीं होती।

'आत्मभावना जाग्रत् होते ही आत्मपदका अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास करते-करते जब आत्मभावना दृढ़ हो जाती है तब आत्मपदकी प्राप्ति होती

है, जगत्की सत्यता नष्ट हो जाती है, और जीव निःशङ्क हो व्यवहार करता हुआ भी शान्त रहता है।

'अहङ्कारका त्याग करो, तभी सर्वत्यागी होओगे; इसीका नाम महात्याग है और यही वेदान्तका सार है।

× × ×

'प्रिय राजकुमार ! जो कुछ मुझे कहना था सो कहा, यह सार-का-सार आत्मपद है। आपने इस सर्वोत्तम अविनाशी परमपदको पा लिया है। अब आप निःशङ्क हो विचरिये।'

इसके अनन्तर वशिष्ठजीने महाराज दशरथसे आज्ञा लेकर श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजीको विश्वामित्रजीके साथ कर दिया और सभा विसर्जन की।

प्रिय पाठको ! कैसा विचित्र उपदेश है। यही तो एक राजमार्ग है जिसके द्वारा हम और आप आवागमनके चक्करसे मुक्त होकर परमपदको प्राप्त कर सकते हैं।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी हमारा और आपका कल्याण करें। बस, अब बोलिये भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी जय ! जय !! जय !!!

प्राचीन अद्वैतवादके साथ शङ्करके अद्वैतवादका सम्बन्ध

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०)

अद्वैतवाद भारतवर्षमें अति प्राचीनकालसे प्रचलित है। उपनिषदोंमें यत्र तत्र अद्वैतपरक श्रुतियाँ देख पड़ती हैं। मन्त्रसंहिताओंमें अद्वैतमतप्रकाशनका अवसर न रहनेपर भी जहाँ-तहाँ प्रसंगतः उसका स्पष्ट आभास दृष्टिगोचर होता है। महाभारत आदि ग्रन्थोंमें अन्यान्य मतोंके साथ अद्वैतवादका भी परिचय मिलता है। प्राचीन वेदान्तसूत्रकारोंमें कोई-कोई अद्वैतवादी थे, यह सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। इसके अनन्तर बौद्धमतमें माध्यमिक तथा योगाचारगण अद्वैतवादी थे। इसी कारण बुद्धका एक नाम भी अद्वयवादी पड़ा था। वैयाकरण, शाक्त, शैव, ये सभी अद्वैतवादको मानते थे। शङ्करके पहले वेदान्तमें भी अद्वैतवाद अपरिचित नहीं था। मण्डनमिश्रने ब्रह्मसिद्धिमें अद्वैतवादका ही समर्थन किया है। दिगम्बराचार्य समन्तभद्रने आप्तमीमांसा (श्लोक २४)में अद्वैतपक्षका उल्लेख किया है—

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुद्ध्यते।
कारकाणां क्रिययोश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते॥

समन्तभद्र शङ्करसे प्राचीन हैं। इससे प्रतीत होता है कि अद्वैतवाद उनसे (शङ्करसे) प्राचीन था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रह (३२८–१२९)में प्राचीन अद्वैतमतका वर्णन आया है। कमलशीलने इन लोगोंका 'अद्वैतदर्शनावलम्बिनश्चौपनिषदिकाः' कहकर उल्लेख किया है। शान्तरक्षितका वचन यह है—

नित्यज्ञानविवर्तोऽयं क्षितितेजोजलादिकम्।
आत्मा तदात्मकश्चेति सङ्गिरन्तेऽपरे पुनः॥
ग्राह्यलक्षणसंयुक्तं न किञ्चिदिह विद्यते।
विज्ञानपरिणामोऽयं तस्मात् सर्वः समीक्षते॥*

कमलशीलने इन कारिकाओंकी व्याख्या करते हुए कहा है कि क्षिति आदि प्रपञ्चविज्ञान प्रतिभासस्वरूप है। शान्तरक्षितके वचनसे प्रतीत होता है कि उनके मतसे विवर्त और परिणाम, ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं; क्योंकि उन्होंने प्रथम श्लोकमें क्षिति आदिको नित्यज्ञानका विवर्त कहकर दूसरे श्लोकमें उन्हें विज्ञानपरिणाम कहा है। इस मतमें आत्मा नित्यज्ञानरूप है और क्षिति आदि जगत् इसीका परिणाम अथवा विवर्त है। भवभूति भी इस प्राचीन विवर्तवादको जानते थे। उत्तररामचरितमें उन्होंने कहा है—

ब्रह्मणीव विवर्तानां क्वापि प्रविलयः कृतः।

इस वचनसे ज्ञात होता है कि विवर्त ब्रह्ममें लीन होता है और ब्रह्मसे ही आविर्भूत होता है। उनकी दृष्टिमें विवर्त और परिणाम एकार्थक हैं। 'एको रसः करुण एव विवर्तभेदात्' इत्यादि श्लोकसे भी सिद्ध होता है कि 'विवर्त' शब्दका नवीनवेदान्तसम्मत अर्थ उन्हें ज्ञात नहीं था। कुमारिलभट्टने भी श्लोकवार्तिकमें वेदान्तके अद्वैतवादका उल्लेख किया है। योगवासिष्ठ-रामायणका रचनाकाल परिज्ञात नहीं है। यदि इसका रचनाकाल शङ्करसे पूर्व माना जाय (जैसा कि डा० भीखनलाल आत्रेयने प्रतिपादन करनेका

---

* प्रज्ञाकरमतिने शान्तिदेवकृत बोधिचर्यावतारकी स्वरचित पञ्जिकाटीकामें ये श्लोक उद्धृत किये हैं। परन्तु उसमें कुछ पाठभेद है।

विशेषरूपसे प्रयत्न किया है) तो उसके अद्वैतवादको भी प्राचीन अद्वैतवादका ही प्रकारभेद मानना होगा ।

परन्तु ये सब अद्वैतवाद एक ही प्रकारके नहीं हैं। माध्यमिकोंका शून्याद्वयवाद, योगाचारोंका विज्ञानाद्वयवाद, शाक्तोंका शक्त्यद्वयवाद, वैयाकरणोंका और मण्डनसम्मत प्राचीन वेदान्तियोंका शब्दाद्वयवाद—यद्यपि ये सब अद्वैतवाद ही हैं, तथापि इनमें परस्पर कुछ-न-कुछ वैशिष्ट्य है । शङ्कर तथा शङ्करके परमगुरु आचार्य गौडपाद-द्वारा प्रचारित अद्वैत इन सब अद्वैतवादोंसे किसी-किसी अंशमें विलक्षण है । पूर्वोक्त मतोंमेंसे किसी मतका प्रभाव शङ्कर-मतपर पड़ा है या नहीं, यह कहना कठिन है । परन्तु अन्य मतका प्रभाव माननेपर भी यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि शङ्करमतका अन्य मतोंकी अपेक्षा असाधारण वैशिष्ट्य है ।

किसी-किसी पण्डितका विश्वास है कि शङ्कराचार्यने बौद्धमतका अनुसरण करते हुए हो बौद्धमतका खण्डन किया है—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च ।

—इत्यादि पौराणिक वचन इसी मतके परिपोषक हैं । इन लोगोंका कहना है कि गौडपादकी कारिकाका विशेष-रूपसे पर्यालोचन करनेसे ज्ञात होता है कि यद्यपि यह ग्रन्थ वस्तुतः औपनिषद ब्रह्मवाद स्थापन करनेके लिये ही प्रवृत्त हुआ था, तथापि भाव तथा भाषामें यह आदिसे अन्ततक माध्यमिक दर्शनके प्रभावसे भरा पड़ा है । इस ग्रन्थमें आत्माके विषयमें अस्ति, नास्ति, अस्ति नास्ति, नास्ति नास्ति, इन चार कोटियोंका उल्लेख है—

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येष बालिशः ॥
कोटयश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः ।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥

इनका सारांश यह है कि आत्मा सत्, असत्, सदसदुभयात्मक तथा सदसद्विलक्षण—इन चार कोटियोंमेंसे किसी भी कोटिसे स्पृष्ट नहीं है । इस प्रकार चतुष्कोटिविनिर्मुक्त आत्माका जिन्होंने साक्षात्कार किया हो, वे ही सर्वदर्शी अथवा सर्वज्ञ कहलाने योग्य हैं । गौडपादसे बहुत पहले नागार्जुनने भी माध्यमिककारिकामें यही बात कही थी—

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥

गौडपादकी उक्ति नागार्जुनके इस वचनकी प्रतिध्वनि-मात्र है । नागार्जुन और गौडपाद दोनों ही परमार्थतत्त्वको चतुष्कोटिविनिर्मुक्त कहते हैं । इसीका अनुसरण करते हुए नैषधकार श्रीहर्षने भी कहा है—

साप्तुं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां
तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे ।
श्रद्धां दधे निषधराड् विमतौ मताना-
मद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः ॥

(नै० १३ । ३६)

अद्वैतिशिरोमणि खण्डनखण्डखाद्यकार श्रीहर्षने अपने नैषधचरितमें (२१ । ८८) बुद्धका भी विधूतकोटिचतुष्क तथा अद्वयवादीरूपसे वर्णन किया है* । इस वर्णनके अनुसार शून्यवादीका शून्य अथवा तत्त्व और आचार्य गौडपादका आत्मा प्रायः एक ही प्रकारका है । इन समालोचकोंका यह भी कथन है कि गौडपादका अजातवाद भी नागार्जुनरचित माध्यमिककारिकामूलक ही है। नागार्जुनने कहा है—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥

(मा० का० १ । ७)

(देखिये—मध्यमकवृत्ति, पृ० १२, Bibliotheca Buddhica में Professor Poussin का संस्करण) । गौडपादने अलातशान्तिप्रकरणमें कहा है—

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ।
सदसत् सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ॥

माध्यमिकमतमें परमार्थतत्त्व जैसे मन, वाक्य और प्रपञ्चके अतीत है, शङ्करमत भी इस अंशमें ठीक वैसा ही है । सब वस्तुओंका मायिकत्व और स्वाप्नत्व दोनों दर्शनोंमें समानरूपसे माना गया है । सत्ताका पारमार्थिक तथा व्यावहारिकरूपसे विभाग जो शङ्करदर्शनमें मिलता है, वह बौद्धदर्शनके आधारपर ही प्रचलित हुआ प्रतीत होता है । बौद्धोंका परमार्थसत्ता तथा व्यावहारिक सत्ता—इस प्रकार सत्ताभेद अति प्राचीन पालीसाहित्यमें ही मिलता है । यह भेद और किसी दर्शनमें नहीं है । इससे अतिरिक्त माण्डूक्यकारिकामें ऐसे पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग मिलता

---

* एकचित्ततितिरद्वयवादिन्न त्रयीपरिचितो बुद्धस्त्वम् ।
पाहि मां विधुतकोटिचतुष्कः पञ्चबाणविजयी षडभिज्ञः॥

(नैषध० च० १९ । ८८)

है जिनका उल्लेख केवल बौद्धदर्शनके ग्रन्थोंमें ही है। इन्हीं सब विषयोंका सूक्ष्मरूपसे पर्यालोचन करके आधुनिक पण्डितोंने सिद्धान्त किया है कि शङ्करदर्शन बौद्ध शून्यवादका औपनिषद संस्करणमात्र है।

पक्षान्तरमें किसी-किसीका यह मत है कि अति प्राचीन शिवाद्वयवादका अवलम्बन करके शङ्कराचार्यने अपना मत स्थापन किया था। प्रसिद्धि है कि उन्होंने सूतसंहिताका अठारह बार आलोचन करके शारीरकभाष्यकी रचना की थी—

तामष्टादशधालोच्य शङ्करः सूतसंहिताम्।
चक्रे शारीरकं भाष्यं सर्ववेदान्तनिर्णयम्॥

सूतसंहिता प्राचीन शिवाद्वैत-सम्प्रदायका ग्रन्थ है। इसके भाष्यकार माधवमन्त्री सुप्रसिद्ध शैवाचार्य क्रियाशक्ति पण्डितके शिष्य थे। शङ्करके दक्षिणामूर्तिस्तोत्र और सुरेश्वरकृत उसके वार्तिकके अवलोकनसे ज्ञात होता है कि शिवागमके साथ शङ्करका विशेष परिचय था, अतएव शङ्करका अद्वैतशिवागमके प्रभावसे प्रभावित होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है *।

इन सब अद्वैतसिद्धान्तोंका ज्ञान शङ्करको अवश्य था, और यह भी सम्भव है कि इनमेंसे किसी-किसीके सिद्धान्तका प्रभाव भी थोड़ा-बहुत उनपर पड़ा हो। किन्तु शङ्करने इनमेंसे किसी मतका अवलम्बन करके अपने अद्वैतवादका प्रचार किया, यह मानना किसी प्रकार भी संगत नहीं हो सकता। शङ्करके सदृश महाज्ञानी तथा महायोगी पुरुष ऐसा क्यों करने लगे? देशमें जिस समयके वातावरणमें जिस प्रकारके भावों तथा पारिभाषिक शब्दोंकी व्याप्ति रहती है, उस समय बनाये गये ग्रन्थोंमें तथा चिन्ताशील (विचारशील) व्यक्तियोंके चित्तमें उनका कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता ही है। यह वस्तुतः ज्ञानपूर्वक आदान-प्रदान-व्यापार नहीं है।

वैदिक साधनामें वेदान्तका स्थान

(लेखक—श्रीमित्रसेनजी)

वेदका आरण्यक भाग उपनिषद् ही है। वेदान्त अर्थात् वेदका अन्त, सार या समाप्ति उपनिषद् ही है। अर्थात् उपनिषद् और आरण्यक आदि वेदके अन्तिम भाग हैं जिनमें आत्मा, परमात्मा, जगत् आदिके सम्बन्धमें निरूपण किया गया है। यह ब्रह्मविद्या, अध्यात्मज्ञानकाण्ड वेदान्त ही है।

वेदके तीन काण्ड हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। इनके अनुसार साधनके भी तीन अङ्ग हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। कठोपनिषद्में ये ही तीन साधन वैराग्य, अभ्यास और ज्ञानके नामसे कहे गये हैं। ये मोक्षके देनेवाले हैं। जिस तरह योगसिद्धिके धारणा, ध्यान और समाधि तीन साधन हैं, उसी तरह भक्तिकी सिद्धिके भी श्रवण, मनन और निदिध्यासन, तीन साधन हैं। इन सबका भी अन्त या फल एक मोक्षसिद्धि ही है। वेदान्त या कठोपनिषद्का प्रथम साधन वैराग्य कर्मकाण्डकी ही पूर्णता है। कर्मकाण्ड क्या है? यज्ञ करना, दान देना और अध्ययन करना इत्यादि। इन यज्ञोंसे ही उपनिषद्का आरम्भ होता है। फलकी कामनासे रहित यज्ञ वैराग्य ही है; बाहरी दान क्या, आत्मदान ही वैराग्य है; व्यावहारिक विद्यासे परे आत्मविद्या वैराग्य ही है। इस प्रकार ये तीन प्रकारके कर्म वैराग्यरूप ही हैं। कठोपनिषद्में यह विषय इस प्रकार समझाया गया है कि वाजश्रवाके पुत्रने विश्वजित् यज्ञमें अपना सारा धन दे दिया। परन्तु ऐसा यज्ञ और दान उसने मोक्षसाधनके लिये नहीं किया। इसलिये इस कर्मको उसके पुत्र नचिकेताने पापरूप देखा और उसने प्राणोंका हवन—आत्मदान देकर पिताका कल्याण करना चाहा। इस आख्यायिकामें यमराजने नचिकेताको तीन वर दिये हैं, जिनमें पहला वर कर्मसिद्धिरूप ही है। कर्मसिद्धि यह है कि साधकमें वैराग्यरूप कर्म हो और यह वैराग्यरूप कर्म वही है जिसमें फलकी कामना न हो। कर्म करना तो कर्तव्य और धर्म है। वैदिक यज्ञादि सकाम कर्म स्वर्गके देनेवाले हैं, परन्तु वेदके अन्त—वेदान्तमें वे ही कर्म वैराग्यरूप हैं। फिर वैदिक उपासना सुखरूप स्वर्गको देनेवाली है और वेदान्तकी अभ्यास स्वर्गदायक है। यह सुख और स्वर्ग एक ही है।

---

* 'Is the Adwaita of Shankar Buddhism in disguise' नामक लेखमें (Quarterly Journal of Mythic Society, Vol. 24, No. 1-2, July-October, 1933) यह दिखानेका प्रयत्न किया गया है कि शङ्करके अद्वैतवादका आधार बौद्धोंका विज्ञानवाद या शून्यवाद नहीं किन्तु अति प्राचीन अद्वैतवाद है।

परन्तु सुख इच्छाके साथ दुःखरूप और स्वर्ग अभ्यासके साथ ज्ञानसिद्धिमें सिद्ध है। उससे आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, सर्वस्वका ज्ञान हो जाता है।

वैदिक ज्ञान कर्मकाण्डकी पूर्ति है और वेदान्तका ज्ञान वैराग्यकी पूर्ति है, मोक्षसिद्धि है। इस प्रकार वेदान्तके साधन वैराग्य, अभ्यास और ज्ञान ही हैं। इन साधनोंकी पूर्ति महर्षि वाल्मीकिजी महाराजने की। अभ्यासके उद्देश्यसे उनका कर्मरूप जीवन-वैराग्यको प्राप्त होना और फिर गहरे अभ्याससे उनके पूर्ण ज्ञान या मोक्षसाधनमें परम सिद्ध होना प्रसिद्ध ही है। ये तीनों साधन अपनी सत्तासे साधककी आत्मसत्तामें सत्य हैं। आत्मज्ञानकी सिद्धिमें वैराग्य और अभ्यास भी साथ ही हैं। आत्मसत्ताके अभावमें वे कहाँ जायँ। बल्कि वैराग्य ही बीज और अभ्यास उसका पालन-पोषण और वृद्धि करनेवाला तथा फलने-फूलनेमें सहायक है एवं ज्ञान उसकी पूर्ति और उपकारका फैलाव है। इस तरह तीनों ही सत्ताएँ साथ-साथ रहती हैं। वैराग्य अभ्यासमें और अभ्यास ज्ञानमें समाया है।

महर्षि श्रीपतञ्जलिजीके योगदर्शनमें सूत्र है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (१।१२)

अर्थात् 'अभ्यास और वैराग्यसे वृत्तियोंका निरोध होता है।' इसमें भी यही सिद्धान्त है कि अभ्यासका आरम्भ वैराग्यमें होता है और फिर वह तीव्र हो जाता है। मुख्य तो अभ्यास ही है—

करत करत अभ्यासके, जडमति होत सुजान।
रसरी आवत जात तें, सिलपर होत निसान॥

मानो यह अभ्यास ही ज्ञानकी सिद्धि है। इसमें वैराग्य होना आवश्यक है, फिर ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होती ही है।

सांख्यदर्शनमें इसी वैराग्य और अभ्यासको पुरुषार्थ कहा है। पहला ही सूत्र है—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।

अर्थात् त्रिविध दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति ही अत्यन्त पुरुषार्थ है। यह अत्यन्त पुरुषार्थ वैराग्यसहित अभ्यास ही है जिसमें केवल एक करना ही करना है, अपना जीवन और कर्म एक हो गया है, जिसमें लेशमात्र भी कोई कामना या फलकी इच्छा नहीं है। यही वेदान्तका सिद्ध साधन, ब्रह्मविद्याकी पूर्णता है। ऐसे कर्ममें लग जाना, ऐसे चिपटे रहना कि अपना सम्पूर्ण जीवन ही अर्पित हो जाय, यह गहरी सिद्धि प्रभु अपने-आप ही पूर्ण कर रहे हैं।

* * *

सच्चा ज्ञानी और सच्चा भक्त

(लेखक—महात्मा श्रीबालकरामजी विनायक)

(१)

सीपीमुख पर्याप्त है, स्वातिबूँद इक पेय।
भजन-भरोसो रामको, संतजनन पाथेय॥

पेशवा माधवरावके समयमें रामशास्त्रीजी एक महान् पुरुष हो गये हैं। श्रीरामशास्त्री इतने पवित्र और धर्मात्मा न्यायाधीश थे कि उनका चरित्र सदा आदरणीय समझा जाता था। विशेषतः अपने चरित्रके प्रत्यक्ष उदाहरणसे उन्होंने अपने देशवासियोंका बड़ा उपकार किया। उनके जीवनकालमें ही उनकी रायका सब लोग बड़ा आदर करते और वह पुष्ट समझी ज़ाती थी। उनके समयकी पंचायतोंके फैसले, जिनमें लोगोंपर डिग्रियाँ भी दी जाती थीं, आज भी प्रमाण माने जाते हैं। लोकसेवाके लिये उनके उज्ज्वल चरित्र और अथक परिश्रमके पुनीत प्रभावने सब श्रेणियोंके लोगोंकी दशा सुधारनेमें जादूका-सा काम किया था। बड़े-से-बड़े आदमियोंके लिये उनका जीवन एक नमूना था। अपराध या भूल करनेवाले बड़े-से-बड़े आदमी भी रामशास्त्रीके नामसे भयभीत हो जाते थे। यद्यपि बड़े-बड़े पदाधिकारी तथा धनवानोंने उन्हें रिश्वत आदिका लोभ दिखाया; परन्तु वे अपने चरित्रसे कभी नहीं गिरे, और एक बार लोभ देनेवालेको दुबारा उनके पास जाकर लोभ देनेकी बातका जिक्रतक करनेका साहस न हुआ। न कभी किसीने उनकी ईमानदारीके विरुद्ध आवाज़ उठायी। उनका रहन-सहन अत्यधिक सादा था। उनका यह नियम था कि वे अपने घरमें एक दिनसे अधिकके लिये खानेको नहीं रखते थे। वे इतने धर्मात्मा और न्यायप्रिय थे कि जब रघुनाथरावने, माधवरावके भाई और उत्तराधिकारी पेशवा नारायणरावकी हत्यामें भाग लेनेके अपराधका प्रायश्चित्त रामशास्त्रीसे पूछा, तो उन्होंने बड़ी निर्भीकतासे कहा कि 'इस पापका प्रायश्चित्त तो तुम अपने प्राण देकर ही कर सकते हो; क्योंकि अपने भावी जीवनमें यह पाप तुमसे और तरह नहीं धोया जा सकता और

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

इसी कारण न तुम और न तुम्हारा राज्य ही अब फूले-फलेगा । रही मेरी बात, सो मैं अपने लिये तो यहाँतक कह देता हूँ कि जबतक शासनकी बागडोर तुम्हारे हाथमें है, तबतक मैं न तो तुम्हारी नौकरी स्वीकार करूँगा और न पूनामें पैर ही रक्खूँगा ।'* अपनी इस बातपर वे अन्ततक कायम रहे और वाईके पासके एक गाँवमें अपने जीवनके शेष दिन उन्होंने एकान्तवासमें बिता दिये ।

उन्हीं दिनोंमें, जब शास्त्रीजी ऐकान्तिक भजनमें संलग्न थे, तिलहरनरेशने अपना मन्त्री एक खरीतेके साथ भेजा । शास्त्रीजीको उनसे मिलनेका अवकाश नहीं । मन्त्री महोदय उसी गाँवमें टिक गये । प्रतिदिन हाजिरी देते थे, किन्तु भेंट नहीं हो पाती थी । इतनेमें राजपरिवार दलबलके सहित वहाँ पहुँच गया । तम्बूमें डेरा पड़ा । २८ मार्च सन् १७५७ को सन्ध्या समय शास्त्रीजीकी समाधि भंग हुई और उनके बड़े-बड़े नेत्र खुल गये, कोमल कमलके सदृश विकसित हो गये । इसकी सूचना वहाँ तुरत फैल गयी । दर्शनके लिये लोग टूट पड़े । सबके लिये झरोखा-दर्शन खुला था । तिलहर-राजपरिवार भी यथासमय झरोखा-दर्शन कर गया । परन्तु उसकी इच्छा थी शास्त्रीजीसे मिलकर अपना दुखड़ा रोनेकी । संयोगवशात् अवसर मिल गया । मन्त्रीने खरीता खोलकर और उसे पढ़कर सुनाया । उसमें लिखा था—'न मालूम, किस कर्मविपाकके कारण युवराज इन्द्रदमनको गलितकुष्ठ हो गया है और युवराज्ञी पक्षाघातसे लुंज हो गयी है । कृपापूर्वक इसपर विचार कीजिये और बताइये कि किस पापके कारण ऐसा हुआ और उसका प्रायश्चित्त क्या है ? किस उपायसे ये कठिन रोग दूर हो सकते हैं ? चिकित्सकोंने जवाब दे दिया है । वे कहते हैं कि पूर्वजन्मार्जित पापका प्रायश्चित्त हुए बिना ओषधि काम नहीं करेगी ।' अनन्तर दीवानजीने कहा—'इस खरीतेको लेकर आये मुझे बहुत दिन हो गये । इसके पहले इसे निवेदन करनेका अवसर ही नहीं मिला । इस बीचमें यह विचार करके कि आप-जैसे पवित्रात्माके दर्शनसे ही पाप कट जायगा, राजपरिवार भी यहाँ आ गया है; उसे कृतार्थ कीजिये ।'

शास्त्रीजीने सब सुनकर इतना ही कहा—'मैं कोई सिद्ध पुरुष नहीं हूँ । आपहीकी तरह जन्मभर मन्त्रीका काम करता रहा हूँ । इस वृद्धावस्थामें अवकाश लेकर भगवद्भजनमें कालक्षेप कर रहा हूँ । मुझे तो केवल श्रीरामका भरोसा है । मेरे परमार्थपथका यही पाथेय है, और कुछ मैं नहीं जानता-मानता । किन्तु महाराजदेवने जब आग्रहपूर्वक आपको और समस्त राजपरिवारको यहाँ भेजा है तब मेरा कर्तव्य है कि मुझसे जो कुछ हो सके उनकी भलाईके लिये यत्न करूँ । मैं इसपर विचार करूँगा और कल आपसे निवेदन करूँगा । राजपरिवारसे भी कल ही मिलूँगा ।'

दूसरे दिन शास्त्रीजी राजपरिवारसे मिले, दुःखित जनोंको सान्त्वना दी । और कहा—'मेरे विचारसे तो कोई सच्चा ज्ञानी ही पुराकृत कर्मोंका रहस्योद्घाटन कर सकता है । और भगवत्को तत्त्वतः जाननेवाला कोई सच्चा भक्त ही राजकुमार और युवराज्ञीको इस कठिन रोगसे मुक्त कर सकता है । ये दोनों बातें मेरी सामर्थ्यके बाहर हैं । हाँ, उपाय बता सकता हूँ । वह यही कि साधुसेवाव्रत धारण किया जाय । यहाँ सदाव्रत जारी कर दिया जाय । साधु-संन्यासी जो कोई आवे उसकी सेवा हो । वर्षभरका अनुष्ठान हो । जैसे सब प्रकारके पक्षियोंको दाना चुगाते रहनेसे किसी दिन हंस भी मानसरोवरसे आ ही जाता है, उसी तरह आशा है कि एक दिन कोई सच्चा ज्ञानी एवं सच्चा भक्त भी अवश्य यहाँ पधारकर हमें कृतार्थ करेगा ।'

महाराजदेव तिलहरने साधुसेवाव्रत लेना सहर्ष स्वीकार किया । शास्त्रीजीहीके प्रबन्ध और देख-रेखमें, उन्हींके आदर्शपर उसकी सुन्दर व्यवस्था हुई । उसके पाँच नियम थे—(१) जितने दिनोंतक जो साधु रहना चाहे, रह सकता है । उसकी एकरस सेवा होती रहेगी । (२) प्रत्येक सम्प्रदायके साधु बिना किसी भेदभावके समानरूपसे पूजित और सम्मानित होंगे । (३) सबसे एक ही जिज्ञासा युवराज-युवराज्ञीके आरोग्यार्थ आशीर्वादके लिये की जायगी । (४) सेवाश्रमसे जाते समय साधुओंको पाथेय भी दिया जायगा । (५) उनकी चरणरज और चरणामृत भावके साथ सुरक्षित रक्खे जायँगे और यथावसर उनसे लाभ उठाया जायगा । इन्हीं नियमोंपर सेवाश्रम उस गाँवमें सञ्चालित हुआ । वर्षभरका संकल्प था । इस अवधिमें चारों खूँटके प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध महात्मा आते गये, उनकी सेवा हुई । उनके आशीर्वचन प्राप्त किये गये । भारतवर्षभरमें इसकी ख्याति हो गयी थी । शास्त्रीजी केवल व्यवस्थापक ही नहीं थे, स्वयं अपने

---

* ग्रण्टडफका मराठा इतिहास—खण्ड २, पृ० ३५८ ।

शरीरसे सब प्रकारकी सेवा करनेवाले थे। यहाँकी साधु-सेवा जगत्प्रसिद्ध हो गयी।

(२)

जेवन बिबिध जेंवाइ, धोइ-धोइ पग साधुके।
सेवा करत सुहाइ, प्रतिदिन नव-नव चावसे॥
सीतापति-सेवक-सेवकाई। कामधेनु सत सरिस सुहाई॥

अनुष्ठानकी समाप्तिके दिन निकट आ गये, परन्तु अभीतक रोगियोंके रोगकी दशा ज्यों-की-त्यों है। न तो किसी सच्चे ज्ञानीने रोगका मूल कारण बताया और न किसी सच्चे भक्तने अपने प्रभावसे आरोग्यता ही प्रदान की। शास्त्रीजीने कुछ उठा नहीं रक्खा। प्रतिदिन प्रत्येक साधुके पास जाकर सत्संग करना ही उनका नित्यनियम था। उस सत्संगमें वे ऋग्वेदके अन्तिम युगलमन्त्रोंको अवश्य विचारार्थ उपस्थित करते थे। क्योंकि उनका विश्वास था कि जो ज्ञानी उनके तात्पर्यको बता सकेगा वही 'गहना कर्मणो गतिः' को भी समझ सकेगा। वही ठीक-ठीक बता सकेगा कि किस मन्द कर्मका यह दुष्परिणाम है। परन्तु इतने दिन बीत गये, कितने ही वैदिक विद्वान् संन्यासी आये और गये, किसीने भी उन मन्त्रोंकी व्याख्या नहीं की। अस्तु, शास्त्रीजी एक प्रकारसे निराश हो गये। वे अपने एकान्त-चिन्तनमें बैठे हुए भगवान् श्रीरामसे प्रार्थना करने लगे—'प्रभो! क्या अब पृथ्वीपर सच्चे ज्ञानियोंका सचमुच अभाव हो गया? ऐसा तो नहीं होना चाहिये। क्या वास्तवमें वैदिक ज्ञानका लोप हो गया? कैसे-कैसे महात्मा हिमालयकी गुफाओंसे, गिरनारकी टेकरियोंसे, श्रीवेङ्कटेशजीके धौरहरेसे यहाँ पधारे; परन्तु किसीने भी उन मन्त्रोंका रहस्य नहीं बताया। वे मन्त्र उनके लिये वैसे ही दुर्ज्ञेय एवं दुरूह रहे जैसे पिनाक मिथिलामें समुपस्थित राजाओंके लिये दुर्दमनीय रहा। दयासिन्धो! मुझपर दया कीजिये, नहीं तो बड़ी अपकीर्ति होगी। लोगोंका विश्वास धर्म-कर्मसे उठ जायगा। आपकी बाँधी हुई मर्यादा नष्ट हो जायगी।'

इस प्रकार चिन्तन करते-करते उसी चिन्तामें शास्त्रीजी सो गये। उन्होंने स्वप्नमें देखा कि सरोवरमें एक कमल खिला हुआ है और उसकी पँखड़ियोंपर एक मुनि बैठा हुआ है। गोमुखीमें हाथ डाले कुछ जप रहा है। जपकी ध्वनि सुनायी पड़ती थी। वह ध्वनि उस वातावरणमें गूँजने लगी और चारों ओरसे वह स्पष्ट रूपसे सुनायी पड़ने लगी। यहाँतक कि शास्त्रीजीके हृदयमें, कण्ठमें और जीभमें भी वह प्रविष्ट हो गयी और वह भी उसे इस प्रकार क्रमशः उच्चारण करने लगे—

संगच्छध्वं संवदध्वं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

उच्चारण करते-करते वह उसी ध्वनिके साथ मुनिकी सन्निधिमें प्राप्त होकर, अपना अस्तित्व मिटाकर, उन्हींमें प्रविष्ट होकर एकमन, एकहृदय एवं एकाकार हो गये।

दिया हमने जो अपनी खुदीको मिटा,
वह जो परदा था बीचमें अब न रहा।
रहा परदेमें अब न वह परदानशीं
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा॥

प्रातःकाल देखा गया कि भजन-गुफामें शास्त्रीजीका शरीर निर्जीव पड़ा हुआ है। समाचार फैलते ही कुहराम मच गया। सब लोग दौड़ पड़े। 'बड़ा अनर्थ हो गया' की आवाज़ चारों ओरसे आने लगी। उसी समय सबको आश्चर्यमें डालते हुए एक तेजस्वी महात्मा वहाँ आ गये। वे बड़े ही रूपवान् थे। बड़ी-बड़ी आँखें थीं। जपमालिका वक्षःस्थलपर झूम रही थी। उनके आते ही शान्ति स्थापित हो गयी। सबकी दृष्टि उन्हींकी ओर आकर्षित हो गयी।

वे शास्त्रीजीके मस्तकको स्पर्श करके कुछ मन्त्र पढ़ने लगे, मालिका उनके सिरपर रख दी। वे तुरत जी उठे। चरणोंपर पड़े। ये वही महात्मा थे, जिनको शास्त्रीजीने स्वप्नमें देखा था।

हाट हाट हीरा नहीं, घर-घर राजा नाँहिं।
'चतुरभुज' बिरही रामके कोऊ एक जगमाहिं॥

महात्मा—'शास्त्रीजी! क्या आप युगलमन्त्रोंका अर्थ जानना चाहते हैं?'

शास्त्रीजी—'हाँ, भगवन्! ऐसी ही इच्छा है। अर्थ भी बताइये और संकेत भी समझाइये।'

महात्मा—'अच्छा, सुनिये। मन्त्रार्थ—'तुम सब मित्र-भावसे रहो। परस्परका विरोधभाव छोड़ो। एक मन होकर भाषण करो। निज-निज मनोवृत्तिकी गतिविधि एक ही ओरको रहने दो। जिस प्रकार अनादि देवता एकमतसे अपना-अपना हविर्भाग ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार तुम भी मत-मतान्तरके वैमनस्यको त्यागकर इष्टफलकी प्राप्तिकी

ओर ध्यान रक्खो । अपना निश्चय एक रहने दो । अन्तःकरणोंको एक रूपका बनाओ । तुम्हारे मन समान हों । तुम्हारे हृदय एक-से हों, सर्वत्र समानता रहे ।' मन्त्रार्थका संकेत तो समाजधारणरूपी सामान्य धर्मकी ओर है और स्पष्टार्थका संकेत पञ्चक्लेशकी निवृत्तिकी ओर है । व्यंग्यार्थका संकेत व्यष्टिसे निकलकर समष्टिमें समाकर आत्मैकदृष्टिसे भगवद्भजनकी ओर है ।'

शास्त्रीजी मन्त्रार्थ और भावार्थ सुनकर कृतार्थ हो गये । अनन्तर उन्होंने राजकुमारके रोगका वृत्तान्त तथा संवत्सरव्यापी साधुसेवाकी चर्चा करते हुए प्रारब्धभोगका कारण पूछा । मुनिने कहा—'चलो, रोगीके पास चलें; उन्हींके सामने कहेंगे ।'

अस्तु, राजपरिवारमें मुनिराजके पधारनेकी व्यवस्था हुई । युवराज एवं युवराज्ञीकी दयनीय दशा देखकर मुनिराजका हृदय करुणरससे भर गया । वे बोले—'पाप करते हुए, दूसरेको सताते हुए, यदि मनुष्य उसके परिणामको सोचे, तो उससे बहुत कुछ बच सकता है; परन्तु उस समय उसकी बुद्धिपर ऐसा आवरण पड़ जाता है कि वह विवेकशून्य होकर जो जीमें आता है कर बैठता है । पूर्वजन्ममें अहोबलमें एक लक्षाधिपति श्रेष्ठी थे । बड़े शिवभक्त और बड़े दानी । गरीबोंके लिये उनका सत्र सदा खुला रहता था । सभी तीर्थोंमें धर्मादाय स्थापित था । उसी पुण्यके प्रभावसे सेठजीका जन्म राजकुलमें हुआ है । परन्तु युवावस्थाके मदसे उन्मादित होकर उन्होंने अपनी ही अनुजवधूके साथ रति की । यह बात उनकी अपनी स्त्रीसे नहीं देखी गयी । घरमें कलह उत्पन्न हुआ । अनुजवधूने सेठके सहयोगसे उनकी धर्मपत्नीको खूब पीटा और उस बेचारीको, उसके आठों अंग रस्सीसे कसकर, बाँध, उसके मुखमें कपड़ा ठूसकर, बोरीमें कसकर कूपमें डाल दिया । इसी दुष्कृतिका यह दुष्परिणाम है । सेठ राजकुमार है, अनुजवधूसे रति करनेके कारण कुष्ठरोगसे पीड़ित है और युवराज्ञी वही उसकी अनुजवधू है, जिसने अपनी जेठानीकी दुर्गति की थी ।' इतना कहकर मुनिराजने अपनी जपमालिका उन दोनोंके सिरपर फेर दी । उन दोनोंको स्वतः पूर्वजन्मकी स्मृति हो गयी । वे चिल्ला उठे 'महाराज ! हम बड़े पापी हैं, वही हैं जो आपने कहा और अपनी करनीका फल भोग रहे हैं । ऐसे और भी बहुत पाप हैं जो आँखोंके सामने नाच रहे हैं । उन सबका भंडाफोड़ मत कीजिये ।' समुपस्थित लोग सब वृत्तान्त सुनकर और उनकी करुण दशा देखकर रो पड़े । मुनिराजसे पातकहरणके लिये प्रार्थना करने लगे । कोमलहृदय शास्त्रीजीने आँखोंमें आँसू भरकर कहा—'दयानिधे ! राज-कुमार-दम्पती·········दया करके इनका कष्ट छुड़ाइये ।' तब मुनिराजने कहा—'यह मेरी सामर्थ्यसे बाहर है । यह तो किसी भक्तकी कृपासे ही साध्य है, नहीं तो प्रारब्ध कर्मकी गतिको भगवान् भी नहीं फेर सकते । चूँकि भगवान् भक्तोंके पराधीन हैं, इसलिये भक्तके इच्छानुसार विवश होकर अपने नियमोंको बदल देते हैं । अस्तु, अब किसी सच्चे भक्तकी आवश्यकता है । सो, इस प्रकारके भक्त आप लोगोंको सुलभ हैं । इसी गाँवमें एक सच्चे भक्त रहते हैं । यदि वे कृपा करके यहाँ पधारें और उनका चरणतीर्थ उतारा जाय और इन रोगियोंको पिलाया जाय तो तुरत इनका कल्याण हो जाय । वे गाँवके पश्चिम एक बगीचेमें रहते हैं । धेनु चराते हैं और समयपर घर जाकर भोजन कर आते हैं । ऊपरी दृष्टि तो सांसारिक वस्तुओंपर अवश्य पड़ जाती है, परन्तु उनका हृदय प्रियतम प्रभुका ही सिंहासन बना रहता है । उन्होंने सांसारिक इच्छाओं और वासनाओंसे अपनी दृष्टि फेर ली है और सर्वतोभावसे भगवत्सेवामें ही कमर कसे हुए तैयार रहते हैं । प्यारेकी सेवामें जान लड़ा देना ही भक्तका स्वभाव है । यदि वे कुछ बोलते हैं तो उसी प्यारेसे बात-चीत करते हैं और यदि कुछ चाहते हैं तो उसीसे चाहते हैं । उनका अखण्ड भजन कभी भङ्ग नहीं होता ।

जगतमें उनहींको है रंग । जिनके नियम अभंग ।
कँकरहटी धरती लहि दुःख नहिं, सुख नहिं पाय पलंग ।
भक्त प्रेम बस निसिदिन सियबर विहरत तिनके संग ॥

उनका नाम कासी कहार है । वे महात्मा कबीरदासजीकी शिष्य-परम्परामें हैं । आशा है कि इतना परिचय देनेपर उन महानुभावको आप लोग समझ गये होंगे ।

शास्त्रीजीने आश्चर्यचकित होकर कहा—'मैं इस गाँवमें ऐकान्तिक भावसे ही रहता हूँ, इसलिये किसीको जानता नहीं हूँ । हाँ, उन्हें और लोग जानते होंगे ।' समुपस्थित एक व्यक्तिने कहा—'मैं उन्हें अच्छी तरह जानता हूँ और उन्हें अभी बुला लाता हूँ ।' यह कहकर वह उन्हें बुलाने चला गया । वहाँ पहुँचकर उसने उनसे कहा—'भक्तजी, गाँवमें एक अद्भुत महात्मा आये हुए हैं । सच्चे ज्ञानी हैं ।

पूर्व जन्मके सब पाप-पुण्य बता देते हैं। तुरत चलकर दर्शन कर लीजिये, नहीं तो उनके चले जानेपर पछताना पड़ेगा। सरलस्वभाव भक्तजी उस व्यक्तिके साथ बिना किसी ननु न च के चले आये। दूरपर खड़े होकर भक्तजीने मुनिराजके दिव्य दर्शनसे कृतार्थ होकर सजल नेत्रोंसे भव्यमूर्तिको देखते हुए दण्डवत् पृथ्वीपर लोट गये। उस व्यक्तिने उसी समय भीतर जाकर कहा—'भगवन्! भक्तजी आ गये और आपको साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहे हैं।' इस बातको सुनते ही महामुनि दौड़ पड़े। भक्तजीको उठाकर हृदयसे लगा लिया। परमनिधि पाकर अपनेको कृतार्थ समझा। और भक्तजी—

दैन्यभारसे कमल ज्यों झुकि-झुकि परेउ असंग।
पानी-पानी हो गये लाजसे आठों अंग॥

अनन्तर मुनिराज उन्हें बाँह पकड़कर भीतर ले गये और अपने समान आसनपर उन्हें बैठाना चाहा, परन्तु भक्तजीने रो दिया। इस रुलाईमें न जाने क्या जादू भरा हुआ था कि समुपस्थित सब-के-सब रोने लगे। क्या युवराज-युवराज्ञी, क्या प्रकाण्ड पण्डित शास्त्रीजी और मुनिराज और क्या साधारण ग्रामीण जनता—सबकी आँखोंसे झरने बह चले और ऐसी बाढ़ आयी कि सबके हृदय प्लावित हो गये। हिचकियाँ बँध गयीं। वहाँ कोई उन्हें चुप करानेवाला भी नहीं था। जो ग्रामवासी वहाँ आ जाता था उसकी भी वही दशा होती थी। अपूर्व करुणाजनक दृश्य था। घंटों एक-सी अवस्था रही। जान पड़ता था कि उस रुदनमें कोई ऐसा दिव्य रस व्याप्त था कि उसके लिये सबकी अन्तरात्मा लालायित थी, उस अमृतसे सबको स्वाद और तोषकी प्राप्ति हो सकती थी और उस मानस-सरोवरके जलसे सबके कल्मष धुल सकते थे। तभी तो सबकी एक-सी दशा थी। कबीरजीकी बानी—'जो पाया सो रोइ' भी चरितार्थ हुई। रोते-रोते, आँसू बहाते-बहाते युवराज और युवराज्ञी चंगे हो गये। दोनोंके रोग दूर हो गये और, हम समझते हैं, सभी समुपस्थित रोनेवालोंकी आधि-व्याधि दूर हो गयी होगी; क्योंकि निरामय तो किसीका शरीर नहीं कहा जा सकता। स्फूर्ति आते ही युवराज्ञी सेजसे उतरकर, चंगी होकर, भक्तजीके चरणोंमें लिपट गयी और आँसुओंसे उन चारु चरणोंको धोने लगी। तब भक्तजीकी रुलाई बन्द हुई और वे उठकर भागे। भागते-भागते अपने बगीचेमें पहुँच गये। अब सब लोग धीरे-धीरे करुणासरित्‌को पार करके किनारेपर पहुँचकर साँस लेने लगे। होश होते ही मुनिराजजी भी खिसक गये। किसीको पता नहीं चला। सच्चे ज्ञानी बनकर आये थे और सच्चे भक्त बनकर गये।

शास्त्रीजीके हृदयपर तो इस घटनाका गहरा प्रभाव पड़ा। शास्त्रचिन्तन और ब्रह्मविचारमें जो कपटका झीनपट पड़ा हुआ था, वह वैराग्यकी अग्निमें भस्म हो गया। अब उनके हृदयमें विरहकी चोट लगी। किसी तरह कलेजा थामकर उन्होंने संवत्सरी साधुसेवा-यज्ञ समाप्त करके राजपरिवारसमेत सबको विदा किया। आप भी नीलाचलको चल दिये।

भौंह-कमान-सँधान सुठान जे नारि-बिलोकनि बान ते बाँचे।
क्रोध-कृसानु गुमान-अँवा घट ज्यों जेहिके मन आँच न आँचे॥
लोभ सबै नटके बस ह्वै कपि ज्यों जगमें बहु नाच न नाचे।
नीके हैं साधु सबै तुलसी, पै तेई रघुबीरके सेवक साँचे॥

लागी आग अकासमें झरि झरि परैं अँगार।
संत न होते जगतमें जरि जात्यो संसार॥

* * *

अविद्यामें वर्तनेवाले, अपनेको धीर पण्डित माननेवाले, कुटिल गति चाहनेवाले मूढ़ अनर्थको प्राप्त होते हैं, जैसे अन्धेके साथ जानेसे अन्धा अनर्थको प्राप्त होता है। (कठ० १।२।५)

गंजीफ़ा और भूलभुलैयाँ

(लेखक—श्रीविन्दुजी ब्रह्मचारी)

परमहंस श्रीरामसहायजी ई० १७३१-वि० १७८८

वेदान्ताङ्कके पाठकोंके मनोरञ्जनार्थ यहाँ मैं एक उपयुक्त सामग्री उपस्थित करता हूँ। यदि वे इस गंजीफ़ेके खेलको देख लेंगे और इस भूलभुलैयाँमें थोड़ी देरके लिये घूम लेंगे तो आशा है कि गम्भीर निबन्धोंके परिशीलनसे परिश्रान्त हुआ उनका मस्तिष्क फिर हरा-भरा और ताज़ा हो जायगा। पहले मैं उसके रचयिताका थोड़ा परिचय दे देना यहाँ आवश्यक समझता हूँ।

परमहंस श्रीरामसहायजी अथवा रामसहायदासजी श्रीअयोध्याजीमें एक अच्छे संत हो गये हैं। वे एक पहुँचे हुए फ़क़ीर थे और अलमस्त दिगम्बर रहते थे। पूर्वाश्रममें वे लखनऊके नवाब मुबारक अली शाहके, जिसे सुआदतखाँ भी कहते हैं, कोषमन्त्री थे। जब ब्रह्मानन्दका ऐसा प्रवाह उमड़ा, जो नहीं रुक सकता था, तब वह उन्हें अपने परमाशयमें बहा ले गया—एकाएक वे सम्पूर्ण ऐश्वर्यको तृणवत् त्यागकर श्रीअयोध्याजी चले आये और यहीं रह गये—

रमाविलास राम-अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

नवाब मुबारक अली शाह उनमें पहलेहीसे बड़ी श्रद्धा रखता था। उसने बहुत चाहा कि वह उनकी कुछ सेवा-सहायता करे और वे कभी-कभी लखनऊ आकर उसे अपने दर्शनोंसे कृतार्थ कर दिया करें। पर एक बार आलान तोड़कर निकले हुए उस उन्मत्त गजेन्द्रको कौन पकड़ सकता था और मोह-मायाकी शृङ्खलामें फिर जकड़ सकता था! जब वह अपने प्रयत्नमें सफल न हुआ, तब उसने अयोध्याजीमें श्रीसरयूतटपर क़िलये-मुबारक[1] नामक एक क़िला उनके लिये बनवाया कि वे उसमें आरामसे रहा करें। पर उनके आरामकी जगह तो एकमात्र उस हृदयाराम रामाभिरामके चारु चरणारविन्द ही थे। जब उस अलमस्त दिगम्बरने वह भी स्वीकार नहीं किया, तब उनके प्रेमवश वह स्वयं लखनऊसे श्रीअयोध्या चला आया और उनके दर्शनोंके लोभसे यहीं उस क़िलेमें रहने लगा। इस प्रकार, जब-तब उनके दर्शन और सत्सङ्गसे कृतार्थ हो जाया करता। कभी-कभी महात्मा रामसहायजी भी वहाँ (क़िलये-मुबारकपर) चले जाते और उसे दर्शन दे दिया करते। वे संस्कृत, फ़ारसी और अरबीके अच्छे ज्ञाता और विद्वान् थे। यह गंजीफ़ा उन्हींका कहा हुआ है—

दुनिया गंजीफ़ा मसनूई, यह खेल है ख़ास मुकुटधरका।
वह बड़ा कौतुकी मौला है पट्ठा परवर बिधि-हरि-हरका॥
बत्तीस रंगके पत्ते हैं[2], सुरख़ाबके[3] परका है तड़का।
मुनि कपिल 'तत्त्व' उनको कहते, कर्दम जो प्रजापतिके लड़का॥ १॥
मूलाबाईके संग सजन घुल-मिलकर पत्ते चलते हैं।
गंजीफ़ाका है शौक़ बड़ा नित नव-नव रंग बदलते हैं॥
मुसकान माधुरी ख़म[4] चितवन नाज़ो-नेयाज़में[5] पलते हैं।
याँ घलते हैं, वाँ खलते हैं, क्या ख़ूब मचलते-छलते हैं॥ २॥
ग्यारह हैं भूलभुलैयाँ जी, जिनमें सब ग़च्चा खाते हैं।
आरिफ़[6] कोई बिरले होंगे, जो बाल-बाल बच जाते हैं॥
तफ़सील मैं उनकी कहता हूँ, रौशन-ज़मीर[7] फ़रमाते हैं।
उलझाते हैं, अटकाते हैं, फुसलाते हैं, बहलाते हैं॥ ३॥
पहली तो पहेली है ऐसी, जिसपर जगके ताने-बाने।
ग्यानीकी बुद्धि परेशाँ[8] है, मन हठी न कुछ मानै-जानै॥
हम जिसको सुख माने बैठे, उसको ही सुख सबही मानें।
है ऐसा समझना बड़ी भूल, छाने स्याने ल्याने ठाने॥ ४॥

---

[1] —वह क़िलये-मुबारक ही अब लक्ष्मणक़िला कहलाता है।

[2] —(१) अन्तर्यामी, (२) आत्मा, (३) माया, (४) (अन्तःकरणचतुष्टय) मन, (५) बुद्धि, (६) चित्त, (७) अहङ्कार, (८) (पञ्च प्राण) प्राण, (९) अपान, (१०) उदान, (११) समान, (१२) व्यान, (१३) (पञ्चभूत) आकाश, (१४) अनिल, (१५) अग्नि, (१६) जल, (१७) पृथ्वी, (१८) (पञ्च कर्मेन्द्रिय) हस्त, (१९) पाद, (२०) उपस्थ, (२१) गुदा, (२२) मुख, (२३) (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय) श्रोत्र, (२४) त्वचा, (२५) नेत्र, (२६) रसना, (२७) नासा, (२८) (पञ्च विषय) शब्द, (२९) स्पर्श, (३०) रूप, (३१) रस, और (३२) गन्ध।

[3] —सुरख़ाब—एक सुन्दर पक्षी, जिसके चित्र-विचित्र रंगोंके पर अत्यन्त मनोहर होते हैं।

[4] —तिरछी। [5] —लाड़-प्यार। [6] —प्रज्ञात्मा, ज्ञानी। [7] —दिव्य द्रष्टा। [8] —हैरान, विकल, अनुतप्त।

क्या उचित है, क्या अनुचित है, बस, इसका खुद ही निर्णय करके ।
कहना लोगोंको बुरा-भला, है भूल दोम[९] निश्चय करके ॥
जो राय मेरी है ठीक वही, सबहीकी सम्मति तय करके ।
है भूल तीसरी समझ यही, सत् नय करके, जय-जय करके ॥ ५ ॥
अपनी ही सोच-समझको जी पक्का गिनना तरुणाईमें ।
यह भूल है चौथी, यौवन-मदकी उपज है काम-मथाईमें ॥
ज़रा-सी छोटी बातके ऊपर ख्याल पलटना ताईमें[१०] ।
भूल पाँचवीं, तुनकमिज़ाजी,[११] थाईमें,[१२] उकलाईमें[१३] ॥ ६ ॥
अपने ही–जैसा हो जावे सबका जो स्वभाव-व्यवहार ।
सदा जतन करना इसके हित, छठी भूल यह है निर्धार ॥
विना हमारे हो सकता नहिं किसीसे भी यह कारो-बार ।
भूल सातवीं समझना ऐसा, दरप-तड़प है मन्द बिचार ॥ ७ ॥
जतनके बाहर जो काम है उनके वास्ते सर खपाते रहना ।
और उसमें औरोंको कष्ट देना, है आठवीं भूल हठमें बहना ॥
न डालना पर्दा दूसरोंके करीह[१४] ऐबों क़बीह[१५] लतपर ।
नवीं बड़ी भूल है, यही तो गुबार[१६] लाती है सल्तनतपर ॥ ८ ॥
अपनेको जितना भाता है, उतना ही सत्य है, शेष नहीं ।
जान लिया सब तत्त्व, हविस कुछ और जाननेकी न रही ॥
दसवीं भूल भयङ्कर है यह, मज़हब-मिल्लतका मूजिद[१७] ।
निसि-दिन झक-झक निसिदिन वक-बक कोरमकोरे[१८] मंदिर-मसाजिद
आँख फाड़कर देखा करते, लोग नित्य ही मरते हैं ।
तिसपर भी मौतके मालिकसे तो ज़रा नहीं हम डरते हैं ॥
महा-महा यह महा भूल है, सबही इसको करते हैं ।
ग्यारहवींसे बचे संतजन, दर्शनसे अघ हरते हैं ॥१०॥
जो यह गंजीफ़ा खेलेगा भूलभुलैयाँ झेलेगा ।
क़ुदरतका[१९] यही तमाशा है, जौहर दिखला कर खेलेगा ॥
जो सुरति-शब्दकी कसरतमें मुद-मुद्गर सुख-डँड़ पेलेगा ।
है पहलवान हनुमानगढ़ीका राम-रंगमें रेलेगा ॥११॥
जिसका बानर वही नचावै मिसाल जगमें छाई है ।
गंजीफ़ाका वही खिलाड़ी जिसने सृष्टि बनाई है ॥
'रामसहाय' शौक़से खेले ख़ासी राम-ख़ुदाई है ।
ग्यारहसे बस बचा रहे, तब हरदम बेपरवाई है ॥१२॥

यह जगत् प्रकृति-पुरुषका क्रीड़ाक्षेत्र है । गंजीफ़ाकार कहते हैं कि विधि-हरि-हरके भी परिपालक स्वयं उस सर्वेश्वर मुकुटधरका यह खेल है। वह मूल-प्रकृतिके संग यह विश्वरूप गंजीफ़ा खेल रहा है । सांख्यमें कपिलमुनिके कहे हुए बत्तीस तत्त्व ही उस गंजीफ़ाके नाना रंगके पत्ते हैं । वह नट-नागर और रस-रसाकर नित्य-नव्य-दिव्य नायक बड़ा ही मनचला खिलाड़ी है । वह बड़ा क्रीड़ाशील राजकुमार है । वह सदा राजकुमार ही है । वह मारका भी मार है । वह राम है । जैसा ही वह सुन्दर है, वैसा ही लीलाधर भी; इधर तो आप खेल रहे हैं और उधर कितने ही नाना यातनाएँ झेल रहे हैं । क्या ही अच्छे, अनोखे-चोखे खिलाड़ी हैं ! कैसा कल-छल कर रहे हैं, किस तरह उनके इस खेलके सब शिकार हो रहे हैं ! वह क्रीड़ा कुछ ऐसी भूल-भुलैयाँ है कि सब उसमें धोखा खाते और भटकते रहते हैं, अटकते और लटकते रहते हैं । उसमें ग्यारह प्रकारकी ख़ास भूलें हैं, जिनमें सब उलझते और चक्कर खाते रहते हैं । ज्ञानी-ध्यानी सभी उसमें हैरान हैं । ऐसे ही कोई विरले ही उस महामाईके लाल और उस परम पिताके प्रिय बाल धीरमति होते हैं, जो बेलाग बच जाते हैं ।

पहली भूल तो यह है कि हम चाहते हैं कि जिसे हम सुख मानते हैं, सब लोग उसे ही सुख मानें ।

दूसरी भूल है अपनी ही मति-गतिके अनुसार उचितानुचितका स्वयं ही निर्णय करके दूसरोंको बुरा-भला कहना ।

तीसरी भूल यह है कि जो मेरी राय है, वही ठीक है, और वही सबकी राय है । ऐसा स्वतः हम अंधाधुंधी निश्चय कर लिया करते हैं ।

चौथी भूल–यौवनोन्मादसे निरंकुश हो मनुष्य अपने भाव-विचारको ही परम ज्ञान मानकर उसीका आग्रह करता है, यह उसकी चौथी भूल है ।

पाँचवीं भूल–ज़रा-सी बातपर रुष्ट हो जाना और भाव बदल देना, यह अव्यवस्थितचित्तता ('क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः……') पाँचवीं भूल है ।

छठी भूल–सबका स्वभाव हमारे ही जैसा हो जाय, ऐसा चाहना और इसके लिये प्रयत्न करना–यह मनुष्यकी छठी भूल है, मानव-स्वभावका छठा दोष है ।

सातवीं भूल–यह कार्य बिना हमारे नहीं हो सकता, हमारे अतिरिक्त इसे और कोई नहीं कर सकता–ऐसा समझना मनुष्यकी सातवीं भूल है ।

---

[९] –दूसरी (भूल) । [१०] –ताव, कोपावेग । [११] –क्षणमें रुष्ट, क्षणमें तुष्ट होनेका स्वभाव । [१२] –स्थायित्व, स्थिरता । [१३] –उबाल, विक्षोभ । [१४] –कटु । [१५] –कुत्सित । [१६] –विकार, क्षति, अपकर्ष । [१७] –आविष्कारक, जनक । [१८] –सूना, रीता । [१९] –प्रकृति ।

आठवीं भूल—जो कार्य असाध्य हैं, मानव-प्रयत्नसे साध्य नहीं हैं, उनके लिये मत्थापच्ची करना, उनके साधनका आग्रह करना और उसके लिये दूसरोंको कष्ट देना, यह हमारी आठवीं भूल है ।

नवीं भूल—दूसरोंके कुत्सित दोषों और दुश्चरित्रोंपर परदा न डालना, उन्हें प्रकट करना—यह हमारी नवीं भूल है । साधुजनकी यह परम विशेषता है कि वे दूसरोंके अवगुणोंपर सहृदयता और सदयतापूर्वक परदा डाल देते हैं । मानव-स्वभावकी यह उत्कृष्ट स्थिति है । दैवी सम्पदाका यह चरम विकास है । वास्तविक सरल मनुष्य भी वही है, उसकी मति दूसरोंके प्रत्यक्ष संघटित और प्रकटित दोषोंको देखकर चकित-सी होती है, मानो किसी अस्वाभाविक विचित्र जीवको देख रही है । वह क्या है, यह वह नहीं जानती । इस सृष्टिमें अमृत, कल्पतरु, कामधेनु, चिन्तामणि, चन्द्रमा, मलय, कुवलय और हंसकी तरह संतजन भी पैदा होते हैं । उनमें दैवी सम्पदाका ही विकास होता है, वे दिव्य प्रकृतिके जीव होते हैं । उनमें करुणा, क्षमा, उदारता, विनय, प्रणय, श्रद्धा, मैत्री, धृति और परदोषपराङ्मुखता आदि सात्त्विक गुण सहज सिद्ध होते हैं—

साधुचरित सुभ सरिस कपासू । निरस बिसद गुनमय फल जासू ॥
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा । बंदनीय जेंहि जग जसु पावा ॥
निज गुन सुनत हृदय सकुचाहीं । परगुन सुनत अधिक हरषाहीं ॥

दूसरोंके उत्कर्षसे प्रसन्न होना और उनके अपकर्षसे खिन्न होना यह गुण केवल संतोंहीमें पाया जाता है । वास्तविक अथच स्वाभाविक दया, उदारता और उपकार-वृत्ति बहुत ही दुर्लभ हैं, जो यथार्थ रूपमें भगवान्में अथवा उनके भक्तोंहीमें मिलती हैं ।

दसवीं भूल—जितना और जो कुछ अपनेको रुचता है, वही सत्य है; भाव यह कि जो हमारा प्रेय है, वही श्रेय है, और नहीं । हमने सभी तत्त्व जान लिये, न अब और कुछ जाननेको शेष है (ज्ञेय है) और इसलिये न अब कुछ जाननेकी इच्छा ही है । हम पूर्ण हैं और इसलिये सन्तुष्ट भी हैं । यह दसवीं भयङ्कर भूल है । यही भूल मत-मतान्तरोंकी जनयित्री है । सम्पूर्ण आग्रह-विग्रह, कलह और वाद-विवादकी यह जन्मभूमि है । ईश्वर तो गौण हो जाता है । वस्तुतः ऐसे भूले भाइयोंका मत ही उनका ईश्वर होता है । जैसा-तैसा साधन ही साध्यका स्थान ग्रहण कर लेता है । अहङ्कार और ममकार उन्हें इस तरह पकड़ और जकड़ लेते हैं कि परमार्थकी ओर मुड़नेका अवकाश ही नहीं रह जाता । भगवान्की असम्भव-सम्भव-विधायिनी सर्वश्रेयसी करुणा और अघटन-घटना-पटीयसी शक्ति ही उनके उद्धारमें समर्थ है ।

ग्यारहवीं भूल—कराल कालके जालमें यह सम्पूर्ण संसार समाया चला जा रहा है, यह हम नित्य देखते हैं; परन्तु तब भी अपनी मृत्युसे असावधान रहते हैं और कालभय जिनके चरणोंके अवलम्बनसे मिट जाता है, उन कालके भी अधिपति भगवान्को नहीं भजते—

लव-निमेष-परमान-जुग-बरष-कलप सर चंड ।
भजसि न मन तेहि राम कहुँ, कालु जासु कोदंड ॥

लव-निमेषादि जिसके कारण हैं, माया प्रत्यञ्चा और काल धनुष है, उस अद्वितीय धनुर्धर श्रीरामकी शरणमें हम कालसे भयातुर हो दौड़कर नहीं जाते और चिरञ्जीवकी तरह निश्चिन्त हो खाते-पीते और मौज करते हैं, यह ग्यारहवीं महामोहमयी महान् भूल है । केवल संत ही इस भूलसे बचते हैं, जिनके दर्शनोंसे पापपुञ्ज नष्ट होते हैं ।

अन्तमें गंजीफ़ाके स्वनामधन्य रचयिता कहते हैं कि जो कोई भी यह गंजीफ़ा—संसाररूप गंजीफ़ा खेलेगा, वही इस भूलभुलैयाँमें पड़ेगा, ये भूलें करेगा । इस गंजीफ़ेका असल खिलाड़ी तो वही है, जो इसका आविष्कारक है, जगत्का उद्भावक है । यह एक प्रसिद्ध कहावत है कि 'जिनका बानर वही नचावै ।' अतः इस खेलके सफलतापूर्वक खेलनेमें वही नवल नटनागर ही कुशल है । हमसे तो वह बिगड़ जायगा और हम भी उससे बिगड़ जायँगे । हमें तो केवल यह चाहिये कि उसके खेलमें भाग लें और उसके आनन्दके भागी हों । स्वतन्त्र खिलाड़ी न होकर उसके खिलौने ही रहें । उसके सहयोगमें ही आनन्दोपभोग है ।

इस खेलमें और इसके आधारभूत गंजीफ़ामें—गजीफ़ाके रूपकमें सांख्यविषयक ही दिग्दर्शन हुआ है । वेदान्त नहीं, तो उसका प्रधान प्रतियोगी तो है; ब्रह्म और माया न सही, पुरुष और प्रकृति तो है और ब्रह्मस्थानीय पुरुष-प्रधान तो है, ज्ञान तो है, शिक्षा तो है ।

अब गंजीफ़ाकारके दो गीतोंके साथ मैं इस लेखको समाप्त करता हूँ—

तनिक हँसि हेरो हो, राजकुमार ।
बुधि बौराय, हेराय जाय मन, रहै न देह-सम्हार ॥

दूरहितें जाके तन ताकें मदन भयो जरि छार ।
सो त्रिपुरारि भिखारिभेष धरि अलख जगावत द्वार ॥
सपनेहुँ निकट जाय नहिं कबहूँ माया-मोह-बिकार ।
सो भुसुंडि सिसुचरित बिलोकत फँस्यो प्रेमके जार ॥
सुनत बोल बिन मोल बिकानी सारद-सी हुँसियार ।
'रामसहाय' जाय सोइ जानै अवध नगरके द्वार ॥

भला रघुनंदन, राज़ी रहना ।
मैं तो तुम्हारी ख़ुशी हीमें ख़ुश और कछू नहिं चहना ॥
सुख-सोहाग दुख-दरद बिरहको जो सहाव सो सहना ।
क़हर-मिहर दोउ हाथ तिहारे, अपना-अपना लहना ॥
मारो चाहे जियाओ प्यारे, आशिक़को क्या कहना ।
'रामसहाय' राज-दरवाज़े पड़ा फ़क़ीर बरहना× ॥

* * *

शुनःशेप या मोक्षधर्मका एक वैदिक उपाख्यान

(लेखक—श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम० ए०)

महाभारतके आश्वमेधिक-पर्वान्तर्गत कृष्ण-युधिष्ठिर-संवादमें मृत्यु और अमृतका यह लक्षण किया गया है—

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतावाञ्ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥
(११ । ४)

अर्थात् कुटिल जीवनका नाम मृत्यु और ऋजु जीवन मोक्षका मार्ग है । ज्ञानका सार इतना ही है । दूसरे शब्दोंमें कुटिलता अनृतका मार्ग है और सरलता ऋतका मार्ग है । लोकलोकान्तरोंमें ऋतका एक ही अन्तर्यामी सूत्र पिरोया हुआ है । वही ऋत जीवनका आर्जवयुक्त मार्ग है—

ऋत=Right Path, Orbit.

विराट् जगत्‌की समस्त दिव्य शक्तियाँ या देव ऋतके निर्धारित मार्गसे अपने कर्ममें प्रवर्तमान रहते हैं । इसीलिये ऋषियोंने देवोंका लक्षण किया है—

सत्यसंहिता वै देवाः । (ऐत० ब्रा० १ । ६)

अर्थात् सत्यसंयुक्त देव होते हैं, और अनृतसंहित मनुष्य—

अनृतसंहिता मनुष्याः । (ऐत० १ । ६)

अथवा—

सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । (शत० १ । १ । १ । ४)

देव और मनुष्यका अन्तर सत्य और अनृतका अन्तर है । शरीर धारण करके हम अनृतमें सने हुए हैं । उस अनृतको जानकर सत्यकी प्राप्ति ही ब्रह्मपद या मोक्षप्राप्ति है । समस्त यज्ञोंके प्रतिपादक यजुर्वेदमें पहली प्रतिज्ञा, जिसको लक्ष्यमें रखकर यज्ञ किये जाते हैं, यही है कि हम अनृतसे सत्यको प्राप्त करें—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं, तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ (यजु० १ । ५)

विश्वके नियम व्रत हैं, उन व्रतोंका आचरण जीवनका आवश्यक अंग है । व्रताचरणकी समष्टिका नाम ही जीवन है । हममें व्रतपरिपालनकी सामर्थ्य हो । बिना शक्तिके हम जीवनव्रतोंसे दूर भागते रहेंगे, धीरताके साथ उनका सामना नहीं कर सकेंगे । हमारा व्रतोंका आराधन सफल हो । अब इस दीक्षा या संकल्पके द्वारा हम अनृतके मार्गसे हटकर सत्यको प्राप्त होते हैं । जहाँ अनृत है या वक्रता है वहीं वरुणके पाश घेरा डालकर हमें जकड़ लेते हैं—

अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति ।
(तै० ब्रा० १ । ७ । २ । ६)

जहाँ क्षुद्रता, संकीर्णता, विराट् जीवनके प्रति पराङ्मुखता, अन्धकार या पाप है वहीं वरुणके पाशोंका बन्धन आ दबाता है । वरुणके व्रतोंका शासन अनुल्लंघनीय है—

अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि । (ऋ० १ । २४ । १०)

उन व्रतोंकी अवहेलना करके हम कल्याणकी आशा नहीं कर सकते । अमृत जीवन, प्रकाश, सत्य और श्रीका मार्ग है; इसके विपरीत तम, अनृत और पापका नाम मृत्यु है—

ततः सत्यं श्रीर्ज्योतिः सोमः ।
अनृतं पाप्मा तमः सुरा ॥ (शत० ५ । १ । २ । १०)

इसी द्वन्द्वका नाम सोम और सुरा है । एक दैवी, दूसरा तामसी है । देहधारियोंके लिये प्रजापतिके द्वारा कल्पित ये सनातन मार्ग हैं—एक देवयान, दूसरा पितृयाण

× दिगम्बर ।

है। इन्हींको अर्चिर्मार्ग और धूममार्ग भी कहते हैं। धूममार्ग कृष्ण या तम और पापसे आवृत है। उसका परिणाम मृत्यु और विनाश है। उस मार्गमें मृत्युके देवता निर्ऋतिका साम्राज्य है—

घोरा वै निर्ऋतिः।
कृष्णा वै निर्ऋतिः।
पाप्मा वै निर्ऋतिः।
नैर्ऋतो वै पाशः।

(शत० ७।२।१)

पाशमय जीवन संकीर्णतासे भरा हुआ होता है। उसमें आर्जव और औदार्यका भाव तिरोहित हो जाता है। निर्ऋतिके पाशोंसे विना छूटे कोई भी अमर जीवनकी अभिलाषा नहीं कर सकता। जीवनकी सबसे बड़ी चतुराई क्या है ? यही, कि हम प्रकाश और अन्धकारको अलग-अलग पहचानकर उनका संकर करनेसे बचे रहें—

न इव ज्योतिश्च तमश्च संसृजाव इति।

(शत० ५।१।२।१७)

इसीलिये सबसे विशिष्ट प्रार्थना या अभिलाषा ज्योतिके साथ अभेद सम्बन्ध रखनेवाले हमारे इस मानवी जीवनके लिये यही हो सकती है कि हम असत्से सत्की ओर, तमसे ज्योतिकी ओर और मृत्युसे अमृतकी ओर अग्रसर हों—

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

अमृत, जीवन या प्रकाशका मार्ग बहुत विशाल है। वेदोंमें उसे 'उरु पंथ' (ऋ० १।२४।८) कहा गया है। हमारे चलनेके लिये यही उरु मार्ग बना हुआ है। राजमार्गको छोड़कर भी जो हम अनेक वक्र, कुटिल एवं संकीर्ण पथोंका आश्रय लेते हैं, यही हमारा अज्ञान या मोह है। ऋजु मार्ग एक और वक्र मार्ग अनेक हो सकते हैं। अमृतपद या ब्रह्मपद एक है, मृत्युके पद नाना हैं। एकको पाकर हम आनन्दी होते हैं, और नानादृष्टि रखकर हम मृत्युमुखकी ओर चले जाते हैं।

शुनःशेप कौन है ?

मृत्युपाशमें बँधे हुए शुनःशेपने वरुणको पुकारा। सत्य आह्वानको सुनकर वरुणने शुनःशेपके बन्धनोंको उन्मुक्त किया। कथाके अनुसार यह शुनःशेप अजीगर्त ऋषिका कुमार था। हरिश्चन्द्रने उसे यज्ञके यूपमें बाँधा और वरुणके लिये उसका बलिदान निश्चित हो गया। जब शुनःशेपने मृत्युको सामने नाचती हुई देखकर आत्मरक्षाका और कोई उपाय न देखा, तो सर्वतोभावेन वरुणकी शरणमें जाकर उसके पाशोंसे मुक्तिकी प्रार्थना की। विराट् जीवनके साथ तन्मयताको प्राप्त हुए शुनःशेपके सब बन्धन ढीले होकर गिर गये और वह अमृतका पुत्र बन गया।

हममेंसे प्रत्येक प्राणी शुनःशेपका एक रूप है। श्वा अर्थात् प्राण और शेप अर्थात् लिङ्ग—इस दृष्टिसे प्रत्येक प्राणधारी व्यापक प्राणका एक कूटस्थ लिङ्ग है। शुनःशेपके समान वह वरुणके उत्तम, मध्यम और अधम बन्धनोंसे बँधा हुआ है। हमारे जीवनका मेरुदण्ड (Fulcrum of Existence) ही वह यूप है जिसके साथ हम नियन्त्रित हैं और त्रिकालमें भी भागकर जिससे नहीं बच सकते—

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।

यह महाबली चक्र निरन्तर घूमता रहता है, जबतक हम शुनःशेपके समान अमृत संकल्पोंसे सम्पृक्त होकर निष्कल्मष स्थिति प्राप्त नहीं कर लेते—

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥

(ऋ० १।२४।१५)

हे वरुण ! हमारे उत्तम, मध्यम और अधम बन्धनोंको शिथिल करो। हे अदितिके पुत्र आदित्य ! हम अनागस् अर्थात् पापरहित होकर तुम्हारे व्रतोंमें स्थित होकर जीवनमें मोक्षस्थिति प्राप्त करें। सात्त्विक, राजस, तामस, ये ही उत्तम, मध्यम और अधम बन्धन हैं। इन्हींके सहस्रों तन्तु हमारे चारों ओर लिपटे हुए हैं। अहर्निश विचेष्टमान रहकर भी हम उनसे कठिनतासे छूट पाते हैं।

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय।
त्वामवस्युराचके॥ (ऋ० १।२५।१९)

हे वरुण ! इस पुकारको सुनो और आज प्रसन्न हो। शरणार्थी तुम्हें पुकार रहा है।

उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत।
अवाधमानि जीवसे॥ (ऋ० १।२५।२१)

हे देव ! जीवनके लिये हमारे त्रिविध पाशोंको उन्मुक्त करो।

अदिति देवोंकी जननी है, दिति दैत्योंकी। मोक्ष और अमृत—जीवन-स्थिति अदितिका रूप है, मृत्यु दितिका क्षेत्र

है । विराट् जीवनधारासे अखण्डित सम्बन्ध रखना अदिति है और उस महाप्राणसे उच्छिन्न हो जाना दिति है । शुनःशेप अदितिके लोककी कामना करता है (अदितये स्याम), क्योंकि वही जीवनसे ओतप्रोत है। अदितिके पुत्रोंका सान्निध्य—सायुज्य प्राप्त करनेके लिये सबसे बड़ी शर्त है अनागस् होना । आगस् नाम पापका है । पाप ही वृत्रासुर, पाप ही मृत्यु वा निर्ऋति, पाप ही तमका रूप है । पाप ही जिह्म मार्ग है । पापके कारण हम एकदेशीय एवं अल्प बन जाते हैं । निष्पाप होकर ही हम विराट् बनते हैं । विराट् जीवन ही भूमा या अमृत सुख है; वही मोक्ष है। यदि जीवनमें किसी बातकी इच्छा रखते हो, तो आदित्यलोक या भूमलोककी इच्छा करो—

इष्णन् इषाण, अमुं म इषाण, सर्वलोकं म इषाण ॥

(यजु० ३१ । २२)

◆

शौनक-अङ्गिरा-संवाद

महाशाल शौनक हाथमें समिधा लिये श्रीअङ्गिराके आश्रममें पहुँचे । वहाँ श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ परमऋषि अङ्गिराके समीप प्रणामादि विधिपूर्वक उपस्थित होकर उन्होंने यह प्रश्न किया—

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ?

'भगवन् ! वह कौन-सी विद्या है जिसके जान लेनेपर यह सब कुछ जान लिया जाता है ?'

अङ्गिरा–ब्रह्मवेत्ता कहते हैं कि दो विद्याएँ जानने योग्य हैं—एक परा और दूसरी अपरा ।

शौनक–अपरा विद्या किसको कहते हैं और परा विद्या किसको कहते हैं ?

अङ्गिरा–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, ये अपरा विद्या हैं। और परा विद्या वह है जिससे उस अक्षरब्रह्मका बोध होता है ।

शौनक–वह अक्षरब्रह्म क्या है ?

अङ्गिरा–वह जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षुःश्रोत्रादिरहित है; जो अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है, तथा जो सम्पूर्ण भूतोंका कारण है; उसे धीर पुरुष सर्वत्र देखते हैं ।

शौनक–सर्वत्र यह जो विश्व दिखायी देता है वह ब्रह्मसे कैसे उत्पन्न होता है ?

अङ्गिरा–जैसे मकड़ी अपना जाला बनाती और चाहे जब उसे समेट लेती है, जैसे पृथ्वीसे वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, जैसे सजीव पुरुषसे केश और लोम उत्पन्न होते हैं, वैसे ही अक्षरब्रह्मसे यह विश्व उत्पन्न होता है ।

शौनक–ब्रह्मसे विश्वकी यह उत्पत्ति जिस क्रमसे होती है वह क्रम क्या है ?

अङ्गिरा—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥

'उत्पत्तिविधिका जो ज्ञान है उस ज्ञानरूप तपसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्म स्थूलताको प्राप्त होता है; उसी स्थूलतासे अन्न उत्पन्न होता है; अन्नसे क्रमशः प्राण, मन, सत्य, लोक और कर्म, और कर्मसे अमृत उत्पन्न होता है ।'

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ॥

'वह जो सर्वज्ञ है (सबको समानरूपसे एक साथ जाननेवाला है), जो सर्वविद् है (सबमें प्रत्येकका विशेषज्ञ है), जिसका ज्ञानमय तप है, उसी अक्षरब्रह्मसे यह विश्वरूप ब्रह्म, यह नामरूप और अन्न उत्पन्न होता है।'

शौनक–भगवन् ! वह अव्यय पुरुष जो इस विश्वका मूल है, कैसे जाना जाता है ?

अङ्गिरा—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥

'जो शान्त और विद्वान् लोग वनमें भिक्षावृत्तिसे रहते हुए तप और श्रद्धाका सेवन करते हैं वे शान्तरज होकर सूर्यद्वारसे वहाँ जाते हैं जहाँ वह अमृत अव्यय पुरुष रहता है।'

शौनक–भगवन् ! सूर्यद्वारसे उस अव्यय धामको प्राप्त करनेका साधन क्या है ?

अङ्गिरा—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

'कर्मसे जो-जो लोक प्राप्त होते हैं उनकी परीक्षा करके ब्राह्मण निर्वेदको प्राप्त हो ले, (क्योंकि संसारमें) अकृत नित्य पदार्थ कोई नहीं है, (अतः) कृत (कर्म) से हमें क्या प्रयोजन है। तब वह 'तत्'–'उस' को जाननेके लिये हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप जाय।'

'तब वे विद्वान् गुरु उस प्रशान्तचित्त जितेन्द्रिय शिष्यको उस ब्रह्मविद्याका उपदेश करते हैं जिससे उस सत्य और अक्षरपुरुषका ज्ञान होता है।'

'उसी अक्षरपुरुषसे प्राण उत्पन्न होता है; उसीसे मन, इन्द्रिय, आकाश, वायु, तेज, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है।'

'अग्नि (द्युलोक) उसका मस्तक है, चन्द्र-सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ कान हैं, प्रसिद्ध वेद वाणी हैं, वायु प्राण है, विश्व हृदय है, उसके चरणोंसे पृथिवी उत्पन्न हुई है, वह सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है।'

'बहुतसे जो देवता हैं वे उसीसे उत्पन्न हुए हैं। साध्यगण, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण-अपान, व्रीहि, यव, तप, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य और विधि, ये सब उसीसे उत्पन्न हुए हैं।'

शौनक–सत्यस्वरूप पुरुषसे ये सब उत्पन्न हुए हैं, अर्थात् विकारमात्र हैं और पुरुष ही केवल सत्य है, ऐसा ही समझना चाहिये ?

अङ्गिरा–नहीं; यह सारा जगत्, कर्म और तप स्वयं पुरुष ही है, ब्रह्म है, वर है, अमृत है। इस गुहामें छिपे हुए सत्यको जो जानता है वह, हे सोम्य ! अविद्याकी ग्रन्थिका छेदन कर देता है।

'वह दीप्तिमान् है, अणुसे भी अणु है, उसमें सम्पूर्ण लोक और उनके अधिवासी स्थित हैं। वही अक्षर-ब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाणी और वही मन है। वही सत्य और अमृत है। वही वेधने योग्य है। हे सोम्य ! तुम उसको वेधो।'

शौनक–भगवन् ! उसका वेधन कैसे किया जाय ?

अङ्गिरा–'हे सोम्य ! औपनिषद महास्त्र लेकर उपासनासे तीक्ष्ण किया हुआ बाण उसपर चढ़ाओ और उसे तद्भाव-भावित चित्तसे खींचकर उस अक्षरब्रह्मलक्ष्यका वेधन करो।'

शौनक–भगवन् ! वह औपनिषद महास्त्र क्या है, वह बाण कौन-सा है और उससे लक्ष्यवेध कैसे करना चाहिये ?

अङ्गिरा–'प्रणव ही वह (महास्त्र) धनुष है, आत्मा ही बाण है, और वह ब्रह्म ही लक्ष्य है। प्रमादरहित (सावधान) होकर उस लक्ष्यका वेध करनेके लिये बाणके समान तन्मय होना चाहिये।'

'जिसमें द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष और मन सब प्राणोंसहित बुना हुआ है, उसी एक आत्माको जानो, अन्य वाणीको छोड़ो; यही अमृतका सेतु है।'

'रथचक्रकी नाभिमें जिस प्रकार अरे लगे होते हैं, उस प्रकार जिसमें सब नाडियाँ जुड़ी हैं वही यह अन्तर्वर्ती आत्मा है, जो अनेक प्रकारसे उत्पन्न होता है। उस आत्माका 'ॐ' से ध्यान करो। तम (अज्ञान) को पार किया चाहनेवाले तुम्हारा कल्याण हो।'

'जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है, जिसकी यह महिमा भूलोकमें है, वही यह आत्मा ब्रह्मपुर आकाशमें स्थित है। वह मनोमय प्राणशरीरका नेता है (मन और प्राणको एक देहसे दूसरी देहमें, एक लोकसे दूसरे लोकमें ले जाता है) और अन्नमय शरीरमें वह हृदयको आश्रय करके रहता है। उसके विज्ञानको प्राप्त होकर धीर पुरुष उस प्रकाशमान आनन्दरूप अमृतको सर्वत्र देखते हैं।'

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

'उस परावर ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सब संशय नष्ट हो जाते हैं और कर्म भी इसके क्षीण हो जाते हैं।'

'वह अमृत ब्रह्म ही आगे है, वही पीछे है; वही दायीं ओर है, वही बायीं ओर है; वही नीचे है, वही ऊपर है; यह सारा विश्व वही वरिष्ठ ब्रह्म ही तो है।'

शौनक–उस ब्रह्मके साथ इस जीवका कैसा सम्बन्ध है ?

अङ्गिरा–ये दोनों ही सुन्दर पक्षवाले दो पक्षियों-जैसे एक ही वृक्षका आश्रय किये हुए दो सखा हैं। इनमेंसे एक उस वृक्षके फलोंको खाता है और दूसरा नहीं खाता, केवल देखता है। जो इन फलोंको खाता है वह दीन

(अनीश) होकर शोकको प्राप्त होता है। यही जब दूसरेको ईशरूपमें देखकर उसकी महिमाको देखता है तब यह भी वीतशोक हो जाता है। जगत्कर्ता ईश पुरुषको देखकर यह पाप-पुण्य दोनोंको त्यागकर निरञ्जन हो परम साम्यको प्राप्त होता है।

शौनक–उस ईश पुरुषको देखनेका उपाय क्या है ?

अङ्गिरा–सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्यसे विशुद्धात्मा योगीजन अन्तःशरीरमें इसे ज्योतिर्मय शुभ्र रूपमें देखते हैं। वही आत्मा है। वह बृहत् है, दिव्य है, सूक्ष्माति-सूक्ष्म, दूरसे दूर और समीपसे समीप है। वह देखनेवालोंके हृदयकी गुहामें छिपा हुआ रहता है। वह आँखसे नहीं दिखायी देता, वाणीसे या अन्य इन्द्रियोंसे अथवा तप या कर्मसे नहीं जाना जाता। ज्ञानके प्रसादसे अन्तःकरण विशुद्ध होनेपर उस निष्कल पुरुषका साक्षात्कार होता है। ऐसा साक्षात्कार जिसे होता है वह जो कुछ संकल्प करता है वह सिद्ध हो जाता है। वह संकल्पमात्रसे चाहे जिस लोक या भोगको प्राप्त कर सकता है। ऐसे पुरुषकी जो उपासना करता है वह भी बन्धनमुक्त होकर आत्माको प्राप्त कर लेता है।

शौनक–आत्माका कथन करनेवाले शास्त्रोंके प्रवचनसे क्या इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती ?

अङ्गिरा–नहीं,

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुँ स्वाम्॥

'यह आत्मा प्रवचनसे नहीं, मेधासे नहीं, बहुत श्रवण करनेसे भी नहीं मिलता। यह जिसका वरण करता है उसीको यह प्राप्त होता है। उसके सामने यह आत्मा अपना स्वरूप व्यक्त कर देता है।' जो बल, अप्रमाद, संन्यास और ज्ञानके द्वारा आत्माको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है, आत्मा उसे अपने धाममें ले आता है।

शौनक–जो कोई आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है उसकी क्या स्थिति होती है ?

अङ्गिरा–जो उस परब्रह्मको जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है और उसके कुलमें कोई अब्रह्मविद् नहीं होता। वह शोकको तर जाता है, पापको पार कर जाता है, हृदय-ग्रन्थियोंसे विमुक्त होकर अमृत हो जाता है।

शौनक–भगवन्! ऐसी इस ब्रह्मविद्याका अधिकारी कौन होता है, यह कृपाकर बताइये।

अङ्गिरा–जो क्रियावान् हैं, श्रोत्रिय हैं, ब्रह्मनिष्ठ हैं, श्रद्धापूर्वक जो एकर्षि-हवन करते हैं और जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रतका अनुष्ठान किया है उनसे यह ब्रह्मविद्या कहे।

इस प्रकार महाशाल (महागृहस्थ) शौनकके प्रश्न करनेपर महर्षि अङ्गिराने यह सत्य कथन किया। जिस किसीने शिरोव्रतका अनुष्ठान नहीं किया है वह इसका अध्ययन नहीं कर सकता।

नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभ्यः।

मैत्रेयीको ज्ञानोपदेश

महर्षि याज्ञवल्क्यके दो स्त्रियाँ थीं। एकका नाम था मैत्रेयी और दूसरीका कात्यायनी। दोनों ही सदाचारिणी और पतिव्रता थीं। परन्तु इन दोनोंमें मैत्रेयी तो परमात्माके प्रति अनुरागिणी थीं और कात्यायनीका मन संसारके भोगोंमें रहता था। महर्षि याज्ञवल्क्यने संन्यास ग्रहण करते समय मैत्रेयीको अपने पास बुलाकर कहा कि 'हे मैत्रेयी! मैं अब इस गृहस्थाश्रमको छोड़कर संन्यास ग्रहण करना चाहता हूँ। तुम दोनों मेरे पीछेसे आपसमें झगड़ा न कर सुखपूर्वक रह सको, इसलिये मैं चाहता हूँ कि तुम दोनोंको घरकी सम्पत्ति आधी-आधी बाँट दूँ।'

स्वामीकी बात सुनकर मैत्रेयीने अपने मनमें सोचा कि 'मनुष्य अपने पासकी किसी वस्तुको तभी छोड़नेको तैयार होता है जब उसको पहलीकी अपेक्षा कोई अधिक उत्तम वस्तु प्राप्त होती है। महर्षि घर-बारको छोड़कर जा रहे हैं, अतएव इनको भी कोई ऐसी वस्तु मिली होगी जिसके सामने घर-बार सब तुच्छ हो जाते हैं, अवश्य ही इनके जानेमें कोई ऐसा बड़ा कारण होना चाहिये।' और वह परम वस्तु जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति लाभकर अमृतत्वको—परमात्माको पाना ही है। यों विचारकर मैत्रेयीने कहा—'भगवन्! मुझे यदि धनधान्यसे परिपूर्ण समस्त पृथ्वी मिल जाय तो क्या उससे मैं अमृतत्वको पा सकती हूँ?' याज्ञवल्क्यने कहा—'नहीं, नहीं! धनसहित पृथ्वीकी प्राप्तिसे तेरा धनिकोंका-सा जीवन हो सकता है, परन्तु उससे अमृतत्व कभी नहीं मिल सकता!' मैत्रेयीने

कहा—'जिससे मेरा मरना न छूटे, उस वस्तुको लेकर मैं क्या करूँ ! हे भगवन् ! आप जो जानते हैं (जिस परम धनके सामने आपको यह घर-बार तुच्छ प्रतीत होता है और बड़ी प्रसन्नतासे आप सबका त्याग कर रहे हैं) वही परम धन मुझको बतलाइये ।'

'मैत्रेयी ! पहले भी तू मुझे बड़ी प्यारी थी, तेरे इन वाक्योंसे वह प्रेम और भी बढ़ गया है । तू मेरे पास आकर बैठ, मैं तुझे अमृतत्वका उपदेश करूँगा । मेरी बातोंको भलीभाँति सुनकर उनका मनन कर ।' इतना कहकर महर्षि याज्ञवल्क्यने प्रियतमरूपसे आत्माका वर्णन आरम्भ किया । उन्होंने कहा—

'मैत्रेयी ! (स्त्रीको) पति पतिके प्रयोजनके लिये प्रिय नहीं होता, परन्तु आत्माके प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है ।'

इस 'आत्मा' शब्दका अर्थ लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया है, कुछ कहते हैं कि आत्मासे यहाँपर शरीरका लक्ष्य है । यह शिश्नोदरपरायण पामर पुरुषोंका मत है । कुछ कहते हैं कि जबतक अन्दर जीव है तभीतक संसार है, मरनेके बाद कुछ भी नहीं; इसलिये यहाँ इसी जीवका लक्ष्य है । यह पुनर्जन्म न माननेवाले जडवादियोंका मत है । कुछ लोग 'आत्माके लिये' का अर्थ करते हैं कि जिस वस्तु या जिस सम्बन्धीसे आत्माकी उन्नति हो, आत्मा अपने स्वरूपको पहचान सके, वही प्रिय है । इसीलिये कहा गया है—'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' । यह तीव्र मुमुक्षु पुरुषोंका मत है ।

कुछ तत्त्वज्ञोंका मत है कि 'आत्माके लिये' इस अर्थमें कहा गया है कि इसमें आत्मतत्त्व है, यह आत्माकी एक मूर्ति है । मित्रकी मूर्तिको कोई उस मूर्तिके लिये नहीं चाहता परन्तु चाहता है मित्रके लिये । संसारकी समस्त वस्तुएँ इसीलिये प्रिय हैं कि उनमें केवल एक आत्मा ही व्यापक है या वे आत्माके ही स्वरूप हैं । महर्षि याज्ञवल्क्यने फिर कहा—

'अरे स्त्री स्त्रीके लिये प्रिय नहीं होती परन्तु वह आत्माके लिये प्रिय होती है, पुत्र पुत्रोंके लिये प्रिय नहीं होते परन्तु वे आत्माके लिये प्रिय होते हैं, धन धनके लिये प्यारा नहीं होता परन्तु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, ब्राह्मण ब्राह्मणके लिये प्रिय नहीं होता परन्तु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, क्षत्रिय क्षत्रियके लिये प्रिय नहीं होता परन्तु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, लोक लोकोंके लिये प्रिय नहीं होते परन्तु आत्माके लिये प्रिय होते हैं, देवता देवताओंके लिये प्रिय नहीं होते परन्तु आत्माके लिये प्रिय होते हैं, वेद वेदोंके लिये प्रिय नहीं हैं परन्तु आत्माके लिये प्रिय हैं, भूत भूतोंके लिये प्रिय नहीं हैं परन्तु आत्माके लिये प्रिय होते हैं, अरी मैत्रेयी ! सब कुछ उनके लिये ही प्रिय नहीं होते परन्तु सब आत्माके लिये ही प्रिय होते हैं । यह परम प्रेमका स्थान आत्मा ही वास्तवमें दर्शन करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य और निरन्तर ध्यान करने योग्य है । हे मैत्रेयी ! इस आत्माके दर्शन, श्रवण, मनन और साक्षात्कारसे ही सब कुछ जाना जा सकता है । यही ज्ञान है ।'

इसके पश्चात् महर्षि याज्ञवल्क्यजीने सबका आत्माके साथ अभिन्न रूप बतलाते हुए इन्द्रियोंका अपने विषयोंमें अधिष्ठान बतलाया और तदनन्तर ब्रह्मकी अखण्ड एकरस सत्ताका वर्णन कर अन्तमें कहा कि—'जबतक द्वैतभाव होता है तभीतक दूसरा दूसरेको देखता है, दूसरा दूसरेको सूँघता है, दूसरा दूसरेको सुनता है, दूसरा दूसरेसे बोलता है; दूसरा दूसरेके लिये विचार करता है और दूसरा दूसरेको जानता है, परन्तु जब सर्वात्मभाव प्राप्त होता है, जब समस्त वस्तुएँ आत्मा ही हैं ऐसी प्रतीति होती है, तब वह किससे किसको देखे ? किससे किसको सूँघे ? किससे किसके साथ बोले ? किससे किसका स्पर्श करे तथा किससे किसको जाने ? जिससे वह इन समस्त वस्तुओंको जानता है उसे वह किस तरह जाने ?'

वह आत्मा अग्राह्य है इससे उसका ग्रहण नहीं होता; वह अशीर्य है इससे वह शीर्ण नहीं होता; वह असंग है इससे कभी आसक्त नहीं होता; वह बन्धनरहित है इससे कभी दुखी नहीं होता और उसका कभी नाश नहीं होता । ऐसे सर्वात्मरूप, सबके जाननेवाले आत्माको कोई किस तरह जाने ? श्रुतिने इसीलिये उसे 'नेति' 'नेति' कहा है, वह आत्मा अनिर्वचनीय है । मैत्रेयी ! बस, तेरे लिये यही उपदेश है, यही तो मोक्ष है !

इतना कहकर याज्ञवल्क्यजीने संन्यास ले लिया और वैराग्यके प्रताप तथा ज्ञानकी उत्कट पिपासाके कारण स्वामीके उपदेशसे मैत्रेयी परम कल्याणको प्राप्त हुई !

(बृहदारण्यक-उपनिषत्के आधारपर)

अभेद

(ले०—श्रीजैनेन्द्रकुमारजी)

रात······

सब सो गये हैं और आसमानमें तारे घिरे हैं। मैं उनकी ओर देखता हुआ जागता हूँ। नींद आती ही नहीं। मेरा मन उन तारोंको देखकर विस्मयसे और स्नेहसे और अज्ञान-से भरा आता है। वे तारे हैं,—छोटी-छोटी चमकती बूँदियों-से कैसे प्यारे-प्यारे तारे! पर उनमेंसे हर एक अपनेमें एक विश्व है। वे कितने हैं?—कुछ पार नहीं। कुछ भी अन्त नहीं। कितनी दूर हैं? कोई पता नहीं। हिसाबकी पहुँचसे बाहर, वे नन्हे-नन्हे झिप-झिप चमक रहे हैं। उनके तले कल्पना स्तब्ध हो जाती है। स्वर्ण-चूर्णसे छाया, शान्त, सुन्न, खिला हुआ कैसा यह ब्रह्माण्ड! एकान्त अछोर, फिर भी कैसा निकट, कैसा स्व-गत!···मुझे नींद नहीं आती और मैं उसे नहीं बुलाना चाहता। चाहता हूँ, ये सब तारे मुझे मिल जायँ। वे मुझमें आ जायँ। मुझसे बाहर कुछ भी न रहे। सब कुछ मुझमें हो रहे, और मैं उनमें।

मैं अपनेको बहुत छोटा लगता हूँ, बहुत छोटा। बिल्कुल बिन्दु, एक अणु, एक शून्य। और इस समय जितना मैं अपनेको शून्य अनुभव करता हूँ उतना ही मेरा मन भरता आता है। जाने कैसे, मैं अपनेको उतना ही बड़ा होता हुआ पाता हूँ। जैसे जीके भीतर आह्लाद भरा जाता हो, उमगा आता हो। मुझे बड़ा अच्छा लग रहा है कि मैं कुछ भी नहीं हूँ। जो हूँ समस्तकी गोदमें ही हूँ; हूँ, तो बस इस ज्ञानके आनन्दके लिये हूँ कि सब हैं, सबमें मैं हूँ। मुझे प्रतीति होती है कि मेरी सीमाएँ मिट गयी हैं, मैं खोया जा रहा हूँ, मिला जा रहा हूँ। मालूम होता है एक गम्भीर आनन्द, एक······

तारे उस नीले शून्यमें गहरे-से-गहरे पैठे हैं। जहाँतक नीलिमा है वहाँतक वे हैं। यह स्वर्णाणुओंसे भरा नीला-नीला क्या है? आकाश क्या है? समय क्या है? मैं क्या हूँ? पर जो हो, मैं आनन्दमें हूँ। इस समय तो मेरी अज्ञानता ही सबसे बड़ा ज्ञान है। मैं कुछ नहीं जानता, यही मेरी स्वतन्त्रता है। ज्ञानका बन्धन मुझे नहीं चाहिये, नहीं चाहिये। तारोंका अर्थ मुझे नहीं चाहिये, नहीं चाहिये। मुझे उनका तारा-पन ही सब है, वही बस है। मैं उन्हें तारे ही मानूँगा, जो आसमानमें खिले टँके हैं। तारे बनाकर मैं उनमें अपना-पन, अपना मन भिगोये रखता हूँ। मुझे नहीं चाहिये कोई ज्ञान। उस सफलताके सम्मुख तो मैं बस इतना ही चाहता हूँ कि मैं सारे रोम खोलकर प्रस्तुत हो रहूँ। चारों ओर अपनेको छोड़ दूँ और भीतरसे अपनेको रिक्त कर दूँ, कि यह निस्सीमता, यह समस्तता बिना बाधाके मुझे छूए और मेरे भीतर भरकर व्याप जाय।

लोग सो रहे हैं। रात बीत रही है। मुझे नींद नहीं है। और लोग भी होंगे जिन्हें नींद न होगी। वे राजा भी हो सकते हैं, रंक भी हो सकते हैं। अरे राजा क्या, रंक क्या। नींदके सामने कोई क्या है। किसकी नींदको कौन रोक सकता है? आदमी अपनी नींदको आप ही रोक सकता है। दुनियामें भेद-विभेद हैं, नियम-कानून हैं। पर भेद-विभेद कितने ही हों, नियम-कानून कैसे ही हों—रात रात है। जो नहीं सोते वे नहीं सोते, पर रात सबको सुलाती है। सब भेद-प्रभेद भी सो जाते हैं, नियम-कानून भी सो जाते हैं। रातमें रंककी नींद राजा नहीं छीनेगा और राजाकी नींद भी रंककी नींदसे प्यारी नहीं हो सकेगी। नींद सबको बराबर समझेगी। वह सबको बराबरीमें डुबो देगी। नींदमें फिर स्वप्न आयँगे और वे मानवकी मर्यादा-बाधा मिटाकर जहाँ वह चाहे उसे ले जायेंगे। रातको जब आदमी सोयेगा तब प्रकृति उसे थपकेगी। आदमी दिन-भर अपने बीचमें खड़े किये विभेदोंके झगड़ोंसे झगड़कर जब हारेगा और हारकर सोयेगा तब उसके बंद पलकोंपर प्रकृति स्वप्न लहरायेगी। उन स्वप्नोंमें रंक सोनेके महलोंमें वास करे तो कोई राजा उसे रोकने नहीं आवेगा। वह वहाँ रुककर सुख सम्भोग पायेगा। और राजा अगर उन स्वप्नोंमें सङ्कटके मुँहमें पड़ेगा और क्लेश भोगेगा तो कोई चाटुकार उसे इससे बचा नहीं सकेगा। राजा अपनी आत्माको लेकर मात्र स्वयं होकर ही अपनी नींद पायेगा। तब वह है और

उसके भीतरका अव्यक्त है । तब वह राजा कहाँ है, मात्र विचारा है । इसी प्रकार नींदमें वह रंक भी मात्र अपनी आत्माके सम्मुख हो रहेगा । तब वह है और उसमें सन्निहित अव्यक्त है । तब वह बिचारा कहाँ रंक है । तब वह प्रकृतरूपमें जो है वही है । उस महाशून्य आकाशकी निशीथ-निस्तब्धतामें मानव अपनी 'मानवीय अस्मिता' को खोकर और अपनेको महाप्रकृतिकी चौकसीमें सौंपकर निरीह शिशु बनकर सोता है, अन्यथा वह है भी क्या !

पर फिर दिन आता है । तब मानव कहता है कि मैं जागता हूँ । वह कहता है कि अब मैं सावधान हूँ । और जाग्रत और सावधान बनकर वह मानव कहता है कि मानवतामें श्रेणियाँ हैं; अभेद तो मिथ्या स्वप्न था, सारसत्य भेद है । तब वह कहता है कि मैं चैतन्य-खण्ड उतना नहीं हूँ जितना राजा हूँ अथवा रंक हूँ । स्वप्नसे हमारा काम नहीं चलेगा, काम ज्ञानसे चलेगा । और ज्ञानका सच्चा नाम विज्ञान है । और विज्ञान यह है कि मैं या तो गरीब हूँ या अमीर हूँ । दिनमें क्या उसने अब आँख नहीं खोल ली है ? दिनमें क्या वह पदार्थोंको अधिक नहीं पहचानता है ? दिन रातकी तरह अँधेरा नहीं है; वह उजला है । तारे अँधेरेका सत्य हों, पर जाग्रत अवस्थामें क्या वे झूठ नहीं हैं ? देखो न, कैसे दिनके उजालेमें भाग छिपे हैं । उजले फूटे हुए दिनके सत्यको कौन त्याग सकता है ? वही उज्ज्वल सत्य है, वही ठोस सत्य है । और वह सत्य यह है कि तारे नहीं हैं, हम हैं । सब हम हैं । हमी हैं, और हम जाग्रत हैं । और सामने हमारे हमारी समस्याएँ हैं । अतः मनुष्य कर्म करेगा, वह युद्ध करेगा, वह तर्क करेगा, वह जानेगा । नींद मिथ्या है, और स्वप्न भ्रम है । यह दुःखप्रद है कि मानव सोता है, सोना अमानवता है । अँधेरी रात क्या गलत ही नहीं है कि जिसका सहारा लेकर आसमान तारोंसे चमक जाता है, और दुनियाँ धुँधली हो जाती है । भय अँधेरेमेंसे आता है, विश्वास भी अँधेरेमेंसे आता है । हमें चारों ओर धूप चाहिये, धूप, जिससे हमारे आसपासका छुट-बडपन चमक उठे और दूरकी सब आसमानी व्यर्थता लुप्त हो जाय ।

यह ठीक होगा । ठीक ही कैसे नहीं होगा ? लेकिन क्या यह भूल भी नहीं है ? और भूलपर स्थापित होनेसे सर्वांशमें भूल ही नहीं है ? क्या यह गलत है कि नींदसे हम ताजा होते हैं और दिनभरकी हमारी थकान खो जाती है। वह थकान कौन चूस लेता है, कौन उड़ा देता है ? हम हरियाली फिर कहाँसे पाते हैं ? क्या यह नहीं हो सकता कि सपनोंकी राह हम अपनी थकान बाहर फेंक देते हैं और फिर उन्हीं सपनोंकी राह अपनेमें ताजगी भी भरते हैं ? क्या यह नहीं हो सकता कि दिनमें हम व्यक्तके साथ इतने जडित और अव्यक्तके प्रति इतने जड होते हैं कि रात्रिमें अव्यक्त व्यक्तको शून्य बनाकर स्वयं प्रस्फुटित होता है और इस भाँति हमारे जीवनके भीतरकी समताको स्थिर रखता है ! क्या यह भी नहीं हो सकता कि हम स्वप्नमें, विश्वासमें विभेदको तिरस्कृत करके अभेदका पान करते और उसीके परिणाममें उठकर विभेदसे युद्ध करनेमें अधिक समर्थ होते हैं ? क्या यह नहीं हो सकता कि रातपर दिन निर्भर है, और रात न हो तो दिन दूभर हो जाय ? क्या यह नहीं है कि विभेद तबतक असत्य है, असम्भव है, जबतक अभेद उसमें व्याप्त न हो ? क्या··

पर, रात बीत रही है और मेरी आँखोंमें नींद नहीं है । ओह, यह समस्त क्या है ? मैं क्या हूँ ? मैं कुछ नहीं जानता—मैं कुछ नहीं जानूँगा । मैं सब हूँ । सब मैं है । मैं··

उसी समय कहीं घंटा बजा—ए-क । जैसे अँधेरेमें गूँज गया—ए-ए-क । मैं उस गूँजको सुनता हुआ रह गया । गूँज धीमे-धीमे विलीन हो गयी । सन्नाटा फिर वैसे ही सुन्न हो गया । मैंने कहा—'एक !' मैंने दोहराया—'एक, एक, एक ।' मैं दोहराता ही रहा कि जिससे नींद घिरे और आये और नींद कुछ मेरी ओर उतरकर आने लगी । अब मैं सोऊँगा । मैं सोऊँगा । बाहर अनेकताके बीचमें एक बनकर स्थिर शान्तिसे क्यों न मैं सो जाऊँगा ? अभावमें भरमना कैसा ! मैं चाहने लगा, मैं सोऊँ । पर तारे हँसते थे और, हँसते थे और मेरी आँखोंमें नींद धीमे-ही-धीमे उतरकर आ रही थी ।*

---

*'भेदाभेद' कहानीका एक खण्ड ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

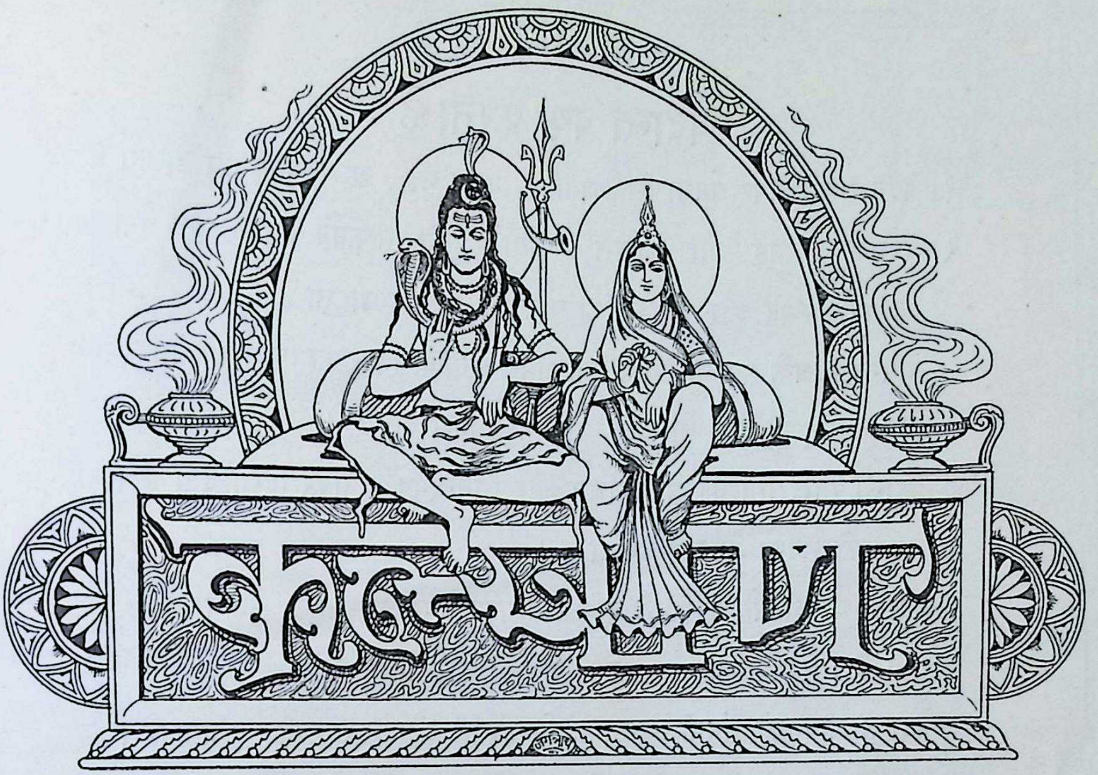

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

वर्ष ११
खण्ड १
गोरखपुर, भाद्रपद १९९३, सितम्बर १९३६
संख्या २
पूर्ण संख्या १२२

नतोऽस्म्यहं त्वाखिलहेतुहेतुं
नारायणं पूरुषमाद्यमव्ययम् ।
ाभिजातादरविन्दकोशाद्
ाविरासीद्यत एष लोकः ॥

वेदान्त क्या करता है ?

१–वेदान्त हमें अमर बनना सिखलाता है, मरना नहीं, वह मृत्युको मार डालता है ।

२–वेदान्त उत्साह और उल्लास बढ़ाता है तथा सत्कर्ममें प्रवृत्त करता है । वह आलस्य, विषाद और बुरे कर्मोंकी प्रवृत्तिको नष्ट कर डालता है ।

३–वेदान्त विश्वके सब प्राणियोंमें एक अमर आत्माके दर्शन कराकर सबमें प्रेम कराता है । वह घृणा, द्वेष, वैर और परायेपनको मिटा देता है ।

४–वेदान्त सारे संसारको सत्, चित् और आनन्दमय बनाकर दिखा देता है । वह जडताको सर्वथा नष्ट कर डालता है ।

५–वेदान्त कड़वी और दुःखभरी दुनियाको परम मधुर और अतुल सुखसे पूर्ण बना देता है । वह कटुता और कष्टकी जड़ ही काट डालता है ।

६–वेदान्त जीवनको संयमी, सन्तोषी, निरहंकारी और कर्त्तव्यशील बनाता है । वह विषयवासना, अतृप्ति, अहंकार और अकर्मण्यताको आमूल मिटा देता है ।

७–वेदान्त जीवनको पवित्र, पुण्यमय, सौम्य और शान्तिमय बना देता है । वह अपवित्रता, पाप, ताप और अशान्तिका बीज नाश कर डालता है ।

८–वेदान्त हमारे जीवनको आत्मा या परमात्माके परायण बना देता है । वह हमारी काम, क्रोध और लोभपरायणताको समूल नष्ट कर देता है ।

९–वेदान्त ज्ञानकी अप्रतिम अपूर्व ज्योति जलाकर सर्वत्र निर्मल एकरस अनन्त प्रकाश फैला देता है । वह अज्ञानके तमाम अन्धकारको सदाके लिये मिटा देता है ।

१०–वेदान्त ऊँच-नीचके लौकिक व्यवहारके रहते भी आन्तरिक ऊँच-नीचके भाव सर्वथा मिटा देता है । वह उपाधियोंके कल्पित भेदसे हटाकर हमें सर्व नित्य अभेदरूप सम ब्रह्मके दर्शन कराता है ।

११–वेदान्त मोहके सब पर्दोंको फाड़कर जीवकी सदाकी अपूर्ण पूरीकर उसे परमात्मा बना देता है । फिर उसके लिये कुछ भी करन नहीं रहने देता ।

'शिव'

वेदान्तके प्राचीन आचार्य

आचार्य बादरि

आचार्य बादरिके मतका उल्लेख ब्रह्मसूत्र (१।२।३०; ३।१।११; ४।३।७; ४।४।१०) और मीमांसासूत्र (३।१।३; ६।१।२७; ८।३।६; ९।२।३०) दोनोंमें पाया जाता है। इससे ऐसा अनुमान होता है कि ये ब्रह्मसूत्रकार और मीमांसासूत्रकारसे प्राचीन थे और इनके मतका देशमें काफी प्रभाव था। बादरायणने अपने मतके समर्थनमें और मीमांसासूत्रकार जैमिनिने पूर्वपक्षके रूपमें खण्डनके लिये इनके मतको उद्धृत किया है। इससे मालूम होता है, ये वैदान्तिक आचार्य थे। यत्र-तत्र इनके मतका उल्लेख पाया जाता है, जिससे निम्नलिखित बातें मालूम होती हैं—

(१) आचार्य बादरिके मतानुसार यद्यपि परमेश्वर महान् हैं, फिर भी प्रादेशमात्र हृदयद्वारा अर्थात् मनद्वारा उनका स्मरण हो सकता है।

(२) इनके मतानुसार गतिश्रुतिबलसे कार्यब्रह्म अर्थात् सगुण ब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है और अमानव पुरुष ही ब्रह्मकी प्राप्ति करा सकते हैं।

(३) इनके मतमें वेदज्ञानी पुरुषके शरीरादि नहीं होते, मुक्त पुरुष निरिन्द्रिय और शरीरविहीन होते हैं।

(४) इनके मतमें वैदिक कर्म करनेका सबको अधिकार है।

आचार्य कार्ष्णाजिनि

आचार्य कार्ष्णाजिनिके नामका उल्लेख भी ब्रह्मसूत्र (३।१।९) और मीमांसासूत्र (४।३।१७; ६।७।३५) दोनोंमें हुआ है। ये भी व्यासदेव और जैमिनिके पूर्ववर्त्ती आचार्य मालूम होते हैं। इनके मतका भी उल्लेख व्यासदेवने अपने मतके समर्थनमें और जैमिनिने उनका खण्डन करनेके लिये ही किया है। इससे मालूम होता है ये भी वेदान्तके ही आचार्य थे। ये प्रायः बादरिके मतके ही समर्थक प्रतीत होते हैं।

आचार्य आत्रेय

आचार्य आत्रेयके मतका उल्लेख करके (ब्र० सू० ३।४।४४) ब्रह्मसूत्रकारने उसका खण्डन किया है। उनका मत है कि यजमानको ही यज्ञके अङ्गभूत उपासनाका फल प्राप्त होता है, ऋत्विक्को नहीं हो सकता। अतएव सारी उपासनाएँ स्वयं यजमानको करनी चाहिये, पुरोहितके द्वारा नहीं करवानी चाहिये। इसका खण्डन व्यासदेवने आचार्य औडुलोमिके मतको प्रमाणस्वरूप उद्धृत करके किया है। मीमांसादर्शनमें जैमिनिने वेदान्तके आचार्य कार्ष्णाजिनिके मतका खण्डन करनेके लिये सिद्धान्तरूपसे आचार्य आत्रेयके मतका उल्लेख किया है। फिर बादरिके वैदिक कर्ममें सर्वाधिकारके मतका खण्डन करनेके लिये भी जैमिनिने आत्रेयके मतका प्रमाण दिया है। इससे मालूम होता है, ये पूर्वमीमांसाके आचार्य थे। ये भी सम्भवतः व्यासदेवके पहले हुए थे।

आचार्य औडुलोमि

आचार्य औडुलोमिका नाम केवल वेदान्तसूत्र (१।४।२१; ३।४।४५; ४।४।६) में ही मिलता है। मीमांसासूत्रमें नहीं मिलता। ये भी बादरायणके पूर्ववर्त्ती ही मालूम होते हैं। ये वेदान्तके आचार्य थे और भेदाभेदवादी थे। इनका कहना है कि संसार-दशामें जीव और ब्रह्ममें भेद है, मुक्ति होनेपर अभेद है। मीमांसक आचार्य आत्रेयके मतका खण्डन करनेके लिये बादरायणने इनके मतका उल्लेख किया है और इनका मत उन्हें ग्राह्य है, यह भी स्वीकार किया है। ब्रह्मसूत्र (४।४।५१) में जैमिनिका यह मत प्रकट किया गया है कि मुक्त व्यक्ति ब्रह्मस्वरूपताको प्राप्त होता है; वह निष्पाप, सर्वज्ञ और ऐश्वर्यादिका अधिकारी हो जाता है। इसके विरुद्ध औडुलोमिका यह मत प्रकट किया गया है कि चैतन्य ही आत्माका स्वरूप है और इस कारण वह मुक्तिमें भी चैतन्यमात्रको ही प्राप्त होता है। सत्यसंकल्पत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वेश्वरत्व आदि धर्म उसमें नहीं रहते।

आचार्य आश्मरथ्य

आचार्य आश्मरथ्यके मतका उल्लेख मीमांसादर्शनमें करके जैमिनिने उसका खण्डन किया है। अतएव इसमें सन्देह नहीं कि ये वेदान्तके आचार्य थे। वेदान्तसूत्र (१।२।२१; १।४।२०) में जो इनके मतका उल्लेख आया है, उससे आचार्य शङ्कर तथा भामतीकार वाचस्पति

८०—८१

मिश्रने इन्हें विशिष्टाद्वैतवादी सिद्ध किया है। ये भी वेदव्यास और जैमिनिसे पहले हुए थे। इनका कहना है कि परमेश्वर अनन्त होनेपर भी उपासकके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये प्रादेशमात्रस्थानमें आविर्भूत होते हैं। इनके मतमें विज्ञानात्मा और परमात्मामें परस्पर भेदाभेदसम्बन्ध है। आश्मरथ्यके इस भेदाभेदवादकी ही आगे चलकर यादवप्रकाशके द्वारा पुष्टि हुई, ऐसा कहा जाता है।

आचार्य काशकृत्स्न

आचार्य काशकृत्स्नका उल्लेख जैमिनिने अपने पूर्वमीमांसादर्शनमें नहीं किया है। बादरायणने इनके मतका समर्थन किया है। ये अद्वैतवादी थे। ये भी बादरायणसे पहले ही हुए थे।

आचार्य जैमिनि

आचार्य जैमिनिके मतका ब्रह्मसूत्रमें बहुत अधिक उल्लेख हुआ है। ये मीमांसादर्शनके रचयिता थे। मीमांसादर्शनके सिद्धान्तोंका ब्रह्मसूत्रमें और ब्रह्मसूत्रके सिद्धान्तोंका मीमांसादर्शनमें खण्डन करनेकी चेष्टा की गयी है। मीमांसादर्शनने कहीं-कहींपर ब्रह्मसूत्रके कई सिद्धान्तोंको ग्रहण भी किया है। इन सब बातोंसे ऐसा मालूम होता है कि जैमिनि बादरायणके समकालीन ही थे। पुराणोंमें ऐसा वर्णन मिलता है कि ये वेदव्यासके शिष्य थे। इन्होंने वेदव्याससे सामवेद और महाभारतकी शिक्षा पायी थी। मीमांसादर्शनके अतिरिक्त इन्होंने भारतसंहिताकी, जिसे जैमिनिभारत भी कहते हैं, रचना भी की थी। इन्होंने द्रोणपुत्रोंसे मार्कण्डेयपुराण सुना था। इनके पुत्रका नाम सुमन्तु और पौत्रका नाम सत्वान था। इन तीनों पिता-पुत्रोंने वेदकी एक-एक संहिता बनायी है, जिनका अध्ययन हिरण्यनाभ, पैष्पञ्जि और अवन्त्य नामके तीन शिष्योंने किया था।

आचार्य काश्यप

प्राचीन कालमें काश्यपका भी एक सूत्रग्रन्थ था। सूत्रकार शाण्डिल्यने अपने सूत्रग्रन्थमें काश्यप तथा बादरायणके मतका उल्लेख करके अपना सिद्धान्त स्थापित किया है। उनके मतमें काश्यप भेदवादी और बादरायण अभेदवादी थे।

इनके अतिरिक्त असित, देवल, गर्ग, जैगीषव्य, पराशर और भृगु आदि ऋषियोंके नाम भी प्राचीन वेदान्ताचार्योंमें पाये जाते हैं।

भगवान् वेदव्यास

वेदान्तदर्शनके प्रणेता भगवान् वेदव्यास हैं। यही माठर, द्वैपायन, पाराशर्य, कानीन, बादरायण, व्यास, कृष्णद्वैपायन, सत्यभारत, पाराशरि, सात्यवत, सत्यवतीसुत, सत्यरत आदि नामोंसे परिचित हैं। इन्होंने ही वेदोंका विभाग किया था और महाभारत, अष्टादश महापुराण और अध्यात्मरामायणकी रचना की थी। योगवाशिष्ठरामायण भी इन्हींकी रचना कही जाती है। महाभारतकालमें इनके वर्तमान रहनेकी बात महाभारतसे मालूम होती है। इससे यह कहा जा सकता है कि ये प्रायः ईसासे तीन हजार वर्ष पूर्व जीवित थे। इनका जीवनवृत्तान्त कुछ महाभारतमें मिलता है। उससे पता चलता है कि इनका जन्म मत्स्यगन्धा या सत्यवती नाम्नी कन्याके गर्भसे हुआ था। इनके पिता पराशर मुनि थे। इनका जन्म यमुनागर्भस्थ एक द्वीपमें हुआ था और इनका रंग श्याम था। इसीसे इनका नाम कृष्णद्वैपायन हुआ। ये पैदा होते ही माताकी आज्ञासे तपस्या करने चले गये और जाते समय यह कह गये कि जब तुम्हें मेरी कोई ज़रूरत हो तो मुझे स्मरण करना, मैं स्मरण करते ही तुम्हारी सेवामें उपस्थित हो जाऊँगा।

कालक्रमसे सत्यवतीका विवाह चन्द्रवंशीय राजा शान्तनुसे हुआ, जिस विवाहको देवव्रत (भीष्मपितामह) ने महान् त्याग करके सम्पन्न कराया था। जब शान्तनुपुत्र विचित्रवीर्यका देहान्त हो गया और कोई राज्याधिकारी न रहा तब सत्यवतीने व्यासदेवको स्मरण किया और योगबलसे इन्होंने धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुरको जन्म दिया। महामुनि शुकदेवजी भी इन्हींके पुत्र थे।

इन्होंने जब देखा कि क्रमशः धर्मका ह्रास होता जा रहा है तब इन्होंने धर्मकी रक्षाके लिये वेदका व्यास अर्थात् विभाग किया और इसीसे इनका नाम वेदव्यास पड़ा। इन्होंने वेदोंका विभाग करके अपने शिष्य सुमन्तु, जैमिनि, पैल और वैशम्पायन तथा पुत्र शुकदेवको अध्ययन कराया और महाभारतका उपदेश दिया। व्यासदेवने जो महान् कार्य किया और जैसी अलौकिक प्रतिभा दिखलायी, उसे देखते हुए कहना पड़ेगा कि इनकी बराबरीके दूसरे कोई

आचार्य न तो भारतमें कभी हुए, न अन्यत्र । इन्हें भगवान्‌का अवतार माना जाता है ।

कुछ लोगोंका मत है कि व्यास नामके कोई एक व्यक्ति नहीं हुए हैं । वेदका विभाग करनेवालोंकी यह एक उपाधि है । प्रत्येक कल्पमें धर्मका ह्रास होते देखकर भगवान् ब्रह्माने व्यासरूपमें अवतीर्ण होकर वेदोंकी रक्षा की । कूर्म, वायु और विष्णुपुराणमें २८ व्यासोंका उल्लेख मिलता है । उनके नाम हैं—स्वयम्भू, प्रजापति या मनु, उशना, बृहस्पति, सवितृ, मृत्यु या यम, इन्द्र, वशिष्ठ, सारस्वत, त्रिधामन्, ऋषभ या त्रिवृषन्, सुतेजा या भारद्वाज, आन्तरिक्ष या धर्म, वप्रवन् या सुचक्षुः, त्र्यारुणि, धनञ्जय, कृतञ्जय, ऋतञ्जय, भरद्वाज, गौतम, उत्तम, वाचश्रवस या वेण या नारायण, सोममुख्यायन या तृणबिन्दु, ऋक्ष या वाल्मीकि, शक्ति, पराशर, जातुकर्ण और कृष्णद्वैपायन ।

* * *

शंकरसे पूर्वके आचार्य

प्राचीन दर्शनशास्त्रके अध्ययनसे भर्तृप्रपञ्च, ब्रह्मनन्दी, टङ्क, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी, उपवर्ष, बोधायन, भर्तृहरि, सुन्दरपाण्ड्य, द्रमिडाचार्य, ब्रह्मदत्त आदि वेदान्ताचार्योंके नाम ज्ञात होते हैं । यह कहना कठिन है कि इन सभीने ब्रह्मसूत्रके ऊपर भाष्यरचना की थी या नहीं । इनमेंसे किसीने गीताके ऊपर भाष्यरचना की थी और किसीने ब्रह्मसूत्र और गीता दोनोंपर ही । उपनिषदोंपर भी किसी-किसीकी व्याख्या प्रचलित थी । परन्तु इन सबका ठीक-ठीक निर्देश करनेके लिये इस समय कोई उपाय नहीं है । हाँ, इतना अवश्य प्रतीत होता है कि भर्तृप्रपञ्चने कठोपनिषद् और बृहदारण्यकपर भाष्यरचना की थी । सुरेश्वराचार्य और आनन्दगिरिके समयमें भी भर्तृप्रपञ्चका ग्रन्थ उपलब्ध था, क्योंकि इन लोगोंने जिस प्रकार उनके मतका उपन्यास तथा प्रपञ्चन किया है, वैसा ग्रन्थके साक्षात् समालोचनके बिना हो नहीं सकता । भर्तृप्रपञ्चका सिद्धान्त ज्ञानकर्म-समुच्चयवाद था । यद्यपि शङ्कराचार्यने बृहदारण्यकभाष्यमें कहीं-कहींपर 'औपनिषदंमन्य' कहकर उनका परिहास किया है, तथापि यह बात अवश्य ही माननी होगी कि उस समय दार्शनिक क्षेत्रमें उनका पाण्डित्य तथा प्रभाव कुछ कम नहीं था । इसी कारण शङ्करके साक्षात् शिष्य अपने वार्तिकमें 'सम्प्रदायवित्' तथा 'ब्रह्मवादी' कहकर उनकी प्रशंसा करनेके लिये बाध्य हुए थे । दार्शनिक दृष्टिसे इनका मत द्वैताद्वैत, भेदाभेद, अनेकान्त आदि अनेक नामोंसे प्रसिद्ध था* । उनका मत है कि परमार्थ एक भी है और नाना भी है—ब्रह्मरूपमें एक है और जगद्रूपमें नाना है । इसीलिये उन्होंने एकान्ततः कर्म अथवा ज्ञानका स्वीकार न कर दोनोंकी ही सार्थकता मानी है । ज्ञान और कर्मका समुच्चय माननेका यही मुख्य उद्देश्य है । भर्तृप्रपञ्चकी दृष्टिसे जीव नाना और परमात्माका एकदेशमात्र है,—जैसे ऊषर देश पृथिवीके एक देशमें आश्रित है । विद्या, कर्म तथा पूर्वकर्मसंस्कार जीवमें विद्यमान रहते हैं, अविद्या परमात्मासे अभिव्यक्त होकर जीवमें विकार उत्पन्न करती हुई अनात्मस्वरूप अन्तःकरणमें धर्मभावसे वर्तमान रहती है । वे कहते हैं कि जीव परम मोक्ष लाभ करनेके पहले हिरण्यगर्भभावको प्राप्त होते हैं । हिरण्यगर्भत्व मुक्तावस्था नहीं है, किन्तु मोक्षकी पूर्वकालीन अन्तराल अवस्थामात्र है । इस अवस्थामें परमात्माका आभिमुख्य सर्वदाके लिये वर्तमान रहता है । काम, वासना आदि जीवके धर्म हैं । जीवका नानात्व औपाधिक नहीं है, परन्तु धर्म तथा दृष्टिके भेदसे है । ब्रह्म एक होनेपर भी समुद्रतरङ्गके समान द्वैताद्वैत है । जैसे अद्वैतभाव सत्य है, वैसे ही द्वैत भी सत्य है । द्वैतभावकी सत्तासे कर्मकाण्डका प्रामाण्य स्वीकार करना आवश्यक होता है । कार्य-कारणभाव कल्पित नहीं है, किन्तु सत्य है । मुमुक्षु तथा मुक्तपुरुषका आत्मदर्शन ठीक एक प्रकारका नहीं है ।

---

* शङ्कराचार्यने शारीरकभाष्य (ब्र० सू० २ । १ । १४) में भर्तृप्रपञ्चके भेदाभेद-मतका उपन्यास इस प्रकार किया है—'(ननु) अनेकात्मकं ब्रह्म, यथानेकशाखः वृक्षः, एवमनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म । अत एकत्वं नानात्वञ्चोभयमपि सत्यमेव । यथा वृक्ष इत्येकत्वम्, शाखा इति नानात्वम् । यथा च समुद्रात्मनैकत्वम्, फेनतरङ्गाद्यात्मना नानात्वम् । यथा च मृदात्मनैकत्वम्, घट-शरावाद्यात्मना नानात्वम् । तत्रैकत्वेनांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति, नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयौ लौकिकवैदिकव्यवहारौ सेत्स्यत इति । एवं च मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्तीति ।'

भर्तृप्रपञ्चने प्रथम दर्शनको परिच्छिन्न कर्मात्मदर्शन तथा द्वितीय प्रकारके दर्शनको अपरिच्छिन्न परमात्मदर्शन कहा है। परिच्छेदक विज्ञान ही अविद्या है। 'अहमेव इदं सर्वम्' इत्याकारक अर्थबोध परमात्मामें नित्य ही है, परन्तु तिरस्कृतविज्ञान सांसारिक आत्मामें इस प्रकारके बोधका अस्तित्व अनित्य है। अविद्याके सम्बन्धसे परब्रह्म ही हिरण्यगर्भपदवाच्य होता है। हिरण्यगर्भ सर्वत्र व्यापक है, यह निखिल सत्त्वोंका आत्मा अथवा जगदात्मा है। हिरण्यगर्भके साथ आसक्तिके सम्बन्धसे जीवभावका विकास होता है। आसङ्ग या वासना अन्तःकरणका धर्म है, यह जीवमें संक्रान्त होकर जीवधर्म बन जाता है। जीव ही कर्ता, भोक्ता तथा ज्ञाता है। भर्तृप्रपञ्चकी दृष्टिसे जीव ब्रह्मका परिणामस्वरूप है। इनके मतमें इन्द्रियाँ भौतिक हैं, आहङ्कारिक नहीं हैं। मोक्ष दो प्रकारका है—(१) अपरमोक्ष अथवा अपवर्ग, (२) परामुक्ति अथवा ब्रह्मभावापत्ति। इसी देहमें ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर प्रथम प्रकारका मोक्ष आविर्भूत होता है; यह जीवन्मुक्तिके अनुरूप है, इसका नाम अपवर्ग है। वस्तुतः यह आसङ्गत्यागनिमित्तक संसारनिवृत्तिमात्र है। देहपात न होनेसे ब्रह्ममें लय नहीं हो सकता, परन्तु देहपातके अनन्तर दूसरे प्रकारके मोक्षका–परममोक्षका–उदय होता है। यह ब्रह्ममें जीवका लय अथवा जीवकी ब्रह्मभावापत्ति है। इस अवस्थाका आविर्भाव अविद्यानिवृत्तिका फलस्वरूप है। इससे सिद्ध होता है कि भर्तृप्रपञ्चके मतसे ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर भी अर्थात् अपरामुक्ति या अपवर्गदशामें भी अविद्या पूर्णतया निवृत्त नहीं होती। अविद्यानिवृत्तिके साथ-साथ जीवके ब्रह्मभावकी उपलब्धिका प्रतिबन्धक शरीर छूट जाता है और परामुक्तिका अधिगम होता है। परमात्मा अथवा परब्रह्म नित्य पदार्थ है। इस अवस्थामें सम्पूर्ण विशेष अव्यक्त रहते हैं,—जैसे समुद्रमें ऊर्मियोंका एकत्व है, वैसे ही अविशेष अव्यक्त परमात्मावस्थामें निखिल विशेषोंका एकत्व है। ब्रह्मका परिणाम तीन प्रकारका है—(१) अन्तर्यामी तथा जीवरूपमें; (२) अव्याकृत, सूत्र, विराट् तथा देवतारूपमें; (३) जाति तथा पिण्डरूपमें। ये आठ अवस्थाएँ ब्रह्मकी ही हैं। इसी प्रकार जगत् आठ प्रकारसे विभक्त है। प्रकारान्तरसे ये तीन भागोंमें विभक्त किये गये हैं—(१) परमात्मराशि, (२) जीवराशि और (३) मूर्तामूर्तराशि। भर्तृप्रपञ्च प्रमाणसमुच्चयवादी थे। उनके मतमें लौकिक प्रमाण और वेद दोनों ही सत्य हैं। इसीलिये उन्होंने लौकिक-प्रमाणगम्य भेदको और वेदगम्य अभेदको सत्यरूपमें माना है। इसी कारण इनके मतमें जैसे केवल कर्म मोक्षका साधन नहीं हो सकता, वैसे ही केवल ज्ञान भी मोक्षका साधन नहीं हो सकता। मोक्षप्राप्तिके लिये ज्ञान-कर्मसमुच्चय ही प्रकृष्ट साधन है।

भर्तृमित्रका प्रसङ्ग जयन्तकृत न्यायमञ्जरी (पृ० २१३, २२६) में तथा यामुनाचार्यके सिद्धित्रय (पृ० ४–५) में आया है। इससे प्रतीत होता है कि ये भी वैदान्तिक आचार्य ही रहे होंगे। भर्तृमित्रने मीमांसापर भी ग्रन्थरचना की थी। भट्टपाद कुमारिलने अपने श्लोकवार्तिक (१ । १ । १ । १०; १ । १ । ६ । १३०-१३१) में इनका उल्लेख किया है—टीकाकार पार्थसारथिमिश्रने न्यायरत्नाकरनामक टीकामें ऐसा ही आशय प्रकट किया है। कुमारिल कहते हैं कि भर्तृमित्रप्रभृति आचार्योंके अपसिद्धान्तोंके प्रभावसे मीमांसाशास्त्र लोकायतवत् हो गया। विशिष्टाद्वैतग्रन्थोंमें उल्लिखित भर्तृमित्र और श्लोकवार्तिकोक्त मीमांसक भर्तृमित्र एक ही व्यक्ति थे या भिन्न थे, इसका निश्चय करना कठिन है। परन्तु कुमारिलके समालोचनसे मालूम होता है कि ये दो पृथक् व्यक्ति थे। मुकुलभट्टने अपने 'अभिधावृत्तिमातृका' ग्रन्थमें पृथक् भी भर्तृमित्रका नामनिर्देश किया है (पृ० १७ निर्णयसागर)।

भर्तृहरि—

भर्तृहरिका नाम भी यामुनाचार्यके ग्रन्थमें उल्लिखित हुआ है। इनको वाक्यपदीयकारसे अभिन्न माननेमें कोई अनुपपत्ति नहीं प्रतीत होती। परन्तु इनका कोई वेदान्त-ग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ। वाक्यपदीय व्याकरण-विषयक ग्रन्थ होनेपर भी प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है। अद्वैतसिद्धान्त ही इसका उपजीव्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं। किसी-किसी आचार्यका मत है कि भर्तृहरिके शब्दब्रह्मवादका ही प्रधानतया अवलम्बन करके आचार्य मण्डनमिश्रने ब्रह्मसिद्धि नामक ग्रन्थका निर्माण किया था। इसपर वाचस्पतिमिश्रकी ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा नामक एक टीका थी। उत्पलाचार्यके गुरु काश्मीरीय शिवाद्वैतके प्रधानतम आचार्य सोमानन्दपादने स्वरचित शिवदृष्टि नामक ग्रन्थमें भर्तृहरिके शब्दाद्वयवादकी विशेषरूपसे समालोचना की है। शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह, अविमुक्तात्मकृत इष्टसिद्धि तथा जयन्तकृत न्यायमञ्जरीमें भी शब्दाद्वैतवादका उल्लेख

मिलता है। उत्पल तथा सोमानन्दके वचनोंसे ज्ञात होता है कि भर्तृहरि तथा तदनुसारी शब्दब्रह्मवादी दार्शनिकगण 'पश्यन्ती' वाक्को ही शब्दब्रह्मरूप मानते थे। यह भी प्रतीत होता है कि इस मतमें पश्यन्ती ही परावाक्रूपमें व्यवहृत होती थी। यह वाक् विश्व जगत्का नियामक तथा अन्तर्यामी चित्-तत्त्वसे अभिन्न है।

उपवर्ष—

आचार्य शङ्करने ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें कहीं-कहीं उपवर्ष नामक एक प्राचीन वृत्तिकारके मतका उल्लेख किया है। इस वृत्तिकारने दोनों ही मीमांसाशास्त्रोंपर वृत्तिग्रन्थ बनाये थे, ऐसा प्रतीत होता है। पण्डित लोग अनुमान करते हैं कि ये 'भगवान् उपवर्ष' वे ही हैं जिनका उल्लेख शाबरभाष्य (मी० सू० १ । १ । ५) में स्पष्टतः किया गया है। शङ्कर कहते हैं (ब्र० सू० ३ । ३ । ५३) कि उपवर्षने अपनी मीमांसावृत्तिमें कहीं-कहींपर शारीरकसूत्रपर लिखी गयी वृत्तिकी बातोंका उल्लेख किया है। ये उपवर्षाचार्य शबरस्वामीसे पहले हुए, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु कृष्णदेवनिर्मित तन्त्रचूड़ामणि नामक ग्रन्थमें लिखा है कि शाबरभाष्यके ऊपर उपवर्षकी एक वृत्ति थी (देखिये Fitz Edward Hall का बनाया हुआ 'Index to Sanskrit Philosophy,' p. 167)। कृष्णदेवके वचनका कोई मूल है या नहीं, यह कहना कठिन है। यदि उनका वचन प्रामाणिक माना जाय, तो इस उपवर्षको प्राचीन उपवर्षसे भिन्न मानना पड़ेगा।

बोधायन—

प्रसिद्ध है कि ब्रह्मसूत्रपर बोधायनकी एक वृत्ति थी, जिसके वचनोंका आचार्य रामानुजने अपने भाष्यमें उद्धार किया है (देखिये Sacred Books of the East ग्रन्थमालामें थीबोलिखित वेदान्तशाङ्करभाष्यानुवादभूमिका, पृ० २१)।

प्रसिद्ध जर्मन पण्डित Hermann Jacobi का मत है कि बोधायनने मीमांसासूत्रपर भी वृत्ति लिखी थी (देखिये—Journal of the American Oriental Society, 1911, p. 17)। प्रपञ्चहृदय नामक ग्रन्थसे भी यह बात सिद्ध होती है और प्रतीत होता है कि बोधायन-निर्मित वेदान्तवृत्तिका नाम 'कृतकोटि' था (देखिये Trivandram से प्रकाशित 'प्रपञ्चहृदय', पृ० ३९)।

ब्रह्मनन्दी—

प्राचीन कालमें एक वेदान्ताचार्य 'ब्रह्मनन्दी' नामके भी आविर्भूत हुए थे। इनका मत मधुसूदन सरस्वतीने संक्षेपशारीरककी टीका (३–२१७) में उद्धृत किया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि शायद ये भी अद्वैतवेदान्तके आचार्य रहे होंगे। प्राचीन वेदान्तसाहित्यमें 'ब्रह्मनन्दी' छान्दोग्यवाक्यकारके अथवा केवल वाक्यकारके नामसे प्रसिद्ध थे।

टङ्क—

श्रीवैष्णवसम्प्रदायके साहित्यमें भी एक वाक्यकारका पता लगता है। उनका नाम है 'टङ्क'। विशिष्टाद्वैती लोग ब्रह्मनन्दी और टङ्कको अभिन्न समझते हैं; परन्तु यह कहाँतक सत्य है, यह कहना कठिन है।

ब्रह्मदत्त—

शङ्कराचार्यजीके पूर्व एक और अति प्रसिद्ध वेदान्ती थे, उनका नाम था ब्रह्मदत्त।* सम्भव है, वे भी वेदान्तसूत्रके भाष्यकार रहे हों †। परन्तु यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मदत्तके मतसे जीव अनित्य है, एकमात्र ब्रह्म ही नित्य पदार्थ है।

एकं ब्रह्मैव नित्यं तदितरदखिलं तत्र जन्मादिभाग्
इत्यायातम्, तेन जीवोऽपि अचिदिव जनिमान्—

यह मत ब्रह्मदत्तका है। इसे वेदान्तदेशिकाचार्यने अपने तत्त्वमुक्ताकलापकी टीका सर्वार्थसिद्धि (२–१६) में उद्धृत किया है। ब्रह्मदत्त कहते हैं—जीव तथा जगत् दोनों ही ब्रह्मसे उत्पन्न होकर ब्रह्ममें ही लीन हो जाते हैं। इनकी दृष्टिसे उपनिषदोंका यथार्थ तात्पर्य 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्योंमें नहीं है, किन्तु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि नियोगवाक्योंमें है। इनका कहना है कि भिन्नवत् प्रतीत होनेपर भी जीव वस्तुतः ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। ब्रह्मदत्तके मतसे, साधककी किसी अवस्थामें भी, कर्मोंका त्याग नहीं हो सकता। प्राचीन आचार्योंमें आश्रम-

---

* मध्वसम्प्रदायके मणिमञ्जरी नामक ग्रन्थ (६ । २-३) में लिखा है—शङ्कराचार्य ब्रह्मदत्तसे मिलने गये थे, परन्तु यह बात प्रामाणिक नहीं मालूम होती।

† सिद्धित्रय (प्रारम्भ)।

रथ्यका सिद्धान्त था कि जीव ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं और मुक्तिमें ब्रह्ममें ही लीन हो जाते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मदत्त भी जीवकी उत्पत्ति और विनाश मानते थे। परन्तु आश्मरथ्य भेदाभेदपक्षके अनुकूल थे। ब्रह्मदत्त अद्वैतवादी थे (देखिये नैष्कर्म्यसिद्धि १–६८)। शङ्कराचार्यके मतमें महावाक्य-जन्य ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है। उनके मतमें ज्ञानसे उपासना भिन्न है। शङ्कर उपासनाके विषयमें विधि माननेपर भी (ब्र० सू० १।१।४) ज्ञानके विषयमें विधि नहीं मानते। अविद्याकी निवृत्ति करनेवाला यथार्थ ज्ञान वस्तुतन्त्र या पुरुषतन्त्र है। इसलिये आत्मज्ञान-के लिये विधिकी कोई आवश्यकता नहीं है। और वेदान्ती ज्ञान और उपासनामें इस प्रकारका भेद नहीं मानते। वे लोग किसी-न-किसी प्रकारसे आत्मज्ञानमें भी विधि मानते ही हैं। मीमांसक लोग कहते हैं कि वेदका मुख्य तात्पर्य सिद्ध वस्तुके निर्देशमात्रमें नहीं है, परन्तु शङ्करेतर वेदान्ती भी कर्मका उपदेश प्रायः ऐसा ही मानते हैं। इन वेदान्तियोंकी दृष्टिसे पूर्व और उत्तरमीमांसामें यही भेद है कि पूर्वकाण्डमें कर्मविधि है और उत्तरकाण्डमें भावनाविधि है। इसीलिये उपनिषद्में 'आत्मा वा अरे' इत्यादि विधि-वाक्योंकी ही प्रधानता माननी चाहिये, 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंका प्राधान्य नहीं है। वस्तुके स्वरूपज्ञानके विना भावना नहीं हो सकती। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य वस्तुके स्वरूपमात्रके वोधक हैं, अतएव आत्मा उपासनाविधिका शेष है। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों ही साध्यविषयक हैं, सिद्धविषयक नहीं हैं। सुरेश्वराचार्यने नैष्कर्म्यसिद्धिमें कहा है—

'केचित् स्वसम्प्रदायबलावष्टम्भाद् आहुः—यदेतद् वेदान्तवाक्यादहं ब्रह्मेति विज्ञानं समुत्पद्यते, तन्नैव स्वोत्पत्तिमात्रेण अज्ञानं निरस्यति किं तर्हि अहन्यहनि द्राघीयसा कालेन उपासीनस्य सतः भावनोपचयात् निःशेषमज्ञानमपगच्छति, 'देवो भूत्वा देवानप्येति' इति श्रुतेः।' (१–६७)

ज्ञानामृतविद्यासुरभि नामकी नैष्कर्म्यसिद्धिटीकामें, यह मत ब्रह्मदत्तका है, ऐसा निर्णय किया गया है। शङ्कराचार्यने बृहदारण्यक (१।४।७) के भाष्यमें ब्रह्मदत्तके मतका उल्लेख किया है। इस मतमें अज्ञानकी निवृत्ति भावनाजन्य ज्ञानसे ही होती है, औपनिषद ज्ञान मुक्तिके लिये पर्याप्त नहीं है। इस प्रकारके ज्ञानका लाभ करनेपर भी जीवनपर्यन्त भावना आवश्यक है। ब्रह्मदत्त कहते हैं—यद्यपि देहके अवस्थितिकालमें भी उपायसे देवताका साक्षात्कार हो सकता है, तथापि उनके साथ मिलन तभी हो सकता है जब देह न रहे। प्रारब्धकर्मलब्ध देह उपास्यके साथ उपासकके मिलनमें प्रतिबन्धक है (देखिये—बृ० उ० वार्तिक, पृ० १३५७; नैष्कर्म्यसिद्धिटीका 'चन्द्रिका' १—६७)। जिस प्रकार मृत्युके अनन्तर ही स्वर्गलाभ हो सकता है, उसी प्रकार मोक्ष भी देह छूटनेके पश्चात् ही होता है। दोनों ही वैदिक विधिके पालनके फल हैं। ब्रह्मदत्त ध्याननियोग-वादी थे। वे जीवन्मुक्ति नहीं मानते थे। शङ्कराचार्यके मतसे मोक्ष दृष्ट फल है, परन्तु ब्रह्मदत्तके मतसे यह अदृष्ट फल है। शङ्करमतमें कर्मसे जिज्ञासा उत्पन्न होती है, मोक्ष नहीं होता। जीवन्मुक्तको कर्मोंकी आवश्यकता नहीं है। इस अवस्था-में कर्मसंन्यास स्वतः प्राप्त है। सत्त्वशुद्धि अथवा वैराग्य होनेपर शङ्करमतमें कर्मकी आवश्यकता नहीं रहती। इस अवस्थामें कर्मसंन्यास विधिप्राप्त है (देखिये–ऐतरेयभाष्य, उपोद्घात)। इस प्रकारकी द्वितीयावस्थामें साधकको केवल ज्ञानके अर्जनमें प्रयत्नशील होना चाहिये। ब्रह्मदत्तकी दृष्टिसे साधनक्रम इस प्रकार है—पहले उपनिषद्से ब्रह्मका परोक्षज्ञान लाभ करना चाहिये। तदनन्तर 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक भावनाका अभ्यास करना चाहिये। इस अवस्थामें कर्म आवश्यक है; जीवनपर्यन्त कर्मका त्याग नहीं होता। इसलिये ब्रह्मदत्तका मत भी ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद ही है। सुरेश्वराचार्यने भी उनका उल्लेख समुच्चयवादीके रूपमें ही किया है। ज्ञानोत्तमने नैष्कर्म्यसिद्धिकी टीकामें उन्हें ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी कहा है—

वाक्यजन्यज्ञानोत्तरकालीनभावनोत्कर्षाद् भावना-जन्यसाक्षात्कारलक्षणज्ञानान्तरेणैव अज्ञानस्य निवृत्तः ज्ञानाभ्यासदशायां ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयोपपत्तिः।

ब्रह्मदत्त कहते हैं कि मुमुक्षुको 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक अहंग्रहोपासना करनी चाहिये। बृहदारण्यक उपनिषद् (१।४।७।१०) में भी 'आत्मेत्येव उपासीत' इत्याकारक उपदेश मिलता है। अब प्रश्न यह है कि जीव परमात्मासे परमार्थतः भिन्न है या अभिन्न ? शङ्करने अभेदपक्ष माना है। परन्तु किसी-किसी वेदान्ताचार्यका यह मत है कि जीवके ब्रह्मसे अभिन्न न होनेपर भी अभेदभावनाकी आवश्यकता है (देखिये सम्बन्धवार्तिक—श्लोक ७०२, ८४५, ब्र० सू० भा० ४।१३; संक्षेपशारीरक १।३०७—३११; पञ्चपादिका पृ० २५२-२५३)। ब्रह्मदत्तके मतमें जीव और ब्रह्मका परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह ज्ञात नहीं होता। यदि भेद हो

तो ऐक्यभावनाके बलसे मोक्षमें जीवका लय हो जायगा। यदि जीवको ब्रह्मका अंश माना जाय या दोनोंमें अभेद हो, तो भावनासे भेदभावकी निवृत्ति, अभेदका स्फुरण या साक्षात्कार तथा अन्तमें मोक्ष होगा। ब्रह्मदत्तकी दृष्टिसे 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके श्रवणसे आत्मस्वरूपविषयक अखण्ड वृत्ति नहीं उत्पन्न हो सकती, क्योंकि उन शब्दोंमें तादृश शक्ति नहीं है; परन्तु निदिध्यासन अथवा प्रसंख्यानमें ऐसी सामर्थ्य है। यदि प्रसंख्यान पूर्णतया सम्पन्न हो, तो उससे आत्माका अखण्ड ज्ञान आविर्भूत होता है (देखिये ब्र० सू० भा० नि० सा० १२८ से १३० और १५३)। शङ्करके मतसे इस मतका विरोध स्पष्ट ही प्रतीत होता है। सुरेश्वराचार्यने नैष्कर्म्यसिद्धि (१—६७) में तथा पद्मपादने पञ्चपादिका (पृ० ९९) में स्पष्ट ही कहा है कि महावाक्यसे साक्षात्—अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है *।

भारुचि—

रामानुजकृत वेदार्थसंग्रह (पृ० १५४) में प्राचीन कालके छः वेदान्ताचार्योंके नामका उल्लेख मिलता है। इन आचार्योंने रामानुजसे पहले वेदान्तशास्त्रज्ञानके प्रचारके लिये ग्रन्थ निर्माण किये थे। आचार्य रामानुजके सत्कारपूर्वक उल्लेखसे प्रतीत होता है कि ये लोग निर्विशेष ब्रह्मवादी नहीं थे। इन आचार्योंके नाम हैं—भारुचि, टङ्क, बोधायन, गुहदेव, कपर्दिक और द्रमिलाचार्य (द्रविडाचार्य)। श्रीनिवासदासने यतीन्द्रमतदीपिका (पूना सं० पृ० २) में व्यास, बोधायन, गुहदेव, भारुचि, ब्रह्मनन्दी, द्रमिडाचार्य, श्रीपरांकुश, नाथमुनि और ज्योतीश्वर प्रभृतिके नामका इसी प्रसङ्गमें उल्लेख किया है। इनमें टङ्क और ब्रह्मनन्दी वैष्णवोंके मतसे अभिन्न हैं। इनका नाम तथा विवरण पहले दिया जा चुका है।

भारुचिके विषयमें विशेष परिज्ञान नहीं है। विज्ञानेश्वरकी मिताक्षरा (१ । १८ और २ । १२४), माधवाचार्यकृत पराशरसंहिताकी टीका (२ । ३, पृ० ५१०) एवं सरस्वतीविलास (पैराग्राफ १३३) प्रभृति ग्रन्थोंमें धर्मशास्त्रकार भारुचिका नाम उपलब्ध होता है। प्रतीत होता है कि इन्होंने विष्णुकृत धर्मसूत्रके ऊपर एक टीका लिखी थी। श्रीवैष्णवसम्प्रदायमें प्रसिद्ध भारुचि और धर्मशास्त्रकार भारुचि यदि एक माने जायँ, तो इनका समय खी० नवम सदीके प्रथमार्द्धमें माना जा सकता है (देखिये P. V. Kane कृत 'धर्मशास्त्रका इतिहास', पृ० २६५)।

द्रविडाचार्य भी प्राचीन वैदान्तिक थे। इन्होंने छान्दोग्य-उपनिषद्पर अतिबृहत् भाष्य लिखा था। बृहदारण्यक उपनिषद्पर भी इनका भाष्य था, ऐसा प्रमाण मिलता है। माण्डूक्योपनिषद् (२ । ३२; २ । २०) के भाष्यमें शंकरने उनका 'आगमवित्' कहकर उल्लेख किया है और बृहदारण्यकउपनिषद्के भाष्य (पृ० २९७, पूना सं०) में उनका उल्लेख 'सम्प्रदायवित्' कहकर किया गया है। जहाँ-जहाँ द्रविडाचार्यका उल्लेख करना आवश्यक था वहाँ सम्मानके साथ ही किया गया है। कहीं भी उनके मतका खण्डन नहीं किया गया। इससे प्रतीत होता है कि द्रविडाचार्यका सिद्धान्त शङ्करके सिद्धान्तके प्रतिकूल नहीं था। छान्दोग्य-उपनिषद्में जो 'तत्त्वमसि' महावाक्यका प्रसङ्ग आया है उसकी व्याख्यामें द्रविडाचार्यने व्याधसंवर्धित राजपुत्रकी आख्यायिकाका वर्णन किया है। आनन्दगिरि कहते हैं—

तत्त्वमस्यादिवाक्यमैक्यपरम्, तच्छेषः सृष्ट्यादिवाक्यम्।

यह मत आचार्य द्रविडको अङ्गीकृत है।

पहले कहा गया है कि रामानुजसम्प्रदायके ग्रन्थोंमें भी द्रविडाचार्य नामके एक प्राचीन आचार्यका उल्लेख मिलता है। किसी-किसीका मत यह है कि ये द्रविडाचार्य शङ्करोक्त द्रविडसे भिन्न थे। इन्होंने पञ्चरात्रसिद्धान्तका अवलम्बन करके द्रविड भाषामें ग्रन्थरचना की थी। यामुनाचार्यने सिद्धित्रयमें इन्हीं आचार्यके विषयमें कहा है—

भगवता बादरायणेन इदमर्थमेव सूत्राणि प्रणीतानि विवृतानि च परिमितगम्भीरभाष्यकृता।

यहाँपर 'भाष्यकृत्' शब्दसे द्रविडाचार्य लिये गये हैं। किसी-किसीका मत है कि द्रविडसंहिताकार अलवर, शठकोप अथवा वकुलाभरण ही वैष्णवग्रन्थोंमें द्रविडाचार्य नामसे प्रसिद्ध हैं।

इन दोनों द्रविडोंकी परस्पर भिन्नता अथवा अभिन्नताके सम्बन्धमें अबतक कोई स्थिर सिद्धान्त नहीं कायम कर सका। सर्वज्ञात्ममुनिने संक्षेपशारीरक[३ । २२१]में ब्रह्मनन्दिग्रन्थके द्रविडभाष्यसे जिन वचनोंका उद्धार किया है, वे रामानुजद्वारा

---

* परन्तु मण्डनमिश्रका मत यह है (देखिये बृ० भा० टीका ४ । ४ । ७९६) कि शब्दसे अपरोक्षज्ञान हो ही नहीं सकता।

उद्धृत द्रविडभाष्य-वचनोंसे अभिन्न दीख पड़ते हैं। इसीलिये किसी-किसीके मतसे शङ्करसम्प्रदायमें प्रसिद्ध द्रविड और रामानुजसम्प्रदायमें प्रसिद्ध द्रविड एक ही व्यक्ति हैं, भिन्न नहीं।

सुन्दरपाण्ड्य—

भगवान् शङ्करके पहले सुन्दरपाण्ड्य नामक आचार्यने एक कारिकाबद्ध वार्तिककी रचना की थी। यह वार्तिक ब्रह्मसूत्रके किसी प्राचीन भाष्य या वृत्तिका अवलम्बन करके बनाया गया था। परन्तु इस वृत्ति या भाष्यका ठीक-ठीक पता नहीं लगता। इस वृत्तिके निर्माता बोधायन थे, या उपवर्ष थे, अथवा और कोई प्राचीन आचार्य, इस विषयमें निश्चितरूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु समन्वयाधिकरणके भाष्यके अन्तमें (१।१।४) इस वार्तिकग्रन्थसे शङ्कराचार्यने स्वयं 'अपि चाहुः' कहकर तीन श्लोक उद्धृत किये हैं—

अपि चाहुः—

गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्।
सद् ब्रह्मात्माहमित्येवंबोधे कार्यं कथं भवेत्॥
अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः।
अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः॥
देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात्॥ इति

इसका तात्पर्य यह है कि जबतक 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक ब्रह्मज्ञानका उदय नहीं होता, तबतक सब प्रकारकी विधियाँ और प्रमाण सार्थक हैं। आत्मवस्तु हेय भी नहीं है और उपादेय भी नहीं है। यह अद्वैत है, इस प्रकार आत्माके बोधमें प्रमाणकी अपेक्षा ही नहीं है, क्योंकि उस समय प्रमाता भी नहीं रहता और विषय भी नहीं रहता। वाचस्पतिमिश्रने भामतीमें इन श्लोकोंका 'ब्रह्मविदां गाथा' कहकर वर्णन किया है। परन्तु पद्मपादकृत पञ्चपादिकाके ऊपर 'प्रबोधपरिशोधिनी' नामकी एक टीका है, जिसका रचयिता नरसिंहस्वरूपका शिष्य आत्मस्वरूप है। इस टीकासे पता चलता है कि ये तीनों श्लोक सुन्दरपाण्ड्यकृत हैं। सूतसंहिताकी माधवमन्त्रिकृत तात्पर्यदीपिका नामकी टीकामें भी कहा गया है कि इन श्लोकोंके अन्तर्गत तृतीय श्लोक—अर्थात् 'देहात्मप्रत्ययो यद्वत्'—सुन्दरपाण्ड्यकृत वार्तिकसे लिया गया है। अमलानन्दकृत कल्पतरु (३।३।२५) में सुन्दरपाण्ड्यके 'निःश्रेण्यारोहणप्राप्यम्' प्रभृति और तीन वचन तथा तन्त्रवार्तिक (बनारस सं० ८५२-८५३ पृ०) में ये तीन और 'तेन यद्यपि सामर्थ्यम्' प्रभृति दो—कुल पाँच वचन उद्धृत हुए हैं। न्यायसुधा (पृ० १२२८) में ये पाँच श्लोक 'वृद्धानाम्' के नामसे उद्धृत किये गये हैं। किसी-किसी आचार्यके मतसे सुन्दरपाण्ड्यका समय ६५० खीष्टाब्द है। सुन्दरपाण्ड्य शैव-वेदान्ती थे, इस विषयमें कोई सन्देह नहीं है। किसी पण्डितके मतमें यह राजा नेडुमारण नायनरका नामान्तर है*। भट्ट कुमारिलने तन्त्रवार्तिकके दूसरे स्थानमें (पृष्ठ २८०-२८१ तथा ३५७) 'आह च' कहकर दो श्लोक उद्धृत किये हैं। न्यायसुधाके मतसे भी ये वृद्धवचन हैं। ये वृद्ध सुन्दरपाण्ड्य ही हैं, दूसरा कोई नहीं। प्रतीत होता है कि सुन्दरपाण्ड्यने पूर्वमीमांसापर एक वार्तिककी रचना की थी।

* * *

---

* इस विषयका विशेष विवरण म० म० कुप्पूस्वामी शास्त्रीके द्वारा लिखित 'Some Problems of Identity in the Cultural History of Ancient India' नामक लेखमें देखना चाहिये। यह लेख Journal of Oriental, Research Madras नामक पत्रिकाके प्रथम खण्ड (पृ०१–१५) में प्रकाशित हुआ था। प्रसङ्गतः उक्त लेखकका दूसरा लेख भी देखना चाहिये (Proceedings of Third Oriental Conference, पृ० ४६५–४६८)। ये पाण्ड्यराज कुब्जवर्द्धन अथवा कुलपाण्ड्य नामसे भी परिचित थे। किसी-किसीके मतमें अरिकेसरी इनकी उपाधि थी। प्रसिद्ध शैवाचार्य तिरुज्ञान सम्बन्धर इनके समकालीन थे। इन्हींके प्रभावसे प्रभावित होकर सुन्दरपाण्ड्यने जैनधर्मको छोड़कर शैवधर्मका ग्रहण किया था और अपनी साधनसम्पत्तिके प्रभावसे ६३ शैवाचार्योंके मध्यमें स्थान प्राप्त किया था। इन्होंने चोल-राजकुमारीसे विवाह किया था।

अद्वैतसम्प्रदायके प्रधान-प्रधान आचार्योंका परिचय

अवतरणिका

भारतीय मानवसमाजकी सब प्रकारकी विचारधाराओंके आदिस्रोत वेद हैं। आस्तिकसमाज तो मुक्तकण्ठसे अपने विचारोंको वेदमूलक स्वीकार करता ही है; किन्तु यदि सावधानीसे खोज की जाय तो नास्तिकोंके मन्तव्योंका मूल भी सर्वभूतहितैषिणी भगवती श्रुतिमें ही मिल जाता है। विषयकी दृष्टिसे वेदोंके तीन विभाग माने गये हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्डमें ऐहिक और आमुष्मिक भोगोंकी प्राप्तिके साधनोंका विचार है; उपासनाकाण्ड जीवको सब प्रकारके विक्षेपसे छुड़ाकर लोकोत्तर एवं दिव्य आनन्दकी प्राप्तिका मार्ग प्रदर्शित करता है तथा ज्ञानकाण्ड जगत्के वास्तविक स्वरूप और इसके मूलतत्त्वका निर्णय करता है। वैदिक ज्ञानकाण्डको ही उपनिषद् या वेदान्त कहते हैं। यह वेदोंका वेदान्तभाग ही समस्त सम्प्रदायोंका सिद्धान्त है। यद्यपि शास्त्र एक ही है, तथापि महानुभावोंने अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार उसमें भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंकी झाँकी की है। वे विभिन्न सिद्धान्त ही लोकमें भिन्न-भिन्न वादोंके नामसे प्रसिद्ध हैं। अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैतवाद, शिवाद्वैतवाद, स्पन्दवाद आदि सभी वादोंकी आधारशिला वेद हैं।

यहाँ और सबको छोड़कर केवल अद्वैतवादी प्रधान-प्रधान आचार्योंका संक्षिप्त परिचय देनेका प्रयत्न किया जाता है। यों तो वेदके समान ये सब सम्प्रदाय भी अनादि हैं और अज्ञात चिरकालसे ही विद्वानोंमें इन विभिन्न विचारधाराओंके संस्कार रहे हैं तथापि अर्वाचीन कालमें इस साम्प्रदायिक भेदने बहुत स्पष्ट रूप धारण कर लिया है। अद्वैतसम्प्रदायके अर्वाचीन प्रधान आचार्य श्रीशंकराचार्यजी हैं। उन्होंने बड़े समारोहके साथ अन्य मतावलम्बियोंके मन्तव्योंका खण्डन करते हुए स्वसिद्धान्तका स्थापन और प्रचार किया है। किन्तु उसे साम्प्रदायिक मतवादका रूप तो उनके परमगुरु श्रीमद्गौडपादाचार्यजीने ही दे दिया था। भगवान् शंकरने उसीका विस्तार किया। श्रीगौडपादाचार्यतक अद्वैतसम्प्रदायके आचार्योंकी परम्पराका क्रम इस प्रकार है—श्रीनारायण, श्रीब्रह्मा, वसिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास और शुकदेव। शुकदेवजीके शिष्य श्रीगौडपादाचार्य माने जाते हैं। गौडपादाचार्यजीसे पूर्व जो अद्वैतसम्प्रदायके प्रवर्तक माने गये हैं वे सब वैदिक एवं पौराणिक ऋषि हैं। उनके विषयमें हमें कुछ कहना नहीं है। अतः हम श्रीगौडपादाचार्यसे आरम्भ करके उनके उत्तरवर्ती प्रमुख आचार्योंके विषयमें ही कुछ लिखनेका प्रयत्न करते हैं।

श्रीगौडपादाचार्य

अद्वैतवादके आचार्योंका संक्षिप्त परिचय देते समय स्वभावतः ही सबसे पहले श्रीगौडपादाचार्यजीपर दृष्टि जाती है। गौडपादाचार्यजीके जीवनके विषयमें कोई विशेष बात नहीं मिलती। आचार्य शंकरके शिष्य सुरेश्वराचार्यजीके नैष्कर्म्यसिद्धि नामक ग्रन्थसे केवल इतना पता लगता है कि वे गौड-देशके रहनेवाले थे। इससे प्रतीत होता है कि उनका जन्म बंगाल प्रान्तके किसी स्थानमें हुआ होगा। श्रीशंकरके जीवनचरितसे इतना मालूम होता है कि गौडपादाचार्यके साथ उनकी भेंट हुई थी। परन्तु इसके अन्य प्रमाण नहीं मिलते।

आचार्य गौडपादके ग्रन्थोंमें बौद्धमतका स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता, केवल आभासमात्र मिलता है। इससे मालूम होता है, उन्होंने जब ग्रन्थ लिखा था उस समय देशमें बौद्धधर्मका कोई प्राधान्य नहीं था। मौर्यवंशीय राजा अशोकके समयमें (ईसासे पूर्व प्रायः २७२ वर्षसे लेकर ईसासे पूर्व प्रायः २३१ वर्षतक) बौद्धधर्मके प्रचारकी विशेष चेष्टा हुई थी। परन्तु पुष्यमित्रके समयतक (प्रायः १८४ वर्ष ईसासे पूर्वसे लेकर १४८ वर्ष ईसासे पूर्वतक) बौद्धधर्मका प्राधान्य देशमें नहीं हुआ था, ऐसा मालूम होता है। पुष्यमित्रको यदि पतञ्जलिका समसामयिक माना जाय और यदि यह मान लिया जाय कि पतञ्जलि ही श्रीशंकराचार्यके गुरु श्रीगोविन्दपाद थे, तब यह कहा जा सकता है कि गौडपादाचार्य भी पुष्यमित्रके समसामयिक थे। और फिर श्रीशंकराचार्यके समयमें हम बौद्धधर्मका देशमें पूर्ण प्रभाव पाते हैं। इससे मालूम होता है कि ईसासे पूर्व प्रायः तीसरी शताब्दीमें बौद्धधर्मके प्रचारका आरम्भ हुआ और प्रायः दो सौ वर्ष बाद ईसासे पूर्व

पहली शताब्दीमें इसका प्राधान्य देशभरमें हो गया । इससे यह अनुमान होता है कि आचार्य गौडपाद ईसासे पूर्व द्वितीय शताब्दीके प्रथम भागमें वर्तमान थे ।

श्रीगौडपादाचार्यका सबसे प्रधान ग्रन्थ है माण्डूक्योपनिषत्-कारिका । इसका श्रीशंकराचार्यने भाष्य लिखा है । इस कारिकाकी मिताक्षरा नामकी एक टीका भी मिलती है । परवर्ती आचार्योंने इस कारिकाको प्रमाणरूपसे स्वीकार किया है । गौडपादाचार्यप्रणीत सांख्यकारिकाभाष्य भी मिलता है। परन्तु इसमें सन्देह है कि यह भाष्य उनका है या दूसरेका। उनका तीसरा ग्रन्थ मिलता है उत्तरगीताभाष्य। उत्तरगीता महाभारतका ही एक अंश है । परन्तु यह अंश सब महाभारतोंमें नहीं मिलता ।

आचार्य गौडपाद अद्वैतसिद्धान्तके प्रधान आचार्य थे। उन्होंने अपनी कारिकामें जिस सिद्धान्तको बीजरूपसे प्रकट किया, उसीको श्रीशङ्कराचार्यने अपने ग्रन्थोंमें और भी विस्तृत रूपसे समझाकर संसारके सामने रक्खा है। कारिकाओंमें उन्होंने जिस मतका प्रतिपादन किया है उसे अजातवाद कहते हैं। सृष्टिके विषयमें भिन्न-भिन्न मतावलम्बियोंके भिन्न-भिन्न मत हैं । कोई कालसे सृष्टि मानते हैं, कोई प्रकृतिको प्रपञ्चका कारण मानते हैं, कोई परमाणुओंसे ही जगत्‌की उत्पत्ति मानते हैं और कोई भगवान्‌के संकल्पसे इसकी रचना मानते हैं । इस प्रकार कोई परिणामवादी हैं और कोई आरम्भवादी हैं । किन्तु श्रीगौडपादाचार्यके सिद्धान्तानुसार जगत्‌की उत्पत्ति ही नहीं हुई, केवल एक अखण्ड चिद्घनसत्ता ही मोहवश प्रपञ्चवत् भास रही है । यही बात आचार्य इन शब्दोंमें कहते हैं—

मनोदृश्यमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥

अर्थात् 'यह जितना द्वैत है सब मनका ही दृश्य है, परमार्थतः तो अद्वैत ही है; क्योंकि मनके मननशून्य हो जानेपर द्वैतकी उपलब्धि नहीं होती।' आचार्यने अपनी कारिकाओंमें अनेक प्रकारकी युक्तियोंसे यही सिद्ध किया है कि सत्, असत् अथवा सदसत् किसी भी प्रकारसे प्रपञ्चकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती । अतः परमार्थतः न उत्पत्ति है, न प्रलय है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त ही है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

बस, जो समस्त विरुद्ध कल्पनाओंका अधिष्ठान, सर्वगत, असंग, अप्रमेय और अविकारी आत्मतत्त्व है एकमात्र वही सद्वस्तु है । मायाकी महिमासे रज्जुमें सर्प, शुक्तिमें रजत और सुवर्णमें आभूषणादिके समान उस सर्वसंगशून्य निर्विशेष चित्तत्त्वमें ही समस्त पदार्थोंकी प्रतीति हो रही है ।

आचार्य गोविन्द भगवत्पाद

आचार्य गोविन्द भगवत्पाद गौडपादाचार्यके शिष्य तथा शंकराचार्यके गुरु थे । इनके विषयमें विशेष कोई बात नहीं मिलती । शंकराचार्यकी जीवनीसे ऐसा मालूम होता है कि ये नर्मदातटपर कहीं रहा करते थे । शंकराचार्यका शिष्य होना ही यह बतलाता है कि वे अपने समयके एक उद्भट विद्वान्, अद्वैत-सम्प्रदायके प्रमुख आचार्य और सिद्ध योगी होंगे । उनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता । किसी-किसीका कहना है कि ये गोविन्दपादाचार्य ही पतञ्जलि थे । यदि यह बात सत्य हो तो कहा जा सकता है कि महाभाष्य उन्हींका बनाया हुआ है । उनका कोई अद्वैतसिद्धान्त-सम्बन्धी ग्रन्थ नहीं मिलता ।

भगवान् शंकराचार्य

वेदान्तदर्शनका—अद्वैतवादका प्रचार भारतमें यों तो बहुत प्राचीन कालसे है । परन्तु इधर उसका सबसे अधिक प्रचार भगवान् शंकराचार्यके द्वारा ही हुआ है । और उस मतके समर्थक प्रधान ग्रन्थ उन्हींके हैं । इसीसे श्रीशंकराचार्यको अद्वैतवादका प्रवर्तक मानते हैं और अद्वैतमतको शांकरमत या शांकरदर्शन भी कहते हैं । ब्रह्मसूत्रपर आज जितने भाष्य मिलते हैं, उनमें सबसे प्राचीन शांकरभाष्य ही है और उसीका सर्वत्र सबसे अधिक आदर भी है । भगवान् शंकरके जो ग्रन्थ मिलते हैं तथा यत्र-तत्र उनकी जीवनसम्बन्धी जो घटनाएँ मिलती हैं, उनसे ऐसा मालूम होता है कि वे एक अलौकिक व्यक्ति थे । उनके अंदर हम प्रकाण्ड पाण्डित्य, गभीर विचारशैली, प्रचण्ड कर्मशीलता, अगाध भगवद्भक्ति, सर्वोत्तम त्याग, अद्भुत योगैश्वर्य आदि अनेक गुणोंका दुर्लभ समुच्चय पाते हैं । उनकी वाणीपर तो मानो साक्षात् सरस्वती ही विराजती थीं । यही कारण है कि अपने ३२ वर्षकी अल्प आयुमें ही उन्होंने अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थ रच डाले, सारे भारतमें भ्रमण करके विरोधियोंको शास्त्रार्थमें पराजित किया, भारतके चारों कोनोंमें

चार प्रधान मठ स्थापित किये और समग्र देशमें नवयुग उपस्थित कर दिया। थोड़ेमें यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्यने अवतरित होकर डूबते हुए सनातनधर्मकी रक्षा की और उसीके फलस्वरूप आज हम सनातनधर्मको जीता-जागता देखते हैं। उनके इस धर्मसंस्थापनके कार्यको देखकर यह विश्वास और भी दृढ हो जाता है कि वे साक्षात् कैलासपति भगवान् शंकरके ही अवतार थे—'शङ्करो शङ्करः साक्षात्'—और इसीसे सब लोग 'भगवान्' शब्दके साथ उनका स्मरण करते हैं।

इतने बड़े आचार्य और इतने सुप्रसिद्ध, प्रभावशाली तथा सर्वमान्य महापुरुष होनेपर भी भगवान् श्रीशंकराचार्यकी कोई प्रामाणिक जीवनी नहीं मिलती। परवर्ती कालमें उनके जीवनसम्बन्धी घटनाओंका संकलन हुआ है, जिनमें आनन्दगिरिकृत शङ्करदिग्विजय, चिद्विलासयतिकृत शङ्करविजय तथा माधवाचार्यविरचित संक्षिप्तशङ्करजय मुख्य हैं। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे इनमेंसे कोई भी प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। आधुनिक कालमें इस विषयमें जो कुछ अन्वेषण हुए हैं, उनमें भी बड़ा मतभेद है। एक बात कोई निश्चित नहीं हो सकी है। शंकराचार्यका आविर्भाव और तिरोभाव कब हुआ था, इस विषयमें अनेकों मत हैं।

भगवान् शङ्कराचार्यका आविर्भावकाल

ईसासे पूर्व षष्ठ शताब्दीसे लेकर ईसाके अनन्तर नवम शताब्दीतक किसी समयमें इनका आविर्भाव हुआ था, यह सब लोग मानते हैं; क्रिन्तु किस वर्षमें इनकी उत्पत्ति हुई थी, इसका अभीतक पक्का निश्चय नहीं हो सका है।

पहला मत यह है कि शङ्कराचार्यने ई० पू० ५०८ वर्षमें जन्मग्रहण किया तथा ई० पू० ४७६ वर्षमें (२६२५ कलि वर्षमें), ३२ वर्षकी अवस्थामें, देहत्याग किया।

काञ्चीमठ तथा द्वारिकामठमें जो गुरुपरम्पराकाल प्रसिद्ध है उसके अनुसार शङ्कर ई० पू० पञ्चम शताब्दीमें विद्यमान थे, ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु एक मतमें शङ्करका जन्मकाल ४७६ ई० पू० और दूसरे मतमें उनका निर्वाणकाल ४७५ ई० पू० है, इतना ही काञ्ची और द्वारिकाके मतमें भेद है।

किसी-किसीके मतमें ई० पू० ४४ शङ्करका आविर्भावकाल माना जाता है। केरलोत्पत्तिके मतानुसार शङ्करका आविर्भावकाल ~~ई० पू० ४४ सतक है~~ ख्री ४र्थ शतक है। इस मतमें शङ्करका जीवनकाल ३२ वर्षके स्थानमें ३८ वर्ष माना जाता है।

षष्ठ शताब्दीके अन्तमें शङ्कराचार्य आविर्भूत हुए थे, यह भी एक मत है।

बर्नेलने अपने 'South Indian Palæography' नामक ग्रन्थ [पृ० ३७—१११]में तथा सिवेलने 'List of antiquities in Madras' नामक ग्रन्थ (पृ० १७७)में कहा है कि शङ्कराचार्यका आविर्भावकाल ईसवी सन्की ७ वीं शताब्दी है। वर्तमान समयमें श्रीयुत राजेन्द्रनाथ घोष महाशयने विभिन्न प्रकारके प्रमाणोंसे यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि शङ्कराचार्य ६०८ शकाब्द अथवा ६८६ ईसवीमें आविर्भूत हुए थे। वे कहते हैं कि शङ्कराचार्यने ३४ वर्षकी अवस्थामें देहत्याग किया था। उनके कथनका मूल महानुभवसम्प्रदायके दर्शनप्रकाश नामक ग्रन्थमें उद्धृत शङ्करपद्धतिका वचन है। इस ग्रन्थमें शङ्करका तिरोभावकाल 'युग्मपयोधिरसामित' शकाब्द कहा गया है। इससे उनका जन्मकाल ६४२ शक-संवत्सरमें प्राप्त होता है। 'रसा' पदसे एक अथवा रसातल समझकर छः माना जा सकता है। घोष महाशय कहते हैं कि छः मानना ही युक्तिसङ्गत है। एक माननेमें असम्भव-दोष आ जाता है। इसके अनुसार ६४२+७८ अर्थात् ७२० ईसवी सन्में शङ्करका मृत्युकाल प्राप्त होता है।

शङ्कर अष्टम शताब्दीमें थे, यह भी एक मत है। अध्यापक वेबरने प्राचीन समयमें इस मतका समर्थन किया था। Lewis Rice ने शृंगेरीमठके गुरुपरम्पराकालको एक-एक करके जोड़कर अनुमान किया था कि शङ्कर ७४० से ७६७ के बीचमें जीवित थे।

एक मत यह भी है कि शङ्कराचार्य ७८८ ई० में आविर्भूत होकर ३२ वर्षकी अवस्थामें अर्थात् ८२० ई० में तिरोहित हुए थे। आजकल अधिकांश लोग इसी मतको मानते हैं।

जो हो, भगवान् शङ्करके विषयमें जो कुछ सामग्री मिलती है उससे मालूम होता है कि उनका जन्म केरल प्रदेशके पूर्णानदीके तटवर्ती कलादी नामक गाँवमें वैशाख शुक्ल ५ को हुआ था। उनके पिताका नाम शिवगुरु तथा माताका सुभद्रा* था। शिवगुरु बड़े विद्वान् और धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। सुभद्रा भी पतिके अनुरूप ही विदुषी और धर्मपरायणा पत्नी थीं। परन्तु प्रायः प्रौढावस्था समाप्त होने-

---

* शिवगुरुकी पत्नीका नाम कहीं-कहीं 'विशिष्टा' भी मिलता है।

पर भी उन्हें कोई सन्तान न हुआ। तब पति-पत्नीने बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ भगवान् शङ्करकी सकाम उपासना की। भगवान् आशुतोष ब्राह्मणदम्पतीकी उपासनासे प्रसन्न हुए और उन्होंने प्रकट होकर मनोवाञ्छित वरदान दिया। भगवान् शङ्करके आशीर्वादसे शुभमुहूर्त्तमें माँ सुभद्राके गर्भसे एक दिव्य कान्तिवाला पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ और उसका नाम भगवान् महादेवके नामपर ही शङ्कर रक्खा गया।

बालक शङ्करके रूपमें कोई महान् विभूति अवतारित हुई है, इसका प्रमाण बचपनसे ही मिलने लगा। एक वर्षकी अवस्था होते-होते बालक शङ्कर अपनी मातृभाषामें अपने भाव प्रकट करने लगे और दो वर्षकी अवस्थामें मातासे पुराणादिकी कथा सुनकर कण्ठस्थ करने लगे। तीन वर्षकी अवस्थामें उनका चूडाकर्म करके उनके पिता स्वर्गवासी हो गये। पाँचवें वर्षमें यज्ञोपवीत करके उन्हें गुरुके घर पढ़नेके लिये भेजा गया और केवल ७ वर्षकी अवस्थामें ही वे वेद, वेदान्त और वेदाङ्गोंका पूर्ण अध्ययन करके घर वापस आ गये। उनकी असाधारण प्रतिभा देखकर उनके गुरुजन दंग रह गये।

विद्याध्ययन समाप्तकर शङ्करने संन्यास लेना चाहा; परन्तु जब उन्होंने मातासे आज्ञा माँगी तो उन्होंने नाहीं कर दी। शङ्कर माताके बड़े भक्त थे; उन्हें कष्ट देकर संन्यास लेना नहीं चाहते थे। एक दिन माताके साथ वे नदीमें स्नान करने गये। उन्हें मगरने पकड़ लिया। इस प्रकार पुत्रको सङ्कटमें देख माताके होश उड़ गये। वह बेचैन होकर हाहाकार मचाने लगी। शङ्करने मातासे कहा—मुझे संन्यास लेनेकी आज्ञा दे दो तो मगर मुझे छोड़ देगा। माताने तुरत आज्ञा दे दी और मगरने शङ्करको छोड़ दिया। इस तरह माताकी आज्ञा प्राप्तकर वे ८ वर्षकी उम्रमें घरसे निकल पड़े। जाते समय माताकी इच्छाके अनुसार यह वचन देते गये कि तुम्हारी मृत्युके समय मैं घरपर उपस्थित रहूँगा।

घरसे चलकर शङ्कर नर्मदातटपर आये और वहाँ स्वामी गोविन्द भगवत्पादसे दीक्षा ली। गुरुने उनका नाम भगवत्पूज्यपादाचार्य रक्खा। उन्होंने गुरूपदिष्ट मार्गसे साधना शुरू कर दी और अल्पकालमें ही बहुत बड़े योगसिद्ध महात्मा हो गये। उनकी सिद्धिसे प्रसन्न होकर गुरुने काशी जाकर वेदान्तसूत्रका भाष्य लिखनेकी आज्ञा दी और वे काशी आ गये। काशी आनेपर उनकी ख्याति बढ़ने लगी और लोग आकर्षित होकर उनका शिष्यत्व भी ग्रहण करने लगे। उनके सर्वप्रथम शिष्य सनन्दन हुए जो पीछे पद्मपादाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। काशीमें शिष्योंको पढ़ानेके साथ-साथ वे ग्रन्थ भी लिखते जाते थे। कहते हैं, एक दिन भगवान् विश्वनाथने चाण्डालके रूपमें उन्हें दर्शन दिया और उनके पहचानकर प्रणाम करनेपर ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखने और धर्मका प्रचार करनेका आदेश दिया। वेदान्तसूत्रपर जब वे भाष्य लिख चुके तो एक दिन एक ब्राह्मणने गङ्गातटपर उनसे एक सूत्रका अर्थ पूछा। उस सूत्रपर ब्राह्मणके साथ उनका आठ दिनतक शास्त्रार्थ हुआ। पीछे उन्हें मालूम हुआ कि स्वयं भगवान् वेदव्यास ब्राह्मणके वेशमें प्रकट होकर उनके साथ विवाद कर रहे हैं। तब उन्होंने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और ढिठाईके लिये क्षमा माँगी। फिर वेदव्यासने उन्हें अद्वैतवादका प्रचार करनेकी आज्ञा दी और उनकी १६ वर्षकी अल्पायुको ३२ वर्ष बढ़ा दिया। इस घटनाके बाद शङ्कराचार्य दिग्विजयके लिये निकल पड़े।

काशीमें रहते समय शङ्कराचार्यने वहाँ रहनेवाले प्रायः सभी विरुद्ध मतवालोंको परास्त कर दिया था। वहाँसे कुरुक्षेत्र होते हुए वे बदरिकाश्रम गये। वहाँ कुछ दिन रहकर उन्होंने कुछ और ग्रन्थ लिखे। जो ग्रन्थ उनके मिलते हैं, प्रायः सबको उन्होंने काशी अथवा बदरिकाश्रममें ही लिखा था। १२ वर्षसे १६ वर्षतककी अवस्थामें उन्होंने सारे ग्रन्थ लिखे थे। बदरिकाश्रमसे चलकर शङ्कर प्रयाग आये और यहाँ कुमारिलभट्टसे उनकी मुलाकात हुई। कुमारिलभट्टके कथनानुसार वे प्रयागसे मगधकी माहिष्मती नगरीमें मण्डनमिश्रके पास शास्त्रार्थके लिये आये। यहाँ मण्डनमिश्रके घरका दरवाजा बंद होनेके कारण योगबलसे वे अन्तःपुरमें चले गये, जहाँ मण्डनमिश्र श्राद्ध कर रहे थे, और शास्त्रार्थ करनेके लिये उन्हें ललकारा। उस शास्त्रार्थमें मध्यस्थ बनायी गयीं मण्डनमिश्रकी विदुषी पत्नी भारती। अन्तमें मण्डनमिश्रकी पराजय हुई और उन्होंने शङ्कराचार्यका शिष्यत्व ग्रहण किया और ये ही आगे चलकर सुरेश्वराचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। कहते हैं, भारतीने पतिके हार जानेपर स्वयं शङ्कराचार्यसे विवाद किया और कामकलासम्बन्धी प्रश्न पूछा, जिसके लिये शङ्कराचार्यको योगबलसे एक मृत राजाके शरीरमें प्रवेश करके कामकलाकी शिक्षा ग्रहण करनी

पड़ी। पतिके संन्यासी हो जानेपर भारती ब्रह्मलोकको जानेको उद्यत हुईं, परन्तु शङ्कराचार्य उन्हें समझा-बुझाकर शृङ्गगिरि लिवा लाये और वहाँ रहकर अध्यापनका कार्य करनेकी प्रार्थना की। कहते हैं, भारतीद्वारा शिक्षा प्राप्त करनेके कारण ही शृङ्गेरी और द्वारकाके मठोंका शिष्य-सम्प्रदाय भारतीके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

मगधविजय करके शङ्कराचार्य दक्षिणकी ओर चले और महाराष्ट्रमें शैव और कापालिकोंको पराजित किया। एक कापालिक तो उन्हींकी बलि चढ़ानेके उद्देश्यसे उनका शिष्य हो गया। परन्तु जब वह बलि चढ़ानेके लिये तैयार हुआ तो पद्मपादाचार्यने उसे मार डाला। उस समय भी शङ्कराचार्यकी साधनाका अपूर्व प्रभाव देखा गया। कापालिककी तलवारकी धारके नीचे भी वे समाधिस्थ और शान्त बैठे रहे। वहाँसे चलकर दक्षिणमें तुङ्गभद्राके तटपर उन्होंने एक मन्दिर बनवाकर उसमें शारदादेवीकी स्थापना की। इसके साथ जो मठ स्थापित हुआ उसे शृंगेरीमठ कहते हैं। सुरेश्वराचार्य इसी मठमें आचार्यपदपर नियुक्त हुए। इन्हीं दिनों शङ्कराचार्य अपनी वृद्धा माताकी मृत्यु समीप जानकर घर वापस आये और माताकी अन्त्येष्टिक्रिया की। कहते हैं, माताकी इच्छाके अनुसार इन्होंने प्रार्थना करके उन्हें विष्णुलोकमें भिजवाया था। वहाँसे ये शृंगेरीमठमें आये और फिर वहाँसे पुरी आकर इन्होंने गोवर्धनमठकी स्थापना की और पद्मपादाचार्यको मठाधिपति नियुक्त किया। इन्होंने चोल और पाण्ड्य देशके राजाओंकी सहायतासे दक्षिणके शाक्त, गाणपत्य और कापालिक सम्प्रदायके अनाचारको दूर किया। इस प्रकार दक्षिणमें सर्वत्र धर्मकी पताका फहराकर और वेदान्तकी महिमा घोषित कर ये पुनः उत्तर भारतकी ओर मुड़े। रास्तेमें कुछ दिन बरारमें ठहरकर ये उज्जैन आये और वहाँ इन्होंने भैरवोंकी भीषण साधनाको बंद किया। वहाँसे ये गुजरात आये और द्वारकामें एक मठ स्थापितकर अपने शिष्य हस्तामलकाचार्यको आचार्यपदपर बैठाया। फिर गांगेय प्रदेशके पण्डितोंको पराजित करते हुए काश्मीरके शारदाक्षेत्रमें आये तथा वहाँके पण्डितोंको हराकर अपने मतकी स्थापना की। फिर यहाँसे आचार्य आसामके कामरूप स्थानमें आये और वहाँके शैवोंसे शास्त्रार्थ किया। यहाँसे फिर बदरिकाश्रमको वापस आये और वहाँ ज्योतिर्मठकी स्थापना कर तोटकाचार्यको मठाधीश बनाया। वहाँसे ये केदारक्षेत्रमें आये और यहींपर कुछ दिनोंबाद भारतवर्षका यह प्रोज्ज्वल सूर्य सदाके लिये अस्त हो गया।

यों तो शङ्कराचार्यके लिखे हुए लगभग २७२ ग्रन्थ बताये जाते हैं, परन्तु यह कहना कठिन है कि वे सब उन्हींके लिखे हुए हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इनमेंसे बहुतेरे पीछेके आचार्योंके बनाये हुए होंगे जो शङ्कराचार्यकी उपाधि धारण करनेवाले थे और जिन्होंने अपने पूरे नाम नहीं दिये। जो हो, प्रधान-प्रधान ग्रन्थ ये हैं—ब्रह्मसूत्रभाष्य, उपनिषद् (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, नृसिंहपूर्वतापनीय, श्वेताश्वतर इत्यादि)-भाष्य, गीताभाष्य, विष्णुसहस्रनामभाष्य, सनत्सुजातीयभाष्य, हस्तामलकभाष्य, ललितात्रिशतीभाष्य, विवेकचूडामणि, प्रबोधसुधाकर, उपदेशसाहस्री, अपरोक्षानुभूति, शतश्लोकी, दशश्लोकी, सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह, वाक्यसुधा, पञ्चीकरण, प्रपञ्चसारतन्त्र, आत्मबोध, मनीषापञ्चक, आनन्दलहरीस्तोत्र इत्यादि।

मतवाद

आचार्यपाद श्रीशङ्कराचार्य अद्वैतसिद्धान्तके प्रधान आचार्य ही नहीं, किन्तु एक युगप्रवर्तक भी थे। उनके समयमें भारतवर्ष बौद्ध, जैन एवं कापालिकोंके प्रभावसे पूर्णतया प्रभावित हो चुका था। वैदिकधर्मका सूर्य अस्ताचलकी ओर गमन कर रहा था। लोग वैदिक कर्म एवं उपासनासे उदासीन हो बड़ी तेजीके साथ सुगत और महावीरकी छत्रछायामें शरण ले रहे थे। इसी कठिन अवसरपर उन्होंने प्रकट होकर डूबते हुए वैदिकधर्मका पुनरुद्धार किया। अपनी छोटी-सी आयुमें उन्होंने जो अतिमानुष कार्य किया वह वास्तवमें बड़ा ही विस्मयजनक और उत्साहवर्धक है। उन्होंने जिस सिद्धान्तकी स्थापना की है उसपर संसारके बड़े-से-बड़े विद्वान् और विचारक भी मन्त्रमुग्ध हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे दार्शनिकजगत्के सबसे अधिक देदीप्यमान रत्न हैं; बड़े-बड़े विद्वानोंने उन्हें 'दार्शनिकसार्वभौम' कहकर सम्मानित किया है। हम उनके सिद्धान्तका यत्किञ्चित् दिग्दर्शन करानेका प्रयत्न करते हैं।

आत्मा और अनात्मा—भगवान् शंकरने ब्रह्मसूत्रका भाष्य लिखते समय सबसे पहले आत्मा और अनात्माका विवेचन किया है। यदि सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो सम्पूर्ण प्रपञ्चको दो प्रधान भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—द्रष्टा और

दृश्य। एक वह तत्त्व जो सम्पूर्ण प्रतीतियोंका अनुभव करनेवाला है और दूसरा वह जो अनुभवका विषय है । इनमें समस्त प्रतीतियोंके चरम साक्षीका नाम 'आत्मा' है तथा जो कुछ उसका विषय है वह सब 'अनात्मा' है। आत्मतत्त्व नित्य, निश्चल, निर्विकार, असंग, कूटस्थ, एक और निर्विशेष है। बुद्धिसे लेकर स्थूल भूतपर्यन्त जितना भी प्रपञ्च है उसका आत्मासे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जीव अज्ञानके कारण ही देह और इन्द्रियादिसे अपना तादात्म्य स्वीकारकर अपनेको अंधा-काना, मूर्ख-विद्वान्, सुखी-दुखी तथा कर्ता-भोक्ता मानता है । इस प्रकार बुद्धि आदिके साथ जो आत्माका तादात्म्य हो रहा है उसे आचार्यने 'अध्यास' शब्दसे निरूपित किया है। आचार्यके सिद्धान्तानुसार तो सम्पूर्ण प्रपञ्चकी सत्यत्वप्रतीति अध्यास या मायाके ही कारण है। इसीसे अद्वैतवादको अध्यासवाद या मायावाद भी कहते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि जितना भी दृश्यवर्ग है वह सब मायाके कारण ही विभिन्न-सा प्रतीत होता है; वस्तुतः तो वह एक अखण्ड, शुद्ध, चिन्मात्र ही है।

ज्ञान और अज्ञान–सम्पूर्ण विभिन्न प्रतीतियोंके स्थानमें एक अखण्ड सच्चिदानन्दघनका अनुभव करना ही 'ज्ञान' है तथा उस सर्वाधिष्ठानपर दृष्टि न देकर भेदमें सत्यत्वबुद्धि करना ही 'अज्ञान' है। जिस प्रकार नाना प्रकारके आभूषण तत्त्वदृष्टिसे सुवर्णमात्र ही हैं, तरह-तरहके मृन्मय पात्र केवल मृत्तिकामात्र ही होते हैं तथा तरंग और भँवर आदि जलसे अभिन्न ही होते हैं, उसी प्रकार यह अनेकविधभेदसंकुलित संसार केवल शुद्ध परब्रह्म ही है; उससे भिन्न कहीं कोई वस्तु नहीं है— और वही अपना आत्मा है। इस प्रकारका अभेद-बोध ही 'ज्ञान' कहलाता है। जबतक ऐसा बोध नहीं होता तबतक जीव आवागमनके चक्रसे मुक्त नहीं होता; ऐसा बोध होते ही उसकी दृष्टिमें जगत्का अत्यन्ताभाव हो जाता है और वह दूसरोंकी दृष्टिमें शरीर रहते हुए भी स्वयं मुक्त हो जाता है।

साधन–भगवान् शंकराचार्यने श्रवण, मनन और निदिध्यासनको ज्ञानका साक्षात् साधन स्वीकार किया है। किन्तु इनकी सफलता ब्रह्मतत्त्वकी जिज्ञासा होनेपर ही है। तथा जिज्ञासाकी उत्पत्तिमें प्रधान सहायक दैवी सम्पत्ति है। आचार्यका मत है कि जो मनुष्य विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता, इन चार साधनोंसे सम्पन्न है उसीको चित्तशुद्धि होनेपर जिज्ञासा हो सकती है। इस प्रकारकी चित्तशुद्धिके लिये निष्कामकर्मानुष्ठान बहुत उपयोगी है।

भक्ति–भगवान् शंकरने भक्तिको ज्ञानोत्पत्तिका प्रधान साधन माना है, फलरूपसे तो वे ज्ञानहीको स्वीकार करते हैं। भक्तिका लक्षण करते हुए वे विवेकचूडामणिमें कहते हैं—'स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।' अर्थात् अपने शुद्ध स्वरूपका स्मरण करना ही 'भक्ति' कहलाता है। आत्मजिज्ञासुके लिये वस्तुतः यह प्रधान भक्ति है ही। फिर भी उन्होंने सगुणोपासनाकी उपेक्षा नहीं की। प्रबोधसुधाकरमें तो यहाँतक लिखा है कि भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंकी भक्तिके बिना चित्त शुद्ध हो ही नहीं सकता। इसके सिवा उन्होंने जो बहुत-से भक्तिस्तोत्र लिखे हैं उनसे भी उनकी सगुणभक्तिका अच्छा परिचय मिलता है। प्रबोधसुधाकरके निम्नलिखित श्लोकोंसे तो यह सिद्ध होता है कि आचार्यपाद भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त थे और उनकी वनभोजनलीलाका ध्यान किया करते थे।

ध्यानविधि

यमुनातटनिकटस्थितवृन्दावनकानने महारम्ये।
कल्पद्रुमतलभूमौ चरणं चरणोपरि स्थाप्य॥
तिष्ठन्तं घननीलं स्वतेजसा भासयन्तमिह विश्वम्।
पीताम्बरपरिधानं चन्दनकर्पूरलिप्तसर्वाङ्गम्॥
आकर्णपूर्णनेत्रं कुण्डलयुगमण्डितश्रवणम्।
मन्दस्मितमुखकमलं सुकौस्तुभोदारमणिहारम्॥
वलयाङ्गुलीयकाद्यानुज्ज्वलयन्तं स्वलङ्कारान्।
गलविलुलितवनमालं स्वतेजसापास्तकलिकालम्॥
गुञ्जारवालिकलितं गुञ्जापुञ्जान्विते शिरसि।
भुञ्जानं सह गोपैः कुञ्जान्तरवर्तिनं हरिं स्मरत॥

'श्रीयमुनाजीके तटपर स्थित वृन्दावनके किसी महा-मनोहर बगीचेमें जो कल्पवृक्षके नीचेकी भूमिमें चरणपर चरण रक्खे बैठे हैं, जो मेघके समान श्यामवर्ण हैं और अपने तेजसे इस निखिल ब्रह्माण्डको प्रकाशित कर रहे हैं, जो सुन्दर पीताम्बर धारण किये हुए हैं तथा समस्त शरीरमें कर्पूरमिश्रित चन्दनका लेप लगाये हुए हैं, जिनके कर्णपर्यन्त विशाल नेत्र हैं, कान कुण्डलके जोड़ेसे सुशोभित हैं, मुखकमल मन्द-मन्द मुसका रहा है, तथा जिनके वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणि-युक्त सुन्दर हार है, और जो [अपनी कान्तिसे] कङ्कण

और अँगूठी आदि सुन्दर आभूषणोंकी भी शोभा बढ़ा रहे हैं, जिनके गलेमें वनमाला लटक रही है और अपने तेजसे जिन्होंने कलिकालको परास्त कर दिया है तथा जिनका गुञ्जावलिविभूषित मस्तक गूँजते हुए भ्रमरसमूहसे सुशोभित है, किसी कुञ्जके भीतर बैठकर ग्वालबालोंके साथ भोजन करते हुए उन श्रीहरिका स्मरण करो'।

मन्दारपुष्पवासितमन्दानिलसेवितं परानन्दम्।
मन्दाकिनीयुतपदं नमत महानन्ददं महापुरुषम्॥

'जो कल्पवृक्षके पुष्पोंकी गन्धसे युक्त मन्द-मन्द वायुसे सेवित हैं, परमानन्दस्वरूप हैं तथा जिनके चरणकमलोंमें श्रीगङ्गाजी विराजमान हैं, उन महानन्ददायक महापुरुषको नमस्कार करो'।

सुरभीकृतदिग्वलयं सुरभिशतैरावृतं सदा परितः।
सुरभीतिक्षप[illegible]महासुरभीमं यादवं नमत॥

'जिन्होंने समस्त दिशाओंको सुगन्धित कर रक्खा है, जो चारों ओरसे सैकड़ों कामधेनु गौओंसे घिरे हुए हैं तथा देवताओंके भयको दूर करनेवाले और बड़े-बड़े राक्षसोंके लिये भयङ्कर हैं, उन यदुनन्दनको नमस्कार करो।'

कन्दर्पकोटिसुभगं वाञ्छितफलदं दयार्णवं कृष्णम्।
त्यक्त्वा कमन्यविषयं नेत्रयुगं द्रष्टुमुत्सहते॥

'जो करोड़ों कामदेवोंसे भी सुन्दर हैं, वाञ्छित फलके देनेवाले हैं, दयाके समुद्र हैं, उन श्रीकृष्णचन्द्रको छोड़कर ये नेत्रयुगल और किस विषयको देखनेके लिये उत्सुक होते हैं?'

ब्रह्माण्डानि बहूनि पङ्कजभवान् प्रत्यण्डमत्यद्भुतान्
गोपान् वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः।
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात्
कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा॥

'जिन्होंने ब्रह्माजीको अनेक ब्रह्माण्ड, प्रत्येक ब्रह्माण्डमें पृथक्-पृथक् अति अद्भुत ब्रह्मा, वत्सोंके सहित समस्त गोपों तथा [भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डोंके] समस्त विष्णु दिखाये; और जिनके चरणोदकको श्रीशंकर अपने सिरपर धारण करते हैं, वे श्रीकृष्ण त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) से भिन्न कोई अविकारिणी सच्चिदानन्दमयी नीलिमा हैं।'

कृपापात्रं यस्य त्रिपुररिपुरम्भोजवसतिः
सुता जह्नोः पूता चरणनखनिर्णेजनजलम्।
प्रदानं वा तस्य त्रिभुवनपतित्वं विभुरपि
निदानं सोऽस्माकं जयति कुलदेवो यदुपतिः॥

'त्रिपुरारि शिव और कमलासन ब्रह्मा जिनकी कृपाके पात्र हैं, परमपावन श्रीगंगाजी जिनके चरणनखका धोवन हैं तथा त्रिलोकीका राज्य जिनका दान है, वे सर्वव्यापक और हम सबके आदिकारण तथा कुलदेव श्रीयदुनाथ सदा विजयी हो रहे हैं।'

मायाहस्तेऽर्पयित्वा भरणकृतिकृते मोहमूलोद्भवं मां
मातः कृष्णाभिधाने चिरसमयमुदासीनभावं गतासि।
कारुण्यैकाधिवासे सकृदपि वदनं नेक्षसे त्वं मदीयं
तत्सर्वज्ञे न कर्तुं प्रभवति भवती किं नु मूलस्य शान्तिम्॥

'हे कृष्णनाम्नी मातेश्वरि! मोहरूपी मूलनक्षत्रमें उत्पन्न हुए मुझ पुत्रको भरण-पोषणके लिये मायाके हाथोंमें सौंपकर तू बहुत दिनोंसे मेरी ओरसे उदासीन हो गयी है। अरी एकमात्र करुणामयी माँ! तू एक बार भी मेरे मुखकी ओर नहीं देखती? हे सर्वज्ञे! क्या तू उस मोहरूपी मूलकी शान्ति करनेमें समर्थ नहीं है?'

नित्यानन्दसुधानिधेरधिगतः सन्नीलमेघः सता-
मौत्कण्ठ्यप्रबलप्रभञ्जनभरैराकर्षितो वर्षति।
विज्ञानामृतमद्भुतं निजवचोधाराभिरारादिदं
चेतश्चातक चेन्न वाञ्छसि मृषाक्रान्तोऽसि सुप्तोऽसि किम्॥

'नित्यानन्दरूपी अमृतके समुद्रसे निकला हुआ और सज्जनोंकी उत्कण्ठारूप प्रबल वायुसे उड़ाकर लाया हुआ सत्स्वरूप नीलमेघ तेरे पास ही अद्भुत विज्ञानामृतकी अपने वचनरूपी धाराओंसे वर्षा कर रहा है। अरे चित्तरूपी पपीहे! यदि तुझे उसे पीनेकी इच्छा नहीं होती तो तुझे व्यर्थ ही किसीने पकड़ रक्खा है, या तू सो गया है?'

चेतश्चञ्चलतां विहाय पुरतः सन्धाय कोटिद्वयं
तत्रैकत्र निधेहि सर्वविषयानन्यत्र च श्रीपतिम्।
विश्रान्तिर्हितमप्यहो क्व नु तयोर्मध्ये तदालोच्यतां
युक्त्या वानुभवेन यत्र परमानन्दश्च तत्सेव्यताम्॥

'अरे चित्त! चञ्चलताको छोड़कर अपने सामने तराजूके दोनों पलड़ोंको रख; उनमेंसे एकमें समस्त विषयोंको और दूसरेमें भगवान् श्रीपतिको रख। उन दोनोंमेंसे किसमें अधिक शान्ति और हित है, इसका विचार कर, और युक्ति तथा अनुभवसे जिसमें परमानन्दकी प्रतीति हो उसीका सेवन कर।'

काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं किञ्चित्फलं स्वेप्सितं
केचित्स्वर्गमथापवर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः ।
अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिनां
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम् ॥

'कोई लोग तो सकाम उपासनाके द्वारा नित्यप्रति अपने किसी अभीष्ट फलकी प्रार्थना किया करते हैं, और कोई योग तथा यज्ञादि अन्य साधनोंसे स्वर्ग और अपवर्गकी याचना करते हैं। किन्तु श्रीयदुनाथके चरणकमलोंके ध्यानमें ही सदा लगे रहनेके इच्छुक हमलोगोंको लोकसे, दमसे, राजासे, स्वर्गसे और मोक्षसे क्या काम है।'

सुतरामनन्यशरणाः क्षीराद्याहारमन्तरा यद्वत् ।
केवलया स्नेहदृशा कच्छपतनयाः प्रजीवन्ति ॥

'जिनका कोई अन्य आश्रय नहीं है ऐसे कछुईके बच्चे जिस प्रकार दूध आदि आहारके बिना ही केवल माताकी स्नेहदृष्टिसे ही पलते हैं, उसी प्रकार अनन्य भक्त भी भगवान्‌की दयादृष्टिके सहारे ही जीवननिर्वाह करते हैं।

कर्म और संन्यास–श्रीशंकराचार्यने अपने भाष्योंमें जगह-जगह कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेपर ही जोर दिया है। वे जिज्ञासु और बोधवान् दोनोंके लिये सर्वकर्मसंन्यासकी आवश्यकता बतलाते हैं। उनके मतमें निष्काम कर्म केवल चित्तशुद्धिका हेतु है। परमपदकी प्राप्ति तो कर्मसंन्यासपूर्वक श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके आत्मतत्त्वका बोध प्राप्त होनेपर ही हो सकती है।

इस प्रकार आचार्यके विचारोंपर कुछ प्रकाश डालकर अब हम उनके परवर्ती आचार्योंका कुछ परिचय देते हैं।

आचार्य पद्मपाद

आचार्य पद्मपाद भगवान् शङ्कराचार्यके सर्वप्रथम शिष्य थे। उनका नाम पहले सनन्दन था। इनका जन्म दक्षिणके चोलप्रदेशमें हुआ था। ये गुरुके अनन्यभक्त और आज्ञानुवर्ती थे। शङ्कराचार्य इन्हें सदा पास रखकर परमात्मतत्त्वका उपदेश दिया करते थे और अपने भाष्य तीन बार पढ़ा चुके थे। एक बार गुरुने इन्हें नदीके उस पारसे आवाज दी। बस, आवाज सुनते ही ये गुरुकी ओर चल पड़े, यह विचार ही नहीं किया कि नदी सामने है और इसे कैसे पार करेंगे। कहते हैं, नदीके ऊपर जहाँ-जहाँ इनका पैर पड़ता वहाँ-वहाँ कमलका फूल उग आता और उन्हीं फूलोंपर चलकर वह नदीके पार आ गये। गुरुने इनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर प्रेमपूर्वक आलिङ्गन किया और उनका नाम पद्मपाद रख दिया। उग्रभैरव कापालिकने जब शङ्कराचार्यको बलि चढ़ाना चाहा तब आचार्य पद्मपादने ही उसका बध किया था। जब शङ्कराचार्य शृंगेरीमठमें कुछ दिन ठहरे हुए थे तब गुरुकी आज्ञा लेकर ये तीर्थाटनको चले गये और अपने साथ अपनी लिखी हुई पुस्तक भी साथ लेते गये। कहते हैं, जब ये अपनी पुस्तक अपने मामाके घर रखकर रामेश्वर गये तब मामाने घरमें आग लगाकर पुस्तक जला दी। इनके मामा प्राभाकरमतावलम्बी थे; वे यह नहीं चाहते थे कि शाङ्करमतका प्रचार हो; इसीसे उन्होंने ऐसा किया। जब पद्मपादको पुस्तक जलनेकी बात मालूम हुई तब इन्होंने दुबारा लिखनेका विचार किया। जब यह बात इनके मामाको मालूम हुई तो उन्होंने पद्मपादको विष दे दिया, जिससे ये प्रायः पागल-से हो गये। आखिर पद्मपादने आकर सब हाल गुरुसे निवेदन किया। गुरुने कहा कि एक बार तुमने मुझे वह ग्रन्थ सुनाया था, वह मुझे याद है; मैं बोलता हूँ, तुम लिख लो। फिर शङ्कराचार्यने वह ग्रन्थ इन्हें लिखा दिया। शङ्कराचार्यने पद्मपादको पुरीके गोवर्द्धनमठका अध्यक्ष बनाया। शङ्कराचार्यके तिरोभावके बाद भी इन्होंने जीवित रहकर अद्वैतमतका प्रचार किया।

आचार्य पद्मपादका वह ग्रन्थ अब पूरा नहीं मिलता। उसका नाम 'पञ्चपादिका' है। आचार्य पद्मपादने गुरुकी आज्ञासे शारीरकभाष्यकी व्याख्या लिखना आरम्भ किया था। पञ्चपादिकामें केवल चार सूत्रोंकी व्याख्या है। पञ्चपादिकापर प्रकाशात्म मुनिकी विवरण नामक एक टीका मिलती है। पञ्चपादिकाविवरणकी भी एक टीका अखण्डानन्द मुनिने लिखी है, जिसका नाम तत्त्वदीपन है।

पञ्चपादिकाके अतिरिक्त आत्मानात्मविवेक, प्रपञ्चसार तथा सुरेश्वराचार्यकृत लघुवार्त्तिककी टीका—ये तीन ग्रन्थ और भी पद्मपादाचार्यके लिखे मिलते हैं। आचार्य पद्मपादके शिष्योंसे ही दशनामी संन्यासियोंकी 'आश्रम' और 'अरण्य' नामकी शाखाएँ निकली हैं।

श्रीसुरेश्वराचार्य या मण्डनमिश्र

मण्डनमिश्र रेवानदीके तटवर्त्ती प्राचीन माहिष्मती नगरीके रहनेवाले थे। किसी-किसीके मतानुसार माहिष्मती नगरी वर्तमान राजगृह ही थी या उसके आसपास कहीं बसी

थी। कुछ लोगोंका कहना है कि यह नगरी नर्मदातटपर कहीं वर्तमान इन्दौर राज्यमें थी। मण्डनमिश्र अपने समयमें मगधके सबसे बड़े विद्वान् और पूर्वमीमांसक थे। कहते हैं, ये कुमारिलभट्टके शिष्य थे और कुमारिलभट्टने ही शङ्कराचार्यको मण्डनमिश्रके पास शास्त्रार्थ करनेके लिये भेजा था। जिस समय शङ्कराचार्य माहिष्मती नगरीमें पहुँचे, उस समय उन्होंने स्त्रियोंके समूहमें स्नानार्थ नदीतटपर आयी हुई मण्डनमिश्रकी एक दासीसे उनके घरका पता पूछा। उस दासीने श्लोकोंमें उत्तर दिया—

स्वतःप्रमाणं परतःप्रमाणं
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा
जानीहि तन्मण्डनमिश्रधाम॥
फलप्रदं कर्म फलप्रदोऽजः
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा
जानीहि तन्मण्डनमिश्रधाम॥
जगद् ध्रुवं स्याज्जगदध्रुवं स्यात्
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा
जानीहि तन्मण्डनमिश्रधाम॥

अर्थात् 'वेद स्वतःप्रमाण है या परतःप्रमाण, कर्म आप ही फल देता है या ईश्वर कर्मका फल देता है, जगत् नित्य है या अनित्य, इस प्रकार जिनके द्वारके आगे पिंजरेमें बैठी मैना बोलती है, वही मण्डनमिश्रका घर है।'

इस उत्तरसे सहज ही अनुमान हो सकता है कि उस समय देशमें विद्याका कितना प्रचार था और मण्डनमिश्रके घरपर कैसी शास्त्रचर्चा हुआ करती थी।

शङ्कराचार्य आखिर मण्डनमिश्रके घर पहुँचे और शास्त्रार्थमें उन्हें परास्त किया, जिसका वर्णन पहले शङ्कराचार्यके जीवनचरितमें आ चुका है। मण्डनमिश्र शर्तके अनुसार शङ्कराचार्यका शिष्यत्व ग्रहण करके संन्यासी हो गये और विश्वरूप तथा सुरेश्वराचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। सुरेश्वर संन्यास लेकर गुरुके साथ देशका भ्रमण करते रहे और जब शङ्करने शृंगेरीमठकी स्थापना की तब सुरेश्वरको वहाँका आचार्य बनाया। शृंगेरीमठके प्राचीन लेखोंसे ऐसा मालूम होता है कि वे ८०० वर्षतक जीवित रहे। परन्तु इसका और कहीं कोई प्रमाण नहीं मिलता।

सुरेश्वराचार्य पाण्डित्यके अगाध सागर थे। उन्होंने कितने ही ग्रन्थ बनाये जिनमें विचारकी बड़ी प्रौढ़ता तथा सुश्रृङ्खला पायी जाती है। यही कारण है कि उनके वाक्योंको चित्सुख, विद्यारण्य, सदानन्द, गोविन्दानन्द, अप्पय्य दीक्षित आदि प्रायः सभी परवर्ती आचार्योंने प्रमाणके रूपमें उद्धृत किया है। शाङ्करमतके आचार्योंमें सबसे अधिक प्रतिष्ठा इन्हींको प्राप्त है।

संन्यास ग्रहण करनेके पूर्व मण्डनमिश्रने आपस्तम्बीय मण्डनकारिका, भावनाविवेक और काशीमोक्षनिर्णय नामक ग्रन्थोंकी रचना की थी। संन्यास लेनेके बाद इन्होंने तैत्तिरीयश्रुतिवार्तिक, नैष्कर्म्यसिद्धि, इष्टसिद्धि या स्वाराज्यसिद्धि, पञ्चीकरणवार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्वार्तिक, ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मसूत्रभाष्यवार्तिक, विधिविवेक, मानसोल्लास या दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रवार्तिक, लघुवार्तिक, वार्तिकसार और वार्तिकसारसंग्रह आदि ग्रन्थ लिखे। सुरेश्वराचार्यने संन्यास लेनेके बाद शाङ्करमतका ही प्रचार किया और अपने ग्रन्थोंमें प्रायः उसी मतका समर्थन किया।

सर्वज्ञात्ममुनि

श्रीशङ्कराचार्यजीके प्रधान शिष्योंमेंसे पद्मपादाचार्य और सुरेश्वराचार्यके अतिरिक्त और किसीके विषयमें विशेष कुछ पता नहीं लगता और न किसीका कोई प्रसिद्ध ग्रन्थ ही मिलता है। श्रीशङ्करके तिरोभावके बाद उनके स्थापित देशके चारों कोनोंके चारों मठोंद्वारा अद्वैतमतका प्रचार होने लगा। चार मठोंके अन्तर्गत दशनामी संन्यासियोंकी परम्परा निकल पड़ी और ये सब लोग शाङ्करमतके प्रचारमें हाथ बँटाने लगे। परन्तु प्रायः ईसवी सन्‌की आठवीं-नवीं शताब्दीतक किसी वैसे बड़े आचार्यका वर्णन नहीं मिलता और न कोई प्रधान ग्रन्थ ही उस समयमें लिखा हुआ मिलता है। प्रायः आठवीं शताब्दीमें वेदान्तके अन्यान्य मतोंका भी प्रचार होना शुरू हुआ। उस समय शृंगेरीमठकी गद्दीपर सर्वज्ञात्ममुनि विराजमान थे। इनका दूसरा नाम नित्यबोधाचार्य था। इन्होंने लगभग आठवीं शताब्दीके अन्तमें शाङ्करमतको और भी परिस्फुट करनेके उद्देश्यसे 'संक्षेपशारीरक' नामक ग्रन्थकी रचना की। इन्होंने अपने गुरुका नाम देवेश्वराचार्य लिखा है। टीकाकार मधुसूदन सरस्वती और रामतीर्थने देवेश्वराचार्यका अर्थ सुरेश्वराचार्य किया है। किन्तु इन दोनोंके कालमें बहुत अन्तर है। इसलिये सम्भव

है, इस नामके कोई दूसरे आचार्य रहे हों। ये शृंगेरीमठकी गद्दीपर आसीन थे; अतः सम्भव है, कहीं दक्षिणके ही रहनेवाले हों। शृंगेरीमठके प्राचीन लेखोंसे ऐसा मालूम होता है कि वे प्रायः ७५८ ईसवीसे ८४८ ईसवीतक वर्तमान थे। इससे अधिक उनके जीवनके विषयमें कुछ पता नहीं लगता।

इनका रचा हुआ 'संक्षेपशारीरक' नामक ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्यके आधारपर लिखा गया है। इसमें श्लोक और वार्तिक दोनों हैं। जिस प्रकार शारीरकभाष्य चार अध्यायोंमें समाप्त हुआ है, उसी प्रकार इसमें भी चार ही अध्याय हैं और उनके विषयोंका क्रम भी उसीके समान है। श्रीसर्वज्ञात्ममुनिने अपने ग्रन्थको 'प्रकरणवार्तिक' बतलाया है। इसके पहले अध्यायमें ५६२, दूसरेमें २४८, तीसरेमें ३६५ और चौथेमें ५३ श्लोक हैं। परवर्ती आचार्योंने इस ग्रन्थको प्रमाणरूपसे स्वीकार किया है तथा श्रीमधुसूदन सरस्वती और श्रीरामतीर्थ स्वामीने इसपर टीकाएँ भी लिखी हैं।

आचार्य वाचस्पतिमिश्र

आचार्य सर्वज्ञात्ममुनिके समयमें ही अद्वैताकाशमें पुनः एक देदीप्यमान नक्षत्रका उदय हुआ। ये नक्षत्र थे 'भामती'-कार वाचस्पतिमिश्र। प्रायः नवीं शताब्दीमें जब कि देशमें सर्वत्र बौद्धवाद, पूर्वमीमांसा तथा अन्यान्य वैदान्तिक मतोंका घनघोर संग्राम हो रहा था, उसी समय वाचस्पतिमिश्र रणक्षेत्रमें उपस्थित हुए। इनके समयके विषयमें बहुत मतभेद है। कोई कहते हैं कि इनका जन्म सन् ११०० ईसवीमें हुआ था। किसी-किसीका कहना है कि वह हर्षके समकालीन थे और बारहवीं शताब्दीके अन्तमें या तेरहवीं शताब्दीके आरम्भमें उत्पन्न हुए थे। इन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थ 'न्यायसूचीनिबन्ध'में समयके विषयमें जो कुछ कहा है, उससे मालूम होता है कि वह ग्रन्थ संवत् ८९८ वि० या ८४२ ईसवीमें लिखा गया था। इससे मालूम होता है, ये नवीं शताब्दीमें वर्तमान थे। इन्होंने 'भामती' नामक टीकामें धर्मकीर्ति नामक बौद्ध दार्शनिकका उल्लेख किया है, बादके किसी दार्शनिकका नाम नहीं लिखा, और धर्मकीर्तिके पाँचवीं या छठी शताब्दीमें वर्तमान रहनेकी बात कही जाती है। इससे भी वाचस्पतिमिश्रका समय आठवीं शताब्दीके अन्तसे लेकर नवीं शताब्दीके आरम्भतक मानना उचित मालूम होता है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाण भी इस मतके पक्षमें मिलते हैं।

वाचस्पतिमिश्रका जन्मस्थान मिथिला माना जाता है। इनके ग्रन्थोंसे ऐसा मालूम होता है कि ये बड़े धुरन्धर विद्वान् थे और अपने समयके अद्वैतमतके सर्वप्रधान आचार्य थे। इनके बादके प्रायः सभी आचार्योंने इनके वाक्य प्रमाणरूपमें ग्रहण किये हैं। शाङ्करभाष्यपर जो इन्होंने 'भामती' टीका लिखी है, शाङ्करमत समझनेके लिये उसका अध्ययन अनिवार्य समझा जाता है। इनकी विद्वत्ताके कारण ही इन्हें राजसम्मान प्राप्त हुआ था और उस समयके मगधके राजासे इन्हें बराबर आर्थिक सहायता मिलती रही। आर्थिक सहायता मिलनेके कारण वाचस्पतिमिश्र निश्चिन्ततापूर्वक ग्रन्थ-लेखनका कार्य करते रहे, जिससे ये इतने अधिक सुन्दर, गम्भीर और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिख सके। ये ग्रन्थ लिखनेमें कितने तल्लीन और बाह्य संसारसे कितने अलग तथा निश्चिन्त रहते थे, इसका अनुमान एक घटनासे लगाया जा सकता है। जिन दिनों ये शारीरकभाष्यकी टीका लिख रहे थे, उन्हीं दिनों एक रात इनके कमरेका दीपक बुझ गया। इनकी धर्मपत्नीने घरके भीतरसे आकर दीपक फिरसे जला दिया और कुछ देर वहाँ मानो कुछ कहनेके लिये खड़ी रहीं। उन्हें खड़ी देखकर वाचस्पतिमिश्रने पूछा—'तुम कौन हो?' स्त्रीने उत्तर दिया, 'मैं आपकी दासी हूँ।' फिर वाचस्पतिमिश्रने पूछा—'क्या तुम मुझसे कुछ माँगना चाहती हो?' स्त्रीने उत्तर दिया—'हिन्दू ललनाके लिये पतिसेवा ही परमधर्म है। आपके श्रीचरणोंकी सेवा प्राप्त होनेके कारण मेरा जीवन सार्थक हो गया है। मुझे कोई कामना-वासना नहीं है, बस मैं यही चाहती हूँ कि आपके श्रीचरणोंमें मस्तक रखकर आपसे पहले ही इस संसारसे विदा हो जाऊँ।' स्त्रीके इस उत्तरसे वाचस्पतिमिश्र बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा—'हिन्दू रमणियोंमें तुम आदर्श हो। यह देह तो क्षणभङ्गुर है ही; इसका नाश तो होगा ही। परन्तु मैं तुम्हें अमर करके जाऊँगा। मेरी इस टीकाका नाम तुम्हारे ही नामपर 'भामती' रहेगा।' इस प्रकार अपनी अपूर्व टीकाका नाम 'भामती' रखकर इन्होंने वास्तवमें भामतीका नाम अजर-अमर बना दिया।

वाचस्पतिमिश्रने वेदान्तपर 'भामती', सुरेश्वरकृत ब्रह्मसिद्धिपर 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा', सांख्यकारिकापर 'तत्त्व-कौमुदी', पातञ्जलदर्शनपर 'तत्त्ववैशारदी', न्यायदर्शनपर 'न्यायवार्त्तिकतात्पर्य', पूर्वमीमांसादर्शनपर 'न्यायसूची-निबन्ध', भाट्टमतपर 'तत्त्वबिन्दु' तथा मण्डनमिश्रके विधिविवेकपर 'न्यायकणिका' नामक टीकाकी रचना की। इनके

अतिरिक्त 'खण्डनकुठार' तथा 'स्मृतिसंग्रह' नामक पुस्तकोंके रचयिताका नाम भी वाचस्पतिमिश्र ही मिलता है। परन्तु यह कहना कठिन है कि इन दोनोंके लेखक भी यही थे या कोई अन्य वाचस्पतिमिश्र।

वाचस्पतिमिश्रने यों तो छहों दर्शनोंकी टीकाएँ लिखी हैं और उनमें उनके सिद्धान्तोंका निष्पक्षभावसे समर्थन किया है, तो भी उनका प्रधान लक्ष्य शाङ्करसिद्धान्त ही है। इनके ग्रन्थोंमें काफी मौलिकता पायी जाती है। शाङ्कर-सिद्धान्तके प्रचारमें इनका बहुत बड़ा हाथ रहा है। इनकी 'भामती' टीका अद्वैतवादका एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। ये केवल विद्वान् ही नहीं थे, उच्चकोटिके साधक भी थे। इन्होंने अपना प्रत्येक ग्रन्थ श्रीभगवान्को ही समर्पण किया है। इससे इनकी आध्यात्मिक प्रवृत्तिका ज्ञान होता है। किन्हीं-किन्हींका विश्वास है कि श्रीसुरेश्वराचार्यने ही वाचस्पतिमिश्रके रूपमें पुनः जन्म लिया था।

श्रीकृष्णमिश्र यति

प्रायः नवीं-दसवीं शताब्दीतक वैदान्तिक चर्चा विद्वानोंतक ही सीमित थी। परन्तु ज्यों-ज्यों इसके विभिन्न मतवाद विस्तार-लाभ करते गये त्यों-त्यों इस चर्चाका क्षेत्र बढ़ता गया और सर्वसाधारणमें भी इस चर्चाको फैलानेकी चेष्टा होने लगी। इस दिशामें पुराणोंने कुछ-कुछ कार्य किया था। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दीमें नाटक-काव्यादिके रूपमें वेदान्ततत्त्वको समझानेका प्रयास आरम्भ हुआ। नाटक और काव्य सर्वसाधारणपर गद्यादिकी अपेक्षा अधिक प्रभाव डालते हैं और सुबोध भी होते हैं। अतएव इसी समय अद्वैतमतका प्रचार करनेके उद्देश्यसे श्रीकृष्णमिश्रने 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक नाटककी रचना की। ये प्रायः ग्यारहवीं शताब्दीके शेष भागमें हुए थे। ये एक संन्यासी थे। इनके ग्रन्थसे उनकी कवित्वशक्ति तथा दार्शनिक प्रतिभाका परिचय मिलता है। इससे अधिक इनके जीवनके विषयमें कुछ ज्ञात नहीं है।

प्रकाशात्म यति

प्रायः ग्यारहवीं शताब्दीमें आचार्य रामानुजका आविर्भाव हुआ था और इन्होंने शाङ्करमतका बड़े जोरदार शब्दोंमें खण्डन किया। उस समय शाङ्करमतको पुष्ट करनेकी चेष्टा श्रीप्रकाशात्म यतिने की। इन्होंने पद्मपादाचार्यकृत पञ्चपादिकापर 'पञ्चपादिकाविवरण' नामक टीकाकी रचना की। अद्वैतजगत्में यह टीका भी बहुत मान्य है। बादके आचार्योंने प्रकाशात्म यतिके वाक्य प्रमाणके रूपमें उद्धृत किये हैं। परन्तु इन्होंने अपना परिचय कहीं नहीं दिया। ऐसा मालूम होता है कि ये दसवीं शताब्दीके बाद और तेरहवीं शताब्दीके पहले हुए थे। ये संन्यासी थे और इनके गुरुका नाम श्रीमत् अनन्यानुभव था। इनके गुरुको ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ था, ऐसा इनके ग्रन्थसे पता चलता है। उन्होंने गुरुसे ब्रह्मविद्या प्राप्त करके ग्रन्थरचना की थी। ग्रन्थके देखनेसे ऐसा मालूम होता है कि ये प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनका दूसरा नाम प्रकाशानुभव था। इनके पञ्चपादिकाविवरण नामक ग्रन्थके द्वारा अद्वैतमतका—विशेषकर पद्मपादाचार्यके मतका काफी प्रचार हुआ।

आचार्य श्रीअद्वैतानन्द बोधेन्द्र

आचार्य अद्वैतानन्दका जन्म लगभग ११४९ ई० में दक्षिण भारतकी कावेरी नदीके तटपर पञ्चनद नामक स्थानमें हुआ था। इनके पिताका नाम प्रेमनाथ और माताका नाम पार्वतीदेवी था। ये कौण्डिन्य गोत्रके थे। इनका नाम पहले सीतानाथ था। इन्होंने प्रायः १७ वर्षकी उम्रमें संन्यास ले लिया। इनके गुरुका नाम भूमानन्द सरस्वती या चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती था। उनके गुरु काञ्चीके शारदामठ (कामकोटिपीठ) के अध्यक्ष थे। गुरुने अद्वैतानन्दको अपने स्थानपर प्रायः ११६६ ई० में महंत नियुक्त किया और आप काशी चले गये। अद्वैतानन्द संन्यास लेनेके पूर्व ही न्याय और मीमांसादर्शनमें पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके थे। जब गुरु वाराणसी चले गये तब इन्होंने रामानन्द सरस्वतीसे पढ़कर अद्वैतविद्यामें भी अच्छी गति प्राप्त कर ली। रामानन्द सरस्वतीने ही इन्हें शारीरकसूत्र-भाष्य पढ़ाया। अद्वैतमतका पूर्ण अध्ययन करके इन्होंने सारे भारतका भ्रमण किया और अन्य मतावलम्बियोंसे शास्त्रार्थ करके उन्हें परास्त किया। 'पुण्यश्लोकमञ्जरी' में लिखा है कि इन्होंने खण्डनखण्डखाद्यकार श्रीहर्षमिश्रको भी पराजित किया था। परन्तु यह बात उतनी युक्तिसंगत नहीं मालूम होती। क्योंकि श्रीहर्षके साथ विवाद करनेका कोई कारण नहीं था; वे भी प्रायः इन्हींके मतके समर्थक थे। श्रीहर्षने श्रीअद्वैतानन्दका नाम तथा अन्य पण्डितोंके इनके द्वारा पराजित होनेकी बात अपने ग्रन्थमें दी है; परन्तु अपने साथ विवाद होनेकी बात कहीं नहीं लिखी। बल्कि उन्होंने इनके लिये सर्वत्र सम्मानसूचक शब्दोंका व्यवहार किया

है, ऐसा ही मालूम होता है। अवश्य ही श्रीहर्ष इनके समसामयिक ही थे। श्रीअद्वैतानन्दके ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि रामानन्द मुनिके प्रति इनकी अगाध भक्ति थी। प्रायः ३३ वर्षतक अध्यक्षपदपर रहकर इन्होंने ५० वर्षकी उम्रमें सन् ११९९ ई० में समाधि ग्रहण की। इनके दो और नाम थे—चिद्विलास और आनन्दबोधाचार्य।

अद्वैतानन्दने तीन ग्रन्थोंकी रचना की—ब्रह्मविद्याभरण, शान्तिविवरण और गुरुप्रदीप। इनमें ब्रह्मविद्याभरण ही मुख्य है। इसमें ब्रह्मसूत्रके चारों अध्यायोंकी व्याख्या है। इसे शांकरभाष्यकी वृत्ति कह सकते हैं। अद्वैतानन्दने अधिकतर वाचस्पतिमिश्रके मतका अनुसरण किया है।

श्रीहर्षमिश्र

श्रीशङ्कराचार्य और श्रीसुरेश्वराचार्यके बाद प्रायः बारहवीं शताब्दीतक अद्वैतमतके जितने आचार्य हुए, उन्होंने प्रायः व्याख्या या वृत्ति ही लिखी; किसीने कोई प्रमेयबहुल प्रकरणग्रन्थ नहीं लिखा। बारहवीं शताब्दीमें श्रीहर्षमिश्र हुए, जिन्होंने अन्य मतोंका खण्डन करनेके लिये एक प्रकरण-ग्रन्थ लिखा और इस प्रकार अद्वैतजगत्में नवयुग उपस्थित कर दिया। इनकी देखादेखी इनके समसामयिक आनन्द-बोध भट्टारकाचार्य तथा बादके चित्सुखाचार्य आदिने भी प्रकरणग्रन्थोंकी रचना की। श्रीहर्ष दार्शनिक और कवि दोनों थे।

सुना जाता है कि इनके पिताका नाम श्रीहीरपण्डित तथा माताका नाम मामल्लदेवी था। इनके पिता भी कवि थे; परन्तु उनका कोई ग्रन्थ या वर्णन नहीं मिलता। कहते हैं कि श्रीहर्षके पिता श्रीहीरपण्डितको राजसभामें किसी पण्डितने शास्त्रार्थमें हरा दिया। इससे उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे भगवतीकी उपासना करने लगे। भगवतीने प्रसन्न होकर उन्हें वरदान दिया कि तुम्हें एक दिग्विजयी पुत्र प्राप्त होगा। उसीके कुछ दिन बाद श्रीहर्षका जन्म हुआ। श्रीहीरपण्डितके मनमें हारका दुःख जन्मभर बना रहा, शान्त नहीं हुआ। जब वे मृत्युशय्यापर पड़ गये तब उन्होंने श्रीहर्षको बुलाकर अपने पराभवका वृत्तान्त सुनाया और पराजित करनेवाले पण्डितका परिचय देकर कहा कि यदि तुम उस पण्डितको हरा दोगे तो परलोकमें मुझे शान्ति मिलेगी। पुत्रने पिताके अन्तिम वाक्यको पूरा करनेकी प्रतिज्ञा की।

पिताकी मृत्युके बाद उनका श्राद्ध आदि करके श्रीहर्ष विभिन्न स्थानोंमें घूम-घूमकर विद्याध्ययन करने लगे। उन्होंने पिताकी अन्तिम अभिलाषा पूर्ण करना अपने जीवनका मुख्य व्रत बना लिया। इससे उनके अनन्य पितृभक्त और दृढ़प्रतिज्ञ होनेका परिचय मिलता है। जब उन्होंने सर्वत्र घूमकर पूर्णरूपसे अध्ययन कर लिया तब एक सुयोग्य साधकसे दीक्षा ली और उनसे चिन्तामणिमन्त्र लेकर वे किसी नदीतटपर एक पुराने मन्दिरमें भगवतीकी आराधना करने लगे। भगवतीने उनकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर यह वर प्रदान किया कि तुम समस्त विद्याओंमें पारङ्गत हो जाओगे तथा तुम्हें असाधारण वाक्चातुरी प्राप्त होगी। इस प्रकार देवीकी कृपा प्राप्त करके वे कान्यकुब्जके राजाकी सभामें आये। वहाँ उन्होंने अपने पिताको पराजित करनेवाले पण्डितको शास्त्रार्थमें हराया। राजाने उनके प्रकाण्ड पाण्डित्यसे सन्तुष्ट होकर उनका खूब सम्मान किया। तबसे वे प्रायः राजाके ही आश्रित रहे। राजाका नाम जयचन्द्र या जयन्तचन्द्र था। उन्होंने अपने एक ग्रन्थमें राजाका कुछ परिचय भी दिया है।

मतवाद

श्रीहर्ष जिस समय हुए थे उस समय देशमें न्यायदर्शनका कुछ विशेष प्रचार हो रहा था। दूसरी ओर वैष्णव लोगोंका मत बढ़ रहा था, दक्षिण और उत्तर भारतमें श्रीरामानुज और श्रीनिम्बार्कके मतका प्रचार हो रहा था। ऐसे समयमें श्रीहर्षने अपनी अपूर्व प्रतिभासे अद्वैतमतका समर्थन और अन्य मतोंका खूब जोरदार खण्डन करके अद्वैतमतकी रक्षा की। न्यायमतपर उनका इतना कठोर प्रहार हुआ जितना शायद ही किसी दूसरेने किया हो। उनका 'खण्डन-खण्डखाद्य' अपने ढंगका एक ही ग्रन्थ है। उनका दूसरा काव्यग्रन्थ 'नैषधचरित' है। इसमें उनकी अपूर्व कवित्व-छटा और पाण्डित्य परिस्फुटित हुआ है। इनके सिवा अर्णववर्णन, शिवशक्तिसिद्धि, साहसाङ्कचम्पू, छन्दःप्रशस्ति, विजयप्रशस्ति, गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति, ईश्वराभिसन्धि और स्थैर्यविचारणप्रकरण, ये सब उनके अन्यान्य ग्रन्थ हैं। श्रीहर्षने अपने ग्रन्थोंमें अद्वैतमतका प्रतिपादन किया है; और विशेषतः उदयनाचार्यके न्यायमतका खण्डन किया है। आचार्य श्रीहर्षके 'खण्डनखण्डखाद्य'का दूसरा नाम 'अनिर्वचनीयसर्वस्व' है। वास्तवमें यह नाम सार्थक है। भगवान् शङ्करका मायावाद अनिर्वचनीयख्यातिके ऊपर ही

अवलम्बित है। उनके सिद्धान्तानुसार कार्य और कारण भिन्न, अभिन्न अथवा भिन्नाभिन्न भी नहीं हैं, अपितु अनिर्वचनीय ही हैं। इस अनिर्वचनीयताके कारण ही कारण सत् है और कार्य केवल मायामात्र है। श्रीहर्षने खण्डनखण्डखाद्यमें सब प्रकारके विपक्षोंका बड़े रोबके साथ खण्डन किया है, तथा उनके सिद्धान्तका ही नहीं, बल्कि जिनके द्वारा वे सिद्ध होते हैं उन प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका भी खण्डनकर एक अप्रमेय अद्वितीय एवं अखण्ड वस्तुकी ही स्थापना की है।

श्रीआनन्दबोध भट्टारकाचार्य

श्रीआनन्दबोध भट्टारकाचार्य बारहवीं शताब्दीमें वर्तमान थे। उन्होंने 'न्यायमकरन्द' नामक अपने ग्रन्थमें आचार्य वाचस्पतिमिश्रका नामोल्लेख किया है तथा विवरणाचार्य प्रकाशात्म यतिके मतका अनुवाद भी किया है। वाचस्पतिमिश्र दसवीं शताब्दीमें और प्रकाशात्म यति ग्यारहवीं शताब्दीमें हुए थे। चित्सुखाचार्यने जो तेरहवीं शताब्दीमें वर्तमान थे, 'न्यायमकरन्द'की व्याख्या की है। इससे मालूम होता है कि आनन्दबोध बारहवीं शताब्दीमें ही हुए थे। उनके ग्रन्थसे ही मालूम होता है कि उन्होंने विभिन्न ग्रन्थोंसे संग्रह करके 'न्यायमकरन्द' की रचना की थी। वे संन्यासी थे। इससे अधिक उनके जीवनकी कोई बात नहीं मालूम होती। उनके तीन ग्रन्थ मिलते हैं—(१) न्यायमकरन्द, (२) प्रमाणमाला और (३) न्यायदीपावली। इन तीनोंमें उन्होंने अद्वैतमतका विवेचन किया है। 'न्यायमकरन्द' भी अद्वैतमतका एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है।

आचार्य अमलानन्द

आचर्य अमलानन्दका आविर्भाव दक्षिण भारतमें हुआ था। वे यादववंशीय राजा महादेव और राजा रामचन्द्रके समसामयिक थे। देवगिरिके राजा महादेवने सन् १२६० ई० से १२७१ ई० तक शासन किया। १२९८ में राजा रामचन्द्रपर अलाउद्दीनने आक्रमण किया था। अमलानन्दने अपने ग्रन्थ 'वेदान्तकल्पतरु'में ग्रन्थरचनाके कालके विषयमें जो कुछ लिखा है, उससे मालूम होता है कि दोनों राजाओंके समयमें ग्रन्थ लिखा गया था। राजा रामचन्द्रके वैभवके विषयमें भी ग्रन्थमें उल्लेख है। परन्तु यवन-आक्रमणके सम्बन्धमें कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता। और यवन-आक्रमणके बादसे यादववंशका ह्रास भी होने लगा था। इससे मालूम होता है कि अमलानन्द तेरहवीं शताब्दीके अन्तमें हुए थे और उनका ग्रन्थ १२९८ ई० से पहले ही लिखा जा चुका था। वे देवगिरि-राज्यके अन्तर्गत किसी स्थानमें रहते थे, ऐसा अनुमान होता है। उनके जन्मस्थान आदिके विषयमें कुछ नहीं मालूम होता। उनके गुरुका नाम अनुभवानन्द था।

आचार्य अमलानन्द अद्वैतमतके समर्थक थे। उनके लिखे हुए तीन ग्रन्थ मिलते हैं। पहला 'वेदान्तकल्पतरु' है, जिसमें वाचस्पतिमिश्रकी 'भामती' टीकाकी व्याख्या की गयी है। यह ग्रन्थ भी अद्वैतमतका प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है और बादके आचार्योंने इससे भी प्रमाण ग्रहण किये हैं। दूसरा ग्रन्थ है 'शास्त्रदर्पण'। इसमें ब्रह्मसूत्रके अधिकरणोंकी व्याख्या की गयी है। तीसरा ग्रन्थ है 'पञ्चपादिकादर्पण'। यह पञ्चपादाचार्यकी 'पञ्चपादिका'की व्याख्या है। इन तीनों ग्रन्थोंकी भाषा प्राञ्जल और भाव गम्भीर हैं। इनसे अमलानन्दकी महान् विद्वत्ताका परिचय मिलता है।

श्रीचित्सुखाचार्य

आचार्य चित्सुखका आविर्भाव प्रायः तेरहवीं शताब्दीमें हुआ था। उन्होंने अपने 'तत्त्वप्रदीपिका' नामक ग्रन्थमें न्यायलीलावतीकार वल्लभाचार्यके मतका खण्डन किया है, जो बारहवीं शताब्दीमें हुए थे। उस खण्डनमें उन्होंने श्रीहर्षके मतका उद्धरण दिया है, जो उस शताब्दीके अन्तमें हुए थे। उधर तेरहवीं शताब्दीके अन्तसे लेकर चौदहवीं शताब्दीतक जीवित रहनेवाले विद्यारण्य स्वामीने उनका अपने ग्रन्थमें उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि वे तेरहवीं शताब्दीमें ही हुए थे। उनके जन्मस्थान आदिके विषयमें कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। उन्होंने 'तत्त्वप्रदीपिका'के मङ्गलाचरणमें अपने गुरुका नाम ज्ञानोत्तम लिखा है।

जिन दिनों चित्सुखाचार्यका आविर्भाव हुआ था, उन दिनों पुनः न्यायमतका जोर बढ़ रहा था। द्वादश शताब्दीमें श्रीहर्षने न्यायमतका खण्डन किया था; अब तेरहवीं शताब्दीके आरम्भमें गङ्गेशने हर्षके मतको काटकर न्यायमतका प्रचार किया। दूसरी ओर द्वैतवादी वैष्णव आचार्य भी अद्वैतमतका खण्डन कर रहे थे। ऐसे समयमें चित्सुखाचार्यने

अद्वैतमतका समर्थन और न्याय आदि मतोंका खण्डन करके शांकरमतकी रक्षा की। उन्होंने इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये 'तत्त्वप्रदोपिका', 'न्यायमकरन्द'की टीका, और 'खण्डनखण्डखाद्य'की टीका लिखी। तत्त्वप्रदीपिकाका दूसरा नाम चित्सुखी भी है। अपनी प्रतिभाके कारण चित्सुखाचार्यने थोड़े ही समयमें काफी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। चित्सुख भी अद्वैतवादके स्तम्भ माने जाते हैं। परवर्ती आचार्योंने उनके वाक्योंको भी प्रमाणके रूपमें उद्धृत किया है।

आचार्य भारतीतीर्थ

आचार्य भारतीतीर्थ विद्यारण्य स्वामीके गुरु बताये जाते हैं। कुछ लोगोंका कहना है कि विद्यारण्य स्वामीका ही नाम भारतीतीर्थ भी था। परन्तु कई कारणोंसे यह मत उचित नहीं जँचता। यही ठीक मालूम होता है कि विद्यारण्य और भारतीतीर्थ दो व्यक्ति थे। स्वयं माधवाचार्य अर्थात् विद्यारण्यने अपने ग्रन्थ 'जैमिनीयन्यायमाला' की टीका 'विस्तर' में भारतीतीर्थको अपना गुरु लिखा है। अवश्य ही उन्होंने कहीं भारतीतीर्थ, कहीं विद्यातीर्थ और कहीं शंकरानन्दको गुरुरूपमें स्मरण किया है। विद्यातीर्थ भारतीतीर्थके गुरु थे, ऐसा भारतीतीर्थने अपने ग्रन्थ 'वैयासिकन्यायमाला' में लिखा है। इस तरह मालूम होता है, विद्यारण्य स्वामीने पहले विद्यातीर्थसे और उनके अन्तर्धान होनेपर भारतीतीर्थ और शंकरानन्दसे उपदेश ग्रहण किया था। विद्यारण्यके शिष्य रामकृष्णने भी पञ्चदशीकी स्वलिखित टीकाके प्रत्येक परिच्छेदके मंगलाचरणमें भारतीतीर्थ और विद्यारण्य दोनोंका उल्लेख किया है। अतएव दोनों एक व्यक्ति नहीं।

आचार्य भारतीतीर्थ शांकरमतके अनुयायी थे और उन्होंने उस मतकी व्याख्या करनेके लिये ही 'वैयासिकन्यायमाला' की रचना की थी। शांकरमतानुसार ब्रह्मसूत्रका तात्पर्य समझनेके लिये यह ग्रन्थ बड़ा उपयोगी माना जाता है। यह ग्रन्थ सरल और सुबोध भाषामें पद्यमें लिखा गया है। इसमें ब्रह्मसूत्रके चारों अध्यायोंका सारांश चार श्लोकोंमें इस प्रकार दिया हुआ है—

प्रथम अध्यायका तात्पर्य—

समन्वये स्पष्टलिङ्गमस्पष्टत्वेऽप्युपास्यगम् ।
ज्ञेयगं पदमात्रं च चिन्त्यं पादेष्वनुक्रमात् ॥

द्वितीय अध्यायका तात्पर्य—

द्वितीये स्मृतितर्काभ्यामविरोधोऽन्यदुष्टता ।
भूतभोक्तृश्रुतेर्लिङ्गश्रुतेरप्यविरुद्धता ॥

तृतीय अध्यायका तात्पर्य—

तृतीये विरतिस्तत्त्वं पदार्थपरिशोधनम् ।
गुणोपसंहृतिर्ज्ञानबहिरङ्गादिसाधनम् ॥

चतुर्थ अध्यायका तात्पर्य—

चतुर्थे जीवतो मुक्तिरुत्क्रान्तेर्गतिरुत्तरा ।
ब्रह्मप्राप्तिब्रह्मलोकाविति पादार्थसंग्रहः ॥

आचार्य शंकरानन्द

आचार्य शंकरानन्द भी विद्यारण्य स्वामीके शिक्षागुरु थे। विद्यारण्यने पञ्चदशीके मंगलाचरणमें तथा विवरणप्रमेयसंग्रहके मंगलाचरणमें उन्हें गुरुरूपसे प्रणाम किया है। वे भी चौदहवीं शताब्दीमें हुए थे। वे भी अद्वैतवादी आचार्य थे। उन्होंने भी शांकरमतका समर्थन किया है। उन्होंने शांकरमतको पुष्ट तथा प्रचारित करनेके लिये ब्रह्मसूत्रदीपिका, गीताकी टीका तथा १०८ उपनिषदोंकी टीका लिखी है। ब्रह्मसूत्रदीपिकामें उन्होंने बड़ी सरल भाषामें शांकरमतानुसार ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या की है। गीता और उपनिषदोंकी टीकामें भी उन्होंने शंकराचार्यका ही अनुसरण किया है। उनके ग्रन्थोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि वे भी अगाध पण्डित थे। उनके नामसे एक आत्मपुराण नामक ग्रन्थ भी मिलता है। इसमें अद्वैतवादके प्रायः सभी सिद्धान्त, श्रुतिरहस्य, योगसाधनरहस्य आदि सभी बातें बड़ी सरल और मर्मस्पर्शी भाषामें दी गयी हैं। अद्वैतसाहित्यजगत्का यह भी एक अमूल्य रत्न है।

श्रीमाधवाचार्य या विद्यारण्य मुनि

श्रीमन्माधवाचार्य प्रायः १३-१४ वीं शताब्दीमें हुए थे। उनके जीवनचरितके विषयमें भी बड़ा मतभेद है। कुछ लोगोंका कहना है कि उनका जन्म सन् १२६७ ई० में तुंगभद्रा नदीके तटवर्ती हाम्पी नगरके पास एक गाँवमें हुआ था। उन्होंने 'पराशरमाधव' नामक अपने ग्रन्थमें जो अपना परिचय दिया है, उससे मालूम होता है कि उनके पिताका नाम मायण, माताका श्रीमती तथा दो भाइयोंका सायण और भोगनाथ था। सूत्र बोधायन, गोत्र भरद्वाज और यजुर्वेदी ब्राह्मण-कुलमें उनका

जन्म हुआ था । उन्हींके ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि उनका कुलनाम भी सायण ही था और उनके भाई वेदभाष्यकार सायण अपने कुलनामसे ही प्रसिद्ध हुए थे । श्रीमाधवके गुरुके विषयमें पहले वर्णन आ चुका है । उन्होंने गुरुरूपसे विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ और शंकरानन्दको नमस्कार किया है । सायणाचार्यने भी विद्यातीर्थकी ही वेदभाष्यके आरम्भमें वन्दना की है । उधर भारतीतीर्थने भी विद्यातीर्थको ही अपना गुरु लिखा है । इससे मालूम होता है माधवाचार्य, सायण और भारतीतीर्थ तीनोंने विद्यातीर्थसे ही शिक्षा प्राप्त की । विद्यातीर्थके अवसानके बाद माधवने सम्भवतः भारतीतीर्थ और शंकरानन्दसे भी शिक्षा प्राप्त की । इस तरह तीनोंको उन्होंने गुरु माना है ।

श्रीमाधवाचार्य विजयनगर राज्यके संस्थापक थे । सन् १३३५ या १३३६ ई० के लगभग विजयनगरके राजसिंहासनपर महाराज वीर बुक्कको अभिषिक्तकर वे उनके प्रधान मन्त्री बने । वे उच्च कोटिके राजनीतिज्ञ और प्रबन्धपटु थे । उन्होंने कितने ही यवनराज्योंको स्वायत्तकर विजयनगर राज्यकी सीमावृद्धि की थी । सुप्रसिद्ध विशिष्टाद्वैताचार्य श्रीवेदान्तदेशिकाचार्य उनके समकालीन और बालसखा थे । उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी । वे एक साथ ही दार्शनिक, कवि, वैयाकरण, स्मृतिसंग्रहकार और राजनीतिज्ञ थे । उनके समान विभिन्न गुणसम्पन्न व्यक्ति बहुत दुर्लभ हैं । उन्होंने जिस कामको हाथमें लिया उसीमें अपूर्व सफलता प्राप्त की । अब हम उनकी रचनाओंका संक्षिप्त परिचय देनेका प्रयत्न करते हैं—

१–माधवीय धातुवृत्ति–यह व्याकरणग्रन्थ है ।

२–जैमिनीयन्यायमाला और उसकी टीका 'विवरण'–यह पूर्वमीमांसासम्बन्धी ग्रन्थ है ।

३–पराशरमाधव–यह पराशरसंहिताके ऊपर एक निबन्ध है । स्मृतिशास्त्रका ऐसा उपयोगी ग्रन्थ सम्भवतः दूसरा नहीं है । पराशरसंहितामें जिन विषयोंपर प्रकाश नहीं डाला गया वह सब अंश दूसरी स्मृतियोंसे लेकर उसे श्लोकबद्ध कर 'पराशरमाधव'में जोड़ दिया गया है ।

४–सर्वदर्शनसंग्रह–इसमें समस्त दर्शनोंका सार संगृहीत किया गया है ।

५–विवरणप्रमेयसंग्रह–यह श्रीपद्मपादाचार्यकृत पञ्चपादिकाविवरणके ऊपर एक प्रमेयप्रधान निबन्ध है ।

६–सूतसंहिताकी टीका–सूतसंहिता स्कन्दपुराणके अन्तर्गत है; उसमें अद्वैत वेदान्तका निरूपण है । उसके ऊपर माधवाचार्यने विशद टीका लिखी है ।

७–पञ्चदशी–यह अद्वैत वेदान्तका एक प्रधान प्रकरणग्रन्थ है । इसमें पन्द्रह प्रकरण और प्रायः पन्द्रह सौ श्लोक हैं ।

८–अनुभूतिप्रकाश–इसमें उपनिषदोंकी आख्यायिकाएँ श्लोकबद्ध करके संग्रह की गयी हैं ।

९–अपरोक्षानुभूतिकी टीका–'अपरोक्षानुभूति' भगवान् शंकराचार्यकी रचना है; उसपर विद्यारण्य स्वामीने बहुत सुन्दर टीका की है ।

१०–जीवन्मुक्तिविवेक–इस ग्रन्थमें संन्यासियोंके समस्त धर्मोंका निरूपण किया गया है ।

११–ऐतरेयोपनिषद्दीपिका–यह ऐतरेयोपनिषद्की शांकरभाष्यानुसारी टीका है ।

१२–तैत्तिरीयोपनिषद्दीपिका–यह तैत्तिरीयोपनिषद्की शांकरभाष्यानुसारी टीका है ।

१३–छान्दोग्योपनिषद्दीपिका–यह छान्दोग्योपनिषद्की शांकरभाष्यानुसारी टीका है ।

१४–बृहदारण्यकवार्तिकसार–आचार्य शंकरके बृहदारण्यकभाष्यपर जो श्रीसुरेश्वराचार्यकृत वार्तिक है, इसमें उसका श्लोकबद्ध संक्षिप्त सार है ।

१५–शंकरदिग्विजय–यह भगवान् शंकराचार्यका जीवनचरित है और एक उत्कृष्ट कोटिका काव्य है ।

१६–कालमाधव–यह एक स्मृतिशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थ है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीविद्यारण्य स्वामीकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी । वे एक साथ ही कवि और दार्शनिक, राजनीतिज्ञ और तत्त्वनिष्ठ तथा महान् संग्रही और पूर्ण त्यागी थे । जिस प्रकार वे सफल राज्यसंस्थापक थे वैसे ही संन्यासियोंमें भी अग्रगण्य थे । संन्यास-ग्रहणके पश्चात् वे शृंगेरीमठके शंकराचार्यकी गद्दीपर सुशोभित हुए थे । इस प्रकार सौ वर्षसे भी अधिक आयु लाभकर उन्होंने अपनी जीवनयात्रा समाप्त की ।

मतवाद

चतुर्विध चेतन–श्रीविद्यारण्य स्वामी भगवान् शङ्कराचार्यके ही अनुयायी हैं । उनकी गणना अद्वैत सम्प्रदायके प्रधान आचार्योंमें है । अद्वैतवादमें जीव और ईश्वरके स्वरूपके

विषयमें अवच्छेदवाद, आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद आदि कई मत प्रचलित हैं। इनमेंसे विद्यारण्य स्वामी प्रतिबिम्बवादके समर्थक हैं। उनके मतमें चेतनके चार भेद हैं। पञ्चदशीके चित्रदीपमें वे लिखते हैं—

कूटस्थो ब्रह्मजीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा।
घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा॥

अर्थात् घटाकाश, महाकाश, जलाकाश और मेघाकाशके समान कूटस्थ, ब्रह्म, जीव और ईश्वर-भेदसे चेतन चार प्रकारका है। व्यापक आकाशका नाम 'महाकाश' है, घटावच्छिन्न आकाशको घटाकाश कहते हैं, घटमें जो जल है उसमें प्रतिबिम्बित होनेवाले आकाशको 'जलाकाश' कहते हैं और मेघके जलमें प्रतिबिम्बित होनेवाले आकाशका नाम 'मेघाकाश' है। इन्हींके समान जो अखण्ड और व्यापक शुद्ध चेतन है उसका नाम 'ब्रह्म' है, देहरूप उपाधिसे परिच्छिन्न चेतनको 'कूटस्थ' कहते हैं, देहान्तर्गत अविद्यामें प्रतिबिम्बित चेतनका नाम 'जीव' है और मायामें प्रतिबिम्बित चेतनको 'ईश्वर' कहते हैं। माया और अविद्या, ये दो प्रकारकी प्रकृति हैं। माया शुद्धसत्त्वमयी है और अविद्या त्रिगुणमयी। अविद्यामें रज और तमका अंश रहता है, इसलिये उसके आश्रित जीव अल्पज्ञ और अल्पशक्ति है तथा माया रज-तमसे रहित शुद्ध सत्त्वमयी है, इसलिये तदुपाधिक ईश्वर सर्वज्ञ है। किन्तु माया और अविद्या इन दोनोंसे रहित जो शुद्ध चेतन है वह सर्वथा प्रपञ्चलेशशून्य है। देहरूप दृश्यमान उपाधिके कारण ही उसमें ब्रह्म और कूटस्थरूप भेदकी कल्पना की गयी है; किन्तु उपाधि तो अविद्याजनित है, इसलिये वस्तुतः उनमें कोई भेद नहीं है। इसीसे ब्रह्म और कूटस्थका मुख्यसमानाधिकरण माना गया है और ईश्वर तथा जीवका बाधसमानाधिकरण।

साक्षी तत्त्व—कर्तृत्व-भोक्तृत्व जीवके ही धर्म हैं, कूटस्थ केवल साक्षीमात्र है। पञ्चदशीके नाटकदीपमें इसका वर्णन करते हुए विद्यारण्य स्वामी लिखते हैं कि जिस प्रकार नृत्यशालास्थ दीपक सूत्रधार, पात्र, दर्शक और रंगमञ्च सभीको प्रकाशित करता है और इन सबके न रहनेपर भी उनके अभावको प्रकाशित करता रहता है, उसी प्रकार साक्षी भी अहंप्रत्ययसिद्ध कर्ता, इन्द्रियवृत्ति, बुद्धिवृत्ति एवं विषय इन सभीको प्रकाशित करता रहता है तथा इनके अभावमें स्वयं देदीप्यमान रहता है।

अविद्याधिष्ठान—अद्वैतसिद्धान्तानुसार प्रपञ्चकी जननी अविद्या है। अविद्याके कारण ही सम्पूर्ण प्रपञ्चकी प्रतीति होती है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि वह अविद्या किसके आश्रित है? इस सम्बन्धमें दो मत हैं। कोई उसे अन्तःकरणके आश्रित मानते हैं और कोई शुद्ध चेतनके। विद्यारण्य स्वामी उसे चेतनके आश्रित स्वीकार करते हैं। स्वप्नप्रपञ्चके अधिष्ठानके विषयमें भी इसी प्रकार मतभेद है। कोई अहंकारोपहित चेतनको स्वप्नका अधिष्ठान मानते हैं और कोई अनवच्छिन्न चेतनको। इस विषयमें भी विद्यारण्य स्वामीको द्वितीय मत ही स्वीकार है। वे कहते हैं कि अहंकारोपहित चेतन देहसे बाहर स्वाप्न प्रपञ्चका अधिष्ठान नहीं हो सकता। अतः जिस प्रकार जाग्रदवस्थामें वृत्तिका संप्रयोग होनेपर शुक्तिके इदमंशावच्छिन्न चैतन्यमें स्थित अविद्या रौप्यप्रतीतिका स्फुरण करती है, उसी प्रकार निद्रादिदोषोपहित अन्तःकरणवृत्तिका संयोग होनेपर अनवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ अविद्या स्वाप्न प्रपञ्चके आकारमें विवर्तित हो जाती है।

साधनविचार—विद्यारण्यस्वामीके मतमें ज्ञानका मुख्य साधन सांख्य या विचार है, जो क्रमशः श्रवण, मनन और निदिध्यासन कहा जाता है। इससे पूर्व चित्तशुद्धिके लिये निष्काम कर्म और उपासनाकी भी आवश्यकता है। उपासनाओंमें यों तो सभी प्रकारकी उपासनाएँ चित्तशुद्धिमें सहायक हैं, किन्तु उनमें निर्गुणोपासना प्रधान है। निर्गुणोपासनाको उन्होंने संवादी भ्रम कहा है तथा अन्य उपासनाओंको विसंवादी भ्रम। जो भ्रम, भ्रम होनेपर भी परिणाममें इष्ट वस्तुकी प्राप्ति करानेवाला होता है उसे संवादी भ्रम कहते हैं। ब्रह्म अनुपास्य है; अतः यद्यपि वह उपासनाका विषय नहीं हो सकता, तो भी जो लोग मनःसमाधानपूर्वक उसकी उपासनामें तत्पर होते हैं उन्हें उसकी प्राप्ति हो जाती है। यह क्रम मन्द और मध्यम अधिकारियोंके लिये है। उत्तम अधिकारियोंके लिये तो श्रवणादि ही मुख्य साधन हैं।

आनन्दगिरि

आचार्य आनन्दगिरि श्रीशङ्कराचार्यके भाष्योंके टीकाकार हैं। उन्होंने वेदान्तसूत्रके शांकरभाष्यपर 'न्यायनिर्णय' नामकी टीका लिखी है। आचार्यके जितने भाष्य हैं उन सभीपर इनकी टीका है। भाष्यके भावको हृदयंगम करानेमें

इनकी टीका बहुत ही सहायक है। इनके गुरु श्रीशुद्धानन्द स्वामी थे। वे सम्भवतः शृंगेरी आदिमेंसे किसी मठके अधीश्वर थे। किन्हीं-किन्हींके मतमें वे स्वयं भगवान् शङ्कराचार्यके शिष्य थे। परन्तु यह सम्भव नहीं है। उनकी टीकामें भामती, विवरण, कल्पतरु आदि टीकाओंकी छाया दीख पड़ती है तथा उन्होंने स्वयं भी अन्य टीकाओंका आश्रय लेनेकी बात लिखी है। अतः उनका उन टीकाकारोंसे पूर्ववर्ती होना कदापि सम्भव नहीं है। टीकाओंके अतिरिक्त उन्होंने 'शङ्करदिग्विजय' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थकी भी रचना की है। वह भी श्रीविद्यारण्य स्वामीके शङ्करदिग्विजयके पीछे लिखा गया है। इससे सिद्ध होता है कि वे विद्यारण्य स्वामीके परवर्ती और अप्पय्य दीक्षितके पूर्ववर्ती हैं, क्योंकि अप्पय्य दीक्षितने 'सिद्धान्तलेश' में न्यायनिर्णय टीकाका उल्लेख किया है। विद्यारण्य स्वामीका काल चौदहवीं शताब्दी है और अप्पय्य दीक्षितका सोलहवीं एवं सतरहवीं शताब्दीका पूर्व भाग है। अतः आनन्दगिरिका काल पन्द्रहवीं शताब्दी है।

आनन्दगिरि स्वामीका दूसरा नाम आनन्दज्ञान है। उनके पूर्वाश्रम और जीवनचरित्रके विषयमें किसी प्रकारका परिचय नहीं मिलता। उनका जीवन एक संन्यासीका जीवन था और वे एक सफल टीकाकार और उन्नत दार्शनिक थे। उन्होंने भगवान् शङ्कराचार्यकृत उपनिषद्भाष्य, गीताभाष्य, शारीरकभाष्य और शतश्लोकीपर तथा श्रीसुरेश्वराचार्यकृत तैत्तिरीयोपनिषद्वार्तिक एवं बृहदारण्यकोपनिषद्वार्तिकपर टीका लिखी है और 'शङ्करदिग्विजय' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ निर्माण किया है।

प्रकाशानन्द

आचार्य प्रकाशानन्द 'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' के रचयिता हैं। इनके गुरु आचार्य ज्ञानानन्द थे। ये भी अप्पय्य दीक्षितके पूर्ववर्ती थे, क्योंकि अप्पय्य दीक्षितने सिद्धान्तलेशमें उनके मतका उल्लेख किया है। वे विद्यारण्यके परवर्ती हैं, क्योंकि वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीमें कहीं-कहीं उन्होंने पञ्चदशीके उदाहरणोंको उद्धृत किया है। अतः उनका जीवनकाल पन्द्रहवीं शताब्दी ही होना चाहिये। इसके सिवा उनके जीवनसम्बन्धी और कोई घटना नहीं दी जा सकती।

'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' वेदान्तका सुप्रसिद्ध प्रमाणग्रन्थ है। ग्रन्थकारके कथनानुसार उन्होंने स्वयं कृतकृत्य होकर इस ग्रन्थकी रचना की थी। इसकी विवेचनशैली बहुत युक्तियुक्त, पाण्डित्यपूर्ण और प्राञ्जल है। इससे उनकी साहित्यिक प्रतिभाका अच्छा परिचय मिलता है। इसमें गद्यमें विचार करके पद्यमें सिद्धान्तनिरूपण किया है। इसके ऊपर अप्पय्य दीक्षितकी 'सिद्धान्तदीपिका' नामकी एक वृत्ति है। इस ग्रन्थका अंग्रेजीमें भी अनुवाद हो चुका है।

अखण्डानन्द

आचार्य अखण्डानन्दका स्थितिकाल भी पन्द्रहवीं शताब्दी ही है। इनके गुरु आचार्य अखण्डानुभूति थे। इन्होंने पञ्चपादिकाविवरणके ऊपर 'तत्त्वदीपन' नामक निबन्ध लिखा है। यह एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। आचार्य अप्पय्य दीक्षितने भी अपने सिद्धान्तलेशमें इसका मत उद्धृत किया है। विवरणके ऊपर भावप्रकाशिका नामक एक और टीका है। 'तत्त्वदीपन' उससे पूर्ववर्ती है, क्योंकि भावप्रकाशिकामें उसका उल्लेख है। भावप्रकाशिकाकार नृसिंहाश्रम १५४१ ई० में वर्तमान थे। अतः अखण्डानन्द स्वामीका जीवनकाल पन्द्रहवीं शताब्दी होना चाहिये।

मल्लनाराध्य

श्रीमल्लनाराध्यजी दक्षिण भारतके निवासी थे। उनका जन्म कोटीश वंशमें हुआ था। उन्होंने 'अद्वैतरत्न' और 'अभेदरत्न' नामक दो प्रकरणग्रन्थ लिखे हैं। उनका जन्म सोलहवीं शताब्दीके आरम्भमें हुआ था। उन्होंने अद्वैतरत्नके ऊपर 'तत्त्वदीपन' नामक टीका लिखी है। मल्लनाराध्यने द्वैतवादियोंके मतका खण्डन करनेके लिये इस ग्रन्थकी रचना की है। यह ग्रन्थ अभीतक अप्रकाशित है।

नृसिंहाश्रम

श्रीनृसिंहाश्रमजी अद्वैतसम्प्रदायके प्रमुख आचार्योंमें गिने जाते हैं। उनके गुरु श्रीजगन्नाथाश्रमजी थे। उनका 'तत्त्वविवेक' नामक एक ग्रन्थ है; उससे विदित होता है कि उसका समाप्तिकाल सं० १६०४ वि० अर्थात् १५४७ ई० है। अतः उनका जीवनकाल सोलहवीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध होना चाहिये। श्रीनृसिंहाश्रम स्वामी उद्भट दार्शनिक और बड़े प्रौढ़ पण्डित थे। उनकी रचना बहुत उच्च कोटिकी और युक्तिप्रधान है। कहते हैं, उन्हींकी प्रेरणासे श्रीअप्पय्य दीक्षितने परिमल, न्यायरक्षामणि एवं सिद्धान्तलेश आदि वेदान्त-

ग्रन्थोंकी रचना की थी। उनके रचे हुए ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है—

भावप्रकाशिका—यह श्रीप्रकाशात्मयतिकृत पञ्चपादिका-विवरणकी टीका है।

तत्त्वविवेक—यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है। इसमें केवल दो परिच्छेद हैं। इसके ऊपर उन्होंने स्वयं ही 'तत्त्वविवेक-दीपन' नामकी एक टीका लिखी है।

भेदधिक्कार—इसमें भेदवादका खण्डन है।

अद्वैतदीपिका—यह अद्वैत वेदान्तका एक युक्तिप्रधान ग्रन्थ है।

वैदिकसिद्धान्तसंग्रह—इसमें ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी एकता की गयी है, और यह बतलाया गया है कि ये तीनों एक ही परब्रह्मकी अभिव्यक्तिमात्र हैं।

तत्त्वबोधिनी—यह सर्वज्ञात्ममुनिकृत संक्षेपशारीरककी व्याख्या है।

नारायणाश्रम

श्रीनारायणाश्रमजी आचार्य नृसिंहाश्रमके शिष्य थे। अतः वे उन्हींके समकालीन हैं। उन्होंने अपने गुरुके 'भेदधिक्कार' तथा 'अद्वैतदीपिका' नामक ग्रन्थोंपर टीका लिखी है। उन्होंने भेदधिक्कारके ऊपर जो टीका लिखी है उसका नाम 'भेदधिक्कारसत्क्रिया' है, उसके ऊपर 'भेदधिक्कारसत्क्रियोज्ज्वला' नामकी एक टीका है। श्रीनारायणाश्रमकी ग्रन्थरचनाका प्रधान प्रयोजन द्वैतवादका खण्डन ही है।

रंगराजाध्वरी

श्रीरंगराजाध्वरी सुप्रसिद्ध विद्वान् अप्पय्य दीक्षितके पिता थे। इनके पिताका नाम आचार्य दीक्षित था। आचार्य दीक्षित भी अद्वैतसम्प्रदायके आचार्योंमें गिने जाते हैं। उन्होंने बहुत-से यज्ञ किये थे; इसीसे वे 'दीक्षित' इस उपनामसे विभूषित हुए। इनका निवासस्थान काञ्ची था। इनका दूसरा नाम वक्षःस्थलाचार्य था। ये विजयनगरके राजा कृष्णदेवराजके सभापण्डित थे। उन्हींने इन्हें यह नाम प्रदान किया था। ये बड़े ही धर्मनिष्ठ और कर्त्तव्यपरायण थे; इन्होंने बहुत-से यज्ञ, देवालयप्रतिष्ठा, ब्राह्मणभोजन एवं जलाशयनिर्माणादि धार्मिक कृत्य किये थे। इनके दो विवाह हुए थे। इनकी पहली पत्नी एक शैवमतावलम्बी ब्राह्मणकी कन्या थी तथा दूसरी श्रीवैकुण्ठाचार्यवंशीय श्रीरंगमाचार्यकी पुत्री तोतारम्बा देवी थी। तोतारम्बाके गर्भसे आचार्य दीक्षितके चार पुत्र हुए। उनमें सबसे बड़े रंगराजाध्वरी अथवा रंगराजमखी[1] थे। अप्पय्य दीक्षितने अपने ग्रन्थोंमें अपने पिता, पितामह एवं मातामहादिका परिचय दिया है।

रंगराजाध्वरी सम्पूर्ण विद्याओंमें कुशल थे। अप्पय्य दीक्षितको उन्हींसे विद्यालाभ हुआ था। अपने पिताके विषयमें अप्पय्य दीक्षितने न्यायरक्षामणि नामक ग्रन्थके आरम्भमें लिखा है—

यं ब्रह्म निश्चितधियः प्रवदन्ति साक्षाव्
तद्दर्शनादखिलदर्शनपारभाजम् ।
तं सर्ववेदसमशेषबुधाधिराजं
श्रीरंगराजमखिनं गुरुमानतोऽस्मि ॥

अप्पय्य दीक्षितने रंगराजसे ही विद्या प्राप्त की थी, यह बात भी स्वयं दीक्षितके वाक्योंसे ही प्रकट होती है—

तन्मूलानिह संग्रहेण कतिचित्सिद्धान्तभेदान्धियः ।
शुद्ध्यै सङ्कलयामि तातचरणव्याख्यावचःख्यापितान् ॥

इससे सिद्ध होता है कि रंगराजाध्वरीका पाण्डित्य असाधारण था। ऐसा पाण्डित्य बहुत दुर्लभ होता है। उन्होंने 'अद्वैतविद्यामुकुर' एवं 'विवरणदर्पण' प्रभृति ग्रन्थ रचे हैं जिनमें उन्होंने न्याय, वैशेषिक एवं सांख्यादि मतोंका खण्डन करके अद्वैतमतकी स्थापना की है। खेद है, ऐसे प्रौढ़ विद्वान्‌के ग्रन्थोंका भी अभीतक प्रकाशन नहीं हो सका है।

अप्पय्य दीक्षित

भगवान् शङ्कराचार्यद्वारा प्रतिष्ठापित अद्वैतसम्प्रदाय-परम्परामें जो सर्वश्रेष्ठ आचार्य हुए हैं उन्हींमेंसे एक अप्पय्य दीक्षित भी हैं। विद्वत्ताकी दृष्टिसे इन्हें वाचस्पति मिश्र, श्रीहर्ष एवं मधुसूदन सरस्वतीके समकक्ष कहा जा सकता है। ये एक साथ ही आलङ्कारिक, वैयाकरण और दार्शनिक थे। इन्हें सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कहा जाय तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी। केवल भारतीय साहित्य ही नहीं, इन्हें विश्वसाहित्याकाशका एक देदीप्यमान नक्षत्र कह सकते हैं। मुगलसम्राट् अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँका शासनकाल (ईस्वी १५५६ से १६५८ तक) भारतीय साहित्यका सुवर्णयुग कहा जा

---

[1] 'रंगराज' उनका नाम था, 'अध्वरी' या 'मखी' याज्ञिक होनेके कारण जोड़ दिया गया है। इसी प्रकार उनका नाम रंगराज दीक्षित भी हो सकता है।

सकता है। इस समयमें अलङ्कार, नाटक, काव्य एवं दर्शन, सभी प्रकारके ग्रन्थोंका खूब विस्तार हुआ था। सम्भव है, इस समयकी राजनैतिक सुव्यवस्था ही इसमें कारण हो। अप्पय्य दीक्षित अकबर और जहाँगीरके शासनकालमें हुए थे। इनका जन्म सन् १५५० ई०में हुआ था और मृत्यु ७२ वर्षकी आयुमें सन् १६२२ में। इनके जीवनमें जिस साहित्यिक प्रतिभाका विकास हुआ उसे देखकर चित्त चकित हो जाता है।

पहले यह बतलाया जा चुका है कि इनके पितामह आचार्य दीक्षित और पिता रंगराजाध्वरि थे। ऐसे प्रकाण्ड पण्डितोंके वंशधर होनेके कारण उनमें अद्भुत प्रतिभाका विकास होना स्वाभाविक ही था। ये दो भाई थे; इनके छोटे भाईका नाम अच्चान दीक्षित था। अप्पय्य दीक्षितने अपने पितासे ही विद्या प्राप्त की थी। पिता और पितामहके संस्कारानुसार उन्हें भी अद्वैतमतकी ही शिक्षा मिली थी, तथापि वे परम शिवभक्त थे। उनका हृदय भगवान् शङ्करके प्रेमसे भरा हुआ था। अतः शैवसिद्धान्तकी स्थापनाके लिये वे ग्रन्थरचना करने लगे। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये उन्होंने शिवतत्त्वविवेक आदि पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की। इसी समय उनके समीप नर्मदातीरनिवासी श्रीनृसिंहाश्रम स्वामी उपस्थित हुए। उन्होंने इन्हें सचेत करते हुए अपने पिताके सिद्धान्तका अनुसरण करनेके लिये प्रोत्साहित किया। तब उन्हींकी प्रेरणासे उन्होंने परिमल, न्यायरक्षामणि एवं सिद्धान्तलेश नामक ग्रन्थोंकी रचना की।

अप्पय्य दीक्षितके पितामह विजयनगरराज्याधीश्वर कृष्णदेवके आश्रित थे। किन्तु सन् १५६५ ई०में तालीकोट-युद्धके पश्चात् उस राजवंशका अन्त हो गया था। इस समय दीक्षितकी आयु केवल १५ वर्षकी थी। इस राजवंशका अन्त होनेपर एक नवीन वंशका उदय हुआ, जो तृतीय वंशके नामसे विख्यात है। इस वंशके मूलपुरुष रामराज, तिरुमल्लई और वेंकटादि अपने पूर्ववर्ती राजवंशके अन्तिम दो नृपति अच्युतराज और सदाशिवके समय ही बहुत शक्तिमान् हो गये थे। इनमेंसे रामराज और तिरुमल्लईके साथ महाराज कृष्णकी कन्या वेंगला और तिरुमलाम्माका विवाह हुआ था। अच्युतका राज्यकाल ईसवी सन् १५३०से १५४२ तक है तथा सदाशिवका १५४२से १५६७ तक। तालीकोटके युद्धमें रामराज और वेंकटादिका देहान्त हो गया था। अतः अब तीनों भाइयोंमें केवल तिरुमल्लई ही जीवित था। उसने १५६७ ई० तक सदाशिवको नाममात्रका सम्राट् स्वीकार करते हुए राज्यका प्रबन्ध किया और अन्तमें उसकी हत्या कर स्वयं राजा बन गया। तिरुमल्लईके चार पुत्र थे। सन् १५७४ में उसकी मृत्यु होनेपर उसका दूसरा पुत्र चिन्नतिम्म या द्वितीय रङ्ग सिंहासनारूढ हुआ और उसके पश्चात् सन् १५८५में सबसे छोटा पुत्र वेंकट या वेंकटपति राज्यका अधिपति हुआ। अप्पय्य दीक्षित इन तीनों नृपतियोंके सभापण्डित थे। उन्होंने अपने विभिन्न ग्रन्थोंमें इन राजाओंका नाम निर्देश किया है। इससे सिद्ध होता है कि अप्पय्य दीक्षितका विजयनगर राज्यमें बहुत सम्मान था।

सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजि दीक्षितने अपने गुरुरूपसे उनका वर्णन किया है। कुछ कालतक इन दोनों विद्वानोंने काशीमें निवास किया था। अप्पय्य दीक्षित शिवभक्त थे और भट्टोजि दीक्षित वैष्णव थे, तो भी इन दोनोंका सम्बन्ध अत्यन्त मधुर था। वे दोनों ही शास्त्रज्ञ थे, अतः उनकी दृष्टिमें वस्तुतः शिव और विष्णुमें कोई भेद नहीं था।

कुछ काल काशीमें रहकर दीक्षित दक्षिणमें लौट आये। वहाँ अपना मृत्युकाल समीप जानकर उन्होंने चिदम्बरम् जानेकी इच्छा की। उस समय उनके हृदयमें जो भाव जाग्रत् हुए उन्हें उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—

चिदम्बरमिदं पुरं प्रथितमेव पुण्यस्थलं
सुताश्च विनयोज्ज्वलाः सुकृतयश्च काश्चिद् कृताः।
वयांसि मम सप्ततेरुपरि नैव भोगे स्पृहा
न किञ्चिदहमर्थये शिवपदं दिदृक्षे परम्॥

आभाति हाटकसभानटपादपद्मो
ज्योतिर्मयो मनसि मे तरुणारुणोऽयम्।

इस प्रकार दूसरा श्लोक समाप्त नहीं हो पाया था कि उन्होंने श्रीमहादेवजीके दर्शन करते-करते अपनी जीवनलीला समाप्त कर दी। यह उनकी जीवनव्यापिनी साधनाका ही फल था। मृत्युके समय उनके ग्यारह पुत्र और छोटे भाईके पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित पास ही थे। उस समय उन्होंने सबसे अधिक प्रेम नीलकण्ठपर ही प्रकट किया। उनका जो श्लोक अधूरा रह गया था उसकी उनके पुत्रोंने इस प्रकार पूर्ति की—

'नूनं जरामरणघोरपिशाचकीर्णा
संसारमोहरजनी विरतिं प्रयाता॥'

मतवाद

दार्शनिक दृष्टिसे अप्पय्य दीक्षित अद्वैतवादी या निर्गुण ब्रह्मवादी थे। सगुणोपासनाको वे निर्गुण ब्रह्मकी उपलब्धिके साधनरूपसे स्वीकार करते हैं। वे यद्यपि शिवभक्त थे तथापि उनकी रचनाओंसे उनकी विष्णुभक्तिका भी प्रमाण मिलता है। कई स्थानोंपर उन्होंने भक्तिभावसे विष्णुकी ही वन्दना की है। तो भी उनका अधिक आकर्षण भगवान् चन्द्रमौलिकी ही ओर देखा जाता है। उन्होंने स्वयं ही कहा है—'तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे।'

उनके ग्रन्थोंसे उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभाका परिचय मिलता है। मीमांसाके तो वे धुरंधर पण्डित थे। उनकी 'शिवार्कमणिदीपिका' नामकी पुस्तकमें उनका मीमांसा, न्याय, व्याकरण और अलंकारशास्त्रसम्बन्धी प्रगाढ़ पाण्डित्य पाया जाता है। शाङ्करसिद्धान्तमें वाचस्पति मिश्रने, रामानुजमतमें सुदर्शनने और मध्वमतमें जयतीर्थने जो काम किया है वही काम दीक्षितने शिवार्कमणिदीपिका रचकर श्रीकण्ठके सम्प्रदायमें किया। कहीं-कहीं तो दीपिकामें उनकी अपेक्षा भी अधिक मौलिकता है। इस निबन्धको टीका न कहकर यदि मौलिक ग्रन्थ कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। उन्होंने अद्वैतवादी होकर भी द्वैतवादकी स्थापनामें जैसी उदारताका परिचय दिया है वह वस्तुतः बहुत ही सराहनीय है। जिस प्रकार वाचस्पति मिश्रने छहों दर्शनोंकी टीका करके प्रत्येक दर्शनके सिद्धान्तकी पूर्णतया रक्षा करके अपनी सर्वतन्त्रस्वतन्त्रताका परिचय दिया वैसी ही स्थिति अप्पय्य दीक्षितकी है। उन्होंने जिस प्रकार शिवार्कमणिदीपिकादिमें विशिष्टाद्वैतके पक्षका पूर्णतया समर्थन किया उसी प्रकार परिमल एवं सिद्धान्तलेशादिमें अद्वैतसिद्धान्तकी पूर्णतया रक्षा की है।

सिद्धान्तलेशमें उन्होंने अद्वैतवादी आचार्योंके मतभेदोंका दिग्दर्शन कराया है। अद्वैतवादी आचार्योंका एकजीववाद, नानाजीववाद, बिम्बप्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद एवं साक्षित्व आदि विषयोंमें बहुत मतभेद है। उन सबका स्पष्टतया अनुभव कर आचार्य अप्पय्य दीक्षितने उनपर अपना विचार प्रकट किया है। सिद्धान्तलेशमें ब्रह्मसूत्रकी तरह चार अध्याय हैं—समन्वय, अविरोध, साधन और फल। इसे शाङ्कर-सम्प्रदायका कोश कहा जा सकता है। इसमें ऐसे बहुत-से ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका विवरण है जिनका इस समय कोई पता नहीं चलता। किन्तु उनकी स्थितिके कालके विषयमें कोई उल्लेख न होनेके कारण यह ऐतिहासिक उपयोगकी सामग्री नहीं है।

सिद्धान्तलेशमें सब आचार्योंके मतोंका केवल उल्लेखमात्र है, उनकी समालोचना करके अपना कोई मत निश्चित नहीं किया गया है। अतः यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि स्वयं अप्पय्य दीक्षितको कौन मत इष्ट था। तो भी अधिकांशमें उन्हें एकजीववादी एवं बिम्ब-प्रतिबिम्बवादी कह सकते हैं।

ग्रन्थ-विवरण

अप्पय्य दीक्षितके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने भिन्न-भिन्न विषयोंपर १०४ ग्रन्थ लिखे थे। वे सब इस समय प्राप्य नहीं हैं। उनमेंसे जो प्राप्य हैं उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है—

अलंकार

१–**कुवलयानन्द**–यह 'चन्द्रालोक' नामक अलंकारग्रन्थकी विस्तृत व्याख्या है।

२–**चित्रमीमांसा**–इस ग्रन्थमें अर्थचित्रका विचार किया गया है। इसका खण्डन करनेके लिये ही पण्डितराज जगन्नाथने 'चित्रमीमांसाखण्डन' नामक ग्रन्थकी रचना की थी।

३–**वृत्तिवार्तिक**–इस ग्रन्थमें केवल अभिधा और लक्षणा दो ही वृत्तियोंका विचार किया गया है।

४–**नामसंग्रहमाला**–यह ग्रन्थ कोशके सदृश है। इसमें अनुराग, स्नेह आदि परस्पर पर्यायवाची प्रतीत होनेवाले शब्दोंके तात्पर्यका भेद प्रदर्शित किया गया है।

व्याकरण

५–**नक्षत्रवादावली अथवा पाणिनितन्त्रवादनक्षत्रवादमाला**–यह ग्रन्थ क्रोडपत्रके समान है। इसमें सत्ताईस सन्दिग्ध विषयोंपर विचार किया गया है।

६–**प्राकृतचन्द्रिका**–इस ग्रन्थमें प्राकृत शब्दानुशासनकी आलोचना की गयी है।

मीमांसा

७–**चित्रपुट**–यह ग्रन्थ अप्रकाशित है।

८–**विधिरसायन**–इसमें विधित्रयका विचार है।

९–**सुखोपयोजनी**–यह विधिरसायनकी व्याख्या है।

१०-उपक्रमपराक्रम-उपक्रम एवं उपसंहारादि षड्विध लिङ्गसे शास्त्रका निर्णय किया जाता है। इस ग्रन्थमें यह दिखलाया गया है कि उनमें उपक्रम ही सबसे अधिक प्रबल है।

११-वादनक्षत्रमाला-इसमें पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसाके सत्ताईस विषयोंकी आलोचना है।

वेदान्त

१२-परिमल-ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्यकी व्याख्या 'भामती' है, भामतीकी टीका 'कल्पतरु' है और कल्पतरुकी व्याख्या 'परिमल' है।

१३-न्यायरक्षामणि-यह ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायकी शाङ्करसिद्धान्तानुसारिणी व्याख्या है।

१४-सिद्धान्तलेश-इसमें अद्वैतसम्प्रदायके आचार्योंके भिन्न-भिन्न मतोंका निरूपण है।

१५-मतसारार्थसंग्रह-इसमें श्रीकण्ठ, शङ्कर, रामानुज, मध्व प्रभृति आचार्योंके मतोंका संक्षिप्त परिचय है।

शाङ्करसिद्धान्त

१६-न्यायमञ्जरी-यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

मध्वमत

१७-न्यायमुक्तावली-इसपर अप्पय्य दीक्षितने स्वयं ही टीका भी लिखी है।

रामानुजमत

१८-नियमयूथमालिका-इसमें रामानुजमतका दिग्दर्शन है।

श्रीकण्ठमत

१९-शिवार्कमणिदीपिका-यह ब्रह्मसूत्रके श्रीकण्ठकृत भाष्यकी व्याख्या है।

२०-रत्नत्रयपरीक्षा-इसमें हरि, हर और शक्तिकी उपासनाका विषय दिखलाया गया है।

शैवमत

२१-मणिमालिका-यह शिवविशिष्टाद्वैतपर हरदत्त प्रभृति आचार्योंके सिद्धान्तका अनुसरण करनेवाला निबन्ध है।

२२-शिखरिणीमाला-इसमें ६४ शिखरिणी छन्दोंमें भगवान् शङ्करके सगुण स्वरूपका गुणगान है।

२३-शिवतत्त्वविवेक-यह उपर्युक्त शिखरिणीमालाका व्याख्या-ग्रन्थ है। इसमें भगवान् शिवकी प्रधानताका प्रतिपादन किया है।

२४-ब्रह्मतर्कस्तव-इसमें भी श्रुति, स्मृति एवं पुराणादिके द्वारा शिवका प्राधान्य निश्चय किया गया है।

२५-ब्रह्मतर्कस्तव-यह ग्रन्थ वसन्ततिलकावृत्तमें लिखा गया है। इसमें भी शिवजीकी प्रधानताका प्रतिपादन किया गया है।

२६-शिवार्चनचन्द्रिका-इस निबन्धमें शिवपूजनकी विधिका विचार है। इसके ऊपर दीक्षितने स्वयं ही बालचन्द्रिका नामकी टीका लिखी है।

२७-शिवध्यानपद्धति-इसमें पुराणादिसे वाक्य उद्धृतकर शिवजीके ध्यानकी विधिका विचार किया गया है।

२८-आदित्यस्तवरत्न-यह सूर्यके मिषसे अन्तर्यामी शिवका ही स्तव है।

२९-मध्वतन्त्रमुखमर्दन-इस ग्रन्थमें मध्वसिद्धान्तका खण्डन है।

३०-यादवाभ्युदयका भाष्य-श्रीवेदान्तदेशिकाचार्यने 'यादवाभ्युदय' नामक काव्यकी रचना की थी। यह उसीका भाष्य है।

इसके सिवा शिवकर्णामृत, रामायणतात्पर्यसंग्रह, भारततात्पर्यसंग्रह, शिवाद्वैतविनिर्णय, पञ्चरत्नस्तव और उसकी व्याख्या, शिवानन्दलहरी, दुर्गाचन्द्रकलास्तुति और उसकी व्याख्या, कृष्णध्यानपद्धति और उसकी व्याख्या तथा आत्मार्पण आदि निबन्ध भी उनकी उत्कृष्ट कृतियाँ हैं।

भट्टोजि दीक्षित

आचार्य भट्टोजि दीक्षित सुप्रसिद्ध वैयाकरण थे। उनकी रची हुई सिद्धान्तकौमुदी और प्रौढमनोरमा उनकी दिगन्तव्यापिनी अक्षुण्ण कीर्तिकौमुदीका विस्तार करनेवाली हैं। वेदान्तशास्त्रमें वे आचार्य अप्पय्य दीक्षितके शिष्य थे। तथा उनके व्याकरणके गुरु प्रक्रियाप्रकाशकार श्रीकृष्ण दीक्षित थे। भट्टोजि दीक्षितकी प्रतिभा असाधारण थी। उन्होंने मनोरमामें अपने गुरुके मतका खण्डन किया है। एक बार शास्त्रार्थ होते समय उन्होंने पण्डितराज जगन्नाथको म्लेच्छ कह दिया था। इससे पण्डितराजका उनके प्रति स्थायी वैमनस्य हो गया और उन्होंने मनोरमाका खण्डन करनेके लिये मनोरमाकुचमर्दन नामक ग्रन्थकी रचना की। पण्डितराज उनके गुरु कृष्ण दीक्षितके पुत्र वीरेश्वर दीक्षितके शिष्य थे।

भट्टोजि दीक्षितके रचे हुए ग्रन्थोंमें सिद्धान्तकौमुदी और प्रौढमनोरमा जगत्प्रसिद्ध हैं। सिद्धान्तकौमुदी पाणिनीय व्याकरणसूत्रोंकी वृत्ति है और मनोरमा सिद्धान्तकौमुदीकी व्याख्या है। उनका तीसरा ग्रन्थ 'शब्दकौस्तुभ' है। इसमें उन्होंने पातञ्जलमहाभाष्यके विषयका युक्तिपूर्वक समर्थन किया है। चौथा ग्रन्थ वैयाकरणभूषण है। इसका प्रतिपाद्य विषय भी व्याकरण ही है। इन व्याकरण-ग्रन्थोंके अतिरिक्त उन्होंने तत्त्वकौस्तुभ और वेदान्ततत्त्वविवेक-टीकाविवरण नामक दो वेदान्तग्रन्थ भी रचे थे। इनमेंसे केवल तत्त्वकौस्तुभ प्रकाशित हुआ है। इसमें द्वैतवादका खण्डन किया गया है।

सदाशिव ब्रह्मेन्द्र

सदाशिव ब्रह्मेन्द्र स्वामी दीक्षितके समकालीन थे। ये संन्यासी थे और सम्भवतः काञ्ची-कामकोटिपीठके अधीश्वर थे; क्योंकि इनके रचे हुए गुरुरत्नमालिका नामक ग्रन्थमें ब्रह्मविद्याभरणकार स्वामी अद्वैतानन्दका उल्लेख है, और वे काञ्चीपीठके अधीश्वर थे। सदाशिवस्वामीने अद्वैतविद्याविलास, बोधार्यात्मनिर्वेद, गुरुरत्नमालिका और ब्रह्मकीर्तन-तरङ्गिणी आदि ग्रन्थोंकी रचना की थीं; किन्तु वे सभी अभीतक अप्रकाशित हैं।

नीलकण्ठ सूरि

आचार्य नीलकण्ठ महाभारतके टीकाकार हैं। इनका जन्म महाराष्ट्र देशमें हुआ था। ये गोदावरीके पश्चिमी तटपर कूर्पर नामक स्थानमें रहते थे। इनका स्थितिकाल भी सोलहवीं शताब्दी ही है। ये चतुर्धर वंशमें उत्पन्न हुए थे और इनके पिताका नाम गोविन्द सूरि था। इन्होंने महाभारत-पर जो टीका लिखी है वह 'भारतभावदीप' नामसे विख्यात है। गीताकी व्याख्याके आरम्भमें अपनी व्याख्याको सम्प्रदायानुसारी बताते हुए इन्होंने भगवान् शङ्कराचार्य एवं श्रीधरादिकी वन्दना की है। इससे सिद्ध होता है कि ये अद्वैतवादी थे। यद्यपि गीताकी व्याख्यामें इन्होंने कहीं-कहीं शांकरभाष्यका अतिक्रमण भी किया है तथापि इनका मुख्य अभिप्राय अद्वैतसम्प्रदायके अनुकूल ही है। भारत-भावदीपके अतिरिक्त इनकी और कोई कृति नहीं मिलती।

सदानन्द योगीन्द्र

स्वामी श्रीसदानन्द योगीन्द्र वेदान्तसारके रचयिता हैं। इनका स्थितिकाल सोलहवीं शताब्दीका प्रथम भाग है। वेदान्तसारके ऊपर श्रीनृसिंह सरस्वतीकी 'सुबोधिनी' टीका है। उसके अन्तमें इन्होंने जो श्लोक लिखा है उससे विदित होता है कि सुबोधिनीकी रचना शक संवत् १५१८ में हुई थी। वेदान्तसार उससे कुछ पूर्व ही प्रसिद्ध हो गया होगा। इससे तथा और भी कई हेतुओंसे सदानन्दस्वामीका जीवन-काल सोलहवीं शताब्दीका पूर्वार्ध ही निश्चित होता है।

वेदान्तसार अद्वैतवेदान्तका अत्यन्त सरल प्रकरण-ग्रन्थ है। ऐसी सरलता प्रायः किसी अन्य ग्रन्थमें नहीं पायी जाती। इसीसे यह बहुत लोकप्रिय है। इसके ऊपर कई टीकाएँ लिखी गयीं और इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इस ग्रन्थको लिखकर सदानन्दस्वामीने वस्तुतः मुमुक्षुओंका बहुत उपकार किया है। इसके सिवा उन्होंने एक 'शङ्करदिग्विजय' भी लिखा है, जो सम्भवतः अभी देवनागरीलिपिमें प्रकाशित नहीं हुआ।

नृसिंह सरस्वती

श्रीनृसिंह सरस्वती वेदान्तसारकी टीका 'सुबोधिनी'के रचयिता हैं। यह टीका उन्होंने शक सं० १५१८ अर्थात् ईसवी सन् १५९६ में लिखी थी। अतः उनका स्थितिकाल सोलहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध होना चाहिये। सुबोधिनीकी भाषा बहुत सुन्दर है। इससे उनकी उच्च कोटिकी प्रतिभाका परिचय मिलता है। उनके गुरुका नाम श्रीकृष्णानन्दस्वामी था।

मधुसूदन सरस्वती

श्रीमधुसूदन सरस्वती अद्वैतसम्प्रदायके प्रधान आचार्यों-मेंसे हैं। उनके गुरुका नाम श्रीविश्वेश्वर सरस्वती था। उनका जन्मस्थान बंगदेश था। कहते हैं, वे फरीदपुर जिलेके अन्तर्गत कोटालिपाड़ा ग्रामके निवासी थे। वे आजन्म ब्रह्मचारी थे। विद्याध्ययनके अनन्तर वे काशीमें आये और वहाँके बहुत-से प्रमुख पण्डितोंको शास्त्रार्थमें पराजित किया। इस प्रकार विद्वन्मण्डलीमें सर्वत्र उनकी कीर्तिकौमुदी फैलने लगी। इसी समय उनका परिचय श्रीविश्वेश्वर सरस्वतीसे हुआ और उन्हींकी प्रेरणासे उन्होंने दण्ड ग्रहण किया।

श्रीमधुसूदनस्वामी मुगलसम्राट् शाहजहाँके समकालीन थे। कहते हैं, उन्होंने रामराजस्वामीके ग्रन्थ न्यायामृतका खण्डन किया था। इससे चिढ़कर उन्होंने अपने शिष्य व्यास रामाचार्यको मधुसूदन सरस्वतीके पास वेदान्तशास्त्रका अध्ययन करनेके लिये भेजा। व्यास रामाचार्यने विद्या प्राप्त-

कर फिर श्रीमधुसूदनस्वामीके ही मतका खण्डन करनेके उद्देश्यसे 'तरङ्गिणी' नामक ग्रन्थकी रचना की। इससे ब्रह्मानन्द सरस्वती आदिने असन्तुष्ट होकर तरङ्गिणीका खण्डन करनेके लिये 'लघुचन्द्रिका' नामक ग्रन्थकी रचना की।

मधुसूदन सरस्वती बड़े भारी योगी थे। वीरसिंह नामक एक राजाके सन्तान नहीं थी। उसने एक रातको स्वप्नमें देखा कि मधुसूदन नामक एक यति है, उसकी सेवासे पुत्र अवश्य होगा। तदनुसार राजाने मधुसूदनका पता लगाना शुरू किया। उस समय मधुसूदनजी एक नदीके किनारे जमीनके अन्दर समाधिस्थ थे। राजा खोजते-खोजते वहाँ पहुँचा। वहाँकी मिट्टी खोदनेपर अन्दर एक तेजःपुञ्ज महात्मा समाधिस्थ दिखायी दिये। राजाने स्वप्नके स्वरूपसे मिलाकर निश्चय किया कि यही मधुसूदन यति हैं। राजाने वहाँ एक मन्दिर बनवा दिया। कहा जाता है कि इस घटनाके तीन वर्ष बाद मधुसूदनजीकी समाधि टूटी थी। इसीसे उनकी योगसिद्धिका पता लगता है। परन्तु वे इतने विरक्त थे कि समाधि खुलनेपर उस स्थानको और राजप्रदत्त भोग और मन्दिरको छोड़कर तीर्थाटनको चल दिये।

मधुसूदन सरस्वतीके विद्यागुरु श्रीमाधव सरस्वती थे। अद्वैतसिद्धिकी समाप्ति करते हुए वे लिखते हैं—

श्रीमाधवसरस्वत्यो जयन्ति यमिनां वराः।
वयं येषां प्रसादेन शास्त्रार्थे परिनिष्ठिताः॥

इससे सिद्ध होता है कि उनके विद्यागुरु श्रीमाधव सरस्वती थे और दीक्षागुरु श्रीविश्वेश्वर सरस्वती थे।

(मतवाद)

श्रीमधुसूदनस्वामी अद्वैतसम्प्रदायके महारथी हैं। उन्होंने अद्वैतसिद्धान्तका जैसा युक्तियुक्त समर्थन किया है उससे विपक्षियोंका मानमर्दन करनेके लिये उसे बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त हुई। उन्हें अद्वैतसाहित्यका एक युगनिर्माता कह सकते हैं। उनके पूर्ववर्ती आचार्योंकी युक्तिमें शास्त्रप्रमाणकी प्रधानता रहती थी, किन्तु इन्होंने प्रधानतया अनुमानप्रमाणके बलपर ही स्वसिद्धान्तकी स्थापना की है। वस्तुतः उनका युक्तिकौशल अभूतपूर्व है। इस प्रकार अद्वैतसिद्धान्तके प्रधान स्तम्भ होनेपर भी उनकी सगुण भक्ति सर्वत्र प्रकट है। उनकी लिखी हुई श्रीमद्भगवद्गीताकी व्याख्या गूढार्थदीपिकामें जगह-जगह उनकी भक्तिका परिचय मिलता है। यद्यपि उनकी यह प्रतिज्ञा है कि उन्होंने भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके भाष्यार्थको स्फुट करनेके लिये ही गीताकी व्याख्या की है, तथापि गीताके सिद्धान्तभूत 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इस श्लोकको तो उन्होंने आचार्यके मतका लिहाज न करके शरणागतिपरक ही बतलाया है।

कहते हैं कि इन्हें भगवान् श्रीकृष्णका साक्षात्कार था और ये श्रीकृष्णभक्तिके सामने अन्य सभी साधनोंको तुच्छ समझते थे। इनकी निष्ठाका पता इनकी गीताकी व्याख्याके १३ वें अध्यायके प्रारम्भमें और १५ वें अध्यायके अन्तमें दिये हुए निम्नलिखित स्वरचित श्लोकोंसे भलीभाँति लग जाता है—

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति॥

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

× × ×

प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम्।
न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः॥

'ध्यानके अभ्याससे जिनका चित्त वशमें हो गया है वे योगी यदि उस निर्गुण और निष्क्रिय परमज्योतिको देखते हैं तो देखा करें। हमारे नेत्रोंको तो कालिन्दीतटविहारी नीले तेजवाला साँवरा ही सुख पहुँचाता रहे।' 'जिसके हाथोंमें वंशी सुशोभित है, जो नवनीरनीरदसुन्दर है, पीताम्बर पहने है, जिसके होठ बिम्बाफलके समान लाल-लाल हैं, जिसका मुखमण्डल पूर्णचन्द्रके सदृश और जिसके नेत्र कमलवत् हैं, उस कृष्णसे परे कोई तत्त्व हो तो मैं उसे नहीं जानता।' 'प्रमाणोंसे निर्णय किये हुए श्रीकृष्णके अद्भुत माहात्म्यको जो मूढ़ नहीं सह सकेंगे वे नरकगामी होंगे।'

इसके सिवा उनका लिखा हुआ 'भक्तिरसायन' ग्रन्थ भी उनके भक्तिभावका अद्भुत परिचायक है। इससे उनकी भगवद्रसज्ञता और भावुकताका परिचय मिलता है। सुप्रसिद्ध महिम्नस्तोत्रकी शिव और विष्णु उभयपरक व्याख्या करके उन्होंने श्रीहरि और हरका अभेद सिद्ध किया है। वस्तुतः

वे जैसे विद्वान् थे वैसे ही तत्त्वनिष्ठ और वैसे ही भगवत्प्राण भी थे। ऐसे महापुरुषोंकी वाणी ही वस्तुतः ठीक-ठीक पथप्रदर्शन कर सकती है।

(ग्रन्थ-विवरण)

अब हम उनके रचे हुए ग्रन्थोंका संक्षिप्त विवरण देते हैं—

१ सिद्धान्तविन्दु—यह श्रीशङ्कराचार्यजीकृत 'दशश्लोकी' की व्याख्या है। इसपर ब्रह्मानन्द सरस्वतीने रत्नावली-नामक निबन्ध लिखा है। भगवान् शङ्करने दशश्लोकीमें वेदान्तके स्वारसिक सिद्धान्तका निरूपण किया है। मधुसूदन सरस्वतीने उसीका युक्ति-प्रयुक्तियोंद्वारा विस्तार किया है।

२ संक्षेपशारीरककी व्याख्या—यह सर्वज्ञात्ममुनिकृत संक्षेपशारीरककी व्याख्या है।

३ अद्वैतसिद्धि—यह अद्वैतसिद्धान्तका अत्यन्त उच्च कोटिका ग्रन्थ है। इसमें चार परिच्छेद हैं। ब्रह्मानन्द सरस्वतीने इसके ऊपर लघुचन्द्रिका नामकी व्याख्या लिखी है। यह ग्रन्थ अद्वैतसम्प्रदायका अमूल्य रत्न है।

४ अद्वैतरत्नरक्षण—इसमें द्वैतवादका खण्डन करते हुए अद्वैतवादकी स्थापना की है।

५ वेदान्तकल्पलतिका—यह भी वेदान्त-ग्रन्थ ही है। इसकी रचना अद्वैतसिद्धिसे पहले हुई थी, क्योंकि अद्वैतसिद्धिमें इसका उल्लेख है।

६ गूढार्थदीपिका—यह श्रीमधुसूदनस्वामिकृत श्रीमद्भगवद्गीताकी टीका है। इसे गीताकी सर्वोत्तम व्याख्या कह सकते हैं। इसमें प्रायः प्रत्येक शब्दकी व्याख्या की गयी है।

७ प्रस्थानभेद—इसमें सब शास्त्रोंका सामञ्जस्य करके उनका अद्वैतमें तात्पर्य दिखलाया गया है। यह निबन्ध संक्षिप्त होनेपर भी मधुसूदन स्वामीकी अद्भुत प्रतिभाका द्योतक है।

८ महिम्नस्तोत्रकी टीका—इसमें सुप्रसिद्ध महिम्नस्तोत्रके प्रत्येक श्लोककी शिव और विष्णुपरक व्याख्या की गयी है। इससे उनके असाधारण कौशलका परिचय मिलता है।

९ भक्तिरसायन—यह भक्तिसम्बन्धी लक्षणग्रन्थ है।

धर्मराज अध्वरीन्द्र

धर्मराज अध्वरीन्द्र 'वेदान्तपरिभाषा' नामक ग्रन्थके प्रणेता हैं। भेदधिकारादि ग्रन्थोंके रचयिता श्रीनृसिंहाश्रम स्वामी उनके परमगुरु थे। वेदान्तपरिभाषाके आरम्भमें उन्होंने इस प्रकार उनका परिचय दिया है।

यदन्तेवासिपञ्चास्यैर्निरस्ता भेदिवारणाः।
तं प्रणौमि नृसिंहाख्यं यतीन्द्रं परमं गुरुम्॥

'अर्थात् जिनके शिष्यरूप सिंहोंद्वारा भेदवादीरूप हस्ति-समूह परास्त हो गये उन परमगुरु योगिराज श्रीनृसिंहाश्रमको मैं प्रणाम करता हूँ।'

नृसिंहाश्रम स्वामीके शिष्य वेङ्कटनाथ थे और वेङ्कटनाथके शिष्य धर्मराज। नृसिंहाश्रम सोलहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें विद्यमान थे, इसलिये धर्मराजका स्थितिकाल सतरहवीं शताब्दीका आरम्भ होना सम्भव है।

धर्मराज अध्वरीन्द्रके ग्रन्थोंमें वेदान्तपरिभाषा प्रधान है। यह अद्वैतसिद्धान्तका अत्यन्त उपयोगी प्रकरण-ग्रन्थ है। इसके ऊपर बहुत-सी टीकाएँ हुई हैं और भिन्न-भिन्न स्थानोंसे इसके अनेकों संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। अद्वैतवेदान्तका रहस्य समझनेमें इसका अध्ययन बहुत उपयोगी है। इसके सिवा उन्होंने गंगेशोपाध्यायकृत 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक नव्यन्यायके ग्रन्थपर 'तर्कचूडामणि' नामकी एक टीका भी लिखी है। उसमें अपनेसे पूर्ववर्तिनी दश टीकाओंके मतका खण्डन किया गया है। यह टीका बहुत ही युक्तियुक्त है।

रामतीर्थ

श्रीरामतीर्थ स्वामी वेदान्तसारके टीकाकार हैं। वेदान्तसारके प्रणेता स्वामी सदानन्द सोलहवीं शताब्दीमें वर्तमान थे। नृसिंह सरस्वतीने संवत् १५९८ में वेदान्तसारकी पहली टीका लिखी थी। रामतीर्थ उनके परवर्ती हैं। अतः उनका स्थितिकाल सतरहवीं शताब्दी है। उनके गुरु स्वामी कृष्णतीर्थ थे।

स्वामी रामतीर्थने संक्षेपशारीरकके ऊपर 'अन्वयार्थ-प्रकाशिका', भगवान् शङ्कराचार्यकृत उपदेशसाहस्रीपर 'पदयोजनिका' और वेदान्तसारपर 'विद्वन्मनोरञ्जिनी' नामकी टीकाएँ लिखी हैं। इनके सिवा उन्होंने एक टीका मैत्रायणी उपनिषद्पर भी लिखी है, जो अभीतक सम्भवतः प्रकाशित नहीं हुई है।

आपदेव

आपदेव सुप्रसिद्ध मीमांसक थे। उनका 'मीमांसान्याय-प्रकाश' पूर्वमीमांसाका एक प्रामाणिक प्रकरणग्रन्थ है। किन्तु

मीमांसक होते हुए भी उन्होंने श्रीसदानन्दकृत वेदान्तसार-पर 'बालबोधिनी' नामकी टीका लिखी है, जो नृसिंहसरस्वती-कृत 'सुबोधिनी' और रामतीर्थकृत 'विद्वन्मनोरञ्जिनी' की अपेक्षा भी अधिक उत्कृष्ट समझी जाती है। उस टीकाके आरम्भमें उन्होंने लिखा है—

आपदेवेन वेदान्तसारतत्त्वस्य दीपिका।
सिद्धान्तसम्प्रदायानुरोधेन क्रियते शुभा॥

इससे उनका अद्वैतवादी होना सिद्ध होता है। सम्भव है, पूर्वमीमांसाके प्रौढ विद्वान् होनेपर भी उनका मत अद्वैतवाद ही रहा हो।

गोविन्दानन्द

आचार्य गोविन्दानन्द शारीरकभाष्यके टीकाकार हैं। उनकी लिखी हुई 'रत्नप्रभा' टीका सम्भवतः शाङ्करभाष्यकी टीकाओंमें सबसे सरल है। इसमें भाष्यके प्रायः प्रत्येक पदकी व्याख्या है। सर्वसाधारणके लिये भाष्यको हृदयंगम करानेमें यह टीका बहुत ही उपयोगी है। जो लोग विस्तृत और गम्भीर टीकाओंको समझनेमें असमर्थ हैं उन्हींके लिये यह व्याख्या लिखी गयी है—ऐसा ग्रन्थकारने स्वयं लिखा है। वे कहते हैं—

विस्तृतग्रन्थवीक्षायामलसं यस्य मानसम्।
व्याख्या तदर्थमारब्धा भाष्यरत्नप्रभाभिधा॥

श्रीगोविन्दानन्दजीने भाष्यरत्नप्रभामें अपने गुरुके सम्बन्धमें जो श्लोक लिखा है उसके एक पदके साथ ब्रह्मानन्द सरस्वतीकृत लघुचन्द्रिकाकी समाप्तिके एक श्लोकका कुछ सादृश्य देखा जाता है।

उन दोनों वाक्योंसे सिद्ध होता है कि श्रीगोविन्दानन्दजी और ब्रह्मानन्दजी दोनोंहीके विद्यागुरु श्रीशिवरामजी थे। इससे उन दोनोंका समकालीन होना भी सिद्ध होता है। श्रीब्रह्मानन्दजी मधुसूदनस्वामीके समकालीन थे; अतः गोविन्दानन्दजीका स्थितिकाल भी सतरहवीं शताब्दी ही है।

रामानन्द सरस्वती

श्रीरामानन्द सरस्वती रत्नप्रभाकार गोविन्दानन्दस्वामीके शिष्य थे। अपने गुरुकी भाँति ये भी रामभक्त थे। इनकी स्थितिका काल सतरहवीं शताब्दी है। इन्होंने ब्रह्मसूत्रकी 'ब्रह्मामृतवर्षिणी' नामक टीका लिखी है, जो सिद्धान्ततः शाङ्करभाष्यका अनुसरण करती है। ब्रह्मामृतवर्षिणीकी भाषा बहुत सरल है। ब्रह्मसूत्रोंका शाङ्करभाष्यानुसारी तात्पर्य जाननेके लिये आरम्भमें इसका अध्ययन बहुत उपयोगी है। इसके सिवा उनका दूसरा ग्रन्थ 'विवरणोपन्यास' है। यह श्रीपद्मपादाचार्यकी पञ्चपादिकापर प्रकाशात्म यतिके लिखे हुए 'विवरण' नामक ग्रन्थपर एक निबन्ध है। इसमें गद्यमें विचार कर पद्यमें उसका फलस्वरूप सिद्धान्त दिया गया है। जिस प्रकार विद्यारण्यस्वामीका 'विवरणप्रमेयसंग्रह' नामक ग्रन्थ है, उसी प्रकार रामानन्दस्वामीका 'विवरणोपन्यास' है।

काश्मीरक सदानन्द यति

काश्मीरक सदानन्द यति 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' नामक प्रकरण-ग्रन्थके प्रणेता हैं। उनका जीवनकाल सतरहवीं शताब्दी है। उनके नामके साथ 'काश्मीरक' शब्दका व्यवहार होनेसे जान पड़ता है कि वे काश्मीरदेशीय थे। उनकी 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' अद्वैतमतका एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें प्रतिबिम्बवाद एवं अवच्छिन्नवाद-सम्बन्धी मतभेदोंकी विशेष विवेचनामें न पड़कर एकजीववादको ही वेदान्तका मुख्य सिद्धान्त बतलाया गया है। वास्तवमें यह बात ठीक भी है। जबतक प्रबल साधनाके द्वारा जिज्ञासु ऐकात्म्यका अनुभव नहीं कर लेता तभीतक वह इस वाग्जालमें फँसा रहता है; अन्यथा—'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते'।

रंगनाथ

श्रीरंगनाथजी ब्रह्मसूत्रोंकी शाङ्करभाष्यानुसारिणी वृत्तिके रचयिता हैं। इनका स्थितिकाल सतरहवीं शताब्दी है। आचार्य रंगनाथकी वृत्ति बहुत सरल है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र-प्रथमाध्याय—द्वितीय पादके अन्तर्गत तेईसवें सूत्रके पश्चात् 'प्रकरणत्वात्' यह एक नवीन सूत्र माना है। भामतीकारादिने इसे भाष्यके अन्तर्गत स्वीकार किया है; किन्तु वैयासिक-न्यायमालाकार भारतीतीर्थने इसे पृथक् सूत्र माना है। रंगनाथजीने भी उन्हींके मतका अनुसरण किया है। इनके मतमें कोई नवीनता नहीं है। इन्हें आचार्यपाद भगवान् शंकरका ही सिद्धान्त अभिमत है।

ब्रह्मानन्द सरस्वती

श्रीब्रह्मानन्द सरस्वती अद्वैतसिद्धिके टीकाकार हैं। वे मधुसूदनस्वामीके समकालीन थे। द्वैतमतावलम्बी व्यासराजके शिष्य रामाचार्यने मधुसूदनस्वामीसे अद्वैतसिद्धान्तकी शिक्षा ग्रहणकर फिर उन्हींके मतका खण्डन करनेके लिये

'तरङ्गिणी' नामक ग्रन्थकी रचना की थी। इससे असन्तुष्ट होकर ब्रह्मानन्दजीने 'अद्वैतसिद्धि' पर 'लघुचन्द्रिका' नामकी टीका लिखकर तरङ्गिणीकारके मतका खण्डन किया। इस कार्यमें उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने रामाचार्यकी सभी आपत्तियोंका बहुत सन्तोषजनक समाधान किया है। संसारका मिथ्यात्व, एकजीववाद, निर्गुण ब्रह्मवाद, नित्य निरतिशय आनन्दरूप मुक्तिवाद—इन सभी विषयोंका उन्होंने बहुत अच्छा विवेचन किया है। इस ग्रन्थसे उनकी दार्शनिक प्रतिभाका बड़ा सुन्दर परिचय मिलता है। वस्तुतः वे एक सफल समालोचक हैं।

लघुचन्द्रिकाके सिवा उन्होंने मधुसूदनस्वामीके सिद्धान्तविन्दुपर 'रत्नावली' और 'सूत्रमुक्तावली' नामक दो निबन्ध भी लिखे हैं। वे अद्वैतवादके एक प्रधान आचार्य गिने जाते हैं। उनकी रचनाओंसे उनकी सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता एवं मौलिकताका सुन्दर परिचय मिलता है। उनका स्थितिकाल सतरहवीं शताब्दी है। उनके दीक्षागुरु श्रीपरमानन्द सरस्वती थे और विद्यागुरु श्रीनारायणतीर्थ थे। लघुचन्द्रिकाके अन्तमें उन्होंने जो श्लोक लिखा है उससे विदित होता है कि 'शिवराम' नामक कोई महानुभाव भी उनके पूज्यवर्गमें थे; सम्भव है, उनसे भी उन्हें विद्यालाभ हुआ हो।

अच्युतकृष्णानन्द तीर्थ

श्रीअच्युतकृष्णानन्द तीर्थ अप्पय्य दीक्षितकृत सिद्धान्तलेशके टीकाकार हैं। इन्होंने छायावलनिवासी श्रीस्वयंप्रकाशानन्द सरस्वतीसे विद्या प्राप्त की थी। ये स्वयं कावेरीतीरवर्ती नीलकण्ठेश्वरम् नामक स्थानमें रहते थे। ये भगवान् कृष्णके भक्त थे। इनके ग्रन्थोंमें इनकी कृष्णभक्तिका यथेष्ट आभास मिलता है। इन्होंने सिद्धान्तलेशके ऊपर जो टीका लिखी है उसका नाम 'कृष्णालङ्कार' है। इस टीकामें उन्हें अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। इससे उनके पाण्डित्यका अच्छा परिचय मिलता है। किन्तु विद्वान् होनेके साथ ही वे अत्यन्त विनयशील हैं। कृष्णालङ्कारके आरम्भमें वे लिखते हैं—

आचार्यचरणद्वन्द्वस्मृतिर्लेखकरूपिणम् ।
मां कृत्वा कुरुते व्याख्यां नाहमत्र प्रभुर्यतः ॥

अर्थात् 'श्रीगुरुके चरणोंकी स्मृति ही मुझे लेखक बनाकर यह व्याख्या कर रही है, क्योंकि मैं इस कार्यके करनेकी सामर्थ्य नहीं रखता।' इससे उनकी गुरुभक्ति और निरभिमानिता सर्वथा सुस्पष्ट है।

कृष्णालङ्कारके सिवा उन्होंने तैत्तिरीयोपनिषद्-शांकरभाष्यके ऊपर 'वनमाला' नामकी टीका लिखी है। इस टीकाके नामसे भी उनकी कृष्णभक्तिका परिचय मिलता है।

महादेव सरस्वती

महादेव सरस्वती श्रीस्वयंप्रकाशानन्द सरस्वतीके शिष्य थे। उन्होंने 'तत्त्वानुसंधान' नामक एक प्रकरणग्रन्थ लिखा है। इसके ऊपर उन्होंने 'अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ' नामकी टीका भी लिखी है। 'तत्त्वानुसंधान' बहुत सरल भाषामें लिखा गया है। इससे सहजहीमें अद्वैतसिद्धान्तका ज्ञान हो सकता है। भाषाकी कठिनता न होनेपर भी इसमें प्रतिपाद्य विषयका अच्छा विवेचन है। यह ग्रन्थ जिज्ञासुओंके लिये बहुत उपयोगी है। इनका स्थितिकाल अठारहवीं शताब्दी है।

श्रीसदाशिवेन्द्र सरस्वती

परमहंसप्रवर सदाशिवेन्द्र सरस्वतीका दूसरा नाम सदाशिवेन्द्र ब्राह्मण था। साधारणतया वे इसी नामसे विख्यात थे। वे एक असाधारण योगी थे। उनके जीवनकी बहुत-सी घटनाएँ दक्षिण भारतमें प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अठारहवीं शताब्दीके आरम्भमें करूर नामक स्थानमें जन्म ग्रहण किया था। वे अपने छात्रजीवनमें भी बड़े मेधावी और दक्ष थे तथा ताञ्जोर जिलेके अन्तर्गत तिरुविसानाल्लूर (Tiruvisanallur) नामक स्थानमें अध्ययन किया करते थे। इस समय वे बड़े तार्किक थे और अपने अध्यापकोंके साथ उनकी प्रायः मुठभेड़ हो जाया करती थी।

छात्रजीवनके अवसानमें उनकी स्त्री पहली बार रजस्वला हुई। इसके उपलक्षमें सदाशिवेन्द्रकी माताने भोजकी तैयारी की। निमन्त्रित लोगोंने भोजनके लिये एकत्रित होनेमें देरी कर दी। अतः गुरुगृहसे आनेपर सदाशिवको भोजनके लिये प्रतीक्षा करनी पड़ी। उस समय उनके चित्तमें यह विचार हुआ कि 'जब विवाहित जीवनका आरम्भ ही ऐसा दुःखपूर्ण है तो आगे न जाने कितना कष्ट उठाना पड़ेगा।' इस प्रकार सोचते-सोचते उनमें वैराग्यवृत्ति जाग्रत हो उठी और वे उसी समय घर छोड़कर चल दिये।

अब वे गुरुकी खोजमें इधर-उधर भटकने लगे तथा जातीय बन्धन तोड़कर सबके साथ समान व्यवहार करने लगे।

Prof. Anand Vardhana Kaundinyayana Collection, Kathmandu, Nepal

उन्हें जो कोई जो कुछ दे देता वही पा लेते थे। यदि कभी कुछ भोजन न मिलता तो जहाँ उच्छिष्ट फेंका जाता था वहाँ जाकर उससे उदरपूर्ति कर लेते। उनके ऐसे व्यवहारसे बहुत-से लोग उन्हें पागल समझने लगे।

इस प्रकार कुछ समय बीतनेपर उनका महात्मा श्रीपरमशिवेन्द्र सरस्वतीसे साक्षात्कार हुआ। तब वे उनसे दीक्षा ग्रहणकर योगाभ्यास करने लगे। वे जिस प्रकार अध्ययनमें सफल रहे थे उसी प्रकार योगमें भी प्रगतिमान् सिद्ध हुए। इस समय उन्होंने बहुत-सी कीर्तन-सम्बन्धी पदावलियाँ रचीं, जो इस समय भी दक्षिण भारतमें प्रचलित हैं।

इस अवस्थामें गुरुदेवके पास रहते हुए भी उनकी तर्कशक्ति बहुत बढ़ी हुई थी और समय-समयपर वे बहुत-से पाण्डित्याभिमानियोंको नीचा दिखा दिया करते थे। एक दिन ऐसे कुछ लोगोंने उनके गुरुसे उनके इस वाक्चाञ्चल्यके विषयमें शिकायत की। तब श्रीपरमशिवेन्द्रने उनसे कहा, 'न जाने तुम अपने मुखको बन्द रखना कब सीखोगे?' गुरुजीके इन शब्दोंका उनके हृदयपर बहुत प्रभाव हुआ, उन्हें अपनी भूल दिखायी देने लगी और वे उसी समय उनकी चरणवन्दना कर जीवनभरके लिये मौन होकर वहाँसे चल दिये।

इसके पश्चात् वे प्रायः विचरते रहते थे; किसी एक स्थानपर अधिक नहीं ठहरते थे। उनके जीवनकी बहुत-सी चमत्कारपूर्ण घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। उनकी स्थितिका पता लगनेपर एक बार उनके गुरुजीको भी ऐसा विचार हुआ था कि 'यदि मुझे ऐसी अवस्था प्राप्त होती तो मैं भी कृतकृत्य हो जाता।'

सुना जाता है, श्रीसदाशिवेन्द्रने योरोपीय टर्कीतक भ्रमण किया था। नेरूरके समीप उनकी समाधि इस समय भी बनी हुई है।

श्रीसदाशिवेन्द्रने कई ग्रन्थ लिखे। उनमेंसे बहुत-से अभीतक अप्राप्य हैं। उनके ग्रन्थोंमें ब्रह्मसूत्रवृत्ति प्रधान है। यह ब्रह्मसूत्रोंकी शाङ्करभाष्यानुसारिणी वृत्ति है। इसका अध्ययन कर लेनेपर शाङ्करभाष्यको समझना सरल हो जाता है। इस वृत्तिका नाम 'ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका' है।

द्वादश उपनिषदोंपर भी उनकी टीका है; वह अभीतक अप्रकाशित है। योगसूत्रोंपर उन्होंने 'योगसुधाकर' नामकी वृत्ति लिखी है। वह भी बहुत उपयोगी है। इनके सिवा उनके ग्रन्थोंमेंसे 'आत्मविद्याविलास', 'कविताकल्पवल्ली' और 'अद्वैतरसमञ्जरी' नामक तीन ग्रन्थ और भी प्रकाशित हो चुके हैं।

श्रीसदाशिवेन्द्र महान् योगी और परम अद्वैतनिष्ठ महात्मा थे। उनका जीवन एक सिद्ध पुरुषका जीवन था। उनके ग्रन्थोंमें भी उनके उत्कृष्ट जीवनकी छाप है ही। इनकी रचना सरल और भावपूर्ण है। ऐसे महापुरुषोंसे भूमि कृतकृत्य होती है।

आयन्न दीक्षित

आयन्न दीक्षित श्रीवेङ्कटेशके शिष्य थे। उन्होंने 'व्यासतात्पर्यनिर्णय' नामक एक अद्भुत ग्रन्थकी रचना की। श्रीवेङ्कटेश सदाशिवेन्द्र सरस्वतीके समकालीन थे। उन्होंने 'अक्षयषष्टि' और 'दायशतक' नामक दो ग्रन्थ रचे हैं। उनके शिष्य होनेके कारण इनका जीवनकाल भी अठारहवीं शताब्दी ही सिद्ध होता है।

आयन्न दीक्षितका 'व्यासतात्पर्यनिर्णय' नामक केवल एक ही ग्रन्थ पाया जाता है। भगवान् व्यासके वेदान्तसूत्रोंको अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैती, शुद्धाद्वैती, द्वैताद्वैती एवं शिवाद्वैतवादी सभी प्रमाण मानते हैं, और उन सभीके सिद्धान्तोंमें बहुत अन्तर होते हुए भी सभीने बहुत-सी युक्ति-प्रयुक्तियोंसे उसे स्वाभिमत-सिद्धान्तानुकूल बतलाया है। ऐसी स्थितिमें यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन है कि वास्तवमें भगवान् व्यासका क्या अभिप्राय है।

इसके लिये आयन्न दीक्षितने एक नवीन युक्ति दी है। वे कहते हैं कि सांख्य, मीमांसा, पातञ्जल, न्याय, वैशेषिक, पाशुपत एवं वैष्णवदर्शनोंमें भी ब्रह्मसूत्रोंके ऊपर विचार हुआ ही है। इन सभीने अपने-अपने सिद्धान्तोंकी स्थापना करनेके लिये जिस प्रकार शेष सब मतोंका खण्डन किया है उसी प्रकार ब्रह्मसूत्रोंका भी खण्डन किया ही है। वहाँ उन्होंने अद्वैतपरक मानकर ही उनका निरास किया है। इससे उनका मुख्य तात्पर्य अद्वैतमें ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार उन्होंने और भी बहुत-सी मौलिक युक्तियाँ लिखी हैं। इससे उनकी विचित्र प्रतिभाका ज्ञान होता है। अद्वैतसिद्धान्तके प्रेमियोंके लिये वास्तवमें 'व्यासतात्पर्यनिर्णय' संग्रहणीय है।

श्रीविद्यार्णव नामक ग्रन्थके अनुसार शङ्करसम्प्रदायका विवरण

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०)

शाक्तागमसाहित्यमें श्रीविद्यार्णव * नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसमें श्रीविद्याकी उपासनाके क्रमका अवलम्बन करके तन्त्रशास्त्रके सम्पूर्ण सिद्धान्तोंका भलीभाँति प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थमें श्रीशङ्कराचार्यकी गुरुपरम्परा तथा शिष्यपरम्पराका भी कुछ वर्णन किया गया है। यह अभीतक प्रकाशमें नहीं आया, इसलिये संक्षेपतः इस विषयमें यहाँपर कुछ लिखना उचित प्रतीत होता है। ऐतिहासिक दृष्टिसे इस विवरणका कितना गौरव है, इसका निर्णय ऐतिहासिक विद्वान् करेंगे। किन्तु तान्त्रिकसमाजमें शङ्कराचार्य और उनके सम्प्रदायकी जो प्रसिद्धि है, उसका कुछ परिचय पाठकसमाजको प्राप्त होना चाहिये। श्रीविद्याकी उपासनाके साथ शङ्कराचार्यका घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस विषयमें तान्त्रिक ग्रन्थोंमें सर्वत्र ही प्रमाण मिलता है। शङ्करके मठविशेषमें जो श्रीयन्त्र है, उसका तो सबको परिज्ञान है ही। सौन्दर्यलहरी, प्रपञ्चसार आदि जिन-जिन तान्त्रिक ग्रन्थोंसे शङ्करका नाम संसृष्ट है, वे प्रायः सभी त्रिपुरातन्त्रके ग्रन्थ हैं। ललितात्रिशती आदि भी इसी कोटिके ग्रन्थ हैं। इसीलिये त्रिपुरासम्प्रदायके ग्रन्थमें निबद्ध शङ्करविषयक ऐतिहासिक जनश्रुतिका प्रकाशित होना उचित ज्ञात होता है।

इस ग्रन्थके अनुसार शङ्कराचार्य गौड़पादके प्रशिष्य नहीं थे। गौड़पादसे लेकर शङ्कराचार्यतक सात पुरुषोंके नाम मिलते हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—गौड़पाद, पावक, पराचार्य, सत्यनिधि, रामचन्द्र, गोविन्द और शङ्कराचार्य। इससे प्रतीत होता है कि शङ्करके गोविन्दशिष्य होनेमें कोई सन्देह नहीं है, किन्तु वे गौड़पादके प्रशिष्य नहीं थे। प्रचलित ग्रन्थोंमें गौड़पाद, व्यासपुत्र शुकदेवके साक्षात् शिष्य माने जाते हैं। परन्तु शुकदेव और गौड़पादके बीचमें दीर्घकालका व्यवधान होनेसे ऐतिहासिक लोग शुकके साथ गौड़पादका साक्षात् गुरु-शिष्यसम्बन्ध माननेमें संकोच करते हैं। बहुत लोग कल्पना करते हैं कि शुकदेवके बाद अद्वैतज्ञानकी धारा एक प्रकार उच्छिन्न हो गयी थी। गौड़पादने सम्भवतः किसी अलौकिक उपायसे आविर्भूत शुकदेवकी ही दिव्य मूर्तिसे इस ज्ञानको प्राप्तकर उसका पुनरुद्धार किया था। इसी प्रकार शुकके साथ उनका गुरु-शिष्यसम्बन्ध भी स्थिर हो जाता है। परन्तु साधारण ऐतिहासिक लोग इसको प्रमाणरूपमें ग्रहण नहीं कर सकते। इस ग्रन्थमें गौड़पादके पूर्ववर्ती गुरुओंकी भी नामावली दी गयी है, जिसको देखनेसे शुकदेव और गौड़पादके मध्यमें बहुत-से पुरुषोंका व्यवधान दीख पड़ता है। आदिविद्वान् कपिलसे ही शङ्करसम्प्रदायकी प्रवृत्ति हुई है, यह इस ग्रन्थकारका मत है। कपिलसे गौड़पादतक गुरुओंके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—कपिल, अत्रि, वसिष्ठ, सनक, सनन्दन, भृगु, सनत्सुजात, वामदेव, नारद, गौतम, शौनक, शक्ति, मार्कण्डेय, कौशिक, पराशर, शुक, अङ्गिरा, कण्व, जाबालि, भरद्वाज, वेदव्यास, ईशान, रमण, कपर्दी, भूधर, सुभट, जलज, भूतेश, परम, विजय, मरण, पद्मेश, सुभग, विशुद्ध, समर, कैवल्य, गणेश्वर, सपाथ, विबुध, योग, विज्ञान, अनङ्ग, विभ्रम, दामोदर, चिदाभास, चिन्मय, कलाधर, वीरेश्वर, मन्दार, त्रिदश, सागर, मृड, हर्ष, सिंह, गौड़, वीर, घोर, ध्रुव, दिवाकर, चक्रधर, प्रथमेश, चतुर्भुज, आनन्दभैरव, धीर, गौड़पाद †।

इस ग्रन्थके अनुसार शङ्कराचार्यके १४ शिष्य थे। ये सब देवीके उपासक और निग्रहानुग्रह करनेमें समर्थ अलौकिक शक्तिसम्पन्न थे, ऐसा वर्णन है। १४ शिष्योंमें ५ शिष्य संन्यासी और ९ गृहस्थ थे। संन्यासी शिष्योंमें एक शिष्यका नाम शङ्कर भी था, अवशिष्ट चारके नाम—पद्मपाद,

---

* यह ग्रन्थ अभीतक मुद्रित नहीं हुआ, इसकी एक सम्पूर्ण प्रति काश्मीरमें विद्यमान है (देखिये—Stein साहबका बनाया हुआ जम्मू-रघुनाथमन्दिरस्थ पुस्तकालयका सूचीपत्र)। यह अति बृहद् ग्रन्थ है। इसका कोई-कोई फुटकर अंश भिन्न-भिन्न पुस्तकालयोंमें उपलब्ध होता है।

† इस नामावलीके किसी-किसी अंशमें विचित्रता दीख पड़ती है। १—शक्ति और पराशरमें आनन्तर्य नहीं है, बीचमें दो पुरुषोंका व्यवधान है। २—पराशर और शुकके बीचमें वेदव्यासका नाम नहीं है, परन्तु शुकके पिता वेदव्यासका नाम शुकके चार शिष्योंके बाद दिया गया है।

बोध, गीर्वाण और आनन्दतीर्थ थे। गृहस्थ शिष्योंके नाम थे—सुन्दर, विष्णुशर्मा, लक्ष्मण, मल्लिकार्जुन, त्रिविक्रम, श्रीधर, कपर्दी, केशव और दामोदर।

पद्मपादके छः शिष्य थे, उनके नाम यों हैं—माण्डल, परपावक, निर्वाण, गीर्वाण, चिदानन्द और शिवोत्तम। ये सब संन्यासी थे। बोधाचार्यके बहुत शिष्य थे। लिखा है कि सब देशोंमें उनके दो प्रकारके शिष्य थे—संन्यासी और गृही। गीर्वाणेन्द्रके मुख्य शिष्यका नाम विद्वद्गीर्वाण था। विद्वद्गीर्वाणके शिष्यका नाम विबुधेन्द्र, विबुधेन्द्रके शिष्यका नाम सुधीन्द्र और सुधीन्द्रके शिष्यका नाम मन्त्रगीर्वाण था। मन्त्रगीर्वाणके गृही और संन्यासी दोनों प्रकारके शिष्य थे। आनन्दतीर्थके सभी शिष्य गृही थे। वे लोग पादुकापीठकी आराधना करते थे। सुन्दराचार्यके तीन प्रकारके शिष्य थे—पीठनायक, संन्यासी और गृही। विष्णुशर्माके शिष्यका नाम प्रगल्भाचार्य था। ये विद्यार्णवग्रन्थकार प्रगल्भाचार्यके शिष्य थे। ग्रन्थमें लिखा है कि इस ग्रन्थके पूर्ण होनेपर जगद्धात्री महामाया उनके सामने प्रकट होकर बोली—वत्स! वर माँगो। जगद्धात्रीको सामने खड़ी देखकर उन्होंने कहा—हे माता, यदि कोई साधक केवल हमारे ग्रन्थके आधारपर गुरुक्रम और मन्त्रादि देखकर मुझे गुरु मानते हुए भक्तिपूर्वक जप करे, तो दीक्षित न होनेपर भी उसको सिद्धि प्राप्त हो।

देवीने 'तथास्तु' कहकर उनका अनुमोदन किया।

लक्ष्मणाचार्यकी तपस्या, विद्या और श्री असाधारण थी। चौथी अवस्थामें वीतराग होकर वे इधर-उधर देशाटन करने लगे। इसी समयमें घूमते-घूमते वे एक दिन प्रौढ़देव नामक किसी राजाकी राजधानीमें पहुँचे। प्रौढ़देवने उनके लिये रहनेका स्थान, अन्न, भूषण और परिचारकोंका प्रबन्ध कर दिया। एक दिन राजाकी सभामें जिस समय लक्ष्मण उपस्थित थे, उस समय वणिकोंने द्वीपान्तरसे प्राप्त हुई वस्त्रादि बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ राजाको भेंट कीं। राजाने उन लोगोंके द्वारा दिये गये मूल्यवान् वस्त्र आचार्य लक्ष्मणको दे दिये। आचार्य लक्ष्मण उन्हें लेकर अपने वासस्थानपर चले आये। कुण्डमें अग्निकी स्थापना करके उन्होंने अग्निमें वस्त्रोंकी आहुति दे दी। प्रौढ़देवके पास जब यह खबर पहुँची, तब उन्होंने वस्त्र लौटाने अथवा उनका मूल्य भेज देनेकी प्रार्थना करते हुए उनके पास दूतके द्वारा सन्देश भेजा। यह सुनकर लक्ष्मणको क्रोध आया, उन्होंने 'ब्रह्मस्वापहारक' कहकर राजाको शाप दिया कि तुम निर्वंश हो जाओ। इसके बाद लक्ष्मणने अपने इष्टदेवतासे प्रार्थना करके वस्त्र लौटा दिये। इसके पश्चात् लक्ष्मण प्रौढ़देवके नगरको छोड़कर दक्षिणकी ओर चले गये। लक्ष्मणकी अलौकिक शक्तिकी बात सुनकर प्रौढ़देवका चित्त उद्विग्न हुआ और उनके पास जाकर उनके क्रोधकी शान्तिके लिये प्रौढ़देवने विनयपूर्वक बहुत प्रार्थना की। उसकी प्रार्थनासे सन्तुष्ट होकर लक्ष्मणने उससे कहा कि तुम्हें पुत्र होगा, परन्तु उससे तुम सुखी नहीं होगे। तदनन्तर समय पाकर सिद्ध महात्माके वरके अनुसार राजाके एक कुमार उत्पन्न हुआ। लेकिन पुत्र होते ही राजाका देहावसान हो गया। प्रसिद्धि है कि उस समय इस ग्रन्थके रचयिता प्रजाके अनुरोधसे राजकुमारके प्रतिनिधिरूपमें राजभार लेकर उनका शासन करने लगे और उन्होंने श्रीचक्रके आकारमें नगर स्थापित कर उसका श्रीविद्यानगर नाम रक्खा। उसके बाद राजकुमारके वयःस्थ होनेपर अम्बदेव नामसे उसे राजगद्दीपर बैठाया और उसीके आदेशसे उसकी सभाकी विद्वन्मण्डलीकी प्रार्थनासे भगवतीसे आदेश लेकर प्राचीन आगमग्रन्थ*, यामलग्रन्थ प्रभृतिका विशेषरूपसे आलोचन करते हुए तथा कादि मत और हादि मत दोनोंके सूक्ष्म रहस्यका अनुसरण करते हुए उन्होंने इस विशिष्ट ग्रन्थका निर्माण किया।

मल्लिकार्जुनके अधिकांश शिष्य विन्ध्यदेशमें रहते थे। इसी प्रकार त्रिविक्रमके शिष्य जगन्नाथक्षेत्रमें, श्रीधरके शिष्य गौड़, मिथिला तथा बंगदेशमें और कपर्दीके शिष्य काशी, अयोध्या प्रभृति देशोंमें रहते थे।

केशव और दामोदरके विषयमें ग्रन्थमें कोई विशेष विवरण नहीं मिलता।

---

* तन्त्रराज, मातृकार्णव, त्रिपुरार्णव, योगिनीहृदय इत्यादि।

विशिष्टाद्वैतवाद (श्रीवैष्णव सम्प्रदाय) के प्रमुख आचार्योंका परिचय

विशिष्टाद्वैतवाद भी अन्य वैदान्तिक मतोंकी तरह बहुत प्राचीन कालसे भारतमें प्रचलित है। ब्रह्मसूत्रमें आचार्य आश्मरथ्यका नाम मिलता है, जो विशिष्टाद्वैतवादी थे। ईसवी सन्‌की पाँचवीं शताब्दीमें आचार्य श्रीकण्ठने ब्रह्मसूत्रकी शिवपरक व्याख्या करके विशिष्टाद्वैतवादका विशेष रूपसे प्रचार किया। आचार्य भास्करने भी अपने भेदाभेदवादके द्वारा एक तरहसे इस विशिष्टाद्वैतवादको ही पुष्ट किया। पाञ्चरात्र मत भी एक तरहसे विशिष्टाद्वैतमत ही है। पाञ्चरात्रका उल्लेख महाभारतमें भी पाया जाता है, परन्तु ब्रह्मसूत्रकी विष्णुपरक व्याख्या नये ढंगसे ईसवी सन्‌की दसवीं शताब्दीसे ही शुरू हुई। यामुनाचार्यने अपने अलौकिक पाण्डित्यके बलपर विशिष्टाद्वैतको नया आलोक प्रदान किया और उसके बाद ११ वीं शताब्दीमें रामानुजाचार्यने तो विशिष्टाद्वैत मतका मानो सारे देशमें समुद्र ही बहा दिया। रामानुजाचार्यके इस प्रचण्ड कार्यका ही यह प्रभाव है कि उस समयसे विशिष्टाद्वैत मतका दूसरा नाम रामानुजमत पड़ गया।

परन्तु यामुनाचार्य और श्रीरामानुजाचार्यने जिस भावका प्रचार किया, वह एकदम नया नहीं था। इस भावकी शिक्षा उन्हें गुरु-शिष्य-परम्पराद्वारा ही प्राप्त हुई थी। दक्षिणमें जो इतिहास मिलता है उससे मालूम होता है कि अत्यन्त प्राचीन कालसे दक्षिण देशमें हरिभक्तिका प्रचार था। श्रीवैष्णवोंका कहना है कि द्वापरके अन्तमें और कलियुगके आरम्भमें प्रसिद्ध अलवार लोग थे। ये सब बड़े भक्त थे। द्वापरयुगके अन्तमें तीन आचार्य हुए थे—पोंइदे, पूदत्त और पे। पोंइहेका जन्म काञ्ची नगरमें हुआ था। उनकी ध्यानस्थ अवस्थाकी मूर्त्ति काञ्चीके एक मन्दिरमें है जो वहाँके देवसरोवरके बीचमें पानीके अंदर बना हुआ है। पूदत्तका जन्म तिरुवन्नमलई नामक स्थानमें, जिसे पहले मल्लापुरी कहते थे, हुआ था। पेका जन्म मद्रासके मयलापुर नामक स्थानमें हुआ था। वह सदा श्रीहरिके प्रेममें उन्मत्त रहा करते थे, इसीसे उनका नाम 'पे' अर्थात् उन्मत्त पड़ गया था। द्वापरके अन्तमें ईसासे प्रायः ४२०२ वर्ष पूर्व 'तिरुमिड़िशि' का जन्म हुआ था। कलिके आरम्भमें, प्रायः ईसासे ३१०२ वर्ष पूर्व पाण्ड्य देशकी कुरुकापुरीमें शठारिका जन्म हुआ था, जिन्हें शठरिपु या शठकोप भी कहते थे। शठारिके शिष्य 'मधुर कवि' का जन्म शठरिपुके जन्मस्थानके पास ही हुआ था। वह बड़ी मधुर भाषामें कविता किया करते थे, इसीसे उनका नाम 'मधुर कवि' पड़ गया। केरल प्रान्तके प्रसिद्ध 'कुलशेखर' एक प्रधान अलवार हो गये हैं। उनका जन्म ईसासे लगभग ३१०२ वर्ष पूर्व मालावारके चोलपट्टन या तिरुमंजिक्कोलम् नामक स्थानमें हुआ था। उन्होंने 'मुकुन्दमाला' नामक एक ग्रन्थकी रचना की। 'पेरिया अलवार' अर्थात् 'सर्वश्रेष्ठ भक्त' का जन्म ईसासे ३०५६ वर्ष पूर्व हुआ था। उनकी पुत्री, अण्डाल, जो ईसासे ३००५ वर्ष पूर्व पैदा हुई थी, बहुत बड़ी भक्त थी। बहुत ही मधुरभाषिणी होनेके कारण इसे 'गोदा' कहते थे। उसने तामिल भाषामें 'स्तोत्ररत्नावली' नामक एक पुस्तककी रचना की है, जिसमें तीन सौ स्तोत्र हैं। इन स्तोत्रोंका तामिल भक्तोंमें बड़ा आदर है। इस तरह अनेक अलवारोंका विवरण मिलता है जिन्होंने प्रागैतिहासिक कालमें भक्तिका प्रचार किया। यह परम्परा ऐतिहासिक युगमें भी पायी जाती है।

एक ओर जहाँ ये प्राचीन अलवार भक्तिगङ्गा बहाते हुए देखे जाते हैं, वहाँ दूसरी ओर दार्शनिक आचार्य भी अपनी विद्वत्तासे इस मतकी पुष्टि करते हुए देखे जाते हैं। यामुनाचार्यसे पूर्व द्रविड़ाचार्य, गुहदेव, टंक, श्रीवत्सांक प्रभृति आचार्योंके नाम मिलते हैं, जिन्होंने ब्रह्मसूत्रपर भाष्य, टीका आदि लिखी थीं। यामुनाचार्यने 'सिद्धित्रय' नामक अपने ग्रन्थमें इन प्राचीन आचार्योंका उल्लेख किया है। अवश्य ही यामुनाचार्यने दसवीं शताब्दीमें इस मतको अपनी प्रतिभासे पुनः स्थापित किया और रामानुजाचार्यने इसका सर्वत्र प्रचार किया। अतएव हम यामुनाचार्य और उनके बादके आचार्योंका ही यहाँ संक्षेपमें परिचय देनेकी चेष्टा करेंगे।

इस विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायके आचार्योंकी परम्पराका क्रम इस प्रकार माना जाता है—भगवान् श्रीनारायणने जगज्जननी आत्मरूपा स्वरूपाशक्ति श्रीमहालक्ष्मीजीको उपदेश दिया, दयामयी मातासे वैकुण्ठपार्षद श्रीविष्वक्सेनको उपदेश मिला, उनसे श्रीशठकोप स्वामीको, इनसे श्रीनाथमुनिको, नाथमुनिसे पुण्डरीकाक्ष स्वामीको, इनसे श्रीराममिश्र स्वामीको, और श्रीराममिश्रजीसे श्रीयामुनाचार्यजीको प्राप्त हुआ।

श्रीयामुनाचार्य

श्रीवैष्णव सम्प्रदायके एक प्रधान आचार्य नाथमुनि हो गये हैं। वह लगभग ९६५ वि० सं० में वर्तमान थे। उनके एक पुत्र थे ईश्वरमुनि। ईश्वरमुनि बहुत छोटी अवस्थामें ही परलोक सिधार गये। इन ईश्वरमुनिके ही पुत्र श्रीयामुनाचार्य थे। पिताकी मृत्युके समय यामुनाचार्यकी अवस्था लगभग दस वर्ष थी।

पुत्रकी मृत्युके बाद नाथमुनिने संन्यास ले लिया और वह मुनियोंकी तरह पवित्र जीवन बिताने लगे। इसी कारण उनका नाम नाथमुनि पड़ गया। कहते हैं, उन्होंने योगमें अद्भुत सिद्धियाँ प्राप्त की थीं और इसी कारण वे 'योगीन्द्र' कहलाते थे। उन्होंने दो ग्रन्थोंकी रचना की, जिनमें उन्होंने अपने मतका वर्णन किया है। ये दोनों ग्रन्थ भी वैष्णवोंके परम आदरकी वस्तु हैं।

पिताकी मृत्यु हो जाने तथा पितामहके संन्यास ले लेनेके कारण यामुनाचार्यका लालन-पालन उनकी दादी और माताने किया। उनका जन्म १०१० वि० सं० में वीरनारायणपुर या मदुरामें हुआ था। यामुनाचार्यकी अलौकिक प्रतिभाका परिचय उनके बचपनसे ही मिलने लगा। वह अपने गुरु श्रीमद्भाष्याचार्यसे शिक्षा लेने लगे और थोड़े समयमें ही सब शास्त्रोंमें पारंगत हो गये। उनका विनीत मधुर स्वभाव बरबस सबको उनकी ओर आकृष्ट करता था। उन्होंने १२ वर्षकी अवस्थामें ही अपनी बुद्धिकी प्रखरताके बलपर पाण्ड्य राज्यके आधे हिस्सेका अधिकार प्राप्त कर लिया। जिन दिनों यह अपने गुरुदेवके पास रहकर विद्याध्ययन करते थे, उन दिनों पाण्ड्य राज्यकी सभामें विद्वज्जनकोलाहल नामक एक दिग्विजयी पण्डित थे। राजा उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिका भाव रखते थे। जो पण्डित कोलाहलके साथ शास्त्रार्थमें हार जाते थे, उन्हें राजाकी आज्ञाके अनुसार दण्डस्वरूप कुछ वार्षिक कर कोलाहलको देना पड़ता था। कोलाहल सम्राट्की तरह अधीन पण्डितोंसे कर वसूल किया करते थे। यामुनाचार्यके गुरु भाष्याचार्य भी उन्हें कर दिया करते थे।

एक समय अर्थाभाव होनेके कारण भाष्याचार्यने २-३ वर्षतक कर नहीं चुकाया। एक दिन कोलाहलका एक शिष्य भाष्याचार्यकी पाठशालापर कर माँगनेके लिये आया। उसका नाम वंजि था। उस समय भाष्याचार्य कहीं बाहर गये थे; यामुनाचार्य ही वहाँ अकेले एक आसनपर बैठे थे। वंजिने आकर बड़े कड़े शब्दोंमें भाष्याचार्यको पूछा और बकाया कर माँगा। उसके व्यवहारसे क्षुब्ध होकर यामुनाचार्यने भी कड़े शब्दोंमें उससे कहा, 'तुम्हारे गुरुसे मैं शास्त्रार्थ करनेके लिये तैयार हूँ।' वंजि यह सुनकर बड़ा क्रोधित हुआ और अपने गुरुके पास जाकर उसने सारा हाल सुना दिया। सभाके सब लोग १२ वर्षके बालककी ढिठाईपर चञ्चल हो उठे। राजाने फिरसे आदमी भेजकर पुछवाया कि क्या सचमुच वह लड़का शास्त्रार्थ करना चाहता है। यामुनाचार्यने अपनी स्वीकृति भेज दी और राजासे पण्डितोचित सवारी भेजनेकी प्रार्थना कर दी। राजाने एक सवारी भेज दी। जब भाष्याचार्यने पाठशालामें वापस आनेपर यह सब हाल सुना तो वह बहुत घबड़ाये। यामुनाचार्यने उन्हें आश्वासन दिलाया और उनको प्रणामकर सवारीपर बैठ गये।

उधर राजसभामें राजा और रानीमें यामुनाचार्यके प्रश्नपर मतभेद हो गया। राजा कोलाहलके पक्षमें थे और रानी यामुनाचार्यके। रानीने कहा कि विजय यामुनकी होगी और यदि न हुई तो मैं महाराजकी क्रीत दासीकी भी दासी बनूँगी। राजाने भी प्रतिज्ञा की कि यदि बालक कोलाहलको हरा देगा तो मैं उसे आधा राज्य दे दूँगा। इसी बीच यामुनाचार्य सभामें उपस्थित हुए। कोलाहलने बालकको देखकर बड़े गर्वसे हँसते हुए रानीसे कहा—'क्या यही लड़का मुझे जीतेगा?' रानीने कहा—'हाँ, यही लड़का आपको परास्त करेगा।'

शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। यामुनाचार्यने कोलाहलसे तीन प्रश्न किये—(१) आपकी माता वन्ध्या नहीं हैं, इस बातका खण्डन कीजिये। (२) पाण्ड्याधीश धर्मशील हैं, इसका खण्डन कीजिये और (३) रानी सावित्रीकी तरह साध्वी हैं, इसका खण्डन कीजिये। कोलाहल प्रश्न सुनकर बड़े चकराये। वह कुछ भी उत्तर न दे सके। अन्तमें यामुनाचार्यसे उत्तर देनेके लिये कहा गया। यामुनाचार्यने तीनों प्रश्नोंका उत्तर दे दिया। रानीने प्रसन्न होकर कहा—'कोलाहल! बालकने सचमुच तुम्हें जीत लिया।' रानीने उस समय अपनी भाषामें 'आलवन्दार' कहकर अपना भाव व्यक्त किया था, इस कारण उसी दिनसे यामुनाचार्यका नाम 'आलवन्दार' पड़ गया। राजाने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार यामुनाचार्यको आधा राज्य दे दिया। यामुनाचार्य सिंहासनपर बैठकर बड़ी दक्षताके साथ

राजकाज सँभालने लगे । उन्होंने समीपके कितने ही राजाओंको परास्त किया ।

नाथमुनि संन्यासी होनेपर भी अपने पौत्र यामुनाचार्यकी मंगलकामना करते थे। उन्होंने इहलीला संवरण करते समय सच्चे दादाका कर्तव्य पालन करते हुए अपने शिष्य राममिश्रसे कहा—'देखना ! कहीं यामुनाचार्य विषय-भोगमें फँसकर अपने कर्तव्यको न भूल जाय। इसका भार मैं तुम्हारे ऊपर डालता हूँ।'

यामुनाचार्य जब ३५ वर्षके हुए तो एक दिन राममिश्र उनके पास गये। उन्होंने राजासे कहा—'महाराज ! आपके पितामह आपके लिये बहुत-सा धन छोड़ गये हैं। उसे लेनेके लिये आप मेरे साथ चलिये।' राजा उनके साथ हो लिये। राममिश्र उन्हें इस बहाने श्रीरङ्गनाथके मन्दिरमें ले आये। रास्तेमें परमभक्त राममिश्रका स्पर्श प्राप्त करने तथा भगवत्सम्बन्धी आलोचना करनेके कारण यामुनाचार्यके हृदयमें भक्तिस्रोत उमड़ पड़ा; वैराग्यसे उनका हृदय भर गया। वह राममिश्रका उपदेश सुनकर मुग्ध हो गये। और उसी दिनसे राजपाट छोड़कर यामुनाचार्य श्रीरङ्गनाथजीके सेवक हो गये। आज उन्होंने सच्चा धन प्राप्त कर लिया। तबसे उन्होंने अपना शेष जीवन भगवत्सेवा तथा ग्रन्थप्रणयनमें बिताया। उन्होंने संस्कृतमें चार ग्रन्थोंकी रचना की—'स्तोत्ररत्न', 'सिद्धित्रय', 'आगमप्रामाण्य' और 'गीतार्थ-संग्रह'। इनमें सबसे प्रधान 'सिद्धित्रय' है। यह गद्य और पद्यमें लिखा गया है। इसमें यामुनाचार्यकी दार्शनिक प्रतिभाका विकास दिखायी देता है। उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें विशिष्टाद्वैतवादका प्रतिपादन किया है।

श्रीयामुनाचार्य श्रीरामानुजाचार्यके परम गुरु थे। यामुनाचार्यका रामानुजाचार्यपर बड़ा प्रेम था और रामानुजाचार्य भी उनके प्रति अटूट भक्तिभाव रखते थे। यामुनाचार्यने मृत्युकालमें रामानुजाचार्यको स्मरण किया; परन्तु उनके पहुँचनेके पूर्व ही वे दिव्यधामको पधार गये। उनके मनमें रही हुई तीन कामनाओंको श्रीरामानुजाचार्यने भलीभाँति पूर्ण किया।

मत

'विशिष्टाद्वैत' शब्द दो शब्दोंके मिलनेसे बना है—विशिष्ट और अद्वैत। विशिष्टसे मतलब है—चेतन और अचेतनविशिष्ट ब्रह्म, और अद्वैतका मतलब है—अभेद या एकत्व। अतएव चेतनाचेतनविभागविशिष्ट ब्रह्मके अभेद या एकत्वका निरूपण करनेवाले सिद्धान्तका नाम विशिष्टाद्वैतवाद है। यामुनाचार्यने इसी सिद्धान्तकी स्थापना करनेकी अपने ग्रन्थोंमें चेष्टा की है और इसकी सफलताके लिये अन्य मतोंका खण्डन किया है। शांकरमतपर उनका विशेष लक्ष्य देखा जाता है। शांकरमतानुयायी सुरेश्वराचार्यके मतसे ज्ञान स्वप्रकाश है, अखण्ड है, कूटस्थ नित्य है; ज्ञान ही आत्मा है, ज्ञान ही परमात्मा है; ज्ञान निष्क्रिय है; ज्ञानमें भेद नहीं है; ज्ञान आपेक्षिक नहीं है। यामुनाचार्य इस मतको अवैदिक बतलाते हैं। उनके मतमें ज्ञान आत्माका धर्म है। शांकरमतसे आत्मा ज्ञानस्वरूप है; परन्तु यामुनाचार्यके मतसे आत्मा ज्ञाता है, ज्ञातृत्वशक्ति आत्माकी है, ज्ञान सक्रिय है। शङ्करके मतसे ज्ञान निष्क्रिय है। यामुनके मतसे ज्ञान सविशेष है, शांकरमतसे ज्ञान निर्विशेष है। यामुनके मतसे ज्ञान आपेक्षिक है, शङ्करके मतसे ज्ञान स्वप्रकाश है। इस तरह शांकरमत और यामुनाचार्यके मतमें बहुत अन्तर है। यामुनाचार्यका मत संक्षेपमें इस प्रकार है—

आत्मप्रतिपत्तिका प्रमाण—यामुनके मतसे श्रुति ही आत्मप्रतिपत्तिका प्रमाण है। नैयायिक अनुमानके आधारपर भी आत्माका अस्तित्व सिद्ध करते हैं। परन्तु यामुनाचार्य इसे असंगत बतलाते हैं। केवल अनुमानके बलपर आत्मा सिद्ध नहीं किया जा सकता। श्रुति ही इसका प्रमाण है।

ईश्वर—आचार्य श्रीयामुनके मतानुसार ईश्वर पुरुषोत्तम हैं। जीवसे वे श्रेष्ठ हैं। जीव कृपण है—दुःख-शोकमें डूबा हुआ है; ईश्वर सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प और असीम सुखसागर हैं। ईश्वर पूर्ण हैं, जीव अणु है। जीव अंश है, ईश्वर अंशी हैं; जीव और ईश्वर नित्यपृथक् हैं। मुक्त जीव ईश्वरका सान्निध्य प्राप्त करता है, ईश्वरभावको प्राप्त नहीं होता। आचार्य कहते हैं कि अद्वितीय ब्रह्म कहनेसे ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य वस्तुके अस्तित्वका निषेध नहीं होता, बल्कि यह सूचित होता है कि ब्रह्मके सदृश या उसका प्रतियोगी दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। आचार्यके मतानुसार ब्रह्मके समान या उनसे अधिक दूसरा कोई नहीं है। क्योंकि जगत्रूप शरीर भी उनकी कलामात्र है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार अद्वितीय सम्राट् कहनेसे सम्राट्के भृत्य, पुत्र-कलत्रका निषेध नहीं होता, उसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्म कहनेसे सुर, नर, असुर, ब्रह्मा, ब्रह्माण्ड इत्यादिका निषेध नहीं होता।

ब्रह्म और जगत्—आचार्यके मतानुसार जगत् ब्रह्मका

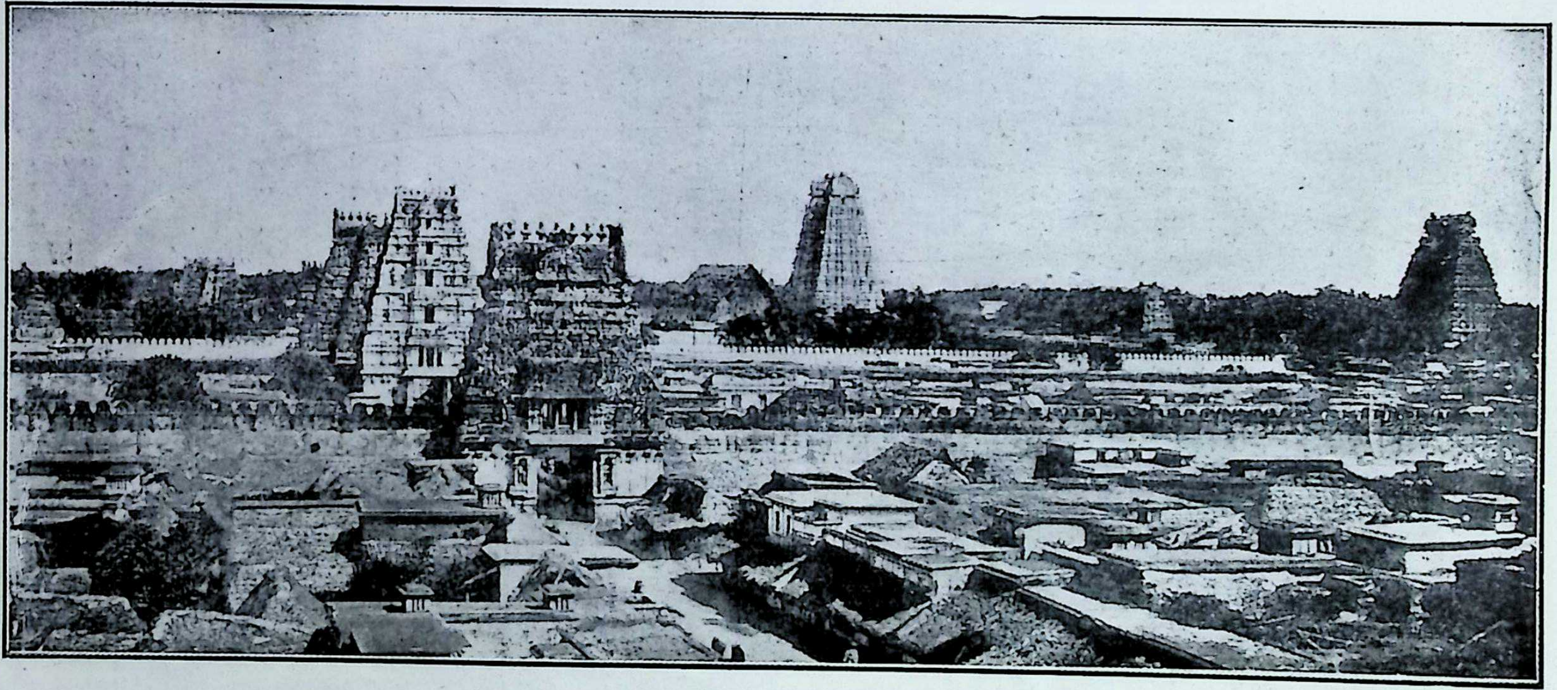

श्रीरङ्गम्मन्दिर

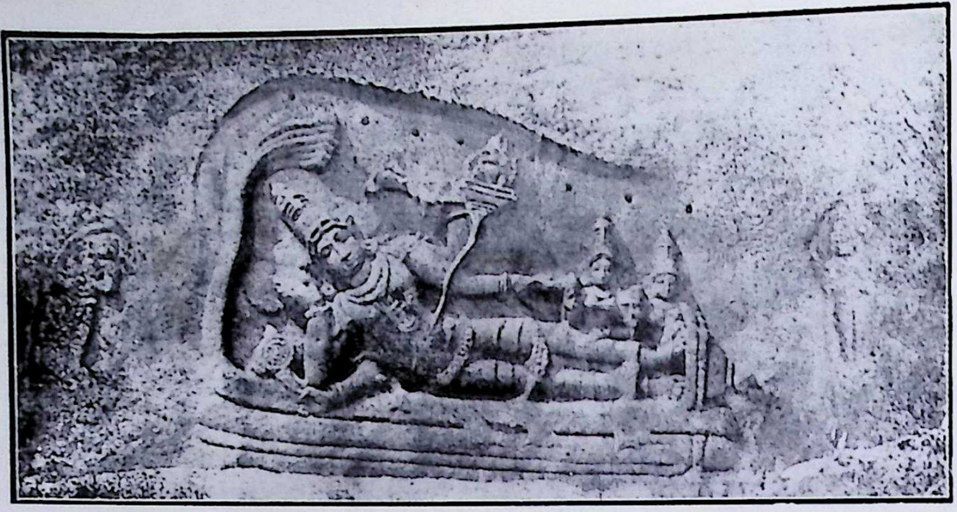

भगवान् रङ्गनाथ

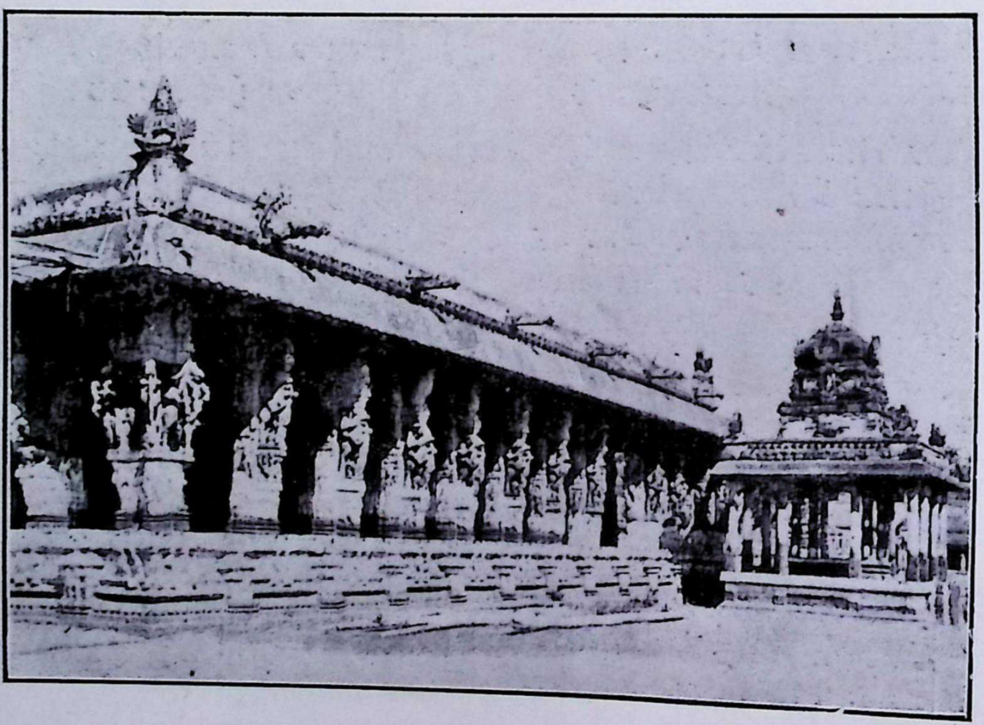

वरदराज मन्दिर काञ्ची

परिणाम है। ब्रह्म ही जगत्के रूपमें परिणत हुए हैं। जगत् ब्रह्मका शरीर है। ब्रह्म जगत्के आत्मा हैं। आत्मा और शरीर अभिन्न हैं। अतएव जगत् ब्रह्मात्मक है।

ब्रह्म और जीव—आचार्यके मतसे जीव और ब्रह्म भिन्न हैं। अभेद कभी संगत नहीं। 'तत्त्वमसि' वाक्यका तात्पर्य ब्रह्म और जीवकी अभिन्नता नहीं है। 'तत्' और 'त्वं' दोनों पद जीवगत तादात्म्यके सूचक हैं। वे भास्कराचार्यके भेदाभेदवादका खण्डन करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म और जीवमें सजातीय और विजातीय भेद नहीं है, बल्कि स्वगत-भेद है। उनकी रायमें तीन मौलिक पदार्थ हैं—चित्, अचित् और पुरुषोत्तम। चित् जीव है, अचित् जगत् है और पुरुषोत्तम ब्रह्म हैं। ब्रह्म सविशेष—सगुण, अशेष-कल्याणगुणगणसागर, सर्वनियन्ता हैं। जीव उनका दास है। उन्होंने 'सिद्धित्रय' नामक ग्रन्थमें चिदचित् और पुरुषोत्तमका निर्णय किया है। उनके मतमें जगत् जड़ है और ब्रह्मका शरीर है। इन्हीं तीन मौलिक पदार्थोंको आधार बनाकर आचार्य रामानुजने अपने मतका विस्तार किया।

भक्तिवाद-शरणागति—श्रीयामुनाचार्यकी भक्तिका निर्मल स्रोत 'स्तोत्ररत्नम्' नामक ग्रन्थमें प्रवाहित हुआ है। उनके हृदयका गम्भीर अनुराग, प्रगाढ़ प्रेम उसमें सर्वत्र स्फुटित हुआ है। ग्रन्थभरमें सब जगह आत्मविसर्जनका भाव भरा हुआ है। भगवान् अशरणशरण, निराश्रयके आश्रय हैं; अतः सर्वस्व उन्हींको निवेदित किया गया है। सब कुछ भूलकर उनके चरणकमलोंका आश्रय प्राप्त करनेके लिये कितनी व्याकुलता है—उन्हींके शब्दोंमें पढ़िये।

(१)

नमो नमो वाङ्मनसातिभूमये नमो नमो वाङ्मनसैकभूमये॥
नमो नमोऽनन्तमहाविभूतये नमो नमोऽनन्तदयैकसिन्धवे॥

(२)

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे॥
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्यं त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥

(३)

न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके सहस्रशो यन्न मया व्यधायि॥
सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द क्रन्दामि संप्रत्यगतिस्तवाग्रे॥

(४)

निमज्जतोऽनन्तभवार्णवान्तश्चिराय मे कूलमिवासि लब्धः।
त्वयापि लब्धं भगवन्निदानीमनुत्तमं पात्रमिदं दयायाः॥

(५)

अभूतपूर्वं मम भावि किं वा सर्वं सहे मे सहजं हि दुःखम्।
किं तु त्वदग्रे शरणागतानां पराभवो नाथ न तेऽनुरूपः॥

(६)

निरासकस्यापि न तावदुत्सहे महेश हातुं तव पादपङ्कजम्।
रुषा निरस्तोऽपि शिशुः स्तनन्धयो न जातु मातुश्चरणौ जिहासति॥

(७)

धिगशुचिमविनीतं निर्दयं मामलज्जं
परमपुरुष योऽहं योगिवर्याग्रगण्यैः।
विधिशिवसनकाद्यैर्ध्यातुमत्यन्तदूरं
तव परिजनभावं कामये कामवृत्तः॥

(८)

अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे।
अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात्कुरु॥

(९)

न मृषा परमार्थमेव मे शृणु विज्ञापनमेकमग्रतः।
यदि मे न दयिष्यसे ततो दयनीयस्तव नाथ दुर्लभः॥

(१०)

तदहं त्वदृते न नाथवान्मदृते त्वं दयनीयवान्न च।
विधिनिर्मितमेतदन्वयं भगवन् पालय मा स्म जीहपः॥

(११)

वपुरादिषु योऽपि कोऽपि वा गुणतोऽसानि यथातथाविधः।
तदहं तव पादपद्मयोरहमद्यैव मया समर्पितः॥

(१२)

मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव।
नियतस्वमिति प्रबुद्धधीरथवा किं नु समर्पयामि ते॥

(१३)

अवबोधितवानिमां यथा मयि नित्यां भवदीयतां स्वयम्।
कृपयैवमनन्यभोग्यतां भगवन् भक्तिमपि प्रयच्छ मे॥

(१४)

तव दास्यसुखैकसङ्गिनां भवनेष्वस्त्वपि कीटजन्म मे॥
इतरावसथेषु मास्म भूदपि मे जन्म चतुर्मुखात्मना॥

मन-वाणीके अगोचर किन्तु भक्तोंकी मन-वाणीके एकमात्र आधार आप परमेश्वरको मेरा बारंबार प्रणाम है। देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेदसे रहित, महान् ऐश्वर्यवाले तथा दयाके एकमात्र असीम सागर आप भगवान्को बार-बार नमस्कार है ॥ १ ॥

मैं न तो धर्मनिष्ठ हूँ, न आत्मज्ञानी; और न आपके चरण-कमलोंमें भक्ति ही रखनेवाला हूँ। मैं अकिञ्चन हूँ, आपके सिवा कोई दूसरा मेरा सहारा नहीं है; इसलिये आपके ही शरण लेने योग्य चरणोंको शरणमें आ पड़ा हूँ ॥२॥

हे मुकुन्द! संसारमें ऐसा कोई निन्दित कर्म नहीं है जिसे हजारों बार मैंने नहीं किया हो, पर वही मैं आज पापोंका कटु परिणाम भोगनेके समय आपके सामने असहाय होकर रोता-चिल्लाता हूँ ॥ ३ ॥

हे भगवन्! इस अपार भवसागरके भीतर डूबते हुए मुझे आप बहुत दिनोंके बाद तटके रूपमें प्राप्त हुए हैं। इधर आपको भी इस समय यह दयाका सबसे बड़ा पात्र प्राप्त हो गया है [अब अवश्य ही दया करके आप इस भवसागरसे मेरा उद्धार कीजिये] ॥ ४ ॥

हे नाथ! मुझपर जो कुछ बीत चुका है उससे विलक्षण कौन-सा नूतन दुःख अब मुझे मिलेगा! [मेरे लिये कोई भी कष्ट नया नहीं है, सब कुछ भोग चुका हूँ। जो होगा—] सब सह लूँगा, दुःख तो मेरे साथ ही उत्पन्न हुआ है; परन्तु आपकी शरणमें आये हुएका आपके सामने ही अपमान हो, यह आपको शोभा नहीं देता [अतः मेरे उद्धारमें देर न लगाइये] ॥ ५ ॥

हे महेश्वर! यदि आप मुझे अपने पाससे दूर हटावें तो भी मैं आपके चरण-कमलोंको छोड़नेका कभी साहस नहीं कर सकता; क्योंकि माता यदि कुपित होकर उसे अपनी गोदसे अलग कर दे तो भी दूध पीता हुआ बच्चा माँके चरणोंको कभी नहीं छोड़ना चाहता ॥ ६ ॥

हे परम पुरुष! मुझ अपवित्र, उद्दण्ड, निठुर और निर्लज्जको धिक्कार है जो स्वेच्छाचारी होकर भी आपका पार्षद होनेकी इच्छा करता है, जिस पार्षदभावको बड़े-बड़े योगीश्वरोंके अग्रगण्य तथा ब्रह्मा, शिव और सनकादि भी, पाना तो दूर रहा, मनमें सोच भी नहीं सकते ॥७॥

हे हरे! हजारों अपराधोंके वश हुआ मैं भयङ्कर भवसागरके उदरमें गोते लगा रहा हूँ। अब आप कृपा करके अपनी शरणमें आये हुए मुझ असहायको केवल अपना लीजिये ॥ ८ ॥

हे नाथ! मैं आपके सामने झूठ नहीं कहता, सत्य ही निवेदन करता हूँ; मेरा यह एक चैलेंज सुन लीजिये। यदि आप मुझपर दया नहीं करेंगे तो मुझसे बढ़कर दयाका पात्र आपको मिलना कठिन है! ॥ ९ ॥

इसलिये हे भगवन्! आपके सिवा मेरा कोई स्वामी नहीं और मेरे सिवा आपके लिये कोई दयाका पात्र नहीं है। विधाताके जोड़े हुए परस्परके इस सम्बन्धको आप निभाइये, तोड़ न दीजिये ॥ १० ॥

हे प्रभो! शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि आदिमें मैं जो कोई भी होऊँ, तथा गुणके अनुसार [भला-बुरा] जैसा भी होऊँ, मैं तो आज ही अपनेको आपके चरण-कमलोंमें समर्पण कर चुका ॥ ११ ॥

हे नाथ! मेरी बुद्धिमें तो यही आता है कि स्वयं मैं और जो कुछ भी मेरा है वह सब आपका ही नियत धन है; ऐसी दशामें, हे माधव! मैं आपको क्या समर्पण करूँ? ।१२।

हे भगवन्! जिस प्रकार आपने स्वयं ही मुझमें सदा रहनेवाली इस भवदीयता (मैं आपका हूँ—इस भाव-) को मुझे बता दिया, उसी तरह कृपा करके अपनी अनन्य भक्ति भी मुझे दीजिये ॥ १३ ॥

आपके दास्यभावमें ही सुखका अनुभव करनेवाले सज्जनोंके घरमें तो मुझे कीड़ेकी भी योनि मिले [तो मैं प्रसन्न हूँ]; पर दूसरोंके घरमें तो मुझे ब्रह्माजीकी भी योनि न मिले [यही मेरी प्रार्थना है] ॥ १४ ॥

आचार्य श्रीरामानुज

यतिराज आचार्य श्रीरामानुजका जन्म १०७४ वि० सं० में दक्षिण भारतके भूतपुरी (वर्तमान श्रीपेरेम्बुधूरम्) नामक स्थानमें हुआ था। उनके पिताका नाम केशव सोमयाजी तथा माताका नाम कान्तिमती था। आचार्यपाद भगवान् श्रीसंकर्षणके अवतार माने जाते हैं। श्रीरामानुजके बचपनका विशेष विवरण नहीं मिलता। अवश्य ही आगे चलकर उनकी बुद्धिका अपूर्व विकास देखा गया। वे काञ्ची नगरीमें यादवप्रकाशके पास वेदान्तका अध्ययन करने गये। वेदान्तका ज्ञान उनका थोड़े समयमें ही बहुत बढ़ गया

और कभी-कभी तो वेदान्तकी व्याख्या करते समय इनके तर्कोंका उत्तर देना यादवप्रकाशके लिये कठिन हो जाता था। धीरे-धीरे उनकी विद्वत्ताकी ख्याति भी इसी समय बढ़ने लगी। यामुनाचार्य इन्हीं दिनों गुप्त रूपसे आकर उन्हें देख गये और उनकी प्रतिभा देखकर बड़े प्रसन्न हुए। परन्तु यादवप्रकाशके लिये वह प्रतिभा प्रसन्नताका कारण न बन सकी। जब रामानुज उनकी व्याख्याका खण्डन करके अपनी नवीन व्याख्या सुनाते और यादवप्रकाश उसका उचित उत्तर न दे पाते तो यादवप्रकाशके हृदयको बड़ी चोट पहुँचती और क्रमशः उनका चित्त शिष्यसे फटता गया।

एक समय उस देशकी राजकन्यापर ब्रह्मराक्षसने अधिकार कर लिया, उसे हटानेके लिये यादवप्रकाश बुलाये गये; परन्तु उनके अनुष्ठानसे राजकन्याको कोई लाभ न हुआ। फिर उसी कार्यके लिये रामानुज गये और उन्होंने राजकन्याके मस्तकपर अपना चरण छुआकर ब्रह्मराक्षसको सदाके लिये हटा दिया। कन्या स्वस्थ हो गयी। इस घटनाने यादवप्रकाशकी विद्वेषाग्निके लिये घीका काम किया। उसके बाद एक दिन यादवप्रकाश—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।

—की व्याख्या कर रहे थे। इस व्याख्यापर गुरु-शिष्यमें बड़ी गरमागरम बहस हो गयी। यादवप्रकाशका क्रोध बहुत ही बढ़ गया और इसीलिये उस दिनसे रामानुजको पढ़ना बंद कर देना पड़ा। परन्तु यहींपर इस मनोमालिन्यका अन्त नहीं हुआ। यादवप्रकाशके मनमें यह विद्वेष इतनी गहराईतक पैठ गया कि उन्होंने रामानुजका प्राणनाश करनेका संकल्प कर लिया। रामानुज अपने मौसेरे भाई गोविन्द भट्टके साथ प्रयागके लिये रवाना हुए थे और इसी यात्रामें यादवप्रकाश अपना उद्देश्य पूरा करना चाहते थे। परन्तु इस षड्यन्त्रका पता रामानुजको लग गया और इससे वे मार्गसे ही लौट आये। रातका भयानक समय था। आचार्यने भगवान् श्रीवरदराजका स्मरण किया। भगवान् वरदराज श्रीलक्ष्मीजीसहित भील-भीलनीका रूप धारण करके उन्हें काञ्ची पहुँचाने गये। काञ्चीके समीप वे अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर आचार्य काञ्चीमें अपनी माताके पास आये और सारा हाल कह सुनाया। इसी समय माताकी आज्ञासे उन्होंने विवाह किया। विवाहके विषयमें किसी-किसीका मत है कि उनके पिता केशव भट्टने ही १६ वर्षकी आयुमें उनका विवाह कर दिया था और उसके बाद वे स्वर्गवासी हुए थे। इसी समय यामुनाचार्यने मृत्यु समीप जानकर रामानुजको बुलानेके लिये अपने शिष्य महापूर्णस्वामीको भेजा। श्रीरामानुज उनके साथ श्रीरंगम् आये, परन्तु उनके पहुँचनेके पहले ही यामुनाचार्यका देहावसान हो चुका था; लोग एकत्र होकर अन्तिम संस्कारकी तैयारी कर रहे थे। रामानुजने शवके दर्शन किये और हाथकी तीन अँगुलियोंको बंद देखकर उसका कारण पूछा। लोगोंने कहा कि आलवन्दारने अपने जीवनकी तीन अपूर्ण आशाओंकी गिनती करते हुए प्राण छोड़ा है, इसीसे ये अँगुलियाँ मुड़ी हैं। वे तीन आशाएँ इस प्रकार हैं—(१) ब्रह्मसूत्रका भाष्य लिखना, (२) दिल्लीके उस समयके बादशाहके यहाँसे श्रीराममूर्तिका उद्धार करना, और (३) दिग्विजयपूर्वक विशिष्टाद्वैतमतका प्रचार करना*। रामानुजने वहींपर इन तीनों बातोंको पूरा करनेकी प्रतिज्ञा की और ऐसा करते ही शवकी तीनों अँगुलियाँ सीधी हो गयीं। यामुनाचार्यका अन्तिम संस्कार पूरा करके रामानुज काञ्ची लौट आये।

श्रीरामानुज काञ्ची आकर वरदराजकी सेवामें लग गये और आगे क्या करना चाहिये, इस बातका विचार करने लगे। उन्होंने अन्तःस्थ भगवान्‌की शरण ली। अन्तमें देवराजके मन्दिरके पुजारीकी आज्ञाको भगवान्‌का आदेश मानकर उन्होंने श्रीरंगम्‌के लिये प्रस्थान किया। रास्तेमें मधुरान्तकम् स्थानमें उनकी मुलाकात महापूर्णस्वामीसे हुई, जो उन्हींसे मिलने आ रहे थे। रामानुजने श्रीमहापूर्णस्वामीसे वहीं दीक्षा ली और काञ्चीमें उन्हें भी ले आये। श्रीवरदराज भगवान्‌की सेवाके उद्देश्यसे श्रीमहापूर्णस्वामी आनन्दके साथ रामानुजके घरमें रहने लगे। श्रीमहापूर्णस्वामीने आचार्यको भगवान् व्यासकृत वेदान्तसूत्रोंके अर्थके साथ-साथ तीन हजार गाथाओंका भी उपदेश दिया।

श्रीरामानुजका वैवाहिक जीवन सुखपूर्ण नहीं था। अपनी धर्मपत्नीके साथ उनका मतभेद-सा रहता था। एक

---

* किसी-किसीके कथनानुसार वे तीन बातें इस प्रकार हैं—(१) ब्रह्मसूत्रकी भाष्यरचना, (२) द्राविड वेदका प्रचार, और (३) दो मनुष्योंको पराशर और शठकोपकी उपाधि प्रदान करना।

बार हीनजातिके एक भक्त घरपर आये। जब वे आतिथ्य स्वीकारकर वहाँसे चले गये तब रामानुजकी धर्मपत्नीने उस स्थानको धो दिया। इसपर रामानुजको बड़ा दुःख हुआ। उसके बाद एक दिन रामानुजके कहनेपर भी उन्होंने एक भिखारीको भोजन नहीं दिया। फिर एक बार पतिकी अनुपस्थितिमें रामानुजकी स्त्रीने गुरुपत्नीका कटु वाक्योंद्वारा तिरस्कार कर दिया। गुरुपत्नी रूठ गयीं। इसपर गुरु श्रीरंगम् चले गये। इन घटनाओंसे रामानुजको अत्यन्त दुःख हुआ। उन्होंने अपनी स्त्रीको किसी बहाने ससुराल भेज दिया और स्वयं वीतरागी होकर भगवान् श्रीवरदराजकी अनुमतिसे संन्यास ले लिया।

संन्यास लेनेपर श्रीरामानुजकी शिष्यमण्डली बढ़ने लगी। कहते हैं, उनके पूर्वगुरु यादवप्रकाशने भी उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया और 'यतिधर्मसमुच्चय' नामक ग्रन्थकी रचना की। सर्वत्र रामानुजकी विद्वत्ताकी बड़ी धाक जम गयी। लोग उन्हें बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे देखते थे। उनके पास बहुतसे विद्यार्थी आकर वेदान्तका अध्ययन भी करते थे। उन्हीं दिनों यामुनाचार्यके पुत्र वरदरंग आदि उनके पास आये और श्रीरंगम्में चलकर वहाँका अध्यक्षपद ग्रहण करनेकी प्रार्थना की। रामानुज उनकी प्रार्थना स्वीकारकर श्रीरंगम्में आकर रहने लगे। उन्होंने यहाँपर पुनः गोष्ठिपूर्णसे दीक्षा ली। गोष्ठिपूर्णने उन्हें योग्य समझकर मन्त्ररहस्य बतला दिया और यह आज्ञा दी कि वे दूसरोंको मन्त्र न दें। परन्तु जब उन्हें यह मालूम हुआ कि इस मन्त्रके सुननेसे ही मनुष्य मुक्त हो सकता है, तब वे गोष्ठिपुरके मन्दिरकी छतपर चढ़कर सैकड़ों नर-नारियोंके सामने चिल्ला-चिल्लाकर मन्त्रका उच्चारण करने लगे। गुरु यह सुनकर बड़े क्रोधित हुए और उन्होंने शिष्यको बुलाकर कहा—'इस पापसे तुम्हें अनन्त कालतक नरककी प्राप्ति होगी।' इसपर रामानुजने बड़ी शान्तिसे उत्तर दिया—'गुरुदेव ! यदि आपकी कृपासे ये सब स्त्री-पुरुष मुक्त हो जायँगे और मैं अकेला नरकमें पड़ूँगा तो मेरे लिये यही उत्तम है।' गुरु रामानुजकी इस उदारतापर मुग्ध हो गये और उन्होंने प्रसन्न होकर कहा—'आजसे विशिष्टाद्वैतवाद तुम्हारे ही नामपर 'रामानुजदर्शन' के नामसे विख्यात होगा।'

श्रीरामानुजका यश चारों ओर फैलने लगा। श्रीरंगनाथके पुजारीके लिये यह बात असह्य हो उठी। उसने रामानुजको विष देकर मार डालना चाहा। परन्तु श्रीरामानुजके यतिवेशपर मुग्ध होकर पुजारीकी स्त्रीने ही उसका सारा षड्यन्त्र बेकार कर दिया। पुजारी अपनी नीचतापर बड़ा लज्जित हुआ और उसने श्रीरामानुजकी शरण ली। श्रीरामानुजने उसे क्षमा करते हुए सान्त्वना प्रदान की।

श्रीरामानुजकी चारों ओर ख्याति फैलनेके कारण विभिन्न स्थानोंसे विद्वान् लोग उनसे विचार-विमर्श करनेके लिये आने लगे। एक बार यज्ञमूर्त्ति नामक एक अद्वैतवादी संन्यासी दिग्विजय करनेके उद्देश्यसे श्रीरंगम्में आये। उनके साथ श्रीरामानुजका प्रायः १६ दिनोंतक शास्त्रार्थ होता रहा, परन्तु कोई एक दूसरेसे हारता हुआ नहीं मालूम होता था। अन्तमें श्रीरामानुजने यामुनाचार्यके 'मायावादखण्डन' का अध्ययन किया और उसकी सहायतासे यज्ञमूर्त्तिको परास्त किया। यज्ञमूर्त्तिने श्रीवैष्णवमत स्वीकार किया। तबसे उनका नाम देवराज पड़ा। उनके रचित 'ज्ञानसार' और 'प्रमेयसार' नामक दो ग्रन्थ तामिल भाषामें मिलते हैं।

अबतक श्रीरामानुजने उन प्रतिज्ञाओंकी ओर ध्यान नहीं दिया जो उन्होंने यामुनाचार्यके शवके सामने की थीं। अब उन्हें उनकी चिन्ता सताने लगी। वे अपने शिष्य कुरेशके साथ बोधायनवृत्तिकी खोजमें निकले। काश्मीरके एक पुस्तकालयमें वह ग्रन्थ था। परन्तु वह ग्रन्थ केवल पढ़नेके लिये उन्हें दिया गया। परन्तु कुरेशने उस ग्रन्थको कण्ठाग्र कर लिया। उसीकी सहायतासे फिर श्रीरामानुजने वेदान्तके श्रीभाष्यकी रचना की और इस तरह एक प्रतिज्ञाकी पूर्त्ति की। श्रीभाष्य तैयार हो जानेपर वे पुनः काश्मीर गये। वहाँ सरस्वतीपीठमें उनके भाष्यका बड़ा आदर हुआ। वहाँके विद्वानोंने उसका नाम श्रीभाष्य रक्खा और हयग्रीवकी एक मूर्त्ति उपहारमें दी। आज भी मैसूरके परकालमठमें उस मूर्त्तिकी पूजा होती है। दिल्ली जाकर तत्कालीन मुसल्मान बादशाहके महलसे एक विष्णु-मूर्त्तिका उद्धार किया। कहते हैं कि यतिराजके बुलाते ही मूर्त्ति स्वयमेव उनके पास चली आयी। आचार्यने उसको सम्पत्कुमार कहकर गोदमें ले लिया। तदनन्तर सारे देशमें अपने मतका प्रचार किया। इस प्रकार उन्होंने यामुनाचार्यकी अन्तिम तीनों कामनाओंको पूर्ण किया।

कुछ लोग कहते हैं, रामानुजके शिष्य कुरेशके बहुत दिनों बाद दो पुत्र हुए। उन्होंने श्रीरामानुजकी आज्ञाके अनुसार एक पुत्रका नाम पराशर रक्खा। बड़े होनेपर

पराशरने श्रीरामानुजके आदेशानुसार विष्णुसहस्रनामका भाष्य लिखा। इस तरह यामुनाचार्यकी दूसरी आकांक्षा पूरी हुई। फिर श्रीरामानुजके कहनेसे पिलानने 'तिरुभयम्मली' के ऊपर एक भाष्य लिखा। इस प्रकार यामुनाचार्यकी सारी इच्छाएँ पूर्ण हो गयीं।

चोल देशका राजा कुलतुङ्ग या दूसरा राजेन्द्र चोल सन् १०७० ई० में गद्दीपर बैठा। वह शैव था। उसने सम्भवतः शैवोंके कहनेसे श्रीरामानुजको सभामें बुलाया। परन्तु सन्देह होनेपर जब पहले कुरेश और महापूर्ण सभामें गये तो राजाने उनकी आँखें निकलवा लीं। इस कारण श्रीरामानुज श्रीरंगम्से मैसूर चले गये। वहाँके राजा वित्तिदेवने उनका सत्कार किया और स्वयं श्रीवैष्णव हो गया। उसकी सहायतासे श्रीरामानुजने श्रीवैष्णवमतका बहुत कुछ प्रचार किया। जब सन् १११८ ई०में कुलतुङ्गकी मृत्यु हुई तब श्रीरामानुज श्रीरंगम् आये। यहाँपर उन्होंने प्रायः सभी अलवारोंकी मूर्तियाँ स्थापित कीं। फिर यहाँसे वे मामाकी मृत्यु होनेपर तिरुपति आये और यहाँ गोविन्दराजकी मूर्तिकी पुनः स्थापना की। यह मूर्ति समुद्रमें फेंक दी गयी थी; समुद्रसे निकलवाकर स्थापित की गयी। इसके बाद श्रीरामानुजने प्रायः भ्रमण करना बंद कर दिया। उन्होंने अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और श्रीवैष्णवमतके प्रचारके लिये ७४ शिष्योंको नियुक्त किया। इस तरह सारा जीवन साधन, भजन और धर्मप्रचारमें व्यतीत कर आचार्यने प्रायः १२० वर्षकी उम्रमें ११९४ वि० सं० में दिव्यधामको प्रस्थान किया।

आचार्य रामानुजने अपने मतकी पुष्टि और प्रचारके लिये श्रीभाष्यके अतिरिक्त वेदान्तसंग्रह, वेदान्तदीप, वेदान्तसार, वेदान्ततत्त्वसार, गीताभाष्य, गद्यत्रय और भगवदाराधनक्रमकी भी रचना की। इसके अतिरिक्त अष्टादशरहस्य, कण्टकोद्धार, कूटसन्दोह, ईशावास्योपनिषद्भाष्य, गुणरत्नकोष, चक्रोल्लास, दिव्यसूरिप्रभावदीपिका, देवतापारम्य, न्यायरत्नमाला, नारायणमन्त्रार्थ, नित्यपद्धति, नित्याराधनविधि, न्यायपरिशुद्धि, न्यायसिद्धाञ्जन, पञ्चपटल, पञ्चरात्ररक्षा, प्रश्नोपनिषद्व्याख्या, मणिदर्पण, मतिमानुष, मुण्डकोपनिषद्व्याख्या, योगसूत्रभाष्य, रत्नप्रदीप, रामपटल, रामपद्धति, रामपूजापद्धति, राममन्त्रपद्धति, रामरहस्य, रामायणव्याख्या, रामार्चापद्धति, वार्त्तामाला, विशिष्टाद्वैतभाष्य, विष्णुविग्रहशंसनस्तोत्र, विष्णुसहस्रनामभाष्य, वेदार्थसंग्रह, वैकुण्ठगद्य, शतदूषणी, शरणागतिगद्य, श्वेताश्वतरोपनिषद्व्याख्या, संकल्पसूर्योदयटीका, सच्चरित्ररक्षा, सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थोंकी भी रचना की। परन्तु यह नहीं पता लगता कि कौन-सा ग्रन्थ किस समयमें लिखा गया। उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें शाङ्करमतका खूब जोरदार शब्दोंमें खण्डन करनेकी चेष्टा की है।

मत

आचार्य रामानुजने यामुनाचार्यके मतको ही और भी विस्तृत व्याख्या करके संसारके सामने रक्खा है। ये भी तीन ही मौलिक पदार्थ मानते हैं—चित् (जीव), अचित् (जडसमूह) और ईश्वर या पुरुषोत्तम। स्थूल-सूक्ष्म, चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर है। अनन्त जीव और जगत् उन्हींका शरीर है। वही उस शरीरके आत्मा हैं। इन्हीं तीनों तत्त्वोंके समर्थनके लिये आचार्यने अनेक विषयोंपर विचार किया है। संक्षेपमें उनके विचार इस प्रकार हैं—

प्रमेयके निरूपणके लिये प्रमाकी आवश्यकता—प्रमा क्या है? आचार्य रामानुजके मतानुसार यथावस्थित व्यवहारानुगुण ज्ञान ही प्रमा है। प्रमाका कारण प्रमाण है। प्रमाण तीन प्रकारके हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। साक्षात्कार प्रमाका करण ही प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकारका है—निर्विकल्प और सविकल्प। दोनों ही विशिष्टविषयक हैं। अविशिष्टविषयक ज्ञानकी उपलब्धि नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्रक्रिया इस प्रकार है—आत्मा मनके साथ संयुक्त होता है, मन इन्द्रियके साथ संयुक्त होता है, इन्द्रियाँ विषयके साथ संयुक्त होती हैं। इस प्रकार ज्ञानोदय होता है। इसलिये ज्ञान विषयावगाही है। निर्विशेष वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता। स्मृति पृथक् प्रमाण नहीं है। क्योंकि स्मृति भी प्रत्यक्षके ही अन्तर्गत है। पूर्वानुभूत वस्तुके संस्कारसे स्मृति उत्पन्न होती है। प्रत्यभिज्ञा भी प्रत्यक्षके अन्तर्भुक्त है। अभाव भी भावान्तररूप है। अतएव अभावका ज्ञान भी प्रत्यक्षके अंदर ही शामिल है। पुण्यवान् पुरुषकी प्रतिभा (योगज ज्ञान) भी प्रत्यक्षके ही अन्तर्गत है। आचार्यके मतसे सब ज्ञान सत्य और सविशेषविषयक हैं। निर्विशेष वस्तुको ग्रहण करना असम्भव है। भ्रमका ज्ञान, स्वप्नादिका ज्ञान, सभी ज्ञान है। इसीसे उनका सिद्धान्त है कि 'अतः सर्वं ज्ञानं सत्यं सविशेषविषयं च।' वे कहते हैं—'अतः सर्वं विज्ञानजातं यथार्थमिति सिद्धम्।' उपमान और अर्थापत्ति भी अनुमानके अन्तर्गत

हैं। इसलिये उनको पृथक् प्रमाणरूपसे ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं। आचार्य रामानुजके मतानुसार अपौरुषेय और नित्य वेदवाक्य ही शब्दप्रमाण हैं।

अधिकारी–श्रीरामानुजाचार्यके मतसे जिस व्यक्तिको कर्मके सम्बन्धमें ज्ञान हो गया है, वही ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी है। पहले कर्म और कर्मफलकी अनित्यता आदिका ज्ञान होगा, फिर ब्रह्मजिज्ञासाकी प्रवृत्ति उत्पन्न होगी। पहले वेदाध्ययन करना होगा, उससे कर्मके अनित्य फलका ज्ञान होगा, उसके बाद मुक्तिकी अभिलाषा होगी, स्थिर फल प्राप्त करनेकी इच्छा होगी और उसके फलस्वरूप ब्रह्मकी जिज्ञासा होगी। श्रीरामानुज पूर्वमीमांसा और ब्रह्ममीमांसाको एक ही शास्त्र मानते हैं।

विषय—आचार्य रामानुजके मतसे स्थूल-सूक्ष्म-चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही विषय हैं। ब्रह्म पुरुषोत्तम हैं। वे सगुण और सविशेष हैं। निर्विशेष वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता।

ब्रह्म और शास्त्रका सम्बन्ध—ब्रह्म या पुरुषोत्तम प्रतिपाद्य हैं और शास्त्र प्रतिपादक। शास्त्र सगुण और सविशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करता है। निर्विशेष वस्तुका प्रतिपादन असम्भव है।

प्रयोजन—अविद्याकी निवृत्ति प्रयोजन है। जीवको अज्ञान है। उपासनाद्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर अज्ञान दूर होता है। मुक्त जीव ईश्वरके दासके रूपमें स्थित रहता है। वह ईश्वरकी नित्य लीलामें अपार आनन्दका उपभोग करता है।

ब्रह्म-ईश्वर—श्रीरामानुज-मतसे ब्रह्म सगुण और सविशेष हैं। ब्रह्मकी शक्ति माया है। ब्रह्म अशेष कल्याणकारी गुणोंके आलय हैं। उनमें निकृष्ट कुछ भी नहीं है। सर्वेश्वरत्व, सर्वशेषित्व, सर्वकर्माराध्यत्व, सर्वफलप्रदत्व, सर्वाधारत्व, सर्वकार्योत्पादकत्व, समस्तद्रव्यशरीरत्व आदि उनके लक्षण हैं। चिदचिच्छरीरत्व भी उनका लक्षण है। वे सूक्ष्म चिदचिद्विशेषरूपमें जगत्के उपादान कारण हैं। संकल्पविशिष्ट रूपमें निमित्त कारण हैं। जीव और जगत् उनका शरीर है। भगवान् ही आत्मा हैं। उनके गुणोंकी संख्या नहीं। वे गुणोंमें अद्वितीय हैं। ईश्वर सृष्टिकर्ता, कर्मफलदाता, नियन्ता, सर्वान्तर्यामी हैं। नारायण विष्णु ही सबके अधीश्वर हैं।

ईश्वर सृष्टि-स्थिति-संहारकर्ता हैं। पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतारभेदसे वे पाँच प्रकारके हैं। शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज हैं; श्री, भू और लीलासहित हैं, किरीटादि भूषणोंसे अलंकृत हैं।

अवतार—अवतार दस प्रकारके हैं--मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वराह, वामन, परशुराम, श्रीराम, बलभद्र, श्रीकृष्ण और कल्कि। इनमें मुख्य, गौण, पूर्ण और अंशभेदसे और भी अनेक भेद हैं। अवतारका हेतु इच्छा है। कर्मप्रयोजन हेतु नहीं है। दुष्कृतोंके विनाश और साधुओंके परित्राणके लिये अवतार होता है।

ब्रह्म और जगत्—जगत् जड है। जगत् ब्रह्मका शरीर है। ब्रह्म ही जगत्के उपादान और निमित्त कारण हैं। ब्रह्म ही जगत्रूपमें परिणत हुए हैं, फिर भी वे विकाररहित हैं। जगत् सत् है, मिथ्या नहीं है।

ब्रह्म और जीव—जीव ब्रह्मका शरीर है। ब्रह्म और जीव दोनों चेतन हैं। ब्रह्म विभु हैं, जीव अणु है। ब्रह्म और जीवमें सजातीय और विजातीय भेद नहीं है, स्वगत भेद है। ब्रह्म पूर्ण हैं, जीव खण्डित है। ब्रह्म ईश्वर हैं, जीव दास है। मुक्त जीव भी ईश्वरका दास है। जीव कार्य है, ईश्वर कारण हैं। ईश्वर और जीव दोनों स्वयंप्रकाश हैं, चेतन और ज्ञानाश्रय हैं, आत्मस्वरूप हैं।

जीव देहेन्द्रिय-मन-प्राणादिसे भिन्न है। जीव नित्य है, उसका स्वरूप भी नित्य है। प्रत्येक शरीरमें जीव भिन्न है। स्वाभाविक रूपमें जीव सुखी है, परन्तु उपाधिके वशमें आ जानेपर उसे संसारभोग प्राप्त होता है। जीव ही कर्ता, भोक्ता, शरीरी और शरीर है। जीवके कई भेद-प्रभेद हैं।

मुक्ति-मुक्त—भगवान्के दासत्वकी प्राप्ति ही मुक्ति है। वैकुण्ठमें श्री, भू, लीला देवियोंके साथ नारायणकी सेवा करना ही परम पुरुषार्थ कहा जाता है। प्राकृत देह विच्युत हो जानेपर अप्राकृत देहमें नारायणके समान भोग प्राप्त करना मुक्ति है। भगवान्के साथ अभिन्नता प्राप्त करना कभी सम्भव नहीं। क्योंकि जीव स्वरूपतः नित्य है। जीव नित्य दास है, नित्य अणु है। वह कभी विभु नहीं हो सकता। मुक्त जीव वैकुण्ठधाममें अपारकल्याणगुणसागर भगवान्के चिरदासके रूपमें रहकर आनन्दका अनुभव करते हैं। मुक्त जीवमें आठों गुणोंका आविर्भाव होता है। वह ईश्वरके इच्छाधीन होनेपर भी सर्वत्र सञ्चरण

श्री रामानुजके मतानुसार पदार्थ-विभाग

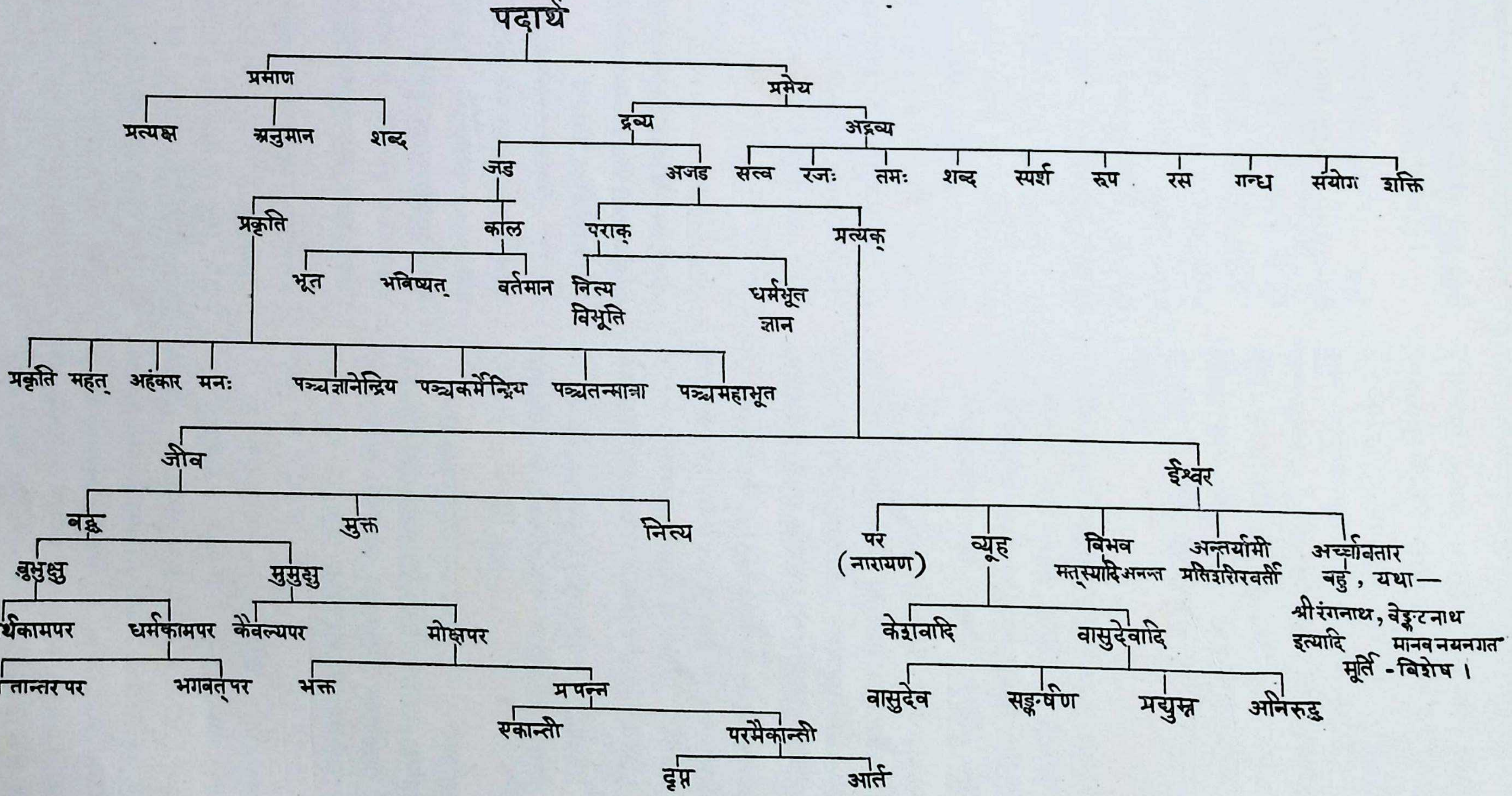
पदार्थ
प्रमाण
प्रमेय
प्रत्यक्ष
अनुमान
शब्द
द्रव्य
अद्रव्य
जड
अजड
सत्त्व
रजः
तमः
शब्द
स्पर्श
रूप
रस
गन्ध
संयोग
शक्ति
प्रकृति
काल
पराक्
प्रत्यक्
भूत
भविष्यत्
वर्तमान
नित्य विभूति
धर्मभूत ज्ञान
प्रकृति
महत्
अहंकार
मनः
पञ्चज्ञानेन्द्रिय
पञ्चकर्मेन्द्रिय
पञ्चतन्मात्रा
पञ्चमहाभूत
जीव
ईश्वर
बद्ध
मुक्त
नित्य
बुभुक्षु
मुमुक्षु
अर्थकामपर
धर्मकामपर
कैवल्यपर
मोक्षपर
देवतान्तरपर
भगवत्पर
भक्त
प्रपन्न
एकान्ती
परमैकान्ती
दृप्त
आर्त
पर (नारायण)
व्यूह
विभव मत्स्यादि अनन्त
अन्तर्यामी प्रतिशरीरवर्ती
अर्चावतार बहु, यथा— श्रीरंगनाथ, वेङ्कटनाथ इत्यादि मानवनयनगत मूर्ति-विशेष।
केशवादि
वासुदेवादि
वासुदेव
सङ्कर्षण
प्रद्युम्न
अनिरुद्ध

करता है। मुक्ति विद्या अर्थात् उपासनाद्वारा प्राप्त होती है। उपासनात्मक भक्ति ही मुक्तिका श्रेष्ठ साधन है।

साधन—श्रीरामानुजके मतानुसार ध्यान और उपासना आदि मुक्तिके साधन हैं। ज्ञान मुक्तिका साधन नहीं है। मुक्तिप्राप्तिका उपाय भक्ति है। वे कहते हैं कि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि जब बन्धन पारमार्थिक है तब इस प्रकारके ज्ञानसे उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। भक्तिसे भगवान् प्रसन्न होनेपर मुक्ति प्रदान करते हैं। वेदन, ध्यान, उपासना आदि शब्दोंसे भक्ति सूचित होती है। भक्ति दो प्रकारकी है—साधनभक्ति और फलभक्ति।

प्रपत्ति—न्यासविद्या ही प्रपत्ति है। आनुकूल्यका संकल्प और प्रातिकूल्यका वर्जन प्रपत्ति है। भगवान्में आत्मसमर्पण करना प्रपत्ति है। सब प्रकारसे भगवान्के शरण हो जाना प्रपत्तिका लक्षण है। नारायण विभु हैं, भूमा हैं, उनके चरणोंमें आत्मसमर्पण करनेसे जीवको शान्ति मिलती है। उनके प्रसन्न होनेपर मुक्ति मिल सकती है। उन्हें सर्वस्व निवेदन करना होगा। सब विषयोंको त्यागकर उनकी शरण लेनी होगी।

सत्यकाम सत्यसंकल्प परब्रह्मभूत पुरुषोत्तम महाविभूते, श्रीमन्नारायण वैकुण्ठनाथ अपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदार्यैश्वर्यसौन्दर्यमहोदधे, अनालोचितविशेषाविशेषलोकशरण्य प्रणतार्तिहर आश्रितवात्सल्यजलधे, अनवरतविदितनिखिलभूतजातयाथात्म्य अशेषचराचरभूत निखिलनियमाशेषचिदचिद्वस्तुशेषिभूत निखिलजगदाधाराखिलजगत्स्वामिन्, अस्मत्स्वामिन्, सत्यकाम सत्यसंकल्प सकलेतरविलक्षण अर्थिकल्पक आपत्सख, श्रीमन्नारायण अशरणशरण्य, अनन्यशरणं त्वत्पदारविन्दयुगलं शरणमहं प्रपद्ये।

'हे पूर्णकाम, सत्यसङ्कल्प, परब्रह्मस्वरूप पुरुषोत्तम! हे महान् ऐश्वर्यसे युक्त श्रीमन्नारायण! हे वैकुण्ठनाथ! आप अपार करुणा, सुशीलता, वत्सलता, उदारता, ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि गुणोंके महासागर हैं; छोटे-बड़ेका विचार न करके सामान्यतः सभी लोगोंको आप शरण देते हैं, प्रणत जनोंकी पीडा हर लेते हैं। शरणागतोंके लिये तो आप वत्सलताके समुद्र ही हैं। आप सदा ही समस्त भूतोंकी यथार्थताका ज्ञान रखते हैं। सम्पूर्ण चराचर भूतों, सारे नियमों और समस्त जड-चेतन वस्तुओंके आप अवयवी हैं (ये सभी आपके अवयव हैं)। आप समस्त संसारके आधार हैं, अखिल जगत् तथा हम सभी लोगोंके स्वामी हैं। आपकी कामनाएँ पूर्ण और आपका सङ्कल्प सच्चा है। आप समस्त प्रपञ्चसे इतर और विलक्षण हैं। याचकोंके तो आप कल्पवृक्ष हैं, विपत्तिमें पड़े हुए लोगोंके सहायक हैं। ऐसी महिमावाले तथा आश्रयहीनोंको आश्रय देनेवाले हे श्रीमन्नारायण! मैं आपके चरणारविन्दयुगलकी शरणमें आता हूँ; क्योंकि उनके सिवा मेरे लिये कहीं भी शरण नहीं है।'

पितरं मातरं दारान् पुत्रान् बन्धून् सखीन् गुरून्।
रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च॥
सर्वधर्मांश्च सन्त्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान्।
लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो॥

'हे प्रभो! मैं पिता, माता, स्त्री, पुत्र, बन्धु, मित्र, गुरु, सब रत्न, धन्य-धान्य, खेत, घर, सारे धर्म और अक्षरसहित सम्पूर्ण कामनाओंका त्यागकर समस्त ब्रह्माण्डको आक्रान्त करनेवाले आपके दोनों चरणोंकी शरणमें आया हूँ।'

मनोवाक्कायैरनादिकालप्रवृत्तानन्ताकृत्यकरणकृत्याकरणभगवदपचारभागवतापचारासह्यापचाररूपनानाविधानन्तापचारानारब्धकार्याननारब्धकार्यान् कृतान् क्रियमाणान् करिष्यमाणांश्च सर्वान् अशेषतः क्षमस्व।

अनादिकालप्रवृत्तविपरीतज्ञानमात्मविषयं कृत्स्नजगद्विषयं च विपरीतवृत्तं चाशेषविषयमद्यापि वर्तमानं वर्तिष्यमाणं च सर्वं क्षमस्व।

मदीयानादिकर्मप्रवाहप्रवृत्तां भगवत्स्वरूपतिरोधानकरीं विपरीतज्ञानजननीं स्वविषयायाश्च भोग्यबुद्धेर्जननीं देहेन्द्रियत्वेन भोग्यत्वेन सूक्ष्मरूपेण चावस्थितां दैवीं गुणमयीं मायां दासभूतः शरणागतोऽस्मि तवास्मि दास इति वक्तारं मां तारय।

'हे भगवन्! मन, वाणी और शरीरके द्वारा अनादि कालसे अनेकों न करने योग्य कर्मोंका करना, करने योग्य कर्मोंको न करना, भगवान्का अपराध, भगवद्भक्तोंका अपराध तथा और भी जो अक्षम्य अनाचाररूप नाना प्रकारके अनन्त अपराध मुझसे हुए हैं, उनमें जो प्रारब्ध बन चुके हैं अथवा जो प्रारब्ध नहीं बने हैं उन सभी पापोंको तथा जिन्हें मैं कर चुका हूँ, जिन्हें कर रहा हूँ और जिन्हें अभी करनेवाला हूँ, उन सबको आप क्षमा कर दीजिये।'

'आत्मा और सारे संसारके विषयमें जो मुझे अनादि कालसे विपरीत ज्ञान होता चला आ रहा है तथा सभी विषयोंमें जो मेरा विपरीत आचरण आज भी है और आगे भी रहनेवाला है वह सब-का-सब आप क्षमा कर दें।'

'मेरे अनादि कर्मोंके प्रवाहमें जो चली आ रही है, जो मुझसे भगवान्‌के स्वरूपको छिपा लेती है, जो विपरीत ज्ञानकी जननी, अपने विषयमें भोग्य-बुद्धिको उत्पन्न करनेवाली और देह, इन्द्रिय, भोग्य तथा सूक्ष्मरूपसे स्थित रहनेवाली है, उस दैवी त्रिगुणमयी मायासे 'मैं आपका दास हूँ, किङ्कर हूँ, आपकी शरणमें आया हूँ' इस प्रकार रट लगानेवाले मुझ दीनका आप उद्धार कर दीजिये।'

कैसी मार्मिक प्रार्थना है! धन्य!

देवराजाचार्य

देवराजाचार्य प्रायः १२ वीं शताब्दीमें हुए थे। वे सुदर्शनाचार्यके गुरु और वरदाचार्यके पिता थे। देवराजने 'बिम्बतत्त्वप्रकाशिका' नामक एक प्रबन्धकी रचना की थी। इस ग्रन्थमें उन्होंने अद्वैतवादियोंके प्रतिबिम्बवादका खण्डन किया है। यह पुस्तक कहींसे प्रकाशित नहीं हुई। देवराजाचार्य विशिष्टाद्वैतवादी थे।

वरदाचार्य

वरदार्य या वरदाचार्य आचार्य श्रीरामानुजके भानजे और शिष्य थे। वे श्रुतप्रकाशिकाके टीकाकार सुदर्शनाचार्यके गुरु थे। वे लगभग ईसवी सन्‌की १२ वीं शताब्दीके अन्त तथा १३ वीं शताब्दीके आरम्भमें विद्यमान थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'तत्त्वनिर्णय' में अपना गोत्र वात्स्य लिखा है। उनके पिताका नाम देवराजाचार्य था। सुदर्शनाचार्यने उन्हींके मुँहसे श्रीभाष्यकी व्याख्या सुनकर श्रुतप्रकाशिकाकी रचना की थी। वरदाचार्यने 'तत्त्वनिर्णय' नामक प्रबन्धकी रचना की थी, जिसमें उन्होंने विष्णुको ही परब्रह्म सिद्ध किया है। उनकी रायमें विष्णु ही वेदान्तप्रतिपाद्य परब्रह्म हैं। यह ग्रन्थ सम्भवतः अभीतक कहींसे प्रकाशित नहीं हुआ है।

सुदर्शन व्यास भट्टाचार्य

आचार्य सुदर्शन या सुदर्शन सूरिका जन्म तामिलदेशमें हुआ था। उनके पिताका नाम विश्वजयी था। वे हारीत गोत्रके ब्राह्मण थे। उनके गुरुका नाम वरदार्य या वरदाचार्य था। उन्होंने गुरुके मुखसे श्रीभाष्यकी व्याख्या सुनकर 'श्रुतप्रकाशिका' नामक ग्रन्थकी रचना की। कहते हैं, उन्होंने भगवान् श्रीरंगनाथकी आज्ञासे ही इस ग्रन्थकी रचना की थी। उन्होंने अपने ग्रन्थमें लिखा है कि भगवान् श्रीरंगनाथके आदेशसे ही उन्हें 'व्यास' की उपाधि मिली थी। श्रीरामानुजके भाष्यको समझनेके लिये 'श्रुतप्रकाशिका' का पढ़ना आवश्यक है। इसमें श्रीभाष्यके दुरूह स्थलोंकी व्याख्या बड़ी सरल भाषामें की गयी है। इसके अतिरिक्त सुदर्शनने श्रीरामानुजके वेदार्थसंग्रहकी 'तात्पर्यदीपिका' नामक टीका तथा ब्रह्मसूत्रके ऊपर 'श्रुतप्रदीपिका' नामक टीका भी लिखी थी। वे विशिष्टाद्वैतवादी वैष्णव थे। श्रीरामानुज और उनके मतमें कोई अन्तर नहीं है। श्रीभाष्यकी तरह ही श्रुतप्रकाशिकामें भी शङ्कर, भास्कर तथा यादवप्रकाशके मतका खण्डन करनेकी चेष्टा की गयी है।

सुदर्शनाचार्यकी मृत्यु स्वाभाविक ढंगसे नहीं हुई। दिल्लीके बादशाह अलाउद्दीनके सेनापति मलिक काफूरने सन् १३६७ में मदुरापर आक्रमण किया था। मदुरा जाते समय उसने श्रीरंगमूपर भी आक्रमण किया और बहुत-से लोगोंको मार डाला। सुदर्शनाचार्यकी मृत्यु भी इसीमें यवनोंके हाथों हुई। मरनेसे पहले उन्होंने अपने दो पुत्रों तथा श्रुतप्रकाशिकाकी हस्तलिखित प्रतिको वेदान्ताचार्य वेङ्कटनाथके हाथोंमें सौंप दिया था। अतएव उनकी मृत्यु सन् १३६७ में हुई। इससे मालूम होता है, वे प्रायः चौदहवीं शताब्दीके अन्तमें वर्तमान थे।

वरदाचार्य या नड़ाडुरम्मल

वरदाचार्य या नड़ाडुरम्मल आचार्य वरदगुरुके पौत्र थे। सुदर्शनाचार्यके गुरु तथा श्रीरामानुजाचार्यके शिष्य और पौत्र जो वरदाचार्य या वरदगुरु थे, उन्हींके ये पौत्र थे। स्वयं वरदाचार्यने भी अपने ग्रन्थोंमें ऐसा लिखा है। अतएव इनका भी समय १३ वीं शताब्दी ही कहा जा सकता है। वरदाचार्यने 'तत्त्वसार' और 'सारार्थचतुष्टय' नामक दो ग्रन्थोंकी रचना की। 'तत्त्वसार' पद्यमें है और उसमें उपनिषदोंके धर्म तथा दार्शनिक मतका सारांश दिया गया है। 'सारार्थचतुष्टय' विशिष्टाद्वैतवादका ग्रन्थ है। इसमें चार अध्याय हैं और चारोंमें चार विषयोंकी आलोचना है। पहलेमें स्वरूपज्ञान, दूसरेमें विरोधी ज्ञान, तीसरेमें शेषत्वज्ञान और चौथेमें फलज्ञानकी चर्चा की गयी है। वरदाचार्य भी विशिष्टाद्वैतवादी थे। उन्होंने भी श्रीरामानुजकी तरह ज्ञानके

सविकल्पत्वको स्वीकार किया है। उन्होंने निर्विकल्प ज्ञानको स्वीकार नहीं किया है।

वीर राघवदासाचार्य

वीर राघवदासाचार्य वरदाचार्यके प्रधान शिष्य थे। अतएव वे भी उनके समकालीन ही हुए। उनके पिताका नाम नरसिंह गुरु था। वाधूल वंशमें उनका जन्म हुआ था। उन्होंने 'तत्त्वसार' पर 'रत्नप्रसारिणी' नामक टीका लिखी थी। उन्होंने अपनी टीकामें श्रीरामानुजके सिद्धान्तका विस्तृत रूपमें प्रतिपादन किया है। यह टीका शायद कहीं प्रकाशित नहीं हुई है।

रामानुजाचार्य या वादिहंसाम्बुवाचार्य

रामानुजाचार्य(द्वितीय) या वादिहंसाम्बुवाचार्य वेंकटनाथ वेदान्ताचार्यके मामा और गुरु थे। रामानुजाचार्यके पिताका नाम पद्मनाभाचार्य था। रामानुजाचार्यने 'न्यायकुलिश' नामक ग्रन्थकी रचना की। यह ग्रन्थ सम्भवतः कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है। इस ग्रन्थमें प्रायः १२ विषयोंपर विचार किया गया है। वे विषय इस प्रकार हैं—(१) सिद्धार्थव्युत्पत्त्यादिसमर्थन, (२) स्वतःप्रामाण्यनिरूपण, (३) ख्यातिनिरूपण, (४) स्वयम्प्रकाशवाद, (५) ईश्वरानुमानभङ्गवाद, (६) देहाद्यतिरिक्तात्मयाथार्थ्यवाद, (७) सामानाधिकरण्यवाद, (८) सत्कार्यवाद, (९) संस्थानसामान्यसमर्थनवाद, (१०) मुक्तिवाद, (११) भावान्तराभाववाद और (१२) शरीरवाद। रामानुजाचार्यने अपने ग्रन्थमें विशिष्टाद्वैतवादका ही समर्थन करनेकी चेष्टा की है। उनका काफी प्रभाव वेंकटनाथपर पड़ा था।

वेंकटनाथ वेदान्ताचार्य

आचार्य रामानुजने वैष्णवमतका प्रचार करनेके लिये अपने ७४ शिष्योंको नियुक्त किया था। उनको सिंहासनाधिपति कहते हैं। उनमें एक शिष्यका नाम अनन्त सोमयाजी था। अनन्त सोमयाजीके एक पौत्र थे अनन्तसूरि। अनन्तसूरिने तोतारम्बा नाम्नी एक स्त्रीसे विवाह किया। तोतारम्बा रामानुज द्वितीय या वादिहंसाम्बुवाकी बहिन थी और वह भी श्रीरामानुजाचार्यके ७४ शिष्योंमेंसे एक प्रधान शिष्यके वंशकी थी। अनन्तसूरि अपनी पत्नीके साथ काञ्ची नगरीमें रहते थे। काञ्ची उस समय शिक्षाका केन्द्रस्थान था।

वेंकटनाथ वेदान्ताचार्यका जन्म तोतारम्बाके गर्भसे १३२५ वि० सं० में काञ्चीके पास थूपिल नामक गाँवमें हुआ था। यज्ञोपवीत होनेके बाद वेंकटनाथ अपने मामा रामानुजके पास पढ़नेके लिये भेजे गये। वे बड़े प्रतिभाशाली और तीव्रबुद्धि थे। उन्होंने २० वर्षसे कम उम्रमें ही सब विद्याओंमें पारदर्शिता प्राप्त कर ली। उसके बाद उन्होंने विवाह किया और अन्त समयतक गृहस्थ ही रहे। अद्वैतवादी आचार्य विद्यारण्य और वेंकटनाथ सहपाठी एवं मित्र थे। इनके जीवनमें यही अन्तर है कि वेंकटनाथ बराबर गृहस्थ रहे और विद्यारण्यने पीछे संन्यास ले लिया। ये दोनों दार्शनिक और कवि थे तथा दोनों सौ वर्षसे अधिक कालतक जीवित रहे। विद्यारण्यके जीवनमें असाधारण राजनैतिक प्रतिभा देखी जाती है; परंतु वेंकटनाथका राजनीतिसे कोई सम्बन्ध नहीं था।

वेंकटनाथ कुछ दिनोंतक विद्यार्थियोंको पढ़ाते रहे और उसके बाद तिरुपाहिन्द्रपुरमें आकर रहने लगे। यहींपर उन्होंने गरुडपञ्चशती, अच्युतशतक, रघुवीरगद्य आदि स्तोत्रोंकी रचना की। वहींपर उन्हें 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' की उपाधि मिली, जिसका अर्थ है सर्वविद्याविशारद। वहाँपर एक दिन एक राजमिस्त्रीने उन्हें कुआँ खोदनेके लिये कहा। बस, वे कुआँ खोदने लगे। वह कुआँ आजकल भी उस गाँवमें मौजूद है। वहाँसे फिर वह तिरुक्कोइलूरमें आये और फिर वहाँसे काञ्ची आकर रहने लगे। कुछ दिन बाद वह उत्तरभारतमें तीर्थयात्राके लिये निकल पड़े। काशी आदि स्थानोंमें घूमकर वापस आनेपर श्रीरंगम्के पण्डितोंने उन्हें निमन्त्रित किया। वहाँ आनेपर वह स्थान उन्हें पसंद आ गया; इसलिये वे वहीं रहने लगे।

१३६७ वि० सं० में अलाउद्दीनने मलिक काफूरको दक्षिणविजयके लिये भेजा और उसने मदुराको तहस-नहस कर दिया। उसीने मदुरा जाते समय श्रीरंगमपर भी चढ़ाई करके बहुत-से लोगोंको मार डाला, जिसमें सुदर्शनाचार्य भी शामिल थे। सुदर्शनाचार्यने अपने दो पुत्रों तथा श्रुतप्रकाशिका पुस्तकको वेंकटनाथके ही हाथोंमें सौंप दिया था। वेंकटनाथने बड़ी कठिनाईसे दोनों बालकोंके साथ शवोंके ढेरमें छिपकर अपने प्राणोंकी रक्षा की। जब यवनसेना वहाँसे आगे बढ़ गयी तब वह बालकोंके साथ मैसूर राज्यके सत्यकालम् नामक स्थानमें आकर रहने लगे। यहींपर उन्होंने दोनों बालकोंका यज्ञोपवीतसंस्कार कराया। वे नित्य श्रीरंगम्से मुसलमानोंके चले

जानेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना किया करते थे। 'अभीतिस्तव' नामक ग्रन्थकी रचना यहींपर हुई। उसके बाद प्रायः ५० वर्षोंतक मदुरामें मुसलमानोंका राज्य रहा। वि० सं० १३९२ या ९३ में विद्यारण्य मुनिने विजयनगर राज्यकी स्थापना की और उन्हींके उद्योगसे वि० सं० १४२२ में मदुराके मुसल्मान परास्त हुए और वहाँ हिन्दुओंका राज्य स्थापित हुआ। जब यह समाचार वेंकटनाथको मिला तो वह पुनः श्रीरंगम्‌में आ गये। जबतक वहाँ यवनराज्य रहा तबतक श्रीरङ्गनाथकी मूर्त्ति दक्षिण भारतके कई स्थानोंमें रही। क्योंकि श्रीरङ्गम्‌का मन्दिर मुसलमानोंद्वारा अपवित्र कर दिया गया था तथा सारी सम्पत्ति छीन ली गयी थी। कुछ दिन बाद उस मूर्त्तिकी स्थापना तिरुपतिमें की गयी, जहाँसे कुछ दिन बाद गोप्पानार्य उसे गिंगीमें ले आये और फिर श्रीरंगम्‌में उसकी पुनः स्थापना की गयी। यह स्थापना वेदान्ताचार्यकी उपस्थितिमें ही हुई थी। इस अवसरपर वेदान्ताचार्यने कुछ श्लोक बनाये थे, जो अबतक मन्दिरके भीतर दीवालपर खुदे हुए हैं।

वेंकटनाथ विद्यारण्य मुनिके सहपाठी और पुराने मित्र थे। इसलिये विद्यारण्य उन्हें आदर और श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे। विद्यारण्यने उन्हें एक बार विजयनगर आनेके लिये निमन्त्रित किया; परन्तु उन्होंने राजा और मित्रके निमन्त्रणको एकदम अस्वीकार कर दिया। इससे मालूम होता है कि उनके अन्दर कितनी निःस्पृहता और वैराग्यका भाव था। एक बार जब विद्यारण्यके साथ मध्वमतावलम्बी अक्षोभ्य मुनिका शास्त्रार्थ हुआ तब भी मध्यस्थता करनेके लिये वेंकटनाथको बुलाया गया। परन्तु वे फिर भी नहीं आये। तब दोनों आचार्योंने अपने विचार उनके पास निर्णयके लिये लिख भेजे। इस बातसे सहज ही समझा जा सकता है कि उस समय दक्षिणमें उनकी विद्वत्ताकी कितनी धाक थी।

इसके बाद वेंकटनाथका यश चारों ओर फैलने लगा। विजयनगरके वैष्णव उनसे वैष्णवमतके ऊपर ग्रन्थ लिखनेकी प्रार्थना करने लगे। लोगोंके अनुरोधपर वेंकटनाथने देशी भाषामें कई प्रबन्धोंकी रचना की, जिनमें 'सुभाषितनीति' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। अन्त समयमें उन्होंने अपना मत रहस्यत्रयसार नामक ग्रन्थमें संक्षेपमें लिखा।

वेंकटनाथका आध्यात्मिक जीवन बड़ा मधुर था। उनको न तो कोई पैत्रिक सम्पत्ति प्राप्त थी और न उन्होंने स्वयं कभी धन संग्रह किया। वे सदा उञ्छवृत्तिसे जीविका चलाते थे। उनका जीवन बड़ा पवित्र और सरल था। वे काञ्ची तथा श्रीरंगम्‌में विभिन्न मतावलम्बियोंके साथ रहते थे और सब लोग एक समान उन्हें भक्ति और श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे। वे सांसारिक धन-ऐश्वर्यको सदा घृणित समझते थे। उनका सारा जीवन प्रायः धर्मोपदेश करने तथा धार्मिक साहित्यकी रचना करनेमें बीता। वे नम्रताकी तो मूर्त्ति ही थे। एक दिन उनकी दीनताकी परीक्षा करनेके लिये एक वैष्णवने उन्हें अपने घर आमन्त्रित किया। उस वैष्णवने अपने घरके दरवाजेपर एक जोड़ा खड़ाऊँ लटका दिया था। जब वेंकटनाथने घरमें घुसते समय खड़ाऊँ देखी तब उन्होंने खड़ाऊँ मस्तकसे लगाकर कहा—

कर्मावलम्बकाः केचिद् केचिज्ज्ञानावलम्बकाः।
वयं तु हरिदासानां पादपद्मावलम्बकाः॥

वेंकटनाथको कवितार्किकसिंहकी उपाधि मिली थी। एक दिन श्रीरंगनाथके मन्दिरमें यह तै हुआ कि जो रातभरमें एक हजार श्लोक बनावेगा उसे यह उपाधि दी जायगी। परन्तु किसीको इसमें सफलता न मिली। एक विद्वान् पण्डितने मुश्किलसे रातभरमें ५०० श्लोक लिखे। परन्तु वेंकटनाथने केवल तीन घंटेमें हजार श्लोक लिख डाले और साथ ही उनके श्लोक सर्वोत्तम भी थे। अतएव यह उपाधि उन्हींको मिली। श्रीरंगम्‌में ही उन्हें वेदान्ताचार्यकी भी उपाधि मिली थी। श्रीवैष्णवोंका विश्वास है कि उन्हें भगवान् श्रीरंगनाथने वेदान्ताचार्यकी उपाधि दी थी।

इस प्रकार वेंकटनाथकी जीवनीकी आलोचना करनेसे यह मालूम होता है कि वे मूर्त्तिमान् वैराग्य और भक्तिस्वरूप ही थे। उनके अन्दर तेजस्विता और दीनताका अपूर्व सम्मिश्रण देखा जाता था। अहङ्कार तो उन्हें छूतक नहीं गया था। दूसरी ओर दार्शनिकता और कवित्वका भी अपूर्व समन्वय उनके अन्दर हुआ था। धर्मोपदेशकमें जो गुण होने चाहिये, वे सब उनमें मौजूद थे। वे एक आदर्श शिक्षक भी थे। शिक्षकमें क्या-क्या गुण होने चाहिये, इस विषयमें उन्होंने लिखा है—

सिद्धं सत्सम्प्रदाये स्थिरधियमनघं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं
सत्त्वस्थं सत्यवाचं समयनियतया साधुवृत्त्या समेतम्।
दम्भासूयादिमुक्तं जितविषयगुणं दीनबन्धुं दयालुं
स्खालित्ये शासितारं स्वपरहितपरं देशिकं भूष्णुरीप्सेत्॥

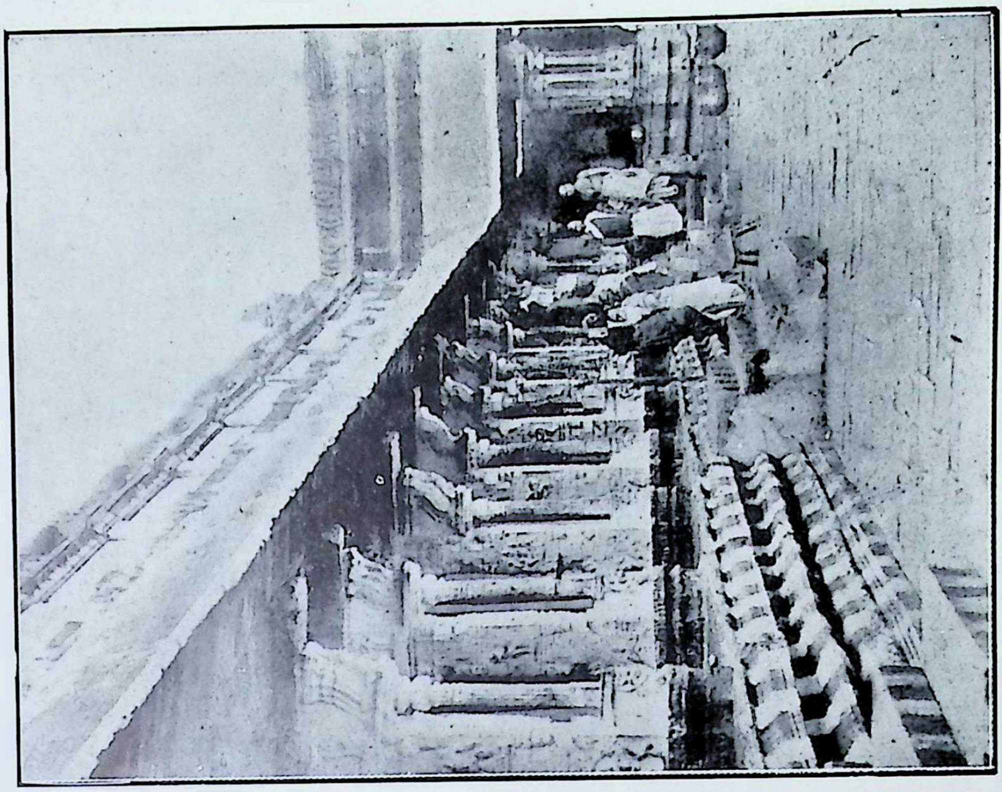

श्रीतिरुपति मन्दिरका भीतरी भाग

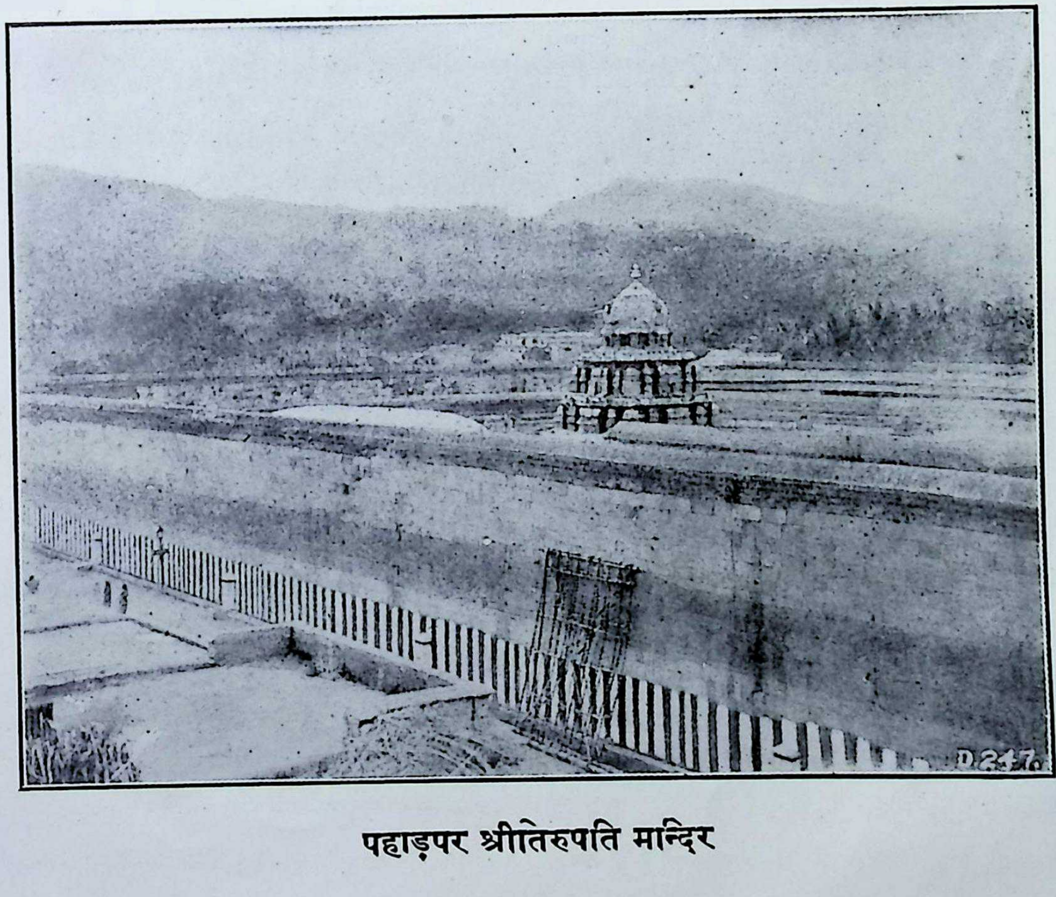

पहाड़पर श्रीतिरुपति मान्दिर

वेंकटनाथ वेदान्ताचार्य विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायके अनुयायी थे। उनकी श्रीरामानुजाचार्यमें बड़ी भक्ति थी और वे उनके ग्रन्थोंको बड़े आदरकी दृष्टिसे देखा करते थे। उन्होंने अपने जीवनमें लगभग १०८ ग्रन्थोंकी रचना की, जिनमें भगवद्भक्ति कूट-कूटकर भरी है। ये सब ग्रन्थ प्रायः तामिल लिपिमें हैं और अधिकांश तामिल भाषामें हैं। उनमें कुछके नाम इस प्रकार हैं—गरुडपञ्चशती, अच्युतशतक, रघुवीरगद्य, दायशतक, अभीतिस्तव, पादुकासहस्र, सुभाषितनीति, रहस्यत्रयसार, संकल्पसूर्योदय, हंससन्देश, यादवाभ्युदय, तत्त्वमुक्ताकलाप, अधिकरणसारावली, न्यायपरिशुद्धि, न्यायसिद्धाञ्जन, शतदूषणी, तत्त्वटीका, गीताकी टीका, गद्यत्रयकी टीका, सेश्वरमीमांसा, ईशावास्योपनिषद्भाष्य, गीतार्थसंग्रहरक्षा और वादित्रयखण्डन।

इस तरह सारा जीवन भगवद्भक्ति तथा लोकोपकारार्थ ग्रन्थरचनामें बिताकर आचार्य वेंकटनाथ वि० सं० १४२६ में १०२ वर्षकी अवस्थामें परलोकवासी हुए।

श्रीमल्लोकाचार्य

श्रीमल्लोकाचार्य वेदान्ताचार्यके ही समसामयिक थे। उनका जन्म ईसवी सन्‌की १४ वीं शताब्दीमें और मृत्यु १५ वीं शताब्दीमें हुई थी। उनके पिताका नाम कृष्णपाद मिलता है। उनका जन्म भी दक्षिणमें ही हुआ था। वह वैष्णव आचार्योंमें एक प्रसिद्ध आचार्य हो गये हैं। उन्होंने श्रीरामानुजका मत समझानेके लिये दो ग्रन्थोंकी रचना की—'तत्त्वत्रय' और 'तत्त्वशेखर'। ये दोनों ग्रन्थ बड़े सरल और सुबोध हैं। 'तत्त्वत्रय'में चित्तत्त्व या आत्मतत्त्व, अचित् या जडतत्त्व और ईश्वरतत्त्वका निरूपण करते हुए रामानुजीय सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है। कहीं-कहींपर अन्य मतोंका खण्डन भी किया गया है। इस ग्रन्थपर श्रीबरबर मुनिका भाष्य भी मिलता है।

आचार्य वरदगुरु

आचार्य वरदगुरु १४ वीं शताब्दीमें हुए थे। वे आचार्य वेंकटनाथके पुत्र और नयनाराचार्यके शिष्य थे। उनका दूसरा नाम प्रतिवादिभयङ्करम् अस्त्रन था। तार्किक होनेके कारण उनका यह नाम पड़ा था। वरदगुरुने वेंकटनाथकी प्रशंसामें 'सप्ततिरत्नमालिका' नामक काव्यकी रचना की थी। नयनाराचार्यने वेदान्ताचार्यके 'अधिकरणसारावली' नामक ग्रन्थकी टीका लिखी थी। वरदगुरु महागुरु वेंकटनाथके अनन्य भक्त और नयनाराचार्यके उपयुक्त शिष्य थे। वरदगुरु श्रीरामानुजमतके समर्थक थे। उन्होंने 'तत्त्वत्रयचुलुकसंग्रह' नामक एक ग्रन्थकी रचना की, जिसमें श्रीरामानुजमतकी व्याख्या की गयी है।

वरदनायक सूरि

वरदनायक सूरि आचार्य वरदगुरुके बाद हुए थे। क्योंकि वरदनायकने 'चिदचिदीश्वरतत्त्वनिरूपण' नामक अपने ग्रन्थमें वरदगुरुके 'तत्त्वत्रयचुलुक' का उल्लेख किया है। सम्भवतः वे १५ वीं शताब्दीमें हुए थे। वरदनायकने अपने ग्रन्थमें जीव, जगत् और ईश्वरके सम्बन्धमें विचार किया है। उनका सिद्धान्त श्रीरामानुजके सिद्धान्तसे ही मिलता-जुलता है। उनके मतकी और कोई विशेषता नहीं है। उनका ग्रन्थ अभी प्रकाशित नहीं हुआ है।

अनन्ताचार्य या अनन्तार्य

अनन्ताचार्य यादवगिरिके रहनेवाले थे। वे मेलकोटमें रहते थे। वे श्रुतप्रकाशिकाके रचयिता सुदर्शन सूरिके बाद लगभग १५ वीं शताब्दीमें हुए थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'ब्रह्मलक्षणनिरूपण' में 'श्रुतप्रकाशिका' का उल्लेख किया है। उन्होंने बहुत-से ग्रन्थोंकी रचना करके अक्षय कीर्तिका अर्जन किया। वे श्रीरामानुजमतके माननेवाले थे और उसीका समर्थन करनेके लिये उन्होंने सारे ग्रन्थोंकी रचना की। उन्होंने अपने प्रायः प्रत्येक ग्रन्थमें अद्वैतमतका खण्डन करनेकी चेष्टा की है। उन्होंने अपने सभी ग्रन्थोंके अन्तमें अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

शेषार्यवंशरत्नेन यादवाद्रिनिवासिना।
अनन्तार्येण रचितो वादार्थोऽयं विजृम्भताम्॥

अनन्ताचार्यके ग्रन्थोंके नाम इस प्रकार हैं—ज्ञानयाथार्थ्यवाद, प्रतिज्ञावादार्थ, ब्रह्मपदशक्तिवाद, ब्रह्मलक्षणनिरूपण, विषयतावाद, मोक्षकारणतावाद, शरीरवाद, शास्त्रारम्भसमर्थन, शास्त्रैक्यवाद, संविदेकत्वानुमाननिरासवादार्थ, समासवाद, सामानाधिकरण्यवाद और सिद्धान्तसिद्धाञ्जन। इन सब ग्रन्थोंसे आचार्यकी दार्शनिकता और पाण्डित्यका पूरा परिचय मिलता है।

दोद्दय महाचार्य रामानुजदास

दोद्दयाचार्य वेदान्तदेशिक वेंकटनाथकी 'शतदूषणी' के टीकाकार हैं। चण्डमारुत आदि टीकाएँ उनकी बनायी

हुई हैं। वे श्रीरामानुजमतके अनुयायी थे। और अप्पय्य दीक्षितके समसामयिक थे। उनका काल १६ वीं शताब्दी कहा जा सकता है। वाधूलकुलभूषण श्रीनिवासाचार्य उनके गुरु थे। गुरुसे शिक्षा प्राप्त करनेके बाद उन्हें महाचार्यकी उपाधि मिली थी। उनका जन्मस्थान शोलिंखर है। वेदान्ताचार्यके प्रति उनकी प्रगाढ़ भक्ति थी।

महाचार्यने श्रीरामानुजका अनुसरण कर शाङ्कर मतका खण्डन करनेकी चेष्टा की है। उनके ग्रन्थोंके नाम इस प्रकार हैं—चण्डमारुत, अद्वैतविद्याविजय, परिकरविजय, पाराशर्यविजय, ब्रह्मविद्याविजय, ब्रह्मसूत्रभाष्योपन्यास, वेदान्तविजय, सद्विद्याविजय और उपनिषन्मंगलदीपिका।

सुदर्शन गुरु

सुदर्शन गुरु महाचार्यके शिष्य थे; अतएव उनके समसामयिक थे। वह १६ वीं शताब्दीके अन्तसे लेकर १७ वीं शताब्दीके आरम्भतक वर्तमान थे। सुदर्शनने महाचार्यकृत वेदान्तविजयकी व्याख्या लिखी, जिसका नाम 'मंगलदीपिका' है। यह ग्रन्थ कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है। सुदर्शनके मतमें कोई विशेषता नहीं। उन्होंने श्रीरामानुजमतका समर्थन करनेके लिये ही टीका लिखी है।

श्रीनिवास आचार्य (१)

आचार्य श्रीनिवास चण्डमारुतकार महाचार्यके शिष्य थे। महाचार्यने अपनेको वाधूलकुलका सन्तान लिखा है। श्रीनिवासने अपने ग्रन्थ 'यतीन्द्रमतदीपिका'के प्रत्येक अवतार या परिच्छेदके अन्तमें अपनेको महाचार्यका शिष्य लिखा है। महाचार्य १७ वीं शताब्दीके आरम्भमें भी वर्तमान थे। इसलिये श्रीनिवास आचार्य १७ वीं शताब्दीमें हुए थे, ऐसा अनुमान होता है। श्रीनिवासके पिताका नाम गोविन्दाचार्य था।

श्रीनिवास विशिष्टाद्वैतवादी थे। श्रीरामानुजमतको ही वे भी मानते थे। उन्होंने 'यतीन्द्रमतदीपिका' या 'यतिपतिमतदीपिका' नामक अपने ग्रन्थमें श्रीरामानुजमतका सारांश दिया है। वह ग्रन्थ बड़ी सरल भाषामें लिखा गया है। उसमें दस अवतार या परिच्छेद हैं। उनमें क्रमशः प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, प्रमेय, काल, नित्यविभूति, धर्मभूतज्ञान, जीव, ईश्वर और अद्रव्यका निरूपण किया गया है।

श्रीनिवासाचार्य (२)

श्रीनिवासाचार्य द्वितीय भी श्रीरामानुजमतके अनुयायी थे। शठमर्षणकुलमें उनका जन्म हुआ था। उनकी पत्नीका नाम लक्षाम्बा था। अन्नयाचार्य और श्रीनिवास नामक उनके दो पुत्र थे। दोनों पुत्र विद्वान् थे। श्रीनिवासने 'आनन्दमध्वाचार्यके मतमें दोष दिखलानेके उद्देश्यसे 'आनन्दतारतम्यखण्डन' नामक प्रबन्धकी रचना की। मध्वमतके आचार्योंके मतानुसार देवता, मनुष्य और मुक्त पुरुषोंके आनन्दमें तारतम्य है। पुराण आदि शास्त्रोंके आधारपर उन्होंने इसका समर्थन किया है। श्रीनिवासने श्रुति और युक्तिके आधारपर इस मतका खण्डन किया है।

श्रीनिवास (३)

ये तीसरे श्रीनिवास आचार्य श्रीनिवास द्वितीयके पुत्र थे। उनका जन्म शठमर्षणकुल या श्रीशैलकुलमें हुआ था। श्रीनिवासके बड़े भाईका नाम अन्नयाचार्य और माताका नाम लक्षाम्बा था। उनके गुरुका नाम श्रीनिवास दीक्षित था। श्रीनिवास दीक्षितका जन्म कौण्डिन्य गोत्रमें हुआ था। श्रीनिवासने अपने बड़े भाईसे भी विद्याध्ययन किया था। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'अरुणाधिकरणसरणिविवरणी' में अपने गुरु तथा बड़े भाईका परिचय दिया है।

श्रीनिवासने मध्वमतावलम्बी व्यासतीर्थके 'चन्द्रिका' नामक ग्रन्थके मतका खण्डन अपने ग्रन्थमें किया है। इससे मालूम होता है, वे व्यासतीर्थके बाद हुए थे। व्यासतीर्थ १६ वीं शताब्दीमें वर्तमान थे। इसलिये श्रीनिवासका समय १७ वीं शताब्दीका अन्तिम काल हो सकता है। श्रीनिवासने कई ग्रन्थ लिखे, जिनके नाम इस प्रकार हैं—तत्त्वमार्तण्ड, अरुणाधिकरणसरणिविवरणी, ओंकारवादार्थ, जिज्ञासादर्पण, ज्ञानरत्नप्रकाशिका, णत्वदर्पण, विरोधनिरोध-भाष्यपादुका, नयद्युमणि, प्रणवदर्पण, भेददर्पण तथा सहस्रकिरणी। इन सब ग्रन्थोंमें उन्होंने विशिष्टाद्वैतमतका समर्थन तथा अन्य मतोंका खण्डन करनेकी चेष्टा की है।

बुच्चि वेंकटाचार्य

बुच्चि वेंकटाचार्य अन्नयाचार्यके तृतीय पुत्र थे। उन्होंने 'वेदान्तकारिकावली' नामक एक ग्रन्थकी रचना की, जिसमें विशिष्टाद्वैतवादके पदार्थों और सिद्धान्तोंका सारांश दिया गया है। ग्रन्थ पद्यमें है। बुच्चि वेंकटाचार्य भी श्रीरामानुजके ही अनुयायी थे।

श्रीनिवास दीक्षित

श्रीनिवास दीक्षितके पिताका नाम श्रीनिवास तातार्य और पितामहका नाम अन्नयाचार्य था। श्रीनिवास दीक्षितके पिता और पितामह दोनों १७ वीं शताब्दीमें वर्तमान थे। इसलिये मालूम होता है कि श्रीनिवास १७ वीं शताब्दीके अन्तमें और १८ वीं शताब्दीके आरम्भमें वर्तमान थे। श्रीनिवास दीक्षितने 'विरोधवरूथिनीप्रमाथिनी' नामक एक ग्रन्थकी रचना की। इसमें उन्होंने श्रीरामानुजाचार्यके श्रीभाष्यके और श्रीनिवासके 'विरोधनिरोध' के मतका समर्थन किया है।

* * *

विशिष्टाद्वैतके तीन महाचार्य—बोधायन, ब्रह्मनन्दी और द्रमिडाचार्य

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्यजी))

विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तावलम्बी आचार्योंके मतसे मीमांसाशास्त्र एक ही है, वे 'अथातो धर्मजिज्ञासा' से लेकर 'अनावृत्तिः शब्दात्' सूत्रतक बीस अध्यायोंका एक ही वेदार्थविचार करनेवाला मीमांसादर्शन मानते हैं, और उसके तीन काण्ड बतलाते हैं। उन काण्डोंके नाम हैं—धर्ममीमांसा, देवमीमांसा और ब्रह्ममीमांसा। प्रथम धर्ममीमांसा नामक काण्ड आचार्य जैमिनिके द्वारा प्रणीत है; उसमें बारह अध्याय हैं, और उसमें धर्मका साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। द्वितीय देवमीमांसा नामक काण्ड काशकृत्स्नाचार्यने बनाया है, और चार अध्यायोंमें देवोपासनाका रहस्य परिस्फुटित किया है। तृतीय ब्रह्ममीमांसा नामक काण्डके रचयिता हैं बादरायणाचार्य। इन्होंने चार अध्यायोंमें ब्रह्मका पूर्ण विमर्श करके अपना सिद्धान्त खूब अच्छी तरहसे स्थापित किया है। इन तीनों काण्डोंसे युक्त शास्त्रका नाम है मीमांसाशास्त्र। इस सम्पूर्ण मीमांसाशास्त्रकी वृत्ति भगवान् बोधायनाचार्यने बनायी थी। इसीसे इनका नाम इस सम्प्रदायमें वृत्तिकारके नामसे प्रसिद्ध है। भगवान् रामानुजाचार्यने श्रीभाष्यके आरम्भमें ही इनका वृत्तिकाररूपसे स्मरण किया है। यथा—

भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः सञ्चिक्षिपुः।

'भगवान् बोधायनद्वारा बनायी हुई विस्तृत ब्रह्मसूत्रवृत्तिको पूर्वाचार्योंने संक्षिप्त बना दिया।' उन्हीं बोधायनाचार्यका उल्लेख भगवान् शबरस्वामीने भी उपवर्ष नामसे किया है, इसमें प्रमाण है वेदान्ताचार्यप्रणीत श्रीभाष्यतत्त्वटीकाके 'स्फोटवाद' प्रकरणका यह अंश—

अत्र शाबरम्—गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः, इति वृत्तिकारस्य बोधायनस्यैव ह्युपवर्ष इति स्यान्नाम। तदिह पातञ्जलादिप्रोक्तं प्रामाणिकमिति न भ्रमितव्यं, तेषां बाह्यक्षेपार्थं वैभवोक्तिरपि स्यात्, युक्तिविरोधाच्चेति।

अर्थात् यहाँ शाबरभाष्यमें लिखा है कि गौः यहाँ कौन शब्द है ? गकार, औकार और विसर्ग ही 'गौ' का स्वरूप है, ऐसा उपवर्ष नामक आचार्यने कहा है। इस प्रकार 'उपवर्ष' बोधायनका ही नाम हो सकता है; पतञ्जलिकी कही हुई बात प्रामाणिक है, यह समझकर उपवर्षकी बोधायनतामें सन्देह नहीं करना चाहिये—क्योंकि पतञ्जलिने तो अपने प्रतिपक्षियोंका तिरस्कार करनेके लिये उपवर्षको वैयाकरण बनाकर अपना महत्त्व प्रकट करनेकी चाल चली है, और उनकी बातोंमें युक्तिविरुद्धता भी है। कई लोग यहाँपर 'स्यात्' के निर्देशसे केवल सम्भावना समझते हैं। परन्तु उन लोगोंको यह पता नहीं है कि सम्भावना होनेसे फिर 'बोधायनस्यैव' यहाँ निश्चयार्थक 'एव' की क्या गति होगी ! अतः यहाँ 'नाम स्यादेव हि'—बोधायनका नाम ही हो सकता है, ऐसी योजना कर लेनी चाहिये। 'पुलवर','पुराणमणि','मेखला' आदि द्राविड़ भाषाके प्रबन्धोंमें बोधायनकृत मीमांसावृत्तिका जो 'कृतकोटि' नामसे निर्देश है वह भी हमारी दृष्टिमें समीचीन ही प्रतीत होता है; क्योंकि 'निघण्टु' के त्रिकाण्डशेषमें और केशवनिघण्टुमें भी उपवर्षका पर्यायवाची 'कृतकोटि' शब्द लिखा है, जैसे—

उपवर्षो हलभूतिः कृतकोटिरयाचितः।

अतः बहुत समयसे ऐसा व्यवहार देखकर ही श्रीवेदान्ताचार्यजीने अपनी तत्त्वटीकामें 'उपवर्ष' यह बोधायनाचार्यका द्वितीय नाम प्रतिपादित किया है, ऐसा हम समझते हैं। 'पाराशर्यविजय' नामक ग्रन्थके ११० वें पृष्ठपर बोधायन और उपवर्षका जो पृथक्-पृथक् निर्देश किया है वह ग्रन्थकर्ताने ऐसा सूक्ष्म विचार न करनेके कारण ही किया है, ऐसा समझना चाहिये।

'ब्रह्ममीमांसा' शास्त्रका, जिसका दूसरा नाम 'शारीरक' भी है, द्रमिडाचार्यने अति संक्षिप्त भाष्य बनाया है, जो 'द्रमिडभाष्य' इस नामसे सर्वत्र प्रसिद्ध है। छान्दोग्यवाक्यपर भी इन्हीं द्रमिडाचार्यने भाष्य लिखा है, किन्तु उसकी प्रसिद्धि 'द्रमिडभाष्य' इस नामसे नहीं है, 'द्रमिडभाष्य' से ब्रह्ममीमांसाशास्त्रके भाष्यका ही बोध होता है। ब्रह्मसूत्रभाष्यका विवरण श्रीवत्साङ्कमिश्रने किया है, अतः 'विवरणकार' के नामसे वे ही प्रख्यात हैं । इस बातमें प्रमाण है यामुनाचार्यविरचित सिद्धित्रयके आरम्भका यह सन्दर्भ—

यद्यपि भगवता बादरायणेनेदमर्थान्येव सूत्राणि प्रणीतानि, विवृतानि च तानि परिमितगम्भीरभाषिणा भाष्यकृता, विवृतानि च तानि गम्भीरन्यायसागरभाषिणा भगवता श्रीवत्साङ्कमिश्रेणापि, तथापि आचार्यटङ्क-भर्तृप्रपञ्च-भर्तृमित्र-भर्तृहरि-ब्रह्मदत्त-शङ्कर-श्रीवत्साङ्क-भास्करादिविरचितसितासितविविधनिबन्धनश्रद्धाविप्रलब्धबुद्धयो न यथावदन्यथा च प्रतिपद्यन्त इति युक्तः प्रकरणप्रक्रमः ।

अर्थात् 'यद्यपि भगवान् बादरायणाचार्यने एतदर्थक ही (विशिष्टाद्वैतमताभिप्रेत) सूत्र बनाये हैं और उसपर द्रमिडाचार्यने संक्षिप्त और गम्भीर भाष्य भी बना दिया है, भगवान् श्रीवत्साङ्कमिश्रने उस भाष्यका दुर्भेद्ययुक्तिसमलङ्कृत गभीर विवरण भी कर दिया है, तथापि आचार्य टङ्क, भर्तृप्रपञ्च, भर्तृमित्र, भर्तृहरि, ब्रह्मदत्त, शङ्कराचार्य, श्रीवत्साङ्क और भास्कर आदि आचार्योंद्वारा रचित परस्परविरुद्ध वितण्डावादपरिपूर्ण निबन्धोंसे तत्त्वजिज्ञासुजनोंकी बुद्धि अत्यन्त विप्रलब्ध हो जाती है, और वे वास्तविक तत्त्वको यथावत् नहीं समझ पाते । अतः प्रकरणप्रक्रमका निर्माण युक्त ही है ।' इस सन्दर्भमें द्रमिडाचार्यने बादरायणसूत्रोंका भी भाष्य निर्मित किया था, यह स्फुटतया जाना जा सकता है । हाँ, इससे यह मालूम नहीं होता कि बोधायनने या उपवर्षाचार्यने सूत्रोंकी वृत्ति बनायी थी या नहीं, और वाक्यकार और भाष्यकारका भी इसमें निर्देश नहीं किया गया है, तथा इस सन्दर्भसे यह भी ज्ञात होता है कि आचार्य टङ्क और भर्तृप्रपञ्च आदि विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायके अनुगामी व्याख्याता नहीं थे। वेदार्थसंग्रहमें भगवान् रामानुजाचार्यने लिखा है—

भगवद्बोधायनटङ्कद्रमिडगुहदेवकपर्दिभारुचिप्रभृत्यविगीतशिष्टपरिगृहीतपुरातनवेदान्तव्याख्यानसुव्यक्तार्थश्रुतिनिदर्शितोऽयं पन्थाः ।

अर्थात् 'भगवान् बोधायन, टङ्क, द्रमिड, गुहदेव, कपर्दी और भारुचि आदि श्रद्धेय आचार्योंके द्वारा स्वीकृत प्राचीन वेदान्तव्याख्यानोंसे जिनका अर्थ सुव्यक्त हुआ है, ऐसी श्रुतियोंसे यह मार्ग दिखाया गया है ।' यहाँ साफ मालूम होता है कि टङ्क विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायके आचार्य थे । सुदर्शनाचार्यकृत वेदार्थसंग्रहकी व्याख्या तात्पर्यदीपिकामें भी 'टङ्को ब्रह्मनन्दी' इस तरह व्याख्या की है । पूर्वोक्त उद्धरणोंसे यह सिद्ध है कि टङ्काचार्य जिनका दूसरा नाम ब्रह्मनन्दी भी प्रसिद्ध था, विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायके अनुयायी थे । यामुनाचार्यविरचित 'सिद्धित्रय' नामक ग्रन्थमें जिन टङ्कका नाम इतरसिद्धान्तानुयायियोंमें लिखा है; वे टङ्क दूसरे हैं, ये नहीं हैं; इसीलिये श्रुतप्रकाशिकाचार्यने 'टङ्को ब्रह्मनन्दी' यह लिखा है। अथवा सम्प्रदायभेद भी हो सकता है, बुद्धिमान् पाठक स्वयं समीक्षण करें ।

वेदान्ताचार्यप्रणीत 'तत्त्वटीका'के साधनरूपकनिरूपणप्रकरणमें 'अत्र भाष्यकारो ब्रह्मनन्दिवाक्यव्याख्याता द्रमिडाचार्यः' ('यहाँ भाष्यकार, ब्रह्मनन्दीके वाक्य नामक छान्दोग्यव्याख्यानरूप ग्रन्थकी व्याख्या करनेवाले द्रमिडाचार्य हैं) ऐसा निर्देश मिलता है, इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मनन्दीने छान्दोग्योपनिषद्की एक टीका बनायी थी, जिसका नाम उन्होंने 'वाक्य' रख दिया था जिस वाक्यका भाष्य भी द्रमिडाचार्यप्रणीत है। सुरेश्वराचार्यशिष्य सर्वज्ञात्ममुनिविरचित 'संक्षेपशारीरक' नामक ग्रन्थमें भी इस विषयपर प्रभूत प्रकाश डाला गया है—

आत्रेयवाक्यमपि संव्यवहारमात्रं
कार्यं समस्तमपि नः कथयाम्बभूव ।
सत्कार्यवादविषयो न हि दोषराशि-
र्मायामये भवितुमुत्सहते विरोधात् ॥

(२१७)

अर्थात् समग्र कार्य संव्यवहारमात्र (अनिर्वचनीय) है, यह बात आत्रेय (ब्रह्मनन्दी) के बनाये हुए वाक्यमें भी कही गयी है । क्योंकि नैयायिकोंद्वारा प्रदत्त सत्कार्यवादविषयक दोषसमूह अनिर्वचनीय कार्यमें नहीं आता क्योंकि अनिर्वचनीय तो सत् नहीं है; अतः विरोध

होनेसे सत्कार्यवादविषयक दोष यहाँ नहीं आते । इस श्लोककी टीकामें टीकाकारने लिखा है—

कार्यकारणयोः संव्यवहारमात्रत्वं ब्रह्मनन्दिनाप्याचार्येण छान्दोग्यभाष्ये परैरुक्तदोषाप्राप्त्यर्थमुक्तम् ।

ब्रह्मनन्दी आचार्यने भी अपने छान्दोग्यव्याख्यानमें कार्य और कारणको संव्यवहारमात्र इसलिये माना है कि जिससे प्रतिपक्षी लोग आक्षेप न कर सकें। आगे 'संक्षेपशारीरक'में इस विषयपर और भी प्रकाश डाला गया है—

काणाददर्शनसमाश्रयदोषराशि-
दूरान्निरस्त इह संव्यवहारमात्रे ।
वेदान्तभूमिकुशलो मुनिरत्रिवंश्य-
स्तेनाह कार्यमिह संव्यवहारमात्रम् ॥२१८॥

षष्ठप्रपाठकनिबद्धमुदीरितं यत्
तत्सत्यमेव खलु सत्यसमाश्रयत्वात् ।
अत्रैव यत्पुनरुवाच समुद्रफेन-
दृष्टान्तपूर्वकमदो व्यवहारदृष्ट्या ॥२१९॥

पूर्वं विकारमुपवर्ण्य शनैः शनैस्तद्
दृष्टिं विसृज्य निकटं परिगृह्य तस्मात् ।
सर्वं विकारमथ संव्यवहारमात्र-
मद्वैतमेव परिरक्षति वाक्यकारः ॥२२०॥

अन्तर्गुणा भगवती परदेवतेति
प्रत्यग्गुणेति भगवानपि भाष्यकारः ।
आह स्म यत्तदिह निर्गुणवस्तुवादे
सङ्गच्छते न तु पुनः सगुणप्रवादे ॥२२१॥

अर्थात् 'काणाददर्शनद्वारा दिये हुए दोषोंका हमारे सिद्धान्तमें कार्यको संव्यवहारमात्र मानकर खूब अच्छा निराकरण किया गया है, इसलिये वेदान्तशास्त्रविशारद आचार्य आत्रेय (ब्रह्मनन्दी) ने भी कायको संव्यवहारमात्र माना है । षष्ठ प्रपाठकमें जो ब्रह्मनन्दीने कहा है, वह सत्यके आधारपर स्थित होनेके कारण सत्य ही है; किन्तु वहीं जो उन्होंने समुद्रफेनका दृष्टान्त दिया है, वह व्यावहारिक दृष्टिसे दिया है। पहले विकारका वर्णन किया, फिर धीरे-धीरे उस दृष्टिका भी मार्जन कर दिया और सिद्धान्तके और निकट गये; फिर समग्र विकारोंको वाक्यकारने संव्यवहारमात्र मान लिया, इस तरहसे वाक्यकार ब्रह्मनन्दी अद्वैतका ही परिरक्षण करते हैं । भगवती परदेवता अन्तर्गुणा है, यह वाक्यकारने, और प्रत्यग्गुणा है, यह भाष्यकारने जो कहा वह निर्गुणवस्तुवादमें ही उपपन्न हो सकता है, सगुणवस्तुवादमें वह सङ्गत नहीं हो सकता ।' इन संक्षेपशारीरकके उद्धरणोंसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वाक्यकार आत्रेयवंशमें उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मनन्दी हैं और उस वाक्यके भाष्य बनानेवाले हैं द्रमिडाचार्य । यामुनाचार्यविरचित 'सिद्धित्रय'के आरम्भमें जिन भर्तृप्रपञ्चका उल्लेख है, वे स्वाभाविकभेदाभेदवादी थे, यह बात श्रीशङ्कराचार्यविरचित बृहदारण्यकोपनिषद्के भाष्यमें स्पष्ट लिखी है। ब्रह्मदत्त जीवोत्पत्तिवादी थे, उन्होंने पूर्वमीमांसापर भी एक वृत्ति लिखी थी, जिसका कुमारिल भट्टने अपने श्लोकवार्तिकमें बहुत स्थलोंपर खण्डन किया है। भर्तृहरिने अपने 'वाक्यपदीय' ग्रन्थमें शब्दाद्वैतकी स्थापना की है, किन्तु उनका बनाया वेदान्त-ग्रन्थ कोई भी नहीं मिलता। भास्कराचार्यविरचित ब्रह्मसूत्रका भाष्य सम्यक् उपलब्ध है । उससे विदित होता है कि उन्होंने छान्दोग्यभाष्य और गीताभाष्य भी लिखे थे, किन्तु वे अब प्रायः लुप्त हो गये हैं। यह भास्करभाष्य वाचस्पतिमिश्रविरचित 'भामती' नामक शाङ्करभाष्यव्याख्यानसे प्राचीन है, क्योंकि 'भामती' में भास्करभाष्यके कई अंश उद्धृत किये हुए मिलते हैं । जैसे भामतीमें ३ । ४ । २६ सूत्रकी व्याख्या करते समय—

भ्रान्त्या चेल्लौकिकं कर्म वैदिकं तु तथास्तु ते ।

—यह श्लोकांश उद्धृत किया है, जो भास्करभाष्यका है । जिज्ञासु जनोंके सौकर्यके लिये हम विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायके सिद्धान्तग्रन्थोंका क्रम यहाँ दे रहे हैं ।

विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायके सिद्धान्तग्रन्थोंका क्रम इस प्रकार है—

ग्रन्थनाम	प्रणेता
१ शारीरकमीमांसाशास्त्र	बादरायणाचार्य
२ शारीरकमीमांसाशास्त्रवृत्ति	बोधायनाचार्य (उपवर्ष, कृतकोटि)

३ वाक्यनामक छान्दोग्य-व्याख्यान	ब्रह्मनन्दी (टङ्काचार्य)
४ वाक्यनामक छान्दोग्य-व्याख्यानभाष्य	द्रमिडाचार्य
५ ब्रह्मसूत्रभाष्यविवरण	श्रीवत्साङ्कमिश्र
६ न्यायतत्त्व	नाथमुनि
७ योगरहस्य	नाथमुनि

८ इनके अतिरिक्त यामुनाचार्यके ये सब प्रबन्ध भी सिद्धान्त-क्रममें सम्मिलित हैं—

१ महापुरुषनिर्णय
२ संवित्सिद्धि
३ जीवसिद्धि
४ ईश्वरसिद्धि
५ गीतार्थसंग्रह
६ श्रीस्तुति
७ स्तोत्ररत्न

९ भगवान् श्रीरामानुजाचार्यद्वारा प्रणीत ग्रन्थ—

१ वेदार्थसंग्रह
२ वेदान्तसार
३ वेदान्तदीप
४ श्रीभाष्य
५ गीताभाष्य
६ गद्यत्रय

१० तत्त्वरत्नाकर	पराशर भट्ट
११ न्यायसुदर्शन	वरदनारायण भट्टारक
१२ प्रज्ञापरित्राण	,, ,,
१३ नीतिमाला	नारायणार्य
१४ मानयाथात्म्यनिर्णय	वरदविष्णुमिश्र
१५ सङ्गतिमाला	विष्णुचित्त
१६ विवरण	श्रीराममिश्र
१७ श्रीभाष्यव्याख्याश्रुतप्रकाशिका	सुदर्शनाचार्य
१८ श्रुतदीपिका	,,
१९ तात्पर्यदीपिका	,,
२० तत्त्वसार	वरदगुरु
२१ प्रमेयमाला	,,
२२ षडर्थसंक्षेप	श्रीराममिश्र
२३ वेदार्थसंग्रह	×××××
२४ प्रमेयसंग्रह	×××××
२५ न्यायकुलिश	आत्रेय रामानुजाचार्य
२६ न्यायतत्त्व	×××××

विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायमें ऐसे तो अनेकों पण्डितरत्न हो गये हैं, किन्तु समीक्षकचक्रचूड़ामणि श्रीवेदान्ताचार्य एक ऐसे ग्रन्थकार हुए हैं जिनके दोषोंका उद्धार करना प्रतिपक्षियोंके लिये महाकठिन है । उन्होंने अनेक् ग्रन्थ बनाये हैं, जिनमें प्रमुख ये हैं—

ग्रन्थनाम

१ तत्त्वटीका
२ शतदूषणी
३ अधिकरणसारावलि
४ तत्त्वमुक्ताकलाप
५ न्यायपरिशुद्धि
६ न्यायसिद्धाञ्जन
७ सेश्वरमीमांसा
८ रहस्यत्रयसार
९ द्वात्रिंशद्रहस्य
१० पाञ्चरात्ररक्षा

ग्रन्थनाम

११ सच्चरित्ररक्षा
१२ स्तोत्ररक्षा
१३ गीताभाष्यतात्पर्यचन्द्रिका
१४ गीतार्थसंग्रहरक्षा
१५ यादवाभ्युदयकाव्य
१६ हंससन्देश
१७ संकल्पसूर्योदय
१८ स्तोत्रसंग्रह
१९ द्राविडपद्यमाला
२० सुभाषितनीति

इस तरह अनेक आचार्योंद्वारा बद्धमूल यह विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तप्रक्रिया श्रद्धालु जनोंका कल्याण कर रही है ।

इति शिवम्

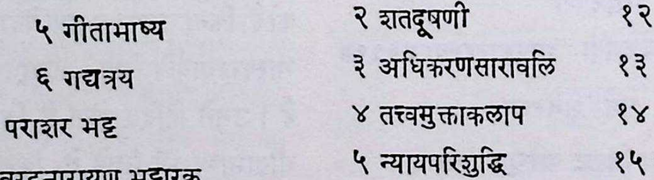

विशिष्टाद्वैतवाद या शिवाद्वैतवादके प्रधान-प्रधान आचार्य

ईसाकी चौथी-पाँचवीं शताब्दीमें श्रीकण्ठाचार्य नामके एक महान् आचार्य हो गये हैं, जिन्होंने अद्वैतमतकी प्रबल आँधीके बीचमें भी अपने स्वतन्त्र मतकी स्थापना की। उनके मतका नाम विशिष्टाद्वैतवाद या शिवाद्वैतवाद है। श्रीरामानुजाचार्यके विशिष्टाद्वैतसे यह पृथक् है, परन्तु बहुत अंशोंमें उससे मिलता भी है। ये दोनों भक्तिप्रधान मत हैं। श्रीशङ्करके ज्ञानके मुकाबले सबसे पहले श्रीकण्ठने ही भक्तिको संसारके सामने रक्खा। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि इससे पूर्व भारतमें यह मत था ही नहीं। अन्य मतोंकी तरह यह भी बहुत प्राचीन कालसे प्रचलित था। आचार्य शङ्करने इस मतके आचार्योंको 'माहेश्वराः' लिखा है। श्रीकण्ठने भी अपने भाष्यमें प्रथम शैवाचार्य श्रीश्वेताचार्यको नमस्कार किया है। मालूम होता है कि श्रीकण्ठने साम्प्रदायिक ढंगसे ही इस मतकी शिक्षा प्राप्त की थी। श्रीकण्ठने इस मतको केवल अपनी अद्वितीय प्रतिभाके बलपर पुनः स्थापित किया और संसारके सामने रक्खा। उनके बाद अन्य आचार्योंने भी इसका प्रचार करनेकी चेष्टा की। श्रीकण्ठके सर्वप्रधान आचार्य होनेके नाते इस मतको श्रीकण्ठमत भी कहते हैं। इस मतमें भगवान् शिवको ही परम तत्त्व माना गया है और ब्रह्मसूत्रकी शिवपरक व्याख्या की गयी है; इसीसे इसका नाम शिवाद्वैतवाद पड़ा है। अब हम संक्षेपमें इस मतके आचार्योंका परिचय देते हैं।

श्रीकण्ठाचार्य

श्रीकण्ठाचार्यके जीवनके सम्बन्धमें विशेष कोई बात नहीं मिलती। अनुमान होता है कि उनका जन्म कहीं दक्षिण भारतमें हुआ था और वे चौथी शताब्दीके अन्तिम भागसे लेकर पाँचवीं शताब्दीके आरम्भतक वर्तमान थे। कुछ लोगोंका मत है कि श्रीकण्ठ श्रीशङ्करसे भी पहले हुए थे, परन्तु यह बात उतनी प्रामाणिक नहीं मालूम होती। श्रीरामानुज, श्रीमध्व आदि सब आचार्योंसे तो वे अवश्य ही पहले हुए थे, परन्तु श्रीशङ्करसे वे बादमें ही हुए थे। श्रीकण्ठने स्पष्टरूपमें अपने भाष्यमें श्रीशङ्करमतका उल्लेख किया है और उसका खण्डन करनेकी चेष्टा की है। इससे मालूम होता है, वे श्रीशङ्करके बाद ही हुए थे।

श्रीकण्ठके विषयमें अप्पय्य दीक्षितने अपने ग्रन्थ 'शिवार्कमणिदीपिका'में लिखा है—

**महापाशुपतज्ञानसम्प्रदायप्रवर्त्तकान्।
**
अंशावतारानीशस्य योगाचार्यानुपास्महे॥

इससे मालूम होता है कि श्रीकण्ठ एक महान् योगी थे और वे भगवान् शिवके अंशावतार माने जाते थे। उन्होंने ब्रह्मसूत्रपर जो शैवभाष्य लिखा है, उससे उनके अगाध पाण्डित्यका परिचय मिलता है। अप्पय्य दीक्षितने श्रीकण्ठको दहरविद्याका उपासक लिखा है। उनकी असाधारण शिवभक्ति भी उनके ग्रन्थोंमें सर्वत्र परिस्फुटित हुई है।

श्रीकण्ठने दो ग्रन्थोंकी रचना की—ब्रह्मसूत्रका भाष्य और मृगेन्द्रसंहिताकी वृत्ति। श्रीकण्ठका भाष्य ही शैवभाष्य कहलाता है। इस भाष्यके विषयमें स्वयं श्रीकण्ठने लिखा है—'मधुरो भाष्यसन्दर्भो महार्थो नातिविस्तरः।' वास्तवमें उस भाष्यकी भाषा बड़ी मधुर और प्राञ्जल है और वह संक्षेपमें ही लिखा गया है।

मत

आचार्य श्रीकण्ठके मतानुसार शिव ही परम ब्रह्म हैं। शिवकी उपासना करनेसे ही मुक्ति मिलती है। ब्रह्मज्ञान वेदान्तशास्त्रगम्य है। जो तर्क श्रुतिके अनुकूल होता है, वह भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त करानेमें सहायक होता है। ब्रह्मज्ञानद्वारा आत्यन्तिक सुख मिलता है और दुःखका सर्वथा नाश हो जाता है। अतएव ब्रह्मज्ञान ही परम पुरुषार्थ है।

ब्रह्मविचार करनेका अधिकारी—आचार्यके मतसे पहले वेदाध्ययन करना चाहिये और उसके बाद धर्मविचार करना चाहिये। धर्मविचार किये बिना सिद्धि प्राप्त करना असम्भव है। ब्रह्म आराध्य हैं और धर्म आराधना है। धर्मविचारके बाद ही ब्रह्मविचार होता है। साधनाके बिना साध्यकी मीमांसा नहीं हो सकती। फलकी कामनाका त्याग करके कर्म करनेसे पापका नाश होता है और पापके नाशसे चित्तशुद्धि होती है। तब बोध होता है। अतएव कर्म ज्ञानका हेतु है। आचार्यका सिद्धान्त है—

अतो यावदुत्पद्यते ज्ञानं तावदनुष्ठेयानि कर्माणि ।

ब्रह्मबोधके साधनरूप कर्मविचारके बाद ब्रह्मबोधक शास्त्रका आरम्भ करना चाहिये ।

आचार्यके मतानुसार ज्ञान और कर्मका फल एक ही है, दोनोंका फल मुक्ति है । उनके मतसे निष्काम कर्मयोगके द्वारा चित्तशुद्धि होती है । शम, दम आदिका अनुष्ठान करनेसे शिवभक्ति उत्पन्न होती है । शिवभक्तिसे पूर्ण चित्त श्रुतिप्रतिपाद्य परम ब्रह्मको जानकर मुक्तिके लिये उनकी उपासना करता है । आचार्यकी रायमें ज्ञान और कर्मके समुच्चयसे मुक्ति होती है । यह बात शांकर मतके एकदम विरुद्ध है, परन्तु श्रीरामानुजके मतसे मिलती-जुलती है । श्रीरामानुजाचार्य भी ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी हैं और कर्ममीमांसा तथा ब्रह्ममीमांसाको एक ही शास्त्र मानते हैं । श्रीशंकरके मतसे कर्म गौणरूपसे ज्ञानका साधन है । निष्काम कर्मसे चित्तशुद्धि होती है और फिर उसके फलस्वरूप ज्ञाननिष्ठाचारसे मुक्ति होती है । यहाँपर शांकर मतका खण्डन करके ज्ञानकर्मसमुच्चयकी स्थापना करनेकी चेष्टा श्रीकण्ठने की है ।

विषय—आचार्यके मतसे ब्रह्म ही विषय है और ब्रह्मविचार ही परम पुरुषार्थ है ।

सम्बन्ध—उपनिषद्के वाक्योंसे ही ब्रह्मज्ञान होना सम्भव है । इसलिये ब्रह्म प्रतिपाद्य है और उपनिषद्-वाक्य प्रतिपादक हैं । शिव ही परब्रह्म हैं और वही चिदचित्-प्रपञ्चके रूपमें परिणत हुए हैं । वही अनुग्रह करके जीवको पुरुषार्थ प्रदान करते हैं । उनकी कृपासे ही जीव उनकी समानगुणता प्राप्त करता है । उनका प्रतिपादन करना ही उपनिषद्का तात्पर्य है ।

प्रयोजन—श्रीकण्ठके मतसे जीवको पापोंसे मुक्त करना ही प्रयोजन है । नित्य निरतिशय ज्ञानानन्दस्वरूप ईश्वरके समान गुणप्राप्तिरूप कैवल्य ही प्रयोजन है । ईश्वरके प्रसादसे ही यह मुक्ति प्राप्त होती है । उपासनासे प्रसन्न होकर वे मुक्ति प्रदान करते हैं ।

ब्रह्म—ब्रह्म सगुण और सविशेष हैं । उनकी महिमा अपार है, उनमें अनन्त शक्ति है, वे अनन्त ज्ञानानन्दादि शक्तिसे सम्पन्न हैं । पापका कलङ्क उनमें नहीं है । ब्रह्म सृष्टि, स्थिति, प्रलय, तिरोभाव और अनुग्रहके कर्ता हैं । चेतनाचेतन प्रपञ्चविलास उन्हींकी रचना है । वही चेतनाचेतन जगत्-रूपमें परिणत हुए हैं । सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् शिव ही ब्रह्म हैं । वे जगत्के कारण हैं । भव, शर्व, शिव, पशुपति, परमेश्वर, महादेव, रुद्र, शम्भु आदि ब्रह्मके पर्यायवाची शब्द हैं । वे जीवको अभीष्टप्राप्ति करानेवाले, मुक्ति देनेवाले हैं । ब्रह्म सर्वज्ञ, नित्यतृप्त, अनादि, ज्ञानस्वरूप, स्वतन्त्र, अलुप्तशक्ति और अनन्तशक्ति हैं । उनके इन्द्रियादि बाह्य करण नहीं हैं, फिर भी वे समस्त वस्तुओंको नित्य देखते हैं । इसीसे वे सर्वज्ञ हैं और सर्वज्ञ होनेके कारण वे जीवोंको उनके कर्मानुसार भोग प्रदान करते हैं । वे इन्द्रियोंके द्वारा आनन्द नहीं भोगते, बल्कि मनके द्वारा भोगते हैं । समस्त प्रपञ्चके रूपमें परिणत होनेवाली शक्ति परमेश्वरकी चिच्छक्ति है । उनका ज्ञान स्वतःसिद्ध है ।

आत्मा—श्रीकण्ठके मतसे आत्मा (जीव) अनादि, अज्ञानरूप वासनासे बद्ध, कर्मफलसे नाना प्रकारके शरीर धारण करनेवाला, परवश है । आत्मा शरीरमें प्रवेश करता है और निकलता है, परन्तु वह विभु (निःसीम) और नाना प्रकारके ताप भोगनेवाला तथा नाना प्रकारका है । जीव चेतन है, जीव बद्ध है । जीवकी शक्ति परिच्छिन्न है । जीव कर्त्ता, भोक्ता है । उसका कर्तृत्व स्वाभाविक है; वह देहादिरूप नहीं है, प्रकाश्य भी नहीं है । जीवात्मा न अव्यापक है, न क्षणिक है, न एक है और न अकर्ता है । मुक्त जीवका भी अन्तःकरण होता है । मुक्त जीव ब्रह्मके समान ऐश्वर्य प्राप्त करता है । जीवके बन्धन कट जानेपर वह ब्रह्मके समान गुणवाला बन जाता है । जीवका आनन्द खण्डित है । पाश नष्ट होनेपर जब जीव ब्रह्मभावको प्राप्त होता है तब वह अपने अन्तःकरणमें असीम आनन्दका अनुभव करता है ।

ब्रह्म और जगत् या सृष्टितत्त्व—आचार्य श्रीकण्ठके मतसे ब्रह्म ही जगत्के उपादान और निमित्त कारण हैं । उनकी परमा शक्तिमें जगत्का बीज निहित रहता है । सूक्ष्मरूपसे वे कारण हैं । स्थूलरूप उनका कार्य है । सूक्ष्म चित् और अचित्विशिष्ट ब्रह्म कारण हैं । स्थूल चित् और अचित्विशिष्ट ब्रह्म कार्य हैं । आचार्यके मतसे ब्रह्म ही जगत्रूपमें परिणत हुए हैं । ब्रह्मकी परमा शक्ति चिच्छक्ति है, चिच्छक्ति चिदाकाश है, चिदाकाश ही सब प्रपञ्चका कारण है । जन्म, स्थिति, प्रलय, तिरोभाव और अनुग्रह ये पाँच ब्रह्मके कृत्यपञ्चक हैं । ब्रह्म अनन्त शक्तिके

बलसे ही कार्य और कारण बन जाते हैं। श्रीकण्ठ परिणामवादी हैं।

मुक्ति—आचार्य श्रीकण्ठके मतसे शिवत्वप्राप्ति ही मुक्ति है। शिवके समान ऐश्वर्य और असीम आनन्द प्राप्त करना मुक्ति है। उनके मतसे मुक्ति साध्य है और उपासनाका फल है। ब्रह्मको जानकर उपासना करनेसे मुक्ति होती है। ब्रह्मकी कृपासे मुक्ति मिलती है।

'तत्त्वमसि' वाक्य—श्रीकण्ठकी रायमें 'तत्त्वमसि' महावाक्य उपासनापरक है। 'तुम वह हो'—इस रूपमें उपासना करनी चाहिये।

वेद—श्रीकण्ठ वेदको अपौरुषेय मानते हैं। उनके मतसे वेद शिववाक्य है। वेद अभ्रान्त है। वेदान्तवाक्योंका समन्वय ब्रह्ममें ही होता है। केवल सिद्ध ब्रह्ममें ही वेदान्तवाक्य पर्यवसित नहीं होते, वेदान्तवाक्य विधिका भी निर्देश करते हैं। उनके मतसे सब वेदान्तवाक्य ज्ञानोपासनाकी विधि प्रदान करते हैं। उनकी रायमें ब्रह्मज्ञानमें श्रुति ही प्रमाण है। अनुमान प्रमाण नहीं है। हाँ, श्रुतिके अनुकूल जो अनुमान है, उसे प्रमाणरूपमें लिया जा सकता है।

ब्रह्मविद्यामें शूद्राधिकार—आचार्य श्रीकण्ठ ब्रह्मविद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं मानते। वे कहते हैं कि इतिहास, पुराण आदिको सुननेसे शूद्रको जो ज्ञान होता है, उससे उसके पापका नाश हो जाता है।

कर्म और ज्ञान—आचार्य श्रीकण्ठ कर्म और ज्ञानका समुच्चय करते हैं। उनके मतसे कर्म भी मुक्तिका कारण है। उनकी रायमें धर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा एक ही शास्त्र है। धर्ममीमांसा मुक्तिका उपाय—ब्रह्मप्राप्तिका उपाय बतलाता है। पहले काम्य और निषिद्ध कर्मका त्याग करना चाहिये। फिर निष्काम कर्मयोगका आश्रय लेना चाहिये। उससे चित्तशुद्धि होगी और उसके फलस्वरूप ज्ञान और भक्तिका उदय होगा। भक्ति दृढ़ होनेपर उपासना और उपासनासे मुक्ति प्राप्त होगी। उनके मतसे शास्त्रद्वारा ब्रह्मको जानकर उपासना करनेसे ईश्वरके साथ समानता प्राप्त होती है।

श्रीअघोर शिवाचार्य

श्रीअघोर शिवाचार्य श्रीकण्ठमतके अनुयायी थे। वेदान्तसूत्रके ऊपर तो उन्होंने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, परन्तु मृगेन्द्रसंहिताकी व्याख्या लिखी है। शैवमतमें उनका ग्रन्थ प्रामाणिक माना जाता है। श्रीविद्यारण्य मुनिने सर्वदर्शनसंग्रहमें शैवदर्शनके प्रसङ्गमें अघोर शिवाचार्यके मतको उद्धृत किया है। श्रीकण्ठने चौथी-पाँचवीं शताब्दीमें जिस शैवमतको नवजीवन प्रदान किया था, उसीको पुष्ट करनेकी चेष्टा अघोर शिवाचार्यने ११ वीं शताब्दीमें की। और कोई बात उनके विषयमें नहीं मिलती।

द्वैतवाद या स्वतन्त्रास्वतन्त्रवादके प्रमुख आचार्य

द्वैतवाद या स्वतन्त्रास्वतन्त्रवादके प्रमुख आचार्य श्रीमध्व हैं और इसीसे इसका दूसरा नाम माध्वमत भी है। इस सम्प्रदायका कहना है कि इस मतके आदिगुरु ब्रह्मा हैं। ब्रह्मसूत्रमें विशिष्टाद्वैतवाद, भेदाभेदवाद और अद्वैतवादका उल्लेख मिलता है, परन्तु द्वैतवादका कोई उल्लेख नहीं मिलता। अवश्य ही विशिष्टाद्वैतवाद और भेदाभेदवाद भी द्वैतवादके ही अन्तर्गत हैं; सांख्यमत भी द्वैतवाद ही है। परन्तु श्रीमध्वाचार्यका स्वतन्त्रास्वतन्त्रवाद इनसे बिल्कुल भिन्न है। सांख्यके द्वैतवादमें दो पदार्थ हैं, पुरुष और प्रकृति। ये दोनों नित्य और सत्य हैं। माध्वमतसे जीव और ब्रह्म नित्य पृथक् हैं अर्थात् दोनों दो पृथक् पदार्थ हैं। श्रीरामानुज जीव और ब्रह्मका स्वगतभेद स्वीकार करते हैं, परन्तु सजातीय और विजातीय भेद नहीं मानते। ब्रह्म स्वतन्त्र हैं, जीव अस्वतन्त्र है। ब्रह्म और जीवमें सेव्य-सेवकभाव है। सेवक कभी सेव्य वस्तुसे अभिन्न नहीं हो सकता। भेदाभेदवाद भी विशिष्टाद्वैतवादके समान ही है। अतएव माध्वमतसे ये सब भिन्न हैं। श्रीमध्वाचार्यसे पहले इस मतका कोई उल्लेख नहीं मिलता। अवश्य ही उन्होंने पुराणादिका अनुसरण करके ही इस मतको स्थापित किया है।

मालूम होता है, श्रीमध्वाचार्यका स्वतन्त्रास्वतन्त्रवाद वैष्णवोंके भक्तिवादका फल है। जिन दिनों शांकरमत और भक्तिवादका देशमें संघर्ष चल रहा था, उन्हीं दिनों माध्वमतका उद्भव हुआ। घात-प्रतिघातके फलस्वरूप माध्वमत शांकरमतका एकदम विरोधी बन गया। भेदाभेदवाद और विशिष्टाद्वैतवादपर तो सम्भवतः शांकरमतका बहुत कुछ प्रभाव पड़ा, परन्तु माध्वमत उससे बिल्कुल अलग है। इस मतमें शांकरमतका बहुत तीव्र भाषामें खण्डन किया गया है। इस मतमें श्रीमध्वको वायुका पुत्र माना गया है। यह मत भी वैष्णवोंके चार प्रधान मतोंमेंसे एक है। अब हम इसके प्रमुख आचार्योंका संक्षिप्त विवरण देते हैं।

श्रीमध्वाचार्य

श्रीमध्वाचार्यका जीवनचरित श्रीनारायणकृत 'मध्वाचार्यविजय' और 'मणिमंजरी' में वर्णित है। इनका जन्म दक्षिण तुलुवदेशके वेलिग्राममें मधिजी भट्ट नामक एक वेदवेदाङ्गपारङ्गत ब्राह्मणके घर सन् ११९९ ई० में आश्विन शुक्ला १० (विजयादशमी) को हुआ था। इनकी माताका नाम वेदवती था। ब्राह्मणदम्पतीको दो पुत्र होकर मर गये थे। तब उन्होंने पुत्रकामनासे भगवान् श्रीनारायणकी उपासना की और एक बालकका जन्म हुआ। इस बालकका नाम ब्राह्मणने वासुदेव रक्खा। यज्ञोपवीत होनेके बाद वासुदेवाचार्य वेदाध्ययनके लिये ग्रामपाठशालामें भेजे गये। परन्तु बचपनमें इनका मन पढ़नेमें नहीं लगता था। वे थोड़े दिनोंमें ही दौड़ने, कूदने-फाँदने, तैरने और कुश्ती लड़ने आदिमें पारङ्गत हो गये। इस कारण इनका नाम भीम पड़ गया। कहा जाता है कि स्वयं वायु देवता ही भगवान् नारायणकी आज्ञासे मध्वाचार्यके रूपमें प्रकट हुए थे। इसीसे इनका नाम भीम भी सार्थक ही समझा जाता है।

ग्रामपाठशालाकी शिक्षा समाप्तकर वासुदेव अपने घरपर ही विभिन्न शास्त्रोंका अध्ययन करने लगे। इसी समय उनके चित्तमें संन्यासकी आकांक्षा उत्पन्न हुई। उन्होंने ११ वर्षकी उम्रमें ही अद्वैतमतके संन्यासी आचार्य सनककुलोद्भव अच्युतपक्षाचार्य (दूसरा नाम शुद्धानन्द) से दीक्षा ले ली। यहाँपर इनका नाम पूर्णप्रज्ञ रक्खा गया। संन्यास लेकर उन्होंने गुरुके पास वेदान्त पढ़ना आरम्भ किया, परन्तु इन्हें गुरुकी व्याख्यासे सन्तोष नहीं होता और ये उनकी व्याख्याका प्रतिवाद करने लगते थे। उनकी विद्वत्ताकी प्रशंसा चारों ओर होने लगी। जब वह वेदान्तशास्त्रमें पारङ्गत हो गये तब गुरुने उन्हें आनन्दतीर्थ नाम देकर मठाधीश बना दिया। आनन्दज्ञान, ज्ञानानन्द, आनन्दगिरि आदि नामोंसे भी यह प्रसिद्ध हुए। आनन्दतीर्थ अब मठाधीश होकर साधन-भजन करने लगे। बीच-बीचमें वह पण्डितोंसे शास्त्रार्थ भी करते थे। एक बार वह सन् १२२८ में दक्षिणविजय करनेके लिये निकले। उनके गुरु अच्युतपक्ष भी अन्यान्य साथियोंके साथ दक्षिण आये और मंगलौरसे २७ मील दक्षिण विष्णुमंगलम् स्थानमें ठहर गये। यहाँपर आचार्यने नाना प्रकारकी योगसिद्धियाँ दिखायीं।

कुछ दिन बाद यहाँसे वह त्रिवेन्द्रम् आये। यहाँके राजाकी सभामें शृंगेरीमठके अध्यक्षके साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। त्रिवेन्द्रम्से वह रामेश्वर आये। फिर वहाँसे वह श्रीरंगम् और वहाँसे पला नदीके तटवर्ती उदीपिमें आये। यहींपर उन्होंने गीताभाष्यकी रचना की और उसमें अपने मतका सारांश दे दिया। पीछे उसीके आधारपर उन्होंने वेदान्तसूत्रका भाष्य लिखा। कहते हैं कि गीताभाष्यकी रचना करके आचार्य बदरिकाश्रम गये और भगवान् व्यासदेवके प्रत्यक्ष दर्शन होनेपर इन्होंने उक्त ग्रन्थ व्यास भगवान्को समर्पण कर दिया। व्यासजीने प्रसन्न होकर इन्हें शालग्रामकी तीन मूर्तियाँ दीं। ये ही तीनों मूर्तियाँ आचार्यने सुब्रह्मण्य, उदीपि और मध्यतलमें प्रतिष्ठित कीं। शालग्रामजीके सिवा एक श्रीकृष्णमूर्तिकी भी स्थापना उदीपिमें आपने की थी। इस कृष्णमूर्तिप्रतिष्ठाका इतिहास इस प्रकार है। एक व्यापारीका जहाज द्वारकासे मलवारको जा रहा था। तुलुवके समीप वह डूब गया। उसमें एक कृष्णविग्रह गोपीचन्दनसे आवृत विराजमान था। मध्वाचार्यको भगवान्ने आदेश दिया, इसीसे उन्होंने मूर्तिको जलसे निकालकर उदीपिमें उसकी स्थापना की। तभीसे उदीपि मध्वमतानुयायियोंके लिये तीर्थ हो गया।

भगवान् व्यासदेवकी आज्ञासे आप वैष्णव सम्प्रदाय और भक्तिके प्रचारमें लग गये। इस प्रकार चलते-चलते अपने मतका प्रचार करते हुए वह चालुक्य साम्राज्यकी राजधानी कल्याणमें आये। यहाँपर उनके प्रधान शिष्य शोभन भट्टने उनसे दीक्षा ली। यही शोभन अपने गुरुके बाद मठाधीश हुए और उनका नाम पद्मनाभ तीर्थ पड़ा।

कल्याणसे मध्वाचार्य उदीपिमें वापस आये। यहाँपर, कहते हैं, उनके गुरु अच्युतपक्षाचार्यने भी वैष्णवमत स्वीकार कर लिया।

जो हो, उदीपिमें मध्वाचार्यने श्रीकृष्णमन्दिरकी स्थापनाके अतिरिक्त अपने शिष्योंकी सुविधाके लिये और भी आठ मन्दिर स्थापित किये, जिनमें श्रीराम-सीता, लक्ष्मण-सीता, द्विभुज कालियदमन, चतुर्भुज कालियदमन, विट्ठल, इस प्रकार आठ मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा की। आज भी इस सम्प्रदायके लोग इन मन्दिरोंमें दर्शन करनेके लिये जाते हैं। आचार्य मध्वने यज्ञमें पशुहिंसाका निवारण किया। पशुबलिके स्थानपर इन्होंने चावलोंका बकरा बनाकर बलि देनेका प्रचार किया। जिस तरह श्रीरामानुजाचार्यने विष्णुके शङ्ख

आदिकी छाप लेनेकी विधि दी है, उसी तरह श्रीमध्व भी शास्त्रद्वारा छाप लेनेका समर्थन करते हैं ।

पण्डित त्रिविक्रमने श्रीमध्वाचार्यसे दीक्षा ली । गुरुने शिष्यको एक कृष्णमूर्ति उपहारमें दी, जो आज भी कोचीन-राज्यमें विद्यमान है । इन्हीं पण्डित त्रिविक्रमके पुत्र पण्डित नारायण थे, जिन्होंने 'मध्वविजय' और 'मणिमंजरी' नामक ग्रन्थ लिखे । सम्भवतः सन् १२७५ में श्रीमध्वके पिताका देहावसान हुआ और उसके बाद उनके भाईने भी संन्यास ले लिया, जिनका नाम विष्णुतीर्थ पड़ा ।

श्रीमध्व अपने अन्तिम समयमें सरिदन्तर नामक स्थानमें रहते थे । यहींपर उन्होंने परमधामको प्रयाण किया । इस मतके लोगोंका कहना है कि आचार्यने लगभग ७९ वर्ष प्रचारकार्यमें बिताये और इस हिसाबसे उनका वैकुण्ठवास १३०३ ईसवीमें होना चाहिये । देहत्यागके समय आप अपने शिष्य श्रीपद्मनाभ तीर्थको श्रीरामजीकी मूर्ति और व्यासजीकी दी हुई शालग्रामशिला देकर कह गये कि तुम मेरे मतका प्रचार करना । गुरुके उपदेशानुसार पद्मनाभने चार मठ स्थापित किये ।

श्रीमध्वाचार्यने अपने जीवनके प्रायः ३० वर्ष ग्रन्थ-लेखनमें व्यतीत किये । इस बीच उन्होंने गीताभाष्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, अनुभाष्य, अनुव्याख्यान, प्रमाणलक्षण, कथालक्षण, उपाधिखण्डन, मायावादखण्डन, प्रपञ्चमिथ्यात्ववादखण्डन, तत्त्वसंख्यान, तत्त्वविवेक, तत्त्वोद्योत, कर्मनिर्णय, विष्णुतत्त्वविनिर्णय, ऋग्भाष्य, दशोपनिषद् (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक)-भाष्य, गीतातात्पर्यनिर्णय, न्यायविवरण, यमकभारत, द्वादशस्तोत्र, कृष्णामृतमहार्णव, तन्त्रसारसंग्रह, सदाचारस्मृति, भागवततात्पर्यनिर्णय और महाभारततात्पर्यनिर्णय, जयन्तीकल्प, संन्यासपद्धति, उपदेशसाहस्रीटीका, उपनिषत्प्रस्थान आदि अनेकों ग्रन्थोंकी रचना की ।

मत

श्रीमध्वाचार्यके मतसे ब्रह्म सगुण और सविशेष हैं । जीव अणुपरिमाण है । जीव भगवान्का दास है । वेद नित्य और अपौरुषेय है । पाञ्चरात्रशास्त्रका आश्रय जीवको लेना चाहिये । प्रपञ्च सत्य है । यहाँतक श्रीरामानुजके मतसे श्रीमध्वका मेल है । किन्तु पदार्थनिर्णय या तत्त्वनिर्णयमें दोनों आचार्योंमें मतभेद है । श्रीमध्वके मतानुसार पदार्थ या तत्त्व दो प्रकारका है—स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र । अशेष सद्गुणयुक्त भगवान् विष्णु स्वतन्त्र तत्त्व हैं । जीव और जड़ जगत् अस्वतन्त्र तत्त्व हैं । श्रीमध्व पूर्णरूपसे द्वैतवादी हैं । वह कहते हैं, जीव भगवान्का दास है । दास यदि प्रभुके साथ साम्यका बोध करे तो प्रभु उसे दण्ड देते हैं । उसी तरह जीवके भगवान्के साथ ऐक्यका अनुभव करनेपर अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि'का विचार करनेपर भगवान् जीवको नीचे गिरा देते हैं । इससे जीव अधोगतिको प्राप्त होता है । परमसेव्य भगवान्की सेवाके अतिरिक्त जीवको और कुछ नहीं करना चाहिये । स्वतन्त्र भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त करना ही एकमात्र पुरुषार्थ है । यह परम पुरुषार्थ भगवान्के गुणोंका ज्ञान हुए बिना नहीं प्राप्त हो सकता । 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंको सुननेसे वह ज्ञान नहीं होता । अङ्कन, नामकरण और भजनके द्वारा ही वह प्राप्त होता है । निर्वाणमुक्ति तो कहनेभरकी चीज है । सारूप्य, सालोक्य आदि मुक्ति ही परमार्थ है । इन्हीं बातोंको हृदयमें रखकर श्रीमध्वने स्वतन्त्रास्वतन्त्रवादकी स्थापना की ।

सत्य—दर्शनका तात्पर्य सत्य या तत्त्वनिर्णय है । शाङ्कर मतसे, जो सब अवस्थाओंमें, सब कालोंमें, सब देशोंमें अबाधित है, वही सत्य है । दृश्य वस्तु वास्तविक नहीं है, क्योंकि दृश्य बाधित है । ज्ञान ही सत्य है । परन्तु श्रीमध्वका कहना है कि यह बात ठीक नहीं; सत्य और दृश्य वस्तु अभिन्न हैं, उनमें भेद होना सम्भव नहीं । ज्ञाता और ज्ञेयके बिना ज्ञान असम्भव है ।

ज्ञान—आचार्य मध्वके कथनानुसार सब ज्ञान आपेक्षिक है । ज्ञाता और ज्ञेयके बिना ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । उनके मतमें ज्ञान और चिन्तन अभिन्न हैं । वह निर्विकल्प ज्ञानको स्वीकार नहीं करते । उनकी रायमें सब ज्ञान सविकल्पक हैं । सविकल्पक ज्ञानवादके विचारसे जिसकी सत्यता प्रमाणित होगी, वही सत्य है ।

वेद—वेद स्वतःसिद्ध और अपौरुषेय है । वेद सत्यस्वरूप और सत्यज्ञानका उपाय है । वेद स्वतःप्रमाण एवं नित्य है ।

प्रमाण—प्रमाणके बिना किसी विषयका यथार्थ ज्ञान नहीं होता । विचार करनेके लिये प्रमाणकी आवश्यकता होती है । जिसकी सहायतासे प्रमाण या यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रमाण कहते हैं । आचार्य मध्व इससे भी

आगे बढ़कर कहते हैं कि ज्ञान ही ज्ञेय वस्तुका प्रतिपादक है, ज्ञान ही प्रधान प्रमाण है ।

जगत्की सत्यता–आचार्य मध्वने जगत्की सत्यता सिद्ध की है । उनका कहना है कि जब ज्ञान निर्विकल्प नहीं है, तब विषय या दृश्य अवश्य सत्य है । ज्ञेय सत्य हुए बिना ज्ञानकी स्फूर्ति नहीं हो सकती । वह कहते हैं—कार्य क्षणिक होनेपर भी सत्य है । विकार होनेसे ही वह अनित्य होगा, ऐसी बात नहीं । कौन कहता है कि अनित्य और परिवर्तनशील होनेसे ही वह मिथ्या या अवान्तर होगा । सत्यका ज्ञान हुए बिना असत्यका ज्ञान नहीं होता । 'यह है' इस प्रामाणिक ज्ञानके ऊपर ही 'यह नहीं है' यह ज्ञान प्रतिष्ठित है । 'यह नहीं है' कहनेसे ही किसी वस्तुकी सत्ता प्रमाणित होती है । जो असत्य है, वह ज्ञानका विषय नहीं हो सकता । वह मिथ्याज्ञानका भी विषय नहीं हो सकता और न वह कार्य-कारणभाव-सम्बन्धसे सम्बद्ध हो सकता है । जो लोग जगत्को मिथ्या बतलाते हैं, वे कार्य-कारणके नियमका उल्लंघन और स्वप्रतिज्ञाका विरोध करते हैं।

भेद–आचार्यके मतानुसार वस्तुके साथ वस्तुका भेद है । वस्तुका वस्तुके साथ सम्बन्ध अवश्य स्वीकार करने योग्य है । सम्बन्ध होनेसे ही परस्पर भेद है । अतएव भेद सत्य है । इस भेदके ऊपर ही द्वैतवाद प्रतिष्ठित है ।

उपाधिखण्डन–आचार्य मध्वने 'उपाधिखण्डन' नामक अपने ग्रन्थमें सिद्ध किया है कि भेद पारमार्थिक है, औपाधिक भेदवाद श्रुतिविरुद्ध और युक्तिहीन है ।

मायावादखण्डन–आचार्य मध्वने अपने ग्रन्थोंमें सिद्ध किया है कि भेद मायिक नहीं है । भेद सत्य है । वह कहते हैं—'सत्यता च भेदस्य ।' ज्ञानके आपेक्षिकत्व और भेदके पारमार्थिकत्वपर ही मध्वदर्शन निर्भर करता है ।

ब्रह्मविद्याका अधिकारी–आचार्य मध्वके मतानुसार अधिकारी तीन प्रकारके होते हैं—मन्द, मध्यम और उत्तम । मनुष्योंमें जो उत्तमगुणसम्पन्न हैं वे मन्द, ऋषि-गन्धर्व मध्यम, और देवता उत्तम अधिकारी हैं । यह भेद जातिगत है । गुणगत भेद इस प्रकार है—परमपुरुष भगवान्में भक्तिभाव रखनेवाला और अध्ययनशील अधम, शमसंयुक्त व्यक्ति मध्यम, और जिसके अन्दर समस्त वस्तुओंके प्रति वैराग्य हो गया है, जिसने एकमात्र विष्णुके पदका आश्रय ले लिया है, वह उत्तम अधिकारी है ।

सम्बन्ध–ब्रह्म और शास्त्रमें प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है । ब्रह्म शास्त्रगम्य हैं । वह दर्शनीय वस्तु हैं, इसलिये वाच्य हैं । यदि वह अवाच्य होते तो वह दृष्टिके भी विषय न होते । 'वह मन-वाणीके अगोचर हैं' इस श्रुतिवाक्यका तात्पर्य यही है कि ब्रह्म अप्रसिद्ध हैं । जिस तरह पर्वतको देखनेपर भी उसका पूर्ण दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मको वाणीद्वारा पूर्णरूपसे प्रकट नहीं किया जा सकता ।

विषय–असीमसद्गुणसम्पन्न विष्णु प्रतिपाद्य हैं । जीव और विष्णु अत्यन्त भिन्न हैं । श्रुति, स्मृति, पुराण, सबमें विष्णुका ब्रह्मत्व सिद्ध किया गया है । विष्णु देश और कालद्वारा परिच्छिन्न नहीं हैं । वह असीम, अनन्त हैं; उनके गुणोंकी गिनती नहीं हो सकती । इसी अर्थमें वह निर्गुण हैं । वह असीम गुणोंके भण्डार हैं; जगत्की सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले हैं । वह निर्विशेष नहीं, बल्कि सविशेष हैं । अतएव सविशेष ब्रह्म ही विषय हैं ।

प्रयोजन–दुःखकी निवृत्ति और आनन्दकी प्राप्ति ही प्रयोजन है । ईश्वरका नामाङ्कन, नामकरण और भजन करनेसे वह प्रसन्न होते हैं । उनकी कृपासे सालोक्य, सारूप्य मुक्ति मिलती है । वैकुण्ठपति विष्णु ही सेव्य हैं । मुक्त पुरुष भी वैकुण्ठमें जाकर नारायणकी सेवा करते हुए परमानन्द प्राप्त करते हैं । यही प्रयोजन है । माध्वमतानुसार वैकुण्ठकी प्राप्ति ही मुक्ति है ।

तत्त्व–तत्त्व दो प्रकारके हैं—स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र । अशेषसद्गुणसम्पन्न विष्णु स्वतन्त्र और जीव तथा जगत् अस्वतन्त्र हैं ।

पदार्थ–आचार्य मध्वके मतसे पदार्थ दस हैं—(१) भाववस्तु, (२) गुण, (३) क्रिया, (४) जाति, (५) विशेषत्व, (६) विशिष्ट, (७) अंशी, (८) शक्ति, (९) सादृश्य और (१०) अभाव । ये सब पदार्थ परतन्त्र हैं । जो इनकी परतन्त्रताको जानते हैं, वे संसारसे मुक्त हो जाते हैं ।

ब्रह्म–ब्रह्म स्वतन्त्र तत्त्व और स्वतन्त्र प्रमेय हैं, वह अनन्त सद्गुणोंके आलय हैं । भाव और अभावके परे हैं । भाव-वस्तु दो प्रकारकी है—चेतन और अचेतन । जीव चेतन और जगत् अचेतन है । जीव और जगत् भगवान्के अधीन हैं । भगवान् इन दोनोंसे सर्वथा पृथक् हैं ।

आचार्यके मतानुसार ब्रह्मा, शिव आदिसे विष्णु श्रेष्ठ हैं। सब देवता उनके वशमें हैं। वही स्रष्टा, पालक और संहारक हैं। वही मुक्ति देते हैं। ब्रह्म काल, देश, गुण और शक्तिमें असीम हैं, इसलिये स्वतन्त्र हैं।

आत्मा और जीव—जीव अणु है। जीव प्रत्येक देहमें भिन्न है। जीव अस्वतन्त्र है। वह कभी भगवान्‌के साथ अभिन्न नहीं हो सकता। भगवान् सेव्य और जीव सेवक है। अतएव भगवान् जीवसे भिन्न हैं। आचार्यके मतमें जीव चेतन है, परन्तु उसका ज्ञान ससीम है। अतएव उसे ईश्वरपर पूर्णरूपसे निर्भर करना पड़ता है। चेतन जीव दो प्रकारका है—दुखी और दुःखरहित। दुखी जीव भी दो प्रकारके हैं—मुक्तिके योग्य और मुक्तिके अयोग्य। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे भी जीवके तीन भेद हैं।

जगत्—आचार्यके मतसे जगत् सत्, जड और अस्वतन्त्र है। भगवान् जगत्‌के नियामक हैं। जगत् कालकी दृष्टिसे असीम है। अचेतन वस्तु तीन प्रकारका है—नित्य, अनित्य और नित्यानित्य। आचार्यने जगत्‌की सत्यताको सिद्ध किया है और असत्यताका खण्डन किया है।

मुक्ति—श्रीमध्वाचार्यकी दृष्टिसे जीवन्मुक्ति और निर्वाणमुक्ति केवल बात-ही-बात है। इनका कोई अर्थ नहीं। उनके मतसे वैकुण्ठप्राप्ति ही मुक्ति है। उनके मतसे स्थूल, सूक्ष्म सब वस्तुओंका यथार्थ ज्ञान होनेसे मुक्ति होती है। ईश्वरसे जीव पूर्णरूपसे पृथक् है—इस ज्ञानकी पूर्णता प्राप्त होनेपर, ईश्वरके गुणोंकी उपलब्धि होनेपर, उनकी अनन्त, असीम शक्ति और गुणका बोध होनेपर, समस्त जागतिक पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका बोध होनेपर मुक्ति होती है। विष्णुके लोक और रूपकी प्राप्ति ही मुक्ति है। मुक्त जीव भी ईश्वरका सेवक है। मुक्तिके लिये पञ्च प्रपञ्चभेदका ज्ञान आवश्यक है। पाँच प्रपञ्चभेद ये हैं—(१) भगवान् जीवसे पूर्ण पृथक् हैं, (२) भगवान् जगत्‌से पूर्ण पृथक् हैं, (३) एक जीव अन्य जीवसे पृथक् है, (४) जीव जगत्‌से पृथक् है, और (५) जड जगत्‌के विभक्त या कार्यरूपमें परिणत होनेपर उसका एक अंश अन्य अंशसे पृथक् है।

साधन—भक्ति ही मुक्तिका साधन है। त्याग, भक्ति और ईश्वरकी प्रत्यक्ष अनुभूति मुक्तिका एकमात्र साधन है। ध्यानके बिना ईश्वरसाक्षात्कार नहीं होता। भगवान्‌में भक्ति, वेदाध्ययन, इन्द्रियसंयम, विलासिताका त्याग, आशा और भयसे उदासीनता, सांसारिक वस्तुओंकी नश्वरताका ज्ञान, सम्पूर्णरूपसे भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण—इन गुणोंके बिना भगवत्साक्षात्कार होना असम्भव है। भगवान्‌की सेवा करना उत्तम साधन है। सेवा तीन प्रकारकी है—भगवान्‌के आयुधोंकी छाप शरीरपर लेना, घरमें पुत्रादिका नाम भगवान्‌के नामपर रखना, और भजन।

दशविध भजन—सत्य बोलना, हितके वाक्य बोलना, प्रियभाषण और स्वाध्याय—ये चार प्रकारके वाचिक भजन हैं। सत्पात्रको दान देना, विपन्न व्यक्तिका उद्धार करना और शरणागतकी रक्षा करना—ये तीन शारीरिक भजन हैं। दया, स्पृहा और श्रद्धा—ये तीन मानसिक भजन हैं। दरिद्रका दुःख दूर करना दया है, केवल भगवान्‌का दास बननेकी इच्छाका नाम स्पृहा है और गुरु तथा शास्त्रमें विश्वास करना श्रद्धा है। इन दसों प्रकारके कार्य करके नारायणको समर्पित करना भजन है।

श्रीपद्मनाभाचार्य

श्रीपद्मनाभाचार्य श्रीमध्वके शिष्य थे। उनका नाम पहले शोभन भट्ट था। यह बहुत बड़े विद्वान् थे। चालुक्य साम्राज्यकी राजधानी कल्याणमें वह रहते थे और यहींपर उनका शास्त्रार्थ श्रीमध्वसे हुआ। शोभन भट्ट शास्त्रार्थमें हार गये और उन्होंने वैष्णवमत स्वीकार कर लिया। इसी समय उनका नाम पद्मनाभाचार्य पड़ा। श्रीमध्वके बाद वही मठाधीश हुए। पद्मनाभाचार्यने श्रीमध्वके ग्रन्थोंकी टीका लिखी थी। 'पदार्थसंग्रह' नामक एक प्रकरण-ग्रन्थ भी उन्होंने लिखा था, जिसमें मध्वाचार्यके मतका वर्णन किया गया है। 'पदार्थसंग्रह' के ऊपर उन्होंने 'मध्वसिद्धान्तसार' नामक व्याख्या भी लिखी थी। वह द्वैतवादी थे। श्रीमध्वमतके ही अनुयायी थे। वह प्रायः १३ वीं शताब्दीमें वर्तमान थे।

श्रीजयतीर्थाचार्य

श्रीजयतीर्थका जन्म दक्षिण भारतमें हुआ था। वह द्वैतवादी आचार्य थे। पद्मनाभाचार्यके बाद वह चौथे मठाध्यक्ष थे। पद्मनाभाचार्यके बाद नरहरि तीर्थ, फिर माधव तीर्थ, फिर अक्षोभ्य तीर्थ और फिर जयतीर्थ गद्दीपर बैठे। जयतीर्थ बड़े प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने तत्त्वप्रकाशिका, तत्त्वोद्योतटीका, तत्त्वसंख्यानटीका, तत्त्वविवेकटीका, न्याय-

कल्पलता, सम्बन्धदीपिका, प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानखण्डन-टीका, न्यायदीपिका, मायावादखण्डनटीका, विष्णुतत्त्व-विनिर्णयटीका, उपाधिखण्डनटीका, ईशावास्योपनिषद्की टीका, प्रश्नोपनिषद्की टीका, प्रमाणपद्धति, न्यायसुधा तथा वादावली नामक ग्रन्थोंकी रचना की। उन्होंने श्रीमध्वके ग्रन्थोंकी टीकाओं तथा अन्य सब ग्रन्थोंमें माध्वमतका ही विवेचन किया है। उनके मतमें मध्वमतसे कोई भिन्नता नहीं है। वह प्रायः १५ वीं शताब्दीमें हुए थे।

आचार्य व्यासराज स्वामी

आचार्य व्यासराज मध्वमतावलम्बी थे। श्रीमत् ब्रह्मण्य तीर्थ उनके गुरु थे। जयतीर्थाचार्यकी 'वादावली' का अनुसरण करके उन्होंने 'न्यायामृत' नामक ग्रन्थकी रचना की। वह एक अद्वितीय पण्डित थे। उनकी प्रतिभाको देखकर ही उनके ग्रन्थोंका नाम 'व्यासत्रयम्' पड़ गया। व्यासराज जयतीर्थाचार्यके बाद हुए थे। कहते हैं, मधुसूदन सरस्वतीने जिस समय उनके ग्रन्थ न्यायामृतका खण्डन अद्वैतसिद्धिमें किया था, उस समय व्यासराज वृद्ध थे। मधुसूदन १७ वीं शताब्दीके आरम्भमें वर्तमान थे। व्यासराजने अपने शिष्य व्यास रामाचार्यको मधुसूदनके पास भेजा था। व्यास राम मधुसूदनके शिष्य हुए और अन्तमें 'तरङ्गिणी' नामक ग्रन्थकी रचना करके उनके मतका खण्डन किया। इन सब बातोंसे मालूम होता है, व्यासराज १६ वीं शताब्दीमें हुए थे। व्यासराजने अपने ग्रन्थ 'न्यायामृत'में अपने विद्यागुरुका नाम लक्ष्मीनारायण मुनि लिखा है।

व्यासराज स्वामीने न्यायामृत, तात्पर्यचन्द्रिका, तथा भेदोज्जीवन नामक तीन ग्रन्थोंकी रचना की। इन ग्रन्थोंमें उन्होंने माध्वमतका ही प्रतिपादन किया है। उनके मतमें कोई अपनी विशेषता नहीं है।

व्यास रामाचार्य

व्यास रामाचार्य मध्वमतावलम्बी थे। आचार्य व्यासराज उनके गुरु थे। रामाचार्यने अपने ग्रन्थ 'तरंगिणी'में अपना कुछ परिचय दिया है। उनके पिताका नाम विश्वनाथ था। उनके पिता भी पण्डित थे। रामाचार्यका जन्म व्यासकुलमें हुआ था, उनका गोत्र उपमन्यु था। वह गोदावरीके तटपर अन्धपुरी नामक गाँवमें रहते थे। उनके बड़े भाईका नाम नारायणाचार्य था। कहते हैं, अपने गुरुकी आज्ञासे उन्होंने मधुसूदन सरस्वतीका शिष्यत्व ग्रहण किया और उनसे अद्वैतमतका तात्पर्य जानकर पीछे अद्वैतमतका खण्डन किया। इससे उनका काल १७ वीं शताब्दी मालूम होता है। उन्होंने न्यायामृतकी टीका 'तरंगिणी' के नामसे लिखी थी। उनका और कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। 'तरंगिणी'से उनके अपूर्व पाण्डित्यका परिचय मिलता है। इसमें उन्होंने अद्वैतमतका खण्डन किया है और माध्वमतका प्रतिपादन किया है। वह स्वतन्त्रास्वतन्त्रवादी थे।

श्रीराघवेन्द्र स्वामी

श्रीराघवेन्द्र स्वामी मध्वमतावलम्बी थे। उन्होंने जयतीर्थाचार्यकी टीकापर वृत्ति लिखी है। जयतीर्थके प्रधान-प्रधान सब ग्रन्थोंपर उन्होंने वृत्ति लिखी है। उनका मत श्रीमध्वाचार्यके मतसे मिलता-जुलता ही है। उनके ग्रन्थोंके नाम इस प्रकार हैं—तत्त्वोद्योतटीकाकी वृत्ति, न्यायकल्पलता-की वृत्ति, तत्त्वप्रकाशिकाकी वृत्ति-भावदीप, वादावलीकी टीका, मन्त्रार्थमंजरी, तत्त्वमंजरी, गीताविवृति और ईश, केन, प्रश्न, मुण्डक, छान्दोग्य और तैत्तिरीय उपनिषद्का खण्डार्थ। उनके ग्रन्थोंकी भाषा सरल है। वह प्रायः १७ वीं शताब्दीमें वर्तमान थे।

आचार्य वेदेश तीर्थ

आचार्य वेदेश तीर्थ मध्वमतावलम्बी थे। वह बहुत बड़े हरिभक्त थे। उन्होंने पदार्थकौमुदी, तत्त्वोद्योतटीका-की वृत्ति, कठोपनिषद्वृत्ति, केनोपनिषद्वृत्ति तथा छान्दोग्योपनिषद् आदिकी वृत्तिकी रचना की। उनका समय प्रायः १८ वीं शताब्दी है।

आचार्य श्रीनिवास तीर्थ

आचार्य श्रीनिवास तीर्थ १८ वीं शताब्दीमें आचार्य वेदेश तीर्थके समयमें ही हुए थे। उन्होंने अपने ग्रन्थमें श्रीवेदेशको प्रणाम किया है। परन्तु अपने गुरुका नाम उन्होंने यादवाचार्य लिखा है। सम्भवतः यादवाचार्यने जयतीर्थाचार्यकृत ब्रह्मसूत्रकी टीका 'न्यायसुधा' के ऊपर कोई विवृति लिखी थी, परन्तु वह ग्रन्थ शायद अभीतक प्रकाशित नहीं हुआ है। यादवाचार्यसे पढ़कर श्रीनिवासने न्यायामृत-जैसे प्रमेयबहुल ग्रन्थकी वृत्तिकी रचना की। उन्होंने अपने ग्रन्थमें लिखा है कि गुरुकी कृपासे ही मैंने इस ग्रन्थकी रचना की है। श्रीनिवासने 'न्यायामृतप्रकाश', तत्त्वोद्योतटीकाकी वृत्ति, 'कृष्णामृतमहार्णव'की टीका, तैत्तिरीय उपनिषद् और माण्डूक्योपनिषद्की वृत्ति आदि ग्रन्थ लिखे हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें मध्वमतका ही अनुसरण किया है। सब ग्रन्थोंमें उन्होंने मध्वमतका प्रतिपादन किया है। वह भी स्वतन्त्रास्वतन्त्रवादी थे।

द्वैताद्वैतमतके प्रमुख आचार्योंका परिचय

द्वैताद्वैतमत एक तरहसे भेदाभेदवाद ही है। इस मतके अनुसार द्वैत भी सत्य है और अद्वैत भी। इस मतके प्रधान आचार्य श्रीनिम्बार्क हो गये हैं। परन्तु यह मत भी है बहुत प्राचीन। ब्रह्मसूत्रमें भी द्वैताद्वैतवाद तथा उसके आचार्यका नाम मिलता है। दसवीं शताब्दीमें आचार्य भास्करने भेदाभेदवादके अनुसार वेदान्तसूत्रकी व्याख्या की। परन्तु यह व्याख्या ब्रह्मपर है, शिव या विष्णुपर नहीं है। ग्यारहवीं शताब्दीमें श्रीनिम्बार्कने ब्रह्मसूत्रकी विष्णुपरक व्याख्या करके द्वैताद्वैतमतकी स्थापना की। वैष्णवोंके प्रमुख चार सम्प्रदायोंमें एक निम्बार्क-सम्प्रदाय भी है। इसे सनकादि-सम्प्रदाय भी कहते हैं। ब्रह्माके जो चार मानसपुत्र सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार थे, वे चारों ऋषि इस मतके आचार्य कहे जाते हैं। छान्दोग्य उपनिषद्में सनत्कुमार-नारद-आख्यायिका प्रसिद्ध है। उसमें कहा गया है कि नारदने सनत्कुमारसे ब्रह्मविद्या सीखी थी। इन्हीं नारदजीने श्रीनिम्बार्कको उपदेश दिया। श्रीनिम्बार्कने भी अपने भाष्यमें सनत्कुमार और नारदके नामका उल्लेख किया है। जो हो, यह बात बिल्कुल ठीक है कि यह मत नया नहीं है, अपितु बहुत प्राचीन कालसे चला आ रहा है। श्रीनिम्बार्कने साम्प्रदायिक ढंगसे जिस मतकी शिक्षा पायी थी, उसे अपनी प्रतिभासे और भी उज्ज्वल बना दिया।

श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायकी गद्दी मथुराके पास यमुनाके तटवर्ती ध्रुवक्षेत्रमें है। वैष्णवोंका यह एक पवित्र तीर्थ माना जाता है। इस सम्प्रदायके लोग विशेषकर भारतके पश्चिमी भागमें ही रहते हैं। बंगालमें भी इस सम्प्रदायके कुछ लोग हैं। इस सम्प्रदायकी एक विशेषता यह है कि इसके आचार्योंने अन्य मतोंके आचार्योंकी तरह दूसरे मतोंका खण्डन नहीं किया है। केवल देवाचार्यके ग्रन्थोंमें शांकर मतपर आक्षेप देखा जाता है।

इस सम्प्रदायके प्रमुख आचार्योंका संक्षिप्त परिचय अब नीचे दिया जाता है—

श्रीनिम्बार्काचार्य

श्रीनिम्बार्काचार्यका दूसरा नाम नियमानन्द था। इसी नामसे देवाचार्यने अपने ग्रन्थमें उन्हें नमस्कार किया है। निम्बार्क या निम्बादित्यका नाम पहले भास्कराचार्य था। निम्बार्कसम्प्रदायके लोगोंमें यह बात प्रचलित है कि निम्बादित्य सूर्यके अवतार थे और पाखण्डरूप अन्धकारका नाश करनेके लिये भूमण्डलपर अवतीर्ण हुए थे। कुछ महानुभाव इन्हें भगवान्के प्रिय आयुध श्रीसुदर्शनचक्रका अवतार मानते हैं। उनके विषयमें एक घटना भी प्रसिद्ध है। कहते हैं, वह वृन्दावनके पास रहते थे। एक बार एक दण्डी—किसी-किसीके मतसे एक जैन उदासीन—उनके आश्रमपर आये। दोनोंमें विचार शुरू हुआ और शामतक होता रहा। भास्कराचार्य अपने अतिथिको कुछ भोजन कराना चाहते थे, परन्तु दण्डी या जैन लोगोंके लिये सन्ध्या या रात्रिमें भोजन करना निषिद्ध है। अतएव अतिथिने उनके आग्रहको अस्वीकार कर दिया। तब भास्कराचार्यने अपनी योगसिद्धिसे सूर्यकी गतिको रोक दिया। सूर्य उनकी आज्ञासे समीपके एक नीमके वृक्षपर स्थित हो गये। जब अतिथिका भोजन तैयार हुआ और वह समाप्त कर चुके तब सूर्य भास्कराचार्यकी आज्ञा लेकर अस्त हो गये। तभीसे भास्कराचार्यका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य प्रसिद्ध हो गया। इससे मालूम होता है, वह एक महान् योगी थे। उनके नामसे ऐसा मालूम होता है कि वह संन्यासी थे।

श्रीनिम्बार्कके जीवनके विषयमें इससे अधिक कोई बात नहीं मालूम होती। वह कब हुए, यह भी निश्चित करना कठिन मालूम होता है। निम्बार्कसम्प्रदायके मतसे वह पाँचवीं शताब्दीमें हुए थे। भक्तोंका यह विश्वास है कि आपका प्राकट्य द्वापरयुगमें हुआ था। वर्तमान अन्वेषक-गणोंके मतानुसार उनका आविर्भावकाल ११ वीं शताब्दी है। ऐसा माना जाता है कि ये दक्षिण देशमें गोदावरीके तटपर वैदूर्यपत्तनके निकट अरुणाश्रममें श्रीअरुणमुनिकी पत्नी श्रीजयन्तीदेवीके गर्भसे उत्पन्न हुए। कोई-कोई इनके पिताका नाम जगन्नाथ मानते हैं। कहा जाता है कि उपनयन संस्कारके समय स्वयं देवर्षि नारदजीने इन्हें श्रीगोपालमन्त्रकी दीक्षा और श्री-भू-लीलासहित श्रीकृष्णोपासनाका उपदेश दिया था। निम्बादित्यसम्प्रदायकी दो श्रेणियाँ हैं, एक विरक्त और दूसरी गृहस्थ। आचार्यके दो शिष्य केशव भट्ट और हरिव्यास थे, उन्हींसे ये दो श्रेणियाँ निकली हैं। हरिव्यासके अनुयायी गृहस्थ और केशव भट्टके

अनुयायी विरक्त होते हैं। निम्बार्कसम्प्रदायमें राधाकृष्णकी पूजा होती है और लोग गोपीचन्दनका तिलक करते हैं। श्रीमद्भागवत इस सम्प्रदायका मुख्य ग्रन्थ है।

श्रीनिम्बार्काचार्यका केवल एक ग्रन्थ 'वेदान्तपारिजात-सौरभ' ही मिलता है। यह वेदान्तसूत्रकी व्याख्या है। यह ग्रन्थ अत्यन्त संक्षिप्त है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कृष्णस्तवराज, गुरुपरम्परा, वेदान्ततत्त्वबोध, वेदान्तसिद्धान्तप्रदीप, स्वधर्माध्वबोध, ऐतिह्यतत्त्वसिद्धान्त आदि कई ग्रन्थोंकी रचना की थी। आपके द्वारा रचित दो श्लोक देवाचार्य और सुन्दर भट्टके ग्रन्थोंमें मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं—

ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं
शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं
ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः॥
सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं
श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं
त्रिरूपतापि श्रुतिसूत्रसाधिता॥

मत

आचार्य निम्बार्कके मतानुसार ब्रह्म, जीव और ज़ड अर्थात् चेतन और अचेतनसे अत्यन्त पृथक् और अपृथक् हैं। इस पृथक्त्व और अपृथक्त्वके ऊपर ही उनका दर्शन निर्भर करता है। जीव और जगत् दोनों ब्रह्मके परिणाम हैं। जीव ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न और अभिन्न है। जगत् भी उसी प्रकार भिन्न और अभिन्न है। द्वैताद्वैतवादका यही सार है। आचार्यके मतका सारांश इस प्रकार है—

ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी—आचार्य निम्बार्कके मतसे वेदाध्ययनके बाद कर्मफलका विचार आरम्भ होता है। उसके अनुसार धर्मतत्त्वका जिज्ञासु कर्मकी मीमांसा करता है। कर्मफल नश्वर मालूम होनेपर कर्मका वह निरादर करता है। उस समय मुमुक्षु श्रीभगवान्का गुणश्रवण करके उनके प्रति आकृष्ट होता है और भगवान्की प्रसन्नता तथा उनके दर्शन प्राप्त करनेकी इच्छासे सद्गुरुकी शरण ग्रहण करता है। वह भक्तिपूर्वक अनन्त, अचिन्त्यशक्ति, ब्रह्मशब्दवाच्य पुरुषोत्तमके विषयमें जानकारी प्राप्त करनेकी इच्छा करता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि कर्ममीमांसाके बाद भक्तिका उदय होनेपर ब्रह्ममीमांसाका अधिकार प्राप्त होता है।

सम्बन्ध—ब्रह्म और शास्त्रमें वाच्यवाचकभाव-सम्बन्ध है। शास्त्रद्वारा ही ब्रह्मज्ञान होता है।

अभिधेय या विषय—ब्रह्म ही जिज्ञासाके विषय हैं। आचार्य कहते हैं—

सर्वभिन्नाभिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासाविषयः।

प्रयोजन—भगवान्की प्रसन्नता और दर्शन प्राप्त करना ही प्रयोजन है। उसीसे सब दुःखोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्म—श्रीनिम्बार्कके मतसे ब्रह्म सर्वशक्तिमान् हैं। उनका सगुणभाव ही मुख्य है। ब्रह्म जगत्रूपमें परिणत होनेपर भी निर्विकार हैं। जगत्से अतीत रूपमें वे निर्गुण हैं। स्वरूपतः ब्रह्म जगत्से अतीत हैं, प्रलयावस्थामें समस्त जगत् उनमें लीन होता है, परन्तु लीन होनेपर भी उनमें विकार उत्पन्न नहीं करता। गुण और गुणीमें अभेद है; अभेद होनेके कारण ब्रह्म स्वरूपतः निर्गुण और सृष्टिके कारण रूपमें सगुण हैं।

ब्रह्म और जीव—जीव ब्रह्मका अंश है, ब्रह्म अंशी हैं। जीव और ब्रह्म भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। अंश-अंशी होनेके कारण, अज्ञ और ज्ञ होनेके कारण जीव-ब्रह्ममें भेद है और 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतिवाक्य दोनोंकी अभिन्नता प्रकट करते हैं।

ब्रह्म और जगत्—ब्रह्म जगत्के निमित्त और उपादान कारण हैं। ब्रह्म ही जगत्रूपमें परिणत हुए हैं। प्रलयमें जगत् ब्रह्ममें लीन हो जाता है। जगत्रूपमें परिणत होने तथा जगत्के लीन होनेपर भी ब्रह्ममें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। यही उनकी सर्वशक्तिमत्ता है।

जीव—बद्ध और मुक्त—जीव अणु है, विभु नहीं है। जीव अल्पज्ञ है। मुक्तावस्थामें भी वह जीव ही है। जीवका नित्यत्व चिरस्थायी है। मुक्त जीव भी अणु है। मुक्त और बद्ध जीवमें यही भेद है कि बद्धावस्थामें जीव अपनी ब्रह्मस्वरूपता और जगत्की ब्रह्मस्वरूपताकी उपलब्धि नहीं कर सकता। वह दृश्य जगत्के साथ एकात्मताको प्राप्त किये रहता है। किन्तु मुक्तावस्थामें जीव ब्रह्मके साथ अपने और जगत्के अभिन्नत्वका अनुभव करता है। वह अपनेको और जगत्को ब्रह्मरूपमें ही देखता है।

तत्त्वमसि वाक्य—यह जीव-ब्रह्मकी अभिन्नता बतलाता है। यह जीव और ब्रह्मका साम्य नहीं सूचित करता, बल्कि उनका सादृश्य बतलाता है।

साधन—आचार्यके मतसे भक्ति ही साधन है। उपासनाद्वारा ही ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। भक्ति ही मुक्तिका उपाय है। आचार्यके मतानुसार ब्रह्मका सगुण और निर्गुण दोनों रूपोंमें विचार किया जा सकता है। उपासनाके फलस्वरूप अर्चिरादि मार्गसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है।

आचार्य श्रीनिवास

आचार्य श्रीनिवास श्रीनिम्बार्कके शिष्य थे। वह श्रीनिम्बार्कके ही मतके अनुयायी थे। उन्होंने अपने गुरुके मतको श्रुति और युक्तिबलसे प्रतिपादित करनेके लिये 'वेदान्तकौस्तुभ' नामक ग्रन्थकी रचना की। यह भाष्य भी श्रीनिम्बार्कके भाष्यके समान ही संक्षिप्त है। उनका ग्रन्थ भी निम्बार्कसम्प्रदायमें प्रामाणिक माना जाता है। उनके जीवनके विषयमें विशेष कुछ नहीं मालूम होता। वह भी सम्भवतः ११ वीं शताब्दीमें ही हुए थे।

आचार्य श्रीयादवप्रकाश

आचार्य श्रीयादवप्रकाश भी भेदाभेदवादी थे। उनके मतसे जीव और ब्रह्मका भेद और अभेद स्वाभाविक है। यादवप्रकाश काञ्ची नगरीमें पहले अद्वैत मतके आचार्य थे। उन्हींसे श्रीरामानुजाचार्यने वेदान्त पढ़ना आरम्भ किया था। परन्तु उनकी व्याख्यासे श्रीरामानुजको सन्तोष नहीं हुआ। बात यहाँतक बढ़ी कि गुरु-शिष्यमें बड़ा मनोमालिन्य बढ़ गया, श्रीरामानुजको पढ़ना बन्द करना पड़ा और श्रीयादवने, कहते हैं, उन्हें मार भी डालना चाहा। परन्तु अपने षड्यन्त्रमें वह सफल नहीं हुए। श्रीरामानुजाचार्यके जीवनीकारोंका मत है कि श्रीयादवप्रकाशने आगे चलकर श्रीरामानुजाचार्यका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। परन्तु इस बातका कोई प्रमाण नहीं मिलता। श्रीयादवप्रकाशने 'यतिधर्मसमुच्चय' और 'वैजयन्ती' नामक अभिधानकी रचना की। मालूम होता है, श्रीयादवप्रकाशने ब्रह्मसूत्रकी भी व्याख्या की थी; परन्तु वह ग्रन्थ अब नहीं मिलता। श्रीरामानुजने अपने 'वेदान्तदीप' में उनके मतका खण्डन किया है। श्रुतप्रकाशिकाकारने भी कई स्थानोंमें श्रीयादवका नामोल्लेख किया है। श्रीयादव सन्मात्र ब्रह्मवादी थे। आचार्यके मतसे दुःखत्रयका उपशमन करनेके लिये ही ब्रह्मविचार किया जाता है। एक अद्वितीय सन्मात्र, किन्तु अनेक शक्तिशाली ब्रह्मसे चिदचिद् समग्र जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और नाश होता है। शास्त्रद्वारा ही ब्रह्मको जाना जाता है, अन्य प्रमाणोंसे नहीं।

श्रीपुरुषोत्तमाचार्य

श्रीपुरुषोत्तमाचार्य द्वैताद्वैतवादी थे। उन्होंने श्रीनिम्बार्कके ही मतका अनुसरण कर उसे और भी पुष्ट करनेकी चेष्टा की। उनका एक ग्रन्थ 'वेदान्तरत्नमञ्जूषा' मिलता है। उन्होंने इसमें द्वैताद्वैतमतकी व्याख्या की है। यह ग्रन्थ भी संक्षेपमें ही लिखा गया है। उनके जीवनके विषयमें और कोई बात नहीं मालूम होती। उनका काल सम्भवतः १२ वीं शताब्दीका प्रथम भाग था।

श्रीदेवाचार्य

श्रीदेवाचार्य द्वैताद्वैतमतके आचार्य थे। उनका जन्म तैलंग देशमें हुआ था। वह सम्भवतः १२ वीं शताब्दीके शेष भागमें वर्तमान थे। निम्बार्कसम्प्रदायका विश्वास है कि वह भगवान्‌के हाथमें स्थित कमलके अवतार थे। उन्होंने कृपाचार्यसे वेदान्तकी शिक्षा ली थी; परन्तु यह कृपाचार्य कौन थे, इसका कुछ पता नहीं लगता। देवाचार्यके ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि उन्होंने शांकर मत तथा निम्बार्कमतका खूब अध्ययन किया था। देवाचार्यके दो ग्रन्थ मिलते हैं—'वेदान्तजाह्नवी' तथा 'भक्तिरत्नाञ्जलि'। इन ग्रन्थोंमें देवाचार्यने निम्बार्कमत तथा भक्तिका प्रतिपादन किया है और शांकर मतका खण्डन किया है। उनका मत प्रायः वही है जो श्रीनिम्बार्कका है।

श्रीकेशवाचार्य

श्रीकेशवाचार्य आचार्य श्रीनिवासके भाष्यके व्याख्याता हैं। वह १५ वीं शताब्दीमें वर्तमान थे। वह श्रीचैतन्य महाप्रभुके समयमें जीवित थे। श्रीनिम्बार्काचार्यके 'वेदान्तपारिजातसौरभ' का भाष्य 'वेदान्तकौस्तुभ' के नामसे श्रीनिवासाचार्यने लिखा और फिर 'वेदान्तकौस्तुभ' की टीका श्रीकेशवाचार्यने लिखी। वह श्रीनिम्बार्कके मतके ही अनुयायी थे।

आचार्य विश्वनाथ चक्रवर्ती

आचार्य विश्वनाथ चक्रवर्तीका जन्म बंगालमें हुआ था। वह १८ वीं शताब्दीमें वर्तमान थे। वह निम्बार्कमतावलम्बी

थे। उन्होंने श्रीमद्भागवतकी टीका लिखी है, जिसका निम्बार्कसम्प्रदायमें बड़ा आदर है। जिस तरह अद्वैत मतमें 'श्रीधरी', रामानुजसम्प्रदायमें 'वीरराघवी', मध्वसम्प्रदायमें 'विजयध्वजी', वल्लभसम्प्रदायमें 'सुबोधिनी' तथा गौड़ीय सम्प्रदायमें 'क्रमसन्दर्भ' प्रामाणिक माना जाता है, उसी तरह निम्बार्कसम्प्रदायमें श्रीविश्वनाथकी टीका प्रामाणिक मानी जाती है। उन्होंने गीतापर भी एक सुन्दर टीका लिखी है।

* * *

भेदाभेदवाद और उसके आचार्य

ब्रह्मसूत्रमें भेदाभेदवादी आचार्य औडुलोमिका नाम मिलता है। इससे माल्रूम होता है, यह मत भी बहुत प्राचीन समयसे भारतमें प्रचलित है। भगवान् वेदव्यासके समयमें भी भेदाभेदवादका प्रचार था। अन्य आचार्योंने भी इस मतका उल्लेख किया है। इसी मतको आठवीं-नवीं शताब्दीमें भास्कराचार्यने नवजीवन प्रदान किया और तदनुकूल वेदान्तसूत्रकी व्याख्या करके उसका प्रचार करनेकी चेष्टा की। जिन दिनों शांकर मत देशभरमें अपना अधिकार जमाये हुए था, उन्हीं दिनों भास्कराचार्यने इस मतको स्थापित करनेकी चेष्टा की। यह मत भी विशिष्टाद्वैतवादके ही अन्तर्गत है। इस मतके प्रमुख आचार्य श्रीभास्कर हैं। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

श्रीभास्कराचार्य

महाराष्ट्र देशके नासिक क्षेत्रके पास एक ताम्रपत्र मिला है, जिससे श्रीभास्कराचार्यके जीवनके सम्बन्धमें कुछ बातें माल्रूम होती हैं। उस पत्रके अनुसार वैदान्तिक भट्टभास्कर 'सिद्धान्तशिरोमणि'-कार ज्योतिषी भास्कराचार्यके पूर्वपुरुष थे। उनका जन्म शाण्डिल्य गोत्रमें हुआ था। उनके पिताका नाम त्रिविक्रम था। वह कविचक्रवर्ती थे और ज्योतिषी भास्कराचार्यके छठे पूर्वपुरुष थे। 'सिद्धान्तशिरोमणि' के रचयिता भास्करने अपने ग्रन्थमें जो परिचय दिया है, उससे माल्रूम होता है कि वैदान्तिक भास्कर सह्यपर्वतके पास 'विजड़विड़' नामक स्थानमें रहते थे। कन्नौजके राजा भोजराजने उन्हें 'विद्यापति'की उपाधि प्रदान की थी। सम्भवतः यह नवीं शताब्दीके आरम्भमें वर्तमान थे। श्रीभास्कराचार्यने ब्रह्मसूत्रपर एक भाष्य लिखा था। इस भाष्यमें श्रीभास्कराचार्यने सर्वत्र शांकर मतका खण्डन करनेकी चेष्टा की है। इस ग्रन्थमें शांकर मतको बौद्धवाद कहा गया है। सर्वप्रथम भास्कराचार्यने ही शांकर मतको बौद्ध मत कहा था।

मत

आचार्य भास्करके मतानुसार परमानन्द प्राप्त करना ही परम पुरुषार्थ है। ब्रह्मज्ञानसे ही यह परम पुरुषार्थ सिद्ध हो सकता है। वेदान्तवाक्योंके सहारे ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। उपासनाके द्वारा ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर जीव और ब्रह्म अभिन्न हो जाते हैं। संसारावस्थामें जीव और ब्रह्म भिन्न-भिन्न होते हैं। मुक्तावस्थामें जीव और ब्रह्म अभिन्न रहते हैं।

अधिकारी—आचार्य भास्करके मतसे धर्मज्ञानके बाद ब्रह्मविचार होता है। कर्मविचार पूरा होनेपर ब्रह्मजिज्ञासा आरम्भ होती है। उनकी रायमें ज्ञान और कर्मका समुच्चय करना ही सूत्रकारका उद्देश्य था। उन्होंने कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसाको एक शास्त्र माना है। धर्मजिज्ञासाके पहले ब्रह्मजिज्ञासा नहीं हो सकती। कर्मका फल क्षणिक होनेपर भी ज्ञानयुक्त कर्मका फल अक्षय होता है। कर्म ज्ञानप्राप्तिका कारण है, कर्म मुक्तिका कारण है; अतएव धर्मज्ञानसम्पन्न प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी है। इस विषयमें आचार्य श्रीकण्ठ और श्रीरामानुजके साथ श्रीभास्करका मत मिलता है, श्रीशङ्करके साथ नहीं मिलता। बल्कि श्रीभास्करने इस स्थलपर शाङ्कर मतका खण्डन किया है।

विषय—आचार्य भास्करके मतसे ब्रह्म ही विषय है; ब्रह्म-

विचार ही परम पुरुषार्थ है । उपासनाके द्वारा ब्रह्मके साथ अभिन्नताका बोध होता है और उससे फिर परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है । जीव और ब्रह्म भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। संसारावस्थामें जीव और ब्रह्म—आत्मा और ब्रह्म भिन्न हैं। मुक्तावस्थामें सब विकारोंके दूर होनेपर जीव और ब्रह्म अभिन्न हो जाते हैं। कार्यरूपमें बहुत्वका बोध होता है और कारणरूपमें अभेदका । भेदाभेदका निरूपण ही विषय है। उनका सिद्धान्त है—

अतो भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्मेति स्थितम् ।

उनके मतसे ब्रह्म 'आप्य' हैं। अविद्याकी निवृत्ति होनेपर ब्रह्मकी प्राप्ति होती है । वह कहते हैं—उत्पाद्य, बिकार्य और संस्कार्य, इन तीन प्रकारके कर्मोंकी सम्भावना न रहनेपर भी 'आप्य' कर्मकी सम्भावना रहती है ।

श्रीशङ्करके मतसे ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है और अविद्याकी निवृत्ति होनेपर ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। श्रीभास्कर कहते हैं—कर्मसहित ज्ञानके द्वारा ब्रह्मप्राप्ति होती है ।

सम्बन्ध—आचार्य भास्करकी दृष्टिमें उपनिषद् और ब्रह्ममें प्रतिपादक-प्रतिपाद्यभाव सम्बन्ध है। उनकी रायमें केवल शास्त्र ही प्रमाण है ।

प्रयोजन—आचार्य भास्करके मतानुसार सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और असीम आनन्दकी प्राप्ति ही प्रयोजन है । अनात्म देहादिसे आत्मबुद्धि निवृत्त होनेके बाद देहादिका पतन होनेपर अत्यन्त आनन्द होता है । आनन्दप्राप्ति ही प्रयोजन है।

ब्रह्म—श्रीभास्करमतसे ब्रह्म सगुण और निराकार है। सल्लक्षण और बोधलक्षण है । ब्रह्म सत्यज्ञानानन्तलक्षण है । ब्रह्म चैतन्य है, रूपान्तररहित है । ब्रह्म अद्वितीय है, प्रलयावस्थामें समस्त विकार ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। ब्रह्म निराकाररूपमें उपास्य हैं, निराकाररूप ब्रह्मका कारणरूप है—

निराकारमेवोपास्यं शुद्धं कारणरूपम् ।

ब्रह्म कारणरूपमें निराकार और कार्यरूपमें जीव तथा प्रपञ्च है । ब्रह्मकी दो शक्तियाँ हैं—भोग्यशक्ति और भोक्तृशक्ति । भोग्यशक्ति ही आकाशादि अचेतनरूपमें परिणत होती है तथा भोक्तृशक्ति चेतन, जीवरूपमें विद्यमान रहती है । ब्रह्मकी शक्ति पारमार्थिक है । ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् हैं । ब्रह्म जगद्रूपमें परिणत होनेपर भी प्रपञ्चाकाराकारित नहीं होते ।

ब्रह्म और जगत्—जगत् ब्रह्मात्मक है । परन्तु ब्रह्म जगद्रूपको नहीं प्राप्त होते । आचार्य परिणामवादी हैं । उनके मतसे ब्रह्म जगत्के निमित्त और उपादान कारण हैं। मकड़ा जिस प्रकार अपने शरीरसे सूत निकालकर जाल फैलाता है और फिर अपने शरीरमें ही समेट लेता है, उसी प्रकार ब्रह्मसे जगत्का परिणाम है । उनके मतसे जगत् सत् है और कारणरूपसे ब्रह्म अरूप हैं ।

जीव या आत्मा—श्रीभास्करकी रायमें ब्रह्म ही जीवरूपमें परिणत होते हैं । जीव ब्रह्मका अंश है । वह कहते हैं—'तदंशभूता जीवा इति ।' ब्रह्मकी भोक्तृशक्ति चेतना है और वही जीव है । अतएव जीव ब्रह्मकी शक्ति है । जीव विकाररहित है । कारणात्मक ब्रह्मका ध्यान करनेपर, 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ध्यान करनेपर जीव ब्रह्मभावको प्राप्त होता है । देहादिमेंसे आत्मभाव दूर होनेपर देहके पतनपर जीव ब्रह्ममें लय हो जाता है और सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और अत्यन्त आनन्द प्राप्त करता है ।

मुक्ति—आचार्यके मतसे उपासनाका फल मुक्ति है । 'अहं ब्रह्मास्मि' इस भावसे कारणात्मक निर्विकार ब्रह्मकी उपासना करनेसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति होती है । ब्रह्मके सर्वज्ञता आदि गुणोंकी प्राप्ति होती है। देहनाश होनेपर ब्रह्मके साथ अभिन्नता प्राप्त होती है । जीवन्मुक्तिको वह स्वीकार नहीं करते। उनके मतसे ज्ञानीका भी उत्क्रमण होता है । ब्रह्मप्राप्ति ही उनकी दृष्टिमें परम पुरुषार्थ है। मुक्तावस्थामें मुक्त पुरुषकी आत्मरूपमें स्थिति होती है।

ज्ञान और कर्म—आचार्य भास्कर ज्ञान-कर्मसमुच्चयवादी हैं । उनके मतसे ज्ञान आपेक्षिक है । वह अखण्ड ज्ञानवादी नहीं हैं । उनकी रायमें ब्रह्मविषयक ज्ञान मिथ्या नहीं हो सकता । ज्ञान क्रिया नहीं है, अनुभव ही ज्ञान है ।

वेद—आचार्यके मतानुसार वेद स्वतःप्रमाण है । वेद नित्य है ।

शुद्धाद्वैतवादके प्रधान-प्रधान आचार्य

चार प्रधान वैष्णवसम्प्रदायोंमें एक रुद्र-सम्प्रदाय भी है। रुद्र-सम्प्रदाय ही शुद्धाद्वैतवादी है। इसके अर्वाचीन प्रवर्त्तक और प्रचारक श्रीमद्वल्लभाचार्य थे। इस सम्प्रदायमें बालगोपालविग्रहकी पूजा होती है। श्रीरुद्रदेवने बालखिल्य ऋषियोंको उपदेश किया था, वही उपदेश शिष्यपरम्परासे चलता हुआ विष्णुस्वामीको प्राप्त हुआ; अतएव इधर सर्वप्रथम वेदान्तभाष्यकार श्रीविष्णुस्वामीने ही शुद्धाद्वैतवादका प्रचार किया। कहते हैं कि उनके शिष्यका नाम ज्ञानदेव था। ज्ञानदेवके शिष्य नाथदेव और त्रिलोचन थे। उन्हींकी परम्परामें श्रीवल्लभाचार्यका आविर्भाव हुआ। कहते हैं कि दक्षिणके विष्णुस्वामी पाण्ड्यविजय राज्यके श्रीराजगुरु देवेश्वरके पुत्ररूपसे प्रकट हुए थे। इनके पूर्वाश्रमका नाम देवतनु था। इन्होंने वेदान्तसूत्रोंपर 'सर्वज्ञसूक्त' नामक एक भाष्य लिखा था। कहते हैं कि इनके बाद दो विष्णुस्वामी और हुए, इसीसे इन्हें 'आदि विष्णुस्वामी' कहते हैं।

दूसरे विष्णुस्वामी आठवीं शताब्दीमें दक्षिणमें हुए। कहते हैं कि श्रीकाञ्चीमें भगवान् श्रीवरदराजकी और श्रीराजगोपालदेवकी प्रतिष्ठा इन्होंने ही की थी। श्रीद्वारिकापुरीके रणछोरजी भी इन्हींके स्थापित कहे जाते हैं। प्रसिद्ध श्रीकृष्णकर्णामृतकार लीलाशुक श्रीबिल्वमङ्गलजी भी इन्हींके प्रशिष्योंमें माने जाते हैं।

तीसरे विष्णुस्वामी आन्ध्र देशमें हुए, इन्हींकी शिष्यपरम्परामें श्रीलक्ष्मण भट्टजी विशेष प्रसिद्ध हुए। असलमें ये सुनी-सुनायी बातें हैं, श्रीविष्णुस्वामी महाराजका कोई निश्चित इतिहास नहीं मिलता। जो कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि आचार्य श्रीवल्लभ शुद्धाद्वैतवादके सर्वप्रथम प्रवर्त्तक नहीं थे, उन्होंने किसी आचार्यसे ही इस मतकी शिक्षा प्राप्त की थी। अवश्य ही इसका प्रसार श्रीवल्लभद्वारा ही हुआ और उन्होंने ही इस मतानुसार ग्रन्थोंकी रचना करके इसे भलीभाँति पुष्ट किया। यह मत माध्वमतसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इस मतके प्रधान-प्रधान आचार्योंका विवरण इस प्रकार है—

श्रीवल्लभाचार्य

आचार्यपाद श्रीवल्लभाचार्यका जन्म वि० सं० १५३५ वैशाख कृ० ११ को चम्पारण्य (रायपुर सी० पी०) में हुआ था। इनके पिताका नाम लक्ष्मण भट्टजी और माताका नाम श्रीइलम्मा गारु था। ये उत्तरादि तैलङ्ग ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज दक्षिणके काँकरवाड नामक ग्राममें रहते थे, आपका गोत्र भरद्वाज और सूत्र आपस्तम्ब है। भारद्वाज, आयाल्य, आङ्गिरस ये तीन इस गोत्रके प्रवर हैं। लक्ष्मण भट्टजीकी सातवीं पीढ़ीसे लेकर सभी लोग सोमयज्ञ करते चले आये थे। कहा जाता है कि जिसके वंशमें सौ सोमयज्ञ पूर्ण हो जाते हैं उसके कुलमें भगवान्‌का या भगवदीय महापुरुषका आविर्भाव होता है। इस नियमानुसार श्रीलक्ष्मण भट्टजीके कालमें सौ सोमयज्ञ पूर्ण होनेसे श्रीवल्लभाचार्यके रूपमें भगवान् आपके यहाँ प्रकट हुए। बहुत-से महानुभाव इन्हें अग्निदेवका अवतार मानते हैं। सोमयज्ञकी पूर्तिके उपलक्ष्यमें एक लाख ब्राह्मणभोजन काशीमें जाकर करानेके लिये लक्ष्मण भट्टजी सपत्नीक घरसे चले थे। रास्तेमें चम्पारण्यमें श्रीवल्लभका जन्म हो गया। ये भट्टजीके द्वितीय पुत्र थे।

आपके यथासमय द्विजातिसंस्कार हुए। काशीमें आपने श्रीमाधवेन्द्रपुरीसे वेद-शास्त्रादिका पूर्ण अध्ययन किया। ११ वर्षकी अवस्थामें ही आपने अध्ययन समाप्त कर लिया था। काशीसे आप वृन्दावन चले गये। वहाँ कुछ दिन रहनेके बाद वे तीर्थाटनके लिये रवाना हुए। उन्होंने विजयनगरके राजा कृष्णदेवकी सभामें उपस्थित होकर वहाँ बड़े-बड़े विद्वानोंको शास्त्रार्थमें हराया। वहींपर उन्हें वैष्णवाचार्यकी उपाधि प्राप्त हुई। राजाने सब महामान्य विद्वानोंके सामने श्रीवल्लभाचार्यको स्वर्णसिंहासनपर बैठाकर उनका साङ्गोपाङ्ग पूजन किया और बहुत-सा सोना भेंट किया। उस समय आपने उसमेंसे कुछ ही भाग लेकर शेष सब वहाँके विद्वानों और ब्राह्मणोंको बाँट दिया। इससे आपका त्यागभाव प्रत्यक्ष है। राजा कृष्णदेवने सन् १५०९ से लेकर १५३० तक राज्य किया। इससे मालूम होता है, श्रीवल्लभ ईसवी सन्‌की १६ वीं शताब्दीके आरम्भमें वर्तमान थे।

श्रीवल्लभ विजयनगरसे चलकर उज्जैन आये और वहाँ क्षिप्रा नदीके तटपर एक अश्वत्थ वृक्षके नीचे उन्होंने निवास किया। वह स्थान आज भी उनकी बैठकके नामसे प्रसिद्ध है। मथुराके घाटपर भी ऐसी ही एक बैठक है और चुनारके पास

भी उनका एक मठ और मन्दिर है। उस मठके आँगनमें एक कुआँ है जो 'आचार्य-कुआँ' कहलाता है। कुछ दिन बाद आचार्य वल्लभ वृन्दावनमें आकर श्रीकृष्णकी उपासना करने लगे। भगवान् श्रीकृष्णने उनकी अचल भक्ति और कठोर तपसे प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिये और बालगोपालकी पूजाका प्रचार करनेका आदेश दिया। उन्होंने २८ वर्षकी अवस्थामें विवाह किया। ऐसा प्रसिद्ध है कि उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे ही ब्रह्मसूत्रके ऊपर 'अणुभाष्य' की रचना की। इस भाष्यमें उन्होंने शाङ्कर मतका खण्डन और अपने मतका प्रतिपादन किया है। श्रीवल्लभाचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभुके समसामयिक थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु उनसे मिले थे।

श्रीवल्लभके परमधाम पधारनेके विषयमें एक घटना प्रसिद्ध है। वे अपने जीवनके अन्तिम दिनोंमें काशीमें रहते थे। अपने जीवनके कार्य समाप्तकर वे एक दिन हनुमानघाटपर गङ्गास्नान करने गये। जहाँपर खड़े होकर वे स्नान कर रहे थे, वहाँसे एक उज्ज्वल अग्निशिखा उठी और बहुत आदमियोंके सामने श्रीवल्लभ सदेह ऊपर उठने लगे। और लोगोंके देखते-ही-देखते आकाशमें लीन हो गये। हनुमानघाटपर उनका एक मन्दिर बना हुआ है। इस प्रकार वि० सं० १५८७ में ५२ वर्षकी अवस्थामें आपने भगवान्के आज्ञानुसार अलौकिक ढंगसे इहलीला संवरण की।

श्रीवल्लभाचार्यने ब्रह्मसूत्रपर अणुभाष्य, भागवतकी व्याख्या सुबोधिनी, सिद्धान्तरहस्य, भागवतलीलारहस्य, एकान्तरहस्य, विष्णुपद, अन्तःकरणप्रबोध, आचार्यकारिका, आनन्दाधिकरण, नवरत्न, निरोधलक्षण और उसकी विवृति, संन्यासनिर्णय आदि अनेकों ग्रन्थोंकी रचना की। इनमें सिद्धान्तरहस्य और भागवतलीलारहस्य ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुए हैं। विष्णुपद हिन्दी भाषाका ग्रन्थ है। इसमें विष्णुगुणप्रतिपादक कुछ पद हैं।

मत

श्रीवल्लभाचार्यने अपना मत अणुभाष्यमें प्रकट किया है। श्रीमद्भागवतकी व्याख्या भी शुद्धाद्वैतमतके अनुसार ही है। श्रीवल्लभका मत श्रीशङ्कर और श्रीरामानुजसे बहुत अंशोंमें भिन्न है और श्रीमध्वके मतसे मिलता-जुलता है। आचार्य वल्लभके मतसे जीव अणु और सेवक है। प्रपञ्चभेद (जगत्) सत्य है। ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष हैं। ब्रह्म ही जगत्के निमित्त और उपादान कारण हैं। गोलोकाधिपति श्रीकृष्ण ही वह ब्रह्म हैं। वही जीवके सेव्य हैं। जीवात्मा और परमात्मा दोनों शुद्ध हैं। इसीसे इस मतका नाम शुद्धाद्वैत पड़ा है। श्रीवल्लभके मतानुसार सेवा द्विविध है—फलरूपा और साधनरूपा। सर्वदा श्रीकृष्णश्रवणचित्ततारूप मानसी सेवा फलरूपा एवं द्रव्यार्पण तथा शारीरिक सेवा साधनरूपा है। उनके मतसे गोलोकस्थ परमानन्दसन्दोह वृन्दावनमें भगवत्कृपासे गोपीभाव प्राप्त करके अखण्ड रासोत्सवमें निर्भर रसावेशके साथ पतिभावसे भगवान्की सेवा करना ही मोक्ष है। उनकी रायमें ज्ञानमार्ग कुछ भी नहीं, भक्तिमार्ग भी उत्कृष्ट नहीं, केवल प्रीतिमार्ग ही सर्वोत्कृष्ट है।

अधिकारी—आचार्य वल्लभके मतसे ब्रह्मविद्याका अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातिको ही है।

सम्बन्ध—शास्त्र और ब्रह्ममें प्रतिपादक-प्रतिपाद्य-सम्बन्ध है। श्रीशङ्कर भी यही सम्बन्ध स्वीकार करते हैं; परन्तु उनके मतसे ज्ञानोदय होनेपर शास्त्रकी भी कोई सार्थकता नहीं रह जाती, और शास्त्र ब्रह्मका निषेधात्मक ढंगमें ही निर्देश कर सकता है। ब्रह्म शब्दातीत हैं। परन्तु श्रीवल्लभ कहते हैं कि ब्रह्म शास्त्रैकगम्य हैं अर्थात् ब्रह्म वेदान्तप्रतिपाद्य हैं। वे शब्दके अविषय नहीं, बल्कि शब्दके विषय हैं।

प्रयोजन—अविद्याकी निवृत्ति अर्थात् ब्रह्मकी प्राप्ति ही प्रयोजन है। ब्रह्मकी प्राप्तिसे अविद्याकी निवृत्ति होती है। अविद्याके कारण ही जीवको दुःख है। इसलिये ब्रह्मप्राप्ति ही पुरुषार्थ है।

विषय—ब्रह्मप्राप्ति या ब्रह्मसायुज्यकी प्राप्ति ही विषय है। ब्रह्मसायुज्य ही परम पुरुषार्थ है।

ब्रह्म—आचार्य वल्लभ ब्रह्मको साकार, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वकर्तृ और सच्चिदानन्दरूप मानते हैं। उनके मतमें ब्रह्म शुद्ध हैं, माया आदि ब्रह्ममें नहीं है। ब्रह्म निर्गुण और प्राकृतिक गुणोंसे अतीत हैं। वे गुणातीत होनेपर भी जगत्के कर्ता हैं। ब्रह्मकी शक्ति अचिन्त्य और अनन्त है। वे सब कुछ हो सकते हैं, अतएव उनमें विरुद्ध धर्मों और विरुद्ध वाक्योंका भी युगपत् समावेश हो

सकता है। उनके मतसे ब्रह्म ही जगत्के निमित्त और उपादान कारण हैं। वे कर्त्ता भी हैं और भोक्ता भी। वे कर्त्ता होनेपर भी निर्विकार हैं। उपादान-कारण होनेपर भी उनमें संसार-धर्म नहीं है।

ब्रह्म और जगत्—आचार्यके मतमें ब्रह्म कारण और जगत् कार्य है। कार्य और कारण अभिन्न हैं। कारण सत् है, कार्य भी सत् है; अतएव जगत् सत् है। हरिकी इच्छासे ही जगत्का आविर्भाव हुआ है। हरिकी इच्छासे ही जगत्का तिरोधान होता है। ब्रह्म खेलके लिये अपनी इच्छासे जगत्रूपमें परिणत हुए हैं। जगत् ब्रह्मात्मक है, प्रपञ्च ब्रह्मका ही कार्य है। आचार्य वल्लभ अविकृत-परिणामवादी हैं। उनके मतसे जगत् मायिक नहीं है और न भगवान्से भिन्न ही है। उसकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता। जगत् सत्य है, पर उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। जगत्का जब तिरोभाव होता है तब वह कारणरूपसे और जब आविर्भाव होता है तब कार्यरूपसे स्थित रहता है। भगवान्की इच्छासे ही सब कुछ होता है। क्रीडाके लिये ही उन्होंने जगत्की सृष्टि की। अकेले क्रीडा सम्भव नहीं; अतएव भगवान्ने जीव और जगत्की सृष्टि की।

जीव—जीव ब्रह्मका अंश और अणु है। यह जीव हृदयमें रहता है और ब्रह्मकी तरह शुद्ध और चेतन है। चैतन्य जीवका गुण है। उसके हृदयमें रहनेपर भी उसका चैतन्य सर्वत्र फैल सकता है और अनेक स्थानोंमें व्याप्त रहता है।

'तत्त्वमसि' वाक्यका तात्पर्य—आचार्य वल्लभकी सम्मतिमें 'तत्त्वमसि' वाक्यके द्वारा अंशांशिभावका अभेद प्रकट किया गया है।

मुक्ति—गोलोकस्थ श्रीकृष्णकी सायुज्यप्राप्ति मुक्ति है। श्रीकृष्णकी पतिरूपसे सेवा करना और सर्वात्मभाव रखना मुक्ति है। समस्त विश्व ब्रह्मात्मक है। जब सब कुछ सनातन ब्रह्मके रूपमें दिखायी देने लगता है, जब ब्रह्मरूप कार्यके ब्रह्म ही कारण हैं—ऐसी उपलब्धि होती है, तब सर्वात्मभाव सिद्ध होता है। शुद्ध जीव समस्त जगत्को कृष्णमय देखकर कृष्णके प्रेममें, उनकी स्वामिरूपमें सेवा करके परमानन्दरसमें तन्मय रहता है। जो जीव पुरुषोत्तमके साथ युक्त है, वह सब कुछ उपभोग करता है।

भगवान्की कृपाके बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। भगवत्प्रसादसे शुद्ध पुष्टिमार्गीय भक्तिका उदय होता है। उसी प्रीतिद्वारा भगवान्की उपासना होती है और वे जीवको मुक्त कर देते हैं।

साधन—श्रीवल्लभके मतानुसार शम-दमादि बहिरङ्ग साधन हैं और श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन अन्तरङ्ग साधन हैं। भगवान्में चित्तकी प्रवणता सेवा है और सर्वात्मभाव मानसी सेवा है। आचार्यकी सम्मतिमें पुष्टिमार्गीय साधन ही श्रेष्ठ है। भगवान्का अनुग्रह ही पुष्टि है। पुष्टि ही चारों प्रकारके पुरुषार्थको सिद्ध करती है। पुष्टिसे जो भक्ति उत्पन्न होती है वह पुष्टिभक्ति कहलाती है। भक्ति दो प्रकारकी है—मर्यादाभक्ति और पुष्टिभक्ति। भगवान्के विशेष अनुग्रहसे जो भक्ति पैदा होती है, वह पुष्टिभक्ति कहलाती है। ऐसा भक्त भगवान्के स्वरूपके अतिरिक्त और किसी वस्तुके लिये प्रार्थना नहीं करता।

आचार्य विट्ठलनाथ दीक्षित

आचार्य श्रीविट्ठलनाथ श्रीवल्लभाचार्यके पुत्र थे। वे 'गोसाईंजी' नामसे प्रसिद्ध थे। गोसाईंजीसे ही वल्लभ-सम्प्रदायका विस्तार हुआ है। उन्होंने श्रीवल्लभकृत सुबोधिनीपर टिप्पणी लिखी थी। उन्होंने 'श्रीविद्वन्मण्डन' नामक एक ग्रन्थकी रचना की, जिसमें उन्होंने श्रीवल्लभके शुद्धाद्वैतमतका प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ इस मतका प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। अणुभाष्यके टीकाकार पुरुषोत्तमजी महाराज, 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड'कार गिरिधरजी महाराज,प्रमेयरत्नार्णवके रचयिता बालकृष्ण भट्ट आदि बादके प्रायः सभी आचार्यों एवं विद्वानोंने इसकी प्रामाणिकता स्वीकार की है। श्रीविट्ठलनाथके सात पुत्र थे—(१) गिरिधरराय, (२) गोविन्दराय, (३) बालकृष्ण, (४) गोकुलनाथ, (५) रघुनाथ, (६) यदुनाथ और (७) घनश्याम। ये सातों धर्मोपदेशक थे। इनके अनुयायियोंके पृथक्-पृथक् समाज बन गये हैं। प्रायः सभी समाजोंमें प्रधान-प्रधान विषयोंमें एकता है। केवल श्रीगोकुलनाथजीके शिष्योंमें कुछ भिन्नता है। श्रीविट्ठलनाथका मत श्रीवल्लभाचार्यके समान ही था।

व्रजनाथ भट्ट

श्रीव्रजनाथ भट्ट शुद्धाद्वैतवादी थे। उन्होंने श्रीवल्लभाचार्यके अणुभाष्यपर 'मरीचिका' नामक वृत्तिकी रचना की। यह वृत्ति अत्यन्त संक्षिप्त है। उन्होंने अपने ग्रन्थमें

लिखा है कि यह ग्रन्थ मैंने सम्राट् जयसिंहकी आज्ञासे लिखा है। परन्तु श्रीवल्लभके बाद कोई इस नामका सम्राट् नहीं हुआ। सम्भवतः जयसिंह कोई छोटे राजा रहे होंगे। इस ग्रन्थमें अणुभाष्यके टीकाकार गोस्वामी पुरुषोत्तमजी महाराजका उल्लेख नहीं है, केवल आरम्भमें श्रीवल्लभाचार्यको नमस्कार किया गया है। इस सम्प्रदायके अन्यान्य आचार्योंने श्रीविट्ठलनाथकी वन्दना की है, परन्तु इस ग्रन्थमें श्रीविट्ठलनाथका नाम नहीं मिलता। मालूम होता है, व्रजनाथ भट्ट पुरुषोत्तमजी महाराजसे पहले हुए थे। पुरुषोत्तमजी १८ वीं शताब्दीमें वर्तमान थे। इससे व्रजनाथ भट्टका काल १७ वीं शताब्दी मालूम होता है। उनका मत श्रीवल्लभके मतके अनुसार ही है।

गोस्वामी पुरुषोत्तमजी महाराज

गोस्वामी पुरुषोत्तमजी महाराज वल्लभमतावलम्बी थे। वे विट्ठलनाथजीके पुत्र बालकृष्णके वंशधर थे। श्रीबालकृष्णके बाद उस वंशके ये चौथे पुरुष थे। इन्होंने अपने 'भाष्यप्रकाश' ग्रन्थमें अपने वंशका परिचय दिया है। इनके पिताका नाम पीताम्बर और पितामहका नाम यदुपति था। यदुपतिके पिता व्रजराज, व्रजराजके पिता बालकृष्ण थे। पुरुषोत्तमजी महाराज सम्भवतः १८ वीं शताब्दीमें हुए थे। उन्होंने अणुभाष्यकी टीका लिखी, जिसका नाम 'भाष्यप्रकाश' है। इस ग्रन्थमें आचार्य शङ्कर, भास्कर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, विज्ञानभिक्षु आदि आचार्योंके मतोंका सारांश देकर उनका खण्डन करनेकी चेष्टा की गयी है। अतएव इस ग्रन्थकी यह विशेषता है कि इसमें सब मतवादोंका सारमर्म आ गया है। श्रीपुरुषोत्तमने विट्ठलनाथकृत 'विद्वन्मण्डन' की भी 'सुवर्णसूत्र' नामक टीका लिखी। इसमें 'विद्वन्मण्डन' की तरह ही शांकर मतका खण्डन किया गया है। उन्होंने 'प्रस्थानरत्नाकर' नामक भी एक ग्रन्थ लिखा है। उनका मत श्रीवल्लभके शुद्धाद्वैतके अनुसार ही है।

* * *

अचिन्त्यभेदाभेदवादके प्रधान-प्रधान आचार्य

बंगालके चैतन्यसम्प्रदाय या गौड़ीय वैष्णवसमाजके मतका नाम अचिन्त्यभेदाभेदवाद है। इस सम्प्रदायके प्रवर्त्तक श्रीचैतन्य महाप्रभु* थे। अद्वैत और नित्यानन्द उनके दो सहकारी थे। श्रीचैतन्यदेव इस सम्प्रदायके प्रवर्तक ही नहीं, वरं उपास्यदेव भी हैं। इस सम्प्रदायका विश्वास है कि श्रीचैतन्यदेव भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमावतार थे। श्रीचैतन्य श्रीवल्लभाचार्यके समसामयिक थे और उनसे मिले भी थे। श्रीचैतन्यदेवका आविर्भाव सन् १४८५ ई० में और तिरोभाव सन् १५३३ ई० में प्रायः ४८ वर्षकी अवस्थामें हुआ था। श्रीचैतन्यका जन्म बंगालके नवद्वीप स्थानमें हुआ था। श्रीचैतन्यने जिस मतका प्रचार किया, उसके विषयमें कोई ग्रन्थ स्वयं नहीं लिखा। अन्यान्य मत या धर्मके प्रायः सभी प्रवर्तकोंने अपने-अपने मतकी पुष्टिके लिये ग्रन्थ लिखे हैं, केवल श्रीचैतन्यदेवका ही कोई ग्रन्थ नहीं है। उनके सहकारी अद्वैताचार्य और नित्यानन्दका भी कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। श्रीचैतन्यके शिष्य रूप और सनातन गोस्वामीके कुछ ग्रन्थ मिलते हैं। उनके बाद उनके भतीजे जीव गोस्वामी दार्शनिक क्षेत्रमें उतरे। इन्हीं तीन आचार्योंने अचिन्त्यभेदाभेद मतका वर्णन किया है। परन्तु इन्होंने भी न तो वेदान्तसूत्रका कोई भाष्य आदि लिखा और न वेदान्तपर किसी प्रकरणग्रन्थकी रचना की। १८ वीं शताब्दीमें बलदेव विद्याभूषणने पहले-पहल अचिन्त्यभेदाभेदवादके अनुसार ब्रह्मसूत्रपर 'गोविन्दभाष्य' लिखा। रूप, सनातन आदि आचार्योंके ग्रन्थोंमें भक्तिवादकी व्याख्या की गयी है और वैष्णवसाधनाकी आलोचना भी है। फिर भी जीव गोस्वामीके ग्रन्थमें अचिन्त्यभेदाभेदवादकी स्थापनाकी भी चेष्टा की गयी है। बलदेव विद्याभूषणके भाष्यमें श्रीचैतन्यका मत स्पष्ट रूपमें पाया जाता है। पहले पूर्वके तीन आचार्योंका परिचय देकर इस मतका वर्णन बलदेव विद्याभूषणके जीवनचरितके साथ आगे किया जायगा।

श्रीरूप गोस्वामी

श्रीरूप महाप्रभुके शिष्य थे। वह पहले बंगालके मुसल्मान राजाके यहाँ कार्य करते थे। उन्होंने श्रीचैतन्य-

---

* श्रीचैतन्य महाप्रभुका विस्तृत जीवनचरित 'श्रीश्रीचैतन्यचरितावली' के नामसे पाँच भागोंमें गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित हुआ है। मूल्य—प्रथम भाग ।।।=) स० १=), द्वि० भा० १=) स० १।=), तृ० भा० १) स० १।), च० भा० ।।=) स० ।।।=), पं० भा० ।।।) स० १)।

देवके देवोपम चरित्र और पवित्र धर्ममतसे मुग्ध होकर संसारका त्याग कर दिया और महाप्रभुका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। क्रमशः वह उस सम्प्रदायके आश्रय और भूषणस्वरूप हो गये। वह पहलेसे ही एक प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने श्रीचैतन्यके तिरोभावसे प्रायः ८ वर्ष पूर्व 'विदग्धमाधव' नाटककी रचना की, जिसकी महाप्रभुने बड़ी प्रशंसा की। इसके अतिरिक्त उन्होंने ललितमाधव, उज्ज्वलनीलमणि, दानकेलिकौमुदी, बन्धुस्तवावली, अष्टादश लीलाकाण्ड, पद्मावली, गोविन्दविरुदावली, मथुरामाहात्म्य, नाटकलक्षण, लघुभागवत, भक्तिरसामृतसिन्धु, व्रजविलासवर्णन और कड़चा नामक ग्रन्थोंकी रचना की। इन ग्रन्थोंसे उनकी विद्वत्ताका परिचय मिलता है। उज्ज्वलनीलमणि अलङ्कारशास्त्रका एक प्रामाणिक और प्रसिद्ध ग्रन्थ है। भक्तिरसामृतसिन्धुमें भक्तिकी व्याख्या तथा वैष्णवमतकी साधनाका विचार किया गया है। श्रीजीव गोस्वामीने इसकी टीका लिखी है। श्रीरूप गोस्वामीका 'रिपुदमनविषयका रागमय कोण' नामक एक बंगला-ग्रन्थ भी मिलता है। श्रीरूप और सनातनने जिस मतका बीजारोपण किया, उसे श्रीजीवने विकसित किया और श्रीबलदेवने उसे पूर्णता प्रदान की।

श्रीसनातन गोस्वामी

श्रीसनातन श्रीरूप गोस्वामीके भाई थे। उनका जन्म बंगालमें हुआ था। वह भी गौड देशके नवाबके यहाँ नौकरी करते थे। श्रीचैतन्यद्वारा प्रभावित होनेके कारण उनके मनमें संसार छोड़नेकी इच्छा उत्पन्न हुई। एक दिन वह बहुत सवेरे किसी सरकारी कामसे कहीं जा रहे थे। उस समय आँधी चल रही थी और आसमानमें बादल घिर रहे थे। रास्तेमें एक मेहतर दम्पती आपसमें बहस कर रहे थे। मेहतर कामसे बाहर जाना चाहता था और उसकी पत्नी ऐसे समयमें उसे बाहर नहीं जाने देना चाहती थी। पत्नीने बातचीतके सिलसिलेमें कहा—'ऐसी आँधी-बादलमें या तो दूसरेका नौकर बाहर निकल सकता है या कुत्ता।' यह बात श्रीसनातनने सुन ली। उनके मनमें बड़े जोरका वैराग्य उमड़ आया और उन्होंने संसारत्यागका सङ्कल्प कर लिया। परन्तु यह बात नवाबको मालूम हो गयी और उसने उन्हें किसी कारणसे कैद कर लिया। परन्तु सनातनका मन तो श्रीचैतन्यमें लगा था; अतएव वह बहुत-सा धन काराध्यक्षको देकर कारागृहसे भाग गये और श्रीचैतन्यके चरणोंमें पहुँच गये। जब वह महाप्रभुके पास पहुँचे तो उनके पास एक कंबल था। उसे देखकर महाप्रभुने उदासीनता दिखायी; बस, उन्होंने उस कंबलका भी त्याग कर दिया। श्रीसनातनके वैराग्यके विषयमें और भी कई कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनका वैराग्य बड़ा प्रचण्ड था। वह अन्तिम समयमें वृन्दावनमें रहते थे। उन्होंने गीतावली, वैष्णवतोषिणी (इसका दूसरा नाम है दशम-टिप्पणी), भागवतामृत और सिद्धान्तसार नामक ग्रन्थोंकी रचना की। 'भागवतामृत'में चैतन्यसम्प्रदायके कर्तव्योंका वर्णन किया गया है। एक ग्रन्थ 'हरिभक्तिविलास' भी उन्हींका बनाया हुआ कहा जाता है। परन्तु आजकल जो इस नामका ग्रन्थ मिलता है, वह गोपालभट्टकृत है। मालूम होता है, श्रीसनातनने गोपालभट्टके ग्रन्थका संशोधन किया था अथवा दोनोंने मिलकर उसकी रचना की थी। इस ग्रन्थमें भगवान्‌के स्वरूप और उपासनाका वर्णन है। श्रीसनातन गोस्वामीका बँगला भाषामें कृष्णभक्तिविषयक एक ग्रन्थ मिलता है, जिसका नाम 'रसमय कलिका' है। श्रीसनातन गोस्वामी भी अचिन्त्यभेदाभेदवादी थे।

श्रीजीव गोस्वामी

श्रीजीव गोस्वामी श्रीरूप और श्रीसनातन गोस्वामीके छोटे भाईके पुत्र थे। श्रीजीव गोस्वामीने ही बंगालमें वैष्णवमतका प्रचार करनेके लिये श्रीनिवास आदिको ग्रन्थोंके साथ भेजा था। श्रीजीवके गुरु श्रीसनातन थे। श्रीरूप और श्रीसनातन दोनोंका प्रभाव श्रीजीवपर पड़ा था। श्रीचैतन्यके अन्तर्धानके बाद श्रीजीव वृन्दावन चले आये और यहींपर उनकी प्रतिभाका विकास हुआ।

श्रीजीवने वृन्दावनमें राधादामोदरके मन्दिरकी प्रतिष्ठा की। वह कहीं भगवान्‌के भजन-पूजनमें जीवन व्यतीत करते थे। एक दिन एक दक्षिणी ब्राह्मणने शास्त्रार्थके लिये श्रीरूपका आह्वान किया; परन्तु उन्होंने बिना शास्त्रार्थके ही विजयपत्र लिख दिया। फिर ब्राह्मण श्रीजीवके पास आये। श्रीजीव उस समय यमुनामें स्नान कर रहे थे। ब्राह्मणने जब श्रीजीवको सन्ध्या-वन्दन करते नहीं देखा तो उन्होंने पूछा—'आप ब्राह्मण होकर ब्राह्मणोचित सन्ध्या आदि क्यों नहीं करते?' श्रीजीवने उत्तरमें दो श्लोक सुनाये—

हृदाकाशे चिदानन्दं सुदा भाति निरन्तरम्।
उदयास्तं न पश्यामः कथं सन्ध्यामुपास्महे॥

सद्भक्तिदुहिता जाता मायाभार्या मृताधुना ।
अशौचद्वयमाप्नोति कथं सन्ध्यामुपास्महे ॥

अर्थात् 'हृदयाकाशमें चिदानन्दस्वरूप भगवान् निरन्तर प्रकाशित हैं; उनका न उदय होता है न अस्त । सूर्यका उदय-अस्त देखकर सन्ध्या की जाती है, परन्तु मेरे हृदयाकाशमें भगवान्‌रूप सूर्यका उदयास्त नहीं होता । अतएव मैं किस तरह कब सन्ध्या करूँ ?

'मेरे सद्भक्तिरूपी कन्या उत्पन्न हुई है और मायारूपी भार्याकी मृत्यु हुई है, जननाशौच और मृताशौचके समयमें मैं किस प्रकार सन्ध्या करूँ ?'

इस उत्तरसे उनके प्रगाढ़ पाण्डित्यके साथ ही उनकी पारमार्थिक स्थितिका भी परिचय मिलता है। उन्होंने श्रीरूपगोस्वामीकृत भक्तिरसामृतसिन्धुकी टीका, क्रमसन्दर्भके नामसे भागवतकी टीका, षट्सन्दर्भ, भक्तिसिद्धान्त, गोपालचम्पू और उपदेशामृत नामक ग्रन्थोंकी रचना की। क्रमसन्दर्भ ही गौड़ीयमतानुसार भागवतकी प्रामाणिक व्याख्या है। श्रीजीव गोस्वामीने अपने सब ग्रन्थ अचिन्त्यभेदाभेद मतके अनुसार ही लिखे हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतके रचयिता श्रीकृष्णदास कविराजपर श्रीजीव गोस्वामीका प्रभाव पड़ा था, ऐसा मालूम होता है। अवश्य ही उन्होंने चरितामृतमें श्रीरूप और श्रीरघुनाथके प्रति भी अगाध भक्ति प्रकट की है। श्रीकृष्णदासने सन् १६१६ में चरितामृतकी रचना की थी। श्रीजीव गोस्वामी सोलहवीं शताब्दीके अन्तसे १७ वीं शताब्दीके प्रथम भागतक जीवित थे। अतएव श्रीजीवका प्रभाव श्रीकृष्णदासपर पड़ना स्वाभाविक था।

आचार्य बलदेव विद्याभूषण

आचार्य बलदेवका जन्म बंगालमें हुआ था। वह १८ वीं शताब्दीमें हुए थे। उनके गुरुका नाम राधादामोदर था। श्रीबलदेव श्यामानन्दके शिष्य रसिकानन्दकी शिष्यपरम्परामें चौथे पुरुष थे। उन्होंने अन्तिम समयमें वृन्दावन जाकर विश्वनाथ चक्रवर्तीका शिष्यत्व ग्रहण किया। उन्होंने शास्त्राध्ययन पीताम्बरदासके पास रहकर किया था।

वेदान्तसूत्रपर श्रीगौड़ीय सम्प्रदायका अपना कोई भाष्य नहीं था। एक बार आचार्य बलदेवने किसी विद्वान्के साथ शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थके बाद पण्डितने पूछा—'आप जिस मतका प्रतिपादन कर रहे हैं, वह किस सम्प्रदायके भाष्यद्वारा अनुमोदित है ?' इसके बाद एक मासके भीतर श्रीबलदेवने भगवान् गोविन्ददेवके स्वप्नादेशके अनुसार भाष्यकी रचना कर डाली और इसीसे उसका नाम भगवान् गोविन्दके नामपर 'गोविन्दभाष्य' रक्खा। इस भाष्यमें अचिन्त्यभेदाभेदवादकी व्याख्या की गयी है। इस भाष्यके अतिरिक्त श्रीबलदेवने और भी बहुत-से ग्रन्थोंकी रचना की, जिनमें सिद्धान्तरत्न या भाष्यपीठक, प्रमेयरत्नावली, वेदान्तस्यमन्तक, गीताभाष्य, दशोपनिषद्-भाष्य, स्तवावली और विष्णुसहस्रनामभाष्य अधिक प्रसिद्ध हैं। ये सब ग्रन्थ गौड़ीय मतके अनुसार लिखे गये हैं।

मत

श्रीचैतन्यसम्प्रदायके मतानुसार श्रीमद्भागवत ही वेदान्तसूत्रका भाष्य है। ऐसे भाष्यके रहते हुए श्रीचैतन्यदेवने अन्य किसी भाष्यकी आवश्यकता नहीं समझी। फिर भी श्रीमध्वभाष्यको श्रीमद्भागवतके अनुरूप देखकर वह आदरकी दृष्टिसे देखते थे और उसे अपने सम्प्रदायके भाष्यके रूपमें स्वीकार करते थे। जिन स्थानोंपर श्रीमध्व-भाष्य भागवतके विरुद्ध पड़ता था, उन-उन स्थानोंपर वास्तविक अर्थकी खोज करके वह समन्वय करनेकी चेष्टा करते थे। परन्तु वे सब बातें ग्रन्थरूपमें नहीं लिखी गयीं। इसी बातको ध्यानमें रखकर आचार्य बलदेव विद्याभूषणने 'गोविन्दभाष्य' की रचना की।

श्रीचैतन्यमतपर श्रीमध्व, श्रीनिम्बार्क और श्रीवल्लभका प्रभाव पड़ा मालूम होता है। श्रीवल्लभका पुष्टिमार्ग-साधन और गौड़ीय मतका मधुर भावका साधन प्रायः एक ही चीज है। भेदाभेदवाद श्रीनिम्बार्कके द्वैताद्वैतके समान ही है। श्रीनिम्बार्क और श्रीचैतन्यकी अचिन्त्य शक्ति भी प्रायः एक ही चीज है। श्रीमध्वके मतसे ब्रह्म सगुण और सविशेष है। गौड़ीय मतसे भी ब्रह्म सगुण और सविशेष है। मध्वमतानुसार जीव अणु, सेवक है और भगवान् सेव्य हैं। भगवान्‌के प्रसादसे ही जीवकी मुक्ति होती है। इस विषयमें भी श्रीचैतन्यमत मध्वमतसे मेल खाता है। माध्व और गौड़ीय दोनों मत जगत्‌को सत्य मानते हैं। दोनों मतसे जगत् ब्रह्मका परिणाम है। ब्रह्म जगत्‌का निमित्त और उपादान कारण है। मध्वमतसे जीव और

ब्रह्म चिरभिन्न हैं; मुक्तावस्थामें भी जीव ब्रह्मसे भिन्न रहता है। गौड़ीय आचार्य बलदेव भी जीव और ब्रह्मको भिन्न मानते हैं, परन्तु गुण और गुणीभावसे वह जीव और ब्रह्मको अभिन्न और भिन्न दोनों मानते हैं। इसी अर्थमें समस्त जीवजगत् ब्रह्ममें लय होता है। साधनमें श्रीबलदेवका श्रीमध्वके साथ पार्थक्य है। उपासना और भक्तिमें दोनों एकमत हैं; परन्तु मध्वमतमें केवल सेव्य-सेवकभावकी स्फूर्ति हुई है और श्रीबलदेवके मतमें दास्यके अतिरिक्त शान्त, सख्य, वात्सल्य और मधुर भावको भी स्थान है। श्रीशंकर, श्रीरामानुज, श्रीकण्ठ आदि आचार्योंके साथ श्रीबलदेवका कई स्थानोंमें विरोध है।

श्रीबलदेवके मतसे पाँच तत्त्व हैं—ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म। अन्य विषयोंमें उनका मत इस प्रकार है–

अधिकारी–आचार्य बलदेवके मतानुसार निष्काम धर्ममें निर्लिप्त चित्तवाला, सत्प्रसंगकी इच्छा रखनेवाला, श्रद्धालु और शम-दमादिसे सम्पन्न जीव ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी है। उनके मतसे शिक्षादि षडङ्ग और उपनिषद्के साथ समग्र वेदका अध्ययन करके, उसके पूर्ण अर्थको जानकर, तत्त्वविद् आचार्यके साथ प्रसंगमें अनित्य जगत्से नित्य ब्रह्मको भिन्न जानकर उनके विषयमें विशेष जानकारी प्राप्त करनेके लिये चतुरध्यायी वेदान्तसूत्रमें चित्त लगाना चाहिये। वह अधिकारीके लिये योगादि कर्म करना आवश्यक नहीं मानते। वह सत्प्रसंगकारीको ही मुख्य अधिकारी मानते हैं।

सम्बन्ध–उनके मतसे भी शास्त्र वाचक और ईश्वर वाच्य हैं।

विषय–उनके मतानुसार निरवद्य विशुद्ध अनन्तगुणशाली, अचिन्त्य-अनन्त-शक्ति, सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही विषय हैं।

प्रयोजन–अशेष दोषका विनाश कर उस पुरुषोत्तमका साक्षात्कार प्राप्त करना प्रयोजन है।

ब्रह्म–ब्रह्म स्वतन्त्र, कर्ता, सर्वज्ञ, मुक्तिदाता और विज्ञानस्वरूप हैं। ईश्वर पूर्ण चैतन्य, नित्यज्ञानादि गुणोंसे युक्त और अस्मत्‌शब्दवाच्य हैं। ईश्वर स्वतन्त्र और स्वरूप-शक्तिमान् हैं। वह प्रकृति आदिमें प्रविष्ट होकर और उसका नियमन करते हुए जगत्की सृष्टि करते हैं तथा जीवको भोग और मुक्ति देते हैं। ईश्वर एक और बहुभावसे अभिन्न होनेपर भी गुण और गुणी तथा देह और देहीभावसे ज्ञानीकी प्रतीतिके विषय होते हैं। जीव अणुचैतन्य होनेपर भी नित्यज्ञानादि गुणोंसे युक्त और अस्मत्‌शब्दवाच्य है। इस विषयमें जीव और ईश्वरमें समता है। अवश्य ही ईश्वर विभु हैं और जीव अणु।

ईश्वर व्यापक होनेपर भी भक्तिग्राह्य हैं। वह एकरस होनेपर भी स्वरूपभूत ज्ञानानन्द वितरण करते हैं। ब्रह्म ज्ञानैक्यगम्य, अक्षर, अनन्त सुखरूप हैं। ब्रह्मकी शक्ति स्वाभाविक है। उनकी शक्ति संवित्, सन्धिनी और ह्लादिनीरूपा है। ब्रह्म नित्यसुखद हैं। ब्रह्म निर्गुण हैं। निर्गुणका अर्थ है ब्रह्मकी मूल सत्ता—रजस्तमोगुण नहीं, अवश्य ही उनमें स्वरूपानुबन्धी अतिप्राकृत गुण हैं। भगवान् भोक्ता और जीव भोग्य है।

ब्रह्म और जगत्–ब्रह्म जगत्के कर्ता और निमित्त कारण हैं। वही उपादान कारण भी हैं। ब्रह्म अविचिन्त्य शक्तिवाले हैं। इसी शक्तिसे वह जगत्‌रूपमें परिणत होते हैं। जगत् सत् है, परन्तु अनित्य है।

जीव–जीव अणुचैतन्य है। ईश्वर गुणी, जीव गुण है। ईश्वर देही, जीव देह है। जीवात्मा बहु और नानावस्थापन्न है। ईश्वरकी विमुखता ही उसके बन्धनका कारण है और ईश्वरके सम्मुख होनेसे ही उसके बन्धन कट जाते हैं और उसे स्वरूपका साक्षात्कार होता है। जीव नित्य है। ईश्वर, जीव, प्रकृति और काल, ये चार पदार्थ नित्य हैं और जीव, प्रकृति और काल ईश्वरके अधीन हैं। जीव ईश्वरकी शक्ति और ब्रह्म शक्तिमान् है।

मुक्ति–आचार्य बलदेवके मतानुसार मुक्ति साध्य और भगवान्की कृपासे प्राप्त होनेवाली है। मुक्तावस्थामें भी जीव ब्रह्मसे पृथक् रहता है। मुक्त पुरुषको भगवत्सान्निध्य प्राप्त होता है। जो जीव भगवान्की उपासना तथा उनके तत्त्वज्ञानके द्वारा भगवद्धामको प्राप्त होता है, उसका पुनरागमन नहीं होता। सर्वेश्वर हरि न तो स्वाधीन मुक्त जीवको अपने लोकसे पतित करना चाहते हैं और न मुक्त पुरुष ही कभी भगवान्को छोड़ना चाहते हैं।

प्रकृति–श्रीबलदेवके कथनानुसार सत्, रज और तमोगुणकी साम्यावस्था ही प्रकृति है। वह तमोमायादि शब्दोंसे पुकारी जाती है और ईश्वरके ईक्षणसे उद्बुद्ध होकर विचित्र जगत्का उत्पादन करती है। प्रकृति ईश्वरकी

आश्रिता, नित्या और ईश्वरके अधीन है। प्रकृति ब्रह्मकी शक्ति है और ब्रह्म शक्तिमान् हैं।

काल—श्रीबलदेवके मतसे एक साथ भूत, भविष्य, वर्तमान, चिर, क्षिप्र आदि शब्दोंसे पुकारे जानेवाले, चक्रवत् परिवर्तित होनेवाले, प्रलय और सृष्टिके निमित्तभूत जड द्रव्यविशेषका नाम काल है। काल नित्य और ईश्वरके अधीन है।

कर्म—श्रीबलदेवकी रायमें कर्म जड पदार्थ है। वह अदृष्ट आदि नामोंसे भूषित, अनादि और विनश्वर है। कर्म ईश्वरकी शक्ति है और ईश्वर शक्तिमान् है।

'तत्त्वमसि' वाक्य—आचार्य बलदेवके मतानुसार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य अखण्ड अर्थ बतलानेवाले नहीं। 'तत्त्वमसि'का अर्थ है—उनके तुम हो—'तस्य त्वम् असि'। इससे जीव और ब्रह्मकी अभिन्नता नहीं, बल्कि भिन्नता ही सूचित होती है।

साधन—आचार्य बलदेवके मतमें भक्ति ही मुख्य साधन है। उपासना करनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं और वह मुक्ति देते हैं। उनके मतसे ज्ञान और वैराग्य सहकारी साधन हैं। ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके बिना भगवत्प्राप्ति नहीं होती। वह शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर, इन पाँचों भावोंको स्वीकार करते हैं।

भक्ति—आचार्य बलदेवके मतसे भक्ति ही पुरुषार्थ-प्राप्तिका एकमात्र साधन है। भक्ति ह्लादिनी शक्ति और संवित्शक्तिकी सारभूता है, अतएव ज्ञानरूपिणी और आनन्ददायिनी है। ज्ञानका सार भक्ति है। भक्तिमार्गकी तीन अवस्थाएँ हैं—साधन, भाव और प्रेम। इन्द्रियोंकी प्रेरणाद्वारा की जानेवाली सामान्य भक्तिका नाम साधनभक्ति है। यह जीवके हृदयस्थ प्रेमको जाग्रत करती है, इसीसे इसे साधनभक्ति कहते हैं। शुद्ध सत्त्वरूपा, प्रेमसूर्यकी किरणसदृश चित्तमें स्निग्धता उत्पन्न करनेवाली भक्तिविशेषका नाम भाव है। भाव प्रेमकी प्रथमावस्था है। यही भाव जब घनीभूत हो जाता है तब उसे प्रेम कहते हैं। प्रेम ही प्रयत्नका चरम फल है, प्रेम ही जीवका नित्यधर्म है। यही परम पुरुषार्थ है।

सिद्धान्त और जीवन

(लेखक—पण्डित श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

यों तो वेदान्तसिद्धान्तका दृढ़ बोध अनुष्ठानकी अपेक्षा नहीं रखता, परा विद्याका अपरा विद्याकी अपेक्षा वैशिष्ट्य भी यही है; परन्तु यह दृढ़ बोध या अपरोक्ष साक्षात्कार सर्वसाधारणके लिये सुलभ नहीं, इसके विशेष व्यक्ति ही अधिकारी होते हैं। बाह्य संसारकी सत्यताके सम्बन्धमें हमारा जितना दृढ़ बोध है, शरीरके साथ हमारा जितना तादात्म्य, एकत्व या अहंभाव है, उतना ही दृढ़ बोध यदि वस्तुतत्त्वके सम्बन्धमें हो जाय तो अनुष्ठानकी अपेक्षा क्यों होने लगी। वहाँ तो सारे अनुष्ठान ब्रह्माकारवृत्तिके अन्तर्भुक्त होकर स्वरूपशून्य हो जाते हैं।

यह एक प्राकृतिक नियम है कि प्रत्येक प्राणीका आचरण उसके ज्ञानके अनुसार ही होता है। अपने ज्ञानके विरुद्ध, धारणाके विपरीत (विवशताकी बात दूसरी है) कोई काम नहीं किया जा सकता। हम समझते हैं कि रुपये, स्त्री, पुत्र, यह शरीर अच्छी चीज हैं, इनकी रक्षाके लिये सर्वदा सचेष्ट रहते हैं, यहाँतक कि हमारी प्रत्येक क्रिया ही उसीको लक्ष्य करके होती है। यदि ऐसी ही धारणा बँध जाय, हृदयके कोने-कोनेमें यह बात बैठ जाय कि एकमात्र सच्चिदानन्द प्रभु या आत्मतत्त्वके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं, सब कुछ वही या मैं हूँ, तो इस मिथ्यात्वेन निश्चित प्रकृति और प्राकृत पदार्थोंके सम्बन्धसे होनेवाले शुभ या अशुभ अनुष्ठानोंकी ओर वृत्तियोंकी प्रवृत्ति ही क्यों होने लगी। उदाहरणतः, जिसे पूर्णतया यह बात मालूम हो गयी कि जिसे हम जलके रूपमें देख रहे हैं वह वास्तवमें जल नहीं है, किन्तु मरुस्थलमें सूर्यकी किरणें ही जलकी भाँति चमक रही हैं, तो वह कदापि प्यास लगनेपर उधर पानीके लिये नहीं जा सकता, बल्कि दूसरा कोई जाता दीखे तो उसे भी रोकनेकी चेष्टा करेगा, कोई जानेके लिये विवश करे तो भी प्रसन्नतासे नहीं जायगा। वैसे ही जिन्होंने जगत्का मिथ्यात्व जान लिया, इसकी दुःखरूपता और हेयताका विचार कर लिया, वे कभी जगत्की नानाविध प्रवृत्तियोंमें जा ही नहीं सकते

Prof. Amodavardhana Kaundinhyayana Collection, Kathmandu, Nepal

और न उन्हें जानेकी आवश्यकता ही है। वे अमुक कर्म करें, अमुक न करें, इस प्रकारके विधि-निषेध उनपर लागू ही नहीं होते और न उन्हें उनपर कोई लागू कर ही सकता है। यहाँतक कि उनके सम्बन्धमें कुछ लिखना-पढ़ना भी बेकार ही है।

कहना-सुनना तो हम साधारण लोगोंके विषयमें ही बनता है। हमारा बौद्धिक ज्ञान चाहे जितना बड़ा हो, हम चाहे जितना सुन्दर लेख लिखते हों, व्याख्यान झाड़ते हों, बाह्य त्यागका आडम्बर रचते हों; परन्तु अभी हमारा हृदय संसारकी सत्यता, प्रियता और एषणाओंसे शून्य नहीं हुआ है, ये सब स्वार्थसिद्धिके लिये कलामात्र हैं, चाहे वह स्वार्थ रुपयेका हो, मान-प्रतिष्ठाका हो या कीर्त्तिका हो।

हम निष्काम कर्मका नाम लेकर भोली-भाली जनताकी आँखोंमें धूल डाल सकते हैं, प्रेमलक्षणा भक्ति और अपरोक्ष ज्ञानके बहाने अपनी वासनाओंकी पूर्त्ति कर सकते हैं और अपने नामके साथ कुछ भी उपाधि जोड़कर लोगोंसे पूजा करा सकते हैं; किन्तु परम सत्य तो यह है कि हम वास्तविक ज्ञान और परमार्थसे बहुत दूर हैं।

सिद्धान्तकी दृष्टिसे प्रवृत्तिमात्र ही अविद्या और कामनाके कारण होती है। बिना संसारमें सत्यत्वबुद्धि आये, चाहे वह क्षणभरके लिये ही क्यों न हो, कर्म हो ही नहीं सकता। आधिकारिक महापुरुषोंकी बात दूसरी है। और जब हम संसारमें आते हैं, भेदको, द्वैतको, अज्ञानको स्वीकार करके ही आते हैं; स्वीकार कर लेनेपर उसके परिणाम—कामनाओंसे बच नहीं सकते। यदि बचते नहीं तो यह भी दृढ़ निश्चय और सत्य है कि हम नाना प्रकारके बन्धनों तथा दुःखोंसे घिरे हुए हैं, सिद्धान्तसे च्युत या नीचे उतरे हुए हैं, हमें आदर्श स्थिति प्राप्त नहीं हुई है। जीवनको जीवित करनेवाली एकमात्र यही अभिलाषा पहले होती है, तथा जीवनपर्यन्त रहती है और रहनी चाहिये कि यह जीवन सिद्धान्तपर आरूढ़ हो जाय। परमानन्दकी साक्षात् अनुभूति करनेके लिये चला हुआ पुरुष जब उसे छोड़कर संसारकी ओर लौटता है, तो लौटकर वह चाहे जितना लोकहितकर कर्म करे, प्रश्न यह उठता है कि उस अनुभूतिका फल क्या यही हुआ है? यदि यही है तो उसके लिये प्रयत्न न करके इस फलमें ही जीवनकी स्थिति की जाय। उस परमानन्दकी अपेक्षा इसमें अधिक आनन्द न होता तो उसे छोड़कर इसकी तरफ क्यों ढुलक पड़ते? और यह तो सिद्धान्त ही है कि सब कुछ अपने लिये ही प्यारा है। यदि उसपर निरन्तर आरूढ़ न रह सकनेके कारण यह 'अवतरण' हुआ है तो इसकी अपेक्षा यही अच्छा होता और सर्वथा अच्छा है कि उस आदर्श स्थितिको प्राप्त करनेके लिये निरन्तर पूर्णशक्तिसे प्रयत्न किया जाय। इस साधनकी स्थितिमें अपनेको सिद्ध घोषित करके, अपनी आचार्यताका दावा करके, चेला-चेली, उपदेश, लेख, लोकसेवाकी आड़में अपनी वासनाओंकी पूर्त्ति करके हम परमार्थच्युत न हो जायँ, बल्कि जहाँतक हो सके हमारा प्रत्येक क्षण 'आरुरुक्षु' के रूपमें ही बीते। आरुरुक्षु—साधकके लिये कर्मकी आवश्यकता है। परन्तु वह परकल्याणके लिये नहीं, लोकसंग्रह और आडम्बरके लिये नहीं, किन्तु आत्मशुद्धिकी सच्ची भावनासे साधनके रूपमें आत्मकल्याणके लिये होनी चाहिये।

इस प्रकारका कर्म केवल वही कर सकता है जो अपनेको कृतकृत्य नहीं समझता, किन्तु आदर्श स्थितिके लिये—सिद्धान्तपर आरूढ़ होनेके लिये सच्ची उत्सुकता रखता हो। यह आध्यात्मिक पथ नितान्त व्यक्तिगत तथा स्वाश्रित है। एक समूहमें इसके संस्कार पड़ सकते हैं—कुछ लोग इस पथपर चलनेके लिये उत्तेजित कर सकते हैं, प्रोत्साहन दे सकते हैं—वह भी नाममात्र, कहनेभरका, आश्वासनमात्र; नहीं तो यात्रा अकेले ही करनी पड़ेगी। कोई भी साथी अथवा सहायक वहाँतक पहुँचा नहीं सकता; हमें स्वयं चलकर इस मार्गको तै करना पड़ेगा और अन्तमें तो एक-अद्वितीय, निर्द्वन्द्व वस्तुस्थिति होगी ही।

अनादि कालसे, जन्म-जन्मान्तरसे इसी संसारमें रहते-रहते इसके संस्कार इतने दृढ़मूल हो गये हैं कि उन्हें दूर करना सरल नहीं। इसके लिये बड़े अभ्यास, परम श्रद्धा, तत्परता और सुदृढ़ संयमकी आवश्यकता है। मोहवश स्त्री-पुत्रको छातीसे चिपकाये रहें, कौड़ी-कौड़ीकी गिनतीके लिये लालटेनके सामने जगकर रात्रि व्यतीत करते रहें और परमार्थ हमें स्वयं आकर प्राप्त हो जाय, यह सब कल्पना-जगत्की, स्वप्नकी

बातें हैं। मिथ्या प्रलोभनवचनोंमें पड़ा हुआ पुरुष परमार्थपथका पथिक नहीं हो सकता। इसके लिये घोर तपस्या करनी होगी, सर्वस्व त्याग करना होगा और विविध विघ्न-बाधाओंसे संकुल इस संसाररूप भीषण समुद्रमें असंख्य तरङ्गाघातोंका सामना करनेके लिये एक निष्ठुर और दारुण शिलाखण्डकी भाँति स्थित होना होगा। जैसे भूखा सिंह अपनी भक्ष्य वस्तुको देखते ही उसपर अपनी सारी शक्तिसे तत्क्षण आक्रमण कर देता है, उसी प्रकार हमें अपने लक्ष्यपर टूट पड़ना होगा। मार्ग लंबा है, पर उसका अन्त अवश्यम्भावी है। शिथिल उत्साहसे काम न चलेगा। यही भाग्योदयका शुभ समय है, यही पवित्रतम देश है। बिना किसी प्रकारकी हिचकिचाहटके एक पगली छलाँगमें ही हम उस 'आवरण' को नष्ट कर दें जो हमें अपने लक्ष्यसे पृथक् किये हुए है। यह भी जान लेना चाहिये कि वह आवरण कोई दूसरी वस्तु नहीं, हमारे उत्साहकी न्यूनता ही है; सच्ची व्याकुलता, मुमुक्षा या जिज्ञासाके अभावके कारण ही नाना प्रकारके बहाने बनाकर हम अपनेको दूसरोंकी दृष्टिमें आध्यात्मिक सजानेमें लगे हुए हैं और सम्भवतः दूसरोंको ठगनेके लोभमें आकर स्वयं ठगे जा रहे हैं।

हम दूसरोंके उद्धारकी शक्ति नहीं रखते। अभी पहले अपना उद्धार तो कर लें। और अपना उद्धार तभी संभव है जब हम सिद्धान्तपर आरूढ़ हो जायँ, आदर्श स्थिति प्राप्त कर लें। इसलिये अन्तरमें लोकैषणाको छिपाकर रखनेवाले इस परोपकारकी ओट छोड़कर हम लोग अन्तरकी ओर बढ़ें। कालरूप प्रभुकी उपासना करते-करते बहुत दिन हो गये, अब आत्मरूप प्रभुकी उपासना करें। ऐसी उपासना करें, ऐसी सच्ची साधना करें कि साधक-साध्य और उपासक-उपास्य सभी उस अनन्त साधनामें, उपासनामें आकर मिल जायँ। उसमें केवल साधना-ही-साधना रह जाय। वस्तुतः यही सिद्धान्त और आदर्श स्थिति है। यह सिद्धान्त जबतक जीवनके परमाणु-परमाणुमें व्याप्त न हो जाय, इसकी अविच्छिन्न धारा रग-रगमें अभिनिविष्ट न हो जाय और यह जीवनविन्दुसिद्धान्तके महासमुद्रमें मिलकर वही न हो जाय, तबतक इस निष्ठुर साधनाकी प्रगति अबाधित गतिसे उत्तरोत्तर बढ़ती ही जानी चाहिये। अब प्रश्न यह होता है कि साधनाका वास्तविक रूप क्या है ? वस्तुतः इसी प्रश्नके चक्रवातमें पड़कर हम सभी अधरमें लटक रहे हैं। हमारी वही दशा है जो धोबीके कुत्तेकी होती है। साधनका सच्चा रूप है कृत्रिमको छोड़कर अकृत्रिमकी ओर, अनात्मको छोड़कर आत्माकी ओर, बहिर्मुखताका परित्याग करके अन्तर्मुखताकी ओर अग्रसर होते रहना और अन्तमें उसीमें परिनिष्ठित हो जाना। अर्थात् बहिर्विषयोंकी ओर दौड़नेवाले वृत्तिप्रवाहको संकुचित करके उसे प्रत्यक्चेतनकी ओर प्रवाहित करना ही वास्तविक साधना है। हमें बार-बार धोखा होता है, जन्म-जन्मकी सञ्चित वासनाओंसे हमें अनेकों बार पददलित होना पड़ता है। हम एक क्षण देवता होनेका संकल्प करनेपर भी दूसरे ही क्षण दानव हो जाते हैं, श्रीप्रभुके चरणोंका आश्रय लेकर अथवा प्रारब्धके ऊपर निर्भरकर बार-बार योगक्षेम तथा भोगोंकी ओरसे निश्चिन्त होनेका निश्चय करनेपर भी हम उसीके लिये सम्पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न करते हुए देखे जाते हैं। प्रिय वा अप्रिय मात्रास्पर्शोंकी कटुता एवं दुःखयोनितापर विश्वास रखनेकी चेष्टा करते रहनेपर भी उनसे बार-बार प्रभावित होते रहते हैं। यह सब सत्य होनेपर भी निराश होनेका कोई कारण नहीं है। इन द्वन्द्वोंके रूपमें आनेवाली विविध विघ्न-बाधाओंसे तुमुल युद्ध करके हमारा आत्मविकास ही होगा, इसमें सन्देह नहीं। किसी समय, किसी देश और किसी वस्तुमें यह शक्ति नहीं कि हमें अपनेमें अन्तर्भूत कर सके। इसके विपरीत इन्हें हमारे अन्दर आना ही पड़ेगा। श्रुतियोंके, भगवान्के, सद्गुरुओंके वचनपर विश्वास करके यह दावेके साथ कहा जा सकता है कि इन्हें हमने ही जीवित किया है, कर रहे हैं और जब चाहेंगे इन्हें समेटकर इनके अत्यन्ताभावके निरपेक्ष साक्षीरूपमें प्रतिष्ठित हो जायँगे। यदि ऐसा है तो अभीसे क्यों नहीं हो जाते ? इसलिये कि अभी हमें अपनी शक्तिपर, महिमापर सच्ची निष्ठा नहीं है और इसीकी प्राप्तिकी चेष्टा ही साधना है। प्राचीन समयमें इस साधनाका श्रेणीविभाग

था । ऐतरेय, तैत्तिरीय उपनिषदों और उन्हींके आधारपर रचे हुए अनुभूतिप्रकाश आदि अर्वाचीन ग्रन्थोंके देखनेसे पता चलता है कि पहले अन्तःकोशके साथ तादात्म्य स्थापित कराके बहिःकोशपरसे अहंभाव हटवाया जाता था और इस प्रकार क्रम-क्रमसे अन्तरतम वस्तुका बोध कराया जाता था। इस प्रणालीसे अपने चतुर्विध योगका समन्वय भी इस ज्ञानसाधनाके साथ पूर्णतः हो जाता था ।

इस स्थूल शरीरसे, जो अपवित्र और घृणित वस्तुओंका पुलिन्दा है, अहंभाव हटानेके लिये मन्त्रयोगकी साधना थी। उसके द्वारा हम अपनेको मन्त्रमय चिन्तन करके एक ज्योतिरूप प्राणशक्तिके विग्रहके साथ तादात्म्यापन्न होते थे और इस मांसपिण्डसे स्वतः ही अहंभावना छूट जाती थी । हठयोगके द्वारा इस प्राणशरीरपर आधिपत्य स्थापित करके ज्ञानशक्तिकी ओर अग्रसर होते थे और धीरे-धीरे लययोगके अभ्याससे मनोमय कोशपर भी विजय पा लेते थे । अभ्यासकी परिपक्वतासे राजयोग प्रतिष्ठित होता था और हम कर्तृत्वप्रधान विज्ञान या अहंसे छूटकर कर्तृत्वशून्य अनन्त आनन्दमयकी भावनामें समाधिस्थ हो जाते थे। इसी स्थितिमें निरपेक्ष स्वयंप्रकाश फलज्ञानका आविर्भाव होता था, जिससे पूर्वोक्त भावनाओंका भावनात्व नष्ट होकर वे वस्तुस्थिति या सिद्धान्त बन जाती थीं । इस साधनामें न वासनाक्षय—मनोनाशके लिये पृथक् प्रयत्न ही करना पड़ता था और न तत्त्वम्पदार्थकी विवेचना ही शिथिल पड़ती थी । भूमिकाभेदकी भी अपेक्षा नहीं थी और श्रवणमात्रसे अपनेको कृतार्थ माननेकी आत्मवञ्चनाके लिये तनिक भी अवसर नहीं था । तथा मृत्युके पश्चात् होनेवाली मुक्तिके धोखेमें पड़कर कोई जीवन्मुक्तिसे हाथ नहीं धो बैठता था, जैसा कि प्रायः आजकल हो रहा है ।

इस साधनामें बाह्य पदार्थोंसे सम्बन्धविच्छेद कराते हुए वासनाक्षयकी ओर ले चलनेके लिये वैराग्यदेव स्वयं उपस्थित रहते थे । तत्पदार्थके साक्षात्कारकी ओर अग्रसर करके मनको भगवद्रूपता देती हुई भक्तिदेवी साधकको साक्षात् मनोनाशके उत्तम प्रासादपर स्थापित कर देती थीं । ऋद्धि-सिद्धि तथा विविध प्रकारकी मुक्तियों एवं बन्धोंके अत्यन्ताभावके साक्षी केवल-निरपेक्ष-ज्ञानदेव, जैसे कि वे वस्तुतः हैं, अपने आपमें ही मग्न रहते थे ।

यही सिद्धान्त है—वस्तुस्थिति है, जो जीवनको आत्मसात् करके ही प्रतिष्ठित होती है । वही सिद्धान्त सच्चा सिद्धान्त है जो जीवनको अपनेमें अन्तर्भूत कर ले और वही जीवन सच्चा जीवन है जो सिद्धान्तमय हो ।

जबतक हम इस स्थितिपर आरूढ़ न हो जायँ तबतक निरन्तर कठोर साधनाके द्वारा इसपर आरूढ़ होनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये, किसी प्रकार भी अपनी कृतकृत्यताके धोखेमें नहीं पड़ना चाहिये ।

वासनाएँ बहुत बलिष्ठ हैं, ये बार-बार संसारकी ओर खींचती रहती हैं, कई बार हम इनके चक्करमें आकर अपने आपको खो बैठते हैं; अतः इनका कड़ा निरीक्षण होना चाहिये । वासनाओंका सबसे भयङ्कर रूप है किसीको सिद्धके आसनपर बैठा देना । इस दलदलमें फँसकर शायद ही कोई धीर-वीर निकल सकता है । इसलिये हमें प्रतिपल इनकी परीक्षा करते रहना चाहिये और जीवनको आदर्शकी ओर प्रेरित करते रहना चाहिये । आदर्श वह है जिससे कभी फिर संसारमें लौटकर न आना पड़े । जबतक लौटते हैं तबतक सच्चे तत्त्वकी उपलब्धि नहीं हुई । जो दूसरोंके उद्धारकी कम्पनियाँ खोलकर बैठे हों उन्हें खोलने दें, उनसे अपना कोई मतलब नहीं; हमें तो अपने आपको देखना चाहिये और यह याद रखना चाहिये कि सिद्धान्त ही जीवन है और जीवन ही सिद्धान्त है तथा जबतक दोनों पृथक्-पृथक् हैं तबतक दोनों ही निष्फल हैं ।

इति शम्

प्रत्यभिज्ञावाद या स्पन्दवाद और उसके आचार्य

प्रत्यभिज्ञावाद या स्पन्दवाद बहुत कुछ तान्त्रिक मतसे मिलता है। इस मतका जन्म सम्भवतः काश्मीरमें हुआ था। कम-से-कम इस मतके बहुत-से आचार्य काश्मीरमें ही पैदा हुए थे। प्रत्यभिज्ञावादी लोग शैव होते हैं। सोमानन्दनाथपाद, उदयकरसूनु, वसुगुप्ताचार्य, भट्ट कल्लटेन्दु, उत्पलाचार्य, अभिनवगुप्ताचार्य आदि आचार्य इस मतमें हो गये हैं। वसुगुप्ताचार्य भट्ट कल्लटके गुरु थे। भट्ट कल्लटने स्पन्दकारिका नामक एक ग्रन्थकी रचना की है, जिसमें उन्होंने अपने गुरुका नाम लिखा है। इस कारिकापर उत्पलाचार्यने स्पन्दप्रदीपिका नामक टीका लिखी। उत्पलाचार्यने भी भट्ट कल्लटको वसुगुप्ताचार्यका शिष्य लिखा है। अभिनवगुप्ताचार्यने पूर्वाचार्यके रूपमें भट्ट कल्लटका नाम लिखा है और अपने गीताभाष्यमें उन्हींके मतका वर्णन किया है। सर्वदर्शनसंग्रह नामक ग्रन्थमें भट्ट कल्लटका नाम तो नहीं है, परन्तु वसुगुप्त और अभिनवगुप्तका नाम है। भट्ट कल्लटकी कारिकामें बहुत-से ग्रन्थोंका उद्धरण दिया गया है और योगिनाथ, सिद्धनाथ आदि कई आचार्योंका उल्लेख है। सिद्धनाथके 'अभेदार्थकारिका' नामक ग्रन्थका वाक्य भी उद्धृत किया गया है। शिवसूत्रका उल्लेख भी स्पन्दप्रदीपिका तथा सर्वदर्शनसंग्रहमें किया गया है। स्पन्ददीपिकासे मालूम होता है कि उत्पलाचार्यने और भी ग्रन्थ लिखे थे। इस प्रकार इस मतके कितने ही आचार्यों और ग्रन्थोंका नाम मिलता है, परन्तु किसीके विषयमें कोई बात मालूम नहीं होती। इस मतके ग्रन्थ भी सम्भवतः कहींसे प्रकाशित नहीं हुए हैं। केवल अभिनवगुप्ताचार्यकी गीताकी टीका मिलती है। और थोड़ी-बहुत उन्हींके जीवनके विषयमें बातें मालूम हुई हैं।

अनुमानतः ऐसा मालूम होता है कि इस मतका अभ्युदय प्रायः ५ वीं ६ ठीं शताब्दीमें हुआ था। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दीमें अभिनवगुप्ताचार्यने इसे विशेषरूपसे प्रतिपादित किया और इसका विशेष प्रचार किया। यह मत भी गुरुशिष्यपरम्परासे ही प्रचारित होता आ रहा था। अब यहाँपर अभिनवगुप्ताचार्य तथा उनके मतका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

श्रीअभिनवगुप्ताचार्य

श्रीअभिनवगुप्ताचार्यका जन्म काश्मीरमें हुआ था। उन्होंने अपने गीताभाष्यमें अपने वंशका परिचय दिया है। वररुचि-जैसे विद्वान् और ज्ञानी कात्यायन उनके पूर्वज थे। उनके वंशमें स्थिरबुद्धि और अत्यन्त विद्वान् सौचुकने जन्म ग्रहण किया था। सौचुकके पुत्र महात्मा श्रीभूतिराज थे। भूतिराजकी प्रतिभासे समस्त लोक आलोकित हो उठा था। उन्हींके चरणारविन्दके मधुप अभिनवगुप्त थे। वह स्वयं भी बहुत बड़े विद्वान् और भगवद्भक्त थे। उन्होंने भगवान्का साक्षात्कार किया था और इसी कारण गीताका अर्थ लिखनेमें समर्थ हुए थे। उन्होंने यह भी लिखा है कि ब्राह्मणोंके अनुरोधसे मैंने गीताभाष्य लिखा। गीताभाष्यके अन्तमें उन्होंने शिवके साथ अपनी अभिन्नता प्रकट की है। वह लिखते हैं—

अभिनवरूपा शक्तिस्तद्गुप्तो यो महेश्वरो देवः।
तदुभयथात्मरूपं अभिनवगुप्तं शिवं वन्दे॥

अभिनवगुप्ताचार्यके गीताभाष्यका नाम गीतार्थसंग्रह है। इसके अतिरिक्त उन्होंने शिवसूत्रकी व्याख्या भी लिखी थी, परन्तु यह कहींसे प्रकाशित हुई या नहीं, मालूम नहीं।

मत

अभिनवगुप्ताचार्य प्रत्यभिज्ञावादके प्रतिपादक थे। 'प्रत्यभिज्ञा' शब्दका अर्थ है—प्रतिभाभिमुख ज्ञान। किसी वस्तुका ज्ञान जब उसके सम्मुख आनेपर होता है तब उस ज्ञानको प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। शास्त्रोंकी सहायतासे ईश्वरकी पूर्ण शक्तिका ज्ञान होता है। वह पूर्णशक्ति परमेश्वर जब आत्माके सामने प्रकट होते हैं तब उनकी शक्तिके प्रतिसंधानद्वारा ज्ञानका उदय होता है। उस ज्ञानसे ईश्वर और अपनेमें अभिन्नताका—मैं ही वह ईश्वर हूँ, ऐसा बोध उत्पन्न होता है।

'स्पन्द' शब्दका अर्थ है गति। निस्तरङ्ग परमात्माकी

निर्विकल्प सर्वतोमुखी वृत्ति ही स्पन्द है । परमात्मा ज्ञानस्वरूप होनेपर भी सक्रिय हैं । सक्रियता स्पन्दनरूपी है । शक्तिरूप स्पन्दन ईश्वरमें है । ईश्वर निर्विकल्प और निर्विकार हैं । परन्तु उनमें शक्तिका स्पन्दन है । अर्थात् ब्रह्म या ईश्वर ज्ञान और क्रियायुक्त हैं; चिद्रूपत्व, अनवच्छिन्न, विमर्शत्व, अनन्योन्मुखत्व तथा आनन्दैकघनत्व ही महेश्वरत्व है । वह भावात्मा अर्थात् समस्त सृष्ट पदार्थोंके स्वरूप हैं । वह परम निर्मल और पारमार्थिक ज्ञान तथा क्रियास्वरूप हैं । ज्ञानका अर्थ है प्रकाशरूपता और क्रियाका अर्थ है अन्य सहायताके बिना जगत्का निर्माण करना । भगवान्की इच्छामात्रसे जगत्की सृष्टि हुई है । यह ज्ञानक्रिया स्वाभाविक है और यह पारमार्थिक ज्ञानक्रिया ही स्पन्द है । स्पन्दतत्त्वमें न दुःख है, न सुख; न ग्राह्य, न ग्राहक और न मूढभाव है । परमार्थ चिद्रूपता ही स्पन्दतत्त्व है । स्पन्दस्वरूप ही परमेश्वर हैं । इस परमेश्वरके साथ अभिन्नताका अनुभव करना ही प्रत्यभिज्ञावाद है ।

अधिकारी—इस प्रत्यभिज्ञावादके सभी अधिकारी हैं । अधिकारी होनेका कोई खास नियम नहीं । जिस व्यक्तिके सामने परमार्थतत्त्वका वर्णन होता है, उसे ही महाफल प्राप्त होता है । अवश्य ही विशेष साधकको परमार्थफल प्राप्त होता है ।

सम्बन्ध—स्पन्दरूप महेश्वर और शास्त्रमें वाच्य-वाचक-लक्षण-सम्बन्ध है । अर्थ वाच्य है और शास्त्र वाचक है । स्पन्दरूप महेश्वर ही अर्थ हैं ।

अभिधेय विषय—महेश्वर निरावरण चैतन्यस्वरूप हैं, दिक्कालादिद्वारा अनवच्छिन्न, अद्वितीय महेश्वर स्वानुभवैकप्रमाण हैं । वह शक्तिचक्रेश्वर, आत्मचिन्तामणि, उपेय तथा अभिधेय हैं ।

प्रयोजन—महेश्वरके सर्वज्ञता आदि गुणोंको प्राप्त करना ही प्रयोजन है । महेश्वरको प्राप्त करनेपर समस्त सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है । उनको पा लेनेपर और कुछ भी माँगनेयोग्य नहीं रह जाता । अथवा समस्त जगत्की प्राप्ति जिसके कारण हो जाती है, वैसी प्रत्यभिज्ञा ही प्रयोजन है ।

महेश्वर—आत्मा—वह चैतन्यस्वरूप हैं । वह ज्ञानानन्दस्वरूप हैं । वह देशकालसे परिच्छिन्न नहीं हैं । दूसरेकी अपेक्षा न रख वह सृष्टि करनेमें समर्थ हैं; वह सर्वशक्तिमान् हैं । उनकी शक्ति पारमार्थिक है । ज्ञान और क्रिया उनमें स्वाभाविक है । महेश्वरकी स्वाभाविक शक्ति ही प्रकृति है । महेश्वरकी प्रकृति—स्वात्मभूता प्रकृतिमें कभी व्यभिचार नहीं होता । महेश्वर आनन्दशक्तिस्वरूप हैं । उसके प्रभावसे वह सङ्कल्पमात्रसे सारे भुवनकी सृष्टि करते हैं । महेश्वर कर्ता, ज्ञाता, स्वात्मा और अनादिसिद्ध हैं । उनकी स्वतन्त्रता अबाध है । महेश्वर ही एकमात्र प्रमाता हैं ।

ईश्वर और जगत्—ईश्वरकी इच्छासे ही जगत् निर्मित हुआ है । इसका नाम इच्छानुसारिणी क्रियाशक्ति है । महेश्वर ही जगत्के उपादानकारण हैं, महेश्वर ही निमित्तकारण हैं ।

जीव—जीव चेतन है, पर अनीश्वर है । प्रत्यगात्मा परमेश्वरसे अभिन्न है । वह प्रमाता जीव मायावश मोहाच्छन्न होनेपर कर्मसे बँधता है और संसारी बन जाता है । फिर विद्याकी सहायतासे ऐश्वर्यका ज्ञान प्राप्तकर और निरवच्छिन्न चित् सत्तासे आविष्ट होकर मुक्त होता है । मनुष्य शिवस्वरूप होनेपर सर्वदा सब विषयको जानता है । महेश्वरके साथ एकत्व स्थापित हुए बिना सब विषयोंको ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं पैदा होती । जीव महेश्वरका दास है । अवश्य ही 'दास' शब्दका अर्थ भृत्य नहीं है । स्वामी जिसको सब मनोवाञ्छित वस्तुएँ प्रदान करते हैं, वही दास है ।

मुक्ति—महेश्वरभावकी प्राप्तिका नाम मुक्ति है । सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्वकी प्राप्तिका नाम मुक्ति है ।

ज्ञान और कर्म—ज्ञान स्वतःसिद्ध है, क्रिया उसके आश्रित है । ज्ञान प्रकाशस्वरूप, चित्स्वरूप, सर्वप्रकाशक, अखण्ड और एक है । केवल विषयोपरागभेदसे भिन्न-भिन्न मालूम होता है । वह देश, काल, आकारसे अवच्छिन्न नहीं है ।

साधन—इस मतके अनुसार प्राणायाम आदि कष्टसाध्य साधनोंकी आवश्यकता नहीं । इस मतसे केवल प्रत्यभिज्ञाद्वारा ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है । 'वह ईश्वर मैं हूँ' इस प्रकार प्रतिसंधान करनेसे ईश्वरके साथ एकत्व प्राप्त होता है । प्रकाशके साथ एकत्व होनेपर ईश्वरके साथ एकत्व हो जाता है ।

समन्वयवादके आचार्य विज्ञानभिक्षु

समन्वयवाद सांख्यमतानुसार वेदान्तवाद है । इसे द्वैतवाद या भेदाभेदवाद कह सकते हैं । इसके आचार्य विज्ञानभिक्षु थे । उन्होंने सांख्यमतानुसार ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या की है और उसमें सब शास्त्रोंका समन्वय करनेकी चेष्टा की है । इसीसे इसका नाम समन्वयवाद पड़ा है । विज्ञानभिक्षु प्रायः सोलहवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें हुए थे । वह संन्यासी थे । उनका जन्म कहीं उत्तर भारतमें हुआ था । वह सांख्यमतको माननेपर भी ईश्वरपरायण (विष्णुभक्त) थे । उन्होंने 'सांख्यसार' नामक ग्रन्थके आरम्भमें विष्णुको नमस्कार किया है । उनमें आत्मनिवेदन तथा निष्काम कर्मयोगका भाव स्पष्ट देखा जाता है । उन्होंने ब्रह्मसूत्रका 'विज्ञानामृत' भाष्य लिखनेकी प्रेरणा श्रीभगवान्से प्राप्त की थी । अपने गुरुदेवकी प्रसन्नताके लिये श्रीगुरुकी दक्षिणाके रूपमें उन्होंने भाष्यकी रचना की थी, ऐसा भाव भी उन्होंने भाष्यके प्रारम्भमें प्रकट किया है । उन्होंने सांख्यप्रवचनभाष्यकी भूमिकामें निरीश्वर सांख्यके विषयमें जो अभिमत प्रकट किया है, उससे भी मालूम होता है कि वह ईश्वरपरायण थे ।

आचार्य विज्ञानभिक्षुने 'विज्ञानामृत' नामक ब्रह्मसूत्रका भाष्य, उपदेशरत्नमाला, उपनिषद्-भाष्य और गीताभाष्य नामक वेदान्तग्रन्थ, सांख्यप्रवचनभाष्य और सांख्यसार नामक सांख्यमतके ग्रन्थ तथा योगवार्त्तिक और योगसार नामक योगके ग्रन्थोंकी रचना की । उन्होंने वेदान्तग्रन्थोंकी व्याख्या सांख्यमतके अनुसार ही की है । उनके ग्रन्थोंको देखनेसे मालूम होता है कि विज्ञानभिक्षु प्रतिभा और पाण्डित्यके भण्डार थे ।

मत

आचार्य विज्ञानभिक्षुके मतानुसार आत्मा एक है और उसीको ईश्वर कहते हैं । ईश्वर सृष्टिसे पूर्व एक ही थे । माया ईश्वरकी शक्ति है और इसी मायाशक्तिके कारण वह सर्वेश्वर हैं । माया ईश्वरकी शक्ति होनेके कारण ईश्वर सगुण और सविशेष हैं । परन्तु ईश्वर सशक्ति होनेपर भी निर्गुण हैं । वह अपने अन्तरमें स्थित प्रकृति-पुरुषादि शक्तिकी सहायतासे अन्योन्य संयोगबलसे महदादिकी सृष्टि करते हैं । एवं पुनः समस्त जीव-जगत्को आत्मामें उपसंहृत करके अद्वितीय रूपमें, एक रूपमें स्थित होते हैं । ईश्वरसे भिन्न कुछ भी नहीं रहता । सूर्यकी किरणके समान सब जीव ब्रह्मके अंश हैं । प्रकृति, उसके गुण और जीव आदिकी सत्ता और स्फूर्त्ति ईश्वरके अधीन है । प्रकृति, गुण और जीव आदि स्वप्नकी वस्तुकी तरह दृश्य हैं । उनमें स्वतःसिद्धत्व नहीं है, अतएव उनकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है । जीव चैतन्यांशमें ब्रह्मके समान है, चैतन्यांशमें कोई विलक्षणता नहीं है । अतएव ईश्वर पचीसों तत्त्वोंका आत्मा है । जीव प्राणादिकी तरह जडरूपमें अनात्मा है । वह वेदान्तप्रतिपाद्य उस परमात्मा परब्रह्मका आत्मरूपमें अनुभव करके, अविद्या, काम, कर्म आदिका नाश होनेके कारण सब दुःखोंसे इसी जीवनमें मुक्ति प्राप्त करता है । विज्ञानभिक्षु जीवन्मुक्तिको स्वीकार करते हैं । वह जीव और ब्रह्ममें अंशांशिभाव मानते हैं । उनकी रायमें पिता-पुत्रकी तरह ब्रह्म और जीव अविभक्त हैं ।

विज्ञानभिक्षुके मतसे ब्रह्म जगत्के अधिष्ठान-कारण हैं । प्रकृति ब्रह्मसे अविभक्त है । ब्रह्म स्वाविभक्त प्रकृति आदिके साक्षीके रूपमें उपविष्ट हैं । अतएव ब्रह्म जगत्के कारण होनेपर भी निर्विकार हैं ।

आचार्य विज्ञानभिक्षु ज्ञान और कर्मका समुच्चय करते हैं । उनके मतसे कर्मयुक्त ज्ञान ही मोक्षका साधन है । वह ईश्वरके साथ एक होनेको मुक्ति नहीं मानते और न वह यही मानते हैं कि मुक्त पुरुषको ईश्वरके समान शक्ति होती है । उनका कहना है कि मुक्त पुरुषको ईश्वरके समान भोग प्राप्त होता है । ईश्वरसायुज्यका अर्थ है उसके समान भोग । ईश्वर भी मुक्त पुरुषके भोग्य हैं ।

विज्ञानभिक्षुके मतसे भी शूद्रको ब्रह्मविद्याका अधिकार नहीं है ।

मनुष्यता बनाम वेदान्त

(लेखक—पं० श्रीकन्हैयालालजी मिश्र 'प्रभाकर', सम्पादक 'विश्वास')

मनुष्यका सबसे बड़ा वैभव उसकी मनुष्यता है, वही उसके सारे कार्य-कलापकी आत्मा है। इसीलिये हमारे अनुभवी पूर्वपुरुष कह गये हैं—

आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ।

सारे वैभवकी बाजी लगाकर भी मनुष्यको आत्माकी—अपनी मनुष्यताकी—रक्षा करनी चाहिये ।

मनुष्य संसारका सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहा जाता है, पर आज ईमानदारीसे हम देखें तो यह संसारका 'सर्वाधिक पतित पशु' बन गया है। संयमकी दृष्टिसे पशु हमसे श्रेष्ठ है। वह आज भी प्रकृति माताके नियमोंसे बँधा है और सौहार्दकी दृष्टिसे भी हम उससे पीछे हैं ।

धर्मोंके नामपर, साम्प्रदायिकताके नामपर, प्रान्तीयताके नामपर, जातियोंके नामपर, रंगोंके नामपर और सभ्यताके इस नवयुगमें असभ्य राष्ट्रीयताके नामपर मनुष्यने अपनी मनुष्यताको टुकड़े-टुकड़े कर डाला है। वह आज विराट् पुरुषके—विश्वात्माके—पदसे गिरकर साढ़े तीन हाथका मिट्टीका एक पुतलाभर रह गया है।

जर्मनीके एक डाक्टरने मानवताकी अखण्डताके बारेमें बड़ी गहरी खोज की है और यह जाननेके लिये कि आर्य मानव और अनार्य मानव, पीली जाति और गोरी जाति आदिकी मानवतामें क्या सचमुच कोई मौलिक भेद है, वह इस परिणामपर पहुँचा कि भेद बाहरी हैं और भीतरमें मानवता एक अखण्ड है। उसने संसारके विभिन्न देशोंके कुछ ऐसे मानव इकट्ठे किये जो बहरे भी थे और साथ ही गूँगे भी। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि भाषा और संस्कृतिके भेदसे उन्हें कोई तकलीफ नहीं हुई और उन्होंने इशारोंसे बिना दिक्कत अपना सब काम चला लिया—वे आपसमें इस तरह तुरन्त मिल गये, जैसे वे सब एक ही हैं और हमेशासे साथ ही रह रहे हों।

यह मानवताकी अखण्डताका एक अखण्डनीय प्रमाण हुआ! और इससे साफ है कि भाषा और देशके भेदने ऊपरसे मनुष्यको भले ही दूर कर दिया हो, भीतरसे अलग-अलग मनुष्य एक हैं ।

संसारके धर्मप्रवर्तकोंने मानवताकी इस एकतापर पूरा जोर दिया है और सच पूछो तो धर्म है ही मानवताके इस विकासका नाम ।

पर इन सब धर्मोंकी चरम सीमा है वेदान्त ! वेद अर्थात् ज्ञानका अन्त–समाप्ति अर्थात् पूर्णता। वेदान्त भेदोंके इस चक्रव्यूहमें फँसे हुए मानवको पुकारकर कहता है—'पगले ! तू दुनियाकी दीवारोंसे क्यों टकरा रहा है; तू इन सबसे ऊपर है, अखण्ड है। मनुष्य क्या, प्राणिमात्रके, विश्वभरके साथ तेरी एकात्मता है । सृष्टिके रहस्यको खोजता क्या फिर रहा है ? इस सृष्टिका विधान तेरा ही एक सङ्केत है और वह रहस्य स्वयं तू है—तत्त्वमसि !'

इस प्रकार वेदान्त अणुको विराट्, रंकको राव, राईको पहाड़ और सबसे बढ़कर नरको नारायणका रूप देता है। यह ज्ञान हमारे गले उतर जाय तो, फिर अशान्ति कहाँ, भेद कैसा और दुःख क्यों ? इसका अनुभव जिन्होंने किया, वे धन्य हैं; मैं तो इसकी कल्पना करके ही गद्गद हो उठता हूँ ।

दूसरी कई बहुमूल्य वस्तुओंकी भाँति वेदान्तका यह महाज्ञान भी अनधिकारियोंके हाथ पड़ बदनाम हो गया और आज तो यह कुछ साधुओंके लिये ही सुरक्षित विषय समझा जाने लगा है। पर वास्तवमें यह मनुष्यमात्रका अनिवार्य कोर्स है; केवल पढ़नेका नहीं, यथाशक्ति अनुभव करनेका। वेदान्त ही सच्चा मानवशास्त्र है और उस हरएक मानवके लिये और राष्ट्रके लिये अनिवार्य है जिसे मानवता प्रिय है और जो अब आगे पशुताका ताण्डव नहीं करना चाहता ! वेदान्त ही हमारी सब समस्याओंका एकमात्र उत्तर है और उसे पाकर ही हम विश्वमें शान्तिकी स्थापना कर सकते हैं। नहीं तो हम दुखी हैं—दुनिया दुखी है और दुःखकी इस वैतरणीमें न जाने कबतक डूबना-उतराना हमारे भाग्यमें लिखा है !

भार्गवी वारुणी विद्या

भृगु-वरुण-संवाद

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वरुणके पुत्र सुप्रसिद्ध भृगु अपने पिताके समीप आकर विधिपूर्वक प्रणाम करके बैठ गये।

वरुणने पूछा, 'वत्स ! क्या इच्छा है ?'

भृगुने उत्तर दिया, 'भगवन् ! मुझे ब्रह्मका बोध करा दीजिये।'

वरुणने कहा—

अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति।

'अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी—ये ब्रह्म हैं।'

भृगु–'ब्रह्मका लक्षण क्या है ?'

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।

'जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे ये जीते हैं, फिर प्रयाण करते हुए अन्तमें जिसमें ये लीन होते हैं, उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करो, वही ब्रह्म है।'

ऐसे उस ब्रह्मको जाननेकी भृगुने उत्कट इच्छा की। इस इच्छासे उन्होंने मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रतारूप तप किया। उस तपसे क्या हुआ ? तपसे भृगुने यह जाना कि अन्न ब्रह्म है, क्योंकि अन्नसे ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर अन्नसे जीते हैं और प्रयाण करते हुए अन्नमें ही लीन होते हैं। यह जानकर भृगु पुनः वरुणके पास गये और बोले—

'भगवन् ! मुझे ब्रह्मका बोध कराइये।'

वरुणने कहा–'तपसे ब्रह्मको जानो। तप ही ब्रह्म है।' भृगुने तप किया। उस तपसे क्या हुआ ?

तपसे भृगुने जाना कि प्राण ब्रह्म है। कारण, प्राणसे ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर प्राणसे ही जीते हैं, प्रयाण करते हुए अन्तमें प्राणमें ही लीन होते हैं।

इस प्रकार प्राणको ब्रह्म जानकर भृगु पुनः अपने पिता वरुणके पास गये और बोले—

'भगवन् ! ब्रह्मका बोध कराइये।'

वरुणने कहा–'उसे तपसे जानो। तप ही ब्रह्म है।' भृगुने तप किया। उस तपसे क्या हुआ ?

तपसे भृगुने जाना कि मन ब्रह्म है। कारण, ये सब प्राणी मनसे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर मनसे ही जीते हैं, प्रयाण करते हुए अन्तमें मनमें ही लीन होते हैं।

इस प्रकार मनको ब्रह्म जानकर भृगु पुनः अपने पिताके पास गये और बोले—

'भगवन् ! ब्रह्मका बोध कराइये।'

वरुणने कहा–'उसे तपसे जानो। तप ही ब्रह्म है।' भृगुने तप किया। उस तपसे क्या हुआ ?

तपसे भृगुने जाना कि विज्ञान ब्रह्म है। कारण, विज्ञानसे ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर विज्ञानसे ही जीते हैं, और प्रयाण करते हुए अन्तमें विज्ञानमें ही लीन होते हैं।

इस प्रकार विज्ञानको ब्रह्म जानकर भृगु पुनः अपने पिताके पास गये और बोले—

'भगवन् ! ब्रह्मका बोध कराइये।'

वरुणने कहा–'उसे तपसे जानो। तप ही ब्रह्म है।' भृगुने तप किया। उस तपसे क्या हुआ ?

तपसे भृगुने जाना कि आनन्द ब्रह्म है। कारण, आनन्दसे ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्दसे ही जीते हैं और प्रयाण करते हुए अन्तमें आनन्दमें ही लीन होते हैं।

सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति, प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

'यही वह भृगुद्वारा वरुणसे प्राप्त 'भार्गवी वारुणी' विद्या है। यह परमाकाशमें स्थित है। जो ऐसा जानता है वह ब्रह्ममें स्थित होता है, वह अन्नवान् और अन्नाद होता है; प्रजा, पशु और ब्रह्मवर्चसके कारण तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है।'

ब्रह्म ही विजयी है

एक समय स्वर्गके देवताओंने परमात्माके प्रतापसे असुरोंपर विजय प्राप्त की। इस विजयसे लोगोंमें देवताओं-की पूजा होने लगी। देवोंकी कीर्ति और महिमा सब तरफ छा गयी। विजयोन्मत्त देवता भगवान्‌को भूलकर कहने लगे कि हमारी ही जय हुई है। हमने अपने पराक्रम और बुद्धिबलसे दैत्योंका दमन किया है, इसीलिये लोग हमारी पूजा करते हैं और हमारे विजयगीत गाते हैं। मद अंधा बना देता है, देवता भी विजयमदमें अंधे होकर इस बात-को भूल गये कि कोई सर्वशक्तिमान् ईश्वर है और उसीके बल और प्रभावसे सब कुछ होता है। उसकी सत्ता बिना पेड़का एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।

भगवान् बड़े दयालु हैं। उन्होंने देखा कि देवतागण मिथ्या अभिमानमें मत्त होकर मुझे भूलने लगे हैं, यदि इनका यह अभिमान दृढ़ हो गया तो असुरोंकी भाँति इनका भी सर्वनाश हो जायगा। विजय प्राप्त करनेपर जहाँ सत्पुरुषोंमें नम्रता आती है वहाँ इनमें अभिमान बढ़ रहा है। यों विचारकर देवताओंके अभिमानका नाश कर उनका उपकार करनेके लिये परमात्मा ब्रह्मने अपनी लीलासे एक ऐसा अद्भुत कौतूहलप्रद रूप प्रकट किया जिसे देखकर देवताओंकी बुद्धि चकर खा गयी। देवता घबराये और उन्होंने इस यक्षसदृश रूपधारी अद्भुत पुरुषका पता लगाने-के लिये अपने अगुआ अग्निदेवसे कहा कि 'हे जातवेदस्!* हम सबमें आप सर्वापेक्षा अधिक तेजस्वी हैं, आप इनका पता लगाइये कि ये यक्षरूप वास्तवमें कौन हैं?' अग्निने कहा 'ठीक है, मैं पता लगाकर आता हूँ।' यों कहकर अग्नि वहाँ गये, परन्तु उसके समीप पहुँचते ही तेजसे ऐसे चकरा गये कि बोलनेतकका साहस नहीं हुआ। अन्तमें उस यक्षरूपी ब्रह्मने अग्निसे पूछा कि 'तू कौन है?' अग्निने कहा—'मेरा नाम प्रसिद्ध है, मुझे अग्नि कहते हैं और जातवेदस् भी कहते हैं।' ब्रह्मने फिर पूछा—'यह सब तो ठीक है; परन्तु हे अग्नि! तुझमें किस प्रकारका सामर्थ्य है, तू क्या कर सकता है?' अग्निने कहा—'हे यक्ष! इस पृथिवी और अन्तरिक्षमें जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम पदार्थ हैं उन सबको मैं जलाकर भस्म कर सकता हूँ।'

ब्रह्मने सोचा कि इसका अहङ्कार बातोंसे नहीं दूर होगा, इसको कुछ चमत्कार दिखलाना चाहिये। यों सोचकर ब्रह्मने उसमेंसे अपनी शक्ति खींच ली और 'तस्मै तृणं निदधौ'—उसके सामने एक सूखे घासका तिनका डालकर कहा कि 'और सबको जलानेकी बात तो पीछे देखी जायगी, पहले 'एतद्दह'—इस तृणको तू जला!'

अग्निदेवता अपने पूरे वेगसे तृणके निकट गये और उसे जलानेके लिये सर्व प्रकारसे यत्न करने लगे, परन्तु तृणको नहीं जला सके। लज्जासे उनका मस्तक नीचा हो गया और अन्तमें यक्षसे बिना कुछ कहे ही अग्निदेवता अपना-सा मुँह लिये देवताओंके पास लौट आये और कहा कि 'मैं तो इस बातका पता नहीं लगा सका कि यह यक्ष कौन है?'

इसके बाद देवताओंने वायुसे कहा कि 'हे वायो! तुम जाकर पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है।' वायुदेव 'बहुत अच्छा' कहकर यक्षके पास गये; परन्तु उनकी भी अग्निकी-सी दशा हुई, वे बोल नहीं सके।

यक्षने पूछा, 'तू कौन है?' वायुने कहा—'मैं वायु हूँ, मेरा नाम और गुण प्रसिद्ध है—मैं गमनक्रिया करनेवाला और पृथ्वीकी गन्धको वहन करनेवाला हूँ। अन्तरिक्षमें गमन करनेवाला होनेके कारण मुझे मातरिश्वा भी कहते हैं।' यक्षने कहा—'तुझमें क्या सामर्थ्य है?' वायुने कहा—'इस पृथ्वी और अन्तरिक्षमें जो कुछ भी पदार्थ हैं उन सबको मैं ग्रहण कर सकता हूँ (उड़ा सकता हूँ)।' ब्रह्मने वायुके सम्मुख भी वही सूखा तिनका रख दिया और कहा 'एतदादत्स्व'—इस तिनकेको उड़ा दे।

वायुने अपना सारा बल लगा दिया, परन्तु तिनका हिला भी नहीं। यह देखकर वायुदेव बड़े लज्जित हुए और

---

* जातवेदस्‌का अर्थ धनका दाता या उत्पन्न हुए समस्त पदार्थोंका ज्ञाता होता है।

तुरन्त ही देवताओंके पास आकर उन्होंने कहा—'हे देवगण! पता नहीं, यह यक्ष कौन है; मैं तो कुछ भी नहीं जान सका।'

जब मुनीमोंसे काम नहीं होता तब मालिककी बारी आती है। इसी न्यायसे देवताओंने इन्द्रसे कहा कि 'हे देवराज! अब आप जाइये।' इन्द्र यक्षके समीप गये। देवराजको अभिमानमें भरा हुआ देखकर यक्षरूपी ब्रह्म वहाँसे अन्तर्धान हो गये, इन्द्रका अभिमान चूर्ण करनेके लिये उनसे बाततक नहीं की। इन्द्र लज्जित तो हो गये, परन्तु उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और ध्यान करने लगे। इतनेमें उन्होंने देखा कि अन्तरिक्षमें अत्यन्त शोभायुक्त और सब प्रकारके उत्तमोत्तम अलङ्कारोंसे विभूषित हिमवान्‌की कन्या भगवती पार्वती उमा खड़ी हैं। पार्वतीके दर्शन कर इन्द्रको हर्ष हुआ और उन्होंने सोचा कि पार्वती नित्यबोधस्वरूप भगवान् शिवके पास रहती हैं, अतएव इन्हें यक्षका पता अवश्य ही मालूम होगा। इन्द्रने विनयभावसे उनसे पूछा—

'माता! अभी जो यक्ष हमें दर्शन देकर अन्तर्धान हो गये वे कौन थे?' उमाने कहा—'वह यक्ष प्रसिद्ध ब्रह्म था। हे इन्द्र! इस ब्रह्मने ही असुरोंको पराजित किया है, तुमलोग तो केवल निमित्तमात्र हो; ब्रह्मके विजयसे ही तुमलोगोंकी महिमा बढ़ी है और इसीसे तुम्हारी पूजा भी होती है। तुम जो अपना विजय और अपनी महिमा मानते हो सो सब तुम्हारा मिथ्या अभिमान है, इसे त्याग करो और यह समझो कि जो कुछ होता है सो केवल उस ब्रह्मकी सत्तासे ही होता है।'

उमाके वचनोंसे इन्द्रकी आँखें खुल गयीं, अभिमान जाता रहा। ब्रह्मकी महान् शक्तिका परिचय पाकर इन्द्र लौटे और उन्होंने अग्नि और वायुको भी ब्रह्मका उपदेश दिया। अग्नि और वायुने भी ब्रह्मको जान लिया। इसीसे ये तीनों देवता सबसे श्रेष्ठ हुए। इनमें भी इन्द्र सबसे श्रेष्ठ माने गये। कारण, उन्होंने ब्रह्मको सबसे पहले जाना था। इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मको सबसे पहले जाननेवाला ही सर्वश्रेष्ठ है।

(केन उपनिषद्‌के आधारपर)

प्रभुकी माया

(लेखक—श्रीमनमोहनस्वरूप 'सदाशिव', एम० ए०)

१—प्रभुकी माया अपार है, अपनी मायाको प्रभु आप ही जानते हैं। उनके सिवा उसे कोई नहीं जानता, न जान ही सकता है। प्रभुकी माया नहीं जानी जा सकती। हाँ, प्रभु जाने जा सकते हैं।

जो प्रभुमें लय हो जाता है, प्रभुके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाता है, वही प्रभुको जान भी लेता है—अतः प्रभु तो जाने जाते हैं; परन्तु प्रभुकी माया दुर्ज्ञेय है, वह नहीं जानी जाती—

यही प्रभुकी माया है।

२—प्रभु ही सब जगत्‌में फैले हैं, परन्तु कोई भी पूर्ण रूपसे प्रभु नहीं है; इसी कारण पूर्ण प्रभुकी पूर्ण मायाको कोई नहीं जानता।

जो जानता है अंशरूपमें ही जानता है, अंश ही जो ठहरा।

सब इतना ही जान सकते हैं, ज्ञानकी इतनी ही गम है, विद्याकी इतनी ही गति है।

यही प्रभुकी माया है।

३—इतना जानना भी हर किसीका काम नहीं है। जाननेकी इच्छा तो चाहे सबमें हो, परन्तु यत्न तो कोई-सा ही करता है और उनमेंसे भी कोई बिरला ही जान पाता है।

जो जान जाता है, प्रभु उसका मुँह बन्द कर देते हैं; विधि तो वह बतला सकता है, पर उससे क्या मिलता है—यह नहीं बतला सकता। कुछ पूछो तो इतना ही कह सकता है कि प्रभु·······प्रभु कहा और प्रेममें गद्गद हो गया, और बस······

जिसपर प्रभु कृपा करते हैं उसीकी यह अवस्था होती है।

यही प्रभुकी माया है ।

४–जो इतना जानता है और अहङ्कार नहीं करता, तो वह जानता है कि इतना जान लेना कुछ भी नहीं है । वह यत्न करता रहता है और उसपर प्रभुकी और भी अधिक कृपा हो जाती है और इतना जानना ही उसके लिये प्रेमका कारण बन जाता है । अर्थात् जो जान जाता है वही प्रेम करने लगता है ।

प्रभु स्वयं प्रेमरूप हैं, अतः जाननेवालेको भी प्रेम ही प्रदान करते हैं, वह अद्वितीय प्रेमी उसे भी प्रेमी बना लेता है, फिर प्रेमका खेल आरम्भ हो जाता है—

यह भी प्रभुकी माया है ।

५–इस प्रेमकी लीलामें क्या नहीं होता, और क्या होता है, यह प्रेमी ही जानता है; जो जानना चाहे, प्रेमी बन देखे । प्रेममें प्रेमी इतना जाननेसे भी आगे बढ़ जाता है, यहाँतक कि प्रेमवश प्रेमी प्रभु प्रीतममें लीन हो जाता है ।

फिर प्रीतमके अतिरिक्त कुछ भी नहीं रहता । हाँ, फिर न प्रेमी रहता है, न प्रीतम । दोनों प्रेमरूप हो जाते हैं ।

प्रेम ही प्रभुका अपना रूप है, प्रभुके रूपमें प्रेमी समा गया । दोकी जगह एक ही रह गया, यही पूर्ण प्रभुको जानना है ।

यह भी प्रभुकी माया है ।

६–परन्तु जब एक-ही-एक है, तो फिर कौन जाने ? किसे जाने ? और क्या जाने ?

जाननेवाला (ज्ञाता) और जाना जानेवाला (ज्ञेय) दोनों एक ही हैं, एक हो रहे हैं, अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय ज्ञानरूप हो गये हैं ।

जाननेवाला जानकर सब कुछ भूल गया, फिर अब ज्ञाता क्या बताये ? प्रेमी चुप है, ज्ञानी गुम है ।

यही प्रभुकी माया है ।

७–अब दूसरी बात लीजिये । जो अंशरूपमें जानता है और अहङ्कार करता है, जो आंशिकरूपमें ही जानकर फूल जाता है, वह ढिंढोरा पीटता है कि मैं जानता हूँ । पर तत्त्वतः वह अभी अधूरा ही जानता है ।

और जो अहङ्कारवश प्रभुके प्रेमरूपको नहीं देखता, प्रेम नहीं करता, वह अधूरा ही रह जाता है; कोरा ज्ञान, निरी विद्वत्ता निष्फल जाती है ।

वह प्रभुका पूर्ण रूप नहीं जानता, न जान ही सकता है ।

यह भी प्रभुकी माया है ।

८–इसी कारण जो जानता है, वह कहता नहीं फिरता । जो अंशमें जानता है—वह जानना न जाननेके तुल्य है । जो थोड़ा-सा जानता है, वही कहता फिरता है ।

जो कहता है, खो देता है । जो कहता फिरता है, वास्तवमें वही नहीं जानता है ।

यही प्रभुकी माया है ।

९–जो जानता है कि मैं नहीं जानता, पर कहता है कि मैं जानता हूँ, वह झूठा है । जो जानता है कि मैं अंशमें जानता हूँ और कहता है मैं जानता हूँ, वह वास्तवमें नहीं जानता है, कारण कि पूर्णरूपेण जानना असम्भव ही है ।

जो जानता है कि मैं नहीं जानता और कहता है कि मैं नहीं जानता हूँ वह सत्य कहता है ।

जो जानता है कि मैं अंशरूपमें जानता हूँ, और कहता है कि मैं नहीं जानता हूँ, वह कुछ जानता है, पर है वह भी अधूरा ही ।

यह भी प्रभुकी माया है ।

१०–जो जानता है कि मैं जानता भी हूँ और नहीं भी जानता और यही कहता भी है, वह औरोंसे अधिक जानता है ।

परन्तु जो जानता है कि मैं जानता भी हूँ और नहीं भी जानता, इसी कारण चुप रहता है, किसीसे कुछ नहीं कहता वह वास्तवमें बहुत जानता है । इतना जानकर भी, जो प्रभुके प्रेममें सब कुछ भूल जाता है, वह प्रभुमें लय हो जाता है, वह धन्य है ।

वही पूर्णतया जानता है, जो जानकर भी भूल गया है, जो भक्त है, अनन्य प्रेमी है ।

वह अब क्या बताये ? उसके पास बतानेकी कोई बात ही नहीं है, उसके द्वन्द्व मिट चुके हैं, अब कौन बताये और किसे बताये–बतानेको धरा ही क्या है ?

यही प्रभुकी माया है ।

जगत् और जीव

(लेखक—श्रीयुत एम्० हिरियन्ना)

ईश्वर, जीव और जगत्, यह त्रयी ही समस्त तत्त्व-विचार और धर्मका प्रतिपाद्य विषय है, यह बात प्रसिद्ध ही है। जो सम्प्रदाय एकमात्र ईश्वर या ब्रह्मकी ही सत्ता मानते हैं उन्हें इस त्रिविध सत्ताकी शेष दो सत्ताओंको अर्थात् जीव और जगत्को उसी एक ईश्वर या ब्रह्मकी ही सत्तामें अन्तर्भूत करना पड़ता है। यह अन्तर्भाव करनेकी पद्धति दोनोंके लिये एक ही हो सकती है, जैसी कि किसी समय प्रचलित कुछ अद्वैत सम्प्रदायोंमें देखनेमें आती है। परन्तु श्रीशङ्कराचार्यके सिद्धान्तमें ऐसी बात नहीं है। यहाँ भी जीव और जगत् समानरूपसे ही ब्रह्ममें इस प्रकार अन्तर्भूत हैं कि उनकी कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती, तथापि इस अन्तर्भावका प्रकार भिन्न-भिन्न है। यह प्रकारभेद क्या है, यह दिखलाना ही इस छोटे-से निबन्धका उद्देश्य है।

सबसे पहले हम भ्रमके उन दो प्रकारोंकी ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं जो सबकी अनुभूतिके विषय हैं। किसी मनुष्यको यह भ्रम होता है कि वहाँ एक साँप पड़ा है; किन्तु समीप आकर देखनेसे उसे यह पता लगता है कि यह साँप नहीं, रस्सी है। यहाँ यह जो पीछे यथार्थ ज्ञान हुआ, उसमें इस प्रकारके और सब ज्ञानकी भाँति यह बात तो स्वीकृत ही है कि वहाँ कोई वस्तु (सत्ता) है, परन्तु बाध उस पदार्थका है जो पदार्थ पहले प्रतीत हुआ था। इसी प्रकार कोई मनुष्य पीत वर्णके काँचसे, जिसके अस्तित्वका उसे पता नहीं है, किसी शुभ्र स्फटिक मणिको देखता है—वह यही समझता है कि मणि पीत वर्णकी है। पर काँचको हटाकर वह देखे तो उसे यह मालूम हो जायगा कि पीत वर्ण उस शुभ्र स्फटिक मणिका नहीं, बल्कि उस काँचका है। यहाँ भी जो पीछे यथार्थ ज्ञान हुआ उसमें यह बात स्वीकृत है कि वहाँ कोई वस्तु है, और पदार्थ भी वही है जो पूर्वज्ञानसे ज्ञात हुआ था, पर उसका वर्ण वह नहीं है जो पहले ज्ञात हुआ था; अर्थात् पहले उस पदार्थका जो ज्ञान हुआ था उसका केवल एक अंग बाधित हुआ। पहले उदाहरणमें जो भ्रम है वह ऐसा है कि पदार्थ कुछ है और वह दिखायी देता है कुछ और ही, जो वहाँ नहीं है; दूसरे उदाहरणमें जो भ्रम है वह केवल इतना ही है कि पदार्थ तो वही है पर उसे एक ऐसा रूप दिया गया है जो उसका नहीं है, यद्यपि उसकी प्रतीति होती है। शुभ्र स्फटिक मणिमें यहाँ जो पीतिमा दिखायी देती है वह उपाधिस्वरूप उस काँचकी है। यदि यह उपाधि न हो और देखनेवालेको काँचके असली रंगका पता हो तो यहाँ भ्रम नहीं हो सकता। ऐसे भ्रमको सोपाधिक भ्रम कहते हैं, क्योंकि यहाँ भ्रमका कारण कोई-न-कोई उपाधि है। पूर्वोक्त उदाहरणमें ऐसी कोई उपाधि नहीं है और इसलिये वैसे भ्रमको निरुपाधिक भ्रम कहते हैं।

भ्रमके जो ये दो प्रकार हैं उनसे यह अच्छी तरहसे समझमें आ जायगा कि किस प्रकार शाङ्कर अद्वैतमें एक ही ब्रह्म जगत् और जीव दोनों रूपोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे भासता है। रस्सीमें साँपके भ्रमकी तरह ब्रह्ममें जगत्का भ्रम होता है। जीवन्मुक्त पुरुषको परम सत्यका जो अनुभव होता है उसमें जगत्की कोई सत्ता नहीं है, वस्तुतत्त्व जो कुछ है वह ब्रह्म है, वही सब नामरूपोंमें सत्रूपसे भासता है और उसीसे हमलोग सदा सम्बद्ध हैं। परन्तु जीवकी सत्ता जगद्-भ्रमकी भाँति मिथ्या नहीं है। जीव ब्रह्म ही है पर वह जिन अन्तःकरणादि उपाधियोंके द्वारा व्यक्त होता है वे जड जगत्के पदार्थ हैं और इसलिये असत् हैं। जीवकी इस वास्तविक स्थितिका जब किसीको अनुभव होता है तब जीवकी चिन्मय सत्ताका बाध नहीं होता, केवल उसके कुछ आरोपित रूपोंका बाध होता है, जैसे उसकी परिच्छिन्नता और उसकी अनेकता। जीवका स्वरूप, उतनेसे, अवश्य ही बहुत बदल जाता है; पर यहाँ देखनेकी बात इतनी ही है कि जीवकी सत्ता उससे बाधित नहीं होती, जैसी कि जगत्की सत्ता होती है। जीव और जगत्-सम्बन्धी भ्रमके प्रकारोंमें यह जो भेद है, वह अद्वैत सिद्धान्तकी एक मुख्य बात है, जिसके बिना इस सिद्धान्तका मर्म ठीक तरहसे समझमें नहीं आ सकता और इसीलिये श्रीमच्छङ्कराचार्यने इसपर विशेष जोर दिया है। जीव और ब्रह्मके अभेदका, जो अद्वैत सिद्धान्तका प्राण है, रहस्य इससे भलीभाँति खुल जाता है। जीव जगत्की भाँति मिथ्या नहीं है, केवल इसकी उपाधियाँ मिथ्या हैं; और ये उपाधियाँ, जो वस्तुतः उसकी

व्यावहारिक उपाधियाँ हैं, इसमें उसी प्रकार आरोपित हैं जिस प्रकार हमारे दूसरे उदाहरणमें काँचकी पीतिमाका शुभ्र स्फटिक मणिमें आरोप कर दिया गया है । इसी बातको अच्छी तरहसे समझानेके लिये श्रीमच्छंकराचार्यने अपने शारीरकभाष्यके आरम्भमें भ्रमके दो विभिन्न उदाहरण दिये हैं—'शुक्तिका हि रजतवदवभासते । एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति ।' 'सीप चाँदी-सी प्रतीत होती है और एक ही चन्द्रमा दोकी तरह दीख पड़ता है ।' उसी ग्रन्थमें अन्यत्र भी उन्होंने इनका उल्लेख किया है। अब जीवके स्वरूपके सम्बन्धमें उनकी दो उक्तियोंको यहाँ देकर हम इस लेखको समाप्त करेंगे । श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं— 'जीव जबतक बुद्धिरूप उपाधिसे युक्त है तभीतक जीव है । वस्तुतस्तु इस उपाधिके कारण होनेवाले भ्रमको छोड़ जीवकी जीवदशा और कुछ है ही नहीं ।' (२ । ३ । ३०) 'जीव शिवसे भिन्न नहीं है, पर इसकी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता इससे इसीलिये छिपी हुई है कि इसने देहेन्द्रियोंके साथ मिथ्या तादात्म्यका आरोप कर लिया है ।' (२ । २ । ६)

रहस्यवाद

(लेखक—श्रीजयशंकरप्रसादजी)

काव्यमें आत्माकी संकल्पात्मक मूल अनुभूतिकी मुख्य-धारा रहस्यवाद है । रहस्यवादके सम्बन्धमें कहा जाता है कि उसका मूल उद्गम सेमेटिक धर्मभावना है; और इसीलिये भारतके लिये वह बाहरकी वस्तु है । किन्तु शाम देशके यहूदों, जिनके पैगम्बर मूसा इत्यादि थे, सिद्धान्तमें ईश्वरको उपास्य और मनुष्यको जिहोवा (यहूदियोंके ईश्वर) का उपासक अथवा दास मानते थे । सेमेटिक धर्ममें मनुष्यकी ईश्वरसे समता करना अपराध समझा गया है । क्राइस्टने ईश्वरका पुत्र होनेकी ही घोषणा की थी, परन्तु मनुष्यका ईश्वरसे यह सम्बन्ध जिहोवाके उपासकोंने सहन नहीं किया और उसे सूलीपर चढ़वा दिया ।* पिछले कालमें यहूदियोंके अनुयायी मुसलमानोंने भी 'अनलहक' कहनेपर मंसूरको उसी पथका पथिक बनाया । सरमदका भी सर काटा गया । सेमेटिक धर्मभावनाके विरुद्ध चलनेवाले ईसा, मंसूर और सरमद आर्य अद्वैत धर्मभावनासे अधिक परिचित थे ।

सूफी सम्प्रदाय मुसलमानी धर्मके भीतर वह विचार-धारा है जो अरब और सिन्धका परस्पर सम्पर्क होनेके बादसे उत्पन्न हुई थी । यद्यपि सूफी धर्मका पूर्ण विकास तो पिछले कालमें आर्योंकी बस्ती ईरानमें हुआ, फिर भी उसके सब आचार इस्लामके अनुसार ही हैं। उनके तौहीदमें चुनाव है एकका, अन्य देवताओंमेंसे, न कि सम्पूर्ण अद्वैतका । तौहीदका अद्वैतसे कोई दार्शनिक सम्बन्ध नहीं । उसमें जहाँ कहीं पुनर्जन्म या आत्माके दार्शनिक तत्त्वका आभास है, वह भारतीय रहस्यवादका अनुकरणमात्र है । क्योंकि शामी धर्मोंके भीतर अद्वैतकल्पना दुर्लभ ही नहीं, त्याज्य भी है ।

कुछ लोगोंका कहना है कि मेसोपोटामियाँ या बाबिलनके बाल, ईस्टर प्रभृति देवताओंके मन्दिरोंमें रहनेवाली देवदासियाँ ही धार्मिक प्रेमका उद्गम हैं । और वहींसे धर्म और प्रेमका मिश्रण, उपासनामें कामोपभोग इत्यादि अनाचारका आरम्भ हुआ । तथा यह प्रेम ईसाईधर्मके द्वारा भारतवर्षके वैष्णवधर्मको मिला। किन्तु उन्हें यह नहीं मालूम कि कामका धर्ममें अथवा सृष्टिके उद्गममें बहुत बड़ा प्रभाव ऋग्वेदके समयमें ही माना जा चुका है—'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' । यह काम प्रेमका प्राचीन वैदिक रूप है । और प्रेमसे वह शब्द अधिक व्यापक भी है । जबसे हमने प्रेमको Love या इश्कका पर्याय मान लिया, तभीसे 'काम' शब्दकी महत्ता कम हो गयी । सम्भवतः विवेकवादियोंकी आदर्श भावनाके कारण इस शब्दमें केवल स्त्री-पुरुषसम्बन्धके अर्थका ही भान होने लगा । किन्तु काममें जिस व्यापक भावनाका समावेश है, वह इन सब भावोंको आवृत कर लेता है । इसी वैदिक कामकी, आगमशास्त्रोंमें, कामकलाके रूपमें उपासना भारतमें विकसित हुई थी । यह उपासना सौन्दर्य, आनन्द और उन्मदभावकी साधनाप्रणाली थी । पीछे बारहवीं शताब्दीके सूफी इब्न अरबीने भी अपने सिद्धान्तोंमें इसकी महत्ता स्वीकार की

---

* Therefore the Jews sought the more to kill him, because he not only had broken the sabbath, but said also that God was his Father, making himself equal with God. (S. John, 5). I and my Father are one. Then the jews took up stones again to stone him. (S. John, 10).

है। वह कहता है कि मनुष्यने जितने प्रकारके देवताओंकी पूजाका समारम्भ किया है, उनमें काम ही सबसे मुख्य है। यह काम ही ईश्वरकी अभिव्यक्तिका सबसे बड़ा व्यापक रूप है।*

देवदासियोंका प्रचार दक्षिणके मन्दिरोंमें वर्त्तमान है और उत्तरीय भारतमें ईसवी सन्‌से कई सौ बरस पहले शिव, स्कन्द, सरस्वती इत्यादि देवताओंके मन्दिर नगरके किस भागमें होते थे, इसका उल्लेख चाणक्यने अपने अर्थशास्त्रमें किया है। और सरस्वतीमन्दिर तो यात्रागोष्ठी तथा सङ्गीत आदि कलासम्बन्धी समाजोंके लिये प्रसिद्ध था। देवदासियाँ मन्दिरोंमें रहती ही थीं, परन्तु वे उस देवप्रतिमाके विशेष अन्तर्निहित भावोंको कलाके द्वारा अभिव्यक्त करनेके लिये ही रहती थीं। उनमें प्रेम-पुजारिनोंका होना असम्भव नहीं था। सूफी रबियासे पहले ही दक्षिण भारतकी देवदासी अन्दलने जिस कृष्णप्रेमका संगीत गाया था उसकी आविष्कर्त्री अन्दलको ही मान लेनेमें मुझे तो सन्देह ही है। कृष्णप्रेम उस मन्दिरका सामूहिक भाव था, जिसकी अनुभूति अन्दलने भी की। ऐतिहासिक अनुक्रमके आधारपर यह कहा जा सकता है कि फारसमें जिस सूफी धर्मका विकास हुआ था, उसपर काश्मीरके साधकोंका बहुत कुछ प्रभाव था। यों तो एक दूसरेके साथ सम्पर्कमें आनेपर विचारोंका थोड़ा-बहुत आदान-प्रदान होता ही है; किन्तु भारतीय रहस्यवाद ठीक मेसोपोटामियाँसे आया है, यह कहना वैसा ही है जैसा वेदोंको 'सुमेरियन डॉकुमेन्ट' सिद्ध करनेका प्रयास।

शैवोंका अद्वैतवाद और उनका सामरस्यवाला रहस्य-सम्प्रदाय, वैष्णवोंका माधुर्यभाव और उनके प्रेमका रहस्य तथा कामकलाकी सौन्दर्य-उपासना आदिका उद्गम वेदों और उपनिषदोंके ऋषियोंको वे साधनाप्रणालियाँ हैं, जिनका उन्होंने समय-समयपर अपने संघोंमें प्रचार किया था।

भारतीय विचारधारामें रहस्यवादको स्थान न देनेका एक मुख्य कारण है। ऐसे आलोचकोंके मनमें एक तरहकी झुँझलाहट है। रहस्यवादके आनन्दपथको उनके कल्पित भारतीयोचित विवेकमें सम्मिलित कर लेनेसे आदर्शवादका ढाँचा ढीला पड़ जाता है। इसलिये वे इस बातको स्वीकार करनेमें डरते हैं कि जीवनमें यथार्थ वस्तु आनन्द है, ज्ञानसे वा अज्ञानसे मनुष्य उसीकी खोजमें लगा है। आदर्शवादने विवेकके नामपर आनन्द और उसके पथके लिये जो जनरव फैलाया है, वही उसे अपनी वस्तु कहकर स्वीकार करनेमें बाधक है। किन्तु प्राचीन आर्यलोग सदैवसे अपने क्रियाकलापमें आनन्द, उल्लास और प्रमोदके उपासक रहे; और आजके भी अन्यदेशीय तरुण आर्य-संघ आनन्दके मूलसंस्कारसे संस्कृत और दीक्षित हैं। आनन्दभावना, प्रियकल्पना और प्रमोद हमारी व्यवहार्य वस्तु थी। आजकी जातिगत निर्वीर्यताके कारण उसे ग्रहण न कर सकनेपर, यह सेमेटिक है कहकर सन्तोष कर लिया जाता है।

कदाचित् इन आलोचकोंने इस बातपर ध्यान नहीं दिया कि आरम्भिक वैदिक कालमें, प्रकृतिपूजा अथवा बहुदेव-उपासनाके युगमें ही, जब 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के अनुसार एकेश्वरवाद विकसित हो रहा था, तभी आत्मवादकी प्रतिष्ठा भी पल्लवित हुई। इन दोनों धाराओंके दो प्रतीक थे। एकेश्वरवादके वरुण और आत्मवादके इन्द्र प्रतिनिधि माने गये। वरुण न्यायपति राजा और विवेक-पक्षके आदर्श थे। महावीर इन्द्र आत्मवाद और आनन्दके प्रचारक थे। वरुणको देवताओंके अधिपतिपदसे हटना पड़ा, इन्द्रके आत्मवादको प्रेरणाने आर्योंमें आनन्दकी विचारधारा उत्पन्न की। फिर तो इन्द्र ही देवराजपदपर प्रतिष्ठित हुए। वैदिक साहित्यमें आत्मवादके प्रचारक इन्द्रकी जैसी चर्चा है, उर्वशी आदि अप्सराओंका जो प्रसङ्ग है, वह उनके आनन्दके अनुकूल ही है। बाहरी याज्ञिक क्रियाकलापोंके रहते हुए भी वैदिक आर्योंके हृदयमें आत्मवाद और एकेश्वरवादकी दोनों दार्शनिक विचारधाराएँ अपनी उपयोगितामें सङ्घर्ष करने लगीं। सप्तसिन्धुके प्रबुद्ध तरुण आर्योंने इस आनन्द-वाली धाराका अधिक स्वागत किया। क्योंकि वे स्वत्वके उपासक थे। और वरुण यद्यपि आर्योंकी उपासनामें गौण-रूपसे सम्मिलित थे, तथापि उनकी प्रतिष्ठा असुरके रूपमें असीरिया आदि अन्य देशोंमें हुई। आत्मामें आनन्द-भोगका भारतीय आर्योंने अधिक आदर किया। उधर असुरके अनुयायी आर्य एकेश्वरवाद और विवेकके

---

* Of the Gods man has conceived and worshipped, Ibn Arbi is of opinion that Desire is the greatest and most vital. It is the greatest of the universal forms of his self-expression. (M. Ziyauddin in Visvabharati.)

प्रतिष्ठापक हुए। भारतके आर्योंने कर्मकाण्ड और बड़े-बड़े यज्ञोंमें उल्लासपूर्ण आनन्दका ही दृश्य देखना आरम्भ किया और आत्मवादके प्रतिष्ठापक इन्द्रके उद्देश्यसे बड़े-बड़े यज्ञोंकी कल्पनाएँ हुईं। किन्तु इस आत्मवाद और यज्ञवाली विचारधाराकी वैदिक आर्योंमें प्रधानता हो जानेपर भी, कुछ आर्यलोग अपनेको उस आर्यसङ्घमें दीक्षित नहीं कर सके। वे व्रात्य कहे जाने लगे। वैदिक धर्मकी प्रधान धारामें, जिसके अन्तरमें आत्मवाद था और बाहर याज्ञिक क्रियाओंका उल्लास था, व्रात्योंके लिये स्थान नहीं रहा। उन व्रात्योंने अत्यन्त प्राचीन अपनी चैत्यपूजा आदिके रूपमें उपासनाका क्रम प्रचलित रक्खा और दार्शनिक दृष्टिसे उन्होंने विवेकके आधारपर नये-नये तर्कोंकी उद्भावना की। फिर तो आत्मवादके अनुयायियोंमें भी अग्निहोत्र आदि कर्मकाण्डोंकी आत्मपरक व्याख्याएँ होने लगीं। उन्होंने स्वाध्यायमण्डल स्थापित किये। भारतवर्षका राजनैतिक विभाजन भी वैदिक कालके बाद इन्हीं दो तरहके दार्शनिक धर्मोंके आधारपर हुआ।

वृष्णिसङ्घ व्रजमें और मगधके व्रात्य और अयाज्ञिक आर्य बुद्धिवादके आधारपर नये-नये दर्शनोंकी स्थापना करने लगे। इन्हीं लोगोंके उत्तराधिकारी वे तीर्थङ्कर लोग थे जिन्होंने ईसासे हज़ारों वर्ष पहले मगधमें बौद्धिक विवेचनाके आधारपर दुःखवादके दर्शनकी प्रतिष्ठा की। सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर विवेकके तर्कने जिस बुद्धिवादका विकास किया वह दार्शनिकोंकी उस विचारधाराको अभिव्यक्त कर सका जिसमें संसार दुःखमय माना गया और दुःखसे छूटना ही परम पुरुषार्थ समझा गया। दुःखनिवृत्ति दुःखवादका ही परिणाम है। फिर तो विवेककी मात्रा यहाँतक बढ़ी कि वे बुद्धिवादी अपरिग्रही, नग्न दिगम्बर, पानी गरम करके पीनेवाले, और मुँहपर कपड़ा बाँधकर चलनेवाले हुए। इन लोगोंके आचरण विलक्षण और भिन्न-भिन्न थे। वैदिक कालके बाद इन व्रात्योंके सङ्घ किस-किस तरहका प्रचार करते घूमते थे, उन सबका उल्लेख तो नहीं मिलता; किन्तु बुद्धके जिन प्रतिद्वन्द्वी मस्करी गोशाल, अजित केशकम्बली, नाथपुत्र, संजय बेलट्ठिपुत्र, पूरन कस्सप आदि तीर्थङ्करोंका नाम मिलता है, वे प्रायः दुःखातिरेकवादी, आत्मवादमें आस्था न रखनेवाले तथा बाह्य उपासनामें चैत्यपूजक थे। दुःखवाद जिस मननशैलीका फल था वह बुद्धि या विवेकके आधारपर, तर्कोंके आश्रयमें बढ़ती ही रही। अनात्मवादकी प्रतिक्रिया होनी ही चाहिये। फलतः पिछले कालमें भारतके दार्शनिक अनात्मवादी ही भक्तिवादी बने और बुद्धिवादका विकास भक्तिके रूपमें हुआ। जिन लोगोंमें आत्मविश्वास नहीं था उन्हें एक त्राणकारीकी आवश्यकता हुई। प्रणतिवाली शरण खोजनेकी कामना—बुद्धिवादकी एक धारा—प्राचीन एकेश्वरवादके आधारपर ईश्वरभक्तिके स्वरूपमें बढ़ी और इन लोगोंने अपने लिये अवलम्ब खोजनेमें नये-नये देवताओं और शक्तियोंकी उपासना प्रचलित की। हाँ, आनन्दवादवाली मुख्य अद्वैतधारामें भक्तिका विकास एक दूसरे ही रूपमें हो चुका था, जिसके सम्बन्धमें आगे चलकर कहा जायगा।

ऊपर कहा जा चुका है कि वैदिक साहित्यकी प्रधान धारामें उसकी याज्ञिक क्रियाओंकी आत्मपरक व्याख्याएँ होने लगी थीं और व्रात्य दर्शनोंकी प्रचुरताके युगमें भी आनन्दका सिद्धान्त संहिताके बाद श्रुतिपरम्परामें आरण्यक स्वाध्यायमण्डलोंमें प्रचलित रहा। तैत्तिरीयमें एक कथा है कि भृगु जब अपने पिता अथवा गुरु वरुणके पास आत्म-उपदेशके लिये गये तो उन्होंने बार-बार तप करनेकी ही शिक्षा दी और बार-बार तप करके भी भृगु सन्तुष्ट न हुए और फिर आनन्दसिद्धान्तकी उपलब्धि करके ही उन्हें परितोष हुआ। विवेक और विज्ञानसे भी आनन्दको अधिक महत्त्व देनेवाले भारतीय ऋषि अपने सिद्धान्तका परम्परामें प्रचार करते ही रहे।

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। (तैत्ति० २।५)

उपनिषद्में आनन्दकी प्रतिष्ठाके साथ प्रेम और प्रमोदकी भी कल्पना हो गयी थी, जो आनन्दसिद्धान्तके लिये आवश्यक है। इस तरह जहाँ एक ओर भारतीय आर्य व्रात्योंमें तर्कके आधारपर विकल्पात्मक बुद्धिवादका प्रचार हो रहा था वहाँ प्रधान वैदिकधाराके अनुयायी आर्योंमें आनन्दका सिद्धान्त भी प्रचारित हो रहा था। वे कहते थे—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।' (मुण्डक०)

'नैषा तर्केण मतिरापनेया ।' (कठ०)

आनन्दमय आत्माकी उपलब्धि विकल्पात्मक विचारों और तर्कोंसे नहीं हो सकती ।

इन लोगोंने अपने विचारोंके अनुयायी राष्ट्रोंमें परिषदें स्थापित की थीं और व्रात्यसंघोंके सदृश ही इनके भी स्वाध्यायमण्डल थे, जो व्रात्यसंघोंसे पीछेके नहीं अपितु पहलेके थे । हाँ, इन लोगोंने भी बुद्धिवादका अपने लिये उपयोग किया था; किन्तु उसे वे अविद्या कहते थे, क्योंकि वह कर्म और विज्ञानकी उन्नति करती है और नानात्वको बताती है । मुख्यतः तो वे अद्वैत और आनन्दके ही उपासक रहे । विज्ञानमय याज्ञिक क्रियाकलापोंसे वे ऊपर उठ चुके थे । कठ, पाञ्चाल, काशी और कोशलमें तो उनकी परिषदें थीं ही, किन्तु मगधकी पूर्वी सीमापर भी उसके दुःख और अनात्मवादी राष्ट्रोंके एक छोरपर विदेहोंकी बस्ती थी, जो सम्पूर्ण अद्वैतवादी थे । ब्राह्मणग्रन्थमें सदानीराके उस पार यज्ञकी अग्नि न जानेकी जो कथा है उसका रहस्य इन्हीं मगधके व्रात्यसंघोंसे सम्बन्ध रखता था । किन्तु माधव विदेहने सदानीराके पार अपने मुखमें जिस अग्निको ले जाकर स्थापित किया था वह विदेहोंका प्राचीन आत्मवाद ही था । इन परिषदोंमें और स्वाध्यायमण्डलोंमें वैदिक मन्त्रकालके उत्तराधिकारी ऋषियोंने संकल्पात्मक ढंगसे विचार किया, सिद्धान्त बनाये और साधनापद्धति भो स्थिर की । उनके सामने ये सब प्रश्न आये—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः । केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ (केनोपनिषद्)

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥
(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

इन प्रश्नोंपर उनके संवाद अनुभवगम्य आत्माको संकल्पात्मक रूपसे निर्देश करनेके लिये होते थे । इस तरहके विचारोंका सूत्रपात शुक्ल यजुर्वेदके ३९ और ४० अध्यायोंमें ही हो चुका था । उपनिषद् उसी ढंगसे आत्मा और अद्वैतके सम्बन्धमें संकल्पात्मक विचार कर रहे थे । यहाँतक श्रुतियाँ संकल्पात्मक काव्यमय ही थीं और इसीलिये वे लोग 'कविर्मनीषी' में भेद नहीं मानते थे । किन्तु व्रात्यसंघोंके बाह्य आदर्शवादसे, विवेक और बुद्धिवादसे भारतीय हृदय बहुत कुछ अभिभूत हो रहा था; इसलिये इन आनन्दवादियोंकी साधनाप्रणाली कुछ-कुछ गुप्त और रहस्यात्मक होती थी ।

तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म
ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं
प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ॥
वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ॥
(श्वेताश्वतर०)

उनकी साधनापद्धतियोंका उल्लेख छान्दोग्य आदि उपनिषदोंमें प्रचुरतासे है । ये लोग अपनी शिष्यमण्डलीमें विशेष प्रकारकी गुप्त साधनाप्रणालियोंके प्रवर्तक थे । बौद्धसाहित्यमें जिस तरहके साधनोंका विवरण मिलता है वे बहुत-कुछ इन ऋषियों और इनके उपनिषदोंके अनुकरणमात्र थे, फिर भी वे अपने ढंगके बुद्धिवादी थे । और वे उपनिषदोंके 'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्' (कठ०) वाले योगका अपने ढंगसे अनात्मवादके साधनके लिये उपयोग करने लगे ।

श्रुतियोंका और निगमका काल समाप्त होनेपर ऋषियोंके उत्तराधिकारियोंने आगमोंकी अवतारण की और ये आत्मवादी आनन्दमय कोशकी खोजमें लगे ही रहे । आनन्दका स्वभाव ही उल्लास है, इसलिये साधनाप्रणालीमें उसकी मात्रा उपेक्षित न रह सकी । कल्पना और साधनाके दोनों पक्ष अपनी-अपनी उन्नति करने लगे । कल्पना विचार करती थी, साधना उसे व्यवहार्य बनाती थी । आगमके अनुयायियोंने निगमके आनन्दवादका अनुसरण किया विचारोंमें भी और क्रियाओंमें भी । निगमने कहा था—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ॥

आगमवादियोंने दोहराया—

आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना ।

आगमके टीकाकारोंने भी इस अद्वैत आनन्दको अच्छी तरह पल्लवित किया—

विगलितभेदसंस्कारमानन्दरसप्रवाहमयमेव पश्यति ।

(क्षेमराज)

हाँ, इन सिद्धोंने आनन्दरसकी साधनामें और विचारोंमें प्रकारान्तर भी उपस्थित किया। अद्वैतको समझनेके लिये—

आत्मैवेदमग्र आसीत्······स वै नैव रेमे । तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वधापातयत् ।

—इत्यादि बृहदारण्यक श्रुतिका अनुकरण करके समताके आधारपर भक्तिकी और मित्रप्रणयकी-सी मधुर कल्पना भी की । क्षेमराजने एक प्राचीन उद्धरण दिया है—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम् ।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥

यह भक्तिका आरम्भिक स्वरूप आगमोंमें अद्वतकी भूमिकापर ही सुगठित हुआ । उमकी कल्पना निराली थी—

समाधिवज्रेणाप्यन्यैरभेद्यो भेदभूधरः ।
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद्भक्तिबलशालिभिः ॥

यह भक्ति भेदभाव, द्वंत, जीवात्मा और परमात्माकी भिन्नताको नष्ट करनेवाली थी । ऐसी ही भक्तिके लिये माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तके गुरु उत्पलने कहा है—

‘भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम् ।’

अद्वैतवादके इस नवीन विकासमें प्रेमभक्तिकी योजना तत्तिरीय आदि श्रुतियोंके ही आधारपर हुई थो । फिर तो सौन्दर्यभावना भी स्फुट हो चली—

‘श्रुत्वापि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुन्दरम्’

(अष्टावक्रगीता ४ । ३)

इन आगमके अनुयायी सिद्धोंने प्राचीन आनन्दमार्गको अद्वैतकी प्रतिष्ठाके साथ अपनी साधनापद्धतिमें प्रचलित रक्खा और इसे वे रहस्यसम्प्रदाय कहते थे । शिवसूत्रविमर्शिनीकी प्रस्तावनामें क्षेमराजने लिखा है—

द्वैतदर्शनाधिवासितप्राये जीवलोके रहस्यसम्प्रदायो मा विच्छेदि ।

रहस्यसम्प्रदाय जिसमें लुप्त न हो इसलिये शिवसूत्रोंकी महादेवगिरिसे प्रतिलिपि की गयी । द्वैतदर्शनोंकी प्रचुरता थी । रहस्यसम्प्रदाय अद्वैतवादी था । इन लोगोंने पाशुपत योगकी प्राचीन साधनापद्धतिके साथ-साथ आनन्दको योजना करनेके लिये काम-उपासनाप्रणाली भी दृष्टान्तके रूपमें स्वीकृत की। उसके लिये भी श्रुतिका आधार लिया गया ।

‘तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्’ (बृहदारण्यक)। उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते ।

आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति ।

—इन छान्दोग्य आदि श्रुतियोंके प्रकाशमें यह रति-प्रीति—अद्वैतमूला भक्ति रहस्यवादियोंमें निरन्तर प्राञ्जल होती गयी । इस दार्शनिक सत्यको व्यावहारिक रूप देनेमें किसी विशेष अनाचारकी आवश्यकता न थी । संसारको मिथ्या मानकर असम्भव कल्पनाके पीछे भटकना नहीं पड़ता था । दुःखवादसे उत्पन्न संन्यास और संसारसे विरागकी आवश्यकता न थी । अद्वैतमूलक रहस्यवादके व्यावहारिक रूपमें विश्वको आत्माका अभिन्न अंग शैवागमोंमें मान लिया गया था । फिर तो सहज आनन्दकी कल्पना भी इन लोगोंने की । श्रुति इसी कोटिके साधकोंके लिये पहले ही कह चुकी थी—

या बुद्धयते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविः यत्पिबति तदस्य सोमपानं यद्रमते तदुपसदो···।

इसीका अनुकरण है—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।

(शाङ्करी मानसपूजा)

सौन्दर्यलहरी भी उसी स्वरमें कहती है—

सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम् । (२७)

इन साधकोंमें जगत् और अन्तरात्माकी व्यावहारिक अद्वयतामें आनन्दकी सहज भावना विकसित हुई । वे कहते हैं—

त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा
चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन बिभृषे ॥

(सौन्दर्यलहरी ३५)

किसी काश्मीरी भक्तकविने कहा है—

तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं
युष्मदर्चनरसायनासवम् ।
सर्वभावचषकेषु पूरिते-
ष्वापिबन्निव भवेयमुन्मदः ॥

इसमें इन्द्रियोंके मुखसे अर्चन-रसका आसव पीनेकी जो कल्पना है वह आनन्दकी सहज भावनासे ओतप्रोत है।

आगमानुयायी स्पन्दशास्त्रके अनुसार प्रत्येक भावनामें, प्रत्येक अवस्थामें वह आत्मानन्द प्रतिष्ठित है—

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोति परामृशन् ।
धावन् वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः ॥

और उनकी अद्वैतसाधनाके अनुसार सब विषयोंमें—इन्द्रियोंके अर्थोंमें निरूपण करनेपर कहीं भी अशिव, अमङ्गल, निरानन्द नहीं—

विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितम् ।
यत्र यत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित् ॥

जिस मनको बुद्धिवादी 'मनो दुर्निग्रहं चलम्' समझकर ब्रह्मपथमें विमूढ़ हो जाते हैं उसके लिये आनन्दके उपासकोंके पास सरल उपाय था। वे कहते हैं—

यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत् ।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ॥

मन चलकर जायगा कहाँ ? बाहर-भीतर आनन्दघन शिवके अतिरिक्त दूसरा स्थान कौन है ?

ये विवेक और आनन्दकी विशुद्ध धाराएँ अपनी परिणतिमें अनात्म और दुःखमय कर्मवादी बौद्ध हीनयान-सम्प्रदाय तथा दूसरी ओर आत्मवादी आनन्दमय रहस्य-सम्प्रदायके रूपमें प्रकट हुईं। इसके अनन्तर मिश्र विचार-धाराओंकी सृष्टि होने लगी। अनात्मवादसे विचलित होकर बुद्धमें ही सत्ता मानकर बौद्धोंका एक दल महायानका अनुयायी बना। शुद्ध बुद्धिवादके बाद इसमें कर्मकाण्डात्मक उपासना और देवताओंकी कल्पना भी सम्मिलित हो चली थी। लोकनाथ आदि देवी-देवताओंकी उपासना कोरा शून्यवाद ही नहीं रह गयी। तत्कालीन साधारण आर्य जनतामें प्रचलित वैदिक बहुदेवपूजासे शून्यवादका यह समन्वय ही महायानसम्प्रदाय था। और बौद्धोंकी ही तरह वैदिक धर्मानुयायियोंकी ओरसे जो समन्वयात्मक प्रयत्न हुआ, उसीने ठीक महायानकी ही तरह पौराणिक धर्मकी सृष्टि की। इस पौराणिक धर्मके युगमें विवेकवादका सबसे बड़ा प्रतीक रामचन्द्रके रूपमें अवतारित हुआ, जो केवल अपनी मर्यादामें और दुःखसहिष्णुतामें महान् रहे। किन्तु पौराणिक युगका सबसे बड़ा प्रयत्न श्रीकृष्णके पूर्णावतारका निरूपण था। इनमें गीताका पक्ष जैसा बुद्धिवादी था, वैसा ही व्रजलीला और द्वारकाका ऐश्वर्यभोग आनन्दसे सम्बद्ध था। जैसे वैदिक कालके इन्द्रने वरुणको हटाकर अपनी सत्ता स्थापित कर ली, उसी तरह इन्द्रका प्रत्याख्यान करके कृष्णकी प्रतिष्ठा हुई। किन्तु शोधकोंकी तरह यह माननेको मैं प्रस्तुत नहीं कि वैदिक इन्द्रके आधारपर पौराणिक कृष्णकी कल्पना खड़ी की गयी। कृष्ण अपने युगके पुरुषोत्तम थे; उनका व्यक्तित्व बुद्धिवाद और आनन्दका समन्वय था। इन्द्रकी ही तरह अहं या आत्मवादका समर्थन करनेपर भी कृष्णकी उपासनामें समरसता नहीं, अपितु द्वैतभावना और समर्पण ही अधिक रहा। मिलन और आनन्दसे अधिक वह उपासना विरहोन्मुख ही बनी रही। और होनी भी चाहिये, क्योंकि इसका सम्पूर्ण उपक्रम जिन पुराणवादियोंके हाथमें था वे बुद्धिवादसे अभिभूत थे। सम्भवतः इसीलिये यह प्रेममूलक रहस्यवाद विरहकल्पनामें अधिक प्रवीण हुआ। पौराणिक धर्मका दार्शनिक स्वरूप हुआ मायावाद। मायावाद बौद्ध अनात्मवाद और वैदिक आत्मवादके मिश्र उपकरणोंसे सङ्गठित हुआ था। इसीलिये जगत्को मिथ्या—दुःखमय मानकर सच्चिदानन्दकी जगत्से परे कल्पना हुई। विश्वात्मवादी शिवाद्वैतकी भी कुछ बातें इसमें ली गयीं। आनन्द और माया उन्हींकी देन थी। बुद्धिवादको यद्यपि आगमवादियोंकी तरह अविद्या मान लिया था—

अख्यात्युल्लसितेषु भिन्नेषु भावेषु बुद्धिरित्युच्यते ।

—तथापि विवेकसे आत्मनिरूपणके लिये मायावादके प्रवर्तक श्रीगौडपादने मनोनिग्रहका उपाय बताया था—

दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् ।

(माण्डूक्यकारिका ४३)

कामभोगसे निवृत्त होनेके लिये दुःखभावना करनेका ही उनका उपदेश नहीं था। किन्तु वे मानसिक सुखको भी हेय समझते थे—

नास्वादयेत्सुखं तत्र निस्सङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।

(माण्डूक्यकारिका ४५)

आनन्द सत्-चित्के साथ सम्मिलित था, परन्तु है यह प्रज्ञावाद—बुद्धिकी विकल्पना। मायातत्त्वको आगमसे लेकर उसे रूप ही दूसरा दिया गया। बुद्धिवादकी दर्शनोंमें प्रधानता थी, फिर तो आचार्यने बौद्धिक शून्यवादमें जिस पाण्डित्यके बलपर आत्मवादकी प्रतिष्ठा की वह पहलेके लोगोंसे भी छिपा नहीं रहा। कहा भी गया—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव हि ।

महायान और पौराणिक धर्मने साथ-साथ बौद्ध उपासक-सम्प्रदायको विभक्त कर लिया था। फिर तो बौद्धमत शून्यसे ऊबकर सहज आनन्दकी खोजमें लगा। अधिकांश बौद्ध ऊपर कहे हुए कृष्णसम्प्रदायकी द्वैतमूला भक्तिमें सम्मिलित हुए। और दूसरा अंश आगमोंका अनुयायी बना। उस समय आगमोंमें दो विचार प्रधान थे। कुछ लोग आत्माको प्रधानता देकर जगत्को, 'इदम्'को 'अहम्'में पर्यवसित करनेके समर्थक थे और वे शैवागमवादी कहलाये। जो लोग आत्माकी अद्वयताको शक्ति-तरङ्ग जगत्में लीन होनेकी साधना मानते थे वे शाक्तागमवादी हुए। उस कालकी भारतीय साधना-पद्धति व्यक्तिगत उत्कर्षमें अधिक प्रयुक्त हो रही थी। दक्षिणके श्रीपर्वतसे जिस मन्त्रवादका बौद्धोंमें प्रचार हो रहा था वह धीरे-धीरे वज्रयानमें किस तरह परिणत हुआ और आगमसम्प्रदायमें घुसकर अनात्मवादी बौद्धोंने आत्माकी अवहेलना करके भी वैदिक अम्बिका आदि देवियोंके अनुकरणमें कितनी शक्तियोंकी सृष्टि की और कैसी रहस्यपूर्ण साधनापद्धतियाँ प्रचलित कीं, उसका विवरण देनेके लिये यहाँ अवसर नहीं। इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि उन्होंने बुद्धधर्म और संघके त्रिरत्नके स्थानपर कामिनी, काम और सुराको प्रतिष्ठित किया। धारणी मन्त्रोंकी योजना की। पीछे ये मन्त्रात्मक भावनाएँ प्रतिमा बनने लगीं। मन्त्रोंमें जिन विचारधारणाओंका संकेत था वे देवताका रूप धरकर व्यक्त हुईं। परोक्ष पूजापद्धतिकी प्रचुरता हुई।

पौराणिक धर्मने भी इसी ढंगपर देववादका प्रचार किया। उपनिषदोंके षोडशकल पुरुषके प्रतिनिधि बने सोलह कलावाले पूर्ण अवतार श्रीकृष्णचन्द्र। सुन्दर नर-रूपकी यह पराकाष्ठा थी। नारीमूर्तिमें सुन्दरीकी, ललिताकी सौन्दर्यप्रतिमाके अतिरिक्त सौन्दर्यभावनाके लिये अन्य उपाय भी माने गये। 'नरपतिजयचर्या' स्वर-शास्त्रका एक प्राचीन ग्रन्थ है। उसमें मनकी भावनाके लिये बताया गया है—

गौराङ्गीं नवयौवनां शशिमुखीं ताम्बूलगर्भाननां
मुक्तामण्डनशुभ्रमाल्यवसनां श्रीखण्डचर्चाङ्किताम् ।
दृष्ट्वा कामपि कामिनीं स्वयमिमां ब्राह्मीं पुरो भावये-
दन्तश्चिन्तयतो जनस्य मनसि त्रैलोक्यमुन्मीलिनीम् ॥

यह सौन्दर्यधारणा हृदयमें त्रैलोक्यका उन्मीलन करनेवाली है। यहाँ समझ लेना चाहिये कि भारतमें सौन्दर्य-आलम्बन नर और नारीकी प्रतिच्छवि मनको महाशक्तिशाली बनाने तथा उन्नत करनेके उपायमें उपासनाके स्वरूपमें व्यवहृत होने लगी थी।

बौद्धोंके उत्तराधिकारी भी शून्यवादसे घबराकर अनेक प्रकारकी मन्त्रसाधनामें लगे थे। आर्यमञ्जु श्रीमूलकल्प देखनेसे यह प्रकट होता है। फिर शैवागमोंमें जो अनुकूल अंश थे उन्हें भी अपनानेसे ये न रुके। योगाचार तथा अन्य गुप्त साधनाओंवाला बौद्धसम्प्रदाय आनन्दकी खोजमें आगमवादियोंसे मिला। विचारोंमें—

सर्वं क्षणिकं सर्वं दुःखं सर्वमनात्मम् ।

—पर 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' ने विजयप्राप्ति की। परन्तु इनके सम्पर्कमें आनेपर शैवागमोंका विश्वात्मवादवाला शाम्भव सिद्धान्त भी व्यक्तिगत संकुचित अहंमें सीमित होने लगा। इस संकुचित आत्मवादको आगमोंमें निन्दनीय और अपूर्ण अहंता कहते थे; किन्तु बौद्धोंने उस सरल अद्वैतबोधको व्यक्तिगत आत्मवादकी ओर झुकाकर शरीरको वज्रकी तरह अप्रतिहतगतिशाली बनानेके लिये तथा साम्पत्तिक स्वतन्त्रताके लिये रसायन बनानेमें लगाया। बौद्ध विज्ञानवादी थे। पूर्वके ये विज्ञानवादी ठीक उसी तरह व्यक्तिगत स्वार्थोंके उपासक रहे जैसे वर्तमान पश्चिम अपनी वैज्ञानिक साधनामें सामूहिक स्वार्थोंका भयङ्कर उपासक है। आगमवादी नाथ-सम्प्रदायके पास हठयोगक्रियाएँ थीं और उत्तरीय श्रीपर्वत बना कामरूप; फिर तो चौरासी सिद्धोंकी अवतारणा हुई। हाँ, इन दोनोंकी परम्परा प्रायः एक है, किन्तु आलम्बनमें भेद है। एक शून्य कहकर भी निरञ्जनमें लीन होना चाहता है और दूसरा ईश्वरवादी होनेपर भी शून्यको भूमिकामात्र मान लेता है। रहस्यवाद इन कई तरहकी धाराओंमें उपासनाका केन्द्र बना रहा। जहाँ बाह्य आडम्बरके साथ उपासना थी वहीं भीतर सिद्धान्तमें अद्वैतभावना रहस्यवादकी सूत्रधारिणी थी। इस रहस्यभावनामें वैदिक कालसे ही इन्द्रके अनुकरणमें अद्वैतकी प्रतिष्ठा थी। विचारोंका जो अनुक्रम ऊपर दिया गया है, उसी तरह वैदिक कालसे रहस्यवादकी अभिव्यक्तिकी परम्परा भी मिलती है।

ऋग्वेदके दसवें मण्डलके अड़तालीसवें सूक्त तथा एक सौ उन्नीसवें सूक्तमें इन्द्रकी जो आत्मस्तुति है, वह अहं-भावना तथा अद्वैतभावनासे प्रेरित सिद्ध होती है। 'अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः' तथा 'अहमस्मि महामहो' इत्यादि उक्तियाँ रहस्यवादकी वैदिक भावनाएँ हैं। इस छोटे-से निबन्धमें वैदिक वाङ्मयकी सब रहस्यमयी उक्तियोंका संकलन करना सम्भव नहीं; किन्तु

जो लोग यह सोचते हैं कि आवेशमें अटपटी वाणी कहनेवाले शामी पयम्बर ही थे, वे कदाचित् यह नहीं समझ सके कि वैदिक ऋषि भी गुह्य बातोंको चमत्कारपूर्ण सांकेतिक भाषामें कहते थे। 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' तथा 'तमेकनेमिं त्रिवृत्तं षोडशान्तं शतार्धारम्' इत्यादि मन्त्र इसी तरहके हैं।

वेदों, उपनिषदों और आगमोंमें यह रहस्यमयी आनन्दसाधनाकी परम्पराके ही उल्लेख हैं। अपनी साधनाका अधिकार उन्होंने कम नहीं समझा था। वैदिक ऋषि भी अपने जोममें कह गये हैं—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥
(कठ० १। २। २१)

आज तुलसीसाहबकी 'जिन जाना तिन जाना नाहीं' इत्यादिको देखकर इसे एक बार ही शामदेशसे आयी हुई समझ लेनेका जिन्हें आग्रह हो उनकी तो बात ही दूसरी है। किन्तु केनोपनिषत्के—'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः' का ही अनुकरण यह नहीं है, यह कहना सत्यसे दूर होगा। 'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह' इत्यादि श्रुतिमें बाहर और भीतरकी पिण्ड और ब्रह्माण्डकी एकताका जो प्रतिपादन किया है, संतमतमें उसीका अनुकरण किया गया है।

यह भी कहा जाता है कि यहाँ उपासना, कर्मके साथ ज्ञानकी धारा विशुद्ध रही और उसमें आराध्यसे मिलनेके लिये कई कक्ष नहीं बनाये गये। किन्तु छान्दोग्यमें जिस शून्य आकाशका उल्लेख दहरोपासनामें हुआ है, उसीसे बौद्धोंके शून्य और आगमोंकी शून्य भूमिकाका सम्बन्ध है; फिर कबीरकी शून्य महलिया शाम देशकी सौगात कैसे कही जा सकती है।

'तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छान्दोग्य०)

तथा—

पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्।

—इत्यादि श्रुतियोंमें नीवारशूकवत् तन्वी शिखाके मध्यमें परमात्माका जो स्थान निर्दिष्ट किया गया है, वह मन्दिर या महल कहीं विदेशसे नहीं आया है। आगमोंमें तो इस रहस्यभावनाका उल्लेख है ही, जिसका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है।

श्रीकृष्णको आलम्बन मानकर द्वैत-उपासकोंने जिस आनन्द और प्रेमकी सृष्टि की उसमें विरह और दुःख आवश्यक था। द्वैतमूलक उपासनाके बुद्धिवादी प्रवर्त्तक भागवतोंने गोपियोंमें जिस विरहकी स्थापना की वह परकीय प्रेमके कारण दुःखके समीप अधिक हो सकी और उसका उल्लेख भागवतमें विरल नहीं है। इस प्रेममें परका दार्शनिक मूल है स्वको अस्वीकार करना, फिर तो बृहदारण्यकके 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' के अनुसार वह प्रेम-विरह सापेक्ष ही होगा। किन्तु सिद्धोंने आगमके बाद रहस्यवादकी धारा अपनी प्रचलित भाषामें, जिसे वे सन्ध्या-भाषा कहते थे, अविच्छिन्न रक्खी और सहज आनन्दके उपासक बने रहे।

अनुभव सहज मा मोल रे जोई।
चोकोट्टि विमुका जइसो तइसो होई॥
जइसने आछिले स वइसन अच्छ।
सहज पथिक जोई भान्ति माहो वास॥ (नारोपा)

वे शैवागमकी अनुकृति ही नहीं, शिवकी योगेश्वरमूर्तिकी भावना भी आरोपित करते थे।

नाडि शक्ति दिढ़ घरिय खदे।
अनहा डमरू बाजए वीर नादे॥
कह्न कपाली योगी पइठ अचारे।
देह न अरी बिहरए एकारें॥ (कण्हपा)

इन आगमानुयायी सिद्धोंमें आत्म-अनुभूति स्वापेक्ष थी। परोक्ष विरह उनके समीप न था। वह प्रेमकथा स्वपर्यवसित थी। उस प्रेम-रूपककी एक कल्पना देखिये—

ऊँचा ऊँचा पावत तहिं बसइ सबरी बाली।
मोरंगि पीच्छ परहिण सबरी गिवत गुंजरी माली॥
उमत सबरो पागल शबरो माकर गुली गुहाउर।
तोहोरि णिय घरिणी णामे सहज सुंदरी॥
(शबरपाद)

ऊपरवाला पद्य शबरी रागिनीमें है। सम्भवतः शबरी रागिनी आसावरीका पहला नाम है। सिद्ध लोग अपनी साधनामें संगीतकी योजना कर चुके थे। नादानुसन्धानकी आगमोक्त साधनाके आधारपर बाह्य नादका भी इनकी साधनामें विकास हुआ था, ऐसा प्रतीत होता है। 'अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः' सिद्धोंने आनन्दके लिये संगीतको भी अपनी उपासनामें मिलाकर जिस भारतीय संगीतमें योग दिया है, उसमें भरत मुनिके अनुसार पहलेहीसे नटराजके संगीतमय नृत्यका मूल था। सिद्धोंकी परम्परामें सम्भवतः बैजू बावरा आदि संगीतनायक थे; जिन्होंने अपनी ध्रुवपदोंमें योगका वर्णन किया है।

इन सिद्धोंने ब्रह्मानन्दका भी परिचय प्राप्त किया था। सिद्ध भुसुक कहते हैं–

बिरमानंद विलक्षण सूध जो येथू दूझै सो येथु बूध।
भुसुक भणइ मह बूझिय मेले सहजानंद महासुह लेलें॥

इन लोगोंने भी वेद, पुराण और आगमोंका कबीरकी तरह तिरस्कार किया है। कदाचित् पिछले कालके संतोंने इन सिद्धोंका ही अनुकरण किया है।

आगम बेद पुराणे पंडिठ मान वहन्ति।
पक्क सिरिफल अलिय जिम बाहेरित भ्रमयन्ति॥

(कण्हपा)

आगमोंमें ऋग्वेदके कामकी उपासना कामेश्वरके रूपमें प्रचलित थी और उसका विकसित स्वरूप परिमार्जित भी था। वे कहते थे—

जायया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तरम्।
निदर्शनं श्रुतिः प्राह मूर्खस्तं मन्यते विधिम्॥

फिर भी सहजानन्दके पीछे बौद्धिक गुप्त कर्मकाण्डकी व्यवस्था भयानक हो चली थी। और वह रहस्यवादकी बोधमयी सीमाको उच्छृङ्खलतासे पार कर चुकी थी। हिन्दीके इन आदि रहस्यवादियोंको, आनन्दके सहज साधकोंको, बुद्धिवादी निर्गुण संतोंको स्थान देना पड़ा! कबीर इस परम्पराके सबसे बड़े कवि हैं। कबीरमें विवेकवादी रामका अवलम्ब है और सम्भवतः वे भी 'साधो सहज समाधि भली' इत्यादिमें सिद्धोंकी सहज भावनाको ही, जो उन्हें आगमवादियोंसे मिली थी, दोहराते हैं। कवित्वकी दृष्टिसे भी कबीरपर सिद्धोंकी कविताकी छाया है। उनपर कुछ मुसलमानी प्रभाव भी पड़ा अवश्य; परन्तु शामी पैगम्बरोंसे अधिक उनके समीप थे वैदिक ऋषि, तीर्थङ्कर नाथ और सिद्ध। कबीरके बाद तथा कुछ-कुछ समकालमें ही कृष्णवाली मिश्र रहस्यकी धारा आरम्भ हो चली थी। निर्गुण राम और सुधारक रहस्यवादके साथ ही तुलसीदासके सगुण समर्थ रामका भी वर्णन सामने आया। कहना असंगत न होगा कि उस समय हिन्दी साहित्यमें रहस्यवादकी इतनी प्रबलता थी कि स्वयं तुलसीदासको भी अपने महा-प्रबन्धमें रहस्यात्मक संकेत रखना पड़ा। कदाचित् इसी-लिये उन्होंने कहा है—'अस मानस मानस चख चाही'; किन्तु कृष्णचन्द्रमें आनन्द और विवेकका, प्रेम और सौन्दर्यका संमिश्रण था। फिर तो ब्रजके कवियोंने राधिका-कन्हाई-सुमिरनके बहाने आनन्दकी सहज भावना परोक्षभावमें की। मीरा और सूरदासने प्रेमके रहस्यका साहित्य संकलन किया। देव, रसखान, घनआनन्द इन्हींके अनुयायी थे। मीराने कहा—

सूली ऊपर सेज पियाकी, किस बिध मिलणो होय।

यह प्रेम, मिलनकी प्रतीक्षामें, सदैव विरहोन्मुख रहा। देवने भी कुछ इसी धुनमें कहना चाहा—

हौं ही ब्रज बृंदाबन, मोहीमें बसत सदा
जमुना तरंग स्याम रंग अवलीनकी।
चहूँ ओर सुंदर सघन बन देखियत,
कुंजनमें सुनियत गुंजन अलीनकी॥
बंसीबट-तट नटनागर नटत मो में,
रासके बिलासकी मधुर धुनि बीनकी।
भर रही भनक बनक ताल ताननकी
तनक तनक तामें खनक चूरीनकी॥

परन्तु वे वृन्दावन ही बन सके, श्याम नहीं। यह प्रेमका रहस्यवाद विरहदुःखसे अधिक अभिभूत रहा। यद्यपि कुछ लोगोंने इसमें सहज आनन्दकी योजना भी की थी और उसमें माधुर्य-महाभावके उज्ज्वल नीलमणिको परकीय प्रेमके कारण गोप्य और रहस्यमूलक बनानेका प्रयत्न भी किया था, परन्तु द्वैतमूलक होनेके कारण तथा बाह्य आवरणमें बुद्धिवादी होनेसे यह विषयमें साहित्यिक ही अधिक रहा। निर्गुण सम्प्रदायवाले संतोंने भी रामकी बहुरिया बनकर प्रेम और विरहकी कल्पना कर ली थी; किन्तु सिद्धोंकी रहस्यसम्प्रदायकी परम्परामें तुकनगिरि और रसालगिरि आदि ही शुद्ध रहस्यवादी कवि लावनीमें आनन्द और अद्वयताकी धारा बहाते रहे।

साहित्यमें विश्वसुन्दरी प्रकृतिमें चेतनताका आरोप संस्कृत वाङ्मयमें प्रचुरतासे उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्तिका रहस्यवाद सौन्दर्यलहरीके 'शरीरं त्वं शम्भोः'का अनुकरणमात्र है। वर्त्तमान हिन्दीमें इस अद्वैत-रहस्यकी सौन्दर्यमयी व्यञ्जना होने लगी है, वह साहित्यमें रहस्यवादका स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्यके द्वारा अहंका इदम्से समन्वय करनेका सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युगकी वेदनाके अनुकूल मिलनका साधन बनकर इसमें सम्मिलित है। वर्त्तमान रहस्यवादको धारा भारतकी निजी सम्पत्ति है, इसमें सन्देह नहीं।

* * *

वेदान्तकी शिक्षा

(लेखक---श्रीमोतीलाल ज० मेहता)

वेदान्तके ये तीन मुख्य सिद्धान्त हैं—

(१) आत्माका स्वरूप-लक्षण प्रकृतिके गुणोंसे सर्वथा भिन्न है और इन दोनोंका परस्पर सम्बन्ध केवल अज्ञान-जनित है।

(२) सामान्य मनुष्य इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, पर ये इन्द्रियाँ भ्रम उत्पन्न करनेवाली हैं (जैसा कि आगे दिखाया जायगा) और इस कारण ये मानवबुद्धिमें अज्ञान उत्पन्न करती हैं।

(३) मनुष्यको जब आत्मानुभव हो जाता है और वह अन्तर्दृष्टिसे जगत्को देखता है तब जगत् उसे (इस शरीर और इन्द्रियोंसमेत) अपने अन्दर ही दीख पड़ता है।

१–व्यावहारिक जीवनमें अवश्य ही बहुत-से लोग इन्द्रियोंके साक्ष्यपर सन्देह नहीं करते और यही समझते हैं कि इन्द्रियोंद्वारा जो कुछ अनुभव होता है वह सोलहो आने सही है। इन्द्रियानुभूतिपर कभी सन्देह न होनेसे मनुष्यकी बुद्धि इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली प्रतीतियोंके इतनी अधीन हो जाती है कि सामान्य मनुष्योंके लिये इन्द्रियोंके साक्ष्यको जाँचकर ठीक करना और पदार्थोंको यथावत् जानना या जगत्को यथार्थ रूपमें देखना बहुत ही कठिन हो जाता है।

चित्र नं० १

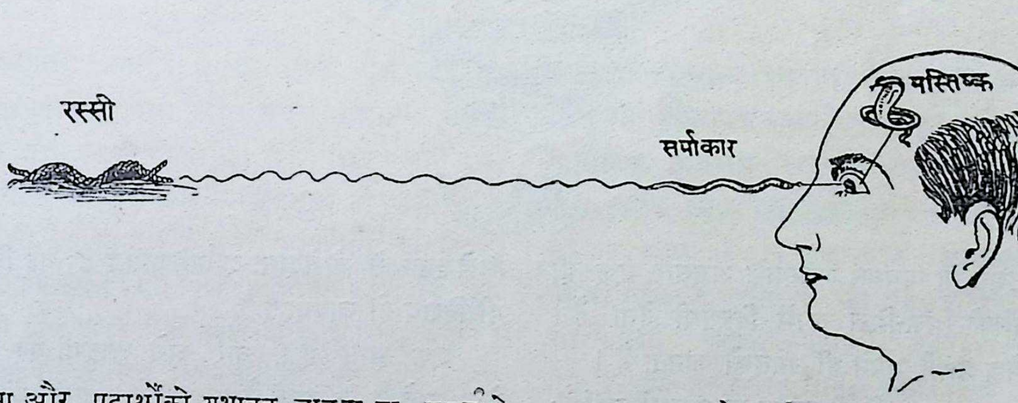

२–सामान्य मानव ज्ञान जगत्के दो अवयवोंको देखता है—(१) अन्तःस्थित चेतन जगत् और (२) रूपात्मक बाह्य जगत्। बाह्य जगत् और आन्तर जगत्का यह द्वैतबोध हम लोगोंका इतना परिचित है, हम लोगोंके जीवनमें प्रतिक्षण इसका इतना काम पड़ता है कि जब कभी हमारे सामने जीवनसम्बन्धी प्रश्न उपस्थित होते हैं तब हम पहलेसे ही इस मूल द्वैतको स्वतः सिद्ध सत्य मान लेते हैं, हमें यह खबर भी नहीं रहती कि इस तरह हम द्वैतको ला रहे हैं।

३–पैरा २में कहे अनुसार, हमारी इन्द्रियाँ जगत्का जो रूप हमारे सामने खड़ा करती हैं वह कभी सत्य नहीं हो सकता। हमारी इन्द्रियाँ रागद्वेषयुक्त होती हैं। इसलिये अपने चारों ओर जो कुछ हम देखते हैं वह जगत् नहीं है, जगत्सम्बन्धी हमारी कल्पना है। यह बात वेदान्त-दर्शनके सुप्रसिद्ध रज्जु-सर्पके दृष्टान्तसे समझायी जा सकती है।

इसका मतलब यह हुआ कि मनुष्य जब किसी पदार्थको पहले-पहल देखता है तब उस पदार्थके स्पन्दन (Vibrations) नेत्रोंद्वारा उसके मस्तिष्कमें पहुँचते हैं। यहाँतक वह पदार्थ इदंरूपसे रहता है। इसके स्पन्दन नेत्रोंसे होकर मस्तिष्कमें पहुँचे और वहाँ कोई रासायनिक क्रिया हो गयी। फिर अन्तःकरण भी उस पदार्थके आकारका बन जाता है किन्तु वहाँ भ्रमसे सर्पकी कल्पना कर लेता है। और द्रष्टा यह कहता है कि मैं सर्प देख रहा हूँ।

४–रज्जु और सर्पकी आकृतिमें कुछ सादृश्य अवश्य है, पर रज्जु और सर्पके गुण एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं। इसी प्रकार शुक्तिमें रजतका भान होता है। मृगजलका दृष्टान्त भी ऐसा ही है। मनुष्य देखता है कि उसके सामने जल है, परन्तु वास्तवमें वहाँकी जमीन गीली भी नहीं है, क्योंकि वहाँ जल है ही नहीं।

५–इन दृष्टान्तोंसे यह प्रमाणित है कि सामान्य मनुष्य-को दृष्टिभ्रम हो जाता है। यह बात मान लेनेपर यह

समझमें आ जाता है कि हम अपने चारों ओर जो कुछ देखते और जिसे हम जगत् कहते हैं वह जगत् नहीं है। यह तो दृष्ट पदार्थके सम्बन्धमें हमारी कल्पना भर है, हमारा अपना जगत् है। हम एक रूपमें जगत्को देखते हैं, बिल्ली उसी जगत्को किसी और ही रूपमें देखती होगी, उसी जगत्को मछली और ही कुछ अनुभव करती होगी, उसीको छोटे बच्चे एक रूपमें और बड़े-बूढ़े दूसरे ही रूपमें देख सकते हैं। सब अपना-अपना अलग ही जगत् देखते हैं।

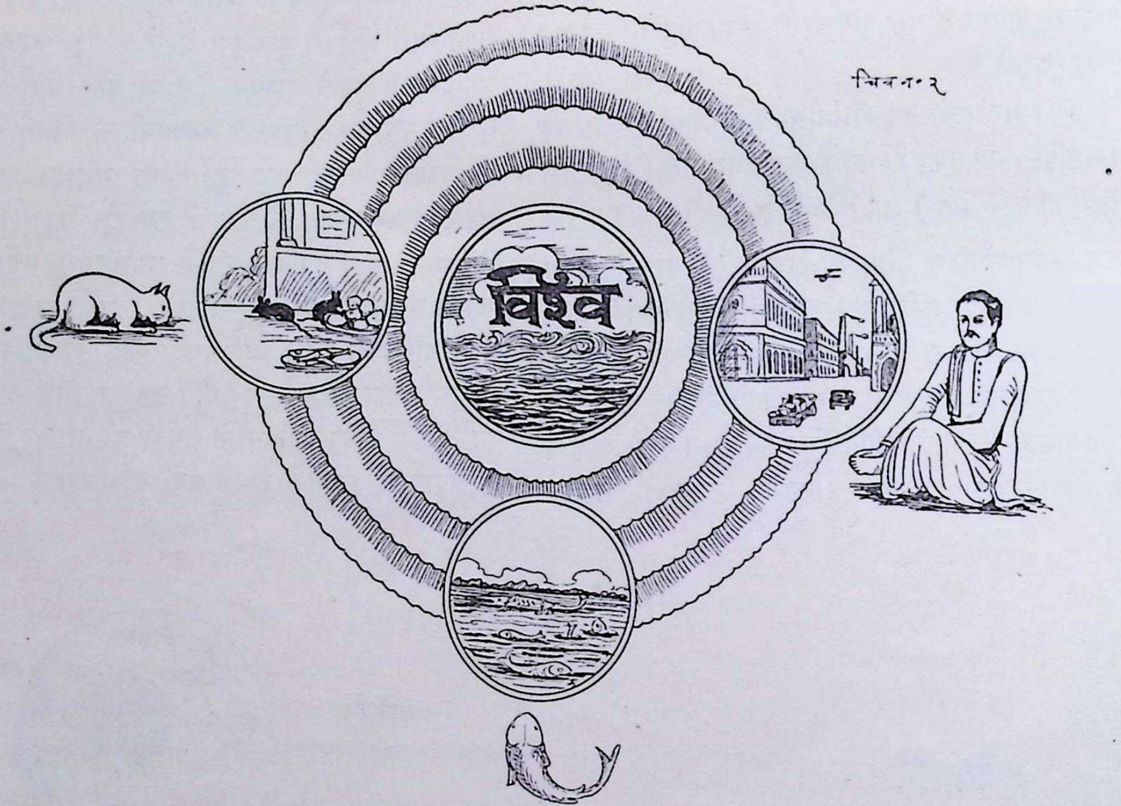

चित्र नं० २

ज्ञानकी उन्नत या अवनत अवस्थाके अनुसार एक ही जगत् देखनेवालेको भिन्न-भिन्न रूपमें दिखायी देता है। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी अपने ही जगत्को जानता है।

६–मिथ्यात्व या भ्रम किसी घटना या पदार्थमें नहीं है; बल्कि इस बातमें है कि मनुष्य जगत्के स्वकल्पित रूपको जगत् समझ लेता है, और उसकी निरपेक्ष और स्वतन्त्र सत्ता मान लेता है।

७–भौतिक पदार्थोंके अनेक गुण, उनके परस्पर अन्तर और लंबाई-चौड़ाई, ऊँचाई-गहराई आदि तथा कालानुरूप उनके परिवर्तन, ये सब बातें हमारे दृष्टिगत रूपकी ही हैं। उदाहरणार्थ, वास्तविक जगत्में कोई वृक्ष न तो ३० फुट ऊँचा है, न उसके पत्ते हरे हैं और न उसमें इतने मन लकड़ी है। ये सब बातें उस वृक्षके हमारे दृष्टिगत रूपमें हैं और हमारे ही ज्ञानके अङ्ग हैं। अन्य प्राणियोंकी दृष्टिमें, जिनके अस्तित्वकी हमें चाहे खबर भी न हो, उसी वृक्षका भिन्न ही रूप प्रतिभात हो सकता है।

८–पाश्चात्य दार्शनिक जगत्में विकासवादका सिक्का कई वर्ष चलता रहा, हालहीमें उसके स्थानमें 'सापेक्षता' का सिद्धान्त प्रचलित हुआ है। यह 'सापेक्षता' का सिद्धान्त श्रीमान् शङ्कराचार्यके मायावादका समर्थन करता है। नीचे लिखे दृष्टान्तसे, जो वेदान्त-दर्शनमें प्रसिद्ध है, यह विषय और भी विशद हो जायगा।

एक हाथी है। चार अंधे आदमी यह जाननेकी चेष्टा करते हैं कि हाथी कैसा होता है। एक अंधा हाथीके पैर पकड़ता है और कहता है कि हाथी खंभे-जैसा होता है। दूसरा अंधा पूँछ पकड़ता है और कहता है कि हाथी लाठी-जैसा होता है। तीसरा अंधा कान पकड़ता है और कहता है कि हाथी सूप-जैसा होता है। चौथा सूँड़ पकड़ता है और कहता है, हाथी बड़े अजगर-जैसा होता है।

उन्हींमेंसे एक आदमी पैर टटोलकर सूँड़को पकड़ता है और सोचता है कि इसी खंभे-सी चीजका यह विकास

हुआ है, इत्यादि । पर जो अंधे नहीं हैं वे जानते हैं कि यह हाथी नामक प्राणी है जिसे अंधे नहीं देख पाते, इस कारण कुछ-की-कुछ कल्पना किया करते हैं । इसी प्रकार यह जीव-जगत् ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिमें ब्रह्मरूप है । सम्पूर्ण जगत्को एक साथ जाननेमें समर्थ न होनेके कारण विकासवादी उपर्युक्त दृष्टान्तके अंधोंके समान ही होते हैं । ज्ञानके जो विविध स्वरूप हैं वे विकासकी क्रमिक सीढ़ियाँ नहीं हैं, न वे एक दूसरेसे पृथक् हैं, बल्कि एक ही अखण्ड वस्तुके भिन्न-भिन्न स्वरूप या अङ्ग हैं जिन्हें केवल ब्रह्मज्ञानी ही जानता है ।

चित्र न. ३

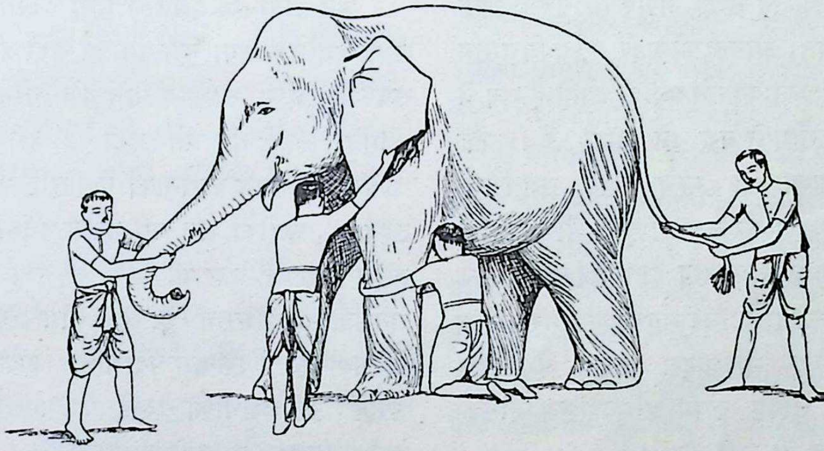

९–वास्तविक जगत्के परस्पर सम्बद्ध पाँच अङ्ग हैं–सत्, चित्, आनन्द, नाम और रूप । सामान्य मनुष्य केवल नाम और रूपको देखते हैं; सत्, चित्, आनन्दको नहीं देख पाते, जो नाम और रूपके साथ ही उसी जगह विद्यमान रहते हैं । ज्ञानी पुरुष सर्वत्र सत्, चित्, आनन्दको देखते हैं । जब सर्वत्र ,सत् चित्, आनन्दका दर्शन होता है तब नाम और रूपके लिये कोई अवकाश नहीं रहता । उदाहरणार्थ, रज्जुको जब रज्जुरूपमें ही देखा जाता है तब वहाँ साँप नहीं दीखता । अतः ब्रह्मको जब हम ब्रह्मरूपमें देखते हैं तब वह जगद्रूप नहीं रह जाता, जिसे सामान्य मनुष्य देखता या अनुभव करता है ।

१०–ब्रह्मरूप सत्यके अनुभवकी ओर जानेका प्रथम मार्ग जगत्के अपने कल्पित रूपको, जिसे हम 'मैं' और 'मेरा' कहते हैं त्याग देना है । वैष्णवधर्ममें इसे ही शरणागति कहते हैं और श्रीशङ्कराचार्यके मतमें जहल्लक्षणा ।

११–जब इन रूपों और कल्पनाओंका त्याग कर दिया जाता है तब हमें यह आश्चर्यमय अनुभव होता है कि सत्, चित्, आनन्दके सिवा और कुछ भी नहीं है और इसलिये अपने अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । स्वप्नमें जैसे हमीं सब कुछ बन जाते हैं, इसी प्रकार जाग्रत्में भी हमीं सब कुछ बने हुए रहते हैं । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'–यह आध्यात्मिक सत्य है और यह इसलिये व्यवहार्य है कि इसमें निरतिशय आनन्द है । प्राकृतिक धर्मोंसे इसका कोई मेल नहीं है । यहाँ आगे बढ़ने या पीछे हटनेकी बात नहीं है, बल्कि स्थिर होकर समस्त विश्वको अपना स्वरूप जानकर समालिङ्गन करनेकी बात है ।

१२–पाश्चात्य विज्ञानमें जो नये-नये अनुसन्धान हुए हैं वे भी सर्वव्यापक ब्रह्मकी भावनाको ही पुष्ट करते हैं । आधुनिक विज्ञानके अनुसन्धानका विषय स्वयं प्रकृति नहीं, बल्कि हमारा प्रकृतिनिरीक्षण है । आधुनिक विज्ञानका यह कहना है कि यह दृश्य जगत् जगतसम्बन्धिनी हमारी विकृत अनुभूति है; यह जगत् यन्त्रकी भाँति नहीं है और देश, काल, कारण, आयु, घनता, शक्ति, गति इत्यादि सापेक्ष पदार्थ हैं; इनका कोई निरपेक्ष अर्थ नहीं । ये भौतिक तत्त्वोंके धर्म नहीं हैं बल्कि ऐसे सम्बन्ध हैं जो पदार्थके निरीक्षककी दृष्टिके अनुसार बदलते रहते हैं । अतः जगत्के विषयमें जो कुछ कहा जाता है वह अपने ही विषयमें कहा जाता है ।

१३–आधुनिक विज्ञानका पुनः यह कहना है कि यदि हम यह जान जायँ कि अमुक विद्युतपरमाणु आकाशमें अमुक स्थानपर है तो हम यह ठीक निश्चित नहीं कर सकते

कि वह किस गतिसे चल रहा है और यदि हम यह जान लें कि उसकी गति कितनी तेज़ है तो प्रकृति हमें यह नहीं जानने देगी कि आकाशमें वह कहाँपर है। इस बातको यदि तत्त्वज्ञानपर घटाकर देखा जाय तो यों कह सकते हैं कि यदि हम किसी जीवको किसी स्थानविशेषमें देखते हैं तो हम उसकी गतिको (अर्थात् उसके सर्वत्र होनेकी क्षमताको) नहीं देख सकते और जब हम उसकी इस गतिको देखते हैं तब किसी स्थानविशेषमें उसके जीवरूपसे स्थित होनेको नहीं देख सकते।

१४–जब किसी रेडिओ-स्टेशनसे रेडिओद्वारा कोई बात सुनायी जाती है तब वह सर्वत्र फैल जाती है और तब उसे 'वेव' (या तरङ्ग) कहते हैं; पर जब वही बात रेडिओ-यन्त्रमें ग्रहण की जाती है, तब तरङ्ग अणुरूपमें बदल जाते हैं। इसी प्रकार सत्, चित्, आनन्दकी लहरें सर्वत्र विद्यमान हैं, पर ये जब मनुष्यके अन्तःकरणमें पकड़ी जाती हैं तब वे अणुरूप होकर मानवी सीमासे बद्ध हो जाती हैं। यदि तरङ्गोंको ग्रहण करनेवाला यह यन्त्र केवल सत्-चित्-आनन्दके तरङ्गोंको ही ग्रहण करे तब तो कुछ भी कठिनाई नहीं है, परन्तु कुछ यन्त्र इतने खराब होते हैं कि वे अन्य कोलाहलोंको भी ग्रहण करते हैं। यह मनुष्यका मनरूप यन्त्र नाम और रूपके तरङ्ग भी ग्रहण करता है और सच्चिदानन्दके तरङ्गोंको सुस्पष्ट रूपमें अभिव्यञ्जित होनेका पूरा समय और अवकाश ही नहीं देता।

१५–आधुनिक विज्ञानमें स्थलविशेषमें बद्ध तरङ्गोंको matter (भूत) कहते हैं और मुक्त तरङ्गोंको विद्युत् (Radiation) या प्रकाश कहते हैं। पार्थिव रूपको नष्ट करनेका क्रमबद्ध तरंगशक्तिको मुक्त करने और उसे सर्वत्र विचरण करनेके लिये छोड़ देना ही है। इसी प्रकार मानसिक शक्तिके तरङ्गोंको निर्विकल्प समाधिद्वारा मुक्त किया जाता है।

१६–वेदान्तकी भाषामें इसीको देहाभिमानका त्याग कहते हैं। देहाभिमानका त्याग हो जानेपर सामान्य मानव जीव सर्वत्र स्थित होनेमें समर्थ होता है और उसमें ईश्वरके लक्षण आ जाते हैं। जब यह अनुभूति हो जाती है तब यह बाह्य जगत् अपनेसे भिन्न नहीं प्रतीत होता, अभिन्न प्रतीत होता है।

उस अवस्थामें हमलोग ऐसा देखेंगे या अनुभव करेंगे मानो हम एक नयी दुनियामें हों जहाँ प्रत्येक पदार्थ आत्मरूप है और सामान्य मनुष्यके बोधमें जिस जगत्की प्रतीति होती है वह तो कहीं है ही नहीं और न कभी था ही; वह केवल कल्पनाकी एक सृष्टि थी, एक ऐन्द्रजालिक दृश्य था, नेत्रोंका भ्रम था, मूर्च्छितावस्था थी, अथवा उसे सत्से भिन्न जो कुछ भी कहें वह सब था। न तो कोई जनमता है, न मरता है; हमें लोग जनमते-मरते इसीलिये दिखायी देते हैं कि हम पदार्थोंका अंशमात्र देखते हैं या उनके उन लक्षणोंको देखते हैं जो स्वरूपभूत नहीं हैं। वेदान्त-सिद्धान्तका यही सारतत्त्व है।

◆

जो सब भूतोंमें स्थित होकर सब भूतोंके भीतर है, जिसको सर्वभूत नहीं जानते, जिसका सब भूत शरीर हैं। जो सब भूतोंके भीतर रहकर उन्हें नियममें रखता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। (बृह० ३। ७। १५)

जो श्रोत्रमें रहकर श्रोत्रके भीतर है, जिसको श्रोत्र नहीं जानता, जिसका श्रोत्र शरीर है, जो श्रोत्रके भीतर रहकर उसे नियममें रखता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। (बृह० ३। ७। १९)

व्यक्तित्व

(लेखक—श्रीब्रजमोहनजी 'मिहिर')

यदि हमारे सम्मुख कोई बात आती है तो पहले हम यह सोचते हैं कि किसी भी कार्यसे हमें क्या लाभ हो सकता है। जिस कार्यमें हमें अपने स्वार्थकी गन्ध नहीं मिलती उसे करनेके लिये हम राजी नहीं होते। ये विचार हमारे मनको इतना अधिक घेर लेते हैं और मनमें इतनी गहराईके साथ पैठ जाते हैं कि फिर निःस्वार्थभावसे कार्य करने और सोचनेमें हम असमर्थ हो जाते हैं। हम अपने इसी पुरातन विचारके आधारपर संसारसे मुक्त होनेकी बात भी सोचते हैं। किसी नवीन विचारको मनमें लाते ही पुराने विचारोंका हमला तुरन्त हो जाता है।

परन्तु संसार मनुष्यके सामने सदा नवीन है। नयी बातोंको जब वह पुरानी बातोंके अनुसार हल करना चाहता है, पग-पगपर उसे ठोकर लगती है। वह तिलमिला उठता है। ऐसी बेचैनीमें उसे कोई रास्ता नहीं सूझ पड़ता। यदि इन विचारोंसे हमारा पथ सुगम हो जाय तो हम उनपर अवश्य विचार करें। किसी वस्तुसे हमें तभी लाभ हो सकता है जब हम उसके रहस्यको अपने जीवनमें अनुभव कर सकें। इसके विरुद्ध यदि हम किसीके बतलाये हुए अनुभवके द्वारा स्वयं लाभ उठाना चाहते हैं तो हमें निराश होना पड़ेगा। उन्नति करनेके स्थानमें हम अवनति करेंगे।

लेकिन अपने अनुभवसे लाभ उठानेके प्रश्नको भी आप समझ लें। मेरी समझमें तो अनुभव भी ऐसी वस्तु नहीं है जो जीवनकी ग्रन्थियोंको सुलझा सके। अपने अनुभवपर निर्भर होना भी एक प्रकारकी कमज़ोरी है। हम अनुभवका आश्रय उसी समय लेंगे जब हमारे काम अधूरे होंगे। हम अपनी वर्तमान दशासे बचना चाहते हैं। हमें सदैव नयी-नयी बातोंका सामना करना पड़ता है। इसलिये हम अपने किसी पुराने सिद्धान्त अथवा अनुभवसे एकदम नयी जटिलताको नहीं सुलझा सकेंगे। ठीक बात तो यह है कि जबतक हम अपनी जटिलताको सुलझानेकी कोशिश करते रहेंगे तबतक उसका रूप हमारे सामने सदा नवीन रहेगा। हमें अपने अन्दरसे आज, कल और परसोंका खयाल मिटा देना होगा। काल और परिणामका विचार न करके जिस अवस्थामें हम हों उसीमें अपनी पूर्णता समझें। उस जटिलताका हम अनुभव न करें, बल्कि उसके साथ एक होकर इस प्रकार कार्य करें कि उसके करते समय उस कार्य और उसके परिणामका कोई प्रभाव न पड़े। इस बातका भी ध्यान रखना होगा कि उस कार्यमें हमारे स्वभावकी छाया न पड़े, बहुत समयतक की हुई बात आगे चलकर स्वभाव बन जाती है। हमारे व्यक्तित्वका प्रतिबिम्ब पड़नेसे कार्यकी शुद्धता जाती रहेगी। कार्यकी शुद्धता सदा गुणातीत है। सारी वस्तु एक है। यदि कुलमेंसे हम कुछ हिस्सेको अलग करेंगे तो वह हिस्सा सदा अलग रहेगा। इस प्रकारके अलगावसे कार्य अपूर्ण रहेगा। अपने स्वभावके वशीभूत होकर हम कार्यकी शुद्धता मालूम न कर सकेंगे, क्योंकि शुद्ध कार्य गुणातीत है। गुण और स्वभाव दो अलग-अलग वस्तु हैं, जिन्हें समझ लेनेकी आवश्यकता है। परिस्थिति स्वभावकी निर्माता है। प्रायः यही हुआ करता है कि परिस्थितिके अनुसार हम जीवन व्यतीत करते हैं। यह परिस्थिति हमारे ऊपर इतनी हावी हो जाती है कि यह हमारे जीवनको जिस ओर चाहती है मोड़ देती है और हम एक दासकी भाँति उसके अनुसार कार्य करते रहते हैं। कुछ समय पश्चात् यही परिस्थिति हमारा स्वभाव बन जाती है और हम उसके बोझसे नीचे दब जाते हैं। मनकी ऐसी विचलित दशामें हम भली प्रकार कार्यकी निर्मलता नहीं समझ सकेंगे। रह गयी गुणकी दशा। यह अपनी परिधिमें पूर्ण और स्वतन्त्र है। जबतक हम इसकी दशाका भान करते रहते हैं तबतक हमारी दशा अपूर्ण रहती है और हम अपूर्णसे पूर्णकी ओर अग्रसर होते जाते हैं। यह एक शक्ति है जो सदा संसारमें विद्यमान रहती है और संसारसे कार्य कराकर इसे पूर्णताकी ओर ले जाती है। इस शक्तिसे व्यक्तिमें कार्य होता रहता है। व्यक्तिकी पूर्णता जबतक इसकी पूर्णतामें मिल नहीं जाती तबतक निरन्तर कार्य हुआ करता है। इसकी पूर्णतामें जब हमारी पूर्णता मिश्रित हो जाती है तब व्यक्तिगतरूपसे हमारा सारा कार्य समाप्त हो जाता है। हम गुणातीत हो जाते हैं। हमारे अन्दरसे मैं और तुमकी सारी भावना उठ जाती है। जबतक हम स्वभावके वशमें थे, हम परिस्थितिके अनुसार कार्य करते थे, परिस्थिति हमपर हावी थी। गुणकी पूर्णावस्थामें परिस्थितिके ऊपर हमारा पूर्ण अधिकार हो जाता है।

जिस प्रकार हम गुणातीत हैं उसी प्रकार हम कालातीत भी हैं। जबतक हमारे अन्दर कालकी भावना है तबतक हम भ्रमसे पूर्ण हैं। ऐसी दशामें व्यक्तिगत हमारी सारी उन्नति अपूर्ण है। भावनाके अन्दर रहनेसे हमारा अन्धकार घनीभूत होता जायगा और अन्दर अहंताकी भावना जागरित होगी। कालके अन्दर रहनेसे हम अपनेपनका अनुभव करते रहेंगे। कालातीत होनेसे ही हमें अपने अन्दर अनेकत्वकी भावनासे छुट्टी मिलेगी। अन्दरसे 'मैं' और 'तुम'का मिट जाना ही मोक्षकी दशा है। प्रारम्भिक दशामें व्यक्तिगत कालका अनुभव करनेसे हमें यही लाभ होता है कि अनेकत्वकी भावना करनेवाले व्यक्तिको 'मैं' और 'तुम'से छुटकारा मिल जाता है। जबतक हमारे अन्दर 'मैं' और 'तुम'की भावना है तबतक हम कालके अन्दर हैं। जिस दिन हम पूर्ण हो जाते हैं उस दिन कालके अन्दर रहनेके भावसे भी हमें छुट्टी मिल जाती है। उस दिन हमारा व्यक्तित्व कालमें समाहित हो जाता है। हम अनादि और अनन्त हो जाते हैं। इसलिये जबतक हमारे अन्दर अपनापन है तभीतक चेष्टाएँ हैं। कालके अन्दर न रहनेसे चेष्टाका अन्त हो जाता है। जिस समय हम पूर्ण हो जाते हैं हमारी सारी चेष्टाएँ शान्त हो जाती हैं। इसके बाद सब कार्य होंगे तो, पर उनमें कोई प्रयास न रहेगा।

व्यक्तिगत जीवन एक ऐसी सत्ता है कि यह जिस स्थानसे आरम्भ होती है वहीं इसका लय होता है। क्रमशः इसमें विकास होता रहता है। हम जिस समयतक व्यक्तित्वको भली प्रकार समझ न लेंगे उस समयतक हमारा समस्त अनुभव; हमारे समस्त भाव और हमारा समस्त विकास नितान्त सारहीन होगा। हमारा अस्तित्व क्यों है—इससे हमें कोई लाभ न होगा। व्यक्तिगत जीवनमें कर्तृत्वकी भावना रहती है। उसमें 'मैं' और 'तुम'का भान बना रहता है। इस भावनाके अस्तित्वकालमें हमारी दशा अस्पष्ट रहती है। इस समयतक हम नामरूपके अन्दर चक्कर लगाया करते हैं। व्यक्तिगत जीवनका विकास जब हमारी समझमें आ जायगा तो हम नाम और रूपकी भावनासे ऊपर उठेंगे, हमारे चित्तमें दृढ़ता आयेगी और हम अनेकत्वकी भावनासे एकत्वकी भावनाको समझेंगे।

जिस समयतक हमारे अन्दर नाम और रूपकी भावना रहती है हम दूसरोंको बहुत कुछ समझते हैं, उनके साथ स्नेहका नाता जोड़ते हैं, आदान-प्रदान स्थापित करते हैं। लेकिन जब व्यक्तिगत जीवनकी पूर्णता हो जाती है, अनेकत्वकी भावना एकत्वकी भावनामें लीन हो जाती है तो बाहरी सारा सम्बन्ध छूट जाता है और अपना व्यक्तिगत जीवन भी उसीमें लीन हो जाता है। जबतक हम इस रहस्यको भली प्रकार न समझ लेंगे, हमारे कर्मका चक्र किसी मेशीनके घूमते हुए तेज़ चक्केकी तरह बराबर घूमता रहेगा। इसीलिये मैं व्यक्तिगत जीवनपर बहुत ज़ोर देता हूँ। मैं चाहता हूँ कि हम इसे भली प्रकार समझ लें। यहींसे विकास आरम्भ होता है और यहीं उसका अन्त होता है। जबतक व्यक्ति अपनेको नहीं समझता, उसका जीवन जड़वत् है। व्यक्तिगत जीवनके रहस्यको प्रथम जब हम समझेंगे तो हमारे अन्दर अहंताकी भावना जाग्रत होगी। किसी वस्तुके उभड़नेसे ही हम उसके रहस्यको समझते हैं। अपने अन्दर अनेकत्वकी भावनाको जानकर ही हम उसके लयके लिये प्रयत्न करेंगे। इसलिये पहले अपनी पृथक् सत्ताको समझना भी हमारे लिये बहुत जरूरी है। इससे आप यह न समझें कि हम आपके अन्दर स्वार्थकी उत्पत्ति करना चाहते हैं। मेरा अभिप्राय यह है कि अपने व्यक्तित्वको समझ लेनेपर अपना विकास शीघ्र और चिरस्थायी होगा। व्यक्तिगत कल्याणसे समुदायका भी कल्याण होता है। यदि प्रत्येक प्राणी अपनेको अच्छी तरह समझ ले तो आज हम जो उथल-पुथल संसारमें देख रहे हैं उसका भी शीघ्र अन्त हो जाय। और तब हम देश, काल और पात्र (चरित्र) के संकुचित विचारसे ऊपर उठ जायँगे। इसी प्रकारसे व्यष्टिके द्वारा समष्टिकी पूर्ति होती है। ऊपरसे संसारमें हमें भिन्नता दिखलायी पड़ती है, लेकिन एक ही आत्मा सब जगह भासित होती है! इसका ज्ञान प्राप्त होनेपर बाहरसे अनेक होनेपर भी भीतरसे हम एक हैं। इस अनुभवको प्राप्त कर लेनेपर व्यक्तिगत जीवनकी समाप्ति हो जाती है। कोशिश उसी समयतक रहती है जबतक हम इसे प्राप्त न कर लें। इसे प्राप्त करनेके लिये ही हमें अपने व्यक्तित्वको समझनेकी आवश्यकता थी। इस रहस्यको जान लेनेपर हमें किसी बाहरी सहायताकी आवश्यकता न रह जायगी। अतः बाहरसे जब कुछ लेना-देना नहीं है तो कैसा भय और किसका भय। ऐसे आनन्दवेत्ता योगी निर्भय होकर भ्रमण किया करते हैं। कर्म और भाग्यके चक्रसे उन्हें छुटकारा मिल जाता है। इस दशाको प्राप्त कर लेनेपर हम संसारकी किसी वस्तुसे बचनेकी कोशिश नहीं करेंगे, बल्कि हमारा उनपर आधिपत्य हो जायगा।

वेदान्त और वेदान्तका अधिकारी

(लेखक—पं० श्रीरामप्रसादजी पाण्डेय एम० ए०)

आज प्रायः बोल-चालकी भाषामें वेदान्तपदसे ब्रह्मसूत्र एवं भगवान् शङ्कराचार्यके भाष्यानुसार तत्प्रतिपादित अद्वैतवादका बोध होता है। इससे उस भाष्यकी व्यापी लोकप्रियता प्रमाणित होती है। परन्तु जाननेवाले जानते हैं कि वेदान्तका मूल अर्थ इससे अधिक व्यापक ही नहीं, अपितु इससे भिन्न भी है। शास्त्रोंकी भाषामें वेदान्त वेदोंके ज्ञानकाण्डको कहते हैं जो उनके अन्तिम भाग हैं। उन्हींको उपनिषद तथा रहस्य भी कहते हैं।

आज १०८ उपनिषद उपलब्ध हैं। ये सभी अनेक प्रकारसे अक्षरका व्याख्यान करती हैं। भगवान् व्यासने पाँच सौसे कुछ ऊपर सूत्रोंको रचकर उक्त सभी वेदान्त-ग्रन्थोंकी एकवाक्यता प्रकट की। इन्हीं सूत्रोंको ब्रह्मसूत्र अथवा शारीरक सूत्र कहते हैं। परन्तु ये सूत्र उपनिषदों अर्थात् वेदान्तपर ही आस्पदीभूत हैं, अतः इन्हें भी लोग वेदान्त कहते हैं।

जिस आवश्यकताकी पूर्तिके लिये उपनिषद आविर्भूत हुईं, उसीकी पूर्ति, अपनी विचित्र शैलीमें, श्रीमद्भगवद्गीताने भी की है। इसमें भी प्रधानरूपसे अक्षरकी व्याख्या है। अतः इस गीताको भी कभी उपनिषत् और कभी वेदान्त कहा जाता है। और उपर्युक्त तीनों कोटिके ग्रन्थोंको व्यापकरूपसे वेदान्त अथवा वेदान्तकी प्रस्थानत्रयी कहते हैं।

शास्त्रोंमें वेदान्त शब्दका प्रयोग निम्नलिखित प्रकारसे देखा जाता है। मुण्डकोपनिषत्के तृतीय मुण्डकका छठवाँ श्लोक इस प्रकार है—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥

यही श्लोक फिर ज्यों-का-त्यों कैवल्योपनिषत्के प्रथम खण्डमें तीसरे मन्त्रके रूपमें मिलता है। इस उपनिषदके द्वितीय खण्डके तीसरे श्लोकमें वेदान्त शब्द एक बार और इस प्रकार प्रयुक्त हुआ है—

वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।
न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो
न जन्मदेहेन्द्रियबुद्धिरस्ति ॥

श्वेताश्वतरोपनिषत्के छठवें अध्यायके बाईसवें मन्त्रमें वेदान्त पद एक बार और मिलता है, यथा—

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ॥

ब्रह्मसूत्रके तृतीयाध्यायके तृतीय पादका प्रथम सूत्र इस प्रकार है—

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ।

गीताके पन्द्रहवें अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें वेदके संग वेदान्तपद वैसे ही आता है जैसे ऊपर दिये गये कैवल्योपनिषत्के दूसरे श्लोकमें, यथा—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥

मनुस्मृतिमें भी छठवें अध्यायके ९४ वें श्लोकमें वेदान्तपद एक बार आया है—

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः ।
वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥

ऊपर दिये गये सभी श्लोकोंका वेदान्तपद स्पष्टरूपसे उपनिषदोंके लिये आया है। उपनिषद और मनुस्मृति ब्रह्मसूत्रसे प्राचीन हैं। अतः उनमें ब्रह्मसूत्रका उल्लेख नहीं है। परन्तु गीताका आविर्भावकाल ब्रह्मसूत्रके समयके पश्चात् आता है। इससे गीतामें एक स्थानपर ब्रह्मसूत्रपद भी आया है। वह तेरहवें अध्यायका चौथा श्लोक है—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि ऋषिगणपदके द्वारा उपनिषदोंके द्रष्टाओंको सम्बोधित किया गया है और उन उपनिषदोंका पृथक्त्व तथा अनेकत्व दर्शाकर यह संकेत है कि ब्रह्मसूत्रके पदोंमें उन्हींका विषय अधिक सयुक्तिक शैलीसे

वर्णित है। परन्तु उपर्युक्त श्लोकोंके संकेतार्थकी ओर जानेसे बहुत कुछ कहनेकी आवश्यकता पड़ेगी। संक्षेपसे वेदान्तके विषय, अधिकार, आवश्यकतादि सभी बातोंका उनमें निरूपण वर्तमान है। परन्तु उन्हें ज्यों-का-त्यों छोड़कर हम अब दूसरे स्पष्ट श्लोकोंके द्वारा अपने विषयके दूसरे भागपर प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे।

अपने शास्त्रोंकी अनभिज्ञताके कारण वेदान्त नाम बहुतोंको एक भयानक वस्तु-सी दिखायी देती है। हिन्दुओंमें प्रायः यह विचार घर कर रहा है कि वेदान्तके अधिकारी अत्यन्त कम जन हैं, उसका मार्ग अत्यन्त दुस्तर है और प्रायः उससे बचना चाहिये। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह विचारधारा अत्यन्त नवीन एवं अहितकर है। गोप्य कहते-कहते हमने अपनी संस्कृतिके अनेक अमूल्य रत्न खो दिये हैं और ब्रह्मविद्याको भी जीवनसे निर्वासन करना चाहते हैं। इससे और शोचनीय बात और क्या होगी? यहाँ तो सहसा उपनिषदकी यह प्रार्थना स्मरण हो आती है—

'माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणमस्तु तदात्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।'

गोपनीय अथवा गुह्य पदोंका हमें त्याज्य अर्थ कभी नहीं करना चाहिये। इन पदोंका संकेत यह है कि ईश्वरप्राप्तिके लिये जो साधन किये जायँ उनका विज्ञापन कदापि न किया जाय। डंकेकी चोटसे अथवा ललकारकर जैसे गढ़ विजय किया जाता है वैसे ईश्वर नहीं प्राप्त किया जा सकता। उसके लिये अन्तर्मुखता चाहिये। ईश्वर-प्राप्तिके साधनोंको आत्मतुष्टिके हेतु करना चाहिये। भगवत्स्मरणको केवल अपने मनपर प्रकट करना चाहिये, दूसरोंपर कदापि नहीं। गुह्यका यही तात्पर्य है।

कौन किसका अधिकारी है, इसपर कोई व्यवस्था नहीं दी जा सकती है। इसका निर्णय तो साधक स्वतः करे। यहाँ यह अवश्य बतलाया जा सकता है कि जीवकी वह कौन-सी स्थिति है जहाँसे उसे वेदान्तकी अपेक्षा आरम्भ होती है। यहाँ इस बातका स्मरण रहे कि जीवकी अवस्था शरीरकी नहीं जिसे अनेक वर्णोंके नामोंसे सम्बोधित किया जाता है।

कठोपनिषत् सभी उपनिषदोंसे अधिक लोक-प्रिय है। उसके आरम्भमें ही वेदान्तविद्याका बीज है—

तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश।
सोऽमन्यत पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरीन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत्॥

वाजश्रवाके पुत्रने स्वर्गकी इच्छासे दानमें ऐसी गौवें दी जो बेकाम थीं। उनसे पानेवाले दूधादि नहीं प्राप्त कर सकते थे। नचिकेता नामक उन दाताका कुमार था। उसके मनमें यह बात उठी की 'इनके देनेसे कैसे स्वर्ग मिलेगा, क्योंकि इनके देनेसे दानकी क्रियाका व्यापार तो हो जाता है, परन्तु उस क्रियाका उद्देश नहीं सधता। अतः यह धर्म नहीं है।' धर्मसाधनकी यही श्रद्धा है। जिस समयतक धर्म कोरी क्रियाके व्यापारोंमें दिखायी देता है, उद्देशमें नहीं, उस समयतक वेदान्तका अधिकार नहीं। परन्तु ज्यों ही मनमें यह विचार उत्पन्न हो कि साधन, धर्म, निष्ठा, ईश्वर भला लौकिक नाप-तौलका विषय कैसे हो सकता है, वह सब तो तत्त्व है, तत् नहीं है, तब साधकमें वेदान्तके अधिकारका उदय जानना चाहिये। यह अधिकारकी प्राथमिक अवस्था है। दूसरी अवस्था वह है जिसमें भूतदयाका अनुभव होने लगता है। उस अवस्थामें अपने लाभके लिये साधक किसीकी हानि कदापि नहीं कर सकता। उसे सहसा और बिना सोचे-समझे सभीके प्रति, विशेषतः पीडितोंके प्रति सहानुभूति हो जाती है। इसके पश्चात् वह भूतदया अधिक घनीभूत हो जाती है और उसके साथ-साथ त्याग बढ़ता जाता है। यह नचिकेतामें आगे चलकर वैसे ही दिखायी देती है जैसे आरम्भमें ही अर्जुनमें। दोनों ही लोकके ऐश्वर्यको ब्रह्मविद्या तथा दयाधर्मकी वेदीपर चढ़ा देनेके लिये उद्यत हो जाते हैं। भूतदयासे आर्द्र होकर अर्जुन कहते हैं—

'न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।'

उधर नचिकेता भी कहते हैं—'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः' यह अवस्था बहुत ऊँची है, इसके पश्चात् शीघ्र आत्मज्ञान परिपक्व हो जाता है। यह अधिकारसे बहुत आगेकी अवस्था है।

वेदान्तके अधिकारका भगवान् श्रीकृष्णने अत्यन्त सुन्दर ऐसा निरूपण किया है—

'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।'

अर्जुन! तुम दयार्द्र हो गये हो और नीतिकी रक्षा

करनेकी चेष्टा करते हो, नीतिकी बातें कहते हो। बस यही वेदान्तका अधिकार है। इस अधिकारको देखकर वेदान्तके उपदेशका बीजारम्भ भगवान्‌ने किया जो प्रत्यक्षरूपसे—

'बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥'

इन पदोंमें दिखायी देता है। नवें अध्यायके ३२ वें श्लोकको प्रत्येक गीताप्रेमी जानता ही होगा, जो यह है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

यहाँ वर्ण आदि उपाधि वेदान्तके अनधिकारका कारण नहीं माना गया है। जिस किसीमें ईश्वरविषयक श्रद्धा हो जाय वह वेदान्तका अधिकारी है। इसका तात्पर्य यह है कि जबतक अनेक देवताओंकी पूजा अनेक फलोंकी कामनाओंसे होती रहती है तबतक ईश्वरमें श्रद्धा नहीं जाननी चाहिये। ईश्वरमें श्रद्धा उस समय माननी चाहिये जब केवल उसकी उपासना हो और अन्य देवोंकी उपासना उस साधकसे बने ही नहीं। भगवान्‌से अधिक सन्निकट अथवा ऐश्वर्यवाला दूसरा और कौन हो सकता है जिसको उसे त्यागकर भजा जाय। और तो सभी ऊँची या नीची जीवकी ही अवस्थामें हैं। यही बात श्वेताश्वतरोपनिषत्‌के अन्तिम श्लोकमें इस प्रकार कही गयी है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

जिसकी ब्रह्मवित् गुरुके वचनोंमें विश्वास और भक्ति हो अर्थात् गुरुरूप ऋषियोंके अनुभवोंमें विश्वास हो जो शास्त्र कहे जाते हैं, और जो ईश्वरका अनन्य भक्त हो, उसे वेदान्तके उपदेश सफल होंगे, उसे इस उपदेशका क्रमशः रहस्य विदित होता जायगा।

इसी प्रकार ब्रह्मसूत्रके प्रथम सूत्रमें ही इस अधिकार तथा आवश्यकताकी ओर संकेत है, 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'। कुछ जन्मपर्यन्त नीतिधर्मका पालन करनेके पश्चात् साधककी दृष्टि तत्त्वकी ओर झुकती है। वह द्रव्य तथा द्रव्यमय कर्मोंसे असन्तुष्ट होकर ईश्वरको तत्त्व जानकर उसकी खोज करना चाहता है। उस दशामें शास्त्र यह बल देकर कहते हैं कि अवश्य उस तत्त्वको जानो, क्योंकि अन्य प्रकारके सभी बाह्य साधन एक या दूसरे प्रकारके प्रपञ्च हैं। उनसे अमरत्वकी आशा नहीं की जा सकती है। यदि परमसुख चाहिये तो वह 'अल्प' में नहीं है वह 'भूमा' में है। 'अतः' पदका यही संकेत जान पड़ता है।

इस प्रकार हमने देखा कि वेदान्त क्या है और उसका अधिकार किसको है। इसके अनन्तर साधनका विषय आता है जिसके अनन्त प्रकार हैं। अन्तमें फिर वही विनय है—

माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्। अनिराकरणमस्त्वनिराकरणमस्तु॥

प्रियमय जगत्

सींची प्रियने है सुधावृष्टिसे जो सृष्टि उसे दृष्टिदोषसे ही मान असत् लिया करें।
झूठी जगती है यह निपट अनूठी बात रात-दिन कोई उपदेश ही दिया करें॥
तर्क-युक्तियोंसे अभिराम उक्तियोंसे 'राम' आम इमलीको भले साबित किया करें।
आप जहाँ व्यापक हमारे प्राणाधार उसे भूल माननेकी भूल हम क्यों किया करें॥ १॥
जन्म-मीच सृष्टि औ प्रलय आदि जीवनमें होती रहती हैं ये दशाएँ क्रम-क्रमसे।
रहता सदा नहीं समान दृश्यमान विश्व मिथ्या सिद्ध करते इसीसे लोग भ्रमसे॥
किन्तु प्राणाधारका विराट विश्वरूप यह सत्य है, असत्यता तो भासती है भ्रमसे।
स्थूल बन आते सूक्ष्म होके छिप जाते कभी लीला लीलामयकी छिपी है नहीं हमसे॥ २॥
मृत्तिका जो सत्य तो घड़ा ही क्यों असत्य भला जानना यही है घड़ा मिट्टीसे अभिन्न है।
त्यों ही प्राणधन ही प्रकट विश्वरूपमें हैं पञ्चक-प्रपञ्च यह प्रियसे न भिन्न है॥
प्रेमानन्दरसका प्रसार करनेके हेतु आपही अनूप रूप धारे भिन्न-भिन्न हैं।
सत्य उपादानसे असत्यका विधान कैसा विफल वितर्कोंमें पड़े क्यों लोग खिन्न हैं॥ ३॥
वेदोंने बताया जिसे एकमात्र अक्षर है अर्थभूत ब्रह्म वही विश्व बन आया है।
योगियोंने जाना जिसे अलख निरञ्जन-सा अञ्जन-सा होके लोचनोंमें वही छाया है॥
नाता कौन जगका निभाता जो न आप वह तात, भ्रात, सुत, जननी है वही जाया है।
कैसे भला भूलसे भी मानें उसे न्यारा हम प्यारा घनश्याम रोम-रोममें समाया है॥ ४॥

पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री

वेदान्तप्रश्नोत्तरी

[निरालम्बोपनिषत्के आधारपर]

(अनु०—पं०श्रीहनूमान्जी शर्मा)

यत्रालम्बालम्बिभावो विद्यते न कदाचन।
ज्ञविज्ञसम्यग्ज्ञालम्बं निरालम्बं हरिं भजे॥
ॐ नमः शिवाय गुरवे सच्चिदानन्दमूर्तये।
निष्प्रपञ्चाय शान्ताय निरालम्बाय तेजसे॥
निरालम्बं समाश्रित्य सालम्बं विजहाति यः।
स संन्यासी च योगी च कैवल्यं पदमश्नुते॥
एषामज्ञानजन्तूनां समस्तारिष्टशान्तये।
यद्यद्बोद्धव्यमखिलं तदाशङ्क्य ब्रवीम्यहम्॥

१—ब्रह्म कौन है ?

जो महत्तत्त्व, अहङ्कार, पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाशके रूपमें, इस बृहत् अण्डकोशरूपमें तथा कर्म, ज्ञान और अर्थके रूपमें देखा जाता है वह अद्वितीय, अखिल उपाधियोंसे मुक्त, सम्पूर्ण शक्तियोंसे युक्त, आदि-अन्तसे रहित, शुद्ध, शिव, शान्त एवं निर्गुण आदि शब्दोंसे वाच्य अनिर्वाच्य चैतन्य ही 'ब्रह्म' है।

२—ईश्वर कौन है ?

अपनी प्रकृतिसंज्ञक शक्तिको आश्रय करके सम्पूर्ण लोकोंकी रचना कर उनमें प्रवेश करके अन्तर्यामीरूपसे ब्रह्मादि समस्त जीवोंकी बुद्धि तथा इन्द्रियोंका नियन्ता होनेसे ब्रह्म ही 'ईश्वर' कहा जाता है।

३—जीव कौन है ?

ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं इन्द्रादिके नाम और रूपोंके द्वारा 'मैं स्थूल हूँ' ऐसा मिथ्या अध्यास हो जानेके कारण वही 'जीव' है। वह मैं एक जीव होनेपर भी देहारम्भक भेदके कारण अनेक हूँ।

४—प्रकृति क्या है ?

ब्रह्मकी सन्निधिके द्वारा नाना प्रकारके विचित्र जगत्की रचना करनेकी सामर्थ्य बुद्धि (मेरेमें सामर्थ्य है ऐसी बुद्धि) रूपा ब्रह्मकी शक्ति ही प्रकृति है।

५—परमात्मा कौन है ? ब्रह्मा कौन है ? विष्णु कौन है ? रुद्र कौन है ? इन्द्र कौन है ? यम कौन है ? सूर्य कौन है ? चन्द्र कौन है ? देवता कौन है ? दानव कौन है ? पिशाच कौन है ? मनुष्य कौन है ? स्त्री कौन है ? पश्वादि कौन है ? स्थावर क्या है ? और ब्रह्माण्डादि कौन है ?

देहादिसे श्रेष्ठतर होनेके कारण ब्रह्म ही परमात्मा है। और वही ब्रह्मा है, वही विष्णु है, वही रुद्र है, वही इन्द्र है, वही यम है, वही सूर्य है, वही चन्द्र है, वही देवगण हैं, वही दैत्य हैं, वही पिशाच हैं, वही मनुष्य हैं, वही स्त्रियाँ हैं, वही पशु आदि हैं, वही स्थावर हैं और वही ब्राह्मणादि हैं। यह सब निश्चय ब्रह्म ही है; उससे भिन्न कुछ भी नहीं है।

६—जाति क्या है ?

चर्म, रक्त, मांस, हड्डी, अथवा आत्माकी कोई जाति नहीं है। जाति तो विशेषरूपसे व्यवहारद्वारा ही कल्पित है।

७—कर्म क्या है ?

इन्द्रियोंके द्वारा किये जाते हुए कर्मोंको 'मैं करता हूँ' इस प्रकार अध्यात्मनिष्ठतासे (अपनेमें आरोप करते हुए) किया जानेवाला कर्म ही कर्म है।

८—अकर्म क्या है ?

नित्य-नैमित्तिक तथा यज्ञ, व्रत, तप एवं दानादिमें जो फलानुसन्धान करना है वही कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिके अहङ्कारपूर्वक किया जानेसे बन्धनरूप और जन्मादिका कारण होनेसे अकर्म है।

९—ज्ञान क्या है ?

जो सबके अन्तर्गत, सबमें समान, घट-पटादि पदार्थोंके समान प्रतीत होनेवाला, साक्षी और साक्ष्यरूप तथा समस्त विकारोंमें निर्विकार रूपसे रहता है उस चैतन्यके बिना और कुछ भी नहीं है—ऐसा देह और इन्द्रियोंके दमन, सद्गुरुकी उपासना, तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासनके द्वारा साक्षात् अनुभव करना ज्ञान है।

१०—अज्ञान क्या है ?

रस्सीमें सर्प-भ्रमके समान, सबमें अनुस्यूत सर्वमय अद्वितीय ब्रह्ममें देव, तिर्यक् (पशु-पक्षी), मनुष्य, स्थावर (वृक्ष-पर्वतादि), स्त्री, पुरुष, वर्ण, आश्रम एवं बन्ध-मोक्षादि नानाविध उपाधियोंके भेदसे कल्पित जो [भेद-] ज्ञान है वही अज्ञान है।

११—सुख क्या है ?

सच्चिदानन्दस्वरूपको जानकर जो आनन्दरूपसे स्थित होना है वही सुख है।

१२—दुःख क्या है ?

अनात्मरूप विषयका सङ्कल्प ही दुःख है ।

१३—स्वर्ग क्या है ?

सत्पुरुष अथवा सत्स्वरूप ब्रह्मका संसर्ग ही स्वर्ग है।

१४—नरक क्या है ?

असत् (दुर्जन), संसार, दर्शन-स्पर्शादि विषय और जनसमूहका संसर्ग ही नरक है ।

१५—बन्धन क्या है ?

अनादि अविद्याजनित वासनासे उत्पन्न हुआ 'मैं' यह आदि-सङ्कल्प बन्ध है । पिता, माता, भ्राता, स्त्री, पुत्र, गृह, उद्यान और क्षेत्रोंकी ममता ही संसार है, वह संसाररूप आवरणात्मक सङ्कल्प बन्ध है । कर्तृत्वादि अहङ्काररूप सङ्कल्प बन्ध है । अणिमादि अष्ट सिद्धियोंकी कामना पूर्ण हो—यह सङ्कल्प बन्ध है । देवता अथवा मनुष्यादिकी उपासनाके द्वारा इच्छित फलका सङ्कल्प होना बन्ध है । यमादि अष्टाङ्गयोगका सङ्कल्प बन्ध है । वर्ण और आश्रमके धर्म एवं कर्मोंका सङ्कल्प होना बन्ध है । केवल मोक्षकी अपेक्षाका सङ्कल्प भी बन्ध है । [अधिक क्या,] सङ्कल्पमात्र ही बन्ध है ।

१६—मोक्ष क्या है ?

नित्य और अनित्य वस्तुओंका विवेक करनेसे अनित्य संसारके सुख, दुःख एवं विषयरूप समस्त क्षेत्रोंके ममतारूप बन्धनका नाश हो जाना 'मोक्ष' है ।

१७—पूजने योग्य कौन है ?

सम्पूर्ण शरीरोंमें स्थित चैतन्य ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाला गुरु ही 'उपास्य' है ।

१८—शिष्य कौन है ?

जो अपने ज्ञानस्वरूपसे च्युत तथा प्रपञ्चमें डूबा हुआ है और जिसमें 'मैं बद्ध हूँ', इतना ज्ञान ही अवशिष्ट है वह ब्रह्म ही 'शिष्य' है ।

१९—विद्वान् कौन है ?

सबके भीतर विद्यमान आत्मचैतन्यके रूपको जाननेवाला ही विद्वान् है ।

२०—मूढ़ कौन है ?

कर्तृत्वादि अहङ्कारके भावसे दबा हुआ पुरुष ही 'मूढ़' है ।

२१—आसुर क्या है ?

जिसमें लोग ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं इन्द्रादिके ऐश्वर्यकी कामनासे अनशन, जप एवं अग्निहोत्रादि कर्मोंमें अपने अन्तरात्माको सन्तप्त करते हैं वह अति उग्र राग, द्वेष, हिंसा एवं दम्भादिकी अपेक्षासे किया जानेवाला तप ही 'आसुर' है ।

२२—तप क्या है ?

ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है—इस प्रकारके अपरोक्ष ज्ञानरूप अग्निसे ब्रह्मादिके ऐश्वर्यकी कामनासिद्धिके सङ्कल्पके बीजको दग्ध कर देना ही 'तप' है ।

२३—परम पद क्या है ?

प्राण, इन्द्रियादि एवं अन्तःकरणके गुण आदिसे परे जो सच्चिदानन्दस्वरूप नित्यमुक्त ब्रह्मधाम है वही 'परमपद' है ।

२४—ग्राह्य क्या है ?

जिसमें देश, काल और वस्तुके परिच्छेदका अभाव है वह चिन्मात्रस्वरूप ही 'ग्राह्य' है ।

२५—अग्राह्य क्या है ?

स्व-स्वरूपको छोड़कर मायामय बुद्धि और इन्द्रियोंके गोचर जगत्के सत्यत्वका चिन्तन अग्राह्य है ।

२६—संन्यासी कौन है ?

सम्पूर्ण धर्मोंको त्यागकर तथा ममता और अहङ्कारसे शून्य हो जो यति अपने इष्ट ब्रह्मकी शरण ले 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि महावाक्योंके अर्थका अनुभव होनेसे 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा निर्विकल्प समाधिके द्वारा निश्चयकर स्वतन्त्र विचरता है वही 'संन्यासी' है, वह मुक्त है, वह पूज्य है, वह योगी है, वह अवधूत है और वही ब्राह्मण है ।

जो पुरुष इस निरालम्बोपनिषद्को पढ़ता है (इसके अनुसार यथार्थमें बन जाता है) वह गुरु-कृपासे अग्निपूत (आग्नेय स्नान अर्थात् यज्ञादिसे पवित्र हुआ-सा) हो जाता है तथा वह वायुपूत (वायव्य स्नानसे पवित्र हुआ-सा) हो जाता है । वह पुनः संसारमें नहीं लौटता । उसका पुनर्जन्म नहीं होता, उसका पुनर्जन्म नहीं होता । इति ।

* * *

क्षमायाचना

वेदान्ताङ्क निकालनेका विचार तो कर लिया, परन्तु अपनी योग्यताकी ओर देखकर बड़ी निराशा-सी हुई। मनमें आया कि जिस वेदान्त-तत्त्वको समझने-समझानेके लिये सच्चे त्याग, तप, चतुर्विध साधन, गुरुसेवा और वेदान्त-शास्त्रके गम्भीर अध्ययनकी आवश्यकता है, उसके सम्बन्धमें किसी विशेषांकके सम्पादनका मेरा क्या अधिकार है? फिर चित्तमें यह बात आयी कि तुम इस बातका अभिमान ही क्यों करना चाहते हो कि इसका सम्पादन मैं करता हूँ। जिसका कार्य है, वह आप ही करे-करावेगा, तुम तो निमित्तमात्र हो। इस विचारसे कुछ साहस हुआ, और मैं कार्यमें लग गया। परन्तु वेदान्ताङ्ककी विषयसूची कौन बनावे? अतएव इस बार फिर इस कामके लिये पूज्यपाद महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम० ए०, प्रिंसिपल, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, काशीसे प्रार्थना की गयी और उन्होंने कृपा करके बहुत सुन्दर सूची बनानेमें बहुमूल्य सहायता दी।

इस प्रकार सूची बनी, लेखक महोदयोंसे लेखोंके लिये प्रार्थना की गयी। लेख आने लगे। इसी बीचमें भगवत्-प्रेरणासे यहाँ 'अखण्ड कीर्तनयज्ञ' का महान् कार्य आरम्भ हो गया और मुझको अपना समय किसी हदतक उसमें लगाना पड़ा। सम्पादनकार्यमें कुछ शिथिलता आ गयी। परन्तु भगवत्कृपासे श्रद्धेय पं० लक्ष्मण नारायणजी गर्दे और सम्मान्य पं० चिम्मनलालजी गोस्वामी एम० ए०, शास्त्री महोदय गोरखपुर आ गये जिससे काम चलने लगा। फिर गोरखपुर ज़िलेमें भयानक बाढ़ आ गयी, और बाढ़-पीड़ितोंकी सेवाके कार्यमें मुझको तथा गीताप्रेस और कल्याण-कार्यालयके बहुत-से खास-खास व्यक्तियोंको लग जाना पड़ा। और यह कार्य अभीतक चल ही रहा है। इस आकस्मिक कारणसे सम्पादन और छपाईके कार्यमें बहुत बड़ी बाधा आ गयी और यही कारण है कि वेदान्ताङ्क इतनी देरसे निकल रहा है। इस अवाञ्छित विलम्बके लिये मैं अपने कृपालु पाठकोंसे हाथ जोड़कर क्षमा चाहता हूँ।

वेदान्ताङ्ककी सूची बहुत बड़ी हो गयी थी। बहुत बड़े-बड़े विद्वानोंसे तथा अनुभवी अधिकारी संत-महात्माओंसे इसके लिये लेख माँगे गये थे। संतोंकी सेवामें खास आदमी भेजे गये थे और आनन्दकी बात है कि कई संत-महात्माओंने कृपापूर्वक लेख लिखवाकर पाठकोंका बड़ा उपकार किया है। संतोंके वचनामृतकी कुछ दुर्लभ सामग्री पाठकोंको इस बार मिल रही है, यह उनका सौभाग्य है। विद्वान् महानुभावोंने भी बड़ी कृपा की, लेख भेजे। परन्तु खेदकी बात है कि इतना बड़ा कलेवर हो जानेपर भी सदाकी भाँति इस बार भी बहुत-से लेख वेदान्ताङ्कमें नहीं छप सके। प्रार्थना करके मँगवाये हुए लेखोंमेंसे कुछ लेख बिना छपे रह गये। कुछ लेख तो कम्पोज हो गये थे परन्तु अधिक सामग्री हो जानेके कारण नहीं दिये जा सके। स्थानसङ्कोचसे कुछ लेख अधूरे, अंशमात्र या बहुत कुछ काट-छाँट करके छापे गये। कुछ सम्मान्य लेखकोंके लेख देरसे मिलनेके कारण उपयुक्त स्थानपर न छापे जा सके। इन सब अवाञ्छित अपराधोंके लिये मैं सदा कृपा करनेवाले पूज्यपाद संतों और विद्वान् महानुभावोंसे हाथ जोड़कर क्षमाप्रार्थना करता हूँ। आशा है मेरी असमर्थता और विवशताको समझकर सभी महानुभाव मुझपर दया करके क्षमा प्रदान करेंगे। मुझमें अनेकों त्रुटियाँ हैं, मैं उनमेंसे बहुतोंको तो जानता भी नहीं हूँ। वस्तुतः कृपालु महानुभावोंकी उदारतासे ही मेरा त्रुटियोंसे भरा कार्य चल रहा है।

वेदान्ताङ्क और परिशिष्टाङ्कमें वेदान्तके भिन्न-भिन्न आचार्योंके जीवनका तथा उनके मतका परिचय दिया गया है। जहाँतक बन सका है ऐसी चेष्टा की गयी है कि आचार्योंका तथा उनके मतोंका यथार्थ ही वर्णन हो, किसीके सम्बन्धमें कोई आक्षेपजनक बात न आने पावे। इसके लिये बहुत अच्छे-अच्छे लेखकोंसे लेख लिखवाये गये हैं और यह चेष्टा की गयी है कि जिन आचार्यके मतका वर्णन हो, उन्हीं आचार्यके सम्प्रदायभक्त पुरुष लेख लिखें। परिशिष्टाङ्कके लेख अनेकों अंगरेज़ी, बँगला, हिंदी और संस्कृतकी पुस्तकोंके आधारपर लिखे गये हैं। तथापि सम्भव है कि किन्हीं आचार्यके जीवन और उनके मतके सम्बन्धमें भूलसे कोई आवश्यक बात छूट गयी हो, अथवा कोई बात अन्यथा लिखी गयी हो। इसके लिये मैं उन सम्प्रदायोंक आचार्योंसे और मतावलम्बियोंसे क्षमा चाहता हूँ और उ यह विश्वास दिलाता हूँ कि जान-बूझकर कोई ऐसी बात नहीं लिखी गयी है। बल्कि यही चेष्टा की गयी है कि सभी आचार्योंका महत्त्व सबपर विदित हो।

जिन पूजनीय और सम्मान्य विद्वानोंने वेदान्ताङ्कके सम्पादनमें, विषयसूची तैयार करनेमें सत्परामर्श देकर, लेखकोंके नाम-पते बतलाकर, लेखकोंसे लेखोंके लिये अनुरोध कर, लेख लिखवाकर, सामग्रियाँ संग्रहकर, चित्रादि भेजकर तथा अन्यान्य प्रकारसे कृपापूर्वक सहायता की है, मैं उन सभीका हृदयसे कृतज्ञ हूँ।

ऐसे महानुभावोंमेंसे कुछ उल्लेखयोग्य नाम ये हैं—

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथजी कविराज एम० ए०, श्री वी० सुब्रह्मण्य ऐयर एम० ए०, श्रीमोतीलाल जे० मेहता, श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी डिप्टी कलेक्टर, श्रीभारतभानुजी, श्रीविट्ठल दीक्षितजी, पं० झाबरमल्लजी शर्मा, पं० रामनारायणजी मिश्र, डा० भीखनलालजी आत्रेय एम० ए०, डी० लिट्, पं० काशीनाथजी शास्त्री, श्रीरामसुमेरसिंहजी, व्यवस्थापक आनन्दाश्रम, बिलखा, पं० रामनिवासजी शर्मा, श्री एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री, एम० ए०, बी० एल, बार-एट-ला, पं० नन्दकिशोर विद्यानन्द मुखोपाध्याय, पं० वागीश शास्त्रीजी शिवाचार्य, श्री एच० डी० भट्टाचार्य, एम० ए०, बी० एल०, श्रीसोहनलालजी गोयलीय, श्रीमुनिलालजी आदि आदि।

वेदान्ताङ्कके सम्पादनमें मेरे परम आदरणीय पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्देने बड़ी सहायता की। इनके अतिरिक्त मेरे सम्मान्य मित्र पं० चिम्मनलालजी गोस्वामी एम० ए०, शास्त्री, पं० राजबलीजी पाण्डेय एम० ए०, पं० नन्[illegible]लारेजी वाजपेयी एम० ए०, पं० भुवनेश्वरनाथजी [illegible] एम० ए०, पं० रमाकान्तजी त्रिपाठी एम० ए०, शास्त्री, पं० चन्द्रदीपजी त्रिपाठी, पं० रामनारायणदत्तजी पाण्डेय शास्त्री, पं० सीतारामजी मिश्र साहित्याचार्य, काव्य-व्याकरण-सांख्य-वेदान्ततीर्थ और श्रीयुत मुनिलालजीसे मुझे बड़ी सहायता मिली है। अनुवाद, संशोधन, प्रूफ-संशोधन, संग्रह आदिका अधिकांश कार्य न्यूनाधिकरूपमें प्रायः इन्हीं महानुभावोंकी कृपासे सम्पन्न हुआ है। इनकी सहायता न मिलती तो इस बार इस रूपमें वेदान्ताङ्क नहीं निकल पाता। क्योंकि [illegible]म तो मेरी योग्यता नहीं थी, दूसरे मैं संकीर्तन तथा बाढ़के कार्यमें फँसा हुआ था। परन्तु ये सब इतने अपने हैं कि इन्हें धन्यवाद देनेमें अपना ओछापन ही प्रकट होता है।

वेदान्ताङ्ककी लेखसूची बहुत लंबी थी, सूचीमें छपे हुए प्रत्येक विषयपर न तो लेख लिखनेवाले महानुभाव सहजमें प्राप्त हो सके और न इतना स्थान ही था कि जिसमें सब विषयोंपर प्रकाश डाला जा सकता। बहुत-से विषय रह गये हैं, जिनपर आगे समय-समयपर लेख आनेकी सम्भावना है। जिन लेखक महोदयोंने कृपापूर्वक वेदान्ताङ्कके लिये समय और शक्ति लगाकर लेख लिखे हैं, उनका मैं हृदयसे कृतज्ञ हूँ। जिन पाठकोंको उनके लेखोंसे लाभ पहुँचेगा, वे भी कृतज्ञ होंगे।

वेदान्ताङ्कमें वेदान्तके प्रायः सभी सम्प्रदायोंपर लेख हैं, इससे इसमें प्रकाशित सभी लेख सबके उपयोगी नहीं होंगे। और यह बात है ही कि इतने बड़े ग्रन्थको सब लोग पूरा पढ़ भी नहीं सकते। परन्तु इसके पढ़नेसे सब मतोंकी एक साथ जानकारी हो सकती है, इस दृष्टिसे और संग्रहकी दृष्टिसे यह अंक सभीके लिये लाभप्रद और उपयोगी सिद्ध होगा। आशा है, पाठकगण इससे विशेष लाभ उठा सकेंगे।

यद्यपि वेदान्ताङ्क-जैसे ग्रन्थके सम्पादनका भार उठाकर मैंने अवश्य ही अनधिकार चेष्टा की है, परन्तु विज्ञ महानुभाव यह जानकर मुझे क्षमा करेंगे कि मैंने तो बड़े-बड़े महात्मा और विद्वानोंकी वाणीका संग्रह मात्र कर दिया है! और यह संग्रहकार्य भी विद्वानोंकी सहायतासे ही सम्पन्न हुआ है। इसमें जो कुछ शुभ या श्रेष्ठ है, उसका सारा श्रेय भगवत्प्रेरणाको और संत-महात्माओं, विद्वान् लेखकों तथा मेरे सहायक महानुभावोंको है, और भूल तथा त्रुटियाँ सब मेरी हैं और उनके लिये मैं छोटे-बड़े सबसे सिर नवाकर बार-बार क्षमाप्रार्थना करता हूँ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार—सम्पादक

* * *

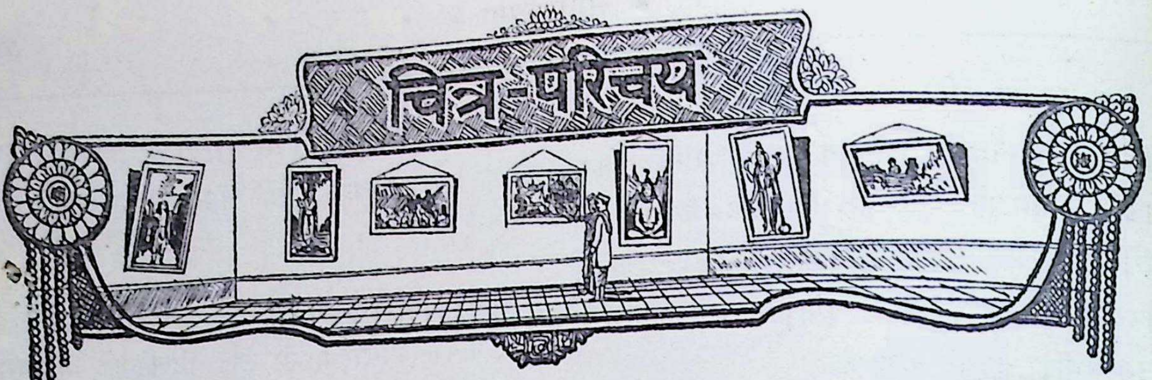

[जिन चित्रोंका परिचय छपे हुए लेखोंमें नहीं आया, केवल उन्हीं चित्रोंका परिचय यहाँ लिखा गया है ।]

बालमुकुन्द (मुखपृष्ठ) ।

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम् ।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयाने बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ॥

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान् मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

इन श्लोकोंके आधारपर बालमुकुन्दका सुन्दर चित्र बना है । चारों ओर दशावतारके चित्र हैं । चित्र दर्शनीय है ।

शिव (पृष्ठ १)–भगवान् शिवका बहुत ही सुन्दर भावपूर्ण चित्र है ।

नन्दके आँगनमें वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मका नृत्य (पृष्ठ ६८) । प्राणियोंमें सबसे श्रेष्ठ मनुष्य है, मनुष्यमें सबसे श्रेष्ठ बुद्धि है, बुद्धिका सबसे श्रेष्ठ विषय शास्त्र है, शास्त्रोंमें सबसे श्रेष्ठ वेदान्त है, वेदान्तमें सबसे श्रेष्ठ ब्रह्म है, ब्रह्म ही जीव-जगत्का मूल है, यही परम शास्त्रका परम सिद्धान्त है । परन्तु यह ब्रह्म निर्गुण है, निराकार है । सगुण-साकार पदार्थमात्र नश्वर और असत् है । इसलिये वेद-वेदान्तके जाननेवालों अर्थात् मनुष्योंमें जो सबसे श्रेष्ठ, बुद्धिमान्, दार्शनिक और ज्ञानी हैं उनके लिये सबसे बड़े आश्चर्यकी बात निर्गुण-निराकार ब्रह्मका सगुण-साकार रूपमें प्रकट होना है । वेदोंकी ऋचाएँ जो गोपियाँ बनकर आयी हैं और आकर अपने परमाराध्यको पूर्व संकेतानुसार सगुण-साकार-रूपमें ढूँढ़ रही हैं, उन्हींमेंसे एक गोपी, 'पता पा लिया' इस आनन्दसे उछलकर पर चुपकेसे दूसरी गोपीसे मानो कानमें कह रही है—

'सुन री सखी ! मैंने तो आज एक बड़ा विचित्र कौतुक देखा ।'

'क्या देखा ?'

'नन्दबाबाके आँगनमें—'

'आँगनमें—क्या ? क्या ब्रह्मको देखा ?'

'हाँ, हाँ, ब्रह्मको देखा ! वही तुम्हारे परमाराध्य—श्रुतिगीत, वेदान्तप्रतिपाद्य परात्पर ब्रह्म ।'

'क्यों री सखी ! वे वहाँ किस रूपमें आये हैं ?'

'क्या कहूँ ! तुम सच न मानोगी ! चलकर ही न अपनी आँखोंसे देख लो ! आँखें भरकर देख लो ! जीको ठंढा कर लो ! जब देख लोगी तभी मानोगी । इसलिये चलो, वे वहाँ गोधूलिसे धूसराङ्ग हुए नाच रहे हैं ।'

मूर्तिमान् वेदान्त-तत्त्व (पृष्ठ २९६)–भगवान् श्रीकृष्ण और भगवती श्रीराधाजीका ध्यानके योग्य सुन्दर चित्र ।

परब्रह्म प्रेमके बन्धनमें (पृष्ठ ३५२)–भगवान् श्रीकृष्णको माता यशोदाने बाँध रक्खा है, बड़ा ही सुन्दर भावमय चित्र है ।

शिव-राम-संवाद (पृष्ठ ४४०)–श्रीपद्मपुराणके उत्तरखण्डमें शिवगीतोपनिषत् नामसे ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र श्रीशिव-राघव-संवादरूपसे उक्त हुआ है । यह शिवगीता पार्वतीवल्लभ श्रीशङ्करने श्रीरामचन्द्रजीको दण्डकारण्यमें सुनायी थी । चित्रमें त्रिशूलपाणि शङ्करके ज्ञानमुद्रामें स्थित हो परम रहस्य कथन कर रहे हैं और श्रीरामचन्द्रजी श्रवण कर रहे हैं ।

नन्दके आँगनमें नारदजी (पृष्ठ ४५६) । देवर्षि श्रीनारदजी पर्यटन करते हुए एक बार श्रीनन्दजीके घर पहुँचे । वहाँ पहुँचते ही देखते क्या हैं कि शिशु श्रीकृष्ण माँ यशोदाकी गोदमें चढ़नेके लिये तरस रहे और रो रहे हैं, पर गृहकृत्यमें व्यस्त होनेके कारण यशोदाजी कुछ परवा नहीं करती हैं । इस दृश्यको देख नारदजी बोले—

किं ब्रूमस्त्वां यशोदे कति कति सुकृतक्षत्रवृन्दानि पूर्वं
गत्वा कीदृग्विधानैः कति कति सुकृतान्यर्जितानि त्वयैव ।
नो शक्रो न स्वयम्भूर्न च मदनरिपुर्यस्य लेभे प्रसादं
तत्पूर्णब्रह्म भूमौ विलुठति विलपत् क्रोडमारोढुकामम् ॥

'यशोदा मैया ! मैं तुझसे क्या कहूँ ! तूने कितने-कितने